3'5

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत–भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः – सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग १

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वा रा ण सी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2420404

ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७

१-८ भाग (सम्पूर्ण)

मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : 23286537

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 1

Edited with Hindi Translation

By

Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

❀ श्रीः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

❋ द्वितीय-काण्ड ❋

प्रथम अनुवाक—

अथर्ववेदसंहिता

❀ हरिः ॐ

अथर्ववेदसंहिता

❀ सायणाचार्यकृत–भाष्यभूमिका ❀

❀ वन्दना ❀

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

अविद्याभानुसंतप्तो विद्यारण्यमहं भजे ।
यदर्ककरतप्तानामरण्यं प्रीति–कारणम् ॥ ३ ॥

बृहस्पति आदि देवता, सब प्रकारकी पुरुषार्थसिद्धिके आरंभ में जिन देवताको प्रणाम करके कृतार्थ हुए हैं, उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं, और जिन्होंने वेदोंसे सम्पूर्ण जगत्को रचा है, उन विद्यातीर्थ महेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥ मैं अविद्यारूप सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त होकर, विद्याके अरण्यरूप देवताका भजन करता हूँ, क्यों कि–सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त हुए पुरुषको अरण्य (वन) ही प्रसन्न करनेका कारण हो सकता है ॥ ३ ॥

❀ भाष्यसूचना ❀

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः ।
अभूद्धरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ॥ ४ ॥
विजितारातिव्रातो वीरश्रीहरिहरक्ष्माधीशः ।
धर्मब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतं युगं कुरुते ॥५॥
साधयित्वा महीं सर्वां श्रीमान् हरिहरेश्वरः ।
भुंक्ते बहुविधान् भोगान् असक्तो रामवत्सुधीः ॥ ६ ॥
विजयी हरिहरभूपः समुद्वहन् सकलभूभारम् ।
षोडशमहांति दानान्यनिशं सर्वस्य तुष्ट्यै कुर्वन् ॥७॥
तन्मूलभूतमालोच्य वेदं आथर्वणाभिधम् ।
आदिशत् सायणाचार्यं तदर्थस्य प्रकाशने ॥ ८ ॥

उन (देवता) की कृपाकटाक्षसे उनके रूपको धारण करनेवाले बुक्क भूपतिसे, क्षीर समुद्रसे चन्द्रमाके प्रकट होनेकी समान हरिहर नामक राजा उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ शत्रुओंको जीतने वाले, वीरकुलचूडामणि, धर्ममार्गदर्शक, ब्राह्मणोंका पोषण करने वाले यह हरिहर राजा अपने चरित्रसे कलियुगको सत्ययुग सा बना रहे हैं ॥ ५ ॥ सुबुद्धि श्रीमान् हरिहर नामक राजा, सारी पृथ्वी का सुशासनसे पालन करके राजा रामचन्द्रकी समान आसक्ति-शून्य होकर अनेक प्रकारके भोगोंको भोगते हैं ॥ ६ ॥ शत्रुओं का विजय करने वाले वह हरिहर राजा, सकल पृथ्वीके भारको धारण कर,जनसाधारणको सन्तुष्ट करनेके लिये सोलह प्रकारके दानोंको करते रहते हैं ॥ ७ ॥ उन्होंने मूलीभूत इस अथर्ववेदकी आलोचना करके, इसके अर्थको प्रकाशित करनेके लिये सायणा-

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥
व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याकरिष्यति ॥१०॥

ननु "यज्ञं व्याख्यास्यामः । स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" [सत्या० सू० १. १] इति स्मरणाद् ऋग्यजुःसाम्नामेव फलवत्कर्मशेषत्वम् अवसीयते । प्रादुर्भावोपि त्रयाणामेव श्रूयते । "त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्"

चार्यसे प्रार्थना की ॥ ८ ॥ कृपालु सायणाचार्य बड़ा भारी संग्रह करके पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाकी व्याख्या कर वेदके अर्थ को प्रकाशित करनेके लिये उद्यत होगए ॥ ९ ॥ परलोकमें फल देने वाले ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदोंकी व्याख्या (भाष्य) करके वह अब इस लोक और परलोक दोनों लोकों में फल देनेवाले चौथे अथर्ववेदके अर्थको प्रकाशित करना चाहते हैं ॥ १० ॥

(इस भूमिकामें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके रूपमें वितर्कमीमांसाके द्वारा अथर्ववेदकी प्रतिष्ठाका वर्णन किया है, पहिले पूर्वपक्षको उठा कर 'अथर्ववेदका अस्तित्व ही नहीं है' यह कहते हैं. कि–)

सत्याषाढ़सूत्रमें कहा है, कि–"यज्ञकी व्याख्या करेंगे, वह यज्ञ (ऋक् यजु साम इन) तीन वेदोंसे किया जाता है १ । १" इससे निश्चित होता है, कि–ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदका ही फलवत्त्व और कर्मशेषत्व है (अर्थात् वे तीन ही फल देने वाले कर्मकाण्डका और वेदान्तका वर्णन करनेवाले वेद हैं) और तीन ही वेदोंका प्रादुर्भाव सुना जाता है। ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि–

इति [ऐ० ब्रा० ५. ३२]। "ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजुस्त-स्माद् अजायत" इति [ऋ० १०. ९०. ९] च॥ संख्यानियमश्च श्रूयते। "वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" [तै० ब्रा० ३. १२. ९. १]। "यस् ऋषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि" इति [तै० ब्रा० १. २. १. २६]॥ धर्मविशेषश्रवणाच्च त्रित्वम् अव-गम्यते। "उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ना" इति [सत्या० सू० १. १. १]। "यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं [तद्] यद् ऋचा तद् दृढम्" इति [तै० सं० ६. ५. १०. ३]॥ ते च ऋगादयो विस्तरेण व्याख्याताः। अस्य तु वेदस्य त्रयीव्यतिरिक्तत्वेन कर्मशेषत्वाभावाद् न व्याख्यानार्हता।

"तीन वेद प्रकट हुए। अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेद प्रकट हुआ ५।३२" और ऋग्वेदमें कहा है, कि—"ऋक्से साम और साम्से यजुर्वेद प्रकट हुआ १०।९०।९" संख्याके विषयमें भी इस प्रकार सुना जाता है। "तीन वेदोंके द्वारा सूर्य सर्वत्र जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९।१" "यसृषयः आदिसे प्रतीत होता है, कि—त्रयीवेत्ता ऋषि ऋक् साम और अथर्व-वेदके मन्त्रोंको जानते थे। १।२।१।२६" और धर्मविशेष-श्रवणसे भी वेद तीन ही प्रतीत होते हैं। यथा—सत्याषाढ़सूत्रके १।७।१ में कहा है, कि—"यज्ञका जो कार्य ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोंसे किया जाता है वह ऊँचे स्वरसे मन्त्र पढ़ कर किया जाता है और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे जो काम होता है वह उपांशुरूपसे (जोरसे न बोलकर धीरेसे) मन्त्र पढ़ कर होता हैं" तैत्तिरीय संहिताके ६।५।१०।३। में कहा है, कि—यज्ञका जो काम साम और यजुर्वेदके द्वारा होता है वह शिथिल और जो ऋग्वेद के मन्त्रोंसे होता है वह दृढ़ (स्वरसे करना चाहिये)" अत एव इन ऋक् आदि तीन वेदोंका भाष्य तो मैं कर चुका और अथर्व-

अथोच्यते। ऋग्वेदेन हौत्रमेव प्रतिपाद्यते यजुषा आध्वर्यवम् साम्ना-औद्गात्रम् इति वेदत्रस्य प्रतिनियतप्रयोगप्रतिपादनपरत्वात् अव-शिष्टब्रह्मकर्तव्यताप्रतिपादकश्चतुर्थो वेदो व्याख्येयः। तदभावे यज्ञ-शरीरस्य अनिष्पत्तेरिति। नैवम्। उक्तैरेव त्रिभिर्वेदैः क्रत्वपेक्षि-तस्य ब्रह्मकर्तव्यस्यापि सिद्धेः। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। "यद् ऋचैव हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३]। स्मर्यते च। "ऋग्वेदेन होता करोति सामवेदेनोद्गाता यजुर्वेदेनाध्वर्युः सर्वैर्ब्रह्मा" इति।

वेदमें त्रयीसे अतिरिक्त होनेके कारण कर्मशेषत्वका अभाव है, अत एव इसकी व्याख्या करना उचित नहीं है।

इस प्रकार अथर्ववेदकी अनुपयोगिता दिखाने वाला पूर्वपक्ष कह कर अब उत्तरपक्षरूपसे अथर्ववेदका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं, कि—ऋग्वेदके द्वारा हौत्रकर्म (होतासम्बंधी कर्म), यजुर्वेदके द्वारा आध्वर्यव कर्म (अध्वर्यु संबंधी कर्म) तथा सामवेदके द्वारा औद्गात्रकर्म (उद्गातासंबंधी कर्म) का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार तीनों वेदोंको नियत कर्मका प्रतिपादन करने वाला कह दिया अर्थात् उद्गाता आदिका कर्म इनसे सिद्ध होता है, किन्तु ब्रह्मकर्मका प्रतिपादक कौन वेद है? अत एव चौथा यह अथर्व-वेद ही ब्रह्मकर्मका साधन हो सकता है। अत एव इस अथर्ववेद की व्याख्या करना उचित है। क्योंकि—इसके विना यज्ञकी अङ्ग-हानि होती है।

(इसमें भी पूर्वपक्ष वाला दोष दिखाता है, कि—) यह न कहो, क्योंकि—उक्त ऋक् साम और यजुर्वेदसे ही यज्ञका अपे-क्षित जो ब्रह्मकर्म है, वह भी सिद्ध होसकता है। ऐतरेय ब्राह्मण ५। ३३ में कहा है, कि—"ऋक्के द्वारा होताका कर्म यजुर्वेदके

अतश्चतुर्णां होत्रादीनाम् ऋत्विजाम् अपेक्षितस्य क्रियाकलापस्य त्रय्यैव सिद्धत्वात् न चतुर्थस्य वेदस्याकांक्षास्ति कुतस्तस्य व्याख्यानचिन्तेति ॥

अत्रोच्यते । हौत्रम् आध्वर्यवम् औद्गात्रमिति समाख्यया त्रयाणामपि वेदानां प्रतिनियतहोत्रादिकर्तव्यप्रतिपादनपरत्वावगमात् न ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादने तात्पर्यं संभवति । यथा अन्यपरस्य यजुर्वेदस्य होतृकर्तव्यतायाम् यथा वा तथाविधस्य ऋग्वेदस्य अग्निहोत्रे । एवं त्रय्यां तत्र तत्र प्रतिपादितं यद् ब्रह्मत्वम् तद् अथर्ववेदसिद्धमेव

द्वारा अध्वर्यु का कर्म, सामवेदके द्वारा उद्गाताका कर्म होता है। इनके द्वारा ही त्रयीविद्याका विशेषरूपसे आरंभ होता है त्रयीविद्याके आरंभ होने पर ब्रह्मकर्मकी अपेक्षा किस लिये होगी ? अर्थात् त्रयीसे ही ब्रह्मकर्म सम्पादित होजावेगा ।" और स्मृति भी है, कि—"होता ऋग्वेदके द्वारा कर्म करता है, सामवेदके द्वारा उद्गाता कर्म करता है और यजुर्वेदके द्वारा अध्वर्यु कर्म करता है और ब्रह्मा तीनों वेदोंके द्वारा कर्म कर सकता है अर्थात् ब्रह्मकर्म तीनों वेदोंसे सिद्ध होसकता है।" अत एव होता आदि चार ऋत्विजोंका कर्म इन तीन वेदोंसे ही सिद्ध होनेके कारण, जो अथर्ववेद है उसकी आकांक्षा ही नहीं होती, फिर उसका भाष्य करनेकी चिन्ता क्या की जाय ?

अब उत्तरपक्षमें कहते हैं, कि—'हौत्र आध्वर्यव और औद्गात्र' इस प्रकार समाख्या (नाम) के द्वारा तीनों वेदोंकी (पूर्वोक्त) होता आदिके कर्मोंकी साधनकी सामर्थ्य निश्चित होनेके कारण, (इनके अतिरिक्त) ब्रह्मकर्म प्रतिपादनमें तीनों वेदोंका तात्पर्य अर्थात् कर्तृत्व संभव नहीं होसकता । जैसे—अन्यपर अर्थात् अध्वर्यु कर्मके साधक यजुर्वेदका होताके कर्ममें अधिकार नहीं है और होताके कर्मके साधक ऋग्वेदका अग्निहोत्रसाधनमें अधिकार

लेशेनोक्तम् इति अतात्पर्यविषयत्वात् अकृत्स्नत्वाच्च नादरणीयम्। अकृत्स्नत्वमेव अभिप्रेत्य शाखान्तरोक्तं हौत्रं नानुष्ठेयम् इति आश्वलायनेनोक्तम्। "तद्ये केचन छान्दोग्ये वाध्वर्यवे वा हौत्रा-मर्शाः समाम्नाता न तान् कुर्याद् अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य" इति [आश्व० ८. १३]॥ अत एव वाङ्मनसनिर्वर्त्यस्य यज्ञशरीरस्य अर्धमेव त्रिभिर्वेदैर्निष्पाद्यते। अर्धान्तरं तु अथर्ववेदेनै-वेति श्रूयते। "प्रजापतिर्यज्ञम् अतनुत। स ऋचैव हौत्रम् अकरोद्। यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्" इति प्रक्रम्य "स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति" इति [गो०ब्रा०३.२] ऐतरेयब्राह्मणेपि त्रयीनिष्पाद्य एकः पक्षः मनोनिष्पाद्यः परः पक्ष

नहीं है। त्रयीवेदमें स्वस्वविहित (अपने २ लिये विहित) यज्ञ-कर्मका विधान है, किन्तु उन २ यज्ञकर्मोंके भीतर जो ब्रह्मकर्म है, वह अथर्ववेदसे सिद्ध होता है। अथर्ववेदके विना तात्पर्यका अर्थात् ब्रह्मकर्मसम्बंधी अनुष्ठान आदिका अभाव रह जाता है और अङ्गहानि होती है। अत एव पहिला मत आदरणीय नहीं है। यज्ञांगकी अपूर्णताको लक्ष्यमें रख कर ही आश्वलायनमें कहा है, कि-"छान्दोग्य आदि विषयमें हौत्र-संबंधी जो कुछ उपदेश पठित है, हौत्रके असम्पूर्ण रहनेके कारण उसको न करें। ८। १३" अत एव वाणी और मनके द्वारा अभिलषित यज्ञशरीरका आधा भाग तीनों वेदोंके द्वारा और बाकी आधा भाग अथर्ववेदके द्वारा संपादित होता है। गोपथब्राह्मण ३। २ में कहा है, कि- "प्रजापतिने एक यज्ञका विस्तार किया, उन्होंने ऋक्के द्वारा हौत्रकर्म, यजुर्वेदके द्वारा आध्वर्यव (अध्वर्युका) कर्म, सामवेदके द्वारा औद्गात्र कर्म अथर्ववेदके द्वारा ब्रह्मकर्म संपादित किया था" अथवा "त्रयीवेदके द्वारा यज्ञका एक पक्ष संस्कृत किया और

इति श्रुतम् । "अयं वै यज्ञो योयं पवते । तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ । वाचा च हि मनसा च यज्ञोवर्त्तत । इयं वै वाग् । अदो मनः । तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति । मनसैव ब्रह्मा संस्करोति" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३] ॥ एतदेवाभिप्रेत्य गोपथ-ब्राह्मणे पूर्वभागे प्रश्नपूर्वकम् अथर्वविद एव ब्रह्मत्वम् आम्नातम् । "अथ [ह] प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदान् उवाच । कं वो होतारं वृणीयाम् । कम् अध्वर्युम् । कम् उद्गातारम् । कं ब्रह्माणम् इति । त ऊचुः । ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व । यजुर्विदम् अध्वर्युम् । सामविदम् उद्गातारम् । अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् । तथा हास्य यज्ञः चतुष्पात् प्रतितिष्ठति" इति [गो० ब्रा० २ २४] ॥ तत्रैव विपक्षबाधश्च श्रुतः । "अथ चेद् नैव विदं ब्रह्माणं

ब्रह्माने दूसरे पक्षको मनके द्वारा संस्कृत किया" ऐतरेय ब्राह्मणमें भी एक पक्ष त्रयीनिष्पाद्य और दूसरा पक्ष मनके द्वारा निष्पाद्य है, ऐसा सुना है । यथा–"यह जो पवित्र यज्ञ है, वाक् और मन इसके दो मार्ग हैं, वाक् और मनके द्वारा ही यज्ञ अनुष्ठित है । इस वाक्‌रूप त्रयीविद्याके द्वारा यज्ञका एक पक्ष संस्कृत होता है और ब्रह्मा मनके द्वारा अन्य पक्षको संस्कृत करता है । ५ । ३३" इसी बातको लक्ष्यमें रख कर गोपथब्राह्मणके पूर्वभागमें प्रश्नपूर्वक अथर्ववेदके जानने वालेको ही ब्रह्मा माना है । यथा–"प्रजापतिने सोमयाग करनेकी इच्छासे वेदोंसे बूझा, कि–मैं किसका होता-रूपसे, किसका अध्वर्युरूपसे, किसका उद्गातारूपसे और किसका ब्रह्मारूपसे वरण करूँ ? इसके उत्तरमें वेदोंने कहा, कि–ऋग्वेदको जानने वालेका होतारूपसे, यजुर्वेदको जानने वालेका अध्वर्यु-रूपसे, सामवेदको जानने वालेका उद्गातारूपसे और अथर्ववेदको जानने वालेका ब्रह्मारूपसे वरण करो । ऐसा करने पर यज्ञ चतुष्पात् होकर प्रतिष्ठित होता है । २ । २४" यहाँ पर विपक्षीके

क्रुणुते दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते" इति [गो० ब्रा० २. २४]। "यथैकपात् पुरुषो यन् अनुभयचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति एवमेवास्य यज्ञो भ्रेषं न्येति" इति [गो० ब्रा० ३. २] च ॥

"स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इति स्मृतिस्तु उदाहृतश्रुत्यनुसारेण मुख्यस्य अथर्वविदोऽसंभवे तत्तच्छाखासु यावदुक्तब्रह्मत्वमात्रेणापि क्रतुशरीरनिष्पत्तिर्भवति इत्येवमभिप्राया ॥

"त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३] श्रुतिरपि प्रकृतव्याहृतित्रयापेक्षत्वाद् अविरुद्धा । "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरसः" इति [बृ०

आक्षेपका खण्डन इस प्रकार किया गया है, कि—"इस प्रकार ब्रह्माका वरण न करने पर यज्ञ होता आदिके दक्षिणदेशमें शून्य रह जाता है। गोपथ ब्राह्मण २। २४" "जैसे एक पैर वाला पुरुष चलनेमें अशक्त होता है अथवा एक पहियेका रथ चलनेमें अशक्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मासे (अथर्ववेदके मन्त्रोंसे) हीन यज्ञ फलदायक नहीं होता है। गोपथब्राह्मण ३। २"।

(अब पूर्वपक्षमें कहे हुए सब श्रुतिवाक्योंका सामञ्जस्य दिखाते हैं, कि—) पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार अथर्ववेत्ता श्रेष्ठ ब्राह्मणके न मिलने पर, दूसरी शाखाओंमें कहे हुए ब्रह्मकर्मको करने पर ही यज्ञशरीर सिद्ध होजाता है। इस ही अभिप्रायसे "स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" अर्थात् वह यज्ञ तीन वेदोंके द्वारा ही विहित है—किया जाता है—ऐसी स्मृति चली आती है। और "त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्। ऐ० ब्रा० ५। ३३" त्रयीविद्याके द्वारा ही कहे, यह श्रुति भी भूः भुवः स्वः इन व्याहृतियोंको लक्ष्य करके कही गई है, अतः किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है अर्थात् यहाँ वेदको लक्ष्य करके कुछ नहीं कहा है, व्याहृतियोंको लक्ष्य करके कहा है। और बृहदारण्यक ४। ४। १० में जो कहा है, कि—

आ० ४. ४. १०] वाजसनेयकश्रुत्यनुसारेण त्रयाणाम् उत्पत्ति-श्रुतिः उपलक्षणतया व्याख्येया ॥

"वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति च श्रुतिः "ऋग्भिः पूर्वाह्णे" [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] इति प्रकृतकालत्रयाभिप्रायेण । वेदानां चतुष्टस्य सर्वत्र श्रुतत्वात् । तथा चाग्रे तापनीयोपनिषदि आम्नास्यते । "ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः" इति [नृ० पू० ता० १] । मुण्डके च । "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः इति [मु० १. १] ॥

"यम् ऋषयस्त्रयिविदाः विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि" इति [तै० ब्रा० १. २. १. २६] त्रैविध्यं तु वेदगतमन्त्राभिप्रायम् ।

"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महाभूतके निःश्वासरूप हैं" इससे भी चार वेद ही सिद्ध हैं । वाजसनेयक श्रुतिके वाक्यके अनुसार तीन वेदोंकी उत्पत्तिका विषय ज्ञात होता है, यह बात सत्य है, किन्तु 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' तीनों वेदोंके द्वारा सूर्य सर्वत्र जाते हैं । इस श्रुतिवाक्यका लक्ष्य और है । क्योंकि—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १२ । ६ । १ में कहा है, कि—"ऋक्से पूर्वाह्णमें" । इत्यादि वाक्योंसे तीनों वेदोंसे तीनों काल का बोध होता है । अर्थात् ऋक्के द्वारा पूर्वाह्णमें, यजुके द्वारा मध्याह्नमें और सामके द्वारा सायाह्नमें सूर्यदेव सर्वत्र गमन कर सकते हैं ।—यही भाव प्रकाशित होता है । क्योंकि—वेद चार हैं, यह बात सर्वत्र सुनी जाती है । यथा—नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद् १ में कहा है, कि—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस प्रकार चार वेद हैं ।" मुण्डकोपनिषद् १ । १ में भी कहा है, कि—"उनके मध्यमें अपरा विद्या—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं" तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । १ । २६ के "त्रयीवेत्ता ऋषि जो ऋक् साम और यजुको जानते हैं" इस वाक्यमें तीनों

तद्द उक्तं जैमिनिना। "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" [जै० २. १. ३२] "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २. १. ३५]। "गीतिषु सामाख्या" [जै० २. १. ३६]। "शेषे यजुःशब्दः" [जै० २. १. ३७] इति। तद्द अस्मिन्नपि वेदे विद्यत इति न चतुष्ट्वव्याकोपः॥

उच्चैस्त्वादिधर्मनियमोपि अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद इत्युपक्रमवाक्यगतवेदत्रयापेक्ष इति न विरोधः॥

ननु अस्मिन् वेदे मन्त्राणाम् ऋगाद्युक्तलक्षणयोगात् तदन्यतमव्यपदेशभाक्त्वं युक्तम्॥ नैष दोषः। अथर्वाख्येन ब्रह्मणा दृष्टत्वात् तन्नाम्ना अयं वेदो व्यपदिश्यते। तथा हि। पुरा खलु सृष्ट्यर्थं

वेदोंके त्रिविध मन्त्रगत अभिप्रायको समझते हैं, ऐसा अर्थ है। इसी बातको महर्षि जैमिनि कहते हैं, कि–"कर्म वेदमन्त्रके अनुसार होते हैं" २। १। ३२ जै०। "जहाँ अर्थक्रमसे पादव्यवस्था होती है, तहाँ ऋक् होता है" २। १। ३५ जै०। "गीतिविषयमें साम होता है" २। १। ३६ जै०। "शब्द विषयमें यजु होता है" २। १। ३७। किन्तु इस अथर्ववेदमें ये सब ही विषय विद्यमान हैं, अत एव वेद चार हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। स्वरधर्मनियमक्रममें पूर्वपक्षमें कहा है, कि–अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और आदित्यसे सामवेद प्रकट हुआ है, चतुर्थ अथर्ववेदका वर्णन कहीं नहीं है, किन्तु यह उक्ति वेदत्रयकी अपेक्षा रख कर उपक्रमस्वरूपसे प्रयुक्त हुई समझनी चाहिये। उससे चारों वेदोंके अस्तित्वमें कोई दोष नहीं आता है।

यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि–"इस अथर्ववेदमेंके मन्त्र ऋग्वेद आदिके ही हैं, अत एव उन तीनों वेदोंमेंसे ही एक का नाम होना चाहिये (चौथेका नहीं)" क्योंकि–अथर्वा नाम वाले ब्रह्मा इस वेदके द्रष्टा हैं अत एव उनके नामसे ही यह वेद

स्वयम्भु ब्रह्म तपस्तेपे। तस्मात् तप्यमानात् सर्वेभ्यो रोमकूपेभ्यः स्वेदधारा अजायन्त। तासु स्वेदजातासु अप्सु स्वां छाया पश्यतो रेतश्चस्कन्द। तद्रेतःसहिता आपो द्विरूपा अभवन्। तत्रैकतः स्थितं रेतो भृज्ज्यमानं सत् भृगुर्नाम महर्षिरभवत्। स एवः भृगुः स्वोत्पादकस्य तिरोहितस्य ब्रह्मणो दर्शनाय "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छ" इति [गो० ब्रा० १.४] अशरीरया वाचोक्तत्वात् अथर्वाख्योप्यभवत्। अवशिष्टरेतोयुक्ताभिरद्भिरावृतस्य वरुणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। सोऽङ्गरसभूतत्वात् अङ्गिरा नाम महर्षिरभवत्। ततस्तत्कारणं ब्रह्म तम् अथर्वा-

---

प्रसिद्ध है। इस संबंधमें एक उपाख्यान है, कि—पहिले स्वयंभू ब्रह्माजीने सृष्टिके निमित्त तपस्या आरंभ की। जब वह तप कर रहे थे उस समय उनके सब रोमकूपोंमेंसे पसीना बहने लगा। उस पसीनेके जलमें अपनी परछाहीं (प्रतिबिम्ब) को देख कर उनका वीर्य स्खलित होगया। जलमें उस वीर्यके पड़ने पर जल सहित वीर्य दो भागोंमें बँट गया। एक भागका वीर्य भृज्ज्यमान होने पर (पकने) भृगु नामके महर्षिके रूपमें परिणत होगया। वह भृगु अपने उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजीके अन्तर्धान होजाने पर उनका दर्शन पानेके लिये व्याकुल हुए उनसे आकाशवाणीने कहा, कि-"अथार्वाक् एनं एतास्वेवाप्सु अन्विच्छ" [गोपथब्राह्मण १। ४] अर्थात् तू जिसको देखना चाहता है उसको भली प्रकार इस जलके मध्यमें देखनेकी चेष्टा कर। आकाशवाणीके इस प्रकार कहनेसे उनका एक नाम अथर्वा भी हुआ। तदनन्तर बाकी बचे हुए रेत और जलसे आवृत तप्त ब्रह्माजीके (मुखसे) वरुण ऐसा शब्द निकला और उनके सब अङ्गोंसे रस बहने लगा। अङ्गोंके रससे उत्पन्न होनेके कारण (वहाँ) वह अङ्गिरा नाम वाले महर्षि हुए। तदनन्तर सृष्टिके कारण ब्रह्माजीने अथर्वा ऋषिसे

णम् अङ्गिरसं चाभ्यतपत् । ततः एकर्चद्व्यृचादिमन्त्रद्रष्टारो विंशतिसंख्याका अथर्वाणोऽङ्गिरसश्चोत्पन्नाः । तेभ्यस्तप्तेभ्य ऋषिभ्यः सकाशात् स्वयंभु ब्रह्म यान् मन्त्रान् अद्राक्षीत् सोथर्वाङ्गिरःशब्दवाच्यो वेदोऽभवत् । अत एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्याकत्वाद् वेदोपि विंशतिकाण्डात्मकः सम्पन्नः । अत एव सर्वसारत्वाद् अयं वेदः श्रेष्ठः ॥ श्रूयते हि । "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोधि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव" इति [गो० ब्रा० १.६] । तथा "एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः । येङ्गिरसः स रसः । येथर्वाणस्तद् भेषजम् । यद् भेषजं तद् अमृतम् । यदमृतं तद् ब्रह्म" इति [गो०ब्रा०३.४] ॥ एवं सारभूतब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादनाच्च अयं ब्रह्मवेद इत्यप्याख्यायते ॥

और अङ्गिरा ऋषिसे तपस्या करनेके लिये कहा । तदनन्तर उनकी तपस्याके प्रभावसे एकर्च द्व्यृच आदि मन्त्रसमूहोंके द्रष्टा बीस अथर्वा और अङ्गिरा प्रकट हुए । उन तप करते हुए ऋषियोंके सामने स्वयंभू ब्रह्माजीने जिन मन्त्रोंको देखा, वह "अथर्वाङ्गिरा" नामक वेद हुआ । एकर्च आदि ऋषि बीस थे अतः इस वेदमें भी बीस काण्ड हैं अत एव सबका सारभूत होनेसे यह अथर्ववेद ही श्रेष्ठ वेद है । गोपथ ब्राह्मणमें कहा है, कि—"तपस्या द्वारा उत्पन्न यह श्रेष्ठ अथर्ववेद ब्रह्मज्ञोंके हृदयमें प्रकाशित हुआ था" गोपथब्राह्मण १ । ६ । गोपथब्राह्मणमें और भी कहा है, कि—"जो भृग्वङ्गिरा नाम वाला है वही (श्रेष्ठ) वेद है । जो अङ्गिरा है वह रस है । जो अथर्वा है वह औषध है । जो औषध है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म (अथर्व नाम वाला वेद) है" गो. ब्रा. ३।४ इस प्रकार सारभूत ब्रह्मात्मक होनेसे और ब्रह्मकर्म का प्रतिपादन करने वाला होनेसे यह वेद ब्रह्मवेद कहलाता है ।

तथा च श्रुतिः। "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः" इति [गो० ब्रा ०२.१६]। अत एव सारवत्त्वात् सिद्धमन्त्रता समाम्नायते।

न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति॥ [प० २.५]

इति। तथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमतफलसाधनत्वम् उक्तम्।

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः।
तेषाम् अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्। इति॥

अस्य वेदस्य सर्पवेदादयः पञ्चोपवेदा अङ्गत्वेन समनन्तरं ब्रह्मणा सृष्टाः। तथा च ब्राह्मणम्। "स दिशोन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीम् उदीचीं ध्रुवाम् ऊर्ध्वाम्" इति प्रक्रम्य "पञ्च वेदान् निरमि-

---

श्रुतिमें भी कहा है, कि-"वेद चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद" गो. ब्रा. २।१६। अत एव सब वेदोंका सार होनेसे अथर्ववेदके मन्त्र सिद्धमन्त्र प्रसिद्ध हैं। यथा—"यदि अथर्ववेदके मन्त्रोंकी प्राप्ति होजाय तो तिथि नक्षत्र ग्रह और चन्द्रशुद्धि आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—अथर्ववेदके मन्त्रोंसे सब विषयोंमें सिद्धि मिल सकती है" [प० २।५] इसीप्रकार स्कन्दपुराणके कमलालयखण्डमें कहा है, कि—अथर्ववेदके मंत्रों का जप करनेसे अभिमत फलकी सिद्धि होजाती है। यथा "अर्थात् जो व्यक्ति अथर्ववेदके मंत्रोंका श्रद्धापूर्वक जप करता है, वह मंत्रों के अर्थमें कहे फलको अवश्य पाता है।"

ब्रह्माजीने इस वेदके अनन्तर ही इसके अङ्गरूपसे सर्पवेद आदि इसके पाँच उपवेदोंकी सृष्टिकी। गोपथब्राह्मण १।१० में "उसने पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण दिशा तथा ध्रुवा और ऊर्ध्वा (ऊपर) को देखा" ऐसा उपक्रम करके कहा है, कि—"उन ब्रह्माजीने पाँच वेदों

मीत सर्पवेदम् पिशाचवेदम् असुरवेदम् इतिहासवेदम् पुराणवेदम्" इति [गो० ब्रा०१.१०]। तदेवम् आमुष्मिकफलेषु दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु अपेक्षितं ब्रह्मत्वम् अनन्यलभ्यत्वाद् अथर्ववेदैकसमधिगम्य इति स्थितम् ॥ तद्वदेव ऐहिकफलानि शान्तिकपौष्टिकानि कर्माणि राजकर्माणि अपरिमितफलानि तुलापुरुषादिमहादानानि च अथर्ववेद एव प्रतिपादितानि ॥ पौरोहित्यं च अथर्वविदैव कार्यम् । तत्कर्तृकाणां कर्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात् । तथा च विष्णुपुराणे—

"पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकानि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च" इति । भट्टाचार्यैरप्युक्तम्

को रचा, उनके नाम इस प्रकार है,—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद इतिहासवेद और पुराणवेद।" परलोकमें फलमें देने वाले दर्श (अमावस्याके दिन किये जानेवाले) पौर्णमास (पूर्णिमाके दिन किये जाने वाले) यज्ञमें, उत्तरायण तथा दक्षिणायनके अन्तमें होने वाले यज्ञमें इसके अतिरिक्त त्रयी वेदोंमें विहित यज्ञोंमें जिस ब्रह्मकर्मकी अपेक्षा (आवश्यकता) होती है, वह दूसरे वेदोंसे लब्ध नहीं होसकता—पाया नहीं जासकता, अत एव यह स्थिर होगया, कि—ब्रह्मकर्म एकमात्र अथर्ववेदसे ही सिद्ध होसकता है। तथा इस लोकमें फल देनेवाले शान्तिक, पौष्टिककर्म, राजकर्म और अपरिमित फल देने वाले तुलापुरुष आदि महादान अथर्ववेदमें ही कहे हैं। तथा अथर्ववेदको जाननेवालेसे ही पौरोहित्य (पुरोहिताईका) कर्म कराना चाहिये, क्योंकि—पुरोहितोंके कर्म राजाभिषेक आदिका अथर्ववेदमें ही विस्तारपूर्वक वर्णन है।

इसी बात को विष्णुपुराणमें भी कहा है, कि—"राजाओंका पौरोहित्य शान्तिक तथा पौष्टिककर्म और ब्रह्मकर्म अथर्ववेदसे ही करावे।"

शान्तिपुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रयाः ।
क्रियन्तेथर्ववेदेन त्रय्येवात्मीयगोचराः ।

इति । नीतिशास्त्रेपि

त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात् पुरोहितः ।
अथर्वविहितं कर्म कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ।

इति । मत्स्यपुराणे

पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम् ।

इति । मार्कण्डेयपुराणे

अभिषिक्तोथर्वमन्त्रैर्महीं भुंक्ते ससागराम् ।

इति । अथर्वपरिशिष्टे

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्द राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
तस्माद्‌ राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम् ।

भट्टाचार्योंने भी कहा है,कि–"शान्तिक, पौष्टक और आभिचारिक कर्म एकमात्र ब्रह्मा–ऋत्विक्के ही अधीन हैं । अत एव त्रयीवेदविहित कर्म तथा ब्रह्मकर्म भी अथर्ववेदसे ही किये जाते हैं।"

नीतिशास्त्रमें कहा है, कि–"पुरोहित त्रयीवेदमें और दण्डनीतिमें कुशल होना चाहिये, ऐसा पुरोहित अथर्ववेदमें कहेहुए शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंको करावे ।"

मत्स्यपुराणमें भी कहा है, कि–"अथर्ववेदके मन्त्रोंका और ब्राह्मणभागका जानने वाला पुरोहित कहलाता है ।"

मार्कण्डेयपुराणमें भी कहा है, कि–"अथर्ववेदके मन्त्रोंसे अभिषिक्त हुआ राजा समुद्र तककी पृथ्वीको भोगता है ।"

अथर्वपरिशिष्टमें भी कहा है, कि—"जिस राजाके राज्यमें शान्तिक कर्मोंके पारको जाननेवाला अथर्ववेत्ता ब्राह्मण निवास करता है, वह राष्ट्र उपद्रवशून्य रहता हुआ बढ़ता रहता है । इस

दानसंमानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत् [प०४.६] । इति ॥

स्याद् एवम् । यद्यस्य अर्थवत्त्वं स्यात् तदास्य व्याख्यानम् उपपन्नं स्यात् । तदेव कुत इति चेत् । उच्यते । "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" [तै० आ०२.१५] इत्यनेन विधिना कृत्स्नस्यापि वेदराशेः अर्थावबोधपर्यन्तं तस्य बोधितत्वात् । तथा हि । "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्र विध्यविरुद्धा भावना प्रतीयते । सा च द्विविधा । शब्दभावना अर्थभावना चेति । तद् उक्तम् आचार्यैः । "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने प्रतीयेते । शब्दभावना अर्थभावना च" इति । तत्र शब्दभावनाया अर्थभावना भाव्या । लिङादिः करणम् । अर्थवादप्रतिपादिता स्तुतिः इति कर्तव्यता । अर्थभावनायाः स्वर्गादिर्भाव्यः । धात्वर्थः करणम् । प्रयाजादिः इतिकर्तव्यता ॥

कारण राजा जितेन्द्रिय अथर्ववेत्ता ब्राह्मणकी दानमानसत्कार पूर्वक सदा पूजा करे ।" प० ४ । ६

अब पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है, कि—यदि इसका अर्थवत्त्व (प्रयोजन) होता तो इसका व्याख्यान भी ठीक होता । इसकी व्याख्या भी उपपन्न होती । तो इस शङ्काका उत्तर यह है, कि—तैत्तिरीय आरण्यक २ । १५ में कहा है, कि—"स्वाध्याय पढ़े" इस विधिके द्वारा समग्र वेदकी—सब वेदोंकी—अर्थज्ञानसहित (प्रयोजन ज्ञानसहित) पढ़नेकी विधि बोधित होती है । "स्वाध्या पढ़े" इस स्थलमें विधिके अविरुद्ध—अनुकूल - भावना प्रतीत होती है । यह भावना दो प्रकारकी है । एक शब्दभावना और दूसरी अर्थभावना । आचार्योंने भी यही कहा है, कि—"इन लिङ् आदि युक्त वाक्योंमें दो भावनाएँ प्रतीत होती हैं, शब्दभावना और अर्थभावना । तहाँ शब्दभावनासे अर्थभावना चिंतनीय है । लिङ् आदि करणके द्वारा और अर्थवादके द्वारा समुत्पन्न स्तुति ही इतिकर्तव्यता है । अर्थभावनासे स्वर्ग आदिका चिंतवन

ननु धात्वर्थातिरेकिणीं भावनामेव नोपलभामहे कस्या धात्वर्थः करणं स्यात् । कथं वा तस्या विभागः । भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावनेति चेत् न । पचियजिगमिप्रभृतिषु धातुषु अधिश्रयणसंकल्पचलनादयो धात्वर्था एवेति अतिरिक्तस्य भावकव्यापारस्य अभावात् । प्रयत्नो भावकव्यापार इति चेत् न । वृत्तश्चलति काष्ठानि पचन्ति नौर्याति इत्येवमादिषु अचेतनकर्तृकव्यापारेषु तदभावात् । स्पन्दः स इति चेत् [न] । आत्मकर्तृकव्यापारेषु यजतिददातिजुहोतीत्यादिषु तदभावात् । तर्हि उभयानुगतम् औदासीन्यप्रच्युतिसामान्यमेव भावकव्यापारो भविष्यतीति चेत् न । अचेतने शब्दे

करना चाहिये । धातुका अर्थ करण है । और प्रयाज आदि इति कर्तव्यता है ।

यदि कहो, कि—धात्वर्थसे अतिरिक्त भावना, ज्ञानकी विषयीभूत नहीं है । धात्वर्थ करण किसका होगा और उस भावनाका अर्थविभाग किस प्रकार होगा ? यदि तुम कहो, कि—भाव्यवस्तुनिष्ठ जो भावकका व्यापार है वही भावना है । तो यह बात नहीं है, क्योंकि—पच यज गम आदि धातुका अर्थ क्रमशः अधिश्रयण, संकल्प और चलन है, इसके अतिरिक्त भावकव्यापारका अभाव है, यदि कहो, कि—प्रयत्न (चेष्टा) ही भावकका व्यापार है, वही भावना है । तो यह भी नहीं होसकता, क्योंकि—वृत्त चलता है, काठ पकाते हैं, नौका जाती है, इत्यादि अचेतन कर्ताके व्यापार में प्रयत्नका अभाव होता है, यदि कहो, कि—स्पन्द ही भावकका व्यापार है । तो यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि—स्वकीयकर्तृव्यापारमें यजन करता है, दान करता है, होम करता है,—इत्यादि स्थलोंमें उसका अर्थात् स्पन्दका अभाव होता है । अब यह कहना भी ठीक नहीं है, कि—"उभयानुगत (स्पंद और प्रयत्नानुगत) औदासीन्यरूप प्रच्युतिसाधारण ही (अकर्मादि)

स्पन्दप्रयत्नयोरभावेन तदुभयसामान्यरूपस्य तस्य अभावात् ॥ सत्यम् धात्वर्थाद् अत्यन्तातिरेकिणी भावना नास्तीति । धात्वर्थानामेव पाको यागः प्रयत्नः संकल्पः अधिश्रयणम् विक्लेदनम् अभिधानम् चोदनम् इति प्रातिस्विकं धात्वभिधेयम् अक्रियात्मकं सिद्धस्वभावम् एकं रूपम् । सर्वधात्वर्थानुगतं करोतिप्रत्ययवेद्यं क्रियात्मकं साध्यस्वभावम् अन्योत्पादनानुकूलात्मकम् आख्यातप्रत्ययवेद्यम् अपरं रूपम् । तथा हि । यः स्पन्दते यो यजते यश्चरति यो विदधाति ते सर्वे करोति प्रत्ययं अनुभवन्ति । स्पंदते स्पन्दनं करोति यजते यागं करोति इत्येवं सर्वत्र करोत्यर्थस्यानुगतिः।

भावकका व्यापार है।" क्योंकि–ऐसा होने पर अचेतन शब्दमें स्पन्द और प्रयत्नका अभाव होनेसे इन दोनोंके साधारणरूप व्यापारका (कर्मका) अभाव होता है ॥ अब उत्तरमें कहते हैं,कि–धात्वर्थसे अत्यन्तातिरेकिणी भावना नहीं होती यह सत्य है। पाक, याग, प्रयत्न, संकल्प, अधिश्रयण, विक्लेदन, अभिधान और चोदन–इसप्रकारका ही अर्थ होता है, वह धातुका (स्वाभाविक) स्वभाव सिद्ध, धातुका अभिधेय (भावना वा धारणाका विषय) अक्रियात्मक (कर्मसम्बन्धशून्य) और सिद्धस्वभाव (परिचय) धातुका एकरूप है। (और दूसरा रूप) सकल धात्वर्थके अनुगत 'करोति' प्रत्ययके द्वारा ज्ञेय (जानने योग्य), क्रियात्मक, साध्यस्वभाव, अन्य (स्वर्ग आदि) के उत्पादनके विषयमें अनुकूलात्मक आख्यातप्रत्ययके द्वारा जाननेमें आने वाला धातुका एक दूसरा रूप है। (अब इस बातको और स्पष्टरूपसे समझाते हैं, कि–) 'यः स्पन्दते', 'यो यजते', 'यश्चरति', 'यो विदधाति'–इत्यादि सर्वत्र करोति (करने) का अर्थ अनुभूत होता है। जैसे 'स्पन्दते' अर्थात् 'स्पन्दनं करोति' 'यजते' अर्थात् 'यागं करोति' इस प्रकार सर्वत्र ही करोतिका अर्थ पीछे २ चल रहा है)

तदुक्तम् आचार्यैः—

> सिद्धकर्तृ क्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति।
> सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते ॥
> [मी० भा० वि० २. १. १]

इति ॥ भिन्नेषु विविधधात्वर्थेषु उत्पाद्यवस्त्वन्तरकर्मकम् एतदेवापरं रूपं भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वात् भावनेत्युच्यते। तच्च यजेत दद्यात् जुहुयात् इत्याख्यातप्रयोगेष्वेव अवगमात् पाकः त्यागः रागः इत्यादिषु अनवगमाच्च अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आख्यातप्रत्ययाभिधेयम् अङ्गीक्रियते। यथाहुः—

> अभिधाभावनाम् आहुरन्यामेव लिङादयः।
> अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥
> [मी० भा० वि० २. १. १]

आचार्योंने भी कहा है, कि—

सिद्धस्वभावकर्तृ क्रियावाची आख्यात प्रत्यय होने पर, सामानाधिकरण्यके द्वारा 'करोति' का अर्थ ही अवगत होता (जानने में आता) है ॥ (मी० भा० वि० २।१।१)।

परस्पर भिन्न विविध धात्वर्थोंमें उत्पादनीय वस्तुका अन्तरकर्मक—ही जो अपर रूप है, वही भविताके प्रयोजक व्यापारत्ववश भावना नामसे पुकारा जाता है। यह यजेत, दद्यात्, जुहुयात्—ऐसा रूप आख्यातके प्रयोगोंसे ही जाना जाता है। पाकः त्यागः, रागः आदि स्थानोंमें नहीं जाना जाता, अत एव अन्वयव्यतिरेकके द्वारा आख्यातप्रत्ययका अभिधेय अङ्गीकार किया जाता है। कहा है, कि—

"लिङ् आदि अन्या (दूसरी) अभिधाभावना कहलाती है और सब आख्यातोंकी विषय अर्थात्मभावना दूसरी भावना है।" (मी० भा० वि० २।१।१)

इति। ये प्रयत्नं वा स्पन्दं वा उभयं वा भावनाम् अङ्गीकुर्वते तैरपि तेषां सर्वत्रानुगमाभावात् सर्वधात्वर्थानुगतम् अन्योत्पादनानुकूलरूपमेव भावनेत्यङ्गीकर्तव्यम्। एतदप्युक्तम्—

सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधो मतः।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी॥

इति। तस्माद्‌ धात्वर्थातिरेकिणी भावनेति सिद्धम्॥

तथा च अध्ययनविधावपि तव्यप्रत्ययावगताया भावनाया अंशत्रयेण भवितव्यम्। तत्र धात्वर्थः करणत्वेन अन्वेति॥ भाव्यापेक्षायाम् अत्र तस्यानुपात्तत्वात् "स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" इति [जै० ४. ३. १५] विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव भाव्यतया अन्वेतीति पूर्वः पक्षः। ननु कथं स्वर्गस्य

जो धात्वर्थ समूह प्रयत्न वा स्पन्द अथवा प्रयत्न और स्पंद दोनोंको ही भावना मानते हैं। उस धात्वर्थसमूहके सर्वत्र अनुगतका अभाव होता है। अतः सकल धात्वर्थके अनुगत अन्य अर्थ के उत्पादनके विषयमें अनुकूलरूप भावना अङ्गीकार करना उचित है। कहा भी है, कि—

धात्वर्थ सिद्धस्वभाव और साध्यस्वभाव भेदसे दो प्रकारका है। इनमें अन्यके उत्पादनके विषयमें जो अनुकूलात्मक भावना है, वह साध्यरूपिणी है।

अत एव धात्वर्थातिरेकिणी भावना है, यह सिद्ध होगया।

अब अध्ययनविधिमें तव्यप्रत्ययके द्वारा जो भावना प्रतीत होती है, उसके तीन अंश हैं। तहाँ धात्वर्थ, करणत्वके साथ अन्वित है, क्योंकि—भाव्य—वस्तुकी अपेक्षासे उसका लाभ नहीं होता है। "स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" (जै. ४। ३। १५) इस जैमिनिसूत्रके अनुसार विश्वजित् न्यायके द्वारा स्वर्ग ही भाव्यतासे अन्वित होता है; यह पूर्वपक्ष है। यहाँ पर स्वर्गकी भाव्यता कैसे

भाव्यता। समनन्तरपदोपात्तस्य स्वाध्यायस्यैव भाव्यत्वाद् इति चेत् न। तस्य अपुरुषार्थत्वेन भाव्यत्वासंभवात्॥ तर्हि अर्थज्ञानमेव दृष्टप्रयोजनरूपत्वाद् भाव्यं भवत्विति चेत् न। विधिम् अन्तरेणापि पदपदार्थव्युत्पत्तिमताम् अधीतेन स्वाध्यायेन अर्थज्ञानस्य जायमानत्वात्॥ तर्हि अधीतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयाद् इति अवघातादिवद् नियमार्थो विधिर्भवत्विति चेत् न। अनारभ्याधीतस्य स्वाध्यायविधेः अक्रत्वर्थत्वेन नियमार्थत्वानुपपत्तेः। अवघातादयोपि क्रतावेव नियम्यन्ते अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः पुरोडाशादिनिष्पादनद्वारा दर्शपूर्णमासापूर्वं संपादयेदिति न तण्डुलादिस्वरूपे। प्रमाणान्तरविरोधात्॥ मा भूत् स्वाध्यायस्य भाव्यता। मा च भूद् अर्थज्ञानस्य। तथापि "यद् ऋचोधीते पयसः कुल्या

होसकती है? क्योंकि-समनन्तरपदलभ्य स्वाध्यायकी ही भाव्यता होसकती है तो ऐसा नहीं होसकता, क्योंकि-उक्त स्वाधयायके अपुरुषार्थत्वके कारण भाव्यत्व असम्भव है। यदि उसके अर्थज्ञानको ही दृष्टप्रयोजनरूप होनेसे भाव्यत्व माना जाय तो ऐसा भी नहीं होसकता। क्योंकि-पद पदार्थको समझनेवाले विद्वान् यदि विधिके विना भी पढ़ते हैं तो अर्थज्ञान होजाता है। अब यह भी नहीं कहा जासकता, कि-'अधीत स्वाध्यायके द्वारा अर्थको जाने' इसप्रकार अभिघात आदिकी समान नियमार्थ ही विधि है। क्योंकि-आरम्भ न करके अधीत स्वाध्यायविधि यज्ञार्थ न होनेसे नियमार्थकी अनुपपत्ति है। अविघात (कूटना) आदि यज्ञकार्यमें ही विहित होसकते हैं अवघातनिष्पन्न तण्डुलों (चावलों) से पुरोडाश आदि निष्पादित होता है, उससे दर्श पूर्णमास आदि यज्ञ सम्पादित होता है, किन्तु तण्डुल आदिके द्वारा सम्पादित नहीं होता है, अन्यथा दूसरे प्रमाणोंसे विरोध पड़ता है। यदि कहो, कि-स्वाध्यायकी और अर्थज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, 'यद्

अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या। यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या। यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति" [तै० आ० २. १०] इत्यध्ययनं प्रकृत्य पठितार्थवादोक्तघृतकुल्यादिकमेव भाव्यं भवत्विति चेत् न। तस्यापि ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायम् अधिकृत्य पठितत्वेन ग्रहणाध्ययनफलसमर्पकत्वानुपपत्तेः। तथापि अतिदेशतः प्राप्तेः अस्यापि फलं भविष्यतीति चेत् न। अर्थवादस्य अनतिदेश्यत्वात्। तस्माद्
विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव अध्ययनविधेर्भाव्यः। यथाहुः—

ऋचोऽधीते' इत्यादि (तै. आ. २।१०) अर्थात् जो ऋग्वेद के मन्त्रोंको पढ़ता है तो स्वधा दूधकी नदियें उसके पितरों के पास पहुँचाती हैं। जो यजुर्वेदके मन्त्र पढ़ता है तो घृतकी नदियें पहुँचाती हैं जो सामवेदके मन्त्रोंको पढ़ता है तो सोम पितरों को पवित्र करता है। जो अथर्वाङ्गिरा वेदके मंत्रोंको पढ़ता है तो पितरोंको मधुकी नदियें पहुँचती हैं और जो ब्राह्मणग्रंथ, इतिहास, पुराण, कल्पसूत्र और मनुष्यसम्बन्धी गाथाओंको पढ़ता है उसके पितरोंके शरीरमें मेदके प्रवाह बहते हैं।"

इस सूत्रके अनुसार अध्ययन करके पठित अर्थवादोक्त घृत कुल्यादि ही भाव्य होजाय—तो ऐसा भी नहीं होसकता, वह भी ब्रह्मयज्ञ और स्वाध्यायको अधिकार करके पढ़े गए हैं, अत एव उनके द्वारा अध्ययनफलसमर्पकत्वका लाभ नहीं होता तथापि यह कहो, कि—अतिदेश प्राप्तिवश इसका भी फल होगा, तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि—अर्थवाद कभी भी अतिदेश नहीं होसकता। इस लिये विश्वजित् न्यायके द्वारा अध्ययनविधि का स्वर्ग ही भाव्य है, कहा है, कि—

विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता ।

कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् । इति ॥

अत्रोच्यते । अर्थावबोधार्थमेव अध्ययनं विधीयते ॥ ननु पदपदार्थव्युत्पत्तिमतां पुंसां विधिम् अन्तरेणापि अर्थावबोधो जायत इति विध्यानर्थक्यम् इत्युक्तम् इति चेत् न । अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयात् न पुस्तकादिपठितेनेति नियमार्थत्वाद् विधेः अक्रत्वर्थेषु नियमानुपपत्तिरिति उक्तम् इति चेत् न । "प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत" इत्येवमादिषु अक्रत्वर्थेष्वपि नियमदर्शनात् ॥ "व्रीहीन् प्रोक्षति" इत्यादिविधिवद् संस्कारविधानमात्रपर्यवसायित्वाद् अयं विधिर्न स्वाध्यायस्य अर्थज्ञानार्थतां बोधयतीति चेत् न । "यस्य

विधिरहित दृष्टलाभसे अर्थ कभी संभव नहीं होता है । विधिकी शक्तिवश विश्वजित् आदिकी समान स्वर्ग कल्पनीय है ।

अब कहते हैं, कि—अर्थको अर्थात् प्रयोजनको समझनेके लिये ही अध्ययनविधि विहित होती है । यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि—"पद और पदार्थकी व्युत्पत्ति (समझ) रखने वाले पुरुष विधिके विना भी पद और पदार्थको पढ़ कर प्रयोजनको समझ लेते हैं, अतः विधि अनर्थक है ।" क्योंकि—"अध्ययनद्वारा संस्कृत जो स्वाध्याय उससे ही प्रयोजनको समझे, केवल पुस्तकमें पढ़ कर ही न जाने, इस प्रकार विधिका नियम है" यदि कहो, कि—उक्तविधि यज्ञके निमित्त नहीं है, अत एव इसमें नियमकी अनुपपत्ति होती है, तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि—'पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करे' यह विधि भी यज्ञके निमित्त नहीं है, किन्तु यहाँ पर भी नियम दीखता है । यदि कहो कि—'धानों पर जल छिड़कता है' इत्यादिविधिकी समान संस्कारविधानमात्रमें ही पर्यवसित होनेसे (संस्कारमात्रमें ही काममें आने वाली होनेसे)-प्रयोजनका ज्ञान स्वाध्यायके होनेकी

उपदधाति" [तै० सं० ५. ६. २. ५] इति चरोरुपधानविधिः संस्कारं विदधद्द यथा तत्संस्कृतस्य चरोः स्थलनिष्पत्तिशेषतां विधत्ते तद्वद् अध्ययनविधिरपि स्वाध्यायस्य अध्ययनसंस्कारं विदधत् तत्संस्कृतस्य तस्य अर्थावबोधार्थत्वं विधत्ते॥ संस्कारविधेः संस्कारविनियोगपर्यन्तत्वेपि फलत्वाविशेषात् स्वर्गार्थतां कुतो न विधत्त इति चेत् [न]। अर्थावबोधस्य दृष्टप्रयोजनस्य संभवे अदृष्टार्थत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। तद्द उक्तम्।

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति। इति॥

प्राभाकरास्तु

उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद्द द्विजः।

(अर्थज्ञान) सूचना नहीं देती है। तो यह बात भी नहीं है। क्योंकि–'चरुं उपदधाति' (तै० स० ५। ६। २५) चरुसंस्कारमूलक यह उपाधानविधि तैत्तिरीयसंहितामें कही है। उक्त विधिके अनुसार संस्कारके साथ जैसे चरुकी स्थलनिष्पत्ति वा चरुप्रस्तुत कार्य सम्पन्न होजाता है,इसीप्रकार स्वाध्याय (वेद) अध्ययन करतेर उसके अर्थको जता देता है। यदि कहो, कि–संस्कारके विनियोग तक संस्कारविधि होने पर भी फल विषयका विशेष उल्लेख नहीं है, अत एव इस संस्कारविधिसे स्वर्गरूप अर्थ विधान क्यों न करें? तो यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि दृष्टप्रयोजन रूप अर्थज्ञानके संभव होने पर अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अन्याय है। इसी बातको कहा है, कि–

दृष्ट फलके मिलने पर अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं कीजाती है, विधिके नियमार्थ होनेसे अनर्थ विधि विहित नहीं होगी।

मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके १४० वें श्लोकमें कहा है; कि–जो द्विज शिष्यका उपनयन कराकर, कल्प और रहस्य सहित

सकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते ॥

[म० स्मृ० २. १४०]

इति स्मृत्यनुमितेन 'उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं संपादयेद्' इत्यनेन विधिना लब्धानुष्ठानस्य "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यस्याध्ययनविधेः अधिकारपरत्वजिज्ञासायां प्रथमप्रतीतेन आचार्यकाधिकारत्वम् आशङ्क्य अन्तरङ्गत्वाद् अर्थज्ञानाधिकारपरत्वमेव वर्णयन्ति ॥

तद् अयुक्तम् । आचार्यकरणविधेरेव अभावात् ॥ ननूक्तम् । "उपनीय तु यः शिष्यम्" इत्यनया 'स्मृत्या उपनीयाध्यापनेन आचार्यकं भावयेद्' इत्येवंरूप आचार्यकरणविधिरनुमीयत इति । तन्न । एवंरूपायाः श्रुतेः अनेवंरूपया स्मृत्या अनुमातुम् अशक्यत्वात् । तथा हि । इयं स्मृतिः उपनीयाध्यापयिता आचार्य इति

वेदको पढ़ाता है, उसको आचार्य कहते हैं ।

प्राभाकर कहते हैं, कि–उक्त स्मृतिके द्वारा अनुमित विधिके साथ 'उपनयन कराकर अध्यापनसे आचार्यको सम्पादन करे' इस विधिके द्वारा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की अध्ययनविधि लब्धक्रिय होती है, उसके अधिकारपरत्वकी ज्ञानेच्छा होने पर प्रथम प्रतीत (स्मृतिके द्वारा अनुमित) विधिसे आचार्यके अधिकारकी आशंका कर अन्तरंग होनेसे अर्थज्ञानका अधिकारपरत्व ही घटना है ।

किन्तु आचार्यकरणरूप विधिका अभाव होनेसे यह युक्तियुक्त नहीं है । यदि कहो, कि–कहा है, कि–"उपनीय तु यः शिष्यम्० शिष्यका उपनयन कराकर०" इस "स्मृतिके द्वारा उपनीत करके अध्यापनके हेतु आचार्यकी भावना करे" तो इस प्रकार आचार्य करणकी विधि अनुमित होती है तो ऐसा श्रुतिवाक्य अन्यरूपवाली स्मृतिके द्वारा अनुमित नहीं किया जा सकता । क्योंकि–स्मृतिमें

ब्रवीति। न पुनरध्यापनं विदधाति। तद्विधाने योऽध्यापयिता तम् आचार्यं प्रचक्षत इत्यंशेन एकवाक्यताविरोधात्॥ ननु 'उपनीयाध्यापयेद्' इति अध्यापनं विधाय विधिसिद्धम् अर्थं 'यस्तु' इति अनूद्य तस्याचार्यत्वं प्रतिपादयतीति चेत् न॥ स्वारस्येन विध्यप्रतीतौ तदाश्रयणेन वाक्यभेदकल्पनायां प्रमाणाभावात्। तद् उक्तम्।

संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते।

इति॥ किं च। 'योऽध्यापयेद्' इति यच्छब्दयोगोपि विधिशक्तिम् अपहन्ति। तर्हि "यदाग्नेयोष्टाकपालः" [तै० सं० २. ६. ३. ३] इत्यादावपि यच्छब्दयोगाद् विधिशक्तिरपहन्येतेति चेत्। सत्यम्। तथापि यच्छब्दवृत्तस्य विधित्वभङ्गेन "यदा-

---

कहा है, कि—उपनीत करके (यज्ञोपवीत कराकर) पढ़ाने वाला आचार्य कहलाता है। किंतु अध्यापनविधिमें यह विधि विहित नहीं है। तद्विधानविषयमें 'जो अध्यापयिता है उसको आचार्य कहते हैं' इस अंशके साथ एकवाक्यताका विरोध पड़ता है। यदि कहो, कि—उक्तविधिमें "उपनीत करके अध्यापन करावें" इस प्रकार अध्यापनाको विहित करके, पश्चात् विधिसिद्ध अर्थको 'यः तु' इस प्रकार कहकर उस (अध्यापक) का आचार्यत्व प्रतिपादन करता है ? किन्तु यह बात भी नहीं है, क्योंकि—इस अर्थमें विधिकी प्रतीति न होकर, वाक्यकी भेदकल्पनामें प्रमाणाभाव है। इस विषयमें कहा है, कि—एकवाक्यस्थलमें वाक्यभेद युक्तियुक्त नहीं है।

और यह बात भी है, कि 'योऽध्यापयत्' यहाँ यत् शब्दका योग भी विधिकी शक्तिको नष्ट करता है, यदि कहो, कि—ऐसा होनेपर "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" (तै० स० २।६।३३) इत्यादिक स्थलमें भी 'यत्' शब्दके योगसे विधिकी शक्ति नष्ट होजानी चाहिये। तो इसका उत्तर यह है, कि—तुम्हारा यह कहना सत्य

ग्नेयोष्टाकपालोमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै" [तै० सं० २. ६. ३. ३] इत्यर्थवादेन "यत् स्तूयते तद् विधीयते" इति न्यायेन परिकल्पितस्य अन्यस्यैव विधित्वस्वीकारात् ॥ तस्माद् "उपनीय तु यः शिष्यम्" इत्यादिस्मृत्यनुमिता श्रुतिः नाचार्यकरणविधौ प्रमाणम् ॥

ननु "अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तम् अध्यापयीत" इत्यत्र नयतेः "संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" [पा० १. ३. ३६] इति आचार्यकरणे आत्मनेपदविधानाद् उपनयने आचार्यकरणविधिरपेक्षित एव इति चेत् तद् अयुक्तम् ।

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

है, किंतु उस स्थलमें 'यत्' शब्दके वर्तमान होनेसे विधिभंग भयसे—'जो आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या और पौर्णिमामें अच्युत रहता है' वह सुवर्ग (स्वर्ग) लोकको जीतनेके लिये समर्थ होता है (२।६।३३) तैत्तिरीयसंहितामें अमावास्यामें और पूर्णिमामें इस अर्थवादके द्वारा 'जो स्तुत होता है, वही विहित होता है' इस न्यायसे परिकल्पित अन्यको ही विधि कहकर स्वीकार किया है। इसकारण 'उपनीय तु यः शिष्यम्—जो शिष्यका उपनयन कराकर०' इत्यादि स्मृतिवाक्यके द्वारा अनुमानकी हुई जो श्रुति है, वह आचार्यकरणविधिमें प्रमाण नहीं है।

यदि कहो, कि—'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन करे और उसको पढ़ावे' यहाँ पर "संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" (पाणिनीय १ । ३ । ३६) इस सूत्रके द्वारा आचार्यकरणविषयमें 'णीञ्' धातुको आत्मनेपदका विधान होनेसे उपनयनमें आचार्यकरणकी विधि अपेक्षित है। यह बात भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि—

"ब्राह्मणके लिये विहित षट्कर्म (यजन, याजन, अध्ययन,

याजनाध्यापने चैव विशिष्टाच्च प्रतिग्रहः ॥

[म० स्मृ० १०, ७६]

इति द्रव्यार्जनार्थं तथैव प्राप्तस्य अध्यापनस्य विध्यनर्हत्वात् ॥ ननु तथापि अलौकिकाचार्यकसाधनत्वेन अप्राप्तस्याध्यापनस्य विध्यर्हतेति चेत् न । आचार्यकस्य लोकप्रसिद्धत्वाद् अलौकिकत्वानुपपत्तेः ॥

स्याद् एतत् । "उपनयीत" इत्यात्मनेपदात् सनियमकोपनयनशेषित्वप्रतीतेः आचार्यकम् अलौकिकमिति । न । आचार्यकरणे वर्तमानस्य नयतेः अकर्त्रभिप्राये आत्मनेपदविधानाद् उपनयनाचार्यकयोः परस्परम् अङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । अन्यथा "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" [पा० १. ३. ७२] इति ञित्त्वादेव

अध्यापन, दान और प्रतिग्रह) में से यज्ञ कराना, पढ़ाना और श्रेष्ठ व्यक्तिसे दान लेना, ये तीन कर्म जीविकाके लिये कहे हैं"

मनु० १० । ७६

इस प्रकार द्रव्य एकत्रित करनेके लिये प्राप्त हुआ जो अध्यापन है, वह विधिके योग्य नहीं होसकता । तथापि यदि यह कहो कि—"इससे अलौकिक आचार्यसाधन होनेसे अप्राप्त जो अध्यापन वह विधियोग्य होजाना चाहिये ।" तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि—आचार्यकर्म लोकसिद्ध है, वह अलौकिक नहीं होसकता ।

तुम यह कहो, कि—उपनीयत इस आत्मनेपदसे नियमके साथ वर्तमान जो उपनयन है, उसके शेषित्वप्रतीतिवश आचार्यकर्म अलौकिक है, तो यह बात भी नहीं है । आचार्यकरणमें विद्यमान जो णीञ् धातु है, कर्ताके अभिप्रायसे भिन्न विषयमें उसको आत्मनेपदका विधान है । अत एव उपनयन और आचार्यकरण का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होसकता । अन्यथा "स्वरितञितः

आत्मनेपदे सिद्धे संमाननादिसूत्रम् अनर्थकं स्यात् ॥

ननु क्रियाफलस्य कर्त्रभिप्रायत्वं नाम न कर्त्रभिलषितत्वं किंतु कर्तृगतत्वमेव । अतः उपनयनक्रियाफलस्य माणवकनिष्ठत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वाद् आचार्यकरण एव नयतेः आत्मनेपदं सिद्ध्यतीति चेत् । एवं सति "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निम् आदधीत" [तै० ब्रा० १. १. २. ६] इत्याधानफलस्य अग्निसंस्कारस्य अग्निगतत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वात् । "स्वरितञितः" इत्यात्मनेपदं न स्यात् । न च उपनयनक्रियाफलस्य संस्कारस्य माणवकाभिलषितत्वाद् अकर्त्रभिप्रायत्वम् इति । आचार्यस्यापि अभिलषितम् । आचार्यानभिलषितत्वे तस्य क्रियाफलत्वानुपपत्तेः । न हि क्रिया-

---

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" (पा० १।३।७२) इस सूत्रसे आत्मनेपद होने पर "संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" (पा. १।३।३६) सूत्र अनर्थक होजायगा ।

यदि कहो, कि—"जो कर्ताका क्रियाफलाभिप्राय है वह कर्ताका अभिलषित नहीं है, किन्तु वह फल कर्तृगत है, अत एव उपनयनक्रियाका जो फल है वह माणवकनिष्ठ होनेसे कर्त्रभिप्राय नहीं होता है। अत एव आचार्यकरण विषयमें ही णीञ् प्रापणे धातुको आत्मनेपद सिद्ध होता है।" तो यह बात नहीं है, क्योंकि—ऐसा होने पर 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निं आदधीत-वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निको ग्रहण करे' (तै. ब्रा० १।१।२।६) इस तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कही हुई—अग्न्याधानविधिका आधानफल जो अग्निसंस्कार है, यह अग्निगत है, अतः अकर्त्रभिप्राय होनेसे 'स्वरितञितः०" सूत्रसे आत्मनेपद नहीं होता, इस प्रकार उपनयनक्रियाका फल जो संस्कार वह माणवकका अभिलषित होनेसे कर्ताका अभिमत नहीं होता है, किंतु उक्तसंस्कार आचार्यका अभिलषित है, क्योंकि—आचार्यका अभिलषित न होने पर, उसके

जन्यं यस्य कस्यचिद् अभिलषितं वा क्रियाफलं किं तु कर्त्रभिल-षितं सत् क्रियाजन्यं क्रियाफलम्। अन्यथा श्रमादिकमपि क्रियाजन्यम् अहितस्य यस्य कस्यचिद् अभिलषितं चेति स्वर्गकामो यजेत इत्यादौ क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वेन आत्मनेपदं न स्यात्। न च अस्मत्पक्ष इव माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनेतुः उपनयनक्रियाफलम् अभिलषितम् इति भवतां मतम् येन क्रियाफलम् । अकर्त्रभिप्रायं स्यात् । आचार्यककामस्य अतत्साधने माणवकाधिकारे समीहानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा माणवकाधिकारस्यैव अभिलषितस्य प्रयोजकत्वाद् आचार्यकाधिकारस्य प्रयोजकत्वं न स्यात्। तस्माद् आत्मनेपदादेव क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वा-

---

क्रियाफलकी उपपत्ति नहीं होसकती। क्रियाके कारण अपर किसी कर्ताको अभिलषित फल प्राप्त नहीं होता है, किंतु कर्ताका अभिलषित क्रियाजन्य क्रियाफल उसका ही होसकता है। अन्यथा क्रियाजन्य अन्य व्यक्तिका श्रमादि भी फलदायक होता। इस लिये 'स्वर्गकामो यजेत–स्वर्गकी कामना वाला यज्ञ करे' इत्यादि में क्रियाफलके अकर्त्रभिप्राय होनेसे आत्मनेपद नहीं होता। यदि कहो, कि–माणवक (बालक) के ईप्सित साधनके द्वारा ही उपनेता (उपनयन कराने वाले) को उपनयनक्रियाका फल अभिलषित है, यह आपका मत है, किंतु इसके द्वारा क्रियाफलका कर्त्रभिप्रायत्व सिद्ध नहीं होता, अतः इस बातको भी नहीं कह सकते, क्योंकि–उससे आचार्य–कामनाका साधन न होनेसे माणवकके अधिकारमें ईप्सितकी उपपत्ति नहीं होती है। अथवा उपपत्ति होने पर माणवकके अधिकारके ही अभिलषित वस्तुका प्रयोजक होने पर आचार्याधिकारका प्रयोजकत्व नहीं रहेगा। इस लिये आत्मनेपदसे ही क्रियाफलके अकर्तृगामीपनकी अवगति होती है, इस कारण माणवकके भली प्रकार ईप्सित वस्तु-

ऽगतेर्माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनयनस्य प्रतीतिः ॥

न च "उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद्" इति क्त्वा-प्रत्ययेन आचार्यकशेषत्वम् उपनयनस्येति मन्तव्यम्। स्मृतिगतो हि क्त्वाप्रत्ययः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" [पा० ३. ४. २१] इत्यनुशासनाद् उपनयनाध्यापनयोः समानकर्तृकत्वमेव आचष्टे। तच्च एककर्तृप्रयोज्यत्वम्। तच्च अङ्गाङ्गिभावेनैव उपपद्यत इति उपनयनस्य अध्यापनाङ्गत्वप्रतीतिर्विलम्बेन भवति। "वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत" [आप० ध० १. १. १. १९] इति द्वितीया श्रुतिः प्रत्यक्षश्रुतिगता। तया द्वितीयाश्रुत्या झटिति उपनयनस्य उपनेयशेषत्वं प्रतीयते। "श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव बलीयसी" इत्युपनयस्य उपनेयशेषत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम् ॥

साधन द्वारा ही उपनयनकी प्रतीति होती है।

"उपनीय तु यः शिष्यम् वेदमध्यापयेद्" इस विधि में 'उपनीय' यहाँ क्त्वा प्रत्ययके द्वारा उपनयनको आचार्यकर्मका शेषत्व नहीं मानना चाहिये, क्योंकि–स्मृतिमें जो क्त्वा प्रत्यय है वह "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० ३। ४। २१) इस सूत्रके द्वारा एककर्तृकत्व होनेसे उपनयन और अध्यापनके समान कर्तृकत्वको ही कहता है, क्योंकि–इस क्त्वाप्रत्ययका एक कर्तामें ही प्रयोग किया जाता है, अतः यह एककर्तृकत्व परस्पर अङ्गाङ्गिभावसे ही उत्पन्न होता है अतः उपनयन अध्यापनका अङ्ग है, यह प्रतीति विलम्बसे होती है। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' (आप० ध० १। १। १। १९) यह दूसरा श्रुतिवाक्य प्रत्यक्ष श्रुतिके ही अन्तर्गत है। इस दूसरे श्रुतिवाक्यसे उपनयनका उपनयनशेषत्व सहजमें ही प्रतीत होता है। "श्रुतिवाक्य और स्मृतिवाक्यका परस्पर विरोध होने पर श्रुतिवाक्य ही बलवान् होता है।" इस कारण उपनयनका उपनयनशेषत्व ही अङ्गीकार करना चाहिये।

ननु उपनयनम् उपनेयशेषोऽस्तु। तथापि उपनेयस्य आचार्यकशेषत्वात् तद्द्वारा उपनयनस्यापि तदङ्गत्वम् इति चेत् न। उपनेयसंस्कारस्य आचार्यकशेषत्वे उपनेयशेषत्वे च सप्रयोजनत्वाविशेषेपि पुरुषान्तरगतत्वेन आचार्यकस्य बहिरङ्गत्वात् एकपुरुषनिष्ठत्वेन अध्ययनस्यान्तरङ्गत्वात् "अन्तरङ्ग बहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः" इति तस्य अध्ययनाङ्गत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम् ॥ यदि समानकर्तृ केति विहितस्मार्तक्त्वाप्रत्ययबलादेव अन्तरङ्गत्वं बाध्येत तर्हि भवत्पक्षे अध्यापनविधिप्रयुक्तस्य अध्ययनविधेः किमधिकारपरत्वम् इति जिज्ञासायाम् "अधीत्य स्नायाद्" इति स्मार्तक्त्वाप्रत्ययानुरोधेन अन्तरङ्गत्वयुक्तेर्बाधात् अन्तरङ्गार्थज्ञानपरत्वं परित्यज आचार्याधि-

---

यदि कहो, कि—चाहे उपनयन उपनयनशेषत्व होजाय, तथापि उपनेय आचार्यकर्मका शेष साधक होनेसे, उसके द्वारा उपनयन भी उसका अङ्ग होजावेगा। तो यह बात नहीं है, क्योंकि—उपनेय संस्कार, आचार्यकर्मका समाप्तिकारक है तथा उपनेयका शेषसाधक है, अतः प्रयोजनके अभावके कारण अन्यपुरुषगत जो आचार्यकर्म है वह बहिरङ्ग होजाता है तथा एक पुरुषनिष्ठ जो अध्ययनकर्म वह अन्तरङ्ग होजाता है। अतः "अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें अन्तरङ्ग बलवान् होता है" इस न्यायसे उसको अध्ययनका अङ्ग कह कर ही स्वीकार करना उचित है। यद्यपि एककर्तृ विहित स्मार्तक्त्वाप्रत्ययकी शक्तिसे ही अन्तरङ्गविधि बाधित होजाती है, ऐसा होने पर आपके पक्षमें अध्यापन विधिप्रयुक्त अध्ययनविधिके अधिकारपक्षमें क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-"अधीत्य स्नायात् पढ़कर स्नान करे" इस विधिमें जो स्मार्तक्त्वाप्रत्यय है, उसके द्वारा जैसे अन्तरङ्गविधिका बाध होता है। इसी प्रकार अन्तरङ्गार्थज्ञानपरत्वको परित्याग करके आचार्यका अधिकारपरत्व ही

कारत्वमेव स्यात् । तस्मात् अकर्त्रभिप्रायविहितात्मनेपदबलाद् अन्तरङ्गयुक्तेश्च उपनयनम् अध्ययनाङ्गम् इत्याचार्यकस्य सनियमकोपनयनशेषित्वाभावाद् नास्य अलौकिकत्वसिद्धिः । तदसिद्धौ च अन्यतः प्राप्तस्य अध्यापनस्य आचार्यकशेषत्वेन विध्यसिद्धिः ॥

कथं तर्हि "अध्यापयीत" इति विधिः । "एतयान्नाद्यकामं याजयेत्" इतिवत् प्रयोजकव्यापारान्तर्गतोपि विधिः प्रयोज्यव्यापारपर इति ब्रूमः ॥ ननु तत्र कामश्रुतिबलात् कामिन एव विध्यपेक्षायां प्रयोज्यव्यापारपरत्वम् अस्तु । अत्र तु तदभावात् तत्परत्वं नेति चेत् न । "निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यत्र कामश्रुतेरभावेपि

बलवान् होजावेगा । कर्ताके अभिप्रायसे भिन्न विहित जो आत्मनेपद है, उसकी शक्तिसे अन्तरङ्गयुक्तिका बाध होनेसे उपनयन अध्ययनका अङ्ग है, इस कारण आचार्यकर्म, नियमसहित उपनयनविधिका समापक नहीं होसकता अत एव आचार्यकर्मका अलौकिकत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि–उसके सिद्ध होने पर अन्य से प्राप्त जो अध्यापनकर्म है, उसकी आचार्यकर्मशेषत्वके कारण उक्तविधि ही असिद्ध होजाती है ॥

यदि कहो, कि–ऐसा होनेपर 'अध्यापयीत–पढ़ावे' यह विधि युक्तियुक्त कैसे होगी ? तो हम कहते हैं, कि–'इसके द्वारा अन्न आदि चाहने वालेको यज्ञ करावे' यह विधिरूप उक्त 'अध्यापयीत' विधि, प्रयोजक व्यापारके अन्तर्गत होने पर भी प्रयोज्यव्यापार है अब यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, कि–"एतयान्नाद्यकाम०–इससे अन्नकी कामना वालेको०" यहाँ कामनारूप श्रुतिकी शक्तिवश कामी व्यक्तिकी ही विधिमें अपेक्षा होरही है, अत एव यह विधि प्रयोज्यव्यापार पर होजावे, किंतु यहाँ "अध्यापयीत" में प्रयोज्यव्यापारपर नहीं होगी । तो यह कहना ठीक नहीं है । क्यों कि–"निषादस्थपतिं याजयेत्" यहाँ कामश्रुति (इच्छाश्रवण) के

द्रव्यार्जनार्थत्वेन अन्यतः प्राप्तं याजनं परित्यज्य प्रयोज्यव्यापारस्यैव प्रमासस्य विधेयत्वस्वीकारात् ॥ एतेन—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदम् अध्यापयेद् एनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥
[या० स्मृ० १. २. ७]

इत्येतदपि नाध्यापनविधिपरम् इत्यवगन्तव्यम् ।
उपनीय ददद् वेदम् आचार्यः स उदाहृतः ॥
[या० स्मृ० १. २. २६]

इत्येतदपि क्रियायोगमेव आचार्यशब्दाभिधेयम् इति व्यक्तम् उपदर्शयति । तस्माद् अध्यापनस्य विधिरेव नास्तीति सिद्धम् ॥ तदभावेन स्वविधिप्रयुक्ततैव अध्ययनस्य । स च अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयाद् इति विधत्त इति कृत्स्नस्यापि

अभावमें भी, द्रव्यको एकत्रित करनेके लिये अन्यत्रसे मिला हुआ जो याजनकर्म है, उसका परित्याग करके, प्रमास जो प्रयोज्यव्यापार है, वही विधेय होगया है। इस प्रमाणसे "गुरु शिष्यका उपनयनसंस्कार कर महाव्याहृतिपूर्वक वेदको पढ़ावे और शिष्यको शौचाचारकी भी शिक्षा देय।" (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । २ । ७) यह स्मृतिकी विधि भी अध्यापन–पर नहीं है, यह ज्ञात होता है।

तथा "उपनीय ददद् वेदं आचार्यः स उदाहृतः (या. स्मृ. १ । २ । २६)–जो उपनयन कराकर शिष्यको वेदकी शिक्षा देता है, वह आचार्य कहलाता है" यह स्मृतिविधि–भी क्रिया योग्य आचार्यशब्दको स्पष्टरूपसे दिखाती है। अत एव यह सिद्ध होगया, कि–अध्यापनकी विधि ही नहीं है। अध्यापनविधिका अभाव होनेसे स्वकीय विधि प्रयुक्तता ही अध्ययनकी विधि है। वह विधि "अध्ययनके द्वारा संस्कृत जो स्वाध्याय उससे स्वाध्यायके

वेदराशेर्विवक्षितार्थत्वेन स्वतःप्रामाण्यात् तदन्तर्गतस्य व्याख्यानं कर्तुं युक्तमेवेति सिद्धम् ॥

वेदस्य स्वतःप्रामाण्यं चोदनासूत्रे आचार्यैरेव उपपादितम् । तत्र बहुधा विवदन्ते वादिनः । प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं च उभयं स्वत इति सांख्याः । उभयं परत इति तार्किकाः । प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः । अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति सौगताः ॥

प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिः । अत्र सांख्या एवं प्रतिपादयन्ति । स्वतः असताम् असाध्यत्वाद् उभयं स्वत इति । तत्र प्रमाणं च यद् असत् तन्न क्रियते यथा

अर्थको जाने" इस प्रकार अर्थ विहित करती है। अत एव संपूर्ण वेदराशिका अर्थ विवक्षित होनेसे स्वतःप्रामाण्यवश उसके भीतर आने वाले अथर्ववेदकी व्याख्या करना ठीक है, यह सिद्ध होगया।

आचार्योंने वेदके स्वतःप्रामाण्यका चोदनासूत्रमें प्रतिपादन किया है। वादी इस सम्बन्धमें अनेक प्रकारका विवाद करते हैं। सांख्यवाले कहते हैं, कि—प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों ही वेदसे प्रतिपन्न (स्वतः सिद्ध) होते हैं। तार्किक कहते हैं, कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों दूसरेसे सिद्ध होते हैं। मीमांसक कहते हैं, कि—प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है और अप्रामाण्य परतः सिद्ध है। सौगत कहते हैं, कि—अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, प्रामाण्य अन्यसिद्ध है।

स्वतःसिद्ध जो प्रामाण्य है अर्थात् जो स्वतः—सप्रमाण है वह कार्यके कारणसे कार्यके साथ उत्पन्न होता है। सांख्यवादियोंने इस विषयको इस प्रकार प्रतिपादित किया है, कि—'असत्' स्वतः ही अप्रामाण्य है। इस कारण 'सत्' और 'असत्' दोनों ही स्वीय स्वीय स्वरूपविशिष्ट हैं। अर्थात् जो सत् है वह सत् ही है

शशविषाणम् । कारकव्यापारात् पूर्वं कार्यम् असच्चेत् तर्हि न [क्रियेत] क्रियते च । अतः सदेव पूर्वमपि । अपि च कार्यं कारणेन प्राक् संबद्धम् असंबद्धम् वा । संबद्धम् चेद् असतः संबन्धानुपपत्तेः प्रागपि सदेव कार्यम् । असंबद्धम् चेत् इदमेवास्य कारणम् इदमेवास्य कार्यम् इति नियमो न स्यात् असत्त्वाऽसंबन्धयोरविशेषात् । यथाहुः ।

असत्त्वान्नास्ति संबन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असंबद्धस्य चोत्पत्तिम् इच्छतो न व्यवस्थितिः । इति ॥

किं च कारणाद् अभिन्नत्वात् कार्यस्य प्रागसत्त्वं नोपपद्यते । तथा हि । तन्तुभ्यः पटो न भिद्यते तत्कार्यत्वात् । यद् यतो भिद्यते

जो असत् है वह असत् ही है। इस विषयमें प्रमाण यह है, कि–जो असत् है उसकी क्रिया नहीं होती, जैसे खरगोशके सींग । कर्ता से पहिले कार्य असंभव (असत्) है, अर्थात् कर्ताके विना कार्य नहीं होसकता । अत एव सत् ही आदिभूत है । अतः कारणके पहिले कार्यसम्बन्ध सप्रमाण नहीं है । और एक बात है, कि– पहिले कार्य कारणके साथ सम्बद्ध है वा असम्बद्ध ? यदि संबद्ध मानोगे तो असत्से सम्बन्ध ही नहीं घटता, अतः कार्य पहिले भी सत् था । और यदि आदिमें असत् मानोगे (असम्बद्ध मानोगे) तो यह इसका कारण है वा यह इसका ही कार्य है ऐसा नियम नहीं होसकता । असत् और असम्बद्धके अर्थमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है (जो असत् है उसके साथ कार्य कारणका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं होसकता) इस विषयमें शास्त्रमें कहा है, कि–सत्वसंगी कारकोंसे असत्वका सम्बन्ध नहीं होसकता । असम्बद्ध (असत्) से विषयकी उत्पत्तिकी कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं माना जासकता ।”

और एक बात है, कि–कारणसे कार्य अभिन्न होता है-अलग

न तत् तस्य कार्यम् यथा गौरश्वस्य । तन्तुकार्यं पटः । तस्मात् तन्तोर्न भिद्यते । यद् यतो भिद्यते तस्य तेन सह संयोगः अप्राप्तिर्वा स्यात् यथा कुण्डबदरयोर्मेरुविन्ध्ययोर्वा । न हि पटस्य तन्तुभिः सह तद् उभयम् अस्ति । तस्माद् न तन्तुभ्यो भिद्यते पट इत्यभेदसिद्धेः कार्यं प्रागपि सदेव इति सिद्धम् ॥

अत्र ब्रूमः । न च क्रियमाणत्वं सत्त्वसाधनम् । असत्त्वेपि तस्योपपत्तेः हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् । तथा हि । न हि सतो घटादेः क्रियमाणत्वं दृष्टम् कृतकरणव्यापारानुपपत्तेः । नाप्य-

---

नहीं होता है, अतः कार्यका पहिले न होना प्रमाणित नहीं होता जैसे तन्तुओंसे पट भिन्न नहीं है, क्योंकि—वह उनका कार्य है उनका परस्परका कर्म सम्बन्ध है । जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, वह उसका कार्य नहीं होसकती (परस्पर भिन्नवस्तु का सम्बन्ध नहीं होसकता) जैसे गौ और अश्व परस्पर भिन्न हैं (यहाँ एकके साथ अन्यका सम्बन्ध नहीं है ।) और दूसरे पक्षमें देखो, कि—तंतुका कार्य पट है (तन्तुके साथ पटका सम्बन्ध है) क्योंकि—तन्तुसे पट भिन्न नहीं है । जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, उसका उसके साथ संयोग वा अप्राप्ति होसकती है। जैसे कुण्ड और बदर तथा मेरु और विन्ध्याचल, किन्तु पटका तन्तुओंके साथ संयोग वा अप्राप्ति दोनों ही नहीं हैं । इसकारण तन्तुओंसे पट भिन्न नहीं है, इस प्रकार अभेदसिद्धि होनेपर यह सिद्ध होता है, कि—कार्य पहिले भी सत् था । फलतः कार्यसे पहिले सत्का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

इस विषयमें (और भी) कहते हैं, कि—क्रियमाणत्व सत्त्वसाधन नहीं है (अर्थात् कर्मसे सत् उत्पन्न नहीं होता है,) असत्से सत्की उत्पत्ति—हेतु विहत करने पर केवल सन्देह ही बढ़ेगा । जैसे सत्से घट आदिका क्रियमाणत्व दृष्ट नहीं होता है,

सतः क्रियमाणत्वम् अनुपपन्नम् इति। प्रागसतोपि घटादेः सामग्र्यां सत्याम् उत्पत्तिदर्शनात्। यदप्युक्तम्। कारणेन असंबद्धस्य कार्यस्योत्पत्तौ इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमानुपपत्तिरिति तदप्यपेशलम् किंचिदेव कारणं कस्मिंश्चिदेव कार्ये शक्तम् इति शक्तितो नियमनसिद्धेः। न च शक्यव्यतिरेकेण शक्तिरेव नास्तीति वक्तव्यम्। अयम् अग्निः अद्विष्ठातीन्द्रियाश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति तत्सिद्धेः। नापि शक्तिरपि शक्येन असंबद्धा न कार्यकारणभावस्य नियामिकेति वाच्यम्। शक्ताश्रयायाः शक्तेश्च प्रतिनियतशक्यानुकूलस्वभावत्वात्। अन्यथा सत्कार्यवादपक्षेपि प्रधानोपादानत्वस्वीकारात् सर्वस्य जगतः सर्व

इस कारण कृतकरणरूप व्यापारकी अनुपपत्ति घटती है। इस प्रकार अब असत्से क्रियमाणत्व भी उपपन्न होसकता है। क्योंकि—उत्पत्तिसे पहिले घट असत् था। उत्पत्तिका दर्शन होनेसे सामग्रीके मध्यमें आकर वह सत्में परिणत होगया—सत्में बदल गया। (अत एव असत्से सत्की उत्पत्ति क्यों नहीं होसकती?) और जो यह बात कही थी, कि—"कारणसे असम्बद्ध कार्यकी उत्पत्तिका होनेपर यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है, यह नियम ही नहीं रह सकेगा।" सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि—कोई भी कारण किसी भी कार्यमें समर्थ होता है, इस प्रकार सामर्थ्य वश (शक्ति) नियम की सिद्धि होती है। शक्तिमान् से भिन्न शक्ति नहीं होसकती, किन्तु यहाँ पर ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता। यह अग्नि, अद्विष्ठका, अद्वितीयत्वका तथा अतीन्द्रियत्वका आश्रय होनेसे गुरुत्वका आश्रय सिद्ध होता है। शक्तिमान् के साथ शक्तिकी अभिन्नता नहीं है, शक्तिको कार्यकारणभाव की नियामिका भी नहीं कहा जासकता। शक्तिमान्की आश्रयभूता शक्ति, प्रतिनियत शक्तिमान्की ही अनुकूलस्वभावविशिष्टा

सर्वस्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा सदिति विवेकहेतोरभावात् इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमो न स्यात् ॥ ननु सर्वत्र सर्वदा कार्यस्य सत्त्वाविशेषेपि तत्तदभिव्यञ्जकसामर्थ्यनियमात् तत्तदभिव्यक्तिनियमो भविष्यतीति चेत्। एवं तर्हि असत्पक्षेपि तत्तदुत्पादककारणसामर्थ्यनियमात् तत्तदसत्कार्योत्पत्तिनियम-सिद्धिः ॥ यत् पुनः कार्यस्य कारणाद् अभेदसाधकम् अनुमानम् तदपि तन्तुपटयोः प्रत्यक्षेण भेदोपलम्भात् प्रत्यक्षविरुद्धकालात्य-यापदिष्टम् ॥ अपि च कारकव्यापारात् प्रागपि कारणे कार्यं सत् स्यात् तर्हि कारणे कार्यम् उपलभ्येत । न चोपलभ्यते । तस्माद् असदेव। प्रागपि सदेव कार्यम् अभिव्यक्तेरभावाद् नोपलभ्यत इति चेत् न । किम् इयम् अभिव्यक्तिः प्रागपि

कहलाती है। अन्यथा सत्कार्यवादपक्षमें भी, प्रधान उपादानको स्वीकार करनेके कारण, सर्वजगत्का, सर्ववस्तुका, सर्वमयका सर्वदा सत्स्वरूपसे विद्यमान होनेके ज्ञानका अभाव होने लगेगा। तब यही इसका कार्य है, यही इसका कारण है, यह नियम नहीं होसकता। यदि कहो, कि–सर्वत्र सर्वदा कार्यके सत्ताविशेषमें भी तत्तद्भावप्रकाशक सामर्थ्यके नियमके कारण ऐसा हो सकता है,तो हमारे पक्षमें भी उस २ ही विषयके उत्पादक कारण सामर्थ्यका नियम उपस्थित होता है, अतः पूर्वोक्त असत्कार्यकी उत्पत्तिका नियम अव्याहत रह सकता है। पुनश्च–कार्यकारणका अभेदसाधक जो अनुमान है वह भी तन्तुपटके प्रत्यक्षसम्बन्ध-विषयमें प्रत्यक्षज्ञानके अभाववश ही घटसकता है। उसको प्रत्यक्ष-विरुद्ध कालसे अतीत मानना होगा। और भी एक बात है कि-कर्ताके व्यापारसे पहिले भी (कर्मके आरम्भसे पहिले भी) कारणमें कार्य (सत्) होता तो कारणमें भी कार्य मिलता, (दूसरा पक्ष कहता है, कि–कारणमें कार्य नहीं मिलता)

सती उत असती । सती चेत् प्रागपि केवलतन्तुष्वपि तथा पटस्योपलब्धिः स्यात्। असती चेद् असत्या एव तस्याः पश्चादुत्पत्तिस्वीकारात् तद्वत् सर्वस्याप्यसतः कार्यस्योत्पत्तिः किं नाङ्गीक्रियते । क्रियेत । इत्यलम् अतिप्रसङ्गेन ॥ तस्मात् सत्कार्यनिषेधात् प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरपि स्वतस्त्वे किंचिदेव प्रमाणं प्रमाणमिति व्यवस्थानुपपत्तेश्च नोभयं स्वतः ॥

अपि तु अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति अपरे मन्यन्ते । तथा हि । यदि प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयेत तर्हि एकतरकोटिनिर्धारणात् इदं प्रमाणम् अप्रमाणं वेति न संदिह्येत । अन्यथा सर्वत्र

अतः असत् ही है। यदि कहो, कि—कार्य पहिले भी सत् था, अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के अभाववश उपलब्ध नहीं होता था। तो यह बात भी नहीं है क्योंकि—यह अभिव्यक्ति पहिले भी सती थी वा असती (थी या नहीं) यदि थी तो पहिले भी केवलतन्तुओंमें ही उस अभिव्यक्तिसे पटकी उपलब्धि होनी चाहिये। यदि उसको असती मानोगे अर्थात् वह अभिव्यक्ति नहीं थी यह मानोगे और उस असती अभिव्यक्तिसे ही उत्पत्तिको स्वीकार करोगे तो उसकी समान सकल 'असत्' से 'असत्' कार्यकी उत्पत्ति अङ्गीकार होगई या नहीं होगई ? बस इस विषयपर अधिक विचार करना निष्प्रयोजन है। इस प्रकार सत्कार्यका निषेध होनेसे प्रामाण्य और अप्रामाण्यके स्वतःसिद्ध होनेमें साधारणसा प्रमाण प्रमाण नहीं माना जासकता अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं।

अन्यच्च । दूसरे वादी अप्रामाण्यको स्वतःसिद्ध और प्रामाण्य को परतः सिद्ध (अन्यसिद्ध) मानते हैं। (अब उनके मतको दिखाते हैं, कि—) यदि प्रामाण्यको स्वतःसिद्ध मान कर स्वीकार करें तो कोटिसंख्यानिर्धारणमें (अर्थात् प्रत्येक निगममें) प्रमाण

संदेहस्योपरमो न स्यात् । अतः कारणगुणज्ञानाद् अर्थक्रियासंवादाद् वा प्रामाण्यनिश्चयः ॥ ननु आदावेव अर्थतथात्वानिश्चये उत्तरकालीना प्रवृत्तिः कथं जाघटीति तदुत्तरकालीनस्तन्निश्चयो वा कथम् तदभावे कथं प्रामाण्यनिश्चयः इति चेत् न । कृष्यादाविव अर्थसंदेहेऽपि प्रवृत्त्युपपत्तेः । प्रवृत्तस्य च अर्थक्रियोपलब्धौ पूर्वावगतस्य अर्थक्रियाकारित्वं सत्यं निश्चीयत इति तद्विषयस्य पूर्वज्ञानस्यापि तदर्थसंबन्धित्वेन पश्चात् प्रामाण्यं निश्चीयते । यथोक्तम् ।

तस्मिन् सदपि मानत्वं विनिश्चेतुं न शक्यते ।
उत्तरार्थक्रियाज्ञानात् केवलं तत् प्रतीयते । इति ॥

नैवम् अर्थक्रियाज्ञानस्यापि स्वविषयार्थक्रियापरिनिश्चये परापेक्षा येन अनवस्था भवेत् । तस्य फलरूपत्वात् । फलार्थं वा सर्वं

का या अप्रमाणका किसी प्रकारका सन्देह नहीं उठता । दूसरे पक्षमें (अप्रामाण्यको स्वतःसिद्ध स्वीकार करनेसे) सर्वत्र ही सन्देह वर्तमान रह सकता है, अतः यदि कहो, कि—कारणके गुणज्ञानसे अथवा अर्थक्रियाकी उपलब्धिसे प्रामाण्यका निश्चय होजायगा, तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि—अर्थसन्देह होने पर भी कृषि आदिमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति घट सकती है । प्रवृत्तकर्मकी अर्थक्रिया (उद्देश्य) उपलब्ध होने पर, पूर्वपरिज्ञात अर्थक्रियाकारित्वकी सत्यता निश्चित होती है (अर्थात् पहिले जिस विषयका जो ज्ञान सञ्चित होता है उसके द्वारा तत्सम्बंधी व्यापारकी उत्पत्तिका प्रमाण प्राप्त होता है) । इस विषयमें कहा है, कि—

'विद्यमानता सत् होने पर भी उसका निश्चय नहीं किया जा सकता, भविष्यमें होने वाली क्रियाका ज्ञान होने पर वह केवल अनुभूत होसकता है ।" इस विषयमें शङ्का होसकती है । कोई कहते हैं, कि—अर्थक्रियाज्ञानकी भी स्वविषयार्थक्रियाका निश्चय

करिष्यते न फलम् अन्यार्थमिति । अतः स्फुटाविकल्परूपत्वाच अर्थक्रियाज्ञानं स्वत एव स्वविषयतथात्वावधारकं प्रमाणं च ॥ न चैवं प्रामाण्यावगमस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात् प्रवृत्त्युत्तरकालम् अर्थक्रियानिर्णयो निष्फल इति वाच्यम् । ज्ञानान्तरेषु निःशङ्कप्रवृत्त्यर्थं विसंवादिज्ञानव्यावृत्तप्रमाणप्रतिबन्धरूपविशेषाकलनाय प्रवृत्त्युत्तरकालमपि निर्णयस्योपयोगात् ॥ प्रवृत्तावभ्यासदशायाम् आद्यज्ञाने फलस्याप्रतीतावपि अर्थक्रियारूपं फलमिति विषयीकुर्वतो विज्ञा-

---

होने पर दूसरेकी अपेक्षा होगी और उससे अनवस्था दोष आजायेगा । (एक कार्यके कारणका निर्णय करनेमें भ्रम होना असंभव नहीं है, अत एव परवर्ती कार्यको देख कर पूर्ववर्ती कार्यका निर्धारण करना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होगा । फल दीखनेसे ही कारण उपलब्ध होता है, फलके निमित्त ही कार्य विहित होता है कार्यको नहीं बुलाता है । स्फुट (प्रकाशमान) विषयके रूपान्तरके अभावके कारण अर्थक्रियाज्ञान स्वतः प्रमाणित होता है (द्रव्यके दर्शनमात्रसे ही उसके कार्यकारणका भाव अपने आप दीख जाता है), इस प्रकार स्वविषयमें जो यथार्थताका निश्चय है, उसको ही प्रमाण कहते हैं । प्रामाण्यके द्वारा जो जाना जाता है वह प्रवृत्तिका अङ्ग माना जाता है, अत एव प्रवृत्तिके (कर्मांतरके) परवर्ती कालका अर्थक्रियानिर्णय (कार्यके दीखने पर कारणका अनुभवत्व) निष्फल नहीं माना जासकता । ज्ञानान्तरमें निश्चित प्रवृत्तिका भाव प्राप्त होनेसे विसम्वादिज्ञानके प्रवर्तक प्रमाणका प्रतिबंधक विशेषरूपसे कल्पित नहीं होसकता, इस कारण प्रवृत्ति की प्रवर्तना होने पर—कर्मका आरंभ होने पर—परवर्ती कालके निर्णयकी उपयोगिता प्रमाणित होती है (परवर्ती कालके ज्ञानसे पूर्ववर्ती कार्यका कारण अनुमित हो सकता है) । पहिले ज्ञान होनेके समय प्रवृत्तिके कार्यके फलकी प्रतीति न होने पर भी प-

नान्तराद् विसंवादिभ्यो व्यावृत्तं वैलक्षण्यं प्रतीयते। यथोक्तम्।

इत्तावभ्यासवत्यां तु वैलक्षण्यं प्रतीयते।
अतद्विषयविज्ञानाद् आद्येऽप्राप्तेपि तत्फले। इति॥

तस्मात् झटितिनिःशङ्कप्रवृत्तिरपि तत्र विसंवादिव्यावृत्तप्रमाण-प्रतिबन्धरूपविशेषलिङ्गकाद् अनुमानादेवेति न स्वतःप्रामाण्यावगमः

अत्राभिधीयते। वृत्तेः प्रामाण्यम् अर्थयाथार्थ्यनिश्चयाद् भवतु। तन्निश्चयस्तु गुणज्ञानात् संवादाद् वा इति यद् उक्तं तन्न मृष्यामहे॥ प्रमितिसाधकतमत्वं हि प्रामाण्यम्। प्रमितिश्च अनधिगत-तथाभूतार्थावधारणम्। नन्वेवम् इन्द्रियादेरेव प्रामाण्यम् न ज्ञानस्य

वर्ती दूसरे ज्ञानसे अर्थक्रियारूप फलका विषय प्रतीत होता है, इसमें विसम्वाद उठाने पर वह वैलक्षण्य (अयुक्तरूप) में प्रतीत होता है। इस विषयमें कहा है, कि—"पहिले प्राप्त न होने वाले कर्मफलका विषय जाना नहीं जाता, अत एव प्रवृत्तिके कार्यमें वैलक्षण्य प्रतीत होता है।" अत एव शीघ्र ही निःशङ्क प्रवृत्ति भी (सहसा निश्चितरूपसे प्रवृत्तिका कार्य), विसम्वादियोंके दिये हुए प्रमाणके प्रतिबंधकरूप विशेष निर्देश अनुमानसे ही होती है, स्वतः प्रमाणित नहीं होती है।

इस विषयमें कहते हैं, कि—अर्थके याथार्थ्यका निश्चय होनेसे आदि-उत्पत्ति भी प्रमाणरूपसे ग्रहण कर ली जाय। किंतु गुण-ज्ञानसे अथवा (परंपराक्रमसे प्राप्त) सम्वादसे वह निश्चयता (अर्थकी यथार्थरूपसे निश्चयता) स्थिर की जाती है। इस सिद्धान्तको मिथ्या नहीं कहा जासकता। सत्यज्ञानप्रदानका श्रेष्ठ कारण कहलानेसे ही प्रामाण्य हो स्वीकृत होता है। प्रमिति-शब्दका अर्थ है, कि—अनधिगत विषयके मर्मका अवधारण। यदि कहो, कि-इन्द्रियादिका ही प्रामाण्य है, ज्ञानका प्रामाण्य नहीं है, किन्तु यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि ज्ञान

तस्यावधारणरूपत्वेन अवधारणान्तरसाधकतमत्वानुपपत्तेरिति चेत् न। द्विविधं हि अवधारणम् ज्ञानरूपं प्राकट्यरूपं चेति। तत्र अनधिगततथाभूतार्थगोचरत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम्। तथा च अनधिगततथाभूतार्थावधारणं प्रमितिः। तत्साधनं ज्ञानं प्रमाणम्। तद्भावः प्रामाण्यमिति नाशब्दार्थत्वम्। अतः प्रमितिलक्षणवाक्यगतावधारणशब्देन ज्ञानप्राकट्ययोः कार्यकारणभावेन अदूरविप्रकृष्टयोरेकरूपप्रामाण्यव्युत्पत्त्यर्थं तन्त्रेणोपादानम्। शक्ती च प्रमाणाप्रमाणगोचरे प्रामाण्याप्रामाण्ये। ते च तथाभूतोयम् अर्थः इत्येवंरूपात् तथात्वावधारणाद् अतथाभूतोयम् अर्थ इत्येवंरूपाद् अतथात्वावधारणाच्च चकास्तः। तत्र तथाभूतार्थावधारणम् अर्थक्रिया-

ही अवधारणरूप है, अत एव ज्ञानके विना अन्यके अवधारणको श्रेष्ठ साधन नहीं कहा जासकता ज्ञानरूप और प्राकट्य (प्रकाश) रूप भेदसे आवरण दो प्रकारका है। जो अनधिगत था (अप्राप्त था) उसका गोचरीभूतकरण ही ज्ञानका प्रामाण्य है, अत एव अनधिगत विषयका यथार्थरूपसे अवधारण (निश्चय होना) ही प्रमिति (सत्यज्ञान) है। प्रमितिसाधक जो ज्ञान है वही प्रमाण है। ज्ञानका भाव ही (ज्ञानोत्पन्न विषय ही) प्रामाण्य कहलाता है। वास्तविक शब्दार्थके साथ जिसका संबंध नहीं हैं, वह प्रामाण्य नहीं है। प्रमितिलक्षणरूप वाक्यगत जो अवधारण है, तद्बोधक शब्दके द्वारा ज्ञानका और प्राकट्यका कार्यकारणभाव उपलब्ध होता है, उससे निकटता और दूरत्वसाधक प्रामाण्यका एकरूप ज्ञान निमित्त उपादान प्राप्त होजाता है। ज्ञान और प्राकट्यकी शक्ति दो प्रकारकी हैं। एक प्रमाणगोचर और दूसरी अप्रमाणगोचर। (इसी लिये वह) प्रामाण्य और अप्रामा- हैं। वे दोनों शक्तियें—क्रमशः 'तथाभूत यह अर्थ' इस प्रकार तथात्व अवधारण तथा 'अतथाभूत यह अर्थ' इस प्रकार अत-

ज्ञानादिलक्षणपरानपेक्षत्वेन ज्ञानस्वरूपमात्राधीनम् । तदवसेयं प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयत इत्युच्यते । अतथाभूतावधारणं तु ज्ञानस्वरूपमात्राधीनत्वेपि कारणदोषावगमादिलक्षणपरापेक्षम् इति तदवसेयम् अप्रामाण्यं परतोऽवसीयत इत्युच्यते ॥ न च अतथाभूतावधारणमपि ज्ञानस्वभावाधीनम् । भ्रमबाधयोरसंभवप्रसङ्गात् । न हि शुक्तौ रजतम् अतथाभूतमिति गोचरयतो ज्ञानस्य भ्रमत्वं बाधसंभवो वा । तस्मात् ज्ञानस्वभावाधीनमपि अतथाभूतत्वं कारणदोषावगमाद्वा बाधकप्रत्ययाद्वा परत एव निश्चीयत इति अप्रामाण्यं परत एवेति सिद्धम् ॥

अपरे पुनः एतदप्यसहमाना अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि कारण-

थात्व अवधारण–दो प्रकारका भाव प्रकाशित कर सकती हैं। इन दोनोंमें तथाभूतार्थ अवधारण वाक्य, अर्थ क्रियाके ज्ञानादिलक्षणकी अपेक्षा न करनेके कारण ज्ञानस्वरूपमात्रके ही अधीन हैं, उसके द्वारा अवधारित प्रामाण्य स्वतःनिर्दिष्ट प्रामाण्यमें गिना जाता है। और अतथाभूतार्थ अवधारण वाक्य ज्ञानके स्वरूपमात्रके आधीन होने पर भी, कारण दोष आदिके ज्ञापक लक्षण की अपेक्षा करता रहता है, अत एव तदवसित अप्रामाण्य अन्यसे अवधारित होता है–परतः प्रमाण है। परन्तु अतथाभूत अवधारण ज्ञानस्वभावके अधीन नहीं है, अत एव उसमें भ्रम और बाधा होना असंभव नहीं है। जो ज्ञान शुक्ति (सीपी) में रजत (चाँदी) को अतथाभूतरूपसे गोचरीभूत करता है, उस ज्ञानका बाधसंभव वा भ्रमत्व नहीं होसकता। (अर्थात् सीपी और चाँदीको भिन्न २ बतानेवाला ज्ञान ही सत्य है)। अतथाभूतत्व ज्ञानस्वभावके अधीन होने पर भी कारणदोषके जाननेसे अथवा बाधकके प्रत्ययसे परतः रूपमें निश्चित होता है, इस कारण अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध न होकर परतःसिद्ध ही सिद्ध होता है।

गतगुणज्ञानात् संवादाद् वा परत एव ज्ञायत इति वर्णयन्ति साधयन्ति च ॥ तथा हि । प्रामाण्यं परतो ज्ञायते । अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवदिति । नैतत् साधनम् । अस्मन्मतेपि तथाभूतोयम् अर्थ इत्येवंरूपावधारणात् परत एव प्रामाण्यं निश्चीयत इति सिद्धसाधनत्वात् ॥ ननु ज्ञप्तावनपेक्षत्वेपि उत्पत्तौ परापेक्षास्ति । तथा हि । यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि प्रमाणपरिज्ञानम् अप्रमाणं भवेत् प्रामाण्ये कारणाभावात् । तथा च सति ज्ञानमेव न स्यात् घटादिवत् ॥ ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यकारणत्वात् सति च दोषे तदभावाद् नातिप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि दोषाभावम् अधिकम् आसाद्य प्रामाण्यमपि जायत इति कथं ज्ञान-

---

इसको भी न सहते हुए दूसरे पण्डित अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्यको भी, कारणगत गुणोंके ज्ञानसे वा सम्वादसे यह भी परतः सिद्ध ही है–ऐसा वर्णन करते हैं और सिद्ध भी करते हैं। वे कहते हैं, कि–कर्मका अभ्यास न होनेकी दशामें संशय (भ्रम) होनेके कारण अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्य भी परतः सिद्ध ही जाना जाता है। किन्तु यह साधन युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि–हमारे मतमें भी 'यह अर्थ तथाभूत है' इस प्रकारके अवधारणके कारण, प्रामाण्य परतः ही माना जासकता है, इस प्रकार सिद्ध साधन ही होता है। यदि कहो, कि–ज्ञानविषयमें उत्पत्ति अपेक्षित न होने पर भी अन्य अपेक्षित होता है, क्योंकि-प्रामाण्य यदि ज्ञानहेतुमात्रके ही अधीन हो तो प्रमाणका ज्ञान अप्रमाण हो सकता है, क्योंकि–"प्रामाण्यविषयमें कारणका अभाव है" यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि–ऐसा होने पर घट आदिकी समान ज्ञान ही नहीं होसकता। यदि यह कहो, कि–जहाँ पर दोष का अभाव है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण है, और जिस स्थलमें दोषकी विद्यमानता है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण

हेतुमात्रजन्यत्वं तस्य ॥ ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यहेतुत्वेपि गुणस्य प्रामाण्यं प्रति अहेतुत्वात् तदभावेन वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सिध्यतीति चेत् तर्हि गुणस्य प्रामाण्यहेतुत्वेन दोषाभावस्य तदहेतुत्वात् तद्भावेपि गुणाभावाद् अप्रामाण्यमपि वेदानां प्रसज्येत । न हि गुणदोषयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये प्रति अन्वयव्यतिरेकयोर्विशेषम् उपलभामहे । तस्माद् उभयमपि परत इति सिद्धम् ॥

अत्राभिधीयते । कार्यशक्तेः असति बाधके कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या अन्यथा वह्निगताया दाहकत्वशक्तेरपि कारणान्तरादेव उत्पत्तिः स्यात् । तथा च उत्पत्तिदशाऐ तस्य

नहीं होसकता, अत एव अति–प्रसंग नहीं है यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि–ऐसा होने पर, प्रामाण्य भी अधिकतासे दोषके अभावको ग्रहण करके ज्ञात होता है, अत एव किस प्रकार यह प्रामाण्य ज्ञान हेतुमात्रका ही जन्य होगा। यदि कहो, कि–दोषका अभाव प्रामाण्यका कारण होने पर भी, गुण प्रामाण्यका हेतु नहीं होता है, अत एव वेदसमूहका प्रामाण्य–स्वतः सिद्ध है, यह सिद्ध होता है, किन्तु ऐसा होने पर गुणके प्रामाण्यका कारण होनेसे, दोषका अभाव प्रामाण्यका कारण नहीं होगा, क्योंकि–उसका भाव होनेसे गुणका अभाव होता है, अत एव वेदोंका अप्रामाण्य भी वेदसे ही स्थिर हो जायगा। किंतु हम गुण तथा दोषके प्रामाण्य और अप्रामाण्य (इन दोनों) के प्रति अन्वय और व्यतिरेककी उपलब्धि करते हैं। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं यह सिद्ध होगया।

इस स्थल पर कहते हैं, कि–बाधक न होने पर कार्यके कारण से ही कार्यके साथ कार्यशक्तिकी उत्पत्ति अङ्गीकार करना कर्तव्य है। अन्यथा अर्थात् उक्तरूपसे अङ्गीकार न करने पर, अग्निमें जो दाहकत्व (जलानेकी) शक्ति है, उसकी भी दूसरे कारणसे

दाहकत्वं न स्यात् । वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते । तत् सिद्धम् एतत् स्वत एव च प्रामाण्यमिति ॥ न च अप्रामाण्यमपि स्वत एवास्त्विति मन्तव्यम् । तस्य दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन ज्ञानहेतुमात्रजन्यत्वाभावात् ॥ स्यादेतत् । यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् । तद्‌ न । प्रामाण्यशब्देन तथाभूतार्थावधारकशक्तेरेव विवक्षितत्वात् तस्या एव च ज्ञानहेतुमात्रशब्दार्थानियम्यमर्थनात् । अन्यथा नैयायिकपक्षेपि अप्रामाण्यस्य दोषाधीनत्वात् तदभावे स्मृतावपि प्रामाण्यसंभवप्रसङ्गात् ॥ यत् पुनः प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात् अप्रमावत् इत्यनुमानम् तद् असाधकम् । प्रमा

उत्पत्ति होनी चाहिये, और वह अग्नि जिस समय उत्पन्न होती है, उस समय उसमें दाहिका शक्ति नहीं हो. किन्तु अग्नि अपने आश्रय काष्ठ आदिको दहन (भस्म) करता हुआ ही उत्पन्न होता है । अतः प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, यह निश्चित होगया । अप्रामाण्यको भी स्वतः सिद्ध नहीं माना जासकता, क्योंकि—दोषसम्बन्धमें अन्वय और व्यतिरेक अप्रामाण्यके पीछे विहित होनेसे, ज्ञानविषयमें हेतुमात्रका कारण नहीं होसकता । यदि कहो, कि—चाहे इस मतको मान लिया जाय. किन्तु प्रामाण्य यदि ज्ञानविषयमें हेतुमात्रके अधीन होगा तो स्मृतिको भी प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा. तो यह बात नहीं है । प्रामाण्य शब्दसे तथाभूत जो अर्थ है, उस अर्थका अवधारण (निश्चय) करनेवाली शक्ति ही जानी जाती है और यह स्मृति तो ज्ञानके हेतुमात्र शब्दके ही अधीन है, अत एव स्मृतिप्रामाण्य नहीं होसकता । अन्यथा अर्थात् उसको प्रामाण्य कहकर स्वीकार करें तो नैयायिकके मतमें भी अप्रामाण्य दोषके अधीन होजावेगा, अत एव उसका अभाव होने पर स्मृतिमें भी प्रामाण्य संभव होसकेगा । प्रमा ज्ञानके हेतुसे अतिरिक्त

गुणदोषयोरन्यतराधीना न भवति ज्ञानत्वात् अप्रमावत् इत्यनेन अनुमानेन निर्विशेषणहेतुजत्वेन शीघ्रप्रवृत्तेन विशेषविषयत्वेन च प्रबलेन बाधितविषयत्वात् । तस्य च सविशेषणहेतुजत्वेन विलम्बितप्रवृत्तत्वाद् दौर्बल्यम् । तस्माद् उत्पत्तावपि ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेन प्रामाण्यं स्वतः एव । अप्रामाण्यं तु दोषाधीनत्वात् परत इति सिद्धम् ॥

ततश्च वेदानामपि अपौरुषेयत्वेन शब्दगतगुणदोषाणां शङ्कितुमपि अशक्यत्वेन सुतरां स्वत एव प्रामाण्यमिति निरवद्यम् ॥

स्याद् एवं यदि वेदानाम् अपौरुषेयत्वं भवेत् । तदेव असिद्धम् । तथा हि । वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि । वाक्यत्वात् । यद् उक्तसाधनं

हेतुके अधीन है,किंतु इसका कार्यसंबंध होने पर विशेषत्व होजाता है,अतएव'अप्रमाकी समान'ऐसा अनुमान असाधक हो पड़ता है। जो प्रमा है,वह ज्ञान होनेसे गुण और दोष किसीके अधीन नहीं है, अत एव 'अप्रमावत्' इस अनुमानके द्वारा विशेषण हेतुके अतिरिक्त, अन्यहेतुसे जन्य शीघ्र प्रवृत्त हुए, प्रबल विशेषणविषयके द्वारा यह विषय बाधित होजाता है । वह सविशेषण हेतुसे उत्पन्न होनेके कारण विलम्बसे प्रवृत्त होता है अत एव दुर्बल है । इस कारण उत्पत्तिस्थलमें भी प्रामाण्य ज्ञानहेतुमात्रके अधीन होनेके कारण स्वतः सिद्ध है और अप्रामाण्य दोषमात्रके अधीन होनेके कारण परतः सिद्ध है । यह सिद्ध होगया ।

अत एव वेदोंके अपौरुषेय (पुरुषके न बनाये हुए) होनेके कारण शब्दगत जो सकल गुणदोष हैं, उनसे वेदके पौरुषेयत्व की शंका भी नहीं की जासकती, अत एव प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, यह बात निर्विवाद है ।

यहाँ पर पूर्वपक्षवाला फिर कहता है, कि—यदि वेद अपौरुषेय होते तो यह बात ठीक थी, परन्तु वेदकी अपौरुषेयता ही असिद्ध

तद् उक्तसाध्यम् यथा भारतादिवाक्यम्। उक्तसाधनानि च वेद-वाक्यानि। तस्मात् पौरुषेयाणि वेदवाक्यानि। पौरुषेयत्वं नाम स्व-तन्त्रपुरुषपूर्वकत्वम् अभिमतम्। अतः क्रमवन्तो वर्णाः पदम्। क्रम-वन्ति च पदानि वाक्यम्। क्रमश्च नित्यवर्णेषु स्वत एवासंभवात् उच्चा-रणक्रमनिबन्धन एव उच्चारणक्रमश्च पुरुषप्रयत्नसाध्य एवेति वेदवा-क्यान्यपि क्रमवत्त्वेन पुरुषप्रयत्ननिष्पाद्यान्येवेति सिद्धसाध्यत्वं वदताम् अनवकाश एव॥ ननु किमत्र साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं विवक्षितम् आहो स्वित् परंपरया? नाद्यः। इदानीम् उच्चार्यमाणेषु बाधितविषयत्वात् अनुवक्तृप्रणीतास्मदादिवाक्येषु अनैकान्तिक-त्वाच्च। नापि द्वितीयः। साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतेषु अस्मदादि-

---

है, क्योंकि—वाक्य होनेके कारण वेदवाक्य पौरुषेय हैं—पुरुषके बनाये हुए हैं। जो उक्तसाध्य है, वह उक्तसाधन है (अर्थात् जहाँ पर साध्य है तहाँ पर साधन भी है) जैसे महाभारत आदिके वाक्य। अत एव वेदवाक्य उक्तसाधन होनेसे पौरुषेय हैं अन्य पुरुषका पहिले जो अभिमत था, वही पौरुषेय है। क्रम वाले वर्ण पद कहलाते हैं, और क्रम वाले पद वाक्य कहलाते हैं। नित्य वर्णोंमें स्वतःसिद्ध ही क्रम होना असंभव है, अत एव उच्चारण-क्रमनिबंधन ही क्रम है। उच्चारणका क्रम भी पुरुषके प्रयत्नसे ही सिद्ध होसकता है, इस कारण वेदके वाक्य भी क्रम वाले होनेके कारण, पुरुषके किये हुए यत्नसे ही बने हुए हैं, अत एव जो वेदको अपौरुषेय कहकर प्रामाण्यको स्वतःसिद्ध कहते हैं, उन का मत युक्तियुक्त नहीं होसकता। यदि कहो, कि—पूर्वपक्षवादीने जो पुरुषसाध्य कहा है, वह किस प्रकार है? वह क्या साक्षात्स्वरूपमें स्वतन्त्र (एक) पुरुषसे निष्पाद्य मानते हैं अथवा परम्पराक्रमसे पुरुषान्तरनिष्पाद्य मानते हैं। यदि साक्षात् एक पुरुषसे निष्पाद्य मानते हैं, तो इस समय उच्चारण किये हुए

वाक्येषु अनैकान्तिकत्वादिति चेत् मैवम् । साक्षात्परंपरात्वयोः परस्परव्यभिचारेपि साक्षात्परंपरात्वयोरन्यतरस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । अन्यथा भारतादिवाक्यान्यपि यानि कृष्णद्वैपायनादिना साक्षात् प्रणीतानि न तानि परंपरया यानि परंपरया न तानि साक्षात् इति उभयानुगतपौरुषेयत्वाभावेन अन्यतरस्य अपौरुषेयत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् यद् वाक्यं तत् साक्षात् परंपरया वा स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकम् इति साधयतां न क्वचिद् बाधो न व्यभिचारश्चेति सिद्धं वेदाः पौरुषेया इति ॥

तद् इदम् असमञ्जसम् । तथा हि । सर्वत्र वाक्येषु वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसंबन्धस्य चक्षुरादिजन्यतत्तत्पदार्थविशेषविषय-

---

वाक्यमें उसका बाध आता है तथा द्वितीय अर्थात् परम्पराक्रममें पुरुष निष्पाद्य नहीं होसकता, यदि कहो, कि—साक्षात् स्वतन्त्रपुरुषकर्तृक प्रणीत अस्मद् वाक्योंमें ऐकान्तिकत्व नहीं होता है, अर्थात् उभयनिष्पाद्य हैं अत एव अपौरुषेय हैं, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि—साक्षात् और परम्पराका परस्पर व्यभिचार होने पर भी साक्षात् और परम्पराके मध्यमें यहाँ पर एककी ही विवक्षा होती है । अन्यथा भारत आदि पुराणोंके वाक्य, महर्षि कृष्णद्वैपायनके द्वारा साक्षात् रूपसे प्रणीत हुए हैं, वे परम्परासे नहीं हैं और जो परम्पराप्रणीत हैं, वे साक्षात्रूपसे नहीं हैं । इस प्रकार साक्षात् और परम्परा इन उभयानुगत पौरुषेयत्वके अभावके कारण अन्यतर अपौरुषेय कहला सकता है, अत एव जो वाक्य है, वह साक्षात् क्रमसे वा परम्पराक्रमसे ही स्वतन्त्रपुरुषसाध्य है, इस प्रकार कहनेवालोंके मतमें न कहीं बाध पड़ेगा और न कहीं व्यभिचार आवेगा, अत एव सिद्ध होगया, कि—वेद पौरुषेय हैं ।

अब यहांसे उत्तरपक्ष कहते हैं, कि—उक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वत्र वाक्योंमें वृद्धव्यवहारके द्वारा अवगत पदका और

परस्परविलक्षणक्षणिकज्ञानवतः शरीरिण एव स्वतन्त्रकर्तृत्वं दृष्टमिति वाक्यत्वं तादृशकर्तृत्वेन व्याप्तं सत् स्वव्यापकं पक्षे साधयत् स्वाभिमतम् अशरीरकर्तृकत्वं विरुणद्धीति विशेषविरुद्धत्वाद्धेतोः। न चास्योत्तरस्य उत्कर्षसमायाम् अन्तर्भावः। सर्वत्र वाक्यत्वस्य हेतोः शरीरकर्तृकत्वेन व्याप्ततया दृष्टत्वात्॥

स्यादेतत्। अस्तु तर्हि अत्रापि अनित्यज्ञानेच्छादिमतः शरीरिण एव कर्तृत्वम्।' न च योग्यानुपलब्धिबाधः चिरवृत्ते कर्तरि उपलब्धियोग्यत्वस्यैव अभावात् इति॥ एतदपि न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारं प्राप्नोति। अपसिद्धान्तापातात्॥ किं च

पदके अर्थसम्बन्धका, एवं चक्षु आदि इन्द्रियजन्य तत्तत्पदके अर्थविशेषके विषयमें, परस्पर निश्चितज्ञानमें अनित्यज्ञानयुक्त जो शरीरी (जीव) है उसका स्वतन्त्रकर्तृत्व दृष्ट होता है। इस कारण जो वाक्य है वह तादृशकर्तृत्वके द्वारा व्याप्त होता है, तथा स्वकीयव्यापक जो तादृश कर्ता है, तत्पक्षमें अपना अभिमत साधन करते २ अशरीरी कर्त्ताको बाधित करता है, क्योंकि—यह विशेष का विरोधी है, परन्तु परवर्ती विधिके उत्कर्षसाधनमें उसका अन्तर्भाव नहीं होता है। सकल स्थलोंमें ही वाक्यत्वधर्मका जो हेतु (कारण) है वह शरीरविशिष्टकर्ताकर्तृक व्याप्तरूपमें दृष्ट होता है

यदि कहो, कि—ऐसा होने पर यहाँ पर भी अनित्य ज्ञान इच्छा आदिसे विशिष्ट शरीरधारीका ही कर्तृत्व होजायगा और योग्यकी उपलब्धि नहीं है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि—चिरवृत्त कर्त्तामें उपलब्धिके योग्यत्वका ही अभाव है। और यह प्रश्न भी विद्वान् पुरुषोंके मनको चमत्कृत नहीं कर सकता। क्योंकि—यहाँ अप (भ्रान्त) सिद्धान्त आपड़ता है। और एक बात है, कि—वेदवाक्योंका कर्ता यदि शरीरी होता तो, वह चिरकाल हुए होगया अतः उसकी उपलब्धिका अभाव है, तब भी उसकी स्मृति

यदि वेदवाक्यानां शरीरी कर्ता स्यात् तस्य चिरन्तनत्वेन उपलब्ध्यभावेपि असौ स्मृतिपथम् अवतरेत्। न च स्मर्यते। तस्मान्नास्त्येव कर्तेति निश्चीयते ॥

स्यादेतत्। केनचिद् अस्मरणं वा हेतुः आहोस्वित् सर्वैरस्मरणम्। नाद्यः। देवदत्तेन अस्मृतस्यापि घटस्य विष्णुमित्रगृहे विद्यमानत्वात्। नापि द्वितीयः। जैमिनीयैरस्मरणेपि कणादाक्षचरणपत्तिलमुनिपक्षिपतिभिः स्मर्यमाणत्वाद् इति॥ न। तदीयैरपि वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसंबन्धस्य तदर्थविषयविलक्षणक्षणिकचक्षुरादिजन्यवेदनस्य मातापितृसंबन्धप्रसूतपार्थिवशरीरस्य कर्तुरस्म-

---

ति अवश्य होती, परन्तु कभी और किसीने भी वेदोंका कर्ता शरीरी है, यह स्मरण नहीं किया है, अत एव वेदका कर्त्ता ही नहीं है, यह निश्चित है।

यहाँ पर प्रश्नकर्त्ता प्रश्न कर सकता है, कि—किसी एक पुरुषने वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं किया, इसलिये वेद अपौरुषेय है, वा किसीको भी वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं है, इसलिये वेद अपौरुषेय है ? यहाँ पर पहिली बात ठीक नहीं मानी जासकती, क्योंकि देवदत्तने जिस घटका स्मरण नहीं किया है वह घट विष्णुमित्रके घरमें विद्यमान होसकता है। और दूसरी बात भी ठीक नहीं मानी जासकती, क्योंकि—जैमिनियोंको जिस शास्त्रका स्मरण नहीं है, कणाद अक्षचरण (गौतम) पत्तिल, मुनिपक्षिपति आदि मुनियोंका उसका स्मरण अवश्य होगा। अतएव अस्मरण रूप प्रश्न युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि—वृद्धव्यवहारके द्वारा जाननेमें आनेवाला, जिस पदका और पदार्थका सम्बन्ध है, उसके अर्थ विषयमें विलक्षणरूपमें क्षणिक चक्षुरादिजन्यज्ञानविशिष्ट माता पिताके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए किसी पार्थिव शरीरवाले वेदकर्त्ताका उनको भी स्मरण नहीं है। स्मरण करनेवाले जिसका स्मरण

णात्। तदेवं वेदवाक्येषु यादृशस्य स्वतन्त्रपुरुषस्य ते स्मरन्ति तादृशस्य वाक्यत्वम् अस्मत्परिपन्थित्वेन न विरोधकम्। जैमिनीयैस्तु सर्वैः स्मर्तुं योग्यस्यापि अस्मरणाद् योग्यस्मृत्यनुदय एव बाधक इति वाक्यत्वं हेतुः विरुद्धसमस्तसविशेषत्वेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वमपि साधयितुम् असमर्थ इति सिद्धो विशेषविरोधस्तस्य॥स्याद् एतत्

"अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।"

"ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्"

[ऐ० ब्रा० ५. ३२]।

"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

करते हैं और वेदवाक्योंमें जैसे पुरुषान्तरका उल्लेख है, वही वाक्यनामसे अभिहित है, एवं उक्तवाक्य हमारे मतका विरोधी नहीं है। किञ्च-प्रश्नकर्ताने जैमिनियोंका जो उदाहरण दिया है, उस के विषयमें कहना यह है, कि—स्मरण करने योग्यका भी उन्होंने स्मरण नहीं किया, अत एव योग्य स्मृतिका न होना ही यहाँ पर बाधक है। इस कारणवश उक्त वाक्यत्व ही अपौरुषेयत्वका हेतु होगया। इस हेतुके विरोधी होनेसे वेदका जो स्वतन्त्रपुरुषप्रवर्तकत्व है, उसकी साधना करना ही अशक्य है, अत एव उसका विशेष विरोध सिद्ध होगया।

यदि कहो, कि—यह बात मान लें तब भी ऐतरेय ब्राह्मणके और ऋग्वेदके निम्नलिखित वेदकारणवाद भी वेदके पौरुषेयत्व के प्रमाण हैं। यथा—

"तदनन्तर उसके मुखसे वेद निकले" "ऋग्वेद अग्निसे, यजुर्वेद वायुसे और सामवेद आदित्यसे उत्पन्न हुआ है।" (ऐतरेय ब्राह्मण ५। ३२)।

"उस सर्वहुत् यज्ञसे ऋक्समूह" ऋक्से सामसमूह, सामसे

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत”
[ऋ० १०. ९०. ९] ॥

इत्यादयो वेदकारणवादा वेदस्य पौरुषेयत्वे प्रमाणमिति ॥
तद् अयुक्तम्। तेषां परस्परविरुद्धार्थतया प्रमाणान्तरप्रतिहततया च “प्रजापतिरात्मनो वपाम् उदक्खिदत्” [तै० सं० २. १. १. ४] इत्यादिवत् अर्थवादत्वेनापि उपपत्तेः स्वार्थे तात्पर्याभावात्। काठकादिसमाख्यापि प्रवचननिबन्धनैव भविष्यति। इति सिद्धं वेदानाम् अपौरुषेयत्वम् ॥

अत एव च नित्यम्। तन्नित्यत्वम् असहमानाः शुष्कतार्किका वैदिकान् प्रति विवदन्ते प्रयुञ्जते च शब्दानित्यत्वेऽनुमानम् ॥ शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यत् कृतकं तद् अनित्यं दृष्टम् यथा घटः

छन्दसमूह और छन्दःसमूहसे यजुर्वेद प्रकट हुआ था। (ऋ. १०। ९०। ९)

परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि—उनके परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होनेसे और दूसरे प्रमाणोंसे खण्डित होनेके कारण तैत्तिरीयसंहिता २। १। १। ४। में कही ‘प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्’ श्रुतिकी समान अर्थवाद होने पर भी उपपत्तिके स्वकीय अर्थमें तात्पर्यका अभाव होता है (अर्थात् उक्त श्रुतिवाक्यमें जैसे, “प्रजापतिने अपनी वपाको उत्खिन्न किया था” यह अर्थवाद है, किन्तु प्रकृतविषयमें तात्पर्यका अभाव है, तिसी प्रकार यहाँ पर है)। वेदोंमें जो काठक आदि समाख्या (नाम) हैं, वे भी प्रवचनके निमित्त मात्र हैं, अत एव वेद अपौरुषेय हैं यह सिद्ध होगया।

वेद अपौरुषेय होनेके कारण नित्य हैं। किन्तु शुष्क तार्किक वेदके नित्यत्वको न सह कर विवाद करने लगते हैं और वेदान्तर्गत शब्दके अनित्य होनेमें अनुमान करने लगते हैं, कि—वे कहते हैं, कि—“कृतकत्व (बनाया हुआ होने) के कारण शब्द

तथा चायं कृतकः तस्माद् अनित्य एवेति ॥ एतद् अधीरम् । एतच्च पर्वतादौ धर्मिणि प्रत्यक्षे यथा वन्ह्याद्यनुमानं तादृशं तार्किकैरङ्गीकरणीयम् । ततश्च एतदनुमानबलादेव शब्दस्य नित्यत्वसिद्धिः । तथा हि । अणवोऽनित्याः मूर्तत्वात् घटवत् इत्यनुमाने यथा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो दोषः तथा शब्दकृतकत्वानुमानेपि । तथा हि । शब्दः कथं प्रत्यक्षो देवानां प्रियस्य यो धर्मी ॥ कृतकस्य अनित्यत्वान्नित्यत्वशून्य इति चेत् । तर्हि वक्तव्यं किं धर्मद्वयस्य अभाववान् उत तद्भाववान् । उभयथापि बाधः अन्यथा प्रत्यक्षम् अर्थम् अन्यथा साधयतः ॥ ननु वादिबुद्धिविशेषाद् धर्मद्वयम् आपतति न तु वस्तु-

---

अनित्य है, क्योंकि–जो कृतक होता है, वह अनित्य ही दीखता है, जैसे घट । इसी प्रकार यह (शब्द) कृतक भी अनित्य ही है । किन्तु यह मत ठीक नहीं है । यह तो जैसे, धर्मविशिष्ट पर्वत आदिका प्रत्यक्ष होने पर उसका विषय अनुमानसापेक्ष होता है तैसे ही, तार्किकोंको अङ्गीकार करना चाहिये। अत एव इस अनुमानके बलसे ही शब्द नित्य सिद्ध होगया । अपि च–अणु मूर्ति वाले होनेसे घटकी समान अनित्य हैं–इस अनुमानमें जैसे धर्मीके ग्राहकपक्षमें प्रमाणका बाधरूप दोष आजाता है, इसी प्रकार शब्दके कृतकत्वके अनुमानमें भी दोष आसकता है।उसी को दिखाते हैं, कि–जो शब्द धर्मी है, वह किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि–कृतक (कृत्रिम) अनित्य होनेके कारण वह भी नित्यत्वशून्य है । (अब उत्तरपक्ष कहते हैं, कि–) यदि ऐसा मानोगे तो कहना यह है, कि–शब्द धर्मद्वय भावविशिष्ट है अथवा दोनों धर्मोंके अभाव वाला है । अन्यत्र प्रत्यक्ष किया हुआ जो अर्थ है उसको उक्त धर्मद्वय अन्यत्र साधना करते हैं, अत एव दोनों स्थलोंमें बाध दोष आपड़ता है । यदि कहो, कि–वादीकी बुद्धिसे ही दोनों धर्म आपड़ते हैं, किसी वस्तुसे नहीं आते हैं,

विशेषात् । वस्तुनि द्वैरूप्यायोगात् । ततश्च यस्मिन् वादिविप्रतिपत्तौ सत्यां धर्मद्वयम् आपतति स शब्दः पक्ष इत्यङ्गीकारे कथं बाधः । एवम् अनङ्गीकारे सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः ॥ अस्त्वेवम् अन्यत्र । शब्दे तु वैषम्यम् अस्ति । शब्दः किं धर्मित्वेन प्रतीतः प्रत्यक्षव्याप्तिपक्षधर्मतयोराश्रयः उत्पत्तितः उत्तरक्षणेषु स एव तिष्ठति वा न वा । यदि न तिष्ठति । आश्रयासिद्ध्यादिदोषः । यदि तिष्ठति तर्हि अनेकक्षणावस्थायित्वात् क्षणिकत्वभङ्गः !' अथ च शब्दत्वजातिमान् शब्दस्तिष्ठतीति चेत् तत्रापि विचारयत्वायुष्मान् । किं जातिस्तिष्ठति उत व्यक्तिरपि । यदि जातिस्तिष्ठति व्यधि-

---

क्योंकि–वस्तुमें पूर्वोक्त दोनों भावोंका होना संभव नहीं है । और ऐसा होने पर जहाँ वादीका विरोध (विप्रतिपत्ति) है, उक्तस्थल में दोनों ही विरोध आपड़ते हैं । और उस शब्दको पक्ष मानकर अङ्गीकार करने पर उसको पक्ष माननेमें बाध कैसे हो सकता है ? और अङ्गीकार न करने पर सारे अनुमानके नष्ट होनेका प्रसंग आजावेगा । ऐसा मान भी लें तो । अन्य शब्दमें वैषम्य है । शब्द धर्मित्वरूपमें प्रतीत होकर प्रत्यक्ष और व्याप्तिके संम्बन्धमें पक्ष और धर्मभावका आश्रयभूत हो जाता है, यह शब्द उत्पत्ति के अनन्तर ठहरता है या नहीं ? यदि उत्पत्तिके अनन्तर शब्द की विद्यमानताको स्वीकार न करें तो आश्रयकी असिद्धि आदि दोष आपड़ते हैं । और यदि शब्दकी विद्यमानताको स्वीकार करलें तब अनेक क्षण तक रहने वाला होनेसे क्षणिकपनेके भंग होनेका दोष आजावेगा और यदि यह कहें, कि–शब्दरूप जाति वाला शब्द ही–स्थितिशील–रहता है, तो तहाँ भी आयुष्मान् व्यक्तियोंको विचार करना चाहिये, कि–तहाँ क्या जाति स्थितिशील रहती है, या व्यक्ति स्थितिशील रहता है ? यदि जातिको स्थितिशील मानें तो उससे व्यधिकरणकी असिद्धि आदि दोष

करणासिद्ध्यादिदोषः। न हि शब्दत्वजातिः पक्ष इति भवद्भिरेवोक्तम्। अनित्यव्यक्तेश्चावस्थाने पूर्वोक्तदोषावकाशः॥ अथ च काचन व्यक्तिस्तिष्ठति। तदापि शब्दव्यक्तीनां धर्मित्वाङ्गीकाराद् भागासिद्धो हेतुः। न हि भविष्यच्छब्दः इदानीं वर्तमानस्य कृतकत्वस्य हेतोराश्रयो भवति॥ कृतकत्वं नाम करणव्यापारविषयत्वम्। तच्च कालत्रयासंस्पृष्टं सर्वशब्देषु वर्तत इति हेतोर्न भागासिद्धिरिति चेत्। अहो पाण्डित्यं तार्किकस्य। यत्र कालत्रयसंस्पृष्टशब्दबुद्धिः स्वयं कालत्रयातीतं प्रत्यक्षीकृतवान् इति॥ ततः प्रत्यक्षाभावे अनुमानमपि दूरापास्तम्॥ ततः अस्मिन्ननुमाने पर्व-

---

आते हैं। आपने ही कहा है, कि—शब्दत्वरूप जाति पक्ष नहीं हो सकती, अनित्य व्यक्तिका अवस्थान स्वीकार करने पर भी यही दोष रहता है। और कहो, कि—कोई व्यक्ति रहता है तो सब शब्द व्यक्तियोंको धर्मी स्वीकार करने पर वाक्य भागासिद्ध होजाता है। क्योंकि—भविष्यत्—शब्द (जो शब्द आगे होगा) वह इस क्षण में वर्तमान जो कृतकत्वरूप हेतु है उसका आश्रय नहीं होसकता। (यहाँ पर पूर्वपक्षवादीकी शङ्काको उठाकर उसका खण्डन करते हैं, कि—) और यदि कहो, कि—कारणका जो व्यापार है, उस का ही नाम कृतकत्व है, उस कृतकत्वका भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंके साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अत एव वह सब शब्दोंमें वर्तमान है। ऐसा होने पर तार्किकका पाण्डित्य अद्भुत ही प्रतीत होता है, कि—वह कालत्रयसे संस्पृष्ट शब्द-बुद्धि हो कर (अर्थात् जिसकी ऐसी बुद्धि है, कि—शब्द कालत्रयसे सम्बन्ध रखता है, फिर भी उसने)भी कालत्रयसे अतीत पदार्थको प्रत्यक्ष कर लिया (अर्थात् उसका ऐसे पदार्थका प्रत्यक्ष करना ही अद्भुत पाण्डित्यका परिचायक है) अत एव प्रत्यक्षके अभावमें अनुमान भी नहीं होसकता। अत एव इस अनुमान-

तादिवत् स्थायी वर्तमानः शब्दः पक्षत्वेनाङ्गीकरणीयः। तस्य धर्मिणः अनित्यत्वसिद्धौ अपरेषां भविष्यदादिशब्दानामपि शब्दत्वेन हेतुना अनित्यत्वं साधनीयम् ॥ एवं च महीमहीधरादिकृतकत्वानुमानवत् शब्दकृतकत्वानुमानमपि परास्तं वेदितव्यम्। शब्दग्राहि च प्रमाणं तं कृतकत्वशून्यमेव गृह्णातीति महीमहीधरवत् इति धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्त्वदुक्तो हेतु अन्यतरासिद्धश्च। तस्मान्नित्यः शब्दः ॥

सोपि स्फोट इति शाब्दिकाः शब्दायन्ते। तत्रेमां श्रुतिं प्रमाणयन्ति।

शब्दब्रह्म यद् एकं यच्चैतन्यं [च] सर्वभूतानाम्।

विषयमें पर्वत आदिकी समान स्थितिशील वर्तमानशब्दको पक्षरूपमें स्वीकार करना होगा। (जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें पर्वतरूप पक्ष स्थितिशील और वर्तमान है, इसी प्रकार शब्द भी स्थितिशील और वर्तमान है)। धर्मी शब्दकी अनित्यता स्थिर होने पर (अर्थात् धर्मी शब्दके अनित्य होने पर अपर जो 'भविष्यत्' आदि शब्द हैं उनका भी शब्दहेतुक अनित्यत्व मानना पड़ेगा। इस प्रकार पर्वत पृथ्वी आदिके कृतकत्व के अनुमानकी समान, शब्दका कृतकत्व अनुमान भी खण्डित होगया—ऐसा सबको समझना चाहिये। शब्दको ग्रहण करने वाला जो प्रमाण है, वह कृतकत्वशून्य शब्दको ही ग्रहण करसकता है (अर्थात् जो प्रमाण शब्दका प्रतिपादन करता है वह कृतकत्वशून्य शब्दको ही समझा सकता है)। उक्त प्रमाण और 'महीमहीधरवत्—पृथ्वी और पर्वतकी समान' इस धर्मिग्राहक प्रमाणका बाधक जो तत्कथित हेतु है, इन दोनोंमेंसे एककी असिद्धि होती है। अत एव यह स्थिर होगया, कि—शब्द नित्य है।

शाब्दिक पुरुष उस शब्दको 'स्फोट' कहते हैं। और इस विषयमें वह इस श्रुतिका प्रमाण देते हैं, कि—"शब्द ब्रह्म यदेकं

यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदं जयति सा वाणी ।

इति । अस्य अयम् अर्थः । शब्द एव ब्रह्म । तद् एकम् । एकं व स्फोटव्यतिरिक्तम् अन्यन्न संभवति । वर्णानाम् अनेकत्वात् । अत एव न ध्वनयोपि । पदवाक्ययोरेकत्वशङ्कापि नास्त्येव वर्णैर्विरचितत्वात् तेषाम् । ध्वनिवर्णपदवाक्येभ्यो वा नान्यः शब्दः प्रसिद्धोस्ति लोकवेदयोः । शब्दब्रह्मेति पठन्ति लौकिका वैदिकाश्च । पदज्ञा अपि एवम् आहुः । "एकम् अक्षरम् एकं पदम् एकं वाक्यम्" इति । उत्पन्नापवर्गिष्वनेकेषु वर्णेषु एकबुद्धेर्विषयः स्फोटः बृहत्त्वाद् ब्रह्मशब्दाभिधेयः । स्फुटयते अर्थः प्रकाश्यते [अनेन] इति स्फोटः ॥

यच्चैतन्यं (च) सर्वभूतानाम् । यत् परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी ॥" इसका अर्थ यह है कि--शब्द ब्रह्मरूप है । वह अद्वितीय अर्थात् स्फोटके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । क्योंकि--एक, स्फोटके अतिरिक्त दूसरा नहीं होसकता क्योंकि--वर्ण अनेक हैं । अत एव ध्वनिका (एकत्व) संभव नहीं होता है तथा पद और वाक्य दोनोंकी एकत्वकी आशंका भी नहीं हो सकती, क्योंकि--शब्द और वाक्य वर्णसमष्टिके द्वारा ही रचित होते हैं लोकमें वा वेदमें, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यसे भिन्न अन्य शब्द प्रसिद्ध नहीं हैं । लौकिक और वैदिक पण्डित भी 'शब्द ब्रह्म है' इस प्रकार पाठ करते रहते हैं । पदको जाननेवाले पण्डित भी इस प्रकार कहते हैं, कि—'अक्षर (वर्ण) एक है, पद एक है, और वाक्य एक है (अर्थात् तीनों ही एक हैं, पृथक् २ नहीं हैं), उत्पन्न होनेवाले और लयको प्राप्त होनेवाले अनेक वर्णोंमें एकमात्र बुद्धिका विषय स्फोट, महत्वके कारण ब्रह्म शब्दसे अभिधेय है । इसके द्वारा अर्थ प्रकाशित होता है इस कारण ही इसको स्फोट कहते हैं ।

ननु अर्थाभिव्यञ्जकश्चेच्छब्दस्तर्हि वर्णात्मक एव सः। ज्ञातेषु वर्णेषु अर्थो ज्ञायत इति प्रसिद्धिः। नैतत् वर्णात्मकशब्दः अर्थप्रत्यायक इति कोऽर्थः। एकैको वर्णः अर्थप्रत्यायकः उत अनेक इति। न तावद् एकैकः। अकारादीनां वर्णानां प्रत्येकं वर्णोच्चारणे अर्थप्रतीतेरभावात्। न च अव्ययानां तिरस्काराद्यर्थप्रत्यायकत्वं दृष्टमिति मन्तव्यम्। "अव्ययाद् आप्सुपः" [पा. २. ४. ८२] इति विभक्तौ लुप्तायां तेषाम् अर्थप्रत्यायकत्वात् न तु प्रातिपदिकावस्थायाम्। ततश्च अ इ उ इति वर्णानां तिरस्काराश्चर्यादरार्थानां

पूर्वपक्षीवादी कहते हैं, कि–यदि शब्द अर्थका प्रकाशक होगा हो तो वह शब्द वर्णात्मक ही होगा, क्योंकि–यह बात प्रसिद्ध है कि–सब वर्णोंके ज्ञात होने पर ही अर्थ ज्ञात होसकता है। उत्तरवादी इसका प्रतिवाद करता हुआ कहता है, कि–तुम (पूर्वपक्षवादी) ने जो कुछ कहा है वह ठीक नहीं है, वर्णात्मक शब्द अर्थको जता देता है, तुम्हारी इस बातका क्या अर्थ है ? (अर्थात् ऐसा अर्थ असंभव है)। (अच्छा हम बूझते हैं, कि–) एक एक वर्ण अर्थको जताता है, वा बहुतसे मिले हुए वर्ण अर्थको बताते हैं ? एक एक वर्ण अर्थको बताते हैं, यह बात तो कह नहीं सकते क्योंकि– अकार आदि वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णका उच्चारण करने पर भी अर्थ समझमें नहीं आसकता। और ऐसा भी मनमें न समझना चाहिये, कि–"अव्ययोंका तिरस्कार आदि अर्थबोधकत्व (अर्थको जतानापन) देखा है (अर्थात् जब अव्यय अ इ उ आदि शब्द तिरस्कार आदि अर्थोंको जता देते हैं, यह दीखता है, तब प्रत्येक वर्ण अर्थबोधक होसकता है)"। क्योंकि–"अव्ययादाप्सुपः" इस पाणिनीय २।४।८२ सूत्रसे विभक्तिका लोप होने पर अर्थ समझमें आता है। किन्तु प्रातिपदिक अवस्थामें ही ऐसा नहीं होसकता अत एव तिरस्कार आश्चर्य और आदरके

तेषां पदात्मकत्वेन अनेकवर्णात्मकत्वात् [अर्थप्रत्यायकत्वम्]। न हि अदर्शनमात्रेण विभक्तिवर्णानाम् असत्त्वम्। तथात्वे संबुद्धि-प्रातिपदिकार्थयोरेकत्वप्रसङ्गात्। अनिष्टं च तच्छाब्दिकानाम्। तथा च अव्ययानामेव अर्थप्रत्यायकत्वम् न वर्णानाम् एकैकशः॥ अव्ययानि च पदविशेषा इत्युक्तम्। एतेन उपसर्गादीनि सर्वाणि व्याख्यातानि॥ ततः अनेके वर्णा अर्थप्रत्यायका इति वक्तव्यम्। अयमपि पक्षो न कक्षीकरणीयः। अपदात्मकस्य कचटतेत्यादि-रूपस्य अर्थप्रत्यायकत्वादर्शनात्। पदात्मकोऽनेको वर्णः अर्थ-प्रत्यायक इति सारं स्थितम्। पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा। तच्च प्रातिपदिककृत्तद्धितधातुसमासप्रकृतिकम्। तत् सर्वं वर्णस्वरूपमेव।

अर्थको जताने वाले वे अ इ उ पदात्मक होनेसे अनेक वर्णात्मक होगए, इसी कारण वे अर्थको जताते हैं। अदर्शन (लोप) मात्र से विभक्ति वा वर्णका अविद्यामानत्व नहीं माना जासकता, क्यों-कि—ऐसा होजायगा तो सम्बुद्धि और प्रातिपदिकार्थके एक होनेका प्रसङ्ग आजायगा, किन्तु शब्दशास्त्रको जानने वाले इसके विरुद्ध हैं। अतः अव्यय ही अर्थको जता सकते हैं, अलग २ वर्ण नहीं। कहा भी है, कि–'अव्यय भी पदविशेष ही हैं।' इस वाक्यसे उपसर्ग आदि सबकी व्याख्या होगई। अत एव यह कहना चाहिये, कि—अनेक वर्ण ही अर्थको जताने वाले हैं। यही मत कक्षीकरणीय नहीं है अर्थात् इसी मतको घरकी समान नहीं मानना चाहिये—इसी मतका आदर नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो पदात्मक नहीं हैं वे क च ट त आदि जो वर्ण हैं, वे अर्थ-बोधक नहीं हैं, अत एव यह सिद्धान्त होगया, कि—पदात्मक अनेक वर्ण ही अर्थको जताने वाले हैं। पद सुबन्त वा तिङन्त ही होते हैं, और वह पद प्रातिपदिक अर्थात् शब्द, नाम, कृत, तद्धित, धातु और समाससे ही सम्पादित होते हैं। वे सब वर्णस्वरूप हैं,

न तु ततोतिरिक्तं पदमस्ति। वर्णेभ्योतिरिक्तस्य पदस्य अदर्शनात् ॥

ननु वर्णगतो धर्मः कश्चनपदमिति। यथाव्यक्तिगतो जातिविशेषो गोत्वमिति। एवं चेत् एकगोव्यक्तिदर्शने गोत्वप्रतीतिवत् एकैकवर्णदर्शने पदप्रतीतिः स्यात् ॥ ततो वर्णानां समुदायविशेषः पदमिति वक्तव्यम्। तच्च अर्थप्रत्यायकमिति वर्णनीयम्। तेन पदसमुदायविशेषो वाक्यम् इत्युपपादितं भवति। वर्णन्यायस्य पदे संचरणात् ॥ ननु अस्त्वेवम्। तावता वर्णा एव शब्द इति भवताप्युक्तम् पदवाक्यात्मकानां वर्णानाम् अर्थप्रत्यायकत्वकथनेन भावानवबोधात् ॥ भावश्चायम्। यदि वर्णा नित्या यदि वा अनित्या उभयथापि तेषां समुदायो नोपपन्नः। नित्यानां तु

क्योंकि—वर्णोंसे अतिरिक्त पद नहीं होसकता उसका हेतु यह है, कि—वर्णोंसे अतिरिक्त पद दीखता ही नहीं।

अच्छा! यदि इस प्रकार कहा जाय, कि—जैसे गोत्व व्यक्तिगत जातिविशेष है, इसी प्रकार पद, वर्णगत कोई एक धर्मविशेष है। यदि ऐसा हो तो यह दोष आता है, कि—एक गौका दर्शन होने पर गोत्वकी प्रतीतिकी समान, एक वर्णका दर्शन होने पर पदकी प्रतीति भी होजानी चाहिये, (यह संभव नहीं है अत एव दोष है।) इस दोषके कारण सब वर्णोंकी समष्टिविशेषका नाम पद है यह कहना पड़ेगा उसी पदको अर्थबोधक कहना चाहिये, इस नियमके अनुसार पदोंका समुदाय ही वाक्य है यह प्रतिपादित होगया, क्योंकि—वर्णविचारकी समान पदविचारमें भी यही युक्ति संचारित होती है।

अच्छा! ऐसा भी मानलें! आपने भी तो 'वर्ण ही शब्द हैं' यह बात कही है, क्योंकि—पद अथवा वाक्यस्वरूप वर्णों के अर्थ-बोधक कहनेसे भाव प्रकाशित नहीं होता है। अभिप्राय यह है, कि—चाहे वर्ण नित्य हों वा अनित्य हों दोनों प्रकारसे उनका

गुणत्वे सर्वगतद्रव्यत्वे वा पञ्चाशत्संख्याकानां तेषां मेलनं केन कर्तुं शक्यम्। न चैवं वर्णानां स्थानप्रयत्नवैयर्थ्यप्रसङ्गः। नित्यानामेव तेषां स्थानप्रयत्नाभ्यामेव अभिव्यज्यमानत्वात्। न च अभिव्यक्तेरपि समुदायः कर्तुं शक्यः। वर्णाभिव्यक्तेर्ज्ञानरूपत्वात्। ज्ञानानां च क्रमेण जायमानत्वात्। "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [गौ० सू० १. १. १६] इति न्यायात्। क्रमेण जायमानानां क्षणिकानां तेषाम् एकस्मिन् देशे काले वा मेलनस्य कर्तुम् अशक्यत्वात्। न च मेलनाद्‌ अन्यः समुदायोस्ति। तस्माद्‌

समुदाय सिद्ध नहीं होता है। नित्य वर्णोंको गुण अथवा सर्वगतद्रव्यरूपमें मानने पर पचास संख्या वाले उन वर्णोंको मिलाने में कौन समर्थ होसकता है? (कोई नहीं)। और वर्णोंके कण्ठ आदि स्थान वा प्रयत्न (उच्चारणकी चेष्टा) आदिके व्यर्थ होने का भी प्रसङ्ग नहीं आता है, क्योंकि-स्थान वा प्रयत्नके द्वारा नित्य वर्ण ही अभिव्यक्ति (प्रकाश) पाते हैं। अभिव्यक्तिका भी समुदाय मिलन नहीं किया जासकता,क्योंकि-वर्णकी अभिव्यक्तिका नाम ज्ञान है, और यह ज्ञान भी क्रमसे ही उत्पन्न हो सकता है, (एक साथ नहीं होसकता क्योंकि-) गौतमसूत्र १। १। १६ में कहा है, कि-"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" इस सूत्रका अर्थ यह है,कि-एक समयमें दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति न होना ही मनकी शक्ति है। (अर्थात् मनमें ऐसी शक्ति नहीं है, कि-एक समय में ही उसमें दो वा दोसे अधिक ज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्ति होसके), एवं क्रम २ से उत्पन्न होते हुए अत एव क्षणस्थायी ज्ञानोंका एक देशमें (एक स्थानमें) वा एक समयमें मेलन नहीं किया जासकता। और मेलन (मिलाने) से भिन्न अन्य समुदाय भी नहीं है, इसकारण वर्णों के नित्य होने पर भी समुदायका अभाव स्पष्ट है। (जब समुदायका अभाव होगया

वर्णनित्यत्वेपि स्पष्टः समुदायाभावः । कथं वर्णसमुदायः पदं पद-समुदायो वाक्यम् अर्थप्रत्यायकं स्यात् । अस्ति तु अर्थप्रत्ययः शब्दात् । ततः शब्दतत्त्वम् अन्यदेव ॥

ननु एतादृशं शब्दतत्त्वं कुतः प्रतीयते ॥ अनित्येभ्यो वर्णेभ्य इति ब्रूमः न च तत्र उक्तानुपपत्तिः । पूर्वपूर्ववर्णसचिवान्त्यवर्णबुद्धे-रिति ब्रूमः । न चैवम् अर्थप्रत्ययोप्येवमस्त्विति वक्तव्यम् । तथात्वे तस्य अशाब्दत्वं स्यात् । अनिष्टं च तत् । ततश्च उक्तबुद्धेः प्रती-यमानं शब्दतत्त्वम् एकबुद्धेर्विषयोर्थप्रत्यायक इति स्थितम् । यश्चार्थप्रत्यायकं स स्फोट इत्युक्तम् ॥

तब) किस प्रकार वर्णसमुदाय पद और पदसमुदाय वाक्य अर्थ-बोधक होंगे ? किन्तु शब्दसे अर्थ ज्ञान होता है, इस लिये स्थिर हुआ, कि—शब्दत्व अन्य पदार्थ है (अर्थात् शब्दत्व जातिसे स्व-तन्त्र है) ।

अच्छा ! ऐसा शब्दत्व किनसे जाना जाता है ? इसके उत्तर में हम कहते हैं, कि—अनित्य वर्णों से ही जाना जाता है । अब यहाँपर पहिले दिखाईहुई अनुपपत्ति (विरोध) आजावेगी ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि—हम कहते हैं, कि—पूर्व २ वर्णके साथ परवर्ती वर्णोंका ज्ञान होता है । किन्तु यह नहीं कहते, कि अर्थ ज्ञान भी इसी प्रकार होता है । ऐसा होने पर (उस अर्थ का) शब्दत्व नहीं होसकता (अर्थात् वह शब्दजन्य है, ऐसा बोध नहीं होसकता) । किंतु वह अनिष्ट है—किसीको भी इष्ट नहीं है । अतः यह निश्चय हुआ, कि-उक्तबुद्धिसे प्रतीयमान शब्द-तत्त्व, प्रतीयमान अर्थ बोधकतारूपमें एकमात्र ज्ञानका विषय हो-सकता है । कहा भी है, कि—जो अर्थको प्रकाशित करता है, वह स्फोट है ।

यत् शब्दब्रह्म एकम् एकप्रत्ययविषयः सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानां शरीरिणां चैतन्यम् । तदुक्तम् "शब्दब्रह्मणो व्यतिरिक्तं न चैतन्यम् अस्ति" इति । ननु चैतन्यविवर्ता इमे नानाविधा भावाः सर्वे सशब्दाः । तत् शब्दतत्त्वं स्यात् । न च अधिष्ठानम् अध्यस्तं भवति इत्यत आह यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदमिति । परिणामोऽत्र विवर्तोऽभिहितः । ननु परिणामविवर्तयोः को भेदः । अयम् । पूर्वरूपापरित्यागेन असत्यनानाकारप्रतिभासो विवर्तः । यथा शुक्तिकायां रजतस्य सर्परज्ज्वां वा सर्पस्य प्रतीतिः । पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणामः । यथा क्षीरस्य दधिप्रतिभासः ॥ त्रिभुवनं यत्परिणाम इत्युक्ते भौतिका भावाः

जो शब्दब्रह्म है वह एक है अर्थात् एकमात्र बुद्धिका विषय है तथा स्थावर जङ्गमरूप शरीरधारियोंका चैतन्यस्वरूप है। यही बात कही भी है, कि–"शब्दब्रह्मणो व्यतिरिक्तं न चैतन्यम् ।–शब्दब्रह्मसे भिन्न चैतन्य नहीं है।" यहाँ पर शङ्का होती है, कि–"अनेक प्रकारकी यह शब्द आदि समस्त वस्तुएँ चैतन्यकी विवर्तमात्र हैं (अर्थात् चैतन्यसे पृथक् नहीं हैं)" वही शब्दतत्त्व होजाय जो अधिष्ठान है, वह अध्यस्त नहीं होसकता ? इस लिये श्रुतिमें कहा है, कि–"यत्परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदम् इदं इति।" यहाँ पर परिणाम शब्दका अर्थ विवर्त है। अब यह शङ्का होती है, कि-परिणाम और विवर्तमें क्या भेद है ? (उत्तर) पहिले रूपको न त्यागकर नाना प्रकारके मिथ्या आकारोंको प्रकाशित करना विवर्त कहलाता है। जैसे सीपीमें चाँदीकी प्रतीति होती है और सर्पकेसे आकार वाली रस्सीमें सर्पकी प्रतीति होती है॥ और पहिले रूपको त्याग कर नाना प्रकारके आकारोंमें ज्ञान होनेका नाम परिणाम है। जैसे दूधका दही ज्ञान होना॥ "त्रिभुवनं यत्परिणामः" कहने पर समस्त पाञ्चभौतिक भाव शब्दब्रह्मके परि-

शब्दब्रह्मणः परिणामाः स्युः । तद्व्युदासाय उक्तम् अखिलम् इदम् इति । इदम् जाड्यप्रत्ययविषयः । चैतन्याद्व्यतिरिक्तं सर्वमित्यर्थः । सा स्फोटरूपा वाणी जयति ॥

तेन एतद्ध उक्तं भवति । शब्दब्रह्मणि चेतने सर्वप्रपञ्चविवर्ताधारे स्फोटे शब्दे शब्दाभिधेयत्वम् न तु वर्णानाम् । तेषामपि स्फोटे अध्यस्तत्वात् । तस्मात् स्फोट एव शब्दः ॥

इति ये मन्यन्ते तेषां दुरन्तं व्यसनम् आपतितम् ॥ अप्रतीतस्यार्थस्य प्रतीतिः । प्रतीतस्यार्थस्य परित्यागः । तथा हि । वर्णात्मकशब्देभ्यो यथा स्फोटः शब्दः प्रतीयते तथैवार्थः प्रतीयताम् । को दोषः । न च ज्ञानव्यवधाने अशाब्दत्वं तस्यार्थस्य । स्फो-

---

णाम होजाते, उसको हटानेके लिये 'अखिलं इदम्-यह सब' कहा है । इदं यह जड़सम्बन्धी प्रत्ययका विषय है, अर्थात् चैतन्यके अतिरिक्त वस्तुमात्रके प्रत्ययका विषय है । वह स्फोटरूप वाणी प्रशंसनीय है ।

इस सबके द्वारा यह सिद्धान्त निकला, कि-चेतन सब विस्तृत प्रपञ्चोंका आधार है । शब्दब्रह्मस्वरूप स्फोटनामक शब्दमें ही शब्दकी अभिधेयता होसकती है, वर्णोंमें नहीं होसकती (अर्थात् उक्त स्फोट शब्द ही शब्दका अभिधेय है इसके अतिरिक्त और सब वर्ण शब्दके अभिधेय नहीं होसकते, क्योंकि–वह भी स्फोटमें अध्यस्त हैं । अत एव स्फोट ही शब्द है ।

जो ऐसा मानते हैं, उनके ऊपर भयङ्कर विपत्ति पड़ी हुई समझनी चाहिये । (क्योंकि—उनके मतमें) अप्रसिद्ध अर्थका ज्ञान और प्रसिद्ध अर्थका परित्याग होरहा है । जैसे वर्णात्मक शब्दोंसे स्फोट शब्दका ज्ञान होसकता है इसी प्रकार अर्थ भी प्रतीत होसकता है, इसमें दोष क्या है (अर्थात् कुछ दोष नहीं नहीं है) ॥ यह बात नहीं कहनी चाहिये, कि–"ज्ञानका व्यव-

टोपि शब्द एव । शब्दश्च ज्ञानकरणम् । प्रत्यक्षव्यतिरिक्तानां करणानां ज्ञानकरणत्वाङ्गीकारात् । सर्ववादिभिः । ततश्च यः स्फोटपक्षे परिहारः स एव वर्णपक्षे भविष्यति । तथा हि । पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसचिवोन्त्यो वर्णो ज्ञातः सन् अर्थं प्रत्याययिष्यति । किम् अन्तर्गडुना स्फोटेन ॥

तस्माद् अपौरुषेयत्वाद् नित्यत्वाद् विवक्षितार्थत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेस्तदन्तर्गतस्य ब्रह्मवेदस्यापि विवक्षितार्थत्वेन व्याख्येयतासिद्धिः ॥

तथापि कथमस्य अन्ते व्याख्येयता । वेदानां क्रमेण अभिव्यक्ति-

धान होने पर उस अर्थका शब्दत्व नहीं होसकता ।" क्योंकि–स्फोट शब्द ही है । शब्द भी ज्ञानका करण है । क्योंकि–सब वादियोंने प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त करणोंका ज्ञानकरणत्व स्वीकार किया है । तदनन्तर जो स्फोटपक्षमें परिहार है, वही वर्णपक्षमें होजावेगा । इसीको स्पष्ट करते हुए कहा है, कि–पूर्वपूर्ववर्णका संस्कारयुक्त उच्चारण किया हुआ जो अगला वर्ण है वह ज्ञानका विषयीभूत होकर अर्थको समझा देगा फिर वर्ण और अर्थके बीचमें इस गडु (रोगविशेष) को स्वीकार करनेसे क्या लाभ है ? (अर्थात् स्फोटको स्वीकार करना व्यर्थ है) ।

पूर्वोक्त युक्तियोंसे वेदोंका अपौरुषेयत्व, नित्यत्व और विवक्षितार्थत्व सिद्ध होगया और ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) भी सब वेदोंके अन्तर्गत है, अत एव विवक्षितार्थत्व होनेसे इसकी व्याख्या करना उचित है, यह सिद्ध होगया ।

(अब फिर शङ्का करते हैं, कि–) ब्रह्मवेदकी व्याख्या (भाष्य) करना उचित है, यह स्थिर होगया, यह सत्य है, किंतु सब वेदोंके अन्तमें ही इसकी व्याख्या क्यों कीजाती है ? इसके उत्तरमें हम कहते हैं, कि–वेदोंके प्रकाशका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंमें

प्रतिपादकश्रुतिवशात् इति ब्रूमः ॥ सा च अथर्ववेदस्य पूर्वब्राह्मणे प्रणवप्रशंसावसरे श्रूयते। "ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्ताम् आपेदे। केनाहम् एकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्युष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमान्यनुभवेयम् इति। स ब्रह्मचर्यम् अचरत्। स ओम् इत्येतद् अक्षरम् अपश्यत् द्विवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि" इत्यादि [गो० ब्रा० १. १६] ॥ "तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीम् अग्निम् ओषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिं गायत्रं छन्दः त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तम् ऋतुम्" [गो० ब्रा० १. १७] इत्यादिना आद्याभिस्तिसृभिः प्रणवमात्राभिराम्नायान् ऋगादीन् प्रतिपाद्य अन्ते समाम्नातम्।

जैसा क्रम है, उसीके अनुसार हम ऐसा करते हैं। इस अभिव्यक्ति (प्रकाश) के क्रमका वर्णन अथर्ववेदके पूर्व ब्राह्मणमें ओंकारकी प्रशंसा करते समय कहा है, कि—"ब्रह्मने ब्रह्माजीको पुष्करक्षेत्र में रचा, उत्पन्न होने पर उन ब्रह्माजीने चिन्ता की, कि—मैं कौन से एक अक्षरसे सब कामोंका सब लोकोंका सब देवताओंका सब वेदोंका सब यज्ञोंका सब शब्दोंका सब व्युष्टियोंका और स्थावर जङ्गमरूप सब भूतोंका अनुभव करूँ, तदनन्तर उसने ब्रह्मचर्य करा तब उन्होंने तीन वर्ण चार मात्रा वाले सर्वव्यापक ॐ इस अक्षरको देखा। इत्यादि" (गोपथब्राह्मण १।१६) "उसकी पहिली स्वरमात्रासे पृथ्वी अग्नि ओषधि वनस्पति ऋग्वेद भू व्याहृति गायत्र छन्द त्रिवृत् स्तोम प्राचीदिशा वसन्त ऋतुको० (गोपथब्राह्मण १।१७)।" इत्यादिके द्वारा प्रणव (ओंकार) की पहिली तीन मात्राओंसे प्राप्त करने योग्य ऋग् यजु साम इन तीन वेदोंका प्रतिपादन करके अन्तमें कहा है, कि—"ब्रह्माजीने उस प्रणवकी चौथी मकारमात्रासे जल चन्द्रमा अथर्ववेद और नक्षत्रों

"तस्य मकारमात्रयापश्चन्द्रमसम् अथर्ववेदं नक्षत्राण्योऽश्मिति स्वम् आत्मानम् आनुष्टुभं छन्दः एकविंशं स्तोमम्" इत्यादि [गो. ब्रा० १. २०]। तथा तैत्तिरीयकेपि ब्रह्मयज्ञप्रकरणे श्रूयते। "यद् ऋचोधीते पयसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। यद् यजूंषि घृतस्य कूल्या। यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्याः" इति [तै० आ० २. १०]। तद् एवम् उदीरितरीत्या सर्वत्राथर्ववेदस्य चरमभावित्वात् तद्व्याख्यानस्य त्रयीव्याख्यानान्तर्यम् उपपन्नम् ॥

तस्य ऐहिकामुष्मिकसकलपुरुषार्थपरिज्ञानोपायभूतस्य अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति। तद् यथा। पैप्पलादास्तौदा मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्शाश्चारणवैद्याश्चेति ॥

को तथा अपने स्वरूपको अनुष्टुप् छन्दको और एकविंश स्तोम को (देखा) इत्यादि०। (गोपथब्राह्मण १।२०)"

इसी प्रकार तैत्तिरीयकके ब्रह्मयज्ञप्रकरणमें कहा है, कि:–'जो ऋग्वेदके मन्त्रोंको पढ़ता है स्वधा इसके पितरोंको घृतके प्रवाह पहुँचाती हैं। जो यजुर्वेदके मन्त्रोंको पढ़ते हैं घृतकी नदियें उस के पितरोंके पास पहुँचती हैं, जो सामवेदके मन्त्रोंको पढ़ता है सोम इसके पितरोंको पवित्र करता है और जो अथर्ववेदके मंत्रोंका पाठ करता है उसके पितरोंको मधुके प्रवाह मिलते हैं। तै. आ. २।१०।" इस प्रकार अथर्ववेदका श्रुतियोंने सर्वत्र अन्तमें ही वर्णन किया है,अत एव उसकी व्याख्या भी तीनों वेदोंकी व्याख्याके बाद होनी उचित ही है ॥

इस लोकके और परलोकके (धर्म अर्थ काम मोक्षरूप) सब पुरुषार्थोंको जाननेके उपायरूप इस अथर्ववेदके पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य नामवाले नौ भेद हैं। इनमें शौनकीय आदि चार शाखाओं

तत्र शौनकीयादिषु चतसृषु शाखासु अनुवाकसूक्तऋगादीनां गोपथब्राह्मणानुसारेण पञ्चभिः सूत्रैर्विनियोगोऽभिहितः ॥ तानि च सूत्राणि । कौशिकम् वैतानम् नक्षत्रकल्पः आङ्गिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति । तदुक्तम् उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्राधिकरणे ।

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः ।
तुर्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः । इति ॥

तत्र साकल्येन संहितामन्त्राणां शान्तिकपौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोगविधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम् ॥ तदेव इतरैः सूत्रैरुपजीव्यत्वात् प्रधानं च । एतेषु बहुषु सूत्रेषु अथर्ववेदप्रतिपाद्यानि कर्माणि विप्रकीर्णत्वाद् दुर्बोधानीति सुखाववोधाय तानीह संगृह्यन्ते ॥

तत्र तावत् कौशिकसूत्रे क्रमेण प्रतिपाद्यान्येतानि कर्माणि ॥

में गोपथब्राह्मणके अनुसार अनुवाक सूक्त ऋचा आदिका पाँच सूत्रोंसे विनियोग किया जाता है । उन सूत्रोंके नाम इस प्रकार हैं, कि-कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प, आङ्गिरसकल्प और शांतिकल्प । इसी बातको उपवर्षाचार्यों ने कल्पसूत्राधिकरणमें कहा है, कि

"पाँच सूत्रोंके मध्यमें पहिला नक्षत्रकल्प, दूसरा वैतान. तीसरी संहिताविधि, चौथा अङ्गिरस कल्प और पाँचवाँ शांतिकल्प है ॥"

उक्त कारिकामें शान्तिक और पौष्टिक आदि कर्मोंके लिये संहितामंत्रोंका अधिकतर विनियोग दिखानेके कारण कौशिकसूत्र का ही नाम संहिताविधि रक्खा है । यह कौशिकसूत्र विनियोगके समय दूसरे सूत्रोंका उपजीव्य होता है अर्थात् दूसरे सूत्रोंको इस का आश्रय लेना पड़ता है, अत एव यह कौशिकसूत्र प्रधान है । इन बहुतसे सूत्रोंमें अथर्ववेदसे किये जानेवाले कामोंकी विधिका यत्र तत्र वर्णन है अत एव उन सबका समझना कठिन है, अतः सुखपूर्वक सब जाननेमें आजाँय, इसलिये यहाँ उनका संग्रह दिखाते हैं ।

आदौ स्थालीपाकविधानेन दर्शपूर्णमासविधिः। ततो मेधाजननानि। ब्रह्मचारिसांपदानि। ग्रामनगरदुर्गराष्ट्रादिलाभार्थानि। पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसर्वसंपत्साधकानि। जनानाम् ऐकमत्यसंपादकानि सांमनस्यानि॥ ततो राजकर्माणि। तानि च शत्रुहस्तित्रासनानि संग्रामजयसाधनानि इषुनिवारणार्थानि खड्गादिसर्वशस्त्रनिवारणानि परसेनामोहनोद्वेजनस्तम्भनोच्चाटनादीनि स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि संग्रामे जयपराजयपरीक्षार्थानि सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि परसेनासंचरणप्रदेशेषु अभिमन्त्रितपाशासिकशाप्रक्षेपणादीनि जयकामस्य राज्ञः

उनमेंसे कौशिकसूत्रमें-इन कर्मोंका क्रमसे प्रतिपादन किया गया है। प्रथम स्थालीपाकविधानके द्वारा दर्शपौर्णमास यागकी विधि कही है। तदनन्तर बुद्धिजनक कर्मोंकी विधि कही है। फिर ब्रह्मचारीकी संपत्ति (ब्रह्मचर्यकी) विधि कही है। (फिर क्रमशः निम्नलिखित प्रयोगोंकी विधि कही है) ग्राम नगर दुर्ग और राज्य पानेके कर्म। पुत्र पशु धान्य धन प्रजा स्त्री हाथी घोड़ा रथ पालकी आदि सर्व सम्पत्तिसाधक कर्म। फिर मनुष्योंका एकमत करने वाले सांमनस्य नामके कर्म॥ तदनन्तर राजाओंके कामके कामोंका वर्णन है। यथा-शत्रुके हाथियोंमें त्रास उत्पन्न करना। संग्रामकी विजयके साधन, बाणोंको हटाना, खड्ग आदि सकल शस्त्रोंका हटाना। शत्रुकी सेनाको मोहमें डालना, उद्वेजन करना (घबड़ा देना), स्तम्भित कर देना और शत्रुकी सेनाका उच्चाटन करना। अपनी सेनाको उत्साह देने वाले, अभय देने वाले और उसकी रक्षा करनेवाले कर्म। संग्राममें होनेवाली जय पराजयकी परीक्षा करने वाले कर्म। सेनापति आदि प्रधानपुरुषोंकी विजय कराने वाले कर्म। शत्रुकी सेनाके विचरण करनेके स्थानमें अभिमन्त्रित किये हुए पाश तलवार और कोड़े आदिको

स्थस्यारोहणम् अभिमन्त्रितभेरीपटहादिसर्ववादित्रताडनम् सपत्नक्षयकर्माणि शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनःस्वराष्ट्रप्रवेशकानि राजाभिषेकः ॥ पापक्षयार्थानि । निर्ऋतिकर्माणि । चित्रकर्मादीनि । पौष्टिकानि । गोसमृद्धिकर्माणि । लक्ष्मीकराणि । पुष्ट्यर्थमणिबन्धनानि । कृषिपुष्टिकराणि । अनडुत्समृद्धिकराणि । गृहसंपत्कराणि । नवशालाकर्मादीनि । वृषोत्सर्जनम् । आग्रहायणीकर्म ॥ जन्मान्तरकृतपापनिमित्ताचिकित्स्यविविधरोगभैषज्यानि । तत्र प्रथमं सर्वव्याधिभैषज्यम् ज्वरातिसारबहुमूत्रादिभैषज्यानि शस्त्राद्यभिघातजरुधिरप्रवाहनिरोधकानि भूतप्रेतपिशाचापस्मारब्रह्मराक्षसबालग्रहादिनिवारणानि । वातपित्त-

---

फेंकना । विजयाभिलाषी राजाका रथपर चढ़ना । मंत्रोंसे पवित्र कियेहुए भेरी पटह आदि बाजोंका बजवाना । शत्रुओंका विनाश करनेवाले कर्म । शत्रुके द्वारा पराजित हुए राजाको पुनर्वार अपने राज्यमें प्रवेश कराने वाले कर्म । तथा राजाका राज्यमें अभिषेक ॥ तदनन्तर पापोंका क्षय करने वाले कर्मोंका वर्णन है । यथा–निर्ऋति कर्म, चित्रकर्म आदि, पौष्टिक कर्म, गौओंकी प्राप्ति कराने वाले कर्म, सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले कर्म, पुष्टिप्रद मणिबन्धन आदि कर्म, कृषिको पुष्ट करने वाले कर्म, बैलोंकी वृद्धि करने वाले कर्म, घररूपी सम्पत्तिको देने वाले नवशाला आदि कर्म, वृषोत्सर्ग, आग्रहायनी कर्म (अर्थात् आग्रहायन नामक यागकार्य) हैं । फिर पहिले जन्मोंमें कियेहुए पापोंके कारण उत्पन्न हुए अत एव चिकित्सासे वशमें न आने वाले अनेक रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । तहाँ पहिले सब प्रकारकी व्याधियोंकी औषधियोंका निरूपण है । ज्वर, अतिसार और बहुमूत्रकी औषधि है । शस्त्र आदिके प्रहारसे हुए घावमेंसे बहते हुए रुधिरके प्रवाहको रोकनेके कर्म, भूत प्रेत पिशाच अपस्मार (मिरगी) ब्रह्म-

श्लेष्मभैषज्यानि । हृद्रोगकामिलाश्वित्रनिवारणानि । संततज्वरैकाहिकादिविषमज्वरराजयक्ष्मजलोदरनिवारणानि गवाश्वादीनां कृमिहराणि कन्दमूलसर्पवृश्चिकस्थावरजङ्गमविषनिवारणानि शिरोऽक्षिनासिकाकर्णजिह्वाग्रीवादिरोगभैषज्यानि ब्राह्मणाक्रोशनिवारणानि गण्डमालादिविविधरोगभैषज्यानि ॥ पुत्रादिकामस्त्रीकर्माणि । सुखप्रसवकर्माणि । गर्भाधानगर्भदृंहणपुंसवनादीनि । सौभाग्यकरणानि । राजादिमन्युनिवारणानि । अभीष्टसिद्ध्यसिद्धिविज्ञानानि । दुर्दिनाशन्यतिवृष्टिनिवारणानि । सभाजयविवादजयकलहशमनानि । स्वेच्छातो नदीप्रवाहकरणानि । वृष्टि-

---

राक्षस और बालग्रह आदि (के उत्पातों) को दूर करने वाले कर्म, वात पित्त और कफकी औषधियें, हृद्रोग, कामिला (कमलवाय) और कोढ़को दूर करना । सब समय रहने वाले ज्वर, एक दिनका वा तीसरे दिनका (तिजारी) आदि ज्वर विषमज्वर, राजयक्ष्मा, और जलोदरको हटानेकी विधि । गौ और घोड़ोंके कीड़ोंको दूर करनेकी विधि । कन्द मूल सर्प बीछू आदिके स्थावर और जङ्गम विषोंको हटानेका वर्णन है । फिर शिर आँख नाक कान जीभ और गरदन पर होनेवाले रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । फिर ब्राह्मणोंके आक्रोशको हटानेका और गण्डमला आदि अनेक रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । फिर पुत्र आदिकी कामनासे स्त्रीकर्मका, सुखपूर्वक प्रसव होनेके कर्मका वर्णन है, फिर गर्भाधान और गर्भस्थ बालककी पुष्टि करने वाले पुंसवन आदि कर्मोंका वर्णन है । सौभाग्यप्रद कर्मोंका, राजकोपको दूर करने वाले मन्त्रोंका और अभीष्ट कामकी सिद्धि तथा असिद्धिको जताने वाले कर्मोंका वर्णन है । तदनंतर दुर्दिन (जो दिन सर्वदा मेघसे ढका हुआ रहता है) वज्रपात और अतिवृष्टिको निवारण करने वाले कर्मोंका वर्णन है ।

कर्माणि । अर्थोत्थापनकर्म । द्यूतजयकर्म । गोवत्सविरोधनिवारणम् । अश्वशान्तिः । वाणिज्यलाभकर्म । स्त्रियाः पापलक्षणनिवारणम् । वास्तुसंस्कारकर्म । गृहप्रवेशकर्म । कपोतवायसाद्युपहतगृहशान्तिविधिः । दुष्प्रतिग्रहायाज्ययाजनादिदोषनिवारणम् । दुःस्वप्ननिवारणम् । कुमारस्य पापनक्षत्रजननशान्तिः । ऋणापनोदनम् । दुःशकुनशान्तिः ॥ आभिचारिकाणि । परकृताभिचारनिवारणानि ॥ स्वस्त्ययनानि । आयुष्याणि । जातकर्मनामकरणचूडाकरणोपनयनादीनि । एकाग्निसाध्याः काम्या यागाः ब्रह्मौदनस्वर्गौदनाद्या द्वाविंशतिः सवयज्ञाः ॥ क्रव्यादुच्छमनम् । आवसथ्याधानम् । विवाहः ॥ पैतृमेधिकानि । पिण्डपितृयज्ञः ॥ मधु-

---

फिर सभामें विवादमें विजय दिलाने वाले कर्मोंका और कलहको शान्त करने वाली विधिका वर्णन है । फिर अपनी इच्छासे नदीको प्रवाहित करनेके विनियोगका वर्णन है फिर वृष्टिके निमित्त किये जाने वाले कर्म, अर्थ–धन रत्न आदि के उठानेका कर्म, जुएमें जीतनेका कर्म, गौ और बछड़ेके विरोधको निवारणका कर्म और अश्वशान्ति है । फिर वाणिज्य में लाभ होनेका कर्म, स्त्रियोंके दुर्लक्षणोंकी शान्ति, वास्तुसंस्कारविधि, गृहप्रवेशके समय करने योग्य कर्म, घरमें कबूतर और काक आदि दुष्ट पक्षियोंके पतनकी शान्ति, दूषित पुरुषों से प्रतिग्रह लेनेसे और यज्ञ न कराने योग्यको यज्ञ करानेसे उत्पन्न हुए दोषका निवारण, दुःस्वप्ननिवारण, बालकके पापी नक्षत्रमें उत्पन्न होनेकी शान्ति, ऋणका निवटाना, दुर्भिक्षोंकी शान्ति, आभिचारिककर्म, दूसरेके किये आभिचारिक कर्मोंका निवारण, स्वस्त्ययन कार्य, जातकर्म नामकरण चूडाकर्म और उपनयन आदि आयुष्य कर्म, एकाग्निसाध्य काम्ययाग, ब्रह्मौदन स्वर्गौदन आदि बाईस सोमयाग, राक्षसोंका दूर करना, आवसथ्याध्यान (अर्थात

पर्कः ॥ पांसुरुधिरादिवर्षणयक्षराक्षसादिदर्शनभूकम्पधूमकेतुचन्द्रार्कोपसवादिबहुविधोत्पातशान्तयः । आज्यतन्त्रविधिः । अष्टकाकर्म । इन्द्रमहः । ततोऽध्ययनविधिरिति ॥

तथा वैतानसूत्रे दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्रः पोतेति चतुर्णाम् ऋत्विजां कर्तव्यं प्रतिपाद्यते । तत्र अनुज्ञानुमन्त्रणादीनि ब्रह्मणः । शस्त्रादीनि ब्राह्मणाच्छंसिनः । आग्नीध्रस्य अन्वाहार्यश्रपणप्रस्थितयाज्यादीनि । पोतुः प्रस्थितयाज्यादीनि । इति विभागः ॥ तत्र अयं कर्मक्रमः । प्रथमं दर्शपूर्णमासौ । ततोऽन्याधानम् । अग्निहोत्रम् । आग्रयणेष्टिः । चातुर्मास्यानि । वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाणि । पशुयागः । अग्निष्टोमोक्थ्यषोडश्यतिरात्रात्मकः प्रकृतिभू-

---

गृहसम्बन्धी लौकिक अग्निका विधान), विवाह, पैतृमेधिक कार्य-पिण्डपितृयज्ञ, मधुपर्क, धूलि और रुधिर आदि वर्षाकी तथा यक्ष और राक्षसके दर्शनकी तथा भूमिकम्प धूमकेतु चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण आदि अनेक प्रकारके उत्पातोंकी शान्ति, आज्य-तन्त्र विधि, अष्टकाकर्म और इन्द्रोत्सव है ॥ (इन सबका शौनकसूत्रमें वर्णन है) ।

इसी प्रकार वैतानसूत्रमें त्रयीमें कहे हुए अयनोंके अन्तमें होने वाले दर्श पूर्णमास आदि यज्ञोंमें जो ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्र और पोतारूप चार ऋत्विज होते हैं, उनके कर्मका प्रतिपादन किया है । उनमेंसे अनुज्ञा अनुमन्त्रण ब्रह्माके कर्मका, शस्त्र आदि ब्राह्मणाच्छंसीके कर्मका, अन्वाहार्य श्रपण और प्रस्थितयाज्य आदि आग्नीध्रके कर्मका और प्रस्थितयाज्य आदि पोताके कर्मका विभाग किया है । उसमें यह क्रम है, कि–पहिले दर्श पूर्णमास, तदनन्तर अन्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयणेष्टि हैं, तदनन्तर वैश्व-देव, वरुण, प्रघास, साकमेध और शुनासीर नामक चातुर्मास्य

तश्चतुःसंस्थः सोमयागः । वाजपेयः । अप्तोर्यामः । अग्निचयनम् । सौत्रामणी । मैत्रावरुण्यामिक्षेष्टिः । गवाम् अयनम् । राजसूयः । अश्वमेधः । पुरुषमेधः । सर्वमेधः । बृहस्पतिसवगोसवादय एकाहाः सोमयागाः । व्युष्टिद्विरात्रप्रकृतयोऽहीनाः । रात्रिसत्राणि । सांवत्सरिकाण्ययनानि । दर्शपूर्णमासायनानीति ॥

नक्षत्रकल्पेपि प्रथमं कृत्तिकादिनक्षत्रपूजाहोमादि । ततोऽद्भुतमहाशान्तिः । नैर्ऋतकर्म । अमृताद्या अभयान्तास्त्रिंशन्महाशान्तयो निमित्तभेदेन प्रतिपादिताः । तत्र दिव्यान्तरिक्षभौमेषु उत्पातेषु अमृताख्या महाशान्तिः । गतायुषां पुनर्जीवनाय वैश्वदेवी । अग्निभयनिवृत्तये सर्वकामावाप्तये चाग्नेयी । नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्त-

---

याग हैं । अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी और अतिरात्र भेदसे चार प्रकारका सोमयाग, वाजपेय, अप्तोर्याम, अग्निचयन, सौत्रामणि, मैत्रावरुणी नामक आमिक्षा याग, गोप्रचारण, राजसूय यज्ञ, नरमेध यज्ञ, सर्वमेध यज्ञ । बृहस्पतिसव गोसव आदि एक दिनमें पूर्ण होने वाले सोमयाग, व्युष्टि और द्विरात्र यज्ञकी प्रकृतिभूत अहीनयाग, रात्रिमें किये जानेवाले यज्ञ, वर्षभरमें पूर्ण होनेवाले अयनयाग । तथा अमावस्या और पौर्णिमामें पूर्ण होनेवाले अयनयाग हैं ।

अब नक्षत्रकल्पके सूत्रोंका विषय कहते हैं, कि—पहिले कृत्तिका आदि नक्षत्रोंकी पूजा और होम आदि हैं । तदनन्तर अद्भुत महाशान्ति नैर्ऋतकर्म है । फिर निमित्तकी विभिन्नताके अनुसार अमृतासे लेकर अभया पर्यंत तीस महाशांतियोंका प्रतिपादन किया गया है । इनमें दिव्य और आकाशसम्बन्धी तथा भूमिसम्बन्धी इन तीन प्रकारके उत्पातोंकी महाशांतिका नाम अमृता है—उसका वर्णन किया है । फिर गतायु पुरुषोंको पुनर्जीवित करने वाली वैश्वदेवी शांति है, फिर अग्निका भय दूर करनेके लिये और

रोगगृहीतानां तच्छान्तये भार्गवी । ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्र-शयनाग्निज्वलने च ब्राह्मी । राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य बार्हस्पत्या । प्रजापशव्नलाभाय प्रजाक्षयनिवृत्तये च प्राजापत्या । शुद्धिकामस्य सावित्री । छन्दोब्रह्मवर्चसकामस्य गायत्री । संपत्कामस्य अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च आङ्गिरसी । विजय-बलपुष्टिकामस्य परचक्रोद्वेजनकामस्य च ऐन्द्री । अद्भुतविकार-निवृत्ति [कामस्य] राज्यकामस्य च माहेन्द्री । धनकामस्य धन-क्षयनिवृत्तिकामस्य च कौबेरी । विद्यातेजोधनायुष्कामस्य आदित्या । अन्नकामस्य वैष्णवी । भूतिकामवास्तुसंस्कारकर्मणोर्वास्तोष्पत्या ।

सब कामनाओंको पानेके लिये आग्नेयी महाशांतिका वर्णन है, फिर नक्षत्र, ग्रह अथवा उपग्रहोंसे उत्पन्नहुए भयार्त अथवा रोग-ग्रस्त पुरुषोंके भय और रोगोंकी शांतिके लिये भार्गवी महाशांति का विधान है । ब्रह्मतेजको चाहने वालेके वस्त्र खट्वा आदिके अग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशांतिका विधान है । राज्य, लक्ष्मी और ब्रह्मतेज पाने वालेकी बार्हस्पत्या महाशान्तिका वर्णन है । फिर प्रजा, पशु और अन्नकी प्राप्तिके लिये और सन्तानक्षयकी निवृत्तिके लिये प्राजापत्याका, शुद्धि चाहनेवालेके लिये सावित्री का, छन्दःशास्त्र और ब्रह्मतेजको चाहने वालेके लिये गायत्रीका, सम्पत्तिको चाहने वाले अभिचार करते हुए अथवा दूसरेके लिय अभिचार करते हुएके लिये आङ्गिरसी महाशान्तिका विधान है । फिर विजय बल और पुष्टि चाहने वालेके लिये और शत्रुओं को उद्विग्न करना चाहनेवालेके लिये ऐन्द्री महाशान्तिका, अद्भुत विकारोंकी निवृत्ति चाहने वालेके लिये और राज्य चाहने वालेके लिये माहेन्द्रीका, धन चाहने वाले और धनक्षयको दूर करना चाहने वालेक लिये कौबेरी महाशान्तिका, विद्या, तेज, धन और आयु चाहने वालेके लिये आदित्याका, अन्न चाहने वालेके लिये

रोगार्तस्य आपद्ग्रस्तस्य च रौद्री । विजयकामस्य अपराजिता । यमभये याम्या । जलभये वारुणी । वात्याभये वायव्या । कुलक्षयनिवृत्तये संतत्याख्या । वस्त्रक्षयनिवृत्तये त्वाष्ट्री । बालस्य व्याधिनिवृत्तये कौमारी । निर्ऋतिगृहीतस्य नैर्ऋती । बलकामस्य मारुद्गणी । अश्वक्षयनिवृत्तये गान्धर्वी । गजक्षयशान्तये पारावती । भूमिकामस्य पार्थिवी । भयार्तस्य अभयाख्या महाशान्तिः । आसां तन्त्रभूता महाशान्तिश्चेति ॥

तथा आङ्गिरसकल्पे आभिचारकर्मादौ कर्तृकारयितृसद्स्यानां

वैष्णवीका, ऐश्वर्य चाहने वालेके लिये और वास्तुसंस्कारकर्ममें वास्तोष्पत्याका रोगार्त और आपद्ग्रस्तके लिये रौद्री महाशांति का वर्णन है । फिर विजयाभिलाषीकी अपराजिता महाशांतिका वर्णन है, फिर यमभय अर्थात् महामारी आदिके समय की जाने वाली याम्या महाशांतिका, जलभय अर्थात् जलप्लावनके समयकी जाने वाली वारुणी महाशांतिका और आँधीके भयसे कीजाने वाली वायव्या महाशांतिका वर्णन है । फिर कुलक्षयकी निवृत्ति के लिये सन्तति नामक महाशांति है, वस्त्रक्षयकी निवृत्तिके लिये त्वाष्ट्री महाशान्ति है, बालककी व्याधियोंको दूर करनेके लिये कौमारी महाशान्ति है, पापग्रस्तके पापको शान्त करनेके लिये नैर्ऋति महाशान्ति है, फिर बल चाहने वालेकी मारुद्गणी महाशान्ति है । तदनन्तर अश्वक्षयको दूर करनेके लिये गान्धर्वी महाशान्तिका और हस्तिक्षयकी शान्तिके लिये पारावती महाशान्तिका वर्णन आता है । फिर भूमिको चाहने वालेकी उपयोगिनी पार्थिवी महाशान्ति है, फिर भयातुरके काममें आने वाली अभया नाम वाली महाशान्ति है ।

इसी प्रकार आङ्गिरसकल्प नामक सूत्रका विषय लिखा जाता है । उसमें पहले अभिचार कर्मकी आदिमें अभिचार कर्म करनेवाले

स्वात्मरक्षाकरणम् । अभिचारोपयुक्तदेशकालमण्डपकर्तृकारयितृदीक्षादिधर्मसमिदाज्यादिसंभारनिरूपणादिकम् । ततः आभिचारिककर्माणि । परकृताभिचारनिवारणादीन्यन्यान्यपि कर्माणि ॥

शान्तिकल्पेपि प्रथमं वैनायकग्रहगृहीतलक्षणानि । तच्छान्तये संभाराहरणम् । अभिषेकवैनायकहोमाः । तत्पूजाविधानम् । आदित्यादिनवग्रहयज्ञादिकमिति ॥

एतेषु कल्पेष्वनुक्तानि यानि राजाभिषेकोपयुक्तद्रव्यप्रकृतिद्रव्यपरिग्रहपुरोहितवरणादीनि परिशिष्टोक्तानि तान्यपि अनुक्रम्यन्ते । प्रथमं राजाभिषेकः । प्रातःप्रातर्वस्त्रगन्धालंकारसिंहासनाश्वगजान्दोलिकाखड्गध्वजच्छत्रचामरादीनां तत्तन्मन्त्राभिमन्त्रितानां राज्ञे

तथा कराने वाले और उसका मार्ग दिखाने वालोंकी आत्मरक्षा करनेका वर्णन है, फिर अभिचारके योग्य देश काल मंडप, करने वाले कराने वाले दीक्षा आदि धर्म, होमके काष्ठ और होमके काममें आने वाले घृत आदि द्रव्योंका निरूपण है। तदनन्तर आभिचारिक कर्मोंका वर्णन है। फिर दूसरेके किये हुए अभिचारोंको दूर करने वाले और भी बहुतसे कर्मोंका वर्णन है॥

शांतिकल्पमें भी पहले वैनायक ग्रहसे ग्रस्तहुए पुरुषके लक्षण हैं, उसकी शांतिके लिये सामग्रियोंको एकत्रित करनेका वर्णन है, फिर अभिषेक अर्थात् मन्त्रपूर्वक स्नान करनेका और वैनायक होमका वर्णन है, फिर विनायककी पूजाका विधान है फिर आदित्य आदि नवग्रहोंके यज्ञ आदिक हैं।

इन सब कल्पोंमें राज्याभिषेकके उपयोगी द्रव्य, प्रजाओंके दिये हुए द्रव्यका ग्रहण और पुरोहितका वरण आदि नहीं कहा है, परिशिष्टमें इन सबका वर्णन है उन समस्त विषयोंको हम यहाँ पर क्रमशः लिखते हैं। पहिले राजाका अभिषेक है। प्रति दिन प्रातःकालमें वस्त्र गन्ध, अलङ्कार, सिंहासन, घोड़ा, हाथी, आंदो-

प्रदानादीनि पुरोहितकर्माणि । सुवर्णधेनुतिलभूमिदानादीनि राज्ञः प्रतिदिवसकर्तव्यानि । पूजितपिष्टमय्या सदीपया रात्रिप्रतिमया राज्ञो नीराजनम् । रक्षाकरणं च इत्येवमादीनि पुरोहितस्य रात्रि-कर्माणि । राज्ञः पुष्पाभिषेकः । राज्ञो रात्रौ आरात्रिकविधानम् । प्रातःप्रातर्घृतावेक्षणम् । कपिलादानम् । तिलधेनुदानम् । रसादि-धेनवः । कृष्णाजिनदानम् । भूमिदानम् । तुलापुरुषविधिः । आदित्यमण्डलाकारापूपदानम् । हिरण्यगर्भविधिः । हस्तिरथ-दानम् । कनकाश्वादिदशमहादानानि । अश्वरथदानम् । गोसहस्र-विधिः । वृषोत्सर्गः । कोटिहोमः । लक्षहोमः । अयुतहोमः । घृत-कम्बलविधिः । तटाकप्रतिष्ठा । पाशुपतव्रतम् । इत्येवमादीनि ॥ अन्यान्यपि दानव्रतादीनि ॥

लिका (पालकी) खड्ग, छत्र और चमर आदिको मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित कर राजाको प्रदान करनेके पुरोहितके कर्मोंका वर्णन है, फिर राजाके यहाँ प्रति दिन होने योग्य सुवर्ण,धेनु, तिल और भूमिके दानोंका वर्णन है, फिर पवित्र पिट्ठीसे बनाई हुई दीपक युक्त रात्रिकी प्रतिमाके द्वारा राजाकी आरती करनेका वर्णन है, फिर रक्षा करना आदि पुरोहितके रात्रिके कर्मोंका वर्णन है, फिर राजाका पुष्पाभिषेक रात्रिके समय राजाकी आरती प्रति दिन प्रातःकालमें घृतका दर्शन, कपिलादान, तिल, धेनु, दान, रस आदिकी धेनुओंका निरूपण, कृष्णमृगचर्मका दान, भूमि-दान और तुलापुरुषकी विधि है । फिर आदित्यमण्डलके समान आकार वाले गुलगुलोंका दान, हिरण्यगर्भविधि, हाथीसहित रथ का दान, कणकाश्व आदि दश प्रकारके महादान, घोड़े वाले रथका दान, गोसहस्रविधि, वृषोत्सर्ग, कोटिहोम, लक्षहोम, अयुत-होम, घृतकंबलकी विधि, बावड़ीकी प्रतिष्ठा और पाशुपत व्रत आदि बहुतसे दान तथा व्रतोंका परिशिष्टमें वर्णन है ।

इति सपरिशिष्टपञ्चकल्पप्रतिपाद्यानां कर्मणां दिङ्मात्रेण अयम् अनुक्रमः । विशेषस्तु तत्तत्सूक्तविनियोगावसरे वक्ष्यते । एतानि च त्रिविधानि नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन। तत्र जातकर्मादीनि नित्यानि। दुर्दिनाशनिनिवारणाश्वशान्त्यद्भुतकर्माणि च नैमित्तिकानि । मेधाजननग्रामसांपदादीनि काम्यानि ।। अत्र नित्यानां नैमित्तिकानां च अवश्यानुष्ठेयता । अकरणे प्रत्यवायस्मरणात् । तथा हि ।।

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया । इति

काम्यानां तु इच्छातः प्रवृत्तिः ।।

एतेषां ग्रामाद् बहिः प्रागुदग्देशे महानदीतटाकाद्युत्तरकूलेनुष्ठा-

---

परिशिष्टसहित पाँच सूत्रोंसे प्रतिपाद्य कर्मोंकी यह सामान्यरूप से अनुक्रमणिका दिखाई गई है । इनमें जो विशेष बातें हैं वे उन सूक्तोंके विनियोगके समय कही जायँगी । जिन कर्मोंका ऊपर वर्णन किया गया है ये सब कर्म नित्य नैमित्तिक और काम्य भेदसे तीन प्रकारके हैं । इनमेंसे जातकर्म आदि नित्यकर्म हैं, दुर्दिन वज्रनिवारण अश्वशांति और अद्भुत कर्म नैमित्तिक हैं तथा मेधाजनन ग्रामसम्पदादि कर्म काम्य हैं । इनमें नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये क्योंकि–इन को न करने पर प्रत्यवाय (दोष) लगता है ऐसी स्मृति है, यथा–" प्रत्यवायको नष्ट करनेकी इच्छासे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करे ।" (अत एव यह सिद्ध हुआ, कि–इन दोनों प्रकारके कर्मोंको न करनेसे दोष लगता है और करने पर दोष नहीं लगता है अत एव इन दोनों प्रकारके कर्मोंको अवश्य करना चाहिये)। किन्तु काम्य कर्मोंके संबन्धमें इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है (अर्थात् इच्छा हो तो उनको करो और इच्छा न हो तो उनको मत करो, इससे किसी प्रकारका दोष नहीं लगता है) । ग्रामके बाहर पूर्व वा उत्तर की ओर अथवा महानदी वा तालाब आदिके उत्तरी किनारे पर इन

नम्। "पुरस्तादुत्तरतोऽरण्ये कर्मणां प्रयोग उत्तरत उदकान्ते" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० १. ७] ॥ पुंसवनादीनां तु नित्यानां गृह एवेति रुद्रभाष्यकारमतम् ॥ कालस्तु पर्वद्वयं पुण्यनक्षत्रयुक्तं तिथ्यन्तरं वा। अद्भुतकर्मणां तु तत्तन्निमित्तानन्तरमेव। तथा चोक्तम्।

अमावास्या पौर्णमासी पुण्यनक्षत्रयुक् तिथिः।
एत एव त्रयः कालाः सर्वेषां कर्मणां स्मृताः।
अद्भुतानां सदाकालम् आरम्भः सर्वकर्मणाम्। इति ॥

आभिचारिकाणां तु ग्रामाद् दक्षिणदिशि कृष्णपक्षे कृत्तिकानक्षत्रे प्रयोग इति विशेषः। तथा च कौशिकं सूत्रम्। "आभिचारिकेषु दक्षिणतः संभारम् आहृत्य आङ्गिरसम्" इत्यादि [कौ० ६. १]। अत्र आङ्गिरसमिति आङ्गिरसकल्पोक्तमित्यर्थः।

काम्यकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि–कौशिकसूत्र १।७ में कहा है, कि–"पूर्व वा उत्तरकी ओर वनमें और जलाशयोंके उत्तरतट पर काम्यकर्मोंका प्रयोग (अनुष्ठान) करना चाहिये।" और रुद्रभाष्यकारका मत है, कि–पुंसवन आदि नित्यकर्मोंका अनुष्ठान घरमें ही करना चाहिये। अमावास्या और पौर्णिमा अथवा और कोई पुण्य नक्षत्र वाली तिथि इन कर्मोंको करनेका समय है। अद्भुत कर्मोंका तो जैसा २ निमित्त होनेके अनन्तर ही काल है। यही बात कही है, कि–

"अमावास्या पौर्णमासी तथा पवित्र नक्षत्र वाली और कोई तिथि यह तीन समय ही सब कर्मोंको आरम्भ करनेके लिये कहे हैं, और अद्भुत कर्मोंका आरम्भ सब समय होसकता है।"

आभिचारिक कर्मोंके सम्बन्धमें यह विशेष बात है कि–उनको कृष्णपक्षमें कृत्तिका नक्षत्र आने पर ग्रामसे बाहर दक्षिण दिशामें करना चाहिये। इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि–"आभिचारिक कर्मोंको दक्षिण दिशामें आङ्गिरस कल्पमें

एतेषां कर्मणां प्राच्योदीच्याङ्गानि दर्शपूर्णमासवत् कार्याणि। "इमौ दर्शपूर्णमासौ व्याख्यातौ दर्शपूर्णमासाभ्यां पाकयज्ञाः" इति सूत्रकारवचनात् [कौ० १. ६]। अत्र पाकयज्ञशब्देन सर्वम् आथर्वणं कर्मोच्यते। तच्च द्विविधम्। आज्यतन्त्रं पाकतन्त्रं चेति। यत्र प्रधानं हविः आज्यं तद् आज्यतन्त्रम्। यत्र चरुपुरोडाशादिकम् तत् पाकतन्त्रम्॥ आज्यतन्त्रे अयम् अनुष्ठानक्रमः। प्रथमम् "अन्यसश्च" [१९. ६५] इति कर्तुर्जपः बर्हिर्लवनम् वेदिः उत्तरवेदिः अग्निप्रणयनम् अग्निप्रतिष्ठापनम् व्रतग्रहणम् पवित्र-

---

कही हुई सब सामग्रियोंको लाकर करे।" (कौशिकसूत्र ६।१)॥ यहाँ पर मूलश्रुतिमें जो आङ्गिरस शब्द आया है उसका अर्थ आङ्गिरसकल्पमें कहे हुए हैं। इन आभिचारिक कर्मोंके प्राच्य और उदीच्य अङ्ग दर्श और पूर्णमासकी समान करने चाहियें, क्योंकि—सूत्रकारने कहा है, कि—"इन दर्श और पूर्णमासकी व्याख्या करदी और इन दर्श और पूर्णमासोंसे पाकयज्ञोंका भी व्याख्यान होगया" (कौशिकसूत्र १ । ६)। यहाँ पर पाकयज्ञ शब्दसे अथर्ववेदके सब कर्म ग्रहण किये जाते हैं। वे कर्म दो प्रकारके हैं एक आज्यतन्त्र और दूसरे पाकतन्त्र। जिन कर्मोंमें आज्य अर्थात् घी प्रधान होता है वह आज्यतन्त्र कहलाते हैं और जिन कर्मोंमें चरुपुरोडाश आदि द्रव्य ही प्रधान होते हैं वे पाकतन्त्र कहलाते हैं। आज्यतन्त्रमें अनुष्ठानका क्रम यह है, कि—पहिले कर्ता "अन्यसश्च" (१९ । ६५) इस मन्त्रका जप करे, कुशाओंको काटे, वेदी, उत्तरवेदी अग्निप्रणयन, अग्निप्रतिष्ठापन,

करणम् पवित्रेणेध्मप्रोक्षणम् इध्मोपसमाधानम् बर्हिःप्रोक्षणम् ब्रह्मा-
सनम् ब्रह्मस्थापनम् स्तरणम् स्तीर्णप्रोक्षणम् आत्मासनम् उद-
पात्रस्थापनम् आज्यसंस्कारः स्रुवग्रहणम् ग्रहग्रहणम् पुरस्ताद्धोमाः
आज्यभागौ । "सविता प्रसवानाम् [५. २४] इति कर्मणि
अभितोभ्यातानैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. १] सूत्रकार-
वचनात् अभ्यातानानि । एतदन्तं पूर्वतन्त्रम् ॥ ततो यथोपदेशं
प्रधानहोमः । तत उत्तरतन्त्रम् । अभ्यातानानि पार्वणहोमः समृद्धि-
होमाः संनतिहोमाः स्विष्टकृद्धोमः सर्वप्रायश्चित्तीयहोमः स्कन्नहोमः
"पुनर्मैत्विन्द्रियम्" [७. ६६] इति होमः स्कन्नास्मृतिहोमौ

व्रतग्रहण, कुशकी पवित्री बनाना, पवित्रीके द्वारा यज्ञके काष्ठका प्रोक्षण और काष्ठोंको समीपमें रखना, कुशप्रोक्षण, ब्रह्माका स्थापन, कुशाओंका फैलाना और फैलाये हुए कुशोंका प्रोक्षण करना । अपना (अर्थात् कर्मकर्ताका) आसन, जलपात्रका स्थापन, आज्यसंस्कार, स्रुवग्रहण, ग्रहग्रहण (ग्रह नामक पात्रका ग्रहण), पहिले करने योग्य होम, घृतके दो भाग "सविता प्रसवानाम् (५ । २४ । प्रसव कर्मका देवता सविता है, इस कर्ममें अभ्यातानके द्वारा आज्यहोम करे ।" (कौशिकसूत्र १४ । १) इस प्रकारके सूत्रकारके वचनानुसार अभ्यातान कर्म । यहाँ तक पूर्वतंत्र अर्थात् आज्यतंत्रका प्रथमतंत्र है। तदनन्तर उपदेशानुयायी प्रधान होम होता है । फिर उत्तरतंत्रका आरंभ होता है । सकल अभ्यातान, पार्वणहोम, समृद्धिहोम, सन्नतिहोम, स्विष्टकृत् होम, सर्वप्रायश्चित्तीय होम, स्कन्नहोम, "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" (७ । ६६)

संस्थितिहोमाः चतुर्गृहीतहोमः बर्हिर्होमः संस्रावहोमः विष्णुक्रमाः व्रतविसर्जनम् दक्षिणादानम् ब्रह्मोत्थापनम् इति ॥ पाकतन्त्रे तु अभ्यातानाभाव एव विशेषः । अन्यत् सर्वं समानम् । तथा च गोपथब्राह्मणम् ।

आज्यभागान्तं प्राक्तन्त्रम् ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह ।
हवींषि यज्ञ आवापो यथा तन्त्रस्य तन्तवः । इति ॥

अद्भुतकर्मणाम् आज्यतन्त्रत्वेपि पाकतन्त्रवद् अभ्यातानाभावः। यद् आह केशवः । "पाकतन्त्रेष्वभ्यातानानि न भवन्ति अद्भुतेषु न भवन्ति अन्यत्र सर्वत्र भवन्ति" इति [के० १४. १] ॥

इस मंत्रके द्वारा होम, स्कन्नास्मृति नामक दो होम, संस्थितिहोम, चतुर्गृहीतहोम, बर्हिर्होम, संस्नावहोम, विष्णुक्रम, व्रतविसर्जन, दक्षिणादान, ब्रह्मोत्थापन ॥ पाकतंत्रमें अभ्यातान नहीं होता और सब काम आज्यतंत्रकी समान होते हैं। इसी बातको गोपथब्राह्मणमें कहा है, कि—"आज्यभागान्तं प्राक् तंत्रं ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह । हवींषि यज्ञ आवापो यथा तंत्रस्य तन्तवः ॥" अद्भुत कर्म आज्यतंत्र हों (घृतहविःप्रधान हों) तो भी पाकतंत्र की समान उनमें अभ्यातानका अभाव होता है। इसमें केशवका प्रमाण है। यथा—"पाकतंत्रोंमें और अद्भुत कर्मोंमें अभ्यातान नहीं होते हैं अन्यत्र सर्वत्र होते हैं।" (केशवी गृह्यपद्धति १४। १)

॥ इति भाष्य-भूमिका ॥

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेद-संहिता

सायणभाष्य और अनुवाद-सहित

शाखायाः शौनकीयायाः पूर्वोक्तेष्वेव कर्मसु ।
विनियोगाभिधानेन संहितार्थः प्रकाश्यते ॥

तत्र प्रथमकाण्डे षड् अनुवाकाः । प्रथमेऽनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र ये त्रिषप्ता इत्येतत् प्रथमं सूक्तम् । अस्य मेधाजननकर्मसु विनियोगः । यद् आह कौशिकः । "पूर्वस्य मेधाजननानि" इति [कौ० २. १] । अत्र पूर्वशब्देन ये त्रिषप्ता इति सूक्तम् उच्यते । "पूर्वं त्रिषप्तीयम्" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् ॥ तानि च मेधाजननकर्माणि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धुसमिदाधानम् व्रीहियवतिलानाम् आवपनम् क्षीरौदनपुरोडाशरसानां भक्षणम् उपाध्यायाय भैक्षदानम् सुप्तस्योपाध्यायस्य कर्णानुमन्त्रणम् उपाध्यायोपसदनकाले जपः आज्यमिश्रधानाहोमः तिलमिश्रधाना हुत्वा तच्छेषभक्षणम् उपाध्यायाय दण्डाजिनधानाः प्रदातुं धानानुमन्त्रणम् तद्वदेव धानाहोमः शुकसारिभारद्वाजानां पक्षिणाम् जिह्वाबन्धनम् तत्प्राशनं च । एतानि कर्माणि अनेन सूक्तेन मेधाकामस्य कार्याणि ॥ तथा च कौशिकं सूत्रम् । "शुकशारिकृशानां जिह्वा बध्नात्याशयत्यौदुम्बरपलाशकर्कन्धूनाम् आदधात्यावपति भक्षयत्युपाध्यायाय भैक्षं प्रयच्छति सुप्तस्य कर्णम् अनुमन्त्रयत उपसीदन् जपति धानाः सर्पिर्मिश्राः सर्वहुतास्तिलमिश्रा हुत्वा प्राश्नाति पुरस्तादग्नेः कल्माषं दण्डं निहत्य पश्चादग्नेः कृष्णाजिने धाना

अनुमन्त्रयते सूक्तस्य पारं गत्वा मयच्छति सकृज्जुहोति दण्डधानाजिनं ददाति" इति [कौ० २. । १.] ॥ अस्य अयम् अर्थः । "आश्यबन्ध्याालवनयानभक्ष्याणि संपातवन्ति" इति [कौ० .७.] परिभाषणात् शुकादिजिह्वानां संपाताभिहुतानामेव बन्धनं भाशनं च । "संपातेन होमम् आक्षिपते" इत्यभ्यातानान्ते अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा संपातानयनम् "सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणाद् अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्रणं च ॥ कर्कन्धूर्वृ हल्लदरी । "समिधम् आदधाति" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् उदुम्बरादीनां समिध इति योजनीयम् । हस्तहोमत्वात् तन्त्रविकल्पः । "न दर्विहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तन्त्रं क्रियेतेत्येके" [कौ० १४. २.] इति सूत्रात् ।"आवपति व्रीहियवतिलान्" इति [कौ० १. ७.]परिभाषणात् आवपतिचोदनायां व्रीहियवतिलाः प्रत्येतव्याः ।"सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि" इति वचनात् अत्र सर्वे पदार्था अभिमन्त्र्य कर्तव्याः।"भक्षयति क्षीरौदनपुरोडाशरसान् इति [कौ० १।७] वचनाद् भक्षयतिचोदनायां द्रव्याजादेशे क्षीरौदनपुरोडाशरसा बोद्धव्याः।अत्र रसशब्देन दधिघृतमधूदकानि उच्यन्ते । यद् असूत्रयत् । "दधि घृतं मधूदकमिति रसाः" इति [कौ० १. ८.] । क्षीरौदनादीनां भक्ष्यत्वात् होमसंपाताभिमन्त्रणानि पूर्ववत् कर्तव्यानि । "आश्यबन्ध्यालवनयानभक्ष्याणि संपातवन्ति सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि" इति वचनस्य दर्शितत्वात् । भैक्षं पक्वम् अपक्वं वा अभिमन्त्र्य दद्यात् । अनुमन्त्रणं नाम शेषिणो मन्त्रार्थत्वेन अनुसंधानपुरःसरं मन्त्रजपः। अभिमन्त्रणस्य तु ईक्षणं विशेषः । उक्तं हि ।

> मन्त्रम् उच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।
> शेषिणं तन्मना भूत्वा स्याद् एतद् अनुमन्त्रणम् ।
> एतदेवाभिमन्त्रस्य लक्षणं चेक्षणाधिकम् ॥ इति ।

धानानां सर्वहोमस्य हुतशेषप्राशनस्य च कर्मैक्ये विरोधात्

प्रयोगभेदः । अन्यत् निगदसिद्धम् ॥

एतानि कर्माणि अन्योन्यनैरपेक्ष्येण मेधाजननफलसाधनत्वेन चोदितत्वाद् विकल्पेन अनुष्ठेयानि । कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वम् इति न्यायात् समुच्चयेन वा अनुष्ठेयानि । एवं उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

उपनयनदिवसेपि मेधाकामस्य ब्रह्मचारिणः अनेन सूक्तेन आज्यहोमः कार्यः । तथा च उपनयनप्रकरणे सूत्रितम् । "मेधाजनन आयुष्यैर्जुहुयाद्" इति [कौ० ७. ८.] । अत्र द्रव्यस्य अनादेशेपि आज्यं होमद्रव्यम् । "आज्यं जुहोति" इति [कौ० १. ७.] जुहोतिचोदनायाम् आज्यस्य द्रव्यत्वपरिभाषणात् । तथैव ब्रह्मचारिसंपत्कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रितं हि । "पूर्वस्य ब्रह्मचारिसांपदानि" इति [कौ० २. २.] । तानि च कर्माणि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिधां ब्रह्मचारिगृहोपस्तरणतृणानां च आधानम् । अरण्यपिपीलिकाच्छिद्रे मेदोमधुश्यामाकेषीकतूलाज्यानि पञ्च द्रव्याणि पृथक् हुत्वा आज्यस्थाल्यां पिपीलिकोद्वापान् ओप्य गृहम् आगत्य अभ्यातानान्ते अनेन सूक्तेन स्थाल्या सकृत् जुहुयात् । अनेन सूक्तेन अन्नम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणो भोजयित्वा धानास्तिलमिश्राः प्रयच्छति । एतैः कर्मभिरनुष्ठितैराचार्यस्य शिष्यसंपत्तिर्भवति । तथा च कौशिकः । "औदुम्बर्यादयो ब्रह्मचार्यावसथादुपस्तरणान्यादधाति" इत्यादि [कौ० २. २.] ॥

तथा ग्रामसंपत्कामस्य तत्साधनेष्वेतेषु उदुम्बरपलाशकर्कन्धूतृणाधानसभोपस्तरणतृणाधानाभिमंत्रितान्नासवप्रदानेषु कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तथा च सूत्रम् । "ग्रामसांपदानि विकारस्थूणामूलावतक्षणानि सभानाम् उपस्तरणानि ग्रामीणेभ्योन्नं सुरां सुरापेभ्यः" इति [कौ० २. २.] ॥ अत्र यद्यपि सूक्तविशेषो न श्रूयते तथापि "ग्रहणम् आ ग्रहणात्" इति [कौ० १. ८.] परिभाषणात् "पूर्वस्य" इत्येतदेव विषयीयं संबध्यते ॥

तथा सर्वसंपत्कर्मस्वपि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तथा हि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिदाधानम् व्रीहियवतिलानाम् आवपनम् क्षीरौदनपुरोडाशरसानां भक्षणं च इत्येतानि मेधाजननोक्तानि अहनि कालत्रये अग्निप्रज्वालनं तदुपस्थानं च सव्यात् पाणिमध्याद् रुधिरस्य दधिघृतमधूदकमिश्रितस्य संपाताभिमन्त्रितस्य प्राशनम् पृश्निमन्यप्राशनं च इत्येतानि कर्माणि अनेनैव सूक्तेन सर्वसंपत्कामः कुर्यात् । आह च कौशिकः । "औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि सर्वसांपदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सव्यात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्रमश्नाति पृश्निमन्यो जिह्वाया उत्साद्य-मत्स्योः परिस्तरणमस्तुहरणं हृदयं दूर्श उपनद्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्रधान्ये मन्थ ओप्य दधिमधुमिश्रमश्नाति" [इति कौ० २. २] ॥

[तथा वर्चस्यकर्मणि अनेन सूक्तेन वर्चस्कामः औदुम्बर्यादीनि त्रीणि कुर्यात् । तथा च] वर्चस्कामायाः कुमार्या दक्षिणोरोरभिमन्त्रणम् क्षीतवपाहोमः अग्न्युपस्थानम् इत्येतानि कर्माणि अनेन सूक्तेन तेजस्कामोनुतिष्ठेत् । "पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि" इत्यादि [कौ० २. ३] सूत्रम् ॥

तथा शत्रुहस्तित्रासनकर्माण्यपि अनेनैव संग्रामजयकामो राजा कारयेत् । तानि च । संपातोपेतरथचक्रस्य शत्रुहस्त्यभिमुखं प्रवर्तनम् "यानभक्ष्याणि संपातवन्ति" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् संपाताभिहुतानां स्वकीयहस्त्यश्वादियानानां शत्रुगजाभिमुखप्रेरणम् पटहभेर्यादिवादित्राणाम् अभिमन्त्र्य ताडनम् दर्ता शर्कराः प्रक्षिप्य अभिमन्त्र्य तद्युक्तपुरुषप्रस्थापनम् तथैव चर्मपुटयन्त्रेण शर्कराप्रक्षेपः अभिमन्त्रितवालुकाप्रक्षेपणं च इत्येतानि । अत्र सूत्रम् । "पूर्वस्य हस्तित्रासनानि रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयति" इत्यादि [कौ० २. ५] ॥

तथा पञ्च निर्ऋतिकर्माणि शान्तिकपौष्टिकेषु सर्वत्र अङ्गत्वेन वा पापक्षयार्थं स्वातन्त्र्येण वा कर्तव्यत्वेन सूत्रकारेणोक्तानि। तत्र आद्ययोः कर्मणोः संपातिताभिमन्त्रितभक्तमाशने आज्यहोमे च एतत् सूक्तं विनियुक्तम्। तथा च सूत्रम्। "पूर्वस्य पूर्वस्यां पौर्णमास्याम् अस्तमित उदकान्ते कृष्णचेलपरिहितो निर्ऋतिकर्माणि प्रयुङ्क्ते" इत्यादि [कौ० ३. १]॥

तथा पौष्टिकविशेषे चित्राकर्मणि संपातितसारूपवत्सौदनमाशनपलाशादिसमिदाधानरूपे अस्य सूक्तस्य विनियोगः। सूत्रितं हि। "पूर्वस्य चित्राकर्मकुलायमृतं हरितबर्हिषम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. १.]। तत्र "अश्नात्यनादेशे स्थालीपाकः पुष्टिकर्मसु सारूपवत्सः" इति [कौ० १. ७.] परिभाषितत्वात् सरूपवत्साया गोदुग्धे शृतः स्थालीपाकः। ओदन इति गम्यते॥

तेजोव्रते च एतत् सूक्तम् विनियुक्तम्। "नान्ययोः सांवेद्ये" इत्यादि [कौ० ३. १.] सूत्रम्॥

तथा "पुष्टिकर्मणाम् उपधानोपस्थानम्" इति [कौ० ३. ७] सूत्रात् पौष्टिकमन्त्राणाम् उपधानोपस्थानयोर्विनियोगविधानेन तन्मध्यपातिनोस्य सूक्तस्य तत्रापि विनियोगः। उपधानं नाम आज्यादित्रयोदशद्रव्यहोमः। "उपदधात्यनादेशे आज्यं समित् पुरोडाशः पयः ओदनं पायसं पशुः व्रीहियवतिलधानाः करम्भः शष्कुल्यः एतानि त्रयोदश हवींषि जानीयाद्" इति पैठीनसिपरिभाषणात्॥

द्विविधा व्याधयः। आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्चेति। तत्र आहारनिमित्तानां वैद्यशास्त्रोक्तचिकित्सया उपशमनम्। पापनिमित्तानां तु आथर्वणैर्होमबन्धनपायनादिभिर्भैषज्यकर्मभिरुपशमनम्। "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इति [कौ० ४. ८] सूत्रकारेण "स नो

शुम्भत्वंहसः” [४. २३. १] इति पापनिवृत्तिप्रतिपादनपराणां मन्त्राणां सर्वत्र भैषज्यकर्मणि विनियुक्तत्वात् । तत्र सर्वव्याधिषु अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा उदपात्रं संपात्य अनेनैव व्याधित-शरीरं संमार्जयेत् । तथाह कौशिकः । “अथ भैषज्यानि” इति प्रक्रम्य “पूर्वस्योदपात्रेण संपातवतान्ते वलीविंमार्ष्टि” इति [कौ० ४. १] । भैषज्योक्तसूक्तैस्तत्रतत्र व्याधौ उपधानोपस्था-नान्यपि कुर्याद् इति रुद्रभाष्यकारः । उपधानस्वरूपम् उक्तम् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन पुत्रकामायाः स्त्रिया मृतापत्यायाश्च संपातितोदकावसेकम् पुरोडाशभक्षणम् कन्दुकक्रीडनम् अलंकार-धारणं वा कारयेत् । “पूर्वस्य पुत्रकामावतोकयोः” इत्यादि [कौ० ४. ८] सूत्रम् ॥

तथा उपाकर्मणि माणवकवाचने विनियुक्तम् । “त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेत्” इति [कौ० १४. ३] हि सूत्रितम् ॥

तथा राज्ञः पुष्याभिषेके ये त्रिषप्ता इत्यृचा शाखादिभूतया पयोहोमः कार्यः । तथा च परिशिष्टे पुष्याभिषेकं प्रक्रम्य उच्यते ।

सप्तरात्रं घृताशी वा ततो होमं प्रयोजयेत् ।
गव्येन पयसा कुर्यात् सौवर्णेन स्रुवेण तु ॥

वेदानाम् आदिमैर्मन्त्रैर्महाव्याहृतिपूर्वकैः इति [प० ५. ३] ॥

तद् एवम् आथर्वणमन्त्राणां सिद्धमन्त्रत्वेन अपरिमितवीर्यत्व-प्रदर्शनार्थम् आदिमसूक्तस्य विस्तरतः सर्वेषु कर्मसु उपलक्षणत्वेन सूत्रकृता विनियोगोऽभ्यधायि । ततः सर्वेषां मन्त्राणाम् अभिलषित-सर्वफलसाधनत्वं मन्तव्यम् ॥ ननु मन्त्राणाम् अनुष्ठेयार्थप्रकाश-कत्वस्य “तदर्थशास्त्रात्” [जै० १. २. ३१] इत्यधिकरणेन स्थापितत्वात् तत्तल्लिङ्गानुसारेण विनियोगो वक्तव्यः । इतरथा अग्निना सिञ्चेदितिवत् असमर्थविधानं प्रसज्येत । नायं दोषः । ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठते इतिवद् बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं

बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसंभवात् । तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिम् आश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः । एवम् अत्रापि गोपथब्राह्मणश्रुत्या उदीरितनिखिलकर्मसु विनियोगः कृतः इति तत्तत्कर्मानुसारेण मंत्रलिङ्गानां गौण्यादिवृत्त्याश्रयेण विनियोज्यार्थपरता बोद्धव्या ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ भूमिकामें जिन कर्मोंका वर्णन हो चुका है, उन कर्मोंके विनियोगोंके अनुसार इस अथर्ववेदसंहिताकी शौनकीया शाखाका अर्थ प्रकाशित किया जाता है ॥ अथर्ववेद-संहिताकी शौनकीया शाखाके प्रथमकाण्डमें छः अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें छः सूक्त हैं । उनमें "ये त्रिषप्ताः०" यह पहिला सूक्त है । इसका बुद्धिको उत्पन्न करने वाले कर्मोंमें विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिक कहते हैं, कि—"पूर्वका मेधाजनन—बुद्धिको उत्पन्न करने वाले कामों—में विनियोग है ।" (कौशिकसूत्र २ । १) । यहाँ पर पूर्व शब्दसे 'ये त्रिषप्ताः' सूक्त लिया है । "पूर्वं त्रिषप्तीयम्–पूर्व शब्द त्रिषप्तीयको कहता है ।" (कौशिकसूत्र १ । ७) । वह मेधाजनन कर्म निम्नलिखित हैं । गूलड़, पलाश, बेरकी समिधाका लाना, धान, जौ और तिलों का बोना, दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण, उपाध्याय को भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्यायका कर्णानुमंत्रण (कानमें कहना), उपाध्यायके पास बैठते समय जप करना, घृत मिले धानाओं (भुने हुए जौ) का होम, तिल मिले धानाओंका होम होम करके बचे हुएको खाना, उपाध्यायको दण्ड अजिन (मृगचर्म) और धाना देनेके लिये धानाओंका अनुमंत्रण, इसीप्रकार धाना-होम, तोता, सारि (चिड़िया) और भरद्वाजोंका जिह्वाबंधन भाशन । ये कर्म इस सूक्तसे मेधाको चाहने वालेके लिये करे । यही बात कौशिकसूत्रमें कही है । यथा—"शुक सारि और कृशकी

जिह्वाको बाँधता है प्राशन कराता है, गूलड़ पलाश और वेरीकी समिधाओंको लाता है, बोता है, भक्षण करता है, उपाध्यायको भिक्षा देता है, सोते हुए उपाध्यायके कानमें कहता है, पासमें बैठ कर जप करता है, घृत तिल मिले हुए धानाओंका होम करके प्राशन करता है। पहिले अग्निसे कल्माषदण्डको निह-नन करके पीछे अग्निसे कृष्ण चर्ममें धानाओंका अनुमंत्रण करता है, फिर सूक्तके पार जाकर उनको देता है, एक वार होम करता फिर दण्ड धाना और अजिन (कृष्णमृगचर्म) को देदेता है।" (कौशिक सूत्र २ । १) इसका यह अर्थ है, कि-"आश्यबन्ध्यासवनयानभक्ष्याणि सम्पातवंति-आश्य (खाने योग्य) बंध्यासवन यान और भक्ष्य संपातवाले होते हैं।-१।७" इस परिभाषणके अनुसार सम्पातके लिये अभिहुत शुक आदि की जिह्वाका वन्धन और प्राशन होता है। "सम्पातेन होमं आक्षिपते-सम्पात शब्दसे होम ग्रहण किया जाता है। अतः अभ्यातानके अन्तमें इस सूत्रसे घृतकी आहुति देकर सम्पातमें आनयन होता है "सर्वाणि अभिमंत्र्याणि-सबको अभिमन्त्रित करके करे।" (कौशिकसूत्र १।७)। इस परिभाषणके अनु-सार इस सूत्रसे ही अभिमंत्रण भी करे। कर्कन्धू बड़ी बेरीको कहते हैं। "समिधम् आदधाति-समिधाओंको लाता है।" (कौशिकसूत्र १।७)। इस कथनके अनुसार उदुम्बर (गूलड़) आदिकी समिधायें लेनी चाहियें। यह हस्तहोम है अत एव यहाँ विकल्प है, क्योंकि-कौशिकसूत्र १४।२ में कहा है, कि-"दर्वि-होममें हस्तहोममें और पूर्णहोममें तंत्र नहीं किया जाता-ऐसा किन्हींका मत है।" "आवपति व्रीहियवतिलान्-धान जौ और तिलोंको बोता है।" (कौशिकसूत्र १।७) आवपतिका प्रयोग आने पर इस परिभाषणके अनुसार धान जौ और तिलोंको

समझना चाहिये। "सर्वाण्यभिमंत्र्याणि—सबका अभिमंत्रण करे" इस वचनके अनुसार सब पदार्थोंको अभिमन्त्रण करके काममें लावे। "भक्षयति क्षीरौदनपुरोडाशरसान्—दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण करता है।" इस १।७ कौशिकसूत्रके वचनानुसार भक्षयतिका प्रयोग आने पर जहाँ द्रव्यका वर्णन न हो तहाँ दूध भात पुरोडाश और रसोंको समझना चाहिये। और रस शब्दसे दही घी शहद और जल लिये जाते हैं। क्योंकि—कौशिकसूत्र १।८ में कहा है, कि—"दही घी शहद और जल ये रस हैं।" दूध भात आदि भक्ष्य हैं अत एव होम संपात और अभिमन्त्रण पहिलेकी समान करने चाहियें।" क्योंकि—आस्य बंध्यासवन यान और भक्ष्य सम्पात वाले हैं और सब अभिमंत्रण के पात्र हैं" इस वचनने इस (अभिमन्त्रणादिकी बातको दिखा दिया है)। भैक्ष (भिक्षामें दिया जानेवाला पदार्थ) पक्व हो या अपक्व हो अभिमंत्रण करके ही दे। शेषीके मन्त्रके अर्थको समझतेहुए मंत्रका जप करना अनुमंत्रण कहलाता है और अभिमंत्रणमें ईक्षण (देखना) अधिक होता है। कहा भी है, कि—"मंत्रं उच्चारयन्नेव मंत्रार्थंत्वेन संस्मरेत्। शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमंत्रणम्॥ एतदेवाभिमंत्रस्य लक्षणं चेक्षणाधिकम्॥" धान सर्वहोम और हुतशेषप्राशनका एककर्म होनेसे विरोध पड़ता है, अत एव प्रयोगभेद है। बाकी और बातें शास्त्रसिद्ध होंगी।

ये कर्म मेधाजननरूपी फलकी साधना करने वाले हैं और परस्परकी अपेक्षा नहीं रखते हैं, अत एव विकल्पसे इनका अनुष्ठान करना चाहिये। अथवा 'अधिक कर्म होनेसे अधिक फल होता है' इस न्यायसे समुच्चयरूपसे (एक साथ) सबका अनुष्ठान करना चाहिये। अन्यत्र भी सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये।

उपनयनके दिन भी बुद्धिकी अभिलाषा वाले ब्रह्मचारीसे

इस सूक्तके द्वारा आज्य (घृत) होम कराना चाहिये। इसी बातको उपनयनके प्रकरणमें कहा है, कि—"मेधाजनन आयुष्यैर्जुहुयात्—बुद्धिके उत्पादक आयुप्रद कर्मोंसे आहुति देय।" (कौशिकसूत्र ७।८)। यद्यपि यहाँ पर होमद्रव्यका वर्णन नहीं है तथापि घृतको होमद्रव्य समझना चाहिये। क्योंकि—कौशिकसूत्र १।७ में "आज्यं जुहोति—घृतका हवन करता है" यहाँ जुहोति (होम करे) के योगमें घृतको द्रव्य माना है। इसी प्रकार ब्रह्मचारिसम्पत्कर्मोंमें इसका विनियोग है। इसी बातको सूत्रकारने कहा है। तथा—'पूर्वस्य ब्रह्मचारिसाम्पदानि—पूर्वक ब्रह्मचारीके सम्पत्कर्मोंमें विनियोग है" (कौशिकसूत्र २।२)। वे कर्म ये हैं। गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंका और ब्रह्मचारीके गृहके उपस्तरण तृणोंका आधान, अरण्यपिपीलिका छिद्र में मेद मधु श्यामाक इषीका (सींक) तूल (रुई) और घृत इन पाँच द्रव्योंका पृथक् २ होम करके आज्यस्थालीमें पिपीलिकोद्वापोंको रख घरमें आकर अभ्यातानके अन्तमें इस सूक्तके द्वारा स्थालीसे एक बार आहुति देय। और इस सूक्तसे अन्नका अभिमन्त्रण करके ब्रह्मचारीको जिमाकर तिल मिले धाना दिये जाते हैं। इन कर्मोंका अनुष्ठान करने पर आचार्यकी शिष्यसम्पत्ति होती है। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—"औदुम्बर्यादयो ब्रह्मचार्यावसथादुपस्तरणान्यादधाति" इत्यादि।

इसी प्रकार जो ग्रामसम्पत्को चाहता है, उसके साधन इन गूलड़ पलाश और बेरीका काटना, आधान, सभाका उपस्तरण, तृणका आधान, अभिमन्त्रित अन्न और आसवके दान आदि—कर्मोंमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—"ग्रामसाम्पदानि विकारस्थूणामूलावतक्षणानि सभाना उपस्तरणानि ग्रामीणेभ्योऽन्नं सुरां

सुरापेभ्यः—विकारस्थूणामूलावतक्षण, सभाओंके उपस्तरण (बिछौने), ग्रामीणोंको अन्न और सुरा सुरा पीने वालोंके लिये (संग्रह करना) यह ग्रामसम्पत् प्राप्त करानेके कर्म हैं।" यद्यपि यहाँ पर किसी सूक्तका नाम नहीं लिया है, तथापि "ग्रहणं आ ग्रहणात्" इस कौशिकसूत्र २।२ के अनुसार "पूर्व" त्रिषप्तीय का संबन्ध होता है।

इसी प्रकार सर्वसम्पत्कर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग है। यथा–गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंका लाना, जौ धान और तिलोंका बोना, दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण ये मेधाजननके लिये कहे हुए काम करना और दिनमें तीन बार अग्निको प्रज्वलित करना, उसका उपस्थान, सम्पाताभिमंत्रित दही घी शहद और जल मिले रुधिरका बाईं हथेली–सव्य पाणि-मध्य–से प्राशन करना, और पृश्निमन्थप्राशन–इन कामोंको सब सम्पत्तियोंको चाहने वाला करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि–औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि [सर्वसाम्पदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सम्पात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्र-मश्नाति पृश्निमंथो जिह्वाया उत्साद्यमक्ष्योः परिस्तरणमस्नुहृणं हृदयं दूर्शं उपनह्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्र-धान्ये मंथ ओप्य दधि मधुमिश्रमश्नाति।"

[इसी प्रकार तेजको चाहने वाला वर्चस्य कर्ममें इस सूक्तसे औदुम्बर्य आदि तीनको करे। इसीप्रकार] तेजको चाहनेवाला पुरुष, तेजको चाहने वाली कुमारीकी दक्षिण ऊरुका अभिमंत्रण, क्रीतवपाहोम, और अग्निका उपस्थान, इन कर्मोंको इस सूक्तसे करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।३ में कहा है, कि–"पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि।"

इसी प्रकार संग्राममें विजय चाहनेवाला राजा शत्रुके हाथियों

को भयभीत करनेके काम भी इसी सूक्तसे करावे। वे काम ये हैं। संपातोपेतरथचक्रको (जिस रथके उद्देश्यसे अग्निमें आहुति दी जाचुकी है उसको) शत्रुओंके हाथियोंकी ओर भेजना चाहिये। यहाँ 'यानभक्ष्याखि संपातवंति" (कौ० १।७) इस परिभाषाके अनुसार संपाताभिहुत (होममें जिनके लिये आहुति दीगई है उन) अपने हाथी घोड़े आदि यानों (सवारियोंका शत्रु के हाथियोंकी ओर भेजना, पटह भेरी आदि बाजोंको अभिमंत्रित करके बजाना हति (चमड़ेके पात्र) में (शर्करा) रेता भर अभिमन्त्रित करके उसको किसी पुरुषके द्वारा भेजना, इसी प्रकार चर्मपुटयंत्रसे शर्कराका फेंकना और अभिमन्त्रित बालुका का फेंकना। इसी बातको कौशिकसूत्र २।५ में कहा है, कि– "पूर्वस्य हस्तित्रासनानिं रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयंति।"

इसी प्रकार सूत्रकारने कहा है, कि–शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंके पाँच निर्ऋति कर्म अङ्ग होते हैं इस कारण, तथा पापक्षय के लिये स्वतन्त्ररूपसे भी उनका अनुष्ठान करना चाहिये। तहाँ पहिले दोनों (शान्तिक और पौष्टिक) कर्मोंके होममें अभिमंत्रित भातके खानेमें और घृतके होममें यह सूक्त पढ़ाजाता है। कौशिक सूत्र ३।१ में भी कहा है, कि–"पूर्वस्य पूर्वस्यां पौर्णमास्यां अस्तमित उदकान्ते कृष्णचैलपरिहितो निर्ऋतिकर्माणि प्रयुंक्ते- पूर्वदिशामें पूर्णिमाके दिन (सूर्यका) अस्त होने पर जलाशयके समीप कृष्णवस्त्र पहिर कर निर्ऋति कर्मोंमें पूर्व (त्रिषप्तीय) का प्रयोग किया जाता है।"

इसी प्रकार पौष्टिकविशेष–अपने और बछड़ेके, एकसे रूप- वाली गौके (दूधके) भातके प्राशन और पलाश आदिके समिधा के आधानरूप–चित्राकर्ममें इस सूक्तका विनियोग है। कौशिकसूत्र ३।१ में भी कहा है, कि–"पूर्वस्य चित्राकर्म कुलायमृतं हरितबर्हिषं

अश्नाति।" तहाँ 'अश्नातिका अनादेश होने पर पुष्टिकर्मोंमें सारूपवत्स स्थालीपाक होता है।' (कौ० १।७) इस परिभाषा के अनुसार अपने और बछड़ेके एकसे रूपवाली गौके दुग्धमें बना हुआ स्थालीपाक भात, ओदन समझा जावेगा।

तेजोव्रतमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। कौशिकसूत्रमें भी कहा है, कि-"नाभ्ययोः सांवेधे" इत्यादि। (कौ० सू० ३।१)।

इसी प्रकार "पुष्टिकर्मणां उपधानोपस्थानम्-पुष्टिकर्मोंका उपधान और उपस्थान होता है।" (कौशिकसूत्र ३।७) इस सूत्रके अनुसार पौष्टिकमंत्रोंमें उपधान और उपस्थानके विनियोग का विधान होनेसे उनके बीचमें आये हुए इस सूक्तका तहाँ भी विनियोग होता है। घृत आदि तेरह द्रव्योंके होमका नाम उपधान है। क्योंकि-पैठीनसिने कहा है, कि-"उपदधातिका अनादेश होने पर घी समिधा पुरोडाश पय भात पायस पशु धान जौ तिल धाना (भुने हुए जौ), करंभ (दहीके सत्तू) और शष्कुलि-इन तेरहको हवि समझना चाहिये।"

व्याधियें दो प्रकारकी होती हैं। पहिली आहारके कारण उत्पन्न होती हैं, दूसरी पहिले जन्मोंके पापोंके कारण उत्पन्न होती हैं। इनमेंसे जो आहारके कारण उत्पन्न होती हैं उनकी वैद्यकशास्त्रमें कही हुई चिकित्सासे शान्ति होजाती है। दूसरी पापोंके कारण उत्पन्न हुईं व्याधियें अथर्ववेदके होम बंधन पायन आदि भैषज्यकर्मोंसे दूर होती हैं। क्योंकि-"ओषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिङ्गाभिः" (कौ० ४।८) तथा "स नो मुञ्चत्वंहसः" (४।२३।१) इस प्रकार पापकी निवृत्तिका प्रतिपादन करने वाले मंत्रोंका सर्वत्र भैषज्यकर्मोंमें विनियोग होता है। यहाँ सब व्याधियोंमें इस सूक्तसे घृतका होम कर उदपात्रका सम्पात करके इसीसे रुग्णके शरीर पर

मार्जन करे । इस बातमें कौशिकका प्रमाण है, कि—"अथ भैषज्यानि" इति प्रक्रम्य "पूर्वस्योदपात्रेण सम्पातवतान्से बलीर्विमार्ष्टि । कौ० ४।१ -अब औषधियोंको (कहते हैं) इस बातका आरंभ करके कहा है, कि—सम्पात वाले पूर्वके उदपात्रसे बलियोंका शोधन करता है ।" यहाँ रुद्रभाष्यकारने कहा है, कि—भैषज्यके लिये कहे हुए सूक्तोंसे व्याधिमें उपधान और उपस्थान भी करे ।" उपधानका स्वरूप पहिले कहा जाचुका है ।

इसी प्रकार पुत्र चाहने वाली स्त्रीको अथवा जिसकी सन्तान मर जाती हो उस स्त्रीको इसी सूक्तसे पुरोडाश खिलावे, गेंदकी क्रीड़ा करावे, अलङ्कार धारण करावे और सम्पातित जलको छिड़के । कौशिकसूत्र ४ । ८ में कहा भी है, कि—"पूर्वस्य पुत्रकामावतोकयोः" इत्यादि ।

इसी प्रकार उपाकर्मसंस्कारमें माणवकवाचनमें भी इस सूक्तका विनियोग आता है । कौशिकसूत्र १४ । ३ में कहा है, कि—"त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेत् ।"

इसी प्रकार राजाके पुष्पाभिषेकमें शौनकीयाशाखामें पहिले आने वाली 'ये त्रिषप्ता०' इस ऋचासे पयोहोम करना चाहिये । इसी बातको परिशिष्टमें पुष्पाभिषेकका आरंभ करके कहा है, कि

"सात रात्रि तक घृतभक्षण करके गौके दुग्ध और सुवर्णके स वेसे महाव्याहृतिसहित वेदोंके पहिले मन्त्रोंसे होम करे ।" [प० ५ । ३]

इस प्रकार अथर्ववेदके मन्त्र सिद्धमन्त्र हैं अत एव सूत्रकारने इनका अपरिमित प्रभाव दिखानेके लिये पहिले सक्तका विस्तारपूर्वक उपलक्षणरूपसे सब कर्मोंमें विनियोग किया है । इस प्रकार सब मंत्रोंको सम्पूर्ण अभिलषित फलका साधन समझना चाहिये । (शङ्का) मन्त्रोंका अनुष्ठेय अर्थोंका प्रकाशकत्व "सदर्थशासात्"

[जै० १।२।३१] इस सूत्रके द्वारा अधिकरणके अनुसार स्थापित होता है, अतः तत्तल्लिङ्गानुसार विनियोग कहना चाहिये (सब कर्मोंमें सब मन्त्रोंका विनियोग नहीं करना चाहिये)। अन्यथा अग्निसे सींचे—की समान असमर्थ विधानका प्रसङ्ग आजायेगा। (उत्तर) यह दोष नहीं है। "ऐन्द्र्या गार्हपत्यं उपतिष्ठते ऐन्द्री ऋचासे गार्हपत्यका उपस्थान करता है।" इस ऋचाकी समान बलवती श्रुतिके लिङ्गको बाधकर गुणकल्पनासे भी विनियोग होसकता है। तहाँ ऐन्द्रमंत्रमें इन्द्र शब्दकी गौणी वृत्तिका आश्रय लेकर गार्हपत्यके उपस्थानमें विनियोग किया है। इसी प्रकार यहाँ भी गोपथब्राह्मणकी श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण उदीरित (कथित) कर्मोंमें किया है। इस प्रकार तत्तत्कर्मके अनुसार मंत्रलिङ्गोंकी गौणी वृत्तिके आश्रयसे विनियोज्यार्थ—परता समझनी चाहिये ॥

तत्र प्रथमा

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

ये। त्रिऽसप्ताः। परियन्ति। विश्वा। रूपाणि। बिभ्रतः।
वाचः। पतिः। बला। तेषाम्। तन्वः। अद्य दधातु मे ॥१॥

यच्छब्दोत्र प्रसिद्धार्थवाची। "सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविधायकृत्" इति न्यायात्। ये लोकवेदप्रसिद्धाः त्रिसप्ताः। त्रयो वा सप्त वा भावाः। ❀ संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये इति अन्यपदार्थे बहुव्रीहिः। अन्यपदार्थश्च अत्र वार्थः। स च विकल्पः संशयो वा संभवति। अत्र तु विकल्प एव विवक्षितः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् इति डच् समासान्तः।

तस्य सति शिष्टत्वात् सति शिष्टस्वरो बलीयान् इति न्यायेन बहुव्रीहि स्वरं बाधित्वा चितः इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तद्व अयम् अर्थः । पृथिव्यादयस्त्रयो लोकाः । तेषाम् अधिष्ठातारः अग्निवाय्वादित्याः सत्त्वरजस्तमोगुणाः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः इत्येवमाद्यास्त्रिसंख्याक्रान्ता ये सन्ति ते सर्वे अत्र त्रिशब्देन विवक्षिताः । तथा सप्त ऋषयः । सप्त ग्रहाः । सप्त मरुद्गणाः । सप्त लोकाः । सप्त च्छन्दांसि इत्याद्या ये सप्तसंख्याक्रान्ताः सन्ति ते सर्वे अत्र सप्तशब्देन अभिमताः । त्रिसंख्याक्रान्ता सप्त संख्याक्रान्ता वा इति यावत् ॥ यद्वा । त्रिःसप्त त्रिसप्ताः । ❀ पूर्ववद्व बहुव्रीहिः । अत्र सुजर्थः अन्यपदार्थः । स च क्रियाभ्याहरयात्मकः ❀ । त्रिरावृत्तसप्तसंख्यायुक्ता इत्यर्थः । ❀ अत्र समासेनैव सुजर्थस्य अभिहितत्वात् संख्यावाचिनस्त्रिशब्दस्यैव समासः न तु सुजन्तस्य इति सुचः श्रवणाभावः । तद् उक्तं वार्तिककृता सुजभावोभिहितार्थत्वात् समासे इति ❀ । ते चैवं द्रष्टव्याः प्रसिद्धसूर्याधिष्ठितप्राचीदिग्व्यतिरिक्ता आरोगादिभिः सप्तभिः सूर्यैरधिष्ठिताः सप्त दिशः । ते च आरोगादयस्तैत्तिरीयैराम्नायंते । "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः । स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः" [तै० आ० १.७.१] । इति होतृप्रभृतयो वषट्कर्तारः सप्त ऋत्विजः । "मित्रश्च वरुणश्च । धाता चार्यमा च । अंशश्च भगश्च । इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते" [तै० आ० १. १३. ३] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा विवस्वद्व्यतिरिक्ताः सप्त आदित्या इति । तथा च मन्त्रवर्णः । "सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त" [ऋ० ६. १. १४. ३] इति । यद्वा । सप्त सिन्धवःसप्त लोकाः सप्त दिशः इत्येवं त्रिसप्ताः । श्रूयते हि । "यः सप्त सिंधून् अदधात् पृथिव्याम् । यः सप्त लोकान् अकृणोद्द दिशश्च" [तै० आ० २.८.३.८.] इति । सप्त ग्रहाः सप्त ऋषयः सप्त मरुद्गणा

इति वा त्रिसप्ताः ॥ अथ वा त्रिगुणिता सप्तसंख्या येष्विति बहुव्रीहिः । एकविंशतिसंख्याका इत्यर्थः । ते च "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" [तै० सं०.७. ३. १०.५] इति प्रसिद्धाः परिगृह्यन्ते । यद्वा शरीरारम्भकाणि पञ्च महाभूतानि पञ्च प्राणाः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणं चेति । एवम् एकविंशतिसंख्याकाः प्रत्येतव्या । एवं उक्तलक्षणास्त्रिसप्तसंख्या ये देवाः परियन्ति । प्रतिदिनं प्रतिवत्सरं प्रतिकल्पं प्रतिशरीरं यथोचितं पर्यावर्तन्ते । ❀ परिपूर्वात् इण् गतौ इत्यस्माल्लटि अदादित्वात् शपो लुक् । इणो यण् इति यणादेशः । यद्वृत्तान्नित्यम् इति निघातप्रतिषेधः । उपसर्गा क्रियायोगे गतिश्च गतेः समासवचनम् इति परिशब्दस्य तिङन्तेन समासः । तिङि चोदात्तवति इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । किं कुर्वाणाः । विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि प्रतिनियताकारान् जगदनुग्रहार्थं बिभ्रतः धारयन्तः । यद्वा रूप्यन्त इति रूपाणि चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि बिभ्रतः अभिमतफलप्रदानेन पोषयन्तः । ❀ विश्वेति । शेश्छन्दसि बहुलम् इति शेर्लोपे प्रत्ययलक्षणेन नुमि उपधादीर्घत्वे नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य इति नलोपः । विश्वशब्दः अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन [उ० १.१४६] इति क्वन्प्रत्ययान्तत्वात् ञ्नित्यादिर्नित्यम् इत्याद्युदात्तः । बिभ्रतः इति । डु भृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्माल्लटः शत्रादेशः । शपः श्लुः । भृञामित् इत्यभ्यासस्य इत्वम् । उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः इति प्राप्तस्य नुमो नाभ्यस्ताच्छतुः इति प्रतिषेधः । प्रत्ययस्वरेण शतुरुदात्तत्वे प्राप्ते अभ्यस्तानामादिः इति अभ्यस्तस्य आद्युदात्तत्वम् ❀ । वाचस्पतिः वाचः वेदात्मिकायाः पतिः पालकः स्वामी । निसर्गसिद्धत्वेन नित्यानामपि वेदानां प्रथमतस्तन्मुखाद् अभिव्यक्तेस्तस्य स्वामित्वव्यपदेशः । पदद्वयमपि परस्परसापेक्षतया एकार्थत्वाद्वित्वाभिरुद-

त्वाच्च प्रग्रहणः संज्ञा । ❀ सावेकाच इति वाच उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् । षष्ठयाः पतिपुत्रेति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । तेषां प्रागुदीरितानां त्रिसप्तानां देवानां बला बलानि । ❀ पूर्ववत् शेश्छन्दसि बहुलम् इति शेर्लोपः ❀ । तत्तदसाधारणसामर्थ्यानि श्रुतधारणादीनि मे मम मेधादिफलार्थिनः । ❀ तेमयावेकवचनस्य इति अस्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचनान्तस्य मेआदेशः । अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्यधिकारात् सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । तन्वः तन्वाः शरीरस्य । ❀ अनित्यम् आगमशासनम् इति आडभावः ❀ । अद्य इदानीं मेधाजननादिकर्मकाले दधातु विदधातु करोतु । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । अस्माल्लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । श्लौ इति द्विर्वचनम् । तिपः पित्त्वेन सार्वधातुकमपित् इति ङित्वस्याभावात् श्नाभ्यस्तयोरातः इति आल्लोपस्याभावः । तिङ्ङतिङः इति निघातः ❀ । अत्र बलाधानरूपाभिमतफलप्रदातृत्वं वाचस्पतिकर्तृकम् अवगम्यते । तद् अयुक्तम् देवताया विग्रहाद्यभावेन फलदातृत्वायोगात् लोके हि विग्रहादिमत एव सेवितराजादेः फलप्रदातृत्वं दृश्यते । नायं दोषः । देवताया विग्रहाद्यभावेन फलदातृत्वासम्भवेपि तदुद्देशेन क्रियमाणयागहोमादिजनितापूर्वस्यैव फलप्रदातृत्वाङ्गीकारात् । तथा च नवमे देवताधिकरणे निर्णीतम् । "देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्" [जै० ६. १. ६.] इत्यत्र । तथा हि । "यदाग्नेयोष्टाकपालः" [तै० सं० २. ६. ३. ३.] इत्यत्र देवता प्रतीयते । अपूर्वमपि । तत्र प्राकरणिकानाम् अवघातप्रोक्षणादीनां संनिपत्योपकारकाणां प्रयाजादीनां आरादुपकारकाणां च अङ्गानां किम् अग्न्यादिदेवता प्रयोजिका उत अपूर्वम् इति विशये देवतैव प्रयोजिकेति तावत् प्राप्तम् । कुतः । यागेन तोषिताया देवतायाः फलप्रदत्वात् । संभवति हि तस्याः फलप्रदत्वम् । मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहादिपञ्चकावगमात् । विग्रहः

हविःस्वीकारः तद्भोजनम् तृप्तिः प्रसादश्च इत्येतत् चेतनस्योचितं पञ्चकम्। "सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः" [तै० सं० २. ३. १४. ४.] इति विग्रहः। "अग्निरिदं हविरजुषत" [तै० ब्रा० ३. ५. १०. २.] इति हविःस्वीकारः। "अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि" [ऋ० १०. ११६. ८.] इति हविर्भोजनम्। "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" [तै० सं० २. ५. ४. ३.] इति तृप्तिप्रसादौ। ततः सेवितराजादिवत् पूजितदेवतायाः फलप्रदत्वेन प्राधान्यात् सैव धर्माणां प्रयोजिका। तथा सति विकृतिषु सौर्यादिषु प्राकृतानाम् अग्न्यादीनाम् अभावात् तत्संबद्धा धर्मा एव तावत् नातिदिश्यन्ते कुतस्तत्र ऊहस्य प्राप्तिरिति प्राप्ते अभिधीयते। किं देवतायाः फलप्रदातृत्वेन प्राधान्यं शब्दाद्वा आपाद्यते वस्तुसामर्थ्याद्वा। नाद्यः। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यत्र यजेतेति शब्देन विधेयस्य यागस्य फलप्रदत्वावगमात्। द्रव्यदेवते तु सिद्धत्वेन विध्यनर्हे। तत्र यथा द्रव्यस्य विधेयं प्रति गुणत्वम् तथा देवताया अपि। यदा यागस्य कालान्तरभावि फलं प्रति व्यवहितत्वम् तदा तत्साधनभूता देवता ततोपि व्यवहिता। का तर्हि फलस्य गतिः। अपूर्वम् इति वदामः। तच्च श्रुत्या श्रुतार्थापत्त्या वा प्रतीयमानत्वात् शाब्दम् इति तस्य फलप्रदत्वम् उचितम्॥ नापि वस्तुसामर्थ्याद् देवस्य फलप्रदत्वम्। विग्रहादिपञ्चकप्रतिपादकयोर्मन्त्रार्थवादयोः स्वार्थे तात्पर्याभावात्। अन्यथा "वनस्पतिभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा" [तै० सं० ७. ३. २०.] इत्यादिमन्त्रेष्वपि देवत्वं विग्रहादियुक्त्वं [च] कल्प्येत। तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम्। अतो न राजादिवत् फलप्रदत्वम्। किं च। विग्रहादिमद्देवतावाद्यपि न विना कर्मणा फलम् अभ्युपगच्छति। ततः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन उभयवादिसिद्धस्य यागस्यैव फलप्रदत्वम् अस्तु। किं च मातापितृगुर्वादिशुश्रूषायाः विनापि देवतां फलप्रदत्वम् उभयवादिसिद्धम्। तस्मात् फलप्रदम्

अपूर्वमेव धर्माणां प्रयोजकम् ॥ तथा सति सौर्यादिषु अग्न्यादि-देवताभावेपि अपूर्वप्रयुक्तधर्माणाम् अतिदेशाद् अस्ति तत्र ऊह-स्यावकाशः । तद् उक्तम् ।...... एवं प्रकृतेपि एतत्सूक्तानुष्ठेया-ज्यसमिद्धोमादिजनितापूर्वस्यैव अभिमतफलसाधनत्वम् । एवं सति ये त्रिषप्ता इत्यस्य करणमन्त्रत्वात् मन्त्राणां च अनुष्ठेयार्थप्रका-शकत्वात् फलप्रार्थनाव्यपदेशेन कर्मापेक्षितदेवता प्रकाश्यते इति अविरोधः ॥ अयं च जैमिनिपक्षोनुत्क्रान्तः । बादरायणस्तु

विरोधे गुणवादः स्याद् अनुवादोवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानाद् अर्थवादस्त्रिधा मतः ॥

इति प्रमाणान्तराविरुद्धानां मन्त्रार्थवादादीनां स्वार्थेपि तात्पर्या-ङ्गीकारेण देवानां विग्रहादिपञ्चकम् अभ्युपगम्य यागहोमादिक्रिया-तोषितानां तेषां देवानामेव अभिमतफलप्रदानकर्तृत्वम् अङ्गीचकार। तथा च वैयासिकं सूत्रम् । "फलमत उपपत्तेः" [ब्रा० ३. २. ३८.] इति । श्रुतिरपि आराधितस्य देवस्यैव फलप्रदातृत्वं दर्शयति। "स्त्रीपुंसोर्वा य इह स्थातुम् अपेक्ष्यते [तस्मै] सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियेत देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" इति [नृ० पू० १. ७] । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते" [कौ० उ० ३. ८.] इत्यादि ॥

अस्य सूक्तस्य मेधाजनने विनियोगाभिधानात् तस्य च अधीत-वेदशास्त्रादिधारणसामर्थ्याधानरूपत्वात् वेदानाम् अधिपतिर्ब्रह्मैव तत् कर्तुं शक्नोतीति ब्रह्मप्रार्थनम् अत्र कृतम् । अनेनैवाभिप्रायेण श्रुतिरपि तद्वाचकशब्दान्तरं परिहृत्य वाचस्पतिशब्देन ब्रह्माणं निर-दिक्षत् ॥

अत्र विहितानि मेधाजननादीनि कर्माणि फलार्थी स्वयमेव यदि अनुतिष्ठेत् तदा मे इति अस्मच्छब्दस्य मुख्य एवार्थः संभवति।

[यदा तु] फलभाजो यजमानस्य अशक्त्या अनधिकाराद्वा तत्तानि कर्माणि अन्येन कार्यन्ते तदा किम् अयं मन्त्रः प्रत्यगाशीस्त्वलिङ्गात् "आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि" [तै० सं० १. ५. ५. ४.] इतिवत् फलभाजा यजमानेन पठितव्यः उत "ममाग्ने वर्चः" [ऋ० १०. १२८. १.] इतिवत् क्रियाकर्त्रा आचार्येण। द्वितीये पक्षे मन्त्रोच्चारणकर्तुरेव अस्मच्छब्दाभिधेयत्वात् तस्यैव फलसम्बन्धप्रतीतेः कथं यजमानस्य फलभाक्त्वम् इति चिन्तायाम् उच्यते। "आयुर्दा अग्ने" इत्यादेः करणतया विधानाभावात् लिङ्गाद् यजमानपठ्यता निर्णीता "मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्" [जै० ३. ८. १५.] इत्यस्मिन्नधिकरणे। अस्य तु गोपथब्राह्मणे मेधाजननादिकर्मसु विनियोगाभिधानात् श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा "ममाग्ने वर्चः" इतिवत् अस्यापि मन्त्रस्य क्रियाकर्त्रा आचार्येणैव प्रयोक्तव्यता। तथा च क्रियाकर्तुराचार्यस्य दक्षिणया क्रीतत्वात् तदतिरिक्तफलसंबन्धानुपपत्तेः फलभाक्त्व यजमानस्यैव। "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि०" [जै० ३. ७. १८.] इत्युक्तत्वात्। तथा च मे इति संबन्धसामान्ये षष्ठी। मम यो यजमानस्तस्येत्यर्थः। तथा च जैमिनीयं सूत्रम्। "०करणेष्वर्थवत्त्वात्" [जै० ३. ८. २५] इति। अत्रायं संग्रहश्लोकः।

ममाग्न इति कस्यात्र फलं लिङ्गेन कर्तृगम्।
श्रुत्या स्वामिनि न क्रीते लिंगं तत्रोपचर्यताम्। इति॥

लोक और वेदमें प्रसिद्ध जो सात वा तीन भाव हैं अर्थात् तीन संख्या वाले जो पृथिवी आदि तीन लोक, उनके अधिष्ठाता अग्नि वायु आदित्य, सत्त्व रज और तमोगुण और ब्रह्मा विष्णु महेश हैं और सात संख्या वाले जो सात ऋषि, सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक और सात छन्द हैं॥ अथवा जिनमें तीन बार सात आता है, वे प्रसिद्ध सूर्यसे अधिष्ठित पूर्व आदि दिशाओंसे अति-

रिक्त आरोग आदि सात सूर्योंसे अधिष्ठित सात दिशायें, और तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में कहे हुए "आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास" ये सात आदित्य वा दूसरी श्रुति तैत्तिरीय आरण्यक १।१३।३ में कहे हुए "मित्र वरुण धाता अर्यमा अंश भग इन्द्र विवस्वान्" इनमें विवस्वान्से अतिरिक्त सात आदित्य † वा सात ग्रह, सात ऋषि, और सात मरुद्गण हैं॥ अथवा सात तियाँ इकीस इस प्रकार इकीस संख्या वाले जो तैत्तिरीयसंहिता ७।३।१०।५ में कहे हुए "बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और आदित्य" हैं वा शरीरका आरंभ करने वाले पञ्चमहाभूत, पञ्च प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेंद्रियें, और अन्तःकरण हैं॥ इसप्रकार जो त्रिषप्त (इकीस वा सात) देवता जगत् पर अनुग्रह करनेके लिये सकल रूपोंको धारण करते हुए वा चेतन अचेतन सब वस्तुओंको अभिमत फल देकर पुष्ट करते हुए, प्रत्येक दिन और प्रत्येक कल्पमें प्रत्येक शरीरमें यथोचितरूपसे भ्रमण करते हैं, वेदात्मिका वाणीके पति ब्रह्माजी ‡ इन पूर्वोक्त त्रिषप्त देवताओंकी श्रुतधारण (सुने हुए

---

† ऋग्वेद ६।११।४३ मन्त्रमें भी कहा है, कि—"सात दिशाएँ, नाना सूर्य और सप्तहोता ऋत्विज और सात आदित्य हैं।" तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।३८ में भी कहा है, कि-जिन्होंने सात समुद्रोंको पृथ्वी पर स्थापित किया है तथा जिन्होंने सात लोकोंको और दिशाओंको रचा है।"

‡ वेद निसर्गसिद्ध होनेसे नित्य हैं, तथापि ब्रह्माजीके मुखसे पहिले वेदोंका प्रकाश (अभिव्यक्ति) हुआ है अत एव उनको वेदात्मिका वाणीका पति—स्वामी—कहा है। "वाचः" और "पतिः" ये दोनों शब्द परस्परकी अपेक्षा रखते हैं एकार्थतावृत्ति (एक अर्थमें वृत्ति वाले) हैं और रूढ़ी हैं, अतः वाचः पति इन दोनों शब्दोंका अर्थ ब्रह्माजी है।

वेदको धारण करना) आदि असाधारण शक्तियोंको मेधा आदि फलको चाहने वाले मेरे शरीरमें आज मेधाजननके समय स्थापित करें ॥

अब शंका होती है, कि-इस मन्त्रसे प्रतीत होता है, कि-शक्तिप्रदानरूप अभिलषित फल वाचस्पति देते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि-देवताका विग्रह (शरीर) आदि नहीं होता अत एव वह फल नहीं दे सकते। और संसारमें देखा जाता है, कि-शरीर आदिको धारण करनेवाले राजा आदि ही सेवा करने पर फल देते हैं (उत्तर) यह दोष नहीं है। देवताका विग्रह आदि न मानने पर फलदातापन असंभव होने पर भी उनके उद्देश्य से किये हुए याग होम आदिसे उत्पन्न हुए अपूर्वको ही (हम) फलदाता मानते हैं। इसी बातका देवताधिकरणमें निर्णय किया है। "देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात्" (जै० ९।१।६) यहाँ पर और "यदाग्नेयोष्टाकपालः" (तै० २।६।३।३) यहाँ पर भी देवता प्रतीत होता है और अपूर्व भी प्रतीत होता है। यहाँ प्रकरणवश आये हुए अवघात (कूटना) प्रोक्षण (छिड़कना) आदि गिर कर उपकार करने वाले और समीपसे उपकार करने वाले प्रयाज आदि अङ्गोंका प्रयोजक देवता है वा अपूर्व? तो देवता ही प्रयोजक है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि-यागसे सन्तुष्ट किये हुए देवता ही फल देते हैं। और देवताओंका फल देना ठीक भी है। क्योंकि-मंत्रार्थवादोंसे विग्रह आदि पाँच वस्तुएँ देवताओंमें सिद्ध होती हैं। वे पाँच बातें ये हैं। शरीर, हविको स्वीकार करना, उसका भोजन करना, तृप्ति और प्रसाद, यह चेतनमें होने वाली पाँच वस्तुएँ देवताओंमें हैं। तैत्तिरीयसंहिता २।३।१४।४ के "सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः-सहस्र नेत्रवाला, गोत्रभित् और

वज्र सरीखी भुजा वाला (इन्द्र) है।" मंत्रसे देवताओंका शरीर सिद्ध है। और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।५।१०।२ की श्रुति "अग्निरिदं हविरजुषत–अग्निने इस हविका सेवन किया।" से हविका स्वीकार करना सिद्ध है। और ऋग्वेद १०।११६।८ की "अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि" श्रुतिसे हविका भोजन करना सिद्ध होता है। और "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति–तृप्त हुआ इन्द्र इस (यजमान) को सन्तान और पशुओंसे तृप्त करता है। [तैत्तिरीयसंहिता २।५।४।३]" इस श्रुतिसे देवताका तृप्त होना और प्रसाद सिद्ध है। अतः सेवा करने पर राजा जैसे फल देता है, यह भी फल देता है। अतः अपूर्व और देवतामें फलप्रदत्वके कारण प्रधान होनेसे देवता ही धर्मोंका प्रयोजक है। किंतु ऐसा होने पर सौर्य आदि विकृतियोंमें वास्तविक अग्नि आदिका अभाव होनेसे उनसे संबंध रखने वाले धर्म ही नहीं दीखते ऊहकी प्राप्ति तो कहाँसे होगी? ऐसी आपत्ति उठने पर कहते हैं, कि–क्या फलप्रदाता होनेसे देवताका प्राधान्य शब्द द्वारा सिद्ध होता है, अथवा वस्तुसामर्थ्यसे प्राधान्य सिद्ध होता है। पहिली बात ठीक नहीं है। क्योंकि–'स्वर्गकामो यजेत–स्वर्गकी कामना वाला यज्ञ करे।' यहाँ पर यजेत शब्दसे विधेय (किये जाने वाले) यागका फलदातापन मालूम होता है। द्रव्य और देवता तो सिद्धत्वके कारण विधिके योग्य नहीं है। क्योंकि–द्रव्यका जैसे विधेयके प्रति गुणत्व है, इसी प्रकार देवताके प्रति भी गुणत्व है। जब यागका कालांतरमें होनेवाले फलके प्रति व्यवहितत्व है तब उसका साधनभूत देवता भी व्यवहित है, तो फिर फलकी क्या गति होगी तो हम कहते हैं, कि–अपूर्व (प्रारब्ध) ही प्रधान है। श्रुति वा श्रुतार्थापत्तिसे प्रतीयमान होनेके कारण वह शाब्द है, इस कारण उसका फलप्रद होना उचित ही है॥

और वस्तुसामर्थ्यसे भी देवताका फलप्रदत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि–विग्रह आदि पाँच बातोंका प्रतिपादन करने वाले मन्त्र और अर्थवादका स्वार्थमें तात्पर्याभाव है। अन्यथा "वनस्पतिभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा" (तैत्तिरीयसंहिता ७।३।२०) इत्यादि मन्त्रोंमें भी देवत्व और विग्रह आदि युक्त होनेकी कल्पना करनी चाहिये। किंतु यह बात प्रत्यक्षके विरुद्ध है। अतः राजा आदिकी समान फलप्रदत्व नहीं है। (और एक बात है, कि–) देवताको विग्रह आदि वाला माननेवाला भी कर्मके बिना फल नहीं पासकता, अतः प्राप्ताप्राप्तविवेकसे उभयवादिसिद्ध यागका ही फलप्रदत्व होने लगेगा। और माता पिता गुरु आदिकी शुश्रूषाके बिना भी देवताका फलप्रद होना उभयवादिसिद्ध है। अत एव फलप्रद अपूर्व (फलको देने वाला प्रारब्ध) ही धर्मोंका प्रयोजक है। अत एव सौर्य आदि विकृतियोंमें अग्नि आदि देवताओंका अभाव होने पर भी अपूर्वप्रयुक्त धर्मोंके अतिदेशसे ऊहका अवकाश है। इसी बातको कहा है, कि–......इस प्रकार यहाँ पर भी इस सूक्तसे अनुष्ठेय घृत समिधा और होमसे उत्पन्न हुए अपूर्वका ही अभिलषितफलसाधनत्व है। ऐसा होने पर ये त्रिषप्ता इसका करणमन्त्र होनेके कारण, और मन्त्र अनुष्ठेय अर्थके प्रकाशक होते हैं अतएव फलप्रार्थनाके व्यपदेशसे कर्मापेक्षित देवता प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार अविरोध है। यह जैमिनिका पक्ष कह दिया। और बादरायणने तो "विरोधमें गुणवाद होता है, अवधारितमें अनुवाद होता है और तद्धानसे भूतार्थवाद होता है" इस प्रकारे अन्य प्रमाणोंसे अविरुद्ध मन्त्रार्थवाद आदिका स्वार्थमें भी तात्पर्य अङ्गीकार कर देवताओंके विग्रह आदि पाँचों को मान कर याग होम आदि क्रियाओंसे सन्तुष्ट किये हुए देवताओंका अभिमतफलप्रदानमें कर्तृत्व स्वीकार किया है। व्यास-

सूत्रमें भी यही बात कही है, कि—"फलमत उपपत्तेः" (ब्र० ३।२।३८)। श्रुति भी आराधना किये हुए देवताओंके फलप्रदातापनको सिद्ध करती है। यथा—"स्त्रीपुंसोर्वा य इह स्थातुमपेक्ष्यत [तस्मै] सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियेत देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" [नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषत् १।७] इसका अर्थ यह है, कि—जो स्त्री वा पुरुष यहाँ पर रहना चाहता है देवता उसको सर्वैश्वर्य देते हैं और वह जहाँ कहीं भी मरता है देवता उसको तारकमंत्रका उपदेश देते हैं॥ और कौषीतकि उपनिषत्की ३।८ श्रुति भी कहती है, कि—"जिसको ऊपरके लोकोंमें लेजाना चाहता है, उससे (यह देवता) श्रेष्ठ कर्म कराता है और जिसको नीचेके लोकोंमें भेजना चाहता है, उससे निकृष्ट कर्म कराता है।" इत्यादि॥

इस सूक्तका मेधाजननमें विनियोग किया है और पढ़े हुए वेद शास्त्र आदिको धारण करनेकी शक्तिका अपनेमें स्थापित होना मेधाजनन कहलाता है, अतः वेदोंके अधिपति ब्रह्माजी ही इसको कर सकते हैं, इस कारण यहाँ ब्रह्माजीकी प्रार्थना की है। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीके वाचक और बहुतसे शब्दों को छोड़ कर वाचस्पति शब्दसे ब्रह्माजीको कहा है॥

इस मंत्रसे विहित मेधाजनन आदि कर्मोंका फल चाहनेवाला यदि अपने आप अनुष्ठान करे तो 'मे' इसका मुख्य अर्थ (मेरे) ही लिया जावेगा। (और जब) फलके भागी यजमानकी अशक्तिवश अथवा उसको अधिकार न होनेसे उक्त कर्म दूसरेसे कराया जावे तब क्या यह मन्त्र प्रत्यगाशीस्त्वलिङ्गसे "आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि" (तैत्तिरीयसंहिता-१।५।५।४) की समान फलके भागी यजमानको ही पढ़ना चाहिये, अथवा "ममाग्ने वर्चः" (ऋग्वेद १०।१२८।१) की समान क्रियाकर्ता आचार्यको पढ़ना

चाहिये ? यदि द्वितीय पक्षको मानेंगे तो मंत्रके उच्चारणकर्ता आचार्य का ही "मे" शब्दसे सम्बंध प्रतीत होता है अतः यजमानको उसका फल कैसे मिलेगा? इस चिंताका उत्तर यह है, कि-"मंत्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् जैमिनीयसूत्र ३।८।१५ इस अधिकरणमें निर्णय किया है, कि- 'आयुर्दा अग्ने' इत्यादिमें करणतारूपसे विधान नहीं है अत एवं लिङ्गसे यजमानको पढ़ना चाहिये। और इस मंत्रका गोपथब्राह्मणमें मेधाजनन आदि कर्मोंमें विनियोग कहा है अतः श्रुतिसे लिङ्गको बाध कर "ममाग्ने वर्चः" इत्यादिकी समान इस मंत्रका कर्मको करने वाले आचार्यको ही प्रयोग करना चाहिये। और क्रियाको करनेवाला आचार्य दक्षिणाके द्वारा खरीदा हुआ होता है अतः यजमानसे अतिरिक्त और किसीसे फलका संबंध नहीं घट सकता, अत एव फल यजमानको ही मिलता है। जैमिनीय सूत्र ३।७।१८ में भी कहा है, कि-"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि॰-शास्त्रका फल प्रयोक्ताको मिलता है।" तब मे इसको संबंध सामान्य में षष्ठी मानना पड़ेगा और मे का अर्थ मेरा जो यजमान है उस के-यह अर्थ होगा। इसी बातको "॰करणेष्वर्थवत्त्वात्" इस ३।८।२५ जैमिनीयसूत्रमें कहा है। यहाँ पर यह संग्रहश्लोक है

'ममाग्न इति कस्याग्ने फलं लिंगेन कर्तृगम्।
श्रुत्या स्वामिनि न क्रीते लिंगं तत्रोपपद्यताम् ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् २

पुनः। आ। इहि। वाचः। पते। देवेन। मनसा। सह।
वसोः। पते। नि। रमय। मयि। एव। अस्तु। मयि। श्रुतम् २

हे वाचस्पते वाचः वेदरूपायाः पालयितर्देव । ❀ सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आमन्त्रितस्य च इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । ईश हे प्रभन् देवेन द्योतनात्मकेन मनसा अन्तःकरणेन । अनुग्रहबुद्ध्येत्यर्थः । सकलेंद्रियानुग्राहकत्वात् सत्त्वगुणपरिणामरूपत्वेन स्वच्छत्वाच्च मनसो द्योतनात्मकत्वम् । तादृशेन मनसा सह संगतः सन् पुनरेहि । क्रियाभ्यावृत्त्युपलक्षणार्थोयं पुनःशब्दः । अभिमतफलप्रदानार्थं पुनः पुनर्मत्समीपम् आगच्छेत्यर्थः । ❀ स्वरादिगणे पुनराद्युदात्तः इति पाठात् पुनःशब्द आद्युदात्तः ❀ ॥ अत्र वाचस्पतेरागमनं फलप्रदानार्थम् । तच्च फलप्रदानं किं वाचस्पतेरेव उत मनसोपीति विचिकित्सायाम् सहभावश्रवणात् मनसोपीति प्राप्तम् । तच्च अयुक्तम् । "सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी" इतिवत् सहशब्दश्रवणेपि अप्राधान्यात् मनसः क्रियानन्वयित्वात् । अप्राधान्यं च "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति तृतीयाविधानात् । तथा शेषलक्षणे "त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात्" [जै० ३. २. ३४.] इत्यधिकरणेपि एवमेव निर्णीतम् । तथा हि "अग्ना ३ इ पत्नीवा ३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" [तै० सं० १. ४. २७.] इति पात्नीवतग्रहहोममन्त्रे त्वष्टुः पत्नीवदग्निसहभावश्रवणेन पानक्रियान्वयाद् देवतात्वात् तद्ग्रहशेषभक्षणमन्त्रेपि उपलक्षणीयत्वम् आशङ्क्य राद्धान्तितम् त्वष्टुः अप्रधानविभक्त्यभिहितत्वेन सहभावमात्रप्रतीतेः पानक्रियान्वयित्वाभावाद् अदेवतात्वाद् भक्षणमन्त्रे नोपलक्षणीयत्वमिति ॥ अपि च हे वसोष्पते वासकस्य ग्रामपश्वादिरूपस्य धनस्य स्वामिन् । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थाद् वस निवासे इत्यस्मात् शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० पा० १. १०.] इति उप्रत्ययः । षनिस्रम् आगमशासनम् इति जुषभावे घेर्ङिति इति गुणे ङसिङसोश्च इति पूर्व-

रूपता॰। षष्ठ्याः पतिपुत्रेति विसर्जनीयस्य सत्वम्। पूर्ववत् परा-ङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। यद्वा वसोः वासकस्य प्राणस्य पते स्वामिन् प्रजापते निरमय अभिमतग्रामादिलक्षणफलप्रदानेन नितराम् अस्मान् क्रीडय। यतस्त्वं वसुपतिः अतस्तव ग्रामादिविविधफलप्रदानशक्तिरस्ति। तस्माद् अस्मदपेक्षितानां विविधफलानां साकल्येन प्रदानात् निर-न्तरं सुखयेत्यर्थः॥ अस्मादेव लिङ्गात् ग्रामसांपदादिषु कर्मसु विनि-योग उपपन्नः। ❀ रमु क्रीडायाम्। अस्मात् हेतुमति णिचि उपधावृद्धौ जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्चेति मित्त्वात् मितां ह्रस्वः इत्यु-पधाह्रस्वत्वम् ❀। इदानीं ग्रामादिविविधसंपत्त्या सर्वोत्कृष्ट-ताम् आत्मनः प्रार्थयते। मय्येवास्तु त्वया दत्तं ग्रामादिकम् अनन्य-साधारण्येन मय्येव वर्तताम्। अन्ययोगव्यवच्छेदार्थोयम् एवकारः। यत एवकारस्ततोन्यत्रावधारणम् इति न्यायेन अस्मच्छब्दात् परतो वर्तमानेन एवकारेण ग्रामादीनां नियम्यमानत्वात्॥ मेधाजननस्य प्राधान्यं दर्शयितुं विप्रपरिव्राजकन्यायेन पार्थक्येन निर्दिशति मयि श्रुतमिति। श्रुतम् उपाध्यायाद् विधितोधीतं वेदशास्त्रादिक-मपि मय्येव। अस्तु इत्यनुषङ्गः। सम्यगधीतस्यापि वेदादेः प्रायेण विस्मरणसंभवाद् अधीतस्य धारणार्थं मह्यं मेधां प्रयच्छेत्यर्थः॥

हे वेदरूप वाणीका पालन करनेवाले वाचस्पति देव ब्रह्मन्! अपने द्योतनात्मक (प्रकाशमय) मनके † साथ अर्थात् अनुग्रह बुद्धिको साथमें लेकर अभिलषित फल देनेके लिये वारम्वार मेरे पास आइये ×। और हे ग्रामादिरूप धनके स्वामिन् या वासक

† मन सब इन्द्रियोंके ऊपर अनुग्रह करता है और सत्त्वगुण का परिणामरूप होनेसे स्वच्छ है अतः मनको प्रकाशमय कहा है।

× यहाँ शङ्का होती है, कि—वाचस्पति (ब्रह्माजी) का आगमन फल देनेके लिये होता है। यह फलप्रदान वाचस्पति ही

(ग्राम) के स्वामिन् प्रजापते ! अभिलषित ग्रामरूप फल प्रदान करके हमें परमानंदित करिये, क्योंकि–आप वसुपति हैं, अतः आपमें ग्राम आदि अनेक फलोंके प्रदान करनेकी शक्ति है अत एव विविध फलोंको पूर्णरूपसे प्रदान करके हमें सर्वदा सुख दीजिये ÷ । (अब ग्राम आदि अनेक वस्तुओंकी प्राप्तिके द्वारा अपनी सर्वश्रेष्ठताकी प्रार्थना करते हैं, कि–आपके दिये हुए ग्राम आदि अनन्यरूपसे) मुझमें ही रहें (अर मेधाजननकी प्रधानता

करते हैं या मन भी करता है ? सहभावश्रवणसे अर्थात् साथका श्रवण होनेसे मनका भी फलप्रदानत्व प्राप्त होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि–"सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी। दशपुत्रोंके साथ भी गधी भारको ढोती रहती है।" यहाँकी समान सहशब्दका श्रवण होने पर भी अप्राधान्यवश मनका क्रियान्वयित्व (क्रियाके साथ योग) नहीं है। क्योंकि–"सहयुक्तेऽप्रधाने" इससे तृतीया होनेके कारण अप्राधान्य होगया। "त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् (जैमिनिसूत्र ३ । २ । ३४) त्वष्टाको पानसे उपलक्षित करे।" इस अधिकरणमें भी यही निर्णय किया है। यथा–"अग्ना ३ इ पा पत्नीवा ३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" [तैत्तिरीयसंहिता १ । ४ । २७] इस पात्नीवतग्रहहोममंत्रमें त्वष्टा का पात्नीवत् अग्निके सहभावश्रवणसे पानक्रियामें अन्वय होसकता है और देवता होनेसे तद्ग्रहशेषभक्षणमंत्रमें भी उपलक्षण होसकता है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहा है, कि–त्वष्टाको अप्रधानविभक्ति (तृतीया) से कहा है अतः सहभावमात्रकी प्रतीति होनेसे पानक्रियासे अन्वय नहीं होता और अदेवतात्ववश भक्षणमंत्रमें भी उपलक्षण नहीं होसकता ॥

÷ इसी लिङ्गसे ग्रामसाम्पदादि (ग्रामकी प्राप्ति कराने वाले अनेक) कर्मोंमें इसका विनियोग करना सिद्ध होता है।

दिखानेके लिये विप्रपरिव्राजकन्यायसे पृथक्रूपसे कहते हैं, कि) उपाध्यायसे विधिपूर्वक पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी मुझमें ही रहे॥ भली प्रकार पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी प्रायः विस्मृत होजाता है अतः कहा है, कि—पढ़े हुएको धारण करनेके लिये मुझे बुद्धि दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आर्त्नी इवेत्यार्त्नीऽइव ज्यया । वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

हे वाचस्पते इहैव अस्मिन्नेव साधके जने । ❁ इदमो हः इति सप्तम्यर्थे हप्रत्यये इदम इश् इति इशादेशः ❁ । उभे श्रुतधारणलक्षणां मेधां विविधभोगहेतुभूतां प्रागादिसंपदं च । अनयोः ऐहिकामुष्मिकफलसाधनेन व्यवस्थितत्वात् कोटिद्वयेन निर्देशः । ते उभे अपि फले अभि वि तनु अभितो विस्तीर्णे कुरु । सर्वजनेभ्योपि मय्येव प्रभूते कुर्वित्यर्थः । ❁ तनु विस्तारे । तनादिकृञ्भ्य उः इति उप्रत्ययः । उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् इति हेर्लुक् ❁ । तत्र दृष्टान्तः । ज्यया मौर्व्या धनुषि आरोपितया आर्त्नी इव अटन्याविव । ते यथा अभिवितन्येते तथेत्यर्थः । अनेन स्वरसतः अप्राप्तयोरपि बलात् प्रापणम् उक्तम् इति द्रष्टव्यम् । यद्वा इहैव अभि वि तनु । अभिमतं फलम् इति शेषः । उभे आर्त्नी इवेति उभशब्दस्य उत्तरत्र संबंधः । ❁ ईदूदे-

द्विवचनमिति प्रगृह्यसंज्ञा । प्लुतप्रगृह्या अचि इति प्रकृतिभावः । आर्त्नी इवेति । इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम् इति समासः ❀ । इदानीं प्राप्तस्य फलस्य स्थैर्यं प्रार्थ्यते । वाचस्पतिः विधाता नि यच्छतु स्वात्मने दत्तं निखिलं फलं नियमयतु । यथा मां न जहाति तथा स्थिरीकरोतु इत्यर्थः । ❀ निपूर्वाद् यमेः शपि इषुगमियमां छः इति छत्वम् । तिङ्ङतिङः इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अभिमतस्य फलस्य अयोगव्यच्छेदम् उक्त्वा अन्ययोगव्यवच्छेदम् आह । मय्येवास्तु मयि श्रुतमिति । व्याख्यातमेतत् ॥

हे वाचस्पति ! जैसे धनुष पर चढ़ाई हुई प्रत्यञ्चासे आर्त्नियें विस्तृत होती हैं तैसे ही वेदको धारण करने वाली बुद्धि और अनेक प्रकारके भोगोंकी कारण ग्रामादि सम्पत्ति ‡–इन दोनों को इस साधक मुझमें ही सबसे अधिक बढ़ाइये । (अब प्राप्त हुए फलको स्थिर रखनेके लिये प्रार्थना करते हैं, कि–) ब्रह्माजी मुझे दिये हुए फलको (अर्थात् वह जिस प्रकार मुझको छोड़ कर न जाय तिस प्रकार) पूर्णरूपसे मुझमें स्थिर करें (इस प्रकार अयोगव्यवच्छेदको कह कर अब अन्ययोगव्यवच्छेदको कहते हैं, कि–) "मय्येवास्तु मयि श्रुतम्–आपकी दी हुई ग्राम आदि सम्पत्तियें अनन्यरूपसे मुझमें ही रहें और उपाध्यायसे पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी मुझमें रहे ॥ ३ ॥

‡ वेदको धारण करनेकी शक्ति परलोकके फलकी साधन है और ग्रामादि संपत्ति इस लोकके फलकी साधन है अत एव दो कोटियों (आर्त्नियों) की उपमा दी है । प्रत्यञ्चाको खैंचनेसे यह सूचित किया है, कि–स्वरस (सीधी तरह) से ये प्राप्त न हों तो यत्नपूर्वक भी इनको प्राप्त कर लेय ।

चतुर्थी ॥

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥४॥

उप॑ऽहूतः । वा॒चः । पतिः॑ । उप॑ । अ॒स्मान् । वा॒चः । पतिः॑ । ह्व॒य॒ता॒म् ।
सम् । श्रु॒तेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ । मा । श्रु॒तेन॑ । वि । रा॒धि॒षि॒ ॥ ४ ॥

वाचस्पतिः वाचः पालयिता देवः उपहूतः समीपम् आहूतः । सत्स्वपि अन्येषु देवेषु असावेव मम अभिलषितफलप्रदातेति अस्माभिः प्रार्थित इत्यर्थः । ❀ उपपूर्वात् ह्वयतेः कर्मणि निष्ठा । वचिस्वपीत्यादिना संप्रसारणम् । गतिरनन्तरः इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् [फि० ४. १३.] इत्युपशब्द आद्युदात्तः ❀ । यतो मयोपहूतः ततो हेतोर्वाचस्पतिः स देवः अस्मान् मेधाजननादिफलकामान् उप ह्वयतां तत्फलं प्रदातुं स्वसमीपम् आह्वयतु । यद्वा । तत्तत्फलप्राप्तिम् अभ्यनुजानातु । ❀ उपपूर्वो ह्वयतिः अभ्यनुज्ञानेपि वर्तते । यथा "उपहूत उपह्वयस्व" इति सोमभक्षणानुज्ञानानुज्ञापनमन्त्रे ❀ । तेन उपहूताः सन्तो वयं श्रुतेन विधिवदधीतेन वेदशास्त्रादिना सं गमेमहि संगच्छेमहि । वाचस्पतिप्रसादप्राप्तया मेधया कृत्स्नं वेदशास्त्रं प्राप्नवामेति भावः । ❀ व्यवहिताश्च इति समः क्रियापदेन संबन्धः । समो गम्यृच्छीति गमेरात्मनेपदम् । अस्माद् आशीर्लिङि लिङ्याशिष्यङ् इति अङ् प्रत्ययः शपोपवादः । लिङः सीयुट् इति सीयुट् । छन्दस्युभयथा इति सार्वधातुकसंज्ञायां लिङः सलोपोनन्त्यस्य इति सलोपे गुणे वलि लोपः ❀ । अधीतस्य वेदशास्त्रस्य स्वस्मिन् सर्वदावस्थानं प्रार्थयते मा श्रुतेनेति श्रुतेन उक्तलक्षणेन मा वि राधिषि विराद्धो वियुक्तो मा भूवम् । सर्वदा

वेदशास्त्रादिसहितो भूयासम् इत्यर्थः। ❀ राध साध संसिद्धौ। अस्मात् माङि लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् इडागमश्च ❀॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वाचस्पति अर्थात् वेदरूपा वाणीके स्वामी ब्रह्माजीको हम (अन्य देवताओंके होने पर भी अभीष्ट फलदाता होनेके कारण) समीप बुलाते हैं (हमने ब्रह्माजीका आह्वान किया है, इसकारण ब्रह्माजी) हम मेधाजनन आदि फलकी इच्छा रखने वालोंको फल देनेके लिये अपने समीप बुलावें अथवा उस फलको पानेकी अनुमति दें। उनके उपादान करने पर हम विधिपूर्वक शास्त्रको पढ़ कर शास्त्रसम्पन्न रहें अर्थात् वाचस्पतिके प्रसादसे प्राप्त हुई बुद्धिके द्वारा हम सम्पूर्ण वेदशास्त्रको समझ लें। (अब पढ़ा हुआ वेदशास्त्र हममें सर्वदा स्थित रहे इसकी प्रार्थना करते हैं, कि—) पूर्वोक्त वेदशास्त्रसे हम वियुक्त न होवें ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

विद्मा शरस्येत्याद्यनुवाकशेषस्य उपाकर्मणि जपे विनियोगः। तथा च सूत्रम्। "अभिजिति शिष्यानुपनीय" इत्युपाकर्म प्रक्रम्य "त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेच्छेषमनुवाकस्य जपन्ति" इति [कौ० १४. ३.]। तत्र विद्मा शरस्येति प्रथमेन सूक्तेन तस्मिन्नेव उपाकर्मणि आज्यहोमः कर्तव्यः। अपराजितगणे अस्य पठितत्वात् "अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्" [कौ० १४. ३.] इत्यादिषु विनियोगः॥

एतेनैव संग्रामजयकर्माणि कुर्यात्। तानि च। आज्यहोमः सक्तुहोमः धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानम् शरेध्मे शरसमिदाधानम् संपातिताभिमन्त्रितधनुःप्रदानं च प्रत्येतव्यानि। एतेषु कर्मस्वनुष्ठितेषु संग्रामे दृग्मात्रेण शत्रवः पलायन्ते। तत्र उक्तं संहिताविधौ।

"विद्मा शरस्य [१. २.] मा नो विदन् [१. १९.] अदारसृत् [१. २०.] स्वस्तिदा [१. २१.] अव मन्युः [६. ६५.] निर्हस्तः [६. ६६.] परि वर्त्मानि [६. ६७.] अभिभूः [६. ९७.] इन्द्रो जयाति [६. ९८.] अभि त्वेन्द्र [६. ९९.] इति सांग्रामिकाणि । आज्यसक्तून् जुहोति" इत्यादि [कौ० २.५]। अयमेव अपराजितगण इत्युच्यते । तथा अनेनैव सूक्तेन संपातयुक्ताभिमन्त्रितद्रुकन्धार्नाज्यापाशबन्धनं तद्वद् वादितृणबन्धनं च इषुनिवारणकामः कुर्यात् । सूत्रितं हि । "प्रथमस्येषुपर्ययणानि" इत्यादि [कौ० २. ५.] ॥

तथा ज्वरातिसारातिमूत्रनाडीव्रणेषु तदुपशमनकामस्य अनेनैव सूक्तेन मुञ्जशिरोनिर्मितरज्जुबन्धनम् क्षेत्रमृत्तिकाया वल्मीकमृत्तिकाया वा पायनम् सर्पिर्लेपनम् चर्मखल्वामुखेन अपानशिश्ननाडीव्रणमुखानां धमनं च कार्यम् । आह च सूत्रकारः । "विद्मा शरस्य [१. २.] अदो यद् [२. ३.] इति मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इत्यादि "धमति" इत्यन्तम् [कौ० ४. १.] ॥

"अपराजितां विजयकामस्य" इति [न० क० १७.] विहितायाम् अपराजिताख्यायां महाशान्तावपि अस्य विनियोगः । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अपराजितगणोपराजितायाम्" इति [न० क० १८.] ॥

पुष्याभिषेकेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं परिशिष्टे ।

शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्याद् अपराजितः ।
आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ॥
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा । इति [प० ५. ४.] ॥

विद्मा शरस्येत्यादि अनुवाकशेषका उपाकर्मसंस्कारमें जपके समय विनियोग किया जाता है । इसी बातको कौशिकसूत्र १४ । २ में कहा है, कि-"अभिजिनि शिष्यानुपनीय" इस प्रकार उपा-

कर्मका आरंभ करनेके बाद कहा है, कि—"त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेत्क्षेषमनुवाकस्य जपन्ति" और विद्मा शरस्येति इस सूक्तसे उपाकर्ममें घृतका होम भी करे, क्योंकि—अपराजितगणमें इसका पाठ है। कौशिकसूत्र १४ । ३ में कहा है, कि—"अभयैरपराजितैर्जुहुयात्—अभय नाम वाले और अपराजित नाम वाले मंत्रों से घृतकी आहुतियें देय।"

इसी सूक्तसे संग्राममें विजय पानेके कर्म भी किये जाते हैं। वे कर्म ये हैं। आज्यहोम (घृतका होम), सक्तुहोम (सत्तुओं का होम), धनुषरूप ईंधन वाली अग्निमें धनुषरूपी समिधाका आधान, बाणरूपी ईंधनमें बाणरूपी समिधाओंका आधान और सम्पातित तथा अभिमंत्रित धनुषका प्रदान करना। इन कर्मोंका अनुष्ठान करने पर शत्रु देखते ही भाग जाते हैं। इसी बातको संहिताविधि (कौशिकसूत्र) में कहा है, कि—"विद्मा शरस्य [१ । २] मा नो विदन् [१ । १९] अदारसृत् [१ । २०] स्वस्तिदाः [१ । २१] अव मन्युः [६ । ६५] निर्हस्तः [६ । ६६] परि वर्त्मानि [६ । ६७] अभिभूः [६ । ९७] इन्द्रो जयाति [६ । ९८] अभि त्वेन्द्र [६ । ९९] ये मंत्र सांग्रामिक हैं। आज्यसक्तून् जुहोति—घृत और सत्तुओंकी आहुति देय" इत्यादि [कौशिकसूत्र २ । ५]। यही अपराजित गण कहलाता है। इसी प्रकार इस सूक्तसे सम्पातयुक्त (जिसके लिये होम किया गया है) और अभिमंत्रित द्रुघ्न्या, धनुष्कोटि, मत्स्याके पाशका बंधन तथा दूर्वादितृणबंधन भी बाणको हटाना चाहने वाला करे। कौशिकसूत्र २ । ५ में भी कहा है, कि—"प्रथमस्येषुपर्ययणानि" इत्यादि ॥

इसी प्रकार ज्वर अतिसार (पेचिश) अतिमूत्र और नाडीव्रणमें इनकी शांति चाहने वाले पुरुषके इस सूक्तसे मूँजके सिरे

से बनी हुई रस्सी बाँधे, खेतकी मिट्टी वा वर्मई मट्टी पिलावे; घृतका लेपन करे, चर्मखल्वाके मुखसे अपान, लिंग, और नाड़ी व्रणके मुख पर धमन भी करे (फूँके)। इसी बातको सूत्रकारने कहा है, कि—"विद्मा शरस्य [१।२] अदो यद्व [२।३] इन मंत्रोंसे मूँजके सिरेकी रस्सीसे बाँधता है इत्यादि। "धमति" तक।" [कौशिकसूत्र ४।१]॥ और "अपराजितां विजयकामस्य" इस नक्षत्रकल्प १७में विहित अपराजिता महाशान्तिमें भी इसका विनियोग है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८में कहा है; कि—"अपराजितगणोपराजितायाम्—अपराजितगणका अपराजिता महाशान्तिमें प्रयोग होता है॥"

पुष्पाभिषेकमें भी इस सूक्तका विनियोग है। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"शर्मवर्मगण, अपराजितगण, आयुष्य तथा अभयगण और स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे होम करके ०। [५।४] (पुष्पाभिषेक करे)॥

तत्र प्रथमा॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरि-धायसम्।

विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरि-वर्पसम्॥ १॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। पर्जन्यम्। भूरिऽधायसम्।

विद्मो इति। सु। अस्य। मातरम्। पृथिवीम्। भूरिऽवर्पसम्॥१॥

संग्रामजये शरस्यैव मुख्यसाधनत्वेन प्रसिद्धत्वात् तज्जयसामर्थ्यं विशिष्टकारणजन्यत्वेन उपपादयति। शरस्य हिंसकस्य बाणस्य शत्रुजयार्थं धनुषि संधीयमानस्य पितरम् उत्पादकं विद्म जानीमः। ❀ विद ज्ञाने। अस्मात् लटि विदो लटो वा इति मसो मादेशः।

अदादित्वात् शपो लुक्। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। तिङ्ङ-तिङः इत्यत्र अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्यधिकारात् अस्य च पादादित्वात् निघाताभावः। द्व्यचोतस्तिङः इति सांहितिको दीर्घः ❀। किंसंज्ञकोयं पिता इत्याह पर्जन्यमिति। तर्पयिता चासौ जन्यश्चेति पर्जन्यः। ❀ तृपेर्वित्ति आद्यन्तोर्वर्णयोर्विपर्ययः ❀। जनेभ्यो हितो जन्यः। कालेऽकाले प्रवर्षणेन तर्पयिता सन् जनानां हितकारी भवतीत्यर्थः। यद्वा काले प्रवर्षणार्थं रसान् मार्जयतीति पर्जन्यः। ❀ तथा च यास्कः पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः मार्जयिता वा रसानाम् इति [नि० १०.१०.]❀। तस्य सर्वस्माद् अतिशयम् आह। भूरिधायसं भूरि बहुलं दधाति प्रवर्षणेन कृत्स्नं जगत् पोषयतीति भूरिधायाः। यद्वा। भूरीणि स्थावरजङ्गमात्मकानि वस्तूनि यथोचितकाले वृष्टिप्रदानेन दधाति धारयतीति भूरिधायाः। कारणस्य अतिशयितवीर्यत्वप्रतिपादनेन तज्जन्यस्यापि शरस्य अमोघवीर्यत्वम् उक्तं वेदितव्यम्। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ०४.२२०] इति कर्तरि असुन्। तत्र णिदित्यनुवृत्तेः आतो युक्चिण्कृतोः इति इति युक्। असुनो नित्त्वात् तदन्तस्य आद्युदात्तत्वम्। समासेपि गतिकारकोपपदात्कृत् इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते असुनि गतिकारकयोरपि पूर्व [पद] प्रकृतिस्वरत्वं च [उ०४.२२६] इति स्मरणात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तच्च अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् [उ०४.६५.] इति भूरिशब्दस्य क्रिन्प्रत्ययान्तत्वात् ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❀। तथा अस्य शरस्य मातरं जननीम् सु सुष्ठु विद्मो। उशब्दः एवकारार्थे। विद्मैव तदसाधारणरूपं जानीम एव। ताम् आह। पृथिवीं प्रथितां विस्तीर्णां भूमिम्। श्रूयते हि। तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्” [तै० ब्रा०१.१.३.७.] इति। ❀ प्रथ

विस्तारे । अस्मात् प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च [उ० १. १४८] इति षिवन् प्रत्ययः । तत्संनियोगेन रेफस्य संप्रसारणम् । षिद्गौरादिभ्यश्च इति ङीष् । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ तां विशिनष्टि । भूरिवर्पसं भूरीणि बहुविधानि वर्पांसि । रूपनामैतत् । रूपाणि चराचरात्मकानि यस्याः सा तथोक्ता । जनन्याः सर्वरूपोपादानत्वात् कारणगुणानां कार्ये अनुगमदर्शनात् तज्जन्यः शरोपि नानाकारः सन् साधकाभिमतं फलं साधयितुं शक्नोतीतीत्यर्थः । ❀ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० ४.२००] इति वृङोऽसुन् प्रत्ययः तत्संनियोगेन पुगागमश्च । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् इति प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

ननु अत्र शरादिशब्दानाम् अनित्यबाणाद्यर्थविशेषवाचकता प्रतीयते । ततश्च अस्य अर्थविशेषस्य अयं वाचकः शब्द इति पदार्थोत्पत्तिसमनन्तरं तद्वाचकं शब्दं निश्चित्य अनन्तरं पदस्य प्रयोक्तव्यत्वाद् वेदस्य पौरुषेयत्वेन अप्रामाण्यम् अनित्यत्वं च प्राप्नोति ॥ नायं दोषः । शब्दानाम् अनित्यार्थवाचकत्वानभ्युपगमात् । तर्हि कोसौ वाच्योर्थः । आकृतिरिति वदामः । यद् अवद् प्रयत् जैमिनिः । "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" [जै० १. ३. ३३] इति । तथा हि व्रीहीन् अवहन्ति पशुम् आलभेत गाम् आनय ब्राह्मणो न हन्तव्यः इत्यादिप्रयोगेषु किं व्यक्तिः शब्दार्थः उत आकृतिरिति । व्यक्तिरिति तावत् प्राप्तम् । कुतः । अवहननादिक्रियाभिः व्यक्तेरन्वेतुं योग्यत्वात् । न हि आकृतिः अवहन्तुम् आलब्धुम् आनेतुम् हन्तुं वा योग्या । ननु आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां न व्यक्तौ व्युत्पत्तिः संभवति । अनन्ता हि गोव्यक्तयः । अतीतानागतानाम् अनेकदेशवर्तिनां गवाम् इयत्ताया अभावात् । किं च शुक्लव्यक्तौ व्युत्पन्नो गोशब्दः कृष्णव्यक्तौ प्रयुज्यमानः स्वार्थं व्यभिचरेत् तत्र कथं व्युत्पत्तिरिति चेत् । एवं तर्हि व्युत्पत्तिकाले सा व्यक्तिः आकृत्या उपलक्ष्यताम् इति प्राप्ते

भूयः। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आकृतेः शक्तिग्रहणनिमित्तत्वात् शब्दार्थत्वं तस्या एवोचितम्। किं च गोशब्दे उच्चरिते व्यक्तिवादिनः संशयो भवेत्। तस्माद् आकृतेरेव अभिधेयत्वम्। यदि आकृतौ अवहननादिक्रिया न पर्यवस्येत् तर्हि व्यक्तिस्तत्रोपलक्षणीया। किं च "श्येनचितं चिन्वीत" [तै० सं ५.४.११.१] इत्यादौ आकृतेरेव सादृश्यप्रतियोगितया कार्यान्वयो दृश्यते। तस्माद् आकृतिः शब्दार्थः॥ एवं प्रकृतेपि शरादिशब्दानां नित्य एव आकृतिलक्षणोर्थो वाच्यः। ततः शब्दार्थतत्संबन्धानां नित्यत्वेन अपौरुषेयत्वात् पुरुषबुद्धिप्रभवदोषानुप्रवेशाभावेन वेदानां स्वतःसिद्धं प्रामाण्यं पुरुषप्रयत्नानिर्वर्त्यत्वेन नित्यत्वं चेति॥

(संग्राममें विजय पानेके लिये शर ही मुख्यसाधनरूपसे प्रसिद्ध है, उस बाणके विजय करनेकी सामर्थ्यका, उसके कारणकी विशिष्टता कह कर समर्थन करते हैं, कि–) शत्रुको विजय करनेके लिये धनुष पर चढ़ाये हुए हिंसक बाणके पिता (उत्पादक) को हम जानते हैं, वह पिता पर्जन्य है अर्थात् समय २ पर वर्षाके द्वारा मनुष्योंको तृप्त करके मनुष्योंका हित करने वाला मेघ है। वह पर्जन्य वर्षाके द्वारा जगत्का पोषण करता है और स्थावर जंगम वस्तुओंको उचित समय पर वृष्टि करके धारण करता है (इस प्रकार जब कारणमें बड़ा भारी वीर्य है तो उससे उत्पन्न हुए कार्यशरमें भी अमोघ वीर्य है, यह सूचित किया है।) तथा इस शरकी माता अनेक प्रकारके चराचर रूपोंको धारण करने वाली विस्तृत × भूमिको भी हम

+ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।७ में कहा है कि–"तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्–उसको पुष्करपर्णमें प्रथन किया (विस्तृत किया) प्रथन करनेके कारण ही पृथ्वीका नाम पृथिवी है।

जानते हैं। तात्पर्य यह है, जब जननी सब रूपोंकी उपादान कारण है तो 'कारणके गुण कार्यमें भी दीखते हैं' अतः उससे उत्पन्न होने वाला शर भी अनेक आकारका होता हुआ साधक का अभिलषित फल साधन कर सकता है ॥

अब यहाँ शङ्का होती है, कि-शर आदि शब्दोंका अनित्य बाण आदि अर्थविशेषको कहना प्रतीत होता है। अतः इस अर्थ-विशेषका वाचक शब्द है, इस प्रकार पदार्थकी उत्पत्तिके अनंतर तद्वाचक शब्दका निश्चय करके पदका प्रयोग किया जाता है। इस कारण वेद पौरुषेय (पुरुष बनाया हुआ) होनेसे अप्रमाण होसकता है और अनित्य भी होसकता है। (अब इस शङ्काका उत्तर देते हैं, कि-) यह दोष नहीं है। क्योंकि-शब्द अनित्य अर्थके वाचक हों, यह बात नहीं है। तो वाच्य अर्थ कौनसा है? हम कहते हैं, कि-आकृति। सूत्रकार जैमिनि भी इसी बातको कहते हैं, कि-"आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" [जै १ । ३ । ३३] आकृति क्रियार्थ होती है। तथा हि-धानोंको कूटता है, पशुका आलभन करे, गौको ला, और ब्राह्मणको न मारना चाहिये, इत्यादि प्रयोगोंमें शब्दार्थ व्यक्ति है वा आकृति? पहिले व्यक्ति की प्राप्ति होती है, क्योंकि-अवहनन (कूटना) आदि क्रियाओं से व्यक्तिका ही अन्वय होना उचित प्रतीत होता है। आकृति तो अवहनन आलभन आनयन वा हनन करनेके योग्य नहीं होती है। "आनन्त्य और व्यभिचारसे व्यक्तिमें व्युत्पत्ति नहीं होती" यह शङ्का होसकती है, यथा-गोव्यक्तियें अनन्त हैं, बीती हुई और आगेको होने वाली और अनेक देशोंमें वर्तमान गौओंकी इयत्ता (ये इतनी हैं) यह संख्या नहीं होसकती और शुक्ल-व्यक्तिमें व्युत्पन्न हुआ गोशब्द कृष्णव्यक्तिमें प्रयुक्त होता हुआ स्वार्थका व्यभिचार कर देगा अतः व्यक्तिमें व्युत्पत्ति कैसे हो

सकती है (तो इसके उत्तरमें व्यक्तिवादी कहता है, कि–) तब व्युत्पत्तिके समय उस व्यक्तिका आकृतिसे उपलक्षण कर लेना चाहिये। ऐसी प्राप्ति होने पर हम कहते हैं, कि–

अन्वय और व्यतिरेकसे आकृति ही शब्दग्रहणका निमित्त होती है अतः आकृतिका ही शब्दार्थत्व होना उचित है। (और) गोशब्दका उच्चारण करने पर व्यक्तिवादीको संशय होसकता है, अतः आकृतिका ही अभिधेयत्व है। यदि आकृतिमें अवहनन आदि क्रिया न हो सकती हो तो व्यक्तिका वहाँ उपलक्षण करना चाहिये। (और एक बात है, कि–) "श्येनचितं चिन्वीत–श्येनचित् चयन करे" [तैत्तिरीय संहिता ५।४।११।१] आकृतिका ही सादृश्यप्रतियोगिताके कारण कार्यान्वय दीखता है। अत एव आकृति ही शब्दार्थ है॥ अत एव यहाँ भी शर आदि शब्दोंका नित्य आकृतिलक्षणार्थ वाच्य है। अब शब्दार्थ और उसके सम्बन्धकी नित्यताके कारण अपौरुषेय होनेसे, पुरुषकी बुद्धिसे उत्पन्न हुए दोषोंका प्रवेश नहीं होसकता, अतः वेदोंका स्वतःसिद्ध प्रामाण्य है। और पुरुषके प्रयत्नोंसे उसको हटाया नहीं जासकता अतः नित्यत्व भी है॥ १॥

द्वितीया॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि॥

ज्याके। परि। नः। नम। अश्मानम्। तन्वम्। कृधि।
वीडुः। वरीयः। अरातीः। अप। द्वेषांसि। आ। कृधि॥२॥

हे ज्याके। कुत्सिता ज्या ज्याका। ❀कुत्सिते इति कुत्सायां कप्रत्ययः❀। स्वस्य उपद्रवहेतुत्वात् ज्यां कुत्सि-

तत्वेन निर्दिशति । यद्वा अज्ञाता ज्या ज्याका । ❀ अज्ञातार्थे कप्रत्ययः ❀ । शत्रुहस्तगतत्वेन तस्या अज्ञातत्वम् । ❀ आमन्त्रितस्य च इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे ईरेशि मौर्वि नः अस्मान् परि वृण परिहृत्य मद्गीभव । आज्यसक्तुहोमादिभिः इन्द्रप्रसादविशिष्टे मयि त्वदीयस्य शरसंधानार्थं नमनस्य निष्फलत्वात् मां विहाय अन्यत्र शरं प्रेरय इत्यर्थः ॥ अस्य सूक्तस्य इन्द्रदेवताकत्वात् जयकर्मणः इन्द्रायत्तत्वाच्च अत्र अश्मनोपि इन्द्र एव संबोध्यः । हे इन्द्र तन्वं तनुम् । ❀ तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् इति यण् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य इति विभक्तेः स्वरितत्वम् ❀ । अस्माकं शरीरम् अश्मानम् अश्मवद् दृढावयवं शस्त्राभेद्यं कृधि कुरु ॥

यद्यपि अत्र सामानाधिकरण्येन शरीरस्य अश्मकरणप्रार्थना प्रतीयते तथापि षाट्कौशिकस्य शरीरस्य अत्यन्तविरुद्धपाषाणात्मकत्वानुपपत्त्या "यजमानः प्रस्तरः" [ऐ० ब्रा०. २. ३.] इतिवत् तत्संबद्धगुणलक्षणा आश्रीयते । तथा हि "यजमानः प्रस्तरः" इत्यस्मिन् वाक्ये उद्भिदा यजेत इतिवत् सामानाधिकरण्याद् अन्यतरस्य अन्यत् नाम इत्येकः पूर्वः पक्षः । गुणविधिरेव इत्यपरः । तथापि यजमानकार्ये जपादौ प्रस्तरस्य अचेतनस्य सामर्थ्याभावात् प्रस्तरकार्ये तु स्रुग्धारणादौ यजमानस्य शक्तत्वात् यजमानरूपो गुणो विधीयते । एवं सति पश्चाच्छ्रुतस्य प्रस्तरशब्दस्य कार्यलक्षकत्वेपि प्रथमश्रुतो यजमानशब्दो मुख्यवृत्तिर्भविष्यति । न चात्र "पूर्ववन्तो विधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये" [जै० १. ४. १७] इति द्वादशकपालन्यायेन स्तुतिः संभवति । अष्टाकपालद्वादशकपालयोरिव प्रस्तरयजमानयोः अंशांशित्वानुपपत्तेः । तस्मात् नामगुणयोरन्यतरत्वम् इति प्राप्ते अभिधीयते । उद्भिदादिशब्दानां हि अप्रसिद्धार्थत्वाद् यजिसामानाधिकरण्येन

नामत्वं निर्णीतम्। अत्र तु गोमहिषयोरिव यजमानप्रस्तरशब्दयो अर्थभेदस्य अत्यन्तप्रसिद्धत्वात् नामत्वं न युक्तम्। गुणविधिपक्षे तु सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति इत्यत्रो प्रहरणस्यापि प्रस्तरकार्यत्वात् यजमाने प्रहृते सति कर्मलोपः स्यात्। तस्मात् विधेयः प्रस्तरो यजमानशब्देन स्तूयते। यथा सिंहो देवदत्त इत्यत्र सिंहगुणेन शौर्यादिना उपेतो देवदत्तः सिंहशब्देन स्तूयते तथा यजमानः प्रस्तर इत्यत्रापि यजमानगुणेन यागसाधकत्वेन युक्तः प्रस्तरो यजमानशब्देन लक्षणया प्रतिपाद्यते। एवं प्रकृते अश्मशब्दोपि स्वार्थसहचरितान् दृढावयवत्वगाढमेधत्वादिगुणान् लक्षयित्वा प्रार्थ्यमानतद्गुणयोगिनि शरीरे वर्तत इति बोद्धव्यम्॥

यदि त्वदीयं निरवधिकम् अनुग्रहम् अजानानः शत्रुर्माम् उद्दिश्य यद्यपि शरं प्रहिणुयात् तथापि स शरः अस्मच्छरीरं यथा न विदारयति तथा कुर्वित्यर्थः। ❀ डुकृञ् करणे। अस्माल्लोटि बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि इति हेर्धिरादेशः। तस्य अपित्त्वेन गुणाभावः ❀। किंच हे इन्द्र वीळुः सेनायाः संस्तम्भकस्त्वम्। ❀ वीळयतिश्च वीळयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ इति हि यास्कः [नि० ५. १६] ❀। अरातीः अरातीन् अस्मच्छत्रून् द्वेषांसि। ❀ द्विष अप्रीतौ। भावे असुन् ❀। तत्कृतान्यप्रियाणि च वरीयः। क्रियाविशेषणम् एतत्। उरुतरम् अप कृधि अपाकुरु अपगमय। यथा पुनःपुनरागत्य अस्मान् नापकुर्वन्ति तथा प्रक्षीणबलान् कुर्वित्यर्थः। ❀ वरीय इति। उरुशब्दाद् ईयसुनि प्रियस्थिरेत्यादिना उरुशब्दस्य वरादेशः। क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं चेति नपुंसकलिङ्गता। अरातीरिति। रा दाने। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् इति क्तिच्प्रत्ययः। न रातयः अरातयः। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तस्माच्छसो नः पुंसि इति नत्वाभावश्छान्दसः ❀।

हे (शत्रुके हाथमें होनेसे अज्ञात मत्यञ्चे ! वा अपने लिये उपद्रव करने वाले होनेसे) कुत्सित मत्यञ्चे ! तू हमें छोड़कर (और पर) झुक (क्योंकि—घृत और सत्तुओंका होम कर मैंने इन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त करली है अतः मुझ पर बाण चलानेके लिये तेरा नमना निष्फल होगा अतः मुझे छोड़ कर तू दूसरों पर बाण चला) हे इन्द्र ! † हमारे शरीरको आप पत्थरकी समान दृढ़ शस्त्रसे न भिदनेवाला करिये ‡ (अर्थात् आपकी मेरे ऊपर परम-

† इस सूक्तका देवता इन्द्र है और जय–कर्म इन्द्रके अधीन है अतः अपठित इन्द्रका भी यहाँ संबोधन किया है।

‡ यद्यपि मंत्रमें तन्वम् अश्मानम् इस समानाधिकरणसे शरीर को पत्थर कर देनेकी प्रार्थना प्रतीत होती है। तथापि त्वक् कोष्ठ वाले शरीरका परमविरुद्ध पाषणात्मक होना समझमें नहीं आता अतः "यजमानः प्रस्तरः" (पत्थर यजमान है) [ऐतरेय ब्राह्मण २।३] की समान तत्सम्बन्धगुणलक्षणा लीजाती है (इसी बातको स्पष्ट करते हैं, कि-) "यजमानः प्रस्तरः" इस वाक्यमें 'उद्भिदा यजेत' की समान सामानाधिकरण्यसे अन्यतरका अन्वय है, यह एक पक्ष है। और यह गुणविधि है यह दूसरा पक्ष है। वहाँ पर भी अर्थात् "यजमानः प्रस्तरः" यहाँ पर भी यजमानके कार्य जप आदिमें अचेतन प्रस्तरकी सामर्थ्य नहीं होसकती और प्रस्तरके कार्य स्रुचेको धारण करने आदिमें यजमानकी सामर्थ्य है अतः यजमानरूप गुणका विधान है। ऐसा होने पर पीछे सुने हुए प्रस्तरशब्दके कार्यलक्षकत्व होने पर भी पहिले सुना हुआ यजमान शब्द मुख्यवृत्ति होजावेगा। "पूर्ववंतो विधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये" (जैमिनीयसूत्र १।४।१७) इस सूत्रके अनुसार यहाँ द्वादशकपाल न्यायसे स्तुति होना संभव नहीं है। क्योंकि—अष्टाकपाल और द्वादशकपालकी समान प्रस्तर

कृपा है इस बातको न जानने वाला शत्रु यदि मुझको लक्ष्य करके बाण फैंके, तो ऐसा करिये, कि—वह बाण मेरे शरीरको विदीर्ण न कर सके ।) और सेनाको स्तम्भित कर देने वाले हे इन्द्र ! आप हमारेशत्रुओंको और उनके किये हुए अप्रिय कर्मों को भी बलपूर्वक हमसे दूर करिये अर्थात् वह बारम्बार हमारा अपकार न करसकें, इस रीति पर उनका बल क्षीण कर दीजिये २

और यजमान अंश और अंशी नहीं होसकते । इस लिये नाम और गुणमेंसे अन्यतरत्व है । ऐसी प्राप्ति होने पर कहते हैं, कि—उद्भिद आदि शब्दोंका अर्थ अप्रसिद्ध होनेसे यजिके सामानाधिकरण्यसे नामका निर्णय कर दिया, परन्तु यहाँ तो गौ और भैंसकी समान यजमान और प्रस्तरशब्दका भिन्न २ अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध है अत एव नामत्व युक्त नहीं है । गुणविधि—पक्षमें तो सूक्तवाकके द्वारा प्रस्तरका प्रहार करता है, इसप्रकार अग्निमें प्रहरणके भी प्रस्तरका कार्य होनेसे, यजमानमें प्रहृत होने पर कर्म का लोप होजावेगा । इस लिये विधेय प्रस्तरकी यजमान शब्द से स्तुति की जारही है । (उदाहरण) "देवदत्त सिंह है" इस वाक्यमें सिंहके गुण शूरता आदिसे युक्त देवदत्तकी सिंहशब्दसे स्तुति की जारही है । इसी प्रकार "प्रस्तर यजमान है" यहाँ पर भी यजमानके गुण यागसाधकत्वसे युक्त प्रस्तर (पत्थर) यजमानशब्दके द्वारा लक्षणसे प्रतीत होता है । इसी प्रकार यहाँ पर अश्म शब्द भी, स्वार्थसहचरित दृढ़ अवयवरूप और शस्त्रसे न भिदनारूप गुणोंको लक्ष्यमें रख कर प्रार्थना किये जाने वाले तद्गुणयोगी शरीरमें है ।

तृतीया ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । यत् । गावः । परिऽसस्वजानाः । अनुऽस्फुरम् । शरम् ।
अर्चन्ति ऋभुम् ।
शरुम् । अस्मत् । यवय । दिद्युम् । इन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । विकारे प्रकृतिशब्दः । वृक्षविकारं धनुर्दण्डम् । ❀ वृश्च्यत इति वृक्षः । ओव्रश्चू छेदने इत्यस्मात् स्नुव्रश्चिकृत्यादिना [उ०३.६६.] क्सप्रत्ययः । किस्वात् ग्रहिज्यादिना संप्रसारणम् । स्कोः संयोगाद्योरिति उपधासकारलोपः । व्रश्चभ्रस्जेत्यादिना षत्वे षढोः कः सि इति कत्वम् ❀ । गावः । गोविकारस्नायु वा गमयति इषूनिति वा गावो मौर्व्यः । आद्ये तद्धितस्य लुक् । तद् उक्तं यास्केन । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितम् अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौः । वृक्षेवृक्षे धनुषिधनुषीति [नि०२.६] ❀ । परिषस्वजानाः धनुर्दण्डम् आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः सत्य इत्यर्थः । ❀ ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । अस्मात् छन्दसि लिट् इति लिट् । लिटः कानज्वा इति कानजादेशः । उपधानकारलोपे द्विर्वचनम् । चितः इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । अत्र परिष्वङ्गकथनेन स्त्रीपु सयोरिव ज्याधनुर्दण्डयोरपि अन्योन्यसंसक्तयोरेव यथोचितकार्यकरत्वं सूचितम् इति मन्तव्यम् । ईदृश्यो ज्या यद् यदा अनुस्फुरं प्रतिस्फुरणम् । ❀ स्फुर संचलने । अस्माद् घञर्थे कविधानम् । स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् इति परिगणनस्य उप-

सङ्गणार्थत्वात् क्रमव्यत्ययः ❀ । ऋष्वम् उरु मासमानम् । शाणोल्लीढत्वात् निशितमित्यर्थः । ईदृशं शरुं हिंसकं शरम् अर्चन्ति । अर्चतिः अत्र गतिकर्मा । अस्मान् अभिलक्ष्य प्रेरयन्ति । ❀ शॄ हिंसायाम् । शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ०१.१०] इति उ प्रत्ययः ❀ । तदा हे इन्द्र अस्माभिर्दत्तेन हविषा प्रीतस्त्वं दिद्युं द्योतमानं शरुं शरम् अस्मिन्निकटम् उपसर्पन्तम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् यावय पृथक् कुरु । यथा स शरो मां न स्पृशति तथा अन्यत्र अपसारयेत्यर्थः ॥ यद्वा शरुं हिंसकं दिद्युम् । वज्रनामैतत् । वज्रवद्भासमानं शस्त्रजातम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ❀ यावयेति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् णिचि वृद्धिः । पदकारास्तु संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः इति वृद्धेरनित्यत्वाद् यवयेति पदं छिन्दन्ति । दिद्युमिति । द्युतदीप्तौ । अस्माद् द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे चेति वक्तव्यम् इति क्विप् प्रत्ययः । तत्संनियोगेन द्विर्वचनम् । द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् । अन्त्यलोपश्छान्दसः ॥ इन्द्रेति । इदि परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रेत्यादिना [उ० २. २८] इन्द्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वाद् आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । यास्कस्तु बहुधा इन्द्रशब्दं निरवोचत् । इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा इरां दधातीति वा इरां दारयतीति वा इरां धारयतीति वा इन्दवे द्रवत इति वा इन्दौ रमत इति वा इन्धे भूतानीति वा तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते इदंकरणादित्याग्रायणः इदंदर्शनादित्यौपमन्यवः इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः [नि० १०. ८] इत्यादि ❀ ॥ यद्वा शरुं बहुच्छायं वटादिकं गावः निदाघपीडिताः पशवः यद्वद् यथा आश्लिष्यन्ति तथा वयमुचितजीविकाप्रदानेन उपकारकं शम्भुं परिषस्वजानाः परितः सेवमानाः त्वदीया

भटाः अनुस्फुरं स्वामिनः हस्तनेत्रादिव्यापारयाभम् अनुलक्ष्य । शरुम् अर्चन्तीत्यादि पूर्ववत् ॥

इसके विकार धनुर्दण्डका आलिङ्गन करके (अर्थात् धनुर्दण्ड पर लगा कर धनुषकोटि पर चढ़ाई हुई) प्रत्यञ्चायें † जब प्रत्येक स्फुरण (चलन) में (सान पर चढ़े तीक्ष्ण अत एव) बहुत ही दमकते हुए हिंसक बाणको हमको लक्ष्य करके छोड़ें, उस समय हे इन्द्र ! (हमारे दिये हुए हविसे प्रसन्न हुए आप) उस (हमारे पास आते हुए) प्रकाशमान बाणको हमसे दूर करिये अर्थात् वह बाण मुझे स्पर्श न कर सके, इस प्रकार उसको अन्यत्र हटा दीजिये ॥

(दूसरा अर्थ) अधिक छाया वाले बट आदि वृक्षको जिस प्रकार गर्मीसे घबड़ाई हुए गौएँ घेर लेती हैं इसी प्रकार उचित जीविका देनेसे शत्रुके भट उसको घेर रहे हैं और उसके हाथ नेत्र आदिके इङ्गित (इशारे) से ही मुझे लक्ष्य करके प्रकाशमान बाणको मुझ पर छोड़ते हैं, हे इन्द्र ! उस प्रकाशमय बाणको आप मुझसे दूर करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आऽस्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ४

† बाणोंको चलानेके कारण प्रत्यञ्चा भी गौ कहलाती है [निरुक्त २ । ६] में कहा है, कि—"ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितम् अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति । वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौः । वृक्षे वृक्षे धनुंषि धनुषीति ॥"

यथा येन प्रकारेण द्यां दिवम् आकाशं पृथिवीं भुवम् । परस्पर-समुच्चयार्थौ चकारौ । उभयत्रापि व्यत्ययेन द्वितीया । दिवश्च पृथिव्याश्च अन्तः मध्ये अवस्थितं तेजनम् तेजनो वेणुः । ❀ लिङ्ग-व्यत्ययः । वेणुमस्करतेजना इत्यभिधानात् ❀ । तिष्ठति स्वकीयेन औन्नत्येन ते उभे अपि अधःकृत्य वर्तते एव एवम् । ❀ अन्त्य-लोपश्छान्दसः । निपातस्य च इति सांहितिको दीर्घः ❀ । रोगं रुज्यते भज्यते पुरुषः अनेनेति रोगः ज्वरातीसारादिरूपः । ❀ हलश्च इति करणे घञ् । चजोः कुः घिण्यतोः इति कुत्वम् । ञ्नित्यादि-र्नित्यम् इत्याद्युदात्तः ❀ । तम् आस्रावम् आ समन्तात् स्रवति अङ्गप्रत्यङ्गेभ्य इत्यास्रावो मूत्रातीसारः । ❀ स्रु गतौ इत्यस्माद्ध आङ् पूर्वात् श्याद्व्यधास्रुसंस्रु इत्यादिना णप्रत्ययः । अचो ञ्णिति इति वृद्धिः । पूर्ववत् षष्ठ्यर्थे द्वितीया । अत्रापि परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ज्वरातीसारादिरोगस्य आस्रावस्य च अन्तः मध्ये मुञ्ज इत् मुञ्ज एव । मुञ्जेषीकानिर्मिता रज्जुरित्यर्थः । तिष्ठतु । तौ उभावपि रोगौ अधःकृत्य वर्ततामित्यर्थः ॥ यद्यपि अत्र रोग-शब्देन व्याधिसामान्यवाचिना आस्रावोपि गृहीतः तथापि एतन्मन्त्र-साध्या क्रिया आस्रावस्य विशेषतो निवर्तिकेति दर्शयितुम् आस्रा-वस्य पृथगभिधानम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जैसे आकाश और पृथ्वीके बीचमें वर्तमान बाँस (अपनी ऊँचाईसे उन दोनोंका तिरस्कार कर) खड़ा रहता है । इसी प्रकार पुरुषको तोड़ने वाले ज्वर अतीसाररूप रोग और अङ्ग प्रत्यङ्गोंसे टपकाव करनेवाले मूत्रातीसार नामक रोगके मध्यमें यह मूँजकी बनाईहुई रस्सी उन दोनों रोगोंको दबाकर स्थित ‡ रहे ४

प्रथम काण्डके प्रथम- अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

‡ यद्यपि रोग शब्द सब व्याधियोंका वाचक है अत एव उसमें

विधा शरस्येति तृतीयसूक्तेन मूत्रपुरीषनिरोधे प्रमेहणसाधन-हरीतकीकर्पूरबन्धनम् । मूषिकामृत्तिकापूतीकतृणदधिमथितजरत्प्रमन्ददारुतक्षणशकलानाम् अन्यतमस्य पायनम् हस्त्यश्वादियानारोहणम् शरविसर्जनम् शरेण मूत्रनालविदारम् लोहशकलस्य मूत्रद्वारे प्रवेशनम् इत्येवमादीन्यपि सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितस्य कुर्यात् । "विषितं ते वस्तिबिलम्" इति ऋचेन मूषिकामृत्तिकायुक्तद्रव्येषु निरुद्धमूत्रपुरीषं पुरुषम् आस्थापयेत् । "विधा शरस्येति प्रमेहणं बध्नाति" इत्यादि "फाण्टं पाययतीत्युदावर्तिने च" इत्येतदन्तं सूत्रम् द्रष्टव्यम् [कौ० ४. १] ॥

मूत्र और पुरीष रुक जाने पर विधा शरस्य इस तृतीय सूक्त से प्रमेहणके साधन हड़ और कपूरको बाँधे । और सूत्रोक्तरीति से मूषिकामृत्तिका (चूहेके यहाँकी मिट्टी) पूतीकतृण, दहीमें मथे हुए जीर्ण मन्द पेड़के कटे हुए टुकड़े (बुरादा) इनमेंसे एक को पिलावे । हाथी घोड़े आदि सवारी पर चढ़ावे, बाण छुड़वावे और शरके द्वारा मूत्रनालविदारण और लोहशकलका मूत्रद्वारमें प्रवेशन आदि करे । "विषितं ते वस्तिबिलम्" आदि दो ऋचाओं से मूषिकामृत्तिका आदि कथित द्रव्यों पर (जिसका मूत्र वा पुरीष रुक गया है उस) पुरुषको खड़ा करे । "विधा शरस्येति प्रमेहणं बध्नाति" यहाँसे "फाण्ट पाययतीत्युदावर्तिने च" इस सूत्र तक देखना चाहिये [कौशिकसूत्र ४ । १]

आस्राव—मूत्रातिसार (बहुमूत्र) रोग भी आजाता है तथापि इस मन्त्रसे साध्य क्रिया आस्रावको विशेष रूपसे हटाने वाली है इस बातको दिखानेके लिये आस्राव शब्दको अलग लिखा है ।

तत्र प्रथमा ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शतऽवृष्ण्यम् ।
तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ १ ॥

शरस्य हिंसकस्य बाणस्य पितरं पालकम् उत्पादकं वा विद्म यथावज्जानीमः । कीदृशम् । शतवृष्ण्यम् अपरिमितवीर्योपेतम् । विचित्रस्य तरुगुल्मादिरूपस्य स्थावरस्य पशुमृगनरादिरूपस्य जङ्गमस्य च उत्पादने पोषणे च समर्थम् इत्यर्थः । ईदृशं पर्जन्यं वृष्टिप्रदं देवम् । पितृत्वेन जानीम इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ वर्षतीति वृषा । वृष सेचने । कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः । वृष्णि भवं वृष्ण्यम् । भवे छन्दसि इति यत् । अल्लोपोऽनः इत्युपधालोपः । ये चाभावकर्मणोः इति प्रकृतिभावस्तु व्यत्ययेन न प्रवर्तते । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तेन उक्तलक्षणेन शरेण । ❀ अन्येषामपि दृश्यते इति सांहितिको दीर्घः ❀ । हे मूत्रनिरोधादिव्याधिग्रस्त ते तव तन्वे । ❀ याडभावश्छान्दसः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तनुशब्दात् ऊङ् उतः इत्यूङ् । उदात्तयणो हल्पूर्वात् इति विभक्त्युदात्तत्वस्य नोङ्धात्वोः इति प्रतिषेधे उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य इति विभक्तिः स्वर्यते ❀ । तन्वा शरीरस्य शं रोगाणाम् उपशमनम् । ❀ आह च यास्कः । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानामिति [नि० ४. २१] ❀ । करं करोमि । ❀ शमिति शमु उपशमने । अस्मात्

भावे विच्। करम्। डुकृञ् करणे। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्तमाने लुङ्। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि इति च्लेरङादेशः। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि इति अडभावः। आशंसायां भूतवच्च इति प्रार्थनायां वा लुङ् ❀। शमनप्रकारमेव दर्शयति। ते तव मूत्ररोगार्तस्य पृथिव्यां भूमौ। ❀ पृथिवीशब्दो ङीषन्तः अन्तोदात्तः। उदात्तयणो हल्पूर्वात् इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀। निषेचनं नितरां सेकः प्रस्रावः। अस्त्विति संबन्धः। ❀ निपूर्वात् सिञ्चतेर्भावे ल्युट्। उपसर्गात्सुनोतीत्यादिना षत्वम्। लिति इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम्। समासेपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव अवशिष्यते ❀। निषेचनप्रकारम् आह। ते तव शरीरान्तर्निरुद्धं मूत्रं बाल्। अनुकरणशब्दोयम्। इति अनेन प्रकारेण शब्दं कुर्वत् बहिरस्तु बाह्यप्रदेशे भवतु। मन्त्रसामर्थ्याद् विविधं शब्दं कुर्वत् त्वरया शरीरात् निर्गच्छतु इत्यर्थः। यद्वा बाल्। ❀ बल प्राणने। अस्मात् एयन्ताद् क्विप् ❀। इतिरेतौ। अस्य रोगार्तस्य जीवनहेतोः मूत्रं बहिरस्त्विति॥

हिंसक बाण (शर) के पालक वा उत्पन्न करनेवाले (पिता) को हम भली भाँति जानते हैं। वह वृक्ष गुल्म आदि स्थावरके और पशुपक्षी मनुष्य आदि जङ्गमके उत्पादन और पोषण करने में समर्थ अपरिमित वीर्यवाले वृष्टि करने वाले मेघ हैं। (उनको हम शरका पिता जानते हैं)। जिसके ऐसे पिता हैं उस शरसे हे मूत्रकी रुकावट आदिसे ग्रस्त रोगिन्! मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूं (वह शमनकी रीति यह है, कि-तुझ मूत्ररोगसे पीड़ितका पृथ्वीमें निषेचन हो (निषेचन मूत्र निकलनेका प्रकार कहते हैं, कि-) तेरे शरीरमें रुका हुआ मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहरको आवे। अर्थात् मन्त्रकी सामर्थ्यसे अनेक प्रकारका शब्द करता हुआ शीघ्रतापूर्वक शरीरसे निकले। अथवा इस रोगार्तका जीवनहेतु मूत्र बाहर आवे॥ १॥

द्वितीया ॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । मित्रम् । शतऽवृष्ण्यम् ।
तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

अहरभिमानी देवो मित्रः । स च सर्वेषां प्राणिनां हि मित्रवत् हितकारित्वात् मित्र इत्युच्यते । तैत्तिरीयके मित्रस्य वाक्यम् "सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि" [तै० सं० ६. ४. ८. १.] इति । ❀ यास्कस्तु अन्यथा निरवोचत् । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति [नि० १०. २१.] ❀ । सोपि वृष्टिहेतुत्वेन शरस्य उत्पादयितृत्वात् पितृत्वेन व्यपदिश्यते । श्रूयते हि । "मैत्रं वा अहः । वारुणी रात्रिः" [तै० ब्रा० १. ७. १०. १.] । अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति "मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति तावेवास्मा अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः" [तै० सं २. ४. १०. २.] इति ॥ शेषं पूर्ववद् योज्यम् ॥

हम शरके पिता अपरिमित वीर्यवाले मित्र † (सूर्य) को जानते हैं हे मूत्ररोगसे पीड़ित मनुष्य ! ऐसे शरसे मैं तेरे शरीर

† दिनके अभिमानी देवता सूर्य सब प्राणियोंके मित्रकी समान उपकारी होनेसे मित्र कहलाते हैं । तैत्तिरीयकमें मित्रका वाक्य भी है, कि–"सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि–मैं सबका मित्र हूँ ।"

के रोगोंका उपशमन करता हूँ। पृथ्वीमें तेरा निषेचन हो (पृथ्वी में तेरा मूत्र गिरे) तेरा मूत्र बाल् ऐसा शब्द करता हुआ बाहर को निकले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । वरुणम् । शतऽवृष्ण्यम् ।
तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

[तैत्तिरीयसंहिता ६ । ४ । ८ । १]। “ यास्कने इसकी दूसरे प्रकारसे व्युत्पत्ति की है, कि–मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति–मृत्युसे रक्षा करता है अतः सूर्यका नाम मित्र है” [निरुक्त १० । २१]। ऐसे सूर्य भी वृष्टिका कारण होनेसे शरके उत्पादकरूपसे पिता कहलाते हैं । तैत्तिरीयमें भी कहा है, कि–“ मैत्रं वा अहः । वारुणी रात्रिः–दिनका अभिमानी देवता मित्र है और रात्रिका अभिमानी देवता वरुण है” [तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।१०।१]। “ अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति तावेवास्मा अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः–दिन और रात्रिसे ही मेघ वर्षा करता है, यह अपना भाग पानेके लिये मित्र और वरुणके पास जाता है, वही दिन और रात्रिके द्वारा मेघको बरसाते हैं” [तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १० । २]

वरुणो रात्र्यभिमानी देवः । वृणोति तमसा पाशैर्वा प्राणिजातम् इति वरुणः । ❀ वरुणो वृणोतीति सत इति यास्कः [नि० १०. ३] । वृञ् वरणे इत्यस्मात् कृवृदारिभ्य उनन् [उ० ३. ५३] इति उनन् प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तः ❀ ॥ शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

इस शरके पिता रात्रिके अभिमानी देवता या अन्धकार और पाशोंसे प्राणियोंको बाँधने वाले अपरिमित वीर्यसंपन्न वरुणको जानते हैं। हे मूत्ररोगसे पीडित! जिसके वरुण पिता हैं उस शरसे मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूँ, तेरे शरीरमेंसे पृथ्वी पर मूत्र निकले और बाल् शब्द करताहुआ बाहरको निकले ३

चतुर्थी ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ च॒न्द्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒ ३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अ॒स्तु बालि॒ति॑ ॥ ४ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । च॒न्द्रम् । श॒तऽवृ॑ष्ण्यम् ।
तेन॑ । ते॒ । त॒न्वे॑ । शम् । क॒रम् । पृ॒थि॒व्याम् । ते॒ । नि॒ऽसेच॑नम्
ब॒हिः । ते॒ । अ॒स्तु । बाल् । इति॑ ॥ ४ ॥

चन्द्रः । ❀ चदि आह्लादने । स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः ❀ । आह्लादकारी देवः । ❀ आह च यास्कः । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मण इति [नि० ११. ५] ❀ । 'अस्य ओषधीशत्वात् शरस्य पितृत्वेन व्यपदेशः ॥

(इम औषधियोंका स्वामी होनेसे) शरके पिता अनन्त वीर्य वाले आह्लाद देने वाले चन्द्रमाको जानते हैं। उस पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त शरसे तेरे शरीरके रोगोंका मैं उपशमन करता हूँ, पृथ्वी में तेरा निषेचन हो अर्थात् तेरा मूत्र पृथ्वी पर गिरे, बाल् शब्द करता हुआ बाहर निकले ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे॒ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । सूर्यम् । शतऽवृष्ण्यम् ।
तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ५ ॥

सूर्यः । सरति गच्छतीति वा सुवति प्रेरयति तत्तद्व्यापारेषु कृत्स्नं जगद् इति वा सूर्यः । यद्वा सुष्ठु ईर्यते प्रकाशप्रवर्षणादि-व्यापारेषु जगद्विधात्रा परमेश्वरेण प्रेर्यत इति सूर्यः । श्रूयते हि । "भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" [ब्रह्मवि० उ० ८] इति । ❀ तद् एतत् सर्वं यास्केनोक्तम् । सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा इति [नि० १२. १४] ❀ । अथवा शोभनं वीर्यम् अस्येति सूर्यः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "सुवीर्योमर्या यथा गोपा-यत इति । तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्" [तै० ब्रा० २. २. १०. ४] इति । ❀ पाणिनिना तु राजसूयसूर्येत्यादिना क्यबन्तो निपातितः । क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । अय-मपि दृष्टिद्वारा सर्वेषां पोषकत्वात् पिता । श्रूयते हि । "यदा खलु

या असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति" [तै० सं० २. ४. १०. २] इति ॥

अनेन सूक्तेन क्रियमाणेषु कर्मसु पर्जन्यमित्रादयो देवतात्वेन मन्त्रवर्णाद् अवगन्तव्याः । यदाह

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रलिङ्गेन चेष्यते ।
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् इति ॥

यदि इह कर्मसु विनियुज्यमाना मन्त्रा उच्चारणमात्रेण अदृष्टजनकाः स्युः तदा अनुष्ठेयार्थपरत्वाभावाद् देवतानाम् असिद्धिर्भवेत् । न च तथा । मन्त्राणाम् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वस्य प्रमाणलक्षणे "तदर्थशास्त्रात्" [जै० १. २. ३१] इत्यधिकरणे निर्णीतत्वात् । तथा हि । "उरु प्रथस्व" [तै० सं० १. १. ८. १] इत्यादिमन्त्रोच्चारणस्य किम् अदृष्टं प्रयोजनम् उत अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तिरिति । अदृष्टमेवेति तावत् प्राप्तम् न तु प्रथिनादिलक्षणस्यार्थस्य अवगतिः । तस्य ब्राह्मणवाक्येनापि भासमानत्वात् । "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इति हि ब्राह्मणवाक्यम् ॥ नैतद् युक्तम् । अर्थप्रत्यायनस्य दृष्टप्रयोजनस्य संभवे सति केवलादृष्टस्य कल्पयितुम् अशक्यत्वात् । तस्माद् दृष्टम् अर्थानुस्मरणमेव यागप्रयोगे मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनम् । ब्राह्मणवाक्येनापि अर्थानुस्मरणसंभवे मन्त्रेणैव अनुस्मरणीयम् इति यो नियमः तस्य दृष्टासंभवात् अदृष्टं प्रयोजनम् अस्तु । यदाहुः

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किम् अदृष्टैकहेतवः ।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनाद्यवभासकाः ॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरम् अदृष्टतः । इति ॥

सम्पूर्ण जगत्को अपने २ व्यापारोंमें प्रेरित करने वाले, अथवा जगत्के विधाता परमेश्वरके द्वारा प्रकाश और वर्षण आदि

व्यापारोंमें प्रेरित, अथवा आकाशमें विचरण करनेवाले,† अथवा शोभन वीर्य वाले अपरिमित बलशाली सूर्यको हम शरका पिता जानते हैं, हे रोगिन्! ऐसे शरसे मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूँ। पृथिवीमें तेरा निषेचन हो, बाल् शब्द करता हुआ तेरा मूत्र बाहर आवे‡॥ ५॥

† ब्रह्मविद्या उपनिषत् ८ में कहा है, कि—"भीषास्मात् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः—परमेश्वरके भयसे पवन चलता है और परमेश्वर के भयसे सूर्य उदित होता है"। और तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।१०।४ में भी कहा है, कि—'सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्–सुन्दर वीर्य वाला सूर्य रक्षा करता है। यही सूर्यका सूर्यत्व है" सूर्य भी वृष्टिके द्वारा सबका पोषक होनेसे पिता है। तैत्तिरीय संहिता २।४।१०।२ में कहा है, कि—"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति—जब सूर्य तिरछी किरणोंसे घूमता है, तब वर्षा करता है।"

‡ इस सूक्तके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें मन्त्रवर्णसे पर्जन्य और मित्र आदि देवतारूपसे ग्रहण करने चाहियें। अर्थात् इन मन्त्रोंका अमुक २ देवता समझना चाहिये। इसी बातको कहा है; कि—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रलिङ्गेन चेष्यते।
देवतासङ्गतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥

तद्धितसे चतुर्थीसे वा मन्त्रलिङ्गसे देवताकी सङ्गति की जाती है इनमें अगला २ प्रमाण दुर्बल है।

"यदि यहाँ पर कर्मोंमें विनियुज्यमान मन्त्र उच्चारणमात्रसे ही अदृष्टजनक हों तो अनुष्ठेयार्थपरत्वके अभावके कारण देवताओंकी असिद्धि होसकती है।" यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि—जैमिनीयसूत्र १।२।३१ "तदर्थशास्त्रात्" इस अधि-

षष्ठी ॥

यदा॒न्त्रेषु॑ गवी॒न्योर्यद्व॒स्ताव॒धि संश्रु॑तम् ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालिति॑ सर्व॒कम् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒न्त्रेषु॑ । ग॒वी॒न्योः । यत् । व॒स्तौ । अधि॑ । सम्ऽश्रु॑तम् ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ६ ॥

आन्त्रेषु उदरान्तर्गतेषु पुरीतत्सु । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀।
यत् मूत्रं संश्रितं समवस्थितं रोगवशाद् यथाकालं बहिरनिर्गच्छत्

करणमें मन्त्रोंका प्रमाणलक्षण अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्व (अनुष्ठान किये जानेवाले अर्थके प्रकाश) को माना है । इसी बातको स्पष्ट करते हैं,कि–"उरु प्रथस्व" [तैत्तिरीय संहिता १ । १ । ८ । १] इत्यादि मंत्रके उच्चारणका क्या अदृष्ट प्रयोजन है अथवा अनुष्ठेय अर्थका ज्ञान ? तो पहिले अदृष्टकी ही प्राप्ति होती है, यथा–प्रथन आदि लक्षण वाले अर्थका ज्ञान नहीं होता । यह बात ब्राह्मण-वाक्यसे भी स्पष्ट है, कि–'उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति'

किन्तु यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि–अर्थप्रत्यायन (अर्थ का निश्चय करानारूप) दृष्टप्रयोजनके होते हुए केवल अदृष्टकी कल्पना करना अशक्य है । इस कारण दृष्ट अर्थका अनुस्मरण ही यागप्रयोगमें मंत्रोच्चारणका प्रयोजन है । और ब्राह्मणवाक्यों में भी "अर्थानुस्मरण सम्भव होने पर मंत्रसे ही अनुस्मरण करना चाहिये" यह जो नियम है, तहाँ दृष्ट असम्भव होने पर अदृष्ट प्रयोजन होसकता है । इसी बातको कहा भी है, कि–"मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः । यागेषूत पुरोडाशप्रथना-द्यवभासकाः ॥ ब्राह्मणेनापि तद्भानात्मंत्रा पुण्यैकहेतवः । न तद्भा-नस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥

निरुद्धम् अभूत् तथा गवीन्योः। आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते। तयोरपि यत् मूत्रं संश्रितम् तथा वस्तौ। धनुराकारो मूत्राशयो वस्तिरुच्यते। तत्रापि यत् मूत्रं संश्रितम् अस्ति ते तव उक्तस्थानेषु निरुद्धं तत् मूत्रम् एव एवम्। ❁ अन्त्यलोपश्छान्दसः। निपातस्य च इति सांहितिको दीर्घः। एवमादीनामन्तः [फि० ४. १४] इत्यन्तोदात्तत्वम् ❁। यथापूर्वं मुच्यतां निर्गच्छतु। निर्गमनप्रकारमेव आह। सर्वकं सर्वं तत् मूत्रम्। अव्ययसर्वनाम्नाम् अकच् प्राक् टेः इति अकच्। चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम् इति सप्रकृतिकस्य प्रत्ययस्य चितः इत्यन्तोदात्तता ❁। तत् मूत्रं बाल्। अनुकरणशब्दोयम्। इति एवमात्मकं शब्दं कुर्वत् बहिः शरीराद् बाह्यप्रदेशे। मुच्यताम् इति संबन्धः॥

रोगके कारण जो मूत्र बाहरको न निकल कर पेटके भीतर की नाड़ियोंमें भरा हुआ है, गवीनी † नाड़ियोंमें जो मूत्र भरा हुआ है और जो मूत्रबस्ति ‡ में भरा हुआ है, वह तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ (पहिलेकी समान) निकल आवे ॥६॥

सप्तमी ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र। ते। भिनद्मि। मेहनम्। वर्त्रम्। वेशन्त्याःऽइव।

एव। ते। मूत्रम्। मुच्यताम्। बहिः। बाल्। इति। सर्वकम् ॥७॥

---

† उदरकी नाड़ियों (आँतों) से निकलेहुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचानेवाली पार्श्वों (करवटों) की दो नाड़ियें गवीनी कहलाती हैं।

‡ धनुषके आकार वाला मूत्राशय बस्ति कहलाता है।

हे मूत्रव्याधिपीडित ते तव मेहनम्। मिहति सिञ्चति अनेनेति मेहनं मूत्रनालः। ❀ करणे ल्युट्। लिति इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तः ❀। तत् मेहनं प्र भिनद्मि लोहशलाकया मूत्रनिर्गमनार्थं विदारयामि। ❀ व्यवहिताश्च इति प्रोपसर्गस्य क्रियापदेन संबन्धः ❀। तत्र दृष्टान्तः। वर्तम्। वर्तते प्रवहति जलम् अत्रेति वर्तो मार्गः। ❀ वृतु वर्तने। अस्माद् अधिकरणे घञ् ❀। तं वेशन्त्या इव। विशन्ति तिष्ठन्ति अस्मिन् आप इति वेशन्तः पल्वलम्। ❀ विश प्रवेशने। जॄविशिभ्यां झच् [उ० ३. १२६] इति झच् प्रत्ययः। झोन्तः इति झस्यान्तादेशः ❀। तत्र भवा आपो वेशन्त्या। ❀ भवे छन्दसि इति यत् ❀। ता यथा सुनिर्गमनमार्गं विदारयन्ति तथेत्यर्थः। एव एवम् इत्थं मूत्रनिरुद्धनिःसरणाय मार्गस्य कृतत्वात् ते मूत्रं मुच्यताम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्॥

हे मूत्रकी व्याधिसे पीड़ित! मैं तेरे मूत्रनालको मूत्र निकालने के लिये लोहशलाकासे विदारता हूँ (तहाँ दृष्टान्त यह है, कि—) जैसे जल जल निकलनेके मार्गको विदारते हैं। इसीप्रकार रुके हुए मूत्रके निकलनेका मार्ग कर दिया है अत एव तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहरको निकल जावे ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

विऽसितम्। ते। वस्तिऽबिलम्। समुद्रस्य। उदधेःऽइव।

एव। ते। मूत्रम्। मुच्यताम्। बहिः। बाल्। इति सर्वकम् ॥ ८ ॥

अष्टमी ॥

हे मूत्ररोगार्त ते तव वस्तिबिलं वस्तिद्वारं व्याधिवशात् निरुद्धं मूत्रवर्त्म विषितं विमुक्तं मूत्रनिःसरणयोग्यम् अस्तु। ❀ षो अन्त-

कर्मणि। अस्माद् विपूर्वात् निष्ठा द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति इति इत्वम्। उपसर्गात् सुनोतीत्यादिना षत्वम् ❀। तत्र दृष्टान्तः। समुद्रस्य। समुनत्ति स्वकीयेन जलेन कृत्स्नं जगत् क्लेदयतीति समुद्रः। ❀ उन्दी क्लेदने। स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः। समुद्रं यास्कस्तु बहुधा निरवोचत्। समुद्रः कस्मात्। समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः संमोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वेति [नि० २. १०] ❀। उदधेः। उदकानि धीयन्ते धार्यन्तेऽस्मिन्निति उदधिः। अनेन बिलवदवस्थितेषु नदीमुखेषु समुद्रजलस्य निःसरणयोग्यता उक्ता। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्मात् कर्मण्यधिकरणे च इति किप्रत्ययः। आतो लोप इटि च इत्याकारलोपः। पेषंवासवाहनधिषु च इत्युदकशब्दस्य उदभावः। गतिकारकोपपदात् कृत् इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तता ❀। उदकपूर्णसमुद्रस्य नदीमुखलक्षणं जलनिःसरणद्वारं यथा विवृतं भवति एवं वस्तिबिलमपि विवृतं भवत्विति इत्यर्थः। एव एवम्। उक्तप्रकारेण। वस्तिबिले विषिते सतीत्यर्थः॥ शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्॥

हे मूत्ररोगसे पीड़ित! जलपूर्ण समुद्र † का नदीमुखलक्षण (नदीका मुहानारूप) द्वार जैसे खुला हुआ होता है, तैसे तेरे व्याधिवश रुके हुए मूत्राशयके द्वारको मैंने खोल दिया है, अत एव तेरा सारा मूत्र बालू शब्द करता हुआ बाहरको निकल जावे ८

† निरुक्त २। १० में यास्कने समुद्र शब्दकी अनेक प्रकारसे व्युत्पत्तिकी है, कि—जिसमेंसे जल उफनता है, जिसमेंको जल दौड़ता है, जिसमें जलचर जीव आनन्द करते हैं, जिसमें बहुत सा जल है और जो अपने जलसे सारे जगत्को गीला कर देता है वह समुद्र कहलाता है।

नवमी ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथा । इषुका । परा॑ऽअपतत् । अवऽसृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥९॥

अज्ञाता इषुः इषुका । ❀ प्रागिवात् कः इति अज्ञातार्थे कप्रत्ययः ❀ । अधिधन्वनः ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । आनतज्याद् धनुषः सकाशात् अवसृष्टा विमुक्ता सती यथा येन प्रकारेण परापतत् परापतति अनिरुद्धवेगा शीघ्रं लक्ष्योद्देशं गच्छति । ❀ पत गतौ । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्तमाने लङ् । अवसृष्टेति । अवपूर्वात् सृज विसर्गे इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः इति षत्वे ष्टुत्वम् । गतिरनन्तरः इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एव एवम् ॥ शेषं पूर्ववत् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जैसे शर खेंची हुई धनुषकी प्रत्यञ्चा परसे छूट कर शीघ्रता से अपने लक्ष्य पर गिरता है, इसी प्रकार तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त

अम्बयो यन्तीत्यादिसूक्तत्रयेण प्रातरनुवाकानन्तरं होमानूच्यमानम् अपोनप्त्रीयं ब्रह्मा अनुजपति । तद् उक्तं वैताने । "अम्बयो यन्तीति ब्रीणपपोनप्त्रीयम्" इति [वै० २. ६.] । तत्र अम्बयो यन्तीत्याद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम् । तथा च सूत्रम् । "अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभूः [१. ५, ६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] निःसालाम् [२. १४] ये अग्नयो [३. २१.]

अब्धमजक्षानस् इत्येका [४. १. १] उत देवाः [४. १३] मृगारसूक्तानि [४. २३–२६] उत्तमं वर्जयित्वा अप नः शोशुचदघम् [४. ३३] पुनन्तु मा [६. १६] सस्रुषीः [६. २३] हिमवतः प्रस्रवन्ति [६. २४] वायोः पूतः पवित्रेण [६. ५१] शं च नो मयश्च नः [६. ५७. ३] अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् [६. ५६] मह्यमापो [६. ६१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] यमो मृत्युः [६. ९३] विश्वजित् [६. १०७] संज्ञानं नो [७. ५४] यदन्तरिक्षे [७. ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियं [७. ६६] शिवा नः [७. ७१] शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् [११.६]" इति कौ [१.६]॥ लघुगणेपि एतद् सूक्तं पठितम्। सूत्रितं हि।"अम्बयो यन्ति [१.४] शंभुमयोभूः [१.५.६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] शंतातीयं [४. १३] यदन्तरिक्षे [७. ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियं [७. ६६] शिवा नः [७. ७१] शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् [११. ६]" इति [कौ० १. ६]। तत्र शन्तातीयमिति आ त्वागमं शंतातिभिरिति शंतातिशब्दयुक्तत्वात् उत देवा [४. १३] इति। अयमेव बृहद्गणापेक्षया लघुत्वात् लघुगण इत्युच्यते। तथा शंतातीयसूक्तयोगात् शंतातीयो गण इत्युच्यते। अतः परिशिष्टे "शंतातीयेन तिलान् जुहोति" [प० ८. १] इत्यत्र अयमेव गणः प्रत्येतव्यः॥ अपां सूक्तेषु च एतत् सूक्तं पठितम्। अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभूः [१.५.६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] यददः [३. १३] पुनन्तु मा [६.१६] सस्रुषीः [६. २३] इत्यादीनि अपां सूक्तानि। अतः तेषां गणानां यत्रयत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः॥

तथा गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्रितं सलवणं केवलं वा उदकं गाः पाययेत्। तद् उक्तं कौशिकसूत्रे। "अम्बयो यन्ति" इति प्रक्रम्य "गा लवणं पाययत्युप-

तापिनीः प्रजननकामाः प्रपाम् अवरुणद्धि" इति [कौ० ३. २]॥

तथा सर्वरोगभैषज्यकर्मणि अनेनैव सूक्तेन आज्यहोमं पलाशोदुम्बरादिशान्तवृक्षसमिदाधानं च कुर्यात्। सूत्रितं च। "अम्बयो यन्ति [१. ४] वायोः पूतः [६. ५१] इति च शान्ताः" इति [कौ० ४. १]॥

तथा लाभालाभजयपराजयाद्यभिलषितकर्मणां सिद्ध्यसिद्धिविज्ञानार्थम् अनेनैव सूक्तेन पच्यमानक्षीरौदनेध्माधानकुशस्तम्बपाठा अनुमन्त्रयेत्। तत्रौदनादीनां क्रमेण पाके प्रसारणे समसंख्यायां विकासे स्वकार्यसिद्धिं जानीयात् इतरथा तु असिद्धिम्। तद्वदेव जयपरिज्ञाने संग्रामभूमिवेदिकापरीक्षणं च अनेनैव कुर्यात्। सूत्रितं च। "अम्बयो यन्तीति क्षीरौदनोत्कुचस्तम्बपाठाविज्ञानानि सांग्रामिकं वेदिविज्ञानम्" इति [कौ० ५. १]॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकामः अनेन सूक्तेन मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः आज्यहोमः काशदिविधुवकवेतसाख्या ओषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु प्लावनम् श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि संपातिताभिमन्त्रितघटोदकेन आप्लावनम् अवसेचनं च कुर्यात्। अत्र "अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति शंभुमयोभूरित्यादि अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रं द्रष्टव्यम् [कौ० ५. ५]। अत्र अमूर्या इत्यनया परिहरणानन्तरम् आग्नीध्रीये उपसाद्यमाना वसतीवरीः अनुमन्त्रयते। तद् उक्तं वैताने। "वसतीवरीः परिह्रियमाणाः" इत्युपक्रम्य "आग्नीध्रीयेत्रस्याप्यमाना उत्तरया अमूर्या इति च" इति [वै० ३. ६]॥

अम्बयो यन्तीत्यादि तीन सूक्तोंसे, प्रातरनुवाकके अनंतर होता से न कहे हुए अपोनप्त्रीयका ब्रह्मा अनुजपन करता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अम्बयो यन्तीति" ये तीन अपोनप्त्रीय सूक्त हैं (वैतानसूत्र ३ । ६)। इनमें अम्बयोयन्ति० नामक पहिला सूक्त बृहद्गणमें कहा है। यथा–कौशिकसूत्र १। ९ में कहा है, कि–"अम्बयो यन्ति १। ४ शंभुमयोभूः १। ५। ६, हिरण्यवर्णा १। ३३, निःसालाम् २। १४, ये अग्नयो ३। २१, ब्रह्मजज्ञानम् इत्येका ४। १। १, उत देवाः ४। १३, मृगारसूक्तानि ४। २३–२९, उत्तमं वर्जयित्वा अप नः शोशुचदघम् ४। ३३, पुनन्तु मा ६। १९, सस्रुषी ६। २३, हिमवतः प्रस्रवन्ति ६। २४ वायोः पूतः पवित्रेण ६। ५१, शं च नो मयश्च नः ६। ५७। ३, अनुडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् ६। ५९, प्रबामापो ६। ६१, वैश्वानरो रश्मिभिः ६। ६२, यमो मृत्युः ६। ९३, विश्वजित् ६। १०७, संज्ञानं नो ७। ५४, यद्यन्तरिक्षे ७। ६८, पुनर्मैत्विन्द्रियं ७। ६९, शिवानः ७। ७१, शं नो वातो वातु ७। ७२, अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् ११। ६॥" लघुगणमें भी इस सूक्तका पाठ है। कौशिक सूत्र १। ९ में कहा है, कि—"अम्बयो यन्ति १। ४, शंभुमयो भूः १। ५। ६ हिरण्यवर्णा १। ३३, शन्तातीयं ४। १३, यद्यन्तरिक्षे ७। ६८, पुनर्मैत्विन्द्रियम् ७। ६९, शिवानः ७। ७?, शं नो वातो वातु ७। ७२, अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् ११। ६, (इनमें आत्वागमं शन्तातिभिः—में शन्ताति शब्दका पाठ आने से यही शन्तातीय समझा जाता है) उत देवा ४। १३" यही बृहद्गणकी अपेक्षा छोटा होनेसे लघुगण कहलाता है। तथा शन्तातीय सूक्तके योगसे शंतातीयगण कहलाता है। अतः परिशिष्टमें जहाँ "शन्तातीयेन तिलान् जुहोति–शन्तातीयसे तिलोंका होम करे" (प० ८। १) कहा है, तहाँ इसी गणको समझना

चाहिये। अपांसूक्तोंमें भी इस सूक्तका पाठ है। अम्बयो यन्ति १। ४, शम्भुमयो भूः १। ५। ६, हिरण्यवर्णाः १। ३३। यददः ३। १३, पुनन्तु मा ६। १६, सस्तुषी ६। २२ इत्यादि अपां सूक्त हैं। अतः इन गणोंका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये॥

इसी प्रकार गौओंके रोगोंकी शांति, पुष्टि और प्रजननरूप कर्मोंमें इसी सूक्तके द्वारा लवणयुक्त वा लवणसे रहित जलको अभिमन्त्रित करके गौओंको पिलावे। इस विषयका कौशिकसूत्र में वर्णन है। यथा—"गा लवणं पाययति प्रजननकामाः प्रपां अवरुणद्धि" [कौशिकसूत्र ४। १]॥

इसी प्रकार सब रोगोंकी चिकित्सारूप कर्ममें इसी सूक्तसे घृतहोम और पलाशोदुम्बरादिशान्तसमिधाधान भी करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"अम्बयो यन्ति (१।४), वायोः पूतः (६।५१) ये शांत हैं" [कौशिकसूत्र ४। १]॥

इसीप्रकार लाभ हानि तथा जय पराजय आजय आदि अभिलषित कर्मोंमें सिद्धि होगी वा असिद्धि होगी, इन बातोंको जानने के लिये बनाये जाने वाले क्षीर, ओदन, इध्माधान, कुशस्तम्ब, पाठका इसी सूक्तसे अनुमन्त्रण करे। इनमें ओदन आदिका क्रमशः पाक होजाने पर फैलावे, यदि उनकी संख्या सम निकले तो समझे कि—मेरा कार्य सिद्ध होगा और विषमसंख्या निकले तो समझे, कि—मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार विजय का निश्चय करनेके लिये संग्रामभूमिवेदिकाकी परीक्षा भी इसी सूक्तसे करे। सूत्रमें भी कहा है। "अम्बयो यन्तीति क्षीरौदनौत्कुचस्तम्बपाठाः विज्ञानानि सांग्रामिकं वेदिविज्ञानम्" इति (कौशिकसूत्र ५। १)॥

इसी प्रकार अर्थोत्थापनमें विघ्नकी शांतिको चाहने वाला

इस सूक्तके द्वारा मांत्रवर्णिक (मन्त्रके द्वारा जाननेमें आनेवाले) मरुत् देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम, घृतहोम करे, और काश-दिविधुकवेतसा नामवाली औषधियोंको एक पात्रमें रखकर संपात और अभिमन्त्रण करे फिर उनका नीचे मुख करके जलके बीच में लेजाय उन सम्पातित और अभिमन्त्रित काश आदिको जल में डुबावे, अभिमन्त्रित कुक्कुरके शिर और मेढ़ेके शिरको जल में रक्खे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, तुषसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संमोक्षित करके त्रिपद (तीन डोरे वाले) छींके पर रख कर जलमें डाल दे। ये अभिवर्षणके कर्म हैं, संपातित अभिमन्त्रित घटके जलसे आसावन और अवसेचन भी करे। कौशिकसूत्र ५।५ में कहा है, कि—"अथम् उत्थास्यन्" यहाँसे "अम्बतो यन्ति शम्भुमयो-भूरित्यादि अभिवर्षणावसेचनानाम्" तकका सूत्र देखना चाहिये यहाँ पर अमूर्या ऋचासे, परिहरणके अनन्तर आग्नीध्रीयमें पास में रक्खी हुई वसतीवरीका अनुमन्त्रण होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा कि—"वसतीवरीः परिह्रियमाणाः" इत्युपक्रम्य "आग्नीध्रेयेऽवस्थाप्यमाना उत्तरया अमूर्या इति च" (वैतान-सूत्र ३।६)॥

तत्र प्रथमा ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः। यन्ति। अध्वऽभिः। जामयः। अध्वरिऽयताम्।
पृञ्चतीः। मधुना। पयः ॥ १ ॥

अम्बयः। अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दोपि मातृवाचित्वेन वेदे प्रसिद्धः। यथा "अम्बितमे नदीतमे" [ऋ० २. ४१. १६] इति "अम्बे अम्बाल्यम्बिके" [तै० सं० ७. ४. १६. १] इति च। कृत्स्नस्य जगतो मातृभूता आपः। "अम्बयो यन्त्यध्वभिरित्यापो वा अम्बयः" इति हि कौषीतकिब्राह्मणम्। "इन्द्राय षट् सहस्राण्यपोन्नं प्रजापतिः प्रायच्छत्ता अम्बयः" इति शाट्यायनकम्। ता आपः। अध्वरीयताम्। ध्वरो हिंसा न विद्यतेऽस्मिन्निति अध्वरः ज्योतिष्टोमादिर्यागः। तम् आत्मन इच्छताम्—

ननु ज्योतिष्टोमादौ अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्याः पशव आलभ्यन्ते कथं तत्र हिंसाऽभाव इति चेत् मैवम्। नात्र हिंसाया अभावं ब्रूमः। किंतु तज्जनितप्रत्यवायाभावम्। तथा हि। "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रकोडीकृतविषयपरिहारेणैव प्रवर्तत इति हि परीक्षकप्रसिद्धिः। "पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह" [तै० सं० २. ५. ८. २] इति सामान्यविहितस्य सामिधेनीपाञ्चदश्यस्य "सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य" [तै० सं० २. ५.१०. २] इत्येवं विशेषविहितसामिधेनीसाप्तदश्यस्य विषयानुप्रवेशेनैव प्रवृत्ते शास्त्रे निर्णीतत्वात्॥ तथा च "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत" इति विशेषशास्त्रविहितविषयपरिहारेण "न हिंस्याद्" इति सामान्यशास्त्रं व्यर्थहिंसामेव अवलम्बत इति वैधहिंसाया निषिद्धत्वाभावात् नानर्थहेतुत्वम्। एतदेवाभिप्रेत्य उक्तम् अध्वर इति॥ ननु "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत" इत्यादिवत् "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादौ अभिचारस्यापि विहितत्वात् नानर्थहेतुत्वम् इति चेत् मैवम्। श्येनादियागस्य विहितत्वेपि तत्साध्यहिंसाया अग्नीषोमीयपशुहिंसावद् विधिविषयत्वाभावेन निषेधशास्त्रानुप्रवेशाद् अनर्थत्वात्। तथा च तत्साधनभूतः श्येनयागोपि तद्द्वारा अनर्थ इति। गुरुमते तु श्येनादेरविधेयत्वम्।

तत्र रागत एव प्रवृत्तत्वात् । तथा च श्येनवाक्यस्य अयमर्थः । अभिचारेण शत्रुं यदि जिघांससि तर्हि तव वैदिकोपायः श्येन इति रागप्राप्तायाः शत्रुहिंसायाः साधनमात्रं बोध्यते न तु यागे पुरुषः प्रवर्त्यते श्येनं कुर्विति । तथा चोक्तम् । "साध्यसाधनभावप्रतीतिमात्रपर्यवसितो हि विधिव्यापारो न प्रयोगपर्यवसितः" इति । अतः श्येनयागे विधितः प्रवृत्त्यभावेन "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषेधशास्त्रस्य तत्रानुप्रवेशात् श्येनस्य अनर्थत्वम् ॥ एतदुद्भासार्थमेव "चोदनालक्षणोर्थो धर्मः" [जै० १. १. २] इत्यत्र भगवता जैमिनिना अर्थपदेन धर्मो विशेषितः ॥ नन्वेवं श्येनाङ्गभूताग्नीषोमीयपशुहिंसायाम् अपि अनर्थता प्रसज्येतेति । नैतत् । वैषम्यात् । न हि श्येनयागवत् तदितिकर्तव्यतायां रागतः प्रवर्तते पुरुषः किं तु विधित एव । तथा चोक्तम् । कामाधिकारे करणांशे रागतः प्रवृत्तिः अङ्गेषु तु वैधी इति । तद् अलम् अतिप्रसङ्गेन । प्रकृतम् अनुसरामः ॥

अध्वरीयताम् अध्वरं सोमयागम् आत्मन इच्छतां यजमानानां जामयो भगिन्यः । क्रियमाणे व्यापारे भगिनीवत् सहायभूता इत्यर्थः । एवंभूता आपः अध्वभिर्मार्गैः चात्वालोत्करमध्यदेशरूपैः प्रसिद्धैर्वा मार्गैः यन्ति आगच्छन्ति । यागभूमिम् इत्यर्थः । ❀ यन्तीति । इण् गतौ । अदादित्वात् शपो लुक् । "इणो यण्" इति यणादेशः । "तिङ् ङतिङः" इति सर्वानुदात्तत्वम् ॥ अध्वरीयतामिति । अध्वरशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" । "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इत्यत्र "अपुत्रादीनाम् इति वक्तव्यम्" इति स्मरणाद् ईत्वनिषेधाभावात् "क्यचि च" इति ईत्वम् । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति तु व्यत्ययेन न प्रवर्तते । क्यजन्तात् लटः शत्रादेशः । तत्र शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०" इति शतुरनुदात्तता । क्यजकारेण सह एकादेशे

"एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति शतुरुदात्तत्वात् "शतुरनुमः०" इति आम उदात्तत्वम् ❀ ॥ किं कुर्वत्यः । मधुना स्वकीयेन माधुर्यरसेन पयः सोमरसादिकं होमद्रव्यं पयोविकारभूतम् आज्यं वा । विकारे प्रकृतिशब्दः । पृञ्चतीः पृञ्चत्यः संयोजयन्त्यः । ❀ पृची लट् । संपर्के । अस्मात् "लट् लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः । रुधादित्वात् श्नम् । "श्नसोरल्लोपः" । "उगितश्च" इति ङीप् । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । ["शतुरनुमो नद्यजादी"] इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । संपर्काद्धेतोः यन्तीत्यर्थः ॥

जिनमें ध्वर (हिंसा) ‡ नहीं होती है उन सोमयाग आदि

---

‡ यहाँ शङ्का होसकती है, कि–ज्योतिष्टोम आदिमें अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य पशुओंका आलभन होता है, अतः यहाँ (अध्वरों) में हिंसाका अभाव कैसे है ? (इसका उत्तर यह है, कि–) यहाँ हिंसाका अभाव है, यह बात हम नहीं कहते, किन्तु यह कहते हैं; कि–उससे उत्पन्न होने वाला प्रत्यवाय (दोष) नहीं लगता है । अब इस बातको प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं, कि–'न हिंस्यात् सर्वभूतानि–सब प्राणियोंको न मारे' यह सामान्यशास्त्र विशेषशास्त्रके स्वीकार किये हुए विषयको छोड़ कर ही प्रवृत्त होता है यह परीक्षकका निर्णय है । क्योंकि–"पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह–पन्द्रह सामिधेनीको कहते हैं" (तैत्तिरीय संहिता २ । ५ । ८ । २) इस सामान्यविहितपाञ्चदश्य की, 'सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य–वैश्यकी सत्रह कहे" (तैत्तिरीय संहिता २ । ५ । १० । २) इस विशेषविहितसाप्तदश्यके विषयमें बिना प्रवेश किये हुए ही, प्रवृत्ति होती है, ऐसा शास्त्रमें निर्णय किया है ॥ अत एव "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत–अग्नि और सोमदेवताके पशुका आलभन करे" इस विशेषशास्त्रसे विहित विषयको छोड़ कर "न हिंस्याद्" यह सामान्यशास्त्र व्यर्थहिंसामें ही चरि-

अध्वरों को करना चाहने वाले यजमानोंका भगिनीकी समान

तार्थ होता है। इस प्रकार वैधहिंसामें निषिद्धत्व न होनेसे उसमें अनर्थहेतुत्व नहीं है, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर अध्वर शब्दका प्रयोग किया है। (अब यहाँ एक शङ्का और उठती है, कि–) "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिकी समान "श्येनेनाभिचरन् यजेत् श्येनके द्वारा अभिचार करता हुआ यजन करे" इत्यादिमें विहित होनेसे अभिचार भी अनर्थका हेतु नहीं होगा क्या? (उत्तर) श्येन आदि याग विहित है, यह सत्य है, किन्तु तत्साध्यहिंसा अग्नीषोमीय पशुहिंसाकी समान विधिविषयक नहीं है, अत एव उस में 'न हिंस्याद्' इस निषेधशास्त्रका प्रवेश होनेसे अनर्थत्व अवश्य है। इसी प्रकार तत्साधनभूत श्येनयाग भी तद्द्वारा अनर्थ है। गुरुमतमें तो श्येन आदिका अविधेयत्व है, क्योंकि–उसमें रागसे ही प्रवृत्ति होती है। अब श्येनवाक्यका यह अर्थ है, कि–यदि तू अभिचारसे शत्रुको मारना चाहता है तो तेरे लिये वैदिक उपाय श्येन है, इस प्रकार रागप्राप्त शत्रुहिंसाका साधनमात्र जताया है, 'तू श्येन कर' इस प्रकार पुरुषको यागमें प्रवृत्त नहीं किया है। इसी बातको कहा है, कि–"साध्यसाधनभावप्रतीतिमात्रपर्यवसितो हि विधिव्यापारो न प्रयोगपर्यवसितः।" अर्थात् साध्य-साधनभावकी प्रतीतिमात्रको दिखाने वाला विधिव्यापार प्रयोग का समर्थक नहीं होता है। अतः श्येनयागकी विधिसे प्रवृत्ति न होनेके कारण 'न हिंस्याद् सर्वभूतानि' इस निषेधका उसमें अनुप्रवेश होजाता है अत एव श्येनका अनर्थत्व है। इसी लिये भगवान् जैमिनिने 'चोदनालक्षणार्थो धर्मः (जैमिनिसूत्र १। १। २) इस सूत्रमें अर्थ पदके साथ धर्मका विशेषण दिया है। (अब फिर शङ्का होता है, कि–) अग्नीषोमीय पशुहिंसा श्येनकी अङ्गभूत है अत एव उसमें भी अनर्थता आसकती है? (उत्तर)

हित करने वाले और सारे जगत्के अम्बि (माता) † रूप जल सोमरस आदि होमद्रव्यको वा पय (दूध) के विकार घृतको संयोजित करतेहुए चाल्वाल उत्कर मध्यदेशरूप प्रसिद्ध मार्गोंसे या (साधारण) मार्गोंसे यज्ञमें आते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।

ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः दृष्टिरूपेण द्युलोकाद् आगच्छन्त्यो याः जगत्कारणत्वेन प्रसिद्धा आपः सूर्ये सूर्यमण्डले उप । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ ।

यह बात नहीं है, क्योंकि-विषमता है । श्येनयागकी समान इस कर्तव्यमें पुरुष रागसे प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु विधिसे ही प्रवृत्त होता है । इसी बातको कहा है, कि—कामाधिकारकरणांशमें रागवश प्रवृत्ति होती है और अङ्गोंमें वैधी प्रवृत्ति होती है ।

† माताके अर्थके वाचक अम्बा शब्दकी समान अम्बिशब्द भी वेदमें माताका वाचक प्रसिद्ध है । यथा—“अम्बितमे नदीतमे” (ऋग्वेद २ । ४१ । १६) । तथा “अम्बे अम्बाल्यम्बिके” (तैत्तिरीयसंहिता ७ । ४ । १६ । १) । जल सम्पूर्ण जगत्की मातारूप है । कौषीतकिब्राह्मणमें कहा है, कि—“अम्बयो यन्त्य-ध्वभिरित्यापो वा अम्बयः ।” और शाट्यायनमें कहा है, कि—“इन्द्राय षट्सहस्राण्यपोन्नं प्रजापतिः प्रायच्छत्ता अम्बयः ।—प्रजापतिने इन्द्रको छः सहस्र जल अन्न दिये, वे अम्बि हैं ॥

उपलक्ष्यन्ते । "आपः सूर्ये समाहिताः" [तै० आ० १. ८. १] इति हि श्रुतिः । अपां प्राधान्याभिप्रायेणोक्तम् । सूर्यस्यापि तद् आह । याभिः मण्डलसमीपस्थाभिरद्भिः सह । उक्तवैपरीत्यद्योतनार्थो वाशब्दः । सूर्यो वर्तते । ❀ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति विहितया तृतीयया अपाम् अप्राधान्यं गम्यते ❀ । ता उक्तलक्षणा आपः नः अस्माकम् अध्वरं यज्ञं क्रियमाणं कर्म हिन्वन्तु प्रीणयन्तु फलदानसमर्थं कुर्वन्तु । ❀ अध्वरमिति । ध्वृ हूर्च्छने । "पुंसि संज्ञायाम् ०" इति घः । न विद्यते ध्वरो यस्मिन्निति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । ध्वरतिर्हिंसाकर्मा । तत्प्रतिषेधः [नि०१.८] इति हि यास्कः । श्रुतिस्त्वेवं निर्ब्रूते । "अध्वर्तव्या वा इमे देवा अभूवन्निति तदध्वरस्याध्वरत्वम्" [तै०सं०३.२.२.३.] इति । हिन्वन्त्विति । हिविः प्रीणनार्थः । इदित्त्वात् नुम् ❀ ॥

वृष्टिरूपमें द्युलोकसे आते हुए, जगत्के कारणरूपसे प्रसिद्ध जो जल सूर्यमण्डलमें ‡ उपलक्षित होते हैं और सूर्य भी मण्डल के समीप स्थित जिन जलोंके साथ रहता है ऐसे जल हमारे अध्वर (यज्ञ) को फलदानमें समर्थ करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।

सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उप । ह्वये । यत्र । गावः । पिबन्ति । नः ।

सिन्धुऽभ्यः । कर्त्वम् । हविः ॥ ३ ॥

‡ तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । १ में कहा है, कि—"आपः सूर्ये समाहिताः—जल सूर्यमें प्रतिष्ठित हैं" ॥

देवीः द्योतमानाः देवतारूपा वा अपः उदकानि उप ह्वये समीपम् आह्वयामि। क्रियमाणस्य कर्मणः परिपूर्त्यर्थम् इत्यर्थः। यत्र सजलेषु नदीतटाकादिषु नः अस्माकं गावः पिबन्ति। अप इति शेषः। तेभ्यः उपह्वयामि इति पूर्वेण संबन्धः। ❀ अप इति। "ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति शस उदात्तत्वम्। पिबन्ति। पा पाने। शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना पिबादेशः। "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति प्रतिषेधात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀। आह्वानस्य प्रयोजनम् आह। सिन्धुभ्यः स्यन्दनशीलाभ्यः ताभ्यः अब्देवताभ्यः हविः आज्यादिरूपं कर्त्वं कर्तव्यम्। ❀ "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" इति करोतेस्त्वन् प्रत्ययः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀॥

जलपूर्ण नदी तालाव आदिमें जहाँ पर हमारी गौएँ जल पीती हैं उन गौओंके लिये मैं जलके अधिष्ठात्री देवताका आह्वान करता हूँ, क्रियमाण कर्मकी पूर्तिके लिये प्रकाशमय जलोंका आह्वान करता हूँ (आह्वानका प्रयोजन यह है, कि—) स्यन्दनशील जलदेवताओंसे घृत आदि हवि कर्तव्य है॥ ३॥

चतुर्थी॥

अप्स्व १ न्तरमृतमप्सु भेषजम्।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ ४॥

अप्ऽसु। अन्तः। अमृतम्। अप्ऽसु। भेषजम्।

अपाम्। उत। प्रशस्तिऽभिः। अश्वाः। भवथ। वाजिनः।

गावः। भवथ। वाजिनीः॥ ४॥

अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये अमृतम् अमरणसाधनं देवोपभोग्यं पीयूषम्। अस्तीति शेषः। समुद्रमथनेन अमृतस्य उत्पन्नत्वात्। यद्वा अमृतम् अमरणसाधनम् अन्नम्। श्रूयते हि। "अद्भ्यो वा अन्नं जायते" [तै०ब्रा०२.८.१७.५] इति। अथ वा मूर्छितस्य उदकावसेकेन उत्क्रान्तानामपि प्राणानां पुनः शरीरे प्रवेशदर्शनात् अप्सु अमृतम् अमरणसाधनम् अस्तीति गम्यते। अनेनैवाभिप्रायेण तैत्तिरीयके समाम्नायते। "अमृतं वा आपस्तस्मादद्भिरवतान्तमभिषिञ्चन्ति नार्तिमार्च्छति सर्वम् आयुरेति" इति [तै० सं ५.६.२.२.]। ❀ "ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति अप्शब्दाद् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम्। अन्तःशब्दः स्वरादिषु अन्तोदात्तः पठितः। संहितायाम् "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति अन्तर्शब्दाकारस्य स्वरितत्वम्। न विद्यते मृतं मरणं येनेति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते "नञो जरमरमित्रमृताः" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀। तथा अप्सु उदकेषु मध्ये भेषजं सर्वरोगनिवारकम् औषधम्। अस्तीति शेषः। उदकरसेन प्रवृद्धानाम् ओषधीनां रसस्यैव रोगनिवारकत्वात्। ईदृशीनाम् अपाम् उपजीवनेन हे जनाः यूयं सर्वे अमृता अरोगाश्च भवतेत्यर्थः। उत अपि च हे अश्वाः अस्मदीयास्तुरगाः यूयम् अपाम् उदीरितप्रभावोपेतानां प्रशस्तिभिः प्रभावविशेषैः वाजिनः। वाज इति बलनाम। तद्वन्तो भवथ। ❀ वाजशब्दाद् भूम्नि मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀। यद्वा। ❀ वाजी वेजनवान् इति [नि०२.२८] यास्केनोक्तत्वात् ❀। वेगयुक्ता भवथेत्यर्थः। तथा हे गावः यूयमपि पीतानाम् अपां प्रभावेन वाजिनीः वाजिन्यः बलयुक्ता भवथ। यद्वा वाजः अन्नं क्षीररूपम्। "अन्नं वै वाजः" [तै०सं०१.७.४.२] इति श्रुतेः। तद्युक्ता भवथ। प्रभूतक्षीरा भवथेत्यर्थः। ❀ वाजिन-

शब्दात् "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप्। जसि वा छन्दसि" इति पूर्व-सवर्णदीर्घः ❀ ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जलोंके भीतर अमृत † है, तथा जलके भीतर सब रोगोंकी निवारक औषधियें हैं (क्योंकि—जलके द्वारा बढ़ी हुई औषधियों का रस ही रोगोंको दूर करता है) तात्पर्य यह है, कि—हे मनुष्यो ! ऐसे जलके उपजीवनसे तुम अमर और नीरोग बनो। और हे हमारे अश्वो ! ऐसे प्रकट प्रभाववाले जलकी प्रभाओंसे तुम बल-वान् और वेगवान् बनो, और हे गौओ ! तुम भी पिये हुए जल के प्रभावसे बलवती और क्षीररूप अन्न वाली ‡ बनो अर्थात् बहुतसा दूध देने वाली बनो ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

---

† समुद्रका मथन करनेसे अमृत उत्पन्न हुआ है अतः जलमें अमरणका साधन देवताओंके पीने योग्य अमृत है॥ और अमृत अर्थात् अमरणका साधन अन्न भी जलमें है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।८।१७।५ में कहा है, कि—"अद्भ्यो वा अन्नं जायते—जल से अन्न उत्पन्न होता है" ॥ अथवा मूर्छित पुरुष पर जल छिड़कने पर उत्क्रांत प्राणोंको शरीरमें फिर प्रवेश करते हुए देखा है अतः जलमें अमृत—अमरणसाधन—है यह प्रतीत होता है। इसी अभि-प्रायसे तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—" अमृतं वा आपस्तस्मादद्भिर-वतांतमभिषिञ्चंति नार्तिमार्च्छति सर्वं आयुरेति " (तैत्तिरीयसंहिता ५।६।२।२)—जल अमृत है जो इस जलका अभिषेक करता है उसे आर्ति नहीं होती और वह पूर्ण आयुको पाता है। अतः जलसे रक्षा करे ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता १।७।४।२ में कहा है, कि—"अन्नं वै वाजः—वाज अन्न (का वाचक है)।"

"आपो हि ष्ठा" इत्यादिसूक्तद्वयस्य ऐन्द्राग्नपशौ वपाहोमानन्तरं मार्जने विनियोगः। उक्तं वैताने। "शंभुमयोभुभ्यां चात्वाले मार्जयन्ति" [वै० २.६] इति॥

अत्र "आपो हि ष्ठा" इति सूक्तम् अग्निचयने उखार्थम् आहृतस्य मृत्पिण्डस्य पलाशकषायोदकेन संसृज्यमानस्य अनुमन्त्रणे विनियुक्तम्। उक्तं वैताने। "आपो हि ष्ठेति पलाशफाण्टेनाभिषिच्यमानम्" इति [वै० ५.१]॥

एतदेव बृहद्गणे लघुगणे अपां सूक्तेषु च पठितम्। तेषां यत्र-यत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोऽनुसंधेयः॥

सलिलगणे च एतत् सूक्तं पठितम्। सूत्रितं हि। "शंभुमयोभुभ्याम् [१.५.६] ब्रह्मजज्ञानम् [४.१] अस्य वामस्य [९.९] यो रोहितः [१३.१] उदस्य केतवः [१३.२] मूर्धाहम् [१६.३] विषासहिम्" [१७.१] इति [कौ० ३.१.]। अयं सलिलगणः। अतः "सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति" [कौ० ३.१] "सलिलैः सर्वकामः" [कौ० ३.७] इत्यादौ अस्य विनियोगः॥

तथा गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि च पूर्वसूक्तवद् विनियोगः॥

वास्तुसंस्कारकर्मणि च अनेन सक्तेन उदकुम्भेन गृहभूमिम् आसिञ्चेत्। तथा च सूत्रम्। "निवेशनानुचरणानि" इति प्रक्रम्य "शंभुमयोभुभ्यां विष्यन्दयति" इति [कौ० ५.७]॥

तथा "आदित्यां श्रीतेजोधनायुष्कामस्य" इति [न०क०१७] विहितायाम् आदित्याख्यायां महाशान्तौ अस्य विनियोगः। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "सलिलगण आदित्यायाम्" [न०क०१८]॥

"आपो हि ष्ठा" इत्यादि दो सूक्तोंका ऐन्द्राग्न पशु पर वपाहोम के अनन्तर मार्जन करनेके लिये विनियोग है। इस बातको वैतान-

सूत्रमें कहा है। यथा–शंभुमयोभुभ्यां चात्वाले मार्जयंति" [वैतान-सूत्र २। ६]॥

इनमें "आपो हि ष्ठा" सूक्तका अग्निचयनमें कुण्ड बनानेके लिये लाए हुए पलाशकषायोदक (पत्तोंसे कषाय हुए जल) से बनते हुए मृत्पिण्डके अनुमन्त्रणमें विनियोग है। इसी बात को वैतानसूत्र ५। १ में कहा है, कि–"आपो हि ष्ठेति पलाश-काण्टेनाभिषिच्यमानम्॥"

यह सूक्त बृहद्गण लघुगण और अपांसूक्तोंमें भी आया है, अतः उनका जहाँ २ विनियोग होगा, तहाँ इसका विनियोग भी करना चाहिये॥

सलिलगणमें भी इस सूक्तका पाठ है। सूत्रकारने भी कहा है, कि–"शंभुमयोभुभ्याम् (१। ५। ६) ब्रह्मजज्ञानम् (४।१) अस्य वामस्य (६। ६) यो रोहितः (१३। १) उदस्य केतवः (१३। २) मूर्धाहम् (१६। ३) विषासहिम् (१७। १)" कौशिकसूत्र ३। १ के अनुसार यह सलिलगण है। अत एव "सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति–सलिलगणके सूक्तोंसे क्षीर तथा भातका भक्षण करता है" (कौशिकसूत्र ३। १) तथा "सलिलैः सर्वकामः" (कौशिकसूत्र ३। ७) इत्यादि स्थलोंमें इसका विनियोग करना चाहिये॥

इसी प्रकार गौओंके रोगकी शान्ति, पुष्टि और प्रजननकर्ममें तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्ममें भी पहिले सूक्तकी समान इस सूक्तका भी विनियोग होता है॥

वास्तुसंस्कारकर्ममें भी इस सूक्तके द्वारा उदकुम्भसे जलको छिड़के। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। "निवेशनानु-चरणानि" यहाँसे "शंभुमयोभुभ्यां विस्यन्दयति" (कौशिक-सूत्र ५। ७)॥

इसी प्रकार "आदित्यां श्रीतेजोधनायुष्कामस्य" इस नक्षत्र-कल्प १७ के अनुसार आदित्या नाम वाली महाशान्तिमें इसका विनियोग है। नक्षत्रकल्पमें इसी बातको कहा है, कि–"सलिल-गण आदित्यायाम्–आदित्यामें सलिलगणका विनियोग होता है॥'

तत्र प्रथमा ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयःऽभुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन ।
महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

हे आपः यूयं हि यस्मात् कारणात् मयोभुवः। मय इति सुख-नाम। सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ। "आपोमयः प्राणः" [छा० ६. ५. ४.] इति श्रुतेः। अपाम् उपभोगेन प्राणस्थैर्यहेतु-त्वात् सुखसाधनभूतविविधान्नाद्युपभोग्यपदार्थजनकत्वेन च सुख-हेतुत्वम्। ❋ अस्तेर्लटि मध्यमपुरुषबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक्। "सार्वधातुकमपित्" इति ङिद्भावात् "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः। "हि च" इति निघातप्रतिषेधः। मयोभुव इति। मयःशब्दोपपदात् भवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् क्विप्। "ओः सुपि" इति प्राप्तस्य यणो "न भूसुधियोः" इति प्रतिषेधः। "गतिकारकोपपदात् कृत" इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❋। तस्मात् ताः तथाविधा यूयं नः अस्मान् अन्नादिजनितसुखकामान् ऊर्जे बलकराय अन्नाय। तदुपभोगजनितसुखायेत्यर्थः। ❋ ऊर्ज बलप्राणनयोः। अस्मात् "क्विप् च" इति क्विप्। तादर्थ्ये चतुर्थी। सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम्❋।

दधातन धत्त। सुखकरान्नप्रदानेन अस्मान् पोषयतेत्यर्थः।❀डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्माल्लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः। तस्य पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आलोपाभावः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀। अपि च महे महते। ❀ अच्छब्दलोपश्छान्दसः ❀। यद्वा। ❀ मह पूजायाम् इत्यस्मात् क्विप् ❀। महनीयाय पूजनीयाय रणाय रमणाय। विविधोपभोग्यपदार्थेषु क्रीडनायेत्यर्थः। ❀ रमतेर्भावे ल्युट्। अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀। तथा चक्षसे दर्शनाय। चिरकालजीवनाभिमतफलसाक्षात्कारायेत्यर्थः। ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा। चक्षेर्बहुलं शिच्चेति [उ० ४. २३२] भावे असुन्। शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् "चक्षिङः ख्याञ्" इति ख्याञादेशाभावः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। यद्वा महते रणाय रमणीयाय चक्षसे। इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः। अथ वा रणाय रणनीयाय शब्दनीयाय उपनिषदेकसमधिगम्याय चक्षसे। स्वात्मनो निरतिशयानन्दब्रह्मत्वसाक्षात्कारायेत्यर्थः। ❀ अण रण वण शब्दार्थाः। "वशिरण्योरुपसंख्यानम्" इति अप्। तस्य पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते। सर्वत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। दधातनेति पूर्वेण संबन्धः॥

हे जलो! तुमसे † प्राण स्थिर रहते हैं इस कारण और तुम सुखके साधन अन्न आदि अनेक पदार्थोंके उत्पादक होनेसे सुख के देने वाले हो। अतः हे उक्त लक्षणों वाले जलो! अन्न आदि से प्राप्त होने वाले सुखके अभिलाषी हमको बलमद अन्नके उपभोगसे जनित सुख भोगनेके लिये धारण करिये अर्थात् सुखदायक अन्न देकर हमें पुष्ट करिये और प्रशंसनीय अनेक पदार्थों

† छान्दोग्य उपनिषत् ६।५।४ में कहा है, कि—"आपोमयः प्राणः—प्राण जलमय हैं।"

में क्रीड़ा करनेके लिये हमें पुष्ट रखिये और चिरकालके जीवनमें अभिलषित फलको देखनेके लिये हमें पुष्ट रखिये अथवा रमणीय वस्तुओंको देखनेके लिये हमें पुष्ट रखिये अथवा एकमात्र उपनिषत्से प्राप्त होनेवाले परमानन्दब्रह्मत्वके साक्षात्कारके लिये हमारा पोषण करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिवऽतमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह नः ।
उशतीःऽइव । मातरः ॥ २ ॥

हे आपः वः युष्माकं शिवतमः कल्याणतमः प्रसिद्धो [यो] रसः सारभूतः अंशोस्ति । सर्वप्राणिभिः अविसंवादेन उपभोग्यत्वाद् अपां रसस्य शिवतमत्वम् । श्रूयते हि । "नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि समनसः" [तै० सं० ५. २. १. ३] इति । तस्य । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । तं रसम् । यद्वा । ❀भागव्यतिरेकजनिता षष्ठी ❀ । तस्य रसस्य भागम् इत्यर्थः । इह अस्मिन् लोके हे आपः यूयं नः अस्मान् पुत्रस्थानीयान् भाजयत सेवयत । युष्मदीयरसप्रदानेन अस्मान् पोषयतेत्यर्थः । ❀ भज सेवायाम् । "हेतुमति च" इति णिच् । प्रार्थनायां लोट् । शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०" अनुदात्तम् इति तिङोपि अनुदात्तत्वम् । तथा च णिचश्चित्वात् तत्स्वरेण मध्योदात्तत्वे प्राप्तेपि "तिङ्ङतिङः" इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । उशतीरिव उशत्यः कामयमानाः । ❀वश कान्तौ ।

कान्तिरभिलाषः। अस्मात् लटः शत्रादेशः। अदादित्वात् शपो लुक्। "सार्वधातुकम् अपित्" इति शतुर्ङित्वात् "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम्। "उगितश्च" इति ङीप्। शत्रन्तस्य प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वात् "शतुरनुमो नद्यजादी" इति ङीप उदात्तत्वम्। जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः। "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀। कामयमाना मातरः यथा स्वकीयं पुत्रं स्तन्यरसप्रदानेन पोषयन्ति। तथेत्यर्थः॥

जिस प्रकार अभिलाषा (उत्सुकता) पूर्वक माताएँ अपने पुत्रको स्तनोंका रस (दूध) पिला कर पुष्ट करती हैं, हे जलों! तिसी प्रकार तुम्हारा जो परम कल्याणकारी ‡ प्रसिद्ध रस अर्थात् सारभूत अंश है उससे हम पुत्ररूपोंकी सेवा करो अर्थात् हमें रस देकर पुष्ट करो॥ २॥

तृतीया॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः॥ ३॥

तस्मै। अरम्। गमाम। वः। यस्य। क्षयाय। जिन्वथ॥
आपः। जनयथ। च। नः॥ ३॥

---

‡ सब प्राणी जलके विषयमें कुछ भी विवाद न कर जलका उपभोग करते हैं अतः जलका रस परमकल्याणकारी है। तैत्तिरीयसंहिता ५। ३। १। २ में कहा है, कि–"नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभिसमनसः" अनेक प्रकार व्रत और मन वाले प्राणी जलके विषयमें एकमत हैं।"

तस्मै । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उपभोग्यत्वेन प्रसिद्धस्य अन्नस्य प्राप्त्यर्थं हे आपः वः युष्मान् अरम् अलं पर्याप्तं गमाम गच्छाम प्राप्नुयाम । ❀ अरम् इति । "वालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वम् आपद्यत इति वक्तव्यम्" इति लत्वविकल्पः । गमामेति । गम्लृ सृप्लृ गतौ । अस्मात् प्रार्थनायां लोट् । "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । यद्वा । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ् । लृदित्वात् च्लेः अङादेशः । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः । व इति । "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयान्तस्य युष्मदो वसादेशः । स च "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुवृत्तेः सर्वानुदात्तः ❀ । यस्य अन्नस्य क्षयाय निवासाय । अभिवृद्धय इत्यर्थः । ❀ क्षि निवासगत्योः । "एरच्" इति भावे अच् । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते "क्षयो निवासे" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे आपः यूयं जिन्वथ तर्पयथ । व्रीह्यादिसस्यविशेषान् इति शेषः । यूयं वृष्टिरूपेण आगत्य सर्वेषां प्राणिनाम् अन्नाद्युपभोग्यसमृद्धये ओषधीः प्रवर्धयथेत्यर्थः । श्रूयते हि । "ते दिवो वृष्टिम् असृजन्त । यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त तावतीरोषधयोऽजायन्त" [तै० ब्रा० २. १. १. १] इति । तस्मै इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ हिवि पिवि धिवि [जिवि] प्रीणनार्थाः । इदित्वात् नुम् । शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरस्य अवशेषात् पदम् आद्युदात्तम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । अपि च हे आपः यूयं नः अस्मान् जनयथ पुत्रपौत्रादिरूपेण उत्पादयथ । स्वात्मन एव पुत्रादिरूपेण उत्पत्तेः एवम् उक्तम् । तथा च ऐतरेयके समाम्नातम् । "पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यद् अस्यां जायते पुनः" [ऐ० ब्रा० ७. १३] इति ।

❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्मात् "हेतुमति च" इति णिच् । "जनी-जृष्क्रसुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति मित्संज्ञकत्वात् "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् । शपस्तिङश्च पूर्ववत् अनुदात्तत्वे णित्स्वरः शिष्यते तेन णिजकारस्य उदात्तत्वम् । आप इति पूर्वामन्त्रितस्य "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति अविद्यमानवद्भावेन अतिङ उत्तरत्वाभावात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे जलों ! हम उस उपभोग्यरूप अन्नकी प्राप्तिके लिये आपको पर्याप्तरूपमें पावें, कि–जिस अन्नके निवास अर्थात् वृद्धिके लिये तुम धान आदि अन्नोंको तृप्त करते हो । तात्पर्य यह है, कि–तुम वृष्टिरूपसे आकर सब प्राणियोंकी अन्न आदि उपभोगकी समृद्धिके लिये औषधियोंको बढ़ाते हो † । और हे जलों ! तुम हमें पुत्र पौत्र आदि रूपसे उत्पन्न करो ‡ ॥ ३ ॥

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । १ । १ । १ में कहा है, कि–'ते दिवो वृष्टिं असृजन्त । यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त–तावतीरोषधयोऽजायन्त उन्होंने आकाशमें वृष्टिको रचा उसके जितने छोटे छोटे कण हुए उतनी ही औषधियें उत्पन्न हुईं ।"

‡ अपने आत्माकी पुत्र आदिके रूपमें उत्पत्ति होती है इस लिये ऐसा कहा है । इस बातको ऐतरेयब्राह्मणमें भी कहा है, कि–"पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।" (ऐतरेयब्राह्मण ७ । १३) पति जायामें गर्भरूपसे प्रवेश करता है और उस मातामें पुनर्वार नवीन होकर दशवें महीनेमें उत्पन्न होजाता है, इसमें फिर 'जायते' उत्पन्न होता है इसलिये जाया जाया कहलाती है ॥

चतुर्थी ॥

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम् ।
अपो या॑चामि भे॒षजम् ॥ ४ ॥

ई॑शानाः । वार्या॑णाम् । क्षय॑न्तीः । च॒र्ष॒णी॒नाम् ।
अपः । या॒चा॒मि । भे॒ष॒जम् ॥ ४ ॥

वार्याणां वरणीयानां धनानाम् ईशानाः ईश्वराः स्वामित्वेन वियन्त्रीः सर्वधनमूलभूतस्य हिरण्यस्य मातृभूताभ्यः अद्भ्यः उत्पत्तेः श्रवणाद् अपाम् अधिपतित्वम् । तथा हि "आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । [ता] अग्निरभ्यध्यायत् । ताः समभवन् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यम् अभवत्" [तै० ब्रा० १. १. ३. ८] इति । ❀ ईश ऐश्वर्ये । अस्मात् "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच् प्रत्ययः । अदादित्वात् शपो लुक् । अस्य धातोः अनुदात्तेत्वात् "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाद्०" इति शानचः अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । वार्याणाम् इति । वृङ् संभक्तौ । क्यब्विधौ हि वृञो ग्रहणं न वृङः इत्युक्तेः अस्माद्धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् । "कर्तृकर्मणोः कृतिः" इति प्राप्तायाः कर्मणि षष्ठ्या "न लोकाव्यय०" इति प्रतिषेधेपि "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि षष्ठी । "तित् स्वरितम्" इति स्वरितत्वे प्राप्ते "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यत ईशाना अतो हेतोः चर्षणीनाम् । मनुष्यनामैतत् । मनुष्याणां क्षयन्तीः निवासयित्रीः । अभिमतधनप्रदानेन स्वस्थाने निवेशयन्तीरित्यर्थः । ❀ क्षि निवासगत्योः । अस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् लटः शत्रादेशः । व्यत्ययेन शप् । "उगितश्च" इति ङीप् । "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नित्यं नुमागमः । शपश्च ङीपश्च पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् ।

"०अनुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०" इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । चर्षणीनाम् इति । "न लोकाव्यय०" इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधाभावश्छान्दसः ❀ । यद्वा । ❀ "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति तादर्थ्ये षष्ठी ❀ । मनुष्यार्थं निवसन्तीरित्यर्थः । ❀ "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । एवंभूता अपः भेषजं व्याध्यादिनिवर्तकम् औषधं याचामि प्रार्थये । उक्तं "अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" [१. ४. ४] इति ❀ "अकथितं च" इति कर्मसंज्ञायाम् अप्शब्दाद् द्वितीया । "ऊडिदम्०" इत्यादिना अप्शब्दाद् उत्तरस्य शस उदात्तत्वम् । याचामि । याचृ याञ्चायाम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

(सब धनोंका मूलभूत धन † सुवर्ण मातारूप जलोंसे उत्पन्न हुआ है अतः जल धनके अधिपति हैं अतः) वरणीय धनोंके नियन्तारूपसे स्वामी और धनोंके स्वामी होनेसे मनुष्यको अभिलषित धन देकर अपने स्थान पर बसाने वाले अथवा मनुष्योंके लिये निवास करनेवाले, व्याधि आदिके निवर्तक जलकी मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त

"शं नो देवीः" इति सूक्तस्य "शंभुमयोभुभ्याम्" इति सहैव सूत्रकृता निर्दिष्टत्वात् "आपो हि ष्ठा" इति सूक्तवत् सर्वत्र विनियोगः अनुसंधेयः । लघुगणे बृहद्गणे च आद्यन्तयोः "शं नो देवी" इति प्रथमा ऋक् प्रयोक्तव्या । "उभयतः सावित्र्युभयतः शं नो देवी" [कौ० १. ६] इति सूत्रात् ॥

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३८ में कहा है, कि—"आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । [ता] अग्निरभ्यध्यायत् । ताः समभवन् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यमभवत् ॥"

इन्द्रमहाख्यकर्मणि आचमनेपि एषा विनियुक्ता । सूत्रितं हि ।
"शं नो देव्याः पादैरर्धर्चाभ्याम् ऋचा पट्कृत्व उदकम् आचामतः"
इति [कौ० १४. ४] ॥

राज्ञः पुष्पाभिषेके कलशाभिमन्त्रणेपि एषा । तथा च परिशिष्टे ॥

हेमरत्नौषधीबिल्वपुष्पगन्धाधिवासितान् ।
आच्छादितान् सितैर्वस्त्रैरभिमन्त्र्य पुरोहितः ।
सावित्र्युभयतः कुर्याच्छं नोदेवी तथैव च । इति [प० ५. २]॥

"शं नो देवी" इस सूक्तका "शंभुमयोभुभ्याम्" इसके साथ ही सूत्रकारने निर्देश किया है, अतः "आपो हि ष्ठा" सूक्तकी समान इसका सर्वत्र विनियोग करना चाहिये । लघुगण और बृहद्गणके आदि और अन्तमें भी "शं नो देवी" इस पहिली ऋचाका प्रयोग करना चाहिये । क्योंकि–कौशिकसूत्र १ । ९ में कहा है, कि "उभयतः सावित्र्युभयतः शं नो देवी" सावित्री और शं नो देवी का दोनों ओर प्रयोग करना चाहिये ॥

इन्द्रमहाख्य कर्मके आचमनमें भी इसका विनियोग है । कौशिकसूत्र १४ । ४ में कहा है, कि–"शं नो देव्याः पादैरर्ध-र्चाभ्यां ऋचा पट्कृत्व उदकं आचामतः ।"

राजाके पुष्पाभिषेकमें और कलशाके अभिमन्त्रणमें भी इस ऋचाका विनियोग करना चाहिये । क्योंकि–अथर्वपरिशिष्ट ५।२ में भी कहा है, कि–"पुरोहित सुवर्ण, रत्न, औषधि, बिल्व, पुष्प और गन्धसे अधिवासित और श्वेत वस्त्रोंसे आच्छादित (कलशों को) अभिमन्त्रण करके आदिमें और अन्तमें सावित्री और शं नो देवीको पढ़े ॥"

तत्र प्रथमा ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टये । आपः । भवन्तु । पीतये ।
शम् । योः । अभि । स्रवन्तु । नः ॥ १ ॥

देवीः देव्यः द्योतनादिगुणयुक्ताः । ❀ दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । इगुपधलक्षणे के प्राप्ते "देवसेनमेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः" इति वचनात् "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इत्यच् । देवट् इति टित्त्वेन पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "यस्य०" इति लोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति ङीप उदात्तत्वम् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । यास्कस्तु देवशब्दं बहुधा निरवोचत् । यद्ध । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा इति [नि० ७. १५] ❀ । एवमात्मिका आपः नः अस्माकम् अभिष्टये अभियजनाय । ❀ यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । अस्माद् अभिपूर्वात् भावे क्तिन् । "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् । "व्रश्च०" आदिना षत्वे ष्टुत्वम् । "शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्" इति पररूपत्वे सवर्णदीर्घाभावः । "तादौ च निति कृत्यतौ" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वे एकादेशस्य उदात्तत्वम् । तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । अभितः सर्वतो यागार्थं शं सुखं भवन्तु । सुखकारिण्यो भवन्तु इत्यर्थः । तथा पीतये पानाय च शं भवन्तु । पीयमाना आपः स्वादुतमाः सुखाय भवन्तु इत्यर्थः । ❀ पा पाने । अस्मात् भावे क्तिन् । "घुमास्था०" इत्यादिना ईत्वम् ❀ । अपि च नः अस्माकं शं प्राप्तानां रोगाणां शमनाय योः अप्राप्तानां रोगाणां पृथक्करणाय च ता आपः अभि स्रवन्तु अस्मदाभिमुख्येन गच्छन्तु । यद्वा शं योरिति रोगाणां शमनं चोरव्याघ्रादिजनितभयानां पृथक्करणं च यथा भवति तथेत्यर्थः । ❀ तदुक्तं यास्केन । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् इति [नि० ४. २१] । शमु उपशमने । यु

मिश्रणामिश्रणयोः । "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इत्यत्र दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसंग्रहार्थत्वात् आभ्यां धातुभ्यां भावे विच् । योरित्यत्र सलोपाभावश्छान्दसः।यद्वा यौतेरसुनि अवादेशाभावश्छान्दसः❀॥

द्योतन आदि गुणसे युक्त जल याग करनेके लिये हमें चारों ओरसे सुख देने वाले हों, पानके लिये भी सुखमय हों अर्थात् पीते समय स्वादु लग कर सुख देने वाले हों और हमें प्राप्त हुए रोगोंको शान्त करनेके लिये और अप्राप्त रोगोंको अलग करने के लिये वे जल हमारे अभिमुख आवें अथवा रोगोंका शमन और चोर व्याघ्र आदिसे उत्पन्न होने वाले भयको दूर करने के लिये हमारे पास आवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्ऽसु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्वऽसंभुवम् ॥ २ ॥

मन्त्रद्रष्टा ब्रूते । अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये विश्वानि सर्वाणि [भेषजा] भेषजानि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । सर्वरोगनिवर्तकानि औषधानि सन्तीति सोमः एतन्नामा देवः मे मह्यं मन्त्रदर्शिने अब्रवीत् । उपदिष्टवान् । तथा विश्वशंभुवम् विश्वस्य जगतः सुखकरम् । यद्वा विश्वे सर्वे व्यापाराः शंभुवः सुखस्य भावयितारः उत्पादका यस्य स तथोक्तः । ❀ शंशब्दोपपदाद् भवतेरन्तर्णीतण्यर्थात् "क्विप् च" इति क्विप् । "ओः सुपि" इति प्राप्तस्य यणः "न भूसुधियोः" इति प्रतिषेधे उवङ् ।

तत्पुरुषपक्षे व्यत्ययेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । बहुव्रीहिपक्षे तु अग्नि-विशेषस्य इयं संज्ञा । तथा च "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । एतन्नामानम् अग्निम् अङ्गनादिगुणयुक्तं देवं च । अप्सु अन्तर्वर्तमानं सोमः अब्रवीदित्यर्थः । उदकमध्ये अग्नेः प्रवेशस्तैत्तिरीयके समाम्नातः । "अग्नेस्त्रयो ज्यायांसः" इति प्रक्रम्य "स निलायत सोऽपः प्राविशत्" [तै० सं० २. ६. ६; १.] इति । यद्वा । और्ववैद्युतरूपेण अग्नेः अप्सु अवस्थानं द्रष्टव्यम् । अनेन अतिशयितवीर्यवत्त्वस्य प्रख्यापितत्वाद् अपां सर्वार्थ-साधनसामर्थ्यम् अस्तीत्युक्तं भवति ॥

(मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं, कि—) जलके भीतर सब औषधियें हैं अर्थात् जलके भीतर सब रोगोंका निवारण करनेवाली औषधियें हैं इस बातका सोम नामक देवताने मुझ मन्त्रद्रष्टाको उपदेश दिया है तथा इसी प्रकार जगत्को सुख देने वाले व्यापार जिसमें हैं वह अंगनादि गुणयुक्त अग्निदेव भी जलमें रहते हैं, इस बातका सोमने मुझे उपदेश दिया है ‡ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

---

‡ जलमें अग्निका प्रवेश तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—"अग्निसे तीन बड़े हैं" इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—"वह—छिप गया—जलमें प्रवेश कर गया" [तैत्तिरीयसंहिता, २ । ६ । ६ । १] अथवा और्ववैद्युतरूपसे अग्निका जलमें अवस्थान समझना चाहिये। इस परमवीर्यवत्त्वके प्रख्यापित होनेसे जलमें सब अर्थोंको साधने की सामर्थ्य है, यह बात कहदी ॥

आपः। पृणीत। भेषजम्। वरूथम्। तन्वे। मम।

ज्योक्। च। सूर्यम्। दृशे॥ ३॥

हे आपः यूयं मम तन्वे मदीयस्य शरीरस्य। ❀ "षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या" इति चतुर्थी। "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति विभक्तिः स्वर्यते। "युष्मदस्मदोर्ङसि" इति ममशब्द आद्युदात्तः ❀। वरूथं वारकं ज्वरादिसर्वरोगनिवर्तकम् भेषजम् औषधम् पृणीत पूरयत। यथा मम शरीरं व्याधयो न स्पृशन्ति तथा औषधं प्रयच्छतेत्यर्थः। ❀ पृ पालनपूरणयोः। अस्मात् लोटि क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः। "ई हल्यघोः" इति ईत्वम्। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति धातोर्ह्रस्वत्वम्। "सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः" इति परिभाषया सतिशिष्टस्यापि श्नाप्रत्ययस्वरस्य दुर्बलत्वात् तिङ एव उदात्तत्वम्। "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति आप इत्यस्य अविद्यमानवत्त्वात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः। वरूथम् इति। वृञ् वरणे। "जॄवृञ्भ्यामूथन्" [उ० २. ६.] इति औणादिक ऊथन् प्रत्ययः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तः ❀। किमर्थम्। ज्योक् चिरकालं सूर्यं सर्वेषां प्राणप्रदत्वेन प्रेरकम् आदित्यं दृशे द्रष्टुम्। चिरकालं जीवितुम् इत्यर्थः। अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः। व्याध्यादिजनितक्लेशापनोदनार्थं च इति। ❀ दृशिर् प्रेक्षणे। "दृशे विख्ये च" इति तुमर्थे केप्रत्ययान्तो निपातितः। सूर्यम् इति। षू प्रेरणे। "राजसूयसूर्य०" इति क्यबन्तो निपातितः। क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। "कृन्मेजन्तः" इति दृशे इत्यस्य एजन्तत्वेन अव्ययत्वात् "न लोकाव्यय०" इति कर्मणिषष्ठ्याः प्रतिषेधः ❀॥

हे जलो! तुम मेरे शरीरके ज्वर आदि सब रोगोंकी निवारक औषधोंको पूरित करो अर्थात् मेरे शरीरको व्याधियें छू न

सकें ऐसी औषधियें दीजिये। जिससे, कि—मैं सर्वोंके प्राणप्रद होनेसे प्रेरक आदित्यको चिरकाल तक देखता रहूँ और व्याधि आदिसे उत्पन्न हुए क्लेशको दूर करनेके लिये भी आप मुझे रोगनिवारक औषधियें दीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शं न आपो धन्वन्या ३ः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम्। नः। आपः। धन्वन्याः। शम्। ऊं इति। सन्तु। अनूप्याः।
शम्। नः। खनित्रिमाः। आपः। शम्। ऊं इति। याः।
कुम्भे। आऽभृताः। शिवाः। नः। सन्तु। वार्षिकीः ॥ ४ ॥

पूर्वं सामान्येनैव अपां प्रार्थना कृता। अधुना स्थानविशेषस्थिता आपः प्रार्थ्यन्ते। नः अस्माकं धन्वन्याः धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु। ❀ रिवि रवि धवि गत्यर्थाः। इदित्त्वात् नुम्। कनिन् युवृषितक्षिधन्विराजिधृप्रतिदिवः [उ० १. १५४] इति कनिन् प्रत्ययः। "भवे छन्दसि" इति यत्। "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति टिलोपाभावः ❀। तथा अनूप्याः अनुगता आपो यस्मिन् देशे सः अनूपो देशः। ❀ "ऋक्पूरब्धूः०" इत्याकारः समासान्तः। "ऊदनोर्देशे" इति अपशब्दाकारस्य ऊकारः ❀। तत्र भवा आपः अनूप्याः। ❀ पूर्ववद् यत् ❀। उ शब्दः चार्थे। प्रभूतजलप्रदेशस्था आपश्च शं सन्तु सुखहेतवो भवन्तु। तथा खनित्रिमाः खन-

नेन निर्वृत्ताः कूपोद्भवा आपः नः अस्माकं शं भवन्तु। ❀ खनु अवदारणे। अस्माच्छान्दसः क्विप्रत्ययः। "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" इति इडागमः। "क्तेर्मस्नित्यम्" इति मप् ❀। कुम्भे घटे आभृताः नदीतटाकादिभ्यः कुम्भेन आनीताः। ❀ हृञ् हरणे। अस्मात् कर्मणि निष्ठा। "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम्। "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀। ईदृश्यो याः प्रतिगृहं वर्तमानाः प्रसिद्धा आपः ताश्च शं भवन्तु। तथा वार्षिकीः वार्षिक्यः वर्षर्तौ भवाः। ❀ "छन्दसि ठञ्" इति वर्षाशब्दात् ठञ् प्रत्ययः। "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप्। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। वृष्टिसंभूता आपश्च नः अस्माकं शिवाः सुखकारिण्यः सन्तु भवन्तु। ❀ अस भुवि। अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ❀ ॥

[इति] षष्ठं सूक्तम् ॥

इति अथर्वसंहितायां प्रथमकाण्डे प्रथमोऽनुवाकः ॥

(पहिले सामान्यरूपसे जलकी प्रार्थना की अब स्थानविशेषके जलोंकी प्रार्थना की जाती है, कि–) मरुभूमिमें उत्पन्न होने वाले जल हमें सुख दें, और प्रभूत जल वाले देशके जल भी हमें सुखकारी हों, खोद कर बनाये हुए कूपके जल भी हमें सुखदायक हों, नदी तालाव आदिसे कुम्भमें भरकर लायेहुए प्रत्येक घरमें वर्तमान जल भी हमें सुखदायक हों और वृष्टिसे प्राप्त हुए जल भी हमें सुख देवें ॥ ४ ॥

छठा सूक्त समाप्त

अथर्ववेदसंहिताके प्रथम काण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

द्वितीयेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "स्तुवानम्" "इदं हविः" इति प्रथमद्वितीये सूक्ते चातनगणे पठिते। तथा च कौशिकः। "स्तुवानम् [१. ७] इदं हविः [१. ८] निःसालाम् [२. १४]

अरायक्षयणम् [२. १८. ३-५] शं नो देवी पृश्निपर्णी [२. २५] आ पश्यति [४. २०] तान् सत्यौजाः [४. ३६] त्वया पूर्वम् [४. ३७] पुरस्ताद्युक्तः [५.२९] रक्षोहणम् इत्यनुवाकः [८. ३, ४] चातनानि" इति [कौ० १. ८]। अतः अस्य "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ ४. १] "चातनैर्मातृनामभिजुहुयात्" [शा० क० १६] इत्यादिसूत्रेण यत्रयत्र विनियोगः क्रियते तत्रतत्र सर्वत्र अनयोः सूक्तयोरपि विनियोगो द्रष्टव्यः ॥ "अपनोदनेन व्याख्यातम्" इति । आविष्टभूतपिशाचाद्युच्चाटनार्थं फलीकरणतुषावतक्षणहोमादीनि "आरेसौ" [१. २६] इत्यपनोदनसूक्तकर्तव्यानि अपनोदनानि कर्माणि अनेन गणेन कुर्यादित्यर्थः ॥

दूसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। इनमें "स्तुवानम्" और "इदं हविः" इन दोनों सूक्तोंका पाठ चातनगणमें है। इसी बातको कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि-"स्तुवानम् [१ । ७] इदं हविः [१ । ८] निः सालाम् [२ । १४] अरायक्षयणम् [२ । १८ । ३-५] शं नो देवी पृश्निपर्णी [२ । २५] आ पश्यति [४ । २०] तान् सत्यौजा [४ । ३६] त्वया पूर्वम् [४ । ३७] पुरस्ताद् युक्तः [५ । २९] रक्षोहणं इत्यनुवाकः [८ । ३४] ये चातनगणके सूक्त हैं।" अत एव इसका "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यानम्" [कौशिकसूत्र ४ । १] 'चातनैर्मातृनामभजुहुयात्' [शांतिकल्प १६] इत्यादि सूत्रोंसे जहाँ जहाँ विनियोग किया जाय तहाँ तहाँ इन सूक्तोंका भी सर्वत्र विनियोग करना चाहिये। "अपनोदनेन व्याख्यातम्" इसका अर्थ यह है, कि-आवेश करने वाले भूत पिशाच आदिका ऊच्चाटन करनेके लिये फलीकरण, तुषावतक्षण, होम आदि 'आरेसोः' (१।२६) इस अपनोदनसूक्तसे कर्तव्य अपनोदनकर्म इस गणसे करे ॥

तत्र प्रथमा

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ॥
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातुऽधानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥१॥

अङ्गति गच्छति सर्वजाठरवैद्युतादिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति इति अग्निः । ❀ अगि रगि लगि गत्यर्थाः । अङ्गेर्नलोपश्च [उ० ४. ५०] इति निप्रत्ययः तत्संनियोगेन नलोपश्च ❀ । यद्वा । अग्रणीत्वादिगुणयोगाद् अग्निः । ❀ आह च यास्कः । अग्निः कस्मात् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः पर इति [नि० ७. १४] ❀ । ईदृश हे अग्ने स्तुवानं मया दत्तं हविः प्रशंसन्तम् अस्माभिः स्तूयमानं वा देवम् आ वह आनय । मदीयं कर्म प्रापय । ❀ वह प्रापणे । अस्मात् लोटि "अतो हेः" इति हेर्लुक् । स्तुवानम् इति । ष्टुञ् स्तुतौ । कर्तरि लटः शानच् आदेशः । कर्मणि लटो वा शानचि यगभावश्छान्दसः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना उवङ् ❀ । अग्नेः आवहनकर्तृत्वम् अन्यत्रापि आम्नातम् । "अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे" [ऋ० १. १२. ३] इति । "अग्निम् अग्न आवह" [तै० ब्रा० ३. ५. ३. २] इति च । किमीदिनं किम् किम् इदानीं वर्तं इति चरन्तम् । ❀ किमीदिने किम् इदानीमिति चरते इति यास्कः [नि० ६. ११] ❀ । जिघांसया प्रच्छन्नचारिणं यातुधानं राक्षसम् । अपसारय इति योग्य-

क्रियाध्याहारः ॥ यद्वा हे अग्ने स्तुवानम् । विभक्तिव्यत्ययः । स्तूयमानः त्वं किमीदिनं यातुधानं राक्षसम् आ वह प्रतीकारार्थम् अस्मिन् जने आवेशय । अथ वा निग्रहार्थं स्वसमीपम् आनयेत्यर्थः ॥ यद्वा हे अग्ने त्वत्सकाशाद् भीत्या त्वां स्तुवन्तं तं यातुधानम् इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः ॥ अपि च हे देव दानादिगुणयुक्त त्वं वन्दितः अस्माभिर्नमस्कारादिना प्रार्थितः सन् दस्योः उपक्षयकारिणो राक्षसादेः । ❀ दसु उपक्षये । अस्माद् औणादिको युमत्प्रत्ययः ❀ । तस्य हन्ता घातयिता हि यस्मात् कारणात् बभूविथ भवसि तस्माद् आ वहेति पूर्वेण संबन्धः । ❀ भू सत्तायाम् । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमानेर्थे लिट् । "हि च" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

सबमें जठराग्निके रूपसे वर्तमान, बिजली आदिके रूपसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके रहनेवाले और अग्रणी आदि गुणों वाले अग्ने ! † हम जिस देवताकी स्तुति कररहे हैं उस देवताको हमारा कर्म प्राप्त कराओ ‡ हमारी दी हुई हविकी प्रशंसा करने

† यज्ञोंमें अग्निका पहिले प्रणयन होता है अत एव अग्नि अग्रणी है ॥ निरुक्त ७ । १४ में यास्कने कहा है, कि–"अग्निः कस्माद् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति । न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः पर इति ।"

‡ अग्निका हवि आदिको पहुँचाना वा देवताओंको लाना अन्यत्र भी प्रसिद्ध है । यथा–ऋग्वेदसंहिता १ । १२ । ३ में कहा है, कि–"अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।" तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ५ । ३ । ३ में भी कहा है, कि–"अग्निम् अग्न आवह।"

वाले देवताको हमारे पास ले आओ और हमको मारनेकी इच्छा से गुप्तरूपमें विचरण करते हुए राक्षसको हमसे दूर करो, क्योंकि–हे दान आदि गुणोंसे युक्त देव ! हमारे वन्दना करने पर तुम उपक्षय करनेवाले राक्षस आदिका संहार कर डालते हो । अतः इसको अपने पास बुलाओ ॥ अथवा–हे स्तूयमान अग्ने ! प्रतीकार (बदला लेने) के लिये तुम इस राक्षसका इस पुरुषमें आवेश करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय । २ ।

आज्यस्य । परमेऽस्थिन् । जातऽवेदः । तनूऽवशिन् ।
अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान । यातुऽधानान् । वि । लापय ॥२॥

परमे उत्कृष्टस्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । स्वर्गाद्युत्कृष्टस्थाननिवासिन् । ❀ तिष्ठतेः औणादिकः किनिप्रत्ययः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना षत्वम् । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । हे जातवेदः जातानां वेदितः । ❀ जातशब्दोपपदात् विद ज्ञाने इत्यस्मात् गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४. २२६] इति असुन् । अस्य पादादित्वात् आष्टमिकनिघाताभावे "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ॥ यास्कस्तु बहुधा निरवोचत् । जातवेदाः कस्मात् । जातानि वेद जातानि वैनं विदुः जातेजाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो वा जातविद्यो वा जातप्रज्ञो वा यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति हि ब्राह्मणम् इति [नि० ७. १९] ❀ । हे तनू-

वशिन् तनूनां सकलप्राणिशरीराणां जाठराग्निरूपेण वशयितः ईद-शमहिमोपेत हे अग्ने तौलस्य । तुलावत् हूयमानद्रव्यस्य परिच्छेद-कत्वात् स्रुक्स्रुवादिकम् अत्र तुलाशब्देन उच्यते । तत्र स्रुवादौ स्थितम् आज्यं तौलम् । ❀ "तस्येदम्" इति अण् ❀ । यद्वा ।❀ तुल उन्माने । अस्मात् कर्मणि घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना अवदीयत इति तोलम् । स्वार्थिकस्तद्धितः राक्षसवायसादिवत् ❀ । अवदीयमानस्य आज्यस्य । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । आज्यं प्राशान अद्धि । आज्यस्य भागम् इति भागपदाध्याहारेण वा संबन्धः । ❀ अश भोजने । लोण्मध्यमैकवचने "हलः श्नः शानज्झौ" इति श्नामत्य-यस्य शानजादेशः । "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀ ॥ अस्माभिर्दत्तं हविः स्वीकृत्य प्राप्तबलः सन् यातुधानान् उपद्रवकारिणो राक्ष-सान् वि लापय विनाशय । ❀ लीङ् श्लेषणे । अस्मात् "हेतुमति च" इति णिच् । "विभाषा लीयतेः" इति आत्वम् । "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः । यद्वा रप लप व्यक्तायां वाचि । अस्मात् णिच् । "अत उपधायाः" इति वृद्धिः । वीत्युपसर्गवशाद् अत्र धातुः वचनविशेषं परिदेवनम् आह । तद् उक्तम् ।

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तम् अनुवर्तते ।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा । इति ❀ ॥

आर्तस्वरान् कुर्वित्यर्थः ॥

हे स्वर्ग आदि उत्कृष्ट स्थानोंमें रहने वाले परमेष्ठिन् ! और सम्पूर्ण उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले जातवेदः † ! और

---

† यास्कने जातवेदा शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकारसे की है । यथा—"जातानि वेद जातानि वैनं विदुः जातेजाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो वा जातविद्यो वा जातप्रज्ञो वा यत्तज्जातः

सब प्राणियोंके शरीरको-जाठराग्निरूपसे वशमें रखने वाले तनू-वशिन् अग्ने! स्रु वे आदिमें स्थित घृतका भक्षण करिये और हमारी दी हुई हविसे बल पाकर उपद्रव करने वाले राक्षसोंका संहार करिये वा उनसे आर्तस्वर कराइये ‡॥ २॥

तृतीया ॥

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातुऽधानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः ।
अथ । इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥३॥

अत्त्रिणः अदनशीलाः सर्वेषां भक्षकाः । ❀ अद भक्षणे । अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः । प्रत्यय-

पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति हि ब्राह्मणम्" [निरुक्त ७। १९] अर्थात् उत्पन्न हुओंको जानते हैं, प्रत्येक उत्पन्न हुए प्राणी इसको जानते हैं, प्रत्येक उत्पन्न हुए प्राणीमें रहता है, और इसके पास धन विद्या और प्रज्ञा उत्पन्न होती है यही इस (अग्नि) का जातवेदस्त्व है॥"

‡ मूलके 'विलापय' में स्पष्ट वाणीकी वाचक लप धातु है वि उपसर्गके कारण उसका आर्तस्वर (परिदेवन) अर्थ होगया है। क्योंकि—"धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते। तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥—अर्थात् उपसर्गकी गति तीन प्रकारकी है, कोई उपसर्ग धातुके अर्थको बाध देता है (धातुका दूसरा अर्थ कर देता है) कोई उपसर्ग उसीका अनुवर्तन करता है, और कोई उसका विशेषण होजाता है।" विलापय यह एयंतका रूप है।

स्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । किमीदिनः किं [किम्] इदानीं वर्तत इति स्वप्रवृत्तये कालान्वेषणं कुर्वन्तः । अथ वा किम् इदं किम् इदम् इति स्वोचितं पदार्थम् अन्विष्य चरन्तः ये प्रसिद्धा यातुधानाः राक्षसाः सन्ति ते विलपन्तु परिदेवनं कुर्वन्तु । हे अग्ने त्वया पीडिताः सन्तः विनश्यन्तु इत्यर्थः ॥ अथ क्रियमाणयागाद्यन्तरायकारिरक्षोविनाशानन्तरम् हे अग्ने त्वम् इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवश्च नः अस्मदीयम् इदम् आज्यादिरूपं हविः प्रति लक्ष्यीकृत्य हर्यतम् आगच्छतम् कामयेथां वा । स्वीकुरुतम् इत्यर्थः ॥ ❀ हर्य गतिकान्त्योः । इन्द्र इति । इदि परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रेत्यादिना [उ० २, २८] रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । निघ्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

सबके भक्षक और इस समय क्या हो रहा है इस प्रकार अपनी प्रवृत्तिके लिये समयका अन्वेषण करने वाले और हमारे योग्य क्या है ? इस प्रकार अपने योग्य पदार्थको खोजते हुए विचरने वाले जो प्रसिद्ध राक्षस हैं, हे अग्ने ! वे आपके पीड़ा देने पर विनष्ट होजावें ! और चलते हुए यागमें विघ्न डालने वाले राक्षसोंके विनाशके अनन्तर हे अग्ने ! आप और परमैश्वर्ययुक्त इन्द्र देव भी हमारे घृत आदि हविकी ओर लक्ष्य करके आइये, उसको स्वीकार करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अ॒ग्निः पूर्व॒ आ र॑भतां॒ प्रेन्द्रो॑ नुदतु बा॒हुमा॑न् ।
ब्रवी॑तु॒ सर्वो॑ यातु॒मान् अ॒यम॒स्मीत्येत्य॑ ॥ ४ ॥

अ॒ग्निः । पूर्वः॑ । आ । र॒भ॒ताम् । प्र । इन्द्रः॑ । नु॒द॒तु॒ । बा॒हु॒ऽमान् । ब्रवी॑तु । सर्वः॑ । या॒तु॒ऽमान् । अ॒यम् । अ॒स्मि॒ । इति॑ । आ॒ऽइत्य॑ ४

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः पूर्वः सर्वदेवानां पुरोगामी सन् आ रभतां यातुधानान् निग्रहीतुम् उपक्रमताम् । ❀ रभ राभस्ये ❀ । राभस्यं कार्योपक्रमः । "अग्निः खलु वै रक्षोहा" [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति हि तैत्तिरीयकम् । अग्नेः प्राथम्यमपि तत्रैव आम्नातम् । "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३.] इति ॥ तदनन्तरं बाहुमान् बलवत्त्वेन प्रशस्तबाहुयुक्तः । ❀ भूमनिन्दाप्रशंसासु इति प्रशंसायां बाहुशब्दात् मतुप् । "ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्" इति मतुप उदात्तत्वम् ❀ । ईदृश [इन्द्रः] प्र नुदतु यातुधानान् प्रेरयतु अपसारयतु । ❀ णुद प्रेरणे । तुदादित्वात् शः । शस्य ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः । तिपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे विकरणस्य प्रत्ययस्वरेण उदात्तत्वे प्राप्ते "तिङ्ङतिङः" इति सर्वानुदात्तत्वम् । "व्यवहिताश्च" इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः ❀ । इन्द्रेण प्रणुद्यमानो यातुमान् । यातूनि रक्षांसि विद्यन्ते अस्मिन्निति यातुमान् राक्षसाधिपतिः । यद्वा यातवो यातनाः । ❀ यत निकारोपस्कारयोः इत्यस्मात् औणादिक उण् ❀ । ता अस्मिन् विद्यन्त इति यातुमान् तादृशः सर्वः निखिलो यातुधानः एत्य इमं देशम् आगत्य अयम् अयम् अस्मि एतन्नामकोऽहं भवामि इति ब्रवीतु कथयतु । आत्मानं प्रकाश्य निर्गच्छतु इत्यर्थः । ❀ एत्येति । आङ्पूर्वाद् इण् गतौ इत्यस्मात् "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबादेशः । तस्य पित्त्वात् "ह्रस्वस्य पिति कृति०" इति तुक् । ब्रवीत्विति । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । अदादित्वाच्छपो लुक् । "ब्रुव ईट्" इति ईडागमः ❀ ॥

अङ्गनादि गुणयुक्त अग्निदेव सब देवताओंसे आगे बढ़ कर राक्षसोंको दण्ड देनेका काम आरम्भ करें ‡ तदनन्तर बलवान्

‡ तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । ४ । ६ में कहा है, कि—"अग्निः

होनेसे प्रशस्त बाहुवाले इन्द्रदेव राक्षसोंको निकालदें। और इन्द्र से पीड़ित हुआ राक्षसराज वा जिनमें यातनाएँ हैं वे सब राक्षस इस देशमें आकर मैं अमुक नाम वाला हूँ, मैं अमुक नाम वाला हूँ, इस प्रकार कहें अर्थात् अपनेको प्रकाशित करके चले आवें ४

पञ्चमी ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जातऽवेदः । प्र । नः । ब्रूहि । यातुऽधानान् । नृऽचक्षः ।
त्वया । सर्वे । परिऽतप्ताः । पुरस्तात् । ते । आ । यन्तु । प्रऽब्रुवाणाः । उप । इदम् ॥ ५ ॥

हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां वेदितरग्ने ते तव वीर्यं सामर्थ्यं पश्याम द्रक्ष्यामः । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । अस्मात् लोटि उत्तमबहुवचने "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "पाघ्रा०" इत्यादिना धातोः पश्यादेशः । मसः पिद्वद्भावात् शपश्च पित्त्वात् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् । वीर्यम् इति । विग्भत्य-

---

खलु वै रक्षोहा—अर्थात् अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं।" और अग्निकी प्रथमताका वर्णन भी तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।३।३ में किया है, कि—"अग्निरग्रे प्रथमो देवानाम्—देवताओंमें प्रथम अग्नि आगे (आते हैं)।"

वीर्याणि छन्दसि [फि० ४. ६] इति अन्तस्वरितत्वम् ❀ ॥ हे नृचक्षः नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । अतिरोहितज्ञान-तया सर्वं साक्षात् कर्तुं शक्तः इत्यर्थः । यद्वा नृभिर्मनुष्यैः ख्यायत दृश्यते उपास्यत्वेन साक्षात् क्रियत इति नृचक्षाः । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मेति यास्कः [निघ० ३. ११] । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । नृशब्दोपपदाद् अस्मात् कर्तरि कर्मणि वा असुन् । "अस-नयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति ख्याञादेशाभावः ❀ । हे तथा-विध अग्ने नः अस्माकं बाधकान् यातुधानान् राक्षसान् प्र ब्रूहि प्रकथय । यथा अस्मान् पुनःपुनर्न बाधन्ते तथा यातुधानान् आज्ञा-पयेत्यर्थः । ❀ ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । अदादित्वात् शपो लुक् । "सेर्ह्यपिच्च" इति हेः अपित्त्वेन ङित्त्वात् "क्ङिति च" इति गुणप्रतिषेधः ❀ ॥ अपि च त्वया एवम् आज्ञापयता पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले परितप्ताः परितः समन्ताद् दग्धाः ते सर्वे यातु-धानाः ब्रुवाणाः स्वस्वनामादिकं कथयन्तः प्रलपन्तो वा इदं क्रियमाणं कर्म उप आ यन्तु उप समीपम् आयन्तु आगच्छ-न्तु । आगत्य विनश्यन्तु इत्यर्थः । ❀ पुरस्तादिति । "पूर्वाधरा-वराणामसि पुरधवश्चैषाम्" । "अस्ताति" च इति पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पुरादेशश्च । ब्रुवाणा इति । प्रपू-र्वात् ब्रूञः लटः शानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वे कृदुत्तरपदप्रकृ-तिस्वरत्वेनापि स एव शिष्यते ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! हम आपकी सामर्थ्य को देखते हैं । हे अतीन्द्रिय ज्ञान वाले होनेसे सबका साक्षात् करनेमें समर्थ अथवा मनुष्योंके द्वारा उपासना आदिसे साक्षात् में आनेवाले नृचक्षः अग्ने ! हमारे बाधक राक्षसोंसे कहिये अर्थात् जिस प्रकार वह हमें फिर बाधा न दें तैसी उन राक्षसों को आज्ञा दीजिये, जिससे आपके पहिले ही आज्ञा देने पर

राक्षस दग्ध होते हुए अपने २ नामका उच्चारण कर विलाप करते हुए इस वर्तमान कर्मके पासमें आवें और आकर नष्ट होजावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आ रभस्व जातवेदोस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥६॥

आ । रभस्व । जातऽवेदः । अस्माक । अर्थाय । जज्ञिषे ॥
दूतः । नः । अग्ने । भूत्वा । यातुऽधानान् । वि । लापय ॥६॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने आ रभस्व राक्षसापनोदनकर्म कर्तुम् उपक्रमस्व ॥ तत्र कारणम् आह । अस्माक । ❀ अस्मदः षष्ठीबहुवचनस्य "साम आकम्" इति आकम् आदेशः । शेषे लोपे अन्त्यलोपश्छान्दसः । यदा हि शेषे लोपष्टिलोप इष्यते तदा "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति आकम आदेरुदात्तत्वम् । यदा तु अन्त्यलोपः [तदा] "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वम् ❀ । ग्रहरोगादिपीडितानाम् अस्माकम् अर्थाय प्रयोजनाय । प्रेप्सितं प्रयोजनं संपादयितुम् इत्यर्थः ॥ यद्वा अर्थशब्दो निवृत्तिवचनः । अनर्थनिवृत्तये यतस्त्वं जज्ञिषे जातवानसि । ❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्मात् लिटि "असंयोगाल्लिट् कित्" इति लिटः कित्वे "गमहन०" इत्युपधालोपः । तस्य "द्विर्वचनेऽचि" इति स्थानिवद्भावात् साल्कस्य द्विर्वचनम् । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमः ❀ ॥ ततः हे अग्ने नः अस्माकं दूतः यथोक्तकर्मकरो भूत्वा । अभूततद्भावद्योतकेन भूत्वा इत्यनेन स्वयम् अदूतः सन्नपि दूतवत् संनिहितो भूत्वा मदभिलषितं कुरु इत्युक्तं भवति । यातुधानान् राक्षसान् वि लापय विनाशय ॥

है जातवेदा अग्ने! राक्षसोंको हटानेके लिये तयार हूजिये, क्योंकि-तुम हम प्रह्पीड़ितोंके अभिलषित प्रयोजनको साधनेके लिये और अनर्थकी निवृत्तिके लिये उत्पन्न हुए हो, अतः हे अग्ने! हमारे दूत न होने पर भी तुम दूतकी समान पासमें रहकर हमारे अभिलषित कामको करो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

त्वम॑ग्ने यातुधाना॒न् उप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह ।
अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । या॒तु॒ऽधाना॑न् । उप॑ऽबद्धान् । इ॒ह । आ । व॒ह ।
अथ॑ । ए॒षा॒म् । इन्द्रः॑ । वज्रे॑ण । अपि॑ । शी॒र्षाणि॑ । वृ॒श्च॒तु ॥७॥

हे अग्ने त्वं यातुधानान् राक्षसान् उपबद्धान् रज्ज्वादिबद्धहस्तपादाद्यवयवान् कृत्वा इह अस्मिन् देशे आ वह आनय ॥ अथ अनन्तरमेव इन्द्रो देवानाम् अधिपतिः एषां यातुधानानां शीर्षाणि शिरांस्यपि वज्रेण कुलिशेन वृश्चतु छिनत्तु । ❀ ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । तस्य "सार्वधातुकम् अपित्" इति ङित्वात् "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥

[इति] द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने! तुम रस्सी आदिसे राक्षसोंके हाथ पैर आदिको बाँध कर यहाँ ले आओ, इसके अनन्तर इन्द्र वज्रसे इनके शिरों को काट डालें ॥ ७ ॥

दूसरे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥ ७ ॥

"इदं हविः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः। सूत्रमपि तत्रैव उदाहृतम् ॥

"इदं हविः" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है और सूत्र भी वहाँ ही कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥

इदम्। हविः। यातुऽधानान्। नदी। फेनम्ऽइव। आ। वहत्।
यः। इदम्। स्त्री। पुमान्। अकः। इह। सः। स्तुवताम् जनः ॥१॥

इदं मया अग्न्यादिदेवेभ्यो दीयमानं हविः आज्यादिरूपं यातुधानान् रक्षःपिशाचादीन् आ वहत् आसमन्ताद् गमयतु। अस्मात् स्थानात् प्रच्यावयतु इत्यर्थः। ❀ वह प्रापणे। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लङ् ❀। तत्र दृष्टान्तः। नदी तरङ्गिणी फेनमिव। सा यथा स्वकीयेन प्रवाहेण फेनं देशाद् देशान्तरं प्रापयति। तद्वद् इत्यर्थः। ❀ नद अव्यक्ते शब्दे। नदति ध्वनतीति नदी। पचाद्यच्। तत्र नदट् इति टित्त्वेन पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप्। "यस्य०" इति लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम्। नदनान्नद्य इति यास्कः [नि० २.२४]। मन्त्रवर्णश्च "यददः संप्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ" [३.१३.१] इति ❀॥ तदनन्तरम् इदम् अभिचारकर्म यो जनः स्त्री वा पुमान् वा अकः अकार्षीत्। ❀ डुकृञ् करणे। अस्मात् लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। गुणे "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति तिलोपः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। स जनः स्वकीयस्य अभिचारकर्मणो निष्फलत्वेन अनाप्तकामः सन् इह अस्मिन् देशे मत्समीपे स्थित्वा स्तुवतां स्तुतिं करोतु। मामेव शरणं प्राप्य सेवताम् इत्यर्थः॥ यद्वा यः स्त्री वा पुमान् वा जन्म

इदम् उक्तं हविः परकृतोपद्रवनिवृत्तये अकः अकार्षीत् हे अग्न्यादि-देव स जनः निवृत्तोपद्रवः सन् स्तुवताम् । त्वां स्तुत्यादिना परि-चरतु इत्यर्थः । ❀ ष्टुञ् स्तुतौ । अस्मात् लोटि व्यत्ययेन शः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

जिस प्रकार नदी अपने प्रवाहसे फेनको एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचा देती है, तिस प्रकार अग्नि आदि देवताओंको दी हुई घृत आदिरूप हवि, राक्षसोंको वा पिशाचोंको इस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचा दे ॥ तदनन्तर जिसने अभिचार कर्म किया है वह व्यक्ति अपने अभिचारकर्मके निष्फल होने से यहाँ मेरे पास आकर स्तुति करे अर्थात् मेरी शरणमें आकर मेरी ही सेवा करे । और जिस व्यक्तिने दूसरेके उपद्रवको दूर करनेके लिये यह हवि दी है, हे अग्नि आदि देव ! वह व्यक्ति उपद्रवरहित होकर आपकी स्तुति करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत ।

बृहस्पते वशे लुब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥२॥

अयम् । स्तुवानः । आ । अगमत् । इमम् । स्म । प्रति । हर्यत ।

बृहस्पते । वशे । लब्ध्वा । अग्नीषोमा । वि । विध्यतम् ॥ २ ॥

बृहस्पत्यादयो वक्ष्यमाणा [हे] देवाः अयं राक्षसपीडितो जनः स्तुवानः युष्मद्विषया स्तुतिं कुर्वाणः आगमत् आगतवान् । बहुविधोपद्रवनिवृत्तये संरक्षकान् युष्मानेव प्राप्त इत्यर्थः । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ । लुङि "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" इति च्लेः अङादेशः । स्तुवान इति । लटः शानच् । अदादित्वात् शपो लुक् । शानचो ङित्त्वात् गुणाभावे उवङ् । "चितः" इति अन्तो-

दात्तत्वम् ❀ ॥ यत एवम् आगमत् अतो हेतोः इमं युष्मत्समीपं प्राप्तं जनं हे देवाः प्रति हर्यत स्म प्रतिकामयध्वम् । स्वकीयत्वेन परिगृह्णीतेत्यर्थः । ❀ हर्य गतिकान्त्योः । "स्मे लोट्" । "अधीष्टे च" इति लोट् ❀ ॥ हे बृहस्पते बृहतां महतां देवानां पालयितर्देव । ❀ "तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः०" इति सुट् तलोपौ । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । त्वत्समीपं प्राप्तस्य अस्य उपद्रवकारिणः सर्वान् वशे लब्ध्वा स्वाधीनान् कृत्वा तिष्ठ । ते यथा इमं जनं नोपसर्पन्ति तथा निरुध्य वर्तस्वेत्यर्थः ॥ अपि च हे अग्निषोमा अग्नीषोमौ । ❀ अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" इति पूर्वपदस्य ईत्वम् । "अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः" इति षत्वम् । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पादादित्वाद् आष्टमिकनिघाताभावे षाष्ठिकम् आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ❀ । युवां वि विध्यतं तान् उपद्रवकारिणो विविधं ताडयतम् । मारयतम् इत्यर्थः । अग्नीषोमौ हि राजत्वात् शिक्षाधिकारिणौ इति तयोरेवात्र प्रार्थनम् । राजत्वं च तयोस्तैत्तिरीयके समाम्नायते । "राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ" [तै० सं० २. ६. २. १] इति । ❀ व्यध ताडने । अस्माद् विपूर्वात् लोटि दिवादित्वात् श्यन् । तस्य ङित्त्वात् "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥ यद्वा अयं यातुधानः युष्मत्तः अत्यर्थं भीतः सन् स्तुवानः युष्मान् स्तुवन् आगमत् युष्मन्निकटं प्राप्तवान् । इमम् आगतं यूयं प्रति हर्यत स्म अस्माकं प्रतिकूलम् अवगच्छत । हे बृहस्पते इमं वशे लब्ध्वा इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे बृहस्पति आदि (आगे वर्णन किये जानेवाले) देवताओं ! यह राक्षससे पीड़ित व्यक्ति तुम्हारी स्तुति करता हुआ आया है अर्थात् अनेक प्रकारके उपद्रवोंके पञ्जेसे छूटनेके लिये तुम

संरक्षकोंकी शरणमें आया है, अतः तुम अपनी शरणमें आये हुए इसको अपना समझ कर ग्रहण करो। हे बड़े २ देवताओं का पालन करने वाले बृहस्पति देव! इस शरणागत पर अत्याचार करने वालोंको अपने वशमें करिये अर्थात् वे जिस प्रकार इसके पास न आ सकें तिस प्रकार उनको रोकते हुए डटे रहिये। और हे अग्नि और सोम देवताओं! तुम इन उपद्रव करने वाले राक्षसोंको अनेक प्रकारसे दण्ड दो-मार डालो †।

दूसरा अर्थ-हे अग्नि और सोम देवताओं! यह राक्षस तुम से भयभीत होकर तुम्हारी स्तुति करता हुआ तुम्हारे पास आ रहा है, तुम इसको हमारे प्रतिकूल जानो और हे बृहस्पते! तुम इसको अपने वशमें करखो ॥ २ ॥

† अग्नि और सोम देवता राजा होनेके कारण दण्ड देनेके अधिकारी हैं, अत एव यहाँ उनकी प्रार्थना की है। तैत्तिरीयसंहिता २।६।२।१ में कहा है, कि-"राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ-जो अग्नि और सोम हैं वे देवताओंके राजा हैं।"

तृतीया ॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।

नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातुऽधानस्य। सोमऽप। जहि। प्रऽजाम्। नयस्व। च।

नि। स्तुवानस्य। पातय। परम्। अक्षि। उत। अवरम् ॥ ३ ॥

हे सोमप सोमरसस्य पातरग्ने। ❀ "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कर्मण्युपपदे पिबतेः कप्रत्ययः ❀। यातुधानस्य राक्षसस्य प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिं जहि नाशय। ❀ हन हिंसा-

मत्योः । अस्मात् लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः । "हन्तेर्जः" इति धातोर्जादेशः । तस्य "असिद्धवदत्राभात्" इति असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति लुगभावः ❀ । यद्वा । ❀ यातुधानस्य इति कर्मणि षष्ठी ❀ । यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसं जहि । प्रजाम् अस्मदीयां नयस्व च अभिमतफलं प्रापय च । अनिष्टपरिहारम् इष्टप्राप्तिं च कुरु इत्यर्थः ॥ अपि च स्तुवानस्य भीत्या त्वद्विषयां स्तुतिं कुर्वतः शत्रोः परम् उत्कृष्टं दक्षिणम् अक्षि । उतशब्दः अप्यर्थे । अवरम् निकृष्टं वामाक्ष्यपि । उभे अपि चक्षुषी निष्पातय स्वस्थानात् प्रच्यावय । विनाशयेत्यर्थः । "तस्माद् दक्षिणोर्ध आत्मनो वीर्यावत्तरः" [तै० सं० १. ७. ६. ३] इति श्रुत्या पुरुषशरीरे दक्षिणभागस्य अतिशयितवीर्यवत्त्वप्रतिपादनात् तद्भागवर्तिनश्चक्षुषः परत्वम् उक्तम् । तदपेक्षया च इतरस्य अवरत्वम् उन्नेयम् ॥

हे सोमरसका पान करने वाले अग्ने ! आप इस राक्षसकी पुत्र पौत्र आदि प्रजाका संहार करिये इस उपद्रवकारी राक्षसको मार डालिये और हमारी सन्तानके अनिष्टको दूर करिये और इष्ट फल दीजिये और डर कर आपकी स्तुति करते हुए शत्रुकी श्रेष्ठ † दाहिनी आँखको फोड़ डालिये और निकृष्ट बाईं आँखको भी फोड़ डालिये ॥ २ ॥

---

† "तस्माद् दक्षिणोर्ध आत्मनो वीर्यावत्तरः [तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ६ । ३] अर्थात् इस कारण पुरुषका अपना आधा अङ्ग बलवान् है ।" इस श्रुतिमें पुरुषके शरीरमें दक्षिण भागको परम वीर्यशाली बताया है । इस लिये दक्षिणभागमें वर्तमान नेत्रको श्रेष्ठ कहा है और दूसरेको निकृष्ट कहा है ॥

चतुर्थी ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ

गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।

तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

यत्र । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सताम् । अत्त्रिणाम् । जातऽवेदः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । वावृधानः । जहि । एषाम् । शतऽतर्हम् । अग्ने ॥ ४ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने गुहा सताम् गुहायां निवसताम् अत्त्रिणाम् अदनशीलानाम् एषाम् रक्षसां यत्र यस्मिन् स्थानविशेषे ध्रियमाणानि जनिमानि जन्मानि वेत्थ जानासि । ❁ यत्रेति । "सप्तम्यास्त्रल्" । "प्राग्दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञायां "त्यदादीनामः" इति अत्वम् । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । जनिमानीति । जनी प्रादुर्भावे । अस्माद् भावे औणादिक इमनिन् प्रत्ययः । वेत्थेति । विद ज्ञाने । "विदो लटो वा" इति सिपस्थलादेशः । लित्स्वरेण आद्युदात्तत्वम् । "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति निघातप्रतिषेधः । सताम् इति । अस्तेर्लटः शत्रादेशः । अदादित्वात् शपो लुक् । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः । अत्त्रिणाम् इति । अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति त्रिनिप्रत्ययः ❁ । अतो हेतोः हे अग्ने त्वम् ब्रह्मणा मन्त्रेण वावृधानः वर्धमानः सन् । ❁ वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटः कानच् ❁ । तान् तत्र स्वस्थाने वर्तमानान् राक्षसान् जहि नाशय । तथा एषाम् यातुधानानां शततर्हम् शतप्रकारं बहुविधं हिंसनं च निवर्तय ।

तत्कृतोपद्रवजातमपि नाशयेत्यर्थः ॥ यद्वा ब्रह्मणा परिदृढेन अस्माभिर्दत्तेन हविषा वावृधानः वर्धमानः महद्बलस्त्वम् तान् अत्रिणो राक्षसान् एषाम् रक्षसां त्वया ज्ञातानि पुत्रपौत्रादिरूपाणि जन्मानि च शततर्हम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । शतशो बहुशस्तर्हणं हिंसनं यथा भवति तथा जहि । निरवशेषं नाशयेत्यर्थः ॥ ❀ तृह हिसि हिंसायाम् । अस्माद् भावे घञ् ❀ ॥

[इति] इति प्रथमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! गुहामें निवास करने वाले इन भक्षणशील राक्षसोंके पुत्र पौत्र आदिरूप जन्म जहाँ हैं, उनको तुम जानते हो इस कारण हे अग्ने ! तुम मन्त्रके द्वारा वृद्धि पाकर इन राक्षसोंको अनेक प्रकारसे मारो—इनका पूर्णरीतिसे नाश कर डालो ॥ ४ ॥

प्रथमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (८) ॥

"अस्मिन् वसु" इति सूक्तेन सर्वसंपत्कर्मसु वासितयुग्मकृष्णलमणिबन्धनम् सारूपवत्सौदने पुरुषाकृतिम् आलिख्य तत्प्राशनं च कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । "अस्मिन् वसु ❀ ❀ इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सं पुरुषगात्रम्" इत्यादि [कौ० २. २] ॥ अत्र वासितं इत्यस्य अयम् अर्थः । "त्रयोदश्यादयस्तिस्रो दधिमधुनि वासयित्वा बध्नात्याशयति" इति [कौ०१.७] परिभाषणात् त्रयोदश्यादिषु दिवसेषु दधिमधुपूर्णे पात्रे मणिं प्रक्षिप्य चतुर्थेऽहनि तन्मणिबन्धनं तद्दधिमध्वाशनं [च] कुर्याद् इति ॥

तथा शत्रुणा राष्ट्रात् प्रच्यावितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशार्थं छेदनप्रदेशात् पुनः प्ररूढैः काम्पीलकाष्ठैः शृतं लूनपुनरुत्थितव्रीहिजम् ओदनम् अनेनैव सूक्तेन प्राशयेत् । तथा च संहिताविधौ । "अस्मिन् वस्विति राष्ट्रावगमनम् आजुशूकानां व्रीहीणाम् आव्रस्कजैः काम्पीलैः शृतं सारूपवत्सम् आशयति" इति [कौ०२.७]॥

तथा आयुष्कामः युग्मकृष्णलमणिं स्थालीपाके मन्त्रिण्य तन्मणिबन्धनम् तदोदनप्राशनं च अनेनैव सूक्तेन कुर्यात् । तथा च कौशिकः । "अस्मिन् वसु ❀ ❀ इति युग्मकृष्णलम् आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति" इति [कौ० ७. २] ।

तथा उपनयनकर्मणि माणवकानुमन्त्रणेऽपि एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । "उपनयनम्" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "भाश्मम् अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१. ९] विश्वे देवा वसवः [१. ३०] आ यातु मित्रः [३. ८] अमुत्र भूयात् [७. ५५] अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व [८. २] प्राणाय नमः [११. ४] विषासहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ६] ॥

एतेषामेव आयुष्यगणत्वात् "आयुष्यस्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] सूत्राद् उपाकर्मादिष्वपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा "ऐरावतीं गजक्षये" इति [न० क० १७] विहितायाम् ऐरावत्याख्यायां महाशान्तावपि अस्य विनियोगः । तथा [च] नक्षत्रकल्पे । "आयुष्यशान्तिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न०क०१८] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" [न० क० १७] इत्युक्तायाम् "अस्मिन् वस्विति युग्मकृष्णलं बार्हस्पत्यायाम्" [न० क० १९] इत्युक्तत्वाद् बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ युग्मकृष्णलमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

पुष्याभिषेककर्मणि एतत् सूक्तम् । तथा च परिशिष्टे ।

शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्याद् अपराजितः ।
आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ।
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा वाचयेत द्विजोत्तमान् ।
इति [प० ५. ३] ॥

'अस्मिन् वसु' इस सूक्तके द्वारा सर्वसम्पत्कर्मोंमें वासित युग्मकृष्णलमणिका बंधन करे और अपने तथा बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधके भातमें पुरुषकी आकृतिको लिख कर उसका प्राशन करे। कौशिकसूत्र २। २ में भी कहा है, कि—"अस्मिन् वसु० इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सम् पुरुषग्रासम् इत्यादि।—अर्थात् वासित युग्मकृष्णल (नीलम) को बाँधता है और सारूपवत्स पुरुषके०।" वासित शब्दके अर्थको स्पष्ट करते हैं, कि—कौशिकसूत्र १। ७ में कहा है, कि—"त्रयोदश्यादयस्तिस्रो दधिमधुनि वासयित्वा बध्नात्याशयति-त्रयोदशी आदि तीन दिन दही और शहदमें बसा कर बाँधता है, प्राशन करता है।" इस परिभाषाके अनुसार त्रयोदशी आदि तीन दिन तक मणिको दही और मधुसे भरे पात्रमें डाल कर चौथे दिन उस मणिको बाँधे और उस दही और मधुका प्राशन भी करे॥

और शत्रुने जिसको राज्यसे निकाल दिया हो उस राजाको फिर अपने राज्यमें प्रवेश करानेके लिये छेदनके प्रदेशसे फिर उगे हुए काम्पील (कबीलेके) काष्ठोंसे औटाये हुए और कटनेके बाद फिर उगे हुए धानोंके भातका इस सूक्तसे भक्षण करावे। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"अस्मिन् वस्विति राष्ट्रागमनम् आलुशूकानां व्रीहीणां आव्रस्कजैः काम्पीलैः मृतं सारूपवत्सं आशयति।" [कौशिकसूत्र २। ७]॥

और आयु चाहने वाला भी दो नीलम मणियोंको स्थालीपाकमें डाल कर उन मणियोंका बंधन और उस भातका भक्षण भी इसी सूक्तसे करे॥ इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"अस्मिन् वसु इति युग्मकृष्णलं आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति।" (कौशिकसूत्र ७। ३)॥

तथा उपनयन कर्ममें बालकके अनुमंत्रणमें भी इस सूक्तका

विनियोग होता है। कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, यथा— "उपनयनका" आरंभ करके कहा है, कि—"प्राक्‌की स्थापना करके दाहिने हाथसे नाभिदेशको छू कर निम्न लिखित मंत्रोंको जपते हुए अनुमंत्रण करते हैं। अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१।६] विश्वे देवा वसवः [१।३०] आ यातु मित्रः [३।८] अमुत्र भूयात् [७।५५] अन्तकाय मृत्यवे [८।१] आरभस्व [८।२] प्राणाय नमः [११।४] विषासहिम् [१७।१]॥

ये ही आयुष्यगण कहलाता है। अत एव "आयुष्यस्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्—आयुष्य और स्वस्त्ययन मंत्रोंसे घृतकी आहुति देय।" [कौशिकसूत्र १४।३] इस सूत्रके अनुसार उपाकर्म आदिमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है॥

तथा "ऐरावतीं गजक्षये—गजक्षयमें ऐरावतीका प्रयोग करे" [नक्षत्रकल्प १७] इस सूत्रसे विहित ऐरावती महाशान्तिमें भी इस सूक्तका विनियोग है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि—"आयुष्यशान्तिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्—आयुष्य शान्ति और स्वस्तिगणका ऐरावती महाशान्तिमें प्रयोग होता है॥"

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य—राज्य श्री और ब्रह्मवर्चस्‌की की कामना वालेके लिये बार्हस्पत्या महाशान्ति करे।" [नक्षत्रकल्प १७] इस सूत्रसे विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्तिके गुग्गुलकृष्णलमणिबंधनमें भी इस सूक्तका विनियोग देखा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि—"अस्मिन् वस्विति गुग्गुलकृष्णलं बार्हस्पत्यायाम्"॥

पुष्पाभिषेकमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्यादपराजितः। आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः।

एतान् पञ्चगणान् हुत्वा वाचयेत द्विजोत्तमान् ॥—शर्मवर्मगण अप-राजितगण आयुष्यगण अभयगण और स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे आहुति देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करावे ॥" अथर्वपरिशिष्ट ५ । ३

तत्र प्रथमा

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।

इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पूषा । वरुणः । मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः । उत्ऽतरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् जने सर्वसंपदादिफलकामे वसवः निवासहेतुभूता एतत्संज्ञा देवाः वसु अभिलषितं धनं धारयन्तु स्थापयन्तु । ❀ धृञ् धारणे । अस्मात् णिच् । वसव इति वस निवासे । शृ-स्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० १. १०] इति उप्रत्ययः । तत्र धान्ये नित् [उ० १. ६] इत्यनुवृत्तेः "ञ्नि-त्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ न केवलं वसवः अपि तु इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानाम् अधिपतिर्देवः ॥ ❀ इदि परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रेत्यादिना [उ० २. २८] रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा इदंकारास्पदं विश्वं कारणभूतब्रह्मा-त्मना अद्राक्षीदिति इन्द्रः । श्रूयते हि ऐतरेयके । "स एतमेव पुरुषं

ब्रह्म ततमम् अपश्यद् इदम् अदर्शमितीं ३ तस्माद् इदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तम् इदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण" [ऐ० आ० २. ४. ३] इति ❀। पूषा पोषकः एतन्नामा देवः। "पूष्णः पोषेण मह्यम्" [तै० आ० १. २. १. १६] "पूषापोषयत्" [तै० ब्रा० १. ६. २. २] इत्यादिश्रुतेः। ❀ पुष पुष्टौ। श्वन्नुक्षन्नित्यादिना [उ० १. १५६] कनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। वरुणः वृणोति सर्वं जगत् निग्रहीतुं पाशजालेन व्याप्नोतीति वरुणो रात्र्यभिमानी देवः। तथा च श्रूयते। "ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा विततः पुरुत्रा"। "उदुत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय" [ऋ० १. २४. १५] इति च। ❀ वृञ् वरणे। कृवृदारिभ्य उनन् [उ० ३. ५३] इति उनन् प्रत्ययः। नित्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀। मित्रः अहरभिमानी देवः। "अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ" [तै० सं० २. ४. १०. १] इत्यादिश्रुतेः। सर्वस्य मरणत्रायकत्वेन सर्वजनमित्रत्वात् मित्र इत्युच्यते। "सर्वस्य वा अहं मित्रम् अस्मि" [तै० सं ६. ४. ८. १.] इति हि तैत्तिरीयकम्। ❀ मित्रः प्रमीतेस्त्रायते [नि० १०. २१] इति यास्कः ❀। अग्निः एतेषाम् इन्द्रादीनाम् अग्रणीः मुख्यभूतो वा देवः। "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३] "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्" [ऐ० ब्रा० १. ४] इति च श्रुतेः। एतेपि अस्मिन् वसु धारयन्तु इति संबन्धः॥ उत अपि च आदित्याः। अदितिः अदीना देवमाता तस्याः पुत्रा आदित्याः धात्रर्यमादयो देवाः। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "अदितिः पुत्रकामा" इत्यारभ्य "तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्" [तै० ब्रा० १. १. ६. १] इत्यादि। ❀ "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इति अदितिशब्दात् षष्ठीसमर्थाद् अपत्येर्थे प्राग्दीव्यतीयो ण्यप्रत्ययः।

प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। विश्वे सर्वे अन्ये देवाश्च। यद्वा विश्वे देवाः एतत्संज्ञका गणदेवाः इमम् पुरुषम् उत्तरस्मिन् उत्कृष्टतरे ज्योतिषि तेजसि धारयन्तु स्थापयन्तु। तेजसा सर्वोत्कृष्टं कुर्वन्तु इत्यर्थः ॥

सब प्रकारकी सम्पत्ति आदि चाहने वाले इस मनुष्यमें निवासके हेतु वसुनामक देवता अभिलषित धनको स्थापित करें। केवल वसु देवता ही नहीं, किन्तु परमैश्वर्यशाली देवराज इन्द्र†, पोषक पूषा देवता‡, सम्पूर्ण जगत्को अपने पाशोंसे बाँधनेके लिये घेरनेके वाले रात्रिके अभिमानी देवता वरुण ×, दिनके अभिमानी देवता मित्र ÷ (सूर्य), और इन्द्र आदि देवताओंमें मुख्य

† अथवा उन्होंने "इदं-यह" के वाच्य विश्वको कारणभूत ब्रह्मात्माके द्वारा देखा, इस कारण वह इन्द्रदेव कहलाते हैं। ऐतरेय आरण्यक २। ४। ३ में कहा है, कि-"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यद् इदं अदर्शमितीं ३ तस्माद् इदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तं इदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण-उसने इस ब्रह्म पुरुषको ही चारों ओर फैला हुआ देखा इदम्-इसको फैला हुआ द्रं देखा इस कारण उस इदन्द्रको परोक्षमें इन्द्र कहते हैं ॥

‡ "पूष्णः पोषेण मह्यम्" तैत्तिरीय ब्राह्मण १। २। १। ७६ "पूषापोषयत्" तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ६। २। २ इत्यादि श्रुतियोंसे पूषा (सूर्य) देवताका पोषकत्व सिद्ध है ॥

× सुना भी जाता है, कि-"ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा विततः।-हे वरुण! जो तुम्हारे सैंकड़ों और सहस्रों यज्ञिय पाश फैले हुए हैं।" और ऋग्वेद १। २४। १५ में भी कहा है, कि-"उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय" ॥

÷ अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ-मित्र (सूर्य) और वरुण दिन और रात्रिके देवता हैं ॥" [तैत्तिरीयसंहिता २। ४। १०। १]

तथा अग्रणी अग्निदेव+ भी इस सम्पत्ति चाहने वालेको अभिलषित धन दें। और अदीना देवमाता अदितिके पुत्र धाता अर्यमा आदि आदित्या† देवता, विश्वेदेवा तथा और सम्पूर्ण देवता भी इस पुरुषमें सर्वश्रेष्ठ तेजको स्थापित करें अर्थात् इसको तेजसे सर्वश्रेष्ठ बना दें॥ १॥

द्वितीया॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्नि-
रुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥२

इस श्रुतिके अनुसार सूर्य दिनके और वरुण रात्रिके देवता हैं। सूर्य मरणसे रक्षा करते हैं और सबके मित्र हैं अत एव मित्र कहलाते हैं। तैत्तिरीय संहिता ६। ४। ८। १ में सूर्यका वाक्य भी है, कि—"सर्वस्य वा अहं मित्रं अस्मि—मैं सबका मित्र हूँ" और यास्कने कहा है, कि—"मित्रः प्रमीतेस्त्रायते—प्रमीति (मरण) से रक्षा करनेके कारण मित्र कहलाते हैं" [निरुक्त १०। २१]॥

+ "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्—देवताओंमें अग्नि प्रथम (मुख्य) और अग्रणी हैं" [तैत्तिरीय ब्राह्मण २। ४। ३। ३]। और "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—देवताओंमें प्रथम गिनने योग्य अग्नि देवताओंका मुख है।" [ऐतरेय ब्राह्मण १। ४]॥

† तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि—"अदितिः पुत्रकामा—अदिति ने पुत्रकी इच्छाकी" इसका आरंभ करके कहा है, कि—"तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्—उसके धाता और अर्यमा हुए।" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १। १। ६। १)॥

अस्य । देवाः । प्रऽदिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः ।

उत । वा । हिरण्यम् । सऽपत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु ।

उत्ऽतमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ २ ॥

हे देवाः इन्द्रादयः युष्मदाज्ञया अस्य ग्रामादिफलकामस्य पुरुषस्य । ❀ कर्तरि कर्मणि वा षष्ठी ❀ । प्रदिशि प्रदेशने प्रशासने । आज्ञायाम् इत्यर्थः । ज्योतिरस्तु भवतु । किं तज्ज्योतिरिति तद् आह । सूर्यः मार्तण्डः सर्वस्य प्रकाशको देवः । अग्निः और्वजाठरवैद्युतादिरूपः अञ्जनादिगुणयुक्तो देवः । एतत् चन्द्रादीनामपि उपलक्षणम् । उतशब्दः अप्यर्थे । वाशब्दः चार्थे । अपि च हिरण्यम् सुवर्णम् । अस्य सितभास्वररूपत्वात् ज्योतिष्ट्वम् । श्रुतं च "ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिषैव तमोपहते" [तै० सं० ५.७. ५. २] इति । सूर्यादिकं ज्योतिः प्रकाशप्रवर्षणादिना अस्य उपकरोतु । निखिलसंपन्मूलभूतं धनमपि अस्य वशे वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ प्रदिशीति । दिश अतिसर्जने । अस्मात् प्रपूर्वात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ ॥ यत एवम् अतः सपत्नाः शत्रवः । सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् । यद्वा । सपत्नीव सपत्नः । ❀ "व्यन्त्सपत्ने" इति निपातनात् सपत्नीशब्दाद् इवार्थे अकारप्रत्ययः ❀ । अस्मत् अस्मदीयात् पुरुषात् । यद्वा । अस्मत् अस्मात् । ❀ छान्दसं ह्रस्वत्वम् ❀ । अधरे निकृष्टा भवन्तु । उपक्षीणा भवन्तु इत्यर्थः ॥ अपि च न केवलम् ऐहिकमेव आमुष्मिकमपि सुखं प्रार्थयते । उत्तमम् उत्कृष्टतमम् । ❀ उपसृष्टाद् उच्छब्दक्रियावचनाद् आतिशायनिकस्तमप् । "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठाद् "उञ्छादीनां च" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तादृशं नाकम् । कं सुखम् अकं दुःखम् । न विद्यते-

स्मिन् अकम् इति नाकः स्वर्गः। श्रूयते हि। "सुवर्गो वै लोको नाको यस्यैता उपधीयन्ते नास्मा अकं भवति" [तै० सं० ५.३. ७. १] इति। ❀ "नभ्राण्नपान्न०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावात् नलोपाभावः। "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। "नञ्सुभ्याम्" इति व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀। दुःखलेशेनापि असंस्पृष्टं लोकम् इमम् पुरुषम् अधि रोहय। ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀। हे देवाः अधिरोहयत प्रापयत। ऐहिकम् आमुष्मिकं च सुखं प्रयच्छतेत्यर्थः॥

हे इन्द्र आदि देवताओं! तुम्हारी आज्ञासे इस ग्राम आदि फल चाहने वाले पुरुषके प्रशासनमें ज्योति रहे। (कौन २ सी ज्योति रहे, इसको कहते हैं, कि–) सूर्य–सबके प्रकाशक मार्तण्डदेव, और जाठर वैद्युत आदिरूप अन्नादिगुण युक्त अग्नि और चन्द्र तथा † सुवर्ण ज्योति भी इसके अधीन रहे। अर्थात् सूर्य आदि ज्योति प्रकाश और वर्षाके द्वारा इसका उपकार करें। और सब सम्पत्तियोंका मूलभूत धन भी इसके पास रहे। ऐसा होने पर शत्रु इस हमारे पुरुषसे और हमसे निकृष्ट होजावें (इस प्रकार इस लोकके सुखकी प्रार्थना कर अब परलोकके सुखकी प्रार्थना करते हैं, कि–) और हे देवताओं! दुःखके लेशसे भी अछूते परमश्रेष्ठ नाक (स्वर्ग) ‡ लोकमें इस पुरुषको तुम चढ़ाओ।

---

† सित भास्कररूप होनेसे सुवर्ण ज्योति कहलाता है। तैत्तिरीयसंहिता ५।७।५।२ में कहा है, कि–"ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिषैव तमोपहते–सुवर्ण ज्योति है ज्योतिसे ही अन्धकार दूर होता है।"

‡ सुखको 'क' कहते हैं, सुखका न होना 'अक' दुःखका वाचक है। जिसमें अक अर्थात् दुःख नहीं होता है, वह नाक (स्वर्ग) कहलाता है। तैत्तिरीयसंहिता ५।३।७।१ में कहा

अर्थात् इसको ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका सुख दो॥२॥

तृतीया ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं संजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्

येन। इन्द्राय। सम्ऽअभरः। पयांसि। उत्ऽतमेन। ब्रह्मणा। जातऽवेदः। तेन। त्वम्। अग्ने। इह। वर्धय। इमम्। सऽजातानाम्। श्रैष्ठ्ये। आ। धेहि। एनम्॥ ३॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने येन अतिशयितवीर्यवता उत्तमेन उत्कृष्टतमेन ब्रह्मणा मन्त्रेण करणभूतेन पयांसि क्षीराज्यादिरूपाणि हवींषि इन्द्राय देवानाम् अधिपतये समभरः समहरः प्रापितवान् असि। ❀ हृञ् हरणे अस्मात् लङि सिप्। हृग्रहोर्भश्छन्दसि इति भत्वम्। "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड् उदात्तः" इति अडागम उदात्तः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः। "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀। हे अग्ने त्वं तेन तथाविधेन ब्रह्मणा इमम् संपदादिफलकामं पुरुषम् इह अस्मिन् लोके स्वकीये अवस्थाने वर्धय समर्धय। अस्य अभिमतफलसमृद्धिं कुर्वित्यर्थः॥ अपि च। सजातानाम् समानजन्मनां पुरुषाणां मध्ये श्रैष्ठ्ये श्रेष्ठत्वे एनम् पुरुषम् आ धेहि निधेहि स्थापय। ज्ञातीनां मध्ये एनम् उत्कृष्टतमं कुर्वित्यर्थः। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्मात् लोट्। "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः। "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ। श्रैष्ठ्य इति। प्रशस्यशब्दात् आतिशायनिकं है, कि–"सुवर्गो वै लोको नाको यस्यैता उपधीयन्ते नास्मा अकं भवति॥"

इष्ठन् प्रत्ययः। "प्रशस्यस्य श्रः" इति प्रशस्यशब्दस्य आदेशः। अस्मादेव आदेशविधानसामर्थ्याद् "अजादी गुणवचनादेव" इति नियमस्य बाधितत्वाद् अगुणवचनादपि इष्ठन् प्रत्ययः। "प्रकृत्यैकाच् इति" प्रकृतिभावात् टिलोपयस्येतिचलोपयोरभावः। श्रेष्ठस्य भावः श्रैष्ठ्यम् ॥ ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाद् "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" इति ष्यञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने! जिस परमवीर्यवान् मन्त्रसे तुमने देवताओंके स्वामी इन्द्रको क्षीर घृत आदि रूप हवि पहुँचाई है। हे अग्ने! तुम उस मन्त्रके द्वारा इस सम्पत्ति आदि फल चाहने वाले पुरुषको इस लोकमें बढ़ाओ और समान जन्म वाले पुरुषोंमें इसको श्रेष्ठ पदपर आरूढ़ करो अर्थात् जातिमें इसको श्रेष्ठ बनाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

आ। एषाम्। यज्ञम्। उत। वर्चः। ददे। अहम्। रायः।
पोषम्। उत। चित्तानि। अग्ने।
सऽपत्नाः। अस्मत्। अधरे। भवन्तु। उत्ऽतमम्। नाकम्।
अधि। रोहय। इमम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वत्प्रसादाद् एषाम् शत्रूणां संबन्धिनं यज्ञम् स्वर्गादिसाधनं पुण्यकर्म अहम् त्वदुपासकः आ ददे स्वीकरोमि। अप-

हरामीत्यर्थः । ❀ "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् । "व्यवहिताश्च" इति आङो व्यवहितप्रयोगः ❀ । उत अपि च वर्चः राज्यादिनिमित्तं शत्रुसंबन्धि तेजः । तथा रायः धनस्य पोषम् पुष्टिम् । शत्रूणां संबन्धि समृद्धं धनम् इत्यर्थः । उत चित्तानि मनांस्यपि । आ ददे इति प्रत्येकं संबन्धः । शत्रुसंबन्धि ऐहिकामुष्मिकसुखोपायभूतं यज्ञधनादिकं तन्निर्वर्तिकां बुद्धिं स्वात्मसात्करोमीत्यर्थः । ❀ रायस्पोषम् इति । "ऊडिदंपदादि०" इति-रैशब्दात् परस्याः षष्ठ्या उदात्तत्वम् । "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । यत एवम् अतः सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आपके प्रसादसे आपका उपासक मैं इन शत्रुओंके स्वर्ग आदिके साधन पुण्यकर्मको स्वीकार करता हूँ—हरता हूँ—। और इन शत्रुओंके समृद्ध धन और चित्तोंको भी हरता हूँ। अत एव शत्रु हमारे इस यजमानके (या हमारे) अधीन होजावें। और हे देवताओं ! तुम इस यजमानको दुःखरहित श्रेष्ठ स्वर्गमें चढ़ाओ॥४॥

प्रथमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥ (९) ॥

"अयं देवानाम्" इति सूक्तेन जलोदररोगनिवृत्तये मुञ्जतृणदर्भपिञ्जूलीयुक्तघटजलेन अभिषेकं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "अयं देवानाम् इति एकविंशत्या दर्भपिञ्जूलीभिर्वलीकैः सार्धम् अधिशिरोऽवसिञ्चति" इति [कौ० ४. १] ॥

जलोदररोगकी निवृत्तिके लिये मुञ्जतृण और कुशाकी मुट्ठी युक्त घटजलका 'अयं देवानाम्०' इस मन्त्रसे अभिषेक करे ॥ कौशिकसूत्रमें भी कहा है, कि—"अयं देवानाम्० इस मन्त्रको पढ़ कर इक्कीस दर्भ (कुशा) की मुट्ठी और वलीक (वरौनीके तृणों) से शिर पर अभिषेक करे ।"

तत्र प्रथमा ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या ।
वरुणस्य । राज्ञः ।
ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् ।
इमम् । नयामि ॥ १ ॥

देवानाम् इन्द्रादीनां मध्ये असुरः क्षेप्ता पापिनां निग्रहीता । ❁ असु क्षेपणे । असेरुरन् [उ० १. ४२] इति उरन् प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❁ । ईदृशः अयम् वरुणो विराजति विशेषेण दीप्यते । सर्वनियन्तृत्वात् सर्वोत्कृष्टतया वर्तत इत्यर्थः । राजृ दीप्तौ ❁ ॥ तत्र हेतुम् आह । हि यस्मात् कारणात् सत्या सत्यानि सद्रूपं प्राप्तानि पदार्थजातानि । ❁ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः । राज्ञः राजमानस्य वरुणस्य देवस्य वशा वशानि स्ववशेन स्वाधीनानि । नियम्यत्वेन स्वाधीनानि भवन्तीत्यर्थः । यद्वा राज्ञः वरुणस्य सत्यानि यथार्थभाषणानि स्ववशानि भवन्ति । सर्वदा सत्यभाषणशील इत्यर्थः । आम्नास्यते हि "राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणः" [१. १०. ३] इति ॥ ततः तस्मात् कारणात् परि परितः सर्वतः ब्रह्मणा मन्त्रेण वरुणविषयस्तुतिरूपेण हविषा वा शाशदानः अत्यर्थं तीक्ष्णः स्तोत्रादिना तोषितस्य वरु-

णस्य अनुग्रहेण प्राप्तबलः। ❀ शद्लृ शातने। अस्मात् यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन लटः शानच्। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। ईदृशोऽहम् उग्रस्य उद्गूर्णबलस्य दुष्प्रधर्षस्य वरुणस्य मन्योः क्रोधात् अनृतभाषणादिपापजनितात् जलोदररोगहेतुभूतात् इमम् जलोदररोगार्तं पुरुषम् उन्नयामि उद्गमयामि। रोगाद् उन्मोचयामीत्यर्थः॥

इन्द्र आदि देवताओंमें वरुण पापियोंको दण्ड देने वाले हैं। ऐसे वरुण सबके नियन्ता होनेके कारण विशेषरूपसे दीप्त रहते हैं (सबके नियन्तापनके कारण सर्वोत्कृष्टरूपसे रहते हैं) इसका कारण है, कि—सत्‌रूपको प्राप्त हुए पदार्थ वरुणदेवके वशमें हैं। अथवा यथार्थभाषण राजा वरुणके वशमें है अर्थात् वह सर्वदा सत्यभाषणशील हैं। इस कारण मैं सर्वतः मन्त्रसे वा वरुणविषयस्तुतिरूप हविसे वा स्तोत्र आदिसे सन्तुष्ट हुए वरुणके अनुग्रहसे बल प्राप्त कर परमतीक्ष्ण होगया हूँ अतः असत्यभाषण करनेके कारण उत्पन्न हुए वरुणके उग्रक्रोधरूप जलोदररोगसे पीड़ित इस आर्तपुरुषको जलोदर रोगसे छुटाता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

नमः। ते। राजन्। वरुण। अस्तु। मन्यवे। विश्वम्। हि।

उग्र । निऽचिकेषि । द्रुग्धम् ।

सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि । साकम् । शतम् । जीवाति ।

शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

हे राजन् द्योतमान वरुण ते तव मन्यवे क्रोधाय नमः नमस्कारः अस्तु भवतु । सर्वत्र हिंसनस्य मन्युपूर्वकत्वाद् अत्र मन्योर्नमस्कार्यतया निर्देशः । यथा "नमस्ते रुद्र मन्यवे" [तै० सं० ४. ५. १. १] इति । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहा०" इति मन्युशब्दात् चतुर्थी ❀ ॥ तत्र हेतुम् आह । [हि यस्मात् कारणात् त्वं] हे उग्र उद्गूर्णबल वरुण विश्वम् कृत्स्नं द्रुग्धम् द्रोहम् । ❀ भावे क्तः ❀ । समस्तप्राणिकृतम् अपराधं निचिकेषि जानासि । अपराधज्ञानात् हि मन्युरुत्पद्यते अतः तदुत्पत्तिर्मा भूद् इति मन्योः अत्र नमस्कारः कृत इति द्रष्टव्यम् । यद्वा । उत्तरशेषोयम् । हे वरुण द्रुग्धम् द्रोहकर्तृ अपकारकम् । ❀ द्रुह जिघांसायाम् । कर्तरि क्तः । रधादित्वेन विकल्पितेट्त्वात् "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । "वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्" इति हकारस्य घत्वम् । "झषस्तथोर्धोधः" इति निष्ठातकारस्य धत्वम् । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तता ❀। ईदृशं विश्वम् प्राणिजातं हि यस्मात् निचिकेषि जानासि । ❀ कित ज्ञाने । अस्मात् लट् । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ❀ । तस्मात् कारणात् सहस्रम् सहस्रसंख्याकान् अन्यान् सापराधान् द्वेष्यान् जनान् साकम् सह । युगपदेव इत्यर्थः । प्र सुवामि प्रेरयामि । अस्य प्रतिनिधित्वेन प्रयच्छामीत्यर्थः । वरुणस्य सकाशात् प्रतिनिधिप्रदानेन आत्मनो निष्क्रयणम् ऐतरेयके समाम्नातम् । "अथैनं ते शतं ददाम्यहम् एषाम् एकेनात्मानं निष्क्रीणै" [ऐ० ब्रा० ७. १५] इति । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शः ।

तस्य ङ्नित्वात् गुणप्रतिषेधे उवङ् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ । तस्मात् कारणात् अयम् व्याधिपीडितो जनः तव अनुग्रहात् शतं शरदः शतसंख्याकान् संवत्सरान् जीवाति जीवतु। सापराधान् अन्यान् अपरिमितान् जनान् स्वीकृत्य एनं नीरोगं कृत्वा शतसंवत्सरं जीवयेत्यर्थः । ❀ "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् लेटि आडागमः ❀ ॥

हे प्रकाशमय वरुण ! तुम्हारे क्रोधके लिये नमस्कार हो ‡ । क्योंकि—हे प्रचण्ड बल वाले वरुण ! सारे द्रोहको अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके किये हुए अपराधको तुम जानते हो । (अपराधका ज्ञान होनेसे ही क्रोध उत्पन्न होता है अतः उसकी उत्पत्ति न हो, इस कारण क्रोधको यहाँ नमस्कार किया है) अथवा हे वरुण ! आप द्रोह करने वाले सकल प्राणियोंको जानते हैं, अत एव मैं दूसरे सहस्रों अपराधी द्वेष्य पुरुषोंको एक साथ भेजता हूँ । इस के प्रतिनिधि बनाकर भेजता हूँ† । अत एव यह व्याधिसे पीडित जन आपके अनुग्रहसे सौ वर्षों तक जीता रहे । अर्थात् अपराधी दूसरे असंख्य मनुष्योंको ग्रहण कर आप इसको नीरोग कर सौ वर्ष तक जीवित रखिये ॥ २ ॥

‡ सर्वत्र क्रोध आनेसे ही हिंसा होती है अत एव यहाँ क्रोध को नमस्कार किया है । तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । १ । १ में भी कहा है, कि—"नमस्ते रुद्र मन्यवे—हे रुद्र ! तुम्हारे क्रोधको नमस्कार है" ॥

† प्रतिनिधि देनेसे वरुणके पाससे अपना निष्क्रयण ऐतरेयमें कहा है । यथा—"ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहं एषां एकेनात्मानं निष्क्रीणे—हे ऋषे ! मैं तुम्हें सौ (मुद्रा) देकर तुम्हारे इन पुत्रोंमेंसे अपने लिये एकको खरीदता हूँ ।" [ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १५]॥

तृतीया ॥

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥३॥

यत् । उवक्थ । अनृतम् । जिह्वया । वृजिनम् । बहु ।
राज्ञः । त्वा । सत्यऽधर्मणः । मुञ्चामि । वरुणात् । अहम् ॥३॥

हे जलोदररोगग्रस्त पुरुष जिह्वया अभिवदनसाधनेन इन्द्रियेण यत् रोगनिदानभूतम् अनृतम् असत्यम् उवक्थ उवक्थ । अयथार्थकथनं कृतवानसीत्यर्थः । ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । "ब्रुवो वचिः" इति लिटि वच्यादेशः । "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् । छान्दसो वर्णव्यत्ययः ❀ । अनृतस्य रोगहेतुत्वम् उपपादयन् विशिनष्टि । बहु अधिकं वृजिनम् पापम् । हेतुहेतुमतोरभेदेन सामानाधिकरण्यम् । अन्यस्मात् पापकर्मणः अधिकतरपापहेतुः अनृतवदनम् इत्यर्थः । ❀ वृजी वर्जने । तस्माद् औणादिक इनच् प्रत्ययः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । अनृतस्य वृजिनरूपत्वं तैत्तिरीयकेपि आम्नातम् । "वृजिनम् अनृतं दुश्चरितम् । ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्" [तै० ब्रा० ३.३.७.१०] इति । यस्माद् अनृतं पापरूपं तस्माद् रोगनिदानम् इत्यर्थः । उक्तं हि ।

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः । इति ॥

यद्यपि अनृतवदनरूपं पापं कृतवान् असि तथापि सत्यधर्मणः सत्यं धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मा । ❀ "धर्माद् अनिच् केवलात्" इति अनिच् प्रत्ययः समासान्तः ❀ । सत्यभाषणस्वभावात् । विवक्षितविशेषणम् एतत् । यतोयं वरुणः सत्यधर्मा अतः असौ अनृतभाषणं न सहत इत्यर्थः । श्रूयते हि । "अनृते खलु वै क्रिय-

माणे वरुणो गृह्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति। ईदृशात् राज्ञः राजमानात् नियामकाद् वरुणात् हे रोगग्रस्त [अहं त्वा] त्वां मुञ्चामि मोचयामि। तस्माद् अनृतवदनसंभूतात् जलोदररूपाद् वरुणपाशात् मन्त्रप्रभावेन त्वां वियोजयामीत्यर्थः ॥ ❀ मुच्लृ मोक्षणे। तुदादित्वात् शः। "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ ॥

हे जलोदररोगसे ग्रस्त पुरुष ! तूने भाषण करनेकी साधन जिह्वासे रोगके कारणभूत झूँठको बोला है। (यह झूँठ बोलना) बड़ा भारी वृजिन (पाप) है ‡। यद्यपि तूने असत्य बोलना रूप पाप किया है। तथापि जिनका सत्य भाषण करना स्वभाव है और जो इसी कारण असत्यभाषणको नहीं सहते हैं † उन राजमान नियामक वरुणदेवसे हे रोगग्रस्त पुरुष ! मैं तुझे छुड़ाता हूँ अर्थात् असत्यभाषणसे उत्पन्न हुए जलोदररूप वरुणके पाश से मन्त्रप्रभावके द्वारा मैं तुझे छुड़ाता हूँ ॥ २ ॥

‡ अनृत (झूँठ) को तैत्तिरीयकमें भी पाप (वृजिन) माना है। यथा—"वृजिनं अनृतं दुश्चरितम् ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्—अनृत (झूँठ) दुश्चरित पाप है और सत्य सरलतासे किया जाने वाला पुण्य है।" [तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।७।१०] अतः असत्य पापरूप होनेसे रोगका कारण है। कहा भी है, कि—"जन्मान्तरकृतं पापं व्याधि रूपेण जायते। तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥—पूर्वजन्ममें किया हुआ पाप व्याधिरूपसे उत्पन्न होता है, औषध दान जप होम और अर्चन आदि से उसकी शान्ति होती है ॥"

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।६ में कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति—झूँठ बोलने पर वरुण पकड़ लेते हैं।"

चतुर्थी ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥४॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानरात् । अर्णवात् । महतः । परि ।

सऽजातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अप । चिकीहि । नः

हे रोगग्रस्त त्वा त्वाम् । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इति अनुवृत्तेः स च अनुदात्तः ❀ ॥ वैश्वानरात् विश्वनरहितात् महतः प्रभूताद् अर्णवात् । ❀ अर्णं इत्युदकनाम । तद् अस्मिन् बहुलम् अस्तीत्येतस्मिन् अर्थे "अर्णसो लोपश्च" इति वप्रत्ययः तत्संनियोगेन सकारलोपश्च ❀ । तथाविधात् समुद्रात् । अनेन च तदभिमानी देवो लक्ष्यते । समुद्राभिमानिनो वरुणात् मुञ्चामि । तत्कृतात् जलोदरोगाद् मुञ्चामीत्यर्थः । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ ॥ यद्वा वैश्वानरः विश्वनरहितो जाठराग्निः तस्य आवरकत्वेन संबन्धी सोपि वैश्वानरः । ❀ "तस्येदम्" इत्यण् ❀ । तथाविधात् महतः अधिकाद् दुश्चिकित्स्याद् अर्णवात् उदकसहितात् जलमयाद् रोगात् त्वां मुञ्चामि ॥ हे उग्र उद्गूर्णबल वरुण त्वमपि सजातान् सहचारिणः शिक्षकान् भटान् इह अस्मिन् पुरुषविषये आ वद आसमन्तात् कथय । यथा पुनःपुनरागत्य एनं पुरुषं न निघ्नन्ति तथा कथयेत्यर्थः ॥ तत्र हेतुम् आह । नः अस्मदीयं ब्रह्म हवीरूपम् अन्नम् । यद्वा । ब्रह्म अस्माभिः प्रयुज्यमानां मन्त्ररूपां स्तुतिम् अप । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अपहाय । अनृतभाषणादिनिमित्तम् अपराधं विस्मृत्येत्यर्थः । चिकीहि जानीहि । अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । मदीयया स्तुत्या परि-

तुष्टः सन् भयादि नाशयेत्यर्थः। ❀ चिकीहि। कित ज्ञाने। अस्मात् लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। छान्दसो दीर्घः ❀॥

[इति] प्रथमकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

हे रोगग्रस्त! तुझको विश्वनरका हित करने वाले जल (समुद्र) से अर्थात् समुद्रके अधिष्ठात्री देवता वरुणसे छुड़ाता है। सार यह है, कि—उनके उत्पन्न किये हुए जलोदर-रोगसे छुड़ाता हूँ। अथवा—विश्वनर (सम्पूर्ण मनुष्यों) का हित करने वाली जठराग्निको रोकनेसे यह जलोदर रोग भी वैश्वानर कहलाता है, ऐसे कठिनतासे चिकित्सा करने योग्य जलमय रोगसे मैं तुझे छुड़ाता हूँ। और हे उद्गूर्ण बल वाले वरुण! आप भी अपने सहचारी शिक्षक भटोंसे कहिये, जिससे वे वार वार आकर इस पुरुषको पीड़ित न कर सकें, और हमारी ब्रह्मरूप हविको तथा स्तुतिको, असत्य भाषण आदि अपराधको विसार कर (जानिये) स्वीकार करिये। अर्थात् मेरी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भय आदिका नाश करिये॥ ४॥

प्रथम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त॥

"वषट् ते पूषन्" इति सूक्तेन गर्भिण्याः शिरसि संपाताभिहुतोष्णजलेन आप्लावनम् शालाग्रन्थिविमोचनम् योक्त्रबन्धनम् इत्येवमादीनि सुखप्रसवकर्माणि पुत्रजननविज्ञानकर्मान्तानि कुर्यात्। तत्र "वषट् ते पूषन्निति चतुर उदपात्रे संपातान् आनयति" इत्यादि "पुंनामधेये कुमारः" इत्येतदन्तं सूत्रं [कौ० ४. ६] द्रष्टव्यम्॥

"वषट् ते पूषन्" इस सूक्तके द्वारा गर्भिणीके शिर पर संपाताभिहुत उष्ण जलका डालना, शालाग्रन्थिविमोचन, योक्त्र-बन्धन आदि सुखसे प्रसव होनेके कर्मोंको पुत्रजननविज्ञान कर्म तक करे। इस विषयमें 'वषट् ते पूषन्निति चतुर उदपात्रे संपा-

तान् आनयति' से "पुं नामधेये कुमारः" तकके सूत्र देखने चाहिये [कौशिकसूत्र ४ । ६]

तत्र प्रथमा ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ १

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः ।

सिस्रताम् । नारी । ऋतऽप्रजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै ।

ऊं इति ॥ १ ॥

हे पूषन् सकलप्राणिजातस्य पोषक देव । "पूषापोषयत्" [तै० ब्रा० १. ६. २. २] इति श्रुतेः । ते तुभ्यम् । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी । "तेमयावेकवचनस्य" इति युष्मदस्ते आदेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इति अनुवृत्तेः स च अनुदात्तः ❀ । अस्मिन् सूतौ इदानीं संप्राप्ते सुखप्रसवकर्मणि । ❀ षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यस्मात् भावे क्तिन् । अस्मिन्निति । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । होता देवानाम् आह्वाता ऋत्विक् अर्यमा प्राणिजातस्य प्रेरको देवः आदित्यः तदात्मको भूत्वा वषट् कृणोतु । वषट्कारेण हविः प्रयच्छतु ॥ तथा वेधाः धाता सकलजगतो निर्माता देवः ध्यानविशेषेण तदात्मकश्च भूत्वा वषट् कृणोतु ॥ यद्वा । अर्यमा वेधाश्च होता भूत्वा तुभ्यं वषट् कृणोतु । देवैरेव क्रियमाणम् इदं कर्म सुखप्रसवलक्षणं फलं दातुं शक्नोतीत्यर्थः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । इदित्वात् नुम् । अस्मात् लोटि शपि प्राप्ते "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन धात्वन्तस्य अकारादेशश्च । "अतो लोपः" इति तस्य लोपे "अचः परस्मिन्

पूर्वविधौ" इति स्थानिवद्भावेन अकारस्य उपधात्वविघातात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥ हविःस्वीकारेण तुष्टस्य पूष्णः प्रसादात् नारी गर्भिणी स्त्री । ❀ "नृनरयोर्वृद्धिश्च" इति शार्ङ्गरवादिषु पाठात् ङीन् प्रत्ययः तत्संनियोगेन वृद्धिश्च ❀ । ऋतप्रजाता सत्यप्रसवा जीवदपत्या सती सिस्रताम् प्रसवजनितक्लेशाद् विनिःसृता भवतु । अक्लेशेन प्रसूता भवतु इत्यर्थः । ❀ सृ गतौ । अस्मात् लोटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "अर्तिपिपर्त्योश्च" । "बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य इत्वम् । "द्विविकरणा अपि धातवो भवन्ति" इति पुनरपि विकरणः शः । तस्य ङित्त्वाद् गुणाभावे यण् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उ अपि च सूतवै सुखप्रसवार्थम् । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" इति भावे तवै प्रत्ययः ❀ । यद्वा सूतवै प्रसवितुम् । ❀ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवैप्रत्ययः । "अन्तश्च तवै युगपत्" इति आद्यन्तयोर्युगपद्येन उदात्तत्वम् ❀ । पर्वाणि प्रसवनिरोधाः संधिबंधाः विजिहताम् विगच्छन्तु । विश्लथा भवन्तु इत्यर्थः । ❀ ओहाङ् गतौ । लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "भृञामित्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आकारलोपः ❀ ॥

हे सकल प्राणियोंके पोषक † पूषा देव ! इस समय वर्तमान प्रसवकर्ममें देवताओंका आह्वान करने वाला ऋत्विक् प्राणियों का प्रेरक सूर्यरूप बनकर वषट्कारके द्वारा हवि दे । और ध्यानविशेषके द्वारा सकल जगत्का निर्माता धातारूप बन कर वषट्कारके द्वारा हवि दे अथवा—अर्यमा और वेधा होता बन कर

† तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ६ । २ । २ में कहा है, कि—"पूषापोषयत्—पूषाने पोषण किया" ।

तुम्हें वषट्कारके द्वारा हवि दें । (तात्पर्य यह है, कि—देवताओं से ही किया हुआ यह कर्म सुखसे प्रसव होनारूप फल देसकता है, हवि देनेसे सन्तुष्ट हुए पूषाके प्रसादसे यह गर्भिणी) स्त्री सत्यप्रसवा—जीवित सन्तानको उत्पन्न कर प्रसवजनित क्लेशसे छूट जाय अर्थात् सुखपूर्वक प्रसव करे । और सुखसे प्रसव होनेके लिये इसके प्रसवको रोकनेवाले संधिबन्धन भी ढीले पड़जावें॥१॥

द्वितीया ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

चतस्रः । दिवः । प्रऽदिशः । चतस्रः । भूम्याः । उत ।
देवाः । गर्भम् । सम् । ऐरयन् । तम् । वि । ऊर्णुवन्तु । सूतवे २

दिवः द्युलोकस्य संबन्धिन्यः याश्चतस्रः चतुःसंख्याकाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्याः प्रधानदिशः सन्ति । उत अपि च भूम्याः भूलोकस्य याश्चतस्रः प्रदिशः सन्ति । ❀ चतुर्शब्दस्य जसि "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ" इति चतस्रादेशः । "अचि र ऋतः" इति रेफादेशः । त्रः संख्यायाः [फि० २. ५] इति चतुर्शब्द आद्युदात्तः । स्थानिवद्भावात् तदादेशोपि आद्युदात्त एव ❀ । ता दिग्देवताः देवाः इन्द्रादयश्च गर्भम् पूर्व समैरयन् सङ्गतम् अकुर्वन् । गर्भम् उदपादयन्नित्यर्थः । इदानीं ते देवाः सूतवे प्रसवितुं गर्भाशयाद् विनिर्गन्तुं [तम्] उदरस्थं गर्भं व्यूर्णुवन्तु विगताच्छादनं कुर्वन्तु । जरायोः सकाशाद् विमुक्तं कुर्वन्तु इत्यर्थः । ❀ ऊर्णुञ् आच्छादने । लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । छांदसो गुणः । विः उपसर्गः । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् [फि० ४. १३] इति

उदात्तः। यणादेशे "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इति परं ऊकारः स्वर्यते ❀॥

स्वर्गकी पूर्व आदि जो चार श्रेष्ठ दिशायें हैं। और भूलोककी जो चार श्रेष्ठ दिशायें हैं इनके अधिष्ठात्री दिग्देवताओंने और इंद्र आदि देवताओंने गर्भको पहिले संगत किया था, इस समय वे देवता उदरसे बाहर निकलनेके लिये उस गर्भको, जरायुरूप आच्छादनसे मुक्त करें॥ २॥

तृतीया॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि।

श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

सूषा। वि। ऊर्णोतु। वि। योनिम्। हापयामसि।

श्रथय। सूषणे। त्वम्। अव। त्वम्। बिष्कले। सृज॥ ३॥

सूषा सवित्री प्रजनयित्री देवता। ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। अस्माद् औणादिकः क्सप्रत्ययः ❀। यद्वा सूः सवनम् उत्पादः। ❀ संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀। सुवं सनोति प्रयच्छतीति सूषा। ❀ षणु दाने। "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति विट् प्रत्ययः। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम्। छांदसः सुलोपः ❀। यद्वा शोभना वषाः सूषा। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सोर्डादेशः। भसंज्ञाऽभावेपि डित्करणसामर्थ्यात् टिलोपः ❀। एवं भूता देवता व्यूर्णोतु गर्भं विगतावरणं करोतु। जरायुबन्धनं विश्लेषयतु इत्यर्थः। ❀ ऊर्णुञ् आच्छादने। अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। "ऊर्णोतेर्विभाषा" इति वृद्धिविकल्पनाद् गुणः ❀॥ वयमपि सुखप्रसवाय योनिम् गर्भ-

निर्गममार्गं वि हापयामसि विहापयामः । यथा गर्भः सुखेन निपततति तथा विवृतं कारयाम इत्यर्थः । ❀ ओहाङ् गतौ । अस्मात् णिच् । "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ हे सूषणे । सुखं सनोति प्रयच्छतीति सूषणिः सुखप्रसवकारिणी देवता । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति सनोतेः इन् प्रत्ययः ❀ । तस्याः संबोधनम् । त्वमपि मदीयेन अनेन सुखप्रसवकर्मणा प्रीता सती श्रथय योनिं विश्लेषय । यद्वा । श्रथय गर्भिण्याः संधिसन्धान् विसृज । ❀ श्रथ क्रथ श्रथ दौर्बल्ये । चुरादित्वात् स्वार्थिको णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः ❀ ॥ तथा हे विष्कले । विष्क इत्यनुकरणशब्दः । तं लाति आदत्ते करोतीति विष्कलिः सूतिमारुतः । ❀ ला आदाने । अस्माद् औणादिकः किप्रत्ययः । "आतो लोप इटि च" इति आकारलोपः ❀ । यद्वा । विट् व्याप्ता सती कलयति प्रेरयतीति विष्कला । ❀ विष्लृ व्याप्तौ । "क्विप् च" इति कर्तरि क्विप् । कल गतौ इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । विट् चासौ कला चेति विष्कला । हे तथाविधे देवते त्वम् अव सृज गर्भम् अवाङ्मुखं प्रेरय । ❀ सृज विसर्गे तुदादित्वात् शः ❀ ॥

सूषा देवता गर्भको जरायुसे अलग करे, हम भी सुखसे प्रसव होनेके निमित्त गर्भके निकलनेके मार्गको फैलाते हैं । हे सुखसे प्रसव कराने वाले देवता ! तुम भी मेरे इस सुखप्रसवकार्यसे प्रसन्न होकर गर्भिणीके संधिबन्धनोंको छोड़ो और हे सूतिमारुत देवता ! गर्भका मुख नीचेको करके प्रेरित करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नेव॑ मां॒से न पीव॑सि नेव॑ म॒ज्जस्वाह॑तम् ।

अवै॑तु पृश्नि॒ शेव॑लं॒ शुने॑ ज॒राय्व॒त्तवे॑ ज॒रायु॑ पद्यताम्

नऽइव । मांसे । न । पीवसि । नऽइव । मज्जऽसु । आऽहतम् । अव । एतु । पृश्नि । शेवलम् । शुने । जरायु । अत्तवे । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ४ ॥

हे प्रसविति त्वं मांसेन उदरगतेन नेव पीवसि । इवशब्दो भिन्नक्रमः । मांसेनेव न पीवसि । यथा मांसेन शरीरगतेन स्थवीयसी भवसि न तथा अनेन जरायुणा । किंतु तत् जरायु शल्यकल्पम् । ❀ पीव मीव णीव स्थौल्ये इति धातुः ❀ ॥ एतत्पतने शरीरबाधो नास्ति इत्याह । मज्जसु मज्जोपलक्षितेषु धातुषु एतत् जरायु आहतम् आबद्धं स्नाय्वादिकमिव न भवति । किंतु तदसंबद्धमेव वर्तत इत्यर्थः ॥ यद्वा हे जरायु त्वं मांसेन शरीरगतेन संबद्धं सत् नेव पीवसि । इवशब्दः अवधारणे । नैव प्रवृद्धं भवसि । तथा त्वं मज्जसु नेव आहतम् नैव संबद्धम् असि । तथा च निगमान्तरम् । "स्ववित्यवपद्यस्व न मांसेषु न स्नावसु न बद्धम् असि मज्जसु" इति ॥ अतः कारणात् शेवलम् जलस्योपरि स्थितशैवालवत् आन्तरावयवासंबद्धं पृश्नि शुभ्रवर्णं तत् जरायु गर्भवेष्टनम् अवैतु । अवाक् पततु ॥ तस्य पतनस्याज्यताम् आह । शुने अत्तवे । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । "श्वयुवमघोनाम् अतद्धिते" इति संप्रसारणम् ❀ । शुनो भक्षणाय । अव पततु इति संबन्धः । ❀ अद भक्षणे इत्यस्मात् "तुमर्थे सेसेन०" इति तवेन् प्रत्ययः ❀ ॥ आदरार्थं पुनस्तदेवाह । जरायु अव पद्यताम् अवाग् भूमौ निपततु । ❀ पद गतौ । दिवादित्वात् श्यन् । नित्वाद् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते "तिङ् ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

हे प्रसव करने वाली ! तू मांससे जिस प्रकार पुष्ट रहती है, तिस प्रकार इस उदरगत मांस (जरायु) से स्थूल नहीं हो-

सकती। (किंतु यह जरायु कांडेकी समान है, अतः इसके पतन में शरीरको कुछ कष्ट नहीं होगा) यह जरायु मज्जा आदि धातुओं में स्नायु आदिकी समान बँधा हुआ नहीं है, किंतु असम्बद्ध ही है और हे जरायु ! तू शरीरगत मांससे सम्बद्ध होने पर भी पड़ नहीं सकती और तू मज्जा आदि धातुओंमें बँधी हुई नहीं है †। इस कारण जलके ऊपर स्थित सिवारकी समान भीतरसे असंबद्ध शुभ्रवर्ण गर्भवेष्टन जरायु कुत्तेके खानेके लिये नीचेको गिर जावे (अत एव यह मलकी समान त्यागनेकी वस्तु है) ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिम् । वि । गवीनिके इति ।
वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । वि । कुमारम् । जरायुणा ।
अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ५ ॥

हे गर्भिणी ते तव मेहनम् मूत्रावसेकद्वारं वि भिनद्मि विदारयामि । ❀ भिदिर् विदारणे । रुधादित्वात् श्नम् प्रत्ययः ❀ ॥ न केवलं मेहनम् अपि तु तदाधारभूतां योनिं वि भिनद्मि शिशु-

† दूसरे शास्त्रमें भी कहा है, कि—"स्वत्रित्यवपद्यस्व न मांसेषु न स्नावसु न बद्धं असि मज्जसु ।—हे जरायु तू मांस मज्जा और स्नायुओंमें बँधीहुई नहीं है अतः स्वत् शब्द करती हुई नीचे को गिर।"

निर्गमनयोग्यां करोमि ॥ तथा गवीनिके योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ वि भिनद्मि ॥ मेहनादिविभेदनस्य प्रयोजनं दर्शयति वि मातरम् इति । मातरम् जननीं पुत्रम् । पुंनाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः । पुरु बहुलं त्रायत इति [वा] पुत्रः । ❀ तद् उक्तं यास्केन । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा [नि० २. ११] इति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । तौ उभौ वि भिनद्मि विश्लेषयामि । गर्भाशयात् पुत्रं निर्गमयामीत्यर्थः ॥ तथा जरायुणा उल्बेन कुमारम् पुत्रं वि भिनद्मि । जरायुकुमारावपि परस्परं विश्लिष्टौ करोमीत्यर्थः । अनन्तरं जरायवपि उदरस्थम् उल्बम् अव पद्यताम् अवपततु ॥

हे गर्भिणि ! मैं तेरे मेहनको और उसकी आधारभूत योनिको शिशुके निर्गमनके योग्य करता हूँ तथा निर्गमनकी प्रतिबंधक गवीनी नाड़ियोंको भी फैलाता हूँ । (मेहनादि विभेदनका प्रयोजन यह है, कि—) माताको और पुत्र ❀ को अलग २ करता हूँ अर्थात् गर्भाशयसे पुत्रको निकालता हूँ और जरायुसे कुमारको अलग करता हूँ, तदनन्तर उदरमें स्थित जरायु भी नीचेको गिरे ५

षष्ठी ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः ।

❀ पुं नामक नरकसे और बड़ीभारी रक्षा करनेसे पुत्रका पुत्र नाम है । यास्कने भी इसी बातको कहा है, कि—“पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा” [निरुक्त २ । ११] ॥

एव । त्वम् । दशऽमास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव ।

जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

गर्भस्य अविलम्बेन निर्गमनं दृष्टान्तैः समर्थयते । यथा येन प्रकारेण वातः वायुः शीघ्रं गच्छति । यथा वा मनः ज्ञानसाधनम् अन्तःकरणम् अप्रतिबन्धं सत् शीघ्रतरं गच्छति । यथा वा पक्षिणः विहगाः सशरीरा अपि अप्रतिबद्धगतयः सन्तः [पतन्ति] आकाशे उड्डीयन्ते । ❀ पत्लृ गतौ । लटि "कर्तरि शप्" इति शप् । "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०" इति लसार्वधातुकस्य अनुदात्तत्वम् । शपश्च पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातस्य "यावद्यथाभ्याम्" इति प्रतिषेधः❀। एव एवम् । ❀ "निपातस्य च" इतिसांहितिको दीर्घः ❀ । हे दशमास्य दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । ❀ दश मासान् भृत इति विगृह्य "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति तद्धितार्थे विषयभूते समासः । "संख्यापूर्वो द्विगुः" इति द्विगुसंज्ञायां "द्विगोर्यप्" इति भरणार्थे यप् । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंभूत शिशो त्वं जरायुणा गर्भवेष्टनेन साकम् सह पत गर्भाशयात् शीघ्रं निर्गच्छ ॥ ❀ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति सहार्थेन साकंशब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया ❀ ॥ अप्राधान्येनोक्तं जरायुपतनं प्राधान्येनापि निर्दिशति अव जरायु पद्यतामिति । व्याख्यातम् ॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः समाप्तः ॥

(अब गर्भके शीघ्रतासे निर्गमनका दृष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं, कि—) जिस प्रकारसे वायु शीघ्र जाता है और जिस प्रकार ज्ञानका साधन अन्तःकरण विना किसी रोक टोकके अतिशीघ्रता

से चलता है और जिस प्रकार आकाशमें विचरण करने वाले पक्षी सशरीर ही बिना किसी रुकावटके आकाशमें उड़ते हैं, इसी प्रकार हे दश मास तक मातासेपोषण किये हुए शिशो ! तू गर्भ के वेष्टन जरायुके साथ शीघ्र ही गर्भसे बाहर निकल (अप्रधान रूपसे कहेहुए जरायुके पतनको अब प्रधानरूपसे कहते हैं, कि-) जरायु गिर जावे ॥ ६ ॥

प्रथमकांडके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (११) ॥

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "जरायुजः" इत्येतत् प्रथमं सूक्तम् । तस्य वातपित्तश्लेष्मविकारजेषु रोगेषु यथोचितमेदोमधुसर्पिस्तैलपायनादिकर्मसु विनियोगः । जरायुज इति मेदो मधु सर्पिस्तैलं पाययति" इत्यादि सूत्रम् [कौ० ४. २] ॥

तथा दुर्दिननिवारणे अतिवृष्टेर्निवारणे च "जरायुज इति दुर्दिनम् आयन् प्रत्युत्तिष्ठत्यन्तृचम्" [कौ० ५. २] इत्यादि सूत्रोक्तानि सूर्योपस्थानोदकप्रक्षेपादीनि कर्माणि अनेन सूक्तेन कुर्यात् ॥

अस्य "मुञ्च शीर्षक्त्याः" इति तृतीयया ऋचा सर्वेषु व्याधिषु संपाताभिमन्त्रणसंस्कृतेन उदकघटेन व्याधितम् अभिषिञ्चेत् । "मुञ्चेत्याप्लावयति" इति [कौ० ४. २] सूत्रात् ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "जरायुजः" यह प्रथम सूक्त है । इसका वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोगोंमें यथोचित मेद शहद घी और तेल पिलाते समय विनियोग किया जाता है । कौशिकसूत्र ४ । २ में कहा है, कि—"जरायुज इति मेदो मधु सर्पिस्तैलं पाययति—जरायुजः० सूक्तसे मेद मधु घी और तैलको पिलाता है ।"

तथा दुर्दिनको दूर करनेमें और अतिवृष्टिको निवारण करने में "जरायुज इति दुर्दिनं आयन् प्रत्युत्तिष्ठत्यन्तृचम्-[कौशिकसूत्र

५ । २] इत्यादि सूत्रोंमें कहे हुए सूर्योपस्थान और जलप्रक्षेप आदि कर्म इस सूक्तसे करे ॥

और सब व्याधियोंमें इस सूक्तकी तीसरी ऋचासे सम्पाताभिमन्त्रणके द्वारा संस्कार किये गये घटके जलको रोगी पर छिड़के । कौशिकसूत्र ४ । ३ में भी कहा है, कि—"मुञ्चेत्यासावयति—मुञ्च० ऋचासे आसावन करता है।"

तत्र प्रथमा ॥

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायुऽजः । प्रथमः । उस्रियः । वृषा । वातऽभ्रजाः ।
स्तनयन् । एति । वृष्ट्या ।
सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजुऽगः । रुजन् । यः ।
एकम् । ओजः । त्रेधा । विऽचक्रमे ॥ १ ॥

जरायुजः जरायोः सकाशाद् उत्पन्नः । अदितिपुत्रत्वात् जरायुजत्वम् । श्रूयते हि । "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत् । तस्या उच्छेषणम् अददुः । तत् प्राश्नात् । सा रेतोऽधत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त" [तै० सं० ६. ५. ६. १] इति । यद्वा । दिवि जरायुस्थानानि नक्षत्राणि अभिभूय उद्भूतत्वात् जरायुजः । आम्नायते हि । "द्यौर्वत्सा स्तनयित्नुर्गर्भो नक्षत्राणि जरायु सूर्यो वत्सो वृष्टिः पीयूषः इति ।

❀ जनी प्रादुर्भावे। अस्मात् "पञ्चम्याम् अजातौ" इति डप्रत्ययः। "टेः" इति टिलोपः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। प्रथमः सर्वस्मात् जगतः पूर्वम् उद्भूतः। उस्रियः। उस्राः किरणाः। वसन्ति निवसन्ति एभिर्जना इति व्युत्पत्तेः। ❀ वस निवासे इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः। "वचिस्वपि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀। ते अस्य सन्तीत्युस्रियः। ❀ मत्वर्थीयो घः ❀। वृषा वर्षप्रदः सूर्यः। ❀ वृष सेचने। कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः ❀। वातव्रजाः वातवत् शीघ्रं व्रजति गच्छतीति वातव्रजाः। ❀ व्रज गतौ। अस्माद् असुन् प्रत्ययः ❀। यद्वा वातानां व्रजः समूहो यस्यासौ वातव्रजाः। प्रयाणसमये बहुतरवायुयुक्तत्वात्। ❀ "सुपां सुपो भवन्ति" इति सोर्जसादेशः ❀। ईदृशः सूर्यः स्तनयन् मेघान् गर्जयन् वृष्ट्या महत्तरेण प्रवर्षणेन सह एति आगच्छति। ❀ स्तनयन् इति। स्तन देवशब्दे। चुरादिः अदन्तोयम् ❀। श्रूयते हि। "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" [तै० सं० २. ४.१०२]इति।

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते।
> आदित्याज्जायते वृष्टिः [म० स्मृ० ३. ७६]॥

इति स्मृतेश्च॥ स आदित्यः नः अस्माकं तन्वे तनूं शरीरम्। ❀ क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀। मृळाति मृडयतु। ❀ मृळाति। मृड सुखने। अस्मात् लेटि आडागमः ❀। किं कुर्वन्। रुजन् त्रिदोषजनितरोगादिकं भञ्जन् निवर्तयन्। ❀ रुजो भङ्गे। तुदादित्वात् शः ❀। तमेव आदित्यं विशिनष्टि। ऋजुगः ऋजु अकुटिलं गच्छतीति ऋजुगः। ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति गमेर्डप्रत्ययः ❀। यः सूर्यः एकम् अभिन्नम् ओजः आत्मीयं तेजः त्रेधा त्रिप्रकारेण अग्निवायुसूर्यात्मना

विचक्रमे त्रिविधम् आक्रान्तवान् । पृथिव्यादिलोकत्रयम् आक्रम्य अधिपतित्वेन स्थितवान् इत्यर्थः । स सूर्यः मृडातीति पूर्वेण संबंधः। ❀ क्रमु पादविक्षेपे । "वेः पादविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । यः सूर्यः एकमेव स्वकीयम् ओजः तेजः त्रेधा त्रिप्रकारेण वाय्वग्निचन्द्रात्मना विचक्रमे कृत्स्नशरीराणि आक्रम्य वर्तते । वातपित्तश्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारिदेवतात्मना सर्वत्र अयमेव वर्तत इत्यर्थः ॥ अतः सूर्यप्रार्थनया दोषत्रयोद्भूतस्य रोगजातस्य निवृत्तिरुपपन्ना ॥

जरायुसे उत्पन्न हुए † सब जगत्से प्रथम उद्भूत हुए और मनुष्योंको बसाने वाली किरणोंसे सम्पन्न वर्षा करनेवाले और वायुकी समान शीघ्र चलने वाले तथा जिनके पास बहुतसे वायु-समूह हैं ऐसे सूर्य मेघोंको गरजाते हुए बड़ी भारी वर्षाके साथ

---

† सूर्य अदितिके पुत्र होनेसे जरायु कहलाते हैं। तैत्तिरीय-संहितामें भी कहा है, कि–"अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनं अपचत् । तस्या उच्छेषणं अददुः । तत्प्राश्नात् । सा रेतोऽधत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त–पुत्रकी इच्छा वाली अदितिने साध्य देवताओंके लिये ब्रह्मौदन बनाया, तब साध्य देवताओंने उसके लिये उच्छेषण दिया, अदितिने उसको भक्षण किया, रेतः धारण किया, तब अदितिके चार आदित्य (अदितिपुत्र) उत्पन्न हुए।" [तैत्तिरीयसंहिता ६ । ५ । ६ । १] अतः सूर्य जरायुज कहलाते हैं ॥ तथा नक्षत्रोंका भी 'जरायु' नाम है, उनका तिरस्कार कर उद्भूत होनेके कारण भी सूर्य जरायुज कहलाते हैं। कहा भी है, कि–"द्यौर्वशा स्तनयित्नुर्गर्भो नक्षत्राणि जरायु सूर्यो वत्सो वृष्टिः पीयूषः–आकाश वशा (स्त्री) है, स्तनयित्नु गर्भ है। नक्षत्र जरायु हैं, सूर्य वत्स है और वृष्टि पीयूष है।"

आते हैं ‡ ऐसे सूर्य त्रिदोषजनित रोगोंको दूर करते हुए हमारे शरीरको सुख दें ॥ जिन अकुटिलभावसे चलनेवाले सूर्यने अपने अभिन्न तेजको अग्नि वायु और सूर्यरूपमें बाँट रक्खा है अर्थात् जो-पृथ्वी आदि तीनों लोकोंको अपने वशमें करके स्वामीरूपसे स्थित हैं, वह सूर्य हमारे शरीरको सुख दें ॥ अथवा जो सूर्य वायु अग्नि और चन्द्रमा-इन तीनोंमें विराजमान अपने एक ही तेजसे सकल शरीरोंमें रहते हैं अर्थात् वात पित्त और कफ इन तीन दोषोंको करने वाले देवताके रूपसे सर्वत्र रहते हैं वह तीनों दोषोंसे उत्पन्न हुए मेरे सम्पूर्ण रोगोंको दूर कर मेरे शरीरको सुख दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।

अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गेऽअङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा ।

‡ श्रुति भी है, कि-"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति ॥-जब यह सूर्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं तब बरसते हैं।" [तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १० । २]॥ और स्मृति भी कहती है, कि-"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः०-अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति सूर्यके पास पहुँचती है, आदित्यसे वृष्टि होती है०।" [मनुस्मृति ३ । ७६]॥

हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम्ऽअङ्कान् । हविषा । विधेम ।

यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्य । ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गेअङ्गे सर्वेष्वङ्गेषु । ❁ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "अङ्ग इत्यादौ च" इति प्रकृतिभावात् "एङः पदान्तादति" इति पूर्वरूपत्वाभावः । "तस्य परम् आम्रेडितम्" । "अनुदात्तं च" इति परस्य अङ्गशब्दस्य अनुदात्तत्वम् ❁ । सर्वप्राणिशरीरेषु शोचिषा दीप्त्या शिश्रियाणम् व्याप्य वर्तमानम् । प्राणात्मना व्याप्य वर्तमानम् इत्यर्थः । श्रूयते हि । "प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः" [प्र० उ० १. ८] इति । ❁ श्रिञ् सेवायाम् । अस्मात् "छन्दसि लिट्" इति वर्तमाने लिट् । "लिटः कानज्वा" इति तस्य कानजादेशः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना इयङादेशः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । न च "अभ्यस्तानामादिः" इति आद्युदात्तत्वं शङ्कनीयम् । तस्य सार्वधातुकविषयत्वात् ❁ । हे सूर्य ईदृशं त्वा त्वां नमस्यन्तः नमः कुर्वन्तः । स्तुतिनमस्कारादिभिः पूजयन्त इत्यर्थः । हविषा चर्वाज्यसमिदादिना विधेम परिचरेम । ❁ विधतिः परिचरणकर्मा । विध विधाने । तुदादित्वात् शः । शस्य ङित्वात् लघूपधगुणाभावः । नमस्यन्त इति । "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इत्यत्र "नमसः पूजायाम्" इति विशेषितत्वात् पूजार्थे क्यच् । "नः क्ये" इति पदसंज्ञाया नियमितत्वात् अत्र पदसंज्ञाया अभावेन रुत्वाद्यभावः । तदन्तात् लटः शत्रादेशः । शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेण । अतः चित्स्वरेण क्यजन्तस्य अन्तोदात्तत्वे शपकारेण सह एकादेशस्यापि "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वम् ❁। तथा अङ्कान् अञ्चनशीलान् गमनशीलान् सूर्यस्य अनुचरान् समङ्कान् समञ्चनशीलान् समीपे वर्तमानान् अन्तरङ्गानपि परिवारभूतान् देवान्

हविषा विधेम परिचरेम । ❀ अञ्चु गतिपूजनयोः । अस्मात् "हलश्च" इति कर्तरि बाहुलकाद् घञ् । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ ॥ हविःप्रदानस्य प्रयोजनम् आह यो अग्रभीदिति । अग्रभीता ग्रहीता ग्राहको यः ज्वरादिरूपो रोगः अस्य पुरुषस्य पर्व पर्वाणि शरीरावयवसंधीन् अग्रभीत् अग्रहीत् । व्याप्य बाधत इत्यर्थः । तस्य रोगजातस्य निवृत्तये हविषा विधेमेति पूर्वेण संबंधः । ❀ ग्रह उपादाने । अस्मात् लुङि "च्लेः सिच्" । "अतो हलादेः०" आशाया वृद्धेः "अयन्तक्षण०" इति प्रतिषेधः । "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ॥

प्रत्येक अङ्गोंमें दीप्तिसे व्याप्त अर्थात् प्राणात्मारूपसे व्याप्त होकर वर्तमान † हे सूर्य ! हम तुम्हें स्तुति नमस्कार आदिसे पूज कर चरु घृत समिधा आदि हविसे आपकी सेवा करते हैं और गमनशील सूर्यके अनुचरोंको और उनके समीपमें वर्तमान परिवाररूप देवताओंकी भी हम हविके द्वारा सेवा करते हैं। (हवि देनेका प्रयोजन यह है, कि—) ग्रहण करने वाले ज्वर आदि रोगने इस पुरुषके शरीरकी सब सन्धियोंको जकड़ लिया है, उस रोगकी निवृत्तिके लिये हम आपकी हविसे पूजा करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षक्त्याः । उत । कासः । एनम् । परुःऽपरुः ।

† प्रश्नोपनिषत् १ । ८ में कहा है, कि—"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः—यह प्रजाओंके प्राणरूप सूर्य उदय होरहे हैं।"

आऽविवेश । यः । अस्य ।

यः । अभ्रऽजाः । वातऽजाः । यः । च । शुष्मः । वनस्पतीन् ।

सचताम् । पर्वतान् । च ॥ २ ॥

हे सूर्य शीर्षक्त्याः शीर्षं शिरः अक्षति गच्छति व्याप्य बाधत इति शीर्षक्तिः शिरोरोगः । तस्मात् सकाशाद् एनं पुरुषं मुञ्च मोचय । शिरोरोगं निवर्तयेत्यर्थः । उत अपि च यः कासः हृत्कण्ठ-मध्यवर्ती प्रसिद्धः श्लेष्मरोगविशेषः एनं पुरुषम् आविवेश प्रविष्ट-वान् । प्रवेशनप्रकारमेव आह । अस्य पुरुषस्य परुःपरुः सर्वान् सन्धिबन्धान् आविवेश । ❀ विश प्रवेशने । अस्मात् लिट् ❀ । तथाविधात् कासरोगाद् एनं मोचयेति पूर्वेण सम्बन्धः । इदानीं वातपित्तश्लेष्मविकारजनितानां सर्वेषामपि व्याधीनाम् अस्मात् पुरुषाद् अन्यत्रावस्थानं प्रार्थयते यो अभ्रजा इति । यो रोगः अभ्रजाः । अपो बिभर्तीत्यभ्रं प्रवर्षको मेघसंघः तस्मात् जायते प्रवर्षणोदकसंसर्गेण उत्पद्यत इति अभ्रजाः श्लेष्मरोगः । ❀ "जन-सनखनक्रमगमो विट्" इति विट् प्रत्ययः । "विड्वनोरनुनासि-कस्यात्" इति आत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तथा यो वातजाः वातात् कौष्ठ्यात् वायोर्जात उत्पन्नो रोगः यश्च शुष्मः शोषकः पित्तविकारजनितो ज्वरादिरोगोस्ति दोषत्रयोद्भूतः स सर्वोपि रोगः एनं पुरुषं विहाय वनस्पतीम् काननस्थान् वृक्षान् पर्वतांश्च मनुष्यसञ्चाररहितान् शिलोच्चयांश्च सचतां समवैतु । आश्रयतु इत्यर्थः । ❀ षच समवाये । शुष्म इति । शुष शोषणे । अस्मात् अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [उ० १. १४१] इति मन् प्रत्ययः । तस्य किद्भावात् लघूपधगुणाभावः । नित्स्वरेण आद्युदात्तत्वम् । वनस्पतीन् इति । वनानां पतिः वनस्पतिः ।

"पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इति सुडागमः । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

हे सूर्य ! शिरमें व्याप्त होकर पीड़ा देने वाले शीर्षक्ति नामक शिरोरोगसे इस पुरुषको छुड़ाइये । और जो हृदय और कण्ठके भीतर रहने वाला श्लेष्मरोगविशेष कास (खाँसी) इस पुरुषके सब जोड़ोंमें घुस गया है, इस रोगसे इसको छुड़ाइये । (अब वात पित्त और कफके विकारसे उत्पन्न होने वाले सब रोगोंसे दूर रखनेके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—) जो वर्षाके जलके संयोग से उत्पन्न होता है वह अभ्रजा (श्लेष्म) रोग और वायुसे उत्पन्न होने वाला वातजरोग शुष्म और पित्तके विकारसे उत्पन्न होने वाला ज्वरादिरोग—इस प्रकार तीनों दोषोंसे उत्पन्न होने वाला रोगसमूह इस पुरुषको छोड़कर वनके वृत्तोंमें और मनुष्यों के सञ्चारसे रहित पर्वतोंमें चला जावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ४

शम् । मे । परस्मै । गात्राय । शम् । अस्तु । अवराय । मे ।
शम् । मे । चतुःऽभ्यः । अङ्गेभ्यः । शम् । अस्तु । तन्वे । मम ।

अधुना रोगार्तः स्वस्य आरोग्यं स्वयमेव आशास्ते । मे मम परस्मै परस्तात् उपरि वर्तमानाय शिरोरूपाय गात्राय शरीरावयवाय शम् तत्रत्यरोगशमनेन सुखम् अस्तु भवतु । तथा मे मम अवराय अधस्तात् वर्तमानाय चरणलक्षणाय अङ्गाय शम् सुखम् अस्तु भवतु । तथा मे मम चतुर्भ्यः द्वौ पादौ द्वौ हस्तौ इति चत्वारि । तेभ्यः अङ्गेभ्यः अवयवेभ्यः शम् सुखम् अस्तु । ❀ "ऋत्युपोत्त

मम्" इति भ्यसः पूर्वस्य अचः उदात्तत्वम् ❀ । तथा मे मम तन्वे मध्यशरीराय सर्वसमष्टिरूपाय शरीराय वा शम् सुखम् अस्तु भवतु । ❀ तनुशब्दात् "ऊङुतः" इति ऊङ् प्रत्ययः । ततश्चतुर्थ्येक-वचने यण् । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "नोङ्धात्वोः" इति प्रतिषेधः । "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति विभक्तेः स्वरितत्वम् । "युष्मदस्मदो-र्ङसि" इति ममशब्द आद्युदात्तः ॥

[इति] तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(अब रोगार्त पुरुष अपने आरोग्यके लिये अपने आप ही प्रार्थना करता है, कि–) मेरे पर (ऊपर वर्तमान) शिररूप शरीरके अवयवमें वहाँका रोग शान्त होनेसे सुख पहुँचे तथा मेरे अवर–नीचे वर्तमान–चरण अङ्गमें सुख होवे । तथा मेरे दो हाथ और दो पैर इन चार अङ्गोंमें सुख हो, तथा मेरे मध्यशरीरमें वा संपूर्ण शरीरमें रोगके दूर होनेसे सुख पहुँचे ॥ ४ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१२) ॥

"नमस्ते अस्तु विद्युते" इति सूक्तम् अशनिनिवारणकर्मणि अशन्युपस्थानादौ सोमदर्भकुष्ठलोष्ठमञ्जिष्ठादिद्रव्याणां गृहक्षेत्रादिषु निखनने च विनियुक्तम् । उक्तं संहिताविधौ । "नमस्ते अस्तु [१. १३] यस्ते पृथुस्तनयित्नुः [७. ११] इत्यशनियुक्तम् उपादाय प्रथमस्य सोमदर्भ०" इत्यादि [कौ० ५. २] ॥

तथा उपाकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं च । "अभिजिति शिष्यान्" इत्युपक्रम्य "नमस्ते अस्तु विद्युते [१.१३] आरेसावस्मदस्तु" [१. २६] इति [कौ० १४. ३] ॥

"नमस्ते अस्तु विद्युते" इस सूक्तका अशनि (वज्र) को निवारणके कर्ममें अशनिके उपस्थानमें और सोम दर्भ कूट लोष्ठ मञ्जिष्ठ आदि द्रव्योंके गृह क्षेत्र आदिसे निखनन (खोदने) में भी विनि-

योग किया जाता है। संहिताविधि (कौशिकसूत्र) में भी कहा है, कि—"नमस्ते अस्तु [१।१३] यस्ते पृथु स्तनयित्नु [७।११] इत्यशनियुक्तं उपादाय प्रथमस्य सोमदर्भ०" [कौशिकसूत्र ५।२]

तथा उपाकर्ममें भी इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अभिजिति शिष्यान्" इत्युपक्रम्य "नमस्ते अस्तु विद्युते [१।१३] आरेसावस्मदस्तु" [१। २६] कौशिकसूत्र १४। ३—अभिजित् मुहूर्तमें शिष्योंका उपनयन करके० नमस्ते अस्तु विद्युते० इस अथर्ववेदके प्रथमकाण्डके तेरहवें सूक्तसे और आरेसावस्मदस्तु० इस प्रथम काण्डके छब्बीसवें सूक्तसे घृतकी आहुति देय।"

तत्र प्रथमा ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥१॥

नमः। ते। अस्तु। विऽद्युते। नमः। ते। स्तनयित्नवे।

नमः। ते। अस्तु। अश्मने। येन। दुःऽदाशे। अस्यसि ॥१॥

हे पर्जन्य ते तव संबन्धिन्यै विद्युते विद्योतमानायै सौदामिन्यै नमः अस्तु मया क्रियमाणो नमस्कारो भवतु। यद्वा। नम इत्यन्नाम। मया हूयमानं हविर्लक्षणम् अन्नं भवतु। ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी। द्युत दीप्तौ। अस्माद् विपूर्वात् "क्विप् च" इति क्विप् ❀॥ तथा ते तव संबन्धिने स्तनयित्नवे स्तनितं ध्वनिं कुर्वते अशनये नमः अस्तु। ❀ स्तन देवशब्दे। अस्मात् चुरादित्वात् णिच्। अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः। स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् [उ० ३. २९] इति ण्यन्ताद्धातोः इत्नुच् प्रत्ययः। "अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु" इति

णेरयादेशः ❀ ॥ तथा ते तव संबन्धिने अश्मने । मेघनामैतत् । व्यापनशीलाय मेघाय नमः अस्तु भवतु ॥ कुतो हेतोर्नमस्कार इत्यत आह येनेति । येन कारणेन दूडाशे दुःखेन दाश्यते दाप्यते इति दूडाशो लुब्धः । स्तुतिनमस्कारहविरादीनाम् अप्रदातेत्यर्थः । ❀ दाशृ दाने । अस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् कर्मणि घञि "दुरो दाशृनाशदभध्येष्विति वक्तव्यम्" इति दुरो रेफस्य उत्वम् उत्तरपदादेः ष्टुत्वं च ❀ । तादृशे पुरुषे अस्यसि क्षिपसि अशनिं प्रक्षिपसि । अतो हेतोः अशनिभयनिवृत्तये नमस्करोमीत्यर्थः । ❀ असु क्षेपणे । "दिवादिभ्यः श्यन्" इति श्यन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

हे पर्जन्य ! आपसे संबन्ध रखने वाली दमकती हुई बिजली को मेरा प्रणाम और होमी हुई हवि पहुँचे तथा आपसे सम्बन्ध रखने वाली ध्वनि करने वाली अशनिको भी मेरा नमस्कार है और आपके व्यापनशील मेघके लिये नमस्कार है, (नमस्कार करनेका और हवि देनेका प्रयोजन यह है, कि—) कठिनतासे देने वाले लुब्ध—अर्थात् स्तुति प्रणाम हवि आदि न देने वाले—के ऊपर आप अशनि (वज्र) फैंकते हैं अत एव अशनिकी निवृत्तिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द् यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि ।

मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥ २ ॥

नमः॑ । ते॒ । प्र॒ऽव॒तः॒ । न॒पा॒त् । यतः॑ । तपः॑ । स॒म्ऽऊह॑सि ।

मृ॒डय॑ । नः॒ । त॒नूभ्यः॑ । मयः॑ । तो॒केभ्यः॑ । कृ॒धि॒ ॥ २ ॥

न केवलं विद्युदादिभ्यो नमस्कारः अपि तु पर्जन्यस्यापि नमस्कारः क्रियते। हे भवतो नपात् भवतः भगतस्य स्वस्मात् प्रच्युतस्य त्वद्विषयस्तुतिनमस्काराद्यकर्तुः पुरुषस्य नपात् न पातः न पालक। असेवकस्य अशनिभयप्रदातरित्यर्थः। ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति प्रशब्दाद् गम्यर्थे अभिधेये वतिप्रत्ययः। ननु "वत्यन्ताश्च" इति अव्ययसंज्ञायां कथं लिङ्गसंख्याभ्यां योगः। उच्यते। उपसर्गाच्छन्दसि धातौ इत्येव उच्यमानेपि धातोः अभिधेयत्वासंभवेन सामर्थ्यात् धात्वर्थः सेत्स्यति। तथापि क्रियमाणम् अर्थग्रहणम् एतत् ज्ञापयति ससाधने धात्वर्थे अभिधेये उपसर्गाद् वतिर्भवतीति। तथा च साधनस्य लिङ्गसंख्यायोगित्वात् तदभिधायिनो वत्यन्तस्यापि लिङ्गसंख्यायोगित्वेन अनव्ययत्वम्। आह च महाभाष्यकारः। कः पुनर्धातुकृतोर्थ इति। साधनम्। साधने भवन् लिङ्गसंख्याभ्यां योज्यत इति। पा रक्षणे। पातीति पात्। अस्मात् लटः शत्रादेशः। नञ्समासे "नलोपो नञः" इति नलोपे प्राप्ते "नभ्राण्नपात्०" इति नञः प्रकृतिभावः। "सुबामन्त्रितं पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। यद्वा। भवतः भगतस्य भुवः सकाशात् प्रचण्डैः सूर्यकिरणैरुद्धृतस्य उदकस्य नपात् न पातयितः। अकाले उदकं यथा अधो न पतति तथा उपरिष्टात् मेघमण्डले धारयितरित्यर्थः। ❀ पातयतेः क्विप् ❀। हे ईदृश पर्जन्य ते तुभ्यं नमः नमस्कारः भवतु॥ तस्य नमस्कार्यत्वम् आह। यतः यस्मात् कारणात् तपः पातकदाहकं तेजः समूहसि संहतं करोषि। अशनिरूपेण प्रक्षिपसीत्यर्थः। ❀ ऊह वितर्के। अत्र उपसर्गवशात् संघीकरणम् अर्थः ❀॥ हे पर्जन्य नः अस्माकं तनूभ्यः शरीरेभ्यः। ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। मृडय। अशनिनिवारणेन शरीरस्य सुखं जनयेत्यर्थः॥ तथा तोके-

भ्यः । अपत्यनामैतत् । अस्माकम् अपत्येभ्यः पुत्रपौत्रादिरूपेभ्यः मयः । सुखनामैतत् । सुखं कृधि कुरु । नमस्कारादिना प्रीतः सन् अशनिम् अस्मदीयेभ्यः सर्वेभ्यो निवारयेत्यर्थः । ❀ करोतेर्लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः । "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

(पहिले विद्युत् आदिको नमस्कार करके अब पर्जन्यको भी नमस्कार करते हैं, कि–) अपनी स्तुति नमस्कार आदि न करने वाले पुरुषकी तुम रक्षा नहीं करते हो, असेवकको अशनिका भय देते हो, सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे खेंचे जाने वाले जलकी तुम रक्षा नहीं करते हो अर्थात् अकालमें जल नीचेको न गिरे इसलिये उसको मेघमण्डलमें धारण किये रहते हो, ऐसे हे पर्जन्य ! आपके लिये नमस्कार है । क्योंकि–पातकोंके भस्म करने वाले तेजको संहत करते हो अर्थात् अशनिरूपसे फैंकते हो, अतः हे पर्जन्य ! हमारे शरीरको (अशनिको निवारण करके) सुख दो और हमारे पुत्र पौत्र आदिको भी सुख दो, अर्थात् नमस्कार आदिसे प्रसन्न होकर हमारे सब सम्बन्धियोंको अशनिभयसे मुक्त रक्खो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रव॑तो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॒ तपु॑षे च कृण्मः ।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत् स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि॒ नाभिः॑ ॥ ३ ॥

प॒ऽवतः । न॒पा॒त् । नमः॑ । ए॒व । अ॒स्तु॒ । तु॒भ्य॑म् । नमः॑ । ते॒ ।

हेतये । तपुषे । च । कृण्मः ।

विद्म । ते । धाम । परमम् । गुहा । यत् । समुद्रे । अन्तः ।

निऽहिता । असि । नाभिः ॥ २ ॥

हे मरुतो नपात् । व्याख्यातम् एतत् । ❀ स्वरे तु विशेषः । पादादित्वात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे पर्जन्य तुभ्यं नम एव नमस्कार एव अस्तु भवतु । तदतिरिक्तं परिचरणं न कर्तुं प्रभवाम इत्यर्थः॥ तथा ते तव हेतये हन्त्यनेनेति हेतिः आयुधम् । ❀ "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति हन्तेः क्तिनि अन्तोदात्तो निपात्यते ❀ । तामेव विशिनष्टि । तपुषे तापकारिण्यै । ❀ तप संतापे । अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् [उ० २. ११६] इति उस् प्रत्ययः । तस्य नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । संतापकारिणे अशनिरूपाय आयुधाय च नमः कृण्मः कुर्मः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । अस्मात् लटि "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः । तस्य "अतो लोपः" इति लोपे सति "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इति स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति अङ्गान्तस्य उकारस्य लोपः ❀॥ पर्जन्यस्य निवासस्थानापरिज्ञाने नमस्कारायोगम् आशङ्क्य तदपि जानीम इत्याह । हे पर्जन्य ते तव संबन्धि गुहा गुहायाम् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀ । गुहावत् परैरगम्ये प्रदेशविशेषे परमम् उत्कृष्टं यत् प्रसिद्धं धाम निवासस्थानं तद् विद्म वयं जानीमः । ❀ विद ज्ञाने । "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः ❀ । किं पुनस्तद् इत्याह । समुद्रे । अन्तरिक्षनामैतत् । ❀ समुद्द्रवन्ति अस्माद् उदकानि इति समुद्रः । आह च यास्कः ।

समुद्रः कस्मात् । समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः संमोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा [नि० २. १०] इति ❀ । ईदृशे अन्तरिक्षे अन्तः मध्ये नाभिः । यथा देहमध्ये नाभिचक्रे सर्वा नाड्यो बद्धा भवन्ति तथा पर्जन्ये कृत्स्नं मेघमण्डलं बद्धं वर्तत इति नाभित्वव्यपदेशः । हे पर्जन्य त्वं तत्र निहिता स्थापिता नाभिः असि भवसि । नाभिचक्रवत् कृत्स्नस्य मेघमण्डलस्य धारकत्वेन अन्तरिक्षमध्ये अवस्थितो भवसीत्यर्थः । ❀ निपूर्वात् धाञः कर्मणि निष्ठा । "दधातेर्हिः" इति हिरादेशः । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । नाभ्यपेक्षया स्त्रीलिङ्गता । णह बन्धने । नहो भश्च [उ० ४. १२५] इति इञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्तो नाभिशब्दः ❀ ॥

हे भवतो नपात् पर्जन्य ! आपके लिये नमस्कार हो, (क्योंकि—इससे अधिक हममें सेवा करनेकी शक्ति नहीं है) और आपके सन्ताप देने वाले अशनिरूप आयुधके लिये भी हम नमस्कार करते हैं (पर्जन्यका निवासस्थान ज्ञात न होनेसे नमस्कार करना बन नहीं सकता ऐसी आशङ्का करके कहते हैं, कि—) हे पर्जन्य ! हम गुहाकी समान अगम्य तुम्हारे श्रेष्ठ निवासस्थानको जानते हैं (वह निवासस्थान क्या है ?) जिसमेंसे जल निकलते हैं उस + समुद्र नाम वाले अन्तरिक्षमें तुम नाभिकी समान स्थित रहते हो । जैसे देहके मध्यके नाभिचक्रमें सब नाड़ियें बँधी हुई होती हैं, इसी प्रकार पर्जन्यमें सारा मेघमण्डल बँध रहा है अत

+ यास्कने जिसमेंसे जल निकलता उस अन्तरिक्षका भी समुद्र नाम रक्खा है । यथा—समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः संमोदंतेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति समुनत्तीति वा (निरुक्त २ । १०) ।

एव यहाँ नाभिकी उपमा दी है अर्थात् तुम नाभिचक्रकी समान सारे मेघमण्डलके धारकरूपसे अन्तरिक्षमें स्थित होते हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम् ।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृण्वानाः । असनाय । धृष्णुम् ।
सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै । ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ४ ॥

पूर्वत्र पर्जन्यस्य प्राधान्येन प्रार्थना कृता । अधुना अशनिमेव प्राधान्येन प्रार्थयते । हे अशने [यां] त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवाः दानादिगुणयुक्ता इन्द्रादयः असृजन्त सृष्टवन्तः । किमर्थम् इत्यत आह । असनाय क्षेपणाय अनभिमतेषु पुरुषेषु प्रक्षेप्तुम् । ❀ असु क्षेपणे । भावे ल्युट् ❀ । धृष्णुम् धर्षिकां शत्रूणां हिंसने प्रगल्भाम् । ❀ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नु-प्रत्ययः ❀ । इषुम् शरं कृण्वानाः कुर्वाणाः । इषुकरणाद्धेतोः असृजन्तेत्यर्थः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच् । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः ❀ । सा तथाविधा त्वं विदथे । यज्ञनामैतत् । विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति अनेन फलम् इति विदथो यज्ञः । ❀ विद्लृ

लाभे । रुदिविदिभ्यां कित् [उ० ३. ११५] इति करणे अथ-प्रत्ययः । कित्त्वात् लघूपधगुणाभावः । प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ❁ । अधुना मया क्रियमाणे कर्मणीत्यर्थः । गृणाना स्तूयमाना । ❁ गॄ शब्दे । कर्मणि लटः शानच् । यकि प्राप्ते व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इत्याल्लोपः । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❁ । यद्वा । विद्यन्ते ज्ञायन्ते नक्षत्राणि अस्मिन् इति विदथम् अन्त-रिक्षम् तस्मिन् गृणाना शब्दायमाना । गर्जन्तीत्यर्थः । नः अस्मान् मृळ मृडय । त्वन्निमित्तभयनिवारणेन सुखयेत्यर्थः ॥ तत्र हेतुम् आह । हे देवि अन्तरिक्षे विद्योतमाने अशने तस्यै तादृश्यै उक्त-महिमोपेतायै ते तुभ्यं नमः नमस्कारः अस्तु भवतु । ❁ तस्या इति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्व-न्साववर्ण०" इति प्रतिषेधात् प्रातिपदिकस्वरेण आदिरुदात्तः ❁॥

[इति] तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(पहिले पर्जन्यकी प्रधानरूपसे प्रार्थना थी अब अशनिकी प्रधानतया प्रार्थना करते हैं, कि–)हे अशने ! दान आदि गुण वाले इन्द्र आदि सब देवताओंने अनभिमत पुरुषों पर फैंकनेके लिये बाणरूपमें बना कर तुझ शत्रुओंकी हिंसा करनेमें प्रगल्भ अशनिकी रचना की है । वह तू जिससे फल प्राप्त होता है उस यज्ञमें स्तुति पाकर हमें सुख दे तथा जिसमें नक्षत्र आदि जाने जाते हैं उस आकाशमें गर्जती हुई तू अपने भयको दूर करके हमें सुख दे, हे अंन्तरिक्षमें दमकती हुई देवि अशने ! तुम्हारे लिये प्रणाम है ॥ ४ ॥

तीसरे अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (१३) ॥

"भगम् अस्या वर्चः" इति सूक्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य वा दौर्भा-ग्यकरणे तदुपभुक्तमाल्यकन्दुकदन्तधावनकेशानां सूत्रोक्तप्रकारेण [नि] खननादिकर्माणि कुर्यात् । तथा च कौशिकः । "भगम्

अस्या वर्च इति मालानिष्पमन्ददन्तधावनकेशान् ईशानहतायाः" इत्यादि [कौ० ४. १२] ॥

"भगं अस्या वर्चः" इस सूक्तके द्वारा, स्त्री वा पुरुषके दौर्भाग्यकरणमें उसके उपयुक्त माल्य, गेंद, दतौन और केश आदिके निखनन आदि कर्म सूत्रमें कही हुई रीतिसे करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। यथा—"भगं अस्या वर्च इति मालानिष्पमन्ददन्तधावनकेशान् ईशानाहतायाः" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४। १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्ऽइव । स्रजम् । महाबुध्नःऽइव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥१॥

अस्याः अनभिमतायाः स्त्रिया भगम् भाग्यं वर्चः तद्धेतुभूतं शारीरम् असाधारणं तेजश्च आदिषि आददे। मन्त्रप्रभावात् स्वीकरोमीत्यर्थः। ❀ डुदाञ् दाने। "आङो दोऽनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम्। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लुङ्। "स्थाघ्वोरिच्च" इति सिचः कित्त्वम् तत्संनियोगेन धातोराकारस्य इत्त्वम्। सिचः कित्त्वाद् गुणाभावः। भगम् इति। भज सेवायाम्। "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति करणे घः। "चजोः कु घिण्यतोः" इति कुत्वम्। वृषादेः आकृतिगणत्वाद् आद्युदात्तत्वम्। वर्च इति। वर्च दीप्तौ इत्यस्माद् भावे असुन्। तस्य नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀। वर्चस आदाने दृष्टान्तः। वृक्षादिव

महीरुहादिव । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । पुष्पिताद् वृक्षाद् यथा स्रजं पुष्पनिकरं जना आददते तथेति पूर्वेण संबन्धः । ❀ सृज विसर्गे । “ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च” इति क्विन्नन्तो निपातितः । वृक्षादिवेति । “इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्” इति समासः ❀ ॥ एवम् अपहृतवर्चस्का सा स्त्री किं करोतु इत्यत आह । महाबुध्न इव महान् दीर्घतरो बुध्नो मूलं यस्य स महाबुध्नः । भूम्याम् अधिकतरं निखात इत्यर्थः । ❀ बन्ध बन्धने । बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३. ५] इति नक् प्रत्ययः तत्संनियोगेन धातोर्बुधादेशः । “आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः” इति महच्छब्दस्य आकारः ❀ । तादृशः पर्वतः पर्ववान् शिलोच्चयः । ❀ पर्ववान् पर्वत इति हि निरुक्तम् [नि० १. २०] ❀ । स यथा स्वस्थानात् न चलति तथा इयमपि दुर्भगा स्त्री ज्योक् चिरकालं पितृषु वक्ष्यमाणेषु पितृमात्रादिगृहेषु आस्तां निवसतु । पित्रादिगृहात् न कदाचित् पत्युर्मुखम् अवलोकयतु इत्यर्थः । ❀ आस उपवेशने । “अनुदात्तङित आत्मनेपदम्” इति तङ् । लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । “तिङ्ङतिङः” इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀ ॥

जैसे पुष्पित वृक्षपरसे मनुष्य फूलोंको उतार लेते हैं, तैसे ही मैं इस अनभिमत स्त्रीके भाग्यको और उसके शरीरके असाधारण तेजको भी मन्त्रके प्रभावसे (उससे उतार कर स्वयं) ग्रहण करता हूँ फिर पृथिवीमें गहरी जड़ वाला पर्वत जैसे अपने स्थानसे नहीं चलता है, इसी प्रकार यह दुर्भगा स्त्री भी चिरकाल तक पिता माता आदिके घरमें रहे, पिता आदिके घरसे आकर पतिके मुखको न देखे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या ॥ वधूः । नि । धूयताम् । यम ।
सा । मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति ।
पितुः ॥ २ ॥

हे राजन् राजमान सोम । प्रथमातिथित्वेन नियामकत्वाद् यमेति तस्यैव विशेषणम् । श्रूयते हि । "सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः" [ऋ० १०.८५.४०] इति । हे ईदृश सोम एषा कन्या स्त्री ते तव वधूः जाया । प्रथमतस्त्वया परिगृहीतत्वाद् इत्यर्थः । सा वधूः नि धूयताम् । दौर्भाग्येन पतिगृहात् निःसार्यताम् इत्यर्थः । ❀ धूञ् कम्पने । कर्मणि लोट् ❀ ॥ एवं भवता पतिगृहात् निःसारिता सा वधूः मातुः जनन्या गृहे बध्यताम् । बद्धेव तत्रैव चिरं वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ बन्ध बन्धने । "अनिदिताम्०" इति उपधालोपः ❀ ॥ अथो अपि च भ्रातुः सोदरस्य गृहे बध्यताम् इति संबन्धः ॥ अथो अपि च पितुः जनकस्य गृहे बध्यताम् । एषा वधूः दुर्भगा सती यावज्जीवं मात्रादिगृहेष्वेव यथेच्छं वर्ततां न कदाचित् पतिगृहं प्रविशतु इत्यर्थः ॥

हे राजमान यम सोम ! ‡ इस कन्याको पहिले आपने ग्रहण

‡ सोम प्रथम अतिथि होनेसे नियामक हैं, अत एव उनको यम कहा है । श्रुतिमें भी कहा है, कि—'सोमः प्रथमो विविदे गंधर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।-

किया था अतः यह कन्या आपकी वधू है, यह वधू अब दुर्भाग्यताके कारण पतिके घरसे निकाली जावे और इस प्रकार आपके पतिगृहसे निकाल देने पर यह वधू माता भाई अथवा पिताके घरमें बँधी हुई सी चिरकाल तक पड़ी रहे अर्थात् यह वधू दुर्भाग्यवती बन कर जीवन भर माता, पिता वा भाईके घरमें ही पड़ी रहे, कभी पतिके घरमें न घुसे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥३॥

एषा । ते । कुलऽपाः । राजन् । ताम् । ऊं इति । ते । परि । दद्मसि ।
ज्योक् । पितृषु । आसातै । आ । शीर्ष्णः । सम्ऽओप्यात् ॥३॥

हे राजन् सोम एषा स्त्री ते तव कुलपा पातिव्रत्येन कुलस्य पालयित्री या । विवाहकाले प्रथमतस्त्वया परिगृहीतत्वात् । ❀ पा रक्षणे । "आतोनुपसर्गे कः" इति कर्मण्युपपदे कप्रत्ययः ❀ । ताम् स्त्रियम् । उशब्दः अवधारणे स च भिन्नक्रमः । ते तुभ्यमेव परि दद्मसि परिदद्मः । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । एतावन्तं कालं पतिसमीपे स्थिताम् एनां रक्षणार्थं पुनस्त्वदायत्तामेव करोमी-

---

अर्थात् सोमने पहिले तुझे पाया, फिर गंधर्वने तुझे पाया, तीसरे अग्निने तुझे पाया और चौथा यह मनुष्य तेरा पति है ।' (ऋग्वेद १० । ८५ । ४०) ॥ इस मन्त्रमें जो सोम गंधर्व और अग्नि ये कन्याके तीन पति कहे हैं, ये कन्याके शरीरमें दो दो वर्ष रहकर कन्याकी रक्षा करने वाले तीन अधिष्ठात्री देवता हैं, ये उत्तरोत्तर कन्याको मनुष्यजातिके पुरुषको वधूरूपसे दान देते हैं ॥

त्यर्थः । ❀ डुदाञ् दाने । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्नाभ्य-स्तयोरातः" इति आकारलोपः । "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्त-त्वम् ❀ ॥ तस्या निवासस्थानम् आह ज्योक् चिरकालं पितृषु पित्रादिगृहेषु उक्तेषु आसातै आस्तां निवसतु । ❀ आस उपवे-शने । अस्मात् लेटि आडागमः । टेः एत्वे "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ । पितृकुलवासस्य अवधिम् आह । शीर्ष्णः शिरसः समोप्यात् संवपनात् भूमौ संपतनात् । ❀ आङ् अभिविधौ ❀ । शिरसो निपातावधीति यावत् । मरणपर्यन्तं पित्रादिगृहेष्वेव वर्त-ताम् इत्यर्थः । ❀ समाङ्पूर्वाद् वपेर्भावे छान्दसः क्यप् । "शीर्ष-श्छन्दसि" इति शिरःशब्दस्य शीर्षन् आदेशः । "अल्लोपोऽनः" इति अकारलोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति षष्ठ्येक-वचनस्य उदात्तत्वम् । "आङ् मर्यादावचने" इति आङः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञा । "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति समोप्यशब्दात् पञ्चमी ❀॥३॥

हे राजन् सोम ! यह आपकी वधू पातिव्रत्यके द्वारा कुलकी रक्षा करने वाली है (क्योंकि—पहिले आपने इसको ग्रहण किया था) उस स्त्रीको अब हम फिर आपको देते हैं, अर्थात् इतने समय तक पतिके पास रही हुई इस स्त्रीको हम अब फिर आपके स्वाधीन करते हैं । (उसके निवासस्थानको कहते हैं, कि—) जब तक इसका शिर पृथ्वी पर गिरे उतने समय तक यह पिताके कुलमें रहे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।

अन्तःकोशम्ऽइव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

हे नारि ते तव भगम् भाग्यम् असितस्य एतन्नाम्न ऋषेः ब्रह्मणा मन्त्रेण अपि नह्यामि । अपिनद्धं पिहितं करोमि । त्वत् सकाशाद्द निवर्तयामीत्यर्थः । तथा कश्यपस्य ऋषेः गयस्य च । परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः । एतयोरपि संबन्धिना ब्रह्मणा मन्त्रेण ते तव भगम् भाग्यम् अपि नह्यामि । ❀ णह बन्धने । दिवादित्वात् श्यन् प्रत्ययः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । जामयः । जायन्ते आसु अपत्यानीति जामयः स्त्रियः भगिन्यादिरूपाः । ❀ तद्द उक्तं यास्केन । न जामये भगिन्यै जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् इति [नि० ३. ६] ❀ । ताः अन्तः गृहमध्ये अवस्थितं कोशमिव धनवस्त्रादिस्थापनार्थम् आवृतं स्थानमिव । तादृशं स्थानं यथा पिहितं कुर्वन्ति तद्वद् इत्यर्थः । ❀ "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀ ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे स्त्री ! मैं तेरे भाग्यको असित नाम वाले ऋषिके मन्त्रसे, गय ऋषिके मन्त्रसे और कश्यप ऋषिके मन्त्रसे इस प्रकार ढकता हूँ जिस प्रकार जामियें (स्त्रियें) घरके भीतर धन वस्त्र आदिको गुप्त (ढका हुआ) रखती हैं ॥ ४ ॥

॥ तीसरा सूक्त समाप्त (१४) ॥

"सं सं स्रवन्तु" इति सूक्तं सर्वपुष्टिकर्मणि संपाताभिमन्त्रितमैश्रधान्यचरुप्राशने दधिमधुमिश्रसक्तुमन्थप्राशने च विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "सं सं स्रवन्त्विति नाव्याभ्याम् उदकम् आहरतः स्रवंत उपासिच्य तस्मिन् मैश्रधान्यं शृतम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २] । व्रीहियवादानि मिश्रधान्यानि । "व्रीहियवगो-

धूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि" इति [कौ० १. ८] परिभाषासूत्रात् ॥

तथा लक्ष्मीकरणे च एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्य क्षीरौदनम् अश्नाति" इत्यादि [कौ. ३. २] ॥

"सं सं स्रवन्तु" इस सूक्तका सर्वपुष्टिकर्ममें सम्पाताभिमंत्रित मिश्रधान्यसे बने चरुके प्राशनके समय तथा दही मधु मिश्र सत्तू मंथप्राशनके समय विनियोग होता है। सूत्रमें भी कहा है, कि–"सं सं स्रवन्ति नाव्याभ्यां उदकं आहरतः सर्वत्र उपासिच्य तस्मिन् मैश्रधान्यं शृतं अश्नाति–संसं स्रवन्तु इस सूक्त के द्वारा जहाँ नौका चलती हो तहाँके लाये हुए जलसे मिश्रधान्यको धोकर उसी जलमें मिश्रधान्यको औटावे। इत्यादि" (कौशिकसूत्र ३ । २)। व्रीहियव आदिका नाम मिश्रधान्य है। क्योंकि–कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि–"व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि–धान जौ गेहूँ उपवाक तिल प्रियंगु (कँगनी) और श्यामाक ये मिश्रधान्य हैं।"

तथा लक्ष्मीकरणमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। कौशिकसूत्र ३ । २ में कहा है, कि–"यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्य क्षीरौदनं अश्नाति।"

तत्र प्रथमा ॥

सं सं स्र॑वन्तु॒ सिन्ध॑वः॒ सं वाताः॒ सं प॑त॒त्रिणः॑ ।

इ॒मं य॒ज्ञं प्र॒दिवो॑ मे जुषन्तां संस्रा॒व्ये᳡ण ह॒विषा॑ जुहोमि ॥

सम् । सम् । स्र॒व॒न्तु॒ । सिन्ध॑वः । सम् । वाताः॑ । सम् । प॒त॒त्रिणः॑ ।

इमम् । यज्ञम् । प्रऽदिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्ऽस्राव्येण ।
हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

सिन्धवः स्यन्दनशीलाः नद्यः सं सं स्रवन्तु । सम्यक् । अस्मदनुकूलाः भवन्तु । ❀ स्रु गतौ । लोडि शब्गुणावादेशाः । "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति समो द्विर्वचनम् । "तस्य परम् आम्रेडितम्" इति परस्य आम्रेडितसंज्ञा । "अनुदात्तं च" इति तस्य अनुदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा वाताः गमनशीला वायवः । ❀ वा गतिगन्धनयोः । हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् [उ० ३. ८६] इति तन् प्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । तेपि । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । सं सं स्रवन्तु आनुकूल्येन प्रवर्तन्ताम् ॥ तथा पतत्रिणः । पतत्राणि पक्षा एषां सन्तीति पतत्रिणः । ❀ पत्लृ गतौ । पतेरत्रन् [उ० ३. १०५] इति पतत्रशब्दः अत्रन्प्रत्ययान्तः । "अत इनिठनौ" इति मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀ । तदुपलक्षिताः सर्वे प्राणिनः सं सं स्रवन्तु सम्यग् अनुकूलाश्चरन्तु ॥ यद्वा एते सिन्धुप्रभृतयः स स्रवन्तु अस्मदभिलषितं फलं सं प्रयच्छन्तु ॥ तथा प्रदिवः । पुराणनामैतत् । पुरातना देवाः मे मदीयम् इमं यज्ञम् यागं जुषन्ताम् सेवन्ताम् । अत्र संनिहिता भूत्वा हविः स्वीकुर्वन्तु इत्यर्थः । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । तस्य ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥ अत्र हविषः सद्भावम् आह संस्राव्येणेति । सम्यक् स्रवणं संस्रावः । ❀ स्रु गतौ । भावे घञ् ❀ । संस्रावम् अर्हतीति संस्राव्यम् आज्यपयःप्रभृति । ❀ "तद् अर्हति" इति यत् प्रत्ययः ❀ । यद्वा संस्रावणीयेन । ❀ सं पूर्वात् स्रवतेर्ण्यन्तात् "अचो यत्" इति यत् ❀ । तादृशेन हविषा आज्यादिना जुहोमि । आज्यादिकं हविः देवान्

उद्दिश्य अग्नौ प्रक्षिपामीत्यर्थः। ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति हविषा इति कर्मणि तृतीया ❀ ॥

स्यन्दनशील (धीरे २ चलने वाली) नदियें हमारे अनुकूल होकर बहें, गमनशील वायु भी हमारे अनुकूल होकर चले, और पक्षवाले पक्षी भी हमारे अनुकूल रहें और ये नदियें वायु तथा पर वाले भाखी मेरे अभिलषित फलको दें और प्राचीन देवता मेरे इस यज्ञका सेवन करें, समीपमें रह कर हविको स्वीकार करें, मैं बहने वाली घी दूध आदि हविको देवताओंके निमित्त अग्निमें होम रहा हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

इह। एव। हवम्। आ। यात। मे। इह। सम्ऽस्रावणाः। उत। इमम्। वर्धयत। गिरः।

इह। आ। एतु। सर्वः। यः। पशुः। अस्मिन्। तिष्ठतु। या। रयिः॥

हे देवाः मे मम संबन्धिनं हवम् आह्वानम् उद्दिश्य इहैव अस्मिन् मत्समीपदेश एव आ यात आगच्छत। अन्यान् सर्वान् परित्यज्य मत्समीपमेव आगच्छतेत्यर्थः। ❀ या प्रापणे। लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥ तत्र हेतुरुच्यते। इह अस्मिन् कर्मणि संस्रावणाः संस्रावणीयाज्यादिसाध्या होमाः सन्तीति शेषः। ❀ स्रवतेर्ण्यन्तात् कर्मणि ल्युट् ❀ ॥ तद्धविः-स्वीकरणार्थम् आ यातेति पूर्वेण संबन्धः ॥ उत अपि च गिरः गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः। ❀ कर्मणि क्विप्। "ऋत इद्धातोः"

इति इत्त्वम् ❀ । हे देवाः स्तूयमाना यूयम् इमम् हविःप्रदं यजमानं वर्धयत प्रजापश्वादिभिः समृद्धं कुरुत । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् ण्यन्तात् लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनस्य थस्य तादेशः । "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ यद्वा हे देवाः यूयं गिरः अस्माभिः क्रियमाणाः स्तुतिरूपा वाचः । प्राप्य इत्यध्याहृत्य योज्यम् ॥ हे देवाः युष्मत्प्रसादात् यः लोके प्रसिद्धः गवाश्वमहिषादिरूपः पशुरस्ति स सर्वोऽपि इह अस्मदीये सदने एतु आगच्छतु ॥ तथा या प्रसिद्धा धान्यकनकादिरूपा रयिः धनम् अस्ति सा सर्वापि अस्मिन् मदीये गृहे तिष्ठतु निवसतु । मम पशुधनादिसर्वसमृद्धिर्भवतु इत्यर्थः ॥

हे देवताओं ! मेरे आह्वान (बुलाने) पर ध्यान देकर तुम और सबको छोड़ कर मेरे पास आजाओ । क्योंकि—इस कर्ममें बहने वाले घी दूध आदि पदार्थोंसे सिद्ध होने वाले होम हो रहे हैं, और स्तुतियें होरही हैं. अतः हविको स्वीकार करनेके लिये आइये । और हे देवताओं ! तुम स्तुति पाने पर इस हवि देने वाले यजमानको प्रजा और पशु आदिसे समृद्ध करो, आपके प्रसादसे संसारमें प्रसिद्ध गौ घोड़ा भैंस आदिरूप पशु तथा धान्य आदि सुवर्ण रूप जो कुछ धन है, वह हमारे घरमें आजावे ॥२॥

तृतीया ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये । नदीनाम् । सम्ऽस्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।

तेभिः । मे । सर्वैः । सम्ऽस्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ३

नदीनाम् नदनशीलानां गङ्गादीनाम् । ❀ नदनात्त्व इति या-

स्कः [नि० २. २४.] तथा च अग्रे निर्वक्ष्यते । "यददः संप्रयतीरहावनदता हते । तस्मादा नद्यो नाम स्थ" [३. १३. १.] इति । नद अव्यक्ते शब्दे । अस्मात् पचाद्यच् । तत्र गणे नदट् इति पाठात् टित्वात् ङीप् प्रत्ययः । "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । तासां संबन्धिनो ये प्रसिद्धाः सदम् सदा अविच्छेदेन वर्तमाना अक्षिता क्षयरहिता अक्षीयमाणा वा । यद्वा सदम् अक्षिताः सर्वदा ग्रीष्मादावपि क्षयरहिताः । ❀ क्षि क्षये । अस्माद् भावे कर्मणि वा क्तः । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति भावकर्मणोः पर्युदस्तत्वाद् दीर्घाभावः । "अत एव क्षियो दीर्घात्" इति विहितस्य निष्ठानत्वस्यापि अभावः ❀ । तथाविधा उत्सासः उत्साः भूमेरुद्गच्छन्तो जलप्रवाहाः । ❀ "आज्जसेरसुक" ❀ । संस्रवन्ति संभूय प्रवहन्ति । महानदीनां जलप्रवाहाः सर्वदा क्षयरहिताः प्रवहन्तीत्यर्थः । तेभिः तैः । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति भिसः ऐसभावे "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वम् ❀ । सर्वैः निखिलैः संस्रावैः जलप्रवाहैः । ❀ स्रु स्रवणे । भावे घञ् । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । धनम् गोहिरण्यादिरूपं मे मम संस्रावयामसि संस्रावयामः संप्रवाहयामः अविच्छिन्नैर्नदीनां प्रवाहैः सस्याद्यभिवृद्धिद्वारा अभिलषितं धनं प्राप्नुयामेत्यर्थः । यद्वा नदीनाम् अविच्छिन्नप्रवाहवत् । ममापि धनम् अविच्छेदेन समृद्धं भवतु इत्यर्थः । ❀ स्रु स्रवणे । अस्मात् ण्यन्तात् लटि "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀ ॥

नदन करने वाली गंगा आदि नदियों ‡ के पृथ्वीसे ऊपरको निकलने वाले और ग्रीष्म आदिमें भी कभी क्षीण न होने वाले

‡ "नदनान्नद्य इति यास्कः—नदन (गर्जना करनेसे जलका नाम नदी है)" (निरुक्त २ । २४) । इसी बातका अथर्ववेदके तृतीयकाण्डके तेरहवें सूक्तके प्रथममन्त्रमें प्रतिपादन किया है.

जो प्रवाह एकत्रित होकर बहते हैं, उन सब जल प्रवाहोंसे हम गौ और हिरण्यरूप धनको धान्यकी वृद्धिके द्वारा प्राप्त करें अर्थात् नदियोंके अटूट जलप्रवाहकी समान हमारे यहाँ भी धन और पशु अविच्छिन्न (अटूट) रूपसे रहें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये स॒र्पिषः॑ सं॒स्रव॑न्ति क्षी॒रस्य॑ चोद॒कस्य॑ च ।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ४ ॥

ये । स॒र्पिषः॑ । सम्ऽस्रव॑न्ति । क्षी॒रस्य॑ । च॒ । उ॒द॒कस्य॑ । च॒ ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । स॒म्ऽस्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्रा॒व॒या॒म॒सि॒ ४

सर्पिषः सर्पणशीलस्य आज्यस्य । "यद् असर्पत् तत् सर्पिरभवत्" [तै० सं० २. ३. १० १] इति हि तैत्तिरीयकम् । ये अवयवाः संस्रवन्ति नदीरूपेण प्रवहन्ति । यद्वा पूर्वमन्त्रात् उत्सास इति विशेष्यम् अनुषज्य योजनीयम् । सर्पिषोपि द्रवणस्वभावं द्रव्यम् उदाहरति । क्षीरस्य क्षरणशीलस्य पयसः ततोपि द्रवणशीलस्य उदकस्य । ❀ उदननात् परितो गमनाद् उदकम् । तथा च निगमः । उदानिषुर्महीरिति तस्माद् उदकम् उच्यते [तै० सं० ५.६.१.३]" इति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । तयोर्ये उत्साः संस्रवन्ति तेभिरित्यादि पूर्वं व्याख्यातम् ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

❀—"यददः सम्प्रयतीरहावनदता हते तस्मादानद्यो नाम स्थ०—हे जलो ! परलोकमें ताड़न करने योग्य मेघके ताड़ित होने पर एकत्रित होकर इधर उधरको आते हुए तुमने गर्जना की थी इसी कारणसे तुम्हारा नदी नाम पड़ा है, हे जलो ! तुम्हारे सिंधु आदि अन्य नाम भी सार्थक हैं ।"

सर्पण † (गमन) शील घृतके अवयव क्षीरके तथा जलके जो प्रवाह हैं, उन प्रवाहोंसे हम गौ और हिरण्यरूप धनको प्रवाहरूपमें प्राप्त करें ॥ ४ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५)

“येमावास्यां रात्रिम्” इति सूक्तेन द्वेष्यमरणार्थम् अभिमन्त्रित-सीसचूर्णमिश्रान्नप्रदानम् तद्गात्रस्थाभरणसंस्पर्शनम् स्वयंछिन्न-वेणुयष्ट्या ताडनं च कुर्यात् । सूत्रं च । “येमावास्यां रात्रिम् इति संनह्य सीसचूर्णानि” इत्यादि [कौ० ६. १] । अत्र सीसशब्देन “सीसनदीसीसे अयोरजांसि कृकलासशिरः सीसानि” इति [कौ० १. ८] परिभाषासूत्रोक्तानि प्रत्येतव्यानि ॥ अत्र नदी-सीसम् इति नदीफेनम् उच्यते ॥

“येऽमावास्यां रात्रिम्” इस सूक्तके द्वारा शत्रुका मरण होनेके लिये अभिमन्त्रित सीस (सीसे) के चूर्णसे मिला हुआ अन्न देय, उस शरीर परके गहनोंको छुए और अपने आप टूटी हुई बाँसकी लकड़ीसे ताड़न भी करे । सूत्रमें भी कहा है, कि— “येऽमावास्यां रात्रिं इति संनह्य सीसचूर्णानि” इत्यादि (कौशिकसूत्र ६ । १) । यहाँ पर सीस शब्दसे कौशिकसूत्र १ । ८ में परिभाषित सीस लेने चाहियें, यथा—“सीसनदीसीसे अयो-रजांसि कृकलासशिरः सीसानि—सीसा नदीसीस, लोहेका चूर्ण और गिरघटका सिर ये सीस कहलाते हैं ।” यहाँ पर नदीसीस शब्दका अर्थ नदीका फेन है ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । १० । १ में कहा है, कि—“यद् असर्पत् तत् सर्पिरभवत्—जो सरका वह सर्पिः (घी) हुआ ॥”

तत्र प्रथमा ॥

ये॑मा॒व॒स्यां॒३॑ रात्रि॑मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत् १

ये । अ॒मा॒ऽवा॒स्या॒॑म् । रात्रि॑म् । उ॒त्ऽस्थुः॑ । व्रा॒जम् । अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निः । तु॒रीयः॑ । या॒तु॒ऽहा । सः । अ॒स्मभ्य॑म् । अधि॑ । ब्र॒व॒त् १

ये प्रसिद्धा अत्त्रिणः अदनशीला रक्षःपिशाचादयः । ❁ अद भक्षणे इत्यस्माद् अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः ❁ । अमावास्याम् । अमा सह वसतः अस्यां तिथौ सूर्याचन्द्रमसौ इति अमावास्या । ❁ वस निवासे । अस्मात् ण्यति "अमावस्यद् अन्यतरस्याम्" इति वृद्ध्यभावनिपातनस्य पाक्षिकत्वाद् अत्र वृद्धिः । "तस्येदम्" अर्थे विहितस्य अणः छान्दसो लुक् । "तित् स्वरितम्" इति अन्तस्वरितत्वम् ❁ । अमावास्यासंबन्धिनीम् इत्यर्थः । यद्वा । ❁ "सुपां सुपो भवन्ति" इति षष्ठ्या अमादेशः ❁ । अमावास्याया इत्यर्थः । रात्रिम् रजनीं भ्राजमानां तारकाभिर्दीप्यमानाम् । ❁ भ्राजृ दीप्तौ । "भ्राजभास०" इत्यादिना क्विप् रात्रिम् इति । "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया ❁ । सर्वस्यां रात्रौ उदस्थुः उत्तिष्ठन्ति । मनुष्यान् हिंसितुं रात्रौ संचरन्तीत्यर्थः । यद्वा । भ्राजं भ्राजमानं रोगाद्यभावेन पुष्टाङ्गं पुरुषं हिंसितुम् उदस्थुः । अत एव अमावास्यासंबन्धिन्यां रात्रौ रक्षसां संचरणं निमित्तीकृत्य राक्षोघ्नेष्टिर्विहिता । "अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशम् अष्टाकपालम् अमावास्यायां निशायां निर्वपेत्" इति । तथैव तेषां संचरणमेव निमित्तीकृत्य तस्यां रात्रौ आत्मरक्षा कर्तव्येति तेनैव आपस्तम्बेनोक्तम् । 'दिवादित्यः सत्त्वानि गोपायति नक्तं चन्द्रमास्तस्माद् अमावा-

स्यायां निशायां स्वाधीन आत्मनो गुप्तिम् इच्छेत्" इति [आप० ध० १. ३१]। ❀ अस्थुरिति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" इति वर्तमाने लुङ् । अत्र च ऊर्ध्वगमनस्य विवक्षितत्वात् "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इति ऊर्ध्वकर्मणः पर्युदस्तत्वाद् आत्मनेपदाभावः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । "आतः" इति झेर्जुस् । "उस्यपदान्तात्" इति पररूपत्वम् ❀ । यत एवं रक्षांसि अस्याम् उत्तिष्ठन्ति अतः कारणात् तुरीयः चतुर्थः अग्निः । पूर्वं देवानां हव्यवाहकास्त्रयः अग्नयो मृताः । तदपेक्षया अस्य वर्तमानस्य अग्नेस्तुरीत्वम् । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । "अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त" [तै० सं० २. ६. ६. १] इति । यद्वा वैतानाग्नयस्त्रयः । तदपेक्षया गार्ह्योग्निश्चतुर्थः । अथवा वैतानिकः गार्ह्यः सांग्रामिकश्चेति त्रयः अग्नयः । तदपेक्षया आङ्गिरसोग्निश्चतुर्थः । ❀ पूरणेर्थे "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः । तत्संन्नियोगेन चकारस्य लोपः ❀ । सोग्निः यातुहा यातूनां रक्षसां हन्ता । "अग्निः खलु वै रक्षोहा" [तै० सं० ६. १. ४. ६.] इति तैत्तिरीयकम् । ❀ हन हिंसागत्योः । अस्माद् यातुशब्दोपपदात् "बहुलं छन्दसि" इति क्विप् ❀ । स तथाविधोग्निः अस्मभ्यम् अस्मदर्थम् अधि ब्रवत् अधिब्रवीतु । अस्मान् स्वकीयत्वेन स्वीकृत्य तेभ्यो रक्षःपिशाचेभ्यः शास्त्रां भीतिं निवर्तयतु इत्यर्थः । ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । अस्मात् लेटि अडागमः ❀ ॥

भक्षण करना ही जिनका स्वभाव है वे राक्षस पिशाच आदि मनुष्योंको मारनेके लिये अमवास्याकी ‡ तारोंसे दमकती हुई रात्रिमें घूमा करते हैं (तथा रोग आदिके अभावसे पुष्ट शरीर

‡ जिस रात्रिमें सूर्य और चन्द्रमा (अमा) साथ ही साथ एक राशि पर होते हैं वह रात्रि अमावस्या कहलाती है ॥

वाले मनुष्योंको मारनेके लिये घूमते हैं †) (राक्षस इस रात्रिमें घूमते हैं इस कारण राक्षसोंका संहार करने वाले + चौथे अग्नि × हमारे लिये अभयवचन दें अर्थात् हमको अपना बनाः कर राक्षस पिशाचोंसे प्राप्त होसकनेवाली हमारी बाधाको दूरकरें १

† अत एव अमावस्यासे सम्बन्ध रखने वाली रात्रिमें राक्षसों के भ्रमणके निमित्त वश रक्षोघ्नेष्टि (राक्षसोंका नाश करने वाली इष्टि) का विधान है । यथा–अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशं अष्टाकपालं अमावस्यायां निशायां निर्वपेत्–राक्षसोंका संहार करने वाली अग्निके निमित्त अमावास्याकी रात्रिमें अष्टाकपाल पुरोडाशका निर्वपन करे ।” तथा आपस्तम्बने भी राक्षसोंके संचरण को–भ्रमणको–निमित्त रख कर अमावास्याकी रात्रिमें आत्मरक्षा करनेकी आज्ञा दी है । यथा–“दिवादित्यः सत्वानि गोपायति नक्तं चंद्रमास्तस्माद् अमावास्यायां निशायां स्वाधीन आत्मनो गुप्तिं इच्छेत्–दिनमें सूर्य प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, रात्रिमें चंद्रमा प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, इस कारण अमावास्याकी रात्रिमें स्वाधीन पुरुष अपनी रक्षाका उपाय विचारे–इच्छा करे–। (आपस्तम्बधर्मसूत्र १ । ३१) ॥

+ तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । ४ । ६ में कहा है, कि–“अग्निः खलु वै रक्षोहा–अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं ।”

× देवताओंको हव्य पहुँचाने वाले तीन अग्नि पहिले मर चुके हैं, उनकी अपेक्षा यह वर्तमान अग्नि चौथे अग्नि कहलाते हैं । श्रुतिमें भी कहा है, कि–“अग्ने त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त–अग्निके तीन बड़े भाई थे, वे देवताओंको हवि पहुँचाते २ समाप्त होगए” (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ६ । १) ॥

अथवा तीन वैतान अग्नि हैं, उनकी अपेक्षा गार्हपत्य अग्नि चौथे हैं ॥

द्वितीया ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आह । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति ।
सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातुऽचातनम् ॥

अनया प्रयोगसाधनं द्रव्यं स्तूयते । सीसाय प्राक् सूत्रपरिभाषया प्रदर्शिताय नदीफेनादिरूपाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । तदर्थं वरुणः जलाधिपतिर्देवः अध्याह अधिब्रवीति । मदीयम् एतद् इत्यभिमन्यते । अस्य सीसस्य रक्षःपिशाचाद्यनभिमतनिवृत्तिसाधनत्वेन इतरपदार्थेभ्यो विशिष्टत्वात् अत्रैव असाधारण्येन पक्षपातं करोतीत्यर्थः । ❀ आहेति ब्रू॒ञ्॒ व्यक्तायां वाचि "ब्रु॒वः पञ्चानाम् आदित आहो ब्रु॒वः" इति तिपो णलादेशः तत्संनियोगेन प्रकृतेः आहादेशश्च ❀ ॥ तथा सीसाय उक्तद्रव्यार्थम् अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः उप अवति उपरक्षति । निरन्तरम् एतत् सीसं समीपे स्थापयित्वा रक्षोनिबर्हणसामर्थ्याधानेन पालयतीत्यर्थः ॥ यद्वा । ❀ सीसायेति । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । सीसम् उक्तप्रकारेण रक्षतीत्यर्थः ॥ उदीरितसामर्थ्योपेतं सीसं मे मह्यं द्वेष्यादिनिरसनकामाय इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानां पतिः प्रायच्छत् प्रादात् । अनेन त्वदभिमतं साधयेति प्रदत्तवान् इत्यर्थः । ❀ दाण् दाने । लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥ सत्सु अन्येषु उत्कृष्टेषु द्रव्येषु किम् अनेन निकृष्टेन द्रव्येणेत्याह तदङ्गेति । अङ्ग इति आभिमुख्यकरणे । हे साधक देवदत्त तत् खलु उक्तसामर्थ्योपेतं सीसं यातुधानस्

यातूनां रक्षःपिशाचादीनां नाशकम् । ❀ चातयतिर्नाशने इति हि यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ ॥

इस ऋचाके द्वारा प्रयोगके साधन द्रव्यकी स्तुति करते हैं, कि–(नदीफेन आदि रूप पहिले सूक्तमें प्रतिपादित) सीसके विषयमें वरुणदेवने कहा है, कि–यह मेरा है । अर्थात् राक्षस पिशाच आदिके आक्रमणको रोकनेमें और पदार्थोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सीसका वरुणदेव अधिक पक्षपात करते हैं । और सीस के लिये अग्निदेव उपरक्षण करते हैं अर्थात् इस सीसको निरन्तर अपने समीप रख कर राक्षसोंको दूर करनेकी की सामर्थ्य को अपनेमें स्थापित करके उससे राक्षसोंसे रक्षा करते हैं । और द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये परमैश्वर्ययुक्त देवराज इन्द्रने इस सीसको मुझे दिया है अर्थात् "इससे यजमानके अभिलषित कामको साधो यह कहकर दिया है ।" (और श्रेष्ठ द्रव्योंके होते हुए इस निकृष्ट द्रव्यसे क्या है ? इसका उत्तर यह है, कि-) हे साधक ! यह देवताओंका दिया हुआ सीस राक्षसोंका संहार करने वाला है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ३

इदम् । विऽस्कन्धम् । सहते । इदम् । बाधते । अत्त्रिणः ।
अनेन । विश्वा । ससहे । या । जातानि । पिशाच्याः ॥ ३ ॥

अपि च इदम् सीसं विष्कन्धम् गतिप्रतिबन्धकम् । रक्षःपिशाचादिकृतं विघ्नजातम् इत्यर्थः । सहते अभिभवति निःसारयति । ❀ षह अभिभवे इति धातुः । विष्कन्धम् इति । स्कन्दिर्गतिशोष-

णयोः । भावे घञ् । प्रादिसमासे "वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्" इति षत्वम् । व्यत्ययेन धकारः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तथा इदम् सीसम् अत्त्रिणः अदनशीलान् राक्षसान् बाधते हिनस्ति । न केवलं रक्षःपिशाचादिकृतं विघ्नं निवर्तयति अपि तु विघ्नोत्पादकान् रक्षःप्रभृतीनपि विनाशयतीत्यर्थः । यत एवम् अतः अनेन उक्तप्रभावोपेतेन सीसेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । ससहे अभिभवामि । ❀ सह अभिभवे । लटि उत्तमैकवचने "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । कानि पुनस्तानि इत्याह । पिशाच्याः पिशिताशिन्या राक्षस्याः अस्याः सकाशात् जातानि उत्पन्नानि या यानि पीडाकराणि उपद्रवजातानि । सन्तीति शेषः । तानीति पूर्वेण संबन्धः । ❀ पिशितम् अश्नातीति पिशिताशः । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इत्यत्र गणे पिशाचशब्दस्य पाठात् पिशिताशशब्दस्य पिशाचादेशः । जातिलक्षणो ङीष् ❀ ॥

यह सीस राक्षस आदिकी गतिका प्रतिबन्धक है यह राक्षस पिशाच आदिकी टक्करको झेल उनको निकाल देता है यह सीस भक्षण करनेका स्वभाव वाले राक्षसोंका संहार कर डालता है अर्थात् यह केवल राक्षसोंके विघ्नको ही दूर नहीं करता है, किन्तु विघ्नके उत्पादक उन राक्षसोंका भी संहार कर डालता है, अत एव ऐसे प्रभाव वाले इस सीसके द्वारा मांसका भक्षण करने वाली राक्षसीसे उत्पन्न हुए पीड़ादायक सकल उपद्रवोंका मैं तिरस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।

तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नोसो॒ अवी॑रहा ४

यदि । नः । गाम् । हंसि । यदि । अश्वम् । यदि । पुरुषम् ॥

तम् । त्वा । सीसेन । विध्यामः । यथा । नः । असः । अवीरऽहा ॥

हे शत्रो त्वं नः अस्माकं संबन्धिनीं गाम् गोजातं यदि हंसि मारयसि । ❀ हन हिंसागत्योः । लटि शपि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तथा अश्वं यदि हंसि । पुरुषम् अस्मदीयं भृत्यादिरूपं यदि हंसि । अत्र सर्वत्र यदिशब्दप्रयोगाद् अपकर्तृ रेव हिंस्यत्वम् न अनपकर्तुः इति द्योत्यते । तम् तथाविधं मदीयगवाश्वादिहननेन अपकर्तारं त्वा त्वां शत्रुभूतम् । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुवृत्तेः अनुदात्तत्वम् ❀ । सीसेन उक्तमहिमोपेतेन विध्यामः ताडयामः मारयामः । ❀ व्यध ताडने । दिवादित्वात् श्यन् । "ग्रहिज्या-वयिव्यधि॰" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । शत्रुणा घातितानां गवादीनां पुनरुद्भवासंभवात् किमिति शत्रुहिंसा क्रियत इत्यत आह यथेति । इतः परमपि यथा येन प्रकारेण हे शत्रो त्वं नः अस्माकम् अवीरहा । वीर्याज्जायन्त इति वीराः पुत्राः तेषां हन्ता वीरहा । न वीरहा अवीरहा । असः भवसि । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । इतः परमपि अस्मदीयान् पुत्रपश्वादीन् यथा न बाधसे तथा ताडयाम इति पूर्वेण संबन्धः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे तृतीयोऽनुवाकः ॥

हे शत्रो ! यदि तू हमारी गौओंको मारता है, यदि तू हमारे घोड़ेको मारता है, यदि तू हमारे भृत्य आदि पुरुषको मारता है, ‡ तो मेरे घोड़े गौ आदिका हनन करनेसे शत्रु हुए तुझको हम

‡ यहाँ पर सर्वत्र यदि शब्दका प्रयोग करके यह जताया है,

सीससे मारते हैं (शत्रुसे मारे हुए गौ घोड़े आदि फिर जीवित नहीं हो सकते अतः शत्रुकी हिंसा क्यों की जाती है इस शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं, कि–इसके अनन्तर भी) जिससे तू हमारे वीर्यसे उत्पन्न होने वाले पुत्र आदिको न मारे इस कारण हम तुझे सीससे ताड़ित करते हैं ॥ ४ ॥

प्रथमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चमसूक्त समाप्त (१६) ॥

॥ तीसरा अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अमूर्याः" इति प्रथमं सूक्तम् । तेन शस्त्रघातादिजरुधिरप्रवाहस्य स्त्रीरजसः अतिवर्तनस्य [च] निवृत्तये पञ्चपर्वणा दण्डेन रुधिरवहनस्थानाभिमन्त्रणम् व्रणमुखे रथ्यापांसुसिकताप्रक्षेपणादिकम् अर्मकपालिकाबन्धनं च इत्येवमादिकुर्यात् । सूत्रं च । "अमूर्या इति पञ्चपर्वणा पांसुसिकताभिः परिकिरत्यर्मकपालिकां बध्नाति पाययति" इत्यादि [कौ०४.२] ॥ अर्मकपालिका नाम शुष्कपङ्कमृत्तिका केदारमृत्तिका वा ॥

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "अमूर्याः" यह पहिला सूक्त है । इस सूक्तके द्वारा शास्त्रके प्रहारसे उत्पन्न घावके रुधिर के प्रवाहको रोकनेके लिये और स्त्रीका रज अधिक बहता हो तो उसको रोकनेके लिये पाँच गाँठ वाले दण्डके द्वारा जहाँसे रुधिर वह रहा हो उसके द्वारा स्थानको अभिमंत्रित करे घावके मुख पर गलीकी धूल रेता फैंके और अर्मकपालिका (सूखी हुई कींचड़) बाँधे ॥ सूत्रकारने भी कहा है, कि–"अमूर्या इति पञ्च पर्वणापांसुसिकताभिः परिकिरत्यर्मकपालिकां बध्नाति पाययति– अमूर्या इस सूक्तके द्वारा पाँच पर्व (गांठ) की [लकड़ी] से धूल और रेता फैंके अर्मकपालिकाको बाँधे और पिलावे ।"

कि–अपकार करने वालेकी ही हिंसा करनेका हमारा विचार है, जो अपराधी नहीं है उसको हम मारना नहीं चाहते हैं ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । याः । यन्ति । योषितः । हिराः । लोहितऽवाससः ।
अभ्रातरःऽइव । जामयः । तिष्ठन्तु । हतऽवर्चसः ॥ १ ॥

योषितः स्त्रियाः संबन्धिन्यः अमूः एताः पुरतो दृश्यमानाः लोहितवाससः लोहितवर्णवस्त्राः । लोहितवर्णा इत्यर्थः । यद्वा लोहितस्य रुधिरस्य निवासभूताः । ❀ वस आच्छादने । वस निवासे । इत्यनयोः अन्यतरस्माद् वसेर्णित् [उ० ४. २. १७] इति औणादिकः असुन् प्रत्ययः । तस्य णिद्भावाद् उपधावृद्धिः❀। ईदृश्यो या हिराः सिराः रजोवहननाड्यः यन्ति गच्छन्ति । व्याधिवशात् सर्वदा प्रवहन्तीत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । "इणो यण्" इति यणादेशः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । ताः सिराः क्रियमाणेन अनेन भैषज्यकर्मणा हतवर्चसः हततेजस्काः प्रनष्टरोगवीर्याः सत्यः तिष्ठन्तु स्थेयासुः । मा प्रवाक्षुरित्यर्थः । ❀ तिष्ठन्तु । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । लोटि "पाघ्रा०" इत्यादिना तिष्ठादेशः । स च आद्युदात्तो निपातितः । अन्यथा धातुस्वरेण अन्तोदात्तत्वे सति शपा सह एकादेशे "अतो गुणे" [इति] पररूपे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वे कृते तिष्ठन्ति इति मध्योदात्तं पदं स्यात् । आद्युदात्तं चेष्यते । तस्माद् आद्युदात्तो निपात्यते । स निपातस्वरो धातुस्वरस्य बाधको यथा स्यात् । पादादित्वात् निघाताभावः ❀ ॥ तत्र दृष्टान्तः । अभ्रातर इव । न विद्यन्ते भ्रातरो यासां ता अभ्रातरः । ❀ "नद्यृतश्च" इति प्राप्तस्य कपः "न्नृतश्छन्दसि" इति निषेधः ❀ । यथा अभ्रातृका

जामयः भगिन्यः। ❀ आह च यास्कः। न जामये भगिन्यै जामिरन्येस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् इति [नि० ३. ६] ❀। ता यत्र उत्पन्नास्तत्रैव पितृकुले संतानकर्मणे पिण्डदानाय च तिष्ठन्ति तद्वद् इत्यर्थः ॥

स्त्रीकी जो यह रक्त की निवासस्थान रक्तको बहाने वाली नाड़ियें व्याधिके कारण रक्तको सदा बहाती रहती हैं, उनसे इस किये हुए भैषज्यकर्मसे रोगका बीज नष्ट हो जाय, वह अधिक रक्तको न बहावें और जैसे भाईरहित जामियें † (बहिनें) रहती हैं तैसे ही रहे अर्थात् भाई रहित बहिनें पिताके कुलमें सन्तानके कर्म पिण्डदानके लिये पिताके यहाँ ही रहती हैं पतिके घर नहीं आतीं, तैसे उन नाड़ियोंका रक्त तहाँ ही रहे बाहरको अधिक न निकले ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॒ पर उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्य॒मे ।

क॒नि॒ष्ठि॒का च॒ ति॑ष्ठति॒ तिष्ठा॒दि॒द्ध॒मनि॒र्म॒ही ॥ २ ॥

तिष्ठ॑। अ॒व॒रे। तिष्ठ॑। प॒रे। उ॒त। त्वम्। तिष्ठ॑। म॒ध्य॒मे।

क॒नि॒ष्ठि॒का। च॒। तिष्ठ॑ति। तिष्ठा॑त्। इत्। ध॒मनिः॑। म॒ही ॥२॥

इदानीं धमनीः प्रार्थयते। हे अवरे शरीरस्य अधोभागवर्तिनि सिरे त्वं तिष्ठ शस्त्राद्यभिघातजनितरुधिरस्रावाद् निवृत्ता भव ॥ तथा हे परे ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि सिरे त्वमपि तिष्ठ। ❀ अवरे इत्यस्य

† "जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्—इसमें दूसरे जाम् (सन्तान) को उत्पन्न करते हैं, अत एव भगिनी जामि कहलाती है।" (निरुक्त ३। ६) ॥

आमन्त्रितस्य "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति अविद्यमानवद्भावेन अतिङ उत्तरत्वाभावात् तिष्ठेत्यस्य निघाताभावः ❀ ॥ उत अपि च हे मध्यमे। मध्ये भवा मध्यमा। ❀ "मध्यान्मः" इति मप्रत्ययः ❀। शरीरस्य मध्यभागवर्तिनि सिरे त्वमपि तिष्ठ॥ पूर्वार्धे प्रत्यक्षेण धमनीनां स्थानभेदभिन्नानां प्रार्थना कृता। अधुना परिमाणतो भिन्नानां तासामेव पारोक्ष्येण प्रार्थना क्रियते। कनिष्ठिका। ❀ अतिशयेन अल्पा कनिष्ठा। "युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम्" इति इष्ठनि अल्पशब्दस्य कन् आदेशः। स्वार्थिकः कप्रत्ययः। "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" इति इत्वम् ❀। सूक्ष्मतरा च नाडी तिष्ठति। तत्र यत्नविशेषो न कर्तव्य इत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे चकारः त्वर्थे। यद्वा पञ्चमलकारोयम्। कनिष्ठिका च तिष्ठतु महती चेति। ❀ परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः। "चवायोगे प्रथमा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते ❀। मही महती स्थूलतरा धमनिः सिरा तिष्ठादित् तिष्ठत्येव। अनेन प्रयोगेण निवृत्तरुधिरस्रावा अवतिष्ठताम्। ❀ ष्ठा गतिनिवृत्तौ। "लेटोडाटौ" इत्यडागमः। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः। पादादित्वात् निघाताभावः। महीति महतीशब्दे छान्दसः अच्छब्दलोपः ❀॥

(अब धमनियोंकी प्रार्थना की जाती है) हे शरीरके नीचेके भागमें रहने वाली धमनि (सिरे) तू शस्त्र आदिके प्रहारसे हुए घावमेंसे रुधिरका बहाना बन्द कर और हे ऊपरके अङ्गमें रहने वाली सिरे! तू भी रुधिरको बहाना बन्द कर और हे शरीरके मध्यभागमें रहने वाली धमनि! तू भी रुधिरका बहाना बन्द करके स्थित हो। (मंत्रके पूर्वार्धमें स्थानभेदसे भिन्न भिन्न धमनियोंकी प्रार्थना की अब परिमाण [छोटाई बड़ाई] के भेद से भिन्न २ नाडियोंकी प्रार्थना करते हैं) परमसूक्ष्म नाड़ी भी

इस प्रयोगके कारण रुधिरका बहाना बन्द करके स्थित रहे और बड़ी भारी नाड़ी भी रुधिरका बहाव बन्द करके स्थित रहे ॥२॥

तृतीया ॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् ।
अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

शतस्य शतसंख्यानां धमनीनाम् हृदयगतानां प्रधाननाडीनाम् । तथा च मुण्डकोपनिषदि अग्रे समाम्नायते । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम् अभिनिःसृतैका" [क० उ० ६. १६] इति । तथा सहस्रस्य सहस्रसंख्याकानां हिराणाम् सिराणां शाखानाडीनाम् । सहस्रशब्दस्य अपरिमितपर्यायत्वात् श्रुतिप्रसिद्धानां सर्वासां शाखानाडीनाम् एतद् उपलक्षणम् । तथा च प्रश्नोपनिषदि वक्ष्यति । "अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां द्वासप्ततिं द्वासप्ततिं प्रति शाखानाडीसहस्राण्यासु व्यानश्चरति" [प्र० उ० ३. ६] इति । आचार्यैरपि प्राधान्यविवक्षया काश्चन नाड्यः परिगणिताः ।

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसंभवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम् ।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः । इति ।

तासाम् उभयविधानां नाडीनां मध्यमाः मध्ये भवाः इमाः पूर्वं व्याधिवशात् स्रवन्त्यो नाड्यः अस्थुरित् । इच्छब्दः अवधारणे । अतिष्ठन्नेव । अधुना मन्त्रप्रभावात् निवृत्तरुधिरस्रावा भवन्त्येवेत्यर्थः । अतः परं निवृत्तरुधिरस्रावाभिर्नाडीभिः साकम् सार्धम् अन्ताः अन्तिमाः अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः अरंसत यथापूर्वं रमन्ते

स्म । ❀ रमु क्रीडायाम् । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । लुङि "च्लेः सिच्" ❀ ॥

हृदयमेंकी सौ प्रधान ‡ नाड़ियोंमें और सहस्रों † शाखानाड़ियों मेंसे ये बीचकी नाड़ियें पहिले व्याधिके कारण रुधिरको बहा रहीं थीं वे अब मन्त्रके प्रभावसे रुधिरको बहाना बन्द करके स्थित रहें, तदनन्तर रुधिरके स्रावसे शून्य नाड़ियोंके साथ अन्तिम अवशिष्ट नाड़ियें पहिलेकी समान आनन्द करें ॥ ३ ॥

---

‡ मुण्डकोपनिषद्में हृदयकी सौ प्रधान नाड़ियोंका वर्णन है और कठोपनिषत् ६ । १६ में भी कहा है, कि—"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानं अभिनिःसृतैका—हृदयमें एक सौ एक नाड़ियें हैं उनमेंसे एक मूर्धामेंको गई है,

† सहस्र शब्द अपरिमित (अनगिनती) का पर्याय है, अतएव श्रुतिमें प्रसिद्ध सब नाड़ियोंका उपलक्षण है । इसी बातको प्रश्नोपनिषत्में कहा है, कि—"अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति—इस हृदयमें एकसौ एक प्रधान नाड़ियें हैं, उनमेंसे प्रत्येक नाड़ीमें हजार २ नाड़ियें हैं और उनमें भी बहत्तर बहत्तर हजार नाड़ियें हैं,उनमें व्यान वायु घूमता है" (प्रश्नोपनिषत् ३।६)॥ आचार्योंने कुछ प्रधान नाड़ियोंकी गिनती की है । यथा—"मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसंभवाः । शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम् ॥ अर्धलक्षं इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः । मध्यमें स्थित सुषुम्ना नाड़ीके पाँच पर्वोंमें शाखा और उपशाखा के भेदसे साढ़े तीन लाख नाड़ियें हैं इस बातको शरीरके तत्त्वोंका विवेचन करने वालोंने कहा है ॥"

चतुर्थी ।

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत् ।
तिष्ठतेलयता सु कम् ॥ ४ ॥

परि । वः । सिकताऽवती । धनूः । बृहती । अक्रमीत् ।
तिष्ठत । इलयत । सु । कम् ॥ ४ ॥

हे नाड्यः वः युष्मान् ।❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयान्तस्य युष्मदः वसादेशः ❀। सिकतावती सिकताः रजांसि तद्वती तदाधारभूता नाडी । यद्वा अश्मर्याख्यो व्याधिविशेषो यस्माद् उत्पद्यते सा नाडी सिकतावती । धनूः धनुर्वद् वक्रो मूत्राशयो नाडीविशेषः । ❀ धन धान्ये । कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः [उ० १. ८१] इति ऊप्रत्ययः ❀ । स्मर्यते हि ।

मूत्राशयो धनुर्वक्रो बस्तिरित्यभिधीयते । इति ॥

तथा बृहती महती । ❀ "वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च" इति शतृवद्भावाद् "उगितश्च" इति ङीप् । "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । उक्ता सा नाडी पर्यक्रमीत् परितो व्याप्नोत् । सर्वान् रुधिरप्रवहणमार्गान् निरुध्य वर्तत इत्यर्थः । ❀ क्रमु पादविक्षेपे । अस्मात् लुङि सिचि "ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्" इति वृद्धिप्रतिषेधः ❀ ॥ अस्माद्धेतोः हे नाड्यः यूयं तिष्ठत निवृत्तस्रावा भवत ॥ कम् सुखम् अस्य जनस्य सु सुष्ठु इलयत प्रेरयत । स्वव्याधिविनिर्मुक्ताः सुखं प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ इल प्रेरणे इति धातुः ❀ ॥

[इति] प्रथमं सूक्तम् ॥

हे नाड़ियों ! तुमको रज वाली नाड़ीने वा जिससे अश्मरी (पथरी) नामक रोग उत्पन्न होता है उस नाड़ीने तथा धनुषकी

समान वक्र मूत्राशयकी नाड़ी † धनुने और बृहती नाड़ीने चारों ओरसे व्याप्त कर लिया है, अर्थात् ये नाड़ियें रुधिरप्रवाहके मार्गको रोक रही हैं, अतः हे नाड़ियों! तुम स्रावको बन्द करो और इस मनुष्यके लिये सुखकी मेरखा करो अर्थात् स्रवकी व्याधिसे विमुक्त होकर इसको सुख दो ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम अनुवाक समाप्त (१७) ॥

"निर्लक्ष्म्यम्" इति सूक्तेन मुखहस्तपादाद्यङ्गेषु सामुद्रिकोक्तदुर्लक्षणयुक्तायाः स्त्रियास्तद्दोषनिहृतये मुखप्रक्षालनम् अभिषेकः फलीकरणतुषावतक्षणानां होमो वा कार्यः। सूत्रितं हि। "निर्लक्ष्म्यमिति पापलक्षणाया मुखम् उक्षत्यन्वृचं दक्षिणात् केशस्तुकात्" इत्यादि [कौ० ५. ६]॥

तथा शान्तिकल्पेपि महाशान्तौ एतत् सूक्तम् ॥

निर्लक्ष्म्यम् सूक्तके द्वारा मुख हाथ पैर, आदि अङ्गोंमें सामुद्रिक शास्त्रके दुर्लक्षणों वाली स्त्रीका दोष हटानेके लिये मुख धुलवावे, अभिषेक करे अथवा फलीकरणतुषावतक्षणका होम करावे। कौशिकसूत्र ५। ६ में भी कहा है, कि—"निर्लक्ष्म्यमिति पापलक्षणाया मुखं उक्षत्यन्वृचं दक्षिणात् केशस्तुकात्"

तथा शान्तिकल्पमें भी महाशान्तिमें इस सूक्तका विनियोग किया गया है।

तत्र प्रथमा ॥

निर्लक्ष्म्यं॑ ल॒लाम्यं॑ निररा॑तिं सुवामसि।

अथ॒ या भ॒द्रा तानि॑ नः प्र॒जाया॒ अरा॑तिं नयामसि ॥ १ ॥

---

† "मूत्राशयो धनुर्वक्रो बस्तिरित्यभिधीयते—धनुषकी समान वक्र आकार वाला मूत्राशय बस्ति कहलाता है ॥

निः । लक्ष्म्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि ।

अथ । या । भद्रा । तानि । नः । प्रजायै । अरातिम् । नयामसि ॥ १ ॥

ललाम्यम् ललामे भवं तिलकस्थानगतम् । ❀ "शरीरावयवाच्च" इति भवार्थे यत् प्रत्ययः । "तित् स्वरितम्" इति स्वरितत्वम् ❀ । लक्ष्मम् लक्ष्म असौभाग्यकरं चिह्नम् । ❀ लक्ष दर्शनाङ्कनयोः । बाहुलकाद् औणादिको मक् प्रत्ययः ❀ । निःसुवामसि निःसुवामः । अस्माच्छरीराद् निरवशेषम् उत्सारयामः । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना उवङ् । "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् । "व्यवहिताश्च" इति निसो व्यवहितप्रयोगः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ । अरातिम् । राति ददाति इष्टं वस्त्विति रातिर्मित्रम् न रातिः अरातिः शत्रुः । अरातिवद् अनिष्टकरम् अवयवान्तरगतं दुर्लक्षणं निःसुवामः । ❀ रा दाने । "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इति क्तिच् । नञ्समासे "तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः" इत्यत्र "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति परिगणनाद् अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ दुर्लक्षणनिरसनरूपाम् अनिष्टनिवृत्तिम् अभिधाय सुलक्षणस्थापनरूपाम् इष्टप्राप्तिम् आह अथ येति । अथ दुर्लक्षणनिरसनानन्तरं या यानि सामुद्रिकशास्त्रप्रसिद्धानि भद्रा भद्राणि कल्याणानि सौभाग्यकराणि चिह्नानि सन्ति । ❀ भदि कल्याणे सुखे च । इदित्वाद् नुम् । भन्देर्नलोपश्च [उ० २. १३०] इति रक् प्रत्ययः नलोपश्च । उभयत्रापि "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः । प्रत्ययलक्षणेन नुमि कृते "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" इति उपधादीर्घः । "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपः ❀ । तानि उदीरितानि चिह्नानि नः अस्माकं प्रजायै पुत्रपौत्रादिरूपायै । भवन्तु इति शेषः ।

❀ प्रकर्षेण जायत इति प्रजा । जनी प्रादुर्भावे । "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति जनेर्डप्रत्ययः । डित्करणसामर्थ्यात् "टेः" इति टिलोपः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । ततो गतिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव स्वरः शिष्यते । ततष्टापि कृते "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति एकादेश उदात्तः ❀ ॥ यानि पूर्वं निःसारितानि असौभाग्यकराणि चिह्नानि सन्ति तेषाम् आश्रयम् आह अरातिम् इति । उक्तानि दौर्भाग्यकराणि चिह्नानि अरातिम् शत्रुं नयामसि नयामः प्रापयामः । ❀ णीञ् प्रापणे । पूर्ववद् मस इदन्तत्वम् ❀ ॥

तिलकके स्थानमें वर्तमान असौभाग्यसूचक चिन्हको हम इस शरीरसे पूर्णरूपसे निकालते हैं । इष्ट वस्तुको देने वाला राति मित्र कहलाता है, जो राति न हो वह अराति—शत्रु—कहलाता है । अतः हम शत्रुकी समान अनिष्ट करने वाले शरीरान्तर्गत दुर्लक्षणको दूर करते हैं । (दुर्लक्षणोंको दूर करने वाली ऋचि को कह कर अब सुलक्षणस्थापनरूप इष्टप्राप्तिको कहते हैं, कि—) दुर्लक्षणोंको दूर करनेके अनन्तर जो सामुद्रिकशास्त्रमें प्रसिद्ध सौभाग्यदायक चिन्ह हैं वे चिन्ह हमारी पुत्र पौत्र आदि प्रजामें आवें और असौभाग्यको करने वाले अपने दुर्लक्षणोंको हम शत्रुओंमें भेजते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

निरर॑णिं सवि॒ता सा॑विषक् प॒दोर्निर्हस्त॑योर्वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा ।
निर॒स्मभ्य॒म् अनु॑मती॒ ररा॑णा॒ प्रेमां दे॒वा अ॑साविषुः सौभ॑गाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषक् । पदोः । निः । हस्तयोः ।
वरुणः । मित्रः । अर्यमा ।
निः । अस्मभ्यम् । अनुमतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः ।
असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

सविता सर्वस्य प्रेरको देवः अरणीम् अरमणीम् अलक्ष्मीम् । दौर्भाग्यकरं चिह्नम् इत्यर्थः । ❀ मकारलोपश्छान्दसः ❀ । यद्वा । अरणीम् सर्वदा पर्यटनकारिणीम् आर्तिकरीं वा अलक्ष्मीम् । ❀ अर्तेः औणादिकः अनिप्रत्ययः । "कृदिकारात् अक्तिनः" इति ङीष् प्रत्ययः ❀ । एवंभूताम् अलक्ष्मीं पदोः पादयोः । वर्तमानाम् इति शेषः । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इत्यादिना पादशब्दस्य पद् आदेशः । "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । निः साविषत् निःसुवतु निःसारयतु । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । "स च णिद् वक्तव्यः" इति वचनात् "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति सिप इडागमः ❀ ॥ तथा वरुणः वारको देवः । मित्रः सर्वेषां मित्रभूतो देवः । अर्यमा अभिमतफलप्रदाता देवः । "अर्यमेति तम् आहुर्यो ददाति" [तै० ब्रा० १. १. २. ४] इति श्रुतेः । एते देवाः प्रत्येकं हस्तयोर्वर्तमानाम् अरणीम् अलक्ष्मीं निःसुवन्तु । हस्तपादयोर्वर्तमानम् असौभाग्यकरं लक्षणम् एते सर्वे देवा निर्गमयन्तु इत्यर्थः ॥ तथा अनुमतिः सर्वेषाम् अनुमन्त्री देवता अस्मभ्यम् अस्मदर्थं रराणा मा भैषीरिति शब्दायमाना अस्माभिः स्तूयमाना वा । ❀ रै शब्दे । कर्तरि कर्मणि वा लिट् । "लिटः कानज्वा" इति कानजादेशः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । ❀ रा

दाने ❁। राति ददाति अभिमतफलम् इति रराणा। ❁ पूर्ववत् कानजादेशः ❁। एवंभूता सती देवी सर्वेषु शरीरावयवेषु वर्तमानं दुर्लक्षणं निःसुवतु। ❁ निसः श्रवणात् तत्सहचरितसाविषत् इति क्रियापदस्य अनुषङ्गः ❁॥ सतीष्वपि अन्यासु देवतासु अस्या एव प्रार्थनायां हेतुम् आह प्रेमाम् इति। देवाः इन्द्रादयः इमाम् उक्ताम् अनुमतिं सौभगाय सौभाग्याय अस्माकं सौभाग्यं दातुं प्रासाविषुः प्रेरितवन्तः। यत एवम् अत इति पूर्वत्र संबन्धः। ❁ षू प्रेरणे। अस्मात् लुङि "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति वृद्धिः। "व्यवहिताश्च" इति प्रोपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः। सौभगायेति। शोभनो भगोस्य अस्तीति सुभगः। तस्य भावः सौभगम्। उद्गात्रादिगणे "सुभग मन्त्रे" इति पाठात् "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योञ्" इति अञ्। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❁॥

सबके प्रेरक सविता देवता पैरोंमें वर्तमान अरणी—अलक्ष्मी अर्थात् दुर्भाग्य करने वाले चिन्हको अथवा सर्वदा दुःख देने वाली अलक्ष्मीको निकाल दें, तथा वारक देवता वरुण और सबके मित्र मित्र देवता तथा अभिलषित फलके देने वाले ‡ अर्यमा देवता हाथ पैरमें वर्तमान असौभाग्यके चिन्होंको दूर करें और सबको सलाह देने वाली अनुमति हमारे स्तुति करने पर भय मत करो कह अभिलषित फलको देती हुई हमारे शरीरके सब दुर्लक्षणोंको दूर करे। (अन्य देवताओंके होने पर भी इस देवीकी प्रार्थना करनेका यह कारण है, कि—इन्द्र आदि देवताओंने इस अनुमति देवताको हमें सौभाग्य देनेके लिये प्रेरणा की है, अत एव हम इस देवीकी प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

‡ "अर्यमेति तं आहुर्यो ददाति—अर्यमा उसको कहते हैं जो देता है।" [तैत्तिरीयब्राह्मण १। १। २४]॥

तृतीया ॥

यत्ते आत्मनि तन्वां घोरम् अस्ति यद्वा

केशेषु प्रतिचक्षणे वा ।

सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता

सूदयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते । आत्मनि । तन्वाम् । घोरम् । अस्ति । यत् ।

वा । केशेषु । प्रतिऽचक्षणे । वा ।

सर्वम् । तत् । वाचा । अप । हन्मः । वयम् । देवः । त्वा ।

सविता । सूदयतु ॥ ३ ॥

हे दुर्लक्षणोपेत पुरुष ते तव आत्मनि आत्मीयायां तन्वाम् शरीरे घोरम् भयंकरं दुर्लक्षणं [यद्] अस्ति । यद्वा । आत्मनि शरीरोपहिते पुरुषे घोरम् भयंकरं पापं तन्वाम् शरीरे दुर्लक्षणं यद् अस्ति । वा अथ वा केशेषु शिरोरुहेषु अथ वा प्रतिचक्षणे दर्शनसाधने चक्षुषि यद् घोरम् अस्ति । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा । करणे ल्युट् । "असनयोश्च" इति ख्याञादेशप्रतिषेधः ❀ । तद् आभ्यन्तरं बाह्यं च सर्वम् घोरजातं वयम् प्रयोगकुशलाः वाचा मन्त्ररूपया अप हन्मः हिंस्मः । ❀ हन हिंसागत्योः । अदादित्वात् शपो लुक् । "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः" इति वाच उत्तरस्यास्तृतीयाया उदात्तत्वम् ❀ ॥ अनिष्टनिवृत्तिं विधाय इष्टप्राप्तिं प्रार्थयते । देवः द्योतनात्मकः सविता प्रेरको देवः त्वा त्वां सूदयतु श्रेयसे प्रेरयतु । दूरगतदुर्लक्षणं त्वां श्रेयसा संबद्धं करोतु इत्यर्थः । ❀ षूद क्षरणे ❀ ॥

हे दुर्लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ! तेरे अपने शरीरमें जो भयंकर दुर्लक्षण हैं अथवा शरीरसे ढ़के हुए तुझ पुरुषमें जो पापरूप दुर्लक्षण है, और तेरे केशोंमें तथा नेत्रमें जो जो भयंकर दुश्चिन्ह हैं, उन बाहरी भीतरी सब भयंकर लक्षणोंको हम प्रयोगकुशल पुरुष मन्त्ररूपा वाणीसे दूर करते हैं ॥ अब द्योतनात्मक सविता देवता तुझे कल्याणके लिये प्रेरणा करें अर्थात् तुझ दुर्लक्षण-रहित पुरुषका कल्याण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ४

रिश्यऽपदीम् । वृषऽदतीम् । गोऽसेधाम् । विऽधमाम् । उत ।
विऽलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ।४।

ऋश्यपदीम् ऋश्यस्य सारङ्गस्येव पादौ यस्याः सा ऋश्यपदी ईदृशदुर्लक्षणोपेता स्त्री ताम् । ❀ "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाचोत्तरपदलोपश्च" इति बहुव्रीहिसमासे "पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः । "पादोऽन्यतरस्याम्" इति ङीप् । भसंज्ञायां "पादः पत्" इति पद्भावः ❀ । तथा वृषदतीम् । वृषस्येव दन्ता यस्याः सा वृषदती स्थूलदन्ता नारी [ताम्] । ❀ पूर्ववद् बहुव्रीहौ "अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च" इति दन्तशब्दस्य दतृ आदेशः । "उगितश्च" इति ङीप् ❀ । तथा गोसेधाम् गौरिव सेधति गच्छतीति गोसेधा स्त्री ताम् । ❀ षिधु गत्याम् । पचाद्यच् ❀ । तथा विधमाम् विकृतं धमति शब्दायते इति विधमा [ताम्] । ❀ ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । अस्मात् "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इति शप्रत्ययः । "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्-

स्यर्तिं०" इत्यदिना घमादेशः ❀ । फुल्कारादिविविधशब्दकारिणीम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ घमतिर्गतिकर्मा इति यास्कः [नि० ६. २] ❀ । विकृतगमनाम् । उतशब्दः अप्यर्थे । ताः सर्वा ऋश्यपद्याद्याः अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः । अस्मत्संबन्धिनीनां स्त्रीणाम् ऋश्यपदीत्वादिरूपं यद् दुर्लक्ष्म तद् मन्त्रप्रभावात् निवर्तयाम इत्यर्थः । ❀ णश अदर्शने । "इदन्तोमसिः" ❀ ॥ तथा ललाम्यम् ललामस्थाने ललाटप्रान्ते भवम् । ❀ "शरीरावयवाच्च" इति यत् । "तित् स्वरितः" इतिस्वरितत्वम् ❀ । तथाविधं विलीढ्यम् विशेषेण लीढं विलीढम् । ❀ लिह आस्वादने । भावे निष्ठा । "होढः" इति ढत्वम् "झषस्तथोर्धोऽधः" इति धत्वम् । ततः ष्टुत्वे कृते "ढो ढे लोपः" इति ढलोपे "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀ । विलीढे भवं विलीढ्यम् । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । पूर्ववत् स्वरितत्वम् ❀ । विलीढमिव स्थितं केशानां प्रातिलोम्यरूपं ललाटप्रान्ते वर्तमानं यद् दुर्लक्ष्म तदपि नाशयाम इत्यर्थः । अत्र ऋश्यपदीत्वादीनि स्त्रीणामेव दुर्लक्षणानि न पुरुषाणाम् इत्यभिप्रायेण तत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । [यद्] विलीढ्यरूपं तद् दुर्लक्षणं स्त्रीपुरुषोभयसाधारणम् इति ततः पार्थक्येन निर्देशः ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

सारंग मृगकी समान चरण वाली बैलकी समान दाँतों वाली (स्थूल दाँत वाली), गौकी समान चलने वाली तथा फूत्कार आदि विकृत शब्द करने वाली—इन सब दुर्लक्षणों वालीको हम अपने पाससे दूर करते हैं अर्थात् हमारी स्त्रियोंमें जो मृगकी समान चरण आदि दुर्लक्षण हैं उन दुर्लक्षणोंको हम मन्त्रके प्रभावसे दूर करते हैं तथा ललाटस्थानके विलीढ्यको अर्थात्

ललाटमें स्थित केशोंका प्रातिलोम्य (उखटापन) रूप जो दुर्लक्षण है, उसको हम दूर करते हैं † ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१८) ॥

मा नो विदन् [१. १६] अदारसृत् [१. २०] स्वस्तिदाः [१. २१] इति सूक्तत्रयस्य अपराजितगणे पाठात् तद्गणसाध्येषु सांग्रामिकादिकर्मसु विद्मा शरस्येति प्रथम [१. २] सूक्तवद् विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

अत्र "मा नो विदन्" इति सूक्तस्य ब्राह्मणायुधधारणदेवताप्रतिमानर्तनहसनाद्यद्भुतेषु आज्यहोमे विनियोगः । "अथ यत्रैतद् ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति" इति [कौ० १३. १२] प्रक्रम्य सूत्रितम् । "मा नो विदन् [१. १६] नमो देववधेभ्यः [६. १३] इत्येताभ्यां सूक्ताभ्यां जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः । अथ यत्रैतद् दैवतानि नृत्यन्ति" इत्यादि [कौ० १३. १३] ॥

तथा अनड्वान् यदि धेनो स्तन्यं पिबेत् तदा एतेन आज्यं जुहुयात् । तथा च कौशिकः । "अथ यत्रैतद् अनड्वान् धेनुं धयति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् नमो देववधेभ्यः इत्येताभ्यां जुहुयात्" इति [कौ० १३. २१] ॥

मानो विदन् (१ । १६), अदारसृत् (१ । २०), और स्वस्तिदाः (१ । २१), इन तीनों सूक्तोंका अपराजितगणमें पाठ है, अत एव अपराजितगणसे साध्य सांग्रामिक आदि कर्मों में विद्मा शरस्य (१ । २) इस प्रथमसूक्तकी समान इस मा नो विदन् (१ । १६) सूक्तका विनियोग करना चाहिये ।

"मा नो विदन्" इस सूक्तका ब्राह्मणका आयुधको धारण करना और देवताओंकी प्रतिमाओंका नाचना और हँसना आदि

† मृगकी समान,चरण होना आदि स्त्रियोंके ही दुर्लक्षण हैं, पुरुषोंके नहीं हैं, अत एव यहाँ स्त्रीलिंगका प्रयोग है ॥

अद्भुत कार्योंमें भी विनियोग है। "अथ यत्रैतद्ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति–जहाँ यह ब्राह्मण आयुधको धारण करते हैं" (कौशिकसूत्र १३। १२) इस बातका आरंभ करके कहा है, कि–तब "मा नो विदन् (१।११) नमो देववधेभ्यः (६।१३) इन दोनों सूक्तोंसे होम करे, यह प्रायश्चित्त है। और जहाँ यह देवता नृत्य करते हैं" इत्यादि कौशिकसूत्र (१३। १३)॥

और बैल यदि गौका स्तन पिये तो इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र १३। २१ में लिखा है, कि–"अथ यत्रैतदनड्वान् धेनुं धयति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् नमो देववधेभ्य इत्येताभ्यां जुहुयात्।"

तत्र प्रथमा ॥

मा नो॑ विदन् वि॒व्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन्।
आ॒राच्छ॑र॒व्या॒ अ॒स्मद्वि॑षू॒चीरि॑न्द्र पातय ॥ १ ॥

मा। नः। वि॒दन्। वि॒ऽव्याधिनः। मो इति॑। अ॒भि॒ऽव्याधिनः। वि॒दन्।
आ॒रात्। श॒र॒व्याः। अ॒स्मत्। विषू॑चीः। इ॒न्द्र। पा॒तय॥ १॥

विव्याधिनः विशेषेण अस्त्रादिभिस्ताडनशीलाः शत्रवः नः अस्मान् युध्यमानान् मा विदन् मा लभन्तां मा प्राप्नुवन्तु। ❀ विद्लृ लाभे। अस्मात् माङि लुङि "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" इति च्लेः अङ् आदेशः। "न माङ्योगे" इति अडभावः। विव्याधिन इति। व्यध ताडने। अस्माद् विपूर्वात् "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः ❀॥ तथा अभिव्याधिनः अभिमुखम् आगत्य विध्यन्ति हिंसन्तीत्यभिव्याधिनः प्रत्यर्थिनः संनिहिता भटाः। ❀ पूर्ववद् णिनिः ❀। तेपि मो विदन् मैव लभन्ताम्। दूरस्थाः संनिहिताश्च भटा न अस्मान् स्पृशन्तु इत्यर्थः॥ अधुना

शत्रुसंबन्धीनि शस्त्राण्यपि न अस्मत्समीपदेशं प्राप्नुवन्तु इति प्रार्थयते। हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव शरव्याः शत्रुभिर्बहुशो विनिर्मुक्ताः शरसंहतीः विषूचीः विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः सतीः अस्मत् आरात् अस्मत्तो दूरदेशे पातय प्रक्षिप। ❀ शरव्या इति। भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः इत्यादिना [उ० १. १०] औणादिक उप्रत्ययः। शरुशब्दात् "उगवादिभ्यो यत्" इति यत्। "ओर्गुणः" इति गुणे "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः। "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम्। "अन्याराादितरर्ते०" इति अस्मच्छब्दात् पञ्चमी। विषूचीरिति। अञ्चु गतिपूजनयोः। अस्माद् विषुशब्दोपपदात् "ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च" इति क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीपि भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ❀॥

अस्त्र आदिसे ताड़न करने वाले शत्रु हम युद्ध करने वालोंके पास न आसकें तथा अभिमुख आकर प्रहार करने वाले भट भी हमें न पासकें। (अब शत्रुके शस्त्र भी हमारे पास न आवें, यह प्रार्थना करते हैं, कि—) हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव! शत्रुओंकी अनेक ओरको जाने वाली बाणावलिको हमसे दूर गिराइये॥१॥

द्वितीया॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत॥ २ ॥

विष्वञ्चः। अस्मत्। शरवः। पतन्तु। ये। अस्ताः। ये। च। आस्याः।
दैवीः। मनुष्यऽइषवः। मम। अमित्रान्। वि। विध्यत॥ २॥

शरवः शराः हिंसकाः । ❀ शॄ हिंसायाम् । शॄस्वृस्निहि० [उ० १. १०] इत्यौणादिक उप्रत्ययः । तत्र धान्ये नित् [उ० १. ६] इत्यनुवृत्तेः "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । ते अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् विष्वञ्चः विविधगमनाः पतन्तु निपतन्तु । अस्मान् परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्तु इत्यर्थः । तान् शरान् विशिनष्टि । ये शरा अस्ताः शत्रुभिर्धनुर्यन्त्रेण विनिर्मुक्ताः । ❀ असु क्षेपणे । कर्मणि निष्ठा । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । तथा ये च शराः आस्याः क्षेप्तव्याः तूणीरे संगृहीताः । ते सर्वे निपतन्तु इति योजना । ❀ असु क्षेपणे इत्यस्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यत् प्रत्ययः ❀ ॥ पूर्वं शत्रुशराणां लक्ष्यावेधलक्षणं वैयर्थ्यं प्रार्थ्य अधुना स्वीयानां शराणां शत्रुरूपस्य [लक्ष्यस्य] हिंसकत्वं प्रार्थयते । दैवीः देवसंबन्धिन्यः आग्नेयवारुणादिरूपाणि अस्त्राणि । ❀ देवशब्दात् "तस्येदम्" अर्थे "देवाद्यञञौ" इति अञ् प्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् । "[वा] छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा मनुष्येषवः मनुष्याणाम् अस्मदीयानां संबन्धिन्य इषवः शस्त्राणि उभयविधास्ता इषवः अस्मदीयैर्योद्धृभिः मनुष्यैर्विमुच्यमानाः मम मदीयान् अमित्रान् न विद्यते मित्रम् एषाम् इति अमित्राः शत्रवः । ❀ बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । तान् शत्रून् वि विध्यतु वि विध्यन्तु मारयन्तु । ❀ व्यध ताडने । लोटि दिवादित्वात् श्यन् । तस्य ङित्वात् "ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टि०" इत्यादिना संप्रसारणम् । "तिङां तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति झेस्तिप् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

शत्रु जिन अस्त्रोंको छोड़ चुका है और जो बाण छोड़नेके

लिये उसके भाथोंमें हैं, वे बाण हमें छोड़ अन्यत्र विविधप्रकारसे गिरें। (पहिले शत्रुओंके बाण लक्ष्य पर न गिरें—यह प्रार्थना कर अब अपने बाणोंके शत्रुरूप लक्ष्य पर गिरनेकी प्रार्थना करते हैं, कि–) हमारे जो आग्नेय वारुण आदि देवसंबंधी अस्त्र हैं और जो हमारे मनुष्योंके बाण हैं वे दोनों प्रकारके बाण हमारे योधाओं के छोड़ने पर शत्रुओंको अनेक प्रकारसे मार डालें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति ।
रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरणः । सऽजातः । उत । निष्ट्यः । यः । अस्मान् । अभिऽदासति ।
रुद्रः । शरव्यया । एतान् । मम । अमित्रान् । वि । विध्यतु ॥३॥

नः अस्माकं संबन्धी यः स्वः ज्ञातिः अधिकबलः सन् अस्मान् अनपकर्तॄन् अभिदासति उपक्षपयति । क्षेत्रधनादिकम् अपहृत्य पीडयतीत्यर्थः । ❀ दसु उपक्षये । अस्मात् ण्यन्तात् लट् शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । शप्तिपोः पित्त्वात् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तथा अरणः अरणनीयः संभाष्यो न भवतीत्यरणः शत्रुः । ❀ रण शब्दार्थः इत्यस्माद्धातोः "वशिरण्योरप्युपसंख्यानम्" इति कर्मणि अप् । ततो नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एवं-

भूतो यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति । तथा अन्योपि सजातः समानजन्मा समबलः ज्ञातिः अरातिर्वा । उत अपि च निष्ट्यः निर्गतवीर्यो निकृष्टबलो यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति क्षुद्रोपद्रवैः पीडयति । ❀ सजात इति । जनेः कर्तरि निष्ठा । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः । "जनसनखनां सन्झलोः" इति आत्वम् । ततः समानशब्देन समासे "समानस्यच्छन्दस्य मूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इति समानशब्दस्य सभावः । निष्ट्य इति । "अव्ययात् त्यप्" इत्यत्र "निसो गते" इति वचनात् निस्शब्दात् त्यप् प्रत्ययः । "ह्रस्वात् तादौ तद्धिते" इति सकारस्य मूर्धन्यादेशः ❀ । एतान् ज्ञातिप्रभृतीन् मम मदीयान् अमित्रान् शत्रून् रुद्रः । रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति रुद्रः संहर्ता देवः । ❀ रुदिर् अश्रुविमोचने । अस्मात् एयन्तात् "रोदेर्णिलुक् च" [उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः ❀ । शरव्यया शरूणां हिंसकानाम् आयुधानां संहतिः शरव्या । ❀ "पाशादिभ्यो यः" इति समूहेर्थे यप्रत्ययः । "ओर्गुणः" इति गुणे "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः ❀ । तया वि विध्यतु विनिहन्तु । ❀ व्यध ताडने । श्यनि "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥

जो हमारा अपनी जाति वाला संबंधी अधिक बल वाला होनेसे हम निरपराधियोंको भी खेत धन आदि छीन कर अनेक प्रकारसे पीड़ा देता है, तथा बात न करने योग्य जो शत्रु हमें पीड़ा देता है तथा इनके अतिरिक्त समान जन्म वाला जाति वाला वा शत्रु हमें क्षुद्र उपद्रवोंसे पीड़ा देता है, मेरे इन सब शत्रुओंको, प्राणियोंको अन्तकालमें रुलाने वाले संहारकारी रुद्रदेव हिंसक बाणोंसे वेध डालें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यः स॒पत्नो॒ योऽस॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षञ्छपा॑ति नः ।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ४ ॥

यः। सऽपत्नः। यः। असपत्नः। यः। च। द्विषन्। शपाति। नः।

देवाः। तम्। सर्वे। धूर्वन्तु। ब्रह्म। वर्म। मम। अन्तरम् ॥४॥

यः सपत्नः ज्ञातिरूपः शत्रुः यः असपत्नः ज्ञातिव्यतिरिक्तः शत्रुः अस्मान् बाधते। तथा यश्च शत्रुः द्विषन् द्वेषं कुर्वन्। ❀ द्विष अप्रीतौ। "द्विषोऽमित्रे" इति शतृप्रत्ययः। नः अस्मान् अनागसः शपाति शपेत्। निग्रहरूपया वाचा नाशयेत्। ❀ शप आक्रोशे। अस्मात् लेटि आडागमः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। तं सर्वं पूर्वोक्तं शत्रुं सर्वे निखिला देवाः इन्द्रादयो धूर्वन्तु हिंसन्तु ❀। धुर्वी हिंसायाम् ❀ ॥ शत्रुकृतशापस्य असंस्पर्शनोपायम् आह ब्रह्मेति। मम मन्त्रप्रयोक्तुः ब्रह्म प्रयुज्यमानं मन्त्रजातम् अन्तरम् व्यवधायकं वर्म कवचं भवतु। यथा शत्रुकृता वाक्शस्त्रादयः अस्मान् न स्पृशन्ति तथा अयं मन्त्रः अस्मान् छादयतु इत्यर्थः ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

जो जाति वाला शत्रु है और जो अन्य जाति वाला शत्रु है और जो व्यर्थ ही द्वेष करके हम निरपराधियोंको निग्रहरूप वाणीसे शाप देता है, इन सब शत्रुओंकी इन्द्र आदि सब देवता हिंसा करें (शत्रुके दिये हुए शापके फल न देनेका उपाय यह है, कि—) मुझ मन्त्रप्रयोक्ताका मन्त्र रोकने वाला कवचरूप हो। तात्पर्य यह है, कि—शत्रुके वाक्शस्त्र आदि जिस प्रकार हमारा स्पर्श न कर सकें उस प्रकार यह मन्त्र हमें ढके ॥ ४ ॥

तीसरा सूक्त समाप्त (१९) ॥

"अदारसृत्" इत्यस्य उक्तः पूर्वसूक्तेन विनियोगः ॥

तस्य आद्याया दर्शपूर्णमासयोः भृतहविर्निरीक्षणे विनियोगः। "अदारसृदित्यवेक्षते" इति [कौ० १. २] हि सूत्रम् ॥

अदारसृत् सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया ॥

इस सूक्तकी पहिली ऋचाका औटी हुई हविको देखनेमें विनियोग है। कौशिकसूत्र १। २ में कहा है, कि—"अदारसृदित्यवेक्षते—अदारसृत् ऋचासे देखता है" ॥

तत्र प्रथमा ॥

**अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥**

अदारऽसृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । यज्ञे । मरुतः । मृडत । नः ।
मा । नः । विदत् । अभिऽभाः । मो इति । अशस्तिः । मा । नः ।
विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥ १ ॥

हे देव द्योतनात्मक सोम अस्मदीयः शत्रुः अदारसृत् भवतु। दारयन्ति पुरुषहृदयं विदारयन्तीति दाराः स्त्रियः। ❀ दॄ विदारणे। "दारजारौ कर्तरि णिलुक् च" इति ण्यन्तात् कर्तरि घञ् ❀। दारान् सरति गच्छतीति दारसृत् । ❀ सृ गतौ। "क्विप् च" इति क्विप्। न दारसृत् अदारसृत् इति नञ्समासे "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। मदीयः शत्रुः स्वस्थानात् प्रच्युतः सन् न कदाचिदपि स्वस्त्रीसमीपं प्राप्नोतु इत्यर्थः ॥ हे मरुतः सप्तगणात्मका एकोन-

पञ्चाशत्संख्याका देवाः । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अस्मिन् मया अनुष्ठीयमाने यज्ञे दर्शपूर्णमासात्मके संग्रामरूपे वा नः अस्मान् मृडत मृडयत । इष्टफलप्रापणेन जयप्रदानेन च सुखयतेत्यर्थः । ❀ मृड सुखने । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । अस्मिन्निति । इदमः त्यदाद्यत्वे "हलि लोपः" । "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । यज्ञ इति । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्" इति नङ् प्रत्ययः । चुत्वेन ञकारः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ अपि च अभिभाः आभिमुख्येन प्रवर्तमानं शात्रवं तेजः । यद्वा आभिमुख्येन भाति रणरङ्गे दीप्यत इति अभिभाः शत्रुः । ❀ भा दीप्तौ । अस्मात् "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । स च नः अस्मान् मा विदत् मा लब्ध । मा प्राप्नोतु इत्यर्थः । ❀ विद्लृ लाभे । अस्मात् माङि लुङि "पुषादिद्युताद्यलृदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ तथा अशस्तिः अकीर्तिः । मो मैव विदत् । ❀ शंसु स्तुतौ । भावे क्तिन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "तितुत्र०" इत्यादिना इट्प्रतिषेधः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तथा द्वेष्या द्वेष्याणि द्वेषणीयानि । ❀ द्विष अप्रीतौ । "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् ❀ । या यानि वृजिना वृजिनानि पापानि पराजयनिमित्तानि अभिमतफलप्रतिबन्धकानि सन्ति । ❀ सर्वत्र "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । तानि नः अस्मान् मो विदत् । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । मा विदन् मा प्राप्नुवन्तु ॥ यद्वा । वृजिना वृजिनं पापम् अस्यास् अस्तीति वृजिना । ❀ अर्शआदित्वाद् अच् ❀ । हिंसादिपापोपेता अत एव द्वेष्या अस्माभिर्द्वेषणीया [या] शात्रवी सेनास्ति सापि नः अस्मान् मा विदत् ॥

हे द्योतनात्मक चन्द्रदेव ! हमारा शत्रु अदारसृत् हो, अर्थात्

मेरा शत्रु अपने स्थानसे प्रच्युत होकर अपनी स्त्रीके पास कभी न जावे, हे उच्छ्वास पवन देवताओं ! मैं जिस पक्षका वा संग्रामका अनुष्ठान कर रहा हूँ उसमें तुम इष्टफल और जय देकर हमको सुखी करो। और अभिमुख होकर बढ़ता हुआ शत्रुका तेज और अभिमुख होनेके कारण दमकता हुआ शत्रु मुझे न पासके। अकीर्ति मुझे न पासके। और पापी होनेके कारण, मैं जिससे द्वेष करता हूँ वह शत्रुकी सेना भी मुझे न पासकें तथा पराजय दिलाने वाले और अभीष्ट फलको रोकने वाले पाप भी मुझे न पावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।

युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । अघऽयूनाम् । उत्ऽईरते ।

युवम् । तम् । मित्रावरुणौ । अस्मत् । यवयतम् । परि ॥ २ ॥

अद्य इदानीं युद्धकाले सेन्यः सेनायां भवः। ❀"भवे छन्दसि" इति सेनाशब्दाद्ध यत् प्रत्ययः। "यतोऽनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। तथाविधः। अघायूनाम्। अघम् हिंसालक्षणं पापं परेषाम् इच्छन्तीति अघायवः शत्रवः। ❀"छन्दसि परेच्छायामपि" इति अघशब्दात् क्यच्। "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वे "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम् उदात्तत्वम् ❀। तेषां शत्रूणां संबन्धी यो वधः हननम् तेन तत्साधनम् आयुधं लक्ष्यते। ❀ हन हिंसागत्योः। "हनश्च वधः" इति भावे अप् प्रत्ययः तत्संनियोगेन हन्तेर्वधादे-

शश्च । स च अन्तोदात्तः । अतो लोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति अप उदात्तत्वम् ❁ । तथाविधम् आयुधजालम् उदीरते उद्गच्छति अस्मदभिमुखं प्राप्नोति । ❁ ईर गतौ । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । "यद्वृत्ताभित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः । शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❁ । मित्रावरुणौ मित्रश्च वरुणश्च । ❁ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❁ । हे देवौ युवम् युवाम् । ❁ "प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्" इति आत्वस्य भाषाविषयत्वाद् अत्र अभावः ❁ । तम् शत्रुभिर्विनिर्मुक्तं वधम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् परि परितः यावयतम् वियोजयतम् । अस्मान् यथा न स्पृशति तथा कुरुतम् इत्यर्थः । ❁ यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् ण्यन्तात् लोटि रूपम् । "छन्दसि परेऽपि" इति परेः परप्रयोगः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः । "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" [फि० ४. १३] इति परेः आद्युदात्तत्वम् ❁ ॥

इस समय युद्धकालमें सेनामें उपस्थित हुआ, हिंसारूपी पापको चाहने वाले शत्रुओंका वध (शस्त्रसमूह) हमारी ओरको आरहा है, हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम दोनों शत्रुओंके छोड़े हुए उस अस्त्र-शस्त्र-जालको हमारे पाससे पृथक् करो, वह हमारा स्पर्श न करे तैसा प्रबन्ध करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इतश्च यदमुतश्च यद् वधं वरुण यावय ।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ३ ॥

इतः । च । यत् । अमुतः । च । यत् । वधम् । वरुण । यवय ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ३ ॥

अनया वरुणम् अवप्लुत्य प्रार्थयते ॥ इतः अस्मात् संनिहितात् शत्रोः सकाशाद् [यद् वधम्] हननसाधनम् आयुधं माम् उद्दिश्य प्राप्नोति । ❀ इदमः "पञ्चम्यास्तसिल्" इति तसिल् प्रत्ययः । तसिलः "प्राग् दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञा । "इदम् इश्" इति इश् आदेशः । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वे प्राप्ते "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तिसंज्ञकत्वात् तसिल उदात्तत्वम् ❀ । तथा अमुतः अमुष्मात् दूरे दृश्यमानात् शत्रोः सकाशाद् यद् आयुधं प्राप्नोति । ❀ अदःशब्दात् पूर्ववत् तसिल् । तस्य विभक्तिसंज्ञकत्वात् "त्यदादीनाम् अः" इति अत्वम् । "अदसोऽसेर्दाद् उ दो मः" इति उत्वमत्वे । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ । तत् सर्वं वधम् शत्रुभिर्विसृष्टं हननसाधनम् आयुधम् । ❀ हन्तेर्व्यत्ययेन "हनश्च वधः" इति करणे अप् । यस्तु करणाधिकरणयोः स तु त्रिलिङ्गः इति न्यायात् नपुंसकत्वम् ❀ । तद् आयुधम् हे वरुण त्वं यावय अस्मत्तो वियोजय । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः ❀ ॥ न केवलम् अनिष्टनिवृत्तिः इष्टप्राप्तिरपि मे स्याद् इत्याह । हे वरुण महत् अधिकम् अस्मदद्य प्यैरलभ्यं शर्म सुखं वि यच्छ विशेषेण प्रयच्छ । ❀ दाण् दाने । शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः । उपसर्गस्य "व्यवहिताश्च" इति व्यवहितप्रयोगः ❀ ॥ अपि च वरीयः उरुतरं मन्त्रप्रयोगादिना महद् दुष्परिहरं वधम् हननसाधनं शस्त्रास्त्रजालम् हे वरुण त्वं यवय वियोजय । ❀ वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयसुनि "प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुल०" इत्यादिना वर् आदेशः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"

इति आद्युदात्तत्वम् । यवया वधम् इति । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

(इस ऋचाके द्वारा मित्र और वरुण देवतामेंसे मित्रको अलग कर वरुणकी ही प्रार्थना की जाती है) इस समीपमें खड़े हुए शत्रुके पाससे जो हननका साधन आयुध मुझको लक्ष्य करके आरहा है तथा इस दूर दीखते हुए शत्रुके पाससे जो आयुध मेरे ऊपर आरहा है । उस सब शत्रुओंके छोड़े हुए वधके साधन अस्त्रशस्त्रजालको हे वरुण ! आप हमसे पृथक् करिये । और हे वरुण ! शत्रुओंको जो न मिल सके ऐसा बड़ा भारी सुख हमें दीजिये और हे वरुण ! आप मन्त्रप्रयोग आदिसे बढ़े हुए दुष्परिहर शस्त्र और अस्त्रोंके समूहको मुझसे दूर करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । महान् । असि । अमित्रऽसहः । अस्तृतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥ ४ ॥

हे इन्द्र त्वं शासः शासको नियन्ता । ❀ शासु अनुशिष्टौ । पचाद्यच् ❀ । [इत्था] इत्थम् अनेन प्रकारेण महान् महत्त्वगुणोपेतः सर्वोत्कृष्टः असि भवसि । ❀ इदम् शब्दात् "था हेतौ च च्छन्दसि" इति प्रकारेर्थे था प्रत्ययः । "एतेतौ रथोः" इति इदम इत् आदेशः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तता । महाँ असीत्यत्र संहितायां "दीर्घाद् अटि समानपदे" इति नकारस्य रुत्वम् । "आतोऽटि नित्यम्" इति अकारस्य अनुनासिकादेशः । "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि" इति रोर्यत्वम् । तस्य "लोपः शाक-

न्यस्य" इति लोपः । "पूर्वत्रासिद्धम्" इति असिद्धवद्भावात् सवर्णदीर्घाभावः ❀ ॥ तमेव इन्द्रं विशिनष्टि । अमित्रसाहः अमित्राणां शत्रूणां सोढा अभिभविता । ❀ षह अभिभवे । पचाद्यच् । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । समासेपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन तदेव शिष्यते ❀ । तथा अस्तृतः शत्रुभिरहिंसितः । ❀ स्तृञ् हिंसायाम् । कर्मणि निष्ठा । नञ् समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ अहिंसितत्वं कैमुतिकन्यायेनापि आह न यस्येति । यस्य उक्तमहिमोपेतस्य इन्द्रस्य सखा शरणागतो मित्रत्वं प्राप्तः पुरुषो न हन्यते शत्रुभिर्न हिंस्यते । हिंस्यत्वं तस्य दूरापास्तं पराजयोपि नास्तीत्याह । चनशब्दः अप्यर्थे । कदा चन कदाचिदपि न जीयते शत्रुभिर्नाभिभूयते । इन्द्रस्य सख्युरपि एवं किल किमु वक्तव्यम् इन्द्रस्य अस्तृतत्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । एवम् अतिशयितमहिमोपेतस्य इन्द्रस्य प्रसादाद्वयमपि शत्रून् जयेम इति वाक्यशेषः । ❀ हन्यत इति । हन हिंसागत्योः । "सार्वधातुके यक्" । "अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे यक्स्वरः शिष्यते । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः । जीयत इति । जि जये पूर्ववद्यक् । "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः यच्छब्दस्य अत्रापि संबन्धात् पूर्ववद् निघाताभावः । कदेति । किंशब्दात् "सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा" इति दा प्रत्ययः । "प्राग् दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञायां "किमः कः" इति कादेशः ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप शासक–नियन्ता–हैं, इस प्रकार आप महत्त्वगुणसे सम्पन्न होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ हैं, शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले हैं और शत्रुओंके द्वारा आप कभी मारे नहीं जाते हैं, ऐसी महिमा वाले इन्द्रका शरणागत होनेसे मित्रभावको प्राप्त

हुआ पुरुष भी शत्रुओंसे नहीं मारा जाता, (मारा जाना तो दूरकी बात है वह कभी) शत्रुओंसे पराजय भी नहीं पाता है। (जब इन्द्रके मित्रका ऐसा प्रभाव होजाता है तब इन्द्रके अहिंस्य होनेका क्या कहना ?) ऐसी महिमा वाले इन्द्रके प्रसादसे हम भी शत्रुओंको जीतें ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२०) ॥

"स्वस्तिदाः" इत्यस्य अपराजितगणे पाठात् सांग्रामिकादिकर्मसु गणप्रयुक्तो विनियोग उक्तः ॥

तथा ग्रामगमनादिषु स्वस्त्ययनकामः एतेन सूक्तेन प्रथमं दक्षिणपादप्रक्रमणम् शर्करातृणप्रक्षेपणम् इन्द्रोपस्थानं च कुर्यात्। सूत्रितं हि। "स्वस्तिदाः [१. २१] ये ते पन्थानः [७. ५७. २] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामत्यसंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते" इति [कौ० ७. १] ॥ एवं पिशाचादिनिवारणकर्मणि उद्वेगविनाशने च एतत् सूक्तम्। "स्वस्त्याद्यं कुरुते" [कौ० ४. १] इति सूत्रकृता अतिदिष्टत्वात् ॥

तथा वेदिकरणस्यादावपि एतत् सूक्तं जपेत् ॥

"वि न इन्द्रः" [१. २१ २] इत्यनया पुरीषच्छन्नां चितिं ब्रह्मा अनुमन्त्रयते। तद् उक्तं वैताने। "वि न इन्द्र [१. २१. २] मृगो न भीमः [७. ८६. ३] वैश्वानरो न ऊतये [६. ३५] इति चितिं पुरीषच्छन्नाम्" इति [वै० ५. २] ॥

"स्वस्तिदाः" इस सूक्तका अपराजितगणमें पाठ है, अत एव सांग्रामिक आदि कर्मोंमें गणके प्रयोगके साथ इसका प्रयोग होता है ॥

तथा ग्रामगमन आदिमें स्वस्त्ययन चाहने वाला इस सूक्तको पढ़ता हुआ पहिले दाहिना पैर उठावे, धूल और तृण उड़ावे और इन्द्रोपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-

"स्वस्तिदाः" (१ । २१) "ये ते पंथानः (७ । ५७ । २) इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामत्यसंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते ॥–अर्थात् स्वस्तिदाः (१ । २१) और ये ते पन्थानः (७ । ५७ । २) से मार्गमें दाहिना पैर धरे, असंख्य तिनके और रेतेको उड़ावे और उपस्थान करे ॥" (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

इसी प्रकार पिशाच आदिके निवारणमें और उद्वेगका विनाश करनेमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है । सूत्रकारने "स्वस्त्ययनं कुरुते" (कौशिक ४ । १) में इस बातका अतिदेश भी किया है ॥

और वेदिकरणकी आदिमें भी इस सूक्तको जपे ॥

"वि न इन्द्र" (१ । २१ । २) इस ऋचासे पुरीषच्छन्न चितिका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि–"वि न इन्द्र (१ । २१ । २) मृगो न भीमः (७ । ८९ । ३) वैश्वानरो न ऊतये (६ । ३५) इति चितिं पुरीषच्छन्नाम् ।"

तत्र प्रथमा ॥

स्व॒स्ति॒दा वि॒शां पति॑र्वृत्र॒हा वि॑मृ॒धो व॒शी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोम॒पा अ॑भयंक॒रः ॥ १ ॥

स्व॒स्ति॒ऽदाः । वि॒शाम् । पतिः । वृ॒त्र॒ऽहा । वि॒ऽमृ॒धः । व॒शी ।
वृषा । इन्द्रः । पु॒रः । ए॒तु । न॒ः । सोम॒ऽपाः । अ॒भ॒यम्॒ऽक॒रः १

स्वस्ति इति अविनाशि नाम । विनाशरहितं शोभनं फलं ददाति प्रयच्छतीति स्वस्तिदाः । ❀ स्वस्तीत्यविनाशिनाम । सु अस्तीति यास्कः [नि० ३. २१] डुदाञ् दाने । "क्विप् च" इति क्विप् । "समासस्य" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । विशाम्

सर्वासां प्रजानां पतिः पालयिता । ❀ "सावेकाच्०" इति विश्-शब्दाद् उत्तरस्य आम उदात्तत्वम् ❀ । वृत्रहा । वृत्रो नाम जलाधारभूतो मेघः । तं मेघं वृष्टयर्थं हतवान् वृत्रहा ॥ यद्वा वृत्रो नाम त्वष्ट्रा उत्पादितः असुरः । तं हतवान् । ❀ आह च यास्कः । तत् को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः [नि० २. १६] इति । तन्नामनिर्वचनं श्रुत्यैव द्वेधा दर्शितम् । "यद् अवर्तयत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" [तै० सं० २. ५. २. १] इति "यद् इमांल्लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" [तै० सं० २. ५, २. २] इति च । हन हिंसागत्योः । वृत्रशब्दोपपदाद् अस्माद् भूते काले "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति क्विप् । उपपदसमासे "गतिकारकोपपदात् कृत्" इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । विमृधः विशेषेण मर्धयिता शत्रूणाम् । ❀ मृध हिंसायाम् । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः ❀ । वशी सर्वस्य प्राणिजातस्य वशयिता । ❀ वश कान्तौ । "वशिरण्योरुपसंख्यानम्" इति भावे अप् ❀ । वशोऽस्यास्तीति वशी । ❀ "अत इनिठनौ" इति मत्वर्थीय इनिः । ❀ वृषा कामानां वर्षिता । ❀ वृषु सेचने इत्यस्मात् कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] औणादिकः कनिन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । सोमपाः सोमस्य पाता । ❀ पा पाने । अस्मात् सोमशब्दोपपदात् "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति विच् ❀ । एवम् उक्तमहिमोपेत इन्द्रः अभयंकरः भयराहित्यस्य कर्ता सन् नः अस्माकं संग्रामादौ पुरः पुरस्तात् पूर्वभागे एतु गच्छतु । ❀ अभयंकर इति । "उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति" इति वचनात् "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति अभयशब्दोपपदादपि करोतेः खच् प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति पूर्वपदस्य मुम् आगमः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ।

उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन तदेव शिष्यते । पुर इति । "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति पूर्व-शब्दात् असिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशश्च ❀ ॥

विनाशरहित † शोभन फल—स्वस्ति—को देने वाले, सब प्रजाओंके पति, वृत्र नाम वाले जलके आधारभूत मेघको वृष्टिके लिये ताडित करने वाले और वृत्र नाम वाले असुर ‡ को मारने वाले, शत्रुओंका विशेषरूपसे मर्दन करनेवाले और सब प्राणियों को वशमें रखने वाले, सोमका पान करने वाले इन्द्र हमें अभय देते हुए संग्रामके अग्रभागमें चलें ॥ १ ॥

---

† स्वस्ति यह अविनाशीका नाम है । यास्कने कहा है, कि-"सु अस्ति" (निरुक्त ३ । २१) ॥

‡ "आह च यास्कः । तत् को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ॥—यास्कने कहा है, कि—वृत्र कौन है ? निरुक्तको पढ़ने वाले कहते हैं, कि—मेघका ही नाम वृत्र है, [उसमें जल और ज्योतिका मिलनरूप युद्ध होनेसे वर्षा होती है, अत एव वृत्र मेघका नाम वृत्र है] और ऐतिहासिक कहते हैं, कि-त्वष्टाके उत्पन्न किये हुए असुरका नाम वृत्र है । [इस इतिहासका यजुर्वेदके शतपथब्राह्मणमें और तैत्तिरीयसंहितामें वर्णन है] ॥" इस वृत्रके नामको श्रुतिने भी दो प्रकारसे दिखाया है । यथा— "यद्व अवर्तयत् तद्व वृत्रस्य वृत्रत्वम् (तैत्तिरीयसंहिता २ । ५ । २ । १) तथा "यद्व इमाँल्लोकान् अवृणोत् तद्व वृत्रस्य वृत्रत्वम्" (तैत्तिरीयसंहिता २ । ५ । २ । २) ॥—प्रहार होने पर वृष्टिके रूपसे वर्ताव करने लगा, यही वृत्र (मेघ) का वृत्रत्व है । और सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर लिया यही वृत्र (असुर) का वृत्रत्व है ॥

द्वितीया ॥

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥२॥

वि । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
अ॒ध॒मम् । ग॒म॒य॒ । तमः॑ । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒ऽदास॑ति ॥ २ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव नः अस्मभ्यम् । ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति अस्मदश्चतुर्थ्यन्तस्य नस् आदेशः । तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । अस्मदर्थं मृधः । संग्रामनामैतत् । संग्रामान् । ❀ मृधेः संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । वि जहि विनाशय । अस्मद्विजयार्थं संग्रामकारिणः शत्रून् मारयेत्यर्थः । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हि आदेशः । "हन्तेर्जः" इति जादेशः । तस्य "असिद्धवद् अत्राभात्" इति असिद्धत्वात् "अतो हेः" इति लुगभावः ❀ ॥ तथा पृतन्यतः पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः युद्धोद्योगकारिणः शत्रून् नीचा नीचैः यच्छ नियमय । युद्धार्थं संधीभावत्यागेन न्यग्भूतान् कुर्वित्यर्थः । ❀ पृतन्यतः । पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति आकारलोपः । तदन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शत्रादेशः । क्यजकारेण उदात्तेन सह शपः शतुश्चैकादेशे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति शतुरुदात्तत्वात् "शतुरनुमो नद्यजादी" इति अजादिविभक्तेः उदात्तत्वम् । नीचैःशब्दाद् उत्तरस्य सुपः "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना डादेशः । डित्करणसामर्थ्यात् टिलोपः ❀ ॥ अपि च यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति क्षेत्रधनाद्यपहारेण उपक्षपयति । ❀ दसु उपक्षये ❀ । तं शत्रुम् अधमम् पुनरुत्थानशून्यं निकृष्टं तमः मरणात्मकं गमय प्रापय । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ ।

११७

अस्मात् णिजन्तात् "जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति मित्संज्ञायां "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्रदेव ! हमारे संग्रामोंको नष्ट करिये अर्थात् हमको जीतनेके लिये संग्राम करने वाले शत्रुओंको मारिये । तथा (अपनी) सेना (एकत्रित करके युद्ध करना चाहने वाले युद्धके उद्योगी शत्रुओं) का नियमन करिये अर्थात् वे युद्धके लिये एकत्रित न होकर अलग २ ही रहें—ऐसा करिये । और जो हमारा शत्रु हमारे क्षेत्र धन आदिको छीन कर हमारा नाश कररहा है उसको अन्धकारमें डालिये अर्थात् उसको पुनरुत्थानशून्य मरणरूप निकृष्ट अन्धकारमें भेजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वि रक्षो॒ वि मृधो॑ जहि॒ वि वृ॒त्रस्य॒ हनू॑ रुज ।

वि म॒न्युमि॑न्द्र वृत्रहन्न॒मित्र॑स्याभि॒दास॑तः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः । वि । मृधः । जहि॒ । वि । वृ॒त्रस्य॑ । हनू॒ इति॑ । रुज॒ ।

वि । म॒न्युम् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒ऽह॒न् । अ॒मित्र॑स्य । अ॒भि॒ऽदास॑तः । ३

हे वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तरिन्द्र त्वं रक्षः । जातावेकवचनम् । बाधकानि रक्षांसि । ❀ वीत्युपसर्गश्रवणात् जहीति क्रिया अत्रापि संबध्यते ❀ । वि जहि विनाशय । ❀ रक्षणीयः अस्मात् सर्वो जन इत्यपादानेर्थे औणादिकः असुन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् । रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात् इति यास्कोपि [नि० ४. १८] ❀ ॥ तथा मृधः संग्रामान् वि जहि ॥ तथा वृत्रस्य वृत्रवत् प्रबलस्य शत्रोः हनूः कपोलौ वि रुज विभङ्ग्धि । विदारयेत्यर्थः । ❀ रुजो भङ्गे । तुदादित्वात् शप्रत्ययः ।

" अतो हेः" इति हेर्लुक् ❁। अभिदासतः अभितः अस्मान् उपक्षपयतः अमित्रस्य शत्रोर्मन्युम् क्रोधमपि। ❁ अत्रापि उपसर्गश्रवणात् जहीति संबध्यते ❁। वि जहि। स्वस्थानस्थितोपि यथा मद्विषये मन्युं न करोति तथा कुर्वित्यर्थः। मन ज्ञाने। यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् [उ० ३. २०] इति औणादिको युच् प्रत्ययः। यास्कोप्याह। मन्युर्मन्यतेः कान्तिकर्मणः [नि० १०. २९] इति ❁॥

हे वृत्रासुरको मारने वाले इन्द्र! आप राक्षसोंका संहार करिये तथा संग्रामोंको दूर करिये और वृत्रासुरकी समान बलवान् शत्रुके कपोलोंको फाड़ डालिये तथा क्षेत्र धन आदि लेकर मेरा अपकार करना चाहने वाले शत्रुके क्रोधको भी शांत करिये अर्थात् वह अपने स्थान पर बैठा हुआ भी मुझ पर क्रोध न करे ऐसा करिये॥ ३॥

चतुर्थी॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ४॥

अप। इन्द्र। द्विषतः। मनः। अप। जिज्यासतः। वधम्।
वि। महत्। शर्म। यच्छ। वरीयः। यवय। वधम्॥ ४॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव द्विषतः शत्रोर्मनः हिंसकं क्रूरं मानसम्। ❁ अपेत्युपसर्गश्रवणात् योग्या प्रकृता जहीति क्रिया संबध्यते ❁। अप जहि अपहतं कुरु। ❁ द्विष अप्रीतौ। अस्मात् लटः शत्रादेशः। "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" इति शपो लुक्। "शतुरनुमो नद्यजादी" इति ङस उदात्तत्वम् ❁॥ तथा जिज्यासतः

वयोहानिं तदुपलक्षितं मरणं कर्तुम् इच्छतः शत्रोः संबन्धिनं वधम् हननसाधनम् आयुधम्। पूर्ववत् क्रियाध्याहारः। अप जहि। ❀ ज्या वयोहानौ। "धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा" इति सन् प्रत्ययः। "सन्यङोः इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते "सन्यतः" इति अभ्यासाकारस्य इत्वम्। सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शत्रादेशः। शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे शतुर्लसार्वधातुकस्वरेण ङसश्च सुप्त्वाद् अनुदात्तत्वे "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति सन्नन्तस्य यद् आद्युदात्तत्वं तदेव शिष्यते ❀ ॥ उत्तरोऽर्धर्चो व्याख्यातः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽनुवाकः ॥

हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेव! द्वेष करने वाले शत्रुके हिंसक क्रूर मनको दबा दीजिये और मारना चाहने वाले शत्रुके हननसाधन आयुधको भी नष्ट कर डालिये। हमें बड़ा भारी श्रेष्ठ सुख दीजिये और मन्त्रपूत श्रेष्ठ अस्त्रोंको हमसे दूर रखिये॥ ४॥

पञ्चमसूक्त समाप्त (२१)॥

प्रथमकाण्डमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

पञ्चमेऽनुवाके सप्त सूक्तानि। तत्र "अनु सूर्यम्" इत्येतद् प्रथमं सूक्तम्। तेन हृद्रोगकामिलादिरोगोपशान्तये रक्तवृषभरोममिश्रोदकं पाययेत्। तथा तेनैव रक्तगोचर्मच्छिद्रमणिं गोक्षीरे प्रक्षिप्य संपात्य अभिमन्त्र्य तन्मणिबन्धनम् तत्क्षीरपानं च कारयेत्। तथा रोहिणं हरिद्रौदनं भोजयित्वा तदुच्छिष्टानुच्छिष्टेन आमपदं प्रलिप्य खट्वायाम् उपवेश्य तदधः शुककाष्ठशुकगोपीतनकाख्यानां त्रयाणां पक्षिणां सव्यजङ्घायां हरितसूत्रेण आबन्धनम् इत्येवमादिकं सूत्रोक्तं कुर्यात्। सूत्रं च। "अनु सूर्यमिति मन्त्रोक्तस्य लोममिश्रम् आचामयति॰" इत्यादि "जातरूपेणापिधाप्य बध्नाति" इत्यन्तम् [कौ॰ ४. २]॥

पाँचवें अनुवाकमें सात सूक्त हैं। उनमें "अनु सूर्यम्" यह प्रथम सूक्त है। इस सूक्तके द्वारा हृद्रोग और कामिला (कमलवाय) रोगकी शान्तिके लिये लाल वृषभके रोम मिला जल पिलावे तथा इसी सूक्तसे रक्तगोचर्मच्छिद्रमणिको गोक्षीरमें डाल कर सम्पातन और अभिमंत्रण करके उस मणिको बाँधे, और उस क्षीरको पिलावे। तथा रोहिण हरिद्रौदनको खिला कर उस उच्छिष्टानुच्छिष्टसे पैर तक लेप कर खाटमें बैठा कर और उसके नीचे शुककाष्ठ शुक और गोपीतनक नामक तीन पक्षियोंकी सव्यजङ्घामें हरितसूत्र बाँधना आदि सूत्रोक्त काम करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"अनुसूर्यमिति मंत्रोक्तस्य लोममिश्रं आचामयति०" इत्यादि "जातरूपेणापिधाप्य बध्नाति" इत्यन्तम्—अनु सूर्यम्—इस मन्त्रसे लोममिश्र जलको पिलावे०, और सुवर्णसे ढक कर बाँधे" [कौशिकसूत्र ४ । २]॥

तत्र प्रथमा ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥१॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्ऽद्योतः । हरिमा । च । ते ।

गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥१॥

हे व्याधित पुरुष ते तव हृद्योतः। हृदयं द्योतयति दीपयति संतापयतीति हृद्योतः हृद्रोगः। ❀ द्युत दीप्तौ। अस्मात् हृच्छब्दोपपदात् "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः। उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। यद्वा हृद्रोगजनितः संतापो हृद्योतः। ❀ द्युतेर्भावे घञ् ❀। तथा हरिमा कामिलादिरोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः। ❀ हरिच्छब्दात् "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च" इति

चकाराद् भावे इमनिच् प्रत्ययः। "यचि भम्" इति भसंज्ञायाम् "टेः" इति टिलोपः। "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। व्याधिद्वयमपि सूर्यम् गच्छन्तं भानुम् अनुलक्षीकृत्य उदयताम् उद्गच्छतु। उक्तः संतापो हरिद्वर्णश्च अस्माच्छरीराद् उत्क्रम्य संतापकं हरिद्वर्णं सूर्यमेव प्राप्नोतु इत्यर्थः। ❀ सरतेः सुवतेर्वा क्यपि "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना निपात्यते। क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। "अनुर्लक्षणे" इति लक्षणेर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति सूर्यशब्दाद् द्वितीया। अयताम् इति। अय पय गतौ। अनुदात्तेत्त्वाद् आत्मनेपदम् ❀॥ अनभिमतरोगजनितवर्णापगमानन्तरं इष्टवर्णसंयोजनम् आह गोरिति। रोहितस्य लोहितवर्णस्य गोः गोजातीयस्य वर्णेन लौहित्येन तेन प्रसिद्धेन तस्मात् पृथक्कृतेन हे कृश त्वा त्वां परि दध्मसि परिदध्मः आच्छादयामः। तव शरीरं प्रकृष्टवर्णोपेतं कुर्म इत्यर्थः। ❀ परिपूर्वो दधातिः आच्छादने वर्तते। तथा च निगमः। "परिधत्त धत्त वाससैनम्" इति। "जरां गच्छासि परिधत्स्व वासः" [हिर० स० १६. १४] इति च। "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम्। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

हे व्याधिग्रस्त पुरुष! तेरा हृदयको सन्ताप देने वाला हृद्रोग तथा कामिला आदि रोगसे उत्पन्न हुआ शरीरका पीला वर्ण सूर्यको लक्ष करके उछले, उक्त सन्ताप और (पीला) हरित् वर्ण भी इस शरीरसे निकल कर सन्तापक हरिद्वर्ण वाले सूर्यको प्राप्त होवे और हे रोगी पुरुष! गौके रक्तवर्णके पृथक् किये हुए रक्तवर्णसे मैं तुझे ढकता हूँ, तेरे शरीरको श्रेष्ठ वर्ण वाला करता हूँ१

द्वितीया॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।

यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

परि । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायुऽत्वाय । दध्मसि ।

यथा । अयम् । अरपाः । असत् । अथो इति । अहरितः । भुवत्

उक्तमेव लोहितवर्णपरिधानफलमकटनार्थं पुनराह । हे व्याधित त्वा त्वां रोहितैः लोहितैः वर्णैः प्रागुक्तैर्गोसंबन्धिभिः परि दध्मसि परिदध्मः । ❀ "व्यवहिताश्च" इति परेरुपसर्गस्य व्यवहितः प्रयोगः ❀ । किमर्थम् इति तदाह । दीर्घायुत्वाय दीर्घं शतसंवत्सर-परिमितम् आयुर्जीवनकालो यस्यासौ दीर्घायुः । तस्य भावस्त्वम् । ❀ सकारलोपश्छान्दसः । तादर्थ्ये चतुर्थी । सति शिष्टत्वात् समासस्वरत्वं बाधित्वा त्वप्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तदेव कथम् इत्यत आह । यथा येन प्रकारेण अयम् चिकित्सितः पुरुषः अरपाः । रप इति पाप नाम । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः [नि० ४. २१] इति हि यास्कः ❀ । न विद्यते रपः पापं यस्यासौ अरपाः । ❀ बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अपगतपापः असत् भवेत् । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥ अथो पापक्षयानन्तरमेव अहरितः कामिलादिरोगजनितहरिद्वर्णरहितः भुवत् भवेत् । रोगनिदानभूतपापक्षये सति तच्छान्तौ सत्याम् यथा दीर्घायुर्भवति तथा परिदध्म इति वाक्यार्थः । ❀ भू सत्तायाम् । अस्मात् लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधे उवङ् ❀ ॥

(पूर्वोक्त लोहितवर्ण परिधानफलको प्रकट करनेके लिये फिर कहते हैं, कि–) हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! तुझे हम दीर्घायु पानेके लिये गोसम्बन्धी रक्तवर्णसे ढकते हैं ॥ जिससे यह पुरुष

रपरहित—पापरहित † होकर पापक्षयके अनन्तर कामला आदि रोगसे उत्पन्न हुए हरिद्वर्णसे रहित होजावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः ।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

या । रोहिणीः । देवत्याः । गावः । याः । उत । रोहिणीः ।
रूपम्ऽरूपम् । वयःऽवयः । ताभिः । त्वा । परि । दध्मसि ॥३॥

देवत्याः देवतासु भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् प्रत्ययः ❀ । देवसंबन्धिन्यो रोहिणीः रोहिण्यः लोहितवर्णाः । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे [च] इत्यस्मात् रुहे रश्च लो वा [उ० ३. ९४] इति औणादिक इतन् प्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् । ततो "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः । ङीपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे नित्स्वर एव शिष्यते । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । उक्तवर्णा याः कामधेन्वादयो गावः सन्ति । उत अपि च याः मनुष्यसंबन्धिन्यो रोहिणीः रोहिण्यः लोहितवर्णा गावः सन्ति ताभिः उभयविधाभिर्गोभिः रूपंरूपम् सर्वगोव्यक्तिगतं कृत्स्नम् अरुणरूपं तथा वयोवयः सर्वव्यक्तिगतं कृत्स्नं यौवनम् । ❀ उभयत्र "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "तस्य परम् आम्रेडितम्" इति परस्य आम्रेडितसंज्ञायाम् "अनुदात्तं च" इति अनुदात्तत्वम् ❀ । तत् सर्वम् आहृत्य हे रुग्ण त्वा त्वां परि

---

† रपो रिप्रं पापनामनी भवतः इति यास्कः—रप और रिप्र पापके नाम हैं, ऐसा यास्कमुनिने कहा है । (निरुक्त ४ । २१)॥

दध्मसि परिदध्मः । गोगतवर्णवद् उज्ज्वलैर्वर्णैर्वयोविशेषैस्त्वदीयं शरीरं संयोजयाम इत्यर्थः ॥ यद्वा । ताभिः उक्तवर्णोपेताभिर्गोभिः हे रुग्ण त्वां परि दध्मसि । परिधानप्रकारमेव आह । रूपंरूपम् रोगविशेषेण दूषितं सर्वशरीरगतं रूपं वयोवयः उक्तप्रकारं वयश्च परि दध्मसि । ❀ ताभिष्ट्वेति । "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्" इति सकारस्य षत्वम् ❀ ॥

देवताओंकी जो लाल वर्ण वाली कामधेनु आदि गौएँ हैं और मनुष्योंकी जो लालवर्ण वाली गौएँ हैं उन दोनों प्रकारकी गौओंके अरुणरूपको और उनके सम्पूर्ण यौवनको लेकर हम तुझे देते हैं अर्थात् गौके वर्णकी समान उज्ज्वल वर्ण और अवस्थासे तुझे संयुक्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

शुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।

अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

पूर्वं गवादिगतस्य उज्ज्वलस्य रक्तवर्णस्य रुग्णशरीरे प्रवेशोऽभिहितः । तच्छरीरे पूर्वम् अवस्थितस्य रोगजनितस्य हरिद्वर्णस्य का तर्हि गतिरिति तद् उच्यते । हे रोगार्त ते तव शरीरगतं हरिमाणम् रोगजनितं हरिद्वर्णम् । ❀ "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च" इति हरिच्छब्दाद् भावेऽर्थे इमनिच् । "यचि भम्" इति भसंज्ञायाम् "टेः" इति टिलोपः । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । तद्वर्णं शुकेषु कीरेषु तथा रोपणाकासु काष्ठशुकाख्येषु हरिद्वर्णेषु पक्षिषु

नि दध्मसि निदध्मः। वर्णतः समानाकृतिषु पक्षिविशेषेषु स्थापयाम इत्यर्थः। ❁ "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❁ ॥ अथो अपि च हारिद्रवेषु गोपीतनकाख्येषु हरिद्वर्णेषु पक्षिविशेषेषु ते त्वदीयं हरिमाणम् हरिद्वर्णं नि दध्मसि निदध्मः स्थापयामः॥

[इति]पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(पहिले गौओंमें स्थित उज्ज्वल रक्तवर्णका रोगीके शरीरमें प्रवेश कहा, किंतु उसके शरीरमें पहिलेसे स्थित रोगसे उत्पन्न हुए हरिद्वर्णकी क्या गति होगी? अत एव कहते हैं, कि–) हे रोगार्त! तेरे शरीरके रोगजनित हरिद्वर्णको शुकों (तोतों) में और काष्ठशुक नाम वाले पक्षियोंमें स्थापित करते हैं और गोपीतनक नाम वाले हरिद्वर्णके पक्षियोंमें तेरे हरिद्वर्णको स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२२)।

"नक्तंजाता" "सुपर्णो जातः" इति सूक्तद्वयेन श्वेतकुष्ठापनोदनाय भृङ्गराजहरिद्रेन्द्रवारुणीनीलिकाः पिष्ट्वा शुष्कगोमयेन श्वित्रप्रदेशम् आलोहितदर्शनं प्रघृष्य लेपयेत् ॥ पलितनाशनेपि पलितानि आच्छिद्य सूक्तद्वयेन पूर्ववद् विलिम्पेत् ॥ उक्तरोगद्वयशान्तये अनेनैव सूक्तद्वयेन आज्यहोमादीनि मारुतकर्माणि च दृष्टिकर्मोक्तवत् कुर्यात् ॥ सूत्रितं च। "नक्तंजाता [१. २३] सुपर्णो जातः [१. २४] इति मन्त्रोक्तं शकृता आलोहितं प्रघृष्य आलिम्पति पलितान्याच्छिद्य मारुतान्यपिहितः" इति [कौ० ४. २]॥

"नक्तं जातः" "सुपर्णो जातः" इन दो सूक्तोंसे श्वेत कुष्ठको दूर करनेके लिये भँगरा हल्दी इन्द्रायन और नीलके पौधेको पीस कर सूखे गोबरके साथ कोढ़के स्थान पर जहाँ तक रक्त दीखे तहाँ तक घिस कर लगावे। और पलित (रोगजनित बालोंकी सफेदी) को दूर करनेके लिये भी श्वेत बालोंको काट

कर दोनों सूक्तोंसे पहिलेकी समान लेप करे। और इन दोनों रोगोंकी शान्तिके लिये इन दोनों सूक्तोंसे घृतहोम और मारुत-कर्मोंको भी दृष्टिकर्मके कथनानुसार करे। इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि–"नक्तं जाता (१।२३) सुपर्णो जातः (१।२४) इति मन्त्रोक्तं शकृता आलोहितं प्रघृष्य आलिम्पति पलितान्याच्छिद्य मारुतान्यपिहितः।" (कौशिकसूत्र ४।२)

तत्र प्रथमा ॥

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

नक्तम्ऽजाता। असि। ओषधे। रामे। कृष्णे। असिक्नि। च।
इदम्। रजनि। रजय। किलासम्। पलितम्। च। यत् ॥१॥

हे ओषधे। ओषः फलपाकः अस्यां धीयत इति ओषधिः। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः। तस्मात् "कर्मण्यधिकरणे च" इति अधिकरणे किप्रत्ययः। ततस्तत्पुरुषसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभारादिषु पाठात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। पूर्वपदं च घञन्तत्वाद् आद्युदात्तम्। अत्र तु संबुद्ध्यन्तत्वाद् "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वमेव ❀ हे। ओषधे हरिद्राख्ये त्वं नक्तं रात्रौ जाता उत्पन्ना असि भवसि। अतस्त्वं श्वैत्यनिवर्तनेन कार्ष्ण्यम् आपादयितुं शक्ता भवसीत्यर्थः॥ तथा हे रामे। ❀ व्याधितो जनः अनया ओषध्या रमत इति रामा भृङ्गराजाख्या ओषधिः। रमु क्रीडायाम्। अस्मात् करणे घञ्। "कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः" इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते अस्य आमन्त्रितस्य पादादित्वेन आष्टमिकस्य सर्वानुदात्तस्य अप्राप्तेः "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। तथा हे कृष्णे

कृष्णवर्णे कृष्णवर्णापादिके वा इन्द्रवारुणि हे असिक्नि असितवर्णे असितवर्णापादिके वा नीलि । ❀ सर्वसमुच्चयार्थश्चकारः । असितशब्दात् "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति प्राप्तयोर्ङीब्नकारयोः "असितपलितयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति प्रतिषेधे "छन्दसि क्नम् एक इच्छन्ति" इति वचनात् ङीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य क्नादेशः । कृष्णे असिक्नि इत्यनयोः "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति पूर्वपूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवद्भावेन पादादित्वात् षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वमेव । न च "नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इति अविद्यमानवद्भावनिषेधः । भिन्नार्थवृत्तित्वेन व्याख्यातत्वात् ❀ । पूर्वम् ओषधिशब्देन निर्दिष्टाया हरिद्राया जननक्रियासंबन्धित्वेन कुण्ठितशक्तित्वात् रञ्जनक्रियामपि संबन्धं दर्शयितुं पुनराह रजनीति । यद्वा । अत्र निर्दिष्टानां रामादीनां चतसृणाम् ओषधीनामपि उत्पत्तिरुच्यते नक्तंजातास्योषध इति । हे ओषधे रामादिरूपे त्वं नक्तंजातासि । इत्यतो न पुनरुक्तिशङ्कावकाशः । हे रजनि । रञ्जयति स्वसंसृष्टं वस्त्रादिकम् अर्थम् इति रजनी । ❀ रञ्ज रागे । कर्तरि ल्युट् । "रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्" इति उपधानकारलोपः । टित्वात् ङीप् । पदात् परत्वाद् "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । हे रामाद्योषधे त्वम् इदम् वक्ष्यमाणम् अङ्गं रजय श्वित्रादिदोषनिबर्हणेन स्वकीयं रागं संश्लेषय । ❀ अत्र रागापादिकानाम् ओषधीनां बहुत्वेपि प्रत्येकापेक्षया एकवचनम् । रञ्ज रागे । अस्मात् णिचि "रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसंख्यानम्" इति विहितो नलोपश्छान्दसत्वाद् अत्रापि भवति । "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति रजनिशब्दस्य अविद्यमानवद्भावेपि इदंशब्दापेक्षया "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ । तदेवाङ्गम् आह । किलासः कुष्ठरोगः । तद्युक्तम् अङ्गम् तथा पलि-

त्सम् जरावस्थामाप्तं केशानां शौक्ल्यं तद्युक्तम् अङ्गं च । ❀ उभयत्रापि अर्शआदित्वाद् अच् ❀ । ईदृशं यद् अङ्गम् अस्ति इदम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥

हे हरिद्रा नाम वाली औषधे ! तू रात्रिमें उत्पन्न हुई है अतः (श्वेतभावको दूर कर कालापन लासकती है) और व्याधिग्रस्त पुरुष जिससे आनन्द पाता है ऐसी रामा भँगरा–नाम वाली ओषधे ! तथा हे कृष्ण वर्ण लाने वाली इन्द्रवारुणि (इन्द्रायन) नाम वाली ओषधे ! हे असित (अश्वेत) वर्ण करने वाली नील ओषधे ! और हे रँगने वाली रात्रिमें उत्पन्न हुई हरिद्रा आदि ओषधियों ! तुम इस किलास (कुष्ठ) रोगसे युक्त अङ्गको और बालोंकी श्वेततायुक्त अङ्गको कोढ़ आदिके दोष को हटा कर अपने रंगसे रँग दो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय २

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥

किलासम् पलितम् उक्तलक्षणम् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । इतः अस्मात् व्याधिदूषितात् शरीरात् पृथक् पृथक्त्व हे ओषधे त्वं निर्णाशय निरवशेषं घातय । ❀ "व्यवहिताश्च" इति निसो व्यवहितक्रियया संबन्धः ❀ ॥ अनन्तरम् हे रुग्ण त्वा त्वां स्वः स्वकीयः प्राग् अवस्थितो वर्णः लौहित्यादिरूपः आ विशताम् प्रविशताम् ॥ शौक्ल्यस्य पुनरुद्भवपरिहाराय आह । शुक्लानि शरीरकेशगतशुक्लरूपाणि परा पातय पराचीनं दूरं प्रेरय । यथा पुनरेनं पुरुषं न स्पृशन्ति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

हे ओषधे ! तू कोढ़को और पलित (केशोंकी श्वेतता) को इस व्याधिदूषित शरीरसे अलग करके नष्ट कर दे, तदनन्तर हे रोगिन् ! तुझमें पहिले वर्तमान लालिमा (रक्तवर्ण) प्रवेश करे (फिर शुक्लता न आनेके लिये कहते हैं, कि—) ओषधे ! (शरीर और केशके) श्वेतवर्णको तू दूर भेज दे, जिससे वह श्वेतवर्ण फिर इसका स्पर्श न करसके ॥ २ ॥

तृतीया ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्रऽलयनम् । आऽस्थानम् । असितम् । तव ।

असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥३॥

अनया नीलीमेव अवयुत्य प्रार्थयते । हे नीलि ते तव प्रलयनम् । प्रकर्षेण लीयते संश्लिष्यते अत्रेति प्रलयनम् उत्पत्तिस्थानम् । असितम् कृष्णवर्णं भवति ॥ तथा तव आस्थानम् । पुरुषैः आनीता आ समन्तात् तिष्ठत्यत्रेति आस्थानम् प्रक्षेपणभाजनादिरूपम् । असितम् कृष्णं भवति । ❀ प्रपूर्वात् लीङ् श्लेषणे इत्यस्मात् आङ् पूर्वात् तिष्ठतेश्च "करणाधिकरणयोश्च" इति अधिकरणे ल्युटि "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥ कुत एतद् इत्यत आह । हे ओषधे नीलि त्वम् असिक्नी असितवर्णा असि भवसि । यतस्तव अयं स्वभावः अतः इतः अस्मात् श्वित्रादिरोगदूषिताद् अङ्गात् आलेपादिना त्वत्संबद्धात् पृथक् किलासं पलितं च पृथक्कृत्य निर्णाशय निःशेषेण विनष्टं कुरु ॥

(इस ऋचाके द्वारा केवल नीलकी ही प्रार्थना की जाती है) हे नील ! तेरा उत्पत्तिस्थान कृष्णवर्णका होता है और जिन

पात्रोंमें तू डाला जाता है वे भी काले होते हैं और हे नील ओषधि ! तू असित वर्ण वाली है, तेरा ऐसा स्वभाव है अतः लेपन आदिके द्वारा तू कोढ़ आदि रोगसे दूषित अंगसे कोढ़को और पलित रोगको अलग करके नष्ट कर डाल ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥४॥

अस्थिऽजस्य । किलासस्य । तनूऽजस्य । च । यत् । त्वचि ।
दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्म । श्वेतम् । अनीनशम् ॥ ४ ।

अनया अस्थ्यादिधातुगतस्य उत्साधस्य किलासस्यैव निवृत्तिम् आह । अस्थिजस्य तथा तनूजस्य । अत्र तनूशब्देन त्वगस्थ्नोर्मध्यवर्ती मांसधातुः उच्यते । तस्माद् यज्जातं तस्य । ❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्माद् अस्थिशब्दोपपदात् तनूशब्दोपपदाच्च "पञ्चम्याम् अजातौ" इति डप्रत्ययः । "टेः" इति टिलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तथा त्वचि त्वग्धातौ यद् वर्तमानं तस्य सर्वस्य किलासस्य कुष्ठव्याधेः तथा दूष्या । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः शश्नूत्पादिता कृत्या । तया कृतस्य उत्पादितस्य च किलासस्य [लक्ष्म] लक्ष्मभूतं चिन्हं श्वेतम् शरीरावयवगतं श्वैत्यम् । ब्रह्मणा अनेन प्रयुज्यमानेन मन्त्रेण अनीनशम् नाशितवान् अस्मि । ❀ नश अदर्शने । अस्मात् ण्यन्तात् लुङि "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्" इति च्लेश्चङ् । "चङि" इति द्विर्वचने "सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे" इति सन्वद्भावः । "सन्यतः" इति अभ्यासस्य इत्वम् । "दीर्घो लघोः" इति दीर्घः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(इस ऋचाके द्वारा अस्थि आदि धातुमें पहुँचे हुए नष्ट करने योग्य कुष्ठरोगकी ही निवृत्तिका वर्णन किया है) अस्थियोंमें पहुँचे हुए और त्वचा तथा हड्डीके बीचमें वर्तमान मांसमें पहुँचे हुए तथा त्वचामें वर्तमान कुष्ठ व्याधिका तथा शत्रुकी उत्पन्न की हुई प्राणियोंको मारने वाली कृत्याके द्वारा उत्पादित कुष्ठका जो श्वेत चिन्ह है, उसको मैंने इस प्रयोग किये हुए मन्त्रसे नष्ट कर डाला है ॥ ४ ॥

पाँचवें अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (२३) ॥

"सुपर्णो जातः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

इस सूक्तका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तम् आसिथ ।
तद् आसुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् १

सुऽपर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।

तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् १

अस्य औषधस्य वीर्यातिशयं प्रकटयितुम् आख्यायिकया उत्पत्तिम् आह । सुपर्णः शोभनपक्षोपेतो गरुत्मान् । ❀ बहुव्रीहौ समासे "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । प्रथमः आदिभूतः सन् जातः उत्पन्नः ॥ हे नील्याद्योषधे त्वं तस्य गरुत्मतः पित्तम् शरीरगतः पित्ताख्यो दोषः आसिथ पूर्वं बभूविथ । ❀ अस्तेर्लिटि "छन्दस्युभयथा" इति लिटः सार्वधातुकसंज्ञायाम् "अस्तेर्भूः" इति भूभावाभावः । आर्धधातुकसंज्ञाया अपि सद्भावाद् इडागमश्च ❀ ॥ तत् तथाविधं पित्तम् आसुरी असुराणां माया काचन स्त्री । ❀ "मायायाम् अण्" इति अण् प्रत्ययः ।

"टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀। सा युधा युद्धेन। ❀ युध संप्रहारे। "क्विप् च" इति क्विप् ❀। सुपर्णेन सह संग्रामं कृत्वा जिता जितवती। ❀ जि जये। अस्मात् कर्तरि क्तः ❀॥ जयेन लब्धं तत् पित्तं रूपं चक्रे। ओषध्यात्मना सेव्यम् आकारम् अकार्षीत्। तदेव रूपम् आह। वनस्पतीन् नील्यादीन्॥ एतेषां नील्यादीनां सुपर्णपित्तकार्यत्वरूपप्रतिपादनेन अमोघवीर्यत्वम् उक्तं भवति॥

(इस ओषधीके वीर्यको प्रकट करनेके लिये आख्यायिकाके द्वारा इसकी उत्पत्तिको कहते हैं, कि–) हे नील नामक ओषधे! पहिले तू सुन्दर पर वाले गरुड़के (शरीरका दोष) पित्त था, उस पित्तको असुरोंकी माया आसुरी नाम वाली किसी स्त्रीने गरुड़के साथ संग्राम करके जीत लिया था, जयमें प्राप्त हुए उस पित्तका रूप बना दिया अर्थात् ओषधिरूपसे सेव्य आकार वाला कर दिया (उसी रूपको कहते हैं, कि–) वह रूप नील आदिमें गया है। (ये नील आदि गरुड़के पित्तका कार्य होनेसे अमोघ वीर्य वाले हैं)॥ १॥

द्वितीया॥

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजम् इदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपाम् अकरत् त्वचम्॥२॥

आसुरी। चक्रे। प्रथमा। इदम्। किलासऽभेषजम्। इदम्। किलासऽनाशनम्।
अनीनशत्। किलासम्। सऽरूपाम्। अकरत्। त्वचम्॥ २॥

आसुरी पूर्वमन्त्रोक्ता असुरमायारूपा स्त्री प्रथमा श्वित्रचिकित्सकानाम् आदिभूता सती इदम् सुपर्णपित्तेन निर्मितं नील्यादिकं किलासभेषजम् किलासस्य श्वित्रस्य निवर्तकम् औषधं चक्रे कृतवती ॥ अतः इदम् नील्यादिकम् इदानीमपि लोके किलासनाशनम् किलासस्य रोगस्य निवर्तकं भवति । ❀ नश अदर्शने "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ ॥ तद् नील्याद्यौषधं प्रयुज्यमानं सत् किलासम् श्वित्ररोगम् अनीनशत् नाशयति स्म । ❀ नशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥ तथा त्वचम् त्वग्धातु श्वित्रदूषितं सरूपाम् समानरूपाम् । ❀ "ज्योतिर्जनपद०" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ❀ । श्वित्ररहितत्वचा समानवर्णाम् अकरत् अकार्षीत् । ❀ डुकृञ् करणे । अस्मात् लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः । "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀ ॥

पूर्वमन्त्रमें कही हुई असुरमायारूप स्त्रीने पहिली कोढ़चिकित्सक बन सुपर्णके पित्तसे निर्मित नील आदिको कोढ़को हटाने वाली ओषधिकेरूपमें निर्माण किया था । अतः यह आजकल भी कोढ़का नाशक होता है । इस नील आदि ओषधने प्रयोग करने पर कोढ़को नष्ट कर दिया है तथा कोढ़से दूषित त्वचा (त्वग्धातु) को भी कोढ़से शून्य अत एव समान वर्ण वाली कर दिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

सऽरूपा । नाम । ते । माता । सऽरूपः । नाम । ते । पिता ।

सरूपऽकृत् । त्वम् । ओषधे । सा । सऽरूपम् । इदम् । कृधि ३

हे ओषधे ते तव माता जननी भूमिः सरूपा त्वया समानरूपा कृष्णवर्णैव ॥ तथा ते तव पिता द्यौः । "द्यौः पिता पृथिवी माता" [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ४] इति हि निगमः । बीजविशेषो वा पितृशब्देन विवक्षितः । सोपि सरूपः समानवर्णः ॥ उभयत्रापि नामशब्दः प्रसिद्धिपरः ॥ हे ओषधे नील्यादिरूपे त्वम् सरूपकृत् । स्वसंसृष्टं पदार्थम् आत्मना समानवर्णं करोति सा सरूपकृत् । तादृश्यसि । ❀ करोतेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥ सा समानरूपमातापितृजाता त्वम् इदम् श्वित्ररोगदूषितम् अङ्गं सरूपं कृधि त्वया समानवर्णं कुरु । ❀ करोतेर्लोटि "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

हे ओषधे ! तेरी माता पृथ्वी तेरे समान काले रूपवाली है तथा तेरा पिता † आकाश वा बीज भी तेरे समान रूपवाला ही प्रसिद्ध है और हे नीलादिरूप औषधे ! तू अपने पासमें आये हुए पदार्थको अपनेसे रूपवाला कर देती है, ऐसी एकसे रूपवाले माता पितासे उत्पन्न हुई तू इस कोढ़ रोगसे दूषित अङ्गको अपने सरीखे रंग वाला करदे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।

इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्ऽकरणी । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽभृता ।

इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय

† द्यौः पिता पृथिवी माता—आकाश पिता है पृथ्वी माता है ।" [तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ४] ॥

श्यामा श्यामवर्णा सरूपंकरणी। ❀ असरूपं सरूपं क्रियत अनयेति विग्रह उपपदान्तरेपि "आढ्यसुभग०" इत्यादिना व्यत्ययेन कृञः करणे ख्युन्। "खित्यनव्ययस्य" इति पूर्वपदस्य मुम् आगमः। यद्वा। सरूपं क्रियते अनयेति "करणाधिकरणयोश्च" इति कृञः करणे ल्युट्। पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छान्दसः। उभयत्रापि "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀। तादृशी त्वम् पृथिव्या अधि भूमेरुपरि उद्भृता आसुर्या मायया उत्पादिता॥ अतः कारणात् हे ओषधे त्वम् इदम् किलासाक्रान्तम् अङ्गं सु म साधय सुष्ठु रोगविनिर्मुक्तं कुरु। ❀ मशब्दः पादपूरणः। पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद् इति हि यास्कः [नि. १. ९] ❀॥ तथा रूपाणि व्याधिसंभवात् पूर्वम् अवस्थितानि पुनः व्याधिनिर्हरणान्तरमपि कल्पय संपादय। ❀ कृपू सामर्थ्ये। अस्माद् णिच्। "कृपो रो लः" इति लत्वम्। पुनरिति। रेफस्य "रो रि" इति लोपे कृते "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀॥

[इति] पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

श्याम वर्ण वाली, एकसा रूप करने वाली हे ओषधि! तुझको पृथ्वीके ऊपर आसुरी मायाने उत्पन्न किया है, इस कारण हे ओषधे! तू इस कोढ़से घिरे हुए अङ्गको रोगसे मुक्त कर और व्याधिसे पहिले जैसा रूप था, व्याधिको दूर करनेके अनन्तर फिर वैसा ही कर दे॥ ४॥

पाँचवें अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२४)॥

ऐकाहिकादिशीतज्वरसंततज्वरवेलाज्वरादिशान्तये "यदग्निरापः" इति सूक्तं जपेत्। लोहकुठारम् अग्नौ संताप्य उष्णोदकमध्ये स्थापयित्वा तेनोदकेन व्याधितम् अभिषिञ्चेत्। तथा च कौशिकः। "यदग्निरिति जपति परशुं तापयति क्वाथयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. २]॥

प्रति दिन आने वाले—शीतज्वर, संततज्वर और वेलाज्वर (सामायिक ज्वर) की शान्तिके लिए "यदग्निरापः" इस सूक्तको जपे, लोहेके कुठारको अग्निमें तपा कर गरम जलमें रक्खे और उस जलसे व्याधिग्रस्त पुरुष पर अभिषेक करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, "यदग्निरिति जपति परशुं तापयति क्वाथयत्यवसिञ्चति—यदग्निः सूक्तका जप करे और इस सूक्तसे फरसेको तपावे उसका क्वाथ करे और सींचे।" [कौशिकसूत्र ४। २]॥

तत्र प्रथमा ॥

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।
तत्र त आहु परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अग्निः । आपः । अदहत् । प्रऽविश्य । यत्र । अकृण्वन् । धर्मऽधृतः । नमांसि ।
तत्र । ते । आहुः । परमम् । जनित्रम् । सः । नः । सम्ऽविद्वान् । परि । वृङ्धि । तक्मन् ॥ १ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः आपः अपः। ❀ व्यत्ययेन जस् ❀। उदकानि प्रविश्य तप्तपरशुद्वारा अन्तरनुप्रविश्य अदहत् क्वाथम् अकार्षीत्। ❀ दह भस्मीकरणे। "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति निघातप्रतिषेधः ❀। ततः उदकेषु औष्ण्यगुणविशिष्टोग्निर्वर्तते इत्यर्थः। अग्निविशिष्टेन उष्णोदकेन ज्वरितः अव-

सिच्यते इति यत् तस्मात् कारणात् हे तक्मन् कृच्छ्रजीवनकारिन्। ❀ तकि कृच्छ्रजीवने। अस्माद् औणादिको मनिन् प्रत्ययः ❀। तथाविध ज्वर संविद्वान् सम्यक् स्वकारणम् अग्निं जानन्। ❀ विद ज्ञाने इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः। "विदेः शतुर्वसुः" इति वस्वादेशः ❀। स त्वं नः अस्मान् उष्णोदकसिक्तगात्रान् परि वृङ्धि परिवर्जय। अस्मच्छरीरं विहाय स्वकारणभूतेन अग्निना सह निर्गच्छेत्यर्थः। ❀ वृजी वर्जने। अस्मात् लोटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः। रुधादित्वात् श्नम्। "चोः कुः" इति कुत्वम्। "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपे अनुस्वारपरसवर्णौ ❀॥ अग्नेः कारणत्वे भवेद् एवम् तदेव कुत इत्यत आह यत्रेति। धर्मधृतः। धर्मशब्देन अत्र यागदानादिरुच्यते। तं धारयन्ति अनुतिष्ठन्तीति धर्मधृतः। ❀ धृञ् धारणे। अस्माद् धर्मशब्दोपपदात् "क्विप् च" इति क्विप्। उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन धातुस्वर एव शिष्यते ❀। तथाविधा यजमाना यत्र यस्मिन्नग्नौ नमांसि। अन्ननामैतत्। हविर्लक्षणानि अन्नानि। ❀ नम प्रह्वत्वे। अस्मात् औणादिकः असुन् प्रत्ययः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। अकृण्वन् अकुर्वन् अयजन् अजुहवुर्वा। ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च। इदित्वाद् नुम्। लङि "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन अकारश्च अन्तादेशः। तस्य अन्त्यलोपे स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः। "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" इति अडागम उदात्तः। "निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण् कच्चिद्यत्रयुक्तम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। तत्र तथाविधे अग्नौ हे ज्वर ते तव परमम् उत्कृष्टं जनित्रम् जन्म आहुः कथयन्ति। दोषवशाज्जाठराग्नेरेवायं ज्वरो विकार इति हि चिकित्सकानां प्रसिद्धिः। ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। "ब्रुवः पञ्चानाम् आदित आहो ब्रुवः" इति झेः उस् आदेशः प्रकृतेः आहादेशश्च। जनि-

न्म् इति। जनी प्रादुर्भावे। अस्माद् भावे औणादिक इन-प्रत्ययः। प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ❁॥ यद्वा हे तक्मन् सेकसाधनभूता अपः प्रविश्य अग्निस्त्वाम् अदहत् धक्ष्यतीति यत्। ❁ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति भविष्यदर्थे लङ् ❁। अतो हेतोः अस्मान् परित्यज्य सेकोदकगताग्निना स्वकारणभूतेन सह निर्गच्छेत्यर्थः॥ अन्यत् पूर्ववद् योज्यम्॥

भञ्जनादिगुण युक्त अग्निदेवने तपे हुए परशु (कुठार) के द्वारा जलमें प्रवेश करके क्वाथ कर लिया है (अत एव जलमें उष्णता गुण वाला अग्नि वर्तमान है, अग्नियुक्त जलसे ज्वररोगी पर अभिषेक होरहा है, इस कारण) हे कठिन जीवन करने वाले ज्वर! तू अपने कारण अग्निको भली भाँति समझ कर हमारे उष्णजलसे छिड़के हुए अङ्गोंको त्याग दे अर्थात् हमारे शरीरको छोड़ कर अपने कारण अग्निके साथ निकलजा (अग्नि, ज्वरका कारण हो तो ऐसा होसकता है, परन्तु अग्नि ज्वरका कारण है, यह कैसे प्रतीत हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—) याग दान आदि धर्मको धारण करने वाले विद्वान् जिस अग्निमें हवि होमते हैं, उस अग्निमें तेरे उत्कृष्ट जन्मका वर्णन करते हैं (चिकित्सक कहते हैं, कि—दोषके कारण जाठराग्नि ही ज्वर नामक विकार होजाता है)॥

दूसरा अर्थ—हे कठिनतासे जीवित रहने देने वाले ज्वर! सींचनेके जलमें प्रवेश करके अग्नि तुझको जला डालेगा अतः तू हमको छोड़ कर जलमें मिली हुई अग्निके साथ बाहरको निकल जा। शेष पूर्ववत्॥ १॥

द्वितीया॥

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते

जनित्रम् ।

हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्यऽएषि । यदि । वा । ते । जनित्रम् ।

हूडुः । नाम । असि । हरितस्य । देव । सः । नः । सम्ऽविद्वान् । परि । वृङ्धि । तक्मन् ॥ २ ॥

हे तक्मन् कृच्छ्रजीवनकारिन् ज्वर त्वं यदि अर्चिः अर्चिष्मान् औष्ण्यगुणयुक्तोसि भवसि । यदि वा शोचिः शोचकः शरीर-संतापकोसि । यदि वा ते तव जनित्रम् जन्म शकल्येषि । शक-लानां समूहः शकल्यः । ❁ समूहार्थे यप्रत्ययः ❁ । शकल्यं दाह्यं काष्ठसमूहम् इच्छतीति शकल्येट् अग्निः । ❁ इषु इच्छा-याम् । अस्मात् "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्विप् प्रत्ययः ❁ । अग्नौ । तव जन्मेत्यर्थः । तथापि हे देव दीप्यमान ज्वर त्वं हरि-तस्य पीतवर्णस्य रूडुः रोहकः पुरुषशरीरे उत्पादकः । ❁ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे [च] ।अस्माद् औणादिकस्तुन् प्रत्ययः । "हो ढः" इति ढत्वम् । "झषस्तथोर्धोऽधः" इति तकारस्य धत्वम् । तत्ष्टुत्वे ढो ढे लोपे च कृते "ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति धातोः रुकारस्य दीर्घः ❁ । नामशब्दः प्रसिद्धौ । रूडुः इति प्रसिद्धः असि भवसि । यद्यपि ते बहूनि नामानि सन्ति तथापि इदमेव नाम प्रसिद्धम् इत्यर्थः ॥ व्याख्यातम् अन्यत् ॥

हे जीवनको दुःखमय करने वाले ज्वर ! यदि तू उष्णतागुण

से युक्त है, यदि तू शरीरसन्तापक है यदि तेरा जन्म काष्ठ-खण्डोंको चाहने वाले अग्निसे हुआ है, तथापि हे देव ज्वर ! तुम पीतवर्णके रूदु हो, अर्थात् पीतवर्णको पुरुषके शरीरमें उत्पन्न करने वाले हो अत एव तुम रूदु (हूडु) इस नामसे प्रसिद्ध हो, हे ऐसे ज्वर ! तुम अपने कारण अग्निको भली प्रकार जानते हो अतः तुम हमारे उष्णजलसे सिक्त शरीरको छोड़ कर अपने कारण अग्निके साथ निकल जाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो
वरुणस्यासि पुत्रः ।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्
परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि । शोकः । यदि । वा । अभिऽशोकः । यदि । वा । राज्ञः । वरुणस्य । असि । पुत्रः ।
हूडुः । नाम । असि । हरितस्य । देव । सः । नः । समऽविद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

हे तक्मन् शीतज्वर त्वं यदि शोकः शरीरस्यान्तःशोचकः । यदिशब्दयोगात् असीति क्रिया अत्रापि संबध्यते । तापकोसि भवसि । यदि वा अभिशोकः अभितः सर्वतः कृत्स्नस्य शरीरस्य शोचकोसि । ❀ शुच शोके । बाहुलकात् कर्तरि घञ् । “चजोः कुः घिण्ण्यतोः” इति कुत्वम् ❀ । यदि वा राज्ञः राजमानस्य वरुणस्य पापकारिणां शिक्षकस्य । “अनृते खलु वै क्रियमाणे

[वरुणो] गृभ्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति हि श्रुतिः । तथाविधस्य देवस्य पुत्रः असि भवसि । अनेन शीतज्वरस्य उत्पत्तिरुक्ता ॥ अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे जीवनको दुःखमय करनेवाले शीतज्वर ! यदि तुम शरीरके भीतर ताप देने वाले हो, वा सम्पूर्ण शरीरको ताप देते हो अथवा तुम पापियोंको दण्ड देनेवाले प्रकाशमान वरुणके पुत्र हो, तथापि हे दीप्यमान ज्वर ! तुम पुरुषके शरीरमें पीतवर्णको चढ़ाने वाले हो अत एव रूढु (हृडु) इस नामसे प्रसिद्ध हो ! हे उपर्युक्त गुणविशिष्ट ज्वर ! तुम अपने कारण अग्निको भली भाँति जानते हो, अतः तुम हमारे उष्णजलसे सिक्त शरीरको छोड़कर अपने कारण अग्निके साथ निकल जाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीकाय नमो अस्तु तक्मने ॥

नमः । शीताय । तक्मने । नमः । रूराय । शोचिषे । कृणोमि ।
यः । अन्येद्युः । उभयऽद्युः । अभिऽएति । तृतीयकाय । नमः ।
अस्तु । तक्मने ॥ ४ ॥

शीताय शीतजनकाय तक्मने कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय नमः नमस्कारं कृणोमि । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी ❀ ॥ तथा रूराय शीतानन्तरभाविने ज्वराय शोचिषे शोचकाय नमस्कृणोमि करोमि । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च ❀ । शीतरूरौ शाखान्तरे स्पष्टम् आम्नायेते । "स इन्द्रः आत्मनः शीतरूरावजनयत् तच्छीतरूरयोर्जन्म" [तै० सं २. ५. २. ३]

इति ॥ शीतज्वरविशेषान् आह। अन्येद्युः अन्यस्मिन् परदिने यः शीतज्वरः अभ्येति आगच्छति । ❁ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति तिङो निघाताभावः ❁ । तथा उभयद्युः उभयस्मिन् द्वितीयेहनि यः शीतज्वर आयाति । ❁ "सद्यः परुत्परारि०" इत्यादिना अन्येद्युः उभयेद्युः इति शब्दौ निपातितौ । उभयद्युः इत्यत्र एत्वाभावश्छान्दसः ❁ । तस्मै ऐकाहिकाय द्व्याहिकाय च ज्वराय तृतीयकाय तृतीयदिवसे आगच्छते त्र्याहिकाय ज्वराय। चातुर्थिकादीनामपि उपलक्षणम् एतत् । सर्वस्मै तक्मने शीतज्वराय नमः अस्तु नमस्कारो भवतु ॥ एवं नमस्कारेण प्रीतः सन् सर्वो ज्वरः अस्मान् परिवर्जयतु इत्यर्थः ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

शीतको उत्पन्न कर जीवनको कठिन कर देने वाले शीत रोगको मैं नमस्कार करता हूँ, तथा शीतके अनन्तर होने वाले सन्तापक (रूर) ज्वरको मैं नमस्कार करता हूँ † ॥ (अब शीतज्वरके भेदोंको कहते हैं, कि–) अन्येद्यु (परदिनमें आने वाले) ज्वरके लिये, उभयेद्यु (दूसरे दिन आने वाले) ज्वरके लिये और तीसरे दिन आने वाले इस प्रकार सब प्रकारके (चौथियाके भी) शीतज्वरको नमस्कार हो (इस प्रकार नमस्कारसे प्रसन्न हुए सब प्रकारके ज्वर हमें छोड़ दें) ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२५) ॥

---

† शीत और रूर ज्वरके विषयमें तैत्तिरीयसंहिता २।५।२।३ में स्पष्ट रीति पर कहा है, कि–"स इन्द्र आत्मनः शीतरूरावजनयत् तच्छीतरूरयोर्जन्म–इन्द्रने अपने पाससे शीत और रूर नामक ज्वरोंको उत्पन्न किया, यही शीत और रूरका जन्म (वृत्तान्त) है" (तैत्तिरीयसंहिता २ । ५ । २ । ३) ॥

"आरेसौ" इति सूक्तेन खड्गादिसर्वशस्त्रनिवारणकर्मणि फलीकरणतुषावतक्षणानां होमः कार्यः ॥

तथैव प्रहरणोद्यतं शत्रुं दृष्ट्वा एतत् सूक्तं जपेत् । सूत्रं च । "आरेसावित्यपनोदनानि फलीकरणतुष [भुसा] वतक्षणानि" इत्यादि [कौ० २. ५] ॥

तथा दुःशकुनदर्शनकाकमैथुनादिविरुद्धदर्शने अद्भुतादिदर्शने च एतत् सूक्तं जपेत् । सूत्रितं च । "अपनोदनापाघाभ्याम् [१. २६, ४. ३३] अन्वीक्षन् प्रतिजपति" इति [कौ० ५. ६] ॥ अत्र अपनोदनशब्देन अपनोदनकर्मसाधनत्वात् "आरेसौ" इति सूक्तम् उच्यते ॥

तथा विजयस्वस्त्ययनकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा खड्गादि शस्त्रं संपात्य अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत् ॥

तथैव स्वस्त्ययनकामो रात्रौ शयनकाले एतत् सूक्तं जपित्वा प्रादेशेन सुखं प्रमाय स्वप्यात् ॥

तथैव सुप्तोत्थितः स्वस्त्ययनार्थम् एतेन सूक्तेन त्रीणि पदानि तिस्रो दिष्टीर्वा प्रमाय उत्तिष्ठेत् ॥

सूत्रं च । "आरे [१. २६] अमूः पारे [१. २७] पातं नः [६. ३] य एनं परिषीदन्ति [६. ७६] इति यद्व आयुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्ट्या सुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमाय उत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" इति [कौ० ७. १]॥ दिष्टिः प्रादेश इत्यर्थः ॥

तथैव उपाकर्मणि एतत् सूक्तम् आज्यहोमे विनियुक्तम् । "आरेसावस्मदस्तु [१. २६] यस्ते पृथु स्तनयित्नुः [७. १२]" इति हि सूत्रम् [कौ० १४. ३] ॥

"आरेसौ" इस सूक्तके द्वारा खड्ग आदि सम्पूर्ण शस्त्रोंको निवारण करनेमें फलीकरणतुषावतक्षण (भुस) का होम करे ॥

तथा प्रहार करनेके लिये उद्यत शत्रुको देख कर भी इस सूक्तको जपे। इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है कि–"आरेसा-विल्यपनोदनानि फलीकरणतुषा (तुस) वतक्षणानि" इत्यादि (कौशिक सूत्र २ । ५) ॥

तथा कुशकुनोंके दीखने पर, काकमैथुन आदि विरुद्ध दर्शन होने पर और अद्भुतादिका दर्शन होने पर भी इस सूक्तको जपे। सूत्रमें भी कहा है, कि–"अपनोदनापाशभ्यां (१।२६,४।३३) अन्वीक्षन् प्रतिजपति–अर्थात् अथर्ववेदके प्रथमकाण्डके छब्बीसवें अपनोदन सूक्तसे और चतुर्थकाण्डके तैंतीसवें 'अप नः शोशुचदघम्' सूक्तसे अन्वीक्षण करता हुआ जप करे" (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥ यहाँ पर अपनोदनशब्दसे अपनोदनका साधन "आरेसौ" यह सूक्त लिया गया है ॥

तथा विजयस्वस्त्ययन कर्ममें भी इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर खड्ग और शस्त्रको संपातित और अभिमन्त्रित (संपातित और अभिमन्त्रित शब्दका अर्थ प्रथमसूक्त प्रथम मन्त्रमें देखो) करके देय ॥

तथा स्वस्त्ययनकी कामना वाला रात्रिमें सोते समय इस सूक्तको जाप प्रादेशसे मुखको नाप कर सो जावे ॥

इसी प्रकार सोकर उठा हुआ स्वस्त्ययनके लिये इस सूक्तसे तीन पैर तीन प्रादेश नाप कर उठे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–"आरे (१ । २६) अमू पारे (१ । २७) पातं नः (६ । ३) य एनं परिषीदन्ति (६ । ७६) इति यद आयुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमाय उत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" (कौशिकसूत्र ७।१) इसमें दिष्टि प्रादेशका वाचक है।

इसी प्रकार उपाकर्ममें भी घृतहोमके समय इस सूक्तका विनि-

योग होता है। कौशिकसूत्र ४।१ में भी कहा है, कि–"आरे-सावस्मदस्तु (१। २६) यस्ते पृथु स्तनयित्नुः (७। १२)॥"

तत्र प्रथमा ॥

आरे॑३साव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत् ।

आरे अश्मा॒ यम॒स्यथ ॥ १ ॥

आरे। असौ। अस्मत्। अस्तु। हेतिः। देवासः। असत्।

आरे। अश्मा। यम्। अस्यथ ॥ १ ॥

हे देवासः देवाः। ❀ "आज्जसेरसुक्" इति असुक् आगमः ❀। युष्मत्प्रसादात् असौ दूरे परिदृश्यमाना हेतिः हननसाधनं शत्रुभिः प्रयुक्तं खड्गाद्यायुधम्। ❀ "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति क्तिनि एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्यते ❀। तद् आयुधम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् आरे दूरे अस्तु भवतु। अस्मान् अस्पृष्ट्वैव दूरे निपततु इत्यर्थः॥ तथा हे शत्रवः यूयं यम् अश्मानम् अस्यथ अस्मद्धननाय क्षिपथ। ❀ असु क्षेपणे। दिवादित्वात् श्यन्। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। [सः] अश्मा यन्त्रादिविनिर्मुक्तः पाषाणः। आरे अस्मद्दूरदेशे असत् भवतु। ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀॥

हे देवताओं! आपके प्रसादसे यह दूर दीखता हुआ हनन-साधन शत्रुओंसे प्रयुक्त खड्ग आदि आयुध हमसे दूर ही रहे अर्थात् हमें न छूकर दूर ही गिर जावे और हे शत्रुओं! तुम हमें मारनेके लिये जिस पत्थरको फैंक रहे हो, वह यन्त्र आदिसे छूटा हुआ पाषाण हमसे दूर रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः । भगः । सविता । चित्रऽराधाः ॥ २ ॥

पूर्वत्र शत्रुनिवारकत्वेन देवाः प्रार्थिताः । तत्सिद्ध्यर्थं तेषां नामग्रहणपूर्वकं सखित्वं प्रार्थ्यते ॥ असौ दिवि दृश्यमानो रातिः मित्रः सूर्यः अस्मभ्यम् अस्मत्कार्यसिद्ध्ये सखा समानख्यानो मित्रम् अस्तु भवतु । ❀ "अनङ् सौ" इति सखिशब्दस्य अनङ् आदेशः । रातिरिति । रा दाने । "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इति कर्तरि क्तिच् । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानाम् अधिपतिः भगः भजनीयः भाग्यस्य प्रदाता देवः । "भगो ह दाता भग इत् प्रदाता" [तै० ब्रा० ३. १. १. ८] इति हि श्रुतिः । सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः । यद्वा अभिमतसाधनस्य प्रदाता । श्रूयते हि । "सवितारमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मै सनिं प्रसुवति" [तै० सं० २. १. ६. ३] इति ॥ तमेव विशिनष्टि । चित्रराधाः । ❀ राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेन इति यास्कः [नि० ४. ४] ❀ । चित्रं बहुविधं राधो धनं यस्य स तथोक्तः । ❀ राध साध संसिद्धौ । अस्मात् करणे असुन् प्रत्ययः । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ [स च सखा अस्तु] ॥ एते सर्वे देवाः अस्माकं सखायो भूत्वा शात्रवं शत्रुनिकरं निवारयन्तु इत्यर्थः ॥

(पहिले शत्रुओंको निवारण करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना

की अब उसकी सिद्धिके लिये उनका नाम लेकर मित्रताकी प्रार्थना की जाती है, कि–) यह आकाशमें दीखते हुए सूर्य हमारी कार्यकी सिद्धिके लिये समान प्रसिद्धि वाले मित्र हों परमैश्वर्य सम्पन्न देवताओंके स्वामी भाग्यके देने वाले † इन्द्रदेव, सब प्राणियोंके प्रेरक और अभिलषित फल देनेवाले तथा विचित्र राध ‡ (धन) वाले सविता + देवता हमारे मित्र हो अर्थात् ये सब देवता हमारे मित्र बन कर शत्रुओंके शस्त्रोंको हटावें ॥२॥

तृतीया ॥

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।

शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्रऽवतः । नपात् । मरुतः । सूर्यऽत्वचसः ।

शर्म । यच्छाथ । सऽप्रथाः ॥ ३ ॥

हे प्रवतो नपात् । प्रत्र [तः प्रग]तस्य ऋवः सकाशात् प्रचण्डैः सूर्यकिरणैः उद्धृतस्य उदकस्य नपात् न पातयितः अकाले उदकं यथा अधो न पतति तथा उपरिष्टाद्द मेघमण्डले धारयितः पर्जन्य ।

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १ । १ । ८ में कहा है, कि–"भगो ह दाता भग इत् प्रदाता" ॥

‡ "राध इति धन नाम राध्नुवन्त्यनेन इति यास्कः–यास्क कहते हैं कि–राध यह धनका नाम है, इससे कामको सिद्ध करते हैं अत एव यह राध धनका नाम है ।" (निरुक्त ४ । ४)॥

+ सवितारमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मै सनिं प्रसुवति–अपना भाग पानेके लिये सविताके पास ही जाता है, वह इसको सनि देता है ॥" (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ६ । ३)

❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति प्रोपसर्गाद् गमिधात्वर्थे वतिप्रत्ययः। "वत्यन्ताश्च" इत्यव्ययत्वेपि लिङ्गसंख्याभ्यां योगः पूर्वत्र समर्थितः। नञ्पूर्वात् पातयतेः क्विप्। "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः। "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। हे मरुतः एतत् संज्ञकाः सप्तगणात्मका देवाः। ❀ पादादित्वाद् आष्टमिकनिघाताभावे षाष्ठिकम् "आमन्त्रितस्य च" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀। तान् विशिनष्टि। सूर्यत्वचसः। सूर्यस्य त्वगिव त्वग् येषां ते तथोक्ताः। सूर्यसमानतेजस्का इत्यर्थः। ते सर्वे यूयं नः अस्मभ्यं सप्रथः प्रथसा विस्तारेण सहितं शर्म। गृहनामैतत्। शरणं गृहं सुखं वा यच्छात: यच्छत। ❀ दाण् दाने। अस्मात् लोटि आडागमः। शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

हे पृथ्वी परसे सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके द्वारा खैंचे हुए जल को असमयमें नीचेको गिरने न देकर ऊपर मेघमण्डलमें धारण करने वाले पर्जन्य! हे सात गण वाले मरुद् देवताओं! आपका तेज सूर्यकी समान है आप सब मुझे विस्तृत सुख वा विस्तृत घर दीजिये॥ ३॥

चतुर्थी॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ४

सुसूदत। मृडत। मृडय। नः। तनूभ्यः। मयः। तोकेभ्यः। कृधि।

हे इन्द्रादयो देवाः यूयं सुषूदत सूदयत शत्रुमुक्तानि आयुधानि अस्मत्तोन्यत्र प्रेरयत। ❀ षूद क्षरणे। अस्माद् ण्यन्तात् लोटि शप्। "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि"

इति णिलोपः ❀ ॥ तथा मृडत सुखयत । ❀ मृड सुखने ❀ ॥ सर्वापेक्षया बहुवद् उक्त्वा प्रत्येकं कर्तव्यतां दर्शयितुम् एकवद् आह । हे इन्द्रादिदेव त्वं नः अस्मान् मृडय सुखय । अनिष्टविनिबर्हणेन प्रीतिं जनयेत्यर्थः ॥ तथा अस्माकं तनूभ्यः शरीरेभ्यः । तोकेभ्यः । अपत्यनामैतत् । पुत्रेभ्यश्च मयः । सुखनामैतत् । सुखं कृधि कुरु । ❀ डुकृञ् करणे । लोटि "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र आदि देवताओ तुम शत्रुओंके छोड़े हुए आयुधोंको हमसे अन्यत्र गिराओ तथा हमें सुख दो । (अब प्रत्येक इन्द्र आदिके लिये कहते हैं, कि–) हे इन्द्र आदि देव ! अनिष्टको दूर कर तुम हमें सुख दो, तथा हमारे पुत्रोंको सुख दो ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (२६) ॥

"अमूः पारे" इति सूक्तेन विजयार्थायुधप्रदानादीनि स्वस्त्ययनानि पूर्वसूक्तवत् कुर्यात् । सूत्रं तु पूर्वसूक्तोदाहृतं द्रष्टव्यम् ॥

"प्रेतं पादौ" इति ऋचा मार्गस्वस्त्ययने पादम् अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

"अमूः पारे" इस सूक्तके द्वारा पहिले सूक्तकी समान विजयके लिये आयुधोंको देना आदि स्वस्त्ययन करे । सूत्र पहिले सूक्तमें कह दिया तहाँ देखना चाहिये ॥

मार्गस्वस्त्ययनमें "प्रेतं पादौ" इस ऋचासे पादको अभिमंत्रण करके (आयुध) दे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।

तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः

परिपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रिऽसप्ताः । निःऽजरायवः ।

तासाम् । जरायुऽभिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि ।

अघऽयोः परिऽपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः परिदृश्यमानाः पृदाक्वः सर्पजातयः त्रिसप्ताः त्रिगुणितसप्तसंख्याकाः "ये त्रिषप्ताः" इत्यत्रोक्ताः निर्जरा इव जराया निर्गताः । ❀ "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति गतिसमासः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च" इति इवशब्दस्य समासः ❀ । जरारहिता देवा इव पारे भूम्याः पारदेशे नागलोके । वर्तन्त इति शेषः ॥ तासाम् पृदाकूनां जरायुभिः । जरायुवत् शरीरस्य वेष्टकास्त्वचो जरायवः सर्पकञ्चुकाः । तैः साधनैः अघायोः । अघं हिंसनं परेषाम् इच्छतीति अघायुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायामपि" इति अघशब्दात् कर्मणः क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तथाविधस्य परिपन्थिनः युद्धादौ प्रत्यवस्थातुः शत्रोः । ❀ "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" इति निपात्यते ❀ । तस्य अक्ष्यौ अक्षिणी [वयम्] अपि व्ययामसि अपिव्ययामः अपिनह्यामः । यथा युद्धादौ शत्रुरस्मान् हिंसितुं न पश्यति तथा तस्य चक्षुषी महासर्पनिर्मोकैः आच्छादयाम इत्यर्थः । ❀ व्येञ् संवरणे । "इदन्तो मसि" इति मस इदन्तत्वम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

ये दीखती हुई इक्कीस सर्पजातियें देवताओंकी समान भूमिके पारके देश नागलोकमें रहते हैं, उन सर्पोंकी जरायुकी समान लिपटी हुई कैंचुलियोंसे हम दूसरोंका बुरा चीतने वाले युद्ध

आदिमें खड़े हुए शत्रुके नेत्रोंको ढकते हैं। अर्थात् शत्रु हमको न देख सके इस लिये हम उसके नेत्रोंको बड़े-२ सर्पोंकी कैंचुलियोंसे ढकते हैं॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती।
विष्वक् पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः॥ २ ॥

विषूची। एतु। कृन्तती। पिनाकम्ऽइव। बिभ्रती।

विष्वक्। पुनःऽभुवाः। मनः। असम्ऽऋद्धाः। अघऽयवः २

पिनाकमिव। ऐश्वरं धनुः पिनाकम्। तद्वत् शत्रुनिहननक्षमम् आयुधं बिभ्रती धारयन्ती। ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः। अस्मात् लटः शत्रादेशः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्वम्। "उगितश्च" इति ङीप्। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀। अत एव कृन्तती छिन्दती खड्गाद्यायुधैः शत्रून् विदारयन्ती। ❀ कृती छेदने। अस्मात् लटः शत्रादेशः। "तुदादिभ्यः शः" इति शप्रत्ययः। "शे मुचादीनाम्" इति नुम्। "उगितश्च" इति ङीप्। "०तदुपदेशाल्लसार्वधातुकम् अनुदात्तम्०" इति शतुरनुदात्तत्वे विकरणस्य प्रत्ययस्वरेण उदात्तत्वम्। "अतो गुणे" इति शना सह एकादेशे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति एकादेशस्य उदात्तता। "शतुरनुमो नद्यजादी" इत्यन्तोदात्तात् शत्रन्ताद् उत्तरस्य ङीप उदात्तत्वम् ❀। ईदृशी शात्रवी सेना विषूची विषु नाना अञ्चन्ती गच्छन्ती विप्रकीर्णा एतु गच्छतु। नानामुखं वित्रस्ता धावतु इत्यर्थः। ❀ विषुशब्दोपपदाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। भसंज्ञायाम्

"अच:" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ❀ ॥ तथाविधा सेना यदि पुनर्भवा पुनः संघीभूता भवेत् तर्हि मनः तत्सेनासंबन्धि मानसं विष्वक् नानामुखम् अनवस्थितं भवतु । पुनः संघशः आगतानां शत्रुसेनाभटानां मनांसि कार्याकार्यविचारशून्यानि संभ्रान्तानि भवन्तु इत्यर्थः । ❀ भू सत्तायाम् । अस्मात् "ऋदोरप्" इति अप् प्रत्ययः । ततः पुनःशब्देन बहुव्रीहिः । यद्वा कर्तरि पचाद्यच् ❀ । यद्वा पुनर्भवायाः सेनायाः संबन्धि मन इति योजना । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति षष्ठ्येकवचनस्य सुः आदेशः ❀ ॥ एवं सेनायां संभ्रान्तायां तदधिष्ठातारः अघायवः अघं परेषाम् इच्छन्तः शत्रवः असमृद्धाः समृद्धिरहिताः राष्ट्रकोशादिभ्रष्टाः । भवन्तु इति शेषः ॥

शत्रुओंके संहार करनेमें समर्थ शिवके धनुष पिनाककी समान आयुधोंको धारण करने वाली अत एवं खड्ग आदिसे शत्रुओंको विदीर्ण करती हुई शत्रुकी सेना भयभीत होकर चारों ओरको भाग जावे, यदि ऐसी सेना फिर एकत्रित होजाय तो उसके भटोंका मन कार्य और अकार्यके विचारसे शून्य रहे इस प्रकार सेनाके भ्रान्त होने पर उसके स्वामी दूसरेका बुरा विचारने वाले शत्रु राष्ट्र कोश आदिसे भ्रष्ट होकर सम्पत्तिविहीन होजावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः ।

वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

न । बहवः । सम् । अशकन् । न । अर्भकाः । अभि । दधृषुः ।

वेणोः । अद्गाःऽइव । अभितः । असम्ऽऋद्धाः । अघऽयवः ॥३॥

बहवः हस्त्यश्वरथपदातियुक्ता बहुलाः शत्रवः न सम् अशकन् न संशक्नुवन्तु । बहवोपि युद्धरङ्गे अस्मान् जेतुम् अशक्ताः पराजिता भवन्तु इत्यर्थः । ❀ शक्ल शक्तौ । अस्मात् "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लुङ् । "पुषादिद्युताद्यॢदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ तथा अर्भकाः अल्पाः । ❀ दभ्रम् अर्भकम् इत्यल्पस्य इति यास्कः [नि० ३. २०] ❀ । परिमिताः शत्रवः न अभि दादृशुः आभिमुख्येन अस्मान् न पश्यन्तु । युद्धार्थम् अस्मान् द्रष्टुमपि असमर्था दूरत एव पलायन्ताम् इत्यर्थः । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । अस्मात् पूर्वोक्तसूत्रेण लिट् । तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् ❀ ॥ पराजितानां शत्रूणाम् अवस्थानप्रकारम् आह उत्तरार्धेन । वेणोः वंशकाण्डस्य परितः परितो वर्तमाना उद्गा इव । उद्गच्छन्तीति उद्गाः शाखाः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति उदुपसृष्टाद् गमेर्डप्रत्ययः । "टेः" इति टिलोपः ❀ । तथाविधाः शाखा इव अघायवः शत्रवः असमृद्धाः समृद्धिरहिता भवन्तु । यथा परितो वर्तमाना वेणुशाखा असंहताः कृशाश्च दृश्यन्ते तथा युद्धभूमौ पराजिताः शत्रवः सेनादिरहिता राज्यभ्रष्टास्तुच्छा भवन्तु इत्यर्थः । ❀ ऋधु वृद्धौ । "क्तोधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः" इति कर्तरि क्तप्रत्ययः । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । ततो नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

हाथी घोड़े रथ और पैदलों वाले बहुतसे शत्रु भी (युद्धमें) हमें न जीत सकें (पराजित होजावें) । और थोड़ेसे शत्रु तो हमारे सामने भी न देख सकें (दूरसे ही भाग जावें) । पराजित होकर सम्पत्तिविहीन हुए शत्रु, बाँसकी ऊपरको जाने वाली शाखायें (जैसे अकेली और दुबली होती हैं) तैसे, सेना आदिसे रहित राज्यभ्रष्ट तुच्छ होजावें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।

इन्द्राण्ये॑तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

प्र । इतम् । पादौ । प्र । स्फुरतम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् ।

इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

हे पादौ जिगमिषतो जनस्य संबन्धिनौ युवां प्रेतम् प्रकर्षेण गच्छतम् । ❀ इण् गतौ । लोटि थसस्तम् आदेशः ❀ । तदर्थं प्र स्फुरतम् । पुनःपुनः शीघ्रचलनेन गमनं निष्पादयतम् इत्यर्थः ॥ गमनस्य अवधिम् आह । पृणतः इष्टफलदानेन अस्मान् प्रीणयतः गन्तव्यत्वेन उद्दिष्टपुरुषस्य गृहान् वहतम् प्रापयतम् ॥ यद्वा पृणतः पालकस्य परराष्ट्राधीशस्य शत्रोः गृहान् वहतम् अस्मदीयां सेनां प्रापयतम् । ❀ पॄ पालनपूरणयोः । अस्मात् लटः शत्रादेशः । क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आल्लोपः । "शतुरनुम०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ ॥ गन्तृजनरक्षार्थं पुरः पुरस्तात् पूर्वभागे । ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति असिप्रत्ययः पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च ❀ । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ "इन्द्रवरुणभवशर्व०" इत्यादिना ङीष् प्रत्ययः आनुगागमश्च । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । ततो यणादेशे "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति परोऽनुदात्तः स्वर्यते ❀ । [एतु गच्छतु] तामेव विशिनष्टि । प्रथमा प्रथमभाविनी अजिता केनचिदपि अनिर्जिता । तथा अमुषिता अनपहृता । सेनाभिमानिदेवतात्वेन सर्वैरनभिभाव्येत्यर्थः । श्रूयते हि । "इन्द्राणी वै सेनायै देवता" [तै० सं० २. २. ८. १] इति । पुरोगामिन्या सेनाभिमानिन्या इन्द्रा-

एया देवतया अनुगृहीता अस्मदीया सेना शत्रून् निर्जित्य तद्गृहानपि आक्रामतु इत्यर्थः ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे ! चलना चाहने वाले मनुष्योंके पैरों ! तुम शीघ्र चलो, शीघ्र प्रस्फुरित होकर गमनको पूर्ण करो (कहाँ तक चलें ?) इष्ट फल देकर हमें प्रसन्न करना चाहने वाले पुरुषके घर तक हमें पहुँचाओ वा दूसरे राज्यके स्वामी शत्रुके घर तक हमारी सेनाको लेजाओ । और किसीसे भी न जीती हुई प्रथमा और किसीसे भी न हारी हुई सेनाकी अभिमानिनी देवता † इन्द्राणी चलने वालोंकी रक्षा करनेके लिये आगे चले ॥ तात्पर्य यह है, कि—आगे चलती हुई सेनाकी अभिमानिनी इन्द्राणीसे अनुगृहीत हमारी सेना शत्रुओंको जीत कर उनके घर पर भी आक्रमण करे ॥ ४ ॥

छठासूक्त समाप्त (२७) ॥

"उप प्रागात्" इति सूक्तेन उद्विग्नस्य उद्वेगनिवृत्तये शुक्लवीरिणेषीकाकृतमणिबन्धनम् उल्मुकद्वयघर्षणं च कुर्यात् । सूत्रं च । "उपप्रागादित्युद्विजमानस्य शुक्लप्रसूतस्य वीरिणस्य चतसृणाम् इषीकाणाम् उभयतः" इत्यादि [कौ० ४. २] ॥

"उप प्रागात्" इस सूक्तसे उद्विग्न पुरुषके उद्वेगको हटानेके लिये श्वेत खसकी सींककी बनाई हुई मणिको बाँधे, और दो उल्मुकोंको घिसे । सूत्रमें भी कहा है, कि—"उप प्रागादित्युद्विजमानस्य शुक्लप्रसूतस्य वीरिणस्य [शुक्लप्रसूनस्य वीरणस्य] चतसृणां इषीकाणां उभयतः" इत्यादि [कौशिकसूत्र ४ । २] ॥

---

† "इन्द्राणी वै सेनायै देवता—इन्द्रायणी सेनाकी देवता है ।" (तैत्तिरीयसंहिता २ । २ । ८ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

उप । प्र । अगात् । देवः । अग्निः । रक्षःऽहा । अमीवऽचातनः ।
दहन् । अप । द्वयाविनः । यातुऽधानान् । किमीदिनः ॥ १ ॥

देवः द्योतमानः दानादिगुणयुक्तो वा । ❀ आह च यास्कः । देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा [नि० ७. १५] इति ❀ । तथाविधः अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तः उप प्रागात् उद्विजमानं पुरुषम् उपागमत् । उद्वेगकारिणो रक्षःप्रभृतीन् विनाशयितुं प्रास इत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ । तस्य तथाविधं सामर्थ्यं कुत इत्यत आह । रक्षोहा रक्षसां हिंसकानां पिशाचादीनां हन्ता । ❀ रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात् इति यास्कः [नि० ४. १८] । रक्ष पालने इत्यस्माद् अपादाने असुन् प्रत्ययः । रक्षःशब्दोपपदात् "हन्तेर्बहुलं छन्दसि" इति क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अग्निः खलु वै रक्षोहा [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति हि तैत्तिरीयकम् ❀ । तथा अमीवचातनः अमीवानां रोगाणां चातयिता नाशयिता । ❀ चातयतिर्नाशने इति हि यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ । उपागतस्य अग्नेः उद्वेगकारिणां रक्षसां नाशने कालव्यवायाभावम् आह दहन्निति । द्वयाविनः द्वयं वाचिकं क्रौर्यं कायिकं हिंसनं च येषाम् अस्तीति द्वयाविनः । यद्वा मायामयं सौम्यरूपं स्वाभाविकं हिंस्ररूपं च द्वयम् एषाम् अस्तीति द्वयाविनः । ❀ "बहुलं छन्दसि" इत्यत्र विनिप्रकरणे "अष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्च" इति वचनाद् विनिप्रत्ययः तत्संनियोगेन दीर्घश्च ❀ ।

किमीदिनः किम् इदानीं किम् इदानीं वर्तत इति रन्ध्रान्वेषणबुद्ध्या चरणशीलान् । ❀ किमीदिने किम् इदानीम् इति चरते इति यास्कः [नि० ६. ११] ❀ । यातुधानान् । यातवो यातनाः पीडाविशेषाः धीयन्ते विधीयन्ते क्रियन्त एभिरिति यातुधानाः । ❀ यत निकारोपस्करयोः । अस्मात् एयन्तादु औणादिके उप्रत्यये यातुशब्दः । डुधाञ् धारणे इत्यस्मात् "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । ततः समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते ❀ । एवंभूतान् राक्षसान् अप दहन् अपकर्षन् दहन् भस्मसात् कुर्वन् । उपागात् इति पूर्वेण संबन्धः । यद्वा । ❀ दह भस्मीकरणे इत्यस्मात् "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । यातुधानानां दहनाद्धेतोरुपागाद् इत्यर्थः ॥

रोगोंके नाशक, हिंसक राक्षसोंका संहार करने वाले स्वर्गलोकमें रहने वाले ‡ अग्निदेव—जिनमें वाणीका क्रूरत्व और शरीरमें हिंसकत्व रूप दोष होते हैं अथवा मायामय सौम्यरूप और स्वाभाविक हिंसकरूपको जो धारण करते हैं, तथा जो इस समय क्या होरहा है ? इस समय क्या होरहा है ? इस प्रकार छिद्र ढूँढते हुए विचरते रहते हैं † और जो यातना देते रहते हैं—

‡ "आह च यास्कः । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—यास्क मुनिने कहा है, कि—दान देनेसे दिपनेसे, दमकानेसे और स्वर्गमें रहनेसे देव शब्द देवताओंका वाचक है ।" [निरुक्त ७ । १५] ॥

† "रक्षो रक्षितव्यं अस्मात् इति यास्कः—जिससे रक्षा करनी चाहिये वह राक्षस है ।" [निरुक्त ४ । १८] ॥ तैत्तिरीय-संहिता ६ । १ । ४ । ६ में कहा है, कि—"अग्निः खलु वै रक्षोहा—अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं ॥"

उन उद्वेगकारी राक्षसोंको भस्म करते हुए इस उद्विग्न पुरुषके पास आरहे हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव कि॒मीदि॑नः ।
प्र॒तीचीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

प्रति॑ । द॒ह । या॒तु॒ऽधाना॑न् । प्रति॑ । दे॒व । कि॒मीदि॑नः ।
प्र॒तीचीः॑ । कृ॒ष्ण॒ऽव॒र्त॒ने॒ । सम् । द॒ह । या॒तु॒ऽधान्यः॑ ॥ २ ॥

पूर्वस्याम् ऋचि दहन्नुपागाद् इति आगमनशेषत्वेन दहनम् अभिहितम् । अनया तु रक्षसां दहनमेव प्राधान्येन अभिधीयते । हे अग्ने यातुधानान् यातूनां यातनानां विधातॄन् राक्षसान् प्रति दह प्रत्येकं प्रतिमुखं [वा] भस्मसात् कुरु ॥ तथा हे देव द्योतनात्मक अग्ने किमीदिनः किम् [इदानीं किम्] इदानीम् इति चरणशीलान् रन्ध्रान्वेषणपरान् पिशाचविशेषान् । प्रति इत्युपसर्गश्रवणाद् अत्रापि दहेत्यनुषङ्गः ॥ कृष्णवर्त्मने हे कृष्णवर्त्मन् अग्ने प्रतीचीः प्राणिजातस्य प्रतिकूलम् अञ्चन्तीः । ❀ प्रतिपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । ततो भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपः । "चौ" इति दीर्घत्वम् । "अनिगन्तोञ्चतावप्रत्यये" इति प्रतेरिगन्तत्वेन प्रकृतिस्वरत्वात् "चौ" इति पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् ❀ । तादृशीः यातुधान्यः यातुधानीः । ❀ यातुधानशब्दात् "पुंयोगाद् आख्यायाम्" इति ङीष् । शसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घाभावे यण् ❀ । ताश्च सं दह सम्यक् निरवशेषं दह ॥

(पहिली ऋचामें कहा था, कि–अग्नि राक्षसोंको भस्म करते

हुए आरहे हैं। अब ऋचामें राक्षसोंके दहनका ही प्रधानरूपसे वर्णन किया जाता है) हे अग्ने ! यातना देने वाले प्रत्येक राक्षसको भस्म करिये तथा हे द्योतनात्मक अग्ने ! इस समय क्या होरहा है ? इस समय क्या होरहा है ? इस खोजमें घूमने वाले पिशाचोंको भस्म करिये। हे कृष्णवर्त्मन् अग्ने ! प्राणियों के प्रतिकूल चलनेवाली राक्षसियोंको पूर्णरूपसे भस्म करिये॥२॥

तृतीया ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं॑ मूर॑माद॒धे ।

या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥३॥

या । श॒शाप॑ । शप॑नेन । या । अ॒घम् । मूर॑म् । आ॒ऽद॒धे ।

या । रस॑स्य । हर॑णाय । जा॒तम् । आ॒ऽरे॒भे । तो॒कम् । अ॒त्तु॒ । सा

सं दह यातुधान्य इति पूर्वत्र सामान्येन उक्ता एव राक्षस्यः अत्र विशेषतो निर्दिश्यन्ते। या यातुधानी शपनेन आक्रोशेन। ❀ शप आक्रोशे। करणे ल्युट् ❀। नाशहेतुभूतेन परुषवाक्येन शशाप शापं कृतवती। ❀ शप आक्रोशे इत्यस्मादेव लिटि तिपो णल् आदेशः। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। तथा या अन्या यातुधानी मूरम् मूलम्। ❀ "वारमूररथ्यरमुसरांगुरीणां वा रो लम् आपद्यते" इति लत्वस्य विकल्पितत्वाद् अत्राभावः ❀। सर्वेषां दुरितानाम् आदिभूतम् अघम् हिंसारूपं पापम् आददे परिजग्राह। कृतवतीत्यर्थः। ❀ डुदाञ् दाने। "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम्। लिटि "लिटस्तझयोरेश् इरेच्" इति तशब्दस्य एश् आदेशः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। पूर्ववद् निघातप्रतिषेधः ❀। यद्वा मूरम् मूर्छाकरम् अघम्। ❀ मुर्छा मोहसमुच्छ्रा-

ययोः । "क्विप् च" इति क्विप् । "राल्लोपः" इति छकारस्य लोपः ❀ । तथा या अपरा यातुधानी जातम् अपत्यम् उद्दिश्य रसस्य असृगादिरूपस्य शरीरगतस्य हरणाय अपहरणाय पानाय आरेभे उपचक्रमे । ❀ रभ राभस्ये । लिटि "अत एकहल्मध्ये०" इति एत्वाभ्यासलोपौ । पूर्वस्वरः । निघातप्रतिषेधः ❀ । तासां सर्वासां हिंस्यं दर्शयति । सा । प्रत्येकापेक्षया समुदायापेक्षया वा एकवचनम् । सा सर्वा यातुधानी तोकम् । अपत्यनामैतत् । स्वकीयम् अपत्यम् अस्मच्छत्रुसंबन्धि वा अत्तु भक्षयतु । ❀ अद भक्षणे ❀ ॥

जो राक्षसी कठोर वाणीमें शाप देती है और जो राक्षसी सब पापोंकी जड़ हिंसारूप पापको करती है तथा जो दूसरी राक्षसी उत्पन्न हुई संतानके रक्त आदिरूप रसको हरनेके लिये (पानका) आरम्भ करती है इन सब राक्षसियोंमेंसे प्रत्येक राक्षसी अपनी सन्तानको और हमारे शत्रुकी सन्तानको खावे ३

चतुर्थी ॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ॥
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३
वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातुऽधानीः । स्वसारम् । उत । नप्त्यम् ।

अध । मिथः । विऽकेश्यः । वि । घ्नताम् । यातुऽधान्यः । वि ।
तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

सपुत्रबान्धवानां यातुधानीनां नाशम् आह । यातुधानी काचन

उदीरितलक्षणा राक्षसी पुत्रम् स्वकीयमेव तनयम् अत्तु भक्षयतु ॥ तथा स्वसारम् भगिनीम् । अत्तु इत्यनुषङ्गः । ❀ सुपूर्वाद् असु क्षेपणे इत्यस्मात् सावसेर्ऋन् [उ० २. ९५] इति औणादिकः ऋन् प्रत्ययः । "ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपो "न षट्स्वस्रादिभ्यः" इति प्रतिषेधः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उत अपि च नप्त्यम् नप्त्रीं पौत्रस्य अपत्यरूपां संततिम् अत्तु । ❀ नप्तृशब्दात् "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् । द्वितीयैकवचने "वा छन्दसि" इति पूर्वरूपस्य विकल्पितत्वाद् यणादेशः । रेफलोपश्छान्दसः ❀ ॥ अथ स्वस्वपुत्रादिहननानन्तरं यातुधान्यः राक्षस्यः विकेश्यः परस्परताडनेन विकीर्णाः केशा यासां तास्तथोक्ताः । ❀ "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्" इति ङीष् ❀ । तथाभूताः सत्यः मिथः परस्परं वि घ्नताम् विशेषेण घ्नन्तु । परस्परताडनेन म्रियन्ताम् इत्यर्थः । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि बहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् । "गमहन०" इत्युपधालोपः । "हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु" इति कुत्वम् ❀ ॥ तथा अराय्यः अदायिन्यः । ❀ रा दाने । अस्माद् भावे घञ् । "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युक् । ततो नञा बहुव्रीहिः । पुंयोगाद् आख्यायाम्" इति ङीष् ❀ । दानप्रतिबन्धिकाः पिशाच्यश्च मिथो वि तृह्यन्ताम् । विविधं हिंस्यन्ताम् । तृह हिसि हिंसायाम् । कर्मणि लोट् ❀ ॥

सप्तमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

(पुत्र और बान्धवों सहित यातुधानीके नाशकी प्रार्थना करते हैं) यातुधानी अपने ही पुत्रका भक्षण करे, अपनी बहिनका

भक्षण करे और अपने पौत्रकी सन्तानका भक्षण करे (अपने अपने पुत्र आदिका भक्षण करनेके अनन्तर) परस्पर ताडन करने से केशोंके बिखर जाने पर परस्पर ताड़न करके मर जावें और दानकी प्रतिबन्धक राक्षसियें भी आपसमें लड़ कर मर जावें ४

सप्तम सूक्त समाप्त (२८) ॥
पाँचवाँ अनुवाक समाप्त

षष्ठेनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "अभीवर्तेन" इति प्रथमं सूक्तम् । अस्य आद्याभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः शत्रुमर्दितराष्ट्राभिवृद्धये रथचक्रनेमिमणिं सूत्रोक्तलक्षणं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य "उदसौ सूर्यः" [१. २९. ५, ६] इति उत्तमाभ्यां बध्नीयात् । तथा च कौशिकः । "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिम् अयःसीसलोहरजत-ताम्रवेष्टितं हेमनाभि वासितं बध्नाति सूत्रोतं बर्हिषि कृत्वा संपात-वन्तं प्रत्यृचम् अभीवर्तोत्तमाभ्याम् आचृतति" इति [कौ० २. ७]

"माहेन्द्रीं राज्यकामस्य अद्भुतोत्पत्तिविकारेषु च" इति [न० क० १७] विहितायां माहेन्द्र्यां महाशान्तौ रथनेमिमणिबन्धने एतत् सूक्तम् । तथा च नक्षत्रकल्पे । "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" इति [न० क० १९] ॥

छठे अनुवाकमें सात सूक्त हैं। उनमें "अभीवर्तेन" यह पहिला सूक्त है । इसकी पहिली चार ऋचाओंसे शत्रुसे तिरस्कृत राज्य की वृद्धिके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे रथ-चक्रनेमिमणिको बना संपातित और अभिमन्त्रित करे तदनन्तर "उदसौ सूर्यः" इस प्रथमकाण्डके उन्तीसवें सूक्तके पाँचवें छठे मन्त्रको पढ़ कर उत्तमाओंसे बाँध दे । इसी बातको कौशिकसूत्र २,७ में कहा है, कि "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टितं हेम-नाभिवासितं बध्नाति सूत्रोतं बर्हिषि कृत्वा संपातवन्तं प्रत्यृचं अभीवर्तोत्तमाभ्यां आचृतति-लोहा सीसा चाँदी और ताँवा चढ़ी

हुई सुवर्णकी नाभिको त्रयोदशीसे तीन दिन दही और मधुसे पूर्ण पात्रमें रख कर "अभीवर्तेन" सूक्तसे बाँधे, सूत्रमें पिरो कर कुशा पर रख उसके निमित्त होम करे अभीवर्त और उत्तमासे बाँधे ॥

"माहेन्द्री राज्यकामस्य अद्भुतोत्पत्तिविकारेषु च–राज्यकी कामना वालेके अद्भुत उत्पत्तिरूप विकारोंमें माहेन्द्री शांति करे" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित माहेन्द्री शान्तिके रथनेमिमणिबन्धनमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है; कि–"अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम् ।"

तत्र प्रथमा ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभिऽवर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभिऽववृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥१॥

येन समृद्धिसाधनत्वेन प्रसिद्धेन अभीवर्तेन । अभितो वर्तते चक्रम् अनेनेति अभीवर्तो नेमिः । ❀ वृतु वर्तने । अस्मात् "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति करणे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अत्र कार्ये कारणशब्दः । चक्रनेमिनिर्मितो मणिः । यद्वा अभितः सर्वतः परराष्ट्रादौ अप्रतिहतगतिर्वर्तते अनेन पुरुष इति अभीवर्तो मणिः । तेन [येन] मणिना धृतेन इन्द्रः देवानाम् अधिपतिर्देवः अभिवावृधे अभितः सर्वतः प्रवृद्धोभूत् । परमैश्वर्योपेतस्त्रिलोकीपतिर्बभूवेत्यर्थः । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटि "तुजादीनां दीर्घोभ्यासस्य" इत्यभ्यासस्य

दीर्घः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❁ । [हे] ब्रह्मणस्पते वेदराशेरधिपते । ❁ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❁ । एतत्संज्ञक देव तेन प्रागुदीरितमहिमोपेतेन मणिना अस्मान् शत्रुभिः पीडितान् राष्ट्राय । ❁ तादर्थ्ये चतुर्थी ❁ । स्वराष्ट्राभिवृद्ध्यर्थम् अभि वर्धय करितुरगधनादिभिः समृद्धान् कुरु । त्वत्प्रसादात् समृद्धैरस्माभी रक्षितं राष्ट्रं शत्रुभयरहितं यथा अभिवृद्धं भवति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

जिस समृद्धिसाधनरूपसे प्रसिद्ध मणि वा चक्रके द्वारा इन्द्र सब ओरसे बढे अर्थात् परमैश्वर्यसम्पन्न हो त्रिलोकीके स्वामी होगए, हे वेदराशिके स्वामी ब्रह्मणस्पते ! ऐसी महिमा वाली मणिसे हम शत्रुओंसे पीड़ितोंके राष्ट्रकी वृद्धिके लिये हमैं हाथी घोड़े और धन आदिसे समृद्ध करिये । अर्थात् आपका प्रसाद पाकर हमसे रक्षित और शत्रुके भयसे शून्य हमारा राष्ट्र जिस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हो वैसा करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥२॥

अभिऽवृत्य । सऽपत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।

अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः । नः । दुरस्यति ॥२॥

हे अभीवर्त मणे त्वं सपत्नान् । सपत्नीव सपत्नाः सहजशत्रवः । अस्मदीयांस्तान् शत्रून् अभिवृत्य अभिमुखं पर्यावृत्य । तिष्ठेति

वक्ष्यमाणक्रिया अत्रापि संबध्यते । त्वमेव प्रतिपक्षी भूत्वा तान् पराकुरु इत्यर्थः ॥ तथा या नः अस्माकम् अरातयः अदातारः अस्मदीयं राष्ट्रधनादिकम् अपहृत्य शात्रवं कुर्वाणा बाह्याः शत्रवः तानपि। अभि इत्युपसर्गश्रवणात् तिष्ठेति संबन्धः । अभिमुखं तिष्ठ ॥ तथा पृतन्यन्तम् युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तम् । ❀ पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । "कव्य-ध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इत्याकारलोपः ❀ । युद्धोन्मुखमपि शत्रुम् अभि तिष्ठ ॥ तथा यः शत्रुः नः अस्माकं दुरस्यति दुष्टम् अभि-चारादिरूपं क्षुद्रं कर्म कर्तुम् इच्छति । ❀ "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावो निपात्यते ❀ । तथाविधमपि शत्रुम् अभि तिष्ठ । ❀ शप्सिपोः पित्त्वाद् अनुदा-त्तत्वे क्यच्स्वरेण मध्योदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

अभीवर्त मणे तू हमारे सौतोंकी समान स्वाभाविक शत्रुओंके सामने खड़ी होजा तू ही प्रतिपक्षी बनकर उनको हरा । और जो हमारे राष्ट्र धन आदिको हरनेवाले स्वाभाविक शत्रु हैं तू उनके सामने भी खड़ी होजा और युद्धके लिये सेना चाहने वाले युद्धोन्मुख शत्रुके सामने भी तू खड़ी होजा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।

अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभिऽवर्तः । यथा । असंसि ३

हे मणे त्वा त्वां देवः द्योतनात्मकः सविता सर्वस्य प्राणिजा-

तस्य प्रेरकः एतत्संज्ञको देवः । अभि इत्युपसर्गश्रवणाद् अवीवृधत् इति क्रिया अत्रापि संबध्यते । अभ्यवीवृधत् अभितः समृद्धम् अकार्षीत् । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् एयन्तात् लुङि चङि गुणे प्राप्ते "नित्यं छन्दसि" इति उपधाऋवर्णस्य ऋकारादेशः ❀ ॥ तथा सोमो देवः अभ्यवीवृधत् । ❀ "व्यवहिताश्च" इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः ❀ ॥ तथा हे मणे त्वा त्वां विश्वा विश्वानि निखिलानि । ❀ शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । भूतानि । सत्तां लभन्त इति भूतानि चराचरात्मकानि । ❀ "क्तोधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः" इति भवतेः कर्तरि क्तप्रत्ययः । उपसर्गश्रवणाद् अत्रापि प्रकृतक्रियासंबन्धः ❀ । अभ्यवीवृधन् । अभिवर्धनावधिम् आह । यथा येन प्रकारेण हे मणे त्वम् अभीवर्तः त्वद्धारयितुः पुरुषस्य अभितः स्वराष्ट्रपराष्ट्रादौ वर्तनसाधनभूतः असति भवसि तथा त्वाम् अवीवृधन् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ अस भुवि । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । "यावजयाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

हे मणे ! तुझको सब प्राणियोंके प्रेरक सूर्यदेवने सब ओरसे बढ़ाया है तथा सोमदेवने तुझे बढ़ाया है, तथा हे मणे ! सब चराचर प्राणी तुझे बढ़ाते हैं, हे मणे ! जो पुरुष तुझे धारण करता है उस पुरुषके प्रतापको तू अपने और दूसरेके राज्यमें भी फैलाती है अत एव तुझे सबने बढ़ावा दिया है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अभीवर्तो अभिभवः संपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभिऽवर्तः । अभिऽभवः । सपत्नऽक्षयणः । मणिः ।
राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । सऽपत्नेभ्यः । पराऽभुवे ॥ ४ ॥

अभीवर्तः अभिवर्तनसाधनभूतः । तत्र हेतुम् आह । अभिभवः शत्रूणाम् अभिभविता अभिभवनं विशिनष्टि । सपत्नक्षयणः सपत्नानां भ्रातृव्याणां क्षयकरः । यत एवम् अतः अभीवर्त इत्यर्थः । तादृशो मणिः मह्यम् । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । “ङयि च” इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । मम बध्यताम् । ❀ बन्ध बन्धने । कर्मणि लोट् ❀ ॥ मणिबन्धनप्रयोजनम् आह । राष्ट्राय राष्ट्राभिवृद्धये । तथा सपत्नेभ्यः । ❀ पूर्ववत् षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । भ्रातृव्याणां पराभुवे पराभवनाय । ❀ परापूर्वाद् भवतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ ॥ बध्यमानोयं मणिः पूर्वं शत्रुभिः पीडितस्य स्वराष्ट्रस्य अभिवृद्धिं बाधकानां शत्रूणां नाशनं च करोतु इत्यर्थः ॥

अभिवर्तनकी साधन, शत्रुओंको दबाने वाला, शत्रुओंका क्षय करनेवाली ऐसी मणि शत्रुओंका पराभव करनेके लिये और राष्ट्रकी वृद्धिके लिये मेरे बाँधो अर्थात् यह बँधी हुई मणि पहिले समयमें शत्रुओंसे पीड़ित राष्ट्रकी अभिवृद्धि करे और शत्रुओंका नाश भी करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः संपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । असौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।
यथा । अहम् । शत्रुऽहः । असानि । असपत्नः । सपत्नऽहा ॥५॥

असौ नभोमण्डले परिदृश्यमानः सूर्यः सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः । ❀ “राजसूयसूर्य०” इत्यादिना क्यपि निपात्यते ❀ । उदगात् उदितवान् । ❀ इण् गतौ । “इणो गा लुङि” इति

गादेशः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ ॥ किं च मामकम् मदीयम् इदम् अधुनोच्चार्यमाणं वचः आत्मनो जयाशंसात्मकं शत्रूणाम् अभिभवप्रतिपादकं च वाक्यम् । यद्वा । जयोद्देशेन प्रयुज्यमानं मन्त्रात्मकं वाक्यम् । उत् इति उपसर्गश्रवणात् प्रकृतक्रियासंबन्धः । उदगात् । ❀ मामकम् इति । अस्मच्छब्दात् "तस्येदम्" इत्यण् । "तवकममकावेकवचने" इत्यस्मदो ममकादेशः❀। सूर्योदयस्य वाग्व्यवहारस्य च प्रतिदिनं सत्त्वेति विशेषतस्तत्कथनस्य प्रयोजनम् आह । अहम् अभीवर्तमणिधारकः यथा येन प्रकारेण शत्रुहः शत्रूणां हन्ता असानि भवानि । ❀ हन हिंसागत्योः । "आशिषि हनः" इति डप्रत्ययः । अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "याद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः । मिपि पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे "आगमा अनुदात्ताः" इति इति आटोपि अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । यथाहम् एवं भवानि तथा उदगाद् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ मणिप्रभावात् अद्यतनसूर्योदयः अधुना प्रयुज्यमानवचश्च शत्रुहननानुकूलम् अभूद् इत्यर्थः ॥ यत एवम् अतः अहम् असपत्नः शत्रुरहित एव । यदि च सपत्ना भवेयुस्तर्हि सपत्नहा सपत्नानां शत्रूणां हन्ता अस्मि । ❀ हन्तेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥

यह आकाशमण्डलमें दीखते हुए सब प्राणियोंके प्रेरक सूर्यदेव उदय हुए हैं और यह अपनी विजय करने वाला और शत्रुओंका पराभव चाहने वाला मेरा वाक्य और मन्त्र भी प्रकट हुआ है। (सूर्योदय और वाणीका उदय तो प्रतिदिन होता ही रहता है, उसके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? तो कहते हैं, कि—) अभीवर्त मणिका धारण करने वाला मैं शत्रुओंका मारनेवाला होऊँ इस लिये (आज) वाणी और सूर्यका उदय हुआ है। तात्पर्य यह है, कि—मणिके प्रभावसे आजका सूर्योदय और मेरा कहा

हुआ वचन भी शत्रुके हननके अनुकूल हुआ है, अत एव मैं शत्रुरहित ही हूँ, यदि मेरे शत्रु होंगे तो मैं अब शत्रुओंको मार डालूँगा ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

सपत्नऽक्षयणः । वृषा । अभिऽराष्ट्रः । विऽससहिः ।
यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । विऽराजानि । जनस्य । च ६

उत्तरवाक्ये यथेति श्रवणात् पूर्ववाक्येपि अर्थात् तथेत्यध्याह्रियते । सपत्नक्षयणः सपत्नानां शत्रूणां नाशकः । ❀ क्षि क्षये । "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इति कर्तरि ल्युप्रत्ययः ❀ । अतः वृषा भजानाम् इष्टफलस्य वर्षकः । ❀ वृष सेचने । कनिन् युवृषीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः ❀ । अत एव अभिराष्ट्रः स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं च अभिगतः अधिपतित्वेन प्राप्तः । ❀ "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति प्रादिसमासः ❀ । अतो विषासहिः विविधं पुनःपुनः परेषां सोढा अभिभविता । ❀ षह अभिभवे । अस्माद् यङन्तात् "सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ" इति किप्रत्ययः । अतोलोपयलोपौ ❀ । मणिप्रभावाद् एवंगुणविशिष्टः तथा भूयासम् कथम् इत्यत आह । अहम् मणिधारकः यथा येन प्रकारेण एषाम् शत्रुसंबन्धिनां पूर्वम् आत्मनो बाधकानां वीराणाम् शत्रुभटानां जनस्य स्वकीयस्य परकीयस्य प्राणिजातस्य च विराजानि । ❀ राजतिरैश्वर्यकर्मा ❀ । नियन्ता भवानि । तथेति पूर्वेण संबन्धः ॥ उदीरितगुणोपेतः सन् मणिप्रभावात् शत्रुप्रभृतीनां सर्वेषां शासिता भवामीति भावः ।

यद्वा । उक्तगुणोपेतः सन् अहं वीराणां जनस्य च यथा विराजानि हे मणे त्वत्प्रभावात् तथा । भूयासम् इति शेषः ॥

[इति] षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! मैं मणिके प्रभावसे शत्रुओंका नाशक, प्रजाओं पर इष्ट फलकी वर्षा करने वाला अत एव अपने और दूसरेके राज्य का स्वामी बनाहुआ तथा शत्रुओंको वारवार दबानेवाला होजाऊँ मणिका धारण करने वाला मैं जिस प्रकार पहिले मुझे पीड़ा देने वाले शत्रुओंके भटोंका और अपनी तथा दूसरेकी प्रजाका शासक होऊँ तैसा करिये ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२९)

"विश्वे देवाः" इति सूक्तेन आयुष्यकर्मणि स्थालीपाके घृतपिण्डत्रयं निक्षिप्य संपात्य अभिमन्त्र्य तद् घृतं स्थालीपाकं च अश्नीयात् । सूत्रं च । "विश्वे देवा इत्यायुष्याणि स्थालीपाके घृतपिण्डान् प्रतीनीयाश्नाति" इति [कौ० ७. ३] ॥

उपनयनकर्मणि एतत् सूक्तं माणवकस्य नाभिदेशे संस्तभ्य जपेत् । [तथा च सूत्रम्] । "बाहुगृहीतं प्राञ्चम् अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१. ९] विश्वे देवः वसवः [१. ३०]" इति [कौ० ७. ६] ॥

आयुष्कामस्य वैश्वदेवयागे तदुपस्थाने च एतत् सूक्तम् । सूत्रितम् । "विश्वे देवा इति विश्वान् देवान् आयुष्कामो यजत उपतिष्ठते" इति [कौ० ७. १०] ॥

अध्यायोत्सर्जनकर्मणि अस्य सूक्तस्य आज्यहोमे विनियोगः । "द्वयान् रसान् उपसादयति विश्वे देवाः [१. ३०] अहं रुद्रेभिः [४. ३०]" इति हि सूत्रम् [कौ० १४. ३] ॥

अथ अस्य सूक्तस्य आयुष्यगणे पाठात् "मेधाजननायुष्यैर्जुहु-

यात्" [कौ० ७. ८] "आयुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति च [कौ० १४. ३] सूत्राद् उपनयनोपाकर्मणोरपि आज्य-होमे अस्य विनियोगः ॥

"ऐरावतीं गजक्षये" [न० क० १७] इति नक्षत्रकल्पविहि-तायाम् ऐरावत्याख्यायां महाशान्तौ "आयुष्यशान्तिस्वस्तिगणं ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८] आयुष्यगणस्य विधानात् तद्गणप्रयुक्तोस्य विनियोगः ॥

तथा "वैश्वदेवीं गतायुषाम्" इति [न० क० १७] विहितायां वैश्वदेव्याख्यायां महाशान्तावपि एतद् विनियुक्तम् । नक्षत्रकल्पे "विश्वे देवा इति वैश्वदेव्याम्" इति [न० क० १८] ॥

आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ।
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा [प० ५. ४]

इति परिशिष्टोक्ते पुष्याभिषेकेपि अस्य गणप्रयुक्तो विनियोगः ॥

"ये देवा दिवि" [१. ३०. ३] इत्येषा दर्शपूर्णमासयोर्व-षट्कारानुमन्त्रणे विनियुक्ता । उक्तं वैताने । "ये देवा दिवि ष्ठेत्य-नुवषट्कारम्" इति [वै० १. ४] ॥

"विश्वे देवाः" इस सूक्तसे आयुष्यकर्म करते समय स्थाली-पाकमें घृतके तीन पिण्ड रक्खे, संपात करे और अभिमंत्रण करे तदनन्तर उस घृत और स्थालीपाकका भक्षण करे । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"विश्वे देवा इत्यायुष्याणि स्थाली-पाके घृतपिण्डान् प्रतिनीयाश्नीयात्" (कौशिकसूत्र ७ । ३) ॥

उपाकर्ममें भी इस सूक्तको बालककी नाभिको छूकर जपे । इसी बातको सूत्रमें भी कहा है, कि—"बाहुगृहीतं प्राञ्चं अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु (१ । ९) विश्वे देवा वसवः (१ । ३०)" (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

आयुष्कामके वैश्वदेवयागमें और उसके उपस्थानमें भी यह सूक्त है। सूत्रमें भी कहा है, कि—"विश्वे देवा इति विश्वान् देवान् आयुष्कामो यजत उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

अध्यायके उत्सर्जनकर्ममें इस सूक्तका घृतहोमके समय विनियोग होता है। कौशिकसूत्र १४ । ३ में भी कहा है, कि—द्वयान् रसान् उपसादयति विश्वे देवाः(१ । ३०)अहं रुद्रेभिः(४।३०)॥"

इस सूक्तका आयुष्यगणमें पाठ है, अत एव कौशिकसूत्र ७।८ "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्—मेधाजननके और आयुष्यगणके मंत्रों से होम करे" के अनुसार तथा कौशिकसूत्र १४ । ३ "आयुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्—आयुष्यगणके तथा स्वस्त्ययनगणके मंत्रोंसे आहुति देय" के अनुसार उपानयन और उपाकर्मके घृतहोममें भी इस सूक्तका विनियोग है ॥

"ऐरावतीं गजक्षये—गजक्षयमें ऐरावती महाशांतिका विधान है।" इस नक्षत्रकल्प १७ के अनुसार विहित ऐरावती नाम वाली महाशांतिमें "आयुष्यशांतिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्—आयुष्यगण स्वस्तिगण और शांतिगणका ऐरावती शांतिमें प्रयोग करना चाहिये ॥" इस नक्षत्रकल्पके १८ वें सूत्रके अनुसार गणके कारण इस सूक्तका प्रयोग होता है ॥

इसी प्रकार "वैश्वदेवीं गतायुषाम्—गतायुपुरुषोंके लिये वैश्वदेवी महाशान्तिका प्रयोग होता है।" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित महाशान्तिमें भी इसका विनियोग है। यही बात नक्षत्रकल्प १८ में कही है, कि—"विश्वे देवा इति वैश्वदेव्याम् ।"

और अथर्वपरिशिष्ट ५ । ४ में कथित "आयुष्य अभय स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे होम करके०" के अनुसार गणमें आने से पुष्पाभिषेकमें भी इसका विनियोग किया जाता है ॥

इस सूक्तकी तीसरी ऋचा 'ये देवा दिवि' का दर्श और पूर्ण-

मासके वषट्कारानुमन्त्रणमें विनियोग किया जाता है। इसी बातको वैतानसूत्र १।४ में कहा है, कि–"ये देवा दिवि ष्ठेत्यनु-वषट्कारम्।"

तत्र प्रथमा ॥

विश्वे॑ दे॒वा वस॑वो॒ रक्ष॑तेमम्उ॒तादि॑त्या जागृ॒त यू॒यम॒स्मिन्।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भिर्मेमं प्राप॑त् पौरु॑षेयो व॒धो यः॥ १ ॥

विश्वे॑। दे॒वाः। वस॑वः। रक्ष॑त। इ॒मम्। उ॒त। आ॒दि॒त्याः। जा॒गृ॒त। यू॒यम्। अ॒स्मिन्।
मा। इ॒मम्। सऽना॑भिः। उ॒त। वा॒। अ॒न्यऽना॑भिः। मा। इ॒मम्। प्र। आ॒प॒त्। पौरु॑षेयः। व॒धः। यः॥ १ ॥

विश्वे सर्वे हे देवाः इन्द्राद्याः। यद्वा विश्वेदेवाख्या गणदेवाः।❀ "आमन्त्रितस्य च" इति विश्वशब्दस्य षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम्। तस्य "विभाषितम् विशेषवचने बहुवचनम्" इति विकल्पेन अविद्य-मानवद्भावनिषेधात् ततः परस्य देवशब्दस्य "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। तथा हे वसवः एतत्संज्ञा देवाः। ❀ "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति पूर्वामन्त्रित-द्वयस्य अविद्यमानवद्भावेन पदात् परत्वाभावाद् "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। ते सर्वे यूयम् इमम् आयु-ष्कामं पुरुषं रक्षत पालयत। ❀ रक्ष पालने। "०अदुपदेशाल्ल-

सार्वधातुकम् अनुदात्तम्०" इति तिङ्विभक्तेरनुदात्तत्वम् । शपश्च पित्त्वादेव अनुदात्तत्वम् । ततो धातुस्वरेण आद्युदात्तता । "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति आमन्त्रितत्रयस्यापि अविद्यमानवद्भावेन पदात्परत्वाभावात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀ ॥ उत अपि च हे आदित्याः अदितेः पुत्रा धात्रर्यमादयो देवाः । "❀ दित्य-दित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इति अदितिशब्दाद् अपत्यार्थे प्राग्दीव्यतीयो ण्यप्रत्ययः ❀ । यूयमपि अस्मिन् आयुष्कामपुरुष-विषये जागृत रक्षणार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत । ❀ जागृ निद्रा-क्षये । अदादित्वात् शपो लुक् । "जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु" इति ङितः पर्युदासाद् गुणाभावः ❀ ॥ आदित्यकर्तृकस्य जाग-रणस्य प्रयोजनम् आह । इमम् आयुष्कामं पुरुषं सनाभिः समानो नाभिः गर्भाशयो यस्यासौ सनाभिर्ज्ञातिः । ❀ णह बन्धने । नहो भश्च [उ० ४, १२५] इति औणादिक इञ् प्रत्ययः । तत्संनि-योगेन हकारस्य भकारादेशः । ततः समानशब्देन बहुव्रीहौ "ज्यो-तिर्जनपद०" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" इति सा एव भवति ❀ । उत वा अपि वा अन्यनाभिः असमानजन्मा ज्ञातिरूपः अज्ञातिरूपः इति द्विविधोपि शत्रुः । ❀ अत्र माङ्श्रवणाद् भाविनी क्रिया संबध्यते ❀ । मा प्रापत् हिंसितुं मैव प्राप्नोतु ॥ तथा यः पौरुषेयः पुरुषकृतः । ❀ "पुरुषाद् वधविकार०" इति ढञ् प्रत्ययः ❀ । तथाविधो वधः हिंसनम् । ❀ "हनश्च वधः" इति भावे हन्तेरप् प्रत्यय धातोर्वधादेशश्च ❀ । सोपि इमम् आयुष्कामं पुरुषं मा प्रापत् । ❀ आप्लृ व्याप्तौ । लुङि "पुषादिद्युताद्य्लृदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ उक्ताभिर्देवताभिः परिरक्षितः सन् सर्वबाधा-विनिर्मुक्तश्चिरं जीवतु इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र आदि सब देवताओं ! वा विश्वेदेवा नामक देवताओं !

तथा वसु नामक देवताओं ! आप सब इस आयु चाहने वाले पुरुषकी रक्षा करिये, हे अदितिके पुत्र धाता अर्यमा आदि देवताओ ! आप इस आयु चाहनेवाले पुरुषकी रक्षाके लिये सावधान रहिये। (सावधान रहनेका प्रयोजन यह है, कि—) इसकी जातिका वा अन्य जातिका शत्रु भी हिंसा करनेके लिये इसके पास न आसके और कोई पुरुष इसका वध न कर सके तात्पर्य यह है, कि—यह उक्त देवताओंसे रक्षित बना हुआ सब बाधाओं से मुक्त होकर जीवित रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ॥२॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । सऽचेतसः । मे । शृणुत । इदम् । उक्तम् ।

सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि । एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ताः प्रागुदीरिताः वः युष्माकं ये पितरः ये च पुत्राः सन्ति ते सर्वे यूयं सचेतसः अस्मिन्नायुष्कामपुरुषविषये समानमनस्काः सन्तः । ❀ "समानस्य छन्दसि०" इति समानशब्दस्य सभावः ❀। मे मदीयम् इदम् वक्ष्यमाणम् उक्थम् वाक्यम् । ❀ वच परिभाषणे । अस्माद् औणादिको भावे कथन् प्रत्ययः । "वचिस्वपि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀। तद् वचनं शृणुत उक्तप्रकारेण कर्तुम् आकर्णयत । ❀ श्रु श्रवणे । "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः धातोः शृभावश्च ❀ ॥ किं तद् वाक्यम्

इत्यत आह। हे देवाः सर्वेभ्यो वः। ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति चतुर्थीबहुवचनान्तस्य युष्मदो वस् आदेशः ❀। युष्मभ्यम् एतम् आयुष्कामं पुरुषं परि ददामि। रक्षणार्थं दानं परिदानम्। रक्षितुं प्रयच्छामि॥ अतो यूयम् एनम् रक्षार्थं दत्तं पुरुषं स्वस्ति आध्यात्मिकादिदुःखपरिहारेण जरसे जरायै। ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀। जराप्राप्तिपर्यन्तं वहाथ प्रापयत। ❀ वह प्रापणे। लेटि आडागमः ❀॥ जरोपलक्षितं शतसंवत्सरपरिमितं दीर्घम् आयुः अस्मै प्रयच्छतेत्यर्थः॥

हे पहिले मन्त्रमें कहे हुए देवताओ! आपके जो पितर और पुत्र हैं, वे सब आप इस आयु चाहनेवाले पुरुषके विषयमें समान चित्त रखकर इस मेरे वचनको प्रार्थनानुसार करनेके लिये सुनिये कि—हे देवताओं! मैं इस आयुष्काम (आयु चाहनेवाले पुरुष) को रक्षा करनेके लिये देता हूँ, अत एव आप इस रक्षा करनेके लिये दिये हुए पुरुषको आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे बचाते हुए बुढ़ापे तक धारण करिये अर्थात् सौ वर्षकी बुढ़ापे तककी दीर्घायु इसको दीजिये॥ २॥

तृतीया॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व १ न्तः।

ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून्॥ ३॥

ये। देवाः। दिवि। स्थ। ये। पृथिव्याम्। ये। अन्तरिक्षे। ओषधीषु। पशुषु। अप्ऽसु। अन्तः।

ते। कृणुत। जरसम्। आयुः। अस्मै। शतम्। अन्यान्। परि। वृणक्तु। मृत्यून्॥ ३॥

हे देवाः अग्निवायुसूर्यप्रभृतयः देवताकाण्डे समाम्नाताः। द्युपृथिव्यादिस्थानभेदेषु विभज्य वक्ष्यमाणानां सर्वेषां देवानां साधारणोयं निर्देशः। ❀ "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। ये सूर्यादयो यूयं दिवि द्युलोके स्थ भवथ जगदनुग्रहार्थं निवसथ। ❀ "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति दिव उत्तरस्याः सप्तम्या उदात्तत्वम्। अस्तेर्लट्। मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक्। "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। तथा ये अग्न्यादयो देवाः यूयं पृथिव्याम् भूमौ। समनन्तरक्रियानुषङ्गः। स्थ भवथ। तथा ये वाय्वादयो यूयम् अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके स्थ। प्रकाशप्रवर्षणपचनाद्युपकारनिमित्तत्वेन त्रिषु लोकेषु वर्तध्वम् इत्यर्थः। यद्वा "ये देवा दिव्येकादश स्थ पृथिव्याम् अध्येकादश स्थ। अप्सुषदो महिनैकादश स्थ" [तै० सं० १. ४. १०. १] इति मन्त्रप्रसिद्धाः स्थानत्रये वर्तमानास्त्रयस्त्रिंशद् वा अत्र संबोध्यन्ते। तथा ओषधीषु व्रीहियवादिषु पशुषु गवादिषु अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये तत्तदभिमानित्वेन वर्तमाना ये यूयं स्थ। ❀ "ऊडिदम्०" इत्यादिना अप्शब्दात् परस्य सुप उदात्तत्वम्। अन्तर्शब्दः स्वरादिष्वन्तोदात्तः पठितः। संहितायां यणादेशे "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इत्यन्तर्शब्दाकारः स्वर्यते ❀। ते सर्वे देवा यूयम् अस्मै आयुष्कामाय पुरुषाय जरसम् जराम्। जरापर्यन्तम् इत्यर्थः। ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀। तथाविधम् आयुः जीवनं कृणुत कुरुत॥ भवत्प्रसादाद् असौ शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीवतु इत्यर्थः॥ तदर्थम् अन्यान् काल-

मृत्युव्यतिरिक्तान् शतम्। अपरिमितनामैतत्। अपरिमितान् मृत्यून् मरणहेतुभूतान् ज्वरादिरूपान्। "ये ते सहस्रम् अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे" [तै० ब्रा० ३. १०. ८. २] इत्यादिमन्त्रप्रसिद्धान् अपमृत्युविशेषान् परि वृणक्त परिवर्जयत। परमायुर्भङ्गकरान् अपमृत्यून् निवारयतेत्यर्थः। ❀ वृजी वर्जने। लोण्मध्यमबहुवचनादेशस्य तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तप् आदेशः। तस्य पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् श्नस्य लोपाभावः ❀॥ यद्वा शतमिति आयुःशब्देन संबध्यते। शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कुरुतेत्यर्थः॥

हे अग्नि वायु सूर्य और देवताकाण्डमें कहे हुए सकल देवताओ! जो तुम जगत् पर अनुग्रह करनेके लिये द्युलोकमें रहते हो, तथा हे अग्नि आदि देवताओ! जो तुम पृथ्वी पर रहते हो तथा हे वायु आदि देवताओ! जो तुम अन्तरिक्ष–लोकमें रहते हो अर्थात् प्रकाश वर्षण और पचन आदि उपकार करनेके लिये तीनों लोकोंमें रहते हो।—या तैत्तिरीयसंहितामें प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं! †–तथा व्रीहि यव आदि ओषधियोंमें, गौ आदि पशुओंमें और जलोंमें उनके अभिमानीरूपसे वर्तमान देवताओं! तुम सब आयु चाहने वाले पुरुषकी आयु बुढ़ापे तककी करो–आपके प्रसादसे यह सौ वर्ष तक जीवित रहे, इस लिये आप काल और मृत्युसे अन्य सैंकड़ों मरणके हेतु ज्वर ‡ आदि परमायुनाशक अपमृत्युओंको दूर करो॥ ३॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता १।४।१०।१ में कहा है, कि–ये देवा दिवि एकादश स्थ पृथिव्यां अधि एकादश स्थ अप्सुषदो महिनैकादश स्थ–हे देवताओं! तुम जो स्वर्गमें ग्यारह हो, पृथिवी पर ग्यारह हो और जलमें ग्यारह हो॥"

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।८।२ में अपमृत्युओंके विषयमें कहा है, कि–"ये वो सहस्रं अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे–

चतुर्थी ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्र-
सदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्रऽयाजाः । उत । वा । अनुऽयाजाः । हुतऽभागाः ।
अहुतऽअदः । च । देवाः ।

येषाम् । वः । पञ्च । प्रऽदिशः । विऽभक्ताः । तान् । वः । अस्मै ।
सत्रऽसदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

प्रयाजाः । प्रधानयागात् प्रथमभाविनः समित्तनूनपादादयः पञ्च यागाः प्रयाजाः । ते येषां देवानां स्वभूताः । "अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः" इति प्रक्रम्य "आग्नेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रम् इतरत्" [नि० ८. २२] इत्यन्तेन यास्केन प्रपञ्चिताः प्रयाजदेवाः । ते चात्र येषाम् इति सर्वनाम्ना विवक्ष्यन्ते । "प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्" [ऋ० १० ५१. ८] इति मन्त्रप्रसिद्धाभिरेव वा विवक्षिताः । अस्मिन् पक्षे येषाम् इति बहुवचनं पूजार्थम् । ❀ येषाम् इत्यत्र "साचेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः । प्रपूर्वाद् यजतेः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति घञ् । "प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे" इति कुत्वाभावो निपात्यते । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । उत वा

हे मृत्यो ! तेरे (जो) सहस्रों लाखों पाश मरणशील मनुष्योंको मारनेके लिये हैं ॥"

अपि वा अनुयाजाः । अनु पश्चात् प्रधानयागानन्तरभाविनस्त्रयो यागा अनुयाजाः । ते च येषां देवानां स्वभूताः । ❀ प्रयाजशब्दवद् अनुयाजशब्दस्यापि पदस्वरप्रक्रिये वेदितव्ये ❀। ये च अन्ये देवा हुतभागाः । हुतम् अग्नौ प्रास्तं चरुपुरोडाशादिकं हविः भागो येषां देवानां ते हुतभागा इन्द्रादयः । तथा ये च देवा अहुतादः । न हुतम् । अहुतम् अग्नेरन्यत्र क्षिप्यमाणं हविरदन्ति भक्षयन्तीति अहुतादः बलिहरणादिदेवाः । ❀ अद भक्षणे । इत्यस्माद् "अदोऽनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ । हे इन्द्रादयो देवाः येषाम् प्रसिद्धानां वः युष्माकं पञ्च पञ्चसंख्याकाः प्रदिशः प्रधानभूताः प्राच्याद्या दिशः विभक्ताः ईशितव्यत्वेन विभज्य स्थिताः । यद्वा "पथ्यां स्वस्तिम् अयजन् प्राचीमेव तया दिशं प्राजानन्" [तै० सं० ६. १. ५. २] इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धाः पथ्या स्वस्ति अग्निः सोमः सविता दितिः इत्येतन्नामानो देवाः येषाम् इति यच्छब्देन विवक्षिताः । हे देवाः तान् उक्तान् सर्वान् वः युष्मान् अस्मै आयुष्कामस्य पुरुषस्य आयुर्वर्धनाद्युपकाराय सत्रसदः । सीदन्त्यस्मिन्निति सत्रम् सदनम् । तस्मिन् सीदतः संनिहितान् कृणोमि करोमि । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्यस्माद् अधिकरणे औणादिकस्त्रन् प्रत्ययः । तस्मिन्नुपपदे तस्मादेव धातोः "सत्सूद्विष०" इत्यादिना कर्तरि क्विप् ❀ ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

प्रधानयागसे पहिले होने वाले समित् तनूनपात् आदि पाँच याग प्रयाज कहलाते हैं वे याग जिनके देवताओंके लिये किये जाते हैं ‡ अथवा जिन अग्निदेवके लिये प्रयाज किये जाते हैं वे

‡ यास्कमुनिने प्रयाज देवताओंके सम्बन्धमें लिखा है, कि— "अथ किं देवताः प्रयाजानुजाः" इति प्रक्रम्य "आग्नेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रमितरत्—प्रयाज और अनुयाज देवता कौनसे हैं ?

अग्निदेव, और प्रधान यागके अनन्तर होने वाले तीन याग जिन देवताओंके लिये किये जाते हैं, तथा अग्निमें होमी हुई चरुपुरोडाश आदि हवि जिन इन्द्र आदि देवताओंका भाग है, तथा अग्निसे अन्यत्र डाली हुई हविका भक्षण करने वाले बलिहरण आदि देवता और पाँच प्रधान दिशाएँ जिनके स्वामित्वमें रहती हैं वे देवता, वा पथ्या स्वस्ति अग्नि सोम सविता और दिति नामक जो देवता हैं, ऐसे हे सब देवताओं ! मैं तुम सबको आयुष्काम पुरुषका आयुर्वर्धन आदि उपकार करनेके लिये सत्रसद बनाता हूँ अर्थात् इसके समीप बैठने वाला बनाता हूँ ॥ ४ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (५०) ॥

अत्र नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन द्वाविंशतिः सवयज्ञा विहिताः । ते च ब्रह्मौदनस्वर्गौदनचतुःशरावसवौदनसप्तशतौदनद्वयाजौदनपश्वौदन-ब्रह्मास्यौदनमृत्युसवानडुत्सवद्वयकार्कीपृश्निद्वयपौनशिलपवित्रोर्वरा-ऋषभवशाशालाबृहस्पतिसवाख्याः । तत्र चतुःशरावौदनसवे "आशानाम्" इति सूक्तं विनियुक्तम् । तत्र तेन निरुप्तहविरभि-मर्शनम् संपातम् दातृवाचनम् दानं च कुर्यात् । यद् आह कौशिकः । "आशानाम् इति चतुःशरावम्" इति [कौ० ८. ५] । "निरुप्तं

इसका आरम्भ करके छन्दोदेवता ऋतुदेवता पशुदेवता और आत्मदेवता तथा अग्निदेवको प्रयाजदेवता कहा है, औरोंको भक्ति-मात्र कहा है । अत एव ये निरुक्तमें कहे हुए छन्दोदेवता आदि प्रयाज देवता हैं वा अग्नि ही प्रयाज देवता है । ऋग्वेद १० । ५१ । ८ में कहा है, कि—"प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान् ऊर्ज-स्वन्तं हविषो दत्त भागम्—अर्थात् हे विश्वेदेवताओ ! आप मुझे अन्य देवताओंके सम्पर्कसे रहित प्रयाज और अनुयाजोंको दीजिये और हविके बलवान् भाग घृतको मुझे दीजिये ।" इस प्रकार इस मन्त्रमें प्रसिद्ध अग्नि भी प्रयाज देवता है ॥

सूक्तेनाभिमृशति" इति [कौ० ८. ६.]। "सूक्तेन पूर्वं संपातवन्तं करोति" [कौ० ८. ४]। "तस्मिन्नन्वारब्धं दातारं वाचयति तन्त्रसूक्तं पच्चः" इति [कौ० ८. ६] "सूक्तेनाभिमन्त्र्य दद्यात्" [कौ० ८. ४] इति च ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन धूमकेतुरूपाद्भुतदर्शने दिग्देवताकस्य बहुरूपस्य अजस्य अवदानानि तद्देवताकं चरुं प्रत्यृचं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । "अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम् इत्युक्तं पञ्च पशवस्तायन्ते" इति प्रक्रम्य "आशानामिति दैशस्य" इति [कौ० १३. ३५] ॥

तद्वदेव ग्रामनगरदेशप्राकाराद्यवदरणे "अग्रामस्त्वा" इति तृतीयावर्जम् अनेन सूक्तेन पुरोडाशानां पाषाणानां च निखननं कुर्यात् । "आशापालीयं तृतीयावर्जम्" इति प्रक्रम्य "पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तःस्रक्तिषु निदधात्युभयान् संपातवतः" इति हि सूत्रितम् [कौ० ५. २]॥

अस्य प्रथमयर्चा सर्वरोगभैषज्ये आलावनावसेचनपायनादिकं कुर्यात् । सूत्रं च । "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इति [कौ० ४. ८]॥ अत्र अंहोलिङ्गाभिरिति "आशानाम् आशापालेभ्यः इत्येका [१. ३१. १] "अग्नेर्मन्वे" इति [४. २३–२६] सप्त सूक्तानि "या ओषधयः सोमराज्ञीः" इत्येका [६. ९६. १] "वैश्वानरो न आगमत्" इत्येका [६. ३५ २] "शुम्भनी द्यावापृथिवी" इत्येका [७. ११७. १]. "यदर्वाचीनम्" इत्येका [१०. ५. २२] "मुञ्चन्तु मा" [११. ६. ७.] "भवाशर्वाविदम्" [११. ६. ९] "या देवीः पञ्च" [११. ६. २२] "यन्मातली रथ०" [११. ६. २३] इत्येताभिश्चतसृभिर्वर्जितम् "अग्निं ब्रूमः" [११. ६] इत्यर्थसूक्तम् । अयं सप्तप्रतीकः अंहोलिङ्गगणो विवक्षितः ॥

अश्वमेधे उत्सृष्टम् अश्वम् "आशानाम्" इति सूक्तेन अध्वा अनुमन्त्रयते । उक्तं वैताने । "आशापालीयेनोत्सृष्टं संवत्सरम्" इति [वै० ७. १]॥

तथा "अंहोलिङ्गानाम् आपोभोजनहवींषि" [कौ० ७. ६] इत्यादावपि एतद् द्रष्टव्यम् ॥

अद्भुतमहाशान्तौ दिग्देवताक आद्यो मन्त्रः। उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते विदिशो यजते" इत्यारभ्य "आशानाम्" इति [न० क० १४]॥

"स्वस्ति मात्रे" [१. ३१. ४] इत्यन्त्यया ऋचा सर्वस्वस्त्ययनकामः रात्रौ उपस्थानं कुर्यात् । "स्वस्ति मात्र इति निश्युपतिष्ठते" इति सूत्रम् [कौ० ७. १]॥

नित्य नैमित्तिक और काम्यभेदसे बाईस सव-यज्ञोंका विधान है । उनके नाम ये हैं, ब्रह्मौदन, स्वर्गौदन, चतुःशरावौदनसव, दो शतौदन, अजौदन, पञ्चौदन, ब्रह्मास्यौदन, मृत्युसव, दो अनुमृत्सव, कर्कि, दो पृश्नि, पौन, सिल, पवित्र, उर्वरा, ऋषभ, वशा, शाला और बृहस्पति। इनमेंके चतुःशरावौदनसवमें "आशानाम्" सूक्तका विनियोग किया जाता है । तहाँ इस सूक्तसे निरुप्त हवि का अभिमर्शन, सम्पात, दातृवाचन और दान करे । इन्ही बातों को कौशिक सूत्रमें कहा है,कि—"आशानाम् इति चतुःशरावम्" (कौशिकसूत्र ८।५)॥ निरुप्तं सूक्तेनाभिमृशति इति (कौशिकसूत्र ८।६) । 'सूक्तेन पूर्वं संपातवन्तं करोति" (कौशिकसूत्र ८।४) "तस्मिन्नन्वारब्धे दातारं वाचयति तन्मसूक्तं पञ्चकः" इति (कौशिक सूत्र ८। ६) "सूक्तेनाभिमन्त्र्य दद्यात्" (कौशिकसूत्र ८।४) ॥

इसी प्रकार धूमकेतुरूप अद्भुतदर्शन होने पर इस सूक्तसे दिग्देवताके बहुरूप अजका अवदान करे तथा उस देवताकी चरु का प्रत्येक ऋचासे होम करे । इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि

"अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम्" इत्युपक्रम्य आशानामिति दैशस्य—अर्थात् जब धूमकेतु सप्तर्षियोंके पास पहुँचता है, उस समय अयोगक्षेमकी आशंका करके० आशानाम् सूक्तसे दिग्देवताके (निमित्त बल दे) ॥" (कौशिकसूत्र १३ । ३५) ॥

इसी प्रकार ग्राम नगर देश और प्राकार (परकोटा) के फटने पर "आश्रामस्त्वा" नाम वाली तीसरी ऋचाके अतिरिक्त इस सूक्तसे पुरोडाश और पाषाणोंका निखनन करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि—"आशापालीयं तृतीयावर्जम्" इति प्रक्रम्य "पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तःस्रक्तिषु निदधाति उभयान् सम्पातवतः—आशापालीय इस तीसरी ऋचा को छोड़कर इस सूक्तसे पुरोडाशको तदनन्तर पत्थरोंको भीतरी नींवमें रक्खे दोनों सम्पात वाले होने चाहियें ॥

सकल रोगोंकी चिकित्सामें इस सूक्तकी पहिली ऋचासे स्नान, अवसेचन और पायन आदि करे। कौशिकसूत्र ४ । ८ में कहा है, कि—"ओषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिङ्गाभिः—अर्थात् ओषधि वनस्पतियोंकी अनुक्त और अप्रतिषिद्ध चिकित्साएँ अंहोलिंगा ऋचाओंसे करे। वे अंहोलिङ्ग ऋचाएँ ये हैं—"आशानां आशापालेभ्यः" (१ । ३१ । १) "अग्नेर्मन्वे" इति (४ । २३–१६) ये सात सूक्त "या ओषधयः सोमराज्ञीः" (६ । ६६ । १) "वैश्वानरो न आगमत्" (६ । ३५ । २) "शुंभनी द्यावा पृथिवी (७ । १११ । १) "यदर्वाचीनम्" (१० । ५ । २२) "मुञ्चन्तु मा" (११ । ६ । ७) "भवाशर्वाविदम्" (११ । ६ । ६) "या देवीः पञ्च" (११ । ६।२२) "यन्मातली रथम्" (११ । ६ । २३) इन चार ऋचाओंसे रहित "अग्निं ब्रूमः" (११ । ६) यह अर्ध सूक्त। ये सात अंहोलिङ्ग गण हैं ॥

अथवा अश्वमेधमें छोड़े हुए अश्वका 'आशानां' सूक्तसे अनुमन्त्रण किया करता है। इसी बातको वैतानसूत्र ७।१ में कहा है, कि–"आशापालीयेनोत्सृष्टं संवत्सरम्" ॥

तथा "अंहोलिङ्गानां आपोभोजनहवींषि–अंहोलिङ्गोंका जल भोजन और हविके समय विनियोग होता है" (कौशिकसूत्र ७। ६) इत्यादिमें भी इसका विनियोग होता है ॥

अद्भुतमहाशान्तिमें दिग्देवताके लिये पहिले मन्त्रका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते विदिशो यजते" इत्यारभ्य "आशानाम्" इति–अर्थात् अद्भुत महाशान्तिमें दिग्देवताके लिये और विदिग्देवताके निमित्त यजन करता है–इसका आरम्भ कहा है, कि–"आशानाम्" (इस मन्त्रसे) ॥ (नक्षत्रकल्प १४) ॥

सर्वस्वस्त्ययनको चाहने वाला पुरुष "स्वस्ति मात्रे" इस १। ३१। ४ ऋचासे रात्रिमें उपस्थान करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ७। १ में कहा है, कि–"स्वस्ति मात्र इति निश्युपतिष्ठते" ॥

तत्र प्रथमा ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥१॥

आशानाम् । आशाऽपालेभ्यः । चतुःऽभ्यः । अमृतेभ्यः ।
इदम् । भूतस्य । अधिऽअक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥१॥

आशानाम् प्राच्यादिदिशाम् । ❀ आशाया अदिगाख्या चेत् [फि० १. १६] इति अन्तोदात्तत्वस्य पर्युदासाद् आद्युदात्तता ❀ । [आशा]–पालेभ्यः । आशाः पालयन्ति रक्षन्तीति आशापालाः । ❀ "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः । कृदुत्तरपद-

प्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तता ❀। अत्र आशापालेभ्य इति समस्तेन पदेन स्वामित्वमात्रं विवक्षितम्। आशानाम् इति षष्ठ्यन्तेन ईशितव्यस्य बहुत्वम् अभिधीयत इति न पौनरुक्त्यम्। तेभ्यश्चतुर्भ्यः चतुःसंख्याकेभ्यः इन्द्रयमादिभ्यः। ❀ "कृन्युपोत्तमम्" इति उपोत्तमस्य अच उदात्तत्वम् ❀। अमृतेभ्यः। मृतं मरणम्। ❀ भावे निष्ठा ❀। तद् न विद्यते येषां ते तथोक्तास्तेभ्यः। ❀ "नञो जरमरमित्रमृताः" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀। भूतस्य सर्वा प्राप्तस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः अध्यक्षेभ्यः अधिपतिभ्यः इन्द्रादिभ्यः इदम् इदानीं चतुःशरावसवयागकाले हविषा ओदनेन मन्त्रसंस्कृतेन विधेम परिचरेम। ❀ विधतिः परिचरणकर्मा [निघ० ३. ५]। विध विधाने इति तुदादौ च पठ्यते। विकरणस्वरेण मध्योदात्तत्वम्। पादादित्वाद् निघाताभावः ❀॥

मरणरहित और स्थावर जङ्गम प्राणियोंके स्वामी इन्द्र आदि चार दिक्पालोंके लिये हम इस चतुःशराव यागके समयमें मन्त्रसंस्कृत हवि अर्पण कर सेवा करते हैं॥ १॥

द्वितीया॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः॥२॥

ये। आशानाम्। आशाऽपालाः। चत्वारः। स्थन। देवाः।

ते। नः। निःऽऋत्याः। पाशेभ्यः। मुञ्चत। अंहसःऽअंहसः २

हे देवाः इन्द्रादयः चत्वारः चतुःसंख्याका ये प्रसिद्धा यूयम् आशानाम् दिशाम् आशापालाः अधिपतयः स्तन भवत। ❀ अस भुवि इत्यस्मात् लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनादेशस्य तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तनादेशः। "श्नसोरल्लोपः" इत्याकारलोपः ❀।

ते यूयं नः अस्मान् हविषा युष्मान् प्रीणयितॄन् निर्ऋत्याः । निर्ऋतिः आर्तिकरी पापदेवता । तस्या संबन्धिभ्यः पाशेभ्यः मरणहेतुभ्यः । तथा अंहसोअंहसःनिर्ऋतिपाशव्यतिरिक्ताद् मरणहेतुभूताद् अन्यस्मात् सर्वस्मात् पापात् मुञ्चत मोचयत । ❀ मुच्लृ मोक्षणे । "शे मुचादीनाम्" । इति नुम् ❀ ॥

हे इन्द्र आदि चार प्रसिद्ध देवताओ ! तुम दिशाओंके स्वामी हो, ऐसे आप हविसे आपको तृप्त करने वालों हमको पीड़ा देने वाली पापदेवता निर्ऋतिके मरणप्रद पाशोंसे तथा निर्ऋतिके अतिरिक्त मरणके अन्य सब पापोंसे भी हमें बचाइये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

अस्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन । जुहोमि । यः । आशानाम् । आशाऽपालः । तुरीयः । देवः । सः । नः । सुऽभूतम् । आ । इह । वक्षत् ॥ ३ ॥

अत्र उत्तरार्धे वक्ष्यमाणो देवः संबोधनीयः । हे धनद त्वा त्वाम् अभिमतधनादिसिद्ध्यर्थम् अस्रामः अश्रमः । ❀ श्रमु तपसि खेदे च । अस्माद् घञि "अत उपधायाः" इति प्राप्ताया वृद्धेः "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति निषेधाभावश्छान्दसः ❀ । श्रमरहितः शरीरप्रयासम् अननुसंदधानः सन् हविषा चर्वादिरूपेण यजामि पूजयामि ॥ तथा हे देव त्वा त्वाम् उद्दिश्य अश्लोणः श्लोणाख्यव्याधिविशेषरहितः सन् घृतेन आज्येन जुहोमि ।

❁ घृतेनेति । "तृतीया च होश्छन्दसि" इति तृतीया ❁ ॥ तम् अभिमतं देवं दर्शयति । आशानाम् दिशाम् आशापालः स्वामी तुरीयः पूर्वोदीरितेन्द्रादिदिक्पालापेक्षया चतुर्थः । ❁ "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः तत्संनियोगेन चकारलोपश्च । "आयआदिषु उपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थम्" इति वचनात् प्रत्ययस्वरेण ईकार उदात्तः ❁ । एवंभूतो यः प्रसिद्धो देवः धनदाख्यदेवोस्ति स देवः नः अस्माकं सुभूतम् सुष्ठु प्रभूतं सुवर्णरजतादिरूपं धनम् इह अस्मिन् कर्मणि संनिहितः गृहे वा आ वक्षत् आवहतु प्रापयतु । मया दत्तेन हविराज्यादिना प्रीतः सन् मह्यं यथेष्टं धनम् आहृत्य प्रयच्छतु इत्यर्थः । ❁ वह प्रापणे । अस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । ततः "हो ढः" इति ढत्वम् । "षढोः कः सि" इति कत्वम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❁ ॥

हे कुबेर ! मैं तुमको अभिलषित धन आदिकी सिद्धिके लिये अपने श्रमको कुछ भी न गिनकर चरु आदिरूप हविसे तुम्हारी पूजा करता हूँ । और हे देव ! श्रोण नाम वाली व्याधिसे रहित हुआ मैं आपके निमित्त घृतकी आहुति देता हूँ । अत एव जो दिक्पाल पहिले कहे हुए इन्द्र आदि देवताओंमें चौथे हैं, वह हमें बहुतसा सुवर्ण चाँदी आदि धन इस कर्ममें समीप रह कर दें तात्पर्य यह है, कि—मेरी दीहुई घृत आदिकी हविसे प्रसन्न होकर वह मुझे यथेष्ट धन लाकर दें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः ।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः ।
जगते । पुरुषेभ्यः ।
विश्वम् । सुऽभूतम् । सुऽविदत्रम् । नः । अस्तु । ज्योक् ।
एव । दृशेम । सूर्यम् ॥ ४ ॥

आत्मनोभिलषितं धनादिकं संप्रार्थ्य स्वकीयानां मात्रादीनां कुशलम् आशास्ते। "एभ्यो माता गरीयसी" इति स्मरणात् पित्रा-दिभ्यः श्रैष्ठ्यम् अभिप्रेत्य मातुः प्रथमतो निर्देशः । मात्रे स्वकी-यायै जनन्यै । ❀ "ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपो "न षट्स्व-स्रादिभ्यः" इति प्रतिषेधः । "नमःस्वस्तिस्वाहा०" इति चतुर्थी । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । स्वस्ति क्षेमः अस्तु । ❀ स्वस्तीत्यविनाशिनाम । अस्तिरभिपूजितः सु अस्तीति हि यास्कः [नि० ३. २१] ❀ । [उत अपि च] नः अस्माकं पित्रे जनकाय स्वस्त्यस्तु भवतु । उपलक्षणम् एतत् अन्येषामपि पुत्रपत्न्यादीनाम् । तथा गोभ्यः पशुभ्यः स्वस्त्यस्तु । ❀ "सावेकाचस्तृतीयादि०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः ❀ । तथा पुरुषेभ्यः स्वकीयेभ्यो भृत्यादिभ्यः स्वस्त्यस्तु । किं बहुना जगते सर्वस्मै लोकाय स्व-स्त्यस्तु ॥ मात्रादीनां स्वस्त्यस्तु इत्युक्तम् तदेव विशिनष्टि । नः अस्माकं संबन्धि विश्वम् सर्वम् उक्तं मात्रादिकं सुभूतम् शोभन-धनोपेतं सुविदत्रम् शोभनज्ञानयुक्तं च अस्तु भवतु । ❀ सुविदत्रः कल्याणविद्य इति हि यास्कः [नि० ६. १४] ❀ ॥ यद्वा सुभू-तम् सु शोभनं भूतं भवनं यस्य तत् तथोक्तम् । सुविदत्रम् । विद्यते लभ्यत इति विदत्रम् धनम् । ❀ विद्लृ लाभे विद ज्ञाने इत्यस्माद् वा सुविदेः कत्रन् [उ० ३. १०८] इति कत्रन् प्रत्ययः ❀ । शो-

धनं विदत्रं धनं यस्य तत् तथोक्तम् यद्वा । सुभूतम् सुसमृद्धं विश्वम् सर्वं सुविदत्रम् धनं नोस्तु । ❀ सुविदत्रशब्दं यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वा एकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात् [नि० ७. ६] इति ❀ ॥ तथा उक्तमात्रादिसहितस्य आत्मनश्च दीर्घम् आयुः प्रार्थयते । ज्योगेव चिरकालमेव शतसंवत्सरपर्यन्तं सूर्यम् आदित्यं दृशेम पश्येम । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । "लिङ्याशिष्यङ्" इत्यस्य स्थाने "दृशेरग्वक्तव्यः" इति अक् प्रत्ययः । कित्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

(अपने अभिलषित धन आदिकी प्रार्थना करके अपनी माता आदिके कुशलकी प्रार्थना करते हैं । "एभ्यो माता गरीयसी–इन सबन्धियोंमें माता बड़ी है ।" इस स्मरणके अनुसार पिता आदिसे माताको श्रेष्ठ समझकर माताके लिये पहिले प्रार्थना की है) हमारी माताका स्वस्ति हो, हमारे पिताके लिये स्वस्ति हो, हमारी गौओंके लिये स्वस्ति हो, सारे संसारके लिये स्वस्ति हो । हमारी माता आदि सब शोभन धनसे युक्त और शोभन ज्ञानयुक्त होवें, और हम चिरकाल तक–सैंकड़ों वर्षों तक सूर्यको देखते रहें ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (३१)

"इदं जनासः" इति सूक्तेन वन्ध्यायाः पुत्रजननकर्मणि तस्याः शान्त्यौषधिसहितोदकाभिषेकम् पुरोडाशकन्दुकालंकारप्रदानं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "इदं जनास इत्यस्यै शिंशपाशाखासु उदकान्ते शान्त्या अधिशिरोवसिञ्चति [आव्रजितायै]" इति [कौ० ४. १०] ॥

तथा अनेन सूक्तेन पुष्टिकामः संपत्कामो वा द्यावापृथिव्योर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात् । आह कौशिकः । "इदं जनास इति

द्यावापृथिव्यौ पुष्टिकामः संपत्कामः” इति [कौ० ७. १०] ॥

अत्र आद्या दर्शपूर्णमासयोः पत्न्यञ्जलौ उदपात्रनिनयने विनियुक्ता। सूत्रं च। “बर्हिषि पत्न्यञ्जलौ निनयति समुद्रं वः प्र हिणोमि इति [१०. ५. २३] इदं जनासः [१. ३२. १] इति वा” इति [कौ० १. ६]॥

“इदं जनासः” इस सूक्तसे वंध्याके पुत्रप्रजननकर्ममें उसका शान्ता (शमी) ओषधिसहित अभिषेक करे तथा इसी सूक्तसे उसको पुरोडाश गेंद और अलंकार भी देय। इसी बातको सूत्र में भी कहा है, कि—“इदं जनास इत्यस्यै शिंशपाशाखासु उद-कान्ते शान्ता अधिशिरोऽवसिञ्चति [आप्रजितायै] इति—‘इदं जनासः’ इस सूक्तसे वंध्या पर शिंशपा (सरीफे)की शाखाओं के नीचे जलके समीप शान्ता (शमी—जएड) ओषधिसे शिर पर अभिषेक करे।” (कौशिकसूत्र ४। १०) ॥

तथा पुष्टि चाहने वाला वा संपत्ति चाहने वाला इस सूक्तसे द्यावापृथिवीके यागको वा उपस्थानको करे। इसी बातको कौशिक-सूत्र ७। १० में कहा है, कि—“इदं जनास इति द्यावापृथिव्यौ पुष्टिकामः संपत्कामः” ॥

इस सूक्तकी पहिली ऋचाका दर्शपूर्णमास यागमें पत्नीकी अञ्जलिमें उदपात्र रखनेमें विनियोग किया जाता है। इसी बात को कौशिकसूत्र १। ६ में कहा है, कि—“बर्हिषि पत्न्यञ्जलौ विन-यति समुद्रं वः प्र हिणोमि इति [१०. ५. २३] इदं जनासः [१। ३२। १] इति वा” इति [कौ० १। ६]

तत्र प्रथमा ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥

इदम् । जनासः । विदथ । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति ।

न । तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥

जनासः हे जनाः । ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀ । ज्ञातुकामा यूयम् इदम् वक्ष्यमाणं वस्तु विदथ जानीथ । ❀ विद ज्ञाने । लटि मध्यमबहुवचने व्यत्ययेन शः ❀ ॥ किं तद् इत्यत आह । मन्त्रद्रष्टा ऋषिः महत् महत्त्वगुणयुक्तं व्यापकं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रथमकार्यम् । श्रूयते हि । "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्" [तै० सं० ७. १. ५. १.] इति । स्मर्यते च ।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अपाकिरत् इति [म० स्मृ० १. ८] ।

तादृशं ब्रह्म वदिष्यति कथयिष्यति ॥ तस्योदकस्य प्रतिनियतं निवासस्थानं वक्तुं लोकप्रतीतिसिद्धं स्थानम् अपवदति । तत् उदकात्मकं ब्रह्म पृथिव्याम् भूमौ न । तिष्ठतीति शेषः । दृष्टयूर्ध्वभाविनो जलस्यैव भूमौ अवस्थानम् । ननु लोकप्रतीतिसिद्धं द्युलोक एवेत्यत आह । नो नैव दिवि द्युलोके । तिष्ठतीति शेषः ॥ तर्हि संभाविता लोकद्वये अविद्यमानस्य तस्य खपुष्पकल्पनेत्यत आह । येन उक्तेन उदकेन वीरुधः विरोहणशीलाश्च कौशिकेनोक्ताश्चित्याद्या अन्याश्चौषधयः प्राणन्ति जीवन्ति । उदकम् अन्तरेण अनुपपद्यमानं वीरुधां जीवनं तत्सत्तायाः कल्पकम् इति तस्य नासत्त्वम् इत्यर्थः । ❀ श्वस प्राणने । अन च । अदादित्वात् शपो लुक् । "अनितेः" इति णत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

हे जाननेकी इच्छा वाले मनुष्यों ! तुम इस आगे कही हुई वस्तुको जानो (वह वस्तु क्या है ? उसको कहते हैं, कि—) मन्त्रद्रष्टा ऋषि महत्त्वगुणयुक्त व्यापक ब्रह्मके प्रथम कार्य

(जलात्मक) को कहेंगे (जलके लोकप्रतीतिसिद्ध स्थानका खंडन करके उसके प्रतिनियत निवासस्थानको कहते हैं, कि-) वह जलात्मक अम्भ पृथिवी पर नहीं रहता है (क्योंकि-ऊपर रहने वाला जल ही वृष्टिके द्वारा पृथ्वी पर आजाता है, अब फिर कहते हैं, कि-फिर लोकप्रतीतिसिद्ध द्युलोकको ही जलका स्थान मान लिया जाय, तो कहते हैं, कि-) वह द्युलोकमें भी नहीं रहता है (तो कहते हैं, कि-जब वह दोनों लोकोंमें नहीं है तो उसकी कल्पना खपुष्प ही है अत एव कहते हैं, कि -) जिस जलसे विरोहणशील ओषधियें और कौशिककी कही हुई चित्ति आदि अन्य ओषधियें जीवित रहती हैं। (अत एव जलके विना न होने वाला वीरुधोंका जीवन उसकी सत्ताका कल्पक है, अत एव उसका असत्त्व नहीं है) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा २

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम । श्रान्तसदाम्ऽइव ।

आऽस्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥

पूर्वं प्रतिपादितप्रकारेण उदकसत्ताया अवश्यंभावात् लब्ध-

† तैत्तिरीयसंहिता ७। १ । ५ । १ में कहा है, कि-"आपो वा इदं अग्रे सलिलं आसीत्-यह जल ही पहिले था।"

तथा मनुस्मृति १ । ८ में भी कहा है, कि-"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यं अपाकिरत्-पहिले उसने जलकी सृष्टि की और उसमें अपने वीर्यको स्थापित किया) ॥

सत्ताकस्य च वस्तुनः क्वचिद् अवस्थाननियमाद् अस्यापि केन-चिद् निवासस्थानेन भवितव्यम् इत्याशङ्क्य विवक्षितम् असाधारणं स्थानं दर्शयति अन्तरिक्ष इति । आसाम् वीरुधां स्याम स्थानं स्थितिहेतुभूतम् उदकम् अन्तरिक्षे द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्तिनि लोके । वर्तत इति शेषः । ❀ स्यामेति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । अस्माद् मनिन् प्रत्ययः ❀ ॥ यद्वा । आसाम् वीरुज्जीवनहेतुभूतानाम् अपां स्याम स्थानम् अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके । आह च भगवान् पतञ्जलिर्महाभाष्ये । "अन्तरिक्षे महत् समुद्रं विततम् अस्ति" इति । श्रूयते च । "अस्मिन् महत्यर्णवेन्तारक्षे" [तै० सं० ४. ५. ११. १] इति । तत्र दृष्टान्तः । श्रान्तसदामिव । तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना श्रान्ताः सन्तः सीदन्ति निवसन्ति सुखोपभोगार्थम् इति श्रान्तसदः यक्षगन्धर्वादयः । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् ❀ । तेषां यथा अन्तरिक्षं स्थानम् । "यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम्" [नृ० पू० ता० १ । २] इति श्रुतेः । तथेति पूर्वेण संबन्धः । ❀ "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀ ॥ लोकान्तरगतत्वेन तद् उदकं भूलोकनिवासिनाम् अनुपकारकम् इत्याशङ्क्य आह आस्थानम् इति । अस्य अस्मिन् लोके परिदृश्यमानस्य भूतस्य लब्धसत्ताकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः आस्थानम् । आ समन्तात् तिष्ठन्ति जीवन्ति अनेनेति आस्थानम् । ❀ करणे ल्युट् ❀ । वृष्टिद्वारा जगज्जीवनकारणम् इत्यर्थः ॥ तस्य दुर्ज्ञानत्वम् आह । तत् कारणभूतम् उदकं वेधसः विधातारो मन्वादयः विदुः जानन्ति न वा विदुः न वा जानन्ति । सर्वस्रष्टॄणां तेषामपि संदिग्धं किल तत् किमु वक्तव्यम् अर्वाचीनानां मनुष्याणां दुर्ज्ञेयमिति इत्यर्थः । ❀ विदुष्टद इति । "युष्मत्तत्ततुक्ष्वन्तःपादम्" इति विसर्जनीयस्य षत्वम् ❀ ॥

(पहिले मन्त्रमें प्रतिपादित की हुई रीतिके अनुसार जलसत्ता अवश्य है, और सत्तावाली वस्तु कहीं रहेगी, यह नियम है। अत एव इसका भी कोई निवासस्थान होना चाहिये ऐसी आशङ्का करके इस मन्त्रमें जलका स्थान अन्तरिक्ष माना है) इन वीरुधों की स्थितिका कारण जल द्यावापृथिवीके मध्यवर्ती लोक अन्तरिक्षलोकमें रहता है‡। (उसमें दृष्टान्त यह है, कि-) कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपसे श्रान्त होकर सुख भोगनेके लिये निवास करने वाले यक्ष गन्धर्व † आदिका निवासस्थान जैसे अंतरिक्ष लोक है (जब यह जल दूसरे लोकमें है तो उससे भूलोकवासियों का उपकार कैसे होसकता है इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं,कि) इस लोकमें दीखते हुए सत्तावान् स्थावरजंगमात्मक जगत्का जल आस्थान है, अर्थात् इसके द्वारा जगत् जीवित रहता है, तात्पर्य यह है, कि-यह जल वृष्टिके द्वारा जगत्के जीवनका कारण है। (अब उसकी दुर्ज्ञेयताको कहते हैं, कि-) उस कारणभूत जलको विधाता मनु आदि भी जानते हैं या नहीं ? (सबके रचयिताओं को जब इस विषयमें सन्देह है, फिर आज कलके मनुष्योंको उसको दुर्ज्ञेय होना, कौनसे आश्चर्यकी बात है ?) ॥ २ ॥

---

‡ इसी बातको भगवान् पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है, कि—"अन्तरिक्षे महत् समुद्रं विततं अस्ति—अन्तरिक्षमें बड़ा भारी समुद्र फैल रहा है।" श्रुतिमें भी कहा है, कि—"अस्मिन् महत्यर्णवे अन्तरिक्षे—इस अन्तरिक्षके महासमुद्रमें" (तैत्तिरीयसंहिता ४। ५। ११। १)॥

† नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद् १। २ में कहा है, कि-"यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितं अन्तरिक्षम्-अन्तरिक्षलोक यक्ष गन्धर्व और अप्सराओंसे सेवित है" ॥

तृतीया ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतंक्षतम् ।
आर्द्रं तद॒द्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोदसी इति । रेजमाने इति । भूमिः । च । निःऽअतक्षतम् ।
आर्द्रम् । तत् । अद्य । सर्वदा । समुद्रस्यऽइव । स्रोत्याः ॥ ३ ॥

तस्योदकस्य उत्पत्तिप्रकारम् आह । रोदसी हे द्यावापृथिव्यौ रेजमाने कम्पमाने जलम् उत्पादयितुं व्याप्रियमाणे । ❀ रेजृ कम्पने इति धातुः । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः इति यास्कः [नि० ३. २१] ❀ । भूमिः चकारात् द्यौश्च युवां यत् प्रागुदीरितम् उदकं निरतक्षतम् उदपादयतम् । सृष्टस्योदकस्य सर्वदा धारणात् प्राधान्यं सूचयितुं भूमेः अवयुत्यापि निर्देशः । ❀ तक्षू त्वक्षू तनूकरणे । अस्मात् लङि मध्यमद्विवचने रूपम् । "यद्वृत्ता-न्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तत् उदकम् अद्य इदानीं वर्तमानकाले सर्वदा सर्वस्मिन् काले आर्द्रम् आर्द्रगुणयुक्तं शोष-रहितम् । वर्तत इति शेषः । वृष्टिद्वारा उदके निर्गतेपि पुनरपि अन्तरिक्षगतम् उदकम् अनुपक्षीणं वर्तत इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । समुद्रस्येव स्रोत्याः । यथा समुद्रगामिन्यो नद्यः अक्षीणोदका वर्तन्ते तद्वद् इत्यर्थः । ❀ "स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ" इति ड्यप्रत्ययः । डित्वात् टिलोपः ❀ ॥

(जलके उत्पत्तिप्रकारको कहते हैं, कि-) हे द्यावापृथिवी तुमने जलको उत्पन्न करनेमें लगे रहकर इस जलको उत्पन्न किया है और भूमिने इस जलको उत्पन्न किया है । वह जल इस समय और सब समय आर्द्रगुणयुक्त रहता है । तात्पर्य यह है, कि-वृष्टिके द्वारा जलके निकल जाने पर भी अन्तरिक्षका जल अनुपक्षीण

ही रहता है, कभी क्षीण नहीं होता है। (उसमें दृष्टान्त यह है, कि-) जैसे समुद्रगामिनी नदियें अक्षीण जल वाली रहती हैं।३।

चतुर्थी ॥

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधिश्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभिऽवार । तत् । अन्यस्याम् । अधि । श्रितम् ।
दिवे । च । विश्वऽवेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥ ४ ॥

विशिष्टकारणजन्यत्वेन आप्यं श्रैष्ठ्यं सूचयितुं कारणत्वेन उक्ते द्यावापृथिव्यौ प्रशंसति । विश्वम् । ❀ कर्मणि षष्ठ्यभावश्छान्दसः ❀ । विश्वस्य अन्यान् । ❀ "सुपां सुपो भवन्ति" इति सोः अम् आदेशः ❀ । अन्या द्यौः अभीवारः अभितो वरणं छादनम् । भवतीति शेषः । ❀ वृञ् वरणे । "वृणो [तेराच्छादने" इति अ] भिपूर्वादपि व्यत्ययेन घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ ॥ अथ वा विश्वम् कृत्स्नं जगत् अन्याम् अन्यया दिवा । ❀ व्यत्ययेन द्वितीया ❀ । अभिवारः अभिवृतम् । ❀ कर्मणि घञ् ❀ । आच्छन्नम् इत्यर्थः । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ ॥ यद्वा । विश्वम् कर्तृभूतं जगत् अन्याम् दिवम् उद्दिश्य अभीवारः । अभितः संभजनयुक्तं वृष्टिविषयभार्थनायुक्तम् अभूत् । ❀ वृङ् संभक्तौ । भावे घञ् ❀ ॥ तत् उक्तं विश्वम् अन्यस्याम् पृथिव्याम् अधिश्रितम् आश्रितं वर्तते ॥ दिवे उक्तलक्षणाय द्युलोकाय विश्ववेदसे । वेद इति धननाम । विश्वस्य जगतो धनभूताय । वृष्टिप्रदानेन सर्वधनहेतुत्वाद्व धनात्मकत्वम् । यद्वा वेद इति ज्ञाननाम । विश्वं विश्वविषयं ज्ञानं यस्याः सा तथोक्ता तस्यै । तथा पृथिव्यै विश्वाधारभूतायै । परस्परसमुच-

यार्थौं चकारौ । नमः । अन्ननामैतत् । हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा अकरम् करोमि । ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति करोतेर्वर्तमाने लुङ् । "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

(श्रेष्ठ कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण जल श्रेष्ठ है इस बातको सूचित करनेके लिए जलके कारणरूपसे कहे हुए द्यावापृथिवी की प्रशंसा करते हैं, कि-) द्यौः विश्वका आवरण (ढक्कनरूप) है अथवा कर्तृभूत जगत् द्यौसे वृष्टिविषयकी प्रार्थना करता है। और वह विश्व पृथिवीका आश्रित रहता है। वृष्टि करनेसे संपूर्ण धनोंके कारण और विश्वका ज्ञान रखने वाले उस द्युलोकको तथा विश्वकी आधारभूत पृथिवीको मैं नमस्कार करता हूँ वा हविरूप अन्न देता हूँ ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (३२) ॥

"हिरण्यवर्णाः" इति सूक्तस्य बृहद्गणे लघुगणे अपां सूक्तेषु च पाठात् तेषां यत्र यत्र विनियोगस्तत्र अस्य सूक्तस्य विनियोगोऽनुसंधेयः ॥ गणस्वरूपसूत्रं पूर्वमेव उदाहृतम् [१. ४] ॥

तथा अनेन सूक्तेन अपोंऽच्यापनकर्मणि "अम्बयो यन्ति" [१. ४] इति सूक्तोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

तथा गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि वपनानन्तरम् अनेन सूक्तेन माणवकं स्नापयेत् । सूत्र्यते हि । "अथैनम् उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखम् आसावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन" इति [कौ० ७. ५]॥

तथैव मधुपर्के पाद्योदकाभिमन्त्रणे च एतत् सूक्तम् । "अथोदकम् आहारयति पाद्यं भो इति हिरण्यवर्णाभिः [१. ३३] प्रतिमन्त्र्य" इति सूत्रितम् [कौ० १२. १]॥

तद्वदेव अनुकदेशे उदकप्रादुर्भावलक्षणे अद्भुते अनेन सूक्तेन

आज्यहोमः कार्यः । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् अनुदक उदकोन्मीलो भवति हिरण्यवर्णा इत्यपां सूक्तैर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. २६] ॥

उदकपूर्णकलशभङ्गे नवकलशम् आहृत्य तत्र अनेन सूक्तेन उदकम् अभिमन्त्र्य पूरयेत् । "अथ यत्रैतत् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वा उखा वा अनिङ्गिता विकसति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् "अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां दृंहयित्वा तत्र हिरण्यवर्णा इत्युदकम् आसेचयेत्" इति [कौ० १३. ४४] ॥

पुष्याभिषेके कलशाभिमंत्रणेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं परिशिष्टे।

सावित्र्युभयतः कुर्यात् शं-नो देवी तथैव च ।

हिरण्यवर्णाः सूक्तं चानुवाक्याद्यमेव च इति [प० ५. २]

"हिरण्यवर्णाः" सूक्तका बृहद्गण लघुगण और अपांसूक्तमें भी पाठ है, अत एव इन गणोंका जहाँ विनियोग होगा तहाँ इसका भी विनियोग होगा। इन गणोंका सूत्र प्रथमकाण्डके चतुर्थ सूक्तमें आचुका है ॥

तथा इस सूक्तसे अग्न्योंस्थापन कर्ममें चतुर्थसूक्तमें कहे हुये कर्म करे ॥

तथा गोदान नामक संस्कार कर्ममें वपन (मुण्डन)के अनन्तर इस सूक्तसे बालकको स्नान करावे । इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । ५ में कहा है, कि-"अथैनं उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखं आप्लावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन-इस केश मूँछ मुड़े हुए, नख कटे हुएको हिरण्यवर्णाः सूक्तसे स्नान करावे" ॥

इसी प्रकार मधुपर्क और पाद्योदकके अभिमंत्रणमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको कौशिकसूत्र १२ । १ में कहा है, कि-"अथोदकं आहारयति पाद्यम् भो इति हिरण्यवर्णाभिः प्रतिमंत्र्य" ॥

इसी प्रकार जलरहित देशमें जलप्रादुर्भावरूप अद्भुत होनेपर इस सूक्तसे घृतका होम करना चाहिये ॥ इसी बातको कौशिक-सूत्र १३ । २६ में कहा है, कि—"अथ यत्रैतद् अनुदक उदकोन्मीलो भवति हिरण्यवर्णा इत्यपां सूक्तैर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—जहाँ जलरहितदेशमें जल निकलने लगे तहाँ हिरण्यवर्णाः इस अपांसूक्तसे होम करे, यही इसका प्रायश्चित्त है" ॥

जलसे पूर्ण कलश टूट फूट जावे तो नवीन कलश (कुम्भ) को लाकर इस सूक्तसे जलको अभिमंत्रित करके भरे । इसी बातको कौशिकसूत्र १३ । ४४ में कहा है, कि—"अथ यत्रैतद् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वा उखा वा अनिंगिता विकसति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् "अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां दृंहयित्वा तत्र हिरण्यवर्णा इत्युदकम् आसेचयेत्" ॥

पुण्याभिषेकके कलशाभिमंत्रमें भी इस सूक्तका पाठ होता है । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—

सावित्र्युभयतः कुर्यात् शं नो देवी तथैव च ।
हिरण्यवर्णाः सूक्तं चानुवाक्यायमेव च ॥
(प० ५ । २)

तत्र प्रथमा ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्यऽवर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु । जातः । सविता ।

यासु । अग्निः ।

याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सुऽवर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्यवर्णाः हितरमणीयवर्णाः हिरण्यसदृशवर्णा वा हिरण्यस्य वर्ण इव वर्णो यासां तास्तथोक्ताः। ❀ "सप्तम्युपमान०" इत्यादिना बहुव्रीहिः। "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तत्वम् ❀। शुचयः शुद्धा अत एव पावकाः अन्येषां स्नानपानादिना शोधयित्र्यः । ❀ "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य०" इत्यादिना प्राप्तस्य इत्वस्य "पावकादीनाम् छन्दस्युपसंख्यानम्" इति प्रतिषेधः ❀। अपां स्वरूपपर्यालोचनया शुद्धिहेतुताम् अभिधाय शोधकानां सवित्रादीनां जन्महेतुत्वेनापि तां समर्थयते यास्विति। यासु अप्सु सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरक आदित्यो जातः प्रादुर्भूतः। प्रत्यहं हि समुद्रात् सूर्य उद्यन् दृश्यते तदपेक्षोयं निर्देशः। ❀ जनी प्रादुर्भावे। "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः। "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ । तथा यासु अप्सु मेघस्थासु सामुद्रीषु च अग्निः वैद्युतवाडवरूपेण जात इति संबन्धः। गर्भरूपेण शुचिना अग्निना नित्यसंबन्धादपि अपां पूततां आह या अग्निम् इति। याः सुवर्णाः शोभनवर्णा आपः अग्निम् अङ्गनादिगुणयुक्तं देवं गर्भं दधिरे गर्भत्वेन धारयन्ति। तथा च निगमः। "अग्ने गर्भो अपाम् असि" [तै० सं० ४. २. ३. ३] इति। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः ।।"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट्। बहुवचने आलोपे कृते तस्य "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवत्वाद् द्विर्वचनम्। इरेचश्चित्वाद् अन्तोदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। ता उदीरितलक्षणाः

सर्वा आपः नः अस्माकम् अवसेकादिना कर्मणा शम् रोगादिशमनहेतवः स्योनाः । सुखनामैतत् । सुखकारिण्यश्च भवन्तु ॥

हितकर और रमणीय वर्ण वाला वा सुवर्णकी समान वर्ण वाला और पवित्र, अत एव स्नान पान आदिसे दूसरोंको शुद्ध करने वाला (जल अपने स्वरूपसे ही पवित्र है अत एव पवित्र करने वाला है तथा शोधक सूर्य आदिका उत्पन्न करनेवाला है, यथा) जिस जलसे सब प्राणियोंके प्रेरक आदित्य उत्पन्न हुए हैं (सूर्य प्रतिदिन समुद्रसे उठते हुए दीखते हैं, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यह बात कही है) तथा जिस मेघस्थ और समुद्रके जलमें अग्नि बिजली और बड़वानलके रूपमें उत्पन्न होता है, जो शोभन वर्ण वाला जल अंगनादिगुणयुक्त अग्निको गर्भरूपमें धारण करता है† ॥ यह सब प्रकारका जल हमारे अवसेक आदि कर्मसे रोग आदिका शमन करनेवाला और हमें सुख देनेवाला हो १

द्वितीया ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-
पश्यन् जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं
स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्यऽअनृते । अवऽपश्यन् । जनानाम् ।

† तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ३ । ३ में कहा है, कि—"अग्ने गर्भो अपां असि-हे अग्ने ! तुम जलोंके गर्भ हो" ॥

याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सुऽवर्णाः । ताः । नः ।

आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

आप एव स्तूयन्ते । राजा राजमानो वरुणः एतत्संज्ञः पापिनां निग्रहकर्ता देवः यासाम् अपां मध्ये मध्यभागे । समुद्रमध्य इति यावत् । तत्र स्थित्वा [जनानां] सत्यानृते । सत्यं यथार्थभाषणम् तद्विपरीतम् अनृतम् । उभे अवपश्यन् तत्कर्तुं निग्रहार्थम् अवलुत्य परस्परसांकर्यपरिहारेण जानन् याति गच्छति पाशहस्तस्तत्र-तत्र संनिधत्ते ॥ तथा च तैत्तिरीकम् । "अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

(अब जलकी ही स्तुति करते हैं) पापियोंको दण्ड देनेवाले राजमान वरुणदेव जिस जलके मध्य (समुद्र) में स्थित होकर मनुष्योंके सत्यभाषण और असत्यभाषण दोनोंको देख उनके कर्ताओं पर शासन करनेके लिये उन दोनोंको परस्पर अलग कर उनको समझ कर हाथमें पाश धारण कर तहाँ फल देनेको जाते हैं + । और जिस सुन्दर वर्ण वाले जलने अग्निको गर्भमें धारण किया है, वह जल हमें शान्ति और सुखदायक हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे

बहुधा भवन्ति ।

+ तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । २ । ६ में कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति—झूँठ बोलने पर वरुण दण्ड देते हैं" ॥

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । देवाः । दिवि । कृण्वन्ति । भक्षम् । याः । अन्तरिक्षे । बहुऽधा । भवन्ति ।

याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सुऽवर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

देवाः इन्द्राद्याः यासाम् अपां सारभूतं अमृतं सोमं वा दिवि द्युलोके भक्षम् उपभोग्यम् । ❀ भक्ष अदने । कर्मणि घञ् । "णेर-निटि" इति णिलोपः । "एरजण्यन्तानाम्" इति अचो न प्रसङ्गः । भक्ष मन्थ भोग देह इति उञ्छादिषु पाठाद् अन्तोदात्तत्वा ❀ । कृण्वन्ति कुर्वन्ति । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । इदित्वाद् नुम् । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन अकारश्चान्ता-देशः । अतो लोपे तस्य स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । "सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः" इति उप्रत्ययस्वरं बाधित्वा पितः प्रत्ययस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा या आपः अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके बहुधा बहुप्रकारेण । ❀ "बहुगणवतु-डति संख्या" इति संख्याया विधार्थे धा" इति धा प्रत्ययः ❀ । वृष्ट्यादिरूपेण नाना भवन्ति ॥ व्याख्यातम् अन्यत् ॥

इन्द्र आदि देवता जिस जलके सारभूत अमृतको और सोमको द्युलोकमें उपभोग करते हैं और जो जल अंतरिक्षमें वृष्टि आदि रूपसे अनेक प्रकारका होजाता है और जो सुन्दर वर्ण वाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है, वह हमें शान्तिदायक और सुखदायक हो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

शिवेनं मा चक्षुषा पश्यतापः शिवयां तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यत । आपः । शिवया । तन्वा । उप । स्पृशत । त्वचम् । मे ।
घृतऽश्चुतः । शुचयः । याः । पावकाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ४ ॥

हे आपः । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अवभिमानिन्यो देवता यूयं शिवेन अक्रूरेण सुखकरेण चक्षुषा लोचनेन मा मां सेकादिना अनिष्टपरिहारेष्टप्राप्तिकामं पश्यत अवलोकयत । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इत्यस्मदो द्वितीयान्तस्य मादेशः ❀ ॥ तथा शिवया कल्याण्या इष्टप्राप्तिहेतुभूतया तन्वा युष्मदीयेन शरीरेण मे मम युष्मदनुग्रहाकाङ्क्षिणः त्वचम् त्वग्धातुम् उप स्पृशत संस्पृशत ॥ परोक्षवद् आह । घृतश्चुतः घृतं क्षरणशीलं दीप्यमानं वा अमृतं श्चोतन्ति क्षरन्तीति घृतश्चुतः अमृतस्राविण्य आपः । ❀ श्चुतिर् क्षरणे । "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

इति पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे जलके अभिमानी देवताओ ! आप अपने सुखदायक अक्रूर नेत्रसे मुझ सेक आदिसे अनिष्टको दूर करना चाहने वालेको

देखिये, तथा इष्ट प्राप्तिके कारण अपनें शरीरसे आप, आपका अनुग्रह चाहने वालेकी त्वचाका स्पर्श करिये। अमृत टपकाने वाले जल, तथा मेघमें बिजली समुद्रमें बड़वानल इस प्रकार अग्निको गर्भ में धारण करने वाले जल भी सुख और शान्तिप्रद हों ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें पाँचवाँ सूक्त समाप्त (३३) ॥

परिषज्जयकर्मणि सभाप्रवेशात् पूर्वम् "इयं वीरुत्" इति सूक्तेन मधुकाख्यां वीरुधं भक्षयेत्। सूत्रितं हि। "इयं वीरुद् इति मधुकं खादन् अपराजिताम् परिषदम् आव्रजति" इति [कौ० ५. २]॥

विवाहकर्मण्यपि एतेन सूक्तेन मधुकमणिं रक्तसूत्रेण बद्ध्वा अंगुल्यां बध्नीयात्। सूत्रितं च। "इयं वीरुद् इति मधुकमणिं लाक्षारक्तेन सूत्रेण विग्रथ्य अनामिकायां बध्नाति" इति [कौ० १०. २]॥

विवाह एव चतुर्थिकाकर्मणि शयनकाले मधुकमणिं पिष्ट्वा औक्षे प्रक्षिप्य अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य वधूवरौ परस्परं संगच्छेयाताम्। "मधुकमणिम् औक्षेऽपनीय इयं वीरुत् [१. ३४] अमोहम् [१४. २. ७१, ७२] "इति संस्पृशतः" इति [कौ० १०. ५] सूत्रितत्वात् ॥

अश्वमेधे अक्षोद्यवदनेपि एतत् सूक्तम् ॥

सभाजयके कर्ममें सभामें प्रवेश करनेसे पहिले "इयं वीरुत्" सूक्तसे मधूक (महुआ) नाम वाली वीरुत्का भक्षण करे। कौशिकसूत्र ५। २ में भी कहा है, कि—"इयं वीरुत् इति मधूकं खादन् अपराजितां परिषदं आव्रजति—इयं वीरुत् सूक्तको पढ़ मधूक खाता हुआ अपराजित सभामें जावे" ॥

विवाहकर्ममें इस सूक्तसे मधूकमणिको रक्तसूत्रसे बाँधकर अँगुलीमें बाँधे, कौशिकसूत्र १०।२ में कहा भी है, कि—"इयं वीरुदिति मधूकमणिं लाक्षारक्तसूत्रेण विग्रथ्य अनामिकायां बध्नाति।"

विवाहके चतुर्थीकर्ममें शयनके समय मधूकमणिको पीस कर आँखमें डाल इस सूक्तसे अभिमंत्रित कर वधू और वर परस्पर संगमन करें। क्योंकि—कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है, कि— "मधूकमणिं आँक्षेपनीय इयं वीरुत् (१ । ३४) अमोऽहम् (१४। २ । ७१, ७२) इति संस्पृशतः—मधूकमणिको आँखमें डाल कर "इयं वीरुत्" (१ । ३४) और "अमोहम्" चौदहवें काण्डके द्वितीय अनुवाकके ७१ और ७२ वें सूक्तसे छुएँ ।"

अश्वमेधके अक्षोधवदनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है।

तत्र प्रथमा ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि ।

मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम् । वीरुत् । मधुऽजाता । मधुना । त्वा । खनामसि ।

मधोः । अधि । प्रऽजाता । असि । सा । नः । मधुऽमतः । कृधि ॥ १ ॥

इयम् पुरोवर्तिनी सभाजयादिकर्मसु विनियुज्यमाना वीरुत् विरोहणशीला लता मधुकाख्या मधुजाता मधुनि मधुररसोपेते भूतले जाता उत्पन्ना । यद्वा मधुने मध्वर्थम् उपभोक्तृणां वचसि माधुर्यसंपादनाय जाता उत्पन्ना । अथवा मधुना क्षौद्ररसेन जाता उत्पन्ना । तस्या उत्पत्तौ क्षौद्ररस एव जलवत् कारणम् इत्यर्थः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । कर्तरि निष्ठा ❀ ॥ हे वीरुत् त्वा त्वाम् स्वभावतो मधुरां वयमपि मधुना मधुरूपेण खनित्रादिना खनामसि खनामः अवदारयामः । ❀ खनु अवदारणे । "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀ । यद्वा मधुना । ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀ । मधुरेण प्रकारेण खनामः । माधुर्यरसोपेतामेव त्वां खनामि न तु केवलाम् इत्यर्थः ॥ तथा त्वं मधोः मधुनः । ❀ लिङ्ग-

व्यत्ययः । "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति पञ्चमी ❀ । मधरूपाद् उपादानकारणात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । प्रजाता प्रकर्षेण जाता असि भवसि ॥ या त्वम् उक्तप्रकारेण आश्रयतः स्वभावतः उपादानतश्च मधुमयी भवसि सो त्वं नः अस्मान् मधुमतः मधुररसोपेतान् कृधि कुरु । कायिकवाचिकमानसरूपः अस्मदीयः सकलो व्यापारः मधुररसोपेतः सन् सर्वैरुपादेयो भवतु इत्यर्थः । ❀ डुकृञ् करणे । मध्यमैकवचने छान्दसो विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

यह आगे रक्खी हुई सभाजय आदि कर्मोंमें विनियुज्यमान वीरुत् अर्थात् विरोहणशील (चढ़ने वाली) मधूक नाम वाली लता मधुर रस वाली भूमिमें उत्पन्न हुई है । वा मधुभावके लिये उपभोग करने वालोंके वचनमें माधुर्यका सम्पादन करनेके लिये उत्पन्न हुई है अथवा क्षौद्ररससे उत्पन्न हुई है अर्थात् इसकी उत्पत्तिमें क्षौद्ररस ही जलवत् कारण है । हे वीरुत् ! तू स्वभाव से ही मधुर है हम भी तुझे मधुररूपसे खनित्र आदिसे खोदते हैं अथवा मधुररस वाली ही तुझको खोदता हूँ केवल सूखीको नहीं खोदता हूँ । तथा तू मधुररूप उपादानकारणसे उत्पन्न हुई है । इस प्रकार तू स्वभाव और उपादान दोनों प्रकारसे मधुमयी है अतः हमें भी मधुररसयुक्त कर । तात्पर्य यह है, कि–हमारे मन वाणी और शरीरका सब व्यापार मधुरतायुक्त होनेसे सबके ग्रहण करने योग्य हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जि॒ह्वाया॒ अग्रे॒ मधु॑ मे जिह्वामू॒ले म॒धूल॑कम् ।
ममेदह॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वाऽमूले । मधूलकम् ।

मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि ॥

[हे] मधुकलते त्वं [मे] जिह्वाया रसनाया अग्रे अग्रभागे मधु क्षौद्रं यथा भवति तथा वर्तस्व ॥ तथा जिह्वामूले रसनाया मूलभागे मधूलकम् मधुररसबहुलं जलमधूलकवृक्षपुष्पं यथा भवति तथा तदात्मिका वा वर्तस्व । जिह्वायां मध्वादिसंनिधानेन तन्निर्वर्त्या वागपि मधुरा सर्वेषां सुश्रवा भवतु इत्यर्थः ॥ तथा हे लते त्वं मम । इत् इति अहेति च निपातौ अवधारणार्थौ । उभाभ्याम् अन्ययोगायोगव्यवच्छेदौ क्रियेते । ममैव नान्यस्येत्यर्थः । क्रतौ कर्मणि शारीरे व्यापारे असः भव । ❀ अस भुवि । लेटि अडागमः ❀ ॥ तथा मम चित्तम् अन्तःकरणम् उपायसि उपागच्छ । मदीयः शारीरो मानसो व्यापारश्च त्वत्संनिधानात् माधुर्यरसोपेतः सर्वश्लाघ्यो भवतु इत्यर्थः ॥

हे मधूकलते ! मेरी जिह्वाके अग्रभागमें जिस प्रकार मधुरभाव रहे, तैसा तू वर्ताव कर, तथा जलमधूलक वृक्षका पुष्प जैसे मधुररससे परिपूर्ण रहता है, तिसी प्रकार मेरी जिह्वाका अग्रभाग मधुरससे पूर्ण रहे और हे मधूकलते ! तू मेरे शरीरमें और व्यापारमें रह और मेरे अन्तःकरणमें भी आ जा । तात्पर्य यह है, कि—मेरा मानसिक वाचिक और शारीरिक व्यापार तेरी समीपता से मधुररस युक्त होकर प्रशंसनीय होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

मधुऽमत् । मे । निऽक्रमणम् । मधुऽमत् । मे । पराऽअयनम् ।

वाचा । वदामि । मधुऽमत् । भूयासम् । मधुऽसंदृशः ॥ ३ ॥

हे मधुकलते त्वद्धारणेन मे मम निक्रमणम् निकटगमनं संनिहितार्थेषु प्रवर्तनं मधुमत् मधुयुक्तं स्वस्य परेषां च प्रीतिकरम् । भवतु इति शेषः ॥ तथा मे मम परायणम् परागमनं दूरगमनं मधुमत् भवतु ॥ तथा वाचा वागिन्द्रियेण यद् वदामि कथयामि तत् सर्वं मधुमत् भवतु ॥ इत्थं स्वकीयानां सर्वेषां व्यापाराणां मधुमत्त्वात् तथाविधव्यापारयुक्तः अहमपि संदृशः संद्रष्टुः सर्वस्य पुरुषस्य मधु मधुमत् प्रीतिविषयो भूयासम् । ❀ संपूर्वाद् दृशेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥

हे मधूकलते ! तुझको धारण करनेसे मेरा निकटगमन अर्थात् समीपके कार्योंमें प्रवृत्त होना अपनेको और दूसरेको प्रसन्नता देने वाला हो और मेरा परागमन भी—दूरका गमन भी—मधुरता युक्त हो और अपनी वाणीसे मैं जो कुछ कहूँ वह भी मधुरताभरा हो । इस प्रकार अपने सब व्यापारोंके मधुमय होनेके कारण मैं भी सब देखने वाले पुरुषोंका (मधु) प्रिय होऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।

मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥४॥

मधोः । अस्मि । मधुऽतरः । मदुघात् । मधुमत्ऽतरः ।

माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखाम् । मधुमतीम्ऽइव ४

हे मधुकलते त्वत्संनिधानात् मधोः मधुनः क्षौद्रात् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । मधुतरः अतिशयेन मधुररसोपेतः अस्मि भवामि ।

❀ मधुशब्दात् तरप् ❀]॥ मदुघात् मधुदुघात्। ❀ दुह प्रपूरणे। मधुशब्दोपपदाद् अस्माद् "दुहः कप् घश्च" इति कप् प्रत्ययः तत्संनियोगेन घत्वं च। मधुशब्दे धुलोपश्छान्दसः ❀। मधुस्राविणः पदार्थविशेषात् मधुमत्तरः अतिशयेन मधुमान् अस्मि। ❀ मधुशब्दाद् मतुप्। तदन्तात् "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इति तरप् ❀। स्वस्य अतिशयेन मधुमत्त्वे हेतुम् आह मामित् इति। हे मधुकलते त्वं मामित्। इच्छब्दः अवधारणे। किलशब्दः प्रसिद्धौ। मामेव खलु वनाः संभजेः। यतस्त्वं मय्येव संनिहिता अतोहं सर्वस्माद् मधुतर इत्यर्थः। ❀ वन षण संभक्तौ। अस्मात् लेटि मध्यमे "लेटोडाटौ" इत्याडागमः ❀। तत्र दृष्टान्तः। मधुमतीमिव मधुयुक्तां शाखाम् वृक्षसंबन्धिनीं यथा जनः सेवते तद्वद् इत्यर्थः॥

हे मधुकलते! मैं तेरी समीपतासे शहदसे भी मधुर होजाऊँ मधुस्रावी (मधु बहानेवाले पदार्थ) से भी अधिक मधुमय होऊँ (मेरे परम मधुर होनेका कारण यह है, कि—) हे मधुकलते! तू केवल मुझे ही सेवन करती है अतः मैं सबसे मधुर हूँ। मधुयुक्त वृक्षकी शाखाका ही जैसे सब सेवन करते हैं [इस प्रकार सब मेरा सेवन करें]॥ ४॥

पञ्चमी॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥५॥

परि। त्वा। परिऽतत्नुना। इक्षुणा। अगाम्। अविऽद्विषे।

यथा। माम्। कामिनी। असः। यथा। मत्। न। अपऽगाः।

असः॥ ५॥

हे जाये त्वा त्वां परितत्नुना परिततेन सर्वतो व्याप्तेन। ❀ तनु विस्तारे। "तनिपत्योश्छन्दसि" इति उपधालोपः ❀। तथाविधेन इक्षुणा इक्षुवद् अतिशयितमाधुर्यरसोपेतेन मधुकेन अविद्विषे आवयोः परस्परं विद्वेषणाभावाय पर्यगाम् परितः प्राप्तवान् अस्मि। ❀ इण् गतौ। "इणो गा लुङि" इति गादेशः। "व्यवहिताश्च" इति परेर्व्यवहितप्रयोगः ❀। परिगमनस्य न केवलम् अविद्वेषमात्रं फलम् अपि तु यथा येन प्रकारेण हे जाये त्वं माम् पतिं कामिनी कामयमाना असः भवेः। ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। यथा च मत् मत्तः सकाशात्। ❀ "एकवचनस्य च" इति अस्मद उत्तरस्य ङसेः अत् आदेशः। "त्वमावेकवचने" इति मपर्यन्तस्य मादेशे "शेषे लोपः" इति लोपः ❀। अपगाः. अपहाय गच्छन्ती नासः न भवेः। ❀ गाङ् गतौ। अस्माद् अपपूर्वाद् "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति विच् प्रत्ययः ❀। तथा त्वां पर्यगाम् इति पूर्वेण संबन्धः॥

इति प्रथमकाण्डे षष्ठेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम्॥

हे जाये! तुझको मैं सब ओरसे व्याप्त (मधुरतावाले) गन्नेकी समान परम मधुरभावसे हम दोनोंमें परस्पर अविद्वेष रहनेके अर्थ प्राप्त हुआ हूँ। (परिगमनका—समीप आनेका—अविद्वेषमात्र ही फल नहीं है, किन्तु) जिस प्रकार हे जाये! तू मुझ पतिकी कामना करने वाली रहे और जिस प्रकार तू मुझे छोड़ कर न जासके, इस धर्मभावसे मैं तेरे पास आया हूँ॥ ५॥

प्रथम काण्डके छटे अनुवाकमें छटा सूक्त समाप्त (३४)

"यदाबध्नन्" इति सूक्तेन सर्वसंपत्कर्मसु वासितयुग्मकुण्डलमणिबन्धनम् सारूपवत्सौदने पुरुषाकृतिम् आलिख्य तत्प्राशनं च कुर्यात्। तथा च सूत्रम्। "यदाबध्नन् १. ३५ नव प्राणान् ५. २८ इति युग्मकुण्डलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सं पुरुषगात्रं

द्वादशरात्रं संपातवन्तं कृत्वाऽनभिमुखम् अश्नाति" इति। कौ०२.२॥

तथा आयुष्कामः हिरण्यमणिं युग्मकृष्णलं संपात्य अभिमन्त्र्य स्थालीपाकं च संपात्य अभिमन्त्र्य तन्मणिब[न्]धनं तदोदनमाशनं च अनेनैव सूक्तेन कुर्यात्। तथा च सूत्रम्। "यदाबध्नन् [१. ३५] नव प्राणान् [५. २८] इति युग्मकृष्णलम् आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति" इति [कौ० ७. ३]॥

उपनयनकर्मण्यपि आयुष्कामस्य ब्रह्मचारिण आज्यहोमे विनियुक्तम्। तथा च सूत्रम्। "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" इति [कौ० ७. ८]॥

तथा "आदित्यां श्रुततेजोधनायुष्कामस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् आदित्याख्यायां महाशान्तौ युग्मकृष्णलमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "यदाबध्नन्निति युग्मकृष्णलम् आदित्यायाम्" इति [न० क० १६]॥

तथा प्रातःप्रातः अनेन सूक्तेन अलंकारान् अभिमन्त्र्य पुरोहितो राज्ञे प्रयच्छेत्। तथा च परिशिष्टे "अथ पुरोहितकर्माणि राज्ञः प्रातरुत्थितस्य कृतस्वस्त्ययनस्य" इति प्रक्रम्य उक्तम्। "परिधत्त [२, १३, २, ३] इति द्वाभ्यां राज्ञे वस्त्रम् अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत् यदाबध्नन्नित्यलंकारान्" इति [प० ४. १]॥

हिरण्यगर्भाख्ये महादानेपि अनेन सूक्तेन हिरण्यस्रजं यजमानस्य बध्नीयात्। तद् उक्तं तत्रैव। अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यम् [१६. २६] "यदाबध्नन् [१. ३५] इति हिरण्यस्रजम् आबध्य" इति [प० १३. १]॥

सर्वसम्पत् कर्मोंमें "यदाबध्नन्" इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्तसे त्रयोदशीसे आरम्भ कर तीन दिन तक नीलमको दही और मधुसे पूर्णपात्रमें रख उसको बाँधे और अपने तथा बछड़े के एकसे रूपवाली गौके दूधमें बने भातमें पुरुषकी आकृति खींच

उसका भक्षण करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २। २ में कहा है कि—“यदाऽबध्नन् नवप्राणान् इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सम् पुरुषगात्रं द्वादशरात्रं सम्पातवन्तं कृत्वाभिमुखं अश्नाति—“यदाबध्नन्” इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्त और “नव प्राणान्” इस पञ्चमकाण्डके अट्ठाइसवें सूक्तसे दो वासित नीलम मणियोंको बाँधे और अपने तथा बछड़ेके एकसे रूपवाली गौके दूधके भातके पुरुषशरीर पर बारह रात्रि तक होमकर उस को अनभिमुख करके भक्षण करे॥

इसी प्रकार आयु चाहने वाला पुरुष हिरण्यमणिको और दो नीलमोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके और स्थालीपाकको भी सम्पातित और अभिमन्त्रित करके मणियोंका बाँधना और भातका भक्षण इसी सूक्तसे करे॥ इसी बातको कौशिकसूत्र ७। ३ में कहा है, कि—“यदाबध्नन् (१। ३५) नव प्राणान् (५। २८) इति युग्मकृष्णलं आदिष्टानां स्थालीपाकं आशाय बध्नात्याशयति” ॥

और इस सूक्तका उपनयनकर्मके समय आयु चाहने वाले ब्रह्मचारीके घृतहोममें विनियोग किया जाता है॥ इसी बातको कौशिकसूत्र ७। ८ में कहा है, कि—“मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्—मेधाजनन और आयुष्यगणके सूक्तोंसे होम करे” ॥

तथा “आदित्यां श्रुततेजोधनायुष्कामस्य—वेद तेज धन और आयुकी कामना वालेके लिये आदित्या महाशांतिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आदित्या नाम वाली महाशांतिमें दो नीलम बाँधनेके समय भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि—“यदाऽबध्नन्निति युग्मकृष्णलं आदित्यायाम्—आदित्या महाशांतिमें “यदाऽबध्नन्” इस सूक्त से दो नीलमोंको बाँधे॥

तथा पुरोहित प्रतिदिन प्रातःकालके समय इस सूक्तसे अलंकारोंको अभिमन्त्रित कर राजाको दे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्ट ४। १ में कहा है, कि—"अथ पुरोहितकर्माणि राज्ञः प्रातरुत्थितस्य कृतस्वस्त्ययनस्य" इति प्रक्रम्य उक्तम् "परिधत्त (२। १३। २, ३) इति द्वाभ्यां राज्ञे वस्त्रं अभिमन्त्र्य प्रयच्छेद् यदाबध्नन्नित्यलंकारान्—अब पुरोहितके कर्मोंको कहते हैं, कि-प्रातःकाल जब राजा उठे और उसका स्वस्त्ययन होजाय० तब दूसरे काण्डके १३ वें अनुवाकके दूसरे और तीसरे सूक्तसे वस्त्रोंको अभिमन्त्रित कर राजाको दे। तथा 'यदाबध्नन्' सूक्तसे अलंकारोंको अभिमंत्रित करके दे" ॥

हिरण्यगर्भ नाम वाले महादानमें भी इस सूक्तसे सुवर्णकी मालाको यजमानके बाँधे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्ट १३। १ में कहा है, कि—"अग्ने प्रजातं परि यद्धिरण्यं" इस उन्नीसवें काण्डके छब्बीसवें सूक्तसे और "यदाबध्नम्" इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्तसे सुवर्णकी मालाको गूँथ कर (पहिरावे) ॥"

तत्र प्रथमा ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

यत् । आऽअबध्नन् । दाक्षायणाः । हिरण्यम् । शतऽअनीकाय । सुऽमनस्यमानाः ।
तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । दीर्घायुऽत्वाय ।

शतऽशारदाय ॥ १ ॥

दाक्षायणाः दक्षस्य अपत्यं दाक्षिः । ❀ "अत इञ्" इति इञ् प्रत्ययः ❀ । दाक्षेरपत्यं दक्षस्य गोत्रम् । ❀ तत्र "यञिञोश्च" इति फक् । "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" इति फस्य आयन् आदेशः । ["ञ्नित्यादिर्नित्यम्"] इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । दक्षापत्यभूता महर्षयः सुमनस्यमानाः । शोभनं मनो येषां ते सुमनसः । सुमनस इव आचरन्तः सुमनस्यमानाः । ❀ सुमनस्शब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । सलोपस्य विकल्पितत्वाद् अत्र अभावः । यद्वा प्राग् असुमनसः सुमनसो भवन्तीति च्व्यर्थविवक्षायां "भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः" इति क्यङ् । अन्त्यहलो लोपाभावश्छान्दसः । तदन्तात् लटः शानच् । "कर्तरि शप्" इति शप् प्रत्ययः । तस्य पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०" इति शानचोऽनुदात्तत्वम् । क्यङः प्रत्ययस्वरेण उदात्तता ❀ । सौमनस्यं कुर्वाणाः सन्तः शतानीकाय । शतम् अनीकानि यस्यासौ शतानीकः । ❀ "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः ❀ । "शतानीकं सात्राजितम् अभिषिषेच" इति [ऐ० ब्रा० ८, २१] श्रुतिप्रसिद्धाय राज्ञे यत् प्रसिद्धं कृष्णलादिरूपं हिरण्यम् हितरमणीयरूपं सुवर्णम् । ❀ हिरण्यशब्दं बहुधा यास्को निरवोचत् । हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः इति [नि० २, १०] । हर्य गतिकान्त्योः । हर्यतेः कन्यन् हिर च इति [उ० ५, ४४] कन्यन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । आबध्नन् बन्धनं कृतवन्तः । ❀ बन्ध बन्धने । अस्मात् लङि श्नाप्रत्ययः । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इत्याकारलोपः । "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" इति अट उदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति

निघातप्रतिषेधः ❀। तत् तथाविधं हिरण्यम् हे आयुरादिफल-काम ते तव बध्नामि बन्धनं करोमि। तद्बन्धनस्य फलम् आह। आयुषे आयुरभिवृद्धये वर्चसे तेजसे बलाय बलप्राप्तये। आयुष इत्युक्तं तदेव विवृणोति। दीर्घायुत्वाय दीर्घायुष्ट्वाय। ❀ छान्दसः सलोपः ❀। चिरकालजीवनाय। कियत्परिमितम् आयुषो दैर्घ्यम् इति तद् आह। शतशारदाय। शरदृतोः संबन्धिनः तद्विशिष्टाः संवत्सराः शारदाः। शतं शारदाः समाहृता यस्मिन् जीवने तत् शतशारदम्। तस्मै। शतसंवत्सरजीवनायेत्यर्थः। आयुर्दैर्घ्यपरि-च्छेदस्तु मनुष्याणां परमायुर्विवक्षयेति द्रष्टव्यम्। तथा च श्रुत्य-न्तरम्। "शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः" [तै० सं० २. ३. ११. ५] इति॥

हे आयु आदिका फल चाहने वाले! मैं तेरी आयुकी वृद्धिके लिये तेज और बलकी प्राप्तिके लिये तथा तुझे सौ ‡ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करानेके लिये शोभन मन वाले दक्षगोत्री महर्षियोंने श्रुतिप्रसिद्ध शतानीक † राजाके जो हृदयको आनन्द देने वाला नीलम आदि हिरण्य बाँधा था उस हृदयको आनन्द देने वाले हिरण्यको तेरे बाँधता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथ-मजं ह्ये३तत्।

‡ तैत्तिरीयसंहिता २। ३। ११। ५ में कहा है, कि—"शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः—पुरुषोंकी आयु सौ वर्षकी होती है०"॥

† ऐतरेयब्राह्मण ८। १ की श्रुतिमें कहा है, कि—"शतानीकं सात्राजितं अभिषिषेच-सत्राजित्के पुत्र शतानीकका अभिषेक किया

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न । एनम् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् । ओजः । प्रथमऽजम् । हि । एतत् ।

यः । बिभर्ति । दाक्षायणम् । हिरण्यम् । सः । जीवेषु । कृणुते । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

एनम् आबद्धहिरण्यं पुरुषं रक्षांसि राक्षसाः । ❀ रक्षो रक्षितव्यम् । अस्मात् इति हि यास्कः [नि० ४. १८] ❀ । न सहन्ते नाभि भवन्ति । ज्वराद्युपद्रवकरणेन न बाधन्त इत्यर्थः । ❀ षह अभिभवे इति धातुः ❀ ॥ तथा पिशाचाः पिशिताशिनो भूतविशेषाः न सहन्ते ॥ धृतहिरण्यस्य ईदृशं सामर्थ्यं कुत इत्यत आह देवानाम् इति । एतत् सुवर्णं देवानाम् इन्द्रादीनां प्रथमजम् प्रथमत उत्पन्नम् । ❀ जनी प्रादुर्भावे । "अन्येषामपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः ❀ । ओजो हि । [ओजः] शरीरधारको बलहेतुः अष्टमो धातुविशेषः । यद् आहुराचार्याः ।

ओजो नामाष्टमी दशा ।
क्षेत्रज्ञस्य तद् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते । इति ।

यद्वा देवानाम् । आदरार्थं बहुवचनम् । देवस्य अग्नेः एतत् हिरण्यं प्रथमजम् ओजः प्रथमोत्पन्नं रेतोरूपं तेजो हि ॥ यस्मात् कारणाद् रक्षसां हन्तुरग्नेस्तेजो हिरण्यम् "अग्निः खलु वै रक्षोहा" [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति श्रुतेः तस्मात् हिरण्यं रक्षोनिवर्तकम् इत्यर्थः ॥ हिरण्यस्य अग्निरेतस्त्वं तैत्तिरीयके

श्रूयते। "आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्। ता अग्निरभ्यध्यायत् ताः समभवन्। तस्य रेतः परापतत्। तद्धिरण्यम् अभवत्" [तै० ब्रा० १. १. ३. ८] इति यतो हिरण्यं रक्षोघ्नम् अतस्तद् दाक्षायणम्। दाक्षायणैः शतानीकस्य प्रथमम् आबद्धत्वात् हिरण्यमपि दाक्षायणम् उच्यते। तथाविधं हिरण्यं यः पुरुषो रक्षोवधकामो बिभर्ति। ❀ डुभाञ् धारणपोषणयोः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। "श्लौ" इति द्विर्वचने "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्वम्। "भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। स पुरुषः जीवेषु प्राणिषु मध्ये दीर्घम् शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः जीवनकालं कृणुते करोति। रक्षाकरहिरण्यधारणात् निरामयः सन् शतसंवत्सरं जीवतीत्यर्थः। ❀ डुकृञ् करणे। व्यत्ययेन श्नुः ❀॥

जिसके हिरण्य बँधा हुआ होता है उस पुरुषको राक्षस † ज्वर आदिका उपद्रव करके पीड़ा नहीं देते हैं और कच्चे मांस का भक्षण करने वाले पिशाच भी उसको पीड़ा नहीं दे सकते (अब इस शङ्काका उत्तर देते हैं, कि—हिरण्य धारण करनेवाले पुरुषोंमें ऐसी शक्ति कैसे होती है? कि—) यह सुवर्ण इन्द्र आदि देवताओंसे पूर्व उत्पन्न हुआ। शरीरधारक बलकारक आठवीं धातु है ÷ अथवा यह सुवर्ण अग्निदेवका प्रथम उत्पन्न हुआ

† "रक्षो रक्षितव्यं अस्मात् इति हि यास्कः—यास्क मुनिने कहा है, कि—जिससे रक्षा करनी चाहिये, वह राक्षस कहलाता है" (निरुक्त ४। १८)॥

÷ आचार्योंने भी कहा है, कि 'ओजो नामाष्टमी दशा। क्षेत्रज्ञस्य तत् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते- ओज नामकी आठवीं धातु है, वह ओज क्षेत्रज्ञ (जीव) का एकमात्र आश्रय है" ॥

ओज (वीर्य) है × (तात्पर्य यह है, कि—राक्षसोंके संहारक अग्निका तेज-सुवर्ण ही है अतः सुवर्ण राक्षसोंको दूर करनेवाला है) सुवर्ण राक्षसोंका संहार करने वाला है अत एव यह दाक्षायण कहलाता है। ऐसे सुवर्णको राक्षसोंका संहार करना चाहने वाला जो पुरुष धारण करता है, वह पुरुष प्राणियोंमें अपनी सौ वर्ष तककी दीर्घायु कर लेता है। तात्पर्य यह है, कि—वह रक्षा करने वाले सुवर्णको धारण करनेसे सौ वर्ष तक जीवित रहता है॥

तृतीया॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्॥ ३॥

अपाम्। तेजः। ज्योतिः। ओजः। बलम्। च। वनस्पतीनाम्। उत। वीर्याणि।

इन्द्रेऽइव। इन्द्रियाणि। अधि। धारयामः। अस्मिन्। तत्। दक्षमाणः। बिभरत्। हिरण्यम्॥ ३॥

अपाम् उदकानां संबन्धि यत् तेजः स्नानपानादिना नैर्मल्यकरं सामर्थ्यम्। अपां तेजः वनस्पतीनाम् वीर्याणि इत्याद्यन्तयोर्गुणानां गुणविशेषसंबन्धश्रवणात् मध्येपि ज्योतिरादीनां यथा-

---

× सुवर्ण अग्निका वीर्य है इस बातको तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।८ में कहा है, कि—“तस्य रेतः परापतत् तद्धिरण्यमभवत्—अग्निका वीर्य गिरा और वह सुवर्ण हुआ”॥

योगं गुणिविशेषसंबद्धानामेव अत्र ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तथा च ज्योतिष्मतां सूर्यचन्द्रादीनां संबन्धि यत् ज्योतिः ओजस्विनाम् इन्द्रादीनां संबन्धि यद् ओजः बलहेतुभूतो धातुविशेषः । इन्द्रस्य ओजस्वित्वं यजुर्मन्त्रवर्णे प्रसिद्धम् । "इन्द्रौजस्विन्नोजस्वी त्वं देवेषु भूयाः" [तै० सं० ३. ३. १. १]। इति बलवतां पुरुषाणां यद् बलम् शरीरसामर्थ्यम् । उक्तसर्वसमुच्चयार्थश्चकारः । उतशब्दः अप्यर्थे । वनस्पतीनाम् वृक्षविशेषाणां वीर्याणि उपकारजननसामर्थ्यान्यपि यानि सन्ति । वनानां पतयो वनस्पतयः । ❀ "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इति सुडागमः । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तत्वम् ❀ । तानि सर्वाणि अस्मिन् उक्तहिरण्यधारके पुरुषे । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । धारयामः स्थापयामः । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रियाणि इन्द्रस्य असाधारणचिह्नानि । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा" इति निपात्यते ❀ । तानि इन्द्र इव । यथा तानि इन्द्र एव असाधारण्येन वर्तन्ते तद्वद् अस्मिन्निति संबन्धः । यस्मात् तेजःप्रभृतीनि धारयामः तत् तस्मात् कारणाद् दक्षमाणः वर्धमानः असौ पुरुषः । ❀ दक्ष वृद्धौ इति धातुः ❀ । हिरण्यम् तेजःप्रभृतीनां प्रापकं कृष्णलादिमणिरूपं बिभरत् बिभर्तु । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचने "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्वम् ❀ ॥

जलोंका जो स्नान पान आदिसे निर्मल करने वाला तेज है ज्योति वाले सूर्य चन्द्र आदिकी जो ज्योति है, ओजस्वी इन्द्र आदिका जो ओज है† और बलवान् पुरुषोंके शरीरकी सामर्थ्य

† इन्द्रका ओजस्वीपन तैत्तिरीयसंहिता ३ । ३ । १ । १ में

रूप जो वल है और वनस्पतियोंका उपकार करनेमें समर्थ जो वीर्य है, उस सबको हम इस हिरण्यधारक पुरुषमें स्थापित करते हैं (उसमें दृष्टान्त यह है, कि–) इन्द्रके असाधारण चिह्न जैसे इन्द्रमें ही रहते हैं, इसी प्रकार हम उपर्युक्त वस्तुओंको इस पुरुषमें स्थापित करते हैं। हम इसमें तेज आदिको स्थापित करते हैं, अतएव यह वृद्धि पानेवाला पुरुष तेज आदिको प्राप्त करानेवाले नीलम-मणि आदि सुवर्णको धारण करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥

समानाम् । मासाम् । ऋतुऽभिः । त्वा । वयम् । सम्ऽवत्सर-स्य । पयसा । पिपर्मि ।

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः

हे सर्वसम्पदादिफलकाम त्वा त्वां समानाम् संवत्सराणां मासाम् मासानाम् । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इति मासशब्दस्य मास्भावः । "ऊडिदंपदाद्य०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । व्यधिकरणे षष्ठ्यौ ❀। संवत्सरसंबन्धिनां चैत्रादिमासानां संबन्धिभिर्ऋतुभिः वसन्तादैः। समाशब्दो यद्यपि नित्यबहुवचनान्तः तथाप्यत्र अर्थबहुत्व एव बहुवचनं विवक्षितम् । तत्सामर्थ्येन पुरुषायुषसंबन्धिशतसंवत्सरा-वयवभूतमासारब्धैर्ऋतुभिरित्यर्थः संपद्यते । तथाविधैः ऋतुभिः वयम् । ❀ व्यत्ययेन बहुवचनम् ❀ । अहं पिपर्मि पूरयामि ।

वर्णित है । यथा–"इन्द्रौजस्विन्नोजस्वी त्वं देवेषु भूयाः–हे ओज-स्विन् इन्द्र ! तुम देवताओंमें बलवान् हो" ॥

एतत्सुवर्णधारणेन एनं पुरुषं शतसंवत्सरपर्यन्तं जीवयामीत्यर्थः। ❁ पॄ पालनपूरणयोः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। "अर्तिपिपर्त्योश्च" इत्यभ्यासस्य इत्वम् ❁ ॥ यद्वा समानाम् आरम्भकैः ऋतुभिः। ऋतुसमुदायो हि संवत्सरः। तथा मासाम् मासानां कार्यभूतैः ऋतुभिः इति षष्ठीद्वयस्य ऋतुशब्देनैव संबन्धः॥ दरिद्रस्य दीर्घमपि आयुर्निरर्थकम् इत्यत आह संवत्सरस्येति। संवत्सरस्य संवत्सरकालसंबन्धिना। संवत्सरव्यापिनेत्यर्थः। तादृशेन पयसा क्षीरेण। एतद् अन्येषामपि फलानाम् उपलक्षणम्। गोधनधान्यादिरूपेण च पिपर्मि पूरयामि। एतत्सुवर्णधारकस्य पुरुषस्य आयुर्मध्ये यथा एकमपि दिनम् उक्तफलरहितं न भवति तथा करोमीत्यर्थः॥ क्रियमाणेर्थे देवानाम् अनुमतिं प्रार्थयते। इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च। ❁ "देवताद्वन्द्वे च" इति प्राप्तस्य उभयपदप्रकृतिस्वरत्वस्य "नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ०" इति प्रतिषेधे "समासस्य" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❁। तथा विश्वे सर्वे अन्येपि देवाः ये सन्ति ते सर्वे अहृणीयमानाः। ❁ हृणीयतिः क्रुध्यतिकर्मा ❁। अक्रुध्यन्तः क्रियमाणकर्मणि संभवद्वैकल्यनिमित्तं क्रोधम् अकुर्वन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुजानन्तु। सुवर्णधारणादिक्रियाजनितम् आयुरादि फलम् अंगीकुर्वन्तु इत्यर्थः। ❁ हृणीङ् इति कण्ड्वादिषु पाठात् "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। तस्य ङित्त्वाद् आत्मनेपदम्। नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❁ ॥

इति प्रथमकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ १॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरंधरेण
सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
प्रथमकाण्डः समाप्तः॥

हे सर्वसम्पत्तिरूप फल चाहने वाले! मैं तुझको वर्षोंकी आरम्भक ऋतुओंसे और तथा मासोंकी कार्यभूत वसन्त आदि ऋतुओंसे पूरित करता हूँ अर्थात् सुवर्णधारणसे तुझको मैं सौ वर्षतक जीवित रखता हूँ (दरिद्रकी अधिक अवस्था भी निरर्थक है, अतः) तुझको मैं सम्वत्सरपर्यन्त रहनेवाले दुग्धसे पूर्ण करता हूँ और वर्षों रहने वाले गौ धन धान्य आदिसे भी पूर्ण करता हूँ। तात्पर्य यह है, कि–तुझ सुवर्णधारक पुरुषकी आयुमें एक दिन भी उक्तफल रहित न बीते ऐसा प्रबन्ध करता हूँ (अब इस कर्ममें देवताओंकी अनुमतिकी प्रार्थना करते हैं, कि–) इन्द्र और अग्नि देवता तथा अन्यान्य सब देवता भी इस वर्तमान कर्ममें त्रुटियों पर क्रोध न कर सुवर्णधारण आदि क्रियासे उत्पन्न हुए आयु आदि फल प्राप्त होनेकी अनुमति दें॥ ४ ॥

प्रथमकाण्डके छठे अनुवाकमें सातवाँ सूक्त समाप्त (३५) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका प्रथमकाण्ड ऋ० कु०

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका-

सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

प्रथमः काण्डः समाप्तः

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

द्वितीयं-काण्डम्

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥१॥

सकल कार्योंके आरम्भमें वागीश आदि देवता जिनको प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं, उन गजानन गणेशजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंसे संपूर्ण जगत् को रचा है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

द्वितीये काण्डे षड् अनुवाकाः। तत्र प्रथमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "वेनस्तत्" इति प्रथमं सूक्तम् । तस्य अभिमतफलसिद्ध्य-सिद्धिविज्ञानकर्मसु विनियोगः । तानि च । पञ्चपर्वयुतवेणुदण्डं काम्पीलवृक्षशाखां युगं वा अभिमन्त्र्य अभिमतकार्यं संचिन्त्य समे देशे ऊर्ध्वं धारयेत् । यदि दण्डादयश्चिन्तितदिशि निपतेयुः तदा कार्यसिद्धिं जानीयात् विपर्यये तु असिद्धिम् ॥

तद्वदेव इषुं संधाय अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य विसृजेत् । निर्दिष्टलक्ष्यपतनेन अर्थसिद्धिः ॥

तथैव उदकपूर्णे कुम्भे कमण्डलौ वा दुग्धं प्रक्षिप्य आयाचेत्। ऊनेन अधिकेन वा यथासंकल्पं अर्थसिद्धिः ॥

तथैव दर्भस्तम्बम् अनेन अभिमन्त्र्य कार्यं चिन्तयित्वा गणयेत् । समसंख्यायाम् अभिमतसिद्धिः ॥

एवम् इध्मम् अभिमन्त्र्य अग्नौ प्रक्षिपेत् । प्रदक्षिणज्वलनेन इष्टसिद्धिः ॥

तथैव अक्षान् अनेन अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेत् । इष्टसंख्यापतनेन कार्यसिद्धिः ॥

एवं हस्तयोरङ्गुलिद्वयम् अनेन अभिमन्त्र्य चिन्तयेत् । उद्दिष्टांगुलिस्पर्शनेन अभिलषितसिद्धिः ॥

तथैव एकविंशतिसंख्याकाः शर्करा अभिमन्त्र्य ततो गृहीत्वा विभजेत् । यथोद्देशं समविषमभावेन अर्थसिद्धिः ॥

तथा नष्टद्रव्यविज्ञानार्थम् उदकुम्भम् हलम् अक्षान् वा नवःवस्त्रेण आवेष्ट्य संपात्य अभिमन्त्र्य अरजोविचे कुमार्यौ हरतम् इति ब्रूयात् । ते च येन दिग्भागेन हरेतां ततो नष्टम् इति जानीयात्

तथैव विवाहात् प्राक् कुमार्याः सौभाग्यादिलक्षणविज्ञानकर्मण्यपि आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्टचतुष्पथलोष्टश्मशानलोष्टरूपाश्चतस्रो मृत्तिका अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्र्य आसाम् अन्यतमां गृहाणेति कुमारीं ब्रूयात् । तत्र आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्टयोः स्पर्शने कल्याणं भवति। आकृतिलोष्टः क्षेत्रमृत्तिकेति पूर्वम् उक्तम् । चतुष्पथलोष्टस्पर्शनेन।मरिष्यतीति जानीयात् ॥

तथा कुमार्या अञ्जलौ उदकम् आपूर्य अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेति तां ब्रूयात् । यदि प्राचीं दिशं प्रति निनयेत् तदा कल्याणं प्रतीयात् ॥

अत्र सूत्रम् । "वेनस्तत् इति पञ्चपर्वेषुकुम्भकमण्डलुस्तम्बकाम्पीलशाखायुगेध्माक्षेषु पाण्योरेकविंशत्या शर्कराः" इत्यादि "उदकाञ्जलिं निनयेत्याह प्राचीनम् अपदिपन्त्यां कल्याणम्" इत्यन्तं द्रष्टव्यम् [कौ० ५. १] ॥

अत्र "स नः पिता जनिता" [२. १. ३] इत्यस्या ऋचः अग्निचयने षोडशगृहीतोत्तरार्धाज्येन वैश्वकर्महोमे विनियोगः । उक्तं वैताने । "यो विश्वचर्षणिः [१३. २. २६] इत्यौपवसथ्ये

षोडशगृहीतार्थस्य स नः पिता जनिता [२. १. ३] इत्युत्तरार्धस्य" इति [वै ० ५. २]॥

द्वितीयकाण्डमें छः अनुवाक हैं। पहिले अनुवाकमें छः सूक्त हैं। उनमें "वेनस्तत्" यह प्रथमसूक्त है। इसका अभिलषित फल की सिद्धि वा असिद्धिके जाननेके कर्मोंमें विनियोग किया जाता है। वे कर्म ये हैं—

पाँच गाँठ वाले बाँसके दण्डेको, कबीलेके वृक्षकी शाखाको वा धुगको अभिमन्त्रित करके अभिलषित कार्यको विचार. कर समदेशमें ऊपरको खड़ा कर देय, यदि दण्ड आदि विचारी हुई दिशामें गिरें तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा और न चाहीहुई दिशामें दण्ड आदिके गिरने पर जाने, कि—काम सिद्ध नहीं होगा॥

इसी प्रकार बाणको चढ़ा कर इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके छोड़ देय। यदि बाण निर्दिष्ट स्थान पर गिरे तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार जलसे पूर्ण कुम्भमें वा कमण्डलुमें दुग्ध डाल कर मनमें प्रार्थना करे। संकल्पके अनुसार कम वा अधिक होने पर अर्थसिद्धि समझे ॥

इसी प्रकार कुशाग्रोंके मुठेको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके कार्यको विचार कर गिने, यदि संख्या सम हो तो समझे, कि कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार ईंधनको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके अग्निमें डाले, यदि प्रदक्षिणा करने पर अग्नि प्रज्वलित होजाय, तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे फाँसोंको अभिमन्त्रित करके फेंके, यदि मनचाही संख्या गिरे तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार दोनों हाथकी दो अंगुलियोंको इस सूक्तसे अभि-

मन्त्रित करके विचारे, यदि उद्दिष्ट अंगुलिका स्पर्श हो तो समझे कि-कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार रेतेके इकीस कणोंको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करे फिर उनका विभाग करे। उस समय विचारके अनुसार सम वा विषम संख्या आने पर समझे, कि-प्रयोजनकी सिद्धि होगी

इसी प्रकार खोये हुए द्रव्यको जाननेके लिये जलपूर्ण कुम्भको, हलको वा फाँसोंको नवीन वस्त्रसे ढक कर संपात (उसके निमित्त होम)और अभिमन्त्रण करके रजोधर्मरहित दो कुमारियोंसे कहे,कि-इनको उठाकर लेजाओ। वे जिस दिशाकी ओर इनको ले जावें उस ही दिशाकी ओर खोये हुए धनको गया हुआ समझे ॥

इसी प्रकार विवाहसे पहिले कुमारीके सौभाग्य आदि लक्षणोंको जाननेके लिये एक स्वाभाविक ढला, एक वमईका ढला एक चौराहेका ढला और एक श्मशानका ढला इसी प्रकार ढलेरूप चार मृत्तिकाओंको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके कुमारीसे कहे कि-इनमेंसे एकको उठा ले। इनमेंसे स्वाभाविक ढले और वमईके ढलेको छूनेसे कल्याण होता है-आकृतिलोष्ट (स्वाभाविक ढला) खेतकी मट्टीका नाम है, यह बात पहिले कही जा चुकी है—और चौराहेकी मट्टीको छूनेसे समझे कि-मरण होगा ॥

इसी प्रकार कुमारीकी अंजलिमें जल भर कर अभिमन्त्रण करके कहे कि-इसको डाल दे यदि वह पूर्वदिशाकी ओर फैंके तो समझे, कि-कल्याण होगा ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है। कौशिकसूत्र ५।१ "वेनस्तत् इसी पञ्चपर्वेषुकुम्भकमण्डलुस्तम्बकाम्पील शाखायुग्मेष्वासेषु पाण्योरेकविंशत्या शर्कराः" से "उदकांजलिं निनयेत्याह प्राचीनं अपदिपन्त्यां कल्याणम्" तकका सूत्र देखो ॥

इस सूक्तकी "स नः पिता जनिता" (२।१।३)इस तीसरी ऋचाका अग्निचयनमें षोडशगृहीतउत्तरार्थ घृतसे वैश्वकर्म होम

करनेमें विनियोग किया जाता है। इसी बातको वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—"यो विश्वचर्षणिः इत्यौपवसथ्ये षोडशगृहतार्धस्य स नः पिता जनिता इत्युत्तरार्धस्य—अर्थात् "यो विश्वचर्षणिः इस तेरहवें काण्डके दूसरे अनुवाकके छब्बीसवें सूक्तके औपवसथ्यमें षोडशगृहीतार्धघृतका "स नः पिता जनिता" इस दूसरे काण्डके प्रथम अनुवाकके प्रथमसूक्तके तीसरे मंत्रमें विनियोग कियाजाता है।

तत्र प्रथमा ॥

वेनस्तत् पंश्यत परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥१॥

वेनः। तत्। पश्यत्। परमम्। गुहा। यत्। यत्र। विश्वम्।
भवति। एकऽरूपम्।
इदम्। पृश्निः। अदुहत्। जायमानाः। स्वःऽविदः। अभि। अनूषत। व्राः ॥ १ ॥

वेनतेः कान्तिकर्मसु पाठाद् दीप्यमान आदित्यो वेन इत्युच्यते। ❀ वेनोः वेनतेः कान्तिकर्मण इति हि यास्कः [नि० १०. ३८] ❀। गुहा गुहायाम्। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀। गुहारूपे सर्वप्राणिहृदये यत् श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमम् ब्रह्म। यत्र यस्मिन् अधिष्ठानरूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितं कृत्स्नं जगत् एकरूपम् एकाकारं भवति आरोपितस्य अधिष्ठानव्यतिरेकेण सत्त्वाभावात्। आह स्म भगवान् बादरायणः। "तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः" इति [बा० २. १. १४]। ❀ भवतीति। शप्तिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। "तिङ्ङतिङः" इति निघातस्य च "निपातैर्यद्यदि-

इन्त०" इति [प्रतिषेधः ❀ । तत् उक्तलक्षणं ब्रह्म वेनः पश्यत् अपश्यत् । स्वानन्यत्वेन साक्षात्कृतवान् इत्यर्थः । ❀ दृशेर्लङि "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀॥ पृश्निः। दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत् । भासोज्ज्वलवर्ण आदित्यः । ❀ आह च यास्कः । पृश्निरादित्यो भवतिप्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः [नि० २. १४] इति ❀ ।इदम् भूतभौतिकप्रपञ्चजातम् अदुहत् । अनुद्भूतनामरूपात्मकं जगत् ब्रह्मानन्यत्वेन सर्वशक्तित्वाद् उद्भूतनामरूपत्वेन व्यक्तम् अकार्षीद् इत्यर्थः । ❀ दुहेर्लुङि छान्दसः अट् ❀ ॥ जायमानाः उत्पद्यमाना [व्राः]। व्रियन्त इति व्राः । ❀ घञर्थे कविधानम् "स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" इति परिगणनस्य उपलक्षणार्थत्वात् वृञ् वरणे इत्यस्मात् कप्रत्ययः ❀ । आवृतात्मानः प्रजाः स्वर्विदः । स्वःशब्दाभिधेयम् आदित्यं स्वोत्पादकं विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः । ❀ स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरण इति हि निरुक्तम् [नि० २. १४] ❀ । अभ्यनूषत आभिमुख्येन तम् आदित्यं स्तुवन्ति । ❀ णु स्तवने। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लुङ् । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । कुटादित्वेन सिचो ङित्त्वाद् गुणाभावः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः ❀ ॥ यद्वा । वेनः पर्जन्यात्मा मध्यमस्थानो देवः । "वायुः वरुणः" इति प्रक्रम्य "वेनः असुनीतिः" इति [निघ० ५. ४] मध्यमस्थानदेवगणे पाठात् । तत् आदित्यमण्डलस्थम् उदकं पश्यति । तदेव विशिनष्टि । परमम् उत्कृष्टं गुहारूपे आदित्यमण्डले यद् उदकम् अस्ति । यत्र च उदके विश्वम् जगत् एकरूपम् नैमित्तिकप्रलये उदकात्मकं भवति । ❀"आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्" [तै० सं० ७. १. ५. १] इति "आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः" [तै० आ० १०. २२] इति च श्रुतेः ❀ ॥

अथ वा यत्र यस्मिन्नुदके विषये विश्वम् एकरूपम् उपजीव्यत्वेन एकाकारबुद्धिमद् भवति । ❀ श्रूयते हि । "नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि समनसः" [तै० सं० ५. २. १. ३] इति ❀ । तत् पश्यतीति संबन्धः ॥ इदम् । उदकनामैतत् । उदकम् उक्तम् उदकं पृश्निः आदित्यः तद्रश्मिसमूहो वा अदुहत् वर्षति । ❀ "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति" इति [तै० सं० २. ४. १०. २] "याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति" [तै० आ० १०. ६३] इति तैत्तिरीयकश्रुतेः ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

इति [म० स्मृ० ३. ७६] स्मृतेश्च ❀ ॥ जायमानाः पृश्नेरुत्पद्यमानाः स्वर्विदः सुखस्य लम्भयित्रीः ग्राः व्रियमाणाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणा अपः सर्वे जना अभ्यनूषत अभिष्टुवन्ति ॥ एवम् उक्तलक्षणः सर्वज्ञ आदित्यः शुभाशुभविज्ञानं करोतु इति विज्ञानकर्मणा संबन्धः ॥

सब प्राणियोंकी हृदयरूप गुफामें जो दूसरी श्रुतिमें प्रसिद्ध सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाला परम ब्रह्म है। जिस अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार–एकरूप–होजाता है (क्योंकि आरोपित वस्तु अधिष्ठानसे अलग नहीं रहसकती) ऐसे ब्रह्मको वेन–सूर्य–ने देखा † (स्वानन्यरूपसे साक्षात्कार किया ‡) इस

† वेन धातुका कान्तिकर्म वाली धातुओंमें पाठ है अत एव दिपते हुए आदित्य वेन कहलाते हैं। यास्कमुनिने भी निरुक्त १० । ३८ में कहा है, कि–"वेनो वेनतेः कांतिकर्मणः–कांतिकर्म वाली वेन धातुसे वेन शब्द बना है" ॥

‡ वेदांतसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथमपादके चौदहवें सूत्रमें भी भगवान् व्यासजीने यही बात कही है, कि—"तदनन्यत्वम

अप्रकट नाम रूपवाले भूत भौतिक प्रपञ्च जगत्को ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण सर्वशक्ति संपन्न होनेसे पृश्नि (सूर्य वा आकाश ÷) ने प्रकट नाम और रूप वाला किया है। आहृत आत्मा वाली उत्पन्न हुई प्रजाएँ अपने उत्पादक इस पृश्निको—आदित्य-को जानती हैं और अभिमुख होकर उस आदित्यकी स्तुति करती हैं

अथवा—मध्यमस्थानीय (वेन) पर्जन्य × जिस जलमें सारा संसार उपजीव्य होनेके कारण एकमत + होता है और जिस जलमें नैमित्तिक प्रलयके समय सारा जगत् उदकात्मक एकरूप होजाता है, † उस आदित्यमण्डलरूप गुहामें विराजमान

आरम्भणशब्दादिभ्यः-आरम्भणशब्द आदिसे ब्रह्मका अनन्यत्व है।"

÷ यास्कमुनिने निरुक्त २।१४ में कहा है, कि—"पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः—पृश्नि आदित्य है, क्योंकि—वर्ण इनका प्राशन करता है॥"

× वेन शब्दसे मध्यमस्थानीय पर्जन्य भी समझा जाता है। निघण्टु ५।४ में 'वायुः वरुणः' इस पाठका आरम्भ करके कहा है, कि—"वेनः असुनीतिः" इस प्रकार वेनका मध्यमस्थानीय देवताओंमें पाठ है॥

+ तैत्तिरीयसंहिता ५।२।१।२ में कहा है, कि—नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि समनसः—जीव अनेक प्रकारके मन (विचार) और व्रत वाले हैं, परन्तु जलके विषयमें सबका एकमत है॥

† तैत्तिरीयसंहिता ७।१।५।१ में कहा है, कि—"आपो वा इदं अग्रे सलिलं आसीत्—पहिले यह जल ही था"। और तैत्तिरीय आरण्यक १०।२२ में भी कहा है, कि—"आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः—यह सब जल ही है, सकल भूत जल ही हैं"॥

श्रेष्ठ जलको पर्जन्य देखता है उस जलको सूर्य बरसाते हैं ‡ उन सूर्यसे उत्पन्न हुए सुख देनेवाले अत एव सबसे स्वीकृत जलकी सब प्राणी स्तुति करते हैं। (अत एव ऐसे सर्वज्ञ आदित्य शुभ और अशुभको जतावें) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्र तद् वोचेद् अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पिता सत् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वोचेत् । अमृतस्य । विद्वान् । गन्धर्वः । धाम । परमम् ।
गुहा । यत् ।
त्रीणि । पदानि । निऽहिता । गुहा । अस्य । यः । तानि । वेद ।
सः । पितुः । पिता । असत् ॥ २ ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । २ । १० में कहा है, कि—"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति—जब यह आदित्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं तब वर्षा करते हैं ॥" और तैत्तिरीय ब्राह्मण १० । ६३ में कहा है, कि—"याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति—जिन किरणोंसे सूर्य तपते हैं, उन ही किरणोंसे पर्जन्य बरसता है ॥" और मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ७६ में भी कहा है, कि—"आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः—आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे प्रजा होती हैं" ॥

अमृतस्य अविनाशिनो ब्रह्मणो विद्वान् जानन् । ❀ "क्रिया-ग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी । न त्वत्र "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी । "नलोकाव्ययनिष्ठा०" इति तस्याः प्रतिषेधविधानात् । स्वरूपपदाध्याहारेण वा संबन्धः अमृतस्य स्वरूपं विद्वान् इति । न विद्यते मृतं यस्येति बहुव्रीहौ समासे "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तर-पदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते "नञो जरमरमित्रमृताः" इत्युत्तरपदाद्युदात्त-त्वम् ❀ । गन्धर्वः गावो रश्मयः । तान् धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः । ❀ "सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेः । गां वेदलक्षणां वाचं वा धारयतीति गन्धर्वः । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते" [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] इत्यादिश्रुतेः । "गवि गन् धृञो वः" इति गोशब्दोपपदाद् धृञो वप्रत्ययः । गोशब्दस्य गन्आदेशः ❀ । तत् उक्तलक्षणं ब्रह्म प्र वोचेत् प्रब्रवीतु । उपासकेभ्य इति शेषः । ❀ "व्यवहिताश्च" इति प्रोपसर्गस्य व्यवहितक्रियया संबन्धः । ब्रूञ आशीर्लिङि वच्यादेशे "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः । "वच उम्" इति उम् आगमः ❀ ॥ किं तद् इति तद् आह । परमम् क्रिया-फलभूतविनश्वरस्वर्गाद्यपेक्षया उत्कृष्टं धाम पुनरावृत्तिरहितं स्थानम् । उक्तं हि भगवता

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम । इति
[भ० गी० १५. ६] ।

गुहा गुहायां हृद्गुहायां स्थितं यत् तत्त्वं तद् वोचेत् इति संबन्धः ॥ हृदयस्थस्य नित्यापरोक्षस्य परतत्त्वस्य उपदेश्यत्वम् अनुपपन्नम् इत्यत आह त्रीणि पदानीति । अस्य परमात्मनस्त्रीणि पदानि गुहा गुहायां निहिता निहितानि । यद्यपि अत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो

निरवयवत्वात् पादकल्पना नोपपद्यते तथापि भूतभौतिकप्रपञ्च-जातात् तदुपादानस्य आत्मनो निरतिशयमहत्त्वं प्रतिपादयितुं त्रि-पदत्वम् उक्तम् इति अविरोधः। यथा छान्दोग्ये। "पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि" [छा० उ० ३, १२, ६] इति। गुहानिहितपदार्थवत् अज्ञातम् अपरिच्छिन्नं ब्रह्म उपदेशैकसमधि-गम्यम् अस्तीति तात्पर्यार्थः। ❀ निहितेति। निपूर्वाद् धाञः कर्मणि निष्ठा। "दधातेर्हिः" इति हिरादेशः। "शेश्छन्दसि बहु-लम्" इति शेर्लोपः। "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀॥ यद्वा अस्य पूर्वोक्तस्य परब्रह्मणः त्रीणि पदानि पद्यन्ते गम्यन्ते मुमुक्षुभिः प्राप्यन्त इति पदशब्देन अंशीभूता विराड्ढिरण्यगर्भे-श्वरा उच्यन्ते। गुहा। गूहयति संवृणोति परिच्छिनत्ति परमात्मा-नम् इति गुहा माया। तत्र निहितानि समष्टिरूपेण उपहितानि॥ गुरूपदेशजनितब्रह्मावबोधस्य प्रयोजनम् आह। यः शमदमादि-संपन्नोऽधिकारी तानि तत् पादत्रयोपलक्षितं निष्कलं ब्रह्म वेद जीवेश्वरोपाधिपरित्यागेन साक्षात्करोति। ❀ वेत्तेः "विदो लटो वा" इति तिपो णल् आदेशः। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। स विद्वान् पितुः स्वजनकस्यापि पिता कारणभूतः असत् भवति। अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। सर्वजगदधिष्ठानभूतब्रह्मीभावेन स्वस्यापि सर्वजगत्कारणत्वोपपत्तेः। तद् उक्तं सामब्राह्मणे। "शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृद् आसीत् स पितॄन् पुत्रका इत्यामंत्र-यत" इत्यादि। स्मर्यते च।

> अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
> पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ २. १५१
> ते तम् अर्थम् अपृच्छन्त देवान् आगतमन्यवः।
> देवाश्चैनान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥ २. १५२

इति [म० सू०] । अथ वा तानि विराड्हिरण्यगर्भेश्वरस्थानि वेद प्रणवावयवैः अकारादिभिः व्यष्टिरूपाणां विश्वतैजसप्राज्ञानां समष्टिरूपविराडादितादात्म्यज्ञानपुरःसरं तुरीयं वस्तु यो वेद स पितुः पिता असद् इति पूर्ववत् ॥

अविनाशी अमृत ब्रह्मको जानने वाले किरणधारी और वेदलक्षणा वाणीको धारण करने वाले अतः गन्धर्व † कहलानेवाले आदित्य, क्रियाके फलरूप नाशवान् स्वर्ग आदिकी अपेक्षा पुनरावृत्तिरहित स्थान ‡ हृदयरूप गुफामें स्थित उक्तलक्षण ब्रह्मको उपासकोंसे कहें। (हृदयमें स्थित, नित्य अपरोक्ष अर्थात् नित्य प्रत्यक्ष परतत्त्वका उपदेशयोग्य होना युक्तियुक्त नहीं है, अत एव कहा है, कि-) इस निरुपाधिक ब्रह्मके तीन पद गुहामें निहित-स्थित-हैं। (यद्यपि यहाँ निरुपाधिक ब्रह्मके पदोंकी कल्पना करना अयुक्त है तथापि भूत-भौतिक-प्रपञ्च-समूहकी अपेक्षा उसके उपादान आत्माका अतिशयमहत्त्व प्रतिपादन करनेके लिये त्रिपदत्व-तीन पादरूप-वर्णन किया है।-इस प्रकार यहाँ कोई

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३।४।७।१ में कहा है, कि-"सूर्यो गंधर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः-सूर्य गंधर्व है और सूर्यकी किरणें अप्सरायें हैं।" और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२ ६। १ में कहा है, कि-"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते-ऋग्वेदके मन्त्रोंसे सूर्यदेव पूर्वाह्णके समय आकाशमें विचरते हैं" इस श्रुतिके अनुसार वेदरूपा वाणी गौको धारण करनेसे सूर्यदेवका नाम गंधर्व भी है॥

‡ इस स्थानकी प्रशंसा करते हुए श्रीभगवान्ने भगवद्गीतामें कहा है कि-"न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥-अर्थात् जिस स्थानमें सूर्य चन्द्रमा और अग्नि प्रकाश नहीं कर सकते हैं और जहाँ जाकर प्राणी फिर नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम-श्रेष्ठ-स्थान है" ॥

विरोध नहीं है + । तात्पर्य यह है; कि–गुफामें स्थित पदार्थकी समान अज्ञात अपरिच्छिन्न ब्रह्म केवल उपदेशसे ही प्राप्त हो-सकता है)।

अथवा–इस पूर्वोक्त ब्रह्मके विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर नामक तीन पद (अंश) मुमुक्षुके पाने योग्य हैं वे पद परमात्माको आच्छादन करने वाली गुफारूप मायामें समष्टिरूपसे उपहित हैं। (गुरुके उपदेशसे प्राप्त होने वाले ब्रह्मोपदेशके फलको कहते हैं, कि-) जो शम दम आदिसे सम्पन्न अधिकारी होता है वह तीन पदोंसे उपलक्षित निष्कल ब्रह्मको जानता है अर्थात् जीव और ईश्वरकी उपाधिको त्यागकर साक्षात्कार करता है, ऐसा विद्वान् पुरुष अपने पिताका भी पिता होता है अर्थात् अपने जनकका भी कारण होता है × ॥

+ छान्दोग्य उपनिषत्में भी कहा है, कि–पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि–सब प्राणी ब्रह्मके एक पाद हैं और इस ब्रह्मके तीन पाद आकाशमें प्रतिष्ठित हैं॥

× सकल जगत्के अधिष्ठानभूत ब्रह्मभावके अपनेमें आजाने के कारण अपने आप भी प्राणीका सकल जगत्का कारण हो-जाना उपपन्न है इसी बातको सामब्राह्मणमें कहा है, कि–"शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृत् आसीत् स पितॄन् पुत्रका इत्यामंत्रयत इत्यादि–एक अंगिरसगोत्री बालकने मंत्रवेत्ता पितरोंको मंत्र पढ़ा कर पुकारा था, कि–हे पुत्रो !" स्मृतिमें भी कहा है, कि–"अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवान् आगतमन्यवः। देवाश्चैनान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥–अर्थात् अंगिरसगोत्री चतुर बालकने अपने पितरोंको पढ़ाया और ज्ञान देने

अथवा– प्रणवके अवयव अकार आदिसे व्यष्टिरूप विश्व, तैजस, प्राज्ञ और समष्टिरूपसे विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वरतत्त्वके तादात्म्यभावको जानकर जो चौथेको जानता है वह अपने कारण का भी कारण होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

सः । नः । पिता । जनिता । सः । उत । बन्धुः । धामानि । वेद । भुवनानि । विश्वा ।
यः । देवानाम् । नामऽधः । एकः । एव । तम् । सम्ऽप्रश्नम् । भुवना । यन्ति । सर्वा ॥ ३ ॥

स सूर्यात्मकः परमात्मा नः अस्माकं पिता पालयिता ॥ न केवलं पालकः किंतु जनिता जनयिता उत्पादकः । ❀ "जनिता मन्त्रे" इति निपातनात् णिलोपः ❀ ॥ उत अपि च सः उक्त एव बन्धुः भ्रात्रादिरूपो बन्धुवर्गः । पुत्रादीनां चेतनानां तद्व्य-

---

से उनको शिष्य मान कर कहने लगा, कि–हे पुत्रो !, तब क्रोध आजानेसे उन्होंने देवताओंके सामने यह अभियोग उपस्थित किया । तब देवताओंने निर्णय दिया, कि–इस बालकने तुमसे न्याययुक्त बात कही है" मनुस्मृति २ । १५१–१५२ ॥

तिरेकेण अभावात् तत्तन्नामभिः स एवाभिधीयत इत्यर्थः । ❀ बन्धुः । बन्ध बन्धने । शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० १. १०] इति उप्रत्ययः । धान्ये नित् [उ० १. ६] इत्यतो नित् इत्यनुवृत्तेः "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ इदानीं तस्य सर्वज्ञताम् आह । धामानि कर्मफलभूतस्वर्गादिस्थानानि । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति । स्थानानि नामानि जन्मानीति । इति हि निरुक्तम् [नि० ६. २८] ❀ । तत्र स्थितानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भवन्ति सत्तां लभन्ते उत्पद्यन्ते इति भुवनानि भूतजातानि च वेद । स्वाध्यस्तं कृत्स्नप्रपञ्चं स्वाभिन्नं जानातीत्यर्थः ॥ तथा च उक्तः परमात्मा एक एव देवानाम् इन्द्रादीनां स्वसृष्टानां नामधाः । इन्द्रमित्रादीनि नामानि दधाति विदधाति करोतीति नामधाः । श्रूयते हि । "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" [तै० आ० ३. १२. ७] इति । यद्वा इन्द्राग्न्यादिदेवतात्मकः सन् तत्तन्नामानि स्वयमेव धत्ते इति नामधाः । तथा चाम्नायते । "तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपस्तत् प्रजापतिः" [तै० आ० १०. १. २] इति । "इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः" [ऋ० १. १६४. ४६] इति । ❀ नामोपपदात् दधातेः "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति चकाराद् विच् प्रत्ययः । "गतिकारकोपपदात् कृत्" [इति] उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तम् उक्तलक्षणम् आत्मानं विषयीकृत्य सर्वा सर्वाणि [भुवना] भुवनानि भूतजातानि । ❀ उभयत्र "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः ❀ । संप्रश्नम् । किंविधोऽयं आत्मा इति संभूय क्रियमाणः प्रश्नः संप्रश्नः । तं यन्ति प्राप्नुवन्ति । "यतो वाचो निवर्तन्ते"

[तै० आ० ८. ६] इत्यादिश्रुत्या परतत्त्वस्य अवाङ्मनसगोचरत्वात् तत्स्वरूपं निश्चेतुम् असमर्थाः सन्तो जिज्ञासवः किम् अयम् आत्मा ज्ञानादिगुणकः उत निर्गुणः परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नो वा जगतः किं निमित्तकारणमेव उत उपादानकारणमपि इत्येवमादिसंशयम् आपद्यन्त इत्यर्थः ॥ अथ वा संप्रश्नम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । संगतः प्रश्नः संप्रश्नः । तत्पूर्वकं गुरुशास्त्रोपदेशात स्तमेव परमात्मानं यन्ति । तदैक्यं लभन्त इत्यर्थः । "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" [तै० आ० २. २] "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" [तै० आ० ८. १] "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ विश्वं कृत्स्नं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्येति व्युत्पत्त्या विश्वकर्मशब्देन परमात्मैवोच्यते इति वैश्वकर्मणहोमेपि अस्या ऋचो विनियोग उपपन्नः । ❀ संप्रश्न इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् इत्यस्मात् संपूर्वात् "यजयाच०" इत्यादिना नङ् । "प्रश्ने चासन्नकाले" इति निपातनात् संप्रसारणाभावः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यन्तीति । इण् गतौ । "इणो यण्" इति यण् आदेशः ❀ ॥

वह सूर्यात्मक परमात्मा हमारा पालन करनेवाले पिता हैं, वह केवल पालक ही नहीं हैं, किन्तु हमको उत्पन्न करनेवाले जनिता भी हैं और वही हमारे भाई आदि रूप बन्धु हैं (अर्थात् चेतन पुत्र आदि उनके विना नहीं रहसकते अत एव उन भाई आदिके नामसे सूर्यदेव ही कहे जाते हैं । अब उन देवकी सर्वज्ञताका वर्णन करते हैं, कि–) वह कर्मफलरूप स्वर्ग आदि स्थानों † को जानते हैं और उनमें स्थित (सत्ताको पानेवाले–उत्पन्न होने

† मूलके धाम पदका अर्थ यहाँ स्वर्ग आदि स्थान कियागया है । क्योंकि–निरुक्त ६ । २८ में कहा है, कि–"धाम तीन अर्थों का वाचक है–स्थान, नाम और जन्म । यथा–धामानि त्रयाणि भवन्ति । स्थानानि नामानि जन्मानि ।"

वाले-प्राणिसमूहोंको-भूतसमूहोंको -) सब भुवनोंको भी वह जानते हैं (अर्थात् अपनेमें अध्यस्त सारे प्रपञ्चको वह अपनेसे अभिन्न जानते हैं) तथा जिस परमात्माका वर्णन किया जाता है वह एक ही अपने रचेहुए इन्द्र आदि देवताओंके नामको धरनेवाले हैं÷ अथवा इन्द्र अग्नि आदि देवता बन कर उनके नामोंको वह स्वयं ही धारण करते हैं× उक्तलक्षण वाले आत्माको सब प्राणी प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें एकताको प्राप्त होजाते हैं+इस प्रकार

÷ "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते-धीर ब्रह्म सब रूपोंको एकत्रित कर उनका नाम रख उनको प्रणाम करता है" ॥

× तैत्तिरीय आरण्यक १०।१।२ में कहा है, कि-"तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापतिः-वह परब्रह्म ही अग्नि है, वह परब्रह्म ही वायु सूर्य चन्द्रमा शुक्र जल और प्रजापति है"। और ऋग्वेद १। १६४।४६ में भी कहा है, कि-"इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।-वह उसको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं और वही गरुत्मान् सुपर्ण भी हैं। वह परब्रह्म एक है तब भी ब्राह्मण यम मातरिश्वा आदि अनेक नामोंसे उसका वर्णन करते हैं ॥

+ तैत्तिरीय आरण्यक २।२ में कहा है, कि-ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति-ब्रह्म होता हुआ पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होजाता है। और तैत्तिरीय आरण्यक ८।१ में कहा है, कि-"ब्रह्मवित् आप्नोति परम्-ब्रह्मवेत्ता परब्रह्ममें लीन होजाता है"। और "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति-ब्रह्मको जानने वाला ब्रह्म ही होजाता है" ॥ इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मवेत्ताका ब्रह्म होजाना सिद्ध है ॥

यह संप्रश्न ‡ हुआ अर्थात् यह प्रश्न सङ्गत होगया ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ४

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आऽतिष्ठे । प्रथमऽजाम् । ऋतस्य ।

वाचम्ऽइव । वक्तरि । भुवनेऽस्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

ज्ञानोत्तरकालं तत्त्वविद् ब्रूते । द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः आद्युदात्तः । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत् सद्यः तदानीं तत्त्वज्ञानसमकालमेव पर्यायम् परितः प्राप्तवान् अस्मि । स्वाभेदेन अवगतस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वाद् इति भावः । तथा च श्रुत्यन्तरे ।

‡ संप्रश्न शब्दकी दूसरी व्याख्या यह है, कि–यह आत्मा कैसा है यह बड़ा भारी प्रश्न है । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ में कहा है, कि–"यतो वाचो निवर्तन्ते–उस आत्माके स्वरूपको जाननेमें वाणी लौट आती है ।" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध वाणी और मनके अगोचर परतत्त्वका स्वरूप निश्चित करना अशक्य है । यह समझते हुए जिज्ञासु इस संशयमें पड़जाते हैं, कि–यह आत्मा ज्ञानादि गुण वाला है वा निर्गुण है, परिच्छिन्न है वा अपरिच्छिन्न, यह जगत्का उपादान कारण है वा निमित्तकारण भी है ?

"अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति [ऋ० ४. २६. १] । ❀ इण् गतौ । लङि उत्तमैकवचने गुणायादेशयोः आडागमः ❀ ॥ ऋतस्य सत्यस्य सत्याद् ब्रह्मणः । ❀ संबन्धसामान्ये षष्ठी ❀ । प्रथमजाः भूतभौतिकप्रपञ्चजातात् पूर्वम् उत्पन्नः सूत्रात्मा । श्रूयते हि । "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इति [ऋ० १०. १२१. १] । उपातिष्ठेत् । स यथा समष्टिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्य अवतिष्ठते तद्वद् अहम् अस्मीत्यर्थः । ❀ प्रथमं जायत इति प्रथमजाः । जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् "जनसनखनक्रमगमो विट्" । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्त्वम् ❀॥ सद्यःप्राप्तिं दृष्टान्तेन उपपादयति वाचमिवेति । वक्तरि प्रयोक्तरि स्थितां वाचं निकटस्थिता बोद्धारो यथा प्रयोगसमकाल एव अवगच्छन्ति तथेत्यर्थः । यद्वा ज्ञानिना प्राप्यस्य तत्त्वस्य सर्वात्मकताम् आह वाचमिवेति । ❀ प्रथमार्थे द्वितीया । "सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति वचनात् ❀ । वाक् रवात्मकं ततं शब्दब्रह्म वक्तरि पुरुषे परिच्छिन्नं सत् यथा आविर्भवति । यथाहुराचार्याः ।

स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ।
स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ॥
आविर्भवति देहेषु प्राणिनाम् अर्थविस्तृतः । इति ।

एवं परमात्मा भुवनेष्ठाः । मायातत्कार्यात्मके भुवने भूतजाते तिष्ठति उपहितः सन् वर्तत इति भुवनेष्ठाः । ❀ तिष्ठतेर्विचि "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । सुषामादित्वात् षत्वम् ❀ । एष परमात्मा धास्युः पोषणेच्छावान् । हेतुगर्भविशेषणम् एतत् । पोषणाद्धेतोस्तत्रतत्र भूतेषु वर्तत इत्यर्थः । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् [उ० ४. १८८] इति भावे असुन् प्रत्यये धा इति रूपम् । धाः धारणं पोषणं जगत

इच्छतीति "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच्। "क्याच्छन्दसि" इति उमत्ययः ❀। यद्वा धासिरित्यन्नाम। तदुपलक्षितं भोग्यजातम् आत्मन इच्छतीति धास्युः। ❀ धाञ औणादिकः सि-प्रत्ययः। ततः क्यचि अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀॥ निष्क्रियस्य सतः कथं पोषकत्वं भोक्तृत्वं चेति तत्राह नन्वेषो अग्निरिति। एष परमात्मा अग्निर्ननु वैश्वानरात्मना पोषको भोक्ता खलु। श्रूयते हि वाजसनेयके। "एतावद् वा इदम् अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः" इति। भगवताप्युक्तम्।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् इति [भ०गी०१५.१४]॥

(ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर तत्त्ववेत्ता कहता है, कि-) द्यौ और पृथिवी तथा सम्पूर्ण जगत्को मैं तत्काल ही तत्त्वज्ञानद्वारा पाचुका हूँ ‡ सत्य ब्रह्मके द्वारा भूतभौतिक प्रपञ्चसे प्रथम उत्पन्न हुआ सूत्रात्मा † जैसे समष्टिरूपसे सकल जगत्को व्याप कर स्थित रहता है, तैसे ही मैं हूँ। (अत्र सद्यः-प्राप्ति-तत्कालप्राप्तिका दृष्टान्त देते हैं कि-) वक्तामें स्थित वाणीको निकटमें स्थित जानने वाले जैसे प्रयोगके समकालमें ही जान जाते हैं इसी प्रकार मैं तत्त्वज्ञान होते ही इन सबको पागया हूँ।

अथवा-(ज्ञानीके प्राप्त करने योग्य तत्त्वकी सर्वात्मकताको दिखाते हैं, कि-) वाणी अर्थात् रवात्मक फैला हुआ शब्दब्रह्म वक्ता पुरुषमें परिच्छिन्न होकर जिस प्रकार आविर्भूत-प्रकट-

‡ इसी बातको ऋग्वेद ४। २६। १ में कहा है, कि-"अहं मनुरभवं सूर्यश्च-मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ"॥

† ऋग्वेद १०। १२१। १ में कहा है, कि-"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्-पहिले हिरण्यगर्भ हुआ वह प्राणियोंका एकमात्र स्वामी हुआ।"

होता है + इसी प्रकार परमात्मा मायाके कार्य भूतों–प्राणियों–में गुप्तभावसे रहता है अत एव भुवनेष्ठा कहलाता है। यह परमात्मा पोषण करनेकी इच्छासे भूतोंमें रहता है और भोग्य पदार्थोंको चाहता है। (अब शङ्का होती है, कि–ब्रह्म तो निष्क्रिय है उसमें भोक्तापन और पोषकपन कैसे रह सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि–) यह परमात्मा अग्नि है अर्थात् यह अग्निरूपसे पोषक और भोक्ता है ÷ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ५

+ आचार्योंने कहा है, कि–"स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते। स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ॥ आविर्भवति देहेषु प्राणिनां अथ विस्तृतः-श्रुतिसम्पन्न पुरुष उस रव–शब्द–को शब्दब्रह्म कहते हैं, वह सर्वत्र पुरा हुआ है, प्राणियोंके उत्पन्न होने पर वह प्राणियोंके शरीरमें आविर्भूत होता है" ॥

÷ श्रुतिमें भी कहा है, कि–"एतावद् वा इदं अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नं अग्निरन्नादः–यह सब अन्न है और अन्नाद है, सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद (अन्नको खाने वाला) है"। भगवद्गीता १५ । १४ में भगवान्‌ने भी कहा है, कि–"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥–मैं वैश्वानर (अग्नि) रूपसे प्राणियोंके देहमें रहता हूँ और प्राण और अपानसे संयुक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ" ॥

परि । विश्वा । भुवनानि । आयम् । ऋतस्य । तन्तुम् । विऽत-
तम् । दृशे । कम् ।
यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥

विश्वा विश्वानि भुवनानि पृथिव्यादीन् कर्मफलभूतान् लोकान् पर्यायम् ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् खलु परितः प्राप्तवम् । परितो गमनस्य प्रयोजनम् आह । ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणः तन्तुम् पटस्य तन्तुवत् जगतः कारणभूतं वितत्तम् व्याप्तं स्वरूपं दृशे द्रष्टुम् । पर्यायम् इति सम्बन्धः । ❀ कम् इति पदपूरणः । तथा च यास्कः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति इति [नि० १. ६] ❀ । यद्वा । ऋतस्य पुण्यापुण्यलक्षणकर्मणः कारणभूतं तन्तुम् तन्तुवद् बन्धनहेतुं मूलाज्ञानं विततम् अनादित्वेन विस्तीर्णम् । "ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य" इति [तै० आ० १०.१.४] श्रुत्यन्तराद् अत्रापि छित्त्वेत्यध्याहारः । कम् सुखात्मकं ब्रह्म । "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" [छा० उ० ४. १०. ५] इति श्रुतेः । दृशे द्रष्टुं पर्यायम् इति योजना । ❀ "दृशे विख्ये च" इति दृशेस्तुमर्थे केप्रत्ययान्तो निपातितः ❀ ॥ द्रष्टव्यं ब्रह्मैव विशिनष्टि यत्र देवा इत्यर्धर्चेन । यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि देवाः इन्द्राद्या अमृतम् अविनश्वरं परमानन्दम् आनशानाः अश्नुवानाः प्राप्नुवन्तः समाने योनौ एकस्मिन्नेव कारणभूते ब्रह्मणि । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी आधिक्यार्थो वा ❀ । ऐरयन्त स्वात्मानम् अगमयन् । तदेकीभूता इत्यर्थः ॥ अथ वा तत्त्ववित् स्वानुभवम् आविष्करोति । यत्र ब्रह्मणि मनोवृत्तिभिः साक्षात्कृते अमृतम् अनश्वरनिरतिशयानन्दम् आनशानाः प्राप्नुवन्तो देवा इन्द्रियाणि समाने योनौ साधारणे कारणभूते ब्रह्मणि अध्यैरयन्त प्राप्नुवन्ति । लीना भवन्तीत्यर्थः । अर्धद्वयेपि तद् ब्रह्म द्रष्टुम् इति संबन्धः । ❀ आन-

शानाः। अश्नोतेश्छान्दसे लिटि "लिटः कानज्वा" इतिश्कानजादेशः। "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः। "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ॐ॥

[इति] द्वितीयकाण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् १।

इन्द्र आदि देवता अविनाशी परम आनन्दका अनुभव करते हुए एकमात्र कारणभूत जिस ब्रह्ममें अपने आत्माको प्रेरित करते हैं अर्थात् उसमें एकीभूत होजाते हैं और जिस ब्रह्ममें मनोवृत्तियों के द्वारा साक्षात्कार करने पर अविनाशी परमानन्दको भोगती हुई इन्द्रियें साधारण कारणभूत ब्रह्ममें लीन होजाती हैं उस सत्य ब्रह्मके पटके तन्तुकी समान जगत्के कारणभूत व्यापकस्वरूप ब्रह्मको देखनेके लिये मैं ज्ञान प्राप्त होनेसे पहिले कर्मफलभूत पृथिवी आदि समस्तलोकोंमें वारम्वार गया हूँ।

अथवा—पुण्यपापरूप कर्म ऋतके कारणभूत तन्तुकी समान बन्धनके कारण अनादि होनेसे विस्तृत मूलाज्ञानको काट कर † सुखात्मक ‡ ब्रह्मको देखनेके लिये मैं कर्मफलभूत पृथिवी आदि सब लोकोंको ज्ञानोत्पत्तिसे पहिले प्राप्त कर चुका हूँ (उस ब्रह्म की प्रशंसा यह है, कि—) उस ब्रह्ममें इन्द्र आदि देवता अविनाशी परमानन्दको भोगते हुए उस एक कारणभूत ब्रह्ममें ही एकीभूत होजाते हैं॥ ५॥

---

† यद्यपि मूलके पदोंसे "काट कर" अर्थ नहीं निकलता है, तथापि "ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य—पुण्य और अपुण्यके फैले हुए तन्तु अज्ञानको काटकर" इस तैत्तिरीय आरण्यककी १०। ४। ४ श्रुतिसे "काट कर" पद लिया गया है।

‡ यहाँ पर मूलके कं शब्दका अर्थ सुखात्मक ब्रह्म किया है। क्योंकि—छान्दोग्य उपनिषद् ४। १०। ५ में कहा है कि—कं ब्रह्म है खं ब्रह्म है। यथा—"कं ब्रह्म खं ब्रह्म"॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३१) ॥

“दिव्यो गन्धर्वः” इत्येतत् सूक्तं मातृनामगणे पठितम्। सूत्रितं हि। “दिव्यो गन्धर्वः [२. २] इमं मे अग्ने [६. १११] यौ ते माता [८. ६] इति मातृनामानि” इति [कौ० १. ८]॥

अस्य सूक्तस्य गन्धर्वराक्षसाप्सरोभूतग्रहादिशान्तये घृताक्तसर्वौषधिहोमे चतुष्पथे ग्रहगृहीतशिरःस्थितमृन्मयकपालाग्निहोमादौ च विनियोगः। “मातृनाम्नोः सर्वसुरभिचूर्णान्यन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेन्वक्तानि” इत्यादि “मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति” इत्यन्तं [कौ० ४. २] सूत्रम् अत्र द्रष्टव्यम्॥

तथा घृतमांसमधुहिरण्यपांस्वादिघोरवर्षणाद्भुते मर्कटश्वापदादिरूपयक्षाद्भुते गोमायुनामकमण्डूकवदनादिषु अद्भुतेषु [च] अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। “अथ यत्रैतानि वर्षाणि वर्षन्ति घृतं मांसं मधु च यद्धिरण्यम्” इति प्रक्रम्य “दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इति तत्रतत्रोदाहृतं सूत्रं [कौ० १३. २] द्रष्टव्यम्॥

तथा ग्रहयज्ञे प्रधानहोमानन्तरं शान्त्यर्थम् अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। तद् उक्तं शान्तिकल्पे। ग्रहयज्ञं प्रक्रम्य “अथ शान्तिः कृत्यादूषणैः [२. ११, ४. ४०, ४. १७, ४. १८, ४. १९, ५. १४, ५. ३१, ८. ५, १०. १] चातनैः [१. ७, १. ८, २. १४, २. १८, ३. ५, २. २५, ४. २०, ४. ३६, ४. ३७, ५. २९, ८. ३, ४] मातृनामभिः [२. २, ६. १११, ८, ६] वास्तोष्पत्यैः [३. १२, ६. ७३, ६. ९३, १२. १] आज्यं जुहुयात्” इति [शा० क० १६]॥

तथा प्राग् उदीरितानां त्रिंशच्छान्तीनां तन्त्रभूतायां महाशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा कुम्भे संपातान् आनयेत्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे।

संपातान् आनयेत् कुम्भे जुह्वन्मन्त्रैरथोत्तरैः
इत्यारभ्य
चातनो मातृनामा च वास्तोष्पत्योथ पाप्महा [न० क० २३] इति ॥

तथा यत्रयत्र महाशान्त्यादौ मातृनामगणस्य विनियोगस्तत्र-तत्रैतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा अश्वमेधे "दिव्यो गन्धर्वः" इत्यनया ऋचा ब्रह्मा संवत्सरान्ते युज्यमानम् अश्वम् अनुमन्त्रयेत । "दिव्यो गन्धर्व इत्येतया कौशिकः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ७. १] ॥

"दिव्यो गन्धर्वः" इस सूक्तका मातृनामगणमें पाठ है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है । यथा—"दिव्यो गन्धर्वः [२ । २] इमं मे अग्ने [६ । १११] यौ ते माता [८ । ६] इति मातृनामानि इति" (कौशिकसूत्र १ । ८) ।

इस सूक्तका गंधर्व राक्षस अप्सरा भूत और ग्रह आदिकी शान्तिके लिये किये जानेवाले घृतसे प्लुत सर्वौषधिहोममें चतुष्पथ में ग्रहगृहीशिरःस्थितमृन्मयकपालाग्निहोम आदिमें विनियोग होता है । इस विषयमें "मातृनाम्नोः सर्वसुताभिचूर्णान्यन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेन्वक्तानि" से "मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति" तकका कौशिकसूत्र ४ । २ देखना चाहिये ॥

तथा घृत मांस मधु सुवर्ण धूल आदिकी घोर वर्षारूप अद्भुत होने पर, बन्दर श्वापद आदिरूप अद्भुत होने पर और गीदड़ तथा मण्डूकमुख नामक अद्भुत होने पर इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय ॥ "अथ यत्रैतानि वर्षाणि वर्षन्ति घृतं मांसं मधु च यद्धिरण्यम्" इति प्रक्रम्य "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—अर्थात् जहाँ घृत मांस मधु सुवर्ण आदिकी वर्षा हो० तहाँ दिव्यो गन्धर्वः इस मातृनामगणसे होम करे यही उसका प्रायश्चित्त है।" (कौशिकसूत्र १३ । २) ॥

इसीप्रकार ग्रहयज्ञमें प्रधानहोमके अनन्तर शांतिके लिये घृतकी आहुति देय । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, यथा-ग्रहयज्ञका आरम्भ करके कहा है "अब शान्ति करनेके लिये कृत्यादूषणके २।११, ४।४०, ४।१७, ४।१८, ४।१६, ५।१४, ५।३१, ८।५, १०।१ इन सूक्तोंसे, और चातनगणके १।७, १।८ २।१४, २।१८।३-५, २।२५, ४।२०, ४।३६, ४।३७, ५।२६, ८।३, ४ सूक्तोंसे तथा मातृनामगणके २।२, ६।१११, ८।६ सूक्तोंसे तथा वास्तोष्पत्यगणके ३।१२, ६।७३, ६।६३, १२।१ सूक्तोंसे घृतकी आहुति देय" (शांतिकल्प १६) ॥

इसी प्रकार पहिले कही हुई तीस महाशांतियोंमें प्रधान महाशान्तिमें इस सूक्तसे घृतका होम करके कुम्भमें संपातोंको लावे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"सम्पातान् आनयेत् कुम्भे जुहन् मन्त्रैरथोत्तरैः। इत्यारभ्य । चातनो मातृनामा च वास्तोष्पत्योय पाप्महा-अगले मन्त्रोंसे होम करके कुम्भोंमें संपातोंको लावे । इसका आरंभ करके कहा है, कि-चातन मातृनाम वास्तोष्पत्य और पाप्महा त्मक (मंत्र अगले मंत्र) हैं" ॥ नक्षत्रकल्प २३

इसी प्रकार जहाँ २ महाशांति आदिमें मातृनामगणका विनियोग हो वहाँ २ ही इस सूक्तको पढ़ना चाहिये ॥

इसी प्रकार अश्वमेधयज्ञमें प्रजा सम्वत्सरके अन्तमें युज्यमान अश्वको "दिव्यो गंधर्वः" इस ऋचासे अनुमन्त्रित करे। इसी बातको वैतानसूत्र ७।१ में कहा है, कि-"दिव्यो गंधर्व इत्येतया कौशिकः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वीड्यः॑ ।

तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

दिव्यः । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः । विक्षु । ईड्यः ।

सम् । त्वा । यौमि । ब्रह्मणा । दिव्य । देव । नमः । ते । अस्तु । दिवि । ते । सधऽस्थम् ॥ १ ॥

दिवम् अर्हतीति दिव्यः । द्युस्थान इत्यर्थः । ❀ "छन्दसि च" इति यः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । गाः रश्मीन् उदकं च धारयतीति गन्धर्वः सूर्यः भुवनस्य पृथिव्यादिलोकस्य वृष्ट्यादिनाः पतिः पोषकः । श्रूयते हि । "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" [तै० सं० २. ४. १०. २] इत्यादि । अथ वा भुवनस्य प्राणिजातस्य पतिः प्राणरूपेण पालकः । तथा च आथर्वणोपनिषदि आम्नायते । "सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः" [प्र० उ० १.८] इति । "योसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति" इति हि तैत्तिरीयके [तै० आ० १. १४. १]। विक्षु प्रजासु एक एव नमस्यः नमस्कार्यः ईड्यः स्तुत्यश्च । ❀ नमःशब्दात् "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इति पूजायां क्यच् । तदन्ताद् "अचो यत्" । अतोलोपयलोपौ ❀ । यद्वा नमस्कारार्हः । ❀ "तद् अर्हति" इति छान्दसो यत् । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् । विक्षु । "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । ईड्यः । ईड स्तुतौ इत्यस्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" । "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" इत्याद्युदात्त-

त्वम् ॐ । ईदृशो यो गन्धर्वः तं त्वा त्वां ब्रह्मणा परमात्मना यौमि संयोजयामि । तद्रूपेण भावयामीत्यर्थः ॥ यद्वा ब्रह्मणा स्तुतिलक्षणेन मंत्रेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा यौमि संयोजयामि । ॐ यु मिश्रणे । "उतो वृद्धिर्लुकि हलि" इति वृद्धिः ॐ । हे दिव्य दिवि भव हे देव द्योतनादिगुणविशिष्ट । ॐ दीव्यतेः इगुपधलक्षणे के प्राप्ते "देवसेनमेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः" इति अच् प्रत्ययः ॐ ॥ किं च ते तुभ्यं नमोस्तु मया क्रियमाणो नमस्कारो भवतु । ॐ "नमः स्वस्ति०" इति युष्मदश्चतुर्थी । "तेमयावेकवचनस्य" इति तेआदेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुदात्तः ॐ ॥ नमस्कार्यत्वमेव उपपादयति । दिवि द्युलोके खलु ते तव सधस्थम् सहस्थानम् । आवासस्थानम् इत्यर्थः । ॐ दिवि । "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तता । सह तिष्ठन्त्यत्रेति "घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" इत्यधिकरणे कप्रत्ययः । "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः । "अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तत्वनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्" इत्यत्र सध्रिग्रहणस्य सहादेशोपलक्षणार्थत्वात् सधशब्दस्य अन्तोदात्तता ॐ ॥ अस्या ऋचः अश्वमेधे वध्यमानाश्वानुमन्त्रणे विनियोगस्य दर्शितत्वात् तदनुसारेण अर्थो नेयः । गन्धर्वः गन्धर्वकुलजातोश्व इत्यर्थः । "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" [बृ० आ० १. १. १] । इत्यादिना अश्वमेधाङ्गस्य अश्वस्य बृहदारण्यके विराडात्मना उपास्यत्वदर्शनात् सर्वाणि विशेषणानि अश्वपक्षेपि युज्यन्ते ॥

स्वर्गमें रहनेवाले अत एव दिव्य, जल और किरणोंको धारण करनेवाले अत एव गंधर्व, सूर्यदेव पृथिवी आदि भुवनोंके वृष्टि आदि से पोषण करनेके कारण पति हैं † और प्राणियोंके प्राणरूपसे

---

† तैत्तिरीयसंहिता २।४।१०।२ में कहा है, कि–"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति–जब

पालक‡ हैं और प्रजाओंके प्रणाम करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं हे गन्धर्व सूर्य! मैं तुम्हारी परब्रह्मरूपसे भावना करता हूँ, और मैं आपको हविरूप अन्नसे संयुक्त करता हूँ। हे स्वर्गमें रहनेवाले द्योतन आदि गुणसम्पन्न सूर्य! मेरा किया हुआ नमस्कार आपको प्राप्त हो, आपका स्थान स्वर्गलोकमें है॥ १॥ ×

द्वितीया॥

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य।
मृ॒डाद् ग॒न्धर्वो॒ भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॥ २॥

यह सूर्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं—दक्षिणायनमें आते हैं—तब वर्षा करते हैं"॥

‡ अथर्ववेदके उपनिषत् प्रश्नोपनिषत्में भी कहा है, कि—"सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः—सैकड़ों रूपोंमें वर्तमान सहस्रों किरणों वाले प्रजाओंके प्राणरूप सूर्यदेव उदय होते हैं (प्रश्नोपनिषत् १।८)। और तैत्तिरीय आरण्यक १।१४।१ में भी कहा है, कि—"योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति—यह जो तपते हुए सूर्य उदय होते हैं, यह सब प्राणियोंको प्राणोंके लाते हुए उदित होते हैं॥

× इस ऋचाका अश्वमेधमें वध किये जातेहुए अश्वके अनुमंत्रणमें विनियोग दीखता है अत एव तहाँ उसके अनुसार ही अर्थ करना चाहिये। तहाँ गंधर्व शब्दका अर्थ गंधर्वकुलमें उत्पन्न हुआ अश्व करना चाहिये। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" इस बृहदारण्यक १।१।१ इत्यादिमें अश्वमेधके अङ्ग अश्वकी विराडात्मारूपसे उपासना करनी कही है अत एव सब विशेषण अश्वपक्षमें भी लगाये जासकते हैं॥

दिवि । स्पृष्टः । यजतः । सूर्यऽत्वक् । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य । मृडात् । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः । सुऽशेवाः ॥ २ ॥

दिवि द्युस्थाने स्पृष्टः स्पष्टा । तत्र स्थित इत्यर्थः । ❀ स्पृश संस्पर्शने इत्यस्मात् कर्तरि क्तः ❀ । यजतः यष्टव्यः । ❀ भृमृदृशि-यजिपर्वपचिमिनमिहनिभ्योऽतच् [उ० ३. ११०] इति अतच् प्रत्ययः । चित्वाद् अन्तोदात्तः ❀ । सूर्यस्य त्वगिव त्वग् यस्य स सूर्य त्वक् । सूर्यसमानवर्ण इत्यर्थः । ❀ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना सुवतेः सरतेर्वा क्यबन्तो निपातितः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । दैव्यस्य देवसंबन्धिनो हरसः । क्रोधनामैतत् । क्रोधस्य अवयाता अपगमयिता । ❀ "देवाद् यञञौ" इति प्राग्दीव्यतीयेषु अर्थेषु यञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तः ❀ ॥ न केवलं दैव्य-स्य क्रोधस्य निवारकः अपि तु सुखप्रदोपि अयमेव इत्याह । मृडात् मृडयतु । ❀ मृड सुखने इत्यस्मात् लेटि आडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀ । गन्धर्व इत्यादि पूर्ववत् । सुशेवाः । शेवम् इति सुखनाम । शोभनं सुखं यस्य स तथोक्तः । ❀ व्यत्ययेन बहुवचनम् । इण्शीङ्भ्यां वन् [उ० १. १५०] इति वन् प्रत्ययः । "आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि" इति बहुव्रीहौ उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । ❀ षेवृ शेवृ केवृ सेवने तालव्यादिः पठ्यते । अस्माद् भावे असुनि शोभनं शेवः शेवनं यस्येति बहुव्रीहौ "सोर्मनसी अलोमोषसी" इत्युत्तरपदाद्युदात्त-त्वम् ❀ । अनायासेन सेव्य इत्यर्थः ॥

आकाशमें स्थित, पूजन करने योग्य सूर्यकी समान वर्णवाला देवताओंके क्रोधको हटाने वाला जो गन्धर्व भुवनोंका स्वामी है नमस्कार करनेयोग्य है, सुन्दररूपसे सुख देनेवाला है वह सुख देकर

तृतीया ॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ २ ॥

अनवद्याभिः । सम् । ऊं इति । जग्मे । आभिः । अप्सरासु । अपि । गन्धर्वः । आसीत् ।
समुद्रे । आसाम् । सदनम् । मे । आहुः । यतः । सद्यः । आ । च । परा । च । यन्ति ॥ २ ॥

अनवद्याभिः अगर्ह्याभिः । प्रशस्तरूपाभिरित्यर्थः । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति गर्ह्यार्थे अवद्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तो निपातितः । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । आभिरप्सरोभिः मरीचिरूपाभिः । "सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेः । सूर्यरूपो गन्धर्वः सं जग्मे संगतवान् । उशब्दः पदपूरणार्थः प्रसिद्ध्यर्थो वा । ❀ "समो गम्यृच्छि०" इत्यादिना अकर्मकाद् गमेरात्मनेपदम् । "गमहन०" इत्युपधालोपः ❀ । अप्सरासु अप्सरःस्वपि गन्धर्वः सूर्यनामा आसीत् संगतोभवत् । गन्धर्वाप्सरसां परस्परसाहित्यप्रतिपादनेन तेषाम् अविनाभावस्य सिद्धत्वात् सहैव तेषां पूजाहोमादिकं कार्यम् इति तात्पर्यार्थः । अत एव तैत्तिरीयके । "गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" इति प्रक्रम्य "तस्यै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोति तेनै-

वैनान् समर्धयति" [तै० सं० ३. ४. ८. ४] इति होमसाहित्यम् आम्नातम् । ❀ अप्सरास्विति । आप इत्यन्तरिक्षनाम । उदकं वा । तत्र चरतीत्यप्सरा । बाहुलकाद् अच् । यद्वा अप्स इति रूपनाम । रो मत्वर्थीयः । उभयत्र टाप् । अथ वा अप्सु सरतीति अप्शब्दोपपदात् सर्तेः असुन् । अप्सुशब्दोपपदात् ला आदाने इत्यस्माद् वा रत्वे असुन् । रा दाने इत्यस्माद् वा असुन् । तथा च सकारान्तोप्सरःशब्दः । तस्यैव व्यत्ययेन सकारस्य आत्वम् । एतत् सर्वं यास्केनोक्तम् । अप्सरा अप्सारिण्यपि वा अप्स इति रूपनाम अप्सातेरप्सानीयं भवति । आदर्शनीयं व्यापनीयं वेति । तद्रा भवति रूपवती तद् अनयात्तम् इति वा तद् अस्यै दत्तम् इति वा इति च [नि. ५. १३] । अत एव व्युत्पत्त्यनवधारणात् पदकारा नावगृह्णते ❀ । अप्सरसां स्थानम् आह समुद्र इति । आसाम् अप्सरसां मरीचिरूपाणां सदनम् । ❀ सीदन्त्यस्मिन्निति सदनम् आवासस्थानम् । अधिकरणे ल्युट् ❀ । समुद्रे समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति वा संमोदन्तेस्मिन् भूतानीति वा समुद्रशब्देन आदित्य उच्यते । तत्र इति मे मम आहुः कथयन्ति अभिज्ञाः । इति मन्त्रद्रष्टुर्वचनम् एतत् । तदेव उपपादयति । यतः यस्माद् आदित्यात् सद्यः सूर्योदयसमकालमेव आ यन्ति च आगच्छन्ति च परा यन्ति च अस्मात् स्थानात् तत् पुनः परागच्छन्ति च । अस्तमयकाले तदेव प्रविशन्तीत्यर्थः ॥ अथ वा गन्धर्वशब्दः प्रसिद्धगन्धर्वजातिवाचकः । अप्सरःशब्दोपि प्रसिद्धाप्सरोजातिवाची । सम् जग्म इति परस्परानुरागविशेषेण स्त्रीपुंसात्मकानां तेषां गतिरुक्ता । समुद्रशब्देन अन्तरिक्षलोक उच्यते । यतः यस्माद् अन्तरिक्षलोकाद् आयन्ति प्रजापीडार्थम् आविर्भवन्ति पुनस्तत्रैव परा यन्ति । तिरोभवन्तीत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

अनिन्दनीय-प्रशंसनीय-रूप वाली किरणरूप अप्सराओंसे सूर्यदेव रूप गन्धर्व † सङ्गत होगए हैं, अप्सराओंमें भी सूर्यनामक गन्धर्व सङ्गत हुआ था × इन किरणरूप अप्सराओंका स्थान जिसमें प्राणी आनन्द करते हैं वह समुद्रोपनामक सूर्य है ÷ (मंत्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं, कि-) विद्वान् पुरुष मुझसे कहते हैं, कि-इन सूर्यसे ही सूर्योदयके साथ ही किरणें निकल आती हैं और अस्तके समय फिर इनमें ही लीन होजाती हैं और इन गंधर्व तथा अप्सराओंका स्थान भी अंतरिक्ष है ये उस अंतरिक्षलोकसे ही प्रजाको पीड़ा देनेके लिये आजाते हैं और फिर उसीमें अंतर्धान होजाते हैं ॥ ३ ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३।४।७।१ में कहा है, कि-"सूर्यो गंधर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः-सूर्य गन्धर्व है और उसकी किरणें अप्सरायें हैं" ॥

× गंधर्व अप्सराओंका परस्पर साहचर्य दिखाया है उसका तात्पर्य यह है, कि-इनके निमित्त पूजा होम आदि साथ ही साथ करना चाहिये। इसी लिये तैत्तिरीयसंहिता ३।४।८।४ में कहा है, कि-"गंधर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" जो उन्मादमें आता है उसको गंधर्व और अप्सरायें उन्माद-युक्त करती है।" इसका आरम्भ करके आगे कहा है, कि—"तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोति तेनैवैनान् समर्धयति-उन गंधर्वोंके लिये स्वाहा है उन अप्सराओंके लिये स्वाहा है इस प्रकार होम करे और इसीसे उनकी वृद्धि करे" ॥

÷ जिससे जल उछलते हैं, जिसमें प्राणी आनंद करते हैं वह समुद्र कहलाता है, इसी लिये यहाँ समुद्र शब्दसे सूर्यका ग्रहण किया है ॥

चतुर्थी ॥

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

अभ्रिये । दिद्युत् । नक्षत्रिये । याः । विश्वऽवसुम् । गन्धर्वम् । सचध्वे ।
ताभ्यः । वः । देवीः । नमः । इत् । कृणोमि ॥ ४ ॥

हे अभ्रिये । अभ्रेषु भवा अभ्रिया । ❁ "समुद्राभ्राद्घः" इति भवार्थे घप्रत्ययः । घस्य इय् आदेशः ❁ । हे दिद्युत् द्योतनस्वभावे । ❁ द्युत दीप्तौ इत्यस्मात् "द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" इति क्विपि द्विर्वचने "द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम्" इत्यभ्यासस्य संप्रसारणम् ❁ । हे नक्षत्रिये नक्षत्ररूपिणि । ❁ "नक्षत्राद्घः" इति स्वार्थे घप्रत्ययः । "चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेर्नक्षत्राणाम् अप्सरस्त्वम् ❁। यद्वा अभ्रिये । अभ्रम् अन्तरिक्षम् । तत्र भवः अभ्रियो मेघः । तस्मिन् । दिद्युत् । ❁ व्यत्ययेनैकवचनम् ❁ । द्योतमाना या अप्सरसः । "पर्जन्यो गन्धर्वस्तस्य विद्युतोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. २] इति श्रुतेः । नक्षत्रिये । जातावेकवचनम् । सुकृतफलोपभोगायतनानि नक्षत्राणि । "देवगृहा वै नक्षत्राणि" [तै० ब्रा० १. ५. २. ६] इति श्रुतेः । तेषु च या अप्सरसः या यूयं विश्वावसुम् । विश्वं वसु यस्मिन् स विश्वावसुः । ❁ "विश्वस्य वसुराटोः" इति पूर्वपदस्य दीर्घः । "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❁ । एतन्नामानं गन्धर्वं सचध्वे संगता भवथ । ❁ षच समवाये ❁ । हे देवीः देव्यो द्योतमानाः । ❁ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❁ । ताभ्यः उक्तरूपाभ्यो वः युष्मभ्यम् । ❁ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति चतुर्थीबहुवचनान्तस्य युष्मदो वस् आदेशः ❁ । नमः ।

अन्ननामैतत् । हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा इच्छब्दः अव-धारणे । कृणोमि करोमि । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्वि-कृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

हे मेघोंमें होनेवाली दमकनेके स्वभावकी नक्षत्ररूपी किरणो ! तुममेंसे जो सम्पूर्ण धनवाले किरणधारी चंद्रमासे सङ्गत होती हैं उन तुम दमकने वाली किरणोंके निमित्त मैं नमस्कार करता हूँ, हविरूप अन्न देता हूँ ॥

वा—हे आकाशमें होनेवाले मेघ+में दमकती हुई अप्सराओ ! तुम पुण्यफल भोगनेके स्थानरूप नक्षत्र÷स्वरूप हो तुममेंसे जो अप्सरायें विश्वावसु नाम वाले गंधर्वसे सङ्गत हुई हैं, उन प्रकाशमयी देवियोंको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्लन्दाः । तमिषीचयः । अक्षऽकामाः । मनःऽमुहः ।

ताभ्यः । गन्धर्वऽपत्नीभ्यः । अप्सराभ्यः । अकरम् । नमः ॥ ५ ॥

क्लन्दाः क्लन्दयित्र्यो मनुष्यान् आविश्य उपद्रवकरणेन रोद-यित्र्यः । ❀ कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च इत्यत्र क्रन्देर्ण्य-न्तात् पचाद्यच् ❀ । तमिषीचयः । तविषीति बलनाम । तद् अश्न-

† "चन्द्रमा गंधर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः—चन्द्रमा गंधर्व है और उसके नक्षत्र अप्सरायें हैं" (तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ७ । १) ।

+ "पर्जन्यो गंधर्वस्तस्य विद्युतोऽप्सरसः—पर्जन्य गंधर्व है, बिजलियें उसकी अप्सरायें हैं ॥" (तै० स० ३ । ४ । ७२) ॥

÷ "देवगृहा वै नक्षत्राणि—नक्षत्र देवताओंके घर हैं" (तैत्ति-रीय ब्राह्मण १ । ५ । २ । ६) ॥

न्ति प्राप्नुवन्ति चिन्वन्ति वेति तविषीचयः। बलवत्य इत्यर्थः। ❀ तवेष्टेर्द्धयर्थात् तवेर्णिद्वा [उ० १. ४८] इति टिषच् प्रत्ययः। टित्वाद् ङीप्। वर्णव्यत्ययश्छान्दसः। ततः अन्चतेश्चिनोतेर्वा क्विनि पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। तमु ग्लानौ। इत्यस्माद् वा बाहुलकात् टिषच् प्रत्ययः ❀। तमिषीं ग्लानिं परेषाम् आविष्टानाम् उपचिन्वन्तीति तमिषीचयः। अक्षकामाः अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि नाशयितुं कामयमानाः। ❀ कर्मणिण्। 'कर्मण्यण्' इति अणि प्राप्ते "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इति णप्रत्ययः ❀। मनोमुहः मनसो मोहयित्र्यः। उन्मादकारिण्य इत्यर्थः। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" [तै० सं० ३. ४. ८. ४.] इति। एवंविधा या अप्सरसस्ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यः गन्धर्वाः पतयो यासाम्। ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति ङीब्नकारौ ❀। अप्सराभ्यः अप्सरोभ्यः नमः हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा अकरम् करोमि। ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति करोतेश्छान्दसे लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः। "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀॥

इति द्वितीये काण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

मनुष्योंमें प्रवेश कर उपद्रव करके उनको रुलाने वालीं, बलवती और आविष्ट पुरुषोंमें ग्लानि फैलाने वालीं, इंद्रियोंको नष्ट करना चाहने वालीं और मनको मोहमें डालने वालीं अर्थात् उन्माद करने वालीं † जो गंधर्वपत्नी अप्सरायें हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ, हविरूप अन्न देता हूँ॥ ५॥

द्वितीय काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीयसूक्त समाप्त (३७)॥

† तैत्तिरीयसंहिता ३। ४। ८। ४ में कहा है, कि—"गंधर्वाप्सरसो वा एतं उन्मादयन्ति य उन्माद्यति—जो उन्माद करता है उसको गंधर्व और अप्सरायें उन्मादयुक्त कर देती हैं॥"

"अदो यत्" इति सूक्तेन ज्वरातीसारातिमूत्रनाडीव्रणेषु तदुपशान्तये मुञ्जशिरोनिर्मितरज्जुबन्धनम् क्षेत्रमृत्तिकाया वा पाययनम् सर्पिर्लेपनम् चर्मदृतिमुखेन अपानशिश्ननाडीव्रणमुखानां धमनं च कार्यम्। "विद्मा शरस्य [१. २] अदो यत् [२. ३] इति मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इत्यादि [कौ० ४. १] सूत्रं द्रष्टव्यम्

"अदो यत्" इस सूक्तसे ज्वर अतीसार अतिमूत्र और नाडीव्रणमें इनकी शांतिके लिये श्रेष्ठ मूँजकी रस्सी बाँधे, खेतकी मट्टीको पिलावे, घृतका लेपन करे, चमड़ेकी धौंकनीके मुखसे अपान शिश्न और नाड़ीव्रणके मुखका धमन भी करे। इस विषय में कौशिकसूत्र ४। १ का प्रमाण है। कि—"विद्मा शरस्य (१। २) और अदो यत् (२। ३) इन दो सूक्तोंसे श्रेष्ठ मूँजकी रस्सी बाँधता है। इत्यादि"

तत्र प्रथमा ॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्।
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

अदः। यत्। अवऽधावति। अवत्ऽकम्। अधि। पर्वतात्।
तत्। ते। कृणोमि। भेषजम्। सुऽभेषजम्। यथा। असंसि ॥ १ ॥

पर्वतात्। अत्र पर्वतशब्देन मुञ्जवान् नाम पर्वतो विवक्षितः। "मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इति विनियुक्तस्य मुख्यमुञ्जस्य तत्रैवोत्पत्तेः। तस्मात्। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी। "अधिपरी अनर्थकौ" इति स्मरणात् ❀। अदः विप्रकृष्टं यत् प्रसिद्धम् अवत्कम् व्याधिपरिहारेण रक्षकं मुञ्जशिरः अवधावति अवरुह्य भूमौ धावति। व्याप्य वर्तत इत्यर्थः। ❀ "पाघ्राध्मा०" इत्यादिना सर्तेर्वेगितायां गतौ धाव् आदेशः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघात-

प्रतिषेधे "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । हे मुञ्ज ते तव त्वदीयं तत् अग्रम् । यद्वा । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । तत् तथाविधं ते त्वां भेषजं कृणोमि व्याधिनिवृत्त्यर्थम् औषधं करोमि । यथा येन प्रकारेण सुभेषजम् व्याधिनिवर्तनक्षमम् अतिशयितवीर्ययुक्तम् असमि । तथा कृणोमीति संबन्धः । ❀ सुभेषजम् । "स्वती पूजायाम्" इति प्रादिसमासः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । असमि । अस्तेः "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ॥

मुञ्जवान् पर्वतसे जो सर्वश्रेष्ठ, प्रसिद्ध व्याधि हरनेसे रक्षा करने वाला श्रेष्ठ मूँज उतर कर भूमि पर दौड़ता है अर्थात् भूमि पर व्याप्त है, ऐसे हे मूँज ! मैं तेरे अग्रभागको व्याधि हटानेके लिये औषधि बनाता हूँ,–तू जिस प्रकार व्याधिको दूर करनेमें समर्थ परमवीर्यवान् औषध बने तैसा करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते ।

तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत् । अङ्ग । कुवित् । अङ्ग । शतम् । या । भेषजानि । ते ।

तेषाम् । असि । त्वम् । उत्ऽतमम् । अनास्रावम् । अरोगणम् २

अङ्गेत्याभिमुख्यकरणे । हे ओषधे आत् प्रयोगसमनन्तरमेव । रोगं निवर्तयेत्यध्याहारः ॥ तथा अंग कुवित् । बहुनामैतत् । बहुधा उत्पन्नान् अतीसारादीन् रोगान् । विनाशयेति शेषः । ❀ अङ्ग इत्युभयत्र "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । तदेव प्रशंसति । हे ओषधे ते तव संबन्धीनि सजातीयानि शतम्

अपरिमितानि या यानि। ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति लोपः ❀। भेषजानि सन्ति तेषाम् भेषजानां मध्ये त्वम् उत्तमम् उत्कृष्टतमम् असि भवसि। ❀ उत्कृष्टार्थवाचिन उच्छब्दाद् अतिशायने तमप्। "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठात् अन्तोदात्तः ❀। उत्तमत्वं समर्थयते। अनास्रावम्। आस्रवन्तीति आस्रावाः अतीसारातिमूत्रनाडीव्रणादयः। तेषाम् निवर्तकम्। ❀ आङ् पूर्वात् स्रवतेः "श्या व्याधास्रु०" इत्यादिना णः ❀। अरोगणम् सन्मूलरोगनिवर्तकम्। ❀ रुजो भङ्गे इत्यस्माद् भावे ल्युट्। छान्दसं कुत्वम् ❀॥

हे ओषधे! तू प्रयोग करनेके साथ ही रोगको दूर कर, तथा हे ओषधे! बहुधा उत्पन्न होने वाले अतीसार आदि रोगोंको नष्ट कर, हे ओषधे! तेरी सजातीय जो अपरिमित ओषधियें हैं उनमें तू श्रेष्ठ है, तू अतिसार अतिमूत्र और नाड़ीव्रण आदिको दूर करनेवाली है और उन रोगोंको जड़से दूर करने वाली है॥२॥

तृतीया॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ ३॥

नीचैः। खनन्ति। असुराः। अरुःऽस्राणम्। इदम्। महत्। तत्। आऽस्रावस्य। भेषजम्। तत्। ऊं इति। रोगम्। अनीनशत्॥ ३॥

असुराः। असून् प्राणान् लान्ति आददते अपहरन्तीत्यसुराः। ❀"आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः ❀। अस्यन्ति शरीरं क्षिपन्ति पातयन्तीति असुराः व्याधयो राक्षसा वा। ❀। असेरुरन्

[उ० १, ४२] इति उरन् प्रत्ययः ❀ । इदम् परिदृश्यमानं महत् उल्बणम् अरुःस्रावम् अरुषो व्रणस्य पाकस्थानम् । व्रणमुखम् इत्यर्थः । ❀ स्रै पाके इत्यस्माद् अधिकरणे ल्युट् ❀ । नीचैः खनन्ति अन्तरन्तः अवदारयन्ति । अभ्यन्तरं व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्वा असुराः असुः प्राणः । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । प्राणवन्तः । बलवन्त इत्यर्थः । अरुःस्राणम् । अरुःस्रायति पक्वं भवति उप-शमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुःस्राणम् । ❀ करणे ल्युट् ❀ । इदम् महत् औषधं नीचैः खनन्ति समूलम् उद्धरन्ति ॥ तत् उक्तम् औषधम् आस्रावस्य उक्तलक्षणस्य रोगस्य भेषजम् निवर्तकम् । तदु तदेव रोगम् अतीसारादिकम् अशीशमत् समूलं नाशयति । ❀ शमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

प्राणोंको हरने वाले असुर और शरीरको गिरानेवाली असुर-रूप व्याधियें इस दीखते हुए बड़े भारी व्रणके मुखको भीतरसे फाड़ते हैं अर्थात् इसके भीतर व्याप्त होते हैं (किन्तु) यह मूँज नामक औषध आस्रावकी बड़ी भारी औषध है, वही इन अती-सार आदि रोगोंको समूल नाश करती है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

उपऽजीकाः । उत् । भरन्ति । समुद्रात् । अधि । भेषजम् ।
तत् । आऽस्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अशीश-मत् ॥ ४ ॥

उपजीका वल्मीकनिष्पादिका वम्र्यः समुद्रात् पृथिव्या अधो-वस्थितात् जलराशेः । [अधिः] पञ्चम्यर्थानुवादी । भेषजम्

रोगनिवारकम् औषधम् [उद्भरन्ति] उद्धरन्ति । पृथिव्या ऊर्ध्वं हरन्ति । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ ॥ तत् वल्मीकमृत्तिकारूपम् औषधम् आस्रावस्येत्यादि पूर्ववत् ॥

वमईको बनाने वाली पृथ्वीके नीचे स्थित जलराशिसे रोगनिवारक औषधिको पृथ्वीके ऊपर लाती है, यह वमईकी मिट्टी रूप औषधि आस्रावकी औषध है, यह अतीसार आदि रोगोंको समूल नष्ट कर डालती है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुःऽस्राणम् । इदम् । महत् । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽभृतम् । तत् । आऽस्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुःस्राणम् अरुषो व्रणस्य पाचनं पृथिव्याः केदारादिक्षेत्ररूपायाः सकाशात् । अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । उद्भृतम् उद्धृतम् । ❀ "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद् इदं महत् औषधं क्षेत्रमृत्तिकारूपम् तत् आस्रावस्येत्यादि पूर्ववत् । ❀ अनीनशत् इति । णशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

व्रणको पकाने वाली, क्यारी आदि खेतसे उठाई हुई क्षेत्रमृत्तिकारूप औषधि अतीसार आदिकी बड़ी भारी औषधि है यह रोग को समूल नष्ट कर डालती है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।

इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा

इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

शम् । नः । भवन्तु । अपः । ओषधयः । शिवाः ।

इन्द्रस्य । वज्रः । अप । हन्तु । रक्षसः । आरात् । विऽसृष्टाः ।

इषवः । पतन्तु । रक्षसाम् ॥ ६ ॥

औषधार्थं प्रयुज्यमाना आपः ओषधयश्च शिवाः सुखहेतवः सत्यः नः अस्माकं शम् रोगाणां शमनाय भवन्तु ॥ रक्षसः राक्षसान् रोगोत्पादकान् इन्द्रस्य वज्रः अप हन्तु हिनस्तु । ❀ रक्षत्यस्माद् इति "भीमादयोपादाने" इत्यपादाने रक्षतेः असिप्रत्ययः । रक्षो रक्षितव्यम् अस्माद् इति यास्कः [नि० ४, १८] । प्रत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ विसृष्टा मनुष्याणां पीडनाय प्रयुक्ता रक्षसाम् इषवः रोगादिरूपा आरात् अस्मत्तो दूरे पतन्तु ॥

[इति] द्वितीये काण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

औषधके लिये प्रयुक्त किये हुए जल सुखदायक होकर हमारे रोगोंको शांत करनेवाले हों, रोगोत्पादक (राक्षसों) को इंद्रका वज्र मार डाले और मनुष्योंको पीड़ित करनेके लिये छोड़े हुए राक्षसोंके रोगरूप बाण हमसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (३८)

"दीर्घायुत्वाय" इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थम् आत्मरक्षार्थम् विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडाख्यवृक्षविशेषमणिं शणसूत्रमोतं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । "दीर्घायुत्वायेति मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति सूत्रम् [कौ० ५. ६] ॥

"दीर्घायुत्वाय" इस सूक्तसे कृत्यादूषणके लिये, अपनी रक्षा के लिये, और विघ्नशमन करनेके लिये भी जङ्गिड नाम वाले

इनकी मणिको सुतरी सनसे पिरो संपात और अभिमन्त्रण करके बाँधे । कौशिकसूत्र ४ । ६ में भी कहा है, कि–"दीर्घायुत्वायेति मंत्रोक्तं बध्नाति-दीर्घायुत्वाय इस मंत्रमें कहीहुई मणिको बाँधता है"।

तत्र प्रथमा ॥

दीर्घायुत्वायं बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

दीर्घायुऽत्वाय । बृहते । रणाय । अरिष्यन्तः । दक्षमाणाः । सदा । एव ।
मणिम् । विस्कन्धऽदूषणम् । जङ्गिडम् । बिभृमः । वयम् ॥ १ ॥

दीर्घायुत्वाय चिरकालजीवनाय । ❀ छन्दसीणः [उ ०१.२] इति एतेः उण् प्रत्ययः ❀ । यद्वा दीर्घायुष्ट्वाय । ❀ एतेर्णिच [उ० २. ११७.] इति उसिप्रत्ययः । सकारलोपश्छान्दसः । बहुव्रीहेर्भावे त्वप्रत्ययः ❀ । दीर्घम् आयुः अस्माकं यथा स्याद् इत्येवमर्थं बृहते महते रणाय रमणीयाय प्रशस्याय कर्मणे । अभिलषितकर्मानुष्ठानविघ्नशान्तय इत्यर्थः । ❀ "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । "वशिरण्योरप्युपसंख्यानम्"इति रणतेः शब्दार्थात् कर्मणि अप् प्रत्ययः ❀ । अरिष्यन्तः अविनश्यन्तः । अहिंसनाद्धेतोरित्यर्थः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । सदैव सर्वदैव रक्षमाणाः आत्मानं पालयमानाः । ❀ रक्ष पालने इत्यस्माद् व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । हेतौ शानच् ❀ । आत्मरक्षणाद्धेतोरित्यर्थः । विस्कन्धदूषणम् । विस्कन्धः रक्षःपिशाचादिकृतगतिप्रतिबन्धात्मकः शरीरशोषणरूपो वा विघ्नः तस्य निवारकम् । ❀ विपूर्वात् स्कन्देर्घञि षत्वं छान्दसम् । दुष वैकृत्ये । अस्माद् ण्यन्तात् करणे ल्युट् । "दोषो

णौ" इति ऊत्वम् ✽ । जङ्गिडम् । जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः । तेन साधितं मणिं बिभृमो धारयामः । ✽ डुभृञ् धारणपोषणयोः । श्लौ "भृञामित्" इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् ✽ ॥

हमारा जीवन चिरकालतकका हो इस प्रशंसनीय कर्मके लिये अहिंसन कर्मके कारण सदा अपनी रक्षा करते हुए हम राक्षसों की गतिको रोकने वाले और शरीरशोषणरूप विघ्नको हटाने वाले बनारसमें प्रसिद्ध जङ्गिडवृक्षकी बनी हुई मणिको धारण करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धाद् अभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः । जम्भात् । विऽशरात् । विऽस्कन्धात् । अभिऽशोचनात् ।
मणिः । सहस्रऽवीर्यः । परि । नः । पातु । विश्वतः ॥ २ ॥

जम्भात् हिंसकात् कृत्यादेः । यद्वा जम्भ इति दन्तविशेषस्य आख्या । राक्षसदन्तविशेषकृतात् खादनाद् इत्यर्थः । विशरात् शरीरविशरणात् । ✽ शॄ हिंसायाम् इत्यस्मात् "ऋदोरप्" ✽ । विस्कन्धात् विघ्नात् रक्षःपिशाचादिकृताद् रोगादिरूपात् [अभिशोचनात् कृत्याकृताच्छोकात्] सहस्रवीर्यः अपरिमितसामर्थ्यो जङ्गिडः [जङ्गिड] वृक्षविकारो मणिः नः अस्मान् विश्वतः विश्वस्माद् उदीरिताज्जम्भादेः परि पातु परिरक्षतु । ✽ "उपसर्गाद् बहुलम्" [इति] नसोपि णत्वम् । विश्वत इति । विश्वशब्दात् "पञ्चम्यास्तसिल्" । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ✽ ॥

हिंसक कृत्या आदिसे और राक्षसोंके दाँतोंके चबानेसे, शरीर

के टुकड़े २ होनेसे तथा राक्षसोंके किये हुए रोगसे अपरिमित वीर्य वाली यह जंगिडमणि हमारी सब ओरसे रक्षा करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्त्रिणः ।

अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥३॥

अयम् । विऽस्कन्धम् । सहते । अयम् । बाधते । अत्त्रिणः ।

अयम् । नः । विश्वऽभेषजः । जङ्गिडः । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

अयं जङ्गिडो मणिः विस्कन्धम् परकृतं सहते । अभिभवतीत्यर्थः ॥ अयम् उक्तो मणिः अत्त्रिणः असुरान् भक्षकान् कृत्यादीन् बाधते नाशयति । ❀ अद भक्षणे इत्यस्माद् अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति त्रिनिप्रत्ययः ❀ ॥ अयं मणिः नः अस्माकं विश्वभेषजः विश्वेषां रोगादीनां निवर्तकः । यद्वा विश्वं कृत्स्नं भेषजं यस्मिन् । सकलौषधात्मक इत्यर्थः । ❀ "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । जङ्गिडो मणिः अंहसः पापात् पातु रक्षतु ॥

यह जंगिडमणि दूसरेके किये हुए राक्षस आदिके उपद्रवकी टक्कर झेलती है और यह जंगिड़ मणि भक्षक कृत्या आदिको मारती है, यह मणि हमारे सब रोगोंकी निवारक है और सकल औषधिरूप है, यह जङ्गिड़मणि पापसे हमारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।

विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥४॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयःऽभुवा ।

विऽस्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । विऽआयामे । सहामहे ॥४॥

देवैः अग्न्यादिभिर्दत्तेन । अनेन अमोघवीर्यत्वम् अस्योक्तम् । मयोभुवा । मय इति सुखनाम । तद् भवत्यस्माद् इति मयोभूः । ❀ "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । यद्वा मयसः सुखस्य भावयिता उत्पादयिता । ❀ अन्तर्णीतण्यर्थाद् भवतेः क्विप् ❀ । तेन जङ्गिडेन उक्तेन मणिना । ❀ करणे तृतीया ❀ । विस्कन्धम् विघ्नं [तथा] तद्धेतुभूतानि सर्वा सर्वाणि रक्षांसि रक्षःशब्दोपलक्षितान् भूतप्रेतपिशाचादीन् व्यायामे संचरणे । निमित्तभूते सतीत्यर्थः । ❀ व्याङ्पूर्वाद् यमेर्भावे घञ् । "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्य०" इति वृद्धिप्रतिषेधो न भवति । अस्य अनुदात्तोपदेशत्वात् ❀ । यद्वा । ❀ व्यायच्छन्ति संचरन्ति अस्मिन्निति । अधिकरणे घञ् ❀ । संचरणप्रदेशे सहामहे अभिभवामः ॥

अग्नि आदि देवताओंके दियेहुए (अत एव अमोघवीर्यसंपन्न) सुखकी उत्पादक जंगिड मणिसे विघ्नोंको (तथा उनके कारण) भूत प्रेत पिशाच राक्षसोंको उनके विचरण करनेके देशमें हम तिरस्कृत करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।

अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥

शणः । च । मा । जङ्गिडः । च । विऽस्कन्धात् । अभि । रक्षताम् ।

अरण्यात् । अन्यः । आऽभृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥५॥

शणः प्रसिद्धः मणिबन्धनसूत्रप्रकृतिभूतः । जङ्गिड उक्तः ।

चशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ । तावुभौ विस्कन्धात् उक्ताद् मा माम् अभि रक्षताम् अभितः सर्वतः पालयताम् । तावेव दर्शयति । अन्यः तयोरेकः । जङ्गिड इत्यर्थः । अरण्याद् वनाद् आभृतः आहृतः । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ । अन्यः एकः शणः कृष्याः । कृषिः कर्षकव्यापारविशेषः । तस्मात् रसेभ्यः ओषधिसारभूतकाष्ठेभ्यः । आभृत इति संबन्धः । एवम् आनीतौ शणजङ्गिडौ विस्कन्धाद् रक्षताम् इति संबन्धः ॥

मणिको बाँधनेका डोरारूप सन और जंगिड भी चारों ओर से मेरी रक्षा करे । इन दोनोंमेंसे एक जंगिड जंगलसे लायागया और दूसरा सन कृषिके (ओषधिसारभूतकाष्ठ) रससे लाया गया है, इस प्रकार लाये हुए सन और जंगिड विस्कंधसे—विघ्न से हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

कृत्याऽदूषिः । अयम् । मणिः । अथो इति । अरातिऽदूषिः ।
अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ६

मणेः प्रशंसापूर्वकम् अभिलषितफलसाधनत्वं प्रदर्श्यते । अयम् उक्तो मणिः कृत्यादूषिः । परकृताभिचारक्रियाजन्या पीडाकरी काचिच्छक्तिः कृत्या । तस्या निवारकः । ❀ दुषेर्ण्यन्ताद् अच इः [उ० ४. १३८] इति इकारप्रत्ययः ❀ ॥ अथो अपि च अरातिदूषिः । अरातयः शत्रवः । तेषां दूषकः ॥ अथो अपि च सहस्वान् सहः अभिभवनसाधनं बलम् अभिभवनं वा तद्वान् । ❀ "तसौ

मत्वर्थे" इति सकारान्तस्य भत्वेन पदत्वाभावाद् रुत्वाभावः ॐ।
एवंगुणविशिष्टो जङ्गिडः नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारिषत्।
ॐ प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः ॐ। प्रवर्धयतु। ॐ प्र ण इति। "उप-
सर्गाद् बहुलम्" इति णत्वम्। तारिषदिति। तरतेः पञ्चमलकारे
"सिब्बहुलं लेटि" इति सिप्। "सिब्बहुलं छन्दसि णिद् वक्तव्यः"
इति सिपो णिद्भावाद् वृद्धिः। "लेटोडाटौ" इत्यडागमः।
"इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ॐ॥

द्वितीयकाण्डे प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

(अब मणिकी प्रशंसा कर अभिलषित फलसाधनकी प्रार्थना करते हैं, कि—) यह मणि दूसरेके अभिचारसे उत्पन्न हुई पीड़ा देने वाली शक्ति कृत्याको दूर करनेवाली है, शत्रुओंको हटाने वाली है, बलवती है, ऐसी यह जंगिड़ मणि हमारी आयुको बढ़ावे॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२९)॥

"इन्द्र जुषस्व" इति सूक्तेन बलकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। यद् आह कौशिकः। "इन्द्र जुषस्वेतीन्द्रं बलकामः" इति [कौ० ७. १०]॥

सोमाभिषवकाले अभिषवहोमेषु च अस्य विनियोगः। उक्तं वैताने। "इन्द्र जुषस्वेति राज्यभिषूयमाणेऽभिषवणहोमान् जुहोति" इति [वै० ३. ६]॥

तथा षोडशिग्रहे इन्द्रोपस्थानेपि एतत् सूक्तम्। [उक्तं] वैताने। "षोडशिग्रहेष्विन्द्र जुषस्वेतीन्द्रम्" इति [वै० ४. १]॥

तथा "ऐन्द्रीं विजयबलपुष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ एतत् सूक्तं योजयेत्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "अथावापिकाः शान्तयः" इति प्रक्रम्य "इन्द्र जुषस्वेत्यैन्द्र्याम्" इति [न० क० १८]॥

"इन्द्र जुषस्व" इस सूक्तसे बलकी कामनावाला पुरुष इन्द्रकी

पूजा करे वा उपस्थान करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है। यथा-"इन्द्र जुषस्वेतीन्द्रं बलकामः" (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

सोमाभिषवकालमें और अभिषवहोममें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको वैतानसूक्तमें कहा है। यथा-"इंद्र जुषस्वेति राज्यभिषूयमाणेभिषवणहोमान् जुहोति" (वैतानसूत्र ३।६)

इसी प्रकार षोडशिग्रह और इन्द्रोपस्थानमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूक्त ४।१ में कहा है, कि-"षोडशिग्रहेऽिन्द्र जुषस्वेतीन्द्रम्"॥

इसी प्रकार "ऐन्द्रीं विजयबलपुष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च-विजय पुष्टि बल और पशुकी कामना वालेके लिये तथा शत्रुकी आज्ञाके प्रवृत्त होने पर ऐन्द्री महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ऐन्द्री महाशांतिमें इस सूक्तको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि-"अयावापिका शांतयः" इति प्रक्रम्य "इन्द्र जुषस्वेत्यैन्द्रयाम्"॥

तत्र प्रथमा॥

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥१॥

इन्द्र। जुषस्व। प्र। वह। आ। याहि। शूर। हरिऽभ्याम्।

पिब। सुतस्य। मतेः। इह। मधोः। चकानः। चारु। मदाय १

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त जुषस्व प्रीयस्व। ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः ❀॥ प्रवह प्रकृष्टम् अभिलषितं फलं प्रापय॥ हे शूर शौर्ययुक्त हरिभ्याम् एतन्नामकाभ्याम् अश्वाभ्याम्। ❀ हरी इन्द्रस्य इति हि यास्कः [निघ० १. १५] ❀। ताभ्याम् आ याहि अस्म-

दीयं यज्ञं प्रति आगच्छ ॥ आगत्य इह अस्मिन् यज्ञे सुतस्य अभिषुतस्य मतेः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । मननीयस्य । प्रशस्यस्येत्यर्थः । यद्वा । मतिरिति मेधाविनाम । तत्संबन्धिन इत्यर्थः । मधोः मधुररसस्य सोमस्य । भागम् इति शेषः । यद्वा । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानसंज्ञायां "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी ❀ । उक्तविधं सोमं पिब । ❀ "द्व्यचोऽतस्तिङः" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ एवं पीतः सोमः चकानः । ❀ चक तृप्तौ इति धातोः शानच् । छान्दसः शपो लुक् ❀ । तर्पयन्नित्यर्थः । यद्वा । ❀ कै गै रै शब्दे इत्यस्मात् कर्मणि लिटः कानच् ❀ । स्तूयमानः चारुः दशापवित्रेण शोधितत्वान्निर्मलः मदाय मदोत्पत्तये । भवतु इति शेषः । ❀ "मदोऽनुपसर्गे" इति भावे अप् प्रत्ययः ❀ ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव! प्रसन्न हूजिये, अभिलषित फल दीजिये, हे शूरतासम्पन्न इन्द्र! अपने हरी † नामक घोड़ोंके द्वारा हमारे यज्ञमें आइये। और हमारे इस यज्ञमें आकर अभिषित प्रशंसनीय सोमभागको पीजिये इस प्रकार दशापवित्रसे शोधित होनेके कारण निर्मल पिया हुआ सोम तृप्त करता हुआ मद उत्पन्न करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रं जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्र । जठरम् । नव्यः । न । पृणस्व । मधोः । दिवः । न ।

---

† "हरी इन्द्रस्य हि इति हि यास्कः—हरि इन्द्रके घोड़े हैं इस बातको यास्कमुनिने कहा है।" (निघण्टु १ । १५) ॥

अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप । त्वा । मदाः । सुऽवाचः । अगुः ॥२॥

हे इन्द्र नव्यो न नूतन इव । ❀ "वस्त्वन्स्त्रौककविसेमवर्चो-निष्केवलोक्थजनपूर्वनवसूरमर्त्तयविष्ठेभ्यो यत्" इति नवशब्दात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः । उपमानोत्तरस्थो नञ् उपमार्थे वर्तते । दुर्म-दासो न सुरायाम् [ऋ० ८. २. १२] इत्युपमार्थीय उपरिष्टाद् उपाचारस्तस्य येनोपमिमीते इति [नि० १. ४] यास्कवच-नात् ❀ । अनेन आदरातिशय उक्तः । मधोः मधुररसस्य सोम-स्य भागेन जठरम् स्वोदरकुहरं पृणस्व पूरय । ❀ पृण प्रीणने । तौदादिकः । अत्र पूरणकर्मा ❀ । तत्र दृष्टान्तः । दिवो न दिवः स्वर्गस्य संबन्धिना अमृतेनेव ॥ ततश्च सुतस्य अभिषुतस्य अस्य सोमस्य सुवाचः स्तुतिरूपा मन्त्रात्मिकाः शोभना वाचो येषां तथाविधा मदाः मदकरा रसाः स्वर्ण स्वर्गे यथा तथा अत्रापि त्वा त्वाम् उपागुः उपगच्छन्तु । ❀ एतेश्छान्दसे लुङि "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ ॥

हे इन्द्र ! इस स्वर्गके अमृतकी समान नवीनसे मधुर रस वाले सोमसे अपने उदरको भरिये । तदनन्तर इस अभिषुत स्तुति पाने वाले सोमके मदकारी रस स्वर्गकी समान यहाँ भी आप को प्राप्त हों ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥३॥

इन्द्रः । तुराषाट् । मित्रः । वृत्रम् । यः । जघान । यतीः । न ।
बिभेद । वलम् । भृगुः । न । ससहे । शत्रून् । मदे । सोमस्य ॥३॥

तुराषाट् [तुरं] तूर्णं सहते अभिभवति शत्रून् इति तुराषाट् । ❀ "छन्दसि सहः" इति सहेर्ण्विप्रत्ययः । "सहेः साडः सः" इति षत्वम् ❀ । मित्रः सर्वप्राणिमित्रभूतो य इन्द्रः वृत्रम् एतन्नामानं त्वाष्ट्रम् असुरम् आवारकं मेघं वा जघान हतवान् । ❀ उक्तं हि यास्केन । तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः [नि० २. १६] इति ❀ । तत्र दृष्टान्तः । यतीन् यतयो नाम नियमनशीला आसुर्यः प्रजाः । ता इव । यद्वा अत्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचारशून्याः परिव्राजका विवक्षिताः । तानिव । तथा च कौषीतकोपनिषदि इन्द्रवाक्यम् । "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम् अहनम् अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इति [कौ० उ० ३. १]। तथा भृगुर्न भृगुरिव बलम् अङ्गिरसां सत्रम् आसीनानां यज्ञसाधनभूता गा अपहृत्य स्थितं बलनामानम् असुरं बिभेद विदारितवान् ॥ एतत् सर्वं सामर्थ्यं सोमपानप्रभावनिबन्धनम् इत्याह ससहे शत्रून् इति । सोमस्य पीतस्य मदे सति शत्रून् उदीरितान् ससहे अभिभूतवान् । ❀ एत्वाभ्यासलोपाभावश्छान्दसः ❀ ॥

शीघ्र ही शत्रुओंको दबाने वाले तुराषाट्, सब प्राणियोंके मित्र इंद्रने वृत्र नाम वाले असुरको और आवारक मेघको मारा है † और भृगु (परशुरामजी) की समान इंद्रने अंगिरस गोत्र वालोंकी यज्ञकी साधनभूत गौओंको हर कर बैठे हुए बल नामक असुरको वेदांतके विचारसे शून्य यतियोंकी समान + मार डाला था

† यास्कमुनिने भी कहा है, कि–"तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः–वृत्र कौन है ? नैरुक्त कहते हैं वृत्र मेघका नाम है और इतिहासको जानने वाले कहते हैं, कि–त्वष्टाके पुत्र असुरका नाम वृत्र है" (निरुक्त २ । १६) ॥

+ कौषीतकि उपनिषत्में इन्द्रका वाक्य भी है, कि–"त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं अहनं अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्–

(यह सब सामर्थ्य सोमपानके प्रभावके कारण हुई है यथा—) सोमको पीने पर मद होने पर ही इंद्रने इन शत्रुओंको दबाया था॥३

चतुर्थी ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।

श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

आ । त्वा । विशन्तु । सुतासः । इन्द्र । पृणस्व । कुक्षी इति । विड्ढि । शक्र । धिया । आ । इहि आ । नः ।

श्रुधि । हवम् । गिरः । मे । जुषस्व । आ । इन्द्र । स्वयुक्ऽभिः । मत्स्व । इह । महे । रणाय ॥ ४ ॥

हे इन्द्र सुतासः सुता अभिषुताः सोमाः । ❀ "आज्जसेरसुक् ❀ । त्वा त्वाम् आ विशन्तु प्रविशन्तु ॥ तैराविष्टैः सोमैः कुक्षीदक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयं पृणस्व पूरय ॥ वड्ढि वर्धय च । ❀ वहेर्वृद्ध्यर्थात् लोटि छान्दसः शपो लुक् । ढ्यादेशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि ❀ ॥ हे शक्र नः अस्माकं धिया । धीरिति कर्मनाम । कर्मणा आवाहनस्तुत्यादिरूपेण एहि आगच्छ । यद्वा धिया अनुग्रहबुद्ध्या नः अस्मान् अभिलक्ष्य आगच्छ ॥ हवम् अस्मदीयम् आह्वानं श्रुधि शृणु । ❀ ह्वेञो "भावेऽनुपसर्गस्य" इति अप् संप्रसारणं च ।

मैंने तीन सिर वाले त्वष्टाके पुत्र असुरको मारा है और सच्चे नहीं किंतु बनावटी यतियोंको कुत्तोंको डाल दिया था" कौषीतकि उपनिषद् ३ । १) ॥

श्रुधीति । श्रु श्रवणे । विकरणप्रत्ययस्य लुक् । "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ॥ तथा मे मदीया गिरः स्तुतिरूपा वाचः जुषस्व सेवस्व । स्वीकुर्वित्यर्थः । यद्वा मम गिरः श्रुत्वा प्रीतो भव ॥ ततः हे इन्द्र इह अस्मिन् यज्ञे स्वयुग्भिः स्वसखिभूतैर्मरुदादिभिर्देवैः सह मत्स्व सोमपानेन तृप्तो भव । मदी हर्षे । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । छान्दसो विकरणस्य लुक् । किमर्थम् । महे महते रणाय रमणीयाय कर्मणे । कर्मफलसिद्ध्य इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! अभिषुत सोम आपमें प्रवेश करें उन प्रविष्ट सोमोंसे आप अपनी दाहिनी और बाईं दोनों कोखोंको भरिये और बढ़ाइये। हे इंद्र! हमारे आवाहन स्तुति आदिरूप कर्मसे यहाँ आइये और हम पर अनुग्रहबुद्धि रख कर आइये, और हमारे आह्वानको सुनिये। और मेरी स्तुतिरूप वाणीका सेवन करिये और मेरी वाणीको सुन कर प्रसन्न हूजिये । और हे इन्द्र ! इस यज्ञमें प्रशंसनीय कर्मकी फलसिद्धि देनेके लिये अपने मित्र मरुत् आदि देवताओंके साथ सोमपान कर तृप्त हूजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥

इन्द्रस्य । नु । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यानि । चकार । प्रथमानि । वज्री ।

अहन् । अहिम् । अनु । अपः ततर्द । प्र । वक्षणाः । अभि-

नत् । पर्वतानाम् ॥ ५ ॥

इन्द्रस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं प्र वोचम् ब्रवीमि । ❀ छान्दसो लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । वज्री वज्रवान् प्रथमानि आदिभूतानि प्रथितानि वा । ❀प्रथ प्रख्याने इत्यस्मात् प्रथेरमच् [उ० ५. ६८] इति अमच् प्रत्ययः ❀। यानि वीर्याणि चकार कृतवान्। ❀ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधे "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀॥ कानि पुनस्तानीति तत्राह । अहिम् । आहननात् अहिः वृत्रोऽसुरो मेघो वा । ❀ आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च [उ० ४. १३७] इति डित् इण् प्रत्ययः ❀ । तम् अहन् हतवान् । ❀ हन्तेर्लङि शपो लुकि "हल्ङ्यादि०" लोपे रूपम् । पादादित्वान्निघाताभावाद् अडागमस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥ अनु तदनन्तरम् अपः तेन वृत्रेण निरुद्धानि उदकानि ततर्द जिहिंस विदारितवान् । मार्गप्रदानेन निःसारितवान् इत्यर्थः । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयो इति धातुः । अप इति । "ऊडिदम्०" इत्यादिना शस उदात्तत्वम् ❀ ॥ पर्वतानाम् शिलोच्चयानां संबन्धिनीः वक्षणाः । नदीनामैतत् । वहन्ति कूलानीति वक्षणा नद्यः । ताः प्राभिनत् विदारितवान् ॥

वज्रधारी इन्द्रने जिन प्रसिद्ध कर्मोंको पहिले किया है, इन्द्रके उन वीरता भरे कर्मोंको मैं शीघ्रतासे कहता हूँ कि-इन्द्रने वृत्रासुरको और मेघको ताड़ित किया है, तदनन्तर इन्द्रने वृत्रके रोके हुए जलको मारा अर्थात् उनको मार्ग देकर निकाला है और पर्वतोंकी नदियोंको विदारा है अर्थात् उनके जलको बहाया है ५ पद्धी ॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष

वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् ।
स्वर्यम् । ततक्ष ।
वाश्राःऽइव । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव ।
जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

पर्वते शिलोच्चये पर्ववान् पर्वतो मेघस्तस्मिन् वा शिश्रियाणम् श्रितम् । ❀ श्रयतेः कानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् ❀ । अहिम् वृत्रं मेघम् असुरं वा अहन् जघान ॥ त्वष्टा वृत्रस्य पिता अस्मै इन्द्राय स्वर्यम् सुष्ठु प्रेरणीयम् उपतापकरणं वा वज्रम् आयुधं ततक्ष तीक्ष्णं चकार । ❀ तक्षू त्वक्षू तनूकरणे ❀ । "तस्मै त्वष्टा वज्रम् असिञ्चत्" इत्यादि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० २.४.१२.२]। यद्वा अस्मै वृत्राय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य [च] कर्मणि स्थानिनः" इति कर्मणि चतुर्थी ❀ । वृत्रं हन्तुम् इत्यर्थः । ❀ स्वर्यम् इति । सुपूर्वाद् अर्तेः स्वृ शब्दोपतापयोः इत्यस्माद् वा "ऋहलोर्ण्यत्" । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति वृद्ध्यभावः । अत एव व्युत्पत्त्य-नवधारणाद् अनवग्रहः ❀ ॥ वाश्राः शब्दायमाना धेनव इव । ❀ वाशृ शब्दे इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २.१३] रक् ❀ । स्यन्दमानाः प्रवहन्त्यः । ❀ स्यन्दू प्रस्रवणे । अस्मात् लटः शानच् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ । तथाविधा आपः अञ्जः अंजसा अन्यैरनिरुद्धाः समुद्रम् सरित्पतिम् अव जग्मुः अवाङ्मुखाः सत्यः प्रापुः ॥

इन्द्रने पर्वत पर स्थित वृत्रासुरको मारा है और मेघको ताड़ित किया है और वृत्रासुरके पिता त्वष्टाने इन्द्रके लिये † सन्ताप-

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १२ । २ में कहा है, कि—तस्मै त्वष्टा वज्रं असिञ्चत्—उस पर त्वष्टाने वज्र फैंका" ॥

दायक वज्र तीक्ष्ण किया था। शब्द करती हुई गौओंकी समान नदियें बहती हुई और किसीसे न रुकती हुई नदीपति समुद्रके पास नीचेकी ओर मुख करके चली जाती हैं (इसी प्रकार इन्द्र का वज्र वृत्रासुर पर पड़ा) ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥

वृषऽयमानः। अवृणीत। सोमम्। त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य।
आ। सायकम्। मघऽवा। अदत्त। वज्रम्। अहन्। एनम्।
प्रथमऽजाम्। अहीनाम् ॥ ७ ॥

वृषायमाणः वृषेव आचरन्निन्द्रः सोमम् सोमात्मकं प्रशस्तम् अन्नम् अवृणीत। ❀ वृङ् संभक्तौ ❀। प्रजापतेः स्रष्टुः सकाशाद् वृतवान्। ❀ वृषशब्दात् “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” इति आचारार्थे क्यङ्। “अकृत्सार्वधातुकयोः०” इति दीर्घः ❀ ॥ अनन्तरं त्रिकद्रुकेषु पूर्वम् अभिसवप्यहं त्रिकद्रुकशब्देन उच्यते। तद् उक्तम् आपस्तम्बेन “ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिकद्रुकाः” इति। त्रयः सन्तः कद्रुवन्ति कुटिलम् आवर्तन्ते संवत्सरसत्त्र इति त्रिकद्रुकाः। तेषु सोमयागेषु सुतस्य। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। अभिषुतं सोमम् अपिबत् ॥ पीत्वा लब्धबलः सन् मघवा इन्द्रः सायकम्। ❀ षो अन्तकर्मणि। अस्मात् एवुल् ❀। शत्रूणां घातकं वज्रम् आदत्त अगृह्णात्। ❀ “आङो दोऽनास्यविहरणे” इत्यात्मनेपदम् ❀ ॥ ततः अहीनाम् आहन्तॄणाम् असुराणां प्रथमजाम् प्रथमजातम् एनम् वृत्रम् अहन् हतवान्। ❀ एनम् इति। अन्वा-

देशे एनादेशोनुदात्तः। प्रथमजाम् इति। प्रथमं जायत इति प्रथमजाः। "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति विट्। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इत्यात्वम् ॥

इति प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
द्वितीयकाण्डे प्रथमोनुवाकः।

वृषकी समान आचरण करने वाले इन्द्रने सोमरूप प्रशंसनीय अन्नको प्रजापतिसे वरा है, और त्रिकद्रुक नामक सोमयागोंमें अभिषुत सोमको पिया है, सोमको पीनेसे बल प्राप्त करके इन्द्रने शत्रुओंके घातक वज्रको ग्रहण किया। और इंद्रने घातक असुरों में प्रथम उत्पन्न हुए इस वृत्रासुरको मार डाला ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५०) ॥
द्वितीयकाण्डका प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "समास्त्वाग्ने" इति प्रथमं सूक्तम्। अनेन संपत्कामः अग्नेर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात्। "समास्त्वाग्ने [२. ६] अभ्यर्चत [७. ८७] इत्यग्निं संपत्कामः" इति [कौ० ७. १०] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा भूतरोगचोरादिभयेन दारुणे संवत्सरे सति तच्छान्तये अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। तथा च सूत्रम्। "अथ यत्रैतत् समा दारुणा भवन्ति" इति प्रक्रम्य "समास्त्वाग्न इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. १०] ॥

तथा अग्निचयने प्राजापत्ये पशौ सामिधेनीकाले ब्रह्मा एतत् सूक्तं जपेत्। "समास्त्वाग्न इति जपति" इति [वै० ५. १] वैतानसूत्रात् ॥

तथा "आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च" इति [न०क० १७] विहितायाम् आग्नेय्यां महाशान्तौ एतत् सूक्तं योजयेत्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "समास्त्वाग्नेऽभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्" इति [न०क० १८] ॥

राज्ञो रात्रौ आरात्रिंकविधाने "अति निहः" [२. ६. ५] इत्यनया दीपं प्रज्वालयेत्। उक्तं परिशिष्टे।

कृत्वा पिष्टमयं दीपं सुवर्तिंस्नेहसंभवम्।
अति निहः प्रान्यान् इति द्वाभ्यामेनं प्रदीपयेत्। इति [प० ७. २]॥

दूसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "समास्त्वाग्ने" यह प्रथम सूक्त है। सम्पत्ति चाहने वाला पुरुष इस सूक्तसे अग्निके याग वा उपस्थानको करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ७। १० में कहा है, कि—"समास्त्वाग्ने (२। ६) अभ्यर्चत (७। ८७) इत्यग्निं सम्पत्कामः"॥

इसी प्रकार भूत रोग चोर आदिके भयसे सम्वत्सर दारुण हो रहा हो तो उसकी शान्तिके लिये इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र १३। १० में कहा है, कि—"अथ यत्रैतत् समा दारुणा भवन्ति—जहाँ यह दारुण सम्वत्सर हों०" समास्त्वाग्न इत्येतेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—जहां 'समास्त्वाग्ने' इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय यही उसका प्रायश्चित है॥"

इसी प्रकार ब्रह्मा अग्निचयनमें प्रजापतिपशुके सामिधेनी समय में इस सूक्तको जपे। वैतानसूत्र ५। १ में यही बात कही है कि "समास्त्वाग्न इति जपति"॥

इसी प्रकार 'आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च—सर्वकामना वालेके लिये और अग्निभयमें आग्नेयी शान्तिको करे' इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आग्नेयी महाशांतिमें इस सूक्तको जपे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"समास्त्वाग्नेऽभ्यर्चतेत्याग्नेयाम्—समास्त्वाग्ने सूक्तसे आग्नेयी महाशान्तिमें पूजन करे" (नक्षत्रकल्प १८)॥

रात्रिमें राजा की आरती करते समय दूसरे काण्ड के द्वितीय अनुवाकके प्रथम सूक्तके "अति निहः" इस पाँचवें मन्त्रसे दीपको प्रज्वलित करे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"कृत्वा पिष्टमयं दीपं सुवर्तिस्नेहसंभवम्। अति निहः प्रान्यान् इति द्वाभ्यामेनं प्रदीपयेत् ॥—पिट्ठीका दीपक बना कर उसमें स्नेह (तेल वा घी) में डूबती हुई बत्ती डाले फिर अतिनिहः और प्रान्यान् इन दो ऋचाओंको पढ़कर उसको प्रज्वलित करे" (परिशिष्ट ७। २।)

तत्र प्रथमा ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

समाः। त्वा। अग्ने। ऋतवः। वर्धयन्तु। सम्ऽवत्सराः। ऋषयः। यानि। सत्या।

सम्। दिव्येन। दीदिहि। रोचनेन। विश्वाः। आ। भाहि। प्रऽदिशः। चतस्रः ॥ १ ॥

हे अग्ने समाः संवत्सरास्त्वा त्वां वर्धयन्तु। ऋतवश्च त्वां वर्धयन्तु। पुनः संवत्सरशब्देन मासार्धमासदिवसरूपाः तदवयवाश्च त्वां वर्धयन्तु। ऋषयः प्रसिद्धा वसिष्ठप्रभृतयः। यानि अन्यानि च सत्या सत्यानि पृथिव्यादीनि तानि च त्वां वर्धयन्तु। ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ ॥ स त्वं तैर्वर्धितो दिव्येन द्युलोकार्हेण आत्मीयेन। ❀ "छन्दसि च"

इति यः ❀ । रोचनेन रोचमानेन वपुषा । ❀ रुच दीप्तौ इत्यस्माद् "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀ । सं दीदिहि सम्यग् दीप्य दीप्यस्व वा । ❀ दीप्यतेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । "तुजादीनाम्०" इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् । "लोपो व्योर्वलि" इति लोपः । धात्वन्तरं वा दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा ❀ ॥ तथा दीप्तश्च त्वं विश्वाः सर्वाश्चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशः आ भाहि प्रकाशय । प्रदिशां प्रकाशने खि पुनर्विदिशाम् इत्यष्टानामपि दिशां प्रकाशलाभः ॥

हे अग्ने ! सम्वत्सर आपको बढ़ावें, ऋतु आपको समृद्ध करें, सम्वत्सरोंके मास पक्ष दिनरूप अङ्ग भी आपको समृद्धिसम्पन्न करें और जो पृथिवी आदि सत्य हैं वे भी आपको समृद्धियुक्त करें उनसे समृद्ध किये हुए आप अपने द्युलोकके योग्य चमकते हुए शरीरसे भली प्रकार दिपिये और दीप्त होकर आप पूर्वादि चार श्रेष्ठ दिशाओंको-प्रदिशाओंको-प्रकाशित-करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

संचेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

सम् । च । इध्यस्व । अग्ने । प्र । च । वर्धय । इमम् । उत । च । तिष्ठ । महते । सौभगाय ।

मा । ते । रिषन् । उपऽसत्तारः । अग्ने । ब्रह्माणः । ते । यशसः । सन्तु । मा । अन्ये ॥ २ ॥

हे अग्ने समिध्यस्व च स्वयमेव समिद्धो भव । ❀ इन्धी दीप्तौ ।

कर्म कर्तरि यकि "अनिदिताम्०" इति नलोपः ❀ ॥ इमम् यजमानं [प्र] वर्धय च समृद्धकामं कुरु। ❀ "चवायोगे प्रथमा" इति इध्यस्वेति प्रथमा तिङ् विभक्तिर्न निहन्यते ❀ ॥ उत्तिष्ठ च उत्साहवान् भव। ❀ "उदोनूर्ध्वकर्मणि" इत्यात्मनेपदं व्यत्ययेन न प्रवर्तते। "उद ईहायाम्" इति वचनाद् अनीहाविषयो वा द्रष्टव्यः ❀। यद्वा ऊर्ध्वं उच्छ्रितो भव। ❀ ततश्च ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀। किमर्थम्। महते सौभगाय सुश्रीकत्वाय। यजमानस्येति शेषः। ❀ "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति महतो विभक्तेरुदात्तत्वम्। उद्गात्रादिषु "सुभग मन्त्रे" इति पाठाद् अञ्। "सुभगस्य मन्त्र उत्तरपदवृद्धिर्नेष्यते" इति भगान्तलक्षणवृद्ध्यभावः ❀ ॥ हे अग्ने इदं चाप्यस्तु। [ते] तव उपसत्तारःउपसदनकर्तारः परिचारका ऋत्विग्यजमाना मा रिषन् मा विनश्यन्तु सम्यक् कर्माणि वर्तन्ताम्। ❀ रिष हिंसायाम्। अस्माद् व्यत्ययेन च्लेः अङ् आदेशः। सदेस्तृचि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ अपि च ब्रह्माणः ब्राह्मणाः ते त्वदीया ऋत्विग्यजमानाः त्वत्परिचरणे वर्तमाना यशसः सन्तु यशस्विनो भवन्तु। अन्ये ये त्वत्परिचरणपराङ्मुखास्त्वदीया न भवन्ति ते मा भूवन्। यशस्विन इत्यनुषङ्गः। ❀ यशःशब्दात् "तत्करोति०" इति णिच्। तदन्ताद् असुनि णिलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण असुन उदात्तत्वम् ❀ ॥

हे अग्ने! आप स्वयं प्रदीप्त हूजिये! और इस यजमानको भी पूर्णकाम करिये और यजमानको बड़ा भारी ऐश्वर्य देनेके लिये उत्साह करिये-ऊपरको उठिये। हे अग्ने (यह बात भी हो, कि-) आपके सेवक ऋत्विज् यजमान आदि क्षीण न हों कर्मको भली प्रकार करते रहें और आपकी सेवामें परायण यह ऋत्विज और यजमान यशस्वी हों और जो आपकी सेवा नहीं करते हैं वे यशस्वी न हों॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अ॑ग्ने संवर॑णे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भ॑व स्वे गये॑ जागृह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम् । अग्ने । वृणते । ब्राह्मणाः । इमे । शिवः । अग्ने । सम्ऽवरणे । भव । नः ।

सपत्नऽहा । अग्ने । अभिमातिऽजित् । भव । स्वे । गये । जागृहि । अप्रऽयुच्छन् ॥ ३ ॥

हे अग्ने इमे ब्राह्मणाः ऋत्विग्यजमानास्त्वां वृणते संभजन्ते आराधयन्ति ॥ तस्माद् नः अस्माकं संभाव्यमानप्रमादानां शिवः शान्तो भूत्वा संवरणे भव विद्यमानस्यापि प्रमादस्य संछादने वर्तस्व । मा तत्प्रकाशनेन क्रोधं कार्षीरित्यर्थः । ❀ "द्व्यचोत-स्तिङः" इति भवशब्दस्य सांहितिको दीर्घः ❀॥ किं च हे अग्ने सपत्नहा अस्मदीयानां शत्रूणां हन्ता अभिमातिजित् । अभिमातिः पाप्मा । श्रूयते हि । "पाप्मा वा अभिमातिः" इति [तै० सं० २, १, ३, ५] । तस्य जेता भव ॥ स्वे आत्मीये [गये] । गृहनामैतत् । गृहे अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् । ❀ युच्छ प्रमादे ❀ । जागृहि प्रबुध्यस्व । आदरवान वर्तस्व ॥

हे अग्ने ! यह ऋत्विज यजमान आदि ब्राह्मण आपकी आराधना कर रहे हैं अत एव हे अग्ने ! हमसे कुछ प्रमाद होजाय तब भी आप शान्त होकर उस प्रमादको छिपाइये, उसको प्रकाशित करके क्रोध न करिये और हे अग्ने ! आप हमारे शत्रुओंको

जीतिये और हमारे अभिमाति†-पापको भी जीतिये आप अपने घरमें सावधान होकर जागिये अर्थात् इस घरमें आदरपूर्वक रहिये ३

चतुर्थी ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ।४।

क्षत्रेण । अग्ने । स्वेन । सम् । रभस्व । मित्रेण । अग्ने । मित्रऽधा । यतस्व ।

सऽजातानाम् । मध्यमेऽस्थाः । राज्ञाम् । अग्ने । विऽहव्यः । दीदिहि । इह ॥ ४ ॥

हे अग्ने स्वेन आत्मीयेन क्षत्रेण । बलनामैतत् । बले सं रभस्व संरब्धो भव । संगतो भवेत्यर्थः । ❀ रभ राभस्ये ❀ ॥ किं च हे अग्ने मित्रधाः मित्राणां पोषकः । ❀ मित्रशब्दोपपदाद् धाञो विचि रूपम् ❀ । मित्रेण मित्रभावेन यतस्व उपकरोमीत्येव वर्तस्व मा उदासिष्ठाः । ❀ यती प्रयत्ने ❀ ॥ अपि च सजातानाम् समानं जातानां ब्राह्मणानाम् । प्रजापतिमुखाद् उत्पन्नत्वाद् अग्नेर्ब्राह्मणानां च सजातत्वम् । मध्यमेष्ठाः । मध्यमेव मध्यमम् । ❀ स्वार्थे "मध्यान्मः" ❀ । तत्र स्थाता । यद्वा सजातानां मध्ये भवो मध्यमः यजमानः । तेषाम् उपजीव्यः । तत्र सदा स्थाता । ❀ तिष्ठतेर्विच् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक् । सुषामादित्वात् षत्वम् ❀ । राज्ञाम् क्षत्रियाणामपि विहव्यः विहवेषु भवः । विविधं हूयन्ते आहूयन्ते देवा एष्विति विहवा

† "पाप्मा वा अभिमातिः—पाप और अभिमाति एक अर्थके वाचक हैं" (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ३ । ५) ॥

यज्ञाः । ❀ "हः संप्रसारणं च न्यभ्युपविषु" इति अप् संप्रसारणं च । ततो "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । यद्वा विनिधानि हव्यानि चरुपुरोडाशादीनि हवींषि यस्य स तथोक्तः। ❀ अस्मिन् पक्षे छान्दसम् अन्तस्वरितत्वम् ❀ । हे अग्ने एवंभूतस्त्वम् इह अस्मिन् कर्मणि दीदिहि दीप्यस्व । ❀ दीदेतिर्व्याख्यातम् ❀ ॥

हे अग्ने ! अपने बलसे संगत हूजिये हे अग्ने ! आप मित्रोंका पोषण करने वाले हैं, अतः मित्रभावसे उपकार करनेके विचारसे ही प्रवृत्त रहिये, उदासीनभावसे व्यवहार न करिये (अग्नि और ब्राह्मण प्रजापतिके मुखसे ही उत्पन्न हुए हैं अत एव) समान जन्म वाले ब्राह्मणोंके मध्यस्थ होकर वर्ताव करिये और यजमानके उपजीव्य होकर स्थित रहिये, और राजाओंके भी, जिनमें अनेक प्रकारसे देवताओंका आह्वान किया जाता है, और जिनमें अनेक प्रकारके चरु पुरोडाश आदि हव्य होते हैं ऐसे, निर्वापनामक यज्ञोंमें जाने वाले अग्ने ! आप इस कर्ममें प्रदीप्त हूजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अति॒ निहो॒ अति॒ सृधोत्यचि॑त्ती॒रति॒ द्विषः॑ ।
विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दु॒रि॒ता त॑र॒ त्वमथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः॑ ॥ ५ ॥

अति॑ । नि॒हः॑ । अति॑ । सृधः॑ । अति॑ । अचि॑त्तीः । अति॑ । द्विषः॑ ।
विश्वा॑ । हि । अ॒ग्ने॒ । दुः॒ऽइ॒ता । त॒र॒ । त्वम् । अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् ।
स॒हऽवी॑रम् । र॒यिम् । दाः॒ ॥ ५ ॥

निहः निहन्तॄन् विषयजान् दोषान् । ❀ हन्तेः क्विपि टिलो-

पश्छान्दसः ❀ । यद्वा निकृष्टा गतीः श्वशूकरादियोनिप्राप्तिरूपाः।
❀ ओहाङ् गतौ । क्विबन्तात् शसि "आतो धातोः" इत्याकार-
लोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । तान् अति ।
तरेति संबन्धः । ❀ स चान्तर्णीतण्यर्थः ❀ । अतितारय । तद्धे-
तुभूतपापजालविनाशनेन तदपि विनाशयेत्यर्थः । [स्रिधः ।]
❀ स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः । ततः क्विप् ❀ । देहशोष-
कान् रोगान् अतितारय । अचित्तीः अशोभनबुद्धीः पापप्रवणा
अतितारय । द्विषः द्वेष्टॄन् शत्रूंश्च अतितारय । हिशब्दः समुच्च-
यार्थः । किं बहुना । हे अग्ने त्वं विश्वा विश्वान्यपि [दुरिता]
दुरितानि दुर्गतानि अति तर अतितारय ॥ अथ अनन्तरम् अस्म-
भ्यं सहवीरम् पुत्रपौत्रादिसहितं रयिम् धनं दाः देहि। ❀ छान्दसे
लुङि "गातिस्थाघुपा॰" इति सिचो लुक् । "बहुलं छन्दस्यमा-
ङ्योगेपि" इति अडभावः । "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति तुल्य-
क्रियायोगे बहुव्रीहौ "वोपसर्जनस्य" इति सहस्य सभावो विक-
ल्पितत्वात् न प्रवर्तते । "एवमादीनाम् अन्तः" [फि॰ ४. १४]
इति सहशब्दः अन्तोदात्तः ❀ ॥

[इति] द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! हमारे नाशक विषयज दोषोंको और कुत्ते सूअर आदि
की योनियें ले जानेवाले विषयज दोषोंको नष्ट करिये, देहको
सुखानेवाले रोगोंको भी दूर करिये और पापमें ढकेलने वाली
अशोभन बुद्धिको भी दूर करिये, हमारे शत्रुओंका भी संहार
करिये और क्या आप हमारी सब दुर्गतियोंको दूर करिये तदन-
न्तर हमें पुत्र पौत्र आदिसे युक्त धन दीजिये ॥ ५ ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५१) ॥

"अघद्विष्टा" इति सूक्तेन लौकिकवैदिकाक्रोशयोर्ब्राह्मणशापे
क्रूरचक्षुःपुरुषदृष्टिनिपाते पिशाचयक्षादिभये च यवमणिं संपात्य

अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि। "अघद्विष्टा [२. ७] शं नो देवी [२. २५] वरणः [६. ८५]" इति प्रक्रम्य "प्रथमेन मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति [कौ० ४, २]॥

"भार्गवीं नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्तरोगगृहीतानाम्" इति [न०क० १७] विहितायां भार्गव्यां महाशान्तौ सहस्रकाण्डमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे "अघद्विष्टा देवजातेति सहस्रकाण्डं भार्गव्याम्" इति [न० क० १९]॥

लौकिक वा वैदिक आक्रोश होने पर, ब्राह्मणके शाप देने पर, क्रूर नेत्र वाले पुरुषके दृष्टि डालने पर और पिशाच तथा यक्ष आदिका भय होने पर यवमणिके निमित्त होम करके यवमणिका अभिमन्त्रण करके उसको बाँधे। इसी बातको कौशिक सूत्र ४। २ में कहा है, कि—"अघ द्विष्टा (२। ७) शंनो देवी (२। २५) वरणः (६। ८५) यह आरम्भ करके लिखा है, कि—इनमेंसे पहिले सूक्तसे मन्त्रोक्त मणिको बाँधे॥"

और "भार्गवीं नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्तरोगगृहीतानाम्—नक्षत्र और ग्रहोंसे उत्पन्न हुए भय और रोगोंसे जकड़े हुए पुरुषोंके निमित्त भार्गवी महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित भार्गवी महाशान्तिके दूबकी मणिके बंधनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि—"अघद्विष्टा देवजातेति सहस्रकाण्डं भार्गव्याम्—भार्गवी महाशान्तिमें "अघ द्विष्टा देवजाता" सूक्तसे सहस्रकाण्ड (दूर्वाकी) की मणिको बाँधे"॥

तत्र प्रथमा॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।

आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि॥ १॥

अघऽद्विष्टा । देवऽजाता । वीरुत् । शपथऽयोपनी ।

आपः । मलम्ऽइव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् ।

अधि ॥ १ ॥

अघद्विष्टा अघस्य पिशाचरक्षःप्रभृतिजनितस्य पापस्य द्वेषिणी विनाशयित्री । ❀ द्विष अप्रीतौ इत्यस्मात् कर्तरि क्तः ❀ । देवजाता देवैर्निर्मिता देवार्थं वा उत्पन्ना शपथयोपनी लौकिकस्य वैदिकस्य च ब्राह्मणादिकृतस्य शापस्य विमोहनी निवारयित्री । ❀ युप रुप विमोहने । अस्मात् करणे ल्युट् ❀ । एवंविधा वीरुत् विरोधनशीला दूर्वा यवो वा । सर्वान् उक्तविधान् [शपथान्] शापान् मत् मत्तः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । "अधिपरी अनर्थकौ" इत्यनर्थको वा ❀ । प्राणैक्षीत् प्रकर्षेण प्रक्षालयतु । तज्जनितम् अरिष्टम् अस्मत्तो निःशेषं वियोजयतु इत्यर्थः । ❀ णिजिर् शौचपोषणयोः । अस्माच्छान्दसे लुङि "इरितो वा" इत्यङभावे सिचि रूपम् । "उपसर्गाद् असमासेपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । आपो मलमिव । यथा आपः शरीरादिगतं मलं स्वेदपङ्कादिरूपं प्रक्षालयन्ति ॥

पिशाच राक्षस आदिसे उत्पन्न पापको दूर करने वाली, देवताओंसे निर्मित लौकिक वैदिक और ब्राह्मणोंके शापको हटाने वाली ऐसी वीरुध (दूब वा जौ) सब प्रकारके शापोंको मुझसे इस प्रकार दूर करे जिस प्रकार जल शरीरके कीचड़ पसीने आदि मलको धोकर दूर कर देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यश्च॑ सा॒पत्नः॑ श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः ।

ब्र॒ह्मा यन्म॒न्युतः॒ शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्प॒दम् ॥२॥

यः । च । सापत्नः । शपथः । जाम्याः । शपथः । च । यः ।

ब्रह्मा । यत् । मन्युतः । शपात् । सर्वम् । तत् । नः । अधःऽपदम् ॥२॥

उक्तान् शपथान् विशेषतो दर्शयति । सापत्नः सपत्नो द्वेष्यो द्वेष्टा च । ❀ "व्यन्त्सपत्ने" इति सूत्रेनुवादात् । सपत्नीव सपत्न इति इवार्थे अकारप्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । तत्संबन्धी यश्च आक्रोशादिरूपः शपथः । जाम्याः जामिः सहोत्पन्ना भगिनी । ❀ न जामये भगिन्यै जामिरन्येस्यां जनयन्तीति हि यास्कः [नि० ३. ६] ❀ । तस्याश्च यः शपथः । जामिशब्दः सहजातानाम् उपलक्षणम् । ❀ "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति जामिशब्दात् षष्ठ्या उदात्तत्वम् ❀ । ब्रह्मा ब्राह्मणः मन्युतः क्रोधात् यत् शपात् शपेत् । ❀ यद् इति । क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम् । शप आक्रोशे । "लेटोडाटौ" इत्याडागमः ❀ । सर्वम् तत् उक्तं त्रिविधं शपथजातं नः अस्माकम् अधस्पदम् पादस्याधस्तात् । अस्मदसंस्पृष्टं भवतु इत्यर्थः । ❀ "अधःशिरसी पदे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

(अब शपथोंके भेदोंको दिखाते हैं) शत्रुका जो कोसना है, बहिनका जो कोसना है, और ब्राह्मण जो क्रोधपूर्वक शाप देते हैं, ये तीन प्रकारके शाप हमारे पैरके नीचे रहें अर्थात् हमारा स्पर्श न कर सकें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अवऽततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽततम् ।

तेन । सहस्रऽकाण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः द्युलोकात् अवततम् अवाङ्मुखं प्रसृतं मूलम् मूलवद् अवस्थितम् । पृथिव्याः । अधिरुपर्यर्थः । पृथिव्या उपरि उत्ततम् ऊर्ध्वम् उन्नतं वा विस्तृतम् । लोकद्वयं व्याप्य वर्तमानम् इत्यर्थः ॥ तेन उक्तलक्षणेन सहस्रकाण्डेन । सहस्रशब्दः अपरिमितवचनः । अनेकपर्वात्मना । ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀ । हे मणे नः अस्मान् विश्वतः सर्वस्मात् शापात् परि पाहि परितः सर्वतः पालय । इह परिशब्दः पालनकात्स्न्र्यम् आह । ❀ विश्वत इति । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल् ❀ ॥

द्युलोकसे नीचेकी ओर मुख करके फैली हुई मूलकी समान स्थित पृथिवी पर ऊपरको उठी हुई जो असंख्य गाँठों वाली दूब है उस दूबके द्वारा हे मणे ! तू हमें सब प्रकारके शापोंसे चारों ओरसे बचा ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि॒ मां परि॒ मे प्र॒जां परि॑ णः पाहि॒ यद् धन॑म् ।

अरा॑ति॒र्नो॑ मा ता॑रि॒न्मा न॑स्तारि॒षुर॒भिमा॑तयः ॥४॥

परि॑ । माम् । परि॑ । मे॒ । प्र॒ऽजाम् । परि॑ । न॒ः । पा॒हि॒ । यत् । धन॑म् ।

अरा॑तिः । न॒ः । मा । ता॒री॒त् । मा । न॒ः । ता॒रि॒षु॒ः । अ॒भिऽमा॑तयः ॥

हे मणे मां परि पाहि ॥ मे मदीयां प्रजाम् प्रजायत इति प्रजा ता पुत्रपौत्रादिरूपां परि पाहि ॥ नः अस्माकं यद् धनम् अस्ति तदपि परि पाहि । ब्राह्मणाद्याक्रोशेन आत्मपुत्रपौत्रधनादिनाशो भवतीति तदभावः प्रार्थ्यते॥ शत्रुकृतपीडाभावम् अभ्यर्थ्य तत्कर्तॄणां शत्रूणाम् अभावः प्रार्थ्यते । नः अस्मान् अरातिः शत्रुर्मा तारीत् मातिक्रमतु ॥ अभिमातयः हन्तुम् अभिमन्यमानाः पिशाचयक्षादिरूपाः शत्रवो नः अस्मान् मा तारिषुः मातिक्रामन्तु मा हिंसन्तु । ❀ तरतेर्माङि लुङि "न माङ्योगे" इत्यडभावः ❀ ॥

हे मणे ! तू मेरी रक्षाकर, मेरी पुत्र पौत्रआदिरूप प्रजाकी रक्षा कर और हमारा जो कुछ धन है, उसकी भी रक्षा कर (ब्राह्मण आदिके शापसे अपना पुत्रका पौत्रोंका और धनका नाश हो-जाता है अत एव उसके अभावकी प्रार्थना की है शत्रुकी दी हुई पीड़ाके अभावकी प्रार्थना करके अब उसके देने वाले शत्रुओंके अभावकी प्रार्थना की जाती है, कि—) हमारा शत्रु बढ़ न सके और हमको मारनेका अभिमान करने वाले पिशाच यक्ष आदि शत्रु भी हमें न मार सकें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शप्तारम् । एतु । शपथः । यः । सुऽहार्त् । तेन । नः । सह ।
चक्षुःऽमन्त्रस्य । दुःऽहार्दः । पृष्टीः । अपि । शृणीमसि ॥ ५ ॥

अन्यकृतस्य शपथस्य आत्मसंबन्धं परिहृत्य ब्राह्मणाद्याक्रोशस्य अमोघत्वात् सत्रैव विषयो भवतु इत्याह । शप्तारम् शापकर्तारं पुरुषं शपथः तत्कृतः शापः प्रतिनिवृत्य एतु प्राप्नोतु ॥ यः पुरुषः सुहार्त् शोभनहार्दः सुमनस्कः । अनुकूलकारीत्यर्थः । हृदये भवं हार्दम् । ॐ हृदयशब्दात् प्राग्दीव्यतीये अणि "हृदयस्य हृल्लेख-यदण्लासेषु" इति हृद्भावे अन्त्यलोपश्छान्दसः । यद्वा हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयति । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् ॐ। तेन सुहृदयेन मित्रेण सह नः अस्माकम् । सुखं भवतु इति शेषः॥ मन्त्रस्य गुप्तं भाषमाणस्य पिशुनस्य । ॐ मत्रि गुप्तभाषणे इत्य-स्मात् पचाद्यच् ॐ । अत एव दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य । सुहार्त् शब्द-वद् व्युत्पत्तिः । एतादृशस्य क्रूरस्य चक्षुः सदोषम् अक्षि पृष्टीः।

पृष्टयः पर्शवः पार्श्वास्थीनि । अनेन सर्वे अवयवा उपलक्ष्यन्ते । तान् अपि शृणीमसि शृणीमः हिंस्मः । समन्त्रकमणिबन्धनप्रभावाद् वयं लौकिकवैदिकाक्रोशब्राह्मणशापक्रूरचक्षुर्दर्शनादिकृतान् दोषान् विनाशयाम इत्यर्थः । ❀ शृ हिंसायाम् । प्वादित्वात् ह्रस्वत्वम् । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(ब्राह्मण आदिका कल्पना अमोघ होता है अत एव दूसरेका दिया हुआ शाप मुझ पर न पड़ कर शाप देनेवाले पर ही पड़े, इस बातको कहते हैं, कि—) शाप देने वाले पुरुषको शाप लौट कर लगे, जो पुरुष हमसे अनुकूलता रखता है उसके साथ हमें भी सुख पहुँचे । जो हमसे दुर्भाव रखता है उसकी और जो दुष्ट भावसे हमारी चुगली खाता है उसकी क्रूर आँखको और पसलियोंको हम तोड़ते फोड़ते हैं तात्पर्य यह है, कि—हम सन्त्रक मणिके प्रभावसे लौकिक वैदिक आक्रोश ब्राह्मणशाप और क्रूर नेत्र वालेके किये हुए दोषोंको नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२)॥

"उदगातां भगवती" इति सूक्तेन कुलागतकुष्ठक्षयग्रहण्यादिरोगशान्तये उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य गृहाद् बहिर्व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

अत्र "अपेयम्" इति द्वितीयया ऋचा उक्तव्याधिशान्तये व्युष्टायां रात्रौ उक्तप्रकारेणैव अवसेकं कुर्यात् ॥

"बभ्रोः" इति तृतीयया अर्जुनकाष्ठयवबुसतिलपिञ्जिकाः एकीकृत्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा अनयैव ऋचा आकृतिलोष्ठं वल्मीकमृत्तिकां वा जीवपशुचर्मणा अवेष्ट्य पूर्ववद् बध्नीयात् ॥

"नमस्ते लाङ्गलेभ्यः" इति चतुर्थ्या उदकघटम् अभिमन्त्र्य ग-

प्रयुक्तस्य हलस्य अधस्तात् व्याधितम् अवस्थाप्य तेनोदकेन अव-
सिञ्चेत् ॥

"नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः" इति पञ्चम्या शून्यगृहे उदकघटं संपा-
त्य जरद्गर्ते च अन्ते संपात्य तद्गर्ते शालातृणानि आस्तीर्य तत्र
व्याधितं स्थापयित्वा तेन घटोदकेन आचामयेत् अवसिञ्चेच्च ॥

सूत्रितं हि । "उदगाताम् [२. ८] इत्याप्लावयति बहिः अपे-
यम् [२] इति व्युच्छन्त्याम् बभ्रोः [३] इति मन्त्रोक्तम्
आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिलिख्य जीवकोषण्यामुत्सीव्य बध्नाति ।
नमस्ते लाङ्गलेभ्यः [४] इति सीरयोगम् अधिशिरोवसिञ्चति ।
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः [५] इति शून्यशालायाम् अप्सु संपातान्
आनयत्युत्तरं जरत्खाते सशालातृणे तस्मिन्नाचामयत्याप्लावयति"
इति [कौ० ४. २] ॥ एवं सूक्तेन ऋग्भिश्च क्रियमाणानि कर्माणि
उक्तक्षेत्रियव्याध्यै विकल्पेन कुर्यात् । अवसेकबन्धनाप्लावनादीनां
सूत्रकृता पृथङ्निर्दिष्टत्वात् ॥

"उदगातां भगवती" इस सूक्तसे कुल परम्परागत कुष्ठरोग
क्षयरोग और संग्रहणी आदि रोगोंकी शांतिके लिये जलपूर्ण
घटके लिये होम करके और उसको अभिमन्त्रित करके घरसे
बाहर रोगीको स्नान करावे ॥

उक्त व्याधियोंको शांत करनेके लिये रात्रि बीतकर उषःकाल
होने पर "अपेयम्" इस दूसरी ऋचासे पूर्वोक्त रीतिसे ही
अवसेक करे ॥

"बभ्रोः" इस तीसरी ऋचासे अर्जुन–काष्ठ, जौका भुस और
मञ्जरीसहित तिलको एकत्रित कर अभिमंत्रित करके बाँधे ॥

तथा इसी ऋचासे स्वाभाविक मट्टी वा खेतकी मट्टीको जीव-
पशुकी चर्मसे लपेट कर पहिलेकी समान बाँधे ॥

"नमस्ते लाङ्गलेभ्यः" इस चौथी ऋचासे जलपूर्ण घटका

अभिमन्त्रित करके वृषभयुक्त हलके नीचे रोगीको बैठा कर इस जलसे अभिषेक करे ॥

"नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः" इस पाँचवीं ऋचासे शून्यगृहमें जलपूर्ण घटके निमित्त होम करके और समीपमें जीर्ण गढ़ेके पास होम करके उस गढ़ेमें शाखातृणोंको बिछा कर उसमें रोगीको बैठाकर उस घटके जलसे आचमन करावे और उस घटके जलको उसके ऊपर टपकावे ॥

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है। यथा—"उदगाताम् (२।८) इत्यासावयति, बहिः अपेयम् (२) इति व्युच्छन्त्यां बध्नोः (३) इति मंत्रोक्तं आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिलिख्य जीवकोषण्यामुत्सीव्य बध्नाति। नमस्ते लाङ्गलेभ्यः (४) इति सीरयोगम् अधिशिरोऽवसिञ्चति। नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः (५) इति शून्यशालायां अप्सु सम्पातान् आनयत्युत्तरं जरत्खाते सशाखातृणे तस्मिन्नाचामयत्यासावयति" इति (कौशिकसूत्रम् ४। २) ॥ इस सूत्रसे और आचार्योंसे किये जानेवाले कर्म उक्त क्षेत्रियव्याधिके लिये विकल्प से करे क्योंकि—अवसेक, बन्धन और स्नानका सूत्रकारने अलग अलग निर्देश किया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भगऽवती । विऽचृतौ । नाम । तारके इति ।

वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्ऽतमम् ॥ १ ॥

भगवती तेजस्विन्यौ विचृततः विमोचयतः बन्धम् इति विचृतौ। ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः इत्यस्माद् विपूर्वात् क्विप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। एतन्नाम्न्यौ तारके मूलनक्षत्रम्। तदधिष्ठानमण्डलापेक्षया द्विवचननिर्देशः। ❀ तथा च तैत्तिरीयकम् [तै० आ० २. ६. १]।

अमी ये सुभगे दिवि विचृती नाम तारके।
प्रेहामृतस्य यच्छताम् एतद् बद्धकमोचनम् इति।

विचृच्छब्दस्य मूलनक्षत्रपर्यायत्वं तत्रैव आम्नातम्। "विचृतौ नक्षत्रम् पितरो देवताषाढा नक्षत्रम् आपो देवता" [तै० सं० ४. ४. १० २] इति ❀। तथाविधे नक्षत्रे उदगाताम् उदिते भवतः। ❀ "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀। ते नक्षत्रे क्षेत्रियस्य। क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतः क्षयकुष्ठापस्मारादिरोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते। ❀"क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः" इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते ❀। तस्य क्षेत्रियरोगस्य अधमम् अधरकायाश्रितम् उत्तमम् ऊर्ध्वकायाश्रितं च पाशम् पाशवद् बन्धकं रोगबीजं वि मुञ्चताम् विमोचयताम्। ❀ मुचेर्लोटि "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀॥

तेजस्वी विचृती उपनाम वाले मूल नक्षत्र † उदित होरहे हैं, ये माता पिताके अंगोंसे शरीरमें आये हुए पुत्र पौत्र आदिके क्षेत्र (शरीर) में चिकित्सा करने योग्य क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि क्षेत्रिय

† तैत्तिरीय आरण्यक २। ६। १ में कहा है, कि—"अमी ये सुभगे दिवि विचृती नाम तारके। प्रेहामृतस्य यच्छताम् एतद्बद्धकमोचनम्—ये जो आकाशमें विचृत नामके—मूल नामके—दमकते हुए तारे हैं, यह इस जगत्में अमृत पुरुषको बन्धनसे मुक्त करने वाला पदार्थ दें॥"

रोगके नीचेके शरीरमें स्थित और ऊपरके शरीरमें स्थित पाश की समान बंधक रोगके बीजको मुक्त करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

अप । इयम् । रात्री । उच्छतु । अप । उच्छन्तु । अभिऽकृत्वरीः ।
वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ २ ॥

इयम् उषःकालीना रात्री रात्रिः । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ । अपोच्छतु विवासयतु । ❀ उच्छी विवासे ❀ । यथा व्युच्छन्ती रात्रिस्तमो नाशयति एवं तमोवत् आवरकं क्षेत्रियव्याधिम् अपगमयतु इत्यर्थः । अनेन एतद्रोगचिकित्साकर्मणः कालः सूचितः ॥ अभिकृत्वरीः अभिकृत्वर्यः अभितः रोगशान्तिं कुर्वाणाः आदित्यादिदेवता अपोच्छन्तु मकृतं व्याधिम् अपगमयन्तु । ❀ अभिपूर्वात् करोतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । ततस्तुगागमः । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ । "वा छन्दसि" इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ❀ । यद्वा अभिकृत्वरीः कर्तनशीलाः अपस्मारादिरोगकारिण्यः पिशाच्यः अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु ॥ किं च । क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियव्याधेर्विनाशयित्री वीरुत् या तत्तद्रोगभैषज्यप्रस्तावोक्ता ओषधिरस्ति सापि क्षेत्रियम् उक्तं रोगम् अपोच्छतु अपगमयतु ॥

(जैसे उषःकालकी रात्रि अंधकारको दूर करती है, तिसी प्रकार) यह उषः-कालकी रात्रि इस क्षेत्रिय व्याधिको दूर करे (इस बातसे क्षेत्रिय–क्षय कुष्ठ और अपस्मारकी चिकित्साका समय सूचित किया है) चारों ओरसे रोगकी शांति करते हुए

आदित्य आदि देवता इस रोगको शान्त करें, कर्तन करने वाली अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंको करनेवाली पिशाचिनियें दूर भाग जावें और क्षेत्रिय व्याधिको दूर करने वाली जो ओषधि है वह भी क्षेत्रिय रोगको दूर करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः । अर्जुनऽकाण्डस्य । यवस्य । ते । पलाल्या । तिलस्य । तिलऽपिञ्ज्या ।

वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः कपिलवर्णस्य अर्जुनकाण्डस्य अर्जुनाख्यवृक्षविशेषकाष्ठस्य । शकलेनेति शेषः । यवस्य । यवः प्रसिद्धः । तस्य पलाल्या तुषेण यिलस्य तिलसंबन्धिन्या तिलपिञ्ज्या तिलसहितमञ्जर्या च कृतो मणिः हे रुग्ण ते तव रोगम् अपोच्छतु ॥ वीरुदित्यादि व्याख्यातम् ॥

हे रोगिन् ! कपिल वर्ण वाले अर्जुनकाष्ठकी जौके भुसकी और तिलसहित मञ्जरीकी बनाई हुई मणि तेरे रोगको दूर करे। क्षेत्रिय व्याधिको नष्ट करने वाली जो औषधि है वह भी क्षेत्रियरोगको नष्ट करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषाऽयुगेभ्यः ।

वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

हे रुग्ण ते त्वद्रोगशमनाय लाङ्गलेभ्यः वृषभयुक्तसीरेभ्यो नमः ॥ ईषायुगेभ्यः ईषाश्च युगानि च तेभ्यश्च हलावयवेभ्यो नमः। उभयत्रापि पूजायां बहुवचनम् । पीडाकररोगनिवर्तकत्वेन पूज्यत्वम् आरोप्य नमस्कारः कृतः । यद्वा हलादीनाम् अचेतनत्वेपि तदभिमानिदेवताभिप्रायेण नमस्कारः । तत्सद्भावश्च भगवता बादरायणेन सूत्रितः । "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इति [बा० २. १. ५] ॥ वीरुदित्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! तेरे रोगकी शांतिके लिये वृषभयुक्त सीरोंके लिये नमस्कार हो, ईषा और युग नामक हलके अवयवोंको नमस्कार हो † क्षेत्रिय व्याधिको दूर करने वाली औषध क्षेत्रिय रोगको नष्ट करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

---

† हल आदि अचेतन हैं अतः यहाँ उनके अभिमानी देवता को प्रणाम किया है । इस भावसे देवताकी सत्ताको भगवान् व्यासजीने माना है यथा—"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्—अभिमानी देवताओंका व्यपदेश विशेषानुगतिसे होता है अर्थात् "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्—अग्नि वाणी होकर मुखमें घुस गया इन विशेष अनुगमनको जताने वाले वाक्योंसे अभिमानी देवताओंका ग्रहण होता है" वेदान्तसूत्र २ । १ । ५)।

नमः । सनिस्रसऽअक्षेभ्यः । नमः । सम्ऽदेश्ये॑भ्यः ।

नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रि-

यम् । उच्छतु ॥ ५ ॥

सनिस्रसाक्षेभ्यः सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विस्रंसमानानि विशीर्यमाणानि अक्षाणि गवाक्षादिद्वाराणि येषां ते सनिस्रसाक्षाः । शून्यगृहा इत्यर्थः । ❀ स्रंसु गतौ इत्यस्मात् यङन्तात् पचि अतोलोपयलोपौ । "नीग्वञ्चुस्रंसु०" इत्यभ्यासस्य नीग् आगमः । छान्दसं ह्रस्वत्वम् ❀ । तेभ्यः शून्यगृहेभ्यो नमः नमस्कारो भवतु ॥ संदेश्येभ्यः संदिश्यन्ते त्यज्यन्ते तद्गतमृदादानेनेति संदेशाः जरद्गर्ताः । तेभ्यो नमः ॥ क्षेत्रस्य पतये शून्यगृहादिरूपस्य क्षेत्रस्याधिपतये एतन्नाम्ने देवाय नमः । ❀ "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" इति पतिशब्दस्य घिसंज्ञायां "घेर्ङिति" इति गुणः ❀ ॥ युष्मत्प्रसादात् रोगशान्तिर्भवतु इति नमस्काराभिप्रायः ॥ वीरुत् क्षेत्रियनाशनीत्यादि शिष्टं गतम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जिनकी खिड़कियोंके झरोखे ढहाऊ हैं उन शून्यगृहोंके लिये नमस्कार है, मट्टी निकाल लेनेसे त्यागने योग्य पुराने गढ़े (जरद्गर्त–सन्देश्यों–) को नमस्कार है, शून्य गृह आदि क्षेत्रके स्वामी क्षेत्रपतिको नमस्कार है। यह क्षेत्रिय रोगका नाश करने वाली वीरुध क्षेत्रियरोगको दूर भगावे ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४३) ॥

"दशवृक्ष" इति सूक्तेन ब्रह्मग्रहशान्तये पलाशौदुम्बरजम्बूकाम्पीलादिषु सूत्रोक्तेषु इच्छया दशवृक्षशकलानि गृहीत्वा तैलाक्ताहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथैव एतत् सूक्तं दश ब्राह्मणाः ब्रह्मग्रहगृहीतं स्पृशन्तो जपेयुः ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "दशवृक्षेति शाकलो दश सुहृदो जपन्तोभिमृशन्ति" इति [कौ० ४. २] ॥

"दश वृक्ष" इस सूक्तसे ब्रह्मग्रहकी शान्तिके लिये पलाश गूलड़ जामन कबीला आदि सूत्रोक्त वृक्षोंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार किसी वृक्षके दश टुकड़े लेकर उनकी लाख और सुवर्णसे मणि बनाकर संपात और अभिमंत्रण करके बाँधे ॥

इसी प्रकार दश ब्राह्मण ब्रह्मग्रहसे गृहीत पुरुषको छूते हुए इस सूक्तको जपें । इसी बातको कौशिकसूत्र ४ । २ में कहा है, कि–"दश वृक्षेतिशाकलो दश सुहृदो जपन्तोऽभिमृशन्ति" (कौशिकसूत्र ४ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि येनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दशऽवृक्ष । मुञ्च । इमम् । रक्षसः । ग्राह्याः । अधि । या । एनम् ।
जग्राह । पर्वऽसु ।

अथो इति । एनम् । वनस्पते । जीवानाम् । लोकम् । उत् । नय ॥१॥

हे दशवृक्ष पलाशौदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मित मणे रक्षसः ब्रह्मराक्षसात् ग्राह्याः गृह्णातीति ग्राहिः राक्षसी । ❀ गृहेर्णिन् प्रत्यय औणादिकः ❀ । तस्याश्च । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इमम् गृहीतं पुरुषं मुञ्च मोचय । ❀ दशवृक्षेति । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति तस्य अविद्यमानवद्भावात् पदपरत्वस्य अभावात् मुञ्चेत्यस्य "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावे विकरणस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । या ग्राहिर्ब्रह्मराक्षसी पर्वसु शरीरसम्बंधिषु अस्था-

वास्यादिपर्वसु वा एनम् पुरुषं जग्राह गृहीतवती । तस्याः सकाशान्मोचयेति पूर्वेण संबन्धः । अमावास्यायां रक्षसाम् उत्थानं च "येमावास्यां रात्रिम् उदस्थुर्व्राजम् अत्रिणः" इति [१.१६.१] प्राग् आम्नातम् ॥ अथो अपि च हे वनस्पते वनानां पतिर्वनस्पतिः । ❀ पारस्करादित्वात् सुडागमः ❀ । वनस्पतिविकार मणे एनम् गृहीतं पुरुषं जीवानाम् जीवतां प्राणिनां लोकम् स्थानं भूलोकम् उन्नय उद्धृत्य प्रापय । ग्रहावेशेन मृतप्रायं पुनर्जीवनयुक्तं कुरु इति भावः । ❀"नीवह्योर्हरतेश्च" इति स्मरणाद् नयतिर्द्विकर्मकः❀ ॥

हे पलाश गूलड़ आदि दश वृक्षशकलोंसे बनी हुई मणे ! अक्षराक्षसके ग्रहण करने योग्य राक्षसीसे पकड़े हुए इस पुरुषको छुड़ा जिस अक्षराक्षसीने शरीरके जोड़ोंमें अमावस्या आदिके समय इसको पकड़ लिया है उस राक्षसीसे हे मणे ! तू इस रोगीको छुड़ा † । हे वनस्पतियोंसे बनी हुई मणे ! इस गृहीत पुरुषको जीवित प्राणियोंके लोक भूलोकमें उद्धार करके ला अर्थात् ग्रहोंके आवेशसे मृतप्राय हुएको फिर जीवनयुक्त कर ॥१॥

द्वितीया ॥

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

आ । अगात् । उत् । अगात् । अयम् । जीवानाम् । व्रातम् । अपि । अगात् ।

† अमावस्यामें राक्षस विचरण करते हैं । इसका वर्णन "येऽमावास्यां रात्रिम्" इस प्रथमकाण्डके सोलहवें सूक्तमें किया जा चुका है ॥

अभूत् । ऊं इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् । च । भगवत्ऽ-

तमः ॥ २ ॥

मणिप्रभावं वक्तुं मणिबन्धनसमनन्तरमेव अभिमतफलसिद्धिं दर्श-यति । हे मणे त्वत्प्रसादाद् अयं ग्राहाद् विनिर्मुक्तो लब्धजीवनः आगात् इमं लोकम् आगमत् ॥ उदगात् उदस्थात् ।संचारक्षमोभू-दित्यर्थः ॥ न केवलम् उत्थानम् जीवानाम् जीवतां जनानां व्रातम् समूहमपि अगात् प्रापत् । बन्धुजनैः सह व्यवहारम् अकार्षीदित्य-र्थः ॥ उ अपि च पुत्राणाम् आत्मीयानां सुतानां पिता जनकोभूत् । मृतप्रायस्य आत्मनो गतं पितृत्वं पुनर्जीवनेन आगतम् इत्यर्थः । यद्वा जनिष्यमाणानां पुत्राणाम् उत्पादकोभूदित्यर्थः ॥ किं च नृणाम् मनुष्याणां मध्ये भगवत्तमः अतिशयितभाग्ययुक्तः संपन्नः । ❁ "नृ च" इति "नामि"-दीर्घाभावः । "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् । मणिबन्धनसमनन्तरमेव फलसिद्धिर्भव-तीति अद्यतनभूतार्थवाचिनो लुङः सर्वत्र प्रयोगः । यद्वा "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लुङ् ❁ । आगाद् आगच्छतु इत्येवमादि योज्यम् ॥

(मणिके प्रभावको कहनेके लिये यह दिखाते हैं, कि-। मणि के बाँधनेके साथ ही अभिलषित फल सिद्ध होजाता है कि-) हे मणे ! तेरे प्रसादसे यह ग्रहसे मुक्त हुआ पुरुष जीवन पाकर इस लोकमें आजाय और चलनेमें समर्थ होजाय और जीवित मनुष्यों के समूहमें आजाय अर्थात् बन्धुओंके साथ व्यवहार करने लगे । और अपने पुत्रोंका पिता होजाय, तात्पर्य यह है, कि-मृतप्रायका गया हुआ पितृत्व पुनर्जीवन होनेसे वापिस आजाय और यह आगे को उत्पन्न होने वाले पुत्रोंका पिता होजाय और मनुष्योंमें परम-भाग्यवान् होजाय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधिऽइतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीवऽपुराः । अगन् ।
शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत । वीरुधः ॥ ३ ॥

अयम् ब्रह्मग्रहाद् विमुक्तः पुरुषः अधीतीः अधीयन्त इत्यधीतयः । ॐ इङ् अध्ययने इक् स्मरणे इत्यस्माद् वा कर्मणि क्तिन् ॐ । माग् अधीतान् वेदान् स्मर्तव्यान् पदार्थान् वा अध्यगात् अस्मार्षीत् स्मरतु वा । ॐ इक् स्मरणे लुङि "इणवदिक इति वक्तव्यम्" इति "इणो गा लुङि" इति गादेशः । इङस्त्वात्मनेपदित्वाद् नैतद् रूपम् । "इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः" इति अधेः प्रयोगः ॐ ॥ तथा जीवपुराः जीवानां पुरः भोगायतनानि शरीराणि आवासस्थानानि ग्रामजनपदादीनि वा जीवपुराः । ॐ "ऋक्पूरब्धूः पथाम् आनक्षे" इत्यकारः समासान्तः ॐ । ताः अध्यगन् अध्यगमत् अज्ञासीत् जानातु वा । ॐ गमे लुङि "मन्त्रे घसह्वरणश०" इति च्लेर्लुकि संयोगान्तलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ॐ ॥ उक्ताया अविलम्बितफलसिद्धेर्हेतुम् आह । हि यस्मात् कारणात् अस्य ग्रहग्रहीतस्य शतम् अपरिमिता भिषजः । भिषज्यन्ति चिकित्सां कुर्वन्ति इति भिषजो वैद्याः । बहुभिर्वैद्यैः क्रियमाणम् एकम् औषधं फलभेदाय न कल्पत इति औषधानामपि आनन्त्यम् आह सहस्रम् । इति सहस्रम् अपरिमिता वीरुधः । विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः औषधानि । बहुभिर्वैद्यैरौषधैश्च यत् फलं भवति तद् एतत्सूक्ताभिमन्त्रितमणिबन्धनसामर्थ्येन भवतीति भावः ॥

यह ब्रह्मग्रहसे मुक्त हुआ पुरुष पहिले पढ़े हुए वेदोंका स्मरण करे और यह पुरुष जीवोंके निवासस्थान ग्राम नगर आदिको जान जाय (शीघ्र ही फल होनेका कारण यह है, कि-सैंकड़ों वैद्य और हजारों औषधियें इसको जो फल देतीं उस फलको यह मणिबन्धन देरहा है) ॥ ३ ॥

चतुर्थी

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विद॒न् ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑ ।

ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑द॒न् भूम्या॒मधि॑ ॥ ४ ॥

दे॒वाः । ते॒ । ची॒तिम् । अ॒वि॒द॒न् । ब्र॒ह्माणः॑ । उ॒त । वी॒रुधः॑ ।

ची॒तिम् । ते॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः । अवि॑दन् । भूम्या॑म् । अधि॑ ॥४॥

बध्यमानमणेरुक्तं सामर्थ्यं देवादिप्रसिद्धम् इत्याह । हे मणे ते तव चीतिम् ग्रहविकाराद् रोगिण आदानं ग्रहादेः संवरणं छादनम् अभिभवनं वा देवाः इन्द्राद्या अविदन् विदन्ति जानन्ति । ❀ चीञ् आदानसंवरणयोः । अस्माद् भावे क्तिनि "तितुत्र०" इति इट्प्रतिषेधे बलिलोपे चीतिः इति रूपम् । वेत्तेश्छान्दसे लुङि व्यत्ययेन झुसभावः ❀ ॥ तथा ब्रह्माणः ब्राह्मणाः । उतशब्दः अप्यर्थे । वीरुधः औषधानि च । चीतिम् अविदन्निति संबन्धः॥ विश्वे देवाः एतन्नामानो वरुणमित्रादयो गणदेवाः भूम्यां भूलोके । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । ते तव चीतिम् अविदन् ॥ यद्वा अत्र रुग्ण एव संबोध्यः । हे रुग्ण ते तव मूर्छितस्य चीतिम् संज्ञानम् । ❀ चिती संज्ञाने इत्यस्माद् औणादिके क्मिप्रत्यये उपधादीर्घश्छान्दसः ❀ ॥ भूम्याम् अधि भूलोके देवा अविदन् लम्भयन्तु प्रापयन्तु । ❀ विद्लृ लाभे । अस्माद् अन्तर्णीतण्यर्थात्

छान्दसे लुङि सृदित्वाद् अङ् ॥ एवं ब्राह्मणा इत्यादि योज्यम् । भूम्याम् अधीति सर्वशेषः ॥

(इस बाँधी जाने वाली मणिकी सामर्थ्य देवताओंमें प्रसिद्ध है यथा–) हे मणे ! तेरी ग्रहोंके विकारसे रोगीको छुड़ाना ग्रहों का तिरस्कार करना आदि सामर्थ्यको इन्द्र आदि देवता जानते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण औषधियें और वरुण मित्र आदि सब देवता भी पृथ्वीमें तेरी इस शक्तिको जानते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

यः । चकार । सः । निः । करत् । सः । एव । सुभिषक्ऽतमः ।

सः । एव । तुभ्यम् । भेषजानि । कृणवत् । भिषजा । शुचिः ॥ ५ ॥

यः पुरुषो विधानज्ञः अथर्वाख्यो महर्षिर्वा चकार एतन्मणिबन्धनं कृतवान् स निष्करत् निष्कृतिं ग्रहविकारस्य शमनं करोतु । मणिबन्धनकर्ता चिकित्सको मन्त्रसिद्धान् पुरातनान् वैद्यांश्चिन्तयेदिति भावः । करोतेः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इत्यडागमः । "कःकरत्करति" इति निसः षत्वम् । यद्वा । यः परमेश्वरश्चकार इदं सर्वं जगत् सृष्टवान् स एव निष्करत् ग्रहविकारस्य निष्कृतिं करोतु । स एव उक्त एव सुभिषक्तमः । निदानज्ञानपूर्वकं चिकित्सकाः सुभिषजः तेभ्योयम् उत्कृष्टः आदिवैद्यः । श्रूयते हि । "अध्यवोचद् अधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्" [तै० सं० ४. ५. १. २] इति । "भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि" [ऋ० २. ३३. ४] इति च । स एव ईश्वर एव हे रुग्ण तुभ्यं भिषजा इदानींतनभिषग्रूपेण । इत्थंभावे तृतीया ।

भेषजानि कृणवत् करोतु। शुचिः निर्मलज्ञानवान् स इति संबन्धः ॥ यद्वा तृतीयायाः सुः। शुचिना भिषजेति योज्यम्।
ॐ तुभ्यम् इति। युष्मदस्मदोर्ङसि "ङयि च" इत्याद्युदात्तत्वम्।
कृवि हिंसाकरणयोश्च इत्यस्मात् पञ्चमलकारे "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः। "लेटोडाटौ" इत्यडागमः ॐ।

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

विधानको जानने वाले जिन अथर्वा नाम वाले मुनिने इस मणिबंधनको प्रचलित किया है वह इस ग्रहविकारको शांत करें, जिस परमेश्वरने इस जगत्‌को रचा है वह इस ग्रहविकारको शान्त करें वही सुन्दरवैद्य हैं अर्थात् जो निदानको जानकर चिकित्सा करते हैं उनमें वैद्योंमें श्रेष्ठ हैं +। वह पवित्र ज्ञान वाले ईश्वर ही (वर्तमान वैद्यके रूपमें) हे रोगिन्! तेरी औषधि करें ॥५॥

द्वितीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (३४) ॥

"क्षेत्रियात् त्वा" इति सूक्तेन पूर्वोक्तक्षेत्रियरोगशान्तये चतुष्पथे उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितपर्वसु काम्पीलशकलानि बद्ध्वा कूर्चैः सह तेनोदकेन आप्लावयेद् अवसिञ्चेत्। सूत्रितं हि। "क्षेत्रियात् त्वेति चतुष्पथे काम्पीलशकलैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ३.]॥

"क्षेत्रियात् त्वा" सूक्तसे पूर्वोक्त क्षेत्रिय रोगकी शान्तिके लिये चतुष्पथमें जलपूर्ण घटके निमित्त सम्पात और अभिमन्त्रण करके रोगीकी गाँठों पर कबीलेके टुकड़ोंको बाँध कर मोरके पंखोंकी मुट्ठी (मोरछल) के साथ जलसे स्नान करावे और

+ तैत्तिरीयसंहिता ४। ५। १। २ में कहा है, कि-"अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्-पहिले देव वैद्य वक्ताने यह कहा" ॥ और ऋग्वेद २। ३३। ४ में कहा है, कि-'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि-मैं वैद्योंमें तुम्हें श्रेष्ठ वैद्य समझता हूँ' ॥

छिड़के । सूत्रमें भी कहा है, कि–"क्षेत्रियात् त्वेति चतुर्थ्ये काम्पीलशकलैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरालावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४-१ ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

क्षेत्रियात् त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥

क्षेत्रियात् । त्वा । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ १ ॥

हे क्षेत्रियव्याधिपीडित पुरुष त्वा त्वां क्षेत्रियात् क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतात् पुत्रादिशरीरसंक्रान्तात् क्षयकुष्ठादेः मुञ्चामि मोचयामि । पुत्रशरीरे पित्रादिशरीरावयवसंक्रान्तिः श्रुत्यन्तरे श्रूयते । "अङ्गाद् अङ्गात् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे" [आश्व० गृ० १. १५. ११] इति ॥ तथा निर्ऋत्याः रोगनिदानभूतायाः पापदेवतायाः सकाशात् जामिशंसात् । सह जायत इति जामिर्भगिनी तदुपलक्षिता बन्धवो जामयः । अभसाभिलषितानां तेषां शंसनात् आक्रोशजनितात् पापात् द्रुहः गुरुदेवतादिद्रोहात् वरुणस्य देवस्य पाशात् पापिनां निग्राहकात् । त्वा मुञ्चामि इति सर्वत्र संबन्धः ॥ निर्ऋत्यादीनां

महारोगनिदानत्वात् तदनिवृत्तौ रोगनिवृत्तेरसंभवात् ततोपि मोचनम् उक्तम् ॥ अपि च । त्वा त्वां ब्रह्मणा मन्त्रेण अनागसम् अपराधरहितं कृणोमि करोमि । न तत् सर्वं मत्सामर्थ्येन करोमि अपि तु मन्त्रप्रभावेनेति तात्पर्यार्थः ॥ ततः हे व्याधित द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ उभे ते तव शिवे कल्याणकारिण्यौ [स्ताम्] भवताम् । ❀ अस्तेर्लोटि तसस्ताम् । "असोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ❀ । सत्स्वपि देवतान्तरेषु द्यावापृथिव्योरेव प्रार्थनम् भौमदिव्यापराधजनितत्वात् सर्वरोगाणाम् "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५] श्रुतेः तयोरेव सर्वजगन्मातापितृत्वेन सर्वदेवान्तर्भावात् तत्प्रसादेन सर्वरोगशान्तिः सर्वदेवताप्रीतिश्च भवतीत्येवमर्थं कृतम् ॥

हे क्षेत्रियव्याधिसे पीडित पुरुष ! मैं तुझको क्षय कुष्ठ आदि दोषसे दूषित पिता माता आदिके अवयवोंसे आये हुए पुत्र आदिके शरीरमेंसे संक्रांत क्षय कुष्ठ आदि क्षेत्रियरोगसे छुड़ाता हूँ ‡ रोगकी निदानभूत पापदेवतासे तुझको छुड़ाता हूँ, (साथ उत्पन्न होती है अत एव भगिनी जामि कहलाती है, जामि शब्द में सब बांधवोंका भी उपलक्षण है अत एव अभिलषित वस्तुके न मिलनेके कारण) बंधुओंके किये हुए आक्रोशसे उत्पन्न हुए पापसे छुड़ाता हूँ और गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंका निग्रह करने वाले वरुणदेवके पाशसे मैं तुझको छुड़ाता हूँ (निर्ऋति आदि महारोगनिदान हैं उनकी निवृत्ति न होने पर रोगकी

‡ अन्य श्रुतियोंमें पुत्रके शरीरमें पिताके अवयवोंकी संक्रांति सुनी जाती है । यथा—आश्वलायनगृह्यसूत्र १ । १५ । ११ में कहा है, कि—"अंगात् अंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे-हे पुत्र ! तू प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे उत्पन्न हुआ है।

निवृत्ति असंभव है अतः उनकी निवृत्ति भी कही है) और मैं तुझे ब्रह्म(मंत्र)से अपराधरहित भी करता हूँ मैं इन सब बातोंको अपनी सामर्थ्यसे नहीं करता हूँ, किन्तु मन्त्रके प्रभावसे करता हूँ। तदनन्तर हे रोगिन् ! द्यावा पृथिवी दोनों तेरा कल्याण करने वाले हों × ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः ।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निॠ॑त्या जामिशं॒सात् द्रु॒हो
मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒गसं॑ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम् । ते॒ । अ॒ग्निः । स॒ह । अ॒त्ऽभिः । अ॒स्तु॒ । शम् । सोमः॑ ।
स॒ह । ओष॑धीभिः ।

× अन्य २ देवताओंके होने पर भी जो द्यावा पृथिवीकी ही प्रार्थना की है, उसका कारण यह है, कि—सब रोग भौम और दिव्य अपराधोंसे ही होते हैं और तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।४।५ में "द्यौः पिता पृथिवी माता—द्यौ पिता है पृथिवी माता है" इस श्रुतिसे द्यौको पिता और पृथिवीको माता बताया है और वे सब जगत्के माता पिता हैं अत एव सब देवताओंका उनमें अंतर्भाव होजाता है अतः उनके प्रसादसे सब रोगोंकी शान्ति हो सकती है और सब देवता प्रसन्न होसकते हैं। इसी अभिप्रायसे उनकी प्रार्थना की है ॥

एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् ।

द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावा-

पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ २ ॥

हे रुग्ण ते तव अग्निः अयं चतुष्पथे हूयमानः पृथिवीस्थानः अद्भिः अभिमन्त्रितोदकाभिमानिदेवताभिः सह समस्तव्याध्युपशमनेन [शम्] सुखकरो भवतु ॥ सोमः ओषधीनां राजा ओषधीभिः ओषध्युपलक्षितैः काम्पीलादिभिरौषधगणैः सह शम् सुखकरो भवतु । ❀ "ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ एव एवम् अहं प्रयोक्ता त्वा त्वाम् ॥ क्षेत्रियादित्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे रोगग्रस्त ! यह पृथिवी पर स्थित चोराहेमें हूयमान अग्नि अभिमन्त्रित जलाभिमानी देवताओंके साथ सुखदायक हो, ओषधियोंका राजा सोम काम्पील (कबीला) आदि ओषधियों सहित (तुझको) सुख देने वाला हो । इस प्रकार प्रयोग करने वाला मैं तुझको क्षेत्रियव्याधिसे और रोगकी निदान पापदेवतासे छुड़ाता हूं बांधवोंके कलपनेसे छुड़ाता हूं और पापियों का निग्रह करने वाले वरुणदेवके पाशसे तुझको छुड़ाता हूं, मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझको निष्पाप करता हूं, द्यावा और पृथिवी तेरा कल्याण करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो

मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी
उभे स्ताम् ॥ २ ॥

शम् । ते । वातः । अन्तरिक्षे । वयः । धात् । शम् । ते । भवन्तु । प्रऽदिशः । चतस्रः ।

एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ २ ॥

हे रुग्ण ते तव अन्तरिक्षे अन्तरा क्षान्तं द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमाने वा। ❁ अन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा इत्यादि निरुक्तम् [नि० २. १०] ❁ । तस्मिन् स्वस्थाने वयोधाः वयसां पक्षिणां धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः अन्तरिक्षाधिपतिर्वायुः शम् सुखकरो भवतु ॥ तथा चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशः ते तव शं भवन्तु सुखकर्यो भवन्तु ॥ एवाहम् इत्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! द्यावा पृथिवीके बीचके अन्तरिक्षमें फिरने वाले पक्षियोंको धारण करनेवाले और अन्नसे पोषण करनेवाले वायुदेवता तेरा कल्याण करें और पूर्व आदि चार श्रेष्ठ महादिशा भी भी तेरे लिये सुखकारी हों, इसी प्रकार मैं भी तुझको क्षेत्रिय व्याधिसे, निर्ऋति देवतासे, बांधवोंके आक्रोशसे, गुरुद्रोहके पाप-

से और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे छुड़ाता हूँ, मन्त्रप्रभावके द्वारा तुझे निष्पाप करता हूँ द्यावापृथिवी तेरा कल्याण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ४ ॥

इमाः। याः। देवीः। प्रऽदिशः। चतस्रः। वातऽपत्नीः। अभि। सूर्यः। विऽचष्टे।
एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निःऽऋत्याः। जामिऽशंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्।
अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥ ४ ॥

इमाः परिदृश्यमानाः देवीः द्योतमानाः वातपत्नीः वातः पतिर्यासाम्। ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति ङीब्नकारौ ❀। दिक्षु वायोः संचारात् तत्पतित्वोपचारः। एवंभूता याश्चतस्रः प्रदिशः सूर्यः सर्वस्य प्रेरयिता द्युस्थानाधिपतिः सविता अभि अभितः सर्वतो विचष्टे। पश्यतिकर्मायम्। विपश्यति। स्वकिरणप्रसारणेन प्रकाशयतीत्यर्थः। ❀ चतस्र इति। "चतसर्याद्युदात्तत्वनिपात

नम्" इति वचनात् "चतुरः शसि" इति अन्तोदात्तत्वाभावः। चष्ट इति। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अदादित्वात् शपो लुक्। "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" इति कलोपः ॐ। ताभिः सह सूर्यः शं भवतु इत्यनुषङ्गः॥ एवाहम् इत्यादि गतम्॥

जो प्रकाशमयी श्रेष्ठ दिशाएँ वायुकी † पत्नी हैं उनको द्युस्थान के स्वामी सविता देवता चारों ओरसे देखते हैं, वे दिशाएँ और सूर्य तेरा कल्याण करें, हे रोगिन्! मैं भी तुझको क्षेत्रियरोग से, निर्ऋति नामक पापदेवतासे, बांधवोंके अभिशापसे द्रोह से और पापियोंको दण्ड देने-वाले वरुणके पाशसे छुड़ाता हूँ, मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे निष्पाप करता हूँ दोनों द्यावा पृथिवी तेरा कल्याण करें॥ ४॥

पञ्चमी॥

तासु॑ त्वान्तर्ज॒रस्या द॑धामि॒ प्र यक्ष्म॑ एतु॒ निर्ऋ॑तिः परा॒चैः।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं॑ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि॒ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ५॥

तासु॑। त्वा॒। अ॒न्तः। ज॒रसि॑। आ। द॒धा॒मि॒। प्र। यक्ष्मः॑।
ए॒तु॒। निः॒ऽऋ॑तिः। प॒रा॒चैः।

† वायुका दिशाओंमें सञ्चार रहता है अतः वायुमें पतित्वका उपचार किया है।

एव । अहम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ५ ॥

याः पूर्वमन्त्रोक्ता दिशः तासु अन्तः मध्ये हे रुग्ण त्वा त्वां जरसि जरायाम् आ दधामि । जरापर्यन्तं रोगादिपरिहारेण जीवयन् शतायुषं करोमीत्यर्थः । ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀ ॥ यक्ष्मः त्वदीयो राजयक्ष्मादिः क्षेत्रियः प्रैतु प्रगच्छतु त्वां विसृजतु ॥ निर्ऋतिः त्वद्रोगनिदानभूता पापदेवता पराचैः पराङ्मुखी प्रैतु । प्रतिनिवृत्य अनवलोकयन्ती दूरं गच्छतु इत्यर्थः ॥ एवाहं त्वेत्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! मैं पूर्वमन्त्रमें कही हुई दिशाओंमें तुझे बुढ़ापे तक रोगरहित रह कर जीवित रहनेके लिये स्थापित करता हूँ अर्थात् तेरी सौ वर्षकी आयु करता हूँ तेरा राजयक्ष्मा आदि क्षेत्रियरोग दूर होजाय, तेरे रोगकी निदानभूत पापदेवता पराङ्मुख होजाय हे रोगिन् ! मैं तुझे क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ, निर्ऋतिनामक पापदेवतासे मुक्त करता हूँ, बांधवोंके अभिशापसे छुड़ाता हूँ, गुरुद्रोहसे छुड़ाता हूँ और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे मुक्त करता हूँ, हे रोगिन् ! मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे अपराधरहित करता हूँ, दोनों द्यावा पृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होंय

षष्ठी ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ६ ॥

अमुक्थाः । यक्ष्मात् । दुःऽइतात् । अवद्यात् । द्रुहः । पाशात् । ग्राह्याः । च । उत् । अमुक्थाः ।
एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ६ ॥

हे रुग्ण त्वं यक्ष्मात् क्षेत्रियव्याधेः अमुक्थाः मुक्तोसि । मा संशयं कार्षीरित्यर्थः । ❀ मुच्लृ मोक्षणे । अस्मात् कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ ॥ तथा दुरितात् दुर्गतात् रोगनिदानभूतात् पापात् अवद्यात् जाम्याद्यभिशंसनरूपाद् निन्दनात् । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति यत्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । द्रुहः देवतादिद्रोहात् । पाशात् पापिनो निग्राहकाद् वरुणपाशात् ग्राह्याः ब्रह्मराक्षस्यादिरूपायाः पिशाच्याश्च उदमुक्थाः उन्मुक्तो भवसि ॥ एवाहम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे रोगिन् ! तू यक्ष्मा—क्षेत्रियव्याधि-से मुक्त होरहा है, तथा तू रोगके कारण पापसे, बहिन आदि बांधवोंके मनमें घुटनारूप

निन्दासे, देवता आदिके द्रोहसे और पापियोंको वशमें करने वाले वरुणके पाशसे और ब्रह्मराक्षसी आदिरूप पिशाचीसे भी मुक्त होरहा है, इसमें तू कुछ सन्देह न कर । मैं भी तुझको क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ, पापदेवता निर्ऋति से मुक्त करता हूँ, बहिन आदिके अभिशापसे दूर करता हूँ देवता-द्रोह आदिके पापसे मुक्त करता हूँ पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे मुक्त करता हूँ, हे रोगिन् ! मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे निपराध करता हूँ, दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक तेरा कल्याण करने वाले हों ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः । अरातिम् । अविदः । स्योनम् । अपि । अभूः । भद्रे । सुऽकृतस्य । लोके ।
एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ७ ॥

हे व्याधित अरातिम् शत्रुवद्बाधकं रोगं शत्रुमेव वा अहाः अहासीः अत्याक्षीः। ❀ ओहाक् त्यागे। लुङि "मन्त्रे घसह्वरणशदहाद्०" इति च्लेर्लुक् ❀॥ स्योनम्। सुखनामैतत्। सुखम् अविदः लब्धवान् असि। ❀ विद्लृ लाभे इत्यस्मात् लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀॥ भद्रे भन्दनीये कल्याणे सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य फलभूतेऽस्मिन् भूलोके अप्यभूत्। ❀ "अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्ग०" इति कस्यचित् पदस्यार्थे अपिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानाद् अत्र अन्वेतुं योग्ये जीवननिवासादिपदार्थे अपिशब्दो वर्तते ❀। भूलोके चिरकालनिवासो दीर्घजीवनं वा तव अभूद् इत्यर्थः॥ एवाहम् इत्यादि गतम्॥

हे रोगिन्! तू शत्रुकी समान बाधक रोगको और शत्रुको त्याग! तू अब सुखको प्राप्त होगया है और पुण्यके फलरूप इस कल्याणमय भूलोकमें तू आगया है अर्थात् अब भूलोकमें तू चिरकाल तक रहेगा दीर्घायु होगा। मैं भी क्षेत्रियरोगसे, पापदेवता निर्ऋतिसे, बहिन आदि बांधवोंके कलपनेके शापसे गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे तुझको छुड़ाता हूँ, मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे पापशून्य करता हूँ, द्युलोक और भूलोक ये दोनों तेरा कल्याण करने वाले हों॥ ७॥

अष्टमी॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम् । ऋतम् । तमसः । ग्राह्याः । अधि । देवाः । मुञ्चन्तः । असृजन् । निः । एनसः ।

एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ८ ॥

ऋतम् सत्यभूतं सूर्यं तमसः स्वर्भानुरूपाद् ग्राह्याः ग्रहात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । मुञ्चन्तः मोचयन्तो देवाः इन्द्रादयः एनसः तद्धेतुभूतात् पापाद् निरसृजन् निरगमयन् । ❀ सृज विसर्गे । "सुवर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाविध्यत् तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिम् ऐच्छन्" [तै० सं० २. १. २. २] इत्यादि तैत्तिरीयकम् ❀ । यथा देवाः सूर्यं राहुग्रहाद् अमोचयन् एवम् अहमपि त्वां मन्त्रप्रभावेन क्षेत्रियरोगात् तन्निदानभूतपापादिभ्यश्च मोचयामीत्यर्थः ॥

इति द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ।

[इति] द्वितीयोनुवाकः ॥

सत्यभूत सूर्यको राहुरूप ग्रहसे छुड़ाते समय देवताओंने उसके कारण पापको भी दूर करदिया था † तात्पर्य यह है, कि—जिस

† तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । २ । २ में कहा है, कि—"सुवर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत् तस्मै देवा प्रायश्चित्तिमैच्छन्—स्वर्भानु

प्रकार देवताओंने सूर्यको राहु नामक ग्रहसे छुड़ाया है, इसी प्रकार मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ पापदेवता निर्ऋतिसे, बहिन आदि बांधवोंके कल्पनेसे, गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे भी मैं तुझको मुक्त करता हूँ मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे अपराधरहित करता हूँ दोनों द्यावापृथिवी तुझे सुख देनेवाले हों ॥ ८ ॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५१) ॥

द्वितीयकाण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "दूष्या दूषिरसि" इति प्रथमं सूक्तम् । स्त्रीशूद्रराजब्राह्मणकापालिकान्त्यजशाकिन्यादिकृताभिचारे स्वात्मरक्षार्थम् कृत्याप्रतिहरणार्थं च अनेन सूक्तेन तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तथा च सूत्रम् । "दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यं बध्नाति" इति [कौ० ५. ३] ॥ स्रक्तिस्तिलकवृक्षः [१ । स्रक्ति] स्तिलक इति भाष्यकारः ॥

तथा अस्य सूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् कृत्यानिर्हरणार्थे शान्त्युदकेपि एतत् सूक्तम् आवपनीयम् । यद् आह कौशिकः । "दूष्या दूषिरसि [२. ११] ये पुरस्तात् [४. ४०] ईशानां त्वा [४. १७] समं ज्योतिः [४. १८] उतो अस्यबन्धुकृत् [४. १९] सुपर्णस्त्वा [५. १४] यां ते चक्रुः [५. ३१] अयं प्रतिसरः [८. ५] यां कल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ३] ॥ अयमेव कृत्याप्रतिहरणगणः ॥

तथा नक्षत्रकल्पे "कृत्यादूषण एव च । चातनो मातृनामा च" [न० क० २३] इत्यत्र शान्तिकल्पे "अथ शान्तैः कृत्यादूषणे-

---

राहु नाम वाले असुरने सूर्यको अन्धकारसे वेध दिया, तब देवताओंने इसके लिये प्रायश्चित्त करना चाहा" ॥

श्चातनैः” [शा० क० १६] इत्यत्र च अस्य सूक्तस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः ॥

एवं “बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्याभिचरतोभिचर्यमाणस्य च” इति [न० क० १७] विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ स्राक्त्यमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “बार्हस्पत्यायां दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यम् अभिचरतोभिचर्यमाणस्य च” इति [न० क० १९] ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मण्येव आद्ययर्चा कृत्याया गुल्फं सूत्रोक्तद्रव्येण परिषिञ्चेत् । सूत्रं च । “दूष्या दूषिरसीति दव्यां त्रिः सारूपवत्सेनापोदकेन मथितेन गुल्फान् परिषिञ्चति” इति [कौ० ५. ३] ॥

तीसरे अनुवाकमें सात सूक्त हैं । उनमें “दूष्या दूषिरसि” यह प्रथमसूक्त है । स्त्री शूद्र राजा ब्राह्मण कापालिक अन्त्यज और शाकिनी आदिके अभिचार करने पर अपनी रक्षा करनेके लिये और कृत्याको दूर करनेके लिये इस सूक्तसे तिलकमणिके लिये होम करके अभिमंत्रण करके बाँधे । इसी बातको सूत्र में भी कहा है, कि–“दूष्या दूषिरिति स्राक्त्यं बध्नाति–दूष्या दूषिःसूक्तसे स्रक्तिकी मणिको बाँधता है” (कौशिकसूत्र ५ । ३) तिलकवृक्षका नाम स्रक्ति है । भाष्यकारने भी स्रक्तिको तिलक वृक्ष माना है ।

इस सूक्तका कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ है अतः कृत्यानिर्हरणार्थ शान्त्युदकमें भी इस सूक्तका आवपन होता है । इसी बातको कौशिकसूत्र ५ । ३ में कहा है, कि–“दूष्या दूषिरसि (२ । ११) ये पुरस्तात् (४ । ४०) ईशानां त्वा (४ । १७) समं ज्योतिः (४ । १८) उतो अस्यबंधुकृत् (४ । १९) सुपर्णस्त्वा (५ । १४) यां ते चक्रुः (५ । ३१) अयं प्रतिसरः

(८ । ५) यां कल्पयन्ति (१० । १) इति महाशांतिं आव-पते" । यही कृत्याप्रतिहरणगण कहलाता है ॥

इसी प्रकार "कृत्यादूषण एव च । चातनो मातृनामा च । –चातन और मातृनामगण कृत्यादूषण भी" (नक्षत्रकल्प २३) यहाँ और "अथ शान्तै कृत्यादूषणैश्चातनैः–अब शान्त कृत्या-दूषण और चातनोंसे" (शांतिकल्प १६) यहाँ पर भी इस सूक्तका गणप्रयुक्त विनियोग समझना चाहिये ॥

इसी प्रकार "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्याभिचरतो-भिचर्यमाणस्य–राज्य श्री और ब्रह्मतेजको चाहने वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित बार्ह-स्पत्या नाम वाली महाशांतिमें स्राक्त्यमणिबंधनके समय यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि–"बार्हस्पत्यायां दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यम् अभिचरतोऽभि-चर्यमाणस्य च" ।

कृत्याप्रतिहरणकर्ममें ही पहिली ऋचासे कृत्यागुल्फको सूत्रोक्तद्रव्यसे छिड़के । सूत्र भी है, कि–दूष्या दूषिरसीति दर्व्या त्रिः सारूपवत्सेनापोदकेन मथितेन गुल्फान् परिषिञ्चति–दूष्या दूषि-रसि इस सूक्तसे दर्वीके द्वारा तीन वार मथित जलरहित सारूप-वत्ससे गुल्फ पर परिषिञ्चन करे" (कौशिकसूत्र ५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

दूष्याः । दूषिः । असि । हेत्याः । हेतिः । असि । मेन्याः । मेनिः । असि ।

आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ १ ॥

हे तिलकमणे त्वं दूष्याः । दूषयति विनाशयतीति दूषिः कृत्या । ❀ दुषेर्ण्यन्ताद् औणादिक इप्रत्ययः ❀ । तस्याः परकृताया दूषिरसि दूषकः निवारकोसि ॥ हेत्याः । आयुधनामैतत् । हन्ति अनयेति महीयते महिष्यत इति वा हेतिः आयुधम् । ❀ "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति हन्तेर्हिनोतेर्वा क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । तस्याः परप्रेरितायास्त्वं हेतिः प्रतिहननसाधनम् असि ॥ मेन्याः । वज्रनामैतत् । मीनाति हिनस्तीति मेनिः मर्मभेदि मन्त्रात्मकं वाग्वज्रम् । तस्य परोच्चारितस्य मेनिरसि निवारकः प्रतिवाग्वज्रोसि । ❀ मीञ् हिंसायाम् इत्यस्माद् औणादिको निप्रत्ययः ❀ । यद्यपि हेतिमेनी द्वे अपि आयुधनामनी तथापि अत्र समन्त्रकामन्त्रकास्त्रशस्त्रभेदेन तयोर्भेदोवगन्तव्यः ॥ यतस्त्वं शत्रुकृताभिचारादिजनितसर्वारिष्टनिवारकोसि अतः श्रेयांसं प्रशस्यतमम् अधिकबलम् अस्मदीयं शत्रुम् आप्नुहि हन्तुं व्याप्नुहि । निरुध्य तं जहीत्यर्थः ॥ समम् समबलं शत्रुम् अति क्राम अतिक्रम्य गच्छ । अप्रयत्नेन निवारयेत्यर्थः । न्यूनबलस्तु मन्त्रप्रभावम् अन्तरेण स्वेनैव जित इति तस्य अनुपन्यासः । तथा च तैत्तिरीयके समाम्नातम् । "प्र श्रेयांसं भ्रातृव्यं नुदतेति सदृशं क्रामति नैनं पापीयान् आप्नोति" [तै० सं० २.४.१.४] इति । ❀ क्रामेति । क्रमु पादविक्षेपे । अस्मात् लोटि शपि "क्रमः परस्मैपदेषु इति दीर्घः ❀ ॥

हे तिलकमणे ! तू दूसरेकी की हुई कृत्याको हटाने वाली है, दूसरेके प्रेरित आयुधका संहार करने वाली है, दूसरेके प्रेरित मंत्रात्मक वाग्वज्रके लिये तू वज्र है † इस प्रकार तू शत्रुके किये

† यद्यपि हेति और मेनि दोनों आयुधके नाम हैं तथापि यहाँ अमंत्रक और समन्त्रक अस्त्रशस्त्र–भेदसे उनके नामोंका भेद समझना चाहिये ॥

हुए अभिचार आदिसे उत्पन्न सकल अरिष्टोंकी निवारक है अत एव अधिक बली हमारे शत्रुको मारनेके लिये प्राप्त हो उसको घेर कर मार डालो और समान बल वाले शत्रुको अतिक्रमण कर अर्थात् उसको बिना प्रयत्नके ही निवारण कर दें। (न्यून बल वाला तो मन्त्रके प्रभावके बिना अपने आप ही हारा हुआ है, अतः यहाँ उसका वर्णन नहीं किया है‡) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णोसि ।

आ॒प्नुहि श्रेयां॑समति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ २ ॥

स्र॒क्त्यः॑ । अ॒सि॒ । प्र॒ति॒ऽस॒रः । अ॒सि॒ । प्र॒ति॒ऽअ॒भि॒चर॑णः । अ॒सि॒ ।

आ॒प्नु॒हि । श्रेयां॑सम् । अति॑ । स॒मम् । क्रा॒म ॥ २ ॥

हे मणे ! स्रक्त्यः । स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भवः स्रक्त्यः ❀ । "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । तिलकवृक्षनिर्मितोसि॥ प्रतिसरः । हन्तुम् अभिमुखाः कृत्यादयः प्रतिसार्यन्ते प्रतिमुखं निवर्त्यन्ते अनेन इति प्रतिसरः अभिमन्त्रितं रक्षासूत्रम् असि । ❀ प्रतिपूर्वात् सारयतेः "पुंसि संज्ञायां घ०" । उपधाह्रस्वश्छान्दसः ❀ । अत एव महाशान्तिषु मणिबन्धनस्थाने प्रतिसरबन्धनम् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "प्रतिसरं वा सर्वत्र" इति [न० क० १६] ॥ प्रत्यभिचरणः प्रत्यभिचर्यते निवार्यते परकृताभिचारजनिता

‡ "प्र श्रेयांसं भ्रातृव्यं नुदतेति सदृशं क्रामति नैनं पापीयान् आप्नोति–यह मणि श्रेष्ठ बली शत्रुको पीड़ा देता है समान बलीको लाँघ जाता है और पापी पुरुष तो इसके पास फटक भी नहीं सकता" ।

कृत्या अनेन इति प्रत्यभिचरणः। तथाविधोसि ॥ आप्नुहीत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे मणे ! तू तिलकवृक्षसे बनी हुई है और मारनेको आने वाली कृत्याको हटाने वाली है, और अभिमन्त्रित रक्षासूत्र है † और शत्रुके अभिचारसे उत्पन्न हुई कृत्याको हटाने वाली है, हे मणे ! तू अधिक बल वाले शत्रुको नष्ट करनेके लिये उसको प्राप्त हो, समान बल वालेको लाँघ जा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रति तम॒भि च॑र॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ।
आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । च॒र॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ।
आ॒प्नु॒हि । श्रेयां॑सम् । अति॑ । स॒मम् । क्रा॒म ॥ ३ ॥

यः शत्रुः अस्मान् सपुत्रपशुबान्धवान् द्वेष्टि जिघांसति वयं च यम् शत्रुं द्विष्मः नाशयितुम् इच्छामः । ॐ द्विष अप्रीतौ । अदादित्वात् शपो लुक् ॐ। तम् उभयविधं द्वेष्टारं द्वेष्यं च शत्रुं हे मणे प्रत्यभि चर शत्रुकृतां कृत्यां प्रतिनिवर्त्य तमपि नाशयेत्यर्थः॥ आप्नुहीत्यादि गतम् ॥

पुत्र पशु और बांधवोंसहित जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुको नष्ट करना चाहते हैं, उन दोनों प्रकारके शत्रुओं को भी हे मणे ! शत्रुकी प्रेरित कृत्याको नष्ट करके तू मार डाल। तू श्रेष्ठ बल वाले शत्रुको मारनेके लिये उसके पास पहुँच और समान बल वालेको दबा दे ॥ ३ ॥

---

†इसी लिये महाशान्तिओंमें मणिबंधनस्थानमें प्रतिसर(रक्षासूत्र) बंधन कहा है। यथा "प्रतिसरं वा सर्वत्र" (नक्षत्रकल्प १९) ॥

चतुर्थी ॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चःऽधाः । असि । तनूऽपानः । असि ।

आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

हे मणे सूरिः अभिज्ञोसि । शत्रुकृताभिचारनिवर्तनज्ञानवान् असीत्यर्थः ॥ वर्चोधाः वर्चसः तेजसो धाता विधाता असि धारयितॄणाम् ॥ तथा तनूपानोसि तनूनाम् अस्मत्संबन्धिनां शरीराणां परकृताभिचारात् पालयितासि । आप्नुहीत्यादि पूर्ववत् ॥

हे मणे ! तू शत्रुके किये हुए अभिचारको हटानेका ज्ञान रखती है और जो तुझको धारण करते हैं उनमें तेजको धारण करती है और दूसरेके कियेहुए अभिचारोंसे हमारे शरीरकी रक्षा करने वाली है, हे मणे ! तू श्रेष्ठ बल वाले शत्रुओंको मारनेके लिये उनके पास पहुँच और समान बल वाले शत्रुओंको दबादे ॥४॥

पञ्चमी ॥

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि स्वर॑सि ज्योति॑रसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः । असि ।

आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

हे मणे शुक्रः शोचकः शत्रूणां शोचयितासि ॥ भ्राजोसि दीप्यमानः तेजस्वी भवसि ॥ स्वः ज्वरादिरोगोत्पादनेन तापकोसि । ❀ स्वृ शब्दोपतापयोः । अस्मात् छान्दसो विच् ❀ । यद्वा स्वः ।

दिवश्च आदित्यस्य च साधारणं नामैतत्। आदित्योसि आदित्यवत् कृत्यादीनाम् अभिभविता असि भवसि ॥ तथा ज्योतिः अग्न्यादिज्योतिरिव असंस्पृश्योसि। शत्रुकृताभिचारादिभिः अनाघर्षणीयोसीत्यर्थः ॥ आप्नुहीत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] द्वितीयकाण्डे तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! तू शत्रुओंको सन्ताप देनेवाली है, तेजस्वी है, शत्रुओंको ज्वर आदि देकर सन्तप्त करने वाली है, आदित्यकी समान कृत्या आदिको सन्तप्त करनेवाली है और तू अग्नि आदि ज्योतिकी समान असंस्पृश्य होजाती है अर्थात् शत्रुके किये हुए अभिचारोंसे अप्रधृष्य है, हे मणे! तू अधिक बली शत्रुका नाश करनेके लिये उसके समीप जा और समानबली शत्रुसे भिड़ जा ॥ ५ ॥

द्वितीय काण्डके तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७६) ॥

"द्यावापृथिवी उरु" इति सूक्तेन अभिचारकर्मणि दीक्षार्थं वेणुदण्डं वृश्चति ॥ [सूत्रितं हि । "भरद्वाजप्रवस्केनाङ्गिरसं दण्डं वृश्चति" इति कौ० ६. १ ॥ तत्र "द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्षम्" इति सूक्तं भरद्वाजप्रवस्कम् ॥]

तथा अनेनैव सूक्तेन द्वेष्यनिषूदनकर्मणि दक्षिणाभिमुखं धावतः शत्रोः पदेषु वृक्षपत्राणि प्रक्षिप्य परशुना छित्वा सपांसून् पर्णच्छेदान् वधकपात्रे प्रक्षिप्य आनीय भ्राष्ट्रे भर्जयेत् [कौ० ६. १] ॥

"द्यावापृथिवी उरु" इस सूक्तसे अभिचारकर्ममें दीक्षाके लिये वेणुदण्डको काटे। कौशिकसूत्र ६ । १ में कहा है, कि—"भरद्वाजप्रवस्केनांगिरसं दण्डं वृश्चति—भरद्वाजप्रवस्कसे आंगिरस दण्डको काटे" [द्यावापृथिवी सूक्त भरद्वाजप्रवस्क है] ॥

तथा इस सूक्तके द्वारा शत्रुसंहारक कर्ममें दक्षिणकी ओर मुख करके भागते हुए शत्रुके पैरोंमें वृक्षपत्रोंको फेंककर उन्हें फरसेसे काट डाले फिर धूलिधूसरित पत्तोंके टुकड़ोंको वधकपात्रमें डाल लाकर भाड़में भूने" ॥ (कौशिकसूत्र ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने

द्यावापृथिवी इति । उरु । अन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य । पत्नी । उरुऽगायः । अद्भुतः ।

उत । अन्तरिक्षम् । उरु । वातऽगोपम् । ते । इह । तप्यन्ताम् । मयि । तप्यमाने ॥ १ ॥

द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । उरु विस्तीर्णम् अंतरिक्षम् तयोर्मध्ये वर्तमानोन्तरिक्षलोकः । क्षेत्रस्य । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति क्षेत्रम् उक्तं लोकत्रयम् । तस्य पत्नी अधिपतिः देवता क्रमेण अग्निवायुसूर्यात्मिका । ❀ छान्दसौ ङीम्नकारौ ❀ । अद्भुतः त्रिविक्रमरूपत्वेन सर्वलोकव्यापनाद् आश्चर्यभूतः उरुगायः उरुभिर्महानुभावैर्बहुभिर्वा गीयमानः स्तूयमानः लोकानां पालको विष्णुः । ❀ तथा च अन्यत्र आम्नातम् । "त्रेधा विष्णुरुरुगायो विचक्रमे" [तै० ब्रा० ३. १. २. ६] इति । कै गै रै शब्दे । कर्मणि घञ् । "याथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । उत अपि च वातगोपम् । वातो वायुः सूत्रात्मा गोपाः गोपायिता यस्य यद्वा वातेन गोप्यमानं धार्यमाणं वातगोपम् । ❀ तथा च वाजसनेयकम् । "वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि" [बृ० आ०

५. ७. २] ❀ । उरु विस्तीर्णं ब्रह्माण्डान्तर्व्यापि अन्तरिक्षम् महाकाशम् । एवं ये लोकास्तदधिपतयश्च सन्ति ते सर्वे इह अस्मिन् अभिचारकर्मणि मयि अभिचारके तप्यमाने दीक्षानियमेन उपवासादिना क्लिश्यमाने सति तप्यन्ताम् संतप्ता भवन्तु । अहं यथा द्वेष्यं नाशयितुम् उद्युक्तोस्मि एवं भवन्तोपि शत्रोः स्थानाद्यप्रदानेन हिंसका भवन्तु इत्यर्थः ॥

द्यौ और पृथिवी और इनके बीचमें विराजमान विस्तीर्ण अंतरिक्ष लोक, और जिनमें निवास करते हैं उन तीनों लोकोंके अधिपति देवता अग्नि वायु और सूर्य, त्रिविक्रमरूपसे सब लोकोंको व्याप्त करनेके कारण आश्चर्यजनक तथा बड़े २ महानुभावोंसे अनेक प्रकारसे स्तुति पाने वाले लोकपालक भगवान् विष्णु † और सूत्रात्मा वायु जिनकी रक्षा करनेवाला है वह दोनों लोक ‡ और ब्रह्माण्डके भीतर व्याप्त रहने वाला अतिविस्तृत अन्तरिक्ष (महाकाश) तथा अन्य जो लोक और उनके अधिपति हैं, वे सब इस अभिचार कर्ममें दीक्षा आदिसे मेरे क्लेश पाने पर सन्तप्त होवें अर्थात् जैसे मैं शत्रुको मारनेके लिये उद्यत हूँ , इसी प्रकार आप भी स्थान आदि न देकर शत्रुओंके हिंसक बनें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इदं दे॑वाः शृणुत॒ ये य॒ज्ञिया॒ स्थ भ॒रद्वा॑जो॒ मह्य॑-

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १ । २ । ६ में कहा है, कि–"त्रेधा विष्णुरुरुगायो विचक्रमे–महाकीर्तिमान् विष्णुने तीनवार पैर रक्खा" ।

‡ बृहदारण्यक ५ । ७ । २ में कहा है, कि–"वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि–हे गौतम ! वह सूत्र वायु है, हे गौतम ! वायुरूपी सूत्रसे यह लोक और परलोक तथा सब प्राणी गुरे हुए हैं)" ॥

मुक्थानि शंसति ।

पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरत्ऽवाजः । मह्यम् । उक्थानि । शंसति ।

पाशे । सः । बद्धः । दुःऽइते । नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

हे देवाः इदम् वक्ष्यमाणं मद्वाक्यं शृणुत । ये यूयं यज्ञियाः यज्ञार्हाः स्थ भवथ । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀ । किं तद् इति तद् आह । भरद्वाजः भरत् देवानां पोषकं वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य सोयं भरद्वाजः वषट्कारेण देवानां हविषः प्रदाता एतन्नामको महर्षिः मह्यम् मदर्थं मदभिलषितसिद्धये उक्थानि शस्त्राणि शंसति पठति । यद्वा उक्थशब्दः स्तावकमन्त्रमात्रोपलक्षणपरः । अभिचारकर्मोचितदेवतास्तुतिपरान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्त इत्यर्थः ॥ यः शत्रुः अस्माकम् इदम् पूर्वं सन्मार्गप्रवृत्तं मनः मानसं हिनस्ति बाधते । ❀ हिसि हिंसायाम् । इदित्वाद् नुम् । रुधादित्वात् श्नम् । "श्नान्नलोपः" इति नकारलोपः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । अनभिमतकार्यकरणेन इष्टविघातेन च यो विक्षिप्तिं करोति स शत्रुः पाशे पाशेन मत्कृताभिचारकर्मरूपेण बद्धः निरुद्धगतिः सन् दुरिते दुर्गते मरणरूपे नियुज्यतां नियुक्तो भवतु । अनेन कर्मणा मृतिं प्राप्नोतु इत्येतत् शृणुतेति पूर्वेण संबन्धः ॥

जो यज्ञके योग्य हैं ऐसे देवताओं ! तुम मेरे वाक्यको सुनो,

कि-"भरत् (देवताओंके पोषक) हविनामक वाज (अन्न) वाले अर्थात् वषट्कारके द्वारा देवताओंको हवि देनेवाले भरद्वाज नामक महर्षि मेरी अभिलषित वस्तुओंकी सिद्धिके लिये अभिचारकर्मके योग्य देवताओंकी स्तुतिके मन्त्ररूप शस्त्रोंको पढ़ रहे हैं। जो हमारा शत्रु पहिले हमारे सन्मार्गमें लीन चित्तको दुःखित कर चुका है तथा अनिष्ट कार्यको करके हमारे चित्तको विक्षिप्त करता है वह शत्रु मेरे किये हुए अभिचार-कर्मरूप पाशसे गतिहीन होकर मरणरूप दुर्गतिसे युक्त होजाय। अर्थात् इस कर्मसे मर जाय" ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत् त्वा हृदा शोचता जोहवीमि
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति

इदम् । इन्द्र । शृणुहि । सोमऽप । यत् । त्वा । हृदा । शोचता ।
जोहवीमि ।
वृश्चामि । तम् । कुलिशेनऽइव । वृक्षम् । यः । अस्माकम् ।
मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ ३ ॥

[पूर्वं] देवाः सामान्येन प्रार्थिताः। इदानीं तत्प्रधानभूत इन्द्रः प्रार्थ्यते। हे सोमप सोमं पिबतीति सोमपः। ❀ "आतोऽनुपसर्गे कः" तस्य संबुद्धिः ❀। सोमपानेन सर्वदा संतुष्टमानस हे इन्द्र इदम् वक्ष्यमाणं मदीयं वाक्यं शृणुहि शृणु। ❀ "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ❀। तदेव दर्शयति यद् इति। शोचता द्वेष्यंकृतापकारैः शोकार्तेन हृदा मनसा त्वा त्वां जोहवीमि पुनःपुनराह्वयामि। आर्तस्य अनन्यगतिकस्य मम

वचनं वा उपेक्षिष्ठा इति क्रियासमभिहारेण सूचितम् । ❀ ह्वयतेर्यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने "ह्वः संप्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति संप्रसारणम् ❀ । जोहवीमीति यत् तद् इदम् इति संबन्धः । तं शत्रुं वृश्चामि छिनधि । ❀ ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । पादादित्वाद् अनिघातः ❀ । किमिव कुलिशेन वज्रसदृशेन परशुना वृक्षम् इव ॥ अत्र व्रश्चनलिङ्गाद् दीक्षादण्डच्छेदने शत्रुपदमक्षिप्तपर्णच्छेदने च विनियोग उपपन्नः ॥ यो अस्माकम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

(पहिले सामान्यरूपसे सब देवताओंकी प्रार्थना की, अब देवताओंमें प्रधान इन्द्रदेवकी प्रार्थना करते हैं, कि-) सोमपानसे जिनका मन सदा सन्तुष्ट रहता है ऐसे हे इन्द्र ! तुम मेरे वाक्यको सुनो, कि-"मैं शत्रुके अपकारोंके कारण जलते हुए चित्तसे तुम्हें बारम्बार पुकारता हूँ (मुझ आर्तकी एकमात्र आप ही गति हैं अतः आप मेरी उपेक्षा न करिये) जो शत्रु हमारे मनको कष्ट देता है उसको मैं फरसेसे वृक्षकी समान काट (ना चाह) ता हूँ । (यहाँ व्रश्चन-काटना-चिह्नसे दीक्षादण्डच्छेदनमें और शत्रुके पैरों पर फैंके हुए पत्तोंके छेदनेमें भी इसका विनियोग घटता है ३

चतुर्थी ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥४॥

अशीतिऽभिः । तिसृऽभिः । सामगेभिः । आदित्येभिः । वसुऽभिः । अङ्गिरःऽभिः ।

इष्टापूर्तम् । अवतु । नः । पितृणाम् । आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

तिसृभिः त्रिसंख्याकाभिः अशीतिभिः तृचाशीतिभिः । ताश्च अशीतय ऐतरेयके महाव्रतक्रतौ बृहदुक्थे समाम्नायन्ते । "गायत्री तृचाशीतिः औष्णिही तृचाशीतिः बार्हती तृचाशीतिः" [ऐ० आ० १. ४. ३]। ताभिस्तत्संख्याकान्तैस्तृचैः तत्प्रतिपाद्येन्द्रदेवतया वा सामगेभिः सामगैरुद्गात्रादिभिः तत्प्रयुक्तैः स्तोत्रैर्वा आदित्येभिः आदित्यैर्द्वादशभिः वसुभिः अष्टभिः अङ्गिरोभिः प्रसिद्धैः दीर्घसत्रानुष्ठातृभिर्महर्षिभिः । वस्वादित्यसमभिव्याहाराद् अङ्गनाद् व्यापनाद् रुद्रा वा अङ्गिरःशब्देन प्रत्येतव्याः । तैः सह । ❀ सहयोगे तृतीया ❀ । पितृणाम् अस्मत्पूर्वपुरुषाणाम् इष्टापूर्तम् । इष्टं श्रुतिविहितं यागादि । पूर्तं स्मृत्युक्तं कूपारामतटाकादि । तदुभयजनितं सुकृतं नः अस्मान् अवतु शत्रोः सकाशाद् रक्षतु । यद्वा । ❀ करणे तृतीया ❀ । स्तुतशस्त्रैर्वसुरुद्रादित्यरूपाभिः सवनदेवताभिश्च निष्पादितं पितृणाम् इष्टापूर्तम् अस्मान् अवतु इति ॥ रक्षाप्रार्थनायाः प्रयोजनम् आह । अमुम् अपकर्तारम् अमुकनामानं शत्रुं दैव्येन देवसंबन्धिना । मत्कृताभिचारजनितकृत्यारूपदेवताकृतेनेत्यर्थः । हरसा । क्रोधनामैतत् । क्रोधेन आ ददे स्वीकरोमि । निगृह्णामीत्यर्थः । ❀ "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम् ❀ ॥

ऐतरेयक महाव्रतक्रतुके बृहदुक्थमें कथित तृचाशीति वा तत्प्रतिपाद्य इन्द्रदेवतासे वा सामका गान करनेवाले उद्गाता आदि से प्रयुक्त स्तोत्र, बारह आदित्य, आठ वसु दीर्घसत्रका आरंभ करने वाले अंगिरानामक महर्षि और रुद्रों सहित हमारे पूर्वपुरुषों का जो श्रुतिविहित याग आदि इष्ट है और स्मृतिमें कथित कूप

बाग और तालाब आदि है, उन इष्टापूर्तोंसे उत्पन्न हुआ पुण्य हमें शत्रुसे रक्षित करे। अर्थात् स्तुत शस्त्रोंसे और वसु रुद्र आदित्य आदिरूप देवताओंसे भी निष्पादित पितरोंका इष्टापूर्त हमारी रक्षा करे (रक्षाकी प्रार्थनाका प्रयोजन यह है, कि–) मैं इस अपकार करनेवाले अमुक नामके शत्रुको अपने किये हुए अभिचारजनित कृत्यारूप देवताकृत क्रोधसे दण्ड देता हूँ ॥४॥

पञ्चमी ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी इति । अनु । मा । आ । दीधीयाम् । विश्वे । देवासः । अनु । मा । आ । रभध्वम् ।
अङ्गिरसः । पितरः । सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अपऽकामस्य । कर्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी हे द्यावापृथिव्यौ मा शत्रुनिरसनार्थं दीप्तं माम् अनु युवामपि आ दीधीयाम् आदीप्ते भवतम्। शत्रुजयार्थम् आनुकूल्यं कुरुतम् इत्यर्थः। ❀ "अनुर्लक्षणे" इति अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां "कर्मप्रवचनीयुक्ते द्वितीया" इति अस्मच्छब्दाद् द्वितीया। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः इत्यस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥ विश्वे देवासः हे विश्वे देवाः एतन्नामानो गणदेवाः मा शत्रुजयार्थम् उद्युक्तं माम् अनु [आ रभध्वम्

शत्रुं निग्रहीतुम् उद्युक्ता भवत । तथा हे सोम्यासः सोमार्हा अङ्गिरसः हे तथाविधाः पितरः एतन्नामानो देवाः ।] यूयमपि आरभध्वम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ प्रार्थनायाः प्रयोजनं दर्शयति । अपकामस्य अनभिमतस्य कार्यस्य द्रोहस्य कर्ता शत्रुः पापं मृतिलक्षणम् आर्च्छतु प्राप्नोतु । ❀ ऋच्छ गतौ । "उपसर्गादृति धातौ" इति गुणापवादो वृद्धिः ❀ ॥

हे द्यावापृथिवी ! शत्रुका तिरस्कार करनेके लिये शुक्र दीप्त के अनुसार तुम भी दीप्त होओ और शत्रुका विजय करनेके लिये अनुकूलता दिखाओ । हे विश्वेदेवताओं ! शत्रुको जीतनेके लिये उद्यत मेरे साथ तुम भी शत्रुका निग्रह करनेके लिये उद्यत होजाओ । तथा हे सोमके योग्य अंगिराओं ! तथा पितृनामक देवताओं ! तुम भी मेरे शत्रुको दबानेके लिये उद्यत होजाओ (प्रार्थनाका प्रयोजन यह है, कि-हमारे न चाहे हुए कार्यका कर्ता शत्रु मृत्युरूप पापको प्राप्त होजाना चाहिये) ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् ।

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

अतिऽइव । यः । मरुतः । मन्यते । नः । ब्रह्म । वा । यः । निन्दिषत् । क्रियमाणम् ।

तपूंषि । तस्मै । वृजिनानि । सन्तु । ब्रह्मऽद्विषम् । द्यौः । अभिऽसंतपाति ॥ ६ ॥

हे मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका गणदेवाः यः शत्रुः नः अस्मान् अतीव अतिक्रान्त इव मन्यते आत्मानं जानाति । ❀मन ज्ञाने । "दिवादिभ्यः श्यन्" । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । यश्च शत्रुः । वाशब्दः चार्थे । क्रियमाणम् अस्माभिरनुष्ठीयमानं ब्रह्म मन्त्रसाध्यं कर्म निन्दिषत् निन्देत् । ❀णिदि कुत्सायाम् । इदित्त्वान्नुम् । "लेटोडाटौ" इत्यडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀ । तस्मै उभयविधाय शत्रवे तपूंषि तापकानि तेजांसि आयुधानि वा वृजिनानि वर्जकानि बाधकानि सन्तु । ❀ तप संतापे इत्यस्माद् जनेरुसिः [उ० २. ११४] इत्यनुवृत्तौ अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् [उ० २. ११६] इत्युसिप्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तः । वृजी वर्जने । [वृजेः] किच्च [उ० २. ४७] इति इनच् प्रत्ययः । कित्वाद् गुणाभावः । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः ❀ । द्यौः आदित्यः । द्युस्थानत्वात् । ब्रह्मद्विषम् मदीयं कर्म द्विषन्तं शत्रुम् अभिसंतपाति अभितः संतपतु । ❀ तपतेः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इत्याडागमः ❀ ॥

हे मरुत्नामवाले उनञ्चास गणदेवताओं ! जो हमारा शत्रु हमें बहुत दबा हुआ समझता है और जो शत्रु हमारे किये हुए मंत्रसाध्य अनुष्ठानकी निंदा करता है, इन दोनों प्रकारके शत्रुओं के लिये तापक तेज और आयुध बाधक हों तथा सूर्यदेव मेरे मन्त्रात्मक कर्मसे द्वेष करने वाले शत्रुको चारों ओरसे सन्ताप दें ॥६॥

सप्तमी ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सदनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

सप्त । प्राणान् । अष्टौ । मन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । यमस्य । सदनम् । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ ७ ॥

सप्त सप्तसंख्याकान् प्राणान् शीर्षण्यान् चक्षुरादीन्द्रियाणि । छिद्रापेक्षया सप्तसंख्या । "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" इति [तै० ब्रा० १. २. ३. ३] श्रुतेः । अष्टौ मन्यः धमन्यः कण्ठगता नाडीविशेषाः । तान् अष्टौ अष्टसंख्याकान् प्रधानभूतांश्च वृश्चामीत्यन्वयः । ते तव संबन्धिनस्तान् प्रसिद्धान् अवशिष्टावयवान् ब्रह्मणा मन्त्रेण तत्साध्याभिचारकर्मणा वा वृश्चामि छिनद्मि ॥ एवं मन्त्रप्रभावेन छिन्नसर्वाङ्गस्त्वं यमस्य अन्तकस्य सदनम् गृहम् अयाः याहि गच्छ । ❀ यातेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक ❀ । गमनप्रकारम् आह । अग्निदूतः अग्निर्दूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः दाहार्थे तस्यैव आनीयमानत्वात् । ❀ बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अरंकृतः अलंकृतः शवालंकारेण विभूषितः । ❀ "बालमूललघ्वलमङ्गुलीनाम्०" इति रत्वविकल्पः । "भूषणेलम्" इति [गति] संज्ञायां "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

मैं तेरे नेत्र आदि सात प्राणोंको † और कण्ठकी आठ प्रधान नाड़ियोंको तथा तेरे अन्य प्रसिद्ध अंगोंको मन्त्रसे वा मन्त्रसे सिद्ध होने वाले अभिचार कर्मसे काटता हूँ । इस प्रकार तू मन्त्रके प्रभावसे सम्पूर्ण अंगोंके छिन्न भिन्न होजाने पर अग्निको दूत बनाकर (क्योंकि-तुझे जलानेके लिये वही लाये जाते हैं) तथा शवरूपी अलंकारसे भूषित होकर यमराजके घरको चला जा ७

† यहाँ छिद्रोंकी अपेक्षा रख कर सात संख्या कही है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ में कहा है, कि-"सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः-सात शिरके प्राण हैं" ॥

अष्टमी ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्टसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । दधामि । ते । पदम् । सम्ऽइद्धे । जातऽवेदसि ।

अग्निः । शरीरम् । वेवेष्टु । असुम् । वाक् । अपि । गच्छतु ॥ ८ ॥

समिद्धे सम्यग्दीप्ते ज्वलिते जातवेदसि अग्नौ । जातानि जनिमन्ति भूतानि वेत्ति तैर्विद्यते ज्ञायते इति वा जातेषु सर्वेषु भूतेषु वैश्वानररूपेण विद्यते सत्तां लभत इति वा जातवेदाः । ❀ यद् उक्तं यास्केन । जातवेदाः कस्मात् । जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जातेजाते विद्यत इति वा" [नि० ७. १६] इत्यादि ❀ । तस्मिन्नग्नौ हे शत्रो ते तव पदम् छिन्नपर्णसहितं पदपांसुम् आ दधामि प्रक्षिपामि । भ्राष्ट्रेऽग्निसंतप्ते भर्जयामीत्यर्थः ॥ अग्निः शरीरं त्वदीयं वेवेष्टु पदपांसुद्वारा पादं प्रविश्य कृत्स्नम् अङ्गं व्याप्नोतु । दहतु इत्यर्थः । ❀ विष्लृ व्याप्तौ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "निजां त्रयाणां गुणः श्लौ" इत्यभ्यासस्य गुणः ॥ वागपि वागिन्द्रियं च असुम् प्राणं गच्छतु प्राप्नोतु । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेन्द्रियव्यवहारशून्यो भवतु इत्यर्थः ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे शत्रो ! भली प्रकार प्रज्वलित अग्निमें ‡ मैं तेरे छिन्न-

‡ निरुक्तमें यास्कमुनिने कहा है, कि–"जातवेदाः कस्मात्–अग्नि जातवेदा क्यों कहलाते हैं" "जातानि वेद वैनं विदुर्जाते जाते विद्यते वा–जो उत्पन्न हुओंको जानता है, उत्पन्न हुए जिसको जानते हैं और प्रत्येक जात हुए (उत्पन्न हुए) में रहता है वही अग्नि जातवेदा कहलाता है ॥

पर्णसहित पैरकी धूलको डालता हूं अर्थात् अग्निसे तपे हुए भाड़ में भूनता हूं, यह अग्नि तेरे शरीरमें पैरकी धूलके द्वारा घुस-जावे और तेरी वाणी तथा प्राणमें भी व्याप्त होजाय, अर्थात् तू सकल इन्द्रियोंके व्यापारसे शून्य हो जाय ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७)

“आयुर्दाः” इति सूक्तं गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि शान्त्युदके अनुयोजयेत् । तत्रैव कर्मणि अनेनैव सूक्तेन आज्यं हुत्वा ब्रह्मचारिणो मूर्ध्नि संपातान् आनयेत् । “आयुर्दा इति गोदानं कारयिष्यन्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तम् अनुयोजयति” इति [कौ० ७. ४] “आयुर्दा इत्येतेन सूक्तेन आज्यं जुह्वन् मूर्ध्नि संपातान् आनयति” इति च [कौ० ७. ४] ॥

तत्रैव कर्मणि “परि धत्त” [२, ३] इति द्वाभ्यां नवं वासः प्रयच्छेत् ॥

“एह्यश्मानम्” [४] इत्यनया दक्षिणेन पादेनाश्मानं आस्थापयेत् ॥

“यस्य ते वासः” [५] इत्यनया पूर्वपरिहितं वासः कर्ता गृह्णीयात् ॥

“अथैनम् अहतेन वसनेन परिधापयति परिधत्तेति द्वाभ्याम् एह्यश्मानम्” इत्यादि [कौ० ७. ५] सूत्रम् अत्र द्रष्टव्यम् ॥

तथा “परि धत्त” [२, ३] इति तृचेन पुरोहितः प्रातःप्रातर्वस्त्रम् अभिमन्त्र्य राज्ञे दद्यात् । उक्तं परिशिष्टे । “अथ पुरोहितकर्माणि” इति प्रक्रम्य “परि धत्तेति [द्वाभ्यां] राज्ञो वस्त्रम् अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत्” इति [अ० प० ४. १] ॥

तथा आरात्रिकविधाने चतस्रः शर्कराः प्रतिदिशं क्षिप्त्वा पञ्चमीम् “एह्यश्मानम्” [४] इत्यनया राजानम् आस्थापयेत् । उक्तं परिशिष्टे । “एह्यश्मानम् आतिष्ठेति पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत्” इति [अ० प० ४. ४] ॥

“आयुर्दा” इस सूक्तको गोदान नाम वाले संस्कारकर्मके शान्त्युदकमें अनुयोजन करे । और तहां ही कर्मके समय इसी

सूक्तसे घृतकी आहुति देकर ब्रह्मचारीके शिर पर सम्पातोंको लावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है। यथा-"आयुर्दा इति गोदानं कारिष्यन्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तं अनुयोजयति" इति [कौशिकसूत्र ७।४] आयुर्दा इत्येतेन सूक्तेन आज्यं जुहन् मूर्ध्नि सम्पातान् आनयति" (कौशिकसूत्र ७।४)॥

उसी कर्ममें "परिधत्त" और "परीदं" इन दूसरी और तीसरी ऋचाओंसे नवीन वस्त्र देय॥

"एह्यश्मानम्" इस चौथी ऋचासे दाहिने पैरके द्वारा पत्थर पर चढ़ावे॥

"यस्य ते वाचः" इस पाँचवीं ऋचासे पहिले रखे हुए वस्त्र को कर्ता ग्रहण करें।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।५ देखना चाहिये, कि-"अथैनं अहतेन वसनेन परिधापयति परिधत्तेति द्वाभ्याम् एह्यश्मानम्" इत्यादि॥

तथा इस सूक्तकी "परिधत्त" और "परीदम्" इन दूसरी तीसरी ऋचाओंसे पुरोहित प्रतिदिन प्रातः कालमें वस्त्रको अभिमन्त्रित करके राजाको देवे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें भी कहा है, कि-"अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "परि धत्तेति (द्वाभ्यां) राज्ञो वस्त्रं अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ४।१)॥

तथा आरती करते समय रेतेके चार कणोंको प्रत्येक दिशामें फैंक कर पाँचवें कणको "एह्यश्मानम्" इस चौथी ऋचासे राजा पर स्थापित करे। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि-"एह्यश्मानम् आतिष्ठेति पञ्चमीम् अभिष्ठापयेत्"(अथर्वपरिशिष्ट४।४)॥

तत्र प्रथमा ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्

आयुःऽदाः । अग्ने । जरसम् । वृणानः । घृतऽप्रतीकः । घृतऽपृष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् । पिताऽइव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

हे अग्ने आयुर्दाः आयुषो दाता । माणवकस्य भवेति शेषः । कियत्पर्यन्तं तद् आयुरिति तत्राह । जरसम् जरां वृणानः संभजमानः । जरापर्यन्तं शतसंवत्सरपरिमितं दीर्घम् आयुः प्रयच्छेत्यर्थः ॥ हे अग्ने त्वं घृतप्रतीकः घृताहुतिभिः उद्भूतज्वालारूपावयवः घृतपृष्ठः घृतमेव पृष्ठं पृष्ठवंशवत् सर्वावयवाधारभूतं गात्रं यस्य स तथोक्तः । घृतोपादानकशरीर इत्यर्थः ॥ यत एवम् अतो हेतोः मधु मधुरं चारु निर्मलं मन्त्रसिद्धं गव्यम् गवि भवम् । ❀ "सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसंगे यद् वक्तव्यः" इति यत् । "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणविशिष्टं घृतम् अस्माभिर्हुतं पीत्वा यथेच्छं स्वीकृत्य तुष्टः सन् पिता जनकः पुत्रान् आत्मीयानिव इमम् माणवकम् अभि रक्षतात् अभिरक्ष । पिता यथा सापराधानपि पुत्रान् पालयति एवं त्वम् एनं पाहीत्यर्थः । ❀ रक्ष पालने । लोएमध्यमैकवचने हेस्तातङ् आदेशः ❀ ॥

हे अग्ने ! तुम (बालकको) बुढ़ापे तककी सौ वर्षकी आयु को देने वाले हो अर्थात् इसको बुढ़ापे तककी आयु दीजिये । हे अग्ने ! आप घृतप्रतीक हैं अर्थात् घृतकी आहुतियोंसे ज्वालारूप अवयवके प्रतीक वाले हैं और घृत ही आपका पृष्ठवंशकी समान सब अवयवोंका आधारभूत है । इस कारण आप मधुर निर्मल

मन्त्रसिद्ध गोघृतको हमारे होमने पर पीकर तुष्ट हूजिये और पिता जैसे अपराधी पुत्रकी भी रक्षा करता है इसी प्रकार इस बालककी आप रक्षा करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जराऽमृत्युम् । कृणुत । दीर्घम् । आयुः ।
बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परिऽधातवै । ऊं इति ॥ २ ॥

वाससः सर्वदेवत्यत्वात् तदभिमानिदेवानामेव संबोध्यत्वम् । तथात्वं च वाससः तैत्तिरीयके समाम्नायते । "अग्नेस्तूषाधानम्" इति प्रक्रम्य "तद् वा एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः" [तै० सं० ६. १. १. ३] इति। हे देवाः परि धत्त। ※ अन्तर्भावितण्यर्थः ※। इमम् माणवकं वासः परिधापयत। नः अस्मदीयम् इमं वर्चसा तेजसा धत्त पोषयत। तेजस्विनं कुरुतेत्यर्थः ॥ किं च। इममेव माणवकं जरामृत्युम्। जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य स तथोक्तः। तथाविधं [कृणुत] कुरुत। अकालमृतिर्मा भूद् इत्यर्थः। एतदेव आह दीर्घम् इति। अस्य माणवकस्य दीर्घं शतपरिमितम् आयुरस्तु ॥ तदेव वासः प्रशंसति। बृहस्पतिः बृहताम् इन्द्रादीनां पतिः एतन्नामा देवः। ※ "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ। "पत्या-

वैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एतन्नाम्ना देवः एतत् प्रकृतं वासः सोमाय राज्ञे ब्राह्मणानां स्वामिने । "सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा" [तै० सं० १. ८. १०. २] इति श्रुतेः । परिधातवै परि-धातुम् । ❀ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवैप्रत्ययः । "तवै चान्तश्च युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। प्रायच्छत् अददात् । ❀ [दाण्] दाने इत्यस्मात् लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छा-देशः । उ इति पदपूरणः ❀ । अनेन वस्त्राणां सोमदेवताकत्वं सूचितम् । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "सौम्यं वै वासः। स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति" [तै० ब्रा० २. २. ५. २] इति ॥

हे देवताओं ! +इस बालकको आप वस्त्र पहिराइये, हमारे इस बालकको आप तेजसे पोषण करिये अर्थात् इसको तेजस्वी बनाइये और इस बालकको जरामृत्यु करिये (बुढ़ापे तककी आयु भोग कर मरनेवाला, अकालमृत्युसे न मरनेवाला करिये) इस बालक की आयु (सौ वर्ष तककी) बड़ी करिये, बड़े २ इन्द्र आदि देवताओंके स्वामी बृहस्पति नामक देवताओंने ब्राह्मणोंके स्वामी † सोमको पहिरनेके लिये वस्त्र दिया था ‡ ॥ २ ॥

+वस्त्र सब देवताओंके लिये होता है, अतः तदभिमानी देव-ताओंका संबोध्यत्व है इस बातको तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । १।२ में कहा है, कि—"तद् वा एतत् सर्वदेवत्यं वासः—यह जो वस्त्र है वह सर्वदेवत्य है" ॥

† "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा—सोम हम ब्राह्मणोंके राजा हैं" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ । १० । २) ॥

‡ इससे वस्त्रोंका सोमदेवताकत्व सूचित होता है । इसी बातको तैत्तिरीयब्राह्मण २ । २ । ५ । २ में कहा है, कि-सौम्यं वै वासः। स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति" ॥

तृतीया ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व २

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । गृष्टीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।

शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । रायः । च । पोषम् । उपऽसंव्ययस्व ॥ २ ॥

हे माणवक इदम् उक्तं वासः वस्त्रं स्वस्तये क्षेमाय पर्यधिथाः परिहितवानसि । ❀ [परि]पूर्वाद् धाञो लुङि "स्थाघ्वोरिच्च" इति इत्वकित्त्वे । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ ॥ तेन परिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः । अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा । तन्निमित्ताद् भयात् पालकोभूः । पुरा खलु देवा मनुष्याणां दृढतरां त्वचं छित्त्वा क्षीरप्रदानक्षेत्रकर्षणभारोद्वहनादिबहुविधोपकारकारिषु गोषु न्यदधुः । ते च तया त्वचा संवीतगात्राः शीतवातातपादिसहनशीला बभूवुः । अत एव कारणाद् नग्नं पुरुषं दृष्ट्वा स्वकीयां त्वचम् अस्मासु स्थिताम् असौ ग्रहीतुम् आगच्छतीति बिभ्यति । तस्माद् गोसमीपं विवसनो न गच्छेद् इति । तथा च शतपथब्राह्मणे तृतीयकाण्डे दीक्षाप्रकरणे समाम्नायते । "अथ वासः परिधत्ते । सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत् त्वचं दधाति । या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैषाग्र आस । ते देवा अब्रुवन् । गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति । हन्त येयं पुरुषे त्वक् गव्येतां दधाम । तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यत इति । तेवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचम् अदधुः । तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तिति-

शेते अवच्छितो ह वै पुरुषः । तस्माद् अस्य यत्रैव क्व च कुशो वान्यद् वा विकृन्तति तत एव लोहितम् उत्पद्यते तद् एतां तस्मिं-स्त्वचम् अदधुर्वास एव । तस्मान्नान्यः पुरुषाद् वासो बिभर्ति । तस्मादु सुवासा एव बुभूषेत् । नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात् । वेद हि गौरहम् अस्य त्वचं बिभर्मीति । सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यते" इति [श० ब्रा० ३. १. २. १३] । एषैव त्वगा-दानभीतिः अत्र अभिशस्तिशब्देन विवक्षिता । तस्या अभिश-स्तेर्वासःपरिधानेन [त्वा] निवर्तयेत्यभिप्रायः ॥ किं च पुरूचीः बहुकालम् अञ्चन्तीः बहुविधान् पुत्रपौत्रादीन् वा व्याप्नुवतीः । ❀ पुरुपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनि दितास्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः ❀ । शतम् शतसं-ख्याकाः शरदः संवत्सरान् जीव ॥ अपि च रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् उपसंव्ययस्व परिधत्स्व । एतद्वासःपरिधानेन धनादिसमृद्धिर्भवतीति भावः ॥

हे बालक ! तूने इस वस्त्रको क्षेमके लिये पहिरा है । इस वस्त्र-परिधानके कारण तू गौओंको हिंसनके भयसे बचा कर पालन करने वाला बन † और बहुत समय तक अनेक प्रकारके पुत्र

---

† पहिले देवताओंने मनुष्योंकी परम दृढ़ खालको छीलकर—दुग्धदान, खेत जोतना और भार उठाना आदि अनेक प्रकारका उपकार करने वाली गौओंको वह खाल देदी थी, वे गौएँ उस त्वचा (खाल) से शरीर ढकने पर सरदी गरमी और हवा आदिको स्वभावतः अनायास ही सहने वाली होगई हैं । इसी कारण गौएँ नग्न पुरुषको देख कर डरने लगती हैं, कि—यह हममें स्थित अपनी खालको लेनेके लिये आरहा है । अत एव गौके समीप नंगे होकर न जाना चाहिये । शतपथब्राह्मणके तृतीय-

पौत्र आदिसे व्याप्त होकर सौ वर्षतक जीवित रह और समृद्ध धन को धारण कर। तात्पर्य यह है कि–इस वस्त्रको धारण करनेकी सामर्थ्यसे धन आदिकी वृद्धि होती है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

आ । इहि । अश्मानम् । आ । तिष्ठ । अश्मा । भवतु । ते तनूः।
कृण्वन्तु । विश्वे । देवाः । आयुः । ते । शरदः । शतम् ॥ ४ ॥

हे माणवक एहि आगच्छ ॥ अश्मानम् आ तिष्ठ दक्षिणेन

काण्डके दीक्षाप्रकरणमें इस आख्यायिकाका वर्णन है, कि— "तदनन्तर वस्त्रको धारण करता है। इसको सर्वत्र अपनी त्वचा रूपसे धारण करता है। यह जो गौकी त्वचा है यह पहिले पुरुषमें ही थी। देवताओंने कहा, कि–गौ ही इस सब संसारका पालन करती है, अतः पुरुषमें जो त्वचा है इसको हम गौमें स्थापित कर दें, तो उस त्वचासे यह वर्षाको पालेको और गरमीको सहसकेगी तदनन्तर उन्होंने पुरुषको छीलकर गौमें यह त्वचा स्थापित करदी। अत एव कोई व्यक्ति पुरुषके कुशा वा अन्य कोई वस्तु चुभोता तो उसके रक्त निकलने लगता है। तब देवताओंने मनुष्यमें वस्त्र-रूपी त्वचा रक्खी। इसी कारण पुरुषके अतिरिक्त और कोई प्राणी वस्त्र धारण नहीं करता है। अत एव सुवस्त्रसे ही भूषित रहे और गौके समीप नंगा न रहे। क्योंकि–गौं जानती हैं, कि–मैं इसकी त्वचाको धारण कर रही हूँ अतः वह डरती है–त्रस्त होती है कि–यह मेरी त्वचाको उतार लेगा" (शतपथ-ब्राह्मण ३ । १ । २ । १३) ॥

पादेन आक्रम ॥ ते तव तनूः शरीरम् अश्मा भवतु । अश्मवद् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु ॥ विश्वे देवाश्च ते तव शतसंवत्सर-परिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु । ❀ "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्" इति सकारस्य षत्वम् ❀ ॥

हे बालक ! आ और दाहिने पैरसे इस पत्थर पर चढ़ तेरा शरीर पत्थरकी समान रोगरहित और दृढ़ रहे और विश्वेदेवा भी तेरी सौवर्षकी आयु करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑१ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑वन्तु दे॒वाः ।

तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जाय॑न्तां ब॒हवः॒ सुजा॑तम् ॥ ५ ॥

यस्य॑ । ते॒ । वासः॑ । प्र॒थ॒म॒ऽवा॒स्य॑म् । हरा॑मः । तम् । त्वा॒ । विश्वे॑ । अव॒न्तु॒ दे॒वाः ।

तम् । त्वा॒ । भ्रात॑रः । सु॒ऽवृधा॑ । वर्ध॑मानम् । अनु॑ । जा॒य॒न्ता॒म् । ब॒हवः॑ । सु॒ऽजा॑तम् ॥ ५ ॥

हे माणवक यस्य परिहितवस्त्रस्य ते तव प्रथमवास्यम् पूर्वं परि-हितं वासः वस्त्रं हरामः स्वीकुर्मः । ❀ वस आच्छादने इत्य-स्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् । "तित्स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀ । तम् तादृशं त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवा अवन्तु रक्ष-न्तु ॥ तम् उक्तरूपं सुवृधा शोभनया वृद्ध्या वर्धमानम् पशुपुत्र-धनादिभिरुपचीयमानं सुजातम् । संस्कारविशेषेण शोभनजन्म-युक्तं [त्वा] त्वाम् अनु बहवो भ्रातरो जायन्ताम् उत्पद्यन्ताम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयानुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे माणवक ! तुझ वस्त्रधारीके पूर्वपरिहित वस्त्रको हम स्वीकृत करते हैं, सब देवता तेरी रक्षा करें, समृद्धिसे शोभायमान, वृद्धि पाते हुए पशु पुत्र धन आदिसे बढ़ते हुए, संस्कार के कारण शोभन जन्म वाले तेरे पीछे बहुतसे भाई उत्पन्न हों ५

द्वितीय काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४८)॥

"निः सालाम्" इति सूक्तेन मृतापत्यायाः स्त्रिया अपत्यनाशपरिहाराय त्रिषु मण्डपेषु एकैकस्मिन्नुदपात्रे सीसेषु च संपातानयनम् सीसोपरि स्थितायास्तस्याः संपातितोदकेन आप्लावनं च कृत्वा स्वगृहम् आनीय शान्त्युदकेन अभिषिच्य तस्यै पुरोडाशकन्दुकालङ्कारान् अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

अथ वा एकस्मिन्नेव मण्डपे अनेन सूक्तेन औदुम्बरीः समिधस्तया आधाप्य पूर्ववत् शान्त्युदकाभिषेकादिकं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "निःसालाम् इत्यवतोकायै कृष्णवसनायै त्रिषु विभितेषु" इत्यादि "औदुम्बरीराधापयत्युक्तम् आव्रजितायै" इत्यन्तम् [कौ० ४. १०] ॥

यस्य गृहे गवादिर्वन्ध्या भवति तद् गृहं दैवहतं भवति तद्दोषनिवृत्तये तयैव वशया यागः कार्यः । तत्र अनेन सूक्तेन तस्याः पर्यग्निकरणं कुर्यात् । "य आत्मदा इति वशाशमनम्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "निःसालाम् इत्युन्मुकेन त्रिः प्रसव्यं परिहरति" इति [कौ० ५. ८] ॥

आवसथ्याधाने क्रव्यादाग्निर्हरणानन्तरं शालाप्रोक्षणेपि एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । "एकाग्निम् आधास्यन्" [कौ० ६. १] इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "निःसालाम् [२. १४] इति शालानिवेशनं प्रोक्षति ऊर्जं बिभ्रत् [७. ६२] इति प्रपादयति" इति [कौ० ६.४]॥

एतत् सूक्तं चातनगणेपि पठितम् । अतः "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ० ४. १] । "चातनो मातृनामा च"

[न० क० २३] "चातनैर्मातृनामभिः" [शा० क० १५]
इत्यादिप्रदेशेष्वपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

"निःसालाम्" सूक्तसे मृतवत्सा स्त्रीके सन्ताननाशको दूर करनेके लिये तीन मण्डपोंके प्रत्येक उदपात्र (जलपूर्ण पात्र) पर और नदीफेन आदिरूप सीस पर भी सम्पात करे और सीसके ऊपर स्थित मृतापत्या स्त्रीको संपातित जलसे स्नान करावे फिर अपने घर लाकर शान्त्युदकसे अभिषेक करके उस को पुरोडाश कन्दुक (गेंद) और अलंकार अभिमन्त्रण करके देय ॥

अथवा एक ही मण्डपमें इस सूक्तसे गूलड़की समिधाओंको सीसे रखवा कर पूर्ववत् शान्त्युदकाभिषेक आदि करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि-"निः सालाम् इत्यवतोकायै कृष्ण-वसनायै त्रिषु त्रिमितेषु-निःसालाम् सूक्तको कृष्णवस्त्रधारिणी सन्तानरहित स्त्रीके लिये तीनों मण्डपोंमें" यहाँसे "औदुम्बरी-राधायत्युक्तं आव्रजितायै-गूलड़की समिधाओंको रखवाता है" तकका ४ । १० वाँ सूत्र देखना चाहिये ॥

जिसके घरमें गौ आदि वंध्या होती है, वह घर दैवहत होता है, उस दोषकी निवृत्तिके लिये उसी वशासे याग करना चाहिये । उस यागमें इस सूक्तसे उसका पर्यग्निकरण करे ॥ कौशिकसूत्र ५ । ८ में कहा है, कि-"य आत्मदा इति वशाशमनम्" का आरंभ करके कहा है, कि-"निः सालाम् इत्युल्मुकेन त्रिः प्रसव्यं परि-हरति" ॥

आवसथ्याधानमें क्रव्यादाग्निनिर्हरणके अनन्तर शालाप्रो-क्षणमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है । इसी बातको कौशिक-सूत्र ६ । १, ६ । ४ में कहा है, कि- 'एकाग्निम् आधास्यन्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् "निः सालां (२ । १४) इति शालानिवेशने प्रोक्षति ऊर्जम् बिभ्रत् (७ । ६२) इति प्रपादयति" ॥

इस सूक्तका चातनगणमें भी पाठ है अत एव "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्—चातनोंके कहनेसे व्याख्या होगई" (कौशिकसूत्र ४ । १), तथा "चातनो मातृनामा च—चातनगणका और मातृनामगणका प्रयोग करना चाहिये" (नक्षत्रकल्प २३), तथा "चातनैर्मातृनामभिः—चातन और मातृनामकगणसे अमुक कार्य करै" (शान्तिकल्प १५) ॥ इत्यादि अवसरों पर भी इस सूक्तको करना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निःऽसालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एकऽवाद्याम् । जिघत्ऽस्वम् ।
सर्वाः । चण्डस्य । नप्त्यः । नाशयामः । सदान्वाः ॥ १ ॥

निःसालाम् । ❀ षल गतौ ❀ । निःसालयति निर्गमयति अपसारयतीति निःसाला एतन्नामधेया पिशाची । यद्वा सालो वृक्षविशेषः । ततो निर्गता निःसाला । ततोपि उन्नतगात्रीत्यर्थः । तां धृष्णुम् धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् एतन्नामिकां पिशाचीम् । ❀ "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" ❀ । धिषणम् । धृष्णोति अभिभवतीति धिषणः । ❀ धृषेर्धिष च संज्ञायाम् इति [उ० २. ८२] क्युः ❀ । एतन्नामानं पापग्रहम् । एकवाद्याम् एकम् एकप्रकारं परुषरूपं वाद्यं वचनं यस्याः सा तथोक्ता । यद्वा एकवारमेव वाद्यं वचनं यस्याः सा । सकृद्भाषिणीत्यर्थः । ताम् एतन्नामिकां जिघत्स्वम् जिघत्सुं भक्षणेच्छुम् । सर्वदा भक्षणशीलाम् इत्यर्थः । ❀ अदेः सनि घस्लादेशे "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् । "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः । "वा छन्दसि" इति अमि-

पूर्वत्रस्य विकल्पनाद् यण् आदेशः ❀ । तां च । नाशयाम इति सर्वत्र संबन्धः ॥ तथा चण्डस्य क्रुद्धस्य एतन्नामकस्य पापग्रहस्य नप्त्यः नप्त्रीः अपत्यभूताः सर्वाः निखिलाः सदान्वाः सदा नोनूयमानाः आक्रोशकारिणीः पिशाचीश्च नाशयामः । उक्तं यास्केन । ❀ सदान्वे । सदानोनुवे शब्दकारिके [नि० ६. ३०] इति । नौतेः शब्दकर्मणो यङ्लुगन्तात् पचाद्यचि "द्विर्वचनमकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति वचनाद् द्विर्वचनाभावः । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधे छान्दसो यण् आदेशः ❀॥

सन्तानको निकालने वाली और सालके वृक्षसे भी ऊँचे शरीर वाली धर्षण करनेवाली और भयकी उत्पादिका निःसाला नामकी राक्षसीको अभिभव करने वाले धिषण नाम वाले पापग्रहको, एकमात्र कठोर वाक्यका ही उच्चारण करने वाली एकवाद्या नामकी राक्षसीको और भक्षण करनेके स्वभाव वाली राक्षसीको हम नष्ट करते हैं और चण्डनामक पापग्रहकी सन्तान सदा दुःख देने वाली पिशाचनियोंको भी हम नष्ट करते हैं ॥१॥

द्वितीया ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।

निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः । गोऽस्थात् । अजामसि । निः । अक्षात् । निः । उपऽआनसात् ।

निः । वः । मगुन्द्याः । दुहितरः । गृहेभ्यः । चातयामहे ॥ २ ॥

हे मगुन्द्या दुहितरः मगुन्दी नाम काचन पिशाची तस्याः पुत्र्यः वः युष्मान् गोष्ठात् । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठं गोशाला । ❀ "घनर्थे कविधानम्" इति कः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना षत्वम् ❀ । तस्माद् गोष्ठात् निरजामसि निरजामः निःसा-

रयामः । ❀ अज गतिक्षेपणयोः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ तथा अज्ञात् अक्षक्रीडास्थानाद् द्यूतशालायाः सकाशाद् निरजामः ॥ एवम् उपानसात् । अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम् । तस्माद् निरजामः । ❀ "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति शरत्प्रभृतिषु अनःशब्दस्य पाठात् टच् समासान्तः ❀ । यद्वा उपगतं च तद् अनश्च उपानसं धान्यपूर्णं शकटम् । ❀ "अनोश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः" इति तत्पुरुषे टच् समासान्तः ❀ ॥ तथा गृहेभ्यः आवासमन्दिरेभ्यो वः युष्मान् निश्चातयामहे निःसार्य निःशेषेण वा विनाशयामः । ❀ चातयतिर्नाशने इति यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ ॥

हे मगुन्दी नाम वाली पिशाचीकी पुत्रियों ! हम तुमको जिस में गौएँ रहती हैं ऐसे गोष्ठसे निकालते हैं, द्यूतशालासे भी तुमको निकालते हैं, धान्यपूर्ण भवन और गाड़ीसे भी तुमको निकालते हैं और निवासमन्दिरोंमेंसे भी तुमको निकाल कर हम तुम्हें पूर्णरीतिसे नष्ट करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

असौ यो अ॑धराद् गृहस्तत्र॑ सन्त्वराय्य॑ः ।
तत्र॑ सेदिर्न्यु॑च्यतु सर्वा॑श्च यातुधान्य॑ः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र॑ । सन्तु । अराय्यः॑ ।
तत्र॑ । सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः॑ । च । यातुऽधान्यः ॥ ३ ॥

असौ विप्रकृष्टो यः प्रसिद्धः अधरात् अधरः अस्माल्लोकाद् अधरभूतः अधस्तात्प्रदेशे वा वर्तमानो गृहः गृहवन्निवासभूतः पातालोकोस्ति । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ । तत्र लोके अराय्यः अदायिन्यः दानोपलक्षितनिखि-

लश्रेयोविघ्नकारिण्यः एतत्संज्ञका पिशाच्यः सन्तु । इमं लोकं विसृज्य अत्यन्तविप्रकृष्टं पातालं गच्छन्तु इत्यर्थः । ❀ रा दाने इत्यस्मात् नञ्युपपदे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः । छान्दसोन्त्यलोपः ❀ । यद्वा रायते दीयत इति रायो धनम् । ❀ कर्मणि घञ् ❀ । न रायः अरायः अधनम् आसाम् अस्तीत्यराय्यः अलक्ष्म्यः । ❀ "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीय ईकारः ❀ । "अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऋ० १०. १५५. १] ॥ सादयति नाशयतीति सेदिर्निर्ऋतिः । "जहामि सेदिम् अनिराम् अमीवाम्" [तै० सं० ४. २. ७. २] इति श्रुत्यन्तरात् । ❀ "उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्" इति सदेः किमत्ययः । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ ❀ । सापि तत्र पाताले न्युच्यतु । नीचीना समवैतु । इमं लोकं विहाय पूर्वोक्ताभिः सह निवसतु इत्यर्थः । ❀ उच समवाये दिवादिः ❀ ॥ किं च सर्वाः निखिला यातुधान्यः यातवो यातनाः पीडास्ताः प्राणिभ्यो धीयन्ते क्रियन्त आभिरिति यातुधान्यः उक्ताभ्योन्याः पिशाच्यः । ❀ करणे ल्युट् ❀ । तत्र न्युच्यन्तु इति वचनविपरिणामेन संबन्धः ॥

जो लोक भूलोकसे दूर हैं और इस लोकसे नीचे हैं वह घरकी समान निवासभूत पाताललोक है, उस लोकमें ये दान आदि सब पुण्य कामोंमें विघ्न डालने वाली अलक्ष्मीरूप † अरायि नाम वाली राक्षसियें जावे अर्थात् वे इस लोकको छोड़ कर बहुत दूरके पाताललोकमें चली जावें और नाश करनेवाली

† ऋग्वेदसंहिता १० । १५५ । १ में अलक्ष्मीरूप पिशाचियों का वर्णन करते हुए कहा है, कि–"अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे–हे सदा आक्रोश मचाने वाली अलक्ष्मीरूप कानी विकट पिशाची ! तू पहाड़ पर चली जा" ॥

सेदि ‡ राक्षसी भी पातालमें चली जावे, इस लोकको छोड़ कर पहिली राक्षसियोंके साथ ही पाताललोकमें रहे, इस प्रकार सब प्रकारकी पिशाचिनी और राक्षसियें पाताललोकको चली जावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥४॥

भूतऽपतिः । निः । अजतु । इन्द्रः । च । इतः । सदान्वाः ।
गृहस्य । बुध्ने । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥४॥

भूतपतिः भूतानां पालको रुद्रः सदान्वाः सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिणीः पिशाचीः इतः अस्माद् मदीयात् स्थानात् निरजतु निःसारयतु ॥ इन्द्रश्च ता निरजतु ॥ गृहस्य मदीयस्य बुध्ने मूले अधःप्रदेशे । ❀ बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३, ५] इति नक् प्रत्ययः ❀ । आसीनास्ताः पिशाचीः इन्द्रः इराया भूमेर्दारको देवः । ❀ इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां दारयतीति वा इति हि निरुक्तम् [नि० १०, ८] ❀ । वज्रेण आयुधेन अधि तिष्ठतु । यथा पुनर्नोत्तिष्ठन्ति तथा आक्रम्य तिष्ठतु इत्यर्थः ॥

भूतोंके पालक रुद्र सदा आक्रोश करने वाली पिशाचियोंको मेरे घरसे निकाल दें, इन्द्रदेव भी उनको निकाल दें, मेरे घरकी

‡ तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ७ । २ में कहा है, कि—"जहामि सेदिम् अनिराम् अमीवाम्—सेदि अनिरा और अमीवाको मैं त्यागता हूँ" ॥

मूलमें अर्थात् नीचे बैठी हुई पिशाचियोंको इन्द्र † अर्थात् भूमिके दारक इन्द्रदेव वज्रसे दबावें अर्थात् वह जिस प्रकार फिर न उठ सकें तैसा करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यदि॒ स्थ क्षे॑त्रि॒याणां॒ यदि॑ वा॒ पुरु॑षेषि॒ताः ।

यदि॒ स्थ दस्यु॑भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः ॥५॥

यदि॑ । स्थ । क्षे॒त्रि॒याणा॑म् । यदि॑ । वा॒ । पुरु॑षऽइषिताः ।

यदि॑ । स्थ । दस्यु॑ऽभ्यः । जा॒ताः । नश्य॑त । इ॒तः । स॒दान्वाः ॥५॥

हे सदान्वाः । पिशाच्य इति शेषः । यूयं क्षेत्रियाणाम् क्षेत्रात् परक्षेत्रात् मातापितृशरीराद् आगतानां कुष्ठापस्मारग्रहण्यादिरोगाणां निदानभूता यदि स्थ भवथ । यदि वा पुरुषेषिताः पुरुषैः शत्रुभिः प्रेषिता भवथ । ❀ इष गतौ इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "तीषसहलुभरुषरिषः" इत्यत्र इषु इच्छायाम् इत्यस्यैव ग्रहणात् "यस्य विभाषा" इति तस्यैव निष्ठायाम् इट्प्रतिषेधो न तु इष गतौ इत्यस्य इति निष्ठायाम् इट् भवति । "तृतीया कर्मणि" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । दस्युभ्यः उपक्षयकारिभ्यश्चोरादिभ्यः । ❀ दसु उपक्षये । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् [उ ३. २०] इति युच् प्रत्ययः ❀ । तेभ्यः सकाशात् यदि जाताः प्रादुर्भूता भवथ । एवं बहुविधम् आगता यूयम् इतः अस्मात् स्थानात् निर्गताः सत्यो नश्यत विनष्टा भवत ॥

हे सदा आक्रोश मचानेवाली राक्षसियो ! तुम परक्षेत्र अर्थात् माता पिताके शरीरसे आने वाले कुष्ठ अपस्मार संग्रहणी आदि

† निरुक्त १० । ८ में कहा है, कि-इन्द्रं इरां दृणातीति वा दारयतीति वा इति हि निरुक्तम् ॥"

रोगोंकी कारण हो अथवा तुम शत्रुकी प्रेरित हो वा हानि करनेवाले डाँकू चोर आदिके पाससे उत्पन्न हुई हो, इसप्रकार अनेक प्रकार की आई हुई तुम इस स्थानसे निकल कर नष्ट होजाओ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वान् आजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६॥

परि । धामानि । आसाम् । आशुः । गाष्ठाम्ऽइव । असरन् ।
अजैषम् । सर्वान् । आजीन् । वः । नश्यत । इतः । सदान्वाः ॥६॥

आसाम् पिशाचीनां धामानि निवासस्थानानि पर्यसरम् परितः सर्वत आक्रमिषम् । तत्र दृष्टान्तः । आशुः । अश्वनामैतत् । शीघ्रगामी अश्वः गाष्ठामिव । परिधावनेन ग्लानः सन् यत्र तिष्ठति सा गाष्ठा गन्तव्यावधिः आद्यन्तः काष्ठापरपर्यायः । तामिव । ❀ असरम् इति सृ गतौ इत्यस्मात् लुङि "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" इति च्लेः अङ् । "ऋदृशोऽङि गुणः" ❀ ॥ हे सदान्वाः वः युष्माकं सर्वान् आजीन् संग्रामान् अजैषम् जितवान् अस्मि ॥ इतः अस्मात् कारणात् भवदीयस्य निखिलस्य वासस्थानस्य अस्माभिराक्रान्तत्वात् निराश्रयाः सत्यो यूयं नश्यत ॥

[इति] द्वितीये काण्डे तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जैसे शीघ्रगामी अश्व अपनी गंतव्य अवधि पर आक्रमण करके खड़ा होजाता है, इसी प्रकार इन पिशाचियोंके निवासस्थानों पर मैं चारों ओरसे आक्रमण कर चुका हूँ हे सदा आक्रोश मचाने वाली पिशाचियो ! मैंने तुम्हारे सकल संग्रामोंको जीत लिया है,मैंने तुम्हारे सब निवासस्थानों पर अधिकार कर लिया है इस कारण तुम निराश्रय होकर नष्ट होजाओ ॥ ६ ॥

द्वितीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१४) ॥

"यथा द्यौः" इति सूक्तेन आयुष्कामः स्थालीपाकम् ओदनं शान्त्युदकेन संप्रोक्ष्य अभिमन्त्र्य प्राश्नीयात् । सूत्रितं हि । "यथा द्यौः [२. १५] मनसे चेतसे धिये [६. ४१] इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शान्त्युदकेन उपसिच्य अभिमन्त्र्य प्राशयति" इति [कौ० ७. ५] ॥

आयु चाहनेवाला पुरुष "यथाद्यौ" सूक्तसे स्थालीपाकके ओदन को शान्तिजलसे प्रोक्षण और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे । सूत्रमें भी कहा है, कि-"यथा द्यौः (२ । १५) मनसे चेतसे धिये (६ । ४१) इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शान्त्युदकेन उपसिच्य अभिमन्त्र्य प्राशयति-यथा द्यौः इस द्वितीयकांडके १५वें सूक्तसे और मनसे चेतसे धिये इस छठे काण्डके इकतालीसवें सूक्तसे महाव्रीहियोंके स्थालीपाकको बनाकर शांतिजलसे छिड़कके फिर अभिमन्त्रण करके प्राशन करावे" (कौशिकसूत्र ७ । ५)

तत्र प्रथमा ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ १ ॥

द्यौः द्युलोको देवाद्याश्रयभूतः पृथिवी भूलोको मनुष्यादिभिराश्रितः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तावुभौ लोकौ यथा येन प्रकारेण देवमनुष्यादिभिः सर्वैरुपजीव्यत्वाद् उपजीव्य विघातकस्य कस्य चिदपि असंभवाद् न बिभीतः भयशङ्कां न प्राप्नुतः । ॐ त्रिभि भये ॐ । यथा च न रिष्यतः न विनश्यतः । ॐ रिष हिंसायाम् । देवादिकः । "वाच्छ्यान्याम्" इति आख्यातस्य

निघातप्रतिषेधः ॥ । एव एवम् । ॥ "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ॥ । मे मदीय हे प्राण त्वं मा बिभेः शत्रुग्रहरोगादिभ्यो भयशङ्कां मरणशंकां च मा कार्षीः । अनेन मन्त्रसामर्थ्येन द्यावापृथिवीवत् चिरकालावस्थानयुक्तो भवेत्यर्थः । ॥ बिभेरिति । माङि लुङिमाद्ये छान्दसो लङ् ॥ ॥

देवता आदिका आश्रयभूत द्युलोक और मनुष्य आदिका आश्रय भूलोक ये दोनों लोक देवता मनुष्य आदि सबके उपजीव्य होने के कारण कोई उपजीव्यका नाश नहीं कर सकता—इस कारण जैसे किसीसे भय नहीं मानते हैं और नष्ट भी नहीं होते हैं, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर अर्थात् शत्रुग्रह रोग आदिसे भयकी शंका और मरणकी शंका न कर । इस मंत्रकी सामर्थ्यसे आकाश और पृथ्वीकी समान चिरकाल तक स्थित रह ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यथाहंश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

अहश्च रात्री च अहोरात्रौ कल्पान्तस्थायित्वाद् यथा न बिभीतः न रिष्यतः । एवा म इत्यादि पूर्ववत् । एवं सर्वेष्वपि पर्यायेषु योज्यम् । ॥ रात्रीति । "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ॥ ॥

दिन और रात्रि जैसे कल्पपर्यन्त रहने वाले होनेसे न किसी से डरते हैं और न नष्ट होते हैं; इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर अर्थात् शत्रुग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरणकी शङ्का न कर दिन और रात्रिकी समान चिरकाल तक स्थायी रह २

तृतीया ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ३ ॥

स्पष्टोर्थः ॥

जिस प्रकार कल्पान्तस्थायी होनेके कारण सूर्य और चन्द्रमा न किसीसे डरते हैं और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी मत डर, अर्थात् शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरण की शंका न कर सूर्य और चन्द्रदेवकी समान चिरकाल तक स्थिर रह ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

ब्रह्म ब्राह्मणजातिः क्षत्रम् क्षत्रियजातिः । जातेर्नित्यत्वाभ्युगमात् भीत्याद्यभावः ॥

जिस प्रकार ब्राह्मणजाति और क्षत्रियजाति जातिके नित्य होनेसे न किसीसे डरती हैं और न नष्ट होती हैं, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी न डर, अर्थात् शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरणकी शंका न कर, ब्राह्मण और क्षत्रिय जातिकी समान चिरकाल तक स्थिर रह ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

सत्यम् यथार्थभाषणम् । अनृतम् मिथ्याभाषणम् । लोकव्यवहारस्य प्रवाहनित्यत्वात् सत्यानृतयोरपि भीत्याद्यभावः । तदभिमानिदेवतापेक्षया वा ॥

जिस प्रकार यथार्थभाषणरूप सत्य और मिथ्याभाषणरूप असत्य लोकव्यवहारके प्रवाहके नित्य होनेके कारण न किसीसे डरते हैं और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर, शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय वा मरणकी शंका न कर ॥५॥

षष्ठी ॥

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भूतम् सत्तां प्राप्तं वस्तुजातम् । भव्यम् भविष्यत् उत्पत्स्यमानं वस्तुजातम् । पूर्ववद् अनयोरपि प्रवाहनित्यत्वेन भीत्याद्यभावः । ❀ "भव्यगेय०" इत्यादिना भवतेः कर्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ ॥

इति द्वितीये काण्डे तृतीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

जिस प्रकार सत्ताको प्राप्त वस्तुसमूहरूप भूत और उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंका समूहरूप भव्य पूर्वमन्त्रकी समान प्रवाह-नित्य होनेसे न किसीसे डरते हैं और न विनष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर अर्थात् रोग शत्रु, ग्रह आदिसे भय वा मरणकी शंका न कर चिरकाल तक स्थिर रह ॥ ६ ॥

पञ्चमसूक्त समाप्त (५०) ॥

"प्राणापानौ" इति सूक्तेन आज्यसमित्पुरोडाशपयओदनपाय-सपशुव्रीहियवतिलधानाकरम्भशष्कुल्याख्यानि त्रयोदश द्रव्याणि आयुष्कामो जुहुयात् । सूत्रितं हि । "प्राणापानौ [२. १६] ओजोसि [२. १७] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. ५] ॥ उप-दधीतेत्यत्र "उक्तैस्त्रयोदशभिर्द्रव्यैर्होम इति जानीयात्" इति पैठी-नसिपरिभाषा त्रिषप्तीयसूक्त एवोदाहृता ॥

अत्र "द्यावापृथिवी उपश्रुत्या" [२] इति मन्त्रेण आग्रयणेष्टौ प्रक्षा द्यावापृथिव्यं हविरनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "ओष-धीषु पक्वास्वाग्रयणेष्टिः" इत्युपक्रम्य "यद् विद्वांसः [६.११५] द्यावापृथिवी उपश्रुत्या [२. १६. २] सोमो वीरुधाम् [५. ४. ७] इति वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान्" इति [वै० २. ४] ॥

"प्राणापानौ" इस सूक्तसे घृत समिधा पुरोडाश दुग्ध ओदन पायस पशु धान जौ तिल धाना (भुने हुए जौ) करंभ (दही वाले सत्तू) और शष्कुली (पूरी) नाम वाले तेरह द्रव्योंको आयु चाहने वाला पुरुष होमे । सूत्रमें भी कहा है, कि–"प्राणापानौ (२ । १६) ओजोऽसि (२ । १७) इत्युपदधीत–प्राणापानौ इस दूसरे काण्डके सोलहवें सूक्तसे और ओजोसि इस दूसरे काण्डके सत्रहवें सूक्तसे उपधान करे" (कौशिकसूत्र ७ । ५) उपधान–उपदधीत–शब्दका अर्थ त्रिषप्तीय सूक्तमें पैठीनसि–परिभाषाके द्वारा 'तेरह द्रव्योंसे होम' कर दिया है ॥

और इस सूक्तकी "द्यावापृथिवी" इस दूसरी ऋचासे आग्रायणेष्टिमें ब्रह्मा द्यावापृथिवीकी हविका अनुमंत्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है। "ओषधीषु पक्वासु आग्रयणेष्टिः ओषधियोंके पकने पर आग्रयणेष्टि होती है" इस बातका आरंभ करके कहा है, कि–"यद् विद्वांसः (६।११५) द्यावापृथिवी उपश्रुत्या (२।१६।२) सोमो वीरुधाम् (५।४।७) इति–वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान् ॥ (वैतानसूत्र २।४)॥

तत्र प्रथमा ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥ १ ॥

हे प्राणापानौ । प्राक् ऊर्ध्वमुखः अनिति चेष्टत इति प्राणः । अप अनिति अवाङ्मुखश्चेष्टत इत्यपानः । तदभिमानिनौ हे देवौ मृत्योः सकाशात् मा मां पातम् रक्षतम् । स्वाहा युक्ताभ्याम् इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु । मरणस्य प्राणापानवियोगरूपत्वाद् मदीयहविःस्वीकारेण तुष्टयोयु वयोश्चिरकालावस्थानेन अहं दीर्घायुर्भूयासम् इति प्रार्थनाभिप्रायः ॥ ❀ स्वाहा इति देवानां हविर्दाने । "स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्योन्नं प्रदीयते" इति श्रुतेः। कौशिकेनाप्युक्तम् । "स्वाहाकारवषट्कारप्रदाना देवाः स्वधाकारनमस्कारप्रदानाः पितरः" इति [कौ० १. १] । अक्षरार्थस्तु यास्केनोक्तः । स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा [नि० ८. २०] इति । अत्र स्वा वागाहेत्ययम् अर्थस्तैत्तिरीयके स्पष्टम् आम्नातः । "स्वैव ते वागित्यब्रवीत् । सोजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म" [तै० ब्रा० २. १. २. ३] इति ॥

जो ऊपरको मुख करके चेष्टा करता है वह प्राण कहाता है

और जो अवाङ्मुख होकर चेष्टा करता है वह अपान कहलाता है, ऐसे हे प्राण और अपानके अभिमानी देवताओं ! आप मृत्युसे मेरी रक्षा करिये, आप दोनोंके लिये यह हवि स्वाहुत हो। प्रार्थनाका अभिप्राय यह है, कि-प्राण और अपानका वियोग होना ही मरण है, अतः मेरी हविको स्वीकार कर आप सन्तुष्ट हो तब आपके चिरकाल तक रहने पर मैं दीर्घायु होऊँ + ॥१॥

द्वितीया ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्य मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

+ देवताओंको हवि देनेमें स्वाहा शब्दका प्रयोग आता है। श्रुतिमें भी कहा है, कि-"स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते-स्वाहा वा वषट् कह कर देवताओंका अन्न दिया जाता है" कौशिकने भी कहा है, कि-"स्वाहाकारवषट्कारप्रदाना देवाः स्वधाकारनमस्कारप्रदानाः पितरः-स्वाहा और वषट्शब्दसे देवताओंको हवि देनी चाहिये और स्वधा तथा नमः कहकर पितरोंको हवि देनी चाहिये" [कौशिकसूत्र १।१] स्वाहा शब्दका अक्षरार्थ यास्क मुनिने कहा है, कि-"स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-सुन्दर बोलता है, स्वा (अपनी वाणी) आह (बोली), स्वं (अपनेको) प्राह (बोला) वा भली प्रकार आहुत हविको होमता है-ये स्वाहा शब्दके अर्थ हैं" (निरुक्त ८।२०)। इनमें स्वा वागाहका अर्थ तैत्तिरीयकमें स्पष्टरूपसे कहा है "स्वैव ते वागित्यब्रवीत्। सोऽजुहोत् स्वाहेति। तत् स्वाहाकारस्य जन्म-अपने आप ही वाणीने कहा। उसने होमा-इस अर्थको भी स्वाहा शब्द कहता है। यही स्वाहाकार का जन्म है" (तैत्तिरीरीय ब्राह्मण २।१।२।३ ॥

द्याव्यापृथिवी इति । उपऽश्रुत्या । मा । पातम् । स्वाहा ॥ २ ॥

"तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहम् आपद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामि" [प्र० उ० २. ३] इत्यादिना प्रश्नोपनिषदि महता प्रपञ्चेन इतरेन्द्रियापेक्षया प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादितम् । इति प्रथमतः प्राणप्रार्थनां कृत्वा तदुपजीविनां श्रोत्रादीन्द्रियाणाम् एतदाद्यैर्मन्त्रैः स्थैर्यं प्रार्थ्यते । द्यावापृथिवी । अत्र द्यावापृथिवीशब्देन तदन्तरालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः । हे द्यावापृथिव्यौ उपश्रुत्या समीपश्रवणकरणेन श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणशक्तिप्रदानेन । मा पातम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

("तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहं आपद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणं अवष्टभ्य विधारयामि—उनसे श्रेष्ठ प्राणने कहा, कि—तुम मोहमें न पड़ो । मैं ही अपनेको पाँच प्रकार से बाँट इस शरीरमें व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ ॥" प्रश्नोपनिषत् २ । ३ इत्यादिके द्वारा प्रश्नोपनिषत्में और इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है । अतः यहाँ पर भी पहिले प्राणकी प्रार्थना करके उससे जीवित रहने वाली श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी मंत्रोंसे प्रार्थना करते हैं, कि—) हे द्यावापृथिवीके मध्यमें विराजमान दिशाओं ! तुम उपश्रुतिसे—समीप श्रवणकरण अर्थात् श्रवण—शक्ति देकर मेरी रक्षा करो । तुम दोनों के लिये मेरी आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

सूर्य । चक्षुषा । मा । पाहि । स्वाहा ॥ ३ ॥

सूर्यश्चक्षुरभिमानी देवः । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० उ० १, २] इति श्रुतेः । [हे सूर्य] त्वं चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण रूपदर्शनशक्त्या । गतम् अन्यत् ॥

हे नेत्रके अभिमानी देवता ‡ सूर्यदेव ! तुम चक्षुरिन्द्रियसे अर्थात् रूप दर्शनकी शक्ति देकर मेरी रक्षा करो, तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

अग्ने । वैश्वानर । विश्वैः । मा । देवैः । पाहि । स्वाहा ॥ ४ ॥

हे वैश्वानर विश्वान् नरान् ऐहिकामुष्मिकलक्षणं तत्तत् कर्मफलं नयतीति वा विश्वैर्नरैस्तत्तद्यागादिकर्मसिद्धये नीयते प्रणीयत इति वा वैश्वानरः । ❀ विश्वनरशब्दान्नेतृत्वेन नीयमानत्वेन वा संबन्धीति "तस्येदम्" इति अण् । "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ । यद्वा विश्वान् जन्तून् नरः प्रतिगतः प्रविष्ट इति विश्वानरः । सामर्थ्यात् प्राणाख्यो वायुः । ❀ नॄ गतौ इत्यस्माद् भूते छान्दसः पचाद्यच् । उपपदविभक्तेश्च अलुक् ❀ । तेन जन्यमानत्वाद् अयम् अग्निर्वैश्वानरः । ❀ पूर्ववद् अण् ❀ । [यद्वा] विश्वे नरा यस्य पोष्यत्वेन स विश्वानरः । स विश्वानरः वैद्युतोग्निः आदित्यश्च । ❀ "नरे संज्ञायाम्" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ । ताभ्यां जायमानत्वाद् अयं पार्थिवोग्निर्वैश्वानरः । ❀ [तथा च यास्कः । अयमेवाग्निर्वैश्वानरः] इति शाकपूणिः । विश्वानरादप्येते उत्तरे ज्योतिषी वैश्वानरोयं यत् ताभ्यां जायते

‡ ऐतरेय उपनिषत् १ । २ में कहा है, कि—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्-आदित्य चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश कर गए" ॥

[नि० ७. २३] इति च ❀। तथाविध हे वैश्वानराग्ने सर्वदेवतात्मक। यद्वा अग्न्युपलक्षिततत्तदिन्द्रियाधिष्ठायक देव विश्वैः सर्वैर्देवैः देवनसाधनैर्वागादीन्द्रियैः तत्तदिन्द्रियसामर्थ्यप्रदानेन। मा पाहीत्यादि गतम् ॥

हे सम्पूर्ण मनुष्योंको इस लोकके और परलोकके कर्मफलको पहुँचाने वाले, सम्पूर्ण मनुष्योंके द्वारा याग आदि कर्मकी सिद्धिके लिये ले जाये जाने और बनाये जाने वाले वैश्वानर, और सम्पूर्ण मनुष्योंमें प्रविष्ट विश्वानर प्राणवायुसे उत्पन्न वैश्वानर अग्नि और सम्पूर्ण मनुष्य जिसके पोष्य हैं उस विश्वानर वैद्युतिक अग्नि और आदित्यसे उत्पन्न पार्थिव वैश्वानर अग्ने ! अथवा अग्निसे उपलक्षित प्रत्येक इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवसमूह ! अपने साधन वाणी आदि इन्द्रियोंकी शक्ति प्रदान करके मेरी रक्षा करिये, आपके लिये यह हुत हवि स्वाहुत हो ॥४॥

पञ्चमी ॥

विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

विश्वम्ऽभर। विश्वेन। मा। भरसा। पाहि। स्वाहा ॥ ५ ॥

हे विश्वम्भर। विश्वं सर्वं प्राणिजातं बिभर्ति अनुप्रविश्य अशितपीतादिपचनेन पोषयतीति विश्वम्भरो जाठराग्निः। ❀ "संज्ञायां भृतृवृजि०" इत्यादिना खच्। "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुम् ❀। तादृशस्त्वं विश्वेन कृत्स्नेन भरसा पोषणशक्त्या। ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् "सर्वधातुभ्योऽसुन्" [उ० ४. १८८] इति असुन् ❀। विश्वम्भरशब्दस्य अग्निवाचकत्वं बृहदारण्यके समाम्नातम्। "यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये" [बृ० आ० १. ४. ७] इति। गतम् अन्यत् ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

सब प्राणियोंके भीतर प्रवेश कर खाये पियेको पचा कर पोषण करने वाले विश्वंभर जाठराग्ने! आप अपनी पूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा करिये × यह आपके लिये दी हुई हवि स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

छठा सूक्त समाप्त (५१) ॥

"ओजोसि" इत्यनेन आयुष्कामः पूर्वम् उक्तप्रकारेण त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

"ओजोऽसि" इस सूक्तसे आयु चाहने वाला पूर्वोक्तरीतिसे तेरह द्रव्योंकी आहुति देय। सूत्र पहिले सूक्तमें ही कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

ओजः । असि । ओजः । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

अत्र सूक्ते देवताविशेषस्य अश्रवणात् होमाधारभूतोग्निः संबोध्यः हूयमानद्रव्यं वा । हे अग्ने हूयमानद्रव्य वा त्वम् ओजः आत्मनः । ओजः शरीरस्थितिकारणम् अष्टमो धातुः । तद् उक्तम् आचार्यैः ॥

ओजो नामाष्टमी दशा ।

क्षेत्रज्ञस्य तद् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते ।

यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाऽभ्रम् अशनित्विषः इति ।

तथाविधम् ओजः त्वम् असि । तद् तुत्वात् ताच्छब्द्यम् । "आयुर्वै घृतम्" [तै० सं० २. ३. ११. ५] इति वत् । अतो मे मह्यम् ओजः उक्तलक्षणं दाः देहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् अस्तु । ❀ ओज इति । उब्ज आर्जवे । उब्जेर्[बले बलोपश्च इति उ० ४. १९१ असुन् बलोपश्च] ❀ ॥

× विश्वंभर शब्द अग्निका वाचक है, इस बातका बृहदारण्यक उपनिषत्में प्रतिपादन किया है। यथा—"यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवपितः स्याद् विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये ॥

(इस सूक्तमें किसी देवताका श्रवण नहीं है अत एव होमके आधारभूत अग्निका वा होमे हुए द्रव्यका सम्बोधन समझना चाहिये) हे अग्ने ! वा हूयमान द्रव्य ! तू शरीरकी स्थितिकी कारण (घृतकी समान †) ओज नाम वाली आठवी दशा है ‡ अतः तू मुझे ओज दे। तेरे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सहो॑ऽसि॒ सहो॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

सहः॑ । अ॒सि॒ । सहः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

सहः शत्रूणाम् अभिभवनसमर्थं तेजोसि । ❀ सहतेरभिभवार्थाद् असुन् ❀ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अग्ने ! वा हवन किये जाने वाले द्रव्य ! तुम सह अर्थात् शत्रुओंको दबानेमें समर्थ तेज हो, ऐसे तुम मुझे तेज दो, तुम्हारे निमित्त हवि स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

बल॑म् । अ॒सि॒ । बल॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

स्पष्टोर्थः ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । ७१ । ५ में कहा है, कि—आयुर्वै घृतम्—घृत ही आयु है" ॥

‡ आचार्योंने कहा है, कि—"ओजो नामाष्टमी दशा । क्षेत्रज्ञस्य तद्वै ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते । यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रम् अशनित्विषः ॥—ओज नाम वाली दशा आठवीं है। यह ओज जैसे स्नेह (तेल वा घृत) दीपकका एकमात्र आश्रय है और मेघ जैसे बिजलीकी कान्तिका एकमात्र आश्रय है तैसे जीवका एकमात्र आश्रय है ॥

हे अग्ने ! तुम बलरूप हो, उस बलको तुम मुझे दो, तुम्हारे निमित्त होमी हुई हवि स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

आयुः । असि । आयुः । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

आयुश्चिरकालजीवनम् असि । अतः शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्मे देहि ॥

हे अग्ने ! तुम चिरकालजीवनरूप आयु हो अतः सौ वर्षतककी आयु मुझे दो, तुम्हारे निमित्त यह हवि स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

श्रोत्रम् । असि । श्रोत्रम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तुम श्रवणशक्तिरूप श्रोत्र हो, अतः मुझे श्रवणशक्ति दीजिये, आपके लिये आहुति देने पर यह हवि भली प्रकार पहुँचे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

चक्षुः । असि । चक्षुः । मे । दाः । स्वाहा ॥ ६ ॥

पञ्चमीषष्ठ्यौ निगदसिद्धे ॥

हे अग्ने ! तुम दर्शनशक्तिरूप चक्षु हो, अतः तुम मुझे दर्शनशक्ति दो, तुम्हारे निमित्त यह हवि स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

सप्तमी॥

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

परि॒ऽपान॑म् । अ॒सि॒ । प॒रि॒ऽपान॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

परिपाणम् परितः पालनम् । तद्धेतुत्वात् ताच्छब्द्यम् । परिपालक इत्यर्थः । अतः परिपाणम् परितः सर्वतः आयुर्भङ्गनिमित्तभूतेभ्यः पालनं देहि । ❀ परिपूर्वात् पातेर्भावे ल्युट् । "कृत्यचः" इति नस्य णत्वम् ❀ ॥

इति द्वितीये काण्डे तृतीयेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

[इति] तृतीयोऽनुवाकः समाप्तः ॥

हे अग्ने ! तुम परिपालन हो अर्थात् पालक हो अतः आयुर्भंग के निमित्तोंसे हमें पालन करिये, यह हवि आपके निमित्त स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

सप्तम सूक्त समाप्त (५२) ॥ तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके नव सूक्तानि । तत्र "भ्रातृव्यक्षयणम्" इति प्रथमसूक्तेन अभिचारकर्मणि शरसमिदाधानम् कृष्णव्रीहियवतिलाद्यावपनं च कुर्यात् । [कौ० ६. २] ॥

अत्र अरायक्षयणम् [३–५] इत्याद्यास्तिस्रः चातनगणे [कौ० १. ८] पठिताः । अतस्तस्य गणस्य यत्रयत्र विनियोगस्तत्रतत्र आसां विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

चौथे अनुवाकमें नौ सूक्त हैं । इनमेंसे "भ्रातृव्यक्षयणम्" इस प्रथमसूक्तसे अभिचारकर्ममें शर (सैंठों) की समिधाओंको लाना और काले धान जौ, तथा तिल आदिका बोना आरम्भ करे (कौशिकसूत्र ६ । २) ॥

इस सूक्तकी अरायक्षयण आदि तीसरीसे पाँचवीं तककी ऋचाएँ चातनगणमें पढ़ी हैं (कौशिकसूत्र १ । ८) अत एव उस गणका जहाँ २ विनियोग होगा वहाँ २ इनका भी विनियोग करना चाहिये

तत्र प्रथमा ॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒क्षय॑णमसि भ्रातृव्य॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भ्रातृव्यऽक्षयणम् । असि । भ्रातृव्यऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥१॥

अत्रापि होमाधारोऽग्निः संबोध्यः होमद्रव्यं वा । हे अग्ने त्वं भ्रातृव्यक्षयणम् असि । भ्रातृव्यः शत्रुः । ❀ भ्रातृशब्दात् "व्यन्त्सपत्ने" इति व्यन् प्रत्ययः ❀ । तस्य क्षयणं विनाशनम् असि । ❀ क्षि क्षये इत्यस्माद् भावे करणे वा ल्युट् ❀ । अतो मे मह्यं भ्रातृव्यचातनम् भ्रातृव्यनाशनम् । चातयतिर्नाशनकर्मा इत्युक्तम् । दाः देहि । स्वाहेति पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे अग्ने ! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले हो अतः शत्रुनाशकत्वको मुझे दीजिये । तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥१॥

द्वितीया ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

सपत्नऽक्षयणम् । असि । सपत्नऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः । ❀ "व्यन्त्सपत्ने" इति सूत्रे सपत्नशब्दः सपत्नीव सपत्न इति इवार्थे अकारप्रत्ययान्तो व्याख्यातः ❀ । यद्यपि भ्रातृव्यसपत्नशब्दौ पर्यायौ तथाप्यत्र उभयोरपि पृथगुपादानाद् आत्मीयानात्मीयरूपेण भेदो द्रष्टव्यः । गतम् अन्यत् ॥

हे अग्ने ! तुम वैरियोंका संहार करने वाले हो अतः वैरिनाशकत्व मुझे दीजिये तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो २ †

तृतीया ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

---

† यद्यपि शत्रु और वैरी शब्द एकही अर्थके वाचक हैं तथापि पहिले मन्त्रको आत्मीय शत्रुपरक और दूसरे मन्त्रको अनात्मीय-शत्रुपरक समझना चाहिये ॥

अराय॒ऽक्षय॑णम् । अ॒सि । अ॒राय॒ऽचात॑नम् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥३॥

अरायक्षयणम् अराया: अदायिनः दानोपलक्षितनिखिलश्रेयोविघ्नकारिणः । तेषां क्षयणम् । ❀ रा दाने इत्यस्य घञन्तस्य नञा बहुव्रीहिः ❀ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

दान आदि संपूर्ण मांगालिक कार्योंमें विघ्न डालनेवाले राक्षस अराय कहलाते हैं, हे अग्ने ! तुम उन अरायोंके नाशक हो अतः अरायनाशकत्व मुझे दीजिये, यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पि॒शा॒च॒क्षय॑णमसि पिशा॒च॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥४॥

पि॒शा॒च॒ऽक्षय॑णम् । अ॒सि । पि॒शा॒च॒ऽचात॑नम् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥४॥

पिशाचाः पिशिताशिनो भूतविशेषाः । ❀ पिशितं मांसम् अश्नन्तीति "कर्मण्यण्" । पृषोदरादिषु पाठात् पिशिताशशब्दयोः पिशाचौ आदेशौ । गतम् अन्यत् ❀ ॥

हे अग्ने ! तुम कच्चे मांसका भक्षण करने वाले पिशाचोंके संहारक हो, अतः पिशाचोंको नष्ट करनेकी सामर्थ्य मुझे दीजिये यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

स॒दा॒न्वा॒क्षय॑णमसि सदा॒न्वा॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥५॥

स॒दा॒न्वा॒ऽक्षय॑णम् । अ॒सि । स॒दा॒न्वा॒ऽचात॑नम् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥५॥

सदान्वाक्षयणम् सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिण्यः पिशाच्यः । सदान्वा इति निःसालसूक्ते [२. १४] व्याख्यातम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! तुम सदा आक्रोश मचानेवाली राक्षसियोंके नाशक हो अतः उनके नाश करनेकी सामर्थ्य मुझे दीजिये, यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

द्वितीय काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५१) ॥

"अग्ने यत् ते" इत्यादिभिः पञ्चभिः सूक्तैरभिचारकर्मणि पुरस्ताद्धोमान् आज्येन जुहुयात् । [कौ० ६. १] ॥

"अग्ने यत् ते इत्यादि पाँच सूक्तोंसे अभिचारकर्ममें पुरस्ताद्धोम करे (पहिले होम करे)" (कौशिकसूत्र (६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अग्ने । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे अग्ने पृथिवीस्थान ते त्वदीयं यत् तपः संतापनशक्तिः तेन तपसा तम् शत्रुं प्रति लक्षीकृत्य तप प्रज्वलितो भव । ❀ "लक्षणेत्थंभूताख्यान०" इत्यादिना प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । "कर्मप्रवचनीययुक्ते०" इति द्वितीया ❀ । यद्वा । ❀ कर्मणि द्वितीया ❀ । तं शत्रुं प्रति तप । प्रतिकूलं प्रतिमुखं प्रत्यवयवं वा तपेत्यर्थः । यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि द्वेषं करोति यं च शत्रुं वयं द्विष्मः अप्रियं कुर्मः । तम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ अनेन व्यतिहारनिर्देशेन अभिचारप्रत्यभिचारयोरुभयत्रापि अस्य मन्त्रस्य सामर्थ्यं दर्शितं भवति ॥

हे पृथिवी पर स्थित रहने वाले अग्ने ! तुममें जो सन्तापन शक्ति है उस संतप्त करनेवाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो जो शत्रु हमसे

द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये† ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अग्ने॒ यत् ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । हर॑ः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । ह॒र॒ । यः॑ । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

हरतीति हरः संहरणसामर्थ्यम् । क्रोधनामसु पाठात् क्रोधो वा । ❁ हरतेरसुन् ❁ । तेन हरसा तम् शत्रुं प्रति हर संहर । गतम् अन्यत् ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे अग्ने ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अग्ने॒ यत् ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । अ॒र्चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अ॒र्च॒ । यः॑ । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

❁ अर्चतिरत्र धातूनाम् अनेकार्थत्वाद् दीप्त्यर्थः ❁ । तेन अर्चिषा तं प्रत्यर्च प्रतिदग्धुं दीप्तो भव । उक्तम् अन्यत् ॥

---

† इस मन्त्रका अभिचार और अभिचारको हटाना—इन दोनों कर्मोंमें प्रयोग किया जासकता है ॥

हे अग्ने ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार के शत्रुओंको भस्म करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो॒३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

अग्ने । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

शोचिः शोकजननसामर्थ्यम् । ❀ शुच शोके इत्यस्मात् अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्यः इसिः [उ० २. १०७] इति करणे इसिप्रत्ययः ❀ । तेन शोचिषा तं प्रति शोच शोकयुक्तं कुरु ॥

हे अग्ने ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अग्ने यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो॒३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

तेजः तीक्ष्णं पराभिभवनसामर्थ्यम् । ❀ तिज निशाने इत्यस्माद् असुन् ❀ । तेन तेजसा तम् शत्रुम् अतेजसं निस्तेजस्कं

कृणु कुरु ॥ गतम् अन्यत् ॥ यद्यप्यत्र सूक्ते क्रमेण निर्दिष्टास्तपो-हरोर्चिःशोचिस्तेजःशब्दाः पञ्चापि यास्केन ज्वलन्नामसु पठित-स्तथापि सर्वेषाम् अत्रोपादानाद् उक्तप्रकारेण धात्वर्थभेदाद् भेदो-वगन्तव्यः ॥

इति चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है—उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५४) ॥

इत उत्तराणि "वायो यत्" [२.२०] "सूर्य यत्" [२.२१] "चन्द्र यत्" [२.२२] "आपो यत्" [२.२३] इति चत्वारि सूक्तानि "अग्ने यत्" [२.१९] इति पूर्वसूक्तवद् व्याख्येयानि। तेषु वाय्वादिदेवतासंबोधनमेव विशेषः। "आपो यद् वः" इत्यत्र अपां नित्यबहुत्वाद् बहुवचननिर्देशः ॥

तत्र प्रथमा ॥

वायो॒ यत् ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॒स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

वायो॒ इति॑। यत्। ते॒। तपः। तेन॑। तम्। प्रति॑। त॒प॒। यः। अस्मान्। द्वेष्टि॑। यम्। व॒यम्। द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें विचरने वाले वायुदेव ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करनेवाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वायो यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे हे वायुदेव तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वायो यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे वायुदेव ! आपकी जो अर्चि है, उस अर्चिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकारके शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वायो यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो इति । यत । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

हे वायुदेव ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करनेवाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोक-युक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वायो यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥]

हे वायुदेव ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है—उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५५)

तत्र प्रथमा ॥

सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें स्थित रहने वाले सूर्य ! तुममें जो संतापन शक्ति

है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सूर्य यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे सूर्य तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोध को तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्य यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे सूर्य ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार के शत्रुओंको भस्म करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सूर्य यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

हे सूर्य ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोक-युक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

सूर्य यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥]

हे सूर्य ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है, उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६) ॥

तत्र प्रथमा

चन्द्र यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि

यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें स्थित रहनेवाले चन्द्र ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है या हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

चन्द्र यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

चन्द्र । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे चन्द्र ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

चन्द्र यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे चन्द्र ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार से शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चन्द्र यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्

द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

हे चन्द्र ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ४

पञ्चमी ॥

चन्द्र यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान्

द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥]

हे चन्द्र ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो

तीक्ष्ण तेज है–उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पंचम सूक्त समाप्त (९७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे पृथिवी पर स्थित रहने वाले जलों ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके संतप्त करो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रचण्ड हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आपो यद् वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे जलों ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आपो यद् वोर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे जलों ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकारके शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

हे जलों ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो४

पञ्चमी ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत ।

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसूक्तानि ॥

हे जलों ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है—उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमे षष्ठ सूक्त समाप्त (५८) ॥

"शेरभक" इति सप्तमसूक्तेन अलक्ष्मीविनाशकर्मणि समुद्रमध्ये शापेटस्येऽग्नौ हुत्वा चरुं संपात्य अभिमन्त्र्य प्राश्नीयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि "शेरभक" इत्यनेनैव सूक्तेन खण्डितयवानां सक्तुं रक्तवर्णाया अजाया दध्युदके क्षिप्त्वा आज्येन हुत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथैव तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन सूक्तेन तृणग्रन्थीन् कृत्वा उदपात्रे प्रत्यृचं विसृज्य तेनोदकेन आप्लावनं मुखमार्जनं च कुर्यात् ॥

उक्तं हि सूत्रे । "शेरभकेति सामुद्रम् अप्सु कर्म व्याख्यातम् अपहृतधाना लोहिताजाया द्रप्सेन संनीयाश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

"शेरभक" नामवाले सप्तमसूक्तसे अलक्ष्मीविनाशकर्ममें समुद्रके मध्यमें शापेटस्य अग्निमें होम करके चरुका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे ॥

तथा इसी कर्ममें "शेरभक" नाम वाले सूक्तसे ही खण्डित जौंके सत्तुओंको लाल वर्ण वाली बकरीके दुग्धमें ६ल कर घृत से आहुति देकर सम्पातन और अभिमन्त्रण करनेके अनन्तर प्राशन करे ॥

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे तृणग्रन्थियोंको बनाकर जलपूर्ण पात्रमें प्रत्येक ऋचासे डालकर उस जलसे स्नान और मुखमार्जन करे ॥

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है यथा–"शेरभकेति सामुद्रं अप्सु कर्म व्याख्यातम् अपहृतधाना लोहितजाया द्रप्सेन संनीयाश्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

शेरभक । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः
यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ १ ॥

हे शेरभक स्वाश्रितानां सुखस्य भापक । शरभवत् सर्वेषां हिंसको वा शेरभः यातुधानाधिपतिः । असौ ग्रामणीः प्रधानभूतो यस्य तत्सचिवादेः स शेरभकः । ❀ "स एषां ग्रामणीः" इति कन् प्रत्ययः ❀ । हे शेरभ यातुधानाधिपते हे शेरभक तत्स्वामिक सचिवादे वः युष्मदीया अलक्ष्मीकरा युष्माभिः अस्मदभिमुखं प्रेरिता यातवः राक्षसाः पुनर्यन्तु अस्मत्तः प्रतिनिवर्तन्ताम् ॥ तथा हेतिः हननसाधनं युष्मदीयम् आयुधजातं प्रतिनिवर्तताम् । किमीदिनः किम् इदानीं [किम् इदानीं] वर्तते किम् इदं किम् इदम् इति वा पैशुन्यार्थे चरन्तीति किमीदिनश्चोराः । ❀ आह च यास्कः । किमीदिने किम् इदानीम् इति चरते किं इदं किं इदं इति वा पिशुनाय चरते [नि० ६.११] इति ❀ । युष्मदीयास्तथाविधा अनुचराश्च । पुनर्यन्तु इति संबन्धः ॥ प्रतिनिवृत्तानां तेषां कर्तव्यम् आह । हे शेरभादयः सपरिकरा राक्षसाः यूयं यस्य स्थ यस्य अस्मद्विरोधिनः समीपे भवथ तम् अत्त भक्षयत ॥ यः प्रयोक्ता वः युष्मान्

[माहैत्] माहैषीत् अस्मत्सकाशं प्रेषितवान् तम् अत्त तमपि भक्षयत । ❀ हि गतौ । लुङि सिचि इद्धौ "बहुलं छन्दसि" इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे "स्कोः संयोगाद्योः०" इति सलोपः ❀ ॥ अदने रुचिम् उत्पादयति सेत्यादिना । सा । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति षष्ठ्याः सुः । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । तस्य शत्रोः मांसान्यत्त । यद्वा सा हेतिः यूयं च शत्रोर्मांसानि भक्षयत । प्रेरकजीवने प्रतिनिवृत्तानामपि रक्षसां पुनःपुनःप्रेषणसंभवात् तत्प्रेरकनाशनकथनेन तेषां पुनरागमनं निरस्तम् इति भावः ॥

हे अपने आश्रितोंको सुख पहुँचानेवाले और शरभकी समान सबके हिंसक यातुधानोंके स्वामिन् शेरभ ! और शेरभोंमें प्रधान शेरभक ! तुम्हारी जो हमारी ओर प्रेरणा करी हुई यातना और राक्षस हैं. वे हमारे पाससे लौट जावें और तुम्हारे आयुध भी हमारे पाससे लौट जावें । और आपके इस समय क्या होरहा है वा यह क्या है ? यह क्या है ? इस प्रकार पैशुन्यके लिये घूमने वाले किमीदिन—†चोर तथा ऐसे ही दूसरे—अनुचर भी लौट जावें । हे शेरभ आदि दलबलसहित राक्षसों ! हमारे जिस विरोधीके पास तुम रहो उसको तुम खाजाओ, और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी खा जाओ । (भक्षण करनेमें रुचिको उत्पन्न करते हैं, कि—) आयुध और तुम शत्रुके मांसको खाजाओ । तात्पर्य यह है, कि—यदि प्रेरक जीवित रहेगा तो संभव है, कि—लौटे हुए राक्षसोंको भी बार बार भेजे, और प्रेरकका नाश होनेसे तो उनके पुनर्वार आनेकी शंका ही नहीं रहती ॥ १ ॥

---

† यास्क मुनिने कहा है, कि—किमीदिने किम् इदानीं इति चरते किम् इदम् किम् इदं इति वा पिशुनाय चरते (निरुक्त ६।११) ॥

द्वितीया ॥

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमी-दिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त

शेवृधक । शेवृध । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः ।
यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ २ ॥

हे शेवृधक स्वाश्रितानां सुखस्य वर्धक । ❀ वृधेरन्तर्णीतण्यर्थाद् इगुपधलक्षणः कः ❀ । शेवृधो ग्रामणीर्यस्य सचिवादेः स शेवृधकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अपने आश्रितोंके सुखको बढ़ानेवाले शेवृध और शेवृधोंके स्वामिन् शेवृधक! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदिन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित शेवृध राक्षसो ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ । उसके मांसको खाजाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेति किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ३

म्रोक । अनुऽम्रोक । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः ।

यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ३ ॥

हे म्रोक म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य छन्नः सन् गच्छतीति म्रोकः । म्रोकम् अनुसृत्य गच्छतीति अनुम्रोकः । ❀ म्रुचु म्लुचु गतौ । "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति व्यत्ययेन कर्तरि घः । "चजोः कु घिण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ ॥

हे धन आदिको छीन कर गुप्तरूपसे जाने वाले म्रोक ! और म्रोकके पीछे चलनेवाले अनुम्रोक ! अलक्ष्मी करनेवाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ-राक्षस हैं वे लौट जावें और हननके साधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदिन और उनके सदृश दूसरे अनुचर भी लौटजावें ! हे दलबलसहित म्रोक और अनुम्रोकों ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खाजाओ ! उसके मांसको खा जाओ ३

चतुर्थी ॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ४

सर्प । अनुऽसर्प । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः ।

यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ४ ॥

हे सर्प । सर्पति कुटिलं गच्छतीति सर्पः एतत्संज्ञो यातुधानाधिपतिः । तम् अनुसृत्य गच्छतीति अनुसर्पः । ❀ सृप्लृ गतौ इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे कुटिलतासे चलने वाले सर्प नामक यातुधानाधिपते ! और हे सर्पका अनुसरण करने वाले अनुसर्प ! अलक्ष्मी करने वाले तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षस हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हरे किमीदिन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित राक्षसों ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको तुम खाजाओ ! उसके मांसको खाजाओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ५

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

जीर्यति जीर्णं भवति प्राणिशरीरम् अनयेति जूर्णिः एतत्संज्ञा राक्षसी तस्याः संबुद्धिः । ❀ जॄ वयोहानौ इत्यस्मात् करणे क्तिन् । "बहुलं छन्दसि" इति अनोष्ठ्यपूर्वस्यापि उत्वम् । "ऋकारल्वा-

दिभ्यः क्तिन् निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम्" इति निष्ठावद्भावाद् नत्वम्। यद्वा ज्वरति अनयेति करणे क्तिन्। "ज्वरत्वर०" इत्यादिना वकारोपधयोरूठ्, छान्दसं नत्वम् संबुद्धिगुणाभावश्च। यद्वा "वीज्याज्वरिभ्यो निः" इति [उ० ४. ४८] औणादिको निप्रत्ययः। पूर्ववद् ऊठ्। "कृदिकाराद् अक्तिनः" इति ङीषि "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀। जूर्णेः स्त्रीत्वाद् यातवोत्र यातुधान्यः। किम् इदानीं किम् इदानीम् इति चरन्त्यो राक्षस्यः किमीदिन्यः। ❀ जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। अन्यत् समानम् ॥

हे प्राणीके शरीरको जीर्ण करने वाली जूर्णि नाम वाली राक्षसी! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदिनी तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें। हे दलबलसहित जूर्णि राक्षसी! तुम जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ! उसके मांसको खाजाओ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ६

उपब्दे। पुनः। वः। यन्तु। यातवः। पुनः। हेतिः। किमीदिनीः। यस्य। स्थ। तम्। अत्त। यः। वः। प्रऽअहैत्। तम्। अत्त। स्वा। मांसानि। अत्त ॥ ६ ॥

हे उपब्दे क्रूरशब्दकारिणि । ❀ उपपूर्वाद् वदतेः शब्दनार्थात् पद्यतेर्वा पद स्थैर्ये इत्यस्माद् वा इन् सर्वधातुभ्यः [उ० ४.११७] इति इन् । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे क्रूर शब्द करनेवाली उपब्द नामवाली राक्षसी ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदिनी और दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबल-सहित उपब्द राक्षसी तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उस को खा जाओ और जिस प्रयोग करनेवालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ ! उसके मांसको खाजाओ ६

सप्तमी ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ७

अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः ।
यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त ।
स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

हे अर्जुनि अर्जुनशीले अर्जुनवर्णे वा ॥

हे अर्जुन वृक्षकी समान वर्णवाली अर्जुनि नामवाली राक्षसी ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसी हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदनी तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित अर्जुनि राक्षसी ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खाजाओ और जिस प्रयोग करनेवालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको तुम खाजाओ ! उसके मांसको खाजाओ ७

अष्टमी ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ८

भरूजि। पुनः। वः। यन्तु। यातवः। पुनः। हेतिः। किमीदिनीः।
यस्य। स्थ। तम्। अत्त। यः। वः। प्रऽअहैत्। तम्। अत्त।
स्वा। मांसानि। अत्त।' ८ ॥

हे भरूचि भ्रियते पोष्यत इति भरुः शरीरम्। तद् अपहर्तुम् अञ्चति गच्छतीति भरूची। ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् भृमृशी० [उ० १. ७] इत्यादिना उप्रत्यये भरुः। तस्मिन्नुपपदे "ऋत्विक्०" इत्यादिना अञ्चतेः क्विन्। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः ❀। उक्तम् अन्यत् ॥

इति द्वितीये काण्डे चतुर्थेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे भरण करनेके पात्र भरु (शरीर) को नष्ट करनेके लिये जाने वाली भरूजी नामवाली राक्षसि ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसी हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें। हे दलबलसहित भरूजी राक्षसी तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खाजाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खाजाओ ! उसके मांस खाजाओ ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५९) ॥

"शं नो देवी पृश्निपर्णी" इति सूक्तस्य चातनगणे पाठात् शान्त्युदकादौ अस्य विनियोगोवगन्तव्यः ॥

तथा कुष्ठादिसर्वरोगभैषज्यकर्मणि अनेन सूक्तेन पृश्निपर्णी पेषयित्वा लेपयेत् । सूत्रितं हि । "अघद्विष्टा [२. ७] शं नो देवी [२. २५] वरणः [६. ८५] पिप्पली" [६. १०६] इति प्रक्रम्य "द्वितीयेन मन्त्रोक्तस्य संपातवतावसिञ्चत्यनुलिंपति" इति [कौ० ४. २] ॥

"शं नो देवी पृश्निपर्णी" इस सूक्तका चातनगणमें पाठ है अत एव शान्त्युदक आदिमें इस सूक्तका विनियोग करना चाहिये ॥

तथा कुष्ठ आदि सब रोगोंकी चिकित्साके कर्ममें इस सूक्तसे पृश्निपर्णी (पिठवन) को पीस कर लेप करे । इस विषयमें सूत्र का प्रमाण है । यथा—"अघद्विष्टा (२ । ७) शं नो देवी (२ । २५) वरणः (६ । ८५) पिप्पली" (६ । १०६) इति प्रक्रम्य "द्वितीयेन मन्त्रोक्तस्य सम्पातवतावसिञ्चत्यनुलिम्पति—अघद्विष्टा (दूसरे काण्डका सातवाँ सूक्त) शं नो देवी (दूसरे काण्डका पचीसवाँ सूक्त) वरण (छठे कांडका पिचासीवाँ सूक्त) और पिप्पली (छठे काण्डका एक सौ नौवाँ सूक्त)" यह कह कर कहा है, कि—"इनमेंसे दूसरे (शं नो देवी) सूक्तसे मन्त्रोक्त सम्पातवाले द्रव्यसे छिड़के फिर लेपन करे" (कौशिकसूत्र ४ । २)"

तत्र प्रथमा ॥

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः ।

उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥१॥

शम् । नः । देवीः । पृश्निऽपर्णी । अशम् । निःऽऋत्यै । अकः ।

उग्रा । हि । कण्वऽजम्भनी । ताम् । अभक्षि । सहस्वतीम् ॥१॥

देवी द्योतमाना पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः नः अस्माकं शम् कुष्ठादिरोगशमनेन सुखम् अकः अकार्षीत् करोतु । ❀ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ् । "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् । गुणे "हल्ङ्याब्भ्यः"० इति तिलोपः ❀ । निर्ऋत्यै । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । निर्ऋत्याः रोगनिदानभूतायाः अशम् दुःखम् अकः करोतु ॥ हि यस्मात् उग्रा उद्गूर्णबला सती कण्व-जम्भनी कण्वस्य पापस्य नाशयित्री ॥ अतः सहस्वतीम् रोगा-भिभवनसामर्थ्ययुक्तां ताम् पृश्निपर्णीम् अभक्षि अहं भक्षे अनु-लेपादिना सेवे । ❀ भक्षेर्लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचने रूपम् । सहस्वतीम् इति । "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वेन अपदत्वाद् रुत्वा-भावः ❀ ॥

दमकती हुई देवी चित्रपर्णी औषधि कुष्ठ आदि रोगको शान्त करके हमें सुख देय और रोगकी निदानभूत निर्ऋति राक्षसीको दुःख देय, यह चित्रपर्णी (पिठवन) प्रचण्ड बल धारण करके पापका संहार कर डालती है, अत एव इस रोगको दबानेकी शक्ति रखने वाली पृश्निपर्णी (चित्रपर्णी) को मैं खाता हूँ- लेप आदिसे उसका सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।

तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

सहमाना । इयम् । प्रथमा । पृश्नि॰ऽपर्णी । अजायत ।

तया । अहम् । दुःऽनाम्नाम् । शिरः । वृश्चामि । शकुनेःऽइव ॥२॥

सहमाना रोगान् अभिभवन्ती इयं पृश्निपर्णी प्रथमा प्रथिता ओषधीनां मुख्या आदिभूता वा अजायत उत्पन्ना । ❀ जनी

प्रादुर्भावे । "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ❀ ॥ तया उक्तलक्षणया पृश्निपर्ण्या दुर्णाम्नाम् दद्रुविसर्पकश्वित्रादिकुष्ठरोगविशेषाणां शिरः शिरोवत्प्रधानभूतं रोगनिदानम् अहं वृश्चामि छिनद्मि नाशयामि । तत्र दृष्टान्तः । शकुनेरिव यथा पक्षिणः शिरः खड्गादिप्रहरण-साधनम् अनपेक्ष्य अनायासेन छिद्यते एवं पृश्निपर्णीलेपनमात्रेण समूलम् उन्मूलयामीत्यर्थः ॥

रोगोंको दबानेवाली यह पृश्निपर्णी ओषधियोंमें प्रथम उत्पन्न हुई है–प्रसिद्ध है। ऐसी पृश्निपर्णीसे दाद विसर्पक छाजन और कोढ़के शिरकी समान प्रधान रोगकारणको मैं पक्षियोंके शिरकी समान काटता हूँ अर्थात् जैसे पक्षियोंका शिर खड्ग आदि प्रहारके साधनकी अपेक्षा न रख कर अनायास ही काट डाला जाता है इसीप्रकार पृश्निपर्णीके लेपसे ही मैं रोगोंके कारणोंको जड़सहित नष्ट करे डालता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।

गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

अरायम् । असृक्ऽपावानम् । यः । च । स्फातिम् । जिहीर्षति ।

गर्भऽअदम् । कण्वम् । नाशय । पृश्निऽपर्णि । सहस्व । च ॥ ३ ॥

असृक्पावानम् शरीरगतरक्तस्य पातारम् अरायम् अरातिं कुष्ठादिरोगात्मकम् । नाशयेति संबन्धः । कुष्ठादिरोगेण शरीर-पोषकशुद्धरक्तस्यापगमात् पानव्यपदेशः । ❀ पिबतेः "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति वनिप् प्रत्ययः ❀ । किं च यः रोगो ग्रहण्यादिरूपः स्फातिम् शरीरवृद्धिं जिहीर्षति हर्तुम् इच्छति नाशयितुम् उपक्रमते । तं नाशयेति संबन्धः । ❀ स्फायी वृद्धौ ।

क्तिनि "तितुत्र०" इति इट्प्रतिषेधे वलि लोपः। हरतेः सनि "अज्झनगमां सनि" इति दीर्घे "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम्। यद्वृत्तयोगेन निघातप्रतिषेधे नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा हे पृश्निपर्णि गर्भादम् गर्भस्य भक्षकं कण्वम् रोगनिदानपापं नाशय सहस्व च गर्भध्वंसकान् शत्रूंश्च अभिभव। ❀ गर्भादम् इति। अद भक्षणे। अस्माद् गर्भोपपदाद् "अदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ ॥

हे पृश्निपर्णि! शरीरके (शुद्ध) रक्तको पीने (निकालने) वाले कुष्ठादि रोगरूप शत्रुको तू नष्ट कर और जो ग्रहण आदि रोग शरीरकी वृद्धिको हरना चाहता है-नष्ट करता है उसको भी तू नष्ट कर। और हे पृश्निपर्णि! तू गर्भके भक्षक रोगके कारणको नष्ट कर और गर्भको नष्ट करनेवाले (रोगरूप) शत्रुओं को भी नष्ट कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

गिरिम्। एनान्। आ। वेशय। कण्वान्। जीवितऽयोपनान्।
तान्। त्वम्। देवि। पृश्निऽपर्णि। अग्निःऽइव। अनुऽदहन्। इहि ॥४॥

हे पृश्निपर्णि जीवितयोपनान् प्राणस्य मोहकान्। ❀ युप रुप लुप विमोहने। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀। एनान् उक्तविधान् कण्वान् कुष्ठादिरोगनिदानभूतान् पाप्मनः गिरिम् पर्वतं स्वसंचाररहितम् आ वेशय प्रवेशय। ❀ "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०" इति विशतेर्गत्यर्थाद् अणिकर्तुः पाप्मनः कर्मत्वम् ❀ ॥ हे देवि द्योतमाने हे पृश्निपर्णि त्वं तान् गिरौ

आवेशितान् कण्वान् अनुदहन् अग्निरिव अरण्यस्थितान् सर्पमृगादीन् अनुगम्य दहन् दावाग्निरिव अनुदहन्ती इहि गच्छ । ❀ अनुदहन्निति । अनुदहनलक्षणस्य साधारणधर्मस्य उपमानोपमेयनिष्ठत्वाद् उपमानापेक्षया पुंलिङ्गता । इहीति । इण् गतौ । लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

हे देवी पृश्निपर्णी ! प्राणोंको मोहमें डालनेवाले इन कुष्ठ आदि रोगोंके कारण पापोंको पर्वत पर लेजा और सर्प पशु आदिको भस्म करने वाले दावाग्निकी समान इनको तहाँ भस्म करनेके लिये जा ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॒न् जीवितयो॒प॑नान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

परा॑चः । एना॒न् । प्र । नु॒द॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒तऽयो॑पनान् ।
तमां॑सि । यत्र॑ । गच्छ॑न्ति । तत् । क्र॒व्य॒ऽअदः॑ । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥५॥

हे पृश्निपर्णि जीवितयोपनान् एनान् अन्वादिष्टान् कण्वान् पराचः प्रणुद पराङ्मुखान् प्रेरय अपसारय । ❀ परापूर्वाद् अञ्चतेः क्विनि शसि अकारलोपे "अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तमांसि सूर्योदयानन्तरं यत्र सूर्यरश्मिसंचाररहितं यं प्रदेशं गच्छन्ति तत् तथाविधं निःसूर्यं स्थानं क्रव्यादः पिशितादिधातुभक्षकान् कुष्ठादिरोगान् अजीगमम् त्वल्लेपनेन अहमपि प्रापयामि । ❀ क्रव्यशब्दोपपदाद् अत्तेः "क्रव्ये च" इति विट् प्रत्ययः । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाकेऽष्टमं सूक्तम् ॥

हे पृश्निपर्णी ! प्राणोंको मोहमें डालनेवाले इन पापोंको उलटा मुख करके भेज दो, सूर्योदय होने पर सूर्यकी किरणोंके सञ्चारसे रहित जिस देशमें अंधकार जाता है उस सूर्यरहित स्थानमें मांस आदि धातुओंके भक्षक कुष्ठ आदि रोगोंको तुम्हारा लेपन करने से मैं भी भेजता हूँ ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (६०) ॥

"एह यन्तु पशवः" इति सूक्तेन गोपुष्टिकामः अभिनवं पयः वत्सलालामिश्रितं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन गाम् अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

तथैव अनेन उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोष्ठमध्ये निनयेत् ॥

एवं सारूपवत्सौदने गुग्गुलुलवणशकृत्पिण्डान् प्रक्षिप्य पश्चाद् अग्नौ त्रिरात्रं निखाय चतुर्थेहनि उद्धृत्य अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

अत्रोक्तं कौशिकेन । "एह यन्तु पशवः [२. २६] सं वो गोष्ठेन [३. १४]" इति प्रक्रम्य "पृष्टे पीयूषं श्लेष्ममिश्रम् अश्नाति गां ददात्युदपात्रं निनयति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

गौओंकी पुष्टि चाहने वाला "एह यन्तु पशवः" सूक्तसे बछड़े की लार मिले नवीन दूधका सम्पातन और अभिमंत्रण करके भक्षण करे ॥

और इस सूक्तसे अभिमंत्रित करके गौको दे ॥

तथा इस सूक्तसे जलपूर्णपात्रको अभिमंत्रित करके गोठके बीच में ले जावे ॥

इसी प्रकार अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधमें बने भातमें गूगल नमक और गोबरके पिण्डों (अन्ने उपलों) को डाल फिर उनको तीन रात तक अग्निमें दबा रक्खे और चौथे दिन निकाल कर सम्पात और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे

इस विषयमें कौशिकने कहा, कि—"एइ यन्तु पशवः (२।२६) सं वो गोष्ठेन (३।१४)" इति प्रक्रम्य "पृष्टेः पीयूषं श्लेष्ममिश्रम् अश्नाति गां ददात्युदपात्रं निनयति" (कौशिकसूत्र ३।२)॥

तत्र प्रथमा ॥

इह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । पराऽईयुः । वायुः । येषाम् । सहऽचारम् । जुजोष ।
त्वष्टा । येषाम् । रूपऽधेयानि । वेद । अस्मिन् । तान् । गोऽस्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

ये पशवः परेयुः परागताः पराङ्मुखाः पुनरावृत्तिरहिता अगमन् ते सर्वे इह अस्मिन् गोष्ठे आ यन्तु पुनरागच्छन्तु । ❀ इण् गतौ । "इणो यण्" इति यण् आदेशः । ईयुरिति । अस्मादेव धातोर्लिटि उसि पूर्ववद् यणि कृते "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनम् । "दीर्घइणः किति" इति अभ्यासस्य दीर्घः ❀ । येषाम् पशूनां वायुः सहचारम् सहसंचरणं जुजोष सेवते तद्रक्षणार्थं सह वर्तते । ❀ जुषेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । गोष्ठाद् विनिर्गतानां गवां वायुरेव रक्षक इत्ययम् अर्थस्तैत्तिरीयके स्पष्टम् आम्नायते । "वायवः स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति" इति [तै० ब्रा० ३. २. १. ४] । येषाम् पशूनां त्वष्टा एतन्नामको देवः रूपधेयानि । ❀ "भाग-

रूपनामभ्यो धेयः" इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः ❀ । गर्भगतवत्सरूपाणि वेद कर्तुं जानाति । करोतीत्यर्थः । "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" [तै० सं० १. ५. ६. १] "त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत् [तै० ब्रा० ३. ८. ११. २] इत्यादिश्रुतेः । यद्वा रूपधेयानि रूपाणि धेयानि विधातव्यानि वेद । ❀ धात्वः कर्मणि यत् । "ईद्यति" इति ईत्वम् ❀ । तान् उक्तान् सर्वान् पशून् अस्मिन् गोष्ठे । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठम् । तस्मिन् । सविता सर्वप्रेरको देवो नि यच्छतु नियमयतु । यथा पुनर्न गच्छन्ति तथा स्थापयतु इत्यर्थः । ❀ निपूर्वाद् यमेः शपि "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ❀ ॥

जो पशु यहाँसे पराङ्मुख होकर चले गए हैं वे इस गोष्ठमें फिर आजावें, वायु रक्षा करनेके लिये जिन पशुओंके साथमें रहता है † और त्वष्टा देवता जिन गर्भगत पशुओंके नाम और रूपोंको करता है ‡ उन सब पशुओंका सूर्यदेव इस गोष्ठमें नियमन करें अर्थात्

† गोठसे बाहर निकली हुई गौओंके वायुदेव ही रक्षक हैं इस बातको तैत्तिरीयक ब्राह्मणमें स्पष्टरूपसे कहा है, कि-"वायवःस्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्या खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति-हे गौओ ! तुम वायु हो अर्थात् अन्तरिक्षके अध्यक्ष वायुकी अधीनतामें रहती हो, पशु अन्तरिक्ष देवता वाले हैं, पुरुष वायुको ही इनको सौंपता हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । २ । १ । ४) ॥

‡ "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते-सींचें हुए वीर्यमें त्वष्टादेवता रूप बनाते हैं तब वह उत्पन्न होता है" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । १) और तैत्तिरीयब्राह्मणकी ३ । ८ । ११ । २) श्रुतिमें कहा है, कि—

जिस प्रकार वे फिर न जा सकें तिस प्रकार यहाँ स्थापित करें १

द्वितीया ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

इमम् । गोऽस्थम् । पशवः । सम् । स्रवन्तु । बृहस्पतिः । आ । नयतु । प्रऽजानन् ।

सिनीवाली । नयतु । आ । अग्रम् । एषाम् । आऽजग्मुषः । अनुऽमते । नि । यच्छ ॥ २ ॥

पशवः गवाद्या इमम् अस्मदीयं गोष्ठं सं स्रवन्तु संप्राप्नुवन्तु ॥ बृहस्पतिर्देवः प्रजानन् आनयनप्रकारं विद्वान् आ नयतु गोष्ठं प्रापयतु ॥ तथा सिनीवाली एतन्नामिका देवपत्नी दृष्टेन्दुकलामावास्यादेवता वा । एषाम् । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । इमान् पशून् अग्रम् पुरोदेशम् आ नयतु । ❀ सिनीवालीशब्दो यास्केन बहुधा व्याख्यातः । सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । अमावास्ये इति याज्ञिकाः । [या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली । योत्तरा सा कुहूरिति विज्ञायते] । सिनीवाली । सिनम् अन्नं भवति । सिनाति भूतानि । वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा वालेनैवास्याम् अणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा [नि० ११. ३१] इति ❀ । आजग्मुषः आगतान् पशून् अनुमते हे अनुगमनकारिणि हे देवपत्नि पूर्वपौर्णमास्यभिमानि-

"त्वष्टा वै पशूनाम् मिथुनानाम् रूपकृत्—त्वष्टादेवता पशुओंके जोड़ोंके रूपको बनाने वाले हैं" ॥

देवते वा त्वं नि यच्छ गोष्ठे नियमय। ❀ आजग्मुष इति । आङ्-पूर्वाद् गमेः क्वसुः । शसि "वसोः संप्रसारणम्" इति संप्रसारणम् ❀ ॥

गौ आदि पशु मेरी गोठमें आजावें । और गौओंकी लानेकी विधिको जाननेवाले बृहस्पतिजी गौओंको गोष्ठमें पहुँचावें । तथा सिनीवाली नाम वाली देवपत्नी वा अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवता † इन पशुओंको इस सामनेके स्थानमें ले आवें, हे आने की इच्छा रखने वाले पशुओंके पीछे चलने वाली देवपत्नि अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवता ! तुम इनको गोष्ठमें रक्खो ॥२॥

तृतीया ॥

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥३॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । पशवः । सम् । अश्वाः । सम् । ऊँ इति । पुरुषाः ।
सम् । धान्यस्य । या । स्फातिः । सम्ऽस्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

पशवः गवाद्याः सं सं स्रवन्तु सम्यग् आगच्छन्तु । ❀ "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति समो द्विर्वचनम् ❀ ॥ तथा अश्वाः । सम्

---

† यास्कमुनिने सिनीवाली शब्दको व्याख्या अनेक प्रकारसे की है यथा "निरुक्तको जानने वाले कहते हैं, कि-सिनीवाली और कुहू ये दो देवपत्नियें हैं । और याज्ञिक कहते हैं, कि-यह अमावास्याके नाम हैं । जिसकी (वाल) गाँठमें अन्न (सिन) पुरा हुआ होता है, वह सिनीवाली कहलाती है, और बालरूपसे अणुरूपसे चन्द्रमा इसमें सेवितव्य होता है इसलिये यह सिनी-वाली कहलाती है" (निरुक्त ११ । ३१) ॥

इत्युपसर्गश्रवणात् सर्वत्र स्रवन्तु इति संबन्धः ॥ तथा पुरुषाश्च सेवकाद्याः ॥ धान्यस्य व्रीहियवादेर्या स्फातिः अभिवृद्धिः सापि [सं] स्रवतु ॥ अहमपि तत्सिद्ध्यै संस्राव्येण संस्रावणार्हेण आज्येन हविषा जुहोमि ॥

गौ आदि पशु भली प्रकार आवें तथा घोड़े भी भली प्रकार आवें और सेवक आदि पुरुष भी प्रचुररूपमें आवें और धान जौ आदिकी वृद्धि भी मेरे यहाँ भली प्रकार हो, मैं भी उसकी सिद्धिके लिये घृतकी हविको होमता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् ।
सम्ऽसिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि ।
गोऽपतौ ॥ ४ ॥

गवाम् । अत्र गोशब्देन सृष्टयो विवक्षिताः । सृष्टीनां क्षीरम् अभिनवं पयः आज्येन सं सिञ्चामि गवां क्षीरं सम् आज्येन संपातयामि । ❀ गवाम् इति । "[न] गोश्वन्त्साववर्ण०" इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेधः ❀ ॥ तथा आज्येन बलम् बलकरम् अन्नं रसम् उदकं च बलकरं रसमेव वा । सं सिञ्चामीति संबन्धः ॥ अस्माकं वीराः पुत्राद्याः संसिक्ताः घृतादिना संसिक्तशरीराः दृढगात्राः । भवन्तु इति शेषः ॥ तदर्थं गोपतौ गोस्वामिनि मयि गावः ध्रुवाः स्थिरा भवन्तु । ❀ गोपताविति । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

मैं पहलौन गौओंके दूधका घृतसे सिञ्चन करता हूँ तथा बल-प्रद अन्नको और जल वा बलवर्धक रसको घृतसे सींचता हूँ, हमारे पुत्र संसिक्त हों अर्थात् घृत आदिसे उनके शरीर दृढ़ हों। इसलिये मुझ गोस्वामीमें गौएँ स्थिर रहें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् ।

आऽहृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥५॥

गवां क्षीरम् उक्तप्रयोगेण आ हरामि आनयामि । गोसंपत्त्या बहुतरं क्षीरसंपन्नो भवामीत्यर्थः ॥ तथा धान्यं रसं च आहार्षम् आहृतवान् अस्मि ॥ तथा अस्माकं वीराः पुत्राद्या आहृताः आनीताः प्राप्ताः । पत्नीः पत्न्यश्च । आ इत्युपसर्गश्रवणात् हृता इति संबन्धः ॥ उक्तानां सर्वेषां किं प्रति आहरणम् इति तद् आह । इदम् संनिहितम् अस्मत्संबन्धि अस्तकम् । ❀ अस्तम् इति गृहनाम । स्वार्थे कः ❀ । गृहम् । गोधान्यपुत्रादिभिरस्मद्गृहं सर्वतः पूर्णं भवतु इति भावः ॥

इति द्वितीये काण्डे चतुर्थेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्चतुर्थोऽनुवाकः ॥

मैं अपने घरमें इस प्रयोगसे गौओंके दूधको लारहा हूँ और धान्य तथा रसको भी ला रहा हूँ और अपने पुत्र आदिको भी ला रहा हूँ और पत्नियोंको भी घरमें लारहा हूँ। तात्पर्य यह है, कि-हमारा घर गौ धान्य पुत्र आदिसे पूर्ण होजाय ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (३१)॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "नेच्छत्रुः" इति प्रथमेन सूक्तेन विवादजयकर्मणि पाठामूलम् अभिमन्त्र्य खादन् अपराजिताद् देशात् सभास्थानं प्रविशेत् ॥
तथा अनेन अभिमन्त्रितां पाठां खादन् प्रतिवादिनं ब्रूयात् ॥
एवं पाठामूलं संपात्य अनेनाभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

एवमेव अनेनाभिमन्त्रितां पाठामालां सप्तभिः पर्णैर्विरचितां शिरसि धारयेत् ॥

सूत्रितं हि । "नेच्छत्रुरिति पाठामूलं प्रतिप्राशितम् अन्वाह बध्नाति मालां सप्तपलाशीं धारयति" इति [कौ० ५. २] ॥

तथा "अपराजितां विजयकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् अपराजिताख्यायां महाशान्तौ पाठामूलमणिबन्धनेऽपि एतत् सूक्तम् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "नेच्छत्रुरिति पाठामूलम् अपराजितायाम्" इति [न० क० १९] ॥

पाँचवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "नेच्छत्रुः" इस प्रथम सूक्तसे विवादमें विजय पानेके कर्ममें पेठेकी जड़को अभिमंत्रण करके खाता हुआ अपराजित स्थानसे सभास्थानमें प्रवेश करे ॥

तथा इस सूक्तसे अभिमंत्रित पेठेको खाता हुआ प्रतिवादीसे बोले
इसी प्रकार पाठाकी जड़के लिये होम करके इस सूक्तसे अभिमंत्रण करके बाँध लेय ॥

इसी प्रकार इस मन्त्रसे अभिमंत्रित पाठाकी सात पत्तोंसे रची हुई मालाको शिर पर धारण करे ॥ सूत्रमें भी कहा है, कि–"नेच्छत्रुरिति पाठामूलं प्रतिप्राशितम् अन्वाह बध्नाति मालाम् सप्तपलाशीम् धारयति" (कौशिकसूत्र ५ । २) ॥

इसी प्रकार "अपराजितां विजयकामस्य–विजयकी कामना वालेको अपराजिता महाशांतिको करावे" इस नक्षत्रकल्प सत्रहसे विहित अपराजिता नाम वाली महाशान्तिके पाठामूलमणिबंधन

में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इस बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"नेच्छत्रुरिति पाठामूलम् अपराजितायाम्" (नक्षत्र-कल्प १९)॥

तत्र प्रथमा ॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभिऽभूः । असि ।

प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ १ ॥

हे पाठाख्ये ओषधे शत्रुः प्रतिवादी प्राशम् प्रष्टारं वादिनं त्व-त्सेवकं मां नेत् जयाति। इदिति अवधारणे । नैव जयतु । ❀ प्राशम् इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् इत्यस्मात् "क्विब्वचि०" इत्यादिना क्विप् तत्संनियोगेन दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति सतुक्कस्य छकारस्य शकारः। जयातीति। जयतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥ यतस्त्वं सहमाना शत्रुसहनस्वभावा अतः अभिभूरसि प्रतिवादिनः शत्रोरभिभवित्री भवसि । एवम् अतिशयितवीर्ययुक्तायास्तव सेवया मां शत्रुर्न जयतु इत्यर्थः । अस्याः सहनशीलत्वं श्रुत्यन्तरे सिद्धवद् आम्नातम् । "उत्तानपर्णे सुभगे सहमाने सहस्वति" । "उप तेधां सहमानाम्" इति च [ऋ० १०. १४५. ६]॥ प्राशम् प्रष्टारं वादिनं माम् उद्दिश्य प्रतिप्राशः प्रतिकूलप्रश्नकर्तृन् प्रतिवादिनो जहि पराजितान् कुरु। ❀ "हन्तेर्जः" इति जादेशः। "असिद्धवद् अत्राभात्" इति तस्यासिद्धत्वात् हेर्लुगभावः ❀ । यद्वा । ❀ प्रतिप्राश इति षष्ठी ❀ । प्रतिवादिनः प्राशम् प्रश्नं जहीत्यर्थः । ❀ प्रतिपूर्वात् प्रच्छेः पूर्ववत् प्रक्रिया ❀ । पराजयप्रकारमेवाह। हे ओषधे प्रति-

वादिवाक्यजनिततापापहर्त्रि । ॐ ओषः पाकोस्यां धीयत इति "कर्मण्यधिकरणे च" इति दधातेरधिकरणे किप्रत्ययः ॐ । यद्वा ओषे दाहके ज्वरादौ एनां पाठादिरूपां वैद्योपदेशप्रकारेण धयन्ति पिबन्ति आतुरा इति ओषधिः । अपि वा दोषं वातपित्तादिकं धयति पिबति विनाशयतीति ओषधिः । ॐ पृषोदरादित्वाद् आदिवर्णलोपः । पत्तद्वयेपि धेटः अनुपसर्गे सुबन्तमात्र उपपदे व्यत्ययेन किप्रत्ययः । अत्र यास्कः । ओषधय ओषद्धयन्तीति वा ओषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा इति [नि० ६. २७] ॐ । हे तथाविधौषधे प्रतिवादिनः अरसान् नीरसान् शुष्ककण्ठान् वक्तुम् असमर्थान् कृणु कुरु । यद्वा अरसान् रस-रहितवाक्यान् । असंगतप्रलापिनः कुरु इत्यर्थः ॥

हे पाठा नामवाली औषधे! तेरे सेवक मुझको प्रतिवादी शत्रु कभी न जीत सके, तू स्वभावतः शत्रुओंकी टक्करोंको झेलती है अतः तू प्रतिवादी शत्रुको दबाने वाली है ऐसे श्रेष्ठवीर्य वाली तेरी सेवा करनेसे शत्रु मुझे न जीतसके। मुझ प्रश्न करनेवाले वादीका ध्यान रख कर तू प्रतिकूल प्रश्न करने वाले वादीको हरा दे। (पराजयकी रीति यह है, कि-) हे प्रतिवादीके दिये हुए तापको हरने वाली, वैद्यके उपदेशके अनुसार रोगी जिसको पीते हैं, और जो वात पित्त आदि दोषको पीजाती है (नष्ट कर डालती हैं) ऐसी हे पाठा (आदि) ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे हुए कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर उनको असंगत वाक्य वाले कर ॥ १ ॥

द्वितीया

सु॒प॒र्णस्त्वान्व॑विन्दत् सू॒क॒रस्त्वा॑खनन्न॒सा ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो॑ जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ २ ॥

सुऽपर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा ।

प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

सुपर्णः शोभनपक्षो वैनतेयस्त्वा त्वाम् अन्वविन्दत् विषाद्यपहरणाय अन्विष्य अलभत । ❀ विद्लृ लाभे । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ ॥ सूकरः आदिवराहस्त्वा त्वां नसा नासिकया तत्सहितया दंष्ट्रया अखनत् विदारितवान् । भूम्या अन्तरवस्थितां त्वां लोकोपकारार्थम् उदहार्षीद् इत्यर्थः । अनेन अस्या अमोघवीर्यत्वम् उक्तम् ॥ प्राशं प्रतिप्राशम् इत्यादि गतम् ॥

सुन्दर पर वाले गरुड़ने तुझको विष आदिका प्रभाव दूर करनेके लिये खोज करने पाया था और आदि-शूकरने तुझको नाक सहित डाढ़से खोदा था अर्थात् भूमिके भीतर स्थित तुझको लोकोपकारके लिये निकाला था इस प्रकार यह ओषधि अमोघ है यह कहदिया, हे ऐसी ओषधे ! मुझ प्रश्नकर्ताको लक्ष्यमें रख कर तू प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे,हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनके वाक्योंमें रस न हो अर्थात् उनको असंगत वाक्यवाले कर ॥२॥

तृतीया ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः । ह । चक्रे । त्वा । बाहौ । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।

प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ३ ॥

हे पाठे त्वाम् इन्द्रस्त्रिलोकीपतिः असुरेभ्यः असुरान् तरीतवे स्तरीतुम् । हिंसितुम् इत्यर्थः । बाहौ दक्षिणभुजे चक्रे कृतवान्

धृतवान् ॥ तथा अहमपि प्रतिवादिविजयार्थं त्वाम् ॥ गतम् अन्यत् । ❀ असुरेभ्य इति। "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी । "तुमर्थेसेसेनसे०" इत्यादिना तवेप्रत्ययः । "वृतो वा" इति इटो दीर्घः ❀ ॥

हे पाठे ! त्रिलोकीके स्वामी इन्द्रने असुरोंको मारनेके लिये तुझे अपनी दाहिनी भुजा पर रक्खा था (बाँधा था) इसीप्रकार मैं भी प्रतिवादीको जीतनेके लिये तुझे अपने दाहिने हाथ पर बाँधता हूँ । हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटाम् । इन्द्रः । वि । आश्नात् । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।

प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ४ ॥

पाठाम् उक्तप्रभावाम् ओषधिम् असुरांस्तरीतुम् इन्द्रो व्याश्नात् । अभक्षयत् । ❀ अश भोजने। क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः ॥ गतम् अन्यत् ❀ ॥

इन्द्रदेवने ऐसे प्रभाव वाली पाठा नामकी ओषधिको असुरोंको जीतनेके लिये खाया था हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करने वाले वादियोंको हरा दे, हे औषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अहम् । शत्रून् । साक्षे । इन्द्रः । सालावृकान्ऽइव ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ५ ॥

या उदीरितप्रभावा पाठा तयाहं धारणभक्षणादिना शत्रून् प्रतिवादिनः साक्षे अभिभवामि । निरुत्तरान् असत्यायान् करोमीत्यर्थः । ❀ सहतेरभिभवार्थात् लेटि उत्तमे "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । "सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः" इति सिपो णिद्वत्त्वाद् वृद्धिः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रो देवः सालावृकान् । अरण्यश्वानः सालावृकाः । तद्रूपान् असुरान् यथा विगीर्णवान् ॥ अयमेवार्थो दाशतय्यां स्पष्टम् आम्नातः । "त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रं आसन् दधिषे" इति । [ऋ० १०, ७३, ३] ॥

जैसे इन्द्रने जंगली कुत्तोंकी समान असुरोंको निरुत्तर कर दिया था †इसी प्रकार मैं प्रसिद्ध प्रभाव वाली पाठाका भक्षण और सेवन करके प्रतिवादी शत्रुओंको निरुत्तर करता हूँ । हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले प्रतिवादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ५ ॥

† ऋग्वेदसंहिता १० । ७३ । ३ में कहा है, कि—"त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रं आसन् दधिषे—हे इन्द्र ! तुम जंगली कुत्तोंकी समान हजारों असुरोंको निरुत्तर कर चुके हो" ॥

षष्ठी ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

रुद्र । जलाषऽभेषज । नीलऽशिखण्ड । कर्मऽकृत् ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे । ६ ॥

रौति शब्दायते तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः । तथा च जाबालश्रुतिः । "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" इति [जा० उ० १] । शब्दब्रह्मात्मना रोरूयमाणो द्रवति सर्वप्राणिहृदये वर्तत इति वा अस्त्रेण छिन्नशिरसं शोचन्तं प्रजापतिम् अनु स्वयमपि शोकवशाद् अरोदीद् इति वा उत्पत्तिकाले स्वयम् अरुदद् इति वा रोदयति सर्वम् अन्तकाल इति वा रुद्रः । तद् उक्तं यास्केन । रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति विज्ञायते । यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम् यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रवकम् [नि० १०. ५] इति । तथा महोपनिषदि । "तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यम्" इति [महोप० १] । अथर्वशिरस्यपि । "संयुगस्यान्तकाले संहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता तस्माद् उच्यत एको रुद्रः" इति [अ० शि० उ० ४] । अथवा रुत् रोदनकरम् सांसारिकं दुःखं तद्धेतुभूताम् अविद्यां वा द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तद् उक्तं वायवीयसंहितायाम् ॥

रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः ।
रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ।

इति । हे उक्तमहिमोपेत रुद्र जलाषभेषज । जलाषम् इति सुख-

नाम । जायन्त इति जाः जनाः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति जनेः केवलादपि डः ❀ । तैर्लष्यते वाञ्छ्यत इति जलाषं सुखम् । ❀ जशब्दे उपपदे लषेः कर्मणि घञ् ❀ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । यद्वा उदकनामैतत् । जलाषम् उदकमात्रं यस्य स्मरणेन भेषजं भवति स तथोक्तः । तस्य ध्येयम् आकारं दर्शयति । नील-शिखण्ड नीलवर्णकपर्दोपेत । अनेन नित्यतारुण्यम् उक्तम् । हे कर्मकृत् स्वोपासकानां दुष्कर्माणि कृन्ततीति कर्मकृत् । अथवा साध्वसाधुरूपाणि कर्माणि कारयतीति कर्मकृत् । ❀ करोतेरन्त-र्भावितण्यर्थात् क्विप् ❀ । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति" (कौ० ब्रा० ३. ८]इत्यादिश्रुतेः । यद्वा सृष्ट्यादीनि पञ्च कृत्यानि करोतीति कर्म कृत् । उक्तं हि ।

पञ्चविधं तत् कृत्यं सृष्टिः स्थितिसंहृती तिरोभावः ।
तद्वद् अनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ।

इति । एवंमहानुभाव रुद्र मया सेव्यमानाम् इमां पाठाख्याम् ओषधिं प्रतिवादितिरस्करणसमर्थां कुरु इति शेषः ॥ एवं रुद्रानु-गृहीते पाठाख्ये ओषधे । प्राशं प्रतिप्राशो जहीत्यादि पूर्ववत् ॥

हे तारक ब्रह्मका उपदेश देनेवाले रुद्र ! ‡ हे स्मरणमात्रसे जल

‡ जाबाल उपनिषत् १ में कहा है, कि-"अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे-प्राणोंके निकलते समय रुद्र जन्तुको तारक ब्रह्मका उपदेश देते हैं" ॥ रौति शब्दायते तारकं ब्रह्मउपदिशतीति रुद्रः । अथवा शब्दब्रह्मरूपसे रोरूयमाण द्रवते हैं-सब प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं इस कारण शिव रुद्र कहलाते हैं, वा अस्त्रसे छिन्न शिर वाले शोक करते हुए प्रजा-पतिके पीछे आप भी रोने लगे वा उत्पत्तिकालमें अपने आप रोये वा अन्तकालमें सबको रुलाते हैं इस कारण महादेवजी रुद्र कहलाते हैं । इसी बातको यास्कमुनिने भी कहा है, कि "रुद्रो रौतीति

को औषध बतानेवाले, नीलवर्णकी शिखा वाले और अपने उपासकोंके दुष्कर्मको काटनेवाले साधु असाधु कर्मोंको करानेवाले † अथवा सृष्टि आदि पाँच कर्मोंको करनेवाले + महानुभाव रुद्र !

सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयते र्वा। यद् अरुदत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वं इति विज्ञायते। यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम् यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रवकम्—० जो रोये वही रुद्रका रुद्रत्व है, ऐसा कठ शाखा वाले कहते हैं। और हारिद्रव कहते हैं, कि—जो रुलाता है यही रुद्रका रुद्रत्व है॥" [नि० १० । ५)॥ महोपनिषत् १ में कहा है, कि—तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यम्—उस ध्यानमग्नके ललाटसे तीन नेत्र वाला शूलपाणि शोभाधारी पुरुष उत्पन्न हुआ "॥ अथर्वशिर उपनिषत् ४ में भी कहा है, कि—"युगस्यान्तकाले संहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता तस्माद् उच्यते रुद्र एकः॥—रुद्र प्रलयके समय सब प्राणियोंका (अपनेमें) संहार करके सब भुवनोंकी रक्षा करते हैं, इस कारण एक कहलाते हैं॥" अथवा रुलाने वाले संसारदुःखकी हेतु अविद्यारूप रुद्को द्रावते हैं—भागते हैं—नष्ट करते हैं अतएव महादेव रुद्र कहलाते हैं। इसी बातको वायवीयसंहितामें कहा है, कि—"रुद्‌ दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः। रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्॥ दुःख या दुःखका कारण रुद्‌ कहलाता है उसको हमारे प्रभु परम कारण शिव "द्रावयति" भगाते हैं, इससे वह रुद्र कहलाते हैं॥

† कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्में कहा है, कि—एष एव साधु कर्म कारयति—यही साधु (अच्छा) कर्म कराता है"

+ सृष्टि स्थिति संहार तिरोभाव तथा अनुग्रह करना ये महादेवजी के पाँच कर्म हैं। इसी बातको कहा भी है, कि—"पञ्चविधं तत् कृत्यं सृष्टिः स्थितिसंहृती तिरोभावः। तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य"॥

आप मुझसे सेवित इस पाठाकी औषधिको प्रतिवादियोंका तिरस्कार करनेमें समर्थ करिये। हे ओषधे! तू अपने सेवक प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे, हे ओषधे! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर॥ ६॥

सप्तमी॥

तस्य॑ प्रा॒शं त्वं ज॑हि॒ यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामुत्त॑रं कृधि॥७॥

तस्य॑। प्राश॑म्। त्वम्। ज॒हि॒। यः। न॒ः। इन्द्र॒। अ॒भि॒ऽदास॑ति।
अधि॑। नः। ब्रूहि॒। शक्ति॑ऽभिः। प्रा॒शि। माम्। उत्ऽत॑रम्। कृ॒धि॒ ७

हे इन्द्र यः प्रतिवादी नः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति युक्तिभिस्तिरस्करोति। ❀ दसु उपक्षये इत्यस्माद् ण्यन्तात् परस्य शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀। तस्य उपक्षपयितुः प्राशम् प्रतिकूलप्रश्नरूपं वाक्यं त्वं जहि नाशय॥ तथा शक्तिभिः त्वदीयैः सामर्थ्यविशेषैः नः अस्मान् अधि ब्रूहि अधिकवचनयुक्तान् प्राप्तवाचः कुरु। फलितम् आह। प्राशम् प्रष्टारं वादिनं माम् उत्तरम् प्रतिवादिनोप्युत्कृष्टतरं कृधि कुरु। "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हे इन्द्र! जो प्रतिवादी हमें युक्तियोंसे क्षीण कर रहा है उसके प्रतिकूल प्रश्नरूप वाक्योंका आप नाश करिये तथा अपनी शक्ति से आप हमको वचनोंको पकड़ने वाला अर्थात् वचनोंमें दोष निकालने वाला करिये तात्पर्य यह है, कि-मुझ प्रश्नकर्ता वादी को प्रतिवादीसे परमश्रेष्ठ करिये॥ ७॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६२)॥

"तुभ्यमेव जरिमन्" इति सूक्तेन गोदानचौलकर्मणोर्माता-पितरौ परस्परं पुत्रं त्रिः प्रत्यर्पतः ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन सूक्तेन घृतपिण्डान् संपात्य अभिमन्त्र्य पुत्रं प्राशयतः ॥

सूत्रितं हि । "तुभ्यमेव जरिमन्निति कुमारं मातापितरौ त्रिः प्रयच्छेते घृतपिण्डान् आशयतः" इति [कौ० ७. ५] ॥

"तुभ्यमेव जरिमन्" इस सूक्तसे गोदान और चौलकर्ममें माता पिता पुत्रको तीन वार एक दूसरेको दें ॥

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे तीन घृतपिण्डोंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पुत्रको खिलावें ॥

कौशिकसूत्र ७ । ५ में भी कहा है, कि—"तुभ्यमेवं जरिमन्निति कुमारं मातापितरौ त्रिः प्रयच्छेते घृतपिण्डान् आशयतः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः

तुभ्यम् । एव । जरिमन् । वर्धताम् । अयम् । मा । इमम् ।

अन्ये । मृत्यवः । हिंसिषुः । शतम् । ये ।

माताऽइव । पुत्रम् । प्रऽमनाः । उपऽस्थे । मित्रः । एनम् ।

मित्रियात् । पातु । अंहसः ॥ १ ॥

जरिमन् जरतिः स्तुतिकर्मा । ॐ जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मण इति यास्कः [नि० १०, ८] । तस्मात् कर्मणि औणादिक इम-

निम् ॐ। हे स्तूयमान अग्ने तुभ्यमेव त्वत्परिचरणार्थमेव अयम् कुमारो वर्धतां रोगादिरहितः सन् अभिवृद्धो भवतु। यद्वा जरिमन्। जरैव जरिमा। हे जरे तुभ्यं त्वदर्थं त्वदागमनपर्यन्तं चिरकालम् अयं वर्धताम्॥ किं च। शतम् शतसंख्योपलक्षिता अपरिमिता अन्ये त्वद्व्यतिरिक्ता ये मृत्यवः हिंसका रक्षःपिशाचादिरोगाद्याः सन्ति ते सर्वेपि इमं बालकं मा हिंसिषुः मा हिंसन्तु॥ तथा प्रमनाः प्रमुदितमना मित्रः एतन्नामा देवः मातेव पुत्रम् माता पुत्रमिव एनम् बालकम् उपस्थे उत्संगे निकटप्रदेशे कृत्वा मित्रियात् मित्रसंबन्धिनः अंहसः द्रोहजनितात् पापात् पातु रक्षतु॥

हे अग्ने! यह बालक आपकी सेवा करनेके लिये ही रोग आदिसे रहित होकर वृद्धिको प्राप्त होता रहे। और हे जरे! तेरे आने तक यह बालक बढ़े और तेरे अतिरिक्त जो सैंकड़ों राक्षस पिशाच रोग आदि मृत्युके रूप हैं, वे सब इस बालकको न मार सकें और प्रमुदित मनवाले मित्रनामक देवता माता जैसे पुत्रकी रक्षा करती है तिस प्रकार इस बालकको समीपमें रख कर मित्र संबंधी द्रोहजनित पापसे रक्षा करें॥ १॥

द्वितीया॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥ २॥

मित्रः। एनम्। वरुणः। वा। रिशादाः। जराऽमृत्युम्। कृणुताम्। सम्ऽविदानौ।

तत्। अग्निः। होता। वयुनानि। विद्वान्। विश्वा। देवानाम्।

जनिम । विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः अहरभिमानी देवः वरुणः रात्र्यभिमानी । "मैत्रं वा अहः वारुणी रात्रिः" इति [तै० ब्रा० १.७.१०.१] श्रुत्यन्तरात् । स च वरुणो रिशादाः रिशानां हिंसकानाम् अत्ता । ❀ रिश हिंसायाम् इत्यस्मात् इगुपधलक्षणः कः । अद भक्षणे इत्यस्माद् असुन् ❀ । वाशब्दः चार्थे । तावुभौ संविदानौ ऐकमत्यं प्राप्तौ । ❀ संपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकात् "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम् । ततः शानच् ❀ । एनम् माणवकं जरामृत्युम् जरयैव मृत्युर्मरणं यस्य तथाविधं कृणुताम् कुरुताम् । अहोरात्रयोरेव मरणसंभवात् तन्निवारणाय तदभिमानिदेवयोर्मित्रावरुणयोः प्रार्थनेति भावः ॥ होता देवानाम् आह्वाता वयुनानि । प्रज्ञानामैतत् । इह तु सामर्थ्यात् प्रज्ञातव्यानि विद्वान् जानन् अग्निः देवानां विश्वा विश्वानि सर्वाणि [जनिमा] जनिमानि जन्मानि प्रादुर्भावस्थानानि । प्राप्येति शेषः । तत् प्रार्थितं दीर्घम् आयुः विवक्ति ब्रवीतु । अग्निप्रमुखाः सर्वे देवाश्चास्य दीर्घम् आयुः कुर्वन्तु इत्यभिप्रायः । ❀ विवक्तीति । वचेः पञ्चमलकारे छान्दसः शपः श्लुः । "बहुलं छन्दसि" इत्यभ्यासस्य इत्वम् । जनिमेति । जनिमृङ्भ्याम् इमनिन् [उ० ४. १४८] इति इमनिन् ❀ ॥

दिनके अभिमानी देवता मित्र और रात्रिके अभिमानी देवता वरुण † ये दोनों एकमत होकर इस बालकको जरामृत्यु वाला करें अर्थात् इसको बुढ़ापेमें ही मरने वाला करें ‡ । देवताओंके

---

† तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । १० । १ में कहा है, कि—"मैत्रं वा अहः वारुणी वा रात्रिः—दिनके देवता मित्र (सूर्य) हैं और रात्रि के देवता वरुण हैं" ॥

‡ दिन और रात्रिमें ही मरण होना संभव है अतः उसको

आह्वानकर्ता और जानने योग्य वस्तुओंको जानने वाले अग्निदेव सब देवताओंके प्रादुर्भावस्थानमें जाकर इस प्रार्थित दीर्घ आयुको करें, तात्पर्य यह है, कि—अग्नि आदि सब देवता इस बालको दीर्घायु करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये
जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो
अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । ईशिषे । पशूनाम् । पार्थिवानाम् । ये । जाताः । उत ।
वा । ये । जनित्राः ।
मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । मा । इमम् ।
मित्राः । वधिषुः । मो इति । अमित्राः ॥ ३ ॥

हे अग्ने त्वं पार्थिवानाम् पृथिव्याम् उत्पन्नानाम् । ❀ "पृथिव्याञाञौ" इत्यञ् प्रत्ययः । ञित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । पशूनाम् द्विपाच्चतुष्पाद्रूपाणां प्राणिनाम् । ❀ "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी ❀ । ईशिषे अधिपतिरसि । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "थासः से" । अदादित्वात् शपो लुक् । "ईशः से" इति इडागमः ❀ । तानेव पशून् विशिनष्टि । ये जाताः पूर्वम् उत्पन्नाः उत वा । उतशब्दः अप्यर्थे । अपि वा ये जनित्राः जनिष्यमाणाः ।

हटानेके लिये दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुणदेवकी प्रार्थनाकी है ॥

तेषाम् इति संबन्धः। ❀ जनेरौणादिक इन्प्रत्ययः ❀ ॥ अतस्त्वत्प्रसादाद् इमम् माणवकं प्राणः ऊर्ध्वकायस्थो वायुः मा हासीत् मा त्याक्षीत्। अपानः अधरकायस्थो वायुः मो मैव हासीत्। ❀ ओहाक् त्यागे। "यमरमनमातां सक् च" इति सगिटौ ❀ ॥ तथा मित्राः। लिङ्गव्यत्ययः। मित्रभूता जनाः इमं कुमारं मा वधिषुः मा हिंसिषुः। अमित्राः शत्रवश्च मो मैव वधिषुः। ❀ हन्तेः "लुङि च" इति वधादेशः। तस्य अदन्तत्वेन अनेकाच्त्वाद् एकाज्लक्षणेट्प्रतिषेधाभावात् सिच इट्। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद् "अतो हलादेर्लघोः" इति वृद्धेरप्रसङ्गः ❀ ॥

हे अग्ने! तुम पृथिवीमें उत्पन्न हुए दो पैर और चार पैर वाले प्राणिरूप पशुओंके स्वामी हो। जो पहिले उत्पन्न होचुके हैं और जो आगेको उत्पन्न होंगे उन सब प्राणियोंके स्वामी हो। अतः आपके प्रसादसे शरीरके ऊपरी भागमें स्थित प्राण इस बालकको न त्यागे और नीचेके शरीरमें स्थित अपानवायु भी इस बालक को न त्यागे और मित्र तथा शत्रु भी इस बालकको न मार सकें ३

चतुर्थी ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

द्यौः। त्वा। पिता। पृथिवी। माता। जराऽमृत्युम्। कृणुताम्। संविदाने इति सम्ऽविदाने।

यथा। जीवाः। अदितेः। उपऽस्थे। प्राणापानाभ्याम्। गुपितः। शतम्। हिमाः ॥ ४ ॥

हे माणवक त्वा त्वां पिता पितृभूतो द्यौः द्युलोकः माता मातृभूता पृथिवी च संविदाने अन्योन्यम् ऐकमत्यम् आपन्ने जरामृत्युम् दीर्घायुषं कृणुताम् कुरुताम्। आयुषः परिमाणं दर्शयति। अदितेः अखण्डनीयायाः पृथिव्या उपस्थे उत्सङ्गे प्राणापानाभ्याम् उक्तलक्षणाभ्यां गुपितः रक्षितः। ❀ गुपू रक्षणे इत्यस्माद् निष्ठायां "यस्य विभाषा" इति इट प्रतिषेधो व्यत्ययेन [न] प्रवर्तते ❀। शतं हिमाः शतसंख्याकान् हेमन्तान्। संवत्सरान् इत्यर्थः। ❀ "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया ❀। हिमशब्दस्य हेमन्तपरत्वं तैत्तिरीयके समाम्नायते। "शतं हिमा इत्याह। शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीयेति वावैतद् आह" इति [तै० सं० १. ५. ८. ५]। यथा येन प्रकारेण त्वं जीवाः जीवेः। ❀ जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् लेटि आडागमः ❀। तथा जरामृत्युं कृणुताम् इति पूर्वत्र संबन्धः॥

हे बालक! तू अखण्डनीय पृथिवीकी गोदीमें प्राण और अपानसे रक्षित होकर सौ हिमों-हेमन्तों (संवत्सरों) तक † जिस प्रकार जीवित रह सके तिस प्रकार पितारूप द्युलोक और मातारूप पृथ्वी परस्पर एकमत रखकर तुझे जरामृत्यु करें अर्थात् दीर्घायु करें॥ ४॥

पञ्चमी॥

इमम॑ग्न आयु॑षे॒ वर्च॑से नय प्रि॒यं रेतो॑ वरुण मित्रराजन्।
मा॒तेवा॑स्मा अदिते॒ शर्म॑ यच्छ॒ विश्वे॑ देवा ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त्॥ ५॥

† तैत्तिरीयसंहिता १। ५। ८। ५ में सिद्ध किया है, कि-हिम शब्द हेमन्तका वाचक है। "शतं हिमा इत्याह। शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीयेति वावैतद् आह।"

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण ।
मित्रऽराजन् ।

माताऽइव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ । विश्वे । देवाः ।
जरत्ऽअष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

हे अग्ने इमम् माणवकम् आयुषे शतसंवत्सरजीवनाय वर्चसे तेजसे । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाद् उभयत्र चतुर्थी ❀ । तद् उभयं नय प्रापय ॥ हे वरुण मित्र राजन् राजमान । उभयोर्विशेषणम् एतत् । अत एव दाशतय्याम् आम्नायते । "राजाना मित्रावरुणा सुपाणी" इति [ऋ० सं० १. ७१. ९] । हे युवां प्रियम् पुत्रादिजनकत्वेन अभिमतम् । ❀ प्रीङ् प्रीतौ इत्यस्मात् "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः । यद्यपि वृत्तौ "इगुपधज्ञा०" इत्यत्र प्रीणातेरेव ग्रहणं कृतं तथापि आत्रेयधातुवृत्त्यनुसारेण अस्मादपि को द्रष्टव्यः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना इयङ् ❀ । तथाभूतं रेतः इमं माणवकं नयतम् । पुत्रादिजननसमर्थं कुरुतम् इत्यर्थः ॥ हे अदिते देवमातस्त्वं मातेव जननीव अस्मै माणवकाय शर्म सुखं यच्छ । हे विश्वे देवाः यूयमपि अयं माणवको जरदष्टिः जरापर्यन्तजीवनस्य अष्टिर्व्याप्तिर्यस्य स तथोक्तः । ❀ "जीर्यतेरतृन्" । व्यत्ययेन भावे कर्तृप्रत्ययः ❀ । यद्वा जरतो जीर्यतोपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य तादृशो यथा असत् भवेत् । तथा दीर्घायुषं कुरुतेति शेषः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप इस बालकको सौ वर्षकी आयु और तेज प्राप्त

कराइये तथा हे प्रकाशसम्पन्न राजा वरुण और मित्रदेव † ! तुम दोनों इस बालकको पुत्र आदिके उत्पादक होनेसे प्रिय वीर्यको प्राप्त कराओ अर्थात् इस बालकको पुत्र आदिको उत्पन्न करनेमें समर्थ करो। हे देवमाता अदिति ! आप इस बालकको माताकी समान सुख देवें। हे विश्वेदेवताओं ! तुम भी इस बालकको बुढ़ापे तकमें सब बातोंसे सम्पन्न दीर्घायु करो ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (९२)

"पार्थिवस्य" इति सूक्तेन तृषार्तभैषज्यकर्मणि सूर्योदयकाले सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् उपवेश्य मथितं सक्तूदकम् अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

अनेनैव सूक्तेन नद्यादिषु उदकम् अभिमन्त्र्य उद्धृत्य "सवासिनौ" [६] इत्यर्धर्चेन व्याधिताव्याधितौ एकासनस्थौ एकवस्त्रपरिहितौ कृत्वा उभावपि मन्थं पाययेत् यथोक्ता ॥

अत्र सूत्रम् । "पार्थिवस्येत्युद्यति पृष्ठसंहतावुपवेशयति प्राङ्मुखं व्याधितं प्रत्यङ्मुखम् अव्याधितं शाखास्वुपवेश्य वैतसे चमसे उपमन्थनीभ्यां तृष्णागृहीतस्य शिरसि मन्थम् उपमथ्य अतृषिताय प्रयच्छति तस्मिन् तृष्णां संनयत्युद्धृतम् उदकं पाययति सवासिनाविति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ४. ३] ॥

"पार्थिवस्य" [१, २] इति द्वाभ्यां गोदानचौलकर्मणोः कुमारस्य मूर्ध्नि व्रीहियवशमीरभिमन्त्र्य प्रक्षिपेत् । सूत्रितं हि । "शिवे ते स्ताम् [८. २. १४, १५] इति परिदानान्तानि पार्थिवस्य [२. २९. १, २] मा प्र गाम [१३. १. ५९, ६०] इति चतस्रः" इति [कौ० ७. ५] ॥

---

† ऋग्वेदसंहिता १ । ७१ । ९ में कहा है, कि—"राजाना मित्रावरुणा सुपाणी—हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम राजा हो और तुम्हारे दोनों हाथ सुन्दर हैं ॥"

आशीर्ण ऊर्जम् [३] इति तृतीयया तृतीयसवने पूतभृति आसिच्यमानम् आशिरम् अनुमन्त्रयते। उक्तं वैताने। "आशिरं पूतभृत्यासिच्यमानम् आशीर्ण ऊर्जम् इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ३. १२]॥

"पार्थिवस्य" सूक्तके द्वारा तृषार्त पुरुषके चिकित्साकर्ममें सूर्योदयके समय सूत्रोक्तरीतिसे रोगीको बैठा कर मथे हुए सत्तुओंके जलको अभिमन्त्रित करके पिलावे॥

तथा इसी सूक्तसे नदी आदिमें जलको अभिमन्त्रित करके निकाल कर "सवासिनौ" इस आधी छठी ऋचासे रोगी और नीरोगीको एक आसन पर बैठाकर एक ही वस्त्रसे दोनोंको ढके फिर प्रयोग करने वाला पुरुष दोनोंको मन्थ पिलावे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि–"पार्थिवस्येत्युद्यति पृष्ठसंहितावुपवेशयति प्राङ्मुखं व्याधितं प्रत्यङ्मुखं अव्याधितं शाखासूपवेश्य वैतसे चमसे उपमन्थनीभ्यां तृष्णागृहीतस्य शिरसि मन्थं उपमथ्य अतृषिताय प्रयच्छति तस्मिन् तृष्णा संनयत्युद्धृतं उदकं पाययति सवासिनाविति मन्त्रोक्तम्॥ सूर्यका उदय होने पर पार्थिवस्य सूक्तसे पृष्ठसंहति पर रोगीको पूर्वकी ओर मुख करके बैठावे और नीरोगीको उत्तरकी ओर मुख करके शाखाओं पर बैठावे, फिर बेतसे बने चमस नामक पात्रमें उपमंथिनियोंसे तृष्णापीडितके सिर पर सवासिनौ मन्त्रमें कहे हुए मंथको मथ कर तृषारहितको देवे, उसमें तृष्णा लेजावे, उद्धृत जलको पिलावे (कौशिकसूत्र ४। ३)॥

गोदान और चौलकर्ममें पार्थिवस्य सूक्तकी पहिली और दूसरी ऋचाओंसे बालकके शिर पर धान जौ और शमी (जण्ड) को अभिमन्त्रित करके डाले। इस विषयमें सूत्र का भी प्रमाण है, कि–"शिवे ते स्ताम् (८। २। १४, १५) इति परिदानान्तानि

पार्थिवस्य (२ । २९ १, २) मा प्र गाम (१३ । १ । ५९, ६०) इति चतस्रः (कौशिकसूत्र ७ । ५) ॥

"आशीर्ण ऊर्जम्" इस तीसरी ऋचासे तृतीयसवन पूतिभृत् में असिच्यमान आशिरका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतान-सूत्रका प्रमाण है, कि-आशिरं पूतभृत्यासिच्यमानं आशीर्ण ऊर्जम् इत्यनुमन्त्रयते (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

तत्र प्रथमा

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।

आयुष्य१मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः १

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले ।

आयुष्य॑म् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥ १ ॥

पार्थिवस्य पृथिव्याः संबन्धिनः । ❀ पूर्ववत् पृथिव्या अञ् ❀। मथ्यमानसक्त्वादिकस्य रसे सारभूते मन्थोदके तृषारोगार्तपुरुषेण पीते सति देवाः इन्द्राद्या भगस्य भजनीयस्य एतन्नाम्नो देवस्य तन्वः शरीरस्य संबन्धिनि बले वीर्ये। योजयन्तु इति शेषः । भग-सदृशबलयुक्तं कुर्वन्तु इत्यर्थः । भगदेवताया अतिशयितबलवत्त्वं तैत्तिरीयके समाम्नातम् ।

श्रेष्ठो देवानां भगवो भगासि
तत् त्वा विदुः फल्गुनीस्तस्य वित्तात् ।
अस्मभ्यं क्षत्रम् अजरं सुवीर्यं
गोमद् अश्ववद् उपसन्नुदेह [तै० ब्रा० ३, १, १, ८] ।

इति । ❀ भगस्येति । भज सेवायाम् इत्यस्मात् "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घः । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀॥ यदा देवाः इन्द्राद्याः पार्थिवस्य व्रीहियवादिलक्षणस्य रसे सारांशे

उक्तलक्षणे बले च इमं पुरुषम् । योजयन्तु इति वाक्यशेषः ॥ अपि च अस्मै पुरुषाय अग्निः आयुष्यम् शतसंवत्सरलक्षणम् आ धात् आदधातु करोतु ॥ तथा सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः बृहस्पतिः बृहतां मन्त्राणां पालको देवश्च अस्मै वर्चः शरीरकान्ति श्रुताध्ययनजन्यं तेजश्च यथोचितम् आदधातु ॥

पृथिवीसे संबन्ध रखने वाले सत्तु आदिके सारभूत रस मन्थोदक को तृषार्त पुरुष पी लेय तो इन्द्रादि देवता सेवा करने योग्य भग नामक देवताके वीर्यसे इस पुरुषको सम्पन्न करें अर्थात् इसको भग देवताकी समान बलवान् करें † । और अग्निदेव इस पुरुषको सौ वर्षकी आयु दें तथा सबके प्रेरक सूर्यदेव और मन्त्रों के पालक बृहस्पतिदेव इस पुरुषको शरीरकी कान्ति और वेदाध्ययनकी कान्तिको दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै । रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

आयुः अस्मै । धेहि । जातऽवेदः । प्रऽजाम् । त्वष्टः । अधिऽनिधेहि । अस्मै ॥

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १ । १ । ८ में कहा है, कि—"हे भगवन् ! भग देवता ! तुम देवताओंमें श्रेष्ठ हो, उस धनके कारण ही तुमको फल्गुनी कहते हैं आप हमें गौ घोड़े वाला वीर्यवान् अजर धन दीजिये ॥"

रा॒यः। पोष॑म्। सवि॒तः॒। आ। सु॒व॒। अ॒स्मै॒। श॒तम्। जीवा॒ति॒।

श॒रदः॑। तव॑। अ॒यम्॥ २॥

हे [जातवेदः] जातानां वेदितरग्ने अस्मै आयुः शतसंवत्सर-संमितं धेहि प्रयच्छ। अग्नेरायुषो दातृत्वम् "आयुर्दा अग्ने" [२. १३. १] इत्यादिमन्त्रसिद्धम्॥ तथा हे त्वष्टः अस्मै प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणाम् अधिनिधेहि अधिकं स्थापय। "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" [तै० सं० १. ५. ६-१] इत्यादिश्रुतौ त्वष्टुः प्रजानां बहुधोत्पादकत्वं प्रसिद्धम्॥ तथा हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव अस्मै रायः धनस्य गवादिलक्षणस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् आ सुव अभिमुखं प्रेरय। ❀ षू प्रेरणे। तौदादिकः। रायः। "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। "षष्ठ्याः पतिपुत्र-पृष्ठपारपदपयस्पोषेषु" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀। सवितुर्धन-प्रदत्वम् "स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः" [ऋ० ५. ८२. ३] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धम्। हे अग्न्यादिदेवाः तव। प्रत्येका-पेक्षया एकवचनम्। युष्मदनुगृहीतः सन् [अयं] शतं शरदः जीवाति जीवतु। ❀ जीव प्राणधारणे। लेटि आडागमः ❀॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने! आप इसे सौ वर्षकी आयु दीजिये †। हे त्वष्टा! आप इसे पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजा अधिकतासे दीजिये ‡। तथा हे सबके प्रेरक सूर्यदेव! आप इस

† "आयुर्दा अग्ने—हे आयुःप्रद अग्निदेव!" (२।१३।१) इत्यादि मन्त्रोंसे अग्निका आयुःप्रदत्व सिद्ध है॥

‡ "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते॥—सींचे हुए वीर्यमें त्वष्टा जितने रूपोंको फैलाते हैं उतनी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं" (तैत्तिरीयसंहिता १।५।६।१)

को गौ आदिरूप धनकी समृद्धिके अभिमुख करिये × आपका अनुग्रह पाकर यह सौ वर्ष तक जीता रहे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

आऽशीः। नः। ऊर्जम्। उत। सौप्रजाःऽत्वम्। दक्षम्। धत्तम्। द्रविणम्। सऽचेतसौ।

जयम्। क्षेत्राणि। सहसा। अयम्। इन्द्र। कृण्वानः। अन्यान्। अधरान्। सऽपत्नान् ॥ ३ ॥

नः अस्माकम् आशीः आशिषम् आशास्यमानां धनधान्यादिसंपत्तिं धत्तम् इति संबन्धः। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति द्वितीयैकवचनस्य सुः ❀। यद्वा आशीः फलप्रार्थना। सत्या भवतु इति शेषः। ❀ आङः शासु इच्छायाम् इत्यस्मात् कर्मणि भावे वा क्विप्। "आशासः क्वावित्वम्" इति वचनाद् उपधाया इत्वम् ❀ ॥ तथा ऊर्जम् अन्नं हे द्यावापृथिव्यौ धत्तम् ॥ उत अपि च सौप्रजास्त्वम्। सुप्रजसो भावः [सौप्रजास्त्वम्]।

इत्यादि श्रुतियोंमें त्वष्टादेवताका प्रजाओंको अनेकमें रूप उत्पन्न करना सिद्ध है।

× सविता—सूर्यदेव—का धनप्रदत्व श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है। यथा-स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः—भगवान् सविता देवता दानपात्रको रत्न देते हैं" ॥

शोभनापत्यत्वं कुरुतम् । ❀ "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इत्यसिच् समासान्तः । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ ❀ ॥ सचेतसौ समानमनसौ युवां दक्षम् । बलनामैतत् । बलं द्रविणम् धनं च धत्तम् प्रयच्छतम् ॥ यद्वा आशीरिति रेफान्तोयम् । तृतीयसवने सोमावसेकार्थस्य पयसो वाचकः । तत् आशीराख्यं द्रव्यं पूतभृति आसिच्यमानं नः अस्मभ्यम् ऊर्जं शोभनापत्यत्वं च । करोतु इतिः शेषः । ❀ "अपस्पृधेथाम्०" इत्यत्र "आताश्रितमाशीराशीर्तोः" इति आङ्पूर्वात् श्रीञ् पाके इत्यस्मात् क्विपि शिरादेशो निपातितः ❀ ॥ हे इन्द्र त्वत्प्रसादाद् अयं पुरुषः सहसा अभिभवनसाधनेन बलेन शत्रूणां जयं क्षेत्राणि च कुर्वाणः आत्मसात् कुर्वाणः अन्यानपि सपत्नान् शत्रून् अधरान् अधःकृतान पराजितान् । करोतु इत्यर्थः ॥

हे द्यावापृथिवी ! हमें अभिलषित धन सम्पत्ति दो, हमारी फलप्रार्थना सत्य हो, तथा हे द्यावापृथिवी ! आप हमें अन्न दीजिये और हमें सुसन्तान वाला करिये । समान मन वाले आप दोनों हमें बल और धन दीजिये । (अथवा यह आशीर शब्द तृतीयसवनमें सोम छिड़कनेके जलका वाचक है) वह पूतभृत्में छिड़का जाने वाला आशीर् नाम वाला द्रव्य हमें अन्न और शोभन सन्तानसे सम्पन्न करे । हे इन्द्र ! आपके प्रसादसे यह पुरुष तिरस्कार करनेके साधन बलसे शत्रुओंको जीतता हुआ और उनके घरोंको भी अपने अधीन करता हुआ शत्रुओंको पराजित करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टो म॒रुद्भि॑रु॒ग्रः प्रहि॑तो न॒ आग॑न् ।
ए॒ष वां॑ द्यावापृथिवी उ॒पस्थे॒ मा क्षु॑ध॒न्मा तृ॑षत् ॥४॥

इन्द्रेण । दत्तः । वरुणेन । शिष्टः । मरुत्ऽभिः । उग्र । प्रऽहितः । नः । आ । अगन् ।

एषः । वाम् । द्यावापृथिवी इति । उपऽस्थे । मा । क्षुधत् । मा । तृषत् ॥ ४ ॥

तृष्णागृहीतः पुरुषः इन्द्रेण देवेन दत्तः लब्धजीवनः । ❀ "दो दद् घोः" इति दद्भावः ❀ । वरुणेन अरिष्टनिवारकेण देवेन शिष्टः अनुज्ञातः । ❀ "शास इदङ्हलोः" इत्युपधाया इत्वम् । "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वम् ❀ । मरुद्भिः मरुद्गणैः उग्रः उद्गूर्णबलः सन् प्रहितः प्रेषितः । ❀ हि गतौ इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा ❀ । [नः] अस्मान् आगन् आगमत् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ ॥ एवम् आगत एषः द्यावापृथिवी हे द्यावापृथिव्यौ वाम् युवयोरुपस्थे उत्संगे वर्तमानो मा क्षुधत् क्षुत्पीडां मा प्रापत् । मा तृषत् तृषार्तिं मा गमत् । ❀ क्षुध बुभुक्षायाम् ञितृष पिपासायाम् । उपयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ् ❀ ॥

इन्द्रके द्वारा जीवन पाकर और अरिष्टनिवारक वरुणदेवताके द्वारा आज्ञा पाकर और बलसम्पन्न होकर मरुत्देवताओंसे प्रेरित यह तृषार्त पुरुष हममें आगया है । हे द्यावापृथिवी ! इस प्रकार आया हुआ यह पुरुष तुम्हारी गोदमें रहकर क्षुधासे पीड़ित न हो और तृषासे भी पीड़ित न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् । ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै । पयस्वती इति । धत्तम् ।

ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥ ५ ॥

ऊर्जस्वती हे ऊर्जस्वत्यौ बलवत्यौ द्यावापृथिव्यौ । ❀ ऊर्ज बलप्राणनयोः इत्यस्माद् असुन् । "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वाद् रुत्वाभावः ❀ । अस्मै तृषिताय ऊर्जम् बलं बलकरम् अन्नं वा धत्तम् प्रयच्छतम् ॥ तथा पयस्वती हे पयस्वत्यौ अस्मै पयः उदकं धत्तम् ॥ प्रार्थितं फलं लब्धम् इति सहसा रोगनिवृत्तये सिद्धवद् अनुवदति ऊर्जम् इत्यर्धर्चेन । द्यावापृथिवी उक्तलक्षणे ते द्यावापृथिव्यौ अस्मै ऊर्जम् प्रार्थितम् अन्नं बलं वा अधाताम् दत्तवत्यौ । तथा विश्वे देवाः मरुतः आपः अब्देवताश्च ऊर्जम् । अधुः इति वचनविपरिणामेन संबन्धः ॥

हे बलवती द्यावापृथिवी ! इस तृषित पुरुषके लिये तुम दोनों बलप्रद अन्न दो और जलसम्पन्न द्यावापृथिवी ! इसको तुम जल दो (प्रार्थित फल मिल गया, इस प्रकार सहसा रोगनिवृत्तिके लिये सिद्धसा कहते हैं, कि-) हे द्यावापृथिवियो ! तुमने इसे प्रार्थित अन्न बल देदिया है । तथा विश्वेदेवता मरुद्गण और जलदेवताओंने भी इसमें बल स्थापित कर दिया है ॥५॥

षष्ठी ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः । सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः । सुऽवर्चाः ।

सऽवासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् । परिऽधाय । मायाम् ॥ ६ ॥

हे तृषार्त ते तव हृदयं नीरसं शिवाभिः सुखकरीभिरद्भिस्तर्पयामि । ❀ "युष्मत्तत्ततुःष्वन्तपादम्" इति भिसो विसर्जनीयस्य षत्वम् ❀ ॥ अनन्तरं त्वम् अनमीवः तृषारोगरहितः सुवर्चाः शोभनतेजोयुक्तः सन् मोदिषीष्ठाः मोदस्व । ❀ मुद हर्षे इत्यस्माद् आशिषि लिङ् । अनमीव इति । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । सुवर्चा इति । बहुव्रीहौ "सौमनसी अलोमोषसी" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ सवासिनौ समानम् एकं वस्त्रं वसानौ समानम् एकत्र वसन्तौ वा । ❀ वस आच्छादने इत्यस्माद् वस निवासे इत्यस्माद् वा समानशब्दोपपदाद् "व्रते" इति णिनिप्रत्ययः । तत्र सूत्रे व्रतशब्देन शास्त्रीयो नियम उक्तः । "समानस्य च्छन्दसि०" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ❀ । व्याधिताव्याधितौ तौ अश्विनोः देवभिषजो रूपं मायाम् मायामयं परिधाय धृत्वा एतं मन्थं पिबताम् पीतं कुरुताम् । यद्यपि सक्तूदकं द्विशलाकया समिधा मथितं मन्थ उच्यते तथापि अत्र सूत्रे विशेषविधानाद् वैतसे चमसे वैतसशलाकाभ्यां मथितं सक्तूदकं मन्थशब्देन विवक्षितम् ॥

हे तृषार्त पुरुष ! मैं तेरे नीरस हृदयको सुखदायक जलसे तृप्त करता हूँ, तदनन्तर तू तृषारोगरहित होने पर शोभन तेजसे सम्पन्न होकर आनन्द कर । एक वस्त्रको धारण करने वाले वा एकत्र बसने वाले ये रोगी और नीरोगी देववैद्य अश्विनीकुमारों

के मायामय रूपको धारण करके इस मन्थको पियें † ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा ते एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद् भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः । एताम् । सस्रजे । विद्धः । अग्रे । ऊर्जाम् । स्वधाम् । अजराम् । सा । ते । एषा ।
तया । त्वम् । जीव । शरदः । सुऽवर्चाः । मा । ते । आ । सुस्रोत् । भिषजः । ते । अक्रन् ॥ ७ ॥

अग्रे पुरा विद्धः वृत्राद्यसुरैस्ताडित इन्द्रः तृषार्तः सन् तन्निवृत्तये ऊर्जम् बलकरीं स्वधाम् । अन्ननामैतत् । अन्नवत्पुष्टिकरीम् अजराम् जराया निवर्तयित्रीम् एताम् मन्थलक्षणाम् ऊर्जं सस्रजे सृष्टवान् ॥ हे व्याधित ते तुभ्यं [सा] एषा दीयमाना । सेवकबलकरत्वाद्युक्तगुणसद्भावप्रतिपादनाय तत्तादात्म्यव्यपदेशः ॥ ❀ विद्ध इति । व्यधताडने इत्यस्माद् निष्ठायां "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । ऊर्जम् इति । ऊर्ज बलप्राणनयोः । अस्माद् भावे क्विप् । ऊर्ग् बलं तद्वन्तं करोतीति णिचि "विन्म-

† यद्यपि दो शलाका वाली समिधासे मथा हुआ सत्तुओं का जल मन्थ कहलाता है, तथापि यहाँ सूत्रमें विशेष विधान होनेसे वैतस चमसमें वेतकी शलाकाओंसे मथा हुआ सत्तुओंका जल मन्थ कहलाता है ॥

तोलुक्” । ततः कर्तरि क्विप् । यद्वा ऊर्ज्यते प्राण्यते अनयेति अण्यन्तादेव वा करणे क्विप् । स्वधेति । स्वेभ्यो धीयते स्वस्मिन् वा धीयत इति स्वधा । “घञर्थे कविधानम्” इति कः । स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा । “आतोनुपसर्गे कः” ॐ ॥ तया ऊर्जा सुवर्चाः सन् त्वं शरदः शतसंख्याका जीव ॥ पीतो मन्थस्ते तव शरीरात् मा आ सुस्रोत् मच्युतो मा भूत् । शरीरे स्थित्वा बलादिकं करोतु इत्यर्थः ॥ भिषजः आदिवैद्यास्ते तव अक्रन् इदं भैषज्यम् अकार्षुः । ॐ स्रु गतौ । लुङि छान्दसः शपः श्लुः । अक्रन् । करोतेः “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुक् ॐ ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

पहिले वृत्र आदि असुरोंसे ताड़ित इन्द्रने तृषार्त होकर उसकी निवृत्तिके लिये, इस बलदायक अन्नकी समान पुष्टि देने वाले बुढ़ापेको हटानेवाले मंथरूप बलकी सृष्टिकी थी। हे रोगिन् ! तुझे बल आदि सद्गुण पानेके लिये दिया हुआ यह जो मन्थ है उस है उससे तू तेजःसम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रह । पिया हुआ मन्थ तेरे शरीरसे च्युत न हो, तेरे शरीरमें रहकर बल आदि करे । आदि वैद्योंने तेरे लिये यह ओषधि रची है ॥७॥

पाँचवें अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (६४)॥

“यथेदं भूम्याः” इति सूक्तेन स्त्रीवशीकरणकर्मणि वृत्तत्वक्शरखण्डतगराञ्जनकुष्ठादिद्रव्याणि पेषयित्वा आज्येन आलोड्य स्त्रिया अङ्गम् अनुलिम्पेत् । “यथेदं भूम्याम् अधि [२. ३०] यथा वृत्तम् [६. ८]” इतिप्रक्रम्य सूत्रितम् । “संस्पृष्टयोर्वृत्तत्तिभुजयोः शकलावन्तरेषुतगराञ्जनकुष्ठ [मदुघरेष्ममथित] चूर्णम् आज्येन संनीय संस्पृशति” इति [कौ० ४. ११] ॥

स्त्रीवशीकरणकर्ममें “यथेदं भूम्या” सूक्तसे वृत्तकी छाल,

शरखण्ड तगर अञ्जन और कूट आदि द्रव्योंको पीस कर घृतसे आलोडन करे, फिर स्त्रीके अंगों पर लगावे। इसी बातको कौशिक-सूत्र ४। ११ में कहा है, कि—

"संस्पृष्टयोर्वृक्षलिभुजयोः शकलावन्तरेषुतगराञ्जनकुष्ठमधुघ-रेष्ममथिततृणम् आज्येन संनीय संस्पृशति॥—लिपटे हुए वृक्ष और लताओंके टुकड़ोंमें तगर अञ्जन कूट मधुदुघ रेष्मसे मथित तृणको घृतमें मिला कर लेप करे"॥

तत्र प्रथमा॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा
मन्नापगा असः॥ १॥

यथा। इदम्। भूम्याः। अधि। तृणम्। वातः। मथायति।
एव। मथ्नामि। ते। मनः। यथा। माम्। कामिनी। असः।
यथा। मत्। न। अपऽगाः। असः॥ १॥

भूम्याम् पृथिव्याम्। अधिः उपर्यर्थः। भूम्या उपरि इदम् परिदृश्यमानं तृणं वातः वात्यालक्षणो वायुः यथा येन प्रकारेण मथायति मथ्नाति अनवस्थितं कृत्वा भ्रामयति। ❀ "छन्दसि शायजपि" इत्यत्र "शायच् छन्दसि सर्वत्र" इति वचनाद् अहावपि श्नः शायजादेशः। शायचश्चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम्। "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। हे स्त्रि एव एवं ते मनः मथ्नामि आलोडयामि। यथा येन प्रकारेण मां कामयमानं कामिनी काङ्क्षन्ती असः भवेः। यथा येन प्रकारेण मत् मत्तः सकाशाद् अपगाः अपसृत्य अन्यत्र गन्त्री नासः न भवेः। तथा मथ्नामीति

पूर्वत्र संबन्धः । ❀ कामिनीति । कमेर्णिङन्ताइ औणादिक इनिप्रत्ययः । तस्य "भविष्यति गम्यादयः" इति भविष्यदर्थत्वम् । ततो ङीप् । "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । तस्माद् माम् इति द्वितीया । अपगा इति । "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति गमेर्विट् प्रत्ययः । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ ॥

पृथ्वी पर स्थित तृणको वायु जिस प्रकार अनवस्थित करके घुमाता है। हे स्त्रि ! इसी प्रकार, मैं तेरे हृदयको मथता हूँ-घुमाता हूँ जिस प्रकार तू मेरी कामना करने वाली हो और जिस प्रकार तू मुझे छोड़ कर अन्यत्र न जावे (तिस कारण) मैं तेरे हृदय को मथता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया

सं चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः ।
सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ सम॒ु व्रता ॥२॥

सम् । च॒ । इत् । नया॑थः । अ॒श्वि॒ना॒ । का॒मिना॑ । सम् । च॒ । वक्ष॑थः ।

सम् । वा॒म् । भगा॑सः । अ॒ग्म॒त॒ । सम् । चि॒त्तानि॑ । सम् । ऊं॒ इति॑ । व्र॒ता ॥ २ ॥

अश्विना हे अश्विनौ कामनाविषयभूतां स्त्रियम् । इत् इत्यवधारणे । सं नयाथः मत्समीपं प्रापयतम् । ❀ नयतेर्लेटि आडागमः । "चवायोगे प्रथमा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते ❀ ॥ आनीय च कामिना मया सं वक्षथः संयोजयतम् । ❀ वहेर्लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । वाम् युवयोर्भगासः भगाः भाग्यानि । ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀ । सम् अग्मत संगच्छन्ताम् । मयेति शेषः

❀"समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम्। छान्दसे लुङि च्लेर्लुक्। "गमहन०" इत्युपधालोपः ❀॥ तथा चित्तानि ज्ञानानि। समग्मतेत्यनुषङ्गः॥ एवं व्रता व्रतानि। कर्मनामैतत्। उशब्दः अप्यर्थे। विविधानि कर्माण्यपि समग्मतेति संबन्धः॥

हे अश्विनीकुमारों! जिसकी मैं कामना करता हूँ उस स्त्रीको मेरे समीप पहुँचाओ और पहुँचा कर मुझ कामीसे मिला दो, तुम दोनोंके भाग्य मुझसे संयुक्त होजावें, तथा तुम्हारे चित्त और व्रत भी मुझसे संयुक्त हो जावें॥ २॥

तृतीया॥

यत् सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा॥३॥

यत्। सुऽपर्णाः। विवक्षवः। अनमीवाः। विवक्षवः।
तत्र। मे। गच्छतात्। हवम्। शल्यःऽइव। कुल्मलम्। यथा॥ ३॥

सुपर्णाः शोभनपक्षाः पारावतादयः पक्षिणः यत् स्त्रीविषयं वाक्यं विवक्षवः वक्तुम् इच्छवो भवन्ति अनमीवाः अरोगिणो दक्षाः कामिजनाश्च यद् विवक्षवो भवन्ति तत्र विषये क्रियमाणं मे मम संबन्धिनं हवम् आह्वानं कुल्मलं यथा कुत्सितमलोपेतं मृदुलं शरीरावयवविशेषमिव सा कामिनी शल्यः बाण इव गच्छतात् प्राप्नोतु। मद्वाक्यं श्रुत्वा मत्परवशा भवतु इत्यर्थः। ❀ विवक्षवः। ब्रुवः सनि वच्यादेशे "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः। "न लोकाव्ययनिष्ठा०" इति षष्ठीप्रतिषेधे यत् इति द्वितीया। सुपर्णाः अनमीवा इत्युभयत्र "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। यथेति पदान्ते [फि० ४. १७] इति यथाशब्दो निहन्यते ❀॥

सुन्दर पर वाले कबूतर आदि पक्षी जिस स्त्रीविषयक वाक्य

को कहना चाहा करते हैं और नीरोग मत्त कामीपुरुष जिस वाक्य को कहना चाहा करते हैं। उस विषयमें कहा हुआ मेरा आह्वान बाणकी समान और कुल्मलकी समान उस स्त्रीको प्राप्त हो, अर्थात् वह कामिनी मेरे वाक्यको सुन कर मेरे अधीन होजाय ३

चतुर्थी ॥

यदन्त॑रं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्त॑रम् ।
क॒न्या॒नां॑ वि॒श्वरू॑पाणां॒ मनो॑ गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अ॒न्त॑रम् । तत् । बाह्यम् । यत् । बाह्यम् । तत् । अन्त॑रम् ।
क॒न्या॒नाम् । वि॒श्वऽरू॑पाणाम् । मनः॑ । गृ॒भा॒य॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ४ ॥

यत् अर्थजातम् अन्तरम् अभ्यन्तरं मनः विषयीकरोति तदेव बाह्यम् बहिष्ठं वाग्विषयो भवति । यद् बाह्यम् उक्तलक्षणं च तत् एव अन्तरं मानसं भवति । अनेन वाङ्मनसयोः परस्परं विसंवादो निरस्तः । ❀ बाह्यम् इति । "बहिषष्टिलोपो यञ् च" इति यञ् प्रत्ययः लोपश्च ❀ ॥ एवं निर्दुष्टं विश्वरूपाणाम् अनवद्यसंपूर्णावयवानां कन्यानाम् अभुक्तपूर्वाणां मनः हे ओषधे तृणादिरूपे गृभाय गृहाण । त्वदनुलेपनेन तां मदनुरक्तचित्तां कुर्वित्यर्थः । ❀ कन्यानाम् इति । तित्यशिक्यमर्त्यकार्ष्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणाम् अन्तः [फि० ४.८] इति अन्तस्वरितत्वम् । गृभाय । ग्रहेर्लोटि "छन्दसि शायजपि" इति श्नः शायजादेशः । "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ ॥

जिस विषयको मन भीतर विचार करता है वही बाहर वाणी का विषय होता है। और जो बाहर होता है, वही मनमें होता है, ऐसे मन वाली अभुक्तपूर्वा निर्दोष अंगोंवाली कन्याओंके निर्मल मनको हे ओषधे ! तू ग्रहण कर । अर्थात् अपने अनुलेपनसे तू उसके चित्तको मुझसे अनुरक्त कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

एयमगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम् । अगन् । पतिऽकामा । जनिऽकामः । अहम् । आ । अगमम् ।

अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ५

इयम् काम्यमाना स्त्री पतिकामा पतिं भर्तारम् अभिलष्यन्ती आगन् मत्समीपम् आगमत् । ❀ गमेर्लुङि तिपि च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति नत्वम् । पतिकामेति । "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इति णप्रत्ययान्तत्वात् ङीप् न भवति ❀ ॥ अहमपि जनिकामः जनिर्जाया तां कामयमानः सन् आगमम् तां प्राप्तवान् अस्मि ॥ किं च कनिक्रदत् भृशं ह्रेषाशब्दं कुर्वन् अश्वः यथा वडवया संगच्छते तथा अहं भगेन सह आगमम् । ❀ कनिक्रदत् इति । क्रन्देराह्वानार्थाद् "दाधर्ति०" इत्यादिसूत्रे इतिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् कनिक्रदच्छब्दोपि शत्रन्तो निपातितो द्रष्टव्यः ❀ ॥

इति पञ्चमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

यह अभिलषित स्त्री पतिको चाहती हुई मुझ भर्ताके समीप आगई है और स्त्रीकी कामना वाला मैं भी उसकी कामना करता हुआ उसके पास आगया हूँ । जैसे घोड़ा बहुत हींसता हुआ घोड़ीसे संयुक्त होता है, इसी प्रकार मैं ऐश्वर्यके साथ इससे संयुक्त होता हूँ ॥ ५ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६५) ॥

"इन्द्रस्य या मही" इति सूक्तेन शरीरगतविविधक्रिमिरोगेषु तच्छान्तये घृतमिश्रान् कृष्णचणकान् जुहुयात् ॥

तथा गोवालवेष्टितं शरकाण्डं संभिद्य अग्नौ प्रताप्य आदध्यात् ॥

एवमेव रथ्यापांसुं सव्यहस्तेनादाय दक्षिणहस्तेन संमृज्य दक्षिणामुखः एतत् सूक्तं जपन् व्याधितस्योपरि किरति ॥

तथैव एतत् सूक्तं जपन् व्याधितो हस्ताभ्यां पांसुं मर्दयेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन पलाशोदुम्बराद्याः समिध आदध्यात् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रस्य या महीति खल्वाङ्गान् अल्गण्डुहननान् घृतमिश्रान् जुहोति । वालान् असितकाण्डे सव्यं परिवेष्ट्य संभिनत्ति प्रतपत्यादधाति सव्येन दक्षिणामुखः पांसुम् उपमथ्य परिकिरति संमृद्नात्यादधाति" इति [कौ० ४. ३] ॥

"इन्द्रस्य या मही" इस सूक्तसे शरीरमें हुए अनेक कृमिरोगों में उनकी शान्तिके लिये घी मिलेहुए काले चनोंकी आहुति देय ॥

तथा गोवालसे लिपटे हुए शरकाण्डको भेद कर अग्निमें तपा कर रक्खे ॥

इसी प्रकार गलीकी धूलको बायें हाथसे उठाकर दाहिने हाथ से शुद्ध कर दक्षिणकी ओर मुख करके इस सूक्तको जपताहुआ रोगीके ऊपर डाले ॥

तथा रोगी इस सूक्तको जपता हुआ हाथसे धूलके कणोंका मर्दन करे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"इन्द्रस्य या महीति खल्वांगान् अल्गण्डुहननान् घृतमिश्रान् जुहोति । वालान् असितकाण्डे सव्यं परिवेष्ट्य संभिनत्ति प्रतपत्यादधाति सव्येनदक्षिणामुखः पांसुम् उपमथ्य परिकिरति संमृद्नात्यनदधाति ॥—इन्द्रस्य या मही सूक्तसे कीड़ोंका नाश करनेवाले घृत मिले हुए काले चनों की आहुति देय । बालोंको असितकाण्डमें बाईं ओरसे लपेट कर भेदे, तपावे, रक्खे और बायें हाथसे दक्षिणकी ओर मुख करके धूलके कणोंको मसल कर फेंके रक्खे ॥" (कौशिकसूत्र ४।३)

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । या । मही । दृषत् । क्रिमेः । विश्वस्य । तर्हणी ।
तया । पिनष्मि । सम् । क्रिमीन् । दृषदा । खल्वान्ऽइव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य देवस्य संबन्धिनी या मही महती । ❀ अच्छब्दलोपश्छान्दसः ❀ । दृषत् शिलास्ति । तामेव विशिनष्टि । विश्वस्य सर्वस्य क्रिमेस्तर्हणी हन्त्री । ❀ तृहेर्हिंसार्थात् करणे ल्युट् । ङीप् ❀ । तया उक्तप्रभावया दृषदा क्रिमीन् शरीरान्तर्गतान् सर्वान् क्षुद्रजन्तून् सं पिनष्मि संचूर्णयामि । ❀ पिष्लृ संचूर्णने । रुधादित्वात् श्नम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । दृषदा पेषण्या खल्वान् चणकानिव ॥

इन्द्रदेवकी जो सब प्रकारके कीड़ोंका नाश करने वाली बड़ी भारी शिला है उससे मैं शरीरान्तर्गत सब कीड़ोंको पत्थरसे चनों को पीसनेकी समान पीसता हूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि

दृष्टम् । अदृष्टम् । अतृहम् । अथो इति । कुरूरुम् । अतृहम् ।
अल्गण्डून् । सर्वान् । शलुनान् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भयामसि

दृष्टम् चक्षुर्गोचरम् अदृष्टम् तदगोचरम् अन्तरवस्थितं क्रिमिजातम् अतृहम् तृणेह्मि हन्मि । ❀ तृह हिंसायाम् । छान्दसे लुङि

व्यत्ययेन च्लेरक् ❀ ॥ अथो अपि च कुरीरम् । कुरीरं जालम् । तद्वद् अन्तरवस्थितं क्रिमिकुलम् अतृहम् । नाशयामीत्यर्थः ॥ तानेव विशेषतो दर्शयति अल्गण्डून् इति । एतन्नाम्नः क्रिमिविशेषान् शल्गान् एतन्नाम्नश्च सर्वान् अन्यानपि क्रिमीन् वचसा मन्त्रेण [जम्भयामसि] जम्भयामः नाशयामः । ❀ जभेर्णौ "रधिजभोरचि" इति नुम् ❀ ॥

मैं नेत्रसे दीखतेहुए और नेत्रसे न दीखते हुए-शरीरके भीतर स्थित कीड़ोंको नष्ट करता हूँ, जालकी समान भीतर स्थित कीड़ोंको नष्ट करता हूँ, रक्त और मांसको दूषित करने वाले अल्गंडु नामक कीड़ोंको और शल्म नामक कीड़ोंको तथा अन्य सब प्रकारके कीटोंको हम नष्ट करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥

अल्गण्डून् । हन्मि । महता । वधेन । दूनाः । अदूनाः । अरसाः । अभूवन् ।
शिष्टान् । अशिष्टान् । नि । तिरामि । वाचा । यथा । क्रिमीणाम् । नकिः । उत्ऽशिषातै ॥ ३ ॥

अल्गण्डून् शोणितमांसदूषकान् जन्तून् महता प्रभूतेन वधेन हननसाधनेन मन्त्रौषधादिना हन्मि । ❀ वधेनेति । "हनश्च वधः"

इति करणे अप् वधादेशश्च । अब्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ॥ ते च दूनाः मत्कृतौषधादिना परितप्ताः अदूनाः अपरितप्ताश्च ये सन्ति ते सर्वे अरसाः शुष्का निर्जीवा अभूवन् ।॥ दूना इति । दुदु उपतापे । तस्मान्निष्ठा। "दुग्वोर्दीर्घश्च" इति दीर्घो निष्ठानत्वं च । दूङ् परितापे इत्यस्मादेव वा । "स्वादय ओदितः" इति ओदित्वातिदेशात् "ओदितश्च" इति निष्ठानत्वम् ॥ ॥ तथा शिष्टान् । कान् । अशिष्टान् प्राग् प्रहतान् क्रिमिविशेषान् वाचा मन्त्रेण नितिरामि निहन्मि । ॥ निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने ॥ । यथा येन प्रकारेण क्रिमीणां नानाविधानां मध्ये कश्चिदपि नकिः उच्छिषातै नैवोच्छिष्यात् । तथा नि तिरामिति संबन्धः । ॥ नकिर्नेत्यर्थे । नकीम् नकिः आकृतम् इति नवोत्तराणि पदानि [निघ० ३, १२] इत्युक्तत्वात् । उच्छिषातै । शिष्लृ विशेषणे इत्यस्मात् उत्पूर्वात् लेटि आडागमः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । टेरेत्वे कृते "वैतोन्यत्र" इति ऐत्वम् । छान्दसो विकरणस्य लुक् ॥ ॥

मैं रक्त और मांसको दूषित करनेवाले अल्गण्डु नामक जन्तुओं के वधके बड़े भारी साधन मन्त्र और ओषधिसे उनको नष्ट करता हूँ, जो कृमि मेरी औषध आदिसे सन्तप्त होगए हैं और जो संतप्त नहीं हुए हैं वे सब सूख जावें, निर्जीव होजावें । अनेक प्रकारके कृमियोंमेंसे कोई भी न बचे इस लिये मैं न मारेहुए अत एव बचे हुए कृमियोंको मन्त्ररूप वाणीसे नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।

अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

अनुऽआन्त्र्यम् । शीर्षण्य॑म् । अथो इति । पार्ष्टेयम् । क्रिमीन् ।

अवस्कवम् । विऽअध्वरम् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भयामसि ॥४॥

अन्वान्त्र्यम् अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवं क्रिमिजातं शीर्षण्यम् शिरसि भवं च । ❀ उभयत्र "शरीरावयवाच्च" इति यत् । "ये च तद्धिते" इति शिरःशब्दस्य शीर्षन् आदेशः । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावः । "तित् स्वरितः" इत्युभयत्र स्वरितत्वम् ❀ । अथो अपि च पार्ष्णेयम् पार्ष्णिभवं क्रिमिम् । ❀ शरीरावयववाचिनः पार्ष्णिशब्दाद् व्यत्ययेन ढञ् ❀ । एतान् उक्तान् क्रिमीन् । जम्भयामसीत्युत्तरत्र संबन्धः ॥ अवस्कवम् अवाग्गमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्तमानम् इत्यर्थः । ❀ स्कुञ् आप्रवणे । अस्माद् अवपूर्वात् पचाद्यच् ❀ । व्यध्वरम् विविधमार्गोपेतम् । नानाद्वाराणि कृत्वा तत्र गच्छन्तम् इत्यर्थः । ❀ विविधोध्वा व्यध्वम् । "उपसर्गाद् अध्वनः" इत्यच् प्रत्ययः समासान्तः । रो मत्वर्थीयः ❀ । यद्वा ध्वरो हिंसा । विविधैरौषधादिभिरपि न विद्यते ध्वरो यस्य स तथोक्तः । एवं नानाजातीयान् सर्वान् क्रिमीन् वचसा मन्त्रेण जम्भयामसि जम्भयामः ॥

अँतड़ियोंमें क्रमशः होनेवाले कीड़ोंको, शिरमें होनेवाले कीड़ोंको और पसलियोंमें होने वाले कीड़ोंको हम नष्ट करते हैं और नीचे ओर मुख करके जाने वाले और अनेक मार्ग बना कर जाने वाले तथा अनेक प्रकारके उपायोंसे भी जिनकी हिंसा नहीं होसकती ऐसे सब प्रकारके कृमियोंको हम मन्त्रके द्वारा नष्ट करते हैं

पञ्चमी ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । पर्वतेषु । वनेषु । ओषधीषु । पशुषु । अप्ऽसु ।
अन्तः ।
ये । अस्माकम् । तन्वम् । आऽविविशुः । सर्वम् । तत् । हन्मि ।
जनिम । क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

पर्वतादिषु अन्तः मध्ये ये क्रिमयः स्थिताः ते अस्माकं तन्वः तनूः शरीराणि आविविशुः व्रणमुखेन अन्नपानादिद्वारेण वा प्रविष्टाः । सर्वम् निरवशेषं तत् उक्तविधं क्रिमीणां जनिम जन्म उत्पत्तिमेव हन्मि नाशयामि ॥

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति पञ्चमोनुवाकः] ॥

पर्वतोंमें वनोंमें ओषधियोंमें और पशुओंमेंके जो कीड़े घावके मुखके द्वारा वा अन्न पान आदिके द्वारा हमारे शरीरमें प्रविष्ट होगए हैं, मैं उन सबकी उत्पत्तिको ही नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६६) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त

षष्ठेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "उद्यन्नादित्यः" इति प्रथमसूक्तेन गोक्रिमिभैषज्यकर्मणि संध्यात्रयेपि क्रिमियुतव्रणमुखं दर्भैस्ताडयेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन साज्यकृष्णचणकहोमादिकं पूर्वसूक्तोक्तप्रकारेणैव कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "उद्यन्नादित्य इत्युद्यति गोनामेत्याह असाविति । सूक्तान्ते ते हता इति दर्भैरभ्यस्यति मध्यंदिने च प्रतीचीम् अपराह्णे वालस्तुकाम् आच्छिद्य खल्वादीनि" इति [कौ० ४. ३]॥

छठे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "उद्यन्नादित्यः" इस प्रथमसूक्तसे गौके कीड़ोंकी चिकित्साके कर्ममें तीनों संध्याओंके

समय कृमियोंसे युक्त घावके मुखको दर्भोंसे ताड़ित करे ॥

तथा इस सूक्तसे पूर्वसूक्तकी समान घृत मिले हुए काले चनों का होम आदि करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–“उद्यन्नादित्य इत्युद्यति गोनामेत्याह असाविति । सूक्तान्ते ते हता इति दर्भैरभ्यस्यति मध्यन्दिने च प्रतीचीम् अपराह्णे वालस्तुकाम् आच्छिद्य खल्वादीनि” (कौशिकसूत्र ४ । ३)

तत्र प्रथमा ॥

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॑न् हन्तु नि॒म्रोच॑न् हन्तु र॒श्मिभिः॑ ।
ये अ॒न्तः क्रिम॑यो॒ गवि॑ ॥ १ ॥

उ॒त्ऽयन् । आ॒दि॒त्यः । क्रिमी॑न् । ह॒न्तु । नि॒ऽम्रोच॑न् । ह॒न्तु । र॒श्मिऽभिः॑ ।
ये । अ॒न्तः । क्रिम॑यः । गवि॑ ॥ १ ॥

आदित्यः उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् रश्मिभिर्व्यापनशीलैः स्वकरणैः क्रिमीन् हन्तु हिनस्तु । निम्रोचन् अस्तं गच्छंश्च रश्मिभिः क्रिमीन् हन्तु । ❀ रश्मिभिरिति । अशो रश च [उ० ४. ४६] इति मिप्रत्ययो रशादेशश्च ❀ ॥ कुत्रत्यान् क्रिमीन् इति तत्राह । ये क्रिमयः गवि । जातावेकवचनम् । गोशरीरेषु अन्तः मध्ये सन्ति । तान् क्रिमीन् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

जो कृमि गौओंके शरीरके भीतर हैं उदय होते हुए आदित्य अपनी व्यापक किरणोंसे उनका संहार करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वि॒श्वरू॑पं चतुर॒क्षं क्रिमिं॑ सा॒रङ्ग॒मर्जु॑नम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

विश्वऽरूपम् । चतुःऽअक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।

शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥ २ ॥

विश्वरूपम् नानाकारं चतुरक्षम् चतुर्नेत्रम् । ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति षच् समासान्तः ❀ । सारङ्गम् शवलवर्णम् अर्जुनम् शुभ्रवर्णम् एवम् अनेकाकारं क्रिमिं शृणामि हन्मि । ❀ शॄ हिंसायाम् । "प्वादीनां ह्रस्वः" ❀ ॥ अस्य उक्तलक्षणस्य क्रिमेः पृष्टीः पार्श्वावयवानपि यच्छिरः शरीरान्तर्गतमांसादिभक्षकं प्रधानम् अङ्गं तदपि वृश्चामि छिनधि ॥

मैं अनेक प्रकारके आकार वाले और चार नेत्रों वाले चितकवरे तथा श्वेत इस प्रकार अनेक आकार वाले कामियोंको मारता हूँ तथा कीड़ोंकी पसलियोंको और शरीरके भीतर स्थित मांस आदिके भक्षक प्रधान अंग शिरको भी मैं काटता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

अत्रिऽवत् । वः । क्रिमयः । हन्मि । कण्वऽवत् । जमदग्निऽवत् ।

अगस्त्यस्य । ब्रह्मणा । सम् । पिनष्मि । अहम् । क्रिमीन् ॥ ३ ॥

हे क्रिमयः वः युष्मान् अत्रिवत् कण्ववत् जमदग्निवत् । ❀सर्वत्र प्रथमार्थे वतिः ❀ । ते यथा मन्त्रसामर्थ्यात् क्रिमीन् निघ्नन्ति एवम् अहम् अपि हन्मि ॥ तथा अगस्त्यस्य महर्षेर्ब्रह्मणा मन्त्रेण अहं क्रिमीन् सर्वान् सं पिनष्मि पुनरुद्भवो यथा न भवति तथा नाशयामि । एतेषां क्रिमिनिवारकत्वं श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्

"अत्रिणा त्वा क्रिमे हन्मि कण्वेन जमदग्निना विश्वावसोर्ब्रह्मणा हतः" इति ॥

हे कृमियो ! मैं तुमको अत्रि कण्व और जमदग्नि ऋषिकी समान मारता हूँ अर्थात् वे तुमको मंत्रकी शक्तिसे जिस प्रकार मारते हैं, इसी प्रकार मैं भी तुमको मंत्रशक्तिसे मारता हूँ, तथा महर्षि अगस्त्यके मंत्रके प्रभावसे मैं तुमको पुनरुत्पत्तिरहित करके मारता हूँ ‡ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

हतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हतः ।
हतः । हतऽमाता । क्रिमिः । हतऽभ्राता । हतऽस्वसा ॥ ४ ॥

क्रिमीणां राजा हतः अस्मत्प्रयुक्तमन्त्रौषधादिना नष्टः ॥ उत अपि च एषां क्रिमीणां स्थपतिः सचिवो [हतः] ॥ एवं हतमाता नष्टमातृकः हतभ्राता हतभ्रातृकः हतस्वसा नष्टभगिनीकश्च क्रिमिर्हतः नष्टः ॥ सस्वामिकं सामात्यं सबान्धवं कृत्स्नं क्रिमिकुलं निरवशेषं नष्टम् इत्यर्थः । ❀ हतमातेत्यादिषु "नद्यृतश्च" इति नित्यं प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि" इति प्रतिषेधः ❀ ॥

---

‡ ये ऋषि कृमियोंको हरने वाले हैं, यह बात अन्य श्रुतिमें भी प्रसिद्ध है । यथा—"अत्रिणा त्वा क्रिमे हन्मि कण्वेन जमदग्निना विश्वावसोर्ब्रह्मणा हतः ॥ हे कृमे ! मैं तुझको अत्रि जमदग्नि और कण्व ऋषि (के मन्त्र) से मारता हूँ और तू विश्वावसुके मन्त्र मारा गया" ॥

कृमियोंका राजा हमारी प्रयुक्त औषधि मन्त्र आदिसे मारा गया और इन कृमियोंका मंत्री भी मारा गया। तथा माता भ्राता और बहिनके साथ कृमि मारा गया अर्थात् स्वामी बांधव मन्त्री आदि सहित सारा कृमिकुल (मंत्रप्रभावसे) नष्ट होगया ॥४॥

पञ्चमी ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

हतासः। अस्य। वेशसः। हतासः। परिऽवेशसः।
अथो इति। ये। क्षुल्लकाःऽइव। सर्वे। ते। क्रिमयः। हताः ॥५॥

अस्य क्रिमिकुलस्य वेशसः निवेशनस्थानानि मुख्यगृहा हतासः हताः। एवं परिवेशसः परितः स्थिताः समीपगृहाश्च हतासः हताः। ❀ वेशसः। विशतेरधिकरणे औणादिकः असिप्रत्ययः ❀ ॥ अथो अपि च ये क्षुल्लका इव बीजावस्थाः सूक्ष्मरूपा दुर्लक्ष्याः क्रिमयः सन्ति ते सर्वेपि क्रिमयः हताः नाशिताः ॥

इस कृमिकुलके बैठनेके स्थान मुख्यगृह (घड़िया) नष्ट हो गए और समीपके गृह भी नष्ट होगए और जो बीजरूपमें स्थित दुर्लक्ष्य छोटे २ कीड़े थे वे भी नष्ट होगए ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र। ते। शृणामि। शृङ्गे इति। याभ्याम्। विऽतुदायसि।
भिनद्मि। ते। कुषुम्भम्। यः। ते। विषऽधानः ॥ ६ ॥

हे क्रिमे ते त्वदीये शृंगे विषाणे प्र शृणामि प्रभिनद्मि याभ्यां शृङ्गाभ्यां वितुदायसि विशेषेण तुदसि व्यथयसे। ते इति संबन्धः। ॐ तुद व्यथने इत्यस्मात् परस्य शस्यापि व्यत्ययेन शायजादेशः ॐ ॥ ते तव कुकम्भम् अवयवविशेषं भिनद्मि विदारयामि। तमेवावयवं विशिनष्टि। ते तव संबन्धी यः अवयवः विषधानः। विषं धीयतेस्मिन्निति विषधानः विषस्थानम्। तम् इति पूर्वत्र संबन्धः। ॐ "करणाधिकरणयोश्च" इत्यधिकरणे ल्युट् ॐ ॥

इति षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे कीट ! जिन सींगोंसे तू पीड़ा देता है, उन तेरे सींगोंको मैं तोड़ता हूँ। तथा तेरे कुकम्भको भी मैं तोड़ता हूँ तेरे अवयवोंमें विष रहता है (उनको मैं नष्ट करता हूँ) ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१७) ॥

"अक्षीभ्याम्" इति सूक्तेन अक्षिनासाकर्णशिरोजिह्वाग्रीवादिसर्वावयवजरोगभैषज्यकर्मणि बाह्वादिपर्वसु बद्धं व्याधितं संपातितोदकेन पर्वग्रन्थीन् विमुच्य अवसिञ्चेत्। सूत्रितं हि। "अक्षीभ्यां त इति विवर्हम् उदपात्रेण संपातवतावसिञ्चति" इति [कौ० ४.३]॥

तथा अस्य सूक्तस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य यत्र यत्र सर्वरोगभैषज्यादिषु विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोनुसंधेयः। सूत्रितं हि। "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यमतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इति [कौ० ४. ८]॥ अत्र अक्षीभ्यां ते [२. ३३] मुञ्चामि त्वा [३. ११]उत देवाः [४. १३] आवतस्ते [५. ३०] शीर्षक्तिम् [६. १२] इति पञ्चमतीको गणो विवक्षितः ॥

तथैव अश्वमेधादिषु दीक्षावतो यजमानस्य भैषज्यकर्मणि एतत् सूक्तं विनियुक्तं वैताने। "अथ भैषज्याय यजमानम् अक्षीभ्यां ते मुञ्चामि त्वा" इति [वै० ७. ३]॥

आँख नाक कान शिर जीभ गर्दन आदि सब अवयवोंमें उत्पन्न हुए रोगोंकी चिकित्साके कर्ममें "अक्षीभ्याम्" सूक्तसे बाहु आदिमें जकड़े हुए रोगी पर जोड़ोंकी गाँठोंको छोड़कर संपातित जल छिड़के। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। यथा-"अक्षीभ्यां त इति विवर्हं उदपात्रेण सम्पातवतावसिंचति" (कौ० सू० ४ । ३)

तथा इस सूक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है अत एव अंहोलिंगगणका सर्वरोगचिकित्सा आदि कर्मोंमें जहाँ २ विनियोग कहा हो तहाँ २ इसका विनियोग समझना चाहिये। सूत्रमें भी कहा है, कि-"ओषधि और वनस्पतियोंकी चिकित्साके अनुक्त और अमतिसिद्ध विनियोग अंहोलिंगोंसे करने चाहिये" (कौशिकसूत्र ४ । ८) उनमें अत्र अक्षीभ्याम् ते (२ । ३३) मुञ्चामि त्वा (३ । ११) उत देवाः (४ । १३) आवतस्ते (५ । ३०) शीर्षक्तिम् (६ । १३) पञ्च प्रतीक वाला गण विवक्षित है।

तथा वैतानसूत्रमें अश्वमेधमें दीक्षित यजमानकी चिकित्सा करनेमें इस सूक्तका विनियोग कहा है। यथा-"अथ भैषज्याय यजमानम् अक्षीभ्यां ते मुञ्चामि त्वा" (वैतानसूत्र ७ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि ।
यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

हे यक्ष्मगृहीत ते तव अक्षीभ्याम् चक्षुर्भ्यां यक्ष्मम् रोगं वि वृहामि उद्धरामि । विश्लेषयामीत्यर्थः । ❀ "ई च द्विवचने" इति अक्षिशब्दस्य ईकारान्तादेशः स चोदात्तः ❀ ॥ तथा नासिका-

भ्याम् घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानाभ्यां कर्णाभ्याम् श्रोत्राभ्यां च छुबुकाद् ओष्ठस्याधःप्रदेशाच्च । अधिः अनर्थकः ॥ अपि च शीर्षण्यम् शिरसि भवो रोगः शीर्षण्यः । ❀ "शरीरावयवाच्च" इति यत् । "ये च तद्धिते" इति शिरसः शीर्षन् आदेशः । "ये चाभावकर्मणोः" इति [प्रकृति] भावः ❀ । ईदृशं यक्ष्मं रोगं ते तव मस्तिष्कात् । शिरसोन्तरवस्थितो मांसविशेषो मस्तिष्कः । तस्मात् जिह्वाया रसनायाश्च सकाशाद् वि वृहामि उद्धरामि । पृथक्करोमीत्यर्थः । ❀ वृहू उद्यमने इति धातुः ❀ ॥

हे यक्ष्मा (दिक) रोगसे ग्रस्त पुरुष ! मैं तेरे नेत्रोंमेंसे यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ और तेरी नाक कान और ठोडीसे भी यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और तेरी जीभसे भी मैं यक्ष्मारोग को अलग करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् ।
यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहुऽभ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ २ ॥

हे व्याधिगृहीत ते तव ग्रीवाभ्यः । अत्र ग्रीवाशब्देन तदवयवभूतानि चतुर्दश सूक्ष्माण्यस्थीनि उच्यन्ते बहुवचननिर्देशाद् । तद् उक्तं शतपथे ब्राह्मणे । "ग्रीवाः पञ्चदशः । चतुर्दश वा एतासां करूकराणि वीर्यं पञ्चदशम् । तस्माद् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुं भारं हरति" [श० ब्रा० १२. २. ४. १० इति] । ताभ्यो यक्ष्मं वि वृहामीति उत्तरत्र संबन्धः । तथा उष्णिहाभ्यः ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः । तद् उक्तं यास्केन ।

उष्णिग् उत्स्नाता भवति स्निग्धतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः इति [नि० ७. १२]। उष्णिगेव उष्णिहा। ❀ "टापं चापि हल-न्तानाम्" इति टापः स्मरणात् ❀। तथा चापि अन्यत्र श्रूयते। "उष्णिहा छन्दः" इति [तै० सं० ४. ३. ५. १]। "सयुग्वो-ष्णिहया सविता सं बभूव" [ऋ० १०. १३०. ४] इति च। अत्र प्रकरणाद् व्युत्पत्तिसामान्येन उष्णिहाशब्दो धमनीवाचकः। तथा कीकसाभ्यः जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः। अनूक्यात् अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि अस्मिन्निति अनूक्यम् तत्संधिः। तस्मात्। तथा च वाजसनेयकम्। "अनूकं त्रयस्त्रिंशः द्वात्रिंशद् वा एतस्य कुरुकराण्यनूकं त्रयस्त्रिंशम्" इति [श० ब्रा० १२. २. ४. १४]। ❀ अनुपूर्वाद् उच समवाये इत्यस्मात् "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति अधिकरणे ण्यत्। "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀। वि वृहा-मीति सर्वत्र संबन्धः॥ तथा दोषण्यस् दोष्णोर्भवम्। ❀ पूर्ववद् यति "पद्दन्नः०" इत्यादिना दोषन् आदेशः ❀। तथाविधं ते त्वदीयं यक्ष्मम् रोगम् अंसाभ्यां बाहुशिरोभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां वि वृहामि उन्मूलयामि॥

हे व्याधिग्रस्त! तेरी ग्रीवा (गरदन) की चौदह सूक्ष्म नाड़ियों से मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और रक्तप्रवाहके कारण ऊपर को स्नान करने वाली स्निग्ध उष्णिह नामकी नाड़ियोंसे, हँसली और वक्षःस्थलकी नाड़ियोंसे, तथा जिसमें क्रमशः अस्थियें मिलती हैं उस अनूक्यसे मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ, तथा तेरे कन्धोंसे और भुजाओंसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ॥ २॥

तृतीया॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ३

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ।

यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि ३

हे रुग्ण ते तव हृदयात् हृदयपुण्डरीकाद् यक्ष्मं विवृहामसीति उत्तरत्र संबन्धः ॥ तथा परि क्लोम्नः । हृदयसमीपस्थो मांसपिण्डविशेषः क्लोमा । तस्मात् । हलीक्ष्णात् एतत्संज्ञकात् तत्संबन्धाद् मांसपिण्डविशेषात् पार्श्वाभ्याम् दक्षिणोत्तराभ्यां मतस्नाभ्याम् उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां हृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा प्लीह्नः उदरपार्श्वस्थितात् श्येनपत्राकाराद् मांसपिण्डात् यक्नः हृदयसमीपस्थाद् एतत्संज्ञकात् कालखण्डात् । ❁ "पद्दन्नः०" इत्यादिना यकृच्छब्दस्य यकन्नादेशः । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्लीह्नः यक्नः इत्युभयत्र विभक्त्युदात्तत्वम् ❁ । हे रुग्ण ते त्वदीयं यक्ष्मं तेभ्योवयवेभ्यो वि वृहामसि विवृहामः । ❁ इदन्तो मसिः ❁ ॥

हे रोगिन् ! मैं तेरे हृदयकमलसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ और हृदयके समीप स्थित क्लोम (मूत्राधार–मसाना) से तथा हलीक्ष्ण नाम वाले मांसपिंडसे, दोनों पसलियोंसे, दोनों पित्ताधारपात्रोंसे और उदर तथा पसलियोंमें स्थित श्येनपक्षीकी समान आकार वाले प्लीहा (तिल्ली) से और हृदयके समीपमें स्थित यकृत् (जिगर) से भी मैं राजयक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ ३

चतुर्थी ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।

यक्ष्मम् । कुक्षिऽभ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते ।

हे यक्ष्मगृहीत ते तव आन्त्रेभ्यः पुरीतद्भ्यः गुदाभ्यः एत-त्संज्ञकाभ्यः आन्त्रसमीपस्थेभ्यो मलमूत्रप्रवहणमार्गेभ्यः वनिष्ठोः स्थविरान्त्रात् उदरात् एतत्सर्वाधारभूताज्जठरात् । अधिः अन-र्थकः । यक्ष्मं वि वृहामीति संबन्धः ॥ तथा कुक्षिभ्याम् दक्षिणो-त्तराभ्याम् उदरभागाभ्यां प्लाशेः बहुच्छिद्रात् मलपात्रात् नाभ्याः नाभिमण्डलाच्च ते त्वदीयं यक्ष्मं वि वृहामि नाशयामि । एत-न्मन्त्रद्वयप्रतिपादितानाम् अवयवानां विभागो माध्यंदिनब्राह्मणे सौत्रामण्यां यज्ञाङ्गैः पुरोडाशादिभिः संस्कार्यत्वेन स्पष्टम् आम्नातः । "हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः । यकृत् सावित्रः । क्लोमा वारुणः । मतस्ने एवास्याश्वत्थं च पात्रम् औदुम्बरं च । पित्तं नैयग्रोधम् । आन्त्राणि स्थाल्यः । गुदा उपशयानि । श्येनपत्रे प्लीहासन्दी । नाभिः कुम्भः । वनिष्ठुः प्लाशिः शततृण्णा ह्य यत् सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृतः" इति [श० ब्रा० १२. ६. १. ३]॥

हे यक्ष्मा रोगसे ग्रसे हुए ! मैं तेरी अँतड़ियोंसे, मल और मूत्रके सरकनेके स्थानोंसे मोटी आँतसे और इन सबके आधार उदरसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ, तथा तेरी दाईं बाईं कोखों से और अनेक छिद्र वाले मलपात्र प्लाशिसे और नाभिमण्डलसे तेरे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ † ॥ ४ ॥

† इन दोनों मन्त्रोंमें प्रतिपादित अवयवोंका विभाग माध्यन्दिन ब्राह्मणमें सौत्रामणीके यज्ञांगपुरोडाश आदिके संस्कार्यरूपसे स्पष्टतया कहा है, कि—"हृदय ही इसका इन्द्रसंबन्धी पुरोडाश है, यकृत् (जिगर) सविताका भाग, मूत्राधार वरुणका भाग है। पित्ताधारपात्र ही इस सौत्रामणि यज्ञके पीपल और गूलड़के पात्र हैं। पित्त ही नैयग्रोध (वटका पात्र) है। अँतड़ियें स्थाली हैं। गुदा उपशयन है। श्येनपत्र प्लीहासन्दी हैं। नाभि ही कुम्भ है,०" (शतपथ ब्राह्मण १२। ६। १। ३)॥

पञ्चमी ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते

ऊरुऽभ्याम् । ते । अष्ठीवत्ऽभ्याम् । पार्ष्णिऽभ्याम् । प्रऽपदाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणिऽभ्याम् । भासदम् । भंससः । वि ।
वृहामि । ते ॥ ५ ॥

हे रोगार्त ते तव ऊरुभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् जानुभ्याम् । ॐ आसन्दीवद् अष्ठीवत्०" इत्यादिना अस्थिशब्दस्य मतुपि अष्ठीभावो निपातितः ॐ । पार्ष्णिभ्याम् पादयोरपरभागाभ्याम् प्रपदाभ्याम् पादाग्राभ्यां यक्ष्मम् । वि वृहामीति सर्वत्र संबन्धः ॥ तथा भसद्यम् भसत् कटिप्रदेशः तत्र भवं यक्ष्मम् रोगं श्रोणिभ्याम् कट्योरपरभागाभ्यां वि वृहामि । एवं ते त्वदीयं भासदम् गुह्यप्रदेशभवं रोगं भंससः भासमानाद् गुह्यस्थानाद् वि वृहामि ॥

मैं तेरी ऊरुओंसे, जानुओंसे, पैरोंके अपरभागसे और पैरोंके अग्रभागसे यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ और तेरी कमरमें होने वाले यक्ष्माको कटिके नीचेके भागसे दूर करता हूँ और गुह्यदेशमें होने वाले रोगको भासमान गुह्यस्थानसे पृथक् करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ६

अस्थिऽभ्यः । ते । मज्जऽभ्यः । स्नावऽभ्यः । धमनिऽभ्यः ।
यक्ष्मम् । पाणिऽभ्याम् । अंगुलिऽभ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ६

अस्थिमज्जशब्दौ सर्वधातूपलक्षकौ । सूक्ष्माः सिराः स्नाव-शब्देन उच्यन्ते । धमनिशब्देन स्थूलाः । शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

मैं तेरी हड्डी मज्जा आदि सब धातुओंसे, सूक्ष्म नाड़ियोंसे और स्थूल नाड़ियोंसे हाथ अंगुलि और नखोंसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं॑ ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं
वि वृंहामसि ॥ ७ ॥

अङ्गेऽङ्गे । लोम्निऽलोम्नि । यः । ते । पर्वणिऽपर्वणि ।
यक्ष्मम् । त्वचस्य॑म् । ते । वयम् । कश्यपस्य । विऽबर्हेण । विष्वञ्चम् ।
वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

इत्थं प्रसिद्धावयवेभ्यो रोगस्यापनोदनं [प्रतिपाद्य अप्रसिद्धावयवेभ्योपि अपनोदनं] प्रतिपाद्यते । हे रुग्ण ते तव अंगेअंगे अनुक्तेषु सर्वेष्ववयवेषु लोम्निलोम्नि सर्वेषु रोमकूपेषु पर्वणिपर्वणि सर्वेषु संधिषु यो यक्ष्मो जातः । ✿ "नित्यवीप्सयोः" इति सर्वत्र द्विर्वचनम् ✿ । तं यक्ष्मं वि वृहामसीत्युत्तरत्र संबन्धः ॥ तथा ते तव त्वचस्यम् त्वचि भवं यक्ष्मम् । ✿ त्वच संवरणे इत्यस्मात् असुन् । पूर्ववद् यत् । "यचि भम्" इति भत्वेन पदत्वाभावाद् रुत्वाभावः ✿ । वयं वि वृहामः । सूक्तार्थम् उपसंहरति । विष्वञ्चम् चक्षुरादिसर्वावयवव्याप्तं रोगजातं कश्यपस्य महर्षेर्विबर्हेण । विवृहत्यनेनेति विबर्हं सूक्तम् । तेन वयं वि वृहामसि विवृहामः । मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेः संकीर्तनेन इदानीं प्रयुज्यमानस्यापि मन्त्रस्य अमोघवीर्यत्वं सूचितं भवति ॥

इति षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(इस प्रकार प्रसिद्ध अवयवोंसे रोगके हटानेका वर्णन कर अब अप्रसिद्ध अवयवोंसे भी रोगके दूर करनेका वर्णन किया जाता है) हे रोगिन्! तेरे ऊपर न कहे हुए प्रत्येक अङ्गोंमें, सम्पूर्ण रोमकूपोंमें और प्रत्येक जोड़ोंमें जो यक्ष्मा होगया है उस रोगको हम दूर करते हैं। और तेरी त्वचामें जो यक्ष्मा रोग पहुँच गया है उसको हम दूर करते हैं। और तेरे नेत्र आदि सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त रोगको हम महर्षि कश्यपके इस विवर्ह मन्त्रसे दूर करते हैं † ॥ ७ ॥

द्वितीया सूक्त समाप्त (६८)॥

"य ईशे पशुपतिः" इति सूक्तेन वशाशमनकर्मणि आज्यं जुहुयात्। तद् उक्तं सूत्रे। "य ईशे पशुपतिः पशूनाम् इति हुत्वा वशाम् अनक्ति" इति [कौ० ५. ८]॥

तथा सर्वलोकाधिपत्यकामः अनेन सूक्तेन इन्द्राग्न्योर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात्॥

तथैव अनेन सूक्तेन इष्टम् अन्नम् अभिमन्त्र्य ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् सूत्रितं हि। "य ईशे [२. ३४] ये भक्षयन्तः [२. ३५] इति इन्द्राग्नी लोककामोऽन्नं ददाति" इति [कौ० ७. १०]॥

तथैव अनेन पशुयागे संज्ञपनार्थं यूपात् प्रमुच्यमानं पशुम् अनुमन्त्रयेत। उक्तं वैताने। "अथ पशुर्वैष्णवं पूर्वहोमम् उरु विष्णो" इति प्रक्रम्य "य ईश इति प्रमुच्यमानम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० २. ६]॥

अत्र प्रजानन्तः [५] इत्यनया वशाख्यपशोः संज्ञपनं कुर्यात्। अत्र सूत्रम्। "अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्त इति" [कौ० ५. ८] इति॥

† मन्त्रद्रष्टा महर्षिके संकीर्तनसे इस प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रकी अमोघ शक्ति सिद्ध है

"य ईशे पशुपतिः" इस सूक्तसे वशाशमनकर्म में घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ८ में कहा है, कि-"य ईशे पशुपतिः पशूनां इति हुत्वा वशां अनक्ति" ॥

सब लोकों पर अधिपतित्व चाहने वाला पुरुष इस सूक्तसे इन्द्र और अग्नि देवताका याग वा उपस्थान करे ॥

तथा इस सूक्तसे इष्ट (अभिलषित) अन्न ब्राह्मणोंको देय ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"य ईशे (२। ३४) ये भक्षयन्तः (२। ३५) इति इन्द्राग्नी लोककामोऽन्नं ददाति-द्वितीयकाण्डके चौंतीसवें सूक्त-य ईशे-से और द्वितीयकाण्डके पैंतीसवें सूक्त-ये भक्षयन्तः-से लोकोंकी कामना वाला इन्द्र और अग्निका याग करे और अन्न देय"।

तथा पशुयागमें यूपसे संज्ञपनके लिये छोड़े हुए पशुका इस सूक्तसे अनुमन्त्रण करे इसी बातको वैतानसूत्र २। ६ में कहा है, कि-"य ईश इति मुच्यमानं अनुमन्त्रयते-य ईशे सूक्तसे यूपसे छोड़े हुए पशुका अनुमन्त्रण करे" ॥

इस सूक्तकी "प्रजानन्त" इस पाँचवीं ऋचासे वशा पशुका संज्ञपन करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ८ में कहा है, कि-"अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्त इति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः। ईशे। पशुऽपतिः। पशूनाम्। चतुःऽपदाम्। उत। यः। द्विऽपदाम्।

निःऽक्रीतः । सः । यज्ञियम् । भागम् । एतु । रायः । पोषाः ।
यजमानम् । सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः पशुपतिः पशूनां पालयिता रुद्रः चतुष्पदाम् गवादीनां पशूनाम् ईशे ईष्टे नियन्ता भवति । उत अपि च यः पशुपतिर्द्विपदाम् मनुष्यादीनां च ईष्टे । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि षष्ठी । चतुष्पदां द्विपदाम् इत्युभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः समासान्तः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्०" इति द्विपदाम् इत्यस्य उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । तस्मात् पशुपतेः सकाशाद् निष्क्रीतः [सः] निष्क्रय्य स्वाधीनीकृतोयं वशारूपः पशुः यज्ञियम् यज्ञार्हं भागम् एतु गच्छतु यज्ञभागतां प्रतिपद्यताम् । ❀"यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घः ❀ ॥ किं च रायः धनस्य पशुहिरण्यादिलक्षणस्य पोषाः समृद्धयः यजमानं सचन्ताम् समवयन्तु । ❀ "ऊडिदम्०" इति रायः षष्ठ्या उदात्तत्वम् । "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति सत्वम् ❀ ॥

जो पशुओंका पालन करने वाले रुद्र चार पैर वाले गौ आदि पशुओंके ईश हैं—नियन्ता—हैं और दो पैर वाले मनुष्य आदिके भी नियन्ता हैं । उन पशुपतिके पाससे खींच स्वाधीन कियाहुआ यह वशा पशु यज्ञभाग बने और धनकी पुष्टि अर्थात् पशु सुवर्ण आदिकी पुष्टि यजमानको प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः २

प्रऽमुञ्चन्तः। भुवनस्य। रेतः। गातुम्। धत्त। यजमानाय। देवाः।
उपऽआकृतम्। शशमानम्। यत्। अस्थात्। प्रियम्। देवानाम्।
अपि। एतु। पाथः ॥ २ ॥

प्रमुञ्चन्तः इमं हन्यमानं पशुं त्यक्त्वा गच्छन्तो हे देवाः चक्षुरादाः प्राणा यूयम्। कीदृशं पशुम्। भुवनस्य भूतजातस्य रेतः कारणं यागद्वारेण उत्पत्तिहेतुम्। यजमानाय अस्मै गातुम् गतिं धत्त पुण्यलोकान् गन्तुं मार्गं कुरुत ॥ किं च उपाकृतम् उपाकरणेन संस्कृतं शशमानम् शाम्यन्तम्। संज्ञप्यमानम् इत्यर्थः। ❀ शाम्यतेस्ताच्छीलिकश्चानश्। छान्दसः शपः श्लुः ❀। यद्वा शशमानम् अस्मात् लोकाद् उत्प्लुत्य गच्छन्तम्। ❀ शश प्लुतगतौ। उदात्तेत्। पूर्ववत् चानश्। अत एव लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावः ❀। एतादृशं पशुम्। व्याप्येति क्रियाध्याहारः। यत् मांसलक्षणः पाथः अन्नम् अस्थात् तिष्ठति तद्देवानां प्रियं पाथः मांसलक्षणम् अन्नम् अयम् उपाकृतः पशुः अप्येतु अपिगच्छतु। देवोपभोग्यान्नभावं प्रतिपद्यताम् इत्यर्थः। "विश्वेषां देवानां प्रियं पाथो अपीहि" [तै० सं० ३. ३. ३. ३.] इत्यादौ यथा अनभिषुतस्य सोमस्य कर्तृत्वम् पाथसः कर्मत्वम् एवम् अत्रापि पशोरन्नकर्तृत्वम्। अत एव याज्ञिका द्विबहुपशुकेषु कर्मसु अपीताम् अपि यन्तु इति ऊहं कुर्वन्ति ॥ यद्वा देवा इति अग्न्यादय एव संबोध्याः। तथा हि। हे देवा अग्न्यादयः यूयम् भुवनस्य कृत्स्नस्य भूतजातस्य रेतः उत्पत्तिकारणं पुष्टिरूपम् उदकं प्रमुञ्चन्तः विसृजन्त अन्यत् समानम् ॥

यागके द्वारा प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण इस हन्यमान पशु को छोड़ कर जाते हुए हे चक्षु आदि देवताओं! तुम इस यजमानको पुण्यलोकमें जानेके लिये मार्ग बनाओ। और वेदश्रुतिका

श्रवण कर इस लोकसे ऊपरके लोकमें उछल कर जाते हुए पशु में जो मांसरूप पाथ (अन्न) है उस देवताओंके पाथरूप अन्न को यह पशु प्राप्त हो अर्थात् यह पशु देवोचित अन्नभावको प्राप्त हो २

तृतीया ॥

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च। अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥

ये । बध्यमानम् । अनु । दीध्यानाः । अनुऽऐक्षन्त । मनसा । चक्षुषा । च ।

अग्निः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । विश्वऽकर्मा । प्रऽजया । सम्ऽरराणः ॥ ३ ॥

ये सयूथ्याः पशवः बध्यमानम् इमं पशुम् अनुदीध्यानाः अनुदीप्यमाना अनुतप्ताः सन्तो मनसा चक्षुषा च स्नेहवशाद् अन्वैक्षन्त अनुपश्यन्ति न जहति स्नेहात् कारुण्याद् वा । ❀ ईक्ष दर्शने । छान्दसो लङ् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तान् सर्वान् सयूथ्यान् पशून् अग्निर्देवः अग्रे प्रथमं प्र मुमोक्तु स्नेहपाशं प्रमोचयतु ॥ विश्वकर्मा विश्वं कर्म कर्तव्यं यस्य सः प्रजया स्वसृष्ट्या संरराणः सह शब्दायमानः । दानार्थम् ऐकमत्यं प्राप्त इत्यर्थः । सोपि प्र मुमोक्तु । ❀ मुञ्चतेश्छान्दसः शपः श्लुः । रै शब्दे इत्यस्माल् लिटः कानच् । "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति अग्निष्टान् इत्यत्र षत्वम् ❀ ॥

जो झुण्डमें साथ रहने वाले पशु इस वध्यमान पशुको अनुतप्त होते हुए मन और नेत्रसे देख रहे हैं और स्नेहवश इसको

देखना नहीं छोड़ते हैं। अग्निदेवता ! पहिले इन सब पशुओंके स्नेहपाशको छुड़ावे। और सब ही जिनका कर्म है, वह विश्वकर्मा अपनी रची हुई प्रजाके साथ शब्द करते हुए अर्थात् एकमत हो कर इसके स्नेहको छुड़ा देवें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

ये। ग्राम्याः। पशवः। विश्वऽरूपाः। विऽरूपाः। सन्तः। बहुऽधा। एकरूपाः।
वायुः। तान्। अग्रे। प्र। मुमोक्तु। देवः। प्रजाऽपतिः। प्रऽजया। सम्ऽरराणः ॥ ४ ॥

ग्राम्याः ग्रामे भवा गवाद्या ये पशवो विश्वरूपाः सर्वरूपान्विता विरूपाः विविधरूपा एवं बहुधा सन्तोपि एकरूपाः संज्ञप्यमानं पशुं प्रति एकस्वभावाः सन्ति तान् सर्वान् वायुः [अग्रे प्र मुमोक्तु] प्रथमं प्रमोचयतु प्रजापतिश्च स्वकीयया प्रजया एकमत्यं गच्छन् पश्चात् प्रमोचयतु ॥

ग्राममें रहने वाले गौ आदि जो पशु सर्वरूप अनेकरूप वाले होने पर भी इस संज्ञप्यमान पशुके प्रति एकमत होरहे हैं पहिले उन सब (के स्नेहपाश) को वायुदेवता छुड़ा दें और प्रजापति देवता अपनी रची हुई प्रजाके साथ सम्मति कर इसके स्नेहपाश छुड़ा देवें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्। दिवं गच्छ प्रति तिष्ठ शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

प्रऽजानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वे । प्राणम् । अङ्गेभ्यः । परि । आऽचरन्तम् ।

दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः । स्वःऽगम् । याहि । पथिऽभिः । देवऽयानैः ॥ ५ ॥

प्रजानन्तः इह यागे उपयुक्तस्य तव माहात्म्यं प्रकर्षेण जानन्तः [पूर्वे] पूर्वमेवान्तरिक्षे स्थिता देवाः तव अङ्गेभ्यः शरीरावयवेभ्यः शरीरावयवेभ्यः पर्याचरन्तम् परितः सर्वतो निष्क्रम्य आभिमुख्येन आगच्छन्तं तव प्राणम् तत्सहितम् आत्मानं प्रति गृह्णन्तु ॥ ततस्त्वं देवैः परिगृहीतो दिवम् अन्तरिक्षं गच्छ ॥ तत्र च शरीरैः दिव्यभोगार्हैः [प्रति तिष्ठ] प्रतिष्ठितो भव । ❀ "द्यचोतस्तिङः" इति दीर्घत्वम् ❀ ॥ ततो देवयानैः देवा यैर्यान्ति तैः पथिभिः मार्गैः स्वर्गम् अभिलष्यमाणसुखोपभोगस्थानं याहि गच्छ ॥

इति द्वितीयकाण्डे षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

(हे पशो) इस यागमें उपयोगमें आने वाले तेरे माहात्म्यके वेत्ता देवता पहिलेसे ही आकाशमें खड़े हुए हैं, वह तेरे अंगोंसे निकल कर अभिमुख होकर आते हुए तेरे प्राण पर–आत्मा पर–अनुग्रह करें–तुझको ग्रहण करें, तब तू देवताओंके ग्रहण करने पर अन्तरिक्षको जा । तहाँ भोग भोगनेके पात्र शरीरोंमें

प्रतिष्ठित हो, फिर देवयान मार्गोंसे अभिलषित सुख भोगनेके स्थान स्वर्गको जा ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१९) ॥

"ये भक्षयन्तः" इति सूक्तेन बहुजनमध्ये भुञ्जानो दृष्टिदोषनिवारणाय अन्नम् अभिमन्त्र्य भुञ्जीत । अत्र सूत्रम् । "ये भक्षयन्त इति परिषद्येकभक्तम् अन्वीक्षमाणो भुङ्क्ते" इति । [कौ० ५. २] ॥

तथा सर्वलोकाधिपत्यकामः इन्द्राग्न्योर्यागम् उपस्थानम् अन्नदानं वा अनेन सूक्तेन कुर्यात् । सूत्रं तु पूर्वसूक्त एवोदाहृतम् ॥

तथा सर्वेषु सवयज्ञेषु अनेन सूक्तेन पुरस्ताद्धोमान् जुहुयात् । सूत्रितं हि । "य ईशे [२. ३४] ये भक्षयन्तः [२. ३५]" इति प्रक्रम्य "प्रथमं पशूपाकरण उत्तरेण सवपुरस्ताद्धोमान्" इति [कौ. ७. १०]

साकमेधाख्यपर्वणि "ये भक्षयन्तः" इत्यनेन वैश्वकर्मणयागानुमन्त्रणं कुर्यात् । उक्तं वैताने । "कार्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "वैश्वकर्मणं ये भक्षयन्त इति" इति [वै० २. ५] ॥

तथा अग्निचयने वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणे अस्य विनियोगः । उक्तं वैताने । "ये भक्षयन्तः [२. ३५] एतं सधस्थाः [६. १२३] इति द्वे येना सहस्रम् [९. ५. १७.] इति वैश्वकर्मणहोमान्" [वै० ५. २] ॥

यज्ञस्य चक्षुरित्येषा दर्शपूर्णमासयोः पुरस्ताद्धोमे विनियुक्ता । "अग्नावग्निः [४. ३९. ९] हृदा पूतम् [४. ३९. १०] पुरस्ताद् युक्तः [५. २९. १] यज्ञस्य चक्षुः [२. ३५. ५] इति जुहोति इत्यादिसूत्रात् [कौ० १. ३] ॥

बहुतसे मनुष्योंके बीचमें भोजन करे तो दृष्टिदोषको दूर करनेके लिये 'ये भक्षयन्तः' सूक्तसे अन्नको अभिमंत्रित करके भक्षण

करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"ये भक्षयन्त इति परिषयेकभक्तं अन्वीक्षमाणो भुङ्क्ते" (कौशिकसूत्र ५ । २) ॥

तथा सब लोकों पर स्वामित्व चाहने वाला इस सूक्तसे इन्द्राग्नी के उपस्थान वा यागको करे। सूत्र पहिले सूक्तमें ही लिख दिया है॥

तथा सम्पूर्ण सवयज्ञोंमें इस सूक्तसे पुरस्ताद्धोम करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"य ईशे (२ । ३४) ये भक्षयन्तः (२।३५)" इति प्रक्रम्य "प्रथमं पशूपाकरण उत्तरेण सवपुरस्ताद्धोमान्—द्वितीय काण्डके चौतीसवें पैंतीसवें सूक्तका नाम लिख कर कहा है कि—पहिलेका पशूपाकरणमें विनियोग है और दूसरेसे सवपुरस्ताद्धोमों को करे" (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

साकमेध नाम वाले कर्म में "ये भक्षयन्तः" सूक्तसे वैश्वकर्म-यागका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र २ । ५ में कहा है, कि—"कार्त्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "वैश्वकर्मणां ये भक्ष-यन्त इति" ॥

तथा अग्निचयनके वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणमें भी इसका विनि-योग होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'येभक्ष-यन्तः (२ । ३५) एवं सधस्थाः (६ । १२३) इति द्वे येना सहस्रम् (६ । ५ । १७) इति वैश्वकर्मणहोमान् (वैतानसूत्र ५ । २) ॥

"यज्ञस्य चक्षुः" इस पाँचवीं ऋचाका दर्शपूर्णमासके पुरस्ता-द्धोममें विनियोग है। कौशिकसूत्र १ । २ में कहा है, कि—"अग्नावग्निः (४ । ३६ । ६) हृदा पूतम् (४ । ३६ । १०) पुरस्ताद् युक्तः (५ । २६ । १) यज्ञस्य चक्षुः (२ । ३५ । ५) इति जुहोति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त

धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा

ये । भक्षयन्तः । न । वसूनि । आनृधुः । यान् । अग्नयः ।

अनुऽअतप्यन्त । धिष्ण्याः ।

या । तेषाम् । अवऽयाः । दुःऽइष्टिः । सुऽइष्टिम् । नः । ताम् ।

कृणवत् । विश्वऽकर्मा ॥ १ ॥

ये वयं भक्षयन्तो न भक्षयन्त इव अदन्त इव वसूनि धनानि आनृधुः। पुरुषव्यत्ययः। वर्धितवन्तः[स्मः। यद्वा न भक्षयन्तः नादन्तः] अपि तु पृथिव्यां धनानि निक्षिप्तवन्तः। यद्वा वसूनि भक्षयन्तः अयागार्थेन व्ययेन नाशयन्तः नानृधुः समृद्धा नाभूम। ❀ ऋधु वृद्धौ। अस्मात् लिटि द्विर्वचने "अत आदेः" इत्यभ्यासदीर्घत्वे "तस्मान्नुड् द्विहलः" इत्यत्र ऋकारैकदेशस्य रेफस्य हल्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विहल्त्वेन नुडागमः ❀। [धिष्ण्याः] धिष्ण्येषु स्थानेषु स्थिता अग्नयः आहवनीयाद्याः यान् उद्दिश्य अन्वतप्यन्त अस्मद्विषयम् अनुतापं धृतवन्तः। यागादौ दक्षिणाद्यप्रदानेन यागवैकल्यात् तेषां धनवतां जन्म व्यर्थम् अहो शोच्या एत इति। एवम् अयष्टारो दुर्यष्टारश्च। तेषाम् द्विविधानाम् अस्माकं या अवयाः अवयजनं यागानुष्ठानां दुरिष्टिः दुर्यागश्चास्ति ताम् अनिष्टिदुरिष्टिदोषपरिहारार्थं कृतां स्विष्टिम् शोभनाम् इष्टिं नः अस्माकं कृणवत् करोतु विश्वकर्मा विश्वकृद् देवः। अनिष्टिदुरिष्टिनिवारणसामर्थ्यं शोभनत्वम् इष्टेः। ❀ अवया इति। "अवे यजः" इति ण्विनि कृते "अवयाः श्वेतवाः०" इति निपातितः। दुरिष्टिरिति। प्रत्ययान्तविशेषणत्वे दुरो गतित्वाभावाद् अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। धात्वर्थविशेषणत्वे गति-

स्यात् "तादौ च निति०" इति प्रकृतिस्वरत्वम्। स्विष्टिशब्देप्येवम्। सोः प्रकृतिस्वरत्वे "उदात्तस्वरितयोर्यणः०" इति संहितायां ततः पर इकारः स्वर्यते ❀॥

हम धनका यागमें व्यय न कर अन्यत्र व्यय करनेसे (भक्षण सा करके) समृद्धि सम्पन्न नहीं हुए हैं अत एव स्थानोंमें स्थित आहवनीय आदि अग्नि जिन हमारा शोक करते हैं,कि–(याग आदिमें दक्षिणा आदि न देनेसे याग विफल रह जाता है अतः इन धनवानोंका जन्म व्यर्थ है) इस प्रकार जो हम अयष्टा (यज्ञ न करने वाले) और दुर्यष्टा (दुर्यज्ञ करने वाले) हैं। ऐसे हम दोनोंकी याग न करनेकी और दुर्यागोंकी निवृत्ति करने वाली शोभन इष्टिको विश्वकर्मा देवता (पूर्ण) करें॥१॥

द्वितीया॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्। मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥ २॥

यज्ञऽपतिम्। ऋषयः। एनसा। आहुः। निःऽभक्तम्। प्रऽजाः। अनुऽतप्यमानम्।

मथव्यान्। स्तोकान्। अप। यान्। रराध। सम्। नः। तेभिः। सृजतु। विश्वऽकर्मा॥ २॥

ऋषयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः यज्ञपतिम् यजमानम् एनसा। ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀। [युक्तम्] एनस्विनम् आहुः। कथंभूतम्। निर्भक्तम् निर्भागं दौर्गत्ययुक्तम् प्रजाः अस्य यागवैकल्य-

निमित्तेन एनसा परितप्यमानाः प्रजा अनु स्वयं तप्यमानम् एवं भूतं यज्ञपतिं एनसा युक्तम् आहुः॥ किं च मघव्यान्। मधुररसः सोमो मधुः। तद्विकारभूतान यान स्तोकान् बिन्दून् अप रराध अपराद्धवान्। अन्तरितान कृतवान् इत्यर्थः। तेभिस्तैः स्तोकैः नः अस्मदीयं यज्ञपतिं सं सृजतु संयोजयतु [विश्वकर्मा] विश्वं कर्म करणीयं यस्य स प्रजापतिः। ❀ यज्ञपतिम्। "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। मघव्यान् इति। "मये च" "मधोः" इति विकारे यप्रत्ययः ❀॥

अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले ऋषि, यागवैकल्यरूप पाप के निमित्त दुर्भागी प्रजाके साथ स्वयं भी अनुताप करते हुए इस यज्ञपति—यजमान—को पाप युक्त कहते हैं। विश्वकर्मा अर्थात् प्रजापति देवताने मधुर रस वाले सोमकी बिन्दुओंको अन्तरित करलिया है, प्रजापति देवता उन बिन्दुओंसे हमारे यज्ञको संयुक्त करे॥ २॥

तृतीया॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।

यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ३

अदान्यान्। सोमऽपान्। मन्यमानः। यज्ञस्य। विद्वान्। समऽअये। न। धीरः।

यत्। एनः। चकृऽवान्। बद्धः। एषः। तम्। विश्वऽकर्मन्। प्र। मुञ्च। स्वस्तये॥ ३॥

यज्ञस्य वैदिकस्य क्रियाकलापस्य। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्"

इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । यज्ञम् विद्वान् जानन् । यद्वा यज्ञस्य स्वरूपं विद्वान् विद्वान् अहमेवेति विद्यामदेन मोहितः सोमपान् । ❀ "गापोष्टक्" इति टक् ❀ । स्वव्यतिरिक्तान् कृतसोमयागान् पण्डितानपि अदान्यान् अज्ञत्वारोपेण दानानर्हान् मन्यमानः । ❀ "छन्दसि च" इति यः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । समये न धीरः समयन्ति संगच्छन्ते योद्धारोत्रेति समयः संग्रामः तत्र धीर इव । स यथा स्वभुजबलाभिमानेन प्रतिभटान् तिरस्कार्यान् मनुते एवम् अहंकारेण बद्ध एषः यद् एनश्चकृवान् तिरस्कारलक्षणं यत् पापं कृतवान् । ❀ करोतेर्लिटः क्वसुः ❀ । हे विश्वकर्मन् देव तम् एनोयुक्तं स्वस्तये अविनाशाय प्र मुञ्च तस्मात् पापात् प्रमोचय ॥

जैसे योधा संग्राममें दूसरे भटोंको तुच्छ समझता है तैसे इसने यज्ञके स्वरूपको मैं ही समझने वाला हूँ, इस प्रकार विद्यामदसे मोहित हो अपनेसे अतिरिक्त सोमयागों करने वाले पण्डितोंको अज्ञ समझ कर दानका पात्र न मान उनका अभिमानवश तिरस्काररूप पाप किया है । हे विश्वकर्मन् देव ! ऐसे पापसे युक्त इसको अविनाश पानेके लिये पापसे मुक्त करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् । बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् । एषाम् । मनसः । च । सत्यम् ।

बृहस्पतये । महिषे । द्युऽमत् । नमः । विश्वऽकर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

ये घोराः क्रूरा ऋषयः प्राणाश्चक्षुराद्याः । श्रयते हि । "के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः" इति । एभ्यः प्राणेभ्यो नमोस्तु ॥ एषां प्राणानां मनसः अन्तःकरणस्य च मध्ये यत् सत्यम् यथार्थदर्शि चक्षुः तस्मा अपि नमोस्तु । अत्र ऋषिशब्देन सामान्येन उपात्तस्यापि चक्षुषः पृथग् उपदेशः प्राधान्यद्योतनाय। अत एव दृष्टिदोषनिवारणकर्मणि अस्य विनियोग उपपन्नः ॥ तथा बृहस्पतये बृहतां देवानां पत्ये देवाय महि महत् प्रभूतं सत् शोभनं द्युमत् दीप्तिमत् । अनेन विशेषणत्रयेण करणत्रयस्यापि तदेकतानत्वम् उक्तम् । उक्तलक्षणं नमोस्तु ॥ तथा हे विश्वकर्मन् ते तुभ्यं नमोस्तु । क्रूरचक्षुर्जन्यदोषादिपरिहारेण अस्मान् पाहि पालय ॥ यद्वा नम इत्यन्ननाम । भुज्यमानम् अन्नम् इन्द्रियाधिष्ठातृदेवेभ्योस्तु । बृहताम् उक्तानाम् इन्द्रियाणां पतिः पालको नियन्ता अन्तरात्मा बृहस्पतिः । तस्मै महत्त्वाद्युक्तगुणविशिष्टं नमोस्तु ॥ तथा [हे विश्वकर्मन्] विश्वं कर्म करणीयं यस्य स तादृग्रूप परमात्मन् ते नमोस्तु । अनेन बहुजनदृष्ट्युपहतस्यापि अन्नस्य उक्तप्रकारेण देवतार्थत्वाद् भोक्तुस्तद्भोजननिमित्तदृष्टिदोषादिकं न भवतीत्यर्थः ॥

जो चक्षु आदि प्राणरूप घोरऋषि हैं ‡ । इन प्राणोंके अन्तःकरणके मध्यमें जो यथार्थदर्शी चक्षु है उसको भी नमस्कार हो†

---

‡ श्रुतिमें कहा है, कि—"के ते ऋषयः प्राणा वा ऋषयः—वे ऋषि कौन हैं, चक्षु आदि प्राण ही ऋषि हैं" ॥

† प्राण शब्दसे चक्षु आदि सबका ग्रहण होजाता है । फिर चक्षुका अलग उल्लेख चक्षुकी प्रधानता दिखानेके लिये किया गया है।

बड़े २ देवताओंके पालक बृहस्पतिजीके लिये बड़ा भारी कीर्तिमय नमस्कार (रूप हवि) प्राप्त हो। तथा हे विश्वकर्मन् ! आपके लिये नमस्कार हो, आप क्रूरनेत्रसे उत्पन्न हुए दोष आदिको दूर कर हमारी रक्षा करिये ॥

अथवा—यह खाया जानेवाला अन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवताओंके लिये हो और इन्द्रियोंके पालक अन्तरात्मा नियन्ता बृहस्पतिदेवके लिये महत्व आदि गुणसम्पन्न नमस्कार हो और सम्पूर्ण कर्म ही जिनका है, ऐसे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! आपके लिये नमस्कार है ॥ (इस प्रकार अनेक मनुष्योंकी दृष्टिसे दूषित अन्नके भी देवताके निमित्त होने पर भोक्ताको दृष्टिदोष नहीं लगता है) ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः

यज्ञस्य । चक्षुः । प्रऽभृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि ।
इमम् । यज्ञम् । विऽततम् । विश्वऽकर्मणा । आ । देवाः । यन्तु । सुऽमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य यागस्य चक्षुः चक्षुरिन्द्रियवत् प्रदर्शकः। तदधीनत्वाद यज्ञसिद्धेः। यद्वा यज्ञाधिदेवतायाश्चक्षुरिन्द्रियम् अयम् अग्निः। तथा च मन्त्रवर्णः। "अग्निना यज्ञश्चक्षुष्मान्" इति। तथा प्रभृतिः यज्ञस्य आदिभूतः। अग्निस्थापनपूर्वकत्वात् सर्वयज्ञानाम्। मुखं

च आस्यमपि अग्निरेव । तथा च दाशतय्याम् आम्नायते । "त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे" इति [ऋ० २. १. १३]। यद्वा मुखम् मुखमिव मुख्यः सर्वदेवतानां प्रयाजादिषु प्रथमयष्टव्यत्वात्। "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्" [ऐ० ब्रा० १. ४] इत्यादिश्रुतेः ॥ यद्वा आज्यम् उच्यते यज्ञस्य चक्षुः । चक्षुःसंस्तुताज्यभागनिष्पादकत्वात् । प्रभृतिः आदिभूतं प्रथमं हूयमानत्वात् । मुखं च मुखवत् प्रधानभूतं मुख्यद्रव्यम् ! "तं देवा अब्रुवन्। एष वाव यज्ञो यद् आज्यमप्येव नोऽत्रास्तु" [तै० सं २. ६. ३. १] इत्यादिश्रुतेः । एवंलक्षणम् आज्यं वाचा मन्त्रेण श्रोत्रेण श्रोत्रवता । ❁ मत्वर्थीयः अकारः ❁ । उपलक्षणम् एतत् सर्वेन्द्रियाणाम् ।अनन्यव्यापारश्रोत्रादियुक्तेन मनसा अन्तःकरणेन यष्टव्यदेवतां ध्यायन् जुहोमि अग्नौ प्रक्षिपामि । "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्" [ऐ० ब्रा० ३. ८] इति श्रुतेः । अग्निपक्षे उक्तगुणविशिष्टम् अग्निम् उद्दिश्य जुहोमि । आज्यम् इति सामर्थ्यात् लभ्यते । ततः विश्वकर्मणा देवेन विततम् विस्तृतम् उत्पादितम् इमम् अनुष्ठीयमानं यज्ञं देवाः इन्द्राद्या यष्टव्यदेवताः सुमनस्यमानाः सुमनस इव आचरन्तः अनुग्रहबुद्ध्युपेताः सन्तः आ यन्तु आगच्छन्तु । ❁ सुमनःशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । तत्र वाग्रहणस्य अनुवृत्तस्य सलोपेन अभिसंबन्धात् तस्य च व्यवस्थितविभाषात्वाद् अत्र सलोपाभावः ❁ ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

यह अग्नि यज्ञको नेत्रकी समान दिखाने वाले हैं, यज्ञके अधिष्ठात्री देवताके नेत्रेंद्रिय हैं † । सब यज्ञ अग्निको स्थापित करके

† मन्त्रमें भी कहा है, कि—"अग्निना यज्ञश्चक्षुष्मान्—यज्ञ अग्निसे नेत्र वाले हैं ॥

ही किये जाते हैं अत एव अग्नि यज्ञकी आदि हैं। और अग्निदेव यज्ञके मुख हैं ‡। और प्रयाज आदिमें सब देवताओंसे पहिले आपका पूजन होता है अतः आप मुखकी समान मुख्य हैं + ऐसे अग्निदेवके उद्देश्यसे मैं अनन्य व्यापारवाले श्रोत्र आदि युक्त मनसे पूजनीय देवताका ध्यान करता हुआ घृतकी आहुति देता हूँ अब विश्वकर्माके द्वारा उत्पन्न किये हुए इस अनुष्ठीयमान यज्ञमें पूजनीय इन्द्र आदि देवता अनुग्रह बुद्धि रख कर आवें ॥

अथवा—संस्तुत घृतभागका निष्पादक होनेसे घृत ही यज्ञका चक्षु है, और पहले घृतकी आहुति दीजाती है अतः घृत यज्ञका आदिरूप है और मुखकी समान प्रधान द्रव्य है ÷ ऐसे घृतको मैं मन्त्रके द्वारा श्रोत्र आदि सकल इन्द्रियोंको अनन्यभावसे लगा कर पूजनीय देवताका मनमें ध्यान करता हुआ—अग्निमें होमता हूँ × तदनन्तर विश्वकर्मा देवतासे उत्पादित इस चलते हुए यज्ञमें इन्द्र आदि पूजनीय देवता अनुग्रह बुद्धि रखकर आवें ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७०) ॥

---

‡ ऋग्वेदसंहिता २। १। १२ में कहा है, कि—"त्वमग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।—हे अग्ने! देवता तुम को मुख और जिह्वा कहते हैं" ॥

+ ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि—"अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—अग्नि देवताओंमें प्रथम हैं और मुख हैं" (ऐतरेयब्राह्मण १। ४) ॥

÷ तैत्तिरीयसंहिता २। ६। ३। १ में कहा है, कि—"ते देवा अब्रुवन्। एष वाव यज्ञो यद् आज्यमप्येव नोऽत्रास्तु ॥—देवताओंने कहा, कि—जो घृत है वही यज्ञ है, वही हमें यहाँ मिले"

× "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां देवतां ध्यायेद् वषट् करिष्यन् ॥—जिस देवताके लिये हवि ग्रहण की जावे उस देवता का वषट् कह कर ध्यान करे" (ऐ० ब्रा० ३। ८) ॥

"आ नो अग्ने" इति सूक्तेन पतिलाभकर्मणि आगमकुसरं संपात्य कुमारीम् आशयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि तस्या एव अलंकारगुग्गुल्वौक्षाणां संपातितानां क्रमेण बन्धनं धूपनं प्रलेपनं च कुर्यात् । औक्षशब्दः अग्रे व्याख्यास्यते ॥

तथैव अनेन सूक्तेन रात्रौ व्रीहान् हुत्वा कुमारीं दक्षिणेन प्रक्रामयेत् ॥

एवम् अनेनैव सूक्तेन संपातवतीं नावं कन्याम् आरोप्य "भगस्य नावम्" इति पञ्चम्यर्चा ताम् उच्चारयेत् ॥

तथा पतिलाभविज्ञानकर्मणि सप्तदामतन्त्र्यां संपातवत्यां सप्त वत्सान् बन्धयित्वा कुमार्या मोचयेत् । सा यदि प्रदक्षिणं मुञ्चेद् तर्हि पतिलाभं जानीयात् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन अहतवस्त्रेण वेष्टितम् ऋषभं संपात्य विसर्जयेत् ॥

अत्र "पतिवेदनान्या नो अग्न इत्यागमकुसरम् आशयति मृगाखराद् वेधां मन्त्रोक्तानि संपातवन्ति" इत्यादि [कौ० ४. १०] सूत्रं द्रष्टव्यम् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन विवाहकर्मणि आगमकुसरं संपात्य अभिमन्त्र्य कन्यका माशयेत् । तद् उक्तं सूत्रकृता । "अथ विवाहः" इति प्रक्रम्य "पूर्वापरम् [७. ८६] इत्युपदधीत । पतिवेदनं [२. ३६] च" इति [कौ० १०. १]। अत्र पतिवेदनशब्देन पतिलाभसाधनत्वाद् इदमेव सूक्तं विवक्षितम् ॥

पतिको प्राप्त करनेके कर्ममें आ नो अग्ने–सूक्तसे आगमकुसर (तिल चावल) का सम्पात कर कुमारीको खिलावे ॥

तथा इसी कर्ममें संपातित अलंकार गूगल और औक्षको क्रमशः कुमारीके बाँधे धूप देवे और लेप करे । (औक्ष शब्दका अर्थ आगे किया जावेगा) ॥

तथा इसी सूक्तसे रात्रिमें धानोंकी आहुति देकर कुमारीको दक्षिणसे परिक्रमा करावे ॥

तथा इसी सूक्तसे सम्पात वाली नाव पर कुमारीको चढ़ा कर "भगस्य नावम्" इस पाँचवी ऋचासे उसको उतारे ॥

तथा पतिलाभविज्ञान नाम वाले कर्ममें सम्पात वाली सप्तदामतंत्रीमें सात बछड़ोंको बाँधकर कुमारीसे छुड़वावे। वह यदि दक्षिणको छोड़े तो पतिका लाभ जाने।

तथा इसी सूक्तसे बिना फटे कोरे वस्त्रसे लिपटे हुए ऋषभके निमित्त होम कर उसको छोड़ देय ॥

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पतिवेदनान्या नो अग्न इत्यागमकुसरम् सम्पात्य अभिमन्त्र्य कन्यकां प्राशयेत् ॥" (कौशिकसूत्र ४।१०) ॥

तथा विवाहकर्ममें इसी सूक्तसे आगमकुसरका सम्पातन और अनुमन्त्रण करके कन्याको खिलावे। इसी बातको सूत्रकारने कहा है, कि-"अथ विवाहः" इति प्रक्रम्य "पूर्वापरम् (७।८६) इत्युपदधीत। पतिवेदनं (२।२६) च" (कौशिकसूत्र १०।१) यहाँ पर पतिवेदन शब्द पतिलाभका साधन है। अत एव इसी सूक्तको कहा है ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥१॥

आ। नः। अग्ने। सुऽमतिम्। सम्ऽभलः। गमेत्। इमाम्। कुमारीम्। सह। नः। भगेन।

जुष्टा । वरेषु । सम्नेषु । वल्गुः । ओषम् । पत्या । सौभगम् । अस्तु । अस्यै ॥ १ ॥

हे अग्ने संभलः संभाषकः समादाता वा कन्यार्थी पुरुषः नः अस्माकं कन्यावतां सुमतिम् शोभनां बुद्धिम् आ गमेत् आगच्छतु अस्मद्बुद्ध्यनुसारेण सर्वलक्षणसंपूर्णः अभिलषितो वरः प्राप्नोतु । यद्वा संभलो हिंसकः पूर्वम् अभिलाषविघाती कन्याम् अनिच्छन् पुरुषः सुमतिम् एतत्कामनायुक्तां कल्याणीं बुद्धिं प्राप्य नः अस्मान् आ गमेत् । कन्यां वरयितुम् इति शेषः । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु । अस्मात् संपूर्वात् पचाद्यच् । गमेदिति । "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥ आगत्य च भगेन भाग्येन सह नः अस्मदीयाम् इमां कुमारीम् । आ गमेत् इत्यनुषङ्गः । ❀ कुमारशब्दात् "वयसि प्रथमे" इति ङीप् ❀ ॥ ततः सम्नेषु समानमनस्केषु । ❀ सलोपश्छान्दसः ❀ । यद्वा समानं मन्यमानेषु सहृदयेषु । ❀ मन्यतेः पचाद्यच् ❀ । वरेषु वरयितृषु कन्यावरणार्थम् आगतेषु वरपक्षीयेषु । उक्तं हि वरप्रेषणम् आपस्तम्बेन । "सुहृदः समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात्" इति [आप० गृ० १. ४] । तेषु जुष्टा प्रीता वरयितृपुरुषसंमता सती वल्गुः रुचिरा प्रीतिजननी स्यात् । ❀ "जुष्टार्पिते च छन्दसि" "नित्यं मन्त्रे" इति जुष्टशब्द आद्युदात्तः ❀ । ऊषम् ऊषति रुजति अपनुदति दुःखजातम् इति ऊषम् सुखकरम् । ❀ ऊष रुजायाम् इति धातोरच् । यद्वा वस निवासे इत्यस्माद् "घञर्थे कविधानम्" इति करणे कप्रत्ययः । यजादित्वात् संप्रसारणे "कृञादीनां के द्वे भवतः" इति द्विर्वचने सवर्णदीर्घे "शासिवसिघसीनाम्०" इति षत्वे च रूपम् ❀ । पत्या सह निवाससाधनं सौभगम् सौभाग्यम् अस्मै अस्याः कुमार्यै [कुमार्याः] अस्तु भवतु । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सौभगशब्दस्य अण् प्रत्ययः उत्तरपदवृद्ध्यभावश्च प्राग् उक्तः ❀ ॥

हे अग्ने ! सुन्दर भाषण करने वाला कन्याको ग्रहण करनेकी उत्कट इच्छा वाला कन्यार्थी पुरुष हम कन्या वालोंकी शोभन बुद्धिमें आवे अर्थात् हमारी बुद्धिके अनुसार सर्वलक्षणसम्पन्न वर प्राप्त हो। वा पहिले जो हमारी अभिलाषाको नष्ट कर चुका है वह कन्याको न चाहने वाला पुरुष इस कन्याकी कामना वाली कल्याणी बुद्धिको पाकर हमारे पास आवे। और आकर ऐश्वर्यके साथ हमारी कन्यासे मिले। तदनन्तर यह कन्याका वरण करनेके लिये आये हुए सहृदय वरपक्षियों (वरातियों) से † माननीय होकर उनको अच्छी लगे, फिर इस कुमारीको पतिके साथ रहना रूप सौभाग्य प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सोमंजुष्टं ब्रह्मंजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥ २ ॥

सोमऽजुष्टम् । ब्रह्मऽजुष्टम् । अर्यम्णा । सम्ऽभृतम् । भगम् ।
धातुः । देवस्य । सत्येन । कृणोमि । पतिऽवेदनम् ॥ २ ॥

सोमजुष्टम् सोमदेवेन सेवितं ब्रह्मजुष्टम् ब्रह्मणा परिवृढेन गन्धर्वेण च जुष्टम् । अर्यम्णा । अत्र अर्यमशब्देन विवाहाग्निरुच्यते । "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम् अयक्षत" इति [आश्व० गृ० १. ७. १३] मन्त्रवर्णात् । तेन च संभृतम् स्वीकृतं भगम् कन्यारूपं भागधेयं धातुः "धाता गर्भं दधातु ते" इति [ऋ० १०. १८४. १]

† आपस्तम्बमुनिने कन्याके यहाँ वरको भेजनेका आदेश दिया है, कि—"सुहृदः समवेतान् मन्त्रतो वरान् प्रहिणुयात् ॥—मन्त्र वाले मित्रोंको एकत्रित कर वरपक्ष वाले वरको भेजें" (आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र १ । ४) ॥

प्रसिद्धस्य देवस्य सत्येन अनुज्ञारूपेण यथार्थवचनेन पतिवेदनम् देवताव्यतिरिक्तस्य मनुष्यरूपस्य पत्युर्लम्भकं कृणोमि करोमि। सोमादिदेवतात्रयोपभोगानन्तरं कन्याया मानुषपतिसंबन्धः श्रुत्यन्तरे समाम्नायते। "सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः" [ऋ०१०.८५.४०] इति॥

सोमदेवतासे सेवित, गंधर्वसे सेवित अर्यमा नामक विवाहाग्नि से † स्वीकृत कन्यारूप ऐश्वर्यको प्रसिद्ध देव धाताके ‡ आज्ञारूप यथार्थवचनसे देवताओंसे अतिरिक्त मनुष्यरूप पतिको पाने वाला करता हूँ ÷ ॥ २ ॥

तृतीया॥

इ॒यम॑ग्ने॒ नारी॒ पतिं॑ विदेष्ट॒ सोमो॒ हि राजा॑ सु॒भगां॑ कृ॒णोति॑।
सुवा॑ना पु॒त्रान् महि॑षी भवाति ग॒त्वा पतिं॑ सु॒भगा॒ वि रा॑जतु ॥ ३ ॥

† यहाँ पर मूलके अर्यमाशब्दका आश्वलायन गृह्यसूत्रकेमन्त्रके अनुसार विवाहाग्नि अर्थ लिया गया है। "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निं अयक्षत" (आश्वलायनगृह्यसूत्र १ । ७ । १३)॥

‡ "धाता गर्भं दधातु ते—धाता तुझमें गर्भ धारण करनेकी शक्ति स्थापित करें" ऋग्वेदसंहिता (१० । १८४ । १)॥

÷ सोम आदि तीन देवताओंके उपभोगके अनन्तर कन्याका मनुष्य पतिसे संबंध अन्य श्रुतियोंमें भी वर्णित है। यथा—'सोमः प्रथमो विविदे गंधर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥—सोम तेरे पहिले पति हैं, गंधर्व तेरे दूसरे पति हैं, अग्नि तेरे तीसरे पति (रक्षक) हैं और मनुष्य तेरा चौथा पति है"।

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा । सुऽभगाम् । कृणोति ।

सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सुऽभगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

हे अग्ने इयम् अस्मदीया नारी कुमारी पतिं विदेष्ट विन्दतां लभताम् । ❀ विद्लृ लाभे इत्यस्माद् आशिषि लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" । "छन्दस्युभयथा" इति लिङः सार्वधातुकत्वात् सीयुटः सलोपः । "सुट् तिथोः" इति सुडागमः ❀ ॥ हि यस्मात् सोमो राजा सुभगाम् सौभाग्ययुक्तां कृणोति करोति । ❀ सुभगाम् इति । "आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ पतिलाभानन्तरं पुत्रान् सुवाना जनयन्ती । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । आदादिकः ❀ । महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या भवाति भवतु । ❀ महिषीति । मह पूजायाम् । अविमह्योष्टिषच् [उ० १. ४५] । टित्वान्ङीप् ❀ ॥ इत्थं पतिं गत्वा लब्ध्वा सुभगा सौभाग्ययुक्ता सती विराजतु विशेषेण तेजस्विनी भवतु ॥

यह हमारी कुमारी पतिको प्राप्त हो। राजा सोम इसको सौभाग्ययुक्त करे। पतिको प्राप्त करनेके अनन्तर यह पुत्रको उत्पन्न करे यह श्रेष्ठ भार्या हो। इस प्रकार यह पतिको पाकर सौभाग्यवती हो परमतेजस्विनी होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥

यथा । आऽस्वरः । मघऽवन् । चारुः । एषः । प्रियः । मृगाणाम् ।

सुऽसदाः । बभूव ।

एव । भगस्य । जुष्टा । इयम् । अस्तु । नारी । सम्ऽप्रिया ।

पत्या । अविऽराधयन्ती ॥ ४ ॥

मघवान् मंहनीयभोग्यपदार्थयुक्तः चारुः शोभनः मृगाणाम् आखरः निजावासप्रदेशः । ❀ खनु अवदारणे इत्यस्माद् आङ्पूर्वात् "डरो वक्तव्यः" इति डरः । टिलोपः ❀ । स प्रदेशः प्रियः सन् यथा येन प्रकारेण सुषदाः सुखेन स्थातुं योग्यो बभूव भवति । ❀ छान्दसो लिट् । सुपूर्वात् सदेरसुनि रूपम् ❀ । एव एवम् इयं नारी भगस्य भाग्येन जुष्टास्तु । किं कुर्वती । पत्या भर्त्रा सह संप्रिया संप्रियाणि सम्यक्प्रीतिकराणि भोग्यानि वस्तूनि अभिराधयन्ती अभिवर्धयन्ती । यद्वा पत्या सह संप्रिया संप्रीयमाणा अभिराधयन्ती पुत्रपश्वादिभिः समृद्धा भवन्ती ॥

प्रशंसनीय भोग्य पदार्थोंसे सम्पन्न शोभन आवास आवासस्थान जैसे मृगोंको प्रिय और सुखसे रहने योग्य होता है । इसी प्रकार यह नारी पतिके साथ प्रीति कर भोग्य वस्तुओंको बढ़ाती हुई भाग्यवती रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य । नावम् । आ । रोह । पूर्णाम् । अनुपऽदस्वतीम् ।

तया । उपऽप्रतारय । यः । वरः । प्रतिऽकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य भाग्यस्य प्राप्तिसाधनभूतां पूर्णाम् अभिमतफलैः परिपूरिताम् अनुपदस्वतीम् क्षयरहितां नावम् हे कन्ये त्वम् आ रोह ॥ तया उक्तलक्षणया नावा उप अभिलष्यमाणपतिसमीपं प्रतारय आत्मानं प्रापय । प्रतिकाम्यः अयमेव मे भर्ता स्याद् इति प्रतिनियतं काम्यमानो यो वरः पतिस्तस्य समीपम् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

हे कन्ये ! तू भाग्यप्राप्तिकी साधनरूप अभिलषित फलोंसे परिपूरित क्षयरहित नाव पर चढ़ और इस नावके द्वारा अभिलषित पतिके पास अपनेको पहुँचा दे, यही मेरा वर है ऐसे काम्यमान नियत वरके पास अपनेको पहुँचा दे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धनऽपते । वरम् । आऽमनसम् । कृणु ।

सर्वम् । प्रऽदक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रतिऽकाम्यः ॥ ६ ॥

हे धनपते वैश्रवण वरम् वरयितारं पतिम् आ क्रन्दय एषा कन्या मे जाया भूयाद् इति संततम् उद्घोषय । अभिधापयेत्यर्थः । ❀ "आङः क्रन्द सातत्ये" इति णिच् ❀ । यद्वा वरम् आ क्रन्दय एतत्कन्याभिमुखम् आह्वय । ❀ क्रदि आह्वाने ❀ ॥ तथा आमनसम् अभिमुखमनस्कं कृणु कुरु ॥ किं च सर्वम् प्राणिजातं प्रदक्षिणम् प्रदक्षिणाचारं विवाहानुकूलव्यापारं कृणु कुरु । यो वरः प्रतिकाम्यः । उक्तोर्थः । तस्मै सर्वं प्रदक्षिणं कुरु इति संबन्धः ॥

हे धनपते वरुण ! पतिसे उद्घोष कराइये कि–"यह कन्या मेरी पत्नी हो" वरको इस कन्याके अभिमुख बुलाइये और वरके मनको इस कन्या की ओर करिये । सब प्राणियोंको विवाहके

अनुकूल व्यापार वाला करिये और अभिलषित वरको विवाहके अनुकूल व्यापार वाला करिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम् । हिरण्यम् । गुल्गुलु । अयम् । औक्षः । अथो इति । भगः ।
एते । पतिऽभ्यः । त्वाम् । अदुः । प्रतिऽकामाय । वेत्तवे ॥७॥

इदं हिरण्यम् हिरण्मयालंकारः गुग्गुलु धूपनद्रव्यविशेषः प्रसिद्धः । अयम् औक्षः प्रलेपनद्रव्यम् । तत्स्वरूपं च कौशिकसूत्रभाष्यकारैर्दर्शितम् ।

आवपेत् सुरभीन् गन्धान् क्षीरं सर्पिस्तथोदके ।
एतद्ध आयनम् इत्याहुरौक्षं तु मधुना सह ।

इति [के० ४. १०, १०. ५]। अथो अपि च तेषां अलंकारादीनाम् अधिष्ठाता [भगः] एतन्नामा देवः एते सर्वे धारणधूपनलेपनैः हे कुमारि त्वां पतिभ्यः सोमगन्धर्वाग्निभ्यः प्रतिकामाय प्रतिनियतम् एनां कन्यां कामयमानं मानुषं पतिं वेत्तवे वेत्तुं लब्धुम् अदुः दत्तवन्तः । ❀ दाप्रो लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । प्रतिकामाय । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी । वेत्तवे इति । "तुमर्थे सेसेनसे०" इत्यादिना विदेर्लाभार्थात् तवेप्रत्ययः ❀ ॥

हे कुमारी ! यह सुवर्णमय अलङ्कार, धूप देनेकी यह गूगल और यह लेप करनेका द्रव्य औक्ष † तथा इन अलंकार आदिके

† केशवीगृह्यपद्धति ४ । १०, १० । ५ में कहा है, कि—"आवपेत् सुरभीन् गन्धान् क्षीरं सर्पिस्तथोदके । एतद्ध आयनमित्याहुरौक्षं

अधिष्ठाता देवता भग—ये सब देवता धारण धूपन और लेपनोंके द्वारा तुझको सोम गंधर्व और अग्नि नामक पतियों (रक्षकों) से नियत मनुष्य पतिको पानेके लिये दे रहे हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु॒ पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्य॑ः ।
त्वम॑स्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते॒ । न॒य॒तु॒ । स॒वि॒ता । न॒य॒तु॒ । पतिः॑ । यः । प्र॒ति॒ऽका॒म्य॑ः ।
त्वम् । अ॒स्यै॒ । धे॒हि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ८ ॥

हे कन्ये ते त्वाम् अभिलक्ष्य सविता सर्वस्य प्रेरको देवः आ नयतु वरम् आगमयतु । यः प्रतिकाम्यः । उक्तोर्थः । पति सोपि नयतु उपयम्य त्वां स्वगृहं प्रापयतु ॥ तथा हे ओषधे व्रीह्यात्मके त्वम् अस्यै कुमार्यै धेहि पतिं विधेहि । प्रयच्छेत्यर्थः । ❀ "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀ ॥

द्वितीये काण्डे षष्ठेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च षष्ठोनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरप्रतापहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये अथर्ववेदार्थप्रकाशके द्वितीये काण्डे षष्ठोनुवाकः ॥

समाप्तं द्वितीयं काण्डम् ॥

तु मधुना सह ॥—सुगंधित चन्दन दूध घी और जलको एकत्रित करके इनको मधुके साथ मिलावे इसको ओस कहते हैं ॥"

हे कन्ये ! तेरी ओर ध्यान देकर सबके प्रेरक सूर्यदेव वरको तेरे समीप लावें और तेरा जो नियत पति है वह भी तेरे साथ विवाह कर तुझे अपने घरको ले जावे तथा हे ओषधि आदि औषधे ! तुम इस कुमारीके लिये पतिको दो ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके छठे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७१) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका द्वितीयकाण्ड श्रू० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक श्रू० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

वैदिक-संहिता

- ☆ ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ☆ ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र।
- ☆ ऋग्वेद संहिता। भाषामात्र। रामगोविन्द त्रिवेदी
- ☆ ऋग्वेद संहिता। सायणाचार्य कृत भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित। 1-8 भाग सम्पूर्ण
- ☆ ऋग्वेद संहिता। (प्रथम अध्याय, सूक्त 1-19) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
- ☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। सम्पा. श्री दौलतराम [illegible]
- ☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र। (निर्णयसागर संस्करण)
- ☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। पदपाठ-उव्वट महीधरभाष्य संवलित तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित डॉ. रामकृष्ण शास्त्री
- ☆ सामवेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ☆ सामवेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' कृत [illegible]
- ☆ अथर्ववेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ☆ अथर्ववेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। 1-8 भाग

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

८'५

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग २

[illegible]

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2420404

ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७

१-८ भाग (सम्पूर्ण)

मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : 23286537

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113

दिल्ली 110007

दूरभाष : 23856391

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 2

Edited with Hindi Translation

By

Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(Oriental Publishers & Distributors)

Chowk (Behind Bank of Baroda Building)

Post Box No. 1069

Varanasi 221001

Tel. # 0542-2420404

e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Reprint Edition 2007

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 1129

Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar

Post Box No. 2113

Delhi 110007

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE

4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A

Ansari Road, Darya Ganj

New Delhi 110002

Printed at Rama Offsets Ltd.

Kamachha, Varanasi

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

तृतीय-काण्ड

सायण-भाष्य और अनुवाद-सहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ वेद जिनके श्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

तृतीयकाण्डे षडनुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अग्निर्णः शत्रून्" इति प्रथमं सूक्तम् । तस्य परसेनामोहनकर्मणि फलीकरणमिश्रितस्य वा कणिकिकामिश्रितस्य वा ओदनपिण्डस्य सांग्रामिकाग्नौ उलूखलेन होमे विनियोगः ॥

तथा अस्मिन्नेव कर्मणि एकविंशतिं शर्कराः शूर्पे कृत्वा परसेनां प्रति निष्पुनीयात् ॥

तथैव अप्वाख्यायै देवतायै अनेन सूक्तेन चरुं जुहुयात् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "अग्निर्नः शत्रून् [३. १] अग्निर्नो दूतः [३. २] इति मोहनान्योदनेनोपयम्य फलीकरणान् उलूखलेन जुहोत्येवमणून् एकविंशत्या शर्कराभिः प्रतिनिष्पुनात्यप्वां यजते" इति [कौ० २. ५] ॥

तीसरे काण्डमें छः अनुवाक हैं। इनमें पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "अग्निर्णः शत्रून्" यह प्रथम सूक्त है। इसका तुस वा कणिका मिले हुए ओदनपिण्डको सांग्रामिक अग्निमें उलूखलसे होम करनेमें विनियोग होता है॥

तथा इसी कर्ममें इक्कीस शर्कराओंको (रेतेके कणोंको) आजमें रख कर शत्रुसेनाकी ओर उड़ावे॥

तथा अप्वाख्यायै देवतायै इस सूक्तसे चरुका होम करे।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"अग्निर्नः शत्रून् [३।१] अग्निर्नो दूतः [३।२] इति मोहनान्यपनोदनेनोपयम्य फलीकरणान् उलूखलेन जुहोत्येवमणून् एकविंशत्या शर्कराभिः प्रतिनिष्पुनात्यप्वां यजते" (कौशिकसूत्र २।५)

तत्र प्रथमा॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः

अग्निः। नः। शत्रून्। प्रति। एतु। विद्वान्। प्रतिऽदहन्। अभिऽशस्तिम्। अरातिम्।
सः। सेनाम्। मोहयतु। परेषाम्। निःऽहस्तान्। च। कृणवत्। जातऽवेदाः॥ १॥

अङ्गति गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति अग्निः। ❀ अगिर्गत्यर्थः। अस्माद् अङ्गेर्नलोपश्च [उ० ४. ५०] इति निप्रत्ययः। "नेड् वशि कृति" इति इट् प्रतिषेधः। नैरुक्तास्तु अग्निशब्दम् अक्षरसाम्येन बहुधा व्युत्पादयन्ति। तथा हि। अग्निरग्रणीः सर्वदेव-

तानां प्रधानभूतः "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" [तै० ब्रा० २, ४. ३. ३] इति श्रुतेः। देवासुरसंग्रामे देवसेनाया अग्रे नयनाद् वा अग्रणीरग्निः। सेनानीरित्यर्थः। "अग्निर्देवानां सेनानीः" इति हि ब्राह्मणम्। यद्वा अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयत इत्यग्निः। सर्वत्र अग्रशब्दोपपदान्नयतेः "सत्सूद्विष०" इत्यादिना कर्तरि कर्मणि वा क्विप्। पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। यद्वा अङ्गं शत्रुसेनारूपं नयति दाहेन आत्मसात् करोति [इति] वा अग्निः। अङ्गशब्दोपपदान्नयतेर्नमतेर्वा रूपसिद्धिः। अथ वा न क्नोपयति स्वसंबद्धपदार्थजातम् अनार्द्रं करोतीति वा अग्निः। क्नूयीशब्दे उन्दे च। अस्मान्नञ्पूर्वाद् रूपम्॥ अपि वा अयनेन आहवनीयादिस्थानगमनेन अभिव्यक्तः प्रज्वलितः नयति हवींषि देवान् प्रापयतीति। अयनेन हविषः स्वात्मप्राप्तिमात्रेण तद्विदग्धं कुर्वन् देवान् नयतीति वा अग्निः। अस्मिन् पक्षे एतेः अञ्जेर्दहतेर्वा नयतेश्च यथाक्रमम् अकारादीस्त्रीन् वर्णान् उद्धृत्य अग्निशब्दो व्युत्पाद्यः। एतत् सर्वं यास्केनोक्तम्। अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः इति [नि. ७. १४] ❀। स च "इन्द्रो मन्थतु" [कौ० २. ७] इत्यादिसूत्रोक्तप्रकारेण मन्थनादिसंस्कारसंस्कृतः सेनाग्निरत्र विवक्षितः। सोयम् अग्निः विद्वान् जयोपायं जानन् नः अस्माकं शत्रून् शातयितुन् द्वेष्यान् प्रत्येतु प्रतिमुखं गच्छतु। प्रतिमुखो भवतु इत्यर्थः। किं कुर्वन्। अभिशस्तिम् आभिमुख्येन अभितो वा हिंसकम्। ❀ शसु हिंसायाम्। अस्मात् कर्तरि क्तिच्। छान्दसं पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्।

क्तिन्नन्तेन वा बहुव्रीहिः ❀ । अरातिम् रातिर्दानम् तेन च श्रेयोमात्रम् उपलक्ष्यते । अस्मच्छ्रेयोविघातिनं शत्रुं प्रतिदहन् प्रातिकूल्येन प्रत्यङ्गं प्रतिपुरुषं वा भस्मसात् कुर्वन् । यद्वा । ❀ प्रतिदहन् इति "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । प्रतिदहनाद्धेतोः शत्रून् प्रत्येतु इति संबन्धः ॥ अपि च सः अग्निः परेषाम् शत्रूणां सेनाम् इनेन अधिपतिना सह वर्तमानां शत्रुहननाय संभूय गमनयुक्तां वा । यथाहुः । सेना सेश्वरा समानगतिर्वा [नि० २. ११] इति । तां चतुरङ्गबलरूपिणीं मोहयतु व्याकुलचित्तां करोतु । युद्धविषयकार्याकार्यविभागज्ञानशून्यां करोतु इत्यर्थः । ❀ मुह वैचित्त्ये ❀ ॥ किं च जातवेदाः जातानां प्राणिनां वेदिता सर्वज्ञोयम् अग्निः शत्रून् निर्हस्तान् हस्तव्यापारशून्यान् आयुधग्रहणासमर्थान् कृणवत् कुर्यात् । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । अस्मात् लिङर्थे लेटि अडागमः । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । तत्संनियोगेन अकारोन्तादेशः । तस्य स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । जातवेदा इति । गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च इति [उ० ४. २२६] असुन् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ❀ ॥

देवासुरसंग्राममें देवसेनाको आगे लेजानेसे अग्रणी कहलाने वाले मन्थन आदि संस्कारसे संस्कृत संग्रामाग्नि हमारी जयके उपायको जानने वाले हैं अतः यह हमारे श्रेयका नाश करनेवाले हमारे हिंसक द्वेषियोंके अंगोंको और प्रत्येक पुरुषोंको भस्म करते हुए शत्रुओंकी ओर बढ़ें । और वह अग्निदेव सेनापतिके साथ मिल कर शत्रुहननके लिये जानेको उद्यत शत्रुओंकी चतुरंगिनी सेनाके चित्तको व्याकुल करदें और यह उत्पन्न हुए प्रत्येक प्राणीको जाननेवाले अग्निदेव शत्रुओंके हाथोंको आयुध उठानेमें असमर्थ कर दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः
प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

यूयम् । उग्राः । मरुतः । ईदृशे । स्थ । अभि । प्र । इत । मृणत ।
सहध्वम् ।
अमीमृणन् । वसवः । नाथिताः । इमे । अग्निः । हि । एषाम् ।
दूतः । प्रतिऽएतु । विद्वान् ॥ २ ॥

हे उग्राः उद्गूर्णबलाः हे मरुतः एतन्नामानो गणदेवाः यूयम् ईदृशे अप्रधृष्ये संग्रामलक्षणे कर्मणि स्थ मत्सहायाः सन्तः संनिहिता भवथ । ❀ ईदृशे इति । इदम्शब्दोपपदात् "त्यदादिषु दृशोनालोचने कञ् च" इति कञ् प्रत्ययः । "इदंकिमोरीश् की" इति इदम ईश् आदेशः ❀ ॥ ततः अभि प्रेत आभिमुख्येन शत्रून् प्रहरणाय गच्छत ॥ अनन्तरं मृणतः हिंसतः युध्यमानान् शत्रून् सहध्वम् अभिभवत । ❀ मृण हिंसायाम् । तुदादित्वात् शः ❀ ॥ तथा इमे वसतः वस्वाख्या गणदेवा नाथिताः जयार्थं प्रार्थिताः सन्तः अमीमृणन् शत्रून् अस्माकम् अभिघातयन्तु । ❀ मृणातेर्ण्यन्ताच्छान्दसे लुङि चङि "उर्ऋत्" "नित्यं छन्दसि" इति ऋदादेशः ❀ ॥ हिशब्दः चार्थे । एषाम् वसूनां दूतः दूतवद् अग्रेसरः । प्रधानभूतः "अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्" [तै० सं० २.१.११ २] इति हि मन्त्रवर्णः । तथाविधः विद्वान् जानन्नग्निश्च प्रत्येतु शत्रून् प्रतिगच्छतु । यद्वा हि यस्माद् एषां वसूनां दूतः अनुचरः ।

"अग्निं दूतं वृणीमहे" [ऋ० १. १२. १] इत्यादिश्रुतेः । अतः सोपि तत्प्रेरितः प्रत्येतु इति ॥

हे भयङ्कर बली मरुद्गण नाम वाले देवताओं! तुम इस अमर्ष्य संग्राममें मेरी सहायता करते हुए मेरे पास स्थित रहो। फिर शत्रुओंके सामने होकर प्रहार करनेके लिये जाओ, तदनन्तर युद्ध करतेहुए शत्रुओंका तिरस्कार करो। और वसु नामक गणदेवता भी विजयके लिये हमारे प्रार्थना करने पर हमारे शत्रुओंको नष्ट करें। और इन वसुओंमें प्रधान और इन वसुओंके दूत विद्वान् अग्निदेव भी शत्रुओंकी ओर बढ़ें ‡ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्रूयतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥

अमित्रऽसेनाम् । मघऽवन् । अस्मान् । शत्रुऽयतीम् । अभि ।

युवम् । तान् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । अग्निः । च । दहतम् । प्रति॥३॥

हे मघवन् धनवन्निन्द्र अस्मान् त्वत्परिचरणकर्तृन् निरपराधानपि शत्रूयतीम् शत्रूनिव आचरन्तीम् अमित्रसेनाम् शत्रुसेनाम् अभि । गच्छेति योग्यक्रियाध्याहारः । ॐ शत्रूयतीम् इति । शत्रुशब्दात् "उपमानाद् आचारे" इति क्यच्। "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः । तदन्तात् शतरि "उगितश्च" इति ङीप् । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः । "शतुरनुमः०" इति ङीप् उदा-

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ११ । २ में कहा है, कि—"अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्—वसुओंमें पहिले अग्नि हमारी रक्षा करें" और ऋग्वेदसंहिता १ । १२ । १ में कहा है, कि—"अग्निं दूतं वृणीमहे—हम अग्निको दूतरूपमें वरण करते हैं" ॥

सत्यम् । ननु शत्रूयतीम् इति शत्रुलक्षणस्य कर्मणः क्यजन्तधात्वर्थेन्तर्भावात् जीवति रोदिति इत्यादिवद् अकर्मकेण भवितव्यम् । सत्यम् । उपमानकर्मणोन्तर्भावेपि उपमेयकर्मणः अनभिधानात् तदपेक्षया सकर्मकत्वाद् अस्मान् इति कर्मणि द्वितीया । तद् उक्तं भगवता पतञ्जलिना "सुप आत्मनः क्यच्" इत्यत्र । "पुत्रीयति माणवकम्" इति प्रस्तुत्य "द्वे अत्र कर्मणी उपमानकर्म च उपमेयकर्म च । उपमानकर्म अन्तर्भूतम् । उपमेयकर्मणा सकर्मको भवति" इति ❀ । हे वृत्रहन् वृत्रस्यासुरस्य घातक इन्द्र त्वम् अग्निश्च युवम् युवां ताम् उक्तां शत्रुसेनां प्रति दहतम् प्रातिकूल्येन भस्मीकुरुतम् ॥

हे धनवान् इन्द्र ! आपकी सेवा करने वाले हम निरपराधियों से भी शत्रुकी समान आचरण करती हुई शत्रुसेनाके सामने आप जाइये । हे वृत्रासुरका संहार करनेवाले इन्द्र ! आप और अग्नि देव दोनों ही प्रतिकूल होकर शत्रुसेनाको भस्म करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥

प्रऽसूतः । इन्द्र । प्रऽवता । हरिऽभ्याम् । प्र । ते । वज्रः । प्रऽमृणन् । एतु । शत्रून् ।
जहि । प्रतीचः । अनूचः । पराचः । विष्वक् । सत्यम् । कृणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ते तव रथः प्रवता प्रवणवता मार्गेण। इन्द्रस्थानापेक्षया शत्रुसेनाप्रदेशः प्रवणः। अनेन अध्वनि रथस्य गतिप्रतिबन्धाभाव उक्तः। ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः। अत्र अर्थग्रहणसामर्थ्यात् तत्यन्तस्यापि अनव्ययत्वम् ❀। हरिभ्याम् एतन्नामकाभ्याम् अश्वाभ्यां युक्तः सन् सु सुष्ठु प्र एतु शत्रुसेनां प्राप्नोतु॥ ततस्ते त्वदीयो वज्रः प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् शत्रून् अस्मदरातीन् प्रैतु प्रगच्छतु॥ त्वं च प्रतीचः प्रतिमुखम् आगच्छतः अनूचः अनु पश्चाद् आगच्छतः पराचः पराङ्मुखं गच्छतश्च शत्रून् जहि विनाशय। ❀ "हन्तेर्जः" इति हौ जादेशः। "असिद्धवद् अत्राभात्" इति तस्यासिद्धत्वात् "अतो हेः" इति हेर्लुगभावः। प्रतीच इत्यादिषु प्रत्याद्युपसर्ग उपपदे "ऋत्विग्०" इत्यादिना अञ्चतेः क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। शसि "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम्। प्रतीचः अनूचः इत्यत्र उदात्तनिवृत्तिस्वरेण शस उदात्तत्वम्। "चौ" इति पूर्वपदान्तोदात्तस्य तदपवादत्वेपि व्यत्ययेनात्र न प्रवृत्तिः। पराच इत्यत्र उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादत्वेन च चुस्वरे प्राप्ते परत्वाद् "अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀। किं च एषाम् शत्रूणां सत्यम् व्यवस्थितं शत्रुहननलक्षणैककार्योद्यतं चित्तम् अन्तःकरणं विष्वक् सर्वतः अञ्चनशीलम् अव्यवस्थितं कार्याकार्यविभागज्ञानशून्यं कृणुहि कुरु। ❀ "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ❀॥

हे इन्द्र! आपका रथ क्रमशः नीचेको ढलकाव वाले मार्गसे हरिनामक घोड़ोंके साथ शत्रुसेनामें आजावे, तदनन्तर आपका वज्र घोररूपसे संहार करता हुआ शत्रुओंकी ओर बढ़े और आप भी सामनेको मुख करके आतेहुए, पीछेसे आतेहुए और पराङ्मुख होकर जाते हुए शत्रुओंका संहार करिये। और इन शत्रुओंके

शत्रुवधरूप एक ही कार्यमें संलग्न—व्यवस्थित—चित्तको कार्य और अकार्यके समझनेसे शून्य अव्यवस्थित करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

इन्द्र । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् ।
अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषूचः । वि । नाशय ।५।

हे इन्द्र अमित्राणाम् शत्रूणां सेनाम् स्वकीयया मायया मोहय मूढां विचित्तां [विगत]कर्तव्यता[चेतसं] कुरु । इन्द्रस्य मायासंबन्धः श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धः । "मायाभिरिन्द्र मायिनम्" [ऋ० १. ११. ७] इति ॥ ततः अग्नेः वातस्य वायोश्च मिलितयोस्तयोः [ध्राज्या] ध्राजिः दहनविषये या वेगिता गतिस्तथाविधया वेगगत्या तयोरेव वा गत्या तान् सेनागतान् शत्रून् विषूचः सर्वतः पलायमानान् कृत्वा वि नाशय । ❀ ध्राज्येति । ध्रज गतौ इत्यस्मात् वसिवपियजिराजिव्रजिध्रजीत्यादिना [उ० ४. १२४] औणादिक इञ् प्रत्ययः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आप शत्रुओंकी सेनाको अपनी मायासे मूढ़ बना दीजिये ‡ तदनन्तर अग्नि और वायुके मिलने पर जो वेगवती दहनगति होती है उनकी समान वेगवाली गति करके आप सेना में उपस्थित शत्रुओंको चारों ओरसे भगाकर नष्ट करिये ॥ ५ ॥

‡ इन्द्रका मायासंबंध अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है । यथा—"मायाभिरिन्द्र मायिनम्" (ऋग्वेदसंहिता १ । ११ । ७) ॥

षष्ठी ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।

चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा ।

चक्षूंषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । पराऽजिता ६

इन्द्रः देवानाम् अधिपतिः सेनाम् शत्रुसंबन्धिनीं मोहयतु ॥ तथा तत्सखिभूता मरुतश्च तां सेनाम् ओजसा बलेन घ्नन्तु । ❁ हन्तेर्लोटि "गमहन०" इत्युपधालोपे "हो हन्तेः०" इति घत्वम् ❁ ॥ अग्निर्देवः चक्षूंषि शत्रूणाम् अक्षीणि आ दत्ताम् स्वयं स्वीकरोतु । अपहरतु इत्यर्थः ॥ एवं मोहनादिना पराजिता पराभूता पुनरेतु प्रतिनिवर्तताम् ॥

[इति] तृतीयकाण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

देवताओंके अधिपति देवराज इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहमें डाल दें इन्द्रदेवके मित्ररूप मरुद्गण भी उस सेनाका बलपूर्वक संहार करें, अग्निदेव शत्रुओंके नेत्रोंको स्वीकार करलें अर्थात् हर लेवें इस प्रकार मोहन आदिसे पराजित हुई शत्रुसेना लौट जावे ६

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७२)

"अग्निर्णो दूतः" इति द्वितीयसूक्तेन परसेनामोहनकर्मणि पूर्वसूक्तोक्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

"अग्निर्णो दूतः" इस दूसरे सूक्तसे शत्रुसेनाको मोहमें डालना आदि पूर्वसूक्तमें कहेहुए कर्म करे । सूत्रका उदाहरण देचुके हैं ।

तत्र प्रथमा ॥

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

अग्निः । नः । दूतः । प्रतिऽएतु । विद्वान् । प्रतिऽदहन् । अभिऽशस्तिम् । अरातिम् ।

सः । चित्तानि । मोहयतु । परेषाम् । निःऽहस्तान् । च । कृणवत् । जातऽवेदाः ॥ १ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो दूतः देवानां दूतवद् अग्रेसरः विद्वान् नः अस्माकम् । शत्रून् इति शेषः । अन्यत् पूर्वसूक्ते व्याख्यातम् । सेनापदस्थाने चित्तानीति विशेषः ॥

अंगनादि गुणयुक्त, देवताओंमें दूतकी समान अग्रणी हमारे शत्रुओंको जानने वाले अग्निदेव हिंसक शत्रुओंको भस्म करते हुए उनकी ओर बढ़ें, शत्रुओंके चित्तोंको मोहमें डालें और प्रत्येक उत्पन्न हुए प्राणीमें विद्यमान अग्नि शत्रुओंके हाथोंको आयुध उठानेमें असमर्थ करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अयम् । अग्निः । अमूमुहत् । यानि । चित्तानि । वः । हृदि ।

वि । वः । धमतु । ओकसः । प्र । वः । धमतु । सर्वतः ॥ २ ॥

हे शत्रवः वः युष्माकं हृदि हृदये यानि चित्तानि अस्मदाक्रमणविषयज्ञानानि सन्ति तानि सर्वाणि अयं हूयमानोऽग्निः अंग

नादिगुणयुक्तः अमूमुहत् मोहयतु । ❀ मुहेर्एयन्ताद् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥ ततो वः युष्मान् ओकसः स्वस्वनिवासस्थानाद् वि धमतु विशेषेण निःसारयतु । स्थानभ्रष्टान् करोतु इत्यर्थः॥ अपि च सर्वतः सर्वस्मादपि स्थानाद् वः युष्मान् प्र धमतु प्रकर्षेण गमयतु । स्थानशून्यान् करोतु इत्यर्थः। ❀ ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । अस्मात् लोटि शपि "पाघ्राध्मा०" इत्यादिना धमादेशः ❀ ॥

हे शत्रुओं ! तुम्हारे हृदयमें हमको दबानेके जो विचार हैं उन सबको यह अग्निदेव मोहग्रस्त करदेवें फिर तुमको तुम्हारे निवासस्थानसे निकाल देवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्र॑ चि॒त्तानि॑ मो॒हय॑न्न॒र्वाङाकू॑त्या चर ।
अ॒ग्नेर्वात॑स्य ध्राज्या॒ तान् विषू॑चो॒ वि ना॑शय ॥३॥

इन्द्र॑ । चि॒त्तानि॑ । मो॒हय॑न् । अ॒र्वाङ् । आऽकू॑त्या । च॒र ।
अ॒ग्नेः । वात॑स्य । ध्राज्या॑ । तान् । विषू॑चः । वि । ना॒श॒य ॥३॥

हे इन्द्र चित्तानि शत्रूणां मनांसि मोहयन् आकूत्या अस्मच्छत्रुसंहरणबुद्ध्या सहितः सन् अर्वाङ् शत्रुसेनाभिमुखश्चर गच्छ ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

हे इन्द्र ! आप शत्रुओंके चित्तोंको मोहमें डालते हुए हमारे शत्रुओंके संहार करनेके भावको मनमें रख शत्रुसेनाके सामने घूमिये तथा अग्नि और वायुके मिलने पर जो उनकी दहनरूपा प्रचण्ड गति होती है, तैसी वेगवती गतिसे शत्रुओंको भगाते हुए नष्ट करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्याकू॑तय ए॒षामि॒तार्थो॑ चि॒त्तानि॑ मुह्यत ।

अथो यद॒द्यैषां हृ॒दि तदे॑षां॒ परि॒ निर्ज॑हि ॥ ४ ॥

वि । आऽकूतयः । एषाम् । इत । अथो इति चित्तानि । मुह्यत ।
अथो इति । यत् । अद्य । एषाम् । हृदि । तत् । एषाम् । परि ।
निः । जहि ॥ ४ ॥

हे व्याकूतयः । विरुद्धाः संकल्पाः यूयम् । एषाम् शत्रूणां मनांसि इत प्राप्नुत ॥ अथो अपि च हे चित्तानि शत्रुसंबन्धीनि मनांसि यूयमपि मुह्यत मौढ्यं प्राप्नुत । यद्वा हे देवाः यूयम् एषाम् शत्रूणां व्याकूतयः विविधाकूत्युत्पादकाः सन्तः इत तान् गच्छत ॥ अथो अपि च तदीयानि चित्तानि मुह्यत मोहयत । ❀ मुह्यतिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ❀ ॥ अथो अपि च हे इन्द्र एषाम् संग्रामार्थं प्रवृत्तानां शत्रूणां हृदि हृदये अद्य इदानीं यत् चिकीर्षितं कार्यजातम् अस्ति एषां संबंधि तत् सर्वं परि निर्जहि परितः सर्वतो नाशय ॥

विरुद्ध सङ्कल्पों ! तुम इन शत्रुओंके मनमें जाओ, और हे शत्रुओंके मनों ! तुम मोहमें पड़ जाओ, हे देवताओं ! तुम इन शत्रुओंके मनमें अनेक प्रकारके विरुद्ध सङ्कल्पोंको उपजानेके लिये यहाँसे उनके पास जाओ और उनके चित्तोंको मोहमें डालो और हे इन्द्र ! संग्रामके लिये उद्यत शत्रुओंके चित्तमें जो विचार भर रहे हैं उन सबको आप नष्ट कर दीजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒मीषां॑ चि॒त्तानि॑ प्रतिमो॒हय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॒र्ग्राह्या॒मित्रां॒स्तम॑सा
विध्य॒ शत्रू॑न् ॥ ५ ॥

अमीवाः । चित्तानि । प्रतिऽमोहयन्ती । गृहाण । अङ्गानि ।
अप्वे । परा । इहि ।

अभि । प्र । इहि । निः । दह । हृत्ऽसु । शोकैः । ग्राह्या ।
अमित्रान् । तमसा । विध्य । शत्रून् ॥ ५ ॥

हे अप्वे अपवाययति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेति अप्वा पापदेवता । ❀ अपपूर्वाद्द वेतेर्वीयतेर्वा "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डप्रत्यये उपसर्गस्यान्त्यलोपश्छान्दसः । यास्कस्त्वाह । अप्वा यद् एनया विद्धोऽपवीयते व्याधिर्वा भयं वा [नि० ६. १२] इति ❀ । हे तथाविधे पापदेवते अमीवाः अस्मच्छत्रूणां चित्तानि मनांसि प्रतिमोहयन्ती प्रत्येकं मौढ्यं गमयन्ती । ❀ हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । प्रतिमोहनाद्धेतोः [अङ्गानि गृहाण] । ❀ गृहाणेति । प्राप्तकाले लोट् ❀ । हे अप्वे त्वत्कर्तृकस्य शत्रुग्रहणस्यायं प्राप्तः कालः तदर्थं परेहि अस्मत्तः पराङ्मुखी सती शत्रून् गच्छ ॥ गत्वा च अभि प्रेहि अभितः सर्वतः शत्रुशरीरं प्रसर्प । प्रविशेत्यर्थः ॥ प्रविश्य च हृत्सु हृदयेषु स्थिता सती शोकैः रोगभयादिजन्यैर्निर्दह ॥ ततः तमसा तमोरूपया ग्राह्या पिशाच्या शत्रून् शातयितॄन् अमित्रान् द्वेष्यान् विध्य ताडय । मारयेत्यर्थः । ❀ व्यध ताडने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥

हे सुख और प्राणोंको हरने वाली अप्वा नामक पापदेवते ! हमारे शत्रुओंके मनोंको मोहमें डालती हुई तू उनके अंगोंमें व्याप्त हो । हे अप्वे ! तेरा शत्रुओंको ग्रहण करनेका समय आगया है अतः तू हमसे पराङ्मुख होकर शत्रुओंकी ओर जा और जा कर शत्रुओंके शरीरमें घुसजा और शत्रुओंके हृदयमें स्थित हो कर रोग और भय आदिके शोकोंसे उनको भस्म कर फिर तमोरूप पिशाचीके द्वारा शत्रुओंको ताडित कर, मार डाल ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्

असौ । या । सेना । मरुतः । परेषाम् । अस्मान् । आऽएति ।
अभि । ओजसा । स्पर्धमाना ।
ताम् । विध्यत । तमसा । अपऽव्रतेन । यथा । एषाम् । अन्यः ।
अन्यम् । न । जानात् ॥ ६ ॥

हे मरुतः असौ परिदृश्यमाना परेषाम् शत्रूणां या सेना ओजसा स्वकीयेन बलातिशयेन स्पर्धमाना अस्माभिः सह संघर्षं युद्धोद्यमं कुर्वाणा सती अस्मान् अभि ऐति अस्मदभिमुखम् आगच्छति । ❀ स्पर्ध संघर्षे । लटः शानच् । "तास्यनुदात्तेत्०" इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ ॥ ताम् तथाविधां शत्रुसेनाम् अपव्रतेन । व्रतम् इति कर्मनाम । अपगतकर्मणा सर्वव्यापारविघातकेन तमसा भवद्भिः प्रेरितेन मायामयेन अन्धकारेण विध्यत ताडयत ॥ तत्प्रकारं दर्शयति । एषाम् शत्रूणां मध्ये अन्यः कश्चित् पुरुषः अन्यम् स्वव्यतिरिक्तं पुरुषं यथा येन प्रकारेण न जानात् न जानीयात् । तथा विध्यतेति संबन्धः । परस्परवार्तानभिज्ञान् कृत्वा विनाशयतेत्यर्थः । ❀ जानात् इति । ज्ञा अवबोधने । लेटि "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः । "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ❀ ॥

[इति] तृतीये काण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे मरुद्गणों ! जो यह शत्रुओंकी सेना अपने बलके कारण हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमारी ओर आरही है इसको आप अपने प्रेरित सब कार्मोके विघातक मायामय अंधकारसे बींध डालिये। (उसकी रीति यह है, कि–) इन शत्रुओंमें कोई भी पुरुष अपनेसे अतिरिक्त दूसरेको न जानसके अर्थात् इनको परस्परकी बातोंसे अनभिज्ञ रख कर मार डालिये ॥ ६ ॥

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (७२)

"अचिक्रदत्" इति सूक्तेन शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशार्थं शत्रुसेनाकारं पुरोडाशम् उदकेषु दर्भान् संस्तीर्य तत्र निनयेत् । ततो निमज्जनार्थं तं पुरोडाशं लोष्टेन पूरयेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन स्वराष्ट्रप्रवेशार्थं क्षीरौदनं संपात्य अभिमन्त्र्य राजानम् आशयेत् ॥

अत्र सूत्रम् । "अचिक्रदत् [३. ३] आ त्वा गन् [३. ४] इति यस्माद् राष्ट्राद् अवरुद्धस्तस्याशायां सेनाविधं पुरोडाशं दर्भेषूदके निनयति" इत्यादि [कौ० २. ७] ॥

अत्र "अचिक्रदत्" इत्यस्य साकमेधाख्यपर्वणि पूर्वेद्युः क्रियमाणायाम् आग्नेय्याम् इष्ट्यां प्रधानयागानुमन्त्रणे विनियोगः । उक्तं वैताने । "कार्तिक्यां साकमेधाः । पूर्वेद्युरिष्ट्याम् अग्नेरनीकवतोचिक्रदत्" इति [वै० २. ५] ॥

"अचिक्रदत्" सूक्तसे शत्रुसे निकाले हुए राजाको फिर अपने राज्यमें प्रवेश करानेके लिये शत्रुकी सेनाके आकार वाले पुरोडाशको जलमें कुशा फैलाकर उन पर रक्खे, तदनन्तर उसको डुबानेके लिये उस पुरोडाश पर मट्टीके ढले रक्खे ॥

तथा इस सूक्तसे अपने राष्ट्रमें प्रवेशकरानेके लिये क्षीरौदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके राजाको प्राशन करावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अचिक्रदत् (३।३)

आत्वा गन् (३।४) इति यस्माद् राष्ट्रात् अवरुद्धस्तस्याशायां सेनाविधं पुरोडाशं दर्भेषूदके निनयति०” (कौशिकसूत्र २।७)

“अचिक्रदत्” का साकमेध नाम वाले कर्ममें पहिले दिन की जाने वाली आग्नेयी इष्टिके प्रधानयागानुमन्त्रणमें विनियोग है। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि—“कार्तिक्यां साकमेधाः। पूर्वेद्युरिष्ट्यां अग्नेरनीकवतोचिक्रदत्” (वैतानसूत्र २।५)॥

तत्र प्रथमा॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥

अचिक्रदत्। स्वऽपाः। इह। भुवत्। अग्ने। वि। अचस्व। रोदसी इति। उरूची इति।

युञ्जन्तु। त्वा। मरुतः। विश्वऽवेदसः। आ। अमुम्। नय। नमसा। रातऽहव्यम् ॥ १ ॥

हे अग्ने असौ स्वराष्ट्रात् प्रच्युतो राजा अचिक्रदत् पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशाय त्वाम् आह्वयति। प्रार्थयत इत्यर्थः। ❀ कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च। अस्माद् ण्यन्ताद् लुङि चङि रूपम्। “अनित्यम् आगमशासनम्” इति नुमभावः ❀॥ स त्वदनुग्रहात् इह स्वराष्ट्रे स्वपाः स्वकीयानां प्रजानां पालकः सुकर्मा वा भुवत् भवतु। ❀ भवतेर्लेटि अडागमः। छान्दसः शपो लुक्। “भूसुवोस्तिङि” इति गुणप्रतिषेधे उवङ् ❀॥ तद्रक्षणार्थं त्वं च उरूची उरूच्यौ उर्वञ्चने। व्यापनशीले इत्यर्थः। ❀ उरुपूर्वाद् [अञ्चतेः]

"अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । उदात्त[निवृत्ति]स्वरेण ङीप उदात्तत्वम् ❀ । ईदृशौ रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ व्यचस्व व्याप्नुहि । ❀ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ❀ ॥ अपि च विश्ववेदसः सर्वविषयज्ञानयुक्ता मरुतः एतन्नामान एकोनपञ्चाशत्संख्याका देवाः हे अग्ने त्वा त्वां युञ्जन्तु प्राप्नुवन्तु । त्वत्सहाया भवन्तु इत्यर्थः । ❀ विश्ववेदस इति । विद ज्ञाने इत्यस्माद् भावे असुन् । "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । [नमसा] नमस्कारेण युक्तं रातहव्यम् दत्तहविष्कम् अमुम् उक्तलक्षणं राजानम् आ नय पुनः स्वराष्ट्रं प्रापय ॥

हे अग्ने ! यह अपने राज्यसे च्युत हुआ राजा फिर अपने राज्यमें प्रवेश करनेके लिये आपका आह्वान करता है, आपकी प्रार्थना करता है, यह आपके अनुग्रहसे अपनी प्रजाओंका पालन करने वाला हो, इसकी रक्षा करनेके लिये आप व्यापनशील द्यावापृथिवीमें व्याप्त होजाइये और हे अग्ने सब विषयोंका ज्ञान रखने वाले मरुत्नामक उञ्चास देवता आपकी सहायता करें । नमस्कार करने वाले और हवि अर्पण कर चुकने वाले इस राजाको आप फिर राज्य पर प्रतिष्ठित करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः

दूरे । चित् । सन्तम् । अरुषासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु । सख्याय । विप्रम् ।

यत्। गायत्रीम्। बृहतीम्। अर्कम्। अस्मै। सौत्रामण्या। दधृषन्त।
देवाः ॥ २ ॥

अरुषासः आरोचमानाः दीप्यमानाः। ❀ अरुष आरोचनाद् इति यास्कः [नि० १२. ७] ❀। ऋत्विजः दूरे चित् सन्तम्। चित् शब्दः अप्यर्थे। स्वर्गे वसन्तं विद्यमानमपि विप्रम्। मेधाविनामैतत्। मेधाविनम् इन्द्रं सख्याय अस्य राज्ञः सखिकर्मणे साहाय्याचरणाय। ❀ "सख्युर्यः" इति यः ❀। आ च्यावयन्तु आगमयन्तु ॥ आनेतव्यस्येन्द्रस्य आधिक्यं दर्शयति। यत् यस्मात् कारणाद् देवाः प्रसिद्धाः अस्मा इन्द्राय गायत्रीम् सोमाहरणादिना प्रख्यातवीर्यं गायत्र्याख्यं छन्दः बृहतीम् अस्मान्न्यूनाधिकाक्षराणाम् अन्येषां छन्दसां प्रधानभूताम्। बृहत्याः प्राधान्यं च अन्यत्र श्रूयते। "यानि च छन्दांस्यत्यरिच्यन्त यानि च नोदभवन् तानि निर्वीर्याणि हीनान्यमन्यन्त। साब्रवीद् बृहती। मामेव भूत्वा माम् उपसंश्रयतेति" [तै० ब्रा० १. ५. १२. ३] "बृहती छन्दसां स्वाराज्यं परीयाय" इति। अर्कम् अर्चनसाधनभूतं मन्त्रात्मकं बृहदुक्थात्मकं शस्त्रम् सौत्रामण्या। सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः। तद्देवत्यया क्रियया दधृषन्त अधारयन्। गायत्र्यादिभिरिन्द्रम् अतिशयितवीर्यम् अकुर्वन्नित्यर्थः। यद्वा गायत्र्यादिकम् अस्मा इन्द्राय। प्रायच्छन् इति शेषः ॥ तथा सौत्रामण्या एतन्नामकेन हविर्यज्ञेन देवा दधृषन्त। पूर्वं विस्रस्तावयवम् इन्द्रं पुनः सर्वावयवोपेतम् अकुर्वन्नित्यर्थः। श्रूयते हि। "इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्। तद् देवाः सौत्रामण्या समभरन्" [तै० सं० ५. ६. ३. ४] इति। तस्माद् अतिशयितवीर्ययोगात् तमेव आ च्यावयन्तु इति संबन्धः ॥

हे प्रदीप्त ऋत्विजो! आप दूर अर्थात् स्वर्गमें भी विद्यमान

बुद्धिमान् इन्द्रको इस राजासे मित्रता करनेके लिये अर्थात् इसकी सहायता करनेके लिये लाइये, क्योंकि-देवताओंने इस इन्द्रमें सोम लाना आदिसे प्रसिद्ध वीर्य वाले गायत्रीच्छन्दको और इससे न्यून अक्षरवालोंमें प्रधान बृहती † छन्दको और पूजनके साधन बृहदुक्थ मन्त्ररूप शस्त्रको सौत्रामणिके द्वारा स्थापित किया है अर्थात् गायत्री आदिसे इन्द्रको परमवीर्यवान् कर दिया है । वा गायत्री आदि इसको दी हैं और सौत्रामणि नाम वाले हविर्यज्ञसे पहिले टूटे फूटे अंग वाले इन्द्रको देवताओंने सब अवयवोंसे संयुक्त कर दिया है ‡ इस कारण परमवीर्यवान् इन्द्रको ही लाइये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒श्वथस्त्वा॒ राजा॒ वरु॑णो ह्वयतु॒ सोम॑स्त्वा ह्वयतु॒ पर्व॑तेभ्यः ।

† बृहतीछन्दका प्राधान्यत्व अन्यत्र भी प्रसिद्ध है । तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ५ । १२ । ३ में कहा है, कि-"यानि च छन्दांस्यत्यरिच्यन्त यानि च नोदभवन् तानि निर्वीर्याणि हीनान्यमन्यन्त । साब्रवीद्‌ बृहती । मामेव भूत्वा मां उपसंश्रयतेति ॥-जो छन्द बढ़े हुए थे और जो उठ नहीं सके थे उन्होंने अपनेको हीन और निर्वीर्य माना । उस समय बृहतीने कहा, कि-मेरा आश्रय लो" । "बृहती छन्दसां स्वाराज्यं परियाय ।-बृहतीको छन्दोंका स्वाराज्य प्राप्त हुआ" ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । ३ । ४ में कहा है, कि-"इंद्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत् । तद्‌ देवाः सौत्रामण्या समभरन्" ॥

इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

अप्ऽभ्यः । त्वा । राजा । वरुणः । ह्वयतु । सोमः । त्वा । ह्वयतु । पर्वतेभ्यः ।

इन्द्रः । त्वा । ह्वयतु । विट्ऽभ्यः । आभ्यः । श्येनः । भूत्वा । विशः । आ । पत । इमाः ॥ ३ ॥

हे परैरवरुद्धराष्ट्र राजन् त्वा त्वां वरुणो राजा अद्भ्यः स्वसंबन्धिनीभ्यः सकाशात् ह्वयतु आकारयतु । ❀ अद्भ्य इति । "अपो भि" इति तकारः ❀ ॥ तथा सोमः लतारूपेणावस्थितः पर्वतेभ्यः स्वनिवासस्थानेभ्यः त्वां ह्वयतु ॥ इन्द्रश्च विट्पतिः । "स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी । वृषेन्द्रः" [ऋ० १०. १५२. २] इति श्रूयते । आभ्यः यासु प्रजासु त्वम् इदानीं निवससि आभ्यो विड्भ्यः प्रजाभ्यः सकाशात् त्वा त्वां ह्वयतु । राज्यभ्रष्टस्य राज्ञः त्रीणि निवासस्थानानि संभावितानि । समुद्रमध्यम् पर्वताः देशान्तरं वा । तेभ्यः सर्वेभ्यः स्वकीयेभ्यो वरुणादयस्त्वाम् आह्वयन्तु । पुनः स्वराज्यप्रवेशायेत्यर्थः ॥ एवं तैर्देवैराहूतस्त्वम् इमाः स्वकीयाः पूर्वं पालिता विशः प्रजाः श्येनो भूत्वा । श्येनः पक्षिविशेषः । स इव शीघ्रगतिः परैरनाधर्षितश्च भूत्वा आ पत आगच्छ । ❀ पत्लृ गतौ । लोटि "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀ ॥

दूसरोंने जिसका राज्य दबा लिया है, हे ऐसे राजन् ! वरुण तुझको जलसे बुलावें, तथा लतारूपसे स्थित सोम अपने निवासस्थान पर्वतोंसे तेरा आह्वान करें और प्रजाओंके स्वामी इन्द्रदेव

तुझको जिन प्रजाओंमें तू अग्रज कल निवास † कर रहा है, उन प्रजाओंसे तुझको बुलावे तात्पर्य यह है, कि-राज्यसे भ्रष्ट हुएके समुद्र पर्वत और देशान्तर ये तीन निवासस्थान होते हैं, उन सब अपने स्थानोंसे वरुण आदि अपने राज्यमें प्रवेश करानेके लिये बुलावें। इस प्रकार उन देवताओंके बुलाने पर तू अपनी पूर्वपालित प्रजाओंमें शत्रुओंसे अप्रधृष्य होकर श्येनकी समान शीघ्र गतिसे आ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं संजाता अभि-
संविशध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः। हव्यम्। नयतु। आ। परस्मात्। अन्यऽक्षेत्रे। अपऽरुद्धम्। चरन्तम्।
अश्विना। पन्थाम्। कृणुताम्। सुऽगम्। ते। इमम्। सऽजाताः। अभिऽसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः शंसनीयगतिः द्युस्थानो देवः अन्यक्षेत्रे परराष्ट्रे अवरुद्धम् शत्रुभिर्निरुद्धं चरन्तम् वर्तमानम् अत एव हव्यम् ह्वातव्यम्। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वः संप्रसारणम् ❀। ईदृशं तं राजानं परस्मात् परराष्ट्राद् आ नयतु स्वदेशं प्रति प्रापयतु ॥

† ऋग्वेदसंहिता १०। १५२। २ में कहा है, कि-"स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः।-इन्द्र स्वस्ति देने वाले, प्रजाओंके पति, वृत्रासुरके संहारक और युद्ध (करने वालों) को वशमें करने वाले तथा वर्षा करने वाले हैं।" ॥

तथा हे राजन् ते तव अश्विना अश्वनौ देवौ । ❀"सुपां सुलुक्०" इत्याकारः ❀ । पन्थाम् पन्थानम् । ❀ छान्दसम् आत्वं नलोपो वा ❀ । आगमनमार्गं सुगम् सुखेन गन्तुं योग्यं निरोधकशत्रु-शून्यं कृणुताम् कुरुताम् । ❀ सुगम् इति । "सुदुरोरधिकरणे" इति डः ❀ । हे सजाताः समानजन्मानो बन्धवः यूयम् इमम् पुनः स्वराष्ट्रं प्रविष्टं राजानम् अभिसंविशध्वम् अभितः सर्वतः प्रविश्य संविशध्वम् उपविश्य सेवध्वम् । ❀विशेर्व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

प्रशंसनीय गति वाले स्वर्गनिवासी देव दूसरेके राज्यमें शत्रुओंके रोकनेके कारण पड़े हुए अत एव आह्वान करने योग्य तुझ राजाको दूसरेके राष्ट्रसे अपने देशमें पहुँचावें तथा हे राजन् ! अश्विनीकुमार देवता आगमनके मार्गको शत्रुको निरोधसे शून्य अत एव सुखसे गमन करने योग्य करें । हे बांधवों ! तुम अपने फिर आये हुए इस राजासे मिल कर इसका सेवन करो ॥४॥

पञ्चमी ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्वयन्तु । त्वा । प्रतिऽजनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ।

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदीधरन् ॥५॥

प्रतिजनाः हे राजन् त्वा त्वां वयन्तु सांतत्येन सेवन्ताम् । ❀ वेञ् तन्तुसंताने इत्यस्मात् लोट् । कर्तरि शप् ❀ ॥ तथा प्रतिमित्राः प्रतिकूलानि मित्राणि अवृषत विरोधं परित्यज्य संभजन्ताम् । ❀ वृङ् संभक्तौ इत्यस्मात् छान्दसे लुङि "लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु" इति पक्षे इडभावः । "उश्च" इति सिचः कित्वाद् गुणाभावः ❀ ॥ इन्द्राग्नी विश्वे देवाश्च विशि । जातावेकवच-

नम् । विशु प्रजासु ते तव क्षेमम् रक्षणम् अदीधरन् धारयन्तु कुर्वन्तु । ❀ धारयतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

हे राजन् ! जो तुम्हारे मनुष्य तुमसे प्रतिकूल रहते थे वे सदा तुम्हारी सेवा करें और तुम्हारे मित्र तुमसे प्रतिकूल रहते थे, वे विरोधको त्याग कर तुमसे प्रेम करें। इन्द्र अग्नि और विश्वेदेवता प्रजाओंके रक्षणकी शक्तिको तुझमें स्थापित करें ५

षष्ठी ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवम् । विऽवदत् । सऽजातः । यः । च । निष्ट्यः ।

अपाञ्चम् । इन्द्र । तम् । कृत्वा । अथ । इमम् । इह । अव । गमय ॥६॥

हे राजन् ते तव हवम् स्वराष्ट्रप्रवेशविषयं पुनराह्वानं यः सजातः समानजन्मा । समबल इत्यर्थः । यश्च निष्ट्यः नीचः । निकृष्टबल इत्यर्थः । ❀ "अव्ययात् त्यप्" इत्यत्र "निसो गते" इति वचनात् त्यप् । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते" इति सकारस्य मूर्धन्यः ❀ । अनयोरन्यतरः कश्चिद् विवदत् विवदेत् नानुमन्येत । ❀ विपूर्वाद् वदेर्लेटि अडागमः ❀ । हे इन्द्र तम् उभयविधं शत्रुम् अपाञ्चम् अपगतं वहिष्कृतं कृत्वा अथ अनन्तरम् इमम् प्रकृतं राजानम् इह अस्मिन् राष्ट्रे अव गमय बोधय राष्ट्रस्य अयमेव राजेति प्रख्यापयेत्यर्थः ॥

इति प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे राजन् ! तेरे राज्य फिर प्रवेश-विषयक आह्वानका जो सम बल वाला वा न्यून बल वाला वा इन दोनोंसे अति-रिक्त और कोई अनुमोदन न करे हे इन्द्र ! इन सब प्रकारके

शत्रुओंको बहिष्कृत करके तुम इस वास्तविक राजाको इस राष्ट्रमें (यही राजा है इस प्रकार) प्रसिद्ध करो ॥ ६ ॥

प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (७४) ॥

"आ त्वा गन्" इति सूक्तेन स्वराष्ट्रप्रवेशकर्मण्येव पूर्वसूक्तोक्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

अत्र "पथ्या रेवतीः" [७] इत्येषा प्रायणीयेष्ट्यां पथ्यास्वस्तियागानुमन्त्रणे विनियुक्ता । "दीक्षान्ते प्रायणीयायाम्" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीः [७] वेदः स्वस्तिः" [७. २६. १] इति हि वैतानं सूत्रम् [३. ३] ॥

'आ त्वा गन्' इस सूक्तसे स्वराष्ट्रप्रवेशकर्ममें ही पूर्वसूक्तमें कहे हुए कर्म करे । सूत्रको पहिले ही लिख चुके हैं ।

इस सूक्तकी 'पथ्या रेवती' नामवाली सातवीं ऋचाका प्रायणेष्टि के पथ्यास्वस्तियागानुमन्त्रणमें विनियोग है । वैतानसूत्र ३ । ३ का इस विषयमें प्रमाण है, कि—"दीक्षान्ते प्रायणीयायाम्" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीः (७) वेद स्वस्तिः" (७ । २६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज ।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

आ । त्वा । गन् । राष्ट्रम् । सह । वर्चसा । उत् । इहि । प्राङ् । विशाम् । पतिः । एकऽराट् । त्वम् । वि । राज ।
सर्वाः । त्वा । राजन् । प्रऽदिशः । ह्वयन्तु । उपऽसद्यः । नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

हे राजन् त्वा त्वां राष्ट्रम् शत्रुभिराक्रान्तं स्वकीयं राज्यम् आ गन् पुनरागमत्। ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀॥ ततस्त्वं वर्चसा बलेन सह उदिहि उदितः प्रख्यातो भव। ❀ इणो लोट् ❀॥ अनन्तरं प्राक् पूर्वं विशाम् प्रजानां सर्वासां पतिः पालकः सन् एकराट् निःसपत्नो मुख्यो राजा भूत्वा त्वं वि राज विशेषेण दीप्यस्व। ❀ एकराडिति। एकशब्दोपपदाद् राजतेः "सत्सूद्विष०" इति क्विप्। "व्रश्च०" इत्यादिना षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे ❀॥ हे राजन् त्वा त्वां सर्वाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्याः तदभिमानिन्यो देवताः तत्रस्था जना वा ह्वयन्तु स्वामित्वेन अनुजानन्तु॥ इह अस्मिन् स्वकीये राष्ट्रे उपसद्यः सर्वैरुपसदनीयः सेव्यः। ❀ व्यत्ययेन यत् ❀। नमस्यः नमस्कार्यश्च भव। ❀ "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इति क्यच्। तदन्ताद् "अचो यत्" इति कर्मणि यत्। अतोलोपयलोपौ। "तित् स्वरितः"❀। यद्वा नमस्यः नमस्कारार्हः। ❀ "छन्दसि च" इति यः। छान्दसम् अन्तस्वरितत्वम् ❀॥

हे राजन्! शत्रुओं पर दबा हुआ तुम्हारा अपना राज्य तुम्हें फिर प्राप्त होगया है, अतः बलके साथ उदय हो—प्रसिद्ध हो। फिर पहिले तुम प्रजाओंके पालक बनते हुए शत्रुरहित मुख्य राजा बनकर विशेषरूपसे दीप्त हो, हे राजन्! पूर्व आदि सब श्रेष्ठ दिशाओंके अभिमानी देवता और पूर्व आदि दिशाओंमें रहने वाले मनुष्य तुमको स्वामीरूपमें जानें और अपने राज्यमें तुम सबसे सेवनीय और सबके नमस्कारके पात्र बनो॥ १॥

द्वितीया॥

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः

वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥

त्वाम् । विशः । वृणताम् । राज्याय । त्वाम् । इमाः । प्रऽदिशः । पञ्च । देवीः ।

वर्ष्मन् । राष्ट्रस्य । ककुदि । श्रयस्व । ततः । नः । उग्रः । वि । भज । वसूनि ॥ २ ॥

हे राजन् त्वां विशः प्रजा राज्याय । ❀ राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" इत्यत्र पुरोहितादिषु "राजाऽसे" इति पाठाद् यक् ❀ । राजभावाय राजकर्मणे वा वृणताम् संभजताम् ॥ तथा इमाः परिदृश्यमानाः प्रदिशः प्राच्याद्याः पञ्च मध्यदिशा सह पञ्चसंख्याका देवीः देव्यो द्योतमानाः । वृणताम् इति संबन्धः ॥ ततः राष्ट्रस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि शरीरे । ❀ सप्तम्या लुक् । "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपप्रतिषेधः ❀ । स्वपालनीयभूशरीर इत्यर्थः । तत्रापि ककुदि ककुदीवोन्नते स्थाने प्रशस्ते वा सिंहासने श्रयस्व आरुरुव ॥ ततः उपवेशानन्तरम् उग्रः उद्गूर्णबलः शत्रुभिरनभिभाव्यः सन् वसूनि धनानि नः अस्माकं सेवकानां वि भज यथायोग्यं प्रयच्छ । ❀ "द्व्यचोऽतस्तिङः" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे राजन् ! प्रजाएँ आपको राजकर्म करनेके लिये वरण करें ये जो मध्यदिशासहित पूर्व आदि दमकती हुई पाँच श्रेष्ठ दिशायें हैं, ये आपकी सेवा करें, तदनन्तर आप राष्ट्रके शरीर (भूशरीर) के ककुदकी समान उन्नत प्रशस्त सिंहासन पर बैठिये। और सिंहासन पर बैठनेके अनन्तर प्रचण्ड बलवाले होकर हम सेवकों को यथायोग्य धन दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑रातै ।
जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

अच्छ॑ । त्वा॒ । यन्तु॒ । ह॒विनः॑ । स॒ऽजा॒ताः । अ॒ग्निः । दू॒तः । अ॒जि॒रः । सम् । च॒रा॒तै॒ ।
जा॒याः । पु॒त्राः । सु॒ऽमन॑सः । भ॒व॒न्तु॒ । ब॒हुम् । ब॒लिम् । प्रति॑ । प॒श्या॒सै॒ । उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

हे राजन् त्वा त्वां सजाताः समानजन्मानः अन्ये राजानो हविनः । हवम् आह्वानम् आज्ञारूपम् एषाम् अस्तीति हविनः तादृशाः सन्तः । अच्छ इत्याभिमुख्ये । [यन्तु] अभिगच्छन्तु । सर्वे राजानस्त्वदाज्ञावशवर्तिनो भवन्तु इत्यर्थः ॥ [तथा] अजिरः त्वया प्रेरितः गमनशीलो वा दूतस्त्वदीयो भटः अग्निः । लुप्तोपमम् एतत् । अग्निरिव अप्रधृष्यः सं चरातै संचरतु । ❀ संपूर्वाच्चरतेर्लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः । अजिर इति । अज गतिक्षेपणयोः इत्यस्मात् अजिरशिशिरशिथिल० [उ १. ५३] इत्यादिना किरजन्तो निपातितः ❀ ॥ अपि च जायाः भार्याः पुत्राश्च तदुपलक्षिताः सर्वे बान्धवाः सुमनसः पुनःस्वराष्ट्रप्राप्त्या सौमनस्ययुक्ता भवन्तु । ❀ "सोमनसी अलोमोषसी" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उग्रः उद्गूर्णबलस्त्वं बहुम् अधिकं बहुविधं वा बलिम् उपायनं करं वा प्रति पश्यासै प्रतिमुखम् आगतं पश्य । ❀ प्रतिपूर्वाद् दृशेर्लेटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । ऐत्वे पूर्ववत् ❀ ॥

हे राजन् ! आपके सजातीय अन्य राजे आपकी आह्वान रूप आज्ञाको मानते हुए आपके सामने आवें अर्थात् सब राजे आपकी आज्ञामें रहें और आपका प्रेरित दूत अग्निकी समान अप्रधृष्य रूपसे विचरण करे और आपकी स्त्री पुत्र बांधव आदि फिर राज्य मिलनेसे प्रसन्न मन वाले हों और प्रचण्ड बल वाले आप सामने आई हुईं भेटोंको देखें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु ।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

अश्विना । त्वा । अग्रे । मित्रावरुणा । उभा । विश्वे । देवाः । मरुतः । त्वा । ह्वयन्तु ।
अध । मनः । वसुऽदेयाय । कृणुष्व । ततः । नः । उग्रः । वि । भज । वसूनि ॥ ४ ॥

हे राजन् त्वा त्वाम् अग्रे प्रथमम् अश्विना अश्विनौ देवौ उभा उभौ मित्रावरुणा मित्रावरुणौ च । ह्वयन्तु इति संबन्धः ॥ तथा त्वा त्वा विश्वे देवाः मरुतश्च ह्वयन्तु राज्यप्रवेशं कारयन्तु ॥ अध अथ राज्यप्रवेशानन्तरम् । ❀ "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । हे राजन् मनः त्वदीयं वसुदेयाय अर्थिभ्यो धनप्रदानाय कृणुष्व कुरु । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । वसुदेयायेति । "अचो यत्" इति भावे यत् ।

"ईद्यति" इति ईकारान्तादेशः। "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वम्। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ ततो न इत्यादि व्याख्यातम्

हे राजन्! अश्विनीकुमार और मित्रावरुण नामक दोनों देवता आपका राज्यप्रवेश करावें और मरुद्देवता भी आपको राज्यप्रवेश करावें, फिर राज्यप्रवेशके अनन्तर आप अपने मनको याचकोंको धन देनेमें लगाइये और प्रचण्डबलसम्पन्न होकर हमको यथायोग्य धन दीजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।

तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत् स उपेदमेहि ५

आ। प्र। द्रव। परमस्याः। पराऽवतः। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम्।

तत्। अयम्। राजा। वरुणः। तथा। आह। सः। त्वा। अयम्। अह्वत्। सः। उप। इदम्। आ। इहि ॥ ५ ॥

हे दूरदेशस्थित राजन् परावतः। दूरनामैतत्। परमस्याः परावतः अत्यन्तदूरदेशात् आ प्र द्रव स्वराष्ट्राभिमुखं शीघ्रम् आगच्छ। ❀ परमस्या इति। व्यत्ययेन स्याडागमः। [परावत इति।] "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः। अत्र अर्थग्रहणसामर्थ्यात् लिङ्गसंख्यायोगः समर्थितः ❀ ॥ स्वराष्ट्रं प्रविशतः ते तव उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ शिवे मङ्गलकारिण्यौ स्ताम् भवताम्। ❀ अस्तेर्लोटि तसस्ताम्। "श्नसोरल्लोपः" इति अकार-

लोपः ❀ ॥ तत् तस्मिन् त्वदागमनविषये अयं वरुणो राजा तथा यथा प्रागुक्तं तथा तेनैव प्रकारेण आह ब्रूते। सोयम् उक्तो वरुणस्त्वा त्वाम् आह्वत् आह्वयति। ❀ ह्वयतेश्छान्दसे लुङि "लिपिसिचिह्वश्च" इति अङ्। "आतो लोप इटि च" इति आकारलोपः ❀ ॥ स वरुणेनाहूतस्त्वम् इदम् स्वराष्ट्रम् उपेहि उपागच्छ ॥

हे दूरदेशमें स्थित राजन्! अत्यन्त दूर देशसे अपने राष्ट्रकी ओर शीघ्रतासे आइये अपने राष्ट्रमें प्रवेश करते समय द्यौ और पृथिवी आपका मंगल करनेवाले होवें, यह राजा वरुण भी आपके आगमनके विषयमें जैसे पहिले कहा था, तैसे कहते हैं, यह वरुण देव आपका आह्वान करते हैं, इस प्रकार वरुणदेवके बुलाने पर आप अपने राज्यमें आइये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥ ६ ॥

इन्द्रऽइन्द्र। मनुष्याः। परा। इहि। सम्। हि। अज्ञास्थाः। वरुणैः सम्ऽविदानः।
सः। त्वा। अयम्। अह्वत्। स्वे। सधऽस्थे। स। देवान्। यक्षत्। सः। ऊं इति। कल्पयात्। विशः ॥ ६ ॥

इन्द्रेन्द्र। आदरार्थं पुनर्वचनम्। हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त मनुष्याः मनुष्यान् अस्मान्। ❀ शसो नत्वाभावश्छान्दसः ❀। यद्वा मनोरपत्यभूताः प्रजाः प्रति परेहि आगच्छ। हि यस्मात् कार-

णात् हे इन्द्र त्वं वरुणैः वरुणेन संविदानः ऐकमत्यं प्राप्तः। पूजायां बहुवचनम्। सम् प्रज्ञास्थाः एतदाह्वानविषये समानज्ञानवान् असि तस्माद् आगच्छेति संबन्धः। ❀ ज्ञा अवबोधने। अस्मात् लुङि "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इत्यात्मने पदम् ❀ ॥ सोयं वरुणेन ऐकमत्यं प्राप्त इन्द्रः हे राजन् त्वा त्वाम् अह्वत् आह्वयति। ततः स्वराष्ट्रं प्रविशेति शेषः॥ प्रविश्य च स्वे स्वकीये सधस्थे सहस्थाने स्वराष्ट्रे। ❀ सहशब्दोपपदात् तिष्ठतेरधिकरणे कः। "सधमादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀। तत्र वर्तमानः स राजा देवान् इन्द्रादीन् यक्षत् यजतु। ❀ यजेर्लेटि अडागमः। "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀॥ स उ स एव राजा विशः प्रजाः कल्पयात् स्वस्वव्यापारेषु कल्पयतु नियुङ्क्ताम्। ❀ कल्पयतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥

हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेव! मनुकी सन्तानभूत प्रजाओंके पास आप आइये। क्योंकि–आपने वरुणदेवके साथ सम्मति करके इस राजाके आह्वानके विषयकी आज्ञा दी है इस कारण आप आइये। हे राजन्! वरुणके साथ एकमत हुए ये इन्द्र आपका आह्वान करते हैं अतः अपने राज्यमें प्रवेश करिये॥ अपने राज्यमें प्रवेश करके यह राजा इन्द्र आदि देवताओंका यजन करे और यही राजा प्रजाओंको अपने २ व्यापारमें नियुक्त करे॥ ६॥

सप्तमी॥

पथ्या॑ रे॒वती॑र्बहु॒धा विरू॑पाः॒ सर्वाः॑ सं॒गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन्।
तास्त्वा॒ सर्वाः॑ संविदा॒ना ह्व॑यन्तु दश॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॑ वशे॒ह॥ ७॥

पथ्याः । रेवतीः । बहुऽधा । विऽरूपाः । सर्वाः । सम्ऽगत्य । वरीयः ।
ते । अक्रन् ।
ताः । त्वा । सर्वाः । सम्ऽविदानाः । ह्वयन्तु । दशमीम् । उग्रः ।
सुऽमनाः । वस । इह ॥ ७ ॥

रेवतीः रैमत्यः धनवत्यः । ❀ "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् । "रयेर्मतौ बहुलम्" इति संप्रसारणम् । पररूपत्वम् । गुणः । "रेशब्दान्मतुप उदात्तत्वं वक्तव्यम्" इति मतुप उदात्तत्वम् । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । पथ्याः पथोऽनपेताः मार्गहितकारिण्यः एतत्संज्ञा देवताः । ❀ "धर्मपथ्यर्थन्यायाद् अनपेते" इति यत् ❀ । यद्वा पथ्याः पथि साधवः । ❀ छान्दसो यत् ❀ । रेवतीः आपः । तदभिमानिन्यो देवताः । "आपो वै रेवतीः" [तै० ब्रा० ३. २. ८. २] इति श्रुतेः । ता विशेष्यन्ते । बहुधा बहुप्रकारं वर्तमाना विरूपाः विविधाकाराः एवंविधा याः सन्ति ताः सर्वाः संगत्य संभूय हे राजन् ते तव वरीयः उरुतरं श्रेयः अक्रन् कुर्वन्तु । ❀ वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयसुनि "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वरादेशः । अक्रन्निति । करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ । हे राजन् ताः सर्वा देवताः संविदानाः ऐकमत्यं प्राप्ताः सत्यः [त्वा] ह्वयन्तु त्वां राष्ट्रप्रवेशार्थम् आह्वयन्तु । ताभिराहूतः इह अस्मिन् राष्ट्रे उग्रः उद्गूर्णबलस्त्वं सुमनाः संतुष्टमनाः सन् दशमीम् नवतिसंवत्सरोर्ध्वभाविनीं वर्षदशात्मिकां चरमावस्थाम् । ❀ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ❀ । तावत्पर्यन्तं वस निवस । जरापर्यन्तं स्वकीयं राज्यं निष्कण्टकं भुङ्क्ष्वेत्यर्थः ॥

इति तृतीयकाण्डे प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे राजन् ! धनवान् मार्गमें हित करनेवाले रेवती नामक अनेक प्रकारके जो जलदेवता ‡ हैं वे सब एकत्रित होकर आपका परम कल्याण करें हे राजन् ! ये सब देवता एकमत होकर आपको राष्ट्रप्रवेशके लिये आह्वान करें, उनके आह्वान करने पर आप प्रचंड बल वाले और मनमें संतुष्ट होकर नब्बे वर्षसे आगे आने वाली सौ वर्षकी अवस्था तक राज्यमें रहिये अर्थात् बुढ़ापे तक निष्कण्टक रीतिसे राज्यको भोगिये ॥ ७ ॥

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७१) ॥

"आयमगन् पर्णमणिः" इत्यनेन सूक्तेन तेजोबलायुर्धनादिपुष्ट्ये पलाशवृक्षमणिं वासितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्। "आयमगन् [३. ५] अयं प्रतिसरः [८. ५] अयं मे वरणः [१०. ३.] अरातीयोः [१०. ६] इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" इति [कौ० ३. २] ॥ उक्तो वासितशब्दार्थः ॥

तथा "आङ्गिरसीं संपत्कामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ पलाशमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "आयमगन्निति मन्त्रोक्तम् आङ्गिरस्याम्" इति [न० क० १९] ॥

"आयमगन् पर्णमणिः" इस सूक्तसे तेज बल आयु और धन आदिकी पुष्टिके लिये पलाशवृक्षकी मणिको वासित सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इसी बातको सूत्रमें भी कहा है, कि-"आयगमन् (इस प्रथमकांडके पञ्चमसूक्त) अयं प्रतिसरः (इस अष्टमकाण्डके पञ्चमसूक्त) अयं मे वरुणः (इस दशमकांडके तृतीयसूक्त) और अरातीयोः (इस दशमकाण्डके छठे

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। २। ८। २ में कहा है, कि-"आपो वै रेवतीः।-जल रेवती हैं" ॥

सूक्त) में कथित वासितोंको बाँधे" (कौशिक सूत्र ३ । २) ॥
वासित शब्दका अर्थ पहिले कहा जा चुका है ॥

तथा "आंगिरसीं सम्पत्कामस्य—सम्पत्ति चाहने वालेके लिये आंगिरसी महाशान्तिको करावे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आंगिरसी महाशान्तिके पलाशमणिबन्धनमें भी यह सूक्त है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"आयमगन्निति मंत्रोक्त आंगिरस्याम्" (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आयमंगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् । ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्व- प्रयावन् ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । पर्णऽमणिः । बली । बलेन । प्रऽमृणन् । सऽपत्नान् ।
ओजः । देवानाम् । पयः । ओषधीनाम् । वर्चसा । मा । जिन्वतु । अप्रऽयावन् ॥ १ ॥

अयम् अस्मदादिभिः संपदर्थं ध्रियमाणः पर्णमणिः । पर्णः पलाशवृक्षः सोमपर्णोद्भूतत्वात् "सोमं पर्णः सोमपर्णाद्धि जातः" [तै० ब्रा० १.२.१.६] इति श्रुतेः । आगन् आगच्छतु । किंविधः । बली अतिशयितबलवान् । अभिमतफलं दातुं समर्थ इत्यर्थः । अत एव बलेन स्वकीयेन सामर्थ्यातिशयेन सपत्नान् शत्रून् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् । आगच्छतु इति संबन्धः । पुनस्तमेव विशिनष्टि । देवानाम् इन्द्रादीनाम् ओजः बलरूपः तथा ओषधीनाम् सर्वासां

पयः सारभूतः । ओषधिसारसोमजन्यत्वात् । एवंलक्षणः पर्णमणिः अभयावन् अभयावा मां विहाय अनपगन्ता सन् [मा] मां वर्चसा तेजसा जिन्वतु प्रीणयतु । तेजस्विनं करोतु इत्यर्थः । ❀ हिवि दिवि धिवि [जिवि] प्रीणनार्थाः । इदित्वाद् नुम् । अभयाव-न्निति । यातेर्वनिप् । "सुपां सुलुक्॰" इति सोर्लुक् । नलोपा-भावश्छान्दसः ❀ । यद्वा हे अभयावन् अभयातः सर्वदा धार्यमाणः । ❀ "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपाभावः ❀ ॥ हे मणे मा मां तेजसा जिन्वतु । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । जिन्वेत्यर्थः ॥

अभिमत फल देनेमें समर्थ अत एव अपने बलसे शत्रुओंको मारती हुई यह पलाश†वृक्षकी मणि आवे, इन्द्र आदिकी बलरूप और सब ओषधियोंकी सारभूत यह पर्णमणि मुझे न छोड़ कर मुझे तेजसे तेजस्वी करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मयि॑ क्ष॒त्रं प॑र्णमणे॒ मयि॑ धारयताद् र॒यिम् ।
अ॒हं रा॒ष्ट्रस्या॑भीव॒र्गे नि॒जो भू॑यासमुत्त॒मः ॥ २ ॥

मयि॑ । क्ष॒त्रम् । प॒र्ण॒ऽम॒णे । मयि॑ । धा॒र॒य॒ता॒त् । र॒यिम् ।
अ॒हम् । रा॒ष्ट्रस्य॑ । अ॒भि॒ऽव॒र्गे । नि॒ऽजः । भू॒या॒स॒म् । उ॒त्ऽत॒मः ॥२॥

हे पर्णमणे पलाशनिर्मितमणे क्षत्रम् । बलनामैतत् । बलं क्षत्रिय-जातिं वा मयि मणिधारके धारयतात् धारय स्थापय ॥ तथा रयिम् धनं च [मयि] धारयतात् । ❀ धारयतेर्हेस्तातङ् आदेशः ❀ ॥ अहं च त्वद्धारणाद् राष्ट्रस्य राज्यस्य अभीवर्गे आवर्जने स्वा-धीनीकरणे निजः अनन्यसहायः उत्तमः उत्कृष्टतमो भूयासम् ।

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । १ । ६ में कहा है, कि—"सोऽयं पर्णः सोमपर्णाद्धि जातः ।—यह पलाश सोमपर्णसे उत्पन्न हुआ ।

स्वबाहुबलेनैव सर्वं राष्ट्रं वशीकृत्य सर्वश्रेष्ठो भवानीत्यर्थः। ❀ अभीवर्गे इति। अभिपूर्वाद् वृजेर्भावे घञ्। "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः। उत्तम इति। "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठाद् अन्तोदात्तः ❀ ॥

हे पलाशनिर्मितमणे! बलको और धनको मुझमें स्थापित कर और मैं भी राज्यको स्वाधीन करनेमें दूसरेकी अपेक्षा न करने वाला होऊँ अर्थात् अपने भुजबलसे ही सम्पूर्ण राष्ट्रको वशमें करके सर्वश्रेष्ठ होजाऊँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

यम्। निऽदधुः। वनस्पतौ। गुह्यम्। देवाः। प्रियम्। मणिम्। तम्। अस्मभ्यम्। सह। आयुषा। देवाः। ददतु। भर्तवे ॥ ३ ॥

देवाः इन्द्राद्या यम् अभीष्टफलदत्वेन प्रसिद्धम् अत एव प्रियम् प्रियंकरं गुह्यम् गोपनीयं मणिं वनस्पतौ पलाशवृक्षे निदधुः निहितवन्तः। ❀ वनानां पतिर्वनस्पतिः। पारस्करादित्वात् सुट्। "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम्। गुह्यम् इति। गुहू संवरणे इत्यस्मात् "शंसिगुहिदुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्" इति क्यप् ❀। तम् तथाविधं मणिम् अस्मभ्यं भर्तवे भरणाय। ❀ तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ❀। आयुषा सह देवाः ददतु प्रयच्छन्तु। ❀डुदाञ् दाने इत्यस्मात् "अदभ्यस्तात्" इति झस्य अदादेशः❀॥

इन्द्र आदि देवताओंने अभीष्ट फलदाता होनेसे प्रसिद्ध अत एव प्रिय गोपनीय मणिको पलाशवृक्षमें रक्खा है देवता उस मणिको हमारा भरण करनेके लिये दें और आयुको भी दें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सोम॑स्य प॒र्णः सह॑ उ॒ग्रमाग॒न्निन्द्रे॑ण द॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टः
तं प्रि॑या॒सं ब॒हु रोच॑मानो दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ४

सोम॑स्य । प॒र्णः । सहः॑ । उ॒ग्रम् । आ । अ॒गन् । इन्द्रे॑ण । द॒त्तः ।
वरु॑णेन । शि॒ष्टः ।

तम् । प्रि॒या॒स॒म् । ब॒हु । रोच॑मानः । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । श॒तऽशा॑रदाय ४

सोमस्य द्युलोकस्थायाः सोमलतायाः पर्णः आहरणसमये भूमौ पतितपर्णाद् उद्भूतः । श्रूयते हि "तृतीयस्याम् इतो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णम् अच्छिद्यत । तत् पर्णोभवत् । तत् पर्णस्य पर्णत्वम्" [तै० सं० ३. ५. ७. १] इति । उग्रम् उद्गूर्णं प्रभूतं सहः पराभिभवनक्षमं बलम् उक्तलक्षणबलरूपः एवंलक्षणो मणिः आगन् माम् आगच्छतु । कथंभूतः । इन्द्रेण देवेन दत्तः वरुणेन शिष्टः अनुशिष्टः अनुज्ञातः । तम् उक्तलक्षणं पर्णमणिम् बहु बहुविधं रोचमानः रोचमानम् । ❀ द्वितीयायाः "सुपां सुलुक्०" इति सुः ❀ । मणिं प्रियासम् प्रियासं धारयेयम् । किमर्थम् । शतशारदाय शतसंवत्सरपरिमिताय दीर्घायुत्वाय चिरकालजीवनाय । ❀ दीर्घायुत्वायेति पदम् "दीर्घायुत्वाय बृहते रणाय" [२. ४. १] इत्यत्र व्याख्यातम् । शरदेव शारदम् । प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकः अण् । यद्वा शरदः ऋतोः संबन्धी शारदः संवत्सरः । "तस्येदम्" इति अण् । उभयत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

दूसरेका तिरस्कार करनेमें समर्थ सोमके पर्णकी मणि मुझे प्राप्त हो । इन्द्रदेवकी दी हुई और वरुणदेवकी अनुशिष्ट दमकती

हुई पर्णमणिको मैं सौ वर्ष तककी दीर्घायु पानेके लिये धारण करता हूं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ मांरुक्षत् पर्णमणिर्मह्या अंरिष्टतांतये ।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

आ । मा । अरुक्षत् । पर्णऽमणिः । मह्यै । अरिष्टऽतांतये ।
यथा । अहम् । उत्तरः । असानि । अर्यम्णः । उत । सम्ऽविदः ५

अयं पर्णमणिः मह्यै महत्यै अरिष्टतातये । रिष्टं हिंसनम् तदभावः अरिष्टम् । तत्क्रियायै । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति अरिष्टशब्दात् करोत्यर्थे तातिल् प्रत्ययः । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ । मा माम् आरुक्षत् आरोहतु मयि चिरं वर्तताम् । ❀ रुहेश्छान्दसे लुङि "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सप्रत्ययः ❀ । अर्यम्णः । अरीन् यमयतीति अर्यमा अधिकबलः पुरुप्रदाता च । अर्यमा अधिकधनः । "यः खलु वै ददाति सोर्यमा" [तै० सं० २. ३. ४. १] इति श्रुतेः । तस्माद् अधिकात् उत अपि च संविदः समानज्ञानात् । समबलाद् इत्यर्थः । तस्माद् यथा येन प्रकारेण अहम् मणिधारकः उत्तरः उत्कृष्टतरः असानि भवानि । तथा आरुक्षत् इति संबन्धः । ❀ अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । अर्यम्ण इति । "अल्लोपोऽनः" इत्यकारलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ ॥

यह पर्णमणि मेरा बड़ा भारी कल्याण करनेके लिये मुझमें चिरकाल तक रहे मैं शत्रुओंका दमन करने वाले परम बली बड़े

भारी दाता अर्यमा ‡ से और समान बल वालेसे भी जिस प्रकार श्रेष्ठ होऊँ तिस प्रकार यह मणि मेरे (हाथ पर) चढ़ी है ॥५॥

षष्ठी ॥

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॑रा ये म॑नी॒षिण॑ः ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ६

ये । धीवा॑नः । र॒थ॒ऽका॒राः । क॒र्मा॑राः । ये । म॒नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒ऽस्तीन् । पर्ण॑ । मह्य॑म् । त्वम् । सर्वा॑न् । कृ॒णु॒ । अ॒भितः॑ । जना॑न् ६

ये धीवानः धीवराः मात्स्यिकाः । ❀ दधातेः क्वनिपि "घुमा-स्था०" इत्यादिना ईत्वम् ❀ । ये च रथकाराः रथनिर्मातारो जातिविशेषाः । उक्तं हि ।

रथकारस्तु माहिष्यात् करण्यां यस्य संभवः

इति [अमरः] । वैश्यायां क्षत्रियाद् उत्पन्नो माहिष्यः । शूद्रायां वैश्याद् उत्पन्ना करणी । ये कर्माराः अयस्कारप्रभृतयः ये च मनीषिणः मनस ईशितारो बुद्धिविशेषोपजीविनः । हे पर्ण तद्विकार मणे त्वम् । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । सर्वान् उक्तो-पलक्षितान् जनान् मह्यम् । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । मम अभितः सर्वतः उपस्तीन् सेवार्थं समीपे विद्यमानान् उपासीनान् वा कृणु कुरु । ❀ उपपूर्वाद् अस्तेः कर्तरि क्तिच् । "छन्दस्युभयथा" इति सार्वधातुकत्वाद् भूभावाभावः । अल्लोपश्च । आसेवां । आदि-लोपश्छान्दसः ❀ ॥

जो मच्छीसे आजीविका चलानेवाले धीवर हैं और जो रथको

‡ "यः खलु वै ददाति सोऽर्यमा ॥–जो देता है वह अर्यमा है" (तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । ४ । १) ॥

बनाने वाले रथकार हैं ‡ और जो लुहार आदि कर्मकार हैं और बुद्धिसे आजीविका चलानेवाले मनीषी हैं हे पर्ण (पलाश) से बनी हुई मणे ! इन सब मनुष्योंको तू मेरे चारों ओर सेवाके लिये समीपमें विद्यमान कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ७

ये । राजानः । राजऽकृतः । सूताः । ग्रामण्यः । च । ये ।
उपऽस्तीन् । पर्ण । मह्यम् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः । जनान् ७

ये राजानः अन्यदेशाधिपा राजकृतः राजानं कुर्वन्ति राज्ये अभिषिञ्चन्तीति राजकृतः सचिवाः सूताः । ब्राह्मण्यां क्षत्रियाद् उत्पन्नः सूतः । तज्जातीयाः सारथ्योपजीविनो वा । ये [च] ग्रामण्यः ग्रामस्य नेतारः । ❀ "सत्सूद्विष०" इति क्विप् । "एरनेकाचः०" इति यण् ❀ ॥ उपस्तीन् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ।

जो दूसरे देशके राजे हैं और जो राज्यमें राजाका अभिषेक करनेवाले राजकृत् मंत्री हैं और जो ब्राह्मणसे क्षत्रियामें उत्पन्न हुए सारथ्यकर्मसे आजीविका चलानेवाले सूत हैं और जो ग्राम के नेता हैं, हे पर्णमणे ! उन सबको तू मेरी सेवा करनेके लिये मेरे चारों ओर विद्यमान कर ॥ ७ ॥

‡ रथकार रथ बनाने वालोंकी एक जाति है। जो वैश्य जाति की स्त्रीमें क्षत्रियसे उत्पन्न होता है वह माहिष्य कहलाता है और शूद्रमें वैश्यसे उत्पन्न हुई कन्या करणी कहलाती है, अमरकोशमें कहा है, कि—माहिष्यसे करणीमें जो उत्पन्न होता है वह रथकार होता है । यथा—"रथकारस्तु माहिष्यात् करण्यां यस्य संभवः" ॥

अष्टमी ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

पर्णः । असि । तनूऽपानः । सऽयोनिः । वीरः । वीरेण । मया ।
सम्ऽवत्सरस्य । तेजसा । तेन । बध्नामि । त्वा । मणे ॥ ८ ॥

हे मणे त्वं पर्णोसि अमृतमयस्य सोमस्य पर्णविकारोसि ॥ अत एव तनूपानः तन्वाः शरीरस्य पाता रक्षितासि ॥ वीरः वीरस्त्वं वीरेण वीर्यवता मया सयोनिः वीर्यवत्त्वकारणेन समानजन्मासि ॥ तेन उक्तेन कारणेन संवत्सरस्य एतदुपलक्षितकालभेदनिर्वाहकस्य आदित्यस्य तेजसा युक्तं त्वा त्वां बध्नामि धारयामि त्वदीयतेजोवाप्तये धारयामि ॥

इति तृतीयकाण्डे प्रथमोनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] प्रथमोनुवाकः ॥

हे मणे ! तू अमृतमय सोमका पर्णविकार है, अत एव शरीरकी रक्षक है, तू वीर है वीर्यवान् होनेसे मेरी समानजन्मा है, इस कारण सूर्यके तेजसे भरी हुई तुझको मैं तेरा तेज प्राप्त करनेके लिये धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७६) ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । "तत्र पुमान् पुंसः" इति प्रथमं सूक्तम् । तेन अभिचारकर्मणि खदिरोत्थाश्वत्थमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन पाशान् इङ्गिडालंकृतान् संपात्य अभिमन्त्र्य शत्रुमर्मणि निखनेत् ॥

तथैव अनेन सूक्तेन पूर्ववत् पाशान् अभिमन्त्र्य "तेधराञ्चः [७]" इत्यृचा नदीप्रवाहे प्रक्षिपेत् ॥

एवमेव पूर्ववद् अभिमन्त्रितान् पाशान् "प्रैणान्नुदे" [८] इति ऋचा अश्वत्थशाखया प्रणुदेत् ॥

[सूत्रितं हि । "पुमान् पुंस इति मन्त्रोक्तम् अभिहुतालंकृतं बध्नाति यावन्तः सपत्नास्तावन्तः पाशान् इङ्गिडालंकृतान् संपातवतोनूक्तान् ससूत्रांश्मभ्रा मर्मणि निखनति नावि 'प्रैणान्' ८ 'नुदस्व काम' ९. २. ४ इति मन्त्रोक्तं शाखया प्रणुदति 'तेध-राञ्चः' ७ इति प्रप्लावयति" इति । कौ० ६. २]

तथा "अभिचरतः अभिचर्यमाणस्य च" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ मणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "आङ्गिरस्यां पुमान् पुंस इति मन्त्रोक्तम् अभिचरतो-भिचर्यमाणस्य च" इति [न० क० १९] ॥

द्वितीय अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इनमें 'पुमान पुंसः' यह पहिला सूक्त है । इससे अभिचारकर्ममें खदिरमें उगे हुए अश्वत्थ की मणिका संपातन और अभिमंत्रण करके बाँधे ।

तथा इस सूक्तसे इंगिडालंकृत पाशोंको अभिमंत्रित और सम्पातित कर शत्रुमर्ममें निखनन करे ।

तथा इसी सूक्तसे पहिलेकी समान पाशोंको अभिमन्त्रित करके 'तेधराञ्चः' इस सातवीं ऋचासे नदीमें प्रवाहित कर देय ।

इसी प्रकार पहिलेकी समान अभिमन्त्रित पाशोंको "प्रैणान्नुदे" इस आठवीं ऋचासे अश्वत्थशाखासे प्रेरित करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि—"पुमान् पुंस इति मन्त्रोक्तं अभिहुता-लंकृतं बध्नाति यावन्तः सपत्नास्तावन्तः पाशान् इंगिडालंकृतान् सम्पातवतोऽनूक्तान् ससूत्रांश्मभ्रा मर्मणि निखनति नावि "प्रैणान्" ८ 'नुदस्व कामः' ९ । २ । ४ इति मन्त्रोक्तं शाखया प्रणुदति

'तेधराञ्चः' ७ इति प्रसावयति ॥–अर्थात् पुमान् पुंसः इस मंत्रमें कहे हुए अभिहुत अलंकृत मणिको बाँधे, जितने शत्रु हों उतने इङ्गिड़ालंकृत सम्पात वाले अनूक्त ससूत्र पाशोंको सेनाके द्वारा शत्रुके मर्ममें बींधे। और 'तुदस्व कामः' इस नवमकाण्डके द्वितीय अनुवाकके चतुर्थसूक्तके मन्त्रमें कही हुई शाखाके द्वारा नावमें (बैठ) 'प्रैणान्' इस आठवीं ऋचासे पाशोंको प्रेरित करे और 'तेधराञ्चः' इस सातवें मन्त्रसे बहावे (कौशिकसूत्र ६ । २)॥

तथा "अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य–जिसके ऊपर अभिचार हुआ हो उसके लिये और अभिचार करने वालेके लिये" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित महाशान्तिके मणिबन्धनमें भी यह सूक्त है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि–'आंगिरस्यां पुमान् पुंसः इति मन्त्रोक्तं अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च ॥–अभिचार करने वाले और जिस पर अभिचार किया जाता है उसके लिये भी की जाने वाली आंगिरसी महाशांतिमें पुमान् पुंसः मन्त्रमें कही हुई मणिको बाँधे" ॥

तत्र प्रथमा ॥

पुमा॑न् पुं॒सः परि॑जातोऽश्व॒त्थः ख॑दि॒रादधि॑ ।
स ह॑न्तु॒ शत्रू॑न् माम॒कान् यान॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम् ॥ १ ॥

पुमा॑न् । पुं॒सः । परि॑ऽजातः । अ॒श्व॒त्थः । ख॒दि॒रात् । अधि॑ ।
सः । ह॒न्तु॒ । शत्रू॑न् । मा॒म॒कान् । यान् । अ॒हम् । द्वेष्मि॑ । ये । च॒ । माम् ॥ १ ॥

पुमान् पुंस्त्वोपेतो वीर्यातिशययुक्तो वृक्षः पुंसः तादृशाद् वृक्षात् परिजातः प्रादुर्भूतः । एतदेव विशिनष्टि । अश्वत्थः अश्वरूपः सन् अग्निस्तिष्ठत्यत्रेति अश्वत्थः । श्रूयते हि । "अग्निर्देवेभ्यो निरायत । अश्वो रूपं कृत्वा सोश्वत्थे संवत्सरम् अतिष्ठत् । तद्

अश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्" [तै० ब्रा० १. १. ३.६] इति। अस्मादेव अग्निसंबन्धाद् अश्वत्थस्य शत्रुहननसमर्थत्वेन पुंस्त्वव्यपदेशः। खदिराद् अधि। अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी। खदिरवृक्षाद् उद्भूतः। इतरवृक्षेभ्यः खदिरस्य अतिशयितसारवत्त्वेन पुंस्त्वनिर्देशः। तथात्वं च गायत्रीसारजत्वात्। श्रूयते हि। "वषट्कारो वै गायत्र्यै शिरोच्छिनत्। तस्यै रसः परापतत्। स पृथिवीं प्राविशत्। स खदिरोभवत्" [तै० सं० ३. ५. ७. १] इति। स खदिरोत्पन्नोश्वत्थो मणिरूपेण धार्यमाणः मामकान् मदीयान् शत्रून् शातयितृन् हन्तु हिनस्तु। तानेव शत्रून् विशिनष्टि। अहं यान् शत्रून् द्वेष्मि अपकारकारिणो द्वेष्मि ये च शत्रवो माम्। द्विषन्तीति विपरिणामेन संबन्धः। तान् उभयविधान् हन्तु इति संबन्धः॥

परमवीर्यमय अत एव पुरुषवृक्ष कहलाने वाले अश्वत्थ ‡ और गायत्रीके सारसे उत्पन्न अतः परमबली पुरुष कहलाने वाले खदिर वृक्ष † से उत्पन्न अर्थात् खदिरवृक्ष (खैर) में उत्पन्न अश्वत्थ (पीपल) मणिरूपसे धारण करने पर—मैं जिनसे द्वेष करता हूँ और जो मुझसे द्वेष करते हैं उन शत्रुओंको नष्ट कर डाले॥१॥

---

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १। १। ३। ६ में कहा है, कि—"अग्निर्देवेभ्यो निरायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरम् अतिष्ठत्। तत् अश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्॥—अग्नि देवताओंसे छुप गए और अश्वका रूप बना कर वर्ष भर तक अश्वत्थमें रहे थे, यही अश्वत्थका अश्वत्थत्व है"॥

† तैत्तिरीयसंहिता ३। ५। ७। १ में कहा है, कि—"वषट्कारो वै गायत्र्यै शिरोऽच्छिनत्। तस्यै रसः परापतत्। स पृथिवीं प्राविशत्। स खदिरोऽभवत्॥—वषट्कारने गायत्रीके शिरको काटा उसका रस गिरा और पृथिवीमें प्रविष्ट होगया, वही खदिर होगया"॥

द्वितीया ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

तान् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । शत्रून् । वैबाधऽदोधतः ।
इन्द्रेण । वृत्रऽघ्ना । मेदी । मित्रेण । वरुणेन । च ॥ २ ॥

हे वैबाध । विविधं बाधते कण्टकैरिति विबाधः खदिरः । तत्रोत्पन्नो वैबाधः । ❀ "तत्र जातः" इत्यण् ❀ । तादृश अश्वत्थ तद्विकारमणे । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । दोधतः भृशं कम्पयितृन् । ❀ धूञो यङ्लुगन्तात् शतरि अन्त्यलोपश्छान्दसः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । ईदृशान् तान् उक्तान् विविधान् शत्रून् निः शृणीहि निःशेषं घातय । ❀ शॄ हिंसायाम् । क्र्यादिः । प्वादित्वात् ह्रस्वत्वम् ❀ ॥ मणेः शत्रुहननसामर्थ्यं दर्शयति इन्द्रेणेत्यादिना । वृत्रघ्ना वृत्राख्यम् असुरं हतवता । ❀ हन्तेः "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति भूते काले क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे अल्लोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । तादृशेन इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी स्नेही । इन्द्रादिभिः शत्रुहननसामर्थ्यं सारम् आपादितोयम् आश्वत्थो मणिरित्यर्थः । ❀ ञिमिदा स्नेहे । ग्रहादित्वाद् णिनिः । घञन्ताद् वा मत्वर्थीय इनिः ❀ ॥

कण्टकोंके द्वारा अनेक प्रकारसे बाधा देने वाले वैबाधोपनामक खदिरमें उत्पन्न अश्वत्थसे बनी हुई मणे ! पूर्वोक्त शत्रुओंका तू पूर्णरूपसे संहार कर । (मणिकी शत्रुहननकी शक्ति दिखाते हैं, कि–) वृत्रका संहार करनेवाले इंद्रके और वरुणके साथ हे मणे ! तेरा स्नेह है । तात्पर्य यह है, कि–इन्द्र आदिने शत्रुसंहारकी सार यह आश्वत्थ मणि धारण की थी ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथाश्वत्थ निरभनोन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ३

यथा । अश्वत्थ । निःऽअभनः । अन्तः । महति । अर्णवे ।
एव । तान् । सर्वान् । निः । भङ्ग्धि । यान् । अहम् । द्वेष्मि ।
ये । च । माम् ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ मण्युपादानभूत वृक्ष महति विस्तीर्णे अर्णवे अन्तरिक्षे । "अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे" [तै० सं० ४. ५. ११. १] इति लिङ्गाद् महार्णवः अन्तरिक्षम् । तत्र अन्तः मध्ये अन्तःखदिरकोटरे यथा येन प्रकारेण निरभिनः निर्भिद्य उत्पन्नोसि । ❀ भिदिर् विदारणे । अस्मात् लङि हल्ङ्यादिना सिपो लोपे "दश्च" इति रुत्वम् ❀ । एव एवं तान् वक्ष्यमाणान् उभयविधान् सर्वान् शत्रून् निर्भिन्द्धि निःशेषेण विदारय । ❀ भिदेर्लोटि "हुझल्भ्यः०" इति हेर्धिरादेशः । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः । "झरो झरि सवर्णे" इति दकारलोपः ❀ ॥ यान् अहम् इत्यादि गतम् ॥

हे मणिके उपादान अश्वत्थ ! तू अर्णव उपनामवाले † अंतरिक्षमें खदिरकी खखोड़लको भेद कर जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है इसी प्रकार तू जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं उन सब शत्रुओंको पूर्णरूपसे नष्ट कर ॥ ३ ॥

† तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । ११ । १ में कहा है, कि—"अस्मिन् महत्यर्णवे अन्तरिक्षे ॥—इस महान् अर्णव अन्तरिक्षमें" ॥

चतुर्थी ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।

तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥४॥

यः । सहमानः । चरसि । ससहानःऽइव । ऋषभः ।

तेन । अश्वत्थ । त्वया । वयम् । सऽपत्नान् । सहिषीमहि ॥४॥

यः अश्वत्थः सहमानः परान् अभिभवन् चरति वर्तते । किमिव । सासहानः स्वकीयेन दर्पेण सजातीयान् अन्यान् अत्यर्थम् अभिभवन् ऋषभ इव । ❀ सहेर्यङ्लुगन्तात् लटः शानच् ❀ । हे अश्वत्थ तेन उक्तलक्षणेन त्वया वयम् त्वद्विकारभूतमणिधारकाः सपत्नान् शत्रून् सहिषीमहि सहामहे । नाशयाम इत्यर्थः । ❀ सहेराशीर्लिङि रूपम् ❀ ॥

अपने दर्पसे अन्य सजातीय वृक्षोंको दबाता हुआ अश्वत्थ जैसे वृषभकी समान बढ़ता है हे अश्वत्थ ! तेरी विकार मणिको धारण करनेवाले हम ऐसे तुझको शत्रुओंका संहार करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।

अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ५

सिनातु । एनान् । निःऽऋतिः । मृत्योः । पाशैः । अमोक्यैः ।

अश्वत्थ । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥ ५ ॥

निर्ऋतिः पापदेवता अमोक्यैः सर्वथा मोक्तुम् अशक्यैः । ❀ "कृत्याश्च" "शकि लिङ् च" इति शक्यार्थे मुचेर्ण्यत् प्रत्ययः ।

"चजोः कु घिरायतोः" इति कुत्वम् ❀ । तथाविधैर्मृत्योः पाशैः मारणापहर्वभिर्दामभिः [एनान् उक्तान् शत्रून्] सिनातु बध्नातु । ❀षिञ् बन्धने । क्र्यादिः❀॥ अश्वत्थ शत्रून् इत्यादि व्याख्यातम्॥

हे अश्वत्थ ! मैं जिनसे द्वेष करता हूँ और जो मुझसे द्वेष करते हैं उन मेरे शत्रुओंको पापदेवता निर्ऋति किसी प्रकार भी न छुड़ाये जा सकने वाले मृत्युके पाशोंसे बाँध लेवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्द्धि सहस्व च ॥६॥

यथा । अश्वत्थ । वानस्पत्यान् । आऽरोहन् । कृणुषे । अधरान् ।
एव । मे । शत्रोः । मूर्धानम् । विष्वक् । भिन्द्धि । सहस्व । च ॥ ६ ॥

हे अश्वत्थ [यथा] त्वं वानस्पत्यान् । अत्र वनस्पतिप्ररोहार्हो देशो वनस्पतिशब्देनोच्यते । तत्र भवा वानस्पत्याः । ❀ "दित्य-दित्यादित्य०" इति भवार्थे ण्यः । यद्वा समूहार्थे ण्यः ❀ । तान् वृक्षान् आरोहन् अधरान् नीचान् कृणुषे करोषि । एव एवं मे मदीयस्य शत्रोर्मूर्धानं शिरो विष्वक् सर्वतो भिन्द्धि विदारय । तथा सहस्व च अभिभव । विनाशयेत्यर्थः ॥

हे अश्वत्थ ! तुम वनस्पति उत्पन्न होने योग्य देशमें उत्पन्न हुए वनस्पति वृक्षों पर चढ़ते हुए जैसे उन्हें नीचा करते चले जाते हो इसी प्रकार मेरे शत्रुओंके शिरोंको पूर्ण रीतिसे विदीर्ण करो और उनका तिरस्कार करो उनको नष्ट कर डालो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।

न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

ते । अधराञ्चः । प्र । स्रवन्ताम् । छिन्ना । नौःऽइव । बन्धनात् ।

न । वैबाधऽप्रनुत्तानाम् । पुनः । अस्ति । निऽवर्तनम् ॥ ७ ॥

ते पूर्वोक्ता द्विविधाः शत्रवः अधराञ्चः अधोमुखम् अञ्चन्तो गच्छन्तः प्र स्रवन्ताम् नदीप्रवाहस्य उपर्येव गच्छन्तु । न कदाचित् पारं प्राप्नुवन्तु इत्यर्थः । ❀ अधरशब्दोपपदाद् अञ्चतेः क्विन् । स्रवन्ताम् इति । च्युङ् प्लुङ् गतौ । भ्वादिः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । बन्धनात् । बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धनं तीरस्थवृक्षादिकम् बध्नात्यनेन नावम् इति [वा] बन्धनं रज्जुः । ततश्छिन्ना वियुक्ता नौरिव । सा यथा तीरम् अप्राप्ता नदीप्रवाहेण अधो नीयते तद्वत् ॥ अश्वत्थस्य महिमख्यापनार्थं पारप्राप्तिशङ्कां वारयति नेति । वैबाधप्रणुत्तानाम् वैबाधः खदिरोत्पन्नोऽश्वत्थः तेन प्रणुत्तानां प्रणुन्नानाम् अवाङ्मुखं प्रेरितानां शत्रूणां पुनर्निवर्तनम् पुनरागमनं नास्ति । ❀ "नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्" इति विकल्पनाद् निष्ठानत्वाभावः ❀ ॥

जिसमें नावें बाँधी जाती हैं उननदीके तटके वृक्षोंसे वा रस्सियों से छिन्न हुई नौका जैसे नदीके प्रवाहसे नीचेकी ओर ही घसीटी जाती हैं, इसी प्रकार दोनों प्रकारके मेरे शत्रु नदीके प्रवाहके ऊपर ही रहें, पार कभी न पहुँच सकें, (क्योंकि–) खदिरमें उत्पन्न हुए अश्वत्थासे प्रेरित शत्रुओंका पुनः आगमन नहीं होसकता ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

प । एनान् । नुदे । मनसा । प्र । चित्तेन । उत । ब्रह्मणा ।

प्र । एनान् । वृक्षस्य । शाखया । अश्वत्थस्य । नुदामहे ॥ ८ ॥

एनान् प्रागुक्तान् शत्रून् मनसा शत्रुनिरसनविषयज्ञानवता अन्तःकरणेन प्र णुदे स्थानाद् उच्चाटयामि ॥ चित्तेन मन्त्रार्थचिन्तनपरेण मनोवृत्तिविशेषेण प्र णुदे ॥ उत अपि च ब्रह्मणा मन्त्रेण अभिमन्त्रितया अश्वत्थस्य वृक्षस्य शत्रुतक्षनसाधनस्य शाखया एनान् शत्रून् प्र णुदामहे । ❀ णुद प्रेरणे । तुदादिः । स्वरितेत्वाद् आत्मनेपदम् ❀ ॥

इति तृतीयकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मैं इन पहिले कहे हुए शत्रुओंको शत्रुका तिरस्कार करनेके भावसे सम्पन्न चित्तके द्वारा स्थानसे उच्चाटन करता हूँ, मन्त्रार्थचिन्तनपर मनोवृत्तिविशेषसे शत्रुका स्थानसे उच्चाटन करता हूँ और मन्त्रसे अभिमन्त्रित शत्रुको काटनेकी साधन अश्वत्थवृक्षकी शाखासे इन शत्रुओंको हम नष्ट करते हैं ॥ ८ ॥

तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७७) ॥

"हरिणस्य" इति सूक्तेन क्षेत्रियव्याधिभैषज्ये हरिणशृङ्गमणेर्बन्धनम् तच्छृङ्गसहितोदकपायनम् हरिणचर्मणः शङ्कुच्छिद्रभागं मज्वाल्य उदके प्रक्षिप्य तेनोदकेन उषःकाले व्याधितस्यावसेचनम् यवहोमम् अभिमन्त्रितभक्तभक्षणं च कुर्यात् । तद् उक्तं संहिताविधौ । "हरिणस्येति बन्धनपायनाचमनानि शङ्कुधानज्वालेनापनक्षत्रेऽवसिञ्चति" इत्यादि [कौ० ४. ३] । अपनक्षत्रे उषःकाले इत्यर्थः ॥

"कौमारीं व्याधितस्य बालस्य" इति [न० क० १७] विहितायां कौमार्याख्यायां महाशान्तौ हरिणविषाणाग्रे मणिबन्धनेऽपि एतत् सूक्तम् । [तद् उक्तं] नक्षत्रकल्पे । "हरिणस्येति विषाणाग्रं कौमार्याम्" इति [न० क० १९] ॥

'हरिणस्य' सूक्तसे क्षेत्रियव्याधिकी शान्तिके लिये हरिणके सींगकी मणिको बाँधे उसके सींग मिले हुए जलको पिलावे। हिरनके चर्मके शंकुछिद्रभागको मज्वलित करके जलमें डाले, उस जलसे मातःकालमें रोगी पर अभिषेक करे, जौका होम करे और अभिमन्त्रित भातको खावे। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-"हरिणस्येति बंधनपायनाचमनाग्नि शंकुधानज्वाले-नापनत्त्रेऽवसिञ्चति" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४ । ३)॥

"कौमारीं व्याधितस्य बालस्य॥-रोगी बालकके लिये कौमारी महाशांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित कौमारी महा-शान्तिके हिरनके सींगके अग्रभागकी मणिके बंधनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि-"हरिणस्येति विषाणाग्रं कौमार्याम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

हरिणस्य । रघुऽस्यदः । अधि । शीर्षणि । भेषजम् ।

सः । क्षेत्रियम् । विऽस्रानया । विषूचीनम् । अनीनशत् ॥ १ ॥

रघुष्यदः रघु लघु शीघ्रं स्यन्दते गच्छतीति रघुष्यद् । ❀ स्यन्देः क्विप् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "बालमूल०" इत्यादिना रघोर्लत्वविकल्पः ❀ । तथाविधस्य हरिणस्य कृष्ण-मृगस्य अधि शीर्षणि शिरसि । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । ❀ "शीर्ष-श्छन्दसि" इति सप्तम्यां शीर्षन्नादेशः ❀ । भेषजम् रोगनिवर्तकं शृङ्गरूपम् औषधम् अस्ति । सः हरिणः विषाणया स्वशृङ्गेण क्षेत्रि-यम् परक्षेत्रे चिकित्स्यं मातापितृशरीराद् आगतं क्षयकुष्ठापस्मारा-

दिकं विषूचीनम् विष्वक् सर्वतः अनीनशत् नाशयतु। ❀ विषुपूर्वाद् अञ्चतेः क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः। "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः ❀ ॥

शीघ्रतासे चलनेवाले कृष्णमृगके शिरमें रोगको दूर करनेवाली सींगरूप औषध है वह हरिण अपने सींगसे दूसरेके शरीरमें चिकित्सा करने योग्य माता पिताके शरीरसे आई हुई क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि व्याधिको सब ओरसे नष्ट करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अनु। त्वा। हरिणः। वृषा। पत्ऽभिः। चतुःऽभिः। अक्रमीत्।
विऽसाने। वि। स्य। गुष्पितम्। यत्। अस्य। क्षेत्रियम्। हृदि ॥२॥

हे विषाणे क्षेत्रियरोगविनाशनाय मणिरूपेण धृतां त्वा त्वाम् अनु वृषा सेचनसमर्थो युवा हरिणः मृगः चतुर्भिः पद्भिः पादैः अक्रमीत् आक्रान्तवान्। क्षेत्रियरोगं पादप्रहारैः पीडितवान् इत्यर्थः॥ त्वं च अस्य रुग्णस्य हृदि हृदये गुम्फितम् गुल्फवद् ग्रथितं यत् क्षेत्रियम् रोगजातम् अस्ति तद् वि ष्य विनाशय। ❀ षो अन्तकर्मणि। अस्मात् लोटि "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀ ॥

हे विषाणे! क्षेत्रियरोगके नाश करनेके लिये मणिरूपसे धारणकी हुई तुझको सेचनसमर्थ तरुण हरिण चारों पैरोंसे आक्रान्त करता था अर्थात् तेरे प्रभावसे मृगने क्षेत्रियरोगको

पैरोंसे खूँद पीड़ित किया था अतः तू भी इस रोगीके हृदयमें जो गुल्फकी समान गुँथा हुआ क्षेत्रियरोग है उसको नष्ट कर॥२॥

तृतीया ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अवऽरोचते । चतुष्पक्षम्ऽइव । छदिः ।
तेन । ते । सर्वम् । क्षेत्रियम् । अङ्गेभ्यः । नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः चन्द्रमण्डलस्थं विप्रकृष्टं यत् हरिणरूपं वस्तु अवरोचते अवभासते । यद्वा अदः परिदृश्यमानं यद् भूमौ आस्तृतं हारिणं चर्म अवरोचते । किमिव । चतुष्पक्षम् चतुष्कोणं छदिरिव । छाद्यते अनेन गृहम् इति छदिस्तृणकटः स इव । ❀ छद अपवारणे इत्यस्माद् णयन्तात् अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः [उ० २. १०७] इति इसि प्रत्ययः । "इस्मन्त्रन्क्विषु च" इत्युपधाह्रस्वत्वम् ❀ । तेन चन्द्रमण्डलस्थहरिणात्मकेन पुरोवर्तिणा वा चर्मणा हे रुग्ण ते तव सर्वम् क्षयकुष्ठादिरूपेण बहुविधं क्षेत्रियम् रोगम् अङ्गेभ्यः कृत्स्नावयवेभ्यो नाशयामसि नाशयामः ॥

चन्द्रमण्डलमें जो यह हरिणरूप वस्तु प्रकाशित होरही है अथवा यह जो भूमिमें बिछा हुआ हिरनका चर्म चार कोने वाले तृणकट (घर) की समान दिप रहा है हे रोगिन् ! उस चन्द्रमण्डलस्थित हरिणसे वा सामनेके हिरणचर्मसे मैं तेरे क्षय कुष्ठ आदि अनेक प्रकारके क्षेत्रियरोगको नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सुऽभगे । विऽचृतौ । नाम । तारके इति ।

वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्ऽतमम् ॥४॥

दिवि द्युलोके अमू परिदृश्यमाने सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते ये प्रसिद्धे । विचृतौ नाम तारके इत्यादि शिष्टम् "उदगातां भगवती" इत्यत्र [२. ८. १] विस्तरेण व्याख्यातम् ॥

ये जो आकाशमें विचृत नामके (मूलनामके) सौभाग्ययुक्त तारे हैं । ये माता पिताके अंगोंसे शरीरमें आये हुए पुत्र आदि के क्षेत्र (शरीर) में चिकित्सा करने योग्य क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि क्षेत्रिय रोगके नीचेके और ऊपरके शरीरमें स्थित पाशकी समान बंधक रोगके बीजको (शरीरसे) अलग करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ५

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीवऽचातनीः । आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा । मुञ्चन्तु । क्षेत्रियात् ५

आप इद्वै । इदित्यवधारणे । उः पूरणः । आप एव खलु भेषजीः भेषजभूताः अभिषेकपानादिना रोगापनोदनेन सुखहेतवः । ❀ "केवलमामक०" इत्यादिना भेषजशब्दाद् ङीप् । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् । "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ❀ । तथा आप एव ओषधिरूपेण परिणताः अमीवचातनीः अमीवचातन्यः रोगाणां नाशयित्र्यः । ❀ चात-

यतिर्नाशने इत्युक्तः ❀ । आप एव विश्वस्य सर्वस्य रोगस्य भेषजीः । औषधान्तरवद्ध न कस्यचिदेव रोगस्य भेषजं किं तु सर्वेषामपीत्यर्थः । अपां भेषजरूपत्वम् अन्यत्र स्पष्टम् आम्नातम् "अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा" [ऋ० १. २३. २०] इति । ताः एवम् उक्तसामर्थ्योपेता आपः हे व्याधिगृहीत त्वा त्वां क्षेत्रियात् रोगाद् मुञ्चन्तु वियोजयन्तु ॥

जल ही भेषज हैं अर्थात् अभिषेक पान आदिसे रोगको दूर करनेके कारण सुख देने वाले हैं । तथा जल ही औषधिरूपमें परिणित होकर रोगोंके दूर करने वाले हैं और जल ही सब रोगों की औषध हैं । तात्पर्य यह है, कि–दूसरी औषधियोंकी समान जल किसी एक रोगकी औषध नहीं हैं किंतु सब ही रोगोंकी औषध हैं † ऐसे जल हे रोगिन् ! तुझे क्षेत्रियरोगसे छुड़ावें ॥५॥

पष्ठी ॥

यदा॑सु॒तेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षे॒त्रि॒यं त्वा॑ व्या॒न॒शे ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षे॑त्रि॒यं ना॑शया॒मि॒ त्वत् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒ऽसु॒तेः । क्रि॒यमा॑णायाः । क्षे॒त्रि॒यम् । त्वा॒ । वि॒ऽआ॒न॒शे । वेद॑ । अ॒हम् । तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । क्षे॒त्रि॒यम् । ना॒श॒या॒मि॒ । त्वत् ६

हे रुग्ण त्वा त्वां क्रियमाणायाः स्वीक्रियमाणाया आसुतेः । आसूयते आसिच्यते इत्यासुतिर्द्रवीभूतम् अन्नम् । [तस्मात् अ] यथोपयुज्यमानाद् अन्नाद् यत् क्षेत्रियं कुष्ठादिरूपं व्यानशे व्याप्नोत् । ❀ अशूव्याप्तौ । लिटि "अश्नोतेश्च" इति दीर्घीभूताद्

† ऋग्वेदसंहिता १ । २३ । २० में कहा है, कि–"अप्सु मे सोमो अब्रवीत् अन्तर्विश्वानि भेषजा ॥–सोमदेवताने मुझसे कहा है, कि–जलके भीतर सम्पूर्ण औषधियें हैं" ॥

अभ्यासाद् उत्तरस्य जुट् ❀। तस्य उक्तलक्षणस्य रोगस्य भेषजम् निवर्तकम् औषधं यवादिरूपम् अहम् चिकित्सको वेद जानामि। ❀ "विदो लटो वा" इति उत्तमे णलि रूपम् ❀॥ अतः त्वत् त्वत्तः सकाशात् क्षेत्रियं नाशयामि। ❀ त्वद् इति। "पञ्चम्या अत्" ["एकवचनस्य च"] इति युष्मदुत्तरस्य ङसेरदादेशः ❀॥

हे रोगिन्! तेरे उपयोगमें लाये हुए अन्नसे जो कुष्ठ आदि रूप क्षेत्रियरोग तुझमें व्याप्त होगया है उस रोगको हटाने वाली जौ आदि औषधको मैं चिकित्सक जानता हूँ, अत एव तुझमेंसे मैं क्षेत्रियरोगको नष्ट करता हूँ॥ ६॥

सप्तमी॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ७॥

अपऽवासे। नक्षत्राणाम्। अपऽवासे। उषसाम्। उत।
अप। अस्मत्। सर्वम्। दुःऽभूतम्। अप। क्षेत्रियम्। उच्छतु ७

नक्षत्राणाम् तारकाणाम्। ❀नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः इति हि यास्कः [नि० ३. २०]। अमिनक्षि० [उ० ३. १०५] इत्यादिना नक्षगतौ इत्यस्माद् अत्रन् प्रत्ययः ❀। तेषाम् अपवासे अपगमनकाले उषसः प्रारम्भे। उतशब्दो विकल्पार्थे। अथ वा उषसाम्। प्रतिदिवसम् आवृत्त्यपेक्षया उषसाम् इति बहुवचननिर्देशः। तासाम् अपवासे अपगमने। प्रभातकाले इत्यर्थः। तस्मिन् क्रियमाणेन अभिषेकादिना सर्वम् निखिलं दुर्भूतम् रोगनिदानभूतं दुष्कृतम् अस्मत् अस्मत्तः अप उच्छत्विति संबन्धः। अपगच्छतु इत्यर्थः। ततः क्षेत्रियम् कुष्ठापस्मारादिरूपम् अप

उच्छतु अस्मत्तः अपगच्छतु। सकारणं रोगजातं निवर्तताम् इत्यर्थः।

❀ उद्धी विवासे ❀ ॥

[इति] तृतीयकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

नक्षत्रोंके दूर होने पर अर्थात् उषःकालमें अथवा उषःकालके बीतने पर अर्थात् प्रतिदिन प्रभातकालमें किये हुए अभिषेक आदिसे रोगका कारण संपूर्ण पाप हमसे दूर होवे। फिर कुष्ठ अपस्माररूप क्षेत्रियरोग हमसे दूर होजावे अर्थात् कारणसहित रोग हमसे दूर होजावे ॥ ७ ॥

तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (७८) ॥

"आ यातु मित्रः" इति सूक्तेन उपनयनकर्मणि माणवकं नाभिदेशे संस्पृश्य अनुमन्त्रयेत। सूत्रितं हि। "दक्षिणेन पाणिना [नाभिदेशे] संस्तभ्य जपति 'अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु' [१. ९] 'विश्वे देवा वसवः' [१. ३०] 'आ यातु मित्रः' [३. ८] 'अमुत्र भूयात्' [७. ५५]" इत्यादि [कौ० ७. ६]॥

अस्य सूक्तस्य आयुष्यगणे पाठात् "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" [कौ० ७. ८] इत्यादिष्वपि विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

एवमेव नक्षत्रकल्पेपि "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" [न० क० १८] इत्यादिष्वपि अस्य विनियोगः ॥

परिशिष्टेपि।

आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः [प० ५. ३]

इत्यादिषु च ॥

"इहेदसाथ" [४] इत्यनया विवाहे शुल्कद्रव्यं पृथक्कृत्य इदं द्रव्यं तव इदं ममेति द्वाभ्यां निवर्तयेत्। सूत्रितं हि। "इहेदसाथेत्येतया शुल्कम् अपाकृत्य द्वाभ्यां निवर्तयतीह तव राध्यताम् अत्र ममेति यथा वा मन्यन्ते" इति [कौ० १०. ५] ॥

"सं वो मनांसि" [५, ६] इति द्वाभ्यां सांमनस्यकर्मणि

ग्राममध्ये संपातितोदकुम्भनिनयनम् त्रिवर्षवत्सिकाया गोः पिशितानां प्राशनम् संपातितान्नप्राशनम् संपातितसुरायाः पायनम् तथाविधप्रपोदकपायनं च कुर्यात्। तथा च सूत्रम् । "सं वो मनांसि [५] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सांमनस्यान्युदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयत्येवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्लानि पिशितान्याशयति भक्तं सुरां प्रपां संपातवत् करोति" इति [कौ० २. ३] ॥

"आ यातु मित्रः" इस सूक्तसे उपनयनकर्ममें बालकके नाभिदेशको छूकर अनुमंत्रण करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ७। ६ में कहा है, कि—"दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति 'अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु' (१। ६) 'विश्वे देवा वसवः' (१। ३०) 'आ यातु मित्रः' (३। ८) 'अमुत्र भूयात्' (७। ५५)" इत्यादि ॥

इस सूक्तका आयुष्यगणमें पाठ है अत एव 'मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात् ॥—मेधाजनन और आयुष्यगणके मंत्रोंसे होम करे" इस कौशिकसूत्र ७। ८ के अनुसार जहाँ इनका विनियोग हो तहाँ इस सूक्तका भी पाठ होगा।

इसी प्रकार "आयुष्य शांतिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इस नक्षत्रकल्प १८ के अनुसार ऐरावती महाशांतिमें भी इसका विनियोग होगा।

'इहेदसाथ' इस चौथी ऋचासे विवाहमें शुल्कद्रव्यको अलग रखकर ये द्रव्य तेरा है ये द्रव्य मेरा है, ये मेरा है इस प्रकार विभाग करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"इहेदसाथेत्येतया शुल्कं अपाकृत्य द्वाभ्यां निवर्तयतीह तव राध्यताम् अत्र ममेति यथा वा मन्यन्ते" इति (कौशिकसूत्र १०। ५)

सं वो मनांसि इन ५ वीं और छठी ऋचासे सांमनस्य कर्ममें

ग्रामके मध्यमें संपातित जलपूर्ण कुम्भको लावे तीन वर्षकी गौके पिशितका प्राशन करे, सम्पातित अन्नका प्राशन करे, संपातित सुराको पिलावे और पौके सम्पातित जलको पिलावे। इसी बात को कौशिकसूत्र २। ३ में कहा है, कि-"सं वो मनांसि (५) संज्ञानं न (७। ५४) इति सांमनस्यान्युदककुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयत्येवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्लानि पिशितान्याशयति भक्तं सुरां प्रपां सम्पातवत् करोति॥

तत्र प्रथमा॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु

आ। यातु। मित्रः। ऋतुऽभिः। कल्पमानः। सम्ऽवेशयन्। पृथिवीम्। उस्रियाभिः।
अथ। अस्मभ्यम्। वरुणः। वायुः। अग्निः। बृहत्। राष्ट्रम्। सम्ऽवेश्यम्। दधातु॥ १॥

मित्रः। मीतेर्मरणात् त्रायते इति मित्रः एतन्नामको देवः। ❀ मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति हि निरुक्तम् [नि० १०. २१] ❀। यद्वा सर्वेषां मित्रवद् उपकारकः। "मित्रं देवाः" इति प्रक्रम्य आम्नातम्। "सर्वस्य वा अहं मित्रम् अस्मि" [तै० सं० ६. ४. ८. १] इति। सः मित्रः आ यातु अस्मद्रक्षणार्थम् आगच्छतु। कीदृशः। ऋतुभिः वसन्ताद्यैः कल्पमानः। ऋतुसातत्येन दीर्घम् आयुः कर्तुं समर्थो भवन्नित्यर्थः। ❀कृपू सामर्थ्ये। लटः शानच्।

शपि "कृपो रो लः" इति लत्वम् । ०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वे च धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ॥ किं कुर्वन्। उस्रियाभिः गोभिः। किरणैरित्यर्थः। पृथिवीम् विस्तीर्णां भूमिं संवेशयन् व्याप्नुवन् ॥ अथ मित्रागमनानन्तरं वरुणः वायुः अग्निश्च अस्मभ्यम् बृहत् महत् राष्ट्रम् राज्यं संवेश्यम् संवेशार्हम् अवस्थानयोग्यं दधातु विदधातु प्रकरोतु। प्रत्येकापेक्षया एकवचनम्। ॥ संपूर्वाद् विशेः अर्हार्थे यत् प्रत्ययः॥

मरणसे रक्षा करने वाले वा मित्रकी समान सबका उपकार करने वाले मित्र नामक देवता अपनी किरणोंसे पृथिवीको व्याप्त करते हुए वसन्त आदि ऋतुओंसे हमारी दीर्घायु करनेमें समर्थ होते हुए आवें मित्रदेवताके आगमनके अनन्तर वरुण वायु और अग्निदेवता हमें बड़े भारी राज्य पर बैठने योग्य करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । इन्द्रः । त्वष्टा । प्रति । हर्यन्तु । मे । वचः ।

हुवे । देवीम् । अदितिम् । शूरऽपुत्राम् । सऽजातानाम् । मध्यमेऽस्थाः । यथा । असानि ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधाता एतन्नामा देवः रातिः दानशीलोऽर्यमा। "यः खलु वै ददाति सोऽर्यमा" [तै० सं० २. ३. ४. १.] इति

श्रुतेः। ❁ रा।दाने इत्यस्मात् कर्तरि क्विप् ❁। रविता सर्वस्य प्रेरको देवश्च इदम् मदीयं हविः जुषन्ताम् सेवन्ताम्। ❁ जुषी प्रीतिसेवनयोः ❁ ॥ एते धात्रादयः इन्द्रस्त्वष्टा च मे मदीयं वक्ष्यमाणं वचः वाक्यं स्तुतिलक्षणं वा प्रति हर्यन्तु आभिमुख्येन कामयन्ताम्। सादरं शृण्वन्तु इत्यर्थः। ❁ हर्य गतिकान्त्योः❁॥ शूरपुत्रान् शूरा विक्रान्ताः शौर्योपेताः पुत्रा मित्रवरुणादयो यस्याः सा तथोक्ता तां देवीम् दानादिगुणयुक्ताम् अदितिम् अदीनां देवमातरं हुवे आह्वयामि। ❁ ह्वेञो "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❁। किमर्थम्। सजातानाम् समानं जातानां बन्धूनां मध्यमेष्ठाः मध्यमेव मध्यमम्। मध्येवर्तमानो यथा असानि भवानि। समृद्धकामः सन् स्वसमानैः सेव्यो यथा भवानि तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः। ❁ मध्यमपूर्वात् तिष्ठतेर्विच्। सुषामादित्वात् षत्वम्। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। असानि। असेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इत्याडागमः ❁ ॥

सबके विधाता धाता नाम वाले देव और दानशील अर्यमा नामक देव तथा सबके प्रेरक सविता देवता मेरी हविको स्वीकृत करें। और धाता आदि देवता तथा इन्द्र और त्वष्टा देवता भी मेरी स्तुतिरूपवाणीको आदरपूर्वक श्रवण करें। जिसके मित्र वरुण अर्यमा आदि शूर पुत्र हैं उस देवमाता अदितिका मैं आह्वान करता हूँ (आह्वान करनेका कारण यह है, कि—) जिस प्रकार मैं अपने सजातियोंमें मध्यमें बैठने योग्य होऊँ तात्पर्य यह है, कि—मैं पूर्णकाम होकर अपने समान पुरुषोंसे जिस प्रकार सेवनीय बनूँ, वैसा देवता करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

हुवे सोमं॑ सवितारं॒ नमो॑भिर्विश्वा॑नादित्याँ अहमु॑त्तरत्वे

अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोप्रतिब्रुवद्भिः

हुवे । सोमम् । सवितारम् । नमःऽभिः । विश्वान् । आदित्यान् ।
अहम् । उत्तरऽत्वे ।

अयम् । अग्निः । दीदयत् । दीर्घम् । एव । सऽजातैः । इद्धः ।
अप्रतिब्रुवत्ऽभिः ॥ ३ ॥

सोमं सवितारं विश्वान् सर्वान् आदित्यान् अदितेः पुत्रान् अन्यांश्च नमोभिः नमस्कारोपलक्षितैः स्तावकैर्मन्त्रैः अहं प्रयोक्ता उत्तरत्वे यजमानस्य श्रैष्ठ्ये । ❀ निमित्तसप्तम्येषा ❀ । श्रैष्ठ्यार्थं हुवे आह्वयामि ॥ तथा अयम् आहुत्याधारभूतः अग्निर्दीदयत् दीप्यताम् । ❀ दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा । अस्मात् लेटि अडागमः ❀ । अप्रतिब्रुद्भिः अप्रतिकूलवादिभिः 'अनुकूलं वदद्भिः सजातैः समानजन्मभिः पुरुषैः दीर्घमेव चिरकालमेव इद्धः समिद्धः तैरभिवर्धितः । यथाहं असानि इति वाक्यशेषः । तथा दीप्यताम् इति संबन्धः । ❀ इद्ध इति । ञिइन्धी दीप्तौ । अस्माद् निष्ठायाम् इट्प्रतिषेधः । "अनिदिताम्०" इति नलोपः ❀ ॥

मैं प्रयोग करने वाला यजमानको श्रेष्ठता दिलानेके लिये सोमदेवताको सवितादेवताको और अदितिके अन्य भी सब पुत्रों को नमस्कार और स्तुतिके मन्त्रोंसे आह्वान करता हूँ । तथा मैं सजातीय पुरुषोंसे चिरकाल तक बढ़ावा पाता रहूँ, इसलिये यह आहुतिका आधारभूत अग्नि प्रदीप्त होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ४

इह । इत् । असाथ । न । पुरः । गमाथ । ईर्यः । गोपाः ।
पुष्टऽपतिः । वः । आ । अजत् ।

अस्मै । कामाय । उप । कामिनीः । विश्वे । वः । देवाः । उपऽसंयन्तु

हे कामिन्यः यूयम् इहेत् । ❀ इत् इत्यवधारणे ❀ । इहैव कन्यासमीपदेश एव असाथ भवत वर्तध्वम् । ❀ अस्तेर्लेटि आडागमः ❀ ॥ पुरः पुरस्ताद् न गमाथ । अनेतृकाः सत्यो न गच्छत । ❀ पुर इति । "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम" इति असिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च । गमाथ । गमेर्लेटि आडागमः । छान्दसः शपो लुक् ❀ ॥ ईर्यः मार्गप्रेरको गोपाः गोपायिता पालयिता पुष्टपतिः । पुष्टं पोषः । तस्य पतिः पोषयिता । पूषा देव इत्यर्थः । "पूषापोषयत्" [तै० ब्रा० १. ६. २. २] इति हि श्रुतिः । ईदृशो देवो वः युष्मान् आजत् प्रेरयतु । ❀ अज गतिक्षेपणयोः । ईर्य इति । ईर गतौ । अस्माद् णयन्ताद् "अचो यत्" इति कृत्प्रत्ययेन कर्तरि यत् । गोपाः । गुपू रक्षणे । "गुपूधूपविच्छि०" इति आयप्रत्ययः । तदन्तात् क्विप् । अतो लोपे "वेरपृक्तलोपाद् वलिलोपो बलीयान्" इति यलोपः❀॥ तथा कामाय कामयमानाय । ❀ कामयतेः पचाद्यच् ❀ । अस्मै वराय । यद्वा कामः कामना । ❀भावे घञ् । अस्मै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । अस्य वरस्य कामाय उप तत्समीपे कामिनीः कामः काम्यमानं फलम् तद् आसु विद्यत इति कामिन्यः स्त्रियो गावः । ❀ मत्वर्थीय इनिः ❀ । यद्वा कामयमानाः । ❀ ग्रहादित्वाद् णिनिः ❀ । ईदृशीः वः युष्मान् विश्वे देवा उपसंयन्तु उपगमयन्तु । ❀ इण् गतौ । अस्मात् लोटि "इणो यण्" इति यण् ❀ ॥

हे कामनियो ! तुम कन्याके समीपके स्थानमें ही रहो, सामनेसे न जाओ अर्थात् नेतारहित होकर न जाओ मार्गप्रेरक

रक्षक पोषण करनेवाले स्वामी पूषा देवता तुम्हें प्रेरणा करें, इस घरकी इच्छाके लिये कामनियोंको विश्वेदेवा आपको पासमें रक्खें४

पञ्चमी ॥

सं वो॒ मनां॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑ती॒र्नमामसि ।

अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन॒ तान् व॒ः सं न॑मयामसि ॥५॥

सम् । व॒ः । मनां॑सि । सम् । व्र॒ता । सम् । आऽकू॑तीः । नमामसि ।

अ॒मी इति॑ । ये । विऽव्र॑ताः । स्थन॑ । तान् । व॒ः । सम् । नमयामसि॥५॥

हे विमनस्का जनाः वः युष्माकं मनांसि परस्परविरुद्धानि सं नमामसि । सम् इति एकीभावे । एकविषयग्रहाणि अविसंवादीनि कुर्मः ॥ तथा व्रता व्रतानि । कर्मनामैतत् । वचनादानादिकर्माणि सं नमयामः ॥ एवम् आकूतीः संकल्पान् सं नमयामः । ❀ नमेर्ण्यन्तात् लटि शपः "छन्दस्युभयथा" इत्यार्धधातुकत्वात् णिलोपः । "इदन्तो मसिः" ❀ । ये अमी यूयं पूर्वं विव्रताः विरुद्धकर्माणः स्तन भवथ । ❀ अस्तेर्लोटि तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तनादेशः । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ❀ । तान् विमनस्कान् वः युष्मान् सं नमयामसि संनमयामः । ❀ नमेर्ण्यन्तात् लटि "ज्वलह्वलह्मलनमाम् अनुपसर्गाद् वा" इति मित्त्वविकल्पस्य अनुपसर्गविषयत्वात् सोपसर्गस्य तु अमन्तत्वेन प्राप्तं मित्त्वं नित्यम् इति "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् ❀ ॥

हे विरुद्ध मन वाले पुरुषों ! तुम्हारे परस्पर विरुद्ध मनोंको एक विषयसे प्रसन्न होनेवाले विरुद्धतारहित करता हूँ । तुम्हारे वार्तालाप आदि कर्मोंको और तुम्हारे संकल्पोंको मैं विरोधभाव से शून्य अनुकूल करता हूँ । पहिले जो तुम परस्परके विरुद्ध कर्म करते रहते थे उन तुमको अनुकूल करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनांसि । मम । चित्तम् । अनु । चित्तेभिः । आ । इत ।
मम । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनुऽवर्त्मानः । आ । इत ॥ ६ ॥

हे विमनस्काः युष्मदीयानि विप्रतिपन्नानि मनांसि मनसा मदीयेन अहं गृह्णामि स्वाधीनीकरोमि ॥ तथा यूयमपि मम चित्तम् अनुचित्तेभिः अनुसारिभिर्युष्मदीयैश्चित्तैः एत आगच्छत ॥ मम वशेषु वशे इच्छामात्रे । ॐ व्यत्ययेन बहुवचनम् ॐ । यद्वा वशेषु वशीकृतेषु स्वाधीनेष्वर्थेषु । ॐ वश कान्तौ । इत्यस्माद् "वशिरण्योरुपसंख्यानम्" इति भावे कर्मणि वा अप् ॐ । वः युष्मदीयानि हृदयानि कृणोतु भवन्तः कुर्वन्तु । प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ॥ एवं मम यातम् गमनं यूयमपि अनुवर्त्मानः अनुसृतमार्गाः सन्तः एत आगच्छत ॥

इति तृतीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे विमनस्क पुरुषों ! तुम्हारे प्रतिकूल मनोंको मैं अपने मनसे स्वाधीन करता हूँ तथा तुम भी मेरे चित्तके अनुकूल हुए चित्तों के साथ आओ, मेरे अधीन कामोंमें तुम अपने मनको लगाओ तथा मेरे स्वीकृत मार्ग पर चलनेकी इच्छा रखकर तुम आओ ६

तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (७९) ॥

"कर्शफस्य" इति सूक्तेन विघ्नशमनकर्मणि स्पर्धारूपविघ्नविनाशार्थम् अरलुमणिबन्धनम् सर्पशृङ्गिदंष्ट्र्यादिविघ्नशमनार्थं संपातयुक्तवेणुदण्डधारणम् संग्रामे शत्रुकृतमायादिरूपविघ्ननिवारणार्थं संपातयुक्तायुधधारणम् सर्वारम्भविघ्नशमनार्थं फलीकरणैर्धूपनं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "कर्शफस्येति पिशङ्गसूत्रम् अरलुदण्डं यद् आयुधं फलीकरणैर्धूपयति" इति [कौ० ५. ७] ॥

विघ्नशमनकर्म में स्पर्धारूप विघ्नका नाश करनेके लिये 'कर्शफस्य' सूक्तसे अरलु (सोनापाढ़ा) की मणि बाँधे, सर्पके और सींग वाले प्राणियोंके और डाढ़ वाले प्राणियोंके विघ्नको शमन करनेके लिये सम्पातित बाँसके दण्डेको धारण करे और संग्राम में शत्रुकी रचीहुई माया आदि विघ्नोंको दूर करनेके लिये संपातित आयुधको धारण करे और सब कार्मोंका आरम्भ करते समय विघ्नको शान्त करनेके लिये भुससे धूपन करे । सूत्रमें भी कहा है, कि-"कर्शफस्येति पिशङ्गसूत्रं अरलुदण्डं यद्व आयुधं फलीकरणैर्धूपयति" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥

कर्शफस्य । विऽशफस्य । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता ।

यथा । अभिऽचक्र । देवाः । तथा । अप । कृणुत । पुनः ॥१॥

कर्शफस्य [करशफस्य] कृशशफस्य वा श्वापदस्य व्याघ्रादेः विशफस्य विगतशफस्य स्पर्धमानपुरुषकालसर्पादेः विस्पष्टशफस्य वा क्रूरगोमहिषादेः तस्य उभयविधस्य बहुविधविघ्नकारिणः द्यौः द्युलोकः पिता वृष्ट्यादिद्वारा उत्पादकः । पृथिवी माता स्वावयवा-

वष्टम्भेन आधारत्वेन च मातृवज्जनयित्री । अनेन विघ्नहेतूनाम् एतेषां दृढमूलत्वात् तन्निवारणम् अल्पप्रयाससाध्यं न भवतीति सूचितम् । अथ वा पितृमातृभूतद्यावापृथिवीसंकीर्तनेन विघ्नोत्पादनाभावाय तेषां स्तुतिः कृता । एवं विघ्नकारिणां स्तुतिः श्रुत्यन्तरेपि दृश्यते । "द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा" इति [ऋ० १. १९१. ६]। "नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीम् अनु" [तै० सं० ४. २. ८. ३] इति च ॥ तेषां विघ्नहेतूनाम् अपनोदनाय तत्प्रेरका देवाः प्रार्थ्यन्ते यथेत्यादिना । हे देवाः यूयं यथा येन प्रकारेण अभिचक्र उक्तान् विघ्नहेतून् पूर्वम् अस्मदभिमुखान् कृतवन्तः स्थ । ❀ करोतेः परोक्षे लिटि मध्यमबहुवचने रूपम् "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀॥ तथा तेनैव प्रकारेण पुनः अप कृणुत अस्मत्तः अपगतान् कुरुत । निवर्तयतेत्यर्थः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ।'

जिनके हाथमें खुर होता है ऐसे कृश (शफ) खुर वाले व्याघ्र आदिके, शफरहित स्पर्धा करनेवाले पुरुष काल सर्प आदि के और स्पष्ट शफ वाले क्रूर गौ महिष आदिके दृष्टि आदिके द्वारा उत्पादक आकाश पिता हैं और आधार होनेसे माता पृथिवी हैं (इससे सूचित किया है, कि-इन विघ्नहेतुओंके दृढ़मूल होनेसे इनका निवारण थोड़ेसे प्रयत्नसे नहीं होसकता । माता और पितारूप द्यावापृथिवीका संकीर्तन करके विघ्नोत्पादनके अभावके लिये इनकी स्तुति की है) † हे देवताओं ! तुमने इन

† विघ्नकारियोंकी स्तुति दूसरी श्रुतियोंमें भी सुनी जाती है । यथा-"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा ॥ द्यौ तुम्हारे पिता है, पृथिवी तुम्हारी माता हैं, सोम तुम्हारे भ्राता हैं और अदिति तुम्हारी बहिन है" (ऋग्वेदसंहिता १ ।

विघ्नहेतुओंको जिस प्रकार हमारे अभिमुख किया है उसी प्रकार तुम हमसे इनको हटाओ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अश्रेष्माणः । अधारयन् । तथा । तत् । मनुना । कृतम् ।
कृणोमि । वध्रि । विऽस्कन्धम् । मुष्कऽआबर्हः । गवाम्ऽइव ॥२॥

अश्लेष्माणः अश्लिष्टाः विघ्नैरभिमतकार्यसंप्राप्तिशून्या जनाः । ❀ श्लिष आलिङ्गने इत्यस्मात् श्लिष श्लेषणे इत्यस्मात् चौरादिकाद् वा औणादिको मनिन् ❀ । यद्वा श्लेष्मोपलक्षितत्रिदोषदूषितशरीररहिताः दिव्यदेहा देवाः अधारयन् । विघ्नशमनाय अरलुवृक्षविकारमणिं दण्डादिकं च धृतवन्तः ॥ तथा तद्वदेव तत् मण्यादिधारणं मनुना मनुष्यस्रष्टुः कर्त्रा स्वायंभुवेन कृतम् अनुष्ठितम् ॥ एवम् अहमपि मण्यादिधारणेन विष्कन्धम् कार्यप्रवृत्तिप्रतिबन्धकं विघ्नजातं वध्रि । शुष्कचर्ममयी रज्जुर्वध्री । [वध्री] वरत्रा स्यात् इत्यभिधानात् [अ० को० २. १०. ३१] । तद्युक्तम् उन्मूलनपाशयुक्तं कृणोमि । पाशेनाकृष्य उन्मूलयामीत्यर्थः । ❀ वध्रीशब्दाद् व्रीह्यादेराकृतिगणत्वाद् मत्वर्थीय इनिः ❀ । यद्वा वध्रः षण्ढः ।

निसर्गषण्ढो वध्रश्च पक्षषण्ढस्तथैव च ।

इत्यादिस्मरणात् । अत्र वध्रशब्दो निर्वीर्यत्वरूपधर्मपरः ।

---

१६१ । ६) और तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ८ । ३ में कहा है, कि–"नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीम् अनु ।।–जो पृथिवी पर रहते हैं उन सर्पोंके लिये नमस्कार है" ॥

सोस्यास्तीति वध्रि निर्वीर्यं कार्याक्षमं करोमि। यद्वा वध्रि वध्यं विनष्टं करोमि। ❀ अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् [उ० ४. ६५] इति बाहुलकाद् वधेर्हिंसार्थादपि भवति ❀। तत्र दृष्टान्तः। मुष्कावर्हो गवामिव गवाम् पुंगवानां मुष्कावर्हः। मुष्कम् आवृहति उन्मूलयतीति मुष्कावर्हः। ❀ कर्मण्यण् ❀। यद्वा आवर्हणम् आवर्हः। ❀ भावे घञ् ❀। मुष्कस्यावर्हो मुष्कावर्हः। स यथा तान् निर्वीर्यान् प्रजननाशक्तान् करोति तद्वत् ॥

विघ्नोंके द्वारा अभिमत कार्यकी प्राप्तिसे शून्य रह जाने वाले मनुष्योंने और श्लेष्म आदि त्रिदोषसे रक्षित दूषित शरीर वाले देवताओंने विघ्नशमनके लिये अरलु वृक्षकी मणिको और दण्ड आदिको धारण किया है। इसी प्रकार मनुष्यसृष्टिको रचने वाले स्वायंभुव मनुने भी किया है। इसी प्रकार मैं भी मणि आदिको धारण कर कार्यप्रवृत्तिके प्रतिबंधक विघ्नोंको शुष्कचर्मकी रस्सी के पाससे खेंच कर उन्मूलित करता हूँ, निर्वीर्य करता हूँ, जैसे अण्डकोशोंका कुचलना बैलोंको निर्वीर्य (सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ) करता है, इसी प्रकार मैं अरलुकी मणि आदिको धारण कर विघ्नोंको निर्वीर्य करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

पिशङ्गे। सूत्रे। खृगलम्। तत्। आ। बध्नन्ति। वेधसः।
श्रवस्युम्। शुष्मम्। काबवम्। वध्रिम्। कृण्वन्तु। बन्धुरः ॥३॥

पिशङ्गे पिशङ्गवर्णे सूत्रे। प्रोतम् इति शेषः। खृगलम् तनुत्राणम्। "खृगलेव विस्रसः पातम् अस्मान्" [ऋ० २. ३९. ४]

इत्यत्र मन्त्रे खृगलं तनुत्राणम् इति भरतस्वामिना व्याख्यातम् । कवचवत् परकृतविघ्नापनोदनेन रक्षकं तत् तम् उक्तगुणम् अरलु-मणिं वेधसः विधातारः साधकाः आ बध्नन्ति शरीरे धारयन्ति ॥ बन्धुरः । ❀ बन्धेरौणादिक उरच् प्रत्ययः ❀ ॥ अस्माभिरपि बद्धः स मणिः अवस्यम् । अव इत्यन्ननाम । बालरूपम् अन्नम् अर्हतीति अवस्यः । ❀ "छन्दसि च" इति यत् प्रत्ययः ❀ । तं शुष्मम् शोषकम् । ❀ शुष शोषणे । अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [उ० १, १४१] इति मन् प्रत्ययः ❀ । काबवम् । कबुः कबुर्-वर्णः क्रूरः प्राणी । तत्संबन्धी विघ्नः काबवः । ❀ कबृ वर्णे इत्यस्माद् औणादिक उप्रत्ययः । "तस्येदम्" इत्यर्थे अण् ❀ । ईदृशं विघ्नजातं वध्रिम् निर्वीर्यं वध्यं वा कृण्वन्तु करोतु । ❀ व्य-त्ययेन बहुवचनम् ❀ । यद्वा बन्धुरः । ❀ जसः स्थाने "सुपां सुलुक्०" इति सुः ❀ । बन्धुराः अस्माभिर्धार्यमाणाः मणिदण्डा-दयः अवस्याद्युक्तलक्षणं विघ्नं वध्रिं कृण्वन्तु ॥

पिंगलवर्णके डोरेमें पुरी हुई खृगल अर्थात् † कवचकी समान दूसरेके किये हुए विघ्नोंको रोक कर रक्षा करने वाली अरलु-मणिको साधक धारण करते हैं । हमारी भी धारण की हुई यह मणि अवस्य (बालरूप अन्नको लगने वाले), शोषक, कबुर वर्णके क्रूर प्राणीरूप विघ्नको निर्वीर्य करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

येनां श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥४॥

† "खृगलेव विस्रसः पातं अस्मान् ॥–(ऋग्वेदसंहिता २ । ३९ । ४) इस मन्त्रकी व्याख्या करते समय भरतस्वामीने खृगल शब्दका अर्थ कवच किया है ॥

येन । भवस्यवः । चरथ । देवाःऽइव । असुरऽमायया ।

शुनाम् । कपिःऽइव । दूषणः । बन्धुरा । काबवस्य । च ॥४॥

हे जनाः श्रवस्यवः । श्रवः अन्नं यशो वा । तत् शत्रुजयेन आत्मन इच्छन्तः । ❀ "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । तादृशा यूयं येन परकृतमायारूपविघ्नेन मोहिताः सन्तश्चरथ संग्रामे वर्तध्वे । तत्र दृष्टान्तः । असुरमायया असुरसंबन्धिन्या मायया मोहिता देवा इव । तथाविधानां भवतां संबन्धिनो मायारूपविघ्नस्य काबवस्य प्रागुक्तलक्षणस्य विघ्नविशेषस्य च बन्धुरा संबद्धा धृता खड्गादिरूपा हेतिः दूषयित्री भवतु । किमिव । शुनां कपिर्यथा दूषणः । उपमानापेक्षया पुंलिंगता । ❀ शुनाम् इति । "श्वयुवमघोनाम् अतद्धिते" इति संप्रसारणम् । "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेधः । दूषणः । दुष वैकृत्ये । इत्यस्मात् "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् । "दोषो णौ" इति ऊत्वम् ❀

हे शत्रुको जीत कर अन्न धन चाहने वाले मनुष्यों ! तुम असुरोंकी मायासे मोहित देवताओंकी समान दूसरेकी की हुई मायारूप विघ्नसे मोहित होकर संग्राममें विचर रहे हो, उस मायारूप विघ्नसे और काबवरूप विघ्नसे संयुक्त खड्ग आदि बन्दर जैसे कुत्तोंका दूषण है, तैसे विघ्नोंका दूषक हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्ट्यै । हि । त्वा । भत्स्यामि । दूषयिष्यामि । काबवम् ।

उत । आशवः । रथाःऽइव । शपथेभिः । सरिष्यथ ॥ ५ ॥

हे मणे त्वा त्वां हि यस्मात् दुष्ट्यै परकृतविघ्नदूषणाय भत्स्यामि बध्नामि। ❀ बन्धेर्लृटि "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः। नलोपश्छान्दसः ❀। यद्वा विघ्नगृहीतः संबोध्यः। हे विघ्नगृहीत सर्वारम्भविघ्ननिवारणाय त्वां भत्स्यामि दीपयामि। फलीकरणैर्धूपयामीत्यर्थः। ❀ भस भर्त्सनदीप्त्योः। छान्दस इडभावः। "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् ❀॥ तस्मात् काबवम् उक्तलक्षणं विघ्नविशेषं दूषयिष्यामि नाशयिष्यामि। "एकशतं विष्कन्धानि" इति वक्ष्यति। तेषु प्रधानत्वात् काबवस्य पुनः पुनरुपादानम्॥ ततश्च उदाशवः। आशुरश्वः। गमनोन्मुखैर्वेगवद्भिः अश्वैर्युक्ता रथा इव हे जना यूयं शपथेभिः शपथैः परकृतैर्विघ्ननिमित्तैराक्रोशैः। वियुक्ताः सन्त इति शेषः। व्यापारेषु अनिरुद्धगतयः चरिष्यथ यथेष्टं सञ्चरत। ❀ शपथेभिरिति। "बहुलं छन्दसि" इति भिस ऐसभावः ❀॥

हे मणे! तुझको मैं दूसरेके किये हुए विघ्नको दूषित करनेके लिये धारण करता हूँ (आगे एक सौ एक विघ्नोंका वर्णन आवेगा उनमें काबव प्रधान है अतः) काबवको मैं दूषित करता हूँ। तदनन्तर हे मनुष्यो! तुम गमनोन्मुख वेगवान् घोड़े वाले रथोंकी समान दूसरेके विघ्न डालने वाले आक्रोशोंसे रहित होकर अपने व्यापारोंको बिना रोकटोकके करो॥ ५॥

षष्ठी॥

एकंशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।

तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम्॥ ६॥

एकऽशतम्। विऽस्कन्धानि। विऽस्थिता। पृथिवीम्। अनु।

तेषाम्। त्वाम्। अग्रे। उत्। जहरुः। मणिम्। विस्कन्धऽदूषणम् ६

एकशतम् एकं च शतं च एकशतम्। ❀ "संख्या" इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। एकशब्दोपि कन्प्रत्ययान्तत्वेन आद्युदात्तः ❀। एकोत्तरशतसंख्यानि विष्कन्धानि विघ्नाः पृथिवीम् अनु पृथिव्यां विष्ठिता विष्ठितानि विविधम् अवस्थितानि। ❀ विपूर्वात् तिष्ठतेः कर्तरि निष्ठा। "द्यतिस्यतिमास्थाम् इत् ति किति" [इति] इत्वम्। "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादिना षत्वम्। शेर्लोपः। "अनुर्लक्षणे" इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वात् "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति पृथिवीम् इति द्वितीया ❀। तेषां विघ्नानां निवृत्तये हे मणे त्वाम् अग्रे पूर्वम् उज्जहुः देवा उद्धृतवन्तः। अतः विष्कन्धदूषणं मणिम् इमम् अरलुवृक्षविकारं मणिम्। अहमपि धारयामीति वाक्यशेषः॥

इति तृतीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

एक सौ एक प्रकारके विघ्न पृथिवीमें अनेक प्रकारसे स्थित हैं, हे मणे! उन विघ्नोंकी शांतिके लिये देवताओंने तेरा उद्धार किया था, अतः विघ्नोंकी दूषक अरलुमणिको मैं भी धारण करता हूँ॥ ६॥

तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (८०)॥

"प्रथमा ह व्युवास" इति सूक्तेन सर्वेण पुष्ट्यर्थे अष्टकाकर्मणि आज्यमांसस्थालीपाकान् प्रत्येकं त्रिस्त्रिर्जुहोति। नवकृत्वः सूक्तावृत्तिः। माघकृष्णाष्टमी अष्टकेत्युच्यते। यथाहुः। "या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद् व्यष्टका तस्यां अष्टमी ज्येष्ठया संपद्यते ताम् एकाष्टकेत्याचक्षते" इति [आप० गृ० २१]। तस्यां तत् कर्म कार्यम्। तत्र धानाकरम्भशष्कुलीपुरोडाशोदौदनक्षीरौदनतिलौदनान् अधिश्रयणपर्यग्निकरणादिभिः संस्कृत्य आज्येन संमिश्रय विंशतिसंख्याकान् पिण्डान् कृत्वा पशोर्दक्षिणं बाहुं निर्लोमसचर्मखुरं प्रक्षाल्य निधाय अनेन सूक्तेन दर्व्या प्रत्युचं

हुत्वा अन्ते सदर्वीम् एकविंशीम् आहुतिं जुहुयात् । अयम् अत्र क्रमः । "प्रथमा ह व्युवास" [१–५] इत्याद्याः पञ्च । "आयमगन्त्संवत्सरः" [८, ६] इति द्वे । "इडया जुहतो वयम्" [११, १२] इति द्वे । इति नवभिर्नव पिण्डान् हुत्वा "ऋतुभ्यष्ट्वा" [१०] इत्यस्याम् ऋचि ऋतुभ्यष्ट्वा यजे स्वाहा आर्तवेभ्यस्त्वा यजे स्वाहा इत्येवं सानुषङ्गैरष्टधा विभक्तैर्मन्त्रैः अष्टौ पिण्डान् हुत्वा "इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे" [१३] इत्यन्तिमया अष्टादशीं जुहुयात् "अहोरात्राभ्यां त्वा यजे स्वाहा" [कौ० १४. २] इति सौत्रमन्त्रेण एकोनविंशीं हुत्वा "इडायास्पदम्" [६] इत्येका "आ मा पुष्टे च" [७] इत्येकावसाना द्वितीया । एताभ्याम् ऋग्भ्यां पशोर्दक्षिणं बाहुं विंशीं जुहुयात् । तदलाभे आज्यं जुहुयात् । "पूर्णा दर्वे" [७] इति अवसानद्वयेन सदर्वीं पिण्डीम् एकविंशीं जुहोति । ततः धानाकरम्भादीनि हविरुच्छिष्टानि आज्यमिश्राणि कृत्वा "प्रथमा ह व्युवास" इति सर्वेण सूक्तेन तिस्र आहुतीर्जुहोति । इति पुष्ट्यर्थे अष्टकाकर्मण्ययं क्रमः । तद् उक्तं संहिताविधौ । "प्रथमा ह व्युवास सेत्यष्टकायां [वपां] सर्वेण सूक्तेन तिस्र आहुतीर्जुहोति । समवत्तानां स्थालीपाकस्य सहहुतान् आज्यमिश्रान् हुत्वा पश्चाद् अग्नेर्वाग्यतः संविशति । महाभूतानां कीर्तयन् संजिहीते" इति [कौ० ३. २] ॥

नित्येऽष्टकाकर्मणि आद्यन्तयोरुक्तं सूक्तहोमं विहाय ऋग्भिरुक्तप्रकारेण एकविंशतिम् आहुतीर्जुहुयात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "अष्टकायाम् अष्टकाहोमान् जुहुयात् । तस्या हवींषि धानाः करम्भः शष्कुल्यः पुरोडाश उदौदनः क्षीरौदनस्तिलौदनो यथोपपादे पशुः । सर्वेषां हविषां समुद्धृत्य दर्व्या जुहुयात् प्रथमा ह व्युवाससेति पञ्चभिः" इत्यादि [कौ० १४. २] ॥

अस्य दर्विहोमत्वात् तन्त्रविकल्पे प्राप्ते नित्यमेव तन्त्रम् इति

इषुफालिमाठरयोर्मतम् । [तथा च कौशिकः] "न दर्विहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तन्त्रं क्रियेतेत्येके अष्टकायां क्रियेतेतीषुफालिमाठरौ" इति [कौ० १४. २] ॥

सोमयागे सोमक्रयणीपदहोमानुमन्त्रणे "इडायास्पदम्" [६] इत्येषा विनियुक्ता । [तद्] उक्तं वैतानसूत्रे । "सोमक्रयणीं प्रपाद्यमानाम्" इति प्रक्रम्य "पदाभिहोमम् इडायास्पदम्" इति [वै० ३.३] ॥ चातुर्मास्येषु साकमेधे पूर्णदर्विहोमे "पूर्णा दर्वि" [७] इत्येषा । तद् उक्तं वैताने । "कार्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "श्वो भूते पूर्णदर्व्यं पूर्णा दर्वे" इति [वै० २. ५] ॥

रात्रौ रात्री आरात्रिकविधाने "यां देवाः प्रतिनन्दन्ति" [२] इत्येषा रात्रिदेवतावाहने विनियुक्ता । "संवत्सरस्य प्रतिमाम्" [३] इत्येषा च पिष्टमय्या रात्रिप्रतिकृतेरुपवेशने विनियुक्ता । तद् उक्तं परिशिष्टे । "अथातः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य "यां देवाः प्रतिनन्दन्तीति रात्रिम् आवाहयेत् । संवत्सरस्य प्रतिमाम् इति पिष्टमयीं प्रतिकृतिं कृत्वोदङ्मुखीम् उपवेशयेत्" [प० ६. १] इति ॥

तत्रैव रात्र्युपस्थाने "आ मा पुष्टे च पोषे च" इत्येता विनियुक्ताः । तद् उक्तं तत्रैव । "आ मा पुष्टे च पोषेत्येताभिरुपस्थाय" इति [प० ६. १] ॥

'प्रथमा ह व्युवास' इस सूक्तसे पुष्ट्यर्थ अष्टकाकर्ममें घृत मांस और स्थालीपाक इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी तीन २ वार आहुति देय । नौ वार सूक्तको पढ़े । माघकृष्णा अष्टमी अष्टका कहलाती है । इसी बातको आपस्तम्बगृह्यसूत्र २१ में कहा है, कि—"या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाद् व्यष्टका तस्याम् अष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते ताम् एकाष्टकेत्याचक्षते ॥—माघकी पौर्णमासीसे पहिले जो दो आठें (अष्टमी) होती हैं उनमें जो अष्टमी ज्येष्ठासे संयुक्त

होती है उसको एकाष्टका कहते हैं" ॥ उसमें इस कर्मको करना चाहिये। इसमें भुने हुए जौ, दही मिले हुए सत्तू, पूरी, पुरोडाशोदन, क्षीरौदन और तिलौदनोंको अभिघयण और पर्यग्निकरण आदिसे संस्कृत कर घृतसे मिलाकर बीस पिण्ड बनावे। फिर पशुकी दाहिनी भुजाको लोमरहित सचर्म खुरको प्रक्षालित कर इस सूक्तसे दर्वीके द्वारा प्रत्येक ऋचा पर होम करके अन्त में दर्वीसहित इक्कीसवीं आहुति होमे। उसका क्रम यह है, कि– 'प्रथम ह व्युवास' इस प्रथम ऋचासे पाँचवीं ऋचा तक (पाँच), आयमगन् संवत्सर" ये ८ वी और नवमी दो ऋचा, "इडया जुह्वतो वयम्" ये ग्यारहवीं बारहवीं दो ऋचाएँ इस प्रकार नौ ऋचाओंसे नौ पिण्डोंकी आहुति देकर 'ऋतुभ्यष्ट्वा' इस दशवीं ऋचाके ऋतुभ्यष्ट्वा यजे स्वाहा आर्तवेभ्यस्त्वा यजे स्वाहा इस प्रकार अनुषङ्ग सहित आठ प्रकार विभक्त मन्त्रोंसे आठ पिण्डों को होमे फिर 'इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे' इस तेरहवीं अंतिम ऋचासे अठारहवीं आहुति देय फिर 'अहोरात्राभ्यां त्वा यजे स्वाहा' कौशिकसूत्र १४ । २) इस सौत्रमन्त्रसे उन्नीसवीं आहुति होम कर 'इडायास्पदम्' इस छठी और 'आ मा पुष्टे च' इस सातवीं–इन दो ऋचाओंसे पशुकी दाहिनी भुजारूप बीसवीं आहुति देय। उसके अभावमें घृतकी आहुति देय। फिर 'पूर्णा दर्वि' इस सातवीं ऋचासे सदर्वी पिण्डीकी इकीसवीं आहुति देय। तदनन्तर भुने हुए जौ और दही मिले हुए सत्तू आदि हविरुच्छिष्टोंको घृतसे मिला कर "प्रथमा ह व्युवास" इस पूर्ण सूक्तसे तीन आहुति देय। इस प्रकार पुष्टिके लिये किये जाने वाले अष्टकाकर्ममें यह क्रम है। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–"प्रथमा ह व्युवास सेत्यष्टक्यायां [वर्पां] सर्वेण सूक्तेन तिस्र आहुतीर्जुहोति। समवत्तानां स्थालीपाकस्य सहहुतान् आज्य-

मिश्रान् हुत्वा पश्चाद् अग्नेर्वाग्यतः संविशति । महाभूतानां कीर्तयन् संजिहीते" इति (कौशिकसूत्र २ । २) ॥

नित्य-अष्टकाकर्ममें प्रारम्भ और अन्तमें कहे हुए सूक्तहोमके अतिरिक्त ऋचाओंसे पहिले कहे हुएकी समान आहुति देय । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-"अष्टकायां अष्टकाहोमान् जुहुयात् ॥ तस्या हवींषि धाना करंभः शष्कुल्यः पुरोडाश उदौदनः क्षीरौदनस्तिलौदनो यथोपपादे पशुः । सर्वेषां हविषां समुद्धृत्य दर्व्यां जुहुयात् प्रथमा ह व्युवास सेति पञ्चभिः" इत्यादि (कौशिकसूत्र १४ । २) ॥

यह दर्विहोम है अतः तंत्रविकल्पकी प्राप्ति होने पर इषुफालि और माठरका मत है, कि-नित्य ही तंत्र है । इसी बातको कौशिकसूत्र १४ । २ में कहा है, कि-'न दर्विहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तंत्रं क्रियेतेत्येके अष्टकायां क्रियेतेतीषुफामिलाठरौ" इति (कौशिकसूत्र १४ । २ ॥ सोमयागमें सोमक्रमणीयपदहोमानुमन्त्रणमें 'इडायास्पदम्' इस छठी ऋचाका विनियोग होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि "सोमक्रयणीं प्रपाद्यमानां" इति प्रक्रम्य "पदाभिहोमम् इडायास्पदम्" वैतानसूत्र३।३)॥

चातुर्मास्यमें होने वाले साकमेधके पूर्णदर्विहोममें 'पूर्णा दर्वि' यह सातवीं ऋचा पढ़ी जाती है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"कार्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "श्वोभूते पूर्णदर्व्यं पूर्णादर्वे" इति (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

रात्रिके समय राजाकी आरती करते समय 'यां देवा प्रतिनन्दन्ति' यह दूसरी ऋचा रात्रि देवताके आवाहनमें विनियुक्त होती है । और 'सम्वत्सरस्य प्रतिमा' यह तीसरी ऋचा भी रात्रि की पिट्ठीकी प्रतिकृतिको बैठानेमें पढ़ी जाती है । इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि-"अथातः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्या-

स्याम" इति प्रक्रम्य "यां देवाः प्रतिनन्दन्तीति रात्रिं आवाहयेत्। सम्वत्सरस्य प्रतिमां इति पिष्टमयीं प्रतिकृतिं कृत्वोदङ्मुखीं उपवेशयेत्" ॥ (परिशिष्ट ६ । १) ॥

तहाँ ही उपस्थानमें " आ मा पुष्टे च पोषे च" इनका विनियोग है। इसी बातको तहाँ ही कहा है कि—"आ मा पुष्टे च पोषेत्येताभिरुपस्थाय" (परिशिष्ट ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

प्रथमा । ह । वि । उवास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ।

सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ॥१॥

प्रथमा ह सृष्ट्यादौ उत्पन्ना सर्व्वेषा एकाष्टकासंबन्धिनी आद्या उषाः व्युवास तमोव्युदसनं कृतवती । ❀ विपूर्वो वसिर्वर्जने वर्तते ❀ । सृष्टेः प्राक् अहोरात्रविभागशून्यं कालं तद्युक्तम् अकरोद् इत्यर्थः । तथा च श्रुत्यन्तरे । "न वा इदं दिवा न नक्तम् आसीद् अव्याऽवृत्तम् । ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन् । ता उपादधत । ततो वा इदं व्यौच्छत्" [तै० सं० ५. ३. ४. ७] इति । यद्वा हशब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धौ । तथा हि । "इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत्" [तै० सं० ४. ३. ११. १] इति प्रक्रम्य "प्रजाम् एकः रक्षत्यूर्जम् एकः" [तै० सं० ४. ३. ११. १] इत्यादिना प्रजारक्षणादिव्यापारपञ्चकविधानेन "ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषुषी" [तै० सं० ४. ३. ११. ५.] इति मन्त्रोक्तव्यापारपञ्चकभेदेन वा "पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहाः" [तै० सं० ४. ३. ११. ४] इति पञ्चसंख्यानिर्दिष्ट नन्दादितिथ्यपेक्षया वा पञ्चोषसः प्रतिपादिताः । एतमेव भेदम् अपेक्ष्य

"आस्वितरासु चरति प्रविष्टा" [४] इत्यग्रे समाम्नास्यते । तासां मध्ये एकाष्टकासंबन्धिन्युषाः प्रथमा सर्वत्रानुगमनात् प्रधानभूता सा व्युवासेति । सा तादृगुषोयुक्ता एकाष्टका यमे पितॄणाम् अधिपतौ विषये धेनुः प्रीणयित्री अभवत् । अत्र एकाष्टकातिथेः पित्र्यकर्मणि अक्षयफलसाधनत्वेन धेनुत्वव्यपदेशः । अत एव अन्यत्राम्नायते । "एकाष्टकां पश्यत दोहमानाम् अन्नं मांसवद् घृतवत् स्वधावत्" इति । सा एकाष्टका धेनुः नः अस्माकं पयस्वती पयउपलक्षितभोग्यवस्तुयुक्ता सती उत्तरामुत्तरां समाम् । ❀ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ❀ । उपर्युपरिभाविषु सर्वेषु वत्सरेषु दुहाम् अभिमतफलं दुग्धाम् । ❀ उत्तरामुत्तराम् इति । "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "अनुदात्तं च" इति आम्रेडितानुदात्तत्वम् । दुहाम् इति । दुह प्रपूरणे । स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । "लोटि लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तल्लोपः ❀ ॥

यह सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुई एकाष्टकासंबंधी उषा अंधकारको दूर करती हुई । तात्पर्य यह है, कि—सृष्टिसे पहिले काल दिन और रात्रिके विभागसे शून्य था, उसको उषाने किया था ×। ऐसी उषासे युक्त एकाष्टका पितरोंके अधिपतिकी धेनु हुई अर्थात् उनको तृप्त करती है ÷ ॥ वह एकाष्टका धेनु

× इसी बातका दूसरी श्रुतियोंमें प्रतिपादन किया है । "न वा इदं दिवा न नक्तं आसीद् अव्यावृत्तं । ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन् । ता उपादधत । ततो वा इदं व्यौच्छत् ॥—पहिले न दिन था न रात्रि थी (दिन और रात्रिरूपसे) न लौटने वाला काल था । फिर देवताओंने उन व्युष्टियोंको देखा, और ग्रहण किया तब यह अंधकार दूर हुआ" (तैत्तिरीयसंहिता ५ । ७ । ७) ॥

÷एकाष्टका तिथि पित्र्यकर्ममें अक्षय फल देने वाली है अत एव उसको धेनु कहा है ॥

हमारे लिये पयस्वती (हो) उत्तरोत्तर उत्तम फलको देने वाली हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली २

याम् । देवाः । प्रतिऽनन्दन्ति । रात्रिम् । धेनुम् । उपऽआयतीम् ।
सम्ऽवत्सरस्य । या । पत्नी । सा । नः । अस्तु । सुऽमङ्गली २

याम् एकाष्टकासंबन्धिनीं रात्रिम् । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीबभावश्छान्दसः ❀ । धेनुम् उक्तप्रकारेण धेनुरूपाम् उपायतीम् समीपम् आगच्छन्तीं दृष्ट्वा देवाः हविर्भुजः प्रतिनन्दन्ति प्रशंसन्ति । ❀ उपायतीम् इति । उपाङ्पूर्वाद् एतेर्लटः शत्रादेशः । "इणो यण्" इति यण् । "उगितश्च" इति ङीप् । "शतुरनुमो नद्यजादी" इति नद्या उदात्तत्वम् ❀ । या एकाष्टका संवत्सरस्य तदात्मकस्य कालस्य पत्नी जाया । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यद् एकाष्टका । एतस्यां वा एष एतां रात्रिं वसति" [तै० सं० ७. ४. ८. १] इति । सा एकाष्टका नः अस्मान् उद्दिश्य सुमङ्गली शोभनमङ्गलयुक्ता अस्तु भवतु । ❀ शोभनं मङ्गलं यस्या इति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । "०सुमङ्गलभेषजाच्च" इति विहितस्य ङीपः उदात्तनिवृत्तिस्वरेण उदात्तत्वम् ❀ ॥

जिस एकाष्टकासंबंधी धेनुरूप रात्रिको समीपमें आती हुई देख कर हविका भोग लगाने वाले देवता प्रशंसा करते हैं, जो एकाष्टका सम्वत्सररूप कालकी पत्नी है ‡ वह एकाष्टका

‡ तैत्तिरीयसंहिता ७ । ४ । ८ । १ में कहा है, कि—"एषा

हमारी ओर ध्यान देकर शोभनमङ्गलमय होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ३

सम्ऽवत्सरस्य । प्रतिऽमाम् । याम् । त्वा । रात्रि । उपऽआस्महे ।
सा । नः । आयुष्मतीम् । प्रऽजाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज

हे रात्रि संवत्सरस्य प्रतिमाम् प्रतिकृतिरूपाम् प्रतिनिधित्वेन निर्मीयत इति प्रतिमा । ❀ "आतश्चोपसर्गे" इत्यङ् ❀ । यां त्वा त्वाम् उपास्महे सेवामहे । ❀ आस उपवेशने । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ।सा त्वम् नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रपौत्रादिरूपाम् आयुष्मतीम् चिरकालजीवनवतीं कुर्वती सती रायः धनस्य गवादिलक्षणस्य पोषेण पुष्ट्या सं सृज संयोजय । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति रायो विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

हे रात्रि ! सम्वत्सरकी प्रतिनिधिरूप जिन तुम्हारी हम उपासना करते हैं वह तुम हमारी पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको चिरकाल तक जीवित रहने वाली करो फिर गौ आदि धनकी पुष्टि से हमें संयुक्त करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

वै संवत्सरस्य पत्नी यद् एकाष्टका। एतस्यां वा एष एतां रात्रिं वसति ॥ जो अष्टका है वही सम्वत्सरकी पत्नी है०" ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । वि॒ऽऔच्छत् । आसु । इतरासु ।
 चरति । प्रऽविष्टा ।
महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । वधूः । जिगाय ।
 नवऽगत् । जनित्री ॥ ४ ॥

इयमेव अद्यतनी एकाष्टकालक्षणा सा प्रथमम् उत्पन्ना उषाः । अनेन तादात्म्यप्रतिपादनेन अस्या अतिशयितमहत्त्वम् उक्तं भवति । तच्छब्दार्थम् आह । या उषाः प्रथमा प्रागुक्तप्रकारेण सृष्ट्यादौ उत्पन्ना सती व्यौच्छत् तमोनिरसनं कृतवती । ❀ उछी विवासे ❀ । सेयम् एकाष्टका उषाः आसु परिदृश्यमानासु [इतरासु] अन्यासु उषःसु प्रविष्टा अनुगता सती चरति वर्तते उदेति । श्रूयते हि । "एका सती बहुधोषो व्युच्छसि" [तै० सं० ४. ३. ११. ५] इति । ❀ प्रपूर्वाद् विशेः कर्तरि निष्ठा । व्यत्ययेन अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्वा प्रविष्टा सूर्येणानुप्रविष्टा । ❀ कर्मणि क्तः । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ अस्याम् उक्तलक्षणायाम् उषसि अन्तः मध्ये महान्तः अपरिमिताः महिमानः माहात्म्यविशेषाः । वर्तन्त इति शेषः । यद्वा महिमानः महत्त्वोपेताः महान्तः मुख्याः सूर्यसोमाग्नयः अस्याम् अन्तर्वर्तन्ते । सूर्यादय एतदधीनाः प्रकाशन्त इत्यर्थः । "अथ एनां महिमानः सचन्ते" [तै० सं० ४. ३. ११. १] इति श्रुतेः ॥ वधूः सूर्यस्य जाया उषाः । "सूर्यपत्नी विचरतः प्रजावती" इति [तै० सं० ४. ३. ११. १] श्रुत्यन्तरात् । नवगत् नवम् अभिनवं प्रतिदिवसम् उद्यन्तं सूर्यं तदविनाभावेन गच्छतीति नवम् अभिनवम् उत्पद्यमानं प्राणिजातं गच्छति व्याप्नोतीति वा नवगत् । यद्वा प्रतिदिनम् उत्पद्यमानमपि नवम् अभिनवम् उत्कृष्टम् एकविधं रूपं गच्छतीति

नवगत् । तथा च मन्त्रवर्णः । "पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णम् अभि शुम्भमाना" [ऋ० १. ९२. १०] इति । अथवा नवधा विभक्तान् अहर्भागान् प्रातरादीन् गच्छतीति नवगत् । ते च भागाः प्रातःसंगवमध्याह्नापराह्णसायाह्नाख्याः पञ्च तदन्तरालकालाश्च चत्वारः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके प्रातरादीन् प्रस्तुत्य "समानस्याह्नः पञ्च पुण्यानि नक्षत्राणि । चत्वार्यश्लीलानि । तानि नव" [तै० ब्रा० १. ५. ३. ४] इति । स्मर्यते च ।

प्रातरातः संगवश्च रूक्षो मध्याह्नसंतपौ ।
अपराह्णं स्तनिः सायं नवधा भिद्यते त्वहः ।

इति । ❀ नवपूर्वाद् गमेः क्विप् । "गमः क्वौ" इत्यनुनासिकलोपः । "ह्रस्वस्य पिति कृति०" इति तुक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एवंभूता उषाः जनित्री जनानां प्रकाशप्रदानेन साधु जनयित्री सती जिगाय जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । ❀ जयतेर्लिटि "सन्लिटोर्जेः" इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । जनित्रीति । जनेर्ण्यन्तात् साधुकारिणि तृन् । "बहुलम् अन्यत्रापि" इति णिलोपः ❀ ॥

यह आजकी एकाष्टकालक्षणा प्रथम उत्पन्न हुई उषा है (इस प्रकार इसका परममहत्त्व सूचित होता है) जो पूर्वोक्त प्रकारसे सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न होकर अंधकारको दूर कर चुकी है। वह यह एकाष्टका उषा दीखती हुई दूसरी उषाओंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है × ऐसी उषामें बड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम अग्नि आदि बड़े २ देवता इसमें रहते हैं, तात्पर्य यह है, कि–सूर्य

× "एका सती बहुधोषो व्युच्छसि॥ हे उषे ! तू एक होने पर भी अनेक प्रकारसे अंधकारको दूर करती है (तैत्तिरीयसंहिता ४ । ३ । ११ । ५)॥

आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं † ॥ प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्यमें अविना भावसे जाने वाली, प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले प्राणियोंमें एकसे रूपसे जाने वाली और प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले दिनमें एकसे नवीन रूपमें रहने वाली ‡ अथवा दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् + सूर्यकी वधू उषा प्राणियोंको प्रकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करने वाली होती हुई सर्वोत्कृष्टभावसे वर्तमान रहती है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ५

† तैत्तिरीयसंहिता ४ । ३ । ११ । १ में कहा है, कि–"त्रय एनां महिमानः सचन्ते ॥–तीन महत्व सम्पन्न इसकी सेवा करते हैं"

‡ ऋग्वेदसंहिता १ । ९२ । १० में कहा है, कि–"पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णं अभिशुम्भमाना ॥–यह प्राचीन उषा वारम्वार उत्पन्न होकर भी एकसे वर्णका ही सेवन करती है ॥"

+–प्रातः संगव मध्याह्न अपराह्न और सायाह्न ये दिनके पाँच भाग हैं । इनके बीचमें चार भाग और हैं । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ३ । ४ में कहा है, कि–"समानस्याह्नः पञ्च पुण्यानि नक्षत्राणि । चत्वार्यश्लीलानि तानि नव ॥–समान दिनके पाँच नक्षत्र हैं, चार अश्लील हैं। ये नौ हैं ।" स्मृतिमें भी कहा है, कि–"प्रातरातः संगवश्च रूक्णो मध्याह्नसंतपौ । अपराह्न स्तमिः सायं नवधा भिद्यते त्वहः ॥"

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोषम् । अक्रत । हविः । कृण्वन्तः । परिऽवत्सरीणम् ।

एकऽअष्टके । सुऽप्रजसः । सुऽवीराः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ५ ॥

हे एकाष्टके त्वदर्थं वानस्पत्याः वनस्पतिविकाराः उलूखलमुसलादयः । ❀ "०पत्युत्तरपदाण्ण्यः" ❀ । ग्रावाणः दृषदुपलादयः परिवत्सरीणम् संवत्सरेण निर्वृत्तम् । ❀ "संपरिपूर्वात् ख च" इति निर्वृत्तार्थे खप्रत्ययः ❀ । ईदृशं हविः धानाकरम्भचरुपुरोडाशादिकं कृण्वन्तः अवहननपेषणादिद्वारा उत्पादयन्तः घोषम् प्रीतिकरं शब्दम् अक्रत अकृषत । ❀ कृञो लुङि आत्मनेपदे "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ॥ हे एकाष्टके एका चासावष्टका एकाष्टका । ❀ "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः । "अष्टका पितृदेवत्ये" इति इत्वाभावः ❀ । त्वदनुग्रहाद् वयं सुप्रजसः शोभनपुत्रपौत्रादियुक्ताः । ❀ "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इत्यसिच् समासान्तः ❀ । सुवीराः । ❀ विविधम् ईरयन्ति शत्रून् इति वीरा भृत्याः । वीरो वीरयत्यमित्रान् [नि० १. ७] इति निरुक्तम् । वीर विक्रान्तौ । इत्यस्माद् वा पचाद्यच् । बहुव्रीहौ "वीरवीर्यौ च" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । सुभृत्याः सन्तो रयीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम भवेम । ❀ "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् ❀ ॥

हे एकाष्टके ! तेरे लिये वनस्पतिके विकार उलूखल मूसल आदि और पत्थर आदिने वर्ष भरमें होने वाले भुने हुए जौं, दही मिश्रित सत्तू और पुरोडाश आदिको अवहनन (कूटना) पेषण (पीसना) आदिके द्वारा उत्पन्न करते हुए प्रीतिकर शब्दको

किया है। हे एकाष्टके! तेरे प्रसादसे हम शोभन पुत्र पौत्र आदि से संयुक्त होकर और सुभृत्य वाले होकर धनके स्वामी हों ॥५॥

षष्ठी ॥

इडा॑यास्प॒दं घृ॒तव॑त् सरीसृ॒पं जात॑वेदः॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय
ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒स्तेषां॑ स॒प्ता॒नां मयि॒ रन्ति॑रस्तु

इडा॑याः। प॒दम्। घृ॒तऽव॑त्। स॒री॒सृ॒पम्। जात॑ऽवेदः। प्रति॑।
ह॒व्या। गृ॒भा॒य। ये। ग्रा॒म्याः। प॒शवः॑। वि॒श्वऽरू॑पाः। तेषा॑म्।
स॒प्ता॒नाम्। मयि॑। रन्तिः॑। अ॒स्तु॒ ॥ ६ ॥

इलायाः। गोनामैतत्। "इला धेनुः सहवत्सा न आगात्" इत्यादिश्रुतेः। ❀ "इलाया वा" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀। तस्याः पदम् पादः घृतवत् घृतोपेतम्। "सा यत्रयत्र न्यक्रामत् ततो घृतम् अपीड्यत" [तै० सं० २. ६. ७. १] इति श्रुतेः। सरीसृपम् अत्यर्थं सर्पत्। ❀सृपेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच्। "न धातुलोप आर्धधातुके" इति लघूपधगुणप्रतिषेधः ❀। इडापदात्मना भावितं पशोर्दक्षिणं पादम् हव्या हव्यानि धानाकरम्भादीनि हवींषि च। ❀ शेर्लोपः ❀। हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने प्रति गृभाय प्रतिगृहाण। ❀ "हलः श्नः शानज्झौ" ["छन्दसि शायजपि"] इति श्नः शायजादेशः। "हृग्रहोर्भः०" इति भः ❀॥ गृहीतहविस्तव प्रसादाद् ग्राम्याः ग्रामे भवा गोश्वाजाविपुरुषगर्दभोष्ट्राख्या विश्वरूपाः नानाकारा ये पशवः सन्ति तेषाम् उक्तानां सप्तानां पशूनां रन्तिः प्रीतिः मयि चास्तु। ततः समृद्धिर्भवतु इत्यर्थः। ❀ रमेः क्तिनि अनुनासिकलोपाभावश्छान्दसः ❀ ॥

इलाका घृतोपेत पाद अधिक सर्पता है हे जातवेदः! तुम पशु

के. दक्षिणपादको और भुने हुए जौ और करंभ (दहीके सत्तू) आदि हविको ग्रहण करो आपके हविको ग्रहण कर प्रसन्न होने पर गौ घोड़ा बकरी भेड़ पुरुष गधा और ऊँट नाम वाले जो अनेक प्रकारके पशु हैं, इन सात प्रकारके पशुओंकी मुझमें प्रीति हो॥६॥

सप्तमी ॥

आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

आ । मा । पुष्टे । च । पोषे । च । रात्रि । देवानाम् । सुऽमतौ । स्याम
पूर्णा । दर्वे । परा । पत । सुऽपूर्णा । पुनः । आ । पत ।
सर्वान् । यज्ञान् । सम्ऽभुञ्जती । इषम् । ऊर्जम् । नः । आ । भर ७

हे रात्रि मा मां पुष्टे समृद्धे धने पोषे पुत्रपौत्रादिसमृद्धौ । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । आ [इति] उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । आ स्थापय ॥ त्वत्प्रसादाद् वयं च देवानाम् इन्द्रादीनां सुमतौ कल्याण्यां बुद्धौ स्याम भवेम ॥ हे दर्वि होमसाधनभूते त्वं पूर्णा हविर्भिः पूरिता सती परा पत परागच्छ । यष्टव्यान् देवान् प्रति गच्छ ॥ ततः सुपूर्णा अभिमतफलैः परिपूर्णा सती पुनरा पत अस्मान् आगच्छ । ❀ पत्लृ गतौ । पूर्णेति । पॄ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् ण्यन्तात् "वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः" इति इडभावो णिलुक् च निपात्यते । "उदोष्ठ्यपूर्वस्य" इत्युत्वम् । "रदाभ्याम्०" इति नत्वम् । सुपूर्णेति । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ सर्वान् यज्ञान् यष्ट-

ध्यात् । ❀ "यजयाच०" इत्यादिना कर्मणि नङ् प्रत्ययः ❀ । संभुञ्जती हविषा सम्यक् पालयन्ती प्रीणयन्ती । ❀ भुजेः पालनार्थाद् आत्मनेपदाभावे शतृप्रत्ययः । "शतुरनुमः०" इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । ईदृशी सती देवेभ्यः सकाशाद् इषम् अन्नम् ऊर्जम् बलं च नः अस्मभ्यम् आ भर आहर ॥ पूर्णा दर्वीति पृथग्ग्रहणात् "ग्रहणम् आ ग्रहणाद्" [कौ० १. ८.] इति न्यायात् विनियोगविषये "आ मा पुष्टे च" इत्येकावसाना ऋक् । पञ्चपटलिकायां तु त्र्यवसाना एकैव ऋग् इत्युक्तम् ॥

हे रात्रि ! मुझको समृद्ध धन आदिमें और पुत्र पौत्र आदि समृद्धिमें स्थापित कर । तेरे प्रसादसे हम देवताओंकी कल्याणी बुद्धिमें रहें अर्थात् देवता हम पर कल्याणमयी बुद्धि रक्खें । हे होमकी साधन भूत दर्वि ! तू हवियोंसे पूरित हमारे पूजनीय देवताओंके पास जा । फिर अभिमत फलोंसे पूर्ण होकर हमारे पास आ । सब पूजनीय देवताओंको हविसे तृप्त करती हुई देवताओंसे हमारे लिये अन्न और बल ला ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तव ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

आ । अयम् । अगन् । सम्ऽवत्सरः । पतिः । एकऽअष्टके । तव ।

सा । नः । आयुष्मतीम् । प्रऽजाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ८ ॥

हे एकाष्टके तव पति अयं संवत्सरः आगन् आगतः । संवत्सरस्य पतित्वं प्राग् उक्तम् ॥ सा त्वं पत्या सहिता नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणाम् आयुष्मतीं कुर्वती रायः धनस्य पोषेण सं सृज संयोजय ॥

हे एकाष्टके ! तुम्हारा पति यह सम्वत्सर आगया । अतः तू पतिके साथ रह कर हमारी पुत्र पौत्र आदि प्रजाको आयुष्मती कर हमको धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ८ ॥

नवमी ॥

ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

ऋतून् । यजे । ऋतुऽपतीन् । आर्तवान् । उत । हायनान् ।
समाः । सम्ऽवत्सरान् । मासान् । भूतस्य । पतये । यजे ॥९॥

ऋतून् वसन्तादीन् यजे हविषा प्रीणयामि ॥ ऋतुपतीन् तेषाम् ऋतूनाम् अधिष्ठातॄन् अग्न्यादीन् देवांश्च । यजे इति सर्वत्र संबन्धः ॥ आर्तवान् ऋत्ववयवान् अन्यान् अनुक्तान् कलाकाष्ठादीन् कालविशेषान् । ❀"ऋतोरण्" इति अण् प्रत्ययः❀ । उत अपि च हायनान् समाः संवत्सरान् । इत्येते शब्दा यद्यपि समानार्थास्तथापि अत्र हायनशब्देन संवत्सरसंबन्धिनः अहोरात्रा लक्ष्यन्ते । ❀ जहति जिहते वा भावान् इति हायनाः । "हश्च व्रीहिकालयोः" इति ल्युट्❀ । समाशब्देन समप्रविभक्ताश्चतुर्विंशतिसंख्याका अर्धमासाः । तान् संवत्सरान् द्वादशमासात्मकान् मासान् चैत्राद्यान् द्वादशसंख्याकान् यज इति संबन्धः ॥ भूतस्य सद्भावं प्राप्तस्य चराचरात्मकस्य जगतः पतये यः पतिरन्तर्यामी अनवच्छिन्नकालात्मकः तस्मै । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । तं भूतपतिं च यजे हविषा प्रीणयामि । यद्वा । ❀ भूतस्य पतय इति तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । भूतपतिप्रीणनाय ऋत्वादीन् यज इति संबन्धः ॥

मैं वसन्त आदि ऋतुओंका हविसे पूजन करता हूं और ऋतुओं के स्वामी अग्नि आदि देवताओंका भी पूजन करता हूं और

सम्वत्सरके दिन रातका हविसे यजन करता हूँ, ऋतुके अवयव कला काष्ठा आदिका हविसे यजन करता हूँ चौबीस पक्षोंका हविसे यजन करता हूँ और सम्वत्सरके चैत्र आदि बारह महीनों का मैं यजन करता हूँ, सबाको मास हुए चराचरात्मक जगत्के स्वामी अन्तर्यामी अनवच्छिन्न कालके लिये मैं (ऋतु आदिका) पूजन करता हूँ ॥ ९ ॥

दशमी ॥

ऋतुभ्यस्त्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

ऋतुऽभ्यः । त्वा । आर्तवेभ्यः । मात्ऽभ्यः । सम्ऽवत्सरेभ्यः ।
धात्रे । विऽधात्रे । सम्ऽऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥ १० ॥

हे एकाष्टके त्वा त्वाम् ऋतुभ्यः वसन्तादिभ्यः तत्प्रीत्यर्थम् । यजे इत्यनुषङ्गः । एवम् आर्तवेभ्यः ऋतुसंबन्धिभ्यः अहोरात्रादिभ्यः । त्वा यजे इति सर्वमन्त्रेषु अनुषङ्गः । माद्भ्यः मासेभ्यः । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इत्यादिना मासशब्दस्य मास् इत्यादेशः । "स्ववस्स्वतवस्मासुषसा च त इष्यते छन्दसि" इति सकारस्य तत्वम् ❀ । संवसन्त्यस्मिन्निति संवत्सरः । ❀ संपूर्वाद् वसेरौणादिकः सरप्रत्ययः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् ❀ । तेभ्यः धात्रे धाता धारयिता एतन्नामको देवः तस्मै विधात्रे सर्वस्य निर्मात्रे देवाय समृधे समर्धयित्रे एतन्नाम्ने देवाय । ❀ ऋधु वृद्धौ । संपूर्वाद् अस्मात् क्विप् ❀ । भूतस्य पतये उक्तलक्षणाय देवाय । ❀ "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" इति पतिशब्दस्य घिसंज्ञायां "घेर्ङिति" इति गुणः ❀ । [यजे हविषा प्रीणयामि] ॥

वसन्त आदि ऋतुओंकी प्रसन्नताके लिये, ऋतुसम्बन्धी दिन रात्रिकी प्रसन्नताके लिये मास और संवत्सरकी प्रसन्नता के लिये, धाता देवताकी, सबके निर्माता विधाता देवताकी, समृद्धि करने वाले समृध् नाम वाले देवताकी और सद्भावको प्राप्त हुए चराचरात्मक जगत्के स्वामी अन्तर्यामी अनवच्छिन्न कालके लिये हे एकाष्टके ! मैं तेरा यजन करता हूँ ॥ १० ॥

एकादशी ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

इडया । जुह्वतः । वयम् । देवान् । घृतऽवता । यजे ।

गृहान् । अलुभ्यतः । वयम् । सम् । विशेम । उप । गोऽमतः ११

इडया । गोनामैतत् । तदुपलक्षितेन मांसादिरूपेण हविषा घृतवता उपस्तरणाभिघारणार्थघृतयुक्तेन जुह्वतः होमं कुर्वन्तः अग्नौ हविः प्रक्षिपन्तः । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति कर्मणि तृतीया ❀ । तथाविधा वयं देवान् यजे । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । यजामहे प्रीणयामः । ❀ जुह्वत इति । जुहोतेर्लटः शत्रादेशे "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्प्रतिषेधः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ तेषां देवानाम् अनुग्रहाद् वयम् अलुभ्यतः गार्ध्यम् अकुर्वाणाः संपूर्णाः सन्तः । ❀ लुभ गार्ध्ये । दिवादित्वात् श्यन् । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀ । यद्वा गृहविशेषणम् । अलुभ्यतः गार्ध्यरहितान् । काम्यमानसकलवस्तुसमेतान् इत्यर्थः । गोमतः । ❀ भूम्नि मतुप् ❀ । बहुभिर्गोभिर्युक्तान् गृहान् उप । ❀ क्रियाध्याहारः ❀ । उपेत्य सं विशेम सुखेन निवसेम ॥

मांस और उपस्तरण तथा अभिघारणके घृतसे युक्त होमको करते हुए हम देवताओंका यजन करते हैं। उन देवताओंके अनुग्रहसे हम सकल कामनाओंसे सम्पन्न और बहुतसी गौओंसे भरे पुरे घरको पाकर सुखसे बसें ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमान-
मिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छची-
पतिः ॥ १२ ॥

एकऽअष्टका । तपसा । तप्यमाना । जजान । गर्भम् । महिमानम् ।
इन्द्रम् ।
तेन । देवाः । वि । असहन्त । शत्रून् । हन्ता । दस्युनाम् ।
अभवत् । शचीऽपतिः ॥ १२ ॥

एकाष्टका माघकृष्णाष्टमीत्युक्तम् । सा देवतात्वेन स्तूयते । तपसा तप्यमाना । ❀ व्यत्ययेन कर्मणि तृतीया । "तपस्तपःकर्मकस्यैव" इति कर्मवद्भावाद् यगात्मनेपदे । "अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वेन यक उदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेन धातुस्वरः ❀ । यद्वा । ❀ तप ऐश्वर्ये । दिवादिः आत्मनेपदी । श्यनो नित्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । सर्वस्य ईशाना एकाष्टका तपसा संतापकरेण पुत्रार्थेन कर्मणा गर्भम् गर्भभूतं महिमानम् महत्त्वोपेतम् इन्द्रं जजान जनयामास । यद्वा गर्भं गरणीयं स्तुत्यं वन्दनीयम् । ❀ गॄ शब्दे । अर्तिगॄभ्यां भन् [उ० ३. १५२] इति भन् प्रत्ययः ❀ । गर्भस्यवद् अदृश्यं वा । ❀ गॄ निगरणे । अस्माद्

वा भन् ❀। एवंभूतम् इन्द्रम् ईशितारम् आदित्यं जजान जनयामास प्राकाशयत् ॥ तेन उक्तलक्षणेन इन्द्रेण देवाः शत्रून् शातयितॄन् असुरान् व्यसहन्त विशेषेण अभ्यभवन् ॥ स च इन्द्रः शचीपतिः शच्या देव्याः पतिः। यद्वा शचीति कर्म नाम। शचीनां कर्मणां पतिः स्वामी दस्यूनाम् उपक्षयितॄणां हन्ता अभवत् घातको भवतु। ❀ शचीपतिरिति। वनस्पत्यादित्वाद् उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀॥

सबकी स्वामिनी एकाष्टकाने पुत्रके लिये सन्तापमय तपके अनुष्ठानरूप कर्मसे महत्त्वयुक्त इन्द्रको प्रकाशित किया। उस इन्द्रके द्वारा देवताओंने शत्रु असुरोंको विशेषरूपसे दबाया था। वह शचीपति इन्द्र उपक्षय (विनाश) करने वालोंके घातक हों॥१२॥

त्रयोदशी ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

इन्द्रऽपुत्रे। सोमऽपुत्रे। दुहिता। असि। प्रजाऽपतेः।

कामान्। अस्माकम्। पूरय। प्रति। गृह्णाहि। नः। हविः १३

हे इन्द्रपुत्रे उक्तरीत्या इन्द्रः पुत्रो यस्यास्तादृशि हे सोमपुत्रे सोमः पुत्रो यस्यास्तथाविधे। "यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिम्" [२] इति रात्र्येकाष्टकयोरभेदव्यवहाराद् रात्रौ चन्द्रस्य प्रकाशस्य उपलब्धेश्च पुत्रत्वोपचारः। यद्वा गवामयनाख्ये संवत्सरसत्रे एकाष्टकाया सोमस्य क्रयणात् पुत्रत्वोपचारः। श्रूयते हि। गवामयनदीक्षां प्रस्तुत्य "तेषाम् एकाष्टकायां क्रयः संपद्यते" [तै० सं० ७. ४. ८. २] इति। ईदृशि हे एकाष्टके त्वं प्रजापतेः प्रजानां देवानां मनुष्यादीनां स्रष्टुः दुहितासि पुत्री भवसि॥

तथाविधा त्वम् अस्माकं कामान् काम्यमानान् प्रजापश्वादीन् अर्थान् पूरय समृद्धान् कुरु। तदर्थं नः अस्मदीयं हविः प्रति गृहाण प्रतिगृहाण स्वीकुरु। ❀ ग्रहेर्लोटि सिपो हिरादेशः। "हलः श्नः शानज्झौ" इति शानजादेशो व्यत्ययेन न भवति। "वा छन्दसि" इति हेः पित्त्वेन ङित्त्वस्य निवर्तनात् "ई हल्यघोः" इति ईत्वमपि न भवति ❀॥

इति द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम्॥

द्वितीयोनुवाकः समाप्तः॥

"यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिम्" इस दूसरी ऋचामें एकाष्टका का और रात्रिका अभेदभाव स्वीकार किया है। और रात्रिमें चन्द्रमाका प्रकाश फैलता है अत एव रात्रिको चन्द्रमाकी माता मान कर कहते हैं, कि—हे सोमपुत्रे! हे इन्द्रपुत्रे! एकाष्टके! तू देवता और मनुष्य आदिको रचने वाले प्रजापतिकी पुत्री है। अतः तू प्रजा पशु आदि कामनाओंसे हमें पूरित कर और इसके लिये हमारी हविको स्वीकार कर॥ १३॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (८१)॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "मुञ्चामि त्वा" इति प्रथम सूक्तेन बालग्रहरोगे निरन्तरस्त्रीसंगतिजनितयक्ष्मणि च पतिगन्ध-मत्स्यसहितम् ओदनम् अभिमंत्र्य भोजनकाले व्याधितम् आशयेत्।

तथा अनेन सूक्तेन अरण्यतिलैः प्रज्वालितोदपात्रेण उषःकाले [अरण्ये] गृहे वा व्याधितम् अवसिञ्चेत् मार्जयेत् आचामयेच्च॥

तथा अरण्यशणारण्यगोमयचित्यादिशान्तौषधिभिः प्रत्येकं प्रज्वालितेनोदकेन उषःकाले व्याधितस्य अवसेकमार्जनाचमनानि कुर्यात्॥

तथा सर्वव्याधिनिवृत्तये च अनेन सूक्तेन व्याधितम् उपस्पृश्य अभिमन्त्रयेत॥

सूत्रितं हि । "मुञ्चामि त्वेति [ग्राम्ये] पूतिशफरीभिरोदनम् अरण्ये तिलशणगोमयशान्ताज्वालेनावनक्षत्रेवसिञ्चति" [कौ० ४. ३] इति ॥ शान्ता ओषधयश्चित्तिः प्रायश्चित्तिरित्येवमाद्याः सूत्रकृतोक्ताः [कौ० १. ८] ॥

अस्य सूक्तस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धासि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" [कौ० ४. ८] इत्यादिना यत्रयत्र सूत्रकृता विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा क्रतुमध्ये व्याधितस्य यजमानस्य भैषज्येपि एतत् सूक्तम् । तथा च वैताने । "अथ भैषज्याय यजमानम् 'अक्षीभ्यां ते' [२. ३३] 'मुञ्चामि त्वा' [३. ११] 'उत देवाः'" [४. १३] इति [वै० ७. ३] ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'मुञ्चामि त्वा' इस प्रथमसूक्तसे बालग्रह रोगमें और निरन्तर स्त्रीसंग करनेसे उत्पन्न हुए यक्ष्मारोगमें पूतिगंध (इमली) और मत्स्यसहित भातको अभिमन्त्रित करके भोजनके समय रोगीको खिलावे ॥

तथा इस सूक्तसे जंगली तिलके ईंधनसे प्रज्वालित जलपूर्णपात्र से उषःकालके समय जंगल वा घरमें रोगी पर अभिषेक मार्जन करे और आचमन भी करावे ॥

तथा जंगली सन, जंगली उपले चित्या आदि शांता औषधियोंमेंसे प्रत्येकसे गरम किये हुए उदकसे प्रातःकालके समय अभिषेक मार्जन और आचमन करे ॥

तथा सकल व्याधियोंकी निवृत्तिके लिये इस सूक्तसे रोगीका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि—"मुञ्चामि त्वेति ग्राम्ये पूतिशफरी भिरोदनम् अरण्ये तिलशणगोमयशान्ताज्वालेनावनक्षत्रेव-

सिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४।३)॥ कौशिकसूत्र १।८ में सूत्रकारने चिति मायश्चित्ति आदि शान्ता औषधियोंका वर्णन किया है

इस सूक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है और सूत्रकारने 'ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यमतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिंगाभिः' के अनुसार जहाँ २ विनियोग कहा है तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये॥

तथा यज्ञमें रुग्ण हुए यजमानकी चिकित्सामें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अथ भैषज्याय यजमानम् 'अक्षीभ्यां ते' (२।३३) 'मुञ्चामि त्वा' (३।११) 'उत देवा'" (४।१३) इति वैतानसूत्र ७।२

तत्र प्रथमा॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्

मुञ्चामि। त्वा। हविषा। जीवनाय। कम्। अज्ञातऽयक्ष्मात्। उत। राजऽयक्ष्मात्।

ग्राहिः। जग्राह। यदि। एतत्। एनम्। तस्याः। इन्द्राग्नी इति। प्र। मुमुक्तम्। एनम्॥ १॥

हे व्याधिग्रस्त त्वा त्वां हविषा अन्नेन अज्ञातयक्ष्मात्। अयम् एतत्संज्ञक इति अमज्ञातः शरीरगतो रोगः अज्ञातयक्ष्मः। यद्वा राजयक्ष्मव्यतिरिक्तः सर्वोपि रोगः अज्ञातयक्ष्मशब्दवाच्यः। तादृशाद् रोगाद् मुञ्चामि विश्लेषयामि। ❀ यज पूजायाम् इत्य-

स्यात् अतिंस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् [उ० १. १३७] इति मन्प्रत्ययान्तो यक्ष्मशब्दः ❀ ॥ उत अपि च राजयक्ष्मात् यक्ष्मात् यक्ष्माणां रोगाणां राजा क्षयरोगो राजयक्ष्मः । ❀ राजदन्तादित्वाद् उपसर्जनस्य परनिपातः ❀ । यद्वा राजा सोमः तं प्रथमं यो यक्ष्मो गृहीतवान् स राजयक्ष्मः । "राजानं यक्ष्म आरद् इति तद् राजयक्ष्मस्य जन्म" [तै० सं० २. ५. ६. ५] इति श्रुतेः । तस्मादपि त्वा मुञ्चामि । किमर्थम् । जीवनाय जीवनार्थम् । इह लोके चिरकालावस्थानार्थम् इत्यर्थः । कम् इति पूरणः ॥ तथा ग्राहिः ग्रहणशीला पिशाची [यदि] एतत् इदानीम् एनम् बालकं जग्राह गृहीतवती तस्याः सकाशात् हे इन्द्राग्नी युवाम् एनं प्र मुमुक्तम् प्रमोचयतम् । ❀ मुचेश्छान्दसो विकरणस्य श्लुः ❀ ॥

मैं तुझे हविके द्वारा अज्ञातरूपसे शरीरमें प्रवेश करनेवाले यक्ष्मारोगसे मुक्त करता हूं और जिसने राजा सोमको पहिले ग्रहण किया था उस राजयक्ष्मा रोगसे तुझको चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये छुड़ाता हूं और हे इन्द्र और अग्नि देवताओं! ग्रहण करनेके स्वभाव वाली जिस पिशाचीने यदि इस बालकको ग्रहण कर लिया हो तो आप इसको उससे छुड़ाइये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॑त ए॒व ।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्शमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

यदि॑ । क्षि॒तऽआ॑युः । यदि॑ । वा॒ । परा॑ऽइतः । यदि॑ । मृ॒त्योः । अ॒न्ति॒कम् । निऽइ॑तः । ए॒व ।

तम् । आ । हरामि । निःऽऋतेः । उपस्थात् । अस्पार्शम् । एनम् । शतऽशारदाय ॥ २ ॥

यदि अयं व्याधिग्रस्तः क्षितायुः रोगेण क्षपितायुर्भवेत् । ❀ क्षि क्षये इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्युदस्तत्वाद् दीर्घाभावः ❀ । यदि वा परेतः अस्माल्लोकात् परागतो भवेत् । यदि च मृत्योः वैवस्वतस्य अन्तिकं नीतः नितरां प्राप्त एव भवति । ❀ उपायान्तरेण अशक्यानेयत्वम् एवकारेण द्योत्यते । परेतो नीत इत्युभयत्र एतेः कर्मणि निष्ठा । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । नीत इति । "स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" इत्येकादेशः स्वर्यते ❀ । एवंभूतमपि तम् पुरुषं निर्ऋतेः मृत्योः उपस्थात् उपस्थानात् समीपात् आ हरामि इमं लोकम् आनयामि ॥ आहृत्य च एनं शतशारदाय शतसंवत्सरजीवनार्थम् अस्पार्षम् प्रबलं करोमि । ❀ स्पृ प्रीतिबलनयोः । छान्दसो लुङ् । पादादित्वात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः❀॥

यदि यह व्याधिग्रस्त पुरुष क्षीणायु होगया हो और इस लोकसे जाने वाला हो और यमराजके पास पहुँचा हुआ ही हो तो भी मैं इस पुरुषको मृत्युके समीपसे इस लोकमें लाता हूँ और लाकर इसको सौ वर्ष तक जीवित रहनेके लिये प्रबल करता हूँ २

तृतीया ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ३

सहस्रऽअक्षेण । शतऽवीर्येण । शतऽआयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ।

इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुःऽइतस्य । पारम् ॥ ३ ॥

सहस्राक्षेण । सहस्रम् इति बहुनाम । सहस्रम् अक्षीणि चक्षूंषि दर्शनशक्तयो यस्य हविषः फलत्वेन विद्यन्ते तत् सहस्राक्षम् । ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः ❀ । तेन शतवीर्येण । शतशब्दः अपरिमितवाची । शतसंख्याकानि श्रोत्रादीन्द्रियसंबन्धीनि वीर्याणि श्रवणादिशक्तयः फलत्वेन यस्य सन्ति तादृशेन शतायुषा शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीवनं फलभूतं यस्य तादृशेन हविषा अन्नादिना एनम् व्याधिगृहीतं [मृत्योः सकाशाद् आहार्षम् आनैषम् । यथा इन्द्रः एनं पुरुषं] शरदः शतसंख्याकान् संवत्सरान् । ❀ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀ । तावत्कालपर्यन्तं विश्वस्य कृत्स्नस्य दुरितस्य आयुर्भङ्गनिमित्तस्य पापस्य पारम् अवसानम् अति नयाति अतिनयेत् अतिक्रामयेत् । तथा तम् इन्द्रं हविषा प्रीणयामि इति शेषः । ❀ नयातीति । नयतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥

जिसका फल अनन्त दर्शनशक्ति होजाना है और जिसके फलसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी श्रवणशक्तिरूप सैंकड़ों वीर्य प्राप्त होते हैं और जिसके फलसे सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त होती है ऐसे हविसे मैं इस व्याधिगृहीत पुरुषको मृत्युके पाससे ले आया हूँ, इसका कारण यह है, कि-इन्द्र इस पुरुषको सौ वर्ष तक आयुर्भंगके कारण पापोंके पार पहुँचा देवे, इसी कारण मैं हवि से इन्द्रको प्रसन्न करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।

शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊं इति । वसन्तान् ।

शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः । सविता । बृहस्पतिः । शतऽआयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ४ ॥

हे रोगाद् विमुक्त त्वं वर्धमानः अहरहरभिवृद्धिं प्राप्नुवन् शतं शरदः शतसंख्याकान् शरदृतून् जीव प्राणान् धारय ॥ तथा शतं हेमन्तान् हेमन्तर्तू न् । ❀ उशब्दः समुच्चये ❀ । शतं वसन्तांश्च वर्धमानः । जीव इत्युभयत्र अनुषङ्गः । ❀ सर्वत्र "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀ ॥ यद्यपि शतं शरद इत्यनेनैव शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्लब्धम् तथापि हेमन्तवसन्तयोः पृथगुपादानं शीतोष्णावर्धत्वेन संवत्सरस्य त्रैविध्यप्रदर्शनार्थम् । अनेन आजीवनं तत्तदृतुप्रयुक्तशीतोष्णादिकृतदुःखजातं मा भूद् इत्युक्तं भवति । अत एव वर्धमान इति विशेषितम् ॥ तथा इन्द्रः अग्निः सविता सर्वस्य प्रेरकः बृहस्पतिश्च ते तव शतम् शतसंवत्सरपरिमितम् । आयुः कुर्वन्तु इति शेषः । शतायुषेत्यादि पूर्ववत् ॥

हे रोगमुक्त पुरुष ! मैं सौ वर्षकी आयु देने वाले हविसे इस को मृत्युके पाससे लौटा लाया हूँ तू दिन प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होता हुआ सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रह, सौ हेमन्तऋतुओं तक जीवित रह सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह (यद्यपि सौ शरद् कहनेसे ही सौ वर्षकी आयु आजाती है फिर हेमन्त और वसंतका

अलग वर्णन शीत उष्ण और वर्षारूपसे सम्वत्सरका त्रैविध्य दिखानेके लिये है इससे यह सूचित किया है, कि-इन ऋतुओंमें होने वाला शीत उष्ण आदिसे उत्पन्न दुःख न हो) इन्द्र अग्नि और सबके प्रेरक सविता देवता तथा बृहस्पति तेरी सौ वर्षकी आयु करें४

पञ्चमी ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।

व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौऽइव । व्रजम् ।

वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ५

हे प्राणापानौ शरीरधारकौ युवां प्र विशतम् । यक्ष्मगृहीतस्य शरीरम् इति शेषः । मन्त्रसामर्थ्येन निर्गतयोरपि पुनःप्रवेशाभिधानेन अनिर्गतयोस्तयोः कैमुतिकन्यायेन स्थैर्यं प्रार्थितं भवति । तत्र दृष्टान्तः । अनड्वाहौ अनसः शकटस्य वोढारौ बलीवर्दौ व्रजम् स्वनिवासस्थानं गोष्ठमिव । ❀ "अनसि वहेः क्विबनसो डश्च" इति क्विप् । "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इत्यागमस्य आम उदात्तत्वम् । व्रजम् इति । व्रजगतौ इत्यस्माद् "गोचरसंचरवहव्रज०" इत्यादिना "हलश्च" इति प्राप्तस्य घञोपवादत्वेन घप्रत्ययान्तो [व्रजशब्दो] निपातितः । "अजिव्रज्योश्च" इति कुत्वाभावः ❀ ॥ अन्ये राजयक्ष्मव्यतिरिक्ता मृत्यवः मृतिहेतवो रोगादयः वि यन्तु विमुखा गच्छन्तु । तानेवाह । यान् इतरान् अन्यान् मृत्यून् शतम् शतसंख्याकान् आहुः कथयन्ति अभिज्ञाः । शतम् इति अपरिमितनाम । तथैव प्राग् आम्नातम् । "मेमम् अन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये" [२. २८. १] इति । शाखान्तरेपि "ये ते सहस्रम् अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे" [तै० ब्रा० ३. १०.

८ । २] इति । ※ व्यन्य इति । संहितायाम् "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति अन्यशब्दस्य अकारः स्वर्यते ※ ॥

हे शरीरधारक प्राण और अपान ! जैसे गाड़ीको खेंचने वाले बैल अपने निवासस्थान गोठमें प्रवेश करते हैं तैसे तुम यक्ष्मग्रस्त रोगीके शरीरमें प्रवेश करो (मन्त्रसामर्थ्यसे निकले हुए भी प्राण अपानका पुनः प्रवेश कहा है और न निकले हुओंकी स्थिरताकी प्रार्थना की है) जाननेवाले पुरुष जिन और सैंकड़ों मृत्युके हेतु ‡ रोगोंका वर्णन करते हैं वे राजयक्ष्माके अतिरिक्त मृत्युके हेतु रोग विमुख होकर चले जावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

इह । एव । स्तम् । प्राणापानौ । मा । अप । गातम् । इतः । युवम् ।
शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् । पुनः ॥ ६ ॥

हे प्राणापानौ युवाम् इहैव अस्मिन्नेव शरीरे [स्तम्] भवतम् । ※ अस्तेर्लोटि तसस्तम् । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः※। इतः अस्माच्छरीरात् जवं शीघ्रम् अकाले माप गातम् मापगच्छ-

‡ अन्य श्रुतिमें भी कहा है, कि—"मेमं अन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ॥—और जो सैंकड़ों मृत्युएँ हैं, वे इसको न मारें" (अथर्ववेद २ । २८ । १) और तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी कहा है, कि—"ये ते सहस्रं अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे ॥—हे मृत्यो ! मरणशील मनुष्योंको मारनेके लिये तुम्हारे जो सैंकड़ों पाश हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १० । ८ । २) ॥

तम् । ❀ एतेर्लिङि लुङि "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ । पुनःशब्दः त्वर्थे । किं तु अस्य व्याधितस्य शरीरम् अङ्गानि हस्तपादादीनि च जरसे जरार्थम् । जरापर्यन्तम् इत्यर्थः । वहतम् धारयतम् । ❀ जरस इति । "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरसादेशः ❀ ॥

हे प्राण और अपानों ! तुम इस ही शरीरमें रहो, इस शरीर से अकालमें शीघ्रताके साथ न जाओ और इस रोगीके शरीर को तथा इसके हाथ पैर आदि अंगोंको वृद्धावस्था तक धारण करो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ७ ॥

जरायै । त्वा । परि । ददामि । जरायै । नि । धुवामि । त्वा ।
जरा । त्वा । भद्रा । नेष्ट । वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् ।
आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

हे व्याधिविनिर्मुक्त त्वा त्वां जरायै परि ददामि । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । जरा अवसानपर्यन्तं त्वां यथा रक्षति तथा ददामीत्यर्थः । जीर्यन्ति अङ्गानि अस्याम् अवस्थायाम् इति जरा ।❀ जृष् वयोहानौ । "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इति अङ्प्रत्ययः ❀ ॥ तथा त्वा त्वां जरायै नि धुवामि जरापर्यन्तं नितरां प्रेरयामि । तावत्पर्यन्तं रोगादिभ्यः पालयामि इत्यर्थः । ❀ धू विधूनने । तुदादित्वात् शः । तस्य ङित्वाद् गुणाभावः ❀ ॥ सा जरा त्वा त्वां

भद्रा भन्दनीयानि कल्याणानि । ❀ शेलोपः ❀ । नेष्टु नयतु प्रापयतु । ❀ छान्दसो लुङ् । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यडभावः ❀ ॥ अन्यत् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे व्याधिमुक्त पुरुष ! मैं तुझे जराको देता हूँ अर्थात् बुढ़ापे तक तेरी जिस प्रकार रक्षा हो तिस प्रकार तुझको देता हूँ और बुढ़ापे तक तेरी रोगोंसे रक्षा करता हूँ वृद्धावस्था तुझे बुढ़ापे तक कल्याण प्राप्त करावे । विद्वान् पुरुष मृत्युके कारण और जिन सैंकड़ों रोगोंका वर्णन करते हैं वे रोग तुझसे दूर रहें ॥७॥

अष्टमी ॥

अभि त्वां जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वां ।
यस्त्वां मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशयां ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥८॥

अभि । त्वा । जरिमा । अहित । गाम् । उक्षणम्ऽइव । रज्ज्वा ।
यः । त्वा । मृत्युः । अभिऽअधत्त । जायमानम् । सुऽपाशया ।
तम् । ते । सत्यस्य । हस्ताभ्याम् । उत् । अमुञ्चत् । बृहस्पतिः ८

हे व्याधिविनिर्मुक्त जरिमा जरा त्वा त्वाम् अभ्यहित बद्धं करोतु । ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते । "अश्वाभिदानीम् आदत्ते" [तै० सं० ५. १. २. १] इतिवत् । दधातेर्लुङ् । "स्थाघ्वोरिच्च" इति इत्वकित्त्वे ❀ । किमिव । उक्षणम् उक्षाणम् । ❀ "वा षपूर्वस्य निगमे" इति दीर्घाभावः ❀ । सेचनसमर्थं गां रज्ज्वेव । यो मृत्युः त्वा त्वां जायमानम् उत्पद्यमानमेव अकाले सुपाशया शोभनः पाशो यस्याः सा । पाशशब्दो ग्रन्थिविशेषोपेतवलयाकाररज्ज्वग्रे प्रसिद्धः । यद्व आह आपस्तम्बः ।

"मौञ्जेन दाम्नान्यतरतः पाशेन" [आप० सू० २. ५. ४.] इति । तथाविधया रज्ज्वा अभ्यधत्त अबध्नात् ते तव संबन्धिनं तम् मृत्युपां सत्यस्य अविनाशिनो ब्रह्मणो हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत् उन्मोचयतु ॥

इति तृतीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे व्याधिमुक्त ! जैसे सेचन करनेमें समर्थ बैलको रस्सीसे बाँध लेते हैं, तैसे ही बुढ़ापा तुझको बाँध लेवे । मृत्युने तुझको उत्पन्न होते ही अकालमें पाशसे बाँध लिया है, तेरे उस मृत्यु पाशको अविनाशी ब्रह्माके हाथसे बृहस्पति छुड़वावें ॥ ८ ॥

तृतीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (८२) ॥

"इहैव ध्रुवाम्" इति प्रथमं सूक्तं वास्तोष्पत्यगणे पठितम् । सूत्रितं हि । "इहैव ध्रुवाम् [३. १२]एह यातु [६.७३]यमो मृत्युः [६. ९३] सत्यं बृहत् [१२. १] इत्यनुवाको वास्तोष्पतीयानि" इति [कौ० १. ८] । तेन गणेन नवशालावास्तुसंस्कारार्थं शालाभूमिं हलेन कर्षेत् ॥

तथा यत्रयत्र चतुर्गणी महाशान्तिः शान्त्युदकादौ प्रयुज्यते तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगः ॥

तस्यामेव नवशालायां गर्तेषु उच्छ्रीयमाणस्थूणा अनेन सूक्तेन अभिमन्त्रेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि "इहैव ध्रुवाम्" [१, २] इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां शालाभूमिं दृढां घट्टयेत् ॥

"ऋतेन स्थूणाम्" [६] इत्यनया ऋचा उच्छ्रितासु स्थूणासु घृताक्तं वंशम् आरोपयेत् ॥

नवगृहप्रवेशकाले "पूर्णं नारि" [८] इति ऋचा उदकुम्भसहितां पत्नीं गृहं प्रथमं प्रवेशयेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "वास्तोष्पतीयैः कुलिजकृष्टे दक्षिण-

तोमेः संभारस् आहरति । वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपंते" इति प्रक्रम्य "इहैव ध्रुवाम् इति नीयमानाम् उच्छ्रीयमाणाम् अनुमन्त्रयते । अभ्यज्य । ऋतेनेति मन्त्रोक्तम् । पूर्णं नारीत्युदकुंभम् अग्निम् आदाय प्रपद्यन्ते । ध्रुवाभ्यां दृंहयति" इति[कौ०५.७]

'इहैव ध्रुवाम्' यह सूक्त वास्तोष्पत्यगणमें पहिले ही कहा है। वास्तोष्पत्यगणकी सूची वाले कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि—"इहैव ध्रुवाम् (यह तीसरे काण्डका बारहवाँ सूक्त) एह यातु (यह छटे काण्डका तिहत्तरवाँ सूक्त) यमो मृत्युः (यह छटे कांडका तिरानवेंवाँ सूक्त) और सत्यं बृहत् (यह बारहवें कांडका प्रथम सूक्त) वास्तोष्पत्यगण है" ॥ इस गणसे नवीन शालाके वास्तुसंस्कारके लिये शाला (गृह)की भूमिको हलसे जोते

तथा शान्त्युदक आदिमें चतुर्गणी शान्तिका जहाँ २ प्रयोग होता है तहाँ २ सर्वत्र ही इसका विनियोग होता है ॥

और इस नवीन शालामें गढ़ोंमें ऊपरको उठे हुए खंभोंको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करे ॥

तथा इसी कर्ममें "इहैव ध्रुवाम्" इन दो ऋचाओंसे शाला-भूमिको दृढ़ बनवावे ॥

"ऋतेन स्थूणाम्" इस छठी ऋचासे खड़े किये हुए खम्भोंमें घृतमें सनेहुए बाँसको रक्खे ॥

नवीन घरमें प्रवेश करते समय 'पूर्णा नारि' इस आठवीं ऋचासे जलकुम्भसहित पत्नीको घरमें पहिले प्रवेश करावे ॥

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—'इहैव ध्रुवाम् इति नीयमानां उच्छ्रीयमाणामनुमन्त्रयते । अभज्य । ऋतेनेति मन्त्रोक्तम् । पूर्णं नारीत्युदकुम्भम् अग्निं आदाय प्रपद्यन्ते । ध्रुवाभ्यां दृंहयाति" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥

इह । एव । ध्रुवाम् । नि । मिनोमि । शालाम् । क्षेमे । तिष्ठाति । घृतम् । उक्षमाणा ।
ताम् । त्वा । शाले । सर्वऽवीराः । सुऽवीराः । अरिष्टऽवीराः । उप । सम् । चरेम ॥ १ ॥

इहैव अस्मिन्नेव प्रदेशे गृहे [शालां] ध्रुवाम् स्थिरां नि मिनोमि प्रक्षिपामि । स्थूणानिखननादिना करोमीत्यर्थः । ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे ❀ । सा निमिता शाला घृतम् एतदुपलक्षितम् अभिमतफलम् उक्षमाणा सिञ्चन्ती प्रयच्छन्ती क्षेमे क्षेमेण । ❀ तृतीयार्थे सप्तमी ❀ । अग्न्यादिबाधराहित्येन तिष्ठाति तिष्ठतु । ❀ लेटि आडागमः ❀ ॥ हे शाले ताम् तादृशीं त्वा त्वां सर्ववीराः अनेकपुत्राद्युपेताः सुवीराः शोभनगुणपुत्राद्युपेताः अरिष्टवीराः न रिष्टा अरिष्टा रोगादिरहिताः तादृशपुत्रादिसमेताः । अत्र बाहुल्यशोभनगुणत्वहिंसाराहित्यलक्षणगुणविशेषसंबन्धाय वीरशब्दस्य त्रिरावृत्तिः । एवंभूताः सन्तो वयम् उप सं चरेम व्यवहरेम ॥ ❀ सर्ववीरा इति । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "प्रत्ययलक्षणेनाप्ययं स्वर इष्यते" इति वचनात् सर्वशब्दः "सर्वस्य सुपि" इत्याद्युदात्तः । सुवीरा इति । "वीरवीर्यौ च" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । अरिष्टवीरा इति । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०"

इतिपूर्वप्रकृतिस्वरत्वे अरिष्टशब्दः "अव्यये नञ्कुनिपातानाम्" इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेण आद्युदात्तः ❀ ॥

मैं इसी प्रदेशमें खंभे आदि लगा कर शालाको स्थिर करता हूँ, यह शाला घृत आदि अभिमत फलको देती हुई अग्नि आदि के भयसे रहित होकर क्षेमपूर्वक रहे । हे शाले ! ऐसी तुझमें शोभन गुण वाले रोगरहित अरिष्टरहित पुत्रोंसे सम्पन्न होकर हम व्यवहार करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय २

इह । एव । ध्रुवा । प्रति । तिष्ठ । शाले । अश्वऽवती । गोऽमती । सूनृताऽवती ।

ऊर्जस्वती । घृतऽवती । पयस्वती । उत् । श्रयस्व । महते । सौभगाय २

हे शाले इहैव अस्मिन् देशे ध्रुवा स्थिरा सती प्रति तिष्ठ वर्तस्व । कथंभूता । अश्वावती बहुभिरश्वैरुपेता । ❀ "मादुपधायाः०" इति मतुपो वत्वम् । "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इत्यादिना अश्वशब्दस्य दीर्घः ❀ । गोमती बहुभिर्गोभिर्युक्ता सूनृतावती बहुभिः प्रियसत्यवाग्भिर्बालादीनां वाणीभिर्युक्ता ऊर्जस्वती प्रभूतान्नवती । ❀ ऊर्जस्वतीति । ऊर्ज बलप्राणनयोः इत्यस्माद् असुन् ॥ तदन्ताद् मतुप् । "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वेन पदत्वाभावाद् रुत्वाद्यभावः ❀ । घृतवती बहुघृतयुक्ता पयस्वती बहुक्षीरा । ❀ सर्वत्र "भूमनिन्दाप्रशंसासु०" इति भूम्नि मतुप् ❀ । एवं बहुगुणा त्वम् अस्माकं महते प्रभूताय सौभगाय सुभगत्वाय

उच्छ्रयस्व [उद्धता] भव । उत्कृष्टा भवेत्यर्थः । ❁ "सुभग मन्त्रे" इति उद्गात्रादिषु पाठाद् अञ् । "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति उत्तरपदवृद्ध्यभावः ❁ ॥

हे शाले ! तू इस ही स्थानमें बहुतसे घोड़े गौएँ और बालकों की प्रिय वाणीसे और बहुतसे अन्न घृत तथा दूधसे सम्पन्न होकर स्थिर रह । और इस प्रकार अनेकगुणसम्पन्न तू हमें बहुत सा सौभाग्य देनेके लिये उत्कृष्ट हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्ऽछन्दाः । पूतिऽधान्या ।

आ । त्वा । वत्सः । गमेत् । आ । कुमारः । आ । धेनवः । सायम् । आऽस्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

हे शाले त्वं धरुणी भोगजातस्य धारयित्री असि भवसि । ❁ "धारेर्णिलुक् च" इति उनन् प्रत्ययः । ततो ङीप् ❁ । यद्वा धरुणा धारकाः स्तम्भाः । प्रशस्तैः स्तम्भैरुपेता । ❁ "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीय ईकारः । छान्दसः शोलुक् ❁ ॥ तथा बृहच्छन्दाः प्रभूताच्छादना महद्भिश्छन्दोभिर्वेदैरुपेता वा पूतिधान्या पूतिगन्धोपेतजीर्णधान्ययुक्ता । बहुविधभोगदानादिनापि अक्षयधान्ययुक्ता इत्यर्थः । एवंभूतां त्वा त्वां वत्सः । ❁ जातावेकवचनम् ❁ । आ गमेत् आगच्छतु । ❁ "लिङ्याशिष्यङ्" ❁ । एवं कुमारः पुत्रादिः आ गमेत् । अस्यां शालायां गावः स्त्रियश्च

वत्सपुत्रादिसमेता भवन्तु इत्यर्थः ॥ तथा धेनवः दोग्ध्र्यो गावः सायम् सायंकाले आस्यन्दमानाः प्रस्रुतं पय आस्रवन्त्यः आ-गच्छन्तु त्वाम् इति ॥

हे शाले ! तू भोगोंको धारण करनेवाली है, बहुतसे छन्दोंदेव-ताओंसे सम्पन्न है, पूतिमंधयुक्त जीर्णधान्यसे युक्त अर्थात् अनेक प्रकारका भोग दान आदि करने पर अक्षयधान्यसे युक्त रहने वाली है। ऐसी तुझमें बछड़े और पुत्र आवें अर्थात् इस शालामें गौएँ स्त्रियें बछड़े और पुत्रोंके साथ रहें और दूध देनेवाली गौएँ भी सायंकालके समय दूधको टपकाती हुई आवें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु

इमाम् । शालाम् । सविता । वायुः । इन्द्रः । बृहस्पतिः । निः । मिनोतु । प्रऽजानन् ।
उक्षन्तु । उद्ना । मरुतः । घृतेन । भगः । नः । राजा । नि । कृषिम् । तनोतु ॥ ४ ॥

सविता सर्वस्य प्रेरको देवः प्रजानन् वायुः इन्द्रः बृहस्पतिश्च प्रजानन् । ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ । शालानिर्माणप्रकारं प्रकर्षेण जानन् इमां शालां नि मिनोतु स्तम्भादिस्थापनेन करोतु । ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे ❀ ॥ मरुतश्च घृतेन क्षरणशीलेन उद्ना उद-केन उक्षन्तु शालाभूमिं सिञ्चन्तु । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इत्यादिना उदकशब्दस्य उदन् आदेशः । भसंज्ञायाम् अल्लोपे उदात्तनिवृत्ति

स्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । ततो नः अस्माकं राजा राजमानो भगः एतत्संज्ञो देवः कृषिम् शालाभूमेः कर्षणं नि तनोतु नितरां करोतु । ❀ कृष विलेखने । इगुपधात् कित् [उ० ४. ११९] इति भावे इन्प्रत्ययः ❀ ॥

विद्वान् सबके प्रेरक सविता देव, विद्वान् वायु इन्द्र और बृहस्पतिदेव शालानिर्माणकी रीतिको पूर्णरीतिसे जानते हुए इस शालाको स्तंभ आदि स्थापन कर बनावें । मरुद्देव भी घृत से और जलसे शालाभूमिको सींचें । तदनन्तर हमारे प्रकाश-मान भगदेवता शाला भूमिका कर्षण करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः

मानस्य । पत्नि । शरणा । स्योना । देवी । देवेभिः । निऽमिता । असि । अग्रे ।
तृणम् । वसाना । सुऽमनाः । असः । त्वम् । अथ । अस्मभ्यम् । सहऽवीरम् । रयिम् । दाः ॥ ५ ॥

हे मानस्य पत्नि । ❀ मान पूजायाम् । कर्मणि घञ् ❀ । माननीयस्य वास्तुपतेः पत्नि जायाभूते शाले । यद्वा मीयमानं धान्यादिकं मानम् तस्य पत्नि पालयित्रि शाले त्वं शरणा रक्षित्री स्योना सुखकरी ईदृशी देवी द्योतमाना अग्रे सृष्टयादौ देवेभिः देवैः निर्मितासि प्राण्युपभोगाय सृष्टा भवसि ॥ सा त्वं तृणं वसाना आच्छादयन्ती । ❀ वस आच्छादने इत्यस्मात् लटः शानच् ❀ । सुमनाः शोभनमनस्का असः भव । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥ अथ

अनन्तरम् अस्मभ्यं त्वयि निवसद्भ्यः सहवीरम् वीरैः पुत्रादिभिः सहितम् । ❀ "वोपसर्जनस्य" इति विकल्पनात् सहस्य सत्वाभावः ❀ । तादृशं रयिम् धनं दाः धेहि । ❀ ददातेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥

हे माननीय वास्तुपतिकी पत्नीभूत शाले और धान्य आदि का पालन करने वाली शाले ! देवताओंने सृष्टिके आरम्भमें प्राणियोंको सुख देने वाली प्राणियोंकी रक्षा करने वाली तुझ दमकती हुई शालाको प्राणियोंके उपभोगके लिये रचा है वह तू तिनकोंसे ढकी हुई शोभन मन वाली हो, फिर हम बसने वालोंके लिये पुत्र आदिसहित धन दे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून् मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन । स्थूणाम् । अधि । रोह । वंश । उग्रः । विऽराजन् । अप । वृङ्क्ष्व । शत्रून् ।

मा । ते । रिषन् । उपऽसत्तारः । गृहाणाम् । शाले । शतम् । जीवेम । शरदः । सर्वऽवीराः ॥ ६ ॥

हे वंश त्वम् ऋतेन अबाध्येन रूपेण सह स्थूणाम् शालामध्यस्तम्भम् अधि रोह अधि तिष्ठ । ततः उग्रः उद्गूर्णबलो विराजन् विशेषेण दीप्यमानः सन् शत्रून् अस्मद्द्वेष्यान् अप वृङ्क्ष्व अपवर्जय । ❀ वृजी वर्जने । रुधादिः ❀ ॥ हे शाले ते तव संबन्धिनां गृहाणाम् उपसत्तारः उपसदनकर्तारः । निवसन्त इत्यर्थः । मार्पन्

आर्ता हिंसिता मा भूवन्। त्वयि निवसन्तो वयं सर्ववीराः अभिलषितसर्वपुत्रपौत्रादिसमेताः शतं शरदः जीवेम ॥

हे वंश ! (बाँस) तू अबाध्यरूपसे शालाके मध्यस्तंभमें रह। हे शाले ! तेरे घरमें रहने वाले आर्त न हों तुझमें रहने वाले हम अभिलषित पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रहें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

आ। इमाम्। कुमारः। तरुणः। आ। वत्सः। जगता। सह।
आ। इमाम्। परिऽस्रुतः। कुम्भः। आ। दध्नः। कलशैः। अगुः ७

इमां शालां तरुणः युवा कुमारः पुत्र आ गच्छतु ॥ तथा जगता गमनशीलेन गवादिना सह। ❀ गमेः क्विपि "द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" इति द्विर्वचनम् ❀। वत्सः। ❀ जातावेकवचनम् ❀। आ गच्छतु ॥ तथा इमां परिस्रुतः परिस्रवणशीलस्य मधुनः कुम्भाः आगुः आगच्छन्तु ॥ दध्नः कलशीः दधिपूर्णा घटयः आगुः। ❀ एतेश्छान्दसो लुक् ❀ ॥

इस शालामें तरुण कुमार पुत्र आवे। और गमनशील गौ आदिके साथ वत्स आवे और परिस्रवणशील मधुके कुम्भ आवें और दधिपूर्ण कलश आवें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

पूर्णम् । नारि । प्र । भर । कुम्भम् । एतम् । घृतस्य । धाराम् । अमृतेन । सम्ऽभृताम् ।
इमाम् । पातॄन् । अमृतेन । सम् । अङ्‌धि । इष्टापूर्तम् । अभि । रक्षाति । एनाम् ॥ ८ ॥

हे नारि पूर्णम् उदकेन पूरितम् एतं कुम्भं प्र भर प्रहर शालां नय । कथंभूतम् । अमृतेन सुधामयोदकेन संभृताम् संपादितां घृतस्य क्षरणशीलस्य मधुघृतादेः धाराम् । कुर्वन्तम् इति शेषः ॥ इमां पात्रीम् कलशीम् अमृतेन सुधारूपेण उदकेन समिन्धि सम्यगिद्धां संदीप्तां कुरु । ❀ ञिइन्धी दीप्तौ । लोटि व्यत्ययेन परस्मैपदम् । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धित्वे "श्नान्नलोपः" इति नलोपः ❀ ॥ एनाम् प्रविश्यमानां शालाम् इष्टापूर्तम् तत्र क्रियमाणं श्रौतं स्मार्तं च कर्म अभि रक्षाति अभितः चोराग्न्यादिभयाद् रक्षतु ॥

हे नारि ! इस जलसे पूर्ण सुधामय जलसे सम्पादित क्षरण (टपकने) के स्वभाव वाले मधु घृत आदिकी धारा करनेवाले कुम्भको शालामें ला इस कलशीको सुधारूप जलसे भली प्रकार दमका इम जिस शालामें प्रवेश कर रहे हैं उसमें किया हुआ श्रौत और स्मार्त कर्म चोर और अग्निके भयसे रक्षा करे ॥८॥

नवमी ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

इमाः । आपः । प्र । भरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्मऽनाशनीः ।
गृहान् । उप । प्र । सीदामि । अमृतेन । सह । अग्निना ॥९॥

इमाः कलशस्था आपः । ❀ शसः स्थाने जस् ❀ । प्र भरामि प्रहरामि प्रकर्षेण शालां नयामि । कीदृशीः । अयक्ष्माः यक्ष्मरहिताः यक्ष्मनाशनीः तत्सेवकानां यक्ष्मनाशिनीः ॥ अह-मपि गृहान् उप प्र सीदामि । कीदृशः सन् । अमृतेन अविना-शिना अग्निना सह सहितः सन् ॥

[इति] तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

स्वयं यक्ष्मरहित और आपके सेवकोंके यक्ष्मारोगको नष्ट करने वाले कलशके जलोंको मैं अविनाशी अग्निके साथ घरमें लाता हूँ ९

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (८३) ॥

"यदद: संप्रयती:" इति सूक्तं स्वाभिमतप्रदेशे नदीप्रवाहक-रणे विनियुक्तम् । तत्रायं क्रमः । येन मार्गेण प्रवाहं निनीषति तं देशं प्रथमं खात्वा तत्र अनेन सूक्तेन उदकं प्रसिञ्चन् व्रजेत् ॥ तथा अनेन सूक्तेन काशशैवालपटेरकवेतसशाखाः प्रत्येकम् अभि-मन्त्र्य तत्र खाते निखनेत् । "इदं व आपः" [७] इत्यस्या ऋचः प्रथमेन पादेन हिरण्यं खाते निदध्यात् । "अयं वत्सः" इति द्वितीयपादेन इषीकाञ्जिमण्डूकं नीललोहितवर्णाभ्यां सूत्राभ्यां बद्ध्वा अभिमन्त्र्य खाते निदध्यात् । तस्य मण्डूकस्योपरि "इहे-त्थम्" इति तृतीयपादेन अवकाम् अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेत् । "यत्रे-दम्" इति चतुर्थपादेन मण्डूकस्योपरि उदकं निनयेत् ॥

तथा ग्रामनगरादिकस्य नवोदकप्रवाहाद् भये संजाते नदीप्र-वाहकरणे च कृष्णव्रीहिमयचरुम् कृष्णाया गोः क्षीरम् आज्यं च वैतसेन स्रुवेण वरुणाय त्रिर्जुहुयात् । तथा वैतसचमसे वैतसी-भ्याम् उपमन्थनीभ्यां दधिसक्तुमन्थम् उपमथ्य अनेन बलिहरणं कुर्यात् । ततोनेन सूक्तेन वेतसशाखाम् अभिमन्त्र्य तया पाणिना वा मन्त्रितोदकेन नदीप्रवाहं सिञ्चन् व्रजेत् ॥

दूरगताया नद्याः पुनर्निवृत्तौ एतत् सूक्तं जपित्वा नदीप्रवेश-मार्गे शयीत ॥

एवम् उक्तानि प्रसेचनकर्म हिरण्यकर्म मण्डूककर्म पाणिकर्म इत्येतानि समुच्चयेन कार्याणीति भाष्यकारस्य दारिलस्य मतम्। विकल्पेनेत्यपरेषाम् ॥

अत्र कौशिकः। "यददः संप्रयतीरिति येनेच्छेन्नदी प्रतिपद्येतेति प्रसिञ्चन् व्रजति। काशदिविधुवकवेतसान् निमिनोति। इदं व आप इति हिरण्यम् अभिदधाति अयं वत्स इतीषीकाञ्जिमण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकक्षं बद्ध्वा। इहेत्थम् इत्यवकया प्रच्छादयति। यत्रेदम् इति निनयति। मारुतं क्षीरौदनं मारुतं शृतं मारुतैः परिस्तीर्य मारुतेन स्रुवेण मारुतेनाज्येन वरुणाय निर्जुहोति। उक्तम् उपमन्थनं दधिमन्थं बलिं हुत्वा संप्रोक्षणीभ्यां प्रसिञ्चन् व्रजति। पाणिना वेत्रेण वा प्रत्याहृत्योपरि निपद्यते" इति [कौ० ५. ४] ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्य आज्यहोमम् काशदिविधुवकवेतसाख्यान् ओषधिविशेषान् एकस्मिन् पात्रे प्रक्षिप्य संपात्य अभिमन्त्र्य अप्सु मध्येऽधोमुखं निनयनम् तेषामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु विसाजनम् स्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे प्रबन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन मोच्य त्रिपादे शिक्ये निधाय उदकमध्ये निधानं चेत्येतान्यभिवर्षणकर्माणि वृष्टिकामः कुर्यात् ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि अनेनैव सूक्तेन आज्यहोमं संपातिताभिमन्त्रितघटोदकेन आसावनम् अवसेकं च कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि। "अर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभू [१. ५. ६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] यददः [३. १३]" इत्यादिना "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्यन्तेन [कौ० ५. ५]॥

"यदद: सम्पयती:" यह सूक्त अपने अभिलषित स्थानमें नदी का प्रवाह करनेके कर्ममें विनियुक्त होता है। उसका क्रम यह है कि-जिस मार्गसे प्रवाहको लेजाना चाहे पहिले उस मार्गको खुदवाकर उसमें इस सूक्तसे जलको छिड़कता हुआ जावे। तथा इस सूक्तसे काश शैवाल पटेर और बाँस इनमेंसे प्रत्येककी शाखा को अभिमन्त्रित कर खातको खोदे। "इदं व आप:" इस सातवीं ऋचाके प्रथम पादसे हिरण्यको खातमें रक्खे। 'अयं वत्स:' इस दूसरे पादसे इषीका (सींक) में मेंढकको नीले और लाल वर्णके डोरोंसे बाँध कर अभिमन्त्रित करके खातमें रक्खे। और उस मण्डूकके ऊपर "इहेत्थम्" इस तीसरे पादसे अवकाको अभिमन्त्रित करके डाले। और 'यत्रेदम्' इस चतुर्थपादसे मण्डूक के ऊपर जल ले जावे॥

तथा ग्राम नगर आदिको नवीन जलके प्रवाहसे भय होने पर और नदीके प्रवाह करनेमें भी काले धानोंके चरुको तथा गौके दूध और घृतको बेतके स्रुवेसे वरुणके लिये तीन बार आहुति देय। और बेतके चमसमें बेतकी उपमन्थनियोंसे दधिसक्तुमंथको मथ कर बलिहरण करे। फिर इस सूक्तसे बेतकी शाखाको अभि-मन्त्रित करके शाखासे वा हाथसे अभिमन्त्रित जलसे नदीके प्रवाहको सींचता हुआ जावे॥

दूर चली गई नदीकी पुनर्निवृत्तिमें इस सूक्तको जप कर नदी प्रवेश मार्गमें शयन करे।

भाष्यकार दारिलका मत है, कि इस प्रकार कहे हुए प्रसेचन-कर्म हिरण्यकर्म मण्डूककर्म और पांशुकर्म सबको एक साथ करे। दूसरे आचार्यका मत है, कि-इनको विकल्पसे करे॥

इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ४ में कहा है, कि-"यदद: संभयतीरिति येनेच्छन्नदी प्रतिपद्येतेति प्रसिञ्चन् व्रजति। काश-

दिविधुवकवेतसान् निमिनोति। इदं वा आप इति हिरण्यम् अधिदधाति अयं वत्स इतीषीकाञ्जिमण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकतं बद्ध्वा । इहेत्थं इत्यवकया मच्छादयति। यत्रेदं इति निनयति। मारुतं चीरोदनं मारुतं शृतं मारुतैः परिस्तीर्य मारुतेन स्रुवेण मारुतेनाज्येन वरुणाय त्रिजुहोति। उक्तं उपमंथनं (दधिमन्थं) बलिं हुत्वा संप्रोक्षणीभ्यां प्रसिञ्चन् व्रजति। पाणिना वेत्रेण वा प्रत्याहृत्योपरि निपद्यते" ॥

तथा इसी सूक्तसे मन्त्रसे प्रतीत होने वाले मरुद् देवताओंके निमित्त होम करे। और काश दिविधुक और वेतस नाम वाली औषधियोंको एक पात्रमें रख सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलके बीचमें नीचेको मुख करके लेजाय। उन संपातित अभिमंत्रित काश आदिको जलमें फैंक देवे। मनुष्यके बाल और पुराने जूतोंको बाँसमें बाँधे, बहेडे सहित कच्चे पात्रको अभिमंत्रित जलसे प्रोक्षित कर तीन डोरे वाले छीके पर रख कर जलके मध्यमें रक्खे इन सब दृष्टिके कर्मोंको दृष्टिकी कामना वाला करे ॥

तथा घन उठानेमें होने वाले विघ्नोंको शान्त करनेके कर्ममें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय तथा संपातित अभिमन्त्रित घटके जलसे स्नान और अभिषेक करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि—"अथ उत्थास्यन्धुपदधीत" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति (१ । ४) शंभुमयो भू (१ । ५।६) हिरण्यवर्णाः (१ । ३३) यददः (३ । १३) इत्यादिना अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्यन्तेन (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यद॒दः सं॑प्र॒यती॒रहा॒वन॑दता ह॒ते ।

तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः १

यत् । अदः । सम्ऽप्रयतीः । अहौ । अनदत । हते ।

तस्मात् । आ । नद्यः । नाम । स्थ । ता । वः । नामानि । सिन्धवः ॥१॥

अदः अमुष्मिन् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀। अहौ आहन्तव्ये मेघे हते ताडिते हे आपः यूयं यत् यस्मात् संप्रयतीः संभूय इतस्ततश्च प्रयान्त्यः अनदत शब्दं कृतवत्यः स्थ । ❀ नद अव्यक्ते शब्दे । अस्मात् लङि मध्यमबहुवचने रूपम् । "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति निघातप्रतिषेधः । "अन्येषामपि दृश्यते" [इति] सांहितिको दीर्घः । संप्रयतीरिति । संप्रपूर्वाद् एतेः शतरि इणो यणि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । "शतुरनुमः०" इति नद्या उदात्तत्वम् ❀ । तस्मात् कारणाद् यूयम् आ आभिमुख्येन अव्यवधानेनैव नद्यो नाम [स्थ] भवथ । ❀ अनेन नदनान्नद्य इति निर्वचनं कृतं भवति । पचादिषु नदट् इति पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् । "यस्येति०" लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् । "उदात्तस्वरितयोः०" इति विभक्तिः स्वर्यते ❀ । हे सिन्धवः स्यन्दनशीला आपः वः युष्माकं नामानि आपः उदकम् इत्यादीनि । अन्यान्यपि सर्वाणि [ता] तानि तादृशानि । अन्वर्थानीत्यर्थः । ❀ ता इति । "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः ❀ ॥

हे जलो ! इस ताड़न करने योग्य मेघके ताड़ित करने पर तुमने इधर उधरको चल कर नदन (शब्द) किया था उसी समयसे तुम्हारा नदी नाम पड़ गया है । हे सरकनेके स्वभाव वाले जलो ! तुम्हारे अप उदक आदि जो नाम हैं वह भी ऐसे ही हैं अर्थात् नामके अनुकूल अर्थ वाले हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

यत् । प्रऽइषिताः । वरुणेन । आत् । शीभम् । सम्ऽअवल्गत ।
तत् । आप्नोत् । इन्द्रः । वः । यतीः । तस्मात् । आपः । अनु । स्थन

आप इति नाम व्युत्पादयति । यत् यदा वरुणेन राज्ञा आदित्येन वा प्रेषिताः प्रेरिता यूयम् आत् अनन्तरं शीभम् । क्षिप्रनामैतत् । शीघ्रं समवल्गत संभूय नृत्यन्त्य इव चेष्टितवत्यः । ❀ वल्गतिर्गत्यर्थो भौवादिकः । यद्योगेन निघातप्रतिषेधे "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । तत् तदानीं यतीः गच्छन्तीः वः युष्मान् इन्द्रः आप्नोत् । तस्मात् कारणात् अनु अनन्तरं ततःप्रभृति आपः स्तन अप्शब्दवाच्या भवत । यद्वा आप इति नाम अनु ष्ठन—अनुभवत । ❀ आप्नोतेः कर्मणि क्विपि आप्नोतेर्ह्रस्वश्च [उ० २. ५८] इति ह्रस्वत्वे "अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृ०" इत्यादिना सर्वनामस्थाने दीर्घः । स्तनेति । अस्तेर्लोण्मध्यमबहुवचनस्य तनादेशः । "उपसर्गप्रादुर्भ्याम् अस्तिर्यच्परः" इति षत्वस्याप्रसङ्गात् सुषामादित्वेन षत्वं वेदितव्यम् ❀ ॥

(अब आप नामकी व्युत्पत्ति करते हैं, कि—) जब राजा वरुणके (वा आदित्यके) प्रेरणा करने पर तुम नाचते हुएसे एकत्रित होकर चलने लगे थे उस समय इंद्र तुमको (आप्नोत्) प्राप्त हुआ था, इस कारण उसी दिनसे तुम आप (अप्) कहलाने लगे हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ३

अपऽकामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वः । हि । कम् ।

इन्द्रः । वः । शक्तिऽभिः । देवीः । तस्मात् । वाः । नाम । वः । हितम्

वार् इति नाम प्रदर्शयति । अपकामम् विनैव कामेन स्यन्दमानाः सदा स्यन्दनं कुर्वाणाः वः युष्मान् इन्द्रः वः युष्माकं शक्तिभिः हेतुभिः अवीवरत वृतवान् युष्मान् स्वात्मसात् कर्तुम् ऐच्छत् । ❀ वर ईप्सायाम् । चुरादिरदन्तः । व्यत्ययेन सन्वद्भावः । वृणोतेर्वा स्वार्थिको णिच् ❀ । हिकम् इति हिशब्दार्थे । ❀ हिकम् नुकम् इति नवोत्तराणि पदानि [निघ० ३. १२] इति यास्केन परिपठितत्वात् ❀ । हे देवीः देव्यो देवनशीलाः तस्मात् कारणाद्व वः युष्माकं वार् इति नाम हिकम् प्रसिद्धम् । ❀ वृणोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्विप् ❀ ॥

(वार इस नामकी व्युत्पत्ति दिखाते हैं, कि–) इच्छा न होने पर भी सदा सरकने वाले तुमको इन्द्रने अपनी शक्तियोंसे वरण किया अर्थात् अपने अधीन करनेकी इच्छा की, हे देवनशील जलों ! इस कारण तुम्हारा वार यह नाम प्रसिद्ध हुआ है ३

चतुर्थी ॥

एको वो देवोप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

एकः । वः । देवः । अपि । अतिष्ठत् । स्यन्दमानाः । यथाऽवशम् ।

उत् । आनिषुः । महीः । इति । तस्मात् । उदकम् । उच्यते ४

उदकशब्दं निर्वक्ति । एकः असहायो देवः इन्द्रो यथावशम् यथाकामं स्यन्दमानाः इतस्ततश्च स्यन्दनशीला वः युष्मान् अभ्य-

तिष्ठत् अध्यतिष्ठत् । अपिशब्दः अध्यर्थे । तेन इन्द्रबहुमानेन आपो वयं महीः महत्यो जाता इति उदानिषुः उच्छ्वसितवत्यः । ॐ अन प्राणने । लुङि रूपम् ॐ । तस्मात् कारणाद् उदकम् इति अपां नाम उच्यते निरुच्यते उदननात् । ॐ उदकम् इति । उत्पूर्वाद् अनितेरौणादिकः कमप्रत्ययो नकारलोपश्च ॐ ॥

(अब उदकशब्दका निर्वचन करते हैं, कि–) असहाय एक देवराज इन्द्र इच्छानुसार सरकते हुए तुम पर आधिपत्य जमाते हुए, इन इन्द्रके बहुमानके कारण जलोंने हम बड़े होगए कहकर उदान किया–उच्छ्वास लिया । इस कारण जल उदक कहलाते हैं४

पञ्चमी ॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरङ्गम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

आपः । भद्राः । घृतम् । इत् । आपः । आसन् । अग्नीषोमौ । बिभ्रति । आपः । इत् । ताः ।
तीव्रः । रसः । मधुऽपृचाम् । अरम्ऽगमः । आ । मा । प्राणेन । सह । वर्चसा । गमेत् ॥ ५ ॥

आपः भद्राः भन्दनीयाः । ता एव घृतम् आज्यम् आसन् । तृणादिनिष्पादनेन घृतात्मिका भवन्ति । यद्वा घृतमित् अग्नौ हुतम् आज्यमेव आप आसन् ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः

इति [म० स्मृ० ३. ७६] स्मरणात् ॥ किं च ता एव आपः अग्नीषोमौ बिभ्रति धारयन्ति । अन्नादिहविर्निष्पत्त्या अग्निम् रश्मिवृद्ध्या सोमम् । ❀ "ईदग्नेः०" इति ईत्वम् । "अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः" इति षत्वम् । "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत्प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तादृशीनाम् अपां मधुपृचाम् मधुना रसेन संपृक्तानां तीव्रः उद्भूतो रसः अरक्षमः पर्याप्तगमनः न कदाचिदपि क्षीणः प्राणेन चक्षुरादिना वर्चसा बलेन च सह मा माम् आगन् आगच्छतु । तदधीनत्वात् प्राणादिस्थितेः । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ ॥

जल कल्याण करनेवाले हैं वही घृत हुए अर्थात् तृण आदिको उत्पन्न कर † घृतरूप होजाते हैं और घृत ही अग्निमें होमने पर जलरूप होजाता है और ये ही जल अग्नि और सोमको धारण करते हैं अर्थात् अन्न आदि हविको बना कर अग्निको और किरणों की वृद्धि कर सोमको धारण करते हैं, ऐसे जलोंका मधुररससे सम्पन्न तीव्र रस कभी भी क्षीण न होनेकी स्थितिमें चक्षु आदि प्राणके साथ और बलके साथ मुझको प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आदित् प॑श्याम्युत वा॑ शृणोम्या मा॒ घोषो॑ गच्छति॒ वाङ् मा॑साम् ।
मन्ये॑ भेजा॒नो अ॒मृत॑स्य॒ तर्हि॒ हिर॑ण्यवर्णा॒ अतृ॑पं॒ यदा॒ वः

† "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः ॥–अग्निमें होमी हुई आहुति सूर्यके पास पहुँचती है । तब आदित्यसे वृष्टि होती है" ।

आत् । इत् । पश्यामि । उत । वा । शृणोमि । आ । मा । घोषः । गच्छति । वाक् । मा । आसाम् ।

मन्ये । भेजानः । अमृतस्य । तर्हि । हिरण्यऽवर्णाः । अतृपम् । यदा । वः ॥ ६ ॥

रसः प्राणेन सह आगच्छतु इत्युक्तम् । तद् इदानीं समर्थयते । आदित् अनन्तरमेव अहं पश्यामि । उत वा अपि च शृणोमि ॥ घोषः शब्दः उच्चार्यमाणश्च मा माम् आ गच्छति ॥ तथा वाक् वागिन्द्रियम् । कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् एतत् । तच्च आसाम् अपां युष्माकं रसागमनेन मा माम् । आ.गच्छतीत्यनुषङ्गः । ❀ वाग्मेति । संहितायां "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इति विकल्पेन अनुनासिकादेशाभावः ❀ । किं बहुना । तर्हि तदानीम् अमृतस्य भेजानः अमृतमेव भजन् अहं मन्ये तर्कयामि । ❀ पूर्ववत् कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । भेजान इति । भजेश्छान्दसे लिटि "तृफलभजत्रपश्च" इत्येत्वाभ्यासलोपौ ❀ । कदा एवं वितर्कयेत इति चेत् । उच्यते । यदा हे हिरण्यवर्णाः हितरमणीयवर्णयुक्ता आपः वः युष्माकं युष्मत्सेवनेन अतृपम् सुहितोभवम् । ❀ तृप तृम्फ तृप्तौ । तौदादिकः । लुङि उत्तमैकवचने रूपम् । सुहितार्थयोगेन षष्ठी ❀ ॥

(रसके प्राणके साथ आनेका वर्णन कर अब उसका समर्थन करते हैं, कि–) इसके अनन्तर ही मैं देखता हूँ और सुनता भी हूँ, कि–उच्चारण किया हुआ शब्द मेरे पास आरहा है और वाणीमें भी आरहा है, वह आप जलोंके रसके आगमनसे मुझमें आता है अतः मैं इस समय अमृतकी सेवा करता हुआ सा समझता हूँ । हे हितरमणीय वर्ण वाले जलो ! तुम्हारा सेवन करनेसे मैं तृप्त होगया हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इदं वं आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

इदम् । वः । आपः । हृदयम् । अयम् । वत्सः । ऋतऽवरीः ।

इह । इत्थम् । आ । इत । शक्वरीः । यत्र । इदम् । वेशयामि । वः

हे आपः वः युष्माकम् इदम् हिरण्यं स्त्राते प्रक्षिप्यमाणं हृदयं हृदयस्थानीयम् । अपां रेतोरूपत्वात् हिरण्यस्य हृदयरूपता । श्रूयते हि। "आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । ता अग्निरभ्यध्यायत । ताः सम-भवत् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यम् अभवत्" इति [तै० ब्रा०।१. १. ३. ८] । यद्वा हृदयम् अन्तःकरणम् । यथा लोके हृदयं विहाय क्षणमपि शरीरं नावतिष्ठते किं तु सहैव वर्तते तथा यूयमपि हृदय-रूपं हिरण्यं प्रति [एत] । आगच्छतेत्यर्थः ॥ तथा हे ऋतावरीः ऋतवर्यः । ऋतं सत्यं यज्ञो वा यासां तास्तथोक्ताः । ❀ ऋत-शब्दात् "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीयो वनिप् ॥ "वनो र च" इति ङीब्रेफौ । "अन्येषामपि दृश्यते" इति ऋतशब्दस्य सांहि-तिको दीर्घः । "वा छन्दसि" इति शसः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ❀ । सत्योपेताः हे आपः अयम् स्त्राते प्रक्षिप्यमाणो मण्डूकः वत्सः युष्माकं वत्सस्थानीयः । यथा लोके गावो वत्सम् अनुधावन्ति एवं यूयमपि वत्सस्तुतमण्डूकम् अनुधावतेति भावः ॥ हे शक्वरीः शक्वर्यः शक्ताः अभिमतफलप्रदानसमर्था आपः । ❀ शक्लृ शक्तौ इत्यस्माद् "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति वनिप् । पूर्ववद् ङीब्रेफ-पूर्वसवर्णदीर्घाः ❀ । इह अस्मिन् स्त्रातदेशे इत्थम् अनेन प्रका-रेण । यथात्र मण्डूकस्योपरि प्रक्षिप्यमाणा अवका रूढमूला भवन्ति तथा एत आगच्छत स्थिरप्रवाहा भवत ॥ यत्र यस्मिन् स्त्रातदेशे

इदम् इदानीं वः युष्मान् वेशयामि । प्रवेशयामि निनयामि यद्वा इदम् इति उदकनाम । वः युष्माकम् अंशभूतम् इदम् उदकं यत्र अवकाछन्ने मण्डूके वेशयामि । इहेति पूर्वत्र संवन्धः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे जलो ! यह जलोंमें डाला जाता हुआ सुवर्ण आपका हृदय है + । अथवा जैसे लोकमें हृदयको छोड़कर शरीर क्षण भर भी नहीं रहता है किंतु साथ ही रहता है । इस प्रकार आप भी हृदयरूप सुवर्णके प्रति आइये । और हे सत्ययुक्त जलो ! यह खातमें डाला हुआ मण्डूक तुम्हारे लिये बछड़ेकी समान है । तात्पर्य यह है, कि–जैसे गौएँ बछड़ेके पासको दौड़ती हैं, इसी प्रकार तुम भी वत्सरूप मण्डूककी ओर दौड़ो। हे अभिमत फल देनेमें समर्थ जलो ! जिस खात देशमें मैं तुम्हारा प्रवेश कराता हूँ उसमें तुम जैसे मण्डूक पर फैंकी हुई अवका दृढ़ जड़ वाली होजाती है इस प्रकार आओ । स्थिर प्रवाह वाले होओ ॥ ७ ॥

तृतीय अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (८४) ॥

"सं वो गोष्ठेन" इति सूक्तेन गोपुष्टिकामः अभिनवं [पयो शृष्टेः श्लेष्मिमिश्रितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन गाम् अभिमन्त्र्य ददाति गोपुष्टिकाम एव

एवम् अनेन सूक्तेन उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोवाटे निनयति ॥

अपि च करीषं सव्येन हस्तेन आक्रम्य दक्षिणेन अर्धं विक्षिपति गोवाटे गोपुष्टिकामः ॥

तथैव अनेन सूक्तेन सारूपवत्से ओदने शकृत्पिण्डान् गुग्गुलुलवणे च एकीकृत्य पश्चाद् अग्नेर्निखनति त्रिरात्रं यावत् । चतुर्थे-

---

+ श्रुतिमें कहा है, कि–"आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । ता अग्निरभ्यध्यायत् । ताः समभवत् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यमभवत् ।" (तैत्तिरीयब्राह्मण १ । १ । ३ । ८) ॥

इति प्रातः संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नाति । अविकृतश्चेत् स ओदनः । विकृते तु सति अनशनम् । अनशितेपि च फलं संपन्नम् इति मन्तव्यम्

उक्तं हि कौशिकेन । "सं वो गोष्ठेन ३. १४ प्रजावतीः ७. ७६ प्रजापतिः ६. ७ इति गोष्ठकर्माणि । पृष्टेः पीयूषं श्लेष्ममिश्रम् अश्नाति । गां ददाति । उदपात्रं निनयति । सव्येनाधिष्ठा-यार्धं दक्षिणेन विक्षिपति । सारूपवत्से शकृत्पिण्डान् गुग्गुलुलवणे प्रतिनीय पश्चाद् अग्नेर्निखनति] । तिसृणां प्रातरश्नाति" । [कौ० ३. २] इति ॥

'सं वो गोष्ठेन' इस सूक्तसे गौओंकी पुष्टि चाहने वाला पुरुष पहलौन गौके बछड़ेकी लारसे मिश्रित नवीन दूधको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे ॥

तथा गौओंकी पुष्टि चाहने वाला इस सूक्तसे गौको अभि-मन्त्रित करके देवे ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे जलपूर्ण पात्रका अभिमन्त्रण कर गोवाटमें ले जावे ॥

और गौओंकी पुष्टि चाहने वाला बायें हाथसे अन्ने उपलेको उठाकर दाहिने हाथसे आधा गौओंके रहनेके स्थानमें फैंक देवे ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधमें बने भातमें गोबरके पिण्ड गूगल और लवणको मिला कर अग्निमें तीन रात तक दबा दे । चौथे दिन प्रातःकालके समय सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे वह भात अवि-कृत हो तभी खावे । यदि वह भात बिगड़ गया हो तो न खावे और न खाने पर भी फलको मिला हुआ समझे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'सं वो गोष्ठेन ३।१४ प्रजावतीः ७ । ७६ प्रजापतिः ६ । ७ इति गोष्ठकर्माणि । पृष्टेः पीयूषं श्लेष्ममिश्रं अश्नाति । गां ददाति । उदपात्रं निनयति ।

संसृज सत्येनाधिष्ठायार्धं दक्षिणेन विक्षिपति । सारूपवत्से शकृत्पिण्डान् गुग्गुलुलवणे प्रतिनीय पश्चाद् अग्नेर्निखनति । तिसृणां प्रातरश्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २) इति ॥

तत्र प्रथमा ॥

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या संसु॑भू॒त्या ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ व॒ः सं सृ॑जामसि ॥१॥

सम् । व॒ः । गो॒ऽस्थेन॑ । सु॒ऽसदा॑ । सम् । र॒य्या । सम् । सु॒ऽभू॒त्या ।
अह॒ःऽजातस्य । यत् । नाम॑ । तेन॑ । व॒ः । सम् । सृ॒जा॒म॒सि ॥१॥

हे गावः वः युष्मान् सुषदा । सुखेन सीदन्ति निवसन्ति गावोऽत्रेति सुषत् । ❀ सदेरधिकरणे क्विप् ❀ । सुखनिवासेन गोष्ठेन गोशालया । सं सृजामसि इति व्यवहितक्रियापदेन सर्वत्र संबन्धः । संसृजामः । तथा रय्या आहारादिरूपेण धनेन संसृजामः ॥ सुभूत्या समृद्ध्या च संसृजामः ॥ तथा अहर्जातस्य । अहन्यहनि जायत इत्यहर्जातः प्राणिविशेषः । तस्य यन्नाम अहर्जात इति तेन नाम्ना वः युष्मान् संसृजामसि संसृजामः । एतन्नामयोगेन गवां पुत्रपौत्रादिरूपेण अहरहरुत्पत्तिरुक्ता ॥

हे गौओं ! तुमको हम सुखसे बैठने योग्य गोठोंसे सम्पन्न करते हैं, चारा आदि धनसे सम्पन्न करते हैं, समृद्धिसे सम्पन्न करते हैं और प्रति दिन होने वाले नाम पुत्र पौत्र आदिसे हे गौओं ! हम तुमको सम्पन्न करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं व॑ः सृजत्वर्य॒मा सं पू॒षा सं बृह॒स्पति॑ः ।
समिन्द्रो॒ यो ध॑नंज॒यो मयि॑ पुष्यत॒ यद् वसु॑ ॥२॥

सम् । वः । सृजतु । अर्यमा । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।

सम् । इन्द्रः । यः । धनम्ऽजयः । मयि । पुष्यत । यत् । वसु २

हे गावः अर्यमा एतन्नामको देवः वः युष्मान् सं सृजतु उत्पादयतु । पूषा पोषकः समृद्धिकरो देवः [सं] सृजतु । बृहस्पतिर्देवः सं सृजतु । य इन्द्रः धनंजयः । धनानि शत्रुसंबन्धीनि जयति अपहरतीति धनञ्जयः । ❀ "संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहि०" इत्यादिना खच् । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति पूर्वपदस्य मुम् आगमः । चित्स्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । स इन्द्रः सं सृजतु । एवम् अर्यमादिभिरुत्पाद्य संवर्धिता हे गावः यूयं यद् वसु क्षीरघृतादिकं धनम् अस्ति तद् मयि साधके पुष्यत पोषयत । ❀ पुष पुष्टौ । दैवादिकः । "युष्मदस्मदोर्ङसि" "ङयि च" इति अस्मद आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे गौओं ! अर्यमा नामक देवता तुम्हें उत्पन्न करे । समृद्धि देने वाले पूषा देवता, बृहस्पति देवता और शत्रुओंके धनको हरने वाले इन्द्र देवता तुमको उत्पन्न करें । इस प्रकार इन्द्र आदि के उत्पन्न करने पर तुम्हारे पास जो क्षीर घृत आदि धन है, उसको तुम मुझ साधकमें पुष्ट करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।

बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

सम्ऽजग्मानाः । अबिभ्युषीः । अस्मिन् । गोऽस्थे । करीषिणीः ।

बिभ्रतीः । सोम्यम् । मधु । अनमीवाः । उपऽएतन ॥ ३ ॥

अस्मिन् मदीये गोष्ठे संजग्मानाः पुत्रपौत्रादिभिः संगच्छमानाः ।

❀ संपूर्वाद् गमेरकर्मकात् छान्दसो लिट्। "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपद विधानात् कानच् ❀। अबिभ्युषीः चोरव्याघ्रादिभ्यः अबिभ्यत्यः। ❀ ञिभी भये इत्यस्मात् छान्दसे लिटि क्वसुः। उगित्त्वाद् ङीप्। "वसो संप्रसारणम्"। छान्दसो जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀॥ तथा करीषिणीः करीषं शकृत्। ❀ भूम्निमत्वर्थीय इनिः ❀। चिरकालजीवनेन प्रभूतकरीषयुक्ता इत्यर्थः। अनमीवाः अमीवो रोगस्तद्रहिताः। सोम्यम् सोममयम्। "सोमः खलु [वै]सांनाय्यम्" [तै० ब्रा० ३. २. ३. ११] इति श्रुतेः। सोमार्हं वा। ❀ "सोमम् अर्हति यः". "मये च" इति सोमशब्दाद् यप्रत्ययः ❀। तथाविधं मधु मधुरसं क्षीरं बिभ्रतीः धारयन्त्यः पीनोध्न्यः सत्यः उपेतन उपेत उपगच्छत। ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनादेशः ❀॥

हे गौओ! इस मेरे गोष्ठमें तुम पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न होती हुई, चोर व्याघ्र आदिसे न डरती हुई और चिरकाल तक जीवित रहनेके कारण बहुतसे अन्ने उपलोंसे युक्त होती हुई, रोगरहित रहती हुई सोममय मधुर क्षीरको धारण करनेसे स्थूल स्तन वाली होकर आओ॥ ३॥

चतुर्थी॥

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥ ४॥

इह। एव। गावः। आ। इतन। इहो इति। शकाऽइव। पुष्यत।
इह। एव। उत। प्र। जायध्वम्। मयि। सम्ऽज्ञानम्। अस्तु। वः ४

हे गावः यूयम् इहैव मदीये गोष्ठ एव एतन आगच्छत। इहो इह उ। उशब्दः अवधारणे। इहैव शकेव शका मक्षिका सा यथा

क्षणेनैव समृद्धा असंख्याता भवति तथा यूयं पुष्यत भूयस्यो भवत ॥ उत अपि च इहैव गोष्ठे प्र जायध्वम् पुत्रपौत्रादिरूपेण प्रजाता भवत । ❀ "झाजनोर्जा" इति जादेशः ❀ । मयि साधके वः युष्माकं समृद्धाना संज्ञानम् संप्रीतिरस्तु। मां विहाय न गच्छतेति भावः ॥

हे गौओं ! तुम मेरी ही गोठमें आओ और मक्षिका जैसे क्षणभरमें ही समृद्ध होकर असंख्य होजाती हैं, इसी प्रकार तुम भी मेरे यहाँ ही पुष्ट होओ बहुतसी होओ । और इस गोष्ठमें ही पुत्र पौत्र आदिरूपसे उत्पन्न होओ मुझ साधकमें तुम्हारी प्रीति हो, तुम मुझे छोड़ कर न जाओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवो वो गोष्ठो भवंतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

शिवः । वः । गोऽस्थः । भवतु । शारिशाकाऽइव । पुष्यत ।
इह । एव । उत । प्र । जायध्वम् । मया । वः । सम् । सृजामसि ५

हे गावः वः युष्माकं गोष्ठः वासस्थानं शिवः सुखकरो भवतु ॥ यूयं शारिशाकेव । क्षणेन सहस्रशोऽभिवर्धमानाः प्राणिविशेषाः शारिशाकाः । तद्वत् पुष्यत समृद्धा भवत ॥ इहैवोतेति निगदसिद्धोर्थः ॥

हे गौओं ! तुम्हारा गोष्ठ तुम्हें सुख देने वाला होवे तुम क्षण भरमें सहस्रोंकी संख्यामें बढ़ जाने वाले शारिशाक नाम वाले प्राणियोंकी समान समृद्ध होओ । तुम यहाँ ही रहकर पुत्र पौत्र आदिके रूपमें उत्पन्न होओ, हम तुम्हारी रचना करते हैं ॥५॥

षष्ठी ॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम ॥

मया । गावः । गोऽपतिना । सचध्वम् । अयम् । वः । गोऽस्थः ।
इह । पोषयिष्णुः ।

रायः । पोषेण । बहुलाः । भवन्तीः । जीवाः । जीवन्तीः । उप ।
वः । सदेम ॥ ६ ॥

हे गावः यूयं गोपतिना गोस्वामिना मया सचध्वम् समवेता भवत । ❀ षच समवाये । भौवादिकः । गोपतिना । गवां पतिः गोपतिः । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ इह मदीये गृहे अयं गोष्ठः वः युष्मान् पोषयिष्णुः पोषकः । ❀ पोषयतेः "णेश्छन्दसि" इति इष्णुच् प्रत्ययः । "न लोकाव्यय०" इति षष्ठीनिषेधाद् व इति द्वितीया ❀ ॥ रायः धनस्य पोषेण । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । धनसमृद्ध्या बहुलाः असंख्याता भवन्तीः जीवन्तीः चिरकालजीवनोपेता वः युष्मान् जीवाः चिरजीविनो वयम् उप सदेम उपगच्छेम । ❀ सदेराशीर्लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे गौओ ! तुम मुझ गोस्वामीके साथ एकत्रित होओ । मेरे घरमें यह गोठ तुम्हारा पोषण करे । चांदी आदि धनकी समृद्धि से असंख्य होती हुई और चिरकाल तक जीवित रहती हुई तुमको हम चिरजीवी प्राप्त हों ॥ ६ ॥

तीसरे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (८५) ॥

"इन्द्रम् अहं वणिजम्" इति वाणिज्यलाभार्थं [विनियुज्यते। विक्रयार्थं पण्यानि विपणिं नयन् वणिक् कर्म वाणिज्यलाभार्थं कुर्यात् । तद् यथा । "इन्द्रम् अहम्" इति सूक्तेन वज्रं वस्त्रं वा पूगीफलं वा अश्वान् वा हस्तिनो वा रत्नादि वा संपात्य अभिमन्त्र्य तत उत्थापयति । सूत्रितं हि । "इन्द्रम् अहम् इति पण्यं संपातवद् उत्थापयति" इति कौ० ७. १] ॥

[तथा अनेनैव सूक्तेन पण्यकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा । सूत्रितम् । "इन्द्रम् अहम् इति पण्यकामः" इति कौ० ७. १०]॥

[तथा क्रव्याच्छमने कर्मणि "विश्वाहा ते" ८ इति ऋचा पूर्णाहुतिं जुहोति । सूत्रितं च । "विश्वाहा ते ८ इति पूर्णाहुतिं जुहोति" इति कौ० ६. २] ॥

"इन्द्रं अहं वणिजम्" इस सूक्तका वाणिज्यलाभके लिये विनियोग किया जाता है । बिक्रीके लिये बेचनेकी वस्तुओंको दूकान में लेजाते समय वाणिज्यमें लाभ पानेके लिये वणिक्कर्म करे । उसकी विधि यह है, कि–'इन्द्रं अहम्' इस सूक्तसे वज्र वस्त्र पूगीफल घोड़ा हाथी वा रत्न आदि इनमेंसे एकको सम्पातित अभिमन्त्रित करके उठावे । कौशिकसूत्र ७ । १ में भी कहा है, कि–"इन्द्रम् अहम् इति पण्यं सम्पातवद् उत्थापयति"॥

तथा दूकानदारी करना चाहने वाला इसी सूक्तसे इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे । सूत्रमें भी कहा है, कि–"इन्द्रम् अहम् इति पण्यकामः" (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

तथा क्रव्याच्छमन नाम वाले कर्ममें 'विश्वाहा ते' इस आठवीं ऋचासे पूर्णाहुति होमे । इसी बातको कौशिकसूत्र ६ । १ में कहा है, कि–'विश्वाहा ते ८ इति पूर्णाहुतिं जुहोति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।

तुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

इन्द्रम् । अहम् । वणिजम् । चोदयामि । सः । नः । आ । एतु । पुरःऽएता । नः । अस्तु ।

नुदन् । अरातिम् । परिऽपन्थिनम् । मृगम् । सः । ईशानः । धनऽदाः । अस्तु । मह्यम् ॥

अहम् व्यवहर्ता इन्द्रम् परमैश्वर्योपेतं देवं वणिजम् वाणिज्यकर्त्तारं चोदयामि प्रेरयामि प्रवर्तयामि । ❀ चुद प्रेरणे ❀ ॥ सः वणिक्त्वेन प्रेरित इन्द्रो नः अस्मान् एतु आगच्छतु । आगत्य च नः अस्माकं पुरएता पुरतो गन्ता अस्तु भवतु । ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति पूर्वशब्दाद् असिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पुरादेशश्च । शत्रन्तेन समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । किं कुर्वन् । अरातिम् वाणिज्यविघातकं शत्रुं परिपन्थिनम् पर्यवस्थातारं मार्गनिरोधकं चोरम् । ❀ "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" इति इनि प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । मृगम् व्याघ्रादिकं च नुदन् हिंसन् ईशानः ईश्वरो नियन्ता स इन्द्रः मह्यम् वणिजे धनदाः वाणिज्यलाभरूपधनप्रदाता अस्तु भवतु । ❀ ईशान इति । ईश ऐश्वर्ये । अदादित्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेत्त्वात् "०लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः । धनदाः । ददातेः "आतो मनिन्०" इति विच् प्रत्ययः ❀ ॥

मैं व्यवहार करनेवाला पुरुष परमैश्वर्यसम्पन्न वाणिज्यकर्ता इन्द्रदेवको प्रेरित करता हूँ, वणिक्भावसे प्रेरित वह इन्द्र हमारे

पास आवें और आकर वाणिज्यविघातक शत्रुको मार्गनिरोधक चोरको और व्याघ्र आदिको मारते हुए हमारे आगे चलें। नियन्ता इन्द्रदेव मुझे वाणिज्यमें लाभरूप धनके देनेवाले हों १

द्वितीया ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देवऽयानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । सम्ऽचरन्ति ।

ते । मा । जुषन्ताम् । पयसा । घृतेन । यथा । क्रीत्वा । धनम् । आऽहराणि ॥ २ ॥

ते प्रसिद्धा देवयानाः देवा यान्ति येष्विति देवयानाः। ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀। देवानुकूल्ययुक्ता इत्यर्थः। यद्वा दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवा वणिजः। ते यत्र यान्ति ते देवयानाः। महता इत्यर्थः। ईदृशाः बहवः बहुदेशसंबंधिनो ये पन्थानः मार्गाः द्यावापृथिवी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये संचरन्ति वर्तन्ते। ❀ द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः। "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः। "नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ०" इति प्रतिषेधस्य "ऽपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु" इति पर्युदस्तत्वात् "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया❀। ते मार्गाः पयसा घृतेन च मा मां जुषन्ताम् सेवन्ताम्। मार्गश्रमनिवर्तकक्षीरघृतोपलक्षितान्नपानोपेता भवन्तु इत्यर्थः। यथा येन

प्रकारेण अहं क्रीत्वा पण्यं विक्रीय धनम् लाभसहितं मूल्यधनम् आहराणि स्वगृहं प्रापयाणि । तथा जुषन्ताम् इति संबन्धः । ❀ इरतेः प्रार्थनायां लोट् ❀ ॥

जिनमें व्यवहार किया जाता है वे अनेक देशोंके जो बहुतसे मार्ग द्यावापृथिवीके मध्यमें हैं । वे मार्ग घृत और क्षीरसे हमारी सेवा करें—मार्गश्रमको दूर करने वाले क्षीर घृत अन्न पान आदि से संयुक्त होवें और जिस प्रकार मैं खरीद बेंच कर लाभसहित मूलधनको घरमें लेआऊँ तिस प्रकार मेरी सेवा करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इध्मेनांग्न इच्छमानो घृतेनं जुहोमि हव्यं तरसे बलाय यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्

इध्मेन । अग्ने । इच्छमानः । घृतेन । जुहोमि । हव्यम् । तरसे । बलाय । यावत् । ईशे । ब्रह्मणा । वन्दमानः । इमाम् । धियम् । शतऽसेयाय । देवीम् ॥ ३ ॥

हे अग्ने इच्छमानः वाणिज्यलाभं कामयमानः । ❀ इषु इच्छायाम् । व्यत्ययेन शानच् । "इषुगमियमां छः" इति छादेशः । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे शप्रत्ययस्वरः ❀। सोहम् इध्मेन इन्धनसाधनेन समित्समूहेन घृतेन आज्येन च सह हव्यम् हविः जुहोमि । किमर्थम् । तरसे वेगाय शीघ्रगमनाय बलाय शरीरसामर्थ्याय च । ब्रह्मणा मन्त्रेण स्तोत्ररूपेण वन्दमानः त्वां स्तुवन् देवीं द्योतमानां व्यवहारकुशलाम् इमां मदीयां धियम् बुद्धिं शतसेयाय । शतम् इति अपरिमितनाम । असंख्यातधनलाभाय यावद् अहम् ईशे शक्नोमि लब्धुम् । तावज्जुहोमीति संबन्धः । यद्वा

यावद् अहम् ईशे ईश्वरो धनाढ्यो भवामि तावत् स्तोत्रेण स्तुवन् द्योतमानाम् इमां धियम्। धीरिति कर्मनाम। इदम् वाणिज्यलाभ-निमित्तं होमलक्षणं कर्म। करोमीति शेषः। ❀ ईश इति। ईश ऐश्वर्ये। लटि उत्तमैकवचने अनुदात्तेत्वात् "०लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः। "यावत्पुराभ्याम्" इति निघात-प्रतिषेधः। शतसेयायेति। षणु दाने। व्यत्ययेन यत्प्रत्यये "ये विभाषा" इत्यात्वे "ईद्यति" इति ईत्वे गुणः। "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वे धातुस्वरः। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा धातूनाम् अनेकार्थत्वात् षो अन्तकर्मणीत्यस्मादेव यत् प्रत्ययः ❀॥

हे अग्ने! मैं वाणिज्यमें लाभको चाहता हुआ शीघ्रगमनरूप वेग पानेके लिये और शरीरकी शक्तिरूप बल पानेके लिये स्तोत्र-रूप मंत्रसे आपकी स्तुति करताहुआ प्रकाशवान् बुद्धिसे असंख्य धन पाने तक अथवा जब तक मैं धनाढ्य होऊँ तब तक आपकी स्तुति करता हुआ इस होमकर्मको करता हूँ, ईंधनसे और घृतसे आपके निमित्त हवि होमता हूँ॥ ३॥

चतुर्थी॥

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम्।
शु॒नं नो॑ अस्तु प्र॒पणो॒ वि॒क्रय॑श्च॒ प्रति॑प॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु।
इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु च॒रित॑मु॒त्थितं॑ च॥ ४॥

इ॒माम्। अ॒ग्ने॒। श॒रणि॑म्। मी॒मृ॒षः॒। नः॒। यम्। अध्वा॑नम्। अगा॑म। दू॒रम्॥
शु॒नम्। नः॒। अ॒स्तु॒। प्र॒ऽप॒णः। वि॒ऽक्र॒यः। च॒। प्रति॒ऽप॒णः।

फलिनम् । मा । कृणोतु ।
इदम् । हव्यम् । सम्ऽविदानौ । जुषेथाम् । शुनम् । नः । अस्तु ।
चरितम् । उत्थितम् । च ॥ ४ ॥

हे अग्ने नः अस्माकम् इमां शरणिम् प्रवासनिबन्धनां व्रतलोपलक्षणां हिंसां मीमृषः क्षमस्व । ❀ मृष तितिक्षायाम् । स्वार्थिको णिच् । छान्दसो लुङ् ❀ । यम् अध्वानम् मार्गं दूरम् अगाम गतवन्तः स्मः । तदध्वगमनजनिताम् इमां शरणिम् इति पूर्वेणान्वयः । ❀ इण् गतौ । लुङि "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ । यद्वा यम् अध्वानं दूरम् अगाम इमां शरणिम् । ❀ वर्णव्यत्ययः ❀ । इमम् अध्वानम् नः अस्मान् मीमृषः मर्षय तितिक्षय । तज्जनितदुःखनिवर्तने सक्षां कुर्वित्यर्थः ॥ प्रपणः व्यवहर्तुं पण्यद्रव्यस्य परिमाणकल्पनम् । विक्रयः तस्यैव सलाभमूल्यस्वीकारेण परेषां प्रदानम् । तद् उभयमपि नः अस्माकं शुनम् सुखं यथा भवति तथा अस्तु भवतु । ❀ विक्रय इति । क्रीणातेः "एरच्" इति अच् प्रत्ययः ❀ ॥ तथा प्रतिपणः । प्रत्यानेतुं परद्रव्यस्य परिमाणकल्पनं प्रतिपण इत्युच्यते । सोपि मा माम् । ❀ प्रपणः । पण व्यवहारे इत्यस्मात् "नित्यं पणः परिमाणे" इति अच् प्रत्ययः ❀ । फलिनम् प्रभूतलाभोपेतं कृणोतु करोतु ॥ इन्द्राग्न्योः प्रकृतत्वात् तावेवात्र प्रयुक्तौ प्रार्थ्येते । हे इन्द्राग्नी युवां संविदानौ संजानानौ ऐकमत्यं गतौ । ❀ संपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकात् "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम् । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । इदम् मया हूयमानं हव्यम् हविः जुषेथाम् सेवेथाम् ॥ युवयोः प्रसादात् नः अस्माकं चरितम् आचरितं विक्रयादिकम् उत्थितम् तस्माद् व्यवहाराद् उत्पन्नं लाभयुक्तं धनं च शुनम् सुखम् अस्तु ॥ हे देवाः धनेन मूल्यधनेन धनम् वृद्धियुक्तं

धनम् इच्छमानः कामयमानोहं येन धनेन प्रपणम् व्यवहर्तुं परिमाणकल्पनं चरामि करोमि। तदपि शुनम् अस्तु इति पूर्वेण संबंधः॥

हे अग्ने! मार्ग चल कर दूर आगए हैं अतः हमारी प्रवासके कारण बनी हुई व्रतलोपरूपी हिंसाको आप क्षमा करिये। मैं दूर देशमें आगया हूं उसमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको सहनेकी शक्ति दीजिये। व्यवहार करनेके लिये लीजाने वाली वस्तुका परिमाणप्रपण और लाभसहित मूल्य लेकर दूसरोंको देशरूप विक्रय ये दोनों ही हमें सुख देने वाले हों और प्रतिपण भी अर्थात् लौटानेके लिये दूसरेके द्रव्यका परिमाण करना भी मुझे प्रभूत लाभ वाला करे हे इन्द्र और अग्नि देवताओ! तुम दोनों एकमत होकर मेरी होमी हुई हविको स्वीकार करो। आपके प्रसादसे हमारा किया हुआ विक्रय और उससे मिला हुआ लाभयुक्त धन भी सुखदायक हो। हे देवताओ! मूल्यधनसे वृद्धियुक्त धनको चाहते हुए हम जिस धनसे व्यवहार करना चाहते हैं, वह भी हमें सुख देने वाला हो॥ ४॥

पञ्चमी॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध॥ ५॥

येन। धनेन। प्रऽपणम्। चरामि। धनेन। देवाः। धनम्। इच्छमानः।
तत्। मे। भूयः। भवतु। मा। कनीयः। अग्ने। सातऽघ्नः।
देवान्। हविषा। नि। सेध॥ ५॥

हे अग्ने सातघ्नः सातं लाभः। ❀ षणु दाने इत्यस्माद् भावे निष्ठा। "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀।

सातं लाभं घ्नन्तीति सातघ्नः। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति हन्तेः क्विप्। शसि "गमहन०" इत्युपधालोपः। "हो हन्तेः०" इति घत्वम् ❀ लाभप्रतिबन्धकान् देवान् हविषा हूयमानेन नि षेध परितोष्य निवारय। ❀ षिधु गत्याम्। भौवादिकः। "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादिना षत्वम् ❀ ॥ येन धनेनेत्यादि पूर्ववत्। हे देवाः युष्मत्प्रसादात् तन्मे मदीयं धनं भूयः बहुतरं भवतु। कनीयः अल्पतरं मा भवतु। ❀ भूय इति। बहुशब्दात् ईयसुनि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति ईयस आदेर्लोपः बहोर्भूभावश्च। कनीय इति। "युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम्" इति अल्पशब्दस्य कन् आदेशः ❀ ॥

हे अग्ने! आप लाभके प्रतिबंधक देवताओंको होमी जाती हुई हविसे सन्तुष्ट करके लौटा दीजिये हे देवताओ! धनसे धनको चाहता हुआ मैं जिस धनसे व्यवहार करना चाहता हूँ, आपके प्रसादसे वह मेरा धन बहुत हो थोड़ा न होवे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

येन। धनेन। प्रऽपणम्। चरामि। धनेन। देवाः। धनम्। इच्छमानः।
तस्मिन्। मे। इन्द्रः। रुचिम्। आ। दधातु। प्रजाऽपतिः।
सविता। सोमः। अग्निः ॥ ६ ॥

येनेति यत् प्रकृतं धनं तस्मिन् मे मदीये धने रुचिम् सर्वजन-

प्रीतिं धनप्रदानेन आदानेच्छाम् इन्द्र आ दधातु स्थापयतु ॥ तथा प्रजापत्यादयश्च रुचिं कुर्वन्तु ॥

मैं धनसे धनको चाहता हुआ जिस धनसे प्रपण करना चाहता हूँ उस धनमें इन्द्र प्रजापति सविता सोम और अग्नि-देवता मेरी रुचिको उत्पन्न करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । नमसा । वयम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः ।
सः । नः । प्रऽजासु । आत्मऽसु । गोषु । प्राणेषु । जागृहि ७

हे होतः देवानाम् आह्वातः वैश्वानर विश्वनरहित अग्ने त्वा त्वां वयं नमसा हविर्लक्षणेन अन्नेन सह उप स्तुमः उपेत्य स्तोत्रं कुर्मः ॥ स स्तुतस्त्वं नः अस्माकं प्रजासु पुत्रपौत्रादिलक्षणासु आत्मसु अस्मासु गोषु अस्मदीयेषु पशुषु प्राणेषु च जागृहि बुध्यस्व । प्रजादिषु दुःखलेशोपि यथा न प्राप्नोति तथा रक्षन् अवहितो वर्तस्वेत्यर्थः ॥

हे देवताओंका आह्वान करने वाले सम्पूर्ण मनुष्योंके हित-कारी अग्ने ! हम तुम्हारी हविरूप अन्नके साथ स्तुति करते हैं । स्तुति करने पर आप हमारी पुत्र पौत्र आदि प्रजामें, हममें पशुओंमें और प्राणोंमें सावधान रहिये अर्थात् प्रजा आदिको थोड़ासा भी दुःख न पहुँचे, इस प्रकार रक्षा करते हुए साव-धान रहिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥

विश्वाहा । ते । सदम् । इत् । भरेम । अश्वायऽइव । तिष्ठते । जातऽवेदः ।

रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रतिऽवेशाः । रिषाम ॥ ८ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने तिष्ठते स्वगृहे नित्यं वर्तमानाय ते तुभ्यं विश्वाहा सर्वाण्यहानि । ❀ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀ । सदमित् सदैव भरेम हरेम । हविरिति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । अश्वायेव । स्वगृहे वर्तमानाय अश्वाय कालेकाले यथा घासः प्रदीयते तद्वत् ॥ हे अग्ने ते तव प्रतिवेशाः परिचरणादिना प्रत्यासन्ना वयं रायः धनस्य पोषेण समृद्धया इषा इष्यमाणेन अन्नेन च सं मदन्तः संमाद्यन्तो हृष्यन्तः । ❀ व्यत्ययेन शप् ❀ । मा रिषाम विनष्टा मा भूम । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । पुषादित्वात् च्लेरङादेशः ❀ ॥

इति तृतीयकाण्डे तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च तृतीयोनुवाकः ॥

हे प्रत्येक उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! अपने घरमें सदा वर्तमान आपके लिये हम जैसे अपने घरमें विद्यमान घोड़े को प्रतिदिन घास दी जाती है इस प्रकार प्रतिदिन हवि देते हैं । हे अग्ने ! आपकी सेवा करनेसे आपके समीपमें रहने वाले हम धनकी वृद्धि और अन्नसे मदमें भरते रहें नष्ट न होवें ॥८॥

तृतीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (८९) ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "मातरग्निम्" इति प्रथमं सूक्तम्। तेन मेधाकामः सुप्त्वोत्थाय मुखप्रक्षालनं हस्तेन कुर्यात्। तद् उक्तं कौशिकेन। "पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य "मातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] दिवस्पृथिव्याः [६. १] इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" इति [कौ० २. १]॥

तथा अनेन सूक्तेन दधिमधुनी संपात्य अभिमन्त्र्य वर्चस्कामं ब्राह्मणम् आशयेत्। क्षत्रियं तु दधिमधुमिश्रम् अन्नम् आशयेत्। वैश्यादिकं तु केवलभक्तम् आशयेत्। तथा च कौशिकः। "ममाग्ने वर्चः [५. ३] इति वर्चस्यानि" इति प्रक्रम्य "मातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] दिवस्पृथिव्याः [६. १] इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालम् इतरान् इति [कौ० २. २]॥

तथा वर्चस्यकर्मणि स्नातकसिंहव्याघ्रादीनां सप्तानाम् अन्यतमस्य नाभिलोममणिं लाक्षाहिरण्येन वेष्टयित्वा अनेन सूक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्॥

तथा वर्चस्कामानां क्षत्रियादीनां स्नातकादिसप्तमर्माणि प्रच्छिद्य स्थालीपाके प्रक्षिप्य अनेन सूक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य स्थालीपाकेन सह प्राशनम् संपातिताभिमन्त्रितजलेनाप्लावनम् अवसेचनं च वर्चस्कामस्य कार्यम्॥

सूत्रितं हि। "स्नातकसिंहव्याघ्रवस्तद्वृष्णिवृषभराज्ञां नाभिलोमानि" इति प्रक्रम्य ["मातरग्निम् ३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] दिवस्पृथिव्याः "[६. १] इति सप्तमर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्यश्नात्यकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितम् अश्नीयाद् इति गार्ग्य उक्तो लोममणिः सर्वैरासावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० २.४]

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'मातरग्निम्' यह प्रथम सूक्त है। बुद्धिको चाहने वाला पुरुष सोकर उठनेके अनन्तर इस

सूक्तको पढ़ कर मुखसे हस्तप्रक्षालन करे। इसी बातको कौशिक-सूत्र २।१ में कहा है, कि—“पूर्वस्य मेधाजननानि” इति प्रक्रम्य “प्रातरग्निम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति संहाय मुखं विमार्ष्टि ॥”

तथा इस सूक्तसे दही और मधुका संपातन और अभिमंत्रण कर तेज चाहने वाले ब्राह्मणको प्राशन करावे क्षत्रियको दही और मधु मिला हुआ अन्न चटावे। वैश्य आदिको केवल भात ही खवावे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—“ममाग्ने वर्चः (५।३) इति वर्चस्यानि” इति प्रक्रम्य “प्रातरग्निम् (३। १६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालं इतरान्” ॥

तथा वर्चस्यकर्ममें स्नातक सिंह और व्याघ्र आदि सातमेंसे एककी नाभिके लोमोंकी मणिको लाख और सुवर्णमें लपेट कर इस सूक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे ॥

तथा तेजको चाहने वाले क्षत्रिय आदिके स्नातक आदिके सात मर्मोंको काटकर स्यालीपाकमें डाले फिर इस सूक्तसे संपातन और अभिमन्त्रण करके स्थालीपाकके साथ खावे, संपातित अभिमन्त्रित जलमें गोता लगावे और वर्चस्कामका अभिषेक भी करे

सूत्रमें भी कहा है, कि—

स्नातकसिंहव्याघ्रवस्तवृष्णिवृषभराज्ञाम् नाभिलोमानि” इति प्रक्रम्य “प्रातरग्निम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति सप्तमर्माणि स्थालीपाके वृक्तान्यश्नाति अकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितं अश्नीयात् इति गार्ग्य उक्तो लोममणिः सर्वैराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति (कौशिकसूत्र २।४)

तत्र प्रथमा ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥

प्रातः । अग्निम् । प्रातः । इन्द्रम् । हवामहे । प्रातः । मित्रावरुणा । प्रातः । अश्विना ।
प्रातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः । पतिम् । प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

अग्न्यादयः प्रसिद्धा देवाः । तान् प्रातः प्रातःकाले वर्चसे फलाय मेधाजननफलाय च हवामहे । ॐ क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वात् "स्वरितञितः०" इत्यात्मनेपदम् । "बहुलं छन्दसि" इति ह्वः संप्रसारणम् । मित्रावरुणा । मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ । "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । पूषणम् । "इन्हन्पूषार्यम्णां शौ" इति नियमात् "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" इति अमि प्राप्तस्य दीर्घस्य निवृत्तिः । ब्रह्मणस्पतिम् । "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ॐ । उतशब्दः अप्यर्थे ॥

हम वर्च (तेज) रूप फल पानेके लिये और बुद्धिरूपी फल पानेके लिये भी प्रातःकालके समय इन्द्र देवताका आह्वान करते हैं, प्रातःकालके समय हम फल पानेके लिये इन्द्र मित्र वरुण

अश्विनीकुमार भगदेवता पूषा ब्रह्मणस्पति सोम और रुद्रदेवताका आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

प्रातःऽजितम् । भगम् । उग्रम् । हवामहे । वयम् । पुत्रम् । अदितेः । यः । विऽधर्ता ।
आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा । चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति । आह ॥ २ ॥

प्रातर्जितम् । प्रातःकाले जयति स्वाभिमतं साधयतीति प्रातर्जित् । ❀ "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् ❀ । उग्रम् उद्गूर्णबलम् अनभिभवनीयम् । अदितेः । अदितिरदीना देवमाता । तस्या पुत्रं भगं वयं वर्चःप्रभृतिफलकामा हवामहे आह्वयामः । स एव विशेष्यते । य आदित्यो भगः विधर्ता सर्वस्य विधारयिता वृष्ट्यादिप्रदानेन पोषकः आध्रः आधारयितव्यो दरिद्रः । चिच्छब्दः अप्यर्थे । दरिद्रोपि तुरश्चित् त्वरमाणः समृद्धोपि मन्यमानः स्वाभिमतफलसाधनं जानानः यं भगं देवं भक्षि भजेयेत्याह ब्रूते । राजा चित् राजापि यं भगं देवं भजेयेत्याह । सर्व एव यस्य भक्तताम् आशासत इत्यर्थः । तं भगम् इति पूर्वत्रान्वयः । ❀ तुरः । तुर त्वरणे इत्यस्माद् इगुपधलक्षणः कः । भक्षीति । भजेश्छान्दसो लिङर्थे लुङ् । उत्तमैकवचने "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यड-

भावः। यच्छब्दस्य आहेत्यनेन संबन्धात् भक्षीत्यस्य निघातः ❀। यद्वा उक्तः सर्वोपि जनः यं भगं देवं मन्यमानः स्तुवन्। मन्यतिः स्तुतिकर्मा। भगम्। धननामैतत्। भगं भजनीयं धनं भक्षि भज विभज प्रयच्छ मह्यम् इति यं देवम् आह इति प्रार्थयते। तम् आहुयाम इति संबन्धः। ❀ भक्षि। लोटि भजेश्छान्दसः शपो लुक् ह्यादेशाभावश्च ❀॥

जो सूर्य सबको धारण करने वाले हैं, वृष्टि आदि कर सबका पोषण करने वाले हैं, दरिद्र पुरुष भी त्वरासे अपनेको समृद्ध समझता हुआ अर्थात् अपने अभिलषित फलका साधन समझता हुआ कहता है, कि—मैं भग (सूर्य) देवताकी सेवा करता हूँ। और राजा भी जिन भग देवताकी सेवा करूँगा—कहता है। अर्थात् सब ही जिनके भक्त बनना चाहते हैं उन प्रातःकालमें अपना साधन करने वाले प्रचण्डबली देवमाता अदितिके पुत्र सूर्यदेवको हम आह्वान करना चाहते हैं॥ २॥

तृतीया॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

भग। प्रऽनेतः। भग। सत्यऽराधः। भग। इमाम्। धियम्। उत्। अव। ददत्। नः।

भग। प्र। नः। जनय। गोभिः। अश्वैः। भग। प्र। नृऽभिः। नृऽवन्तः। स्याम॥ ३॥

हे भग प्रणेतः प्रकर्षेण सर्वस्य जगतो नेतः। विशेषणान्तर-संबन्धाय पुनः पुनर्भगेत्यामन्त्रणम्। हे सत्यराधः सत्यम् अनश्वरं राधो धनं यस्य स तथोक्तः। ❀ राध इति धननाम। राध्नुवन्त्यनेन इति यास्कः [नि० ४. ४]। "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति भगेत्यामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वात् "आमन्त्रितस्य च" इति प्रणेतरित्यस्य षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम्। न च "नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इत्यविद्यमानवत्त्वनिषेधः। भगेत्यस्य विशेषवचनत्वात्। प्रणयनात् प्रणेतेति प्रणेतृत्वस्य साधारणत्वेन तद्वाचिनः सामान्यवचनत्वम् तद्वैशिष्ट्येन भगेत्यस्य विशेषवचनत्वम्। प्रणेतरित्यस्य विधेयविशेषणत्वेन प्रणेतॄन् अस्मान् कुरु इति पृथग्वाक्यत्वेन पर्यवसानात् "समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः" इति वचनात् भग सत्यराध इत्यादेर्वाक्यान्तरत्वेन पूर्वपदापेक्षया निघातामसङ्गः ❀। हे भग इमाम् अस्मदीयां धियम् स्तुतिम् उदव उद्गत सफलां कुरु। ❀ "द्व्यचोतस्तिङः" इति सांहितिको दीर्घः ❀। किं कुर्वन्। नः अस्मभ्यं ददत् प्रयच्छन् मेधाजननादिफलम्। ❀ ददातेः शतरि "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्प्रतिषेधः। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀। हे भग नः अस्मान् गोभिरश्वैश्च प्र जनय प्रभूतान् कुरु॥ हे भग नृभिः पुत्रपौत्रादिभिर्भृत्यादिभिश्च वयं नृवन्तः तद्युक्ताः प्र स्याम प्रभवेम॥ नृभिर्नृवन्त इति "गवाम् असि गोपतिः" [ऋ० ७. ९८. ६] इतिवत् तृत्यन्तृचिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते। ❀ नृभिरिति। "नृ चान्यतरस्याम्" इति हलादिविभक्तिर्नोदात्ता। नृवन्त इति। छान्दसं मतुपो वत्वम्। "ह्रस्वनुड्भ्याम्०" इति मतुप उदात्तत्वम् ❀॥

हे श्रेष्ठरूपसे सब जगत्के नेता अविनाशी धन वाले सूर्यदेव! हमें मेधाजनन आदि फल देकर हमारी इस स्तुतिको सफल

करिये हे भग ! हमें गौ और अश्वोंसे समृद्ध करिये । हे भग-देवता ! पुत्र पौत्र आदिसे और भृत्य आदिसे युक्त (मनुष्य वाले) हों ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ४

उत । इदानीम् । भगऽवन्तः । स्याम । उत । प्रऽपित्वे । उत । मध्ये । अह्नाम् ।
उत । उत्ऽइतौ । मघऽवन् । सूर्यस्य । वयम् । देवानाम् । सुऽमतौ । स्याम ॥ ४ ॥

उत अपि च इदानीम् अस्मिन् कर्मानुष्ठानसमये वयं भगवन्तः भगेन देवेन युक्ताः तत्स्वामिकाः भगेन धनेन सौभाग्येन वा युक्ताः स्याम भवेम ॥ उत अपि च प्रपित्वे सायाह्ने अह्नां मध्ये मध्याह्नेपि [उत अपि च उदितौ उदयकाले] हे मघवन् । मघम् इति धननाम । वयं सूर्यस्य तथा देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहात्मिकायां बुद्धौ स्याम भवेम । देवा अपि अस्मान् अनुगृह्णीयुरित्यर्थः ॥

इस कर्मानुष्ठानके समय हम सौभाग्य युक्त हो हम देवताके नेतृत्वमें रहें तथा सायंकाल और मध्याह्नके समय तथा सूर्योदयके समय भी हम हे मघवन् ! सूर्य और अग्नि आदि देवताओं की सुबुद्धिमें रहें अर्थात् देवता हमारे ऊपर अनुग्रह करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।

तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ५

भगः । एव । भगऽवान् । अस्तु । देवः । तेन । वयम् । भगऽवन्तः । स्याम ।

तम् । त्वा । भग । सर्वः । इत् । जोहवीमि । सः । नः । भग । पुरःऽएता । भव । इह ॥ ५ ॥

भग एव देवो भगवान् धनवान् अस्तु । तेन तदीयेन धनेन वयं भगवन्तः धनवन्तः स्याम भवेम । हे भग तम् तादृशं त्वा त्वां सर्व इत् सर्व एव जनः जोहवीमि जोहवीति पुनःपुनराह्वयति । ❀"तिङां तिङो भवन्ति" इति तिपः स्थाने मिप् ❀ । हे भग स त्वम् इह अस्मिन् व्यापारे नः अस्माकं पुरएता पुरतो गन्ता भव ॥

भगदेवता ही धनवान् हों, उनके धनसे हम भी धनी होवें । हे भग ! ऐसे आपको सब ही आह्वान करते हैं । हे भग ! आप हमारे व्यापारमें हमारे आगे चलिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

सम् । अध्वराय । उषसः । नमन्त । दधिक्रावाऽइव । शुचये । पदाय । अर्वाचीनम् । वसुऽविदम् । भगम् । मे । रथम्ऽइव । अश्वाः । वाजिनः । आ । वहन्तु ॥ ६ ॥

उषसः उषोदेवताः अध्वराय यज्ञार्थं सं नमन्त । ❀ लोडर्थे

लङ् ❀। संनमन्ताम्। संगच्छन्ताम् इत्यर्थः ॥ दधिक्रावेव। अश्व-नामैतत्। दधिः धारयिता सन् क्रामतीति दधिक्रावा अश्वः। दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा [नि० २. २७] इत्यादि निरुक्तम्। ❀ दधातेः "आदृगमहनजन०" इत्यादिना किमत्ययो लिड्वद्भावश्च। तस्मिन्नुपपदे "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्रमेः क्वनिप्। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀। स यथा शुचये पदाय शुद्धाय गमनाय संनद्धो भवति एवं संनता उषोदेवताः वसुविदम् धनानां लम्भकं भगं देवं मे मम अर्वाचीनम् अभिमुखम् आ वहन्तु आगमयन्तु। तत्र दृष्टान्तः। वाजिनः वेग-वन्तः अश्वाः रथमिव ॥

जैसे पुरुषको धारण करने वाला घोड़ा शुद्ध गमनके लिये उद्यत होता है इसी प्रकार उषोदेवता धनकी प्राप्ति कराने वाले भग देवताको यज्ञार्थ मेरे पास लानेके लिये उद्यत हों और घोड़े जैसे रथको ले आते हैं तैसे मेरे पास ले आवें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।

घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अश्वऽवतीः। गोऽमतीः। नः। उषसः। वीरऽवतीः। सदम्। उच्छन्तु। भद्राः।

घृतम्। दुहानाः। विश्वतः। प्रऽपीताः। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥ ७ ॥

उषासः उषोदेवताः अश्वावतीः बहुभिरश्वैरुपेताः। ❀ "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इति मतौ परतो दीर्घः ❀। गोमतीः गोमत्यो वीरवतीः वीरवत्यः पुत्रादिभिरुपेताः। ❀ "वा छन्दसि" इति सर्वत्र पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। भद्राः शिवंकर्यश्च सत्यः नः अस्मभ्यं सदम् सदा सर्वदा उच्छन्तु व्युष्टा भवन्तु॥ घृतम् उदकं दुहानाः विश्वतः सर्वैर्गुणैः प्रपीताः आप्यायिता यूयम् उषसः स्वस्तिभिः अविनाशैः सदा सर्वदा नः अस्मान् पात रक्षत॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

उषोदेवता बहुतसे घोड़े गौएँ और पुत्र आदिसे संयुक्त हो कल्याणकारी होती हुईं सदा हमारे घरमें उदय होवें। जलको देती हुई सब गुणोंसे तृप्त हे उषोदेवताओं! तुम अविनाशकर कर्मोंसे हमारी सदा रक्षा करो॥ ७॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (८७)

"सीरा युञ्जन्ति" इति द्वितीयसूक्तेन कृषिनिष्पत्तिकर्मणि क्षेत्रं गत्वा युगलाङ्गलं बध्नाति। अनेनैव सूक्तेन दक्षिणम् अनड्वाहं युगे युनक्ति। ततः कर्ता अनेन सूक्तेन प्राचीनं कृषन् सूक्तसमाप्त्यनन्तरं हालिकाय हलं प्रयच्छेत्। तेन तिसृषु सीतासु कृष्टासु उत्तरसीतान्ते अग्निम् उपसमाधाय अनेन सूक्तेन पुरोडाशेन इन्द्रम् स्थालीपाकेन अश्विनौ च यजन् उत्तरस्यां सीतायां संपातान् आनयेत्॥

तथा वृषलाभकर्मणि सारूपवत्से ओदने शकृत्पिण्डगुग्गुलुलवणानि प्रक्षिप्य अनेन सूक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नाति॥

"सीते वन्दामहे" [८] इत्यृचा हालिकेन कृष्यमाणास्तिस्रः सीताः कर्ता प्रत्येकम् अनुमन्त्रयते। अत्र "सीरा युञ्जन्तीति युगलाङ्गलं प्रतनोति दक्षिणम् उष्टारं प्रथमं युनक्ति" इत्यादि "अनडुत्सांपदम्" इत्यन्तं कौशिकसूत्रं द्रष्टव्यम् [कौ ३. २]॥

तथा अद्भुतशान्तौ सीतामध्ये लाङ्गलसंसर्गे पुच्छसंसर्गे वा एतत् सूक्तं शान्त्युदके अनुयोजनीयम्। "अथ यत्रैतल्लाङ्गले संसृजतः" इत्यादि कौशिकसूत्रम् "शुनासीरा एयनुयोजयेत्" इत्यन्तम् [कौ० १३. १४]॥

यज्ञवास्तुसंस्कारकर्मणि "इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु" [४] इति नवाग्निस्थापनदेशे उल्लेखनं कार्यम्। तत्प्रकारश्च कौशिकेन दर्शितः। "यथा वितानं यज्ञवास्त्वध्यवस्येत्" इति प्रकृत्य "देवस्य त्वा सवितुः [१६. ५१. २] इति विमानकाष्ठं गृह्णाति। [यत्राग्निं निधास्यन् भवति तत्र लक्षणं करोति]। इन्द्रः सीतां निगृह्णात्विति दक्षिणत आरभ्योत्तरत आलिखति" इत्यादिना [कौ० १४. १]॥

अग्निचयनकर्मणि अग्निक्षेत्रकर्षणाय युज्यमानं सीरं "सीरा युञ्जन्ति" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयते। "लाङ्गलं पवीरवत्" [३] इति कर्षणावस्थस्य लाङ्गलस्यानुमन्त्रणम्। "कृते योनौ" [२] इति तस्मिन् कृष्टक्षेत्रे ओषधीरावपन्तम् अध्वर्युम् अनुमन्त्रयेत। तथा च वैतानं सूत्रम्। "सीरा युञ्जन्तीति सीरं युज्यमानम्" इत्यादि [वै० ५. १]॥

"सीरा युञ्जन्ति" इस द्वितीय सूक्तसे कृषिनिष्पत्तिकर्ममें क्षेत्र पर जाकर जुए और हलको बाँधे। इसी सूक्तसे दाहिने बैलको जुएमें जोते। तदनन्तर कर्ता इस सूक्तसे प्राचीन स्थानको जोतता हुआ सूक्तकी समाप्ति होने पर हल चलाने वालेको हल दे देय। जब उससे खेतमें तीन रेखायें जुत जावें तब अंतिम रेखाके अन्तमें अग्निको स्थापित कर इस सूक्तके द्वारा पुरोडाशसे इन्द्रको और स्थालीपाकसे अश्विनीकुमारोंकी पूजा करता हुआ अंतिम रेखामें सम्पातोंको लावें॥

तथा वृषलाभकर्ममें सारूपवत्स (अपने और बछड़के एकसे

रूप वाली गौके दुग्धके बने) ओदनमें गोबरके पिण्ड गूगल और लवणको डालकर इस सूक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे ॥

"सीते वन्दामहे" इस आठवीं ऋचासे हल चलाने वालेसे जोती हुई तीन रेखाओंमेंसे प्रत्येक रेखाका कर्ता अनुमन्त्रण करे ॥ इस विषयमें "सीरा युञ्जन्तीति युगलाङ्गलं प्रतनोति दक्षिणं उष्टारं प्रथमं युनक्ति" से "अनुडुत्साम्पदम्" तक कौशिकसूत्र २। ३ देखना चाहिये ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें हलरेखाके मध्यमें हलका संसर्ग होने पर वा पुच्छका संसर्ग होने पर इस सूक्तका शान्त्युदकमें अनुयोजन करे ॥ इस विषयमें "अथ यत्रैतल्लाङ्गले संसृजतः" से "शुना सीराण्यनुयोजयत्" तक कौशिकसूत्र १३। १४ देखना चाहिये

यज्ञवास्तुसंस्कार नामक कर्ममें "इन्द्रः सीतां निगृह्णातु" इस चौथी ऋचासे नवीन अग्निको स्थापित करनेके स्थानमें उल्लेखन करे ॥ इसकी रीतिको कौशिकने बताया है, कि—"वितानके अनुसार यज्ञवास्तुको ठीक करे" तदनन्तर कहा है, कि—"देवस्य त्वा सवितुः (इस १६ वें काण्डके इक्यावनवें सूक्तकी दूसरी ऋचासे) विमानकाष्ठको ग्रहण करे ॥ जहाँ पर अग्नि रखनी हो तहाँ लक्षण (अङ्कन) करे । इन्द्रः सीतां निगृह्णातु इस मन्त्र से दक्षिणसे आरंभ कर उत्तरकी ओर कुरेदे (कौशिकसूत्र १४।१)

अग्निचयनकर्ममें अग्निके क्षेत्रको कर्षण करनेके लिये लगाये हुए हलका 'सीरा युञ्जन्ति' सूक्तसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । और "कृते योनौ" इस दूसरी ऋचासे उस जुते हुए खेतमें ओषधियों को बोते हुए अध्वर्यु का अनुमन्त्रण करे । इस बातको वैतानसूत्र ५।१ में कहा है, कि—"सीरा युञ्जन्तीति सीरं युज्यमानम्" इत्यादि

तत्र प्रथमा ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥

सीरा । युञ्जन्ति । कवयः । युगा । वि । तन्वते । पृथक् ।

धीराः । देवेषु । सुम्नऽयौ ॥ १ ॥

कवयः । मेधाविनामैतत् । मेधाविनो जनाः सीरा सीराणि लाङ्गलानि । ❀ "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः ❀ । युञ्जन्ति कर्षणार्थं योजयन्ति । धीराः धीमन्तस्ते युगा युगानि च पृथक् वि तन्वते बलीवर्दानां स्कन्धेषु प्रसारयन्ति । किमर्थम् । देवेषु देवविषये सुम्नयौ सुखकरयज्ञेच्छौ सति । यजमाने इत्यर्थः । "यज्ञो वै सुम्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वानाः" इति वाजसनेयकम् [श० ब्रा० ७. २. २. ४] । ❀ "छन्दसि परेच्छायाम्" इति सुम्नशब्दात् क्यच् । "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति ईत्वदीर्घयो-निषेधः । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । यद्वा देवविषये सुम्नं सुखकरं हविर्लक्षणम् अन्नं यातः प्रापयत इति सुम्नयौ बलीवर्दौ । तौ च युञ्जन्तीति संबन्धः । ❀ यातेः "आतो मनिन्०" इति विच् ❀ ॥

बुद्धिमान् पुरुष लांगलों (हलों) को जोतनेके लिये लगाते हैं । वे बुद्धिमान् पुरुष देवविषयक सुखदायक हविरूप अन्नको पानेके लिये जुओंको भी अलग २ बैलोंके कन्धों पर धरते हैं १

द्वितीया ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥

युनक्त । सीरा । वि । युगा । तनोत । कृते । योनौ । वपत । इह । बीजम् ।

विऽराऽजः । श्नुष्टिः । सऽभराः । असत् । नः । नेदीयः । इत् । सृण्यः । पक्वम् । आ । यवन् ॥ २ ॥

हे कृषीवलाः सीरा युनक्त सीराणि लाङ्गलानि युगैः सह योजयत ॥ तथा युगा वि तनोत युगानि बलीवर्दानां स्कन्धेषु प्रसारयत ॥ अपि च योनौ अंकुरोत्पत्तियोग्ये इह अस्मिन् कृते कृष्टक्षेत्रे बीजम् व्रीहियवादिकं वपत ॥ विराजः अन्नस्य व्रीहियवादिरूपस्य । "अन्नं वै विराट्" [तै० ब्रा० ३. ८. १०. ४] इति श्रुतेः । श्नुष्टिः आशुप्रापकः स्तम्बः सभराः फलभारसहितः नः अस्माकम् असत् भवतु । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥ सफलं व्रीह्यादिकं नेदीय [इत्] अन्तिकतमम् अल्पेनैव कालेन पक्वम् परिणतफलोपेतं सत् सृण्यः । ❀ द्वितीयार्थे षष्ठी ❀ । सृणिम् अंकुशं लवनसाधनं दात्रादिकम् । आ यवम् प्राप्नोतु आयौतु । ❀ यौतेश्छान्दसे लङि "तिङां तिङो भवन्ति" इति तिपो मिप् ❀ ॥ "यदा [वा] अन्नं पच्यतेथ तत्सृण्योपचरन्ति" [श० ब्रा० ७. २. २. ५] इति वाजसनेयकम् ॥

हे किसानो ! हलोंको जुओंसे संयुक्त करो और जुओंको बैलों के कन्धों पर रक्खो और अङ्कुरकी उत्पत्तिके योग्य बनाये हुए इस जुते जुताये खेतमें व्रीहि जौ आदिको बोओ । और धान

और जौ आदिरूप † अन्नको शीघ्रतासे प्राप्त करानेवाला फल-भार सहित अन्न हमारे यहाँ होवे। फलसहित धान थोड़े ही समयमें पकेहुए फलवाला होकर काटनेके साधन दरैंती आदिको प्राप्त होवे ‡॥ २ ॥

तृतीया ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद् वंपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥

लाङ्गलम्। पवीऽरवत्। सुऽशीमम्। सोमसत्ऽसरु।
उत्। इत्। वपतु। गाम्। अविम्। प्रस्थाऽवत्। रथऽवाहनम्।
पीवरीम्। च। प्रऽफर्व्यम् ॥ ३ ॥

पवीरवत् पवीरं पविर्वज्रम्। ❀ स्वार्थिको रप्रत्ययः ❀। यद्व वज्रमिव निशितधारं लाङ्गलाग्रे प्रोतं सदयोमयं शल्यं भूमिं विपाटयति तत्सहितम्। ❀ पविशब्दात् "कृदिकारादक्तिनः" इति ङीष् ❀। सुशीमम् कर्षकस्य सुखकरं सोमसत्सरु व्रीह्यादि-संपादनद्वारा सोमयागनिष्पादकः त्सरुः भूमौ प्रच्छन्नगमनम् कर्ष-

† तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।१०।४में कहा है, कि—"अन्नं वै विराट्॥—अन्न विराट् है"॥ अत एव मूलके विराट् शब्द का अर्थ अन्न किया है॥

‡ शतपथब्राह्मण ७।२।२।५ में कहा है, कि—'यदा वा अन्नं पच्यतेथ तत्सृण्योपचरन्ति॥—जब अन्न पक जाता है तब उसको काटनेके साधन दरैंती आदि (सृणि) से काटते हैं॥

कहस्तप्राह्मोवयवविशेषो वा यस्य तत् तथोक्तम् । ❀ त्सर छद्मगतौ इत्यस्मात् भृमृशीतृचरित्सरीत्यादिना [उ० १. ७] उमत्ययः ❀ । एवं गुणविशिष्टं लाङ्गलम् उदिद्द वपतु । इत् इत्यवधारणे । उद्धरतु । संपादयतु इत्यर्थः । किं तद् इत्याह । गाम् अविं च प्रस्थावत् प्रस्थानयुक्तं गमनसमर्थम् । ❀ प्रपूर्वात् तिष्ठतेः "आतश्चोपसर्गे" इति भावे अङ् ❀ । रथवाहनम् रथवाहनसमर्थम् अश्वबलीवर्दादिकं पीवरीम् स्थूलां सर्वकामसमर्था प्रफर्व्यम् । प्रथमवयाः कन्या प्रफर्वी । ताम् । ❀ "वा छन्दसि" इति अमिपूर्वत्वस्य विकल्पनाद् यण् ❀ । कर्षणेन धान्यादिसमृद्धौ सत्याम् एतद्गवादिसमृद्धिर्भवतीति भावः ॥

वज्रकी समान तीक्ष्ण धार वाला हलके अग्रभागमें लगे हुए भूमिको फाड़ने वाले लोहेके शल्य (फाल) से युक्त हल कर्षक को सुख देने वाला है । धान आदिको उत्पन्न करनेके कारण सोमयागको चलाने वाला है । इसका अवयव भूमिमें दुबक कर चलता है । ऐसे गुण वाला हल गौको भेड़ोंको चलनेमें समर्थ रथके वाहन घोड़े और बैलोंको तथा सम्पूर्ण कामोंमें समर्थ प्रथमावस्थाकी कन्याको सम्पादन करे अर्थात् खेतीसे धान्य आदि उत्पन्न होने पर गौ आदिकी समृद्धि होती है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

इन्द्रः । सीताम् । नि । गृह्णातु । ताम् । पूषा । अभि । रक्षतु ।
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ॥ ४ ॥

हे इन्द्रो देवः सीताम् लाङ्गलपद्धतिं नि गृह्णातु नीचीनां गृह्णातु ।

तां पूषा पोषको देवः अभि रक्षतु सर्वतः पालयतु । सा सीता नः अस्मभ्यं पयस्वती । पय इत्युपलक्षितम् अभिमतफलम् । तद्युक्ता सती उत्तरामुत्तरां समाम् उत्तरोत्तरं संवत्सरम् । ❀ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀ । सर्वेष्वपि कालेषु इत्यर्थः । दुहाम् दुग्धाम् । अभिमतफलम् इति शेषः । यद्वा पयस्वती उदकवती सती दुहाम् व्रीहियवादिसस्यानि दुग्धाम् उत्तरोत्तरं संवत्सरम् इति द्विकर्मकः । ❀ "अकथितं च" इति कर्मसंज्ञा । दुहाम् इति । "लोपस्त आत्मनेषु" इति तलोपः ❀ ॥

इन्द्रदेवता खेतकी रेखाको ग्रहण करें । पूषा देवता उसकी रक्षा करें । वह रेखा दुग्ध आदि अभिलषित फलसे सम्पन्न होकर प्रतिवर्ष प्रत्येक काममें हमें अभिलषित फलको देवे और जलसे सम्पन्न होतीहुई धान जौ धान्य आदिको प्रतिवर्ष अधिकाधिक देवे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम् । सुऽफालाः । वि । तुदन्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः । अनु । यन्तु । वाहान् ।
शुनासीरा । हविषा । तोशमाना । सुऽपिप्पलाः । ओषधीः । कर्तम् । अस्मै ॥ ५ ॥

सुफालाः शोभनानि लाङ्गलमुखानि अस्माकं शुनम् सुखं यथा भवति तथा भूमिं वि तुदन्तु विकृषन्तु ॥ कीनाशाः कर्षकाः शुनं यथा भवति तथा वाहान् बलीवर्दान् अनु यन्तु अनुगच्छन्तु । ❀ वाहन्त इति वाहाः । कर्मणि घञ् । "कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ शुनासीरा हे शुनासीरौ वाय्वादित्यौ । ❀ शुनो वायुः सीर आदित्यः इति हि यास्कः [नि० ६. ४०] ❀ । यद्वा शुनः सुखकरो देवः । सीरो लाङ्गलाभिमानी देवः । तौ युवां हविषा अस्मदीयेन तोषमाणा तोषमाणौ तुष्यन्तौ अस्मै यजमानाय ओषधीः व्रीहियवाद्याः सुपिप्पलाः शोभनफलोपेताः कर्तम् कुरुतम् ॥

सुन्दर फाल हमें सुख देनेके लिये भूमिको खोदें । कृषक जिस प्रकार सुख पावें तिस प्रकार बैलोंके पीछे जावें । हे शुनासीरों अर्थात् वायु और आदित्य देवताओ ! † वा सुखदायक देवता और हलके अभिमानी देवता ! तुम हमारी हविसे संतुष्ट होकर धान जौ आदि औषधियोंको शोभन फलोंसे सम्पन्न करो ॥५॥

षष्ठी ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।

शुनम् । वरत्राः । बध्यन्ताम् । शुनम् । अष्ट्राम् । उत् । इङ्गय ॥६॥

---

† यास्क मुनिने निरुक्त ६ । ४० में कहा है, कि–"शुनो वायुः सीर आदित्यः ॥–शुनस् वायुका नाम है और सीर सूर्यदेवका नाम है" ॥

वाहाः बलीवर्दाः शुनम् सुखं कुर्वन्तु । नरः कर्षकाः शुनम् सुखं कृषन्तु । लाङ्गलम् हलं [शुनं] यथा भवति तथा कृषतु । ❀ कृष विलेखने । तौदादिकः ❀ ।। वरत्राः रज्जवः शुनम् सुखं बध्यन्ताम् ।। अष्ट्राम् प्रतोदं शुनम् सुखार्थम् उदिङ्गय प्रेरय । अत्र शुनासीरयोर्मध्ये शुनः संबोध्यः ।।

बैल सुख देवें, कृषक मनुष्य सुखपूर्वक जोतें । हल भी सुख-दायकरीतिसे जोते । रस्सियें सुखपूर्वक बँधे । हे शुनः देवता ! आप कोड़ेको सुखके लिये प्रेरित करिये ।। ६ ।।

सप्तमी ।।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।

यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ।। ७ ।।

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेथाम् ।

यत् । दिवि । चक्रथुः । पयः । तेन । इमाम् । उप । सिञ्चतम् ।।७।।

शुनासीरा शुनासीरौ देवौ इह स्म इह खलु अस्मिन् क्षेत्रे मे मदीयं हविः जुषेताम् सेवेताम् । यत् तौ देवौ दिवि आकाशे पयः उदकं चक्रतुः कृतवन्तौ तेन वृष्टिजलेन इमाम् कृष्यमाणां भूमिम् उप सिञ्चताम् आर्द्रीकुरुताम् ।।

हे शुनासीर देवताओं ! इस क्षेत्रमें मेरी हविका सेवन करो । जो देवता आकाशमें जलको करते हैं वे वृष्टिके जलसे इस जुती हुई भूमिको गीली करें ।। ७ ।।

अष्टमी ।।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।

यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ।।८।।

सीते । वन्दामहे । त्वा । अर्वाची । सुऽभगे । भव ।

यथा । नः । सुऽमनाः । असः । यथा । नः । सुऽफला । भुवः ॥८॥

हे सीते त्वा त्वां वन्दामहे नमस्कुर्मः । हे सुभगे सुभाग्ये सीताभिमानिदेवते त्वम् अर्वाची अस्मदभिमुखी भव । यथा येन प्रकारेण नः अस्माकं सुमनाः शोभनमनस्का असः स्याः । यथा येन प्रकारेण नः अस्माकं सुफला शोभनफलोपेता भुवः भवेः । तथा अर्वाची भवेति संबन्धः । ❀ अस्तेर्भवतेश्च लेटि अडागमः । शब्लुकि "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधे उवङ् ❀ ॥

हे सीते (हलसे खेतमें खींची हुई रेखा) ! हम तुझको प्रणाम करते हैं । जिस प्रकार तू हमारे लिये शोभन मन वाली हो जिस प्रकार हमारे लिये शोभनफलसे सम्पन्न हो तिसप्रकार हे सीताभिमानिदेवते ! तू हमारे अभिमुख हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम्ऽअक्ता । विश्वैः । देवैः । अनुऽमता । मरुत्ऽभिः ।
सा । नः । सीते । पयसा । अभिऽआववृत्स्व । ऊर्जस्वती । घृतऽवत् । पिन्वमाना ॥ ९ ॥

घृतेन उदकेन मधुना मधुररसेन समक्ता सम्यग् अक्ता सिक्ता । ❀ "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । सा सीता

विश्वैर्देवैः मरुद्भिश्च अनुमता अङ्गीकृता । हे सीते सा त्वं पयसा उदकेन नः अस्मान् अभ्यावबृत्स्व अभिमुखम् आवर्तस्व । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति वृतेः शपः श्लुः ❀ । कथंभूता । ऊर्जस्वती बलोपेता घृतवत् घृतयुक्तम् अन्नं पिन्वमाना सिञ्चन्ती । ❀ पिवि सेचने । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे शातुस्वरः ❀ ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

मधुर रस वाले जलमें भीगी हुई विश्वेदेवा और मरुद् देवताओंसे अङ्गीकृत बलसम्पन्न घृतयुक्त अन्नका सिंचन करती हुई हे सीतादेवता ! तू जलके साथ हमारी ओर अभिमुख हो ॥९॥

चतुर्थ अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (८८) ॥

"इमां खनाम्मि" इति तृतीयसूक्तेन सपत्नीजयकर्मणि बाणापर्णीपत्रचूर्णं लोहितवर्णाजाया दध्युदकेन संमिश्र्य अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत् । "अभि तेधाम्" इति पादेन तत्पत्राण्यभिमन्त्र्य शयनस्याधस्तात् प्रक्षिपेत् । "उप तेधाम्" इति पादेन तत्पत्राण्यभिमन्त्र्य शयनस्योपरि प्रक्षिपेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "इमां खनामीति बाणापर्णीं लोहिताजाया द्रप्सेन संनीय शयनम् अनु परिकिरति" [कौ० ४. १२] इत्यादि ॥

विवादजयकर्मणि "अहम् अस्मि सहमाना" इत्यादिसूक्तशेषं जपन् ऐशान्या दिशः सभास्थलं व्रजेत् । "अहम् अस्मीत्यपराजिताद् परिषदम् आव्रजति" इत्यादि कौशिकसूत्रम् [कौ०५.२] ॥

'इमां खनामि' इस तीसरे सूक्तसे सपत्नीजय (सौतको जीतने) के कर्ममें बाणापर्णीके पत्तोंके चूर्णको लालवर्ण वाली बकरीके दहीको जलमें मिलाकर अभिमन्त्रित करके सौतकी खाट पर बखेर देय । और 'अभि तेधाम्' इस पादसे उसके पत्तोंका अभिमन्त्रण करके खाटके नीचे फेंके । 'उप तेधाम्' इस पाद

से उसके पत्तोंको अभिमन्त्रित करके खाटके ऊपर फेंके इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'इमां खनामीति बाणापर्णीं लोहितजाया द्रप्सेन संनीय शयनम् अनुपरिकिरति' (कौशिकसूत्र ४ । १२)॥

विवादजयकर्ममें 'अहमस्मि सहमाना' इस सूक्तशेषका जप करता हुआ ऐशानी (ईशानकोण) की दिशासे सभास्थलमें प्रवेश करे ॥ कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि–"अहमस्मीत्यपराजितात् परिषदं आव्रजति" (कौशिकसूत्र ५ । २)

तत्र प्रथमा ॥

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।

यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

इमाम् । खनामि । ओषधिम् । वीरुधाम् । बलवत्ऽतमाम् ।

यया । सऽपत्नीम् । बाधते । यया । सम्ऽविन्दते । पतिम् ॥१॥

इमाम् पाठाख्याम् ओषधीं वीरुधाम् । विरोहन्तीति वीरुधः लतारूपा ओषधयः । तासां मध्ये बलवत्तमाम् स्वकार्यकरणे अतिशयेन बलवतीं खनामि खननेन संपादयामि । यया ओषध्या सपत्नीम् । समानः एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । ❀ "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारान्तादेशश्च ❀ । तादृशीं बाधते हिनस्ति । ❀ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । यया च ओषध्या पतिम् भर्तारं संविन्दते सम्यक् असाधारण्येन लभते ताम् इमाम् ओषधीम् इति संबन्धः ॥

जिस औषधिसे सौतोंको बाधा दीजाती है और (स्त्री) जिस औषधिसे पतिको असाधारणरूपमें प्राप्त करती है उस औषधियों में परमबलवती पाठाको मैं खोदनेके द्वारा प्राप्त करता हूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।

सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तानऽपर्णे । सुऽभगे । देवऽजूते । सहस्वति ।

सऽपत्नीम् । मे । परा । नुद । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥२॥

हे उत्तानपर्णे उत्तानानि ऊर्ध्वमुखानि पर्णानि पत्राणि यस्याः स्तादृशि हे सुभगे सौभाग्यहेतुभूते हे देवजूते देवेन स्रष्ट्रा प्रेरिते । यद्वा देवेन इन्द्रादिना प्राप्ते । "पाठाम् इन्द्रो व्याश्नाद् असुरेभ्य-स्तरीतवे" [२. २७. ४] इति हि निगमः । हे सहस्वति अभि-भवनवति ईदृशे हे पाठे मे मम सपत्नीं परा नुद पराङ्मुखीं प्रेरय । पत्युः सकाशाद् दूरं गमयेत्यर्थः । ततश्च मे मम पतिं केवलम् असाधारणं कृधि कुरु । ❀ "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

हे ऊर्ध्वमुख पत्ते वाली, सौभाग्यकी कारणभूत स्रष्टासे प्रेरित, इन्द्र आदिसे प्राप्तकी हुई तिरस्कार करनेकी शक्ति वाली पाठा नामक ओषधे ! मेरी सौतको पराङ्मुखी करके भेज अर्थात् पति के पाससे दूर भेज फिर मेरे पतिको (मेरे लिये) असाधारण कर ॥ २ ॥

तृतीया ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।

परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

नहि । ते । नाम । जग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ ।

पराम् । एव । पराऽवतम् । सऽपत्नीम् । गमयामसि ॥ ३ ॥

हे सपत्नि ते तव नाम नामधेयमपि अहं नहि जग्राह न गृह्णामि। ❀ जग्राहेति । ग्रहेः उत्तमे णलि रूपम् ❀ । अस्मिन् संनिहिते मदीये पतौ पत्यौ नो रमसे नैव रमस्व । ❀ पताविति । "षष्ठी-युक्तश्छन्दसि वा" इति षष्ठीयोगाभावेपि छान्दसी घिसंज्ञा ❀ ॥ अपि च तां सपत्नीं परां परावतमेव । परावत् इति दूरनाम । अतिशयितदूरदेशमेव गमयामसि गमयामः प्रापयामः ॥

हे सौत ! मैं तेरे नामको भी नहीं लूँगी तू मेरे पतिसे रमण न कर, इस सौतको हम बहुत दूर भेजती हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

उत्ऽतरा । अहम् । उत्ऽतरे । उत्ऽतरा । इत् । उत्ऽतराभ्यः ।

अधः । सऽपत्नी । या । मम । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥ ४ ॥

हे उत्तरे उत्कृष्टतरे पाठे त्वत्प्रसादाद् अहम् उत्तरा उत्कृष्टतरा भूयासम् ॥ अपि च उत्तराभ्यः लोके या उत्कृष्टतराः सन्ति ताभ्योप्यहम् उत्तरेत् । इच्छब्दः अवधारणे । उत्कृष्टतरैव भवेयम् ॥ अध अनन्तरं मम या सपत्नी विद्यते सा अधराभ्यः निकृष्टाभ्योपि अधरा निकृष्टतरा भवतु ॥

हे श्रेष्ठ पाठे ! तेरे प्रसादसे मैं परम श्रेष्ठ होजाऊँ, संसारमें जो श्रेष्ठ हैं उनसे भी श्रेष्ठ होजाऊँ और मेरी जो सौत है वह नीचोंसे भी नीच होजावे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।

उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

अहम् । अस्मि । सहमाना । अथो इति । त्वम् । असि । सासहिः ।

उभे इति । सहस्वती इति । भूत्वा । सऽपत्नीम् । मे । सहावहै ५

हे पाठाख्ये ओषधे अहं त्वत्प्रसादात् सहमाना अस्मि सपत्न्या अभिभवित्री भवामि ॥ अथो अपि च त्वमपि सासहिरसि शत्रूणाम् अभिभवित्री भवसि ॥ ततश्च आवाम् उभे अपि सहस्वती अभिभवनवत्यौ भूत्वा मे मम सपत्नीं सहावहै अभिभवाव ॥ "अहमस्मि" इत्यादिसूक्तशेषस्य विवादजयकर्मणि विनियोगस्य दर्शितत्वात् तदनुसारेण सपत्नीशब्दस्य विपरिणामेन सपत्नपरतयापि योज्यम् ॥

हे पाठा नाम वाली ओषधे! तेरे प्रसादसे मैं सौतको वशमें रख सकूँ। तू भी शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाली है। इसलिये हम दोनों दबाने वाली बन कर मेरी सौतको दबावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अभि । ते । अधाम् । सहमानाम् । उप । ते । अधाम् । सहीयसीम् ।
माम् । अनु । प्र । ते । मनः । वत्सम् । गौःऽइव । धावतु । पथा । वाःऽइव । धावतु ॥ ६ ॥

सहमानाम् अभिभवनशीलाम् इमां पाठाख्याम् ओषधिं हे सपत्नि ते तव शयनस्थानम् अभि अधाम् अभितः सर्वतः शयनस्य अधःप्रदेशे धारयामि ॥ तथा सहीयसीम् सोढृतमाम् अतिशयेनाभिभवित्रीम् इमाम् ओषधिं ते शयनस्थानम् उप अधाम् शयनस्योपरिदेशे धारयामि ॥ हे सपत्नि ते त्वदीयम् ओषधिप्रभावेन वशीकृतं मनः मामनु प्र धावतु अनुसृत्य प्रवर्तताम् ॥ तत्र वत्सं गौरिवेत्यादि दृष्टान्तद्वयम् । यथा गौः प्रस्तुतस्तनी स्वकीयं वत्सम् इतस्ततो धावन्तं स्नेहवशाद् अनुधावति यथा च वाः वारि उदक प्रथा निम्नेन मार्गेण स्वभावतोनुधावति तथा । सपत्नी सर्वथा मदधीनचित्ता भवतु इत्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

अभिभव करनेकी शक्ति वाली पाठा नामकी ओषधिको हे सौत ! मैं तेरी खाट पर चारों ओर रखती हूँ, तथा इस दृढ़भावसे तिरस्कार करने वाली इस ओषधिको मैं खाटके ऊपर धरती हूँ । हे सौत ! ओषधिके प्रभावसे वशमें किया हुआ तेरा मन मेरे अनुकूल (इस प्रकार) चले दूधको टपकाती हुई गौ इधर उधर दौड़ते हुए बछड़ेके पीछे स्नेहवश दौड़ती है और जल जिस प्रकार नीचेकी ओर स्वभावसे ही दौड़ता है । तात्पर्य यह है, कि-सौतका चित्त सर्वथा मेरे अनुकूल होजावे ॥ ६ ॥

चौथे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (८१) ॥

"संशितं मे" इति चतुर्थसूक्तेन परसेनोद्वेजनकर्मणि आज्यं हुत्वा सितपदीम् अजाम् अविं वा संपात्य अभिमन्त्र्य शत्रुसेनां प्रति विसर्जयेत् ॥

तथा संग्रामजयार्थम् अनेन सूक्तेन आज्यहोमम् सक्तुहोमम् धनुरिध्माधानम् इषुसमिदाधानम् राज्ञे अभिमन्त्रितधनुःप्रदानं च कुर्यात् । "संशितं म इति सितपदीं संपातवतीम् अवसृजति" इत्यादि

"मदानान्तानि" इत्यन्तं कौशिकसूत्रम् [कौ० २. ५] ॥

तथा अग्निचयने उन्नीयमानम् उख्यम् अग्निं "संशितं मे" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने संशितं म इत्युख्यम् उन्नीयमानम्" इति [वै० ५. १] ॥

महाव्रते आजिधावने "अवसृष्टा परा पत" [८] इत्यनया अवसृष्टबाणानुमन्त्रणम् । तथा च वैतानसूत्रे । "अवसृष्टा परा पतेति चतुर्थीम् इषुम् अवसृष्टाम् " [वै० ६. ४] इति ॥

"सं शितं मे" इस चौथे सूक्तसे दूसरेकी सेनाको कँपानेके कर्म में घृतकी आहुति देकर श्वेत पैरोंवाली बकरी वा भेड़को संपातित अभिमन्त्रित करके शत्रुसेनाकी ओर छोड़ देय ।

तथा संग्राममें विजय दिलानेके लिये इस सूक्तसे घृतहोम सक्तु-होम धनुषरूपी ईंधनका आधान और बाणरूपी समिधाका आधान करे और राजाको अभिमन्त्रित धनुष देवे ॥ इस विषयमें 'संशितं म इति सितपदीम् सम्पातवतीम् अवसृजति' से 'मदानान्तानि' तकका कौशिकसूत्र २ । ५ देखना चाहिये ।

तथा अग्निचयनमें उन्नीयमान उख्य अग्निको 'संशितं मे' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्र ५ । १ में कहा है, कि-"संशितं म इति उख्यम् उन्नीयमानम् ॥"

महाव्रत आजिधावनमें 'अवसृष्टा परापत' इस आठवीं ऋचा से अवसृष्ट बाणका अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अव सृष्टा परा पतेति चतुर्थी इषुम् अवसृष्टाम्" (वैतानसूत्र ६ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः

सम्ऽशितम् । मे । इदम् । ब्रह्म । सम्ऽशितम् । वीर्यम् । बलम् । सम्ऽशितम् । क्षत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णुः । येषाम् । अस्मि । पुरःऽहितः ॥ १ ॥

मे मदीयम् इदं ब्रह्म ब्राह्मणत्वं संशितम् जातिभ्रंशकरदोषपरिहारेण सम्यक् तीक्ष्णीकृतं भवतु । तीक्ष्णीकृते हि ब्राह्मणत्वे स्वेन क्रियमाणं शान्तिकपौष्टिकादि कर्म समृद्धफलं भवतीति आदौ तत्प्रार्थना । यद्वा ब्रह्मशब्दो वेदवाची । प्रयुज्यमानमन्त्रात्मकम् इदं ब्रह्म तीक्ष्णीकृतम् । अमोघफलं भवतु इत्यर्थः । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इति इत्वम् । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तथा मदीयं वीर्यम् मन्त्रप्रभावजनितं सामर्थ्यं शारीरं बलं च संशितम् सम्यक् तीक्ष्णीकृतम् अस्तु । तथा मदीयं क्षत्रम् क्षत्रियजातिः संशितम् मन्त्रप्रभावेन तीक्ष्णीकृतं सत् अजरम् जरारहितम् । अत्र शरीरावयवानां सेनावयवहस्त्यश्वादीनां च क्षयो जराशब्देन विवक्षितः । तद्रहितं जिष्णु जयशीलम् अस्तु । ❀ अजरम् इति । न विद्यते जरा यस्येति नञो बहुव्रीहौ "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । जि जये इत्यस्मात् "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इति ग्स्नुप्रत्ययान्तो जिष्णुशब्दः ❀ । कस्माद् एवम् अन्यगतं फलं प्रार्थ्यत इति तत्राह । येषाम् इति । पूजार्थं बहुवचनम् । यस्य क्षत्रियस्य अहं पुरोहितः ऐहिकामुष्मिकसकलश्रेयोविषये पुरस्ताद् निहितः अस्मि भवामि । यस्माद् एवं पौरोहित्ये वृतोस्मि अतो मदीयस्य राज्ञो जयार्थम् एवं प्रार्थ्यत इत्यर्थः । ❀ दधातेः कर्मणि निष्ठा । "पूर्वाधरावराणाम्०" इति असिप्रत्ययान्तः पुरःशब्दः । तस्य च "पुरोऽव्ययम्" इतिगतित्वाद् "गतिरनन्तरः" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

मेरा यह ब्राह्मणत्व जातिभ्रंशकर दोषके दूर होनेसे भली प्रकार तीक्ष्ण होवे (ब्राह्मणत्वके तीक्ष्ण होने पर ही किया हुआ शांति पौष्टिक आदि कर्म समृद्ध फल वाला होता है। अत एव पहिले उसकी प्रार्थना की है अथवा) यह मन्त्र तीक्ष्ण हो अमोघ फल वाला हो और मन्त्रके प्रभावसे आई हुई शक्ति और शारीरिक बल भी तीक्ष्ण हो और हमारी क्षत्रिय जाति भी मन्त्रके प्रभावसे तीक्ष्ण होकर जरारहित हो अर्थात् उसकी सेनाके अवयव हाथी घोड़े आदिका क्षय न हो और जय पावे। (दूसरेके लिये ऐसी प्रार्थना क्यों करते हो इसका उत्तर यह है. कि–) जिस क्षत्रियका मैं पुरोहित हूँ अर्थात् जिसके इस लोक और परलोक दोनों लोकोंके कल्याणके कामोंमें मैं पहिले किया हुआ जाने वाला पुरोहित हूँ (अतः अपने राजाकी विजय के लिये ऐसी प्रार्थना करता हूँ)॥ १ ॥

द्वितीया ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

सम्। अहम्। एषाम्। राष्ट्रम्। स्यामि। सम्। ओजः। वीर्यम्। बलम्
वृश्चामि। शत्रूणाम्। बाहून्। अनेन। हविषा। अहम् ॥ २ ॥

पूर्वत्र येषाम् इति यच्छब्दनिर्दिष्टोर्थः एषाम् इति इदमा परामृश्यते। येषां राज्ञां देशे अहं निवसामि एषां राष्ट्रम् जनपदं सं श्यामि सम्यक् तीक्ष्णीकरोमि। धनकनकसमृद्धं करोमीत्यर्थः। ❀ शो तनूकरणे। "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀। ओजः बलनामैतत्। ❀ "उब्जेर्बले बलोपश्च [उ० ४. १९१] इति असुन्प्रत्ययस्मरणात् ❀। येन बलेन क्षेत्रज्ञस्य शरीरे अवस्थितिर्भवति तद् ओजःशब्दवाच्यम्। उक्तं हि आचार्यैः।

क्षेत्रज्ञस्य तदू ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते ।
यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रम् अशनित्विषः । इति ॥

तादृशं शरीरदाढर्यनिमित्तम् ओजः तज्जनितं वीर्यम् पराभिभवसामर्थ्यम् अन्यदपि हस्त्यश्वादिलक्षणं बलं च । सं श्यामीति सम्बन्धः । मन्त्रसामर्थ्येन दृढीकरोमीत्यर्थः ॥ तथा [अहं] प्रदीयस्य राज्ञः शत्रूणां बाहून् अनेन हूयमानेन आज्यसक्त्वादिरूपेण हविषः वृश्चामि छिनद्मि । आयुधग्रहणासमर्थान् भ्रष्टवीर्यान् करोमीत्यर्थः । ❀ ओव्रश्च् छेदने । तुदादित्वात् शः । तस्य ङित्वात् "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । विकरणस्वरेण मध्योदात्तः । पादादित्वाद् अनिघातः ❀ ॥

जिन राजाके देशमें मैं रहता हूँ उनके राज्यको मैं भली प्रकार तीक्ष्ण करता हूँ—सुवर्ण आदि धनसे समृद्ध करता हूँ । शरीरको दृढ़ रखने वाले ओजको शत्रुओंका तिरस्कार करनेकी शक्तिरूप बलको और हाथी घोड़े आदि सेनाको भी मन्त्रशक्तिसे दृढ़ करता हूँ और मैं इस राजाके शत्रुओंकी भुजाओंको घृत सत्तु आदि हविसे काटता हूँ अर्थात् आयुध उठानेमें असमर्थ वीर्यरहित करता हूँ

तृतीया ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ २ ॥

नीचैः । पद्यन्ताम् । अधरे । भवन्तु । ये । नः । सूरिम् । मघऽवानम् । पृतन्यान् ।
क्षिणामि । ब्रह्मणा । अमित्रान् । उत् । नयामि । स्वान् । अहम् २

मदीयाः शत्रवः नीचैः पद्यन्ताम् अवाङ्मुखाः पतन्तु । ततश्च अधरे निकृष्टाः पादाक्रान्ता भवन्तु । कीदृशास्ते शत्रव इति उच्यते । नः अस्मदीयं सूरिम् कार्याकार्यविभागज्ञं मघवानम् । मघम् इति धननाम । प्रभूतधनयुक्तं राजानं जेतुं ये शत्रवः पृतन्यान् पृतयन्ति पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्ति । ते नीचैः पद्यन्ताम् इति संबन्धः । ❀ पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि-लोपः" इति क्यचि परतोन्त्यलोपः । तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ ॥ उक्तप्रयोजनसिद्धये ब्रह्मणा परिवृढेन अमोघवीर्येण मन्त्रेण अमि-त्रानं शत्रून् अहं क्षिणोमि हिनस्मि । ❀ रि क्षि हिंसायाम् । स्वादि-त्वात् श्नुः ❀ ॥ न केवलं शत्रूणां हिंसनम् अपि तु स्वान् स्वकी-यान् राज्ञः उन्नयामि । उत्कृष्टं जयं प्रापयामीत्यर्थः ॥

जो हमारे कार्य और अकार्यके विभागको जानने वाले धनी राजाको जीतनेके लिये सेनाको एकत्रित करना चाहते हैं वे हमारे शत्रु उलटे मुख होकर गिर पड़ें फिर पैरोंसे दबें उक्त प्रयो-जनको सिद्ध करनेके लिये मैं अमोघ वीर्य वाले मन्त्रसे शत्रुओं को क्षीण करता हूँ और अपने राजाको परमोत्कृष्ट विजय प्राप्त कराता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ४

तीक्ष्णीयांसः । परशोः । अग्नेः । तीक्ष्णऽतराः । उत ।

इन्द्रस्य । वज्रात् । तीक्ष्णीयांसः । येषाम् । अस्मि । पुरःऽहितः

येषां राज्ञाम् अहं पुरोहितः अस्मि ते राजानः परशोः वृक्ष-च्छेदनसमर्थात् निशितधारात् तीक्ष्णीयांसः अतिशयेन तीक्ष्णाः

शत्रुबलच्छेदनसमर्था भवन्तु ॥ तथा अग्नेः विश्वदहनसमर्थादपि तीक्ष्णतराः अतिशयेन तीक्ष्णाः । क्षणमात्रेण कृत्स्नं शत्रुबलं दग्धुं समर्था भवन्तु इत्यर्थः । उतशब्दः अप्यर्थे । स च भिन्नक्रमो योजितः ॥ तथा इन्द्रस्य वज्रात् । स खलु वृत्रासुरादिहनने शिलोच्चयपक्षच्छेदनादौ च अकुण्ठितशक्तित्वेन प्रसिद्धः । ततोपि तीक्ष्णीयांसः अतिशयेन तीक्ष्णा निशिताः । अप्रतिहतगतयो भवन्तु इत्यर्थः ॥

मैं जिन राजाका पुरोहित हूँ वह राजा शत्रुकी सेनाको काटने के लिये वृक्षको काटने वाले फरसे भी अधिक तीक्ष्ण होजावें और सम्पूर्णसंसारको जलानेमें समर्थ अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण होजावें अर्थात् क्षणमात्रमें ही शत्रुसेनाको भस्म कर सकें और इन्द्रका वज्र वृत्रासुरको मारनेमें और पर्वतोंके परोंको काटनेमें भी अकुण्ठित शक्ति वाला प्रसिद्ध है हमारे राजा उससे भी तीक्ष्ण होजावें, अकुण्ठित गति वाले होजावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः

एषाम् । अहम् । आयुधा । सम् । स्यामि । एषाम् । राष्ट्रम् । सुऽवीरम् । वर्धयामि ।

एषाम् । क्षत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णु । एषाम् । चित्तम् । विश्वे । अवन्तु । देवाः ॥ ५ ॥

[अहम्] एषाम् अस्मदीयानां राज्ञाम् आयुधा आयुधानि बाण-

खड्गकुन्तादीनि सं श्यामि सम्यक् तीक्ष्णीकरोमि ॥ एषां राष्ट्रम् राज्यं सुवीरम् शोभनवीरोपेतं वर्धयामि समृद्धं करोमि । ❀ सु-वीरम् इति "वीरवीर्यौ च" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ अपि च एषां राज्ञां क्षत्रं क्षतात् त्रायकं बलं क्षत्रियत्वं वा अज-रम् जरारहितं जिष्णु जयशीलं चास्तु ॥ तथा एषां चित्तम् युद्धो-न्मुखं मनः विश्वे सर्वे देवाः अवन्तु रक्षन्तु ॥

अपने राजाके बाण कुन्त खड्ग आदि आयुधोंको मैं भली प्रकार तीक्ष्ण करता हूँ, इनके राज्यको मैं वीरोंसे समृद्ध करता हूँ। इन राजाका आपत्तिसे बचाने वाला क्षत्रियत्वरूप बल जरा-रहित और विजयशील होवे। और इन हमारे राजाके युद्धोन्मुख मनकी सकल देवता रक्षा करें ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

उत् । हर्षन्ताम् । मघऽवन् । वाजिनानि । उत् । वीराणाम् । जयताम् । एतु । घोषः ।
पृथक् । घोषाः । उलुलयः । केतुऽमन्तः । उत् । ईरताम् ।
देवाः । इन्द्रऽज्येष्ठाः । मरुतः । यन्तु । सेनया ॥ ६ ॥

षष्ठी । हे मघवन् धनवन्निन्द्र त्वत्प्रसादाद् वाजिनानि बलानि हस्त्यश्वरथादीनि युद्धविषये उद्धर्षन्ताम् उत्कृष्टहर्षयुक्तानि भवंतु ॥

तथा जयताम् जयं प्राप्नुवताम् अस्मदीयानां वीराणां शूराणां जयप्रयुक्तो घोषः सिंहनादाख्यः उदेतु उद्गच्छतु । परश्रोत्राण्यभिभूय वर्त्तताम् इत्यर्थः । एतदेव विव्रियते पृथग् इति उल्लुलय इति। अनुकरणशब्दोयम् । उल्लुलु इत्येवमात्मकाः केतुमन्तः प्रज्ञानवन्तः सर्वैं प्रज्ञायमाना जयप्रयुक्ता घोषाः पृथक् इतस्ततः उत् ईरताम् उद्गच्छन्तु । ❀ ईर गतौ अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

हे धनवान् इन्द्र ! आपके प्रसादसे हाथी घोड़े रथ आदि युद्धमें हर्ष पावें तथा विजय पावें हमारे शूरवीरोंका विजयका सिंहनाद होवे । उल्लुलु आदि सबको सुनाई देनेवाले जयघोष चारों ओर फैलें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोबलधंन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ७

प्र । इत । जयत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । बाहवः ।
तीक्ष्णऽइषवः । अबलऽधन्वनः । हत । उग्रऽआयुधाः । अबलान् ।
उग्रऽबाहवः ॥ ७ ॥

सप्तमी । इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः स्वामी येषां तथाविधा मरुतो देवा युद्धेषु अस्माकं साहायकम् आचरितुं [सेनया] स्वस्वसेनया सार्धं यन्तु प्राप्नुवन्तु ॥ हे नरः नेतारः अस्मदीया भटाः प्रेत प्रक्रम्य युद्धभूमिं गच्छत । ततो देवैरनुगृहीताः शत्रून् जयत ॥ वः युष्माकं तीक्ष्णेषवः निशितबाणाद्यायुधोपेता बाहवः उग्राः उद्गूर्णबलाः शत्रुप्रहरणसमर्थाः सन्तु भवन्तु ॥ ततो यूयम् उग्रायुधाः निशितनिस्त्रिंशबाणाद्यायुधोपेताः अत एव उग्रबाहवः

उद्गूर्णहस्ताः सन्तः अबलधन्वनः बलरहितधनुराद्यायुधोपेतान् अत एव अबलान् बलशून्यान् हत हिंस्त। पश्चस्त्वं मापयतेत्यर्थः। ❀ हन्तेर्लोण्मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक्। "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः ❀ ॥

इन्द्र जिनमें बड़े हैं वे मरुद्देवता युद्धमें हमारी सहायता करनेके लिये अपनी सेनाके साथ आवें। हे हमारे सैनिको! तुम युद्धभूमिकी ओर झपटो। और देवताओंसे अनुग्रह पाकर शत्रुओंको जीतो। तीक्ष्ण बाण आदि आयुधोंसे सम्पन्न तुम्हारी भुजायें शत्रु पर प्रहार करनेमें समर्थ होवें। तब तुम तीक्ष्ण बाण तलवार आयुधोंको धारण कर अतएव प्रचण्ड भुजा वाले होकर बलरहित धनुष वाले अत एव बलशून्य शत्रुओंको मार डालो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥ ८ ॥

अवऽसृष्टा। परा। पत। शरव्ये। ब्रह्मऽसंशिते।
जय। अमित्रान्। प्र। पद्यस्व। जहि। एषाम्। वरम्ऽवरम्।
मा। अमीषाम्। मोचि। कः। चन ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण तीक्ष्णीकृते [शरव्ये हिंसाकुशले इषो त्वम्] अवसृष्टा अस्माभिर्धनुषो विनिर्मुक्ता परा पत परागच्छ शत्रुसेनाभिमुखं गच्छ। गत्वा च तान् अमित्रान् शत्रून् जय ॥ तत्प्रकारम् आहम् प्र पद्यस्वेत्यादिना। प्रथमं शत्रून् प्र पद्यस्व प्रविश ॥ एषां मध्ये वरंवरम् श्रेष्ठं हस्त्यश्वपदातिलक्षणं

मत्तं जहि मारय । ❀ "हन्तेर्जः" इति जादेशः । तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् हेर्लुगभावः ❀ ॥ अमीषाम् दूरे दृश्यमानानां शत्रूणां मध्ये कश्चन कोपि वीरो मा मोचि मुक्तो मा भूत् । सर्वोपि त्वया हन्तव्य इत्यर्थः । ❀ मोचीति । मुच्लृ मोक्षणे इत्यस्मात् कर्मणि माङि लुङि रूपम् । अमीषाम् इति । "एत ईद्बहुवचने" इति ईत्वमत्वे ❀ ॥

[इति] तृतीयकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे मन्त्रसे तीक्ष्ण किये हुए हिंसाकुशल बाण ! तू हमारे धनुषसे छूट कर शत्रुसेनाकी ओर जा और जाकर शत्रुओंको जीत। (उन की रीति यह है, कि-) शत्रुओंमें प्रवेश कर और उनमें जो श्रेष्ठ श्रेष्ठ हाथी घोड़ा पैदल आदि हो उसका संहार कर । इन दूर दीखते हुए शत्रुओंमेंसे कोई भी वीर न छूटने पावे ॥ ८ ॥

तृतीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१०) ॥

"अयं ते योनिः" इति सूक्तेन निर्ऋतिकर्मणि शर्करामिश्रान् व्रीहीन् जुहुयात् । "अयं ते योनिरिति [जीर्णकोष्ठाद्] व्रीहीन् शर्करामिश्रान्" [कौ० ३. १] इत्यादि कौशिकसूत्रम् ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यसमिदादिभिस्त्रयोदशभिर्द्रव्यैर्जुहुयात् । तस्मिन्नेव कर्मणि अस्य सूक्तस्य जपं वा कुर्यात् ॥

तथा च कौशिकः । "अयं ते योनिः [३. २०] आ नो भर [५. ७] वीती वा [७. १] इत्यर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" इति [कौ० ५. ५] ॥

"अयं ते योनिः" इत्यनया अरण्योरात्मनि वा अग्नेः समारोपणं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "अयं ते योनिरित्यरण्योरग्निं समारोपयत्यात्मनि वा" इति [कौ० ५. ४] ॥

सवयज्ञेषु "सोमं राजानम्" [४] इत्यनया भृग्वङ्गिरोविदश्चतुर आर्षेयान् आह्वयेत् ॥

अग्निचयने अनयैव गार्हपत्येष्टकाम् उपधीमानाम् अनुमन्त्रयेत। तथा च वैतानम्। "अयं ते योनिरिति गार्हपत्येष्टकां निधीयमानाम्" इति [वै० ५. १] ॥

अग्निचयने औदुम्बरसमिदाधानानन्तरम् "अग्ने अच्छा वदेह नः" इति तिस्रः "अर्यमणं बृहस्पतिम्" इति द्वे जपेत्। "वाजस्य नु प्रसवे" इत्यनया वाजप्रसवीयहोमानुमन्त्रणम्। तथा च वैतानं सूत्रम्। "उद् एनम् उत्तरं नय [६. ५] इति समिध आधीयमानाः" [इति प्रक्रम्य] "चत्वारि शृङ्गा [ऋ० ४. ५८. ३] अभ्यर्चत [७. ८७] इति जपति। "अग्ने अच्छ इति तिस्रः [२–४] अर्यमणं बृहस्पतिम् [७. ८] इति द्वे वाजस्य नु प्रसवे [८] इति वाजप्रसवीयहोमान्" इति [वै० ५. २] ॥

'अयं ते योनिः' इस सूक्तसे रेता मिले हुए धानोंका होम करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ३। १में कहा है, कि–"अयं ते योनिरिति जीर्णकोष्ठाद् व्रीहीन् शर्करामिश्रान्० ॥–अयं ते योनिः सूक्तसे पुराने कोठेमेंसे शर्करा मिले हुए धानोंको निकाल कर होमें" ॥

तथा अर्थोत्थापनकर्म्ममें इस सूक्तसे घृत समिधा आदि तेरह द्रव्योंसे होम करे। वा इसी कर्ममें इस सूक्तका जप करे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ५ में कहा है, कि–"अयं ते योनिः (३। २०) आनो भर (५। ७) धीती वा (७। १) इत्यर्थं उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" ॥

'अयं ते योनिः' इस ऋचासे अरणियोंका अपनेमें वा अग्निमें समारोपण करे। सूत्रमें भी कहा है, कि–"अयं ते योनिरित्यरण्ययोरग्निं समारोपयत्यात्मनि वा" (५। ४) ॥

सब यज्ञोंमें 'सोमं राजानम्' इस चौथी ऋचासे अथर्ववेदको जानने वाले चार ऋषिशिष्योंको बुलावे।

अग्निचयनके समय रक्खी जाती हुई गार्हपत्यकी ईंटका इसी ऋचासे अनुमंत्रण करे ॥ इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि— अयं ते "योनिरिति गार्हपत्येष्टकां उपधीयमानां अनुमन्त्रयेत" ॥

अग्निचयनमें गूलड़की समिधा रखनेके अनन्तर "अग्ने अच्छा वदेह नः" इत्यादि तीन ऋचाओंको और "अर्यमणं बृहस्पतिम्" इन दो ऋचाओंको जपे ॥ "वाजस्य नु प्रसवे" इस ऋचासे वाजप्रसवीयहोमका अनुमंत्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—"उद् एनं उत्तरं नय (६।५) इति समिध आधीयमानाः" (इति प्रक्रम्य) "चत्वारि शृंगाः" (ऋ० ४।५८।३) अभ्यर्चत (७।८७) इति जपति। "अग्ने अच्छ इति तिस्रः (२–४) अर्यमणं बृहस्पतिम् (७–८) इति द्वे वाजस्य नु प्रसवे (८) इति वाजप्रसवीयहोमान्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अयम्। ते। योनिः। ऋत्वियः। यतः। जातः। अरोचथाः।
तम्। जानन्। अग्ने। आ। रोह। अध। नः। वर्धय। रयिम् ॥१॥

हे अग्ने ते तव अयम् अरणिर्यजमानो वा ऋत्वियः ऋतौ गर्भग्रहणकाले भवो योनिः उत्पत्तिकारणम्। ❀ ऋतुशब्दाद् भवार्थे "छन्दसि घस्"। "सिति च" इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया बाधनात् ओर्गुणाभावे यण् ❀। यतः यस्मात् योनेः जातः उत्पन्नः सन्

अरोचयाः दीप्यसे । ❀ छान्दसो लङ् ❀ । तम् तादृशं योनिं जानन् ममेदम् उत्पत्तौ कारणम् इत्यवगच्छन् आ रोह प्रविश । मा परित्याक्षीः ॥ अथ अनन्तरम् नः अस्माकं रयिम् धनं वर्धय समृद्धं कुरु । ❀ "निपातस्य च" इति अथशब्दस्य सांहितिको दीर्घः । "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति वर्धयेत्यस्य दीर्घः ❀ ॥

हे अग्ने ! यह यजमान वा अरणि तेरी ऋत्विय योनि है अर्थात् गर्भग्रहणके समय होने वाला उत्पत्तिकारण है । क्योंकि इस योनिसे उत्पन्न होकर तुम प्रदीप्त होते हो । ऐसे अपने उत्पत्तिकारणको जान कर तुम इसमें प्रवेश करो इसको त्यागो मत तदनन्तर हमारे धनको बढ़ाओ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रत्यङ् । नः । सुऽमनाः । भव ।
प्र । नः । यच्छ । विशाम् । पते । धनऽदाः । असि । नः । त्वम् ॥२॥

हे अग्ने इह अस्मिन् काले प्राप्तव्ये नः अस्मान् अच्छ वद । ❀ "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । आभिमुख्येन प्रियं ब्रूहि ॥ तथा प्रत्यङ्-अस्मान् प्रत्यञ्चन् अस्मदभिमुखं गच्छन् नः अस्माकं सुमनाः शोभनमनस्को भव ॥ हे विशां पते सर्वासां प्रजानां वैश्वानरात्मना पालक । ❀ "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद् "आमन्त्रितस्य च" इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आष्टमिकम् अनुदात्तत्वम् ❀ । हे तादृश अग्ने नः अस्मभ्यं प्र यच्छ । धनदा इति विशेष्यमाणत्वाद् अर्थात् अत्र धनानीति संबध्यते । अस्मदपेक्षितानि धनानि प्रदेहि इत्यर्थः ।

यतस्त्वं नः अस्माकं धनदा असि धनानां दाता भवसि । धनानि दातुं समर्थस्त्वमेवासीत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! इस हमें प्राप्त होने वाले फलके विषयमें अभिमुख होकर प्रिय भाषण करिये । हे वैश्वानररूपसे सब प्रजाओंका पालन करने वाले अग्ने ! तुम धन देने वाले हो अतः हमें अभिलषित धन दो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्र णो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र भगः॒ प्र बृह॒स्पतिः॑ ।
प्र दे॒वीः प्रोत सू॒नृता॑ र॒यिं दे॒वी द॑धातु मे ॥ ३ ॥

प्र । नः॒ । य॒च्छ॒तु॒ । अ॒र्य॒मा । प्र । भगः॑ । प्र । बृह॒स्पतिः॑ ।
प्र । दे॒वीः । प्र । उ॒त । सू॒नृता॑ । र॒यिम् । दे॒वी । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ ३ ॥

नः अस्मभ्यम् अर्यमा देवः प्र यच्छतु यद् दातव्यं धनं तत् सर्वं ददातु । ❀ दाण् दाने । शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । भगश्च बृहस्पतिश्च इमावपि देवौ अस्मभ्यं धनं प्र यच्छताम् । ❀ बृहतां देवानां पतिः बृहस्पतिः । "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति पारस्करादिषु पाठात् सुट्तलोपौ । "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । देवीः देव्यः इन्द्राणीप्रभृतयः धनम् अस्मभ्यं प्र यच्छन्तु । ❀ जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥ उत अपि च सूनृता प्रियवागात्मिका देवी सरस्वती रयिम् धनं मे मह्यं [प्रदधातु] प्रयच्छतु । ❀ शोभना चासौ ऋता चेति सूनृता । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः ❀ ॥

अर्यमादेवता हमें धन दें, भग और बृहस्पति देवता भी हमें धन दें, इन्द्राणी आदि देवियें हमें धन दें और प्रियवाणीरूप सरस्वती देवी भी हमें धन दें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । गीःऽभिः । हवामहे ।

आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् ॥४॥

राजानम् राजमानम् । यद्वा ईश्वरम् । "सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा" [तै० सं० १. ८. १०. २] इति श्रुतेः । तादृशं सोमम् अग्निं च अवसे अभिमतफलप्रदानेन रक्षणाय गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः हवामहे आह्वयामः । तथा आदित्यम् अदितेः पुत्रम् । "मित्रश्च वरुणश्च" [तै० आ० १. १३. ३] इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं देवं विष्णुम् त्रैविक्रमं रूपम् आस्थाय सर्वव्यापिनं देवं सूर्यम् सर्वस्य प्रेरकं मण्डलान्तरवर्तिहिरण्मयपुरुषरूपं देवं ब्रह्माणम् एषां देवानां स्रष्टारं प्रजापतिं बृहस्पतिम् एषां हितकरणे अवस्थितम् एतत्संज्ञं च । तान् एतान् आदित्यादीन् देवान् उक्तप्रयोजनसिद्धये हवामहे इति संबन्धः ॥

हम ब्राह्मणोंके राजा सोमको और अग्निको अभिलषित फल देकर रक्षा करनेके लिये स्तुतिरूप वाणियोंसे आह्वान करते हैं । तथा अदितिके पुत्र तीन पैरोंसे पृथ्वीको नाप लेने वाले व्यापक विष्णुदेवको मण्डलान्तर्वर्ति हिरण्मय पुरुषरूप सर्वप्रेरक सूर्यदेवको और इन देवोंके रचयिता प्रजापति ब्रह्मदेवको और इनका हित करनेमें लगे हुए बृहस्पतिजीको उक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये आह्वान करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।

त्वं नो॑ देव दात॑वे र॒यिं दाना॑य चोदय ॥ ५ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अग्निऽभिः । ब्रह्म । यज्ञम् । च । वर्धय ।

त्वम् । नः । देव । दात॑वे । र॒यिम् । दाना॑य । चोदय ॥ ५ ॥

हे अग्ने त्वम् अग्निभिः त्वद्विभूतिरूपैरन्यैरग्निभिः सार्धं नः अस्माकं ब्रह्म मन्त्रमयं स्तोत्रं तत्साध्यं यज्ञं च वर्धय फलसमृद्धं कुरु ॥ हे देव त्वं दातवे चरुपुरोडाशादिहवींषि दत्तवते [नः] यजमानाय रयिम् धनं दानाय दानार्थं चोदय प्रेरय ॥

हे अग्ने ! आप अपनी विभूतिरूप अन्य अग्नियोंके साथ हमारे मंत्रमय स्तोत्रको उससे सिद्ध होने वाले यज्ञको भी फल से समृद्ध करिये। हे देव ! आप चरु पुरोडाश आदि हवि अर्पण करने वाले हमारे यजमानको धन देनेके लिये प्रेरित करिये ॥५॥

षष्ठी ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । उभौ । इह । सुऽहवा । इह । हवामहे ।

यथा । नः । सर्वः । इत् । जनः । सम्ऽगत्याम् । सुऽमनाः ।

असत् । दानऽकामः । च । नः । भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रश्च वायुश्च इन्द्रवायू । ॐ "देवताद्वन्द्वे च" इति प्राप्तस्य आनङः "उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति प्रतिषेधः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वस्य "नोत्तरपदेऽनुदा-

चादौ०" इति प्रतिषेधः। "समासस्य" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। एतत्संज्ञावुभौ देवौ इह अस्मिन् कर्मणि हवामहे आह्वयामः। एतयोरेवाह्वाने किं निमित्तम् इति तद् आह सुहवेति। इह अस्मिन् फलविषये देवेषु मध्ये एतौ देवौ सुहवा सुहवौ सुह्वानौ सुखेन ह्वातुं शक्यौ। ❀ ह्वयतेः "बहुलं छन्दसि" इति अनैमित्तिके संप्रसारणे कृते सुपूर्वाद् अस्मात् "ईषद्दुःसुषु०" इति खल्। "लिति" इति प्रत्यात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। यस्माद् एवं सुह्वानौ तस्माद् आह्वयाम इत्यर्थः॥ यथा नः अस्माकं सर्व इत् सर्व एव जनः संगत्याम् संगमने मासौ सुमना असत् शोभनमनस्को भवेत्। न केवलं सौमनस्यमेव प्रार्थ्यते अपि तु सर्वो जनः नः अस्मभ्यं दानकामश्च दानाभिलाषयुक्तश्च यथा असत् भवेत्। तथा आह्वयाम इति संबन्धः। ❀ अस्तेर्भवतेश्च लेटि अडागमः। "भूसुवोस्तिङि" इति गुणाभावः❀॥

इन्द्र और वायु नाम वाले दोनों देवताओंको हम इस कर्ममें आह्वान करनेके लिये बुलाते हैं (इनके बुलानेका कारण यह है, कि—फलदाता देवताओंमें इन दोनोंको ही सुखसे बुलाया जा सकता है। अतएव) हम इनको बुलाते हैं। जिससे सब मनुष्य हमारी सङ्गति होने पर शोभन मन वाले होवें और सब मनुष्य हमें दान देनेकी इच्छा वाले होवें इसलिये हम आपका आह्वान करते हैं॥ ६॥

सप्तमी॥

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय।
वातं॒ विष्णुं॒ सर॑स्वतीं सवि॒तारं॑ च वा॒जिन॑म्॥७॥

अ॒र्य॒म॑णम्। बृह॒स्पति॑म्। इन्द्र॑म्। दाना॑य। चो॒द॒य।

वातम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् ॥७॥

हे स्तोतः अर्यमादीन् देवान् अस्मभ्यम् [दानाय] अभिमत-फलदानाय चोदय स्तुत्या प्रेरय । यथा ते । तुष्टाः अस्मभ्यं धनं प्रयच्छन्ति तथा स्तुतिवाक्यैस्तोषयेत्यर्थः ॥ तत्र वाचम् इति सरस्वतीविशेषणम् वाग्रूपा या सरस्वतीति । एतच्च नदीरूपायास्तस्या निवृत्त्यर्थम् । वाजिनम् इति सवितृविशेषणम् । वाजः अन्नं वेगो वा तद्वन्तं सवितारम् इति ॥

हे स्तुति करने वाले ! आप अर्यमा बृहस्पति इन्द्र वाग्देवता–सरस्वती व्यापक विष्णुदेव और वेग तथा अन्नसम्पन्न सूर्यदेव को अभिलषित फलका दान देनेके लिये स्तुतिके द्वारा प्रेरित करिये ।' ७ ॥

अष्टमी ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

वाजस्य । नु । प्रऽसवे । सम् । बभूविम । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । अन्तः ।

उत । अदित्सन्तम् । दापयतु । प्रऽजानन् । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छ ॥ ८ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ तद्धेतुभूते कर्मणि वा नु क्षिप्रं वयं सं बभूविम संप्राप्ता अभूम । यद्वा वृष्ट्यादिद्वारेण अन्न-

स्योत्पादको देवो वाजस्य प्रसवः । ❀ "सवजवौ छन्दसि वक्तव्यौ" इति अजन्तः सवशब्दः । "थाथ०" इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ तस्य संभाव्यताम् उपपादयति इमा चेति । इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अन्तः वाजप्रसवस्य मध्ये वर्तन्ते । "अन्नाद्ध भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते" [तै० आ० ८. २] इत्यादिश्रुतेः ॥ स च वाजप्रसवः उक्तलक्षणः प्रजानन् सर्वप्राणिहृदयगतम् अभिप्रायविशेषं जानन् उत अदित्सन्तम् दातुम् अनिच्छन्तमपि पुरुषं दापयतु बुद्धिप्रेरणेन अस्मभ्यम् दाने प्रवर्तयतु । ❀ अदित्सन्तम् इति । "सनि मीमाघुरभलभ०" इत्यादिना इसादेशः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् । "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तथा नः अस्माकं रयिम् विद्यमानं धनं च सर्ववीरम् । वीर्याज्जायन्ते इति वीराः पुत्रादयः । सर्वैर्वीरपुरुषैरुपेतं नि यच्छात् नियच्छतु नियमयतु सुचिरं स्थापयतु । ❀ यमेर्लेटि आडागमः । "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ❀ ॥

हम अन्नकी उत्पत्तिके कारण कर्मको शीघ्र ही प्राप्त होवें— करें । ये सब दीखते हुए प्राणी दृष्टिके द्वारा अन्नको उत्पन्न करने वाले वाजप्रसव देवके मध्यमें रहते हैं, वह वाजप्रसव देवता सब प्राणियोंके हृदयके अभिप्रायको जानते हैं अतः वह देना न चाहने वालेकी भी बुद्धिको प्रेरित कर हमें दान देनेमें प्रवृत्त करें । तथा हमारे विद्यमान धनको भी वीर्य से उत्पन्न होने वाले सब वीर पुत्र पौत्र आदियें चिरकालके लिये स्थापित करें ॥८॥

नवमी ॥

दु॒ह्रां मे॒ पञ्च॑ प्र॒दिशो॑ दु॒ह्रामु॒र्वीर्य॑थाब॒लम् ।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ६ ॥

दुहाम् । मे । पञ्च । प्रऽदिशः । दुहाम् । उर्वीः । यथाऽबलम् ।

प्र । आपेयम् । सर्वाः । आऽकूतीः । मनसा । हृदयेन । च ॥६॥

[पञ्च] पञ्चसंख्याकाः प्रदिशः प्राच्याद्याश्चतस्रः प्रध्यं चेति महादिशः मे मह्यं दुहाम् अभिमतफलं दुहताम् । ❁ "बहुलं छन्दसि" इति दुहेः परस्य झादेशस्य अतो रुडागमः । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तशब्दस्य लोपः ❁ ॥ तथा उर्वीः उर्व्यः षट्संख्याकाः मन्त्रान्तरे प्रसिद्धाः । "षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च" [आश्व० १. २] इति । ता द्युपृथिव्याद्याः षड् उर्व्यः यथाबलम् यथाशक्ति अस्मदपेक्षितं धनं दुहाम् दुहतां प्रयच्छन्तु । दिशाम् उर्वीणां च स्त्रीत्वाद् धेनुत्वारोपेण दुहेः प्रयोगः ॥ ततश्च अहं सर्वा आकूतीः संकल्पान् प्रापेयम् प्राप्नवानि । ❁ आप्लृ व्याप्तौ इत्यस्मात् आशिषि लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❁ । केन साधनेनेति उच्यते । मनसा संकल्पविकल्पहेतुभूतया अन्तःकरणवृत्त्या हृदयेन हृदयोपलक्षितान्तःकरणेन च । यद्यत् फलजातं संकल्पयामि तत् सर्वं फलं मनोव्यापारमात्रेण प्राप्नुयाम इत्याशासे इत्यर्थः ॥

पूर्व आदि चार और मध्यकी एक इस प्रकार पाँच महा दिशाएँ मुझे अभिलषित फल दें तथा आकाश पृथिवी दिन रात्रि जल और औषधि ये छः उर्वियें अपनी शक्तिके अनुसार हमारा चाहा हुआ धन दें † तब मैं संकल्प विकल्पकी हेतु अन्तःकरण-

† आश्वलायनसूत्र १। २ में कहा है कि-"षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च॥-द्यौ पृथिवी दिन रात जल और औषधि ये छः उर्वियें पापसे मेरी रक्षा करें॥"

इन्द्रियसे और हृदयसे जिन सब संकल्पोंको करूँ उन सब फलों को मैं प्राप्त कर लूँ ॥ ६ ॥

दशमी ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥

गोऽसनिम् । वाचम् । उदेयम् । वर्चसा । मा । अभिऽउदिहि ।

आ । रुन्धाम् । सर्वतः । वायुः । त्वष्टा । पोषम् । दधातु । मे ॥१०॥

गां सनोति प्रयच्छतीति गोसनिः । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् इति इन् प्रत्ययः ❀ । गवोपलक्षितसर्वधनप्रदां वाचम् अहम् उदेयम् उद्यासम् उच्चयासम् । ❀ वद व्यक्तायां वाचि । "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥ हे वाग्देवते । त्वं वर्चसा तेजसा मा माम् अभ्युदिहि अभ्युद्गच्छ । अभिमतफलं दातुं मां प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ "सैषानस्तमिता देवता यद्व वायुः" इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धः सूत्रात्मा वायुः सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आ रुन्धाम् प्राणात्मना आवृणोतु ॥ त्वष्टा देवः मे मम पोषम् शरीरादेः पुष्टिं दधातु धारयतु । प्रयच्छतु इत्यर्थः ॥

[इति] तृतीयकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्चतुर्थोऽनुवाकः ॥

गौ आदि सब प्रकारके धनोंको देने वाली वाणीका मैंने उच्चारण किया है अत एव हे वाग्देवते ! तुम तेजसे मुझमें उदित हो अर्थात् अभिलषित फल देनेके लिये आओ । और 'सैषानस्तमिता देवता यद्व वायुः ॥ —कभी अस्त न होने वाला देवता वायु है" इस प्रकार अन्य श्रुतियोंमें प्रसिद्ध सूत्रात्मा वायुदेव

सब दिशाओंसे प्राणात्मारूपमें आकर मुझे रोकें और त्वष्टा देवता मेरे शरीरको पुष्ट करें ॥ १० ॥

तृतीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें पंचम सूक्त समाप्त (२१) ॥
चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

पञ्चमेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "ये अग्नयः" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र आद्याभिः सप्तभिः क्रव्यादोपहतगृहगोष्ठक्षेत्रादिशान्त्यर्थं मणिधारणहोमादिकर्माणि कुर्यात् । तानि च संपातितपालाशवृक्षमणिबन्धनम् आज्यहोमः पालाशसमिदाधानम् पालाशेन उदञ्चनेन उदकहोमः पालाश्याम् उदपात्र्यां यवान् प्रक्षिप्य उदकसहितयवहोमः ॥

तथा अनेन दशर्चेन सर्वेण सूक्तेन क्रव्याच्छमने सक्तूदकं काम्पीलसमिद्द्वयेन मथित्वा तं मन्थं पालाश्या दर्व्या प्रत्यृचं जुहुयात् ॥

तथा वशाशमनकर्मणि अनेन सूक्तेन वशाम् अभिमन्त्र्य ब्राह्मणाय दद्यात् ॥

तथा च कौशिकः । "ये अग्नय इति क्रव्यादोपहते पालाशं बध्नाति । जुहोति । आदधाति । उदञ्चनेन उदपात्र्यां यवान् अङ्गिरानीयोल्लोपम् । ये अग्नय इति पालाश्या दर्व्या मन्थम् उपमथ्य काम्पीलीभ्याम् उपमन्थनीभ्याम् । शमनं च ।" [कौ० ५. ७] इति ॥

तथा वर्षा वा हवींषि वा काकोलूकश्वशृगालपादयो गृहीत्वा गच्छेयुः तत्प्रायश्चित्तार्थम् अनेन दशर्चेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । "अथ यत्रैतद् वर्षा [वा] हवींषि वा वयांसि द्विपदचतुष्पदं वाभिमृश्यावगच्छेयुः ये अग्नयः [३. २१] नमो देववधेभ्यः [६. १३]" इत्यादि [कौ० १३. ३१.] ॥

तथा बृहद्गणेपि आद्याः सप्तर्चः परिगणिताः । ततस्तस्य गणस्य यत्रयत्र विनियोगस्तत्र सर्वत्र आसां विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा सोमस्कन्दने "ये अग्नयः" इति सप्तभिर्ऋग्भिः जुहुयात् ।

उक्तं वैताने । "यत्र विजानाति अक्षन् सोमोस्कन्" इति प्रक्रम्य "ये [अग्नयो] अप्स्वन्तरिति सप्तभिरभिजुहोति" [वै० ३. ६] इति ॥

आवसथ्याधाने क्रव्याच्छमनानन्तरं गृहम् आगत्य "ये अग्नयः" इति सप्तभिराज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अन्तर्धिः [१२. २. ४४] प्रत्यञ्चम् अर्कम् [१२. २. ५५] ये अग्नयः [३. २१] नमो देववधेभ्यः" [६, १३] इति [कौ०६.४] ॥

तत्रैव क्रव्यादाग्नेः शमने "हिरण्यपाणिम्" इत्यादिभिरन्त्याभिस्तिसृभिः क्रव्यादग्नौ सक्तुमन्थं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "व्याकरोमि [१२. २. ३२] इति गार्हपत्यक्रव्यादो समीक्षते" [कौ० ६, २] इति प्रक्रम्य "अन्येभ्यस्त्वा [१२. २. १६] हिरण्यपाणिम् [८-१०] इति शमयति" [कौ० ६. ३] इति ॥

चातुर्मास्ये साकमेधपर्वणि आतिथ्येष्ट्यनन्तरं "दिवं पृथिवीम्" [७] इत्यनया अग्न्युपस्थानं कार्यम् । उक्तं वैताने । "उदस्य केतवः [१३. २] इत्यादित्यम् उपतिष्ठन्ते । दक्षिणाञ्चो दिवं पृथिवीम् इत्यग्नीन्" इति [वै० २. ५] ॥

पाँचवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'ये अग्नयः' यह प्रथम सूक्त है । इसकी पहिली सात ऋचाओंसे क्रव्याद् (राक्षस)से दूषित घर गोठ और क्षेत्रकी शान्तिके लिये मणिधारण और होमधारण आदि कर्म करें । वे कर्म ये हैं-सम्पातित पलाशवृक्षकी मणिका बंधन, घृतहोम, पलाशकी समिधाओंका रखना, पलाशके उदञ्चनसे जलका होम तथा पलाशकी उदपात्रीमें (जलपूर्ण कलशी) में जौंको डाल कर जलसहित जौंका होम ॥

तथा इस दश ऋचा वाले पूर्ण सूक्तसे क्रव्याच्छमन कर्ममें सत्तुओंके जलको कटीलेकी दो समिधाओंसे मथकर उस मंथका पलाशकी दर्वीसे प्रत्येक ऋचाके द्वारा होम करे ॥

इसी प्रकार वशाशमनकर्ममें इस सूक्तसे वशा (वन्ध्या गौ घोड़ी आदि) का अनुमन्त्रण करके ब्राह्मणको देदेय इसी बात को कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'ये अग्नय इति क्रव्यादोपहते पालाशं बध्नाति । जुहोति । आदधाति । उदञ्जनेन उदपात्र्यां यवान् अङ्गिरानीयोल्लेपम् । ये अग्नय इति पालाश्या दर्व्या मंथं उपमथ्य काम्पीलीभ्याम् उपमन्यनीभ्याम् । शमनं च।" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

वपा वा हविको काक उल्लू कुत्ता वा मनुष्य आदि लेकर भागें तो इसका प्रायश्चित करनेके लिये इस दश ऋचा वाले सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि–"अथ यत्रैतद्द वपां वा हवींषि वा वयांसि द्विपदचतुष्पदं वाभिमृश्याभिगच्छेयुः ये अग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः (६ । १३) (कौशिकसूत्र १३ । ३१) ॥

तथा बृहद्गणमें भी पहिली सात ऋचाओंकी गिनती है। अतएव इस गणका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग होगा ॥

तथा सोमस्कन्दनमें 'ये अग्नयः' इन सात ऋचाओंसे ब्रह्मा आहुति देय। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"यत्र विजानाति ब्रह्मन् सोमोस्कन्" इति प्रक्रम्य "ये अग्नयो अप्स्वन्तरिति सप्तभिरभिजुहोति" (वैतानसूत्र ३ । ६) ॥

आवसथ्याधानमें क्रव्याच्छमनके अनन्तर घरमें आकर 'ये अग्नयः, इन सात ऋचाओंसे आहुति देय सूत्रमें भी कहा है, कि– 'अन्तर्धिः (१२ । २ । ४४) प्रत्यञ्चम् अर्कम् (१२ । २।५५) ये अग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः(६ । १३)" (कौशिकसूत्र ६ । ४)॥

इसी कर्ममें क्रव्यादाग्निको शान्त करनेके समय 'हिरण्य-

पाणिम्' इत्यादि अन्तकी तीन ऋचाओंसे क्रव्याद अग्निमें सक्तुमन्थका होम करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-"व्याकरोमि (१२।२।३२) इति गार्हपत्यक्रव्यादौ समीक्षते" (कौशिकसूत्र ६।२) इति प्रक्रम्य 'अन्येभ्यस्त्वा (१२।२।१६) हिरण्यपाणिम् (८-१०) इति शमयति" (कौशिकसूत्र ६।३)

चातुर्मास्यके साकमेध कर्ममें आतिथ्येष्टिके अनन्तर 'दिवं पृथिवीम्' इस सातवीं ऋचासे अग्निका उपस्थान करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-'उदस्य केतवः (१३।२) इत्यादित्यं उपतिष्ठते। दक्षिणाञ्चो दिवं पृथिवीम् इत्यग्नीन्' (वैतानसूत्र २।५)॥

तत्र प्रथमा॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ १॥

ये। अग्नयः। अप्ऽसु। अन्तः। ये। वृत्रे। ये। पुरुषे। ये। अश्मऽसु।
यः। आऽविवेश। ओषधीः। यः। वनस्पतीन्। तेभ्यः। अग्निऽभ्यः। हुतम्। अस्तु। एतत्॥ १॥

अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये ये अग्नयः वाडवाद्याः सन्ति ये वा अग्नयो वृत्रे आवरणस्वभावे मेघे वैद्युतादिरूपेण विद्यन्ते। तत् को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः इति [नि० २. १६] यास्कवचनाद् वृत्रशब्दो मेघवाची। यद्वा वृत्रे वृत्रासुरशरीरे अन्तरवस्थिता ये अग्नयः सन्ति तथा पुरुषे मानुषशरीरे अशितपीतपरि-

णामहेतुत्वेन ये अग्नयो वैश्वानरात्मना वर्तन्ते ये वा अग्नयः अश्मसु सूर्यकान्तादिशिलासु अन्तर्वर्तन्ते तथा योग्निः ओषधीः व्रीहियवादिरूपाः फलपरिपाकार्थम् आविवेश यश्च वनस्पतीन् वृक्षान् आविवेश तेभ्यः सर्वजगदनुग्राहकेभ्यः अग्निभ्यः एतत् प्रदीयमानं हविः हुतम् अस्तु दत्तं भवतु ॥ एक एवाग्निः स्वविभूतिरूपैरन्यैरग्निभिः कृत्स्नं जगद् अनुप्रविश्य पोषयतीति तस्य बहुत्वेन स्तुतिः । अत एव अग्नीनां प्रधानभूताग्निशाखात्वं दाशतय्याम् आम्नातम् । "वया इद् अग्ने अग्नयस्ते अन्ये" [ऋ० १. ५९. १] इति ॥

जलोंमें जो बड़वानल आदि अग्नियें हैं और आवरण (ढकने) के स्वभाव वाले वृत्र ‡ अर्थात् मेघोंमें जो अग्नि बिजली आदिके रूपसे रहती हैं और वृत्रासुरके शरीरमें जो अग्नियें हैं तथा मनुष्य के शरीरमें खाये पियेको पकाने वाली जो अग्नि वैश्वानररूपसे रहती हैं, सूर्यकान्त आदि मणियोंके भीतर जो अग्नि रहता है तथा जो धान आदि औषधियोंमें फलको पकानेके लिये जो अग्निदेव प्रवेश कर गए हैं और जो अग्नि वृक्षोंमें प्रवेश कर गए हैं उन सब जगत् पर अनुग्रह करने वाले अग्नियोंके लिये दी हुई यह हवि प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।

‡ एक ही अग्निदेव अपनी विभूतिरूप अन्य अग्नियोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्में प्रवेश कर उनका पोषण करते हैं अतः अनेक रूपसे उनकी स्तुति की है । अत एव ऋग्वेदसंहितामें अग्नियोंको प्रधान अग्निकी शाखा कहा है, कि—"वया इद् अग्ने अग्नयस्ते अन्ये" ॥ (ऋग्वेदसंहिता १ । ५९ । १) ॥

य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

यः । सोमे । अन्तः । यः । गोषु । अन्तः । यः । आऽविष्टः । वयःऽसु । यः । मृगेषु ।

यः । आऽविवेश । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ २ ॥

सोमे लतारूपे अमृतमयरसपरिपाकाय योग्निः अन्तराविष्टः प्रविष्टः यश्च गोषु । उपलक्षणम् एतत् । गोमहिषादिषु ग्राम्यपशुषु योग्निः अन्तः प्रविष्टः पक्वं पयः करोति । ❀ गोष्विति । "सावेकाच०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्०" इति प्रतिषेधः ❀ । तथा वयःसु पक्षिषु यः अग्निः अनुप्रविष्टः तथा [यो] मृगेषु हरिणादिषु अनुप्रविष्टः । किं बहुना । योग्निः द्विपदः पादद्वयोपेतान् मनुष्यादीन् [योग्निः] चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतान् अन्यानपि प्राणिनः जाठरात्मना आविवेश । उक्तं हि भगवता ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।

इति [भ० गी० १५. १४]॥ ❀ द्विपद इति । द्वौ पादावस्येति विगृह्य समासे "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दान्त्यलोपः समासान्तः । ततः शसि "पादः पत्" इति पद्भावः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । एवं चतुष्पद इत्यत्रापि एवमेव रूपसिद्धिः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तेभ्य इत्यादि पूर्ववत् ॥

लतारूप सोममें अमृतमय रसको पकानेके लिये जो अग्नि भीतर घुसे हुए हैं और जो अग्निदेव गौ भैंस आदि ग्राम्य पशुओंमें भीतर प्रविष्ट हुए दुग्धको परिपक्व करते हैं और जो अग्नि पक्षियोंमें हरिण आदिमें अधिक क्या दो पैर वाले मनुष्य आदिमें और चार पैर वाले अन्य सब प्राणियोंमें जाठराग्निके रूपसे प्रविष्ट हैं ‡ यह होमी हुई आहुति उन अग्नियोंके लिये हो२ तृतीया ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुत-
मस्त्वेतत् ॥ २ ॥

यः । इन्द्रेण । सऽरथम् । याति । देवः । वैश्वानरः । उत । विश्वऽदाव्यः ।

यम् । जोहवीमि । पृतनासु । सासहिम् । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ २ ॥

यो देवः दानादिगुणयुक्तोग्निः इन्द्रेण सरथम् समानरथम् एकं रथम् आरुह्य याति गच्छति । अनयोः समानरथत्वं च "य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वाम्" इति [ऋ० १.१०८.१] मन्त्रा-

‡ भगवद्गीता १५ । १४ में कहा है, कि—'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥—मैं वैश्वानररूपसे सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हो प्राण और अपानसे संयुक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ ॥"

न्तरे स्पष्टम् अवगतम् । यश्चाग्निः वैश्वानरः विश्वनरहितः उत अपि च विश्वदाव्यः विश्वदावसंबन्धी विश्वस्य दाहको दावाग्निः तथा पृतनासु संग्रामेषु सासहिम् अत्यर्थम् अभिभवितारं यम् आथर्वणप्रसिद्धं सांग्रामिकम् अग्निं जोहवीमि जयार्थं चोदितैर्हविर्भिः पुनःपुनर्जुहोमि यद्वा युद्धसाहाय्यार्थं पुनःपुनराह्वयामि । ❀ "ह्वः संप्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् । "गुणो यङ्लुकोः" इति अभ्यासस्य गुणः । "अनुदात्ते च" इति अभ्यस्ताद्युदात्तत्वम् ❀ । "जेतारम् अग्निं पृतनासु सासहिम्" [तै० सं० ४. १. १०. २] इति मन्त्रान्तरम् । तेभ्य इत्यादि गतम् ॥

दान आदि गुणोंसे सम्पन्न जो अग्निदेव इन्द्रके साथ एक रथ पर चढ़ कर चलते हैं † और जो अग्निदेव सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (वैश्वानर) होने पर विश्वदाहक दावाग्नि भी हैं और जिन संग्रामोंमें दबाने वाले अथर्ववेदमें प्रसिद्ध साङ्ग्रामिक अग्निको मैं विजयके लिये दी हुई हवियोंसे वारम्वार पुकारता हूं उन अग्नियोंके लिये यह आहुति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यं दे॒वो वि॒श्वाद् यमु॒ काम॑मा॒हुर्यं दा॒तारं॑ प्रतिगृ॒ह्णन्त॑मा॒हुः ।
यो धीरः॑ श॒क्रः परि॒भूरदा॑भ्य॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ४ ॥

† इन्द्रदेव और अग्निदेवका एक रथमें बैठना अन्य श्रुतियोंमें भी प्रसिद्ध है, यथा "य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वाम् ॥—हे इन्द्र और अग्निदेवताओं ! तुम्हारा जो विचित्र रथ है" (ऋग्वेद-संहिता १ । १०८ । १) ॥

यः । देवः । विश्वऽअत् । यम् । ऊं इति । कामम् । आहुः ।

यम् । दातारम् । प्रतिऽगृह्णन्तम् । आहुः ।

यः । धीरः । शक्रः । परिऽभूः । अदाभ्यः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः ।

हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

यो देवः दानादिगुणयुक्तः अग्निः विश्वात् विश्वं सर्वम् अत्ति भक्षयतीति विश्वात् । ❀ "अदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ । यम् उ । उशब्दः अवधारणे । यमेवाग्निं कामम् कामयितारं काम्यमानफलात्मकं वा आहुः कथयन्ति तथा यम् अग्निं दातारम् इष्टफलस्य प्रदातारं प्रतिगृह्णन्तम् प्रतिग्रहीतारं च आहुः कथयन्ति यश्चाग्निः धीरः धीमान् शक्रः सर्वकार्येषु शक्तः । ❀ शक्लृ शक्तौ इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् ❀ । परिभूः शत्रूणां परिभविता अदाभ्यः केनचिदपि अहिंस्यः । तेभ्य इत्यादि गतम् ॥

जो अग्निदेव सम्पूर्ण विश्वका भक्षण कर लेते हैं और जिन अग्निदेवको अभिलषित फलरूप कहते हैं और जिन अग्निदेव को इष्ट फलको देने वाले और ग्रहण करने वाले भी कहते हैं, जो अग्निदेव बुद्धिमान् और सब कार्योंमें समर्थ हैं, शत्रुओंको दबाने वाले हैं और किसीसे दाब न खाने वाले हैं उन अग्नियों के लिये यह दी हुई आहुति हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः

पञ्च मानवाः ।

वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतम-
स्त्वेतत् ॥ ५ ॥

यम् । त्वा । होतारम् । मनसा । अभि । सम्ऽविदुः । त्रयःऽदश ।
भौवनाः । पञ्च । मानवाः ।
वर्चःऽधसे । यशसे । सूनृताऽवते । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् ।
अस्तु । एतत् ॥ ५ ॥

हे अग्ने यं त्वा त्वां होतारम् देवानाम् आह्वातारं मनसा बुद्ध्या अभि संविदुः आभिमुख्येन संविदन्ति सम्यक् जानन्ति । ❀ "विदो लटो वा" इति झेरुसादेशः ❀ । के पुनस्ते इत्याह । त्रयश्च दश च त्रयोदश । ❀ "त्रेस्त्रयः" इति त्रिशब्दस्य पूर्वपदस्य त्रयस् आदेशः । "संख्या" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । त्रयोदशसंख्याका भौवनाः । भवन्ति सत्तां लभन्ते अस्मिन् भूतजातानीति भुवनः संवत्सरः । ❀ भवतेरौणादिकः क्युन् प्रत्ययः ❀ । तत्संबन्धिनश्चैत्राद्या मासा भौवनाः । ते हि संसर्पांहस्पत्याख्येन अधिमासेन सह त्रयोदश भवन्ति । "अस्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः" [तै० सं० ६. ५. ३. ४] इति हि ब्राह्मणम् । तथा मानवाः मनुना सृष्ट्यादौ कल्पिता वसन्ताद्याः पञ्चर्तवः । हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायम् एतत् । ❀ पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति हि ब्राह्मणम् इति यास्कः [नि० ४. २७] ❀ । यद्वा । "विश्वकर्मन् भौवन मां दिदासिथ" [ऐ० ब्रा० ८. २१] । "विश्वकर्मा भौवनः स्वात्मनि सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार" [नि० १०. २६] इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धा भुवनाख्यस्य महर्षेः पुत्रा विश्वकर्मप्रभृतयस्त्रयोदशसंख्याकाः । पञ्च मानवाः निषादपञ्चमा-

श्चत्वारो वर्णाः। गन्धर्वाप्सरसो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके। एवमात्मकाः सर्वे त्वाम् अभिसंविदुरिति संबन्धः। तस्मै वर्चोधसे। वर्चस्तेजः दधाति धारयति प्रयच्छतीति वा वर्चोधाः। ❀ दधातेरसुन् प्रत्ययः ❀। यशसे यशस्विने। यद्वा व्याप्नुवते। ❀ अशू व्याप्तौ इत्यस्माद् अशेर्युट् च [उ० ४. १९०] इति असुन् युडागमश्च ❀। सूनृतावते। प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृता। तद्वते एवंभूताय तुभ्यं तेभ्यः प्रागुक्तेभ्यस्त्वद्विभूतिरूपेभ्यः अग्निभ्यश्च। गतम् अन्यत्॥

हे अग्ने! जिसमें प्राणी सत्ताको प्राप्त होते हैं उस भुवन अर्थात् सम्वत्सरके अवयव तेरह भौवन अर्थात् तेरह महीने †, तथा मनुके द्वारा सृष्टिके आदिमें कल्पना की हुई पाँच ऋतुएं‡ भुवन नाम वाले महर्षिके विश्वकर्मा आदि तेरह पुत्र ÷, निषाद जिनमें पाँचवाँ है ऐसे पाँच मानव वर्ण और गन्धर्व अप्सरा देवता और राक्षस और मनुष्य ये पाँच जिन आपको, देवताओं

---

† तैत्तिरीयसंहिता ६। ५। ३। ४ में कहा है, कि—'अस्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः॥—तेरहवाँ (लौंद-अधिमास) है ऐसा कहते हैं" ॥

‡ हेमन्त और शिशिरको एक मान कर पाँच ऋतु कही हैं। यास्कमुनि भी निरुक्त ४। २७ में कहते हैं, कि—'पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति ब्राह्मणम्॥—पाँच ऋतुएं हैं—यह बात ब्राह्मणग्रंथोंमें है" ॥

÷ ऐतरेय ब्राह्मण ८। २१ में कहा है, कि—"विश्वकर्मन् भौवन मां दिदासिथ॥—हे भुवनके पुत्र विश्वकर्मन्! तू मुझे देना चाहता है" ॥ और निरुक्त १०। २६ में कहा है, कि—"विश्वकर्मा भौवनः स्वात्मनि सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार॥-भुवनके पुत्र विश्वकर्मने अपनेमें सब भूतोंकी आहुति दी" ॥

को आह्वान करने वाला जानते हैं उन तेजधारी यशस्वी प्रिय सत्य वाणी वाले आपके लिये और पहिले कही हुई आपकी विभूतरूप अग्नियोंके लिये भी दी हुई यह आहुति प्राप्त हो ५

षष्ठी ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥६॥

उक्षऽअन्नाय । वशाऽअन्नाय । सोमऽपृष्ठाय । वेधसे ।

वैश्वानरऽज्येष्ठेभ्यः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ६

उक्षान्नाय । उक्षाणः सेचनसमर्था वृषभाः । ते हविरात्मना अन्नं यस्य स तथोक्तः । [तस्मै] । [वशान्नाय] । वशा वन्ध्या गावः । ता अन्नं यस्य तस्मै । सोमपृष्ठाय हूयमानः सोमः पृष्ठे उपरिभागे यस्य स सोमपृष्ठः । तस्मै । वेधसे आहुतिद्वारेण सर्वस्य जगतो विधात्रे । ❀ विध विधाने इत्यस्माद् असुन् ❀ । स्मर्यते हि ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

इति [म० स्मृ० ३, ७६] । तेभ्यो वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः । एक उक्षान्नः । अपरो वशान्नः । अन्यः सोमपृष्ठः । ते सर्वे वैश्वानरज्येष्ठाः । विश्वनरहितो जाठररूपेणावस्थितोऽग्निर्ज्येष्ठः अग्रजो येषाम् । स खलु जीवदवस्थायामपि उक्षादिशरीरम् अनुप्रविश्य भुङ्क्ते । संज्ञपनोत्तरकालम् अन्येषाम् अग्नीनां भोग इति ज्यायस्त्वकनीयस्त्वभावः । तेभ्यः इत्यादि गतम् ॥

सेचनसमर्थ वृषभ हविरूपसे जिनके अन्न हैं और वशा जिनका

अन्न हैं और आहुति दिया हुआ सोम जिनके पृष्ठ अर्थात् ऊपर रहता है उन अग्निदेवके लिये और आहुतिके द्वारा सब जगत्के विधाता † तथा जो उक्षान्न वशान्न और सोमपृष्ठोंमें वैश्वानररूपसे ज्येष्ठ है उस अग्निके लिये (अर्थात् वह जीवित अवस्थामें भी बैल आदिके शरीरमें प्रवेश कर उनका भोग लगाता है और अग्नि संज्ञपनके अनन्तर भोग लगाते हैं अत एव छोटा बड़ापन है) तथा पूर्वोक्त विभूतिरूप अग्नियोंके लियेयह आहुति प्राप्त हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरिक्षम् । ये । विऽद्युतम् । अनुऽसंचरन्ति ।
ये । दिक्षु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

दिवम् द्युलोकं पृथिवीम् भूलोकम् अन्तरिक्षं अन्तरा क्षान्तं

† मनुस्मृति ३ । ७६ में भी कहा है, कि—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥—अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यको प्राप्त होती है, तब आदित्य (सूर्य) से वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है तब प्रजाकी उत्पत्ति होती है" ॥

द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्तिनं लोकं च अनुप्रविश्य ये अग्नयः संचरन्ति। ये च विद्युतम् मेघस्थितां तडितं विद्योतमानं ज्योतिश्चक्रं वा अनुप्रविश्य संचरन्ति। ये चाग्नयः लोकत्रयव्यापिकासु दिक्षु अन्तः मध्ये वर्तन्ते। ये च वाते वायौ सर्वजगदाधारभूते सूत्रात्मनि अन्तः संचरन्ति। तेभ्यः इत्यादि गतम् ॥

द्युलोकमें भूलोकमें और द्युलोक तथा भूलोकके मध्यवर्ती लोक अन्तरिक्षलोकमें प्रवेश करके जो अग्नियें विचरण करती हैं और जो मेघमें स्थित बिजलीमें और दमकने वाले ज्योतिश्चक्र में प्रवेश करके जो अग्नियें विचरण करती हैं और जो अग्नियें तीनों लोकोंमें व्याप्त दिशाओंमें रहती हैं और जो सब जगत्के आधारभूत वायु सूत्रात्मामें प्रवेश करके भीतर विचरती हैं उन अग्नियोंके निमित्त यह आहुति हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

हिरण्यऽपाणिम्। सवितारम्। इन्द्रम्। बृहस्पतिम्। वरुणम्। मित्रम्। अग्निम्।
विश्वान्। देवान्। अङ्गिरसः। हवामहे। इमम्। क्रव्यऽअदम्। शमयन्तु। अग्निम् ॥ ८ ॥

हिरण्यपाणिम्। स्तोतृभ्यो दातुं हिरण्यं पाणौ यस्यस तथोक्तः हितरमणीयपाणिः हिरण्यपाणिः हिरण्मयहस्तो वा। कुतश्चित् कार-

णात् छिन्नस्तस्य सवितुः हिरण्मयो हस्तः प्रतिनिहित इत्याख्यायिका । अत एवान्यत्र आम्नातम् । "हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः" [ऋ० १. ३५. १०] इति । ईदृशं सवितारम् सर्वस्य प्रेरकं देवम् इन्द्रादींश्च विश्वान् सर्वान् देवान् अङ्गिरसः एतत्संज्ञकान् महर्षीन् हवामहे आह्वयामः । यद्वा अङ्गिरसः आङ्गिरसगोत्रजा वयम् इति योज्यम् । ते च आहूताः सवित्रादयः इमं क्रव्यादम् । क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात् दुष्टोग्निः । ❀ "क्रव्ये च" इति अदेर्विट् प्रत्ययः ❀ । ईदृशम् अग्निं शमयन्तु शान्तं कुर्वन्तु ॥

स्तुति करने वालोंको देनेके लिये जिनके हाथमें सुवर्ण रहता है उन सर्वप्रेरक सूर्यदेवको इन्द्र मित्र वरुण अग्नि इन सब देवताओंको हम अङ्गिरागोत्रमें उत्पन्न हुए महर्षि बुलाते हैं । वे देवता इस क्रव्याद अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥९॥

शान्तः । अग्निः । क्रव्यऽअत् । शान्तः । पुरुषऽरेषणः ।

अथो इति । यः । विश्वऽदाव्यः । तम् । क्रव्यऽअदम् ।

अशीशमम् ॥ ९ ॥

यः क्रव्यात् उक्तविधः अग्निः स सवित्रादीनाम् अनुग्रहात् शान्तः सुखकरो भवतु । यः पुरुषरेषणः पुरुषस्य हिंसकोग्निः सोपि शान्तः सुखकरो भवतु ॥ अथो अपि च योग्निः विश्वदाव्यः सर्वस्य दाहको दावाग्निः तं क्रव्यादम् मांसभक्षकम् अग्निम् अशीशमम् शान्तम् अकार्षम् । ❀ शमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀॥

मांसको खाने वाले क्रव्याद अग्नि सूर्य आदिके अनुग्रहसे शान्त हों अर्थात् सुख देने वाले हों और जो पुरुषके हिंसक अग्नि हैं वह भी शान्त हों और सबको जलाने वाला दावानल है उस मांसभक्षक अग्निको भी मैंने शान्त कर दिया है ॥ ६ ॥

दशमी ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १ ॥

ये । पर्वताः । सोमऽपृष्ठाः । आपः । उत्तानऽशीवरीः ।

वातः । पर्जन्यः । आत् । अग्निः । ते । क्रव्यऽअदम् । अशीशमन् १०

सोमपृष्ठाः सोमः पृष्ठे उपरिभागे येषां तादृशा ये पर्वताः मुञ्जवत्प्रभृतयो गिरयः सन्ति उत्तानशीवरीः उत्तानशयनस्वभावा या आपः सन्ति । ❀ "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति शीङः क्वनिप् । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । वातादयः प्रसिद्धाः । आत् इति आनन्तर्यवाची । ते सर्वे अनुक्रान्ताः पर्वतादयः क्रव्यादम् मांसभक्षकम् उपद्रवकारिणम् अग्निम् अशीशमन् शान्तम् अकुर्वत । इतः परं नास्माकं भयशङ्का विद्यत इत्यर्थः ॥

[इति] तृतीये काण्डे पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जिनके ऊपर सोम है उन मुञ्जावन् आदि पर्वतोंने उत्तान शयन करने वाले जलने वायुने तथा मेघने इस उपद्रवकारी मांसभक्षक अग्निको शान्त कर दिया है (अतः अब हमें भयकी शंका नहीं है) ॥ १० ॥

तृतीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (९२) ॥

"हस्तिवर्चसम्" इति द्वितीयसूक्तेन तेजस्कामो हस्तिदन्तं स्पृष्ट्वा उपतिष्ठते ॥

तथा हस्तिदन्तमणिम् अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "ममाग्ने वर्चः [५. ३] इति वर्चस्यानि" [कौ० २. ३] इति प्रक्रम्य "हस्तिवर्चसम् इति हस्तिनं हास्तिदन्तं बध्नाति" इति [कौ० २. ४] ॥

तथा अनेन सूक्तेन पुरोहितो हस्तिनम् अभिमन्त्र्य राज्ञे प्रातः-प्रातः प्रयच्छेत् । तद् उक्तं परिशिष्टे । "अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "वातरंहाः [६. ९२] इत्यश्वम् हस्तिवर्चसम् [३. २२] इति हस्तिनम्" इति [प० ४. १] ॥

"ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च" इति [न० क० १७] विहितायां ब्राह्मयाख्यायां महाशान्तौ हस्तिदन्तमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "हस्तिवर्चसम् इति हस्तिदन्तं ब्राह्मयाम्" इति [न० क० १९] ॥

तेज चाहने वाला पुरुष 'हस्तिवर्चसम्' इस दूसरे सूक्तसे हाथीदाँतको छूकर उपस्थान करे ॥

तथा हाथीदाँतकी मणिको इस सूक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे ॥

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"ममाग्ने वर्चः (५।३) इति वर्चस्यानि" (कौशिकसूत्र २ । ३) इति प्रक्रम्य 'हस्तिवर्चसम् (३ । २२) इति हस्तिनो हास्तिदन्तं बध्नाति" (कौशिकसूत्र २ । ४) ॥

तथा पुरोहित प्रतिदिन प्रातःकाल इस सूक्तसे हाथीका अभिमन्त्रण करके राजाको देवे । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "वातरंहा (६।९२)

इत्यश्वं हस्तिवर्चसम् (३ । २२) इति हस्तिनम्" इति (परिशिष्ट ४ । १) ॥

"ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ॥–ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये तथा वस्त्र और शय्याके अग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ब्राह्मी नाम वाली महाशांतिमें हाथी दाँतके मणिबन्धनमें यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–'हस्तिवर्चसम् इति हस्तिदन्तं ब्राह्मयाम्" (नक्षत्रकल्प १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव ।

तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १

हस्तिऽवर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । अदित्याः । यत् । तन्वः । सम्ऽबभूव ।

तत् । सर्वे । सम् । अदुः । मह्यम् । एतत् । विश्वे । देवाः । अदितिः । सऽजोषाः ॥ १ ॥

हस्तिवर्चसम् । हस्तोस्यास्तीति हस्ती गजः । ❀ "हस्ताज्जातौ" इति गजजातावभिधेयायाम् इनिप्रत्ययः ❀ । तस्य यद् वर्चः अप्रधृष्यं तेजः तद् हस्तिवर्चसम् । ❀ "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इति अच् समासान्तः ❀ । तद् प्रथताम् अस्मासु प्रथितं प्रख्यातं भवतु । ❀ प्रथ प्रख्याने इति धातुः ❀ । कीदृशं तद् हस्तिवर्चसम् इति तद् आह आदित्या इति । अदितिः अखण्ड-

नीया अदीना वा देवमाता । तस्याः तन्वः शरीराद् यत् बृहद् महद् अधिकं यशः मख्यातं तेजः संबभूव समुत्पन्नम् अभवत् । तत् एतत् यशः विश्वे सर्वे देवाः तैः सजोषाः समानप्रीतिः अदितिश्च सर्वे संभूय मह्यं तेजस्कामाय अदुः ददतु प्रयच्छन्तु । ❀ डुदाञ् दाने । छान्दसे लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ ॥

शरीरमें जो अप्रधृष्य तेज है वह मुझमें प्रसिद्ध हो । अदीना देवमाता अदितिके शरीरसे जो बड़ा भारी प्रसिद्ध तेज उत्पन्न हुआ है उस तेजको सब देवता तथा उनकी ही समान प्रसन्न होकर अदिति भी मुझ तेज चाहने वालेको देवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

मित्रः । च । वरुणः । च । इन्द्रः । रुद्रः । च । चेततु ।
देवासः । विश्वऽधायसः । ते । मा । अञ्जन्तु । वर्चसा ॥ २ ॥

अहरभिमानी देवो मित्रः । वरुणः राज्यभिमानी । इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः स्वर्गाधिपतिः । रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति रुद्रः संहर्ता देवः । ❀ रोदेर्णिलुक् च [उ० २.२१] इति रक् प्रत्ययः णेश्च लुक् ❀ । एते सर्वे प्रत्येकं चेततु । अनुग्राह्योयम् इति मां जानातु । ❀ चिती संज्ञाने ❀ । विश्वधायसः विश्वं सर्वं जगद् दधति पोषयन्तीति विश्वधायसः । ❀ वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति विश्वशब्दोपपदाद् दधातेरसुन् प्रत्ययः । णिदित्यनुवृत्तेस्तस्य णिद्भावाद् "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युक् ❀ । विश्वस्य पोषकाः ते पूर्वोक्ता मित्रादयो देवासः देवाः । ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀ । मा वर्चस्कामं मां वर्चसा काम्यमानेन

तेजसा अञ्जन्तु अक्तम् आश्लिष्टं कुर्वन्तु । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण [कान्ति] गतिषु । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः । "श्नान्नलोपः" ❀ ॥

दिनके अभिमानी मित्रदेवता, रात्रिके अभिमानी वरुणदेवता, परमैश्वर्यसंपन्न स्वर्गके अधिपति देवराज इन्द्र ये सब मुझको अनुग्रह करने योग्य समझें । विश्वका पोषण करने वाले ये मित्र (सूर्य) आदि देवता मुझ तेज चाहने वालेको अभिलषित तेज से संयुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येन॑ ह॒स्ती वर्च॑सा संब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये᳚ष्व॒प्स्व᳕१॒॑न्तः ।
येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॒ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॒साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥ ३ ॥

येन॑ । ह॒स्ती । वर्च॑सा । स॒म्ऽब॒भूव॑ । येन॑ । राजा॑ । म॒नु॒ष्ये᳚षु । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः ।
येन॑ । दे॒वाः । दे॒वता॑म् । अग्रे॑ । आय॑न् । तेन॑ । माम् । अ॒द्य । वर्च॑सा । अग्ने॑ । वर्चः॑ऽस्विनम् । कृ॒णु॒ ॥ ३ ॥

येन वर्चसा बलकरेण तेजसा हस्ती गजः संबभूव संभासोभवत् । मनुष्येषु मनोरपत्येषु । ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" इति मनुशब्दाद् यत् प्रत्ययः षुगागमश्च । "तित् स्वरितः" इति अन्तस्वरितत्वम् ❀ । मनुष्यजातीयेषु मध्ये येन वर्चसा राजा नृपतिः वर्चस्वी भवति । तथा अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये येन वर्चसा

प्राणिनो वर्चस्विनो भवन्ति । यद्वा । आपः इति अन्तरिक्षनाम । अप्सु अन्तरिक्षलोके अन्तः मध्ये तत्र संचारिणो यक्षगन्धर्वादयः येन वर्चस्विनो भवन्ति । देवाः इन्द्रादयः अग्रे सृष्ट्यादौ देवताम् देवत्वं देवभावं येन वर्चसा आयन् प्राप्नुवन् । हे अग्ने तेन सर्वेण वर्चसा अद्य अस्मिन् काले मां वर्चस्विनम् तेजस्विनं कृणु कुरु । ❀ वर्चस्विनम् इति । तद्धितवृत्त्यन्तर्गतस्यापि वर्चसो वर्चसेति पुनरुपादानं तेनेति विशेषणसंबन्धार्थम् वाचम् अवोचत् इतिवत् ❀ ॥

जिस तेजसे हाथी हाथी होता है और जिस तेजसे राजा मनुष्योंमें तेजस्वी होता है तथा जलोंमें प्राणी जिससे वर्चस्वी होते हैं और अन्तरिक्षलोकमें यक्ष गंधर्व आदि जिससे तेजस्वी होते हैं और इन्द्र आदि देवताओंने सृष्टिके आरम्भमें जिस वर्चसे देवत्व पाया है हे अग्ने ! उस सब वर्चसे इस समय मुझे वर्चस्वी करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥४॥

यत् । ते । वर्चः । जातऽवेदः । बृहत् । भवति । आऽहुतेः ।
यावत् । सूर्यस्य । वर्चः । आसुरस्य । च । हस्तिनः ।
तावत् । मे । अश्विना । वर्चः । आ । धत्ताम् । पुष्करऽस्रजा ॥४॥

हे जातवेदः जातानां वेदितः हे आहुते आहुतिभिर्हूयमानाग्ने ते तव बृहत् अधिकं यत् वर्चः तेजो भवति सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्य आदित्यस्य यावत् यत्परिमाणं वर्चः तेजोस्ति । ❀ "यत्तदेतेभ्यः

परिमाणे वतुप्" । "आ सर्वनाम्नः" इति आत्वम् । "राजसूय-सूर्य०" इत्यादिना सूर्यशब्दः क्यबन्तो निपातितः ❀ । तथा आसुरस्य असुराणां संबन्धिनो हस्तिनश्च यावद् वर्चोस्ति तावत्परिमाणं वर्चः मे मह्यं पुस्करस्रजा पद्मस्रगलंकृतौ अश्विना अश्विनौ देवौ आ धत्ताम् स्थापयताम् । प्रयच्छताम् इत्यर्थः । ❀ अश्विना पुस्करस्रजा इत्युभयत्र "सुपां सुलुक्०" इति सुप आकारः ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले और आहुतियोंसे बुलाये जाने वाले अग्ने ! तुममें जो अधिक तेज होता है और सूर्यमें जितना तेज है उसको कमलोंकी मालासे अलंकृत अश्विनीकुमार मुझमें स्थापित करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

यावत् । चतस्रः । प्रऽदिशः । चक्षुः । यावत् । सम्ऽअश्नुते ।
तावत् । सम्ऽएतु । इन्द्रियम् । मयि । तत् । हस्तिऽवर्चसम् ॥५॥

चतस्रः चतुःसंख्याकाः प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याद्याः महादिशः यावत्परिमितं व्याप्नुवन्ति । तथा चक्षुः रूपग्राहकम् इन्द्रियं यावत्पर्यन्तं नक्षत्रमण्डलावधि समश्नुते सम्यग् व्याप्नोति तावत्परिमाणम् इन्द्रियम् इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य लिङ्गम् असाधारणं चिह्नं समेतु अस्मान् संप्राप्नोतु ॥ ईदृशं तत् प्रागुक्तं हस्तिवर्चसं मयि भवतु ॥

चार दिशायें जितने स्थानको घेरती हैं, रूपको देखने वाला नेत्र नक्षत्रमण्डल तकके जितने स्थानको व्याप्त करता है उतने परिमाण वाला परमैश्वर्य युक्त इन्द्रदेवका असाधारण चिन्ह हमको प्राप्त हो, पहिले कहा हुआ हस्तिवर्चस् मुझको प्राप्त हो ५

षष्ठी ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

हस्ती । मृगाणाम् । सुऽसदाम् । अतिस्थाऽवान् । बभूव । हि ।
तस्य । भगेन । वर्चसा । अभि । सिञ्चामि । माम् । अहम् ॥६॥

सुषदाम् । सुखेन सीदन्ति स्वेच्छया वर्तन्त इति सुषदः । ❀ "सत्सूद्विष०" इति क्विप् । "सदिरप्रतेः" इति षत्वम् ❀ । अरण्ये स्वेच्छया वर्तमानानां मृगाणाम् हरिणादीनां मध्ये हस्ती वनगजः अतिष्ठावान् बलातिशयेनातिक्रम्य अवस्थाता बभूव [हि]। ❀ अतिपूर्वात् तिष्ठतेः "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति । वनिप् नलोपाभावश्छान्दसः ❀ । यद्वा अतिक्रम्य अवस्थानम् अतिष्ठा तद्वान् । ❀ "आतश्चोपसर्गे" इति भावे अङ् । ततो मतुप् । "उपसर्गात् सुनोति०" इति षत्वम् ❀ । तस्य तथाविधस्य हस्तिनः भगेन भजनीयेन भाग्यरूपेण वा वर्चसा तेजसा बलादिना माम् अहम् अभि षिञ्चामि । एकस्यैव अस्मदर्थस्य शरीराद्युपाधिभेदेन भेदात् कर्मकर्तृभावः ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

वनमें स्वेच्छापूर्वक घूमने वाले हरिण आदिमें हाथी बलमें अधिक होनेसे इन सबके ऊपर रहता है, हाथीके उस भाग्यरूप तेजसे मैं अपनेको अभिषिक्त करता हूँ ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (९२) ॥

"येन वेहद् बभूविथ" इति तृतीयसूक्तेन पुंसवनकर्मणि बाणम् अभिमन्त्र्य स्त्रिया मूर्ध्नि निदध्यात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा शरमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा [फाल] चमसे सरूपवत्सायां गोर्दुग्धे व्रीहियवौ प्रक्षिप्य आलोड्य अण्डे विहतेत् ॥

तथा पलाशविदार्यौ एकत्र पिष्ट्वा अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य दक्षिणेनांगुष्ठेन स्त्रिया दक्षिणस्यां नासिकायां नस्यं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "पुंसवनानि रजउद्वासायाः पुंनक्षत्रे येन वेहद इति बाणं मूर्ध्नि विहृहति" इत्यादि [कौ० ४. ११] ॥

'येन वेहद् बभूविथ' इस तृतीय सूक्तसे पुंसवनकर्ममें बाणको अभिमंत्रित कर स्त्रीके शिर पर लगावे ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर शरमणिका सम्पातन और अभिमंत्रण करके बाँधे ॥ फालके बने चमसमें सरूपवत्सा गौके दूधको रख उसमें धान और जौको डाल आलोडन करके अण्डों पर बाँधे ।

तथा पलाश और विदारीकन्दको एक स्थान पर पीस कर स्त्रीके दाहिने नथनेमें नस्य (हुलास) देवे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–"पुंसवनानि रज उद्वासाया पुंनक्षत्रे येन वेहद इति बाणं मूर्ध्नि विहृहति" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४ । ११) ।

तत्र प्रथमा ॥

येन॑ वे॒हद् ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

येन॑ । वे॒हत् । ब॒भूवि॑थ । ना॒शया॑मसि । तत् । त्वत् ।
इ॒दम् । तत् । अ॒न्यत्र॑ । त्वत् । अप॑ । दू॒रे । नि । द॒ध्म॒सि ॥ १ ॥

येन वन्ध्यात्वापादकेन पापेन तज्जन्यरोगादिना वा हे नारि वेहत् गर्भघातिनी वन्ध्या बभूविथ भवसि । ❁ छान्दसो लिट् ❁ । तत् पापादिकं त्वत् त्वत्तः सकाशाद् नाशयामसि नाशयामः अपहन्मः । इदं तत् नष्टसजातीयं वेहत्त्वापादकं पापरोगादिकं पुनर्यथा त्वयि नोत्पद्यते तथा त्वत् त्वचोन्यत्र दूरे दूरदेशे अप नि दध्मसि अपनिदध्मः अपक्षिपामः । ❁ "इदन्तो मसिः" ❁ ॥

हे नारि ! तू जिस वन्ध्यापन देने वाले पापसे वा पापसे उत्पन्न हुए रोगसे गर्भघातिनी वंध्या होरही है । उस पाप आदिको हम तुझसे अलग करते हैं । और यह गर्भको नष्ट करने वाला पापरोग आदि फिर उत्पन्न न हो इस प्रकार इसको दूर फैंकते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

आ । ते । योनिम् । गर्भः । एतु । पुमान् । बाणःऽइव । इषुऽधिम् ।
आ । वीरः । अत्र । जायताम् । पुत्रः । ते । दशऽमास्यः ॥ २ ॥

हे स्त्रि ते तव योनिम् प्रजननस्थानं पुमान् पुंस्त्वोपेतो गर्भ एतु आगच्छतु । तत्र दृष्टान्तः । बाण इवेति । यथा बाणः इषुधिम् निषङ्गं स्ववासस्थानं स्वभावतः प्राप्नोति तद्वत् । अनिवारितगतिर्गर्भः स्वस्थानं प्रविशतु इत्यर्थः । ❁ इषवोऽत्र धीयन्ते धार्यन्त इति इषुधिः । "कर्मण्यधिकरणे च" इति किप्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❁ ॥ स च ते त्वदीयो गर्भः [पुत्रः पुत्रत्वेन परिणतः] दशमास्यः दश मासान् भृतः तावत्कालभर-

णेन सर्वावयवसंपूर्णः वीरः वीर्येण बलेन उपेतः सन् अत्र अस्मिन् प्रसूतिकाले आ जायताम् अभिमुखम् उत्पद्यताम् । ❀ दशमास्य इति। "तम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी" "मासाद्व वयसि यत्खञौ" इति यत् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति संख्यायाः उत्तर-पदेन समासः ❀ ॥

हे स्त्री ! जैसे बाण तरकसमें स्वभावतः जाता है, इसी प्रकार तेरे प्रजननस्थानमें पुंस्त्वसे युक्त गर्भ जावे । और वह तेरा गर्भ पुत्ररूपमें परिणत होकर दश मास तकका हो वीर्यसम्पन्न होकर इस प्रसूतिकालमें उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ३

पुमांसम् । पुत्रम् । जनय । तम् । पुमान् । अनु । जायताम् ।
भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ३

हे नारि त्वं पुमांसम् पुंस्त्वोपेतं पुत्रं जनय। अनु तस्योत्पन्नस्य पुत्रस्य अनन्तरं पुमानेव जायताम् पुत्र एवोत्पद्यताम् । ❀ श्यनि "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ❀।। एवम् अविच्छेदेन जातानां पुत्राणां त्वं माता भवासि भव । ❀ भवतेर्लेटि आडागमः ❀ । यांश्च पुत्रान् ततः परं जनयाः जनये। तेषामपि माता भवेत्यर्थः । ❀ जनया इति । जनेर्ण्यन्तात् लेटि आडागमः । "जनि जृष्क्न-सुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति तदुपधाह्रस्वत्वम् ❀ ॥

हे नारि ! तू पुरुषोंके लक्षणसे सम्पन्न पुत्रको उत्पन्न कर और उस पुत्र होनेके पीछे पुत्र ही उत्पन्न होवे, इस प्रकार

अनवच्छिन्न (अटूट) रूपसे उत्पन्न हुए पुत्रोंकी तू माता हो, तदनन्तर जिन पुत्रोंको तू उत्पन्न करे उनकी भी तू माता हो ३

चतुर्थी

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

यानि । भद्राणि । बीजानि । ऋषभाः । जनयन्ति । च ।
तैः । त्वम् । पुत्रम् । विन्दस्व । सा । प्रऽसूः । धेनुका । भव ४

भद्राणि भन्दनीयानि अमोघवीर्याणि यानि बीजानि ऋषभाश्च गोषु जनयन्ति वत्सरूपेणोत्पादयन्ति । तैः तथाविधैरमोघवीर्यैर्बीजैः हे नारि त्वं पुत्रं विन्दस्व लभस्व । ❀ विद्लृ लाभे। स्वरितेत्वाद् आत्मनेपदम् । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ ॥ सा त्वं प्रसूः प्रसूता सती धेनुका भव । धेनुरेव धेनुका । स्वार्थिकः कः । धेनुवत् सपुत्रा वर्धस्व । मृतापत्या मा भूरित्यर्थः ॥

वृषभ जिन अमोघ वीर्योंको गौओंमें बछड़ेके रूपसे उत्पन्न करते हैं, तैसे अमोघ वीर्योंसे हे नारि ! तू पुत्रको प्राप्त कर । इस प्रकार प्रसव करती हुई तू धेनुकी समान पुत्रसहित वृद्धिको प्राप्त हो, मृतवत्सा न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव

कृणोमि । ते । प्राजाऽपत्यम् । आ । योनिम् । गर्भः । एतु । ते ।
विन्दस्व । त्वम् । पुत्रम् । नारि । यः । तुभ्यम् । शम् । असत् ।

शम् । ऊं इति । तस्मै । त्वम् । भव ॥ ५ ॥

हे नारि ते तव प्राजापत्यम् प्रजापतिना ब्रह्मणा निर्मितं प्रजोत्पत्तिकरं कर्म कृणोमि करोमि । ❀कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उमत्ययः अकारश्चान्तादेशः । तस्य अतो लोपे सति स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । प्रजापतिशब्दात् पत्युत्तरपदलक्षणो एयः ❀ । ते यव योनिम् गर्भाशयस्थानं गर्भः पेतु अभिगच्छतु । ततस्त्वं पुत्रं विन्दस्व लभस्व । कीदृशः स पुत्र इति विशिनष्टि । यः पुत्रः तुभ्यं शम् असत् सुखहेतुर्भवेत् । तस्मै पुत्राय त्वमपि शं सुखहेतुः भव । भवसीत्यर्थः । तं पुत्रम् इति संबंधः

हे नारि ! मैं तेरे अर्थ प्रजापति ब्रह्माजीके निर्मित प्रजोत्पत्तिकर कर्मको करता हूँ तेरे गर्भाशयस्थानमें गर्भ प्राप्त हो । तब जो तुझे सुख दे और तू जिसको सुख दे तैसे पुत्रको प्राप्त कर ५

षष्ठी ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् ।
वीरुधाम् । बभूव ।
ताः । त्वा । पुत्रऽविद्याय । दैवीः । प्र । अवन्तु । ओषधयः ६

यासां वीरुधाम् विरोहणस्वभावानाम् ओषधीनां द्यौः द्युलोकः पिता वृष्ट्युदकलक्षणरेतःसेकेन जनयिता [बभूव] भवति । तादृशस्य रेतसो धारणेन पृथिवी [यासां] माता जनयित्री भवति । समुद्रः समुन्दनशीलः जलराशिरेव यासाम् उत्पत्तौ उत्पन्नानां च वृद्धौ मूलम् मूलकारणं भवति । ता देवीः दानादि-

गुणयुक्ता देवतारूपा वा ओषधयः पुत्रविधाय पुत्रलाभाय त्वा त्वां भावन्तु प्रकर्षेण रक्षन्तु । ❀ देवीरिति । "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जिन ऊपरको चढ़नेके स्वभाव वाली ओषधियोंका द्युलोक पिता है अर्थात् वृष्टिजलरूप वीर्यका सेचन करनेसे पिता है। और तैसे वीर्यको धारण करनेसे पृथ्वी जिनकी माता है और जलराशि जिनकी वृद्धिमें वृद्धिका मूलकारण होती है वे देवतारूप औषधियें पुत्रलाभके लिये प्रकृष्टरूपसे तेरी रक्षा करें ॥६॥

पञ्चम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (८४) ॥

"पयस्वतीः" इत्यस्य धान्यसमृद्धिकर्मसु विनियोगः । "पयस्वतीरिति स्फातिकरणं शान्तफल०" इत्यादि "आ भक्तयातनाद् अनुमन्त्रयते" इत्यन्तं सूत्रं द्रष्टव्यम् [कौ० ३. ४] ॥

"पयस्वतीः" इत्याद्यया पितृमेधकर्मणि शवदाहानन्तरं स्नानं कुर्यात् ॥

"पयस्वतीः" सूक्तका धान्यसमृद्धिकर्ममें विनियोग है। इस विषयमें "पयस्वतीरिति स्फातिकरणं शान्तफल०" से "आ भक्तयातनाद् अनुमन्त्रयते" तकका कौशिकसूत्र ३ । ४ देखना चाहिये ॥

पितृमेधकर्ममें शवदाहके अनन्तर 'पयस्वतीः' इस पहिली ऋचासे स्नान करे ॥

तत्र प्रथमा ॥

पय॑स्वतीरोष॑धयः॒ पय॑स्वन्माम॒कं वचः॑ ।

अथो॒ पय॑स्वतीना॒मा भ॑रे॒हं स॑ह॒स्रशः॑ ॥ १ ॥

पय॑स्वतीः । ओष॑धयः । पय॑स्वत् । मा॒म॒कम् । वचः॑ ।

अथो इति । पयस्वतीनाम् । आ । भरे । अहम् । सहस्रऽशः ॥ १ ॥

ओषधयः व्रीहियवाद्याः पयस्वतीः पयस्वत्यः सारवत्यो भवन्तु । ❀ "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधनाद् रुत्वाभावः ❀ ॥ तथा मामकम् मदीयं वचः वचनं पयस्वत् सारयुक्तं सर्वैरुपादेयं भवतु । ❀ अस्मच्छब्दात् शैषिके अणि "तवकममकावेकवचने" इति ममकादेशः ❀ ॥ अथो अपि च पयस्वतीनाम् सारवतीनाम् ओषधीनां संबन्धि धान्यं सहस्रशः अनेकप्रकारेण आ भरेयं आहरेयम् । संपादयेयम् इत्यर्थः । ❀ "बह्वल्पार्थाच्छस्कारकाद् अन्यतरस्याम्" इति सहस्रशब्दात् शस् प्रत्ययः ❀ ॥

धान जौं आदि औषधियें सार वाली हों, तथा मेरा वचन भी सारयुक्त हो अर्थात् उसको सब ग्रहण करें और सार वाली औषधियोंके धान्योंको मैं अनेक प्रकारसे प्राप्त करूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु ।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

वेद । अहम् । पयस्वन्तम् । चकार । धान्यम् । बहु ।
सम्ऽभृत्वा । नाम । यः । देवः । तम् । वयम् । हवामहे । यःऽयः ।
अयज्वनः । गृहे ॥ २ ॥

पयस्वन्तम् सारवन्तं देवम् अहं वेद जानामि । स देवः धान्यम् व्रीहियवादिकं बहु चकार अधिकं स्फीतं कृतवान् ॥

तथा संभृत्वा संभरणशीलः यत्र कुत्रापि सर्वत्र स्थितस्य सारांशस्य मधुकरवत् संभर्ता [नाम] एतत्संज्ञो यो देवस्तं देवं वयं हवामहे स्तुतिभिराह्वयामः । ❀ संभृत्वेति । संपूर्वाद् भृञः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक् ❀ ॥ अधुना संभर्तव्यं निर्दिशति योय इति । अयज्वनः अकृतयागस्य धनाढ्यस्य गृहे योयो व्रीहियवगोहिरण्यादिरूपः पदार्थोस्ति । तं सर्वम् आहृत्य संभृत्वा नाम देवः अस्मभ्यं प्रयच्छतु इत्यर्थः । ❀ अयज्वन इति । "सुयजोर्ङ्वनिप्" । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

सारवाले देवताको मैं जानता हूँ, वह देवता धान जौं आदिको चढ़ाते हैं। वह भौंरेकी समान यत्र तत्र स्थित धान्य आदिको एकत्रित करनेवाले संभृत्वा नामक देवता हैं उनको हम स्तुतियोंसे बुलाते हैं । यज्ञ न करनेवाले धनवान्के घरमें धान जौं गौ सुवर्णरूप जो २ धन हो संभृत्वा नामक देव उस सबको एकत्रित कर मुझको देवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

इमाः । याः । पञ्च । प्रऽदिशः । मानवीः । पञ्च । कृष्टयः ।

वृष्टे । शापम् । नदीःऽइव । इह । स्फातिम् । सम्ऽआवहान् ॥३॥

इमाः परिदृश्यमाना याः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्याः पञ्च सन्ति तथा मानवीः मानव्यः [मनोः] सकाशाद् उत्पन्नाः पञ्च कृष्टयः । मनुष्यनामैतत् । निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चविधा मनुष्याः सन्ति ते सर्वे इह अस्मिन् यजमाने स्फातिम् धन-

धान्यसमृद्धिं समावहान् समावहन्तु सम्यक् प्रापयन्तु । तत्र दृष्टान्तः वृष्ट इति । देवे वृष्टे वर्षजलं मुञ्चति सति नदीरिव नद्य इव नद-नशीला आपो यथा प्रवाहमध्यस्थं शापम् प्राणिजातं वेगेन देशा-न्तरं प्रापयन्ति तद्वद् इत्यर्थः । ❀ स्फातिम् इति । स्फायी वृद्धौ । अस्मात् क्तिनि "तितुत्र०" इति इट्प्रतिषेधः । "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः । समावहान् इति । उपसर्गद्वययुक्ताद् वहेर्लेटि आडागमः ❀ ॥

ये दीखती हुई पूर्व आदि पाँच श्रेष्ठ दिशायें तथा मनुसे उत्पन्न हुए निषाद जिनमें पाँचवाँ है ऐसे पाँच प्रकारके मनुष्य ये सब इस यजमानमें धन और धान्यकी समृद्धिको भली प्रकार प्राप्त करावें (उसमें यह दृष्टान्त है, कि—) इन्द्रदेवके वर्षा करने पर नदियें प्रवाहके बीचमें पड़े हुए प्राणियोंको जिस प्रकार एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचा देती हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

उत् । उत्सम् । शतऽधारम् । सहस्रऽधारम् । अक्षितम् ।
एव । अस्माक । इदम् । धान्यम् । सहस्रऽधारम् । अक्षितम् ॥४॥

उत्सम् जलोत्पत्तिस्थानं शतधारम् शतसंख्याकाभिरुदकस्य धाराभिर्युक्तम् तथा सहस्रधारम् अपरिमितधारोपेतं सत् अक्षितम् क्षयरहितम् । उत् इति उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः। उद्भवती-त्यर्थः ॥ एव एवम् [अस्माक] अस्माकम् । ❀ अन्त्यलोप-श्छान्दसः ❀ । इदम् परिदृश्यमानं कुसूलादिस्थं धान्यं सहस्र-धारम् अपरिमितधाराभिर्युक्तं बहुप्रकारेण उपायेन अभिवृद्धं सत् अक्षितम् क्षयरहितं भवतु ॥

जलकी उत्पत्तिका स्थान जलकी सैंकड़ों और सहस्रों धाराओं से सम्पन्न होने पर भी क्षयरहित ही उद्भूत होता है । इसी प्रकार यह दीखता हुआ कुठिया आदिमें स्थित धान्य अनेक धारोंसे युक्त होने पर भी क्षयरहित रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शतंहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।

कृतस्यं कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥

शतऽहस्त । सम्ऽआहर । सहस्रऽहस्त । सम् । किर ।

कृतस्य । कार्यस्य । च । इह । स्फातिम् । सम्ऽआवह ॥ ५ ॥

"हे शतहस्त शतसंख्याकैर्हस्तैरुपेत देव समाहर । बहुभिस्त्व-दीयैर्हस्तैर्धनधान्यं समाहृत्य प्रयच्छेत्यर्थः ॥ हे सहस्रहस्त इदमपि हेतुगर्भविशेषणम् । यतस्त्वं सहस्रसंख्याकैर्हस्तैरुपेतः अतस्तैर्हस्तैः सं किर अस्मासु धनं विक्षिप । ❀ कॄ विक्षेपे । तुदादित्वात् शः । "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम् ❀ । तथा सति [कृतस्य नि]ष्पन्नस्य कार्यस्य कर्तुम् अर्हस्य च धनधान्यादेः इह अस्मिन् स्थाने स्फातिम् समृद्धिं समावहम् संभासोस्मि ॥

हे सैंकड़ों हाथों वाले देव ! अपने सैंकड़ों हाथोंसे धन लाकर हमें दीजिये । हे सहस्रहस्तसम्पन्न देव ! आप सहस्र हाथ वाले हैं अतः उन हाथोंसे धन लाकर हमको दीजिये । किये हुए और किये जाने वाले कार्यकी वृद्धिको मुझे प्राप्त कराइये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।

तासां या स्फातिमत्तमा तयां त्वाभि मृशामसि ६

तिस्रः । मात्राः । गन्धर्वाणाम् । चतस्रः । गृहऽपत्न्याः ।

तासाम् । या । स्फातिमत्ऽतमा । तया । त्वा । अभि । मृशामसि ६

गन्धर्वाणाम् विश्वावसुप्रभृतीनां संबन्धिन्यः तिस्रो मात्राः समृद्धिहेतवः कलाः सन्ति । तथा गृहपत्न्याः पतिव्रतायाः । यद्वा जातावेकवचनम् । गन्धर्वाणां संबन्धिन्यो या गृहपत्न्यः सन्ति तासाम् अप्सरसां स्वभूता याः चतस्रो मात्राः समृद्धिहेतवः अंशाः । तासां मात्राणां मध्ये या स्फातिमत्तमा अतिशयितसमृद्धियुक्ता तया हे धान्य त्वा त्वाम् अभि मृशामसि अभिमृशामः अभितः संस्पृशामः । अभिमर्शनेन वर्धस्वेत्यर्थः ॥

विश्वावसु आदि गन्धर्वोंकी समृद्धिकी कारण जो तीन कलायें हैं गन्धर्वोंकी पत्नी अप्सराओंकी समृद्धिकी कारण जो चार कलायें हैं उन कलाओंमें जो परमसमृद्धिसंपन्न कला है, हे धान्य ! उससे हम तेरा स्पर्श करते हैं अर्थात् उसके स्पर्शसे तू वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

उपऽऊहः । च । सम्ऽऊहः । च । क्षत्तारौ । ते । प्रजाऽपते ।

तौ । इह । आ । वहताम् । स्फातिम् । बहुम् । भूमानम् । अक्षितम् ७

उप समीपम् ऊहति प्रापयति धान्यादिकं इति उपोहः एतत्संज्ञो देवः । समूहः प्राप्तं धनं समूहयति अभिवर्धयतीति समूहकरणसमर्थो देवः समूहः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तावुभौ हे प्रजापते ते तव क्षत्तारौ सारथी अभिमतकार्यसंपादकौ ॥ तौ

तादृशौ इह अस्मिन् स्थाने स्फातिम् समृद्धिम् आ वहतम् प्रापयताम्। एतदेव विवृणोति बहुम् इति। बहुम् अनेकप्रकारं भूमानम् धनधान्यविषयं बहुभावम् अक्षितम् क्षयरहितम्। एवमात्मिकां स्फातिम् इति संबन्धः । ❀ भूमानम् इति । बहुशब्दाद् इमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति इमनिच आदिवर्णलोपो बहोर्भूभावश्च ❀ ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

धान्यको समीपमें पहुँचाने वाले उपोह नाम वाले देवता और प्राप्त होने वाले धनको बढ़ाने वाले समूह नामक देवता, हे प्रजापते ! ये दोनों देवता आपके सारथी हैं अर्थात् आपके अभिलषित फलको साधने वाले हैं उन दोनोंको आप अनेक प्रकार के क्षयरहित धन धान्यकी वृद्धि करनेके लिये लाइये ॥ ७ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५) ॥

"उत्तुदस्त्वा" इति सूक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामः अङ्गुल्या स्त्रियं नुदेत् ॥ तथा अनेन सूक्तेन एकविंशतिं बदरीकण्टकान् घृताक्तान् आदध्यात् ॥

तथा एकविंशतिबदरीप्रान्तानि सूत्रेण वेष्टयित्वा अनेन सूक्तेन सकृज्जुहुयात् ॥

एवम् अनेनैव सूक्तेन कुष्ठं नवनीतेन अभ्यज्य त्रिकालम् अग्नौ प्रतपेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन खट्वाया अधोमुखपट्टिकां गृहीत्वा त्रिरात्रं स्वप्यात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन उष्णोदकं त्रिपादे शिक्ये प्रबध्य अङ्गुष्ठाभ्यां मर्दयन् शयीत ॥

तथा लिखितां प्रतिकृतिं सूत्रोक्तलक्षणया इष्वा विध्येत् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "उत्तुदस्त्वेत्यङ्गुल्योपनुदति । एकविंशतिं प्राचीनकण्टकान् अलंकृतान् अनूक्तान् आदधाति" इत्यादि "सितालकाण्डया हृदये विध्यति" इत्यन्तम्।[कौ०४.११]॥

स्त्रीवशीकरणकी कामना वाला पुरुष ‘उत्तुदस्त्वा’ इस सूक्तको जपता हुआ अंगुलिसे स्त्रीको प्रेरित करे ॥

इस सूक्तसे घृतमें भीगे बेरके इक्कीस काँटोंको रक्खे ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे कूटको मक्खनमें मिला लेप करके तीन समय अग्निसे तापे ॥

तथा इस सूक्तसे खाटकी नीचेकी मुखकी पट्टीको पकड़ कर तीन रात सोवे ॥

तथा इस सूक्तसे गरम जलको तीन लड़ वाले छीके पर रख कर अंगूठेसे मसलता हुआ शयन करे ॥

तथा लिखी हुई प्रतिकृतिको सूत्रोक्त इषुसे बाँधे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–“उत्तुदस्त्वेत्यङ्गुल्योपनुदति । एकविंशतिं प्राचीनकण्टकान् अलंकृतान् अनूक्तान् आदधाति” इत्यादि “सितालकाण्डया हृदये विध्यति” इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ४ । ११) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि १

उत्ऽतुदः । त्वा । उत् । तुदतु । मा । धृथाः । शयने । स्वे ।
इषुः । कामस्य । या । भीमा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि १

उत्तुदति उत्कण्ठम् ऊर्ध्वमुखं वा व्यथयतीति उत्तुदः एतत्संज्ञो देवः त्वा त्वाम् उत् तुदतु उद्व्यथयतु कामार्तां करोतु । ❀ तुद व्यथने इति धातुः ❀ ॥ सूचिभिरिव उत्तुदेन मदनविकारैरुद्व्यथिता त्वं स्वे स्वकीये शयने । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ ।

शयनस्थाने मा दृथाः शयनविषयम् आदरं मा कार्षीः । ❀ दृङ् आदरे । अस्माद् माङि लुङि "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिचो लोपः ❀ ॥ कामस्य पञ्चशरस्य या भीमा भयकारिणी इषुरस्ति तया हृदि हृदये [त्वा] त्वां विध्यामि ताडयामि। ❀ व्यध ताडने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । भीमेति । बिभेत्यस्या इति भीमा । "भीमादयोपादाने" इति अपादानेर्थे भियः षुग्वा [उ० १. १४५] इति औणादिको मक् प्रत्ययः ❀ ॥

उत्कृष्टरूपसे व्यथित करने वाले उत्तुद नाम वाले देवता तुझको कामार्त करें । सुइयोंकी समान मदनविकारोंसे व्यथित हुई तू पलँग पर शयनमें आदर न कर । कामका जो भय देने वाला बाण है, उससे मैं तेरे हृदयको ताड़ित करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥

आधीऽपर्णाम् । कामऽशल्याम् । इषुम् । संकल्पऽकुल्मलाम् ।
ताम् । सुऽसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा । हृदि ॥२॥

आधीपर्णाम् आधयो मानस्यः पीडाः पर्णानि पत्राणि यस्याः सा तथोक्ता । कामशल्याम् कामः अभिलाषः रिरंसापरपर्यायः। स एव शल्यं बाणाग्रे प्रोतम् आयसं मर्मभेदकम् अङ्गं यस्याः सा कामशल्या । संकल्पकुल्मलाम् । इदं मे स्याद् इदं मे स्याद् इति भोगविषयसंकल्पनं संकल्पः । स एव कुल्मलं दारुशल्ययोः संश्लेषद्रव्यं यस्याः सा तथोक्ता । ईदृशीं ताम् इषुं सुसंनताम् सुष्ठु सम्यङ्नतां कोदण्डारूढां कृत्वा कामः स्मरः तया इष्वा हे कामिनि त्वा त्वां [हृदि] विध्यतु ताडयतु ॥

मानसी पीड़ाएँ जिसके पर्ण हैं और रमण करनेकी इच्छा ही जिसका मर्मभेदक शल्य है, यह मेरा होजाय यह मेरा हो जाय ऐसा भोगविषयक संकल्प ही जिसका काठ और शल्यको मिलाने वाला मसालारूप है उस बाणको धनुषपर भली प्रकार खेंच कर कामदेव उस बाणसे हे कामिनि तुझे हृदयमें बींधे २

तृतीया ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥३॥

या । प्लीहानम् । शोषयति । कामस्य । इषुः । सुऽसंनता ।
प्राचीनऽपक्षा । विऽओषा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥३॥

कामस्य स्मरस्य सुसंनता सुष्ठु सम्यक् नता ऋजुगामिनी या इषुः हृदयं प्रविश्य तत्परिसरवर्तिनं प्लीहानम् एतत्संज्ञं प्राणाश्रयं मांसखण्डं शोषयति दहति । सा पुनर्विशेष्यते । प्राचीनपक्षा प्राचीनाः प्राञ्चना ऋजवः पक्षा यस्याः सा प्राचीनपक्षा व्योषा विविधम् ओषति दहतीति व्योषा । ❀ उष दाहे इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । तया उदीरितगुणविशिष्टया इष्वा हे कामिनि त्वा त्वां हृदि हृदये विध्यामि ताडयामि ॥

कामदेवका भली प्रकार खेंचा हुआ सरलगामी बाण हृदय में प्रवेश करके प्राणको आश्रय देने वाले प्लीहा नामक मांसखण्डको शुष्क करे । सरल पर वाले अनेक प्रकारसे जलाने वाले बाणसे हे कामिनि ! मैं तेरे हृदयको बींधता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।

मृदुर्निर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

शुचा । विद्धा । विऽओष्या । शुष्कऽआस्या । अभि । सर्प । मा ।

मृदुः । निऽमन्युः । केवली । प्रियऽवादिनी । अनुऽव्रता ॥ ४ ॥

व्योष्या विदाहयुक्तया शुचा शोचयित्र्या शोकात्मिकया वा इष्वा विद्धा ताडिता सती शुष्कास्या शुष्ककण्ठा उपतापेन तालुशोषणात् स्वमनीषितं प्रकटयितुम् असमर्था मा माम् अभि सर्प अभिगच्छ । मन्निवासस्थानम् आगच्छेत्यर्थः । आगत्य च निर्मन्युः न्यक्कृतप्रणयकलहा मृदुः मृदुभाषिणी केवली असाधारणा मदेकशरणा प्रियवादिनी अनुकूलभाषणशीला अनुव्रता अनुकूलक्रियाचरण परा भव । ❀ केवलीति । "केवलमामक०" इत्यादिना ङीप् ❀ ॥

हे स्त्रि ! दाह देने वाले शोकात्मक बाणसे ताड़ित होने पर तेरा कण्ठ सूख जाय और उपतापके कारण तू अपने अभिप्राय को प्रकाशित करनेमें असमर्थ होकर मेरे पास आ । और आकर प्रणयके कलहको छोड़ मृदुभाषिणी और केवल मेरी शरण लेती हुई अनुकूल भाषण करने वाली बन कर मेरे अनुकूल कार्य करने वाली हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

आ । अजामि । त्वा । आऽअजन्या । परि । मातुः । अथो इति । पितुः ।

यथा । मम । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि ॥ ५ ॥

हे कामिनि त्वा त्वाम् आजन्या। अभिमुखम् अजति क्षिपति प्रेरयतीति आजनी कशा। "अश्वाजनीत्यश्वाजनिम् आजाय" इति कशायाम् अजनिशब्दः प्रयुक्तः। तया कशया आजामि आताडय अभिमुखं प्रेरयामि। परि मातुः [मातुः] पर्यन्तदेशात् अथो अपि च पितुः पर्यन्तात्। उपलक्षणम् एतत्। यस्य कस्यापि समीपे स्थितां त्वाम् आक्षिपामीत्यर्थः। ❀ अज गतिक्षेपणयोरिति धातुः ❀। यथा येन प्रकारेण मम मदीये क्रतौ कर्मणि सङ्कल्पे वा असः भवसि। मम चित्तम् मदीयां बुद्धिम् उपायसि येन प्रकारेण उपगच्छसि। तथा आजामि सम्बन्धः॥

हे कामिनी! अभिमुख प्रेरण करने वाली कशासे ताड़न करके मैं तुझे अभिमुख प्रेरित करता हूँ माताके समीपसे भी और पिताके समीप तकसे मैं तुझे अपने अभिमुख करता हूँ। तू जिस प्रकार मेरे कर्म वा संकल्पके और मेरी बुद्धिके अनुकूल होकर आवे तिस प्रकार मैं तुझे कशासे ताड़ित कर अभिमुख करता हूँ॥ ५॥

षष्ठी॥

व्य॑स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे॥ ६॥

वि। अस्यै। मित्रावरुणौ। हृदः। चित्तानि। अस्यतम्।
अथ। एनाम्। अक्रतुम्। कृत्वा। मम। एव। कृणुतम्। वशे ६

हे मित्रावरुणौ अस्यै। ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀। अस्याः स्त्रिया हृदः हृदयात् हृदयपुण्डरीकात् चित्तानि ज्ञानानि व्यस्यतम्

विक्षिपतम् ॥ अथ अनन्तरम् एनां स्त्रियम् अक्रतुम् कार्याकार्यविभागज्ञानशून्यां कृत्वा ममैव वशे कृणुतम् मदधीनामेव कुरुतम् ॥

इति पञ्चमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] तृतीये काण्डे पञ्चमोनुवाकः ॥

हे मित्र और वरुण देवताओं! इस स्त्रीके हृदयसे ज्ञानोंको दूर करो तदनन्तर इस स्त्रीको कार्य और अकार्यके विभागके ज्ञानसे शून्य करके मेरे वशमें करिये ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (२६) ॥

पंचम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र "येस्यां स्थ" इत्याभ्यां सूक्ताभ्यां स्वसेनायाउत्साहजननकर्मणि प्रत्यृचं प्रतिदिशम् उपस्थानं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "दिग्युक्ताभ्याम् [३. २६, २७] नमो देववधेभ्यः [६. १३] इत्युपतिष्ठते" इति [कौ० २. ५] ॥

तथा आभ्यां सूक्ताभ्यां स्वस्त्ययनकर्मणि आज्यपलाशादिशान्तसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रितं । "दिग्युक्ताभ्याम् [३. २६, २७] दोषो गाय [६. १] पातं नः इति पञ्च [६. ३-७] अनडुद्भ्यः [६. ५९] यमो मृत्युः [६. ९३] विश्वजित् [६. १०७] शकधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १] ॥

तथा आभ्यां सूक्ताभ्याम् अस्मिन्नेव कर्मणि हुतशेषेण प्रतिदिशं बलिहरणं उपस्थानम् च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "दिश्यां बलीन् हरति प्रतिष्ठिते उपतिष्ठते मध्ये पञ्चमम्" इति [कौ०७. २] ॥

तथा च सर्पवृश्चिकादि भयनिवृत्तिकामः गृहक्षेत्रादिषु सिकता अभिमन्त्र्य परितः प्रकिरेत् ॥

तथा [आभ्यां] सूक्ताभ्यां तृणमालां संपात्य गृहनगरादिद्वारे बध्नीयात् ॥

तथा आभ्यां गोमयम् अभिमन्त्र्य तस्य गृहे विसर्जनम् द्वारि निखननम् अग्नौ होमं [च] कुर्यात् ॥

तथा अनेन सूक्तद्वयेन अपामार्गमञ्जरीं गुडूचीं वा अभिमन्त्र्य पूर्ववद् गृहादिषु विसर्जनादिकं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "युक्तयोः [२६, २७] मा नो देवाः [६.५६] यस्ते सर्पः [१२. १. ४६] इति शयनशालोर्वराः परिलिखति" इत्यादि [कौ० ७, १] ॥

तथा त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां शान्तौ "येस्याम्" इत्यनेन प्रतिदिशं होमः "प्राची दिक्" इत्यनेन प्रतिदिशम् उपस्थानम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "येस्यां प्रतिदिशं हुत्वा प्राची दिग् उपतिष्ठते" इति [न० क० २२]

छठे अनुवाकमें छः सूक्त हैं । उनमें 'येस्यां स्थ' इन दो सूक्तों से अपनी सेनाको उत्साहित करनेके कर्ममें प्रत्येक ऋचासे प्रत्येक दिशामें उपस्थान करे ॥ इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है । यथा- "दिग्युक्ताभ्यां (३ । २६ । २७) नमो देवबधेभ्यः (६ । १३) इत्युपतिष्ठते" इति (कौशिकसूत्र २ । ५) ॥

तथा स्वस्त्ययनकर्ममें इन दो सूक्तोंसे घृत पलाशादि तेरह द्रव्योंकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि- 'दिग्युक्ताभ्याम् (३ । २६ । २७) दोषो गाय (६ । १) पातं न इति पंच (६ । ३-७) अनडुद्भ्यः (६ । ५६) यमो मृत्युः (६ । ९३) विश्वजित् (६ । १०७) शकधूमम् (६ । १२८) भवाशर्वौ (११ । २) इत्युपदधीत' इति (कौशिकसूत्र ७।१) ॥

तथा इसी कर्ममें इन्हीं दो सूक्तोंसे हुतशेषसे प्रत्येक दिशामें बलिहरण और उपस्थान करे इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि-"दिश्यान् बलीन् हरति प्रतिदिशम् उपतिष्ठते मध्ये पञ्चमम्" (कौशिकसूत्र ७ । २) ॥

तथा साँप बीछू आदिके भयको दूर करना चाहने वाला घर खेत आदिमें धूलके कणोंको अभिमंत्रित करके फैंके ॥

तथा इन सूक्तोंसे तृणमालाका सम्पातन करके घर वा नगरके द्वार पर बाँध देवे ॥

तथा इन दो सूक्तोंसे गोबरको अभिमंत्रित करके उस घरमें डाले द्वार पर गाड़े और अग्निमें होम करे ॥

तथा इन दोनों सूक्तोंसे चिरचिटेकी मञ्जरी वा गिलोयका अभिमंत्रण कर पहिलेकी समान गृह आदिमें विसर्जन आदिक करे ॥

इसी विषयको कौशिकसूत्र ७ । १ में कहा है, कि–'युक्तयो (२६ । २७) मानो देवाः (६ । ५६) यस्ते सर्पः (१२।१।४६) इति शयनशालोर्वराः परिलिखति" ॥

तथा तीस महाशान्तिकी तंत्रभूत शांतिमें 'येस्याम्' से प्रत्येक दिशामें होम करे । और 'प्राची दिक्' से प्रत्येक दिशामें उपस्थान करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"येस्यां प्रतिदिशं हुत्वाप्राची दिगुपतिष्ठते" (नक्षत्रकल्प २२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

येऽ३स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा

ये । अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि । हेतयः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । अग्निः । इषवः ।

ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ १ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता गन्धर्वाः ये यूयम् अस्यां प्राच्यां दिशि अस्मदावासस्थानात् पूर्वस्यां दिशि हेतयो नाम स्थ। अस्मदुपद्रवकारिणां हन्तारो नाम भवथ। ❀ "ऊतियूति०" इत्यादिना हेतिशब्दः क्तिन्नन्तो निपातितः अन्तोदात्तः। प्राच्याम् इति। प्रपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। "अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। तेषाम् पूर्वदिग्वासिनां वः युष्माकम् अग्निरिषवः अग्नितुल्याः शराः। यद्वा अग्निरेव इषुरूपेण वर्तत इत्यर्थः। अतो रक्षितुं शक्ता स्थेति भावः। ते यूयं नः अस्मान् मृडत सुखयत। तादृशैर्बाणैः शत्रुसर्पवृश्चिकादीन् निहत्य अस्माकं सुखहेतवो भवतेत्यर्थः। तथा ते यूयं नः अस्मान् अधि ब्रूत अस्मदीया एते इति आधिक्येन वदत। अधिवचनं पक्षपातेन वचनम्। "ब्राह्मणायाधिब्रूयात्" [तै० सं० २. ५. ११. ९] "अध्यवोचद् अधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्" [तै० सं० ४. ५. १. २.] इत्यादिश्रुतेः। तेभ्यो वः युष्मभ्यं नमः नमस्कारोस्तु। ❀ "नमःस्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी। "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति चतुर्थ्यन्तस्य युष्मदो वसादेशः अनुदात्तः ❀। तेभ्यो वः युष्मभ्यं स्वाहा इदम् आज्यादिकं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

हे दान आदि गुणोंसे सम्पन्न गंधर्वदेवताओं! तुम जो हमारे निवासस्थानसे पूर्वदिशामें हेति नामसे रहते हो अर्थात् हमारे उपद्रवकारियोंको मारते रहते हो ऐसे पूर्वदिशानिवासी आपके बाण अग्निकी समान हैं अतः आप हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ऐसे आप हमको सुख दीजिये अर्थात् तैसे बाणोंसे शत्रु सर्प और वृश्चिक (बीछू) आदिको मारकर हमको सुख दीजिये।

तथा हमको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार पक्षपातपूर्वक कहिये। ऐसे आपके लिये नमस्कार है और आपके लिये यह घृत आदिकी हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये३स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवा-
स्तेषां वः काम इषवः ।
ते नो मृडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः । नाम
देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इषवः ।
ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः ।
तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ २ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता गन्धर्वाः ये यूयम् अस्यां दक्षिणायां दिशि । ❀ स्याडभावश्छान्दसः ❀ । अस्मदावासस्थानाद् दक्षिणस्यां दिशि अवस्यवो नाम स्थ अवनेच्छवः एतत्संज्ञा भवथ । ❀ अवतेः असुन्प्रत्ययान्तात् "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀। तेषां वः युष्माकं कामः इष्टविषयोभिलाष एव इषवः । इषुरूपेण वर्तत इत्यर्थः । काममापका युष्मदीयाः शरा इत्युक्तं भवति । ते नो मृडतेत्यादि गतम् ॥

हे गन्धर्वदेवो ! तुम हमारे निवासस्थानसे दक्षिणदिशामें अवस्यव नाम वाले थे अर्थात् हमारी रक्षा करनेकी इच्छा करते थे ऐसे आपकी अभिलषित विषयकी इच्छा ही बाण हैं अर्थात्

आपके बाण इच्छाको पूर्ण करने वाले हैं अतः आप हमको सुख दीजिये। तथा हमको 'ये हमारे' हैं इस प्रकार पक्षपात-पूर्वक कहिये। आपके लिये नमस्कार है और यह घृत आदिकी हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये३ स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।

ते नो मृडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्रतीच्याम् । दिशि । वैराजाः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । आपः । इषवः ।

ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ३ ॥

हे देवाः ये यूयम् अस्यां प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम स्थ विराट् अन्नं तस्य प्रदातारः एतत्संज्ञा भवथ। ❀ प्रतीच्याम् इति। प्राच्याम् इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः। स्वरस्तु "चौ" इति पूर्वपदस्यान्त उदात्तः ❀। तेषां वः युष्माकम् आपः दृष्ट्यु-दकानि इषवः इषुस्थानीयाः। ते नो मृडतेत्यादि गतम् ॥

हे देवताओं! तुम जो पश्चिम दिशामें वैराज नाम वाले हो अर्थात् अन्नको देने वाले हो ऐसे आपके दृष्टिके जल ही बाण हैं, वह आप हमको सुख दीजिये। तथा हमको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्नेहपूर्वक कहिये। आपके लिये नमस्कार है और यह घृत आदिकी हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये३ स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।
ते नो मृडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ४ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । उदीच्याम् । दिशि । प्रऽविध्यन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । वातः । इषवः ।
ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ४ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता गन्धर्वाः ये यूयम् अस्याम् उदीच्याम् उत्तरस्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम स्थ अस्मद्धिंसकान् प्रकर्षेण ताडयन्तः एतत्संज्ञा भवथ । ❀ उदीच्याम् इति । उत्पूर्वाद् अञ्चतेः पूर्ववत् क्विनादि । "उद ईत्" इति धात्वकारस्य ईकारः । "अनिगन्त०" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तेषां वः युष्माकं वातः । लुप्तोपमम् । एतद् । वातवद्वेगयुक्ता इषवः । वायुरेव वा इषुत्वेन वर्तत इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे दानादियुक्त गन्धर्वो ! जो तुम इस उत्तर दिशामें हमारे हिंसकोंको अधिकतासे ताड़न करनेके कारण प्रविध्यन्त नाम वाले हो उन आपके बाण वायुकी समान वेग वाले हैं ऐसे आप हमको सुख दीजिये । और हमारे विषयमें 'ये हमारे हैं' यह बात पक्षपातपूर्वक कहिये आपके लिये नमस्कार है, यह घृत आदिकी हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ये॑ऽ॒स्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः ।

ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ व॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

ये । अ॒स्याम् । स्थ । ध्रु॒वाया॑म् । दि॒शि । नि॒ऽलि॒म्पाः । नाम॑ । दे॒वाः । तेषा॑म् । व॒ः । ओष॑धीः । इष॑वः ।

ते । न॒ः । मृ॒डत॒ । ते । न॒ः । अधि॑ । ब्रू॒त॒ । तेभ्यः॑ । व॒ः । नम॑ः । तेभ्य॑ः । व॒ः । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता ये यूयम् अस्यां ध्रुवायाम् स्थिरायां भूमिरूपायाम् अधस्ताद् दिशि निलिम्पा नाम स्थ नितरां लिप्ताः आश्रिताः एतत्संज्ञा भवथ । तेषां वः युष्माकम् ओषधीः ओषधयो व्रीहियवतरुगुल्माद्या इषवः बाणाः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे देवताओ ! जो तुम इस नीचेकी दिशामें निरन्तर लिप्त रहने वाले निलिम्पा नामक देवता हो। उन आपके धान जौ पेड़ गुल्म आदि ही बाण हैं। ऐसे आप हमारे विषयमें विशेषता के साथ कहिये, कि-'ये हमारे हैं' और हमको सुख दीजिये, ऐसे आपके लिये नमस्कार है, यह घृत आदिकी हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ये॑ऽ॒स्यां स्थो॒र्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ऊर्ध्वायाम् । दिशि । अवस्वन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । बृहस्पतिः । इषवः ।

ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ६ ॥

हे देवाः ये यूयम् अस्याम् ऊर्ध्वायां दिशि उपरिष्टाद् दिशि अवस्वन्तो नाम स्थ अवनं रक्षणं तद्वन्तः एतत्संज्ञा भवथ । तेषां वः युष्माकं बृहस्पतिरिषवः बृहतां देवानां मन्त्राणां वा पतिः बृहस्पतिर्देवः । ❀ "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ ❀ । स एव इषुत्वेन वर्तते । तद्वद् अमोघवीर्या युष्मदीयाः शरा इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

[इति] तृतीयकाण्डे षष्ठेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे देवताओ ! तुम ऊपरकी दिशामें अवस्वन्त नाम वाले हो अर्थात् रक्षा करने वाले हो, तहाँ बड़े २ देवताओंके और मन्त्रों के पति बृहस्पति आपके बाण हैं अर्थात् आपके बाण बृहस्पतिजी की समान अमोघ वीर्य वाले हैं, ऐसे आप हमको सुख दीजिये हमको पक्षपातके साथ 'ये हमारे हैं' कहिये आपके लिये नमस्कार है यह घृत आदिकी हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

तीसरे काण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६७) ॥

"प्राची दिक्" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह स्वसेनोत्साहजननकर्मणि स्वस्त्ययनकर्मादौ च विनियोगोऽभिहितः । सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

'प्राची दिक्' सूक्तका पहिले सूक्तके साथ अपनी सेनाको उत्साहित करनेके कर्ममें और स्वस्त्ययन आदिके कर्ममें विनियोग कह दिया है। सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है॥

तत्र प्रथमा॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो
नम एभ्यो अस्तु।
योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः १

प्राची। दिक्। अग्निः। अधिऽपतिः। असितः। रक्षिता।
आदित्याः। इषवः।
तेभ्यः। नमः। अधिपतिऽभ्यः। नमः। रक्षितृऽभ्यः। नमः।
इषुऽभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु॥
यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे।
दध्मः॥ १॥

प्राची प्राञ्चना प्रकृष्टा पूर्वा दिक्। अस्मदनुग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः। तस्या दिशः अग्निरधिपतिः अधिष्ठाता स्वामी। असितः कृष्णवर्णः सर्पः तस्यां दिशि रक्षिता जगद्रक्षणार्थम् अवस्थितः। आदित्याः अदितेः पुत्रा धात्रर्यमादयः तस्या दिश इषवः आयुधानि। तेभ्यः पूर्वदिग्वर्तिभ्यः अग्न्युपलक्षितेभ्यो नमः नमस्कारोस्तु॥ तथा तत्रत्येभ्यो रक्षितृभ्यः असितप्रभृतिभ्यो नमोस्तु॥ तत्रत्येभ्य इषुभ्यः इषुसंस्तुतेभ्य आदित्येभ्यो नमोस्तु ॥एवम्

अधिपत्यादीन् पृथक्पृथक् नमस्कृत्य पुनः समुच्चयेन नमस्करोति। एभ्यः उक्तेभ्यः अधिपत्यादिभ्यः सर्वेभ्यो नमोस्तु अस्मदीयो नमस्कारोस्तु। यद्वा अधिपत्यादिभ्यो यो नमस्कारः कृतः स एभ्यः प्रीतिकरो भवतु इत्यर्थः॥ एवं नमस्कारेण परितोष्य इष्टफलं प्रार्थयते। यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि बाधते यं शत्रुं वयं द्विष्मः तं शत्रुम् हे अग्न्यादयः वः युष्माकं जम्भे। खादनहेतुरास्यान्तर्गतो दन्तविशेषो जम्भः। तत्र दध्मः प्रक्षिपामः। तं खादतेत्यर्थः॥

पूर्व दिशा हमारे अनुग्रहके लिये प्रवृत्त होवे। उस दिशाके अधिपति इन्द्र देव और जगत्की रक्षा करनेके लिये उस दिशा में रहने वाले असितवर्ण वाले सर्प, धाता अर्यमा आदि अदिति के पुत्ररूप बाण। इन पूर्वदिशामें रहने वाले अग्नि आदि अधिपतियोंके लिये नमस्कार है, तथा तहाँ रहने वाले रक्षक अदिति आदिके लिये नमस्कार है और बाणरूपसे जिनकी स्तुति की है उन अदितिपुत्रोंके लिये नमस्कार हो, इन अधिपति आदि सब के लिये जो नमस्कार किया है, वह इन सबको प्रसन्न करने वाला हो (इस प्रकार नमस्कारसे सन्तुष्ट करके अब इष्टफलकी प्रार्थना करते हैं, कि–) जो शत्रु हमें पीड़ा देता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको हे अग्नि आदिक! हम (दाँतविशेष) जम्भमें डालते हैं अर्थात् तुम उसको खाजाओ॥ १॥

द्वितीया॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।

योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥

दक्षिणा । दिक् । इन्द्रः । अधिऽपतिः । तिरश्चिऽराजिः । रक्षिता । पितरः । इषवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ २ ॥

दक्षिणा दक्षिणतोवस्थिता या दिक् । सापि अस्मदनुग्रहार्थं वर्ततास् इत्यर्थः । ❀ "दक्षिणाद् आच्" इति आच्प्रत्ययान्तोत्र दक्षिणाशब्दः ❀ । तस्या दिशः इन्द्रः अधिपतिः अधिष्ठाता । तिरश्च्यः तिर्यग् अवस्थिता राजयः आवलयः यस्य तथाविधः सर्पः रक्षिता दक्षिणस्यां दिशि गोपायिता । पितरः पितृदेवताः तत्रत्या इषवः दुष्टनिग्रहकारीण्यायुधानि ॥ तेभ्यो नमोधिपतिभ्य इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

दक्षिणकी ओर स्थित दिशा हमारे कल्याणके लिये मङ्गल हो । उस दिशाके अधिपति इन्द्र देवता, और जिनकी तिरछी अवलियें पड़ी हुई हैं वह दक्षिण दिशाके रक्षक सर्प और उस दक्षिण दिशामें दुष्टोंका निग्रह करने वाले बाणरूप पितृदेवता हैं, उन इन्द्र आदि अधिपतियोंको सर्प आदि रक्षकोंको और बाणरूप पितरोंको नमस्कार हो । इन अधिपति आदि सबके लिये जो नमस्कार किया है वह उनको प्रसन्न करने वाला हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस को हम आपके जंभ नामक दाँतमें डालते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रतीची दिग् वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

प्रतीची । दिक् । वरुणः । अधिऽपतिः । पृदाकुः । रक्षिता । अन्नम् । इषवः ।
तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ३ ॥

प्रतीची प्रतिमुखम् अञ्चन्ती पश्चाद्भागस्था दिक् । अस्मदनुग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः । तस्या दिशो वरुणः अधिपतिः स्वामी । पृदाकुः कुत्सितशब्दकारी । ❀ पर्द कुत्सिते शब्दे इत्यस्माद् आकुप्रत्ययः । संप्रसारणम् अकारलोपश्च ❀ । एतत्संज्ञः सर्पस्तत्रत्यो रक्षिता पालयिता । अन्नम् व्रीहियवादिलक्षणम् इषवः तत्रत्यदुष्टनिग्रहकारीण्यायुधानि ॥ तेभ्यो नम इत्यादि ॥

पश्चिमकी दिशा हम पर अनुग्रह करनेके लिये प्रवृत्त हो। उस दिशाके अधिपति वरुणदेव हैं। पृदाकु (कुत्सित शब्द करने वाला) नामक सर्प इस दिशाके रक्षक हैं। धान जौ आदिरूप अन्न उस दिशाके बाण हैं अधिपति वरुणदेवके लिये, रक्षक

पृदाकु सर्पके लिये और बाणरूप जौ धान आदिके लिये नमस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह उनको प्रसन्न करने वाला हो, हम जिससे द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उसको हम आपके जंभ नामक दाँतमें धरते हैं अर्थात् आप उसका भक्षण कर जाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

उदीची। दिक्। सोमः। अधिऽपतिः। स्वजः। रक्षिता। अशनिः। इषवः।
तेभ्यः। नमः। अधिपतिऽभ्यः। नमः। रक्षितृऽभ्यः। नमः। इषुऽभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु।
यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ ४ ॥

उदीची उत्तरा दिक्। अस्मदनुग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः। तस्या दिशः सोमः अधिपतिः स्वामी। स्वजः। स्वायत्तजन्मा स्वयमेवोत्पन्नः स्वजनशीलो वा सर्पः स्वजः। रक्षिता गोपायिता। अशनिः दम्भोलिः इषवः तत्रत्यदुष्टनिग्रहार्थान्यायुधानि ॥ तेभ्यो नम इत्यादि गतम् ॥

उत्तर दिशा हमारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये प्रवृत्त हो। उस दिशाके अधिपति सोम हैं। स्वज नामक सर्प उसके रक्षक हैं वहाँके दुष्टोंका निग्रह करनेके लिये अशनि ही बाण है अधिपति चन्द्रमाके लिये रक्षक स्वज सर्पके लिये बाणरूप अशनिके लिये नमस्कार हो। इन अधिपति आदि सबके लिये जो नमस्कार किया है वह उनको प्रसन्न करने वाला हो। हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं और जो शत्रु हमसे द्वेष करता है उसको हम आप के जंभ दाँतमें डालते हैं॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ध्रुवा । दिक् । विष्णुः । अधिऽपतिः । कल्माषऽग्रीवः । रक्षिता । वीरुधः । इषवः ।
तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रक्षितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ५ ॥

ध्रुवा स्थिरा अधोदिक् अस्मान् अनुगृह्णातु । तस्या दिशो विष्णुः अधिपतिः ईश्वरः । कल्माषग्रीवो रक्षिता । कल्माषः

कृष्णवर्णः ग्रीवास्तु यस्य स कल्माषग्रीवः एतदाख्यः सर्पो रक्षिता गोपायिता रक्षितव्यानाम्। वीरुधः विरोहणशीला ओषधयः इषवः दुष्टनिबर्हणायुधानि ॥ शिष्टं स्पष्टम् ॥

जो ध्रुव स्थिर अधोदिशा पृथिवी है उसके अधिपति विष्णु हैं। और कल्माषग्रीव नामक सर्प रक्षा करने वाले हैं। दुष्टोंको दबानेमें समर्थ औषधियें ही तहाँ बाण हैं। इस दिशाके अधिपति विष्णुके लिये, रक्षक कल्माषग्रीवके लिये और बाणरूप औषधियोंके लिये नमस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह इनको प्रसन्न करने वाला हो। हम जिस से द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है, उसको हम आपके जंभ नामक दाँतमें फेंकते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ६

ऊर्ध्वा। दिक्। बृहस्पतिः। अधिऽपतिः। श्वित्रः। रक्षिता। वर्षम्। इषवः।
तेभ्यः। नमः। अधिपतिऽभ्यः। नमः। रक्षितृऽभ्यः। नमः। इषुऽभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु।
यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वा परिष्टाद् वर्तमाना दिक् मदीयम् अभिलषितं करोतु। तस्या दिशः बृहस्पतिर्देवः अधिपतिः अधिष्ठाता श्वित्रा श्वेतवर्णः। ❀ स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] श्विता वर्णे इत्यस्माद् रक् प्रत्ययः ❀। एतत्संज्ञः सर्पो रक्षिता शत्रुप्रभृतिभ्यस्त्राता। वर्षम् वर्षजलं मेघनिर्मुक्तम् इषवः दुष्टनिवारणायुधानि ॥ तेभ्यो नम इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

ऊपर वर्तमान जो दिशा है वह मेरे अभिलषित कार्यको करे। उस दिशाके बृहस्पतिजी अधिपति हैं। और श्वेत वर्ण वाले श्वित्र नामक सर्प उसमें शत्रु आदिसे रक्षा करने वाले हैं। और मेघका छोड़ा हुआ वर्षाका जल उसमें दुष्टोंको निवारण करने का आयुध है। इन अधिपति बृहस्पतिजीके लिये रक्षक श्वित्र-सर्पके लिये और वर्षाके जलरूप बाणके लिये नमस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह इनको प्रसन्न करने वाला हो। जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं, उस शत्रुको हम आपके जंभ नामक दाँतके (नीचे) धरते हैं॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (९८)

"एकैकयैषा सृष्ट्या" इत्यनेन गवाश्वागर्दभीमानुषीणां यमल-जनने अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् आज्यं हुत्वा मातृपुत्रयोर्मूर्ध्नि संपा-तम् आनीय उदपात्रे उत्तरसंपातं कृत्वा तेनोदकेन आचमनं प्रोक्षणं च कुर्यात्। सूत्रितं हि। "अथ यत्रैतद् यमसूर्गौः" इति [कौ० १३. १७] प्रक्रम्य "एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूवेत्यनेन सूक्तेन आज्यं जुह्वन्नमीषां मूर्ध्नि समातृपुत्रयोरित्यनुपूर्वं संपातान् आन-यति" इत्यादि [कौ० १३. १६] ॥

गौ घोड़ी गधैया और स्त्रीके यमल (जुड़वाँ-दो) सन्तान उत्पन्न होनारूप अद्भुत होने पर उसकी शांतिके लिये "एकैकयैषा सृष्ट्या" इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर माता और पुत्रके मूर्धा पर सम्पातको लाकर जलपूर्णपात्रमें उत्तर सम्पात करे फिर उस जलसे आचमन और प्रोक्षण करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-"अथ यत्रैतद् यमसूर्गौ" इति (कौशिकसूत्र १३ । ७) प्रक्रम्य "एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूवेत्येन न सूक्तेन आज्यं जुह्वन्नमीषां मूर्ध्नि समातृपुत्रयोरित्यनुपूर्वं सम्पातान् आनयति०" (कौशिकसूत्र १३ । १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

एकऽएकया । एषा । सृष्ट्या । सम् । बभूव । यत्र । गाः । असृजन्त । भूतऽकृतः । विश्वऽरूपाः ।
यत्र । विऽजायते । यमिनी । अपऽऋतुः । सा । पशून् । क्षिणाति । रिफती । रुशती ॥ १ ॥

एषा विधातृकृता [साधारणी] सृष्टिः एकैकया एकैकव्यक्त्या सृष्ट्या सृज्यमानया सं बभूव संभूता विधात्रा निर्मिता। एकैकव्यक्त्युत्पत्तिरेव न्याय्या यमलजननं तु [न तथेत्यर्थः। यत्र एकैकव्यक्तिविशिष्टायां शुभसृष्ट्यां भूतकृतः पृथिव्यादीनां भूतानां

कर्तारः एतत्संज्ञा प्रसिद्धा ऋषयो विश्वरूपाः नानावर्णा गाः गवोपलक्षिता मानुषीवडवाद्या] असृजन्त उदपादयन् । एषा सा साधारणी सृष्टिरिति पूर्वेण संबन्धः । यत्र यस्याम् औत्पत्तिकसृष्टौ अपर्तुः अपकृष्टार्तवबीजोपेता सती गौः यमिनी यमलवत्सोपेता विजायते प्रसूते सा यमलसृष्टिः यजमानसंबन्धिनः पशून् गवाद्यान् क्षिणाति क्षयं प्रापयति । ❀ क्षि क्षये इति धातुः ❀ । किं कुर्वती । रिफती । ❀ रिफ रिन्फ हिंसायाम् ❀ । भक्षयन्ती । रुशती चोरव्याघ्रादिभिर्नाशयन्ती । ❀ रुश हिंसायाम् । उभावपि तुदादी ❀ ॥

पृथिवी आदिके भूतोंके रचने वाले भूतकृत् नाम वाले ऋषियों ने एक एक व्यक्तिसे विशिष्ट सृष्टिमें अनेक वर्णकी गौ आदि सृष्टिको उत्पन्न किया था, यही एक एककी सृष्टि विधाताकी रची हुई है । इस उत्पत्तिके समयसे चली आई हुई सृष्टिमें अपकृष्ट बीज और रजसे युक्त हुई जो गौ जुड़वां सृष्टिको उत्पन्न करती है तो वह यमलसृष्टि यजमानके गौ आदि पशुओंका भक्षण करती हुई और चोर व्याघ्र आदिसे नाश कराती हुई संहार करती है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् २

एषा । पशून् । सम् । क्षिणाति । क्रव्यऽअत् । भूत्वा । विऽअद्वरी ।
उत । एनाम् । ब्रह्मणे । दद्यात् । तथा । स्योना । शिवा । स्यात् २

एषा यमसूर्गौः पशून् यजमानगृहे वर्तमानान् गवादीन् सं क्षिणाति संक्षयं विनाशं प्रापयति । ❀ क्षि क्षये । व्यत्ययेन

भा ॐ। कथंभूता। क्रव्याद् भूत्वा क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात्। ॐ "क्रव्ये च" इति विट् प्रत्ययः ॐ। मांसादनशीला भूत्वा। व्यध्वरी व्यध्वो दुःखहेतुर्दुष्टमार्गः तद्वती। ॐ रो मत्वर्थीयः ॐ। यद्वा विरुद्धफलदा अध्वरा अभिचारयज्ञा व्यध्वराः। ॐ "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीय ईकारः ॐ। उत इति प्रश्ने। एवंविधे दोषे किं कर्तव्यम् इत्यर्थः॥ एनां यमजननीं ब्रह्मणे ब्राह्मणाय दद्यात्। तथा सति सा गौः स्योना सुखकरी। यद्वा पुत्रपश्वादिभिः संतता। ॐ षिवु तन्तुसंताने। औणादिको नप्रत्ययः। ततः ऊठि कृते "असिद्धं बहिरङ्गम्०" इत्यस्य "नाजानान्तर्ये०" इति निषेधाद् यण् ॐ। शिवा कल्याणात्मिका च स्यात् भवेत्॥

यह यमसू (दो को उत्पन्न करने वाली) गौ मांसको खाने के स्वभाव वाली होकर और अभिचार आदिके कष्टप्रद फल देने वाली होकर यजमानके घरमें वर्तमान गौ आदिका संहार करती है। ऐसे दोषके प्रसंग पर क्या करना चाहिये? (उत्तर) ऐसी यमसूको ब्राह्मणको दे देय। ऐसा करने पर वह गौ सुख देने वाली पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न होकर कल्याणरूप हो जाती है॥ २॥

तृतीया॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ ३॥

शिवा। भव। पुरुषेभ्यः। गोभ्यः। अश्वेभ्यः। शिवा।
शिवा। अस्मै। सर्वस्मै। क्षेत्राय। शिवा। नः। इह। एधि३

हे यमलवत्सजननि पुरुषेभ्यः मनुषेभ्यः शिवा सुखकरी भव॥ तथा गोभ्यः अश्वेभ्यश्च शिवा सुखहेतुर्भव॥ अस्मै सर्वस्मै

[क्षेत्राय] शालिगोधूमादिक्षेत्राय शिवा सुखकरी भव ॥ किं बहुना । इह अस्मिन् देशे नः अस्माकं सर्वविषयेषु शिवा एधि सुखप्रदा भव । ❀ अस्तेर्लोटि "ध्वसोरेद्धौ०" इति एत्वे कृते तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति झलन्तलक्षणं हेर्धित्वं भवति ❀ ॥

हे जुड़वाँ संतानोंको उत्पन्न करने वाली जननि ! तू पुरुषोंके लिये सुखकारिणी हो, अधिक क्या ? इस देशमें हमारे सब कामोंमें सुख देने वाली हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

इह । पुष्टिः । इह । रसः । इह । सहस्रऽसातमा । भव ।
पशून् । यमिनि । पोषय ॥ ४ ॥

इह अस्मिन् गृहे पुष्टिः गवादिसर्वधनस्य पोषो भवतु । ततश्च इह अस्मिन् यजमानगृहे रसः क्षीराज्यादिरूपः समृद्धो भवतु ॥ हे यमिनि यमलवत्सजननि इह अस्मिन् यजमानगृहे सहस्रसातमा सहस्रसंख्याकं धनं सनोति प्रयच्छतीति सहस्रसाः । ❀ षणु दाने । "जनसनखनक्रमगमो विट्" "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् । तत आतिशायनिकस्तमप् ❀ । अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री भवेत्यर्थः ॥ एवं यजमानसंबन्धिनः पशून् हे यमिनि पोषय समर्धय ॥

इस घरमें गौ आदि सब प्रकारके धनोंकी पुष्टि हो । फिर इस यजमानके घरमें दूध घी आदि रस बढ़े । हे यमलवत्स

जननि ! इस यजमानके घरमें तु सहस्रों धनोंको देने वाली हो और इस यजमानके पशुओंको बढ़ा ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

यत्र । सुऽहार्दः । सुऽकृतः । मदन्ति । विऽहाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः ।

तम् । लोकम् । यमिनी । अभिऽसंबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च ॥ ५ ॥

यत्र यस्मिंश्च लोके सुहार्दः शोभनहृदयाः सुकृतः शोभनकर्माणः पुरुषा मदन्ति हृष्यन्ति । ❀ मदी हर्षे । व्यत्ययेन शप् ❀ । किं कृत्वा । स्वायास्तन्वः स्वकीयात् शरीराद् रोगम् ज्वरादिकं विहाय त्यक्त्वा । हृष्यन्तीत्यर्थः । तम् तादृशं लोकं यमिनी यमलवत्सजननी गौः अभिसंबभूव आभिमुख्येन संगतवती ॥ अतः सा नः अस्माकं पुरुषान् पशूंश्च मा हिंसीत् मा हिनस्तु ॥

जिस लोकमें शोभन हृदय वाले और शोभन कर्म वाले पुरुष अपने शरीरसे ज्वर आदि रोगको अलग कर प्रसन्न होते हैं, ऐसे लोकमें जुड़वाँ बच्चोंको उत्पन्न करने वाली गौ अभिमुख होकर प्राप्त होगई है, अतः वह हमारे पुरुष और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।

तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ६ ॥

यत्र । सुऽहार्दाम् । सुऽकृताम् । अग्निहोत्रऽहुताम् । यत्र । लोकः । तम् । लोकम् । यमिनी । अभिऽसंबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च ॥ ६ ॥

यत्र यस्मिन् लोके सुहार्दाम् शोभनहृदयानां शोभनज्ञानानां सुकृताम् शोभनं कर्म कृतवताम् । ॐ "सुकर्मपाप०" इत्यादिना सूते क्विप् ॐ । तादृशानाम् [अग्निहोत्रहुताम् अग्निहोत्रहोमादिकं जुह्वताम्] अग्निहोत्रहोमादिकं शोभनं कर्म प्रतिष्ठितं भवति । यत्र च स्थाने लोकः लोक्यते अनुभूयत इति लोकः तस्याग्निहोत्रादेः फलम् प्रतिष्ठितं भवति । तं लोकम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जिस लोकमें शोभन हृदयवाले, शोभन ज्ञानवाले और शोभन कर्म करने वालोंके अग्निहोत्र होम आदिमें आहुति देनेवाले शोभन कर्म प्रतिष्ठित होते हैं उस लोकमें यह यमलवत्सजननी गौ प्राप्त होगई है अतः वह हमारे पुरुष और पशुओंकी हिंसा न करे ६

छठे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (१९) ॥

"यद् राजानः" इति पञ्चर्चेन ओदनसवे कर्मणि परववयवेषु पञ्चापूपनिधानं निरुप्तहविरभिमर्शनादिकं च कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । "अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्" इति [कौ० ८, १] प्रकृत्य "यद् राजान इत्यवेक्षति पदस्नातस्य पृथक्पादेष्वपूपान् निदधाति नाभ्यां पञ्चमम्" इत्यादि [कौ० ८, ५] ॥

"क इदं कस्मै" इति द्वाभ्यां दुष्टादुष्टप्रतिग्रहदोषशान्त्यर्थं

प्रतिग्राह्यं पदार्थम् अभिमन्त्र्य गृह्णीयात् । सूत्रितं हि । “क इदं कस्मा अदात् [७. ८] कामस्तदग्रे [१९. ५२] यद् अन्नम् [६. ७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिगृह्णाति” इति [कौ० ५. ९] ॥

“भूमिष्ट्वा” [८] इत्यनया भूमिं प्रतिगृह्णीयात् ॥

ग्रहयज्ञे “यद् राजानः” इत्यनेन ध्रुवस्य हविराज्ययोर्होमम् समिदाधानम् उपस्थानं च कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । “यद् राजानः [६. २९] इति सोमस्यांशो युधां पते [७. ८६. ३] इति ध्रुवाय” इति [शा० क० १५] ॥

‘यद् राजानः’ इस पाँच ऋचा वाले सूक्तसे ओदनसव कर्म में पशुके अवयवोंमें पाँच गुलगुले रखना और निरुप्त हविका अभिमर्शन आदि करे इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि–‘अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्’ (कौशिकसूत्र ८ । १) प्रक्रम्य “यद् राजान इत्यवेक्षति पदस्नातस्य पृथक्पादेष्वपूपान् निदधाति नाभ्यो पञ्चमम्”० (कौशिकसूत्र ८ । ५) ॥

‘क इदं कस्मै’ इन दो ऋचाओंसे दुष्ट वा अदुष्टसे लिये हुए प्रतिग्रहके दोषकी शांतिके लिये दान लेनेके पदार्थको अभिमन्त्रित करके लेवे । सूत्रमें भी कहा है, कि–‘क इदं कस्मा अदात् (७।८) कामस्तदग्रे (१९ । ५२) यद् अन्नम् (६ । ७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति प्रतिगृह्णाति” इति (कौशिकसूत्र ५ । ९)

“भूमिष्ट्वा” इस आठवीं ऋचासे भूमिको ग्रहण करे ॥

ग्रहयज्ञमें ‘यद् राजानः’ इस सूक्तसे ध्रुवका घृत और हविका होम करे, समिधाओंको रक्खे और उपस्थान भी करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि–‘यद् राजानः’ (६. २९) इति सोमस्यांशो युधां पते (७ । ८६ । ३) इति ध्रुवाय (शांतिकल्प १५)

तत्र प्रथमा ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥१॥

यत् । राजानः । विऽभजन्ते । इष्टापूर्तस्य । षोडशम् । यमस्य । अमी इति । सभाऽसदः ।
अविः । तस्मात् । प्र । मुञ्चति । दत्तः । शितिऽपात् । स्वधा ॥१॥

यमस्य धर्मराजस्य अमी दक्षिणस्यां दिशि द्युलोके परिदृश्यमानाः सभासदः समायाम् उपविष्टा दुष्टनिग्रहे शिष्टपरिपालने च नियुक्ता राजानः राजमानाः ईश्वरा वा देवाः इष्टापूर्तस्य । इष्टं श्रुतिविहितं यागादि कर्म । पूर्तं स्मृतिविहितं वापीकूपतटाकादिनिर्माणलक्षणं कर्म । तस्य उभयविधस्य कर्मणः षोडशम् षोडशसंख्यापूरकं यत् पापं विभजन्ते पुण्यराशेर्विभक्तं कुर्वन्ति । अयम् अर्थः । श्रुतिस्मृतिविहितकर्मसु अनुष्ठीयमानेषु प्रमादालस्यादिना कियानपि पापस्य षोडश्या कलया अंशः समुपजायत एव तद् यमस्य सभ्याः परिशोधयन्तीति । ❀ षोडशम् इति । षोडशसंख्यायाः पूरकः । "तस्य पूरणे डट्" । "षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च" इति उत्वष्टुत्वे ❀ । तस्मात् राजभिर्विभज्य गृहीतात् पापात् अस्मिन् सवयज्ञे दत्तः अविः अस्मान् प्र मुञ्चतु । यद्वा इष्टापूर्तस्य साधकं षोडशम् । "षोडशकलो वै पुरुषः" [तै० आ० १. ७. ५. ५] इति श्रुतेः षोडशकलम् आत्मानं यमस्य सभासदः अमी राजानः यत् विभजन्ते पशुशरीराद् विभक्तं कुर्वन्ति अविः अविशरीराभिमानी आत्मा तस्मात् शरीरवियोग-

जनिताद् दुःखात् प्र मुञ्चतु प्रमुक्तो भवतु ॥ शितिपात् श्वेतपात् स दत्तोऽविः स्वधा । अन्ननामैतत् । यमसंबन्धिभ्यः सभासद्भ्यः अन्नं भवतु । यद्वा स्वधेति पितृणां हविर्दाने । ❀ "स्वधाकारो हि पितृणाम्" इति [तै० ब्रा० ३. ३. ६, ४] श्रुतेः ❀ । हविष्ट्वेन दत्तो भवतु ॥

दक्षिण दिशाकी ओर द्युलोकमें दीखते हुए धर्मराज यमके (ये) सभासद् दुष्टोंको दण्ड देने वाले और शिष्टों पर अनुग्रह करने वाले हैं । ये श्रुतिविहित याग आदि इष्टकर्मके और स्मृतिविहित बावड़ी कूप तालाब बनवाना आदि पूर्तकर्मके ईश्वर हैं । ये दोनों प्रकारके कर्मोंमें बन जानेवाले सोलहवें भाग पापको पुण्यराशिसे अलग करते हैं । तात्पर्य यह है, कि–श्रुति और स्मृतिसे विहित कर्मोंको करने पर प्रमाद और आलस्यवश कुछ न कुछ पाप बन ही जाता है, वह सोलहवाँ भाग बन जाता है, उसका यमके सभ्य शोधन करते हैं । राजाओं (ईश्वरों) ने विभाग करके जिस पापको ग्रहण करलिया है उस पापसे इस सवयज्ञमें दी हुई अवि हमें बचावे । अथवा तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ७ । ५ । ५ में कहा है, कि–'षोडशकलो वै पुरुषः–यह आत्मा सोलह कला वाला है, उस सोलह कला वाले आत्माको यमके सभासद् ये ईश्वर पशुके शरीरसे अलग करते हैं अतः शरीरका अभिमानी आत्मा शरीरके वियोगके दुःखसे छूट जावे । श्वेत पैरवाला यह यह दिया हुआ अवि यमके सभासदोंका अन्न होवे, पितरोंका अन्न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

सर्वान् । कामान् । पूरयति । आऽभवन् । प्रऽभवन् । भवन् ।

आकूतिऽप्रः । अविः । दत्तः । शितिऽपात् । न । उप । दस्यति ॥२॥

आभवन् आ समन्ताद् भवन् व्याप्नुवन् [प्रभवन्] फलदानाय समर्थो भवन् भवन् वर्धिष्णुः सन् क्रियमाणोयं यज्ञः अस्मदीयान् सर्वान् कामान् पुत्रपश्वादिविषयान् पूरयति संपूर्णा[न् करोति । आकूतिप्रः इदं मे स्याद् इदं मे स्याद् इति ये संकल्पास्ता आकूतयः । तान् पूरयतीति आकूतिप्रः शितिपात् श्वेतपाद् दत्तः अस्मिन् यज्ञे समर्पितोयम् अविः] नोप दस्यति नोपक्षीयते । अपि तु यथाभिलाषं वर्धत इत्यर्थः । ❀ दसु उपक्षये इति धातुः ❀ ॥

चारों ओरसे फल देनेके लिये समर्थ और वर्धनशील यह किया जाता हुआ यज्ञ हमारी पुत्र पशु आदि सब कामनाओंको पूर्ण करता है। संकल्पोंको पूर्ण करने वाला और श्वेत पाद वाला यह दिया हुआ अवि क्षीण नहीं होता है॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । ददाति । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् ।

सः । नाकम् । अभिऽआरोहति । यत्र । शुल्कः । नः । क्रियते ।

अबलेन । बलीयसे ॥ ३ ॥

यो यजमानः शितिपादम् श्वेतपादं लोकेन लोक्यमानेन फलेन संमितम् सम्यक्परिच्छिन्नम् अमोघफलम् । यद्वा अनेन भूलोकेन

संमितम् सदृशम् । भूलोकवत् सर्वफलप्रदम् इत्यर्थः । ईदृशम् अविं ददाति प्रयच्छति स दाता नाकम् । कम् सुखम् तद्विपरीतम् अकं दुःखम् न विद्यतेस्मिन् अकम् इति नाकः स्वर्गः । ❀ "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀ । उक्तं हि ।

दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥

ईदृशं लोकम् अभ्यारोहति अभिप्राप्नोति । तं लोकं विशिनष्टि । यत्रेति । यत्र यस्मिन् लोक अबलेन अपर्याप्तबलेन पुरुषेण बलीयसे बलवत्तराय । ❀ बलवच्छब्दाद् ईयसुनि "विन्मतोर्लुक्" इति मतोर्लुक् ❀ । तादृशाय शुल्को न क्रियते । शुल्को नाम अधिकबलस्य राज्ञो न्यूनबलेन परिसरवर्तिना अन्येन राज्ञा देयः करविशेषः । स नास्ति यस्मिन् लोक इत्यर्थः ॥

जो यजमान श्वेत पैर वाली और भूलोककी समान सब फल देने वाली भेड़को देता है, वह दाता जिसमें दुःखका नाम नहीं है उस स्वर्गलोकमें चढ़ता है, उस लोकमें अन्य बलवालेको अधिक बलीको कर नहीं देना पड़ता ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेक्षितम् ॥ ४ ॥

पञ्चऽअपूपम् । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् ।

‡ दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥

दुःखसे भिन्न हो जो दुःखसे ग्रस्त न हो और जिसमें पीछे से भी दुःख न मिलता हो और अभिलाषा करते ही जो मिल जाता हो वह सुख स्वर्गका सुख कहलाता है ॥

प्रऽदाता । उप । जीवति । पितृणाम् । लोके । अक्षितम् ॥४॥

पञ्चसंख्याका अपूपा यस्य पशोश्चतुर्षु पादेषु नाभ्यां च निहिता वर्तन्ते तं पञ्चापूपं शितिपादम् श्वेतपादं लोकेन पृथिव्यादिकेन संमितम् सदृशम् अवस्थितम् [अविं] प्रदाता प्रकर्षेण ददत् पितृणाम् वस्त्रादिरूपं मासानां लोके सोमलोकाख्ये स्थाने अक्षितम् क्षयरहितं फलम् उप जीवति उपभुङ्क्ते । ❀ संमितं प्रदातेति । तृन्नन्तत्वात् "न लोकाव्यय०" इति कर्मणि षष्ठ्या निषेधे द्वितीयैव भवति । अक्षितम् इति । क्षितये । भावे निष्ठा । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्युदस्तत्वात् दीर्घाभावात् "क्षियो दीर्घात्" इति दीर्घोपजीविनो नत्वस्यापि अभावः ❀ ॥

जिस पशुके चार पैरों पर और नाभि पर पाँच गुलगुले रक्खे जाते हैं, उस पञ्च अपूप और श्वेत पाद वाले पृथिवी आदि की समान स्थित भेड़को देने वाला वस्त्र आदि पितरोंके सोम लोकमें क्षयरहित फलका उपभोग करता है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

पञ्चऽअपूपम् । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम्

प्रऽदाता । उप । जीवति । सूर्यामासयोः । अक्षितम् ॥ ५ ॥

पादत्रयस्य स एवार्थः । मस्यते क्षयवृद्धिभ्यां परिमीयत इ मासः चन्द्रमाः । ❀ मसी परिमाणे इत्यस्मात् कर्मणि घञ् । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपद आनङ् ❀ । सूर्याचन्द्रमसोर्लोके अक्षितम् क्षयरहितं फलम् उ

भुंक इत्यर्थः। अनयोश्चतुर्थीपञ्चम्योरीषद्भेदत्वाद् एकत्वाभिप्रायेण पञ्चचैनेत्युक्तम् ॥

जिस पशुके चार पैरों पर और नाभि पर पाँच गुलगुले रक्खे जाते हैं, उस पञ्च अपूप और श्वेत पैर वाले पृथिवीलोक आदिकी समान स्थित भेड़को देने वाला सूर्य और चन्द्रमाके लोकमें अक्षयफलको पाता है ॥ ५ ॥ ‡

षष्ठी ॥

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् ।

दे॒वौ सं॑वा॒सिना॑विव शिति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ ६ ॥

इरा॑ऽइव । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ । स॒मु॒द्रःऽइ॑व । पयः॑ । म॒हत् ।

दे॒वौ । स॒वा॒सिनौ॑ऽइव । शि॒ति॒ऽपात् । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ ॥ ६ ॥

शितिपात् श्वेतपादः सवयज्ञे दत्तः अवि इरेव भूमिरिव नोप दस्यति नोपक्षीयते। समुद्र इव समुद्रो यथा न क्षीयते एवं महत् अधिकं पयः क्षीरम्। तदात्मना परिणतो भवतीत्यर्थः ॥ तथा सवासिनौ समानं निवसन्तौ अश्विनौ देवाविव नोप दस्यति। तौ यथा खलु अश्विनौ देवौ सर्वफलप्रदत्वेन उपजीव्येते तथा अयम् अविरपि सर्वफलप्रदत्वेन नोपक्षीयत इत्यर्थः ॥

सवयज्ञमें प्रदान की हुई श्वेत पैर वाली भेड़ भूमिकी समान क्षीण नहीं होती है, समुद्रका बड़ा जल जिस प्रकार क्षीण नहीं होता है, एक साथ रहने वाले अश्विनीकुमार जैसे क्षीण नहीं होते हैं, तैसे ही यह भी क्षीण नहीं होती है ॥ ६ ॥

‡ चतुर्थी और पाँचवीं ऋचामें थोड़ासा ही भेद है अत एव इनको एक मान कर पाँच ऋचाओंसे कहा है।

सप्तमी ॥

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् कामः॒ कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामः॑ समु॒द्रमा वि॑वेश ।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ कामै॒तत् ते॑ ॥ ७ ॥

कः । इ॒दम् । कस्मै॑ । अ॒दा॒त् । कामः॑ । कामा॑य । अ॒दा॒त् ।
कामः॑ । दा॒ता । कामः॑ । प्र॒ति॒ऽग्र॒ही॒ता । कामः॑ । स॒मु॒द्रम् । आ । वि॒वे॒श ।
कामे॑न । त्वा॒ । प्रति॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । काम॑ । ए॒तत् । ते॒ ॥ ७ ॥

इदम् ईदृग् इति अनिरुक्तरूपः प्रजापतिः कशब्देनोच्यते । अर्थसामान्यात् किंशब्दोपि तस्यैव वाचकः । कशब्दाभिधेयः प्रजापतिः कस्मै प्रजापतये इदम् दक्षिणात्वेन देयं द्रव्यम् अदात् दत्तवान् । दाता च प्रतिग्रहीता च प्रजापतिरेव । एवम् अनुसंदधानस्य प्रतिग्रहदोषो न जायत इत्यर्थः । तथा च तैत्तिरीयकम् । “क इदं कस्मा अदाइ इत्याह । प्रजापतिर्वै कः । स प्रजापतये ददाति” इति [तै० ब्रा० २. २. ५. ५] ॥ तथा कामः फलविषयोभिलाषः । आमुष्मिकफलाभिलाषी दाता । ऐहिकफलाभिलाषी प्रतिग्रहीता । अतः उभावपि कामात्मानौ । तथा च काम एव कामाय अदात् दत्तवान् नाहं प्रतिगृह्णामीति आत्मानं व्यावृत्य प्रतिगृहे कृते तद्दोषो न संस्पृशतीत्यर्थः । तथा च तैत्तिरीयकम् । ❀ “य एवं विद्वान् व्यावृत्य दक्षिणां प्रतिगृह्णाति नैनं दक्षिणा व्लीनाति” इति [तै० ब्रा० २. २. ५. १] ❀ । उक्तम् अर्थम् उपपादयति । कामो दाता कामः प्रतिग्रहीतेति । व्याख्यातप्रायम् एतत् । उक्तो देवतारूपः कामः समुद्रम् समुद्रवन्निरवधिकं रूपम् आ विवेश प्राप्तवान् । “समुद्र इव हि कामः । नैव हि काम-

स्यान्तोस्ति" [तै० ब्रा० २. २. ५. ६.] इति हि तैत्तिरीयकम्। तादृशेन कामेन हे दक्षिणाद्रव्य त्वा त्वां प्रति गृह्णामि। नात्मनेत्यर्थः। हे काम एतत् प्रतिगृहीतं द्रव्यं ते तुभ्यं त्वदर्थमेव॥

प्रजापति प्रजापतिके लिये दक्षिणारूप द्रव्यको देते हैं। दाता और ग्रहण करने वाले प्रजापति ही हैं। तात्पर्य यह है, कि-ऐसा अनुसंधान करने वालेको प्रतिग्रहका दोष नहीं लगता है †। फलकी अभिलाषाविषयक काम, और परलोक के फलको चाहने वाला दाता तथा इस लोकके फलको चाहने वाला प्रतिग्रहीता, ये दोनों कामात्मा हैं, अतः कामने ही काम को दिया है मैं ग्रहण नहीं करता हूँ, इस प्रकार आत्माको अलग कर प्रतिग्रह करने पर दोष नहीं लगता है ‡ (इसी अर्थकी पुष्टि करते हैं) कि-काम ही दाता है, काम ही ग्रहण करनेवाला है। उक्त देवतारूप काम ही समुद्रकी समान अवधिरहित रूपमें प्रवेश कर गया है ×। हे दक्षिणाद्रव्य ! ऐसे कामके द्वारा मैं तुझको ग्रहण करता हूँ, तुझ अपने आप ग्रहण नहीं करता हूँ, हे काम ! यह ग्रहण किया हुआ द्रव्य तेरे ही लिये है ॥ ७ ॥

† तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।५ में कहा है, कि-'क इदं कस्मा अदाद् इत्याह ॥-क इसको क के लिये देता हुआ। प्रजापति ही क हैं वह प्रजापतिके लिये देता है"।

‡ 'य एवं विद्वान् व्यावृत्त्य दक्षिणां प्रतिगृह्णाति नैनं दक्षिणा व्लीनाति ॥-जो यह जानता हुआ आत्माभिमानको अलग रख दक्षिणाको ग्रहण करता है उसको दक्षिणा दोषसे लिप्त नहीं करती है" (तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।१) ॥

× तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।६ में कहा है, कि-"समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति ॥-काम (इच्छा) समुद्रकी समान है, उसका अन्त नहीं है॥"

अष्टमी ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भूमिः । त्वा । प्रति । गृह्णातु । अन्तरिक्षम् । इदम् । महत् ।
मा । अहम् । प्राणेन । मा । आत्मना । मा । प्रऽजया । प्रतिऽगृह्य । वि । राधिषि ॥ ८ ॥

हे देय द्रव्य त्वा त्वां भूमिः भूदेवता प्रति गृह्णातु । तथा महत् अधिकं विस्तीर्णम् इदम् अन्तरिक्षं च त्वा त्वां प्रति गृह्णातु । अतः अहं प्रतिगृह्य प्रतिग्रहं कृत्वा तज्जनितदोषात् प्राणेन मुखनासिकाभ्यां संचरता जीवावस्थितिलिङ्गेन मा वि राधिषि राद्धो वर्जितो मा भूवम् । तथा आत्मना जीवेन तद्विशिष्टशरीरेण वा मा वि राधिषि । तथा प्रजया पुत्रपौत्रादिलक्षणया मा वि राधिषि । ❀ माङि लुङि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे देय द्रव्य ! भूमिदेवता तुझको ग्रहण करे । और यह परमविस्तृत अन्तरिक्ष भी तुझको ग्रहण करे । अत एव मैं प्रतिग्रहको करके उससे होने वाले दोषके कारण प्राणसे वियुक्त न होऊँ अर्थात् मुख और नासिकासे चलते हुए जीवकी स्थितिके चिन्ह और जीवसे सम्पन्न शरीरसे अलग न होऊँ तथा पुत्र पौत्र आदिसे वियुक्त न होऊँ ॥ ८ ॥

छठे अनुवाकमें चौथा सूक्त समाप्त (१००) ॥

"सहृदयं सांमनस्यम्" इति सूक्तेन सामनस्यकर्मणि ग्राममध्ये संपातितोदकुम्भनिनयनम् तद्वत् सुराकुम्भनिनयनम् त्रिवर्ष-

वत्सिकाया गोः पिशितानां प्राशनम् संपातितान्नप्राशनम् संपातितसुरायाः पायनम् तथाविधमपोदकपायनं च कुर्यात् । सूत्रितं हि ।"सहृदयम् [३. ३०] तद्सु ते [५. १. ५] सं जानीध्वम्" [६. ६४] इति प्रक्रम्य "सांमनस्यान्युदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति" इत्यादि [कौ० २. ३] ॥

तथा उपाकर्मण्यपि आज्यहोमे अस्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रितं हि । "अभिजिति शिष्यान् उपनीय श्वोभूते संभारान् संभरति" इति प्रक्रम्य "गणकर्मभिर्विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] । अत्र गणकर्मशब्देन "सहृदयम्" "तद् सु ते" इत्यादिगणो विवक्षितः ॥

"सहृदयं सांमनुष्यम्" इस सूक्तसे सांमनस्य कर्ममें ग्राममें सम्पातित जलपूर्ण कलशको लावे और सुराके कुम्भको लावे । तथा त्रिवर्षा गौके पिशितका भक्षण, सम्पातित अन्नका प्राशन, संपातित सुराका पान तथा ऐसी ही पौके जलका पान भी करे । सूत्रमें भी कहा है, कि–"स हृदयम्" (३ । ३०) तद् सु ते (५ । १ । ५) सं जानीध्वम् (६ । ६४) इति प्रक्रम्य "सांमनस्यान्युदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति" (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

तथा उपाकर्मके घृतहोममें भी इसका विनियोग होता है । सूत्रमें भी कहा है, कि–"अभिजिति शिष्यानुपनीय श्वोभूते संभारान् संभरति ॥–अभिजित् मुहूर्तमें शिष्योंका उपनयन करा कर दूसरा दिन आने पर संभारोंको लावे" इसका आरम्भ करके कहा है, कि–"गणकर्मभिर्विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात् ॥–गणकर्म–विश्वकर्म–आयुष्य और स्वस्त्ययनगणके मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय ।" (कौशिकसूत्र १४ । ३) ॥ वहाँ गणकर्म शब्दसे "सहृदयम्" "तद् सु ते" इत्यादि गण लिया जाता है ॥

तत्र प्रथमा ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

सऽहृदयम् । साम्ऽमनस्यम् । अविऽद्वेषम् । कृणोमि । वः ।

अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत । वत्सम् । जातम्ऽइव । अघ्न्या १

हे विवदमाना जनाः वः युष्माकम् अविद्वेषम् विद्वेषाभावोपलक्षितं सांमनस्यं कर्म कृणोमि करोमि । कीदृशं तत् सांमनस्यम् । सहृदयम् समानैर्हृदयैरुपेतम् । समानचित्तवृत्तियुक्तम् इत्यर्थः । सांमनुष्यम् । मिथः संप्रीतियुक्ता मनुष्याः संमनुष्याः तैर्निर्वर्तितं सांमनुष्यम् । ईदृशं समानज्ञानहेतुभूतं सख्यं करोमीत्यर्थः ॥ ततो यूयमपि जातं वत्सम् अघ्न्याः गोनामैतत् । अहन्तव्या गाव इव अन्योन्यं परस्परम् अभि हर्यत आभिमुख्येन कामयध्वम् । ❀ हर्य गतिकान्त्योः ❀ ॥

हे विवाद करने वाले मनुष्यों ! मैं तुम्हारे अर्थ विद्वेषभावको हटाने वाला, समान हृदय करने वाला प्रीतिमय सांमनस्य कर्म करता हूँ, अतः तुम गौएँ जैसे उत्पन्न हुए बछड़ेसे स्नेह करती हैं तिस प्रकार अभिमुख होकर वर्ताव करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अनुऽव्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु । सम्ऽमनाः ।

जाया । पत्ये । मधुऽमतीम् । वाचम् । वदतु । शन्तिऽवाम् ॥२॥

पुत्रः तनयः पितुरनुव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । अनुकूलकर्मा भवतु । यत् पिता कामयते तत्कर्मकारी भवतु ॥ माता च संमनाः पुत्रादिभिः समानमनस्का भवतु ॥ पत्ये भर्त्रे जाया भार्या मधुमतीम् माधुर्यवतीं शन्तिवाम् सुखयुक्तां वाचं वदतु ब्रवीतु । समानमनस्का भवतु इत्यर्थः । ❀ पत्ये । "पतिः समास एव" इति घिसंज्ञाया नियमात् केवलस्य अभावात् तत्कार्याभावे यण् । शन्तिवाम् इति । "कंशंभ्याम्०" इति शम्शब्दात् तिप्रत्ययः । ततो मत्वर्थीयो वः ❀ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करने वाला हो, माता पुत्र आदिके साथ एकसे मन वाली हो, भार्या पतिसे मधुरताभरी सुखदायिनी वाणी बोले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा ।
सम्यञ्चः । सऽव्रतः । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥ ३ ॥

भ्राता सोदरः भ्रातरं मा द्विष्यात् दायभागादिनिमित्तेन भ्रातृविषयम् अप्रियं मा कुर्यात् ॥ उत अपि च स्वसारम् भगिनीं स्वसा मा द्विष्यात् । ❀ "ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपः "न षट्स्वस्रादिभ्यः" इति प्रतिषेधः ❀ ॥ ते सर्वे भ्रात्रादयः सम्यञ्चः समञ्चनाः समानगतयः सव्रताः समानकर्माणो भूत्वा भद्रया कल्याण्या वाचा वागिन्द्रियेण वाचं वदतु वदन्तु । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् । सम्यञ्च इति । संपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "समः समि" इति सम्यादेशः ❀ ॥

सहोदर भ्राता दायविभागके निमित्त भ्राताका अप्रिय न करे बहिन भाईसे द्वेष न करे। ये सब भ्राता आदि समान गति और समान कर्म वाले होकर कल्याणकारी वार्तालाप करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ विद्वि॒षते॑ मि॒थः ।
तत् कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः ॥ ४ ॥

येन॑ । दे॒वाः । न । वि॒ऽयन्ति॑ । नो इति॑ । च॒ । वि॒ऽद्वि॒षते॑ । मि॒थः ।
तत् । कृ॒ण्मः॒ । ब्रह्म॑ । वः॒ । गृ॒हे । स॒म्ऽज्ञान॑म् । पुरु॑षेभ्यः ॥४॥

येन ब्रह्मणा देवा इन्द्रादयः न वियन्ति विमतिं न प्राप्नुवन्ति। नो च नैव च मिथः परस्परं विद्विषते विद्वेषं न कुर्वते । ❀ द्विष अप्रीतौ । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तत् संज्ञानम् समानज्ञाननिमित्तम् ऐकमत्यापादकं ब्रह्म मन्त्रात्मकं सांमनस्यं वः युष्माकं गृहे पुरुषेभ्यः। तादर्थ्ये चतुर्थी । तदर्थं कृण्मः कुर्मः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उकारलोपः ❀ ॥

जिस मन्त्रके प्रभाववश देवता भिन्न मति वाले नहीं होते हैं और परस्पर द्वेष भी नहीं करते हैं। उस समान ज्ञानके कारण अर्थात् एकमतिका सम्पादन करने वाले मन्त्रात्मक सांमनस्यको हम तुम्हारे घरके पुरुषोंके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्तः॒ सधु॑रा॒श्चर॑न्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायस्वन्तः । चित्तिनः । मा । वि । यौष्ट । सम्ऽराधयन्तः । सऽधुराः । चरन्तः ।
अन्यः । अन्यस्मै । वल्गु । वदन्तः । आ । इत । सध्रीचीनान् । वः । सम्ऽमनसः । कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायस्वन्तःज्यायस्त्वगुणोपेताः । ज्येष्ठकनिष्ठभावेन परस्परम् अनुसरन्त इत्यर्थः । चित्तिनः समानचित्तयुक्ताः संराधयन्तः समानसंसिद्धिकाः । समानकार्या इत्यर्थः । सधुराः समानकार्योद्वहनाः । ❀ "ऋक्पूरब्धूःपथाम्०" इति अकारः समासान्तः ❀ । इत्थं चरन्तः वर्तमाना यूयं मा वि यौष्ट मा पृथग् भूत । वियुक्ता मा भवतेत्यर्थः । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोरित्यस्मात् माङि लुङि मध्यमबहुवचने रूपम् । इडभावश्छान्दसः ❀ । अन्योन्यस्मै परस्परं वल्गु शोभनं प्रियवाक्यं वदन्तः भाषमाणा यूयम् एत आगच्छत ॥ अहमपि हे जनाः वः युष्मान् सध्रीचीनान् सहाञ्चतः कार्येषु सह प्रवृत्तान् संमनसः समानमनस्कान् कृणोमि करोमि । ❀ सध्रीचीनान् इति । सह अञ्चन्तीति विगृह्य अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "सहस्य सध्रिः" इति सध्र्यादेशः । "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः । ततो भसंज्ञायाम् "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ॥

तुम छोटे बड़ेका ध्यान कर वर्ताव करते हुए, समान चित्त रखते हुए, समान कार्य करते हुए अलग न होओ तुम परस्पर शोभन प्रिय वाणी बोलते हुए आओ । हे मनुष्यो ! मैं भी तुमको एकसे कार्योंमें प्रवृत्त होने वाले करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

समानी । प्रऽपा । सह । वः । अन्नऽभागः । समाने । योक्त्रे । सह । वः । युनज्मि ।
सम्यञ्चः । अग्निम् । सपर्यत । अराः । नाभिम्ऽइव । अभितः ६

हे सांमनस्यकामाः वः युष्माकं समानी एका प्रपा पानीयशाला भवतु । अन्नभागश्च सहैव भवतु । परस्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितम् अन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यताम् इत्यर्थः । तदर्थम् अहं वः युष्मान् समाने योक्त्रे एकस्मिन् बन्धने स्नेहपाशे सह युनज्मि बध्नामि ॥ अपि च सम्यञ्चः सङ्गताः एकफलार्थिनो भूत्वा समानज्ञानाः सन्तः अग्निं सपर्यत पूजयत । ❀ सपर पूजायाम् कण्ड्वादित्वाद् यक् ❀ । कथमिव स्थिता इति तत्राह । अरा नाभिमिव अभितः । रथचक्रस्य मध्यच्छिद्रं नाभिः । तस्या अभितो वर्तमाना अराः चक्रावयवाः कीलका नियतस्थानाः परिवेष्टय वर्तते । एवम् एकम् अग्निम् अभितो वर्तमानाः परिचरतेत्यर्थः । ❀ "अभितः परितः समया०" इति स्मरणात् तद्योगाद् नाभिम् इति द्वितीया ❀ ॥

हे सांमनस्यकी इच्छा करने वालो ! तुम्हारी एक ही पौ हो और अन्नभाग भी समान ही हो अर्थात् परस्पर अनुरागके कारण तुम एक जगह ही अन्न पान आदिका उपभोग करो इस लिये मैं तुमको एक स्नेहपाशमें साथ २ बाँधता हूँ जैसे अरे

नाभिका आश्रय करके रहते हैं तैसे ही तुम एक ही फलको चाहने वाले बन कर अग्निकी पूजा करो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु

सध्रीचीनान् । वः । सम्ऽमनसः । कृणोमि । एकऽश्नुष्टीन् । सम्ऽवननेन । सर्वान् ।
देवाःऽइव । अमृतम् । रक्षमाणाः । सायम्ऽप्रातः । सौमनसः । वः । अस्तु ॥ ७ ॥

सध्रीचीनान् सह प्रवर्तमानान् एककार्यकरणे सहोद्युक्तान् संमनसः समानमनस्कान् वः युष्मान् कृणोमि करोमि ॥ तथा युष्माकम् एकश्नुष्टिम् एकविधं व्यापनम् एकविधस्यान्नस्य भुक्तिं वा करोमि । संवननेन वशीकरणेन अनेन सौमनस्यकर्मणा युष्मान् सर्वान् । वशीकरोमीत्यर्थः ॥ अमृतम् द्युलोकस्थम् अजरामरत्वप्रापकं पीयूषं रक्षमाणाः ऐकमत्येन पालयन्तः देवा [इव] इन्द्रादयो यथा सौमनस्ययुक्ता भवन्ति एवं वः युष्माकं सायंप्रातः एतदुपलक्षिते सर्वस्मिन् काले सौमनसः सौमनस्यं शोभनमनस्कत्वम् [अस्तु] भवतु

इति पञ्चमं सूक्तम्

मैं तुमको एकसा कार्य करनेमें प्रवृत्त और समान मन वाले करता हूँ और तुमको एक प्रकारका अन्न खाने वाला करता हूँ, इसी वशीकरण कर्मके द्वारा तुम सबको मैं वशमें करता हूँ, स्वर्गमें स्थित अजर अमर करने वाले अमृतकी एक मतसे रक्षा

करने वाले इंद्र आदि देवता जैसे शोभन मन वाले रहते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातःकाल आदि सब समय तुम्हारा मन शोभन रहे७

पञ्चम सूक्त समाप्त (१०१)॥

"वि देवा जरसा" इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य शरीरम् आचार्यः अभिमन्त्रयेत। तथा च कौशिक सूत्रम्। "वि देवा जरसा [३. ३१] उत देवाः" [४. १३] इत्यादि "विषासहिम् [१७. १] इत्यभिमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६]॥

तथा पितृमेधे दहनानन्तरम् उदकसमीपे एतत् सूक्तं ब्रह्मा जपेत्

तथा आग्रहायणीकर्मणि "उदायुषा" [१०, ११] इति द्वाभ्याम् उत्तिष्ठेत्। सूत्रितं हि। "आग्रहायण्यां पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु" इति प्रक्रम्य "उदायुषेत्यभ्युपोत्तिष्ठति" इति [कौ० ३. ७]॥

तथा सोमक्रयणानन्तरम् "उदायुषा" [१०] इति ब्रह्मा उत्तिष्ठेत्। तथा च वैतानम्। "क्रीते कुरीरं निमुं ष्णाति। उदायुषेत्युपोत्तिष्ठति" इति [वै० ३. ३]॥

'वि देवा जरसा' इस सूक्तसे उपनयनके अनन्तर आयु चाहने वाले बालकके शरीरका आचार्य अभिमंत्रण करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'वि देवा जरसा (३। ३१) उत देवाः (४। १३) इत्यादि "विषासहिम् (१७। १) इत्यभिमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र (७।६)"

तथा पितृमेधमें दहनके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा इस सूक्तका जप करे॥

तथा आग्रहायणीकर्ममें "उदायुषा" इन दशवीं और ग्यारहवीं ऋचाओंसे उठे। इसी बातको कौशिकसूत्र ३। ७ में कहा है, कि–"आग्रहायण्यां पश्चात् अग्नेर्दर्भेषु" इति प्रक्रम्य "उदायुषेत्यभ्युपोत्तिष्ठति"॥

तथा सोमक्रयणके पीछे 'उदायुषा' इस दशवीं ऋचाको पढ़कर ब्रह्मा उठे । इसी बातको वैतानसूत्र ३ । ३ में कहा है, कि "क्रीते कुरीरं निष्ठ्यणाति । उदायुषेत्युपेतिष्ठति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१॥

वि । देवाः । जरसा । अवृतन् । वि । त्वम् । अग्ने । अरात्या ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा १

हे देवा देवौ अश्विनौ इमम् उपनीतं जरसा जरया वयोहान्या व्यवृतम् वियोजयतम् । जृष् वयोहानौ इत्यस्मात् "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इति अङ् । "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ॥ हे अग्ने त्वमपि अरात्या अदानेन अमित्रेण वा वि योजय ॥ अहं च सर्वेण पाप्मना रोगादिदुःखजनकेन पापेन इमं वि योजयामि । यक्ष्मेण च वि योजयामि । आयुषा चिरकालजीवनेन सं योजयामि ॥

हे अश्विनीकुमार नामक देवताओं ! तुम इस उपनीत बालकको अवस्थाहानिरूप बुढ़ापेसे अलग रखिये । हे अग्ने ! आप भी इसको दानरहितपनेसे और अमित्रोंसे अलग रखिये । और मैं इसको दुःखदायक पापसे अलग करता हूँ यक्ष्मारोगसे मुक्त करता हूँ और दीर्घायुसे संयुक्त करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

व्यात्यां पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥२॥

वि । आर्त्या । पवमानः । वि । शक्रः । पापऽकृत्यया ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा २

पवमानः सर्वत्र संचरन् वायुः आर्त्या रोगादिजनितपीडया वि योजयतु ॥ शक्रः सर्वकार्येषु शक्त इन्द्रः पापकृत्यया। पापस्य कृत्या करणं पापकृत्या । ❀ "कृञः श च" इति भावे क्यप् ❀ । तया ब्रह्मचारिणं वि योजयतु ॥

सर्वत्र विचरण करने वाले वायुदेव इसको रोगजनित पीड़ासे मुक्त करें और सब कार्योंमें समर्थ इन्द्रदेव इस ब्रह्मचारीको पापके करनेसे अलग रक्खें और मैं इसको रोग आदि दुःखको देने वाले पापसे अलग रखता हूँ, राजयक्ष्मारोगसे अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे संयुक्त करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ३

वि । ग्राम्याः । पशवः । आरण्यैः । वि । आपः । तृष्णया । असरन् ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा

ग्राम्याः ग्रामे भवा गोमहिषाद्याः पशवः आरण्यैः अरण्योत्पन्नैः श्वापदादिभिर्दुष्टमृगैः स्वभावतो विगता यथा भवन्ति । यथा च आपः तृष्णया पिपासया व्यसरन् विगता भवन्ति । जलव्यतिरिक्तस्य हि प्राणिजातस्य पिपासा । एवम् अहं सर्वेण पाप्मना ब्रह्मचारिणं विगमयामीत्यर्थः । गतम् अन्यत् ॥

ग्राममें रहने वाले गौ भैंस आदि पशु जैसे जंगलमें रहने वाले मांसभक्षी सिंह आदिसे स्वभावतः अलग रहते हैं और जल-

रहित. पिलासे प्राणीकी पियाससे जल जैसे अलग होते हैं। इसी प्रकार मैं भी सब पापोंसे ब्रह्मचारीको अलग रखता हूँ यक्ष्मा-रोगसे ब्रह्मचारीको अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥४॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः । दिशम्ऽदिशम् ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ४ ॥

इमे परिदृश्यमाने द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ वीतः विगच्छतः स्वभावतो वियुक्ते एव भवतः। दिशंदिशम् एकस्माद् ग्रामाद् प्रतिदिशं गच्छन्तः पन्थानः मार्गाः वि यन्ति स्वभावतो विगताः पृथगवस्थाना भवन्ति। यथैवं तथा इमं माणवकं सर्वेण पाप्मना स्वभावतो वियुक्तं करोमि। गतम् अन्यत् ॥

ये द्यावापृथिवी स्वभावतः अलग २ होते हैं, एक ग्रामसे दूसरी दिशाओंको जाने वाले मार्ग भी स्वभावतः अलग अलग ही स्थित होते हैं, इसी प्रकार मैं इस बालकको पापोंसे स्वभावतः अलग करता हूँ, यक्ष्मारोगसे अलग करता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनक्ति । इति । इदम् । विश्वम् ।
भुवनम् । वि । याति ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा देवो दुहित्रे विवाहकाले स्वदुहितृप्रीत्यर्थं वहतुम् । पुरुषैरुह्यते जामातृगृहं प्राप्यत इति वहतुः । दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं वस्त्रालंकारादि द्रव्यं वहतुशब्देन विवक्षितम् । "मा हिंसिषुर्वहतुम् उह्यमानम्" [१४. २. ६] इत्यादिमन्त्रान्तरप्रसिद्धम् । तद् युनक्ति प्रस्थापयति इति बुद्ध्या तस्य अवकाशं दातुम् इदं विश्वं भुवनम् पृथिव्यन्तरिक्षादिरूपं वि याति परस्परं विगतं भवति । एवम् अहम् इमं माणवकं पाप्मना वियोजयामीत्यर्थः । गतम् अन्यत् ॥

त्वष्टा देवताने अपनी पुत्रीके विवाहके समय दहेज भेजा था (उसको देख कर) उसको आनेके लिये स्थान देनेके लिये यह सारा पृथिवी और अन्तरिक्ष परस्पर अलग होगया था । इसी प्रकार मैं इस बालकको पापसे मुक्त करता हूं यक्ष्मारोगसे मुक्त करता हूं और दीर्घायुसे संयुक्त करता हूं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

अग्निः । प्राणान् । सम् । दधाति । चन्द्रः । प्राणेन । सम्ऽहितः ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ६ ॥

अग्निः अशितपीतपरिणामहेतुः अन्तरवस्थितो जाठररूपः प्राणान् चक्षुरादीन्द्रियाणि अन्नरसप्रापणेन सं दधाति संहितान् संश्लिष्टान् स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । तथा चन्द्रः सोमः प्राणेन प्राणवायुना तदाधारभूतेन मनसा वा संहितः सन् अमृतमयेन रसेन कृत्स्नम् आत्मानं पोषयतीत्यर्थः । "एतावद् वा इदम् अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः" इत्यादिश्रुतेः अग्नीषोमात्मकत्वाद् विश्वस्य अत्र तयोरुपादानम् । गतम् अन्यत् ॥

खाये पियेको पचाने वाला शरीरके भीतर स्थित जाठराग्नि चक्षु आदि प्राणोंको अन्नका रस प्राप्त करा कर अपने २ कार्य को करनेमें समर्थ करता है, इसी प्रकार चन्द्रमा प्राणवायुसे वा आधारभूतमनसे संहित होकर अमृतमय रससे आत्माको पोषण करता है । मैं इस बालकको सब प्रकारके पापोंसे मुक्त करता हूँ, यक्ष्मारोगसे मुक्त करता हूँ और आयुसे सम्पन्न करता हूँ ६

सप्तमी ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

प्राणेन । विश्वतःऽवीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐरयन् ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ७ ॥

विश्वतः सर्वतो वीर्यम् वीर्यभूतं सूर्यम् सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरकम् आदित्यं प्राणेन जगत्प्राणरूपेण देवाः समैरयन् सर्वत्र प्रावर्तयन् । "योसौ तपन्नुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति" [तै० आ० १. १४. १] इत्यादिश्रुतेः । अतस्तादृशं प्राणात्मकं सूर्यं माणवके आयुषोभिवृद्धये संस्थापयामीत्यर्थः ॥

सब ओरसे वीर्यरूप सब प्राणियोंके प्रेरक सूर्यदेवको जगत्के

प्राणरूपसे देवताओंने ग्रहण किया था †। अतः ऐसे प्राणात्मक सूर्यदेवको मैं बालकमें आयुर्वृद्धिके लिये स्थापित करता हूँ, इस बालकको मैं रोगोत्पत्तिके कारण सब पापोंसे अलग करता हूँ, यक्ष्मारोगसे दूर रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ७

अष्टमी ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥

आयुष्मताम् । आयुःऽकृताम् । प्राणेन । जीव । मा । मृथाः ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा॥८

आयुष्मताम् प्रशस्तेन दीर्घेण आयुषा तद्वताम् आयुष्कृताम् तादृशस्य आयुषः कर्तॄणां देवानां संबन्धिना प्राणेन दृढतरेण चिरकालावस्थायिना प्राणवायुना हे माणवक जीव प्राणान् धारय चिरकालं वर्तस्व । मा मृथाः प्राणान् मा त्याक्षीः । ❀ "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च" इति आत्मनेपदम् । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ ॥

आयु वालोंकी प्रशस्त दीर्घायुसे और आयु करने वाले देवताओंके चिरकाल तक स्थिर रहने वाले परम दृढ़ प्राणवायुसे हे बालक ! तू प्राणोंको चिरकाल तक धारण कर, प्राणोंको मत त्याग, मैं तुझको सब पापोंसे छुड़ाता हूँ, यक्ष्मारोगसे छुड़ाता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

† तैत्तिरीय आरण्यक १ । १४ । १ में कहा है, कि—"योऽसौ तपन्नुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति ॥—यह जो ताप देते हुए सूर्य उदय होते हैं। यह प्राणियोंके प्राणोंको साथ लेते हुए उदित होते हैं" ॥

नवमी ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

प्राणेन । प्राणताम् । प्र । अन । इह । एव । भव । मा । मृथाः ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ९

प्राणताम् प्राणनव्यापारं कुर्वतां श्वसतां प्राणिनां सर्वेषां संबन्धिना प्राणेन प्राणवायुना हे माणवक प्राण प्राणनव्यापारं कुरु । ततश्च इहैव अस्मिन्नेव लोके भव वर्तस्व । मा मृथाः मा प्राणांस्त्याक्षीः । यद्वा हे प्राण इहैव माणवके भवेति योज्यम् ॥

प्राणन व्यापार करने वाले सब प्राणियोंके श्वाससे हे बालक ! तू प्राणनका अर्थात् श्वास लेनेका व्यापार कर । इसी लोकमें रह व्यर्थ ही मत मर, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करता हूँ, यक्ष्मारोगसे छुड़ाता हूँ तथा दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ॥९॥

दशमी ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।
व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१०॥

उत् । आयुषा । सम् । आयुषा । उत् । ओषधीनाम् । रसेन ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा १०

अस्थामेति उपरि वक्ष्यमाणा क्रिया अत्रापि उपसर्गेण संबध्यते । आयुषा जीवनेन चिरकालावस्थानेन वयम् उत् अस्थाम उत्थिता मृत्योरुत्तीर्णा भवाम ॥ तथा तादृशेन आयुषा सम् अस्थाम अस्मिन् लोके सम्यक् स्थिता भवाम । ओषधीनाम्

ब्रीहियवादीनां रसेन आयुष्करेण सारेण उत् अस्थाम उत्थिताः प्रवृद्धा अभूम ॥ स्पष्टम् अन्यत् ॥

हम आयुके प्रभावसे मृत्यसे उत्तीर्ण होते हैं तथा आयके द्वारा हम इस लोकमें स्थित होते हैं और जो धान आदि औषधियोंके आयुप्रद रससे हम बढ़ते हैं। मैं सब रोगोंके कारण पापसे तुझको अलग करता हूँ, यक्ष्मारोगसे अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ १० ॥

एकादशी ॥

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥११॥

आ । पर्जन्यस्य । वृष्ट्या । उत् । अस्थाम । अमृताः । वयम् ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥११॥

आ समन्तात् स्थितस्य पर्जन्यस्य वृष्टिकारिणो देवस्य संबन्धिन्या वृष्ट्या जगत्प्राणभूतेन वर्षजलेन वयम् अमृताः मरणरहिता अमृतत्वं प्राप्ताः सन्तः उत् अस्थाम उत्थिता भवाम । ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति तिष्ठतेर्लुङ् । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । अमृता इति । "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । व्याहम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] तृतीये काण्डे षष्ठेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरंधरेण
सायणाचार्येण विरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे
तृतीयकाण्डः समाप्तः ॥

हम वर्षा करने वाले पर्जन्यदेवके जगत्के प्राणभूत वर्षाजल से अमृतत्वको पाकर उठते हैं। मैं सब रोगोंके कारण पापसे तुझको मुक्त करता हूँ, यक्ष्मारोगसे तुझको मुक्त करता हूँ और दीर्घायुसे तुझको सम्पन्न करता हूँ ॥ ११ ॥

तृतीयकाण्डके छठे अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (१०१)॥

छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका तृतीयकाण्ड ऋ० कु० प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल भाषानुवाद सहित समाप्त.

तृतीयः काण्डः समाप्तः

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

चतुर्थ-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

॥❀ श्रीगणेशाय नमः ❀॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और वेदोंसे जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्को रचा है, उन विद्यातीर्थ-महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

चतुर्थे काण्डे अष्टावनुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "ब्रह्म जज्ञानम्" इति आद्यं सूक्तं वेदकल्पाद्यध्ययनादौ विघ्नशमनार्थम् शास्त्रवादादौ प्रतिवादिजयार्थं च जपेत् । सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् इत्यध्यायान् उपाकरिष्यन्नभिव्याहारयति प्राशम् आख्यास्यन् ब्रह्मोद्यं वदिष्यन्" इति [कौ० ५. २] ॥

तथा गोपुष्टिकर्मणि गवां रोगशमने च अनेन सूक्तेन लवणम् अभिमन्त्र्य गाः पाययेत् ॥

तथा अनेनैव प्रपातटाकादिस्थम् उदकम् अभिमन्त्र्य गाः पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् [४. १] आ गावः [४. २१] एका च मे [५. १५] इति गा लवणं पाययत्युपतापिनीः प्रजननकामाः । प्रपाम् अवरुणद्धि" इति [कौ० ३. २] ॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इति आद्या बृहद्गणे पठिता। तस्य बृहद्गणस्य यत्र यत्र विनियोगस्तत्रतत्र अस्या विनियोगो द्रष्टव्यः॥

तथा विवाहे चतुर्थिकाकर्मणि "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्यनया वरः अंगुष्ठेन प्रजननदेशं तुदति। सूत्रितं हि। "ब्रह्म जज्ञानम् इत्यंगुष्ठेन व्यचस्करोति" इति [कौ० १० ५]॥

उपाकर्मणि च "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्येताम् उपाध्यायो जपेत्। सूत्रितं हि। "अन्यसश्च [१९. ६८] इति जपित्वा सावित्रीं ब्रह्म जज्ञानम् [१] इत्येकाम् इति [कौ० १४. ३]॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इति द्वाभ्यां प्रवर्ग्ये कर्मणि निधीयमानं महावीरम् अनुमन्त्रयेत। सूत्रितं हि। "ब्रह्म जज्ञानम् [१] इयं पित्र्या [२] इति शस्त्रवद् अर्धर्चशः आहावमतिगरवर्जम्" इति [वै० ३. ४]॥

तथा अग्निचयने हिरण्मयरुक्मम् उपधीयमानं "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्यनया अनुमन्त्रयेत। उक्तं वैताने। "ब्रह्म जज्ञानम् इति रुक्मं निधीयमानम्" इति [वै० ५. १]॥

तथा "ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य ब्रह्मशयनाग्निज्वलने च" [न० क० १७] इति विहितायां ब्राह्मयां महाशान्तौ "ब्रह्म जज्ञानम्" इति विनियुक्तम्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "ब्रह्म जज्ञानम् ब्रह्म भ्राजत्" इति [न० क० १८]॥

तथा तुलापुरुषविधौ "ब्रह्म जज्ञानम्" इति जुहुयात्। तद् उक्तं परिशिष्टे। "अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य "महाव्याहृतिं सावित्रीं शान्तिं ब्रह्म जज्ञानम् इति हुत्वा" इति [प० ११. १]॥

चतुर्थ काण्डमें आठ अनुवाक हैं। इनमेंके पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस प्रथमसूक्तका वेदकल्प आदिके अध्ययनके आरम्भमें विघ्नशमनके लिये किये जाने वाले

शास्त्रवादकी आदिमें और प्रतिवादीका जय करनेके लिये भी जप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ब्रह्म जज्ञानम् इत्यध्यायान् उपाकरिष्यन्नभिव्याहारयति शशं आख्यास्यन् ब्रह्मोद्यं वदिष्यन्" (कौशिकसूत्र ५ । २) ॥

तथा गोपुष्टिकर्ममें और गौओंका रोग शान्त करनेके लिये भी लवणको अभिमंत्रित कर गौओंको पिलावे।

तथा इसी सूक्तसे पौ वा तालाब आदिके जलका अभिमंत्रण करके गौओंको पिलावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ब्रह्म जज्ञानम् (४ । १) आ गावः (४ । २१) एका मे (५ । १५) इति गा लवणं पाययत्युपतापिनीः प्रजननकामाः। प्रपास् अवरुणद्धि" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इस पहिली ऋचाका बृहद्गणमें पाठ है। अत एव बृहद्गणका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये।

तथा विवाहके समय चतुर्थिकाकर्ममें वर 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस ऋचाको पढ़ता हुआ अँगूठेसे प्रजननदेशको तुदन करे। सूत्रमें भी कहा है, कि–"ब्रह्म जज्ञानम् इत्यङ्गुष्ठेन व्यचस्करोति" (कौशिकसूत्र १० । ५) ॥

उपाकर्ममें भी उपाध्याय 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस ऋचाका जप करे। सूत्रमें भी कहा है, कि–"अव्यसश्च (१९ । ६८) इति जपित्वा सावित्रीं ब्रह्म जज्ञानम्(१)इत्येकाम्"(कौशिकसूत्र१४।२)॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" आदि दो ऋचाओंसे प्रवर्ग्यकर्ममें निधीयमान महावीरका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ब्रह्म जज्ञानम् (१) इयं पित्र्या (२) इति शस्त्रवद् अर्धर्चश आहावमतिगरवर्जम्" (वैतानसूत्र ३ । ४) ॥

तथा अग्निचयनमें उपधीयमान हिरण्मय रुक्मका 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—

तथा—"ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ॥—ब्रह्मवर्च चाहने वालेके वस्त्र और शयनके अग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित ब्राह्मी महाशान्तिमें 'ब्रह्म जज्ञानम्'का विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"ब्रह्म जज्ञानम् ब्रह्म आजत्"

तथा तुलापुरुषविधिमें "ब्रह्म जज्ञानम्" इस सूक्तसे आहुति देय। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सुऽरुचः । वेनः । आवः ।
सः । बुध्न्याः । उपऽमाः । अस्य । विऽस्थाः । सतः । च । योनिम् । असतः । च । वि । वः ॥ १ ॥

"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" [तै० आ० ८. १] इति त्रय्यन्तप्रसिद्धं सच्चित्सुखात्मकम् अपरिच्छिन्नं सर्वजगत्कारणं यत् परं ब्रह्म तद् पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले सृष्ट्यादौ प्रथमम् प्रथम-

कार्यं हिरण्यगर्भरूपं सूर्यात्मकं जज्ञानम् जातम् उत्पन्नम् । उक्तं हि ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते

इति । यद्वा उक्तलक्षणं सूर्यात्मकं परं ब्रह्म प्रत्यहं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि प्रथमं जज्ञानं पूर्वम् आविर्भूतं सत् पश्चात् स्वतेजसा कृत्स्नं जगद् व्याप्नोतीत्यर्थः । अथ वा प्रथमम् मुख्यं सर्वतेजसां प्रधानभूतम् । ॐ जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् लिट् । "लिटः कानज्वा" इति कानजादेशः । "गमहन०" इति उपधालोपे "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनम् । "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" "अस्तीति च" इति पूर्वशब्दात् सप्तम्यर्थे अस्तातिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पुर् आदेशश्च ॐ । तच्च पूर्वस्यां दिशि प्रादुर्भूतं हैरण्यगर्भं सूर्यात्मकं परमं तेजो वेनः कान्तः मध्यमस्थानः प्रकाशप्रवर्षणादिहेतुर्देवः । ॐ वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः इति निरुक्तम् [नि० १०. ३८] ॐ । तत्स्वरूपं "वेनस्तत् पश्यत्" [२. १] इत्यत्र विस्तरेणोक्तम् । स च दीप्यमानः परब्रह्मात्मको वेनः सीमतः सीमभ्यः लोकमर्यादाभ्यो दिक्प्रान्तदेशेभ्यः आरभ्य सुरुचः शोभना दीप्तीः स्वकीयाः सुष्ठु रोचमानान् लोकान् वा व्यावः विवृणोति विशेषेण आवृणोति । प्रभामण्डलेन अन्धतमसं निराकृत्य सर्वं जगत् छादयतीत्यर्थः । ॐ सीमत इति । सीमन्शब्दात् "अपादाने चाहीयरुहोः" इति तसिप्रत्ययः । आवरिति । वृञ् वरणे इत्यस्मात् "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लुङ् । "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् । हल्ङ्यादिलोपे "छन्दस्यपि दृश्यते" इति आडागमः ॐ ॥ न केवलं पार्थिवानेव लोकान् आवृणोति आन्तरिक्षानपीत्याह स इति । स च सूर्यात्मको वेनः बुध्न्याः बुध्नम् अन्तरिक्षम् तत्र भवा बुध्न्याः । ॐ "भवे छन्दसि" इति यत् ॐ । अस्य कारणभूतस्य ब्रह्मणस्तेजसा उपमाः उपमीयमानाः परिच्छिद्यमाना विष्ठाः विवि-

षम् अवस्थिताः । ईदृशान् आन्तरिक्षानपि लोकान् व्याववरिति संबन्धः । ❀ उपमा इति । "आतश्चोपसर्गे" इति कर्मणि अङ् प्रत्ययः । विष्ठा इति । विपूर्वात् तिष्ठतेः "आतश्चोपसर्गे" इति कर्तरि कः ❀ । यद्वा अस्य प्रपञ्चस्य विष्ठाः विविधा अवस्थितीः वियदादिभूतभौतिकात्मिकाः व्यावृणोति । ❀ "आतश्चोपसर्गे" इति भावे अङ् । "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादिना षत्वम् ❀ ॥ किं बहुना । सतश्च विद्यमानस्य अभिव्यक्तनामरूपप्रपञ्चस्य योनिम् कारणम् असतश्च अव्याकृतावस्थस्य अनभिव्यक्तनामरूपात्मकस्य प्रपञ्चस्य योनिम् कारणभूतां सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकां मूलप्रकृतिं वि वः विवृणोति व्याप्नोति । ❀ पूर्व लुङ् ❀ । यद्वा सच्छब्देन चक्षुर्ग्राह्यं पृथिव्यप्तेजोलक्षणं भूतत्रयम् उच्यते । असच्छब्देन च परोक्षं वाय्वाकाशलक्षणं भूतद्वयम् उच्यते । एतच्च प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्वैविध्यम् अन्यत्र आम्नातम् । "सच्च त्यच्चाभवत्" [तै० आ० ८, ६] इति ॥ एतदुक्तं भवति । उदीरितलक्षणं परं ब्रह्म स्वमायाशक्तिवशेन आदित्यापरपर्यायो वेनो भूत्वा स्वतेजसा भूतभौतिकात्मकं जगत् सकारणकं व्याप्नोतीति ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस तैत्तिरीय आरण्यक ८ । १ में प्रसिद्ध सत्–चित्–सुखात्मक अपरिच्छिन्न तथा सब जगत्का कारण जो परब्रह्म है वह पहिले सृष्टिकी आदिमें प्रथमकार्य हिरण्यगर्भरूप सूर्यरूपमें उत्पन्न हुआ है ‡ वह पूर्वदिशामें उदय हुआ हिरण्यगर्भका सूर्यात्मक परम तेज वेन है अर्थात् कान्ति फैलाने वाला है तथा प्रकाश और वर्षाका कारण मध्य-

‡ "स वै शरीरी प्रथमं स वै पुरुष उच्यते । वही प्रथम शरीरधारी हैं वही पुरुष कहलाते हैं ।"

मस्थानीय देवता है †। वह दमकता हुआ परब्रह्मात्मक वेन (आदित्य) लोकमर्यादाके लिये बाँधी हुई दिशाओंके कोनोंसे लेकर सुन्दर कांति वाले लोकों तकको व्याप्त कर देता है अर्थात् प्रभामण्डलसे अंधकारको दूर कर सब जगत्को छा लेता है। वह केवल पार्थिव लोकोंको ही नहीं छा लेता है, किंतु वह सूर्यात्मक वेन कारणभूत ब्रह्मके तेजसे परिच्छिन्न अनेक प्रकारसे स्थित अन्तरिक्षके लोकोंको और इस प्रपञ्चकी स्थितिके कारण आकाश आदि भूत भौतिक स्थितियोंको व्याप्त कर लेता है। अधिक क्या कहें, सत् अर्थात् विद्यमान प्रकट नाम और रूप प्रपञ्चकी और असत् अर्थात् अप्रकट अवस्थामें स्थित नामरूप वाले प्रपञ्चकी कारण सत्त्वरजस्तमोगुणरूपा मूल-प्रकृतिको भी व्याप्त कर लेता है और सत्—चक्षुसे ग्रहण करने योग्य पृथ्वी जल और तेजरूप तीन भूतोंको तथा असत्—परोक्ष वायु आकाशरूप दो भूतोंको भी व्याप्त कर लेता है +। तात्पर्य यह है, कि—पूर्वोक्त लक्षण वाला परब्रह्म अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे आदित्य (वेन) बन कर अपने तेजसे भूत समूह और भूतोंसे बने हुए कारणसहित पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लेते हैं १

द्वितीया ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे

---

† इसका स्वरूप 'वेनस्तत् पश्यत्' इस द्वितीयकाण्डके प्रथम सूक्तमें विस्तारपूर्वक दिखाया है ॥

+ प्रत्यक्ष और परोक्ष ये भूतोंके दो भेद अन्यत्र भी कहे हैं, कि—"सच्चत्यच्चाभवत्" (तैत्तिरीय आरण्यक ८ । ६) ॥

इयम् । पित्र्या । राष्ट्री । एतु । अग्रे । प्रथमाय । जनुषे । भुवनेऽस्थाः ।

तस्मै । एतम् । सुऽरुचम् । ह्वारम् । अह्यम् । घर्मम् । श्रीणन्तु । प्रथ-

माय । धास्यवे ॥ २ ॥

पित्र्या । पिता कृत्स्नस्य जगत उत्पादयिता प्रजापतिः । तत आगता । ❀ "पितुर्यच्च" इति यत् प्रत्ययः ❀ । भुवनेष्ठाः भुवने भूतजाते नादात्मना व्याप्य तिष्ठतीति भुवनेष्ठाः उक्तं हि आचार्यैः शब्दब्रह्मप्रकरणे ।

स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ।
आविर्भवति देहेषु प्राणिनाम् अर्थविस्तृतः ॥

इति ॥ इयम् परिदृश्यमाना शब्दब्रह्मात्मिका वाग्देवता राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । राज्ञी सर्वजगद्व्यवहारस्य ईश्वरा नियन्त्री प्रथमाय प्रथमशब्दवाच्याय प्रागुक्ताय ब्रह्मणे जनुषे सूर्यात्मना जायमानाय । ❀ जनेरुसिः [उ० २. ११४] इति कर्तरि उसिप्रत्ययः । "क्रिया-ग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । जाय-मानं प्रथमं मुख्यम् आदित्यात्मकं ब्रह्म अग्रे पूर्वम् एतु । स्तुतिरू-पेण व्याप्नोतु । यद्वा इयं भूमिः पित्र्या पितुः कश्यपाद् [आगता राष्ट्री स्वा]श्रितस्य जगतो नियन्त्री प्रथमाय स्वर्गादिभोगयोग्याय जनुषे जन्मने । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । तदर्थम् अग्रे प्रथमम् एतु प्रवर्ग्याधिष्ठानतां प्राप्नोतु । यः प्रवर्ग्यात्मक आदित्यः भुवनेष्ठाः भुवनशब्दवाच्यं लोकत्रयं व्याप्य स्थितः । तस्मै तादृशाय प्रथमाय धास्यवे । धासिरित्यन्ननाम । हविर्लक्षणम् अन्नम् इच्छते देवाय सुरुचम् सुष्ठु रोचमानं ह्वारम् कुटिलं वर्तमानम् । ❀ ह्व कौटिल्ये इत्यस्मात् ण्यन्तात् पचाद्यच् । यद्वा ह्वर्यते कौटिल्येन प्राप्यत इति ह्वारः । कर्मणि घञ् । "कर्षात्वतः०" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ ।

प्रथम् । ❀ अशि गतौ ❀ । गन्तव्यं सुकृतविशेषैः प्राप्यम् । यद्वा अहनि भवः अह्यः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । "नस्तद्धिते" इति टिलोपः । "अह्नष्खोरेव" इति नियमस्तु "सर्वे विधय छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति प्रवर्तते ❀ । एवं गुणविशिष्टम् एतं घर्मम् प्रवर्ग्यं हविः श्रीणन्तु ऋत्विजः पयसा संस्कुर्वन्तु । यद्वा । ❀ श्रीञ् पाके ❀ । पचन्तु तपन्तु ॥

प्रजापति सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेसे पिता कहलाते हैं उन पितासे आई हुई भुवन भरके प्राणियोंमें नादरूपसे व्याप्त होकर रहने वाली ‡ यह शब्दब्रह्मरूपा वाग्देवता जगत्के सम्पूर्ण व्यवहारोंकी ईश्वरी है यह प्रथमशब्दवाच्य सूर्यरूपसे उत्पन्न हुए ब्रह्मके आगे आवे अर्थात् स्तुतिरूपसे व्याप्त होजावे । अथवा–यह भूमि पिता कश्यपके पाससे आई हुई है और अपने आश्रित जगत्की स्वामिनी है वह प्रथम अर्थात् स्वर्ग आदि भोगके योग्य जन्मके लिये प्रवर्ग्यकी अधिष्ठानताको प्राप्त होवे ॥ जो प्रवर्ग्यात्मक आदित्य तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उन पहिले ही हविरूप अन्नको चाहने वाले कुटिलगामी और जिनको पुण्योंसे प्राप्त किया जाता है उन प्रकाशमय सूर्यदेवके लिये ऋत्विज् इस घर्म प्रवर्ग्य हविको दुग्धसे संस्कृत करें ॥२॥

तृतीया ॥

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॒स्य बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति ।

---

‡ आचार्योंने कहा भी है, कि–"स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः । आविर्भवति देहेषु प्राणिनां अर्थविस्तृतः ॥– वह वह शब्दब्रह्म सबमें पुरा हुआ है, प्राणिसमूहके प्रकट होने पर उनके अर्थसे विस्तारको प्राप्त होकर वह प्रकट होता है" ॥

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि
प्र तस्थौ ॥ २ ॥

प्र । यः । जज्ञे । विद्वान् । अस्य । बन्धुः । विश्वा । देवानाम् ।
जनिम । विवक्ति ।
ब्रह्म । ब्रह्मणः । उत् । जभार । मध्यात् । नीचैः । उच्चैः ।
स्वधाः । अभि । प्र । तस्थौ ॥ २ ॥

अस्य प्रपञ्चस्य बन्धुः बन्धकः कारणभूतः यद्वा बन्धुवत् हितकारी विद्वान् निरावरणज्ञानेन सर्वं जगत् जानन् यो देवः प्र जज्ञे प्रथमम् उत्पन्नः । ❀ जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् लिटि "गमहन०" इति उपधालोपः ❀ । यद्वा । ❀ जानातेर्लिट् ❀ । प्र जज्ञे प्रजानीते । ❀ "आतो लोप इटि च" इति आल्लोपे कृते "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवद्भावात् साल्कस्य द्विर्वचनम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । स प्रथमजो देवः देवानाम् अन्येषाम् इन्द्रादीनां विश्वा विश्वानि सर्वाणि जनिमा जन्मानि विवक्ति अन्येभ्यः कथयति । ❀ वच परिभाषणे । आदादिकः । छान्दसः शपः श्लुः ❀ । स च ब्रह्मणः कारणभूतात् परब्रह्मणः सकाशात् त्रयीरूपं ब्रह्म मध्यात् मध्यभागात् नीचैः अधोभागात् उच्चैः उपरिभागाच्च उत् जभार उज्जहार उद्धृतवान् । ❀ "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ । एवं वेदस्य उद्धरणे सति स्वधाः । अन्ननामैतत् । चरुपुरोडाशहविर्लक्षणानि अन्नानि अभिलक्ष्य अग्न्यादिर्देवः प्र तस्थौ प्राप्तवान् । यद्वा वेदवाक्यविहितानि हवींषि ऋत्विग्भिर्दत्तानि देवान् अभिलक्ष्य प्र तस्थौ प्रतस्थिरे । वचनव्यत्ययः । ❀ "समवप्रविभ्यः स्थः" इति आत्मनेपदाभावश्छान्दसः ❀

इस प्रपञ्चके बाँधने वाले कारण और बन्धुकी समान इस प्रपञ्च का हित करने वाले तथा आवरणरहित ज्ञानसे सब जगत् को जानने वाले जो देव प्रथम उत्पन्न हुए सबकी बातोंको पहिले ही जानते हैं, वह सूर्यदेव इन्द्र आदि सब देवताओंकी उत्पत्तिको दूसरोंसे कहते हैं, उन सूर्यदेवने कारणभूत परब्रह्मसे त्रयीरूप ब्रह्म अर्थात् वेदका मध्यभागसे और ऊपरके भागसे उद्धार किया। इस प्रकार वेदका उद्धार होने पर चरु पुरोडाश आदि हविरूप अन्न अग्नि आदि देवताओंको प्राप्त हुआ है और वेदवाक्यसे विहित हवि आदि अन्न ऋत्विजोंके देने पर देवताओंको प्राप्त हुए॥ ३॥

चतुर्थी॥

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।
महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः॥ ४॥

सः। हि। दिवः। सः। पृथिव्याः। ऋतऽस्थाः। मही इति। क्षेमम्। रोदसी इति। अस्कभायत्।
महान्। मही इति। अस्कभायत्। वि। जातः। द्याम्। सद्म। पार्थिवम्। च। रजः॥ ४॥

स हि स खलु सूर्यात्मकः प्रथमजो देवः दिवः द्युलोकस्य ऋतस्थाः कारणभूतं यद् ऋतशब्दवाच्यं परं ब्रह्म तदात्मना स्थितः। तथा स एव पृथिव्याः संबन्धिऋतस्थाः सत्यरूपेण

स्थितः। अतो मही महत्यौ रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ क्षेमम् अस्कभायत् अविनाशो यथा भवति तथा अस्कभ्नात् स्वस्थाने स्थापितवान्। ❀ स्कम्भुः सौत्रो धातुः गतिप्रतिबन्धे। "स्तम्भु-स्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च" इति श्नाप्रत्ययः। "शायच् छन्दसि सर्वत्र" इति अहावपि श्नः शायजादेशः ❀। एतदेव विवृणोति। महान् अधिकः द्यावापृथिव्यौ व्याप्य वर्तमानः मही महत्यौ द्यावा-पृथिव्यौ अस्कभायत् अस्कभ्नात्॥ तथा जातः तयोर्मध्ये सूर्या-त्मना प्रादुर्भूतः सन् द्याम् द्युलोकात्मकं सद्म सदनं पार्थिवम् पृथिवी-संबन्धि च रजः लोकम्। ❀ लोका रजांस्युच्यन्ते इति हि या-स्कः [नि० ४, १९] ❀। स्वतेजसा व्याप्नोद् इत्यर्थः॥ ❀ पार्थि-वम् इति। "पृथिव्या ञाञौ" इति अञ् प्रत्ययः ❀॥

वह सूर्यस्वरूप प्रथम उत्पन्न हुए देव द्युलोकका कारणभूत जो ऋत शब्दसे कहा जाने वाला परब्रह्म तदात्म्यभावसे स्थित हैं तथा वही पृथिवीके सत्यरूपसे स्थित हैं अत एव वह विशाल द्यावापृथिवीमें अविनाशको स्थापित करते हैं (इसीको स्पष्ट करते हैं, कि—) महान् सूर्यदेव द्यावापृथिवीको व्याप्त कर विशाल द्यावा पृथिवीको अपनेमें स्थापित करते हैं और उनके मध्यमें सूर्यरूपसे प्रकट होकर स्वर्ग-लोकरूपी भवनको और पृथिवीलोक को अपने तेजसे व्याप्त करते हैं॥ ४॥

पञ्चमी॥

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्। अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः॥ ५॥

सः। बुध्न्यात्। आष्ट्र। जनुषः। अभि। अग्रम्। बृहस्पतिः।

देवता । तस्य । सम्ऽराट् ।

अहः । यत् । शुक्रम् । ज्योतिषः । जनिष्ट । अथ । द्युऽमन्तः ।

वि । वसन्तु । विप्राः ॥ ५ ॥

स परब्रह्मात्मकः प्रथमजो देवः जनुषः जनिमतो लोकस्य बुध्न्यात् । बुध्नं मूलम् । तत्संबन्धिदेशात् रसातलादिलक्षणाद् आरभ्य तस्यैव लोकस्य अग्रम् उपरिभागम् अभिलक्ष्य आष्ट आश्नुत व्याप्नोत् । ❀ अशू व्याप्तौ इत्यस्मात् लुङि ऊदित्त्वाद् इडभावपक्षे "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ । अपि च देवता । ❀ "देवात् तल्" इति स्वार्थिकस्तल् प्रत्ययः ❀ । देवो दानादिगुणयुक्तो बृहस्पतिः तस्य जनिमतो लोकस्य सम्राट् सम्यक् राजमानोधिपतिः । ❀ संपूर्वाद् राजतेः "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् । "मो राजि समः क्वौ" इति समो मकारस्य मकारवचनाद् अनुस्वाराभावः ❀ । यद्वा तस्य प्रथमजस्य देवस्य प्रसादात् सम्राट् सम्यक् राजमानः अतिशयितदीप्तियुक्तः । वर्तत इत्यर्थः । यत् यदा शुक्रम् दीप्यमानम् अहः ज्योतिषो जनिष्ट द्योतमानात् सूर्याद् उत्पन्नम् अभूत् । अथ अनन्तरं द्युमन्तः दीप्तिमन्तो विप्राः मेधाविन ऋत्विजः वि वसन्तु स्वस्वव्यापारेषु विविधं वर्तन्ताम् । यद्वा विवसतिः परिचरणकर्मा । वि वसन्तु हविर्भिर्देवान् परिचरन्तु ॥

परब्रह्मात्मक प्रथम उत्पन्न हुए सूर्यदेव जन्म लेने वालोंके मूललोक रसातल आदिके आरम्भसे ऊपर तक व्याप्त हो जाते हैं और दान आदि गुणसे सम्पन्न बृहस्पतिदेव इस उत्पन्न होनेवाले लोकके सम्राट् हैं । जब प्रकाशमय दिन प्रकाशमान सूर्यसे प्रकट होवे । तब दीप्तिमय बुद्धिमान् ऋत्विक् 'अपने २ व्यापारमें प्रवृत्त होवें, हविसे देवताओंकी सेवा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑।
ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन् नु ६

नू॒नम्। तत्। अ॒स्य। का॒व्यः। हि॒नोति। म॒हः। दे॒वस्य॑। पू॒र्व्यस्य॑। धाम॑।
ए॒षः। ज॒ज्ञे। ब॒हुऽभिः। सा॒कम्। इ॒त्था। पूर्वे॑। अर्धे॑। विऽसि॑ते।
स॒सन्। नु ॥ ६ ॥

काव्यः। कवय ऋत्विजः। तत्संबन्धी यज्ञः काव्यः। स च अस्य दृश्यमानस्य महः महतः पूर्वस्य सर्वदेवेभ्यः प्रथमम् उत्पन्नस्य [देवस्य] तत् धाम तेजोरूपं मण्डलात्मकं स्थानं नूनम् निश्चयं हिनोति प्रेरयति। उदयाद्रिं प्रापयतीत्यर्थः। ❀ हि गतौ वृद्धौ च इति धातुः ❀ ॥ एष च सूर्यः बहुभिः सहस्रसंख्याकै रश्मिभिः साकम् सार्धम् इत्था अनेन प्रकारेण पूर्वे पूर्वदिक्संबन्धिनि विषिते विशेषेण संबद्धे अर्धे देशे ससन्। अन्ननामैतत्। हविर्लक्षणम् अन्नम् उद्दिश्य नु क्षिप्रं जज्ञे जायते। उदेतीत्यर्थः। ❀ इत्थेति। "था हेतौ च छन्दसि" इति इदमः थाप्रत्ययः ❀ ॥

ऋत्विजोंसे सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ इन देवताओंमें प्रथम उत्पन्न हुए दृश्यमान सूर्यदेवके तेजोमण्डलरूप स्थानको उदयाचल पर भेजता है। यह सूर्यदेव पूर्वदिशासे सम्बन्ध रखने वाले देशमें हविरूप अन्नको लक्ष्यमें रखकर शीघ्र ही उदय होते हैं ६

सप्तमी ॥

योऽथ॑र्वाणं पि॒तरं॑ दे॒वब॑न्धुं बृह॒स्पतिं॒ नम॒साव॑ च॒ गच्छा॑त्।
त्वं विश्वे॑षां ज॒नि॒ता यथासः॑ क॒विर्दे॒वो न दभा॑यत्
स्व॒धावा॑न् ॥ ७ ॥

यः । अथर्वाणम् । पितरम् । देवऽबन्धुम् । बृहस्पतिम् । नमसा ।
अव । च । गच्छात् ।
त्वम् । विश्वेषाम् । जनिता । यथा । असः । कविः । देवः । न ।
दभायत् । स्वधाऽवान् ॥ ७ ॥

यः देवः बृहस्पतिः अथर्वाणम् प्रजापतिम् । "अथर्वा वै प्रजापतिः" [गो० ब्रा० १. ४] इति श्रुतेः । पितरम् लोकस्योत्पादकं देवबन्धुम् देवानां बन्धुं कारणभूतम् । यद्वा अथर्वाणम् महर्षिं पितरम् अस्माकं पितृभूतं देवबन्धुम् देवा इन्द्रादयो बन्धवो बान्धवा [यस्य] तथाविधं नमसा अन्नेन तथा अव गच्छात् अवगच्छेत् जानीयात् यथा येन प्रकारेण त्वं विश्वेषाम् सर्वेषां स्थावरजङ्गमात्मकानां भावानां जनिता जनयिता असः भवेः । ❀ "जनिता मन्त्रे" इति णिलोपो निपात्यते । अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । कविः क्रान्तदर्शी स देवः बृहस्पतिः स्वधावान् अन्नवान् हविर्लक्षणेन अन्नेन युक्तः सन् न दभायत् न दभ्नोति न हिनस्ति । सर्वम् अनुगृह्णातीत्यर्थः । ❀ दन्भु दम्भे । व्यत्ययेन श्ना । पूर्ववत् शायजादेशः ❀ ॥

[इति] चतुर्थे काण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

बृहस्पतिदेव देवताओंके बन्धु हैं वह प्रजापति अथर्वा ‡ को नमस्कार और अन्नसे इस प्रकार सम्पन्न समझें, कि—जिस प्रकार तू सब स्थावर जङ्गमोंके भावको उत्पन्न करने वाला हो । वह अतीन्द्रियदर्शी बृहस्पतिदेव हविरूप अन्नसे युक्त होकर हिंसा नहीं करते हैं । सब पर अनुग्रह ही करते हैं ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१०३) ॥

‡ गोपथब्राह्मण १ । ४ में कहा है, कि—"अथर्वा वै प्रजापतिः ॥—अथर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक है" ॥

"य आत्मदाः" इति सूक्तं वशाशमनकर्मणि शान्त्युदके अनुयोजयेत्। सूत्रितं हि। "य आत्मदा इति वशाशमनम्" इति प्रक्रम्य "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तम् अनुयोजयति" इति [कौ० ५. ८]॥

तथा संज्ञप्ताया वशाया यदि गर्भो दृश्येत तं गर्भम् अञ्जलौ गृहीत्वा सूत्रोक्तप्रकारेण अनेन सूक्तेन जुहुयात्। सूत्रितं हि। "यद्यष्टापदी स्याद् गर्भम् अञ्जलौ सहिरण्यं सयवं वा य आत्मदा इति खदायां त्र्यरत्नावग्नौ सकृज्जुहोति" इति [कौ० ५. ९]॥

तथा वशाशमनकर्मणि चरुहोमे अवदानहोमे च एतत् सूक्तम्। "य आत्मदा इति वशाशमनम्" [कौ० ५. ८] इति सामान्येन सूत्रितत्वात्॥

चातुर्मास्ये वरुणप्रघासाख्यपर्वणि "य आत्मदाः" इत्यनया कायम् एककपालं हविरनुमन्त्रयते। उक्तं वैताने। "वारुणं मारुतं कायं वरुणोपां य आत्मदाः" इति [वै २. ४]॥

अग्निचयने प्राजापत्यपशोरवदानानुमन्त्रणे "य आत्मदाः" इति उक्तं वैताने। "य आत्मदा इत्यवदानानाम्" इति [वै० ५. १]

तत्रैव हिरण्मयपुरुषोपधाने "हिरण्यगर्भः" [७] इत्येषा। तद् उक्तं वैताने। "हिरण्यगर्भ इति हिरण्पुरुषम्" इति [वै०५.१]

'य आत्मदा' इस सूक्तको वशाशमनकर्मके शान्त्युदकमें अनुयोजन करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"य आत्मदा इति वशाशमनम्" इति प्रक्रम्य "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तं अनुयोजयति" (कौशिकसूत्र ५। ८)॥

तथा संज्ञप्त वशाका यदि गर्भ दीखे तो उस गर्भको अञ्जलि में ग्रहण करके सूत्रोक्तरीतिसे इस सूक्तसे आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ९ में कहा है, कि–"यद्यष्टापदी स्याद्

गर्भं अञ्जलौ सहिरण्यं सयवं वा य आत्मदा इति स्वदा (द्वा) र्यां न्यग्बावग्नौ सकृज्जुहोति" ॥

तथा वशाशमनकर्मके चरुहोममें और अवदानहोममें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है क्योंकि—कौशिकसूत्रमें सामान्यरूपसे कहा है कि—"य आत्मदा इति वशाशमनम्"

चातुर्मास्यमें होने वाले वरुणप्रघास नामक पर्वमें 'य आत्मदा' इस ऋचासे काय एककपाल हविका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"वारुणं मारुतं कायं वरुणोपा य आत्मदाः" (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

अग्निचयनमें प्राजापत्य पशुके अवदानानुमन्त्रणमें 'य आत्मदा' सूक्त आता है। इसी बातको वैतानसूत्र ५ । १ में कहा है, कि—"य आत्मदा इत्यवदानानाम्" ॥

वहाँ ही हिरण्मय पुरुषके उपधानके समय 'हिरण्यगर्भः' यह सातवीं ऋचा पढ़ी जाती है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'हिरण्मयगर्भ इति हिरण्यपुरुषम्' (वैतानसूत्र ५ । १) ॥

द्वितीयसूक्ते प्रथमा ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्यं देवाः
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम

यः । आत्मऽदाः । बलऽदाः । यस्य । विश्वे । उपऽआसते । प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः ।

यः । अस्य । ईशे । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

यः प्रजापतिः आत्मदाः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः आत्मानं ददातीति आत्मदाः । प्राणप्रद इत्यर्थः । बलदा बलस्य प्रदाता । ❀ "आतो मनिन्०" इति उभयत्रापि विच् प्रत्ययः ❀ । विश्वे सर्वे प्राणिनः यस्य देवस्य प्रशिषम् प्रकृष्टं शासनम् आज्ञाम् उपासते भजन्ते । ❀ आस उपवेशने । अदादित्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघाताभावः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् । प्रशिषम् इति । "क्वौ च शासः" इति क्विबन्तस्य शास उपधाया इत्वम् । "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वम् ❀ । तथा यस्य देवस्य प्रशासनं देवा अपि उपासते । यो देवः द्विपदः पादद्वययुक्तस्य अस्य प्राणिजातस्य मनुष्यादेः ईशे ईष्टे । ❀ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । पूर्ववत् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ । तथा चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतस्य गोमहिषादेः प्राणिनः यः ईष्टे तस्मै कस्मै । इदम् ईदृग् इत्यनिरुक्तरूपत्वात् किंशब्दवाच्याय प्रजापतये देवाय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । ईदृशं देवं हविषा विधेम परिचरेम । ❀ विधतिः परिचरणकर्मा । द्विपद इति । द्वौ पादावस्येति विग्रह समासे "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दान्त्यलोपः । ततो ङसि भसंज्ञायां "पादः पत्" इति पद्भावः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । चतुष्पद इत्यस्यापि रूपसिद्धिरेवमेव । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं विशेषः ❀ ॥

जो प्रजापति आत्मदा हैं अर्थात् सब प्राणियोंको बल देते हैं और सब प्राणी उनकी श्रेष्ठ आज्ञाका पालन करते हैं और जिनके शासनकी देवता भी उपासना करते हैं और जो देवता, दो पैर वाले मनुष्य आदि पर शासन करते हैं और जो चार पैर वाले गौ भैंस आदि पर भी शासन करते हैं उन प्रजापति-देवकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम

यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। राजा। जगतः। बभूव।
यस्य। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवाय। हविषा।
विधेम ॥ २ ॥

यः प्रजापतिः महित्वा। ❁ तृतीयाया आकारः ❁। महित्वेन माहात्म्येन प्राणतः प्रश्वसतः श्वासोच्छ्वासव्यापारं कुर्वतः। ❁ श्वस प्राणने अन च इति धातुः। लटः शत्रादेशे अदादित्वात् शपो लुक् ❁। निमिषतः निमेषणम् अक्षिपक्ष्मपरिस्पन्दलक्षणं व्यापारं कुर्वतः। ❁ मिष स्पर्धायाम्। अत्रापि पूर्ववत् शतरि तुदादित्वात् शः। उभयत्र "शतुरनुमः०" इति षष्ठ्या उदात्तत्वम् ❁। एवंभूतस्य जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य एकः असाधारणो राजा अधिपतिः बभूव भवति। ❁ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति सार्वकालिको लिट् "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❁। यस्य देवस्य अमृतम् मरणाभावोपलक्षितम् अमृतत्वं छायेव स्वाधीनं वर्तते। मृत्युः मरणं सर्वजनसंबन्धि छायेव यस्य वशे वर्तते। ❁ अमृतम् इति। "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❁। कस्मै देवायेत्यादि व्याख्यातम् ॥

जो प्रजापति देवता अपने माहात्म्यके कारण श्वास उच्छ्वास करने वाले, पलक मारने वाले जङ्गम प्राणियोंके बड़े अधिपति हैं और मरणके अभावका साधनरूप अमृत छायाकी समान जिन देवताके अधीन है और सब प्राणियोंका मरण भी जिनके अधीन है उन प्रजापति देवकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । अवतः । चस्कभाने इति । भियसाने इति । रोदसी इति । अह्वयेथाम् ।
यस्य । असौ । पन्थाः । रजसः । विऽमानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ३ ॥

क्रन्दसी क्रन्दन्ति क्रोशन्ति अनयोराश्रिता जना इति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ । ❀ क्रदि क्रदि आह्वाने रोदने च इति धातुः । अधिकरणे असुन् प्रत्ययः ❀ । अवतः । अवनम् अवः । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति भावे कः ❀ । अवनात् जगद्रक्षणाद्धेतोः चस्कभाने संस्तभ्यमाने । यथा अधो न पततस्तथा निराधार-प्रदेशे देवेन धार्यमाणे इत्यर्थः । ❀ स्कम्भेश्छान्दसो लिट् । "लिटः कानज्वा" इति तस्य कानजादेशः ❀ । भियसाने अधः पतनाद् बिभ्यत्यौ । ❀ ञिभी भये इत्यस्माद् औणादिकः असानच् प्रत्ययः ❀ । रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ । यस्माद् अन-योर्मध्ये वर्तमानः प्रजापतिः अरोदीत् तस्माद् रोदिति अनयोरिति व्युत्पत्त्या रोदसी इति द्यावापृथिव्योर्नाम संपन्नम् । तथा च तैत्ति-रीयकम् । "सोरोदीत् प्रजापतिः" इति प्रक्रम्य "यद् अरोदीत् तद् अनयो रोदस्त्वम्" [तै० ब्रा० २. २. ९. ४] इति । ईदृश्यौ

द्यावापृथिव्यौ आत्मरक्षणार्थं यं देवम् आह्वयेताम्। यस्य देवस्य संबन्धी असौ द्युलोकस्थः पन्थाः मार्गो रजसः उदकस्य वृष्टिलक्षणस्य विमानः विशेषेण निर्माता तस्मै। कस्मा इत्यादि गतम्॥

जिनके आश्रयमें रहने वाले प्राणी क्रन्दन करते हैं वे क्रन्दसी कहाने वाले द्यावापृथिवी जिन देवताकी रक्षाके प्रभावसे स्तंभित होकर नीचे नहीं गिरते हैं। नीचे गिरनेकी आशंकासे डरते हुए इन द्यावापृथिवीके बीचमें वर्तमान प्रजापति रोये अत एव इन द्यावापृथिवीका नाम रोदसी पड़गया है। † ऐसे द्यावापृथिवीने आत्मरक्षाके लिये जिन देवताको पुकारा है और जिस देवताका द्युलोकमें स्थित मार्ग वृष्टिके जलको प्रकृष्टरूपसे बनाने वाला है उन प्रजापति देवकी हम हविसे सेवा करते हैं॥ ३॥

चतुर्थी॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

यस्य। द्यौः। उर्वी। पृथिवी। च। मही। यस्य। अदः। उरु। अन्तरिक्षम्।

---

† इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—"सोरोदीत् प्रजापतिः" इति प्रक्रम्य "यद् अरोदीत् तत् अनयोरोदस्त्वम्॥—अर्थात् वह प्रजापति रोये इसका आरम्भ करके कहा है, कि—जो रोये यही इन द्यावापृथिवीका रोदस्त्व है" (तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।६।४)॥

यस्य । असौ । सूरः । विऽततः । महिऽत्वा । कस्मै । देवाय ।

हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

यस्य देवस्य महित्वा महित्वेन माहात्म्येन द्यौः उर्वी विस्तीर्णा जाता । ❀ उरुशब्दाद् "वोतो गुणवचनात्" इति ङीष् ❀ । पृथिवी च यस्य महिम्ना मही महती विस्तीर्णा जाता । यस्य च माहात्म्येन अदः एतद् अन्तरिक्षम् उरु विस्तीर्णम् अभवत् । असौ द्युलोके प्रत्यक्षं दृश्यमानः सूरः सूर्यः यस्य ब्रह्मणो महिम्ना विततः विस्तीर्णो जातः तस्मै । कस्मा इत्यादि समानम् ॥

जिन देवताके माहात्म्यसे द्यौ (स्वर्गलोक) विस्तृत हुआ है और जिनकी महिमासे पृथ्वी विस्तृत हुई है मही हुई है और जिनके माहात्म्यसे यह अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ है और यह द्युलोकमें प्रत्यक्ष दीखते हुए सूर्यदेव जिन ब्रह्मदेवकी महिमासे विस्तृत हुए हैं उन प्रजापतिकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः ।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यस्य । विश्वे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । समुद्रे । यस्य । रसाम् ।

इत् । आहुः ।

इमाः । च । प्रऽदिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय ।

हविषा । विधेम ॥ ५ ॥

यस्य प्रजापतेर्देवस्य महित्वा महिम्ना विश्वे सर्वे हिमवन्तः हिमवत्पर्वतोपलक्षिता महागिरयः संजाताः । यस्य च महिम्नः

समुद्रे उदधौ । रसाम् रसोऽस्याम् अस्तीति रसा नदी । ॐ अर्श आदित्वाद् अच् ॐ। रसति शब्दायत इति वा रसा । ॐ पचाद्यच् । रसा नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः इति यास्कः । [नि० ११. २५] जातावेकवचनम् । इच्छब्दः अवधारणे ॐ । सर्वा नदीः अन्तर्भूता एव आहुः ब्रुवन्ति । समुद्रा नद्यश्च यस्य विभूतिरूपा इत्यर्थः । इमाश्च प्रदिशः प्रधानभूताश्चतस्रो दिशः यस्य देवस्य बाहू बाहुभूताः तस्मै । कस्मा इत्यादिगतम् ॥

जिन प्रजापतिदेवकी महिमासे यह सम्पूर्ण हिमवान् आदि पर्वत उत्पन्न हुए हैं और जिनकी महिमासे समुद्रमें नदी होती हैं अर्थात् समुद्र और नदियें जिनकी विभूतिरूप हैं और ये चार प्रधान दिशायें जिन देवताकी भुजारूप हैं उन प्रजापतिदेवकी हम हविके द्वारा सेवा करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः ।
यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम

आपः । अग्रे । विश्वम् । आवन् । गर्भम् । दधानाः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः ।

यासु । देवीषु । अधि । देवः । आसीत् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ६ ॥

अग्रे सृष्ट्यादौ सृष्टा आपः विश्वम् कृत्स्नं जगत् कारणरूपेण अवस्थितम् आवन् अरक्षन् उपचितम् अकुर्वन् । किं कुर्वत्यः । गर्भम् विश्वजगद्विधानाय गर्भरूपेण अवस्थितं हिरण्यगर्भं दधानाः

धारयन्त्यः अमृताः अविनाशा ऋतज्ञाः । ऋतं सत्यं जगत्कारणं ब्रह्म । ब्रह्म जानानाः । स्मर्यते हि ।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत् ।
तद् अण्डम् अभवद्धैमम्

इति [म० स्मृ० १. ६] । ❀ दधाना इति । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् । ऋतज्ञा इति । ज्ञा अवबोधने । "आतोनुपसर्गे कः" इति कः ❀ । यासु अप्सु देवेषु लिङ्गव्यत्ययः । देवीषु देवतारूपासु देवः गर्भभूतः अध्यासीत् । अधिकम् अवर्धतेत्यर्थः । ता आप इति संबन्धः । तस्मै अपां गर्भभूताय । कस्मा इत्यादि ॥

सृष्टिकी आदिमें रचे हुए, जलोंने कारणरूपसे स्थित जगत्की रक्षा की (उसकी रीति यह है, कि–) सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेके लिये गर्भरूपसे स्थित हिरण्यगर्भको धारण करते हुए और ऋत अर्थात् जगत्के कारण ब्रह्मको जानते हुए इन्होंने जगत्की रक्षा की । जिन देवीरूप जलोंमें हिरण्यगर्भ गर्भरूपसे बढ़े थे ‡ उन जलोंके गर्भभूत प्रजापतिकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम

‡ मनुस्मृति १ । ६ में भी कहा है, कि–"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यं अवाकिरत् । तदण्डमभवद् हैमम् ॥–पहिले जलकी ही रचना की और उनमें वीर्यको स्थापित किया वह अंड दो टुकड़े होगया" ।

हिरण्यऽगर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् ।

सः । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

[हिरण्यगर्भः] हिरण्यस्य हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भः गर्भवद् अन्तरवस्थितः अग्रे सर्वजगत्सृष्टेः प्राक् समवर्तत उदपद्यत । स च जातः सन् भूतस्य सत्तया प्रतिभासमानस्य प्रपञ्चस्य एकः असाधारणः पतिः ईश्वर आसीत् । स्मर्यते हि ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिगर्भः स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत

इति । स च पृथिवीम् इमां भूमिम् । उतशब्दः समुच्चये । द्याम् दिवं च दाधार धृतवान् । पृथिव्याद्युपलक्षितं कृत्स्नं जगत् सृष्टवान् इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हिरण्मय अंडेके भीतर गर्भकी समान स्थित हिरण्यगर्भ संपूर्ण सृष्टिसे पहिले उत्पन्न हुए वह उत्पन्न होकर सत्ता (विद्यमान) रूपसे भासमान प्रपञ्चके असाधारण स्वामी हुए † । उन्होंने इस पृथिवीको और स्वर्गको भी धारण किया उन प्रजापतिदेवकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ७ ॥

† स्मृतिमें भी कहा है, कि-"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदिगर्भः स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ -वही प्रथम शरीरधारी हुए वही पुरुष कहलाते हैं, वह प्राणियोंके आदि-गर्भ हैं वह ब्रह्माजीसे पहिले हुए"।

अष्टमी ॥

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै
देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

आपः । वत्सम् । जनयन्तीः । गर्भम् । अग्रे । सम् । ऐरयन् ।
तस्य । उत । जायमानस्य । उल्बः । आसीत् । हिरण्ययः ।
कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ८ ॥

ईश्वरेण प्रथमसृष्टा आपः वत्सम् पुत्रभूतं हिरण्यगर्भं जनयन्तीः । ❀ हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । उत्पादनाद्धेतोः अग्रे ततः प्राक्काले गर्भं समैरयन् । ईश्वरेण विसृष्टं वीर्यं गर्भाशयं प्रापयन् । तस्य गर्भीभूतस्य हि जायमानस्य हिरण्यगर्भाख्यस्य प्रजापतेः । उतशब्दः अप्यर्थे । स च भिन्नक्रमः । उल्बोपि । गर्भवेष्टनः पट उल्बशब्दवाच्यः । सोपि हिरण्ययः हिरण्मयः सुवर्णमय एवासीत् । "तद् अण्डम् अभवद्धैमम्" इति प्रागुक्तहिरण्मयाण्डाभिप्रायम् एतत् । ❀ "ऋत्व्यवास्त्व्य०" इत्यादिना हिरण्यशब्दो निपातितः ❀ ॥ कस्मा इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] चतुर्थकाण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

ईश्वरके द्वारा पहिले रचे हुए जलोंने उत्पन्न करनेके लिये ईश्वरके छोड़े वीर्यको गर्भाशयमें प्राप्त कराया, उन गर्भरूप हुए उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भ नामक प्रजापतिका उल्ब (अर्थात् गर्भको ढकने वाली-झिल्ली-अण्डा) भी सुवर्णमय था । उन प्रजापतिकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ ८ ॥

चतुर्थकाण्डके प्रथम अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (१०४) ॥

"उदितस्त्रयो अक्रमन्" इति सूक्तेन गवादीनां व्याघ्रचोरादि-भयनिवृत्त्यर्थं खादिरं शङ्कुं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन गोसंचार-भूमिं लिखन् गा अनुव्रजेत् ॥

तथा अनेन उदघटम् अभिमन्त्र्य गोप्रचारदेशे निनयेत् । ततः पांसुकूटं तत्र कृत्वा अर्धं दक्षिणहस्तेन विक्षिपेत् ॥

एवमेव अनेन सूक्तेन सारूपवत्सम् ओदनम् इन्द्राय त्रिशु जुहुयात् ॥

सूत्रितं हि । "उदित इति खादिरं शङ्कुं संपातवन्तम् उद्गृह्णन् लिखन् गा अनुव्रजति" इत्यादि [कौ० ७. २]

"उदितस्त्रयो अक्रमन्" इस सूक्तसे गौओंके चोर व्याघ्र आदि के भयको दूर करनेके लिये खैरके खूँटेका संपातन और अभिमंत्रण करके उससे गोसञ्चार भूमिको कुरेदता हुआ गौओंके पीछे जावे ॥

तथा इस सूक्तसे जलपूर्ण कलशका अभिमन्त्रण करके गौओं के विचरनेके स्थानमें ले जावे । तथा तहाँ धूलका ढेर बना कर उसका आधा करे और उस आधेको दाहिने हाथसे बखेर देय ॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे सारूपवत्स ओदनको तीन चार होमे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उदित इति खादिरं शङ्कुं सम्पातवन्तं उद्गृह्णन् लिखन् गा अनुव्रजति" (कौशिक-सूत्र ७ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उदि॒तस्त्रयो॑ अक्रमन् व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑ ।

हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग् दे॒वो व॒न॒स्पति॒र्हिरु॑ङ्-
मन्तु॒ शत्र॑वः ॥ १ ॥

उत् । इ॒तः । त्रयः॑ । अ॒क्र॒म॒न् । व्या॒घ्रः । पुरु॑षः । वृकः॑ ।

हिरुक् । हि । यन्ति । सिन्धवः । हिरुक् । देवः । वनस्पतिः ।

हिरुक् । नमन्तु । शत्रवः ॥ १ ॥

व्याजिघ्रति विशिष्टाघ्राणमात्रेण प्राणिनो हन्तीति व्याघ्रः । ❀ घ्रा गन्धोपादाने इत्यस्मात् "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः ❀ । तथा पुरुषः चोरः । "परमेणोत तस्करः" इति उत्तरत्र तस्यैवानुकीर्तनात् । वृकः अरण्यश्वा प्राणिनां घातकः एते त्रयः इतः अस्मात् स्थानात् उदक्रमन् उदक्रामन् उत्क्रान्ता उत्थिता अभवन् । यद्वा इतः अस्मात् स्थानात् उदक्रमन् उत्थाय पलायन्ताम् । ❀ "क्रमः परस्मैपदेषु" इति दीर्घाभावश्छान्दसः ❀ । ते यथा हिरुक् । अन्तर्हितनामैतत् । अन्तर्हिता भवन्ति तथा सिन्धवः स्यन्दनशीला नद्यः यन्ति गच्छन्ति । हिशब्दः प्रसिद्धौ । यद्वा यथा हि सिन्धवो हिरुक् अन्तर्हिता गूढाशया यन्ति प्रवहन्ति तथा व्याघ्रादयो अन्तर्हिताः । दृग्गोचरा न भवन्तु इत्यर्थः ॥ तथा वनस्पतिः वनानां पतिः अधिष्ठाता देवः तत्र अन्तर्हितो वर्तते तद्वद् व्याघ्रादयोपि हिरुक् अन्तर्हिता भवन्तु । ❀ वनस्पतिरिति । पारस्करादित्वात् सुट् । "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अपि च व्याघ्रादीनां ये शत्रवः विरोधिनः सन्ति ते तान् व्याघ्रादीन् हिरुक् नमन्तु अन्तर्हितान् कुर्वन्तु । यद्वा शातनशीलास्ते व्याघ्रादयः अन्तर्हिताः सन्तः प्रह्वा भवन्तु ॥

विशिष्ट घ्राणसे ही प्राणियोंको मारने वाला व्याघ्र, चोर पुरुष और भेड़िया ये तीनों इस स्थानसे उठ कर भाग जावें । जैसे नदिये गूढ़ाशय वाली अन्तर्हित होकर बहती हैं, इसी प्रकार व्याघ्र आदि अन्तर्हित होजावें, दृष्टिगोचर न होवें और वनस्पतियोंके अधिष्ठाता देव तहाँ अन्तर्धान होकर रहते हैं इसी प्रकार व्याघ्र आदि भी अन्तर्धान होकर रहें और व्याघ्र आदि के जो शत्रु हैं वे उनको अन्तर्धान करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

परेण । एतु । पथा । वृकः । परमेण । उत । तस्करः ।
परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघऽयुः । अर्षतु ॥ २ ॥

परेण अस्मत्संचारमार्गाद् अन्येन पथा वृकः अरण्यश्वा एतु गच्छतु । उतशब्दः अप्यर्थे । तस्करः चोरोपि परमेण ततोपि दूरतरेण मार्गेण गच्छतु । ❁ "दिवाविभा०" इत्यादिना तच्छब्दोपपदे करोतेष्टः । "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति चोरेभिधेये सुट् तलोपः ❁ । दत्वती दन्तवती रज्जुः रज्ज्वाकृतिः सर्पः परेण अन्येन मार्गेण गच्छतु । ❁ दन्ता अस्याः सन्तीति मतुपि "पदन्०" इत्यादिना दन्तशब्दस्य दद्भावः ❁ । तथा अघम् पापं हिंसनं परेषाम् इच्छतीति अघायुः । ❁ "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्त्वम् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❁ । य एवंविधः अन्योपि हिंस्रः प्राणी अस्मत्संचरणप्रदेशे विद्यते सोपि परेण अन्येन पथा अर्षतु गच्छतु । ❁ ऋषी गतौ इति धातुः ❁ ॥

जंगली कुत्ता भेड़िया जिस मार्गमें हम विचरण करते हैं उस से अन्य मार्गमें जावे चोर उससे भी दूरके मार्गमें जावे । और जिसके दाँत वाली रज्जु है वह सर्प अन्यमार्गसे जावे तथा दूसरों का मरना रूप पापको चाहने वाला अघायु शत्रु तथा इसी प्रकार के अन्य हिंसक प्राणी भी अन्य मार्गसे जावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।

आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ। च। ते। मुखम्। च। ते। व्याघ्र। जम्भयामसि।

आत्। सर्वान्। विंशतिम्। नखान् ॥ ३ ॥

हे व्याघ्र ते तव अक्ष्यौ अक्षिणी च मुखं च आस्यं च जम्भयामसि जम्भयामः। ❀ जभि नाशने। "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ [आत्] अनन्तरं विंशतिम् विंशतिसंख्याकान् पादचतुष्टये पञ्चशोवस्थितान् सर्वान् नखान् विनाशयामः। ❀ "पङ्क्तिविंशति॰" इत्यादिना निपातितो विंशतिशब्दः। संख्येयानां बहुत्वेपि विंशतिसंख्याया एकत्वात् तदभिप्रायेण एकवचनम् ❀ ॥

हे व्याघ्र! हम तेरे नेत्र और मुखको नष्ट करते हैं फिर तेरे चारों पैरोंमें स्थित बीस नाखूनोंको नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

व्याघ्रम्। दत्वताम्। वयम्। प्रथमम्। जम्भयामसि।

आत्। ऊं इति। स्तेनम्। अथो इति। अहिम्। यातुऽधानम्।

अथो इति। वृकम् ॥ ४ ॥

दत्वताम् दन्तवतां खादनशीलानां हिंस्राणां मध्ये व्याघ्रम् शार्दूलं प्रथमं वयं जम्भयामसि जम्भयामः नाशयामः। आदु अनन्तरमेव स्तेनम् तस्करं जम्भयामः॥ अथो अनन्तरमेव अहिम् सर्पं यातुधानम् यक्षरक्षःप्रभृतिग्रहं वृकम् सालावृकं च नाशयामः॥

दाँत वाले हिंसक जीवोंमेंसे पहिले हम व्याघ्रको नष्ट करते हैं फिर चोरको नष्ट करते हैं उसके पीछे ही हम सर्पको राक्षस और भेड़ियेको नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आऽअयति । सः । सम्ऽपिष्टः । अप । अयति ।
पथाम् । अपऽध्वंसेन । एतु । इन्द्रः । वज्रेण । हन्तु । तम् ॥५॥

अद्य इदानीं यः स्तेन चोरः आयति आगच्छति । ❀ अय पय गतौ ❀ । स चोरः संपिष्टः अस्माभिश्चूर्णीकृतः सन् अपायति अपगच्छति । अपक्रामतु इत्यर्थः । स च पथाम् मार्गाणां मध्ये ध्वंसेन ध्वंसकेन कष्टेन मार्गेण अप एतु अपगच्छतु । तादृशेन मार्गेण अपगच्छन्तं तम् इन्द्रो देवः वज्रेण स्वकीयेन आयुधेन हन्तु हिनस्तु ॥

इस समय जो चोर आरहा है वह हमसे पिट कुट कर चूर्ण होकर भाग जावे और वह कष्ट देने वाले मार्गसे भागे और ऐसे मार्गसे भागने पर इन्द्रदेव उसको अपने वज्र नामक आयुधसे मार डालें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥६॥

मूर्णाः । मृगस्य । दन्ताः । अपिऽशीर्णाः । ऊं इति । पृष्टयः ।
निऽम्रुक् । ते । गोधा । भवतु । नीचा । अयत् । शशयुः । मृगः ६

मृगस्य हिंस्रस्य व्याघ्रादेः दन्ताः मूर्णाः मूढाः खादनसमर्था न भवन्तु । ❀ मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः इत्यस्माद् निष्ठा । "राल्लोपः" इति छकारलोपः । "रदाभ्याम्०" इति निष्ठानत्वम् । "न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम्" इति निषेधस्तु छान्दसत्वाद् न प्रवर्तते ❀ । शीर्ष्णाः शिरसि भवा हिंसका शृङ्गादयः अवयवा अपि मूढा भवन्तु । उशब्दः समुच्चये । पृष्टयः पर्शवः । पार्श्वास्थीन्यपि मूढानि भवन्तु ॥ हे पान्थ ते तव गोधा एतत्संज्ञः प्राणी निम्रुक् भवतु दृष्टिविषयो न भवतु । ❀०म्रुचु म्लुचु गत्यर्थाः इत्यस्मात् निपूर्वात् दर्शनवाचिनः क्विप् ❀ । शशयुः । शयनशीलो दुष्टो मृगः । नीचा न्यग्भूतेन मार्गेण अयत् अयतु गच्छतु । ❀ अयतेर्लेटि अडागमः । शशयुरिति । शीङ् स्वप्ने इत्यस्मात् ०मृशी० [उ०१.७] इत्यादिना उप्रत्ययः । बाहुलकाद् द्विर्वचनम् ❀ ॥

हिंसक व्याघ्र आदिके दाँत मूढ़ हो जावें अर्थात् भक्षण करने में असमर्थ हो जावें और शिरके सींग आदि भी मूढ़ होजावें और पसलीकी हड्डियें भी मूढ़ होजावें । और हे यात्रिन् ! गोधा नामक प्राणी तेरी दृष्टिमें न पड़े । और शयनके स्वभाव वाला दुष्ट मृग भी नीचेके मार्गसे चला जावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यत् सं॒यमो॒ न वि य॒मो॒ वि य॒मो॒ यन्न सं॒यमः॑ ।
इ॒न्द्र॒जाः सो॒म॒जा आ॑थर्व॒णम॑सि व्याघ्र॒जम्भ॑नम् ॥७॥

यत् । स॒म्ऽयमः॑ । न । वि । य॒मः॑ । वि । य॒मः॑ । यत् । न । स॒म्ऽयमः॑ ।

इ॒न्द्र॒ऽजाः । सो॒म॒ऽजाः । आ॒थ॒र्व॒णम् । अ॒सि । व्या॒घ्र॒ऽजम्भ॑नम् ७

इन्द्रजाः इन्द्राज्जातः [सोमजाः] सोमाज्जातः । ❀ उभयत्र "जनसनखनक्रमगमो विट्" । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ । एवंविधः संयमः संयमनं सम्यग् व्याघ्रादीनां मन्त्रसामर्थ्येन नियमनं यत् अस्ति नासौ वियमः विरुद्धयमनं भवति । कृतस्य संयमस्य अन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः । तथा वियमः वियमनं विरुद्धशपणं यत् मन्त्रेण क्रियते नायं संयमः । तत् तथैव भवतीत्यर्थः । आथर्वणस्य क्रियाकलापस्य न कुत्रापि अन्यथाभावोस्तीत्यर्थः ॥ अनेन सूक्तेन क्रियमाणं खादिरशङ्क्वालेखनादिकं क्रियाकलापं संबोध्य ब्रूते । हे क्रियाकलाप त्वम् आथर्वणम् अथर्वणा महर्षिणा दृष्टं कृतं वा व्याघ्रजम्भनम् । उपलक्षणम् एतत् । व्याघ्रादिदुष्टप्राणिहिंसकम् असि भवसि । ❀ अथर्वनशब्दाद् अणि "अन्" इति प्रकृतिभावः ❀ ॥

[इति] चतुर्थकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

इन्द्रसे उत्पन्न हुआ और सोमसे उत्पन्न हुआ जो व्याघ्र आदिका मन्त्रशक्तिसम्पन्न संयमन है वह वियमन नहीं होता है अर्थात् किया हुआ नियमन उलटा नहीं होता है। (इस सूक्त से किये जाने वाले क्रियाकलापका उल्लेख करके कहते हैं, कि-) हे क्रियाकलाप ! तू महर्षि अथर्वाका देखा हुआ है तू व्याघ्र आदि दुष्ट प्राणियोंको मार ही डालता है ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (१०५) ॥

"यां त्वा गन्धर्वः" इति सूक्तेन पुरुषस्य वीर्यकरणकर्मणि कपित्थकमूलम् ओषधिवत् खात्वा दुग्धे श्रपयित्वा अभिमन्त्र्य अधिज्यं धनुः उत्सङ्गे कृत्वा वीर्यकामः पुरुषः पिबेत् ॥

एवमेव कीलके मुसले वा उपविश्य पूर्ववद् अभिमन्त्र्य पिबेत् ॥

सूत्रितं हि । "यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वृषणस्ते खनितारः" इति प्रक्रम्य "दुग्धफाण्टावधिज्यम् उपस्थ आधाय पिबति मयूखे मुसले वासीनः" इति [कौ० ५. ४] ॥

पुरुषको वीर्यसम्पन्न बनानेके कर्ममें "यां त्वा गन्धर्वः" इस सूक्तसे कैथकी जड़को ओषधिकी समान खोदकर दूधमें औंटावे फिर अभिमन्त्रित करे तथा प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको गोदीमें रख कर वीर्य चाहने वाला पुरुष पिये ॥

इसी प्रकार कीलक वा मूसल पर बैठ कर पहिलेकी समान अभिमन्त्रित करके पिये ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वृषणस्ते खनितारः" इति प्रक्रम्य दुग्धफाण्टावधिज्यम् उपस्थ आधाय पिबति मयूखे मुसले वा आसीनः" (कौशिक-सूत्र ४ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

याम् । त्वा । गन्धर्वः । अखनत् । वरुणाय । मृतऽभ्रजे ।
ताम् । त्वा । वयम् । खनामसि । ओषधिम् । शेपऽहर्षणीम् १

मृतभ्रजे नष्टवीर्याय वरुणाय पुनस्तस्य वीर्यं जनयितुं हे ओषधे यां त्वा त्वां गन्धर्वो अखनत् खननेन उद्धृतवान् [ताम्] तादृशीं त्वा त्वां शेपोहर्षणीम् शेपसः पुंस्प्रजननस्य वर्धनीं वीर्यप्रदानेन उन्नमयित्रीम् ओषधिम् कपित्थकाख्यां वयं खनामसि खनामः । ❀ शेपोहर्षणीम् इति । वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० ४. २००] इति स्वाङ्गे अभिधेये शीङः असुन् पुगागमश्च । हृष्यतेः करणे ल्युट् । टिड्ढाद् ङीप् ❀ ॥

वरुणका वीर्य नष्ट होने पर उनमें फिर वीर्य उत्पन्न करनेके लिये जिस तुझको हे ओषधे ! गन्धर्वने खोदा था अर्थात् खोद

कर तेरा उद्धार किया था ऐसी तुझ पुरुषके उत्पन्न करनेवाली शक्तिको बढ़ाने वाली कैथ नामक औषधिको हम खोदते हैं १

द्वितीया ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।

उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिनां ॥ २ ॥

उत् । उषाः । उत् । ऊं इति । सूर्यः । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।

उत् । एजतु । प्रजाऽपतिः । वृषा । शुष्मेण । वाजिना ॥ २ ॥

उषाः सूर्यस्य पत्नी देवी वाजिना बलवता शुष्मेण वीर्येण उदेजतु उद्वृत्तं करोतु । उशब्दः चार्थे । सूर्यश्च उदेजतु उत्कृष्टवीर्ययुक्तं करोतु । मामकम् मदीयम् इदम् मन्त्रात्मकं वचः उदेजतु ॥ तथा [वृषा वर्षकः] प्रजापतिः प्रजानां पतिः सर्वजगत्स्रष्टा देवः उक्तलक्षणेन वीर्येण उदेजतु लम्बमानं पुंस्प्रजननम् उत्कम्पयतु । ❀ एज् कम्पने इति धातुः । प्रजापतिरिति । प्रजायन्ते इति प्रजाः । "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति डप्रत्ययः । षष्ठीसमासे "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

सूर्यकी पत्नी उषा देवी बलसंपन्न वीर्यसे उद्वृत्त करें और सूर्य भी उत्कृष्टवीर्य सम्पन्न करें, मेरा यह मन्त्रात्मक वचन वीर्यसंपन्न हो, वर्षक सब जगत्के स्रष्टा प्रजापतिदेव पूर्वोक्त लक्षण वाले वीर्यसे लम्बमान पुंस्प्रजननको उत्कम्पित करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथां स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।

ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥

यथा । स्म । ते । वि॒ऽरोह॑ । अ॒भित॑प्तम्ऽइव । अनति ।

ततः । ते । शुष्मवत्ऽतरम् । इ॒यम् । कृ॒णो॒तु । ओषधिः ॥ ३ ॥

हे वीर्यकाम पुरुष ते तव विरोहितः पुत्रपौत्रादिरूपेण विरोहणस्य निमित्तं पुंव्यञ्जनम् अभितप्तं फणयकृमिव यथा स्म येन प्रकारेण खलु अनति चेष्टते ततः तेनैव प्रकारेण इयम् ओषधिः ते तव पुंव्यञ्जनं शुष्मवत्तरं अतिशयितवीर्ययुक्तं कृणोतु करोतु ॥

हे वीर्यको चाहने वाले पुरुष ! तेरा पुत्र पौत्र आदिरूपसे विरोहणका निमित्त पुंव्यञ्जक संतप्त सर्पफनकी समान जिस प्रकार चेष्टा कर सके, तैसा करनेके लिये ही यह ओषधि तेरे पुंव्यञ्जनको परमवीर्य वाला करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उच्छुष्मौष॑धीनां॒ सार॑ ऋष॒भाणा॑म् ।

सं पुं॒सामि॑न्द्र॒ वृष्ण्य॑मस्मि॒न् धे॑हि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

उत् । शुष्मा॑ । ओषधीनाम् । सारा॑ । ऋ॒ष॒भाणा॑म् ।

सम् । पुंसाम् । इ॒न्द्रः॒ । वृष्ण्य॑म् । अ॒स्मिन् । धे॒हि॒ । त॒नू॒ऽव॒शि॒न् ४

ओषधीनाम् अन्यासां वीर्ययुक्तानां वीरुधाम् इयम् ओषधिः शुष्मा वीर्यरूपा ऋषभाणाम् सेचनसमर्थानां वीर्यवतां सारा सारभूता तादृशी ओषधिः इमं पुरुषम् उत् ईरयतु वीर्ययुक्तं करोतु । ❀ सार ऋषभाणाम् इति । "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः ❀ ॥ हे इन्द्र संपूषाम् सम्यक् पोषयित्रीणाम् ओषधीनां संबन्धि यद् वृष्ण्यम् वीर्यम् अस्ति तद् अस्मिन् पुरुषे तनूवशम् शरीराधीनं कृत्वा धेहि धारय । ❀ संपूषाम् इति । पूष पुष्टौ इत्यस्मात् "क्विप् च" इति क्विप् । धेहीति । "घ्वसोरेद्धौ०" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀ ॥

अन्य वीर्यमयी औषधियोंमें भी यह औषधि वीर्यवती है, और यह सेचन करनेमें समर्थ वीर्यवान् बैलोंमें भी साररूप है, ऐसी यह औषधि इस पुरुषको वीर्यसम्पन्न करे। हे इन्द्र! पोषक औषधियोंमें जो वीर्य है उसको इस पुरुषके शरीरके अधीन करके धारण करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।

उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

अपाम् । रसः । प्रथमऽजः । अथो इति । वनस्पतीनाम् ।

उत । सोमस्य । भ्राता । असि । उत । आर्शम् । असि । वृष्ण्यम् ५

हे कपित्थकमूल त्वम् अपाम् मथ्यमानानां प्रथमजः प्रथमम् उत्पन्नो रसः अमृतात्मकस्त्वम् असि। अथो अपि च वनस्पतीनाम् समानजातीयानां वृक्षाणां सारभूतोसि ॥ [उत अपि च] सोमस्य ओषधीनाम् अधिपतेः अमृतमयस्य देवस्य भ्राता सहजोसि । अमृतमथनकाले सहोत्पन्नत्वात् ॥ उत अपि च [आर्षम्] ऋषीणाम् अङ्गिरःप्रभृतीनां संबन्धि वृष्ण्यम् मन्त्रप्रभावजनितं वीर्यं असि ॥

हे कैथकी जड़! तू जलोंके मथते समय पहिले उत्पन्न हुई है अमृतमय रस है। और वनस्पतियोंमें भी सारभूत है। और औषधियोंके स्वामी अमृतमय सोमकी तू भाई है, क्योंकि—अमृतमथनके समय तू साथ ही उत्पन्न हुई है और तू अंगिरा आदि ऋषियोंका मन्त्रके प्रभावसे उत्पन्न वीर्यरूप है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अद्येमं अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।

अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अद्य । अग्ने । अद्य । सवितः । अद्य । देवि । सरस्वति ।

अद्य । अस्य । ब्रह्मणः । पते । धनुःऽइव । आ । तानय । पसः ६

हे अग्ने अद्य इदानीम् अस्य वीर्यकामस्य पसः पुंव्यञ्जनं वीर्यप्रदानेन धनुरिव आ तानय आततम् ऊर्ध्वायतं कुरु । अद्य सवितरित्यादिकम् एवं योज्यम् ॥ सविता सर्वस्य प्रेरको देवः ॥ देवी देवतारूपा सरस्वती । अनेन विशेषणेन नदीरूपाया व्यावृत्तिः । ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रस्याधिपतिर्देवः ॥ ❀ आ तानयेति । तनु विस्तारे इत्यस्मात् णयन्तात् लोट् ❀ । पसःशब्दस्य लिङ्गवाचित्वम् "आहतं गभे पसो निजल्गुलीति धाणिका" [तै० सं० ७. ४. १९. ३] इत्यादिमन्त्रान्तरप्रसिद्धम् ॥

हे अग्ने ! इस वीर्य चाहने चाहने वालेके पुंव्यञ्जनको वीर्यदान देकर धनुषकी समान ऊपरको फैला हुआ करिये । हे सबके प्रेरक सूर्यदेव और हे देवी सरस्वती और हे मन्त्रके अधिपति ब्रह्मणस्पते ! आप इस वीर्यकामके पुंव्यञ्जनको धनुषकी समान ऊपरको फैला हुआ करिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्ऽइव । धन्वनि ।

क्रमस्व । ऋशःऽइव । रोहितम् । अनवऽग्लायता । सदा ॥ ७ ॥

हे वीर्यकाम ते त्वदीयं पसः पुंव्यञ्जनम् अहम् आ तनोमि मन्त्रप्रभावेन आततं वीर्ययुक्तं करोमि । तत्र दृष्टान्तः । धन्वनि

धनुषि अध्यारोपितां ज्यामिव मौर्वीमिव ॥ तस्मात् त्वम् ऋष इव सेचनसमर्थो वृषभ इव रोहितम् अनु पुंव्यञ्जनम् अनु वल्गूयता नृत्यता मनसा सदा सर्वदा क्रमस्व भार्याम् आक्रमस्व ॥ ❀"वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" इति आत्मनेपदम् वल्गूयति कण्ड्वादिः । ततो यगन्तात् लटः शत्रादेशः ❀ ॥

हे वीर्याभिलाषिन् ! तेरे पुंव्यञ्जनको मैं मन्त्रके प्रभावसे धनुष पर चढ़ा कर तानी हुई प्रत्यञ्चाकी समान वीर्यसम्पन्न करता हूँ इस कारण तू सेचन करनेमें समर्थ वृषभकी समान नाचते हुए मन और पुंव्यञ्जनके साथ सदा भार्याके पास जा ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन्

अश्वस्य । अश्वतरस्य । अजस्य । पेत्वस्य । च ।

अथ । ऋषभस्य । ये । वाजाः । तान् । अस्मिन् । धेहि । तनूऽवशिन्

अश्वः प्रसिद्धः । अश्वतरस्तु अश्वगर्दभयोः सांकर्येण उत्पन्नो जातिविशेषः । अजः छागः । पेत्वो मेषः । ऋषभः गोजातिः सेक्ता पुमान् । अथशब्दः चार्थे । एतेषाम् अश्वादीनां ये वाजाः यानि वीर्याणि सन्ति तान् वाजान् हे ओषधे तनूवशम् तन्वाः शरीरस्य वशो यथा भवति तथा अस्मिन् वीर्यकामे पुंव्यञ्जने वा धेहि स्थापय ॥

[इति] चतुर्थे काण्डे प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

घोड़े खच्चर बकरे मेंढ़े और बैलमें जो वीर्य है तैसे वीर्योंको हे ओषधे ! तू इसके शरीरके वशमें करके स्थापित कर ॥ ८ ॥

चतुर्थ काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१०६)

"सहस्रशृङ्गः" इति सूक्तेन स्त्र्यभिगमने तस्यास्तत्परिसरवर्तिनां च स्वापनार्थम् उदपात्रं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशालां मोक्ष्य शेषम् अभ्यन्तरद्वारे निनयेत् ॥

तथा नग्नः सन् अनेनैव उलूखलम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा गृहस्योत्तरां स्रक्तिं स्त्रीखट्वाया दक्षिणं पादं रज्जुं वा अभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "सहस्रशृङ्ग इति स्वापनम् उदपात्रेण संपातवता शालां संप्रोक्ष्यापरस्मिन् द्वारपक्षे न्युब्जति । एवं नग्न उलूखलम् उत्तरां स्रक्तिं दक्षिणं शयनपादं तन्तून् अभिमन्त्रयते" इति [कौ० ४. १२] ॥

स्त्रीके पास जाते समय "सहस्रशृंगः" इस सूक्तसे उसको और उसके पासके व्यक्तियोंको निद्रित करनेके लिये जलपूर्ण पात्रका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उससे शयनशालाका मोक्षण करे और बाकीको भीतरके द्वारमें ले जावे ॥

तथा नग्न होकर इसी सूक्तसे ओखलीका अभिमन्त्रण करे ॥
तथा घरकी उत्तरकी ओरकी नींव वा स्त्रीके खाटके दायें पाये वा रस्सीका अभिमन्त्रण करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि—'सहस्रशृंग इति स्वापनम् उदपात्रेण सम्पातवता शालां सम्प्रोक्ष्यापरस्मिन् द्वारपक्षे न्युब्जति । एवं नग्न उलूखलं उत्तरां स्रक्तिं दक्षिणं शयनपादं तन्तून् अभिमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥१॥

सहस्रऽशृङ्गः । वृषभः । यः । समुद्रात् । उत्ऽआचरत् ।

तेन । सहस्येन । वयम् । नि । जनान् । स्वापयामसि ॥ १ ॥

सहस्रशृङ्गः सहस्ररश्मिः सूर्यः वृषभः वर्षिता कामानां वृष्टि-जलस्य वा । स्मर्यते हि ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः

इति [म० स्मृ० ३. ७६] । एवंभूतो य आदित्यः समुद्रात् अम्बुधेः । यद्वा समुद्रम् इति अन्तरिक्षनाम । अन्तरिक्षप्रदेशाद् उदयाचलपरिसरवर्तिनः उदाचरत् उदगात् तेन उदितेन सहस्येन । सहः शत्रूणाम् अभिभवनम् । तत्र साधुः सहस्यः । तादृशेन आदि-त्येन [वयं] जनान् अवस्थितान् नि ष्वापयामसि निष्वापयामः । स्वापेन परवशान् कुर्मः ॥

सहस्र किरणों वाले, कामनाओंकी और जलकी वर्षा करने वाले जो सूर्यदेव उदयाचलके समीपवर्ती समुद्रोपनामक आकाश से उदित होते हैं, उन शत्रुओंको दवाने वाले उदयसे सम्पन्न आदित्यसे हम यहाँ पर उपस्थित व्यक्तियोंको निद्रासे परवश करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २ ॥

न । भूमिम् । वातः । अति । वाति । न । अति । पश्यति । कः । चन ।
स्त्रियः । च । सर्वाः । स्वापय । शुनः । च । इन्द्रऽसखा । चरन् २

वातः वायुः भूमिं नाति वाति नातिमात्रं गच्छतु । अतिवातेन स्वापभङ्गो मा भूद् इत्यर्थः ॥ तथा कश्चन यः कोपि तत्रस्थो जनः नाति पश्यति अतिशयेन न पश्यतु । स्वापपरवशो भवतु इत्यर्थः ॥ अपि च हे वात त्वम् इन्द्रसखा । इन्द्रः आत्मा [स सखा यस्य

प्राणवायोः तदात्मकः चरन् देहे वर्तमानः तत्र परितोवस्थिताः सर्वाः स्त्रियश्च शुनश्च स्वापय । ❀ श्वन्शब्दात् शसि "श्वयुवमघोनाम् अतद्धिते" इति संप्रसारणम् ❀ ॥

वायु भूमिमें अधिक न चले अर्थात् अधिक वायुसे निद्राका भङ्ग न होवे, तथा यहाँ पर स्थित कोई मनुष्य न देखसके अर्थात् निद्राके वशमें होजावें । हे वायुदेव ! आप इन्द्रसखा हैं अर्थात् आत्माके सहायक प्राणवायुरूप हैं वह आप देहमें रह कर सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको भी निद्रित कर दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः ।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ३

प्रोष्ठेऽशयाः । तल्पेऽशयाः । नारीः । याः । वह्यऽशीवरीः ।
स्त्रियः । याः । पुण्यऽगन्धयः । ताः । सर्वाः । स्वापयामसि ।३।

प्रोष्ठेशयाः प्राङ्गणे शयानाः तल्पेशयाः खट्वायां शयानाः । ❀ उभयत्रापि "अधिकरणे शेतेः" इति अच् प्रत्ययः । "शयवासवासिष्वकालात्" इति सप्तम्या अलुक् ❀ । या एवंभूता नारीः नार्यः सन्ति याश्च वह्यशीवरीः । वहत्यनेनेति वहनसाधनम् आन्दोलिकादि वह्यम् । तत्र शयनस्वभावा याः स्त्रियः सन्ति । ❀ [वह्यम् इति] "वह्यं करणम्" इति यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते । तस्मिन्नुपपदे शेतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । याश्च अन्याः स्त्रियः पुण्यगन्धयः शोभनगन्धयुक्ताः सन्ति । ❀ पुण्यस्य गन्ध इव गन्धो यासु इति विग्रह "उपमानाच्च" इति गन्धस्य इत् अन्तादेशः ❀ । ता अनुक्रान्ताः सर्वाः स्त्रियः स्वापयामसि स्वापयामः ॥

जो स्त्रियें पलँग पर सोरही हैं, जो स्त्रियें आँगनमें सोरही हैं, जो स्त्रियें पालकी आदिको उठाती हैं और जो स्त्रियें पुण्यगन्धा हैं उन सब स्त्रियोंको हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

एज॑देज॒दज॑ग्रभं॒ चक्षुः॑ प्रा॒णमज॑ग्रभम् ।
अङ्गा॒न्यज॑ग्रभं॒ सर्वा॒ रात्री॑णामतिशर्व॒रे ॥ ४ ॥

एज॑त्ऽएज॑त् । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् । चक्षुः॑ । प्रा॒णम् । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् ।
अङ्गा॑नि । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् । सर्वा॑ः । रात्री॑णाम् । अ॒ति॒ऽश॒र्व॒रे ४

एजदेजत् यद्यद् एजतिमद् अस्ति प्राणिजातं तत् सर्वम् अजग्रभम् स्वापेन गृहीतम् अकार्षम् । ❀ एजृ कम्पने इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः । ग्रह उपादाने इत्यस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि अजग्रभम् इति रूपम् । "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ ॥ तथा चक्षुः प्राणम् तदीयं दर्शनसाधनम् इन्द्रियं प्राणसंचारस्थानाश्रितं गन्धग्राहकम् इन्द्रियं च अजग्रभम् स्वापेन गृहीतम् अकृषि ॥ तथा तदीयानि सर्वा सर्वाणि अङ्गानि हस्तपादादीनि अजग्रभम् अजग्रहम् ॥ एतत् सर्वं कस्मिन् काले कृतम् इति तद् आह । रात्रीणाम् इति । रात्रीणां संबन्धिनि अतिशर्वरे अतिशयिता शर्वरी यस्मिन् काले स कालः अतिशर्वरः । तमोभूयिष्ठे मध्यरात्रकाल इत्यर्थः ॥

जो जङ्गम प्राणी हैं उन सबको मैंने निद्रासे वशमें कर लिया है और उनकी दर्शनसाधन चक्षुरिन्द्रियको मैंने ग्रहण कर लिया है और प्राणसंचारस्थानमें स्थित घ्राणेन्द्रियको मैंने ग्रहण कर लिया है और इनके हाथ पैर आदि सब अंगोंको मैंने अंधकार भरे अर्धरात्रिके समय निद्रासे वशमें कर लिया है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

यः । आस्ते । यः । चरति । यः । च । तिष्ठन् । विऽपश्यति ।
तेषाम् । सम् । दध्मः । अक्षीणि । यथा । इदम् । हर्म्यम् । तथा ५

अस्मदभिसरणसमये यो जनः तत्र आस्ते यश्च [चरति] सञ्चरति यश्च तत्र तिष्ठन् स्थितः सन् विपश्यति विविधम् इतस्ततः पश्यति । तेषां सर्वेषाम् अक्षीणि चक्षूंषि सं दध्मः । संहितानि निमीलितानि कुर्मः । तत्र दृष्टान्तः । इदम् दृश्यमानं हर्म्यं यथा दर्शनशक्तिशून्यं तथा । चक्षुष्मदपि प्राणिजातं मां द्रष्टुम् असमर्थं भवतु इत्यर्थः ॥

हमारे गमनके समय जो पुरुष घूम रहा है जो तहाँ बैठ कर इधर उधर देख रहा है उन सबके नेत्रोंको हम, यह भवन जैसे दर्शनशक्तिशून्य है तिस प्रकार, बन्द करते हैं अर्थात् नेत्रवाला प्राणिसमूह भी हमें न देख सके ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

स्वप्तु । माता । स्वप्तु । पिता । स्वप्तु । श्वा । स्वप्तु । विश्पतिः ।
स्वपन्तु । अस्यै । ज्ञातयः । स्वप्तु । अयम् । अभितः । जनः ६

यस्याः स्त्रियाः प्रस्वापनेन वशीकरणम् अत्र चिकीर्षितं तस्या माता प्रथमं स्वप्तु स्वपितु निद्रापरवशा भवतु । ॐञिष्वप् शये ।

अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इति इडभावश्छान्दसः ॥ तस्याः पिता च स्वप्तु निद्रातु ॥ यस्तस्य गृहस्य परिरक्षणाय श्वा द्वारि वर्तते सोपि स्वप्तु निद्रातु ॥ विश्पतिः गृहाधिपतिश्च स्वप्तु शेताम् ॥ अस्यै । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । अस्याः प्रेप्सितायाः स्त्रिया ये ज्ञातयः सन्ति तेपि स्वपन्तु । गृहाद् बहिः अभितः रक्षणार्थं नियुक्तः अयं जनश्च स्वप्तु निद्रागृहीतो भवतु । एवं मात्रादीनां स्वापनप्रार्थनेन स्वाभिलषितसिद्धिराशास्यते ॥

जिस स्त्रीको स्वापसे—निद्रासे हम वशमें करना चाहते हैं, पहिले उसकी माता सो जावे, उसका पिता भी निद्राके अधीन होजावे और उसके घरकी रक्षा करनेके लिये जो कुत्ता उसके द्वार पर रहता है वह भी सोजावे, गृहाधिपति भी सोजावे, इस स्त्रीके जो जाति वाले हैं वह भी सो जावें और घरके बाहर चारों ओर रक्षा करनेके लिये जो पुरुष नियुक्त है, वह भी सोजावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम् ।
ओत्सूर्यमन्यान्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

स्वप्न । स्वप्नऽअभिकरणेन । सर्वम् । नि । स्वापय । जनम् ।
आऽउत्सूर्यम् । अन्यान् । स्वापय । आऽव्युषम् । जागृतात् ।
अहम् । इन्द्रःऽइव । अरिष्टः । अक्षितः ॥ ७ ॥

हे स्वप्न स्वप्नाभिमानिन् देव स्वप्नाधिकरणेन स्वप्नस्य यद् अधिकरणम् अधिष्ठानं शय्यादि तेन साधनेन सर्वं जनं नि ष्वा·

पय नितरां स्वापय। अयमेवार्थः अवधिप्रदर्शनेन विव्रियते। मात्रादयो ये अन्य अनुक्रान्ताः तान् अन्यान् ओत्सूर्यम् उद्यन् सूर्यो यस्मिन् काले स उत्सूर्यः कालः तावत्पर्यन्तं स्वापयेत्यर्थः ॥ एवं सर्वजनस्य प्रस्वापने सति [अरिष्टः] अहिंसितः अक्षितः क्षयरहितश्च सन् अहम् इन्द्र इव भोगपरो भूत्वा आव्युषम् उषःकालावधि जागृतात्। ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀। जागरं करवाणि ॥

[इति] चतुर्थे काण्डे प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] चतुर्थे काण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

हे स्वप्नके अभिमानी देव! स्वप्नका जो शय्या आदि अधिष्ठान है, उसके द्वारा आप इन सबको सूर्यके उदय तक निद्रित रखिये, इस प्रकार सबके सोने पर मैं अहिंसित और क्षयरहित होकर इन्द्रकी समान भोगपरायण होकर उषःकाल तक जागरण कर सकूँ ॥ ७ ॥

चतुर्थ काण्डके प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१०७) ॥
प्रथम अनुवाक समाप्त.

"ब्राह्मणो जज्ञे" "वारिदम्" इत्याभ्यां कन्दविषभैषज्यार्थम् उदकम् अभिमन्त्र्य विषार्तं पुरुषं पाययेत्। तथाविधोदकेन प्रोक्षेत्

तथा कुमुकतृणशकलं सहोदकम् अभिमन्त्र्य पाययेत् प्रोक्षेच्च ॥

तथा आभ्यां जीर्णहरिणचर्मावज्वालितं पतितमार्जनिकाशकलैर्वा अवज्वालितम् उदकम् आभ्याम् अभिमन्त्र्य तेनोदकेन विषार्तम् अवसिञ्चेत् ॥

तथा आभ्याम् सूक्ताभ्याम् उदपात्रं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन स्नापयेत्

तथा विषलिप्ताभ्याम् ऊर्ध्वफलाभ्यां सक्तुमन्थं मथित्वा अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

तथा मदनफलानि प्रत्यृचम् अभिमन्त्र्य यथा छर्दिर्भवति तथा प्रत्यृचं भक्षयेत् ॥

सर्पिषा सहितां हरिद्राम् अनेनैवाभिमन्त्र्य आविष्टविषं पाययेत् सूचितं हि । "ब्राह्मणो जज्ञ इति तक्षकायाञ्जलिं कृत्वा जपन्ना-चामयति अभ्युक्षति । क्रमुकशकलं संक्षुद्य दूर्शजरदजिनावकर-ज्वालेन संपातवद्द उदपात्रम् ऊर्ध्वफलाभ्यां दिग्धाभ्यां मन्थम् उप-मथ्य रयिधारणपिण्डान् अन्नृचं भक्षीयं छर्दयति । हरिद्रां सर्पिषा पाययति" इति [कौ० ४. ४] ॥

अत्र "ब्राह्मणो जज्ञे" इति एकसूक्तप्रतीकोपादानेन विषापनो-दनपरं "वारिदम्" इति समनन्तरं सूक्तमपि गृह्यते । "प्रग्रणम् आ ग्रहणात्" [कौ० १. ८] इति परिभाषया सौत्रक्रम इव संहिता-क्रमेपि प्रवृत्तिरस्तीति व्याख्यातृभिरभिहितत्वात् ॥

"ब्राह्मणो जज्ञे" और "वारिदम्" इन दो सूक्तोंसे कन्दविषकी चिकित्सा करनेके लिये जलको अभिमंत्रित करके विषसे आक्रांत पुरुषको पिलावे । और ऐसे ही जलसे प्रोक्षण करे ॥

और सुपारीके वृक्षके टुकड़ेको जलसहित अभिमन्त्रण करके पिलावे और प्रोक्षण करे ॥

तथा जीर्ण हरिणके चर्मसे गरम किये हुए वा गिरे हुए छुहारीके टुकड़ोंसे गरम किये हुए जलको इन दोनों सूक्तोंसे अभि-मंत्रित करके उस जलको पिलावे और प्रोक्षण करे (छिड़के) ॥

और इन दोनों सूक्तोंसे जलपूर्ण पात्रका सम्पातन और अभि-मंत्रण करके उससे स्नान करावे ॥

तथा विषलिप्त ऊर्ध्वफलोंसे सक्तुमन्थको मथ कर अभि-मंत्रित करके पिलावे ॥

तथा मदनफलों (धतूरेके फलों) का प्रत्येक ऋचासे अभि-मंत्रण करके जिस प्रकार कै हो तिस प्रकार प्रत्येक ऋचासे भक्षण करे ॥

और विषाक्रान्त पुरुषको घी और हल्दीको इस सूक्तसे अभि-मंत्रित करके पिलावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ब्राह्मणो जज्ञ इति तस्कायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामयति अभ्युक्षति । क्रमुकशकलं संक्षुद्य दूर्शजरदजिनावकरज्वालेन सम्पातवद्ध उदपात्रं ऊर्ध्वफलाभ्यां दिग्धाभ्यां मन्थं उपमथ्य रयिधारणपिण्डान् अन्वृचं प्रकीर्य छर्दयते । हरिद्रां सर्पिषा पाययति इति (कौशिकसूत्र ४ । ४)॥

यहाँ 'ब्राह्मणो जज्ञे' इस एक सूक्तका प्रतीक देनेसे विषको दूर करने वाला इसके बादका ही 'वारिदम्' सूक्त भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि–"ग्रहणं आ ग्रहणात्" (कौशिकसूत्र १ । ८) इस परिभाषाके अनुसार सूत्रके क्रमकी समान संहिताका क्रम भी लिया जाता है। ऐसा व्याख्याताओंने कहा है ॥

तत्र प्रथमा ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणः । जज्ञे । प्रथमः । दशऽशीर्षः । दशऽआस्यः ।
सः । सोमम् । प्रथमः । पपौ । सः । चकार । अरसम् । विषम् १

मनुष्यजातिवत् सर्पजातावपि चातुर्वर्ण्यम् अस्ति । तत्र प्रथमः सर्पजातीयानाम् आदिभूतस्तक्षकाख्यो ब्राह्मणः ब्राह्मणजातिः जज्ञे उत्पन्नः । स विशेष्यते । दशशीर्षः दशसंख्यानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य स तथोक्तः । अत एव दशास्यः दशमुखः । यस्माद् अयं ब्राह्मणः तस्मात् स तक्षकः प्रथमः क्षत्रियादिजातीयेभ्यः पूर्वभावी सन् सोमं पपौ द्युलोकस्थम् अमृतमयं सोमं पीतवान् । स च सोमपो ब्राह्मणः कन्दमूलादिजनितम् एतद् विषम् अरसम् रसरहितं निर्वीर्यं चकार करोतु । * छान्दसो लिट् । जज्ञे इति । जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् लिट् । "गमहन०" इति उपधालोपे "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनम् ॥

(मनुष्यजातिकी समान सर्पजातिमें भी चारों वर्ण हैं) सर्पजाति में प्रथम तक्षक ब्राह्मण जातिके उत्पन्न हुए, उनके दश फन हैं और दश मुख हैं। यह तक्षकसर्प ब्राह्मण हैं, इस कारण इन्होंने क्षत्रियजाति वालोंसे प्रथम होनेके कारण द्युलोकमें स्थित अमृत-मय सोमको पिया यह सोमपायी ब्राह्मण इस कन्दमूल आदिसे उत्पन्न हुए विषको रसरहित अर्थात् निर्वीय करें॥ १॥

द्वितीया ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिंधवो वितष्ठिरे वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

यावती इति। द्यावापृथिवी इति। वरिम्णा। यावत्। सप्त।

सिन्धवः। विऽतष्ठिरे।

वाचम्। विषस्य। दूषणीम्। ताम्। इतः। निः। अवादिषम् २

द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः। "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। ते द्यावापृथिव्यौ वरिम्णा उरुत्वेन विस्तारेण यावती यावत्यौ यावत्परिमाणयुक्ते भवतः। ❀ यच्छब्दात् "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" इति वतुप्। "आ सर्वनाम्नः" इति आत्वम्। वरिम्णेति। उरुशब्दात् इमनिचि "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वर् आदेशः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀। तथा [सप्त] सप्त-संख्याकाः सिन्धवः समुद्रा यावत् यत्परिमाणवैशिष्टयेन वितस्थिरे व्यावर्तन्ते। ❀ "समवप्रविभ्यः स्थः" इति आत्मनेपदम् ❀। इतः अस्मात् तादृक्परिमाणविशिष्टयोर्द्यावापृथिव्योः सकाशात् सप्त-समुद्रवेष्टितस्थानाच्च विषस्य दूषणीम् कन्दमूलादिजनितविषस्य

नाशनीं ताम् तादृशीं वाचम् मन्त्रात्मिकां निरवादिषम् । ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण निर्गमय्य उच्चारयामीत्यर्थः । ॐ वदेश्छान्दसो लुङ् । "वदव्रजहलन्तस्याचः" इति वृद्धिः ॐ ॥

द्यावापृथिवी अपने बड़े भारी विस्तारसे जितने परिमाणसे युक्त हैं और सात समुद्र जितने परिमाणमें फैले हुए हैं, इन सब स्थानोंके कन्द मूल फल आदिके विषको दूर करने वाली मन्त्रात्मिका वाणीको मैं तालु आदिसे उच्चारण करता हूँ ॥२॥

तृतीया ॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥३॥

सुऽपर्णः । त्वा । गरुत्मान् । विष । प्रथमम् । आवयत् ।
न । अमीमदः । न । अरूरुपः । उत । अस्मै । अभवः । पितुः ३

सुपर्णः शोभनपत्रयुक्तः । ॐ "बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ । एवंभूतो गरुत्मान् वैनतेयः हे विष त्वा त्वां प्रथमम् पूर्वम् आवयत् । आवयतिः अत्तिकर्मा । अभक्षयत् । अतो निर्वीर्यत्वाद् विषोपहतं पुरुषं नामीमदः मत्तं ज्ञानविकलं मा कार्षीः । अत एव नारूरुपः । ॐ रुप रुप लुप विमोहने इति धातुः ॐ । विमूढं मा कार्षीरित्यर्थः । ॐ उभयत्रापि ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ॐ ॥ उत अपि तु अस्मै विषदुष्टाय पुरुषाय हे विष त्वं पितुः । अन्ननामैतत् । अन्नम् अभवः । ॐ छान्दसो लङ् ॐ । अन्नवज्जीर्णं भवेत्यर्थः ॥

सुन्दर पर वाले विनतानन्दन गरुड़ने हे विष ! पहिले तुझको खा लिया था अतः निर्वीर्य होनेसे तू इस विषपीड़ित पुरुषको ज्ञानविकल न कर, मूढ़ न कर, किन्तु हे विष ! इस विषदूषित पुरुषको तू अन्नरूप होजा अर्थात् अन्नकी समान पच जा ॥३॥

चतुर्थी ॥

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

यः । ते । आस्यत् । पञ्चऽअङ्गुरिः । वक्रात् । चित् । अधि । धन्वनः ।
अपऽस्कम्भस्य । शल्यात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम् ॥४॥

पञ्चांगुरिः पञ्च अंगुरयः अंगुलयो यस्य स तथोक्तः । ❀"बाल-मूललध्वलमङ्गुलीनां रो लम् आपद्यते" इति लत्वस्य विकल्पनाद् रेफः ❀ । एवंभूतो यो हस्तः ते त्वां वक्रात् वक्रीभूताद् [अधि] अधिज्याद् धन्वनः आस्यत् धनुर्यन्त्रेण पुरुषशरीरे प्राक्षिपत् । चिच्छब्दः अप्यर्थे । तं विषम् विषप्रदं हस्तम् अपस्कम्भस्य अप-स्कभ्यते विधार्यते अन्तरिक्षे इति अपस्कम्भः क्रमुकवृक्षः तस्य शल्यात् शकलाद् निर्मिताद् [अहं] निरवोचम् मन्त्रेण निर्वीर्यं करोमि । यद्वा अपस्कभ्यते धनुषि धार्यते इति अपस्कम्भो वाणः । तस्य शल्यात् विषदिग्धाद् अयोमयाद् अग्रात् । यो विषम् आस्यत् इति संबन्धः । ❀ स्तभि स्कभि गतिप्रतिबन्धे । अस्मात् कर्मणि घञ् ❀ । यद्वा तदीयं विषं निर्गतं ब्रवीमीत्यर्थः ॥

पाँच अंगुलि वाले हाथने तुझको सुखरूप मत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष-रूपी यंत्रसे पुरुषको शरीरमें डाल दिया है, उस विषको और विषमद हाथको मैं सुपारीके वृक्षके टुकड़ेके द्वारा मन्त्रसे निर्वीर्य करता हूँ ४

पञ्चमी ॥

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥५॥

शल्यात् । विषम् । निः । अवोचम् । प्रऽअञ्जनात् । उत । पर्णऽधेः

अपाष्ठात् । शृङ्गात् । कुल्मलात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम्

[शल्यात्] उक्तलक्षणाद् बाणादिशल्यात् संभूतं विषं निरवोचम् निर्गतं ब्रवीमि । तथा माञ्जनात् प्रलेपात् । उतशब्दः समुच्चये । पर्णधेः पर्णानि पत्राणि धीयन्तेस्मिन्निति पर्णधि इषुकाण्डः विषमयपत्रयुक्तो वृक्षो वा । तस्माच्च यद् उद्भूतं विषम् अपाष्ठात् अपकृष्टावस्थाद् एतत्संज्ञाद् विषोपादानात् शृङ्गात् विषाणात् कुल्मलात् कुत्सितमाणिमलाच्च यद् उद्भूतं विषम् तत् सर्वं विषम् अहं निरवोचम् निर्ब्रवीमि । मन्त्रसामर्थ्येन निर्गतं करोमीत्यर्थः ॥

बाणके फलकेसे जो विष हुआ है उसको मैं निकला हुआ कहता हूँ अर्थात् मंत्रके प्रभावसे निकालता हूँ, प्रलेपसे, संडेसे, विषमय पत्ते वाले वृक्षसे जो विष हुआ है, नीचेको झुके हुए सींगसे (डाढ़से) और कुत्सितमाणिमलसे जो विष उत्पन्न हुआ है उस सबको मैं मन्त्रकी शक्तिसे निकला हुआ करता हूँ ॥४॥

षष्ठी ॥

अरसस्त इषो शल्योथो ते अरसं विषम् ।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

अरसः । ते । इषो इति । शल्यः । अथो इति । ते । अरसम् । विषम् ।

उत । अरसस्य । वृक्षस्य । धनुः । ते । अरस । अरसम् ॥ ६ ॥

हे इषो बाण ते त्वदीयो विषदिग्धः शल्यः अरसः निर्विषो भवतु ॥ अथो अनन्तरं च ते त्वदीयं विषम् अरसम् रसरहितं निर्वीर्यं भवतु ॥ उत अपि च अरसस्य निःसारस्य वृक्षस्य संबन्धि ते त्वदीयं धनुः अरसारसम् अत्यर्थम् अरसं नीरसं निर्वीर्यं भवतु ॥

हे बाण ! तेरा विषमें बुझा हुआ बाण निर्विष होजावे, फिर

तेरा विष निर्वीर्य होजावे, फिर निःसार वृक्षका तेरा धनुष बहुत ही निर्वीय होजावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

ये । अपीषन् । ये । अदिहन् । ये । आस्यन् । ये । अव॒ऽअसृजन् ।
सर्वे । ते । वध्रयः । कृताः । वध्रिः । विष॒ऽगिरिः । कृतः ॥ ७ ॥

ये जनाः अपीषन् विषोपादानम् औषधम् अपिंषन् चूर्णीकृत्य प्रयच्छन्तीत्यर्थः । ※ छान्दसो लङ् ये च जना अदिहन् अलिम्पन् । लेपनविषं प्रयुञ्जत इत्यर्थः । ये च आस्यन् विषम् अस्यन्ति दूरात् प्रक्षिपन्ति ये च अवासृजन् समीपस्थः विषम् अन्नपानादिषु संसृजन्ति ते सर्वे जनाः एतन्मन्त्रप्रभावाद् वध्रयः निर्वीर्याः कृताः । विषगिरिः कन्दमूलादिविषोत्पत्तिहेतुः पर्वतश्च वध्रिः निर्वीर्यः कृतः

जो प्राणी विषमयी औषधिको पीस करके देते हैं, जो पुरुष लेपनविषका प्रयोग करते हैं, जो पुरुष दूरसे विषको फेंकते हैं और जो प्राणी समीपमें खड़े होकर विषको अन्न जल आदिमें मिलाते हैं उन सब पुरुषोंको इस मन्त्रके प्रभावसे निर्वीर्य कर दिया और कन्द मूल आदिके विषकी उत्पत्तिका हेतु पर्वत भी निर्वीर्य कर दिया गया ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

वध्रयः । ते । खनितारः । वध्रिः । त्वम् । असि । ओषधे ।

वध्रिः । सः । पर्वतः । गिरिः । यतः । जातम् । इदम् । विषम् ८

हे ओषधे विषोपादानभूते ते तव कन्दमूलादेः खनितारः खननेन उद्धर्तारो जनः वध्रयः निर्वीर्या भवन्तु । त्वमपि मन्त्रप्रभावात् वध्रिरसि.निर्वीर्या भवसि । स तादृशः पर्वतः पर्ववान् गिरिः शिलोच्चयः वध्रिः निर्वीर्यो भवति । यतः यस्माद् गिरेः इदम् कन्दमूलादिलक्षणं विषं जातम् उत्पन्नम् । स पर्वत इति संबन्धः । ❀ जातम् इति । जनेः कर्तरि निष्ठा । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः । "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्त्वम् ❀ ॥

[इति] चतुर्थे काण्डे [द्वितीयेऽनुवाके] प्रथमं सूक्तम् ॥

हे विषमयी ओषधे ! तुझ कन्द मूल आदिको खोदकर उद्धार करने वाले मनुष्य भी निर्वीर्य होजावें, तू भी मन्त्रके प्रभावसे निर्वीर्य होजा और जिस पर्वतसे यह कन्द मूल आदिका विष उत्पन्न होता है, वह पर्वत निर्वीर्य होजावे ॥ ८ ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१०८)

"वारिदं वारयातै" इति द्वितीयसूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"वारिदं वारियातै" इस द्वितीय सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

वाः । इदम् । वारयातै । वरणऽवत्याम् । अधि ।
तत्र । अमृतस्य । आऽसिक्तम् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥१॥

वरणावत्याम् । वरणा नाम वृक्षविशेषाः ते अस्यां सन्तीति

वरणावती। ❀ "शरादीनां च" इति मतौ पूर्वपदस्य दीर्घः ❀। तस्याम् [अधि]। अधिः सप्तम्यर्थानुवादी। तस्यां स्थितम् इदम् विषहरं वाः वारि वारयातै अस्मदीयं विषं वारयतु। ❀ वारयतेर्लेटि आडागमः ❀। वरणावत्युदकस्य कोतिशय इति तत्राह तत्रामृतस्येति। तत्र वरणावत्याम् अमृतस्य द्युलोकस्यस्य विषहरं स्वरूपम् आसिक्तम् प्रक्षिप्तं विद्यते। अतः तेन अमृतमयेन उदकेन ते त्वदीयं कन्दमूलादिजनितं विषं वारये निवारयामि॥

वरण नामके वृक्ष जिसमें होते हैं उस वरणावतीका यह विषको दूर करने वाला जल हमारे विषको दूर करे। इस वरणावतीमें द्युलोकमें स्थित अमृतका विषको हरने वाला स्वरूप प्रक्षिप्त होनेसे वर्तमान है, अतः उस अमृतमय जलसे तेरे कन्दमूल आदिसे हुए विषको मैं दूर करता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

अ॒र॒सं प्रा॒च्यं॑ वि॒षम॑र॒सं यदु॑दी॒च्य॑म्।
अथे॒दम॑ध॒रा॒च्यं॑ कर॒म्भेण॒ वि क॑ल्पते॥ २॥

अ॒र॒सम्। प्रा॒च्य॑म्। वि॒षम्। अ॒र॒सम्। यत्। उ॒दी॒च्य॑म्।
अथ। इ॒दम्। अ॒ध॒रा॒च्य॑म्। क॒र॒म्भेण॑। वि। क॒ल्प॒ते॥ २॥

प्राच्यम् प्राग्देशे भवं विषम् अरसम् नीरसं निर्वीर्यम् अस्तु। तथा उदीच्यम् उदग्देशे भवं यद् विषम् अस्ति तदपि अरसम् निर्वीर्यं भवतु। ❀ "द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्" इति शैषिको यत्प्रत्ययः ❀। अथ अनन्तरम् इदम् अधराच्यम्। 'अधरम् अधोदेशम् अञ्चतीति अधराक् पृथिव्या अधस्ताद् वर्तमाना दिक्। तत्र भवम् अधराच्यं विषम्। यद्वा "प्राग् अपाग् उदग् अधराक्" [२०. कु० ८, १] "प्राक्ताद् अपाक्ताद् अधराद् उदक्ताद्"

[ऋ० ७. १०४. १६] इत्यादिमन्त्रान्तरेषु प्रागादिदिक्त्रयसमभिव्याहारेण दक्षिणा दिक् अधरावशब्दवाच्या । एतच्च प्रत्यग्दिशोऽप्युपलक्षकम् । एवं सर्वदिक्संबन्धि विषं करम्भेण । "मन्थं संयुतं करम्भ इत्याचक्षते" [आप० १२. ४. १२] इति आपस्तम्बवचनाद् अत्र विषहरे प्रयोगे प्रयुज्यमानो मन्थः करम्भशब्दवाच्यः । तेन वि कल्पते । विगतसामर्थ्यं भवतीत्यर्थः । ॐ कृपू सामर्थ्ये । "कृपो रो लः" इति लत्वम् ॐ ॥

पूर्व दिशाका विष नीरस हो (निर्वीर्य हो) उत्तर दिशामें होने वाला विष निर्वीर्य हो, पृथिवीमें—दक्षिण दिशामें होनेवाला विष निर्वीर्य हो, इसप्रकार सब दिशाओंमें होने वाला विष मन्त्र के द्वारा निष्फल होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

करम्भं कृत्वा तिर्यं१ पीबस्पाकमुदारथिम् ।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥३॥

करम्भम् । कृत्वा । तिर्यम् । पीबःऽपाकम् । उदारथिम् ।
क्षुधा । किल । त्वा । दुस्तनो इति दुःऽतनो । जक्षिऽवान् । सः । न । रूरुपः ॥ ३ ॥

हे दुष्टनो दुष्टशरीर विष तिर्यम् तिरोभवं प्रच्छन्नत्वेन प्रयुक्तम् । ॐ तिरस्शब्दात् "भवे छन्दसि" इति यत् । "अव्ययानां भमात्रे० इति टिलोपः ॐ । पीबस्पाकम् । पीबो मेदः पच्यते येन तत् पीबस्पाकम् । ॐ पचेः करणे घञ् ॐ । उदारथिम् उद्रिक्तार्तिजनकम् ईदृशं त्वा त्वां करम्भं कृत्वा करम्भशब्दवाच्यं मन्थं विभाव्य क्षुधा किल बुभुक्षया । किलेति अपरमार्थे । जक्षिवान् भक्षितवान् । पुरुषो भक्षितवान् । स भक्षितस्त्वं तं पुरुषं न

रूरुपः मूर्छितं मा कुरु । ॐ जक्षिवान् इति अदेर्लिटः क्वसुः । "लिट्यन्यतरस्याम्" इति घस्लृ आदेशः । "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इटि कृते उपधालोपे स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनादि । रूरुप इति । रुप विमोहने । णयन्तात् लुङि चङि रूपम् ॐ ॥

हे शरीरको दूषित करनेवाले विष ! धोखेसे खाए हुए, मेदको पचाने वाले और भयङ्कर पीड़ा देने वाले तुझको अन्य समझ कर भूँसमें इस पुरुषने भक्षण कर लिया है वह खाया हुआ तू इस पुरुषको मूर्छित न कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।

प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

वि । ते । मदम् । मदऽवति । शरम्ऽइव । पातयामसि ।

प्र । त्वा । चरुम्ऽइव । येषन्तम् । वचसा । स्थापयामसि ॥ ४ ॥

हे मदावति मूर्छाकरमदयुक्ते विषोपादानभूते ओषधे ते त्वदीयं मदम् मूर्छाकरं विषम् शरुमिव धनुषो विमुक्तं शरमिव वि पातयामसि विपातयामः । ॐ शरुम् इति । शॄ हिंसायाम् इत्यस्मात् शॄस्वृस्निहि० [उ० १. १०] इत्यादिना उप्रत्ययः ॐ । शरीराद् विश्लेषयामः । हे विष चरुम् चरणशीलं गूढचरं दूतमिव जेषन्तम् । ॐ जेषृ प्रयत्ने ॐ । प्रयतमानम् अङ्गप्रत्यङ्गानि व्याप्नुवन्तं त्वा त्वां वचसा मन्त्रेण प्र स्थापयामसि प्रस्थापयामः ॥

हे मूर्छादायक मदसे युक्त ओषधे ! तेरे मूर्छा करने वाले विष को हम धनुषसे छूटने वाले बाणकी समान शरीरसे अलग करते हैं । हे विष ! गुप्तरूपसे विचरण करने वाले दूतकी समान चेष्टा कर अङ्ग-प्रत्यंगमें व्याप्त होते हुए तुझको हम मन्त्रके द्वारा (दूर) भेजते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

परि । ग्रामम्ऽइव । आऽचितम् । वचसा । स्थापयामसि ।
तिष्ठ । वृक्षःऽइव । स्थाम्नि । अभ्रिऽखाते । न । रूरुपः ॥ ५ ॥

ग्राममिव जनसमूहमिव आचितम् उपचितं विषम् । ग्रामदृष्टान्तेन विषस्य प्राबल्यम् उक्तम् । ईदृशमपि वचसा मन्त्रेण परिहृत्य अन्यत्र स्थापयामसि स्थापयामः । निरस्याम इत्यर्थः ॥ हे अभ्रिखाते । अभ्रिः खननसाधनम् । तदीयखननेन लब्धे ओषधे स्थाम्नि स्थाने स्वकीये वृक्ष इव निश्चला भूत्वा तिष्ठ । मा व्याप्नुहीत्यर्थः । अत एव न रूरुपः पुरुषं नामूमुहः ॥

जनसमूहकी समान एकत्रित हुए विषको भी हम मन्त्ररूप वचनसे हरकर अन्यत्र भेजते हैं, अर्थात् निकालते हैं, हे खोदनेसे प्राप्त होने वाली ओषधे ! तू अपने स्थानमें ही वृक्षकी समान निश्चल होकर रह, व्याप्त मत हो, इस पुरुषको मोहमें न डाल ५

षष्ठी ॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।
प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

पवस्तैः । त्वा । परि । अक्रीणन् । दूर्शेभिः । अजिनैः । उत ।
प्रऽक्रीः । असि । त्वम् । ओषधे । अभ्रिऽखाते । न । रूरुपः ॥६॥

हे ओषधे विषमूर्छिके त्वा त्वाम् पवस्तैः पवनाय अस्तैः संमार्जनीरूपैः पर्यक्रीणन् परिक्रीतवन्तो महर्षयः । पवस्तशब्दो दाश-

तथ्यां द्यावापृथिव्योर्वाचकत्वेन दृष्टः। "दृ पवस्ते परि तं न भूतः" [ऋ० १०. २७. ७] इति। तथा दूर्शेभिः दूर्शैः दुष्टमृग्यसंबन्धिभिः अजिनैः त्वग्भिश्च पर्यक्रीणन्। उतशब्दः समुच्चये। ❀ दूर्शेभिरिति। "बहुलं छन्दसि" इति भिस ऐसभावः ❀॥ यत् एवम् अतो हेतोः त्वं मक्रीः मकर्षेण क्रीता असि भवसि। अतस्तैर्द्रव्यैस्त्वं मक्रीता सती अस्मात् स्थानान्निर्गच्छेति भावः। ❀ मपूर्वात् क्रीणातेः कर्मणि संपदादिलक्षणः क्विप् ❀॥ अभ्रिखाते इत्यादि व्याख्यातम्॥

हे विषमूलिक ओषधे! पवित्र करनेके लिये फैलाये हुए सम्मार्जनीतृणोंसे महर्षियोंने तुझको खरीद लिया है तू दुष्ट मृगों के चर्मोंसे खरीदी हुई है, अतः खरीदी हुई तू इस स्थानसे निकल जा, हे खोद कर प्राप्त की हुई ओषधे! तू इस पुरुषको मोहमें न डाल॥ ६॥

सप्तमी॥

अनांसा ये वंः प्रथमा यानि कर्मांणि चक्रिरे।
वीरान् नो अत्र मा दंभन् तद् वं एतत् पुरो दंधे ७

अनाशाः। ये। वः। प्रथमाः। यानि। कर्माणि। चक्रिरे।
वीरान्। नः। अत्र। मा। दभन्। तत्। वः। एतत्। पुरः। दधे ७

हे जनाः वः युष्माकम् अनाशाः अननुकूला ये शत्रवः मथमाः मथमानि मुख्यानि यानि योगादीनि कर्माणि चक्रिरे कृतवन्तः तैः कर्मभिस्ते शत्रवः नः अस्माकं वीरान् वीर्याज्जातान् पुत्रपौत्रादीन् अत्र अस्मिन् देशे यद्वा एषु कर्मसु निमित्तभूतेषु मा दभन् मा हिंसन्तु। ❀ दन्भु दम्भे ❀। तद् एतद् क्रियमाणं भैषज्यरूपं कर्म वः युष्माकं पुरः पुरस्ताद् दधे रक्षणार्थं धारयामि॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम्॥

हे पुरुषो ! तुम्हारे अनुकूल न चलने वाले जिन शत्रुओंने योग आदि मुख्य कर्मोंको किया है उन कर्मोंसे वे हमारे वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्र पौत्र आदिको इस देशमें न मारें। इस चिकित्सा-रूप कर्मको मैं तुम्हारे सामने रक्षाके लिये रखता हूँ ॥ ७ ॥

चतुर्थ काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१०९) ॥

"भूतो भूतेषु" इति तृतीयसूक्तेन महति लघौ वा राजाभिषेक-कर्मणि शान्त्युदककलशेन उदपात्रेण च अभिषेकं जपं च पुरोहितः कुर्यात् ॥

तथा संपातितस्थालीपाकमाशनम् अभिमन्त्रितम् अश्वम् आरोह्य अपराजितदिशं प्रति गमनं च कारयेत्। सूत्रितं हि। "भूतो भूतेष्विति राजानम् अभिषेक्ष्यन् महा[नदे]शान्त्युदकं करोति" इत्यादि [कौ० २. ८] ॥

तथा राजसूये आसन्द्यारोहणे राजाभिषेके च एतत् सूक्तम्। उक्तं वैताने। "राजसूयं" प्रक्रम्य "वैयाघ्रचर्मोपस्तरणायाम् आसन्द्यां भूतो भूतेष्वित्यारोहयति अभिषिञ्चति च" इति [वै० ७. १]॥

'भूतो भूतेषु' इस तृतीयसूक्तसे छोटे वा बड़े राजाभिषेककर्म में शान्त्युदकके कलशसे और जलपूर्णपात्रसे भी पुरोहित जप और अभिषेक भी करे ॥

तथा संपातित स्थालीपाकका प्राशन करावे और अभिमन्त्रित घोड़े पर चढ़ाकर अपराजित दिशाकी ओर गमन भी करावे इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"भूतो भूतेष्विति राजानं अभिषेक्ष्यन् महान्दे शान्त्युदकं करोति०" (कौशिकसूत्र २।८) ॥

तथा राजसूयमें आसन पर बैठते समय और राजाभिषेक के समय भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"राजसूयं" प्रक्रम्य "वैयाघ्रचर्मोपस्तरणायां आसन्द्यां भूतो भूतेष्वित्यारोहयति अभिषिञ्चति च" (वैतानसूत्र ७।१) ॥

तत्र प्रथमा ॥

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

भूतः । भूतेषु । पयः । आ । दधाति । सः । भूतानाम् । अधिऽपतिः । बभूव ।

तस्य । मृत्युः । चरति । राजऽसूयम् । सः । राजा । राज्यम् । अनु । मन्यताम् । इदम् ॥ १ ॥

भूतः समृद्धः अभिषेकेण प्राप्तैश्वर्यः भूतेषु समृद्धेषु जनपदेषु स्वाम्यमात्यादिप्रकृतिजनेषु वा पयः । उपलक्षणम् एतत् । क्षीरोपलक्षितं भोज्यं वस्तुजातम् आ दधाति स्थापयति । सर्वेषाम् अनुजीविनाम् अन्नप्रदो भवतीत्यर्थः ॥ अत एव सः अभिषिक्तो राजा भूतानाम् प्राणिनाम् अधिपतिः अधिष्ठाता स्वामी बभूव ॥ मृत्युः धर्मराजः धर्माधर्मप्रविभागेन दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालने कारयितुं तस्य राज्ञो राजसूयं चरति । राजा सूयते अनुज्ञायते जगद्रक्षणविधौ येन कर्मणा तद् राजसूयम् अभिषेकाख्यम् इदं कर्म अनुतिष्ठतीत्यर्थः ॥ स कृताभिषेको राजा राज्यम् । राज्ञः कर्म दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनादिकं राज्यम् । तद् अनु मन्यताम् अङ्गीकरोतु । ❀ राज्यम् इति । “पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्” इति कर्मणि अभिधेये यक् प्रत्ययः । तत्र पुरोहितादिषु “राजाऽसे” इति पठितम् ❀ ॥

अभिषेकके द्वारा ऐश्वर्यको पाने वाला, स्वामी मन्त्री आदि

प्रकृतियोंमें दुग्ध आदि भोज्य वस्तुओंको देता है अर्थात् सब अनुजीवियोंको अन्न देता है अतएव यह अभिषिक्त-राजा सब प्राणियोंका स्वामी होता है, धर्मराज धर्म और अधर्मके विभाग से दुष्टों पर दण्ड और शिष्टों पर अनुग्रह करानेके लिये उस राजाके राजसूय यज्ञको करते हैं, अर्थात् जिस कर्मसे राजाको जगत्-रक्षण विधिकी अनुज्ञा दीजाती है, उस कर्मको करते हैं, अतः अभिषिक्त राजा दुष्टोंको दण्ड देना और सज्जनोंका पालन करना रूप राजाके कर्मको अंगीकार करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥२॥

अभि । प्र । इहि । मा । अप । वेनः । उग्रः । चेत्ता । सपत्नऽहा ।
आ । तिष्ठ । मित्रऽवर्धन । तुभ्यम् । देवाः । अधि । ब्रुवन् ॥ २ ॥

हे राजन् सिंहासनं हस्त्यश्वरथादियानं च अभि प्रेहि अभिलक्ष्य प्रगच्छ । मा अप वेनः । ❀ वेनतिः कान्तिकर्मा ❀ । अपकामम् अनिच्छां मा कार्षीः ॥ उग्रः उद्गूर्णबलः दुरासदः चेत्ता चेतिता । कार्याकार्यविभागज्ञानशीलवान् इत्यर्थः । ❀ चिती संज्ञाने इत्यस्मात् ताच्छीलिकस्तृन् ❀ । अत एव सपत्नहा सपत्नानां शत्रूणां हन्ता । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति हन्तेः क्विप् ❀ । राजसनादिसमीपं गत्वा च मित्रवर्धनः यानि राजमित्राणि महामात्रादीनि सन्ति तेषां वर्धयिता सन् आ तिष्ठ राजासनं हस्त्यश्वादियानं च आरोह । एवंभूताय तुभ्यं देवाः इन्द्रादयो लोकपालाः अधि ब्रुवन् [अधिब्रुवन्तु] । अधिवचनं पक्षपातेन वचनम् । मदीयोयम् इति त्वाम् अनुगृह्णन्तु इत्यर्थः ॥

हे राजन्! आप सिंहासन और हाथी घोड़ा रथ आदि यान की ओर लक्ष्य रख कर चलिये, इनकी अनिच्छा न करिये। प्रचण्ड बली, कार्य और अकार्यके विभागको जानने वाले शत्रु-संहारक आप राजासन आदि पर जाकर अपने मित्रोंको बढ़ाते हुए राजासन पर और हाथी आदि सवारी पर भी चढ़िये। ऐसे आपको इन्द्र आदि लोकपाल पक्षपातपूर्वक करें, कि—यह तो हमारे हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥

आऽतिष्ठन्तम् । परि । विश्वे । अभूषन् । श्रियम् । वसानः । चरति । स्वऽरोचिः ।

महत् । तत् । वृष्णः । असुरस्य । नाम । आ । विश्वऽरूपः । अमृतानि । तस्थौ ॥ ३ ॥

आतिष्ठन्तम् सिंहासनादिकम् आरोहन्तं विश्वे सर्वे जनाः पर्यभूषन् परितः अलङ्कुर्वन्तु । ❀ भूष अलंकारे । औवादिकः ❀ । [यद्वा] परितो भवन्तु वर्तन्ताम् । सेवन्ताम् इत्यर्थः । ❀ भवतेश्छान्दसे लुङि सिब्बहुलम्०" इति बहुलग्रहणात् सिप् ❀ ॥ आस्थानानन्तरं श्रियं वसानः राजलक्ष्मीं धारयन् स्वरोचिः स्वायत्तदीप्तिः चरति राज्यपरिपालने वर्तते । ❀ वसान इति । वस आच्छादने । अस्मात् लटः शानच् । अनुदात्तेत्त्वात् "लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ ॥ विष्णोः अभिषेक-

जनितराजतेजसा दशदिगन्तान् व्याप्नुवतः असुरस्य शत्रूणां निरसितुः । ❀ असु क्षेपणे । असेरुरन् [उ० १, ४२] इति उरन् प्रत्ययः ❀ । यद्वा असून् प्राणान् राति प्रयच्छति पादाक्रान्तानां द्विषाम् इति असुरः । ❀ रा दाने इत्यस्माद् "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः ❀ । ईदृशस्य तस्याभिषिक्तस्य राज्ञः तन्नाम अभिषेकसमये कृतं सुन्दरपाण्ड्यादिकं नाम महः महत् अधिकं यन्नामश्रवणमात्राद् भीताः शत्रवः पलायन्ते [तादृशम्] । तादृङ्नामाङ्कितो राजा विश्वरूपः शत्रुमित्रकलत्रादिषु नानाविधरूपः सन् अमृतानि अमृतत्वप्रापकानि दण्डयुद्धादीनि अध्ययनादीनि च कर्माणि आ तस्थौ आतिष्ठतु । आचरतु इत्यर्थः ॥

सिंहासन आदि पर आरूढ़ होते हुए राजाकी सब जने चारों ओरसे सेवा करें, और सिंहासन आदि पर बैठनेके अनन्तर राज्यलक्ष्मीको धारण करने वाले यह राजा राज्यपरिपालनमें तत्पर रहें। अभिषेकके कारण उत्पन्न हुए राजतेजसे दशों दिशाओं में व्याप्त, और शत्रुओंका संहार करने वाले अभिषिक्त राजाके अभिषेकके समय रक्खा हुआ सुन्दर पाण्ड्य आदि नाम बड़ा भारी हो, कि–जिस नामके सुननेसे ही शत्रु भयभीत होकर भाग जावें । ऐसे नामसे अंकित राजा शत्रु मित्र स्त्री आदिमें अनेक रूपसे व्यवहार करता हुआ अमृतत्वको प्राप्त कराने वाले दण्ड युद्ध आदि और अध्ययन आदि कर्मोंको भी करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ४

व्याघ्रः । अधि । वैयाघ्रे । वि । क्रमस्व । दिशः । महीः ।

विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छन्तु । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ४

वैयाघ्रे व्याघ्रस्य विकारश्चर्म वैयाघ्रम् । ❀ "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः" इति विकारार्थे अण् । "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०" इति वृद्धिनिषेधः ऐजागमश्च ❀ । व्याघ्रचर्मणि अधि उपरि उपविष्टः सन् व्याघ्रः । लुप्तोपमम् एतत् । व्याघ्रवद् दुष्प्रधर्षो भूत्वा महीः महतीः प्राच्याद्या दिशः वि क्रमस्व विजयस्व । विक्रमेण शौर्येण व्याप्नुहीत्यर्थः । ❀ "वेः पादविहरणे" इति क्रमेरात्मनेपदम् ❀ ॥ हे राजन् एवं तेजस्विनं त्वा त्वां सर्वा विशः प्रजाः वाञ्छन्तु स्वामित्वेन इच्छन्तु । ❀ वाछि इच्छायाम् ❀ । त्वदाज्ञावशे वर्तन्ताम् इत्यर्थः ॥ तथा दिव्याः दिवि भवाः पयस्वतीः पयस्वत्यः सारवत्यः आपश्च त्वां वाञ्छन्तु । त्वद्विषये अनावृष्टिर्मा भूद् इत्यर्थः ॥

आप व्याघ्रचर्म पर बैठ व्याघ्रकी समान दुष्प्रधर्ष होकर विशाल पूर्व आदि दिशाओंको जीतिये, हे राजन् ! ऐसे तेजस्वी आपको सब प्रजायें स्वामी बनाना चाहें, आपकी आज्ञाके वशमें रहें तथा आकाशमें होने वाले सारमय जल भी आपकी इच्छा करें अर्थात् आपके राज्यमें अनावृष्टि न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।

तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा ॥ ५ ॥

याः । आपः । दिव्याः । पयसा । मदन्ति । अन्तरिक्षे । उत । वा । पृथिव्याम् ।

तासाम् । त्वा । सर्वासाम् । अपाम् । अभि । सिञ्चामि । वर्चसा ५

दिव्याः दिवि भवा या आपः पयसा स्वकीयेन सारभूतेन रसेन मदन्ति प्राणिनस्तर्पयन्ति । ❀ मद तृप्तियोगे । चुरादिरदन्तः । "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । याश्च अन्तरिक्षे वर्तमाना आपः उत वा अपि वा पृथिव्याम् भूम्याम् अवस्थिताः तासां सर्वासां लोकत्रयव्याप्तानाम् अपां वर्चसा बलकरेण सारेण हे राजन् त्वा त्वाम् अभि षिञ्चामि ॥

स्वर्गके जो जल अपने सारभूत रससे प्राणियोंको तृप्त करते हैं, और जो जल अन्तरिक्ष और पृथिवीमें हैं उन तीनों लोकोंमें व्याप्त जलोंके बलप्रद सारसे हे राजन्! मैं तेरा अभिषेक करता हूँ ५

षष्ठी ॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अभि । त्वा । वर्चसा । असिचन् । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ।
यथा । असः । मित्रऽवर्धनः । तथा । त्वा । सविता । करत् ॥६॥

हे राजन् त्वा त्वां प्रागुक्ता दिव्याः [पयस्वतीः] पयस्वत्यः आपः स्वकीयेन वर्चसा अभ्यसृजन् आभिमुख्येन संसृजन्तु । यथा त्वं मित्रवर्धनः मित्राणां वर्धयिता असः भवेः । ❀ वृधेर्ण्यन्तात् नन्द्यादिलक्षणो ल्युप्रत्ययः । अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । सविता सर्वप्रेरको देवः त्वा त्वां तथा करत् करोतु ॥

हे राजन् ! पूर्वोक्त दिव्य जल आपको अपने तेजसे अभिषिक्त करें और आप जिस प्रकार मित्रोंको बढ़ा सकें तिस प्रकारकी दशामें सर्वप्रेरक सूर्यदेव आपको करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।

समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व १ न्तः

एना । व्याघ्रम् । परिऽसस्वजानाः । सिंहम् । हिन्वन्ति । महते । सौभगाय ।

समुद्रम् । न । सुऽभुवः । तस्थिऽवांसम् । मर्मृज्यन्ते । द्वीपिनम् । अप्ऽसु । अन्तः ॥ ७ ॥

"या आपो दिव्याः" इति प्राग् उक्ता आपः एना इति अन्वादिश्यन्ते । एना एता उक्ता आपः । ❀ "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इति एतच्छब्दस्य एनादेशः । ततः "सुपां सुलुक्०" इति जस आजादेशः । अत एव अन्तोदात्तत्वम् । इतरथा हि अनुदात्त इत्यनुवृत्तेरेनादेशोऽनुदात्तः । जसस्तु सुप्त्वाद् अनुदात्ततेति ❀ । [व्याघ्रं व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्तं परिषस्वजानाः परितः अभितः अतिशयेन आलिङ्गन्त्यः । मातरो वत्सम् इव अत्यन्तं प्रीणयन्त्य इत्यर्थः । ❀ परिषस्वजाना इति ष्वञ्ज सङ्गे । अस्मात् लिट् ।] तस्य कानजादेशः ❀ । सिंहम् सहनशीलम् यद्वा सिंहतुल्यपराक्रमं राजानं हिन्वन्ति वीर्यप्रदानेन प्रीणयन्ति । ❀ हिवि: प्रीणनार्थः । इदित्वान्नुम् ❀ । किमर्थम् । महते सौभगाय अधिकाय सौभाग्याय । ❀ "सुभग मन्त्रे" इति उद्गात्रादिषु पाठाद् भावे अञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम्" । "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति महतो विभक्तिरुदात्ता ❀ । तत्र दृष्टान्तः । समुद्रं नेति । यथा नदीरूपा आपः समुद्रं प्रीणयन्ति तद्वद् अभिषेकसाधनभूता आपो राजानं प्रीणयन्तीत्यर्थः । यद्वा समुद्रशब्देन वरुण

उच्यते। समुद्रं न वरुणमिव। अप्सु उदकेषु परितो वर्तमानेषु अन्तः मध्ये तस्थिवांसम् स्थितवन्तं द्वीपिनम् शार्दूलवत् अप्रधृष्यं राजानं शुभ्रवः। सुष्ठु भवन्ति समृद्धा भवन्तीति शुभ्रवः सेवकजनाः। ते मर्मृज्यन्ते पुनःपुनः अङ्गप्रत्यङ्गानि अभिषेकेण शोधयन्ति। यद्वा पट्टवस्त्रकटकमुकुटादिभिरलंकुर्वन्ति। ❀ मृजू शौचालंकारयोः। "०मर्मृज्यागनीगन्तीति च" इति निपातनाद् अभ्यासस्य रुगागमः। अप्स्विति। "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀॥

इति चतुर्थकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

"या आपो दिव्याः" इत्यादि पञ्चम मन्त्रमें कहे हुए जल, व्याघ्रकी समान पराक्रमी राजाको माताकी समान प्रसन्न करते हैं, सिंहकी समान पराक्रमी राजाको बड़ा भारी सौभाग्य पानेके लिये वीर्य प्रदान कर तृप्त करते हैं (उसमें दृष्टान्त यह है, कि) जैसे नदीरूप जल समुद्रको प्रसन्न करते हैं, तिसी प्रकार अभिषेकके साधन जल राजाको तृप्त करते हैं। जलोंके बीचमें स्थित सिंहकी समान अप्रधृष्य राजाको सेवक पट्टवस्त्र मुकुट आदिसे बारम्बार अलंकृत करते हैं ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (११०) ॥

"एहि जीवम्" इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य आञ्जनमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि। "एहि जीवम् इत्याञ्जनमणिं बध्नाति" इति [कौ० ७.६]॥

"ऐरावतीं गजक्षये" [न० क० १७ इति विहितायाम् ऐरावत्याख्यायां महाशान्तौ आञ्जनमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "एहि जीवम् इत्याञ्जनमणिं ऐरावत्याम् इति[न०क० १९]॥

'एहि जीवम्' इस सूक्तसे उपनयनके अनन्तर आयु चाहने वाले बालकके लिये अञ्जनमणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"एहि जीवम् इत्याञ्जनमणिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ७। ६)॥

"ऐरावतीम् गजक्षये–गजक्षयमें ऐरावती महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ऐरावती नामकी महाशान्तिमें भी यह सूक्त आता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि– "एहि जीवम् इत्याञ्जनमणिम् ऐरावत्याम्" (नक्षत्रकल्प १९)

तत्र प्रथमा ॥

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

आ । इहि । जीवम् । त्रायमाणम् । पर्वतस्य । असि । अक्ष्यम् ।

विश्वेभिः । देवैः । दत्तम् । परिऽधिः । जीवनाय । कम् ॥ १ ॥

हे आञ्जन एहि आगच्छ । कुतो हेतोरिति तत्राह । जीवम् इति । जीवति प्राणं धारयतीति जीवः आत्मा । तं त्रायमाणम् पालयत् जीवात्मनः पालनाद्धेतोरित्यर्थः । ❀ त्रैङ् पालने इत्यस्मात् हेतौ लटः शानच् ❀ । तथा पर्वतस्य त्रिककुन्नाम्नो गिरेः अक्ष्यम् असि चक्षुर्भवसि ॥ विश्वेभिः सर्वैर्देवैरिन्द्रादिभिरस्मभ्यं जीवनाय रोगादिराहित्येन चिरकालजीवनार्थं दत्तं सत् परिधिरसि । परितो धीयत इति परिधिः प्राकारः । मृत्योरनागमनाय प्राकारो भवसीत्यर्थः । ❀ परिधिः । परिपूर्वाद्द धात्वः "उपसर्गे घोः किः" इति किप्रत्ययः ❀ । कम् इति पादपूरणः ॥

हे अञ्जनमणे ! प्राणोंको धारण करनेवाले जीवात्माकी रक्षा करती हुई यहाँ आ । तू त्रिककुद् नामवाले पर्वतकी नेत्ररूप है । इन्द्र आदि सब देवताओंने रोगरहित जीवन वितानेके लिये तुझको हमें परकोटेके रूपमें दिया है अर्थात् तू मृत्युका आगमन रोकने के लिये परकोटारूप है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।

अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

परिऽपानम् । पुरुषाणाम् । परिऽपानम् । गवाम् । असि ।

अश्वानाम् । अर्वताम् । परिऽपानाय । तस्थिषे ॥ २ ॥

हे त्रिककुदाञ्जन त्वं पुरुषाणाम् मनुष्याणां परिपाणम् परिरक्षणसाधनम् असि । ॐ पातेः करणे ल्युट् । "वा भावकरणयोः" इति विकल्पेन णत्वम् ॐ । गवां च त्वं परिपाणम् परिरक्षणम् असि । ॐ गवाम् इति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य [विभक्त्युदात्तत्वस्य] "न गोश्वन्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः ॐ ॥ अश्वानाम् अर्वताम् वडवानां च परिपाणाय परिरक्षणाय तस्थिषे तिष्ठसि । ॐ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट् । क्रादिनियमाद् इट् । अर्वताम् इति । "अर्वणस्त्रसावनञः" इति नकारान्तस्य तकारान्तता ॐ ॥

हे त्रिककुदाञ्जन ! तू पुरुषोंकी रक्षाका साधन होता है और तू गौओंकी भी रक्षाका साधन है, तू घोड़े और घोड़ियोंकी रक्षा के लिये भी स्थित रहता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।

उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो

हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

उत । असि । परिऽपानम् । यातुऽजम्भनम् । आऽअञ्जन ।

उत । अमृतस्य । त्वम् । वेत्थ । अथो इति । असि । जीवऽभोजनम् । अथो इति । हरितऽभेषजम् ॥ ३ ॥

आ समन्तात् अनक्ति चक्षुषी अनेनेति आञ्जनम् । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण[कान्ति]गतिषु । अस्माद् आङ्पूर्वात् करणे ल्युट् ❀ । हे आञ्जन त्वं यातुजम्भनम् । यातवो यातनाः रक्षःपिशाचादिजनिताः पीडाः । तेषां नाशनं परिपाणम् परिरक्षणम् असि । उतशब्दः समुच्चये ॥ ईदृक् सामर्थ्यम् आञ्जनस्य कुत इत्यत आह । उत अपि च त्वम् अमृतस्य अमृतत्वसाधनस्य द्युलोकस्थस्य पीयूषस्य सारं वेत्थ वेत्सि जानासि । ❀ "विदो लटो वा" इति थल् आदेशः ❀ ॥ अथो अपि च जीवभोजनम् जीवानां जीवतां प्राणिनाम् अनिष्टनिवर्तने न पालकम् असि । यद्वा भोगसाधनम् असि ॥ अथो अपि च हरितभेषजम् । हरितस्य पाण्ड्वादिरोगजनितस्य श्यामलत्वस्य निवर्तकम् असि ॥

जिससे समीपमें ही नेत्रोंको स्वच्छ किया जाता है, ऐसे हे आञ्जन ! तू राक्षस पिशाच आदिकी कीहुई यातनाओंका नाशक परिपाण—रक्षक—रूप है (इसका कारण यह है, कि—) तू अमृतत्व के साधन द्युलोकमें स्थित पीयूषके सारको जानता है और जीवित प्राणियोंके अनिष्टको हटा कर उनकी रक्षा करने वाला है और पाण्डु आदि रोगसे उत्पन्न हुए श्यामलत्वका भी निवर्तक है ३

चतुर्थी ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।

ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

यस्य । आऽअञ्जन । प्रऽसर्पसि । अङ्गम्ऽअङ्गम् । परुःऽपरुः ।

ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधसे । उग्रः । मध्यमशीःऽइव ॥ ४ ॥

हे आञ्जन यस्य पुरुषशरीरस्य अङ्गमङ्गं सर्वाणि हस्तपादादीन्यङ्गानि परुष्परुः सर्वाणि परूंषि पर्वाणि अङ्गसंधींश्च प्रसर्पसि प्रविश्य अन्तःसिरामुखैर्व्याप्नोषि । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति अङ्गशब्दपरुःशब्दयोर्द्विर्वचनम् ❀ । ततः तस्मात् पुरुषशरीराद् यक्ष्मम् रोगं वि बाधते । पुरुषव्यत्ययः । विबाधसे । तत्र दृष्टान्तः । उग्रः उद्गूर्णबलः मध्यमशीरिव । मध्यमे अन्तरिक्षस्थाने शेते संचरतीति मध्यमशीः वायुः । स यथा मेघजालादिकं क्षणमात्रेण अपसारयति तद्वद् इत्यर्थः । यद्वा मध्यमशीः । "अरिर्मित्रम् अरेर्मित्रम्" इति नीतिशास्त्रोक्तराजमण्डलमध्यवर्ती राजा । स यथा उद्गूर्णबलः सन् पर्यन्तवर्तिनो रिपून् निगृह्णाति तद्वद् इत्यर्थः । ❀ मध्यमशीः । मध्ये भवं मध्यमम् । "मध्यान्मः" इति मप्रत्ययः । तत्र शेत इति मध्यमशीः । "क्विप् च" इति शीङः क्विप् ❀ ॥

हे आञ्जन ! तू जिस जिस पुरुषशरीरके हाथ पैर आदि प्रत्येक अंगोंमें और अंगसंधियोंमें प्रवेश करके व्याप्त हो जाता है उस पुरुषके शरीरसे यक्ष्मारोगको, प्रचण्ड बल वाले वायुके मेघको उड़ानेकी समान शीघ्र ही दूर कर देता है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

न । एनम् । प्र । आप्नोति । शपथः । न । कृत्या । न । अभिऽशोचनम् ।
न । एनम् । विऽस्कन्धम् । अश्नुते । यः । त्वा । बिभर्ति । आऽअञ्जन ॥ ५ ॥

हे आञ्जन [आञ्जन] द्रव्य त्वा त्वां यो जनो बिभर्ति धारयति । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । "भीह्रीभृहुमद०" इत्यादिना पितः प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ । एनम् तव धारकं पुरुषं शपथः परकृतः शापः न प्राप्नोति । तथा पराभिचारजनिता कृत्या च न प्राप्नोति । ❀ "कृञः श च" इति चकारात् संज्ञायां करोतेः क्यप् । "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक् ❀ । अभिशोचन अभिशोकः कृत्याजनितो न प्राप्नोति । विष्कन्धम् गतिप्रतिबन्धकं विघ्नजातमपि एनं नाश्नुते न व्याप्नोति ॥

हे आञ्जन ! जो पुरुष तुझको धारण करता है उस पुरुषको दूसरेका किया हुआ शाप नहीं प्राप्त होता, दूसरेकी हुई आभिचारिक कृत्या नहीं प्राप्त होती और कृत्यासे होने वाला अभिशोक और गतिको रोकने वाले विघ्न भी प्राप्त नहीं होते ॥५॥

षष्ठी ॥

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

असत्ऽमन्त्रात् । दुःऽस्वप्न्यात् । दुःऽकृतात् । शमलात् । उत ।
दुःऽहार्दः । चक्षुषः । घोरात् । तस्मात् । नः । पाहि । आऽअञ्जन ६

[असन्मन्त्र्यात् ।] असन्तः अशोभना अभिचारार्था मन्त्रा असन्मन्त्राः । तत्र भवाद् दुःखात् दुष्वप्न्यात् दुःस्वप्नजनिताद् दुःखात् दुष्कृतात् जन्मान्तरकृतात् पापात् [उत] शमलात् अन्यस्मादपि क्रियमाणात् पापात् दुर्हार्दः दौर्मनस्याद् घोरात् क्रूरात् परकीयाच्चक्षुषश्च तस्मात् अनुक्रान्तात् सर्वस्मात् हे आञ्जन नः अस्मान् पाहि रक्ष ॥

हे अञ्जनमणे ! अभिचारोपयोगी असन्मन्त्रोंसे, उनसे होने

वाले दुःखसे, दुःस्वप्नसे होने वाले दुःखसे, जन्मान्तरमें बने हुए पापसे उत्पन्न हुए दुःखसे और भी बने हुए पापसे उत्पन्न हुए दुःखसे और भी बने हुए पापसे, दूषित मनसे और दूसरों के क्रूर चक्षुसे भी आप मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

इदम् । विद्वान् । आऽअञ्जन । सत्यम् । वक्ष्यामि । न । अनृतम् ।
सनेयम् । अश्वम् । गाम् । अहम् । आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ७ ॥

हे आञ्जन विद्वान् तव माहात्म्यं जानन् इदं सत्यम् यथार्थमेव वक्ष्यामि न तु अनृतम् असत्यम् । अतस्तव पुरुषः दासभूतोहम् अश्वं गाम् आत्मानम् जीवं सनेयम् संभजेयम् ॥

हे आञ्जन ! मैं आपके माहात्म्यको जानता हूँ, अत एव मैंने यह सत्य बात ही कही है, मैं झूँठ नहीं कह रहा हूँ अत एव दासभूत मैं घोड़े गौ और जीवकी सेवा करूँ ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

त्रयः । दासाः । आऽअञ्जनस्य । तक्मा । बलासः । आत् । अहिः ।
वर्षिष्ठः । पर्वतानाम् । त्रिऽककुत् । नाम । ते । पिता ॥ ८ ॥

आञ्जनस्य आञ्जनसाधनस्य द्रव्यस्य त्रयो रोगा दासाः दासवद् वशवर्तिनः । तान् अनुक्रामति । तक्मा । ✻ तकि कृच्छ्र-

जीवने इति धातुः । तस्माद् औणादिको मनिन् ❀ । कृच्छ्र-जीवनहेतुर्ज्वरस्तक्मशब्दवाच्यः । बलासः शारीरं बलम् अस्यति क्षिपतीति बलासः संनिपातादिः । आत् अनन्तरम् अहिः सर्पः । तज्जन्यविषविकार इत्यर्थः । एते प्राणापहारिणो रोगाः आञ्जन-प्रभावेन निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ अपि च पर्वतानां मध्ये वर्षिष्ठः वृद्धतमः त्रिककुत् [नाम] त्रीणि ककुदानि शृङ्गाणि यस्य स तथोक्तः । ❀ "त्रिककुत् पर्वते" इति अन्त्यलोपः समासान्तो निपात्यते ❀ । एतत्संज्ञः पर्वतः हे आञ्जन ते तव पिता जनकः । ❀ वर्षिष्ठ इति । वृद्धशब्दात् इष्ठनि "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वर्षादेशः ❀ ॥

आञ्जन द्रव्यके तीन रोग दासकी समान वेशमें रहते हैं । (१) कठिनतासे जीवनका निर्वाह करानें वाला ज्वर (२) शरीरके बलको क्षीण करनेवाला सन्निपात आदि और (३) सर्प आदिका विषविकार । तात्पर्य यह है, कि—ये प्राणनाशक रोग आञ्जनके प्रभावसे हट जाते हैं । और पर्वतोंमें श्रेष्ठ त्रिककुद नामका पर्वत हे आंजन ! तुम्हारा पिता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।

यातूंश्च सर्वान् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

यत् । आऽअञ्जनम् । त्रैककुदम् । जातम् । हिमऽवतः । परि ।

यातून् । च । सर्वान् । जम्भयत् । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ९

हिमवतस्परि हिमवत्पर्वतात् परि उपरिभागे । ❀ "पञ्चम्याः परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । त्रैककुदम् । तत्रस्थः त्रिककुन्नाम पर्वतः तत्संबन्धि यद् आञ्जनं जातम् उत्पन्नं तद्

यातून् यातुधानांश्च सर्वान् अशेषान् सर्वा यातुधान्यः यातुधानीः। ❀ "वा छन्दसि" इति शसि पूर्वसवर्णदीर्घाभावः ❀। यातुधानस्त्रियश्च जम्भयत् नाशयद् वर्तते। अतः अस्मद्रोगादीन् नाशयतु इत्यर्थः ॥

हिमालय पर्वतके ऊपरके भागमें स्थित त्रिककुद् पर्वतका आंजन यातुधान और यातुधानियोंका नाश करता रहता है, अतः वह हमारे रोग आदिका नाश करे ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।

उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥१०॥

यदि । वा । असि । त्रैककुदम् । यदि । यामुनम् । उच्यसे ।

उभे इति । ते । भद्रे इति । नाम्नी इति । ताभ्याम् । नः । पाहि ।

आऽअञ्जन ॥ १० ॥

हे आञ्जन त्वं यदि वा त्रैककुदम् असि त्रिककुत्पर्वतसंबन्धि भवसि यदि वा यामुनम् यमुनायाः संबन्धि उच्यसे जनैः कथ्यसे ते उभे त्रैककुदं यामुनम् इति नाम्नी नामनी संज्ञे भद्रे कल्याण्यौ। ताभ्यां नामभ्याम् हे आञ्जन नः अस्मान् पाहि रक्ष ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे आञ्जन ! तू यदि त्रैककुद है अर्थात् त्रिककुद पर्वतकी कही जाती है, वा यामुन है अर्थात् जमनाकी है, तो तेरे ये त्रैककुद और यामुन दोनों नाम भी कल्याणकारक हैं, उन दोनों नामोंसे हे आञ्जन ! तू हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१११) ॥

"वाताज्जातः" इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य शङ्खमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "उपनयनम्" [कौ० ७. ६] प्रक्रम्य "वाताज्जात इति कृशनम्" इति [कौ० ७. ६] ॥

"वारुणीं जलभये" [न० क० १७] इति विहितायां वारुण्याख्यायां महाशान्तौ शङ्खमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "वाताज्जात इति शङ्खं वारुण्याम्" इति [न०क०१६]॥

उपनयनके अनन्तर आयुष्काम बालकके "वाताज्जातः" इस सूक्तसे शङ्खमणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे । इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि–"उपनयनम्" (कौशिकसूत्र ७ । ६) प्रक्रम्य "वाताज्जात इति कृशनम्" (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

"वारुणीं जलभये–जलका भय होनेपर वारुणी महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वारुणी महाशान्तिके शङ्खमणि बन्धनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको नक्षत्र कल्प १६ में कहा है, कि–"वाताज्जात इति शङ्खं वारुण्याम्"

तत्र प्रथमा ॥

वाता॑ज्जा॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद् वि॒द्युतो॒ ज्योति॑ष॒स्परि॑ ।

स नो॑ हिरण्य॒जाः शङ्खः॒ कृश॑नः॒ पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

वाता॑त् । जा॒तः । अ॒न्तरि॑क्षात् । वि॒ऽद्युतः॑ । ज्योति॑षः । परि॑ ।

सः । नः॒ । हि॒र॒ण्य॒ऽजाः । श॒ङ्खः । कृश॑नः । पा॒तु॒ । अंह॑सः ॥१॥

वातात् वायोः जातः उत्पन्नः शङ्खः तथा अन्तरिक्षात् तदधिष्ठिताद् अन्तरिक्षलोकाद् विद्युतः तडितः । यद्वा विद्योतमानात् । ज्योतिषः ज्योतिर्मण्डलाच्च परि अधि उपरिभागे जातः । ❀"पञ्चम्याः परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । स तादृशो

वातादिकारणकः हिरण्यजाः हिरण्यात् सुवर्णाद् उत्पन्नः कृशनः कर्शयिता शत्रूणां तनूकर्ता एवं महानुभावः शङ्खः अंहसः पापात् नः अस्मान् पातु रक्षतु ॥

वायुसे उत्पन्न होनेवाला, अन्तरिक्षलोकमें उत्पन्न होनेवाला प्रकाशित ज्योतिर्मण्डलसे भी ऊपरके भागमें उत्पन्न होने वाला और सुवर्णसे उत्पन्न होने वाला शत्रुओंको कृश करने वाला शङ्ख पापसे हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो अ॑ग्रतो रो॑च॒नानां॑ समु॒द्रादधि॑ ज॒ज्ञिषे॑ ।

श॒ङ्खेन॑ ह॒त्वा रक्षां॑स्य॒त्रिणो॒ वि षं॑हामहे ॥ २ ॥

यः । अ॒ग्र॒तः । रो॒च॒ना॒नाम् । स॒मु॒द्रात् । अधि॑ । ज॒ज्ञि॒षे ।

श॒ङ्खेन॑ । ह॒त्वा । रक्षां॑सि । अ॒त्रिणः॑ । वि । स॒हा॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

हे शङ्ख यस्त्वं रोचनानाम् रोचमानानां भास्वराणां नक्षत्रादीनाम् अग्रतः अग्रे प्रमुखे वर्तमानः श्रेष्ठ- समुद्रादधि समुद्रस्योपरि जज्ञिषे जायसे । ❀ रुच दीप्तौ इत्यस्माद् "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀ । तेन ज्योतिर्मयेन शङ्खेन त्वया रक्षांसि हत्वा अत्त्रिणः अदनशीलान् पिशाचादीन् वि सहामहे विशेषेण अभिभवामः । ❀ अत्त्रिण इति । अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः ❀ ॥

हे शंख ! तू प्रकाशमय नक्षत्र आदिके सामने वर्तमान समुद्रमें उत्पन्न होता है, ऐसे तुझ ज्योतिर्मय शंखसे राक्षसोंको मारकर हम पिशाच आदिको प्रबलतासे दबाते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

श॒ङ्खेना॑मी॑वा॒मम॑तिं श॒ङ्खेनो॒त स॒दान्वाः॑ ।

शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

शङ्खेन । अमीवाम् । अमतिम् । शङ्खेन । उत । सदान्वाः ।

शङ्खः । नः । विश्वऽभेषजः । कृशनः । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

अमीवाम् रोगम् अमतिम् सर्वानर्थमूलम् अज्ञानं च शङ्खेन मणिरूपापन्नेन । विषहामहे इत्यनुषङ्गः । उत अपि च शङ्खेन सदान्वाः सदा नोनूयमानाः अलक्ष्मीः अभिभवामः । एवं विश्वभेषजः सर्वस्योपद्रवजातस्य निराकर्ता कृशनः । हिरण्यनामैतत् । विकारे प्रकृतिशब्दः । हिरण्याज्जातः शङ्खः नः अस्मान् अंहसः पापात् पातु रक्षतु ॥

हम मणिरूपको प्राप्त हुए शंखसे रोगको और सकल अनर्थों के मूल अज्ञानको दबाते हैं और शंखके द्वारा सर्वदा दुःख देने वाली अलक्ष्मीको भी तिरस्कृत करते हैं। ऐसा सब उपद्रवोंको दूर करने वाला सुवर्णसे उत्पन्न हुआ शंख पापोंसे हमारी रक्षा करे

चतुर्थी ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।

स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ४

दिवि । जातः । समुद्रऽजः । सिन्धुतः । परि । आऽभृतः ।

सः । नः । हिरण्यऽजाः । शङ्खः । आयुःऽप्रतरणः । मणिः ॥ ४ ॥

दिवि द्युलोके अन्तरिक्षे प्रथमं जातः उत्पन्नः ततः समुद्रजः समुद्रे जातः । ❀ "सप्तम्यां जनेर्डः" इति डप्रत्ययः ❀। सिन्धुतः सिन्धोः समुद्रात् नदीमुखाद्वा पर्याभृतः परित आहृतः स तादृशः

हिरण्यजाः हिरण्याज्जातः शङ्खः शङ्खविकारो मणिः नः अस्माकम् आयुःप्रतरणः आयुषः प्रवर्धयिता भवतु ॥

पहिले द्युलोकमें उत्पन्न हुआ फिर समुद्रमें उत्पन्न हुआ, नदीके सुहानेसे लाया हुआ सुवर्णसे उत्पन्न शंखका विकार मणि हमारी आयुका बढ़ाने वाली हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्याः देवासुरेभ्यः ॥५॥

समुद्रात् । जातः । मणिः । वृत्रात् । जातः । दिवाऽकरः ।
सः । अस्मान् । सर्वतः । पातु । हेत्याः । देवऽअसुरेभ्यः ॥ ५ ॥

समुद्रात् अम्बुधेः । यद्वा । समुद्रम् इति अन्तरिक्षनाम । अन्तरिक्षात् जातो मणिः मण्युपादानभूतः शङ्खः वृत्रात् लोकत्रयावरकाद् वृत्रासुरशरीरात् । यद्वा आवरकस्वभावाद् मेघात् । जातः विनिर्मुक्तो दिवाकरः सूर्यः । लुप्तोपमम् एतत् । तद्वत् प्रभातिशययुक्तोयं शङ्ख इत्यर्थः । [स] शङ्खविकारो मणिः हेत्या हननेन हेतुना देवासुरेभ्यः । उपलक्षणम् एतत् । देवासुरप्रभृतिभ्यो भयहेतुभ्यः सर्वतः सर्वस्माद् उपद्रवजाताद् अस्मान् पातु रक्षतु ॥

समुद्रसे वा अन्तरिक्षसे उत्पन्न हुआ मणिका उपादानरूप शङ्ख, तीनों लोकोंको ढकने वाले वृत्रासुरके शरीरसे वा ढकनेके स्वभाव वाले मेघसे उत्पन्न हुआ सूर्यकी समान प्रकाशित होता है, उस शंखकी विकाररूप यह मणि देवता और असुरोंके उपद्रवोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।

रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

हिरण्यानाम् । एकः । असि । सोमात् । त्वम् । अधि । जज्ञिषे । रथे । त्वम् । असि । दर्शतः । इषुऽधौ । रोचनः । त्वम् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥ ६ ॥

हे शंख त्वं हिरण्यानाम् सुवर्णरजतादिभासुरद्रव्याणां मध्ये एकोसि मुख्यो भवसि । यतः त्वं सोमात् अमृतमयात् सोममण्डलाद् अधि जज्ञिषे जातोसि । अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ॥ तथा संग्रामेषु त्वं रथे दर्शतोसि दर्शनीयो भवसि । ❀ दृशेरौणादिकः अतच् प्रत्ययः ❀ ॥ तथा इषुधौ शराधारभूते निषङ्गे ध्रियमाणस्त्वं रोचनः रोचमानः दीप्यमानो दृश्यसे ॥ एवं महानुभावः शंखः तद्विकारो मणिः नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारिषत् प्रवर्धयतु । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः । तस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । तस्य आर्धधातुकत्वेन इटि कृते "०स च णिद् वक्तव्यः" इति वचनाद् वृद्धिः ❀ ॥

हे शंख ! तू सुवर्ण चाँदी आदि दमकते हुए द्रव्योंमें मुख्य है, क्योंकि तू अमृतमय सोममण्डलसे उत्पन्न हुआ है और संग्रामके अवसरों पर रथोंमें तू दर्शनीय होता है और तू बाणोंके आधार भाथेमें रखने पर दमकता हुआ दीखता है। ऐसे शंखसे बनी हुई मणि हमारी आयुको बढ़ावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शत-

शारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

देवानाम् । अस्थि । कृशनम् । बभूव । तत् । आत्मन्ऽवत् । चरति । अप्ऽसु । अन्तः ।

तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । दीर्घायुऽत्वाय । शतऽशारदाय । कार्शनः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ७ ॥

देवानाम् इन्द्रादीनां संबन्धि यद् रक्षाकरम् अस्ति तत् कृशनम् शंखस्य कारणभूतं सुवर्णं बभूव । तत् कृशनम् आत्मन्वत् शंखरूपशरीरयुक्तं सत् अप्सु उदकेषु अन्तः चरति प्राण्यात्मना वर्तते । हे उपनीत तत् तथाविधं शंखरूपेण अवस्थितं कृशनं ते तव बध्नामि किमर्थम् । [आयुषे] आयुरादिफलसिद्ध्यर्थम् । आयुः चिरकालजीवनम् । वर्चः शरीरकान्तिः । बलं प्रसिद्धम् ॥ आयुषे इत्युक्तमेव अर्थं विवृणोति दीर्घायुत्वायेति । दीर्घम् आयुरस्य दीर्घायुः । तस्य भावस्तत्त्वम् । ❀ छन्दसीणः [उ० १. २] इति एतेरुण् प्रत्ययः ❀ । आयुषो दैर्घ्यमपि स्पष्टयति शतशारदायेति । शरदा ऋतुना सह वर्तन्त इति शारदाः संवत्सराः । शत शारदाः परिमाणम् अस्य तत् शतशारदम् । तावत्कालव्यापिजीवनायेत्यर्थः । स कार्शनः कृशनसंबन्धी मणिः हे माणवक त्वा त्वाम् अभि रक्षतु सर्वतः पालयतु ॥

इत्यथर्ववेदार्थप्रकाशे चतुर्थे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इन्द्र आदि देवताओंकी रक्षा करने वाला शंखका कारणरूप जो सुवर्ण है, वह शंखरूपशरीरसे युक्त होकर जलके भीतर प्राणीरूपसे रहता है । हे यज्ञोपवीतिन् ! ऐसे शंखरूपसे स्थित सुवर्णको आयु शरीरकी कान्ति और बलके लिये मैं तेरे बाँधता

हूं तेरी सौ वर्षकी आयु करनेके लिये बांधता हूं, सुवर्णसे सम्बंध रखने वाली यह मणि तेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (११२) ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त.

"अनड्वान् दाधार" इति आद्येन सूक्तेन अनडुत्सवे निरुप्तहविरभिमर्शनम् संपातम् दातृवचनं च कुर्यात् । तद् आह कौशिकः । "अनड्वान् [४. ११] इत्यनड्वाहम् सूर्यस्य रश्मीन् [४. ३८. ५–७] इति कर्कीम्" [कौ० ८. ७] इति ॥ अभिमर्शनादीनां सूत्रं तु "आशानाम्" [१. ३१] इति सूक्त एव उदाहृतम् ॥

"अनड्वान् दाधार" इस प्रथम सूक्तसे अनडुत्सवमें निरुप्तहवि का अभिमर्शन सम्पातन और दातृवाचन करे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"अनड्वान् (४ । ७१) इत्यनड्वाहं सूर्यस्य रश्मीन् (४ । ३८ । ५–७) इति कर्कीम्" (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥ अभिमर्शन आदिका सूत्र तो "आशानाम्" इस प्रथमकाण्डके ३१ वें सूक्तमें ही कह दिया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

अनड्वान् दांधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दांधारोर्व१न्तरिक्षम् ।

अनड्वान् दांधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनड्वान् । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अनड्वान् । दाधार । उरु । अन्तरिक्षम् ।

अनड्वान् । दाधार । प्रऽदिशः । षट् । उर्वीः । अनड्वान् ।

विश्वम् । भुवनम् । आ । विवेश ॥ १ ॥

अनः शकटं वहतीति अनड्वान् शकटवहनसमर्थो वृषभः। सोयं कर्षणभारवहनादिना पृथिवीम् भूमिं दाधार धारयति पोषयति । ❀ धृञ् धारणे-इत्यस्मात् छान्दसो वर्तमाने लिट् । तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् ❀ । यद्वा अनडुच्छब्देन वृषरूपो धर्मोऽभिधीयते । धर्मो वृषमाकृतिर्भूत्वा पृथिव्यादिधारणं करोतीति योज्यम् । श्रूयते हि । "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" इति [तै० आ० १०. ६३]॥ उत द्याम् द्युलोकं स्वर्गलोकमपि स एव दाधार कर्षणादिनिष्पन्नेन चरुपुरोडाशादिहविषा द्युलोकं पोषयतीत्यर्थः॥ तथा उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षलोकमपि स धारयति । [अनड्वान्] प्रदिशः प्राच्याद्या महादिशश्च [दाधार] धारयति ॥ षडुर्वीः उर्वीशब्दवाच्याः "द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपश्चौषधयश्च" [आश्व० १. २] इति षट्संख्याकाः सन्ति । ता अपि असौ धारयति । पृथिव्या द्योश्च पृथगुपादानाद् इतरचतुष्टयापेक्षम् उर्वीग्रहणम् ॥ इत्थं ब्रह्मणा सृष्टः अनड्वान् विश्वम् सर्वं [भुवनम्] पृथिव्यादिभ्यः अन्यमपि लोकम् आ विवेश रक्षणार्थं प्रविश्य वर्तते ॥

अनको अर्थात् गाड़ीको वहन करने (खेंचने) वाला बैल अनड्वान् कहलाता है वह जोतना भार ढोना आदिरूपसे पृथिवी का पोषण करता है । अथवा-धर्म वृषभकी आकृतिको धारण कर पृथिवी आदिको धारण करता है † । और वही स्वर्गलोक को धारण किये हुए है अर्थात् जोतने आदिसे उत्पन्न हुए चरु

† तैत्तिरीय आरण्यक १० । ६३ में भी कहा है, कि-"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।।-धर्म सम्पूर्ण जगत्की स्थितिका कारण है" ।।

पुरोडाश आदि हविसे स्वर्गका पोषण करता है। विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको भी वही धारण करता है और वही पूर्व आदि महादिशाओंको भी धारण करता है और दिन रात्रि जल और औषधि इन उर्वियोंको भी वह धारण करता है। इसप्रकार ब्रह्मादिका रचा हुआ अनड्वान् सब भुवनोंमें पृथिवी आदिसे अतिरिक्त लोकोंमें भी उनकी रक्षा करनेके लिये प्रवेश करके रहता है॥१॥

द्वितीया ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयांछक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि

अनड्वान्। इन्द्रः। सः। पशुऽभ्यः। वि। चष्टे। त्रयान्। शक्रः। वि। मिमीते। अध्वनः।
भूतम्। भविष्यत्। भुवना। दुहानः। सर्वा। देवानाम्। चरति। व्रतानि॥ २॥

सः प्रागुक्तः अनड्वान् पशुभ्यः पशवो गोमहिषाद्याः। ❀तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। तेषाम् अर्थे इन्द्रः सन् वि चष्टे प्रकाशते। रिरंसावशाद् इन्द्रवत् पशूनां दृष्टौ भासत इत्यर्थः। यद्वा। अयम् अनड्-

---

+ उर्वीशब्दसे "द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपश्चौषधयश्च ॥–द्यौ पृथिवी दिन रात्रि जल और औषधि" इस आश्वलायनसूत्र १। २ में कही हुई छः वस्तुएँ ग्रहणकी जाती हैं। इस मन्त्रमें आकाश और पृथिवीका अलग वर्णन आया है अतः उर्वी शब्दसे चारका ही ग्रहण किया है॥

वान् इन्द्र एव । इन्द्रो यथा वृष्टिजलसेकेन चराचरात्मकं सर्वं जगद् उत्पादयति एवम् अनड्वानपि रेतःसेकेन पशून् उत्पादयन् तज्जन्यपयोदध्यादिद्रव्येण कृत्स्नं जगद् उत्पादयतीति एककार्यकरत्वाद् अनयोरभेदः ॥ स च अन्येभ्यः पशुभ्यः सकाशात् वि चष्टे वीर्यवत्त्वेन प्रकाशते । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा ❀ ॥ स च शक्रः सर्वकर्मसु शक्तः इन्द्रात्मको वा स्तियान् । स्तिया आपो भवन्ति स्त्यायनात् [नि० ६. १७] इति यास्कवचनात् स्त्यायतेरेतद् रूपम् । अत्र तु अयम् अर्थः । स्तियान् संस्त्यानप्रभवान् अध्वनः अध्ववद् अविच्छिन्नान् पशुसंतानान् वि मिमीते विशेषेण निर्मिमीते । ❀ माङ् माने शब्दे च । शपः श्लुः । "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ ॥ एवं इन्द्रात्मकोनड्वान् भूतम् भूतकालावच्छिन्नं वस्तु भविष्यत् आगामिकालावच्छिन्नं वस्तु भुवना भुवनानि वर्तमानकालावच्छिन्नसद्भावानि च वस्तूनि दुहानः उत्पादयन् देवानाम् इन्द्राद् अन्येषामपि व्रतानि कर्माणि सर्वा सर्वाणि चरति अनुतिष्ठति । ❀ भुवना सर्वा इत्युभयत्र "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ ॥

यह पहिले कहा हुआ वृषभ गौ महिष आदिके लिये इन्द्ररूपमें प्रकाशित होता है अर्थात् रमण करनेकी इच्छाके कारण पशुओं की दृष्टिमें इन्द्रकी समान प्रतीत होता है । अथवा-यह अनड्वान् इन्द्र ही है । इन्द्र जैसे वृष्टिके जलको बरसा कर चर अचर सब जगत्को उत्पन्न करता है इसी प्रकार यह अनड्वान् भी वीर्य बरसा कर पशुओंको उत्पन्न करता हुआ उनके द्वारा प्राप्त होने वाले दूध दही आदि द्रव्योंसे सब जगत्का पालन करता है। इस प्रकार एक कार्य करनेके कारण इनका अभेद है ऐसा अनड्वान् और पशुओंकी पेक्षा अधिक वीर्यवान् होनेसे प्रकाशित रहता है । यह सब कर्मोमें समर्थ इन्द्रात्मक पशु वृष्टिसे होने वाले तथा

मार्गकी समान अविच्छिन्न पशुसन्तानोंको निर्मित करता है और यह इन्द्रात्मक अनड्वान् भूतकालकी तथा भविष्यत्कालकी और वर्तमानमें सद्रूपसे वर्तमान वस्तुओंको भी उत्पन्न करता हुआ इन्द्रसे भी अन्य देवताओंके सब कर्मोंको अनुष्ठित करता है ॥२॥

तृतीया ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः ।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

इन्द्रः । जातः । मनुष्येषु । अन्तः । घर्मः । तप्तः । चरति । शोशुचानः ।
सुऽप्रजाः । सन् । सः । उत्ऽआरे । न । सर्षत् । यः । न । अश्नीयात् । अनडुहः । विऽजानन् ॥ ३ ॥

मनुष्येषु मनोरपत्येषु मनुष्यजातीयेषु अन्तः मध्ये तावत् अनड्वान् प्रागुक्तरीत्या इन्द्रो जातः॥ तथा सोऽनड्वान् घर्मः दीप्तः सूर्यः सन् तप्तः । ❀ कर्तरि क्तः ❀ । कृत्स्नं जगत् तपन् संतापयुक्तं कुर्वन् शोशुचानः अत्यर्थं दीप्यमानः चरति वियति संचरति । यद्वा घर्मः प्रवर्ग्यः तप्तः वैकङ्कतखादिरादिभिरिध्मैः संतप्तः शोशुचानः अत्यर्थं शो.चन् चरति वर्तते । तादृग्घर्मरूपः अनड्वान् जात इत्यर्थः सोपि हि कर्षणादिव्यापारजनितश्रमेण तप्तः संतप्तगात्रः अतिशयितशोकयुक्तश्च सन् चरति । अतस्तप्तत्वादिधर्मसामान्याद् अनडुहो घर्मतादात्म्यम् ॥ इत्थं नः अस्माकं संबन्धिनः अनडुहः दीयमानस्य माहात्म्यं विजानन् विशेषेण अवगच्छन् यः प्रतिग्रहीता अश्नीयात् भुञ्जीत स सुप्रजाः शोभनप्रजोपेतः सन् आरे

दूरे देहावसानकाले उत् अस्माच्छरीरात् उत्क्रान्तः न सं सर्षत् न संसरति पुनः संसारधर्मान् न प्राप्नोति । किंतु सूर्यादिलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ अत एव सोमयागविशेषस्य अनडुहां लोकः प्राप्यत्वेन आम्नायते । "अग्निष्टोमेन अनडुहो लोकम् आप्नोति ज्योतिष्मतो लोकान् जयति" इति ॥ ❀ सुप्रजा इति । "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् समासान्तः । सर्षत् इति । सृ गतौ इत्यस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀ ॥

मनुकी मनुष्यजातीय सन्तानोंके मध्यमें अनड्वान् पूर्वोक्तरीतिसे इन्द्र हुआ है । इसी प्रकार वह अनड्वान् घर्म (दीप्त) सूर्यरूप से सम्पूर्ण जगत्को सन्तापयुक्त करता हुआ परमदीप्त होता हुआ आकाशमें विचरण करता है । अथवा–घर्म अर्थात् प्रवर्ग्य खदिर आदिके ईंधनसे संतप्त बड़ी गरमी पाता हुआ विचरता है अर्थात् उस घर्मकी समान ही अनड्वान् होगया है । वह भी जोतना आदि व्यापारसे उत्पन्न हुए श्रमके कारण सन्तप्त शरीरवाला हो कर परमशोकयुक्त होता हुआ रहता है, अतः तप्तत्व आदि धर्मोंकी समानताके कारण अनडुह और घर्मका तादात्म्य है । इस प्रकार हमारे दिये हुए वृषभके माहात्म्यको जानता हुआ जो प्रतिग्रहीता उपभोग करता है वह सुन्दर प्रजा से संपन्न होकर देहान्तके समय इस शरीरसे निकल कर संसारके धर्मोंको फिर प्राप्त नहीं होता है, किंतु सूर्य आदि लोकोंको प्राप्त होता है । अत एव सोमयागविशेषके करने वालेको गोलोककी प्राप्ति सुनी जाती है कि–"अग्निष्टोमेन अनुडुहो लोकं आप्नोति ज्योतिष्मतो लोकान् जयति" ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पव-
मानः पुरस्तात् ।

पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अनड्वान् । दुहे । सुऽकृतस्य । लोके । आ । एनम् । प्यायमति । पवमानः । पुरस्तात् ।

पर्जन्यः । धाराः । मरुतः । ऊधः । अस्य । यज्ञः । पयः । दक्षिणा । दोहः । अस्य ॥ ४ ॥

सुकृतस्य यागादिजनितपुण्यस्य फलभूते लोके इन्द्रादिदेवतात्मकः अयम् अनड्वान् दुहे अपेक्षितम् अक्षयं फलं दुग्धे । ॐ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ॐ । तत्प्रकारमेव विभज्य दर्शयति । पुरस्तात् पूर्वं पवमानः पवित्रेण शोध्यमानः अमृतमयः सोमः एनम् अनड्वाहम् आ प्यायमति आप्यायितं रसभरितं करोति ॥ ततश्च पर्जन्यः वृष्टिप्रेरको देवो धारा भवति ॥ मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्या देवगणाः अस्य अनडुहः ऊधो भवति ॥ योऽयं कृतः सवयज्ञः स एव पयः दोग्धं भवति ॥ येयं तस्मिन् यज्ञे दत्ता दक्षिणा सा अस्य अनडुहो [दोहः] दोहक्रिया संपद्यते ॥ इत्थम् इन्द्रादिदेवतात्मकस्य अनडुहो दोहोपि देवतात्मकः संपन्न इति अक्षयफलत्वम् ॥

याग आदिसे उत्पन्न होने वाले पुण्यके फलरूप लोकमें इन्द्र आदि देवतारूप यह अनड्वान् अभिलषित अक्षय फलको देता है (उसकी रीति यह है, कि—पहिले पवित्रसे शोधा हुआ अमृतमय सोम इस वृषभको रससे भरा हुआ करता है । फिर वृष्टि-प्रेरक देव धारारूप होता है, उनचास मरुद्गण इस अनड्वान्के थन होते हैं और यह किया हुआ सवयज्ञ ही दुहने योग्य दूध

होता है और इस यज्ञमें जो दक्षिणा दीजाती है वही इस अन-ड्वान्की दोहक्रिया होती है। इस प्रकार इन्द्र आदि देवतारूप अनड्वान्का दोह भी देवतारूप होनेसे अक्षयफलत्व हुआ ॥४॥

पञ्चमी ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता। यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यत-मश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥

यस्य। न। ईशे। यज्ञऽपतिः। न। यज्ञः। न। अस्य। दाता। ईशे। न। प्रतिऽग्रहीता।

यः। विश्वऽजित्। विश्वऽभृत्। विश्वकर्मा। घर्मम्। नः। ब्रूत। यतमः। चतुःऽपात् ॥ ५ ॥

यस्य देवतात्मकस्य अनडुहः। ❀ "अधीगर्थदयेशाम्" इति कर्मणि षष्ठी ❀। यम् इत्यर्थः। यज्ञपतिः यजमानः नेशे नेष्टे। ❀ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः। यज्ञपतिः। "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। यज्ञः यागक्रिया च नेशे नेष्टे। दाता प्रतिग्रहीता च अस्य अनडुहो नेशे नेष्टे। सर्वत्र ईशितृत्वमेव अनडुहः न ईशितव्यत्वम् इत्युक्तम् अर्थं समर्थयते। य इन्द्रादिदे-वतारूपः अनड्वान् विश्वजित् विश्वस्य सर्वस्य जेता विश्वभृत् विश्वस्य सर्वस्य धात्रात्मना भर्ता यद्वा अन्नप्रदानेन पोषयिता। विश्वकर्मा। "प्रजापतिः परमेष्ठी" [७] इत्याम्नास्यते तदभिप्रा-येणेदम्। विश्वं सर्वं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्य स विश्वकर्मा। तथा यतमः यज्जातीयः चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतः सन् नः अस्मभ्यं घर्मम् दीप्यमानम् आदित्यं ब्रूत ब्रूते कथयति। ❀ लटि टेरेत्वा-

मावश्छान्दसः ❀ । तत्वस्वरूपम् उपदिशतीत्यर्थः । नास्य दातेति संबन्धः । ❀ यतम इति । "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने॰" इति पञ्चच्छन्दात् डतमच् ❀ ॥

जिस देवतास्वरूप अनड्वान्का यजमान स्वामी नहीं है, यज्ञ-क्रिया भी इसकी स्वामी नहीं है, दाता और प्रतिग्रहीता भी इस के स्वामी नहीं हैं सर्वत्र यह ईशिता (स्वामी) ही है ईशितव्य (सेवक) नहीं है (इसका समर्थन करते हैं, कि–) यह इन्द्रादिरूप अनड्वान् सम्पूर्ण जगत्का जेता है वायुरूपसे सब जगत्का भरण करने वाला है अन्न देकर पोषण करने वाला है, जगत्के संपूर्ण कर्म इसके ही हैं यह चतुष्पात् पशु हमें दीप्यमान आदित्य का उपदेश देता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

येन देवा स्व॒रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा
यशस्यवः ॥ ६ ॥

येन । देवाः । स्वः । आऽरुरुहुः । हित्वा । शरीरम् । अमृतस्य ।
नाभिम् ।
तेन । गेष्म । सुऽकृतस्य । लोकम् । घर्मस्य । व्रतेन । तपसा ।
यशस्यवः ॥ ६ ॥

येन देवतात्मना अनडुहा देवाः [स्वः] स्वर्गं लोकम् [आरुरुहुः] आरूढवन्तः । तत्प्रकार उच्यते । पार्थिवम् एतच्छरीरं हित्वा त्यक्त्वा । ❀ ओहाक् त्यागे इत्यस्मात् क्त्वाप्रत्यये "जहा-तेश्च क्त्वि" इति हित्वम् ❀ । अमृतस्य अमरणस्य नाभिम्

बन्धकम् । मोक्षद्वारभूतम् इत्यर्थः । तेन अनडुहा सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकं जेष्म जयेम । ❀ जयतेर्लिङि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀ । कथंभूताः सन्तः । घर्मस्य दीप्यमानस्य सूर्यस्य संबन्धिना व्रतेन कर्मणा तपसा दीक्षादिनियमजनितेन अनशनादिना च यशस्यवः । "न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद् यशः" [तै० आ० १०. १. २] इति यशःशब्दस्य अद्वितीयब्रह्मपरत्वेन श्रुतत्वाद् अत्रापि यशः-शब्देन तद् विवक्ष्यते । ❀ यशःशब्दोपलक्षितं निरतिशयं मोक्ष-सुखम् आत्मन इच्छन्तः ॥ ❀ यशश्शब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

जिस देवरूप अनड्वान्के द्वारा देवता पार्थिवशरीरको छोड़ कर अमरणके बन्धक अर्थात् मोक्षके द्वाररूप स्वर्गलोकमें चढ़े हैं उस ही अनड्वान्के द्वारा हम मदीप्त सूर्यदेवका व्रत कर और दीक्षा नियम आदिके उपवाससे यशको अर्थात् निरतिशय मोक्ष-सुखको चाहते हुए पुण्यके फलरूप लोकको जीतते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत ।
सोऽदृंहयत सोऽधारयत ॥ ७ ॥

इन्द्रः । रूपेण । अग्निः । वहेन । प्रजाऽपतिः । परमेऽस्थी । विऽराट् ।
विश्वानरे । अक्रमत । वैश्वानरे । अक्रमत । अनडुहि । अक्रमत ।
सः । अदृंहयत । सः । अधारयत ॥ ७ ॥

रूपेण आकृत्या अयम् अनड्वान् इन्द्रो भवति ॥ वहेन युगव-

वहेन प्रदेशेन स्कन्धेन अग्निः अग्न्यात्मको भवति। "अग्निदग्धमिव अस्य वहं भवति" इति ब्राह्मणम्। वहत्यनेनेति वहः। ॐ"गोचरसंचर०" इत्यादिना करणे घप्रत्ययान्तो निपातितः ॐ॥ प्रजापतिः प्रजानां पतिः प्रजासृष्टिकर्ता। परमेष्ठी परमे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्ठी आदिब्रह्मा। विराट् स्थूलप्रपञ्चस्य कर्ता "तस्माद् विराड् अजायत" [तै० आ० ३. १२, २] इति श्रुतिप्रसिद्धः। एते त्रयः क्रमेण विश्वानरादिषु व्याप्य वर्तन्ते। तत्र विश्वानर इति सर्वनरात्मकस्य "विश्वानरस्य वस्पतिम् अनानतस्य शवसः" [ऋ० ८. ६८. ४] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धस्य देवस्य संज्ञा। तस्मिन् प्रजापतिः अक्रमत तादात्म्येन प्रविष्टः। वैश्वानर इति विश्वनरहितः अग्निः। तत्र परमेष्ठी अक्रमत तदात्मना संक्रान्तवान्। उत्क्रमभावे अनडुहि विराड् अक्रमत तद्रूपेण प्राविशत्। अतः अयम् अनड्वान् विराडात्मक इत्यर्थः॥ यद्वा इन्द्रो देवः रूपेण स्वकीयेन विश्वानरे देवे अक्रमत। अग्निर्वहेन वहनसामर्थ्येन वैश्वानरे अक्रमत। परमेष्ठी परमे सत्यलोके स्थितः प्रजापतिः विराट्। ॐ "सुपां सुलुक्०" इति तृतीयाया लुक् ॐ। विराजा अन्नेन अनडुहि अक्रमत॥ अतः प्रजापत्यात्मकोयम् अनड्वान् इति स्तुतिः॥

अष्टमी॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ८

मध्यम्। एतत्। अनडुहः। यत्र। एषः। वहः। आऽहितः।
एतावत्। अस्य। प्राचीनम्। यावान्। प्रत्यङ्। सम्ऽआहितः ८

सः अनडुच्छरीरे प्रविष्टः प्रजापतिः तस्य अनडुहः एतत् मध्यम्

अङ्गम् अदृंहयत दृढम् अकरोत् । तथा स प्रजापतिः अधारयत तद् मध्यं भारवहनसमर्थम् अकरोत् ॥ तद् मध्यं विशिनष्टि । यत्र यस्मिन् मध्ये पृष्ठभागे एष वहः भारः आहितः स्थापितः ः एतद् मध्यम् इति संबन्धः । भारवहनप्रदेशस्य मध्यत्वम् उपपादयति । एतावद् इति । अस्य अनडुत्संबन्धिनो मध्यदेशस्य प्राचीनम् प्राग्भागः एतावत् एतत्परिमाणयुक्तम् प्रत्यक् प्रत्यग्भागो यावान् यत्परिमाणवान् समाहितः सम्यक् निर्वर्तितः । एवं प्राक्प्रत्यग्भागावुभावपि समानौ । तयोर्मध्यदेशेन भारं वहतीत्यर्थः ॥

आकृतिसे यह अनड्वान् इन्द्र है और जुएको उठाने वाले देशसे यह अनड्वान् अग्निरूप है ‡ सृष्टिकर्ता प्रजापति, सत्यलोक में रहने वाले आदिब्रह्मा परमेष्ठी, और "तस्माद विराडजायत" इस तैत्तिरीय आरण्यक ३ । १२ । २ की श्रुतिमें प्रसिद्ध स्थूल प्रपञ्चके कर्ता विराट ये तीनों क्रमशः विश्वानर आदिमें व्याप्त होकर रहते हैं । इनमें विश्वानर यह "विश्वानरस्य वस्पतिम् अनानतस्य शवसः" (ऋग्वेद ८ । ६८ । ४) इस अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध देवताका नाम है उस देवतामें प्रजापति तादात्म्यरूपसे प्रविष्ट होगए । सम्पूर्ण जगत्का हित करने वाले वैश्वानर अग्नि में परमेष्ठी तादात्म्यरूपसे प्रविष्ट होगए और पूर्वोक्त प्रभाव वाले वृषभमें विराट् तादात्म्यभावसे प्रविष्ट होगए, इस कारण यह वृषभ विराट्रूप है ॥

अथवा-इन्द्रदेव अपने रूपसे विश्वानरमें आक्रान्त हुए, अग्नि अपनी वहनशक्तिसे वैश्वानरमें आक्रान्त हुए । और सत्यलोक में स्थित प्रजापति विराट् परमेष्ठी अन्नरूपसे वृषभमें आक्रान्त

---

‡ "अग्निदग्धमिव वा अस्य वहं भवति ॥-इस बैलका कंधा अग्निसे जला हुआ सा (काला) होता है" ब्राह्मण ॥

हुए। अतएव यह वृषभ प्रजापतिरूप है ॥ उन वृषभके शरीरमें प्रविष्ट प्रजापतिने इस वृषभके अङ्गको दृढ़ किया और मध्यभाग को भार सहनेके योग्य किया उस मध्यभागमें अर्थात् पीठमें ही यह भार स्थापित होता है। इस वृषभके मध्यदेहका प्राग्भाग इतने परिमाण वाला है, कि—जितने परिमाण वाला उत्तरभाग बनाया हुआ है। तात्पर्य यह है, कि—इसके प्राग्भाग और प्रत्यग्भाग दोनों ही समान हैं, उनके मध्यवर्ती देशसे यह बोझेको ढोता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यो वेदानडुहो दोहान् सप्तानुपदस्वतः ।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ९

यः । वेद । अनडुहः । दोहान् । सप्त । अनुपऽदस्वतः ।

प्रऽजाम् । च । लोकम् । च । आप्नोति । तथा । सप्तऽऋषयः । विदुः

यः पुरुषः अनडुह. बलीवर्दस्य [सप्त] सप्तसंख्याकान् अनुपदस्वतः क्षयरहितान् दोहान् व्रीह्यादिसप्तग्राम्यौषधिरूपान् वेद जानाति। यद्वा अनडुहः प्रजापतिरूपत्वस्य उक्तत्वात् तत्सृष्टो लोकसमुद्रादयो ये सप्तसंख्याकाः सन्ति तान् सर्वान् सप्तधा विभक्तान् अनडुहोदोहान् [यो] जानाति स विद्वान् प्रजाम् पुत्रपौत्रादिकां भागादिभिः प्राप्यं [लोकम्] स्वर्गादिलोकं च प्राप्नोति। तथैतद् उक्तम् तथा तेनैव प्रकारेण अनडुन्माहात्म्यं सप्तर्षयो विदुः जानन्ति ॥ ते च आश्वलायनेन अनुक्रान्ताः ।

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः ।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तऋषयः ॥

इति [आश्व० प० १२. १]। सप्तर्षिप्रख्यानामेव इयम् अनडुहि प्रजापतिविद्या नान्येषाम् इति विद्यास्तुतिः ॥

जो पुरुष वृषभके व्रीहि आदि ग्राम्यौषधिरूप सात क्षयरहित दोहों को जानता है। अथवा अनड्वान्‌का प्रजापतिरूप कह दिया है अत एव उनकी सृष्टिमें लोक समुद्र आदि सात प्रकारसे विभक्त अनड्वान्‌के दोहोंको जो जानता है वह विद्वान् पुत्र पौत्र आदि प्रजाको और याग आदिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि लोकोंको भी प्राप्त होता है यह जिस प्रकार कहा है उसको यथार्थरूपसे सात ऋषि ही जानते हैं। (सप्त ऋषियोंका वर्णन आश्वलायन मुनिने किया है, कि—विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः॥ (आश्व प० १२। १) इन सात ऋषियोंको ही यह अनड्वान्‌में आक्रान्त प्रजापति विद्या आती है औरोंको नहीं आती) ॥ ९ ॥

दशमी ॥

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जंघाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः १०

पत्ऽभिः। सेदिम्। अवऽक्रामन्। इराम्। जङ्घाभिः। उत्ऽखिदन्। श्रमेण। अनड्वान्। कीलालम्। कीनाशः। च। अभिः। गच्छतः

अयम् प्रजापत्यात्मकः अनड्वान् पद्भिः पादैश्चतुर्भिः सेदिम् अवसादकरीम् अलक्ष्मीम् अवक्रामन् अवाङ्मुखीम् अधितिष्ठन् इराम् भूमिं जङ्घाभिः उत्खिदन् कर्षणेन उद्भिन्दन् स्वकीयेन श्रमेण कर्षणादिव्यापारजनितदुःखेन अभिगच्छतः स्वाभिमुखं गच्छतः कीनाशस्य कर्षकस्य कीलालम् अन्नम् । प्रयच्छतीत्यर्थः ॥

यह प्रजापतित्यात्मक अनड्वान् चारों पैरोंसे खिन्नता लाने

वाली अलक्ष्मी पर नीचेकी ओर मुख करा कर स्थित होता हुआ और भूमिको जङ्घाओंसे उद्भिन्न करता हुआ अपने श्रमके द्वारा अपने अभिमुख चलने वाले किसानको अन्न देता है ॥ १० ॥

एकादशी ॥

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः ।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अनडुहो व्रतम् ॥११॥

द्वादश । वै । एताः । रात्रीः । व्रत्याः । आहुः । प्रजाऽपतेः ।
तत्र । उप । ब्रह्म । यः । वेद । तत् । वै । अनडुहः । व्रतम् ११

अनडुहि संक्रान्तस्य यज्ञात्मकस्य प्रजापतेः [द्वादश वा एता] व्रत्याः व्रतार्हा द्वादशसंख्याका रात्रीः आहुः कथयन्ति । वैशब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं द्योतयति । "द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्यात् । द्वादश मासाः संवत्सरः । संवत्सरो विराट् । विराजम् आप्नोति" इति [तै० सं० ५. ६. ७. १] । "तस्माद् दीक्षितो द्वादशाहं भृतिं वन्वीत" इति च ॥ तत्र तावति काले अनडुद्रूपम् उपगतं प्रजापत्यात्मकं ब्रह्म यो वेद विद्यात् स एव अस्मिन् अनडुत्सवे अधिक्रियत इत्यर्थः । तत् एतत् ज्ञानम् अनडुहः प्रजापत्यात्मकस्य व्रतम् अनुष्ठेयं कर्म ॥

वृषभमें संक्रान्त यज्ञात्मक प्रजापतिके व्रतके योग्य बारह रात्रियों को विद्वान् कहते हैं + उतने समयमें जो वृषभरूपमें आये हुए प्रजा-

+ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । ७ । १ में कहा है, कि—"द्वादशरात्रीर्दीक्षितः स्यात् । द्वादशमासाः सम्वत्सरः । सम्वत्सरो विराट् विराजम् आप्नोति ॥—बारह रात्रिकी दीक्षा लेय । बारह महीनोंका सम्वत्सर होता है । सम्वत्सर ही विराट् है । विराज (अन्न) को प्राप्त होता है ।"

पत्यात्मक ब्रह्मको जानता है वही इस अनडुत्सवका अधिकारी है। यह ज्ञान प्रजापत्यात्मक अनडुहका अनुष्ठेय कर्म है११

द्वादशी ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥१२॥

दुहे । सायम् । दुहे । प्रातः । दुहे । मध्यंदिनम् । परि ।
दोहाः । ये । अस्य । सम्ऽयन्ति । तान् । विद्म । अनुपऽदस्वतः ॥

सायम् सायाह्ने उक्तलक्षणम् अनड्वाहं दुहे। देवतारूपेण उपासीनस्तत्फलं प्राप्नोमीत्यर्थः । तथा प्रातःकालेपि दुहे । मध्यन्दिनं परि मध्याह्नेपि दुहे। ❀ "लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" इति लक्षणे परेः कर्मप्रवचनीयत्वम् । तद्योगाद् मध्यन्दिनम् इति द्वितीया ❀ । [यद्वा] सायमादिकालत्रयेपि उक्तरीत्या अनड्वान् दुहे । सवयज्ञानुष्ठातुः फलानि दुग्धे। ❀ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❀ । एवम् अस्य अनडुहो दोहा ये संयन्ति फलेन संगच्छन्ते अनुपदस्वतः । उपदासः क्षयः । तद्रहितांस्तान् दोहान् विद्म जानीमः ॥ ❀ "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः ❀ ॥

[इति] तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मैं सायाह्नके समय पूर्वोक्त लक्षण वाले वृषभको दुहता हूँ, तथा प्रातःकालमें भी दुहता हूँ, मध्याह्नमें भी दुहता हूँ, सवयज्ञ का अनुष्ठान करने वालोंके फलोंको दुहता हूँ, इस प्रकार इस अनड्वान्के जो दोह फलसे युक्त होते हैं उन क्षयरहित दोहोंको हम जानते हैं ॥ १२ ॥

तीसरे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (११३) ॥

"रोहिण्यसि" इति सूक्तेन शस्त्राद्यभिघातजनितरुधिरप्रवाहनिवृत्तये अस्थ्यादिभङ्गनिवृत्तये च लाक्षोदकं क्वथितम् अभिमन्त्र्य उषःकाले क्षतप्रदेशम् अवसिञ्चेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन घृतदुग्धम् अभिमन्त्र्य क्षताङ्गं पुरुषं पाययेत् ॥

तथा तेनैव द्रव्येण क्षतदेशम् अभ्यञ्ज्यात् ॥

सूत्रितं हि । "रोहिणीत्यवनक्षत्रेऽवसिञ्चति पृषातकं पाययत्यभ्यनक्ति" इति [कौ० ४. ४] ॥

"रोहिण्यसि" इस सूक्तसे शस्त्र आदिके प्रहारसे निकलते हुए रुधिरके प्रवाहको रोकनेके लिये और टूटी हुई हड्डीके टूटेपनको मिटानेके लिये काढ़ेके रूपमें औटाये हुए लाखके जलको उषःकालके समय घावके स्थान पर छिड़के ।

तथा इस सूक्तसे घृत दुग्धका अभिमन्त्रण करके क्षत अंगवाले पुरुषको पिलावे ।

और इसी सूक्तसे उसी द्रव्यसे क्षतस्थानको स्वच्छ करे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"रोहिणीत्यवनक्षत्रेऽवसिञ्चति पृषातकं पाययत्यभ्यनक्ति" (कौशिकसूत्र ४।४)॥

तत्र प्रथमा ॥

रोहिण्यसि रोहिण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

रोहिणि । असि । रोहणी । अस्थ्नः । छिन्नस्य । रोहणी ।

रोहय । इदम् । अरुन्धति ॥ १ ॥

हे रोहिणि लोहितवर्णे लाक्षे । ❀ रोहितशब्दात् "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप् तकारस्य च नकारः ❀ । त्वं [रोहिणी] रोहित्री प्ररोहयित्री असि भवसि । अतस्त्वं

खड्गादिधारया छिन्नस्य अङ्गस्य सकाशात् प्रवहतः अस्नः असृजः। ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना असृक्शब्दस्य असन् आदेशः ❀। रुधिरस्य रोहिणी रोधयित्री स्वस्थाने स्थापयित्री भव। हे अरुन्धति अन्यैरनभिभूते अरोधनशीले वा देवि इदम् स्रुतरक्तम् अङ्गं रोहय प्ररोहय। संपूर्णरुधिरम् अव्रणं कुर्वित्यर्थः॥

हे लोहित (लाल) वर्ण वाली रोहिणी लाख! तू रोहिणी है अर्थात् घावके मांसको भरने वाली है अतः तू खड्ग आदिकी धारसे कटे हुए अंगके बहते हुए रुधिरको अपने ही स्थानमें रोकने वाली हो हे दूसरेसे कभी तिरस्कृत न हुई अरुन्धति इस टपकते हुए रुधिरको अंगमें ही चढ़ा॥ १॥

द्वितीया॥

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।

धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः॥ २॥

यत्। ते। रिष्टम्। यत्। ते। द्युत्तम्। अस्ति। पेष्ट्रम्। ते। आत्मनि।

धाता। तत्। भद्रया। पुनः। सम्। दधत्। परुषा। परुः २

हे शस्त्राद्यभिहत ते तव यद् अङ्गं रिष्टम् हिंसितम् यच्च ते त्वदीयम् अङ्गं द्युत्तम् द्योतितं शस्त्रप्रहारादिजनितवेदनया प्रज्वलितमिव [अस्ति] भवति। तथा ते तव आत्मनि शरीरे पेष्टम् पिष्टम् यद् अन्यद् अङ्गं मुद्गरप्रहारादिभिर्भग्नं भवति धाता सर्वस्य जगतो विधाता देवः तत् सर्वम् अङ्गं भद्रया कल्याण्या लाक्षारूपया ओषध्या परुषा पर्वणा परुः अन्यत् पर्व भग्नं पुनः सं दधत् संदधातु संयुनक्तु॥

हे शस्त्र आदिसे घायल हुए पुरुष! तेरा जो अङ्ग घायल किया गया है और तेरा जो अङ्ग शस्त्रके प्रहारसे होने वाली

वेदनासे जलसा रहा है और तेरे शरीरमें जो श्रेष्ठ अङ्ग मुद्गर आदिके प्रहारसे टूट गया है, सम्पूर्ण जगत्‌के देवता विधाता इन सब अंगोंको कल्याणमयी लाखरूप ओषधिसे जोड़ोंको जोड़से मिलाते हुए टूटे हुएको जोड़ दें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परु॑ः ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ समस्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । म॒ज्जा । म॒ज्ज्ञा । भ॒व॒तु॒ । सम् । ऊं॑ इति॑ । ते॒ । परु॑षा । परु॑ः ।

सम् । ते॒ । मां॒सस्य॑ । वि॒ऽस्र॑स्तम् । सम् । अस्थि॑ । अपि॑ । रो॒ह॒तु॒ ३

हे महत ते तव शरीरस्थो मज्जा एतत्संज्ञः षष्ठो धातुः प्रहारेण विभक्तः मज्ज्ञा मज्जाख्यधातुना प्रहारविभक्तेन शम् सुखं यथा भवति तथा भवतु संयुक्तो भवतु । यद्वा भवतु प्राप्नोतु । ❀ भू प्राप्तौ । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥ तथा ते त्वदीयशरीरस्य परुषा भग्नेन पर्वणा परुः भग्नं पर्व शम् सुखं यथा भवति तथा प्राप्नोतु । संधीयताम् इत्यर्थः ॥ ते तव शरीरगतस्य मांसस्य प्रहाराभिघातेन यद् विस्रस्तं तत् शम् सुखं यथा भवति तथा [अपि रोहतु] अपिरूढं प्ररूढं पुनरुत्पन्नं भवतु । तथा तव शरीरगतं यद् अस्थि भग्नम् आसीत् तच [शम्] सुखेन प्ररूढं संहितं भवतु ॥

हे घायल ! तेरे शरीरमें स्थित मज्जा नामकी छठी धातु प्रहारके कारण विभक्त होगई है वह मज्जा जिस प्रकार सुखको प्राप्त हो तैसा हो और तेरे शरीरकी टूटी हुई गाँठकी हड्डीसे गाँठकी हड्डी जिस प्रकार सुखी हो तैसा हो, अर्थात् वह जुड़ जावे तथा

तेरे शरीरका जो मांस प्रहारके कारण फट गया है, वह जिस प्रकार सुखको प्राप्त हो वैसा हो अर्थात् फिर आकर मिल जावे३

चतुर्थी ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥४॥

मज्जा । मज्ज्ञा । सम् । धीयताम् । चर्मणा । चर्म । रोहतु ।
असृक् । ते । अस्थि । रोहतु । मांसम् । मांसेन । रोहतु ॥ ४ ॥

मज्जाख्यो धातुः मज्ज्ञा मज्जधातुना सं धीयताम् संहितः संयुक्तो भवतु । चर्मणा शस्त्रादिप्रहारभिन्नेन चर्म रोहतु प्ररूढं भवतु । संयुज्यताम् इत्यर्थः । असृक् रक्तं ते त्वच्छरीरगतं यद् अस्थ्नः सकाशात् विश्लिष्टं पुनस्तद् अस्थि रोहतु प्राप्नोतु । मन्त्रौषधिसामर्थ्येन संयुज्यताम् इत्यर्थः । यद्वा चर्मणा चर्मेति तृतीयान्तस्य तत्र दृष्टत्वात् असृजा अस्थ्ना इति तृतीयान्तं पदम् अध्याहृत्य योज्यम् । [असृजा] असृग् रोहतु अस्थ्ना अस्थि रोहत्विति । शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

मज्जा धातु मज्जा धातुसे मिल जावे, शस्त्रके प्रहारसे भिन्न हुआ चमड़ा चमड़ेसे मिल जावे तेरे शरीरका जो रक्त हड्डी परसे टपका है वह फिर हड्डीमें आवे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।
असृक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ५

लोम । लोम्ना । सम् । कल्पय । त्वचा । सम् । कल्पय । त्वचम् ।

असृक् । ते । अस्थि । रोहतु । छिन्नम् । सम् । धेहि । ओषधे ५

हे लाक्षात्मिके ओषधे शरीरस्थं लोम लोम्ना प्रहारविश्लिष्टेन सं कल्पय संक्लृप्तं पुनः स्वस्थानगतं कुरु ॥ तथा त्वचमपि विश्लिष्टत्वचा सं कल्पय संक्लृप्तां कुरु ॥ असृक् ते अस्थि रोहतु इति पूर्ववत् । एवम् अन्यदपि छिन्नम् भग्नं यद्यद् अङ्गम् अस्ति तत् सर्वं सं धेहि संहितं संश्लिष्टं व्यापारक्षमं कुर्वित्यर्थः ॥

हे लाखनामक ओषधे ! तू शरीरमें स्थित लोमको प्रहारसे अलग हुए लोमसे मिलाकर फिर अपने स्थान पर स्थापित कर और अलग हुई खालको भी खालसे मिलाकर ठीक कर तेरा रक्त हड्डियों पर दौड़ने लगे, इसी प्रकार और भी जो कोई टूटा अङ्ग है उसको भी मिलाकर तू व्यापार करनेमें समर्थ कर ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स उत् तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

सः । उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । रथः । सुऽचक्रः ।

सुऽपविः । सुऽनाभिः ।

प्रति । तिष्ठ । ऊर्ध्वः ॥ ६ ॥

हे शस्त्रप्रहारादिभिर्विश्लिष्टावयव पुरुष स तादृशः मन्त्रौषधिसामर्थ्येन संहितगात्रः सन् उत् तिष्ठ शयनाद् उद्गच्छ। प्रेहि तस्मात् स्थानात् प्रगच्छ । प्र द्रव प्रधाव वेगेन गच्छ । उक्तम् अर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति रथ इत्यादिना । सुचक्रः सुदृढैश्चक्रैर्युक्तः सुपविः सुदृढः पविर्नेमिश्चक्रधारा यस्य स तथोक्तः सुनाभिः सुदृढया नाभ्या अन्तश्छिद्रेण युक्तः एवं गुणविशिष्टो रथः यथा प्रगमनादिव्यापारं

कुर्वन् प्रतिष्ठितो भवति एवं त्वमपि सुदृढाङ्गो भूत्वा ऊर्ध्वः उत्थितः सन् प्रति तिष्ठ प्रतिष्ठितो भव ॥

हे शस्त्रके प्रहार आदिसे भिन्न अंग वाले पुरुष ! तू मन्त्र और औषधिकी सामर्थ्यसे अवयव आदिके जुड़ने पर शयन परसे उठ कर खड़ा हो और उस स्थानसे चल; वेगसे दौड़। सुन्दर चक्रोंसे दृढ़, सुदृढ़ नेमि वाला और दृढ़ नाभि वाला रथ जैसे गमन आदि व्यापारको करता हुआ प्रतिष्ठित होता है, इसी प्रकार तू भी सुदृढ़ अंगों वाला हो उठकर प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

यदि । कर्तम् । पतित्वा । सम्ऽसश्रे । यदि । वा । अश्मा । प्रऽहृतः । जघान ।

ऋभुः । रथस्यऽइव । अङ्गानि । सम् । दधत् । परुषा । परुः ॥७॥

यदि कर्तम् कर्तकं छेदकम् आयुधं पुरुषशरीरे पतित्वा संशश्रे संशृणाति संहिनस्ति । ❀ शृ हिंसायाम् इत्यस्मात् छान्दसो लिट् ❀ । यदि वा अपि वा अश्मा पाषाणः प्रहृतः परेण पुरुषशरीरे प्रक्षिप्तः सन् जघान हन्ति पुरुषं हिनस्ति । तेन आयुधेन अश्मना [च] हिंसितं परुः पर्व परुषा पर्वान्तरेण सं दधत् मन्त्रौषधप्रभावः संदधातु । तत्र दृष्टान्तः । ऋभू रथस्येवेति । सु-धन्वन आंगिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुर्ऋभुर्विभ्वा वाज इति [नि० ११. १६] [इति] यास्कवचनात् सुधन्वनः पुत्रा ऋभ्वा-दयो रथनिर्माणादिना देवत्वं प्राप्ताः । तथात्वं च दासस्यास्य

"तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसः" [ऋ० १. १११. १] इत्याद्यार्भवसूक्तेषु प्रसिद्धम् । ऋभुर्यथा रथस्य अङ्गानि अक्षचक्रेषायुगादीनि निर्माय संदधाति एवम् आथर्वणो मन्त्रो विश्लिष्टम् अङ्गं संदधातीत्यर्थः ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

यदि काटने वाला आयुध पुरुषके शरीर पर पड़ कर उसका संहार कर रहा है वा दूसरेका फैंका हुआ जो पाषाण इसके शरीर पर गिर कर इसको कष्ट देरहा है, उस आयुध वा पत्थर से टूटी हुई हड्डी मंत्रके प्रभावसे हड्डीसे मिल जावे । ऋभु ‡ जैसे रथके अंग अक्ष चक्र ईषा युग आदिको बनाकर मिला देता है, इसी प्रकार अथर्ववेदका मंत्र भी अलग हुए अंगको मिला देता है७

द्वितीय सूक्त समाप्त (११४) ॥

"उत देवाः" इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामं माणवकम् अभिमृश्य अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "वि देवा जरसा [३. ३१] उत देवाः [४. १३] आवतस्ते [५. ३०]" इत्यादि "विषासहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा ऋषिहस्ते माणवकशरीरानुमन्त्रणेपि एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "मुञ्चामि त्वा [३. ११] उत देवाः [४. १३] आवतस्ते [५. ३०]" इत्यादि "विषासहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयेत" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा लघुगणे "हिरण्यवर्णाः [१. ३३] शंतातीयम् [४. १३] यद्यन्तरिक्षे [७. ६८]" [कौ० १. ६] इति शंतातीयपदेन शंतातिशब्दयुक्तस्य अस्य सूक्तस्य विवक्षितत्वाद् अस्य गणस्य यत्रयत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

‡ "अंगिरागोत्री सुधन्वाके ऋभु विभु और वाज नाम वाले तीन पुत्र हुए" (निरुक्त ११ । १६) ॥

तथा अंहोलिङ्गगणेपि अस्य सूक्तस्य पाठात् तस्य गणस्य यत्र-यत्र भैषज्यादिषु विनियोगस्तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा क्रतुमध्ये व्याधितस्य यजमानस्य भैषज्यकरणेपि एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "अथ भैषज्याय यजमानम् 'अक्षीभ्यां ते' [२. ३३] 'मुञ्चामि त्वा' [३. ११] 'उत देवाः' [४. १३]" इति [वै० ७. ३] ॥

"उत देवाः" इस सूक्तसे उपनयनके अनन्तर आयु चाहने वाले बालकका अभिमर्शन करके अनुमंत्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"वि देवा जरसा (३ । ३१) उत देवाः (४ । १३) आवतस्ते (५ । ३०)" इत्यादि "विषासहिम् (१७ । १) इत्यनुमंत्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यंतं (कौशिकसूत्र ७।६) ॥

तथा ऋषिके हाथसे बालकका अनुमन्त्रण कराने पर भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—मुञ्चामि त्वा (३ । ११) उत देवा (४ । १३) आवतस्ते (५।३०) इत्यादि "विषासहिम् (१७ । १) इत्यनुमन्त्रयेत" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा लघुगणमें "हिरण्यवर्णाः (१ । ३३) शन्तातीयम् (४ । १३) यदन्तरिक्षे (७ । ६८)" (कौशिकसूत्र १ । ६) इनका पाठ है । यहाँ शन्तातीयपदसे शन्तातिशब्द वाला यह सूक्त लिया जाता है । अतः जहाँ २ लघुगणका विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग होगा ॥

तथा अंहोलिङ्गगणमें भी इस सूक्तका पाठ है अत एव इस गणका भैषज्य आदि जिन २ कर्मोंमें विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका भी विनियोग होगा ॥

तथा यज्ञमें रुग्ण हुए यजमानकी चिकित्सामें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अथ

भैषज्याय यजमानम् 'अक्षीभ्यां' ते (२ । ३३) मुञ्चामि त्वा (३ । ११) उत देवा (४ । १३)" वैतानसूत्र (७ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

उत । देवाः । अवऽहितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः ।
उत । आगः । चक्रुषम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥१॥

उतशब्दः अप्यर्थे । हे देवाः इमम् उपनीतं धर्मविषये अवहितम् सावधानम् अप्रमत्तं कुरुत । यद्वा अवहितम् अवस्थापितं कुरुत । यथासौ चिरकालम् अवतिष्ठते तथा कुरुतेत्यर्थः । ❀ अवपूर्वाद् धाञः कर्मणि निष्ठा । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ हे देवाः यूयं संभाविताद् अनवधानाद् एनं पुनः उन्नयथ उद्गमयथ । यद्वा अध्ययनतदर्थज्ञानादिलक्षणं यद् उत्कृष्टं फलं तद् उपनीतं प्रापयथ । ❀ देवा इत्यस्य पादादित्वात् षाष्ठिकम् आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उत अपि च हे देवाः आगः अपराधं विहितानुष्ठानादिजनितं पापं चक्रुषम् चकृवांसं कृतवन्तम् । ❀ करोतेर्लिटः क्वसुः । अभि भत्वाभावेपि छान्दसं वसोः संप्रसारणम् ❀ । अज्ञानात् पापं कृतवन्तमपि एनं तस्मात् पापाद् रक्षतेत्यर्थः ॥ एवं संभवदायुर्भङ्गनिमित्तापराधपरिहारेण हे देवाः यूयं पुनरिमं जीवयथ शतसंवत्सरपरिमितजीवनयुक्तं कुरुत ॥ इत्थम् आमन्त्रितभेदेन वाक्यचतुष्टयं साध्याध्याहारेण योजयितव्यम् । यद्वा पूर्वोत्तरार्धे द्वे वाक्ये । तत्र एकैको देवशब्दो गौणः । अपरः संज्ञा । हे दानादिगुणयुक्ता देवाः अवहितमपि एनं पुनरुन्नयथ । आगः कृतवन्तमपि एनं पुनर्जीवयथेति । अक्षरार्थस्तु स एव ॥

हे देवताओं ! इस उपनीत बालकको धर्मविषयमें प्रमादरहित करो, हे देवताओं ! तुम प्रमादसे इसको फिर उठाओ । अध्ययन और उसके अर्थका ज्ञान आदि - जो उत्कृष्ट फल है उससे इस उपनीतको संयुक्त करो । हे देवताओं ! विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे उत्पन्न होने वाले पापको करते हुए भी इसकी रक्षा करो अर्थात् अज्ञानवश हुए पापसे भी इसकी रक्षा करो । इस प्रकार कभी न कभी बन जाने वाले आयुर्भंगके निमित्त अपराधोंको दूर कर तुम इसको सौ वर्ष तकके जीवनसे युक्त करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः ॥२॥

द्वौ । इमौ । वातौ । वातः । आ । सिन्धोः । आ । पराऽवतः ।
दक्षम् । ते । अन्यः । आऽवातु । वि । अन्यः । वातु । यत् । रपः ॥२॥

इमौ दृश्यमानौ द्वौ वातौ । "पश्चाद्वातं प्रति मीवति पुरोवात-मेव जनयति" [तै० सं० २. ४. ६. १] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धौ वायु आ सिन्धोः आ समुद्रात् । मर्यादायाम् आकारः । समुद्र-पर्यन्तम् । तथा आ परावतः । परावत् इति दूरनाम । समुद्रादपि यो दूरदेशः तावत्पर्यन्तं वा वातः गच्छतः । ❀ वा गतिगन्धनयोः । आदादिकः ❀ । यद्वा इमौ प्राणापानात्मकौ द्वौ वातौ वातः शरीरेषु संचरतः आ सिन्धोः । अत्र सिन्धुशब्देन स्यन्दनशीलानि स्वेदायनानि उच्यन्ते । तावत्पर्यन्तं आ परावतः । परावच्छब्देन शरीराद् बाह्यदेशो द्वादशांगुलपरिमितो विवक्षितः । तावत्पर्यन्तं च प्राणापानयोः संचारस्थानम् ।

नाडीभ्याम् अस्तम् अभ्येति प्राणतो द्विषडंगुलः

इति ॥ तयोर्वातयोः अन्यः पुरोवातः प्राणो वा हे उपनीत ते तव दक्षम् बलम् आवातु आगमयतु । अन्यः पश्चाद्वातः अपानवायुर्वा तव यद् रपः पापम् अस्ति । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति हि निरुक्तम् [नि० ४, २१] ❀ । तत् पापं वि वातु त्वत्सकाशाद् विगमयतु ॥

"पश्चाद्वातं प्रति मीवति पुरोवातमेव जनयति॥–पिछला चलता हुआ वायु अस्त होता हुआ ही अगले वायुको उत्पन्न कर देता है" इस तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । ६ । १ की श्रुतिमें जो दो प्रसिद्ध वायु हैं वह समुद्र तक और समुद्रसे भी अधिक दूर देश तक जावें अथवा यह प्राण और अपानरूप दो वायु शरीरमें चलें वह स्वेदके स्थानों तक जावें और उससे भी दूरके देश अर्थात् शरीरके बाहर बारह अंगुल तक जावें † इन वायुओंमें जो प्राण वा पुरोवात है हे उपनीत ! वह तुझमें बल लावे और पश्चाद्वात वा अपानवायु तुझमें जो रिप्र अर्थात् पाप ‡ है उसको तुझसे दूर करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

---

† इसी बातको कहा भी है, कि–"नाडीभ्यां अस्तं अभ्येति प्राणतो द्विषडंगुलः ॥–इडापिंगला इन दो नाड़ियोंसे छोड़ा हुआ प्राण बारह अंगुल तक जाता है ॥"

‡ "रपो रिप्रं इति पापनामनी भवतः इति हि निरुक्तम् ॥–रप और रिप्र पापके नाम हैं ऐसा निरुक्तमें कहा है" (निरुक्त ४ । २१) ॥

आ । वात । वाहि । भेषजम् । वि । वात । वाहि । यत् । रपः ।

त्वम् । हि । विश्वऽभेषज । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥ ३ ॥

हे वात वायो भेषजम् सर्वव्याधिनिवर्तकम् औषधम् आ वाहि आगमय । हे वात वायो यद् रपः पापं व्याधिनिदानम् अस्ति तद् वि वाहि विगमय अस्मत्तो विनाशय ॥ हे विश्वभेषज सर्वव्याधिनिवर्तक हि यस्मात् त्वं देवानाम् इन्द्रादीनां दूतः चारः सन् सर्वजगद्रक्षणाय ईयसे संचरसि । ❀ ईङ् गतौ । दिवादित्वात् श्यन् ❀ ॥ यद्वा देवानाम् इन्द्रियाणां दूतः दूतवद् आसन्नवर्ती सन् तत्पोषणाय ईयसे । कृत्स्नं शरीरं व्याप्य वर्तस इत्यर्थः ॥

हे वायो ! सब व्याधियोंको दूर करने वाली औषधिको लाइये और हे वायो ! जो व्याधिका कारण पाप है उसको हमसे दूर करिये । हे सब व्याधियोंको दूर करने वाले ! आप इन्द्र आदि देवताओंके दूत बन कर सब जगत्की रक्षा करनेके लिये घूमते हैं और इन्द्रियोंके दूतकी समान उनके पासमें रह कर उनका पोषण करनेके लिये रहते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।

त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गणाः ।

त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः । असत् ॥ ४ ॥

देवाः इन्द्रादयः इमम् उपनीतं माणवकं त्रायन्ताम् । यद्वा "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा अग्न्याद्या इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता देवाः । ते तत्तदि-

न्द्रियपाटवप्रदानेन इमं रक्षन्तु इत्यर्थः ॥ तथा मरुताम् एकोनपञ्चाशत्संख्याकानाम् "ईदृङ् चान्यादृङ् च" [तै० सं० १. ८. १३. २] इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धसंज्ञकानां ये गणाः सप्तसंख्याकाः सन्ति तेपि इमं त्रायन्ताम् संरक्षन्तु । यद्वा मरुताम् प्राणापानव्यानादीनां देहे अवस्थितानां गणाः । पूजार्थं बहुवचनम् ॥ तथा विश्वा विश्वानि सर्वाणि अन्यानि भूतानि भूतजातानि यथा येन प्रकारेण अयं पुरुषः अरपा असत् अपापो भवेत् तथा त्रायन्ताम् इमं पालयन्तु ॥ ❀ त्रैङ् पालने । अरपा इति । न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्मिन्निति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

इन्द्र आदि देवता इस उपनीत बालककी रक्षा करें । और 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ॥–अग्निने वाणी बन कर मुखमें प्रवेश किया" इस ऐतरेय आरण्यककी २।४।२ श्रुतिके अनुसार जो अग्नि आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता हैं वे उस २ इन्द्रियकी कुशलता देकर इस बालककी रक्षा करें । और उदश्वास मरुद्गणोंके जो सात गण हैं, वे भी इस बालककी रक्षा करें । और प्राण अपान आदिके जो देहमें स्थित गण हैं वे सब और अन्य प्राणी भी जिस प्रकार यह पुरुष पापरहित हो तिस प्रकार इसकी रक्षा करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ त्वांगमं शंतांतिभिरथों अरिष्टतांतिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभांरिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

आ । त्वा । अगमम् । शंतांतिऽभिः । अथो इति । अरिष्टतांतिऽभिः ।
दक्षम् । ते । उग्रम् । आ । अभारिषम् । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ५

हे उपनीत त्वा त्वां शंतातिभिः शंकरैः सुखकरैर्मन्त्रैः अथो अपि च अरिष्टतातिभिः अरिष्टम् अहिंसा तत्करैः श्रेयोहेतुभिः कर्मभिश्च आगमम् आगतवान् अस्मि। ❀ गमेर्लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः। "शिवशमरिष्टस्य करे" इति उभयत्र करणेर्थे तातिल् प्रत्ययः। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀॥ अपि च उग्रम् उद्गूर्णं दक्षम् समृद्धिकरं बलं ते तव आभार्षम्। आहार्षम् ❀। "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀। "दक्षं ते अन्य आवातु" [२] इति वायुप्रार्थनया तत्सकाशाद् आनैषम्॥ तथा यक्ष्मम् रोगं ते तव सकाशात् परा सुवामि पराङ्मुखं प्रेरयामि॥ ❀ षू प्रेरणे। तौदादिकः ❀॥

हे उपनीत! मैं तुझको सुख देने वाले मन्त्रोंसे और अहिंसामय कल्याणकारी कर्मोंके द्वारा प्राप्त हुआ हूँ और प्रचण्ड बलको भी तुझमें ले आया हूँ तथा यक्ष्मा रोगको भी तुझसे पराङ्मुख करके भेजता हूँ॥ ५॥

षष्ठी॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ ६॥

अयम्। मे। हस्तः। भगऽवान्। अयम्। मे। भगवत्ऽतरः।
अयम्। मे। विश्वऽभेषजः। अयम्। शिवऽअभिमर्शनः॥ ६॥

मे मदीयः अयम् अभिमर्शनसाधनो हस्तः भगवान् भाग्यवान्। तथा मे मदीयोयम् ऋषिहस्तः भगवत्तरः अतिशयितभाग्ययुक्तः। मे मम अयं हस्तो विश्वभेषजः विश्वानि भेषजानि सर्वव्याधिनिवर्तकानि औषधानि यस्मिन्नृषिहस्ते स तथोक्तः। यस्माद् एवंगुणविशिष्टो मदीयो हस्तः तस्माद् अयं शिवाभिमर्शनः सुखकरस्पर्शनयुक्तो भवतु॥

मेरा यह अभिमर्शनका साधन हाथ भाग्यवान् है और मेरा यह अभिहस्त परमभाग्यवान् है, मेरे इस अभिहस्तमें संपूर्ण व्याधियोंको दूर करनेवाली सब औषधियें (१ का प्रभाव) है। मेरा हाथ ऐसे गुणोंवाला है अतः यह सुखदायक स्पर्शसे युक्त हो ६

सप्तमी ॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ७

हस्ताभ्याम् । दशऽशाखाभ्याम् । जिह्वा । वाचः । पुरःऽगवी । अनामयित्नुऽभ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । अभि । मृशामसि ॥ ७ ॥

दशशाखाभ्याम् दश अंगुलयः शाखाभूता ययोः तादृशाभ्यां हस्ताभ्यां प्रजापतिसंबन्धिभ्यां सृज्यमाना जिह्वा वागिन्द्रियाधिष्ठान-भूता रसना वाचः शब्दस्य पुरोगवी पुरतो गन्त्री भवति । यत्र-यत्र शब्दः प्रयुज्यते तत्र सर्वत्र तस्य शब्दस्योच्चारणाय पुरतो व्याप्रियत इत्यर्थः॥ अनामयित्नुभ्याम् अनामयशीलाभ्याम् आरो-ग्यहेतुभ्यां ताभ्यां प्रजापतिसंबन्धिभ्यां हस्ताभ्याम् हे उपनीत त्वा त्वाम् अभि मृशामसि अभितः संस्पृशामः । ❀"इदन्तो मसिः"❀॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

अंगुलिरूप दश शाखा वाले प्रजापतिके दोनों हाथोंसे रची हुई वागिन्द्रियकी अधिष्ठानभूत रसना शब्दके आगे चलने वाली होती है, तात्पर्य यह है, कि—जहाँ २ शब्दका प्रयोग किया जाता है सर्वत्र उस शब्दोच्चारणसे पहिले ही पुर जाती है। आरोग्य के कारण उन प्रजापतिके हाथोंसे हे उपनीत ! हम तेरा स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

चतुर्थं काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (११५) ॥

"अजो ह्यग्नेः" इति सूक्तेन अजौदनसवे हविरभिमर्शनादिकं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "तस्मिन्नन्वारब्धं दातारं वाचयति तन्त्रं सूक्तं पञ्चस्नानेन यौ ते पक्षौ" इत्युपक्रम्य "क्रमध्वम् अग्निना नाकम् [२] पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षम् आरुहम् [३]स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते [४]" इति [कौ० ८. ६] ॥

"क्रमध्वम् अग्निना" इत्याद्यास्तिस्रः सर्वेषु सवयज्ञेषु वाचने विनियुक्ताः ॥

"अजो ह्यग्नेः" इत्यनया ऋचा अग्निचयने उपधीयमानम् अजशिरोऽनुमन्त्रयेत । "अजो हीत्यजशिरः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५.२] ॥

"अग्ने प्रेहि" इत्यनया सर्वेषु सवयज्ञेषु आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अग्ने प्रेहि [५] समाचिनुष्व [११. १. ३६] इत्याज्यं जुहुयात्" [इति] [कौ० ८. ४] ॥

"अजम् अनज्मि" [६] इत्यन्या अजौदनसवे दर्भैरुद्धृतं पाशुकं हविः आज्येनाभ्यञ्ज्यात् । सूत्रितं हि । "उद्धृतम् अजम् अनज्मीत्याज्येनानक्ति" इति [कौ० ८. ५] ॥

"पञ्चौदनम्" [७, ८] इति द्वाभ्यां सवयज्ञे पञ्चधा विभक्तौदनसहितान् शिरःपार्श्वाद्यवयवान् प्राच्यादिदिक्षु स्थापयेत् । सूत्रितं हि । "पञ्चौदनम् इति मन्त्रोक्तम् ओदनान् पृथक्पादेषु निदधाति मध्ये पञ्चमम्" इति [कौ० ८. ५] ॥

"शृतम् अजम्" [९] इत्यनया शिरःपादाद्यवयवोपेतं चर्म जुहुयात् । सूत्रितं हि । "शृतम् अजम् इत्यनुबद्धशिरःपादम् अजस्य चर्म" इति [कौ० ८. ५] ॥

वाजपेये "पृष्ठात् पृथिव्याः" [३] इत्येतां यूपम् आरुह्य यजमानो जपेत् । उक्तं वैताने । वाजपेयं प्रक्रम्य "पृष्ठात् पृथिव्या अहम् इत्यारूढः" इति [वै० ४. ३] ॥

वरुणप्रघासाख्ये पर्वणि अग्निप्रणयनकाले "अग्ने प्रेहि" [५] इति ब्रह्मा जपन् गच्छेत्। तद् उक्तं वैताने। "आषाढ्यां वरुणप्रघासेष्वग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेहीति जपन्नेति" इति [वै० २.४]॥

सोमयागे उत्तरवेद्यग्निप्रणयनेपि एषा जप्या। उक्तं वैताने। "अग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेहीति जपित्वा बहिर्वेद्युपविशति" इति। [वै० ३.५]॥

"अजो ह्यग्ने" इस सूक्तसे अजौदनसवमें हविका अभिमर्शन आदि करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"तस्मिन्नन्वारब्धं दातारं वाचयति तंत्रं सूक्तं पञ्चस्नानेन यौते पक्षौ" इत्युपक्रम्य "क्रमध्वं अग्निना नाकं (२) पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तरिक्षं आरुहम् (३) स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते (४)" इति कौशिकसूत्र (८।६)॥

"क्रमध्वम् अग्निना" इत्यादि तीन ऋचाओंका सब सवयज्ञोंके वाचनमें विनियोग है॥

"अजो ह्यग्ने" इस ऋचासे अग्निचयनमें उपधीयमान बकरेके शिरका अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—"अजो हीत्यजशिरः"॥

'अग्ने प्रेहि' इस ऋचासे सब सवयज्ञोंमें घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अग्ने प्रेहि" इस पाँचवीं ऋचासे और 'समाचिनुस्व' इस ग्यारहवें काण्डके प्रथम अनुवाक की छत्तीसवें सूक्तसे घृतकी आहुति देय" (कौशिकसूत्र ८।४)

"अजं अनज्मि" इस छठी ऋचासे अजौदनसवमें कुशाओं पर रक्खी हुई पशुसम्बन्धी हविको घृतसे शुद्ध करे। इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उद्धृतं अजं अनज्मीत्याज्येनानक्ति" (कौशिकसूत्र ८।५)॥

'पञ्चौदनम्' इन सातवीं और आठवीं ऋचासे सवयज्ञमें पाँच

स्थानमें विभक्त ओदनसहित सिर पसली आदि अवयवोंको पूर्व आदि दिशाओंमें स्थापित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"पञ्चौदनम् इति मन्त्रोक्तं ओदनान् पृथक् पादेषु निदधाति मध्ये पञ्चमम्" (कौशिकसूत्र ८ । ५)॥

"भृतम् अजम्" इस नौवीं ऋचासे शिर पैर आदि अवयवों से युक्त चर्मकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"भृतं अजं इत्यनुबद्धशिरःपादं अजस्य चर्म" (कौशिकसूत्र ८ । ५)॥

वाजपेयमें 'पृष्ठाद् पृथिव्याः' इस तीसरी ऋचाको यजमान यूप पर चढ़कर जपे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि वाजपेयं प्रक्रम्य 'पृष्ठात् पृथिव्या अहं इत्यारूढः' वैतानसूत्र (४ । ३)॥

ब्रह्मा वरुणप्रघास नाम वाले कर्ममें अग्निप्रणयनके समय 'अग्ने प्रेहि' इस पाँचवी ऋचाको जपता हुआ जावे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"आषाढ्यां वरुणप्रघासेऽग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेहीति जपन्नेति" (वैतानसूत्र २ । ४)॥

सोमयागके उत्तरवेदिप्रणयनमें भी इस ऋचाका जप करना चाहिये। इसी बातको वैतानसूत्र ३ । ५ में कहा है, कि—"अग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेहीति जपित्वा वहिर्वेद्युपविशति"॥

तत्र प्रथमा॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः १

अजः। हि। अग्नेः। अजनिष्ट। शोकात्। सः। अपश्यत्। जनितारम्। अग्रे।

तेन । देवाः । देवताम् । अग्रे । आयन् । तेन । रोहान् । रुरुहुः ।

मेध्यासः ॥ १ ॥

अजः छागः अग्नेः शोकात् तापाद् अजनिष्ट उदपद्यत । हि-शब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं द्योतयति । तथा च तैत्तिरीयके अजस्याग्नि-सकाशाद् उत्पत्तिराम्नाता । "स आत्मनो वपाम् उदक्खिदत् । ताम् अग्नौ प्रागृह्णात् । ततोजस्तूपरः समभवत्" इति [तै० सं० २. १. १. ४] । सः जातोजः अग्रे सर्वप्रजापतिपशुसृष्टेः प्राग् जनितारम् जनयितारं प्रजापतिम् अग्निं वा अपश्यत् दृष्टवान् । जनयितृगौरवेण आत्मनो गौरवम् अज्ञासीद् इत्यर्थः । ❀ "जनिता मन्त्रे" इति णिलोपो निपात्यते ❀ ॥ तेन प्रथमसृष्टेन अजेन देवाः इन्द्रादयः देवताम् देवत्वं देवभावम् अग्रे सृष्ट्यादौ आयन् तत्सा-ध्ययागद्वारा प्राप्नुवन् । ❀ देवताम् इति । "तस्य भावस्त्वतलौ" इति तल् प्रत्ययः ❀ ॥ तथा मेध्यासः मेधार्हाः । ❀ "छन्दसि च" इति यप्रत्ययः । "आज्जसेरसुक्" ❀ । यज्ञार्हा अन्येपि ऋषि-जनाः रोहान् । रोहन्ते प्राप्यन्त इति रोहाः स्वर्गादिलोकाः । ❀ रुहे-र्ण्यन्तात् कर्मणि घञ् ❀ । तान् तेन अजेन साधनेन यागद्वारा रुरुहुः आरूढवन्तः । तस्मात् ईदृक्साधनकः अजौदनसवोदेवत्वादि-सर्वफलप्राप्तिसाधक इत्यर्थः ॥

बकरा अग्निके तापसे उत्पन्न हुआ है, यह बात दूसरी श्रुतियोंमें भी प्रसिद्ध है † । वह उत्पन्न हुआ अज प्रजापतिकी सब पशुसृष्टिसे पहिले उत्पादक प्रजापति वा अग्निको देखने लगा अर्थात् उसने उत्पादकके गौरवसे अपना गौरव समझा ॥ उस

† तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । १ । ४ में कहा है, कि—"स आत्मनो वपां उदखिदत् । ताम् अग्नौ प्रागृह्णात् । ततोऽजस्तूपरः समभवत् ॥"

प्रथम रचे हुए अजके (यागके) द्वारा इन्द्र आदि सृष्टिके प्रारम्भमें देवभावको प्राप्त हुए तथा यज्ञके अधिकारी दूसरे ऋषि भी उस अजरूपी साधनके द्वारा यज्ञ करके स्वर्ग आदि लोकोंमें चढ़े हैं। इस कारण ऐसा अजौदनसव देवत्व आदि सकल फलोंकी प्राप्तिका साधक है॥ १॥

द्वितीया॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ २॥

क्रमध्वम्। अग्निना। नाकम्। उख्यान्। हस्तेषु। बिभ्रतः।
दिवः। पृष्ठम्। स्वः। गत्वा। मिश्राः। देवेभिः। आध्वम् २

हे जनाः अग्निना सवयज्ञार्थम् उत्पादितेन तत्साध्यान् सवयज्ञान् अनुष्ठाय तत्फलभूतं नाकम् दुःखसंभेदरहितम् उत्तमं लोकं क्रमध्वम् आरोहत। कथंभूताः सन्तः। उख्यान् उखावत् प्रकाशकान् अनुष्ठितान् यज्ञान् हस्तेषु बिभ्रतः धारयन्तः। यागादिजनितसुकृतविशेषान् अवलम्ब्य तत्फलभूतं लोकं प्राप्नुतेत्यर्थः। ❀ क्रमध्वम् इति। "अनुपसर्गाद् वा"। इति क्रमेरात्मनेपदम्। बिभ्रत इति। डुभृञ् धारणपोषणयोः। अस्मात् लटः शत्रादेशः। "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम्। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तः ❀॥ तदनन्तरं दिवः अन्तरिक्षस्य पृष्ठम् पृष्ठवंशवद् उन्नतप्रदेशं स्वः स्वर्गाख्यं लोकं गत्वा प्राप्य देवेभिः देवैः आजानशुद्धैः मिश्राः मिश्रिताः समानैश्वर्येण एकीभूताः आध्वम् उपविशत। ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति दिवो विसर्जनीयस्य सत्वम्। देवेभिरिति। "बहुलं छन्दसि" इति भिस ऐसभावः। ततो "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वम्। आध्वम् इति। आस उप-

वेशने। अदादित्वात् शपो लुक्। "झलां जश् झशि" इति सकारस्य जश्त्वम्। दकारः ❀॥

हे मनुष्यों! तुम सब यज्ञोंके लिये उत्पन्न किये हुए अग्निके द्वारा सब यज्ञोंका अनुष्ठान करके अग्निकी समान प्रकाशक अनुष्ठित यज्ञोंको हाथमें रख कर दुःखरहित उत्तम स्वर्गलोकमें चढ़ो अर्थात् याग आदिसे उत्पन्न हुए पुण्यका अवलम्ब लेकर उनके फलरूप स्वर्गलोकमें चढ़ो। तदनन्तर अन्तरिक्षके पीठकी समान उन्नतर वर्गमें पहुँचने पर देवताओंकेसा ऐश्वर्य पाकर देवताओं के साथ बैठो॥ २॥

तृतीया॥

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥ ३॥

पृष्ठात्। पृथिव्याः। अहम्। अन्तरिक्षम्। आ। अरुहम्।
अन्तरिक्षात्। दिवम्। आ। अरुहम्।
दिवः। नाकस्य। पृष्ठात्। स्वः। ज्योतिः। अगाम्। अहम्॥३॥

पृथिव्याः पृष्ठात् भूलोकाद् अहम् अन्तरिक्षम् आरुहम् अन्तरिक्षलोकम् आरोहामि। ❀ रुहेश्छान्दसो लुङ्। "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀। तस्माद् अन्तरिक्षलोकाद् दिवम् द्युशब्दवाच्यं तृतीयं लोकम् आरुहम् आरोहामि॥ नाकस्य नास्मिन् अकम् दुःखम् अस्तीति नाकः तादृशस्य दिवः द्युलोकस्य पृष्ठात् उपरिदेशात् स्वः। आदित्यनामैतत्। आदित्यमण्डलस्थं हिरण्मयपुरुषाख्यं ज्योतिः अहम् अगाम् प्राप्नोमि। ❀

एतेश्छान्दसो लुङ् । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ॥ इत्थं सोपानक्रमेण पृथिव्यादिलोकेषु नानाविधान् भोगान् भुक्त्वा अन्ते सूर्यसायुज्यं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

मैं भूलोकसे अन्तरिक्षलोकमें चढ़ता हूं और उस अन्तरिक्ष-लोकसे स्वर्ग नामके तीसरे लोकमें चढ़ता हूं और जिसमें दुःखका लेशमात्र नहीं है, उस स्वर्गलोकसे ऊपरके लोक आदित्यमण्डल में स्थित हिरण्मय पुरुष नामक ज्योतिमें मैं चढ़ता हूं (तात्पर्य यह है, कि-इस प्रकार सोपानक्रमसे पृथिवी आदि लोकोंमें अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता हुआ पुरुष अन्तमें सूर्यसायुज्यको प्राप्त होता है) ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥

स्वः । यन्तः । न । अप । ईक्षन्ते । आ । द्याम् । रोहन्ति । रोदसी इति ।
यज्ञम् । ये । विश्वतःऽधारम् । सुऽविद्वांसः । विऽतेनिरे ॥ ४ ॥

स्वः स्वर्गं यज्ञफलभूतं यन्तः गच्छन्तः नापेक्षन्ते पुत्रपश्वादि-जनितम् ऐहिकसुखम् अन्यं नेच्छन्ति । किं तु द्याम् अन्तरिक्षं रोदसी द्यावापृथिव्यौ चेति लोकत्रयं प्रागुक्तरीत्या आ रोहन्ति । के पुन-स्ते । ये यजमानाः विश्वतोधारम् विश्वतः सर्वतो धारकम् यद्वा विश्वतः सर्वतो धारकाः अविच्छिन्नफलप्राप्त्युपाया यस्मिंस्तादृशम् यज्ञं सुविद्वांसः सुष्ठु जानन्तः वितेनिरे वितन्वन्ति विस्तारयन्ति । ॐ छान्दसो वर्तमाने लिट् ॐ । ते स्वर्यन्त इति संबन्धः ॥

यज्ञके फलरूप स्वर्गमें जानेवाले पुरुष पुत्र पशु आदिके इस लोकके थोड़ेसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं, किंतु अन्तरिक्ष स्वर्ग और

पृथिवी इन तीनों लोकोंमें पूर्वोक्तरीतिसे जाते हैं। जो यजमान अविच्छिन्न फल प्राप्तिके उपाय यज्ञको भली प्रकार समझ कर उसको करते हैं वे ही इन तीनों लोकोंको जीतते हैं॥ ४॥

पञ्चमी॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति

अग्ने। प्र। इहि। प्रथमः। देवतानाम्। चक्षुः। देवानाम्। उत। मानुषाणाम्।
इयक्षमाणाः। भृगुऽभिः। सऽजोषाः। स्वः। यन्तु। यजमानाः। स्वस्ति

हे प्रणीयमान अग्ने त्वं प्रेहि प्रगच्छ आहवनीयदेशं प्राप्नुहि। कीदृशस्त्वम्। देवतानाम् यष्टव्यानां प्रथमः मुख्यः। अत एव दर्शपूर्णमासयोस्तावद् अग्निः प्रथमम् इज्यते। चातुर्मास्येषु च पञ्चसंचरेषु आग्नेयः प्रथमो यागः। सोमयागे च दीक्षणीयायाम् आग्नावैष्णवयागे अग्निः प्रथमभावी। अत एव मन्त्रवर्णः। "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्" इति [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३.]। तथा देवानाम् इन्द्रादीनां हविर्वहनेन अयम् अग्निः चक्षुः चक्षुरिन्द्रियवत् प्रियः। उत अपि च मानुषाणाम् मनोरपत्यभूतानां मनुष्याणां चक्षुः आहवनीयादिरूपेण पुण्यलोकस्य दर्शयिता। ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" इति अञ् प्रत्ययः षुगागमश्च ❀। यस्माद् एवम् अग्निर्देवानां मानुषाणां च चक्षुः तस्मात् तदीयप्रकाशेन इयक्षमाणां प्रथमं यष्टुम् इच्छन्तः पश्चाद् यजमानाः यागं कुर्वाणाश्च जनाः भृगुभिः एतत्संज्ञैर्महर्षिभिः सजोषाः समानप्रीतयः सन्तः स्वः स्वर्गं कर्मफलभूतं स्वस्ति क्षेमेण यन्तु प्राप्नुवन्तु। ❀ इय-

त्समाणा इति । यजेः सन् । "स यतः" इति अभ्यासस्य ह्रस्वे आदिवर्णलोपश्छान्दसः । सजोषाः । जुषी प्रीतिसेवनयोः । भावे घञ् । ततो बहुव्रीहौ "समानस्य छन्दसि०" इति सभावः । "परादिश्छन्दसि बहुलम्" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । यद्वा समानं जोषमाणाः प्रीयमाणाः । अस्मिन् "सुपां सुलुक्०" इति जसः सुः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

हे प्रणीयमान अग्ने ! आप आहवनीयस्थानमें आइये । आप पूजनीय देवताओंमें मुख्य हैं (अतः दर्श और पूर्णमासमें अग्नि की पहिले पूजा होती है, पञ्चसञ्चर चातुर्मास्य यागोंमें भी आग्नेय प्रथम याग है । सोमयागमें भी दीक्षणीयाके आग्नावैष्णवयागमें अग्नि प्रथम होता है । इसी लिये मन्त्रमें प्रसिद्ध है, कि—"अग्निर्मुखं प्रथमो देवानाम् ॥—देवताओंमें अग्रणी अग्नि प्रथमपूजनीय हैं" तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ४ । ३३) तथा यह अग्नि इन्द्र आदि देवताओंको हवि पहुँचाते हैं अतः उनको नेत्रकी समान प्रिय हैं और मनुकी अपत्यरूप मनुष्योंके लिये भी आहवनीय आदिरूपसे पुण्यलोकके दिखाने वाले नेत्ररूप हैं । अग्निदेव इस प्रकार मनुष्योंके और देवताओंके नेत्र हैं अत एव उनके प्रकाशसे पहिले पूजन करनेकी इच्छा वाले और फिर यज्ञ करते हुए पुरुष भृगु आदि महर्षियोंसे प्रेम करते हुए कर्मफलरूप स्वर्ग को क्षेमपूर्वक प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अजम् । अनज्मि । पयसा । घृतेन । दिव्यम् । सुऽपर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् ।

तेन । गेष्म । सुऽकृतस्य । लोकम् । स्वः । आऽरोहन्तः । अभि । नाकम् । उत्ऽतमम् ॥ ६ ॥

हवीरूपम् आपन्नम् अजं पयसा पयोविकारेण पयोवद् रसवता वा घृतेन आज्येन अनज्मि अभिघारयामि । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणगतिषु । रुधादित्वात् श्नम् । श्नान्नलोपः" ❀ । कीदृशम् अजम् । दिव्यम् दिवि भवं द्युलोकार्हं वा सुपर्णम् शोभनपक्षयुक्तं पयसम् । ❀ छान्दसो वर्णविकारः ❀ । वयसं पक्षिरूपम् आपन्नं बृहन्तम् महान्तं यजमानं स्वर्गं प्रापयितुं शक्तम् ॥ तेन ईदृक्प्रभावेन अजेन सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकं गेष्म वयं गच्छेम। ततश्च उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शशून्यं स्वः स्वर्गं. सूर्यात्मकं वा परमं ज्योतिः अभि आरोहन्तः अभिगच्छन्तः भवेमेत्यर्थः ॥

हविरूपको प्राप्त हुए अजको मैं दुग्धकी समान रस वाले घृत से मिलाता हूँ । यह अज द्युलोकके योग्य और पक्षिरूपको प्राप्त होकर महानुभाव यजमानको स्वर्ग पहुँचानेमें समर्थ है । ऐसे प्रभाव वाले अजके द्वारा हम पुण्यके फलरूप लोकमें जाते हैं । तदनन्तर हम उत्कृष्ट सूर्यात्मक परमज्योतिमें प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम् । प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

पञ्चऽओदनम् । पञ्चऽभिः । अंगुलिऽभिः । दर्व्या । उत् । हर । पञ्चऽधा । एतम् । ओदनम् ।

प्राच्याम् । दिशि । शिरः । अजस्य । धेहि । दक्षिणायाम् । दिशि । दक्षिणम् । धेहि । पार्श्वम् ॥ ७ ॥

हे पाचक पञ्चौदनम् पञ्चधा विभक्तम् ओदनम् । ❀ "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः ❀ । पञ्चभिरंगुलिभिः करणैः दर्व्या साधनेन उद्धर । स्थाल्याः सकाशात् उद्धृत्य बर्हिषि स्थापयेत्यर्थः । एतम् उद्धृतम् ओदनं पञ्चधा विभज्य तत्र एकं भागम् अजस्य पक्वं [शिरः] शिरोगतमांसं च प्राच्यां दिशि धेहि स्थापय । पुनः एकम् ओदनभागम् अजस्य [दक्षिणम् पार्श्वम्] दक्षिणपार्श्वस्थं मांसं च दक्षिणायाम् दक्षिणस्यां दिशि [धेहि] स्थापय॥

हे पाचक ! पाँच प्रकारसे विभक्त होने वाले ओदनको पाँच अंगुलियोंके द्वारा दर्वीसे स्थालीमेंसे निकाल कर कुशाओं पर स्थापित कर और इस निकाले हुए ओदनको पाँच भागोंमें बाँट कर एक भागको और बकरेके पके हुए शिरोमांसको पूर्वदिशामें स्थापन कर फिर एक ओदनके भागको और बकरेकी पसलीके दाहिने भागके मांसको भी दक्षिण दिशामें स्थापित कर ॥ ७ ॥

अष्टमी॥

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।

ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥ ८ ॥

प्रतीच्याम् । दिशि । भसदम् । अस्य । धेहि । उत्तरस्याम् । दिशि ।
उत्तरम् । धेहि । पार्श्वम् ।
ऊर्ध्वायाम् । दिशि । अजस्य । अनूकम् । धेहि । दिशि । ध्रुवा-
याम् । धेहि । पाजस्यम् । अन्तरिक्षे । मध्यतः । मध्यम् । अस्य ८

प्रतीच्याम् पश्चिमायां दिशि अस्य अजस्य भसदम् । भसत् कटिप्रदेशः । तत्रत्यं मांसम् ओदनभागसहितं धेहि स्थापय ॥ उत्तरस्याम् उदीच्यां दिशि ओदनभागसहितम् [उत्तरं पार्श्वम्] उत्तरपार्श्वसंबन्धि मांसं धेहि ॥ तथा ऊर्ध्वायां दिशि अस्य [अजस्य] अनूकम् पृष्ठवंशस्थं मांसम् ओदनभागसहितं धेहि स्थापय ॥ ध्रुवायाम् स्थिरायां भूम्यात्मिकायाम् अधस्ताद् दिशि पाजस्य । पाज इति बलनाम । तत्र हितम् उदरगतम् ऊवध्यं धेहि स्थापय । निखनेत्यर्थः । मध्यतः मध्यभागे अन्तरिक्षे आकाशे अस्य अजस्य [मध्यम्] शरीरमध्यवर्ति आकाशम् संयोजयेत्यर्थः ॥

पश्चिम दिशामें बकरेकी कमरके मांसको ओदनसहित स्थापित कर और उत्तरदिशामें ओदनभागसहित उत्तरपार्श्वके मांसको रख और ऊपरकी दिशामेंपीठके मांसको ओदनसहित स्थापित कर और ध्रुव भूमिरूप नीचेकी दिशामें उदरके मांसको स्थापित कर और मध्यभागमें अर्थात् आकाशमें अजके मध्यभागको स्थापित कर८

नवमी ॥

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

शृतम् । अजम् । शृतया । प्र । ऊर्णुहि । त्वचा । सर्वैः । अङ्गैः ।
सम्ऽभृतम् । विश्वऽरूपम् ।
सः । उत् । तिष्ठ । इतः । अभि । नाकम् । उत्ऽतमम् । पत्ऽभिः ।
चतुःऽभिः । प्रति । तिष्ठ । दिक्षु ॥ ६ ॥

हे शमितः शृतम् पक्वम् अजं अथवा विशसनेन विभक्तया त्वचा तदीयेन चर्मणा सपादवालशीर्षेण प्रोर्णुहि प्रकर्षेण च्छादय । ॐ ऊर्णुञ् छादने ॐ । कीदृशम् अजम् । सर्वैः अशेषैः अङ्गैः हस्तपादाद्यवयवैः संभृतम् संयुक्तं विश्वरूपम् सर्वाकारम् ॥ हे अज स तादृशः सर्वाङ्गसहितस्त्वम् उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् स्वर्गम् अभिलक्ष्य इतः अस्माद् भूलोकाद् उत् तिष्ठ उद्गच्छ । ॐ ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ॐ ॥ तथा चतुर्भिः पद्भिः पादैः दिक्षु प्राच्यादिषु चतसृषु प्रति तिष्ठ प्रतिष्ठितो भव । ॐ पद्भिरिति । "पद्दन्०" इत्यादिना पादशब्दस्य पद् आदेशः । "ऊडिदंपदादि०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् । चतुर्भिरिति । "झल्युपोत्तमम्" इति उकार उदात्तः । दिक्ष्विति । "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॐ ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे शमितः ! पके हुए अजको विभक्त त्वचा और पैर बाल तथा शिर सहित ढक । यह अज हाथ पैर आदि सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त है सर्वाकार है । ऐसे हे सर्वांगसम्पन्न अज ! तू श्रेष्ठ स्वर्गलोककी ओर लक्ष्य कर इस भूलोकसे ऊपरको जा तथा चारों पैरोंसे पूर्व आदि चारों दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

चतुर्थकाण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (११९) ॥

"समुत्पतन्तु" इति सूक्तेन वृष्टिकामः मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्य आज्यहोमः। काशादिविधुवकवेतसाख्या ओषधीः एकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम्। तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु स्रावनम्। श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम्। मानुषकेशजरदुपानहौ वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपादे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात्। सूत्रितं हि। "समुत्पतन्तु [४. १५] प्र नभस्व [७. १९] इति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेऽश्मानम् अवधाय अप्सु निदधाति" इत्यन्तम् [कौ० ५. ५] ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अथ यत्रैतद् उपतारकम्" इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इत्यन्तम् [कौ० १३. ११] ॥

चातुर्मास्यान्वारम्भणीयेष्टौ "अभि क्रन्द" [६] इति पर्जन्यचरुयागाभिमन्त्रणम्। उक्तं वैताने। "पूर्वेद्युर्वैश्वानरपार्जन्येष्टिर्वा अग्ने वैश्वानर [२. १६. ४] अभि क्रन्द स्तनय [६]" इति [वै० २. ४] ॥

धूमकेतूत्पातदर्शने पञ्चपशुयागमध्ये प्राजापत्यपशुपुरोडाशस्थाने "आग्नेयस्य प्राजापत्यस्य क्षीरौदनान्" इति विहितं क्षीरौदनं "प्रजापतिः सलिलात्" [११] इत्यृचा जुहुयात्। सूत्रितं हि। ["अथ यत्रैतद् धूमकेतुः" इति प्रक्रम्य] "प्रजापतिः सलिलात् [११] इति प्राजापत्यस्य" इति [कौ० १३. ३५] ॥

"प्राजापत्यां प्रजापरवन्नकामस्य प्रजाक्षये च" इति [न०क० १७] विहितायां महाशान्तौ "प्रजापतिः सलिलात्" इत्येषा आव-

पनीया। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "प्रजापतिः सविलाद् इति प्राजापत्यायाम्" इति [न० क० १८]॥

दृष्टिको चाहने वाला 'समुत्पतन्तु' इस सूक्तसे मरुतोंके लिये या मन्त्रोंसे पहिचानमें आने वाले देवताओंके लिये घृतका होम करे। और काश दिविधुवक और वेतस नामवाली औषधियोंको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण कर जलमें नीचेको मुख करके ले जावे तथा इस सूक्तसे संपातित और अभिमन्त्रित उन ही काश आदिको जलमें डुबावे, अभिमन्त्रित कुत्तेके शिरको और मेढ़के शिरको इस सूक्तसे जलमें फेंके। मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे और भूसी सहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे मोक्षण करके, तीन लट वाले छीके पर रख कर जलमें डाले। इतने अभिचर्षणके काम इस सूक्तसे करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"समुत्पतन्तु (४। १५) प्र नभस्व (७। १६) इति वर्षकामो द्वादशरात्रि" इत्यादि "त्रिपादेऽश्मानं अनघाय अप्सु निदधाति" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र ५। ५)॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अथ यत्रैतद् उपतारकं" इति प्रकृत्य "समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षाज्जुहुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र १३। ११)॥

चातुर्मास्यकी अन्वारंभणीयेष्टिमें "अभि क्रन्द" इस छठी ऋचासे पर्जन्यचरुयागका अभिमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"पूर्वैद्युर्वैश्वानर पार्जन्येष्टिर्वा अग्ने वैश्वानर (२। १६। ४) अभिक्रन्द स्तनय (६)" वैतानसूत्र २। ४॥

धूमकेतुरूप उत्पात दीखने पर पञ्चपशुयागके प्राजापत्यपशुपुरोडाशस्थानमें "आग्नेयस्य प्राजापत्यस्य क्षीरौदनान्" से विहित

क्षीरौदनकी "प्रजापतिः सलिलात्" इस ग्यारहवीं ऋचासे आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—['अथ यत्रैतद्‌ धूमकेतुः' इसका आरंभ करके कहा है, कि–] "प्रजापतिः सलिलात् (११) इति प्राजापत्यस्य" इति (कौशिकसूत्र १३ । ३५)॥

"प्राजापत्यां प्रजापश्वन्नकामस्य प्रजाक्षये च ॥—प्रजाक्षयमें तथा प्रजा पशु और अन्न चाहने वालेको भी प्राजापत्या महाशान्तिको करावे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशांतिमें "प्रजापतिः सलिलात्" ऋचा पढ़नी चाहिये। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"प्रजापतिः सलिलाद् इति प्राजापत्यायाम्" (नक्षत्रकल्प १८)॥

तत्र प्रथमा ॥

समुत्पंतन्तु प्रदिशो नभंस्वतीः समभ्राणि वातंजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदंतो नभंस्वतो वाश्रा आपंः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥

सम्ऽउत्पतन्तु । प्रऽदिशः । नभंस्वतीः । सम् । अभ्राणि । वातंऽजूतानि । यन्तु ।
महाऽऋषभस्य । नदंतः । नभंस्वतः । वाश्राः । आपंः । पृथिवीम् । तर्पयन्तु ॥ १ ॥

प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याद्या दिशः नभस्वतीः नभस्वता वायुना युक्ताः सत्यः समुत्पतन्तु मेघैः संहता उद्गच्छन्तु । ❀ नभस्वतीरिति । एकस्य मतुपो लोपो द्रष्टव्यः । "वा छन्दसि" इति पूर्व-

सवर्णदीर्घः ❀ ॥ अभ्राणि । अपो बिभ्रति वृष्ट्यर्थम् उदकं धारयन्तीति उदकपूर्णा मेघा अभ्रशब्देनोच्यन्ते । तानि च वातजूतानि वातेन वायुना प्रेरितानि भूत्वा सं यन्तु संगच्छन्तां संहतानि भवन्तु ॥ महर्षभस्य महांश्चासौ ऋषभश्च महर्षभः । ❀ "आन्महतः०" इति आत्वम् ❀ । नदतः ध्वनिं कुर्वतः यथा लोके महान् ऋषभः सेचनसमर्थः पुंगवो दृप्तः सन् गर्जति तादृगाकारयुक्तस्य गर्जतो नभस्वतः वायुप्रेरितस्य मेघस्य संबन्धिन्य आपः वाश्राः शब्दायमानाः पृथिवीम् भूमिं तर्पयन्तु तृप्ताम् ओषधिप्ररोहणसमर्थां कुर्वन्तु । ❀ वाश्रा इति । वाशृ शब्दे । स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः ❀ ॥

पूर्व आदि श्रेष्ठ दिशायें वायुसे युक्त होती हुई मेघोंके साथ उदित होवें । वृष्टिके लिये जलको धारण करने वाले मेघ वायुसे प्रेरित होकर एकत्रित होवें, गर्जना करने वाला महावृषभ जैसे गर्जना करता है इस प्रकार गर्जना करते हुए वायुसे प्रेरित मेघ के जल शब्द करतेहुए भूमिको तृप्त करें, अर्थात् ओषधिके उत्पन्न करनेमें समर्थ करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥

सम् । ईक्षयन्तु । तविषाः । सुऽदानवः । अपाम् । रसाः । ओषधीभिः । सचन्ताम् ।

वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् ।
ओषधयः । विश्वऽरूपाः ॥ २ ॥

तविषाः । महन्नामैतत् । महान्तः सुदानवः शोभनदाना मरुतः समीक्षयन्तु वृष्टिं संदर्शयन्तु । यथा वृष्टिर्भवति तथा अस्मान् अनुगृह्णन्तु इत्यर्थः ॥ अपाम् वृष्ट्युदकानां रसाः ओषधीभिः व्रीहियवादिभिः पृथिव्याम् उप्तैर्बीजैः सचन्ताम् समवयन्तु । ❀ षच समवाये ❀ ॥ उक्त एवार्थो विव्रियते वर्षस्येति । वर्षस्य वृष्ट्युदकस्य सर्गाः सृज्यन्त इति सर्गा धाराः । ❀ कर्मणि घञ् ❀ । भूमिम् पृथ्वीं महयन्तु पूजयन्तु । ❀ मह पूजायाम् ❀ । वर्षधाराभिरलंकृताद् भूप्रदेशाद् विश्वरूपाः नानाविधा ओषधयः व्रीहियवाद्याः पृथक् अवान्तरजातिभेदेन जायन्ताम् उत्पद्यन्ताम् ॥

महान् शोभन दान करने वाले मरुत देवता वृष्टिको दिखावें, तात्पर्य यह है, कि—जिस प्रकार वृष्टि हो तिस प्रकार हमें अनुगृहीत करें । वृष्टिके जलोंके रस पृथिवीमें बोयेहुए जौं धान आदिके बीजोंसे मिलें । वर्षाकी धारायें पृथ्वीकी पूजा करें । वर्षाकी धारासे अलंकृत भूप्रदेशसे अनेक प्रकारकी धान जौ आदि औषधें दूसरे अनेक रूपोंको धारण कर उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

सम् । ईक्षयस्व । गायतः । नभांसि । अपाम् । वेगासः । पृथक् ।
उत् । विजन्ताम् ।
वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् । वीरुधः ।
विश्वऽरूपाः ॥ ३ ॥

हे मरुद्गण त्वं गायतः स्तुवतः अस्मान् नभांसि अभ्राणि समीक्षयस्व दर्शय ॥ अपां वेगासः वेगाः वेगयुक्ताः प्रवाहाः पृथक् भेदेन उद् विजन्ताम् उच्चलन्तु। ❀ ओविजी भयचलनयोः ❀ ॥ उत्तरार्धर्चः पूर्ववत् । ओषधीनां स्थाने वीरुध इति विशेषः । वीरुधः विरोहणशीला अरण्या ओषधिवनस्पतयः ॥

हे मरुत् देवताओं ! हम आपकी स्तुति कर रहे हैं अतः आप जलपूर्ण मेघोंका हमें दर्शन कराइये । जलोंके प्रवाहवाले वेग अलग अलग चलें । वर्षाके प्रवाह भूमिकी पूजा करें, और वर्षाकी धारोंसे अलंकृत पृथिवीसे औषधियें अनेक रूप धारण कर उत्पन्न होवें ३

चतुर्थी ॥

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

गणाः । त्वा । उप । गायन्तु । मारुताः । पर्जन्य । घोषिणः । पृथक् ।
सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ४ ॥

हे पर्जन्य वृष्ट्यभिमानिन् देव त्वा त्वां घोषिणः गर्जनघोषयुक्ता मारुताः मरुत्संबन्धिनो गणाः उप गायन्तु उपश्लोकयन्तु ॥ वर्षस्य वृष्टिजलस्य पृथक् नानात्वेन सर्गाः सृज्यमानाः वर्षन्तः सिञ्चन्तो बिन्दवः पृथिवीम् अनु वर्षन्तु अनुगतम् आर्द्रीकुर्वन्तु ॥

हे वृष्टिके अभिमानी पर्जन्यदेव ! गर्जना करने वाले मरुद्गण आपकी स्तुति करें । वर्षाके अनेकरूपके वरसते हुए जलबिन्दु पृथिवीको गीली करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं
तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

उत् । ईरयत । मरुतः । समुद्रतः । त्वेषः । अर्कः । नभः । उत् । पातयाथ ।
महाऽऋषभस्य । नदतः । नभस्वतः । वाश्राः । आपः । पृथिवीम् ।
तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

हे मरुतः समुद्रतः समुद्रमध्याद् उदीरयत वृष्टिजलम् ऊर्ध्वं प्रेरयत ॥ त्वेषः दीप्तिमत् अर्कः अर्चनसाधनम् उदकम् तद्युक्तं नभः अभ्रम् उत् पातयाथ उद्गमयत ॥ महर्षभस्येत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे मरुत् देवताओं ! तुम समुद्रमेंसे वृष्टिके जलको ऊपरको प्रेरित करो, दीप्तिमय पूजाके साधन जलसे युक्त मेघको ऊपरको प्रेरित करो, महावृषभकी समान गर्जना करते हुए जलके प्रवाह भूमिको तृप्त करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा
समङ्ग्धि ।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम् ।६।

अभि । क्रन्द । स्तनय । अर्दय । उदऽधिम् । भूमिम् । पर्जन्य ।
पयसा । सम् । अङ्गि ।
त्वया । सृष्टम् । बहुलम् । आ । एतु । वर्षम् । आशारऽएषी ।
कृशऽगुः । एतु । अस्तम् ॥ ६ ॥

हे पर्जन्य अभि क्रन्द अभितः शब्दं कुरु । स्तनय मेघान् प्रविश्य घोषय । उदधिम् जलधिम् अर्दय उदकादानेन पीडय । पयसा दृष्टेन उदकेन भूमिं समङ्धि समक्तां संसिक्तां कुरु ॥ त्वया सृष्टम् प्रेरितं बहुलम् सान्द्रं वर्षम् वर्षणसमर्थम् अभ्रम् ऐतु आगच्छतु ॥ आसारैषी । आसारो धारासंपातः तमिच्छतीति आसारैषी सूर्यः कृशगुः कृशाः तनूकृता गावो रश्मयो यस्य तथाविधः सन् अस्तम् एतु अदर्शनं प्राप्नोतु । "दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन" [ऋ० १.३८. ६] इति हि मन्त्रान्तरम् ॥

हे पर्जन्य ! आप चारों ओरसे शब्द करिये । मेघोंमें प्रवेश कर घोषणा करिये, जलको लेनेसे समुद्रको पीड़ित करिये । आप से प्रेरित दृष्टि जलपूर्ण बादलको लावे । धारासम्पातको चाहने वाले सूर्यदेव सूक्ष्म किरणोंवाले होतेहुए अदर्शनको प्राप्त होजावें

सप्तमी ॥

सं वोवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

सम् । वः । अवन्तु । सुऽदानवः । उत्साः । अजगराः । उत ।
मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥७॥

सुदानवः शोभनदाना मरुतः हे जना वः युष्मान् सम् अवन्तु

संतर्पयन्तु । अजगरा उत । उतशब्दोत्र वितर्के । अजगरात्मना वितर्क्यमानाः स्थूला उत्साः वारिप्रवाहाः । उत्पद्यन्ताम् इत्यर्थः । यद्वा हे सुदानवः वः युष्माकं संबन्धिनः उक्तलक्षणा उत्साः समवन्तु संतर्पयन्तु इति एकवाक्यता ॥ ईदृशानाम् उत्सानाम् उत्पत्तिः कथं सेत्स्यतीत्यत्राह मरुद्भिरिति । मरुद्भिः वायुविशेषैः प्रच्युताः स्वस्थानात् प्रेरिता मेघाः पृथिवीम् अनु वर्षन्तु ॥

हे मनुष्यों ! शोभनदानसम्पन्न मरुत्देवता आपको तृप्त करें, अजगरसे स्थूल जलके प्रवाह प्रकट हों वायुके द्वारा अपने स्थानसे प्रेरित मेघ पृथिवी पर बरसें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥८॥

आशाम्ऽआशाम् । वि । द्योतताम् । वाताः । वान्तु । दिशःऽदिशः ।
मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । सम् । यन्तु । पृथिवीम् । अनु ८

आशामाशाम् दिशंदिशम् आश्रित्य विद्युद् वि द्योततां स्फुरतु ॥ दिशोदिशः सर्वस्या अपि दिशो वाता वान्तु मेघस्य उन्नमयितारो वायवः संचरन्तु । यद्वा दिशोदिश इति द्वितीया । सर्वा अपि दिशः प्राप्य वायवो वान्तु ॥ तदनन्तरं [मरुद्भिः प्रच्युताः] वायुप्रेरिता मेघाः पृथिवीम् भूमिम् अनुलक्ष्य सं यन्तु संगता भवन्तु । वृष्ट्यर्थं संहन्यन्ताम् इत्यर्थः ॥

प्रत्येक दिशामें बिजली चमके, प्रत्येक दिशामें मेघको लाने वाली वायु चले, तदनन्तर वायुसे प्रेरित मेघ पृथिवीकी ओर लक्ष्य कर एकत्रित होवें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥

आपः । विऽद्युत् । अभ्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु । सुऽदानवः । उत्साः । अजगराः । उत ।

मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युता । मेघाः । प्र । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु ९

हे सुदानवः शोभनदाना मरुतः वः युष्माकं संबंधिनः अबादिपदार्थाः समवन्तु जगत् संतर्पयन्तु । आपो मेघस्थानि उदकानि । विद्युत् सौदामिनी । अभ्रम् उदकपूर्णो मेघः । वर्षम् वृष्टिजलम् ॥ अजगरसमानाकाराः उत्साः वारिप्रवाहाश्च युष्मत्संबन्धिनः संतर्पयन्तु । लोकम् इत्यर्थः । तदर्थं मरुद्भिः प्रच्युताः प्रेरिता मेघाः पृथिवीम् अनु प्लावन्तु प्रावन्तु । ❁ "उपसर्गस्यायतौ" इति विधीयमानं लत्वं व्यत्ययेन अत्रापि भवति ❁ ॥

हे सुन्दर दान देने वाले मरुतदेवताओं ! मेघोंमें स्थित जल, बिजली, जलपूर्ण मेघ, वर्षाका जल, और अजगरकी समान आकार वाले तुम्हारे जल प्रवाह जगत्को तृप्त करें । इस कार्यके लिये मरुतोंसे प्रेरित मेघ पृथिवीको प्लावित करें ॥ ९ ॥

दशमी॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥

अपाम् । अग्निः । तनूभिः । सम्ऽविदानः । यः । ओषधीनाम् ।
अधिऽपाः । बभूव ।
सः । नः । वर्षम् । वनुताम् । जातऽवेदाः । प्राणम् । प्रऽजाभ्यः ।
अमृतम् । दिवः । परि ॥ १० ॥

अपाम् मेघस्थानां तनूभिः शरीरैः संविदानः ऐकमत्यं गतो यो वैद्युताग्निः ओषधीनाम् उत्पत्स्यमानाम् अधिपा बभूव अधिपतिः ईश्वरो भवति । जातवेदाः जातानां वेदिता सः अग्निः नः अस्मभ्यं वर्षं वनुताम् प्रयच्छतु । कीदृशं वर्षम् । प्रजाभ्यः । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । प्रजानां प्राणम् जीवनप्रदं [दिवस्परि] दिवः संबन्धि अमृतम् अमृतत्वप्रापकम् । यद्वा दिवः द्युलोकाद् अन्तरिक्षाद् वनुताम् इति संबन्धः ॥

मेघोंके शरीररूप जलोंसे एकमत हुए वैद्युताग्नि उत्पन्न होने वाली औषधियोंके स्वामी होते हैं, उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले वह अग्नि हमें प्राणियोंमें जीवन लानेवाली और स्वर्गके अमृतको प्राप्त कराने वाली वर्षा दें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

प्रजाऽपतिः । सलिलात् । आ । समुद्रात् । आपः । ईरयन् । उद्ऽधिम् । अर्दयाति ।

प्र । प्यायताम् । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः । अर्वाङ् । एतेन । स्तनयित्नुना । आ । इहि ॥ ११ ॥

प्रजापतिः प्रजानां पालयिता वृष्टिप्रदः संवत्सरात्मकः सूर्यः सलिलात् । ❁ षल गतौ इत्यस्माद् इलच् प्रत्ययः ❁ । व्यापनशीलात् समुद्राद् आपः । ❁ व्यत्ययेन जस् ❁ । अपः उदकानि आ समन्तात् ईरयन् वृष्ट्यर्थं प्रेरयन् उदधिम् जलधिम् अर्दयाति अर्दयतु रश्मिभिरादानेन पीडयतु । ❁ अर्दयतेर्लेटि आडागमः ❁ । विष्णोः व्यापनशीलस्य अश्वस्य अश्ववद् वेगवतो मेघस्य रेतः वृष्ट्युपादानभूतं वीर्यं प्र प्यायताम् प्रवर्धताम् । एतेन प्रवृद्धवीर्येण स्तनयित्नुना मेघेन हे पर्जन्य त्वम् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् एहि आगच्छ ॥

प्रजाओंका पालन करने वाले वृष्टिदायक सम्वत्सरात्मक सूर्यदेव व्यापनशील समुद्ररूप जलसे जलोंको वृष्टिके लिये प्रेरित करें अर्थात् अपनी किरणोंसे जल लेकर समुद्रको पीड़ित करें । व्यापनशील, अश्वकी समान वेगवान् मेघका वृष्टिसंबंधी उपादानरूप वीर्य बढ़े । इस बढ़े हुए वीर्य वाले गरजते हुए मेघके साथ हे पर्जन्य ! आप हमारे अभिमुख होकर आइये ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ।

वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

अपः । निऽसिञ्चन् । असुरः । पिता । नः । श्वसन्तु । गर्गराः । अपाम् । वरुण । अव । नीचीः । अपः । सृज ।

वदन्तु । पृश्निऽबाहवः । मण्डूकाः । इरिणा । अनु ॥ १२ ॥

असुरः मेघानां क्षेप्ता । यद्वा असवः प्राणाः । तान् रातीत्यसुरः । वृष्टिजलेन प्राणप्रद इत्यर्थः । "आपोमयः प्राणः" इति हि ब्राह्मणम् [छा० ६. ५. ४] । एवंभूतो नः अस्माकं पिता उत्पादयिता सूर्यः अपः निषिञ्चन् वृष्ट्युदकानि न्यग्भावेन सिञ्चन् । वर्तताम् इत्यर्थः । श्रूयते हि । "यदा खलु [वा] असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" इति [तै०सं०२.४. १० .२] ॥ ततश्च अपाम् उदकानां गर्गराः । अनुकरणशब्दोयम् । ईदृग्ध्वनियुक्ताः प्रवाहाः श्वसन्तु उच्छ्वसिता भवन्तु ॥ हे वरुण त्वमपि अवनीचीः अवनिं भूमिम् अञ्चन्ति गच्छन्तीत्यवनीच्य आपः । ❀ अवनिशब्दोपपदात् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ❀ । भूमिं प्राप्नुवतीरपः अप सृज मेघेभ्यः अपगमय ॥ अनन्तरं पृश्निबाहवः श्वेतबाहवो मण्डूकाः इरिणानु । इरिणशब्दो निस्तृणभूवचनः । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । इरिणानि अनुप्राप्य वृष्टिजलेन लभ्यमानाः सन्तः वदन्तु शब्दं कुर्वन्तु ॥

असुओंको अर्थात् प्राणोंको वृष्टिका जल देकर देने वाले असुर हमारे उत्पादक सूर्यदेव वर्षाके जलोंको तिरछे भावसे बरसावें । उस समय जलोंके गरगर करते हुए प्रवाह चलें । हे वरुणदेव ! आप भी भूमि पर आने वाले जलोंको मेघोंसे अलग करिये । तदनन्तर श्वेत भुजा वाले मण्डूक तृणरहित भूमिमें वृष्टिके जलसे जीवन पाकर शब्द करें ॥ १२ ॥

त्रयोदशी ॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१३॥

सम्ऽवत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रतऽचारिणः ।

वाचम् । पर्जन्यऽजिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥१३॥

व्रतं नियमविशेषं चरन्ति अनुतिष्ठन्तीति व्रतचारिणः । लुप्तोपमम् एतत् । व्रतचारिणो ब्राह्मणा इव संवत्सरं शशयानाः संवत्सरकालपर्यन्तं वातातपाभ्यां शुष्काः श्यानाः संवत्सरान्ते वृष्टिजलेन लब्धसंज्ञा मण्डूकाः पर्जन्यजिन्विताम् पर्जन्यप्रीतां वाचम् अवादिषुः अवोचन् । पर्जन्यप्रीतिकरं घोषं कृतवन्त इत्यर्थः । ❀ वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव । तं मण्डूका अन्वमोदन्त । स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव [नि० ९. ६] इत्यादि निरुक्तम् अत्र अनुसंधेयम् ❀ ॥

नियमोंका पालन करने वाले व्रतचारी ब्राह्मणोंकी समान वर्ष भर तक वायु और धूपसे झुलस कर सोते हुए और सम्वत्सर के अन्तमें वृष्टिके जलसे चैतन्य पाने वाले मण्डूक मेघोंसे प्रसन्नता भरी वाणी बोलें + ॥ १३ ॥

चतुर्दशी ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।

मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥

+ इस विषयमें "वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव । तं मण्डूका अन्वमोदन्त । स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव ॥ अर्थात् वर्षा चाहने वाले वसिष्ठजीने पर्जन्यकी स्तुति की । मण्डूकोंने उस का अनुमोदन किया-वह मण्डूकोंको अनुमोदन करते देख सन्तुष्ट हुआ" (निरुक्त ९ । ६) का यहाँ अनुसंधान करना चाहिये ॥

उप॒ऽप्रव॑द । मण्डू॒कि॒ । व॒र्षम् । आ । व॒द॒ । ता॒दु॒रि॒ ।

मध्ये॑ । ह्र॒दस्य॑ । प्ल॒वस्व॑ । वि॒ऽगृह्य॑ । च॒तुरः॑ । प॒दः ॥ १४ ॥

हे मण्डूकि त्वं हर्षम् उपेत्य प्रवद प्रकृष्टं घोषं कुरु । हे तादुरि । तदुरस्य अपत्यं स्त्री तादुरी । हे तादृशि वर्षम् वृष्टिम् आ वद आभाषय । यादृशेन त्वद्धोषेण वृष्टिर्जायते तादृशं शब्दं कुर्वित्यर्थः ॥ वृष्टिजलेन ह्रदे पूर्णे सति तस्य ह्रदस्य मध्ये चतुरः पदः आत्मीयान् चतुःसंख्याकान् पादान् विगृह्य प्लवनानुगुणं प्रसार्य प्लवस्व प्रतर । प्लवनेन यथेच्छं विहरेत्यर्थः ॥

हे मण्डूकि ! तू हर्षमें भर कर वेगसे शब्द कर, हे तादुरि ! तू वर्षासे भाषण कर अर्थात् तेरे जैसे घोषसे वर्षा होती है तैसा शब्द कर । वृष्टिके जलसे सरोवरके पूर्ण होने पर उस सरोवरमें अपने चारों पैरोंको फैला कर तैर ॥ १४ ॥

पञ्चदशी ॥

खण्व॒खा३इ॒ खैम॒खा३इ॒ मध्ये॑ तदुरि ।

व॒र्षं व॑नुध्वं पितरो म॒रुतां॒ मनः॑ इच्छत ॥ १५ ॥

ख॒ण्व॒खा३इ॒ । खैम॒खा३इ॒ । मध्ये॑ । त॒दु॒रि॒ ।

व॒र्षम् । व॒नु॒ध्व॒म् । पि॒त॒रः॒ । म॒रुता॑म् । मनः॑ । इ॒च्छ॒त॒ ॥ १५ ॥

खण्वखा खैमखा तदुरी इति मण्डूकस्त्रीजातेः संज्ञाविशेषाः । हे खण्वखे [हे] खैमखे हे तदुरि इति तिस्रः संबोध्यन्ते । ❁ "एचोप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ" इति विगृह्य अवर्णस्य प्लुतः ❁ । हे तत्संज्ञा हे मण्डूक्यः ह्रदस्य मध्ये वर्तमाना यूयं युष्मदीयेन घोषेण वर्षम् वृष्टिं वनुध्वम् प्रयच्छत । हे पितरः पालयितारो मण्डूकाः [मारुतम्] मरुत्संबन्धि वृष्ट्यभिमुखं मनः इच्छत घोषेण वशीकुरुत ॥

खण्वखा पैमखा और तदुरी यह मेंढकोंकी स्त्रीजातिके नाम-विशेष हैं। उन तीनोंको सम्बोधित करके कहते हैं, कि-हे खण्वखे ! हे पैमखे और हे तदुरि ! तुम सरोवरमें जाकर अपने घोषसे वृष्टि को दो। हे पालन करने वाले मण्डूकों ! तुम मरुत्देवताओंके वृष्टि करनेको उद्यत मनको घोषसे वशमें करो ॥ १५ ॥

षोडशी ॥

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु।

महान्तम्। कोशम्। उत्। अच। अभि। सिञ्च। सऽविद्युतम्। भवतु। वातु। वातः।
तन्वताम्। यज्ञम्। बहुऽधा। विऽसृष्टाः। आऽनन्दिनीः। ओषधयः। भवन्तु ॥ १६ ॥

महान्तम् अधिकं कोशम्। मेघनामैतत्। मेघम् हे पर्जन्य त्वम् उदच समुद्राद् उदकपूर्णम् उद्धर। ❀ अञ्चु गतौ इत्यस्य एतद् रूपम् ❀। तेन मेघेन अभि षिञ्च सर्वां भूमिम् अभितः सिक्तां कुरु। तदर्थं तं मेघं सविद्युतम् विद्युत्सहितं कुरु। ततो वृष्टिर्भवतु। यद्वा सविद्युतम्। ❀ लुगभावश्छान्दसः ❀। सविद्युत् विद्युत्सहितम् अन्तरिक्षं भवतु। वातः वायुः वृष्ट्यनुकूलं वातु संचरतु। बहुधा बहुप्रकारं विसृष्टाः वृष्ट्या प्रेरिता आपः यज्ञं तन्वताम् विस्तारयन्तु। यज्ञादिक्रियाहेतवो भवन्तु इत्यर्थः। ओषधयः व्रीहि-यवाद्या ग्राम्याः आरण्यास्तरुगुल्माद्याः आनन्दिनीः वृष्टिजलेन हर्षयुक्ता भवन्तु ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति अथर्ववेदार्थप्रकाशे चतुर्थकाण्डे तृतीयोनुवाकः ॥

हे पर्जन्य ! तुम समुद्रसे जलपूर्ण बड़े भारी मेघको लाओ और उस मेघके द्वारा सारी भूमिको चारों ओरसे सींचो । अन्तरिक्ष बिजलीसे संयुक्त होवे, वायु वृष्टिके अनुकूल होकर चले । अनेक प्रकारसे प्रेरित जल यज्ञक्रियाको विस्तृत करने वाले हों । धान जौ आदि ग्रामकी औषधियें तथा वृक्ष लता आदि वनकी औषधियें वृष्टिके जल हर्षमें भर जायें ॥ १६ ॥

चतुर्थ काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (११७) ॥

तीसरा अनुवाक समाप्त

चतुर्थेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "बृहन्नेषाम्" इति आद्येन सूक्तेन अभिचारकर्मणि शत्रुं क्रोशन्तम् अनुब्रूयात् [कौ० ६. २]॥ धूमकेतूत्पातशान्तौ वारुणपशुप्रयोगे "उतेयं भूमिः" [३] इत्येषा [कौ० १३. ३५] ॥

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'बृहन्नेषां' इस प्रथम सूक्तसे अभिचारकर्ममें बुरा चाहने वाले शत्रुसे भाषण करे (कौशिक-सूत्र ६ । २) ॥ धूमकेतुरूप उत्पातकी शान्तिके वारुणपशुप्रयोगमें उतेयं भूमिः इस तीसरी ऋचाका विनियोग होता है (कौशिक-सूत्र १३ । ३५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

बृहन् । एषाम् । अधिऽस्थाता । अन्तिकात्ऽइव । पश्यति ।
यः । तायत् । मन्यते । चरन् । सर्वम् । देवाः । इदम् । विदुः १

बृहन् महान् परिवृढो वा वरुणः एषाम् दुरात्मनां शत्रूणाम्

अधिष्ठाता नियन्ता सन् तैः कृतं सर्वम् अन्याय्यम् अन्तिकादिव पश्यति समीपदेशादिव जानाति। न तस्य व्यवधायकं किंचिद् अस्तीत्यर्थः। यो वरुणः तायत् सांतत्येन वर्तमानं स्थिरवस्तु चरत् चरणशीलं नश्वरं च वस्तु मन्यते। स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं जगज्जानातीत्यर्थः। स बृहन् इति संबन्धः। ❀ तायत् इति। तायृ संतानपालनयोः अस्मात् लटः शत्रादेशः ❀। ईदृग्विधज्ञानसद्भावं वरुणस्य उपपादयति सर्वम् इति। व्यवहितं विप्रकृष्टं स्थिरं नश्वरं स्थूलं सूक्ष्मम् इति एतादृग् इदं सर्वम् अतिरोहितज्ञानत्वाद् देवाः विदुः जानन्ति। ❀ विद ज्ञाने। "विदो लटो वा" इति झेः उस् आदेशः ❀ ॥

जो वरुणदेव सर्वदा वर्तमान स्थिर वस्तुओंको और चरणशील विनाशवान् वस्तुओंको जानते हैं अर्थात् स्थावरजंगमरूप सब वस्तुओंको जानते हैं, वह महत्त्वमय वरुणदेव इन दुरात्मा शत्रुओंके नियन्ता हैं अतः उनके किये हुए अन्यायको समीपकी समानसे ही देखते हैं अर्थात् उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं रहता रहता है। (इसका कारण यह है, कि-) दूरके भी स्थूल सूक्ष्म सब वृत्तान्तोंको देवता अतीन्द्रिय ज्ञान वाले होनेसे जानते हैं॥१॥

द्वितीया ॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः २

यः। तिष्ठति। चरति। यः। च। वञ्चति। यः। निऽलायम्। चरति। यः। प्रऽतङ्कम्।

द्वौ । सम्ऽनिषद्य । यत् । मन्त्रयेते इति । राजा । तत् । वेद ।

वरुणः । तृतीयः ॥ २ ॥

पूर्वस्याम् ऋचि एषाम् इत्युक्तम् । तत्र इदमा के पुनः प्रतिनिर्दिश्यन्त इति तान् निर्दिशति यस्तिष्ठतीति पूर्वार्धेन । यः शत्रुः तिष्ठति अभिमुखम् अवतिष्ठते यश्चरति गच्छति यश्च वञ्चति कौटिल्येन प्रतारयति यः शत्रुः निलायम् निलयनेन अनिर्गमनेन चरति । यद्वा निलीनः अदृश्यः सन् चरति । ॐ अयतेर्निस्पूर्वात् णमुल् । निपूर्वात् लीयतेर्वा । उभयथापि समानोर्थः । "उपसर्गस्यायतौ" इति लत्वम् ॐ । यः शत्रुः प्रतङ्कम् प्रकर्षेण कृच्छ्रजीवनं प्राप्य चरति वर्तते । ॐ तकि कृच्छ्रजीवने । अस्मात् प्रपूर्वात् णमुल् ॐ । एषां शत्रूणाम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ अन्तिकादिव पश्यतीति यदुक्तं तदपि समर्थयते द्वौ संनिषद्येत्युत्तरार्धेन । द्वौ पुरुषौ रहसि संनिषद्य उपविश्य यत् कार्यं मन्त्रयेते गुप्तं भाषेते । ॐ मन्त्रि गुप्तभाषणे इति धातुः ॐ । तयोर्गुप्तं भाषमाणयोः तृतीयः त्रित्वसंख्यापूरकः सन् राजा ईश्वरो वरुणः स्वसार्वज्ञ्येन तत् सर्वं वेद । जानातीत्यर्थः । ततश्च अकार्यचिन्तावसर एव तान् निग्रहीतुं वरुणः शक्नोतीत्यर्थः । ॐ "त्रेः संप्रसारणं च" इति पूरणार्थे तीयप्रत्ययः संप्रसारणं च ॐ ॥

जो शत्रु हमारे सामने घूमता है, जो छलसे हमें ठगता है, जो शत्रु अदृश्यभावसे घूमता है और जो शत्रु कठिनतासे जीवन बिताता हुआ घूमता है उनको और जो दो पुरुष एकान्तमें बैठकर गुप्त भाषण करते हैं उनमें तीसरा संख्या पूर्ण करते हुए राजा वरुणदेव उनको सर्वज्ञ होनेसे जानते हैं अत एव अकार्यकी चिन्ता करनेके अवसर पर ही वरुणदेव उनको दण्ड देसकते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके
निलीनः ॥ ३ ॥

उत । इयम् । भूमिः । वरुणस्य । राज्ञः । उत । असौ । द्यौः ।
बृहती । दूरेऽअन्ता ।
उतो इति । समुद्रौ । वरुणस्य । कुक्षी इति । उत । अस्मिन् । अल्पे । उदके ।
निऽलीनः ॥ ३ ॥

उतशब्दः अप्यर्थे । इयं सर्वाधिष्ठानत्वेन निहिता भूमिरपि राज्ञः ईश्वरस्य दुष्टनिग्रहे अधिकृतस्य वरुणस्य वशे वर्तते ॥ उत अपि च असौ विप्रकृष्टा बृहती महती दूरेअन्ता दूरे विप्रकृष्टे देशे अन्ते अन्तिके च भवतीति दूरेअन्ता । यत एवं व्याप्य वर्तते अतो बृहतीति भावः । एवंरूपा द्यौश्च वरुणस्य राज्ञो वशे वर्तते । बृहती दूरेअन्तेति विशेषणद्वयं भूम्या अपि योज्यम् । अत एव दूरेअन्ते इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् [निघ० ३. ३०] ॥ उतो अपि च समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ वरुणस्य राज्ञः कुक्षी दक्षिणोत्तरपार्श्वभेदेन अवस्थिते द्वे उदरे । एवं भूम्यादिकं कृत्स्नं जगद् व्याप्य वर्तमानोपि अस्मिन् अल्पेपि उदके तटाकह्रदादिगते निलीनः अन्तर्हितो भवति

यह सबके अधिष्ठानरूपसे स्थापित पृथ्वी भी दुष्टोंको दण्ड देनेके काम पर नियुक्त राजा वरुणके वशमें रहती है और यह दूरके तथा पासके देशमें भी मिलने वाली बृहत् द्यौ राजा वरुण के वशमें है और पूर्व तथा पश्चिमके दोनों समुद्र भी राजा वरुण के दक्षिण और उत्तरके पार्श्वरूपसे स्थित हैं । इसप्रकार भूमि आदि

सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर वर्तमान वरुणदेव इस तालाब आदिके थोड़ेसे जलमें भी हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवः स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

उत । यः । द्याम् । अतिऽसर्पात् । परस्तात् । न । सः । मुच्यातै । वरुणस्य । राज्ञः ।
दिवः । स्पशः । प्र । चरन्ति । इदम् । अस्य । सहस्रऽअक्षाः । अति । पश्यन्ति । भूमिम् ॥ ४ ॥

उत अपि च यः शत्रुः अनर्थकारी अस्माकं परस्तात् द्याम् अन्तरिक्षप्रदेशम् अतिसर्पाद् अतिक्रम्य सर्पेद् गच्छेत् । यद्वा सुकृतप्राप्यं द्यां स्वर्गम् अतिक्रम्य अपथे प्रवर्तेतेत्यर्थः । स शत्रुः वरुणस्य राज्ञः पाशेभ्यो न मुच्यातै न मुच्येत । तैर्बद्ध एव वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ ॥ कथं द्युलोकस्थो वरुणः मनुष्यकृतम् अपराधं जानातीति तत्राह दिवः स्पश इति । दिवं द्युलोकान्निर्गताः अस्य वरुणस्य स्पशः चारा इदं पार्थिवं स्थानं प्र चरन्ति प्राप्य संचरन्ति । ते च सहस्राक्षाः सहस्रसंख्याकैर्दर्शनोपायैर्युक्ताः सन्तः भूमिम् अति पश्यन्ति । भूलोकवृत्तान्तं सर्वम् अतिशयेन साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

जो अनर्थकारी शत्रु पुण्योंसे प्राप्त होने वाले स्वर्गके नियमों

का उल्लङ्घन कर कुमार्गमें चलता है, वह शत्रु राजा वरुणके पाशों से न छूटे, उनसे बँधा हुआ ही रहे (द्युलोकमें स्थित वरुणदेव मनुष्योंके किये हुए अपराधोंको कैसे जानसकते हैं, इस शंकाका समाधान यह है, कि-) द्युलोकसे बाहर निकलने वाले वरुणके दूत इस पार्थिवस्थानमें घूमते हैं, और वे देखनेके सहस्रों उपायों से भूमिके वृत्तान्तको सूक्ष्म रीतिसे देखते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

सर्वम् । तत् । राजा । वरुणः । वि । चष्टे । यत् । अन्तरा । रोदसी इति । यत् । परस्तात् ।
सम्ऽख्याताः । अस्य । निऽमिषः । जनानाम् । अक्षान्ऽइव । श्वऽघ्नी । नि । मिनोति । तानि ॥ ५ ॥

रोदसी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये यत् प्राणिजातं वर्तते तथा परस्तात् स्वस्य पुरोभागे तत् प्राणिजातम् अस्ति तत् सर्वं वरुणो राजा वि चष्टे विशेषेण पश्यति ॥ तस्मात् तेषां जनानाम् प्राणिनां निमिषः निमेषणव्यापारस्य । उपलक्षणम् एतत् । अक्षिपरिस्पन्दोपलक्षितस्य अस्य साध्वसाधुकर्मणः संख्याता परिमाणयिता वरुणः तानि पापिनां शिक्षाकर्माणि तत्तत्पापानुसारेण नि मिनोति निक्षिपति । ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे ❀ । तत्र दृष्टान्तः । अक्षानिवेति ।

स्वघ्नी स्वम् आत्मानं स्वकीयं धनं च हन्तीति कितवः स्वघ्नी। ❀ तथा च यास्कः। श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति [नि० ५. २२] इति ❀। यथा कितवः अक्षान् आत्मनो जयार्थं निक्षिपति तद्वद् इत्यर्थः॥

द्यावापृथिवीके मध्यमें जो प्राणी रहते हैं और जो अपने सामने प्राणी रहते हैं, उन सबको राजा वरुण विशेषरूपसे देखते हैं अत एव उन जनोंके निमेषमात्रमें बनने वाले भी सद् असद् कर्मोंकी संख्या करने वाले वरुणदेव उन पापियोंको उनके पापोंके अनुसार (इस प्रकार) फेंकते हैं (जिस प्रकार) अपने धनका नाश करने वाला श्वघ्नी † अर्थात् जुआरी फाँसोंको अपनी विजयके लिये फेंकता है॥ ५॥

षष्ठी॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ६

ये। ते। पाशाः। वरुण। सप्तऽसप्त। त्रेधा। तिष्ठन्ति। विऽसिताः। रुशन्तः।
छिनन्तु। सर्वे। अनृतम्। वदन्तम्। यः। सत्यऽवादी। अति। तम्। सृजन्तु॥ ६॥

†निरुक्त ५। २२ में कहा है, कि—"श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति॥—श्वघ्नी जुआरी होता है, वह अपने ही धनका नाश करता है"।

हे वरुण ये त्वदीयाः पाशाः सप्तसप्त उत्तममध्यमाधमभेदेन प्रत्येकं सप्तसंख्याकाः त्रेधा त्रिप्रकारं विसिताः तत्रतत्र पापिनां निग्रहाय जालवद् बद्धाः। एतच्च त्रैविध्यम् "उदुत्तमं वरुण" [ऋ० १. २४. १५] इति मन्त्रान्तरादध्यवसितम्। रुषन्तः तत्तत्पापानुसारेण पापिष्ठान् हिंसन्तस्तिष्ठन्ति सर्वे ते पाशाः अनृतं वदन्तम् पापकृतम् अस्मदीयं शत्रुं छिनन्तु छिन्दन्तु। यस्तु सत्यवादी सत्यवदनशीलः पुण्यकृत् तम् अति सृजन्तु विमुञ्चन्तु ॥

हे वरुणदेव! आप जो उत्तम मध्यम और अधम इस प्रकार तीन भेदसे विभक्त सात सात पाश पापियोंका निग्रह करनेके लिये जहाँ तहाँ जालकी समान फैले हुए हैं, वे पापियोंका पापके अनुसार हिंसन करनेवाले सब पाश हमारे शत्रु झूँठ बोलनेवाले पापी को छेदें और जो सत्यभाषी पुण्यात्मा हो उसको छोड़दें॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

शतेन। पाशैः। अभि। धेहि। वरुण। एनम्। मा। ते। मोचि। अनृतऽवाक्। नृऽचक्षः।
आस्ताम्। जाल्मः। उदरम्। श्रंशयित्वा। कोशःऽइव। अबन्धः। परिऽकृत्यमानः ॥ ७ ॥

हे वरुण शतेन शतसंख्याकैस्त्वदीयैः पाशैः एनम् अनृतवादिनं

शत्रुम् अभि धेहि बधान । बद्ध्वा निगृहाणेत्यर्थः । अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते यथा "अश्वाभिधानीम् आ दत्ते" [तै० सं० ५. १. २. १] इति । हे नृचक्षः नृणां मनुष्याणां साध्वसाधुचरित्राणां विवेकेन द्रष्टः । ❀ चक्षिङः असुनि "असनयोश्च" इति इति ख्याञादेशाभावः ❀ । ईदृश हे वरुण अनृतवाक् अनृतं ब्रुवन् पुरुषः ते त्वत्तः [मा] मोचि विमुक्तो विसृष्टो मा भूत् । किंतु जाल्मः असमीक्ष्यकारी स्वकीयम् उदरं स्रंसयित्वा जलोदररोगेण स्रस्तं कृत्वा अबन्धः बन्धरहितः मान्तेषु अकृतबन्धनः असेः कोश इव परिकृत्यमानः आस्ताम् त्वत्पाशबद्ध एव वर्तताम् । अत एव अन्यत्राम्नातम् । "अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति । ❀ परिकृत्यमान इति । कृती छेदने । अस्मात् कर्मणि यक् ❀ ॥

हे वरुण ! अपने सैंकड़ों पाशोंसे आप इस झूँठ बोलने वाले शत्रुको बाँधिये और बाँधनेके पीछे दण्ड दीजिये । हे मनुष्योंके सद् असद् चरित्रोंको विवेकदृष्टिसे देखने वाले नृचक्षःवरुणदेव ! झूँठ बोलने वाला पुरुष आपसे न छूटे, किन्तु विना विचारे कामको करने वाला वह जाल्म, अपने उदरको जलोदररोगसे ध्वंस कर मान्तोंमें न बँधी हुई तलवारकी म्यानकी समान कटता हुआ ही रहे अर्थात् आपके पाशमें बँधा हुआ ही रहे † ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यः स॑मा॒म्यो॒३॒ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒३॒ यः सं॑दे॒श्यो॒३॒ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑ ।

† इसी कारण अन्यत्र कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति ॥—झूँठ बोलने पर वरुण दण्ड देते हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । २ । ६) ॥

यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

यः । सम्ऽआम्यः । वरुणः । यः । विऽआम्यः । यः । सम्ऽदेश्यः । वरुणः । यः । विऽदेश्यः ।

यः । दैवः । वरुणः । यः । च । मानुषः ॥ ८ ॥

समानम् आमयति व्याधितो भवति [पुरुषोनेनेति] समाम्यः। ईदृशो यो वरुणः । ॐ लुप्ततद्धितोयं निर्देशः ॐ । वारुणः । पाश इत्यर्थः । विगमनेन विविधं वा आमयति पुरुषोनेनेति व्याम्यो [यः]पाशः। तथा यो वरुणः वरुणः वरुणसम्बंधी पाशः संदेश्यः समानदेशे भवः यश्च विदेश्यः विदेशे भवः यश्च वरुणः वरुणसंबन्धी पाशो दैवः देवेषु भवः यश्च वरुणपाशो मानुषः मनुष्येषु प्रयुक्तः । तैस्त्वा सर्वैरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥

समानरूपसे पुरुष जिससे रुग्ण होता है, वह वरुणदेवका समाम्य नामक पाश है, अनेक रूपोंसे पुरुष जिसके द्वारा रुग्ण होता है वह वरुणका व्याम्य नामका पाश है। और जो समान देशमें होने वाला वरुणका पाश संदेश्य नामक है, जो विदेशमें होनेवाला वरुणका पाश विदेश्य कहलाता है और जो देवताओं पर प्रभाव दिखाने वाला वरुणका पाश दैव कहलाता है और मनुष्योंमें प्रयुक्त होनेसे मानुष पाश कहलाता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र

तानु ते सर्वाननुसंदिशामि ॥ ९ ॥

तैः । त्वा । सर्वैः । अभि । स्यामि । पाशैः । असौ । आमुष्यायण ।

अमुष्याः । पुत्र ।

तान् । ॐ इति । ते । सर्वान् । अनुऽसंदिशामि ॥ ६ ॥

असावित्यस्य स्थाने संमुखस्य शत्रुनामग्रहणम् । आमुष्यायणेति गोत्रतो निर्देशः । अमुष्याः पुत्रेति अदःशब्दस्थाने मातृनामनिर्देशः । तत्र अयम् अर्थः । हे देवदत्तायाः पुत्र गार्ग्य यज्ञशर्मन् त्वा त्वां तैः पूर्वस्याम् ऋचि उक्तैः सर्वैः पाशैः अभि ष्यामि अभि दधामि । बध्नामीत्यर्थः ॥ तथा हे शत्रो ते तुभ्यं तान् सर्वान् पाशान् अनुवर्तीकृत्य संदिशामि संप्रयच्छामि ॥

इति चतुर्थकाण्डे [चतुर्थेऽनुवाके] प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अमुक नाम वाले ! हे अमुक गोत्र वाले हे अमुक माताके पुत्र ! मैं तुझको पूर्व ऋचामें कहे हुए वरुण देवके सब पाशोंसे बाँधता हूँ और हे शत्रो ! तुझको उन सब पाशोंकी ओर लक्ष्य रख कर उनके अधीन करता हूँ ÷ ॥ ६ ॥

चतुर्थ काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (११७) ॥

स्त्रीशूद्रकापालादिकृताभिचारदोषनिवृत्त्यर्थं दर्भापामार्गसहदेव्याद्या मन्त्रोक्ता ओषधीः शान्त्युदककलशे प्रक्षिप्य तदनुमन्त्रणविनियुक्ते महाशान्तिगणे "ईशानां त्वा" इत्यादिसूक्तत्रयम् आवपनीयम् । सूत्रितं हि । "दूष्या दूषिरसि [२. ११] ये पुरस्तात् [४. ४०] ईशानां त्वा [४. १७] समं ज्योतिः [४. १८] उतो अस्य बन्धुकृत् [४. १९] सुपर्णस्त्वा [५. १४] यां ते चक्रुः [५. ३१] अयं प्रतिसरः [८. ५] यां कल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ३] ॥

÷ अमुक नामके स्थानमें शत्रुका नाम लेना चाहिये, अमुक गोत्रके स्थानमें शत्रुके गोत्रका उच्चारण करना चाहिये और अमुक माताके स्थानमें शत्रुकी माताका नाम लेना चाहिये । यथा- हे देवदत्तायाःपुत्र गार्ग्य यज्ञशर्मन् !"

एतत्सूक्तसंघस्य कृत्याप्रतिहरणगणत्वात् अस्य गणस्य यत्र यत्र विनियोगस्तत्र सर्वत्र अस्य सूक्तत्रयस्यापि विनियोगो द्रष्टव्यः।

स्त्री शूद्र कापाल आदिके किये हुए अभिचारके दोषको दूर करनेके लिये कुशा चिरचिटा और सहदेवी इन मन्त्रमें कही हुई औषधियोंको शान्त्युदककलशमें डाल कर इनका अनुमन्त्रण करनेमें विनियोग किये जाने वाले महाशान्तिगणके 'ईशानां त्वा' आदि तीन सूक्तोंको पढ़ना चाहिये। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"दूष्या दूषिरसि (२। ११) ये पुरस्तात् (४। ४०) ईशानां त्वा (४। १७) समं ज्योतिः (४। १८) उतो अस्य बन्धुकृत् (४। १६) सुपर्णस्त्वा (५। १४) यां ते चक्रुः (५। २१) अयं प्रतिसरः (८। ५) यां कल्पयन्ति (१०। १) इति महाशान्तिं आवपते" (कौशिकसूत्र ५। ३)॥

यह सूक्तोंका समूह कृत्याप्रतिहरणगण है, अत एव कृत्याप्रतिहरणगणका जहाँ २ विनियोग होगा, तहाँ २ सर्वत्र ही इन तीनों सूक्तोंका विनियोग होगा॥

तत्र प्रथमा॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥ १॥

ईशानाम्। त्वा। भेषजानाम्। उत्ऽजेषे। आ। रभामहे।
चक्रे। सहस्रऽवीर्यम्। सर्वस्मै। ओषधे। त्वा॥ १॥

हे सहदेव्याख्ये ओषधे भेषजानाम् तत्तद्रोगशान्तये भेषजत्वेन प्रयुज्यमानानाम् अन्यासाम् ओषधीनाम् ईशानाम् ईश्वरीं त्वा त्वाम् उज्जेषे शत्रुकृताभिचारदोषम् उज्जेतुं निवर्तयितुम् आ रभामहे संस्पृशामः। ❀ ईशानाम् इति। ईश ऐश्वर्ये अस्मात् लटः

शानच् । अदादित्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । उज्जेष इति । "तुमर्थे सेसेन०" इति सेप्रत्ययः ॥ ईश्वरत्वमेवास्या उपपादयति । हे ओषधे सहदेवि त्वा त्वां सर्वस्मै अभिचारजनितज्वरादिसर्वदोषनिवृत्तये सहस्रवीर्यं चक्रे अपरिमितसामर्थ्ययुक्तां करोमि । यस्माद् एवं तस्मात् त्वम् ओषधीनाम् अधिपतिरसीत्यर्थः ॥

हे सहदेवी नामक ओषधे ! रोगोंकी शान्तिके लिये ओषधिरूपसे प्रयोग की जाने वाली अन्य औषधियोंकी स्वामिनी तुझको हम शत्रुके किये हुए अभिचारदोषको दूर करनेके लिये छूते हैं । हे सहदेवी नाम वाली ओषधे ! मैं अभिचारसे उत्पन्न हुए सब दोषोंको हटानेके लिये तुझको अपरिमित शक्ति वाली करता हूँ । क्योंकि—तू सब ओषधोंकी स्वामिनी है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सत्याजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

सत्यऽजितम् । शपथऽयावनीम् । सहमानाम् । पुनःऽसराम् ।
सर्वाः । सम् । अह्वि । ओषधीः । इतः । नः । पारयात् । इति २

सत्यजितम् सत्येन याथार्थ्येन अभिचारादिदोषं जयति निवर्तयतीति सत्यजित् । तां शपथयोपनीम् शपथस्य परकृतस्य आक्रोशस्य पृथक्कर्त्रीं नाशयित्रीं वा सहमानाम् अभिभवनशीलां पुनःसराम् पुनःपुनः आभीक्ष्ण्येन बहुतरव्याधिनिवृत्तये सरति प्रवर्तत इति पुनःसरा ताम् ईदृशीम् ओषधिम् अन्याः सर्वा ओषधीः ओषध्यः इतः अस्माद् अभिचारदोषशमनाद्धेतोः न अस्मान् पारयात् । पार तीर कर्मसमाप्तौ । अस्मत्कर्तव्यं समापयेत् इति

अनेन अभिप्रायेण समभि । गच्छन्तीति उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॥

यथार्थरीतिसे अभिचार आदि दोषोंको दूर करने वाली सत्यजित्, दूसरेके आक्रोशको नष्ट करने वाली शपथयावनी, अभिशापोंको सहने वाली सहमाना और पुनःपुनः अनेक रोगोंकी निवृत्तिके लिये प्रवृत्त होने वाली पुनःसरा ओषधिको अन्य सब ओषधियें इस अभिप्रायसे प्राप्त होती हैं, कि—अभिचारजनित दोषको दूर कर यह हमारे कर्तव्यको समाप्त कर देय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।

या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा ॥३॥

या । श॒शाप॑ । शप॑नेन । या । अ॒घम् । मूर॑म् । आ॒ऽद॒धे ।

या । रस॑स्य । हर॑णाय । जा॒तम् । आ॒ऽरे॒भे । तो॒कम् । अ॒त्तु । सा ॥ ३ ॥

एषा प्रथमकाण्डे व्याख्याता [१. २८. ३] । अक्षरार्थस्तु या पिशाची शपनेन आक्रोशेन शशाप या च मूरम् मूर्छाप्रदम् अघम् पापम् आदधे । या च शरीरगतासृगादिरसस्य हरणाय जातम् पुत्रादिम् [आरेभे] आलिङ्गति सा सर्वा मद्विषये अभिचरतः शत्रोः तोकम् पुत्रं भक्षयतु इति ॥

जो पिशाची आक्रोश मचा कर शाप देती है और मूर्छित करने वाला पाप करती है और जो शरीरके रक्त आदि रसका हरण करनेके लिये पुत्रको आलिंगन करती है, ये सब राक्षसियें मेरे लिये अभिचार करने वाले शत्रुके पुत्रको खावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्नी॑ललोहिते ।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ४

याम् । ते । चक्रुः । आमे । पात्रे । याम् । चक्रुः । नीलऽलोहिते । आमे । मांसे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । तया । कृत्याऽकृतः । जहि ४

हे कृत्ये ते त्वां याम् आमे अपक्वे मृत्पात्रे चक्रुः कृतवन्तः अभिचारकाः । यद्वा नीललोहिते । धूमोद्गमेन नीलः ज्वालया च लोहितः अग्निः नीललोहितः । तादृशे असौ अग्न्यायतने यां चक्रुः कृतवन्तः । आमे अपक्वे मांसे कुक्कुटादिप्राणिशरीरे यां कृत्यां चक्रुः कृतवन्तः । आमपात्रम् अग्न्यायतनं कुक्कुटादिप्राणिशरीरं सभास्थलम् इत्येवमादीनि हि कृत्यानिधानस्थानानि । एवं कृत्याकृतः कृत्यायाः प्रयोक्तॄन् हे कृत्ये त्वया । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । त्वं जहि नाशय । यद्वा ओषधिः संबोध्यते । हे ओषधे त्वया कृत्याप्रयोक्तारो हन्तव्या इत्यर्थः । ❀ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ ॥

हे कृत्ये ! तुझको अपक्व मृत्पात्रमें अभिचार करनें वालोंने किया है अथवा जिस तुझको धूम निकलनेसे नील और ज्वाला से लोहित (लाल) अग्निके स्थानमें अभिचारकोंने किया है अथवा तुझको अपक्व मांसमें अर्थात् कुक्कुट आदिके शरीरमें किया है, इस प्रकार कृत्याका प्रयोग करने वालोंको हे कृत्ये ! तू नष्ट कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥५॥

दौःऽस्वप्न्यम् । दौःऽजीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः । दुःऽनाम्नीः । सर्वाः । दुःऽवाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ५

दुष्टः स्वप्नो दुःस्वप्नः तत्र भवम् अरिष्टं दर्शनं दौष्वप्न्यम्। दौर्जीवित्यं दुष्टा जीवता जीवभावो यस्य दुर्जीवतः तस्य भावो दौर्जीवित्यम्। ॐ ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ् ॐ। रक्षः राक्षसजातिः अभ्वम्। महन्नामैतत्। यच्च अभिचारक्रियाजनितम् अन्यद् महद् भयकारणम् अस्तीत्यर्थः। यद्वा अभ्वम् महद् रक्षो ब्रह्मराक्षसादिः इति रक्षोविशेषणत्वेन योज्यम्। अत एव "द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्" [ऋ० १. १८५. २] इति अभ्वस्य भयहेतुता श्रुता। अराय्यः असमृद्धिहेतवः पापलक्ष्म्यः तथा दुर्णाम्नीः छेदिका भेदिका इत्येवं दुष्टनाम्नोपेता याः पिशाच्यः दुर्वाचः नाशयामि छेदयामि भक्षयामि इत्येवं दुष्टाः शब्दा याभिः सततं प्रयुज्यन्ते तास्तथोक्ताः। इत्थं या इमाः कृत्या अनुक्रान्ताः ताः सर्वाः अस्मिन् अभिचर्यमाणपुरुषविषये नाशयामसि नाशयामः॥

दुःस्वप्नमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्न्यको, कठिनता से जीवन बितानेकी स्थितिको, राक्षस जातिको, अभिचारक्रिया से उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करने वाली पाप-लक्ष्मियोंको, छेदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियों को और काट डालूं खा लूं आदि दुर्वचनोंका नित्य उच्चारण करने वाली पिशाचियोंको हम इस अभिचरित पुरुषसे दूर करते हैं

षष्ठी॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ६॥

क्षुधाऽमारम्। तृष्णाऽमारम्। अगोताम्। अनपऽत्यताम्।
अपामार्ग। त्वया। वयम्। सर्वम्। तत्। अप। मृज्महे॥ ६॥

क्षुधामारम् क्षुधा क्षुत्पीडया पुरुषस्य मारणम् तृष्णामारम्

तृष्णया पिपासातिशयेन पुरुषस्य मारणम् । यद्वा क्षुत्पिपासयोः पुरुषे स्वरूपतो नाशनम् अत्र विवक्षितम् । तद्विरहे पुरुषस्य स्वत एव मरणसंभवात् । अगोताम् गोराहित्यम् अनपत्यताम् अपत्यराहित्यं च । तत् एतत् सर्वं हे अपामार्ग त्वया वयम् अप मृज्महे अपमार्जयामः विनाशयामः ॥

भूँखकी पीड़ासे पुरुषका मरण होना, अधिक प्यास लगनेसे पुरुषका मरण होना अथवा भूँख प्यासके नष्ट होनेसे पुरुषका मरण होना, गौओंसे रहित होना और सन्तानहीनता, हे अपामार्ग (चिरचिटे) इन सबको हम तुझसे नष्ट करते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

तृष्णाऽमारम् । क्षुधाऽमारम् । अथो इति । अक्षऽपराजयम् ।

अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥ ७ ॥

क्षुत्तृष्णानाशयोरत्र विपर्यास एव विशेषः । अथो अपि च अक्षपराजयम् अक्षैर्द्यूतसाधनैः द्यूतक्रियानिमित्तः पराजयः । तत् एतत् सर्वं हे अपामार्गेत्यादि पूर्ववत् ॥

तृषासे मरना, भूखसे मरना और जुएमें हारना, इन सबको हे अपामार्ग ! हम तुम्हारे द्वारा नष्ट करते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी ।

तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अपामार्गः । ओषधीनाम् । सर्वासाम् । एकः । इत् । वशी ।

तेन । ते । मृज्मः । आऽस्थितम् । अथ । त्वम् । अगदः । चरः ८

सर्वासाम् अन्यासाम् ओषधीनाम् अपामार्गः एक एव वशी वशयिता । सर्वा अस्य वशे वर्तन्त इत्यर्थः । हे अभिचारदोषगृहीत ते तव आस्थितम् कृत्यादिभिरापतितं रोगादिकं तेन अपामार्गेण मृज्मः मार्जयामः अपगमयामः ॥ अथ अनन्तरं त्वम् अगदः व्याधिरहितः चर चिरकालं वर्तस्व ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

अन्य सब ओषधियोंको एक अपामार्ग ही वशमें करने वाला है अर्थात् सब ओषधियें इसके वशमें चलती हैं, हे अभिचारग्रस्त पुरुष ! कृत्या आदिके द्वारा तुझमें स्थापित रोग आदिको उस अपामार्गके द्वारा हम दूर करते हैं । तदनन्तर तू व्याधिरहित होकर चिरकाल तक रह ॥ ८ ॥

चतुर्थकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (११९) ॥

"समं ज्योतिः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रं तु तत्रैव उदाहृतम् ॥

"समं ज्योतिः" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है । सूत्र भी वहाँ ही कह दिया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।

कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

समम् । ज्योतिः । सूर्येण । अह्ना । रात्री । समऽवती ।

कृणोमि । सत्यम् । ऊतये । अरसाः । सन्तु । कृत्वरीः ॥ १ ॥

सूर्येण आदित्येन तदीयं ज्योतिः प्रभामण्डलं समम् समानमेव भवति न कदाचित् तेन वियुज्यते । रात्री । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ । रात्रिश्च अह्ना समावती समानायामा । ❀ समशब्दात् आवतुप्रत्ययः स्वार्थिकः ❀ । यथैवं प्रभाप्रभावतोर्दिवारात्रयोश्च समानत्वं यथार्थम् तथा सत्यम् यथार्थं कर्म कृणोमि करोमि । किमर्थम् । ऊतये अभिचर्यमाणस्य पुरुषस्य रक्षणार्थम् । तस्मात् कृत्वरीः कर्तनशीलाः कृत्याः अरसाः शुष्काः कार्यासमर्थाः सन्तु भवन्तु ॥

प्रभामण्डल आदित्यके साथ ही रहता है कभी आदित्यसे पृथक् नहीं होता है, रात्रि भी दिनके समान ही आयाम वाली होती है । जैसे प्रभा प्रभावान्का और दिन तथा रात्रिका समानत्व यथार्थ है, इसी प्रकार मैं भी जिसके ऊपर अभिचार किया गया है उस पुरुषकी रक्षाके लिये यथार्थ कर्मको ही करता हूँ, इस कारण काटनेके स्वभाव वाली कृत्याएँ अरस अर्थात् कार्य करनें में असमर्थ शुष्क होजावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।

वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

यः । देवाः । कृत्याम् । कृत्वा । हरात् । अविदुषः । गृहम् ।

वत्सः । धारुःऽइव । मातरम् । तम् । प्रत्यक् । उप । पद्यताम् २

हे देवाः यः शत्रुः कृत्याम् मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीडाकरीं कृत्यां कृत्वा अविदुषः अजानानस्य तस्य गृहम् हरात् गच्छेत् कृत्यानिखननार्थं गच्छेत् । ❀ हृ गतौ इत्यस्मात् लेटि आडागमः । छान्दसः शपो लुक् ❀ । तम् अभिचरन्तं सा कृत्या प्रत्यक्

अभिमुखं प्रतिनिवृत्य उप पद्यताम् उपगच्छतु । तत्र दृष्टान्तः । वत्स इति ।[धारुः]। ❀ धेट् पाने । "दाधेट्सिशदसदो रुः" इति रु-प्रत्ययः ❀ । यथा धारुः स्तनपानं कुर्वन् वत्सः स्वमातरमेव अनुधावति एवं कृत्यापि स्वोत्पादकमेव प्रतिनिवृत्य गच्छतु इत्यर्थः ॥

हे देवताओ ! जो शत्रु मन्त्र औषधि आदिसे शत्रुको पीड़ित करने वाली कृत्याको करके अनजान शत्रुके घरमें कृत्याको गाड़नेके लिये आता है, उस अभिचार करने वालेको कृत्या अभिमुख होकर इस प्रकार लिपटे जिस प्रकार दुग्धपान करने वाला बछड़ा अपनी मातासे लिपटता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।

अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ।३।

अमा । कृत्वा । पाप्मानम् । यः । तेन । अन्यम् । जिघांसति ।

अश्मानः । तस्याम् । दग्धायाम् । बहुलाः । फट् । करिक्रति ३

यः शत्रुः अनुकूल इव अमा सह स्थितः सन् पाप्मानम् कृत्यानिखननलक्षणं कृत्वा तेन पाप्मना अन्यम् द्वेष्यं जिघांसति हन्तुम् इच्छति । ❀ "अज्झनगमां सनि" इति दीर्घः ❀ । तस्याम् तेन शत्रुणा कृतायां कृत्यायां दग्धायाम् प्रतीकारेण रिक्तीकृतायां स्वकार्यकरणासमर्थायां सत्याम् अश्मानः पाषाणाः मन्त्रसामर्थ्योत्पादिता बहुलाः सन्तः फट् हिंसनं करिक्रति पुनःपुनः कुर्वन्तु । कृत्याकृतं शत्रुं हिंसन्तु इत्यर्थः । ❀ करोतेर्यङ्लुगन्तात् पञ्चमलकारे "रुग्रिकौ च लुकि" इति अभ्यासस्य रिगागमः ❀ ॥

जो शत्रु साथमें रह अनुकूलसा बन कर कृत्याको गाड़ना आदि पाप करके उस पापसे शत्रुको मारना चाहता है, उस शत्रु

की कीहुई कृत्याके प्रतीकारके कारण अपने कार्यको करनेमें असमर्थ होने पर, मन्त्रशक्तिसे उत्पन्न किये हुए बहुतसे पाषाण उसको मारें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवां छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

सहस्रऽधामन् । विऽशिखान् । विऽग्रीवान् । शायय । त्वम् ।

प्रति । स्म । चक्रुषे । कृत्याम् । प्रियाम् । प्रियऽवते । हर ॥४॥

हे सहस्रधामन् । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति [नि० ६. २८] [इति] यास्कवचनाद् धामशब्देन स्थानादिकम् उच्यते । सहस्रं धामानि स्थानादीनि यस्याः सा सहस्रधामा ओषधिः । ❀ "मनः" इति ङीपः प्रतिषेधः ❀ । हे सहस्रधामन् सहदेव्याख्ये ओषधे त्वम् अस्मदीयान् शत्रून् विशिखान् विच्छिन्नकेशान् विग्रीवान् विच्छिन्नग्रीवान् छिन्नशिरसः कृत्वा छायय क्षयं प्रापय । ❀ क्षै जै षै क्षये इति धातुः ❀ ॥ प्रियाम् शत्रूणां हितकारित्वेन अनुकूलां कृत्याम् पिशाचीं चक्रुषे कृतवते उत्पादितवते प्रियावते प्रियया कृत्यया तद्वते प्रति हर स्म तां कृत्यां प्रतिनिहृत्य प्रापय । ❀ चक्रुषे । करोतेर्लिटः क्वसुः । चतुर्थ्येकवचने भसंज्ञायां "वसोः संप्रसारणम्" ❀ ॥

हे सहस्रों स्थानोंमें होने वाली सहदेवी ओषधे ! तू हमारे शत्रुओंको कटे हुए केश वाले, छिन्न ग्रीवावाले करके नष्ट कर, शत्रुओंकी हितकारिणी होनेसे प्रिय अनुकूल कृत्या पिशाचीको करनेवाले प्रिया कृत्यासे युक्त शत्रु पर तू कृत्याको लौटादे॥४॥

पञ्चमी ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
या क्षेत्रे चक्रुर्या गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ।

याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ५

अनया सह देव्याख्यया ओषध्या अहं सर्वाः कृत्याः वक्ष्यमाणप्रदेशेषु खाताः अदूदुषम् दूषितवान् अस्मि । कार्यासमर्थाः करोमीत्यर्थः । ❀ दुषेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ । ताः कृत्या दर्शयति । यां कृत्यां क्षेत्रे बीजावापार्हे भूप्रदेशे चक्रुः कृतवन्तः निखातवन्तः यां कृत्यां गोषु मध्ये निखातवन्तः वाते वातसंचारप्रदेशे यां कृत्यां कृतवन्तः । कृत्यासंस्पृष्टवाय्वभिघातेनापि अभिचारदोषो जायत इत्येवम् उक्तम् । तथा पुरुषेषु मनुष्येषु तत्संचारदेशे यां कृत्यां निखातवन्तः ताः सर्वाः कृत्या अदूदुषम् इत्यन्वयः ॥

जिस कृत्याको बीज बोनेके योग्य स्थानमें गाढ़ा गया है और जिस कृत्याको गौओंके बीचमें गाढ़ा गया है और जिस कृत्याको शत्रुओंने वायुप्रवाहके स्थानमें किया है (इससे यह बात सिद्ध होती है, कि—कृत्यासे छुए वायुके अभिघातसे भी अभिचारदोष उत्पन्न होता है) और शत्रुओंने पुरुषोंके चलनेके स्थानमें जिस कृत्याको गाड़ दिया है उन सब कृत्याओंको मैं इस सहदेवी नामकी औषधिसे दूषित करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शश्रे । पादम् । अङ्गुरिम् ।
चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । आत्मने । तपनम् । तु । सः ॥६॥

यः शत्रुः चकार कृत्यां प्रयुङ्क्ते तया कृत्यया एकं पादम् एकाम् अङ्गुलिं वा शश्रे हिनस्ति । ❀ शॄ हिंसायाम् इत्यस्मात् छान्दसो लिट् ❀ । स शत्रुः कर्तुं तथा हिंसितं न शशाक न शक्नोतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । कृत्याप्रयोगेण मारणम् अवयवहानिं वा कर्तुम् असमर्थो भवतु इत्यर्थः । तत्कृतम् अभिचारकर्म अस्मभ्यं भद्रम् मङ्गलं चकार । प्रतीकारमन्त्रौषधिप्रभावेन श्रेयः करोतु इत्यर्थः । अपि तु आत्मने स्वस्मै कृत्याप्रयोक्त्रे सः तत्कृतोभिचारः तपनम् दहनं करोतु ॥

जो शत्रु कृत्याको करके उस कृत्यासे एक पैरको वा एक अंगुलिको मारना चाहता है वह शत्रु तैसा करनेको समर्थ न हो तात्पर्य यह है, कि—कृत्याके प्रयोगसे वह मारण वा अवयवहानि करनेमें असमर्थ रहे । उसका किया हुआ अभिचारकर्म प्रतीकार के लिये उपयोगमें लाईहुई औषधि और मन्त्रोंके प्रभावसे हमारा कल्याण करे और प्रयोग करने वालेको ही उसका किया हुआ अभिचारकर्म पीड़ित करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अपामार्गोऽप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

अपामार्गः । अप । माष्टुं । क्षेत्रियम् । शपथः । च । यः ।
अप । अह । यातुऽधानीः । अप । सर्वाः । अराय्यः ॥ ७ ॥

अपामार्गाख्या ओषधिः क्षेत्रियम् क्षेत्रं मातापितृशरीरम् तत्सकाशात् आगतं सांक्रामिकं क्षयकुष्ठापस्मारादिकं रोगम् अप माष्टुं

अस्मत्तोपगमयतु । ॐ मृजूष् शुद्धौ । अपमृज्यते रोगादिनिराकरणेन पुरुषः शोध्यते अनेनेति अपामार्गः । करणे घञ् । "चजोः कुः घिण्यतोः" इति कुत्वम् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । अप मार्ष्टु । अदादित्वात् शपो लुक् । "मृजेर्वृद्धिः" इति वृद्धिः । क्षेत्रियम् इति । "क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः" इति निपात्यते ॐ । यश्च शत्रुकृतः शपथः शापः तमपि अप मार्ष्टु । तथा यातुधानीः पिशाचीः अप मार्ष्टु । ग्रह इति विनिग्रहे । तथा अराय्यः अरायीः अलक्ष्मीः सर्वाः अपामार्गः अप मार्ष्टु । ॐ अरायीशब्दात् शसि छान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घाभावः ॐ ॥

अपामार्ग नाम वाली औषधी माता पिताके शरीरसे आये हुए संक्रामक क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि रोगको हमसे दूर करे। शत्रुके किये हुए आक्रोशको भी हमसे दूर करे । पिशाचियोंको दूर करे और सम्पूर्ण अलक्ष्मियोंको बन्धनमें डाल कर दूर करे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

अपऽमृज्य । यातुऽधानान् । अप । सर्वाः । अराय्यः ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥ ८ ॥

हे अपामार्ग त्वं यातुधानान् यक्षरक्षःप्रभृतीन् अपमृज्य अपमृड्ढि । ॐ व्यत्ययेन श्यन् ॐ । तथा सर्वा अराय्यः अलक्ष्मीकरीः पापदेवताः अप गमय । यद्वा । ॐ अपमृज्येति ल्यबन्तः ॐ । हे अपामार्ग त्वया प्रथमं यातुधानादीन् अपमृज्य तैः कृतं सर्वं तद् दुःखजातं त्वयैव साधनेन वयम् अप मृज्महे निराकुर्मः ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अपमार्ग (चिरचिटे) ! तू यक्ष राक्षस आदि यातुधनोंको

दूरकर तथा सम्पूर्ण अलक्ष्मी करने वाली पापदेवताओंको हमसे दूर रख ॥ ८ ॥

चतुर्थकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१२०) ॥

"उतो असि" इति सूक्तस्य पूर्ववद् विनियोगः ॥

'उतो असि' इस सूक्तका पहिले सूक्तकी समान विनियोग है ॥

तत्र प्रथमा ॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् १

उतो इति । असि । अबन्धुऽकृत् । उतो इति । असि । नु । जामिऽकृत् ।
उतो इति । कृत्याऽकृतः । प्रऽजाम् । नडम्ऽइव । आ । छिन्धि । वार्षिकम् ॥ १ ॥

सहदेव्यपामार्गयोरन्यतरः संबोध्यः । उतो अपि च हे सहदेवि अपामार्ग वा अबन्धुकृत् अबन्धूनां शत्रूणां कर्तकश्छेदकोसि । ❀ कृती छेदने इत्यस्मात् क्विप् ❀ ॥ उतो अपि च नु क्षिप्रं जामिकृत् जामयः सहजाः शत्रवः तेषामपि कर्तयिता [असि] भवसि । इत्थं सहजासहजभेदेन शत्रुद्वैविध्यम् अन्यत्रापि श्रुतम् । "जामिम् अजामिं प्र मृणीहि शत्रून्" [ऋ० ४. ४. ५] इति ॥ उतो अपि च कृत्याकृतः कृत्यायाः प्रयोक्तुः प्रजाम् पुत्रपौत्रादिकां वार्षिकम् वर्षासु भवं नडम् एतत्संज्ञं तुच्छेदं तृणविशेषमिव आ छिन्धि आसमन्तात् छिन्नां वियुक्तां कुरु । ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः । वार्षिकम् इति । "वर्षाभ्यष्ठक्" "छन्दसि ठञ्" इति ठञ् प्रत्ययः ❀ ॥

हे सहदेवी वा अपामार्ग ! तू शत्रुओंको काटने वाली है, तू स्वाभाविक शत्रुओंको भी काटने वाली है ‡ । तू कृत्याका प्रयोग करने वाले शत्रुकी पुत्र पौत्र आदि प्रजाको वर्षाऋतुमें होनेवाली नड नामक घासकी समान काट डाल ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नो-
ष्योषधे ॥ २ ॥

ब्राह्मणेन । परिऽउक्ता । असि । कण्वेन । नार्षदेन ।
सेनाऽइव । एषि । त्विषिऽमती । न । तत्र । भयम् । अस्ति ।
यत्र । प्रऽआप्नोषि । ओषधे ॥ २ ॥

नार्षदेन नृषदस्य पुत्रेण कण्वेन एतत्संज्ञेन ब्राह्मणेन मन्त्रदृशा हे ओषधे सहदेवि पर्युक्तासि परितो विनियुक्तासि । अतः त्विषीमते दीप्तिमते यजमानाय परिरक्षणार्थं सेनेव एषि गच्छसि । तादृशी त्वं यत्र यस्मिन् देशे प्राप्नोषि तत्र भयम् अभिचारादिजनितभीति-र्नास्ति । अतो भयनिवारकत्वात् सेनया उपमीयस इत्यर्थः ॥

---

‡ इस प्रकार स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेदसे दो प्रकार के शत्रुओंका वर्णन अन्यत्र भी मिलता है । यथा—ऋग्वेदसंहिता ४।४।५ में कहा है, कि—"जामिं अजामिं प्रमृणीहि शत्रून् ॥— स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों प्रकारके शत्रुओंका नाश करिये" ॥

दृषद्के पुत्र कण्व नामक मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मणने हे सहदेवि ! तेरा विनियोग किया है । अतः तू कान्तिमान् यजमानकी रक्षाके लिये सेनाकी समान जाती है, ऐसी तू जहाँ जाती है तहाँ अभिचारसे होने वाली भीति नहीं होती है । (अत एव भयनिवारक होनेसे तुझे सेनाकी उपमा दीजाती है) ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒ग्रमे॑ष्योष॑धीना॒ं ज्योति॑षेवाभिदी॒पय॑न् ।

उ॒त त्रा॒तासि॒ पाक॒स्याथो॑ ह॒न्तासि॑ र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

अ॒ग्रम् । ए॒षि । ओष॑धीनाम् । ज्योति॑षाऽइव । अ॒भि॒ऽदी॒पय॑न् ।

उ॒त । त्रा॒ता । अ॒सि॒ । पाक॑स्य । अथो॒ इति॑ । ह॒न्ता । अ॒सि॒ । र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

हे सहदेवि ओषधीनाम् सर्वासां वीरुधाम् अग्रम् प्रथमम् एषि । सर्वौषधिप्रतिनिधित्वेन मुख्या भवसीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः ज्योतिषेवेति । ज्योतिषा प्रकाशेन अभितः सर्वतो दीपयन् प्रकाशं यन्नादित्यः यथा सर्वज्योतिषाम् अग्रगण्यो भवति तथेत्यर्थः ॥ यद्वा ज्योतिषा आत्मीयेन तेजसैव स्वसामर्थ्येन अभिदीपयन् कृत्यादोषान् संदहन् हे अपामार्ग त्वं पाकस्य पक्तव्यप्रज्ञस्य दुर्बलस्य त्रातासि रक्षिता भवसि । तद्बाधकस्य च रक्षसः राक्षसस्य हन्तासि नाशयिता भवसि ॥

प्रकाशके द्वारा सब ओर दमकाते हुए सूर्य जिस प्रकार सब ज्योतियोंमें उत्तम हैं, हे सहदेवि ! इसी प्रकार तू भी सब ओषधियोंमें उत्तम है । अथवा हे अपामार्ग ! तू अपनी शक्तिसे कृत्याके दोषोंको दूर करता हुआ दुर्बलकी रक्षा करने वाला होता है और उसके बाधक राक्षसका नाश कर डालता है ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

यद्दो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत ।

ततस्त्वमध्योषधेपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

यत् । अदः । देवाः । असुरान् । त्वया । अग्रे । निःऽअकुर्वत ।

ततः । त्वम् । अधि । ओषधे । अपामार्गः । अजायथाः ॥ ४ ॥

हे ओषधे यत् यस्माद् अदः अमुष्मिन् विप्रकृष्टे अग्रे पुरा त्वया साधनेन देवाः इन्द्रादयः असुरान् [निरकुर्वत] निराकृतवन्तः ततः तस्मात् कारणात् हे ओषधे त्वम् अन्यासाम् ओषधीनाम् अधि उपरि वर्तमानः श्रेष्ठः सन् अपामार्गो अजायथाः अपामार्गात्मना उत्पन्ना भवसि । अपमार्जनाद् अपामार्ग इति संज्ञां लब्धवतीत्यर्थः ॥

हे ओषधे ! क्योंकि-पहिले तेरे साधनसे इन्द्र आदि देवताओं ने असुरोंको तिरस्कृत किया था, इस कारण हे ओषधे ! तू अन्य ओषधियोंके ऊपर वर्तमान रह कर अपामार्गरूपसे उत्पन्न होती है, अपामार्जनसे तेरा नाम अपामार्ग है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।

प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ५

विऽभिन्दती । शतऽशाखा । विऽभिन्दन् । नाम । ते । पिता ।

प्रत्यक् । वि । भिन्धि । त्वम् । तम् । यः । अस्मान् । अभिऽदासति ५

हे अपामार्गाख्ये ओषधे शतशाखा अपरिमितशाखा सती विभिन्दती विभेदनशीला एतत्संज्ञा भवसि । विभेदनशक्तिश्च

कारणगुणायातत्वाद् दुःसहेत्याह विभिन्दन्निति । हे अपामार्ग ते तव पिता उत्पादकः विभिन्दन् [नाम] विभेदकः एतत्संज्ञो भवति । अतः त्वं तम् अस्मदीयं शत्रुं प्रत्यग् भिन्धि प्रतीपगमनेन विदारय यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति । ❀ दसु उपक्षये । अस्मात् ण्यन्तात् लटि शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ ॥

हे अपामार्ग नाम वाली ओषधे ! तू अपरिमित शाखाओंको धारण कर विभिन्दती नाम पाती है, हे अपामार्ग ! तेरा उत्पादक विभिदन् (विभेदक) नामक है अतः तू जो हमको क्षीण करना चाहते हैं उन हमारे शत्रुओंके सामने जाकर उनको विदीर्ण करथ

षष्ठी ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।

तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

असत् । भूम्याः । सम् । अभवत् । तत् । याम् । एति । महत् । व्यचः ।

तत् । वै । ततः । विऽधूपायत् । प्रत्यक् । कर्तारम् । ऋच्छतु ६

हे ओषधे त्वत् सकाशाद् महत् अधिकं व्यचः व्याप्तं तेजो निष्क्रम्य यां भूमिम् एति प्राप्नोति तस्यां भूम्यां निखातम् [असत् सम् अभवत्] । बाधितुं न शक्नोतीत्यर्थः । तद् [वै] असत्कल्पं कृत्यारूपं ततः तस्माद् देशाद् निर्गत्य विधूपायत् विशेषेण धूपितं प्रज्वलितं सत् कर्तारम् कृत्याकृतमेव प्रत्यग् ऋच्छतु प्रतिनिवृत्य पीडयतु । यद्वा असत् अशोभनं कृत्यारूपं समभवत् परपीडार्थं समजायत । तत्र कृत्यायुक्तां यां भूमिं त्वदीयं महद् व्यचः प्राप्नोतीत्यादि पूर्ववत् । ❀ विधूपायत् । धूप संतापे । "गुपूधूपविच्छि०" इति आयप्रत्ययः ❀ ॥

हे ओषधे ! तेरे पाससे जो व्याप्त तेज निकलकर जिस भूमिको प्राप्त होता है, उस भूमिमें गाड़ी हुई कृत्या असत् होकर बाधित नहीं कर सकती, यह असत् कृत्या इस स्थानसे निकल प्रज्वलित होता हुआ लौट कर कृत्याका प्रयोग करने वालेको ही नष्ट करे६

सप्तमी ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।

सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥७॥

प्रत्यक् । हि । सम्ऽबभूविथ । प्रतीचीनऽफलः । त्वम् ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवय । वधम् ॥७॥

हे प्रतीचीनफल। प्रतीचीनानि आत्माभिमुखानि फलानि यस्य सः अपामार्गः प्रतीचीनफलः । हे तादृश त्वं प्रत्यक् हि प्रत्यञ्चनः प्रतिनिवृत्तमुख एव खलु संबभूविथ उदपद्यथाः । हि शब्दो हेतौ । हि यस्माद् एवं तस्मात् सर्वान् शत्रुकृतान् शपथान् आक्रोशान् मत्-सकाशाद् यवय पृथक् कुरु। अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । पृथक्कृत्य च शप्तारमेव प्रतीचीनं प्रापयेत्यर्थः । तथा वरीयः उरुतरं विस्तीर्णतरं वधम् तदीयं हननसाधनम् आयुधं कृत्यारूपं वा अस्मत्तः पृथक् कुरु॥

हे अभिमुख फल वाले अपामार्ग ! तू प्रतिनिवृत्त मुख वाला ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण शत्रुके किये हुए सब आक्रोशों को मुझसे पृथक् कर और अलग करके मेरे शत्रुके ऊपर ही भेज और शत्रुके विस्तृत हननसाधन कृत्या या आयुधोंको हमसे अलग कर ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।

इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

शतेन । मा । परि । पाहि । सहस्रेण । अभि । रक्ष । मा ।

इन्द्रः । ते । वीरुधाम् । पते । उग्रः । ओज्मानम् । आ । दधत् ॥ ८ ॥

हे ओषधे सहदेवि अपामार्ग वा शतेन शतसंख्याकेन रक्षणोपायेन मा मां परि पाहि ॥ तथा सहस्रेण सहस्रसंख्याकेन मा माम् अभि रक्ष कृत्याकृताद् दोषात् सर्वतः पालय ॥ हे वीरुधां पते लतारूपाणाम् ओषधीनाम् अधिपते ते तव उग्रः उद्गूर्णबलः इन्द्रो देवः ओज्मानम् ओजस्वित्वम् आ दधत् आस्थापयतु । ददातु इत्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे ओषधे ! रक्षणके सैंकड़ों उपायोंसे तू मेरी रक्षा कर और सहस्रों उपायोंसे कृत्याके दोषसे बचा हे लतापति ओषधे ! प्रचण्ड बली इन्द्र मुझमें ओजस्वित्वको स्थापित करे ॥ ८ ॥

चतुर्थ काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१८१)॥

"आ पश्यति" इति सूक्तेन ब्रह्मग्रहादिजनितभयनिवृत्तये त्रिसंध्यामणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "आ पश्यतीति सदंपुष्पामणिं बध्नाति" इति [कौ० ४. ४] ॥

तथा चातनगणेपि एतत् सूक्तम् । [तद् उक्तं] कौशिकेन । "शं नो देवी पृश्निपर्णी [२. २५] आ पश्यति [४. २०] तान्त्सत्यौजाः [४. ३६]" इति [कौ० १. ८] । अतोस्य सूक्तस्य "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ० ४. १] इत्याद्युक्तकर्मसु विनियोगः ॥

"आ पश्यति" इस सूक्तसे ब्रह्मग्रह आदिसे उत्पन्न हुए भयको हटानेके लिये त्रिसंध्या (दुपहरियाकी) मणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, "आ पश्यतीति सदंपुष्पामणिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ४ । ४) ॥

तथा चातनगणमें भी इस सूक्तका पाठ है। इसी बातको कौशिकसूत्र १।८में कहा है, कि-"शंनो देवी पृश्निपर्णी (२।२५) आ पश्यति (४ । २०) तान्त्सत्यौजाः (४ । ३६) ॥" अतः इस सूक्तका "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्" (कौशिकसूत्र ४ । १) आदि कर्मोंमें विनियोग होता है॥

तत्र प्रथमा ॥

आ पंश्यति प्रतिं पश्यति परा पश्यति पश्यंति ।
दिवंमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति॥१॥

आ । पश्यति । प्रति । पश्यति । परा । पश्यति । पश्यति ।
दिवम् । अन्तरिक्षम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । तत् । देवि । पश्यति १

हे देवि देवतारूपे सदंपुष्याख्ये ओषधे त्वद्विकारमणिधारकोयं जनस्त्वत्प्रसादात् आ पश्यति आगामिभयकारणं परिहर्तुं जानाति। तथा प्रति पश्यति प्रतिमुखं स्थितं वर्तमानमपि भयकारणं निरसितुं जानाति ॥ तथा परा पश्यति परागतं दूरस्थमपि भयकारणम् अवलोकयति ॥ किं बहुना । अविशेषेण सर्वमपि भयकारणम् असौ पश्यति साक्षात्करोमि ॥ ये खलु ब्रह्मग्रहादयो भयहेतवः ते सर्वे पृथिव्यादिलोकत्रयं व्याप्य वर्तन्ते अतस्तदपरिज्ञाने तदाश्रया ब्रह्मग्रहादयो दुष्परिज्ञाना इत्यभिप्रेत्याह दिवम् अन्तरिक्षम् इति । दिवम् स्वर्गम् अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमं लोकम् आत् अनन्तरं भूमिम् पृथिवीम् एतल्लोकत्रयोपलक्षितं तत् तत्रत्यं सर्वम् प्राणिजातं त्रिसंध्यामणिधारणमाहात्म्येन पश्यति साक्षात्करोति । एवं सर्वज्ञतया जागरूकं तं ब्रह्मग्रहादिर्न स्पृशतीत्यर्थः ॥

हे देवस्वरूप सदंपुष्पा नाम वाली ओषधे ! तेरी मणिको धारण करनेवाला यह पुरुष तेरे प्रसादसे आने वाले भयको देखता

है अर्थात् उसके हटानेके उपायको जान जाता है और वर्तमान भयके कारणके हटानेके उपायको भी जान जाता है। दूरस्थित भयके कारणको भी देखता है अर्थात् उसके हटानेके उपायको जान जाता है, अधिक क्या, भयके सब कारणोंका यह साक्षात् करता है (अब शका होती है, कि—ब्रह्मग्रह आदि भयके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर रहते हैं अतः उनके आश्रित ब्रह्मग्रह आदिका ज्ञान होना कठिन है, इसका समाधान करनेके लिये कहा है, कि—) स्वर्ग अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीनोंके सब प्राणियोंको त्रिसंध्यामणिके धारणसे साधक देखता है। तात्पर्य यह है, कि—इस प्रकार सर्वज्ञ होनेसे सावधान रहने वाले उस साधकको ब्रह्मग्रह आदि स्पर्श नहीं करते ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

तिस्रः । दिवः । तिस्रः । पृथिवीः । षट् । च । इमाः । प्रऽदिशः । पृथक् । त्वया । अहम् । सर्वा । भूतानि । पश्यानि । देवि । ओषधे ॥२॥

"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८] इत्यादिमन्त्रवर्णात् "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" [ऐ० ब्रा० २. १७] इत्यादिब्राह्मणवचनाच्च पृथिव्यादिलोकानां प्रत्येकं त्र्यात्मकत्वम् अवसीयते। तद् इदम् उच्यते तिस्रो दिव इत्यादिना । तिस्रः त्रिसंख्याका दिवः द्युलोकान् [तिस्रः] त्रिसंख्याकाः पृथिवीश्च इमा परिदृश्यमानाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वाधोदिग्भ्यां सह षट्संख्याकाश्च तथा तत्रस्थानि सर्वा सर्वाणि

भूतानि भूतजातानि हे देवि देवतारूपे ओषधे त्वया मणिरूपेण धार्यमाणया अहं [पृथक्] पश्यानि साक्षात्करवाणि ॥

("तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् ॥—तीन भूमि और तीन स्वर्गोंको धारण करता हुआ" इस ऋग्वेदके २। २७। ८ वें मन्त्रसे और "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इस ऐतरेय ब्राह्मण २। १७ की श्रुतिसे पृथिवी आदि तीनों लोकोंका त्र्यात्मकत्व निश्चित होता है। इसी बातको इस मन्त्रमें कहते हैं, कि—तीन स्वर्ग, तीन पृथिवी तथा ऊपरकी और नीचेकी दिशासहित छः दिशा तथा तथा इनमें रहने वाले सब प्राणियोंको भी हे देवता-रूप ओषधे ! तेरी धारणकी हुई मणिके प्रभावसे मैं देखता हूँ २

तृतीया ॥

दि॒व्यस्य॑ सु॒प॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का ।

सा भू॒मिमा रु॑रोहिथ व॒ह्यं श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व ॥ ३ ॥

दि॒व्यस्य॑ । सु॒ऽप॒र्णस्य॑ । तस्य॑ । ह॒ । अ॒सि॒ । क॒नीनि॑का ।

सा । भू॒मिम् । आ । रु॒रो॒हि॒थ॒ । व॒ह्य॑म् । श्रा॒न्ता । व॒धूः॑ऽइ॑व ३

हे सदंपुष्पौषधे दिव्यस्य दिवि भवस्य देवतारूपस्य सुपर्णस्य शोभनपक्षयुक्तस्य तस्य प्रसिद्धस्य गरुत्मतः चक्षुषोर्वर्तमाना कनीनिका दर्शनसाधनं कृष्णमण्डलम् असि । हशब्दः प्रसिद्धौ । तदीयस्य पुष्पस्य कनीनिकासाधर्म्यात् तद्रूपेण ओषध्या स्तुतिः । सा तादृशी त्वं सौपर्णचक्षुर्मण्डलात् भूमिम् आ रुरोहिथ । जगद्रक्षणार्थम् ओषधिरूपेण भूमौ अवतीर्णासीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः वह्यम् इति । श्रान्ता अध्वश्रमखिन्ना गन्तुम् असमर्था [वधूः] स्त्री यथा वह्यम् वहनसाधनम् अश्वान्दोलिकादि यानम् आरोहति तद्वद् इत्यर्थः । ॐ "वह्यं करणम्" इति वहतेर्यत् प्रत्ययो निपात्यते ।

श्रान्तेति । श्रमु तपसि खेदे च । "यस्य विभाषा" इति निष्ठायाम् इडभावः । "अनुनासिकस्य क्विझलोः०" इति दीर्घत्वम् ॥

हे सदम्पुष्पौषधे ! स्वर्गमें होने वाले देवतारूप शोभन पक्ष वाले गरुड़की तू नेत्रोंमें वर्तमान कनीनिका है। (सदम्पुष्पाका पुष्प कनीनिकाकी समान होता है, अत एव तादृरूप्यसे ओषधिकी स्तुति की है) ऐसी तू थकी हुई स्त्री जैसे पालकी आदि पर चढ़ती है तिस प्रकार गरुड़के नेत्रमण्डलसे भूमि पर उत्पन्न हुई है, अर्थात् जगत्की रक्षा करनेके लिये ओषधिरूपसे भूमिमें अवतीर्ण हुई है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

ताम् । मे । सहस्रऽअक्षः । देवः । दक्षिणे । हस्ते । आ । दधत् ।
तया । अहम् । सर्वम् । पश्यामि । यः । च । शूद्रः । उत । आर्यः ॥४

ताम् उक्तप्रभावां सदंपुष्पाख्याम् ओषधिं देवः दानादिगुणयुक्तः सहस्राक्षः इन्द्रो मे मम दक्षिणे हस्ते आ दधत् अधारयत् । हे तादृशि ओषधे त्वया दक्षिणहस्ते मणिरूपेण धृतया अहं सर्वम् द्रष्टव्यं विषयं पश्यामि साक्षात्करोमि । द्रष्टव्यं विषयं निर्दिशति यश्चेति । शूद्रोपलक्षितो यस्त्रैवर्णिकव्यतिरिक्तो जनः आर्यो विद्वान् ब्राह्मणः । त्रैवर्णिकोपलक्षणम् एतत् । ये च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या ये च तद्व्यतिरिक्ताः शूद्रादयः तान् सर्वान् वशीकृत्य तत्कृतं रक्षःपिशाचादिकं निरसितुं पश्यामीत्यर्थः ॥

उक्तप्रभाव वाली सदम्पुष्पा ओषधिको सहस्राक्ष दानादिगुण युक्त इन्द्रने मेरे दाहिने हाथमें धारण कराया है । हे दाहिने हाथमें

मणिरूपसे धारण कीहुई औषधे! तेरे द्वारा मैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सबको वशमें करके उनसे प्रयुक्त राक्षस पिशाच आदि को देखता हूँ अर्थात् उनको दबानेका उपाय कर लेता हूँ ॥४॥

पञ्चमी ॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥

आविः । कृणुष्व । रूपाणि । मा । आत्मानम् । अप । गूहथाः । अथो इति । सहस्रचक्षो इति सहस्रऽचक्षो । त्वम् । प्रति । पश्याः । किमीदिनः ॥ ५ ॥

हे ओषधे त्वदीयानि रक्षःपिशाचादिनिवर्तकानि रूपाणि आविष्कृणुष्व प्रकाशय । आत्मानम् तव स्वरूपं माप गूहथाः संवृतं मा कार्षीः । ❀ गुहू संवरणे ❀ ॥ अथो अपि च हे सहस्रचक्षो सहस्रसंख्याकानि चक्षूंषि दर्शनसाधनानि इन्द्रियाणि यस्याः सा सहस्रचक्षुः हे तथाविधे ओषधि त्वं किमीदिनः किम् इदानीं किम् इदानीम् इति गूढं संचरतो राक्षसान् प्रतिपश्याः । अस्मद्रक्षणार्थं प्रतीक्षस्व । ❀ प्रतिपश्या इति । प्रतिपूर्वाद् दृशेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

हे ओषधे ! तू राक्षस पिशाच आदिको हटानेवाले अपने रूपों को प्रकाशित कर, अपने स्वरूपको न छिपा और हे सहस्रों दर्शन-साधनोंसे देखने वाली ओषधे ! गूढ़ रूपसे फिरनेवाले राक्षसोंको हमारी रक्षा करनेके लिये देख ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

दर्शय । मा । यातुऽधानान् । दर्शय । यातुऽधान्यः ।

पिशाचान् । सर्वान् । दर्शय । इति । त्वा । आ । रभे । ओषधे ६

हे सदंपुष्पौषधे यातुधानान् राक्षसान् मा मां दर्शय । गूढं यथा न बाधन्ते तथा कुरु इत्यर्थः ॥ यातुधान्यः यातुधानीः राक्षसीश्च दर्शय ॥ तथा पिशाचान् पिशिताशान् यातुधानव्यतिरिक्तान् सर्वान् रक्षोविशेषान् दर्शय इति एवमर्थम् हे ओषधे त्वा त्वाम् आ रभे धारयामि ॥

हे सदम्पुष्पा ओषधे ! तू राक्षसोंको मुझे दिखा अर्थात् वे जिस प्रकार गुप्तरूपमें रहकर मुझे पीड़ा न देसकें वैसा कर और यातुधानियोंको तथा सब प्रकारकी पिशाचियोंको भी मुझे दिखा इसी कारण हे ओषधे ! मैं तुझको धारण करता हूं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

कश्यपस्य । चक्षुः । असि । शुन्याः । च । चतुःऽअक्ष्याः ।

वीध्रे । सूर्यम्ऽइव । सर्पन्तम् । मा । पिशाचम् । तिरः । करः ७

हे ओषधे त्वं कश्यपस्य महर्षेः चक्षुरसि । तादृशपुष्पोपेतत्वात् तादात्म्येन स्तुतिः । तथा चतुरक्ष्याः चत्वारि अक्षीणि यस्याः सा चतुरक्षी तादृश्याः शुन्याः देवानां संबन्धिन्याः सरमाख्यायाः । चक्षुरसीत्यनुषङ्गः । एतेन अप्रधृष्यत्वम् उक्तम् । वीध्रे । विविधम् इन्धते दीप्यन्तेऽस्मिन् ग्रहनक्षत्रादीनीति वीध्रम् अन्तरिक्षम् । ❀ वाविन्धेः [उ० २, २६] इति औणादिको रक् प्रत्ययः ❀ । तत्र सर्पन्तम् गच्छन्तं सूर्यमिव इतस्ततः सर्पणशीलं पिशाचं मा तिर-

स्कर: अन्तर्हितं मा कार्षीः । ❀ कर इति । करोतेर्माङि लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

हे ओषधे ! तू महर्षि कश्यपकी चक्षु है (सदम्पुष्पाका पुष्प वैसा ही होता है अत एव तादात्म्यसे स्तुति की है) तथा चार नेत्र वाली देवताओंकी कुक्कुरी सरमाकी भी तू चक्षु है (इससे औषधिका अमघृष्यत्व सूचित किया है) जिसमें अनेक प्रकारसे ग्रह नक्षत्र आदि दिपते हैं उस वीध्र नामक अन्तरिक्षमें सूर्यकी समान इधर उधर घूमते हुए पिशाचको अन्तर्हित न कर ॥७॥

अष्टमी ॥

उद॑ग्रभं परि॒पाणा॑द् यातु॒धानं॒ किमी॒दिन॑म् ।
तेना॒हं सर्वं॑ पश्याम्यु॒त शू॒द्रमु॒तार्य॑म् ॥ ८ ॥

उत् । अ॒ग्र॒भ॒म् । प॒रि॒ऽपाना॑त् । या॒तु॒ऽधान॑म् । कि॒मी॒दिन॑म् ।
तेन॑ । अ॒हम् । सर्व॑म् । प॒श्या॒मि॒ । उ॒त । शू॒द्रम् । उ॒त । आर्य॑म् ८

परिपानात् परिरक्षणात् हेतोः किमीदिनम् किम् इदानीं किम् इदानीम् इति चरन्तं यातुधानम् राक्षसम् उत् अग्रभम् उद्गृहीतवान् अस्मि । वशीकृतवान् अस्मीत्यर्थः । तेन यातुधानेन अहं सर्वं ग्रहं पश्यामि । उत शूद्रम् । शूद्रजातियुक्तम् उत आर्यम् ब्राह्मणजातियुक्तं च । सर्वं ग्रहं पश्यामीत्यर्थः ॥

परिरक्षणके कारण मैंने राक्षसको वशमें कर लिया है, उसके द्वारा मैं शुद्रजातियुक्त वा ब्राह्मणजातियुक्त सब ही ग्रहोंको देखता हूँ

नवमी ॥

यो अ॒न्तरि॑क्षेण॒ पत॑ति॒ दिवं॒ यश्चा॑ति॒सर्प॑ति ।
भूमिं॒ यो मन्य॑ते ना॒थं तं पि॑शा॒चं प्र द॑र्शय ॥ ९ ॥

यः । अन्तरिक्षेण । पतति । दिवम् । यः । च । अतिऽसर्पति ।

भूमिम् । यः । मन्यते । नाथम् । तम् । पिशाचम् । प्र । दर्शय ॥६॥

यः पिशाचः अन्तरिक्षेण द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्तिना लोकेन पतति संचरति यश्च दिवम् अधिसर्पति द्युलोकस्योपरि गच्छति यश्च भूमिम् पृथिवीम् आत्मनो नाथम् स्वामिनं मन्यते तं सर्वं त्रैलोक्यवर्तिनं पिशाचम् प्र दर्शय चक्षुर्गोचरं कुरु । त्रिसंध्यामणिधारणेन ब्रह्मग्रहादीन् साक्षात्कृत्य मन्त्रसामर्थ्येन तान् निराकरोमीत्यर्थः ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे चतुर्थकाण्डे चतुर्थोऽनुवाकः ॥

जो पिशाच द्यावापृथिवीके बीचके अन्तरिक्षलोकमें घूमता है और जो स्वर्गमें विचरता है और जो पृथिवीको अपने अधीन समझता है, उस त्रैलोक्यवर्ती पिशाचको मुझे दिखा। तात्पर्य यह है, कि—त्रिसंध्यामणिको धारण करनेके प्रभावसे मैं ब्रह्मग्रह आदिका साक्षात्कार कर मंत्रकी शक्तिसे उनका उपाय करता हूँ ६

चतुर्थकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१२२) ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "आ गावः" इत्यादिसूक्तदशकस्य मृगारसंज्ञकत्वात् "मृगारैश्चेत्याप्लावयति" [कौ० ४. ३] इत्यादिसूत्रविहिते सर्वभैषज्यकर्मणि होमसंपातावसेकादिषु विनियोगः । तत्र "आ गावः" इति प्रथमेन सूक्तेन गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु सलवणं केवलं वा उदकम् अभिमन्त्र्य गाः पाययेत् । सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् [४. १] आ गावः [४. २१] एका च मे [५. १५] इति गा लवणं पाये-

प्रत्युपतापिनीः प्रजननकामाः प्रपाम् अवरुणद्धि” इति [कौ० ३.२]॥

तथा गोपुष्टिकर्मणि अनेनैव सूक्तेन गोष्ठं प्रत्यागच्छन्तीर्गाः प्रत्युद्गच्छेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनैव सूक्तेन इन्द्राय चरुं त्रिर्जुहुयात् ॥

तथा “प्रजावतीः” [७] इत्यनया अरण्यं प्रति गच्छन्तीर्गाः अनुमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि ॥ “आ गाव इति गा आयतीः प्रत्युत्तिष्ठति । [मान्त्रिषि प्रथमधारस्य] इन्द्राय त्रिर्जुहोति । प्रजावतीरिति प्रतिष्ठमाना अनुमन्त्रयते” इति [कौ० ३.४] ॥

तथा तत्रैव कर्मणि “प्रजावतीः” [७, ८] इति द्वाभ्याम् अभिनवं पयो वत्सलालामिश्रितं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा [अनेनैव] द्व्यृचेन गा अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

तथा उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोष्ठमध्ये निनयेत् ॥

एवं सारूपवत्सौदने गुग्गुलुलवणशकृत्पिण्डान् प्रक्षिप्य पश्चादग्नेस्त्रिरात्रं निखाय चतुर्थेऽहनि उद्धृत्य अनेन द्व्यृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । “प्रजावतीः [७, ८] प्रजापतिः [६. ७] इति गोष्ठकर्माणि सृष्टेः पीयूषं श्लेष्मप्रमिश्रम् अश्नाति” [कौ० ३.२] इति

सोमयागे माध्यंदिनसवने दक्षिणार्थम् आगता गा हिरण्यहस्तो यजमानः अनेन सूक्तेन प्रत्युत्तिष्ठेत् । उक्तं वैताने । “हिरण्यहस्तो यजमानो बहिर्वेदि दक्षिणा आयतीरा गाव इति प्रत्युत्तिष्ठति” इति [वै० ३.११] ॥

पञ्चम अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें “आ गावः” आदि दश सूक्त मृगारसूक्त कहलाते हैं । अतः “मृगारैर्ज्ञ्येत्यासावयति” (कौशिकसूत्र ४ । २) इत्यादि सूत्रोंसे विहित सर्वभैषज्यकर्ममें और होम सम्पात अवसेक आदिमें इनका विनियोग है । उनमें

'आ गावः' इस प्रथमसे गौओंकी शान्ति, गौओंकी पुष्टि और प्रजननकर्ममें लवणसहित वा केवल जलका अभिमंत्रण कर गौओं को पिलावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ब्रह्म जज्ञानम् (४ । १) आ गावः (४ । २१) एका च मे (५ । १५) इति गा लवणं पाययत्युपतापिनीः प्रजननकामाः प्रपा अवरुणद्धि" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

तथा गोपुष्टिकर्ममें इसी सूक्तसे गोष्ठमें आतीहुई गौओंके सामने खड़ा होवे ॥

और इसी कर्ममें इस सूक्तसे इन्द्रदेवको चरुकी तीन आहुति देय

तथा "प्रजावतीः" इस सातवीं ऋचासे जङ्गलको जाती हुई गौओंका अनुमन्त्रण करे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आ गाव इति आयतीः प्रत्युत्तिष्ठति । [प्राहृपि प्रथमधारस्य] इन्द्राय त्रिर्जुहोति । प्रजावतीरिति प्रतिष्ठमाना अनुमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ३ । ४) ॥

तथा इसी कर्ममें "प्रजावतीः" इन सातवीं आठवीं ऋचासे बछड़ेकी लारसे मिश्रित नवीन दुग्धका संपातन और अभिमंत्रण करके प्राशन करे ॥

तथा इन्हीं दो ऋचाओंसे गौओंको अभिमंत्रित करके दान देय ॥

तथा जलपूर्ण पात्रका अभिमंत्रण करके गोठके मध्यमें लेजावे।

इसी प्रकार सारूपवत्सौदनमें गूगल लवण और शकल्पिण्डों को डाल कर अग्निमें तीन रात्रि तक दबा रहने दे फिर चौथे दिन निकाल कर इन दो ऋचाओंसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'प्रजावतीः (७, ८) प्रजापतिः (६ । ७) इति गोष्ठकर्माणि सृष्टे पीयूषं श्लेष्ममिश्रं अश्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें दक्षिणाके लिये आई हुई गौओं के प्रति यजमान हाथमें सुवर्णको लेकर इस सूक्तको पढ़ता हुआ उठे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'हिरण्यहस्तो यजमानो बहिर्वेदि दक्षिणा आयतीरा गाव इति प्रत्युत्तिष्ठतीति" (वैतानसूत्र ३। ११)॥

तत्र प्रथमा ॥

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॑ दुहा॑नाः १

आ। गावः। अग्मन्। उत। भद्रम्। अक्रन्। सीदन्तु। गोऽस्थे।
रणयन्तु। अस्मे इति।
प्रजाऽवतीः। पुरुऽरूपाः। इह। स्युः। इन्द्राय। पूर्वीः। उषसः।
दुहानाः॥ १॥

गावः [आ] अग्मन् अस्मान् अभिलक्ष्य आगच्छन्तु। ❀"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ्। "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "गमहन०" इति उपधालोपः ❀॥ उत अपि च भद्रम् कल्याणम् अक्रन् कुर्वन्तु। ❀ पूर्ववल्लुङ् ❀॥ गावस्तिष्ठन्त्यत्रेति गोष्ठम्। तस्मिन्नस्मदीये गोष्ठे सीदन्तु उपविशन्तु॥ अस्मे अस्मान् रणयन्तु क्षीरादिप्रदानेन रमयन्तु। यद्वा अस्मे अस्मासु रमन्ताम्॥ प्रजावतीः प्रजावत्यः बह्वपत्याः पुरुरूपाः बहुरूपाः श्वेतकृष्णारुणाद्यनेकवर्णाः इह अस्मिन् यजमानगृहे स्युः समृद्धा भवेयुः॥ पूर्वीः बह्वीः उषसः उषःकालोपलक्षितान्। ❀"०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀। सर्वकालम् इन्द्राय इन्द्रार्थं सांनाय्यार्थम् आशिरार्थं च पयो दुहानाः। भवन्तु इति शेषः॥

गौएँ हमको लक्ष्य करके आवें, और कल्याण करें, गोठमें बैठें, हमें क्षीर आदि देकर आनन्दित करें। प्रजा वाली श्वेत कृष्ण आदि अनेक रूप वाली गौएँ इस यजमानके घरमें बढ़ें। अनेक उषःकालों तक इन्द्रको बुलानेके लिये दुग्धको दुहाती रहें॥१

द्वितीया ॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥ २ ॥

इन्द्रः । यज्वने । गृणते । च । शिक्षते । उप । इत् । ददाति । न । स्वम् । मुषायति ।
भूयःऽभूयः । रयिम् । इत् । अस्य । वर्धयन् । अभिन्ने । खिल्ये । नि । दधाति । देवऽयुम् ॥ २ ॥

यज्वने यागं कुर्वते गृणते स्तुवते च जनाय इन्द्रो देवः शिक्षते। दानकर्मायम्। गाः प्रयच्छति। यद्वा यज्वने स्तोत्रे च शिक्षते गवां लाभोपायम् उपदिशति। ❀ शिक्ष विद्योपादाने ❀। शिक्षानन्तरं स्वयम् उपेत्य। इच्छब्दः अवधारणे। यद्वा ताः गाः ददात्येव। तस्य च यज्वनः स्तोतुश्च स्वम् धनं न मुषायति न मुष्णाति नापहरति। अपि तु भूयोभूयः बहुतरम् अस्य यज्वनः स्तोतुश्च रयिम् धनं वर्धयन्नित् समृद्धं कुर्वन्नेव वर्तते॥ एवम् ऐहिकफलविषयम् उक्तम्। आमुष्मिकविषयेप्याह। तं देवयुम् देवान् आत्मन इच्छन्तं यज्वानं स्तोतारं च अभिन्ने दुःखेन असंभिन्ने खिल्ये खिलम् अप्रहतं स्थानम् तत्र भवं खिल्यम्

[तस्मिन्] अयज्वभिः अगृणद्भिश्च अनाक्रान्ते नाकस्य पृष्ठे नि दधाति स्थापयति । ❀ देवयुम् इति । देवशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्"। "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति ईत्वदीर्घयोः प्रतिषेधः। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

याग करने वाले और स्तुति करनेवाले पुरुषको इन्द्रदेव गोप्राप्तिके उपायका उपदेश देते हैं। उपदेश देनेके अनन्तर वही बहुतसी गौओंको देते हैं और उस यजमानके तथा स्तोताके भी धनका अपहरण नहीं करते हैं, किन्तु इस यजमान स्तोताकी धनसमृद्धिको बढ़ाते ही रहते हैं (इस प्रकार इस लोकमें मिलने वाला फल कह दिया अब परलोकमें मिलने वाला फल कहते हैं, कि–) उस देवभक्त यजमान और स्तोताको सूर्यदेव दुःखसे रहित अमहत स्थान स्वर्गमें स्थापित करते हैं, उसमें यज्ञ न करने वाले नहीं पहुँचते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

न । ताः । नशन्ति । न । दभाति । तस्करः । न । आसाम् । आमित्रः । व्यथिः । आ । दधर्षति ।
देवान् । च । याभिः । यजते । ददाति । च । ज्योक् । इत् । ताभिः । सचते । गोऽपतिः । सह ॥ ३ ॥

ताः इन्द्रेण दत्ता गावः न नशन्ति न नश्यन्तु ॥ तस्करः चोरश्च न दभाति न हिनस्तु । ❀ नश अदर्शने । दन्भु दम्भे । आभ्यां लेटि यथाक्रमम् अडागम आडागमश्च । छान्दसो विकरणस्य लुक् ❀ ॥ आसां गवाम् आमित्रः अमित्राः शत्रवः तत्संबन्धी तत्कृतो व्यथिः व्यथाजनकम् आयुधं ना दधर्षति आधर्षणं पीडां मा करोतु ॥ याभिर्गोभिः देवान् यजते क्षीरादिहविर्द्वारा याश्च गास्तत्र यज्ञे दक्षिणात्वेन ददाति ताभिर्गोभिः सह गोपतिः गोस्वामी यजमानः ज्योगित् चिरकालमेव सचते समवैति सेवते वा । न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यवधारणाभिप्रायः ॥

इन्द्रकी दी हुई वे गौएँ नष्ट न हों, चोर भी उनका संहार न कर सके, इन गौओंके शत्रुओंका व्यथा करने वाला आयुध भी इनको पीड़ित न कर सके। जिन गौओंके दुग्ध आदिके द्वारा यजमान देवताओंकी पूजा करता है और जिन गौओंको दक्षिणा-रूपमें देता है। उन गौओंके साथ गोस्वामी यजमान चिरकाल तक रहे, कभी वियुक्त न होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

न । ताः । अर्वा । रेणुऽककाटः । अश्नुते । न । संस्कृतत्रम् । उप । यन्ति । ताः । अभि ।

उरुऽगायम् । अभयम् । तस्य । ताः । अनु । गावः । मर्तस्य । वि ।
चरन्ति । यज्वनः ॥ ४ ॥

अर्वा हिंसको व्याघ्रादिः रेणुककाटः पादाघातेन रेणोः पार्थिवस्य रजस उद्भेदकः । ॐ कटिर्भेदनकर्मा ॐ । एवं क्रूरो व्याघ्रादिर्दुष्टमृगः ता गाः नाश्नुते न प्राप्नोतु ॥ तथा ता गावः संस्कृतत्रम् । संस्कृतं विशसितं त्रयते पालयतीति संस्कृतत्रो मांसपाचकः। उक्तं हि ।

संस्कृतः स्याद् विशसितः संस्कृतत्रश्च पाचकः ।

इति । तम् अभिलक्ष्य नोप यन्ति नोपगच्छन्तु ॥ तस्य यज्वनो मर्तस्य मनुष्यस्य उरुगायम् विस्तीर्णगमनम् अभयं भयरहितं देशम् अनुलक्ष्य ता गावो वि चरन्ति विविधं चरन्तु ॥

हिंसक और पैरोंसे धूलको उड़ाने वाला व्याघ्र आदि दुष्ट पशु इन गौओंको प्राप्त न हो और गौएँ संस्कृतत्रकी अर्थात् कटे हुए मांसको पकाने वालेकी † ओर न जावें, इस मनुष्य यजमानके विस्तृत गमन वाले भयरहित देशकी ओर अनेक प्रकारसे विचरण करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य
प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा
चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

† कहा भी है, कि—"संस्कृतः स्याद विशसितः संस्कृतत्रश्च पाचकः ॥—काटी हुई वस्तु संस्कृत कहलाती है और उसका पाचक संस्कृतत्र कहलाता है ॥"

गावः । भगः । गावः । इन्द्रः । मे । इच्छात् । गावः । सोमस्य । प्रथमस्य । भक्षः ।

इमाः । याः । गावः । सः । जनासः । इन्द्रः । इच्छामि । हृदा । मनसा । चित् । इन्द्रम् ॥ ५ ॥

गाव एव भगः धनं पुरुषस्य सौभाग्यं वा । ततश्च मे मह्यं गावः यथा भवन्ति तथा इन्द्र इच्छात् इच्छेत् । ❀ इषु इच्छायाम् । अस्मात् लेटि आडागमः । "इषुगमियमां छः" ❀ । प्रथमस्य मुख्यस्य हविषां मध्ये श्रेष्ठस्य सोमस्य गावः भक्षो भवन्ति । अभिषुतो हि सोमो गव्येन पयसा दध्ना च श्रीयते ॥ इमा या गावो दृश्यन्ते हे जनासः जनाः स एवेन्द्रः । प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षं स इत्येकवचनम् । ता एव गावः इन्द्र इति उपजीव्योपजीवकभावेन इन्द्रात्मना गवां स्तुतिः । अतस्तदीयेन पयःप्रभृतिना हविषा इन्द्रं यष्टुं हृदा हृदयेन मनसा तदन्तर्वर्तिना ज्ञानकरणेन च इच्छामि कामये । चिच्छब्दः अप्यर्थे ॥

गौएँ ही पुरुषका धन वा सौभाग्यरूप हैं, इस कारण जिस प्रकार मेरे गौएँ हों, तैसे इन्द्र इच्छा करें । हवियोंमें श्रेष्ठ और मुख्य सोमकी गौएँ भक्ष होती हैं अर्थात् अभिषुत सोम गौके दूध वा दहीमें पकाया जाता है । हे मनुष्यो ! यह जो गौएँ दीख रही हैं यही इन्द्र (रूप) हैं । अतः इनके दूध आदिकी बनी हुई हविसे मैं हृदयके द्वारा और उसके भीतर रहने वाले ज्ञानके द्वारा इन्द्रकी पूजा करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

यूयम् । गावः । मेदयथ । कृशम् । चित् । अश्रीरम् । चित् । कृणुथ । सुऽप्रतीकम् ।

भद्रम् । गृहम् । कृणुथ । भद्रऽवाचः । बृहत् । वः । वयः । उच्यते । सभासु ॥ ६ ॥

हे गावः यूयं कृशं चित् कृशमपि शरीरिणं मेदयथ स्नेहयथ पयोदध्यादिना आप्याययथ ॥ अश्रीरं चित् अश्रीकम् अशोभनाङ्गमपि पुरुषं सुप्रतीकम् शोभनावयवं कृणुथ कुरुथ ॥ हे भद्रवाचः भद्राः कल्याण्यः हम्भारवलक्षणा वाचो यासां तास्तथोक्ताः ईदृश्यो हे गावः अस्मदीयं गृहम् भद्रम् कल्याणम् अलंकृतं कृणुत कुरुत । गोसमृद्धं हि गृहं कल्याणं भवति ॥ वः युष्माकं सबन्धि वयः अन्नं क्षीरदध्यादिलक्षणं सभासु जनसमूहेषु बृहत् महद् अधिकम् उच्यते प्रशस्यते अहो गवां क्षीरं दध्याज्यम् इति ॥

हे गौओं ! तुम दुर्बल प्राणीको भी दुग्ध दही आदिसे पुष्ट करो, अशोभन अङ्ग वाले पुरुषको भी शोभन अंग वाला करो, हे कल्याणमय हंभा शब्द करने वाली गौओं ! तुम हमारे घरको अलंकृत करो। तुम्हारा क्षीर दधि आदिरूप अन्न जनसमूहमें प्रशंसित होता है, कि-गौओंका दूध दही परम श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥

प्रजाऽवतीः । सुऽयवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सुऽप्रपाने ।

पिबन्तीः ।

मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघऽशंसः । परि । वः । रुद्रस्य ।

हेतिः । वृणक्तु ॥ ७ ॥

गावः प्रजावतीः प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिरुपेताः सूयवसे शोभन-तृणयुक्ते देशे रुशन्तीः तृणं भक्षयन्तीः शुद्धाः कालुष्यरहिता अपः सुप्रपाणे सुखेन पातव्ये शोभनावतरणमार्गयुक्ते तटाकादौ पिबन्तीः ईदृशीर्वः युष्मान् स्तेनः तस्करः मा ईशत अपहर्तुम् ईश्वरो मा भूत् । अघशंसः । अघम् पापं वधलक्षणं शंसति अभि-लषतीति अघशंसो व्याघ्रादिर्दुष्टमृगः । सोपि मा ईशत ईश्वरो मा भूत् । रुद्रस्य ज्वराभिमानिदेवस्य हेति आयुधं वः युष्मान् परि वृणक्तु परिवर्जयतु । युष्मान् परिहृत्य अन्यत्र वर्तताम् इत्यर्थः ॥

[इति पञ्चमेनुवाके] प्रथमं सूक्तम् ॥

पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न, शोभन तृण वाले देशमें तृणोंको भक्षण करती हुई और सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल जलको पीती हुई तुमको चोर न हर सके और तुमको मारना चाहने वाला व्याघ्र आदि भी तुम्हारा हरण करनेको समर्थ न हो। ज्वरके अभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़देय

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१०३) ॥

"इमम् इन्द्र" इति सूक्तेन संग्रामजयार्थम् आज्यहोमम् सक्तु होमम् धनुरिध्माधानम् इषुसमिदाधानम् राज्ञे अभिमन्त्रितधनुः-प्रदानं च कुर्यात् ।

सूचितं हि । “इमम् इन्द्रेति शुक्लयोः मदानान्तानि” इति [कौ० २.५]॥

तथा “इमम् इन्द्र” इति सूक्तेन अभिषिक्तस्य राज्ञः प्रातःप्रातरभिमन्त्रणम् उदपात्रसमासेचनं [च] कुर्यात् । तद् उक्तं कौशिकेन । [“इमम् इन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इति क्षत्रियं प्रातःप्रातरभिमन्त्रयत उक्तं समासेचनम्” इति । कौ० २.८ ॥

तथा क्रव्याच्छमनकर्मणि अनेन सूक्तेन वृषभम् अनड्वाहं वा अभिमन्त्रयते। तद् उक्तं कौशिकेन]। “वैश्वदेवीम् इति वत्सतरीम् आलम्भयति इमम् इन्द्रेति वृषम् अनड्वाहम्” इति [कौ० ६.४]॥

‘इमं इन्द्र’ इस सूक्तसे संग्राममें विजय पानेके लिये घृतहोम सक्तुहोम, धनुषरूपी ईंधनका आधान और बाणरूपी समिधाका रखना और राजाको अभिमन्त्रित धनुष देना आदि भी करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“इमं इन्द्रेति शुक्लयोः मदानान्तानि” (कौशिकसूत्र २ । ५) ।

तथा ‘इमं इन्द्र’ इस सूक्तसे अभिषिक्त राजाका प्रतिदिन अभिमन्त्रण करे और जलपूर्ण पात्रसे जल भी छिड़के । इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि—‘इमं इन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इति क्षत्रियं प्रातः प्रातरभिमन्त्रयत उक्तं समासेचनम्” (कौशिकसूत्र २ । ८) ॥

तथा क्रव्याच्छमनकर्ममें इस सूक्तसे वृषभका अभिमन्त्रण करे इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—“वैश्वदेवीं इति वत्सतरीं आलम्भयति इमं इन्द्रेति वृषं अनड्वाहम्” (कौशिकसूत्र ६।४)

तत्र प्रथमा ॥

इ॒मामि॑न्द्र वर्धय क्ष॒त्रियं॑ म इ॒मं वि॒शामे॑कवृ॒षं कृ॑णु॒ त्वम् ।

निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

इमम् । इन्द्र । वर्धय । क्षत्रियम् । मे । इमम् । विशाम् । एकऽवृषम् । कृणु । त्वम् ।

निः । अमित्रान् । अक्ष्णुहि । अस्य । सर्वान् । तान् । रन्धय । अस्मै । अहम्ऽउत्तरेषु ॥ १ ॥

हे इन्द्र त्वं मे मदीय इमं क्षत्रियम् राजानं वर्धय पुत्रपौत्रादिभिर्वस्तुवाहनादिभिश्च समृद्धं कुरु । वृषाम् सेचनसमर्थानां वीर्यवतां पुरुषाणां मध्ये इमं राजानम् एकवृषम् मुख्यसेक्तारम् असहायशूरं कृणु कुरु । अस्य राज्ञः सर्वान् अमित्रान् शत्रून् निरक्ष्णुहि निर्गतव्याप्तिकान् कुरु । संकुचितप्रभावान् कुरु इत्यर्थः । ❀ अक्षू व्याप्तौ । स्वादित्वात् श्नुः ❀ । तान् तथाविधान् शत्रून् अस्मै राज्ञे रन्धय वशीकुरु । कर्मकरान् कुरु इत्यर्थः । अहमपि मन्त्रसामर्थ्येन उत्तरेषु उत्कृष्टतरेषु इन्द्रादिलोकपालेषु मध्ये इमम् एकं करोमीत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आप मेरे इस क्षत्रिय राजाको पुत्र पौत्र आदि तथा वस्तु वाहन आदिसे समृद्ध करिये । और वीर्यवान् पुरुषोंमें इस राजाको मुख्यसेक्ता करिये अर्थात् किसीकी सहायताकी अपेक्षा न रखने वाला शूर करिये । और इस राजाके सब शत्रुओंको प्रभावहीन करिये फिर उन राजाओंको इसके वशमें लाइये । और मैं भी मन्त्रकी शक्तिसे इस राजाको उत्कृष्ट इन्द्र आदि लोकपालोंमें एक बनाता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै

आ । इमम् । भज । ग्रामे । अश्वेषु । गोषु । निः । तम् । भज । यः ।

अमित्रः । अस्य ।

वर्ष्म । क्षत्राणाम् । अयम् । अस्तु । राजा । इन्द्र । शत्रुम् । रन्धय ।

सर्वम् । अस्मै ॥ २ ॥

हे इन्द्र इमं राजानं ग्रामे जनसमूहे अश्वेषु गोषु च विषये आ भज आभक्तम् आसमन्तात् संश्लिष्टं कुरु ॥ अस्य राज्ञो यः अमित्रः शत्रुरस्ति तं निर्भज ग्रामादिभ्यो निर्भक्तं वियुक्तं कुरु ॥ तथा क्षत्राणाम् अन्येषां क्षत्रियाणां वर्ष्मन् वर्ष्मणि देहे प्रशस्ते शरीरावयवे शिरसि अयम् अभिषिक्तो राजा वर्तमानोस्तु ॥ सर्वान् [शत्रून्] सर्वं च राष्ट्रं अस्मै अभिषिक्ताय राज्ञे रन्धय वशीकुरु । ❀ रध हिंसासंराद्ध्योः । "रधिजभोरचि" इति नुमागमः । रन्धयतिर्वशगमने इति निरुक्तम् [नि० १०. ४०] ❀ ॥

हे इन्द्र ! इस राजाको जनसमूह घोड़े और गौओंमें हिला मिला रहने वाला करो और इस राजाका जो शत्रु है उसको घोड़े गौ और मनुष्योंसे अलग रक्खो तथा अन्य क्षत्रियोंके शिर पर यह राजा वर्तमान रहे । सब शत्रुओंको और सब राष्ट्रोंको इस अभिषिक्त राजाके वशमें करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्वपतिरस्तु
राजा ।

अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य

अयम् । अस्तु । धनऽपतिः । धनानाम् । अयम् । विशाम् । विश्पतिः । अस्तु । राजा ।

अस्मिन् । इन्द्र । महि । वर्चांसि । धेहि । अवर्चसम् । कृणुहि । शत्रुम् । अस्य ॥ २ ॥

अयं राजा धनानाम् सुवर्णरजतमणिमुक्तामवालादीनां धनपतिः स्वामी [अस्तु] भवतु । धनानां पतिर्धनपतिरित्येव धनाढ्यत्वे सिद्धे पुनर्धनानाम् इति व्यस्तनिर्देशः ईशितव्यस्य धनस्य बहुत्वख्यापनार्थः । न हि राजपुरुष इत्युक्ते राज्ञो पुरुषः राज्ञां पुरुषः इति संख्याविशेषप्रतीतिरस्ति किं तु राजसंबन्धमात्रं प्रतीयते एवम् अत्रापि धनपतिरिति धनसंबन्धमात्रे अवगते तद्बहुत्वप्रतिपादनाय व्यस्तनिर्देश इति न पौनरुक्त्यम् । अतो वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च प्रतिपाद्यते ॥ तथा अयं राजा विशाम् प्रजानां विश्पतिरस्तु स्वामी भवतु । विशां विश्पतिरिति पूर्ववद् व्याससमासयोरभिप्रायः ॥ हे इन्द्र अस्मिन् राजनि [महि] महान्ति वर्चांसि तेजांसि पराभिभवनसमर्थानि वीर्याणि धेहि स्थापय ॥ अस्य राज्ञः शत्रुम् अवर्चसं कृणुहि अतेजस्कं कुरु ॥

यह राजा सुवर्ण चाँदी मणि मोती मूँगे आदिका स्वामी हो, और यह राजा प्रजाओंका स्वामी हो, हे इन्द्र ! इस राजामें शत्रुओंको तिरस्कृत करने वाले तेजोंको स्थापित करो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू ।

अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥ ४ ॥

अस्मै । द्यावापृथिवी इति । भूरि । वामम् । दुहाथाम् । घर्मदुघे इवेति घर्मदुघेऽइव । धेनू इति ।

अयम् । राजा । प्रियः । इन्द्रस्य । भूयात् । प्रियः । गवाम् । ओषधीनाम् । पशूनाम् ॥ ४ ॥

हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अस्मै पुरोवर्तिने मदीयाय राज्ञे भूरि प्रभूतं वामम् वननीयं धनं दुहाथाम् प्रयच्छतम्। ❀ दुहेर्लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । घर्मदुघे इवेति । घर्मः प्रवर्ग्यः । तदर्थं पयो या गौर्दोग्धि सा घर्मदुघा । ❀ "दुहः कप् घश्च" इति कप्घत्वे ❀ । यथा घर्मदुघे धेनू बहुलं क्षीरं दुहाते तद्वद् वात्सल्येन बहुलं धनं द्यावापृथिव्यौ प्रयच्छताम् इत्यर्थः ॥ एवं धनसमृद्धौ सत्यां यागाद्यनुष्ठानेन अयं राजा इन्द्रस्य यज्ञभाजो देवस्य प्रियः इष्टतरो भूयात् ॥ तत्प्रियत्वाद् वृष्टौ सत्यां गवाम् ओषधीनाम् व्रीहियवादिसस्यानाम् अन्येषां पशूनाम् द्विपाच्चतुष्पाल्लक्षणानां प्राणिनाम् अयं राजा प्रियो भूयात् इति संबंधः ॥

हे द्यावापृथिवी ! इस सामने विद्यमान हमारे राजाके लिये आप बहुतसा धन दीजिये, जैसे प्रवर्ग्यके लिये दूध दुहने वाले को गौ बहुतसा दूध देती है इसी प्रकार हे द्यावापृथिवी ! आप इसको बहुतसा धन दीजिये । इस प्रकार धनकी वृद्धि होने पर यह राजा याग आदिका अनुष्ठान कर यज्ञभाक् इन्द्रदेवका प्रिय होजावे । और इन्द्रका प्रिय होनेसे वृष्टि होने पर गौओंका व्रीहि यव आदि औषधियोंका तथा दो पैर और चार पैर वाले अन्य पशुओंका भी यह राजा प्रिय होजाय ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्

युनज्मि । ते । उत्तरऽवन्तम् । इन्द्रम् । येन । जयन्ति । न । पराऽजयन्ते । यः । त्वा । करत् । एकऽवृषम् । जनानाम् । उत । राज्ञाम् । उतऽतमम् । मानवानाम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ते तव उत्तरावन्तम् अतिशयितोत्कर्षवन्तम् इन्द्रं युनज्मि योजयामि सखित्वापादनेन समानकार्यं करोमि । येन इन्द्रेण प्रेरितास्त्वदीया भटाः शत्रुसेनां जयन्ति न पराजयन्ते पराजयं न प्राप्नुवन्ति । ❀ "विपराभ्यां जेः" इति आत्मनेपदम् ❀ । अपि च त्वा त्वां य इन्द्रः जनानाम् अन्येषां शूरजनानाम् एकवृषम् गोयूथे प्रधानभूतोयं वृष एकवृषः तद्वद् मुख्यं सर्वोत्कृष्टं करत् करोति । उतशब्दः अप्यर्थे । राज्ञाम् अन्येषामपि एकवृषम् एकवृषवद् अभिभवितारं करोति । मानवानाम् मनोरपत्यानां मनुष्यजातीयानाम् उत्तमम् उत्कृष्टं करोति । यद्वा मानवानाम् मनुवंश्यानाम् इलपुरूरवःप्रभृतीनां राज्ञां मध्ये उत्तमम् प्रजापरिपालनशौर्यादिगुणैरुत्कृष्टं करोति । तथाविधम् इन्द्रं युनज्मीति संबन्धः ॥

हे राजन् ! मैं परम उत्कर्ष वाले इन्द्रको तेरा मित्र बनाता हूँ, उस इन्द्रके प्रेरित तेरे मित्र शत्रुसेनाको जीतें, पराजय न पावें, जो इन्द्रदेव शूरोंमें तुझको वृषभकी समान बनाते हैं और राजाओं में भी वृषभकी समान मुख्य करते हैं तथा जो इन्द्र तुझको मनु के वंशमें उत्पन्न हुए इन पुरूरवा आदि राजाओंमें प्रजापालन तथा शूरता आदि गुणोंसे उत्कृष्ट करते हैं, ऐसे इन्द्रसे तेरी मित्रता कराता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्रवस्ते
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि

उत्तरः । त्वम् । अधरे । ते । सऽपत्नाः । ये । के । च । राजन् ।
प्रतिऽशत्रवः । ते ।
एकऽवृषः । इन्द्रऽसखा । जिगीवान् । शत्रुऽयताम् । आ । भर ।
भोजनानि ॥ ६ ॥

हे राजन् त्वम् उत्तरः सर्वोत्कृष्टतरो भव । ते त्वदीयाः सपत्नाः अधरे निकृष्टा भवन्तु । तान् विशिनष्टि । ते । ❀ द्वितीयार्थे षष्ठी ❀। त्वां प्रति ये के च जनाः शत्रवः शत्रुभावेन प्रतिकूलम् आचरन्ति ते सर्वे अधरे भवन्तु इत्यर्थः ॥ अपि च एकवृषः प्रधानभूतः इन्द्रसखा इन्द्रेण सख्या युक्तः जिगीवान् शत्रून् जयन् शत्रूयताम् शत्रुत्वम् आत्मन इच्छतां शत्रुवद् आचरतां वा भोजनानि भोगसाधनानि धनानि आ भर आहर । सर्वान् शत्रून् विजित्य तदीयं सर्वं धनम् अपहरेत्यर्थः । ❀ जिगीवान् इति । जि जये । अस्माच्छान्दसो वर्तमाने लिट् । तस्य च लिटः क्वसुरादेशः । "सन्लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद् उत्तरस्य कुत्वम् । शत्रूयताम् इति । "सुप आत्मनः क्यच्" । "उपमानाद् आचारे" इति वा क्यच् । तदन्तात् लटः शत्रादेशे "शतुरनुमः०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे राजन् ! आप सबसे श्रेष्ठ हूजिये, आपके शत्रु नीचे हों, जो आपसे प्रतिकूल भावसे वर्ताव करते हैं, वे शत्रु नीचे हों और इन्द्र की मित्रतासे आप वृषभकी समान प्रधान बनकर शत्रुकी समान आचरण करने वाले पुरुषोंसे भोगके साधन धनोंको लाइये ॥६॥

सप्तमी ॥

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीको बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि

सिंहऽप्रतीकः। विशः। अद्धि। सर्वाः। व्याघ्रऽप्रतीकः। अव। बाधस्व। शत्रून्।
एकऽवृषः। इन्द्रऽसखा। जिगीवान्। शत्रूऽयताम्। आ। खिद। भोजनानि ॥ ७ ॥

सिंहप्रतीकः सिंहशरीरः सिंहतुल्यपराक्रमः सन् आज्ञामात्रेण सर्वा विशः स्वराष्ट्रस्थाः प्रजाः अद्धि भुङ्क्ष्व। ❀ अद भक्षणे। "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति धित्वम् ❀ ॥ व्याघ्रप्रतीकः व्याघ्रशरीरः व्याघ्रवद् आक्रम्य पर्यन्तस्थान् शत्रून् अप बाधस्व। अन्यद् व्याख्यातम्। एतावांस्तु विशेषः। शत्रुसंबन्धीनि धनानि आ खिद आछिन्धि। अपहरेत्यर्थः। ❀ आङ्पूर्वः खिदिः आच्छेदने वर्तते यथा "आक्खिदते च मक्खिदते च" [तै० सं० ४. ५. ६. २] इति ❀ ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

सिंहकी समान पराक्रमी आप, अपनी आज्ञासे ही अपने राज्यमें स्थित प्रजाओंको भोगिये। व्याघ्रकी समान आक्रमण करके शत्रुओंको पीड़ा दीजिये। आप इन्द्रकी मित्रतासे बैलोंमें मुख्य वृषभकी समान बन कर शत्रुभावसे आचरण करने वालों के धनोंको नष्ट करिये ॥ ७ ॥

चतुर्थ काण्डके पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१२५)॥

"अग्नेर्मन्वे" इति सूक्तसप्तकस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगः। तथा च कौशिकं सूत्रम्। "उत देवाः [४. १३] मृगारसूक्तानि [४. २१–३०] उत्तमं वर्जयित्वा" इति [कौ० १. ६]। अत्र उत्तमशब्देन आ गावः [२१] इमम् इन्द्र [२२] इति आदिमे द्वे अहं रुद्रेभिः [३०] इति अन्तिमं चेति सूक्तत्रयं विवक्षितम् ॥

तथा अंहोलिङ्गगणे अग्नेर्मन्वे [२३–२९] इत्यादीनां सप्तानां सूक्तानां पाठात् सर्वरोगभैषज्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः। सूत्रितं हि। "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इत्यादि [कौ० ४. ८] ॥

"अग्नेर्मन्वे" इति सामिधेन्यनुमन्त्रणं कुर्यात्। तद् उक्तं वैताने। "अग्नेर्मन्व इति सामिधेनीरनुमन्त्रयते" इति [वै० १. २] ॥

'अग्नेर्मन्वे' इन सात सूक्तोंका बृहद्गणमें पाठ है अतः शान्त्युदक आदिमें इनका विनियोग है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"उत देवाः (४ । १३) मृगार–सूक्तानि (४ । २१–३०) उत्तमं वर्जयित्वा ॥–उत देवाः इस चतुर्थकाण्डके इक्कीसवें सूक्तसे तीसवें सूक्त तक उत्तमको छोड़ कर मृगारसूक्त हैं।" (कौशिकसूत्र १ । ६)॥ इनमें उत्तम शब्दसे 'आ गावः' यह इक्कीसवाँ, 'इमं इन्द्र' यह बाईसवाँ इस प्रकार आदिके दो और 'अहं रुद्रेभिः' यह तीसवाँ अन्तका सूक्त लिया गया है।

तथा अंहोलिंगगणमें 'अग्नेर्मन्वे इस तेईसवें सूक्तसे उन्तीसवें सूक्त तक सात सूक्तोंका पाठ है अतः सर्व रोगोंकी चिकित्सामें इनका विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'ओषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिंगाभिः" (कौशिकसूत्र ४ । ८)॥

'अग्नेर्मन्वे' इस सूक्तसे सामिधेनीका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अग्नेर्मन्व इति सामिधेनीरनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र १।२)॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।

विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः १

अग्नेः। मन्वे। प्रथमस्य। प्रऽचेतसः। पाञ्चऽजन्यस्य। बहुऽधा। यम्। इन्धते।

विशःऽविशः। प्रविशिऽवांसम्। ईमहे। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः १

प्रथमस्य मुख्यस्य प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानस्य पाञ्चयज्ञस्य। देवयज्ञः पितृयज्ञः भूतयज्ञः मनुष्ययज्ञः ब्रह्मयज्ञः इत्येते नित्यकर्तव्याः प्रसिद्धाः पञ्चयज्ञाः। तैराराधनीयः पाञ्चयज्ञः। यद्वा पञ्चधा यज्ञा विभक्ता अग्निष्टोमादयः पञ्चयज्ञाः। "धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यते तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० ६. ५. ११. ४] "यो ह वै यज्ञं हविष्पङ्क्तिं वेद" [ऐ० ब्रा० २. २४] इत्याद्यैतरेयकश्रुतेश्च यज्ञस्य पञ्चात्मकता। तादृगग्निष्टोमादिनिर्वर्तकः पाञ्चयज्ञः। यद्वा यज्ञशब्देन तन्निष्पादका जना विवक्षिताः। ते च निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः। गन्धर्वाप्सरसो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। तेषु भवः पाञ्चयज्ञः। तथा च तैत्तिरीयकम् "यं पाञ्चजन्यं बहवः समिन्धते" [तै० सं० ४. ७. १५. १] इति। तस्य एवंगुणविशिष्टस्य अग्नेर्माहात्म्यं मन्वे जानामि। ❀ मनु अवबोधने। तनादित्वाद् उप्रत्ययः ❀।

तदेव माहात्म्यं प्रतिपादयति बहुधा यम् इत्यादिना । बहुधा बहुप्रकारं यम् अग्निम् इन्धते गार्हपत्यादिरूपेण संदीपयन्ति । विशोविशः सर्वाः प्रजाः प्रविविशिवांसम् जाठरादिरूपेण प्रविष्टवन्तं तम् अग्निम् ईमहे याचामहे । ❀ ईमहे यामि मन्महे इति याञ्चाकर्मसु पठितम् [निघ० ३. १९] ❀ । यद्वा । ❀ ईङ् गतौ । दैवादिकः ❀ । ईमहे ईयामहे स्तुतिनमस्कारादिना प्राप्नुमः । "विश्वस्यां विशि प्रविविशिवांसम् ईमहे" इति तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ४. ७. १५. १] । स तादृशोग्निः नः अस्मान् अंहसः सर्वानर्थनिदानभूतात् पापात् मुञ्चतु मोचयतु । अस्मत्तः पापं विश्लेषयतु इत्यर्थः ॥

प्रधान, श्रेष्ठ ज्ञान वाले अग्नि जिनकी देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ-इन त्रित्यकर्तृक यज्ञोंसे आराधना की जाती है और जिन अग्निकी तैत्तिरीयसंहिता† में प्रसिद्ध पाँच प्रकार से विभक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको पूर्ण करने वाले पाञ्चयज्ञसे उपासना कीजाती है और निषाद जिनमें पाँचवाँ है उन वर्णोंसे तथा गन्धर्व अप्सरा देवता असुर और राक्षस इन पाँचसे होने वाले यज्ञके द्वारा जिन अग्निकी उपासना कीजाती है उन अग्निके माहात्म्यको मैं जानता हूँ । इस प्रकार गार्हपत्य आदि

† तैत्तिरीयसंहिता ६ । ५ । ११ । ४ में कहा है, कि-"धाना करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पंक्तिराप्यते तद् यज्ञस्य पांक्तत्वम् ॥-धाना अर्थात् भुने हुए जौ, करंभ अर्थात् दही मिले हुए सत्तू और परिवाप, पुरोडाश तथा पयस्या इनसे यज्ञकी पंक्ति होती है, यही यज्ञका पांक्तत्व है ।' और ऐतरेय ब्राह्मण २ । २४ में कहा है, कि-'यो ह वै यज्ञं हविष्पंक्तिं वेद ॥-जो हविष्पंक्ति वाले यज्ञको जानता है ।" इस प्रकार यज्ञकी पञ्चात्मकता प्रसिद्ध है ।

अनेक रूपोंसे जिस अग्निको प्रदीप्त करते हैं और जो सब प्रजाओंमें जठराग्निके रूपसे प्रविष्ट हैं उन अग्निसे हम प्रार्थना करते हैं‡ ऐसे अग्नि हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे बचावें÷ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यथा ह॒व्यं वहा॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन् ।

ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः २

यथा । ह॒व्यम् । वह॑सि । जात॒ऽवे॒दः॒ । यथा॑ । य॒ज्ञम् । क॒ल्पय॑सि । प्र॒ऽजा॒नन् ।

ए॒व । दे॒वेभ्यः॑ । सु॒ऽम॒तिम् । न॒ः । आ । व॒ह । सः । न॒ः । मु॒ञ्च॒तु । अंह॑सः ॥ २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने यथा येन प्रकारेण हव्यम् चरुपुरोडाशादि होतव्यं हविः वहसि तत्तद्यष्टव्यदेवतां प्रापयसि यथा येन च प्रकारेण यज्ञं पाकयज्ञहविर्यज्ञसोमयागभेदेन एकाहाहीनसत्रात्मना च कल्पयसि विरचयसि प्रजानन् तद्विदां प्रकर्षेण अवगच्छन् । एव एवं देवेभ्यः देवानाम् अर्थे नः अस्माकं

‡ तैत्तिरीयसंहिता ४ । ७ । १५ । १ में कहा है, कि—यं पाञ्चजन्यं बहवः समिन्धते ॥ जिस पाँच जनोंसे सिद्ध होने वाले यज्ञ की बहुतसे उपासना करते हैं ॥

÷—तैत्तिरीयसंहिता ४ । ७ । १५ । १ में कहा है, कि—"विश्वस्यां दिशि प्रविविशिवांसं ईमहे ॥—सम्पूर्ण प्रजाओंमें प्रवेश करने वाले अग्निकी हम स्तुति नमस्कार आदिसे प्रार्थना करते हैं"

सुमतिम् शोभनां बुद्धिम् आ वह प्रापय। यद्वा देवेभ्यः सकाशात् सुमतिम् अनुग्रहात्मिकां बुद्धिं नः अस्मान् प्रापय ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! आप चरु पुरोडाश आदि हविको उससे पूजनीय देवताके पास जिस प्रकार पहुँचाते हैं और जिस प्रकार पाकयज्ञ हविर्यज्ञ सोमयाग एकाह और अहीनसत्रभेदसे उन यज्ञोंके भेदोंको जानते हुए रचते हो, इसी प्रकार देवताओंके पाससे हमको अनुग्रहरूपा शोभन बुद्धि प्राप्त कराइये और हे ऐसे अग्निदेव ! आप हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाइये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम्। अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

यामन्ऽयामन्। उपऽयुक्तम्। वहिष्ठम्। कर्मन्ऽकर्मन्। आऽभगम्। अग्निम्। ईडे।

रक्षःऽहनम्। यज्ञऽवृधम्। घृतऽआहुतम्। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ३ ॥

यामन्यामन् यामनियामनि। ❀ सप्तम्या लुक् ❀। तत्तत्फलमापणे निमित्तभूते सति उपयुक्तम् तत्तद्धोमाधारत्वेन विनियुक्तं वहिष्ठम् वोढृतमम्। ❀ वोढृशब्दात् "तुश्छन्दसि" इति इष्ठन् प्रत्ययः "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः ❀। कर्मन्कर्मन्। ❀ पूर्ववत् सप्तम्या लुक् ❀। तत्तत्फलसाधने सर्वस्मिन् कर्मणि आभगम् आभक्तव्यम् आसेव्यम् एवंगुणविशिष्टम् अग्निम् अहम् ईळे स्तौमि। पुनर्विशेष्यते। रक्षोहणम् रक्षसां हन्तारं यज्ञवृधम् यज्ञस्य अभि-

ष्टोमादेर्वर्धयितारं घृताहुतम् आज्येन आहुतम् आहुतिभिः संदीपितम् ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

प्रत्येक यागमें होमके आधार होनेसे विनियुक्त हवि पहुँचाने वाले और अमुक २ फलके साधन सब कर्मोंमें सेवन करने योग्य अग्निकी मैं स्तुति करता हूँ। वह अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको बढ़ाने वाले हैं और घृत की आहुतियोंसे उनको प्रदीप्त किया जाता है ऐसे अग्निदेव हमको पापसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम् ।
हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

सुऽजातम् । जातऽवेदसम् । अग्निम् । वैश्वानरम् । विऽभुम् ।
हव्यऽवाहम् । हवामहे । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ४ ॥

सुजातम् शोभनजन्मानम् । मन्त्रैर्निर्मथ्य आहितत्वात् । जातवेदसम् जातानां जनिमतां वेदितारम् । यद्वा । जातानि भूतजातानि एनं विदन्तीति जातवेदाः । अथ वा जातमात्र एव वेदः धनं पशुलक्षणम् अलभतेति जातवेदाः । "यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति हि ब्राह्मणम्" [नि० ७. १६] । वैश्वानरम् विश्वनरात्मकं विश्वनरहितं वा अत एव विभुम् व्यापकं हव्यवाहम् हव्यस्य हविषा अस्माभिर्दत्तस्य वोढारम् एवंगुणविशिष्टम् अग्निं हवामहे आह्वयामः। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वः संप्रसारणम् ❀ ॥ अन्यद् गतम् ॥

मंत्रोंके निर्मथन होनेसे शोभन जन्म वाले उत्पन्न होने वालों को जानने वाले, और उत्पन्न हुए प्राणिमात्र जिनको जानते हैं

अथवा जिन्होंने उत्पन्न होते ही पशुरूपी धनको प्राप्त किया है ‡ ऐसे जातवेदा और सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले वैश्वानर व्यापक और हमारी दी हुई हविको पहुँचाने वाले अग्निदेवका हम आह्वान करते हैं, वह हमको सकल अनर्थोंकी मूल पापसे छुड़ावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

येन॒ ऋष॑यो ब॒लमद्यो॑तयन् यु॒जा येनासु॑राणा॒मयु॑वन्त मा॒याः ।
येना॒ग्निना॑ प॒णीनिन्द्रो॑ जि॒गाय॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥५॥

येन॑ । ऋष॑यः । ब॒लम् । अद्यो॑तयन् । यु॒जा । येन॑ । असु॑राणाम् । अयु॑वन्त । मा॒याः ।
येन॑ । अ॒ग्निना॑ । प॒णीन् । इन्द्रः॑ । जि॒गाय॑ । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥

ऋषयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः अङ्गिरःप्रभृतयः येन अग्निना युजा सख्या बलम् आत्मीयं सामर्थ्यम् उद्द्योतयन् उद्दीप्तं पराभिभवनक्षमम् अकुर्वन् येन अग्निना असुराणाम् सुरविरोधिनां मायाः व्यामोहकशक्तीः अयुवन्त देवाः पृथक् कृतवन्तः तथा येन अग्निना इन्द्रो देवाधिपतिः पणीन् एतत्संज्ञान् असुरान् जिगाय जितवान् । ❀ जि जये । अस्मात् लिटि "सन्लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद् उत्तरस्य कुत्वम् ❀ ॥

---

‡ निरुक्तमें कहा है, कि–"यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् ॥—उन्होंने उत्पन्न होते ही पशुओं को पाया यही अग्निका जातवेदस्त्व है"। (निरुक्त ७ । १९) ॥

अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले अंगिरा आदि ऋषियोंने जिन अग्निके साथ मित्रता कर पराभिभवनरूप आत्मशक्तिको जगाया है और जिन अग्निदेवके प्रभावसे देवताओंने असुरोंकी मोहने वाली मायाओंको देवताओंसे अलग किया है और जिन अग्निदेवके द्वारा इन्द्रदेवने पणिनामक असुरोंको जीता है, वह अग्निदेव हमें सब अनर्थोंकी मूल पापसे छुड़ा देवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

येन । देवाः । अमृतम् । अनुऽअविन्दन् । येन ओषधीः ।
मधुऽमतीः । अकृण्वन् ।
येन । देवाः । स्वः । आऽअभरन् । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ६

येन अग्निना सहायेन देवाः इन्द्रादयः अमृतम् अमरणसाधनं पीयूषम् अन्वविन्दन् अलभन्त येन अग्निना जगदनुप्रविष्टेन ओषधीः व्रीहियवाद्यास्तरुगुल्माद्याश्च मधुमतीः मधुररसयुक्ताः अकृण्वन् अकुर्वन् येन अग्निना यज्ञसाधनभूतेन देवाः देवत्वकामा यजमानाः स्तोतारो वा स्वः स्वर्गम् आभरन् आहरन् । अलभन्तेत्यर्थः ॥

जिन अग्निकी सहायतासे इन्द्र आदि देवताओंने अमरणके साधन अमृतको प्राप्त किया था, और जगत्के भीतर प्रविष्ट जिन अग्निके द्वारा देवताओंने व्रीहि यव तरु गुल्म आदि औषधियोंको मधुर रस युक्त किया है और जिन यज्ञके साधनभूत अग्निके द्वारा देवत्व चाहने वाले यजमान वा स्तोता स्वर्गको प्राप्त करते हैं, वह अग्निदेव हमें पापसे मुक्त करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् ।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ७

यस्य । इदम् । प्रऽदिशि । यत् । विऽरोचते । यत् । जातम् । जनितव्यम् । च । केवलम् ।
स्तौमि । अग्निम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ७

यस्य अग्नेः प्रदिशि प्रदेशने प्रशासने इदम् सर्वं जगद् वर्तते । इदम् इत्येतद् विशिनष्टि । यद् इदम् अन्तरिक्षे ग्रहनक्षत्रादिकं विरोचते विविधं दीप्यते यच्च प्राणिजातं पृथिव्यां [जातम्] उत्पन्नं जनितव्यम् जनयितव्यं जनिष्यमाणं कृत्स्नं कार्यं जगद् यद् अस्ति तत् सर्वं केवलम् अनन्यसाधारणं यस्य प्रदिशि वर्तते तथाविधम् अग्निम् अहं स्तौमि । नाथितः । ❁ नाथृ याच्ञायाम् । अस्मात् कर्तरि निष्ठा ❁ । नाथमानः फलं कामयमानः । यद्वा नाथः स्वामी संजातोस्य नाथितः । तेनाग्निना नाथवान् भविष्यामीति जोहवीमि पुनःपुनराह्वयामि । ❁ "अभ्यस्तस्य च" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् । "गुणो यङ्लुकोः" इति अभ्यासस्य गुणः ❁ ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

जिन अग्निदेवके शासनमें यह सम्पूर्ण जगत् वर्तमान है । अन्तरिक्षमें जो ग्रह नक्षत्र आदि अनेक प्रकारसे दिपते हैं. पृथिवी में उत्पन्न प्राणिमात्र और आगेको उत्पन्न होने वाले प्राणी जिन अग्निदेवके वशीभूत हैं उन अग्निदेवकी मैं स्तुति करता हूँ, उनका वारंवार आह्वान करता हूँ ॥ ७ ॥

तीसरा सूक्त समाप्त (१२५) ५

"अग्नयेंहोमुचेष्टाकपालः" [तै० सं० ७. ५. २१. १] इत्यादिना दशहविष्कामृगारेष्टिराध्वर्यवे विहिता । तत्र अग्नेरंहोमुचः स्तावकम् "अग्नेर्मन्वे" [२३] इति सूक्तं व्याख्यातम् । इन्द्रस्यांहोमुचः स्तावकम् "इन्द्रस्य मन्महे" इति सूक्तम् । तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"अग्नयेंहोमुचेष्टाकपालः" इस तैत्तिरीयसंहिता ७ । ५ । २१ । १ के मन्त्रसे दशहविष्का मृगारेष्टिका अध्वर्यु के लिये विधान किया गया है । तहाँ के अग्निका स्तावक पापमोचन करने वाला "अग्नेर्मन्वे" यह तेईसवाँ सूक्त लिया गया है । और इन्द्रकी स्तुति करने वाला पापमोचक 'इन्द्रस्य मन्महे' सूक्त लिया गया है । इसका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः ।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । मन्महे । शश्वत् । इत् । अस्य । मन्महे । वृत्रऽघ्नः । स्तोमाः । उप । मा । इमे । आ । अगुः ।
यः । दाशुषः । सुऽकृतः । हवम् । एति । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य मन्महे महत्वं जानीमः । ❀ मनु अवबोधने । तनादित्वाद् उमत्ययः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उकारलोपः ❀ । असाधारण्यं दर्शयितुम् आह शश्वदिति ।

इदिति अवधारणे । शश्वत् पुनःपुनः अस्यैवेन्द्रस्य तद् माहात्म्यं मन्महे अवबुध्यामहे । नान्यस्य तादृङ्माहात्म्यं दृश्यत इत्यर्थः । वृत्रघ्नः वृत्रम् असुरं हतवतस्तस्य इन्द्रस्य इमे पुरतो वक्ष्यमाणाः स्तोमाः स्तोत्राणि मा माम् उपागुः उपयन्ति उपगच्छन्ति । इन्द्र-माहात्म्यविषयाणि स्तोत्राणि उपागत्य मां स्तोतारं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ यः प्रसिद्ध इन्द्रो दाशुषः चरुपुरोडाशादिहवींषि दत्तवतः सुकृतः शोभनकर्मणो यजमानस्य हवम् आह्वानम् एति प्राप्नोति नोदास्ते । ❀ दाशुषः । दाशृ दाने । "दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च" इति क्वसौ निपात्यते । "वसोः संप्रसारणम्" । इति संप्रसारणम् । हवम् इति । "भावेनुपसर्गस्य" इति ह्वयतेरप् संप्रसारणं च ❀ ॥ स न इत्यादि गतम् ॥

परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेवके महत्वको हम जानते हैं (इन्द्रका असाधारणत्व दिखानेके लिये कहते हैं, कि-) हम वारम्वार इन इन्द्र-देवके ही माहात्म्यको जानते हैं अर्थात् ऐसा और किसीका माहात्म्य नहीं दीखता । वृत्रासुरका हनन करने वाले इन्द्रके आगे कहे जाने वाले स्तोत्र मुझको प्राप्त होरहे हैं अर्थात् इन्द्रके माहात्म्य विषयक स्तोत्र सामने आकर मुझे स्तुति करने वाला बना रहे हैं । जो प्रसिद्ध इन्द्रदेव शोभन कर्म वाले यजमानके आह्वानकी अपेक्षा नहीं करते हैं, वह इन्द्र हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥२॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥

यः । उग्रीणाम् । उग्रऽबाहुः । ययुः । यः । दानवानाम् । बलम् । आऽरुरोज ।

येन । जिताः । सिन्धवः । येन । गावः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः २

य इन्द्रः उग्रबाहुः उद्गूर्णहस्तः उग्रीणाम् उद्गूर्णानां शत्रुसेनानां युयुः यावयिता पृथक्कर्ता । ❀ यौतेर्डुं च इति डुमत्ययः❀ । य इन्द्रो दानवानाम् दनोरपत्यानाम् असुराणां बलम् सामर्थ्यम् आरुरोज सर्वतो बभञ्ज । ❀ रुजो भङ्गे ❀ । येन इन्द्रेण सिंधवः स्यन्दनशीला मेघस्था आपः जिताः मेघं भित्त्वा जयेन प्राप्ताः । यद्वा सिन्धवो नद्यः समुद्रा वा वृत्रवधेन जिताः । श्रूयते हि । "वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्" [ऋ० २. १५. ३] "अहन्नहिं परिशयानम् अर्णोवासृजो अपो अच्छा समुद्रम्" [ऋ० ६. ३०. ४] इत्यादि । येन इन्द्रेण पणिनामकासुरवधेन तदपहृता गावो जिता लब्धाः ॥ गतम् अन्यत् ॥

जो उग्र हाथवाले इन्द्रदेव प्रचण्ड शत्रुसेनाओंमें भेद करानेवाले हैं और जिन इन्द्रदेवने दनुकी सन्तान दानवोंकी शक्तिको तोड़ दिया है और जिन इन्द्रदेवने सरकने वाले जलोंको मेघोंको फाड़ कर जीता है अर्थात् प्राप्त किया है और जिन इन्द्रदेवने वृत्रको मार कर नदियोंको और समुद्रोंको जीता है † और जिन इन्द्रदेवने पणि नामक असुरोंको मार कर उनकी हरी हुई गौओंको जीता है, वह इन्द्रदेव सब अनर्थोंके मूल पापसे हमें मुक्त करें २

तृतीया ॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥

† "वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम् ॥–इन्द्रने वज्रके द्वारा नदियों के आकाशोंको हिंसित किया" (ऋ० २ । १५ । ३)

यः । चर्षणिऽप्राः । वृषभः । स्वःऽवित् । यस्मै । ग्रावाणः । प्रऽवदन्ति । नृम्णम् ।

यस्य । अध्वरः । सप्तऽहोता । मदिष्ठः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥

य इन्द्रः चर्षणिप्राः । चर्षणयो मनुष्याः तान् अभिलषितफलेन प्राति पूरयतीति चर्षणिप्राः । ❀ प्रा पूरणे । "आतोनुपसर्गे कः" इति [कः] ❀ । वृषभः वर्षिता । यद्वा वृषभवत् प्रसह्यकारी स्वर्वित् स्वर्गस्य लम्भयिता । यस्मा इन्द्राय ग्रावाणः अभिषवार्थाः पाषाणा नृम्णम् सोमरसलक्षणं धनं प्रवदन्ति अभिषवकालीनैर्ध्वनिभिः प्रकथयन्ति । "देवा ग्रावाण इन्दुरिन्द्र इत्यवादिषुः" [तै० ब्रा० ३. ७. ६. २] "प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम" [ऋ० १०. ६४. १] इत्यादिमन्त्रवर्णाद् ग्राव्णां प्रवदितृत्वम् । यस्य इन्द्रस्य अध्वरः सोमयागः सप्तहोता सप्तभिर्होतृभिर्वषट्कर्तृभिर्युक्तः मदिष्ठः मादयितृतमो भवति । ❀ होता मैत्रावरुणः ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाकः आग्नीध्रश्चेति सप्त होतारो वषट्कर्तारो यस्मिन्निति बहुव्रीहौ " नद्यृतश्च" इति प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि" इति प्रतिषेधः । मदिष्ठ इति । मदी हर्षे इत्यस्मात् तृच् । तदन्तात् "तुश्छन्दसि" इति इष्ठन् । "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः ❀ ॥ गतम् अन्यत् ॥

जो इन्द्रदेव मनुष्योंको अभिलषित फल देकर उनकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं और जो इन्द्रदेव वृषभकी समान हठपूर्वक स्वर्गकी प्राप्ति कराने वाले हैं और जिन इन्द्रदेवके लिये अभिषवके कार्यके पाषाण अभिषवके समयकी ध्वनियोंसे सोमरसरूपी धनको कहते हैं † । और जिन इन्द्रदेवका सोमयाग सात

†देवा ग्रावाण इन्दुरिन्द्र इत्यवादिषुः ॥–दमकते हुए पाषाणोंने इन्दु इन्द्र कहा" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ६ । २ ।) और

वषट्कर्ता होताओंके द्वारा मद करने वाला होता है ‡ वह इन्द्र-देव हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यस्य॑ व॒शास॑ ऋष॒भास॑ उ॒क्षणो॒ यस्मै॑ मी॒यन्ते॑ स्वर॑वः स्व॒र्विदे॑ ।
यस्मै॑ शु॒क्रः पव॑ते ब्रह्म॑शुम्भि॒तः स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ४

यस्य॑ । व॒शासः॑ । ऋ॒ष॒भासः॑ । उ॒क्षणः॑ । यस्मै॑ । मी॒यन्ते॑ । स्वर॑वः । स्वः॒ऽविदे॑ ।
यस्मै॑ । शु॒क्रः । पव॑ते । ब्रह्म॑ऽशुम्भितः । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ ४ ॥

वशासः वशा वन्ध्या गावः ऋषभासः ऋषभाः उक्षणः उक्षाणः सेचनसमर्थाः । ❀ "वा षपूर्वस्य निगमे" इति उपधादीर्घाभावः ❀ । एवं वशादिरूपाः पशवः यस्य इन्द्रस्य यागार्थम् आलभ्यन्ते यस्मा इन्द्राय स्वर्विदे स्वर्गस्य लम्भयित्रे स्वरवः । यूपावतक्षणशकलः स्वरुः । तेन तद्वन्त उपलक्ष्यन्ते । स्वरवः स्वरुमन्तो यूपा मीयन्ते अवटेषु स्थाप्यन्ते । ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे ❀ । यस्मा इन्द्राय शुक्रः निर्मलो रसवान् सोमः ब्रह्मशुम्भितः ब्रह्मभिर्मन्त्रैः अभिषवसाधनैरलंकृतः सन् पवते दशापवित्रधारया स्रवति ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

"प्रैते वदन्तु प्र वयं वदामः ॥—येकहें और हम कहते हैं" (ऋग्वेद १० । ६४ । १) इत्यादि मंत्रवर्णोंमें पाषाणोंका प्रवदितृत्व सिद्ध है

‡ होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और अग्नीध्र ये सात वषट्कर्ता होता हैं ॥

जिन इन्द्रदेवके यागके लिये वंध्या गौ सेचनसमर्थ ऋषभका आलभन किया जाता है और जिन स्वर्गप्रापक इन्द्रदेवके लिये स्वरु वाले यूप अष्टोंमें स्थापित किये जाते हैं और जिन इंद्रदेव के लिये निर्मल रस वाला सोम मन्त्रोंसे अलंकृत होता हुआ दशापवित्रकी धारासे टपकता है, वह इन्द्रदेव हमको सब अनर्थों के मूलपापसे छुड़ावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ ।
यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ५

यस्य । जुष्टिम् । सोमिनः । कामयन्ते । यम् । हवन्ते । इषुऽमन्तम् । गोऽइष्टौ ।
यस्मिन् । अर्कः । शिश्रिये । यस्मिन् । ओजः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ५ ॥

यस्य इन्द्रस्य जुष्टिम् प्रीतिं सोमिनः सोमवन्तो यजमानाः कामयन्ते अभिलषन्ति । इषुमन्तम् बाणवन्तं प्रशस्तायुधसहितं यम् इन्द्रं गविष्टौ गवां पणिभिरपहृतानां पुनरन्वेषणे अभिगमने वा हवन्ते आह्वयन्ति । यस्मिन्निन्द्रे अर्कः अर्चनसाधनभूतो मन्त्रः स्तुतशस्त्रादिलक्षणः शिश्रिये आश्रितो भवति । तथा यस्मिन्निन्द्रे ओजः बलम् अनन्यसाधारणं दृश्यते ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

सोम वाले यजमान जिन इन्द्रदेवकी प्रीतिको चाहते हैं और पणियोंके द्वारा गौओंका हरण होने पर जिन प्रशस्त आयुधवाले इन्द्रदेवको बुलाया जाता है और जिन इन्द्रदेवमें पूजाका साधन

मंत्र आश्रय पाता है और जिन इन्द्रदेवमें असाधारण बल दीखता है, वह इन्द्रदेव हमको पापसे छुड़ावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम्।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

यः। प्रथमः। कर्मऽकृत्याय। जज्ञे। यस्य। वीर्यम्। प्रथमस्य। अनुऽबुद्धम्।
येन। उत्ऽयतः। वज्रः। अभिऽआयत। अहिम्। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ६ ॥

य इन्द्रः प्रथमः मुख्यः कर्मकृत्याय कर्मणां ज्योतिष्टोमादीनां करणाय अनुष्ठानाय जज्ञे जातवान्। यस्य इन्द्रस्य प्रथमस्य मुख्यस्य वीर्यम् वीरकर्म वृत्रहननादिकम् अनुबद्धम् परस्परं संततम्। श्रूयते हि। "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री। अहन्नहिम् अन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्" इत्यादि [ऋ० १. ३२. १]। येन इन्द्रेण उद्यतः उद्धृतो वज्रः अहिम् वृत्रम् अभ्यायत अभितः सर्वतः अहिंसीत्। ❀ आङ्पूर्वाद् यमेर्लुङि च्लेः सिच्। "यमो गन्धने" इति तस्य कित्त्वाद् "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः। "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ ॥ स न इत्यादिगतम् ॥

जो इन्द्रदेव ज्योतिष्टोम आदि कर्म करनेके लिये मुख्यरूपसे जाने जाते हैं और जिन इन्द्रदेवका वृत्रहनन आदि मुख्य कर्म परस्पर जुटा हुआ सुना जाता है ‡ और जिन इन्द्रदेवके उठाये

‡ "इंद्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।

हुए वज्रने वृत्रासुरका सब ओरसे संहार कर डाला वह इन्द्रदेव हमको|सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

य सं॒ग्रामा॒न् नय॑ति॒ सं यु॒धे व॒शी यः पु॒ष्टानि॑ संसृ॒जति॑ ।
द्व॒यानि॑ ।
स्तौमीन्द्रं॑ नाथि॒तो जो॑वीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥७॥

यः । सम्ऽग्रामान् । नयति । सम् । युधे । वशी । यः । पुष्टानि । सम्ऽसृजति । द्वयानि ।
स्तौमि । इन्द्रम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ७ ॥

वशी स्वतन्त्रो य इन्द्रः युधे योधनाय संप्रहाराय संग्रामम् युद्धं सं नयति सम्यक् प्रापयति । यद्वा युधे योधनाय वशी स्वतन्त्रः । योधयितुं कुशल इत्यर्थः । तथा य इन्द्रः पुष्टानि समृद्धानि द्वयानि स्त्रीपुंसात्मकानि मिथुनानि संसृजति परस्परं संसृष्टानि प्रजननसमर्थानि करोति । तम् इन्द्रं स्तौमि । नाथितो जोहवीमि इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

जो स्वतन्त्र इन्द्रदेव स्वतन्त्र प्रहार करनेके युद्धमें भली प्रकार

अहन्नहिं अन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥— वज्रधारी इन्द्रने जिन मुख्य २ कर्मोंको किया है उन वीर्यमय कर्मोंको मैं कहता हूँ कि—इन्द्रदेवने वृत्रको मारा फिर जलोंको ताड़ित किया और पर्वतोंके पक्षणोंको तोड़ डाला" ० (ऋग्वेद १ । ३२ । १)॥

पहुँचाते हैं और जो इंद्रदेव पुष्ट जोड़ोंको परस्पर संसृष्ट करते हैं उन इंद्रदेवकी मैं मार्थी स्तुति करता हूँ मैं उनको बारम्बार बुलाता हूँ, वह इंद्रदेव पापसे मेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके पंचम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१२६) ॥

"वायोः सवितुः" इत्यस्य सूक्तस्य "अग्नेर्मन्वे" इत्यनेन सूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा "वायव्यां वातवात्यायाम्" [न० क० १७] इत्यादिविहितायां शान्तौ "वायोः सवितुः" इत्येतत् सूक्तम् आवपनीयम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "वायोः सवितुरिति वायव्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

तत्र मृगारेष्टौ "वायो सावित्र आगोमुग्भ्यां चरुः" [तै० सं० ७. ५. २२. १] इति विहितस्य हविषो वायुसवितारौ देवता । तयोः स्तावकम् "वायोः सवितुः" इति सूक्तम् ॥

"वायोः सवितुः" इस सूक्तका "अग्नेर्मन्वे" सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ॥

तथा "वायव्यां वातवात्यायाम्—आँधी चलने पर वायव्या शांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित शान्तिमें "वायोः सवितुः" यह सूक्त पढ़ना चाहिये । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा कि—"वायोः सवितुरिति वायव्यायाम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तहाँ मृगारेष्टिमें "वायो सावित्र आगो मुग्भ्यां चरुः" (तैत्तिरीयसंहिता ७ । ५ । २२ । १) से विहित हविके वायु और सविता देवता हैं । उनकी स्तुति करनेवाला "वायो सवितु" यह सूक्त है ॥

तत्र प्रथमा ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः ।

यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥१॥

वायोः। सवितुः। विदथानि। मन्महे। यौ। आत्मन्ऽवत्।
विशथः। यौ। च। रक्षथः।

यौ। विश्वस्य। परिभू इति परिऽभू। बभूवथुः। तौ। नः। मुञ्चतम्।
अंहसः॥१॥

वायोः जगदाधारभूतस्य वातस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य च देवस्य विदथानि वेदनानि स्तुत्या गुणविषयज्ञानानि। यद्वा विदथ इति यज्ञनाम। विदथानि वेदितव्यानि श्रुतिविहितकर्माणि मन्महे जानीमहे। ❀ विद ज्ञाने इत्यस्माद् औणादिकः अथप्रत्ययः ❀। हे वायुसवितारौ यौ युवाम् आत्मन्वत् सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् विशथः प्रविशथः। वायोस्तावत् प्राणात्मना प्रवेशः श्रुतिसिद्धः। "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति। सविता च प्रेरकत्वेन अन्तर्यामितया सर्वं जगद् अनुप्रविष्टः। "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः"[बृ० आ० ३. ७. ७]। इत्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणात्। ❀ आत्मन्वत् इति। आत्मन्शब्दाद् मतुप्। "मादुपधायाः०" इति वत्वम्। "अनो नुट्" इति नुडागमः ❀। प्रवेशानन्तरं यौ च युवां रक्षथः तज्जगत् पालयथः। तथा यौ युवां विश्वस्य कृत्स्नस्य जगतः परिभू। परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थे वर्तते। परिग्रहीतारौ बभूवथुः भवथः। ❀ परिपूर्वाद् भवतेः क्विप् प्रत्ययः। "सुपां सुलुक्" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। हे वायुसवितारौ तौ युवां नः अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चतम्। ❀ मुच्लृ मोक्षणे॥ "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀॥

जगत्के आधारभूत वायुके और सर्वप्रेरक सूर्यदेवके श्रुति-

विहित कर्मोंको हम जानते हैं। हे वायु और सूर्य देवताओं! जो तुम आत्मा वाले स्थावर और जंगम प्राणियोंमें प्रवेश करते हो †। प्रवेशके अनन्तर जो तुम उस जगत्की रक्षा करते हो तथा जो तुम सब जगत्को धारण करने वाले हो, वह तुम हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यर्योः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे ।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः २

ययोः। सम्ऽख्याता। वरिमा। पार्थिवानि। याभ्याम्। रजः। युपितम्। अन्तरिक्षे।
ययोः। प्रऽअयम्। न। अनुऽआनशे। कः। चन। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ २ ॥

ययोर्देवयोः पार्थिवानि पृथिव्यां भवानि वरिमा उरुत्वानि महत्त्वानि संख्याता संख्यातानि जनैः सम्यक् परिगणितानि सख्यातानि दृश्यन्ते। ❀ पार्थिवानि "पृथिव्या ञाञौ" इति प्राग्दीव्यतीयः अञ् प्रत्ययः। वरिमेति। उरुशब्दाद् इमनिचि "प्रियस्थिर०"

† वायुका प्राणरूपसे प्रवेश करना श्रुतिमें प्रसिद्ध है, कि "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥-वायुने प्राण होकर नासिकामें प्रवेश किया" (ऐतरेय आरण्यक २।४।२) और 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' (बृहदारण्यक ३।७।७) आदि अन्तर्यामि-ब्राह्मणके अनुसार सर्वप्रेरक सविता सब जगत्के भीतर प्रविष्ट हैं ॥

इत्यादिना वट् आदेशः । "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀। याभ्यां वायुसवितृभ्याम् अन्तरिक्षे आकाशे रजः । उदकनामैतत्। ❀ उक्तं हि यास्केन । रजो रजतेः । ज्योती रज उच्यते । उदकं रज उच्यते इति [नि० ४. १६] ❀ । तद्ध रजःशब्दवाच्यं वृष्टिकारणम् उदकं युपितम् मूर्छितं सत् धार्यते । 'सवितृकिरणैर्वायुना च खलु वर्षतौं वियोक्तुम् आकाशे बहुलतरम् उदकं ध्रियत इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । ❀ युपितम् इति । युपु विमोहने । अस्मात् कर्मणि निष्ठा ❀ । कश्चन कोपि अन्यो देवः ययोर्वायुसवित्रोः प्रायम् प्रकृष्टगमनं नान्वानशे नानुप्राप्नोति । अनुगन्तुं समर्थो न भवतीत्यर्थः । ❀ अशू व्याप्तौ । छान्दसो लिट् । "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः ❀ । तौ नो मुञ्चतम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिन वायु और सूर्य देवताओंके पृथिवी परके महत्वमय कर्म मनुष्योंमें भली प्रकार प्रसिद्ध हैं । और जिन वायु और सविता देवताओंके द्वारा आकाशमें मूर्छित रज † अर्थात् जल धारण किया जाता है और कोई देवता जिन वायु और सूर्यदेवके श्रेष्ठ गमनको नहीं कर सकता वे वायुदेव और सूर्यदेव हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे बचावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्यु॒दि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो

---

† निरुक्त ४ । १६ में कहा है, कि-'रजो रजतेः । ज्योती रज उच्यते । उदकं रज उच्यते ॥-रज धातुसे रजस् शब्द बना है । ज्योति रज कहलाता है और जल रज कहलाता है" ॥ और श्रुति तथा स्मृतियोंसे भी है, कि-वर्षा ऋतुमें बहुतसा जल बरसानेके लिये सूर्यकी किरणोंके द्वारा और वायुके द्वारा आकाश मेंजल धारण किया जाता है ।

युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

तव । व्रते । नि । विशन्ते । जनासः । त्वयि । उत्ऽइते । प्र । ईरते । चित्रभानो इति चित्रऽभानो ।

युवम् । वायो इति । सविता । च । भुवनानि । रक्षथः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

हे सवितः तव व्रते त्वत्संबन्धिनि कर्मणि परिचरणलक्षणे जनासः जनाः प्राणिनः नि विशन्ते नियमेन वर्तन्ते । ❀"नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् ❀ । हे चित्रभानो विचित्रदीप्ते त्वयि उदिते उदयं प्राप्ते सति प्रेरते सर्वे जनाः स्वस्वकार्यकरणाय प्रवर्तन्ते । ❀ ईर गतौ । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । हे वायो त्वं सविता च युवम् युवां भुवनानि भूतजातानि रक्षतः पालयथः ॥ तौ नो मुञ्चतम् इत्यादि गतम् ॥

हे सूर्यदेव ! आपकी सेवारूप कर्म करनेके लिये मनुष्य नियमानुसार वर्ताव करते हैं और चित्रभानो ! आपका उदय होने पर सब मनुष्य अपने २ कामको करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। और हे वायुदेव तथा सूर्यदेव ! आप दोनों ही सब प्राणियोंकी रक्षा करते हैं ऐसे दोनों आप हमें पापसे छुड़ाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम् ।

सं ह्यू१र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ४

अप । इतः । वायो इति । सविता । च । दुःऽकृतम् । अप ।

रक्षांसि । शिमिदाम् । च । सेधतम् ।

सम् । हि । ऊर्जया । सृजथः । सम् । बलेन । तौ । नः । मुञ्चतम् ।

अंहसः ॥ ४ ॥

हे वायो त्वं च सविता च दुष्कृतम् अस्मदीयं पापम् अपेतः अपगमयथः ॥ तथा रक्षांसि उपद्रवकारिणो राक्षसान् समिधाम् संदीप्तां कृत्यां च अप सेधतम् अपगमयतम् ॥ अपि च ऊर्जया ऊर्जयति बलयतीति ऊर्जा अन्नरसजनिता पुष्टिः । ❀ ऊर्ज बल-प्राणनयोः । अस्मात् पचाद्यच् ❀ । तया अस्मान् सं सृजथः बलेन तज्जनितेन संसृजथः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे वायो ! आप और सूर्यदेव हमारे पापको हमसे अलग करिये । तथा उपद्रवकारी राक्षसोंको और प्रदीप्त कृत्याको भी हमसे दूर करिये । और अन्नके रससे उत्पन्न हुई पुष्टिसे हमको युक्त करिये और हमको पापसे छुड़ाइये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

रयिम् । मे । पोषम् । सविता । उत । वायुः । तनू इति । दक्षम् ।

आ । सुवताम् । सुऽशेवम् ।

अयक्ष्मतातिम् । महः । इह । धत्तम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ५

उतशब्दः चार्थे । सविता वायुश्च मे मह्यं रयिम् धनं पोषम् पुष्टिं समृद्धिं च आ सुवताम् प्रेरयताम् । प्रयच्छताम् इत्यर्थः । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शः ❀ । तथा तनू तन्वाम् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् । "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" इति प्रगृह्यसंज्ञा ❀ । तन्वाम् अस्मदीये शरीरे सुशेवम् सुसुखं दत्तम् बलम् आ सुवताम् आसमन्तात् प्रेरयताम् । तथा हे वायुसवितारौ । अयक्ष्मशब्दात् स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः ❀ । अयक्ष्मम् अरोगं महः तेजः इह अस्मिन् यजमाने धत्तम् धारयतम् ॥

सविता देवता और सूर्यदेवता मुझे धन समृद्धि दें तथा हमारे शरीरमें सुख और बल दें तथा हे वायु और सविता देवताओं ! आरोग्यता और बड़े भारी तेजको इस यजमानमें स्थापित करियेथ

षष्ठी ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ६

प्र । सुऽमतिम् । सवितः । वायो इति । ऊतये । महस्वन्तम् । मत्सरम् । मादयाथः ।

अर्वाक् । वामस्य । प्रऽवतः । नि । यच्छतम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

हे सवितः हे वायो ऊतये रक्षार्थं सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहात्मिकां बुद्धिं युवां प्र यच्छतम् । ❀ "ऊतियूति०" इत्यादिना प्रवतेः क्तिन्नन्त उदात्तो निपातितः ❀ । महस्वन्तम् दीप्तिमन्तं मत्सरम् मदकरं सोमं मादयाथः पीत्वा माद्यथः । ❀मत्सरम् इति । मदेरौणादिकः सरप्रत्ययः ❀ । वामस्य वननीयस्य प्रवतः प्रकर्ष-

यतो धनस्य अर्वाक् अस्मदभिमुखं नि यच्छतम् नियमयतम् । ❀ वामस्येति । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । मत्त इति । "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः ❀ ॥

हे सवितः ! हे वायो ! आप रक्षाके लिये मुझे सुमति दीजिये आप दीप्तिमान् मदकारी सोमको पीकर आनन्दित हूजिये सेवनीय बड़े भारी धनको हमको दीजिये और हमें सब अनर्थोंके मूल पापसे बचाइये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः

उप । श्रेष्ठाः । नः । आऽशिषः । देवयोः । धामन् । अस्थिरन् ।
स्तौमि । देवम् । सवितारम् । च । वायुम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः

देवयोः वायुसवित्रोः धामन् धामनि तेजसि स्थाने वा नः अस्माकं श्रेष्ठाः प्रशस्ता आशिषः फलप्रार्थना उपास्थिरन् उपस्थिता वर्तन्ते । ❀ अस्थिरन्निति । तिष्ठतेर्लुङि "अकर्मकाच्च" इति आत्मनेपदम् । "स्थाघ्वोरिच्च" इति इत्त्वकित्त्वे । व्यत्ययेन झस्य रन् आदेशः ❀ । तथाविधं देवम् दानादिगुणयुक्तं सवितारं वायुं च स्तौमि प्रशंसामि । ❀ "उतो वृद्धिर्लुकि हलि" इति वृद्धिः ❀ ॥ अन्यद्व्याख्यातम् ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] चतुर्थकाण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

वायुदेव और सूर्यदेवके स्थानमें हमारी श्रेष्ठ फलप्रार्थनायें उपस्थित हैं उन दानादिगुण युक्त वायुदेवता और सविता देवता

की मैं स्तुति करता हूँ, वे दोनों मुझको सकल अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ ७ ॥

चतुर्थ काण्डके पञ्चम अनुवाकमें पंचम सूक्त समाप्त (१२७) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "मन्वे वाम्" इति आद्यस्य सूक्तस्य पूर्ववद् विनियोगः ॥

तथा सोमयागे "मन्वे वाम्" इति औदुम्बर्या आज्यहोमस्य अनुमन्त्रणं कुर्यात् । उक्तं वैताने । "मन्वे वां द्यावापृथिवी इत्यौदुम्बर्या आज्यहोमम्" इति [वै० ३. ५]॥

छठे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'मन्वे वां' इस प्रथम सूक्त का पहिलेकी समान विनियोग है ॥

तथा सोमयागमें 'मन्वे वाम्' इस सूक्तसे औदुम्बर्याके घृतहोम का अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"मन्वे वां द्यावापृथिवी इत्यौदुम्बर्या आज्यहोमम्" (वैतानसूत्र ३ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

मन्वे । वाम् । द्यावापृथिवी इति । सुऽभोजसौ । सऽचेतसौ । ये इति । अप्रथेथाम् । अमिता । योजनानि ।

प्रतिस्थे इति प्रतिऽस्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ १ ॥

हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ सुभोजसौ सुष्ठु भोजयित्र्यौ

शोभनभोगे वा सचेतसौ समानचित्ते वाम् युवां मन्वे स्तौमि । यद्वा वां युवयोर्माहात्म्यं मन्वे अहं जानामि । किं पुनस्तद् इत्याह ये अप्रथेताम् इत्यादिना । ये द्यावापृथिव्यौ अमिता अमितानि अपरिमितानि योजनानि । [योजन]शब्दः अध्वपरिमाणवाची । अपरिमितान् अध्वनः अप्रथेताम् प्रथिते विस्तीर्णे अभवताम् । कृत्स्नदेशव्याप्त्या सर्वगते भवत इत्यर्थः । हि यस्माद् युवां वसूनाम् निवसतां देवमनुष्यादीनाम् निवासहेतूनां धनानां वा प्रतिष्ठे प्रकृष्टावस्थित्यधिकरणे अभवतम् भवथः । तस्मात् सर्वाधारत्वेन युवयोः सर्वगतत्वम् । ❀ प्रतिपूर्वात् तिष्ठतेः "आतश्चोपसर्गे" इति अधिकरणे अङ् । "उपसर्गात् सुनोति०" इति षत्वम् ❀ । नः अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चतम् ॥

हे द्यावापृथिवी ! सुन्दर भोग वाले और समान चित्त वाले तुम दोनोंकी मैं स्तुति करता हूँ, तुम दोनोंके माहात्म्यको मैं जानता हूँ कि–तुम दोनों अपरिमित मार्गोंमें विस्तृत हो अर्थात् सम्पूर्ण देशोंमें व्याप्त होनेसे सर्वगत हो । और तुम दोनों देवता और मनुष्य आदिकोंके धनोंके प्रकृष्टरूपसे स्थितिके कारण हो अतः सर्वाधार होनेसे सर्वगत हो, ऐसे तुम हमको पापसे छुड़ाओ ॥१॥

द्वितीया ॥

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥२॥

प्रतिस्थे इति प्रतिऽस्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । प्रवृद्धे इति प्रऽवृद्धे । देवी इति । सुभगे इति सुऽभगे । उरूची इति । द्यावापृथिवी । इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

प्रतिष्ठे प्रभवतं वसूनाम् इति पूर्ववत्। यस्मात् सर्वप्राणिनाम् अधिष्ठानभूते द्यावापृथिव्यौ तस्मात् प्रविद्धे प्रकर्षेण मणिसूत्रन्यायेन सूत्रवत् सर्वजगदनुप्रविद्धे। अनुप्रविष्टे इत्यर्थः। देवी देव्यौ दानादिगुणयुक्ते सुभगे शोभनधने सौभाग्ययुक्ते वा। ❀ "आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀। उरूची उरु बहुलम् अञ्चन्त्यौ व्याप्नुवत्यौ। ❀ उरुशब्दोपपदाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम्। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः❀। हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ इत्थं महानुभावे युवां मे मम स्योने। सुखनामैतत्। सुखहेतू भवतम्। अन्यद् गतम्॥

तुम धनोंकी प्रतिष्ठा हो। द्यावापृथिवी सब प्राणियोंके अधिष्ठान हैं अतएव मणिसूत्रन्यायकी समान सब जगत्में प्रविष्ट हैं, और ये दानादिगुणयुक्त हैं, सौभाग्यसम्पन्न हैं और अधिकतासे व्याप्त हैं। ऐसे महानुभाव द्यावापृथिवी मेरे सुखके कारण हों और वे द्यावापृथिवी हमें सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें॥ २॥

तृतीया॥

असंतापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ३

असंतापे इत्यसम्ऽतापे। सुऽतपसौ। हुवे। अहम्। उर्वी इति। गम्भीरे इति। कविऽभिः। नमस्ये३ इति।
द्यावापृथिवी इति। भवतम्। मे। स्योने इति। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥ ३॥

असंतापे संतापरहिते सर्वप्राणिनां संतापस्य हर्त्र्यौ सुतपसौ उर्वी उर्व्यौ विस्तीर्णे गम्भीरे गाम्भीर्ययुक्ते इदम् ईदृग् इति परिच्छेदरहिते कविभिः क्रान्तदर्शिभिर्महर्षिभिः नमस्ये नमस्कार्ये इदृश्यौ युवाम् अहं हुवे रक्षणार्थम् आह्वयामि। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् ❀ ॥ उत्तरोऽर्धर्चो व्याख्यातः ॥

सब प्राणियोंके सन्तापको हरने वाले, स्वयं सन्तापरहित, विस्तृत और गम्भीरतायुक्त, परिच्छेदरहित तथा क्रान्तदर्शी महर्षियोंके द्वारा नमस्कार करने योग्य तुम दोनोंको मैं रक्षा करनेके लिये आह्वान करता हूँ, ऐसे महानुभाव द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखके हेतु हों और वे दोनों हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान् ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

ये इति । अमृतम् । बिभृथः । ये इति । हवींषि । ये इति । स्रोत्याः । बिभृथः । ये इति । मनुष्यान् ।

द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

[हे] द्यावापृथिव्यौ ये युवाम् अमृतम् अमरणं सर्वप्राणिनाम् अमृतत्वं बिभृथः धारयथः । ❀ "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । बिभृथ इति । "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ । ये च युवां हवींषि चरुपुरोडाशादीनि धारयथः

ये च स्रोत्याः स्रोतस्विनीर्नदीः बिभृथः धारयथः । ❀ "स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ" इति ड्यप्रत्ययः ❀ । ये च युवां मनुष्यान् धारयथः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे द्यावापृथिवी ! जो तुम दोनों सब प्राणियोंके अमृतत्व (अमरण) को धारण करते हो, और जो तुम चरु पुरोडाश आदि हवियोंको धारण करते हो और जो तुम सोतों वाली नदियोंको धारण करते हो और जो तुम मनुष्योंको धारण करते हो, ऐसे महानुभाव द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखके हेतु हों और वे दोनों हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ये उस्रियां बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

ये इति । उस्रियाः । बिभृथः । ये इति । वनस्पतीन् । ययोः । वाम् । विश्वा । भुवनानि । अन्तः ।
द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

हे द्यावापृथिव्यौ ये युवाम् उस्रियाः । गोनामैतत् । गाः सर्वा बिभृथः धारयथः । ये च युवां वनस्पतीन् वृक्षान् सर्वान् बिभृथः । ❀ वनस्पतिशब्दः पारस्करादिः । "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । ययोर्वाम् युवयोः अन्तः मध्ये विश्वा विश्वानि उक्तानुक्तानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि ते युवां स्योने मे भवतम् इति संबन्धः ॥

हे द्यावापृथिवी ! जो तुम सब गौओंको भरण करते हो और जो तुम सब वनस्पतियोंको भरण करते हो और जिन तुम्हारे मध्यमें कहे हुए और न कहे हुए सब प्राणी रहते हैं, वे तुम दोनों सुखके हेतु होओ और हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करो ॥

षष्ठी ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥६॥

ये इति । कीलालेन । तर्पयथः । ये इति । घृतेन । याभ्याम् । ऋते । न । किम् । चन । शक्नुवन्ति ।
द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

हे द्यावापृथिव्यौ ये युवां कीलालेन अन्नेन तर्पयथः कृत्स्नं जगत् पोषयथः । ये च युवां घृतेन क्षरणशीलेन उदकेन तर्पयथः । याभ्यां द्यावापृथिवीभ्याम् ऋते विना किं चन किमपि कार्यं कर्तुं न शक्नुवन्ति सर्वे जनाः । अन्यत् पूर्ववत् । ❀ याभ्याम् ऋत इति । "अन्याराादितरर्ते०" इति पञ्चमी ❀ ॥

हे द्यावापृथिवी ! जो तुम अन्नसे सब जगत्का पोषण करते हो और जो तुम क्षरणशील जलसे तृप्त करते हो और जिन द्यावापृथिवीके बिना मनुष्य किसी भी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । वे द्यावापृथिवी सुखके हेतु हों और वे दोनों हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे अलग करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

यत् । मा । इदम् । अभिऽशोचति । येनऽयेन । वा । कृतम् । पौरुषेयात् । न । दैवात् ।
स्तौमि । द्यावापृथिवी इति । नाथितः । जोहवीमि । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ७ ॥

यद् इदम् पापं तत्फलं दुःखं वा मा माम् [अभिशोचति] अभितः सर्वतो दहति । येनयेन वा पापेन निमित्तभूतेन पुनरन्यत् पापं कृतम् । येनयेनेत्युक्तम् अर्थं विवृणोति पौरुषेयान्नेति । नशब्द उपमार्थः । पौरुषेयात् पुरुषप्रेरितात् पापादिव दैवात् देवकृतान्नि-मित्तात् यत् पापं दुःखं वा उत्पन्नं माम् अभिशोचतीति संबन्धः । ❀ पौरुषेयात् इति । "पुरुषाद् वधविकार०" इति ढञ् प्रत्ययः । दैवात् इति । "देवाद् यञञौ" इति अञ् ❀ । तस्य सर्वस्य पाप-स्य तत्फलभूतदुःखस्य च अपनोदनार्थं द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ स्तौमि प्रशंसामि ॥ नाथित इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] प्रथमं सूक्तम् ॥

जो पुरुष प्रेरित वा दैवकृत पाप वा उसका फल दुःख मुझको चारों ओरसे झुलसा रहा है और जिस२ निमित्तभूत पापसे मैंने दूसरे पाप किये हैं । उन सब पापोंको और उनके फलरूप दुःख को दूर करनेके लिये मैं द्यावापृथिवीकी स्तुति करता हूं, मैं प्रार्थी

उनके लिये आहुति देता हूँ वे मुझे सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१२८) ॥

"मरुतां मन्वे" इति सूक्तस्य पूर्ववद् गणप्रयुक्तो विनियोगः ॥

"मारुद्गणीं बलकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां शान्तौ "मरुताम्" इत्येतत् सूक्तम् आवपनीयम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "मरुतां मन्वे [४. २७] प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति मारुद्गण्याम्" इति [न० क० १८] ॥

अत्र "तिग्मम् अनीकम्" [७] इत्यनया साकमेधपर्वणि गृहमेधयागम् अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "सायं गृहमेधिनां तिग्मम् अनीकम्" इति [वै० २. ५] ॥

'मरुतां मन्वे' इस सूक्तका पहिलेकी समान गणप्रयुक्त विनियोग है।

'मारुद्गणीं बलकामस्य ॥-बलकी कामना वालेके लिये मारुद्गणी शांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित शान्तिमें 'मरुताम्' यह सूक्त कहना चाहिये । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा, है, कि-'मरुतां मन्वे (४ । २७) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३)इति मारुद्गण्याम्" (नक्षत्रकल्प १८)

यहाँ 'तिग्मम् अनीकम्" इस सातवीं ऋचासे साकमेधपर्वमें गृहमेधयागका अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, है, कि-"सायं गृहमेधिनां तिग्मं अनीकम्" (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

मरुताम् । मन्वे । अधि । मे । ब्रुवन्तु । प्र । इमम् । वाजम् । वाजऽसाते । अवन्तु ।

आशून्ऽइव । सुऽयमान् । अह्वे । ऊतये । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः

मरुताम् एकोनपंचाशत्संख्याकानां गणदेवानां मन्वे माहात्म्यं जानामि । ते मरुतो मे मह्यम् अधि ब्रुवन्तु अस्मदीयोयम् अनुग्राह्य इति पक्षपातेन वदन्तु ॥ तथा वाजसाते वाजस्य अन्नस्य साते लाभे निमित्तभूते सति इमं वाजम् अन्नं प्रावन्तु प्रकर्षेण अस्मदर्थं रक्षन्तु । यद्वा वाज इति बलनाम । वाजम् इमम् आत्मीयं बलं वाजसाते । वाजसातिरिति संग्रामनाम । "अयं वाजं जयतु वाजसातौ" इति हि निगमः [तै० सं० १. ३. ४. १. तै० ब्रा० २. ४. ६. १२] वाजसातशब्देनापि सोर्थोभिधीयते । वाजसाते संग्रामे प्रावन्तु प्ररक्षन्तु । अहम् अंशूनिव सुयमान् । अंशवः अश्वप्रग्रहा रज्जवः । तानिव सुयमान् सुष्ठु यन्तव्यान् सेव्यान् मरुतः अहम् ऊतये रक्षायै अह्वे आह्वयामि । यद्वा अंशुशब्देन तत्संबन्धिनः अश्वा विवक्षिताः । सुशिक्षितान् अश्वानिव सुयमान् । भक्तपराधीनतया वशवर्तिन इत्यर्थः । ❀ अह्व इति । ह्वेञ् "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लुङ् । "लिपिसिचिह्वश्च" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । ते मरुतो नः अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चन्तु ॥

मैं उञ्चास मरुद् देवताओंके माहात्म्यको जानता हूँ, वे मरुद् देवता पक्षपातपूर्वक कहें, कि–यह तो हमारे हैं, और अन्नप्राप्ति का निमित्त होने पर इस अन्नकी हमारे लिये प्रकृष्टतासे रक्षा करें, बलको संग्राममें रक्षित रक्खें ‡ । लगामकी समान सेवनीय मरुत् देवताओंको मैं रक्षा करनेके लिये बुलाता हूँ, वे मरुद् देवता हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे विलग करें ॥ १ ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता १ । ३ । ४ । १ और तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ४ । ६ । १२ में कहा है, कि–'अयं वाजं जयतु वाजसातौ ॥–यह संग्राममें बलको जीते" ॥

द्वितीया ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२॥

उत्सम् । अक्षितम् । विऽअचन्ति । ये । सदा । ये । आऽसिञ्चन्ति । रसम् । ओषधीषु ।
पुरः । दधे । मरुतः । पृश्निऽमातॄन् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः २

ये मरुतः सदा सर्वदा । ❀ "सर्वस्य सोन्यतरस्यां दि" इति सभावः ❀ । उत्सम् वर्षधारायुक्तं मेघम् अक्षितम् क्षयरहितम् । ❀ "०अएयदर्थे" इति पर्युदस्तत्वात् क्षियो दीर्घाभावः ❀ । सहद्ध व्यचन्ति अन्तरिक्षे विस्तारयन्ति । तदनन्तरं ये मरुतः ओषधीषु व्रीहियवाद्यासु तरुगुल्मादिषु च रसम् वृष्ट्युदकलक्षणम् आसिञ्चन्ति आ समन्तात् क्षारयन्ति । ❀ षिच क्षरणे । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ । तान् मरुतः पृश्निमातॄन् । पृश्निर्माध्यमिका वाक् माता जननी येषां ते पृश्निमातरः । ❀ "ऋतश्छन्दसि" इति कपः प्रतिषेधः ❀ । "पृश्नियै वै पयसो मरुतो जाताः" [तै० सं० २. २. ११. ४] इति हि तैत्तिरीयकम् । तथाविधान् मरुतः पुरो दधे पुरस्ताद् धारयामि । भजामीत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

जो मरुत्देवता वर्षाकी धारासे युक्त मेघको क्षयरहित अवस्था में अन्तरिक्षमें विस्तृत करते हैं, तदनन्तर जो मरुत्देवता व्रीहि यव और तरु गुल्म आदि औषधियोंमें वृष्टिजलरूपी रसको सींचते हैं । उन पृश्नि †अर्थात् मध्यमा वाणी जिनकी माता है उन पृश्नि-

† "पृश्नियै वै पयसो मरुतो जाताः ॥ पृश्निके लिये जलके मरुत् उत्पन्न हुए हैं" (तैत्तिरीयसंहिता २ । २ । १४) ॥

मातृक मरुद् देवताओंका मैं पहिले भजन करता हूँ, वे मुझको सब अनर्थोंके मूल पापसे बचावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः

पयः । धेनूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । जवम् । अर्वताम् । कवयः ।
ये । इन्वथ ।
शग्माः । भवन्तु । मरुतः । नः । स्योनाः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ३

हे मरुतः यूयं ये कवयः क्रान्तदर्शनाः सन्तः धेनूनाम् गवां पयः क्षीरम् इन्वथ सर्वाङ्गेषु व्यापयथ । ❀ इवि व्याप्तौ । इदित्वान्नुम् ❀ । ओषधीनां रसम् द्रवं सर्वावयवेषु व्यापयथ । अर्वताम् अश्वानां जवम् वेगं [ये] व्यापयथ । शग्माः शक्तारः सर्वकार्यसमर्थास्ते मरुतः नः अस्माकं स्योनाः सुखकरा भवन्तु ॥

हे मरुत् देवताओ ! जो तुम दूरदर्शी होते हुए गौओंके क्षीर को सब अंगोंमें व्याप्त करते हो, औषधियोंके रसको सब अंगोंमें व्याप्त करते हो, घोड़ोंमें वेगको व्याप्त करते हो, ऐसे सब कार्यों को करनेमें समर्थ मरुत्‌देवता हमें सुख देने वाले होओ और सब अनर्थोंके मूल पापसे हमको मुक्त करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ४

अपः। समुद्रात्। दिवम्। उत्। वहन्ति। दिवः। पृथिवीम्। अभि। ये। सृजन्ति।

ये। अत्ऽभिः। ईशानाः। मरुतः। चरन्ति। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः

ये मरुतः समुद्रात् उदधेः सकाशात् अपः उदकानि दिवम् अन्तरिक्षं प्रति उद्वहन्ति मेघैः प्रापयन्ति। तदनन्तरं दिवः अन्तरिक्षात् पृथिवीम् अभिलक्ष्य ता अपः सृजन्ति विसृजन्ति। ताभिरद्भिः ईशानाः ईश्वराः सन्तो ये मरुतः इत्थं चरन्ति॥ ते मरुत इत्यादि गतम्। ❀ अद्भिरिति। "अपो भि" इति पकारस्य तकारः ❀॥

जो मरुत् समुद्रमेंसे जलोंको अन्तरिक्षमें मेघोंको पहुँचाते हैं, तदनन्तर अन्तरिक्षसे पृथिवीको लक्ष्य कर जलोंको छोड़ते हैं, इस प्रकार जलोंके स्वामी बनते हुए जो मरुत् इस प्रकार विचरण करते हैं वे मरुत्-देवता सब अनर्थोंके मूल पापसे हमको मुक्त करें

पञ्चमी॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।

ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥५॥

ये। कीलालेन। तर्पयन्ति। ये। घृतेन। ये। वा। वयः। मेदसा। सम्ऽसृजन्ति।

ये। अत्ऽभिः। ईशानाः। मरुतः। वर्षयन्ति। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः

ये मरुतः कीलालेन अन्नेन वृष्टिद्वारा जनांस्तर्पयन्ति ये च घृतेन उदकेन तर्पयन्ति। ये वा। वाशब्दः चार्थे। ये च मरुतः वयः

पक्षिजातं मेदसा तुरीयधातुना संसृजन्ति । मेदस्वि कुर्वन्तीत्यर्थः । यद्वा वयः शरीरपरिणामविशेषः । तत् मेदसा युक्तं कुर्वन्ति । क्षितिपवनसलिलतेजःकारणकात् परिणामविशेषाद्धि पुरुषशरीरस्य मेदस्वित्वं जायते । अतो मरुतां तद्धेतुत्वम् । ये च मरुतः अद्भिः उदकैः मेघस्थैः ईशानाः सन्तो वर्षयन्ति सर्वतो वृष्टिं कुर्वन्ति ॥ तेनेत्यादि पूर्ववत् ॥

जो मरुद्देवता वृष्टिके द्वारा अन्नसे मनुष्योंको तृप्त करते हैं और जो मरुद्गण पक्षियोंको मेदसे संसृष्ट करते हैं अथवा प्राणीकी अवस्थाको पृथ्वी जल तेज और पवनरूपी कारणके परिणामविशेषसे पुरुषशरीर मेद वाला बनता है अतः मरुतोंको उनका कारण माना है । और जो मरुतदेवता मेघोंमें स्थित जलोंसे स्वामी बनकर सब ओर वृष्टि करते हैं, वे हमको सब अनर्थोंके मूल पाप से छुड़ावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार ।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ६

यदि । इत् । इदम् । मरुतः । मारुतेन । यदि । देवाः । दैव्येन । ईदृक् । आर ।

यूयम् । ईशिध्वे । वसवः । तस्य । निःऽकृतेः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ६ ॥

इदम् अनुभूयमानं मदीयं दुःखं तद्धेतुभूतं पापं वा हे मरुतः मारुतेन । इच्छब्दः अवधारणे । मरुद्विषयेणैवापराधेन ईदृक् एवंरूपं यदि आर प्राप । हे देवाः इन्द्रादयः दैव्येन देवसंबन्धिना

अपराधेन [यदि] एवंरूपं दुःखम् अस्मान् प्राप । ❀ [आर]। "त्यदा-ऋ गतौ । अस्मात् लिट् । ईदृक् इति । इदमिव पश्यति "त्यदा-दिषु दृशोनालोचने कञ् च" इति दृशेः क्विन् प्रत्ययः । "इदं-किमोरीश् की" इति इदम ईश् आदेशः ❀ । तस्य दुःखस्य तद्धेतोः पाप्मनो वा निष्कृतेः निष्करणस्य परिहारस्य हे वसवः वासयितारो मरुतः यूयम् ईशध्वे ईश्वरा भवथ । ❀ ईशेर्लेटि अडागमः ❀ ॥ गतम् अन्यत् ॥

यह अनुभवमें आता हुआ मेरा दुःख वा उसका हेतु पाप मरुद्देवताओंका अपराध करनेसे मुझे इस प्रकार प्राप्त होरहा है अथवा हे इन्द्र आदि देवताओं ! देवसंबन्धी अपराधके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त होरहा है, उस दुःखको वा पापको हटानेके लिये हे वसाने वाले मरुद् देवताओं ! आप समर्थ हैं ऐसा आप हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाइये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् ।
स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः

तिग्मम् । अनीकम् । विदितम् । सहस्वत् । मारुतम् । शर्धः । पृतनासु । उग्रम् ।

स्तौमि । मरुतः नाथितः । जोहवीमि । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ७

तिग्मम् तीक्ष्णम् अनीकम् सप्तगणात्मना समूहीभूतं विदितम् प्रख्यातं सहस्वत् बलवत् अभिभवनयुक्तं वा मारुतम् मरुतां संबंधि शर्धः बलं पृतनासु संग्रामेषु उग्रम् उद्गूर्णं दुःसहं भवति । तान् मरुतः स्तौमि प्रशंसामि ॥ नाथितो जोहवीमीत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ।

तीक्ष्ण, सप्तगणरूपसे सेनारूप, प्रसिद्ध बलवान् मरुत्संबंधी बल संग्राममें दुःसह होता है, ऐसे मरुत् देवताओंकी मैं प्रशंसा करता हूँ मैं प्रार्थी मरुत् देवताओंका बारम्बार आह्वान करता हूँ वे हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके छठे अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (१२९) ॥

"भवाशर्वौ मन्वे वाम्" इति सूक्तस्य गणविनियोग उक्तः ॥

तथा सर्वव्याधिभैषज्यकर्मणि च उदकपूर्णान् सप्त काम्पीलपुटान् प्रत्यृचं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् अवसिञ्चेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "भवाशर्वाविति सप्त काम्पीलपुटान् अपां पूर्णान् संपातवतः कृत्वा दक्षिणेन अवसिच्य पश्चाद् अपविध्यति" इति [४. ४] ॥

'भवाशर्वौ मन्वे वाम्' इस सूक्तका गणप्रयुक्त विनियोग कह दिया है ॥

तथा सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें भी जलसे भरे हुए कबीलेके सात दोनोको प्रत्येक ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी पर छिड़के । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–भवाशर्वाविति सप्त काम्पीलपुटान् अपां पूर्णान् सम्पातवतः कृत्वा दक्षिणेन अवसिच्य पश्चात् अपविध्यति" (कौशिकसूत्र ४ । ४)॥

तत्र प्रथमा ॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः १

भवाशर्वौ । मन्वे । वाम् । तस्य । वित्तम् । ययोः । वाम् । इदम् । प्रऽदिशि । यत् । विऽरोचते ।

यौ। अस्य। ईशाथे इति। द्विऽपदः। यौ। चतुःऽपदः। तौ।

नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ १ ॥

भवति उत्पद्यते अस्मात् सर्वं जगद् इति भवः। शृणाति हिनस्ति सर्वम् अन्तकाले इति शर्वः। भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ अष्टमूर्तीनां मध्ये परमेश्वरस्य द्वे मूर्ती "भवाय देवाय स्वाहा शर्वाय देवाय स्वाहा"॥इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धे।❀"देवताद्वन्द्वे च"इति आनङ्❀। हे भवाशर्वौ वाम् युवयोर्महत्त्वम् अहं मन्वे जानामि॥ तस्य वित्तम्। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। तद् वक्ष्यमाणं जानीतम्। ययोर्वाम् युवयोः प्रदिशि प्रदेशने प्रशासने यद् इदं कृत्स्नं जगद् विरोचते प्रकाशते तद् वित्तम् इत्यन्वयः। ❀ रुच दीप्तौ ❀। अस्य च द्विपदः पाद-द्वयोपेतस्य प्राणिजातस्य यौ युवाम् ईशाथे ईश्वरौ भवथः। ❀ ईश ऐश्वर्ये ❀। यौ च युवां चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतस्य गवादेः ईशाथे। ❀ "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि षष्ठी। द्वौ पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति बहुव्रीहौ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दस्यान्त्यंलोपः। "पादःपत्" इति पद्भावः❀। तौ भवाशर्वौ न अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चतम् ॥

हे भव और शर्व †। आपके महत्त्वको मैं जानता हूँ उनको आप समझिये कि–जिस आपकी आज्ञामें सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है और जो तुम दोनों ईश्वर दो पैर वाले प्राणियों के ईश्वर हो और जो तुम दोनों चार पैर वाले गौ आदि पशुओंके

† जिनसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, वह भव कहलाते हैं और अन्तकालमें जो सबका शृणन करते हैं अर्थात् मारते हैं वह शर्व कहलाते हैं। ये भव और शर्व परमेश्वरकी आठ मूर्तियोंमेंसे दो प्रसिद्ध मूर्ति हैं। अन्य श्रुतियोंमें भी इनका वर्णन मिलता है। यथा—'भवाय देवाय स्वाहा, शर्वाय देवाय स्वाहा' ॥

ईश्वर हो ऐसे हे भव और शर्व नामक शिवकी मूर्तियों! तुम हमें सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाओ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ययो॑र॒भ्य॑ध्व उ॒त यद् दू॒रे चि॒द् यौ वि॑दि॒तावि॑षु॒भृता॒मसि॑ष्ठौ ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः २

ययोः॑ । अ॒भि॒ऽअ॒ध्वे । उ॒त । यत् । दू॒रे । चि॒त् । यौ । वि॒दि॒तौ । इ॒षु॒ऽभृता॑म् । असि॑ष्ठौ ।

यौ । अ॒स्य । ईशा॑थे॒ इति॑ । द्वि॒ऽपदः॑ । यौ । चतुः॑ऽपदः । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥ २ ॥

ययोः भवाशर्वयोः अभ्यध्वे । ❀ अभि अध्वनः अभ्यध्वः । "उपसर्गाद् अध्वनः" इति अच् समासान्तः ❀ । समीपदेशे । उत-शब्दः अप्यर्थे । दूरेपि च यत् किंचिद् अस्ति तयोः प्रशासनस्य तत् सर्वं विषय एवेत्यर्थः । यौ भवाशर्वौ विदितौ सर्वैः प्रज्ञातौ इषुभृतौ इषोर्बाणस्य धनुषि आरोपितस्य भर्तारौ । असिष्ठौ अस्तृ-तमौ क्षेप्तृतमौ । ❀ अस्तृशब्दात् "तुश्छन्दसि" इति इष्ठन् । "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः ❀ । यावस्येशाथे इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिन भव और शर्व देवताओंके समीपके देशमें और दूरके देशमें जो कुछ है वह सब उनके ही शासनमें है और जो भव तथा शर्व धनुष पर चढ़ाये हुए बाणोंको धारण करने वाले और फेंकने वाले प्रसिद्ध हैं और जो दो पैरवाले और चार पैरवाले प्राणियों के स्वामी हैं वे हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

स॒ह॒स्रा॒क्षौ वृ॑त्र॒हणा॑ हु॒वे॒हं दू॒रेग॑व्यूती स्तु॒वन्ने॑म्यु॒ग्रौ ।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥३

सहस्रऽअक्षौ । वृत्रऽहना । हुवे । अहम् । दूरेगव्यूती इति दूरेऽग-

व्यूती । स्तुवन् । एमि । उग्रौ ।

यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः ।

मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

सहस्राक्षौ सहस्रसंख्याकानि अक्षीणि चक्षूंषि ययोः तौ सहस्राक्षौ सर्वतो दृष्टदृष्टी । दूरसूक्ष्मादिविषयेष्वपि अप्रतिहतदर्शनावित्यर्थः । ❀"बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः❀। वृत्रहणा वृत्रहणौ वृत्रम् असुरं हतवन्तौ दूरेगव्यूती । गावो यूयन्ते मिश्रीभवन्ति संचरन्त्यस्मिन्निति गव्यूतिः गोसंचारभूमिः । सा दूरे विप्रकृष्टे ययोस्तौ दूरेगव्यूती । गोसंचारदेशाद् दूरदेशे वर्तमानावित्यर्थः । ❀ "ऊतियूति०" इत्यादिना अधिकरणे क्तिन्नन्तो यूतिशब्दः । "गोर्यूतौ छन्दसि" इति अव् आदेशः ❀ । ईदृशौ भवाशर्वौ अहं हुवे आह्वयामि । कीदृशोहम् । उग्रौ उद्गूर्णौ तीक्ष्णौ तावेव स्तुवन् प्रशंसन् नेमी । ❀ त्वो नेम इत्यर्धस्य इति यास्कः [नि० ३. २०] ❀। नेमः अर्धं बलम् अस्यास्तीति नेमी । असंपूर्णबल इत्यर्थः । यद्वा स्तुवन्नेमीति समुदायस्तयोरेव विशेषणम् । नेमिशब्दो रथावयववाची । तेन च तद्वान् लक्ष्यते । ❀ स्तुवन्निति कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ । प्रशस्तरथावित्यर्थः ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

अर्ध बल वाला मैं सहस्र नेत्र वाले—सब ओर दृष्टि देने वाले अर्थात् दूर सूक्ष्म आदि सब विषयोंमें अप्रतिहत दर्शन वाले, वृत्रासुरके संहारक और जिनसे गोसंचारभूमि दूर रहती है, ऐसे तीक्ष्ण भव और शर्वका मैं आह्वान करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यावा॑रेभाथे ब॒हु सा॒कमग्रे॒ प्र चेदस्रा॑ष्ट्रमभि॒भां जने॑षु।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥४

यौ। आ॒रे॒भा॒थे॒ इत्या॑ऽरे॒भा॒थे॑। ब॒हु। सा॒कम्। अग्रे॑। प्र। च॒।

इत्। अस्रा॑ष्ट्रम्। अ॒भि॒ऽभाम्। जने॑षु।

यौ। अ॒स्य। ईशा॑थे॒ इति॑। द्वि॒ऽपदः॑। यौ। चतुः॑ऽपदः। तौ। नः॒।

मु॒ञ्च॒त॒म्। अंह॑सः॥ ४॥

हे भवाशर्वौ अग्रे सृष्ट्यादौ यौ युवां बहुसाकम् बहूनां प्राणिनां साकं सहभावो यस्मिन् तद् बहुसाकम् जनसंघम् आरेभाथे आरब्धवन्तौ निर्मितवन्तौ। तेषु उत्पन्नेषु जनेषु। इच्छब्दः अवधारणे। अभिभाम् अभिदीप्तिं शत्र्वादिलक्षणां तत्तत्पापानुसारेण युवामेव च प्रास्राष्टम् प्रकर्षेण सृष्टवन्तौ उत्पादितवन्तौ। "मा नो विदद् अभिभा मो अशस्तिः" [१. २०. १] इति परिहरणीयत्वश्रवणाद् अभिभाशब्दवाच्यस्य अनभिमतरूपतोक्ता। ❀ अस्राष्टम् इति। सृज विसर्गे। अस्मात् लुङि तसस्तम्। "सृजिदृशोर्झल्यम् अकिति" इति अम् आगमः। "वदव्रजहलन्तस्य०" इति वृद्धिः। सिज्लोपे "व्रश्च०" इत्यादिना षत्वे। ष्टुत्वम् ❀॥ यावस्येशाथे इत्यादि पूर्ववत्॥

हे भव और शर्व! जिन तुम दोनोंने सृष्टिकी आदिमें बहुतसे प्राणियोंको बनाया था और उन उत्पन्न मनुष्योंमें शत्रु आदि रूप अभिदीप्तिको तत्तत्पापानुसार तुम ही उत्पन्न करते हो और जो तुम दो पैर वाले प्राणियोंके और चार पैर वाले पशु आदिके स्वामी हो वे हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाओ ४

पञ्चमी ॥

यथोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ५

ययोः । वधात् । न । अपऽपद्यते । कः । चन । अन्तः । देवेषु । उत ।

मानुषेषु ।

यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः ।

मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

ययोः भवाशर्वयोः वधात् । ❀ "हनश्च वधः" इति करणे अप् प्रत्ययो वधादेशश्च ❀ । हननसाधनाद् आयुधाद् देवेषु अन्तः मध्ये उत मानुषेषु मनुष्येषु च मध्ये कश्चन कोपि नापपद्यते अपवर्जनं न प्राप्नोति अपि तु तद्विषय एव भवति ॥ यावस्येशाथे इत्यादि गतम् ॥

जिन भव और शर्वके हननके साधन आयुधसे देवताओंमेंसे और मनुष्योंमेंसे कोई भी नहीं बचता है और जो दो पैर वाले मनुष्य आदि प्राणियोंके तथा चार पैर वाले पशु आदिके स्वामी हैं वे भव और शर्व देवता हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ५

षष्ठी ॥

यः कृत्याकृन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

यः । कृत्याऽकृत् । मूलऽकृत् । यातुऽधानः । नि । तस्मिन् । धत्तम् । वज्रम् । उग्रौ ।

यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

यः शत्रुः कृत्याकृत् कृत्यया क्रियानिर्वृत्तया पिशाच्या कृन्तति छिनत्तीति कृत्याकृत् । यश्च यातुधानः राक्षसः मूलकृत् वंशाभिवृद्धेर्मूलं निदानम् अपत्यं कृन्तति छिनत्तीति मूलकृत् । तस्मिन्नुभयविधे शत्रौ हे उग्रौ उद्गूर्णबलौ भवाशर्वौ वज्रम् वर्जकम् आयुधं नि धत्तम् निक्षिपतम् । विध्यतम् इत्यर्थः ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

जो शत्रु कृत्याक्रियासे निर्मित पिशाचीके द्वारा काटता है और जो राक्षस हमारे वंशकी वृद्धिके मूल सन्तानको नष्ट करता है, इन दोनों प्रकारके शत्रुओंमें हे प्रचण्डबली शर्व और भव ! देवता वर्जक आयुधका प्रहार करें । जो भव और शर्व देवता दो पैर वाले प्राणियोंके और चार पैर वाले पशुओंके ऊपर शासन करते हैं वे हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे बचावें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः

अधि । नः । ब्रूतम् । पृतनासु । उग्रौ । सम् । वज्रेण । सृजतम् । यः । किमीदी ।

स्तौमि । भवाशर्वौ । नाथितः । जोहवीमि । तौ । न । मुञ्चतम् । अंहसः

हे उग्रौ अप्रधृष्यगुणयुक्तौ दुष्प्रधर्षौ भवाशर्वौ नः अस्मभ्यम् अधि ब्रूतम् श्रेयोविषये पक्षपातेन वदतम् । पृतनासु संग्रामेषु वज्रेण आयुधेन अस्मदीयान् शत्रून् सं सृजतम् संयोजयतम् । यश्च किमीदी किम् इदानीम् उत्पन्नं किम् इदानीम् उत्पन्नम् इति रन्ध्रान्वेषी हिंसको राक्षसादिः तमपि आयुधेन संयोजयतम् । एवंमहानुभावौ भवाशर्वौ अहं स्तौमि ॥ गतम् अन्यत् ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे दुष्प्रधर्ष भव और शर्व देवताओ ! तुम हमारे श्रेयकी बातमें पक्षपातपूर्वक कहो, संग्राममें हमारे शत्रुओंको आयुधसे मिलाओ, और इस समय क्या होरहा है, इस समय क्या होरहा है, इस प्रकार छिद्र ढूँढ़ते हुए घूमने वाले हिंसक राक्षस आदिको भी आयुधसे युक्त करो, ऐसे महानुभाव भव और शर्व देवताकी मैं स्तुति करता हूँ, मैं प्रार्थी वारम्बार उनका आह्वान करता हूँ, वे मुझको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ ७ ॥

चतुर्थ काण्डके छठे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (१३०) ॥

"मन्वे वां मित्रावरुणौ" इति सूक्तस्य उक्तो विनियोगः । "मित्रावरुणाभ्याम् आगोमुग्भ्यां पयस्या" इति [तै० सं० ७.५. २२. १] विहितस्य मृगारहविषो मित्रावरुणौ देवते । तयोः स्तावकम् एतत् सूक्तम् ॥

"मन्वे वां मित्रावरुणौ" इस सूक्तका विनियोग कह दिया है तैत्तिरीयसंहिता ७ । ५ । २२ । १ के मन्त्र "मित्रावरुणाभ्याम् आगोमुग्भ्यां पयस्या" से विहित मृगारहविके मित्र और वरुण देवता हैं । यह सूक्त उनकी स्तुतिसे भरा हुआ है ।

तत्र प्रथमा ॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

मन्वे । वाम् । मित्रावरुणौ । ऋतऽवृधौ । सऽचेतसौ । द्रुह्वणः ।
यौ । नुदेथे इति ।

प्र । सत्यऽवानम् । अवथः । भरेषु । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः १

हे ऋतावृधा ऋतस्य सत्यस्य उदकस्य यज्ञस्य वा वर्धयितारौ सचेतसौ समानज्ञानौ ईदृशौ हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ। ❀मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ। "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" [देवताद्वन्द्वे च] इति पूर्वपदस्य आनङ्। "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः❀। वाम् युवयोर्महत्त्वं मन्वे स्तौमि। यौ युवां द्रुह्वणः द्रोग्धॄन् नुदेथे प्रेरयेथे स्थानात् प्रच्यावयथः। ❀ नुद प्रेरणे ❀ । अपि च सत्यावानम् सत्ययुक्तम्। ❀ "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप् ❀। सत्यप्रतिज्ञं पुरुषं भरेषु संग्रामेषु प्रावथः प्रकर्षेण रक्षथः। तौ युवां नः अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चतम्॥

हे सत्य जल और यज्ञको बढ़ाने वाले समान ज्ञानी मित्र और वरुण देवताओ ! मैं तुम्हारे महत्त्वकी स्तुति करता हूँ कि-तुम द्रोह करने वालोंको उनके स्थानसे च्युत कर देते हो और सत्य प्रतिज्ञा वाले पुरुषकी संग्राममें विशेषरूपसे रक्षा करते हो, वे तुम दोनों हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाओ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः २

सऽचेतसौ । द्रुह्वणः । यौ । नुदेथे इति । प्र । सत्यऽवानम् अवथः । भरेषु
यौ । गच्छथः । नृऽचक्षसौ । बभ्रुणा । सुतम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः

सचेतसौ समानज्ञानौ एकार्थकारिणौ हे मित्रावरुणौ यौ युवां द्रुहणः द्रोग्धॄन् नुदेथे सत्यवन्तं च भरेषु संग्रामेषु प्रावथः मरक्षथः। नृचक्षसौ नृणां संचष्टारौ सम्यग् द्रष्टारौ। अहोरात्राभिमानिनौ हि मित्रावरुणौ तत्र क्रियमाणस्य मानुषव्यापारस्य सर्वस्यापि साक्षिणावित्यर्थः। ईदृशौ यौ मित्रावरुणौ बभ्रुणा बभ्रुवर्णेन पीतवर्णेन रथादियानेन सुतम् अभिषुतं सोमं गच्छतः प्राप्नुतः। ❀नृचक्षसाविति। चक्षेरसुनि "असनयोश्च" इति ख्याञादेशाभावः❀॥ तौ न इत्यादि गतम्॥

हे समान ज्ञान वाले होनेसे एक ही प्रयोजनके कामको करने वाले मित्र और वरुण देवताओं! जो तुम द्रोह करने वालोंको उनके स्थानसे भ्रष्ट करते हो और सत्यप्रतिज्ञ पुरुषकी संग्राममें विशेषरूपसे रक्षा करते हो, दिन और रात्रिके अभिमानी देवता होनेसे, उनमें किये जाने वाले मनुष्योंके सब कर्मोंके साक्षी ऐसे जो मित्रावरुण हैं वे पीत वर्ण वाले रथ आदिक यानसे अभिषुत सोमको प्राप्त होते हैं वे मित्र और वरुण देवता हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें॥ २॥

तृतीया॥

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिं यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ३

यौ। अङ्गिरसम्। अवथः। यौ। अगस्तिम्। मित्रावरुणा। जमत्ऽअग्निम्। अत्रिम्।

यौ। कश्यपम्। अवथः। यौ। वसिष्ठम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः

अंगारेभ्यो जातो महर्षिरङ्गिराः। "येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्" इति हि ब्राह्मणम् [ऐ० ब्रा० ३. ३४]। एतत्संज्ञं महर्षिं हे

मित्रावरुणौ यौ युवाम् अवथः रक्षथः। यौ च युवाम् अगस्त्यम् कुम्भसंभवम् आत्मीयं पुत्रं रक्षथः। उक्तं हि। "मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीम् अप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोपतत्। ततोगस्त्यवसिष्ठावजायेताम्" [स० अ० १२] इति। तथा जमदग्निम् जमन्तः ज्वलन्तः अग्नयो यस्य स तथोक्तः। एतत्संज्ञं महर्षिम्। मातृपित्रात्मसंबन्धिनस्त्रिविधा दोषा न अस्मिन्निति सन्ति अत्रिः। तस्माद् अत्रिर्न त्रय इति हि निरुक्तम् [नि० ३. १७]। एतत्संज्ञं महर्षिम्। अवथः। यौ च युवां कश्यपम् दूरसूक्ष्मादिभेदभिन्नस्यापि कृत्स्नस्य जगतो द्रष्टारम्। "कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० आ० १. ८. ८]। कश्यपाख्यं महर्षिम् अवथः रक्षथः। यौ च वसिष्ठम् वसुमत्तमम्। ❀ वसुमच्छब्दाद् इष्ठनि "विन्मतोर्लुक्"। "टे०" इति टिलोपः। ❀ सर्वश्रेष्ठं वसिष्ठाख्यं महर्षिं रक्षथः॥ तौ न इत्यादि गतम्॥

अङ्गारोंसे उत्पन्न हुए अंगिरा नामक महर्षि † की हे मित्र और वरुणदेवता! जो आप रक्षा करते हो और कुम्भसे उत्पन्न हुए महर्षि ‡ अगस्त्यकी हे मित्र और वरुण देवताओं! तुम जो रक्षा करते हो और माता पिता तथा अपने इस प्रकार तीनों

---

† ऐतरेय ब्राह्मण ३। ३४ में कहा है, कि—"येंगारा आसन् तेऽगिरसोऽभवन्॥—जो अंगार थे वे अंगिरस् हुए"॥

‡ स० अ० १२ में कहा है, कि—"मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीं अप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत्। ततोगस्त्यवसिष्ठावजायेताम्॥—दीक्षित मित्र और वरुणने जब उर्वशी अप्सराको देखा तो उनका वीर्य वसतीवर कुम्भमें गिर पड़ा तब वसिष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुए"॥

के दोषोंसे रहित अत्रि+की जो तुम रक्षा करते हो और दूर सूक्ष्म आदि भेदसे भिन्न सब जगत्के द्रष्टा कश्यप× नामक मुनिकी जो तुम रक्षा करते हो और जो तुम सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ नाम वाले महर्षिकी रक्षा करते हो, वह तुम हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम् ।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

यौ । श्यावऽअश्वम् । अवथः । वध्रिऽअश्वम । मित्रावरुणा । पुरुऽमीढम् । अत्रिम् ।
यौ । विऽमदम् । अवथः । सप्तऽवध्रिम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ४

श्यावाः कपिशा अश्वा यस्य श्यावाश्वः । एतत्संज्ञम् ऋषिम् हे [मित्रावरुणा] मित्रावरुणौ यौ युवाम् अवथः रक्षथः । वध्र्यश्वम् । वध्र्यः पण्डा अश्वा यस्य स वध्र्यश्वः । तं च रक्षथः । तथा पुरुमीढम् । मीढम् इति धननाम । पुरूणि मीढानि धनानि यस्य स तथोक्तः एतत्संज्ञं महर्षिं रक्षथः । अत्रिम् इति पुनर्वचनम्

+ निरुक्त ३, १७ में कहा है, कि-"तस्माद् अत्रिर्न त्रय इति निरुक्तम्" ॥

× तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । ८ में कहा है, कि-"कश्यपः पश्यको भवति । यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् ॥—कश्यप पश्यक (देखने वालेके) अर्थको रखता है । वह सूक्ष्मताके कारण सबको देखते हैं ॥"

आदरार्थम् । यद्वा उक्तनिरुक्त्या पुरुमीढस्यैव विशेषणम् । अथ वा त्रिविधा आत्रेयाः । यद् आह आपस्तम्बः । "आत्रेयाय प्रथमाय हिरण्यं ददाति । द्वितीयाय तृतीयाय वा" [आप० १३. ६. १२] इति । तद्भेदाभिप्रायम् एतत् पुनरभिधानम् । यौ युवां त्रिमदम् एतत्संज्ञम् ऋषिं सप्तवध्रिम् । सप्त वध्रयः अश्वा यस्येति सप्तवध्रिः । एतत्संज्ञं च अवथः रक्षथः ॥ तौ न इत्यादि गतम् ॥

हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम श्यावाश्व नाम वाले ऋषि की रक्षा करते हो और वध्र्यश्व नाम वाले ऋषिकी रक्षा करते हो, पुरुमीढ नाम वाले ऋषिकी रक्षा करते हो, अत्रि ÷ ऋषि की रक्षा करते हो और हे मित्र और वरुण देवताओं ! जो तुम त्रिमद और सप्तऋषिकी रक्षा करते हो, वे तुम दोनों हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ५

यौ । भरत्ऽवाजम् । अवथः । यौ । गविष्ठिरम् । विश्वामित्रम् । वरुण । मित्र । कुत्सम् ।
यौ । कक्षीवन्तम् । अवथः । प्र । उत । कण्वम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

हे मित्र हे वरुण यौ युवां भरद्वाजम् । भरत् पोषक वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य स भरद्वाजो महर्षिः । तम् अवथः रक्षथः ।

यौ युवां गविष्ठिरम् गवि वाचि वेदात्मिकायां स्थिरो गविष्ठिरः। ❀ "गवियुधिभ्यां स्थिरः" इति षत्वम्। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति अलुक् ❀। एतत्संज्ञं महर्षिं रक्षथः। विश्वामित्रम् विश्वं कृत्स्नं जगत् मित्रं यस्य स तथोक्तः। ❀ "मित्रे चर्षौ" इति "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्त्वम् ❀। तथा कुत्सं महर्षिं च रक्षथः। कक्षीवन्तम्। अश्वस्य कक्षयोर्भवा रज्जुः कक्ष्या। ❀ "शरीरावयवाच्च" इति यत्। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य इति हि यास्कः [नि० २. २] ❀। सास्मिन्नस्तीति कक्षीवान् नाम उशिजः पुत्र ऋषिः। ❀ "आसन्दीवद् अष्ठीवत् कक्षीवद्०" इति निपात्यते ❀। "कक्षीवन्तं य औशिजः" [ऋ० १. १८. १] इति हि निगमान्तरम्। एतत्संज्ञं महर्षिं कण्वाख्यं च मावथः प्ररक्षथः॥ गतम् अन्यत्॥

हे मित्र और वरुण देवताओं! आप हविरूप अन्नका पोषण करने वाले भरद्वाज नामक ऋषिकी रक्षा करते हैं और जो आप वेदात्मिका वाणीमें स्थिर रहनेवाले गविष्ठिर नाम वाले ऋषिकी रक्षा करते हैं और जो सम्पूर्ण जगत्के मित्र विश्वामित्र नामक ऋषिकी रक्षा करते हैं तथा जो आप कुत्स, कक्षीवान् और कण्व नामवाले ऋषिकी रक्षा करते हैं वे दोनों आप हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाइये॥ ५॥

षष्ठी॥

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ६

यौ। मेधऽअतिथिम्। अवथः। यौ। त्रिऽशोकम्। मित्रावरुणौ।

उशनाम् । काव्यम् । यौ ।

यौ । गोतमम् । अवथः । प्र । उत । मुद्गलम् । तौ । नः । मुञ्चतम् ।

अंहसः ॥ ६ ॥

हे मित्रावरुणौ यौ युवां मेधातिथिम् । मेधातिथिर्मेध्यातिथिः इति निरुक्तम् मेध्या यज्ञार्हा अतिथयो यस्मिन् तं मेधातिथिसंज्ञम् ऋषिम् अवथः रक्षथः । यौ च युवां [त्रिशोकम्] त्रिशोकाख्यम् ऋषिं रक्षथः । काव्यम् कवेः पुत्रम् उशनाम् उशनसम् । ❀ छान्दसम् आत्वम् ❀ । एतत्संज्ञं महर्षिं यौ मित्रावरुणौ रक्षथः । तथा गोतमम् ऋषिम् उत मुद्गलम् मुद्गलाख्यं च मावथः प्ररक्षथः ॥ तौ न इत्यादि गतम् ॥

हे मित्र और वरुण नाम वाले देवताओं ! जो तुम मेधातिथि नाम वाले ऋषिकी, त्रिशोक नामक ऋषिकी और कविके पुत्र उशना नामवाले ऋषिकी रक्षा करते हो तथा गोतम और मुद्गल नामवाले ऋषिकी रक्षा करते हो वे तुम दोनों हमको सब अनर्थों मूल पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ययो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन् ।

स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

ययोः । रथः । सत्यऽवर्त्मा । ऋजुऽरश्मिः । मिथुया । चरन्तम् । अभिऽयाति । दूषयन् ।

स्तौमि । मित्रावरुणौ । नाथितः । जोहवीमि । तौ । नः । मुञ्चतम् ।

अंहसः ॥ ७ ॥

ययोः मित्रावरुणयोः स्वभूतो रथः सत्यवर्त्मा सत्यम् अवितथं वर्त्म मार्गो यस्य स सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मिः ऋजवः अकुटिला रश्मयः प्रग्रहा यस्य स ऋजुरश्मिः । एवंगुणविशिष्टो रथः मिथुया मिथ्या चरन्तम् अविहितमार्गेण वर्तमानं पुरुषं दूषयन् बाधमानः । ❀ दुष वैकृत्ये । अस्मात् एयन्तात् हेतौ शतृप्रत्ययः । "दोषो णौ" इति ऊत्वम् ❀ । दूषणाद्धेतोः अभियाति अभिमुखं गच्छति । तौ मित्रावरुणौ स्तौमि प्रशंसामि । ❀ मित्रावरुणाविति । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ नाथित इत्यादि व्याख्यातम्

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

जिन मित्रावरुणका सत्य मार्ग वाला और सरल रश्मियों वाला रथ मिथ्यामार्गमें विचरण करने वाले पुरुषोंको बाधा देनेके लिये उनके सामने आता है, उन मित्र और वरुणदेवताकी मैं स्तुति करता हूँ, मैं प्रार्थी उनका वारम्वार आह्वान करता हूँ, वे दोनों मुझको सब अनर्थोंके मूल पापसे मुक्त करें ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१३१) ॥

"अहं रुद्रेभिः" इति सूक्तेन जातकर्मणि शङ्खपुष्पिकागन्धपुष्पिके पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य हिरण्यशकलेन प्राशयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन सूक्तेन शंखनाभिं पिप्पलीं च पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य हिरण्यशकलेन प्राशयेत् ॥

तथा मेधाजननार्थं प्रथमं वाग्व्यवहारं कुर्वतः शिशोर्मातुरुत्संगे विहितस्य अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा तालुनि संपातान् आनयेत् ॥

तथा दधिमधुनी एकत्र कृत्वा अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य शिशुं प्राशयेत् ॥

तथा उपनयनकर्मणि दण्डप्रदानान्तरम् एतत् सूक्तं माणवकं वाचयेत् ॥

तथा आयुष्कामेपि शङ्खपुष्पगन्धपुष्पप्राशनादीन्युक्तानि पञ्च कर्माणि कुर्यात् ॥

तथा च कौशिकं सूत्रम् । "अहं रुद्रेभिरिति शुक्लपुष्पहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिप्पल्यौ जातरूपशकलेन प्राक् स्तनप्रहाद् प्राशयति । प्रथमप्रवदस्य मातुरुपस्थे तालुनि संपातान् आनयति । दधिमध्वाशयति । उपनीतं वाचयति । वार्षशतिकं कर्म" इति [कौ० २. १] ॥

तथा उपनयने अनेन सूक्तेन आज्यहोमं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "उपनयनम्" [कौ० ७. ६] प्रक्रम्य "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा अध्यायोत्सर्जनकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा रसेषु संपातान् आनयेत् । तथा च कौशिकः । "उत्सर्जनम्" प्रक्रम्य "विश्वेदेवाः [१. ३०] अहं रुद्रेभिः [४. ३०] सिंहे व्याघ्रे [६. ३८] यशो हविः [६. ३९]" इत्यादि [कौ० १३. ३] ॥

'अहं रुद्रेभिः' इस सूक्तसे जातकर्ममें शङ्खपुष्पिका (कौडयाला बूँटी) और गंधपुष्पिका (केवड़े) को पीसकर और अभिमंत्रण करके सुवर्णके टुकड़ेसे चटावे ॥

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे शङ्खनाभि और पीपलको पीस और अभिमन्त्रण करके सुवर्णके टुकड़ेसे चटावे ॥

तथा मेधाजननके लिये प्रथम वाणीका व्यवहार करने वाले अर्थात् प्रथम बोलते हुए शिशुके माताकी गोदीमें बैठने पर इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर तालुमें सम्पात लगावे ॥

तथा दही और मधुको एकत्रित कर इस सूक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बालकको चटा देवे ॥

तथा उपनयनकर्ममें दंडप्रदानके अनंतर इस सूक्तको बालकसे कहावे ॥

तथा आयु चाहने वाला भी शङ्खपुष्पी और गन्धपुष्पीका प्राशन आदि पूर्वोक्त पाँच कर्मोंको करे ॥

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अहं रुद्रेभिरिति शुक्लहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिप्पल्यौ जातरूपशकलेन प्राक् स्तनग्रहात् प्राशयति । प्रथमपन्नदस्य मातुरुपस्थे तालुनि संपातान् आनयति । दधिमध्वाशयति । उपनीतं वाचयति । वार्षशतिकं कर्म" (कौशिकसूत्र २ । १) ॥

तथा उपनयनमें इस सूक्तसे घृतका होम करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उपनयनम्" (कौशिकसूत्र ७ । ६) प्रक्रम्य "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" इति कौशिकसूत्रं ७ । ८) ॥

तथा अध्यायोत्सर्जनकर्ममें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर रसोंमें सम्पातोंको लावे ॥ इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-"उत्सर्जनम्" प्रक्रम्य "विश्वे देवाः (१ । ३०) अहं रुद्रेभिः (४ । ३०) सिंहे व्याघ्रे (६ । ३८) यशो हविः (६ । ३९) इत्यादि (कौशिकसूत्र (१४ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

अहम् । रुद्रेभिः । वसुऽभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत ।
विश्वऽदेवैः ।
अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति ।
अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

सर्वजगत्कल्पनास्पदं सच्चित्सुखात्मकं परं ब्रह्म स्वात्मत्वेन विदुषी अम्भृणाख्यस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मवादिनी स्वात्मानं सर्वात्मभावेन तुष्टाव। तद् उक्तं दाशतय्यनुक्रमणिकायाम्। "अहम् अष्टौ। वाग् आम्भृणी तुष्टावात्मानम्" [स० अ० ६३] इति। विशुद्धसत्त्वपरिणामरूपस्य अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषः अभिमानात्मकोहंकारः। तदुपलक्षितानवच्छिन्नास्मिका अहं रुद्रेभिः रुद्रैः एकादशभिः अष्टभिर्वसुभिः ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀। तत्तद् वात्मना चरामि। एवम् अहम् आदित्यैः इत्यादावपि योज्यम्॥ आदित्या द्वादशसंख्याका धात्रादयः। वसुरुद्रादित्यव्यतिरिक्ता गणशो वर्तमानाः विश्वदेवाख्याः। एकस्यैव हि ब्रह्मणः तत्तदुपाध्यवच्छेदेन वस्वादिदेवतारूपेण भेदावभासात्। वस्तुतस्तु ऐक्यमेवेति तदनुसंधाना ब्रह्मवादिनी एवं ब्रूते॥ तथा मित्रावरुणा। ❀ "सुपां सुलुक्" इति द्वितीयाया आकारः ❀। मित्रावरुणौ देवौ उभा उभौ अहमेव परब्रह्मात्मिका बिभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी अपि अहमेव धारयामि। उभा उभौ अश्विनावपि अहमेव धारयामि। सत्स्वरूपे अद्वितीये ब्रह्मणि सर्वं जगत् शुक्तौ रजतमिव अध्यस्तं सत् दृश्यते। माया च जगदाकारेण विवर्तते। तदाधारत्वेन असङ्गस्यापि ब्रह्मणः उक्तस्य सर्वस्योपपत्तिः॥

(सर्वजगत्‌की कल्पनाका आश्रय सत्‌चित्–सुखात्मक परब्रह्म को स्वात्मरूपसे जानने वाली अम्भृण नाम वाले महर्षिकी वाक् नाम वाली ब्रह्मवादिनी पुत्रीने अपने आत्माकी सर्वात्मभावसे स्तुतिकी है, उसी बातका इस सूक्तमें वर्णन है ‡) अभिमानात्मक अहंकार विशुद्धसत्त्वपरिणामरूप अन्तःकरणकी एक वृत्ति

‡ इसी बातको दाशतय्यनुक्रमणिकामें कहा है, कि–"अहम् अष्टौ। वाग् आम्भृणी तुष्टावात्मानम्॥—अंभृण ऋषिकी पुत्री सूक्ष्म वाक्‌ने आठ वसुरूप अपने आत्माकी स्तुतिकी" (स-अ-६३)॥

है, तदुपलक्षित अनवच्छिन्नात्मिका मैं ग्यारह रुद्र आठ वसुरूपसे विचरण करती हूँ। इसी प्रकार मैं धाता आदि बारह आदित्य, तथा वसु रुद्र आदित्योंसे अतिरिक्त गणोंमें वर्तमान विश्वेदेवारूप से भी विचरण करती हूँ (एक ही ब्रह्म भिन्न उपाधिके अवच्छेदसे वसु आदि अनेक देवताओंके रूपमें अवभासित होता है, वास्तवमें तो ऐक्य ही है, इस बातका अनुसन्धान कर चुकी हुई ब्रह्मवादिनी इस प्रकार कहती है) तथा ब्रह्मवादिनी परब्रह्मात्मिका मैं मित्र और वरुण दोनों देवताओंका भी भरण करती हूँ, इन्द्र और अग्निदेवताको भी मैं धारण करती हूँ और दोनों अश्विनीकुमारोंको भी मैं धारण करती हूँ (तात्पर्य यह है, कि मेरे स्वरूप अद्वितीय ब्रह्ममें सब जगत् सीपीमें अध्यस्त चाँदीकी समान दीखता है, माया भी जगत्के आकारसे विवर्तित होजाती है, उसका आधार होनेसे असंग ब्रह्ममें भी पहिले कहे हुए सब की उपपत्ति होजाती है) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः

अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् ।

ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । भूरिस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तः ॥ २ ॥

अद्वितीयब्रह्मात्मिका अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । कृत्स्नस्य दृश्यप्रपञ्चस्य राज्ञी नियन्त्री । अत एव वसूनाम् धनानां संगमनी संग-

प्रयित्री उपासकानां फलस्य प्रापयित्री । चिकितुषी यत् साक्षात्-कर्तव्यं परं ब्रह्म तत् ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती । ❀ कित ज्ञाने इत्यस्मात् लिटः क्वसुः । तदन्तात् "उगितश्च" इति ङीप् ❀ । अत एव यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानां प्रथमा मुख्या । ❀"यज्ञ-र्त्विग्भ्यां घखञौ" इति अर्हार्थे घप्रत्ययः ❀ । ताम् तादृशीं मा मां भूरिस्थात्राम् बहुभावेन प्रपञ्चात्मना कृतावस्थानां भूरि बहुलं फलम् आवेशयन्तः उपासकान् प्रापयन्तो देवाः पुरुत्रा बहुषु स्थानेषु व्यदधुः विदधति कुर्वन्ति । ❀ "देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः०" इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः ❀ । उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येण अवस्था-नाद् यद्यत् कुर्वन्ति देवास्तत् सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

अद्वितीय ब्रह्मात्मिका मैं सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चकी रानी हूँ अत एव उपासकोंको धनरूप फलोंको प्राप्त कराने वाली हूँ और जो साक्षात्कर्तव्य परब्रह्म है, उसका मैंने परब्रह्मरूपसे साक्षात् किया है, अत एव यज्ञके योग्य देवताओंमें मुख्य हूँ । ऐसी प्रपञ्चरूपसे अवस्थान करने वाली मुझको, उपासकोंको फल देने वाले देवता अनेक स्थानोंमें स्थापित करते हैं। इसप्रकार वैश्वरूप्यसे अवस्थान के कारण देवता जो कुछ करते हैं वह सब मुझको ही करते हैं२

तृतीया ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम् ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।

अहम् । एव । स्वयम् । इदम् । वदामि । जुष्टम् । देवानाम् ।
उत । मानुषाणाम् ।

यम् । कामये । तम्ऽतम् । उग्रम् । कृणोमि । तम् । ब्रह्माणम् ।

तम् । ऋषिम् । तम् । सुऽमेधाम् ॥ ३ ॥

अहं स्वयमेव आत्मनैव । [एवकारः] नान्योस्ति ममोपदेष्टेति अवधारणार्थः । इदम् आपरोक्ष्येण अनुभूयमानं ब्रह्मात्मकं वस्तु वदामि लोकहितार्थम् उपदिशामि । तद् विशेष्यते । देवानाम् इन्द्रादीनां जुष्टम् प्रियम् उत मानुषाणाम् मनुष्याणामपि प्रियं परानन्दरूपत्वात् । "एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" इति श्रुतेः [बृ० आ० ४. १. ३१] । यद्वा देवमनुष्यादिभिः सेवितम् इदं वक्ष्यमाणं मदीयं माहात्म्यम् अहमेव स्वयं वदामि । प्रकटयामीत्यर्थः । किं पुनस्तद् इत्याह । यम् इति । यं कामये । तं तम् इति प्रतिनिर्देश्यस्य वीप्सितत्वाद् अत्रापि वीप्सा द्रष्टव्या । यंयं पुरुषं रक्षितुम् अहं वाञ्छामि तंतं कृत्स्नं पुरुषम् उग्रं कृणोमि । सर्वेभ्योधिकं दुष्प्रधर्षं करोमि । यद्वा उग्रः ईश्वरः जगन्निर्माणसमर्थम् ईश्वरं करोमि । तमेव ब्रह्माणम् स्रष्टारं करोमि । तथा तम् ऋषिम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि । तमेव सुमेधाम् शोभनप्रज्ञं च करोमि । एवं सर्वजगन्नियन्तृब्रह्मात्मकत्वं स्वात्मनि आविष्कृतम् ॥

मैं स्वयं आत्मस्वरूपसे हूँ, अर्थात् मेरा उपदेष्टा और कोई नहीं है । मैं इस अपरोक्षरूपसे अनुभूयमान ब्रह्मात्मक वस्तुका लोकहितके लिये उपदेश देती हूँ । यह इन्द्र आदि देवताओंको भी प्रिय है और परानन्दरूप होनेसे मनुष्योंको भी प्रिय है † अथवा मैं देवता और मनुष्योंसे सेवित इस माहात्म्यको स्वयं ही कहती हूँ प्रकट करती हूँ, कि–मैं जिस २ पुरुषकी रक्षा करना चाहती हूँ

† बृहदारण्यक उपनिषत् ४ । १ । ३१ में कहा है, कि–"एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवन्ति ॥–इसी आनन्दकी मात्रासे और प्राणी उपजीवन करते हैं" ॥

उस २ पुरुषको मैं सबसे अधिक दुष्प्रधर्ष करती हूँ अथवा उसको सब जगत्का निर्माण करनेमें समर्थ ईश्वर करती हूँ, उसीको स्रष्टा ब्रह्मा करती हूँ तथा अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषि करती हूँ और उस को शोभन बुद्धि वाला भी करती हूँ (इसप्रकार मैंने सब जगत् का नियन्ता ब्रह्मात्मभाव अपनेमें आविष्कृत कर लिया है) ॥३॥

चतुर्थी ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धियं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । विऽपश्यति । यः । प्राणिति । यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् ।

अमन्तवः । माम् । ते । उप । क्षियन्ति । श्रुधि । श्रुत । श्रत्ऽधेयम् । ते । वदामि ॥ ४ ॥

यो भोक्तृजनः अन्नम् अत्ति स भोक्तृशक्तिरूपया मयैव अन्नम् अत्ति । यश्च जनो विपश्यति विविधं जगत् चक्षुषा साक्षात्करोति । यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासादिव्यापारं करोति । ❀ अन प्राणने । अदादित्वात् शपो लुक् । "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इति इडागमः । "अनितेः" इति णत्वम् ❀ । ईम् इदम् उक्तम् स्वरूपं यश्च पुरुषः शृणोति श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्णाति ते सर्वेपि तत्तच्छक्त्यात्मना अवस्थितया मयैव तत्तद्व्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थः । ❀ शृणोतीति । श्रु श्रवणे । "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः धातोः शृभावश्च ❀ ।

ये ईदृशीम् अन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते माम् अमन्तवः अमन्यमानाः अजानानाः मद्विषयज्ञानरहिताः उप क्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण निहीना भवन्ति। ❀ मनेरौणादिकस्तुप्रत्ययः। नञ्समासेन अन्तोदात्तत्वम्॥ यद्वा भावे तुप्रत्ययः। ततो बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀। हे श्रुत विश्रुत हे सखे श्रुधि मया उक्तं शृणु। ❀ छान्दसो विकरणस्य लुक्। "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः०" इति हेर्धिभावः ❀। अहं ते तुभ्यं श्रद्धेयम् श्रद्धातव्यम्। श्रद्धा भक्तिः। तया प्राप्यं परतत्त्वस्वरूपं वदामि उपदिशामि। ❀ श्रद्धेयम् इति। "अचो यत्" इति धात्वो यत् प्रत्ययः। "ईद्यति" इति ईकारः ❀॥

जो भोक्ता अन्नका भक्षण करता है, वह भोक्तृशक्तिरूप मेरे द्वारा ही भक्षण करता है, जो पुरुष जगत्का अनेक प्रकारसे साक्षात् करता है और जो श्वास उच्छ्वास आदि व्यापारको करता है, इसी प्रकार जो श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण करता है ये सब तत्तच्छक्तिरूपसे स्थित मेरे द्वारा ही उस व्यापारको करते हैं। जो इस प्रकार अन्तर्यामीरूपसे स्थित मुझको नहीं जानते हैं, वे मुझको न जानने वाले उपक्षीण होजाते हैं अर्थात् संसारसे हीन नहीं होते हैं, हे प्रसिद्ध मित्र! मेरे कहे हुए वचनको सुन, मैंने तुझसे यह भक्ति करने योग्य वचन कहा है॥ ४॥

पञ्चमी॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥५॥

अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊं इति।

अहम् । जनाय । सऽमदम् । कृणोमि । अहम् । द्यावापृथिवी इति ।

आ । विवेश ॥ ५ ॥

पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । रुद्रस्य महादेवस्य धनुः अहम् आ तनोमि आततज्यं करोमि । किमर्थम् । ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्ट्रे शरवे । ❀ शॄ हिंसायाम् शॄस्वृस्निहीत्यादिना [उ० १. १०] उप्रत्ययः ❀ । हिंसकाय । ❀ उभयत्र "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । ब्रह्मद्विषं शरुं त्रिपुरनिवासिनम् असुरगणं हन्तवै हन्तुं हिंसितुम् । ❀ हन्ते "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवैप्रत्ययः । "अन्तश्च तवै युगपत्" इति आद्यन्तयोर्युगपद् उदात्तत्वम् ❀ । उशब्दः पूरणः । अहमेव जनाय स्तोतृजनार्थं समदम् । समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् संग्रामः । तं कृणोमि करोमि । तथा द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अहम् आ विवेश अन्तर्यामित्वेन प्रविष्टवती ॥

मैं त्रिपुरविजयके समय ब्रह्मद्वेषी त्रिपुरनिवासी असुरोंको मारनेके लिये महादेवजीके धनुषको तानती हूँ और मैं ही स्तोताओंके लिये संग्रामको करती हूँ और अन्तर्यामी होनेसे मैं स्वर्ग और आकाशमें व्याप्त हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् । अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम् ।

अहम् । दधामि । द्रविणा । हविष्मते । सुप्रऽअव्याः । यजमानाय । सुन्वते ॥ ६ ॥

आहनसम् आहन्तव्यम् अभिषोतव्यं सोमम् यद्वा शत्रूणाम् आहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोमम् अहमेव बिभर्मि धारयामि पोषयामि वा । तथा त्वष्टारम् उत अपि च पूषणं भगं च एतत्संज्ञान् देवान् अहमेव बिभर्मि ॥ तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनहविर्भिर्देवानां प्राविने तर्पयित्रे । ❀ अवतेस्तर्पणार्थात् "अवितृस्तृतन्त्रिभ्यः०" [उ० ३.१५८] इति ईकारप्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने यणि "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति अनुदात्तस्य सुपः स्वरितत्वम् ❀ । सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते । ❀ "शतुरनुमः०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् ❀ । ईदृशाय यजमानाय द्रविणम् धनं यागफलरूपम् अहमेव दधामि प्रयच्छामि । "फलम् अत उपपत्तेः" [ब्रा० ३. २. ३८] इति न्यायेन परब्रह्मणः फलदातृत्वस्य निर्णीतत्वात् ॥

शत्रुओंके संहारक स्वर्गमें विराजमान देवतात्मक सोमका मैं ही पोषण करती हूँ, त्वष्टा पूषा और भगदेवताका भी मैं ही पोषण करती हूँ और हविसे युक्त तथा शोभन हवियोंसे देवताओं को तृप्त करने वाले यजमानको यागफलरूप धन भी मैं ही देती हूँ †

सप्तमी ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व १ न्तः समुद्रे । ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

---

† 'फलमत उपपत्तेः' इस बादरायणसूत्र ३। २ । ३८ के अनुसार परब्रह्मके फलदातृत्वका निर्णय होता है ॥

अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य । मूर्धन् । मम । योनिः । अप्ऽसु । अन्तः । समुद्रे ।

ततः । वि । तिष्ठे । भुवनानि । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

अस्य दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य मूर्धन् मूर्धनि उपरिभागे सत्यलोके पितरम् प्रपञ्चस्य जनकं विधातारम् अहं सुवे जनयामि । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । स्रष्टृसहितस्य जगतः कारणभूताया मम योनिः कारणं समुद्रे । समुद्द्रवन्ति अस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा । "समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः" इति वाजसनेयकश्रुत्या समुद्रशब्दवाच्यत्वं परमात्मनो दर्शितम् । तस्मिन् परमात्मनि अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु अन्तः मध्ये यद् ब्रह्मचैतन्यं तत् मम कारणम् इत्यर्थः । यद्वा समुद्रे जलधौ अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये वाडववैद्युतरूपेण यत् तेजो वर्तते तदेव माध्यमिकवाग्रूपाया मम योनिः कारणम् ॥ ततः तेजःकारणकत्वाद्धेतोः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि [वि] चष्टे प्रकाशयामि ॥ उत अपि च अमूं द्याम् विप्रकृष्टां दिवम् । उपलक्षणम् एतत् । एतदुपलक्षितं कृत्स्नं ब्रह्मणि अध्यस्तं विकारजातं वर्ष्मणा देहेन कारणभूतमायात्मकेन उप स्पृशामि ॥ यद्वा अस्य भूलोकस्य मूर्धन् मूर्धनि उपरि पितरम् आकाशम् । "द्यौः पिता पृथिवी माता" [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५] इति श्रुतेः । सुवे प्रेरयामि । तथा समुद्रे अन्तरिक्षे अप्सु अभ्रिकारेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥

इस दृश्यमान प्रपञ्चके मूर्धारूप सत्यलोकमें रहने वाले इस

प्रपञ्चके जनक विधाताको मैं उत्पन्न करती हूँ, स्रष्टासहित जगत् की कारणभूत मेरा कारण समुद्रोपनामक परमात्मा + की जल अर्थात् व्यापनशील धीवृत्तियोंके मध्यमें जो ब्रह्मचैतन्य है वह मेरा कारण है, अथवा समुद्रके जलमें जो वड़वानलके और बिजली के संबंध वाला तेज है वही माध्यमिक वाग्रूपा मेरा कारण है, इस कारण तेजःकारणक होनेसे सब प्राणियोंको मैं प्रकाशित करती हूँ और इस दूरके स्वर्ग और ब्रह्ममें अध्यस्त सम्पूर्ण विकारों को मैं कारणभूत मायात्मक देहसे छूती हूँ और इस भूलोकके ऊपरके पितारूप आकाशको ‡ मैं प्रेरित करती हूँ तथा अन्तरिक्ष में जलके विकार देवशरीरोंमें मेरा कारणभूत जो ब्रह्म व्याप्त होकर रहता है उसके द्वारा मैं सबका स्पर्श करती हूँ ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ८

अहम् । एव । वातःऽइव । म । वामि । आऽरभमाणा । भुवनानि । विश्वा ।

+ समुद्र द्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा॥– जिससे भूतसमूह प्रकट होते हैं वह परमात्मा समुद्र कहलाते हैं॥ वाजसनेयक श्रुतिमें कहा है, कि—‘समुद्र एवास्य बंधुः समुद्रो योनिः॥–समुद्र ही इस जगत्का बंधु है और समुद्र ही इस जगत् की योनि है ॥’

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।५।५ में कहा है, कि–“द्यौः पिता पृथिवी माता ॥–द्यौ पिता है, पृथिवी माता है ॥”

परः । दिवा । परः । एना । पृथिव्या । एतावती । महिम्ना । सम् । बभूव ॥ ८ ॥

विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कार्यरूपेण उत्पादयन्ती अहमेव अनन्यसहाया प्र वामि प्रवर्ते । ❀ वा गतिगन्धनयोः । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तत्र दृष्टान्तः वात इव । यथा वायुः परेण अप्रेरितः स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वद् इत्यर्थः ॥ उक्तं सार्वात्म्यं निगमयति उत्तरार्धेन । परो दिवा । ❀ परस् इति सकारान्तं परस्तात् इत्यर्थे वर्तते । यथा अध इति अधस्तादर्थे । तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते ❀ । दिवा आकाशस्य परस्तात् एना पृथिव्या । ❀ "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इति इदम एनादेशः । "सुपां सुलुक्॰" इति तृतीयाया आच् आदेशः ❀ । अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात् । द्यावापृथिव्योरुपादानम् उपलक्षणम् । एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमाना असङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपा अहं महिम्ना माहात्म्येन एतावती सं बभूव । एतत्परिमाणा उदीरितसकलजगदात्मना संभूतास्मि । ❀ एतच्छब्दात् "यत्तदेतेभ्यः॰" इति वतुप् । "आ सर्वनाम्नः" इति आत्वम् ❀ ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सब प्राणियोंको कार्यरूपसे उत्पन्न करती हुई मैं ही किसी दूसरेकी सहायता न लेती हुई वायुकी समान स्वयं ही प्रवृत्त होती हूँ अर्थात् वायु जिस प्रकार किसीकी प्रेरणासे नहीं, किंतु अपनी इच्छासे ही प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी इच्छासे ही प्रवृत्त होती हूँ (उक्त सर्वात्मभावका उत्तरार्धके द्वारा समर्थन करते हैं, कि—) आकाश पृथ्वी और समस्त विकारोंसे पर वर्तमान असंग उदासीन कूटस्थ ब्रह्मचैतन्यरूपा मैं माहात्म्यवश इतने (पूर्वोक्त) परिमाण वाली होगई हूँ ॥ ८ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (१३२) ॥ छठा अनुवाक समाप्त ॥

सप्तमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "त्वया मन्यो" "यस्ते मन्यो" इति सूक्तद्वयं स्वपरसेनयोर्मध्ये स्थित्वा सेने निरीक्षमाणो जपेत् ॥

तथा आभ्यां सूक्ताभ्यां भाङ्गपाशान् मौञ्जपाशान् आमपात्राणि वा संपात्य अभिमन्त्र्य परसेनासंचारस्थलेषु प्रक्षिपेत् ॥

तथा जयपराजयविज्ञानकर्मणि शरतृणानि सेनयोर्मध्ये निधाय आभ्याम् अभिमन्त्र्य आङ्गिरसाग्निना दहेत् ।-यां सेनां धूमो व्याप्नोति तस्याः पराजयो भवतीति विजानीयात् ॥

सूत्रितं हि । "त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इति संरम्भणानि सेने समीक्षमाणो जपति" इत्यादि "यां धूमोवतनोति तां जयन्ति" इत्यन्तम् [कौ० २. ५] ॥

ग्रहयज्ञे "त्वया मन्यो" "यस्ते मन्यो" इत्याभ्याम् अङ्गारकस्य हविराज्ययोर्होमं समिदाधानम् उपस्थानं च कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इत्यङ्गारकाय" इति [शा० क० १५] ॥

सातवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'त्वया मन्यो' और 'यस्ते मन्यो' इन दोनों सूक्तोंको अपनी और दूसरेकी सेनाके मध्यमें खड़ा होकर सेनाको देखता हुआ जपे ॥

तथा इन दोनों सूक्तोंसे भांगके पाश, मूँजके पाश वा कच्चे पात्रोंका अभिमंत्रण करके तथा सम्पातन करके शत्रुकी सेनाके घूमनेके स्थान पर फेंके ॥

तथा जय पराजयको जाननेके कर्ममें शरतृणोंको सेनाओंके मध्यमें रखकर इन दोनों सूक्तोंसे अभिमंत्रित कर आंगिरस अग्नि से जलावे । तब जिस सेनाकी ओर धुआँ जावे उस सेनाका पराजय होगा–यह समझे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"त्वया मन्यो यस्ते

मन्यो इति संरंभणानि सेने समीक्षमाणो जपति" इत्यादि "यां धूमोऽवतनोति तां जयन्ति" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र २ । ५) ॥

ग्रहयज्ञमें 'त्वया मन्यो' और 'यस्ते मन्यो' इन दोनों सूक्तोंसे अंगारककी हवि और घृतका, समिदाधान और उपस्थान करे ॥ इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि–"त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इत्यङ्गारकाय" (शान्तिकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

त्वया । मन्यो इति । सऽरथम् । आऽरुजन्तः । हर्षमाणाः । हृषितासः । मरुत्वन् ।
तिग्मऽइषवः । आयुधा । सम्ऽशिशानाः । उप । प्र । यन्तु । नरः । अग्निऽरूपाः ॥ १ ॥

मन्युः क्रोधाभिमानी देवः । ❀ मन्युर्मन्यतेः क्रान्तिकर्मणः इति निरुक्तम् [नि० १०. २९] ❀ । हे मन्यो त्वया साधनेन सरथम् रथसहितं शत्रुम् आरुजन्तः आभञ्जन्तः । पीडयन्तः । ❀ यास्कस्त्वाह । सरथं समानं रथम् आरुह्य रुजन्त इति [नि० १०.३०] । रुजो भङ्गे । तुदादित्वात् शः ❀ । हर्षमाणाः हृष्टाः रुषितासः रुषिताः संजातरोषाः तिग्मेषवः तीक्ष्णशराः आयुधा आयुधानि खड्गादीनि संशिशानाः संश्यन्तस्तीक्ष्णीकुर्वन्तः । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्मात् छान्दसस्य लिटः कानच् ❀ । एवंभूता अस्मदीया नरः

नराः हे मरुत्वन् मरुद्वेगैर्युक्त त्वत्प्रसादात् अग्निरूपाः अग्निवद् दुष्प्रधर्षा उप प्र यन्तु शत्रून् उपगच्छन्तु। अग्निवद् उपप्राप्य दहन्तु इत्यर्थः॥

हे क्रोधाभिमानी मन्युदेव! आपसे साधनसे रथसहित शत्रुको पीड़ित करते हुए हर्षमें और क्रोधमें भरे हुए और आयुधोंको तीक्ष्ण करते हुए हमारे योधा हे मरुत्की समान वेगवान् मन्यो! आपके प्रसादसे अग्निकी समान दुर्धर्ष होकर शत्रुके पास पहुँचें॥१॥

द्वितीया॥

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न् वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व॥ २॥

अ॒ग्निःऽइ॑व। म॒न्यो॒ इति॑। त्वि॒षि॒तः। स॒ह॒स्व॒। से॒ना॒ऽनीः॑। नः॒। स॒हु॒रे॒। हू॒तः। ए॒धि॒।
ह॒त्वाय॑। शत्रू॑न्। वि। भ॒ज॒स्व॒। वेदः॑। ओजः॑। मिमा॑नः। वि। मृधः॑। नु॒द॒स्व॒॥ २॥

हे मन्यो अग्निरिव त्विषितः प्रदीप्तः सन् सहस्व शत्रून् अभिभव। हे सहुरे सहनशील। ❀सहेः औणादिक उरिन् प्रत्ययः❀। नः अस्माकं सेनानीः सेनाया नेता सेनाधिपतिः सन् हूत एधि संग्रामे सहायार्थम् आहूतो भव। ❀ अस्तेर्लोटि "घ्वसोरेद्धौ०" इति एत्वम्। तस्य च "असिद्धवद् अत्राभात्" इति असिद्धत्वात् झलन्तलक्षणो धिभावः ❀। अस्मदीयान् शत्रून् [हत्वाय] हत्वा तदीयं वेदः धनं वि भजस्व अस्मभ्यं विभज्य प्रयच्छ। पुन-

रपि ओजः बलं मिमानः कुर्वन् मृधः संग्रामकारिणः शत्रून् वि नुदस्व । विजहि ॥

हे मन्यो ! आप अग्निकी समान प्रदीप्त होकर शत्रुओंको दबाइये हे सहनशील ! हमारी सेनाके सेनापति माने जाकर आप संग्राम में बुलाये जावें । आप हमारे शत्रुओंको मार कर उनका धन हमें बाँट कर दीजिये और फिर भी बल देकर संग्राम करनेवाले शत्रुओंको नष्ट करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयसा एकज त्वम् ॥

सहस्व । मन्यो इति । अभिऽमातिम् । अस्मै । रुजन् । मृणन् । प्रऽमृणन् । प्र । इहि । शत्रून् ।
उग्रम् । ते । पाजः । ननु । आ । रुरुध्रे । वशी । वशम् । नयासै । एकऽज । त्वम् ॥ ३ ॥

हे मन्यो अस्मै अस्य राज्ञः अभिमातिम् अभिमन्तारं शत्रुं सहस्व अभिभव । किं कुर्वन् । रुजन् हस्त्यश्वादिकं तदीयं बलं रुजन् भञ्जन् आमर्दयन् । मृणन् हिंसन् । प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् नाशयन् । ❀ मृण हिंसायाम् ❀ । एवं कुर्वन् शत्रून् अस्मदीयान् प्रेहि प्रगच्छ हन्तुं प्राप्नुहि । कस्माद् एवम् उच्यसे इति तत्राह उग्रम् इति । उग्रम् उद्गूर्णं तीक्ष्णम् हे मन्यो ते त्वदीयं पाजः बलं ननु आ रुरुध्रे केचिदपि नैव आरुद्धम् आहतं कुर्वन्ति । ❀ आङ्पूर्वाद् रुधेश्छान्दसे लिटि "इरयो रे" इति रेभावः ❀ । अपि तु

हे एकज असहायोत्पन्न वशी सर्वस्य वशयिता स्वतन्त्रस्त्वं वशं नयासै कृत्स्नं जनं स्वाधीनतां प्रापयसि ॥

हे मन्यो ! आप इस राजाके शत्रुके हाथी घोड़े आदिका संहार करते हुए, उसके सैनिकोंका तिरस्कार करते हुए और उनको घोररूपसे नष्ट करते हुए उसका तिरस्कार करिये । ऐसा करके हमारे शत्रुओंको मारनेके लिये जाइये (ऐसा कहनेका कारण यह है, कि-) आपका बल किसीके अटकानेसे रुकता नहीं है किन्तु हे असहायोत्पन्न ! सबको वशमें करने वाले सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आप सम्पूर्ण मनुष्योंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥३॥

चतुर्थी ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि

एकः । बहूनाम् । असि । मन्यो इति । ईडिता । विशम्ऽविशम् । युद्धाय । सम् । शिशाधि ।
अकृत्तऽरुक् । त्वया । युजा । वयम् । द्युऽमन्तम् । घोषम् । विऽजयाय । कृण्मसि ॥ ४ ॥

हे मन्यो ईलितः अस्माभिः स्तुतस्त्वम् एक एव बहूनां शत्रूणां निरसने पर्याप्तः असि भवसि । विशंविशम् सर्वाः प्रजा आविश्य युद्धाय आयोधनाय सं शिशाधि संशासय । ❀ शासु अनुशिष्टौ इत्यस्मात् लोटो हिः । "शा हौ" इति शासः शाभावः । छान्दसो विकरणस्य लुः । "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति शाभावस्य असिद्धवद्भावात् "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति झलक्षणं धित्वं भवति ।

"बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । यद्वा विशंविशम् अस्मदीयां सेनां सं शिशाधि संशितां तीक्ष्णीभूतां कुरु । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्मात् कृतात्त्वात् पूर्ववद् विकरणस्य श्लुः । "वा छन्दसि" इति हेरपित्त्वस्य विकल्पनात् ङित्त्वाभावात् "अङितश्च" इति धित्वम् । "बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । हे अकृत्तरुक् अच्छिन्नदीप्ते मन्यो त्वया युजा सहायेन वयं द्युमन्तम् दीप्तिमन्तं घोषम् सिंहनादात्मकं विजयाय विजयार्थं कृण्मसि कृण्मः कुर्मः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

हे मन्यो ! हमारे स्तुति करने पर आप एक होने पर भी बहुत से शत्रुओंको दवानेमें समर्थ होजाते हैं हमारी प्रत्येक प्रजामें प्रवेश करके आप उसको लड़नेके लिये तीक्ष्ण करिये । हे अच्छिन्न कान्ति वाले मन्यो ! आपकी सहायतासे हम दीप्तिमय सिंहनाद-रूपी घोषको विजयके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

विजेषऽकृत् । इन्द्रःऽइव । अनवऽब्रवः । अस्माकम् । मन्यो इति । अधिऽपाः । भव । इह ।

प्रियम् । ते । नाम । सहुरे । गृणीमसि । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आऽबभूथ ॥ ५ ॥

हे मन्यो त्वं विजेषकृत् विजयस्य कर्ता इन्द्र इव अनवब्रवः अन-

वानां पुरातनानां जयोपायानां वक्ता इह अस्मिन् संग्रामे अस्माकम् अधिपाः अधिकं पालको भव। हे सहुरे सहनशील ते तव प्रियम् आह्लादकं नाम गृणीमसि गृणीमः स्तुमः। ❀ गॄ शब्दे। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀। यतः यस्मात् स्थानात् त्वम्। आबभूथ आभवसि आजायसे तम् उत्सम् अमृतधारायुक्तं स्थानं विद्म जानीमः॥

हे मन्यो! आप विजय करने वाले इन्द्रकी समान विजयके प्राचीन उपायोंके कहने वाले हैं (अतः) इस संग्राममें हमारा पालन करने वाले हूजिये। हे सहुरे! तुम्हारे प्रिय नामकी हम स्तुति करते हैं, जिस स्थानसे आप प्रकट होते हैं उस अमृतधारा-युक्त स्थानको हम जानते हैं॥ ५॥

षष्ठी॥

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥

आऽभूत्या। सहऽजाः। वज्र। सायक। सहः। बिभर्षि। सहऽभूते। उत्ऽतरम्।
क्रत्वा। नः। मन्यो इति। सह। मेदी। एधि। महाऽधनस्य। पुरुऽहूत। सम्ऽसृजि॥ ६॥

आभूतिः अभिभवः। तया सह जायते प्रादुर्भवतीति सहजाः हे वज्र वज्रवद् अकुण्ठितशक्ते हे सायक शत्रूणाम् अन्तकर। ❀ षो अन्तकर्मणि इत्यस्मात् घञि सायः। तस्मिन्नुपपदे "डोऽन्यत्रापि दृश्यते" इति करोतेर्डप्रत्ययः ❀। एवंभूत मन्यो सहः बलं

बिभर्षि धारयसि । ❀ "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । कीदृशं सहः । उत्तरम् उद्गततरम् ॥ हे सहभूते आत्मना सह भूतिः उत्पत्तिर्यस्य सः । आत्माविनाभूतो मन्युरित्यर्थः । ईदृश हे मन्यो क्त्वा क्रतुना कर्मणा सह नः अस्माकं मेदी स्निग्धः एधि भव । ❀ ञिमिदा स्नेहने इत्यस्मात्................ ❀ । कस्मिन् विषये इत्याह । हे पुरुहूत बहुभिर्यजमानैराहूत महाधनस्य महान्ति धनानि अस्मिन् प्राप्यन्ते इति महाधनः संग्रामः । तस्य संसृजि संसर्गे । संयोजने । विषये इत्यर्थः ॥

पराभवके साथ प्रकट होने वाले वज्रकी समान अकुण्ठित शक्ति वाले शत्रुओंका अन्त करने वाले हे मन्यो ! आप प्रचण्ड बलको धारण करते हैं । हे आत्माके साथ उत्पन्न होने वाले तथा अनेक यजमानोंसे बुलाये जाने वाले पुरुहूत मन्यो ! आप जिसमें बड़े २ धन मिलते हैं उस संग्रामके छटने पर कर्मरूपमें हमारे साथ मिलिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः । भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

सम्ऽसृष्टम् । धनम् । उभयम् । सम्ऽआकृतम् । अस्मभ्यम् । धत्ताम् । वरुणः । च । मन्युः ।

भियः । दधानाः । हृदयेषु । शत्रवः । पराऽजितासः । अप । नि । लयन्ताम् ॥ ७ ॥

वरुणो मन्युश्च उभौ उभयम् उभयविधम् आत्मीयं धनं संसृष्टम्

मिश्रितं कृत्वा समाकृतम् समानीतम् अस्मभ्यं दत्ताम् प्रयच्छताम्। मदीयाः शत्रवः हृदयेषु मनःसु भियः भीतिं दधानाः पराजितासः पराजिताः पराजयं प्राप्ताः अप निलयन्ताम् स्वस्थानाद् अपक्रम्य प्रच्छन्नं वर्तन्ताम्। ॐ अय पय गतौ। "उपसर्गस्यायतौ" इति लत्वम् ॐ॥

इति प्रथमं सूक्तम्।

वरुण और मन्युदेव दोनों ही अपने लाये हुए धनको मिला कर हमको दें, हमारे शत्रु मनोंमें डरते हुए पराजयको प्राप्त हो अपने स्थानसे भाग कर दुबकते हुए फिरें॥ ७॥

प्रथम सूक्त समाप्त (१३३)।

"यस्ते मन्यो" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः॥

'यस्ते मन्यो' इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है॥

तत्र प्रथमा॥

यस्ते मन्योविधद् वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।

साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ १॥

यः। ते। मन्यो इति। अविधत्। वज्र। सायक। सहः।

ओजः। पुष्यति। विश्वम्। आनुषक्।

सह्याम। दासम्। आर्यम्। त्वया। युजा। वयम्। सहःऽकृतेन।

सहसा। सहस्वता॥ १॥

हे मन्यो यः पुरुषः ते त्वाम् अविधत्। विधतिः परिचरणकर्मा। परिचरति। ❀ विध विधाने। स्वदादित्वाच्छान्दसो लुक् ❀। हे वज्र वज्रवद् अकुण्ठितशक्ते हे सायक शत्रूणाम् अन्तकर हे मन्यो स पुरुषः सहः शत्रूणाम् अभिभवनम् ओजः बलं च विश्वम् सर्वम् अन्यत् शत्रुजयादिलक्षणं कार्यजातम् आनुषक् अनुषक्तं संततं पुष्यति वर्धयति। ❀ पुष पुष्टौ ❀। त्वया युजा सहायेन दासम् उपक्षपयितारम् असुरम् आर्यम् तद्व्यतिरिक्तम् असुरशत्रुं वयं सह्याम अभिभवेम। कीदृशेन त्वया। सहस्कृतेन सहसा बलेनोत्पादितेन। सहसा सहमानेन अभिभवित्रा। सहस्वता बलवता॥

हे मन्यो! जो पुरुष आपकी सेवा करता है, हे वज्रकी समान अकुण्ठित शक्ति वाले और शत्रुओंका अन्त करने वाले मन्यो! वह पुरुष शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले बलको तथा शत्रुजयके अन्य सब कार्योंको अनवरत पुष्ट ही करता जाता है। बलके द्वारा उत्पन्न किये हुए, दबाने वाले बली आपकी सहायतासे हम क्षीण करने वाले असुर वा आर्य शत्रुको भी दबाते हैं ॥१॥

द्वितीया॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥

मन्युः। इन्द्रः। मन्युः। एव। आस। देवः। मन्युः। होता। वरुणः। जातऽवेदाः।

मन्युः। विशः। ईडते। मानुषीः। याः। पाहि। नः। मन्यो इति। तपसा। सऽजोषाः॥२॥

यद् इन्द्रादीनाम् इन्द्रत्वं तत् पराभिभवनिमित्ताद् मन्युप्रसादादेवेति सार्वात्म्येन स्तौति। मन्युरेव इन्द्रः। मन्युरेव सर्वः अन्यो देवः आस भवति। ❀ अस्तेर्लिटि छान्दसो भूभावाभावः ❀। होता देवानाम् आह्वाता अग्निरपि मन्युरेव। जातवेदाः जातप्रज्ञो वरुणोपि मन्युरेव। मानुषीः मनोरपत्यभूता या विशः प्रजाः सन्ति ता अपि मन्युमेव ईडते स्तुवन्ति नेन्द्रादीन्। तस्यैव इन्द्रादिरूपेण अवस्थानात्। हे मन्यो स त्वं नः अस्मान् तपसा संतापेन सजोषाः संगतः सन् [पाहि] रक्ष पालय ॥

(इन्द्र आदि देवताओंका जो इन्द्रत्व है वह पराभव करनेके निमित्त कारण मन्यु देवताके प्रसादसे ही हुआ है अतः सर्वात्मभावसे मन्यु (क्रोध) की ही स्तुतिकी जाती है, कि-) मन्यु ही इन्द्र है, और सब देवता भी मन्यु ही हैं, देवताओंका आह्वान करने वाले अग्निदेव भी मन्यु ही हैं, बुद्धिमान् वरुणदेव भी मन्यु ही हैं, और मनुकी सन्तान प्रजायें भी मन्युकी ही स्तुति करती हैं, इन्द्र आदिकी स्तुति नहीं करती हैं, क्योंकि-वही इन्द्र आदि के रूपमें स्थित है। हे मन्यो ! यह आप हमारे सन्तापके साथ मिल कर हमारा पालन करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

अभि। इहि। मन्यो इति। तवसः। तवीयान्। तपसा। युजा। वि। जहि। शत्रून्।

अमित्रऽहा । वृत्रऽहा । दस्युऽहा । च । विश्वा । वसूनि । आ ।
भर । त्वम् । नः ॥ ३ ॥

हे मन्यो अभीहि अभिमुखं गच्छ ॥ तवसस्तवीयान् । तव इति महन्नाम । महद्धादपि महद्धतरः स त्वं तपसा संतापेन त्वज्जन्मकारणेन युजा सहायेन अस्मदीयान् शत्रून् वि जहि विनाशय ॥ अमित्रहा अमित्रः स्नेहरहितः तस्य हन्ता । वृत्रहा [वृत्र] आवेष्टकः शत्रुः तस्य हन्ता । दस्युहा दस्युः उपक्षपयिता शत्रुः तस्य हन्ता । एवम् अमित्रादीन् हत्वा विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसूनि नः अस्मभ्यं त्वम् आभर आहर ॥

हे मन्यो ! आप हमारे सन्मुख आइये, बड़ेसे बड़े आप अपने जन्मके कारण सन्तापकी सहायतासे हमारे शत्रुओंको नष्ट करिये । आप स्नेहरहित अमित्रोंको मारने वाले हैं, घेरने वाले शत्रुको मारने वाले हैं और क्षीण करने वाले शत्रुको मारने वाले हैं । अतः आप अमित्र आदि सबको मार कर सब धन हमारे पास लाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

त्वम् । हि । मन्यो इति । अभिभूतिऽओजाः । स्वयम्ऽभूः । भामः । अभिमातिऽसाहः ।

विश्वऽचर्षणिः । सहुरिः । सहीयान् । अस्मासु । ओजः । पृत-
नासु । धेहि ॥ ४ ॥

हे मन्यो त्वं हि त्वं खलु अभिभूत्योजाः अभिभूतिः अभिभा-
वुकम् ओजो बलं यस्य स तथोक्तः । स्वयंभूः स्वयमेव आत्मनि
उत्पद्यमानः । भामः क्रुद्धः । अभिमातिषाहः अभिमातीनां शत्रूणां
सोढा । विश्वचर्षणिः विश्वस्य सर्वस्य द्रष्टा । यद्वा विश्वे चर्षणयो
मनुष्या यस्य वशे वर्तन्ते स तथोक्तः । सहुरिः सहनशीलः ।
सहीयान् सोढृतमः । एवंगुणविशिष्टः त्वं पृतनासु संग्रामेषु ओजः
बलम् अस्मासु धेहि स्थापय ॥

हे मन्यो ! आपका बल अभिभूति (तिरस्कार) है आप
अपने आप ही आत्मामें उदित होते हैं, क्रुद्ध हैं, शत्रुओंको दबाने
वाले हैं । सबके द्रष्टा हैं, सब मनुष्य आपके वशमें रहते हैं, सहन-
शील हैं, दबाने वाले हैं, ऐसे गुण वाले आप संग्रामोंके अवसर
पर हममें बल स्थापित करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य
प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न
एहि ॥ ५ ॥

अभागः । सन् । अप । पराऽइतः । अस्मि । तव । क्रत्वा । तवि-
षस्य । प्रऽचेतः ।
तम् । त्वा । मन्यो इति । अक्रतुः । जिहीड । अहम् । स्वा ।
तनूः । बलऽदावा । नः । आ । इहि ॥ ५ ॥

हे प्रचेतः प्रकृष्टज्ञान हे मन्यो तविषस्य महतः तव क्रत्वा कर्मणा अभागः भागरहितः सन्। त्वाम् अयजमान इत्यर्थः। एवंभूतः सन् युद्धाद् अप परेतो अस्मि अपक्रम्य परागतो भवामि। हे मन्यो तं तादृशं [त्वा] त्वाम् अक्रतुः त्वत्तोषकरकर्मवर्जितः अहं जिहीळ क्रोधितवान्। ❀ हेडति क्रुध्यतिकर्मा ❀॥ अथ इदानीं मम स्वा तनूः स्वकीयशरीरभूतस्त्वं नः अस्माकं बलदावा बलस्य दाता सन् एहि आगच्छ। यद्वा। ❀ स्वा तनूः इत्युभयत्र "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀। स्वायां तन्वाम् अस्माकं स्वभूते शरीरे बलस्य दाता सन् आगच्छेति। ❀ बलदावेति। डुदाञ् दाने। "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति वनिप् ❀॥

हे श्रेष्ठ ज्ञान वाले मन्युदेव! महनीय आपकी पूजा न करने से मैं युद्धसे हट जाता हूँ हे मन्यो! ऐसे आपको सन्तुष्ट करने वाले कर्मको न करनेसे मैंने आपको क्रुद्ध कर दिया है, इस समय मेरे शरीररूप बने हुए आप हमको बल प्रदान करते हुए आइये ५

षष्ठी॥

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥ ६॥

अयम्। ते। अस्मि। उप। नः। आ। इहि। अर्वाङ्। प्रतीचीनः। सहुरे। विश्वऽदावन्।
मन्यो इति। वज्रिन्। अभि। नः। आ। ववृत्स्व। हनाव। दस्यून्। उत। बोधि। आपेः॥ ६॥

हे मन्यो ते तव स्वभूतः अयं कर्मकरः अहम् अस्मि भवामि। नः अस्मान् उपेहि उपागच्छ। अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् प्रतीचीनः शत्रून् प्रत्यञ्चन् गच्छन् हे सहुरे सहनशील हे विश्वदावन् विश्वस्य सर्वस्य फलस्य दातः हे वज्रिन्। वज्रं वर्जकम् आयुधं बलं वा। तद्वन् हे मन्यो नः अस्मान् अभ्या ववृत्स्व अभिमुखम् आवर्तस्व। ❀ छान्दसः शपः श्लुः ❀। आवाम् अस्मदीयान् दस्यून् उपक्षपयितॄन् हनाव हिंसाव। ❀ "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀। उत अपि च आपेः आपिम् आप्तं बन्धुभूतं मां बोधि रक्षणीयोयम् इति बुध्यस्व॥

हे मन्यो! मैं यह आपका कर्म करने वाला होता हूँ आप हमारे पास आइये, आप हमारे अभिमुख होते हुए शत्रुओंकी ओर जाइये। हे सहनशील! हे सम्पूर्ण फलोंके दाता, हे बल-सम्पन्न! हम दोनों उपक्षय करने वाले शत्रुओंको मारें और आप बंधभूत मुझको रक्षणीय समझिये॥ ६॥

सप्तमी॥

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोधा वृत्राणि जंघनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव॥७

अभि। प्र। इहि। दक्षिणतः। भव। नः। अध। वृत्राणि। जङ्घनाव। भूरि।

जुहोमि। ते। धरुणम्। मध्वः। अग्रम्। उभौ। उपऽअंशु। प्रथमा। पिबाव॥ ७॥

हे मन्यो अस्मदभिमुखं प्रेहि प्रगच्छ॥ नः अस्माकं दक्षिणतः दक्षिणभागे भव साचिव्यं कर्तुम् अवतिष्ठस्व। ❀ "द्व्यचोत-

स्तिङः" इति दीर्घत्वम् ॥ अथ अनन्तरं भूरि भूरीणि बहूनि वृत्राणि शत्रून् जङ्घनाव अत्यर्थं हनाव । ॥ हन्तेर्यङ्लुगन्तात् लोटि "आडुत्तमस्य०" इति आडागमः ॥ । हे मन्यो ते तुभ्यं धरुणम् धारकं मध्वः मधुररसस्य सोमस्य अग्रम् अग्र्यं सारभूतं रसं जुहोमि प्रयच्छामि । उभौ आवां प्रथमा प्रथमौ सर्वेभ्यः पूर्वभाविनौ सन्तौ उपांशु अप्रकाशं यथा अन्यैर्न ज्ञायते तथा पिबाव सोमपानं करवाव ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे मन्यो ! आप हमारे अभिमुख आइये । आप हमारे दक्षिणभागमें हमारा मंत्रित्व करनेके लिये स्थिर हूजिये । तदनन्तर हम अनेक शत्रुओंको अधिकतासे पीटें । हे मन्यो ! मैं तुमको धारक मधुर रस सोमके सारभूत रसकी आहुति देता हूँ हम दोनों सब से प्रथम, जिस प्रकार दूसरोंको प्रतीत न हो तिस प्रकार सोमपान कर लें ॥ ७ ॥

द्वितीयसूक्त समाप्त (१२७) ॥

"अप नः शोशुचद् अघम्" इत्यस्य सूक्तस्य "अप नः शोशुचद् अघम् [४. ३३] पुनन्तु मा [६. १९] सस्रुषीः [६.२३]" इति [कौ० १. ९] बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगः ॥

तथा स्त्रीणां पुरुषविषयाभिरतिनिवृत्तये पुरुषाणां च स्त्रीविषयाभिरतिनिवृत्तये च अनेन सूक्तेन असंख्याताः शर्करा अभिमन्त्र्य काम्यमानपरगृहं स्त्रीगृहं वा प्रकिरन् व्रजेत् । हस्ते धारयन् वा जपेत् । सूत्रितं हि "कामं विनेष्यमाणोऽपायेनासंख्याताः शर्कराः परिकिरन् व्रजति" इत्यादि [कौ० ४. १२] ॥

तथा दुःशकुनदर्शने काकमैथुनादिविरुद्धदर्शने अद्भुतदर्शने च एतत् सूक्तं जपेत् । सूत्रं च । "अपनोदनापाघाभ्याम् [१. २६, ४. ३३] अन्वीक्ष्य प्रतिजपति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा चरमसंस्कारे शवदहनानन्तरम् अनवेक्ष्यमाणः सबान्धवो गच्छन् कर्ता जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि स्नानसमये ब्रह्मा एतत् सूक्तं जपेत् । स्नानानन्तरं गृहम् आगत्य अनेन सूक्तेन कर्ता श्यामाकीः समिध आदध्यात् ॥

'अप नः शोशुचदघम्' इस सूक्तका "अप नः शोशुचदघम् (४ । ३३) पुनन्तु मा (६ । १९) सस्रुषीः (६ । २३)" (कौशिकसूत्र १ । ९) इस प्रकार बृहद्गणमें पाठ होनेसे शान्त्युदक आदिमें विनियोग होता है ॥

तथा स्त्रियोंकी पुरुषविषयक प्रेमकी निवृत्तिके और लिये पुरुषोंकी स्त्रीविषयक रतिनिवृत्तिके लिए भी इस सूक्तसे अनगिनती रेतेके कणोंको अभिमंत्रित करके काम्यमान परगृहमें वा स्त्रीके घरमें बखेरता हुआ चले । वा इन रेतेके कणोंको हाथमें धारण करता हुआ जप करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'अपनोदनाघाघाभ्याम् (१ । २६, ४ । ३३) अन्वीतं प्रतिजपति' (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा अन्तिम संस्कारमें शवको भस्म करनेके अनन्तर शवको न देखता हुआ कर्ता बांधवों सहित इस सूक्तका जप करे ॥

तथा इसी कर्ममें ब्रह्मा स्नानके समय इस सूक्तका जप करे ॥ स्नानके अनन्तर घरमें आकर कर्ता इस सूक्तसे श्यामाकी समिधाओंको रक्खे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥

अप । नः । शोशुचत् । अघम् । अग्ने । शुशुग्धि । आ । रयिम् ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वत्प्रसादात् नः अस्माकम् अघम् पापम् अप शोशुचत् अत्यर्थम् अपगतशोकं भवतु । ❀ नश्यतु इत्यर्थः शुचेर्यङ्लुगन्तात् लेटि अडागमः ❀ । त्वं च रयिम् धनम् अस्माकम् आ शुशुग्धि समन्तात् प्रज्वलितं समृद्धं कुरु । ❀ शुशुग्धीति । छान्दसः शपः श्लुः ❀ । आदरार्थम् उक्त एवार्थः पुनरनूद्यते ॥

हे अग्ने ! आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे । और आप भी चारों ओरसे धनको हममें दीप्त करें । हमारा पाप आपके प्रसादसे शोक करने योग्य न रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥

सुऽक्षेत्रिया । सुऽगातुया । वसुऽया । च । यजामहे ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ २ ॥

सुक्षेत्रिया शोभनं क्षेत्रं सुक्षेत्रम् । ❀ "इयाडियाजीकाराणाम् उपसंख्यानम्" इति तृतीयैकवचनस्य डियाजादेशः । तथा सुगातुयेत्यत्रापि तृतीयाया याजादेशः । उभयत्रापि हेतौ तृतीया ❀ । सुक्षेत्रेण शोभनमार्गेण च हेतुना । तद् उभयं यथा स्याद् इत्यर्थः । यद्वा शोभनक्षेत्रेच्छया सुक्षेत्रिया । ❀ क्यचि छान्दसं ह्रस्वत्वम् । "अ प्रत्ययात्" इति अकारप्रत्ययः । तृतीयाया लुक् ❀। शोभनक्षेत्रलाभेच्छया । ❀ सुगातुया । सुगातुशब्दात् पूर्ववत् क्यच् । "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति दीर्घप्रतिषेधः । पूर्ववत् तृतीयाया

लुक् ❀। शोभनमार्गेच्छया वसूया धनेच्छया च हे अग्ने त्वां यजामहे हविर्भिस्तोषयामः। त्वत्प्रसादाद् अस्मदीयम् अघं नश्यतु॥

हे अग्ने! हम शोभनक्षेत्र पानेकी इच्छासे और शोभन मार्ग मिलनेकी इच्छासे और धन पानेकी इच्छासे हवियोंके द्वारा आप कोसन्तुष्ट करते हैं, आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे २

तृतीया ॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।

अप नः शोशुचद्घम् ॥ ३ ॥

प्र। यत्। भन्दिष्ठः। एषाम्। प्र। अस्माकासः। च। सूरयः।

अप। नः। शोशुचत्। अघम् ॥ ३ ॥

एषाम् स्तोतृणां मध्ये अहं प्र प्रकर्षेण यत् यस्माद् भन्दिष्ठः स्तोतृतमः। ❀ भदि कल्याणे सुखे च। भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मण इति यास्कः [नि० ५. २]। भन्दितृशब्दात् "तुश्छन्दसि" इति इष्ठन्। "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः ❀। अस्माकासः अस्माकाः। ❀ "तस्येदम्" इत्यर्थे अणि "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" इति अस्माकादेशः। छान्दस आदिवृद्ध्यभावः। "आज्जसेरसुक्" ❀। अस्मत्सम्बन्धिनः सूरयः अभिज्ञाः पुत्रादयश्च [प्र] प्रकर्षेण स्तोतृतमाः। तस्मात् हे अग्ने त्वत्प्रसादाद् अस्माकं पापं नश्यतु इति संबंधः॥

हे अग्ने! मैं इन स्तोताओंमें अधिक स्तुति करनेवाला स्तोता हूं और मेरे संबंधी पुत्र आदि भी आपके परम स्तोता हैं, इस कारण हे अग्ने आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ४ ॥

प्र । यत् । ते । अग्ने । सूरयः । जायेमहि । प्र । ते । वयम् ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने ते तव स्तोतारो यत् यस्मात् त्वदनुग्रहेण प्रजायन्ते तस्मात् सूरयः विद्वांसो वयमपि ते तव स्तुत्या प्र जायेमहि पुत्र-पौत्रादिभिः समृद्धा भवेम ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अग्ने ! आपकी स्तुति करने वाले आपके अनुग्रहसे पुत्र पौत्र आदि प्रजासे सम्पन्न होते हैं, इसी प्रकार आपके प्रभावको जानने वाले हम भी पुत्र पौत्र आदिसे समृद्ध होवें । हे अग्ने ! आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट हो जावे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥

प्र । यत् । अग्नेः । सहस्वतः । विश्वतः । यन्ति । भानवः ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ५ ॥

सहस्वतः सहनवतः अभिभवनवतो बलवतो वा अग्नेः भानवः दीप्तयो विश्वतः सर्वतः यत् यस्मात् प्र यन्ति अस्मद्धितार्थं प्रवर्तन्ते तस्मात् आग्नेयेन तेजसा अस्मदीयम् [अघम्] पापं नश्यतु इत्यर्थः ॥

बलवान् अग्निकी दीप्तियें हमारा कल्याण करनेके लिये चारों ओरसे प्रवृत्त होती हैं, इस कारण आग्नेय तेजसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

त्वम् । हि । विश्वतःऽमुख । विश्वतः । परिऽभूः । असि ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ६ ॥

हे विश्वतोमुख सर्वतोमुख अग्ने त्वं हि त्वं खलु विश्वतः सर्वतः परिभूः परिग्रहीता व्यापकः असि भवसि । सर्वम् इदं जगत् त्वद्वशे वर्तते । अतस्त्वदाज्ञया अस्मदीयं पापं नश्यत्विति ॥

हे सर्वतोमुख अग्ने ! आप चारों ओरसे ग्रहण करने वाले हैं अर्थात् व्यापक हैं सब जगत् आपके वशमें है, अतः आपकी आज्ञासे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥

द्विषः । नः । विश्वतःऽमुख । अति । नावाऽइव । पारय ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ७ ॥

हे विश्वतोमुख सर्वतोमुख अग्ने द्विषः द्वेष्टॄन् शत्रून् नावा समुद्रमिव नः अस्मान् अति पारय अतिक्रामय । त्वत्प्रसादाद् भयकारणम् अस्मदीयं पापं नश्यत्विति ॥

हे सर्वतोमुख अग्ने ! जैसे नौकासे समुद्रको तरते हैं, इस प्रकार तुम शत्रुओंसे हमको पार लगाओ । आपके प्रसादसे भय का कारण हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥

सः । नः । सिन्धुम्ऽइव । नावा । अति । पर्ष । स्वस्तये ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने सः उक्तगुणस्त्वं नावा सिन्धुम् समुद्रमिव स्वस्तये क्षेमाय [नः अस्मान्] अति पर्ष दुरितस्य पारं प्रापय । ❀ पृ पालनपूरणयोः । अस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀ ॥ गतम् अन्यत् ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जैसे नौकासे समुद्रको तरते हैं, इसी प्रकार आप क्षेमके लिये पापके पार हमको पहुँचा दीजिये । आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ८ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (१३५) ॥

"ब्रह्मास्य शीर्षम्" इति सूक्तं ब्रह्मास्योदनसवे निरुप्तहविरभिमर्शनादिकर्मणि विनियुक्तम् ॥

तत्रैवानेन सूक्तेन चतसृषु दिक्षु ह्रदकरणम् कुल्याकरणम् तासां रसैः पूरणम् ह्रदेषु आण्डीकादिमन्त्रोक्तद्रव्यविधानं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "ब्रह्मास्येत्योदने ह्रदान् प्रतिदिशं करोति" इत्यादि [कौ० ८, ७] ॥

'ब्रह्मास्य शीर्षम्' यह सूक्त ब्रह्मास्योदनसवके निरुप्त हविके अभिमर्शन आदि कर्ममें विनियुक्त होता है ।

तहाँ ही इस सूक्तसे ह्रद और कुल्या बनावे और उनके रसों से पूर्ण करे और ह्रदोंमें आण्डीक आदि मंत्रमें कहे हुए द्रव्यका

विधान भी करे इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'ब्रह्मास्येत्योदने ह्रदान् प्रतिदिशं करोति०' (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य । छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोधि यज्ञः ॥ १ ॥

ब्रह्म । अस्य । शीर्षम् । बृहत् । अस्य । पृष्ठम् । वामऽदेव्यम् । उदरम् । ओदनस्य ।

छन्दांसि । पक्षौ । मुखम् । अस्य । सत्यम् । विष्टारी । जातः । तपसः । अधि । यज्ञः ॥ १ ॥

अस्यौदनस्य दीयमानस्य शिरःप्रभृत्यवयवकल्पनया स्तुतिः क्रियते । ब्राह्मणजात्या सह प्रजापतिमुखाद् उत्पन्नत्वाद् ब्रह्मशब्देनात्र रथंतरं साम विवक्षितम् । अत एव तस्य ब्रह्मवर्चसरूपता समाम्नाता । "रथंतरं साम भवति ब्रह्मवर्चसं वै रथंतरम्" इति । तद् ब्रह्मशब्दवाच्यं रथंतरं साम अस्य ओदनस्य शीर्षम् शिरः । तथा बृहत् साम अस्यौदनस्य पृष्ठम् पृष्ठभागः उपरिभागः । तथा वामदेव्यम् वामदेवेन दृष्टं साम उदरम् । ❀ "वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ" इति ड्यप्रत्ययः ❀ । छन्दांसि गायत्र्यादीनि पक्षौ । तथा सत्यम् सत्याख्यं साम परं ब्रह्म वा अस्यौदनस्य मुखम् । एवं विष्टारी विस्तीर्यमाणावयवः । ❀ विपूर्वात् स्तृणातेः कर्मणि णिनिप्रत्ययः । अथवा "प्रथने वावशब्दे" इति घञ् । ततो मत्वर्थीय इनिः ❀ । तादृशोयं सवयज्ञः तपसः तप्यमानाद् ब्रह्मणः अधि उपरि जातः

उत्पन्नः । यज्ञदानादिलक्षणाद् अन्यस्मात् तपसो वा आधिक्येनोत्पन्न इत्यर्थः ॥

(इस दिये जाते हुए ओदनकी शिर आदि अवयवोंकी कल्पना के द्वारा स्तुतिकी जाती है । ब्राह्मण जातिके साथ प्रजापतिके मुखसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्म शब्दसे यहाँ रथन्तर सामका ग्रहण किया गया है, इसी लिये उसकी ब्रह्मवर्चसरूपता कही है, कि—"रथन्तरं साम भवति ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्") यह ब्रह्म-शब्दवाच्य रथन्तर साम इस ओदनका शिर है और बृहत्साम इस ओदनका पृष्ठभाग है अर्थात् ऊपरका भाग है और वामदेव ऋषिका देखा हुआ भाग इस सामका उदर है, गायत्री आदि छन्द इसके पक्ष हैं, और सत्य नाम वाला इस ओदनका मुख है । इस प्रकार विस्तीर्ण अवयवों वाला सवयज्ञ तप करते हुए ब्रह्मसे ऊपर उत्पन्न हुआ है अर्थात् यज्ञ दान आदि अन्य तपसे अधिक प्रभाव रखने वाला हुआ है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।

नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥

अनस्थाः । पूताः । पवनेन । शुद्धाः । शुचयः । शुचिम् । अपि । यन्ति । लोकम् ।

न । एषाम् । शिश्नम् । प्र । दहति । जातऽवेदाः । स्वःऽगे । लोके । बहु । स्त्रैणम् । एषाम् ॥ २ ॥

अनस्थाः। न विद्यते अस्थ्युपलक्षितं षाट्कौशिकं शरीरम् एषाम् इति अनस्थाः। ❀ "छन्दस्यपि दृश्यते" इति अस्थिशब्दस्य अनङ् आदेशः ❀। अमृतमयशरीरा इत्यर्थः। अत एव पवनेन पवनसाधनेन पूताः। यद्वा पवनेन अन्तरिक्षसंचारिणा वायुना पवित्रीकृताः शुद्धाः निर्मलाः शुचयः दीप्यमानाः एवंभूताः सवयज्ञस्य कर्तारः शुचिम् दीप्यमानं ज्योतिर्मयं लोकम् अपि यन्ति अपिगच्छन्ति देहावसाने प्राप्नुवन्ति॥ अपि च एषाम् स्वर्गे लोके अवस्थितानां शिश्नम् भोगसाधनम् इन्द्रियं जातवेदाः जातानां वेदिता अग्निः न प्र दहति न निर्वीर्यं करोति। मदाहमसक्तिम् आह बहु स्त्रैणम् इति। तत्र हि सुकृतफलोपभोगस्थाने एषां सुकृतिनां [बहु] बहुलं स्त्रैणम् स्त्रीणां समूहो भोगार्थं विद्यते। एवं स्त्रीसमूहं भुञ्जानानामपि न निर्वीर्यत्वशङ्केत्यर्थः। ❀ स्त्रैणम् इति। "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति समूहेर्थे नञ् प्रत्ययः ❀॥

जिनमें अस्थिसे उपलक्षित षट् कोश वाला शरीर नहीं है अर्थात् जो अमृतमय शरीर वाले हैं वे सवयज्ञके करने वाले देहावसान में अन्तरिक्षचारी वायुके द्वारा पवित्र होकर ज्योतिर्मय लोकको प्राप्त होते हैं और स्वर्गमें स्थित इनकी भोगसाधन शिश्नेन्द्रियको अग्निदेव जलाते नहीं हैं अर्थात् निर्वीर्य नहीं करते हैं। तहाँ पुण्यों का फल भोगनेके स्थानमें भोगनेके लिये बहुतसी स्त्रियोंका समूह इनके पास रहता है तात्पर्य यह है, कि—इस प्रकार स्त्रियोंको भोगने पर भी निर्वीर्यत्वकी शंका नहीं रहती॥ २॥

तृतीया॥

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये प॒चन्ति॒ नैना॒नव॑र्तिः सचते॒ कदा॒ च॒न।
आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॑न्ध॒र्वैर्म॑दते सो॒म्येभिः॥३॥

वि॒ष्टा॒रिण॑म् । ओ॒द॒नम् । ये । पच॑न्ति । न । ए॒ना॒न् । अव॑र्तिः । स॒च॒ते॒ । क॒दा । च॒न ।

आस्ते॑ । य॒मे । उप॑ । या॒ति॒ । दे॒वान् । सम् । ग॒न्ध॒र्वैः । म॒द॒ते॒ । सो॒म्येभि॑ः ॥ ३ ॥

विष्टारिणम् उदीरितरीत्या विस्तीर्यमाणावयवम् ओदनं ये यजमानाः पचन्ति । पक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्तीत्यर्थः । एनान् यजमानान् वर्तिः वृत्तिः वृत्तिर्जीवनम् तदभावः अवर्तिः दारिद्र्यं कदा चन कदाचिदपि न सचते न समवैति । ॐ षच समवाये ॐ । बहुवत् उक्तम् एकवद् आह । यः [पचति] स च सवयज्ञानुष्ठाता देहविश्लेषानन्तरं यमे पितॄणाम् अधिपतौ पूजितः सन् आस्ते सुखेन वसति । तेन अनुज्ञातः सन् देवान् उप याति उपगच्छति । तथा सोम्येभिः सोम्यैः सोमार्हैः गन्धर्वैः विश्वावसुप्रभृतिभिः सोमपालैः सह मदते अमृतमयसोमपानेन माद्यति ॥

पूर्वोक्त रीतिसे विस्तीर्यमाण अवयव वाले ओदनको जो यजमान पका कर ब्राह्मणोंको देते हैं, उन यजमानोंको दरिद्रता कभी प्राप्त नहीं होती । जो पकाता है वह सवयज्ञका अनुष्ठान करने वाला देहत्यागके अनन्तर पितरोंके अधिपति यमके राज्य में सुखपूर्वक वसता है और उनके अनुज्ञा करने पर देवताओंके समीप जाता है तथा सोमके योग्य विश्वावसु आदि गंधर्वोंके साथ अमृतमय सोमका पान करके हर्षमें भर जाता है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॑न् य॒मः परि॑ मुष्णाति॒ रेत॑ः ।

रथी ह भूत्वा रथयानं ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥

विष्टारिणम् । ओदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । यमः । परि । मुष्णाति । रेतः ।

रथी । ह । भूत्वा । रथऽयाने । ईयते । पक्षी । ह । भूत्वा । अति । दिवः । सम् । एति ॥ ४ ॥

नैनानित्यन्तं पूर्ववत् । यमः नियन्ता जीवनापहारी एनान् सवयज्ञानुष्ठातॄन् रेतः परि [न] मुष्णाति नापहरति । रेतोहीनान् न करोतीत्यर्थः । स च सवयज्ञानुष्ठाता रथयाने रथेन यातव्ये भूलोके यावज्जीवं रथी [ह भूत्वा] रथाधिरूढ एव ईयते संचरति । ❀ ईङ् गतौ । दिवादिः ❀ । अन्तरिक्षमार्गे च पक्षी पक्षवान् भूत्वा दिवः अन्तरिक्षप्रभृतीन् उपरितनान् लोकान् अतिक्रम्य समेति तत्तद्भोगस्थानेषु भोगैः संगच्छते ॥

पूर्वोक्तरीतिसे विस्तृत अवयवों वाले ओदनको पका कर जो ब्राह्मणोंको देते हैं उन सवयज्ञका अनुष्ठान करने वालोंके वीर्य को जीवनका अपहरण करनेवाले यम नहीं हरते हैं अर्थात् उनको वीर्यहीन नहीं करते हैं और वह सवयज्ञका अनुष्ठान करनेवाला भूलोकमें अपने जीवन पर्यन्त रथ पर चढ़ा हुआ ही घूमता है और अन्तरिक्षमें भी पर वाला हो कर अन्तरिक्ष आदि ऊपरके लोकोंको अतिक्रमण करता हुआ भोगोंसे संयुक्त होता है॥४॥

पञ्चमी ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।

आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ५

एषः । यज्ञानाम् । विऽततः । वहिष्ठः । विष्टारिणम् । पक्त्वा । दिवम् । आ । विवेश ।
आण्डीकम् । कुमुदम् । सम् । तनोति । बिसम् । शालूकम् । शफकः । मुलाली ।
एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु । सर्वाः । स्वःऽगे । लोके । मधुऽमत् ।
पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्ऽअन्ताः ५

एष विततः विस्तृतः सवयज्ञः यज्ञानां मध्ये वहिष्ठः वोढृतमः ॥ विष्टारिणम् शिरःपृष्ठाद्यवयवकल्पनया उदीरितविस्तारोपेतम् ओदनं पक्त्वा यजमानस्तत्फलभूतं दिवम् स्वर्गम् आ विवेश प्राप्नोति ॥ आण्डीकम् अण्डाकृतेः कन्दाद् उत्पन्नं कुमुदम् कैरवं दिव्येषु ह्रदेषु सं तनोति संयोजयति ॥ तथा बिसम् पद्मकन्दम् । शालूकम् उत्पलकन्दम् । शफकः शफाकृतिः जलोत्पन्नः । मुलालीति मृणाली विवक्षिता । एतानि सर्वाणि परितो ह्रदेषु स्थापनीयानि । एवम् इदानीम् अनुष्ठितत्वात् एतत्फलभोगस्थाने स्वर्गे कुमुदोत्पल-कमलोपेतानि मधुरोदकानि नित्यपूर्णानि क्रीडासरांसि एनं परितः सेवन्त इत्यर्थः । एतदेवोत्तरत्र विशदीक्रियते "उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः" इति ॥

यह विस्तृत सवयज्ञ यज्ञोंमें अधिक वोढ़ा है (पहुँचाने वाला है) शिर पृष्ठ आदि अवयवोंकी कल्पनासे पूर्वोक्त विस्तारसम्पन्न ओदनको बना कर यजमान इसके फलरूप स्वर्गमें प्रवेश करता है। अण्डकी समान आकार वाले कन्दसे उत्पन्न श्वेत कमलको सरोवरोंमें स्थापित करे। तथा पद्मकन्दको, उत्पलकन्दको और खुरकी समान आकृति वाले जलमें उत्पन्न पदार्थको और कमलिनीको सरोवरमें स्थापित करे (इस प्रकार अनुष्ठान करनेसे इनके भोगके स्थान स्वर्गमें कुमुद उत्पल और कमलोंसे सुशोभित तथा मधुर जलोंसे सर्वदा पूर्ण रहनेवाले क्रीड़ासरोवर सर्वदा अनुष्ठाताओंके लिये तयार रहते हैं इस बातको अगले उत्तरार्धसे स्पष्ट करते हैं, कि-) दधि मधु घृत आदिकी कुल्याओंमें भरे हुए रसकी ये सब धारायें फलभूत स्वर्गमें मधुरभावको पुष्ट करती हुई तेरे समीप आवें, तथा अन्त तक जलसे पूर्ण रहने वाली पुष्करिणियें तेरे पास आवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्
पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ६

घृतऽह्रदाः। मधुऽकूलाः। सुराऽउदकाः। क्षीरेण। पूर्णाः। उदकेन। दध्ना।

एताः। त्वा। धाराः। उप। यन्तु। सर्वाः। स्वःऽगे। लोके। मधुऽमत्।

पिन्वमानाः। उप। त्वा। तिष्ठन्तु। पुष्करिणीः। समऽअन्ताः ६

दधिमधुघृतादिलक्षणस्य दिव्यासु कुल्यासु पूर्यमाणस्य रसस्य एताः सर्वा धाराः प्रवाहाः फलभूते स्वर्गे लोके मधुमत् मधुयुक्तं माधुर्यवद् वा पिन्वमानाः सिञ्चन्त्यः त्वा त्वाम् उप यन्तु उपगच्छन्तु ॥ तथा समन्ताः पर्यन्तवर्तिन्यः पुष्करिणी पुष्करिण्यः सरस्यः हे सत्रयज्ञानुष्ठातः त्वा त्वाम् उप तिष्ठन्तु उपस्थिताः संगता भवन्तु । कीदृश्यस्ताः । घृतह्रदाः घृतपूर्णह्रदयुक्ताः । मधुकूलाः मधुना माक्षिकेण युक्तानि कूलानि यासां ताः । सुरोदकाः सुरा मद्यमेव उदकं यासां ताः । तथा क्षीरेण उदकेन दध्ना च पूर्णाः॥ एतेषु घृतादिद्रव्येषु यद्यत् कामयसे तेन तेन पूर्णा बहुविधाः पुष्करिण्यः त्वां सेवन्ताम् इत्यर्थः । ❀ दध्नेति । "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् अनङ् उदात्तः" इति अनङ् आदेश उदात्तश्च । अल्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ ॥

हे सत्रयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ! घृतसे पूर्ण सरोवरसे युक्त शहदसे भरे हुए किनारे वालीं, सुरारूपी जल वालीं तथा क्षीर जल और दहीसे पूर्ण धारायें स्वर्गमें मधुरतापूर्ण पदार्थोंको पुष्ट करती हुई तुझको प्राप्त हों जलपूर्ण बावड़ियें तुझको प्राप्त हों ६

सप्तमी ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥७॥

चतुरः । कुम्भान् । चतुःऽधा । ददामि । क्षीरेण । पूर्णान् । उदकेन । दध्ना ।

एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु । सर्वाः । स्वःऽगे । लोके ।

मधुऽमत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः ।

सम्ऽअन्ताः ॥ ७ ॥

क्षीरादिद्रव्येण पूर्णान् चतुरः कुम्भान् चतुर्षो भागादिदिग्भेदेन चतुष्प्रकारं दधामि दिक्षु निदधामि । एताः क्षीरादिधाराः त्वाम् उप यन्तु इत्यादि योज्यम् ॥

क्षीर आदि द्रव्योंसे पूर्ण चार कुम्भोंको मैं पूर्व आदि चार दिशाओंमें चार स्थान पर स्थापित करता हूँ, पुण्यके फलरूप स्वर्गलोकमें ये क्षीर आदिकी धारायें मधुरताको पुष्ट करती हुई तुझको प्राप्त हों और अन्त तक पूर्ण पुष्करिणियें तुझको प्राप्त हों ७

अष्टमी ॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।

स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

इमम् । ओदनम् । नि । दधे । ब्राह्मणेषु । विष्टारिणम् । लोकऽजितम् । स्वःऽगम् ।

सः । मे । मा । क्षेष्ट । स्वधया । पिन्वमानः । विश्वऽरूपा । धेनुः । कामऽदुघा । मे । अस्तु ॥ ८ ॥

इमम् पक्वम् ओदनं ब्राह्मणेषु अग्रजन्मसु भोक्तृषु नि दधे

निक्षिपामि । कीदृशम् । विष्टारिणम् प्रागुक्तविस्तारोपेतं लोकजितम् लोक्यत इति लोकः कर्मफलं तज्जयसाधनम् अत एव स्वर्ग्यम् स्वर्गशब्दाभिधेयदुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखस्य साधनम्॥ स ओदनः तस्मिन् स्वर्गे लोके स्वधया क्षीरादिरसेन पिन्वमानः वर्धमानः मा सेष्ट क्षयं मा प्राप्नोतु । ❀ क्षि क्षये । आङि लुङ् । पिन्वमान इति । पिवि मिवि खिवि सेचने । इदित्वान्नुम् ❀ । अपि च ओदनः विश्वरूपा नानाविधफलप्रदरूपा धेनुः सती मे मम कामदुघा अभिलषितफलस्य दोग्ध्री अस्तु भवतु । ❀ कामान् दुग्धे इति कामदुघा । "दुहः कप् घश्च" इति कप्घत्वे ❀ ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

इस राँधे हुए ओदनको अग्रय (श्रेष्ठ) जन्म वाले भोक्ता ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूँ, यह ओदन पूर्वोक्त विस्तारसे संपन्न है, स्वर्ग आदि लोकोंको जीतने वाला है, यह ओदन स्वर्गलोक में स्वधासे क्षीर आदि रसके द्वारा बढ़नेके कारण क्षीण न हो और यह ओदन अनेक प्रकारका फल देनेवाली अभिलषित फल को देने वाली धेनुके रूपमें परिणत होजावे ॥ ८ ॥

चतुर्थकाण्डके सप्तम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१३५) ॥

"यम् ओदनम्" इति सूक्तम् अतिमृत्युसवे निरुप्तहविरभिमर्शनादिषु विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "यम् ओदनम् इत्यतिमृत्युम्" इति [कौ० ८. ७] ॥

तथा गोर्यमलजननलक्षणाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन गोरभ्युक्षणं होमं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् यमसूः यमोदनम् इति तां शान्त्युदकेन अभ्युक्ष्य [दोहयित्वा] तस्या एव गोर्दुग्धे स्थालीपाकं श्रपयित्वा" इत्यादि [कौ० १३. १७] ॥

"यम् ओदनम्" यह सूक्त अतिमृत्युसवके निरुप्त (न होमी हुई) हविके स्पर्श करनेमें विनियुक्त होता है इस विषयमें सूत्रका

प्रमाण भी है, कि-'यम् ओदनम् इत्यतिमृत्युम्' (कौशिकसूत्र ७।८)

तथा गौके दो संतान एक साथ उत्पन्न करनेकी शान्ति अद्भुत शान्तिमें इस सूक्तसे गौका अभ्युक्षण करे और होम करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अथ यत्रैतद्द यमसूः यमोदनम् इति तां शान्त्युदकेन अभ्युक्ष्य दोहयित्वा तस्या एव गोर्दुग्धे स्थालीपाकं श्रपयित्वा इत्यादि ॥-जहाँ गौ जुड़वाँ सन्तानोंको उत्पन्न करे, तहाँ यमोदनम् इस सूक्तसे उस गौका शान्तिजलसे अभ्युक्षण करे और उस गौको दुहाकर उसी गौके दुग्धमें स्थालीपाकको बना कर०" (कौशिकसूत्र १३।१७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् । यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

यम् । ओदनम् । प्रथमऽजाः । ऋतस्य । प्रजाऽपतिः । तपसा । ब्रह्मणे । अपचत् ॥

यः । लोकानाम् । विऽधृतिः । न । अभिऽरेषात् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ १ ॥

ऋतस्य परब्रह्मणः प्रथमजाः तत्सकाशात् प्रथमम् उत्पन्नो हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः तपसा दीक्षादिनियमेन यम् ओदनं ब्रह्मणे स्वकारणभूताय देवाय अपचत्। यश्च ओदनो लोकानाम् पृथिव्यादीनां विधृतिः विधारयिता एका मुख्या नाभिः शरीरस्य नाभिरिव लोकानां बन्धकः। ❀ नहो भत्र [उ० ४. १२५]

इति इङ् प्रत्ययः ॐ । तेनौदनेन दीयमानेन मृत्युम् मरणं तद्धेतु-भूतं वा देवम् अति तराणि अतिक्रमामि ॥

परब्रह्मके द्वारा पहिले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ नामक प्रजापतिने दीक्षा आदिके नियमरूप तपसे जिस ओदनको अपने कारण ब्रह्मदेवके लिये बनाया था और नाभि जैसे प्राणियोंको मुख्य-रूपसे धारण करने वाली है इसी प्रकार जो ओदन पृथिवी आदि लोकोंका बन्धक है—धारण करने वाला है, उस दिये जाते हुए ओदनके द्वारा मैं मरणको अथवा उसके कारण देवताको लाँघता हूँ १

द्वितीया ॥

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्

येन । अतरन् । भूतऽकृतः । अति । मृत्युम् । यम् । अनुऽअविन्दन् । तपसा । श्रमेण ।

यम् । पपाच । ब्रह्मणे । ब्रह्म । पूर्वम् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ २ ॥

भूतकृतः भूतानां प्राणिनां कर्तारो देवाः येन ओदनेन मृत्युम् अत्यतरन् अतिक्रान्तवन्तः । यम् ओदनं तपसा उपवासादिनियमेन श्रमेण शरीरक्लेशेन च अन्वविन्दन् अन्वलभन्त । तथा पूर्वम् प्रथमोत्पन्नं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म ब्रह्मणे स्वकारणभूताय यम् ओदनं पपाच । तद्वत्वं पक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रादाद् इत्यर्थः । तेनौदनेनेत्यादि गतम् ॥

भूतोंको रचने वाले देवता जिस ओदनके द्वारा मृत्युको लाँघ गए हैं । और जिस ओदनको उपवास आदिके नियमरूप तपसे और शरीरक्लेशरूप श्रमसे देवताओंने पाया है तथा पहिले

उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ नाम वाले ब्रह्माने अपने कारण ब्रह्माके लिये जिस ओदनको बनाया था अर्थात् ब्रह्मदेवता वाले जिस ओदनको बनाकर ब्राह्मणोंको दिया था, उस ओदनके द्वारा मैं मरणको अथवा उसके हेतुभूत देवताको लाँघता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन ।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यः । दाधार । पृथिवीम् । विश्वऽभोजसम् । यः । अन्तरिक्षम् । आऽअपृणात् । रसेन ।
यः । अस्तभ्नात् । दिवम् । ऊर्ध्वः । महिम्ना । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ३ ॥

य ओदनो विश्वभोजसम् विश्वस्य कृत्स्नस्य प्राणिजातस्य भोग्यभूतां पृथिवीम् भूमिं दाधार धृतवान् । ❀ विश्वं भुनक्ति पालयतीति विश्वभोजाः । भुज पालनाभ्यवहारयोः । अस्माद् असुन् प्रत्ययः ❀ । तथा य ओदनः आहुत्यात्मना परिणतेन स्वकीयेन रसेन अन्तरिक्षम् दिवम् आपृणात् आपूरयति । ❀ पृ पालनपूरणयोः । प्वादित्वात् ह्रस्वः ❀ । तथा य ओदनः महिम्ना महत्त्वेन दिवम् द्युलोकम् ऊर्ध्वः अस्तभ्नात् । यथाऽधो न पतति तथा ऊर्ध्वः सन् धृतवान् इत्यर्थः । एवं विराडात्मना तस्य स्तुतिः ॥ तेनौदनेनेत्यादि गतम् ॥

जो ओदन सम्पूर्ण प्राणियोंकी भोग्यरूपा पृथिवीको धारण कर चुका है तथा जो ओदन आहुतिरूपसे परिणत अपने रससे अन्तरिक्षको पूर्ण करता है तथा जो ओदन अपनी महिमासे द्युलोकको स्तंभित रखता है अर्थात् नीचे न गिरे इस प्रकार ऊपर ही धारण किये रहता है उस ओदनकेद्वारा मैं मृत्युको तरता हूं ३

चतुर्थी ॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात् । मासाः । निःऽमिताः । त्रिंशत्ऽअराः । सम्ऽवत्सरः ।
यस्मात् । निःऽमितः । द्वादशऽअरः ।
अहोरात्राः । यम् । परिऽयन्तः । न । आपुः । तेन । ओदनेन ।
अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात् ब्रह्मात्मकाद् ओदनाद् मासा द्वादश निर्मिता उत्पन्नाः त्रिंशदराः । रथचक्रावयवाः कीलका अराः चक्रवद् आवर्तमानत्वाद् मासास्तथा अनेन रूप्यन्ते । त्रिंशत्संख्याकानि दिनानि अरा येषां ते तथोक्ताः । अपि च द्वादशारः द्वादशमासात्मकः संवत्सरो यस्मात् ब्रह्मात्मकाद् ओदनाद् निर्मितः उत्पादितः । अहानि च रात्रयश्च अहोरात्राः । ❀ "अहः सर्वैकदेश०" इति समासान्तः अच् प्रत्ययः ❀ । ते च पर्यन्तः पर्यावर्तमानाः यं ब्रह्मात्मकम् ओदनं [नापुः] न प्रापुः । तेनौदनेन इत्योदनस्य माससंवत्सराहोरात्रातिवर्तित्वेन स्तुतिः ॥

जिस ब्रह्मात्मक ओदनसे बारह मास उत्पन्न हुए हैं और रथ चक्रके अवयवरूप तीस अरे (दिन) उत्पन्न हुए हैं (मास दिन आदि चक्रकी समान घूमते हैं, अतः रथचक्रकी उपमा दी गई है) और द्वादश मास वाला सम्वत्सर जिस ब्रह्मात्मक ओदन से उत्पन्न किया गया है तथा दिन और रात्रि आवर्तन करते हुए भी जिस ब्रह्मात्मक ओदनको प्राप्त नहीं हुए उस ओदनके द्वारा मैं मृत्युका उल्लंघन करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यः । प्राणदः । प्राणदऽवान् । बभूव । यस्मै । लोकाः । घृतऽवन्तः । क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः । प्रऽदिशः । यस्य । सर्वाः । तेन । ओदनेन । अति । तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यः ओदनः प्राणदवान् प्राणैर्जिगमिषुभिर्दूयन्ते परिताप्यन्ते इति प्राणदः मुमूर्षवः । तेषां प्राणदः प्राणप्रदो बभूव भवति । ❀ प्राणदवान् इति । दूङ् परितापे । अस्मात् प्राणशब्दोपपदात् क्विप् । अकारोपजनश्छान्दसः ❀ । यस्मै ब्रह्मात्मकाय ओदनाय सर्वे लोकाः घृतवन्तः घृतधारायुक्ताः क्षरन्ति स्रवन्ति । यस्य ओदनस्य तेजसा सर्वाः प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याद्या ज्योतिष्मतीः प्रशस्ततेजस्का भवन्ति ॥ तेनौदनेनेत्यादि गतम् ॥

जो ओदन मुमुक्षुओंको मोक्ष देने वाला होता है और जिस ब्रह्मात्मक ओदनके लिये सब लोक घृतधाराओंको टपकाते हैं और जिस ओदनके तेजसे पूर्व आदि सब दिशायें प्रशस्त तेज वाली होती हैं उस ओदनसे मैं मृत्युको लाँघता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

यस्मात् । पक्वात् । अमृतम् । सम्ऽबभूव । यः । गायत्र्याः । अधिऽपतिः । बभूव ।

यस्मिन् । वेदाः । निऽहिताः । विश्वऽरूपाः । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ६ ॥

पक्वात् पाकोत्पन्नाद्य यस्माद् ओदनाद् अमृतम् द्युलोकस्थं संबभूव उत्पन्नम् । यश्च गायत्र्याः छन्दसाम् अग्रिमाया अधिपतिः अधिदेवता बभूव भवति । यस्मिन् ओदने वेदाः ऋग्यजुःसामाद्याः विश्वरूपाः शाखाभेदेन आसादितवैश्वरूप्या निहिताः निक्षिप्ताः । अन्तरवस्थिता इत्यर्थः । ❀ पक्वात् इति । "पचो वः" इति निष्ठातकारस्य वत्वम् ❀ ॥

पाकसे सम्पन्न हुए जिस ओदनसे द्युलोकमें स्थित अमृत उत्पन्न हुआ है और जो छन्दोंमें अग्रस्थानीया गायत्रीका अधिपति देवता होता है और जिस ओदनमें ऋक् यजु साम आदि शाखाभेदसे अनेक रूपोंको प्राप्त वेद निक्षिप्त हैं भीतर स्थित हैं हैं उस ओदनसे मैं मृत्युका उल्लंघन करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अव॑ बाधे द्विष॒न्तं॑ देवपी॒युं स॒पत्ना॒ ये मेप॒ ते भ॑वन्तु ।
ब्र॒ह्मौद॒नं वि॑श्वजि॒तं॑ पचामि शृ॒ण्वन्तु॑ मे श्र॒द्दधा॑नस्य दे॒वाः ॥ ७ ॥

अव॑ । बा॒धे॒ । द्वि॒षन्त॑म् । दे॒व॒ऽपी॒युम् । स॒ऽपत्नाः॑ । ये । मे॒ । अप॑ । ते । भ॒व॒न्तु॒ ।
ब्र॒ह्म॒ऽओ॒द॒नम् । वि॒श्व॒ऽजि॑तम् । प॒चा॒मि॒ । शृ॒ण्वन्तु॑ । मे॒ । श्र॒त्ऽदधा॑नस्य । दे॒वाः ॥ ७ ॥

द्विषन्तम् हिंसन्तं शत्रुम् अहम् अव बाधे अपहन्मि । तथा देवपीयून् । ❀ पीयतिर्वधकर्मा । "पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति" [ऋ० १. १४७. २] इति हि निगमः ❀ । देवानां हिंसकान् अप अपहन्मि । अतो मे मम ये सपत्नाःशत्रवः तेअपहता भवन्तु । तदर्थम् अहं विश्वजितम् सर्वस्य जेतारं ब्रह्मौदनम् । ब्राह्मणेभ्यो देय ओदनो ब्रह्मौदनः । तं पचामि संस्करोमि । श्रद्दधानस्य श्रद्धायुक्तस्य मे मम वाक्यं देवा यष्टव्याः शृण्वन्तु आकर्णयन्तु ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

द्वेष करने वाले शत्रुको मैं बाधा देता हूँ तथा देवताओंके हिंसकोंको मैं बाधा देता हूँ, अतः जो मेरे शत्रु हैं वे नष्ट होजावें, इसी लिये मैं सबका विजय करने वाले (ब्राह्मणोंके लिये दिये जाने वाले) ब्रह्मौदनको संस्कृत करता हूँ, मुझ श्रद्धालुके वाक्यको पूजनीय देवता सुनें ॥ ७ ॥

अथर्ववेदसंहिताके चतुर्थकाण्डके सप्तम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१३७) ॥

सप्तम अनुवाक समाप्त

अष्टमेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "तान्त्सत्यौजाः" [४. ३६] "त्वया पूर्वम्" [४. ३७] इति द्वयोः सूक्तयोश्चातनगणे पाठात् "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ० ४. १] इति विहितेषु भूतग्रहाद्युच्चाटनकर्मसु विनियोगः ॥

आठवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इनमें "तान्त्सत्यौजाः" (४ । ३६.) और "त्वया पूर्वम्" (४ । ३७) इन दोनों सूक्तों का चातनगणमें पाठ है । अत एव "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्" इस कौशिकसूत्र ४ । १ से विहित भूतग्रह आदिके उच्चाटन कर्मोंमें इनका विनियोग होता है ॥

तत्र प्रथमा ॥

तान्त्स॒त्यौजाः॒ प्र द॑हत्व॒ग्निर्वै॑श्वान॒रो वृषा॑ ।
यो नो॑ दुर॒स्याद् दिप्सा॒च्चाथो॒ यो नो॑ अराति॒यात् ॥ १

तान् । स॒त्यऽओजाः । प्र । द॒ह॒तु । अ॒ग्निः । वै॒श्वा॒न॒रः । वृषा॑ ।
यः । नः॒ । दु॒र॒स्यात् । दिप्सा॑त् । च॒ । अथो॒ इति॑ । यः । नः॒ । अ॒रा॒ति॒ऽयात् ॥ १ ॥

सत्यौजाः सत्यम् अवितथम् ओजो बलं यस्य तादृशो वैश्वानरः विश्वनरहितः वृषा सेचनसमर्थः पुंस्त्वोपेतः अग्निः तान् शत्रून् प्र दहतु प्रकर्षेण भस्मीकरोतु । तच्छब्दनिर्दिष्टानेव दर्शयति उत्तरार्धेन । यः शत्रुः नः अस्मान् दुरस्यात् दुष्टानिव आचरेत् । अस्मासु अविद्यमानं दोषम् उद्भावयेद् इत्यर्थः । ॐ दुष्टशब्दात् "उपमानाद् आचारे" इति क्यच् "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति निपातनात् क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावः । तदन्तात् लेटि आडागमः ॐ । तथा यश्च शत्रुः अस्मान् दिप्सात् धिप्सेत् हिंसितुम् इच्छेत् । ॐ दन्भु दम्भे । "सनीवन्तर्ध०" इति इटो

विकल्पनाद् अभावः । "दम्भ इच्च" इति इत्त्वम् । भष्भावाभाव-श्छान्दसः । पूर्ववत् लेटि आडागमः ❀ । अथो अपि च यः शत्रुः [नः] अस्मान् [अरातियात्] अरातिवद् आचरेत् अस्मद्विषये शत्रुभावम् अनुतिष्ठति । तान् सर्वान् प्र दहतु इति संबन्धः ॥

जो शत्रु हममें अविद्यमान दोषका आरोप करते हैं, और जो शत्रु हमको मारना चाहते हैं और जो शत्रु हमसे शत्रुभावका वर्ताव करता है सत्यरूपी बल वाले, सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करनेमें परायण सेचनसमर्थ अग्नि उन शत्रुओंको प्रबलतासे भस्म करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो नो दिप्सदद्दिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।

वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

यः । नः । दिप्सत् । अदिप्सतः । दिप्सतः । यः । च । दिप्सति ।

वैश्वानरस्य । दंष्ट्रयोः । अग्नेः । अपि । दधामि । तम् ॥ २ ॥

यः शत्रुः अदिप्सतः दम्भितुं हिंसितुम् अनिच्छतः नः अस्मान् दिप्सात् हिंसितुम् इच्छेत् । ❀ पूर्ववद् दम्भेः सन्नन्तात् लेटि आडागमः ❀ । तथा दिप्सतः हिंसितुम् इच्छतः अस्मान् यः शत्रुः दिप्सति दम्भितुम् इच्छति । जिहिंसिषतीत्यर्थः । वैश्वानरस्य विश्वनरहितस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः खादनसाधनयोर्दन्तविशेषयोः आस्यमध्यस्थयोः तम् उभयविधं शत्रुम् अपि दधामि प्रक्षिपामि । ताभ्यां पीडितो विनश्यतु इत्यर्थः ॥

जो शत्रु हिंसा करना न चाहते हुए हमको मारनेकी इच्छा करे और जो शत्रु मारना चाहने वाले हमको मारना चाहता है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी अग्निदेवकी डाढ़ोंमें हम उन दोनों प्रकारके शत्रुओंको डालते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे मावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ३

ये । आऽगरे । मृगयन्ते । प्रतिऽक्रोशे । अमाऽवास्ये ।
क्रव्यऽअदः । अन्यान् । दिप्सतः । सर्वान् । तान् । सहसा । सहे ३

आगीर्यते समन्ताद् भक्ष्यते मांसशोणितादिकम् अत्रेति आगरो युद्धरङ्गः । ❀ गृ निगरणे । "ऋदोरप्" इति अधिकरणे । अप् ❀ । तत्र [ये] क्रव्यादः मांसभक्षकाः पिशाचादयः मृगयन्ते अस्मान् हिंसितुम् अन्विच्छन्ति । ❀ मृग अन्वेषणे । चुरादिरदन्तः ❀ । तथा प्रतिक्रोशे प्रतिकूलैः शत्रुभिः कृते आक्रोशे अमावास्ये । अमा सूर्येण सह चन्द्रमा वसत्यस्यां तिथौ इति अमावास्या । ❀ अधिकरणे ण्यत् ❀ । तत्र जातः उत्पन्नः अर्धरात्रकालः अमावास्यः । ❀ "अमावास्याया वा" "अ च" इति अकारप्रत्ययः ❀ । तादृशे अमावास्यासंबन्धिनि अर्धरात्रकाले क्रव्यादः पिशाचाः अन्यान् दिप्सन्ति हिंसितुम् इच्छन्ति । नष्टचन्द्रायास्तस्या अर्धरात्रे हि रक्षसां संचरकालः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "निशितायां हि रक्षांसि प्रेरते संप्रेर्णान्येवैनानि हन्ति" [तै० सं० २, २, २, ३] इति । एतच्च आपस्तम्बेन स्पष्टीकृतम् । "अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशम् अष्टाकपालम् अमावास्यायां निशाया निर्वपेत्" इति । तान् सर्वान् पिशाचादीन् सहसा बलेन मन्त्रप्रभावजनितेन सहे अभिभवामि ॥

मांसशोणित आदिको जिसमें समीपतासे नष्ट किया जाता है उस संग्राममें जो मांसभक्षक पिशाच आदि हमको मारनेके लिये अवसर देखते रहते हैं, तथा शत्रुओंके प्रतिकूल आचरण

करने पर अमावास्याके अर्धरात्रिके समय जो पिशाच औरोंको मारना चाहते हैं † उन सब पिशाच आदिको हम मंत्रप्रभावसे उत्पन्न हुए बलसे तिरस्कृत करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥४॥

सहे । पिशाचान् । सहसा । एषाम् । द्रविणम् । ददे ।

सर्वान् । दुरस्यतः । हन्मि । सम् । मे । आऽकूतिः । ऋध्यताम् ४

सहसा बलेन पिशाचान् पिशिताशिनो राक्षसान् सहे अभिभवामि । एषाम् रक्षसां द्रविणम् बलम् आ ददे स्वीकरोमि । नष्टवीर्यान् करोमीत्यर्थः । दुरस्यतः अस्मद्विषयं दुष्टत्वम् इच्छतः सर्वान् शत्रून् हन्मि हिनस्मि नाशयामि । नः अस्माकम् आकूतिः इष्टफलविषयः संकल्पः शम् सुखं यथा भवति तथा [ऋध्यताम्] समृध्यताम् । समृद्धफला भवतु इत्यर्थः । ❀ ऋधु वृद्धौ ❀ ॥

मैं मांसभक्षी राक्षसोंको मंत्रबलसे तिरस्कृत करता हूँ, इन राक्षसोंके बलको स्वीकार करता हूँ, अर्थात् इनके बलको नष्ट

---

† नष्टचन्द्रा अर्धरात्रि ही राक्षसोंके विचरनेका समय है । इसी बातको तैत्तिरीयसंहितामें लिखा है, कि–'निशितायां हि रक्षांसि प्रेरते सम्प्रेर्णान्येवैनानि हन्ति ॥" (तैत्तिरीयसंहिता २।२।२।३)॥ इसी बातको आपस्तम्बमुनिने स्पष्ट किया है कि-'अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशं अष्टाकपालं अमावास्यायां निशायां निर्वपेत् ॥–राक्षसों का संहार करने वाले अग्निदेवके निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश को अमावास्याकी रात्रिमें देवे" ॥

करता हूँ, तथा मुझसे दुष्टताका व्यवहार करना चाहने वाले शत्रुओंको मैं नष्ट करता हूँ। हमारा इष्टफलविषयक संकल्प सुखदायक रीतिसे समृद्ध हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।
नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

ये । देवाः । तेन । हासन्ते । सूर्येण । मिमते । जवम् ।
नदीषु । पर्वतेषु । ये । सम् । तैः । पशुऽभिः । विदे ॥ ५ ॥

देवाः दीव्यन्तो ये पिशाचाद्याः तेन प्रसिद्धेन विकारेण हासन्ते आविष्टं पुरुषं हासयन्ति । ❀ हसे हसने । अस्माद् ण्यन्तात् लटि "णिचश्च" इति आत्मनेपदम् । "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । तथा सूर्येण समानं जवम् वेगं मिमते कुर्वन्ति । सूर्यप्रभावत् शीघ्रं व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । तथा नदीषु पर्वतेषु च विजनस्थाने ये संचरन्ति तैः सर्वैर्वियुक्तोहं तत्कृतप्रतिबन्धविरहात् पशुभिः गोमहिषाद्यैः सं विदे संजाने । तान् प्राप्नोमीत्यर्थः । ❀ "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥ यद्वा हे देवा अग्न्यादयः ये पशवः तेन रक्षःपिशाचादिना हासन्ते जिहास्यन्ते । ❀ ओहाक् त्यागे इत्यस्मात् सन् । "छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति वचनाद् द्विर्वचनाभावः । कर्मणि कर्तृप्रत्ययश्छान्दसः ❀ । परित्यज्य पलायमानाश्च [ये] पशवः सूर्येण साकं वेगं कुर्वन्ति । शीघ्रं धावन्ति। ये च पशवो नदीषु पर्वतेषु च संचरन्ति युष्मत्प्रसादात् तन्निरोधकान् राक्षसादीन् अपहत्य तैः सर्वैः पशुभिरहं सं विदे इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः ॥

दमकते हुए पिशाच जिस प्रसिद्ध विकारसे आविष्ट पुरुषको हँसाते हैं और सूर्यकी समान वेगको करते हैं अर्थात् सूर्यकी प्रभाकी समान शीघ्र ही व्याप्त होजाते हैं तथा जो पर्वत और नदी आदि निर्जन स्थानोंमें विचरण करते हैं, उन सबसे अलग रहता हुआ मैं उनके किये हुए प्रतिबन्धोंसे रहित होनेके कारण गौ भैंस आदि पशुओंसे सम्पन्न होऊँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

तपनः। अस्मि। पिशाचानाम्। व्याघ्रः। गोमताम्ऽइव।
श्वानः। सिंहम्ऽइव। दृष्ट्वा। ते। न। विन्दन्ते। निऽअञ्चनम् ६

पिशाचानाम् रक्षसाम् अहं तपनः मन्त्रसामर्थ्येन तापकोस्मि गोमताम् गोस्वामिनां व्याघ्र इव। यथा व्याघ्रो गवां हिंसकत्वेन तत्स्वामिनां तापको भवति तथेत्यर्थः। यथा सिंहं दृष्ट्वा श्वानो भीत्या निलीयन्ते तथा ते पिशाचाः अस्मन्मन्त्रप्रभावं दृष्ट्वा न्यञ्चनम् न्यग्भवनम् अधोगतिम् अनु विन्दन्ते अनुलक्ष्य लभन्ते ॥

जैसे गोस्वामियोंको व्याघ्र सन्ताप देता रहता है, इसी प्रकार मैं मन्त्रकी शक्तिसे राक्षसोंको सन्तप्त करने वाला बनूँ। जैसे सिंहको देख कर कुत्ते डरके कारण छुप जाते हैं, इसी प्रकार ये पिशाच हमारे मन्त्रप्रभावको देख कर अधोगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥७॥

न । पिशाचैः । सम् । शक्नोमि । न । स्तेनैः । न । वनर्गुऽभिः ।

पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । यम् । अहम् । ग्रामम् । आऽविशे

नाहं पिशाचैः सं शक्नोमि संशक्तः अनुप्रविष्टो न भवामि । तथा स्तेनैश्चोरैः प्रच्छन्नवृत्तिभिर्ग्रामगतैः न सं शक्नोमि न संगतो भवामि । न वनर्गुभिः । वनर्गुभिशब्दश्चोरनाम । ❀ वनर्गू वनगामिनौ इति यास्कः [नि० ३. १४] ❀ । वनगामिभिश्चोररपि न संशक्तोस्मि । तथा पिशाचा राक्षसाः तस्माद् ग्रामान्निर्गत्य नश्यन्तु नष्टा भवन्तु । यं ग्रामम् अहम् आविशे अनुविश्य वसामि । तस्माद् मदधिष्ठिताद् देशात् पलायन्ताम् इत्यर्थः ॥

मैं पिशाचोंसे अनुप्रविष्ट नहीं होता हूं अर्थात् पिशाच मुझमें प्रवेश नहीं कर सकते और मैं चोरोंसे नहीं मिलता हूं तथा वनचारी डाँकुओंसे नहीं मिलता हूं, मैं जिस ग्राममें प्रवेश करता हूं, उस ग्रामसे पिशाच नष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥८॥

यम् । ग्रामम् । आऽविशते । इदम् । उग्रम् । सहः । मम ।

पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । न । पापम् । उप । जानते ॥८॥

मम मदीयम् इदम् उग्रम् तीक्ष्णं मन्त्रप्रभावजनितं सहः बलं यं ग्रामम् आविशते अनुप्रविश्य वर्तते तस्माद् ग्रामात् पिशाचा नश्यन्ति तत्र न प्रविशन्ति । यदि प्रविविक्षन्ति नश्यन्त्येवेत्यर्थः ।

अतो न तद्विषयं पापम् हिंसारूपम् उप जानते तत्रत्या जनाः। रक्षःपिशाचादिकृतम् उपद्रवं नावबुध्यन्त इत्यर्थः ॥

मेरा यह मंत्रप्रभावसे उत्पन्न बल जिस ग्राममें प्रवेश करके रहता है, उस ग्रामसे पिशाच नष्ट होजाते हैं अर्थात् उसमें प्रवेश नहीं करते हैं और यदि प्रवेश करते हैं तो नष्ट ही होजाते हैं इस कारण उनके हिंसामय पापको वहाँ रहने वाले मनुष्य जानते ही नहीं अर्थात् राक्षस पिशाच आदिके उपद्रवको वे जानते ही नहीं॥८

नवमी ॥

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

ये । मा । क्रोधयन्ति । लपिताः । हस्तिनम् । मशकाःऽइव ।
तान् । अहम् । मन्ये । दुःऽहितान् । जने । अल्पशयून्ऽइव॥९॥

ये पिशाचाद्या लिपिताः उपदिग्धाः संक्रान्ताः मा मां क्रोधयन्ति । मशकाः दंशकाः क्षुद्रजन्तवो हस्तिशरीरम् आश्रिता हस्तिनम् गजमिव । तान् सर्वान् दुर्हितान् दुष्टहननेन विषयीकृतान् अहं मन्ये जानामि । तत्र निदर्शनम् आह जन इति । जने जनसंघे तत्संचारस्थले अवस्थितान् अल्पशयून् परिमाणतः अल्पकायाः शयनस्वभावाः संचाराक्षमाः कीटा अल्पशयवः । ते यथा प्राणिसंचारेण हन्यन्ते तद्वद् अहम् अनायासेन अपुनरुद्भवं हन्मीत्यर्थः ॥

जैसे जनसमूहके फिरनेके स्थानमें स्थित अल्प शरीर वाले और शयन करनेके स्वभाव वाले संचरणमें असमर्थ कीट, प्राणियों के घूमनेसे मारे जाते हैं, इसी प्रकार हाथीके शरीरमें लगे हुए हाथीको क्रुद्ध करने वाले मच्छरोंकी समान अपने शरीरमें लगे हुए सब पिशाचोंको मैं नष्ट किया हुआ ही समझता हूँ ॥९॥

दशमी ॥

अभि तं निर्ऋ॑तिर्धत्तामश्व॑मिवाश्वाभिधान्या॑ ।
मल्वो यो मह्यं॒ क्रुध्य॑ति स उ पाशा॒न्न मु॑च्यते १०

अभि । तम् । निःऽऋ॑तिः । धत्ताम् । अश्व॑म्ऽइव । अश्वऽअभिधान्या॑ ।
मल्वः । यः । मह्य॑म् । क्रुध्य॑ति । सः । ऊं॒ इति॑ । पाशा॑त् । न । मुच्यते

तं शत्रुं निर्ऋतिः पापदेवता अभि धत्ताम् स्वकीयैः पाशै-र्बध्नातु । तत्र दृष्टान्तः अश्वमिवेति । अश्वम् अभिदधाति बध्नात्यनया इति अश्वाभिधानी रज्जुः । ॐ करणे ल्युट् । टित्वाद् ङीप् ॐ । तया यथा दुष्टम् अश्वं बध्नन्ति तद्वद् इत्यर्थः । तथा यो मल्वः शत्रुः मह्यं क्रुध्यति मद्विषयं कोपं करोति । ॐ "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्०" इति मह्यम् इति चतुर्थी ॐ । स उ स एव शत्रुः पाशात् निर्ऋतिसंबन्धिनः न मुच्यसे मुक्तो न भवतु । बद्ध एव वर्तताम् इत्यर्थः ॥

[इति] अष्टमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जैसे घोड़े बाँधनेकी रस्सीसे दुष्ट घोड़ेको बाँधते हैं इसीप्रकार पापदेवता निर्ऋति उस शत्रुको अपने पाशोंसे बाँध लेवें तथा जो शत्रु मुझ पर कोप करता है वह शत्रु निर्ऋतिके पाशोंसे मुक्त न हो, बँधा हुआ ही रहे ॥ १० ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (११८) ॥

"त्वया पूर्वम्" इति सूक्तस्य गणप्रयुक्तो विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

तथा सर्वभूतग्रहभैषज्यार्थं शमीपर्णचूर्णं शमीफलमध्ये कृत्वा अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य आविष्टग्रहं पुरुषं भोजयेत् । अलंकारेण सह धारयेत् ॥

तथा व्याभितगृहं परिकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । "त्वया पूर्वम् इति कोशेन शमीचूर्णानि भक्तेऽलंकारे शालां परितनोति" इति [कौ० ४. ४] ॥

"गान्धर्वीम् अश्वक्षये" इति [न० क० १७] विहितायां गान्धर्व्याख्यायां महाशान्तौ गणप्रयुक्तेनानेन सूक्तेन गुल्गुल्वादिद्रव्यहोमोभिहितः । यथा ।

शिग्रुं हुत्वा जलं चैव गल्गुलुं विषमेव च ।
पिप्पलीं कृष्णालीं चैव जुहुयाच्चातनेन तु ॥
ओषधीं सहमानां तु पृश्निपर्णीं तथापराम् ।
अजशृङ्गीं समस्यैताम् अमन्त्रं जुहुयात् सकृत् ॥

इति [न० क० २१] ॥

'त्वया पूर्वम्' इस सूक्तका गणप्रयुक्त विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ॥

तथा सकल भूतग्रहोंकी चिकित्साके लिये जंडके पत्तोंके चूर्ण को जण्डके फलके मध्यमें डाल कर इस सूक्तसे अभिमंत्रण करके ग्रहसे आविष्ट पुरुषको भोजन करावे और अलंकारके साथ धारण करावे ॥

तथा रोगीके घरमें बखेरे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"त्वया पूर्व इति कोशेन शमीचूर्णानि भक्तेऽलङ्कारे शालां परितनोति" (कौशिकसूत्र ४।४)

"गान्धर्वीं अश्वक्षये ।।—अश्वक्षयमें गांधर्वी महाशांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित गांधर्व्या नाम वाली महाशांतिमें गणप्रयुक्त इस सूक्तसे गूगल आदि द्रव्यका होम कहा है । यथा— "शिग्रं हुत्वा जलं चैव गुल्गुलुं विषमेव च । पिप्पलीं कृष्णालीं चैव जुहुयाच्चातनेन तु ॥ ओषधीं सहमानां तु पृश्निपर्णीं तथापराम् । अजशृङ्गीं समस्यैतां अमंत्रं जुहुयात् सकृत् ॥—सँजनेको

होम कर जल, गूगल, मृणाल, पीपल और कृष्णलीको चातन-गणसे होमे। फिर सहमाना, पिठवन, बाँझ खेखसा और कक्करासिंगीको भली प्रकार अमंत्रक होमे" ॥ (नक्षत्रकल्प २१)॥

तत्र प्रथमा ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥१॥

त्वया। पूर्वम्। अथर्वाणः। जघ्नुः। रक्षांसि। ओषधे।
त्वया। जघान। कश्यपः। त्वया। कण्वः। अगस्त्यः ॥ १ ॥

अत्र सहमानादीनां विनियोगोक्तानाम् अन्यतमा संबोध्यते। हे ओषधे त्वया साधनेन पूर्वम् पुरा अथर्वाणः महर्षयः रक्षांसि जघ्नुः हतवन्तः। ❀ हन्तेर्लिटि उसि "गमहन०" इति उपधा-लोपः। तस्य स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनम् ❀। तथा कश्यपः महर्षिः त्वयैव साधने तदनन्तरं रक्षांसि जघान कण्वो अगस्त्यश्च। अतः अहमपि त्वद्धारणहोमादिना रक्षांसि हन्मीत्यर्थः ॥

हे ओषधे! अथर्वा आदि महर्षियोंने पहिले तुझको साधन बना कर राक्षसोंको मारा था और कश्यप नामक महर्षिने तथा कण्व और अगस्त्य नामक महर्षिने तेरे साधनसे राक्षसोंका संहार किया था (इसी प्रकार मैं भी तुझको धारण करना और होम आदि करनेसे राक्षसोंको मारता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

त्वया। वयम्। अप्सरसः। गन्धर्वान्। चातयामहे।

अजऽशृङ्गि । अज । रक्षः । सर्वान् । गन्धेन । नाशय ॥ २ ॥

अजशृङ्गी विषाणी स्यात् इत्यभिधानकोशप्रसिद्धा अजशृङ्गी । सात्र संबोध्या । अजशृङ्गाकृतिफलयुक्तत्वाद् अजशृङ्गीत्युच्यते । हे तादृशि ओषधे त्वया साधनेन वयम् अप्सरसो गन्धर्वांश्च अस्मदुपद्रवकारिणः चातयामहे नाशयामः । ❀ चातयतिर्नाशने इति यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ । हे अजशृङ्गि त्वं रक्षः राक्षसजातिम् अज अस्मात् स्थानात् क्षिप प्रच्यावय । ❀ अज गतिक्षेपणयोः ❀ ॥ किं बहुना । सर्वान् रक्षः पिशाचादीन् त्वदीयेन उग्रेण गन्धेन नाशय अदर्शनं प्रापय ॥

हे अजशृंगी ओषधे ! हमसे उपद्रव करने वाले अप्सरा और गंधर्वोंको तेरे साधनसे हम नष्ट करते हैं; हे अजशृंगि ! तू राक्षसजातिको इस स्थानसे च्युत कर अधिक क्या राक्षस पिशाच आदि सबको अपनी उग्र गंधसे दूर कर ॥ २ ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोपां तारमवश्वसम् ।
गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

नदीम् । यन्तु । अप्सरसः । अपाम् । तारम् । अवऽश्वसम् ।
गुल्गुलूः । पीला । नलदी । औक्षऽगन्धिः । प्रऽमन्दनी ।
तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रतिऽबुद्धाः । अभूतन ॥ ३ ॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधाः महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र । अश्वत्थाः । न्यग्रोधाः । महाऽवृक्षाः । शिखण्डिनः ।

तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रतिऽबुद्धाः । अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।

तत् परेप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

यत्र । वः । प्रऽईङ्खाः । हरिताः । अर्जुनाः । उत । यत्र ।

आघाटाः । कर्कर्यः । सम्ऽवदन्ति ।

तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रतिऽबुद्धाः । अभूतन ॥ ५ ॥

तृतीया ॥ अप्सरसः गन्धर्वाणां स्त्रियः अस्मदीयात् स्थानात् भ्च्याविताः नदीम् नद्युपलक्षितं स्वावासस्थानं यन्तु गच्छन्तु । तत् [दृष्टान्तः] । नादेयीनाम् अपां तारम् तारयितारम् स्वसम् [इव] सुष्ठु नौप्रेरणकुशलं यथा तितीर्षवो जना उपगच्छन्ति । एतत् केन साधनेन इति चेत् तत्राह गुल्गुलूरिति । गुल्गुल्वादीनि पञ्च होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रप्रसिद्धानि । तेषां हवनेन भीता भवन्त्य इत्यर्थः ॥

चतुर्थी ॥ हे अप्सरसः तत् प्रसिद्धं स्वावासस्थानं परेत परागच्छत पराङ्मुख्यः अस्मान् अनवेक्षमाणाः प्राप्नुत । गत्वा च तत्रैव प्रतिबद्धाः निरुद्धगतयः अभूतन भवत । ❀ छान्दसो भवतेर्लुङ् । तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनादेशः ❀ । स्थानं विशेष्यते । यत्र यस्मिन् स्थाने अश्वत्था न्यग्रोधा अन्ये च सत्तादयो महावृक्षाः शिखण्डिनः मयूराश्च सन्ति । शिखण्डिसद्भावेन विजनत्वं सूचितम् । तत् स्थानं गच्छतेति संबन्धः । अश्वत्थादीनां

तदावासस्थानता तैत्तिरीये समाम्नाता । "नैयग्रोध औदुम्बर आश्वत्थः साक्ष इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः" इति [तै० सं० ३.४.८.४]। ❀ महावृक्षाः इति । महान्तश्च ते वृक्षा महावृक्षाः । "आन्महतः०" इति आत्वम् ❀ ॥

पञ्चमी ॥ हे अप्सरसः वः युष्माकं क्रीडनाय प्रेङ्खा दोला यत्र यस्मिन् स्थाने निबद्धा वर्तन्ते । हरिताः हरिद्वर्णाः अर्जुनाः धवलाश्चेति प्रेङ्खानां विशेषणम् । यद्वा हरिद्वर्णाः श्यामला वृक्षाः अर्जुनाख्याश्च यस्मिन् देशे सन्ति । तथा यत्र यस्मिन् देशे अघाटाः । ❀ आङ्पूर्वात् हन्तेः कर्मणि घञ् । छान्दसं टत्वम् ❀ । आहन्यमाना वाद्यमानाः कर्कर्यः वाद्यविशेषाः संवदन्ति युष्मन्नृत्तानुगुण्येन समानं ध्वनन्ति तत् स्थानं परेतेत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

नदीके जलके पार उतारने वाले नौका चलानेमें कुशल पुरुष के पास जैसे पार जाना चाहने वाले पुरुष जाते हैं तिस प्रकार गूगल, पीला, औचागंधि, नलधौ और प्रमंदनी इन पाँच होमद्रव्यों के हवनसे भयभीत हुई गंधर्वोंकी स्त्री अप्सरायें पराङ्मुख होकर नदी आदि अपने निवासस्थानोंको चली जावें और तहाँ पर निरुद्धगति होकर पड़ी रहें ॥ ३ ॥

हे अप्सराओं ! तुम अपने उस निवासस्थानमें पराङ्मुख होकर जाओ, और तहाँ ही गतिरहित पड़ी रहो, कि जहाँ पर पीपल, बड़ और पिलखन आदि हैं और जहाँ मयूर हैं ‡ ॥४॥

‡ अश्वत्थ आदि अप्सरा और गंधर्वोंका स्थान हैं, इस बात का तैत्तिरीयसंहितामें वर्णन है, कि-'नैयग्रोध औदुम्बर आश्वत्थः साक्ष इतीध्मो भवन्त्येते वै गंधर्वाप्सरसां गृहाः ॥-बड़ गूलड़ पीपल और पिलखन इनमें गंधर्व और अप्सराओंका घर होता है ॥" (तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ८ । ४) ॥

हे अप्सराओं ! तुम्हारी क्रीड़ाके लिये जहाँ पर झूले पड़े हुए हैं जहाँ श्यामलवृक्ष और अर्जुन वृक्ष हैं और जहाँ पर तुम्हारे नाचनेके अनुसार कर्करी नामके बाजे बज रहे हैं, उस स्थानमें तुम हमसे पराङ्मुख होकर जाओ, और गतिहीन होकर पड़ी रहो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

आ । इयम् । अगन् । ओषधीनाम् । वीरुधाम् । वीर्यऽवती ।
अजऽशृङ्गी । अराटकी । तीक्ष्णऽशृङ्गी । वि । ऋषतु ॥ ६ ॥

ओषधीनाम् । ओषः पाकः आसु धीयत इति ओषधयः । तासाम् ओषधीनां वीरुधाम् विरोहणस्वभावानाम् अन्यासां च लतानां मध्ये वीर्यावती अतिशयितसामर्थ्ययुक्ता इयम् अजशृङ्गी ओषधिः आगन् आगमत् । अस्मदुपद्रवं नाशयितुम् आगता । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "हल्ङ्या०" इत्यादिलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । सा च अजशृङ्गी अराटकी । अरा अदातारो हिंसकाः तान् अस्मात् स्थानात् आटयति उच्चाटयतीति अराटकी । तीक्ष्णशृङ्गी तीक्ष्णे उग्रगन्धे शृङ्गाकृती फले यस्याः एवंगुणविशिष्टा सा रक्षःपिशाचादीन् व्यृषतु हिनस्तु ॥

विरोहण स्वभाव वाली लताओंमें यह परम सामर्थ्यमयी अजशृंगी औषधि अदाताओंको और हिंसकोंको इस स्थानसे उच्चाटन करनेवाली है, उग्र गन्ध और सींगकी समान आकारके फल वाली यह अजशृंगी राक्षस और पिशाच आदिको नष्ट करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः ।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

आऽनृत्यतः । शिखण्डिनः । गन्धर्वस्य । अप्सराऽपतेः ।
भिनद्मि । मुष्कौ । अपि । यामि । शेपः ॥ ७ ॥

आनृत्यतः समन्ताद् नर्तनं कुर्वतः शिखण्डिनः शिखण्डाश्चूडाः तद्वतः । यद्वा शिखण्डी मयूरः । लुप्तोपमम् एतत् । तद्वद् आनृत्यतः । गन्धर्वस्य । गीतिरूपा वाचो गाः धारयतीति गन्धर्वः । ❀ "गवि गन् धृञो वः" इति धृञो वप्रत्ययो गोशब्दस्य गन्भावश्च ❀ । ईदृशस्य अप्सरापतेः । अप्सरस्शब्द आकारान्तो वेदे प्रसिद्धः । अप्सरसाम् अधिपतेः अस्मान् जिघांसतो गन्धर्वराजस्य मुष्कौ आण्डौ भिनद्मि विदारयामि संचूर्णयामि । तन्मध्यवर्ति शेपः पुंस्प्रजननं च अपि यामि अपिगतं निरुद्धं करोमि। रिरंसवो हि गन्धर्वाः । तत्साधनत्रिकभेदनेन भीता अस्मात् स्थानात् पलायन्ताम् इत्यर्थः ॥

नृत्य करनेवाले मयूरकी समान नृत्य करते हुए, अप्सरापति हमको मारना चाहनेवाले गीतिरूप वाणियोंको धारण करनेवाले गन्धर्वके अण्डकोशोंको मैं चूर्णित करता हूं और उसके पुंस्प्रजननको भी मैं निरुद्ध करता हूँ । तात्पर्य यह है, कि—गंधर्व रमण करनेके स्वभाव वाले होते हैं अत एव रमणके तीनों साधनोंके तोड़नेसे भयभीत होकर इस स्थानसे भाग जावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः ।

ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ८ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । अयस्मयीः ।

ताभिः । हविःऽअदान् । गन्धर्वान् । अवकाऽअदान् । वि । ऋषतु ८

भीमा बिभ्यत्येभ्य इति भीमाः । ❀ भियः षुग्वा [उ० १. १४५] इति औणादिको मक्प्रत्ययः "भीमादयोपादाने" इति अपादानेर्थे भवति ❀ । शतमृष्टीः शतस्पर्शनाः शतधाराः अयस्मयीः अयस्मय्यः अयोविकारा एवंभूताः इन्द्रस्य या हेतयः हननसाधनानि आयुधानि सन्ति ताभिर्हेतिभिः [अभि] हृदान् अभिगताह्रादान् प्राप्तजलाशयान् वा अवकादान् । अवका जलोपरिस्थाः शैवालविशेषाः तान् अदन्ति भक्षयन्तीति अवकादाः । तान् गन्धर्वान् व्यृषतु इन्द्रो हिनस्तु ॥

जिनसे प्राणी डरते हैं और जिनमें सैंकड़ों धारें हैं ऐसे लोहे के बनेहुए अपने आयुधोंसे इन्द्र जलाशयों पर छाये हुए सिवार को खाने वाले गंधर्वोंको मारें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः ।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ९ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । हिरण्ययीः ।

ताभिः । हविःऽअदान् । गन्धर्वान् । अवकाऽअदान् । वि । ऋषतु ९

हिरण्ययीः हिरण्मय्यः हिरण्यस्य विकाराः स्वर्णनिर्मिताः । इत्येतावानेव विशेषः । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

जिनसे प्राणी डरते हैं और जिनमें सैंकड़ों धारे हैं ऐसे सुवर्ण

के बनेहुए अपने आयुधोंसे इन्द्रदेव, सिवारका भक्षण करनेवाले जलाशय पर आये हुए गंधर्वोंको मारें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥१०॥

अवका॑ऽअदान् । अभिऽशोचान् । अप्ऽसु । ज्योतय । मामकान् ।
पिशाचान् । सर्वान् । ओषधे । प्र । मृणीहि । सहस्व । च ॥१०॥

अवकादान् अवकाभक्षकान् अभिशोचान् अभितः शोचमानान् दीप्यमानान् शोकस्य प्रापकान् वा मामकान् मत्संबन्धिनो गन्धर्वान् अप्सु उदकेषु द्योतय प्रकाशय । हे ओषधे अजशृङ्गि उपद्रवकारिणः पिशाचान् सर्वान् प्र मृणीहि प्रजहि सहस्व ऽभिभव च ॥

सिवारका भक्षण करने वाले, चारों ओरसे दमकते हुए, शोक को देने वाले मेरे गंधर्वोंको जलोंमें प्रकाशित करे । हे अजशृंगि ओषधे ! उपद्रवी पिशाचोंको चारों ओरसे मार और दबा १०

एकादशी ॥

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्-
तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

श्वाऽइव । एकः । कपिःऽइव । एकः । कुमारः । सर्वऽकेशकः ।
प्रियः । दृशःऽइव । भूत्वा । गन्धर्वः । सचते । स्त्रियः ।
तम् । इतः । नाशयामसि । ब्रह्मणा । वीर्यऽवता ॥ ११ ॥

एकः गन्धर्वः मायावितया श्वेव श्वाकृतिरिव भवति । एकः अपरो गन्धर्वः कपिरिव मर्कटाकृतिर्भवति । अन्यस्तु गन्धर्वः सर्व-केशकः सर्वतः उत्पन्नाः केशा यस्य तादृशः सन् [कुमारः] कुमारावस्थ इव भवति । एवं मायावशात् विचित्राकृतिः सन् दृशे द्रष्टुम् दर्शनाय वा प्रिय इव भूत्वा [गन्धर्वः] ।गन्धर्वरूपो ग्रहः स्त्रियः सचते समवैति । तं गन्धर्वम् इतः अस्मात् स्त्रीसकाशात् नाशयामसि नाशयामः । ❀ "इदन्तोमसिः" ❀ । केन साधनेन इति चेत् उच्यते । वीर्यावता अतिशयितवीर्ययुक्तेन ब्रह्मणा मंत्रेण ॥

एक गंधर्व मायावी होनेसे कुत्तेकी समान आकृति वाला हो जाता है, दूसरा गंधर्व बन्दरकीसी आकृति वाला बन जाता है और दूसरा गंधर्व चारों ओर केशों वाले बालककी समान बन जाता है । (इस प्रकार मायाके प्रभावसे विचित्र आकारोंको बना कर) दर्शन करनेमें प्रियसा होकर गंधर्वरूप ग्रह स्त्रियोंको प्राप्त होता है, हम इस स्त्रीके पाससे वीर्यवान् मंत्रके प्रभाववश उस गंधर्वको दूर करते हैं ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

जायाः । इत् । वः । अप्सरसः । गन्धर्वाः । पतयः । यूयम् ।

अप । धावत । अमर्त्याः । मर्त्यान् । मा । सचध्वम् ॥ १२ ॥

हे गन्धर्वाः वः युष्माकम् अप्सरसः जाया इत् जाया एव उप-भोग्याः स्त्रिय एव खलु । यूयं च तासां पतयः भर्तारः । अतः संघीभूय [अप धावत] । अमर्त्याः अमरणधर्माणः देवजातीया

यूयं मर्त्यान् मरणधर्मणो मनुष्यान् भिन्नजातीयान् मा सचध्वम् समवेत । संगता मा भूत ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे गंधर्वो ! तुम्हारी अप्सरायें ही उपभोगके योग्य स्त्रियें हैं और तुम भी उनके पति हो अतः मिलकर यहाँसे भाग जाओ । अमरण धर्म वाले देवजातीय तुम मरणधर्म वाले अन्यजातिके व्यक्तियोंसे न मिलो ॥ १२ ॥

दूसरा सूक्त समाप्त (१२९) ॥

"उद्भिन्दतीं संजयन्तीम्" इति सूक्तेन द्यूतजयकर्मणि अक्षान् अभिमन्त्र्य देवनं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति" इति प्रक्रम्य "उद्भिन्दतीं संजयन्तीम् [४. ३८] यथा वृक्षम् अशनिः [७. ५२] इदम् उग्राय [७. ११४] इति वासितान् अक्षान् निवपति" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" इत्यादिभिः "कर्कीन् वत्सान् इह रक्ष वाजिन्" इत्येवमन्ताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्गोपुष्टिकर्मणि द्वादशदाम्नीं रज्जुं संपाताज्येन संस्कुर्यात् । "अयं घासः" इति पादेन गोभ्यो घासं प्रयच्छेत् । "इह वत्सान्" इति पादेन तस्यां द्वादशदाम्न्यां रज्ज्वां वत्सान् बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "कर्कीप्रवादानां द्वादशदाम्न्यां संपातवत्याम् अयं घास इह वत्सान् इति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ३. ४] ॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" इति तिसृभिः कर्कीसवं दद्यात् । सूत्रितं हि । "सूर्यस्य रश्मीन् इति कर्कीं सानूबन्ध्यां ददाति" इति [कौ० ८. ७] ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीम्' इस सूक्तसे द्यूतजयकर्ममें पाशोंको अभिमन्त्रित करके जुआ खेले । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति" का आरंभ करके कहा है, कि-"उद्भिन्दतीं सञ्जयन्तीम् (इस चतुर्थकाण्डके ३८ वें सूक्त

से और) यथा वृत्तं अशनिः (इस सप्तम काण्डके बावनवें सूक्त से तथा) इदं उग्राय (इस सप्तमकाण्डके एकसौ चौदहवें सूक्त से) वासित पाशोंको फेंके" (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" से "कर्कीन् वत्सान् इह रक्ष वाजिन्" तककी तीन ऋचाओंसे गोपुष्टिकर्ममें बारह लड़ वाली रज्जुको होमके घृतसे संस्कृत करे। 'अयं घासः' इस पादसे गौओंको घास देवे और 'इह वत्सान्' इस पादसे उस बारह लड़ वाली रस्सीमें बछड़ोंको बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"कर्की-प्रवादो द्वादशदाम्न्यां सम्पातवत्याम् अयं घास इह वत्सान् इति मन्त्रोक्तम्" (कौशिकसूत्र ३ । ४) ॥

तथा 'सूर्यस्य रश्मीन्' इन तीन ऋचाओंसे कर्कीसव देवे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'सूर्यस्य रश्मीन इति कर्कीं' सान् बंध्यां ददाति' (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥१॥

उत्ऽभिन्दतीम् । सम्ऽजयन्तीम् । अप्सराम् । साधुऽदेविनीम् ।
ग्लहे । कृतानि । कृण्वानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥ १ ॥

उद्भिन्दतीम् पणबन्धेन धनस्य उद्भेदनं कुर्वतीं संजयन्तीम् सम्यक् जयं प्राप्नुवतीं साधुदेविनीम् जयोपायपरिज्ञानेन अक्ष-शलाकादिभिः शोभनं क्रीडन्तीम् एवंगुणविशिष्टाम् अप्सराम् द्यूत-क्रियाधिदेवताम् अप्सरोजातीयाम्। अहं स्तौमीति शेषः। अपि च ग्लहे। गृह्यते पणबन्धेन कल्प्यत इति द्यूतक्रियाजेयोऽर्थो ग्लहः।

❀ "ग्रहवृदनिश्चिगमश्च" इति कर्मणि अप् । "अक्षेषु ग्लहः" इति अक्षविषये निपातनात् लत्वम् ❀ । तस्मिन् ग्लहे निमित्ते कृतानि द्यूतजयचिह्नानि कृतत्रेतादिशब्दवाच्यानि अयसंज्ञकानि कृण्वानाम् कुर्वाणाम् । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद् उक्तं द्यूतक्रियाम् अधिकृत्य आपस्तम्बेन । "कृतं यजमानो विजनाति" इति [आप० ५. २०. १] । एवंभूतां ताम् अप्सराम् इह अस्मिन् द्यूतजयकर्मणि अहं हुवे आह्वयामि । आगत्य सा मम जयं करोतु इत्यर्थः

पणबंधसे धनका उच्छेदन करती हुई भली प्रकार विजय कराती हुई, जयका उपाय जाननेसे अक्षशलाका आदिसे शोभनतापूर्वक क्रीड़ा करने वाली द्यूतक्रियाकी अधिदेवता द्यूतजयके चिन्ह कृत त्रेता आदिको करती हुई अप्सराको मैं इस द्यूतजयकर्ममें आह्वान करता हूँ (वह आकर मुझे विजयी करे)॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

विऽचिन्वतीम् । आऽकिरन्तीम् । अप्सराम् । साधुऽदेविनीम् ।
ग्लहे । कृतानि । गृह्णानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥२॥

विचिन्वतीम् एकत्र निर्बाधे कोष्ठे त्रिचतुरान् अक्षान् विशेषेण समुच्चिन्वतीं संघीकुर्वतीम् । पुनस्तानेव जयार्थं बहुषु कोष्ठेषु आकिरन्तीम् समन्तात् विक्षिपन्तीम् । ❀ कॄ विक्षेपे । तुदादित्वात् शः "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम् ❀ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

एक स्थानके निर्बाध कोष्ठमें तीन चार आदि पाशोंको एकत्रित करती हुई फिर उन्हींको विजयके लिये बहुतसे कोठोंमें डालती हुई जयका उपाय जाननेसे अक्षशलाका आदिसे शोभ-

नतापूर्वक क्रीड़ा करने वाली द्यूतक्रियाकी अधिदेवता द्यूतजयके चिन्ह कृत त्रेता आदिको करती हुई अप्सराको मैं इस द्यूतजय-कर्ममें आह्वान करता हूँ (वह आकर मुझे विजयी करे) ॥२॥

यायैः परिनृत्यत्यादद्दाना कृतं ग्लहात् ।

सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया ।

सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

या । अयैः । परिऽनृत्यति । आऽददाना । कृतम् । ग्लहात् ।

सा । नः । कृतानि । सीषती । प्रऽहाम् । आप्नोतु । मायया ।

सा । नः । पयस्वती । आ । एतु । मा । नः । जैषुः । इदम् । धनम्

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।

आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

याः । अक्षेषु । प्रऽमोदन्ते । शुचम् । क्रोधम् । च । बिभ्रती ।

आऽनन्दिनीम् । प्रऽमोदिनीम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ४

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनु-
संचरन्ति ।

यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान्
पर्यैति रक्षन् ।

स न ऐतु होममिमं जुषाणो ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान्

सूर्यस्य । रश्मीन् । अनु । याः । सम्ऽचरन्ति । मरीचीः । वा ।

याः । अनुऽसंचरन्ति ।

यासाम् । ऋषभः दूरतः । वाजिनीऽवान् । सद्यः । सर्वान् ।

लोकान् । परिऽएति । रक्षन् ।

सः । नः । आ । एतु । होमम् । इमम् । जुषाणः । अन्तरि-

क्षेण । सह । वाजिनीऽवान् ॥ ५ ॥

तृतीया ॥ या गन्धर्वस्त्री अयैः अक्षगतसंख्याविशेषैः कृतादिशब्द-वाच्यैः परिनृत्यति अभिमतजयप्राप्त्या परितुष्टा नर्तनं करोति । की-दृशी ग्लहात् ग्रह्ममाणात् पणबन्धात् कृतम् एतत्संज्ञम् अयम् आद-धानः आदधाना कुर्वाणा । कृतग्लहत्वं तस्या असाधारणो गुणः । सा तादृशी न अस्माकं कृतानि कृतशब्दवाच्यान् चतुःसंख्यायुक्तान् अयान् शेषन्ती अवशेषयन्ती महान् महत्तव्यान् अक्षान् मायया व्यामोहकशक्त्या आप्नोतु अधितिष्ठतु । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविशेषा अयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा । तथा च तैत्ति-रीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः" इति [तै० ब्रा० १. ५. ११. १]। तस्य च कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति । अत एव दाशतय्यां लब्धकृतायात् कितवाद् भीतिराम्नाता । "चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः" इति [ऋ० १. ४१. ६]। तत्र च निरुक्तम् । चतुरोऽक्षान् धार-यत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात् इति [नि० ३. १६]॥

चतुर्थी ॥ सा द्यूताधिदेवता पयस्वती द्यूतजितेन पयउपलक्षितेन गवादिधनेन तद्वती नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु । नः अस्माकम् इदम् पणितव्यत्वेन कल्पितं धनम् अन्ये कितवा मा जैषुः मापहार्षुः ।

❀ जयतेर्लुङि लुङि "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति वृद्धिः ❀। या गन्धर्वस्त्री द्यूतक्रियासु उक्ता अक्षेषु द्यूतसाधनेषु प्रमोदते प्रहृष्यति। ❀ मुद हर्षे ❀। किं कुर्वती। शुचम् इष्टजयवियोगात् शोकं पुनर्जिगीषया क्रोधम् कोपं च बिभ्रती धारयन्ती। ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः। लटः शत्रादेशः। शपः श्लौ "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम्। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति उदात्तत्वम् ❀॥

पञ्चमी॥ आनन्दिनीम् द्यूतजनितहर्षयुक्तां प्रमोदिनीम् द्यूतासक्तान् अन्यानपि प्रमोदयन्तीम्। यद्वा आनन्दिनीम् सुखवर्तीं प्रमोदिनीम् प्रहर्षवतीम् ईदृशीं ताम् प्रागुक्ताम् अप्सराम् इह द्यूतकर्मणि जयार्थम् अहं हुवे आह्वयामि। या अप्सरसः सूर्यस्य रश्मीन् किरणान् अनु। ❀ लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀। रश्मयो यत्र निर्गच्छन्ति तस्मिन् प्रदेशे संचरन्ति वर्तन्ते। मरीचीर्वा मरीचिशब्देन प्रभा विवक्षिता। सूर्यकिरणसंबन्धिनीः मरीचीः प्रभा अनुलक्ष्य या अप्सरसः संचरन्ति। यासाम् ऋषभ इत्युत्तरमन्त्रेण संबन्धः। "तस्य मरीचयोऽप्सरसः" [तै० सं० ३.४.७.१] इत्यादि तैत्तिरीयकम् अनुसंधेयम्॥

यासाम् अप्सरसाम् ऋषभः वृषभः सेचनसमर्थः पतिः दूरतः दूरे विप्रकृष्टे अन्तरिक्षदेशे संचरन् वाजिनीवान् वाजः अन्नम् अस्याम् अस्तीति व्युत्पत्त्या वाजिनी उषाः। ❀ ततो नित्ययोगे मतुप् ❀। सर्वदा उषसा संबद्ध इत्यर्थः। स च सद्यः शीघ्रं सर्वान् लोकान् रक्षन् पालयन्। ❀ हेतौ शतृप्रत्ययः ❀। पालनाद्धेतोः पर्येति प्रतिदिवसं पर्यावर्तते स वाजिनीवान् सूर्यः अन्तरिक्षेण। उपलक्षणम् एतत्। अन्तरिक्षगताभिस्ताभिरप्सरोभिः सह इमम् अस्मदीयं होमम् हूयमानं हविः जुषाणः सेवमानः नः अस्मान् पैतु आगच्छतु॥

जो गन्धर्वस्त्री कृत आदि शब्दोंसे कहे जानेवाले अक्ष संख्यात्मक

अयोंसे विजय मिलनेके कारण सन्तुष्ट होकर नृत्य करती है। यह ग्रहण किये जाने वाले फाँसोंमें हमारे कृत नामक चार संख्या वाले अयोंको बचाती हुई फेंकने योग्य फाँसों पर व्यामोहकशक्तिसे अधिष्ठित रहे ‡ और वह द्यूतकी अधिष्ठात्री देवता द्यूतमें जीते हुए दूध गौ आदि धनके साथ हमको प्राप्त हो, हमारे इस दाँवके लिये रखे हुए धनको दूसरे जुआरी न जीत सकें ३

जो गंधर्वकी अप्सरा अभिलषित जयके न होनेसे शोक कराती हैं और फिर जीतनेकी इच्छासे क्रोध कराती है। वह द्यूतक्रिया में कही हुई अप्सरा द्यूतके साधन अक्षोंसे प्रसन्न होती हैं, उस आनन्दिनी प्रमोदिनी अप्सराको मैं यहाँ बुलाता हूँ ॥ ४ ॥

जो अप्सरायें सूर्यकी किरणोंके और प्रभाके विचरनेके स्थान में घूमती हैं जिन अप्सराओंका सेचनसमर्थपति दूरके अन्तरिक्षदेशमें घूमता रहता है और रक्षा वाला है और सब लोकों

‡ एकसे लेकर पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं। उनमें चारका नाम कृत है। इसी बातको तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।११।१ में कहा है, कि-"ये वै चत्वारः स्तोमा कृतं तत् ॥ अथ ये पञ्च कलिः स ॥-ये चार स्तोम (फाँसे) कृत हैं और पाँच कलि हैं" इस कृतकी प्राप्ति होनेसे द्यूतमें विजय होती है। इसी लिये ऋग्वेदसंहितामें कृतका अय पानेवाले कितव (जुआरी) से डरना कहा है, कि-"चतुरश्चिद ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः" ॥ (ऋग्वेद १।४१।९) और निरुक्त ३।१६ में भी कहा है, कि-"चतुरोऽक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात्। एवमेव दुरुक्ताद् बिभीयान्न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ॥-जो जुआरी फाँसोंको पकड़ रहा है उससे जैसे डरते हैं इसी प्रकार दो प्रकारकी (दुटप्पी) बातें करनेवालेसे डरे उसके साथ कभी स्पर्धा न करे" ॥

की रक्षा करता हुआ प्रत्येक दिशाओंमें घूमता है। वह सूर्यदेव अन्तरिक्षकी अप्सराओं सहित हमारी इस होमी हुई हविका सेवन करते हुए हमारे पास आवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनीऽवन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रक्ष । वाजिन् ।
इमे । ते । स्तोकाः बहुलाः । आ । इहि । अर्वाङ् । इयम् । ते । कर्की । इह । ते । मनः । अस्तु ॥ ६ ॥

हे वाजिन् । वाजः अन्नं बलं वा । तद्वन् अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षदेशोपलक्षिताप्सरोगणेन सह वाजिनीवान् [उषसा तद्वान्]। हविर्लक्षणं वा अन्नं वाजिनी तद्वान् । इह अस्मिन् स्थाने कर्कीन् कर्कवर्णान् शुभ्रान् वत्सान् रक्ष पालय समृद्धान् कुरु ॥ ते त्वदीया इमे स्तोकाः क्षीराज्यादिबिन्दवो धाराः बहुलाः समृद्धा अस्माकं भवन्तु । त्वं च अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् एहि आगच्छ । कर्की कर्कवर्णा शुभ्रा इयं गौः ते तव स्वभूता इह अस्मिन् गोष्ठे वर्तते । ते तुभ्यं नमः । अस्माभिः कृतो नमस्कारः अस्तु भवतु ॥

हे अप्सराओं सहित उषा वाले सूर्यदेव ! आप इस स्थानके शुक्ल वर्ण वाले बछड़ोंकी रक्षा करिये उनको पाल कर बड़ा करिये । आपकी यह क्षीर घृत आदिकी बिन्दुएँ समृद्ध होकर

हमारी हों, आप भी हमारे अभिमुख होकर आइये। आपकी यह शुभ्र वर्ण वाली गौ इस गोष्ठमें हैं, आपको हमारा किया हुआ नमस्कार प्राप्त हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः ।
यथानामः वं ईशमहे स्वाहा ॥ ७ ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनीऽवन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रक्ष । वाजिन् ।
अयम् । घासः । अयम् । व्रजः । इह । वत्साम् । निः । बध्नीमः ।
यथाऽनाम । वः । ईशमहे । स्वाहा ॥ ७ ॥

पूर्वोऽर्धर्चः पूर्ववद् योज्यः । अयं प्रदीयमानो घासः अदनीयस्तृणसंघातः पुष्टिकरो भवतु । ❀ अदेः कर्मणि घञ् । "घञपोश्च" इति घस्लृ आदेशः ❀ । अयम् अस्मदीयो व्रजः गोष्ठः गोपुष्टिकरो भवतु ॥ इह अस्मिन् व्रजे द्वादशदाम्न्या तन्त्या वत्सान् नि बध्नीमः नितरां बद्धान् कुर्मः । [वः युष्माकं] यथानाम येन प्रकारेण खलु ईशमहे स्वामिनो भवामः तथा नि बध्नीमः । ❀ ईश ऐश्वर्ये । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अप्सराओं सहित उषा वाले सूर्यदेव ! आप यहाँके शुक्ल वर्ण वाले बछड़ोंकी रक्षा करिये, उनको पाल कर बड़ा

करिये, यह दी हुई घास पुष्टिकर हो, यह हमारा गोठ गौओंकी पुष्टि करने वाला हो, हम इस गोठमें बारह लड़ वाली रस्सीसे बछड़ोंको बाँधते हैं तुम यथानामोंको हम जिस प्रकार तुम्हारे ईश रहें तिस प्रकार बाँधें। यह हवि स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (१४०)॥

"पृथिव्याम् अग्नये" इति सूक्तेन सर्वसंपत्कामः मान्त्रवर्णिकीः पृथिव्याद्या देवता यजत उपतिष्ठते वा। सूत्रितं हि। काम्यकर्माणि प्रक्रम्य "समास्त्वाग्ने [२. ६] अभ्यर्चत [७. ८७] इत्यग्निं संपत्कामः। पृथिव्याम् इति [४. ३९] मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ७. १०]॥

तथा पाकयज्ञतन्त्रेषु "पृथिव्याम् अग्नये" इत्यष्टाभिः प्रधानहोमोत्तरकालं संनतिहोमान् जुहुयात्। सूत्रितं हि। "पृथिव्याम् अग्ने समनमन्निति संनतिभिश्च" इति [कौ० १. ५]॥

तत्रैव कर्मणि "अग्नावग्निः" इति द्वाभ्यां पुरस्ताद्धोमौ कुर्यात्। सूत्रितं हि। "अग्नावग्निः [९] हृदा पूतम् [१०] पुरस्ताद्युक्तः [५. २९. १] यज्ञस्य चक्षुः [२. ३५. ५] इति जुहोति पश्चाद् अग्नेर्मध्यदेशे समान् अत्र पुरस्ताद्धोमान्" इति [कौ० १. ३]॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि "अग्नावग्निः" इति मन्थ्याभिहोमम् अनुमन्त्रयते। तद् उक्तं वैताने। "वैश्वदेवे निर्मथ्यं महतं भवतं नः समनसौ [वा० सं० ५. ३] इत्यनुमन्त्रयते। अग्नावग्निः [९] इति होमम्" इति [वै० २. ४]॥

सब सम्पत्तियोंको चाहने वाला 'पृथिव्यां अग्नये' इस सूक्तसे मंत्रोंसे जाननेमें आने वाले पृथिवी आदि देवताओंका पूजन वा उपस्थान करे॥

तथा पाकयज्ञतन्त्रोंमें 'पृथिव्यां अग्नये' इन आठ ऋचाओंसे प्रधान होमके अनन्तर ही सन्नतिहोमोंकी आहुति देय। इस

विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पृथिव्यां अग्नये समनम-न्निति संनतिभिश्च" (कौशिकसूत्र १। ५) ॥

इसी कर्ममें 'अग्नावग्निः' इन दो ऋचाओंसे पुरस्ताद्धोमोंको करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अग्नावग्निः" और "हृदापूतम्" (६। १०) और "पुरस्ताद् युक्तः" इस पाँचवें काण्डके उन्तीसवें सूक्तकी पहिली ऋचासे और "यक्षस्य चक्षुः" इस दूसरे काण्डके पैंतीसवें सूक्तकी पाँचवी ऋचासे आहुति देय, पीछेसे अग्निके मध्यदेशमें पुरस्ताद्धोमोंको करे"। (कौशिक सूत्र १। ३) ॥

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें "अग्नावग्निः" इस ऋचासे मंथ्याग्निहोमका अनुमन्त्रण करे ॥ इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"वैश्वदेवे निर्मथ्यं महृतं भवतं नः समनसौ (वा० स० ५। ३)इत्यनुमन्त्रयते। अग्नावग्निः (६) इति होमम्" (वैतान-सूत्र २। ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

पृथिव्याम्। अग्नये। सम्। अनमन्। सः। आर्ध्नोत्।
यथा। पृथिव्याम्। अग्नये। सम्ऽअनमन्। एव। मह्यम्। सम्ऽनमः। सम्। नमन्तु ॥ १ ॥

प्रथनात् पृथिवी भूमिः। तस्याम् अधिदेवतात्वेन अवस्थिताय अग्नये समनमन् सर्वाणि भूतानि संनतानि उपसन्नानि भवन्ति।

स च अग्निः आर्ध्नोत् संनतैर्भूतजातैः समृद्धो भवति। यथा खलु पृथिव्याम् अग्नये भूतानि समनमन् एव एवं संनमः। ❀ संपूर्वा-न्नमेर्भावे क्विप् ❀। अभिलषितफलस्य संनतयः संप्राप्तयः मह्यं सं नमन्तु संप्राप्नुवन्तु ॥

भूमिमें अधिदेवतारूपसे स्थित अग्निके लिये सब प्राणी प्राप्त होते हैं, वह अग्निदेव भी संनत हुए भूतोंसे समृद्ध होते हैं, इसी प्रकार अभिलषित फलकी प्राप्ति मुझे प्राप्त हों ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।

सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवी । धेनुः । तस्याः । अग्निः । वत्सः ।

सा । मे । अग्निना । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

आयुः । प्रथमम् । प्रऽजाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवी धेनुः दोग्ध्री गौः । तस्या धेन्वा अग्निर्वत्सः पयसः प्रदापयिता। सा पृथिवी अग्निना वत्सेन वत्सस्थानीयेन अग्निना इषम् अन्नम् ऊर्जम् बलकरम् अन्नरसं कामम् काम्यमानम् अन्यत् सर्वं फलं मे मह्यं दुहाम् दुग्धाम्। प्रयच्छतु इत्यर्थः। कामशब्देन सामान्योक्तं फलं विशिनष्टि। प्रथमम् पुत्रपश्वादीनां फलानाम् आदिमं प्रथितं विस्तीर्णं वा शतसंवत्सरम् अपरिमितम् आयुः जीवनं दुग्धाम्। प्रजाम् प्रजायते उत्पद्यत इति प्रजा पुत्रा-दिरूपा। ❀ "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति डप्रत्ययः ❀। [ताम्] पोषम् पुष्टिम् अविशेषात् सर्वस्य फलस्य अभिवृद्धिं रयिम् गवा-

दिलक्षणं धनं च प्रयच्छतु । स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

पृथिवी धेनु है अर्थात् दुहाने वाली है, उस धेनुके अग्नि वत्स हैं अर्थात् फलरूप दुग्धको दिलानेवाले हैं, वह पृथिवीदेवी अग्नि रूप वत्सके द्वारा अन्नको और बलप्रद अन्नरसको तथा पुत्र पशु आदि फलोंमें प्रथमप्रसिद्ध शत संवत्सरवाली अपरिमित आयु, प्रजा, सबकी पुष्टि और गौ आदि धन-इन इच्छित वस्तुओंको दें, यह हवि स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षे । वायवे । सम् । अनमन् । सः । आर्ध्नोत् ।
यथा । अन्तरिक्षे । वायवे । सम्ऽअनमन् । एव । मह्यम् । सम्ऽनमः । सम् । नमन्तु ॥ ३ ॥

[अन्तरिक्षे] अन्तरिक्षलोके तदधिपत्वेन अवस्थिताय वायवे तत्रत्यानि भूतजातानि यक्षगन्धर्वादीनि समनमन् सम्यक् प्रह्वी-भवन्ति । स आर्ध्नोत् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

अन्तरिक्षमें अधिपतिरूपसे रहने वाले वायुदेवके पास जैसे तहाँ रहने वाले यक्ष गन्धर्व आदि एकत्रित होकर रहते हैं और उनसे प्रसंन्न रहते हैं, और वायुदेव उनसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे अन्तरिक्षमें वायुदेवके पास यक्ष गंधर्व आदि प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार अभिलषित फल मुझको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः ।

सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षम् । धेनुः । तस्याः । वायुः । वत्सः ।
सा । मे । वायुना । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।
आयुः । प्रथमम् । प्रऽजाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षलोक एव इष्टफलप्रदत्वाद् धेनुः दोग्ध्री गौः । तस्य धेनुत्वेन रूपितस्य अन्तरिक्षस्य तदविनाभूतस्तत्र संचरन् वायुर्वत्सः । सा अन्तरिक्षरूपा धेनुः वायुना वाय्वात्मना स्वकीयेन वत्सेन इषम् ऊर्जम् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

अन्तरिक्षलोक ही इष्टफलका देने वाला होनेसे दूध देनेवाली गौ है और उस धेनुका वायु वत्स है । वह अन्तरिक्षरूप धेनु वायुरूप अपने वत्सके द्वारा अन्नको और बलप्रद अन्नरसको तथा पुत्र पशु आदिमें प्रथम प्रसिद्ध सौ वर्षवाली अपरिमित आयु प्रजा, सब पदार्थोंकी पुष्टि और गौ आदि धन—इन अभिलषित वस्तुओंको दें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

दिव्यादित्याय समनमत्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

दिवि । आदित्याय । सम् । अनमत् । सः । आर्ध्नोत् ।
यथा । दिवि । आदित्याय । सम्ऽअनमन् । एव । मह्यम् । सम्ऽ-

नमः । सम् । नमन्तु ॥ ५ ॥

दिवि द्युलोके अवस्थिताय तदधिपतये आदित्याय अदितेः पुत्राय सूर्याय द्युलोकवासिनो जनाः समनमन् सम्यक् प्रह्वीभवन्ति । तं सेवन्त इत्यर्थः । स च द्युलोकस्थ आदित्यः आर्ध्नोत् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

द्युलोकमें अधिपतिरूपसे रहने वाले अदितिके पुत्र सूर्यदेवके पास जैसे द्युलोकवासी नम्र होकर रहते हैं और वह सूर्यदेव उन द्युलोकवासियोंसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार अभिलषित फलकी प्राप्ति मेरी ओर झुकें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः ।

सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ६ ॥

द्यौः । धेनुः । तस्याः । आदित्यः । वत्सः ।

सा । मे । आदित्येन । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

आयुः । प्रथमम् । प्रऽजाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ ६ ॥

द्युलोक एव अभिमतफलप्रदानेन दोग्ध्री धेनुः । तत्र संचरन्नादित्य एव तस्या वत्सः । सा म इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

द्युलोक ही अभिलषित फल देनेके कारण धेनु है और तहाँ विचरने वाले आदित्य ही उसके वत्स हैं वह द्युलोकरूप धेनु आदित्यरूप अपने वत्सके द्वारा अन्नको और बलप्रद अन्नरस को तथा पुत्र पशु आदिमें प्रथम प्रसिद्ध शतसंवत्सर वाली अप-

रिमित आयु, प्रजा, सब पदार्थोंकी पुष्टि और गो धन आदि इन अभिलषित वस्तुओंको दें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।

यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु

दिक्षु । चन्द्राय । सम् । अनमन् । सः । आर्ध्नोत् ।

यथा । दिक्षु । चन्द्राय । सम्ऽअनमन् । एव । मह्यम् । सम्ऽनमः ।
सम् । नमन्तु ॥ ७ ॥

दिक्षु प्राच्यादिषु तदधिदेवतात्वेन अवस्थिताय चन्द्राय चन्द्रमसे तत्रत्याः सर्वे जनाः समनमन् प्रह्वीभवन्ति । स आर्ध्नोत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

पूर्व आदि दिशाओंमें अधिपतिरूपसे स्थित चन्द्रमासे सब प्रजायें प्रसन्न होती हैं चन्द्रदेव उन दिशाओंमें रहनेवाले प्राणियों से वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे दिशाओंमें प्रजायें चन्द्रमासे प्रसन्न हो उनके पास जाती हैं, इसी प्रकार फलोंकी प्राप्तियें मुझको प्राप्त हों ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।

ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

दिशः । धेनवः । तासाम् । चन्द्रः । वत्सः ।

ताः । मे । चन्द्रेण । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

आयुः । प्रथमम् । प्रऽजाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

दिशः प्राच्याद्या अभिमतफलप्रदानाद् धेनवः दोग्ध्र्यो गावः । तासाम् अधिपतित्वेन संनिहितः चन्द्र एव वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

दिशायें धेनु हैं, चन्द्रमा उनका बछड़ा है, वे दिशारूप धेनुएँ चन्द्रमारूपी बछड़ेके द्वारा बलप्रद अन्नरसको तथा पुत्र पशु आदि में प्रथम प्रार्थनीय आयुको, सब पदार्थोंकी पुष्टिको और गौ आदि धनको दें, यह हवि स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥ ९ ॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्रऽविष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।

नमःऽकारेण । नमसा । ते । जुहोमि । मा । देवानाम् । मिथुया । कर्म । भागम् ॥ ९ ॥

अग्नौ लौकिके अङ्गारात्मके देवतारूपः अग्निः मन्त्रसामर्थ्येन प्रविष्टः सन् चरति वर्तते । यद्वा मथितः अग्निः आहवनीये अग्नौ प्रविष्टश्चरति । स विशेष्यते । ऋषीणाम् द्रष्टॄणां चक्षुरादीनां पुत्रः । तद्व्यापारेण मथनात्मना जातत्वात् । "प्राणा वा ऋषयः" [बृ० आ० २. २. ५] इति वाजसनेयकम् । यद्वा ऋषीणाम् मन्त्राणाम् अभिमन्त्रिणां पुत्रः । अथवा अथर्वाङ्गिरःप्रभृतीनाम् ऋषीणां

पुत्रः । "त्वाम् अग्ने पुष्कराद् अध्यथर्वा निरमन्थत" इति हि निगमः [ऋ० ६. १६. १३] । अभिशस्तिपाः अभिशस्तेः अभिशस्यमानाद् आरोपितात् पापात् पालयिता । उशब्दः पूरणः । ईडशाय ते तुभ्यं नमस्कारेण त्रिविधा करणानां मद्रीकरणेन त्वद्विषयसमर्पणेन नमसा । अन्ननामैतत् । हविर्लक्षणेन अन्नेन जुहोमि । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति कर्मणि तृतीया ❀ । नमस्कारसहितं हविर्जुहोमीत्यर्थः । तथा च देवानां भागम् हविर्भागं मिथुया मिथ्या मा कर्म मा कार्ष्म । ❀ कृञो माङि लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ॥

लौकिक अंगारात्मक अग्निमें देवतारूप अग्नि मन्त्रसामर्थ्यसे प्रविष्ट होकर रहते हैं व चक्षु आदि ऋषियोंके पुत्र हैं ‡ अग्निमन्थनके मन्त्रोंके पुत्र और अथर्वा अंगिरा आदि ऋषियोंके पुत्र हैं † और आरोपित अपवादसे बचाने वाले हैं ऐसे आपको हम नमस्कारयुक्त हवि देते हैं देवताओंका हविर्भागको हम मिथ्या नहीं करते हैं ॥ ९ ॥

दशमी ॥

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥

‡ बृहदारण्यक २ । २ । ५ में लिखा है, कि–"प्राणा वा ऋषयः ॥–चक्षु आदि प्राण ही ऋषि हैं" ॥

† ऋग्वेदसंहिता ६ । १६ । १३ में कहा है, कि–"त्वां अग्ने पुष्कराद् अध्यथर्वा निरमन्थत ॥–हे अग्ने ! आपको अथर्वाने पुष्करसे मथा है" ॥

हृदा । पूतम् । मनसा । जातऽवेदः । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् ।

सप्त । आस्यानि । तव । जातऽवेदः । तेभ्यः । जुहोमि । सः । जुषस्व । हव्यम् ॥ १० ॥

हृदा हृदयेन मनसा तदन्तर्वर्तिज्ञानकरणेन पूतम् शुद्धं हविस्तुभ्यं जुहोमि । हे जातवेदः जातानां वेदितः हे देव दानादिगुणयुक्त अग्ने विश्वानि सर्वाणि वयुनानि । वयुनम् इति ज्ञाननाम । इह तु ज्ञातव्ये वर्तते । ❀ वयुनं वेतेः इति यास्कः [नि० ५.१४]❀ । सर्वाणि ज्ञातव्यानि विद्वान् जानन् भवसि । हे जातवेदः तव सप्त आस्यानि सप्तसंख्याका जिह्वाः । ताश्च उपरत्र उपनिषदि आम्नायंते। काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचीति चैताः लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ इति [मु० १. २. ४.] । तेभ्य आस्येभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । तेषाम् उद्घाटनाय आज्यं जुहोमि । प्रक्षिपामीत्यर्थः । स त्वं हव्यम् होतव्यम् अस्मदीयं हविः जुषस्व सेवस्व ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे प्रत्येक उत्पन्न हुओंको जानने वाले दानादिगुणसंपन्न अग्निदेव ! आप सब ज्ञातव्य बातोंको जान लेते हैं, हे जातवेदा अग्ने ! आपकी मुख रूप सात जिह्वायें हैं+ मैं उन सातों मुखों

+ मुण्डकोपनिषत् १ । २ । ४ में कहा है, कि–"काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिंगिनी विश्वरुचीति चैता लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः ॥–अर्थात् अग्निदेवकी काली कराली, मनके समान वेग वाली मनोजवा, परम लाल सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुचि नाम वाली हविके लिये लपलपाती रहने वाली सात जिह्वायें हैं" ।

को खोलनेके लिये हृदयसे और उसके भीतर रहने वाले अन्तःकरणमनसे पवित्र घृतकी आहुति देता हूं ॥ १० ॥

चतुर्थं सूक्तं समाप्तं (१४१) ॥

"ये पुरस्तात्" इति सूक्तस्य "दूष्या दूषिरसि [२. ११] ये पुरस्तात् [४. ४०] ईशानां त्वा [४. १७]" इत्यादिकृत्याप्रतिहरणगणे [कौ० ५. ३] पाठात् कृत्यानिर्हरणकर्मणि शान्त्युदकादौ विनियोगः ॥

'ये पुरस्तात्' इस सूक्तका कौशिकसूत्र ५ । ३ में कहे हुए "दूष्यादूषिरसि (२ । ११) ये पुरस्तात् (४ । ४०) ईशानां त्वा (४ । १७) इत्यादि" कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ होनेसे कृत्यानिर्हरणकर्मके शान्त्युदक आदिमें विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

ये । पुरस्तात् । जुह्वति । जातऽवेदः । प्राच्याः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।
अग्निम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ १ ॥

हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां वेदितरग्ने ये शत्रवः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि । यद्वा पूर्वस्या दिशः सकाशात् । ॐ "पूर्वा-

परावराणाम्०" इति अधिकृत्य पञ्चम्यर्थे सप्तम्यर्थे वा "अस्ताति च" इति अस्तातिप्रत्ययः ❀। जुहृति होमेन अस्मान् अभिचरन्ति तस्मात् होमात् प्राच्या दिशः सकाशाद् अस्मान् अभिदासन्ति उपक्षपयन्ति हिंसन्ति। ❀ दसु उपक्षये। अस्मात् ण्यन्तात् परस्य शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀। ते शत्रवः तस्या दिशः अधिपतिम् अग्निम् ऋत्वा गत्वा अग्नौ निपतिताः पराञ्चः पराङ्मुखाः अस्मदनभिमुखाः सन्तो व्यथन्ताम् व्यथिताः संतप्ताः मद्ग्धा भवन्तु। ❀ व्यथ भयचलनयोः ❀। एनान् अभिचरितॄन् शत्रून् प्रतिसरेण। प्रतिसरति प्रतिमुखं निवर्तते आभिचारिकं कर्म अनेनेति प्रतिसरः। [प्रतिसर] शब्देन एतद् रक्षाकर्म विवक्षितम्। तेन प्रत्यक् प्रतिमुखं निवृत्तेन तदीयेनैव अभिचारकर्मणा तान् हन्मि हिनस्मि। यद्वा अभिचारकर्मणा उत्पादिताम् एनां कृत्याम् अनेन प्रतिसरेण रक्षाकरणेन प्रतीचीनं निवर्त्य नाशयामीत्यर्थः॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने! जो शत्रु पूर्वदिशामें होम कर उस अभिचारहोमके द्वारा हमको पूर्व दिशासे नष्ट करना चाह रहे हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति अग्निके पास जाकर अर्थात् अग्निमें गिर कर अत एव हमसे पराङ्मुख होकर व्यथित हो-भस्म होजावें। इन अभिचार कर्म करने वाले शत्रुओं को मैं इस प्रतिसर (उलट कर कर्ताको ही लगाने वाले अतः अपनी रक्षा करने वाले) कर्मसे नष्ट करता हूँ अथवा अभिचार कर्मसे उत्पन्न की हुई इस कृत्याको इस प्रतिसर कर्मके द्वारा उलटा कर मरता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

ये द॒क्षिण॒तो जु॒ह्वति॒ जात॑वेदो॒ दक्षि॑णाया दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान्।

यमम्रृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

ये । दक्षिणतः । जुह्वति । जातऽवेदः । दक्षिणायाः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

यमम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ २ ॥

ये शत्रवो दक्षिणतः अस्मदावासस्थानाद् दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणस्या दिशो वा अवस्थिता जुह्वति होमेन अस्मान् अभिचरन्ति । ❀ "दक्षिणाचराभ्याम् अतसुच्" । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । जुह्वतीति । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀ । दक्षिणाया दिश इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् । अग्निम् इत्यस्य स्थाने दक्षिणदिशः अधिपतिं यमम् इत्येतावानेव विशेषः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु हमारे निवासस्थानकी दक्षिण दिशामें स्थित होकर होम करके उस अभिचार होमके द्वारा हम को दक्षिण दिशासे क्षीण करना चाह रहे हैं, वे शत्रु उस दिशा के अधिपति यमके पास जाकर व्यथित होवें, अभिचारकर्म करने वाले इन शत्रुओंको मैं प्रतिसरकर्मसे नष्ट करता हूँ वा अभिचारोत्पन्न कृत्याको मैं प्रतिसरकर्मसे नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ३ ॥

ये । पश्चात् । जुह्वति । जातऽवेदः । प्रतीच्याः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

वरुणम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ३ ॥

पश्चात् प्रतीच्यां दिशि ये शत्रुजना अस्मदभिचारार्थं जुह्वति । ❀ "उपर्यु परिष्टात्" "पश्चात्" इति सप्तम्यर्थे निपात्यते ❀ । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् । प्रत्यग्दिशोधिपतिं वरुणम् ऋत्वा इति तु विशेषः ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु पश्चिम दिशामें स्थित होकर अभिचारहोम करके हमको पश्चिम दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु पश्चिमदिशाके अधिपति वरुणके पास जाकर व्यथित हों अत एव हमसे पराङ्मुख हो जावें, इन अभिचारकर्म करनेवाले शत्रुओंको मैं रक्षाकर प्रतिसर कर्मसे नष्ट करता हूँ, अभिचारोत्पन्न कृत्याको प्रतिसर कर्मसे नष्ट करता हूँ ३

चतुर्थी ॥

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥

ये । उत्तरतः । जुहति । जातऽवेदः । उदीच्याः । दिशः ।

अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

सोमम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ४ ॥

ये शत्रवः उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि । ❀ पूर्ववद् अतसुच् ❀ । अन्यद् व्याख्यातप्रायम् । सोमम् तद्दिशोधिपतिम् ऋत्वा इति अत्र विशेषः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु उत्तर दिशामें होम कर उस अभिचारहोमके द्वारा हमको उत्तर दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति सोमके पास पहुँच कर व्यथित हों, और हमसे पराङ्मुख होवें, इन शत्रुओंको मैं रक्षा कर प्रतिसरकर्मसे नष्ट करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ये३धस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासंन्त्यस्मान् ।

भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ५ ॥

ये । अधस्तात् । जुह्वति । जातऽवेदः । ध्रुवायाः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

भूमिम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ५ ॥

ये शत्रवः अधस्तात् अधरायां दिशि । ❀ पूर्ववद् अधरशब्दाद् अस्तातिप्रत्ययः ❀ । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् । सैव अधरा

दिक् पृथिव्यात्मना स्थिरत्वाद् ध्रुवेत्युच्यते। अधराया दिश इत्यर्थः। तस्या दिशो भूमिरेवाधिदेवतेति तां प्राप्य व्यथिता भवंत्वित्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने! नीचेकी ध्रुव दिशामें स्थित होकर जो शत्रु अभिचारहोम कर उस होमके द्वारा नीचेकी ध्रुव दिशासे हमको नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस नीचे की ध्रुव दिशाके अधिपति भूमिको प्राप्त हो व्यथित होते हुए हम से पराङ्मुख होजावें, उन शत्रुओंको मैं प्रतिसर कर्मके द्वारा क्षीण करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ६ ॥

ये । अन्तरिक्षात् । जुह्वति । जातऽवेदः । विऽअध्वायाः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।
वायुम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ६ ॥

अन्तरा द्यावापृथिव्यावीक्षितम् अन्तरा क्षान्तं वा यक्षगन्धर्वादिगणसेवितम् अवकाशात्मकम् अन्तरिक्षम्। ❀ सप्तम्यर्थे पञ्चमी ❀। अन्तरिक्षलोके ये शत्रवो जुह्वतीत्यादि पूर्ववद् योज्यम्। ❀ व्यध्वाया दिश इति। विगता अध्वानो यस्याम् इति व्यध्वा। "उपसर्गाद् अध्वनः" इति अच् समासान्तः ❀। तत्र संचरन् वायुस्तस्याधिदेवतेति वायुम् ऋत्वा इत्युक्तम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! द्यावापृथिवीके मध्यमें अवकाशरूपसे स्थित अंतरिक्षलोकमें अभिचाराहुति दे जो शत्रु उस अभिचारकर्मसे हम को उस विगतमार्ग अंतरिक्ष दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति वायुके समीप पहुँचकर व्यथित होकर हमसे पराङ्मुख होजावें, उन शत्रुओंको मैं प्रतिसर कर्मसे नष्ट करता हूँ ६

सप्तमी ॥

य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् ।

सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ७ ॥

ये । उपरिष्टात् । जुह्वति । जातऽवेदः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

सूर्यम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ७ ॥

ये शत्रवः उपरिष्टात् ऊर्ध्वायां दिशि द्युलोकवर्तिन्यां जुह्वति अस्मान् अभिचरन्तीत्यादि पूर्ववत् । द्युलोकस्योर्ध्वदिगधिपतिं सूर्यम् ऋत्वा इत्येतावानेव विशेषः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु द्युलोकमें व्याप्त ऊपरकी दिशामें अभिचाराहुति देकर हमको ऊपरकी दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु द्युलोकमें स्थित ऊपरकी दिशाके अधिपति सूर्यमें पहुँचकर व्यथित हों अत एव हमसे विमुख होजावें, उन शत्रुओंको मैं प्रतिसर कर्मके द्वारा नष्ट करता हूँ ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुहति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् ।

ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि

ये । दिशाम् । अन्तःऽदेशेभ्यः । जुहति । जातऽवेदः । सर्वाभ्यः ।

दिक्ऽभ्यः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

ब्रह्म । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

प्रतिऽसरेण । हन्मि ॥ ८ ॥

हे जातवेदः ये शत्रवः दिशाम् प्राच्यादीनाम् उक्तानाम् अन्तर्देशेभ्यः अन्तरालदेशेभ्यः सकाशात् अस्मदभिचारार्थं जुहति ये च ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः अस्मान् अभिदासन्ति उपक्षपयन्ति ते सर्वे पराञ्चः पराङ्मुखाः कुण्ठितशक्तयः सन्तः ब्रह्म सर्वगतं भूतभौतिकप्रपञ्चकल्पनास्पदम् "महद् भयं वज्रम् उद्यतम्" [क० उ० ६. २] "भीषास्माद् वातः पवते" [तै० आ० ८. ८. १] इत्यादिश्रुत्यन्तप्रसिद्धनियमनशक्तियुक्तं परं ब्रह्म ऋत्वा प्राप्य व्यथन्ताम् व्यथिताः संतप्ता भवन्तु । एनान् शत्रून् प्रतिसरेण अनेन रक्षाकर्मणा प्रत्यक् प्रतीचीनं हन्मि ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

श्रीमद्राजाधिराज–परमेश्वर–श्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्य-धुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये चतुर्थकाण्डे अष्टमोऽनुवाकः ॥

समाप्तश्चतुर्थः काण्डः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु पूर्वोक्त पूर्व आदि दिशाओंके कोणोंसे हमारे ऊपर अभिचार करनेके लिये होम करते रहते हैं और उन दिक्कोणोंसे हमको क्षीण करते हैं, वे सब शत्रु कुण्ठित शक्ति वाले हों अत एव हमसे पराङ्मुख होकर सर्वगत भूत-भौतिक प्रपञ्चकी कल्पनाके स्थान 'भीषास्माद् वातः पवते—इस ब्रह्मके भयसे वायु चलता है' (तैत्तिरीय आरण्यक ८ । ८ । १) तथा महद् भयं वज्रमुद्यतम्—बड़ा वज्ररूप भय उत्पन्न हुआ है (कठवल्ली ६ । २) इत्यादि भयोंके अन्तमें प्रसिद्ध सबको वश में रखनेकी शक्ति वाले परब्रह्मको प्राप्त होकर व्यथित होवें । इन शत्रुओंको मैं इस रक्षाकर प्रतिसर कर्मसे उलटा मारता हूँ ॥८॥

अथर्ववेदसंहिताके चतुर्थकाण्डके प्रथम अनुवाकमें

पञ्चम सूक्त समाप्त (१४२) ॥

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका चतुर्थकाण्ड श्रा० कु०

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक श्रा० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

वैदिक-संहिता

- ☆ **ऋग्वेद संहिता।** मूलमात्र (गुटका)
- ☆ **ऋग्वेद संहिता।** मूलमात्र।
- ☆ **ऋग्वेद संहिता।** भाषामात्र। रामगोविन्द त्रिवेदी
- ☆ **ऋग्वेद संहिता।** सायणाचार्य कृत भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित। 1-8 भाग सम्पूर्ण
- ☆ **ऋग्वेद संहिता।** (प्रथम अध्याय, सूक्त 1-19) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक-प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
- ☆ **शुक्लयजुर्वेद संहिता।** मूलमात्र (गुटका)
- ☆ **शुक्लयजुर्वेद संहिता।** सम्पा. श्री दी[illegible]
- ☆ **शुक्लयजुर्वेद संहिता।** मूलमात्र। ([illegible] स्करण)
- ☆ **शुक्लयजुर्वेद संहिता।** पदपाठ-उव्वट [illegible] समन्वित तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. रामकृ[illegible]
- ☆ **सामवेद संहिता।** मूलमात्र (गुटका)
- ☆ **सामवेद संहिता।** सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप शर्मा 'गौड' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित।
- ☆ **अथर्ववेद संहिता।** मूलमात्र (गुटका)
- ☆ **अथर्ववेद संहिता।** सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप 'गौड' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। 1-8 भाग

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता
सैव
हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च
पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

चैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ६

व्याख्याकार सम्पादक

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१-८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं: 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 3

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 0542-2420404
e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Reprint Edition 2007

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

Printed at Ratna Offsets Ltd.
Kamachha, Varanasi

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

—०—

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

पञ्चम-काण्ड

भाषानुवाद-सहित

पञ्चमे काण्डे षडनुवाकाः । तत्र प्रथमेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अधद्मन्त्रः" "तदिद् आस" इति सूक्ताभ्यां हस्तिपृष्ठे पुरुषशिरसि वा निहितायाम् आश्वत्थ्यां पात्र्यां त्रिहति गोमयपरिचये अग्निं प्रज्वाल्य आज्यम् जुह्वत् शत्रून् अभिक्रामति संग्रामजयकामः ।

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि वराहखातमृत्तिकाम् आनीय राजानो वेदिं कुर्वन्ति । तथा पुरोधा आभ्यां सूक्ताभ्याम् आज्यं सक्तूंश्च जुहुयात् । धनुरिध्मे तन्त्रे धनुःसमिधः इष्विध्मे तन्त्रे इषुसमिधश्च आदधाति। अपि च धनुः संपातवद् विसृज्य अभिमंत्र्य राज्ञे प्रयच्छति

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि युद्धे एकबाणेन मृतस्य पुरुषस्य इध्मम् उपसमाधाय उपरि चक्रं धारयित्वा दीर्घदण्डेन स्रुवेण आभ्यां चक्रच्छिद्रे अग्नौ आज्यं जुहोति । उत्तिष्ठ संनह्य प्रहर युध्यस्वेत्यादिकां प्रोत्साहनवाचं श्रुत्वा युद्धे योजयेत् ॥

"यदि चिन्नु त्वा" [५. २. ४] इति ऋचं परसैनिकान् अनुब्रूयात् ॥

एतेषां कर्मणां विकल्पः । कृतैरवश्यं जयो भवति ॥ राजा वैश्यश्चेद् उक्तानि कर्माणि "यदि चिन्नु त्वा" [५. २. ४] इति ऋचा कार्याणि । जयकामः सेनापतिश्चेद् उक्तान्येव कर्माणि "त्वया वयम्" [५. २. ५] इत्येकया ऋचा कार्याणि । युद्धयोग्यत्व-

परीक्षणकर्मणि "नि तद् दधिषे" [५. २. ६] इति ऋचा उद-पात्रम् अभिमन्त्र्य तस्मिन् द्वौ द्वौ योद्धारौ राजा अवेक्षयेत् । तयो-र्मध्ये यं यं न पश्येत् तं तं युधि न योजयेत् ॥ "नि तद् दधिषे" इति ऋचा नवे रथे ससारथिं राजानम् आस्थापयति ॥

सूत्रितं हि । "ऋधङ्मन्त्रस्तदिदासेत्याश्वत्थ्यां पात्र्यां त्रिष्टति गोमयपरिचये हस्तिपृष्ठे पुरुषशिरसि वाऽमिश्रान् जुहद् अभिक्रम्य निवपति । वराहविहिताद् राजानो वेदिं कुर्वन्ति । तस्यां मदाना-न्तानि । एकेष्वा हतस्यादहन उपसमाधाय दीर्घदण्डेन स्रुवेण रथ-चक्रस्य खेन समया जुहोति । योजनीयां श्रुत्वा योजयेत् । यदि चिन्नु त्वा [५. २. ४] नमो देववधेभ्यः [६. १३] इत्यन्वाह" इत्यादि [कौ॰ २. ६] ॥

तथा पुष्टिकर्मसु आभ्यां सूक्ताभ्यां मैश्रधान्यं भ्रष्टपिष्टं सक्तुम् अजालोहितमिश्रितं रस मिश्रितंच संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा तेष्वेव कर्मसु आभ्यां सूक्ताभ्यां त्रिषु उदुम्बरचमसेषु सत्त्वचमसेषु वा मैश्रधान्यं प्रक्षिप्य रसांश्च संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् । तत्र सूत्रोक्तमन्त्रैः पूर्वाह्नमध्याह्नापराह्नकाले एकैकचम-सभक्षणम् ॥

तथा तत्रैव कर्मसु आभ्यां सूक्ताभ्यां ऋतुमत्याः स्त्रियाः लोहितं रसमिश्रितं कृत्वा संपात्याभिमन्त्र्य प्रादेशिनीमध्यमांगुलिभ्यां प्राश्नीयात् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "ऋधङ्मन्त्रस्तदिदासेति मैश्रधान्यं भृष्ट-पिष्टं लोहितालंकृतं रसमिश्रम् अश्नाति । अभृष्टं सत्त्वोदुम्बरस्यो-त्तरतोग्नेस्त्रिषु चमसेषु पूर्वाह्णस्य तेजसाग्रम् अन्नस्य प्राशिषम् इति पूर्वाह्णे । मध्यन्दिनस्य तेजसा मध्यम् अन्नस्य प्राशिषम् इति मध्य-न्दिने । अपराह्णस्य तेजसा सर्वम् अन्नस्य प्राशिषम् इत्यपराह्णे । ऋतुमत्याः स्त्रियाः अंगुलिभ्यां लोहितम्" इति [कौ॰ ३. ५]॥

तथा क्षेत्रं कामयमानः काम्यमाने क्षेत्रे आभ्यां सूक्ताभ्यां भक्तं दधिमधुमिश्रं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात्। तद् उक्तं कौशिकेन। "यत् क्षेत्रं कामयते तस्मिन् कीलालं दधिमधुमिश्रम्" [कौ० ३. ५] इति॥

तथा सप्तग्रामलाभकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तद् उक्तं कौशिकेन। "संवत्सरं स्त्रियम् अनुपेत्य शुक्ल्यां रेत आनीय तण्डुलमिश्रम्" इति [कौ० ३. ५]। संवत्सरं ब्रह्मचर्यं कृत्वा ततो मैथुनं कृत्वा रेतस्तण्डुलमिश्रं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नातीति तस्यार्थः॥

तथा समृद्धिकर्मण्यपि विनियुज्यते सूक्तद्वयम् एतत्। "निशायाम् आग्रयणतण्डुलान् उदकुम्भ्यां मधुमिश्रान् निदधाति आ यवानां पक्तेः। एवं यवान् उभयान् समोप्य। त्रिवृति गोमयपरिचये भृतम् अश्नाति" इति [कौ० ३. ५]। शरदि व्रीहितण्डुलान् मधुमिश्रितांश्चर्मभाण्डे निधाय निखन्यात् आ यवपचनमासात्। तथैव यवपचनतौ यवानपि तादृश एव भाण्डे व्रीहिपचनकालपर्यन्तं निधाय निखन्यात्। अनन्तरं उभयान् मिश्रीकृत्य त्रिगुणिते गोमयपरिचये श्रपयित्वा संपात्याभिमन्त्र्य अश्नातीति तस्यार्थः॥

तथा गर्भदृंहणकर्मणि "ऋधङ्मन्त्रः" इति सूक्तस्य प्रथमाया ऋचो विनियोगः। स च "यथेयं पृथिवी मही" [६. १७] इति सूक्तस्य प्रस्तावनायाम् अनुसन्धेयः।

पञ्चम काण्डमें छः अनुवाक हैं। प्रथमकाण्डमें पाँच सूक्त हैं। संग्राममें विजय चाहनेवाला "ऋधङ्मन्त्रः" और "तदिद् आस" इन दो सूक्तोंसे हाथीकी पीठ वा पुरुषके शिर पर रक्खी हुई पीपलकी पात्रीमें तीन गोलाईवाले गोबरके समूहमें अग्निको प्रज्वलित कर घृतकी आहुति देता हुआ शत्रुओं पर धावा करे।

तथा राजे लोग इसी कर्ममें वराहकी खोदी हुई मृत्तिकाको लाकर

वेदी बनाते हैं। तदनन्तर पुरोहित इन दोनों सूक्तोंसे घृत और सत्तुओं की आहुति देय। जिसमें धनुषरूपी ईंधन प्रधान हो उसमें धनुषरूपी समिधाओंको और बाणरूपी ईंधन जिसमें प्रधान हो उसमें बाणरूपी समिधाओंको रक्खे। तथा पुरोहित सम्पातवाले धनुषका मार्जन कर अभिमन्त्रित कर राजाको देवे।

तथा इसी कर्ममें युद्धमें एक बाणसे मरे हुए पुरुषका ईंधन रख कर ऊपर चक्रको रक्खे फिर इन दोनों सूक्तोंको पढ़ता हुआ लम्बे दण्डवाले स्रुवेसे चक्रके छिद्रमेंको अग्निमें घृतकी आहुति देय। और उठो, तयार हो, प्रहार करो और लड़ो आदि प्रोत्साहनके वचनोंको सुन कर युद्धमें लगा देय।

"यदि चिन्नु त्वा" इस पञ्चमकाण्डके प्रथम अनुवाकके द्वितीय सूक्तकी चतुर्थी ऋचाको शत्रुके सैनिकोंसे कहे।

इन कर्मोंमें विकल्प है। इनके करने पर विजय अवश्य ही होती है। यदि राजा वैश्य हो तो पूर्वोक्त कर्मोंको "यदि चिन्नु त्वा" इस ऋचासे कराना चाहिये। विजय चाहने वाला सेनापति हो तो पञ्चमकाण्डके द्वितीय सूक्तकी 'त्वया वयम्' इस एक पाँचवीं ऋचासे ही पूर्वोक्त कर्म करने चाहियें। यह युद्धके योग्य है अथवा नहीं इसकी परीक्षाके कर्ममें "नि तद् दधिषे" इस पञ्चमकाण्डके द्वितीय सूक्तकी छठी ऋचासे जलपूर्ण पात्रका अभिमन्त्रण कर उसमें दो दो योधाओंको राजा देखे। उनमेंसे जिस २ को न देखे उसको युद्धमें न लगावे। और 'नि तद् दधिषे' इस ऋचासे नवीन रथमें सारथिसहित राजाको बैठावे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ऋधङ्मन्त्रस्तदिदासेत्याश्वत्थ्यां पात्र्यां त्रिवृति गोमयपरिचये हस्तिपृष्ठे पुरुषशिरसि वाऽमित्रान् जुहद् अभिक्रम्य निवपति। वराहविहिताद् राजानो वेदिं कुर्वन्ति। तस्यां प्रदानान्तानि। एकेष्वा हतस्यादहन उप-

समाधाय दीर्घदण्डेन स्रुवेण रथचक्रस्य खेन समय जुहोति। योजनीयां श्रुत्वा योजयेत्। यदि चिन्नु त्वा (५ । २ । ४) नमो देववधेभ्यः (६ । १३) इत्यन्वाह" (कौशिकसूत्र २ । ६)।

तथा पुष्टिकर्ममें इन दोनों सूक्तोंसे मैश्रधान्य, पकी हुई पिट्ठी, और अजालोहितमिश्रित तथा रसमिश्रित सत्तुओंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे ।

तथा इन्हीं कर्मोंमें इन दोनों सूक्तोंसे तीन (उदुम्बर) गूलड़के चमसों (खानेके पात्रों) में वा पिलखनके चमसोंमें †मैश्रधान्यको डाल रसों ‡ को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके भक्षण करे और तहाँ सूत्रमें + कहे हुए मन्त्रोंसे पूर्वाह्न मध्याह्न और अपराह्नकालमें एक २ चमसको खावे ।

तथा तहाँ ही इन कर्मोंमें इन दोनों सूक्तोंसे ऋतुमती स्त्रीके रक्तको रसमिश्रित कर सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्रादेशिनी (अँगूठेके पासकी) अँगुली और मध्यमा (बीचकी) अँगुलियोंसे प्राशन करे ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"ऋधङ्मन्त्रस्तदिदासेति मैश्रधान्यं भ्रष्टपिष्टं लोहितालंकृतं रसमिश्रं अश्नाति । भ्रष्टं

† "व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—धान, जौ, गेहूँ, उपवाक, तिल और प्रियंगु (कङ्गनी) यह मिश्रधान्य कहलाते हैं" । (कौशिकसूत्र १ । ८)।

‡ कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि—'दधि घृतं मधूदकमिति रसाः ।—दही, घी, मधु और जल इनका नाम रस है" ॥

+ वे मन्त्र यह हैं, कि—'पूर्वाह्णस्य तेजसाग्रं अन्नस्य प्राशिषम्' यह पूर्वाह्णका मन्त्र है। "मध्यन्दिनस्य तेजसा मध्यं अन्नस्य प्राशिषम्" यह मध्याह्नका मन्त्र है। और "अपराह्णस्य तेजसा सर्वं अन्नस्य प्राशिषम्" यह अपराह्नका मंत्र है । ये सब सूत्रोक्त मंत्र हैं

सत्वोदुम्बरस्योत्तरतोऽग्नेस्त्रिषु चमसेषु पूर्वाह्णस्य तेजसाग्रं अन्नस्य प्राशिषम् इति पूर्वराह्णे । मध्यन्दिनस्य तेजसा मध्यं अन्नं प्राशिषं इति मध्यन्दिने अपराह्णस्य तेजसा सर्वं अन्नं प्राशिषं इत्यपराह्णे ऋतुमत्याः स्त्रिया अंगुलिभ्याम् लोहितम् ॥

तथा खेतको चाहने वाला अभिलषित क्षेत्रमें इन दोनों सूक्तों से दही और मधु मिले हुए भक्त (भात) को सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे, इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि "यत् क्षेत्रं कामयते तस्मिन् कीलालं दधिमधुमिश्रं" (कौशिकसूत्र ३ । ५) ॥

तथा सम्ग्रामलाभकर्ममें इस सूक्तका विनियोग है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'सम्वत्सरं स्त्रियं अनुपेत्य शुक्तयां रेत आनीय तण्डुलमिश्रम्' (कौशिकसूत्र ३ । ५) । इसका अर्थ यह है, संवत्सर तक ब्रह्मचर्य रख तदनन्तर मैथुन कर वीर्यको चावलों में मिला कर सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा समृद्धिकर्ममें भी इन दोनों सूक्तोंका विनियोग होता है। 'निशायां आग्रयणतण्डुलान् उदङ्कयां मधुमिश्रान् निदधाति आ यवानां पक्तेः । एवं यवान् उभयान् समोप्य । त्रिवृति गोमयपरिचये शृतं अश्नाति ।" (कौशिकसूत्र ३ । ५) । इसका अर्थ यह है, कि–मधुमिश्रित धान और चावलोंको चर्मके पात्रमें रख कर जौं पकने तक दाब देय । इसी प्रकार जौंके पकनेकी ऋतुमें जौंको भी वैसे ही पात्रमें धानोंके पकनेके समय तक खोद कर दावे रक्खे । तदनन्तर दोनोंको मिला कर तिगुने गोवरके ढेरमें औटा कर सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे ।

तथागर्भको दृढ़ करनेके प्रयोगमें इस सूक्तकी प्रथम ऋचा "स्तम्भङ्मन्त्रः" का विनियोग होता है । उसको 'यथेयं पृथिवी' इस छठे काण्डके सत्रहवें सूक्तकी प्रस्तावनामें खोजना चाहिये ।

ऋधङ्मंत्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि १

ऋधक्ऽमन्त्रः। योनिम्। यः। आऽबभूव। अमृतऽअसुः। वर्धमानः। सुऽजन्मा।
अदब्धऽअसुः। भ्राजमानः। अहाऽइव। त्रितः। धर्ता। दाधार। त्रीणि॥ १॥

जो दिनकी समान प्रकाशित रहता है, और तीनों लोकोंका पालक और रक्षक है, जिसने तीनों लोकों धारण किया है। वह अहिंसित प्राणवाला, अमरणशील प्राण वाला, सुन्दर जन्म लेकर (शरीररूपमें) बढ़नेवाला, समृद्धिसम्पन्न, मननशील (आत्मा) योनिमें प्रकट हुआ है॥ १॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत

आ। यः। धर्माणि। प्रथमः। ससाद। ततः। वपूंषि। कृणुषे। पुरूणि।
धास्युः। योनिम्। प्रथमः। आ। विवेश। आ। यः। वाचम्। अनुदिताम्। चिकेत॥ २॥

जो पहिला (जीवात्मा) धर्ममय कर्मोंको करता है तो बहुत से (श्रेष्ठ) शरीरोंको प्राप्त होता है। यह जो अस्पष्ट वाणीको

संज्ञाओंके द्वारा करता है, यह अन्नको चाहता हुआ (अन्नस्वरूप होकर) योनिको प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोनु स्वाः ।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥ ३ ॥

यः । ते । शोकाय । तन्वम् । रिरेच । क्षरत् । हिरण्यम् । शुचयः । अनु । स्वाः ।
अत्र । दधेते इति । अमृतानि । नाम । अस्मे इति । वस्त्राणि । विशः । आ । ईरयन्ताम् ॥ ३ ॥

जो आत्मा धर्मपालनसे कष्ट सहकर धर्मका प्रकाश फैलानेके लिये सुवर्ण (की समान) अपनी कान्तियोंको फैलाता हुआ तेरे शरीरमें प्रविष्ट हुआ है । (ऐसे धर्माचरण करने वालेके लिये द्यावापृथिवी) अमर नाम देते हैं (ऐसे पुरुषके लिये) प्रजाएँ वस्त्र देती हैं ॥ ३ ॥

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम् ।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम् ४

प्र । यत् । एते । प्रऽतरम् । पूर्व्यम् । गुः । सदःऽसदः । आऽतिष्ठन्तः । अजुर्यम् ।
कविः । शुषस्य । मातरा । रिहाणे इति । जाम्यै । धुर्यम् । पतिम् । आ । ईरयेथाम् ॥ ४ ॥

जो प्रत्येक स्थानमें बैठ बैठ, अजर, वर्णोंमें पहिले ब्राह्मणोंके हितकारी ईश्वरका चिन्तवन कर ईश्वरको प्राप्त होगए हैं (उनकी समान ही) इस बुद्धिमान् और बली राजाके माता पितारूप द्यावा-पृथिवीके अभिमानी देवता परमात्माकी स्तुति कर भगिनी (की समान हितैषिणी इस प्रजा) के लिये भारवहन करनेमें समर्थ इस पालक राजाको ही प्राप्त करावें ॥ ४ ॥

तद् षु ते महत् पृथुज्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि ।
यत् सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥ ५ ॥

तत् । ऊं इति । सु । ते । महत् । पृथुऽज्मन् । नमः । कविः । काव्येन । कृणोमि ।
यत् । सम्यञ्चौ । अभिऽयन्तौ । अभि । क्षाम् । अत्र । मही इति । रोधचक्रे इति रोधऽचक्रे । वावृधेते इति ॥ ५ ॥

क्योंकि—परमपूजनीय पृथ्वीको स्थिर रखनेवाले दो राजे चक्रकी समान गतिसे इस पृथ्वी पर बढ़ रहे हैं, इसकारण हे विशाल पृथ्वीके अभिमानी देवता ! मैं अथर्ववेदकी विद्यामें चतुर पुरुष अपनी शास्त्रकुशलतासे आपके लिये बड़े भारी अन्न आदिकी हवि देता हूँ ॥ ५ ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ

सप्त । मर्यादाः । कवयः । ततक्षुः । तासाम् । इत् । एकाम् ।
अभि । अंहुरः । गात् ।
आयोः । ह । स्कम्भः । उपमस्य । नीडे । पथाम् । विऽसर्गे ।
धरुणेषु । तस्थौ ॥ ६ ॥

हिरण्यगर्भ मनु आदि महानुभाव चतुर ऋषि आदिने चोरी गुरुकी दारासे गमन, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या सुरापान, पापकर्मका वारम्वार सेवन करना और पातक बन जाने पर झूँठ बोलना इन सातोंकी निषेधरूप † सात मर्यादायें सूक्ष्मविचार करके बाँधी हैं, जो इन मर्यादाओंमेंसे एक मर्यादाका भी उल्लंघन करता है वह पापी होता है (और जो इनका कभी उल्लंघन न करता हुआ इनका सदा पालन करता है वह), सूर्यदेवके मण्डलमें सब भूतों का उपनिर्माण करने वाले आदित्यके भीतर विराजमान पुरुषके स्थानमें जो महाप्रलयपर्यन्त धारण करने वाले स्थान हैं उनमें विषयोंके प्रवेशकी मार्गरूप इन्द्रियोंके त्यागनेके समय (मृत्युके समय) स्थित होता है ॥ ६ ॥

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१स्तत् सुमद्गुः
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत् सचते हविर्दाः ७

उत । अमृतऽअसुः । व्रतः । एमि । कृण्वन् । असुः । आत्मा ।
तन्वः । तत् । सुमत्ऽगुः ।
उत । वा । शक्रः । रत्नम् । दधाति । ऊर्जया । वा । यत् । सचते ।
हविःऽदाः ॥ ७ ॥

† इस मन्त्रके सम्बन्धमें निरुक्त ६ । २७ प्रमाण है ।

शरीरसे सम्बन्ध रखने वाला स्वयंप्रकाश, अमरणशील प्राण वाला व्रतधारी मैं प्राण (बल) को प्रकट करता हुआ (युद्ध में) आरहा हूँ । जो हविको देने वाला बलके साथ (युद्धका) सेवन करता है (उसको) इन्द्रदेव रत्न देते हैं ॥ ७ ॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्स्वस्तये ।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥

उत । पुत्रः । पितरम् । क्षत्रम् । ईडे । ज्येष्ठम् । मर्यादम् । अह्वयन् । स्वस्तये ।

दर्शन् । नु । ताः । वरुण । याः । ते । विऽस्थाः । आऽवर्व्रततः । कृणवः । वपूंषि ॥ ८ ॥

पुत्र अपने क्षतसे रक्षा करने वाले क्षत्रिय पिताकी पूजा करे और कल्याण पानेके लिये ज्येष्ठ मर्यादामय धर्मका आह्वान करे, हे वरुणदेव ! आपके जो अनेक स्थान हैं, उनको दिखाते हुए आप इस बारम्बार घूमने वाले संसारके प्राणियोंके शरीरोंको रचते हैं ॥ ८ ॥

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्त्यर्धेन शुष्म वर्धसे असुर ।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् ।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ९

अर्धम् । अर्धेन । पयसा । पृणक्ति । अर्धेन । शुष्म । वर्धसे । असुर । अविम् । वृधाम । शग्मियम् । सखायम् । वरुणम् । पुत्रम् । अदित्याः । इषिरम् ।

कवि॒ऽश॑स्तानि । अ॒स्मै॒ । वपूं॑षि । अ॒वो॒चा॒म॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ।

स॒त्यऽवा॑चा ॥ ९ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

अदितिके पुत्र गमनशील सुखके पात्र मित्र वरुणको हम (हवि के द्वारा) बढ़ाते हैं, हे किसीसे न घिरे हुए बलवान् वरुण ! आप इस बढ़े हुए सेनादलको आधे दुग्ध आदिसे बढ़ाते हैं और आधे (जल आदि भागसे) स्वयं बढ़ते रहते हैं हे द्यावापृथिवी के अभिमानी देवताओं ! चतुर ऋषियोंसे प्रशंसित (इन वरुण-देवके जल घृत दूध आदि) शरीरोंको हम इनसे (स्तुतिरूपमें) कहते हैं ॥ ९ ॥

पञ्चम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१४१) ॥

"तदिद् आस" इति सूक्तस्य विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥ तथा सर्वफलकामोऽनेन सूक्तेन इन्द्राग्नी यजते उपतिष्ठते वा । तद् उक्तं कौशिकेन । "तदिद् आस [५. २] धीती वा [७. १] इतीन्द्राग्नी ' इति [कौ० ७. १०] ॥

"तदिदास" सूक्तका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कहदिया तथा सब फलोंको चाहने वाला इस सूक्तसे इन्द्र और अग्नि-देवका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि 'तदिद् आस (५ । २) धीती वा (७ । १) इतीन्द्राग्नी इति (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः ।

स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒नन॑ु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒

विश्व॒ ऊमाः॑ ॥ १ ॥

तत् । इव । आस । भुवनेषु । ज्येष्ठम् । यतः । जज्ञे । उग्रः । त्वेष-

ऽनृम्णः ।

सद्यः । जज्ञानः । नि । रिणाति । शत्रून् । अनु । यत् । एनम् ।

मदन्ति । विश्वे । ऊमाः ॥ १ ॥

क्योंकि-यह इन्द्रदेव धनवान् और बलवान् हैं, इस कारण भुवनोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं, यह प्रकट होते ही शत्रुओंको मारने लगते हैं, इसी लिये इनके ऊमा (रक्षक सैनिक) इनके प्रकट होनेके साथ ही आनन्दमें भर जाते हैं ॥ १ ॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति

अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु २

वावृधानः । शवसा । भूरिऽओजाः । शत्रुः । दासाय । भियसम् ।

दधाति ।

अविऽअनत् । च । विऽअनत् । च । सस्नि । सम् । ते । नवन्त ।

प्रऽभृता । मदेषु ॥ २ ॥

महाबलवान् बलसे बढ़ता हुआ शत्रु दासोंको भय देता है। स्थावर और जङ्गम सारा जगत् (परब्रह्ममें) शयन करता है, अर्थात् लीन होजाता है, अतः भली प्रकार वेतन आदि देकर रक्खे हुए (सैनिक) हर्षके अवसर युद्धोंमें उस परमात्माकी स्तुति कर (युद्धमें प्रवृत्त होजा) ते हैं ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।

स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधु-

२

नाभि योधीः ॥ ३ ॥

त्वे इति । क्रतुम् । अपि । पृञ्चन्ति । भूरि । द्विः । यत् । एते ।
त्रिः । भवन्ति । ऊमाः ।
स्वादोः । स्वादीयः । स्वादुना । सृज । सम् । अदः । सु । मधु ।
मधुना । अभि । योधीः ॥ ३ ॥

जो यह जन्म और संस्कारसे दो वार उत्पन्न होते हैं और युद्धदीक्षा से तीन वार उत्पन्न होते हैं, ये बड़े भारी यज्ञको आप में संयुक्त करते हैं (ऐसे हे) स्वादिष्ट पदार्थोंको स्वादु बनाने वाले आप स्वादु पदार्थोंसे (इन योधाओंको) संयुक्त करिये। और हे सुन्दर जल वाले इन्द्र देव ! आप (योधाओंमें प्रविष्ट होकर) मधुर रीतिसे युद्ध करिये ॥ ३ ॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥

यदि । चित् । नु । त्वा । धना । जयन्तम् । रणेऽरणे । अनुऽमदन्ति । विप्राः ।
ओजीयः । शुष्मिन् । स्थिरम् । आ । तनुष्व । मा । त्वा । दभन् ।
दुःऽएवासः । कशोकाः ॥ ४ ॥

(पुरोहित राजाको लक्ष्य करके कहता है, कि—) प्रत्येक रण में धनोंको जीतने वाले आपकी ब्राह्मण यदि स्तुति करते हैं तो

हे बलवान्! आप उनमें स्थिर (घन रूप) बल फैलाइये, सुख में दुःख करने वाले अत एव दुर्गति पाने वाले पुरुष आपको प्राप्त न हों ॥ ४ ॥

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥

त्वया। वयम्। शाशद्महे। रणेषु। प्रऽपश्यन्तः। युधेन्यानि। भूरि।
चोदयामि। ते। आयुधा। वचःऽभिः। सम्। ते। शिशामि।
ब्रह्मणा। वयांसि ॥ ५ ॥

हम देखते २ आपके द्वारा युद्धोंमें बहुतसे दूसरे पक्षवालोंका संहार कराये डालते हैं, मैं अपने तपःसिद्ध वचनोंसे आपके आयुधों को प्रेरित करता हूँ और मन्त्रके द्वारा आपके पक्षीकीसी गति वाले बाणोंको तीक्ष्ण करता हूँ ॥ ५ ॥

नि तद् दधिषेवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ६

नि। तत्। दधिषे। अवरे। परे। च। यस्मिन्। आविथ।
अवसा। दुरोणे।
आ। स्थापयत। मातरम्। जिगत्नुम्। अतः। इन्वत। कर्व-
राणि। भूरि ॥ ६ ॥

जिसको श्रेष्ठ और साधारण प्राणियोंने धारण किया है और

जिस घरमें अन्नसे रक्षा पाई है उसमें चलती फिरती कालिका माता शक्तिको स्थापित करो, तदनन्तर अनेक विचित्र पदार्थों को इसमें लाओ ॥ ६ ॥

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

स्तुष्व । वर्ष्मन् । पुरुऽवर्त्मानम् । सम् । ऋभ्वाणम् । इनऽतमम् । आप्तम् । आप्त्यानाम् ।
आ । दर्शति । शवसा । भूरिऽओजाः । प्र । सक्षति । प्रतिऽमानम् । पृथिव्याः ॥ ७ ॥

हे शरीरधारिन् ! अनेक मार्गों (में विचरण करने) वाले परमतेजस्वी, श्रेष्ठ स्वामी, आप्त पुरुषोंके गुणोंको प्राप्तहुए (राजा की) स्तुति कर। यह पृथिवीकी प्रतिमारूप महाबलवान् राजा (युद्धभूमिको) दिखाता हुआ (युद्धमें) संलग्न होरहा है ॥७॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः ।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥ ८ ॥

इमा । ब्रह्म । बृहत्ऽदिवः । कृणवत् । इन्द्राय । शूषम् । अग्रियः ।
स्वःऽसाः ।

महः । गोत्रस्य । क्षयति । स्वऽराजा । तुरः । चित् । विश्वम् ।

अर्णवत् । तपस्वान् ॥ ८ ॥

स्वर्गका सेवन करनेकी इच्छावाला यह श्रेष्ठ राजा, महास्वर्ग के (अधिपति) इन्द्रके लिये इन बड़े २ स्तोत्रोंको करता हुआ (इन्द्रको) सुख (देता है) और स्वर्गका राजा शीघ्रता करने वाला तपस्वी इन्द्र मेघके जलका क्षय करता हुआ अर्थात् उसको बरसाता हुआ जगत्को जलपूर्ण (करता है) ॥ ८ ॥

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१मिन्द्रमेव स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥

एव । महान् । बृहत्ऽदिवः । अथर्वा । अवोचत् । स्वाम् । तन्वम् । इन्द्रम् । एव ।

स्वसारौ । मातरिभ्वरी इति । अरिप्रे इति । हिन्वन्ति । च । एने इति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥ ९ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अपने शरीरको इन्द्र मानते हुए परमप्रकाशवान् महर्षि अथर्वा ने इस प्रकार कहा था, कि—निष्पाप मातरिभ्वरी बहिनें इसको प्रसन्न करती हैं और बलसे बढ़ाती हैं ॥ ९ ॥

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१४४) ॥

दर्शपूर्णमासयोः समिदाधाने "ममाग्ने वर्चः" इति सूक्तस्य विनियोगः । तदुक्तं कौशिकेन । "ममाग्ने वर्च इति समिध आधाय" इति [कौ० १. १] ॥

तथा वर्चस्यकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । "पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि" इत्यादि [कौ० २. ३] सूत्रम् । एतद्विस्तरः "ये त्रिषप्ताः" इति सूक्ते [१. १] द्रष्टव्यः ॥

तथा पुष्टिकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तत्र "ममाग्ने वर्च इति सांत्रिकान्" इत्यादि सूत्रम् [कौ० ३. ५] ॥

तथा विभागकर्मणि कलहाभावम् इच्छन् पिता अनेन सूक्तेन तैलिकस्य रज्जुम् अभिमन्त्र्य धारयति हस्तेन । "ममाग्ने वर्च इति विशुङ्क्तमाणः प्रमन्तरज्जुं धारयति" [कौ० ५. २] इति सूत्रात् ॥ विशुङ्क्तमाणः विभागं करिष्यन् । प्रमन्तरज्जुश्चाक्रिकाणाम् अव-लम्बनरज्जुः ॥

तथा आभिचारिके कर्मणि अनेन सूक्तेन बृहस्पतिशिरसम् ओदनं पृषातकेनोपसिञ्चेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "ममाग्ने वर्च इति बृहस्पतिशिरसं पृषातकेनोपसिच्य" इति [कौ० ६. २] ॥

तथा "कौबेरीं धनकामस्य धनक्षये च" इति [न० क० १७] विहितायां कौबेर्यां महाशान्तौ एतत् सूक्तम् योजयेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "ममाग्ने वर्च इति कौबेर्याम्" इति [न० क० १८]॥

तथा हस्त्यश्वदीक्षाख्ये कर्मणि अनेन सूक्तेन जुहुयात् । तद् उक्तं परिशिष्टे । "ममाग्ने वर्चः इति जुहुयात्" [प० १६] इति ॥

अन्यत्रापि व्रतग्रहणादौ अस्य सूक्तस्य विनियोगः ॥

दर्श और पूर्णमास यागकी समिधाओंके आधानमें इस सूक्त का विनियोग है । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि– "ममाग्ने वर्च इति समिध आधाय" (कौशिक सूत्र १ । १)

तथा वर्चस्यकर्ममें इस सूक्तका विनियोग है । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'पूर्वस्य ममाग्ने वर्चस्यानि' (कौशिक सूत्र २ । ३) इसका विस्तार "ये त्रिषप्ताः" इस प्रथमकाण्डके प्रथम सूक्तमें देखना चाहिये ।

तथा पुष्टिकर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग है । कौशिकसूत्र ३ । ५ में कहा है, कि–'ममाग्ने वर्च इति सात्रिकान्' ।

तथा विभागकर्ममें कलहके अभावको चाहने वाला पिता इस सूक्तसे तैलिककी रस्सीका अभिमन्त्रण करके हाथसे धारण करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा, कि–'ममाग्ने वर्च इति विभुंचमाणः ममत्तरज्जुं धारयति' ।

तथा आभिचारिक कर्ममें बृहस्पतिशिरस ओदनको पृषातकसे सींचें। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'ममाग्ने वर्च इति बृहस्पतिशिरसं पृषातकेनोपसिच्य' (६ । २)। तथा 'कौबेरीं धनकामस्य धनक्षये च ॥–धनकी कामना वालेके धनक्षयमें कौबेरी महाशान्तिको करे ।" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित कौबेरी महाशान्तिमें इस सूक्तको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्प अठारहमें कहा है, कि–ममाग्ने वर्च इति कौबेर्याम्" ।

तथा हस्त्यश्वदीक्षा नाम वाले कर्ममें इस सूक्तसे आहुति देय। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि–'ममाग्ने वर्च इति जुहुयात्' (परिशिष्ट १६)। अन्यत्र व्रतग्रहण आदिमें भी इस सूक्तका विनियोग है।

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम ।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

मम॑ । अ॒ग्ने॒ । वर्चः॑ । वि॒ऽह॒वेषु॑ । अ॒स्तु॒ । व॒यम् । त्वा॒ । इन्धा॑नाः । त॒न्व॑म् । पु॒षे॒म॒ ।

मह्य॑म् । न॒म॒न्ता॒म् । प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः । त्वया॑ । अधि॑ऽअक्षेण । पृत॑नाः । ज॒ये॒म॒ ॥ १ ॥

हे अग्ने ! युद्धोंमें मेरा तेज प्रकट होवे, हम आपको प्रदीप्त करते हुए अर्थात् अग्निहोत्र आदि करते हुए अपने शरीरको पुष्ट करें। चारों दिशाएँ अर्थात् चारों दिशाओंमें रहने वाले प्राणी मुझसे नमें, आप अध्यक्ष (कृपापूर्ण दृष्टि रखने वाले) के द्वारा हम इस सेनाको जीतें ॥ १ ॥

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां त्वं नो गोपा परि पाहि विश्वतः ।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ २ ॥

अग्ने । मन्युम् । प्रतिऽनुदन् । परेषाम् । त्वम् । नः । गोपाः । परि । पाहि । विश्वतः ।
अपाञ्चः । यन्तु । निऽवता । दुरस्यवः । अमा । एषाम् । चित्तम् । प्रऽबुधाम् । वि । नेशत् ॥ २ ॥

हे अग्निदेव ! आप शत्रुओंके क्रोधको दूर करते हुए हमारी चारों ओरसे भली प्रकार रक्षा करिये। दुःखदायकरीतिसे प्राणों को छोड़ना चाहने वाले नम्र बनते हुए अलग निकल जावें । इन युद्ध चाहने वालोंके चित्तोंको अमावस्या नष्ट कर देय ॥२॥

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः ।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै

मम । देवाः । विऽहवे । सन्तु । सर्वे । इन्द्रऽवन्तः । मरुतः । विष्णुः । अग्निः ।

मम । अन्तरिक्षम् । उरुऽलोकम् । अस्तु । मह्यम् । वातः । पवताम् । कामाय । अस्मै ॥ ३ ॥

इन्द्रसहित मरुत् विष्णु और अग्निदेव (आदि) सब देवता युद्धमें मेरे अनुकूल रहें अन्तरिक्ष मेरा उरुलोक हो अर्थात् अन्तरिक्षमें गन्धर्व अप्सरा आदि मेरा बड़ा यशोगान करें और इस कामनाके लिये वायु मेरे लिये (अनुकूल होकर) चले ॥ ३ ॥

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥ ४ ॥

मह्यम् । यजन्ताम् । मम । यानि । इष्टा । आऽकूतिः । सत्या । मनसः । मे । अस्तु ।

एनः । मा । निः । गाम् । कतमत् । चन । अहम् । विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । मा । इह ॥ ४ ॥

मेरे जो मानसिक अभिलषित संकल्प हैं वे सत्य हों, किसी भी पापको मैं प्राप्त न होऊँ, विश्वेदेवा इसमें कर्ममें मेरी रक्षा करें ४

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः देवा होतारः सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः

मयि । देवाः । द्रविणम् । आ । यजन्ताम् । मयि । आऽशीः । अस्तु । मयि । देवऽहूतिः ।

देवाः । होतारः । सनिषन् । नः । एतत् । अरिष्टाः । स्याम ।

तन्वा । सुऽवीराः ॥ ५ ॥

देवता मुझमें धनकी संगति करें, देवताओंका आह्वान करना और देवताओंका आशीर्वाद मुझमें हो, हमारे पास देवताओंके होता भली प्रकार बैठें, हम शरीरसे सुवीर और अरिष्ट रहें ५

देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम्

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना

द्वेष्या या ॥ ६ ॥

देवीः । षट् । उर्वीः । उरु । नः । कृणोत । विश्वे । देवासः ।

इह । मादयध्वम् ।

मा । नः । विदत् । अभिऽभाः । मो इति । अशस्तिः । मा ।

नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥ ६ ॥

पृथिवी आकाश जल औषधि और दिन रात इन छः दिव्य उर्वियोंको हमारे लिये विस्तृतरूपमें करिये । हे विश्वेदेवा वा संपूर्ण देवताओं ! तुम इस कर्ममें प्रसन्न होओ, तिरस्कार हमें प्राप्त न हो अकीर्ति भी हमें न प्राप्त हो, और द्वेष करने योग्य पाप भी हमें प्राप्त न हो ॥ ६ ॥

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम् ।

मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम

राजन् ॥ ७ ॥

तिस्रः । देवीः । महि । नः । शर्म । यच्छत । प्रऽजायै । नः ।
तन्वे । यत् । च । पुष्टम् ।
मा । हास्महि । प्रऽजया । मा । तनूभिः । मा । रधाम । द्विषते ।
सोम । राजन् ॥ ७ ॥

ऋग्वेदसंहिता ८ । ६ । ६ । २ में वर्णित भारती (सूर्यकी कान्ति), पृथ्वी और सरस्वती तीनों देवियों ! आप हमें बड़ा भारी कल्याण दीजिये–प्राप्त कराइये । जो पुष्ट वस्तुएँ हैं उनको हमारे शरीर और प्रजाओंको दीजिये । हम प्रजा और पशुओंसे क्षीण न होवें, हे सोम राजन् ! हम शत्रुओंके लिये दुःखित न होवें ॥ ७ ॥

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः

उरुऽव्यचाः । नः । महिषः । शर्म । यच्छतु । अस्मिन् । हवे ।
पुरुऽहूतः । पुरुऽक्षु ।
सः । नः । प्रऽजायै । हरिऽअश्व । मृड । इन्द्र । मा । नः । रीरिषः ।
मा । परा । दाः ॥ ८ ॥

नदीरूप गमन वाले, महत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न, महान् अन्नभण्डारसंपन्न हरे अश्ववाले इन्द्र ! इस युद्धमें वा यज्ञमें आप हमको सुख देवें । वह इन्द्रदेव हमारे सन्तानको नष्ट न करें और त्याग भी न करें ॥ ८ ॥

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं
निर्ऋथात् ॥ ९ ॥

धाता । विऽधाता । भुवनस्य । यः । पतिः । देवः । सविता । अभि-
मातिऽसाहः ।

आदित्याः । रुद्राः । अश्विना । उभा । देवाः । पान्तु । यजमा-
नम् । निःऽऋथात् ॥ ९ ॥

धाता विधाता, शत्रुओंको दवाने वाले भुवनपति सूर्यदेव, आदित्य, रुद्र, दोनों अश्विनीकुमार यजमानको पापसे बचावें ९

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधा-
महे एनान् ।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत

ये । नः । सऽपत्नाः । अप । ते । भवन्तु । इन्द्राग्निऽभ्याम् ।
अव । बाधामहे । एनान् ।

आदित्याः रुद्राः । उपरिऽस्पृशः । नः । उग्रम् । चेत्तारम् ।
अधिऽराजम् । अक्रत ॥ १० ॥

जो हमारे शत्रु हैं वे नष्ट होजावें इन्द्र और अग्निके द्वारा हम इनको बाधित करते हैं, ऊपर (स्वर्ग) का स्पर्श करने वाले आदित्य और रुद्रोंने हमको उग्र चेतावनी देने वाला राजा दिया है

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः ।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ११

अर्वाञ्चम् । इन्द्रम् । अमुतः । हवामहे । यः । गोऽजित् । धनऽजित् । अश्वऽजित् । यः ।
इमम् । नः । यज्ञम् । विऽहवे । शृणोतु । अस्माकम् । अभूः । हरिऽअश्व । मेदी ॥ ११ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो पृथ्वीको जीतने वाले हैं, धनको जीतने वाले हैं, घोड़ोंको जीतने वाले हैं उन शत्रुओंके सामने डटने वाले इन्द्रको हम परलोकसे बुलाते हैं, हमारे इस पूजनको वह युद्धमें सुनें, हे हर्यश्व इन्द्र ! आप हमारे स्नेही बनिये ॥ ११ ॥

प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (१४१) ।

"यो गिरिष्वजायथाः" इति सूक्तेन राजयक्ष्मकुष्ठादिरोगशान्त्यर्थं कुष्ठाख्यौषधिमिश्रितं नवनीतम् अभिमन्त्र्य प्रतिलोमं व्याधितशरीरं प्रलिम्पेत् । 'कुष्ठलिङ्गाभिर्नवनीतमिश्रेणाप्रतीहारं प्रलिम्पति' इति [कौ० ४. ४] सूत्रात् ॥

'यो गिरिष्वजायथाः' इस सूक्तसे राजयक्ष्मा कुष्ठ आदि रोगों की शांतिके लिये कूट नामक औषधिसे मिले हुए मक्खनको अभिमन्त्रित करके रोगीको प्रतिलोमरूपसे लेपे । इसी बातको कौशिकसूत्र ४ । ४ में कहा है, कि—"कुष्ठलिंगाभिर्नवनीतमिश्रेणाप्रतीहारं प्रलिम्पति" ।

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः ॥१॥

यः । गिरिषु । अजायथाः । वीरुधाम् । बलवत्ऽतमः ।
कुष्ठ । आ । इहि । तक्मऽनाशन । तक्मानम् । नाशयन् । इतः ॥

जो औषधियोंमें बलवान् औषधि पर्वतोंमें उत्पन्न हुई है, हे जीवनको कठिनतासे बितानेकी अवस्था ला डालने वाले रोगों की नाशक कूट औषधि ! जीवनको कष्टमें बिताने वाले रोगको नष्ट करती हुई तू यहाँ आ ॥ १ ॥

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥२॥

सुपर्णऽसुवने । गिरौ । जातम् । हिमऽवतः । परि ।
धनैः । अभि । श्रुत्वा । यन्ति । विदुः । हि । तक्मऽनाशनम् २

हिमाचलके ऊपर सुपर्णके उत्पत्तिस्थानमें उत्पन्न हुई इस औषधिको आरोग्यधन रूपसे सुन कर (प्राणी) गए और तब उन्होंने इसको कठिन रोगोंको नष्ट करने वाली जाना ॥ २ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अश्वत्थः । देवऽसदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ ३ ॥

यहाँसे तीसरे द्युलोकमें देवताओंके बैठनेका अश्वत्थ है तहाँ देवताओंने अमृतका वर्णन करने वाले कूटको जाना था ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।

तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्यऽबन्धना । दिवि ।

तत्र । अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ ४ ॥

स्वर्गमें सुवर्णके बंधन वाली सुवर्णकी नौका चलती है तहाँ अमृतके पुष्प कूटको-देवताओंने प्राप्त किया था ॥ ४ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।

नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥५॥

हिरण्ययाः । पन्थानः । आसन् । अरित्राणि । हिरण्यया ।

नावः । हिरण्ययीः । आसन् । याभिः । कुष्ठम् । निःआवहन् ५

सुवर्णमय मार्ग थे, और सुवर्णके अरित्र (डाँड) थे और सुवर्णकी ही नौकाएँ थीं, कि–जिनसे (प्राणी) कूटको लाये थे ५

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।

तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

इमम् । मे । कुष्ठ । पुरुषम् । तम् । आ । वह । तम् । निः । कुरु ।

तम् । ऊं इति । मे । अगदम् । कृधि ॥ ६ ॥

हे कूट ! मेरे इस (संसारके घृणाके पात्र) पुरुषको इस (लोक

में फिर प्रतिष्ठाके साथ)ले आ इसको रोग रहित कर, इस मेरे पुरुषको तू रोगरहित कर ॥ ६ ॥

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

देवेभ्यः । अधि । जातः । असि । सोमस्य । असि । सखा । हितः ।
सः । प्राणाय । विऽआनाय । चक्षुषे । मे । अस्मै । मृड ॥ ७ ॥

हे कूट ! तुम देवताओंके अधिकारमें उत्पन्न हुए हो और सोमके हितकारी मित्र हो, वह तुम मेरे इस (यजमान पुरुष) की प्राण.व्यान और नेत्रके लिये सुखी हूजिये अर्थात् सुख दीजिये ७

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

उदङ् । जातः । हिमऽवतः । सः । प्राच्याम् । नीयसे । जनम् ।
तत्र । कुष्ठस्य । नामानि । उत्ऽतमानि । वि । भेजिरे ॥ ८ ॥

कूट हिमाचलके उत्तरमें उत्पन्न हुआ है और वह पूर्वदिशामें मनुष्योंके पास लाया गया है, तहाँ कूटके उत्तम नामोंका मनुष्यों ने विभाग किया है ॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

उत्ऽतमः । नाम । कुष्ठ । असि । उत्ऽतमः । नाम । ते । पिता ।
यक्ष्मम् । च । सर्वम् । नाशय । तक्मानम् । च । अरसम् । कृधि ९

हे कूट ! तेरा नाम उत्तम है और तेरे पिता (उत्पादक हिमाचल) भी उत्तम हैं, यह बात प्रसिद्ध है। तू सब प्रकारके यक्ष्मा रोगका नाश कर, जीवनको कष्टमय बना देने वाले रोगको रसरहित (निर्वीर्य) कर ॥ ९ ॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।

कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

शीर्षऽआमयम् । उपऽहत्याम् । अक्ष्योः । तन्वः । रपः ।

कुष्ठः । तत् । सर्वम् । निः । करत् । दैवम् । समह । वृष्ण्यम् १०

इति प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

(पुरोहित कहता है, कि-)जो शिरका रोग है जो आँखोंको नष्ट करने वाली व्याधि है और जो शरीरके रोगकी उत्पत्तिका कारण पाप है, उस सबको कूटने प्रशंसनीय दैवबलको (प्राप्त कर) निकाल दिया है ॥ १० ॥

पञ्चमकाण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५६) ॥

शस्त्राद्यभिघाते "रात्री माता" इति सूक्तेन दुग्धे लाक्षां क्वाथयित्वा अभिमन्त्र्य पाययति । तथा च सूत्रम् । "लाक्षालिङ्गाभिर्दुग्धे फाण्टान् पाययति" [कौ० ४. ४] इति ॥

शस्त्र आदिके अभिघातमें 'रात्री माता' इस सूक्तसे दूधमें लाख को क्वथित कर (काढ़ा कर) अभिमन्त्रण करके पिलावे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि 'लाक्षालिंगाभिर्दुग्धे फाण्टान् पाययति' (कौशिकसूत्र ४ । ४) ।

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः ।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा

रात्री । माता । नभः । पिता । अर्यमा । ते । पितामहः ।

सिलाची । नाम । वै । असि । सा । देवानाम् । असि । स्वसा १

हे लाख ! चन्द्रकिरणोंके द्वारा पोषक होनेसे रात्रि तेरी माता है और वर्षाके द्वारा उत्पादक होनेसे नभ तेरा पिता है और सूर्यदेव आकाशमेंके मेघको भी लाने वाले होनेसे तेरे पितामह हैं, तेरा नाम सिलाची है और तू देवताओंकी (उपकारक होनेसे) बहिन है ॥ १ ॥

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।

भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी २

यः । त्वा । पिबति । जीवति । त्रायसे । पुरुषम् । त्वम् ।

भर्त्री । हि । शश्वताम् । असि । जनानाम् । च । निऽअञ्चनी

जो तुझको पीता है वह जीता है, तू पुरुषकी रक्षा करती है, तू श्वास लेने वाले प्राणियोंका भरण करने वाली है, और प्राणियों की न्यञ्चनी (घाव आदिके समय व्याप्त होकर रहने वाली) है २

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला ।

जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ३

वृक्षम्ऽवृक्षम् । आ । रोहसि । वृषण्यन्तीऽइव । कन्यला ।

जयन्ती । प्रतिऽआतिष्ठन्ती । स्परणी । नाम । वै । असि ३

तू वृषण्यन्ती कन्यलाकी समान प्रत्येक वृक्ष पर चढ़ती है, तू जीतती है, खड़ी होती है अतः तू स्परणी नाम वाली है ॥ ३ ॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ४

यत् । दण्डेन । यत् । इष्वा । यत् । वा । अरुः । हरसा । कृतम् ।
तस्य । त्वम् । असि । निःऽकृतिः । सा । इमम् । निः । कृधि । पुरुषम्

जो क्रोधपूर्वक बाणसे वा दण्डसे घाव किया जाता है हे लाख ! तू उस सबकी उपायरूप है, इस लिये तू इस पुरुषको चंगा कर ४

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥५॥

भद्रात् । प्लक्षात् । निः । तिष्ठसि । अश्वत्थात् । खदिरात् । धवात्
भद्रात् । न्यग्रोधात् । पर्णात् । सा । नः । आ । इहि । अरुन्धति ५

तू कदमके वृक्षसे, पाकड़के वृक्षसे, पीपलके वृक्षसे, खैरके वृक्ष से, धवके वृक्षसे, भद्र, न्यग्रोध और पर्णसे निकलती है, ऐसी घावको शुद्ध करके भरने वाली ओषधे ! हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे ।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ६

हिरण्यऽवर्णे । सुऽभगे । सूर्यऽवर्णे । वपुःऽतमे ।
रुतम् । गच्छासि । निःऽकृते । निःऽकृतिः । नाम । वै । असि ६

हे सुवर्णके समान वर्ण वाली हे सूर्य सरीखे वर्ण वाली हे परमकांतिमयी रोगको निकालने वाली ओषधे ! तू घाव पर जाती है, अत एव तेरा नाम निष्कृति है ॥ ६ ॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे ।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते ॥७॥

हिरण्यऽवर्णे । सुऽभगे । शुष्मे । लोमशऽवक्षणे ।
अपाम् । असि । स्वसा । लाक्षे । वातः । ह । आत्मा । बभूव । ते ७

हे सुवर्णकी समान वर्ण वाली बलकारिणी सौभाग्यवती रोम की नदीरूपा (अर्थात् जिसके भीतर बहुतसे रोम निकलते हैं ऐसी) ओषधे ! तू जलोंकी बहिनरूप है, हे लाक्षे ! वायु तेरा आत्मा है ॥ ७ ॥

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ८

सिलाची । नाम । कानीनः । अजऽबभ्रु । पिता । तव ।
अश्वः । यमस्य । यः । श्यावः । तस्य । ह । अस्ना । असि । उक्षिता ८

तेरा नाम सिलाची और कानीन है बकरियोंका पालन करने वाला तेरा पिता है । यमराजका जो पीले काले रंगका अश्व है उसके रक्तसे तुझको सींचा गया था ॥ ८ ॥

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ ९ ॥

अश्वस्य । अस्नः । सम्ऽपतिता । सा । वृक्षान् । अभि । सिस्यदे ।
सरा । पतत्रिणी । भूत्वा । सा । नः । आ । इहि । अरुन्धति ९

प्रथमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे घावको भरने वाली ! अश्वके रक्तसे तू मिलती जुलती है और वृक्षोंको सींचती है, ऐसी सरकने वाली औषधे तू पतत्रिणीसी होकर हमारे पास आ ॥ ६ ॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१४७) ॥

रोगिण आरोग्यविज्ञानकर्मणि "ब्रह्म जज्ञानम्" इति सूक्तेन तिस्रः स्नावरज्जूरभिमन्त्र्य अङ्गारेषु निदधाति । यदि अंगारस्थास्ता ऊर्ध्वं गच्छन्ति ततो जीविष्यतीति ज्ञेयम् । तद् उक्तं कौशिकेन । "ब्रह्म जज्ञानम् इति जीवितविज्ञानम् । तिस्रः स्नावरज्जूरंगारेष्ववधायोत्क्रुचतीषु कल्याणम्" इति [कौ० २. ६]॥

तथा सांग्रामिकविज्ञानकर्मणि अनेन सूक्तेन तिस्रः स्नावरज्जूरभिमन्त्र्य एका आत्मसेना रज्जुः द्वितीया मध्ये मृत्युः तृतीया रज्जुः परसेनेति संकल्प्य अंगारेषु निदधाति । यस्या उपरि मृत्युर्गच्छति तस्याः पराजयो भवति । या मृत्योरुपरि पतति तस्या जयो भवति । या संमुखा याति तस्या अपि जयो भवति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि रज्जुम् एकाम् अभिमन्त्र्य अंगारेषु निदधाति । एवम् इषीकाः ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "सांग्रामिकम् । एता व्यादिशति । मध्ये मृत्युरितरे सेने । पराजेष्यमाणां मृत्युरतिवर्तते । जेष्यन्ती मृत्युम् अग्रेषूत्क्रुचत्सु मुख्या हन्यन्ते मध्येषु मध्या अन्तेष्ववरे । एवम् इषीकाः" इति [कौ० २. ६] ॥

सलिलगणे अस्य सूक्तस्य पाठः । तद् "आपो हि ष्ठा" इति सूक्ते [१. ५] द्रष्टव्यम् ॥

तथा भवत्स्यन् अनेन सूक्तेन हवींषि जुहुयात् । आज्यपालाशादिसमित्पुरोडाशपयउदौदनपायसपशुव्रीहियवतिलधानाकरम्भशष्कुल्यः एतानि हवींषि विकल्पेन जुहुयाद् इत्यर्थः । तद् उक्तं कौशिकेन । "द्वितीयेन भवत्स्यन् हविषाम् उपदधीत" इति [कौ० ३. १] ॥

तथा स्त्रीमसवदोषे सूतिकारोगे च अनेन सूक्तेन भक्तम् अभिमन्त्र्ये ददाति । तथा सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य पाययति । अनेनैव सूक्तेन उपस्थानम् आदित्यस्य । तद्ध उक्तं कौशिकेन । "ब्रह्म जज्ञानम् इति सूतिकारिष्टक्तौ भपादयति । मन्थाचमनोपस्थानम् आदित्यस्य" इति [कौ० ४. ४]॥

रोगीके आरोग्यको जाननेके कर्ममें 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस सूक्त से तीन स्नावरज्जुओंको अभिमंत्रित कर अंगारों पर रक्खे । यदि अंगारों पर स्थित रज्जुएँ ऊपरको जावें तो समझे, कि-यह जीवित रहेगा । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'ब्रह्म जज्ञानम् इति जीवितविज्ञानम् । तिस्रः स्नावररज्जूरंगारेष्ववधायोत्क्रुचतीषु कल्याणम्' (कौशिकसूत्र २ । ६)॥

तथा सांग्रामिकविज्ञानकर्ममें इस सूक्तसे तीन स्नावरज्जुओंका अभिमन्त्रण करके एकको अपनी सेनाकी रज्जु समझे, मध्यमें रक्खी हुई दूसरीको मृत्यु समझे और तीसरीको शत्रुकी सेना समझे, इस मकार कल्पना करके उनको अंगारोंमें रख देय । उस समय जिसके ऊपर मृत्यु जाती है, उसका पराजय होता है जो मृत्युके ऊपर गिरती है उसका विजय होता है और जो सम्मुख जाती है उसका भी विजय होता है ।

तथा इसी कर्ममें एक रज्जुको अभिमंत्रित कर अंगारों पर रक्खा जाता है । इसी मकार इषीकाओंको रक्खा जाता है ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि 'सांग्रामिकम् । एता व्यादिशति । मध्ये मृत्युरितरे सेने । पराजेष्यमाणां मृत्युरतिवर्तते । जेष्यन्ती मृत्युम् । अग्रेषूत्क्रुचत्सु मुख्या हन्यन्ते मध्येषु मध्या अन्तेष्ववरे । एवं इषीकाः" (कौशिकसूत्र २ । ६ ॥)

सखिलगणमें इस सूक्तका पाठ है । इसको आपो हि ष्ठा' इस १ । ५ सूक्तमें देखना चाहिये ।

तथा अधिकतर वहाँ ही निवास करना चाहने वाला इस सूक्त से हवियोंकी आहुति देय। अर्थात् घी, पलाश (ढाक) आदिकी समिधायें, पुरोडाश उदोदन, पायसपशु, धान जौ, तिल, धाना (भुने हुए जौं), करंभ (दही मिले सत्तू), और शष्कुली (पूरी) इन हवियोंकी विकल्पसे आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र ३।१ में कहा है, कि–'द्वितीयेन प्रवत्स्यन् हविषामुपदधीत' (कौशिकसूत्र ३।१)

तथा स्त्रीप्रसवरोगमें और सूतिकारोगमें भी इस सूक्तसे भात का अनुमंत्रण करके देवे। तथा सक्तुमंथका अभिमंत्रण करके पिलावे। तथा इस सूक्तसे आदित्यका उपस्थान करावे इस विषय में कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-"ब्रह्म जज्ञानं इति सूतिकारिष्टौ प्रपादयति मन्थाचमनोपस्थानम् आदित्यस्य" (कौशिकसूत्र ४।४)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च
वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्म। जज्ञानम्। प्रथमम्। पुरस्तात्। वि। सीमतः। सुऽरुचः।
वेनः। आवः।

सः। बुध्न्याः। उपऽमाः। अस्य। विऽस्थाः। सतः। च। योनिम्।
असतः। च। वि। वः ॥ १ ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म" इस तैत्तिरीय आरण्यक ८।१ में प्रसिद्ध सत्–चित्–सुखात्मक अपरिच्छिन्न तथा सब जगत्का कारण जो परब्रह्म है वह पहिले सृष्टिकी आदिमें प्रयसकार्य

हिरण्यगर्भरूप सूर्यरूपमें उत्पन्न हुआ है † वह पूर्व दिशामें उदय हुआ हिरण्यगर्भका सूर्यात्मक परम तेज वेन है अर्थात् कांति फैलाने वाला है तथा प्रकाश और वर्षाका कारण मध्यमस्थानीय देवता है ‡ वह दमकता हुआ पर परब्रह्मात्मक वेन (आदित्य) लोकमर्यादाके लिये बाँधी हुई दिशाओंके कोनोंसे लेकर सुन्दर कांति वाले लोकों तकको व्याप्त कर देता है अर्थात् प्रभामण्डलसे अन्धकारको दूर कर सब जगत्को छा लेता है। वह केवल पार्थिव लोकोंको ही नहीं छा लेता है। किंतु वह सूर्यात्मक वेन कारणभूत ब्रह्मके तेजसे परिच्छिन्न अनेक प्रकारसे स्थित अन्तरिक्षके लोकोंको और इस प्रपञ्चकी स्थितिके कारण आकाश आदि भूत भौतिक स्थितियोंको व्याप्त कर लेता है। अधिक क्या कहें, सत् अर्थात् विद्यमान प्रकट नाम और रूपप्रपंचको और असत् अर्थात् अप्रकट अवस्थामें स्थित नाम रूप वाले प्रपञ्चकी कारण सत्त्वरजस्तमोगुणरूपा मूल—प्रकृतिको भी व्याप्त कर लेता है। अथवा सत्—चक्षुसे ग्रहण करने योग्य पृथ्वी जल और तेजोरूप तीन भूतोंको तथा असत्—परोक्ष वायु आकाशरूप दो भूतोंको भी व्याप्त कर लेता है + । तात्पर्य यह है, कि—पूर्वोक्त लक्षण वाला परब्रह्म अपनी माया शक्तिके प्रभावसे आदित्य (वेन) बन कर अपने तेजसे भूतसमूह और भूतोंसे बने हुए कारण सहित पूर्णजगत्को व्याप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

†"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।—वही प्रथम शरीरधारी है और वही पुरुष कहलाते हैं"।

‡ इसका स्वरूप 'वेनस्तत् पश्यत्' इस द्वितीय काण्डके प्रथम सूक्तमें विस्तारपूर्वक दिखाया है।

+ प्रत्यक्ष और अपरोक्ष भूतोंके ये दो भेद अन्यत्र भी मिलते हैं, कि—"सच्च त्यच्चाभवत्" (तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६.)।

अनासा ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे २

अनासाः । ये । वः । प्रथमाः । यानि । कर्माणि । चक्रिरे ।
वीरान् । नः । अत्र । मा । दभन् । तत् । वः । एतत् । पुरः । दधे २

हे पुरुषों ! तुम्हारे अनुकूल न चलने वाले जिन शत्रुओंने योग आदि मुख्य कर्मोंको किया है, उन कर्मोंसे वे हमारे वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्र पौत्र आदिको अथवा वीरोंको इस देशमें न मारें इस लिये इस आभिचारिक कर्मको मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ २

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः ।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥

सहस्रऽधारे । एव । ते । सम् । अस्वरन् । दिवः । नाके । मधुऽजिह्वाः । असश्चतः ।
तस्य । स्पशः । न । नि । मिषन्ति । भूर्णयः । पदेऽपदे । पाशिनः । सन्ति । सेतवे ॥ ३ ॥

द्युलोकके अनेक मार्ग वाले स्वर्गमें स्थित मधुरभाषी पुरुष घोषणा कर चुके हैं, कि—युद्धमें न जाने वालोंको पकड़नेके लिये यमदेवके बाँधने वाले दूत पद पद पर पाश लिये हुए खड़े रहते हैं, कभी अपने नेत्रोंको बन्द नहीं रखते हैं ॥ ३ ॥

पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो
मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥

परि। ऊं इति। सु। प्र। धन्व। वाजऽसातये। परि। वृत्राणि। सक्षणिः।

द्विषः। तत्। अधि। अर्णवेन। ईयसे। सनिस्रसः। नाम। असि। त्रयःऽदशः। मासः। इन्द्रस्य। गृहः॥ ४ ॥

अन्नप्राप्तिके लिये मेघोंके पास पहुँचने वाले तुम (सूर्यदेव) उनको भली प्रकार चारों ओरसे (किरणोंसे) ताड़ित कर उन शत्रुरूपसे मानित मेघोंको तुम समुद्र रूपमें प्राप्त कराने वाले हो तुम्हारा सनिस्रस अर्थात् टपकाने वाला नाम है तेरहवाँ मास भी इन्द्रका घर है अर्थात् उसमें भी वृष्टि कराओ। अथवा हे राजन्! आप घेरनेवाले शत्रुओंके सन्मुख जाने वाले सामने जाने वाले हैं, अन्न और बलकी प्राप्तिके लिये आप उनका भली प्रकार संहार करिये आप (रक्तको) बहाने वाले हैं शत्रुओंके (रक्तको) समुद्र बना दीजिये तेरहवाँ महीना भी इन्द्रका घर है (इन्द्र की समान आप भी तेरहों महीनोंमें शत्रुओंका रक्त बरसानेके लिये उद्यत रहिये) ॥ ४ ॥

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा।
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥ ५ ॥

नु । एतेन । अरात्सीः । असौ । स्वाहा ।

तिग्मऽआयुधौ । तिग्महेती इति तिग्मऽहेती । सुऽशेवौ । सोमारुद्रौ ।

इह । सु । मृडतम् । नः ॥ ५ ॥

इस अभिचारिक कर्मसे ही इसने (पहिले) सिद्धि प्राप्तकी थी यह हवि स्वाहुत हो, परमसुखी तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले हे सोम और रुद्र देवता इस संग्राममें आप हमें भली प्रकार सुख दीजिये ॥ ५ ॥

अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मा० ॥ ६ ॥

अव । एतेन० ।० ॥ ६ ॥

इस अभिचारिक कर्मसे ही इस राजाने (पहिले) शत्रुओंका निग्रह करके सिद्धि पाई थी, यह हवि स्वाहुत हो परम सुखी तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले हे सोम और रुद्र देवताओं ! इस संग्राम में आप हमें भली प्रकार सुख दीजिये ॥ ६ ॥

अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा ।

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ७ ॥

अप । एतेन । अरात्सीः । असौ । स्वाहा ।

तिग्मऽआयुधौ । तिग्महेती इति तिग्मऽहेती । सुऽशेवौ । सोमारुद्रौ ।

इह । सु । मृडतम् । नः ॥ ७ ॥

इस आभिचारिक कर्मके द्वारा ही इस राजाने (पहिले) प्रतिलोमरीतिसे शत्रुओंका निग्रह करके सिद्धि पाई थी यह हवि स्वा-

हुत हो, परमसुखी तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र वाले हे सोम और रुद्र देवताओं ! इस संग्राममें आप हमें भली भाँति सुख दीजिये ॥ ७ ॥

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

मुमुक्तम् । अस्मान् । दुःऽइतात् । अवद्यात् । जुषेथाम् । यज्ञम् । अमृतम् । अस्मासु । धत्तम् ॥ ८ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! आप हमको न कहने योग्य पाप से मुक्त करो । इस यज्ञका सेवन करो और हममें अमृत (अर्थात् इस कर्ममें न मरना) स्थापित करो ॥ ८ ॥

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते ।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु ये३स्माँ अभ्यघायन्ति ९

चक्षुषः । हेते । मनसः । हेते । ब्रह्मणः । हेते । तपसः । च । हेते । मेन्याः । मेनिः । असि । अमेनयः । ते । सन्तु । ये । अस्मान् । अभिऽअघायन्ति ॥ ९ ॥

हे चक्षुःसम्बन्धी संहारकशक्ति ! हे मनःसम्बन्धी संहारकशक्ति, हे मंत्रसम्बन्धी संहारकशक्ति ! तुम आयुधोंकी भी आयुध हो जो हमको मारना चाहते हैं वे आयुधरहित होजावें ॥ ९ ॥

यो३स्माँश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात् ।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

यः । अस्मान् । चक्षुषा । मनसा । चित्त्या । आऽकूत्या । च ।
यः । अघऽयुः । अभिऽदासात् ।
त्वम् । तान् । अग्ने । मेन्या । अमेनीन् । कृणु । स्वाहा ॥ १० ॥

हमारे साथ वधरूप पाप करना चाहने वाला जो अघायु हमको क्रूरदृष्टिसे मनसे, चित्तकी वृत्तिसे वा संकल्पसे क्षीण करना चाहता है, उसको हे अग्ने ! आप (अपने भस्म करने रूप) शस्त्र से शस्त्ररहित करिये । यह आहुति आपके लिये स्वाहुत हो॥१०॥

इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि
सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥११

इन्द्रस्य । गृहः । असि ॥ तम् । त्वा । प्र । पद्ये । तम् । त्वा ।
प्र । विशामि । सर्वऽगुः । सर्वऽपूरुषः । सर्वऽआत्मा । सर्वऽतनूः ।
सह । यत् । मे । अस्ति । तेन ॥ ११ ॥

हे (अग्ने वा सूर्य) आप इन्द्रके घररूप हैं, सर्वगामी, सर्वात्मा सर्वतनू सर्वपुरुषरूप हैं, जो मेरे साथ है उस सबके साथ मैं आप की शरण लेता हूँ, इस प्रकार आपमें प्रवेश करता हूँ ॥ ११ ॥

इन्द्रस्य शर्मासि ।० ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य । शर्म । असि ॥० ॥ १२ ॥

हे (अग्ने वा सूर्य) आप इन्द्रके सुखरूप हैं और आप सर्वगामी सर्वात्मा सर्वतनू और सर्वपुरुषरूप हैं ऐसे आपकी जो कुछ मेरा है उसके साथ मैं शरण लेता हूँ ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य वर्मासि ।० ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य । वर्म । असि ॥० ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! आप इन्द्रके कवचरूप हैं आप सर्वगामी सर्वात्मा सर्वतनू और सर्व पुरुषरूप हैं ऐसे आपकी जो कुछ मेरा है उसके साथ मैं शरण लेता हूँ ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन ॥ १४ ॥

इन्द्रस्य । वरूथम् । असि ॥ तम् । त्वा । प्र । पद्ये । तम् । त्वा । प्र । विशामि । सर्वऽगुः । सर्वऽपूरुषः । सर्वऽआत्मा । सर्वऽतनूः । सह । यत् । मे । अस्ति । तेन ॥ १४ ॥

इति द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! तुम इन्द्रके वरूथ हो तुम सर्वगामी सर्वात्मा (स्थूल सूक्ष्म आदि) सर्वशरीररूप और सर्वपुरुषरूप हो ऐसी आपकी मैं शरण लेता हूँ इस प्रकार आपमें प्रवेश करता हूँ १४

पञ्चमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१४८) ॥

निर्ऋतिकर्मणि "आ नो भर" इति सूक्तेन शर्करामिश्रा धानाः सक्तूञ्जुहोति । "आ नो भरेति धानाः" [कौ० ३. १] इत्यादि सूत्रम् ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रादिकम् "अयं ते योनिः" इति सूक्ते [३. २०] द्रष्टव्यम् ॥

अग्निचयने वनीवाहने क्रियमाणे इदं सूक्तं यजमानं वाचयति । तद् उक्तं वैताने । "आ नो भरेति वनीवाहने वाचयति" इति [वै० ५. १] ॥ वनीवाहनम् ऋत्विजां भृत्यर्थं वचनम् ॥

निर्ऋतिकर्ममें 'आ नो भर' इस सूक्तसे शर्करा मिले हुए भुने हुए जौंको एक वार होमे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। "आ नो भरेति धानाः" (कौशिकसूत्र ३। १)॥

तथा धन उठाते समय होसकने वाले विघ्नोंको शांत करनेके कर्ममें इस सूक्तका विनियोग है। सूत्र आदिका प्रमाण 'अयं ते योनिः' इस तीसरे काण्डके बीसवें सूक्तमें देखने चाहियें।

अग्निचयनमें वनीवाहनके अवसर पर इस सूक्तको यजमानसे पढ़वावे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"आ नो भरेति वनीवाहने वाचयति" (वैतानसूत्र ५। १)। ऋत्विजोंके भृत्यर्थ जो वचन कहा जाता है उसको वनीवाहन कहते हैं।

आ नो॑ भर॒ मा परि॑ ष्ठा अराते॒ मा नो॑ रक्षी॒र्दक्षि॑णां नी॒यमा॑नाम्।

नमो॑ वी॒त्सा॑या॒ असं॑मृद्धये॒ नमो॑ अ॒स्त्वरा॑तये ॥१॥

आ। नः॒। भर॒। मा। परि॑। स्थाः॒। अराते॒। मा। नः॒। रक्षीः॒।

दक्षि॑णाम्। नी॒यमा॑नाम्।

नमः॑। वि॒ऽई॒त्सायै॑। असम्ऽऋद्धये। नमः। अ॒स्तु। अरातये ॥१॥

हे अराते! अर्थात् न देनेकी अधिष्ठात्री देवते! हमें धनसे पूर्ण कर, हमारे चारों ओर खड़ी मत हो। हमारी लाई हुई दक्षिणा की रक्षा न कर अर्थात् उसको अपने शक्तिके प्रभावमें न ला। अवृद्धिकी इच्छाके लिये अदानकी अधिष्ठात्री देवताके लिये यह अन्नरूप हवि प्राप्त हो॥ १॥

यम॑राते पुरोध॒त्से पुरु॑षं परिरा॒पिण॑म्।

नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

यम् । अराते । पुरःऽधत्से । पुरुषम् । परिऽरापिणम् ।

नमः । ते । तस्मै । कृण्मः । मा । वनिम् । व्यथयीः । मम २

हे अराते ! तू जिस केवल बोलने वाले पुरुषको अपने सामने रखती है उस तेरे पुरुषके लिये हम दूरसे ही नमस्कार करते हैं । तू हमारी इस संभक्तिको व्यथित न करना ॥ २ ॥

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम् ।

अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

प्र । नः । वनिः । देवऽकृता । दिवा । नक्तम् । च । कल्पताम् ।

अरातिम् । अनुऽप्रेमः । वयम् । नमः । अस्तु । अरातये ॥३॥

देवताओंमेंकी हुई हमारी भक्ति दिन और रात तक समर्थ होती रहे-बढ़ती रहे । हम अरातिकी शरणमें जाते हैं (अर्थात् वह हम पर प्रभाव न दिखावे) अरातिके लिये यह अन्नरूप हवि प्राप्त हो ॥ ३ ॥

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।

वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ४

सरस्वतीम् । अनुऽमतिम् । भगम् । यन्तः । हवामहे ।

वाचम् । जुष्टाम् । मधुऽमतीम् । अवादिषम् । देवानाम् । देवऽहूतिषु

मैं जिनमें देवता बुलाये जाते हैं, उन यज्ञोंमें देवताओंको प्रसन्न करने वाली मधुरता भरी वाणीका उच्चारण कर चुका हूँ, यज-

मान आदि हम सब अनुमति सरस्वती और भगदेवताकी शरण लेते हुए उनका आह्वान करते हैं ॥ ४ ॥

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।

श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥५॥

यम् । याचामि । अहम् । वाचा । सरस्वत्या । मनःऽयुजा ।

श्रद्धा । तम् । अद्य । विन्दतु । दत्ता । सोमेन । बभ्रुणा ॥ ५ ॥

मैं मनसे निकली हुई सरस्वती देवता वाली वाणीसे जिस वस्तुकी प्रार्थना करता हूँ, पोषक सोमदेवकी दी हुई श्रद्धा उस वस्तुको प्राप्त हो अर्थात् श्रद्धापूर्वक उस वस्तुकी देवताओंसे प्रार्थना करूँ ॥ ५ ॥

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि ।

सर्वे नो अद्य दित्सन्तोरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥

मा । वनिम् । मा । वाचम् । नः । वि । ईर्त्सीः । उभौ । इन्द्राग्नी इति । आ । भरताम् । नः । वसूनि ।

सर्वे । नः । अद्य । दित्सन्तः । अरातिम् । प्रति । हर्यत ॥ ६ ॥

हे अराते ! तू हमारी भक्ति और वाणीको न रोक, इन्द्र और अग्नि ये दोनों देवता हमें चारों ओरसे धनसे भर दें, हमको सब देनेकी इच्छा करते रहें और हमारे शत्रुके प्रतिकूल चलें ॥ ६ ॥

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।

वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

परः । अप । इहि । असम्ऽऋद्धे । वि । ते । हेतिम् । नयामसि ।

वेद । त्वा । अहम् । निऽमीवन्तीम् । निऽतुदन्तीम् । अराते ७

हे असमृद्धि करने वाली अराति देवते ! मैं तुझको कृश करने वाली और पीड़ित करती रहने वाली जानता हूँ अतः दूर सरक तेरी नाशकशक्तिको हम भगाते हैं ॥ ७ ॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।

अराते। चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

उत । नग्ना । बोभुवती । स्वप्नऽया । सचसे । जनम् ।

अराते । चित्तम् । विऽईर्त्सन्ती । आऽकूतिम् । पुरुषस्य । च ८

हे अराते असमृद्धि ! तू मनुष्यके संकल्पोंको असमृद्ध करती हुई असफल करती हुई बारंबार नग्नस्वरूपमें आलस्यके रूपमें मनुष्यसे संगत होती है ॥ ८ ॥

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे ।

तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥१०॥

या । महती । महाऽउन्माना । विश्वाः । आशाः । विऽआनशे ।

तस्यै । हिरण्यऽकेश्यै । निःऽऋत्यै । अकरम् । नमः ॥ ९ ॥

जो अतिऊँची बड़ी असमृद्धि सम्पूर्ण आशाओंमें व्याप्त हो गई है अर्थात् हमारी सम्पूर्ण आशाओंको नष्ट कर चुकी है । उस हिरण्यकेशी असमृद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकाशिपुर्मही ।
तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥

हिरण्यऽवर्णा । सुऽभगा । हिरण्यऽकशिपुः । मही ।
तस्यै । हिरण्यऽद्रापये । अरात्यै । अकरम् । नमः ॥ १० ॥

इति द्वितीयनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हित रमणीय वर्ण वाली सौभाग्यवती पृथ्वी जो हिरण्य-कशिपुरूपा होगई थी अर्थात् हिरण्यकशिपुके वशमें आकर असमृद्ध होगई थी तैसी हित और रमणीयताकी दुर्गति कराने वाली असमृद्धिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

अथर्ववेदके पंचमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें
द्वितीय सूक्त समाप्त (१४२) ॥

अभिचारकर्मणि "वैकङ्कतेन" इति सूक्तेन जुहोति । "वैकङ्कतेति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ६. २] सूत्रात् ॥

अभिचारकर्ममें "वैकंकतेन" इस सूक्तसे आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"वैकंकतेनेति मन्त्रोक्तम्" (कौशिकसूत्र ६ । २) ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवंम् ॥१॥

वैकङ्कतेन । इध्मेन । देवेभ्यः । आज्यम् । वह ।
अग्ने । तान् । इह । मादय । सर्वे । आ । यन्तु । मे । हवम् ॥१॥

हे अग्ने ! तुम परमभद्री औषधिके ईंधनसे देवताओंको घृत

अवश्य पहुँचाओ। हे अग्ने! इस कर्ममें उन सबको तुम प्रसन्न करो, मेरे आह्वान पर यज्ञमें वा युद्धमें सब देवता यहाँ आवें॥१॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।
तेभिः शकेम वीर्यं १ जातवेदस्तनूवशिन्॥ २॥

इन्द्र। आ। याहि। मे। हवम्। इदम्। करिष्यामि। तत्। शृणु।
इमे। ऐन्द्राः। अतिऽसराः। आऽकूतिम्। सम्। नमन्तु। मे।
तेभिः। शकेम। वीर्यम्। जातऽवेदः। तनूऽवशिन्॥ २॥

हे इन्द्र! आप मेरे इस यज्ञमें आइये। मैं जो आपके निमित्त स्तुति करूँगा उसको सुनिये। ये इन्द्रकी ओर प्रबलतासे चलने वाले अर्थात् इन्द्रकी बड़ी भक्ति करने वाले ऋत्विज मेरे संकल्पके अनुकूल रहें, हे प्रत्येक उत्पन्न हुओंको जानने वाले शरीरको वशमें रखने वाले इन्द्रदेव इन पूर्वोक्त ऋत्विजोंसे हम वीर्यको पा सकें॥ २॥

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन॥ ३॥

यत्। असौ। अमुतः। देवाः। अदेवः। सन्। चिकीर्षति।
मा। तस्य। अग्निः। हव्यम्। वाक्षीत्। हवम्। देवाः। अस्य।
मा। उप। गुः। मम। एव। हवम्। आ। इतन॥ ३॥

हे देवताओं! देवताओंकी भक्ति न करने वाला जो पुरुष यहाँसे जो कुछ करना चाहता है, उसके हव्यको अग्नि न पहुँचावें, देवता उसके यज्ञमें वा युद्धमें न जावें और मेरे ही यज्ञमें आवें ३

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।

अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि

प्राणमस्यापि नह्यत ॥ ४ ॥

अति। धावत। अतिऽसराः। इन्द्रस्य। वचसा। हत।

अविम्। वृकःऽइव। मथ्नीत। सः। वः। जीवन्। मा। मोचि।

प्राणम्। अस्य। अपि। नह्यत ॥ ४ ॥

(हे योधाओं) तुम इन्द्रके (अभय) वचनसे दौड़ो बढ़ो और शत्रुओंको मारो, जैसे भेड़िया भेड़को मथ डालता है वैसे ही शत्रु को नष्ट करो वह तुमसे जीता हुआ न छूटे इसके प्राण तकको तुम बाँध लो—संकटमें डाल दो नष्ट कर दो ॥ ४ ॥

यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये।

इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

यम्। अमी इति। पुरःऽदधिरे। ब्रह्माणम्। अपऽभूतये।

इन्द्र। सः। ते। अधःऽपदम्। तम्। प्रति। अस्यामि। मृत्यवे ५

हे इन्द्रदेव! इन शत्रुओंने हमारी अपभूति (दुर्गति) करनेके लिये जिस ब्राह्मणको अपने सामने रक्खा है अर्थात् पुरोहित बनाया है। वह आपके किये हुए अधःपतनका पात्र हो उसको मैं मृत्युके लिये फेंकता हूँ ॥ ५ ॥

यदि प्रयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि

यदि । प्रऽयुः । देवऽपुराः । ब्रह्म । वर्माणि । चक्रिरे ।
तनूऽपानम् । परिऽपानम् । कृण्वानाः । यत् । उपऽऊचिरे । सर्वम् ।
तत् । अरसम् । कृधि ॥ ६ ॥

हे देव ! यदि पहिले उन्होंने तनूनपान और परिपाणको करते समय अपने मन्त्रमय कवच बना लिये हों तो उस समय उन्होंने जो कुछ कहा हो तो उस सबको आप नीरस करिये ६

यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान् ।
त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥ ७ ॥

यान् । असौ । अतिऽसरान् । चकार । कृणवत् । च । यान् ।
त्वम् । तान् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । प्रतीचः । पुनः । आ । कृधि ।
यथा । अमुम् । तृणहाम् । जनम् ॥ ७ ॥

हमारे शत्रुने जिन योधाओंको अग्रगामी बनाया है और जिनको बना रहा है, हे वृत्रासुरके संहारक इन्द्रदेव ! आप उनको फिर पीछेको कर दीजिये जिससे मैं इस (शत्रुके) जनसमूहरूप सेनादलको मार सकूँ ॥ ७ ॥

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वे३ऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

यथा । इन्द्रः । उत्ऽवाचनम् । लब्ध्वा । चक्रे । अधःऽपदम् ।

कृण्वे । अहम् । अधरान् । तथा । अमून् । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः

जैसे इन्द्रदेवने श्रेष्ठ स्तुतिरूप वचनको पाकर शत्रुको पैरोंके नीचे रौंद डाला था, इसी प्रकार मैं इन शत्रुओंको अनन्त वर्षोंके लिये तिरस्कृत करता हूँ ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्माणि विध्य ।

अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१हं तव ।

अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

अत्र । एनान् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । उग्रः । मर्माणि । विध्य ।

अत्र । एव । एनान् । अभि । तिष्ठ । इन्द्र । मेदी । अहम् । तव ।

अनु । त्वा । इन्द्र । आ । रभामहे । स्याम । सुऽमतौ । तव ।९।

इति द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्रदेव ! आप इस संग्राममें उग्र बन कर शत्रुओंके मर्मोंमें घाव करिये । हे इन्द्र ! मैं आपसे स्नेह करने वाला हूँ, अतः आप यहाँ ही इन शत्रुओंके सामने डटिये हे इन्द्र ! हम (आपकी कृपा पानेके) पीछे ही कार्य का आरम्भ करते हैं हम आपकी सुमतिमें रहें अर्थात् आप हमारे ऊपर अनुग्रह बुद्धि रक्खें ॥ ९ ॥

पञ्चम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१५०) ॥

“दिवे स्वाहा” इति सूक्तेन सर्वरोगभैषज्यार्थम् आज्यं हुत्वा सयवे केवले वा उदपात्रे चतुरः संपातान् द्वौ पृथिव्याम् आनीय संपारि ‥ ‥सहितोदकेन सूक्ताभिमन्त्रितेन व्याधितम् आलावयेत्।

सूत्रितं हि । "दिवे स्वाहा [५. ६] इमं यवम् [६. ६१] इति चतुर उदपात्रे संपातान् आनयति । द्वौ पृथिव्याम् । तौ मत्याहृत्यालावयति सयवे च" इति [कौ० ४. ४.] ॥

"दिवे स्वाहा" इस सूक्तसे सब रोगोंकी चिकित्साके लिये घृतकी आहुति देकर जौं पड़े हुए वा जौं रहित जलपूर्णपात्रमें चार सम्पातोंको और पृथिवीमें दो सम्पातोंको लाकर सूक्तसे अभिमन्त्रित सम्पातित मट्टीसहित जलसे रोगीको भिगोवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"दिवे स्वाहा (५ । ६) इमं यवं (६ । ६१) इति चतुर उदपात्रे संपातान् आनयति । द्वौ पृथिव्याम् । तौ मत्याहृत्यालावयति सयवे च" (कौशिकसूत्र ४।४)॥

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥

दिवे । स्वाहा ॥ १ ॥

द्युलोकके अधिष्ठात्री देवताके लिये यह आहुति स्वाहुत हो १

पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिव्यै । स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवीके अधिष्ठात्री देवताके लिये यह आहुति स्वाहुत हो २

अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षाय । स्वाहा ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षके अधिष्ठात्री देवताके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ३

अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षाय । स्वाहा ॥ ४ ॥

(हृदयके) अन्तरिक्ष (हार्दाकाश) में स्थित देवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

दिवे स्वाहा ॥ ५ ॥

दिवे । स्वाहा ॥ ५ ॥

स्वर्ग (में जानेके) लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥ ६ ॥

पृथिव्यै । स्वाहा ॥ ६ ॥

पृथिवी (पर सुखपूर्वक रहनेके) लिये यह आहुति स्वाहुत हो ६

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥ ७ ॥

सूर्यः । मे । चक्षुः । वातः । प्राणः । अन्तरिक्षम् । आत्मा । पृथिवी । शरीरम् ।
अस्तृतः । नाम । अहम् । अयम् । अस्मि । सः । आत्मानम् । नि । दधे । द्यावापृथिवीभ्याम् । गोपीथाय ॥ ७ ॥

सूर्यदेव मेरे नेत्र हैं, वायु मेरे प्राण हैं, अन्तरिक्ष आत्मा, पृथिवी शरीर है, (अर्थात् ये देवता मेरे अंगोंको पुष्ट करें) अनाच्छादित नाम]वाला मैं यह हूँ वह मैं द्यावापृथिवीसे रक्षा पानेके लिये अपनी आत्माको उनकी शरणमें देता हूँ ॥ ७ ॥

उदायुरुद् बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

उत् । आयुः । उत् । बलम् । उत् । कृतम् । उत् । कृत्याम् ।
उत् । मनीषाम् । उत् । इन्द्रियम् ।
आयुःऽकृत् । आयुष्पत्नीत्यायुःऽपत्नी । स्वधाऽवन्तौ । गोपा ।
मे । स्तम् । गोपायतम् । मा ।
आत्मऽसदौ । मे । स्तम् । मा । मा । हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

(हे द्यावापृथिवीके अभिमानी देवताओं !) आप मेरी आयु को उत्कृष्ट करिये, मेरे बलको उत्कृष्ट करिये, मेरी कृत्याको उत्कृष्ट करिये, मेरी बुद्धिको उत्कृष्ट करिये और इन्द्रियोंको उत्कृष्ट करिये । हे आयुको करने वाले आयूरक्षक द्यावा पृथिवी स्वधा वाले आप मेरे रक्षक हैं ऐसे आप मुझमें विराजमान होकर मेरी रक्षा करिये, मुझे नष्ट न होने दीजिये ॥ ८ ॥

पञ्चम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५१) ॥

"अश्मवर्म मेसि" इति सूक्तेन पत्तनग्रामगृहस्वस्त्ययनार्थं षड् अश्मनः संपातवतः कृत्वा अभिमन्त्र्य चतुर्षु पत्तनादिकोणेषु चतुरो निखनति एकं मध्ये निखनति एकं पत्तनाद्युपरि निदधाति । तदु उक्तं कौशिकेन । "अश्मवर्म मेति षड् अश्मनः संपातवतः स्रक्ति-षूपर्यधस्तान्निखनति" [कौ० ७. २] ॥ "०यो मा दिशाम्" इति सप्तमी ऋक् पूर्वासाम् ऋचां प्रत्येकं द्वितीया कार्या । एवं षड्भिः षट् संपाताः कार्या इत्यर्थः ॥

"अश्म वर्म मेऽसि" इस सूक्तसे नगर ग्राम और घरका स्वस्त्ययन करनेके लिये छः पत्थरोंको सम्पात वाले करके और अभिमंत्रित करके नगर आदिके चार कोनोंमें चारको रक्खे और एकको नगरके मध्यमें और एकको नगर आदि (की नीव) के ऊपर रक्खे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—'अश्म

वर्म मेति षड् अश्मनः सम्पातवतः स्रक्तिषु उपर्यधस्तान्निखनति’ [कौशिकसूत्र ७ । २] ॥ और “० यो मा दिशां” यह सातवीं ऋचा प्रत्येक ऋचाकी दूसरी ऋचा करनी चाहिये । इस प्रकार छः से छः सम्पात करने चाहियें ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्राच्यां दिशो ऽघायुरभिदासात् ।
एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥

अश्मऽवर्म । मे । असि । यः । मा । प्राच्याः । दिशः । अघऽयुः ।
अभिऽदासात् ।
एतत् । सः । ऋच्छात् ॥ १ ॥

हे पत्थरके वर्म (कवचरूप घर) तू मेरा है जो वधरूप पाप करना चाहने वाला पूर्वदिशासे (चढ़ाई कर वा कृत्या कर) हमको नष्ट करना चाहता है, वह इसको (प्राप्त होकर) नष्ट होजाय ॥ १ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा दक्षिणाया दिशः ०।० २

० मा । दक्षिणायाः । दिशः ०।० ॥ २ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो हमारा वधरूप पाप करना चाहने वाला दक्षिण दिशासे हमको नष्ट करना चाहता है वह इसको (प्राप्त होते ही) नष्ट होजाय ॥ २ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्रतीच्या दिशः ०।० ॥३॥

० मा । प्रतीच्याः । दिशः ०।० ॥ ३ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो हमारा वधरूप पाप चाहने वाला

पश्चिम दिशासे हमको नष्ट करना चाहता है वह इस (तुझ) को प्राप्त होकर नष्ट होजावे ॥ ३ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मोदीच्या दिशः ०।० ॥ ४ ॥

०मा । उदीच्याः । दिशः ०।० ॥ ४ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो अघायु मुझको उत्तरकी दिशासे नष्ट करना चाहता है इसको (प्राप्त होकर) वह शत्रु नष्ट होजावे ४

अश्मवर्म मेसि यो मां ध्रुवाया दिशः ०।० ॥ ५ ॥

०मा । ध्रुवायाः । दिशः ०।० ॥ ५ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो अघायु मुझको ध्रुवदिशासे (पृथ्वीसे) नष्ट करना चाहता है, वह इसको प्राप्त होकर नष्ट होजाय ॥ ५ ॥

अश्मवर्म मेसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुः ०।० ।६।

०मा । ऊर्ध्वायाः । दिशः ०।० ॥ ६ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो अघायु शत्रु मुझको ऊपरकी दिशा से नष्ट करना चाहता है, वह इसको प्राप्त होकर नष्ट होजावे ६

अश्मवर्म मेसि यो मां दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभि-

दासात् ।

एतत् स ऋच्छात् ॥ ७ ॥

अश्मऽवर्म । मे । असि । यः । मा । दिशाम् । अन्तःऽदेशेभ्यः ।

अघऽयुः । अभिऽदासात् ।

एतत् । सः । ऋच्छात् ॥ ७ ॥

हे अश्मवर्म ! तू मेरा है जो अन्तर्दिशाओंसे हमारा वधरूप पाप करना चाहता है, वह इस अश्मवर्मको पाकर नष्ट होजाय ७

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

बृहता । मनः । उप । ह्वये । मातरिश्वना । प्राणापानौ ।
सूर्यात् । चक्षुः । अन्तरिक्षात् । श्रोत्रम् । पृथिव्याः । शरीरम् ।
सरस्वत्या । वाचम् । उप । ह्वयामहे । मनःऽयुजा ॥ ८ ॥

द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥
इति द्वितीयोनुवाकः ॥

बड़े (प्रकाश वाले चन्द्रदेव)से मैं मनका आह्वान करता हूँ, मातरिश्वा (वायु) देवसे मैं प्राण और अपानकी प्रार्थना करता हूँ, सूर्यदेवसे चक्षुकी प्रार्थना करता हूँ अन्तरिक्षसे श्रोत्रकी पृथिवीसे शरीरकी और मनसे युक्त सरस्वतीसे वाणीकी प्रार्थना करता हूँ ॥ ८ ॥

पञ्चम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१५२) ॥
द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

सर्वसंपत्कर्मसु "कथं महे" इति सूक्तेन मादानककाष्ठभृतं क्षीरौदनं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नाति ॥

तथा तत्रैव अनेन सूक्तेन चमसे सरूपवत्साया दुग्धे व्रीहियवाववधाय मूर्छयित्वा मध्वासिच्य संपात्याभिमन्त्र्य आशयति ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "कथं मह इति मादानकभृतं क्षीरौदनम् अश्नाति। चमसे सरूपवत्साया दुग्धे व्रीहियवाववधाय मूर्छयित्वा

मध्वासिच्याशयति" इति [कौ० २. ३] ॥ मूर्छयित्वा चूर्णीकृत्वा ॥

सर्वसम्पत्कर्मोंमें 'कथं महे' इस सूक्तसे मादानकके काष्ठसे औटाये हुए चीरौदनको सम्पातित और अभिमंत्रित करके खावे।

तथा तहाँ ही इस सूक्तसे चमसमें सरूपवत्सा गौके दूधमें धान और जौं को रख उनका चूरा कर शहद छिड़क सम्पातित और अभिमन्त्रित करके भक्षण करे।

इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि-'कथं मह इति मादानकंभृतं चीरौदनं अश्नाति। चमसे सरूपवत्सायाः दुग्धे व्रीहियवाववधाय मूर्छयित्वा मध्वासिच्याशयति ॥ (कौ० २। ३)॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः। पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

कथम् । महे । असुराय । अब्रवीः । इह । कथम् । पित्रे । हरये । त्वेषऽनृम्णः ।

पृश्निम् । वरुण । दक्षिणाम् । ददावान् । पुनःऽमघ । त्वम् । मनसा । अचिकित्सीः ॥ १

हे वरुण ! परम बलवान् और धनवान् आपने प्राणदाता प्रशंसनीय पालक सूर्यदेवसे क्या २ कहा था, हे वारंवार धनका दान देने वाले ! आप सूर्यको (जलरूप) दक्षिणा देते हैं और आप मनसे चिकित्सा करते हैं अर्थात् आपके द्वारा धन पाकर मनुष्य मन प्रसन्न रहनेसे नीरोग होजाते हैं ॥ १ ॥

न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।

केन नु त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः २

न । कामेन । पुनःऽमघः । भवामि । सम् । चक्षे । कम् । पृश्निम् ।

एताम् । उप । अजे ।

केन । नु । त्वम् । अथर्वन् । काव्येन । केन । जातेन । असि ।

जातऽवेदाः ॥ २ ॥

मैं इच्छासे ही पुनः २ धन वाला नहीं होता हूँ, किंतु सुखकी सूर्यसे प्रार्थना करता हूँ, तब इस सुखमयी अवस्थाको पाता हूँ। हे अथर्ववेदी ऋत्विज ! आप किस चतुराईके उत्पन्न होनेसे अग्नि (की समान तेजस्वी) होगए हैं॥ २ ॥

सत्यमहं गंभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ३

सत्यम् । अहम् । गभीरः । काव्येन । सत्यम् । जातेन । अस्मि ।

जातऽवेदाः ।

न । मे । दासः । न । आर्यः । महिऽत्वा । व्रतम् । मीमाय ।

यत् । अहम् । धरिष्ये ॥ ३ ॥

(ऋत्विज कहता है, कि–) मैं गंभीर हूँ, अथर्ववेदके कल्योंमें पाई हुई चतुराईसेमें जातवेदा होगया हूँ, अग्निकी समान सबको सब कामोंमें मार्ग दिखाने वाला होगया हूँ, मैं जिस व्रतको धारण करूँगा, उसको महिमाके कारण कोई सज्जन या दास नहीं तोड़ सकता ॥ ३ ॥

न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑
मा॒यी बि॑भाय ॥ ४ ॥

न॒ । त्वत् । अ॒न्यः । कवि॒ऽत॑रः । न । मेधया॑ । धीर॑ऽतरः ।
वरु॒ण॒ । स्व॒धा॒ऽव॒न् ।

त्वम् । ता । विश्वा॑ । भुव॑नानि । वे॒त्थ॒ । सः । चि॒त् । नु ।
त्वत् । जनः । मा॒यी । बि॒भा॒य॒ ॥ ४ ॥

(ऋत्विज वरुणदेवको लक्ष्य करके कहता है, कि-) हे स्वधा वाले वरुणदेव ! आपके अतिरिक्त और कोई चतुर और बुद्धिसे अर्थात् विचार करके धैर्य धारण करनेवाला नहीं है, आप सकल भूतोंको जानते हैं, इसी लिये वह मायावी मनुष्य आपसे डरता है (वरुणदेव असत्य भाषण करने वालेको दण्ड देते हैं यह बात पीछे अनेक स्थलों पर कही जा चुकी है) ॥ ४ ॥

त्वं ह्य॑१ङ्ग वरुण स्वधाव॒न् विश्वा॒ वेत्थ॒ जनि॑मा
सुप्रणीते ।
किं रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना किं प॒रेणाव॑रमसुर ५

त्वम् । हि । अङ्ग । व॒रु॒ण॒ । स्व॒धा॒ऽव॒न् । विश्वा॑ । वेत्थ॑ । जनि॑म ।
सु॒ऽप्र॒नी॒ते॒ ।

किम् । रज॑सः । ए॒ना । प॒रः । अ॒न्यत् । अ॒स्ति॒ । ए॒ना । किम् ।
प॒रेण । अव॑रम् । असुर ॥ ५ ॥

हे स्वधाके पात्र सुन्दरनीति वाले वरुणदेव ! आप प्राणियोंके सब जन्मोंको जानते हैं, हे मोहमें न पड़ने वाले वरुणदेव ! इस रजोगुणी मनसे श्रेष्ठ और क्या है और इस श्रेष्ठसे अवर क्या है ? ॥५॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् ।

तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

एकम् । रजसः । एना । परः । अन्यत् । अस्ति । एना । परः । एकेन । दुःऽनशम् । चित् । अर्वाक् ।

तत् । ते । विद्वान् । वरुण । प्र । ब्रवीमि । अधःऽवचसः । पणयः । भवन्तु । नीचैः । दासाः । उप । सर्पन्तु । भूमिम् ॥ ६ ॥

(अपने आप ही ज्ञानसे उत्तर देते हैं, कि—) इस रजोगुणसे परे और एक (सत्त्वगुण) है और उस सत्त्वगुणसे परे एक पीछे भी रहने वाला दुर्णश (कठिनतासे भी नष्ट (न) होने होने वाला ब्रह्म है । हे वरुणदेव ! इस विषयको जानने वाला मैं आपसे इस विषयको कहता हूँ, मेरे सामने व्यवहारी पुरुष निकृष्ट वाणी वाले होजावें, दास भूमिमें नीचे होकर चलें ॥६॥

त्वं ह्यरङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि ।

मो षु पणीरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥ ७ ॥

त्वम् । हि । अङ्ग । वरुण । ब्रवीषि । पुनःऽमघेषु । अवद्यानि । भूरि । मो इति । सु । पणीन् । अभि । एतावतः । भूत् । मा । त्वा । वोचन् । अराधसम् । जनासः ॥ ७ ॥

हे वरुणदेव ! आप बारंवार प्राप्त होनेवाले धनके अवसरोंके प्रति बहुतसे अवद्यों (अकथनीय) वचनोंको कहते हैं । आप इन व्यवहारियोंके प्रति इतने (उदासीन न) हूजिये, जिससे ये आपको धनहीन कहने लगें ॥ ७ ॥

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥ ८ ॥

मा । मा । वोचन् । अराधसम् । जनासः । पुनः । ते । पृश्निम् । जरितः । ददामि ।

स्तोत्रम् । मे । विश्वम् । आ । याहि । शचीभिः । अन्तः । विश्वासु । मानुषीषु । दिक्षु ॥ ८ ॥

हे स्तोतः ! मनुष्य मुझे धनहीन न कहें, मैं आपको यह स्वल्प (सी दक्षिणा) फिर देता हूँ, मनुष्यकी संपूर्ण अन्तर्दिशाओंमें स्थित बोलनेकी शक्तियोंके साथ मेरे पूर्ण स्तोत्रमें आप आइये अर्थात् वरुणविषयक मेरे पूर्ण स्तोत्रको अपनी पूर्ण शक्तिसे पढ़िये ॥ ८ ॥

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।

देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि

आ । ते । स्तोत्राणि । उत्ऽयतानि । यन्तु । अन्तः । विश्वासु । मानुषीषु । दिक्षु ।

देहि । नु । मे । यत् । मे । अदत्तः । असि । युज्यः । मे । सप्तऽपदः । सखा । असि ॥ ९ ॥

मनुष्यसंबंधी सम्पूर्ण दिशाओंके भीतर हे वरुण ! आपके कहे हुए स्तोत्र व्याप्त होजावें । जो कुछ आप मुझे न देसके हैं उसको दीजिये । आप मेरे अनुरूप सप्तपदा सखा हैं ॥ ९ ॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा ।

ददामि तद् यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥

समा । नौ । बन्धुः । वरुण । समा । जा । वेद । अहम् । तत् । यत् । नौ । एषा । समा । जा ।

ददामि । तद् । यत् । ते । अदत्तः । अस्मि । युज्यः । ते । सप्तऽपदः । सखा । अस्मि ॥ १० ॥

हे वरुण ! हम दोनों एकसे बन्धु हैं । हम दोनोंकी सन्तान भी एकसी है अर्थात् जो मेरी सन्तान है वह आपकी है और जो आपकी संतान है वह मेरी है । हम दोनोंकी संतान एकसी है

इस बातको मैं जानता हूँ। जो आपको नहीं दिया गया है, वह सब मैं आपको देता हूँ, मैं आपका योग्य सप्तपदा सखा हूँ ॥१०॥

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥

देवः। देवाय। गृणते। वयःऽधाः। विप्रः। विप्राय। स्तुवते। सुऽमेधाः।

अजीजनः। हि। वरुण। स्वधाऽवन्। अथर्वाणम्। पितरम्। देवऽबन्धुम्।

तस्मै। ऊं इति। राधः। कृणुहि। सुऽप्रशस्तम्। सखा। नः। असि। परमम्। च। बन्धुः ॥ ११ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

अन्नधारण करने वाले देव, देवताकी स्तुति करते हैं, सुबुद्धि ब्राह्मण विप्रकी स्तुति करता है। हे स्वधावान् वरुणदेव! आपने देवताओंके बन्धु हमारे पितारूप इन अथर्ववेत्ताको प्रकट किया है। इस लिये आप हममें श्रेष्ठ धन स्थापित करिये, आप हमारे परम बन्धु और सखा हैं ॥ ११ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम-सूक्त समाप्त (१५३) ॥

वशाशासनकर्मणि वपायाश्चत्वारि खण्डानि कृत्वा "समिद्धो अग्न" इति सूक्तेन एकं खण्डं जुहोति। "ऊर्ध्वा अस्य" [५

२७] इति सूक्तेन द्वितीयं खण्डं जुहोति। युक्ताभ्यां सूक्ताभ्यां तृतीयं खण्डम्। अनुमतये स्वाहेति चतुर्थं खण्डं जुहोति। तथा च सूत्रम्। "समिद्ध ऊर्ध्वा अस्येति जुहोति। युक्ताभ्यां तृतीयाम्। आनुमतीं चतुर्थीम्" इति [कौ० ५. ६]॥

वशाशमनकर्ममें वपाके चार खण्ड करके 'समिद्धो अद्य' इस सूक्तसे एक खण्डका होम करे। 'ऊर्ध्वा अस्य' इस पञ्चमकाण्ड के सत्ताईसवें सूक्तसे द्वितीय खण्डकी आहुति देय। इन मिले हुए दोनों सूक्तोंसे तीसरे खण्डको होमे। 'अनुमत्यै स्वाहा' से चौथे खण्डका होम करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "समिद्ध ऊर्ध्वा अस्येति जुहोति। युक्ताभ्यां तृतीयम्। आनुमतीं चतुर्थीम्" (कौशिकसूत्र ५।६)॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ १ ॥

सम्ऽइद्धः। अद्य। मनुषः। दुरोणे। देवः। देवान्। यजसि। जातऽवेदः।
आ। च। वह। मित्रऽमहः। चिकित्वान्। त्वम्। दूतः। कविः। असि। प्रऽचेताः॥ १॥

हे जातवेदा अग्ने! आप देव हैं आप मनुष्यके यज्ञगृहमें इस समय प्रदीप्त होकर देवताओंकी संगति कर रहे हैं। हे मित्रोंकी पूजा करने वाले अग्निदेव! आप जानकार हैं अतः देवताओंको बुलाइये। आप देवताओंके दूत, क्रांतदर्शी और प्रकृष्टज्ञानी हैं॥१॥

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन् देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

तनूऽनपात् । पथः । ऋतस्य । यानान् । मध्वा । सम्ऽअञ्जन् । स्वदय । सुऽजिह्व ।
मन्मानि । धीभिः । उत । यज्ञम् । ऋन्धन् । देवऽत्रा । च । कृणुहि । अध्वरम् । नः ॥ २ ॥

हे शरीरकी रक्षा करनेवाले सुन्दर जिह्वा वाले अग्निदेव ! आप सत्यलोकके मापक मार्गोंको मधुसे सिञ्चित कर (१ कर) स्वाद लीजिये । आप बुद्धिपूर्वक मननीय विचारोंको और यज्ञको बढ़ाते हुए इस हमारे यज्ञको देवताओंमें करिये—देवताओंमें पहुँचाइये ॥ २ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान् यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

आऽजुह्वानः । ईड्यः । वन्द्यः । च । आ । याहि । अग्ने । वसुऽभिः । सऽजोषाः ।
त्वम् । देवानाम् । असि । यह्व । होता । सः । एनान् । यक्षि । इषितः । यजीयान् ॥ ३ ॥

हे भगवन् अग्निदेव ! आप पूजनीय हैं और सब लोकोंके वन्दनीय हैं, वे आप इस कर्ममें हमारे आह्वान करने पर वसुओं के साथ समान प्रीति रखते हुए आइये (हम ऐसा क्यों कहते हैं, इसका कारण यह है, कि-) हे पूजनीय ! आप देवताओंका आह्वान करने वाले हैं अतः आप हमारे प्रेरणा करने पर देवताओं की पूजा करिये । क्योंकि-आप मनुष्योंके परम यजनीय हैं॥३॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।

व्युप्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ४

प्राचीनम् । बर्हिः । प्रऽदिशा । पृथिव्याः । वस्तोः । अस्याः । वृज्यते । अग्रे । अह्नाम् ।

वि । ऊं इति । प्रथते । विऽतरम् । वरीयः । देवेभ्यः । अदितये । स्योनम् ॥ ४ ॥

वेदिरूप पृथिवीको ढकनेके लिये पहिले प्रणयन किया जाने वाला आहवनीय नाम वाला अग्नि, सामिधेनी-प्रक्षेपसे घृतभाग आघार आदिमें पूर्वाह्नके समय अनेक प्रकारसे फैलता है । यह अन्य ज्योतियोंसे श्रेष्ठ है और महत्त्वमय है यह यजमानोंके लिये और पृथिवीके लिये सुख देने वाला है ‡ ॥ ४ ॥

‡ देवताओंकी समान गुणवान् बन जाने वाले यजमानरूप देवताओंको फल प्राप्ति करानेसे यह अग्निदेव सुख देने वाले हैं और आहुतियोंके द्वारा वृष्टि करानेसे यह अग्निदेव पृथ्वीको सुख देने वाले हैं ॥ इस मन्त्रकी व्याख्याके प्रमाणके लिये निरुक्त ८ । ६ । २ देखना चाहिये ।

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ५

व्यचस्वतीः । उर्विया । वि । श्रयन्ताम् । पतिऽभ्यः । न । जनयः । शुम्भमानाः ।
देवीः । द्वारः । बृहतीः । विश्वम्ऽइन्वाः । देवेभ्यः । भवत । सुऽप्रायनाः ॥ ५ ॥

अग्निकी लपट ही हविको पहुँचाने वाली पिघलाने वाली और राक्षस आदिको रोकने वाली होनेसे द्वाररूप हैं ये अनेक प्रकारसे जाती हैं, ये अग्निकी लपटें अपने महत्वके कारण, मैथुनधर्ममें शोभित करनेकी इच्छा वाली स्त्रियें जैसे पतिको विश्रय देती हैं तिसी प्रकार हे सब हविको प्रेरित करने वाली प्रकाशमान विशाल लपटो ! तुम देवताओंके लिये शुभगमन वाली अत एव सुख देने वाली होओ † ॥ ५ ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥

आ । सुस्वयन्ती इति । यजते इति । उपाके इति । उषसानक्ता । सदताम् । नि । योनौ ।

---

† इसके विषयमें ८ । १० । ३ निरुक्तका प्रमाण है ।

दिव्ये इति । पोषणे इति । बृहती इति । सुरुक्मे इति सुऽरुक्मे ।

अधि । श्रियम् । शुक्रऽपिशम् । दधाने इति ॥ ६ ॥

अग्निकी दीप्ति (उषा) और आहुतिकी दीप्ति (नक्ता) ये दोनों यज्ञकी सम्पादिका हैं परस्पर मिली हुई हैं, ये दोनों मुस्कुराती हुईसी देवताओंको संगत करती हैं। ये दिव्य हैं, परस्पर मिल जाती हैं ये महत्त्वमयी हैं, और सुदीप्ति वाली हैं, यह यजमानमें शुक्लरूपा लक्ष्मीको स्थापित करें ‡ ॥ ६ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

दैव्या । होतारा । प्रथमा । सुऽवाचा । मिमाना । यज्ञम् । मनुषः । यजध्यै ।
प्रऽचोदयन्ता । विदथेषु । कारू इति । प्राचीनम् । ज्योतिः । प्रऽदिशा । दिशन्ता ॥ ७ ॥

ये वायु और अग्नि दिव्य होता हैं अर्थात् देवताओंका आह्वान करने वाले हैं, मनुष्य होताओंकी अपेक्षा मुख्य हैं, सुन्दर वाणी वाले हैं, मनुष्यको यज्ञ करनेके लिये प्रेरणा करने वाले हैं और यज्ञका निर्माण करने वाले हैं, + यज्ञोंमें (होता मनुष्य पर अनु-

‡ इस मन्त्रकी व्याख्याके लिये निरुक्त ८।११।२ प्रमाण है।

+ अनग्निक यज्ञ नहीं होता, इस प्रकार अग्निदेव यज्ञका

ग्रह) करनेवाले हैं और विधिवाक्य प्रदेशसे आहवनीय अग्निकी नित्य सेवा करनेकी आज्ञा देने वाले हैं, इस प्रकार ये यज्ञके उपकारमें लगे रहते हैं ये मेरे लिये भी उपकारक हों † ॥ ७ ॥

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ८

आ। नः। यज्ञम्। भारती। तूयम्। एतु। इडा। मनुष्वत्।

इह। चेतयन्ती।

तिस्रः। देवीः। बर्हिः। आ। इदम्। स्योनम्। सरस्वतीः।

सुऽअपसः। सदन्ताम् ॥ ८ ॥

सब भूतोंका जलसे भरण करने वाले अग्निदेवकी कान्ति, पृथ्वी और सरस्वती देवी सचेत होती हुई मनुष्यके बुलाने पर जैसे मनुष्य विना विलम्ब खानेको आता है इस प्रकार, आवें। सुन्दर कर्म वालीं ये तीनों देवियें इस कर्ममें इस कुशा पर सुख पाकर बैठें ‡ ॥ ८ ॥

निर्माण करने वाले हैं और वायुसे फूँके विना अग्नि प्रज्वलित नहीं होते, इस प्रकार वायुदेव यज्ञका निर्माण करने वाले हैं।

† इस व्याख्याके प्रमाणके लिये निरुक्त ८। १२। २ देखना चाहिये।

‡ इस मन्त्रकी व्याख्या निरुक्त ८। १३। २ के अनुसार की गई है। प्रसंगवश केवल भारती शब्दका अर्थ सूर्यकी कांति के स्थानमें अग्निकी कान्ति किया है।

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

यः । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । जनित्री इति । रूपैः । अपिंशत् । भुवनानि । विश्वा ।
तम् । अद्य । होतः । इषितः । यजीयान् । देवम् । त्वष्टारम् । इह । यक्षि । विद्वान् ॥ ९ ॥

जो त्वष्टा देवता सब भूतोंकी उत्पादिका द्यावापृथिवीको और सब भूतोंको अनेक रूपों वाला करता हुआ, हे पूजनीय होता अग्ने ! आज हमसे प्रेरित होकर आप उन, त्वष्टा देवताकी यहाँ पूजा करियो† ॥ ९ ॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि ।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

उपऽअवसृज । त्मन्या । सम्ऽअञ्जन् । देवानाम् । पाथः । ऋतुऽथा । हवींषि ।

† इसकी व्याख्या निरुक्त ८।१४।२ के अनुसार की गई है ।

वनस्पतिः । शमिता । देवः । अग्निः । स्वदन्तु । हव्यम् । मधुना । घृतेन ॥ १० ॥

हे देव ! अपनेसे अपने अधिकारको प्रकट करते हुए आप देवताओंके भाग इस पशुरूप अन्नको और हवियोंको प्रत्येक ऋतुमें (देवताओंको) दीजिये । वनस्पति शमिता और अग्निदेव ये तीनों जल और घृतसे इस हव्यको स्वादु बनावें ‡ ॥१०॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः ।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

सद्यः । जातः । वि । अमिमीत । यज्ञम् । अग्निः । देवानाम् । अभवत् । पुरःऽगाः ।
अस्य । होतुः । प्रऽशिषि । ऋतस्य । वाचि । स्वाहाऽकृतम् । हविः । अदन्तु । देवाः ॥ ११ ॥

इति तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

यह अग्निदेव प्रकट होनेके अनन्तर ही यज्ञको चला देते हैं और अग्निदेव प्रकट होते ही प्रधान होनेसे देवताओंके अग्रगामी होते हैं । ऐसे इन देवताओंका आह्वान करने वाले पूर्वदिशामें उत्तरवेदी आदिके रूपमें प्रणीत अग्निदेवके मुखमें स्वाहाकारके बलसे प्रक्षिप्त हविको देवता भक्षण करें ॥ ११ ॥ +

पञ्चम काण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१५४) ॥

---

‡ इसकी व्याख्या निरुक्त ८।१७।१ के अनुसार की गई है।

+ इस मंत्रकी व्याख्याके लिये ८ । २१ । २ निरुक्त देखिये।

"ददिर्हि" इति सूक्तं विषभैषज्यकर्मणि विनियुज्यते। तत्र "ददिर्हि" इति प्रथमर्चः सर्वविषभैषज्यकर्मणि विनियोगः। तद् उक्तं कौशिकेन। 'ददिर्हीति तक्मकायेत्युक्तम्' इति [कौ० ४.५]॥ ददिर्हि इत्येतस्या विनियोगस्तक्मकाय [कौ० ४.४] इति सूत्रे प्रोक्त इति तस्यार्थः। तद्विनियोगविस्तरस्तु "ब्राह्मणो जज्ञे" इति सूक्ते [४.६] द्रष्टव्यः॥

द्वितीयादीनाम् ऋचां प्रत्यृचं विषापहरण एव विनियोगः। तथा च सूत्रम्। "द्वितीयया ग्रहणी। सव्यं परिक्रामति। शिखासिचि स्तम्बान् उद्ग्रथ्नाति। तृतीयया प्रसर्जनी। चतुर्थ्यां दक्षिणाम् अपेहीति दंशम तृणैः प्रकर्ष्याहिम् अभि निरस्यति यतो दष्टः। पञ्चम्या वलीकपलालज्वालेन। षष्ठ्यार्त्नीज्यापाशेन। द्वाभ्यां मधूद्वापान् पाययति। नवम्या श्वावित्पुरीषम्। त्रिःशुक्लया मांसं प्राशयति। दशम्यालाबुनाचमयति। एकादश्या नाभिं बध्नाति" इति [कौ० ४.५]॥ अस्यार्थः। ग्रहणी कटकबन्धः। पृदादितोऽप्रदक्षिणं रेखां करोति बन्धः। तद् विषस्तम्भनभैषज्यम्। शिखां दष्टस्य बध्नाति तदपि विषस्तम्भनम्। श्वेतवस्त्रे शणस्तम्बे वा ग्रन्थिं बध्नाति। विषं स्तभ्यते शरीरे न सर्पति। तृतीयया दष्टं स्थानं पीडयति। तेन विषम् अन्यत्र गच्छति। चतुर्थ्या आचार्यस्ततः प्रदक्षिणं परिक्रामति। "अपेहि" [७.६३.] इत्यृचं जपित्वा तृणानि प्रज्वाल्य अहेरभिमुखं प्रक्षिपति दष्टस्थाने वा। वलीकेति गृहतृणावज्वालितम् उदकम् अभिमन्त्र्य दष्टं पाययति प्रोक्षति च। षष्ठ्या आर्त्नीज्यापाशम् अभिमन्त्र्य बध्नाति। सप्तम्यष्टमीभ्यां मधुमक्षिकां मधुद्रक्षमक्षिकां चाभिमन्त्र्य पाययति। पुरीषम् अभिमन्त्र्य पाययतीति शेषः। त्रिःशुक्लया श्वाविच्छलाकया। मांसं श्वावित्संबन्धि। अलाबुना अलाबुन्युदकं कृत्वा अभिमन्त्र्य आचामयति विषव्याधितम्। अलाबुवृन्तं संपात्याभिमन्त्र्य बध्नाति। इति॥

तथा आभिचारिके कर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तदुक्तं कौशिकेन। "ददिर्हीति साग्नीनि। देशकपड्ड मदिणाति" इति [कौ० ६. २]॥ देशकपड्ड सर्पच्छत्रम् अहिच्छत्रम् ॥

'ददिर्हि' इस सूक्तका विषकी चिकित्साके कर्ममें विनियोग किया जाता है। इनमें 'ददिर्हि' इस पहिली ऋचाका सब प्रकार के विषोंकी चिकित्साके कर्ममें विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—ददिर्हीति तक्षकायेत्युक्तम्- ददर्हि सूक्त तक्षकके लिये कहा है" (कौशिकसूत्र ४ । ५)। "ददिर्हि इत्येतस्या विनियोगस्तक्षकाय ॥—ददिर्हि इस ऋचाका विनियोग तक्षकके लिये किया जाता है" (कौशिकसूत्र ४ । ४) इसके विनियोगका विस्तार 'ब्राह्मणो जज्ञे' इस चतुर्थ काण्डके छठे सूक्तमें देखना चाहिये।

दूसरी आदि प्रत्येक ऋचाओंका विषको दूर करनेमें ही विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"द्वितीयया ग्रहणी। सव्यं परिक्रामति। शिखासिचि स्तम्बान् उद्ग्रथ्नाति। तृतीयया प्रसर्जनी। चतुर्थ्या दक्षिणं अपेहीति दंश्म तृणैः प्रकर्ष्याहिम् अभि निरस्यति यतो दष्टः। पञ्चम्या वल्मीकपललज्वालेन। षष्ठ्यार्त्नीज्यापाशेन। द्वाभ्यां मधूद्वापान् पाययति। नवम्या श्वावित्पुरीषम्। त्रिशुक्लया मांसं प्राशयति। दशम्या-लाबुनाचामयति। एकादश्या नाभिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ४ । ५) इसका अर्थ यह है, कि—दूसरी ऋचासे ग्रहणी (कटकबन्ध) करे अर्थात् चारों ओर लपेट कर बाँध देय। मट्टी आदि से बाईं ओरसे रेखा करता हुआ बाँधे। यह विषस्तम्भनचिकित्सा है। जिसको काटा है उसकी शिखाको बाँधे यह भी विषको स्तंभित करने वाली चिकित्सा है। श्वेतवस्त्रमें वा शणस्तम्बमें ग्रन्थिको बाँधे। तो विष स्तम्भित होजाता है, शरीरमें नहीं फैलता है।

तीसरीसे मसजंनी करे अर्थात् काटे हुए स्थानको दबावे, इससे विष अन्यत्र (बाहर) चला जाता है। चौथी ऋचासे आचार्य प्रदक्षिण परिक्रमा करे 'अपेहि' इस सातवें काण्डके तिरानवें सूक्तकी ऋचाको जप तृणोंको प्रज्वलित कर सर्पके सामने वा डसे हुए स्थानमें फेंके। पाँचवीं ऋचासे गृहतृणकी ज्वालासे अवज्वालित जलको अभिमन्त्रित करके डसे हुए पुरुषको पिलावे और प्रोक्षण करे। छठीसे आर्त्नीज्या (धनुषकी कोटिके प्रत्यञ्चा) के पाशको अभिमन्त्रित करके बाँधे। सातवीं आठवीं ऋचासे मधुमक्षिकाको और मधुवृक्षकी मृत्तिकाको भी अभिमन्त्रित करके पिलावे। नवमी ऋचासे सेहीके पुरीषको अभिमन्त्रित करके पिलावे। तीन स्थानमें शुक्ल सेहीकी शलाकासे सेहीके मांसका प्राशन करावे। और दशमी ऋचासे अलाबु (रामतुरई–लौकी–घिया) में जल भर उसको अभिमन्त्रित करके पिलावे ग्यारहवीं ऋचासे रामतुरईकी घुण्डीको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे॥

तथा आभिचारिक कर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'ददिर्हि इति साग्नीति' ददिर्हिसे साग्निक आभिचारिक कर्मोंको करे, सर्पच्छत्र अहिच्छत्र को विदारे" (कौशिकसूत्र ६ । २)।

द॒दिर्हि मह्यं॒ वरु॑णो दि॒वः क॒विर्वचो॑भिरु॒ग्रैर्नि रि॑णामि ते वि॒षम् ।
खा॒तमखा॑तमु॒त स॒क्तमग्र॑भ॒मिरे॑व॒ धन्व॒न्नि ज॑जास ते॒ वि॒षम् ॥ १ ॥

तथा आभिचारिके कर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तदुक्तं कौशिकेन। "ददिर्हीति साग्नीनि। देशकपड्डु मन्त्रिणाति" इति [कौ० ६. २]॥ देशकपड्डु सर्पच्छत्रम् अहिच्छत्रम् ॥

'ददिर्हि' इस सूक्तका विषकी चिकित्साके कर्ममें विनियोग किया जाता है। इनमें 'ददिर्हि' इस पहिली ऋचाका सब प्रकार के विषोंकी चिकित्साके कर्ममें विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—ददिर्हीति तक्षकायेत्युक्तम्—ददर्हि सूक्त तक्षकके लिये कहा है" (कौशिकसूत्र ४। ५)। "ददिर्हि इत्येतस्या विनियोगस्तक्षकाय ॥—ददिर्हि इस ऋचाका विनियोग तक्षकके लिये किया जाता है" (कौशिकसूत्र ४। ४) इसके विनियोगका विस्तार 'ब्राह्मणो जज्ञे' इस चतुर्थ काण्डके छठे सूक्तमें देखना चाहिये।

दूसरी आदि प्रत्येक ऋचाओंका विषको दूर करनेमें ही विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"द्वितीयया ग्राहणी। सव्यं परिक्रामति। शिखासिचि स्तम्बान् उद्ग्रथ्नाति। तृतीयया प्रसर्जनी। चतुर्थ्या दक्षिणं अपेहीति दंशम् तृणैः प्रकर्ष्याहिम् अभि निरस्यति यतो दष्टः। पञ्चम्या वलीकपललज्वालेन। षष्ठ्यार्त्नीज्यापाशेन। द्वाभ्यां मधूद्वापान् पाययति। नवम्या श्वावित्पुरीषम्। त्रिशुक्लया मांसं प्राशयति। दशम्यालाबुनाचामयति। एकादश्या नाभिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ४। ५) इसका अर्थ यह है, कि—दूसरी ऋचासे ग्रहणी (कटकबन्ध) करे अर्थात् चारों ओर लपेट कर बाँध देय। मट्टी आदि से बाई ओरसे रेखा करता हुआ बाँधे। यह विषस्तम्भनचिकित्सा है। जिसको काटा है उसकी शिखाको बाँधे यह भी विषको स्तंभित करने वाली चिकित्सा है। श्वेतवस्त्रमें वा शणस्तम्बमें ग्रन्थिको बाँधे। तो विष स्तम्भित होजाता है, शरीरमें नहीं फैलता है।

तीसरीसे प्रसर्जनी करे अर्थात् काटे हुए स्थानको दबावे, इससे विष अन्यत्र (बाहर) चला जाता है। चौथी ऋचासे आचार्य प्रदक्षिण परिक्रमा करे 'अपेहि' इस सातवें काण्डके तिरानवें सूक्तकी ऋचाको जप तृणोंको प्रज्वलित कर सर्पके सामने वा डसे हुए स्थानमें फेंके। पाँचवीं ऋचासे गृहतृणकी ज्वालासे अवज्वालित जलको अभिमन्त्रित करके डसे हुए पुरुषको पिलावे और प्रोक्षण करे। छठीसे आर्त्नीज्या (धनुषकी कोटिके प्रत्यञ्चा) के पाशको अभिमन्त्रित करके बाँधे। सातवीं आठवीं ऋचासे मधुमक्षिकाको और मधुवृक्षकी मृत्तिकाको भी अभिमन्त्रित करके पिलावे। नवमी ऋचासे सेहीके पुरीषको अभिमन्त्रित करके पिलावे। तीन स्थानमें शुक्ल सेहीकी शलाकासे सेहीके मांसका प्राशन करावे। और दशमी ऋचासे अलाबु (रामतुरई–लौकी–घिया) में जल भर उसको अभिमन्त्रित करके पिलावे ग्यारहवीं ऋचासे रामतुरईकी घुण्डीको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे॥

तथा आभिचारिक कर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'ददिर्हि इति साग्नीति' ददिर्हिसे साग्निक आभिचारिक कर्मोंको करे, सर्पछत्र अहिच्छत्र को विदारे" (कौशिकसूत्र ६। २)।

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।

खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥ १॥

दुदिः । हि । मह्यम् । वरुणः । दिवः । कविः । वचःऽभिः । उग्रैः ।
नि । रिणामि । ते । विषम् ।
खातम् । अखातम् । उत । सक्तम् । अग्रभम् । इराऽइव । धन्वन् ।
नि । जजास । ते । विषम् ॥ १ ॥

स्वर्गके चतुर देवता वरुणदेवने मुझको उपदेश दिया है, (वरुणदेवके दिये हुए उन) उग्र वचनोंसे मैं तेरे विषको दूर करता हूँ । जो विष मांसमें गड़ गया है वा न गड़ा है किन्तु ऊपर ही लगा हुआ है उस सब विषको मैं ग्रहण करता हूँ, जिस प्रकार रेतेमें अन्न नष्ट होता है, इसी प्रकार अब तेरा विष नष्ट होगया है १

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

यत् । ते । अपऽउदकम् । विषम् । तत् । ते । एतासु । अग्रभम् ।
गृह्णामि । ते । मध्यमम् । उत्ऽतमम् । रसम् । उत । अवमम् । भियसा ।
नेशत् । आत् । ऊं इति । ते ॥ २ ॥

जो तेरा जलको दूर करने वाला विष है, उसको मैंने इन (नाड़ियों)के भीतर पकड़ लिया है । तेरे उत्तम मध्यम और अधम विषरसको मैं ग्रहण करता हूँ, वह (मन्त्रबलके) भयसे नष्ट होजावे ॥ २ ॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।

अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

वृषा । मे । रवः । नभसा । न । तन्यतुः । उग्रेण । ते । वचसा । बाधे । आत् । ऊं इति । ते ।

अहम् । तम् । अस्य । नृऽभिः । अग्रभम् । रसम् । तमसःऽइव । ज्योतिः । उत् । एतु । सूर्यः ॥ ३ ॥

मेरा शब्द (अमृतकी) वर्षा करने वाला है, और मेघकी समान गर्जना वाला है ऐसे उग्र वचनोंसे मैं तुझ (सर्प) को बाधित करता हूँ, मैंने इस सर्पके विषको मनुष्योंके द्वारा पकड़ लिया है, जैसे अन्धकारमेंसे ज्योति सूर्य उदय होता है, (इसी प्रकार विषसे मुक्त होकर यह पुरुष) उदयको प्राप्त हो—जीवित होजाय ॥ ३ ॥

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥४॥

चक्षुषा । ते । चक्षुः । हन्मि । विषेण । हन्मि । ते । विषम् । अहे । म्रियस्व । मा । जीवीः । प्रत्यक् । अभि । एतु । त्वा । विषम् ॥ ४ ॥

हे सर्प ! मैं अपनी नेत्रशक्तिसे तेरी नेत्रशक्तिको नष्ट करता हूँ विषसे तेरे विषको नष्ट करता हूँ, हे सर्प ! तू मर जा ! जीवित मत रह ! तेरा विष तुझमें ही लौट आवे ॥ ४ ॥

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥ ५ ॥

कैरात । पृश्ने । उपऽतृण्य । बभ्रो इति । आ । मे । शृणुत । असिताः । अलीकाः ।
मा । मे । सख्युः । स्तामानम् । अपि । स्थात । आऽश्रावयन्तः नि । विषे । रमध्वम् ॥ ५ ॥

हे किरातोंके घूमनेके स्थल जंगलमें उत्पन्न हुए, तुच्छ, काले कृष्ण सर्पो! अरे घासमें रहने वाले निन्दनीय सर्पो! मेरा भाषण सुनो। मेरे मित्रके स्थानके पास भी मत ठहरो मेरे इस भाषणको (दूसरे सर्पोंको भी) सुनाते हुए अपने विषमें रमते रहो।

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव ॥ ६ ॥

असितस्य । तैमातस्य । बभ्रोः । अपऽउदकस्य । च ।
सात्राऽसहस्य । अहम् । मन्योः । अव । ज्याम्ऽइव । धन्वनः । वि । मुञ्चामि । रथान्ऽइव ॥ ६ ॥

काले रंग वाले सर्पके, गीले स्थान पर रहनेवाले सर्पके, बभ्रु वर्ण वाले सर्पके, जलसे भिन्न सूखे स्थानमें रहने वाले सर्पके और सात्रासाह सर्पके क्रोधको मैं इस प्रकार उतारता हूँ जिसे

प्रकार धनुषसे रोदेको उतारते हैं और मरुभूमिमें जैसे रथों (के जुओं) को उतार देते हैं ॥ ६ ॥

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च ।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

आऽलिगी । च । विऽलिगी । च । पिता । च । माता । च ।
विद्म । वः । सर्वतः । बन्धु । अरसाः । किम् । करिष्यथ ॥ ७ ॥

हे सर्पो ! तुम्हारे माता और पिता आलिंगी माणमें आ दौड़ने वाले और विलिगी-विशेषरूपसे दौड़ने वाले हैं, तुम्हारे बंधुओं को हम भली भाँति जानते हैं तुम निर्वीर्य क्या कर सकते हो? ७

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

उरुऽगूलायाः । दुहिता । जाता । दासी । असिक्न्या ।
प्रऽतङ्कम् । दद्रुषीणाम् । सर्वासाम् । अरसम् । विषम् ॥ ८ ॥

बड़े भारी गूला हलसे उत्पन्न हुई अतः उसकी पुत्री सर्पिणी काली साँपिन की दासी है, इन दाँतसे क्रोध करने वाली सब साँपनियोंका कष्टदायक विष नीरस-निष्प्रभाव होजाय ॥ ८ ॥

कर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका ।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ६ ॥

कर्णा । श्वावित् । तत् । अब्रवीत् । गिरेः । अवऽचरन्तिका ।

यः । काः । च । इमाः । खनित्रिमाः । तासाम् । अरसऽतमम् ।

विषम् ॥ ९ ॥

पर्वतके पास घूमने वाली कान वाली सेहीने यह कहा, कि-जो खुदे हुए स्थानमें रहने वाली सर्पिणियें हैं उनका विष नीरस (होवे) ॥ ९ ॥

तावुवं न तावुवं न घेत् त्वमसि तावुवम् ।

तावुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥

तावुवम् । न । तावुवम् । न । घ । इत् । त्वम् । असि । तावुवम् ।

तावुवेन । अरसम् । विषम् ॥ १० ॥

तू तावुव नहीं है, तावुव नहीं है, तू तावुव नहीं है, क्योंकि-तावुवसे विष नीरस होजाता है ॥ १० ॥

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत् त्वमसि तस्तुवम् ।

तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

तस्तुवम् । न । तस्तुवम् । न । घ । इत् । त्वम् । असि । तस्तुवम् ।

तस्तुवेन । अरसम् । विषम् ॥ ११ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

तू तस्तुव नहीं है, तस्तुव नहीं है, तू तस्तुव नहीं है, क्योंकि-तस्तुवसे विष नीरस होजाता है ॥ ११ ॥

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१५५) ॥

"सुपर्णस्त्वा" इति सूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठाद् यत्रयत्र कृत्याप्रतिहरणगणो विनियुज्यते तत्रतत्रास्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रादिकं "दूष्या दूषिरसि" इति [२. ११] सूक्ते द्रष्टव्यम् ॥

"सुपर्णस्त्वा" इस सूक्तका कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ है अत एव कृत्याप्रतिहरणगणका जहाँ विनियोग होता है तहाँ तहाँ इस सूक्तका विनियोग होता है। सूत्र आदि 'दूष्या दूषिरसि' इस द्वितीयकाण्डके ग्यारहवें सूक्तमें देखने चाहियें।

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।

दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

सुऽपर्णः। त्वा। अनु। अविन्दत्। सूकरः। त्वा। अखनत्। नसा। दिप्स। ओषधे। त्वम्। दिप्सन्तम्। अव। कृत्याऽकृतम्। जहि १

हे ओषधे! सुन्दर पक्षवाले गरुडदेवने तुझको प्राप्त किया था, आदि वराह सूकरने तुझको नाकसे खोदा था, हे ओषधे! तू कृत्या करके हमको मारना चाहने वालेको मार नष्ट कर।१।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि।

अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥२॥

अव। जहि। यातुऽधानान्। अव। कृत्याऽकृतम्। जहि। अथो इति। यः। अस्मान्। दिप्सति। तम्। ऊं इति। त्वम्। जहि। ओषधे ॥ २ ॥

तू पीड़ा देने वाले यातुधानोंको नष्ट कर कृत्याका प्रयोग करने वालेको मार, हे ओषधे! जो हमको मारना चाहता है उसको तू मार ॥ २ ॥

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः।

कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥३॥

रिश्यस्यऽइव । परिऽशासम् । परिऽकृत्य । परि । त्वचः ।

कृत्याम् । कृत्याऽकृते । देवाः । निष्कम्ऽइव । प्रति । मुञ्चत ३

हे देवताओं ! हिंस्यके आयुधको उसकी त्वचासे काट कर—अलग कर—उस आयुधरूप कृत्याको कृत्या करने वालेके ऊपर ही निष्ककी समान ही छोड़ो अर्थात् जैसे पुरुष सुवर्णको परमप्रेमसे ग्रहण करता है, इसी प्रकार वह कृत्याका प्रेरक कृत्याको मोहवश ग्रहण करे ॥ ३ ॥

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।

समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ४

पुनः । कृत्याम् । कृत्याऽकृते । हस्तऽगृह्य । परा । नय ।

सम्ऽअक्षम् । अस्मै । आ । धेहि । यथा । कृत्याऽकृतम् । हनत् ४

हे ओषधे ! तू कृत्याको कृत्या करने वालेके पास ही फिर हाथ पकड़ कर लेजा । और कृत्याके सामने उस कृत्या करने वालेको धर दे, जिससे वह कृत्या करने वालेको मार डाले ॥४॥

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते ।

सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥५॥

कृत्याः । सन्तु । कृत्याऽकृते । शपथः । शपथिऽयते ।

सुऽखः । रथःऽइव । वर्तताम् । कृत्या । कृत्याऽकृतम् । पुनः ॥५॥

कृत्या कृत्या करने वालेके लिये प्राप्त हों और जो शपथसा आचरण करता है अर्थात् शाप देता है, शपथ उसको ही प्राप्त

हों जैसे सुन्दर आकाशको प्राप्त हुआ अर्थात् खुले हुए समपथमें प्राप्त हुआ रथ घूमता है, तिसी प्रकार कृत्या कृत्या करने वालेके ऊपर फिर सुखपूर्वक घूमे ॥ ५ ॥

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने।

तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥६॥

यदि । स्त्री । यदि । वा । पुमान् । कृत्याम् । चकार । पाप्मने ।

ताम् । ऊं इति । तस्मै । नयामसि । अश्वम्ऽइव । अश्वऽअभिधान्या

यदि स्त्रीने वा पुरुषने तुझको पापमय कृत्य करनेके लिये किया है, तो हम जैसे घोड़े पर घोड़े बाँधनेकी रस्सी पटकायी जाती है, तिस प्रकार कृत्याको कृत्या करने वाले पर ही पटकते हैं ॥ ६ ॥

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता।

तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

यदि । वा । असि । देवऽकृता । यदि । वा । पुरुषैः । कृता ।

ताम् । त्वा । पुनः । नयामसि । इन्द्रेण । सऽयुजा । वयम् ॥७॥

हे कृत्ये ! यदि तुझको देवताओंने किया है अथवा तुझको पुरुषोंने किया है तो इन्द्रके साथ मित्रता रखने वाले हम तुझको फिर लौटाते हैं ॥ ७ ॥

अग्ने पृतनाषाट् पृतना सहस्व।

पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

अग्ने। पृतनाषाट्। पृतनाः। सहस्व।

पुनः। कृत्याम्। कृत्याऽकृते। प्रतिऽहरणेन। हरामसि ॥ ८ ॥

हे असुरोंकी सेनाका सामना करने वाले अग्निदेव! आप इन कृत्याओंकी सेनाओंका सामना करिये, इस प्रतिहरण (कृत्याको लौटाने) के कर्मसे हम कृत्याको कृत्याकारीके लिये लौटाते हैं ॥ ८ ॥

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि।

न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

कृतऽव्यधनि। विध्य। तम्। यः। चकार। तम्। इत्। जहि।

न। त्वाम्। अचक्रुषे। वयम्। वधाय। सम्। शिशीमहि ॥९॥

हे संहारके साधनोंको उठाये हुए कृत्ये! जिसने तुझको किया है उसको ही तू बींध, उसको ही तू मार, जिसने तुझको नहीं किया है उसका वध करनेके लिये हम तुझको तीक्ष्ण नहीं कर रहे हैं ॥ ९ ॥

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश।

बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः १०

पुत्रःऽइव। पितरम्। गच्छ। स्वजःऽइव। अभिऽस्थितः। दश।

बन्धम्ऽइव। अवऽक्रामी। गच्छ। कृत्ये। कृत्याऽकृतम्। पुनः १०

कृत्ये! पुत्र जैसे पिताके पास जाता है, इसी प्रकार तू अपने उत्पादकके पास जा और जैसे दबने पर लिपटने वाला सर्प लिपट कर काट लेता है इस प्रकार कृत्याकारीको डस ले। और जैसे

बंधन बीचमेंसे टूटने पर फिर अपने ही अङ्ग पर लगता है इस प्रकार हे कृत्ये ! तू कृत्याकारीके पास ही फिर जा ॥ १० ॥

उदे॒णीव॑ वार॒ण्य॑भि॒स्कन्दं॑ मृ॒गीव॑ । कृ॒त्या क॒र्तार॑मृच्छतु ॥

उत् । ए॒णीऽइ॑व । वा॒र॒णी । अ॒भि॒ऽस्कन्द॑म् । मृ॒गीऽइ॑व ॥ कृ॒त्या । क॒र्तार॑म् । ऋ॒च्छ॒तु ॥ ११ ॥

जैसे हथिनी मृगी और एणी जातिकी मृगी झपटती है इसी प्रकार कृत्या कृत्याका प्रयोग करने वाले पर झपटे ॥ ११ ॥

इष्वा॑ ऋ॒जीयः॑ पततु॒ द्यावा॑पृथि॒वी तं प्रति॑ ।

सा तं मृ॒गमि॑व गृह्णातु कृ॒त्या कृ॑त्या॒कृतं॒ पुनः॑ १२

इष्वाः॑ । ऋ॒जीयः॑ । प॒त॒तु॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । तम् । प्रति॑ ।

सा । तम् । मृ॒गम्ऽइ॑व । गृ॒ह्णा॒तु॒ । कृ॒त्या । कृ॒त्या॒ऽकृत॑म् । पुनः॑ ।

हे द्यावापृथिवी ! कृत्या कृत्या करने वाले पर बाणकी समान सरलरीतिसे पड़े वह कृत्या कृत्याकारीको लौटकर मृगकी समान पकड़ लेय ॥ १२ ॥

अ॒ग्निरि॑वैतु प्रति॒कू॒लम॑नु॒कू॒लमि॑वोद॒कम् ।

सु॒खो रथ॑ इव वर्ततां कृ॒त्या कृ॑त्या॒कृतं॒ पुनः॑ ॥ १३ ॥

अ॒ग्निःऽइ॑व । ए॒तु॒ । प्र॒ति॒ऽकू॒लम् । अ॒नु॒कू॒लम्ऽइ॑व । उ॒द॒कम् ।

सु॒ऽखः । रथः॑ऽइव । व॒र्त॒ता॒म् । कृ॒त्या । कृ॒त्या॒ऽकृत॑म् । पुनः॑ ॥ १३ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

वह कृत्या अग्निकी समान कर्तासे प्रतिकूल व्यवहार करती

हुई प्राप्त होवे, और जैसे जल कूलको ढाता हुआ प्राप्त होता है तैसे कृत्याकारीको अनुकूल होकर प्राप्त होवे, कृत्या कृत्याकारी पर सुखपूर्वक घूमने वाले रथकी समान घूमे ॥ १३ ॥

पञ्चम काण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५६) ॥

गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु "एका च मे" इति सूक्तेन अभिमन्त्रितं सलवणं केवलं वा उदकं गाः पाययेत् । तदुक्तं कौशिकसूत्रे । "एका च म इति गा लवणं पाययति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

दुष्टवक्तृमुखस्तम्भनकर्मणि "एका च मे"[५. १५]"यद्येक-वृषोसि" [५. १६] इति सूक्ताभ्यां खलतुलपर्णीं मधुना लोडि-तेषु सक्तुषु जर्जरीकृत्वा अभिमन्त्र्य पाययति ॥ "यद्येकवृषोसि" इत्यभिमन्त्र्य अन्नं भुंक्ते शापभैषज्यार्थम् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि "यद्येकवृषोसि" इत्यनेन गृहद्वारम् अभि-मन्त्र्य अपिदधाति । तदुक्तं कौशिकेन । "मधुलावृषलिङ्गाभिः खलतुलपर्णीं संक्षुद्य मधुमन्थे पाययति । उत्तराभिर्भुङ्क्ते । द्वारं सृजति"इति [कौ० ४. ५]॥ "एका च मे" इति मधुलाशब्द-वत्यः । "यद्येकवृषोसि" इति वृषलिङ्गाः ॥

गौओंकी रोगशांति पुष्टि और प्रजननके कर्मोंमें 'एका च मे' इस सूक्तसे अभिमंत्रित साधारण वा लवण पड़े हुए जलको अभिमंत्रित करके गौओंको पिलावे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है । "एका च मे इति गा लवणं पाययति" (कौशिकसूत्र ३ । २)॥

दुष्ट वक्ताके मुखको स्तंभित करनेके कृत्यमें 'एका च मे' इस पञ्चमकाण्डके पन्द्रहवें सूक्तसे और 'यद्येकवृषोऽसि' इस पञ्चमकाण्डके सोलहवें सूक्तसे खलतुलपर्णीको मधुसे आलोडित सत्तुओंमें जर्जर करके अभिमंत्रित करके पिलावे । शापकी

चिकित्साके लिये 'यद्येकवृषोऽसि' इससे अभिमंत्रित करके अन्न को खावे।

तथा इसी प्रकार इसी कर्ममें 'यद्येकवृषोऽसि' इससे गृहद्वारको अभिमंत्रित करके बन्द करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'मधुलावृषलिंगाभिः खलतुलपर्णीं संक्षुद्य मधुमंथे पाययति। उत्तराभिर्युक्ते। द्वारं सृजति" (कौशिकसूत्र ४।५)। "एका च मे" इति मधुलाशब्दवत्यः। "यद्येकवृषोऽसि" इति वृषलिंगाः।

एका च मे दश च मेपवक्तार ओषधे।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १॥

एका। च। मे। दश। च। मे। अपऽवक्तारः। ओषधे।

ऋतऽजाते। ऋतऽवरि। मधु। मे। मधुला। करः॥ १॥

यज्ञार्थ उत्पन्न हुई जलमयी औषधे! मेरी बुराई करने वाले एक हों दश हों वा ग्यारह हों, तू मधुर है अतः मेरे शब्दको मधुर कर।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई औषधे! मेरी निंदा करने वाले हों तब भी तू मेरे लिये ग्यारह मधुर गौओंको कर और उनका मधुर दूध मेरे निमित्त कर॥ १॥

द्वे च मे विंशतिश्च ०।० ॥ २॥

द्वे। इति। च। मे। विंशतिः। च॥०॥ २॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे! मेरे निन्दक दो हों वा बीस हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे! मेरी निंदा करने

वाले, दो हों वा बीस हों तब भी तू मेरे लिये बाईस मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ २ ॥

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च ०।० ॥ ३ ॥

तिस्रः । च । मे त्रिंशत् । च ॥०॥३ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक तीन हों वा तीस हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर ।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, तीन हों वा तीस हों तब भी तू मेरे लिये तैंतीस मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ३ ॥

चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च ।०। ॥ ४ ॥

चतस्रः । च । मे । चत्वारिंशत् । च ॥०॥ ४ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक चार हों वा चालीस हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर ।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, चार हों वा चालीस हो तब भी तू मेरे लिये चौबालीस मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ४ ॥

पञ्च च मे पञ्चाशच्च ०।०॥ ५ ॥

पञ्च । च । मे । पञ्चाशत् । च ॥०॥ ५ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक पाँच हो वा पचास हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर ।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, पाँच हों वा पचास हों तब भी तू मेरे लिये पचपन मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ५ ॥

षट् च मे षष्टिश्च ०।० ॥ ६ ॥

षट् । च । मे । षष्टिः । च ॥०॥ ६ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक छः हों वा साठ हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, छः हों वा साठ हों तब भी तू मेरे लिये छियासठ मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ६ ॥

सप्त च मे सप्ततिश्च ०।० ॥ ७॥

सप्त । च । मे । सप्ततिः । च ॥०॥ ७ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक सात हों वा सत्तर हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, सात हों वा सत्तर हों तब भी तू मेरे लिये सतत्तर मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ७ ॥

अष्ट च मेशीतिश्च ०।० ॥ ८ ॥

अष्ट । च । मे । अशीतिः । च ॥०॥ ८ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक आठ हों वा अस्सी हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा–हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी औषधे ! मेरी निंदा करने वाले, आठ हों वा अस्सी हों तब भी तू मेरे लिये अठासी मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ८ ॥

नव च मे नवतिश्च ०।० ॥ ९ ॥

नव । च । मे । नवतिः । च ॥०॥ ९ ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक नौ हों वा नब्बै हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी ओषधे ! मेरी निंदा करने वाले, नौ हों वा नब्बै हों तब भी तू मेरे लिये निन्यानवे मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ९ ॥

दश च मे शतं च मेपवक्तारः ०।०'॥१० ॥

दश । च । मे । शतम् । च । मे । अपऽवक्तारः ॥०॥ १० ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक दस हों वा सौ हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा—हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी ओषधे ! मेरी निंदा करने वाले, दस हों वा सौ हों तब भी तू मेरे लिये एकसौ दश मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ १० ॥

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे ।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

शतम् । च । मे । सहस्रम् । च । अपऽवक्तारः । ओषधे ।

ऋतऽजाते । ऋतऽवरि । मधु । मे । मधुला । करः ॥ ११ ॥

तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥ इति तृतीयोनुवाकः ॥

हे ऋतजाते ऋतावरि ओषधे ! मेरे निन्दक सौ हों वा हजार हों तू मधुर है अतः मेरे वचनको मधुर कर।

वा—हे जलमें उत्पन्न हुई जलमयी ओषधे ! मेरी निंदा करने वाले, सौ हों वा हजार हों तब भी तू मेरे लिये एक हजार सौ मधुर गौओंको कर, उनका मधुर दुग्ध मेरे लिये कर ॥ ११ ॥

पञ्चम काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१५७) ॥

तीसरा अनुवाक समाप्त

"यद्येकवृषोसि" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रमपि पूर्वसूक्ते उदाहृतम् ॥

'यद्येकवृषोऽसि' इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है । सूत्र भी पहिले सूक्तमें कह दिया है ।

यद्येकवृषोसि सृजारसोसि ॥ १ ॥

यदि । एकऽवृषः । असि । सृज । अरसः । असि ॥ १ ॥

हे लवण ! यदि तू एक वृषभकी समान शक्ति वाला है तो इस गौके संतानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा ।

वा हे अन्न ! तू एक वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द करानेकी शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है १

यदि द्विवृषोसि० ॥ २ ॥

यदि । द्विऽवृषः । असि ॥ ० ॥ २ ॥

हे लवण ! यदि तू दो वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा ।

वा-हे अन्न ! तू दो वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द कराने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तु नीरस है २

यदि त्रिवृषोसि० ॥ ३ ॥

यदि । त्रिऽवृषः । असि ॥ ० ॥ ३ ॥

हे लवण ! यदि तू तीन वृषभकी समान शक्ति वाला है तो

इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा।

वा-हे अन्न! तू तीन वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा करने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द करने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ३

यदि॑ चतु॒र्वृ॒षोसि॑० ॥ ४ ॥

यदि॑। च॒तुः॒ऽवृ॒षः। असि॑ ॥ ० ॥ ४ ॥

हे लवण! यदि तू चार वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा।

वा-हे अन्न! तू चार वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द कराने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ४

यदि॑ पञ्च॒वृ॒षोसि॑० ॥ ५ ॥

यदि॑। प॒ञ्च॒ऽवृ॒षः। असि॑ ॥ ० ॥ ५ ॥

हे लवण! यदि तू पाँच वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा।

वा-हे अन्न! तू पाँच वृषभ की समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द कराने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ५

यदि॑ षड्वृ॒षोसि॑० ॥ ६ ॥

यदि॑। ष॒ट्ऽवृ॒षः। असि॑ ॥ ० ॥ ६ ॥

हे लवण ! यदि तू छः वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा ।

वा-हे अन्न ! तू छः वृषभ की समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द कराने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ६

यदि सप्तवृषोसि० ॥ ७ ॥

यदि । सप्तऽवृषः । असि ॥ ० ॥ ७ ॥

हे लवण ! यदि तू सात वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा ।

वा-हे अन्न ! तू सात वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द करानेकी शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ७

यद्यष्टवृषोसि० ॥ ८ ॥

यदि । अष्टऽवृषः । असि ॥ ० ॥ ८ ॥

हे लवण ! यदि तू आठ वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा ।

वा-हे अन्न ! तू आठ वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द करानेकी शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ८

यदि नववृषोसि० ॥ ९ ॥

यदि । नवऽवृषः । असि ॥ ० ॥ ६ ॥

हे लवण ! यदि तू नौ वृषभ की समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा।

वा-हे अन्न ! तू नौ वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बन्द कराने की शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है ६

यदिं दशवृषोसिं सृजारसोऽसि ॥ १० ॥

यदि । दशऽवृषः । असि । सृजः । अरसः । असि ॥ १० ॥

हे लवण ! यदि तू दश वृषभकी समान शक्ति वाला है तो इस गौके सन्तानको उत्पन्न कर वा इसको पुष्ट करके इसको रच अन्यथा तू नीरस माना जावेगा।

वा-हे अन्न ! तू दश वृषभकी समान शब्दरूपी वीर्यकी वर्षा कराने वाला है तो मुझमें उस वीर्यको प्रकट कर उससे शत्रुके मुखको बंद करानेकी शक्तिको मुझमें रच अन्यथा तू नीरस है १०

यद्येकादशोसि सोपोदकोसि ॥ ११ ॥

यदि । एकादशः । असि । सः । अपऽउदकः । असि ॥ ११ ॥

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

यदि (तू इन दश तककी शक्ति वाला नहीं है) एकादश है तो तू नीरस है ॥ ११ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१५८) ॥

गोहरणेभिचारकर्मणि "तेवदन्" इति सूक्तेन नेतॄणां पदं वृश्चति। तथा अनेन सूक्तेन चौरान् अन्वाह ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "तेऽवदन्निति नेतृणां पदं वृश्चति । अन्वाह" इति [कौ० ६. २]॥

गोहरणके अभिचार कर्ममें 'तेऽवदन् इस सूक्तसे नेताओंके पदको काटे ।

तथा इस सूक्तको चोरोंके पीछे कहे। इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि-"तेऽवदन्निति नेतृणां पदं वृश्चति" (कौशिक सूत्र ६ । २)॥

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य

ते । अवदन् । प्रथमाः । ब्रह्मऽकिल्बिषे । अकूपारः । सलिलः । मातरिश्वा ।

वीडुऽहरा । तपः । उग्रम् । मयःऽभूः । आपः । देवीः । प्रथमऽजाः । ऋतस्य ॥ १ ॥

ब्राह्मणका अपराध करनेके विषयमें सूर्यदेव, जलके अभिमानी देवता वरुण, वायुदेव, उग्र तपके अभिमानी देवता सुखदायक चन्द्रदेव, आपो देवी इन सत्यात्मक ब्रह्माजीसे पहिले प्रकट हुए बली प्रसिद्ध देवताओंने कहा है ॥ १ ॥

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥ २ ॥

सोमः । राजा । प्रथमः । ब्रह्मऽजायाम् । पुनः । प्र । अयच्छत् ।

अहृणीयमानः ।

अनुऽअर्तिता । वरुणः । मित्रः । आसीत् । अग्निः । होता । हस्तऽ-

गृह्य । आ । निनाय ॥ २ ॥

प्रथम राजा सोमने क्रोध न करते हुए ब्रह्मजाया (जिससे ब्रह्म (यज्ञ) प्रकट होता है उस गौको वा ब्राह्मण शब्दसे उपलक्षित द्विजवर्ण की स्त्री) को देदिया था उस समय वरुण और सूर्य उसके साथ चलने वाले थे, अग्निदेव होता थे (उनके समक्ष वर) हाथ पकड़ कर उसको लेगया ॥ २ ॥

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य

हस्तेन । एव । ग्राह्यः । आऽधिः । अस्याः । ब्रह्मऽजाया । इति ।

च । इत् । अवोचत् ।

न । दूताय । प्रऽहेया । तस्थे । एषा । तथा । राष्ट्रम् । गुपितम् ।

क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥

यह ब्रह्मजाया है ऐसा कोई कहे तो उसका संकल्प हाथसे ही ग्रहण करना चाहिये, यह बात निश्चित हो चुकी है, कि-इस को दूतके द्वारा नहीं देना चाहिये । ऐसा करने पर क्षत्रियका राज्य रक्षित रहता है ॥ ३ ॥

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम् ।

सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥

याम् । आहुः । तारका । एषा । विऽकेशी । इति । दुच्छुनाम् । ग्रामम् । अवऽपद्यमानाम् ।

सा । ब्रह्मऽजाया । वि । दुनोति । राष्ट्रम् । यत्र । प्रऽअपादि । शशः । उल्कुषीऽमान् ॥ ४ ॥

जिसको ग्रामको आती हुई दुर्गति कराने वाली प्रकाशमान् तारका (उल्का) कहते हैं वह उल्का वाला शश जहाँ गिरता है वह राष्ट्र नष्ट होजाता है । इसीप्रकार (हरण करने पर) ब्रह्मजाया (गौ वा ब्राह्मणकी स्त्री) उस राज्यको नष्ट कर देती है ॥४॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥

ब्रह्मऽचारी । चरति । वेविषत् । विषः । सः । देवानाम् । भवति । एकम् । अङ्गम् ।

तेन । जायाम् । अनु । अविन्दत् । बृहस्पतिः । सोमेन । नीताम् । जुह्वम् । न । देवाः ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्यमें) व्याप्त होता हुआ प्रजामें घूमता है, वह देवताओंका एक अंगरूप होता है, जैसे सोमके लाये हुए

चमसको देवताओंने पाया था। ऐसे ही ब्रह्मचारीके द्वारा बृहस्पतिने जायाको पाया था ॥ ५ ॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

देवाः। वै। एतस्याम्। अवदन्त। पूर्वे। सप्तऽऋषयः। तपसा। ये। निऽसेदुः।
भीमा। जाया। ब्राह्मणस्य। अपऽनीता। दुःऽधाम्। दधाति। परमे। विऽओमन् ॥ ६ ॥

तपके द्वारा स्वर्गमें स्थित सप्त ऋषियोंने और देवताओंने ब्रह्मजाया (ब्राह्मणकी स्त्री) के विषयमें कहा था, कि—ब्राह्मणकी भगाई हुई स्त्री परम—व्योममें—स्वर्गमें भयंकर होजाती है और दुःस्थितिमें डाल देती है ॥ ६ ॥

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ७

ये। गर्भाः। अवऽपद्यन्ते। जगत्। यत्। च। अपऽलुप्यते।
वीराः। ये। तृह्यन्ते। मिथः। ब्रह्मऽजाया। हिनस्ति। तान् ७

जो गर्भ गिरते हैं, जो जगत् उलट पलट होता है और जो वीर परस्पर मारे जाते हैं, इन सबको ब्रह्मजाया ही मारती है। अर्थात् ब्राह्मणकी स्त्रीसे दुर्व्यवहार करनेका यह फल होता है ॥ ७ ॥

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

उत । यत् । पतयः । दश । स्त्रियाः । पूर्वे । अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा । च । इत् । हस्तम् । अग्रहीत् । सः । एव । पतिः । एकऽधा

चाहें स्त्रीके अब्राह्मण दश पालक हों परन्तु जो ब्राह्मण उस का विवाह विधिसे हाथ पकड़ता है, वही उसका एक पति है ८

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणः । एव । पतिः । न । राजन्यः । न । वैश्यः ।
तत् । सूर्यः । प्रऽब्रुवन् । एति । पञ्चऽभ्यः । मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

इस गौका ब्राह्मण ही पति है, राजा और वैश्य इसके पति नहीं हैं, इसी बातको पाँच मनुष्योंसे कहते हुए भगवान् सूर्य चलते हैं । ९ ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

पुनः । वै । देवाः । अददुः । पुनः । मनुष्याः । अददुः ।
राजानः । सत्यम् । गृह्णानाः । ब्रह्मऽजायाम् । पुनः । ददुः १०

सत्यको ग्रहण करके राजाओंने मनुष्योंने और देवताओंने ब्रह्मजाया (गौ) को वारम्वार दिया है ॥ १० ॥

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।

ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

पुनःऽदाय । ब्रह्मऽजायाम् । कृत्वा । देवैः । निःऽकिल्बिषम् ।

ऊर्जम् । पृथिव्याः । भक्त्वा । उरुऽगायम् । उप । आसते ॥११॥

ब्रह्मजायाको फिर देकर, देवताओंके द्वारा निर्दोष किये हुए पृथिवीके बलकारक अन्नका विभाग कर (राजे) विशाल कीर्ति वाले परमात्माकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥

न । अस्य । जाया । शतऽवाही । कल्याणी । तल्पम् । आ । शये ।

यस्मिन् । राष्ट्रे । निऽरुध्यते । ब्रह्मऽजाया । अचित्त्या ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें ब्राह्मणकी स्त्री और गौ मोहमें डाल कर रोक ली जाती है, उस राष्ट्रकी सैंकड़ों कल्याणोंको धारण करने वाली स्त्री पलँग पर शयन न कर सके ॥ १२ ॥

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।

यस्मिन्० ॥ १३ ॥

न । विऽकर्णः । पृथुऽशिराः । तस्मिन् । वेश्मनि । जायते ॥ ०॥ १३

जिस राष्ट्रमें ब्रह्मजाया (ब्राह्मण की स्त्री) मोहमें डाल कर रोक ली जाती है उस राष्ट्रके (किसी) घरमें विशाल कानों वाला और विशाल भाल वाला पुरुष उत्पन्न नहीं होता ॥१३॥

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।

यस्मिन्० ॥ १४ ॥

न । अस्य । क्षत्ता । निष्कऽग्रीवः । सूनानाम् । एति । अग्रतः ॥०॥

जिस राष्ट्रमें ब्राह्मणकी स्त्री बेहोश करके रोक ली जाती है, उस राजाका क्षत्ता गलेमें निष्क धारण कर सूनाके आगे नहीं जाता है ॥ १४ ॥

नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।

यस्मिन्० ॥ १५ ॥

न । अस्य । श्वेतः । कृष्णऽकर्णः । धुरि । युक्तः । महीयते ॥०॥१५

जिसके राज्यमें ब्राह्मणकी स्त्री मोहमें डाल कर रोक ली जाती है उसका काले कान वाला श्वेत (अश्व) धुरेमें जुत कर प्रशंसा नहीं पाता ॥ १५ ॥

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।

यस्मिन्० ॥ १६ ॥

न । अस्य । क्षेत्रे । पुष्करिणी । न । आण्डीकम् । जायते । बिसम् ॥ ० ॥ १६ ॥

जिसके राज्यमें ब्रह्मजायाको मोहमें डाल कर रोका जाता है, उसके क्षेत्रमें न पुष्करिणी रहती है और न अण्डेकी समान आकर वाले कन्दसे उत्पन्न हुआ कमल और पद्मकन्द होता है १६

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।

यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १७ ॥

न । अस्मै । पृश्निम् । वि । दुहन्ति । ये । अस्याः । दोहम् । उपऽआसते ।

यस्मिन् । राष्ट्रे । निऽरुध्यते । ब्रह्मऽजाया । अचित्त्या ॥१७॥

जिस राष्ट्रमें ब्रह्मजाया मोहमें डाल कर रोक ली जाती है उस के दुहनेके कामको जो पुरुष करते हैं, वे उसको थोड़ासा भी दुह कर नहीं देते ॥ १७ ॥

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।

विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

न । अस्य । धेनुः । कल्याणी । न । अनड्वान् । सहते । धुरम् ।

विऽजानिः । यत्र । ब्राह्मणः । रात्रिम् । वसति । पापया १८

इति चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

स्त्रीसे रहित हुआ ब्राह्मण जहाँ पापमय बुद्धिसे रात्रिमें निवास करता है उसके स्वामीके यहाँ कल्याणी गौ नहीं होती बैल बोझा नहीं ढोता ॥ १८ ॥

चौथे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१५९) ॥

गोहरणमारणविशसनाधिश्रयणपचनभक्षणादिषु क्रियमाणेषु अभिचारकामो ब्रह्मचारी "नैतां ते देवाः" "अतिमात्रम् अवर्धन्त" इति सूक्तद्वयं "श्रमेण तपसा" इत्यनुवाकं च [१२. ५] शत्रून् अन्वाह । द्वेष्यं मनसि कृत्वा जपतीत्यर्थः । तद् उक्तं कौशिकसूत्रे । "ब्रह्मगवीभ्याम् अन्वाह । चेष्टाम् । विचृतति । ऊबध्ये । श्मशाने । त्रिरमून् हनस्वेत्याह । द्वितीययाश्मानम् ऊबध्ये गूहयति । द्वादशरात्रं सर्वव्रत उपश्राम्यति । द्विरुदिते स्तृतः । अवागग्रेण निवर्तयति" इति [कौ० ६. २] ॥ "नैतां ते देवाः" "अतिमात्रम् अवर्धन्त" इति द्वे सूक्ते एका ब्रह्मगवी । "श्रमेण तपसा" इत्यनुवाकोऽन्या ॥ चेष्टाम् । अन्वाहेति शेषः । चेष्टा हरणमारणविशसनाद्याः ॥ विचृतति ऊबध्ये हविःकृतेत्यर्थः ॥ अमून् शत्रून् ॥ द्विरुदिते द्वादशरात्राद् ऊर्ध्वं द्विः सवितर्युद्गते नष्टः शत्रुरिति ज्ञेयम् ॥ अवागग्रेण दण्डेन अश्मानम् ऊबध्यग्रहाद् अपनयति ॥

गोहरण, मारण, विशसन (काटना), अधिश्रयणपचन और भक्षण आदिका प्रचार होनेपर अभिचारकी कामना वाला ब्रह्मचारी 'नैतां ते देवाः' इस पञ्चमकाण्डके अठारहवें सूक्तको और 'अतिमात्रं अवर्धन्त' इन दोनों सूक्तोंको और 'श्रमेण तपसा' इस बारहवें काण्डके पञ्चम अनुवाकको शत्रुओंसे कहे, अर्थात् शत्रु को मनमें रख कर जपे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"ब्रह्मगवीभ्यां अन्वाह। चेष्टाम्। विचृतति। ऊवध्ये। श्मशाने। त्रिरमून् हनस्वेत्याह। द्वितीययाश्मानं अवध्ये गूहयति। द्वादशरात्रं सर्वव्रत उपश्राम्यति। द्विरुदिते स्नुतः। अवागग्रेण निर्वर्तयति कौशिकसूत्र ६। २)॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।

मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥१॥

न। एताम्। ते। देवाः। अददुः। तुभ्यम्। नृऽपते। अत्तवे।

मा। ब्राह्मणस्य। राजन्य। गाम्। जिघत्सः। अनाद्याम् ॥१॥

हे नृपते! देवताओंने तुझको इस गौको खानेके लिये नहीं दिया है। हे राजन्य! तू ब्राह्मणकी न खाने योग्य गौको खाने की इच्छा न कर॥ १॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।

स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥२॥

अक्षऽद्रुग्धः। राजन्यः। पापः। आत्मऽपराजितः।

सः। ब्राह्मणस्य। गाम्। अद्यात्। अद्य। जीवानि। मा। श्वः २

इन्द्रियोंसे द्रोह करने वाला आत्मपराजित पापी राजा ही

ब्राह्मणकी गौको खावे और वह राजा आज ही जीवे कलको जीवित न रहे ॥ २ ॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।

सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

आऽविष्टिता । अघऽविषा । पृदाकूःऽइव । चर्मणा ।

सा । ब्राह्मणस्य । राजन्य । तृष्टा । एषा । गौः । अनाद्या ॥३॥

वधरूप पाप विष वाली चर्म (केंचुलीसे) से घिरी हुई प्यासी साँपिनकी समान ब्राह्मणकी गौ होती है, हे राजन्य ! इसको न खाना चाहिये ॥ ३ ॥

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम् ।

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

निः । वै । क्षत्रम् । नयति । हन्ति । वर्चः । अग्निःऽइव । आऽरब्धः । वि । दुनोति । सर्वम् ।

यः । ब्राह्मणम् । मन्यते । अन्नम् । एव । सः । विषस्य । पिबति । तैमातस्य ॥ ४ ॥

जो ब्राह्मण (के पदार्थ) को खाने योग्य समझता है वह तैमातके विषका पान करता है, अपने क्षात्र तेजको बाहर फैंकता है और क्रोधमें भरे हुए अग्निकी समान अपने सर्वस्वको नष्ट कर डालता है, संतप्त कर देता है ॥ ४ ॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

यः । एनम् । हन्ति । मृदुम् । मन्यमानः । देवऽपीयुः । धनऽकामः । न । चित्तात् ।
सम् । तस्य । इन्द्रः । हृदये । अग्निम् । इन्धे । उभे इति । एनम् । द्विष्टः । नभसी इति । चरन्तम् ॥ ५ ॥

धनकी कामना वाला जो पुरुष ब्राह्मणको मृदु समझ अज्ञानवश ब्राह्मणका नाश करना चाहता है, वह देवताओंका ही हिंसक है । इन्द्रदेव ऐसे (पापी) के हृदयमें अग्नि जलाते हैं और दोनों द्यावापृथिवी ऐसे विचरते हुए पुरुषसे द्वेष करते हैं ५

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥६॥

न । ब्राह्मणः । हिंसितव्यः । अग्निः । प्रियतनोःऽइव ।
सोमः । हि । अस्य । दायादः । इन्द्रः । अस्य । अभिशस्तिऽपाः ६

ब्राह्मण अग्निस्वरूप हैं, जैसे कोई अपने प्रिय शरीरका नाश नहीं करता है, ऐसे ही उसका नाश नहीं करना चाहिये । सोम ब्राह्मणके दायाद हैं और इन्द्र इनके शापका पालन करने वाला है

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन् ।

अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते ॥७॥

शतऽअपाष्ठाम् । नि । गिरति । ताम् । न । शक्नोति । निःऽखिदन् ।

अन्नम् । यः । ब्रह्मणाम् । मल्वः । स्वादु । अद्मि । इति । मन्यते ७

जो मलिन पुरुष ब्राह्मणोंके अन्नको मैं स्वादिष्ट वस्तुका भक्षण कररहा हूँ, ऐसा समझता है, वह सैंकड़ों आपत्तियोंको निगल लेता है और उनको मिटानेका प्रयत्न करता हुआ भी नहीं मिटा सकता ॥ ७ ॥

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः ।

तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ८

जिह्वा । ज्या । भवति । कुल्मलम् । वाक् । नाडीकाः । दन्ताः । तपसा । अभिऽदिग्धाः ।

तेभिः । ब्रह्मा । विध्यति । देवऽपीयून् । हृत्ऽबलैः । धनुःऽभिः । देवऽजूतैः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणकी जिह्वा ही प्रत्यञ्चा होती है। वाणी कुल्मल (बाण और फलकेको जोड़नेका मसाला) होती है और तपसे लिपटे हुए दाँत नाडीक (तीर) होते हैं। देवताओंसे प्रेरित (देवताओंके दिये हुए) हृदय बलसे प्रेरित ऐसे धनुषोंसे ब्राह्मण (भू-) देवोंका वध करने वालोंको बींधता है ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा ।

अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादेव भिन्दन्त्येनम्

तीक्ष्णऽइषवः । ब्राह्मणाः । हेतिऽमन्तः । याम् । अस्यन्ति । शरव्याम् । न । सा मृषा ।

अनुऽहाय । तपसा । मन्युना । च । उत । दूरात् । अव । भिन्दन्ति । एनम् ॥ ९ ॥

तप और क्रोधसे पीछे पड़कर तीक्ष्ण बाण वाले आयुधधारी ब्राह्मण जिन बाणोंको छोड़ते हैं वे दूरसे ही इस (वैरी) को बींध डालते हैं ॥ ९ ॥

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥१०॥

ये । सहस्रम् । अराजन् । आसन् । दशऽशताः । उत ।

ते । ब्राह्मणस्य । गाम् । जग्ध्वा । वैतऽहव्याः । परा । अभवन् १०

जो वीतहव्यके वंशके हजारों राजे राज्य करते थे वे ब्राह्मण की गौको छीन कर पराजित होगए थे ॥ १० ॥

गौरेव तान् हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत् ।

ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन् ॥ ११ ॥

गौः । एव । तान् । हन्यमाना । वैतऽहव्यान् । अव । अतिरत् ।

ये । केसरऽप्राबन्धायाः । चरमऽअजाम् । अपेचिरन् ॥ ११ ॥

जिन्होंने केसरप्राबंधा चरमाजाको पकाया, पिटती हुई गौने ही उन वैतहव्योंको तित्तर वित्तर कर दिया ॥ ११ ॥

एकंशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

एकऽशतम् । ताः । जनताः । याः । भूमिः । विऽअधूनुत ।
प्रऽजाम् । हिंसित्वा । ब्राह्मणीम् । असम्ऽभव्यम् । परा । अभवन् ।

जो एक सौ जनता भूमिको कँपा चुकी थी वह ब्राह्मणकी प्रजाको मार कर असंभव्य (पुनरुत्पत्तिरहितरूप) से पराजित हुई थी ॥ १२ ॥

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति
लोकम् ॥ १३ ॥

देवऽपीयुः । चरति । मर्त्येषु । गरऽगीर्णः । भवति । अस्थिऽभूयान् ।
यः । ब्राह्मणम् । देवऽबन्धुम् । हिनस्ति । न । सः । पितृऽयानम् ।
अपि । एति । लोकम् ॥ १३ ॥

(भू–) देवोंका वध करने वाला विषसे जीर्ण हो बहुत सी अस्थियोंके रूपमें रह कर मनुष्योंमें वर्तमान रहता है । जो देवताओंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है, वह पितृयानसे प्राप्त होने वाले लोकको नहीं जाता ॥ १३ ॥

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते ।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद् वेधसो विदुः ॥ १४ ॥

अग्निः । वै । नः । पद्ऽवायः । सोमः । दायादः । उच्यते ।

हन्ता । अभिऽशस्ता । इन्द्रः । तथा । तत् । वेधसः । विदुः १४

अग्नि हमारे पदोंको पहुँचाने वाला है, सोम हमारा दायाद है। इन्द्रदेव (हमारी ओरसे) मारने वाले और काटने वाले हैं, इसको वेधा जानते हैं ॥ १४ ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकुरिव गोपते ।

सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

इषुःऽइव । दिग्धा । नृऽपते । पृदाकुःऽइव । गोऽपते ।

सा । ब्राह्मणस्य । इषुः । घोरा । तया । विध्यति । पीयतः १५

इति चतुर्थेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे पृथ्वीपति राजन् ! ब्राह्मणकी (वाणीरूप) बाण विषमें बुझे हुए बाणकी समान और सर्पिणीकी समान होता है, ब्राह्मण उस बाणसे कष्ट देने वालोंको मारता है ॥ १५ ॥

पञ्चम काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (१९०) ॥

"अतिमात्रम् अवर्धन्त" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"अतिमात्रमवर्धन्त" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया गया है।

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।

भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

अतिऽमात्रम् । अवर्धन्तः । न । उद्ऽइव । दिवम् । अस्पृशन् ।

भृगुम् । हिंसित्वा । सृनऽजयाः । वैतऽहव्याः । परा । अभवन् १

सृञ्जय बहुत बढ़ गए थे, किन्तु उन वीतिहव्यके गोत्र वाले सृञ्जयोंने भृगु वंशीको मार डाला था, अतः उनका पराजय हुआ और वह स्वर्गका स्पर्श न कर सके ॥ १ ॥

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन् ब्राह्मणं जनाः ।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

ये । बृहत्ऽसामानम् । आङ्गिरसम् । आर्पयन् । ब्राह्मणम् । जनाः ।
पेत्वः । तेषाम् । उभयादम् । अविः । तोकानि । आवयत् ॥२॥

जिन मनुष्योंने बृहत्साम वाले आंगिरसगोत्री ब्राह्मणको आपत्तियोंसे ढका था घृतने उनके दोनों (लोकों) खाने (नष्ट करने) वाले (पुत्रको उत्पन्न किया और वह) गतिरहित हुआ (और देवताओंने) उसकी सन्तानको फैंका ॥ २ ॥

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ३

ये । ब्राह्मणम् । प्रतिऽअष्ठीवन् । ये । वा । अस्मिन् । शुल्कम् । ईषिरे
अस्नः । ते । मध्ये । कुल्यायाः । केशान् । खादन्तः । आसते ३

जिन्होंने ब्राह्मण पर थूका था और जो इससे शुल्क (कर) चाहते हुए वे रक्तकी नदीमें बालोंको खाते हुए पड़े हुए हैं ॥३॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥

ब्रह्मऽगवी । पच्यमाना । यावत् । सा । अभि । विऽजङ्गहे ।

तेजः । राष्ट्रस्य । निः । हन्ति । न । वीरः । जायते । वृषा ॥४॥

जहाँ पर पकती हुई गौ फड़फड़ाती है, तहाँ (वह) राष्ट्रके तेजको नष्ट कर देती है और तहाँ (वीर्यकी) वर्षा करने वाला वीर-उत्पन्न नहीं होता ॥ ४ ॥

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते ।

क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥५॥

क्रूरम् । अस्याः । आऽशसनम् । तृष्टम् । पिशितम् । अस्यते ।

क्षीरम् । यत् । अस्याः । पीयते । तत् । वै । पितृषु । किल्बिषम् ५

इसका काटना क्रूर है, इसका जो मांस (मुखमें) फैंका जाता है वह तृषा लगाने वाला है और (वध करनेका विचार करके रक्खी हुई) गौका जो क्षीर पिया जाता है वह पितरोंमें पापका संक्रमण करने वाला होता है ॥ ५ ॥

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।

परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥

उग्रः । राजा । मन्यमानः । ब्राह्मणम् । यः । जिघत्सति ।

परा । तत् । सिच्यते । राष्ट्रम् । ब्राह्मणः । यत्र । जीयते ॥६॥

जो राजा अपनेको उग्र मानता हुआ ब्राह्मणको खाना चाहता है, और जहाँ ब्राह्मण दुःखित होता है, वह राष्ट्र (और राजा) बह जाता है ॥ ६ ॥

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।

द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्म-
ज्यस्य ॥ ७ ॥

अष्टाऽपदी । चतुःऽअक्षी । चतुःऽश्रोत्रा । चतुःऽहनुः ।

द्विऽआस्या । द्विऽजिह्वा । भूत्वा । सा । राष्ट्रम् । अव । धूनुते ।

ब्रह्मऽज्यस्य ॥ ७ ॥

यह ब्राह्मण पर डाली हुई आपत्ति ब्राह्मणको हानि पहुँचाने वालेके राज्यको आठ पैर, चार नेत्र, चार कान, चार ठोड़ी, दो मुख और दो जीभ वाली होकर हिला डालती है ॥ ७ ॥

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥८॥

तत् । वै । राष्ट्रम् । आ । स्रवति । नावम् । भिन्नाम्ऽइव । उदकम् ।

ब्रह्माणम् । यत्र । हिंसन्ति । तत् । राष्ट्रम् । हन्ति । दुच्छुना ८

जैसे छेद वाली नावको जल डुबा देता है, इसी प्रकार वह पाप उसके राष्ट्रको डुबा देता है, जिस राष्ट्रमें ब्राह्मणोंको पुरुष मारते हैं उस राष्ट्रको आपत्ति नष्ट कर देती है ॥ ८ ॥

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

तम् । वृक्षाः । अप । सेधन्ति । छायाम् । नः । मा । उप । गाः ।

इति ।

यः । ब्राह्मणस्य । सत् । धनम् । अभि । नारद । मन्यते ॥९॥

हे नारद ! जो ब्राह्मणके सत् धनको दबा कर अपना मानता है, उसको हम निवारण करना चाहते हैं, किन्तु हमारी छायामें न आ ॥ ९ ॥

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।

न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ।१०।

विषम् । एतत् । देवऽकृतम् । राजा । वरुणः । अब्रवीत् ।

न । ब्राह्मणस्य । गाम् । जग्ध्वा । राष्ट्रे । जागार । कः । चन १०

राजा वरुणने कहा है, कि—(ब्राह्मणके धनका अपहरण कर) देवताओंका रचा हुआ विष है। ब्राह्मणकी गौ (आदि सम्पत्ति) का हरण कर राष्ट्रमें कोई जागता हुआ नहीं रहा है ॥ १० ॥

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

नव । एव । ताः । नवतयः । याः । भूमिः । विऽअधूनुत ।

प्रऽजाम् । हिंसित्वा । ब्राह्मणीम् । असम्ऽभव्यम् । परा । अभवन्

वे आठ सौ दश पुरुष जिनसे भूमि काँपती थी वे ब्राह्मणकी प्रजाका संहार कर असंभव्यरूपसे पराजित होगए ॥ ११ ॥

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।

तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

याम् । मृताय । अनुऽबध्नन्ति । कूद्यम् । पदऽयोपनीम् ।

तत् । वै । ब्रह्मऽज्य । ते । देवाः । उपऽस्तरणम् । अब्रुवन् ।१२।

पैरोंको मोहमें डालने वाली कुत्सित शब्द करने वाली जिस (रस्सी) को मृत पुरुषके लिये बाँधते हैं, हे ब्रह्मज्य ! (ब्राह्मण को हानि पहुँचाने वाले) उसीको देवताओंने तेरे लिये बिछौने के रूपमें कहा है ॥ १२ ॥

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥

अश्रूणि । कृपमाणस्य । यानि । जीतस्य । ववृतुः ।

तम् । वै । ब्रह्मऽज्य । ते । देवाः । अपाम् । भागम् । अधारयन्

जीते हुए कृपाके योग्य ब्राह्मणके जो आँसू बहते हैं, हे ब्रह्मज्य ! देवताओंने तेरे लिये वही जलका भाग निर्धारित कर रक्खा है १३

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।

तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥

येन । मृतम् । स्नपयन्ति । श्मश्रूणि । येन । उन्दते ।

तम् । वै । ब्रह्मऽज्य । ते । देवाः । अपाम् । भागम् । अधारयन् १४

जिस जलसे मृतकको स्नान कराते हैं और जिस जलसे मूँछे गीली की जाती हैं, हे ब्रह्मज्य ! देवताओंने तेरे लिये वही जल का भाग निश्चित कर रक्खा है ॥ १४ ॥

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।

नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ।१५।

न । वर्षम् । मैत्रावरुणम् । ब्रह्मऽज्यम् । अभि । वर्षति ।

न । अस्मै । सम्ऽइतिः । कल्पते । न । मित्रम् । नयते । वशम् १५

इति चतुर्थेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

सूर्य और वरुणदेवसे होनेवाली वृष्टि ब्रह्मज्य (के राज्य) की ओर नहीं बरसती है। इसके यहाँ कोई सभा समर्थ नहीं होती है और यह अपने मित्रोंको भी वशमें नहीं रख सकता ॥ १५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१६१)॥

"उच्चैर्घोषः" इति सूक्तेन त्रासनपरसेनाविद्वेषणकर्मणि भेर्यादिवादित्राणि प्रक्षाल्य तगरोशीरेण लेपयित्वा संपात्य त्रिस्ताडयित्वा वादकाय पुरोधाः प्रयच्छेत्। सूत्रितं। "उच्चैर्घोषः [५. २०] उप श्वासय [६. १२६] इति सर्ववादित्राणि प्रक्षाल्य तगरोशीरेण संधाव्य संपातवन्ति त्रिराहत्य प्रयच्छति" इति [कौ० २.७]॥

तथा महाव्रते अनेन सूक्तेन भूमिदुन्दुभिं ताडयेत्। तदु उक्तं वैताने। "भूमिदुन्दुभिम् आर्षेणापिनद्धं पुच्छेनाघ्नन्त्युच्चैर्घोष उप श्वासय" इति [वै० ६. ४]॥

"उच्चैर्घोषः" इस सूक्तसे त्रासन और शत्रुसेनामें द्वेष कराने के कर्ममें भेरी आदि बाजोंको धोकर तगर और खसखससे लेप कर सम्पातन करके तीन बार ताडन करनेके अनन्तर पुरोहित वादकको देदेय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उच्चैर्घोषः [५।२०] उप श्वासय (६।१२६) इति सर्ववादित्राणि प्रक्षाल्य तगरोशीरेण संधाव्य सम्पातवन्ति त्रिराहत्य प्रयच्छति" (कौशिकसूत्र २।७)॥

महाव्रतमें इस सूक्तसे भूमिदुन्दुभिका ताड़न करे। इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"भूमिदुन्दुभिं आर्षेणापिनद्धं पुच्छेनाघ्नन्त्युच्चैर्घोष उप श्वासय" (वैतानसूत्र ६।४)॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

उच्चैःऽघोषः। दुन्दुभिः। सत्वनाऽयन्। वानस्पत्यः। सम्ऽभृतः। उस्रियाभिः।
वाचम्। क्षुणुवानः। दमयन्। सऽपत्नान्। सिंहःऽइव। जेष्यन्। अभि। तंस्तनीहि ॥ १ ॥

हे दुन्दुभे! तू बलवान् प्राणीकी समान आचरण कर ऊंचा शब्द करने वाली है, वनस्पतियोंसे बनाई हुई है, गौओं (के विकार) से भरी हुई है, ऐसी तू शब्द करती हुई शत्रुओं का दमन कर और सिंहकी समान जीतनेकी इच्छा करती हुई चारों ओरसे गरजती रह ॥ १ ॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः

सिंहःऽइव। अस्तानीत्। द्रुवयः। विऽबद्धः। अभिऽक्रन्दन्। ऋषभः। वासिताम्ऽइव।
वृषा। त्वम्। वध्रयः। ते। सऽपत्नाः। ऐन्द्रः। ते। शुष्मः। अभिमातिऽसाहः ॥ २ ॥

हे दुन्दुभे ! तू दृढ़की समान अवस्था वाली है, विशेषरूपसे बँधी हुई है, सिंहकी समान और ऋतुमती गौ पर रंभाते हुए साँडकी समान तूने गर्जना की है तू वृषा है वीर्यकी वर्षा करने वाली है, तेरे शत्रु निर्वीर्य होजाते हैं, तेरा बल इन्द्रकी समान (बलवान् बनाने वाला) है और अभिमानियोंको सहने वाला है ॥ २ ॥

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव संधनाजित् । शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

वृषाऽइव । यूथे । सहसा । विदानः । गव्यन् । अभि । रुव । संधनऽजित् ।

शुचा । विध्य । हृदयम् । परेषाम् । हित्वा । ग्रामान् । प्रऽच्युताः । यन्तु । शत्रवः ॥ ३ ॥

जैसे झुण्डमें गौको चाहने वाला साँड सहसा पहिचान लिया जाता है । तैसे ही धनको जीतना चाहने वाली तू शब्द कर, शत्रुओंके हृदयको शोकसे बींध दे । शत्रु (हमारे) ग्रामोंको छोड़ च्युत होकर भाग जावें ॥ ३ ॥

सुञ्जयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व । दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥

सम्ऽजयन् । पृतनाः । ऊर्ध्वऽमायुः । गृह्याः । गृह्णानः । बहुऽधा । वि । चक्ष्व ।

दैवीम् । वाचम् । दुन्दुभे । आ । गुरस्व । वेधाः । शत्रूणाम् ।

उप । भरस्व । वेदः ॥ ४ ॥

उच्च शब्द करती हुई तू संग्रामोंको जीत और ग्रहण करने योग्य सेनाओं (के चिन्हों) को ग्रहण करती हुई अनेक प्रकार से शब्द कर। हे दुन्दुभे ! तू दैवी वाणीको बोल तू वेधा है, अतः शत्रुओंके धनोंको लाकर मुझको दे ॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा

नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्

दुन्दुभेः । वाचम् । प्रऽयताम् । वदन्तीम् । आऽशृण्वती । नाथिता ।

घोषऽबुद्धा ।

नारी । पुत्रम् । धावतु । हस्तऽगृह्य । आमित्री । भीता । सम्ऽअरे । वधानाम् ॥ ५ ॥

दुन्दुभिकी नियमपूर्वक निकलती हुई ध्वनिको सुनती हुई और उस गर्जनसे जागी हुईसी समरमें वधोंके होनेसे डरी हुई शत्रुकी स्त्री, याचना करती हुई अपने पुत्रका हाथ पकड़ कर भाग जावे ॥ ५ ॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः

अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

पूर्वः । दुन्दुभे । प्र । वदासि । वाचम् । भूम्याः । पृष्ठे । वद । रोचमानः ।

अमित्रऽसेनाम् । अभिऽजञ्जभानः । द्युऽमत् । वद । दुन्दुभे ।

सूनृताऽवत् ॥ ६ ॥

हे दुन्दुभे ! तू पहिले ध्वनिको करता है अतः तू शत्रुसेनाको नष्ट करता हुआ भूमिकी पीठपर कांतिमय और सत्य प्रिय वाणी को बोल ॥ ६ ॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् ।

अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥

अन्तरा । इमे इति । नभसी इति । घोषः । अस्तु । पृथक् । ते ।

ध्वनयः । यन्तु । शीभम् ।

अभि । क्रन्द । स्तनय । उत्ऽपिपानः । श्लोकऽकृत् । मित्रऽतूर्याय ।

सुऽअर्धी ॥ ७ ॥

इन द्यावापृथिवीके बीचमें तेरा शब्द होवे, तेरी ध्वनियें शीघ्र ही अनेक रूपसे फैल जावें, ऊपरको चढ़ाती हुई और प्रशंसा करने वाली शब्दसमृद्धिसम्पन्न तू मित्रोंमें वेग उत्पन्न करनेके लिये कड़क कर शब्द कर ॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि ।

इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥

धीभिः । कृतः । प्र । वदाति । वाचम् । उत् । हर्षय । सत्वनाम् ।

आयुधानि ।

इन्द्रऽमेदी। सत्वनः। नि। ह्वयस्व। मित्रैः। अमित्रान्। अव। जङ्घनीहि

बुद्धिपूर्वक बनाई हुई दुन्दुभि अच्छा शब्द करती है, हे दुंदुभे! तू बली पुरुषोंके हाथोंको ऊँचा करके प्रसन्न कर। इन्द्र तेरे साथ स्नेह करते हैं, तू शूरोंको बुला और हमारे मित्रोंसे शत्रुओंका संहार करा॥ ८॥

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे॥ ९॥

सम्ऽक्रन्दनः। प्रऽवदः। धृष्णुऽसेनः। प्रवेदऽकृत्। बहुऽधा। ग्रामऽघोषी।

श्रेयः। वन्वानः। वयुनानि। विद्वान्। कीर्तिम्। बहुऽभ्यः। वि। हर। द्विऽराजे॥ ९॥

तू गर्ज कर शब्द करने वाली है, सेनाको ढीठ बनाने वाली है, धन करने वाली है और ग्रामको गुञ्जारने वाली है, हे दुन्दुभे! तू कल्याणका सेवन करने वाली है, तू श्रेष्ठ पुरुषोंको जानने वाली है, तू इन दो राजाओंके बीचमें बहुतसे योधाओंको कीर्ति दे॥ ९॥

श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि।

अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेधि नृत्य वेदः

श्रेयःऽकेतः । वसुऽजित् । सहीयान् । संग्रामऽजित् । सम्ऽशितः ।
ब्रह्मणा । असि ।

अंशून्ऽइव । ग्रावा । अधिऽसवने । अद्रिः । गव्यन् । दुन्दुभे ।
अधि । नृत्य । वेदः ॥ १० ॥

हे दुन्दुभे ! तू कल्याणको देने वाली, धनको जीतने वाली, बलवती, संग्रामका विजय करने वाली और मन्त्रसे तीक्ष्ण की हुई है, जैसे पर्वत पत्थरोंके अधिषवणके समय अपने छोटे २ पत्थरोंको (दबाता हुआ) नृत्य करता है, इसी प्रकार भूमिको चाहने वाली तू शत्रुओंके धनको अधीन करके नाच ॥ १० ॥

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद् वदेह

शत्रुषाट् । नीषाट् । अभिमातिऽसहः । गोऽएषणः । सहमानः ।
उत्ऽभित् ।

वाग्वीऽइव । मन्त्रम् । प्र । भरस्व । वाचम् । सांग्रामऽजित्याय । इषम् ।
उत् । वद । इह ॥ ११ ॥

शत्रुओंको सहने वाली, सदा टक्कर झेलने वाली अभिमानियों की टक्कर सहने वाली गवेषणा करने वाली तू वाणीकी ऊपर को फोड़ती हुईसी निकालने वाली है, तू वाग्मी पुरुषकी समान शब्दको भर संग्रामको जीतनेके लिये अच्छी प्रकार गड़गड़ाहट कर ॥ ११ ॥

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।

इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥

अच्युतऽच्युत् । सम्ऽमदः । गमिष्ठः । मृधः । जेता । पुरःऽएता । अयोध्यः ।

इन्द्रेण । गुप्तः । विदथा । निऽचिक्यत् । हृत्ऽद्योतनः । द्विषताम् । याहि । शीभम् ॥ १२ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे न डिगने वालेको डिगाने वाले नगाड़े ! तू हर्षमें भरने वाला है, योधाओंको चलाने वाला संग्रामोंको जीतने वाला है, आगे आने वाला है, तुझसे कोई युद्ध नहीं कर सकता, तू इन्द्र से रक्षित है, हार्दाकाशमें होने वाले कर्मोंको सचेत करता हुआ तू शत्रुओंके हृदयको प्रदीप्त करता हुआ शीघ्र ही शत्रुओंको प्राप्त हो ॥ १२ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१६२) ॥

“विहृदयम्” इति सूक्तेन परसेनात्रासनविद्वेषणकर्मणि सर्ववादित्राणि प्रक्षाल्य तगरेणशीरेण लेपयित्वा संपातवन्ति त्रिराहत्य वादकाय प्रयच्छति ॥

तथा अनेन सूक्तेन सोमाङ्कुरमणिं हरिणचर्मणा वेष्टितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नाति ॥

तद् उक्तं कौशिकसूत्रे । “विहृदयम् इत्युच्चैस्तरां हुत्वा स्रुवम् उद्वर्तयन् सोमांशून् हरिणचर्मण्युत्सीव्य क्षत्रियाय बध्नाति” इति [कौ० २. ७] ॥ “विहृदयम्” इति सूक्तस्य सर्वत्र उच्चैःस्वरेण प्रयोगः । उद्वर्तयन् ऊर्ध्वं परिवर्तयन् ॥

“विहृदयम्” इस सूक्तसे शत्रुकी सेनाको त्रस्त करनारूप

विद्वेषके कर्ममें सब प्रकारके बाजोंको धोकर तगर और खसखस का लेप करके सम्पात कर उनको तीन बार ताड़ित कर बजाने वालेको देदेय ॥

तथा इस सूक्तसे सोमके अंकुरकी मणिको हरिणके चर्मसे लपेट कर सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"विहृदयम् इति उच्चैस्तरां हुत्वा स्रुवं उद्वर्तयन् सोमांशुं हरिणचर्मण्युत्सीव्य त्रिशाय बध्नाति" (कौशिकसूत्र २।४) "विहृदयम्" यह सूक्त सर्वत्र ऊँचे स्वरसे पढ़ना चाहिये।

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान् दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

विऽहृदयम्। वैमनस्यम्। वद। अमित्रेषु। दुन्दुभे।
विऽद्वेषम्। कश्मशम्। भयम्। अमित्रेषु। नि। दध्मसि। अव। एनान्। दुन्दुभे। जहि ॥ १ ॥

हे दुंदुभे! तू शत्रुओंमें वैमनस्य और विहृदयताका प्रचार कर (कह) हम शत्रुओंमें विद्वेष और कश्मलको स्थापित करना चाहते हैं, तू इनको तिरस्कृत करके मार ॥ १ ॥

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च।
धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते ॥ २ ॥

उत्ऽवेपमानाः। मनसा। चक्षुषा। हृदयेन। च।

धावन्तु । बिभ्यतः । अमित्राः । प्रऽत्रासेन । आज्ये । हुते ॥२॥

घृतकी आहुति देने पर हमारे शत्रु काँप जावें और मन चक्षु तथा हृदयसे डर, डरका भाव प्रकट करते हुए भागें ॥ २ ॥

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

वानस्पत्यः । सम्ऽभृतः । उस्रियाभिः । विश्वऽगोत्र्यः ।

प्रऽत्रासम् । अमित्रेभ्यः । वद । आज्येन । अभिऽघारितः ॥३॥

हे (दुन्दुभे) नगाड़े ! तू वनस्पतियोंसे बना हुआ है, चमड़े से मढ़ा हुआ है और सम्पूर्ण मेघोंका जैसा शब्द होता है तैसा शब्द करने वाला है, हे घृतसे अभिघारित नगाड़े ! तू शत्रुओंसे त्रासको कह अर्थात् अपनी गड़गड़ाहटसे शत्रुओंको त्रास दे ॥३॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि ।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि
मोहय ॥ ४ ॥

यथा । मृगाः । सम्ऽविजन्ते । आरण्याः । पुरुषात् । अधि ।

एव । त्वम् । दुन्दुभे । अमित्रान् । अभि । क्रन्द । प्र । त्रासय ।

अथो इति । चित्तानि । मोहय ॥ ४ ॥

हे नगाड़े ! जैसे (शिकारी) पुरुषसे जंगली मृग भयभीत हुआ करते हैं, हे दुन्दुभे ! तू गड़गड़ा कर इसी प्रकार शत्रुओंको त्रस्त कर उनके चित्तोंको मोहमें डाल ॥ ४ ॥

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः । एवा० ५

यथा । वृकात् । अजऽअवयः । धावन्ति । बहुः । बिभ्यतीः ॥०॥५॥

जैसे भेड़ियेसे डरती हुई भेड़ बकरियें बहुत भागती हैं, हे दुन्दुभे ! इसी प्रकार तू शत्रुओंकी ओर गड़गड़ाकर उनके चित्तों को मोहमें डाल कर उनको त्रास दे ॥ ५ ॥

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा ।

एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

यथा । श्येनात् । पतत्रिणः । सम्ऽविजन्ते । अहःऽदिवि । सिंहस्य । स्तनथोः । यथा ।

एव । त्वम् । दुन्दुभे । अमित्रान् । अभि । क्रन्द । प्र । त्रासय । अथो इति । चित्तानि । मोहय ॥ ६ ॥

जैसे पक्षी बाजसे और जैसे (प्राणी) रातमें हो चाहे दिनमें हो सिंहकी दहाड़से डरा करते हैं, इसी प्रकार हे दुन्दुभे ! तू शत्रुओंकी ओर लक्ष्य करके गड़गड़ा और उनके चित्तोंको मोहमें डाल कर त्रस्त कर ॥ ६ ॥

परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७ ॥

परा । अमित्रान् । दुन्दुभिना । हरिणस्य । अजिनेन । च ।

सर्वे । देवाः । अतित्रसन् । ये । सम्ऽग्रामस्य । ईशते ॥ ७ ॥

जो संग्रामके स्वामी देवता हैं, उन सबोंने हरिणकी चर्मसे और दुन्दुभिसे शत्रुओंको पराजित कर डरा दिया है ॥ ७ ॥

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।

तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

यैः । इन्द्रः । प्रऽक्रीडते । पत्ऽघोषैः । छायया । सह ।

तैः । अमित्राः । त्रसन्तु । नः । अमी इति । ये । यन्ति ।

अनीकऽशः ॥ ८ ॥

जिन पैरछलोंसे छायाके साथ इन्द्रदेव क्रीड़ा करते हैं उनसे हमारे ये शत्रु जो सेनाबद्ध होकर चलते हैं, वे त्रस्त हों ॥ ८ ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः ।

सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

ज्याऽघोषाः । दुन्दुभयः । अभि । क्रोशन्तु । याः । दिशः ।

सेनाः । पराऽजिताः । यतीः । अमित्राणाम् । अनीकऽशः ॥९॥

जिस दिशाकी ओर शत्रुओंकी सेनाएँ पराजित होकर जारही हैं, उस ओर हमारी दुन्दुभियें और मत्यञ्चाके घोष संग्रहद्धसे जावें

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोनु धावत ।

पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

आदित्य । चक्षुः । आ । दत्स्व । मरीचयः । अनु । धावत ।

पत्ऽसङ्गिनीः । आ । सजन्तु । विऽगते । बाहुऽवीर्ये ॥ १० ॥

हे आदित्य ! आप शत्रुओंकी नेत्रशक्तिको ग्रहण करिये, हे किरणों ! तुम (शत्रुकी पीठ पर) दौड़ो । शत्रुओंका बाहुबल क्षीण होनेपर उनके पैरोंका साथ देने वाली (जूतियें) उलझ जावें

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ११

यूयम् । उग्राः । मरुतः । पृश्निऽमातरः । इन्द्रेण । युजा । प्र । मृणीत । शत्रून् ।

सोमः । राजा । वरुणः । राजा । महाऽदेवः । उत । मृत्युः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

हे पृश्निमातृक मरुतों ! तुम उग्र हो (अतः तुम और) राजा सोम राजा वरुण और महादेव मृत्यु और इन्द्रके साथ संयुक्त होकर शत्रुओंको मसलो ॥ ११ ॥

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।

अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

एताः । देवऽसेनाः । सूर्यऽकेतवः । सऽचेतसः ।

अमित्रान् । नः । जयन्तु । स्वाहा ॥ १२ ॥

चतुर्थेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूर्यकी पताका वाली और समान चित्त वाली ये देवसेनाएँ हमारे शत्रुओंको जीतें, यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १२ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (१६३) ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

ज्वरभैषज्यकर्मणि "अग्निस्तक्मानम्" इति सूक्तेन लाजान् पाययति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि दावाग्निप्रणयनं कृत्वा अनेन सूक्तेन ताम्रस्रवेण मूर्ध्नि संपातान् आनयति ॥

तथा च सूत्रम् । "अग्निस्तक्मानम् इति लाजान् पाययति । दावे लोहितपात्रेण मूर्ध्नि संपातान् आनयति" इति [कौ०४.५]॥ लाजाः कृष्णाः व्रीहयः । तान् अभिमन्त्र्य पाययति मण्डं कृत्वा ॥

ज्वरकी चिकित्साके कर्ममें "अग्निस्तक्मानम्" इस सूक्तसे लाजाओंका पान करावे ।

तथा इसी कर्ममें दावाग्निका प्रणयन करके इस सूक्तसे ताँबे के स्रवेसे मस्तक पर सम्पातोंको लावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अग्निस्तक्मानं इति लाजान् पाययति । दावे लोहितपात्रेण मूर्ध्नि सम्पातान् आनयति" इति (कौशिकसूत्र ४ । ५) काले धान लाजा कहलाती हैं । उनका मण्ड बना कर पिलावे ॥

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।

वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु

अग्निः । तक्मानम् । अप । बाधताम् । इतः । सोमः । ग्रावा । वरुणः । पूतऽदक्षाः ।

वेदिः । बर्हिः । सम्ऽइधः । शोशुचानाः । अप । द्वेषांसि । अमुया । भवन्तु ॥ १ ॥

अग्निदेव, सोमदेव, मेघके देवता इन्द्र, पवित्र बलवाले वरुण, वेदि बर्हि और समिधायें प्रदीप्त होकर ज्वरको बाधित करें और हमारे शत्रु यहाँसे हट जावें ॥ १ ॥

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।

अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥

अयम् । यः । विश्वान् । हरितान् । कृणोषि । उत्ऽशोचयन् । अग्निःऽइव । अभिऽदुन्वन् ।

अध । हि । तक्मन् । अरसः । हि । भूयाः । अध । न्यङ् । अधराङ् । वा । परा । इहि ॥ २ ॥

हे जीवनको कष्टमय करने वाले ज्वर ! यह जो तू सम्पूर्ण मनुष्योंको शोकयुक्त करता हुआ अग्निकी समान उनको संतप्त करता हुआ हरा सा बना देता है, अतः वह तू नीरस (निर्बल) होजा, तू तिरस्कृत हो, नीचेसे नीचे स्थानको प्राप्त हो ॥ २ ॥

यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।

तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ ३ ॥

यः । परुषः । पारुषेयः । अवध्वंसःऽइव । अरुणः ।

तक्मानम् । विश्वधाऽवीर्य । अधराञ्चम् । परा । सुव ॥ ३ ॥

जो कठोर है, कठोरतासे हुए अवध्वंस (कत्थ) की समान लाल वर्ण वाला है, हे सब प्रकारकी शक्ति वाले ! ऐसे ज्वरको आप तिरस्कृत करके दूर करिये ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने ।

शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥

अधराञ्चम् । प्र । हिनोमि । नमः । कृत्वा । तक्मने ।

शकम्ऽभरस्य । मुष्टिऽहा । पुनः । एतु । महाऽवृषान् ॥ ४ ॥

मैं ज्वरको प्रणाम करके उसे नीचेके स्थलमें भेजता हूँ, रस वाले पुरुषको मुक्केसे मारने वाला ज्वर (वीर्यकी) बड़ी वर्षा करने वालोंको फिर प्राप्त हो ॥ ४ ॥

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।

यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥५॥

ओकः । अस्य । मूजऽवन्त । ओकः । अस्य । महाऽवृषाः ।

यावत् । जातः । तक्मन् । तावान् । असि । बल्हिकेषु । निऽओचरः

इस ज्वरका घर मुञ्जवान् है और इसका घर वीर्यकी अधिक वर्षा करने वाले पुरुष हैं, हे तक्मन् ! तू जितना हुआ है उतना ही बल्हिकोंमें नित्य संयुक्त रहता है ॥ ५ ॥

तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय ।

दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥

तक्मन् । विऽआल । वि । गद । विऽअङ्ग । भूरि । यवय ।

दासीम् । निःऽतक्वरीम् । इच्छ । ताम् । वज्रेण । सम् । अर्पय ६

हे सर्पकी समान जीवनको कष्टमय और व्यङ्ग करने वाले विशिष्ट रोग रूप ज्वर ! तू इमसे अपनेको पृथक् कर और चोरी करने वाली दासीको वज्ररूपसे चिपट जा ॥ ६ ॥

तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥७॥

तक्मन् । मूजऽवतः । गच्छ । बल्हिकान् । वा । परःऽतराम् ।

शूद्राम् । इच्छ । प्रऽफर्व्यम् । ताम् । तक्मन् । विऽइव । धूनुहि ७

हे जीवनको दुःखमय बनाने वाले ज्वर ! तू मूँज वाले प्रदेश को वा बाल्हीक देशोंको वा उससे भी दूर जा और हे तक्मन् ! तू प्रथम अवस्था वाली शूद्राकी इच्छा कर और उसको विशेष रीतिसे कँपा ॥ ७ ॥

महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य ।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥८॥

महाऽवृषान् । मूजऽवतः । बन्धु । अद्धि । पराऽइत्य ।

प्र । एतानि । तक्मने । ब्रूमः । अन्यऽक्षेत्राणि । वै । इमा ।८॥

तू मूँज वाले महावृष्टियुक्त स्थानों पर जा और तहाँ बन्धुओं को खा, इन क्षेत्रोंको वा अन्य क्षेत्रोंको हम ज्वरके लिये कहते हैं ८

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।

अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥९॥

अन्यऽक्षेत्रे । न । रमसे । वशी । सन् । मृडयासि । नः ।

अभूत् । ऊं इति । प्रऽअर्थः । तक्मा । सः । गमिष्यति । बल्हिकान् ९

तू अन्यक्षेत्रमें सा रम रहा है, तू वशी है अतः हमको सुख दे अब ज्वर हममें सफल होचुका अब वह बल्हिकोंको जावेगा ॥९॥

यत् त्वं शीतोथो रूरः सह कासावेपयः ।

भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्धि नः १०

यत् । त्वम् । शीतः । अथो इति । रूरः । सह । कासा । अवेपयः ।

भीमाः । ते । तक्मन् । हेतयः । ताभिः । स्म । परि । वृङ्धि । नः १०

जो तू शीतज्वर है, जो तू शीतके अनन्तर होने वाला ज्वर है वा तू खाँसीके साथ कँपाता है, यही तेरे भयङ्कर आयुध हैं उनके साथ तू हमको छोड़ दे ॥ १० ॥

मा स्मैतान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् ।

मा स्मातोर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥११॥

मा । स्म । एतान् । सखीन् । कुरुथाः । बलासम् । कासम् । उत्ऽयुगम् ।

मा । स्म । अतः । अर्वाङ् । आ । एः । पुनः । तत् । त्वा । तक्मन् । उप । ब्रुवे ॥ ११ ॥

हे तक्मन्! आप बलक्षयकारक रोगको खाँसीको वा इन दोनों

को हमारा मित्र न बनाइये। और उस स्थानसे हमारे पास फिर नीचा होकर तू न आ, हे तक्मन्! मैं तुझसे यह वारंवार कहता हूँ

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥

तक्मन्। भ्रात्रा। बलासेन। स्वस्रा। कासिकया। सह।
पाप्मा। भ्रातृव्येण। सह। गच्छ। अमुम्। अरणम्। जनम् १२

हे तक्मन्! तू अपने भाई बलका क्षय करनेवाले रोगके साथ और अपनी बहन खाँसीके साथ और (रोगकी उत्पत्तिके कारण) भतीजे पापके साथ इस असम्भाव्य पुरुषके पास जा ॥ १२ ॥

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥

तृतीयकम्। विऽतृतीयम्। सदम्ऽदिम्। उत। शारदम्।
तक्मानम्। शीतम्। रूरम्। ग्रैष्मम्। नाशय। वार्षिकम् ॥१३॥

(हे देव!) आप तिजारी (तीसरे दिनके) और चौथे दिनके सदा खण्डनसा करने वाले और शरद् ऋतुमें होने वाले, वर्षा ऋतुमें होने वाले ग्रीष्म ऋतुमें होने वाले ज्वरको शीत और रूरज्वरको नष्ट करिये ॥ १३ ॥

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥१४॥

गन्धारिऽभ्यः। मूजवत्ऽभ्यः। अङ्गेभ्यः। मगधेभ्यः।

प्रऽएष्यन् । जनम्ऽइव । शेवऽधिम् । तक्मानम् । परि । दद्मसि १४

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

गन्धार मूजवान् अङ्ग मगध इन देशोंसे कष्टदाक रोगको भेजते हुए हम मनुष्योंको सुखसा देते हैं ॥ १४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१६७) ॥

कृमिभैषज्यकर्मणि "ओते मे द्यावापृथिवी" इति सूक्तेन करीर मूलं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन गोवालैः करीरकाष्ठं वेष्टयित्वा सूक्तं जपित्वा पाषाणेन चूर्णयति । तथा सूक्तेनाग्नौ प्रतपति । ततः सूक्तेनादधति ॥

तथा अनेन सूक्तेन ग्रामपांशून् अभिमन्त्र्य सव्येन हस्तेन दक्षिणामुखो भूत्वा पांशून् परिकिरति ॥

तथा अनेन सूक्तेन पांशून् अभिमन्त्र्य हस्तेन मथित्वा कृमरुपरि क्षिपति ॥

तथा अनेन सूक्तेन शान्तिवृक्षसमिध आदधाति । कृमिभञ्जनम् ॥

तथा अनेन सूक्तेन पश्चाद् अग्नेर्मातुरुत्सङ्गे बालं कृत्वा नवनीताभ्यक्तेन मुसलबुध्नेन तालुनि तापयति । त्रिः सूक्तप्रयोगः ॥

तथा अनेन सूक्तेन शिग्रुबीजेन नवनीतमिश्रेण अभिमन्त्र्य व्याधिदेशं प्रलिम्पति ॥

तथा अनेन सूक्तेन एकविंशत्युशीराणां मूलान्यभिमन्त्र्य पाषाणेन कुट्टयति । ततः सूक्तं जपित्वा उशीराणि अग्निना दहति ॥

तथा अनेन सूक्तेन एकविंशत्युशीराणि अभिमन्त्र्य व्याधिताय समर्पयति ॥

तथा अनेन सूक्तेन उदकघटम् एकविंशत्युशीरपिञ्जूलीसहितं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयति ॥

तद् उक्तं कौशिकसूत्रे । "ओते म इति करीरमूलं काण्डेनैकदेशम् । ग्रामात् पांशून् । पश्चाद् अग्नेर्मातुरुपस्थे मुसलबुध्नेन

नवनीताभ्यक्तेन त्रिः प्रतीहारं तालुनि तापयति। शिग्रुभिर्नवनीतमिश्रैः प्रदेग्धि। एकविंशतिम् उशीराणि भिनत्ति [१३] इति मन्त्रोक्तम्। उशीराणि प्रयच्छति। एकविंशत्या सहाप्लावयति" इति [कौ० ४. ५]॥

कृमियोंकी चिकित्साके कर्ममें 'ओते मे द्यावापृथिवी' इस सूक्त से करीरकी जड़को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे॥

इस सूक्तसे गोवालोंसे करीरके काठको लपेट कर सूक्तको जप पाषाणसे चूरा करे।

तथा इस सूक्तसे ग्रामधूलिके कणोंका अभिमन्त्रण कर दक्षिण की ओर मुख कर बायें हाथसे धूलिकणोंको बखेरे॥

तथा इस सूक्तसे धूलिकणोंका अभिमन्त्रण कर हाथसे मसल कर कीड़ेके ऊपर फेंके॥

तथा इस सूक्तसे शान्तिवृक्षकी समिधाओंको रक्खे। यह कृमियों का संहार करने वाला कर्म है।

तथा इस सूक्तसे पीछे माताकी गोदमें बालकको रख मक्खनसे सने हुए मूसलकी जड़से (मक्खनको अग्निमें गरम कर उस मक्खन से) बालकके तालुको तपावे। इस सूक्तका प्रयोग तीन वार करे।

तथा इस सूक्तसे सोहाञ्जनेके बीजको मक्खनसे मिला अभिमन्त्रित कर व्याधिदेश पर लेप करे।

तथा इस सूक्तसे खसखसकी इक्कीस जड़ोंका अभिमन्त्रण कर उनको पत्थरसे कूटे। तदनन्तर सूक्तका जप कर खसखसोंको अग्निसे जलावे।

तथा इस सूक्तसे इक्कीस खसखसको अभिमन्त्रित कर रोगी पर झाड़े।

तथा इस सूक्तसे इक्कीस खसखसकी मुट्ठीसे युक्त जलपूर्ण घट का अभिमन्त्रण कर और सम्पातन कर व्याधित (रोगी) पर जल छिड़के।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—'ओते म इति करीर-मूलं काण्डेनैकदेशं। ग्रामात् पांशून्। पश्चाद्ग्नेर्मातुरुपस्थे मुसलबुध्नेन नवनीताक्तेन त्रिःप्रतीहारं तालुनितापयति। शिग्रु-भिर्नवनीतमिश्रैः प्रदेग्धि। एकविंशतिं उशीराणि भिनधि (१३) इति मन्त्रोक्तं। उशीराणि प्रयच्छति। एकविंशत्या सहाभावयति" (कौशिकसूत्र ४।५)।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।

ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥१॥

ओते इत्याऽउते। मे। द्यावापृथिवी इति। आऽउता। देवी। सरस्वती।

आऽउतौ। मे। इन्द्रः। च। अग्निः। च। क्रिमिम्। जम्भयताम्। इति॥ १॥

द्यावापृथिवी मुझमें ओतप्रोत हैं, सरस्वती देवी मुझमें ओत-प्रोत हैं इन्द्र और अग्निदेव भी मुझमें ओतप्रोत हैं, वे कृमिका संहार करें॥ १॥

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि।

हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम ॥ २॥

अस्य। इन्द्र। कुमारस्य। क्रिमीन्। धनऽपते। जहि।

हताः। विश्वाः। अरातयः। उग्रेण। वचसा। मम॥ २॥

हे धनपते इन्द्र! मेरे उग्र वचनसे आप इस कुमारके शत्रुरूप सम्पूर्ण कृमियोंका नाश करिये॥ २॥

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।

दुतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥३॥

यः। अक्ष्यौ। परिऽसर्पति। यः। नासे इति। परिऽसर्पति।

दुताम्। यः। मध्यम्। गच्छति। तम्। क्रिमिम्। जम्भयामसि॥ ३॥

जो कीड़ा आँखोंमें घूमता है, जो नासिकाके दोनों नथोड़ोंमें घूमता है, जो दाँतोंके बीचमें जाता है उस कीड़ेको हम नष्ट करते हैं

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

सऽरूपौ। द्वौ। विऽरूपौ। द्वौ। कृष्णौ। द्वौ। रोहितौ। द्वौ।

बभ्रुः। च। बभ्रुऽकर्णः। च। गृध्रः। कोकः। च। ते। हताः ४

दो कीड़े एकसे रूप वाले होते हैं दो विकट रूप वाले होते हैं दो लोहित वर्ण वाले होते हैं एक बभ्रुवर्ण वाला होता है, एकके कान बभ्रुवर्ण वाले हैं, एक गृध्र नामक और एक कोक नामक कीड़ा होता है, वे सब मन्त्रशक्तिसे नष्ट होगए ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।

ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥५॥

ये। क्रिमयः। शितिऽकक्षाः। ये। कृष्णाः। शितिऽबाहवः।

ये। के। च। विश्वऽरूपाः। तान्। क्रिमीन्। जम्भयामसि ॥५॥

जो कृमि तीक्ष्ण कोख वाले हैं और जो काले कीड़े तीक्ष्ण भुजा वाले हैं और जो अनेक रूप वाले हैं उन सबको हम मंत्र-शक्तिसे नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥६॥

उत । पुरस्तात् । सूर्यः । एति । विश्वऽदृष्टः । अदृष्टऽहा ।
दृष्टान् । च । घ्नन् । अदृष्टान् । च । सर्वान् । च । प्रऽमृणन् ।
क्रिमीन् ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंसे देखे हुए सूर्यदेव न दीखने वाले कीड़ोंका संहार करने वाले हैं। वे दीखते हुए और न दीखते हुए संपूर्ण कृमियोंका मर्दन करते हुए पूर्वदिशासे उदय होकर आरहे हैं ६

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

येवाषासः । कष्कषासः । एजत्ऽकाः । शिपवित्नुकाः ।
दृष्टः । च । हन्यताम् । क्रिमिः । उत । अदृष्टः । च । हन्यताम् ७

जो शीघ्र चलने वाले, परमपीड़ाप्रद धराने वाले तेज कीड़े हैं (उनमेंसे जो) दीखे उसको और जो न दीखता हो उसको भी हे मन्त्रशक्ति ! तू मार ॥ ७ ॥

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥

हतः । येवाषः । क्रिमीणाम् । हतः । नदनिमा । उत ।
सर्वान् । नि । मष्मषा । अकरम् । दृषदा । खल्वान्ऽइव ॥ ८ ॥

कृमियोंमें जो तीक्ष्ण चलने वाला कीड़ा था वह मंत्रशक्तिसे नष्ट होगया और नदनिमा कीड़ा मारा गया जैसे पत्थरसे चनों को मसलते हैं, इसी प्रकार मैंने इनको मसल डाला है ॥ ८ ॥

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

त्रिऽशीर्षाणम् । त्रिऽककुदम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।

शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥ ९ ॥

तीन शिर वाले तीन ककुद वाले शबल वर्ण वाले और श्वेत वर्ण वाले कीटको मंत्रशक्तिसे नष्ट करता हूँ और इसकी पसलियों और शिरको भी काटता हूँ ॥ ९ ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ १० ॥

अत्रिऽवत् । वः । क्रिमयः । हन्मि । कण्वऽवत् । जमदग्निऽवत् ।

अगस्त्यस्य । ब्रह्मणा । सम् । पिनष्मि । अहम् । क्रिमीन् ॥१०॥

हे कृमियों ! मैं तुमको अत्रि कण्व और जमदग्नि ऋषिकी समान मारता हूँ अर्थात् वे तुमको मंत्रशक्तिसे जिस प्रकार नष्ट करते हैं इसी प्रकार मैं भी तुमको मंत्रशक्तिसे नष्ट करता हूँ तथा महर्षि अगस्त्यके मंत्रके प्रभावसे मैं तुमको नष्ट करता हूँ ॥१०॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।

हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

हृतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हृतः ।

हृतः । हृतऽमाता । क्रिमिः । हृतऽभ्राता । हृतऽस्वसा ॥ ११ ॥

हमारी की हुई मन्त्र और औषधिके प्रभावसे कृमियोंका राजा और इनका मंत्री भी मारा गया, माता भाई और बहिनके नष्ट होनेसे यह कृमिकुल पूर्णरीतिसे नष्ट होगया ॥ ११ ॥

हृतासो अस्य वेशसो हृतासः परिवेशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥१२॥

हृतासः । अस्य । वेशसः । हृतासः । परिऽवेशसः ।

अथो इति । ये । क्षुल्लकाःऽइव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हृताः १२

इस कृमिकुलके बैठनेके स्थान मुख्य गृह (घड़िया) नष्ट होगए और समीपके घर भी नष्ट होगए और जो बीजरूपमें स्थित छोटे छोटे कीड़े थे वे भी नष्ट हो गए ॥ १२ ॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।

भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

सर्वेषाम् । च । क्रिमीणाम् । सर्वासाम् । च । क्रिमीणाम् ।

भिनद्मि । अश्मना । शिरः । दहामि । अग्निना । मुखम् ॥१३॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

सब (नर) कृमियोंके और सकल (मादा) कृमियोंके शिर को मैं पत्थरसे नष्ट करता हूँ और अग्निसे मुखको झुलसता हूँ १३

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१६५) ॥

पौरोहित्यं करिष्यन् "सविता प्रसवानाम्" इति सूक्तेन शूद्रेणाहृताः समिध आदधातीति केशवः। तथा च सूत्रम्। "सविता प्रसवानाम् इति पौरोहित्ये वत्स्यन् वैश्वलोपीः समिध आधाय" इति [कौ० २. ८]। विश्वो लुप्यते चन्द्रोस्याम् इति विश्वलोपा अमावास्या। तस्यां भवा एतादृशीः समिधः। चन्द्रमसः सर्वलोपाद् अमावास्या विश्वलोपेति हि दारिलः॥

तथा अस्य सूक्तस्य विवाहे आज्यहोमे विनियोगः। तथा च सूत्रम्। "सविता प्रसवानाम् इति" इति [कौ० १०. ४]॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि सावित्रं यागं "सविता प्रसवानाम्" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। तद् उक्तं वैताने। "सविता प्रसवानाम्" इति [वै० २. ४]॥

पौरोहित्यको करना चाहने वाला 'सविता प्रसवानाम्' इस सूक्त से शूद्रकी लाई हुई समिधाओंको रक्खे—यह केशवका मत है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"सविता प्रसवानां इति पौरोहित्ये वत्स्यन् वैश्वलोपीः समिध आधाय।—पुरोहिताईके कृत्यको करता हुआ वैश्वलोपी (अमावस्यामें हुई) समिधाओं को स्थापित कर (कार्यका आरंभ करे)

इस सूक्तका विवाहके समय किये जाने वाले घृतहोममें विनियोग है। इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि—'सविता प्रसवानाम्' (कौशिकसूत्र १० । ४)।

तथा ब्रह्मा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें सावित्रयागका इस सूक्त से अनुमंत्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है। "सविता प्रसवानां" इति (वैतानसूत्र २ । ४)॥

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां

१०१ अ

प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्य-
स्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

सविता । प्रऽसवानाम् । अधिऽपतिः । सः । मा । अवतु ।
अस्मिन् । ब्रह्मणि । अस्मिन् । कर्मणि । अस्याम् । पुरःऽधायाम् ।
अस्याम् । प्रतिऽस्थायाम् । अस्याम् । चित्त्याम् । अस्याम् । आऽ-
कूत्याम् । अस्याम् । आऽशिषि । अस्याम् । देवऽहूत्याम् । स्वाहा १

भगवान् सूर्यदेव उत्पन्न हुए पदार्थोंके अधिपति हैं, वह इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १ ॥

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।० ॥ २ ॥

अग्निः । वनस्पतीनाम् । अधिऽपतिः । सः । मा । अवतु ।० ॥२॥

अग्निदेव वनस्पतियोंके स्वामी हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम् ।० ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवी इति । दातॄणाम् । अधिपत्नी इत्यधिऽपत्नी । ते इति ।
मा । अवताम् ।० ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवी दाताओंके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त

कर्ममें इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ॥ ३ ॥

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।० ॥ ४ ॥

वरुणः । अपाम् । अधिऽपतिः । सः । मा । अवतु ।० ॥ ४ ॥

वरुणदेव जलके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ।० ॥५॥

मित्रावरुणौ । वृष्ट्या । अधिपती इत्यधिऽपती । तौ । मा । अवताम् ।० ॥ ५ ॥

मरुद्गण पर्वतोंके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।० ॥ ६ ॥

मरुतः । पर्वतानाम् । अधिऽपतयः । ते । मा । अवन्तु ।० ॥६॥

मित्र और वरुण देवता वृष्टिके अधिपति हैं, वह इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।० ॥ ७ ॥

सोमः । वीरुधाम् । अधिऽपतिः । सः । मा । अवतु ।० ॥७॥

सोम देवता लताओंके अधिपति हैं, वह इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स ०।० ॥ ८ ॥

वायुः । अन्तरिक्षस्य । अधिऽपतिः ।० ॥ ८ ॥

वायुदेव अन्तरिक्षके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स ०।० ॥ ९ ॥

सूर्यः । चक्षुषाम् । अधिऽपतिः ।० ॥ ९ ॥

सूर्यदेव नेत्रके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलाने के कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स ०।० ॥ १० ॥

चन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् । अधिऽपतिः ।० ॥ १० ॥

चन्द्रदेव नक्षत्रोंके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्म में इस प्रतिष्ठामें इस चितिमें, इस संकल्पमें इस देवताओंके बुलाने

के कर्म में और इस आशीर्वादात्मक कर्म में मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोधिपतिः स ०।० ॥ ११ ।

इन्द्रः । दिवः । अधिऽपतिः ।० ॥ ११ ॥

इन्द्रदेव स्वर्गके राजा हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्म में, इस प्रतिष्ठामें,इस चितिमें, इस संकल्पमें,इस देवताओंके बुलानेके कर्म में और इस आशीर्वादात्मक कर्म में मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ११ ॥

मुरुतां पिता पशूनामधिपतिः स ०।० ॥१२॥

मरुताम् । पिता । पशूनाम् । अधिऽपतिः ।० ॥ १२ ॥

मरुतोंके पिता पशुओंके अधिपति हैं,वह इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्म में, इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्म में और इस आशीर्वादात्मक कर्म में मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स ०।० ॥ १३ ॥

मृत्युः । प्रऽजानाम् । अधिऽपतिः ।० ॥ १३ ॥

मृत्यु प्रजाओंके अधिपति हैं,वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्म में, इस प्रतिष्ठामें,इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्म में और इस आशीर्वादात्मक कर्म में मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १३ ॥

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु ।० ॥ १४ ॥

यमः । पितृणाम् । अधिऽपतिः । सः । मा । अवतु ।० ॥ १४ ॥

यम पितरोंके अधिपति हैं, वे इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें, इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।० ॥ १५ ॥

पितरः । परे । ते । मा । अवन्तु ।० ॥ १५ ॥

सात पीढ़ीसे ऊपर जाकर मिलनेवाले पितर, इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें, इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १५ ॥

तता अवरे ते ०।० ॥ १६ ॥

तताः । अवरे । ते ।० ॥ १६ ॥

और सपिण्ड (मरे हुए) पितर, इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्ममें, इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्ममें और इस आशीर्वादात्मक कर्ममें मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १६ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

ततः । ततामहाः । ते । मा । अवन्तु ।

अस्मिन् । ब्रह्मणि । अस्मिन् । कर्मणि । अस्याम् । पुरःऽधा-
याम् । अस्याम् । प्रतिऽस्थायाम् । अस्याम् । चित्याम् ।
अस्याम् । आऽकूत्याम् । अस्याम् । आऽशिषि । अस्याम् । देव-
ऽहूत्याम् । स्वाहा ॥ १७ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

तत ततामह (मृतक) पितर, इस पुरोहिताईके वेदोक्त कर्म में, इस प्रतिष्ठामें, इस चितिमें, इस संकल्पमें, इस देवताओंके बुलानेके कर्म में और इस आशीर्वादात्मक कर्म में मेरी रक्षा करें यह आहुति स्वाहुति हो ॥ १७ ॥

पञ्चम काण्डके पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१६६) ॥

गर्भाधानाख्ये कर्मणि "पर्वताद् दिवः" इति सूक्तेन आगमकृशरं चरुद्वयं श्रपयित्वा संपात्य अभिमन्त्र्य द्वितीयं चरुं युगच्छिद्रेण संपात्य अभिमन्त्र्य आशयति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि केलूनांश्च पलाशत्सरून्निष्टचे निघृष्य "पर्वताद् दिवः" इति सूक्तेन अभिमन्त्र्य शिश्ने आधाय ततो मैथुनं करोति ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "पर्वताद् दिव इत्यागमकृशरम् आशयति । युगतर्मना संपातवन्तं द्वितीयम् । केलूनांश्च पलाशत्सरून्निष्टचे निकर्ष्याधाय शिश्ने ग्रामं प्रविशति" इति [कौ० ४. ११] ॥

गर्भाधान नाम वाले कर्म में "पर्वताद् दिवः" इस सूक्तसे आगमकृशरके दो चरुओंको पकावे फिर उनका संपातन और अभिमन्त्रण कर दूसरे चरुको युगके छिद्रसे सम्पातन और अभि-मन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्म में पलाशकी खड्गमुष्टि और केलूनोंको निष्टत

(महल आदिसे घिरे हुए स्थान) में घिस कर "पर्वताद् दिवः" इस सूक्तसे अभिमन्त्रित कर शिश्न पर रख कर मैथुन करे ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"पर्वताद् दिव इति आगमकशरं आशयति । युगतर्मना सम्पातवन्तं द्वितीयं चेलुनांश्च पलाशत्सरुन्निवृत्ते निकष्याधाय शिश्ने ग्रामं प्रविशति" (कौशिक सूत्र ४ । ११) ॥

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

पर्वतात् । दिवः । योनेः । अङ्गात्ऽअङ्गात् । सम्ऽआभृतम् ।
शेपः । गर्भस्य । रेतःऽधाः । सरौ । पर्णम्ऽइव । आ । दधत् १

पर्वतकी (औषधि आदि) से स्वर्ग (के पुण्य आदि) से और प्रत्येक अंग (में शक्ति होने) से भली प्रकार पुष्ट हुआ वीर्यको धारण करने वाला पुंस्प्रजनन (चलनेवाले) जलमें पत्ते की समान योनिमें गर्भको स्थापित करता है ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे ।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । भूतानाम् । गर्भम् । आऽदधे ।
एव । आ । दधामि । ते । गर्भम् । तस्मै । त्वाम् । अवसे । हुवे २

जैसे यह विशाल पृथ्वी सकल भूतोंके गर्भको धारण करती है इसी प्रकार मैं तेरे गर्भको धारण करती हूँ और उसकी रक्षा के लिये तेरा आह्वान करती हूँ ॥ २ ॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।

गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

गर्भम् । धेहि । सिनीवालि । गर्भम् । धेहि । सरस्वति ।

गर्भम् । ते । अश्विना । उभा । धत्ताम् । पुष्करऽस्रजा ॥ ३ ॥

हे अमावास्याके पूर्व प्रहरकी अधिष्ठात्री देवते सिनिवालि ! तुम गर्भको पुष्ट करो, हे सरस्वति ! तुम गर्भको पुष्ट करो ! हे कल्याणि ! तेरे गर्भको फूलोंकी माला धारण करने वाले दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भको पुष्ट करें ॥ ३ ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।

गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

गर्भम् । ते । मित्रावरुणौ । गर्भम् । देवः । बृहस्पतिः ।

गर्भम् । ते । इन्द्रः । च । अग्निः । च । गर्भम् । धाता । दधातु । ते४

मित्र और वरुण देवता तथा बृहस्पति इन्द्र अग्निदेव और धाता देवता तेरे गर्भको पुष्ट करें ॥ ४ ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।

आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

विष्णुः । योनिम् । कल्पयतु । त्वष्टा । रूपाणि । पिंशतु ।

आ । सिञ्चतु । प्रजाऽपतिः । धाता । गर्भम् । दधातु । ते ॥५॥

विष्णुदेवता योनिको समर्थ करें, त्वष्टा देवता रूपोंको बनावें, प्रजापति देवता गर्भका सिञ्चन करें और धाता देवता तेरे गर्भका पोषण करें ॥ ५ ॥

यद् वेद राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।
यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

यत् । वेद । राजा । वरुणः । यत् । वा । देवी । सरस्वती ।
यत् । इन्द्रः । वृत्रऽहा । वेद । तत् । गर्भऽकरणम् । पिब ॥ ६ ॥

राजा वरुण जिस गर्भकरणको जानते हैं और जिस गर्भकरणको देवी सरस्वती जानती हैं और वृत्रासुरके संहारक इन्द्रदेव जिस गर्भकरणको जानते हैं उसको गर्भको करने वाली वस्तुको तू पी ॥ ६ ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥७॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । वनस्पतीनाम् ।
गर्भः । विश्वस्य । भूतस्य । सः । अग्ने । गर्भम् । आ । इह । धाः ७

हे अग्निदेव ! आप औषधियोंके गर्भ हैं, आप वनस्पतियोंके गर्भ हैं और सम्पूर्ण भूतोंके गर्भ हैं, वह आप यहाँ मेरे गर्भको पुष्ट करिये ॥ ७ ॥

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

अधि । स्कन्द । वीरयस्व । गर्भम् । आ । धेहि । योन्याम् ।
वृषा । असि । वृष्ण्यऽवन् । प्रऽजायै । त्वा । आ । नयामसि ८

ऊपर स्थित होकर चल, वीरता कर, योनिमें गर्भको स्थापित कर, हे वृष्ण्यावन् ! तू वर्षा करने वाला है, प्रजाके लिये हम तुझको लिये जाते हैं ॥ ८ ॥

वि जिंहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।

अदुंष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उंभयाविनम् ॥ ९ ॥

वि । जिहीष्व । बार्हत्ऽसामे । गर्भः । ते । योनिम् । आ । शयाम् ।

अदुः । ते । देवाः । पुत्रम् । सोमऽपाः । उभयाविनम् ॥ ९ ॥

हे बड़ी सान्त्वना वाली ! अदुष्टे ! तू विशेष गति कर मैं तेरी योनिमें गर्भको स्थापित करता हूँ, सोमपान करने वाले देवताओंने इस लोक और परलोक दोनों स्थानोंमें रक्षा करनेवाले पुत्रको दिया है ॥ ९ ॥

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥

धातः । श्रेष्ठेन । रूपेण । अस्याः । नार्याः । गवीन्योः ।

पुमांसम् । पुत्रम् । आ । धेहि । दशमे । मासि सूतवे ॥ १० ॥

हे धातः ! इस स्त्रीकी अँतड़ियोंसे निकले हुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचाने वाली दोनों पसलियोंकी ओर स्थित नाड़ियोंमें दशवें महीने प्रसूत करनेके लिये श्रेष्ठ रीति पर पुरुषपुत्रको पुष्ट करिये ॥ १० ॥

त्वष्टः श्रेष्ठेन ०।० ॥ ११ ॥

त्वष्टः । श्रेष्ठेन ।० ॥ ११ ॥

हे त्वष्टा देवता ! इस स्त्रीकी अँतड़ियोंसे निकले हुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचाने वाली दोनों पसलियोंकी ओर स्थित नाड़ियों में दशवें महीने प्रसूत करनेके लिये श्रेष्ठ रीति पर पुरुषपुत्रको पुष्ट करिये ॥ ११ ॥

सवितः श्रेष्ठेन ०।० ॥ १२ ॥

सवितः । श्रेष्ठेन ।० ॥ १२ ॥

हे सवितादेवता ! इस स्त्रीकी अँतड़ियोंसे निकले हुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचाने वालीं दोनों पसलियोंकी ओर स्थित नाड़ियोंमें दशवें महीने प्रसूत करनेके लिये श्रेष्ठ रीति पर पुरुषपुत्रको पुष्ट करिये ॥ १२ ॥

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्यां गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

प्रजाऽपते । श्रेष्ठेन । रूपेण । अस्याः । नार्याः । गवीन्योः ।
पुमांसम् । पुत्रम् । आ । धेहि । दशमे । मासि । सूतवे ॥ १३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे प्रजापते ! इस स्त्रीकी अँतड़ियोंसे निकले हुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचाने वालीं दोनों पसलियोंकी ओर स्थित नाड़ियों में दशवें महीने प्रसूत करनेके लिये श्रेष्ठ रीति पर पुरुषपुत्रको पुष्ट करिये ॥ १३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१६७) ॥

"यजूंषि यज्ञे" इति सूक्तेन नवशालायां पुष्टिकामो घृतं मधुमिश्रं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । "यजूंषि यज्ञे [५. २६] इति नवशालायां सर्पिर्मधुमिश्रं जुहोति । दोषो गाय [६. १] इति

द्वितीयाम् । युक्ताभ्यां तृतीयाम्" इति [कौ० ३. ६] ॥ आहुतिम् इति शेषः ॥

ज्योतिष्टोमे "यजूंषि यज्ञे" इति सूक्तेन आज्यं जुहोति । "यजूंषि यज्ञ इति च" [वै० ३. ६] इति वैतानसूत्रात् ॥

"यजूंषि यज्ञे" इस सूक्तसे पुष्टिको चाहने वाला नवशालामें मधुसे मिले हुए घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यजूंषि यज्ञे (५ । २६) इति नवशालायां सर्पिर्मधुमिश्रं जुहोति । दोषो गाय इति द्वितीयाम् । युक्ताभ्यां तृतीयाम् । 'यजूंषि यज्ञे' सूक्तसे मधुमिश्रित घृतकी आहुति देय । 'दोषो गाय' इस (६ । १) से दूसरी और दोनोंसे तीसरी आहुति देय । ज्योतिष्टोममें 'यजूंषि यज्ञे' इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय ।' इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"यजूंषि यज्ञ इति च" (वैतानसूत्र ३ । ६)।

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु १

यजूंषि । यज्ञे । सम्ऽइधः । स्वाहा । अग्निः । प्रऽविद्वान् । इह । वः । युनक्तु ॥ १ ॥

हे यजुर्वेदके मन्त्र और समिधाओं ! जानने वाले अग्निदेव इस यज्ञमें तुमसे संयुक्त हों ॥ १ ॥

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥

युनक्तु । देवः । सविता । प्रऽजानन् । अस्मिन् । यज्ञे । महिषः । स्वाहा ॥ २॥

मध्यम देवता विद्वान् सूर्यदेव इस यज्ञमें युक्त होवें, यह आहुति उनके लिये स्वाहुत हो ॥ २ ॥

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥

इन्द्रः । उक्थऽमदानि । अस्मिन् । यज्ञे । प्रऽविद्वान् । युनक्तु । सुऽयुजः । स्वाहा ॥ ३ ॥

विद्वान् इन्द्रदेव इस यज्ञमें हे उक्थके मदों ! तुमसे संयुक्त हों, यह आहुति उनके लिये स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ४

प्रऽएषाः । यज्ञे । निऽविदः । स्वाहा । शिष्टाः । पत्नीभिः । वहत । इह । युक्ताः ॥ ४ ॥

हे शिष्ट पुरुषों ! तुम युक्त होकर अपनी पत्नियोंके साथ इस यज्ञमें प्रैष (आज्ञारूप) वाणियोंको धारण करो यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ५

छन्दांसि । यज्ञे । मरुतः । स्वाहा । माताऽइव । पुत्रम् । पिपृत । इह । युक्ताः ॥ ५ ॥

जैसे माता पुत्रका पालन करती है, इसी प्रकार इस यज्ञमें मरुत् देवता संयुक्त होकर छन्दोंका पालन करें, यह आहुति मरुत् देवताओंके लिये स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

एयमगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ६

आ । इयम् । अगन् । बर्हिषा । प्रऽउक्षणीभिः । यज्ञम् । तन्वाना ।
अदितिः । स्वाहा ॥ ६ ॥

यह अदिति देवी कुशा और प्रोक्षणियोंके साथ यज्ञको बढ़ाती हुई आई है, यह आहुति अदितिके लिये स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ७

विष्णुः । युनक्तु । बहुऽधा । तपांसि । अस्मिन् । यज्ञे । सुऽयुजः ।
स्वाहा ॥ ७ ॥

भगवान् विष्णु भली प्रकार किये हुए तपों (के फल) को (इस यज्ञकी पूर्तिके लिये) संयुक्त करें, यह आहुति भगवान् विष्णुके लिये स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

त्वष्टा । युनक्तु । बहुऽधा । नु । रूपाः । अस्मिन् । यज्ञे । सुऽयुजः ।
स्वाहा ॥ ८ ॥

त्वष्टा देवता भली प्रकार ठीक किये हुए रूपोंको इस यज्ञमें संयुक्त करें, यह आहुति त्वष्टा देवताके लिये स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भगः । युनक्तु । आऽशिषः । नु । अस्मै । अस्मिन् । यज्ञे । प्रऽवि-
द्वान् । युनक्तु । सुऽयुजः । स्वाहा ॥ ९ ॥

विद्वान् भगदेवता इस यज्ञमें सुयोग्य आशीर्वादोंसे संयुक्त करें, यह आहुति उनके लिये स्वाहुत हो ॥ ९ ॥

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा

सोमः । युनक्तु । बहुऽधा । पयांसि । अस्मिन् । यज्ञे । सुऽयुजः ।

स्वाहा ॥ १० ॥

सोमदेव इस यज्ञमें भली प्रकार संयुक्त होने वाले जलोंको संयुक्त करें । यह आहुति सोमदेवके लिये स्वाहुत हो ॥ १० ॥

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा

इन्द्रः । युनक्तु । बहुऽधा । वीर्याणि । अस्मिन् । यज्ञे । सुऽयुजः ।

स्वाहा ॥ ११ ॥

इन्द्रदेव इस यज्ञमें इस यज्ञके अनुरूप वीर्योंको संयुक्त करें, यह आहुति इन्द्रदेवके लिये स्वाहुत हो ॥ ११ ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ

बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमा-

नाय स्वाहा ॥ १२ ॥

अश्विना । ब्रह्मणा । आ । यातम् । अर्वाञ्चौ । वषट्ऽकारेण ।

यज्ञम् । वर्धयन्तौ ।

बृहस्पते । ब्रह्मणा । आ । याहि । अर्वाङ् । यज्ञः । अयम् । स्वः ।

इदम् । यजमानाय । स्वाहा ॥ १२ ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

हे अश्विनीकुमारों ! तुम मन्त्रके द्वारा वषट् होने पर यज्ञको बढ़ावा देते हुए यज्ञके अभिमुख आओ, हे बृहस्पते ! आप मंत्रके द्वारा यज्ञके अभिमुख होकर आइये । यह यज्ञ यजमानके लिये स्वर्ग (देने वाला हो) यह आहुति अश्विनीकुमार और बृहस्पतिजी के लिये स्वाहुत हो ॥ १२ ॥

अथर्ववेदसंहिताके पञ्चम काण्डके पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१४८) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

पुष्टिकामः "ऊर्ध्वा अस्य" इति सूक्तेन अग्नौ मन्थाकारम् औदुम्बरं दत्वा आज्यं जुहोति ॥

तथा असंख्याता आगमशष्कुलीरधिश्रित्य अनेन सूक्तेन सप्त शष्कुलीरग्नौ दत्वा आज्यं जुहोति । शेषाः शष्कुलीः कर्त्रे ददाति ॥

तदु उक्तं कौशिकेन । "ऊर्ध्वा अस्येति वाप्यवम् औदुम्बरं मन्थप्रतिरूपम् अभि जुहोति । असंख्याता अधिश्रित्य सप्तागम-शष्कुलीः" इति [कौ० ३. ६] ॥ प्रतिग्रहोपात्तेन द्रव्येण कृताः शष्कुल्य आगमशष्कुल्यः ॥

तथा वशाशमनकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोग उक्तः । सूक्तादिकं "समिद्धो अद्य" इति सूक्ते [५. १२] द्रष्टव्यम् ॥

पुष्टिको चाहने वाला "ऊर्ध्वा अस्य" इस सूक्तसे अग्निमें मन्थ (रई) के आकारके औदुम्बर (गूलड़) को देकर घृतकी आहुति देय ।

तथा असंख्य आगम शष्कुलियोंको पकाकर इस सूक्तसे सात शष्कुली (पूरियों) को अग्निमें डाल कर घृतकी आहुति देय । शेष पूरियोंको कर्ताको दे देय ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"ऊर्ध्वा अस्येति वाप्यवम् औदुम्बरं मन्थप्रतिरूपं जुहोति । असंख्याता अधिश्रित्य सप्तागमशष्कुलीः" (कौशिकसूत्र ३ । ६) । प्रतिग्रहमें मिले हुए द्रव्यसे बनाई हुई पूरियें आगमशष्कुली कहलाती हैं ।

तथा वशाशमनकर्ममें इस सूक्तका विनियोग कहा है। सूत्र आदिक 'समिद्धो अद्य' इस पञ्चमकाण्डके बारहवें सूक्तमें देखना चाहिये।

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः १

ऊर्ध्वाः। अस्य। सम्ऽइधः। भवन्ति। ऊर्ध्वा। शुक्रा। शोचींषि। अग्नेः। द्युमत्ऽतमा। सुऽप्रतीकः। सऽसूनुः। तनूऽनपात्। असुरः। भूरिऽपाणिः॥ १॥

इन अग्निदेवकी समिधायें ऊँची होती हैं, इनके वीर्य (पराक्रम) संतापदायक होते हैं, यह अग्निदेव परमकांतिमय हैं, इनके प्रतीक सुन्दर हैं, यह सूनु (सूर्य) की समान हैं, यह प्राणदाता हैं, इनका हाथ (यज्ञोंमें) बहुत रहता है॥ १॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन॥ २॥

देवः। देवेषु। देवः। पथः। अनक्ति। मध्वा। घृतेन॥ २॥

यह देवताओंमें श्रेष्ठ देव हैं और यह मधु तथा घृतसे मार्गोंको शुद्ध करते हैं॥ २॥

मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद् देवः सविता विश्ववारः॥ ३॥

मध्वा। यज्ञम्। नक्षति। प्रैणानः। नराशंसः। अग्निः। सुऽकृत्। देवः। सविता। विश्वऽवारः॥ ३॥

मनुष्योंसे श्लाघनीय, सुन्दर कर्मोंको करने वाले सविता विश्व भरके वरणीय अग्निदेव मधुसे यज्ञको संयुक्त करते हुए व्याप्त होरहे हैं ॥ ३ ॥

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ४

अच्छ । अयम् । एति । शवसा । घृता । चित् । ईडानः । वह्निः । नमसा ॥ ४ ॥

घृत बल और हविरूप अन्नसे स्तुति पाते हुए यह अग्निदेव अभिमुख होकर आरहे हैं ॥ ४ ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

अग्निः । स्रुचः । अध्वरेषु । प्रऽयक्षु । सः । यक्षत् । अस्य । महिमानम् । अग्नेः ॥ ५ ॥

जिसमें देवताओंकी संगति अधिकरूपसे होती है ऐसे यज्ञोंमें अग्निदेव इस यज्ञकी महिमाको और स्रुवोंको अग्निसे अर्थात् अपने आपेसे संयुक्त करें ॥ ५ ॥

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥६॥

तरी । मन्द्रासु । प्रऽयक्षु । वसवः । च । अतिष्ठन् । वसुऽधातरः । च ६

हर्षमें भरने वाले देवसंगतिक यज्ञोंमें तारक अग्निदेव तथा धनके पोषक वसु स्थित रहते हैं ॥ ६ ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥७॥

द्वारः । देवीः । अनु । अस्य । विश्वे । व्रतम् । रक्षन्ति । विश्वहा ७

इन अग्निदेवकी प्रकाशमान (द्वार) लपटें इस यजमानके व्रतकी अनेक प्रकारसे रक्षा करती हैं ॥ ७ ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने ।

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमव-

तामध्वरं नः ॥ ८ ॥

उरुऽव्यचसा । अग्नेः । धाम्ना । पत्यमाने इति ।

आ । सुस्वयन्ती इति । यजते इति । उपाके इति । उषसानक्ता ।

इमम् । यज्ञम् । अवताम् । अध्वरम् । नः ॥ ८ ॥

महत्त्वमय अनेक प्रकारके गमनसे सम्पन्न अग्निके तेजसे ऐश्वर्य करती हुई अग्निकी दीप्ति और आहुतिकी दीप्ति सुन्दरतासे मुस-कुराती हुईसी यज्ञकी सम्पादिका हैं, यह परस्परका आश्रय लेने से मिल करके दिपती हैं वे हमारे इस हिंसारहित यज्ञकी भली प्रकार रक्षा करें ॥ ८ ॥

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः

स्विष्टये ।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही

भारती गृणाना ॥ ९ ॥

दैवाः । होतारः । ऊर्ध्वम् । अध्वरम् । नः । अग्नेः । जिह्वया ।

अभि । गृणत । गृणत । नः । सुऽइष्टये ।

तिस्रः । देवीः । बर्हिः । आ । इदम् । सदन्ताम् । इडा । सरस्वती । मही । भारती । गृणाना ॥ ९ ॥

हे देवसंबंधी होताओं ! हमारे इस उच्च यज्ञकी अग्निकी जिह्वासे प्रशंसा करो, हमारे कल्याणके लिये प्रशंसा करो। पृथ्वी, अग्निकी कांति और सरस्वती ये तीनों देवियें प्रशंसा करती हुई इस कुशा पर स्थित हों ॥ ९ ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देवं त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

तत् । नः । तुरीपम् । अत्ऽभुतम् । पुरुऽक्षु ॥ देव । त्वष्टः । रायः । पोषम् । वि । स्य । नाभिम् । अस्य ॥ १० ॥

हे त्वष्टा देवता ! आप हमको जल बहुतसा अन्न और अद्भुत धनकी पुष्टि (दीजिये) और इस (धनकी थैली) की नाभि (गाँठ) को खोल दीजिये ॥ १० ॥

वनस्पतेव सृजा रराणः । त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

वनस्पते । अव । सृज । रराणः ॥ त्मना । देवेभ्यः । अग्निः । हव्यम् । शमिता । स्वदयतु ॥ ११ ॥

हे वनस्पते ! शब्द करते हुए आप अपनेको छोड़िये, शमिता अग्निदेव देवताओंके लिये हविको स्वादिष्ट बनावें ॥ ११ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः । इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

अग्ने। स्वाहा। कृणुहि। जातऽवेदः॥ इन्द्राय। यज्ञम्। विश्वे।
देवाः। हविः। इदम्। जुषन्ताम्॥ १२॥

इति षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हे जातवेदा अग्ने! आप इंद्रके लिये यज्ञको (सम्पन्न) करिये, सम्पूर्ण देवता इस हविका सेवन करें। यह आहुति स्वाहुत हो १२

पञ्चम काण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१६६)॥

सर्वसंपत्कर्मसु "नव प्राणान्" इति सूक्तस्य विनियोगः॥

तथा आयुष्कामस्य हिरण्यमणिबन्धने अस्य विनियोगः॥ एतदुभयविस्तरः "यदाबध्नन्" इति सूक्ते [१. ३५] द्रष्टव्यः॥

उपनयनकर्मण्यपि आयुष्कामस्य ब्रह्मचारिण आज्यहोमे एतद् विनियुक्तम् अस्य आयुष्यगणे पाठात्। सूत्रितं हि। "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" इति [कौ० ७. ८]॥

तथा अनेन सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य सुवर्णरजतलोह[मयानि]त्रीणि शकलान्येकत्र कृत्वा नवशाखार्कं मणिं त्रिवृतं कृत्वा संपात्याभिमन्त्र्य बध्नाति इति केशवः। तद् उक्तं कौशिकेन। "उपनयनम्" [कौ० ७. ६] प्रक्रम्य "नव प्राणान् इति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ७. ६]

तथा "वैष्णवीम् अन्नकामस्य अन्नक्षये च" इति [न० क० १७] विहितायां वैष्णव्याख्यायां महाशान्तौ त्रिवृन्मणिबन्धनेपि अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "नव प्राणान् इति त्रिवृतं वैष्णव्याम्" इति [न० क० १६]॥

सम्पूर्ण सम्पत्ति जनककर्मोंमें 'नव प्राणान्' इस सूक्तका विनियोग होता है।

तथा आयु चाहने वालेके सुवर्णकी मणिको बाँधनेमें भी इसका विनियोग होता है। इन दोनोंका विस्तार 'यदाबध्नन्' इस प्रथम काण्डके पैंतीसवें सूक्तमें देखना चाहिये।

इस सूक्तका आयुष्यगणमें पाठ है अतः उपनयन कर्ममें आयु चाहने वाले ब्रह्मचारीके घृतहोममें इसका विनियोग किया जाता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" (कौशिकसूत्र ७। ८)॥

तथा उपनयनके अनन्तर इस सूक्तसे आयु चाहने वाले ब्रह्मचारीके सोना चाँदी और लोहेके तीन टुकड़ोंको एक स्थानमें करके नौ शलाका वाली मणिको तिहरी करके सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-"उपनयनम्" (कौशिकसूत्र ७। ६) प्रकम्य "नव प्राणान्" इति मन्त्रोक्तम् (कौशिकसूत्र ७। ६)॥

तथा "वैष्णवीं अन्नकामस्य अन्नक्षये च-अन्नक्षयमें अन्नकी कामना वालेके लिये वैष्णवी शान्तिको करे" (नक्षत्रकल्प १७) से विहित वैष्णवी नाम वाली महाशान्तिके त्रिवृन्मणिबन्धनमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प में कहा है, कि-"नव प्राणान् इति त्रिवृतं वैष्णव्याम्" (नक्षत्रकल्प १६)॥

नव॑ प्रा॒णान्नव॑भिः॒ सं मि॑मीते दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॒सावि॑ष्ठितानि ॥१॥

नव॑। प्रा॒णान्। नव॑ऽभिः। सम्। मि॒मी॒ते॒। दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑। श॒तऽशा॑रदाय।
हरि॑ते। त्रीणि॑। र॒ज॒ते। त्रीणि॑। अय॑सि। त्रीणि॑। तप॑सा। आऽवि॑ष्ठितानि ॥ १ ॥

नव प्राणोंको सौवर्ष तककी दीर्घायु पानेके लिये नौसे मिलाते

हैं, इसमें तपसे पूर्ण तीन लटें सुवर्णकी हैं, तीन चाँदीकी हैं और तीन लोहेकी हैं ॥ १ ॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु

अग्निः । सूर्यः । चन्द्रमाः । भूमिः । आपः । द्यौः । अन्तरिक्षम् । प्रऽदिशः । दिशः । च ।

आर्तवाः । ऋतुऽभिः । सम्ऽविदानाः । अनेन । मा । त्रिऽवृता । पारयन्तु ॥ २ ॥

इस त्रिवृत् कर्मसे अग्नि सूर्य चन्द्रमा भूमि जल द्यौ अन्तरिक्ष दिशा और प्रदिशायें ऋतुके अंश और ऋतुओंके साथ प्राप्त हो कर मुझे पार लगावें ॥ २ ॥

त्रयः पोषांस्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

त्रयः । पोषाः । त्रिऽवृति । श्रयन्ताम् । अनक्तु । पूषा । पयसा । घृतेन ।

अन्नस्य । भूमा । पुरुषस्य । भूमा । भूमा । पशूनाम् । ते । इह । श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

इस त्रिवृत्में तीन पुष्टियें आश्रय लेंय, पूजा देवता दुग्ध घृतसे इस कर्णको शुद्ध करे। अन्नकी बहुतायत, पुरुषोंकी बहुतायत और जो पशुओंका आधिक्य है, वह यहाँ आश्रय लेय ॥ ३ ॥

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु

इमम्। आदित्याः। वसुना। सम्। उक्षत। इमम्। अग्ने। वर्धय। वावृधानः।

इमम्। इन्द्र। सम्। सृज। वीर्येण। अस्मिन्। त्रिऽवृत्। श्रयताम्। पोषयिष्णु।

आदित्य देवता इस बालकको धनसे पूर्ण करें, हे अग्ने! बढ़ते हुए आप इसको भी बढ़ाइये। हे इन्द्रदेव! आप इसको वीर्यसे युक्त करिये। पोषण करनेवाला त्रिवृत् इसमें आश्रय लेय ॥४॥

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्

भूमिः। त्वा। पातु। हरितेन। विश्वऽभृत्। अग्निः। पिपर्तु। अयसा। सऽजोषाः।

वीरुत्ऽभिः। ते। अर्जुनम्। सम्ऽविदानम्। दक्षम्। दधातु। सुऽमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भूमि सुवर्णसे तेरी रक्षा करे। संसार भरका भरण करने वाले अग्निदेव तुझसे प्रेम कर लोहेसे तेरा पालन करें और लताओं

से प्राप्त होने वाले बलके द्वारा तुझमें शुभ संकल्पमय बलको स्थापित करे ॥ ५ ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।

अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृद-स्त्वायुषे ॥ ६ ॥

त्रेधा । जातम् । जन्मना । इदम् । हिरण्यम् । अग्नेः । एकम् । प्रियऽतमम् । बभूव । सोमस्य । एकम् । हिंसितस्य । परा । अपतत् ।

अपाम् । एकम् । वेधसाम् । रेतः । आहुः । तत् । ते । हिरण्यम् । त्रिऽवृत् । अस्तु । आयुषे ॥ ६ ॥

यह सुवर्ण तीन प्रकारके जन्मोंमे उत्पन्न हुआ है इसका एक जन्म अग्निको परमप्रिय हुआ है, एकवार यह सोमके पीड़ित करने पर गिरा है (रसायनसे हुआ है) एकको वेधा जलोंका वीर्य-रूप कहते हैं, हे ब्रह्मचारिन् ! वह सुवर्ण तेरी आयुके लिये त्रिवृत् (तिलड़ा) हो ॥ ६ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेकरम् ॥ ७ ॥

त्रिऽआयुषम् । जमत्ऽअग्नेः । कश्यपस्य । त्रिऽआयुषम् ।

त्रेधा । अमृतस्य । चक्षणम् । त्रीणि । आयूंषि । ते । अकरम् ७

महर्षि जमदग्निकी बालकपन तरुणत्व और वृद्धत्व रूप तीन आयु हैं और महर्षि कश्यपकी बालकपन, तरुणता और वृद्धत्व-रूप तीन आयु हैं, वह अमृतके निदर्शनरूप हैं, ऐसी ही तीन आयुएँ मैं तेरे लिये करता हूँ ॥ ७ ॥

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः। प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥

त्रयः। सुऽपर्णाः। त्रिऽवृता। यत्। आयन्। एकऽअक्षरम्। अभिऽसंभूय। शक्राः।
प्रति। औहन्। मृत्युम्। अमृतेन। साकम्। अन्तःऽदधानाः। दुःऽइतानि। विश्वा ॥ ८ ॥

जब तीन समर्थ सुपर्ण एकाक्षर पर त्रिवृत्‌रूपसे आये तब संपूर्ण पापोंका अन्तर्धान कर अमृतके द्वारा मृत्युको वितर्कित करतेहुए ८

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्। भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥९॥

दिवः। त्वा। पातु। हरितम्। मध्यात्। त्वा। पातु। अर्जुनम्। भूम्याः। अयस्मयम्। पातु। प्र। अगात्। देवऽपुराः। अयम् ९

सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे, श्वेत वर्णकी चाँदी मध्य-लोकसे तेरी रक्षा करे भूमिसे यह लोहमय तार रक्षा करे, यह देवताओंकी पुरियोंको प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

इमाः । तिस्रः । देवऽपुराः । ताः । त्वा । रक्षन्तु । सर्वतः ।
ताः । त्वम् । बिभ्रत् । वर्चस्वी । उत्तरः । द्विषताम् । भव ॥१०॥

यह देवताओंकी तीन पुरियें हैं यह चारों ओरसे तेरी रक्षा करें, इनको धारण करता हुआ तू वर्चस्वी हो और शत्रुओंसे श्रेष्ठ हो

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥

पुरम् । देवानाम् । अमृतम् । हिरण्यम् । यः । आऽबेधे । प्रथमः । देवः । अग्रे ।
तस्मै । नमः । दश । प्राचीः । कृणोमि । अनु । मन्यताम् । त्रिऽवृत् । आऽबधे । मे ॥ ११ ॥

मुख्य देवताने जिस सुवर्णरूपी अमृतको देवताओंके सामने बाँधा था । दश श्रेष्ठ नमस्कारोंको करता हूँ, वह देवता इस त्रिवृत्के बाँधनेमें मुझे अनुमति दें ॥ ११ ॥

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः । अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥

आ । त्वा । चृततु । अर्यमा । आ । पूषा । आ । बृहस्पतिः ॥ अहःऽ-

जातस्य । यत् । नाम । तेन । त्वा । अति । चृतामसि ॥ १२ ॥

अर्यमा पूषा और बृहस्पति देवता तुझको भलीप्रकार ग्रंथित करें, प्रतिदिन उत्पन्न होने वालेका जो नाम है, उससे हम तुझ को बाँधते हैं ॥ १२ ॥

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥

ऋतुऽभिः । त्वा । आर्तवैः । आयुषे । वर्चसे । त्वा ॥ सम्ऽवत्सरस्य । तेजसा । तेन । सम्ऽहनु । कृण्मसि ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मचारिन् ! मैं तुझको आयु और तेज पानेके लिये ऋतुओं से, ऋतुओंके अंश महीनोंसे और सम्वत्सरके तेज (सूर्य) से ठोड़ी (सा) संयुक्त करता हूँ ॥ १३ ॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु भिन्दत् सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय

घृतात् । उत्ऽलुप्तम् । मधुना । सम्ऽअक्तम् । भूमिऽदृंहम् । अच्युतम् । पारयिष्णु ।

भिन्दत् । सऽपत्नान् । अधरान् । च । कृण्वत् । आ । मा । रोह । महते । सौभगाय ॥ १४ ॥

इति षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

घृतसे लुप्त, मधुसे सींचा हुआ, भूमिकी समान दृढ़ अच्युत और पार लगाने वाला शत्रुओंको भेदता हुआ और नीचा

घनाता हुआ बड़ा भारी सौभाग्य प्राप्त करानेके लिये मुझ पर स्थित हो ॥ १४ ॥

पञ्चम काण्डके छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१७०) ॥

"पुरस्ताद् युक्तः" इति सूक्तस्य चातनगणे पाठाद् यत्रयत्र चातनगणस्य विनियोगस्तत्रतत्रास्य सूक्तस्य विनियोगः । विस्तरस्तु "स्तुवानम् अग्ने" इति [१. ७] सूक्ते कृतः ॥

"पुरस्ताद् युक्तः" इस सूक्तका चातनगणमें पाठ है, अतः जहाँ २ चातनगणका विनियोग होगा, तहाँ २ इसका भी विनियोग होगा । इसका अधिक विस्तार प्रथम काण्डके सप्तम सूक्त "स्तुवानम् अग्ने" में देखना चाहिये ।

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम्
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम

पुरस्तात् । युक्तः । वह । जातऽवेदः । अग्ने । विद्धि । क्रियमाणम् । यथा । इदम् ।

त्वम् । भिषक् । भेषजस्य । असि । कर्ता । त्वया । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । सनेम ॥ १ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप सब कर्मोंमें पहिले युक्त होते हैं अतः इस कार्यभारको उठाइये इस वर्तमानमें होते हुए कार्यको जानिये आप वैद्य हैं और (भूतोच्चाटन आदिकी) औषधि करने वाले हैं आपके द्वारा (भूत आदिकी बाधा दूर होने पर) हम गौ घोड़े और पुरुषोंको पावें ॥ १ ॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।

यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परि-
धिष्पताति ॥ २ ॥

तथा । तत् । अग्ने । कृणु । जातऽवेदः । विश्वेभिः । देवैः । सह । सम्ऽविदानः ।

यः । नः । दिदेव । यतमः । जघास । यथा । सः । अस्य । परिऽधिः । पताति ॥ २ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप सकल देवताओंके साथ मिल कर ऐसा करिये, कि—जो हमसे क्रीड़ा कर चुका है वा जो कोई हम को खा (ने की इच्छासे हमारे ऊपर भूतावेश कर) चुका है उसका परकोटा गिर जावे ॥ २ ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

यथा । सः । अस्य । परिऽधिः । पताति । तथा । तत् । अग्ने । कृणु । जातऽवेदः ।

विश्वेभिः । देवैः । सह । सम्ऽविदानः ॥ ३ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जिस प्रकार उसका परकोटा गिरे तिस प्रकार सब देवताओंसे सम्मिलित होकर आप करिये ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि
प्र दतो मृणीहि ।

पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि

बनाता हुआ बड़ा भारी सौभाग्य प्राप्त करानेके लिये मुझ पर स्थित हो ॥ १४ ॥

पञ्चम काण्डके छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१७०) ॥

"पुरस्ताद् युक्तः" इति सूक्तस्य चातनगणे पाठाद् यत्रयत्र चातनगणस्य विनियोगस्तत्रतत्रास्य सूक्तस्य विनियोगः । विस्तरस्तु "स्तुवानम् अग्ने" इति [१. ७] सूक्ते कृतः ॥

"पुरस्ताद् युक्तः" इस सूक्तका चातनगणमें पाठ है, अतः जहाँ २ चातनगणका विनियोग होगा, वहाँ २ इसका भी विनियोग होगा । इसका अधिक विस्तार प्रथम काण्डके सप्तम सूक्त "स्तुवानम् अग्ने" में देखना चाहिये ।

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम्
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम

पुरस्तात् । युक्तः । वह । जातऽवेदः । अग्ने । विद्धि । क्रियमाणम् । यथा । इदम् ।

त्वम् । भिषक् । भेषजस्य । असि । कर्ता । त्वया । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । सनेम ॥ १ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप सब कर्मोंमें पहिले युक्त होते हैं अतः इस कार्यभारको उठाइये इस वर्तमानमें होते हुए कार्यको जानिये आप वैद्य हैं और (भूतोच्चाटन आदिकी) औषधि करने वाले हैं आपके द्वारा (भूत आदिकी बाधा दूर होने पर) हम गौ घोड़े और पुरुषोंको पावें ॥ १ ॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।

यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥

तथा । तत् । अग्ने । कृणु । जातऽवेदः । विश्वेभिः । देवैः । सह । सम्ऽविदानः ।

यः । नः । दिदेव । यतमः । जघास । यथा । सः । अस्य । परिऽधिः । पताति ॥ २ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप सकल देवताओंके साथ मिल कर ऐसा करिये, कि–जो हमसे क्रीड़ा कर चुका है वा जो कोई हम को खा (ने की इच्छासे हमारे ऊपर भूतावेश कर) चुका है उसका परकोटा गिर जावे ॥ २ ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

यथा । सः । अस्य । परिऽधिः । पताति । तथा । तत् । अग्ने । कृणु । जातऽवेदः ।

विश्वेभिः । देवैः । सह । सम्ऽविदानः ॥ ३ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जिस प्रकार उसका परकोटा गिरे तिस प्रकार सब देवताओंसे सम्मिलित होकर आप करिये ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।

पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि

अक्ष्यौ३ । नि । विध्य । हृदयम् । नि । विध्य । जिह्वाम् । नि ।
तृन्द्धि । प्र । दतः । मृणीहि ।
पिशाचः । अस्य । यतमः । जघास । अग्ने । यविष्ठ । प्रति । तम् ।
मृणीहि ॥ ४ ॥

हे अग्निदेव ! जो पिशाच इसका भक्षण करना चाह चुका है, उसकी आँखोंको आप बींध डालिये, हृदयको फोड़ दीजिये, जिह्वा को काट दीजिये और दाँतोंको तोड़ दीजिये, हे यविष्ठ ! इस प्रकार करके आप उसका संहार करिये ॥ ४ ॥

यदस्य हृतं विहृतं यत् पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः

यत् । अस्य । हृतम् । विऽहृतम् । यत् । पराऽभृतम् । आत्मनः ।
जग्धम् । यतमत् । पिशाचैः ।
तत् । अग्ने । विद्वान् । पुनः । आ । भर । त्वम् । शरीरे ।
मांसम् । असुम् । आ । ईरयामः ॥ ५ ॥

पिशाचोंने इसका जो (ज्ञान) हर लिया है, जो (मांस) विशेषरूपसे हर लिया है, जो खा लिया है, जो हटा लिया है, हे विद्वान् अग्ने ! उस मांस और ज्ञानको आप फिर इसके शरीरमें स्थापित करिये, हम मन्त्र शक्तिसे इसके शरीरमें प्राणोंको प्रेरित करते हैं ॥ ५ ॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु

आमे । सुऽपक्वे । शबले । विऽपक्वे । यः । मा । पिशाचः । अशने । ददम्भ ।

तत् । आत्मना । प्रऽजया । पिशाचाः । वि । यातयन्ताम् । अगदः । अयम् । अस्तु ॥ ६ ॥

जो पिशाच कच्चे पात्रमें पक्के चितकबरे पात्रमें और विशेषरूपसे पके हुए भोजनमें वा कच्चे भोजनमें (प्रवेश करके) हमें नष्ट करनेका विचार कर चुका है। ऐसे पिशाच उसी रूपसे अपने आप और अपनी प्रजाके साथ विशेषरूपसे यातना भोगें और यह पुरुष नीरोग होजाय ॥ ६ ॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३

यः । तदा० ॥ ७ ॥

क्षीरे । मा । मन्थे । यतमः । ददम्भ । अकृष्टऽपच्ये । अशने धान्ये । यः ॥० ॥ ७ ॥

जो पिशाच दुग्धमें मंथमें और खेतीसे पके हुए अन्नमें प्रवेश करके हमको नष्ट करनेका विचार कर चुका है, वह पिशाच इसी रूपसे अपने आप और अपनी प्रजाके साथ विशेषरूपसे यातना भोगे ॥ ७ ॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने
शयानम् । तदा० ॥ ८ ॥

अपाम् । मा । पाने । यतमः । ददम्भ । क्रव्यऽअत् । यातूनाम् ।
शयने । शयानम्० ॥ ८ ॥

जिस मांसभक्षी पिशाचने जलके पीनेके अवसर पर, वा यातना भोगनेके अवसर (यात्राके समय) पर (भूमिरूप) शय्या पर शयन करनेमें पीड़ित किया है, वह इसी रूपसे अपने आप और अपनी प्रजाके साथ पीड़ा भोगे ॥ ८ ॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने
शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽय-
मस्तु ॥ ९ ॥

दिवा । मा । नक्तम् । यतमः । ददम्भ । क्रव्यऽअत् । यातूनाम् ।
शयने । शयानम् ।
तत् । आत्मना । प्रऽजया । पिशाचाः । वि । यातयन्ताम् । अगदः ।
अयम् । अस्तु ॥ ९ ॥

जिस मांसभक्षक पिशाचने दिन रातमें, वा यातना भोगनेके अवसर (यात्राके समय) पर (भूमिरूप) शय्या पर शयन करनेमें पीड़ित किया है, वह इसी रूपसे अपने आप और अपनी प्रजाके साथ पीड़ा भोगे ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥

क्रव्यऽअदम् । अग्ने । रुधिरम् । पिशाचम् । मनःऽहनम् । जहि । जातऽवेदः ।

तम् । इन्द्रः । वाजी । वज्रेण । हन्तु । छिनत्तु । सोमः । शिरः । अस्य । धृष्णुः ॥ १० ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप मांस भक्षी रुधिर-(भक्षी) मनका नाश करने वाले पिशाचको मारिये, घोड़ों वाले इन्द्र उसको वज्र से मारें और धर्षणशील सोम इसके शिरको काट डालें ॥१०॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरान‌नु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातुऽधानान् । न । त्वा । रक्षांसि । पृतनासु । जिग्युः ।

सहऽमूरान् । अनु । दह । क्रव्यऽअदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

हे अग्ने ! आप चिरकालसे यातुधानोंका मर्दन करते रहते हैं, राक्षस संग्रामोंमें आपको नहीं जीत सकते हैं, इन मांसभक्षकोंको आप इनकी मूर्छाशक्तिके साथ भस्म करिये, यह आपके दिव्य आयुधसे न छूट सकें ॥ ११ ॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् ।
गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥१२॥

सम्ऽआहर । जातऽवेदः । यत् । हृतम् । यत् । पराऽभृतम् ।
गात्राणि । अस्य । वर्धन्ताम् । अंशुःऽइव । आ । प्यायताम् । अयम् ॥ १२ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! इस पुरुषका जो ज्ञान ग्रस्त हुआ है और जो मांस हटाया गया है, उसको आप लाइये । इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग बढ़ें और यह सोमाङ्कुरकी समान पुष्ट हो ॥ १२ ॥

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् ।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

सोमस्यऽइव । जातऽवेदः । अंशुः । आ । प्यायताम् । अयम् ।
अग्ने । विऽरप्शिनम् । मेध्यम् । अयक्ष्मम् । कृणु । जीवतु ॥१३॥

—जैसे सोमलताका अङ्कुर पुष्ट होता है, हे अग्ने ! इसी प्रकार यह पुरुष पुष्ट हो, हे अग्ने ! इस महागुणवान् पवित्र पुरुषको आप रोगरहित करिये, यह जीवित रहे ॥ १३ ॥

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः ।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥१४॥

एताः । ते । अग्ने । सम्ऽइधः । पिशाचऽजम्भनीः ।
ताः । त्वम् । जुषस्व । प्रति । च । एनाः । गृहाण । जातऽवेदः १४

हे अग्ने ! यह पिशाचोंका संहार करने वालीं आपकी समिधायें हैं, हे जातवेदा अग्ने ! आप इनसे प्रसन्न हूजिये और इनको ग्रहण करिये ॥ १४ ॥

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा ।

जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥१५॥

तार्ष्टऽअघीः । अग्ने । सम्ऽइधः । प्रति । गृह्णाहि । अर्चिषा ।

जहातु । क्रव्यऽअत् । रूपम् । यः । अस्य । मांसम् । जिहीर्षति १५

इति षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप अपनी लपटसे इन तृषाको शान्त करने वालीं समिधाओंको ग्रहण करिये, मांसभक्षी पिशाच, कि–जो इसके मांसका हरण करना चाहता है, वह अपने रूपको छोड़ देवे १५

पञ्चम काण्डके छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१७१) ॥

"आवतस्ते" इति सूक्तस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य यत्रयत्र सर्वभैषज्यादिषु विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्र विनियोगोनुसंधेयः । अस्य विस्तरस्तु "अक्षीभ्याम्" इत्यत्र [२. ३३] उक्तः ॥

तथा अनेन सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामं माणवकम् अभिमृश्य अभिमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "उत देवः [४. १३] आवतस्ते" [५. ३०] इत्यादि "इत्यभिमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा ऋषिहस्ते माणवकशरीराभिमन्त्रणेपि एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "उत देवाः [४. १३] आवतस्ते" [५. ३०] इत्यादि "इत्यभिमन्त्रयते" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा अस्य सूक्तस्य पिष्टरात्रीकल्पे सर्पपाभिमन्त्रणानन्तरं जपे

विनियोगः । तद् उक्तं परिशिष्टे । "अथातः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य "सर्षपान् अभिमन्त्र्य आवतस्ते इति जपन्" इति [प० ६] ॥

"आवतस्ते" इस सूक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है, अतः इस गणका सर्व प्रकारकी चिकित्साओंमें जहाँ २ विनियोग होगा तहाँ २ सर्वत्र इसका भी विनियोग होगा । इसका विस्तार 'अक्षी-भ्याम्' इस द्वितीयकाण्डके तैंतीसवें सूक्तमें देखना चाहिये ।

तथा उपनयनके अनन्तर बालकका स्पर्श करके इस सूक्तसे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उत देवाः (४ । १३) आवतस्ते" (५ । ३०) इत्यादि "इत्यभि-मन्त्रयते" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ७ । ६) ।

तथा इस सूक्तका ऋषिहस्तसे बालकके शरीरका स्पर्श करने पर भी पाठ किया जाता है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उत देवाः (४ । १३) आवतस्ते" (५ । ३०) इत्यादि "इत्यभिमन्त्रयते" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा इस सूक्तका पिष्टरात्रिकल्पमें सरसोंके अभिमन्त्रणके अनन्तर जप करनेमें भी विनियोग होता है । इसी बातको परि-शिष्टमें कहा है, कि-"अथातः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य "सर्षपान् अभिमंत्र्य आवतस्ते जपन्" इति (अथर्व-परिशिष्ट ६) ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृनसुं
बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥

आऽवतः । ते । आऽवतः । पराऽवतः । ते । आऽवतः ।

इह । एव । भव । मा । नु । गाः । मा । पूर्वान् । अनु । गाः ।

पितॄन् । असुम् । बध्नामि । ते । दृढम् ॥ १ ॥

तेरे समीपके देशसे और तेरे समीपसे तेरे दूरके देशसे और तेरे पाससे तेरे प्राणोंको दृढ़ रीतिसे बाँधता हूँ तू (मरे हुए) पूर्व पितरोंका (अभीसे) अनुकरण न कर यहाँ ही रह ॥ १ ॥

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः ।

उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥

यत् । त्वा । अभिऽचेरुः । पुरुषः । स्वः । यत् । अरणः । जनः ।

उन्मोचनप्रमोचने इत्युन्मोचनऽप्रमोचने । उभे इति । वाचा । वदामि ।

ते ॥ २ ॥

जिस पितृऋणको दूर न करसकने वाले अपने पुरुषने तुझ पर अभिचार किया है, उससे छूटना और विशेषरूपसे छूटना इन दोनों बातोंको मैं मन्त्रशक्तिसे कहता हूँ ॥ २ ॥

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या । उन्मो० ३

यत् । दुद्रोहिथ । शेपिषे । स्त्रियै । पुंसे । अचित्त्या ॥० ॥ ३ ॥

जिस तूने स्त्री वा पुरुषके विषयमें मोहवश द्रोह वा शाप किया है (और उन द्रोह वा शापके चिन्तवनके कारण तू रुग्ण होगया है) उससे मुक्त करने और विशेषरूपसे मुक्त करनेको मैं तुझसे वाणीके द्वारा कहता हूँ ॥ ३ ॥

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् ।

उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

यत् । एनसः । मातृऽकृतात् । शेषे । पितृऽकृतात् । च । यत् ।

उन्मोचनप्रमोचने इत्युन्मोचनऽप्रमोचने । उभे इति । वाचा । वदामि ।

ते ॥ ४ ॥

जो तू माताके पापवश वा पिताके पापवश (रोगशय्या पर) शयन कर रहा है, उस पापनिमित्तक रोगसे उन्मोचन और प्रमोचन इन दोनोंको मैं तेरे लिये मन्त्ररूपा वाणीसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः ।
प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

यत् । ते । माता । यत् । ते । पिता । जामिः । भ्राता । च । सर्जतः ।

प्रत्यक् । सेवस्व । भेषजम् । जरत्ऽअष्टिम् । कृणोमि । त्वा ॥५॥

तेरी माताने, तेरे पिताने, तेरे भाईने, और तेरी बहिनने जिस मन्त्रकर्मकी वा औषधिकी सृष्टि की है, उस औषधिका तू भली प्रकार सेवन कर, मैं तुझको बुढ़ापे तक जीवनकी व्याप्ति वाला करता हूँ ॥ ५ ॥

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

इह । एधि । पुरुष । सर्वेण । मनसा । सह ।

दूतौ । यमस्य । मा । अनु । गाः । अधि । जीवऽपुराः । इहि ६

हे पुरुष ! तू अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंके साथ यहाँ बढ़, यमके दूतोंके पीछे न जा, पहिले यहाँ जीवित रह ॥ ६ ॥

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम् ॥ ७ ॥

अनुऽहूतः । पुनः । आ । इहि । विद्वान् । उत्ऽअयनम् । पथः ।
आऽरोहणम् । आऽक्रमणम् । जीवतःऽजीवतः । अयनम् ॥ ७ ॥

इस कर्मके अनन्तर बुलाया हुआ तू फिर आ तू उदय होनेके मार्गको जानता है अयनरूप आरोहण और आक्रमण तेरे जीते २ ही (हों) अर्थात् उत्तरायन और दक्षिणायन तेरी जीवित अवस्थामें ही बीतें॥ ७ ॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

मा । बिभेः । न । मरिष्यसि । जरत्ऽअष्टिम् । कृणोमि । त्वा ।
निः । अवोचम् । अहम् । यक्ष्मम् । अङ्गेभ्यः । अङ्गऽज्वरम् । तव ८

हे रोगिन् ! तू न डर, मैं तुझको बुढ़ापे तक इस लोकमें, व्याप्त रहने वाला करता हूँ, मैं कहता हूँ, कि-तेरे अंगोंमे यक्ष्मा और अंगज्वर निकल गया है ॥ ८ ॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ९

अङ्गऽभेदः । अङ्गऽज्वरः । यः । च । ते । हृदयऽआमयः ।
यक्ष्मः । श्येनःऽइव । प्र । अपप्तत् । वाचा । साढः । परःऽतराम् ९

जो तेरे अंगोंमें भेद होता रहता था, जो अंगोंमें ज्वर व्याप्त था और जो तेरा हृदयका रोग था और जो तेरा राजयक्ष्मा रोग

था वह मन्त्रशक्तिरूप वाणीसे तिरस्कृत होकर बाज पक्षीकी समान बहुत दूर जाकर गिर पड़ा है ॥ ६ ॥

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् १०

ऋषी इति । बोधऽप्रतीबोधौ । अस्वप्नः । यः । च । जागृविः ।
तौ । ते । प्राणस्य । गोप्तारौ । दिवा । नक्तम् । च । जागृताम् १०

जो जागृत और अस्वप्नके बोध प्रतिबोध ऋषि हैं, तेरे प्राणके रक्षक वे दिन रात जागते रहें ॥ १० ॥

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११॥

अयम् । अग्निः । उपऽसद्यः । इह । सूर्यः । उत् । एतु । ते ।
उत्ऽएहि । मृत्योः । गम्भीरात् । कृष्णात् । चित् । तमसः । परि ११

यह पासमें रखने योग्य अग्निदेव हैं इसी लोकमें तेरे लिये सूर्य उदय होवें, तू घोर अन्धकाररूप गम्भीरमृत्युसे (मुक्त होकर) उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेस्मा अरिष्टतातये १२

नमः । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे । नमः । पितृऽभ्यः । उत । ये । नयन्ति ।

उत्ऽपारणस्य । यः । वेद । तम् । अग्निम् । पुरः । दधे । अस्मै ।

अरिष्टऽतातये ॥ १२ ॥

जो लेजाते हैं उन यमराजके लिये नमस्कार है, मृत्युके लिये नमस्कार है, पितरोंके लिये नमस्कार है, जो शरीरके पारणकी विधिको उत्कृष्ट रूपसे जानते हैं उन अग्निको हम इस पुरुषके कल्याणकी वृद्धिके लिये आगे रखते हैं ॥ १२ ॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् ।

शरीरमस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥१३॥

आ । एतु । प्राणः । आ । एतु । मनः । आ । एतु । चक्षुः । अथो

इति । बलम् ।

शरीरम् । अस्य । सम् । विदाम् । तत् । पत्ऽभ्याम् । प्रति ।

तिष्ठतु ॥ १३ ॥

प्राण इसके पास आवे, मन इसके पास आवे, चक्षुः इसके पास आवे, बल इसमें आवे, मैंने इसके शरीरको (मंत्रशक्तिसे) प्राप्त कर लिया है, सो यह अपने पैरों पर खड़ा होजावे ॥१३॥

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।

वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥१४॥

प्राणेन । अग्ने । चक्षुषा । सम् । सृज । इमम् । सम् । ईरय । तन्वा । सम् । बलेन ।

वेत्थ । अमृतस्य । मा । नु । गात् । मा । नु । भूमिऽगृहः ।

भुवत् ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! इस पुरुषको आप प्राणशक्ति और चक्षुः शक्तिसे सम्पन्न करिये, शरीरसे प्रेरित करिये, बलसे भली प्रकार संयुक्त करिये, हे अग्ने ! आप अमृतको जानते हैं, यह पुरुष इस लोकसे न जावे इसका घर भूमि न हो अर्थात् यह (अभी) श्मशान-भूमिको अपना घर न बनावे ॥ १४ ॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते ।

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥

मा । ते । प्राणः । उप । दसत् । मो इति । अपानः । अपि । धायि । ते ।

सूर्यः । त्वा । अधिऽपतिः । मृत्योः । उत्ऽआयच्छतु । रश्मिऽभिः १५

हे रोगिन् ! तेरा प्राण क्षीण न होवे, तेरा अपान न रुका जावे, अधिपति सूर्यदेव तुझे अपनी किरणोंसे मृत्युसे उठावें १५

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।

त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

इयम् । अन्तः । वदति । जिह्वा । बद्धा । पनिष्पदा ।

त्वया । यक्ष्मम् । निः । अवोचम् । शतम् । रोपीः । च । तक्मनः १६

यह भीतर बँधी हुई हिलती हुई जिह्वा भीतर कह रही है मैं कहता हूँ, कि–तुझसे यक्ष्मारोग हट गया और जीवनको कष्टमय बनाने वाले ज्वरके सैंकड़ों आक्रमण भी हट गए ॥ १६ ॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।

यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।

स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥१७॥

अयम् । लोकः । प्रियऽतमः । देवानाम् । अपराऽजितः ।

यस्मै । त्वम् । इह । मृत्यवे । दिष्टः । पुरुष । जज्ञिषे ।

सः । च । त्वा । अनु । ह्वयामसि । मा । पुरा । जरसः । मृथाः १७

इति षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जिस मृत्युके लिये निर्दिष्ट होकर तू प्रकट हुआ है, ऐसा यह अपराजित मृत्युका लोक देवताओंको परम प्रिय है परन्तु हे पुरुष! हम तेरा आह्वान करते हैं, तू बुढ़ापेसे पहिले न मर ॥ १७ ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१७२) ॥

"यां ते चक्रुः" इति सूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठाद् यत्र-यत्र तस्य गणस्य विनियोगस्तत्र सर्वत्रास्य सूक्तस्य विनियोगो-ऽनुसंधेयः। विस्तरस्तु "दूष्या दूषिरसि" इति सूक्ते [२.११] कृतः ॥

"यां ते चक्रुः" इस सूक्तका कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ है, अत एव जहाँ २ इस गणका विनियोग होगा, तहाँ २ सर्वत्र इस सूक्त का विनियोग भी करना चाहिये। इसका विस्तार द्वितीयकाण्ड के ग्यारहवें सूक्त "दूष्या दूषिरसि" में देखना चाहिये ॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।

आमे-मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् १

याम् । ते । चक्रुः । आमे । पात्रे । याम् । चक्रुः । मिश्रऽधान्ये ।

आमे । मांसे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । पुनः । प्रति । हरामि ।

ताम् ॥ १ ॥

हे कृत्ये ! जिस तुझको अपक्व मृत्पात्रमें अभिचारकोंने किया

है और जिस तुझको अभिचारकोंने धान जौं गेहूँ उपवाक तिल और कंगनी इन मिश्रधान्योंमें किया है वा कुक्कुट आदिके शरीर-अपक्व मांसमें किया है, ऐसी तुझको मैं अभिचारकके ऊपर ही फिर लौटाता हूँ ॥ १ ॥

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि ।
अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

याम् । ते । चक्रुः । कृकवाकौ । अजे । वा । याम् । कुरीरिणि ।
अव्याम् । ते । कृत्याम् ।०॥ २ ॥

हे कृत्ये ! तुझको यदि अभिचारकोंने मुर्गे पर किया है, वा केशवाले बकरे पर किया है, वा भेड़ पर किया है तो हम उसको अभिचारक पर ही फिर लौटाते हैं ॥ २ ॥

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति ।
गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

याम् । ते । चक्रुः । एकऽशफे । पशूनाम् । उभयादति ।
गर्दभे । कृत्याम् ।०॥ ३ ॥

हे कृत्ये ! तुझको यदि अभिचारकोंने पशुओंमें एक खुर (सुम) वाले और (ऊपर नीचे) दोनों ओर दाँत वाले गधे पर किया है तो हम तुझको अभिचारकके पास ही लौटाते हैं॥३॥

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

याम् । ते । चक्रुः । अमूलायाम् । वलगम् । वा । नराच्याम् ।

क्षेत्रे । ते । कृत्याम् ।०।। ४ ।।

हे कृत्ये ! यदि अभिचारकोंने तुझको मनुष्योंसे पूजित खाने योग्य पदार्थमें ढक कर खेतमें किया है, तो हम तुझको अभिचारक पर ही लौटाते हैं ।। ४ ।।

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः ।

शालायां कृत्यां यां० ।। ५ ।।

याम् । ते । चक्रुः । गार्हऽपत्ये । पूर्वऽअग्नौ । उत । दुःऽचितः ।

शालायाम् । कृत्याम् ।०।। ५ ।।

हे कृत्ये ! तुझको यदि बुरा चीतनेवाले अभिचारक पुरुषोंने गार्हपत्यकी पूर्वाग्निमें किया है, वा अग्निहोत्रकी शालामें किया है, तो हम तुझको अभिचारक पर ही लौटाते हैं ।। ५ ।।

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।

अक्षेषु कृत्यां यां० ।। ६ ।।

याम् । ते । चक्रुः । सभायाम् । याम् । चक्रुः । अधिऽदेवने ।

अक्षेषु । कृत्याम् ।०।। ६ ।।

हे कृत्ये ! तुझको अभिचारकोंने यदि सभामें वा जुएके समय पाशोंमें किया है, तो हम तुझको अभिचारक पुरुष पर ही लौटाते हैं

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे ।

दुन्दुभौ कृत्यां यां० ।। ७ ।।

याम् । ते । चक्रुः । सेनायाम् । याम् । चक्रुः । इषुऽआयुधे ।
दुन्दुभौ । कृत्याम् ।०॥ ७ ॥

जिस कृत्याको अभिचारकोंने सेनामें वा बाणरूप आयुध पर वा दुन्दुभिमें किया है, तो उस कृत्याको मैं अभिचारक पर ही डालता हूँ ॥ ७ ॥

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः ।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥८॥

याम् । ते । कृत्याम् । कूपे । अवऽदधुः । श्मशाने । वा । निऽचख्नुः ।
सद्मनि । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । पुनः । प्रति । हरामि । ताम् ८

हे कृत्ये ! जिस तुझको अभिचारकोंने कूपमें डालकर किया है, वा जिसको करके श्मशानमें गाड़ दिया है वा जिस कृत्याको घरमें किया है, उसको मैं फिर लौटाता हूँ ॥ ८ ॥

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् ।
ओकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥९॥

याम् । ते । चक्रुः । पुरुषऽअस्थे । अग्नौ । सम्ऽकसुके । च । याम् ।
ओकम् । निःऽदाहम् । क्रव्यऽअदम् । पुनः । प्रति । हरामि । ताम्

जिस कृत्याको अभिचारकने पुरुषकी हड्डी पर वा अस्थिर (लपलप करने वाली) अग्निमें किया है, उस धनको छीनकर गुप्तरीतिसे ले जाने वाले मांसभक्षी बहुत जलाने वाले अभिचारक पुरुष पर ही मैं उस कृत्याको भेजता हूँ ॥ ९ ॥

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिंण्मसि ।

अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥ १० ॥

अपथेन । आ । जभार । एनाम् । ताम् । पथा । इतः । प्र । हिण्मसि ।

अधीरः । मर्याऽधीरेभ्यः । सम् । जभार । अचित्त्या ॥ १० ॥

जो पुरुष अज्ञानवश कृत्याको कुमार्गसे हम मर्यादापालकों पर ले आया है, उसको हम मार्गसे उस पर ही भेजते हैं ॥ १० ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।

चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शश्रे । पादम् । अंगुरिम् ।

चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । अभगः । भगवत्ऽभ्यः ॥ ११ ॥

जो हम पर कृत्याको कर हमारी अंगुलिका नाश करना चाहता है वा पैरको नष्ट करना चाहता है । वह वैसा करनेको समर्थ न हो, इस प्रकार वह अभागा हम भाग्यवानोंके लिये कल्याण ही करे ॥ ११ ॥

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

कृत्याऽकृतम् । वलगिनम् । मूलिनम् । शपथेय्यम् ।

इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । अग्निः । विध्यतु । अस्तया

षष्ठेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥

छिप कर काम करने वाले शपथकारी कुछ जड़ रखने वाले कृत्याकारीको इन्द्रदेव वधके साधन बड़े भारी शस्त्रसे मार डालें और अग्नि अपनी फैंकी हुई लपटसे बींध डालें ॥ १२ ॥

अथर्ववेदसंहिताके पञ्चम काण्डके छटे अनुवाकमें

पञ्चम सूक्त समाप्त (१७३) ॥

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका पञ्चम काण्ड ब्र० कु०

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ब्र०. कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत भाषानुवादसहित

समाप्त.

पञ्चमकाण्ड समाप्त-

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

षष्ठं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके द्वारा सम्पूर्ण जगत्का निर्माण किया है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

षष्ठे काण्डे त्रयोदशानुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "दोषो गाय" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र आद्येन तृचेन नवशालायां पुष्टिकामो घृतं मधुमिश्रं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । "यजूंषि यज्ञे [५. २६] इति नवशालायां सर्पिर्मधुमिश्रं जुहोति गाय [६. १] इति द्वितीयां युक्ताभ्यां तृतीयाम्" इति [कौ० ३. ६] ॥

तथा तेनैव तृचेन स्वस्त्ययनकामः आज्यसमित्पुरोडाशादि-शष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । "दोषो गाय [६. १] पातं नः [६. ३] इति पञ्च" इत्यादि "भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इत्यन्तम् [कौ० ७. १] ॥

तथा अनेन तृचेन सर्वलोकाधिपत्यकामः अथर्वाणं यजत उपतिष्ठते वा ॥

तथा अनेनैव समावर्तनानन्तरं भक्तं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "दोषो गायेत्यथर्वाणं समावृत्याश्नाति" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा सोमयागे प्रातःसवने बहिष्पवमानस्तोत्रसमये ब्रह्मा "दोषो गाय" इत्येतज्जपन् उद्गातारम् ईक्षेत । तद् उक्तं वैताने । "चात्वालाद् दक्षिणत उपविशन्ति । दोषो गायेति जपन्नुद्गातारम् ईक्षते" इति [वै० ३. ७] ॥

"इन्द्राय सोमम् ऋत्विजः" इति तृचेन सोमयागे द्रोणकलशस्थं सोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "इन्द्राय सोमम् ऋत्विज इति द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयते" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ६] ॥

तत्र "आ य विशन्ति" [६. २. २] इत्यनया ऋचा राक्षसकृतपीडापरिहारार्थं पक्षिनीडकाष्ठपक्वं क्षीरौदनं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् । सूत्रितं हि । "आ यं विशन्तीति वयोनिवेशनभृतं क्षीरौदनम् अश्नाति" इति [कौ० ४. ५] ॥

यद्यपि अस्मिन् काण्डे प्रायेण सर्वाणि सूक्तानि तृचात्मकान्येव तथापि अध्यापकसंप्रदायानुरोधेन तृचद्वयम् एकीकृत्य सूक्तत्वेन व्यवह्रियते ॥

छठे काण्डमें तेरह अनुवाक हैं । उनमें पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'दोषो गाय' यह पहिला सूक्त है । उनमें पहिले तीन ऋचा वाले सूक्तसे पुष्टि चाहने वाला नवीन शाला (घर) में शहद मिले हुए घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यजूंषि यज्ञे (५ । २६) इति नवशालायां सर्पिर्मधुमिश्रं जुहोति 'दोषो गाय' (६ । १) इति द्वितीयां युक्ताभ्यां तृतीयाम् ॥–'यजूंषि यज्ञे' इस पञ्चम काण्डके छब्बीसवें सूक्तसे नवीन घरमें मधु और घृतकी पहिली आहुति देय और 'दोषो

गाय' इस छठे काण्डके प्रथमसूक्तसे दूसरी आहुति देय और इन दोनों सूक्तोंसे तीसरी आहुति देय।" (कौशिकसूत्र ३। ६)॥

तथा स्वस्त्ययनको चाहने वाला इसी तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृत समिधा पुरोडाश आदिसे पूरी तकके तेरह द्रव्योंकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-दोषो गाय (६। १) पातं नः (६। ३) इति पञ्च" इत्यादि "भवाशर्वौ (११। २) इत्युपदधीत" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ७। १)

तथा सब लोकों पर अधिपतित्व चाहने वाला, इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अथर्वा ऋषिका यजन वा उपस्थान करे।"

तथा इसी सूक्तसे समावर्तनके अनन्तर भातका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"दोषो गायेत्यथर्वाणं समावृत्याश्नाति" इति (कौशिकसूत्र ७। १०)॥

तथा सोमयागके प्रातःसवनमें बहिष्पवमान स्तोत्रके समय ब्रह्मा इस 'सोमो गाय' सूक्तका जप करता हुआ उद्गाताको देखे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"चात्वालाद् दक्षिणत उपविशन्ति। दोषो गायेति जपन्नुद्गातारं ईक्षते" (वैतानसूत्र ३। ७)॥

"इन्द्राय सोमम् ऋत्विजः" इन तीन ऋचाओंसे सोमयागमें द्रोणकलशमें स्थित सोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। "इन्द्राय सोमं ऋत्विज इति द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयते" वैतानसूत्र ३। ६ इस विषयमें प्रमाण है।

यहाँ "आ यं निशन्ति" इस छठे काण्डके दूसरे सूक्तकी दूसरी ऋचासे राक्षसकी की हुई पीड़ाको दूर करनेके लिये पक्षियोंके घोंसलेके काष्ठसे औटाये हुए दूध भातका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"आ यं विशन्तीति वयोनिवेशनमृतं क्षीरौदनं अश्नाति" (कौशिकसूत्र ४। ५)।

यद्यपि इस काण्डमें प्रायः सब ही सूक्त तीन ऋचा वाले हैं तथापि अध्यापकसम्प्रदायके अनुरोधवश दो बार तीन ऋचाओं को एक करके सूक्तरूपमें व्यवहार किया गया है।

तत्र प्रथमा ॥

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

दोषो इति । गाय । बृहत् । गाय । द्युऽमत् । धेहि ।
आथर्वण । स्तुहि । देवम् । सवितारम् ॥ १ ॥

हे आथर्वण अथर्वणः पुत्रः । ❀ "तस्यापत्यम्" इति अणि "अन्" इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावः । स च अथर्वणः पुत्रो दध्यङ् नाम महर्षिः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "प्रजापतिर्वा अथर्वा अग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणः" इति [तै० सं० ५. ६. ६. ३] निगमश्च भवति । "तम् उ त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः" इति [ऋ० ६. १६. १४] ❀ । हे तादृश आथर्वण महर्षे दोषो । दोषाशब्दो रात्रिवाची । स च अधिकरणप्रधानः । उशब्दः अप्यर्थे । दोषा रात्रौ । अपिशब्दाद् अहनि । अहोरात्रोपलक्षिते सर्वस्मिन्नपि काले गाय स्तुत्युपयोगीनि सामानि उच्चारय । "बृहत्साम तथा साम्नाम्" इति [भ० गी० १०. ३५] यद् भगवतोक्तं बृहत्साम्नः प्राधान्यं तत् ख्यापयितुं विशेषतो निर्दिशति बृहद् गायेति । "त्वाम् इद्धि हवामहे" [ऋ० ६. ४६. १] इत्यस्याम् ऋचि उत्पन्नं साम बृहत् । तद्धि सर्वसोमयागानां प्रकृतिभूते प्रथमप्रयोज्येऽग्निष्टोमे माध्यंदिनसवने पृष्ठस्तोत्रेषु विकल्पेन प्रथमं प्रयुज्यते । तद् उक्तम् । "रथन्तरसाम्ना बृहत्साम्नोभयसाम्ना वा प्रथमं यजेत" इति । तद् बृहत् साम हे स्तोतः गाय । ❀ कै गै शब्दे इति धातुः ❀ ।

सेन च गानेन द्युमत् दीप्तिमद्‌ धनं धेहि अस्मासु धारय। ❀डुधाञ् धारणपोषणयोः। "ध्वसोरेद्धौ०" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀।
तस्य च गीयमानस्य साम्नः उक्तफलसाधनत्वं स्तोत्रनिष्पादनद्वारेत्याह स्तुहीति। देवम् दानादिगुणयुक्तं सवितारम् अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकं सूर्यं स्तुहि प्रशंस। गुणिनिष्ठगुणाभिधानं हि स्तुतिः।
सा च यज्ञे द्विविधा प्रगीताप्रगीतमन्त्रभेदात्। तत्र प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। तच्च "आज्यैः स्तुवते" "पृष्ठैः स्तुवते" इत्यादिवाक्यैर्विहितम्। अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्। तदपि "आज्यं शंसति" "प्रउगं शंसति" इत्यादिशंसतिचोदनाविहितम्।
तयोश्च याज्यानुवाक्योक्तिवत् संस्कारकर्मत्वम् आशङ्क्य प्रधानकर्मत्वं राद्धान्तितम्। "स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्‌ देवताभिधानत्वात्" इत्यधिकरणे [जै० २. १. १३]। एतद्‌ उक्तं भवति। गीयमानेन बृहता साम्ना फलसाधनपरमापूर्वजननार्थं पृष्ठस्तोत्राख्यं प्रधानकर्म निष्पादयेद्‌ इति॥ ❀ आथर्वण इत्यामन्त्रितस्य "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति अविद्यमानवद्भावात् स्तुहीत्यस्य पादादित्वाद्‌ "०अपादादौ" इति पर्युदस्तत्वात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀॥

हे अथर्वाके पुत्र दध्यङ् नामक महर्षे †! आप स्तुतिके उपयोगी बृहत्साम ‡ का रात दिन गान करिये, हे स्तोतः! उस गान

† तैत्तिरीयसंहिता ५। ६। ६। ३ में कहा है, कि "प्रजापतिर्वा अथर्वा अग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणः॥—प्रजापति अथर्वा अग्नि ही हैं, उन अथर्वाके पुत्रका नाम दध्यङ् महर्षि है॥" ऋग्वेदसंहिता ६। १६। १४ में कहा है, कि—"तम् उ त्वा दध्यङ् ऋषि पुत्र ईधे अथर्वणः॥—अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषि तुझको बढ़ाते है

‡ भगवद्गीतामें कहा है, कि—"बृहत् साम तथा साम्नाम्।—मैं सामोंमें बृहत्—साम हूँ॥" उसी बृहत् सामकी प्रधानता इस

के द्वारा ज्ञानादि गुण युक्त सबके प्रेरक अन्तर्यामी सविता देवता की स्तुति × करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तमु॑ ष्टुहि॒ यो अ॒न्तः सिन्धौ॑ सू॒नुः ।
स॒त्यस्य॒ युवा॑न॒मद्रो॑घवाचं सु॒शेव॑म् ॥ २ ॥

मन्त्रमें बृहत् शब्दसे सूचित होती है । यह साम ऋग्वेदसंहिता ६ । ४६ । १ की "त्वाम् इद्धि हवामहे" इस ऋचामें उत्पन्न हुआ साम बृहत्साम कहलाता है । वही सब सोमयागोंके प्रकृतिभूत प्रथम प्रयोग किये जाने वाले अग्निष्टोमके माध्यन्दिनसवनमें पृष्ठ-स्तोत्रमें विकल्पसे पहिले प्रयुक्त होता है । इसी बातको कहा है, कि—"रथन्तरसाम्ना बृहत्साम्नोभयसाम्ना वा प्रथमं यजेत ॥-रथन्तरसामसे बृहत्सामसे वा दोनों सामोंसे पहिले यजन करे ।"

× गुणीमें स्थित गुणोंका कथन स्तुति कहलाती है, वह यज्ञमें प्रगीत और अप्रगीत मन्त्रके भेदसे दो प्रकारकी होती है । जो स्तुति प्रगीत मन्त्रसे साध्य होती है अर्थात् की जाती है वह स्तुति स्तोत्र कहलाती है, वह 'आज्यैः स्तुवते' 'पृष्ठैः स्तुवते' इत्यादि वाक्योंसे विहित है और अप्रगीत मन्त्रसे साध्य स्तुति शस्त्र कह-लाती है । वह भी 'आज्यं शंसति' 'प्रउगं शंसति' इत्यादि शंसति चोदनाविहित है । इन दोनोंकी याज्यानुवाक्योक्तिकी समान संस्कारकर्मत्वकी आशंका कर प्रधानकर्मत्व माना है । इसका स्पष्ट वर्णन जैमिनीयसूत्र २ । १ । १३ 'स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्द देवताभिधानत्वात्' के अधिकरणमें है । तात्पर्य यह है, कि—इस गाये जाते हुए बृहत्सामसे फलके साधन परम अपूर्वको उत्पन्न करनेके लिये पृष्ठस्तोत्र नाम वाले प्रधानकर्मको निष्पन्न करे ॥

तम् । ऊँ इति । स्तुहि । यः । अन्तः । सिन्धौ । सूनुः ।

सत्यस्य । युवानम् । अद्रोघऽवाचम् । सुऽशेवम् ॥ २ ॥

हे स्तोतः तमु तमेव देवं स्तुहि स्तुत्या प्रीणय । यो देवः सविता सत्यस्य परब्रह्मणः सूनुः प्रथमजः पुत्रः । तथा च जगत्कारणं परमात्मानं प्रकृत्य वाजसनेयकम् । "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयम् आदित्यं तृतीयम्" इति [बृ०आ० १.२.३]। एतेन इतरदेवेभ्यः प्राशस्त्यम् अस्योक्तं भवति। ईदृशो यः सविता सिन्धौ स्यन्दनशीले समुद्रे अन्तः मध्ये। उद्यन् दृश्यत इति शेषः । तं युवानम् नित्यतरुणं नैशस्य तमसो यावयितारं पृथक्कर्तारं वा अद्रोघवाचम् अहिंसकवाक्ययुक्तम् । शोभनवाचम् इत्यर्थः । सुशेवम् सुसुखम् । स्तुहीत्यन्वयः ॥

हे स्तोतः ! तुम उन देवको ही स्तुतिसे प्रसन्न करो, कि-जो सविता देवता परब्रह्मके प्रथम उत्पन्न हुए पुत्र हैं † । और समुद्र में उदय होते हुए दीखते हैं । उन सदा तरुण रहने वाले रात्रिके अन्धकारको दूर करनेवाले शोभन वाणी वाले सुखस्वरूप सविता को तुम स्तुतिसे प्रसन्न करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।

उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

---

† इसी बातका वाजसनेयी शाखाके बृहदारण्यक उपनिषत्के १ । २ । ३ में वर्णन किया है, कि "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयं आदित्यम् तृतीयम् ॥" इस प्रकार अन्यदेवताओंकी अपेक्षा सविता देवताकी श्रेष्टता सिद्ध है ।

सः । घ । नः । देवः । सविता । साविषत् । अमृतानि । भूरि ।

उभे इति । सुस्तुती इति सुऽस्तुती । सुऽगातवे ॥ ३ ॥

स घ स एव देवः सविता नः अस्माकम् अमृतानि अमृतत्वसाधनानि भूरि भूरीणि बहूनि हविःप्रदानादीनि कर्माणि साविषत् प्रेरयतु देवान् प्रापयतु । यद्वा अमृतानि अमरणहेतुभूतानि बलानि भूरि बहुलं नः अस्मभ्यं साविषत् प्रेरयतु। ❀षू प्रेरणे। अस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलं णिद्द वक्तव्यः" इति वचनाद् वृद्ध्यावादेशौ। घशब्दस्य "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । किमर्थम् इत्यत आह उभे इति । उभयविधे सुष्टुती शोभनस्तुतिसाधने बृहद्रथंतरे सामनी सुगातवे सुष्ठु गातुम् । यद्वा उभे सुष्टुती स्तुतशस्त्रात्मिके शोभने स्तुती सुगातवे सुष्ठु प्रयोक्तुम् । ❀ गायतेस्तुमर्थे तवेप्रत्ययः ❀ ॥

वह सविता देवता ही हमारे अमृतत्वके साधन हविः प्रदान आदि कर्मोंको देवताओंको प्राप्त करावें वा अमरणके साधन बहुत से बलोंको शोभन स्तुतिके साधन दोनों बृहद् रथन्तर सामको वा स्तुत शस्त्रोंको गानेके लिये, हममें प्रेरित करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्राय सोमंमृत्विजः सुनोता चं धावत ।

स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

इन्द्राय । सोमम् । ऋत्विजः । सुनोत । आ । च । धावत ।

स्तोतुः । यः । वचः । शृणवत् । हवम् । च । मे ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः अध्वर्युप्रमुखाः इन्द्राय इन्द्रार्थं सोमं सुनोत अभिषुणुत। ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तशब्दस्य तबादेशः। तस्य पित्त्वेन

ङित्वाभावात् "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणः ॥ तथा तं सोमम् आ धावत च । आधावनं नाम अदाभ्यग्रहार्थं गृहीतस्य वसतीवरीजलस्य "वसवस्त्वा" [तै० सं० ३. ३. ३. १] इत्यादिमन्त्रगृहीतैस्त्रिभिः सोमांशुभिः "मांदासु ते" [तै०सं०३.३.३.१] इत्यादिभिर्मन्त्रैश्चालनम् । यद् आह आपस्तम्बः । "अंशुम् अदाभ्यं वा प्रथमं गृह्णाति ।" इति प्रक्रम्य "उपनद्धस्य राज्ञस्त्रीन् अंशून् प्रवृहति । वसवस्त्वा प्रवृहन्तु गायत्रेण छन्दसेत्येतैः प्रतिमन्त्रम् । तैरेनं चतुराधूनोति । पञ्चकृत्वः सप्तकृत्वो वा । "मांदासु त इत्येतान् प्रतिविभज्य" इति [आप० १२. ८. २] । धूञ् कम्पने इत्यस्मात् ण्यन्तात् लोटि "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः । यद्वा । धावु गतिशुद्ध्योः । तम् अभिषुतं सोमम् आ धावत दशापवित्रेण सर्वतः शोधयत । य इन्द्रः स्तोतुः मे मम वचः स्तुतिलक्षणं वाक्य हवम् आह्वानं च शृणवत् शृणुयात् आदरेण जानीयात् तस्मा इन्द्रायेति संबन्धः । शृणवत् इति । श्रु श्रवणे । अस्मात् लेटि अडागमः । "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः शृभावश्च । हवम् इति । "भावेऽनुपसर्गस्य" इति अप् संप्रसारणं च ॥

हे अध्वर्यु आदि ऋत्विजो ! जो इन्द्र मुझ स्तोताके स्तुतिवाक्यरूप आह्वानको आदरपूर्वक सुनें उन इन्द्रदेवके लिये तुम सोमका अभिषव करो, तथा उस सोमका आधावन भी करो ×४

× अदाभ्यग्रहके ग्रहण किये हुए वसतीवरी जलको "वसवस्त्वा०" (तैत्तिरीयसंहिता ३ । ३ । ३ । १) के तीन मन्त्रोंसे गृहीत तीन सोमांशुओंसे 'मांदासु ते०' (तैत्तिरीयसंहिता ३ । ३ । ३ । १) के मन्त्रोंके द्वारा चालन करनेका नाम आधावन है । इसी बातको आपस्तम्ब मुनिने कहा है, कि—"अंशु अदाभ्यं वा प्रथमं गृह्णाति" इति प्रक्रम्य "उपनद्धस्य राज्ञस्त्रीन् अंशून् प्रवृहति

पञ्चमी ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः ।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

आ । यम् । विशन्ति । इन्दवः । वयः । न । वृक्षम् । अन्धसः ।
विऽरप्शिन् । वि । मृधः । जहि । रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

इन्दवः सोमाः अन्धसः । अन्ननामैतत् । ❀ अदेर्नुम् धश्च [उ० ४. २०५] इति असुनि व्युत्पादितम् ❀ । अन्नभूताः सन्तः यम् इन्द्रम् आ विशन्ति प्रविशन्ति । तत्र दृष्टान्तः वय इति । नशब्दः उपमार्थे । वयः पक्षिणो यथा निलयभूतं वृक्षं शीघ्रं स्वेच्छया प्राप्नुवन्ति तथा इन्द्रार्थम् अभिषुताः सोमाः तत्प्राशनाय तच्छरीरं स्वयमेव प्रविशन्तीत्यर्थः । [स त्वं] हे विरप्शिन् महन्नामैतत् । हे महन्निन्द्र सोमपानेन दृप्तः सन् रक्षस्विनीः रक्षोभिर्बाधकैरुपेता मृधः युध्यमानाः शत्रुसेना वि जहि विबाधस्व । ❀ हन्तेर्जः" इति जादेशः । तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति लुगभावः ❀ ॥

जैसे पक्षी अपने निवासस्थान वृक्ष पर शीघ्र ही स्वेच्छापूर्वक आते हैं इसी प्रकार अन्नरूप सोम अभिषुत होने पर इन्द्रदेवके प्राशनके लिये उनके शरीरमें स्वयं ही प्रवेश करते हैं ऐसे हे महान् इन्द्र ! आप सोमपानसे मदमें भर कर राक्षस बाधकोंसे युक्त लड़ती हुई शत्रुसेनाओंको पीड़ित करिये ॥ २ ॥

वसवस्त्वा प्रवृहन्तु गायत्रेण छन्दसेत्येतैः प्रतिमन्त्रम् । तैरेनं चतुराप्नोति । पञ्चकृत्वः सप्तकृत्वो वा । मांदासु त इत्येतान् प्रतिविभज्य" (आप० १२ । ८ । २) ॥

षष्ठी ॥

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ २ ॥

सुनोत । सोमऽपाव्ने । सोमम् । इन्द्राय । वज्रिणे ।
युवा । जेता । ईशानः । सः । पुरुऽस्तुतः ॥ २ ॥

हे अध्वर्यवः सोमपाव्ने सोमस्य पात्रे सोमपानोत्सुकाय । ❀ "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति वनिप् ❀। वज्रिणे वज्रहस्ताय शत्रुनिरसनक्षमाय इन्द्राय सोमं सुनोत अभिषुणुत । स खलु इन्द्रो युवा नित्यतरुणः शत्रूणां यावयिता वा अत एव जेता जयशीलः ईशानः सर्वस्य जगत ईशिता स्वामी । ❀ ईश ऐश्वर्ये इत्यस्मात् लटः शानच् । अदादित्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तः ❀। पुरुष्टुतः पुरुभिर्बहुभिर्यजमानैः स्वस्वाभिलषितसिद्धये स्तुतः प्रशंसितः । य इत्थं सर्वोत्कृष्ट इन्द्रः तत्प्रीत्यर्थं सोमम् अभिषुणुतेति संबन्धः ॥

[इति] षष्ठे काण्डे प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अध्वर्युओं ! सोमका पान करने वाले वज्रधारी शत्रुओंका तिरस्कार करनेमें समर्थ इन्द्रके लिये सोमका अभिषव करो, वह इन्द्रदेव सदा तरुण रहते हैं, शत्रुओंको भगाने वाले हैं, जयशील हैं, सब जगत्के स्वामी हैं और बहुतसे यजमान अपने २ अभीष्ट कामकी सिद्धिके लिये उनकी प्रशंसा करते हैं, जो इन्द्र ऐसे उत्कृष्ट हैं उनकी प्रीतिके लिये सोमका अभिषव करो ॥ २ ॥

छठे काण्डमें प्रथम सूक्त समाप्त (१७५) ॥

"पातं नः" इति तृचेन विजयस्वस्त्ययनकर्माणि आज्यं हुत्वा खड्गादिशस्त्रं संपात्य अभिमन्त्र्य योधकाय प्रयच्छेत् ॥

तथैव स्वस्त्ययनकामो रात्रौ शयनकाले एतं तृचं जपन् प्रादेशेन मुखं प्रमाय स्वप्यात् ॥

तथैव सुप्तोत्थितस्य अनेन तृचेन स्वस्त्ययनार्थं त्रीणि पदानि तिस्रो दिशो वा प्रमाय उत्तिष्ठेत् ॥

सूत्रितं हि । "पातं नः [६. ३] य एनं परिषीदन्ति [६. ७६] यदायुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमायोत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" इति [कौ०७.१]॥

तथा "पातं नः" इति पञ्चभिर्ऋग्भिः स्वस्त्ययनकामः आज्य-समित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । "पातं नः [६. ३] इति पञ्च अनडुद्भ्यः" [६.५९]इत्यादि "भवाशर्वौ" [११.२] "इत्युपदधीत" इत्यन्तं सूत्रम् [कौ०७.१]॥

"त्वष्टा मे" इति तृचेन दायादविभागकर्मणि पुष्ट्यर्थं सरूप-वत्साया गोर्दुग्धे पक्वम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन धनुर्ज्यां संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि दण्डं संपात्य अभिमन्त्र्य विसृज्य धारयेत् ॥

आह च कौशिकः । "त्वष्टा म इति मातर्विभज्यमाणोऽश्नाति । ज्यां बध्नाति । दण्डं संपातवन्तं विसृज्य धारयति" इति [कौ० ३. ६]॥

तथा पुष्ट्यर्थचित्राकर्मणि अनेन तृचेन वृक्षशाखादिसंभारान् संपातयेत् । "त्वष्टा म इति मातर्विभज्यमाणः" इति प्रक्रम्य "युक्तयोश्चित्राकर्म । निशायां संभारान् संपातवतः करोति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ३. ६] ॥

तथा च कुमारस्य कुमार्या वा मूर्ध्नि आवर्तद्वयजनने तच्छा-न्त्यर्थम् अनेन तृचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "कुमारस्य कुमार्या वा द्वावावर्तौ मूर्धन्यौ भवतः" इति प्रक्रम्य होमार्थं कांश्चन

मन्त्रान् पठित्वा सूत्रितम् "त्वष्टा मे दैव्यं वचः" इति [कौ० १३. ३२]॥

"पातं नः" इन तीन ऋचाओंसे विजयके स्वस्त्ययनकर्ममें घृत की आहुति देकर शस्त्र आदि खड्गको सम्पातित और अभिमंत्रित करके योधाको देय।

तथा इसी प्रकार स्वस्त्ययनको चाहने वाला रात्रिमें शयनके समय इन तीन ऋचाओंको जपता हुआ प्रादेश (तर्जनी अँगुली से अँगूठे तककी फैली हुई हथेली) से मुखको ढक कर सोवे॥

तथा सोकर उठे हुएका स्वस्त्ययन करनेके लिये इन तीन ऋचाओंसे तीन पैर या तीन दिष्टिको नाप कर उठे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पातं नः (६ । ३) य एनं परिषीदन्ति (६ । ७६) यदायुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्टया मुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमायोत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" (कौशिकसूत्र ७ । १)

तथा "पातं नः" इन पाँच ऋचाओंसे स्वस्त्ययनको चाहनेवाला घृत समिधा पुरोडाशसे पूरी तकके तेरह द्रव्योंकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १ का प्रमाण है कि—"पातं नः (६ । ३) इति पञ्च अनुहुइभ्यः" (६ । ५६) इत्यादि "भवाशर्वौ (११ । २) इत्युपदधीत" इत्यन्तम्॥

दायादविभागकर्ममें पुष्टि चाहने वाला "त्वष्टा मे" इन तीन ऋचाओंसे अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दुग्धमें बने हुए भातको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खावे॥

तथा तहाँ ही इसी कर्ममें इन ही तीन ऋचाओंसे धनुषकी प्रत्यंचाको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

तथा तहाँ ही दण्डका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके शुद्ध करके धारण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है,

कि-"त्वष्टा म इति प्रातर्विभक्ष्यमाणोऽश्नाति । ज्यां बध्नाति । दण्डं सम्पातवन्तं विसृज्य धारयति" (कौशिकसूत्र ३ । ६) ॥

तथा पुष्ट्यर्थ चित्राकर्ममें इन तीन ऋचाओंसे वृक्षकी शाखा आदि सामग्रियोंको सम्पातित करे इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"त्वष्टा म इति प्रातर्विभक्ष्यमाणः" इति प्रक्रम्य "युक्तयोश्चित्राकर्म। निशायां संभारान् सम्पातवतः करोति" (कौशिकसूत्र ३।६)

तथा कुमार वा कुमारीके मस्तक पर दो आवर्तोंके प्रकट होने पर शान्तिके लिये इन तीन ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"कुमारस्य कुमार्या वा मूर्ध्नि द्वावावर्तौ भवतः" इति प्रक्रम्य होमार्थं कांश्चन मन्त्रान् पठित्वा सूत्रितम् । "त्वष्टा मे दैव्यं वचः" (कौशिकसूत्र १३ । ३२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।
अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

पातम् । नः । इन्द्रापूषणा । अदितिः । पान्तु । मरुतः ।
अपाम् । नपात् । सिन्धवः । सप्त । पातन । पातु । नः । विष्णुः । उत । द्यौः ॥ १ ॥

हे इन्द्रापूषणा । इन्द्रश्च पूषा च इन्द्रापूषणौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । "सुपां सुलुक्०" इति विभक्तेराकारः । इन्हन्पूषार्यम्णां शावेव सर्वनामस्थाने इति नियमाद् उपधादीर्घाभावः ❀ । हे इन्द्रापूषणौ नः अस्मान् पातम् रक्षतम् ॥ अदितिः अदीना देवमाता । सा अस्मान् पातु इति विपरिणामेन

संबन्धः ॥ मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः सप्तगणात्मकास्त-त्पुत्रा देवाः । ते च अस्मान् पान्तु रक्षन्तु ॥ अपां नपात् एत-त्संज्ञः अबिन्धनोग्निः और्ववैद्युतलक्षणः । सप्त सिन्धवः सप्त समुद्राश्च यूयम् अस्मान् पातन पात रक्षत ॥ उत अपिच विष्णु-र्व्यापनशीलो देवः द्यौः द्युलोकश्च नः अस्मान् पातु रक्षतु ॥

हे इन्द्र और पूषा देवताओं ! आप हमारी रक्षा करें । अदीना देवमाता अदिति भी हमारी रक्षा करें, उद्रञ्चास मरुत् देवता भी हमारी रक्षा करें, और अपां नपात् नाम वाले जलको ईंधन सम-झने वाले और्ववैद्युतरूप अग्नि हमारी रक्षा करें, तथा सात समुद्र द्युलोक और विष्णुदेव भी हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।

पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

पाताम् । नः । द्यावापृथिवी इति । अभिष्टये । पातु । ग्रावा । पातु ।

सोमः । नः । अंहसः ।

पातु । नः । देवी । सुऽभगा । सरस्वती । पातु । अग्निः ।

शिवाः । ये । अस्य । पायवः ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। ते नः अस्मान् पाताम् रक्षताम् । किमर्थम् । अभिष्टये अभ्येष-

णाय अभिमतफलप्राप्त्यै ॥ तथा ग्रावा अभिषवहेतुरश्मा पातु रक्षतु। अभिषुतश्च सोमो नः अस्मान् अंहसः पापात् पातु रक्षतु ॥ सुभगा सौभाग्ययुक्ता देवी दानादिगुणयुक्ता सरस्वती च मन्त्रात्मिका नः अस्मान् पातु रक्षतु ॥ अग्निः आहवनीयादिरूपेण अवस्थितश्च पातु रक्षतु। अस्य अग्नेः शिवाः कल्याणाः सुखकराः पायवः रक्षसादिकृताद् दुःखात् पातारो ये रश्मयः सन्ति तेपि अस्मान्। रक्षन्त्विति शेषः। "ये पायवो मामतेयं ते अग्ने" [ऋ० १. १४७. ३] इत्यादि मन्त्रान्तरम्। ❀ पा रक्षणे इत्यस्मात् कृवापाजि० [उ० १. १] इति उण् प्रत्ययः। "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युक् ❀ ॥

अभिलषित फलकी प्राप्तिके लिये द्यावापृथिवी हमारी रक्षा करें, और निचोड़नेका ग्रावा भी हमारी रक्षा करे, और निचोड़ा हुआ सोम भी पापसे हमारी रक्षा करे। और सौभाग्यसे युक्त दानादिगुणयुक्त मंत्ररूपा सरस्वती देवी भी हमारी रक्षा करें। आहवनीय आदिरूपसे स्थित अग्नि भी हमारी रक्षा करें। और इन अग्निदेव की राक्षस आदिके दुःखोंसे रक्षा करने वाली सुखदायिनी रश्मियें हमारी रक्षा करें † ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पातं नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम्।
अपां नपादभिहुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

† "ये पायवो मामतेयं ते अग्ने" इस ऋक्संहिताके १। १४७। ३ में भी इसी बातका वर्णन है।

पाताम् । नः । देवा । अश्विना । शुभः । पती इति । उषासानक्ता । उत । नः । उरुष्यताम् ।

अपाम् । नपात् । अभिह्रुती । इत्यभिऽह्रुती । गयस्य । चित् । देव । त्वष्टः । वर्धय । सर्वऽतातये ॥ ३ ॥

हे [देवा] देवौ दानादिगुणयुक्तौ शुभस्पती शोभमानस्य दीप्यमानस्य तेजसः अलंकारस्य वा स्वामिनौ । ❀ शुभ शुम्भ दीप्तौ । अस्मात् क्विबन्तात् षष्ठी । "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । यद्वा शुभः शोभमानायाः सूर्यायाः पती भर्तारौ ईदृशौ हे अश्विना अश्विनौ नः अस्मान् पातम् रक्षतम् ॥ उत अपि च उषासानक्ता । उषाश्च नक्तं च उषासानक्ता । ❀ "उषासोषसः" इति उषासा आदेशः ❀ । एतच्छब्दवाच्ये अहोरात्रदेवते नः अस्मान् उरुष्यताम् रक्षताम् । ❀ उरुष्यती रक्षाकर्मा इति यास्कः [नि० ५. २३] ❀ ॥ अपां नपात् मेघस्थानाम् अपां न पातयिता संवर्धकः एतत्संज्ञोग्निः कयस्य चित् । ❀ वर्णोपजनश्छान्दसः ❀ । कस्यचिदपि राक्षसादेः अभिह्रुती अभिह्रुतौ अभिह्वरणे अभितः सर्वतो हिंसने प्राप्ते अस्मान् रक्षतु इति शेषः । ❀ ह्वृ कौटिल्ये इत्यस्मात् क्तिन्नन्तात् सप्तम्या ईकारः । "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" इति प्रगृह्यत्वम् ❀ ॥ हे त्वष्टर्देव सर्वतातये सर्वस्मै फलाय अस्मान् वर्धय । ❀ "सर्वदेवात् तातिल्" इति स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः ❀ ॥

हे दान आदि गुणोंसे युक्त और दीप्यमान अलंकारके स्वामी अश्विनीकुमारों ! तुम हमारी रक्षा करो । उषासानक्ता नाम वाला दिन और रात्रिकी अभिमानी देवता भी हमारी रक्षा करें और मेघोंमें स्थित जलोंको न गिरने देने वाले संवर्धक अपां नपात्

नामक अग्नि, किसी भी राक्षससे सब ओरसे हिंसाकी प्राप्ति होने पर हमारी रक्षा करें। और हे त्वष्टा देवता ! सब प्रकारकी फलकी प्राप्तिके लिये आप हमें बढ़ावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः १

त्वष्टा । मे दैव्यम् । वचः । पर्जन्यः । ब्रह्मणः । पतिः ।
पुत्रैः । भ्रातृऽभिः । अदितिः । नु । पातु । नः । दुस्तरम् । त्राय-
माणम् । सहः ॥ १ ॥

त्वष्टा देवः मे मदीयं दैव्यम् देवार्हं स्तुतिलक्षणं वचः शृणोतु । ❀ "देवाद् यञञौ" इति देवशब्दात् प्राग्दीव्यतीयो यञ् ❀ ॥ तथा पर्जन्यः वृष्टिकरो देवः । ब्रह्मणस्पतिः मन्त्रस्याधिपतिर्देवः । तावुभौ मदीयं स्तुतिवचनं शृणुताम् इत्यर्थः ॥ तथा अदितिः स्वकीयैः पुत्रैः भ्रातृभिश्च सह नः अस्माकं त्रायमाणम् रक्षकं दुष्टरम् अन्यैस्तरीतुम् अशक्यम् अनतिक्रमणीयं सहः बलं नु क्षिप्रं पातु नियमेन रक्षतु ॥

त्वष्टा देवता मेरे देवोचित स्तुतिरूप वचनको सुनें तथा वृष्टि करने वाले पर्जन्य देव और मन्त्रके अधिपति ब्रह्मणस्पति देव मेरे स्तुतिरूप वचनको सुनें। तथा अदिति देवी अपने पुत्र और भ्राताओंके साथ हमारे रक्षक, दूसरोंसे कठिनतासे तरे जा सकने वाले बलकी शीघ्र ही नियमपूर्वक रक्षा करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।

अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥२॥

अंशः । भगः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । अदितिः । पान्तु । मरुतः ।

अप । तस्य । द्वेषः । गमेत् । अभिऽह्रुतः । यवयत् । शत्रुम् । अन्तितम्

अंशादयः अदितेः पुत्राः । "तस्या अंशश्च भगश्चाजायेताम्" [तै० ब्रा० १. १. ६. २] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धाः । ते च अदितिश्च मरुतः मरुद्गणाश्च पान्तु अस्मान् रक्षन्तु ॥ यस्माच्छत्रुजाताद् रक्षणं प्रार्थ्यते तस्य द्वेषः तत्कर्तृकम् अनिष्टाचरणम् अप गमेत् अस्मत्तः अपगच्छतु । ❀ "लिङ्याशिष्यङ् इति गमेर्लिङि अङ् प्रत्ययः ❀ । कीदृशो द्वेष इति विशिनष्टि । अभिह्रुतः अभितो हिंसकः । ❀ ह्रृ कौटिल्ये इत्यस्मात् कर्तरि निष्ठा ❀ । स च अस्मत्तः अपगतो द्वेषः तमेव शत्रुम् अन्ति अन्तिकात् । ❀ "कादिलोपो बहुलम्" इति वचनात् कादेर्लोपः ❀ । अस्मत्समीपाद् यवयत् पृथक्करोतु । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् ण्यन्तात् लेटि अडागमः ❀ ॥

अदितिके अंश भग वरुण मित्र और अर्यमा नामक पुत्र‡ तथा अदिति और मरुद्गण हमारी रक्षा करें, जिन शत्रुओंसे हम रक्षा चाहते हैं उनका किया हुआ अनिष्टाचरण हमसे दूर होवे और वह चारों ओरसे हिंसा करने वाला हमसे दूर हुआ द्वेष उस शत्रुको हमारे पाससे दूर करे ॥ २ ॥

---

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ६ । २ में कहा है, कि—तस्या अंशश्च भगश्चाजायेताम् ॥—उन अदिति देवीके अंश और भग देवता हुए ।"

षष्ठी ॥

धियेसमश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन् ।
द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ २ ॥

धिये । सम् । अश्विना । प्र । अवतम् । नः । उरुष्य । नः । उरुऽज्मन् ।

अप्रऽयुच्छन् ।

द्यौः । पितः । यवय । दुच्छुना । या ॥ २ ॥

हे अश्विना अश्विनौ व्यापनशीलौ देवौ नः अस्मान् धिये । धीरिति कर्मनाम । अग्निहोत्रादिलक्षणाय सत्कर्मणे सद्बुद्धये वा सम्यक् प्रावतम् प्रकर्षेण रक्षतम् । यथा अस्माकं सत्कर्मविषया बुद्धिर्भवति तथा कुरुतम् इत्यर्थः ॥ हे उरुज्मन् विस्तीर्णगमन वायो अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् त्वं नः अस्मान् उरुष्य रक्ष ॥ हे द्यौः हे पितः वृष्टिद्वारा सर्वस्य प्राणिजातस्य जनक द्युलोक दुच्छुना या दुष्टं शुनं सुखम् अस्याम् इति वा श्वेव दुष्टेति वा दुच्छुना अनिष्टकारिणी पापदेवता । ❀ पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः ❀ । तां यवय अस्मत्तः अपगमय ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अश्विनीकुमार नामक देवताओं ! तुम हमारे अग्निहोत्र आदि कर्मकी और सद्बुद्धिकी श्रेष्ठतासे रक्षा करो, तात्पर्य यह है, कि–जिस प्रकार हमारी बुद्धि सत्कर्ममें प्रवृत्त हो तैसा करो। हे विस्तीर्ण गमन वाले वायुदेव ! आप प्रमादरहित होकर हमारी रक्षा करें, हे पिता द्यौः ! अर्थात् हे वृष्टिके द्वारा सब प्राणियोंके जनक द्युलोक ! जो दुष्ट कुत्तेकी समान अनिष्ट करने वाली और दुष्ट सुख वाली पापदेवता है, उसको हमसे अलग करिये ॥ २ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (१३७) ॥

"उदेनम् उत्तरं नय" "योस्मान् ब्रह्मणस्पते" इति तृचाभ्यां ग्रामकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा ॥

तथा आभ्यां तृचाभ्याम् उदुम्बरपलाशककंन्धूनन्त्रणाधानम् सभोपस्तरणतृणाधानम् अभिमन्त्रितान्नासवप्रदानं वा कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "उदेनम् उत्तरं नय [६. ५] योस्मान् [६.६] इन्द्रः सुत्रामा [७. ६६] इति ग्रामकामो ग्रामसांपदानाम् अप्ययः" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः आग्नेयचरुम् "उदेनम् उत्तरं नय" इत्याद्याभिस्तिसृभिश्च ऋग्भिर्जुहुयात् । सूत्रितं हि । "उदेनम् उत्तरं नयेति पुरस्ताद्धोमसंहतां पूर्वाम् एवं पूर्वांपूर्वां संहतां जुहोति स्वाहान्ताभिः प्रत्यृचं होमाः" इति [कौ० १. ४] ॥

तथा अग्निचयने षोडशगृहीतवैश्वकर्मणहोमानन्तरम् "उदेनम् उत्तरं नय" इत्यनेन आधीयमानाः समिधो ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "उदेनम् उत्तरं नयेति समिध आधीयमानाः" इति वैतानसूत्रात् [वै० ५. २] ॥

दर्शपूर्णमासयोः "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि" [२] इत्यनया ऐन्द्रम् आघारं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत ॥

तथा अनयैव ऐन्द्रं सांनाय्ययागम् अनुमन्त्रयेत ॥

"इन्द्रेमम् इत्यैन्द्रम् आघारम्" इति [वै० १. २] "सांनाय्यस्यैन्द्रं माहेन्द्रं वेन्द्रेमम् [२] त्वम् इन्द्रस्त्वं महेन्द्रः [१७.१८]" इति च वैतानं सूत्रम् [वै० १. ३] ॥

अद्भुतमहाशान्तौ इन्द्रयजने "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि" [२] इत्येषा ऋग् विनियुक्ता । तद्ध उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते" इति प्रक्रम्य "इन्द्रेमं प्रतरं कृधीतीन्द्रस्य" इति [न० क० १४] ॥

ग्रामको चाहनेवाला "उदेनं उत्तरं नय" और "योस्मान् ब्रह्मणस्पते" इन दो तृचाओंसे इन्द्रका पूजन या उपस्थान करे ।

तथा इन दोनों ऋचोंसे गूलड़ पलाश बेरके छुरादेको रक्खे सभाके विछौनेके तिनकोंको रक्खे वा अभिमंत्रित अन्नके आसव को देवे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उदेनं उतरं नय (६। ५) योऽस्मान् (६। ६) इन्द्रः सुत्रामा (७। ९६) इति ग्राम-कामो साम्पदानां अप्ययः" इति (कौशिकसूत्र ७। १०) ॥

तथा दर्शपूर्णमासमें आग्नेय चरुको 'उदेनं उत्तरं नय' इन तीन पहिली ऋचाओंसे होमे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उदेनं उत्तरं नयेति पुरस्ताद्धोमसंहतां पूर्वां एवं पूर्वां पूर्वां संहताम् जुहोति स्वाहान्ताभिः प्रत्यृचं होमाः+अर्थात् पुरस्ता-द्धोम संज्ञा वाली पहिली तीन ऋचाओंमेंसे प्रत्येक ऋचाके अन्तमें स्वाहा शब्द लगाकर आहुति देय।" (कौशिकसूत्र १। ४)॥

तथा अग्निचयनमें षोडशगृहीतवैश्वकर्मण होमके अनन्तर 'उदेनं उत्तरं नय' से रक्खी जाती हुई समिधाओंका ब्रह्मा अनु-मंत्रण करे। वैतानसूत्र ५। २ में कहा भी है, कि—"उदेनं उत्तरं नयेति समिध आधीयमानाः" ॥

ब्रह्मा दर्शपूर्णमासमें "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि" इस दूसरी ऋचा से ऐन्द्र आघारका अनुमन्त्रण करे।

तथा इसी ऋचासे इन्द्रसंबंधी सांनाय्ययागका अनुमंत्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"इन्द्रेमं इत्यैन्द्रं आघारम् (वैतानसूत्र १। २) "सांनाय्यस्यैन्द्रं माहेन्द्रं वेन्द्रेमम् (२) त्वं इन्द्रस्त्वं महेन्द्रः (१७। १८) इति च (वैतानसूत्र १। ३)॥

अद्भुतमहाशान्तिके इन्द्रपूजनमें "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि" इस दूसरी ऋचाका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १४ में कहा है, कि—"अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते" इति प्रक्रम्य "इन्द्रेमं प्रतरं कृधीतीन्द्रस्य" ॥

तत्र प्रथमा ॥

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत ।

समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥

उत् । एनम् । उत्ऽतरम् । नय । अग्ने । घृतेन । आऽहुत ।

सम् । एनम् । वर्चसा । सृज । प्रऽजया । च । बहुम् । कृधि ।१।

हे घृतेनाहुत आज्येन आहूयमान । ❀ "सुबामन्त्रिते०" इति तृतीयान्तस्य पराङ्गवद्भावात् पदद्वयस्य आष्टमिकम् आमन्त्रितानुदात्तत्वम् ❀ । ईदृश हे अग्ने एनं यजमानम् उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्थानम् उन्नय उत्कर्षेण ऊर्ध्वं वा प्रापय । यद्वा । उत्तरम् इति उत्कर्षार्थवृत्तिन उच्छब्दात् तरप् । "अमु च च्छन्दसि" इति अमुप्रत्ययः । अनेन च उन्नयनक्रियायाः प्रकर्षो द्योत्यते । एक उच्छब्दः अनुवादः । उत्कर्षमापणानन्तरम् एनं यजमानं वर्चसा तेजसा शरीरकान्त्या सं सृज संयोजय । प्रजया पुत्रपौत्रादिलक्षणया च बहुम् बहुलं कृधि कुरु । ❀ "श्रुशृणुपृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

हे घृतसे बुलाये जाने वाले अग्ने ! इस यजमानको आप श्रेष्ठ स्थानकी प्राप्ति कराइये और उत्कृष्ट बताइये और इसको उत्कृष्ट करनेके अनन्तर इस यजमानको शरीरकी कान्तिसे सम्पन्न करिये, और पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजासे इसको बढ़ाइये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी ।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥

इन्द्र । इमम् । प्रऽतरम् । कृधि । सऽजातानाम् । असत् । वशी ।

रायः । पोषेण । सम् । सृज । जीवातवे । जरसे । नय ॥ २ ॥

हे इन्द्र इमं यजमानं भतरम् प्रवृद्धतरं कृधि कुरु ॥ सजातानाम् समानजन्मनां भ्रातॄणां मध्ये वशी वशयिता स्वतन्त्रः अधिष्ठाता असत् त्वत्प्रसादाद् भवतु ॥ अपि च एनं रायस्पोषेण धनसमूहेन सं सृज संयोजय । ❀ "ऊडिदंपदादि०" इति रायो विभक्तिरुदात्ता । "षष्ठयाः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । तदा एतत् सर्वं सति जीवने इत्याशयेनाह जीवातव इति । जीवातुर्जीवनौषधम् । ❀ जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् जीवेरातुः [उ० १.७६] इति आतुप्रत्ययः ❀ । चिरजीवननिमित्ताय जरसे जरायै इमं यजमानं नय प्रापय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । जरापर्यन्तम् अखण्डितं दीर्घम् आयुषो दैर्घ्यं प्रापयेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! इस यजमानको आप बहुत बड़ा हुआ करिये, यह आपके प्रसादसे अपने समान जन्म वाले भाई बांधवोंमें सबको वशमें रखने वाला और स्वयं स्वतन्त्र हो, इसको बहुतसे धनकी पुष्टिसे संयुक्त करिये और इसको जीनेके लिये बुढ़ापे तक ले जाइये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यस्य॑ कृण्मो ह॒विर्गृ॒हे तम॑ग्ने व॒र्धया॒ त्वम् ।
तस्मै॒ सोमो॒ अधि॑ ब्रव॒द॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ॥ ३ ॥

यस्य॑ । कृ॒ण्मः । ह॒विः । गृ॒हे । तम् । अ॒ग्ने । व॒र्धय॒ । त्वम् ।
तस्मै॑ । सोमः॑ । अधि॑ । ब्र॒वत् । अ॒यम् । च॒ । ब्रह्म॑णः । पतिः॑ ३

यस्य यजमानस्य गृहे चरुपुरोडाशादिलक्षणं हविः देवार्थं कृण्मः कुर्मः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति

उमत्ययः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उकारलोपः ॥
हे अग्ने त्वं तं यजमानं वर्धय समृद्धं कुरु । तस्मै यजमानाय सोमो देवः [अधि] ब्रवत् अधिब्रवीतु । अधिवचनं पक्षपातेन वचनम् । अस्मदीयोयम् इत्यनुगृह्णातु इत्यर्थः । अयं च ब्रह्मणस्पतिः वेदस्याधिष्ठाता एतत्संज्ञो देवः अधिब्रवीतु ॥

जिस यजमानके घरमें हम चरु पुरोडाश आदि हविको देवताओंके लिये कर रहे हैं हे अग्ने ! उस यजमानकी आप वृद्धि करिये । और सोम देवता उसके विषयमें पक्षपातपूर्वक कहें, कि-यह हमारा है । और इसी प्रकार वेदके अधिष्ठाता ब्रह्मणस्पति देवता कहें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पते देवो अभिमन्यते ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यः । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अदेवः । अभिऽमन्यते ।
सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥ १ ॥

हे ब्रह्मणस्पते अदेवः निर्देवो यः शत्रुः अस्मान् अभिमन्यते अभिहन्तव्यान् जानाति । अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थे । यथा । "न तत्र रुद्रः पशून अभिमन्यते" इति [तै० सं० ३. १. ६. ६] । तं सर्वं शत्रुं सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते मे मह्यं यजमानाय मदीयाय वा रन्धयासि रन्धय वशीकुरु । रध्यतिर्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] । रध हिंसासंराद्ध्योः । अस्मात् ण्यन्तात् लेटि आडागमः । "रधिजभोरचि" इति नुम् । "शतुरनुमः०" इति सुन्वच्छब्दात् परा विभक्तिरुदात्ता ॥

हे ब्रह्मणस्पते देव ! जो देवताओंकी भक्ति न करने वाला

शत्रु हमको मारनेका पात्र समझता है, उस शत्रुको आप सोमाभिषव करने वाले मेरे यजमानके अधीन कर दीजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

यः । नः । सोम । सुऽशंसिनः । दुःऽशंसः । आऽदिदेशति ।
वज्रेण । अस्य । मुखे । जहि । सः । सम्ऽपिष्टः । अप । अयति ।२।

हे सोम यो दुःशंसः दुष्टाभिशंसनः दुष्टाभिप्रायः शत्रुः सुशंसिनः शोभनाशंसान् नः अस्मान् आदिदेशति आदिशति निष्ठुरभाषणेन न्यकरोति । ॐ आङ्पूर्वाद् दिशेः परस्य विकरणस्य व्यत्ययेन श्लुः । पुनश्च शप् ॐ । अस्य शत्रोर्मुखे वज्रेण वर्जकेन आयुधेन जहि ताडय । स शत्रुः संपिष्टः वज्राघातेन चूर्णीभूतः सन् अपायति अपगच्छतु ॥

हे सोम ! जो दुष्ट अभिप्राय वाला शत्रु अच्छे अभिप्राय वाले हमारा निष्ठुर भाषण कर तिरस्कार करता है, उस शत्रुके मुख पर आप वज्र नामक आयुधसे प्रहार करिये। तब वह शत्रु वज्राघात से चूर्ण होकर भाग जावे ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

यः । नः । सोम । अभिऽदासति । सऽनाभिः । यः । च । निष्ट्यः ।
अप । तस्य । बलम् । तिर । महीऽइव । द्यौः । वधत्मना ॥ ३ ॥

हे सोम यः शत्रुः सनाभिः समानजन्मा दायादः नः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति । यश्च निष्ट्यः निकृष्टः शत्रुः अस्मान् बाधते । तस्य बलम् अप तिर अपजहि । तत्र दृष्टान्तः महीवेति । यथा मही महती द्यौः वधत्मना वधः हन्यन्ते अनेन जना इति अशनिर्वधः । ❀ "हनश्च वधः" इति अप् तत्संनियोगेन वधादेशश्च । "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" इति आत्मन आकारलोपः ❀ । वधात्मना अशनिरूपेण आयुधेन निहन्ति । तथा वज्रेण तस्य बलं जहीत्यर्थः ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे सोम ! जो समान जन्म वाला दायाद हमारा नाश करना चाहता है और जो निकृष्ट शत्रु हमको पीड़ित कर रहा है, उसके बलको आप बड़ा भारी द्युलोक जैसे वध करने वाली अशनिसे संहार करता है, तिस प्रकार नष्ट करिये ॥ ६ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (१७९) ॥

"येन सोम" इति तृचेन यागविघ्नशमनार्थं सरूपवत्साया गोः क्षीरे पक्वं पायसं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा अयाज्ययाजनदोषशमनार्थं च यागसमाप्त्यनन्तरं चरुणा सोमं यजेत ॥

सूत्रितं हि । "येन सोमेति याजयिष्यन् सारूपवत्सम् अश्नाति निधने यजते" इति [कौ० ५. १०] ॥

"यथा वृक्षं लिबुजा" इति तृचेन स्त्रीवशीकरणकर्मणि वृक्षत्वक्शरखण्डतगराञ्जनकुष्ठादिद्रव्याणि पेषयित्वा आज्येन आलोड्य स्त्रिया अङ्गम् अनुलिम्पेत् । सूत्रितं हि । "यथा वृक्षम् [६. ८] वाञ्छ मे [६. ६] यथायं वाहः [६. १०२] इति संस्पृष्टयोर्वृक्षलिबुजयोः शकलावन्तरेणेषुतगराञ्जनकुष्ठमधुघरेष्ममथितवृणम् आज्येन संनीय संस्पृशति" इति [कौ० ४. ११] ॥

'येन सोम' इन तीन ऋचाओंसे यागके विघ्नकी शान्तिके लिये सरूपवत्सा गौके क्षीरमें बने हुए पायसका सम्पातन और अभिमंत्रण करके भक्षण करे।

तथा यज्ञ न कराने योग्यको यज्ञ कराने पर यागकी समाप्ति के अनन्तर चरुसे सोमका यजन करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"येन सोमेति याजयिष्यन् सारूपवत्सं अश्नाति निधने यजते।" (कौशिकसूत्र ५। १०)॥

स्त्रीवशीकरणकर्ममें "यथा वृक्षं लिबुजा" इन तीन ऋचाओं वृक्षकी छाल, सैंटेके टुकड़े तगर अञ्जन और कूट आदि द्रव्योंको पीस कर घृतमें मिला कर स्त्रीके अंग पर चुपड़ देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यथा वृक्षम् (६।८) वाञ्छ मे (६।६) यथायं वाहः (६।१०२) इति संस्पृष्टयोर्वृक्षलिबुजयोः शकलावन्तरेणेषुतगरांजनकुष्ठमधुघरेष्मप्रमथिततृणं आज्येन संनीय संस्पृशति" (कौशिकसूत्र ४।११)॥

तत्र प्रथमा॥

येन॑ सो॒माादि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑।

तेना॒ नोव॒सा गंहि॥ १ ॥

येन॑। सो॒म॒। अदि॑तिः। प॒था। मि॒त्राः। वा॒। यन्ति॑। अ॒द्रुहः॑।

तेन॑। नः॒। अव॑सा। आ। ग॒हि॒॥ १॥

हे सोम येन पथा मार्गेण देवयानाख्येन अदितिः अखण्डनीया एतत्संज्ञा देवमाता मित्रा वा। ❀ वाशब्दः चार्थे। बहुवचनाद् आद्यर्थलाभः ❀। मित्राद्याश्च तत्पुत्रा द्वादशादित्याः यन्ति संचरन्ति। कुतो हेतोः संचरन्ति तत्राह। यतस्ते अद्रुहः अद्रोग्धार.

अनुग्रहशीलाः। तस्माज्जगदनुग्रहार्थं तेषां पर्यटनं युक्तम् इत्यर्थः। तेन मार्गेण नः अस्मान् अवसा रक्षणेन सह आ गहि आगच्छ। ❀ गमेर्लोटि शपो लुक्। "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः। तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति लुक् न भवति ❀॥

हे सोम! जिस देवयान नाम वाले मार्गमें किसीसे द्रोह न करने वाले अत एव जगत् पर अनुग्रह करने वाले मित्र आदि बारह आदित्य और उनकी माता अदिति देवी घूमती हैं, उसी मार्ग से आप रक्षाके भावको लेकर आइये॥ १॥

द्वितीया॥

येन सोम साहन्त्यासुरान् रन्धयासि नः।

तेना नो अधि वोचत॥ २॥

येन। सोम। साहन्त्य। असुरान्। रन्धयासि। नः।

तेन। नः। अधि। वोचत॥ २॥

हे सोम साहन्त्य। ❀ षह अभिभवे इत्यस्माद् औणादिको झिच् प्रत्ययः ❀। सहन्तिः सोढा अभिभविता। तत्र भवः साहन्त्य। ❀ "पायोनदीभ्यां ड्यण्" इति बाहुलकाद् अस्मादपि द्रष्टव्यः❀। ईदृश हे सोम येन बलेन नः अस्मदर्थम् असुरान् रन्धयासि वशीकरोषि। अभिभवसीत्यर्थः। तेन बलेन नः अस्मभ्यम् अधि वोचत। अधिवचनं पक्षपातेन वचनम्। ❀ "अस्यतिवक्ति०" इत्यादिना वक्तेः अङ् आदेशः। "वच उम्" इति उम् आगमः ❀॥

हे दबाने वाले पत्थरसे उत्पन्न हुए सोम! जिस बलसे तुम हमारे कारण राक्षसोंको वशमें करते हो उसी बलको हमारे विषें पक्षपातपूर्वक कहो॥ २॥

तृतीया ॥

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् ।

तेना नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

येन । देवाः । असुराणाम् । ओजांसि । अवृणीध्वम् ।

तेन । नः । शर्म । यच्छत ॥ ३ ॥

हे देवाः येन आत्मीयेन बलेन असुराणाम् सुरविरोधिनां क्षेपणशीलानां वा शत्रूणाम् ओजांसि बलानि अवृणीध्वम् ततः पृथक्कृत्य यूयं संभक्तवन्तः तेन बलेन नः अस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छत प्रयच्छत । ॐ दाण् दाने । शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ॐ ॥

हे देवताओं ! अपने जिस बलसे तुमने देवताओंके विरोधी असुरोंके बलोंको और अस्त्र फेंकने वाले शत्रुओंके बलोंको उनसे पृथक् करके अपनेमें मिला लिया है, उस बलसे हमको सुखदो ३

चतुर्थी ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे ।

एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । लिबुजा । समन्तम् । परिऽसस्वजे ।

एव । परि । स्वजस्व । माम् । यथा । माम् । कामिनी । असः ।

यथा । मत् । न । अपऽगाः । असः ॥ १ ॥

[लिबुजा] । ॐ लिबुजा व्रततिर्भवतीति यास्कः [नि० ६.

२८] ❀ । यथा ताम्बूलादिवल्ली स्वाश्रयं वृक्षं समन्तम् सर्वतः परिषस्वजे आश्लिष्यति । ❀ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । अस्मात् छान्दसो लिट् । "श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनाम् इति वक्तव्यम्" इति लिटः कित्वाद् अनुनासिकलोपः ❀ । हे जाये एव एवं मां परि ष्वजस्व आश्लिष्य । यथा येन प्रकारेण मां कामिनी कामयमाना असः भवेः यथा च मत् सकाशाद् अपगाः अपगन्त्री च नासः न भवसि । तथाहं त्वाम् अनेन प्रयोगेण वशीकरोमीत्यर्थः ॥

जैसे ताम्बूल आदिकी बेल अपने आश्रय वृक्षको चारों ओर से लपेट लेती है, हे जाये ! इसी प्रकार तू मेरा आलिंगन कर । जिस प्रकार तू मेरी अभिलाषा वाली बनी रहे और मेरे पाससे न जा सके (इस प्रकार मैं तुझको इस प्रयोगसे वशमें करता हूँ) ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥

यथा । सुऽपर्णः । प्रऽपतन् । पक्षौ । निऽहन्ति । भूम्याम् ।
एव । निः । हन्मि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः ।
यथा । मत् । न । अपऽगाः । असः ॥ २ ॥

यथा सुपर्णः गरुत्मान् प्रपतन् स्वावासस्थानाद् उत्तिष्ठन् भूम्यां स्वकीयौ पक्षौ निहन्ति वीजनवेगेन ताडयति हे योषित् एव एवमेव ते त्वदीयं मनः हृदयं नि हन्मि नितरां पीडयामि । अस्मद्वशं करोमीत्यर्थः । यथा माम् इत्यादि पूर्ववद् वाक्यशेषस्य योजना ॥

जैसे गरुड़ अपने स्थानसे उड़ता हुआ भूमिमें अपने परोंको ताड़ित करता है, हे स्त्री ! इसी प्रकार तेरे मनको मैं पीड़ित करता हूँ, अपने वशमें करता हूँ, जिस प्रकार तू मेरी अभिलाषा वाली बनी रहे और मेरे पाससे न जा सके (इस प्रकार मैं तुझको इस प्रयोगसे वशमें करता हूँ) ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यथे॒मे द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्यः प॒र्यैति॒ सूर्यः॑ ।
ए॒वा पर्यै॑मि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः ॥ ३ ॥

यथा॑ । इ॒मे इति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । स॒द्यः । प॒रि॒ऽएति॑ । सूर्यः॑ ।
एव । परि॑ । ए॒मि॒ । ते॒ । मनः॑ । यथा॑ । माम् । का॒मिनी॑ । अस॑ः ।
यथा॑ । मत् । न । अप॑ऽगाः । अस॑ः ॥ ३ ॥

इमे परिदृश्यमाने द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च [यथा] सूर्यः सर्वस्य प्रेरको भास्करः सद्यः शीघ्रं पर्येति परितो व्याप्नोति एव एवं हे योषित् ते त्वदीयं मनः अहं पर्येमि परितः प्राप्नोमि । यथा माम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

इन दीखते हुए द्युलोक भूलोक और स्वर्गलोकको सबके प्रेरक सूर्यदेव शीघ्र ही चारों ओरसे व्याप्त कर लेते हैं, हे स्त्रि ! इसी प्रकार मैं तेरे चित्तमें चारों ओरसे व्याप्त होता हूँ, जिस प्रकार तू मेरी अभिलाषा वाली बनी रहे और मेरे पाससे न जा सके (इस प्रकार मैं तुझको इस प्रयोगसे वशमें करता हूँ) ॥ ३ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (१८१) ॥

"वाङ्ख मे" इति तृचस्य "यथा वृक्षं लिबुजा" इति तृचवद्

विनियोगो द्रष्टव्यः । सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

"पृथिव्यै श्रोत्राय" इति तृचेन सर्वसंपत्कर्मसु आज्यं जुहुयात् । "पृथिव्यै श्रोत्रायेति जुहोति" इति [कौ० २, ३] सूत्रितत्वात् ॥

"वाञ्छ मे" इन तीन ऋचाओंका "यथा वृक्षं लिबुजा" इन तीन ऋचाओंकी समान विनियोग समझना चाहिये । सूत्र भी तहाँ ही कहा है ।

"पृथिव्यै श्रोत्राय" इन तीन ऋचाओंसे सकल सम्पत् कर्मोंमें घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पृथिव्यै श्रोत्रायेति जुहोति" (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वाञ्छ मे तन्वं पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ३ अक्ष्यौ३ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु १

वाञ्छ । मे । तन्वम् । पादौ । वाञ्छ । अक्ष्यौ३ । वाञ्छ । सक्थ्यौ३ । अक्ष्यौ३ । वृषण्यन्त्याः । केशाः । माम् । ते । कामेन । शुष्यन्तु १

हे कामिनि मे मम तन्वम् शरीरं वाञ्छ कामयस्व । ❀ वाछि इच्छायाम् इति धातुः ❀ । तथा मदीयौ पादौ वाञ्छ इच्छ । अक्ष्यौ मदीये अक्षिणी सक्थ्यौ सक्थिनी च वाञ्छ कामयस्व । मत्परतन्त्रा भवेरित्यर्थः । ❀ "ई च द्विवचने" इति ईकारः ❀ । तत्पारतन्त्र्यम् आत्मनः आविष्करोति अक्ष्याविति । वृषण्यन्त्याः वृषाणं सेचनसमर्थं युवानम् आत्मन इच्छन्त्याः कामिन्यास्ते तव अक्ष्यौ अक्षिणी केशाश्च लावण्यातिशयेन कामेन चित्तविकारेण मां शुष्यन्तु शोषयन्ति । परितापयन्तीत्यर्थः । अतो वाञ्छेति संबन्धः ॥

हे कामिनी ! तू मेरे शरीरकी इच्छा कर, मेरे पैरोंकी इच्छा

कर, मेरे नेत्र और जङ्घाओंकी इच्छा कर अर्थात् तू मेरे अधीन होजा, तुझ सेचनसमर्थ तरुण पुरुषको चाहने वालीके केश और नेत्र परम सुन्दर होनेसे मुझे चित्तविकारके द्वारा सन्तप्त करते हैं १

द्वितीया ॥

मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणोमि॑ हृदय॒श्रिष॑म् ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

मम॑ । त्वा॒ । दो॒षणि॒ऽश्रिष॑म् । कृ॒णोमि॑ । हृ॒द॒य॒ऽश्रिष॑म् ।
यथा॑ । मम॑ । क्रतौ॑ । अस॑: । मम॑ । चि॒त्तम् । उ॒प॒ऽआय॑सि ॥२॥

हे कामिनि त्वा त्वां मम दोषणिश्रिषम् बाहौ आसक्तां हृदयश्रिषम् हृदयासक्तां च कृणोमि करोमि । श्लिष आलिङ्गने इत्यस्मात् कर्तरि क्विप् । "पद्न्०" इत्यादिना दोःशब्दस्य दोषन्नादेशः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । यथा येन प्रकारेण मम क्रतौ मदीये संकल्पे असः तत्परतन्त्रा भवसि यथा च मम मदीयं चित्तम् उपायसि उपगच्छसि । मदधीना भवसीत्यर्थः ॥

हे कामिनि ! तू जिस प्रकार मेरे सङ्कल्पके अनुकूल होकर मेरे चित्तको प्राप्त हो तिस प्रकार मैं तुझको अपनी भुजाओंमें और हृदयमें जकड़ी हुई करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम् ।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒मूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

यासा॑म् । नाभि॑: । आ॒ऽरेह॑णम् । हृ॒दि । स॒म्ऽवन॑नम् । कृ॒तम् ।
गाव॑: । घृ॒तस्य॑ । मा॒तर॑: । अ॒मूम् । सम् । व॒न॒य॒न्तु॒ । मे॒ ॥ ३ ॥

यासां स्त्रीणां नाभिः नाभ्युपलक्षितम् अङ्गम् आरेहणम् आले-हनम् आस्वादनीयं भवति यासां च हृदि हृदये संवननम् संभज-ननिमित्तं वशीकरणं कृतम् विधात्रा निर्मितम् ता अमूः परिदृश्य-मानाः स्त्रीः [घृतस्य] घृतोपलक्षितस्नेहद्रव्यस्य मातरः निर्मात्र्यो गावः मे मह्यं सं वनयन्तु वशीकुर्वन्तु ॥

जिन स्त्रियोंका नाभि आदि अंग प्रशंसा करनेके योग्य होता है और जिनके हृदयमें विधाताने वशीकरण कर रक्खा है उन इन दीखती हुई स्त्रियोंको घृत दुग्ध आदिका निर्माण करने वाली गौएँ मेरे वशमें करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥१॥

पृथिव्यै । श्रोत्राय । वनस्पतिऽभ्यः । अग्नये । अधिऽपतये । स्वाहा

पृथिव्यै पृथिवीदेवतायै श्रोत्राय शब्दग्रहणसाधनभूताय इन्द्रि-याय । "दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति श्रुतेस्तस्य दिगात्मकत्वाद् दिशां च पृथिव्येकदेशसंयोगि-त्वात् पृथिवीश्रोत्रयोर्मिथः संबन्धः । वनस्पतिभ्यः पृथिव्याम् अव-स्थितेभ्यो वृक्षेभ्यः तदधिष्ठातृदेवताभ्यः ईदृश्याः पृथिव्या योऽग्नि-रधिपतिः [च] स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

पृथिवी देवताके लिये और शब्दग्रहणकी साधनभूत श्रोत्र इन्द्रियके लिये, † पृथिवी पर स्थित वृक्षोंके अधिष्ठात्री देवताओं

† "दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्—दिशाएँ श्रोत्र बन कर कानोंमें घुस गईं" इस ऐतरेय आरण्यककी २ । ४ । २ श्रुतिके अनुसार श्रोत्र दिगात्मक हैं और दिशाएँ पृथिवीके किसी न किसी स्थानसे सम्बन्ध रखती ही हैं। अतः पृथिवी और श्रोत्रका आपसमें संबंध है।

के लिये और ऐसी पृथिवीके अधिपति अग्निदेवके लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा २

प्राणाय । अन्तरिक्षाय । वयःऽभ्यः । वायवे । अधिऽपतये । स्वाहा

मुखनासिकाभ्यां संचरन् वायुः प्राणः । तत्सहचरं गन्धग्राहकम् इन्द्रियं तदाश्रयभूता नासिका च प्राणशब्देन विवक्ष्यते । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति हि श्रुतम् [ऐ० ब्रा० २. ४. २] । तस्मै प्राणाय तत्संबन्धिने अन्तरिक्षाय तत्र ये संचरन्ति वयांसि पक्षिणस्तेभ्यो वयोभ्यः तस्यान्तरिक्षस्य अधिपतये अधिष्ठात्रे वायवे च इदं हविः स्वाहा स्वाहुतम् अस्तु ॥

(मुख और नासिकाओंमें विचरण करने वाला वायु प्राण कहलाता है और उसकी सहचारिणी गंधको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय और उसकी आश्रयभूता नासिका भी प्राणशब्दसे कही जाती है, इस विषयमें ऐतरेय ब्राह्मण २ । ४ । २ में कहा है, कि—वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥—वायु प्राण बन कर नासिकामें गया ॥") ऐसे प्राणके लिये और उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्तरिक्षके लिये और उस अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले पक्षियोंके लिये और उस अन्तरिक्षके अधिष्ठात्री देवता वायुके लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥३॥

दिवे । चक्षुषे । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याय । अधिऽपतये । स्वाहा ॥३॥

दिवे द्युलोकाय चक्षुषे । रूपग्रहणसाधनम् इन्द्रियं चक्षुः तद्गोलकं च तस्मै । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० ब्रा०

२. ४. २] इति श्रुतेः । तस्य आदित्यात्मकत्वात् द्युलोकस्य च तत्संचारस्थानत्वात् अनयोः संबन्धः । नक्षत्रेभ्यः द्युलोकस्थेभ्यः ईदृश्या दिवः अधिपतये स्वामिने सूर्याय प्राणात्मना सर्वप्राणिनां प्रेरकाय दिवाकराय स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु । ❀ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना सुवतेः क्यपि निपातनाद् रूपसिद्धिः ❀ । तस्य च जगत्प्राणरूपता अन्यत्र श्रूयते । "योसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदाय उदेति" इति [तै० आ० १. १४. १]

पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे षष्ठकांडे प्रथमोनुवाकः

द्युलोकके लिये और रूपग्रहणकी साधन चक्षुरिन्द्रियके लिये ‡ द्युलोकमें स्थित नक्षत्रके लिये और ऐसे द्युलोकके स्वामी प्राणात्मारूपसे † सब प्राणियोंके प्रेरक दिवाकरके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (१८३) ॥
प्रथम अनुवाक समाप्त ।

द्वितीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "शमीम् अश्वत्थः" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र आद्येन तृचेन पुंसवनकर्मणि शमीगर्भाश्वत्थाग्निं मधुमन्थे प्रक्षिप्य अभिमन्त्र्य स्त्रियं पाययेत् ॥

‡ ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ॥—सूर्य चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश कर गए" ॥ इस प्रकार चक्षु और सूर्यके संचारका स्थान होनेसे द्युलोक, इन दोनोंका सूर्यसे संबंध है ।

† सूर्यदेवके जगत्प्राणरूप होनेका अन्यत्र वर्णन है, कि-"योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां प्राणिनां प्राणान् आदायोदेति ॥—यह जो सूर्यदेव उदय होते हैं, यह सब प्राणियोंके प्राणोंको ग्रहण करते हुए उदय होते हैं" ॥ (तैत्तिरीय आरण्यक १ । १४ । १)

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि तथाविधमेवाग्निं कृष्णोर्णया वेष्टयित्वा अनेन तृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य स्त्रिया बध्नीयात् ॥

आह च कौशिकः । "शमीम् अश्वत्थ इति मन्त्रोक्ते अग्निं मथित्वा [पुंष्याः] सर्पिषि पैज्वमिव मधुमन्थे पाययति कृष्णोर्णाभिः परिवेष्ट्य बध्नाति" इति [कौ० ४. ११] ॥

"परि द्यामिव" इति तृचेन सर्पविषभैषज्यकर्मणि मधुक्रीडम् अभिमन्त्र्य विषाक्तं पाययेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन तृचेन "ब्राह्मणो जज्ञे" [४. ६] इति सूक्तोक्तजपाचमनादीनि कर्माणि कुर्यात् ॥

"परि द्याम् इवेति मधुशीर्भं पाययति जपादींश्च" इति कौशिकसूत्रम् [कौ० ४. ५] ॥

द्वितीय अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "शमीम् अश्वत्थः" यह पहिला सूक्त है। इन पहिली तीन ऋचाओंसे पुंसवनकर्ममें शमी (जण्ड) के भीतर उत्पन्न हुए पीपलकी अग्निको मधुमन्थमें डाल कर अभिमंत्रित करके स्त्रीको पिलावे।

तथा इसी कर्ममें ऐसी ही अग्निको काले ऊनमें लपेट कर सम्पातन और अभिमन्त्रित करके स्त्रीके बाँधे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"शमीं अश्वत्थ इति मन्त्रोक्ते अग्निं मथित्वा पुंष्या सर्पिषि पैज्वमिव मधुमंथे पाययति कृष्णोर्णाभिः परिवेष्ट्य बध्नाति।" (कौशिकसूत्र ४ । ११) ॥

"परि द्यामिव" इन तीन ऋचाओंसे सर्पविषकी चिकित्सामें मधुक्रीडका अभिमन्त्रण कर विषसे दूषितको पिलावे ॥

तथा इसी कर्ममें इन तीन ऋचाओंसे "ब्राह्मणो जज्ञे" इस चतुर्थकाण्डके छठे सूक्तमें कहे हुए जप आचमन आदि कर्म करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"परि द्यां इवेति मधुशीर्भं पाययति जपादींश्च" (कौशिकसूत्र ४ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥१॥

शमीम् । अश्वत्थः । आऽरूढः । तत्र । पुम्ऽसुवनम् । कृतम् ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । स्त्रीषु । आ । भरामसि १

शमीम् एतत्संज्ञं वृक्षम् [अश्वत्थः] अश्वत्थाख्यो वृक्ष आरूढः अधिरूढः । अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी । "प्रजापतिरग्निम् असृजत । सोऽबिभेत् प्र मा धक्ष्यतीति । तं शम्याशमयत् । तच्छम्यै शमित्वम्" इति [तै० ब्रा० १. १. ३. ११] । स च अग्निः अश्वो भूत्वा यस्मिन् वृक्षे पुरा संवत्सरम् अवात्सीत् स वृक्षः अश्वत्थः । ❀ "सुपि स्थः" इति अश्वशब्दोपपदात् तिष्ठतेः कप्रत्ययः । पृषोदरादिः ❀ । श्रूयते हि । "अग्निर्देवेभ्यो निलायत । अश्वो रूपं कृत्वा । सोऽश्वत्थे संवत्सरम् अतिष्ठत् । तद् अश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्" इति [तै० ब्रा० १. १. ३. ९] ॥ तद् अयम् अर्थः । शमी स्त्री । अश्वत्थः पुमान् । स च अग्निलक्षणं पुत्रम् उत्पादयितुं ताम् अधिरूढः । तस्या उपरि उत्पन्न इत्यर्थः । ईदृशाद् अश्वत्थाद् अग्निमन्थनार्थम् अरण्योराहरणम् । तथा च श्रुतम् । "शमीगर्भाद् अग्निं मन्थति । एषा वा अग्नेर्यज्ञिया तनूः । तामेवास्मै जनयति" इति [तै० ब्रा० १. १ ९. १] । तत्र तादृशे अश्वत्थे पुंसवनम् पुमान् सूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनम् तत् कृतम् अनुष्ठितम् । तद् वै तत् खलु पुत्रस्य वेदनम् लम्भकं तत् पुत्रजननिमित्तं कर्म स्त्रीषु आभरामसि आहरामः संपादयामः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

शमी नाम वाले वृक्ष पर अश्वत्थ नाम वाला वृक्ष चढ़ा हुआ

है ‡ अर्थात् शमी स्त्री है और अश्वत्थ (पीपल) पुरुष है वह अग्नि स्वरूप पुत्रको उत्पन्न करनेके लिये उस पर आरूढ़ है अर्थात् उस पर उत्पन्न हुआ है, ऐसे अश्वत्थसे अग्निमन्थनके लिये अरणियें लाई जाती हैं ‡ ऐसे अश्वत्थमें जिस कर्मसे पुरुष उत्पन्न होता है वह पुंसवन कर्म अनुष्ठित होने पर पुत्रको अवश्य ही प्राप्त कराता है उस पुत्रजननके हेतु कर्मको हम स्त्रियोंमें सम्पादित करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

पुंसि । वै । रेतः । भवति । तत् । स्त्रियाम् । अनु । सिच्यते ।

तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । प्रजाऽपतिः । अब्रवीत् ॥२॥

पुंसि वै पुरुषे खलु प्रथमं बीजभूतं रेतः आश्रितं भवति । तत्

† शमीवृक्ष अग्निके दाहको शमन करनेका हेतु है । तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । ३ । ११ में कहा है, कि—"प्रजापतिरग्नि असृजत सोऽबिभेत् प्र मा धक्ष्यतीति । तं शम्याशमयत् । तच्छम्यै शमित्वम् ॥—प्रजापतिने अग्निकी सृष्टिकी फिर वह डरे, कि—कहीं यह मुझको न जला डाले । उसको उन्होंने शमीसे शान्त किया। यही शमीका शमीपन है । वह अग्नि अश्व बनकर जिस वृक्षमें वर्ष भर तक बसा था वह वृक्ष अश्वत्थ कहलाया ॥"

‡ इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३ । ६ का प्रमाण भी है, कि—"शमीगर्भाद् अग्नि मन्थति । एषा वा अग्नेर्यज्ञिया तनूः । तामेवास्मै जनयति ॥—शमीगर्भसे अग्निको मथे, यही अग्निका यज्ञिय शरीर है ।०"

गर्भाधानकर्मणा स्त्रियाम् अनु सिच्यते गर्भाशये प्रक्षिप्यते । तत् खलु निषिक्तं रेतः पुत्रस्य वेदनम् उत्पत्स्यमानस्य पुत्रस्य लम्भकम् । "पुरुषे ह वा अयम् आदितो गर्भो भवति" [ऐ० आ० २. ५. १] इत्यादिकम् ऐतरेयकम् अत्र द्रष्टव्यम् । तद् एतत् पुंसवनं कर्म प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा अब्रवीत् । पुत्रजननोपायत्वेन लोके प्रकाशितवान् इत्यर्थः ॥

पुरुषमें ही बीजभूत वीर्य आश्रित होता है वह गर्भाधानकर्ममें स्त्रीके गर्भाशयमें सींचा जाता है, वह सींचा-हुआ वीर्य उत्पन्न होने वाले पुत्रकी प्राप्ति कराने वाला है † इस पुंसवनकर्म को प्रजाओं के पति ब्रह्माजीने कहा है । अर्थात् इस बातको उन्होंने पुत्रजनन के उपायरूपसे लोकमें प्रकाशित किया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

प्रजाऽपतिः । अनुऽमतिः । सिनीवाली । अचीक्लृपत् ।

स्त्रैऽसूयम् । अन्यत्र । दधत् । पुमांसम् । ऊं इति । दधत् । इह ३

प्रजापतिः संवत्सरात्मकः अनुमतिः पौर्णमासीदेवता सिनीवाली अमावास्यादेवता च निषिक्तं गर्भाशयस्थं रेतः अचीक्लृपत् हस्तपाद्याद्यवयवकल्पनया समर्थम् अकार्षीत् । ❀ कृपू सामर्थ्ये इत्यस्मात् लुङि चङि रूपम् ❀ । किं कुर्वन् । स्त्रैषूयम् स्त्रीप्रसवसंबन्धि निमित्तम् अन्यत्र अस्मत्तो व्यतिरिक्ते स्थाने दधत् स्थाप-

† ऐतरेय आरण्यक २ । ५ । १ में कहा है, कि-"पुरुषे ह वा अयं आदितो गर्भो भवति ॥-यह गर्भ आदिकालमें पुरुषमें होता है ।

यन् इह अस्मासु पुमांसम् पुमपत्यमेव दधत् कुर्वन् । संवत्सरकालावसाने समर्थम् अकार्षीद् इत्यर्थः ॥

सम्वत्सरात्मक प्रजापति, पौर्णमासीकी देवता अनुमति, अमावस्याकी देवता सिनीवालीने छिड़के हुए गर्भाशयमें स्थित बीजको स्त्रीप्रसवसंबंधी निमित्तको हमसे अतिरिक्त स्थानमें रख कर, पुरुष सन्तानके रूपमें ही हाथ पैर आदि अंगोंकी कल्पना कर समर्थ किया है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि द्यामिव सूर्योहीनां जनिमागमम् ।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥१॥

परि । द्याम्ऽइव । सूर्यः । अहीनाम् । जनिम । अगमम् ।

रात्री । जगत्ऽइव । अन्यत् । हंसात् । तेन । ते । वारये । विषम् १

सूर्यो द्यामिव अन्तरिक्षमिव अहीनाम् सर्पाणां जनिम् कृत्स्नं जन्म सर्पकुलम् अहं पर्यागमम् परिभासवान् अस्मि रात्री जगदिव । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ । यथा रात्रिः स्वकीयेन तमसा कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति एवम् । हंसात् हन्ति गच्छति व्याप्नोतीति हंस आत्मा तस्माद् अन्यत् कृत्स्नं शरीरं यद् विषं व्याप्नोति हे विषग्रस्त ते त्वदीयं तद् विषं तेन प्रसिद्धेन भैषज्येन वारये निवारयामि ॥

जैसे सूर्य अन्तरिक्षमें व्याप्त हो जाते हैं और जैसे रात्रि सम्पूर्ण जगत्को अंधकारसे व्याप्त कर लेती है, इसी प्रकार मैंने सर्पोंके सम्पूर्ण जन्मों (कुलों) को व्याप्त कर लिया है । आत्मासे अतिरिक्त अन्य समस्त स्थानों पर जो विष व्याप्त होजाता है, हे विषग्रस्त ! उस विषको मैं इस प्रसिद्ध औषधसे दूर करता हूँ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा ।
यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥२॥

यत् । ब्रह्मऽभिः । यत् । ऋषिऽभिः । यत् । देवैः । विदितम् । पुरा ।
यत् । भूतम् । भव्यम् । आसन्ऽवत् । तेन । ते । वारये । विषम् २

यद् भैषज्यं ब्रह्मभिः मन्त्रैर्ब्राह्मणैर्वा साध्यं यच्च ऋषिभिः अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः अगस्त्यवसिष्ठप्रमुखैः परिज्ञातं यच्च भैषज्यं पुरा पुरातनकाले देवैः इन्द्रादिभिः विदितम् ज्ञातं यच्च भूतम् भूतकालावच्छिन्नं भव्यम् भावि भविष्यकालावच्छिन्नम् आसन्वत् आस्ययुक्तम् । तेनोच्चार्यमाणमन्त्रसहितम् इत्यर्थः । ❀"पद्दन्०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य मतौ आसन् आदेशः ❀ । तेन सर्वेण भैषज्येन ते त्वच्छरीरस्थं विषं वारये निवारयामि ॥

जो औषधि मन्त्र वा ब्राह्मणोंसे प्राप्त होती है और जो औषधि अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले अगस्त्य वसिष्ठ आदि ऋषियों ने जानी है और जिन औषधियोंको प्राचीनकालमें इन्द्र आदि देवताओंने जाना था, उन भूतकालकी वर्तमान कालकी और भविष्यमें जिनका मुखसे उच्चारण होगा उन भविष्यकालकी भी औषधियोंसे मैं तेरे शरीरमें स्थित विषको दूर करता हूँ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥३॥

मध्वा । पृञ्चे । नद्यः । पर्वताः । गिरयः । मधु ।

मधु । परुष्णी । शीपाला । शम् । आस्ने । अस्तु । शम् । हृदे ३

मधु मधुरं विषहरम् अमृतम् आ पृञ्चे आसमन्तात् त्वच्छरीरे संपृक्तं करोमि । ❀ पृची संपर्के ❀ ॥ नद्यः गङ्गाद्याः पर्वताः हिमवदाद्या महाशैलाः गिरयः पर्यन्तपर्वताश्च विषहरं मधु त्वच्छरीरे आसिञ्चन्तु इति विशेषतो विषहरत्वात् प्रार्थ्यते । परुष्णी नाम नदी शीपाला शीपालाः शैवालम् तद्युक्ता । ❀ मत्वर्थीयः प्रकारः ❀ । ईदृशी परुष्णी नाम नदी मधु आसिञ्चतु । ईदृशं मधु विषहरम् अमृतम् आस्ने आस्याय शम् सुखकरम् अस्तु । ❀ पूर्ववद् आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । हृदे हृदयाय च शम् सुखकरम् अस्तु ॥

[इति] षष्ठकाण्डे द्वितीयानुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

विषका हरण करने वाले अमृत मधुको मैं तेरे सारे शरीरमें चुपड़ता हूँ । गंगा आदि नदियें, हिमवान् आदि बड़े २ पर्वत और छोटे २ पर्वत विषका हरण करने वाले मधुको तेरे शरीरमें सींचें सिवारसे भरी हुई परुष्णी नाम वाली नदी मधुका सिंचन करे । ऐसा विषको हरने वाला मधु मुखके लिये सुखकारक हो और हृदयके लिये भी सुखकारक हो ॥ ३ ॥

छठे काण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१८५) ॥

“नमो देववधेभ्यः” इति तृचेन जयकामः स्वसेनां परितः प्रतिदिशम् उपस्थानं कुर्यात् । “नमो देववधेभ्य इत्युपतिष्ठते” इति हि सूत्रम् [कौ० २. ५] ॥

तथा वैश्यस्य संग्रामजयार्थं प्रहरणोद्यतान् शत्रून् पश्यन् एनं तृचं जपेत् ॥

तथा अनेनैव तृचेन आज्यहोमम् सक्तुहोमम् धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानम् शरेध्मे शरसमिदाधानम् संपातिताभिमन्त्रितधनुःप्रदानं च कुर्यात् ॥

"नमो देववधेभ्य इत्यन्वाह वैश्याय प्रदानान्तानि" इति हि सूत्रम् [कौ० २. ६] ॥

तथा अनेनैव तृचेन सर्पवृश्चिकादिभयनिवृत्तिकामः "येस्यां स्थ" [३. २६] इत्यत्रोक्तानि अभिमन्त्रितसिकताप्रक्षेपणादीनि गृहूचीहोमान्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं च तत्रैव उदाहृतम् ॥

तथा आवसथ्याधाने क्रव्यादुद्धमनानन्तरं गृहम् आगत्य अनेन तृचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "ये अग्नयः [३. २१] नमो देववधेभ्यः [६. १३] अग्नेऽभ्यावर्तिन्" इत्यादि [कौ०६.४]

तथा अनेन तृचेन ब्राह्मणायुधधारणदेवताप्रतिमानर्तनहसना-द्यद्भुतेषु तच्छान्त्यर्थम् आज्यहोमं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रै-तद् ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् [१. १९] नमो देववधेभ्यः [६. १३]" इति [कौ०१३.१२,१३] ॥

तथा यज्ञे वशापुरोडाशादिहविःषु काकोलूकश्वादिभिर्दूषितेषु सत्सु तत्प्रायश्चित्तार्थम् अनेन तृचेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् वशां वा हवींषि वा वयांसि द्विपदं चतुष्पदं वाभि-मृश्य गच्छेयुर्ये अग्नयः [३. २१] नमो देववधेभ्यः [६.१३] इत्येताभ्यां सूक्ताभ्यां जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ३१] ॥

"अस्थिस्रंसम्" इति तृचेन श्लेष्मभैषज्यकर्मणि संपातिताभि-मन्त्रितवृक्षशकलेन सह व्याधितम् अवसिञ्चेद् मार्जयेद् आचाम-येच्च । "अस्थिस्रंसम् इति शकलेन अप्सु संपातवतावसिञ्चति" इति [कौ० ४. ५] ॥

"नमो देववधेभ्यः" इन तीन ऋचाओंसे जयको चाहने वाला अपनी सेनाके चारों ओर प्रत्येक दिशामें उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"नमो देववधेभ्य इत्युपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र २ । ५)

तथा वैश्यके संग्राममें जय पानेके लिये प्रहार करनेको तयार शत्रुओंको देखता हुआ इन तीन ऋचाओंको पढ़े।

तथा इसी तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृतका होम सत्तुओंका होम और धनुषरूपी ईंधन वाली अग्निमें धनुषरूपी समिधाओं का आधान, शरेध्ममें शररूपी समिधाओंका आधान तथा सम्पातित और अभिमन्त्रित धनुषको देना–यह कर्म करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्र २ । ६ का प्रमाण भी है कि–"नमो देववधेभ्य इत्यन्वाह वैश्याय प्रदानान्तानि" ॥

तथा साँप बिच्छू आदिके भयको दूर करना चाहने वाला इसी तीन ऋचा वाले सूक्तसे "येस्यां स्थ" इस तीसरे काण्डके छब्बीसवें सूक्तमें कहे हुए अभिमन्त्रित शर्कराको फेंकनेसे गिलोय को होमने तकके कर्म करे।सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।

तथा आवसथ्याधानमें क्रव्यादशमनके अनन्तर घरमें आकर इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "ये ऽग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः (६ । १३) अग्नेभ्यावर्तिन्" इत्यादि (कौशिकसूत्र ६ । ४) ॥

तथा इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे ब्राह्मणका आयुधको धारण करना, देवताओंकी प्रतिमाओंका नाचना हँसना, आदि अद्भुत होने पर इनकी शांतिके लिये घृतसे होम करे। इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि–"अथ यत्रैतद् ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् (१ । १६)नमो देववधेभ्यः (६। १३)" (कौशिकसूत्र १३ । १२, १३) ॥

तथा यज्ञमें वशापुरोडाश आदि हवियोंको यदि कौए उल्लू कुत्ते आदि दूषित कर जावें तो इस बातका प्रायश्चित करनेके लिये इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस

विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अथ यत्रैतद्द् वपां वा हवींषि वा यथासि द्विपदं चतुष्पदं वाभिमृश्य गच्छेयुर्न अग्नयः (३। २१) नो देववधेभ्यः (६ । १३) इति सूक्ताभ्यां जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" (कौशिकसूत्र १३ । २१) ॥ "अस्थिस्रंसम्" इन तीन ऋचाओं वाले सूक्तसे कफके रोगकी चिकित्साके क्रममें संपातित अभिमन्त्रित वृक्षके टुकड़ेके साथ रोगी पर जल छिड़के और उसको आचमन करावे ॥ इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ५ प्रमाण है, कि–अस्थिस्रंसं इति शकलेन अप्सु सम्पातवत्तात्रसिञ्चति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑ ।

अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते १

नमः॑ । दे॒व॒ऽव॒धेभ्यः॑ । नमः॑ । रा॒ज॒ऽव॒धेभ्यः॑ ।

अथो॒ इति॑ । ये । विश्या॑नाम् । व॒धाः । तेभ्यः॑ । मृ॒त्यो॒ इति॑ । नमः॑ ।

अ॒स्तु॒ । ते॒ ॥ १ ॥

देववधेभ्यः देवानाम् इन्द्रादीनां वधाः हननसाधनानि आयुधानि । तेभ्यो नमोऽस्तु । यथा तेऽस्मान् परिहरन्ति तथा तांस्तोपयाम इत्यर्थः । ❀ "नमःस्वस्ति०" इति चतुर्थी ❀ । यद्वा हे मृत्यो तुभ्यं नमोऽस्तु । कस्माद्धेतोः । देववधेभ्यः देवकृतहननेभ्यो रक्षणात् । ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति पञ्चमी । "हनश्च वधः" इति करणे भावे वा अप् प्रत्ययः तत्संनियोगेन वधादेशश्च । तस्य च अन्तोदात्तत्वात् उदात्तनिवृत्तिस्वरेण अप उदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा राजवधेभ्यः राज्ञः संबन्धिभ्य आयुधेभ्यो नमोऽस्तु ॥ अथो अपि च विश्यानां वैश्यजातीयानां ये वधास्तेभ्यश्च हे मृत्यो ते तुभ्यं च नमोऽस्तु । देवप्रभृतीन् अस्मान् परिहरेत्यर्थः ॥

इन्द्र आदि देवताओंके जो मारने वाले आयुध हैं उनके लिये नमस्कार है, अर्थात् वे जिस प्रकार हमें छोड़ें, तिस प्रकार हम उनको सन्तुष्ट करते हैं अथवा हे मृत्यो ! देवताओंके आयुधोंसे बचानेके लिये तुझे नमस्कार हो और हे मृत्यो ! राजाओंके और वैश्योंके आयुधोंसे बचानेके लिये तुझे नमस्कार हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नमस्ते अधिवाकाय पराबाकाय ते नमः ।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

नमः । ते । अधिऽवाकाय । पराऽवाकाय । ते । नमः ।
सुऽमत्यै । मृत्यो इति । ते । नमः । दुःऽमत्यै । ते । इदम् । नमः २

हे मृत्यो ते तव संबन्धिने अधिवाकाय अधिवचनं पक्षपातेन वचनम् सत् कुर्वते शोभनाय दूताय नमः । तथा ते त्वदीयाय परावाकाय पराभवस्य वक्त्रे पराभववचनायैव वा नमोस्तु । हे मृत्यो ते तव सुमत्यै शोभनायै अनुग्रहात्मिकायै बुद्धयै नमोस्तु । ते तव संबन्धिन्यै दुर्मत्यै निग्रहबुद्धयै इदं क्रियमाणं नमोस्तु ॥

हे मृत्यो ! तेरे वचनको पक्षपातपूर्वक कहने वाले दूतके लिये नमस्कार प्राप्त हो, तथा तेरे पराभवको कहने वाले दूतके लिये नमस्कार है तथा हे मृत्यो ! तेरी अनुग्रहात्मिका बुद्धिके लिये नमस्कार है और तेरी निग्रह बुद्धिके लिये यह नमस्कार प्राप्त हो २

तृतीया ॥

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः ।
नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

नमः । ते । यातुऽधानेभ्यः । नमः । ते । भेषजेभ्यः ।

नमः । ते । मृत्यो इति । मूलेभ्यः । ब्राह्मणेभ्यः । इदम् । नमः २

हे मृत्यो ते तव संबन्धिभ्यो यातुधानेभ्यः पीडाकरेभ्यो नमोस्तु ॥ ते तव संबन्धिभ्यो भेषजेभ्यः रक्षाकरेभ्यश्च नमः ॥ हे मृत्यो ते तव संबन्धिभ्यो मूलेभ्यः मूलबलभूतेभ्यः पुरुषेभ्यो नमोस्तु ॥ तथा ब्राह्मणेभ्यः शापानुग्रहसमर्थेभ्यो वेदविद्भ्यः इदं नमोस्तु ॥

हे मृत्यो ! तेरे संबंधी पीड़ा देने वाले यातुधानोंके लिये नमस्कार हो और तेरी रक्षा करने वाली शक्ति औषधियोंके लिये नमस्कार हो तथा तेरे मूलबलरूप पुरुषोंके लिये नमस्कार हो और शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके लिये यह नमस्कार हो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

अस्थिऽस्रंसम् । परुःऽस्रंसम् । आऽस्थितम् । हृदयऽआमयम् ।
बलासम् । सर्वम् । नाशय । अङ्गेऽस्थाः । यः । च । पर्वऽसु १

अस्थिस्रंसम् श्लेष्मरोगेण अस्थ्नां स्रंसनम् । परुस्रंसम् परुषां पर्वणां शरीरावयवसंधीनां स्रंसनम् । आस्थितम् समन्तात् शरीरं व्याप्य स्थितं हृदयामयम् श्लेष्मकृतं हृद्रोगम् । ईदृशं सर्वम् बलासम् बलम् अस्यति क्षिपतीति बलासः कासश्वासात्मकश्लेष्मरोगः तं नाशय । अनुष्ठेयार्थः संबोध्यते । यश्च बलासः अङ्गेष्ठाः हस्तपादाद्यङ्गेऽवस्थितः । यश्च पर्वसु तत्संधिषु आश्रितः । तं बलासम् इति सम्बन्धः ॥

हड्डियोंको हिलाने वाला जोड़ोंको ढीला करने वाला और शरीरमें चारों ओरसे व्याप्त होकर रहने वाला बलको चीण करने वाला हृदयका खाँसी और साँसरूप जो श्लेष्मरोग जोड़ोंमें और अंगोंमें व्याप्त होरहा है उस सबको हे मंत्रशक्ते ! तू नष्ट कर ॥१॥

पञ्चमी ॥

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमिं मुष्करं यथा ।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥

निः । बलासम् । बलासिनः । क्षिणोमि । मुष्करम् । यथा ।
छिनद्मि । अस्य । बन्धनम् । मूलम् । उर्वार्वाःऽइव ॥ २ ॥

बलासिनः श्लेष्मरोगिणः पुरुषस्य बलासम् श्लेष्मरोगं निःशेषेण क्षिणोमि क्षयं प्रापयामि । तत्र दृष्टान्तः पुष्करम् इति । महाह्रदे मरूढं पुष्करं यथा समूलम् उच्छिद्यते तथा व्याधितशरीरात् तं रोगं समूलम् उन्मूलयामीत्यर्थः। एतदेव विव्रियते । अस्य रोगस्य बन्धनम् शरीरसंश्लेषनिमित्तं मूलं छिनद्मि । यथा उर्वार्वाः कर्कट्याः फलस्य परिपक्वस्य वृन्तं स्वयमेव विश्लिष्टं भवति तद्वत् । रोगनिदानम् अनायासेन विश्लेषयामीत्यर्थः । "उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ० ७. ५९. १२] ॥

मैं श्लेमरोगीके श्लेष्म (कफ) संबंधी रोगको पूर्णरीतिसे नष्ट करता हूँ, जैसे बड़े भारी सरोवरमें उगे हुए कमलको जड़सहित उखाड़ लिया जाता है, इस प्रकार मैं इस रोगको रोगीके शरीर से जड़ तक उखाड़ता हूँ (इसी बातको स्पष्टकरके कहते हैं, कि-) जैसे फल पकने पर ककड़ीकी घुंएडी अपने आप अलग होजाती है इसी प्रकार इस रोगके बंधनके कारणको मैं शरीरसे अनायासमें ही दूर करता हूँ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिंशुको यथा ।

अथो इटं इव हायनोपं द्राह्यवींरहा ॥ २ ॥

निः । बलास । इतः । प्र । पत । आशुङ्गः । शिशुकः । यथा ।

अथो इति । इटःऽइव । हायनः । अप । द्राहि । अवीरऽहा ॥२॥

हे बलास इतः अस्मात् शरीराद् निष्प्र पत निष्क्रम्य प्रकर्षेण दूरं गच्छ । यथा येन प्रकारेण आशुङ्गः आशुगामी शुशुकः एतत् संज्ञो मृगो दूरं धावति तद्वद् गच्छ ॥ अथो अपि च इत इव हायनः गतः संवत्सरो यथा न पुनरावर्तते तथा अवीरहा अस्मदीयानां वीराणाम् अहन्ता सन् अप द्राहि अपक्रम्य कुत्सितां गतिं गच्छ। ❀ द्रा कुत्सितायां गताविति धातुः ❀ ॥

[इति] षष्ठकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जैसे शीघ्रगामी शुशुक नामका मृग दूरको भागता है, इसी प्रकार हे बलका क्षय करने वाले रोग ! तू शरीरसे निकल कर दूर भाग, और जैसे गया हुआ वर्ष फिर लौटकर नहीं आता है इसी प्रकार तू हमारे वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्र आदिको नष्ट न करता हुआ चला जा (फिर न आ) ॥ २ ॥

छठे काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१८७) ॥

“उत्तमो असि” इति तृचेन पुष्टिकामः पालाशमणिं वासितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । “उत्तमो असि [६. १५] इति मन्त्रोक्तम् अच्छितास्ते [६. १४२. ३] इति यवमणिम्” इति कौशिकसूत्रम् [कौ० ३. २] ॥

“आवयो अनावयो” इति चतुर्ऋचेन अक्षिरोगभैषज्ये सार्षपतैलेन संपातितं सर्षपकाण्डमणिम् अभिमन्त्र्य रोगार्तस्य बध्नीयात्

तथा अनेन चतुर्ऋचेन आज्यं हुत्वा सर्षपकाण्डं संपात्य सार्षपतैलेन अभ्यज्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा अनेन चतुर्ऋचेन सार्षपतैलेन भृष्टं सर्षपप्रशाकं चक्षूरोगग्रस्ताय प्रयच्छेत् ॥

तथा चत्वारि शाकवृक्षफलानि अभिमन्त्र्य व्याधिताय प्रयच्छेत्

तथा मूलक्षीरम् अभिमन्त्र्य व्याधितस्य अक्षिणी अञ्ज्यात् ॥

तथा अनेन चतुर्ऋचेन मूलक्षीरं संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

सूत्रितं हि । "आवयो इति सार्षपतैलसंपातं बध्नाति । काण्डं प्रलिप्य पृक्तं शाकं प्रयच्छति । चत्वारि शाकफलानि प्रयच्छति । क्षीरलेपम् अक्ष्णोश्नाति" इति [कौ० ४. ६] ॥

अत्र "अलसाला" [४] इत्यनया ऋचा अन्नस्वस्त्यनकामः तिस्रः सस्यवल्लीरभिमन्त्र्य क्षेत्रमध्ये निखनेत् । सूत्रितं हि । "अलसालेत्यन्नभेषजं त्रीणि शलाञ्जालाग्राण्युर्वरामध्ये निखनति" इति [कौ० ७. २] ॥

पुष्टिको चाहने वाला "उत्तमो असि" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पलाशमणिको वासित करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । २ का प्रमाण है, कि-"उत्तमो असि (६ । १५) इति मंत्रोक्तम् । अक्षितास्ते (६ । १४२ । ३) इति यवमणिम्"

"आवयो अनावयो" इस चार ऋचा वाले सूक्तसे नेत्ररोगों की चिकित्साके लिये सरसोंके तेलसे सम्पातित सरसोंके डण्ठल की मणिको अभिमंत्रित करके रोगसे आर्तपुरुषके बाँधे ।

तथा इन चार ऋचाओंसे घृतकी आहुति देकर सरसोंके डण्ठलको सम्पातित करके सरसोंके तेलमें भिगो अभिमंत्रित करके बाँधे ।

तथा इस चार ऋचा वाले सूक्तसे सरसोंके तेलमें भूने हुए सरसोंके पत्तोंके शाकको चक्षुके रोगसे ग्रस्त पुरुषको देय।

तथा शाकवृक्ष (हरड़ वा सिरीस) के चार फलोंको अभिमंत्रित करके रोगीको देय।

तथा मूलक्षीरका अभिमंत्रण कर रोगीके नेत्रोंको शुद्ध करे।

तथा इस चार ऋचा वाले सूक्तसे मूलक्षीरका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आवयो इति सार्षपतैलसम्पातं बध्नाति। काण्डं प्रलिप्य भृष्टं शाकं प्रयच्छति। क्षीरलेपं अक्ष्णोऽश्नाति" (कौशिकसूत्र ४। ६)॥

यहाँ अन्नस्वस्त्ययनको चाहनेवाला "अलसाला" इस चौथी ऋचासे तीन सस्यलताओंको अभिमन्त्रित करके खेतके बीचमें गाड़ देय इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अलसालेत्यन्नभेषजं त्रीणि शलाञ्जालाग्राण्युर्वरामध्ये निखनति" (कौशिकसूत्र ७। २)॥

तत्र प्रथमा॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सो३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति १

उत्ऽतमः। असि। ओषधीनाम्। तव। वृक्षाः। उपऽस्तयः।
उपऽस्तिः। अस्तु। सः। अस्माकम्। यः। अस्मान्। अभिऽदासति

हे पलाशवृक्ष मण्युपादानभूत त्वम् ओषधीनाम्। ओषः पाकः एषु इति धीयते ओषधिशब्देन स्थावरमात्रं विवक्षितम्। स्थावराणाम् ओषधिवनस्पतीनाम् उत्तमः उत्कृष्टः असि सोमपर्णोद्भवत्वात्। "तृतीयस्याम् इतो दिवि सोम आसीत्" इति प्रक्रम्य तैत्तिरीयके

समाम्नातम् । "तस्य पर्णम् अच्छिद्यत । तत् पर्णोऽभवत् । तत् पर्णस्य पर्णत्वम्" इति [तै० ब्रा० १. १. ३. १०] । हे पलाश-वृक्ष अन्ये वृक्षास्तव उपस्तयः उपासकाः । न्यग्भूता इत्यर्थः त्वत्प्रसा-दाद् अस्माकं स तादृशः शत्रुः उपस्तिरस्तु उपासकः उपक्षीणो भवतु । यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति ॥

हे मणिके उपादान पलाश वृक्ष ! तू औषधियोंमें उत्तम है क्योंकि—तू सोमपर्णसे उत्पन्न हुआ है । हे पलाश ! दूसरे वृक्ष तेरे उपासक हैं तेरे प्रसादसे हमारा वह शत्रु उपक्षीण होजावे, कि जो हमको क्षीण करना चाहता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

सऽबन्धुः । च । असबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभिऽदासति ।
तेषाम् । सा । वृक्षाणाम्ऽइव । अहम् । भूयासम् । उत्ऽतमः २

सबन्धुः समानबन्धनः समानजन्मा दायादः । असबन्धुः अस-मानजन्मा असगोत्रजः । य एवमात्मक उभयविधः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति तेषां शत्रूणां मध्ये अहम् उत्तमः उत्कृष्ट-तमः भूयासम् । तत्र दृष्टान्तः । यथा सा पलाशात्मिका ओषधिः वृक्षाणाम् उत्तमा भवति तद्वद् अहम् उत्तमो भूयासम् इति ॥

जो सगोत्रका शत्रु हमको क्षीण करना चाहता है और जो दूसरे गोत्रका शत्रु हमको क्षीण करना चाहता है उन दोनों प्रकार के शत्रुओंमें मैं इस प्रकार उत्तम होऊँ, कि—जिस प्रकार पलाश नाम वाली ओषधि अन्य वृक्षोंसे उत्तम होती है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

यथा । सोमः । ओषधीनाम् । उत्ऽतमः । हविषाम् । कृतः ।
तलाशा । वृक्षाणाम्ऽइव । अहम् । भूयासम् । उत्ऽतमः ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण ओषधीनाम् अन्यासां लतानां मध्ये लतात्मकः सोमः उत्तमः उत्कृष्टः हविषाम् चरुपुरोडाशादीनां मध्ये कृतः विधात्रा निर्मितः तथा वृक्षाणां मध्ये पलाश इव च अहं सजातानाम् उत्तमो भूयासम् ॥

जैसे लतात्मक अन्य औषधियोंकी अपेक्षा सोमको चरु पुरोडाश आदि हवियोंमें विधाताने उत्तम बनाया है और जैसे वृक्षों में पलाश उत्तम माना जाता है, इसी प्रकार मैं समान जन्म वालों में अर्थात् सगोत्रोंमें उत्तम होऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

आबयो इति । अनाबयो इति । रसः । ते । उग्रः । आबयो इति ।
आ । ते । करम्भम् । अद्मसि ॥ १ ॥

❀ आबयतिः अत्तिकर्मा । तस्माद् औणादिकः कर्मणि उमप्रत्ययः ❀ । हे आबयो रोगनिवृत्त्यर्थम् अद्यमान सर्षप अनाबयो अभक्ष्यमाण सर्षपकाण्ड ते तव रसः तैलात्मकः उग्रः उद्गूर्णबलः । व्याधिनिवर्तनक्षम इत्यर्थः । हे आबयो ते त्वदीयं करम्भम्

सार्षपतैलमिश्रभ्रष्टं तत्पत्रशाकम् आ अयसि मन्त्राभिमन्त्रितम् आदाय भक्षयामः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

हे रोगको दूर करनेके लिये खाये जाने वाले सरसों ! हे खाने के अयोग्य, सर्षपकाण्ड ! तेरा तैलरूप रस प्रचण्ड बल वाला है अर्थात् व्याधिको दूर करनेमें समर्थ है । हे रोगको दूर करनेके के लिये खाये जाने वाले सरसों ! तेरे तेलमें भूने हुए तेरे शाक को अभिमंत्रित करनेके अनन्तर लेकर हम खाते हैं ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

त्रिहृह्लो नाम॑ ते पि॒ता म॒दाव॑ती॒ नाम॑ ते मा॒ता ।

स हि॑न॒ त्वम॑सि॒ यस्त्वमा॒त्मान॒माव॑यः ॥ २ ॥

वि॒ऽहृह्लः । नाम॑ । ते॒ । पि॒ता । म॒दऽवती । नाम॑ । ते॒ । मा॒ता ।

सः । हि॒न । त्वम् । अ॒सि॒ । यः । त्वम् । आ॒त्मान॑म् । आव॑यः २

हे सर्षपशाक ते तव विहृह्लाख्यः कश्चित् पिता जनकः । नाम-शब्दः प्रसिद्धौ । मदावती नाम ते तव माता जननी । स हि स खलु त्वं नासि न भवसि । यस्त्वम् आत्मानम् आत्मीयं स्वरूपं पत्रादिकम् आवयः पुरुषेण भक्षितम् अकरोः । प्रशस्तमातापितृ-जन्यत्वाद् आत्मनो हानिं प्राप्यापि परोपकारपरो भवसीत्यर्थः ॥

हे सर्षपशाक (हे सरसोंके शाक !) विहृह्ल नाम वाला तेरा पिता है और तेरी जननी मदावती नाम वाली है, वही तू नहीं होता है, क्योंकि-तू अपने पत्र आदि शरीरको पुरुषके खानेके लिये देदेता है अर्थात् तू श्रेष्ठ माता पितासे उत्पन्न होनेके कारण अपनी हानि करके भी दूसरोंका उपकार करता है ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

तौवि॑लि॒केऽव॑लया॒वाय॑मै॒लब ऐ॑लयीत् ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

तौविलिके । अव । इलय । अव । अयम् । ऐलबः । ऐलयीत् ।

बभ्रुः । च । बभ्रुऽकर्णः । च । अप । इहि । निः । आल ॥३॥

हे तौविलिके एतन्नामिके रोगनिदानभूते पिशाचि अवेलय अवाङ्मुखम् अस्मद्रोगं प्रेरय । ❀ इल प्रेरणे इति धातुः ❀ । अयम् ऐलबः एतत्संज्ञः तत्कृतश्चक्षुर्गतो रोगविशेषः अवैलयीत् अवस्ताद् गच्छतु । ❀ तस्मादेव धातोश्छान्दसो लुङ् । "नोनयतिध्वनयति०" इत्यादिना चङः प्रतिषेधः । "ह्यन्तक्षण०" इत्यादिना सिचि वृद्धिनिषेधः ❀ ॥ बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च एतत्संज्ञावुभावपि रोगहेतू तस्माद् रोगिणः पुंसो निर्गच्छताम् । हे निराल एतत्संज्ञ रोग त्वमपि अपेहि अपगच्छ ॥

हे रोगकी निदानभूत तौविलिक नाम वाली पिशाचि ! तू हमारे रोगको पराङ्मुख करके भेज दे । यह ऐलब नाम वाला चक्षु-रोग भाग जावे । बभ्रु और बभ्रुकर्ण नाम वाले रोगके कारण भी इस पुरुषसे निकल जावें । हे निराल नाम वाले रोग ! तू भी भाग जा ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अलसाला । असि । पूर्वा । सिलाञ्जाला । असि । उत्तरा ।

नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अलसालेत्याद्यास्तिस्रः संज्ञास्तिसृणां सस्यवल्लीनाम् । तत्र अलसाला नाम काचित् सस्यविशेषस्य मञ्जरी । सा प्रथमम् उपा-

दीयमानत्वात् पूर्वा । शलाञ्जालाख्या तु सस्यमञ्जरी उत्तरा अपरा पश्चाद् उपादीयमानत्वात् । नीलागलसालाख्या तु तृतीया तयोर्मध्यवर्तिनी ॥

[इति] द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अलसाला नाम वाली सस्यमञ्जरी ! तू पहिले ग्रहण करने योग्य होनेसे पूर्वा है, हे शलाञ्जाला नाम वाली सस्यमञ्जरी ! तू अन्तमें ग्रहण कीजाने वाली होनेसे उत्तरा है । और हे नीलागलसाला नामक सस्यमञ्जरी ! तू इन दोनोंके मध्यमें ग्रहणकी जाती है ॥ ४ ॥

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१८९) ॥

"यथेयं पृथिवी मही" इति तृचेन गर्भदृंहणकर्मणि धनुर्ज्यां त्रिरुद्ग्रथ्य स्त्रियं बध्नीयात् ॥

तथा अनेन तृचेन क्षेत्रमृत्तिकाम् अभिमन्त्र्य प्रत्यृचं गर्भिणीं माशयेत् । कृष्णसिकता अभिमन्त्र्य गर्भिण्याः शयनं परिकिरेद् वा

तथा जम्भग्रहणेपि तच्छान्त्यर्थम् अनेन तृचेन धनुर्ज्याबन्धनादीनि कर्माणि कुर्यात् ॥

यद् आह कौशिकः । "ऋधङ्मन्त्रः [५. १. १] इत्येका यथेयं पृथिवी [६. १७] 'अच्युता' इति गर्भदृंहणानि । जम्भगृहीताय प्रथमावर्जं ज्यां त्रिरुद्ग्रथ्य बध्नाति । लोष्टान् अन्वृचं माशयति । श्यामसिकताभिः शयनं परिकिरति" इति [कौ० ४.११]॥

"ईर्ष्याया ध्राजिम्" इति तृचेन स्त्रीविषयेर्ष्यानिवृत्त्यर्थम् ईर्ष्योपेतं दृष्ट्वा जपेत् । तस्यैव भित्तां वा मथच्छेत् स्पृष्ट्वा वा जपेत् । सूत्रितं हि । "ईर्ष्याया ध्राजिम् [६. १८] जनाद् विश्वजनीनात् [७, ४६] त्वाष्ट्रेणाहम् [७. ७८. ३] इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" इति [कौ० ४. १२] ॥

'यथेयं पृथिवी मही' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे गर्भको दृढ़ करनेके कर्म में धनुषकी प्रत्यञ्चाको तीन वार ऊपरको गूँथकर स्त्री के बाँधे।

तथा इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे खेतकी मट्टीको अभिमंत्रित कर प्रत्येक ऋचासे गर्भिणीको चटावे। वा काली धूलको अभिमन्त्रित कर गर्भिणीकी खाट पर बखेर देय।

तथा जम्भग्रहणमें उसकी शान्तिके लिये इस तीन ऋचावाले सूक्तसे धनुषकी प्रत्यञ्चाका बन्धन आदि कर्म करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका भी है, कि–"ऋधङ्मन्त्रः (५। १। १) इत्येका यथेयं पृथिवी (६। १७) अच्युता इति गर्भदृंहणानि जम्भगृहीताय प्रथमावर्जे ज्यां त्रिरुदुद्ग्रथ्य बध्नाति। लोष्टान् अन्वृचं प्राशयति। श्यामसिकताभिः शयनं परिकिरति" (कौशिकसूत्र ४। ११)

"ईर्ष्याया ध्राजिम्" इस तीन ऋचावाले सूक्तको स्त्रीविषयक ईर्ष्याको दूर करनेके लिये ईर्ष्यायुक्त पुरुषको देख कर जपे। उस को छूकर जपे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ईर्ष्याया ध्राजिम् (६। १८) जनाद्व विश्वजनीनाद्व (७। ४६) त्वाष्ट्रेणाहम् (७। ७८। २) इति प्रतिजापप्रदानभिमर्शनानि" (कौशिकसूत्र ४। १२)॥

तत्र प्रथमा॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ १॥

यथा। इयम्। पृथिवी। मही। भूतानाम्। गर्भम्। आऽदधे।
एव। ते। ध्रियताम्। गर्भः। अनु। सूतुम्। सवितवे॥ १॥

यथा मही महती इयं परिदृश्यमाना पृथिवी भूतानाम् भूतजातानां प्राणिनां गर्भम् आदधे धारयति । पार्थिवशरीरोपादानभूतं गर्भं दशमासावधि बिभर्तीत्यर्थः । हे नारि ते तव गर्भः एव एवं ध्रियताम् गर्भाशये घृतः स्थिरो भवतु । कियत्पर्यन्तम् इत्याह अनुसूत्वम् इति । दशमासभरणेन अनुसूत्वम् अनुमासप्रसवं तं गर्भं सवितवे प्रसवितुं प्रजनयितुम् । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । अस्मात् तुमर्थे तवेप्रत्ययः ❀ ॥

जैसे यह विशाल पृथिवी प्राणियोंके शरीरको धारण करती है (अर्थात् पार्थिव शरीरके उपादानरूप गर्भको दश मास तक धारण करती है) हे नारि ! तेरा गर्भ भी इसी प्रकार (गर्भाशयमें) प्रसवके समय उत्पन्न करनेके लिये धरा रहे ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधार । इमान् । वनस्पतीन् ।
एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ २ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधार । पर्वतान् । गिरीन् ।
एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥ मही महती पृथिवी इमान् परिदृश्यमानान् वनस्पतीन् वृक्षान् दाधार स्थिरं धारयति । यथा पर्वतान् महाशैलान् गिरीन् । गिरयस्तत्पर्यन्तवर्तिनः शिलोच्चयाः । तान् सर्वान् दाधार

स्थिरं धारयति । यथा एतद् उक्तं सर्वं पृथिव्या स्थिरं धार्यते एव एवम् हे नारि ते त्वदीयो गर्भः ध्रियताम् इत्यादि पूर्ववद् योजना ॥

जैसे यह विशाल पृथिवी इन वनस्पतियोंको तथा पर्वत और उपपर्वतोंको स्थिरभावसे धारण कर रही है, इसी प्रकार यह तेरा गर्भ भी प्रसवके समय प्रसव करनेके लिये गर्भाशयमें स्थित रहे२

तृतीया ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत् ।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ४ ॥

यथा । इयम् । पृथिवी । मही । दाधार । विऽस्थितम् । जगत् ।
एव । ते । ध्रियताम् । गर्भः । अनु । सूतुम् । सवितवे ॥ ४ ॥

मही महती इयं पृथिवी विष्ठितम् विविधम् अवस्थितं चराचरात्मकं जगद् यथा येन प्रकारेण दाधार स्वात्मनि धारयति । ❁ तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् ❁ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

जैसे यह विशाल पृथिवी अनेक प्रकारसे स्थित चराचरात्मक जगत्को अपनेमें धारण करती है इसी प्रकार यह तेरा गर्भ प्रसव के समय उत्पन्न करनेके लिये तेरे गर्भाशयमें स्थित रहे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्याः उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं१ शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ १ ॥

ईर्ष्यायाः । ध्राजिम् । प्रथमाम् । प्रथमस्याः । उत । अपराम् ।
अग्निम् । हृदय्यम् । शोकम् । तम् । ते । निः । वापयामसि १

ईर्ष्यायाः। स्त्रीविषया अक्षमा अत्र ईर्ष्या मैनाम् अन्यो द्राक्षीत् इत्येवंरूपा। तस्या ईर्ष्यायाः ध्राजिम्। ❀ ध्रज गतौ इत्यस्माद् वसिवपीत्यादिना [उ० ४. १२४] भावे इञ् प्रत्ययः ❀। वेगयुक्तां गतिं प्रथमाम् प्रथमोत्पन्नाम् निर्वापयामसीत्युत्तरत्र संबन्धः। उत तस्याः प्रथमस्याः प्रथमभाविन्या अपराम् अनन्तरोत्पन्नामपि तां निर्वापयामः शमयामः। हृदय्यम् हृदयदाहकं तत्र भवं कोपाग्निं शोकं च तज्जनितम् ईदृशं तम् हे ईर्ष्यायुक्त पुरुष ते तव सकाशाद् निर्वापयामसि निर्वापयामः शमयामः। ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

इस स्त्रीको और कोई न देखे ऐसी ईर्ष्याकी वेगयुक्त प्रथमगतिको हम शान्त करते हैं और उस प्रथम गतिके अनन्तर होने वाली गतिको भी हम शान्त करते हैं और हे ईर्ष्यायुक्त पुरुष ! उससे होने वाली कोपाग्नि और शोकको भी हम तेरे पाससे निकालते हैं ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।

यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥

यथा। भूमिः। मृतऽमनाः। मृतात्। मृतमनःऽतरा।

यथा। उत। मम्रुषः। मनः। एव। ईर्ष्योः। मृतम्। मनः ॥२॥

भूमिः सर्वप्राणिभिरधिष्ठिता पृथिवी मृतमनाः अपगतमनस्का सती यथा ईर्ष्यां न करोति। यथा च मृतात् त्यक्तप्राणात् शवशरीरादपि मृतमनस्तरा अतिशयेन मृतमनाः पृथिवी भवति। एतेन सर्वक्लेशसहत्वम् अस्या आविष्कृतं भवति। उत अपि च मम्रुषः मृतवतः पुरुषस्य मनः तच्छरीराद् अपगतं सत् यथा

नेर्ष्याजनकम् [एव] एवमेव ईर्ष्योः ईर्ष्यायुक्तस्य स्त्रीविषयकोपयुक्तस्य पुरुषस्य मनः मृतम् विनष्टम् अस्तु । ईर्ष्याग्रस्तं न भवत्वित्यर्थः ॥

जैसे सब प्राणियोंसे अधिष्ठित पृथिवी मरे हुए मन वाली होती है अर्थात् उदासीन रह कर ईर्ष्या नहीं करती है और जैसे वह मरे हुए शरीरकी अपेक्षा भी मरे हुए मन वाली होती है अर्थात् सब प्रकारके क्लेशोंको सहती है और जैसे मरेहुए पुरुषका मन उसके शरीरसे निकल जानेके कारण ईर्ष्याका उत्पन्न करने वाला नहीं होता है। इसी प्रकार स्त्रीविषयक ईर्ष्यासे युक्त पुरुषका मन विनष्ट होजावे अर्थात् ईर्ष्यासे ग्रस्त न होवे ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अदः । यत् । ते । हृदि । श्रितम् । मनःऽकम् । पतयिष्णुकम् ।
ततः । ते । ईर्ष्याम् । मुञ्चामि । निः । ऊष्माणम् । दृतेःऽइव ॥३॥

हे ईर्ष्याग्रस्त पुरुष ते तव हृदि हृदये श्रितम् अवस्थितम् अदः प्रसिद्धं यत् मनः पतयिष्णु भ्राजिष्णु इतस्ततः पतनशीलम् । कम् इति पदद्वयं पदपूरणार्थम् । ततः तस्माद् मनसः ते तव ईर्ष्याम् स्त्रीविषयं कोपं निःशेषेण मुञ्चामि अपगमयामि । तत्र दृष्टान्तः ऊष्माणम् इति । यथा दृतेः चर्ममय्या भस्त्रिकायाः सकाशात् तन्मध्यवर्तिनम् ऊष्माणम् श्वासवद् अन्तःपूरितं वायुं तन्मुखान्निःसारयति कर्मकरस्तद्वद् इत्यर्थः ॥

[इति] द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे ईर्ष्याग्रस्त पुरुष ! तेरे हृदयमें स्थित इधर उधर गिरते हुए मनसे स्त्रीविषयक कोपको मैं इस प्रकार दूर करता हूँ, कि—जैसे कर्मकार धौंकनीमें भरी हुई गरम वायुको उस धौंकनीके मुखसे निकाल देता है ॥ ३ ॥

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१९१) ॥

"पुनन्तु मा" इत्यस्य तृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकामः मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः आज्यहोमः काशदिविधुवकवेतसाख्या ओषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु प्लावनम् श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहो वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि संपातिताभिमन्त्रितघटोदकेन आप्लावनम् अवसेचनं च अनेन तृचेन कुर्यात् । "अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभूः [१. ५, ६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] यददः [३.१३] पुनन्तु मा [६. १९]" इत्यादि "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रम् अत्र द्रष्टव्यम् [कौ० ५. ५] ॥

तथा सवयज्ञेषु अनेन तृचेन यजमानपत्नी पुत्रान् प्रोक्षेत् । "पवित्रैः संप्रोक्षति" इति हि सूत्रम् [कौ० ८. २] । अत्र पवित्रशब्देन पुनन्तु मा [६. १९] वायोः पूतः [६. ५१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] इति सूक्तानि विवक्षितानि ॥

तथा पवित्रसवे अनेन [तृचेन] निरुप्तहविरभिमर्शनसंपातादीनि कर्माणि कुर्यात् । "पुनन्तु मा देवजना इति पवित्रं कुसरम्" इति हि सूत्रम् [कौ० ८. ७] ॥

तथा दीक्षायाः दर्भपिञ्जूलैः पूयमानो यजमानः एतं तृचं जपेत् । "पुनन्तु मेति पाव्यमानः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १] ॥

सौत्रामण्यां "पुनन्तु मा" इत्ययं तृचः आसिच्यमानशतातृण्णा-नुमन्त्रणे विनियुक्तः । "पुनन्तु मा [६. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] यद्गिरिषु [९. १. १८] इति शतातृण्णाम् आसिच्य-मानाम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. ३] ॥

"अग्नेरिवास्य दहतः" इति तृचेन पित्तज्वरभैषज्ये दावाग्नौ ताम्रस्रुवेण आज्यं हुत्वा व्याधितस्य मूर्ध्नि संपातान् आनयेत् । "अग्नेरिवेत्युक्तोदावे" इति हि सूत्रम् [कौ० ४. ६] ॥

"पुनन्तु मा" इन तीन ऋचा वाले सूक्तका बृहद्गणमें पाठ है अतएव शान्त्युदक आदिमें इसका विनियोग होता है ।

तथा धनको उठाते समय होने वाले विघ्नोंको शान्त करना चाहने वाला पुरुष मरुत् देवताओंके लिये वा मन्त्रसे प्रतीत होने वाले देवाताओंके लिये क्षीर भात और घृतसे होम करे । काश दिविधुवक और वेत नाम वाली औषधियोंको एक पात्रमें रख, संपातन और अभिमन्त्रण करके जलके मध्यमें नीचेको मुख करके लेजाना, उन ही सम्पातित और अभिमंत्रित काश आदिकोंका जलमें डालना, अभिमन्त्रित कुत्तेके शिरका और मेढ़के शिरका जलमें फेंकना, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके ऊपर के भागमें बाँधना, भूसी सहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जल से भोजण कर तीन लड़ वाले छींके पर रख जलमें फेंकना—ये अभिवर्षण (वृष्टि होनेके) कर्म तथा सम्पातित और अभि-मन्त्रित घटके जलसे स्नान और अवसेचन इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ५ का प्रमाण भी है, कि—"अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति (१ । ४) शंभुमयोभूः (१ । ५, ६) हिरण्यवर्णाः (१ । ३३) यददः

(२ । १२) पुनन्तु मा (६ । १९) इत्यादि" "अभिवर्षणा-वसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रं अत्र द्रष्टव्यम् ॥

तथा सवयज्ञोंमें इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे यजमानकी पत्नी पुत्रोंको मोक्षित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—पवित्रैः सम्प्रोक्षति" (कौशिकसूत्र ८। २) यहाँ पवित्र शब्दसे पुनन्तु मा (यह छठे काण्डका उन्नीसवाँ सूक्त) वायोः पूतः (यह छठे काण्डका इक्यावनवाँ सूक्त) वैश्वानरो रश्मिभिः (यह छठे काण्डका बासठवाँ सूक्त) लिये जाते हैं ॥

तथा पवित्रसवमें इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे न होमी हुई हविका अभिमर्शन सम्पातन आदि कर्म करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। ७ का प्रमाण भी है, कि—"पुनन्तु मा देवजना इति पवित्रं कुसरम्" ॥

तथा दीक्षाकी कुशोंकी मुट्ठीसे पवित्र होता हुआ यजमान इस तीन ऋचा वाले सूक्तको जपे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १ का प्रमाण भी है, कि—"पुनन्तु मेति पाव्यमानः" ॥

सौत्रामणीमें "पुनन्तु मा" यह तीन ऋचा वाला सूक्त सींची जाती हुई शतातृण्णाके अनुमन्त्रणमें विनियुक्त होता है। इस विषयमें वैतानसूत्र ४। ३ का प्रमाण भी है, कि— "पुनन्तु (६ । १९) गिरावरगराटेषु यद्ग गिरिषु (९ । १ । १८) इति शतातृण्णां आसिच्यमानाम्" ॥

"अग्नेरिवास्य दहतः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पित्तज्वर की चिकित्सामें दावाग्निमें ताँबेके स्रवेसे घृतकी आहुति देकर रोगीके मस्तक पर सम्पातोंको लावे। "अग्नेरिवेत्युक्तं दावे" (कौशिकसूत्र ४। ६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

पुनन्तु । मा । देवऽजनाः । पुनन्तु । मनवः । धिया ।

पुनन्तु । विश्वा । भूतानि । पवमानः । पुनातु । मा ॥ १ ॥

देवजनाः देवजातीया मा मां पुनन्तु शोधयन्तु ॥ तथा मनवः मनुष्यजातीयाः धिया बुद्ध्या कर्मणा वा मां पुनन्तु ॥ विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि मां पुनन्तु ॥ यश्च अन्तरिक्षे पवमानः गच्छन् वायुः सोपि मां पुनातु । यद्वा दशापवित्रेण शोध्यमानः सोमः पवमानः । स च स्वात्मानमिव अस्मान् शोधयतु ॥

देवजातिके व्यक्ति मुझे पवित्र करें। मनुष्य जातिके पुरुष बुद्धिसे वा कर्मसे मुझे पवित्र करें। सब प्राणी मुझे पवित्र करें। जो वायुदेव अन्तरिक्षमें विचरण करते हैं, वह भी मुझको पवित्र करें। अथवा दशापवित्रमें शोधा जाता हुआ सोम अपनी समान हमको भी पवित्र करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥

पवमानः । पुनातु । मा । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे

अथो इति । अरिष्टऽतातये ॥ २ ॥

पवमानः सोमः मा मां पुनातु शोधयतु पापविनिर्मुक्तं करोतु । किमर्थम् । क्रत्वे क्रतवे कर्मणे दक्षाय बलाय । यद्वा क्रतुदक्षशब्दाभ्यां प्राणापानौ विवक्षितौ । "प्राणो वै दक्षः अपानः क्रतुः" इति श्रुतेः [तै० सं० २. ५. २. ४] । तयोः प्राणापानयोः शरीरे

अवस्थानार्थं जीवसे तद्धेतुकजीवनार्थं च पुनातिवति संबन्धः। अथो अपि च अरिष्टतातये। रिष्टं हिंसा तदभावः अरिष्टम् तस्य करणाय। ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति करणेर्थे तातिल् प्रत्ययः ❀ ॥

पवित्र होता हुआ सोम मुझको पवित्र करे अर्थात् पापसे मुक्त करे। यह सोम कर्म करनेके लिये और बलप्राप्तिके लिये वा प्राण अपानके † लिये अर्थात् उनको शरीरमें स्थापित कर जीवन स्थिर करनेके लिये हमको पवित्र करे और अहिंसाके लिये हमको पवित्र करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेनं च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

उभाभ्याम्। देव। सवितः। पवित्रेण। सवेन। च।
अस्मान्। पुनीहि। चक्षसे ॥ ३ ॥

हे सवितः सर्वस्य प्रेरक हे देव पवित्रेण पवनसाधनेन त्वदीयेन तेजसा सवेन प्रसवेन त्वत्प्रेरणेन च आभ्याम् उभाभ्याम् अस्मान् पुनीहि शुद्धान् कुरु। किमर्थम्। चक्षसे। ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा ❀। दर्शनाय। ऐहिकामुष्मिकसकलसुखसाक्षात्कारार्थम् इत्यर्थः ॥

† यहाँ "प्राणो वै दक्षः अपानः क्रतुः ॥—प्राण ही दक्ष है और अपान क्रतु है"। इस तैत्तिरीयसंहिता २। ५। २। ४-की श्रुतिके अनुसार दक्ष शब्दसे प्राण और क्रतु शब्दसे अपान अर्थ लिया गया है।

हे सबके प्रेरक सवितादेव ! आप पवित्र करनेके साधन अपने तेज और अपनी प्रेरणा—इन दोनोंसे हमको इस लोक और परलोकके सकल सुखोंका प्रत्यक्ष करनेके लिये शुद्ध करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति ।

अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥

अग्नेःऽइव । अस्य । दहतः । एति । शुष्मिणः । उतऽइव । मत्तः । विऽलपन् । अप । अयति ।

अन्यम् । अस्मत् । इच्छतु । कम् । चित् । अव्रतः । तपुःऽवधाय । नमः । अस्तु । तक्मने ॥ १ ॥

आर्द्रम् अनार्द्रं च सर्वं दहतः दावात्मकस्य अग्नेरिव कृत्स्नम् अङ्गं दहतः शुष्मिणः शोषकबलयुक्तस्य अस्य ज्वरस्य दाहः एति कृत्स्नम् अङ्गं व्याप्नोति । उत अपि च मत्त इव उन्मत्त इव आत्मानं विस्मृत्य विलपन् विविधं प्रलापं कुर्वन् तेन ज्वरेण अपायति अपगच्छति अस्माल्लोकात् प्रैति । ईदृशः प्रबलः पित्तज्वरः अस्मत् अस्मत्तः अन्यं कंचित् कमपि अव्रतः अव्रतं सदाचारहीनं पुरुषम् इच्छतु प्राप्नोतु । उक्तं हि ।

व्रतोपवासैर्यैर्विष्णुर्नान्यजन्मनि तोषितः

ते नरा मुनिशार्दूल ग्रहरोगादिभागिनः

इति । तपुर्वधाय तपुस्ताप एव वधः हननसाधनम् आयुधं यस्य

स तथोक्तः तस्मै तक्मने कृच्छ्रजीवननिमित्ताय ज्वराभिमानिदेवाय नमोस्तु नमस्कारो भवतु। अनेन नमस्कारेण तुष्टः सन् अन्यत्र अपसर्पत्वित्यर्थः। ❀ तकि कृच्छ्रजीवे। अस्माद् औणादिको मनिन् ❀॥

गीले और सूखे सबको जलानेवाले दावाग्निकी समान सम्पूर्ण अंगोंको जलाने वाले शोषक बलयुक्त इस ज्वरका दाह सम्पूर्ण अङ्गमें व्याप्त होजाता है (उस समय पुरुष) उन्मत्तकी समान अपनेको भूलकर अनेक प्रकारका प्रलाप करता हुआ इस लोक से चल देता है। ऐसा प्रबल पित्तज्वर हमारे पाससे अन्य किसी व्रत न करने वाले सदाचारसे हीन पुरुषको प्राप्त होवे ‡। तापरूपी मारनेके साधन (आयुध) वाले और जीवनको कष्टमय करने वाले ज्वरके अभिमानी देवताके लिये नमस्कार प्राप्त हो, तात्पर्य यह है, कि–इस नमस्कारसे सन्तुष्ट होकर वह अन्यत्र सरक जायँ॥ १॥

पञ्चमी॥

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते।
नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः॥ २॥

नमः। रु॒द्राय॑। नमः॑। अ॒स्तु॒। त॒क्मने॑। नमः॑। राज्ञे॑। वरु॑णाय। त्विषि॑ऽमते।

‡ कहा भी है, कि–हे मुनिशार्दूल! पूर्वजन्ममें व्रत उपवास आदिसे जिन्होंने विष्णुभगवानको सन्तुष्ट नहीं किया होता है, वे ही ग्रह रोग आदिके चक्करमें पड़ते हैं। यथा-"व्रतोपवासैर्यैर्विष्णुर्नान्यजन्मनि तोषितः। ते नरा मुनिशार्दूल ग्रहरोगादिभागिनः॥"

नमः । दिवे । नमः । पृथिव्यै । नमः । ओषधीभ्यः ॥ २ ॥

रुद्राय रोदयति उपतापेन अश्रूणि मोचयतीति रुद्रो ज्वराभिमानी देवः । ❀ "रोदेर्णिलुक् च" [उ० २, २२] इति रक् प्रत्ययः ❀ । तस्मै रुद्राय प्रथमं नमोस्तु तक्मने ज्वराय च नमोस्तु । त्विषीमते दीप्तिमते राज्ञे स्वामिने तत्तत्प्राणिकृतपापानुरोधेन निग्रहकारिणे वरुणाय नमोस्तु । तथा दिवे द्युलोकाय नमः पृथिव्यै च नमः । द्यावापृथिव्यौ हि कृत्स्नस्य भूतजातस्य मातापितरौ तस्मात् तयोर्नमस्कारः कृतः । ओषधीभ्यः पृथिव्याम् उत्पन्नाभ्यो व्रीह्यादिभ्यो नमोस्तु । औषधसेवया पथ्यक्रमेण च आरोग्यम् उपजायत इत्योषधीनां नमस्कारः ॥

तापके द्वारा आँसू निकलवा कर रुलाने वाले ज्वरके अभिमानी देवता रुद्रदेवके लिये नमस्कार हो । ज्वरके लिये भी नमस्कार हो और अपने २ किये हुए पापोंके अनुसार दण्ड देने वाले कान्तिमान् राजा वरुणदेवके लिये नमस्कार हो, द्युलोकके लिये नमस्कार है और पृथिवीके लिये नमस्कार है । (द्यावापृथिवी सकल भूतोंके माता पिता हैं अतएव उनको नमस्कार किया है ।) पृथिवीमें उत्पन्न हुई व्रीहि आदि ओषधियोंके लिये नमस्कार हो (औषधिका सेवन करनेसे और पथ्यके द्वारा आरोग्य प्राप्त होता है अतएव ओषधियोंको नमस्कार किया है) ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि ।
तस्मै तेरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥ ३

अयम् । यः । अभिऽशोचयिष्णुः । विश्वा । रूपाणि । हरिता । कृणोषि ।

तस्मै । ते । अरुणाय । बभ्रवे । नमः । कृणोमि । वन्याय । तक्मने ॥ २ ॥

अयम् आपरोक्ष्येण अनुभूयमानः अभिशोचयिष्णुः अभितः सर्वतः कृत्स्नम् अङ्गं सर्वेषु अङ्गेषु शोचयन् शोकम् उत्पादयन् । ॐ शुच शोके । "णेश्छन्दसि" इति इष्णुच् प्रत्ययः ॐ । ईदृशो यः पित्तज्वरः विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि हरिता हरितानि रक्त-दूषणेन हरिद्रावर्णानि कृणोषि करोति । ॐ पुरुषव्यत्ययः ॐ । तस्मै अरुणाय अरुणवर्णाय बभ्रवे पीतवर्णाय च [वन्याय] संसेव्याय तक्मने ते तुभ्यं ज्वराय नमः कृणोमि करोमि ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे
षष्ठकांडे द्वितीयोनुवाकः ॥

यह जो प्रत्यक्षरीतिसे अनुभवमें आने वाला सब अंगोंमें दाह को करने वाला पित्तज्वर सब प्रकारके रूपोंको रक्तको दूषित कर हल्दीके वर्णका कर देता है, ऐसे अरुणवर्णवाले और पीले वर्ण वाले (दुष्कृतकारियोंके) सेवनीय ज्वरके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डके द्वितीय अनुवाकका पञ्चम सूक्त समाप्त
द्वितीय अनुवाक समाप्त (१९२) ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "इमा यास्तिस्रः" इति आद्यं सूक्तम् । तत्र आद्येन तृचेन केशवृद्धिकामं वृक्षभूमिजातौषधिभिः अवज्वालितोदकेन वा विभीतकक्वाथोदकेन वा हरिद्राक्वाथोदकेन वा अभिमन्त्रितेन उषःकाले अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । "इमा या-

स्तिस्र इति वृक्षभूमौ जाताञ्ज्वालेनावनक्षत्रेवसिञ्चति” इत्यादि [कौ० ४. ६] ॥

“कृष्णं नियानम्” इति तृचेन उदरतुन्दादिभैषज्यार्थं चित्तिमायश्चित्त्याद्योषधिसहितम् उदकम् अभिमन्त्र्य तेनोदकेन व्याधितम् अवसिञ्चेत्॥

तथा तस्मिन्नेव भैषज्यकर्मणि मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमम् आज्यहोमम् चित्त्याद्यौषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् चित्त्यादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु स्रावनम् [श्वसिरसो] मेषशिरसश्चाभिमन्त्रितस्य उदके प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतान्यभिवर्षणकर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । “कृष्णं नियानम् [६. २२] सस्रुषीः [६. २३] इत्योषध्यादिभिश्च्योतयति । मारुतानाम् अप्ययः” इति [कौ० ४. ६] ॥

अस्य तृचस्य अपां सूक्तेषु पाठाद् आस्रावनादौ विनियोगः ॥

तृतीय अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें “इमा यास्तिस्रः” यह यह प्रथम सूक्त है । इनमें पहिले तीन ऋचा वाले सूक्तसे केशकी वृद्धि चाहने वालेको वृक्ष और भूमि पर उत्पन्न हुई औषधियों से गरम किये हुए जलसे, वा बहेड़ेके काढ़ेके जलसे, वा हलदी के काढ़ेके अभिमन्त्रित जलसे उषःकालमें धोवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–“इमा यास्तिस्र इति वृक्षभूमौ जाताज्वालेनावनक्षत्रेवसिञ्चति०” (कौशिकसूत्र ४ । ६) ॥

“कृष्णं नियानम्” इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पेटकी थोंद आदिकी चिकित्साके लिये चित्ति प्रायश्चित्ति आदि औषधि पड़े हुए जलको अभिमन्त्रित कर उस जलसे रोगीको धोवे ॥

तथा इसी चिकित्साकर्ममें मरुतोंके लिये वा मन्त्रसे प्रतीत होने वाले देवताओंके लिये चीर भातमे वा घृतसे होम करे तथा चित्ति आदि औषधिको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलके मध्यमें नीचेको मुख करके उनका ले जाना, संपातित और अभिमन्त्रित चित्ति आदिका जलमें भिगोना, अभिमन्त्रित कुत्तेके सिर और मेंढ़ेके शिरका जलमें डालना, मनुष्य के केश और पुराने जूतोंका बाँसके अग्रभागमें बाँधना, भूसी सहित कच्चे वर्तनको अभिमन्त्रित जलसे छिड़क कर तीन लड़ वाले छीकेमें रख कर जलमें डुबोना आदि अभिवर्षणके कार्योंको करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, "कि–कृष्णं नियानं (६ । २२) ससुषीः (६ । २३) इत्योषध्यादिभिश्च्योतयति । मारुतानां अध्ययः" (कौशिकसूत्र ४ । ६) ॥

इस सूक्तका अपांसूक्तोंमें पाठ है अत एव इसका आप्लावन आदिमें विनियोग होता है।

तत्र प्रथमा ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

इमाः । याः । तिस्रः । पृथिवीः । तासाम् । ह । भूमिः । उत्ऽतमा । तासाम् । अधि । त्वचः । अहम् । भेषजम् । सम् । ऊं इति । जग्रभम् ॥ १ ॥

इमाः परिदृश्यमानाः तिस्रः त्रित्वसंख्योपेता याः पृथिवीः पृथिव्यः। उपलक्षणम् एतत् । पृथिव्याद्यास्त्रयो लोकाः सन्ति यद्वा। पृथिव्यादयस्त्रयो लोकाः प्रत्येकं त्रिधा भिन्नाः । "तिस्रो भूमीर्धारयन्" [ऋ० २. २७. ८] "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"

[ऐ० ब्रा० २. १७] इत्यादिश्रुतेः । तासां पृथिव्युपलक्षितानां लोकानां मध्ये इयम् अस्माभिरधिष्ठिता भूमिः खलु उत्तमा उत्कृष्टतमा ऐहिकफलभोगनिमित्तत्वात् स्वर्गादिफलसाधनयागहोमाद्यनुष्ठानहेतुत्वाच्च । तासां पृथिवीनां त्वचः त्वगिव उपरिवर्तमाना या भूमिः तस्या अधि उपरि मरूढं भेषजम् व्याधिनिवर्तकम् औषधम् अहं सह्यु जग्रभम् संगृह्णामि । ❀ ग्रहेः स्वार्थण्यन्तात् छान्दसे लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

यह जो पृथिवी आदि तीन लोक दीख रहे हैं उनमें यह हम से अधिष्ठित भूमि ऐहिकफलभोगका निमित्त होनेसे और स्वर्ग आदि फलके साधन होम आदिके अनुष्ठानका हेतु होनेसे श्रेष्ठ है । इन पृथिवी आदिके ऊपर त्वचाकी समान जो भूमि वर्तमान है उसके ऊपर उत्पन्न हुई व्याधिनिवर्तक औषधिको मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।

सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

श्रेष्ठम् । असि । भेषजानाम् । वसिष्ठम् । वीरुधानाम् ।

सोमः । भगःऽइव । यामेषु । देवेषु । वरुणः । यथा ॥ २ ॥

हे हरिद्रादिरूप भेषज अन्येषां भेषजानां श्रेष्ठम् प्रशस्यतमम् असि अमोघवीर्यत्वात् । तथा वीरुधानाम् अन्यासां वीरुधां वसिष्ठम् वसुमत्तमं मुख्यम् असि । ❀ वीरुच्छब्दात् टाप् । "टापं चापि हलन्तानाम्" इति स्मरणात् ❀ । तत्र श्रैष्ठ्ये दृष्टान्तः सोम इति । यामेषु अहोरात्रभागेषु साध्येषु यथा सोमश्चन्द्रमाः भगः सूर्यश्च कालावच्छेदहेतुत्वेन प्रशस्तौ तद्वत् श्रेष्ठम् असीत्यर्थः । वसि-

छत्वे दृष्टान्तः देवेष्विति । यथा देवेषु मध्ये वरुणः वसुमत्तमो मुख्यः तद्वद् इत्यर्थः ॥

हे हरिद्रारूप औषधे ! तू अमोघ वीर्य वाली होनेसे अन्य औषधियोंसे श्रेष्ठ है । तथा अन्य वीरुधोंमें मुख्य है । जैसे दिन रात्रिके भाग यामोंमें चन्द्रदेव और सूर्यदेव कालावच्छेदके कारण श्रेष्ठ हैं, इसी प्रकार तू श्रेष्ठ है । जैसे देवताओंमें वरुण मुख्य हैं इसी प्रकार तू मुख्य है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।

उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

रेवतीः । अनाधृषः । सिसासवः । सिसासथ ।

उत । स्थ । केशऽदृंहणीः । अथो इति । ह । केशऽवर्धनीः ॥३॥

हे रेवतीः रेवत्यः रयिमत्यो धनवत्य उक्ता ओषधयः । ❀ "रयेर्मतो बहुलम्" इति संप्रसारणम् ❀ । अनाधृषः अनाधृषाः केनचिदपि अहिंसिताः सिषासवः सनितुम् आरोग्यं दातुम् इच्छन्त्यः यूयं सिषासथ आरोग्यं दातुम् इच्छथ । ❀ षणु दाने । अस्मात् सनि "०भरज्ञपिसनाम्" इति इटो विकल्पनाद् अभावपक्षे "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ ॥ उत अपि च केशदृंहणीः केशानां दाढर्यकारिण्यः स्थ भवथ ॥ अथो ह अपि च खलु केशवर्धनीः केशसमृद्धिकारिण्यो भवथ । ❀ दृंहणीर्वर्धनीरिति । दृहेर्वृधेश्च करणे ल्युडन्ताद् ङीपि रूपम् ❀ ॥

हे धन वाली किसीसे भी हिंसित न होने वाली आरोग्य देने की इच्छा करने वाली औषधियों तुम आरोग्य। देनेकी इच्छा करो केशोंको दृढ़ करने वाली होओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।

त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः

कृष्णम् । निऽयानम् । हरयः । सुऽपर्णाः । अपः । वसानाः । दिवम् । उत् । पतन्ति ।

ते । आ । अववृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य । आत् । इत् । घृतेन । पृथिवीम् । वि । ऊदुः ॥ १ ॥

कृष्णम् कृष्णवर्णं नियानम् । नियमेन याति गच्छति अत्र ज्योतिश्चक्रम् इति नियानम् अन्तरिक्षम् । तत् प्राप्य हरयः हरणशीलाः पार्थिवं कृत्स्नं रसं हरन्तः सुपर्णाः शोभनपतना आदित्यरश्मयः अपो वसानाः उदकम् आच्छादयन्तः उदकेन आत्मानम् आच्छादयन्तः दिवम् द्योतमानम् आदित्यमण्डलम् उत् पतन्ति उद्गमनेन प्राप्नुवन्ति । यद्वा कृष्णं नियानम् इति दक्षिणायनाभिप्रायम् । तद्धि ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् [भ० गी० ८. २५] इति कृष्णपक्षसंबन्धात् कृष्णं नियानं यागहोमादिनियमयुक्तैः पुरुषैः प्राप्तव्यम् ईदृशं दक्षिणायनं प्रति उत्तरायणे समाहृतरसास्ते सूर्यरश्मयः ऋतस्य उदकस्य सदनात् आदित्यमण्डलाद् आववृत्रन् आवर्तन्ते वृष्ट्यर्थम् आगच्छति । ❀ वृतेर्लुङि "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदम् । छान्दसश्च्लेश्चङ् आदेशः । "बहुलं छन्दसि" इति रुडागमः ❀ ॥ आदित् अनन्तरमेव घृतेन उदकेन ते सूर्यरश्मयः पृथिवीं व्यूदुः विशेषेण उन्दन्ति आर्द्री-

कुर्वन्ति । श्रूयते हि । "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" इति [तै० सं० २. ४. १०. २]। ❀ उन्दी क्लेदने इत्यस्मात् छान्दसे लिटि छान्दस उपधालोपः ❀ ॥

कृष्ण वर्ण वाले, कि-जिसमें ज्योतिश्चक्र नियमपूर्वक घूमता है उस अन्तरिक्षको प्राप्त होकर हरण करनेके स्वभाव वाली सूर्य की किरणें सम्पूर्ण पार्थिव रसको हरते समय सुन्दरतासे पतन कर जलको ढक लेती हैं फिर प्रकाशमान आदित्यमण्डलको उछल जाती हैं फिर वे सूर्यकी किरणें जलके भवन सूर्यमण्डलसे वर्षा करनेके लिये आती हैं इसके उपरान्त ही वे जलसे भूमिको गीली कर देती हैं ॥

वा-कृष्ण † नियान शब्दसे यहाँ दक्षिणायनशब्दका ग्रहण होसकता है, उस समय यह अर्थ होगा, कि-उत्तरायणके समय रससे भरने वाली सूर्यकी किरणें, याग होम आदिसे युक्त पुरुषों को मिलने वाले दक्षिणायनके समय जलके भवन आदित्यमण्डल से वृष्टि करनेके लिये आती हैं फिर वे किरणें जलसे पृथ्वीको गीली कर देती हैं ‡ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

पयंस्वती कृणुथाप ओषंधी शिवा यदेजंथा मरुतो रुक्मवक्षसः ।

---

† श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है-"धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥ (भगवद्गीता ८ । २५)

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १० । २ में कहा है, कि-'यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथवर्षति ॥-वह आदित्य जब तिरछी किरणोंसे लौटते हैं तब वर्षा करते हैं ॥"

ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

पयस्वतीः । कृणुथ । अपः । ओषधीः । शिवाः । यत् । एजथ । मरुतः । रुक्मऽवक्षसः ।

ऊर्जम् । च । तत्र । सुऽमतिम् । च । पिन्वत । यत्र । नरः । मरुतः । सिञ्चथ । मधु ॥ २ ॥

हे मरुतः रुक्मवक्षसः रुक्मः स्वर्णमयम् आभरणं वक्षःस्थले येषां तादृशाः सन्तो यूयं यत् यदा एजथ प्रचलथ । ❀ एजृ कम्पने ❀ । तदानीं पयस्वतीः रसवतीः अपः उदकानि ओषधीश्च शिवाः सुखकरीः कृणुथ कुरुथ ॥ नरः नेतारः हे मरुतः यूयं यत्र मधु मधुररसं वृष्ट्युदकं सिञ्चथ वर्षयथ तत्र तस्मिन् देशे ऊर्जं च बलकरम् अन्नं सुमतिं च शोभनबुद्धियुक्तां प्रजां पिन्वथ उदकसेचनेन पोषयथ ॥

हे मरुतो ! तुम सुवर्णमय आभूषणोंको वक्षःस्थलमें धारण करने वाले हो जब तुम चलते हो उस समय रस वाले जलोंको और ओषधियोंको सुख देते हो । हे नेता मरुत् देवताओं ! तुम जिस देशमें मधुर वृष्टिजलको बरसाते हो उस देशमें बलप्रद अन्न और शोभन बुद्धि वाली प्रजाको भी पुष्ट करते हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति । एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ३

उदऽप्रुतः । मरुतः । तान् । इयर्त । वृष्टिः । या । विश्वाः । निऽवतः । पृणाति ।

एजाति । ग्लहा । कन्याऽइव । तुन्ना । एरुम् । तुन्दाना । पत्याऽइव । जाया ॥ ३ ॥

हे मरुतः उदप्रुतः उदकस्य प्रेरकान् तान् मेघान् इयर्त प्रेरयत । ❀ प्रुङ् प्रुङ् गतौ । अस्मात् कर्तरि क्विप् । "उदकस्योदः संज्ञायाम्" इति उदकशब्दस्य उदभावः । इयर्तेति । ऋ गतौ इत्यस्मात् लोट् । "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तबादेशः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । के पुनस्ते मेघा इति विशिनष्टि । या यदीया येषां मेघानां संबन्धिनी वृष्टिः विश्वा विश्वानि व्रीहियवादिसस्यानि निवतः निम्नगामिनीर्नदीश्च पृणाति पूरयति । आप्यायतीत्यर्थः । ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति गमेरर्थे वतिः ❀ । यद्वा तान् । वर्णव्यत्ययः । या वृष्टिः उक्तविधा तां वृष्टिं प्रेरयतेत्यर्थः ॥ अपि च गह्वा । ❀ गर्ह गह्व कुत्सायाम् ❀ । गह्वयति कुत्सयति भीतिम् उत्पादयतीति गह्वा स्तनयित्नुरूपा माध्यमिका वाक् । सा एजाति एजतु हृष्टयर्थं मेघान् कम्पयतु । ❀ एजृ कम्पने । अस्मात् लेटि आडागमः ❀ । तत्र दृष्टान्तः कन्येवेति । यथा तुन्ना दारिद्र्यादिभिः पीडिता कन्या मातापित्रादीन् कम्पयति तद्वद् इत्यर्थः । सा वाग् विशेष्यते । एरुम् गन्तारं मेघं प्राप्य तुञ्जाना आभाषमाणा ध्वनन्ती । ❀ तुजि आभाषणे । चौरादिकः ❀ । यद्वा । ❀ तुञ्जतिर्दानकर्मा । "तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे" [ऋ० १. ७. ७] इति हि निगमः ❀ । एरुम् गमनशीलम् उदकं तुञ्जाना प्रयच्छन्ती । तत्र दृष्टान्तः पत्येवेति । पत्या सहिता जायेव सा यथा आभाषते यथा वा दित्सितम् अन्नादिकं प्रयच्छति तद्वद् वृष्ट्युदकस्य प्रदात्रीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे मरुत देवताओं ! तुम जलके प्रेरक उन मेघोंको प्रेरित करो, कि-जिनकी वृष्टि धान जौं आदि सकल धान्योंको और नीचेको बहने वाली नदियोंको भी तृप्त करती है और गर्जनारूपी भयको उत्पन्न करने वाली माध्यमिका वाणी वृष्टिके लिये उन मेघोंको इस प्रकार कम्पित करे, कि-जिस प्रकार दरिद्रता आदिसे पीड़ित कन्या माता पिताको कँपाती है। जैसे पतिके साथ भाषण करती हुई स्त्री उसको अन्न आदि देती है, इसी प्रकार यह वाणी भी गमनशील मेघको अन्न आदि देती हुई उससे भाषण करती है॥३॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१९५)॥

"सस्रुषीः" "हिमवतः प्र स्रवन्ति" इति तृचयोः "पुनन्तु मा [६. १९] सस्रुषीः [६. २३] हिमवतः प्र स्रवन्ति [६.२४] वायोः पूतः पवित्रेण" [६. ५१] इति बृहद्गणे [कौ० १. ६] पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगः॥

अनयोः अपां सूक्तेषु पाठात् आप्लावनादौ विनियोगः। सूत्रितं हि। "अवभृथाय व्रजन्त्यपां सूक्तैराप्लुत्य" इति [कौ० ८. ६]॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकामः आभ्यां तृचाभ्यां "पुनन्तु मा" इत्यत्रोक्तानि क्षीरौदनहवनादीनि कर्माणि कुर्यात्। "अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "पुनन्तु मा [६. १९] सस्रुषीः [६. २३] हिमवतः प्र स्रवन्ति [६. २४] वायोः पूतः पवित्रेण" [६. ५१] इत्यादि "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येवमन्तं सूत्रम् [कौ० ५. ५] अत्र द्रष्टव्यम्॥

तथा "सस्रुषीः" इत्येकेन तृचेन उदरतुन्दादिभैषज्ये कृष्णं नियानम् [६. २२] इति तृचोक्तानि कर्माणि कुर्यात्। सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम्॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः प्रणीताः प्रमुच्यमाना अनेन तृचेन ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "प्रणीताः विमुच्यमानाः सस्रुषीरित्यनुमन्त्रयते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. ४]॥

"हिमवतः प्र स्रवन्ति" इति तृचस्य शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ आप्लावनादौ अर्थोत्थापनकर्मसु च पूर्वतृचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा हृदयदोषजलोदरकामलरोगशान्त्यर्थं नद्युदकं प्रवाहानुगुणम् आहृत्य तत्र वल्मीकतृणानि प्रक्षिप्य अनेन तृचेन अवसिच्य व्याधितम् अवसिञ्चेत् मार्जयेत् आचामयेद् वा । सूत्रितं हि । "हिमवतः इति स्यन्दमाना अन्वीपम् आहार्य वल्मीकैः" इति [कौ० ४.६]॥

"सस्रुषी" "हिमवतः प्रस्रवन्ति" इन दोनों सूक्तोंका बृहद्गण में पाठ है अत एव इनका शान्त्युदक आदिमें विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-"पुनन्तु मा (६ । १६) सस्रुषीः (६ । २३) हिमवतः प्रस्रवन्ति (६ । २४) वायो पूतः पवित्रेण (६ । ५१) इति बृहद्गणे" (कौशिकसूत्र १ । ६)॥

इन दोनों सूक्तोंका अपां सूक्तोंमें पाठ होनेसे आप्लावन आदि में विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अवभृथाय प्रजजन्त्यपां सूक्तैराप्लुत्य" (कौशिकसूत्र ८ । ६)॥

तथा धन उठानेमें होने वाले विघ्नोंको शांत करना चाहने वाला इन दोनों तीन ऋचा वाले सूक्तोंसे क्षीरौदन हवन आदि 'पुनन्तु' (१६ वें) सूक्तमें कहे हुए कर्मोंको करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "पुनन्तु मा (६ । १६) सस्रुषीः (६ । २३) हिमवतः प्रस्रवन्ति (६ । २४) वायोः पूतः पवित्रेण" (६ । ५१) इत्यादि "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रं द्रष्टव्यम् ॥

तथा "सस्रुषीः" इस तीन ऋचा वाले एक सूक्तसे पेटकी तोंद आदिकी चिकित्साके लिये "कृष्णं नियानम्" इस छठे काण्ड के बाइसवें सूक्तमें कहे हुए कर्म करे। सूत्र भी वहाँ ही कह दिया है तथा दर्श और पूर्णमासमें प्रणीयमान प्रणीताओंका इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतान-

सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"प्रणीता विह्लुच्यमानाः सस्रुषीरित्यनुमन्त्रयते" । (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

"हिमवतः प्रस्रवन्ति" इस तीन ऋचा वाले सूक्तका शान्त्युदक के अभिमन्त्रण आदिमें आसावन आदिमें और अर्योस्थापन कर्मों में भी पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा हृदयदोष, जलोदर और कमलवाय रोगकी शांतिके लिये प्रवाहानुगुण नदीके जलको लाकर उसमें घरके तिनकोंको डाले फिर इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे रोगी पर छिड़के वा उसको आचमन करावे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"हिमवत इति स्यन्दमाना अन्त्रीपं" आहार्य वलीके (कौशिकसूत्र ४।६)

तत्र प्रथमा ॥

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः ।
वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये ॥ १ ॥

सस्रुषीः । तत् । अपसः । दिवा । नक्तम् । च । सस्रुषीः ।
वरेण्यऽक्रतुः । अहम् । अपः । देवीः । उप । ह्वये ॥ १ ॥

तत् प्रसिद्धं सर्वप्राणिजीवनात्मकं रूपं सस्रुषीः प्राप्तवतीः अपसः अपस्वतीः । ❀ मत्वर्थीयस्य लुक् ❀ । अपसा जगद्रक्षणकर्मणा युक्ताः दिवा नक्तं च अहोरात्रोपलक्षितं कृत्स्नं कालम् अविच्छेदेन सस्रुषीः सरणशीलाः प्रवहणशीलाः । ❀ सृ गतौ । अस्माच्छान्दसस्य लिटः क्वसुः । "उगितश्च" इति ङीप् । वसोः संप्रसारणे यण् ❀ । ईदृशीः देवीरपः वरेण्यक्रतुः प्रशस्तकर्मा अहम् उप ह्वये समीपे आह्वयामि । यद्वा उपह्वः अनुज्ञा । तां याचामहे इत्यर्थः ॥

श्रेष्ठ कर्म वाला मैं सब प्राणियोंके जीवनरूपको प्राप्त होने वाले और जगत्की रक्षाका कर्म करनेके कारण दिन रात सब समय बहने वाले प्रकाशमान जलोंको आह्वान करता हूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये ।
सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

आऽउताः । आपः । कर्मण्याः । मुञ्चन्तु । इतः । प्रऽनीतये ।
सद्यः । कृण्वन्तु । एतवे ॥ २ ॥

ऊताः संतताः अविच्छेदेन प्रवहन्त्यः । ❀ ऊयी तन्तुसंताने । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । कर्मण्याः लौकिकेषु वैदिकेषु च कर्मसु साधवः । ❀ "तत्र साधुः" इति यत् । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावः ❀ । ईदृश्य आपः इतः अस्मात् सर्वानर्थनिदानात् पापाद् अस्मान् मुञ्चन्तु । किमर्थम् । प्रणीतये प्रकर्षेण प्राप्याय फलाय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । तादृक् फलं सद्यः शीघ्रम् एतवे प्राप्तुं कृण्वन्तु उदीरितलक्षणा अब्देवता अस्मांस्तदर्हान् कुर्वन्तु । ❀ प्रणीतये इति । पूर्वान्नयतेः कर्मणि क्तिन् । एतवे इति । इण् गतौ । "तुमर्थे सेसेन्" इति तवे प्रत्ययः ❀ ॥

सन्तत अविच्छिन्नरूपसे बहने वाले जल हमको श्रेष्ठ फल पानेके लिये सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ावें। हमको श्रेष्ठ फल शीघ्र ही प्राप्त करानेके लिये पापसे मुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

देवस्य । सवितुः । सवे । कर्म । कृण्वन्तु । मानुषाः ।

शम् । नः । भवन्तु । अपः । ओषधीः । शिवाः ॥ ३ ॥

देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य सूर्यस्य सवे प्रेरणे सति मानुषाः मनोरपत्यभूता जनाः कर्म कृण्वन्तु लौकिकं वैदिकं च कृत्स्नं कर्मजातम् अनुतिष्ठन्तु । ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" इति मनुशब्दाद् अञ् षुगागमश्च । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ शिवाः कल्याणकारिण्यः ओषधीः ओषधयः अपः तद्वृद्धिहेतव आपश्च नः अस्माकं शं भवन्तु दुरितशमनहेतवो भवन्तु ॥

प्रकाशमान सूर्यदेवकी प्रेरणा होने पर मनुष्य लौकिक और वैदिक समस्त कर्मोंको करें, कल्याण करने वाली औषधियें और उनकी वृद्धिके हेतु जल हमारे लिये कल्याणकारक हों—पापक्षय करने वाले हों ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

हिमवंतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥१॥

हिमऽवतः । प्र । स्रवन्ति । सिन्धौ । समह । सम्ऽगमः ।
आपः । ह । मह्यम् । तत् । देवीः । ददन् । हृद्द्योतऽभेषजम् ।१।

गङ्गादिनदीरूपाः पापक्षयहेतव आपः हिमवतः हिमवत्पर्वताद् प्र स्रवन्ति प्रवहन्ति । तासां सर्वासां सिन्धौ समुद्रे [समह] समानं संगमः संसर्गो भवति । ईदृश्यो देवीः देव्य आपः तत् प्रसिद्धं हृद्द्योतभेषजम् हृदयदाहनिवर्तकम् औषधं मह्यं ददन् प्रयच्छन्तु ॥

पापका क्षय करने वाले गंगाजल आदि जल हिमाचलसे बहते हैं, उन सबका समुद्रमें मेल होता है । ऐसे जल मुझको हृदयके दाहको शान्त करने वाली औषधियें दें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यन्मे अ॒क्ष्योरा॑दि॒द्योत॒ पार्ष्ण्यो॑: प्रप॑दोश्च॒ यत् ।
आप॒स्तत् सर्वं॒ निष्क॑रन् भि॒षजां॒ सुभि॑षक्तमाः ॥२॥

यत् । मे॒ । अ॒क्ष्योः । आ॒ऽदि॒द्योत॑ । पार्ष्ण्योः । प्रऽप॑दोः । च॒ । यत् ।
आपः॑ । तत् । सर्व॑म् । निः । क॒रन् । भि॒षजा॑म् । सुभि॑षक्ऽतमाः

यद् रोगजातं मे मम अक्ष्योः अक्ष्णोः आदिद्योत आदीपयति व्यथयति । ❀ "ई च द्विवचने" इति अक्षिशब्दस्य ईकारान्तादेशः । द्युत दीप्तौ इत्यस्माच्छान्दसो वर्तमाने लिट् । "द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम्" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ❀ । तथा पार्ष्ण्योः । पादयोरपरभागौ पार्ष्णी । पुरोभागौ प्रपदौ । उभयविधयोस्तयोश्च यद् रोगजातम् आश्रित्य वर्तते तत् सर्वम् आपः देवतारूपाः निष्करन् निष्कुर्वन्तु निर्गतं कुर्वन्तु । ❀ करोतेश्छान्दसो लुङ् । "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । कीदृश्यस्ताः । भिषजाम् व्याधिनिवर्तकानां मध्ये सुभिषक्तमाः अतिशयेन चिकित्साकुशलाः ॥

जो रोग मेरे नेत्रोंको व्यथित कर रहा है, पार्ष्णि (पैरोंके दूसरे भागों) को और प्रपद (पैरोंके पुरोभागों) को व्यथित कर रहा है, उन सबोंको देवतारूप जल निकाल दें, ये जल व्याधि दूर करने वाली औषधियोंमें परमचिकित्साकुशल हैं ॥२॥

षष्ठी ॥

सिन्धु॑पत्नीः॒ सिन्धु॑राज्ञीः॒ सर्वा॒ या न॒द्य१॒ स्थन॑ ।
द॒त्त न॒स्तस्य॑ भेष॒जं तेना॑ वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

सिन्धुऽपत्नीः । सिन्धुऽराज्ञीः । सर्वाः । याः । नद्यः । स्थन ।

दत्त । नः । तस्य । भेषजम् । तेन । वः । भुनजामहै ॥ ३ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुपत्न्यः सिन्धुः समुद्रः पतिर्यासां तास्तथोक्ताः । ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति ङीम्नकारौ ❀ । सिन्धुराज्ञीः सिन्धोः समुद्रराजस्य दाराः । ❀ उभयत्र "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । एवंभूताः सर्वा या यूयं नद्यः स्तन नदीरूपा भवत । ❀ अस्तेर्लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनादेशः ❀। ईदृश्योयूयं न अस्माकं तस्य रोगस्य भेषजम् निवर्तकम् औषधं दत्त प्रयच्छत । तेन औषधेन वः युष्माकं संबन्धिनो वयं भुनजामहै । निवृत्तरोगाः सन्तः अन्नपानादि बलकरं वस्तु उपजीवाम । ❀ भुज पालनाभ्यवहारयोः । "भुजोऽनवने" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

[इति तृतीयेऽनुवाके] द्वितीयं सूक्तम् ॥

तुम समुद्रकी पत्नी हो और समुद्र तुम्हारा राजा है तुम नदीरूप बनते हो, हे ऐसे जलों ! तुम रोगको हटानेवाली औषधि दो, उस औषधिसे आपके संबंधी हम रोगरहित होकर अन्न पान आदि बलप्रद वस्तुओंका उपभोग करें ॥ ३ ॥

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१९७) ॥

"पञ्च च याः" इति तृचेन गण्डमालानिवृत्त्यर्थं पञ्चाधिकपञ्चाशत्संख्याकैः सूत्रोक्तकाष्ठैः मन्त्रावलनम् इत्येवमादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "पञ्च च या इति पञ्चपञ्चाशतं परशुपर्णान् काष्ठैरादीपयति कपाले मन्मूतं काष्ठेनातिम्पयति" इत्यादि [कौ ४. ६] ॥

"अव मा पाप्मन्" इति [तृचेन] सर्वरोगभैषज्यकर्मणि सूत्रोक्तप्रकारेण तन्त्रं कृत्वा अपरेद्युर्स्त्रीन् पुरोडाशसंततीश्चतुष्पथे

अवचरेत् । सूत्रितं हि । "अव मा पाप्मन्निति तिसृभिः पूल्या-न्यवसिच्य अपविध्यापरेद्युस्त्रींस्त्रीन् पुरोडाशसंवर्तांश्चतुष्पथेष्ववच-रति" इति [कौ० ४. ६] ॥

महाशान्त्यादौ क्रियमाणे नैर्ऋतकर्मणि एतं तृचं जपन् नदी-तीरं गच्छेत् । "अव मा पाप्मन्निति जपन्नुदकम् अभिगच्छेत्" इति हि नक्षत्रकल्पः [न० क० १५] ॥

"पञ्च च याः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे गण्डमालाको हटानेके लिये सूत्रमें कहे हुए पचपन काष्ठोंसे मञ्चालन आदि कर्म करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पञ्च च या इति पञ्चपञ्चाशतं परशूपर्णान् काष्ठैरादीपयति कपाले मन्मृत काष्ठेनाभि-ल्पति०" (कौशिकसूत्र ४ । ६) ॥

"अव मा पाप्मन्" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे सब रोगोंकी चिकित्साके कर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे तन्त्र करके तीन पुरोडाश सम्वर्तोंको चौराहेमें बखेरे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ६ का का प्रमाण भी है,कि-"अव मा पाप्मन्निति तिसृभिः पूल्यान्यवसि-च्य अपविध्यापरेद्युस्त्रींस्त्रीन् पुरोडाशसम्वर्तांश्चतुष्पथेष्ववचरति" ॥

महाशांति आदिके करने पर नैर्ऋतिकर्ममें इस तीन ऋचावाले सूक्तको जपता हुआ नदीके तट पर जावे । इसी बातको नक्षत्र-कल्प १५ में कहा है,कि—"अव मा पाप्मन्निति जपन्नुदकम् अभि-गच्छेत्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥१॥

पञ्च । च । याः । पञ्चाशत् । च । सम्ऽयन्ति । मन्याः । अभि ।

इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्ऽइव ॥ १ ॥

पञ्च च पञ्चाशच्च पञ्चाधिकपञ्चाशत्संख्याका या गण्डमालाः मन्याः गलस्योर्ध्वभागे स्थिता धमनीर्मन्याशब्दवाच्या अभि संयन्ति सर्वतो व्याप्नुवन्ति इतः अस्मात् प्रयोगात् ताः तत्संख्याकाः सर्वा गण्डमाला नश्यन्तु विनष्टा भवन्तु । वाकाः वचनीया दोषाः अपचितामिव पूजितां पतिव्रतां स्त्रियं प्राप्य यथा पराहता नश्यन्ति तथेत्यर्थः ॥

ये पचपन गण्डमालायें जो गलेकी ऊपरकी नसोंमें व्याप्त हो रही हैं ये सब इस प्रयोगसे इस प्रकार नष्ट होजावें जिस प्रकार चर्चने योग्य दोष पूजिता पतिव्रता स्त्रीको पाकर नष्ट होजाते हैं १

द्वितीया ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥

सप्त । च । याः । सप्ततिः । च । सम्ऽयन्ति । ग्रैव्याः । अभि ।
इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्ऽइव ॥ २ ॥

सप्ताधिकसप्ततिसंख्याका या गण्डमालाः ग्रैव्याः ग्रीवासु भवा नाडीः अभि संयन्ति अभितो व्याप्नुवन्ति । अन्यद्व्याख्यातम् ॥

जो सतत्तर गण्डमालायें ग्रीवाकी नाड़ियोंमें व्याप्त होरही हैं, ये सब इस प्रयोगसे इस प्रकार नष्ट होजावें, जिस प्रकार चर्चने योग्य दोष पूजिता पतिव्रता स्त्रीको पाकर नष्ट होजाते हैं ॥२॥

तृतीया ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥३॥

नव । च । याः । नवतिः । च । सम्ऽयन्ति । स्कन्ध्याः । अभि ।

इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचितम्ऽइव ॥ ३ ॥

नवोत्तरनवतिसंख्याका या गण्डमालाः स्कन्ध्याः । ग्रीवाया अधःप्रदेशः स्कन्धः । तत्र भवा धमनीः अभि संयन्ति अभितो व्याप्नुवन्ति । शेषम् उक्तार्थम् ॥

जो निन्यानवें गण्डमालायें स्कंधकी धमनियोंमें होती हैं, वे सब इस प्रयोगसे इस प्रकार नष्ट होजावें, कि-जैसे बरबने योग्य दोष पूजिता पतिव्रता स्त्रीको पाकर नष्ट होजाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अव॑ मा पाप्मन्त्सृज व॒शी सन् मृ॑डयासि नः ।

आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पा॑प्मन् धे॒ह्यवि॑ह्रुतम् ॥ १ ॥

अव॑ । मा॒ । पा॒प्म॒न् । सृ॒ज । व॒शी । सन् । मृ॒ड॒या॒सि॒ । नः॒ ।

आ । मा॒ । भ॒द्रस्य॑ । लो॒के । पा॒प्म॒न् । धे॒हि॒ । अवि॑ऽह्रुतम् ॥ १ ॥

हे पाप्मन् पापाभिमानिदेव [मा] माम् अव सृज त्वत्सकाशाद् विमोचय ॥ वशी सर्वस्य वशयिता त्वं नः अस्मान् सं मृडयासि सम्यक् मृडय सुखय । ❀ मृड सुखने । अस्मात् लेटि आडागमः ❀ ॥ हे पाप्मन् अभिहृतम् अपीडितं मा मां भद्रस्य भन्दनीयस्य सुकृतस्य फलभूते लोके स्वर्गादौ आ धेहि स्थापय । ❀ अविह्रुतम् इति । ह्रु कौटिल्ये । "ह्रु ह्वरेश्छन्दसि" इति निष्ठायां ह्रुभावः ❀ ॥

हे पापके अभिमानी देवता ! मुझे छोड़ दे ! सबको वशमें रखने वाला तू हमको भली प्रकार सुखी कर । हे पाप्मन् ! तू मुझ अपीड़ितको पुण्यके फलरूप स्वर्गमें स्थापित कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

यः । नः । पाप्मन् । न । जहासि । तम् । ऊं इति । त्वा । जहिमः । वयम् ।

पथाम् । अनु । विऽआवर्तने । अन्यम् । पाप्मा । अनु । पद्यताम् २

हे पाप्मन् यस्त्वं नः अस्मान् न जहासि न परित्यजसि । ❀ ओहाक् त्यागे इति धातुः ❀ । तमु तमेव त्वा त्वां पथाम् चतसृभ्यो दिग्भ्य आगतानां मार्गाणाम् अनुव्यावर्तने यस्मिन् प्रदेशे चतुष्पथलक्षणे अनुशाखाः परस्परं व्यावर्तन्ते तत्र देशे वयं जहिमः । अनेन अनुष्ठितेन कर्मणा बलात् परित्यजामः । ❀ "जहातेश्च" इति इत्त्वम् । "पथाम्" इति । "भस्य टेर्लोपः" इति टिलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् । अनुव्यावर्तन्तेऽस्मिन्निति अनुव्यावर्तनो देशः । अधिकरणे ल्युट् ❀ । तत्र त्यक्तः पाप्मा अन्यम् अस्मद्द्वेष्यम् अनु पद्यताम् अनुप्रविशतु ॥

हे पाप्मन् ! जो तू हमको नहीं छोड़ता है तो हम तुझको मार्गों के व्यावर्तन (चौराहे) में इस अनुष्ठित कर्मसे बलपूर्वक छोड़ते हैं तहाँ पर छोड़ा हुआ तू हमारे द्वेषी दूसरे पुरुषमें प्रवेश कर ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अन्यत्र । अस्मत् । नि । उच्यतु । सहस्रऽअक्षः । अमर्त्यः ।

यम् । द्वेषाम । तम् । ऋच्छतु । यम् । ऊं इति । द्विष्मः । तम् । इत् । जहि ॥ ३ ॥

अस्मत् अस्मत्तः अन्यत्र सहस्राक्षः इन्द्रवत् प्रसह्यकारी अमर्त्यः अमरणधर्मा देवतारूपः पाप्मा न्युच्यतु नितरां गच्छतु । ❀ उच समवाये ❀ । एतदेव विव्रियते । यं शत्रुं वयं द्वेषाम द्विष्मः तम् ऋच्छतु पापं गच्छतु । ❀ ऋ गतौ । शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना ऋच्छादेशः ❀ । पुनरपि यमेव वयं द्विष्मः तमित् तमेव जहि नाशय । ❀ द्वेषामेति । द्विषेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । पिद्वद्भावेन ङित्वाभावात् लघूपधगुणः ❀ ॥

[इति तृतीयेऽनुवाके] तृतीयं सूक्तम् ॥

इन्द्रकी समान बल दिखाने वाला अमरणधर्मा—देवतारूप–पाप हमसे अलग होजावे और जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको प्राप्त होवे, जिससे हम द्वेष करते हैं उसको ही (हे पाप ! तू) नष्ट कर ॥ ३ ॥

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (१९९)

गृहादिषु कपोतोलूकप्रवेशशान्त्यर्थं शान्त्युदकाभिमन्त्रणे विनियुक्तमहाशान्तिगणे "देवाः कपोतः" [६. २७] "ऋचा कपोतम्" [६. २८] "अमून् हेतिः" [६. २९] इति त्रयस्तृचा आवपनीयाः । तद् उक्तं कौशिकेन । "पतत्रिभ्यो देवाः कपोतः ऋचा कपोतम् अमून् हेतिरिति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. १०]॥

"ऋचा कपोतम्" इति तृचस्य पूर्वतृचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

अत्र "परीमे अग्निम्" [२] इत्यनया ऋचा कपोतोलूकप्रवेशशान्त्यर्थमेव गाम् अग्निम् आनीय शालां कपोतप्रवेशस्थलं वा त्रिः परिभ्रामयेत् । सूत्रितं हि । "परीमे अग्निम् इत्यग्निं गाम् आदाय निशि कारयमाणस्त्रिः शालां परिणयति" इति [कौ० ५. १०] ॥

घर आदिमें कबूतर उल्लू आदिके प्रवेश करने पर शान्ति करनेके लिये शान्त्युदकके अभिमंत्रणमें जिस महाशान्तिगणका प्रयोग होता है उसमें इन तीन सूक्तोंको समझना चाहिये। "देवाः कपोतः (६ । २७) ऋचा कपोतम् (६ । २८) अमून् हेतिः (६।२९) ॥" इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"पतत्रिभ्यो देवाः कपोतः ऋचा कपोतम् अमून् हेतिरिति महाशान्तिम् आवपते" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

"ऋचा कपोतम्" इस तृचका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

इसमेंकी 'परीमे अग्निम्' इस दूसरी ऋचासे कपोत और उल्लू के प्रवेशकी शांतिके लिये ही गौ और अग्निको लाकर शालामें वा कपोतके प्रवेश करनेके स्थान पर तीन बार घुमावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"परीमे अग्निम् इत्यग्निम् गाम् आदाय निशि कारयमाणस्त्रिः शालां परिणयति" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तत्र प्रथमा ॥

देवाः क॒पोत॑ इषि॒तो यदि॒च्छन् दू॒तो निर्ऋ॑त्या इ॒दमा॑ज॒गाम॑ ।
तस्मा॑ अर्चाम कृ॒णवा॑म॒ निष्कृ॑तिं॒ शं नो॑ अस्तु द्वि॒पदे॒ शं चतु॑ष्पदे ॥ १ ॥

देवाः । क॒पोतः॑ । इ॒षि॒तः । यत् । इ॒च्छन् । दू॒तः । निःऽऋ॑त्याः । इ॒दम् । आ॒ऽज॒गाम॑ ।

तस्मै । अर्चाम । कृणवाम । निःऽकृतिम् । शम् । नः । अस्तु । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

हे देवाः निर्ऋत्याः पापदेवताया दूतः कर्मकरः इषितः प्रेषितः [कपोतः] कपोताख्यः पक्षी यद् बाधनम् इच्छन् इदम् अस्मदीयं गृहम् आजगाम आगतवान् तस्मै तन्निवृत्त्यर्थम् अर्चाम युष्मान् हविषा पूजयाम ॥ निष्कृतिम् तद्दोषशान्तिं कृणवाम करवाम । नः अस्माकं द्विपदे पादद्वयोपेताय पुत्रभृत्यादये [शम्] चतुष्पदे पाद-चतुष्टयोपेताय गवाश्वादये च शम् रोगादीनां शमनं कपोतप्रवेश-जनितदोषशान्तिश्च अस्तु भवतु ॥

हे देवताओं ! पापदेवताका दूत अर्थात् पापदेवताका काम करने वाला प्रेरित पक्षी जो पीड़ा देनेकी इच्छा करता हुआ हमारे घर पर आया है उसकी निवृत्तिके लिये हम आपकी हविसे पूजा करते हैं उसके दोषकी शान्ति करते हैं । हमारे दो पैर वाले पुत्र भृत्य आदिका कल्याण हो और चार पैर वाले गौ घोड़े आदिके रोग आदिकी शान्ति हो, कपोतप्रवेशसे होने वाले दोषोंकी शान्ति हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

शिवः । कपोतः । इषितः । नः । अस्तु । अनागाः । देवाः । शकुनः । गृहम् । नः ।

अग्निः । हि । विप्रः । जुषताम् । हविः । नः । परि । हेतिः ।

पक्षिणी । नः । वृणक्तु ॥ २ ॥

हे देवाः इषितः निर्ऋतिदेवतया प्रेषितः कपोतः [नः] शिवः सुखकरः अस्तु भवतु ॥ अनागाः अनपराधकः शकुनः पक्षी नः अस्माकं गृहं न पीडयतु ॥ हि यस्माद् एवं तस्माद् विप्रो मेधावी अग्निः नः अस्मदीयं हविर्जुषताम् सेवताम् ॥ तत्प्रसादात् पक्षिणी पक्षोपेता कपोताख्या हेतिः हननसाधनम् आयुधं नः अस्मान् परि वृणक्तु परिवर्जयतु ॥

हे देवताओं ! यह पापदेवताका प्रेरित कपोत ! हमें सुख देने वाला हो, यह अपराधरहित पक्षी हमारे घरको पीड़ित न करे । इस कारण यह विद्वान् अग्नि हमारी हविका सेवन करें । उनके प्रसादसे यह कबूतर नाम वाला मारनेका साधन आयुध हमको छोड़ देय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने ।
शिवो गोभ्यं उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

हेतिः । पक्षिणी । न । दभाति । अस्मान् । आष्ट्री इति । पदम् ।

कृणुते । अग्निऽधाने ।

शिवः । गोभ्यः । उत । पुरुषेभ्यः । नः । अस्तु । मा । नः । देवाः ।

इह । हिंसीत् । कपोतः ॥ ३ ॥

१६८

पक्षिणी पक्षाभ्यां युक्ता हेतिः हननसाधनम् अस्मान् न दभाति न हिनस्तु । सा च आष्ट्री आष्ट्र्यां व्याप्तायाम् अरण्यान्याम् अग्निधाने दावाग्निसंचारस्थाने पदं कृणुते पादप्रसारं करोतु । अस्मत्तो विनिर्गच्छत्वित्यर्थः । यद्वा अश्नन्ति अस्यां जना इति आष्ट्री पचनशाला तस्याम् अग्निधाने अग्निनिधानस्थाने इति योज्यम् ॥ तथा गोभ्यः पुरुषेभ्यश्च नः अस्माकं संबन्धिभ्यः शिवः सुखकरः अस्तु भवतु ॥ हे देवाः इह अस्मिन् गृहे युष्मदनुग्रहाद् अयं कपोतः पक्षी नः अस्मान् मा हिंसीत् मा बाधिष्ट ॥

पक्षोंसे युक्त आयुध हमको न मारे, और वह पचनशालाके अग्नि रखनेके स्थानमें वा दावाग्निके विचरनेके स्थान-व्याप्त वन में पैरोंको फैलावे । और वह गौओंके लिये तथा हमारे सम्बंधी पुरुषोंके लिये सुखद हो । हे देवताओं ! आपके अनुग्रहसे यह कपोत पक्षी हमको पीड़ा न देवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥

ऋचा । कपोतम् । नुदत । प्रऽनोदम् । इषम् । मदन्तः । परि । गाम् । नयामः ।

सम्ऽलोभयन्तः । दुःऽइता । पदानि । हित्वा । नः । ऊर्जम् । प्र । पदात् । पथिष्ठः ॥ १ ॥

हे देवाः ऋचा अनेन मन्त्रेण कपोतम् कपोताख्यं पक्षिणं प्रनोदम् प्रकर्षेण नोदनीयं प्रेरणीयं नुदत अस्मद्गृहात् प्रेरयत ।

वयं च इषम् अन्नं प्राप्य मदन्तः तृप्ताः सन्तः गां परि नयामः परितः सर्वतः संचारयामः । गोसंचारणेन शान्तिं कुर्म इत्यर्थः । किं कुर्वन्तः । दुरिता दुरितानि दुर्गतिनिमित्तानि पदानि कपोतस्य पादनिधानस्थानानि संलोभयन्तः सम्यक् प्रमार्जयन्तः ॥ स च नः अस्माकम् ऊर्जम् बलकरं पचनशालास्थम् अन्नं हित्वा त्यक्त्वा पतिष्ठः पततां पक्षिणां श्रेष्ठः सन् प्र पतात् प्रपतेत् प्रगच्छतु । ❀ पत्लृ गतौ । अस्मात् लेटि आडागमः । पतिष्ठ इति । अस्मादेव तृजन्ताइ आविशायनिक इष्ठन् । "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः❀

हे देवताओं ! भगाने योग्य कपोत नाम वाले पक्षीको इस मन्त्रसे आप हमारे घरसे भगाइये, हम भी अन्नको पाकर तृप्त होते हुए गौको चारों ओर घुमाते हैं । अर्थात् गौको घुमा कर शांति करते हैं । हम दुर्गतिके निमित्त कपोतके पैर रखनेके चिन्हों के स्थानोंको भली प्रकार मार्जित करते हुए शान्ति करते हैं वह कपोत हमारी पचनशालामें रक्खे हुए अन्नको छोड़ कर पक्षियों में श्रेष्ठ बनकर उड़ जावे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

परीमे३ग्निमर्षत परीमे गामनेषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

परि । इमे । अग्निम् । अर्षत । परि । इमे । गाम् । अनेषत ।
देवेषु । अक्रत । श्रवः । कः । इमान् । आ । दधर्षति ॥ २ ॥

इमे ऋत्विजः कपोतप्रवेशशान्त्यर्थम् अग्निं पर्यर्षत । परितो होमार्थं गृहे प्रापयन्नित्यर्थः ॥ तथा इमे गां पर्यनेषत परितो गृहम् अगमयन् ॥ तथा देवेषु अग्न्यादिषु श्रवः हविर्लक्षणम् अन्नम् अक्रत

अकृषत । एवं शान्तौ कृतायाम् इमान् अस्मदीयान् पुरुषान् को नाम हिंसकः आ दधर्षति आधृष्टान् बाधितान् करोति ॥

ये ऋत्विज कपोतप्रवेशकी शांतिके लिये होम करनेको घरमें अग्नि ले आये हैं। और ये गौको घरमें चारों ओर घुमा रहे हैं और अग्नि आदि देवताओंमें हविरूप अन्नको अर्पण कर रहे हैं। इस प्रकारकी शान्ति करने पर कौनसा हिंसक पुरुष हमको पीड़ा देसकता है ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । प्रथमः । प्रऽवतम् । आऽससाद । बहुऽभ्यः । पन्थाम् । अनुऽपस्पशानः ।
यः । अस्य । ईशे । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

यो यमो बहुभ्यः अन्येभ्यो देवेभ्यः प्रथमः प्रथमभावी मुख्यः सन् प्रवतम् प्रवणवन्तं पन्थाम् पन्थानं मार्गम् आससाद प्राप । किं कुर्वन् । अनुपस्पशानः अनुक्रमेण सर्वान् प्राणिनः स्पृशन् परिगणयन् । अयं अद्य मारयितव्यः अयं श्वः अयं परश्वः इत्येवम् आकलयन्नित्यर्थः । यो यमः अस्य द्विपदः पादद्वयोपेतस्य मनुष्यादेः प्राणिजातस्य ईशे ईष्टे यश्चास्य चतुष्पदः गवादेरीष्टे तस्मै यमाय मृत्यवे मृतिकारिणे देवाय नमो अस्तु नमस्कारो भवतु ॥

[इति तृतीयेऽनुवाके] प्रथमं सूक्तम् ॥

यह देवताओंमें मुख्य यमदेव अनुक्रमसे सब प्राणियोंको गिनते हुए, कि–यह आज मारने योग्य है यह कल मारने योग्य है फलोन्मुख मार्गमें आते हैं और जो यमदेव दो पैर वाले मनुष्य आदिके और चार पैर वाली गौ आदिके स्वामी हैं उन मृत्यु करने वाले यमदेवके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२०१) ॥

"अमून् हेतिः" इति तृचस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः। सूक्तं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

"देवा इमम्" इत्यृचा पौनसिरसवे मधुमन्थाभिमर्शनादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "देवा इमं मधुना संजितं यवम् इति पौनसिलं मधुमन्थं सहिरण्यं संपातवन्तम्" इति [कौ० ८. ७]॥

"यस्ते मदः" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां शमीलूनपापलक्षणशान्त्यर्थं शमीशल्केन शिरस्युद्वापयेत् । सूत्रितं हि । "यस्ते मद इति शमीलूनपापलक्षणयोः शमीशमकेनाभ्युक्ष्य वापयत्यधिशिरः" इति [कौ० ४. ७] ॥

"आयं गौः" इति तृचेन पृश्निसवे गोरभिमर्शनसंपातादीनि कर्माणि कुर्यात् । "आयं गौः पृश्निः [६. ३१] अयं सहस्रम् [७. २२]इति पृश्नि गाम्" इति [कौ० ८.७] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा आधाने आहितस्य आहवनीयाग्नेः अनेन तृचेन उपस्थानं कुर्यात् । "आहितम् आहवनीयम् आयं गौरित्युपतिष्ठते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० २. २]॥

द्वादशाहे अविवाक्येहनि मानसस्तोत्रम् अनेन तृचेन अनुमन्त्रयेत ॥

आयं गौरिति चानुमन्त्रयते" इति वैतानं सूत्रम् [वै०६. २]॥

'अमून् हेतिः' इस तीन ऋचा वाले सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है । सूक्त भी वहाँ ही कह दिया है ।

पौनसिरसवमें 'देवा इमम्' इस ऋचासे मधुमन्थका अभिमर्शन आदि कर्म करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"देवा इमं इति मधुना सञ्जितं यवम् इति पौनसिलं मधुमन्थं सहिरण्यं सम्पातवन्तम्" (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

'यस्ते मदः' इन दो ऋचाओंसे शमीलवनपापलक्षणकी शान्तिके लिये शमीवल्कशसे शिर पर उद्वापन करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यस्ते मद इति शमीलूनपापलक्षणयोः शमीशमकेनाभ्युद्य वापयत्यधिशिरः" (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

"आयं गौः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पृश्निसवमें गौका अभिमर्शन सम्पातन आदि कर्म करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–आयं गौः पृश्नि ः(६ । २१) अयं सहस्रम् (७ । २३) इति पृश्निं गाम्" (कौशिकसूत्र ८ । ७)

तथा आधानमें आहित आहवनीय अग्निका इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे उपस्थान करे इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि–"आहितं आहवनीयं आयं गौरित्युपतिष्ठते" (वैतानसूत्र २ । २) ॥

द्वादशाहके अविवाक्यदिनमें मानसस्तोत्रका इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि–आयं गौरिति चानुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र ६ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्

यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

अमून् । हेतिः । पतत्रिणी । नि । एतु । यत् । उलूकः । वदति । मोघम् । एतत् ।

यत् । वा । कपोतः । पदम् । अग्नौ । कृणोति ॥ १ ॥

अमून् दूरे दृश्यमानान् अस्मदीयान् शत्रून् पतत्रिणी पक्ष्यात्मिका हेतिः नि एतु नितरां गच्छतु । उलूकः घूको यत् अशोभनं वदति एतत् मोघम् निर्वीर्यं भवतु । वाशब्दः अप्यर्थे । कपोतः कपोताख्यः पक्षी अशुभसूचनाय यत् पदम् अग्नौ पचनाग्निसमीपे कृणोति करोति । तदपि निर्वीर्यं भवत्वित्यर्थः ॥

इन दूर दीखते हुए शत्रुओं पर यह पक्ष वाला आयुध भली प्रकार पहुँचे । यह जो उल्लू अशोभन वाणी बोल रहा है, यह निर्वीर्य होवे और यह कबूतर पक्षी अशुभको सूचित करनेके लिये पचनाग्निके समीपमें पैरोंको धर रहा है, यह भी निर्वीर्य होवे १

द्वितीया ॥

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑ ।
क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

यौ । ते॒ । दू॒तौ । निः॒ऽऋ॒ते॒ । इ॒दम् । आ॒ऽइ॒तः । अप्र॑ऽहितौ । प्रऽहि॑तौ । वा॒ । गृ॒हम् । नः॒ ।

क॒पो॒त॒ऽउ॒लू॒काभ्या॑म् । अप॑दम् । तत् । अ॒स्तु ॥ २ ॥

हे निर्ऋते पापदेवते ते त्वदीयौ कपोतोलूकात्मकौ यौ दूतौ अप्रहितौ त्वया अप्रेषितौ प्रहितौ वा प्रेषितौ वा नः अस्माकं इदं गृहम् एतौ आगतौ तद् गृहं ताभ्यां कपोतोलूकाभ्याम् अपदम् अनाश्रयभूतम् अस्तु भवतु ॥

हे पापदेवता निर्ऋते ! ये कपोत और उलूक तेरे दूत हैं ये तेरे भेजे हुए वा न भेजे हुए हमारे घर आये हों तब भी यह घर कपोत और उलूकोंका अनाश्रय हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा संसद्यात्

पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम् ।

यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रति-
चाकशान् ॥ ३ ॥

अवैरऽहत्याय । इदम् । आ । पपत्यात् । सुऽवीरतायै । इदम् । आ । ससद्यात् ।

पराङ् । एव । परा । वद । पराचीम् । अनु । सम्ऽवतम् ।

यथा । यमस्य । त्वा । गृहे । अरसम् । प्रतिऽचाकशान् । आभू-
कम् । प्रतिऽचाकशान् ॥ ३ ॥

इदं कपोतोलूकजनितं दुर्निमित्तम् अवीरहत्यायै अवीरहननाय अस्मदीयानां वीराणाम् अहिंसनाय आ पपद्यात् आपद्यताम् । अपकम्पताम् इत्यर्थः ॥ तथा अस्माकं सुवीरतायै शोभनवीरसद्भावाय इदं दुर्निमित्तं परामेव परावतम् । परावत् इति दूरनाम । अत्यन्तदूरदेशम् पराचीम् पराङ्मुखम् अपरावृत्तं संवतम् संभासम् अनुलक्ष्य आ ससद्यात् आसीदतु प्राप्नोतु ॥ हे कपोतात्मक दूत यमस्य स्वामिनो गृहे त्वा त्वां यथा येन प्रकारेण अरसम् निःसारं प्रतिचाकशान् प्रतिपश्येयुः तत्रत्या जनाः तथा आभूकम् आगतवन्तमेव केवलं त्वां प्रतिचाकशान् प्रतिपश्येयुः ॥

यह कपोत और उल्लूसे हुआ दुश्चिन्ह हमारे वीरोंकी अहिंसा करने वाला होजाय । तथा हमारे यहाँ शोभन वीरोंके होनेके लिये यह दुर्निमित्त दूरदेशमें पराङ्मुख होकर न लौटनेके भावको

लक्ष्यमें रख कर प्राप्त हो । हे कपोतरूप यमके दूत ! जिस प्रकार तेरे स्वामी यमके घरमें तहाँके प्राणी तुझको निःसार देखें (वैसा हो) तुझे केवल आता हुआ ही देखें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥

देवाः । इमम् । मधुना । सम्ऽयुतम् । यवम् । सरस्वत्याम् । अधि । मणौ । अचर्कृषुः ।

इन्द्रः । आसीत् । सीरऽपतिः । शतऽक्रतुः । कीनाशाः । आसन् । मरुतः । सुऽदानवः ॥ १ ॥

मधुना मधुररसेन क्षौद्रेण वा संजितम् संमासं यवम् दीर्घशूकम् इमं धान्यविशेषं सरस्वत्याम् अधि सरस्वत्याख्याया नद्याः समीपे मणौ मनुष्यजातौ देवाः अचर्कृषुः कृतवन्तः । तदानीं कर्षणेन भूमौ तद् धान्यम् उत्पादयितुं शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः हलस्याधिष्ठाता स्वामी आसीत् । सुदानवः शोभनदाना मरुतः कीनाशाः कर्षका आसन् ॥

मधुर रससे वा शहदसे प्राप्त हुए यवको सरस्वती नदीके समीपमें देवताओंने मनुष्ययोंमें दिया, उस समय जोत करके भूमिमें उस धान्यको उपजानेके लिये शतक्रतु इन्द्र हलके अधिष्ठाता बने थे और शोभन दान वाले मरुत् किसान बने थे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥

यः। ते। मदः। अवऽकेशः। विऽकेशः। येन। अभिऽहस्यम्। पुरुषम्। कृणोषि।
आरात्। त्वत्। अन्या। वनानि। वृक्षि। त्वम्। शमि। शतऽवल्शा। वि। रोह ॥ २ ॥

हे शमि ते तव संबन्धी [यो] मदः हर्षः अवकेशः अवमतकेशोत्पादकः विकेशः केशविगमनहेतुश्च भवति। येन मदेन अभिहस्यम् अभितो हसनीयं पुरुषं कृणोषि करोषि ॥ अहमपि त्वत्तः अन्या अन्यानि त्वद्व्यतिरिक्तानि आरात् दूरवर्तीनि वनानि वृक्षि वृश्चामि। हे शमि त्वं शतवल्शा शतशाखा सती वि रोह विविधं प्ररूढा भव ॥

हे शमी! तेरा जो मद है वह अवमत केशोंका उत्पादक और केशोंके बढ़नेका हेतु होता है, (जिस) उस मदसे तू पुरुषको चारों ओर हँसने योग्य कर देता है। मैं भी तेरे अतिरिक्त दूरके जितने वृक्ष हैं उनको काटता हूँ। हे शमि! तू सैंकड़ों शाखा वाली होकर अनेक प्रकारसे बढ़ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

बृहत्ऽपलाशे । सुऽभगे । वर्षऽवृद्धे । ऋतऽवरि ।

माताऽइव । पुत्रेभ्यः । मृड । केशेभ्यः । शमि ॥ २ ॥

हे बृहत्पलाशे ! बृहन्ति महान्ति समधिकानि पलाशानि पर्णानि यस्याः सा बृहत्पलाशा । हे सुभगे सौभाग्यकारिणि हे वर्षवृद्धे वर्षेणैव वृद्धे । अपुरुषप्रयत्नसिद्धे इत्यर्थः । हे ऋतावरि । ऋतम् उदकं सत्यं यज्ञो वा तद्वति । ❀ ऋतशब्दात् "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप् । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ ❀ । एवंभूते हे शमि पुत्रेभ्यो मातेव केशेभ्यो मृल मृडय । यथा माता पुत्रान् अभिवर्धयति तथा केशान् वर्धयेत्यर्थः ॥

हे बड़े २ पत्तों वाली सौभाग्यकारिणी, पुरुषके प्रयत्नके बिना वर्षाके जलसे ही बढ़ने वाली जलमयी ओषधे शमी ! माता जैसे पुत्रोंको सुख देती है तिसी प्रकार तू केशोंको सुख दे । अर्थात् जैसे माता पुत्रोंको बढ़ाती है तैसे केशोंको बढ़ा ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।

पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः ।

पितरम् । च । प्रऽयन् । स्वः ॥ १ ॥

गौः गमनशीलः पृश्निः प्राष्टवर्णो व्याप्ततेजा अयं सूर्यः आ अक्रमीत् आक्रान्तवान् । उदयाद्रिशिखरम् इति शेषः । आक्रम्य च पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि परिदृश्यमानः मातरम् सर्वस्य भूतजातस्य जननीं भूमिम् असदत् स्वरश्मिभिर्व्याप्नोत् । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ्

आदेशः ❀ । ततः पितरम् वृष्टिलक्षणस्य रेतसो निषेकेण सर्वस्य जगत उत्पादकं स्वः स्वर्लोकम् चकाराद् अन्तरिक्षं च प्रयन् प्र-गच्छन् । पश्चाद् व्याप्नोतीत्यर्थः । स एव वृष्ट्युदकलक्षणस्य अमृतस्य दोहनाद् गौरित्युच्यते ॥

यह तेजसे व्याप्त गमनशील सूर्य उदयाचल पर आगए हैं और इन्होंने उदयाचल पर चढ़ पूर्वदिशामें दीख कर सब प्राणियोंकी जननी भूमिको अपनी किरणोंसे ढक दिया है । तदनन्तर इन्होंने चल कर वृष्टिरूप वीर्यको सींचनेसे सब जगत्के उत्पादक पिता स्वर्लोक और अन्तरिक्षको व्याप्त कर लिया है । यही वृष्टिजल-रूप अमृतका दोहन करनेसे गौ कहलाते हैं ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः ।
व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥

अन्तः । चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतः ।
वि । अख्यत् । महिषः । स्वः ॥ २ ॥

प्राणात् प्राणनव्यापाराद् अनन्तरम् अपानतः अपाननव्यापारं कुर्वतः अस्य प्राणिजातस्य शरीरमध्ये मुख्यप्राणात्मना रोचना रोचमाना सूर्यप्रभा अन्तः मध्ये चरति वर्तते । महिषः । महन्नामैतत् । महान् अधिभूतं वर्तमानः स्वः स्वर्गोपलक्षितम् उपरितनं समस्तं लोकं व्यख्यत् विचष्टे प्रकाशयति । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा । छान्दसो लुङ् । "अस्यतिवक्ति०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

प्राणन व्यापारके अनन्तर अपानके व्यापारको करने वाले इन प्राणियोंके शरीरके मध्यमें मुख्यप्राणरूपसे दमकती हुई सूर्यकी प्रभा विचरती रहती है । अधिभूतरूपसे वर्तमान महान् (सूर्य-देव) स्वर्ग आदि ऊपरके समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हैं ।२

नवमी ॥

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत्।
प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ २ ॥

त्रिंशत् । धाम । वि । राजति । वाक् । पतङ्गः । अशिश्रियत् ।
प्रति । वस्तोः । अहः । द्युऽभिः ॥ २ ॥

वस्तोः वासरस्य अहोरात्रस्य अवयवभूतानि त्रिंशन्मुहूर्तात्मकानि धाम धामानि स्थानानि । अहशब्दः अवधारणे । तस्यैव सूर्यस्य द्युभिः दीप्तिभिः प्रति वि राजति विराजन्ते प्रतिक्षणं विशेषेण दीप्यन्ते । ❁ व्यत्ययेन एकवचनम् ❁ ॥ तथा वाक् त्रयीरूपा पतङ्गः । ❁ विभक्तिव्यत्ययः ❁ । पतङ्गं पतनशीलं पक्षिवच्छीघ्रगामिनं सूर्यम् अशिश्रियत् आश्रित्य वर्तते । ❁ "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०" इति च्लेश्चङ् आदेशः ❁ । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते" इति तैत्तिरीयकम् [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे
षष्ठकांडे तृतीयोऽनुवाकः ॥

दिन और रात्रिके अवयवभूत तीस मुहूर्तरूप अंश इन सूर्यदेवकी किरणोंसे ही प्रतिक्षण विशेषरूपसे दमकते रहते हैं । तथा वेदत्रयीरूप वाणी पक्षीकी समान शीघ्रगामी सूर्यका आश्रय लेकर रहती है † ॥ २ ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डके तीसरे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त
और तीसरा अनुवाक समाप्त (२०४) ॥

---

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १२ । ६ । १ में लिखा है, कि—"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते ॥

चतुर्थेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "अन्तर्दावे" इति प्रथमं सूक्तम्। तत्र आद्येन तृचेन पिशाचरक्षोजनितभयनिवृत्तये सूत्रोक्तप्रकारेण अग्निं त्रिः प्रदक्षिणं कृत्वा पुरोडाशं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अन्तर्दाव इति समन्तम् अग्नेर्जपंस्त्रिः परिक्रम्य पुरोडाशं जुहोति" इति [कौ० ४. ७]॥

"यस्येदमा रजः" इति तृचेन कृषिकर्मणि क्षेत्रं गत्वा युगलाङ्गलं बध्नाति। अनेनैव तृचेन दक्षिणम् अनड्वाहं युगे युनक्ति। ततः कर्ता इमं तृचं जपन् प्राचीनं कृषन् तृचसमाप्त्यनन्तरं हालिकाय हलं प्रयच्छेत्। तेन तिसृषु सीतासु कृष्टासु उत्तरसीतान्ते अग्निम् उपसमाधाय पुरोडाशेन इन्द्रं स्थालीपाकेन अश्विनौ च अनेन तृचेन यजन् तस्यामेव सीतायां संपातान् आनयेत्। सूत्रितं हि। "यस्येदमा रज इत्यायोजनानाम् अप्ययः" इति [कौ०२.६]॥

तथा सर्वफलकामः अनेन तृचेन इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। "यस्येदमा रजः [६. ३३] अथर्वाणम् [७. २] अदितिर्द्यौरदितिः [७. ६]" इत्यादि सूत्रम् [कौ० ७. १०]॥

तथा भूमिकर्षणे लाङ्गलसंश्लेषलक्षणोत्पाते तच्छान्त्यर्थं क्रियमाणे शान्त्युदके एतं तृचम् आवपेत्। "अथ यत्रैतल्लाङ्गले संसृजतः" इति प्रक्रम्य "अत्र शुनासीराण्यनुयोजयेद्" इति सूत्रितम् [कौ० १३. १४]॥

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'अन्तर्दावे यह पहिला सूक्त है। इनमें तीन ऋचा वाले पहिले सूक्तसे पिशाच और राक्षसोंसे उत्पन्न हुए भयकी निवृत्तिके लिये सूत्रोक्तरीतिसे अग्नि की तीन वार परिक्रमा करके पुरोडाशको होमे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अन्तर्दाव इति समन्तम् अग्नेर्जपंस्त्रिः परिक्रम्य पुरोडाशं जुहोति" (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

"यस्येदमा रजः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे कृषिकर्मके समय

क्षेत्रमें जाकर युगलाङ्गल (जुए और हल) में बाँधे। तथा इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे दाहिनी ओर जोते जाने वाले बैलको जुएमें जोते। तदनन्तर कर्ता इस तीन ऋचा वाले सूक्तको जपता हुआ पूर्वदिशाकी ओरके खेतको जोते और इस सूक्तकी समाप्ति के अनन्तर हलवाहेको हल देदेय। और जब तीन रेखायें खिंच जावें तब उत्तरकी रेखाके अन्तमें पासमें अग्निको रख पुरोडाशसे इन्द्रकी और स्थालीपाकसे अश्विनीकुमारोंकी इस तृचसे पूजा करता हुआ उसी रेखामें सम्पातोंको लावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यस्येदमा रज इत्यायोजनानाम् अप्ययः" (कौशिकसूत्र २। ६)॥

तथा सब प्रकारके फलोंको चाहने वाला इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे इन्द्रका पूजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिक-सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यस्येदमा रजः (६। ३३) अथर्वाणम् (७। २) अदितिर्द्यौरदितिः (७। ६)० (कौशिक-सूत्र ७। १०)॥

तथा भूमिको जोतनेमें हलके अटकनेरूप उत्पातमें उसकी शान्तिके लिये किये जाते हुए शान्त्युदकमें इन तीन ऋचाओंको पढ़े। इस विषयमें कौशिकसूत्र १३। १४ "अथ यत्रैतल्लाङ्गले संसृजतः" से "अत्र शुनासीराण्यनुयोजयेत्" तक देखना चाहिये।

तत्र प्रथमा ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे॒३॑तद् या॑तुधान॒क्षय॑णं घृ॒तेन॑।
आ॒राद् रक्षां॑सि॒ प्रति॑ दह॒ त्वम॑ग्ने॒ न नो॑ गृ॒हाणा॒मुप॑
ती॒तपासि ॥ १ ॥

अ॒न्तः॒ऽदा॒वे। जु॒हु॒त। सु। ए॒तत्। या॒तु॒धा॒न॒ऽक्षय॑णम्। घृ॒तेन॑।

आरात् । रक्षांसि । प्रति । दह । त्वम् । अग्ने । न । नः । गृहा-

णाम् । उप । तीतपासि ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः यातुधानक्षयणम् रक्षोनिबर्हणम् एतत् हविः घृतेन सह दावे दावाग्नौ अन्तः मध्ये [सु] सुष्ठु जुहुत ॥ हे अग्ने आहुत्याधारभूतस्त्वं रक्षांसि अस्मदुपद्रवकारिणो राक्षसान् आरात् दूरे प्रति दह भस्मसात् कुरु ॥ नः अस्माकं गृहाणां नोप तीतपासि उपतापकरो मा भूः ॥

हे ऋत्विजों ! राक्षसोंका संहार करने वाली इस हविको घृत के साथ दावाग्निमें भली प्रकार होमो । हे अग्ने !.(आप आहुतिके आधाररूप हैं अतः) उपद्रव करनेवाले राक्षसोंको दूरसे ही भस्म कर दीजिये । और हमारे घरोंको सन्तप्त करने वाले न बनिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोपि शृणातु

यातुधानाः ।

वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

रुद्रः । वः । ग्रीवाः । अशरैत् । पिशाचाः । पृष्टीः । वः । अपि ।

शृणातु । यातुऽधानाः ।

वीरुत् । वः । विश्वतःऽवीर्या । यमेन । सम् । अजीगमत् ॥ २ ॥

हे पिशाचाः पिशिताशनाः वः युष्माकं ग्रीवाः गलावयवान् रुद्रः संहर्ता देवः [अशरैत्] छिनत्तु ॥ हे यातुधानाः वः युष्माकं पृष्टीः पार्श्वास्थीनि स एव रुद्रः अपि शृणातु हिनस्तु ॥ विश्व-

तोवीर्या सर्वतः प्राप्तवीर्या वीरुत् ओषधिश्च वः युष्मान् यातुधानान् यमेन मृत्युना सम् अजीगमत् संगमयतु ॥

हे मांसभक्षक पिशाचों ! संहार करने वाले रुद्रदेव तुम्हारे गलोंको काट डालें । और हे यातुधानों ! तुम्हारी पसलीकी हड्डियोंको भी वही रुद्रदेव काट डालें और वीर्यमयी औषधि भी तुमको यमके पास पहुँचा देय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अभ॑यं मित्रावरुणावि॒हास्तु॒ नो॒ऽर्चिषा॒त्रिणो॑ नुदतं प्र॒तीचः॑ ।

मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त॒ मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम् ॥ ३ ॥

अभ॑यम् । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । इ॒ह । अ॒स्तु॒ । नः॒ । अ॒र्चिषा॑ । अ॒त्रिणः॑ । नु॒द॒त॒म् । प्र॒तीचः॑ ।

मा । ज्ञा॒तार॑म् । मा । प्र॒ति॒ऽस्थाम् । वि॒द॒न्त॒ । मि॒थः । वि॒ऽघ्ना॒नाः । उप॑ । य॒न्तु॒ । मृ॒त्युम् ॥ ३ ॥

हे मित्रावरुणौ नः अस्माकम् इह अस्मिन् देशे अभयम् भयराहित्यम् अस्तु ॥ अर्चिषा तेजसा अत्त्रिणः अदनशीलान् राक्षसान् प्रतीचः प्रत्यङ्मुखान् अस्मत्तः पराङ्मुखान् नुदतम् निरस्यतम् ॥ ते च निरस्ताः ज्ञातारम् अभिज्ञं स्वामिनं मा विदन्त मा लभन्ताम् । तथा प्रतिष्ठाम् आवासभूमिं मा लभन्ताम् । निराश्रया भवन्त्वित्यर्थः ॥ ते च मिथः परस्परं विघ्नानाः विहन्यमानाः मृत्युम् मरणम् उप यन्तु उपगच्छन्तु ॥

२०

हे मित्र और वरुण देवताओं ! इस देशमें हमको निर्भयता रहे, आप अपने तेजसे मांसभक्षी राक्षसोंको हमसे पराङ्मुख करके भेज दीजिये और निकाले हुए उनको कोई जानकार स्वामी न मिले तथा उनको रहनेके लिये भूमि भी न मिले और वे परस्परमें मारकाट करके मर जावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः ।

इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ १ ॥

यस्य । इदम् । आ । रजः । युजः । तुजे । जनाः । वनम् । स्वः ।

इन्द्रस्य । रन्त्यम् । बृहत् ॥ १ ॥

यस्येन्द्रस्य इदं रजः रञ्जकं ज्योतिः तुजे तोजनाय शत्रूणां हिंसनाय आ युजः आयोजयति आयुक्तं संनद्धं करोति ,तस्य इन्द्रस्य रन्त्यम् रमणीयं बृहत् परिवृढं वनम् वननीयं स्वः सुष्ठु भासव्यं निरतिशयसुखसाधनं वा तेजः हे जनाः । यूयं भजध्वम् इति शेषः। ❀ रज इति । रञ्ज रागे इत्यस्माद् असुनि "रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्" इति उपधालोपः । युज इति । युजिर् योगे । अस्माच्छान्दसे लुङि च्लेः अङ् आदेशः । तुजे इति । तुज हिंसायाम् । अस्मात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । स्वरिति । सुपूर्वाद् अर्तेर्विच् । रन्त्यम् इति । रमु क्रीडायाम् । अस्मात् "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इति क्तिच् । "न क्तिचि दीर्घश्च" इति अनुनासिकलोपदीर्घयोरभावः। अत एव अन्यत्राम्नातम् । "रन्तिर्नामासि दिव्यो गन्धर्वः" इति [तै०आ०४.११.५]। तत्रभवं ज्योतिः रन्त्यम् ❀ ॥

हे मनुष्यों ! जिन इन्द्रदेवकी यह रँगने वाली रञ्जक ज्योति (रज) शत्रुओंकी हिंसा करनेके लिये (पुरुषको) उद्यत करती

है, उन इन्द्रदेवके रमणीय परम सुखके साधन सेवनीय तेजका तुम सेवन करो ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः ।

पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः ॥ २ ॥

न । आऽधृषे । आ । दधृषते । धृषाणः । धृषितः । शवः ।

पुरा । यथा । व्यथिः । श्रवः । इन्द्रस्य । न । आऽधृषे । शवः २

स च इन्द्रः नाधृषे नाधृष्यते अन्यैर्नाभिभूयते । स च धृषाणः धृष्टः सन् [धृषितः] । ❀ धृषित इति कर्तरि निष्ठा लिङ्गव्य-त्ययः ❀ । धर्षकं [शवः] बलम् आ दधृषते आधर्षयति अभि-भवति । पुरा वृत्रासुरवधकाले व्यथि व्यथाकारि श्रवः श्रूयमाणम् इन्द्रस्य शवः बलं यथा नाधृषे अन्यैर्नाधृष्यत । तथेदानीमपीति संबन्धः ॥

वह इन्द्रदेव दूसरोंसे तिरस्कृत नहीं होते हैं, किंतु धृष्ट बनतेहुए दबाने वाले तेजसे दबा देते हैं । पहिले वृत्रासुरवधके समय इन्द्र-देवका व्यथा देने वाला सुननेमें आने वाला बल किसीसे दब नहीं सका था, इस समय भी वह उसी प्रकार अधृष्य है ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् ।

इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

सः । नः । ददातु । ताम् । रयिम् । उरुम् । पिशङ्गऽसंदृशम् ।

इन्द्रः । पतिः । तुविऽतमः । जनेषु । आ ॥ ३ ॥

स इन्द्रः नः अस्मभ्यं तं रयिम् धनं दधातु प्रयच्छतु । कीदृशम् । उरुम् प्रभूतं पिशङ्गसदृशम् पीतवर्णाभं वर्णप्रकर्षयुक्तम् । उत्कृष्टं काञ्चनम् इत्यर्थः । कस्मात् एवम् उच्यते इति तत्राह इन्द्रः पतिरिति । स इन्द्रो जनेष्वा । ❀ आकारः समुच्चये ❀ । सर्वेषु च जनेषु देवमनुष्यादिषु पतिः अधिपतिः इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोः कर्ता । तुविष्टमः बहुतमः प्रभूततमः । सर्वप्रकारोत्कर्षवान् इत्यर्थः ॥

[इति] षष्ठकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वह इन्द्रदेव हमको पीतवर्णकी समान आभा वाले (सुवर्णरूप) बहुतसे धनको दें (हम ऐसा क्यों कहते हैं, इसका कारण यह है, कि–) वह इन्द्रदेव देवता और मनुष्य आदिके अधिपति हैं अर्थात् उनकी इष्टप्राप्तिके और अनिष्ट वस्तुको हटानेके कर्ता हैं और सब प्रकारकी श्रेष्ठतासे युक्त हैं ॥ ३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त (२०१) ॥

"प्राग्नये वाचम्" इति पञ्चर्चेन रक्षोग्रहजनितपीडानिवृत्तये समिदाज्यशष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रितं हि । "प्राग्नये [६. ३४] प्रेतः [७. ११६. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ४. ७] ॥

"वैश्वानरो न ऊतये" [६. ३५] "ऋतावानं वैश्वानरम्" [६. ३६] इति तृचाभ्यां सर्वभैषज्यकर्मणि उदकहरिद्रासर्पिरादिकपायनद्रव्याणि अभिमन्त्र्य पाययेत् । "वैश्वानरीयाभ्यां पायनम्" इति हि सूत्रम् [कौ० ४. ७] ॥

अग्निचयने "वैश्वानरो न ऊतये" इति तृचेन पुरीषाच्छन्नां चितिं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "वैश्वानरो न ऊतय इति [चितिंचितिं] पुरीषाच्छन्नाम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. २] ॥

"प्राग्नये वाचम्" इस पाँच ऋचा वाले सूक्तसे राक्षसोंके भय से उत्पन्न हुई पीड़ाको निवृत्त करनेके लिये समिधा घृत पूरी

आदि तेरह द्रव्योंकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"मामग्ने (६ । ३४) मेतः (७ । ११६ । २) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

"वैश्वानरो न ऊतये" इस छठे काण्डके पैंतीसवें और "ऋतावानं वैश्वानरम्" इस छठे काण्डके छत्तीसवें इन दोनों सूक्तोंसे सब प्रकारकी चिकित्साके कर्ममें जल हल्दी घी आदि पीनेके द्रव्योंको अभिमंत्रित करके पिलावे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वैश्वानरीयाभ्यां पायनम्" (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

अग्निचयनमें ब्रह्मा "वैश्वानरो न ऊतये" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पुरीषाच्छन्ना चितिका अनुमंत्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वैश्वानरो न ऊतय इति चितिंचितिं पुरीषाच्छन्नाम्" ॥ (वैतानसूत्र ५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभायं क्षितीनाम् ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

प्र । अग्नये । वाचम् । ईरय । वृषभाय । क्षितीनाम् ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ १ ॥

हे स्तोतः अग्नये रक्षसां हन्त्रे देवाय स्तुतिलक्षणां वाचं प्रेरय प्रकर्षेण उच्चारय । कीदृशाय । क्षितीनां मनुष्याणां वृषभाय कामाभिवर्षकाय । सः अग्निः नः अस्मान् द्विषः शत्रून् रक्षःपिशाचादीन् अति पर्षत् अतिपारयतु । ❀ पृ पालनपूरणयोः अस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् ❀ ॥

मनुष्योंके कामोंकी वर्षा करने वाले, राक्षसोंके संहारक अग्नि-

देवकी स्तुति करने वाली वाणीको हे स्तोतः ! तुम उच्चारण करो। वह अग्निदेव हमको राक्षस पिशाच आदि द्वेष करनेवालों के पार उतार देयँ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

यः । रक्षांसि । निऽजूर्वति । अग्निः । तिग्मेन । शोचिषा ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ २ ॥

योग्निः तिग्मेन तीक्ष्णेन शोचिषा तेजसा रक्षांसि निजूर्वति निहिनस्ति । स न इत्यादि गतम् ॥

जो अग्निदेव तीक्ष्ण तेजसे राक्षसोंका संहार करते हैं, वह हमें शत्रुओंसे पार लगावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

यः । परस्याः । पराऽवतः । तिरः । धन्व । अतिऽरोचते ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ३ ॥

योग्निः परस्याः परावतः अत्यन्तदूरदेशाद्द धन्व मरुभूमिं जलवर्जितं देशं तिरः अन्तर्धाय अतिरोचते अतिशयेन दीप्यते । स न इत्यादि [गतम्] ॥

जो अग्निदेव परम दूर देश जलशून्य मरुभूमिमें अन्तर्हित होकर अतिदीप्त होते हैं अर्थात् धूपसे झुलसते हुए रेतेके रूपमें

दमकते हैं, वह हमको राक्षस पिशाच आदि हमारे शत्रुओंसे हमको पार लगावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

योविश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

यः । विश्वा । अभि । विऽपश्यति । भुवना । सम् । च । पश्यति ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ४ ॥

योग्निः विश्वा भुवना विश्वानि भुवनानि अभि विपश्यति अभितः सर्वतो जाठररूपेण प्रदीपादिरूपेण वा विविधं पश्यति सं पश्यति च ऐकरूप्येण सूर्यात्मना प्रकाशयति । स न इत्यादि गतम् ॥

जो अग्निदेव सकल भुवनोंमें जाठराग्निरूपमें वा दीपक आदि के रूपमें अनेक प्रकारसे देखते हैं और एक सूर्यरूपसे प्रकाशित कर रहे हैं, वह अग्निदेव हमको राक्षस पिशाच आदि हमारे शत्रुओंसे हमको पार लगावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

यः । अस्य । पारे । रजसः । शुक्रः । अग्निः । अजायत ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ५ ॥

अस्य रजसः पार्थिवस्य लोकस्य पारे अवसाने पर्यवसानभूमौ अन्तरिक्षे यः शुक्रः निर्मलः सूर्यात्मकः अग्निरजायत उदपद्यत । स न इत्यादि गतम् ॥

इस भूलोकके पार अन्तरिक्षमें जो सूर्यात्मक निर्मल अग्नि उत्पन्न हुए हैं, वह हमको राक्षस पिशाच आदि शत्रुओंसे पार लगावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

वैश्वानरः । नः । ऊतये । आ । प्र । यातु । पराऽवतः ।
अग्निः । नः । सुऽस्तुतीः । उप ॥ १ ॥

वैश्वानरः विश्वनरहितः अग्निः नः अस्माकम् ऊतये रक्षणाय परावतः दूरदेशाद् आ प्र यातु अभिमुखं प्रगच्छतु । गत्वा च सोग्निः नः अस्माकं सुष्टुतीः शोभनस्तुतीः उप यातु उपगच्छतु ॥

सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले अग्निदेव हमारी रक्षाके लिये अति दूरदेशसे भी आवें, और हमारी शोभन स्तुतियोंको प्राप्त होवें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप ।
अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

वैश्वानरः । नः । आ । अगमत् । इमम् । यज्ञम् । सऽजूः । उप ।
अग्निः । उक्थेषु । अंहऽसु ॥ २ ॥

वैश्वानरोग्निः नः अस्मान् आगमत् आगच्छतु । आगत्य च अंहसु अभिगन्तव्येषु उक्थेषु अस्माभिः क्रियमाणेषु स्तुतशस्त्रेषु सजूः समानप्रीतिः सन् अस्मदीयम् इमं यज्ञम् उप गच्छतु ॥

वैश्वानर अग्निदेव हमारे पास आने लगें और आकर हमारे किये हुए स्तुतिशस्त्ररूप उक्थोंसे प्रसन्न होते हुए इस यज्ञमें आवें २

अष्टमी ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत् ॥ २ ॥

वैश्वानरः । अङ्गिरसाम् । स्तोमम् । उक्थम् । च । चक्लृपत् ।
आ । एषु । द्युम्नम् । स्वः । यमत् ॥ २ ॥

वैश्वानरोऽग्निः अङ्गिरसाम् महर्षीणां तत्कर्तृकं स्तोमम् स्तोत्रम् उक्थम् शस्त्रं च चक्लृपत् क्लृप्तं समर्थम् अकार्षीत् । एषु अङ्गिरःसु द्युम्नम् द्योतमानं यशः अन्नं वा स्वः सुष्ठु अरणीयं प्राप्तव्यम् आ यमत् आगमयत् । यद्वा द्युम्नम् द्योतमानं स्वः कर्मफलभूतं स्वर्गसुखं प्रापयद् इत्यर्थः ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

वैश्वानर अग्निदेवने अंगिरागोत्री महर्षियोंके स्तोम और शस्त्रनामक स्तुतिको समर्थ कर दिया है । और इन अङ्गिराओंमें प्रकाशमान यश और अन्नको भली प्रकार प्राप्त होनेकी रीतिसे स्थापित कर दिया है कर्मफल बने हुए प्रकाशमान स्वर्गसुखको प्राप्त करा दिया है ॥ २ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (२०८) ॥

"ऋतावानं वैश्वानरम्" इति तृचस्य सर्वरोगभैषज्यकर्मणि पूर्वतृचेन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

"उप प्रागात् सहस्राक्षः" इति तृचेन अभिचारजनितदोषनिवृत्तये अभिमन्त्रितायाः श्वेतमृत्तिकायाः शुने प्रदानम् संपातिताभिमन्त्रितपलाशमणिप्रदानम् इङ्गिडहोमं समिदाधानं वा कुर्यात् ॥ [कौ० ६, २] ॥

"यो नः शपात्" इत्यनया अभिचारकर्मणि विद्युद्धतवृक्षजा एकादश समिध आदध्यात् ॥ [कौ० ६, २] ॥

"ऋतावानं वैश्वानरम्" इस तीन ऋचा वाले सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है। सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।

"उप प्रागात् सहस्राक्षः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अभिचारके कारण उत्पन्न हुए दोषको हटानेके लिये अभिमन्त्रित श्वेत मट्टी (खड़िया) कुत्तेको देय, सम्पातित और अभिमंत्रित दारु की मणि (वृक्षके गुद पर होनेवाली गाँठ मध्यमें छिद्र करने पर मणि कहलाती है) को देय, इङ्गिड होम करे, वा समिदाधान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ६। २ का प्रमाण भी है।

'यो नः शपात्' इस ऋचासे अभिचारकर्ममें बिजलीसे ताड़ित वृक्षसे उत्पन्न हुई ग्यारह समिधाओंको रक्खे (कौशिकसूत्र ६।२)'

तत्र प्रथमा ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

ऋतऽवानम् । वैश्वानरम् । ऋतस्य । ज्योतिषः । पतिम् ।
अजस्रम् । घर्मम् । ईमहे ॥ १ ॥

ऋतावानम् । ऋतम् इति सत्यस्य उदकस्य यज्ञस्य वा नामधेयम् । तद्वन्तम् । ❀ "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप् ❀ । तथा ऋतस्य यज्ञात्मकस्य ज्योतिषः तेजसः पतिम् स्वामिनम् अजस्रम् अनुपरतं संततं घर्मम् दीप्यमानम् एवंभूतं वैश्वानरम् अग्निम् ईमहे ईयामहे उपसीदामः । उपास्महे इत्यर्थः । ❀ ईङ् गतौ । दैवादिकः । व्यत्ययेन श्यनो लुक् ❀ । यद्वा ।

❀ ईमहे इति याज्ञाकर्मसु पठितम् ❀ । अभिलषितं फलं याचामह इत्यर्थः ॥

यज्ञ वाले और यज्ञात्मक ज्योतिके स्वामी, कभी विरत न होने वाले सर्वदा दीप्यमान वैश्वानर अग्निकी हम उपासना करते हैं— हम उन अग्निदेवसे फलकी याचना करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत् सृजते वशी ।
यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥

सः । विश्वा । प्रति । चक्लृपे । ऋतून् । उत् । सृजते । वशी ।
यज्ञस्य । वयः । उत्ऽतिरन् ॥ २ ॥

सः वैश्वानरोग्निः विश्वाः सर्वाः प्रजाः प्रति चक्लृपे तत्तत् फलं प्रापयितुं समर्थो भवति । ❀ कृपू सामर्थ्ये । अस्माच्छान्दसो लिट् ❀ । स च वशी वशयिता स्वतन्त्रः सूर्यात्मना ऋतून् वसन्तादीन् कालावयवान् उत् सृजते उद्गतान् निर्मिमीते । किं कुर्वन् । यज्ञस्य संबन्धि वयः अन्नं हविर्लक्षणम् उत्तिरन् ऊर्ध्वं देवान् प्रापयन्॥

यह वैश्वानर अग्नि सब प्रजाओंको फल देनेमें समर्थ हैं और वह यज्ञसंबंधी अन्न देवताओंको प्राप्त कराते हुए स्वतंत्र सूर्यात्मारूपसे कालके अवयव वसन्त आदि ऋतुओंको निर्मित करते हैं २

तृतीया ॥

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अग्निः । परेषु । धामऽसु । कामः । भूतस्य । भव्यस्य ।

सम्ऽराट् । एकः । वि । राजति ॥ ३ ॥

परेषु उत्कृष्टेषु धामसु स्थानेषु अग्निः एक एव सम्राट् सम्यग् राजमानः भूतस्य उत्पन्नस्य भव्यस्य उत्पत्स्यमानस्य च कामः कामयिता कामप्रदो वा भूत्वा वि राजति विशेषेण दीप्यते ॥

श्रेष्ठ धामोंमें एक अग्नि ही सम्राट् होते हैं वह उत्पन्न होनें वाले, उत्पन्न हुए और पीछे उत्पन्न हुए कामों (इच्छाओं) को देकर अधिक दिपते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् ।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥ १॥

उप । प्र । अगात् । सहस्रऽअक्षः । युक्त्वा । शपथः । रथम् ।
शप्तारम् । अनुऽइच्छन् । मम । वृकःऽइव । अविऽमतः । गृहम् १

सहस्राक्षः इन्द्रः शपथः शापक्रियायाः कर्ता सन् रथं युक्त्वा अश्वाभ्यां संयोज्य उप अस्मत्समीपं प्रागात् । आगत्य च मम मदीयं शप्तारम् शापकारिणं शत्रुं जिघांसतु । तत्र दृष्टान्तः । अविमतः अवीनां स्वामिनः पुरुषस्य गृहं वृक इव । यथा वृकः आगत्य तदीयान् अवीन् हन्ति तद्वद् इत्यर्थः ॥

सहस्र नेत्रों वाले इन्द्र शापक्रियाके कर्ता बनते हुए रथको जोड़ कर हमारे पास आवें और आकर मुझको शाप देने वाले शत्रुको इस प्रकार मार डालें, कि—जिस प्रकार भेड़ोंके स्वामीके घरमें आकर भेड़िया उसकी भेड़ोंको मार डालता है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

परि णो वृङ्ग्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् ।

शुप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

परि । नः । वृङ्ग्धि । शपथ । हृदम् । अग्निःऽइव । दहन् ।

शप्तारम् । अत्र । नः । जहि । दिवः । वृक्षम्ऽइव । अशनिः २

हे शपथ नः अस्मान् परि वृङ्ग्धि परिहर मा बाधिष्ठाः । ह्रदम् शत्रुकुलम् अग्निरिव दहन् । भस्मसात् कुर्वन्नित्यर्थः । एवं च अत्र अस्मिन् देशे नः अस्माकं शप्तारम् शापकारिणं शत्रुमेव जहि नाशय । दिवः सकाशात् पतितोऽशनिः यथा वृक्षं निहन्ति तद्वद् इत्यर्थः ॥

हे शपथ ! तू हमको छोड़ दे बाधा मत दे, और जैसे अन्तरिक्षसे गिरती हुई अशनि वृक्षका संहार कर डालती है, इसी प्रकार तू इस देशमें जो शत्रुकुल हमको शाप देरहा है उसको भस्म कर ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

शुने । पेष्ट्रम्ऽइव । अवऽक्षामम् । तम् । प्रति । अस्यामि । मृत्यवे ३

यः शत्रुः अशपतः अशापकारिणो नः अस्मान् शपात् परुषभाषणेन शपेत् । यश्च [शपतः] शापकारिणो नः अस्मान् शपात् शपेत् । तम् उभयविधं शत्रुं शुने कौलेयकाय पेष्ट्रम् पिष्टमयं खाद्यमिव अवक्षामम् अवदग्धं कृत्वा मृत्यवे यमाय प्रत्यस्यामि प्रतिक्षिपामि । ❀ अवपूर्वात् क्षायतेः "क्षायो मः" इति निष्ठातकारस्य मकारः ❀ ॥   [इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

जो शत्रु शाप (कठोर भाषण) न देने वाले हमको शाप दे रहा है और जो कठोर भाषण करते समय हमें शाप देय ऐसे दोनों प्रकारके शत्रुओंको जैसे कुत्तोंके सामने पिट्ठीकी कचौड़ी आदि डालते हैं, तैसे इस प्रयोगसे भस्म कर हम मृत्युके लिये फेंकते हैं ॥ २ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (२०९) ॥

"सिंहे व्याघ्रे [६. ३८] यशो हविः [६. ३९]" इति तृचाभ्यां वर्चस्कामः स्नातकसिंहव्याघ्रादीनां सूत्रोक्तानां सप्तानाम् अन्यतमस्य नाभिलोममणिं लाक्षाहिरण्याभ्यां वेष्टयित्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा आभ्यामेव तृचाभ्यां पालाशादिदशशान्तवृक्षशकलनिर्मितमणिं लाक्षाहिरण्यवेष्टितं संपात्य अभिमन्त्र्य वर्चस्कामो बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "लोमानि जतुना संनह्य जातरूपेणापिधाप्य सिंहे व्याघ्रे यशो हविरिति स्नातकसिंहव्याघ्रवृष्णिवस्तवृषभराज्ञां नाभिलोमानि दशानां शान्तवृक्षाणां शकलान् । एतयोः" इति [कौ० २. ४] ॥

तथा उत्सर्जनाख्ये कर्मणि आभ्यां तृचाभ्याम् आज्यं हुत्वा रसेषु संपातान् आनयेत् । सूत्रितं हि । "फल्गुनीषु द्वयान् रसान् उपसादयति" इति प्रक्रम्य "सिंहे व्याघ्रे [६. ३८] यशो हविः [६. ३९] यशसं मेन्द्रः [६. ५८]" इत्यादि "अग्नौ हुत्वा रसेषु संपातान् आनीय" इत्यन्तम् [कौ० १४. २] ॥

'सिंहे व्याघ्रे' इस छठे काण्डके अड़तीसवें और 'यशो हविः' इस छठे काण्डके उन्तालीसवें–इन दोनोंसे तेजको चाहने वाला स्नातक सिंह व्याघ्र आदि सूत्रमें कहे सातमेंसे एकके नाभिके लोमोंकी मणिको लाख और सुवर्णसे मढ़ कर सम्पातन और अभिमंत्रण करके बाँधे ।

तथा इन्हीं दोनों सूक्तोंसे ढाक आदि दश शान्तवृक्षोंके टुकड़ों से बनी हुई मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके तेजको चाहने वाला बाँधे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“लोमानि जतुना संनह्य जातरूपेणापिधाप्य सिंहे व्याघ्रे यशो हविरिति स्नातक-सिंहव्याघ्रबस्तवृष्णिवृषभराज्ञां नाभिलोमानि दशानां शान्त-वृक्षाणां शकलान्। एतयोः” इति (कौशिकसूत्र २।४)॥

तथा उत्सर्जन नाम वाले कर्ममें इन दोनों तृचोंसे घृतकी आहुति देकर रसोंमें सम्पातोंको लावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—“फल्गुनीषु द्वयान् रसान् उपसम्पादयति” इति प्रक्रम्य “सिंहे व्याघ्रे (६।३८) यशो हविः (६।३६) यशसंमेन्द्रः” (६।५८) इत्यादि “अग्नौ हुत्वा रसेषु सम्पा-तान् आनीय” इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र १४।२)॥

तत्र प्रथमा॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ १॥

सिंहे। व्याघ्रे। उत। या। पृदाकौ। त्विषिः। अग्नौ। ब्राह्मणे। सूर्ये। या।
इन्द्रम्। या। देवी। सुऽभगा। जजान। सा। नः। आ। एतु। वर्चसा। सम्ऽविदाना॥ १॥

सिंहे सहनशीले मृगेन्द्रे व्याघ्रे शार्दूले च या त्विषिः दीप्ति-

रस्ति उत अपि च पृदाकौ सर्पे अग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये च या दीप्ति-रस्ति त्विष्यात्मिका सुभगा सौभाग्ययुक्ता या देवी इन्द्रं जजान जनयामास। अत्र सिंहादिषु त्रिषु आक्रमणशक्तिरूपा त्विषिर्वि-वक्षिता अग्न्यादिषु त्रिषु दाहशापतापात्मिका। सा त्विष्यात्मिका देवी वर्चसा अस्मदभीप्सितेन तेजसा संविदाना संजानाना ऐक-मत्यं गता नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु ॥

सहनशील मृगेन्द्रमें, व्याघ्रमें और सर्पमें जो आक्रमणरूप त्विषि (तेज) है, अग्निदेवमें जो दाहरूप त्विषि है, ब्राह्मणमें जो शापरूप त्विषि है, और सूर्यमें जो तापरूप त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषिदेवीने इन्द्रको उत्पन्न किया है। वह त्विषि-रूपा देवी हमारे अभिलषित तेजसे एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ २ ॥

या। हस्तिनि। द्वीपिनि। या। हिरण्ये। त्विषिः। अप्ऽसु। गोषु। या। पुरुषेषु।
इन्द्रम्। या। देवी। सुऽभगा। जजान। सा। नः। आ। एतु। वर्चसा। सम्ऽविदाना ॥ २ ॥

या त्विषिः हस्तिनि गजेन्द्रे द्वीपिनि तरक्षौ हिरण्ये च या

त्विषिरस्ति । गजेन्द्रे तावद् बलोत्कर्षरूपा त्विषिः द्वीपिनि हिंसनरूपा हिरण्ये आह्लादविषयता वर्णोत्कर्षः । अप्सु उदकेषु गोषु पुरुषेषु मनुष्येषु च या तत्तदसाधारणरूपा त्विषिरस्ति । या च देवी सुभगा सौभाग्ययुक्ता त्विष्यात्मिका देवी इन्द्रं जजानेत्यादि पूर्ववद् योजना । ॐ अप्स्विति । "ऊडिदम्०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् । गोष्विति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः ॐ ॥

जो गजेन्द्रमें बलकी अधिकतारूप तेज है, गेंडेमें जो हिंसनरूप तेज हैं, सुवर्णमें जो आन्हाद देना रूप वर्णकी श्रेष्ठता है । और जलोंमें गौओंमें तथा पुरुषोंमें जो अपनी २ विशिष्टतारूप त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषिदेवीने इन्द्रको उत्पन्न किया है । वह त्विषिरूपा देवी हमारे अभिलषित तेजसे एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑ । इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा सं॒विदा॒ना ॥ ३ ॥

रथे॑ । अ॒क्षेषु॑ । ऋ॒ष॒भस्य॑ । वाजे॑ । वाते॑ । प॒र्जन्ये॑ । वरु॑णस्य । शुष्मे॑ । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒ऽभगा॑ । ज॒जान॑ । सा । नः॒ । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्ऽवि॒दा॒ना ॥ ३ ॥

गमनसाधने रथे अक्षेषु च तदीयेषु वृषभस्य सेचनसमर्थस्य पुंगवस्य वाजे वेगगमने वाते वायौ पर्जन्ये वृष्टिप्रदे मेघे वरुणस्य तदधिष्ठातुर्देवस्य शुष्मे शोषके बले च या प्रतिनियतस्वभावा त्विषिरस्ति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

गमनके साधन रथमें अक्षोंमें और उसके सेचनसमर्थ बैलमें, वेगपूर्वक चलने वाले वायुमें, वर्षा करनेवाले मेघमें और उसके अधिष्ठाता देव वरुणदेवके बलमें जो त्विषि है और जिस सौभाग्यमयी त्विषिदेवीने इन्द्रको उत्पन्न किया है। वह त्विषिरूपा देवी हमारे अभिलषित तेजसे एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

राजन्ये॑ दुन्दुभावाय॑तायामश्व॑स्य वाजे॑ पुरु॑षस्य मायौ । इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा सं॒विदा॒ना ॥ ४ ॥

रा॒जन्ये॑ । दु॒न्दु॒भौ । आऽय॑तायाम् । अश्व॑स्य । वाजे॑ । पुरु॑षस्य । मा॒यौ । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒ऽभगा॑ । ज॒जान॑ । सा । नः॒ । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्ऽवि॒दा॒ना ॥ ४ ॥

राजन्ये राज्ञोऽभिषिक्तस्य पुत्रो राजन्यः । ❀ "राजश्वशुराद् यत्" । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावः । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀ । तस्मिन् राजकुमारे आयतायाम् आयम्यमानायाम् आताड्यमानायां दुन्दुभौ च या त्विषिरस्ति । अश्वस्य वाजे शीघ्रगमने पुरुषस्य मायौ शब्दे उच्चैर्घोषलक्षणे या त्विषिरस्ति । या च त्विष्यात्मिका देवी सुभगा सौभाग्ययुक्ता इन्द्रं देवं जजान जनयामास सा नः अस्मान् वर्चसा तेजसा संविदाना संजानाना ऐतु आगच्छतु । ❀ संविदानेति । "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

राजाके अभिषिक्त पुत्र राजन्यमें बजाई जाती हुई दुन्दुभिमें जो त्विषि है, घोड़ेके शीघ्रगमनमें पुरुषके उच्चस्वरसे उच्चारण

किये जाने वाले शब्दमें जो त्विषि है। और जिस सौभाग्यमयी त्विषिदेवीने इन्द्रको उत्पन्न किया है। वह त्विषिरूपा देवी हमारे अभिलषित तेजसे एकमत होती हुई हमको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं सु॒भृ॑तं स॒हस्कृ॑तम्।
प्र॒सर्स्रा॑ण॒मनु॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये ॥ १ ॥

यशः॑। ह॒विः। व॒र्ध॒ता॒म्। इन्द्र॑ऽजूतम्। स॒हस्र॑ऽवीर्यम्। सु॒ऽभृ॑तम्। सहः॑ऽकृतम्।
प्र॒ऽसर्स्रा॑णम्। अनु॑। दी॒र्घाय॑। चक्ष॑से। ह॒विष्म॑न्तम्। मा॒। व॒र्ध॒य॒। ज्ये॒ष्ठ॒ऽता॑तये ॥ १ ॥

यशः व्यापकम्। ❀ अशू व्याप्तौ इत्यस्माद् अशेर्युट् च [उ० ४. १९०] इति असुनि युडागमः ❀। यद्वा फलभूतस्य यशसो हेतुत्वात् तत्कारणं हविरपि यशः। तद् वर्धताम् समृध्यताम्। कथंभूतम्। इन्द्रजूतम् इन्द्रम् उद्दिश्य अस्माभिः प्रेरितं दत्तं सहस्रवीर्यम् अपरिमितसामर्थ्ययुक्तं सुभृतम् सुष्ठु वर्तमानं परिवर्तमानं सहस्कृतम् सहसः पराभिभवनक्षमस्य बलस्य कारकं प्रसर्स्राणम् प्रसरणशीलम्। ❀ सृ गतौ इत्यस्माद् यङ्लुगन्तात् ताच्छीलिकश्चानश् ❀। उद्दिश्यमाना देवता यावत्परिमाणयुक्तं हविः कामयते तावत्पर्यन्तं मन्त्रसामर्थ्येन अभिवर्धमानम् इत्यर्थः। तथा च तैत्तिरीयकम्। "धान्यम् असि। धिनुहि देवान्। इत्याह। एतस्य यजुषो वीर्येण यावद् एका देवता कामयते यावद् एका

तावद्ध आहुतिः प्रथते" इति [तै० ब्रा० ३. २. ६. ४]। अनु ईदृशस्य हविषो वर्धनानन्तरं हविष्मन्तम् तेन हविषा युक्तं मा मां यजमानं दीर्घाय चक्षसे चिरकालभाविने दर्शनाय ज्येष्ठतातये सर्वश्रेष्ठ्याय च हे इन्द्र वर्धय समृद्धं कुरु। ❀ "वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि" इति तातिल् प्रत्ययः ❀। दीर्घाय चक्षसे प्रसर्पणाम् इति वा संबन्धः ॥

इन्द्रके लिये हमारे द्वारा दी हुई अपरिमित शक्तियुक्त भली प्रकार विराजमान, पराभव करने वाले बलको देने वाली सरकने के स्वभाव वाली यशको देने वाली हवि बढ़े †। हे इन्द्रदेव ! ऐसी हविके वर्धनके अनन्तर उस हविसे युक्त मुझ यजमानको चिरकाल तक देखनेके लिये और सर्वश्रेष्ठ होनेके लिये आप बढ़ाइये अर्थात् मेरी हविको स्वीकार कर बहुत समय तक मुझको सबमें श्रेष्ठ और अच्छी दर्शन शक्ति वाला करिये ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम ।

---

† जिस देवताके निमित्त हवि दीजाती है, वह देवता जितनी बड़ी हविको चाहते हैं मन्त्रकी शक्तिसे हवि उतनी ही बड़ी हो जाती है। इसी लिये मन्त्रमें 'हवि बढ़े' यह कहा है। यह बात कपोलकल्पित नहीं है। श्रुतिका भी इस विषयमें प्रमाण है कि-"धान्यम् असि। धिनुहि देवान्। इत्याह। एतस्य यजुषो वीर्येण यावद्ध एका देवता कामयते यावद्ध एका तावद् आहुतिः प्रथते ॥-तू धान्य है, तू देवताओंको तृप्त कर। इस विषयमें कहा कि-एक देवता जितने परिमाण वाली हविकी इच्छा करते हैं, इस पूजा करने वाले मन्त्रके प्रभावसे, वह आहुति उतने ही परिमाणमें फैल जाती है ॥" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३। २। ६। ४) ॥

सनो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम

अच्छ । नः । इन्द्रम् । यशसम् । यशःऽभिः । यशस्विनम् । नमसानाः । विधेम ।

सः । नः । रास्व । राष्ट्रम् । इन्द्रऽजूतम् । तस्य । ते । रातौ । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

नः अस्माकम् अच्छ आभिमुख्येन वर्तमानम् इन्द्रं यशसम् यशोरूपं यशसः प्रदातारम् । ❀ यशःशब्दात् क्यजन्तात् क्विपि अतोलोपयलोपौ । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । यशोभिः कीर्तिभिः यशस्विनम् प्रभूतयशस्कम् एवंभूतम् इन्द्रं नमसानाः नमस्यन्तः नमस्कारादिभिः पूजयन्तो वयं विधेम परिचरेम ॥ हे इन्द्र स त्वं नः अस्मभ्यम् इन्द्रजूतम् इन्द्रेण त्वया प्रेरितं राष्ट्रम् राज्यं रास्व देहि । ❀ रास दाने ❀ । तस्य ते तव रातौ दाने यशसः यशस्विनो वयं स्याम भवेम ॥

हम अपने सामने वर्तमान यशके देने वाले यशोंसे यशस्वी इन्द्रकी नमस्कार आदिसे पूजा करते हुए सेवा करते हैं । हे इन्द्र ! ऐसे आप हमको अपने आप प्रेरणा करके राज्य दीजिये, हम आपके दानमें यशस्वी होवें ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।

यशाः । विश्वस्य । भूतस्य । अहम् । अस्मि । यशःऽतमः ।३।

इन्द्रो देवो यशाः यश आत्मन इच्छन् वर्तते। ॐपूर्ववद् यशस्यतेः क्विपि रूपम् ॐ। तथा अग्निरपि यशाः यशस्कामो भवति। तथा सोमश्च यशाः यश इच्छन् अजायत। यथैवम् इन्द्रादयो यशस्विनो जाताः एवं यशाः यशस्कामः अहमपि विश्वस्य भूतस्य सर्वस्य भूतजातस्य देवमनुष्यादेः सकाशाद् यशस्तमः अतिशयेन यशस्वी अस्मि भवामि ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

इन्द्रदेव यश चाहते रहते हैं, अग्नि भी यश चाहते हैं, तथा सोम भी यशको चाहते हुए उत्पन्न हुए हैं। जैसे यह इन्द्र आदि यशस्वी हुए हैं, इसी प्रकार यशको चाहने वाला मैं भी देव मनुष्य आदि सब प्राणियोंसे अधिक यशस्वी होता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थं सूक्त समाप्त (२१२) ॥

"अभयं द्यावापृथिवी" इति तृचेन ग्रामाद्यभयकामः तस्यैव प्रतिदिशं सप्तर्षीन् यजते उपतिष्ठते वा। सूत्रितं हि। "अभयं द्यावापृथिवी [६. ४०] श्येनोसि [६. ४८] इति प्रतिदिशं सप्तर्षीन् अभयकामः" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा सेनाभयनिवृत्त्यर्थं तस्याः प्रतिदिशं सप्तर्षीणां यागम् उपस्थानं वा कुर्यात्। "अभयानाम् अप्ययः" [कौ० २. ७] इति सूत्रात् ॥

तथा अनेन तृचेन उपाकर्मणि आज्यं जुहुयात्। "अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] ॥

"मनसे चेतसे धिये" इति तृचेन गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि महाव्रीहिमयं स्थालीपाकं शान्त्युदकेन अभ्युदय अभिमन्त्र्य आयुष्कामं माणवकं प्राशयेत्। सूत्रितं हि। "यथा द्यौः [२. १५] मनसे चेतसे धिये [६. ४१] इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शान्त्युदकेन उपसिच्याभिमन्त्र्य प्राशयति इति [कौ०७.५]॥

ग्राम आदिमें अभयको चाहने वाला "अभयं पृथिवी" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे उस ग्राम आदिकी प्रत्येक दिशामें सप्तर्षियोंकी पूजा वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अभयं द्यावापृथिवी (६।४०) श्येनो सि (६।४८) इति प्रतिदिशं सप्तर्षीन् अभयकामः" (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

तथा सेनाके भयको दूर करनेके लिये सेनाकी प्रत्येकदिशामें सप्त ऋषियोंके निमित्त याग वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अभयानां अप्ययः" (कौशिकसूत्र २।७)॥

तथा उपाकर्ममें इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अभिजिति शिष्यानुपनीय–अभिजित् मुहूर्तमें शिष्योंका उपनयन करके" इसका आरम्भ करके कहा है, कि–"अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्॥–अभय और अपराजितगणके सूक्तोंके घृतकी आहुति देय" (कौशिकसूत्र १४।३)॥

गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें "मनसे चेतसे धिये" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे महाव्रीहिमय स्थालीपाकको शान्तिजल से छिड़क कर और अभिमन्त्रित करके आयु चाहने वाले बालक को खिलावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यथा द्यौः (२।१५) मनसे चेतसे धिये (६।४१) इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शान्त्युदकेन उपसिच्याभिमन्त्र्य प्राशयति" (कौशिकसूत्र ७।५)

तत्र प्रथमा॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।

अभयं नोस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥ १ ॥

अभयम् । द्यावापृथिवी इति । इह । अस्तु । नः । अभयम् । सोमः । सविता । नः । कृणोतु । अभयम् । नः । अस्तु । उरु । अन्तरिक्षम् । सप्तऽऋषीणाम् । च । हविषा । अभयम् । नः । अस्तु ॥ १ ॥

हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ युवयोः प्रसादाद् इह अस्मिन् देशे नः-अस्माकम् अभयम् भयराहित्यम् अस्तु । चोरव्याघ्रादिजनितस्य भयस्य निवृत्तिर्भूयाद् इत्यर्थः । तथा सोमश्चन्द्रः सविता सूर्यश्च नः अस्माकम् अभयं कृणोतु करोतु । तथा द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षं नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । तत्रत्याद् निमित्ताद् भयं मा भूद् इत्यर्थः । सप्तर्षीणाम्

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः ।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यपः [आश्व० प० १]

इत्येवं प्रसिद्धा ये सप्त ऋषयः सन्ति तेषां संबन्धिना हविषा अस्माभिर्दीयमानेन नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । ❀ सप्तर्षीणाम् इति । सप्त च ते ऋषय इति विगृह्य "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः ❀ ॥

हे द्यावापृथिवी ! आपके प्रसादसे हमको इस देशमें निर्भयता प्राप्त हो अर्थात् चोर व्याघ्र आदिसे होने वाले भयकी निवृत्ति हो । तथा चन्द्रदेव और सूर्यदेव हमको अभय दें और द्यावापृथिवीके बीचमें वर्तमान अन्तरिक्ष भी हमको अभय दे अर्थात्

जहाँ होने वाले शकुनोंसे हमको भय न हो और सप्त ऋषियों † को दी जाने वाली हविसे हमको अभय प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु ।
अशत्रिन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥ २ ॥

अस्मै । ग्रामाय । प्रऽदिशः । चतस्रः । ऊर्जम् । सुऽभूतम् । स्वस्ति । सविता । नः । कृणोतु ।
अशत्रु । इन्द्रः । अभयम् । नः । कृणोतु । अन्यत्र । राज्ञाम् । अभि । यातु । मन्युः ॥ २ ॥

अस्मै ग्रामाय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । अस्य ग्रामस्य अस्मदावासभूतस्य प्रदिशश्चतस्रः प्रकृष्टाः प्राच्याद्याश्चतस्रो दिशः । ❀ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀ । प्रागादिसर्वदिक्षु ऊर्जम् अन्नं सुभूतम् सुष्ठु उत्पन्नं स्वस्ति । अविनाशिनामैतत् । अविनाशोपलक्षितं क्षेमम् एतत् सर्वं नः अस्माकं सविता सर्वस्य प्रेरको देवः सूर्यः कृणोतु करोतु । तथा अशत्रुः अनुपजातविरोधी इन्द्रो देवः नः अस्माकम् अभयम् शत्रुनिमित्तभयराहित्यं कृणोतु करोतु ।

† आश्वलायनश्रौतसूत्रपरिशिष्ट १ में कहा है, कि—"विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः । अत्रिर्वसिष्ठः कश्यपः ।—विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ये सात महर्षि हैं ।"

तत्प्रसादाद् राज्ञां मन्युः क्रोधः अस्मत्तः अन्यत्र अभि यातु अभिगच्छतु ॥

सूर्यदेव ऐसा करें, कि-हमारे रहनेके ग्रामकी समीपवर्ती चारों दिशाओंमें बहुतसा अन्न उत्पन्न हो और हमारे यहाँ अविनाशी क्षेम रहे। तथा जिनका विरोधी नहीं रह सकता वह इन्द्रदेव वह हमको शत्रुके भयसे रहित करें और उनके प्रसादसे राजाओंका कोप हमसे अन्यत्र चला जावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

अनमित्रम् । नः । अधरात् । अनमित्रम् । नः । उत्तरात् ।
इन्द्र । अनमित्रम् । नः । पश्चात् । अनमित्रम् । पुरः । कृधि ३

हे इन्द्र नः अस्माकम् अधरात् । अधरशब्दो दक्षिणदिग्वाची । दक्षिणस्या दिशः अनमित्रम् अमित्राः शत्रवः तद्राहित्यं कुरु । तथा उत्तरात् उत्तरस्या दिशः सकाशाद् नः अस्माकम् अनमित्रम् शत्रुराहित्यं कुरु । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ । हे इन्द्र नः अस्माकं पश्चात् पश्चिमदिग्भागात् अनमित्रम् अमित्रराहित्यं कुरु । पुरः पुरस्तात् पूर्वस्या दिशः अनमित्रम् अमित्रराहित्यं कृधि कुरु । ❀ "श्रुशृणुपृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

हे इन्द्र ! हमको आप दक्षिणदिशासे शत्रुरहित करिये, उत्तर दिशासे शत्रुभावशून्य करिये । और हे इन्द्र ! पश्चिम दिशासे हमको अनमित्र करिये तथा पूर्वदिशासे भी हमको अनमित्र करिये अर्थात् चारों दिशाओंमें हमसे कोई द्वेष न रक्खे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मन॑से॒ चेत॑से॒ धिय॒ आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये ।

म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

मन॑से । चेत॑से । धि॒ये । आऽकू॑तये । उ॒त । चित्त॑ये । म॒त्यै ।

श्रु॒ताय॑ । चक्ष॑से । वि॒धेम॑ । ह॒विषा॑ । व॒यम् ॥ १ ॥

मनसे मननसाधनाय सुखाद्यपरोक्ष्यनिमित्ताय इन्द्रियाय । चेतसे । चेतस इत्यादिभिस्तस्यैवावस्थाविशेषा उच्यन्ते । चेतसे सम्यग्ज्ञानसाधनाय । ❀ चिती संज्ञाने इत्यस्मात् करणे असुन् ❀ । धिये ध्यानसाधनाय । आकूतये संकल्पाय । उत अपि च चित्तये यत्संबन्धात् पुरुषश्चेतन उच्यते सा चित्तिः अतीतादिविषयस्मृतिहेतुः । मत्यै आगामिविषयज्ञानजनन्यै । श्रुताय श्रवणजनितज्ञानाय चक्षसे दर्शनाय चाक्षुषज्ञानाय । ❀ सर्वत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । मनआदिसिद्ध्यर्थं वयं हविषा आज्यादिना विधेम परिचरेम ॥

मननके साधन सुख आदिका प्रत्यक्ष करनेमें निमित्तरूप मन इन्द्रियके लिये, भली प्रकार ज्ञान होनेके साधन चेतस्के लिये, ध्यानकी साधन बुद्धिके लिये और जिसके संबंधसे पुरुष चेतन कहलाता है उस बीते हुए आदि विषयोंकी स्मृतिकी हेतु मतिके लिये, आगामी विषयज्ञानकी जननी मतिके लिये और श्रवणजनित ज्ञानरूप श्रुतके लिये तथा चाक्षुषज्ञानरूप दर्शनशक्तिके लिये हम हविसे इन्द्रकी सेवा करते हैं ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒पा॒नाय॑ व्या॒नाय॑ प्रा॒णाय॒ भूरि॑धायसे ।

सर॑स्वत्या उरु॒व्यचे॑ वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २ ॥

अपानाय । विऽआनाय । प्राणाय । भूरिऽधायसे ।

सरस्वत्यै । उरुऽव्यचे । विधेम । हविषा । वयम् ॥ २ ॥

अपानाय अपानवायवे । मुखनासिकाभ्यां बहिर्विनिर्गतस्य समीरणस्य पुनरन्तःप्रवेशः अपाननव्यापारः। व्यानाय विविधम् अननम् ऊर्ध्वाधोवृत्तिपरित्यागेन तस्य समीरणस्य अवस्थानं व्यानः । "अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः" इति हि श्रुतिः [छा० उ० १. ३. ३] । प्राणाय । शरीरस्थस्य प्राणवायोर्मुखनासिकाभ्यां बहिर्विनिर्गमनं प्राणनव्यापारः प्राणः । तस्मै । एवं प्राणापानव्यानवृत्तिभेदेन त्रैधम् अवस्थिताय मुख्यप्राणाय भूरिधायसे भूरि बहुलं धारयित्रे । ❀ वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति असुन् । तस्य णिद्वद्भावाद् "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युगागमः ❀ । तथा उरुव्यचे । ❀ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा । अस्मात् कर्तरि क्विप् ❀ । बहुलं व्याप्नुवत्यै सरस्वत्यै वाग्देवतायै । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । उदीरितलक्षणं प्राणं सरस्वतीं च हविषा आज्यादिना वयं विधेम परिचरेम ॥

मुख और नासिकासे बाहर निकले हुए वायुका फिर भीतर प्रवेश होना अपानन व्यापार कहलाता है, उस अपानन व्यापार करने वाले अपानवायुकी, ऊपर नीचेको जानेकी वृत्तिको त्याग कर स्थित रहने वाले व्यानवायुकी, शरीरमें स्थित प्राणवायुके मुख और नासिकासे बाहर निकालनारूप प्राणन व्यापार करने वाले प्राणवायुकी और प्राण और अपान वृत्तियोंके भेदसे तीन प्रकारसे स्थित बहुतोंको धारण करनेवाले मुख्य प्राणकी और व्याप्ति वाली सरस्वती देवीकी हम हविसे सेवा करते हैं॥ २ ॥

षष्ठी ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व-
स्तनूजाः ।

अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः

मा । नः । हासिषुः । ऋषयः । दैव्याः । ये । तनूऽपाः । ये ।
नः । तन्वः । तनूऽजाः ।

अमर्त्याः । मर्त्यान् । अभि । नः । सचध्वम् । आयुः । धत्त ।
प्रऽतरम् । जीवसे । नः ॥ २ ॥

दैव्याः देवेषु भवा ऋषयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्राणाधिदेवताः सप्त ऋषयः नः अस्मान् मा हासिषुः मा परित्यजन्तु । ये ऋषयस्तनूपाः तन्वाः शरीरस्य पातारः ये च नः अस्माकं तन्वः शरीरात् तनूजाः शरीरसंबन्धितयैव इन्द्रियात्मना उत्पन्नाः । ते ऋषयः मा हासिषुरिति संबन्धः ॥ हे अमर्त्याः अमरणधर्माणो देवाः मर्त्यान् मरणधर्मकान् नः अस्मान् अभि सचध्वम् अभितः प्राप्नुत । नः अस्माकं जीवसे जीवनाय प्रतरम् प्रकृष्टतरम् आयुः जीवनं धत्त प्रयच्छत । ॐ डुधाञ् दानधारणयोः ॐ ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे षष्ठकांडे चतुर्थोऽनुवाकः

देवताओंमें होने वाले अतीन्द्रियार्थदर्शी प्राणाधिदेवता सात ऋषि जो शरीरके रक्षक हैं और शरीरकी संबधितावश इन्द्रिय रूपसे उत्पन्न हुए हैं वे हमको न त्यागें । हे अमरणधर्म वाले देवताओं ! हम मरणधर्म वालोंका सेवन करो और जीवित रहने के लिये हममें श्रेष्ठ आयुको स्थापित करो ॥ २ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (२१७)

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डका चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

पञ्चमेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अव ज्यामिव" इति आद्यं सूक्तम् । तत्र आद्येन तृचेन स्त्रीपुरुषयोः स्त्रीविषये पुरुषस्य मन्युविनाशार्थं कुपितं पुरुषं पश्यन् अश्मानम् अभिमन्त्र्य हस्तेन गृहीत्वा "सखायाविव" इति द्वितीयाम् ऋचं जपन् अश्मानं भूमौ प्रक्षिप्य "अभि तिष्ठामि" इति तृतीयाम् ऋचं जपन् तस्याश्मन उपरि निष्ठीवेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि कुपितस्य पुरुषस्य छायायाम् अनेन तृचेन धनुरभिमन्त्र्य सज्यं कुर्यात् । एवं पुरुषविषये स्त्रिया मन्युविनाशार्थम् उक्तं कर्म कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "अव ज्यामिवेति दृष्ट्वाश्मानम् आदत्ते । द्वितीययाभिनिदधाति । तृतीययाभिनिष्ठीवति । छायायां सज्यं करोति" इति [कौ० ४. १२] ॥

तथा दीक्षायां यजमानः क्रोधे प्राप्ते एतं तृचं जपेत् । "अव ज्यामिव" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ३. २] ॥

सर्वविषयमन्युविनाशार्थम् "अयं दर्भः" इति तृचेन दर्भमूलम् ओषधिवत् खात्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । "अयं दर्भ इत्योषधिवत्" इति [कौ० ४. १२] सूत्रात् ॥

पाँचवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "अव ज्यामिव" यह पहिला सूक्त है । इसके पहिली तीन ऋचा वाले सूक्तसे स्त्री पुरुषोंमें स्त्रीके ऊपर हुए पुरुषके कोपको नष्ट करनेके लिये कुपित पुरुषको देखता हुआ पत्थरको अभिमंत्रित करके हाथमें ग्रहण करके 'सखायाविव' इस दूसरी ऋचाको जपता हुआ पत्थरको भूमिमें फेंक कर 'अभि तिष्ठामि' इस तीसरी ऋचाको जपता हुआ उसके ऊपर थूकदेय ।

तथा इसी कर्ममें कुपित पुरुषकी छायामें इस तृचसे धनुषको अभिमंत्रित करके ताने॥ इसी प्रकार पुरुषके ऊपर उत्पन्न स्त्री के क्रोधको नष्ट करनेके लिये करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अव ज्यामिवेति दृष्ठ्वारमानम् आदत्ते। द्वितीययाभिनिदधाति। तृतीययाभिनिष्ठीवति। छायायां सव्यं करोति" (कौशिकसूत्र ४। १२) ॥

तथा दीक्षामें यजमानको क्रोध आजावे तब इस तीन ऋचा वाले सूक्तको जपे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अव ज्यामिव" (वैतानसूत्र ३। २) ॥

सब प्रकारके क्रोधको दूर करनेके लिये "अयं दर्भः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे दर्भकी मूलको औषधिकी समान खोद कर सम्पात और अभिमंत्रित करके भक्षण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अयं दर्भ इत्योषधिवत्" (कौशिकसूत्र ४। १२)॥

तत्र प्रथमा ॥

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः ।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑याविव॒ सचा॑वहै ॥ १ ॥

अव॑ । ज्याम्ऽइ॑व । धन्व॑नः । म॒न्युम् । त॒नो॒मि॒ । ते॒ । हृ॒दः ।
यथा॑ । सम्ऽम॑नसौ । भू॒त्वा । सखा॑यौऽइव । सचा॑वहै ॥ १ ॥

धन्वनः धनुर्दण्डात् ज्यामिव यथा आरोपितां ज्यां धानुष्कोऽवरोपयति तथा हे पुरुष ते तव हृदः हृदयात् मन्युम् क्रोधम् अव तनोमि अवरोपयामि। अपनयामीत्यर्थः। यथा येन प्रकारेण आवां संमनसौ समानमनस्कौ परस्परानुरागयुक्तौ भूत्वा सखायाविव समानख्यानौ सुहृदाविव सचावहै समवेतौ संगतौ एककार्यकारिणौ भवाव। तथा त्वदीयं क्रोधम् अपनयामीत्यर्थः। ❀ षच समवाये इति धातुः ❀ ॥

जैसे धनुषधारी पुरुष धनुषके दण्डे परसे चढ़े हुए रोदेको

उतारता है, इसी प्रकार मैं तेरे हृदयसे क्रोधको उतारता हूँ, जिससे कि-हम दोनों परस्पर अनुराग रख कर मित्रकी समान किसी कामको अविरुद्धमतिसे करने वाले हों ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते ।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥२॥

सखायौऽइव । सचावहै । अव । मन्युम् । तनोमि । ते ।
अधः । ते । अश्मनः । मन्युम् । उप । अस्यामसि । यः । गुरुः २

सखायाविवेत्यादि उक्तार्थम् । हे क्रुद्ध पुरुष ते त्वदीयं मन्युम् क्रोधं यो गुरुः गौरवोपेतश्चालयितुम् अशक्यः अश्मास्ति तस्य अश्मनः अधस्ताद् उपास्यामसि उपक्षिपामः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

हम मित्रकी समान एकमन होकर कार्य करनेमें जुटें, मैं तेरे क्रोधको जो भारी पत्थर है उसके नीचे फेंकता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अभि । तिष्ठामि । ते । मन्युम् । पार्ष्ण्या । प्रऽपदेन । च ।
यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि । ३ ।

हे क्रुद्ध पुरुष ते तव मन्युम् क्रोधं पार्ष्ण्या पादापरभागेन प्रपदेन पादाग्रेण च अभि तिष्ठामि उपरि तिष्ठामि । पादस्य पूर्वापरभागाभ्यां निष्पीडयामीत्यर्थः । यथा येन प्रकारेण अवशः पर-

वशः सन् न वादिषः न ब्रूयाः प्रतिवचनसमर्थो न भवेः । येन च प्रकारेण मम चित्तम् मदीयं मनः उपायसि उपगच्छसि । तथा अभितिष्ठामीति संबन्धः । ❀ वादिष इति । वदेर्लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । "स च णिद्वक्तव्यः" इति स्मरणाद् उपधावृद्धिः ❀ ॥

हे क्रुद्ध ! तेरे क्रोध पर मैं पैरके अग्रभाग और अपरभागसे खड़ा होता हूँ, कि–जिससे वह पराधीन होकर कुछ कह न सके । जिस प्रकार तू मेरे चित्तके अनुकूल हो तिस प्रकार मैं तेरे क्रोधको दवाता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयम् । दर्भः । विऽमन्युकः । स्वाय । च । अरणाय । च ।
मन्योः । विऽमन्युकस्य । अयम् । मन्युऽशमनः । उच्यते ॥ १ ॥

अयं पुरोवस्थितो दर्भः स्वाय ज्ञातये आत्मसंबन्धिने अरणाय अरातये च विमन्युकः मन्युविगमनस्य क्रोधापनयनस्य हेतुः । इष्टजनविषयम् अनिष्टजनविषयं तत्कर्तृकं वा क्रोधं शमयतीत्यर्थः । ❀ स्वाय चारणाय चेति परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । "स्वम् अज्ञातिधनाख्यायाम्" इति गणसूत्रेण ज्ञातिवाचिनः स्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायाः पर्युदासात् तत्कार्याभावः ❀ । "यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति" [ऋ० ६, ७५, १९] इति हि निगमः । उक्त एवार्थो विवियते मन्योरिति । ❀ लुप्तनिर्दिष्टोत्र मत्वर्थप्रत्ययो द्रष्टव्यः ❀ । मन्योः मन्युमतः पुरुषस्य शत्रोः विमन्युकस्य परमार्थतो मन्युरहितस्य आपाततः क्रोधाविष्टस्य आत्मीयस्य च अयं प्रयोगो मन्युशमनः क्रोधनिवारणोपाय उच्यते विधानज्ञैरभिधीयते ।

यह सामने खड़ा हुआ दर्भ अपनी जाति वालेके और शत्रुके भी क्रोधको दूर करने वाला है। यह प्रयोग क्रोधी पुरुष शत्रुके और वास्तवमें क्रोध न करने वाले किंतु कारणवश क्रोध करने वालेके क्रोधको भी दूर करनेका उपाय कहा जाता है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

अयम् । यः । भूरिऽमूलः । समुद्रम् । अवऽतिष्ठति ।
दर्भः । पृथिव्याः । उत्थितः । मन्युऽशमनः । उच्यते ॥ २ ॥

योयं पुरोवर्ती भूरिमूलः बहुभिर्मूलैरुपेतः [दर्भः] समुद्रम् । समुद्द्रवन्त्यस्माद् आप इति उदकभूयिष्ठो देशः समुद्रः । तम् अवतिष्ठति अवक्रम्य स्थितो भवति । यद्वा समुद्रम् इति अन्तरिक्षनाम। ❀ सैव व्युत्पत्तिः ❀ । अन्तरिक्षम् आक्रम्य अवस्थित इत्यर्थः । पृथिव्याः सकाशाद् उत्थितः उत्पन्नः स दर्भः काशकुशाद्यात्मकः मन्युशमन उच्यते । क्रोधविनाशनस्य हेतुरभिधीयते इत्यर्थः ॥

यह बहुतसी जड़ों वाला दर्भ (कुशा) अधिक जल वाले देश को दबाकर स्थित है, पृथिवीसे उठा हुआ अन्तरिक्षमें स्थित यह दर्भ क्रोधको शान्त करने वाला कहलाता है ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

वि । ते । हनव्याम् । शरणिम् । वि । ते । मुख्याम् । नयामसि ।

यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि २

हे क्रोधाविष्ट पुरुष ते तव हनव्याम् हनुसंबन्धिनीं शरणिम् हिंसाहेतुभूतां क्रोधाभिव्यञ्जिकां धमनिं वि नयामसि विनयामः । तथा ते तव मुख्याम् मुखे भवां क्रोधवशोत्पन्नाम् अन्याम् अपि धमनिं विनयामः क्रोधशमनेन अपगमयामः । उत्तरोर्धर्चो व्याख्यातः । ❀हनव्याम् इति । हनुशब्दात् "शरीरावयवाच्च" इति यत् । ओर्गुणे "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः । मुख्याम् इति । पूर्ववद् यत् ❀॥

[इति] पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे क्रोधाविष्ट पुरुष ! तेरी ठोड़ीकी हिंसाकी हेतुभूत क्रोधको प्रकट करने वाली नसको हम शान्त करते है और मुख पर क्रोध के कारण प्रकट होने वाली नसको भी हम क्रोधको शान्त कर दूर करते हैं जिससे कि-पराधीन होकर कुछ न कह सके, जिस प्रकार तू मेरे चित्तके अनुकूल रहे, तिस प्रकार मैं तेरे क्रोधको दबाता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२२६) ॥

"अस्याद् द्यौः" इति तृचेन अपवादभैषज्यकर्मणि स्वयंपतितं गोशृङ्गं संपात्य तद् उदके निधाय अभिमन्त्र्य तद् उदकम् आचामयेत् प्रोक्षेच्च । सूत्रितं हि । "अस्याद् द्यौरित्यपवातायाः स्वयस्स्तेन गोशृङ्गेण संपातवता जपन्" इति [कौ० ४. ७] ॥

"परोपेहि" इति तृचेन दुःस्वप्नदर्शननिमित्तदोषनिर्हरणार्थम् उत्थाय मुखं प्रक्षालयेत् ॥

तथा अतिघोरदुःस्वप्नदोषनिर्हरणकर्मणि व्रीहियवगोधूमादिमिश्रधान्यमयं पुरोडाशद्वयं कृत्वा एकम् अनेन तृचेन अग्नौ जुहुयात् । अपरं शत्रुक्षेत्रे निदध्यात् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "परोपेहि [६. ४५] यो न जीवः [६. ४६] इति स्वप्नं दृष्ट्वा मुखं निमार्ष्टि । अतिघोरं दृष्ट्वा मैश्रधान्यं पुरोडाशम् अन्याशायां वा निदधाति" [कौ० ५.१०] इति॥

"अस्थाद् द्यौः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अपवादकी चिकित्सारूप कर्ममें अपने आप गिरे हुए गौके सींगको संपात करके जलमें रक्खे फिर अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करावे और प्रोक्षण करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अस्थाद् द्यौरित्यपवातायाः स्वयं स्रस्तेन गोशृङ्गेण सम्पातवता जपन्" (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

"परोपेहि" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे, दुःस्वप्न देखनेके दोषको हटानेके लिये, उठकर मुखको धोवे ॥

तथा अतिघोर दुःस्वप्नके दोषको दूर करनेके निमित्त धान जौ गेहूँ आदि मिश्रधान्यके दो पुरोडाशोंको करके एकको इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अग्निमें आहुति देय और दूसरेको शत्रुके घरमें रख देय ॥

इस बातका कौशिकसूत्रमें प्रमाण भी है, कि—"परोपेहि(६ । ४५) यो न जीवः (६ । ४६) इति स्वप्नं दृष्ट्वा मुखं विमार्ष्टि । अतिघोरं दृष्ट्वा मैश्रधान्यं पुरोडाशं अन्याशायां वा निदधाति" (कौशिकसूत्र ५ । १०)॥

तत्र प्रथमा ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥१॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् । इदम् । जगत् ।

अस्थुः । वृक्षाः । ऊर्ध्वऽस्वप्नाः । तिष्ठात् । रोगः । अयम् । तव १

द्यौः द्युलोको ग्रहनक्षत्रमण्डलोपेतः यथा अस्थात् तिष्ठति नाधः पतति । ❀ तिष्ठतेश्छान्दसो लुङ् । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ । यथा च पृथिवी अस्थात् सर्वाधारभूता तिष्ठति । यथा च तत्राश्रितं विश्वम् सर्वम् इदं परिदृश्यमानं जगत् जङ्गमप्राणिजातम् अस्थात् तिष्ठति । यथा च वृक्षाः पादपाः ऊर्ध्वस्वप्नाः । ऊर्ध्वम् अवस्थिता एव स्वापम् अनुभवन्ति न तु शयाना इति ऊर्ध्वस्वप्नाः । एवंभूताः सन्तः [अस्थुः] तिष्ठन्ति । हे व्याधित तव त्वदीयः अयं रोगः रुधिरस्रावात्मकस्तया तिष्ठात् तिष्ठतु न स्रवतु । निवर्तताम् इत्यर्थः ॥

ग्रह और नक्षत्रोंके मण्डलों वाला द्युलोक जिस प्रकार ठहरा रहता है नीचे नहीं गिरता है, जिस प्रकार सब भूतोंकी आधार पृथ्वी टिकी हुई है, और जिस प्रकार यह उस पर आश्रित दीखता हुआ जंगम प्राणिसमूह स्थित है । और जिस प्रकार ये ऊर्ध्वशय वृक्ष खड़े हुए हैं अर्थात् खड़े २ ही सोनेका अनुभव करते हैं लेटकर सोनेका अनुभव नहीं करते इस प्रकार खड़े हुए हैं । हे रोगिन् ! तैसे यह रुधिरका बहनारूप रोग टिका रहे बहे नहीं अर्थात् तेरा रुधिरका बहना बन्द होजाय ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।

श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

शतम् । या । भेषजानि । ते । सहस्रम् । सम्ऽगतानि । च ।

श्रेष्ठम् । आस्रावऽभेषजम् । वसिष्ठम् । रोगऽनाशनम् ॥ २ ॥

हे व्याधित ते तव या यानि शतम् शतसंख्याकानि भेषजानि

रोगशमनहेतुभूतान्यौषधानि सन्ति तथा संगतानि संप्राप्तानि सहस्रम् सहस्रसंख्याकानि च औषधानि सन्ति तेषां मध्ये श्रेष्ठम् प्रशस्ततमम् आस्रावभेषजम् रक्तस्रावस्य निवर्तकम् एतत् क्रियमाणं कर्म अत एव वसिष्ठम् वासयितृतमं रोगनाशनम् । ❀ रोगो नश्यत्यनेनेति करणे ल्युट् ❀ ॥

हे रोगिन् ! रोगकी शांति करने वाली जो तेरी सैंकड़ों औषधियें हैं तथा तुझे जो हजारों औषधियें प्राप्त हैं, उनमें यह रक्तस्रावको हटाने वाला वर्तमान कर्म सर्वश्रेष्ठ रोगनाशक है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः ।
विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥ ३ ॥

रुद्रस्य । मूत्रम् । असि । अमृतस्य । नाभिः ।
विऽसानका । नाम । वै । असि । पितॄणाम् । मूलात् । उत्थिता ।
वातीकृतऽनाशनी ॥ ३ ॥

रुद्रस्य । रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति रुद्रः जगत्संहर्ता ईश्वरः । हे गोशृंगोदक तस्य संहर्तुरीश्वरस्य मूत्रम् तदीयाल्लिंगाद् विनिर्गतं जलम् असि । अतो रोगं संहरेत्यर्थः । तथा अमृतस्य अमरणस्य चिरकालजीवनस्य नाभिः बन्धकं स्थापकम् असि । ❀ नहो भश्च [उ० ४. १२५] इति इञ् प्रत्ययः ❀ । रसशास्त्रोक्तप्रकारेण ईश्वरवीर्यस्य रसस्य आसेवनेन हि सिद्धा अजरामरत्वं लभन्त इति तदभिप्रायेणोक्तं रुद्रस्य मूत्रम् असीति । हे गोशृंग त्वं विषाणका [नाम वै] विशेषेण रोगनिवर्तनस्य सं-

भक्त्री एतत्संज्ञा खलु असि भवसि । पुनः सा विशेष्यते । पितॄणाम् पितृदेवतानां मूलात् उपादानकारणाद् उत्थिता उत्पन्ना याती आस्रावस्य रोगस्य शोषयित्री कृतनाशनी । कृतं रोगस्य निदानभूतं दुष्कर्म । तस्य नाशयित्री । भवेत्यर्थः ॥

हे मूत्रोदक ! सबको अन्तिम समयमें रुलाने वाले जगत्के संहारकारक रुद्रदेवका तू मूत्र है अतः तू रोगका संहार कर । तथा चिरकालजीवनरूप अमृतका बाँधने वाला है ।(सिद्ध पुरुष रसशास्त्रमें कही हुई रीतिसे ईश्वरका वीर्य सेवन करनेसे अजर और अमरभावको पाते हैं, इस अभिप्रायसे यहाँ जलको रुद्रका मूत्र कहा है) हे गोमूत्र ! तेरा नाम विषाण–विशेषरूपसे रोग निवर्तनके नामको भजने वाला है और पितरोंके मलसे उठे हुए आस्राव रोगके उपादान पापका नाश करने वाला है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ १ ॥

परः । अप । इहि । मनःऽपाप । किम् । अशस्तानि । शंससि ।
परा । इहि । न । त्वा । कामये । वृक्षान् । वनानि । सम् । चर ।
गृहेषु । गोषु । मे । मनः ॥ १ ॥

हे पाप पापासक्त हे मनः स्वप्ननिमित्तभूत परः परस्ताद् अस्मत्तो दूरदेशे अपेहि अपगच्छ । दुःस्वप्नान् न दर्शयेत्यर्थः । तद्दर्शनेन किं कारणम् । अशस्तानि अशोभनानि शंससि प्रकाशयसि । अतो हेतोः परेहि परागच्छ । त्वा त्वाम् अहं न कामये

अभिलष्यामि । ❀ कर्मणिक् ❀ । परागत्य च [वृक्षवनानि] वृक्षभूयिष्ठानि वनानि प्रविश्य तत्रैव सं चर वर्तस्व । मास्मान् । मा बाधिष्ठा इत्यर्थः । एवं दुःस्वप्ननिमित्तस्य पापस्य मनसोपगमनं प्रार्थितम् । शोभनस्य मनसोवस्थानम् आशास्ते । मे मदीयं शोभनं मनः गृहेषु स्त्रीपुत्रादिषु गृहावस्थितेषु अनुकूलजनेषु गोषु च । अवतिष्ठताम् इत्यर्थः । ❀ गोष्विति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः❀॥

हे पापासक्त मन ! (तू स्वप्नका निमित्तरूप है तू) हमसे दूर के स्थानमें जा अर्थात् हमको दुःस्वप्न न दिखा, क्योंकि-तू अशोभन बातोंको प्रकाशित करता है, इस कारण तू दूर जा मैं तुझको नहीं चाहता और जाकर जिसमें बहुतसे वृक्ष हैं ऐसे वनमें घुस जा हमको पीड़ा मत दे (इस प्रकार दुःस्वप्नके निमित्त पापयुक्त मनका अन्यत्र जानेकी प्रार्थना की अब मन शोभन होकर रहे यह आशीर्वाद माँगते हैं, कि-) मेरा मन घरमें स्थित स्त्री पुत्र आदि अनुकूल जनोंमें और गौओंमें शोभनभावसे रहे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु २

अवऽशसा । निःऽशसा । यत् । पराऽशसा । उपऽआरिम । जाग्रतः । यत् । स्वपन्तः ।
अग्निः । विश्वानि । अप । दुःऽकृतानि । अजुष्टानि । आरे । अस्मत् । दधातु ॥ २ ॥

[अवशसा]। ॐ अवाधुपपदात् शसु हिंसायाम् इत्यस्मात् क्विप् ॐ। अवशसा अवशसनेन अवस्तात् हिंसनेन निःशसा निःशेषेण नितरां वा हिंसनेन पराशसा पराशसनेन पराङ्मुखहिंसनेन च जाग्रतः जाग्रदवस्थापन्ना वयं यत् येन दुःस्वप्नेन उपारिम उपार्ताः पीडिता भवेम। ॐ अर्तेश्छान्दसो लिट्। जागृ निद्राक्षये इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः। "जक्षित्यादयः षट्" इति अभ्यस्तसंज्ञाविधानाइ "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्प्रतिषेधःॐ। तथा स्वपन्तः निद्रावस्थां प्राप्ता वयं यत् येन दुःस्वप्नदर्शनेन हेतुना अवशसनादिभिः पीडिताः तानि विश्वानि सर्वाणि अजुष्टानि अशोभनानि दुष्कृतानि दुःस्वप्ननिमित्तानि पापानि अग्निर्देवः अस्मत् अस्मत्तः आरे दूरे अप दधातु अपनिदधातु अपकृष्य स्थापयतु ॥

पराङ्मुख हिंसा, पूर्णहिंसा और अवहिंसासे जाग्रत् हो जिस स्वप्नके कारण हम पीड़ित होते हैं और सोते २ जिन काटने आदि दुःस्वप्नोंसे पीड़ित होते हैं, उन अशोभन दुःस्वप्नके निमित्त पापोंको अग्नि देव हमसे निकाल कर दूर पर स्थापित करें ॥२॥

षष्ठी ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

यत् । इन्द्र । ब्रह्मणः । पते । अपि । मृषा । चरामसि ।
प्रऽचेताः । नः । आङ्गिरसः । दुःऽइतात् । पातु । अंहसः ॥३॥

हे ब्रह्मणस्पते मन्त्रस्याधिपते हे इन्द्र यत् येन दुःस्वप्ननिमित्तेन पापेन अपि मृषा चरामसि। ॐ अपिशब्दः कस्यचित्पदस्यार्थे गर्हायां वा वर्तते। "अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमु-

षयेषु” इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा ❀ । अपि बहुलं गर्हितं वा स्वप्ने मिथ्या चरामः । ❀“इदन्तो मसिः” ❀ । तस्माद् दुरिताद् दुःखमापकाद् अंहसः पापाद् आङ्गिरसः अङ्गिरसां मन्त्राणां संबन्धी प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानोपेतः एतत्संज्ञो वरुणः नः अस्मान् पातु रक्षतु ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे मंत्रके अधिपते ! हे ब्रह्मणस्पते ! हे इन्द्र ! जिस दुःस्वप्नके कारण पापवश हम कुत्सित रीतिसे स्वप्नमें व्यर्थ ही चकराते रहते हैं, उस दुःखमापक पापसे आंगिरस मन्त्रोंसे संबंध रखने वाले श्रेष्ठ ज्ञानवान् वरुण हमारी रक्षा करें ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (११८) ॥

“यो न जीवः” इति तृचेन दुःस्वप्नजनितदोषनिवृत्तिकामः “परोपेहि” [४५] इति तृचोक्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

“विद्म ते स्वप्न” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां घोरदुःस्वप्नदर्शने मुखविमार्जनम् मैश्रधान्यपुरोडाशस्य होमम् शत्रुक्षेत्रे प्रक्षेपणम् पार्श्वयोः पर्यावर्तनम् अन्नभक्षणस्वप्नदर्शने अन्ननिरीक्षणं च कुर्यात् । “विद्म ते स्वप्नेति सर्वेषाम् अप्ययः” इति हि सूत्रम् [कौ० ५. १०] ॥

“अग्निः प्रातःसवने” इति तिसृभिर्ऋग्भिर्यथाक्रमं प्रातरादित्रिषु सवनेषु सवनसमाप्तिहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने । “अग्निः प्रातःसवने [६. ४७] श्येनोसि [६. ४८] यथा सोमः प्रातःसवने [६. १. ११] इति यथासवनम् आज्यं जुहोति संस्थितहोमान्” इति [वै० ३. ११] ॥

“यो न जीवः” इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे दुःस्वप्नसे उत्पन्न होने वाले दोषोंकी निवृत्तिको चाहने वाला पुरुष “परोपेहि” इस पैंतालीसवें सूक्तमें कहे हुए कर्मोंको करे । सूत्रका उदाहरण वहाँ ही दिया है ।

"विद्म ते स्वप्न" इन दो ऋचाओंसे घोर दुःस्वप्नके दीखने पर मुखका मार्जन, (मिश्रधान्यके पुरोडाशका होम, शत्रुक्षेत्रमें फेंकना, पसलियोंका हिलाना और अन्नभक्षणका स्वप्न देखा हो तो अन्नका निरीक्षण भी करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"विद्म ते स्वप्नेति सर्वेषाम् अप्ययः" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

"अग्नि प्रातः सवने" इन तीन ऋचाओंसे क्रमानुसार प्रातः आदि तीनों सवनोंमें समाप्तिके होमोंकी आहुति देय। इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अग्निः प्रातःसवने (६ । ४७) श्येनोसि (६ । ४८) यथा सोमः प्रातःसवने (९ । १ । ११) इति यथासवनम् आज्यं जुहोति संस्थितहोमान्" (वैतानसूत्र ३ । ११) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ १ ॥

यः । न । जीवः । असि । न । मृतः । देवानाम् । अमृतऽगर्भः । असि । स्वप्न ।

वरुणानी । ते । माता । यमः । पिता । अररुः । नाम । असि १

हे स्वप्न यस्त्वं जीवः प्राणधारको नासि न भवसि । किं तर्हि मृतः नेत्याह । मृतः त्यक्तप्राणोपि न भवसि। मिथ्यापरिकल्पितस्वभावत्वात् स्वप्नस्य जीवनमरणयोः प्राणिधर्मयोरसंभव इत्यर्थः । किंरूपस्तर्हि स्वप्न इति तत्राह। देवानाम् अग्न्यादीनाम् इन्द्रियाधिष्ठातॄणाम् [अमृतगर्भः] अमृतमयगर्भस्त्वम् असि । स्वप्नस्य जाग्रदनुभवजनितवासनामयत्वात् वासनायाश्च स्थायित्वाद् इति

भावः ॥ देवगर्भत्वम् एव प्रतिपादयति । हे स्वप्न ते तव वरुणानी वरुणस्य पत्नी माता । ❀ "इन्द्रवरुण०" इति ङीषानुकौ ❀ । [यमः] यच्छति नियच्छति प्राणिनो दुष्कृतिनो निगृह्णातीति यमो वरुणः । स पिता जनयिता उत्पादयिता । हे स्वप्न त्वम् अररुर्नाम [अररुः] आर्तिकरोऽसुरः । स एवासि भवसि । नाम-शब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिं द्योतयति । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । "अर-रुर्वै नामासुर आसीत्" इति [तै० ब्रा० ३. २. ६. ४] ॥

हे स्वप्न ! तू जीव अर्थात् प्राणधारक नहीं होता है और मृत अर्थात् त्यक्तप्राण भी नहीं होता है । तात्पर्य यह है, कि-मिथ्या परिकल्पित स्वभाव होनेके कारण प्राणिधर्म जीवन मरण नहीं होसकते (फिर स्वप्नका स्वरूप क्या है इसको स्पष्ट करते हैं, कि-) इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवताओंका तू अमृत-मयगर्भ है) तात्पर्य यह है, कि-स्वप्न जाग्रत्के अनुभवसे हुई वासनाओंसे संपन्न होता है और वासनायें स्थायी होती हैं। अब स्वप्नकी देवगर्भताका प्रतिपादन करते हैं, कि-हे स्वप्न ! वरुण की पत्नी तेरी माता है और प्राणियोंको यम (वश) में रखने वाले वरुण तेरे पिता हैं-उत्पादक हैं । हे स्वप्न ! तेरा नाम अररु (आर्ति देने वाला असुर) है तू वही है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः अन्तकोसि मृत्युरसि ।

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि २

विद्म । ते । स्वप्न । जनित्रम् । देवऽजामीनाम् । पुत्रः । असि । यमस्य । करणः ।

अन्तकः । असि । मृत्युः । असि ।

तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्म । सः । नः । स्वप्न ।

दुःऽस्वप्न्यात् । पाहि ॥ २ ॥

हे [स्वप्न] स्वप्नाभिमानिन् देव ते तव जनित्रम् जन्म विद्म जानीमः । ❀ जनेः औणादिक इत्रप्रत्ययः ❀ । उक्त एवार्थो विव्रियते । देवजामीनाम् देवस्त्रीणां वरुणानीप्रभृतीनां पुत्रः तनयः असि । ताभिरुत्पाद्यमानत्वात् । देवस्त्रियो हि मायारूपाः पुरुषस्य शुभाशुभात्मकं भावि फलं सूचयितुं स्वप्नम् उत्पादयन्तीति प्रसिद्धिः । स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकत्वं श्रुतिर्दर्शयति । "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्" इति । "अथ स्वप्नाः । पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति" [ऐ० आ० ३. २. ४] इत्यादि च । अतो यमस्य करणः । यमशब्दः प्राणापहरणलक्षणं तद्व्यापारं लक्षयति । तस्य कर्ता भवसि । अत एव अन्तकः अन्तकरः जीवनावसानस्य कर्ता असि भवसि । मृत्युरसि प्राणत्यागस्य कारयिता भवसि । हे स्वप्न तं तादृशं त्वा त्वां तथा प्रागुक्तप्रकारेण सं विद्म सम्यग् जानीमः । हे स्वप्न स त्वं नः अस्मान् दुःस्वप्न्यात् दुःस्वप्नजनिताद् भयात् पाहि रक्ष ॥

हे स्वप्नके अभिमानी देव ! हम तेरी उत्पत्तिको जानते हैं, तू देवताओंकी स्त्री वरुणानी आदिका पुत्र है (क्योंकि—उनके द्वारा तू उत्पन्न होता है । यह प्रसिद्ध है, कि—मायारूप देवांगनाएँ पुरुषके आगामी शुभ और अशुभ फलको सूचित करनेके लिये स्वप्नको उत्पन्न करती हैं । स्वप्नके शुभ और अशुभ फल को सूचित करने वाली श्रुति भी है, कि—"यदा कर्मसु काम्येषु

स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात् ॥-अथ काम्य कर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो समझे, कि-समृद्धि होगी" "अथ स्वप्नाः । पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति ॥—अब स्वप्नोंका वर्णन करते हैं, कि-जिस स्वप्नमें काले दाँत वाले काले पुरुषको देखता है वह (स्वप्न) देखने वालेके संहारको सूचित करता है" (ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । ४) अतएव तू) यमका करण है अर्थात् प्राणका अपहरण करनारूप यमके व्यापारको करने वाला है, अतः जीवनका अवसान कराने वाला अन्तक होता है और प्राणत्याग कराने वाला मृत्यु होता है । हे स्वप्न ! ऐसे तुझको हम भली प्रकार जानते हैं हे स्वप्न ! तू दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले भयसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।

एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

यथा । कलाम् । यथा । शफम् । यथा । ऋणम् । सम्ऽनयन्ति ।

एव । दुःऽस्वप्न्यम् । सर्वम् । द्विषते । सम् । नयामसि ॥ ३ ॥

गोरवयवैकदेशः कला । शफः खुरः । दोषदूषितं कलादिकम् अङ्गं यथा छेदनादिना अपगमयन्ति । यथा वा ऋणम् अधमर्णाः पुरुषाः संनयन्ति संप्रदानेन गमयन्ति । एव एवं सर्वं दुष्वप्न्यम् दुःस्वप्नजनितं भयं द्विषते द्वेष्ट्रे जनाय सं नयामसि सम्यक् प्रापयामः

जैसे गौके कला खुर आदि दोषदूषित अङ्गोंको छेदन आदिक से दूर कर देते हैं और जैसे कर्जदार पुरुष ऋणको देकर निबटा देते हैं, इसी प्रकार दुःस्वप्नसे होने वाले सारे भयोंको हम अपने शत्रुओं पर पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः ।

स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम

अग्निः । प्रातःऽसवने । पातु । अस्मान् । वैश्वानरः । विश्वऽकृत् । विश्वऽशंभूः ।

सः । नः । पावकः । द्रविणे । दधातु । आयुष्मन्तः । सहऽभक्षाः । स्याम

अग्निः । सवनत्रयात्मको हि सोमयागः । तानि च सवनानि गायत्रं त्रैष्टुभं जागतम् इति क्रमेण नियतच्छन्दस्कानि । "अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वा" [ऋ० १०. १३०. ४] इति श्रुतेः अग्निर्गायत्र्या अधिदेवतेति तन्निर्वर्त्यस्य प्रातःसवनाख्यस्य कर्मणः स एवाधिदेवता । [प्रातःसवने] प्रातःसवनाख्ये कर्मणि अस्मान् ऋत्विग्यजमानान् पातु संभवद्वैकल्यपरिहारेण सवनसंपूर्त्या रक्षतु । कीदृशः सोऽग्निः । वैश्वानरः विश्वनरात्मको विराड्रूपः सर्वप्राणिहितकरो वा । अत एव विश्वकृत् विश्वस्य कृत्स्नस्य जगतः कर्ता । विश्वशंभूः विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् जगति दुःखशमनेन सुखस्य भावयिता । स तादृग्गुणविशिष्टः पावकः शोधकोऽग्निः नः अस्मान् द्रविणे यागफलात्मके धने दधातु स्थापयतु । वयमपि तत्प्रसादाद् आयुष्मन्तः दीर्घायुषा युक्ताः सहभक्षाः समानसोमपानाः पुत्रपौत्रादिभिः सहभोजना वा स्याम भवेम ॥

अग्निदेव † प्रातःसवन नाम वाले कर्ममें हम ऋत्विज और यज-

---

† सोमयागमें तीन सवन होते हैं, वे छन्दोंके ऊपर नियत हैं उनके नाम गायत्र, त्रैष्टुभ और जागत हैं "अग्नेर्गायत्र्यभवत्

मानोंकी होसकने वाली विकलताको दूर कर सवनकी पूर्ति कर रक्षा करें। सब प्राणियोंका हित करने वाले वैश्वानर सम्पूर्ण जगत्के कर्ता विश्वकृत्, सम्पूर्ण जगत्के दुःखको शान्त कर सुख देने वाले विश्वशंभू शोधक यह अग्निदेव हमको यागफलरूप धनमें स्थापित करें। हम भी उनके प्रसादसे आयुष्मान् दीर्घायु और पुत्र पौत्र आदिके साथ भोजन करने वाले बनें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मान॒स्मिन् द्वि॒ती॒ये॒ सव॑ने॒ न ज॑ह्युः ।

आ॒यु॑ष्मन्तः प्रि॒यमे॑षां॒ वद॑न्तो व॒यं दे॒वानां॑ सु॒मतौ॑ स्याम ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । म॒रुतः॑ । इन्द्रः॑ । अ॒स्मान् । अ॒स्मिन् । द्वि॒तीये॑ । सव॑ने । न । ज॒ह्युः॒ ।

आयु॑ष्मन्तः । प्रि॒यम् । ए॒षा॒म् । वद॑न्तः । व॒यम् । दे॒वाना॑म् । सु॒ऽम॒तौ । स्या॒म॒ ॥ २ ॥

विश्वे सर्वे देवाः दानादिगुणयुक्ता मरुतः एतत्संज्ञका एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः सप्तगणात्मका देवाः इन्द्रश्च तेषाम् अधिपतिः । एते हि माध्यंदिनसवनस्य अधिपतयः । "इन्द्रो मरुत्वान्त्सोमस्य पिबतु। मरुत्स्तोत्रो मरुद्गणः" [निवि० २] इत्येवमादिनिविन्मन्त्रैः प्रतिपाद्याः । एते अस्मिन् परिसमाप्यमाने द्वितीये सवने अस्मान् ऋत्विग्यजमानान् न जह्युः न जहतु न परित्यजन्तु । अस्माभि-

---

सयुग्वा ॥" इस ऋग्वेदसंहिता १० । १३० । ४ की श्रुतिके अनुसार अग्नि गायत्रीके अधि देवता हैं. अत एव गायत्री छन्दसे होने वाले प्रातःसवनकर्मके भी वही अधिदेवता हैं।

दत्तं हविः स्वीकृत्य अस्मदीया इमे अभिमतफलप्रदानेन रक्षणीया इत्येवम् अनुग्रहबुद्ध्या युक्ता भवन्त्वित्यर्थः । एषां देवानाम् मरुताम् इन्द्रस्य च प्रियम् प्रीतिकरं स्तुतशस्त्रात्मकं वाक्यं वदन्तः उच्चारयन्तो वयं तत्प्रसादात् आयुष्मन्तः शतसंवत्सरपरिमितेन आयुषा युक्ताः सन्तः तेषां देवानां सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहात्मिकायां बुद्धौ स्याम भवेम ॥

दान आदि गुणोंसे युक्त मरुत् नाम वाले उञ्चास मरुद्गण और उनके अधिपति इन्द्रदेव यह इस समाप्त किये जाते हुए माध्यन्दिनसवन नामक दूसरे सवनमें हम ऋत्विज और यजमानोंका त्याग न करें तात्पर्य यह है, कि—हमारी दी हुई हविको स्वीकार करके यह देव हमको अपना समझ हम पर अनुग्रहबुद्धि रक्खें और अभिमत फल देकर इनकी रक्षा करनी चाहिये यह हम पर अनुग्रह करें । हम इन मरुद्देवताओंकी और इन्द्रदेवको प्रसन्न करने वाले स्तुत और शस्त्र नामक वाक्यको कहते हुए उनके प्रसादसे सौ वर्ष तककी आयुसे युक्त हो देवताओंकी अनुग्रहबुद्धिको पाते रहें—देवता हमें सौ वर्षकी आयु दें सौ वर्ष तक हम पर अनुग्रह करते रहें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ॥ ३ ॥

इदम् । तृतीयम् । सवनम् । कवीनाम् । ऋतेन । ये । चमसम् । ऐरयन्त । ते । सौधन्वनाः । स्वः । आनशानाः । सुऽइष्टिम् । नः । अभि । वस्यः । नयन्तु ॥ ३ ॥

इदं परिसमाप्यमानं तृतीयम् त्रित्वसंख्यापूरकं सवनम् सोमाभिषवोपलक्षितं तृतीयसवनाख्यं कर्म कवीनाम् क्रान्तदर्शनानाम् ऋभूणां स्वभूतम्। त एव हि इन्द्रादिभिः सहितास्तस्य सवनस्य अधिदेवताः। तथा च तत्रत्यो मन्त्रवर्णः। "इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितम्" [ऋ० ३. ६०. ५] "सम् ऋभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः" [ऋ० ४. ३५. ७] "ऋभवो देवाः सोमस्य मत्सन्" इति [निवि० ६] च। ये ऋभवो देवाः ऋतेन सत्येन अवितथेन आत्मीयेन शिल्पकर्मणा चमसम् सोमभक्षणपात्रम् एकम् ऐरयन्त प्रैरयन्त। चतुर्धा विभागेन चतुरश्चमसान् अकुर्वन्। "मैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातुः प्र यजमानस्य" [आप० १२. २३. १३] इत्येवं निर्दिष्टा मध्यतःकारिणां ये प्रधानभूताश्चमसास्तदभिप्रायम् एतत्। ननु मैत्रावरुणादीनामपि षण्णां होत्रकाणां पृथक्पृथक् चमसाः सन्ति। अत एव "होतृचमसमुख्यान् दश चमसान् उन्नयति" इति सूत्रकारा आहुः [आप० १२. २१. १४]। नैवम्। मैत्रावरुणादीनां वषट्कर्तृत्वेन होतृकार्यापन्नत्वात् "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" इति वषट्कारनिमित्तभक्षणसाधनचमसपात्रम् एकम् एवेति न चतुष्ट्वभङ्गः। तथा च दाशतय्याम् आर्भवसूक्तेषु देवत्वप्राप्तये चमसचतुष्टयनिर्माणं तत्रतत्र आम्नातम्। "एकं चमसं चतुरः कृणोतन" [ऋ०१. १६१. २] "व्यकृणोत चमसं चतुर्धा" [ऋ० ४. ३५. ३] "यदावाख्यच्चमसां चतुरः कृतान्" [ऋ० १. १६१. ४] इत्यादि। ते महानुभावाः सौधन्वनाः सुधन्वन आङ्गिरसस्य पुत्राः। तद् उक्तं यास्केन। सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः। ऋभुर्विभ्वा वाज इति। प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेनेति [नि० ११. १६]। ते च मनुष्या एव सन्तो रथनिर्माणादिशिल्पकरणेन देवांस्तोषयित्वा तत्प्रसादेन देवत्वं प्राप्ताः। श्रूयते हि। "तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू" [ऋ० १. १११. १] इत्यादि। तद् इदम्

उच्यते स्वरानशाना इति । रथचमसादिनिर्माणेन स्वर्गवासोपलक्षितं देवत्वं प्राप्नुवन्तस्तृतीयसवनस्य अधिपतय अभवः वस्यः वसीयः । ❀ ईयस आदिवर्णलोपश्छान्दसः । वसीय इत्येव तैत्तिरीयका अधीयते ❀ । वसीयः वसुमत्तमं वासयितृतमं वा प्रशस्तं फलम् अभिलक्ष्य नः अस्मान् स्विष्टिम् शोभनाम् इष्टिं यजनं नयन्तु अविकलं प्रापयन्तु ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

यह परिसमाप्यमान तीनकी संख्याको पूर्ण करने वाला सोमाभिषवोपलक्षित तृतीयसवन नाम वाला कर्म क्रान्तदर्शी उन ऋभुओंका है, ‡ कि–जिन ऋभु देवताओंने सत्य शिल्पकर्मसे सोमभक्षणके पात्र चमसको प्रेरित किया था + वे महानुभाव

‡ इन्द्र आदि और वे ऋभु ही इस सवनके अधिदेवता हैं । इस विषयमें मन्त्रोंके प्रमाण भी हैं, कि–"इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितम् ॥–हे इन्द्र ! आप यज्ञिय अन्नके भोक्ता ऋभुओंके साथ इस समुक्षित०" ऋग्वेदसंहिता ३ । ६० । ५ और "समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः–रत्नधारी ऋभुओंके साथ आप सोमपान करिये" ऋग्वेदसंहिता ६ । ३५ । ७ और "ऋभवो देवाः सोमस्य मत्सन् ॥–ऋभुदेवता सोमके विषयमें आनन्दित हुए" निवित् ६ ।

+ चमसको प्रेरित करनेका तात्पर्य यह है, कि उन्होंने चार विभाग करके चार चमस बनाये थे । आपस्तम्बश्रौतसूत्र १२ । २३ । १२ में कहा है, कि–"प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातुः प्र यजमानस्य ॥–होताका ब्रह्माका उद्गाताका और यजमानका चमस शीघ्रतासे आवे ।" यह मध्यतःकारियोंके चार प्रधान चमसोंको लक्ष्य करके कहा है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है, कि–मैत्रावरुण आदि छः होत्रकोंके भी अलग अलग छः चमस

सुधन्वा आंगिरसके पुत्र हैं † वे रथ चमस आदिका निर्माण करनेसे स्वर्गमें वसना रूप देवत्वको प्राप्त होगए हैं ऐसे वे ऋभु

(खानेके पात्र) होने चाहियें, फिर चार चमस कैसे ? हमारी बातकी पुष्टि आपस्तम्बश्रौतसूत्र १२ । २१ । १४ से भी होती है, कि-"होतृचमसमुख्यान् दश चमसान् उन्नयति ॥-जिनमें होताका चमस मुख्य है ऐसे दश चमसोंका उन्नयन करे" । इस शङ्काका उत्तर यह है, कि मैत्रावरुण आदि वषट्कर्ता होनेसे होताके ही अन्तर्गत आ जाते हैं और "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः-वषट्कर्ताका प्रथम भक्ष होता है" इस प्रकार वषट्कारनिमित्तभक्षणसाधन चमसपात्र एक ही होता है अत एव चारका भङ्ग नहीं होता । अत एव ऋग्वेदसंहिताके आर्भवसूक्तोंमें देवत्वकी प्राप्तिके लिये चार चमसोंके निर्माणकी बात जहाँ तहाँ कही है, कि-"एकं चमसं चतुरः कृणोतन-एक चमसके स्थानमें चार बनाओ" ऋग्वेदसंहिता ६ । १६१ । २ "व्यकृणोत चमसं चतुर्धा-चमसको चार तरहसे बनाओ" ऋग्वेदसंहिता ४ । ३५ । ३ "यदावाख्यचमसां चतुरः कृतान् ॥-चार बनाये हुए चमसोंको निवेदन किया" ऋग्वेदसंहिता ६ । १६१ । ४ ॥

‡ इसका वर्णन यास्क मुनिने किया है, कि-"अंगिरस सुधन्वाके ऋभु विभु और वाज नामक तीन पुत्र हुए । इनमें ऋभु और वाजसे संयुक्त बहुतसे मंत्र हैं मध्यम विभुसे संयुक्त मंत्रोंके विषयमें यह बात नहीं है ।" (निघंटु ११ । १६) वे मनुष्य होने पर भी रथ चमस आदिके निर्माणरूप शिल्पकार्यसे देवताओंको प्रसन्न कर उनके प्रसादसे देवत्वको प्राप्त होगए थे । इस विषयमें ऋग्वेदसंहिता १ । १११ । १ का प्रमाण भी है, कि-"तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू०" ॥

श्रेष्ठ फलको लक्ष्यमें रख कर हमारी इष्टिको अविकलरीतिसे पूर्णताको प्राप्त करावें ॥ ३ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (२२०) ॥

"श्येनोसि" इति तृचेन उपनीतस्य माणवकस्य आचार्यो दण्डम् अभिमन्त्र्य दद्यात् । सोपि माणवकः एतं तृचं जपन् प्रतिगृह्णीयात् । "उपनयनम्" [कौ० ७. ६] प्रक्रम्य सूत्रितम् । "पालाशदण्डं प्रयच्छति" इति [कौ० ७. ८] "अवक्रोविधुरो भूयासम् इति प्रतिगृह्णाति श्येनोसीति च" इति [कौ० ७. ७]॥

तथा अभयकामः अनेन तृचेन सप्तर्षीन् यजते उपतिष्ठते वा । "श्येनोसीति प्रतिदिशं सप्तर्षीन् अभयकामः" इति हि सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

"श्येनोसि" "नृषासि" "असुरसि" इति तिस्र ऋचः सवनत्रये क्रियमाणेषु बहिष्पवमानमाध्यंदिनार्भवपवमानेषु स्तुतेषु यजमानं ब्रह्मा यथाक्रमं वाचयेत् । उक्तं वैताने । "स्तुते बहिष्पवमाने वाचयति श्येनोसीति नृषासीति माध्यंदिने असुरसीत्यार्भवे" इति [वै० ३. ७]

तथा "श्येनोसि इत्याद्याभिस्त्रिभिः यथाक्रमं सवनसमाप्तिहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने । "श्येनोसि [६. ४८] यथा सोमः प्रातःसवने [६. १. ११] इति यथासवनम् आज्यं जुहोति संस्थितहोमान्" इति [वै० ३. ११] ॥

"नहि ते अग्ने" इति तृचेन मृताचार्यदहनाग्नौ श्रेयस्कामो ब्रह्मचारी सूत्रोक्तप्रकारेण पुरोडाशं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "नहि ते अग्ने तन्वः [६. ४९] इति ब्रह्मचार्याचार्यस्यादहन उपसमाधाय त्रिः परिक्रम्य पुरोडाशं जुहोति" इति [कौ० ५. १०] ॥

"श्येनोसि" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे आचार्य उपनीत बालकको दण्डको अभिमंत्रित करके देय । और वह बालक भी

इस तीन ऋचा वाले सूक्तको जपता हुआ दण्डको ग्रहण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"उपनयनम्" (कौशिकसूत्र ७ । ६) प्रक्रम्य सूत्रितम् । "पालाशदण्डं प्रयच्छति" (कौशिकसूत्र ७ । ८) अवक्रो विधुरो भूयासम् इति प्रतिगृह्णाति श्येनोसीति च" (कौशिकसूत्र ७ । ७) ॥

तथा अभयको चाहने वाला पुरुष इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे सप्त ऋषियोंके निमित्त यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"श्येनोसीति प्रतिदिशं सप्तर्षीन् अभयकामः (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

"श्येनोसि" "नृषासि" "ऋभुरसि" इन तीन ऋचाओंको तीनों सवनोंमें किये जाने वाले बहिष्पवमान माध्यंदिन और आर्भवपवमानरूप स्तुतोंमें यजमानसे ब्रह्मा क्रमानुसार बचवावे। इस बातको वैतानसूत्रमें कहा भी है, कि–"स्तुते बहिष्पवमाने वाचयति श्येनोसीति नृषासीति माध्यन्दिने ऋभुरसीत्यार्भवे" (वैतानसूत्र ३ । ७) ॥

तथा "श्येनोसि" आदि तीन ऋचाओंसे यथाक्रम सवनसमाप्तिहोमोंमें आहुति देय। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"श्येनोसि (६ । ४८) यथा सोमः प्रातःसवने (६ । १ । ११) इति॥ यथासवनम् आज्यं जुहोति संस्थितहोमान् (वैतानसूत्र ३ । ११) ॥

कल्याण चाहने वाला ब्रह्मचारी मरे हुए आचार्यको भस्म करने वाली अग्निमें 'न हि ते अग्ने' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे सूत्रोक्तरीतिसे पुरोडाशको होमे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'न हि ते अग्ने तन्वः (६ । ४९) इति ब्रह्मचार्याचार्यस्यादहन उपसमाधाय त्रिः परिक्रम्य पुरोडाशं जुहोति' (कौशिक सूत्र ५ १०॥)

तत्र प्रथमा ॥

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ रभे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॑द॒चि स्वाहा॑ ॥१॥

श्येनः । अ॒सि । गा॒य॒त्रऽछ॑न्दाः । अनु॑ । त्वा॒ । आ । र॒भे ।
स्व॒स्ति । मा॒ । सम् । व॒ह॒ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒त्ऽऋ॒चि । स्वाहा॑ ॥

हे प्रातःसवनात्मक यज्ञ त्वं श्येनः शंसनीयगतिः पक्षिविशेषः तद्वत् शीघ्रगमनः असि । कीदृशस्त्वम् । गायत्रच्छन्दाः । गायत्र्येव गायत्रम् । ❀ "छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसके स्वार्थ उपसंख्यानम्" इति स्वार्थिकः अण् प्रत्ययः ❀ । स्तुतशस्त्रादिषु गायत्रम् एव छन्दो यस्मिन् सवने स तथोक्तः । अल्पाक्षराया अपि गायत्र्याः प्रथमं यज्ञसंबन्धः सोमाहरणनिमित्तकः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ब्रह्मवादिनो वदन्ति । कस्मात् सत्याद् गायत्री कनिष्ठा छन्दसां सती यज्ञमुखं परीयायेति । यदेवादः सोमम् आहरत् तस्माद् यज्ञमुखं पर्येत्" इति [तै० सं० ६. १. ६. ४]। यद्वा श्येनाकारेण चीयमानोऽग्निः श्येनः । श्रूयते हि । "श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः । श्येनो वै वयसां पतिष्ठः" इति [तै० सं० ५. ४. ११. १]। स चाग्निः गायत्रच्छन्दः । गायत्र्यास्तस्य च प्रजापतिमुखात् सहोत्पत्तेः । ईदृशं त्वा त्वाम् अन्वा रभे दण्डवद् आधारत्वेन परिगृह्णामि । अतः अस्य अनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य उदृचि । उत्तमा अवसानवर्तिनी ऋक् उदृक् । तद्वाचिना अनेन शब्देन यागसमाप्तिर्लक्ष्यते । समाप्तौ स्वस्ति क्षेमेण मा मां सं वह सम्यक् प्रापय । स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु । यद्वा स्वैव वाक् एवम् आहेति स्वाहाशब्दस्यार्थः । ❀ तथा च यास्कः । स्वा वाग आहेति वा स्वं प्राहेति वेति [नि० ८. २०]। तन्मूल-

भूता श्रुतिरेवम् आम्नायते। "स्यैव ते वाग् इत्यब्रवीद् । सोजुहोद् स्वाहेति" इति [तै० आ० २. १. २. ३] ॐ ॥

हे प्रातःसवनात्मक यज्ञ! तू प्रशंसनीय गति वाले बाज पक्षी की समान शीघ्र चलने वाला है, तेरे स्तुत और शस्त्र नामक स्तोत्रोंमें गायत्री छन्दका ही अधिक प्रयोग होता है अत एव तू गायत्रच्छन्दा है ‡। ऐसे तुझको मैं दण्डकी समान आधार-रूप में ग्रहण करता हूँ अत एव इस अनुष्ठीयमान यज्ञकी अंतिम उत्तम ऋचामें मुझको भली प्रकार पहुँचा, यह आहुति स्वाहुत हो।

अथवा-हे प्रातःसवनात्मक अग्ने! तुम श्येन हो, बाजकी समान फैलाये जाते हो † और गायत्रीच्छन्दा हो (क्योंकि-गायत्रीकी और उसकी प्रजापतिके मुखसे साथ ही साथ उत्पत्ति हुई है। ऐसे तुमको मैं दण्डकी समान आधाररूपसे ग्रहण करता हूँ, वह अग्निदेव हमको इस अनुष्ठीयमान यज्ञकी उत्तम अन्तिम ऋचा

---

‡ अल्प अक्षर वाली गायत्रीका सोमाहरणके निमित्त यज्ञसे सम्बन्ध होता है। इस बातका तैत्तिरीयसंहितामें वर्णन है, कि "ब्रह्मवादिनो वदन्ति। कस्माद् सत्याद् गायत्री कनिष्ठा छन्दसां सती यज्ञमुखं परीयायेति। यदेवादः सोममाहरत् तस्माद् यज्ञमुखं पर्यैत् ॥-ब्रह्मवादी कहते हैं, कि-गायत्री और छन्दोंसे (अक्षरोंमें) छोटी होने पर भी किस सत्यके प्रभावसे यज्ञमुख को प्राप्त होती है-यज्ञके आरम्भमें ही पढ़ी जाती है-। (इसका उत्तर यह है, कि-) यह सोमका आहरण करती है अतः यज्ञमुखको प्राप्त होती है" (तैत्तिरीयसंहिता ६।१।६।४) ॥

† इस विषयमें श्रुतिका प्रमाण भी है, कि-"श्येनचितं चिन्वीत सुवर्गकामः। श्येनो वै वयसां पतिष्ठः ॥-स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष श्येनचित् यागको करे। श्येन पक्षियोंमें शीघ्रतासे उड़ने वाला है" (तैत्तिरीयसंहिता ५।४।११।१) ॥

में पहुँचावें। वाणी अपने आप ही ऐसी ही हो कहती है ‡ ॥ १

द्वितीया ॥

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रंभे।

स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥

ऋभुः। असि। जगच्छन्दाः। अनु। त्वा। आ। रभे।

स्वस्ति। मा। सम्। वह। अस्य। यज्ञस्य। उत्ऽऋचि। स्वाहा॥२

हे तृतीयसवनात्मक यज्ञ जगच्छन्दाः। जगच्छब्दो जगतीपर्यायः। "जागतं तृतीयसवनम्" इति [तै० ब्रा० ३. ८. १२.२] श्रुतेः। तृतीयसवनगतस्तुतशस्त्रादिषु जगतीछन्दस्का एव मन्त्राः प्रायेण भवन्ति। अतो जगच्छन्दस्त्वम्। ऋभुरसि। ऋभुर्नाम सौधन्वन आङ्गिरसः क्रियाविशेषेण लब्धदेवभाव इत्युक्तम्। तत्प्रीतिकरत्वात् तदात्मकोसीत्यर्थः। अनु त्वा रभे इत्यादि पूर्ववत्॥

हे तृतीय सवनात्मक यज्ञ! तू जगच्छन्दा है, अर्थात् तुझमें जगती छन्द वाले मन्त्र ही अधिक आते हैं ×। देव भावको प्राप्त हुए ऋभुको प्रसन्न करने वाला होनेसे तू ऋभु ही है, ऐसे तुझको मैं दण्डकी समान आधाररूपसे ग्रहण करता हूँ, वह

‡ इस विषयमें यास्क मुनिने कहा है, कि—'स्वा वाग् आहेति वा स्वं प्राहेति वेति ॥—स्वाहा शब्दका यह अर्थ है, कि—वाणी अपनेको कहती है वा अपनी वाणी कहती है ॥" (निघण्टु ८। २०) ॥ इस विषयमें श्रुतिका प्रमाण भी है, कि—"स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत्। सोऽजुहोत् स्वाहेति" (तैत्तिरीयब्राह्मण २। १। २। ३) ॥

× तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ८। १२। २ में कहा है, कि—"जागतं तृतीयसवनम् ॥—तृतीय सवनमें जगतीच्छन्द होता है"॥

हमको इस अनुष्ठीयमान यज्ञकी उत्तम अन्तिम ऋचा पर पहुं-चावें, यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वृषांसि त्रिष्टुप्छंन्दा अनु त्वा रंभे ।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहां ॥ ३ ॥

वृषा । असि । त्रिस्तुप्ऽछन्दाः । अनु । त्वा । आ । रभे ।
स्वस्ति । मा । सम् । वह । अस्य । यज्ञस्य । उत्ऽऋचि । स्वाहा ।

हे माध्यन्दिनसव त्वं वृषा सेचनसमर्थ इन्द्रः स एवासि भवसि तत्प्रीतिकरत्वात् । स खलु माध्यन्दिनसवनस्याधिपतिः । श्रूयते हि । "प्रातः सुतम् अपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते" [ऋ० ४. ३५. ७] इति । स त्वं त्रिष्टुप्छन्दाः त्रिष्टुप्छन्द-स्कमन्त्रसाध्यस्तुतशस्त्रोपेतत्वात् । "त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्" इति हि ब्राह्मणम् [तै० ब्रा० २. ८. १२. १]। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

हे माध्यन्दिनसवन ! तू सेचन समर्थ इन्द्रको प्रसन्न करने वाला होनेसे इन्द्र है ‡ वह तू त्रिष्टुप्छन्दा है, क्योंकि–तेरे स्तुत और शस्त्र नामक स्तोत्रोंमें त्रिष्टुप् छन्द ही अधिक आते हैं † ।

---

‡ इन्द्रदेव माध्यन्दिन सवनके अधिपति हैं । श्रुतिमें भी इस का प्रमाण है, कि–"प्रातः सुतं अपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते ॥—हे हरे घोड़ों वाले इन्द्र ! आप प्रातःकालके समय निचोड़े हुए सोमको पीजिये, यह केवल माध्यन्दिन सवन ही आपका है । [ऋग्वेदसंहिता ४ ।" ३५ । ७] ॥

† तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ८ । १२ । १ में कहा है, कि-"त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम् ॥–माध्यन्दिन सवनमें त्रिष्टुप् छन्दका प्रयोग किया गया है ।"

ऐसे तुझको मैं दण्डकी समान आधाररूपसे ग्रहण करता हूँ, वह हमको इस अनुष्ठीयमान यज्ञकी उत्तम अन्तिम ऋचा पर पहुँचावे, यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः ।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव ॥ १ ॥

नहि । ते । अग्ने । तन्वः । क्रूरम् । आनंश । मर्त्यः ।
कपिः । बभस्ति । तेजनम् । स्वम् । जरायु । गौःऽइव ॥ १ ॥

हे अग्ने ते तव तन्वः शरीरस्य ज्वालात्मकस्य क्रूरम् तैक्ष्ण्यं मर्त्यः मरणधर्मा पुरुषः नहि आनंश न खलु प्राप्तुं शक्नोति । ❀ अश्नोतेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । अपि च कपिः कम् उदकं शरीरगतं रसं पिबतीति कपिः । यद्वा कपिवद् इतस्ततश्चङ्क्रमणशीलस्त्वदीयो ज्वालासमूहः तेजनम् अन्तर्निःसारं वेणुमिव स्थितं शरीरं बिभस्ति दीपयति भस्मीकरोति । ❀ भस भर्त्सनदीप्त्योः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ❀ । यद्वा । ❀ बभस्तिरत्तिकर्मा इति यास्कः [नि० ५. १२] ❀ । भक्षयतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः स्वम् इत्यादि । गौरिव यथा प्रसूता गौः स्वम् स्वकीयं जरायु गर्भवेष्टनं प्रसवानन्तरं भूमौ पतितं भक्षयति तद्वत् पुरुषशरीरं भक्षयतीत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! आपके ज्वालात्मक शरीरकी तीक्ष्णताको मनुष्य पा नहीं सकता पकड़ नहीं सकता । कपिकी समान चञ्चलपूर्वक घूमने वाला और शरीरके जलको पीने वाला आपका ज्वालासमूह, भीतरसे निःसार वेणुकी समान स्थित शरीरको इस प्रकार खाजाता है, जिस प्रकार प्रसूता गौ प्रसवके अनन्तर भूमि में पड़ी हुई अपनी जेलको खाजाती है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

मेषइव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः शीर्ष्णा शिरोप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून् बभस्ति हरितेभिरासभिः ॥ २ ॥

मेषःऽइव । वै । सम् । च । वि । च । उरु । अच्यसे । यत् । उत्तरऽद्रौ । उपरः । च । खादतः ।

शीर्ष्णा । शिरः । अप्ससा । अप्सः । अर्दयन् । अंशून् । बभस्ति । हरितेभिः । आसऽभिः ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वं पुरुषशरीरं दाह्यं प्राप्य उरु बहुलं सम् उच्यसे । प्रथमं तावत् तत्तदवयवेन समवैषि संगच्छसे । ❀ उच समवाये इति धातुः ❀ । पश्चाद् व्युच्यसे च कृत्स्नशरीरं विविधं व्याप्नोषि । दग्धम् अङ्गं विसृज्य अन्यत्र गच्छसि । तत्र दृष्टान्तः मेष इव वा इति । मेषो यथा भक्षणार्थं तृणभूयिष्ठं देशं प्राप्य भक्ष्येण तृणादिना प्रथमं संयुज्यते ततो भक्षणेन तत्रत्यं तृणजातं सर्वं व्याप्नोति तद्वद् इत्यर्थः । यत् यदा उत्तरद्रौ उपर्यवस्थितकाष्ठयुक्ते दाह्यशरीरे अपरः । चकारात् पूर्वश्च । उभावग्नी खादतः भक्षयतः । यद्वा उत्तरद्रौ उत्कृष्टतरद्रुमे महावृक्षभूयिष्ठे वने संचरन् अपरः दावाग्निः शावाग्निश्च उभौ खादतः भक्षयतः । दाह्यं दहत इत्यर्थः । तदा शीर्ष्णा शिरसा ज्वालाग्रेण तत्रत्यस्य शरीरस्य वृक्षादेर्वा शिरः अर्दयन् हिंसन् तथा अप्ससा । रूपनामैतत् । स्वकीयेन भास्वररूपेण कृत्स्नशरीरेण अप्सः दाह्यशरीरस्य यद्वा महीरुहादेः स्वरूपम् अर्दयन् हिंसन् अयम् अग्निः हरितेभिः हरितैर्बभ्रुवर्णैः आसभिः आस्यैः अंशून् सोमलतादिकान् बिभस्ति भक्षयति ॥

हे अग्ने ! तुम भस्म करने योग्य पुरुषशरीरको पाकर उसके अवयवसे मिलते हो, फिर सारे शरीरमें इस प्रकार व्याप्त हो जाते हो, कि-जैसे मेढ़ा भक्षण करनेके लिये बहुतसे तिनकों वाले देशमें जाकर पहिले तृण आदिसे संयुक्त होता है, तदनंतर वहाँके सम्पूर्ण तृणोंमें भक्षण करनेके रूपसे व्याप्त होजाता है । और श्रेष्ठ वृक्षवाले वनमें घूमने वाला दावाग्नि और शवको भस्म करने वाला शावाग्नि जिस समय भस्म करने लगते हैं, उस समय ज्वालाके अग्रभागरूप अपने शिरसे वृक्ष वा पुरुषके शरीर को पीड़ित करते हुए तथा अपने भास्वररूपसे वृक्षके स्वरूपको भस्म करते हुए अपने बभ्रुवर्ण वाले मुखोंसे सोमलता आदिको खा जाते हैं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः

सुऽपर्णाः । वाचम् । अक्रत । उप । द्यवि । आऽखरे । कृष्णाः ।
इषिराः । अनर्तिषुः ।
नि । यत् । निऽयन्ति । उपरस्य । निःऽकृतिम् । पुरु । रेतः ।
दधिरे । सूर्यऽश्रितः ॥ ३ ॥

हे अग्ने सुपर्णाः शोभनपतनाः श्येनवत् शीघ्रव्यापनशीलास्त्वदीया ज्वालाः वाचम् अक्रत दाहजन्यं ध्वनिविशेषम् अकुर्वत । ❀ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ । आखरे । आखरः आवासस्थानम् । ❀ "खरो वक्तव्यः" इति आङ्पूर्वात् खनेर्डरप्रत्ययः ❀ । आखरे आवासस्थाने कृष्णाः । लुप्तोप-

नम् एतत् । कृष्णमृगा इव दिवि आकाशे इषिराः गमनशीला दीप्तयः उपेत्य अनर्तिषुः नृत्यन्ति स्म । ❁ नृती गात्रविनामे ❁ । ताश्च ज्वाला बहलधूमोत्पादनेन उपरस्य मेघस्य । ❁ उपर उपलो मेघो भवतीति निरुक्तम् [नि० २, २१] ❁ । निष्कृतिम् निर्माणं नितरां यत् यस्माद् नियन्ति निर्गच्छन्ति तस्मात् हे अग्ने त्वदीयाः एव दीप्तयः सूर्यश्रितः आदित्यमण्डलं प्राप्ताः सत्यः पुरु बहुलं रेतः सर्वप्राण्युपादानभूतं वृष्ट्युदकं दधिरे जगदुत्पादनार्थं धारयन्ति ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आपकी बाजकी समान शीघ्रतासे चलने वाली ज्वालायें दाहसे उत्पन्न होने वाली ध्वनिको करती हैं और जैसे अपने रहनेके स्थानमें काले मृग उछल कूद मचाते हैं इसी प्रकार आपकी गमनशील लपटें आकाशमें पहुँचकर नाचने लगती हैं। और वे ज्वालाएँ बहुतसे धूमको उत्पन्न करनेके कारण मेघोंका निर्माण करतीहुई चलती रहती हैं, इसकारण हे अग्ने ! आपकी दीप्तियें ही आदित्यमण्डलको पाकर, सब प्राणियोंके उपादानरूप बहुत से रेत (वृष्टिके जल) को जगत्को उत्पन्न करनेके लिये धारण किये रहती हैं ॥ २ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (२२२) ॥

"हतं तर्दम्" इति तृचेन मूषकपतङ्गशलभटिट्टिभकीटहरिणशल्यकगोधादीनां सस्यभक्षकाणां निवृत्तये लोहमयं सीसं धर्षन् एतं तृचं जपन् मूषकादियुक्तं क्षेत्रम् अभिक्रामेत् ॥

तथा अनेन तृचेन शर्करा अभिमन्त्र्य मूषकादिस्थाने परिकिरेत् ॥

तथा मूषकादिमुखं केशेन बद्ध्वा अनेन तृचेन क्षेत्रमध्ये निखनेत् ॥

तथा सरूपवत्साया गोर्दुग्धे शृतं चरुम् अनेन तृचेन अश्विभ्यां जुहुयात् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "हतं तर्दम् इत्ययःसीसं धर्षन् उर्वरां परिक्रामति तस्मिन्नवकिरति" इत्यादि [कौ० ७, २] ॥

"वायोः पूतः" इति तृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

तथा सर्वरोगभैषज्ये अनेन तृचेन आज्यहोमं पलाशादिशान्तवृक्षसमिदाधानं च कुर्यात् ॥

तथा सोमवमनपानादिनिमित्तव्याधिशमनार्थं सोमरसमिश्रिताः पलाशादिसमिध आदध्यात् ॥

सूत्रितं हि "अम्बयो यन्ति [१. ४] वायोः पूतः [६. ५१] इति च शान्ता उत्तरस्य ससोमाः" इति [कौ० ४. १] ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकामः अनेन तृचेन "पुनन्तु मा" [६. १९] इत्यत्रोक्तानि क्षीरौदनहवनादिकर्माणि कुर्यात् । "अर्थम् उत्थास्यन्" इति प्रक्रम्य "पुनन्तु मा [६. १९] सस्रुषीः [६. २३] हिमवतः प्र स्रवन्ति [६. २४] वायोः पूतः पवित्रेण" [६. ५१] इत्यादि "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रम् [कौ० ५. ५] अत्र द्रष्टव्यम् ॥

तथा अस्य तृचस्य अपां सूक्तेषु पाठात् आप्लावनादौ विनियोगः । "अवभृथाय व्रजन्त्यपां सूक्तैराप्लुत्य" इति [कौ० ८. ९] सूत्रितम् ॥

सोमातिपूतकर्तृकायां सौत्रामण्यां "वायोः पूतः" इति तृचेन दशापवित्रेण पाव्यमानां सुराम् अनुमन्त्रयेत । "अभिचित् सोमातिपूतः सोमवामी सौत्रामण्याभिषिच्यते" इति प्रक्रम्य "या बभ्रवः [८. ७] इत्योषधिभिः सुरां संधीयमानां वायोः पूतः [६.५१] इति सोमातिपूतस्य पाव्यमानाम्" इति हि वैतानसूत्रम् [वै०५.३]

'हतं तर्दम्' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे चूहे पक्षी मच्छर टीड़ी कीड़े हिरन सेही और गोह आदि धान्यका भक्षण करने वालों की निवृत्तिके लिये लोहे मिले सीसेको रेतता हुआ और इस सूक्त को जपता हुआ मूषिक आदिसे युक्त खेतमें घूमे ॥

तथा इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे शर्करा (रेते) को अभिमन्त्रित कर मूषिक आदिके स्थानमें बखेर देवे।

तथा मूषिक आदिके मुखको केशसे बाँधकर इस तृचसे खेतके बीचमें गाड़ देय॥

तथा सरूपवत्सा गौके दूधमें औटाये हुए चरुकी इस तीन ऋचा वाले सूक्त (तृच) से अश्विनीकुमारोंके लिये आहुति देय॥

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–'हतं तर्दं इत्ययः सीसं घर्षन् उर्वरां परिक्रामति तस्मिन्नवकिरति' इत्यादि (कौशिकसूत्र ७।२)॥

"वायोः पूतः" इस तृचका बृहद्गणमें पाठ है अत एव शांत्युदक आदिमें इसका विनियोग होता है।

तथा सब रोगोंकी चिकित्सामें इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे घृतका होम तथा पलाश (ढाक) आदि शान्त वृक्षोंकी समिधाओंका रखना आदि कर्म करे।

तथा सोमका वमनरूप और पान करनेसे होने वाली व्याधिको शान्त करनेके लिये सोमरससे मिली हुई ढाककी समिधाओंको रक्खे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अम्बयो यन्ति (१। ४) वायोः पूतः (६ । ५१) इति च शान्ता उत्तरस्य ससोमाः" (कौशिकसूत्र ४ । १)

तथा धनको उठानेमें होने वाले विघ्नोंको शांत करना चाहने वाला इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे "पुनन्तु मा" इस छठे काण्डके उन्नीसवें सूक्तमें कहे हुए क्षीरौदनहवन आदि कर्म करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अर्थं उत्थास्यन्' इति प्रक्रम्य "पुनन्तु मा (६ । १९) ससुषीः (६ । २३) हिमवतः प्रस्रवन्ति (६ । २४) वायोः पूतः पवित्रेण" (६ । ५१)

इत्यादि "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्येतदन्तं सूत्रम् (कौशिकसूत्र ५ । ३)॥

इस सूक्तका अपांसूक्तोंमें पाठ है अतः इसका आसावन आदिमें विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अत्र शुथाय प्रजन्त्यपां सूक्तैरासुत्य" (कौशिकसूत्र ८।६)॥

सोमातिपूतकर्तृका सौत्रामणिमें "वायोः पूतः" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे दशापवित्रके द्वारा पवित्र की जाती हुई सुराका अनुमन्त्रण करे इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अग्निचित् सोमातिपूतः सोमवामी सौत्रामण्याभिषिच्यते" इति प्रकृत्य "या बभ्रवः (८।७) इत्योषधिभिः सुरां संधीयमानां वायोः पूतः (६।५१) इति सोमातिपूतस्य पाव्यमानाम्" (वैतानसूत्र ५।२)॥

तत्र प्रथमा ॥

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय

हतम् । तर्दम् । सम्ऽअङ्कम् । आखुम् । अश्विना । छिन्तम् । शिरः । अपि । पृष्टीः । शृणीतम् ।
यवान् । न । इत् । अदान् । अपि । नह्यतम् । मुखम् । अथ । अभयम् । कृणुतम् । धान्याय ॥ १ ॥

हे अश्विना अश्विनौ एतत्संज्ञौ देवौ तर्दम् हिंसकम् । ❀ तर्द हिंसायाम् इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀। समङ्कम् समञ्चनं बिलं संप्रविश्य गच्छन्तम् । ❀ संपूर्वाद् अञ्चतेः "पुंसि संज्ञायाम्०"

इति घः । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ॥ । एवंभूतम् आखुं हतम् नाशयतम् । ॥ हन्तेर्लोटि अदादित्वात् शपो लुकि "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः । आ समन्तात् खनतीति आखुः । खनु अवदारणे । आङ्पूर्वाद् अस्माद् "आङ्-परयोः खनिशृभ्यां डिच्च" [उ० १. ३३] इति उ प्रत्ययः टिलोपश्च ॥ ॥ हननप्रकारः प्रतिपाद्यते छिन्तम् इत्यादिना । तस्याखोः शिरश्छिन्तम् द्विधा कुरुतम् । ॥ छिदिर् द्वैधीकरणे । लोण्मध्यमपुरुषद्विवचने "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ॥ । पृष्टीः पार्श्वास्थीन्यपि तत्संबन्धीनि शृणीतम् हिंस्तं चूर्णीकुरुतम् । ॥ शृ हिंसायाम् । प्वादित्वाद् ह्रस्वः ॥ । स च आखुः नेत् अदात् नैव भक्षयेत् अस्मदीयं व्रीह्यादिकम् इत्यभिप्रेत्य हे अश्विनौ युवां तदीयं मुखम् आस्यम् अपि नह्यतम् अपिनद्धं पिहितं कुरुतम् । एवं कृत्वा अथ अनन्तरम् अस्मदीयाय धान्याय व्रीहियवादिरूपाय अभयम् तत्कृतभयराहित्यं कृणुतम् कुरुतम् ॥

हे अश्विनीकुमार नामक देवताओं ! तुम बिलमें प्रवेश करके जाने वाले हिंसक चूहेको मार डालो । हे अश्विनीकुमारों ! तुम इसके शिरके दो टुकड़े कर दो, इसकी पसलीकी हड्डियोंको भी चूर्ण कर दो, हे अश्विनीकुमारों ! यह चूहा हमारे धान आदि अन्नको न खा सके इस लिये तुम इसके मुखको ढक दो, ऐसा करके हमारे धान्यको इसके भयसे मुक्त करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तर्द॒ है पत॑ङ्ग॒ है जभ्य॒ हा उप॑क्वस ।

ब्र॒ह्मेवास॑स्थितं ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॒नहिं॑सन्तो अ॒पोदि॑त ॥ २ ॥

तर्द । है । पतङ्ग । है । जभ्य । है । उपऽक्वस ।
ब्रह्माऽइव । असम्ऽस्थितम् । हविः । अनदन्तः । इमान् । यवान् ।
अहिंसन्तः । अपऽउदित ॥ २ ॥

हैशब्दः हेशब्दवद् आभिमुख्यकरणे । हे तर्द हिंसक आखो हे पतङ्ग शलभ हे जभ्य उपद्रवकारित्वाद् अस्माभिर्हिंस्य युष्माकं हननाय इदम् अस्मदीयम् अश्विभ्यां होतव्यं हविः ब्रह्मेव असंस्थितम् "महद् भयं वज्रम् उद्यतम्" [क० व० ६, २] इत्याद्युपनिषत्प्रसिद्धं जगत्कारणं ब्रह्म अपरिसमाप्तं दुष्प्रधर्षं भवति एवम् इदं हविर्वर्तत इत्यर्थः । अतः अस्य हविषो होमात् प्रागेव अपक्वसः अदग्धाः सन्तः इमान् अस्मदीयान् यवान् सस्यविशेषान् अनुदन्तः अप्रेरयन्तः अहिंसन्तः अविनाशयन्तो यूयम् अपोदित अस्मात् स्थानाद् अपगता भवत ॥

हे हिंसक चूहे शलभ ! तुम उपद्रव करने वाले होनेसे मारने योग्य हो अत एव तुम्हारे मारनेके लिये ब्रह्मकी समान भयंकर† अश्विनीकुमारोंको दी जाने वाली यह हवि है, अत एव इस हवि को होमनेसे पहिले ही तुम अदग्ध रहते हुए हमारे इन यवोंको न छेड़तेहुए और नाश न करतेहुए यहाँसे भाग जाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे ।
य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वान्
जम्भयामसि ॥ ३ ॥

† कठवल्ली ६ । २ में कहा है, कि–'महद् भयं वज्रं उद्यतम् ॥–ब्रह्म भयदायक बड़े भारी वज्रकी समान सबको नियममें रखनेके लिये उद्यत रहता है'

तर्दऽपते । वघाऽपते । तृष्टऽजम्भाः । आ । शृणोत । मे ।

ये । आरण्याः । विऽअद्वराः । ये । के । च । स्थ । विऽअद्वराः ।

तान् । सर्वान् । जम्भयामसि ॥ २ ॥

हे तर्दपते तर्दानां हिंसकानाम् आखूनां स्वामिन् हे वघापते । अवघ्नन्ति अवबाधन्त इति वघाः पतङ्गादयः । ❀ अवपूर्वाद् हन्तेः "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डप्रत्ययः । "वष्टि भागुरिरल्लोपम्" इति अवशब्दस्य आदिलोपः । पृषोदरादित्वाद् घत्वम् ❀ । वघानां पतङ्गादीनाम् अधिपते तृष्टजम्भाः तीक्ष्णदंष्ट्रा यूयं मे मदीयम् इदं वचनम् आ शृणोत आभिमुख्येन शृणुत । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तशब्दस्य तबादेशः ❀ । ये यूयम् आरण्याः अरण्ये भवा व्यद्वराः विविधम् अदनशीलाः स्थ भवथ । अन्येपि ये के च ग्रामवर्तिनो यूयं व्यद्वराः विविधम् अदनशीला भवथ तान् सर्वान् युष्मान् जम्भयामसि जम्भयामः अनेन कर्मणा नाशयामः । ❀ जभि नाशने इति धातुः ❀ ॥

हे हिंसक चूहोंके स्वामिन् ! हे पतङ्ग आदिके स्वामिन् ! तीखी डाढ़ वाले तुम मेरे इस वचनको अभिमुख होकर सुनो ! जो तुम अनेक रीतिसे खाने वाले जंगली हो वा ग्राममें रहने वाले हो तो उन सबको हम इस कर्मसे नष्ट करते हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

वायोः । पूतः । पवित्रेण । प्रत्यङ् । सोमः । अति । द्रुतः ।

इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ १ ॥

वायोः संबन्धिना पवित्रेण पवनसाधनेन दशापवित्रेण पूतः शोधितः। यद्वा वायोः सकाशात् पूतः शोधनेन रसवत्तां मापितः। सोमरसं प्रस्तुत्य तैत्तिरीयके समाम्नातम्। "तम् एभ्यो वायुरेवा-स्वदयत्। तस्माद् यत् पूयति तत् प्रवाते विषजन्ति। वायुर्हि तस्य पवयिता स्वदयिता" इति [तै० सं० ६. ४. ७. २]। ईदृशः सोमः प्रत्यङ् प्रतिमुखम् प्रञ्चन् अतिद्रुतः नाभिदेशम् अतिक्रम्य गतः। तदतिक्रमणं हि सम्यग्जरणपर्यन्तम् अनभिमतम्। तथा च मन्त्रवर्णः। "शिवो मे सप्तऋषीन् उपतिष्ठस्व मा मे वाङ् नाभिम् अति गाः" इति [तै० सं० ३. २. ५. ३]। स च इन्द्रस्य युज्यः योग्यः सखा मित्रभूतः ॥

वायुके द्वारा शोधन करके रसवत्त्वको प्राप्त कराया हुआ सोम† प्रत्येक मुखमें नाभि तक दौड़कर जाता है, वह इन्द्रदेवका योग्य मित्र है ‡ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तरः॑ सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्वः॑ पुनन्तु ।

† तैत्तिरीयसंहिता ६। ४। ७। २ में कहा है, कि—"तम् एभ्यो वायुरेवास्वदयत्। तस्माद् यत् पूयति तत् प्रवाते विषजन्ति। वायुर्हि तस्य पवयिता स्वदयिता॥ इनका वायुने स्वाद लिया है। जब वायु इनको पवित्र करना चाहता है तब यह मिलते हैं, वायु ही इस सोमका स्वाद लेनेवाला और पवित्र करनेवाला है।

‡ इस सोमकी अप्राप्तिको मनुष्य जरा तक भी नहीं चाहते हैं तैत्तिरीयसंहिता ३। २। ५। ३ में कहा है, कि—'शिवो मे सप्त ऋषीन् उपतिष्ठस्व मा मे वाङ् नाभिं अतिगाः॥—हे सोम! तू कल्याणकारी होकर हमारे सप्त ऋषियोंमें रह, मेरी वाणी और नाभिको छोड़ कर न जा।'

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि ॥ २ ॥

आपः । अस्मान् । मातरः । सूदयन्तु । घृतेन । नः । घृतऽप्वः । पुनन्तु ।

विश्वम् । हि । रिप्रम् । प्रऽवहन्ति । देवीः । उत् । इत् । आभ्यः । शुचिः । आ । पूतः । एमि ॥ २ ॥

मातरः विश्वस्य जगतो जनन्य आपः अब्देवता अस्मान् सूदयन्तु क्षालयन्तु पापरहितान् शुद्धान् कुर्वन्तु । ❀ सूद क्षरणे ❀ । तथा घृतप्वः क्षरणस्वभाव आत्मीयो रसो घृतम् तेन कृत्स्नं जगत् पुनन्तीति घृतप्वः । तादृश्य आपः घृतेन क्षरणशीलेन सारेण नः अस्मान् पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु । ❀ पूञ् पवने । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । कस्माद् एवं प्रार्थ्यंत इति तत्राह विश्वं हीति । हि यस्माद् देवीः देव्यः देवतारूपा आपः विश्वम् सर्वं रिप्रम् । पापनामैतत् । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति यास्कवचनात् [नि० ४. २१] ❀ । स्नानाचमनप्रोक्षणादिकारिणां जनानां कृत्स्नं पापं प्रवहन्ति प्रक्षालयन्ति । प्रकर्षेण अपगमयन्तीत्यर्थः । ईदृशीषु अप्सु स्नातोऽहं शुचिः शुद्धो भूत्वा आभ्य अद्भ्यः सकाशात् पूतः कर्मयोग्यः सन् उदैमि उदागच्छामि । ❀ इत् इति अवधारणे ❀ ॥

सम्पूर्ण विश्वकी जननीरूप जल हमको पापरहित करें-क्षालित करें-पवित्र करें । क्षरणशील रससे जगत्को पवित्र करने वाले जल अपने क्षरणशील जलसे हमको पवित्र करें। (हम इस लिये ऐसी प्रार्थना करते हैं, कि-) क्योंकि—देवतारूप जल स्नान आचमन प्रोक्षण आदि करने वालोंके सम्पूर्ण पापोंको स्नान

आचमन मोक्षण आदिसे बहा देती हैं—दूर कर देती हैं। ऐसे जलों में स्नान क के पवित्र हुआ मैं कर्मके योग्य होकर जलोंके पाससे उदय होरहा हूं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति ।
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादे-
नसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

यत् । किम् । च । इदम् । वरुण । दैव्ये । जने । अभिऽद्रोहम् ।
मनुष्याः । चरन्ति ।
अचित्त्या । च । इत् । तव । धर्म । युयोपिम । मा । नः । तस्मात् ।
एनसः । देव । रीरिषः ॥ ३ ॥

हे वरुण स्वभवानाम् अपाम् अधिपते दैव्ये देवसंबन्धिनि जने प्राणिजाते विषये यत्किमपि इदम् अभिद्रोहम् अपराधजनितम् एनः मनुष्याश्चरन्ति अनुतिष्ठन्ति । तस्माद् एनस इत्युत्तरत्र संबन्धः । वयमपि मनुष्यान्तःपातित्वाद् अचित्त्या अज्ञानेन चेत् हे वरुण तव धर्मा स्वत्संबन्धीनि धर्माणि कर्माणि युयोपिम व्यामोहयामः । विपर्यस्तानि कुर्म इत्यर्थः । ॐ युप विमोहने ॐ । तस्मात् अज्ञानजनिताद् एनसः पापात् हेतोः हे देव स्वामिन् वरुण नः अस्मान् मा रीरिषः मा हिंसीः । ॐ रिष रुष हिंसायाम् । अस्मात् ण्य-न्ताद् माङि लुङि चङि रूपम् ॐ ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे
षष्ठकाण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

हे वरुण ! मनुष्य देवताओंके विषयमें जिस पापको मनुष्य करते हैं और हम भी अज्ञानवश आपके जिन धर्मोंका ठीक ठीक पालन न कर मोहमें पड़ उलटे रूपसे पालन करने लग जाते हैं, उस अज्ञानजनित पापके कारण हे वरुण ! आप हमारी हिंसा न करिये ॥ ३ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (२२४) ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डमें पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "उत् सूर्यः" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र आद्येन तृचेन रक्षोग्रहभैषज्यार्थं चित्त्याद्योषधिसहितं पूर्णघटम् अभिमन्त्र्य व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

तथा शमीसहितोदकेन वा शमीबिम्बसहितोदकेन वा शीर्णपर्णसहितोदकेन वा अनेन तृचेन अभिमन्त्रितेन व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । "उत् सूर्य इति शमीबिम्बशीर्णपर्णावधि" इति [कौ० ४. ७] ॥

"द्यौश्च मे" इति तृचेन दुष्टगण्डव्रणभैषज्यार्थं तैलम् अभिमन्त्र्य तेन व्रणम् अवमृज्यात् ॥

तथा एतं तृचं जपन् व्रणदेशं हस्तेन अवमृज्यात् ।

तथा अनेन तृचेन स्थूणायां व्रणदेशं घर्षयेत् ॥

सूत्रितं हि । "द्यौश्च म इत्यभ्यज्य अवमार्ष्टि । स्थूणायां निकषति" इति [कौ० ४. ७] ॥

तथा द्रव्यादिविनाशे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थम् अनेन तृचेन द्यावापृथिव्यौ यजत उपतिष्ठते वा । सूत्रितं हि । "द्यौश्च म इति द्यावापृथिव्यौ वरिष्यन्" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा सवयज्ञेषु "द्यौश्च मे" इति तृचेन मन्त्रोक्तानि इन्द्रियाण्यनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "बृहता द्यौश्च [६. ५३] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६६] इति प्रतिमन्त्रयते" इति [कौ० ८. ७] ॥

तथा मेधाजननकर्मणि "द्यौश्च मे" इत्यनया ऋचा क्षीरौदनं पुरोडाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा अनयैव ऋचा मेधाकाम आदित्यम् उपतिष्ठेत ॥

सूत्रितं हि । "पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य "त्वं नो मेधे [६. १०८] द्यौश्च मे [६. ५३] इति भक्षयति । आदित्यम् उपतिष्ठते" [कौ० २. १] [इति]॥

गोदानकर्मणि "पुनः प्राणः" इत्यनया क्षुरं मार्जयित्वा नापिताय प्रयच्छेत् । "पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६६] इति त्रिर्निमृज्य त्वयि महिमानं सादयामि" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ७. ५] ॥

उपनयनकर्मणि "सं वर्चसा" इत्यनया उदपात्रम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणम् अवेक्षयेत् । सूत्रितं हि । "उदपात्रं समवेक्षयेत् सम् इन्द्र णः [७. १०२. २] सं वर्चसा [६. ५३. ३] इति द्वाभ्याम्" इति [कौ० ७. ६] ॥

छठे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इनमें "उत् सूर्यः" यह प्रथम सूक्त है । इनमें पहिले तीन ऋचा वाले सूक्तसे चित्ति आदि औषध पड़े हुए पूर्णघटका अभिमंत्रण करके रोगी पर छिड़के ।

तथा शमी पड़े हुए जलसे वा जिसमें शमीका बिम्ब पड़ता हो ऐसे जलसे वा पुराने पत्ते पड़े हुए जलसे इस तृचके द्वारा रोगी पर अवसेचन करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यद् सूर्य इति शमीबिम्बशीर्णपर्णावधि" (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

"द्यौश्च मे" इन तीन ऋचाओंसे दुष्टगण्डव्रणकी चिकित्साके लिये तेलको अभिमंत्रित करके उस तेलसे घावको धोवे ।

इस तृचको जपता हुआ व्रणस्थानको हाथसे साफ करे ।

इस तृचको पढ़ता हुा स्थूणासे व्रणस्थानको सुजावे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"द्यौश्च म इत्यभ्यज्य अवमार्ष्टि । स्थूणायां निकषति" (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

तथा द्रव्य आदिके विनाशका अवसर आनेपर उसकी निवृत्ति करनेके लिये इन तीन ऋचाओंसे द्यावापृथ्वीका उपस्थान वा यजन करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"द्यौश्च म इति द्यावापृथिव्यौ वरिष्यन्" (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

तथा सवयज्ञोंमें "द्यौश्च मे" इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे मंत्र में कही हुई इन्द्रियोंका अनुमन्त्रण करे । इसका सूत्रप्रमाण भी है, कि—"बृहतां द्यौश्च (६ । ५३) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७।६६)" इति प्रतिमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ८ । ७)॥

तथा मेधाजनन कर्ममें 'द्यौश्च मे' इस ऋचासे क्षीरौदन पुरोडाश वा रसोंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा बुद्धि चाहने वाला इसी ऋचासे सूर्यका उपस्थान करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य "त्वं नो मेधे (६ । १०८) द्यौश्च मे (६ । ५३) इति भक्षयति । आदित्यम् उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र २ । १)॥

गोदानकर्ममें 'पुनः प्राणः' इस ऋचासे छुरेको साफ करके नाईको देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पुनः प्राणः (६ । ५३ । २) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६६) इति त्रिर्निमृज्य त्वयि महिमानं सादयामि" (कौशिकसूत्र ७ । ५)॥

उपनयनकर्ममें 'सं वर्चसा' इस ऋचासे जलपूर्ण पात्रका अभिमन्त्रण करके ब्रह्मचारीको देखे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उदपात्रं समवेक्षयेत् सम् इन्द्र णः (७ । १०२ । २) सं वर्चसा (६ । ५३ । ३) इति द्वाभ्याम् (कौशिसूत्र ७।६)॥

तत्र प्रथमा ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

उत् । सूर्यः । दिवः । एति । पुरः । रक्षांसि । निऽजूर्वन् ।
आदित्यः । पर्वतेभ्यः । विश्वऽदृष्टः । अदृष्टऽहा ॥ १ ॥

सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि रक्षांसि । ❀ रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात् इति यास्कः [नि० ४. १८] ❀ । अस्मदुपद्रवकारिणो रक्षःपिशाचादीन् निजूर्वन् नितरां हिंसन् । ❀ जुर्वी हिंसायाम् । हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । हिंसितुम् इत्यर्थः । दिवः अन्तरिक्षप्रदेशात् उदेति उद्गच्छति । रात्रौ हि रक्षसां संचारः इदानीं तु उद्यन्नेव सूर्यस्तानि विनाशयतीति भावः । स च आदित्यः विश्वदृष्टः सर्वप्राणिभिः साक्षात्क्रियमाणः अदृष्टहा अदृष्टानाम् अस्माभिरदृश्यमानानामपि रक्षःपिशाचादीनां हन्ता पर्वतेभ्यः उदयाचलप्रदेशेभ्यः । उदेतीति संबन्धः । ❀ आदित्यः अदितेः पुत्रः । "दित्यदित्यादित्य०" इति ण्यप्रत्ययः ❀ ॥

सबके प्रेरक सूर्यदेव पूर्व दिशामें हम पर उपद्रव करने वाले राक्षस पिशाच आदिका संहार करनेके लिये अन्तरिक्षसे उदय होते हैं (तात्पर्य यह है, कि—रात्रिमें राक्षस घूमते रहते हैं, सूर्य उदय होते हुए ही उनका संहार करना आरम्भ कर देते हैं) इन आदित्यदेवको सब प्राणी प्रत्यक्ष देखते हैं, वह हमको न दीखने वाले भी राक्षस पिशाच आदिका संहार कर डालते हैं, वह उदयाचलके शिखरों पर उदय होते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।

न्यू१र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

नि । गावः । गोऽस्थे । असदन् । नि । मृगासः । अविक्षत ।

नि । ऊर्मयः । नदीनाम् । नि । अदृष्टाः । अलिप्सत ॥ २ ॥

उद्यता सूर्येण रक्षसां हननाद् इदानीं गावो गोष्ठे गोशालायां न्यसदन् भयराहित्येन अस्मदीया गावो निषण्णा अभूवन् । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। लृदित्त्वात् च्लेः अङ्आदेशः❀॥ तथा मृगासः मृगाः आरण्याः पशवः न्यविक्षत स्वस्वस्थाने निर्भयं निविष्टा अभूवन् । ❀ "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् । "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सः प्रत्ययः ❀ ॥ तथा नदीनाम् सरिताम् ऊर्मयः तरङ्गाः सुखेन निविष्टाः ॥ अदृष्टाः रात्रौ अनुपलब्धाः प्रजाः सूर्यप्रकाशेन न्यलिप्सत नितरां लब्धुम् ऐच्छन् । ❀ लभेः सनि "सनि मीमाघुरभलभ०" इति अचः स्थाने इस् आदेशः ❀ । यद्वा अनुक्रान्तान् गवादीन् सर्वे जनाः सूर्यप्रकाशात् लब्धवन्तः । ❀ लभेर्लुङि च्लेः सिच् । वर्णव्यत्ययः ❀ ॥

उदय होते हुए सूर्यदेवने राक्षसोंका संहार कर डाला. अत एव गोशालाओंमें हमारी गौएँ निर्भय होकर बैठ गई हैं और जंगली पशु भी अपने २ स्थानोंमें निर्भय होकर बैठे हुए हैं, नदियोंकी लहरोंको, कि-जो रात्रिमें नहीं दीखतीं थीं उनको प्रजाओंने प्राप्त कर लिया है अर्थात् सूर्यके प्रकाशसे नदियोंकी लहरें गौएँ आदि पहिले न दीखती हुईं वस्तुएँ मनुष्योंको दीखने लगीं हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।

आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥३॥

आयुःऽददम् । विपःऽचितम् । श्रुताम् । कण्वस्य । वीरुधम् ।

आ । अभारिषम् । विश्वऽभेषजीम् । अस्य । अदृष्टान् । नि । शमयत् ।

आयुर्ददम् आयुषः शतसंवत्सरपरिमितस्य जीवनस्य दात्रीम् । ❀ दद दाने । "विच् च" इति विच् ❀ । विपश्चितम् रोगशमनोपायं विदुषीं श्रुताम् विश्रुतां प्रसिद्धां कण्वस्य महर्षेः संबन्धिनीं विश्वभेषजीम् सर्वस्य रोगजातस्य शमनीम् । ❀ "सुपकृतभेषजाच्च" इति ङीप् ❀ । ईदृशीम् एवं गुणविशिष्टां वीरुधम् चित्तिः प्रायश्चित्तिरित्येवं कौशिकेनोक्तां शान्तौषधीं शमीं वा अस्य व्याधितस्य रोगनिवृत्तये आभार्षम् आहार्षम् आहरामि । ❀ "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ । सा च आहृत्य प्रयुज्यमाना अस्य रोगिणः अदृष्टान् द्रष्टुम् अशक्यान् शरीरमध्यवर्तिनो रोगान् रक्षःपिशाचादिकृतान् नि शमयत् निशमयतु । ❀ शम उपशमने । अस्मात् ण्यन्तात् लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः ❀ ॥

सौ वर्ष तककी आयुको देने वाली, रोगशमनके उपायको जानने वाली प्रसिद्ध कण्वमहर्षिकी सब रोगोंको शान्त करने वाली कौशिककी कही हुई चित्ति प्रायश्चित्ति औषधिको वा शमीको इस रोगीकी रोगनिवृत्तिके लिये मैं ले आया हूँ, वह लाई हुई औषधि इस रोगीके न दीखने वाले राक्षस पिशाच आदिके किये हुए रोगोंको पूर्ण रीतिसे शान्त कर देय ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु ।

अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

द्यौः । च । मे । इदम् । पृथिवी । च । प्रऽचेतसौ । शुक्रः । बृहन् ।

दक्षिणया । पिपर्तु ।

अनु । स्वधा । चिकिताम् । सोमः । अग्निः । वायुः । नः । पातु ।

सविता । भगः । च ॥ १ ॥

द्यौश्च पृथिवी च एते देवते मे मह्यं प्रचेतसौ प्रकृष्टज्ञाने अनुग्रहबुद्धियुक्ते इदम् अभिलषितफलम् । प्रयच्छताम् इति शेषः ॥ तथा बृहन् महान् शुक्रः शोचमानो दीप्यमानः सूर्यः दक्षिणया दिशा पिपर्तु पालयतु । यमाधिष्ठिताया दक्षिणस्या दिशो रक्षत्वित्यर्थः । यद्वा दक्षयति पुरुषं वर्धयतीति दक्षिणा । ❀ दक्ष वृद्धौ । द्रुदक्षिभ्याम् इनन् [उ० २. ५०] ❀ । [तया] वासोहिरण्यादिरूपया दक्षिणया पिपर्तु पूरयतु । ❀ पॄ पालनपूरणयोः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । स्वधा पितृणां संबन्धिनी स्वधाकाराभिमानिनी देवता अनु चिकिताम् अनुजानातु । ❀ कित ज्ञाने । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ❀ । यद्वा स्वधेत्यन्ननाम । यथा अस्माकम् अन्नं भवति तथा सोमः अग्निश्च अनु चिकिताम् । नः अस्मान् वायुः पातु रक्षतु । निगदसिद्धम् अन्यत् ॥

द्यौ और पृथिवी देवता मुझ पर अनुग्रहमयी बुद्धि करके अभिलषित फल दें। तथा दमकते हुए महान् सूर्यदेव दक्षिण दिशासे मेरी रक्षा करें अर्थात् यमसे अधिष्ठित दक्षिण दिशासे मेरी रक्षा करें और पुरुषको बढ़ाने वाली वस्त्र सुवर्ण आदिकी दक्षिणासे मुझको पूरण करें। पितरोंसे संबंध रखनेवाले स्वधाकारके अभिमानी देवता इस-बातकी अनुज्ञा दें, जिस प्रकार हमारे पास अन्न आदि हो सोम और अग्निदेव हमारे लिये वैसा

अनुज्ञा करें, वायु सविता और भग देवता भी इस काममें हमारे अनुकूल सम्मति दें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु । वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥

पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । नः । आ । एतु । पुनः । चक्षुः । पुनः । असुः । नः । आ । एतु ।

वैश्वानरः । नः । अदब्धः । तनूऽपाः । अन्तः । तिष्ठाति । दुःऽइतानि । विश्वा ॥ २ ॥

प्राणः मुखनासिकाभ्यां संचरन् प्राणवायुः जीवावस्थितिहेतुः नः अस्मान् पुनः ऐतु आगच्छतु । तथा आत्मा जीवः पुनरागच्छतु । चक्षुः दर्शनसाधनम् इन्द्रियं पुनरागच्छतु । असुः प्राणः पुनरैतु । प्राधान्यख्यापनाय पुनरभिधानम् । यद्वा पुनः प्राण इति पूर्वं प्राणापानादिवृत्तिमतोऽभिधानम् असुरिति वृत्तिविशेषस्य इति अपौनरुक्त्यम् । व्रणरोगेण गतप्रायत्वात् प्राणादीनां पुनरागमनं प्रार्थ्यत इति बोद्धव्यम् ॥ अपि च वैश्वानरः विश्वनरहितः अदब्धः रोगादिभिः अहिंसितः तनूपाः शरीरस्य पालकः सन् नः अस्माकम् अन्तः शरीरमध्ये तिष्ठातु तिष्ठतु । लेटि आडागमः । विश्वा विश्वानि सर्वाणि दुरितानि रोगनिदानभूतानि पापानि । विनाशयन् इति शेषः ॥

मुख और नासिकासे चलने वाला जीवके ठहरनेका हेतु प्राण हममें फिर आवे । जीव भी फिर आजाय । प्राण भी फिर

आजाय †। सब मनुष्योंका हित करने वाले अग्निदेव रोग आदि से अहिंसित और शरीरकी रक्षा करते हुए और सब पापोंको नष्ट करते हुए हमारे शरीरमें स्थित होवें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३
यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

सम्। वर्चसा। पयसा। सम्। तनूभिः। अगन्महि। मनसा।
सम्। शिवेन।
त्वष्टा। नः। अत्र। वरीयः। कृणोतु। अनु। नः। मार्ष्टु।
तन्वः। यत्। विऽरिष्टम्।

वर्चसा दीप्त्या शरीरगतया पयसा देहावस्थितिनिमित्तेन पयोवत् सारभूतेन रसेन सम् अगन्महि संगता भवेम। ❀ "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम्। छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "म्वोश्च" इति मकारस्य नकारः ❀। तनूभिः शरीरावयवैर्हस्तपादादिभिः संगता भवेम। तथा शिवेन शोभनेन मनसा अन्तःकरणेन संगता भवेम। त्वष्टा देवः नः अस्माकं वरीयः

† पहिले जो प्राण शब्द आया है उसका तात्पर्य प्राण अपान आदि वाले प्राणसे और यहाँ प्राणकी किसी एक वृत्तिसे है अत एव पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ। प्राणरोगसे पुरुष निष्प्राणसा होजाता है अत एव प्राण आदिके फिर आनेकी इस मन्त्रमें प्रार्थना की गई है।

उरुतमम् अतिप्रभूतम् अत्र अस्मिन् शरीरे कृणोतु करोतु। ❀ उरु-शब्दाद् ईयसुनि "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वर् आदेशः। कृवि हिंसाकरणयोश्च। "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀। नः अस्माकं तन्वः शरीरस्य यद् विरिष्टम् रोगार्तम् अङ्गं तद् अनु माष्टुं हस्तेन शोधयतु। ❀ मृजूष् शुद्धौ। अदादित्वात् शपो लुक्। "मृजेर्वृद्धिः" इति वृद्धिः ❀॥

[इति] षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हम शरीरकी कान्तिसे और शरीरकी स्थितिके कारण दुग्ध की समान सारभूत रससे संयुक्त होवें, शरीरके अवयव हाथ पैर आदिसे सम्पन्न रहें, शोभन अन्तःकरणसे सम्पन्न रहें, त्वष्टा देवता हमारे शरीरको बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ करें, हमारे शरीरका जो रोगार्त अंग है उसको अपने हाथसे पवित्र करें रोगरहित करें॥ ३॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५२६)॥

"इदं तद् युजे" इति तृचेन अभिचारकर्मणि पलाशमध्यमपर्णेन फलीकरणान् जुहुयात् [कौ० ६. २]॥

"अस्मै क्षत्रम्" इत्यनया पौर्णमासयागे अग्नीषोमीयं चरुं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अस्मै क्षत्रम् [२] इति अग्नीषोमाविति अग्नीषोमीयस्य" इति [कौ० १. ४]॥

"ये पन्थानः" इति तृचेन देशान्तरं गच्छतः पुरुषस्य स्वस्त्ययनकामः समिदाज्यपुरोडाशादित्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात्॥

तथा अनेन तृचेन स्वस्त्ययनार्थं मन्थौदनौ दद्यात्॥

सूत्रितं हि। "ये पन्थान इति परीत्योपदधीत प्रयच्छति" इति [कौ० ७. २]॥

"ग्रीष्मो हेमन्तः" इत्यनया ब्रह्मा प्रयाजान् अनुमन्त्रयेत। "ग्रीष्मो हेमन्त इति प्रयाजान्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. २]॥

(२४)

आभिचारिके कर्मणि व्रतविसर्जनार्थम् "इदावत्सराय" इत्यनया आज्यं जुहुयात् समिधश्च आदध्यात् ॥

'इदं तद् युजे' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे अभिचारकर्ममें ढाकके मध्यम पत्तेसे फलीकरणोंकी आहुति देय। (कौशिकसूत्र ६। २) ॥

'अस्मै क्षत्रम्' इस ऋचासे पौर्णमासयागमें अग्नीषोमीय चरुकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'अस्मै क्षत्रम् (२) इति अग्नीषोमाविति अग्नीषोमीयस्य' (कौशिकसूत्र १। ४)

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'ये पन्थान इति परीत्योपदधीत प्रयच्छति' (कौशिकसूत्र ७। २)।

तथा इस तृचसे स्वस्त्ययन करनेके लिये मन्थौदन देवे।

'ये पंथानः' इस तृचसे दूसरे देशको जाने वाले पुरुषके स्वस्त्ययनको चाहनेवाला समिधा घृत पुरोडाश आदि तेरह द्रव्योंकी आहुति देय।

'ग्रीष्मो हेमन्तः' इस ऋचासे ब्रह्मा प्रयाजका अनुमन्त्रण करे इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'ग्रीष्मो हेमन्त' इति प्रयाजान् (वैतानसूत्र १। २)

आभिचारिक कर्ममें व्रतविसर्जन करनेके लिये 'इदावत्सराय' इस ऋचासे समिधाओंको रक्खे और घृतकी आहुति देय।

तत्र प्रथमा ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् १

इदम्। तत्। युजे। उत्ऽतरम्। इन्द्रम्। शुम्भामि। अष्टये।

अस्य । क्षत्रम् । श्रियम् । महीम् । वृष्टिःऽइव । वर्धय । तृणम् १

यत् कर्म अभिचारदोषनिर्हरणक्षमं तद् इदम् उत्तरम् उत्कृष्टतरं कर्म युजे योजयामि । कर्म किं पुनस्तद् इत्याह । यद्वा उत्तरम् इत्येतद् इन्द्रविशेषणम् । उत्तरम् उत्कृष्टतरं सर्वेषु देवेषु श्रेष्ठम् इन्द्रं शुम्भामि अलंकरोमि । स्तुत्यादिभिः प्रीणयामीत्यर्थः । ❀ शुभ शुम्भ शोभार्थे ❀ । किमर्थम् । अष्टये अभिमतफलप्राप्तये । ❀ अशू व्याप्तौ इत्यस्माद् भावे क्तिन् ❀ ॥ परोक्षवचः प्रत्यक्षकृतः । हे इन्द्र त्वम् अस्य अभिचर्यमाणस्य पुरुषस्य क्षत्रम् बलं महीम् महतीं श्रियम् पुत्रपौत्रधनादिसंपदं वर्धय समृद्धां कुरु । तत्र दृष्टान्तः वृष्टिरिवेति । यथा महती वृष्टिः तृणम् सस्यजातं वर्धयति तद्वद् इत्यर्थः । ❀ वर्धयेत्यस्य "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

अभिचारके दोषको दूर करनेवाले जो श्रेष्ठ कर्म है उसका मैं अभिलषित फलकी प्राप्तिके लिये प्रयोग करता हूँ । (वह कर्म यह है, कि–) सब देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रको मैं अलंकृत करता हूँ–स्तुति आदिसे प्रसन्न करता हूँ । जैसे बड़ी भारी वृष्टि तृण धान्य आदि को बढ़ाती है इसी प्रकार हे इन्द्र ! आप इस अभिचारसे दबेहुए पुरुषके बलको और पुत्र पौत्र धन आदि बड़ी भारी सम्पत्तिको बढ़ाइये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।

इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्रम् । अग्नीषोमौ । अस्मै । धारयतम् । रयिम् ।

इमम् । राष्ट्रस्य । अभिऽवर्गे । कृणुतम् । युजे । उत्ऽतरम् २

हे अग्नीषोमौ । ॐ "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ॐ । अस्मै यजमानाय क्षत्रम् बलं धारयतम् स्थापयतम् । प्रयच्छतम् इति यावत् । तथा रयिम् धनम् अस्मै प्रयच्छतम् । तथा इमं यजमानं राष्ट्रस्य जनपदस्य अभीवर्गे आभिमुख्येनावर्जने कृणुतम् कुरुतम् । ॐ अभिपूर्वाद् वृजेर्भावे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । कृणुतम् इति । कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन अकारान्तादेशश्च । तस्य "अतो लोपः" इति लोपे स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः ॐ । अहमपि अस्य यजमानस्य उक्तफलसिद्धये उत्तरम् उत्कृष्टतरं कर्म युजे योजयामि । करोमीत्यर्थः ॥

हे अग्नि और सोम देवताओं ! इस यजमानमें आप बलको स्थापित करिये, और इसको धन दीजिये, तथा इस यजमानको राज्यके अभीवर्गमें करिये । और इस यजमानको उक्त फल मिले इस लिये मैं श्रेष्ठ कर्मको करता हूं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।

सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

सऽबन्धुः । च । असबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभिऽदासति ।

सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥ ३ ॥

सबन्धुः समानबन्धुः । समानजन्मगोत्रज इत्यर्थः । असबन्धुः तद्विपरीतः । अन्य इत्यर्थः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । उभयविधो यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति । ॐ दसु उपक्षये । अस्मात् ण्यन्तात् लटि "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ॐ । सर्वं तम् उभयविधं शत्रुं

सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते मे मह्यं यजमानाय हे इन्द्र त्वं रन्धयासि रन्धय वशीकुरु । ❀ रध्यतिर्वशगमने इति हि यास्कः [नि० ६. ३२]। "रधिजभोरचि" इति नुम् । लेटि आडागमः । "शातुर-नुमः०" इति सुन्वच्छब्दाद् विभक्तिरुदात्ता ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! जो गोत्र वाला वा अन्य गोत्र वाला शत्रु हमारा नाश करना चाहता है, उन दोनों प्रकारके शत्रुओंको हे इन्द्रदेव ! आप सोमका अभिषव करनेवाले मेरे यजमानके वशमें करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संच-
  रन्ति ।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह
  सर्वे ॥ १ ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देवऽयानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति ।
  सम्ऽचरन्ति ।
तेषाम् । अज्यानिम् । यतमः । वहाति । तस्मै । मा । देवाः ।
  परि । धत्त । इह । सर्वे ॥ १ ॥

देवयानाः देवाः एव यैः पथिभिर्गच्छन्ति ते तथोक्ताः । ❀यातेः करणे ल्युट् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । ईदृशा ये पन्थानः मार्गा बहवः कर्मणां वैचित्र्यात् तत्तल्लोकप्राप्त्युपायतया नाना-विधाः सन्तः द्यावापृथिवी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये संचरन्ति वर्तन्ते । संचरणसाधनत्वात् तद्व्यपदेशः । तेषां मध्ये यतमः यज्जा-तीयः पन्थाः अज्यानिम् ज्यानिर्हानिः तद्विपरीतां समृद्धिं वहाति

पद्येत् मापयेत् । ❀ यतम इति । "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने०" इति यच्छब्दात् डतमच् । वहातीति । वहेर्लेटि आडागमः ❀ । तस्मै मार्गाय हे देवाः सर्वे यूयम् इह अस्मिन् देशे मा मां परि दत्त । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणाय प्रयच्छतेत्यर्थः ॥

विभिन्न कर्मोंके कारण विभिन्न लोकोंकी प्राप्तिके उपायरूप और देवता ही जिनमें जा सकते हैं ऐसे जो देवयान द्युलोक और पृथ्वीलोकके मध्यमें वर्तमान हैं उनमेंसे जो असमृद्धि (वृद्धि) देय उस मार्गको हे देवताओं ! आप सब इस देशमें मुझको (यज्ञ करनेके फलरूपमें) दीजिये ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम

ग्रीष्मः । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः । शरत् । वर्षाः । सुऽइते । नः । दधात ।
आ । नः । गोषु । भजत । आ । प्रऽजायाम् । निऽवाते । इत् । वः । शरणे । स्याम ॥ २ ॥

ग्रीष्माद्याः षडृतवः प्रसिद्धाः । तदभिमानिनो देवाः स्विते सुष्ठु प्राप्तव्ये धने नः अस्मान् दधात दधतु स्थापयन्तु ॥ हे ऋतवः यूयं नः अस्मान् गोषु आ भजत आभक्तान् भागयुक्तान् कुरुत । प्रजायाम् पुत्रपौत्रादिरूपायामपि आ भजत । किं बहुना । निवाते वायुसंस्पर्शेनापि रहिते । इच्छब्दः अवधारणे । वायूपलक्षितसमस्तदुःखकारणरहिते एव वः युष्माकं संबन्धिनि शरणे गृहे स्थाने स्याम भवेम ॥

ग्रीष्म हेमन्त शिशिर वसन्त शरद और वर्षा छः प्रसिद्ध ऋतुओंके अभिमानी देवता युगपतासे प्राप्त होने वाले धनमें हम को स्थापित करें। हे ऋतुओं! तुम हमको गौओंमें भाग वाला करो अर्थात् गौएँ हमारे पास रहें और पुत्रपौत्र आदिरूप प्रजाओं में हमको भाग वाला करो, अधिक क्या वायु आदि समस्त दुःखों के कारणोंसे रहित घरकी समान हम-आपकी शरणमें रहें ॥२॥

षष्ठी ॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑नाम॒पि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म

इ॒दा॒ऽव॒त्स॒राय॑। प॒रि॒ऽव॒त्स॒राय॑। स॒म्ऽव॒त्स॒राय॑। कृ॒णु॒त॒। बृ॒हत्। नमः॑।
तेषा॑म्। व॒यम्। सु॒ऽम॒तौ। य॒ज्ञिया॑नाम्। अपि॑। भ॒द्रे। सौ॒म॒न॒से। स्या॒म॒

प्रभवादिषु पञ्चके पञ्चके क्रमेण एताः संज्ञा भवन्ति। तत्र प्रथमस्य संवत्सर इति संज्ञा। द्वितीयादीनां परिवत्सरः इदावत्सरः अनुवत्सरः इद्वत्सरः इति यथाक्रमं संज्ञा भवति। तदुक्तम् आचार्यैः।

चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे।
संपरीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सराः॥

इति। तदभिमानिदेवाश्च तैत्तिरीये समाम्नाताः। "अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः" इति [तै० ब्रा० १. ४. १०. १]। हे जनाः तस्मा इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय च बृहत् प्रभूतं नमः कृणुत कुरुत नमस्कारेण तान् प्रीणयत। ❀ "नमः स्वस्ति" इति चतुर्थी ❀। तेषाम् इदावत्सरादीनां यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणाम्। ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀। सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहात्मिकायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम। अनन्तरं भद्रे

शोभने सौमनसे सौमनस्ये शोभनबुद्धिजन्ये फलेपि स्याम भवेम। अपिशब्दः संभावनायाम् ॥

[इति] षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

प्रभव आदि पाँच २ सम्वत्सरोंमें संवत्सर आदि संज्ञा होती है उनमें पहिलोंकी सम्वत्सर, दूसरे पंचककी परिवत्सर, तीसरे पंचककी इदावत्सर,चौथे पञ्चककी अनुवत्सर और पाँचवें पंचककी इद्वत्सरं संज्ञा होती है। इसी बातको आचार्योंने कहा है,कि-'चांद्राणां प्रभवादीनां पंचके पंचके युगे। संपरादीन्विदित्येतच्छब्दपूर्वास्तु वत्सराः॥' और इनके अभिमानी देवताओंका भी तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वर्णन है, कि-'अग्निर्वाव सम्वत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायुरनुवत्सरः॥' (तैत्तिरीयब्राह्मण १।४।१०।१) हे मनुष्यों! उन इदावत्सर परिवत्सर और सम्वत्सरके लिये बहुत नमस्कार करो अर्थात् नमस्कारसे उनको प्रसन्न करो, हम इन यज्ञके योग्य इदावत्सर आदिकी अनुग्रहरूपा शोभन बुद्धिमें रहें। फिर सौमनसमें अर्थात् शोभनबुद्धिसे उत्पन्न हुए फलमें भी रहें

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (२२८) ॥

"मा नो देवाः" इति तृचेन सर्पवृश्चिकादिभयनिवृत्तये गृहक्षेत्रादिषु सिकता अभिमन्त्र्य परितः परिकिरेत् ॥

तथा अनेन तृणमालां संपाद्य गृहनगरादिद्वारे बध्नीयात् ॥

तथा अनेन तृचेन गोमयम् अभिमन्त्र्य गृहे विसर्जनं द्वारि निखननम् अग्नौ होमं वा कुर्यात् ॥

तथा अनेन अपामार्गमञ्जरीं गुडूचीं वा अभिमन्त्र्य पूर्ववद् गृहादिषु विसर्जनादिकं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि। "युक्तयोः [३. २६. २७] मा नो देवाः [६. ५६] यस्ते सर्पः [१२. १. ४६] इति शयनशालोर्वराः परिकिरति" इत्यादि [कौ० ७. १]॥

तथा उपाकर्मणि अनेन तृचेन आज्यं हुत्वा दधिसक्तुषु संपातान् आनयेत्। सूत्रितं हि। "अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य "आज्यं जुहुयान्मा नो देवा अहिर्वधीत्" इत्यादि [कौ० १४. २]॥

"इदमिद्वा उ भेषजम्" इति तृचेन मुखरहितव्रणभैषज्यार्थं गोमूत्रेण व्रणं मर्दयेत्॥

तथा अनेन दन्तमलम् अभिमन्त्र्य प्रलिम्पेत्॥

तथा अनेन फेनम् अभिमन्त्र्य व्रणं प्रलिम्पेत्॥

सूत्रितं हि। "इदमिद्वा उ इत्यच्छिन्नं मूत्रफेनेनोद्भिद्य प्रलिंपति प्रक्षालयति दन्तरजसा" इति [कौ० ४. ७]॥

"शं च नो मयश्च नः" इत्येषा बृहद्गणे पठिता शान्त्युदकादौ विनियुक्ता॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनार्थम् अनया क्षीरौदनहोमादीनि "वायोः पूतः" [६. ५१] इत्यत्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात्। सूत्रं च तत्रैव द्रष्टव्यम्॥

'मा नो देवाः' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे साँप बीछू आदिके भयको दूर करना चाहने वाला घर खेत आदिमें रेतेको अभिमन्त्रित करके बखेरे।

तथा इस तृचसे तृणमालाका सम्पातन घर वा नगर आदिके द्वार पर बाँधे।

तथा इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे गोबरको अभिमन्त्रित करके घरमें बखेर देय, द्वार पर गाड़ देय वा अग्निमें होम देय॥

तथा इससे चिरचिटेकी मञ्जरी वा गिलोयका अभिमन्त्रण करके पहिलेकी समान घर आदिमें विसर्जन आदि करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'युक्तयोः (२। २६। २७) मा नो देवाः (६। ५६) यस्ते सर्पः (१२। १। ४६) इति शयनशालोर्वरा परिकिरति०' (कौशिकसूत्र १४। २)

तथा उपाकर्ममें इस तृचसे घृतकी आहुति देकर दही और सत्तुओंमें सम्पातोंको खावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है; कि-"अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य 'आज्यं जुहुयान्मा नो देवा अहिर्वधीत्' (कौशिकसूत्र १४।२)॥

'इदमिद्वा उ भेषजम्' इस तृचसे मुखरहित व्रणकी चिकित्साके लिये गोमूत्रसे व्रणका मर्दन करे।

तथा इस तृचसे दाँतके मैलको अभिमन्त्रित करके व्रण पर लेप कर देय॥

तथा इससे फेनका अभिमन्त्रण करके व्रण पर लेप करदेय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"इदमिद्वा उ इत्यच्छिन्नं मूत्रफेनेनोञ्छिद्य प्रलिम्पति प्रक्षालयति दन्तरजसा" (कौशिक सूत्र ४।७)॥

'शं च नो मयश्च नः' इस ऋचाका बृहद्गणमें पाठ है और शान्त्युदक आदिमें इसका विनियोग होता है।

तथा धन उठाते समय हो सकने वाले विघ्नोंकी शान्तिके लिये इस ऋचासे दूध भातका होम आदि "वायोः पूतः" इस छठे काण्डके इक्यानवें सूक्तमें कहे हुए कर्म करे सूत्र भी वहाँ ही देखना चाहिये।

तत्र प्रथमा॥

मा नो॑ देवा॒ अहि॑र्वधीत् सतो॑कान्स॒हपू॑रुषान्।
सं॒यतं॒ न वि ष्प॑रद् व्यात्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ १

मा। नः। दे॒वाः। अहिः। व॒धा॒त्। स॒ऽतो॑कान्। स॒हऽपु॑रुषान्। सम्ऽय॑तम्। न। वि। स्प॒र॒त्। वि॒ऽआत्त॑म्। न। सम्। य॒म॒त्। नमः॑। दे॒व॒ऽज॒नेभ्यः॑॥ १॥

हे देवाः विषप्रतीकारकुशला अहिः सर्पः नः अस्मान् मा वधीत् मा हिंसीत् । ❀ हन्तेर्माङि लुङि "हनो वध लिङि" "लुङि च" इति वधादेशः । तस्य च अदन्तत्वाद् अतो लोपे स्थानिवद्भावाद् "अतो हलादेर्लघोः" इति वृद्ध्यभावः ❀ । कीदृशान् । सतोकान् । तोकम् इति अपत्यनाम । पुत्रपौत्राद्यपत्यसहितान् । ❀ "वोपसर्जनस्य" इति सहशब्दस्य सभावः ❀ । सहपुरुषान् भृत्यादिपुरुषसहितान् ॥ अपि च संयतम् संश्लिष्टम् अहेरास्यं न विस्फुरत् । दंशनार्थं विस्फारितं विश्लिष्टं न भवतु । ❀ स्फुर संचरणे इत्यस्माद् विपूर्वात् लेटि अडागमः ❀ । तथा व्यात्तम् विवृतं तद् आस्यं न सं यमत् संयतं संश्लिष्टं न भवतु । मन्त्रसामर्थ्येन प्रतिबद्धं सत् वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ व्यात्तम् इति । व्याङ्पूर्वाद् दाञो निष्ठायाम् "अच उपसर्गात् तः" इति तकारः ❀ । देवजनेभ्यः ये सर्पादिविषनिर्हरणसमर्था देवजनास्तेभ्यो नमोस्तु ॥

हे विषका प्रतीकार करनेमें कुशल देवताओ ! सर्प हमारी हिंसा न कर सके । वह हमारे पुत्र पौत्र और भृत्य आदिकी भी हिंसा न कर सके । सर्पका बन्द हुआ मुख काटनेके लिये न खुल सके और वह खुला मुख मंत्रकी सामर्थ्यसे रुक जावे बन्द न हो । जो सर्प आदिके विषको दूर करनेकी शक्ति रखते हैं, उन देवताओं के लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये ।

स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

नमः । अस्तु । असिताय । नमः । तिरश्चिऽराजये ।

स्वजाय । बभ्रवे । नमः । नमः । देवऽजनेभ्यः ॥ २ ॥

असिताय कृष्णवर्णाय एतन्नाम्ने सर्पाधिपतये नमोस्तु ॥ तथा तिरश्चिराजये तिरश्चीनास्तिर्यग् अवस्थिता राजयः वलयो यस्य स तिरश्चिराजिः। एतत्संज्ञाय सर्पमुख्याय नमोस्तु ॥ बभ्रवे बभ्रुवर्णाय स्वजाय स्वयमेव जायते कारणान्तरनैरपेक्ष्येण उत्पद्यते इति स्वजः। तस्मै एतन्नाम्ने सर्पाय नमोस्तु ॥ एतेषां सर्पाणां नियन्तृभ्यो देवजनेभ्यश्च नमोस्तु। असितादिशब्दानां सर्पविशेषनामत्वं तैत्तिरीयके "समीची नामासि" [तै० सं० ५. ५. १०. १] इत्यादिसर्पाहुतिमन्त्रेषु प्रसिद्धं द्रष्टव्यम् ॥

कृष्णवर्णके असित नाम वाले सर्पराजके लिये नमस्कार हो, जिसके तिरछी सलवटें पड़ी हुई हैं उस तिरश्चिराजि नामक मुख्य सर्पके लिये नमस्कार हो, बभ्रुवर्ण वाले स्वज नामक सर्पके लिये नमस्कार हो और इन सर्पोंका नियन्त्रण करने वाले देवताओंके लिये भी नमस्कार हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः समु॑ ते॒ हन्वा॒ हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । ह॒न्मि॒ । द॒ता । द॒तः । सम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । हन्वा॑ । हनू॒ इति॑ ।

सम् । ते॒ । जि॒ह्वया॑ । जि॒ह्वाम् । सम् । ऊं॒ इति॑ । आ॒स्ना । अ॒हे॒ । आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

हे अहे सर्प ते तव दता उपरिपंक्तिवर्तिदन्तेन दतः अधःपंक्तिस्थान दन्तान् सं हन्मि संहतान् संश्लिष्टान् करोमि। तथा ते तव हन्वा हनू सं हन्मि। हनुद्वयमपि परस्परसंश्लिष्टं करोमीत्यर्थः ॥ ते

त्वदीयया जिह्वया जिह्वामपि संहतां करोमि। सर्पस्य हि द्वे जिह्वे। ते अपि परस्परमतिबद्धे करोमीत्यर्थः ॥ तथा आस्ना आस्येन आस्यम् त्वदीयं मुखं संहतं करोमि। आस्यस्य उत्तराधरभागावपि संश्लिष्टौ करोमीत्यर्थः। यद्वा सर्पाधिपानां बहुशिरस्कत्वात् तदास्यानि अन्योन्यप्रतिबद्धानि करोमीत्यर्थः। ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना दन्तशब्दस्य दद्भावः। आस्यशब्दस्य च आसन् आदेशः। उशब्दः पूरणः ❀ ॥

हे सर्प! तेरी ऊपरकी पंक्तिके दाँतोंको नीचेकी पंक्तिमें स्थित दाँतों पर मारता हूँ, अर्थात् उन दोनोंको मिलाता हूँ, तथा मेरी ठोड़ीके ऊपर और नीचेके भागोंको भी सींता हूँ, तेरी जीभसे तेरी दूसरी जीभको भी मिलाता हूँ, तेरे मुखके ऊपरके भागको नीचेके मुखसे मिलाता हूँ वा अनेक फन वाले सर्पोंके बहुतसे फनोंको एक दूसरेमें सींतासा हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

इदम्। इत्। वै। ऊं इति। भेषजम्। इदम्। रुद्रस्य। भेषजम्।
येन। इषुम्। एकऽतेजनाम्। शतऽशल्याम्। अपऽब्रवत् ॥ १ ॥

इदम् इद् वै इदमेव खलु करिष्यमाणं भेषजम् अस्य व्रणरोगस्य निवर्तकम् औषधम्। इदमेव रुद्रस्य भेषजम्। रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति रुद्रः। तस्य देवस्य संबन्धि औषधम्। ❀ रोदेर्णिलुक् च [उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः ❀। किं पुनरिदन्तया निर्दिष्टम् इति तद् आह येनेति। येन भेषजेन महादेवस्त्रिपुरसंहृतिसमये एकतेजनाम् एकस्तेजनो वेणुकाण्डो यस्याः

ता तथोक्ता । शतशल्याम् शतसंख्याकानि शल्यानि अयोमयानि तीक्ष्णानि प्रोतानि यस्याम् ईदृशीम् इषुम् उपप्रुवत् । वेध्यसमीपं प्राप्य प्रायुङ्क्त । तद् इदम् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

मैं जिस औषधको करूँगा, वह इस रोगको हटाने वाली औषध है और यह वही अन्तकालमें सबको रुलाने वाले रुद्रदेव की औषध है, जिस (एक बाँसकी गाँठ वाली बाँसमें लोहेके सैंकड़ों कील काटे लगी हुई) एकतेजना शतशल्या इषुको शिवने वेधने योग्यके पास पहुँच कर प्रयोग किया था ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

जालाषेण । अभि । सिञ्चत । जालाषेण । उप । सिञ्चत ।
जालाषम् । उग्रम् । भेषजम् । तेन । नः । मृड । जीवसे ॥ २ ॥

जलाषम् इति उदकनामसु पठितम् । अत्र च विनियोगानुसारेण गोमूत्रफेनलक्षणम् । हे परिचारकाः तेन जलाषेण अभि षिञ्चत व्रणम् अभितः प्रक्षालयत । ❀ षिच क्षरणे । "तुदादिभ्यः शः" । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् । "उपसर्गात् सुनोति०" इति षत्वम् ❀ ॥ तथा तेनैव जलाषेण उप सिञ्चत व्रणसमीपं प्रक्षालयत । तद्धि जलाषम् उग्रम् तीक्ष्णं भेषजम् रोगनिवर्तकम् । हे रुद्र तेन जलाषेण नः अस्मान् मृल सुखय जीवसे जीवनार्थम् । जलाषस्य रुद्रसंबन्धिभेषजत्वं दाशतय्यामपि आम्नातम् । "गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्" इति [ऋ० १. ४३. ४] ॥

हे परिचारको ! तुम गोमूत्रके फेनरूप जलसे व्रणको चारों ओरसे धोओ और उसी गोमूत्रफेनसे व्रणके आसपास धोओ, यह जलाष (गोमूत्रफेन) ही रोगको दूर करने वाली औषध है हे

रुद्र! उस जलाषसे जीवित रहनेके लिये आप हमको सुख दीजिये †

षष्ठी ॥

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।

क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्

शम् । च । नः । मयः । च । नः । मा । च । नः । किम् । चन । आममत् ।

क्षमा । रपः । विश्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् । सर्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् ॥ २ ॥

हे देव नः अस्माकम् शं च रोगस्य शमनं च भवतु । रोगजनितं दुःखं निवर्ततास् इत्यर्थः । मयश्च । मय इति सुखनाम । सुखं च नः अस्माकं भवतु । अपि च नः अस्माकं संबन्धि किं चन किमपि प्रजापश्वादिकं मा आममत् रोगग्रस्तं मा भूत् । ❀ अम रोगे । अस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । रप इति पापनाम । रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति हि यास्कः [नि० ४. २१] । "सुपां सुलुक्०" इति षष्ठ्या लुक् ❀ । रपः रपसो रोगनिदानभूतस्य पापस्य क्षमा क्षान्तिः उपशमो भवतु । ❀ क्षमूष् सहने । "षिद्भिदादिभ्यः०" इति भावे अङ् ❀ । विश्वम् समस्तं स्थावरजङ्गमात्मकं नः अस्माकं भेषजम् औषधम् अस्तु । एतदेव आदरार्थं पुनरुच्यते सर्वं न इति । सर्वम् कृत्स्नं कर्म नः अस्माकं भेषजम् अस्तु ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

---

† जलाष अर्थात् गोमूत्रका फेन रुद्रसम्बंधी औषध है इसका ऋग्वेदमें भी वर्णन है, यथा—"गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम् ।" ऋग्वेदसंहिता १ । ४३ । ४

हे देव ! हमारे रोगोंकी शांति हो अर्थात् रोगजनित दुःख दूर होजावें। और हमको सुख भी मिले, और हमारे पशु कुप आदि जो कुछ हैं वह रोगग्रस्त न हों और रोगके कारणरूप पापकी शांति हो, स्थावरजङ्गमात्मक समस्त विश्व हमारी औषध हो सम्पूर्ण कर्म हमारी औषधरूप हो ॥ ३ ॥

छठे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२३०) ॥

"यशसं मेन्द्रः" इति तृचेन यशस्कामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। "यशसं मेन्द्र इति यशस्कामः" इति हि सूत्रम् [कौ० ७. १०]॥

तथा उत्सर्जनकर्मणि अनेन तृचेन आज्यं हुत्वा रसेषु संपातान् आनयेत्। उत्सर्जनं प्रकृत्य सूत्रितम्। "यशसं मेन्द्रः [६. ५८] गिरावरगराटेषु [६. ६९]" इत्यादि "अग्नौ हुत्वा रसेषु संपातान् आनीय" इति [कौ० १४. ३]॥

"अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम्" इति तृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगः॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि "वायोः पूतः" [६. ५१] इति तृचोक्तानि क्षीरौदनहवनादीनि कर्माणि कुर्यात्। सूत्रितं हि। "शं च नो मयश्च नः [६. ५७. ३] अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् [६. ५९] मह्यम् आपः [६. ६१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्" इति [कौ० ५. ५]॥

तथा स्वस्त्ययनकर्मणि अनेन तृचेन आज्यसमित्पुरोडाशादीनि शष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात्। सूत्रितं हि। "पातं नः [६. ३] इति पञ्च अनुडुद्भ्यः [६. ५९] यमो मृत्युः [६. ९३] विश्वजित् [६. १०७] शकधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १]॥

"यशसं मेन्द्रः" इस तृचसे यशको चाहने वाला इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,कि-"यशसं मेन्द्र इति यशस्कामः" (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

तथा उत्सर्जनकर्ममें इस तृचसे घृतकी आहुति देकर रसोंमें सम्पातोंको लावे। उत्सर्जनका आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि–"यशसम् मेन्द्रः (६।५८) गिरावरगराटेषु (६।६९)" इत्यादि "अग्नौ हुत्वा रसेषु सम्पातान् आनीय" (कौशिकसूत्र १४।३)॥

"अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम्" इस तृचका बृहद्गणमें पाठ है अत एव इसका शान्त्युदक आदिमें विनियोग होता है।

तथा धन उठाने पर होनेवाले विघ्नोंकी शांतिके कर्ममें 'वायोः पूतः' इस छठे काण्डके इक्यावनवें सूक्तमें कहेहुए चीरौदन हवन आदि कर्मोंको करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि— "शं च नो मयश्च नः (६।५७।३) अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् (६।५९) महीम् आपः(६।६१) वैश्वानरो रश्मिभिः (६।६२) इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्" (कौशिकसूत्र ५।५)।

तथा स्वस्त्ययनकर्ममें इस तृचसे घृत समिधा पुरोडाश आदि पूरी तकके तेरह द्रव्योंकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"पातं नः (६।३) इति पञ्च अनडुद्भ्यः (६।५९) यमो मृत्युः (६।९३) विश्वजित् (६।१०७) शकधूमम् (६।१२८) भवाशर्वौ (११।२) "इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र ७।१)।

तत्र प्रथमा॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥ १॥

यशसम् । मा । इन्द्रः । मघऽवान् । कृणोतु । यशसम् । द्यावा-

पृथिवी इति । उभे इति । इमे इति ।

यशसम् । मा । देवः । सविता । कृणोतु । प्रियः । दातुः । दक्षि-

णायाः । इह । स्याम् ॥ १ ॥

मघवान् । मघम् इति धननाम । तद्वान् इन्द्रः मा मां यशसम् यशस्विनं कीर्तियुक्तं कृणोतु करोतु । ❀ यशःशब्दाद् मत्वर्थीयस्य "लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः" इति लुक् । तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञायाम् फिषोन्त उदात्तः [फि० १. १] इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । इमे परिदृश्यमाने उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ [मा] मां यशसम् यशस्विनं कृणुताम् । देवः दानादिगुणयुक्तः सविता सर्वप्रेरको देवः मा मां यशसम् यशस्विनं कृणोतु करोतु । एवम् उदीरितरीत्या यशस्वी भूत्वा दक्षिणायाः वासोहिरण्यादिरूपाया इह अस्मिन् ग्रामनगरादौ धातुः दातुः प्रियः स्याम् भवेयम् ॥

धन वाले इन्द्रदेव मुझको कीर्तिसम्पन्न करें, ये दोनों द्यावापृथिवी मुझको यशस्वी करें, दानादिगुणसम्पन्न सर्वप्रेरक सविता देवता मुझको यशस्वी करें । इस प्रकार मैं यशस्वी बनकर वस्त्र धन आदि दक्षिणाको धारण करने वालेका प्रिय होजाऊँ ॥१॥

द्वितीया ॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु

यशस्वतीः ।

एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२॥

यथा । इन्द्रः । द्यावापृथिव्योः । यशस्वान् । यथा । आपः ।

ओषधीषु । यशस्वतीः ।

एव । विश्वेषु । देवेषु । वयम् । सर्वेषु । यशसः । स्याम ॥२॥

यथा येन प्रकारेण द्यावापृथिव्योः द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावा आदेशः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । द्यावापृथिव्योः अनयोर्लोकयोर्मध्ये इन्द्रो यशस्वान् वृष्टिप्रदानादिकर्मभिः कीर्तिमान् । यथा च आपः ओषधीषु यशस्वतीः यशस्वत्यः । ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञया पदसंज्ञाया निवर्तनात् रुत्वाभावः ❀ । व्रीहियवादिसस्यवृद्धिहेतुत्वेन लोके प्रख्याता इत्यर्थः । एव एवं विश्वेषु सर्वेषु देवेषु तदुपलक्षितेषु सर्वेषु मनुष्येषु च वयं यशसः यशस्विनः स्याम भवेम ॥

जैसे द्यावापृथिवी इन लोकोंके मध्यमें वृष्टिप्रदान आदि कर्मसे इन्द्रदेव यशस्वी हैं, जैसे जल ओषधियोंमें यशस्वी हैं अर्थात् धान जौं आदि धान्योंकी वृद्धि करने वाले होनेसे लोकमें प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार सकल देवता और मनुष्योंमें हम यशस्वी होजावें २

तृतीया ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।

यशाः । विश्वस्य । भूतस्य । अहम् । अस्मि । यशःऽतमः ॥३॥

"यशा इन्द्रः" इत्येषा तृतीया पूर्ववद् अत्र व्याख्येया । ६.३६.३॥

इन्द्रदेव यश चाहते रहते हैं । अग्नि भी यश चाहते हैं, तथा सोम भी यशको चाहते हुए उत्पन्न हुए हैं । जैसे यह इंद्र आदि

यशस्वी हुए हैं, इसी प्रकार यशको चाहने वाला मैं भी देव मनुष्य आदि सब प्राणियोंसे अधिक यशस्वी होता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अनड्डुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।

अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अनडुत्ऽभ्यः । त्वम् । प्रथमम् । धेनुऽभ्यः । त्वम् । अरुन्धति ।

अधेनवे । वयसे । शर्म । यच्छ । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

हे अरुन्धति अरोधनशीले सहदेव्याख्यौषधे शान्त्युदकादौ प्रयुज्यमाना त्वं प्रथमम् पूर्वम् अनडुद्भ्यः अनसः शकटस्य वाहकेभ्यो बलीवर्देभ्यः शर्म सुखं प्रयच्छ । ॐ "वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः" इति दत्वम् ॐ । तथा धेनुभ्यः दोग्ध्रीभ्योः गोभ्यः शर्म यच्छ ।"अधेनवे धेनुव्यतिरिक्ताय वयसे पञ्चवर्षाद् अर्वाचीनाय गवाश्वादिजातीयाय चतुष्पदे चतुष्पान्मात्राय शर्म सुखं प्रयच्छ । वयःशब्दस्य उक्तार्थपरता भगवता आपस्तम्बेन दर्शिता । "एकहायनप्रभृत्या पञ्चहायनेभ्यो वयांसि" इति । ॐ चतुष्पद इति । चत्वारः पादा अस्य । "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः । "पादः पत्" इति पद्भावः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ ॥

हे अरोधनशीले सहदेवी नाम वाली औषधि ! शान्त्युदक आदिमें प्रयोग की जाती हुई तू पहिले शकटोंको-गाड़ियोंको-धारण करनेवाले बैलोंके लिये सुख दे, तथा धेनुओंके लिये सुख दे, और धेनुसे अतिरिक्त पाँच वर्षसे कमके गौ घोड़े आदि चौपायोंको सुख दे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।

करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्मां उत पूरुषान् ॥ २ ॥

शर्म । यच्छतु । ओषधिः । सह । देवीः । अरुन्धती ।

करत् । पयस्वन्तम् । गोऽस्थम् । अयक्ष्मान् । उत । पुरुषान् २

[सहदेवी] सहदेव्याख्या अरुन्धती अभिलषितफलस्य अवारयित्री ओषधिः शर्म सुखं यच्छतु प्रयच्छतु ॥ अस्मदीयं गोष्ठम् गोनिवासदेशं पयस्वन्तम् प्रभूतपयसा युक्तं करत् करोतु ॥ उत अपि च पूरुषान् पुरुषान् पुत्रभृत्यादीन् अस्मदीयान् अयक्ष्मान् अरोगान् करोतु ॥

हे सहदेवी नाम वाली अरुन्धति ! (अभिलषित फलको न रोकने वाली) ओषधे ! तू मुझको सुख दे । और हमारे गोठको बहुतसे दूधसे सम्पन्न कर और हमारे पुत्र पौत्र भृत्योंको रोगरहित कर ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।

सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

विश्वऽरूपाम् । सुऽभगाम् । अच्छऽआवदामि । जीवलाम् ।

सा । नः । रुद्रस्य । अस्ताम् । हेतिम् । दूरम् । नयतु । गोभ्यः

विश्वरूपाम् नानारूपां विश्वस्य कृत्स्नस्य फलस्य निरूपयित्रीं वा सुभगाम् सौभाग्यवतीं जीवलाम् जीवो जीवनं प्राणधारणं तद्वे तुल्वेन तद्वतीम् । ❀ "सिध्मादिभ्यश्च" इति मत्वर्थीयो लः ❀ । यद्वा । ❀ ला दाने । ❀ जीवं जीवनं लाति ददातीति जीवला । ❀ "आतोऽनुपसर्गे कः" ❀ । ईदृशीं सहदेव्याख्याम् ओषधिम् अच्छ आभिमुख्येन वदामि इष्टफलं प्रार्थये । सा तादृशी ओषधिः

रुद्रस्य हिंसकस्य देवस्य अस्ताम् असमदभिमुखं क्षिप्तां हेतिम् आयुधं नः अस्माकं संबन्धिभ्यो गोभ्यः सकाशाद् दूरम् दूरदेशं नयतु प्रापयतु। ❀ अस्ताम् इति। असु क्षेपणे। निष्ठायां "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः। हेतिम् इति। हन्तेः करणे क्तिनि "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति निपातितः। गोभ्य इति। "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्सावर्ण०" इति प्रतिषेधः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

अनेक रूप वाली सौभाग्यमयी जीवन प्रदान करने वाली सहदेई औषधिके अभिमुख होकर मैं इष्टफलकी प्रार्थना करता हूँ, वह औषधि हिंसक रुद्रदेवकी फेंकी हुई हेति (आयुध) को हमारी गौ आदिसे दूर लेजावे ॥ ३ ॥

छठे अनुवाक में चतुर्थ सूक्त समाप्त (२३२) ॥

"अयम् आ याति" इति तृचेन पतिलाभकर्मणि काकसंचारात् पूर्वम् आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अयम् आ यातीति पुरा काकसंपातात्" इति [कौ० ४. १०] ॥

"मह्यम् आपः" इति तृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि क्षीरौदनहवनादीनि कर्माणि कुर्यात्। सूत्रितं हि। "अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् [६. ५९] मह्यम् आपः [६. ६१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा वापीकूपतटाकादिषु जलागमनकामः अनेन तृचेन इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। सूत्रितं हि। "यशसं मेन्द्रः [६. ५८] इति यशस्कामो मह्यम् आपः [६. ६१] इति व्यचस्कामः" इति [कौ० ७. १०] ॥

'अयं आ याति' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे पतिलाभकर्ममें काकोंके संचारसे पहिले घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि–'अयं आ यातीति पुरा काकसम्पातात्' (कौशिकसूत्र ४। १०)॥

'महम् आपः' इस तृचका बृहद्गणमें पाठ है अत एव शान्त्युदक आदिमें इसका विनियोग करना चाहिये।

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्ममें क्षीरौदनहवन आदि कर्म इस तृचसे करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अनडुत्प्रथमस्त्वं प्रथमम् (६। ५६) महं आपः (६। ६१) वैश्वानरो रश्मिभिः (६। ३२) इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्' (कौशिकसूत्र ५। ५)॥

तथा कपी कूप तालाव आदिमें जल आनेकी इच्छा करने वाला इस तृचसे इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—

'यशसं मेन्द्रः (६। ५८) इति यशस्कामो महम् आप (६। ६१) इति व्यचस्कामः' (कौशिकसूत्र ७। १०)॥

तत्र प्रथमा॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये॥ १॥

अयम्। आ। याति। अर्यमा। पुरस्तात्। विसितऽस्तुपः।
अस्यै। इच्छन्। अग्रुवै। पतिम्। उत। जायाम्। अजानये॥१॥

पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि विषितस्तुपः विशेषेण सितो बद्धः स्तुपो रश्मीनां समुच्छ्रायो यस्य स तथोक्तः। ईदृशोयम् अर्यमा आदित्यः आ याति आगच्छति। किं कुर्वन्। अस्यै अग्रुवै कन्यायै पतिम् इच्छन्। ❁ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृ-

मत्ययः ❀ । पत्यन्वेषणाद्धेतोरित्यर्थः । ❀ "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ❀ ॥ उत अपि च अजानये जायारहिताय जायाम् भार्याम् । दातुम् इच्छन् इत्यर्थः । ❀ न विद्यते जाया यस्येति विगृह्य "जायाया निङ्" इति निङ् आदेशः ❀ । अर्यम्णो विवाहाधिदेवतात्वम् "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम् अयक्षत" [आश्व० गृ० १. ७. १३] इति मन्त्रलिङ्गाद् अवगन्तव्यम् ॥

पूर्वदिशामें जिनकी किरणोंका उठान विशेषरूपसे बँधा हुआ है ऐसे आदित्यदेव इस कन्याके लिये पतिको चाहते हुए और स्त्रीरहितको स्त्रीको देनेकी इच्छा करते हुए आरहे हैं † ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अश्रमत् । इयम् । अर्यमन् । अन्यासाम् । समनम् । यती ।
अङ्गो इति । नु । अर्यमन् । अस्याः । अन्याः । समनम् । आऽअयति २

हे अर्यमन् देव इयम् पतिलाभार्थिनी कन्या अश्रमत् श्रान्ता अभिलषितस्य पत्युरलाभेन खिन्ना । ❀ श्रमु तपसि खेदे च ❀ । किं कुर्वती । अन्यासां पतिव्रतानां स्त्रीणां शमनम् पत्युरावर्जनोपायभूतां शान्तिं यती प्राप्नुवती । अङ्ग उ अङ्गो । उशब्दः चार्थे । अङ्गेत्याभिमुख्यकरणे । अङ्ग हे अर्यमन् अन्याश्च स्त्रियः अस्याः पतिकामाया अनु पश्चात् शमनम् पतिविषयां शान्तिम् आयति प्राप्नुवन्ति । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ ॥

† अर्यमा (सूर्य) देवता विवाहके अधिदेवता हैं । यह बात आश्वलायनगृह्यसूत्रके १ । ७ । १३ वें मंत्रसे सिद्ध है । यथा— 'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निं अयक्षत ॥—कन्याने अर्यमादेवताकी और अग्निदेवताकी पूजा की' ॥

हे अर्यमा देवता ! यह पतिको पाना चाहने वाली कन्या, अन्य पतिव्रता स्त्रियोंने पति पानेके लिये जिस शान्तिको किया था उसको करते २ अभिलषित पतिको न पानेसे खिन्न हो रही है—श्रान्त हो रही है। हे अयमन् ! दूसरी स्त्रियें भी इस पति चाहने वाली कन्याकी शान्ति कर रही हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।

धातास्या अग्रुवे पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

धाता । दाधार । पृथिवीम् । धाता । द्याम् । उत । सूर्यम् ।

धाता । अस्यै । अग्रुवे । पतिम् । दधातु । प्रतिऽकाम्यम् ॥३॥

धाता सर्वस्य जगतो धारयिता विधाता देवः पृथिवीम् भूमिं दाधार धृतवान् । स्वस्थाने स्थापितवान् इत्यर्थः । ❀ तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घः ❀ ॥ तथा स एव धाता द्याम् द्युलोकम् ॥ उत-शब्दः चार्थे । सूर्यम् सर्वप्रेरकम् आदित्यं च स्वकीये स्थाने धारितवान् ॥ एवं सर्वस्य जगतो नियन्तृत्वात् धातैव अस्या अग्रुवै पतिकामायै कन्यायै प्रतिकाम्यम् आभिमुख्येन कामयितव्यं पतिम् भर्तारं दधातु विदधातु करोतु प्रयच्छतु वा । ❀ डुधाञ् दानधारणयोः ❀ ॥

सब जगत्के धारण करने वाले विधाता देवताने पृथिवीको अपने स्थानमें स्थापित किया है और उन्हीं धाता देवताने द्युलोक को और सबके प्रेरक सविता देवताको उनके स्थानमें धारण किया है। इस प्रकार सब जगत्के नियन्ता होनेसे धाता ही इस पतिको चाहने वाली कन्याको अभिमुख होकर कामना करने वाले स्वामीको दें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥

मह्यम् । आपः । मधुऽमत् । आ । ईरयन्ताम् । मह्यम् । सूरः अभरत् । ज्योतिषे । कम् ।

मह्यम् । देवाः । उत । विश्वे । तपःऽजाः । मह्यम् । देवः । सविता । व्यचः । धात् ॥ १ ॥

आपः उदकानि तदभिमानिदेवताः मधुमत् माधुर्योपेतम् आत्मीयं रसं मह्यं मदर्थं एरयन्ताम् आगमयन्तु ॥ तथा सूरः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः मह्यं मदर्थं कम् सुखकरम् आत्मीयं तेजः ज्योतिषे विषय-प्रकाशनाय अभरत् अहरत् । उत्पादितवान् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् ज्योतिषे इति कर्मणि चतुर्थी ❀ । ज्योतिः आत्मीयं प्रकाशम् अहरत् । प्रापयतीत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे कम् इति पदपूरणः । ❀ तद् उक्तं यास्केन । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति [नि० १. ६] ❀ ॥ उत अपि च तपोजाः ब्रह्मणस्तपसो जाताः विश्वे सर्वे देवाः मह्यम् । इष्टफलं प्रयच्छन्तु । इति शेषः । ❀ तपसो जायन्ते इति तपोजाः । "जनसनखनक्रमगमो विट्" । "विड्वनो-रनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ । सविता सर्वस्य प्रेरको देवः व्यचः व्यापनम् इष्टफलप्रापणं मह्यं धात् दधातु विदधातु करोतु प्रयच्छतु वा । ❀ दधातेश्छान्दसे लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ ॥

जल और जलके अभिमानी देवता अपने मधुरता भरे जल को मेरे निमित्त लावें । तथा सबके प्रेरक सूर्यदेवने मेरे लिये सुख-दायक तेजको विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये उत्पन्न कर दिया है और ब्रह्माजीके तपसे उत्पन्न हुए सब देवता मुझको इष्टफल दें । सबके प्रेरक सविता देवता इष्टफलप्रापणरूप व्याप्तिको मुझमें स्थापित करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम् ।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥

अहम् । विवेच । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् । अजनयम् । सप्त । साकम् ।

अहम् । सत्यम् । अनृतम् । यत् । वदामि । अहम् । दैवीम् । परि । वाचम् । विशः । च ॥ २ ॥

मन्त्रद्रष्टा स्वात्मनः सर्वगतब्रह्मात्मभावम् अनुसंदधानः सर्वकर्तृत्वम् आविष्करोति । पृथिवीं द्यां च अहं विवेच । परस्परविविक्ते असंकीर्णरूपे कृतवान् अस्मि ॥ तथा अहमेव सप्तसंख्याकान् । वसन्ताद्याः षट् संसर्पोंहस्पतिसंज्ञकाधिमासाख्यः सप्तमः । एतान् सप्तसंख्याकान् ऋतून् साकं सह परस्परसंहतान् अजनयम् उत्पादितवान् अस्मि ॥ सत्यम् यथार्थम् । अनृतम् अयथार्थम् । सत्यानृतभेदेन यत् लोके प्रसिद्धं वाक्यजातं तद् अहमेव वदामि उच्चारयामि ॥ तथा दैवीम् देवसंबन्धिनीं वाचम् अहमेव परि विशम् परिभासवान् अस्मि ॥

(मन्त्रद्रष्टा अपने सर्वगत ब्रह्मात्मभावको धारण करता हुआ सर्वकर्तृत्वको प्रकट करता है, कि—) मैंने पृथिवी और स्वर्गको परस्पर

अलग किया है। और मैंने ही वसन्त आदि छः और संसर्पोह-स्पति नामक अधिमासरूप सातवीं इस प्रकार सात ऋतुओंको एक दूसरीसे संयुक्त रूपमें उत्पन्न किया है। संसारके जो सत्य और असत्य वाक्य हैं उन सबको मैं ही उच्चारण करता हूं और दैवीवाणीको भी मैं ही पाता हूं॥ २॥

षष्ठी॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥ ३॥

अहम्। जजान। पृथिवीम्। उत। द्याम्। अहम्। ऋतून्। अजनयम्। सप्त। सिन्धून्।
अहम्। सत्यम्। अनृतम्। यत्। वदामि। यः। अग्नीषोमौ। अजुषे। सखाया॥ ३॥

पूर्ववद् योजना। इयांस्तु विशेषः। जजान उत्पादितवान् अस्मि। सिन्धून् सिन्धवः स्यन्दनशीला गङ्गाद्याः सप्त नद्यः सप्त समुद्रा वा। तानपि अहम् उत्पादितवान् अस्मि। स्वात्मनस्तादृक्सामर्थ्यप्राप्तिम् उपपादयति यो अग्नीषोमाविति। अग्नीषोमात्मकं हीदं सर्वं जगत्। श्रूयते हि। "एतावद् वा इदम् अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः" इति [बृ० आ० १. ४. ६]। एवं भोक्तृभोग्यात्मकस्य अखिलजगतः कारणभूतौ अग्नीषोमौ योहं ब्रह्मात्मभावेन सखाया सखायौ समानख्यानौ जगन्निर्माणे सहायभूतौ अजुषे सेवितवान् अस्मि। तादृशस्य मम द्यावापृथिव्यादिसर्जनम् उपपन्नम् इत्यर्थः। ॐ अजुषे इति। जुष प्रीतिसे-

मनयोः । अस्मात् लङि उत्तमैकवचने रूपम् । सखाया । "सुपां सुलुक्०" इति विभक्तेराकारः ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे षष्ठकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः

मैंने ही पृथिवीको उत्पन्न किया है, मैंने ही पृथिवी और स्वर्गको उत्पन्न किया है, और मैंने ही गंगा आदि सात नदियोंको और समुद्रोंको उत्पन्न किया है। (अपनेमें इतनी शक्ति होनेका कारण दिखलाते हैं, कि–यह सब जगत् अग्नीषोमात्मक है। इस विषयमें श्रुतिका प्रमाण भी है, कि–'एतावद् वा इदं अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नं अग्निरन्नादः ॥–यह सब ही अन्न और अन्नको खाने वाला है। सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नको खाने वाला है' [बृहदारण्यक १ । ४ । ६] इस प्रकार भोक्ता और भोग्यरूप सम्पूर्ण जगत्के कारणभूत) अग्नीषोमोंको मैं प्रधानात्मभावसे जगत्के निर्माण करनेके कर्ममें सहायकरूपसे सेवन कर चुका हूँ (अतः ऐसे मेरा द्यावापृथिवीको रचना ठीक ही है) ॥ २ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (५३४) ॥

अथर्ववेदके छठे काण्डमें छठा अनुवाक समाप्त ॥

सप्तमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "वैश्वानरो रश्मिभिः" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र आद्यस्य तृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणे विनियोगः ॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि अनेन तृचेन क्षीरौदनहवनादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "मह्यम् आपः [६. ६१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा अस्य तृचस्य पवित्रगणे पाठात् सवयज्ञेषु मोक्षणे विनियोगः । "पवित्रैः संप्रोक्षति" इति [कौ० ८, २] सूत्रात ॥

अवकीर्णिप्रायश्चित्तार्थं तमेव ब्रह्मचारिणं दर्भरज्ज्वा कण्ठे बद्ध्वा "यत् ते देवी" इत्यनेन तृचेन व्रीहीन् यवान् तिलान् वा जुहुयात् ॥

तथा अनेन तृचेन उदपात्रं संपात्य दर्भरज्ज्वा अवकीर्णिनं संमोच्य दर्भरज्जुं विसृजेत् ॥

ब्रह्मचारिणं प्रक्रम्य सूत्रितम् । "यत् ते देवीत्यावपत्येवं संपातवतोदपात्रेणावसिच्य मन्त्रोक्तं शान्त्युदकेन संप्रोक्ष्य"[कौ०५.१०]

तथा अग्निचयने "यत् ते देवी" इति नैर्ऋतेष्टकोपधानानन्तरं रुक्मपाशसहितां मास्ताम् आसन्दीम् अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "यत् ते देवीत्यासन्दीं रुक्मपाशां नैर्ऋत्यां मास्ताम्" इति [वै० ५. १] ॥

तथा "नमोस्तु ते" इति नैर्ऋतीम् इष्टकाम् उपधीयमानाम् अनुमन्त्रयते । "नमोस्तु ते निर्ऋते" इति हि वैतानम् [वै०५.१] ॥

तत्रैव अग्निचयने "सं समित्" इत्यनया आनुष्टुभीरिष्टका उपधीयमाना ब्रह्मा अनुमन्त्रयते ॥

सातवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें 'वैश्वानरो रश्मिभिः' यह प्रथम सूक्त है । इसके पहिले तृचका बृहद्गणमें पाठ है अत एव शान्त्युदकके अभिमन्त्रणमें इसका विनियोग होता है ।

तथा अर्धोच्थापनविघ्नशमनकर्ममें इस तृचसे क्षीरौदनहवन आदि कर्म करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'मह्यम् आपः (६ । ६१) वैश्वानरो रश्मिभिः (६ । ६२) इत्यभिवर्षणावसेचनानाम्' (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

इस तृचका पवित्रगणमें पाठ है, अतः सवयज्ञोंके प्रोक्षणमें इसका विनियोग होता है। 'पवित्रैः संप्रोक्षति' (कौशिकसूत्र ८।२)॥

अवकीर्णिप्रायश्चित्तके लिये उसी ब्रह्मचारीको दर्भकी रस्सीसे कण्ठमें बाँध कर 'यत् ते देवी' इस तृचसे धान जौं वा तिलोंकी आहुति देय ।

तथा इस ऋचसे जलपूर्ण पात्रका सम्पातन करके दर्भकी रस्सीसे अवकीर्णीको प्रोक्षित करके दर्भकी रस्सीको अलग कर देय ।

सूत्रमें ब्रह्मचारीके विषयका आरंभ करके कहा है, कि–'यत् ते देवीत्यावपत्येवं संपातवतोदपात्रेणवासिच्य मन्त्रोक्तं शान्त्युदकेन सम्प्रोक्ष्य' (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तथा अग्निचयनमें 'यत् ते देवी' इस सूक्तसे नैर्ऋतेष्टकाका उपधान करनेके अनन्तर रुक्मपाशसहित फेंकी हुई आसन्दी (आसन) का अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'यत् ते देवीत्यासन्दीम् रुक्मपाशां नैर्ऋत्यां मास्ताम्' (वैतानसूत्र ५ । १) ॥

तथा 'नमोस्तु ते' इस सूक्तसे नैर्ऋतीकी रक्खी जाती हुई ईटका अनुमन्त्रण करे, इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'नमोस्तु ते निर्ऋते' (वैतानसूत्र ५ । १) ॥

तहाँ ही अग्निचयनमें 'सं समित्' इस ऋचासे रक्खी जाती हुई आनुष्टुभी इष्टकाओंका अक्षा अनुमन्त्रण करे ।।

तत्र प्रथमा ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥

वैश्वानरः । रश्मिऽभिः । नः । पुनातु । वातः । प्राणेन । इषिरः । नभःऽभिः ।

द्यावापृथिवी इति । पयसा । पयस्वती इति । ऋतवरी इत्यृतऽवरी । यज्ञिये इति । नः । पुनीताम् ॥ १ ॥

वैश्वानरः विश्वनरसंबन्धी सर्वप्राणिषु जाठरात्मना वर्तमानोग्निः रश्मिभिः स्वकीयैः किरणैः नः अस्मान् पुनातु शोधयतु। यद्वा "वैश्वानरो यतते सूर्येण" [ऋ० १. ६८. १] इति लिङ्गात् सूर्योपि वैश्वानर इत्युच्यते। सोपि स्वरश्मिभिः अस्मान् पुनात्वित्यर्थः॥ तथा वातः वायुः देहमध्ये संचरन् प्राणेन प्राणनव्यापारेण श्वासोच्छ्वासादिरूपेण अस्मान् पुनातु॥ तथा इषिरः गमनशीलः अन्तरिक्षे संचरन् स एव नभोभिः नभःप्रदेशैरन्तरिक्षप्रदेशैः अस्मान् शोधयतु। ❀ इषिर इति। इष गतौ इत्यस्माद् औणादिकः किरच् प्रत्ययः ❀। द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावा आदेशः। "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः। "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम्। "०अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु" इति पर्युदस्तत्वाद् "नोत्तरपदेनुदात्तादौ०" इति निषेधाभावः ❀। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ। पयसा सारभूतेन रसेन पयस्वती पयस्वत्यौ सारवत्यौ। ऋतावरी ऋतम् इत्युदकस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा नामधेयम् तद्वत्यौ। ❀ "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप् "वनो र च" इति ङीब्रेफौ। पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। यज्ञिये यज्ञार्हे यज्ञनिष्पादनसमर्थे। ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀॥ एवं गुणविशिष्टे द्यावापृथिव्यौ नः अस्मान् पुनीताम् शोधयताम्। ❀ पूञ् पवने। क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः। "ई हल्यघोः" इति ईत्वम् ❀॥

सब प्राणियोंमें जठराग्निके रूपसे वर्तमान अग्निदेव अपनी किरणोंसे हमको पवित्र करें और वैश्वानर सूर्यदेव अपनी किरणों से हमको पवित्र करें, वायुदेव प्राणरूपसे देहमें विचरण कर हम को पवित्र करें, और अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले वही वायुदेव हमको अन्तरिक्ष प्रदेशोंसे पवित्र करें। सारभूत रससे सार वाले यज्ञको सिद्ध करने वाले द्यावापृथिवी हमको पवित्र करें॥१॥

द्वितीया ॥

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् २

वैश्वानरीम् । सूनृताम् । आ । रभध्वम् । यस्याः । आशाः । तन्वः । वीतऽपृष्ठाः ।
तया । गृणन्तः । सधऽमादेषु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् २

वैश्वानरीम् वैश्वानराग्निसंबन्धिनीं सूनृताम् प्रियसत्यात्मिकां वाचं स्तुतिरूपाम् हे जनाः आ रभध्वम् उपक्रमध्वम् । वीतपृष्ठाः विस्तीर्णोपरिभागा आशाः दिशो यस्याः वैश्वानर्या वाचः तन्वः शरीरभूताः । तया वाचा गृणन्तः तं वैश्वानरम् अग्निं स्तुवन्तो वयम् । ❀ गॄ शब्दे । प्वादित्वात् ह्रस्वः ❀ । सधमादेषु । सह माद्यन्ति हृष्यन्ति एषु इति सधमादाः संग्रामाः । ❀ अधिकरणे घञ् । "सधमादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । तेषु सधमादेषु रयीणाम् धनानां पतयः स्याम वैश्वानरप्रसादात् स्वामिनो भवेम ॥

हे मनुष्यों ! तुम विश्वानरसंबंधी प्रिय सत्य स्तुतिरूपा वाणी का आरंभ करो, जिस वैश्वानरी वाणीके ऊपरके शरीररूप भाग विस्तीर्ण हैं, उस वाणीसे हम वैश्वानर अग्निकी स्तुति करके उनके प्रसादसे संग्रामोंमें धनके स्वामी बनें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।

२७

इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ३ ॥

वैश्वानरीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः ।

इह । इडया । सधऽमादम् । मदन्तः । ज्योक् । पश्येम । सूर्यम् । उत्ऽचरन्तम् ॥ ३ ॥

वैश्वानरीम् वैश्वानराग्निसंबन्धिनीं स्तुतिरूपां वाचम् हे जनाः आरभध्वम् । किमर्थम् । वर्चसे तेजसे । ब्रह्मवर्चसादितेजःप्राप्त्य इत्यर्थः । ततो वैश्वानराग्निप्रसादाद् वयं शुद्धा भवन्तः निष्कल्मषाः सन्तः शुचयः ब्रह्मवर्चसेन दीप्यमानाः कर्मार्हाः पावकाः अन्यस्यापि शुद्धिहेतवः इलया । अन्ननामैतत् । अन्नेन सधमादं मदन्तः परस्परसाहित्येन मदन्तः माद्यन्तः इह अस्मिन् भूलोके अवस्थाय उच्चरन्तम् उद्गच्छन्तं सूर्यं ज्योक् चिरकालं पश्येम । दीर्घायुषो भवेमेत्यर्थः । ❀ अत्र सधमादम् इति णमुलन्तः । तस्यैव धातोरनुप्रयोगश्च ❀ ॥

हे मनुष्यो ! तुम ब्रह्मवर्चस् आदि तेज पानेके लिये वैश्वानर अग्नि की स्तुतिसे भरी हुई वाणीका बोलना आरम्भ करो, तदनन्तर हम वैश्वानर अग्निके प्रसादसे शुद्ध हो, ब्रह्मतेजसे दमकने लगें और दूसरोंको भी पवित्र करने वाले बन जावें और अन्न से परस्पर प्रसन्न रहते हुए चिरकाल तक उदय होते हुए सूर्यको देखें, अर्थात् दीर्घायु होवें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्

तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥

यत् । ते । देवी । निःऽऋतिः । आऽबबन्ध । दाम । ग्रीवासु । अविऽमोक्यम् । यत् ।

तत् । ते । वि । स्यामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । अदोमदम् । अन्नम् । अद्धि । प्रऽसूतः ॥ १ ॥

देवी द्योतमाना निर्ऋतिः अनिष्टकारिणी देवता हे पुरुष ते तव यद् दाम सर्वेषु अङ्गेषु आबबन्ध पापरूपं पाशम् आबद्धवती तथा ग्रीवासु कण्ठगतासु धमनीषु अविमोक्यम् विमोक्तुं विस्रष्टुम् अशक्यं यद् दाम आबद्धम् ते तव सर्वस्मात् शरीरात् तत् तादृशं दाम पापरूपं निर्ऋतिपाशं वि ष्यामि विमुञ्चामि । ❀ षो अन्तकर्मणि । अत्र उपसर्गवशाद् विमोचनम् अर्थः । स्यतिरुपसृष्टो विमोचने इति हि यास्कः [नि० १. १७] । "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀ । किमर्थम् । आयुषे चिरकालजीवनाय वर्चसे । तेजसे बलाय च । एवं निर्ऋतिपाशाद् विमुक्तः प्रसूतः अस्माभिरनुज्ञातः सन् अदः विप्रकृष्टकालव्यापि मदम् मदकरं तृप्तिकरम् अन्नम् अद्धि भुङ्क्ष्व । ❀ मद भक्षणे । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" ❀ ॥

हे पुरुष ! अनिष्ट करने वाले प्रकाशमय निर्ऋति देवताने तेरे सब अङ्गोंमें जो पापरूप पाश बाँध दिया है, कण्ठकी नसोंमें जो न छुड़ा सकने योग्य पाश बाँध दिया है, मैं उस पापरूप रस्सीको तुझे चिरकालतक जीवित रखनेके लिये तथा तेज और बलसम्पन्न रखनेके लिये तेरे इन सकल अंगोंसे अलग करता हूँ, इस प्रकार निर्ऋतिके पाशसे छूटा हुआ तू हमारे अनुज्ञा देने पर इस समय तू इस मदकारी अन्नको खा ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृ॑ता बन्धपाशान् ।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै॑ यमाय नमो॑ अस्तु मृत्यवे॑ ॥ २ ॥

नमः॑ । अस्तु । ते । निःऽऋते । तिग्मऽतेजः । अयस्मयान् । वि । चृत । बन्धऽपाशान् ।
यमः । मह्यम् । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै॑ । यमाय ।
नमः॑ । अस्तु । मृत्यवे॑ ॥ २ ॥

हे तिग्मतेजः तीक्ष्णदीप्ते हे निर्ऋते अनिष्टकारिणि देवते ते तुभ्यं नमोस्तु अस्माभिः कृतो नमस्कारो भवतु । तेन प्रीता त्वम् अयस्मयान् अयोमयान् अतिदृढान् बन्धपाशान् बन्धनरज्जुविशेषान् वि चृत विमुञ्च । ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः । तुदादित्वात् शः ❀ ॥ हे साधक पुरुष त्वां निर्ऋतिपाशविमोके सति मह्यं यमः पुनरेव ददाति । निर्ऋतिपाशेन पूर्वं मृतप्रायोभूः इदानीं तद्विमोकेन लब्धजीवनत्वात् यम एव त्वां पुनर्दत्तवान् इत्यर्थः । तस्मै यमाय मृत्यवे प्राणापहारिणे नमोस्तु ॥

हे अनिष्टकारिणी तीक्ष्ण दीप्ति)वाली पापदेवते निर्ऋते ! तुझे हमारा नमस्कार प्राप्त हो, उससे प्रसन्न होकर तू हमारे लोहेके परम दृढ़ बन्धनोंको खोल । हे साधक ! निर्ऋतिके पाशों से छुटकारा होने पर तुझको यमदेव मुझे फिर दे रहे हैं अर्थात् तू पहिले निर्ऋतिके पाशोंसे मृतप्राय होरहा था, अब उनसे छुट-

कारा मिलने पर जीवन पानेसे यमने तुझको फिर देदिया है, ऐसे प्राणापहारक यमके लिये-मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥२॥

षष्ठी ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्

अयस्मये। द्रुऽपदे। बेधिषे। इह। अभिऽहितः। मृत्युऽभिः। ये। सहस्रम्।

यमेन। त्वम्। पितृऽभिः। सम्ऽविदानः। उत्ऽतमम्। नाकम्। अधि। रोहय। इमम् ॥ ३ ॥

अयस्मये अयोविकारे शृङ्खलादौ द्रुपदे दारुनिर्मिते पादबन्धने हे निर्ऋते त्वं यदा बेधिषे पुरुषं यदा बध्नासि तदा इह अस्मिन् लोके स पुरुषः मृत्युभिः मृत्युपाशैः अभिहितः बद्धो भवति। ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते ❀। मृत्यवो विशेष्यन्ते। ये प्रसिद्धाः ज्वरादिरोगाः रक्षःपिशाचादयश्च सहस्रम् सहस्रसंख्याका मरणहेतुभूताः सन्ति। तैर्मृत्युभिरिति संबन्धः ॥ हे निर्ऋते त्वं यमेन त्वदधिष्ठात्रा पितृभिः पितृदेवताभिश्च संविदाना ऐकमत्यं गता उत्तमम् उत्कृष्टतमं नाकम् दुःखसंस्पर्शशून्यं सुखम् इमं पुरुषम् अधि रोहय प्रापय। ❀ संविदान इति। संपूर्वाद् विदेः "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे निर्ऋते! जिस समय तू पुरुषको लोहेकी बेड़ी आदिमें और वृक्षसे बने हुए पैरोंको पकड़नेकी बेड़ीमें बांधता है, उस समय इस लोकमें वह पुरुष मृत्युके ज्वर राक्षस आदि सहस्रों पाशोंसे बँधा हुआ होता है। हे निर्ऋते! तू अपने अधिष्ठात्री

देवता यमसे और पितरोंसे भी एकमत होकर इस पुरुषको दुःख के स्पर्शसे शून्य स्वर्गमें पहुँचा ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

सम्ऽसम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इडः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ४

हे वृषन् कामानां वर्षितः अग्ने अर्यः स्वामी त्वम् आ समन्ताद् विश्वानि सर्वाणि धनानि संसम् इद् युवसे संयुवस एव सर्वथा सम्यक् प्रापयसि । ❀ "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति समो द्विर्वचनम् । युमिश्रणे इति धातुः । "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इति निपातितः अर्यशब्दः । "अर्यस्य स्वाम्याख्या चेत्" [फि० १. १८] इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । स त्वम् इडस्पदे इळाया भूम्याः पदे स्थाने उत्तरवेदिलक्षणे । "एतद् वा इळायास्पदं यद् उत्तरवेदिनाभिः" इति ऐतरेयकम् [ऐ० ब्रा० १, २८] । तत्र समिध्यसे संदीप्यसे । ❀ "आतो धातोः" इत्यत्र आत इति योगविभागाद् इडाशब्दस्य आल्लोपः । "इडाया वा" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । स तादृशस्त्वम् । नः अस्मभ्यं वसूनि धनानि आ भर आहर प्रयच्छ ॥

[इति] सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले स्वामिन् अग्निदेव ! आप सब प्रकारके धनोंको भली प्रकार प्राप्त कराते हैं, ऐसे आप उत्तर-

वेदीरूप ‡ भूमिस्थान (इडास्पद) दिप रहे हैं, ऐसे आप हमको धन दीजिये ॥ १ ॥

॥ नम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२३६) ॥

"सं जानीध्वम्" इति तृचेन सांमनस्यकर्मणि उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण ग्राममध्ये निनयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि त्रिवर्षदेशीयाया वत्सतर्या मांसविशेषम् अनेन तृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य आशयेत् ॥

तथा भक्तम् अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य प्राशयेत् ॥

तथा सुरां प्रपोदकं वा अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "सहृदयम् [३. ३०] तद् सु [५. १. ५] सं जानीध्वम् [६. ६४] एह यातु [६. ७३] सं वः पृच्यन्ताम्" [६. ७४] इति प्रक्रम्य "उदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितानि आशयति" इत्यादि [कौ० २. ३] ॥

"अव मन्युः" इति तृचेन संग्रामजयकर्माणि कुर्यात् । तानि च आज्यहोमः सक्तुहोमः धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानम् शरेध्मेऽग्नौ शरसमिदाधानम् संपातिताभिमन्त्रितधनुःप्रदानं च प्रत्येतव्यानि । एतेषु कर्मसु अनुष्ठितेषु संग्रामे दृष्टमात्रेण शत्रवः पलायन्ते । तद् उक्तं संहिताविधौ । "अदारसृत् [१. २०] स्वस्तिदाः [१. २१] अव मन्युः [६. ६५]" इति प्रक्रम्य "आज्यसक्तून् जुहोति" इत्यादि [कौ० २. ५] ॥

तथा अस्य तृचस्य अपराजितगणे पाठाद् "अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्" इत्यादिषु [कौ० १४. २] गणप्रयुक्तो विनियोग उन्नेयः ॥

‡ ऐतरेय ब्राह्मण १ । २८ में कहा है, कि—"एतद् वा इळायास्पदं यद् उत्तरवेदीनाभिः ॥—यही पृथ्वीका स्थान है, जो उत्तरवेदीकी नाभि है" ॥

'सं जानीध्वम्' इस तीन ऋचा वाले सूक्तसे सांमनस्य कर्ममें जलपूर्ण कुम्भ वा सुराकुम्भका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उसको सूत्रोक्तरीतिसे ग्रामके मध्यमें लावे।

तथा तहाँ ही इस कर्ममें तीन वर्षकी वत्सतरीके मांसविशेषको इस तृचसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे।

तथा सुरा वा बावड़ीके जलको इस सूक्तसे संपातन और अभिमन्त्रण करके पिलावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'सहृदयम् (३ । ३०) तद् सु (५ । १ । ५) सं जानीध्वम् (६ । ६४) एह यातु (६ । ७३) सं वः पृच्यन्ताम्' (६ । ७४) इति प्रक्रम्य 'उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति। एवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितानि आशयति०' (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

'अव मन्युः' इस तृचसे संग्रामजयके कर्म करे। वे कर्म ये हैं, कि-घृतका होम सत्तुओंका होम, धनुषरूपी ईंधन वाली अग्निमें धनुषरूपी समिधाओंका आधान, बाणरूपी ईंधन वाली अग्निमें बाणरूपी समिधाओंका आधान तथा सम्पातित और अभिमन्त्रित धनुषका प्रदान। इन कर्मोंका अनुष्ठान करने पर देखनेसे ही शत्रु भाग जाते हैं। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-'अदारसृत् (१ । २०) स्वस्तिदाः (१ । २१) अव मन्युः (६ । ६५)' इति प्रक्रम्य आज्यसक्तून् जुहोति' (कौशिकसूत्र २ । ५) ॥

तथा इस तृचका अपराजितगणमें पाठ है अत एव 'अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात् ॥-अभयगणके और अपराजित गणके सूक्तोंसे घृतकी आहुति देय' (कौशिकसूत्र १४ । ३) के अनुसार जहाँ इस गणका प्रयोग हो तहाँ इसका भी विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

स जा॑नीध्वं सं पृ॑च्यध्वं सं वो॒ मनां॑सि जानताम् ।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजा॒नाना॑ उ॒पास॑ते ॥ १ ॥

सम् । जानीध्वम् । सम् । पृच्यध्वम् । सम् । वः । मनां॑सि । जानताम् ।

दे॒वाः । भा॒गम् । यथा॑ । पूर्वे॑ । सम्ऽजा॒नानाः । उ॒पऽआस॑ते ॥ १ ॥

हे सांमनस्यकामा जनाः यूयं सं जानीध्वम् समानज्ञानयुक्ता भवत । ज्ञानस्य सर्वव्यवहारमूलत्वात् तद्विगानाभावः प्रथमं प्रार्थ्यते। ❀ ज्ञा अवबोधने । "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति आत्मने पदम् । "ज्ञाजनोर्जा" इति जा आदेशः ❀ । एवं समानज्ञानाः सन्तस्ततः सं पृच्यध्वम् संसृष्टकार्या भवत । ❀ पृची संपर्के ❀ । समानज्ञानत्वसिद्धये तत्करणस्यापि एकविषयतां प्रार्थयते । वः युष्माकं मनांसि ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तानि अन्तःकरणानि सं जानताम् समानम् एकविधम् अर्थं जानन्तु । परस्परविरुद्धज्ञानजनकानि मा भूवन्नित्यर्थः । उक्तं अर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति देवा भागम् इति । यथा खलु पुरा देवा इन्द्रादयः संजानानाः समानकार्यज्ञानाः सन्तः पूर्वे असुरेभ्यः पूर्वभाविनः भागम् यजमानैः परिकल्पितं हविर्भागम् उपासते प्राप्नुवन्ति । अतो यूयमपि तद्वत् परस्परविद्वेषपरिहारेण सञ्जानाना इष्टफलं भजतेति भावः । तच्च देवानां सांमनस्यं तैत्तिरीयके "देवासुराः संयत्ता आसन् । ते देवा मिथो विप्रिया आसन्" [तै० सं० ६. २. २. १] इत्यादिप्रतिपादिताख्यायिकया अवगन्तव्यम् ॥

हे सांमनस्य (एकसा चित्त होने) की इच्छा करने वालो ! तुम समान ज्ञान वाले होजाओ (ज्ञान सब व्यवहारोंका मूल है

अतः पहिले उसकी एकताकी ही प्रार्थना की है) और समान ज्ञान होने पर परस्पर एक कार्यको करनेमें संलग्न होजाओ (समान ज्ञानत्वकी सिद्धिके लिये उसके करणकी भी एकविषयताकी प्रार्थना करते हैं, कि-) तुम्हारी ज्ञानोत्पत्तिके निमित्त अन्तःकरण एक प्रकारके अर्थको जानें अर्थात् परस्पर विरुद्ध ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले न हों (इस बातको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं, कि-) जैसे इन्द्र आदि देवता एक ही कार्यका ज्ञान रख कर यजमानोंसे कल्पित हविको असुरोंसे पहिले ही पा जाते हैं। अत एव तुम भी परस्परके विद्वेषको छोड़ कर इष्टफलको प्राप्त करो † ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥

समानः । मन्त्रः । सम्ऽइतिः । समानी । समानम् । व्रतम् । सह । चित्तम् । एषाम् ।
समानेन । वः । हविषा । जुहोमि । समानम् । चेतः । अभिऽसंविशध्वम् ॥ २ ॥

† देवताओंके एकमत होनेका वर्णन तैत्तिरीयसंहितामें है, कि 'देवासुरा संयत्ता आसन् । ते देवा मिथो विप्रिया आसन् ॥- देवता और असुर एक कार्य पर तयार होगए थे, परन्तु देवता आपसमें अप्रिय होगए' इत्यादि ।

मन्त्रः गुप्तभाषणं कार्याकार्यपर्यालोचनात्मकम् तदपि समानः एकरूपो भवतु । ❀ मत्रि गुप्तभाषणे । अस्माद् भावे घञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तः ❀ ॥ तथा समितिः सङ्गतिः कार्येषु प्रवृत्तिः । सापि समानी एकरूपा भवतु । ❀ "केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्य०" इति ङीप् । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा व्रतम् । कर्मनामैतत् । कर्मापि समानम् एकरूपं भवतु । चित्तम् अन्तःकरणम् तदपि एषां सह एकविधं भवतु । उक्तफलस्य सिद्ध्यै समानेन साधारणेन ऐक्यजनकेन वः युष्माकं सम्बन्धिना हविषा आज्यादिना जुहोमि । आज्यम् अग्नौ मन्त्रेण प्रक्षिपामीत्यर्थः । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति कर्मणि तृतीया ❀ । यस्माद् एवं तस्मात् समानम् एकरूपं चेतः चित्तम् अभिसंविशध्वम् आभिमुख्येन संप्राप्नुत ॥

इन पुरुषोंका कार्य और अकार्य का विचारनारूप ज्ञान समान अर्थात् एकरूप हो और कार्योंमें प्रवृत्ति भी एकसी हो, और इन का कर्म भी एकसा हो, इनका अन्तःकरण भी एकसा हो, मैं उक्तफलको सिद्ध करनेके लिये ऐक्यजनक घृत आदि तुम्हारी एकसी हविकी आहुति देता हूँ, इससे तुम एकसे चित्तको प्राप्त करो

तृतीया ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

समानी । वः । आऽकूतिः । समाना । हृदयानि । वः ।
समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सुऽसह । असति ३

हे सौमनस्यकामाः वः युष्माकम् आकूतिः संकल्पः समानी एकरूपा भवतु ॥ तथा वः युष्मदीयानि हृदयानि संकल्पजनकानि

हृत्पुण्डरीकमध्यवर्तीनि अन्तःकरणानि समाना समानानि एक-रूपाणि भवन्तु । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ ॥ तथा वः युष्माकं मनः एतत्संज्ञकं सुखाद्यपरोक्ष्यजनकम् इन्द्रियं समानम् एकरूपम् अस्तु । यथा येन प्रकारेण वः युष्माकं सर्वं कार्यं सुष्ठु सह असति भवति । तथा सांमनस्यं करोमीत्यर्थः । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति अस्तेः परस्य शपो लुगभावः ❀ ॥

हे सांमनस्यको चाहने वाले पुरुषों ! तुम्हारा सङ्कल्प एकसा हो और सङ्कल्पोंको उत्पन्न करने वाले हृदयकमलके भीतर रहने वाले तुम्हारे अन्तःकरण एकसे हों, तथा सुख आदिका प्रत्यक्ष कराने वाली तुम्हारी मन नाम वाली इन्द्रिय एकरूप होजाय, जिस प्रकार तुम्हारा सब कार्य शोभनरीतिसे साथ २ हो तिसके लिये मैं सांमनस्य कर्मको करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अव॑ म॒न्युरवाय॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑ ।

परा॑शर॒ त्वं ते॒षां परा॒ञ्चं शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि १

अव॑ । म॒न्युः । अव॑ । आऽय॑ता । अव॑ । बा॒हू इति॑ । म॒नः॒ऽयुजा॑ ।

परा॑ऽशर । त्वम् । ते॒षा॑म् । परा॑ञ्चम् । शुष्म॑म् । अ॒र्द॒य॒ । अध॑ ।

न॒ः । र॒यिम् । आ । कृ॒धि ॥ १ ॥

शत्रुसंबन्धी मन्युः क्रोधः । "अव मन्युं तनोमि ते" [६. ४२. २] इति अन्यत्राम्नानात् तत इति संबध्यते । अवततः शत्रुपातितस्तिरस्कृतो विनष्टो भवतु ॥ तथा आयता आयतानि आयम्यमानानि धनुःप्रभृतीनि आयुधानि अवततानि स्वस्वकार्यासमर्थानि भवन्तु । ❀ आङ्पूर्वाद् यमे कर्मणि निष्ठा । "अनुदात्तोपदेश०" इति अनुनासिकलोपः । "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति

रोलोपः ❀ ॥ तथा बाहू शत्रुसंबन्धिनौ मनोयुजा मनोयुजौ मनः-सहितौ अत्र अवाचीनौ आयुधोद्यमनाशक्तौ । भवताम् इत्यर्थः । हे पराशर परागत्य शृणासि हिनस्ति शत्रून् इति पराशर इन्द्रः । "इन्द्रो बोध पराशरीत्" [६. ६६. २] इत्यत्र समाम्नानात् । ०पराशर इति निगमो भवतीति [नि० ६. ३०] यास्कवचनाच्च । ❀ शॄ हिंसायाम् । अस्मात् पचाद्यच् ❀ । हे तादृश । त्वं तेषां शत्रूणां शुष्मम् । बलनामैतत् । शोषकं बलं पराञ्चम् पराङ्मुखम् अस्मदनभिमुखं यथा भवति तथा अर्दय बाधस्व । ❀ अर्द हिंसा-याम् ❀ ॥ अथ अनन्तरं रयिम् धनं शत्रूणां स्वभूतं नः अस्मा-कम् आ कृधि आभिमुख्येन कुरु । प्रयच्छेत्यर्थः । ❀ करोतेरुत्त-रस्य विकरणस्य "बहुलं छन्दसि" इति लुक् । "श्रुशृणुपृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

शत्रुका क्रोध नष्ट होजाय, शत्रुके तानेहुए धनुष आदि आयुध अपने कार्यको करनेमें असमर्थ रहें, शत्रुकी भुजाएँ और मन आयुधोंको उठानेमें असमर्थ होजावें, हे लौट कर शत्रुओंको मारने वाले पराशर इन्द्र ! आप शत्रुओंके बलको हमसे पराङ्मुख करके नष्ट करिये, इसके अनन्तर शत्रुओंके धनोंको हमारे सामने करिये अर्थात् हमको देदीजिये ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

निःऽहस्तेभ्यः । नैःऽहस्तम् । यम् । देवाः । शरुम् । अस्यथ ।

वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥ २ ॥

हे देवाः निर्हस्तेभ्यः निर्गता हस्ता येभ्यस्ते निर्हस्ताः । निर्गत-

हस्तसामर्थ्या इत्यर्थः। ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। असुराणां निर्हस्तत्वमाप्तय इत्यर्थः। नैर्हस्तम् निर्हस्तत्वमापकं यं शरुम् हिंसकं बाणाद्यायुधम् अस्यथ क्षिपथ। ❀ शॄ हिंसायाम्। शॄस्वृस्निही-त्यादिना [उ० १. १०] उप्रत्ययः ❀। अनेन शरादिरूपेण हविषा हूयमानेन देवसंबन्धिनैव आयुधेन शत्रूणां बाहून् आयुध-ग्रहणार्थान् अहं वृश्चामि छिनद्मि। ❀ ओव्रश्चू छेदने। "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀॥

हे देवताओ! तुम असुरोंकी हस्तशक्तिको क्षीण करनेके लिये जिस हस्तशक्तिको क्षीण करने वाले बाणको फेंकते हो, उस होमी जातीहुई बाणरूप देवताओंकी हविसे मैं आयुध ग्रहण करने में समर्थ शत्रुओंकी भुजाओंको काटता हूँ॥ २॥

षष्ठी॥

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना॥ ३॥

इन्द्रः। चकार। प्रथमम्। नैःऽहस्तम्। असुरेभ्यः।
जयन्तु। सत्वानः। मम। स्थिरेण। इन्द्रेण। मेदिना॥ ३॥

इन्द्रः देवानाम् अधिपतिः प्रथमम् पूर्वम् असुरेभ्यः शत्रुभ्यो नैर्हस्तम् निर्हस्तत्वं हस्तसामर्थ्यवैकल्यं चकार कृतवान्। तादृशेन इन्द्रेण स्थिरेण युद्धकर्मणि दृढेन मेदिना स्निग्धेन सहायभूतेन मम मदीयाः सत्वानः सादयन्ति विशरणं प्रापयन्तीति योद्धृ-जनाः सत्वानः। ❀ सदेरन्तर्भावितण्यर्थात् क्वनिप् ❀। जयन्तु शत्रून् पराजितान् कुर्वन्तु। ❀ मेदिनेति। ञिमिदा स्नेहने। "शमित्यष्टाभ्यः०" इति घिनुण् प्रत्ययः अस्मादपि द्रष्टव्यः। यद्वा "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इति ग्रहादेराकृतिगणत्वात् णिनिः❀॥

इति सप्तमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

देवताओंके अधिपति इन्द्रदेवने पूर्व समयमें असुरोंको हस्तशक्तिसे हीन कर दिया था, ऐसे दृढ़ रहने वाले मुझसे स्नेह करने वाले इन्द्रके कारण विशीर्ण करने वाले मेरे योधा शत्रुओंको जीतें अर्थात् इन्द्रदेव मेरे मित्र हैं अतः उनके अनुग्रह पर ध्यान रख कर हमारे योधा शत्रुओंको जीतें ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (२३८) ॥

"निर्हस्तः" इति तृचस्य "अव मन्युः" [६. ६५] इति तृचवत् संग्रामजयकर्मणि विनियोगो द्रष्टव्यः । सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम् ॥

"परि वर्त्मानि" इति तृचस्य "निर्हस्तः" [६. ६६] इति तृचवत् संग्रामजयकर्मणि विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा अनेन तृचेन परसेनाया विद्वेषणत्रासनकामो राजा सेनां त्रिः परिगच्छेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन संपातिताभिमन्त्रितसोममणिं चर्मवेष्टितं कृत्वा राज्ञे बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "परि वर्त्मानि [६. ६७] इन्द्रो जयाति [६. ९८] इति राजा त्रिः सेनां परियाति । उक्तः पूर्वस्य सोमांशुः" इति [कौ० २. ७] ॥

अनयोस्तृचयोः अपराजितगणे पाठात् "अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्" [कौ०१४.२]इत्यादिषु गणप्रयुक्तो विनियोगोनुसंधेयः ॥

"निर्हस्तः" इस तृचका "अव मन्युः" इस छठे काण्डके पैंसठवें तृचके समान संग्रामजयकर्ममें विनियोग करना चाहिये । सूत्र भी वहाँ ही लिखा है ।

तथा शत्रुकी सेनाको डराना चाहनेवाला वा शत्रुकी सेनामें विद्वेष फैलाना चाहने वाला राजा इस तृचसे सेनाकी तीन परिक्रमा करे ।

तथा इसी कर्ममें इस तृचसे सम्पातित अभिमन्त्रित सोममणि को चमड़ेसें लपेट कर राजाके बाँध देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"परि वर्त्मानि (६ । ६७) इन्द्रो जयाति

(६। ६८) इति राजा त्रिः सेनां परियाति । उक्तः पूर्वस्य सोमांशुः" (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥

इन दोनों तृचोंका अपराजितगणमें पाठ है । अतः 'अभयैर-पराजितैराज्यं जुहुयात् ॥-अभयगणके और अपराजितगणके सूक्तोंसे घृतकी आहुति देय' इस कौशिकसूत्र १४ । ३ के अनु-सार जहाँ २ अपराजितगणका पाठ हो तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये ।

तत्र प्रथमा ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः १

निःऽहस्तः । शत्रुः । अभिऽदासन् । अस्तु । ये । सेनाभिः । युधम् । आऽयन्ति । अस्मान् ।

सम् । अर्पय । इन्द्र । महता । वधेन । द्रातु । एषाम् । अघऽहारः । विऽविद्धः ॥ १ ॥

अभिदासन् उपक्षपयन् अस्माकं पीडां कुर्वन् शत्रुः निर्हस्तोस्तु निर्गतहस्तसामर्थ्यो भवतु । ❀ शत्रुरिति जातावेकवचनम् ❀ । ये शत्रवः सेनाभिः स्वकीयाभिः युधम् योद्धुम् अस्मान् आयन्ति अभिगच्छन्ति हे इन्द्र तान् शत्रून् महता प्रौढेन वधेन हननसाधनेन आयुधेन वज्रेण समर्पय संयोजय । एषां शत्रूणां मध्ये यः शूरो भटः अघहारः अघस्य मरणलक्षणस्य दुःखस्य प्रापयिता असौ विविद्धः विशेषेण ताडितः सन् द्रातु कुत्सितां गतिं प्राप्नोतु । ❀द्रा कुत्सितायां गतौ । अघहार इति । अघशब्दोपपदात् हरतेर्ण्यन्तात् "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः । विविद्ध इति व्यध ताडने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥

हमको पीड़ा देता हुआ शत्रु हाथकी शक्तिसे रहित होजावे, जो शत्रु अपनी सेनाके साथ हमसे लड़नेके लिये आरहे हैं हे इन्द्र ! उनको आप घोर संहार करने वाले वज्रसे संयुक्त करिये, इन शत्रुओंमें जो हमको मरणरूप दुःखका देने वाला हो, वह बहुत ही पिट कर कुत्सित गतिको प्राप्त होजावे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

आऽतन्वानाः । आऽयच्छन्तः । अस्यन्तः । ये । च । धावथ ।
निःऽहस्ताः । शत्रवः । स्थन । इन्द्रः । वः । अद्य । परा । अशरीत्

आतन्वानाः धनूंषि आततज्यानि कुर्वाणाः आयच्छन्तः शर-संधानेन धनूंषि आकर्षन्तः अस्यन्तः शरान् क्षिपन्तः धनुःसकाशाद् नुदन्तो ये शत्रवः ये च यूयं धावथ अस्मदभिमुखं शीघ्रं गच्छथ । ❀ "पाघ्रा०" इत्यादिना "सर्तेर्वेगितायां गतौ" इति धावादेशः ❀ । ये यूयं शत्रवः निर्हस्ताः निर्वीर्यहस्ताः स्तन भवत । ❀ अस्तेर्लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनादेशः ❀। अद्य इदानीं वः युष्मान् इन्द्रः पराशरीत् पराहतान् अकार्षीत् । ❀ शॄ हिंसायाम् । लुङि रूपम् ❀ ॥

हे शत्रुओं ! धनुष पर प्रत्यञ्चाओंको चढ़ाते हुए और धनुषको तानते हुए और बाणोंको छोड़ते हुए हमारी ओर दौड़ कर आते हुए तुमको इस समय इन्द्रदेव पराजित करके मार डालें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

निःऽहस्ताः । सन्तु । शत्रवः । अङ्गा । एषाम् । म्लापयामसि ।

अथ । एषाम् । इन्द्र । वेदांसि । शतऽशः । वि । भजामहै ॥३॥

अस्मदीयाः शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु भवन्तु । एषां शत्रूणाम् अङ्गा अङ्गानि हस्तपादाद्यवयवान् म्लापयामसि म्लापयामः । क्षीणहर्षान् कुर्मः । ❀ म्लै म्लै हर्षक्षये । णौ आत्वे "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ अथ अनन्तरम् हे इन्द्र त्वत्प्रसादाद् एषां शत्रूणां वेदांसि । धननामैतत् । धनानि शतशः बहुधा वि भजामहै विभज्य प्राप्नुयाम ॥

हमारे शत्रुओंके हाथोंकी शक्ति जाती रहे, इन शत्रुओंके हाथ पैर आदि अंगोंको हम हर्षरहित अर्थात् कुम्हलाये हुए करते हैं, हे इन्द्र ! इसके उपरान्त हम आपके प्रसादसे इन शत्रुओंके धनोंको सैकड़ों प्रकारसे बाँट लें–पालें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

परि । वर्त्मानि । सर्वतः । इन्द्रः । पूषा । च । सस्रतुः ।

मुह्यन्तु । अद्य । अमूः । सेनाः । अमित्राणाम् । परःऽतराम् ।१।

इन्द्रः पूषा च इमौ देवौ सर्वतः सर्वासु दिक्षु वर्त्मानि संचरणमार्गान् परि सस्रतुः परितो निरुध्य गच्छताम् । ❀ सृ गतौ । अस्मात् छान्दसो लिट् । "असंयोगाल्लिट् कित्" इति कित्त्वाद् गुणाभावे यण् ❀ ॥ अद्य इदानीम् अमूः दूरे दृश्यमाना अमि-

त्राणाम् शत्रूणां सेनाः रथतुरगपदातयः परस्तराम् अतिशयेन मुह्यन्तु । व्यामूढचित्ताः कार्याकार्यज्ञानशून्या भवन्तु । ❀ परः-शब्दाद् अतिशयार्थवाचिनः पुनः प्रकर्षविवक्षायां तरपि "किमे-त्तिङव्ययघात्०" इति आमु प्रत्ययः ❀ ॥

इन्द्र और पूषा देवता सब दिशाओंमें घूमनेके मार्गोंको रोकते हुए विचरण करने लगें, यह दूर पर दीखती हुई हाथी घोड़े पैदल वाली शत्रुसेना अतीव मोहमें पड़ जावे-कार्य और अकार्य के ज्ञानसे शून्य होजावे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

मूढाः । अमित्राः । चरत । अशीर्षाणःऽइव । अहयः ।
तेषाम् । वः । अग्निऽमूढानाम् । इन्द्रः । हन्तु । वरम्ऽवरम् ॥२॥

हे अमित्राः शत्रवः मूढा जयोपायज्ञानशून्याः चरत युद्धभूमौ सञ्चरत । तत्र दृष्टान्तः अशीर्षाण इवाहयः । अशिरस्काश्छिन्न-शिरसः सर्पाः केवलं चेष्टन्त एव न तु किंचित् कार्यं कर्तुं शक्नु-वन्ति तथा भवतेत्यर्थः । तेषां तादृशानाम् अग्निमूढानाम् अस्म-दाहुतितृप्तेन अग्निना व्यामोहं प्रापितानां वः युष्माकं मध्ये वरंवरम् श्रेष्ठंश्रेष्ठं नायकम् इन्द्रो देवो हन्तु मारयतु ॥

हे शत्रुओं ! जैसे फन कट जाने पर सर्प केवल तड़फड़ाते ही हैं परन्तु काटना आदि कोई कार्य नहीं कर सकते, इसीप्रकार तुम भी मूढ़ बन कर-अर्थात् विजय किस प्रकार होगी इस बातका कुछ भी ध्यान न रखते हुए-युद्धभूमिमें खाली घूमते ही रहो । तब हमारी आहुतिसे तृप्त हुए अग्निदेवके द्वारा मोहमें डाले हुए तुम श्रेष्ठ २ पुरुषों-सेनापतियों-को इन्द्रदेव मार डालें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

आ । एषु । नह्य । वृषा । अजिनम् । हरिणस्य । भियम् । कृधि ।
पराङ् । अमित्रः । एषतु । अर्वाची । गौः । उप । एषतु ॥ ३ ॥

हे इन्द्र वृषा कामानां वर्षिता त्वं हरिणस्य कृष्णमृगस्य अजिनम् त्वचं सोममणिवेष्टनम् एषु अस्मदीयेषु भटेषु आ नह्य आबद्धं कुरु । ततः शत्रूणां भियम् भीतिं कृधि कुरु उत्पादय । अमित्रः शत्रुः पराङ् युद्धपराङ्मुखः सन् एषतु गच्छतु । पलायताम् इत्यर्थः । ❀ इष गतौ ❀ । ततः शत्रुसम्बन्धिनी गौः अर्वाची अस्मदभिमुखा उपेषतु उपगच्छतु । शत्रुसम्बन्धि गवादि धनम् अस्मान् प्राप्नोत्वित्यर्थः ॥

[इति] सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले इंद्रदेव ! आप सोममणिको लपेटने वाले कृष्णमृगके चर्मको हमारे भटोंमें बाँधियें, तदनन्तर शत्रुओंमें भय उत्पन्न करिये, शत्रु युद्धसे पराङ्मुख होकर लौट जावे । तब शत्रुओंका गौ आदि धन हमको प्राप्त होजावे ॥३॥

सप्तम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२४०)

"आयमगन्त्सविता क्षुरेण" इति तृचेन गोदानचूडाकरणयोः क्षौरार्थोदकुम्भाभिमन्त्रणं कुर्यात् । अत्र "अदितिः श्मश्रु" [२] इति ऋचा क्षौरार्थम् अभिमन्त्रितोदकेन माणवकस्य शिरः क्लेदयेत् । "येनावपत्" [३] इत्यृचा वपनं कुर्यात् । तद् उक्तं संहिताविधौ "गोदानम्" प्रक्रम्य "आयमगन्त्सविता क्षुरेण [१] इत्युदपात्रम् अनुमन्त्रयते । अदितिः श्मश्रु [२] इत्युन्दति" इत्यादि [कौ० ७. ४] ॥

तथा उपनयनकर्मणि अस्यैव तृचस्य क्षौरार्थोदकाभिमंत्रणे विनियोगः । तत्रैव कर्मणि "आयमगन्" इति पादेन क्षुरं मार्जयेत् । "उष्णेन वायो" इति पादेन उदकम् अनुमन्त्रयते । "आदित्या रुद्राः" इति पादेन माणवकस्य शिरःक्लेदनं कुर्यात् । "सोमस्य राज्ञः" इति पादेन "येनावपत्" इत्यृचा च वपनं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "उपनयनम् आयमगन्निति मन्त्रोक्तं यत् क्षुरेण [८.२.१७] इत्युक्तम्" इत्यादि [कौ० ७. ६] ॥

"गिरावरगराटेषु" इति तृचेन मेधाजननकामः सुप्तोत्थितः मुखं प्रक्षालयेत् । "प्रातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६९] दिवस्पृथिव्याः [९. १] इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" इति [कौ० २. १] सूत्रात् ॥

तथा कुमारीवर्चस्यकर्मणि दधि मधु एकत्र कृत्वा अनेन तृचेन सम्पात्य अभिमन्त्र्य कुमारीं प्राशयेत् ॥

तथा क्षत्रियवर्चस्यकर्मणि दधिमधुमिश्रम् ओदनम् अनेन तृचेन सम्पात्य अभिमन्त्र्य क्षत्रियं प्राशयेत् ॥

तथा वैश्यशूद्रादिवर्चस्यकर्मणि अनेन तृचेन ओदनं सम्पात्य अभिमन्त्र्य वर्चस्कामं वैश्यादिं प्राशयेत् ॥

सूत्रितं हि । "प्रातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६९] दिवस्पृथिव्याः [९. १] इति दधि मध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालम् इतरान्" इति [कौ० २. २]

तथा क्षत्रियादिवर्चस्यकर्मणि स्नातकसिंहव्याघ्रबस्ततृष्णिवृषभराज्ञां सूत्रोक्तानां सप्तानाम् अन्यतमस्य मर्म स्थालीपाके प्रक्षिप्य अनेन तृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन जलं सम्पात्य अभिमन्त्र्य आसावयेत् अवसिञ्चेद्वा ॥

तद्रु उक्तं संहिताविधौ । "प्रातरग्निम् [३. १६] गिरावर-

गराटेषु [६. ६६] दिवस्पृथिव्याः [६. १] इति सप्त मर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्यश्नाति । अकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितम् अश्नीयाद् इति गार्ग्यः । उक्तो लोममणिः । सर्वैरास्रावयति । अवसिञ्चति" इति [कौ० २. ४] ॥

तथा उत्सर्जनाख्ये कर्मणि अनेन तृचेन आज्यं हुत्वा रसेषु सम्पातान् आनयेत् । सूत्रितं हि । "यशसं मेन्द्रः [६. ५८] गिरावरगराटेषु [६. ६६] यथा सोमः प्रातःसवने" [६. १. ११] इत्यादि [कौ० १४. ३] ॥

तथा अभिचयने स्वयम् आतृण्णाम् आसिच्यमानां ब्रह्मा अनेन अनुमन्त्रयेत । "पुनन्तु मा [६. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] यद् गिरिषु [६. १. १८] इति शतातृण्णाम् आसिच्यमानाम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ५. ३] ॥

स्वर्गौदनब्रह्मौदनयोस्तन्त्रसंनिपाते तण्डुलानाम् अवसेकप्रायश्चित्तार्थं "मयि वर्चो अथो यशः" [६६. ३] इति ऋचं ब्रह्मा यजमानं वाचयेत् । सूत्रितं हि । "स्वर्गब्रह्मौदने तन्त्रसंनिपाते ब्रह्मौदनमितम् उदकम् आसेचयेद् विभागं यावन्तस्तण्डुलाः स्युर्नावसिञ्चेन्न प्रतिषिञ्चेत् यद्यवसिञ्चेन्मयि वर्चो अथो यश इति ब्रह्मा यजमानं वाचयति" इति [कौ० ८. ६] ॥

"आयमगन्त्सविता क्षुरेण" इस तृचसे गोदान और चूडाकरण में क्षौर करनेके जलके कुंभका अभिमन्त्रण करे । यहाँ "अदितिः श्मश्रुः" इस दूसरी ऋचासे क्षौर करनेके लिये अभिमंत्रित जल से बालकके शिरको गीला करे और 'येनावपत्' इस तीसरी ऋचासे मुण्डन करे इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि— "गोदानम्" प्रक्रम्य "आयमगन्त्सविता क्षुरेण (१) इत्युदपात्रं अनुमन्त्रयते । अदितिः श्मश्रु (२) इत्युन्दति"। कौशिकसूत्र ७।४) ॥

तथा इसी तृचका उपनयनकर्ममें क्षौरके लिये रक्खे हुए जल

के अभिमंत्रणमें विनियोग होता है। तहाँ ही इस कर्ममें "आयमगन्" इस पादसे छुरेका मार्जन करे। "उष्णेन वायो" इस पादसे जलका अनुमन्त्रण करे। "आदित्या रुद्रा" इस पादसे बालकके शिरको गीला करे। 'सोमस्य राज्ञः' इस पादसे और "येनावपत्" इस ऋचासे भी मुण्डन करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'उपनयनम् आयमगन्नितिमन्त्रोक्तं यत् क्षुरेण (८।२।१७) इत्युक्तम्' इत्यादि (कौशिकसूत्र ७।६)॥

बुद्धिको चाहने वाला पुरुष-सोकर उठनेके अनन्तर 'गिरावरगराटेषु' इस तृचसे मुखको धोवे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'मातरमिम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति संहाय मुखं विमार्ष्टि' (कौशिकसूत्र २।१)॥

तथा कुमारीवर्चस्यकर्ममें दही और मधुको एकत्रित कर इस तृचसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके कुमारीको खिला देवे।

तथा क्षत्रियवर्चस्यकर्ममें दही और मधु मिले हुए भातको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके क्षत्रियको खिला देवे।

तथा वैश्य शूद्र आदिके वर्चस्यकर्ममें इस तृचसे ओदनको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके वर्चस् (तेज) चाहने वाले वैश्य आदिको खिला देवे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'मातरमिम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालं इतरान् (कौशिकसूत्र २।२)॥

तथा क्षत्रिय आदिके वर्चस्यकर्ममें स्नातक सिंह वस्त वृष्णि वृषभ राजा–इन सूत्रमें कहे हुए सातमेंसे एकके मर्मको स्थालीपाकमें डालकर इस तृचसे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

तथा तहाँ ही इस तृचसे जलका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके आसावन वा अवसिञ्चन करे।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-'मातरभिम् (२।१६) गिरावरगराटेषु (६।६६) दिवस्पृथिव्याः (६।१) इति सप्तमर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्यश्नाति। अकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितम् अश्नीयाद् इति गार्ग्यः। उक्तो लोममणिः। सर्वैराप्लावयति। अवसिञ्चति' (कौशिकसूत्र २।४)॥

तथा उत्सर्जन नाम वाले कर्ममें इस तृचसे घृतकी आहुति देकर रसोंमें सम्पातोंको लावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'यशसं मेन्द्रः (६।५८) गिरावरगराटेषु (६।६६) यथा सोमः प्रातः सवने (६।१।१)०' (कौशिकसूत्र १४।३)॥

तथा अग्निचयनमें ब्रह्मा स्वयं ही आसिच्यमान शतातृण्णा (अनुमानतः चलनी) का इस तृचसे अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पुनन्तु मा (६।१६) गिरावरगराटेषु (६।६६) यद् गिरिषु (६।१।१८) इति शतातृण्णां आसिच्यमानाम्" (वैतानसूत्र ५।२)॥

तथा स्वर्गौदन और ब्रह्मौदनके तंत्रसंनिपातमें तण्डुलोंके अवसेकके प्रायश्चित्तके लिये 'मयि वर्चो अथो यशः' इस उनहत्तरवें सूक्तकी तीसरी ऋचाको ब्रह्मा यजमानसे उच्चारण करावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'स्वर्गब्रह्मौदने तन्त्रसन्निपाते ब्रह्मौदनमितं उदकं आसेचयेद् विभागं यावन्तस्तण्डुलाः स्युर्नावसिञ्चेन्न प्रतिषिञ्चेत्। यद्यवसिञ्चेन्मयि वर्चो अथो यश इति ब्रह्मा यजमानं वाचयति' (कौशिकसूत्र ८।६)॥

तत्र प्रथमा॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।

आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । सविता । क्षुरेण । उष्णेन । वायो इति । उदकेन । आ । इहि ।

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । उन्दन्तु । सऽचेतसः । सोमस्य । राज्ञः । वपत प्रऽचेतसः ॥ १ ॥

अयं नभसि दृश्यमानः सविता सर्वस्य प्रेरको देवः क्षुरेण वपनसाधनेन शस्त्रेण सह आगन् आगमत् आगतवान् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । हे वायो उन्दनार्थम् उष्णेन उदकेन सह त्वमपि एहि आगच्छ । आदित्याः द्वादशसंख्याकाः एकादश रुद्राः अष्टौ वसवः इत्येते देवगणाः सचेतसः समानज्ञानाः सन्तः तेन उदकेन माणवकस्य शिर उन्दन्तु आर्द्रीकुर्वन्तु । ❀ उन्दी क्लेदने ❀ । हे परिचारकाः प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानाः सन्तः । यद्वा प्रचेतसः वरुणस्य सोमस्य राज्ञश्च संबन्धिना क्षुरेण वपत क्लिन्नान् केशान् वपनेन वर्जयत

यह आकाशमें दीखते हुए सर्वप्रेरक सविता देवता मूँडन करने वाले छुरेके साथ आये हैं, हे वायो ! आप भी गीला करने के लिये उष्ण जलके साथ आइये, बारह आदित्य ग्यारह रुद्र, और आठ वसु ये एकसा ज्ञान रखकर जलसे इस बालकके शिर को गीला करें, हे परिचारकों ! तुम वरुणसे और सोमसे संबंध रखने वाले छुरेसे गीले केशोंको मुण्डन करके अलग कर दो ॥१॥

द्वितीया ॥

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।

चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥ २ ॥

अदितिः । श्मश्रु । वपतु । आपः । उन्दन्तु । वर्चसा ।

चिकित्सतु । प्रजाऽपतिः । दीर्घायुऽत्वाय । चक्षसे ॥ २ ॥

अदितिः सा अदीना देवमाता । अस्य पुरुषस्य श्मश्रु वपतु । मुखस्य परितो वर्तमानानि रोमाणि श्मश्रूणि । तानि वपतु वर्जयतु ॥ आपः अब्देवता वर्चसा तेजसा स्वकीयेन उन्दन्तु क्लेदयन्तु ॥ तथा [प्रजापतिः] प्रजानां देवमनुष्यादीनां पतिः स्रष्टा चिकित्सतु भिषज्यतु । अस्मिन् संभवद्रोगादिकम् इति शेषः । ॐ कित ज्ञाने । "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" । "निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते" इति स्मरणात् ॐ । किमर्थम् । दीर्घायुत्वाय । दीर्घम् आयुश्चिरकालजीवनम् अस्य यथा स्याद् इत्येवमर्थम् । चक्षसे दर्शनाय । अविशेषात् सर्वस्य श्रेयसे इति शेषः । ॐ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । "असनयोश्च प्रतिषेधः" इति स्मरणात् ख्याञादेशाभावः ॐ ॥

अदीना देवमाता अदिति इस पुरुषकी डाढ़ी मूँछोंको अलग करें, जल देवता इस पुरुषके बालोंको अपने तेजसे गीला करें, तथा देवता और मनुष्य आदिके स्वामी प्रजापति स्रष्टा देवता इसकी चिकित्सा करें । (ये सब देवता इसकी) दीर्घायु और दर्शनशक्तिके लिये (इस पर ऐसा अनुग्रह करें) ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

येन । अवपत् । सविता । क्षुरेण । सोमस्य । राज्ञः । वरुणस्य । विद्वान्

तेन । ब्रह्माणः । वपत । इदम् । अस्य । गोऽमान् । अश्वऽवान् ।

अयम् । अस्तु । प्रजाऽवान् ॥ ३ ॥

सविता देवः विद्वान् जानन् सोमस्य राज्ञो वरुणस्य च संबन्धिना येन क्षुरेण अवपत् वपनं कृतवान् । ❀ यद्वा कर्मणि षष्ठी ❀ । सोमं राजानं वरुणं च येन क्षुरेण अवपद् इत्यर्थः । हे ब्रह्माणः ब्राह्मणाः तेन तादृशेन क्षुरेण अस्य पुरुषस्य इदं केशश्मश्रु वपत। तेन विशिष्टवपनसंस्कारेण अयं पुरुषः गोमान् बह्वीभिर्गोभिर्युक्तः अश्ववान् अश्वैर्युक्तः प्रजावान् पुत्रपौत्रादिभिर्युक्तश्च अस्तु भवतु

विद्वान् सवितादेवताने राजा सोम और वरुणसे सम्बन्ध रखने वाले जिस छुरेसे वपन (मुण्डन) किया था । वा–सविता देवता जिस छुरेसे राजा वरुण और सोमका मुण्डन किया था, हे ब्राह्मणों ! ऐसे छुरेसे तुम इस पुरुषके डाढ़ी मूँछ और बालोंको मूँडो । इस श्रेष्ठसंस्कारके द्वारा यह पुरुष बहुतसी गौएं घोड़े और पुत्र पौत्र आदि सन्तानसे समृद्ध होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।
सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ ४ ॥

गिरौ । अरगराटेषु । हिरण्ये । गोषु । यत् । यशः ।

सुरायाम् । सिच्यमानायाम् । कीलाले । मधु । तत् । मयि ॥ ४ ॥

गिरौ पर्वते हिमवदादौ यद् यशः कीर्तिरस्ति । तथा अरगराटेषु रथचक्रावयवाः कीलका अराः । तान् गिरति आत्मना संश्लेषयतीति अरगरो रथः । तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः रथिनो यशस्विनो राजानः । यद्वा अराः अरयः तान् गच्छन्तीति

अरगाः वीरा भटाः तेषां राटाः जयघोषाः । ❀ रट परिभाषणे । भावे घञ् । व्युत्पत्त्यनवधारणाद् नावगृह्यते ❀ । तेषु अरगराटेषु यद् यशोस्ति हिरण्ये सुवर्णे गोषु वहनदोहनसमर्थेषु च यद् यशोस्ति तन्मयि । भवत्वित्यर्थः । अपि च सिच्यमानायां पात्रेषु आसिच्यमानायां सुरायां कीलाले अन्ने च यद् मधु मदकरं माधुर्योपेतं रसं जनाः प्रशंसन्ति तन्मयि भवतु ॥

हिमवान् आदि पर्वतमें जो यश है, रथके पहियोंके अवयव अरों को अपनेसे मिलाने वाले रथमें बैठकर घूमने वाले यशस्वी रथी राजाओंमें शत्रुओंके सामने जाने वाले रथियोंके जयघोषोंमें-जो यश है सुवर्णमें और ढोना दूध देना आदिमें समर्थ गोजातिमें जो यश है, वह यश मुझमें हो । सिच्यमान पात्रोंमें खेंची आती हुई सुरामें और अन्नमें जिस मधुरता भरे हुए रसकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं, वह मुझमें हो ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाऽङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अश्विना । सारघेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः । पती इति ।
यथा । भर्गस्वतीम् । वाचम् । आऽवदानि । जनान् । अनु ॥२॥

हे अश्विना अश्विनौ शुभस्पती शोभमानायाः सूर्यायाः शोभाहेतोरलंकारस्य वा पती भर्तारौ मा मां सारघेण सरघा मधुमक्षिका तत्संपादितेन मधुना अङ्क्तम् अभिषिञ्चतं संयोजयतम् । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणगतिषु । अस्मात् लोएमध्यमे श्नसोरल्लोपे श्नान्नलोपे च कृते रूपम् ❀ । यथा खल्वहं भर्गस्वतीम् दीप्तिमतीं मधुरां वाचं जनान् मनुष्यान् अनुलक्ष्य आवदामि अभिलक्ष्य उच्चारयामि । तथा मां मधुना सिञ्चतम् इत्यर्थः ॥

हे शोभाके लिये धारण किये जाने वाले अलंकारोंके स्वामिन् अश्विनीकुमारों ! आप मुझको मधुमक्षिकाओंके इकट्ठे किये हुए रससे सम्पन्न करो जिस प्रकार मैं दीप्तिमयी मधुर वाणी को मनुष्योंसे कहूं, तिस प्रकार आप मुझको मधुसे सींचिये ॥२॥

षष्ठी ॥

मयि॒ वर्चो॒ अथो॒ यशोथो॑ य॒ज्ञस्य॒ यत् पयः॑ ।

तन्मयि॑ प्र॒जाप॑ति॒र्दि॒वि द्यामि॑व दृंहतु ॥ ३ ॥

मयि । वर्चः । अथो॒ इति॑ । यशः॑ । अथो॒ इति॑ । य॒ज्ञस्य॑ । यत् । पयः॑ ।

तत् । मयि॑ । प्र॒जाऽप॑तिः । दि॒वि । द्याम्ऽइ॑व । दृं॒ह॒तु ॥ ३ ॥

मयि साधके यद् वर्चः तेजोस्ति अथो अपि च यद् यशः अन्नं कीर्तिर्वा । अपि च यज्ञस्य क्रियमाणस्य यागस्य यत् पयः सारभूतं फलं तत् सर्वं मयि यजमाने प्रजापतिः प्रजानाम् अधिपतिर्विधाता दृंहतु दृढीकरोतु । तत्र दृष्टान्तः । दिवि अन्तरिक्षे निराधारे स्थाने द्याम् दीप्यमानं ज्योतिर्मण्डलं यथा दृढीकृतवान् तथा दृंहत्वित्यर्थः । ❁ दृह दृहि वृद्धौ ❁ ॥

[इति] षष्ठकाण्डे सप्तमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

मुझ साधकमें जो तेज है और जो यश अन्न और यज्ञका फलरूप दुग्ध आदि है उस सबको मुझ यजमानमें प्रजाओंके अधिपति इस प्रकार दृढ़ करें जिस प्रकार उन्होंने निराधार अन्तरिक्षमें दीप्यमान ज्योतिर्मण्डलको दृढ़ किया है ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२५२) ॥

"यथा मांसम्" इति सूक्तेन गोवत्सयोरन्योन्यविरोधशान्तिरूपे सांमनस्यकर्मणि वत्सं संस्नाप्य गोमूत्रेण अवसिच्य वत्सं त्रिः परिभ्राम्य अभिमन्त्र्य स्तनपानार्थं मुञ्चेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन गोः शिरः कर्णं च अनुमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "यथा मांसम् इति वननम् । वत्सं संप्लाव्य गोमूत्रेणावसिच्य त्रिः परिणीय उपचृतति । शिरः कर्णम् अनुमन्त्रयते" इति [कौ० ५. ५] ॥

"यद् अन्नम्" इति तृचेन दुष्टादुष्टप्रतिग्रहजनितदोषशान्त्यर्थं प्रतिग्राह्यं वस्तु अभिमन्त्र्य गृह्णीयात् । "क इदं कस्मा अदात् [३. २९. ७] कामस्तद् अग्रे [१९. ५२] यद् अन्नम् [६.७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिगृह्णाति" इति सूत्रात् [कौ० ५. ९] ॥

तथा अनेन अग्निकार्ये ब्रह्मचारी भैक्षम् अहरहर्जुहुयात् । "यद् अन्नम् इति तिसृभिर्भैक्षस्य जुहोति" इति [कौ० ७.८] सूत्रात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशभागम् "यद् अन्नम्" इत्यनया ब्रह्मा अश्नीयात् । "यद् अन्नम् इति भागं प्राश्नाति" इति सूत्रात् [वै० १. ४] ॥

"यथासितः" इति तृचेन वाजीकरणकामः एकशाखार्कमणिं संपाद्य अभिमन्त्र्य अर्कसूत्रेण बध्नीयात् ॥

तत्रैव कर्मणि "यावदङ्गीनम्" इत्यृचा कृष्णचर्ममणिं संपाद्य अभिमन्त्र्य कृष्णमृगवालेन बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "यथासितः [६. ७२] इत्येकार्कसूत्रम् आर्कं बध्नाति यावदङ्गीनम् [६. ७२. ३] इति असितस्तम्भम् असितवालेनेति" [कौ० ५. ४] ॥

"यथा मांसम्" इस सूक्तसे गौ और बछड़ेके आपसके विरोध को शान्त करनेके लिये सांमनस्यकर्ममें वत्सको स्नान करा कर और गोमूत्रसे भली प्रकार सींच कर बछड़ेको तीन वार घुमा कर अभिमन्त्रित करके दूध पीनेके लिये छोड़ देवे ।

तथा वहाँ ही इस कर्ममें गौके शिर और कानका भी इस तृच से अनुमन्त्रण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यथा मांसम् इति मननम्। वत्सं संपात्य गोमूत्रेणावसिच्य त्रिः परिणीय उपधृतति। शिरः कर्णौ अनुमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ५। ५)॥

"यद् अन्नम्" इस तृचसे दूषित वा अदूषित प्रतिग्रह करनेसे उत्पन्न हुए दोषकी शांतिके लिये दान की जाने वाली वस्तुको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'क इदं कस्मा अदात् (३। २६। ७) कामस्तद् अग्रे (१६। ५२) यद् अन्नम् (६। ७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७। ६६) इति प्रतिगृह्णाति' (कौशिकसूत्र ५। ६) कौशिकसूत्र ५। ६)॥

तथा इससे ब्रह्मचारी अग्निकार्यमें प्रतिदिन भिक्षाकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यद् अन्नं इति तिसृभिर्भैक्षस्य जुहोति" (कौशिकसूत्र ७। ८)॥

दर्श और पूर्णमासके पुरोडाश भागको "यद् अन्नम्" इस ऋचासे ब्रह्मा भक्षण कर लेय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यद् अन्नं इति भागं प्राश्नाति" (वैतानसूत्र १। ४)॥

"यथासितः" इस तृचसे वाजीकरणको चाहने वाला एक शाखा वाले अर्कवृक्षकी मणिका संपातन अभिमन्त्रण करके अर्क-सूत्रसे बाँध देवे।

तथा इसी कर्ममें 'यावदङ्गीनम्' इस ऋचासे कृष्णचर्ममणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके कृष्णमृगके वालसे बाँधे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यथासितः (६। ७२) इत्येकार्कसूत्रं आर्कं बध्नाति यावदङ्गीनम् (६। ७२। ३) इति असितस्तम्भम् असितवालेनेति" (कौशिकसूत्र ५। ४)॥

तत्र प्रथमा॥

यथा॒ मांसं॑ यथा॒ सुरा॒ यथा॒क्षा अ॑धि॒देव॑ने।

यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

यथा । मांसम् । यथा । सुरा । यथा । अक्षाः । अधिऽदेवने ।
यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । निऽहन्यते । मनः ।
एव । ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥१॥

यथा मांसं पुरुषस्य भोक्तुः प्रेमास्पदम् । यथा च सुरा प्रियतमा । यथा च अक्षाः द्यूतकरणानि अधिदेवने । अधि उपरि दीव्यन्त्यस्मिन् कितवा इति अधिदेवनम् द्यूतस्थानं तत्र प्रियतमाः । यथा च पुंसः पुरुषस्य वृषण्यतः वृषाणं सेक्तारम् आत्मानम् इच्छतः सुरतार्थिनो मनः मानसं स्त्रियां निहन्यते स्त्रीविषये प्रह्वीभवति । ❀ "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति क्यचि निपातितः ❀ । एव एवम् हे अघ्न्ये अहन्तव्ये धेनो ते तव मनः वत्से अधि उपरि नि हन्यताम् प्रह्वीभूतम् अस्तु । अयं वत्सो मांसादिवत् मनसः प्रेमास्पदं भवत्वित्यर्थः ॥

जैसे मांस भोक्ता–खाने वाले–पुरुषके प्रेमका पात्र होता है और जैसे सुरा पीने वालेको परम प्रिय होती है और जैसे फाँसे जुएमें प्यारे होते हैं और जैसे वीर्यकी वर्षा करना चाहने वालेका मन स्त्री पर प्रसन्न होता है । इसी प्रकार हे न मारने योग्य धेनो ! तेरा मन बछड़े पर प्रसन्न होवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।

एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ २ ॥

यथा । हस्ती । हस्तिन्याः । पदेन । पदम् । उत्ऽयुजे ।

यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । निऽहन्यते । मनः ।

एव । ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ।२।

यथा हस्ती गजः पदेन स्वकीयेन पादेन हस्तिन्याः करेण्वाः पदम् पादं प्रेम्णा उद्युजे उन्नमयति । यथा पुंस इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् । ❀ उद्युजे इति । युजिर्योगे । छान्दसो विकरणस्य लुक् । "लोपस्त आत्मने पदेषु" इति तलोपः । "हस्ताज्जातौ" इति णिनिः ❀ ॥

जैसे हाथी अपने पैरसे हथिनीके पैरको प्रेमपूर्वक ऊपरको उठानेका उद्योग करता है और जैसे वीर्यकी वर्षा करना चाहने वालेका मन स्त्री पर प्रसन्न होता है। इसी प्रकार हे न मारने योग्य धेनो ! तेरा मन बछड़े पर प्रसन्न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

यथा । प्रऽधि । यथा । उपऽधिः । यथा । नभ्यम् । प्रऽधौ । अधि ।

यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । निऽहन्यते । मनः ।

एव । ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥३॥

प्रधीयत इति प्रधिः रथचक्रस्य नेमिः । उपधिः उप तत् समीपे धीयत इत्युपधिः नेमिसंबद्धः अराणां संबन्धको वलयः ॥ ❀ "उपसर्गे घोः किः" इति धाञः किमत्ययः ❀ । यथा प्रधिः उपधिना सम्बध्यते । उपधिश्च यथा प्रधिना । यथा च नभ्यम् नाभये हितं रथचक्रमध्यफलकं प्रधावधि नेमिदेशे सम्बध्नाति । ❀ प्रधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । यथा उक्तरूपाः रथचक्रावयवाः परस्परं दृढसम्बन्धाः हे धेनो त्वदीयं मनः वत्से तथा दृढसंबन्धम् अस्तु ॥

जैसे रथचक्रकी (नेमि) प्रधि उपधि (अरोंके मुहे) से दृढ़ता से बँधी हुई रहती है और जैसे रथचक्रका मध्यफलक नेमिमें बँधा हुआ होता है, इसी प्रकार तेरा मन बछड़ेसे बँधा रहे, और जैसे वीर्यकी वर्षा करना चाहने वालेका मन स्त्री पर प्रसन्न होता है । इसी प्रकार हे न मारने योग्य धेनो ! तेरा मन बछड़े पर प्रसन्न होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् ।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु १

यत् । अन्नम् । अद्मि । बहुऽधा । विऽरूपम् । हिरण्यम् । अश्वम् । उत । गाम् । अजाम् । अविम् ।

यत् । एव । किम् । च । प्रतिऽजग्रह । अहम् । अग्निः । तत् । होता । सुऽहुतम् । कृणोतु ॥ १ ॥

विरूपम् विविधाकारं यद् अन्नं बहुधा बहुप्रकारेण अद्मि

भक्षयामि । क्षुत्पीडावशेन भोज्याभोज्यविभागम् अन्तरेण भक्षितवान् अस्मीत्यर्थः । उत अपि च हिरण्यादिकं यद्देव किं च किमपि द्रव्यजातं दारिद्र्यवशाद् अहं प्रतिजग्राह प्रतिगृहीतवान् अस्मि । तत् सर्वम् अन्नं हिरण्यादि द्रव्यं च होता होमनिष्पादकः अयम् अग्निः सुहुतम् सुष्ठु हुतं कृणोतु करोतु । यथा मम अन्नदोषः प्रतिग्रहदोषश्च न भवति तथा करोत्वित्यर्थः ॥

अनेक प्रकारके आकार वाले अन्नको मैंने जो अनेक प्रकार से भक्षण कर लिया है अर्थात् क्षुधासे व्याकुल होकर यह वस्तु खाने योग्य या खानेके अयोग्य है–इसका कुछ विचार न करके मैंने जो भक्ष्य अभक्ष्यको खाया है और दरिद्रतावश सुवर्ण आदि का प्रतिग्रह किया है उन सब अभक्ष्यभक्षण और सुवर्ण आदि के प्रतिग्रहको यह होमनिष्पादक अग्नि सुहुत करें अर्थात् जिस प्रकार मुझको अन्नदोष और प्रतिग्रहदोष न लगे वैसा करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु

यत् । मा । हुतम् । अहुतम् । आऽजगाम । दत्तम् । पितृऽभिः । अनुऽमतम् । मनुष्यैः ।

यस्मात् । मे । मनः । उत्ऽइव । रारजीति । अग्निः । तत् । होता । सुऽहुतम् । कृणोतु ॥ २ ॥

हुतम् होमसंस्कृतम् अहुतम् तद्विपरीतम् उभयविधं यद् द्रव्यं मा माम् आजगाम प्रतिग्रहादिना प्राप्तम् अभूत् । कीदृशम् इति पुनर्विशिनष्टि । पितृभिः पितृदेवताभिः अस्मभ्यं भोगार्थं दत्तम्

वितीर्णं मनुष्यैः मनुष्यजातीयैः अनुमतम् अनुज्ञातम् । यस्माद् प्रतिगृहीताद् द्रव्याद्धेतोः मे मदीयं मनः उदिव रारजीतु हर्षातिशयेन भृशम् उदीप्यत इव । ❀ राजृ दीप्तौ । अस्माद् यङ्लुगन्ताद् लोटि छान्दसम् उपधाह्रस्वत्वम् ❀ । यद्वा उत्कर्षेण भृशं रागयुक्तम् अभूद् इत्यर्थः । ❀ रञ्ज रागे । इत्यस्माद् यङ्लुगन्ताद् लोटि रूपम् ❀ । अग्निष्टद् इत्यादि पूर्ववद् ॥

होमसे संस्कृत वा होमसे असंस्कृत दोनों प्रकारका जो द्रव्य प्रतिग्रह आदिसे मेरे पास आगया है। पितर और देवताओंसे हमारे भोगके लिये दिये हुये और मनुष्योंके द्वारा अनुमत प्रतिग्रहके द्रव्यसे जो मेरा मन हर्षातिरेकसे उद्दीप्त सा होरहा है उसको यह होमका निष्पादक अग्नि सुहुत करें अर्थात् जिस प्रकार मुझको प्रतिग्रह आदिका दोष न लगे, तैसा करें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यदन्नमझ्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।

वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्

यत् । अन्नम् । अद्मि । अनृतेन । देवाः । दास्यन् । अदास्यन् ।

उत । सम्ऽगृणामि ।

वैश्वानरस्य । महतः । महिम्ना । शिवम् । मह्यम् । मधुऽमत् ।

अस्तु । अन्नम् ॥ ३ ॥

हे देवाः अनृतेन असत्यवदनेन अन्यदीयम् अपहृत्य यद् अन्नम् अद्मि भक्षयामि । उत्तमर्णाय पुनर्दास्यन् अदास्यन् पुनः प्रदानम् अकरिष्यंश्च संगृणामि दास्यामीति केवलं प्रतिजानामि । ❀ संपूर्वो गृणातिः प्रतिज्ञायां वर्तते । गॄ शब्दे । प्वादित्वात् ह्रस्वः ❀ । तत्

सर्वम् अन्नं वैश्वानरस्य विश्वनरहितस्य महतः अतिशायितप्रभावस्य देवस्य महिम्ना माहात्म्येन मह्यं शिवम् सुखकरं मधुमत् माधुर्यवद् अस्तु भवतु ॥

हे देवताओं ! मैं जो झूँठ बोल दूसरेका भाग छीनकर जिस अन्नको खागया हूँ और धनीको धनीका रुपया देनेको ही कहता रहा हूँ, दे नहीं सका हूँ । वह वैश्वानर अग्निदेवके प्रभावसे मुझे सुख देनेवाला और मधुर हो ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।

एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु १

यथा । असितः । प्रथयते । वशान् । अनु । वपूंषि । कृण्वन् । असुरस्य । मायया ।

एव । ते । शेपः । सहसा । अयम् । अर्कः । अङ्गेन । अङ्गम् । सम्ऽसमकम् । कृणोतु ॥ १ ॥

यथा सितः बद्धः पुरुषः वशान् स्ववशान् आत्मीयान् पुरुषान् अनुलक्ष्य प्रथयते स्वात्मानं प्रसारयति । किं कुर्वन् । असुरस्य सेप्तुर्देवस्य मायया मायाशक्त्या वपूंषि शरीराणि कृण्वन् कुर्वन् । एव एवम् अयम् अर्कः अर्कवृक्षविकारो मणिः सहसा शीघ्रं ते त्वदीयं शेपः पुंव्यञ्जनलक्षणम् अङ्गम् अङ्गेन तद्व्यतिरिक्तेन हस्तपादादिना सम्यक् समगम् समानगमनं कृणोतु करोतु । यद्वा स्त्रिया अङ्गेन योनिदेशेन समानगमनम् । उपभोगक्षमं करोत्वित्यर्थः ॥

जैसे बँधा हुआ पुरुष, असुरकी मायासे रूपोंको दिखाता हुआ अपने पुरुषोंके सामने फैल जाता है, इसी प्रकार यह अर्कमणि तेरे शिश्नांगको स्त्रीके अंगसे भली प्रकार गमन वाला करे ॥१॥

अष्टमी ॥

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

यथा । पसः । तायादरम् । वातेन । स्थूलभम् । कृतम् ।
यावत् । परस्वतः । पसः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ २ ॥

तायोदरम् तयोदरः प्राणिविशेषः तत्संबन्धि पसः पुंव्यञ्जनं वातेन वायुना यथा स्थूलभं कृतम् । स्थौल्येन भासमानं क्रियत इत्यर्थः । परस्वतः एतत्संज्ञस्य मृगविशेषस्य पसः पुंव्यञ्जनं यावत् यत्परिमाणविशिष्टं भवति हे साधक ते तव पसः पुंव्यञ्जनं तावत् तत्परिमाणविशिष्टं वर्धताम् ॥

जैसे तायोदर नाम वाले प्राणीका उपस्थ वायुके द्वारा स्थूलतासे दमकता हुआ किया गया है । परस्वत् नाम वाले मृगका शिश्न जैसा होता है, हे साधक ! तेरा शिश्न भी इसी प्रकार बढ़े ॥ २ ॥

नवमी ॥

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

यावत्ऽअङ्गीनम् । पारस्वतम् । हास्तिनम् । गार्दभम् । च । यत् ।
यावत् । अश्वस्य । वाजिनः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ।३।

अङ्गीनम् अङ्गेभ्यः संभूतं पारस्वतम् परस्वतः संबन्धि प्रजननं यावत् यत्परिमाणविशिष्टं भवति। तथा हास्तिनम् हस्तिसंबन्धि। गार्दभम् गर्दभसंबन्धि च प्रजननं यत् यादृगाकारवद् भवति। अश्वस्य वाजिनः यौवनावस्थस्य वडवासंगमने यावद् भवति ते तव पसः पुंव्यञ्जनं तावत्परिमाणं वर्धताम्। ❀ हास्तिनम् इति। हस्तिनशब्दात् "तस्येदम्" इति अण्। "इनण्यनपत्ये" इति प्रकृतिभावः ❀॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे
षष्ठकाण्डे सप्तमोनुवाकः॥

अंगोंसे प्रकट हुआ परस्वत् (प्राणी) का प्रजनन (शिश्न) जितने परिमाण वाला होता है और हाथी तथा गधेका शिश्न जितने परिमाण वाला होता है। और अश्वका शिश्न जितना होता है तेरा शिश्न भी उतना ही बढ़ जावे॥ ३॥

पञ्चमसूक्त समाप्त (२४५)॥

अथर्ववेदसंहिताके ६ठे काण्डका सप्तम अनुवाक समाप्त॥

अष्टमेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "एह यातु वरुणः" इति प्रथमं सूक्तम्। अत्र आद्यस्य तृचस्य "सं वः पृच्यन्ताम्" इति द्वितीयस्य च सांमनस्यकर्मणि "सं जानीध्वम्" [६. ६४] इति तृचोक्तेषु उदकुम्भनिनयनादिषु विनियोगः। सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम्॥

तत्र आद्यस्य तृचस्य वास्तोष्पत्यगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ गणप्रयुक्तो विनियोगोनुसंधेयः। सूत्रितं हि। "इहैव ध्रुवाम् [३. १२] एह यातु [६. ७३] यमो मृत्युः [६. ९३] सत्यं बृहत् [१२. १] इत्यनुवाको वास्तोष्पत्यानि" इति [कौ० १. ८]॥

अत्र "इहैव" [३] इत्यनया ऋचा नवशालाप्रवेशकर्मणि उदपात्रनिनयनानन्तरं यजमानो वाचं विसृजेत्। "यजूंषि यज्ञे

[५. २६] इति नवशालायाम्" इति प्रक्रम्य "इहैव स्त [३] इति वाचं विसृजते" इति [कौ० ३. ६] सूत्रितत्वात् ॥

आठवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'एह यातु वरुणः' यह पहिला सूक्त है। इसमें 'एह यातु वरुणः' इस पहिले तृचका और 'सं वः पृच्यन्ताम्' इस दूसरे तृचका सांमनस्य कर्ममें और छठे काण्डके चौंसठवें तृचमें कहे हुए जलपूर्ण कलशके लाने आदिमें विनियोग होता है। सूत्र भी वहाँ ही लिख दिया है।

इनमें पहिले तृचका वास्तोष्पत्यगणमें पाठ है, अतः शान्त्युदक के अभिमन्त्रण आदिमें जहाँ वास्तोष्पत्यगणका विनियोग होगा, वहाँ इसका विनियोग होगा। कौशिकसूत्र १। ८ में वास्तोष्पत्य-गणकी सूची इस प्रकार दी है, कि-'इहैव ध्रुवाम् (यह तृतीयकांड का तिहत्तरवाँ तृच) एह यातु (यह छठे काण्डका तिहत्तरवाँ तृच) यमो मृत्युः (यह छठे काण्डका तिरानवेंवाँ तृच) और सत्यं बृहत् (यह बारहवें काण्डका प्रथम अनुवाक) यह वास्तो-ष्पत्यगण है' ॥

यहाँ 'इहैव' इस तीसरी ऋचासे नवशालाप्रवेश कर्ममें जल-पूर्ण पात्रको लानेके पीछे यजमान वाणीका विसर्जन करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'यजूंषि यज्ञे (५। २६) इति नवशालायाम्' इति प्रक्रम्य 'इहैव स्तः (३) इति वाचं विसृजते' (कौशिकसूत्र ३। ६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः

आ। इह। यातु। वरुणः। सोमः। अग्निः। बृहस्पतिः। वसुऽभिः। इह। यातु।

अस्य । श्रियम् । उपऽसंयात । सर्वे । उग्रस्य । चेत्तुः । सम्ऽमनसः । सुऽजाताः ॥ १ ॥

इह अस्मिन् देशे वरुणः सोमः अग्निश्च प्रत्येकम् आ यातु सांमनस्यकरणार्थम् आगच्छतु । बृहस्पतिः बृहतां देवानाम् अधिपतिर्देवः वसुभिः अष्टसंख्याकैर्गणदेवैः सह इह अस्मिन् देशे आ यातु आगच्छतु । एते खलु सांमनस्यकारिणो देवाः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्विश्वैर्देवैः" इति [तै० सं० ६. २. २. १] । हे सजाताः समानजन्मानो बान्धवाः ते सर्वे यूयं संमनसः समानमनस्काः सन्तः उग्रस्य उद्गूर्णबलस्य चेत्तुः कार्याकार्यविभागं सम्यग्जानानस्य अस्य यजमानस्य श्रियम् संपदम् उपसंयात उपसंप्राप्नुत । उपजीवका भवतेत्यर्थः ॥

वरुण और सोमदेवता तथा अग्निदेव भी इस स्थानमें सांमनस्य कर्म करनेके लिये आवें और बड़े २ देवताओंके अधिपति बृहस्पति भी आठ वसुओंके साथ आवें । हे समान जन्म वाले बांधवों ! तुम एकसे मन वाले बन कर इस प्रचण्ड बल वाले और कार्य तथा अकार्यको भली प्रकार जानने वाले यजमानकी लक्ष्मीमें आओ †, अर्थात् इसके उपजीवी होजाओ ॥ १ ॥

---

† तैत्तिरीयसंहितामें सांमनस्य कर सकने वाले देवताओंका इस प्रकार वर्णन किया है, कि—"अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैरिंद्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैर्बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः ॥—वसुओं सहित अग्निदेव, रुद्रों सहित सोमदेव, मरुतोंसहित इन्द्रदेव, आदित्योंसहित वरुणदेव और विश्वेदेवताओंसहित बृहस्पति [ये सब सांमनस्य करने वाले देवता हैं]" तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । २ । १ ॥

द्वितीया ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा । तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥

यः । वः । शुष्मः । हृदयेषु । अन्तः । आऽकूतिः । या । वः । मनसि । प्रऽविष्टा ।

तान् । सीवयामि । हविषा । घृतेन । मयि । सऽजाताः । रमतिः । वः । अस्तु ॥ २ ॥

हे सजाताः वः युष्माकं हृदयेषु यः शुष्मः शोषकं बलम् अस्ति। तथा वः युष्माकं हृदयमध्यवर्तिनि मनसि अन्तःकरणे या आकूतिः इदं मे स्याद् इदं मे स्याद् इति कल्पना अन्तः प्रविष्टा तां विविधाम् आकूतिं बलं च हूयमानेन घृतेन हविषा सीवयामि परस्परसंबद्धां करोमि। हे सजाताः वः युष्माकं रमतिः रमणम् अनुकूलप्रवृत्तिः मयि मदीये सांमनस्यकामे पुरुषे अस्तु भवतु ॥

हे बांधवों ! तुममें जो शोषक बल है तथा तुम्हारे हृदयके मध्यके अन्तःकरणमें 'यह मेरा होजाय यह पदार्थ मेरा होजाय' ऐसे जो संकल्प हैं उन सबको मैं इस आहुति दी जाने वाली हवि और घृतसे परस्पर संबद्ध करता हूँ, हे समान जन्म वाले बांधवों ! मुझ सांमनस्यको चाहने वालेमें तुम्हारी अनुकूलप्रवृत्ति –रति–रहे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैव स्त माप याताध्यस्मत् पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु

वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥

इह । एव । स्त । मा । अप । यात । अधि । अस्मत् । पूषा । परस्तात् । अपथम् । वः । कृणोतु ।

वास्तोः । पतिः । अनु । वः । जोहवीतु । मयि । सऽजाताः । रमतिः । वः । अस्तु ॥ २ ॥

हे सजाताः इह अस्मदीये गृहे एव स्त भवत अनुरागेण वर्तध्वम् । अध्यस्मत् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । अस्मत्तोधि माप यात अपसरणं मा कुरुत । अस्मत्तः परस्ताद् अन्यत्र प्रातिकूल्येन वर्तमानानां वः युष्माकं पूषा मार्गरक्षको देवः अपथम् अमार्गं कृणोतु करोतु । अपसरणाय मार्गं न ददात्वित्यर्थः । ❀ न पन्थाः अपथम् । "नञस्तत्पुरुषात्" इति समासान्तनिषेधस्य "पथो विभाषा" इति विकल्पनात् "ऋक्पूरब्धूः०" इति अकारः समासान्तः । "अपथं नपुंसकम्" इत्यनुशासनात् नपुंसकत्वम् ❀ । वास्तोष्पतिः एतत्संज्ञको गृहाणां पालको देवः वः युष्मान् अनु जोहवीतु अनुसृत्य पुनः पुनरस्मदर्थम् आह्वयतु । ❀ ह्वयतेर्यङ्लुकि "अभ्यस्तस्य च" इति संप्रसारणम् ❀ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

हे बांधवों ! तुम मेरे घरसे अनुराग भरा बर्ताव करो मुझसे अलग न जाओ, यदि तुम मुझसे प्रतिकूल चलने लगो, तो मार्गरक्षक पूषा देवता तुमको मुझसे प्रतिकूल चलने न देवे और घरके पालक वास्तोष्पतिनामक देवता मेरे लिये तुम्हारा वारंवार आह्वान करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।

सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

सम् । वः । पृच्यन्ताम् । तन्वः । सम् । मनांसि । सम् । ऊं इति । व्रता ।

सम् । वः । अयम् । ब्रह्मणः । पतिः । भगः । सम् । वः । अजीगमत् १

हे सांमनस्यकामाः वः युष्माकं तन्वः शरीराणि सं पृच्यन्ताम् परस्परानुरागेण संसृज्यन्ताम् । ❀ पृची संपर्के ❀ । तथा मनांसि शरीरान्तर्वर्तीनि अन्तःकरणानि संसृज्यन्ताम् । सम् उ । उशब्दः चार्थे । व्रता व्रतानि । कर्मनामैतत् । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । कृषिवाणिज्यादीनि कर्माणि च संसृज्यन्ताम् । अपि च ब्रह्मणस्पतिः एतत्संज्ञको वेदराशेः पालयिता अयं देवः वः युष्मान् समजीगमत् संगतमनस्कान् करोतु । तथा भगः एतत् संज्ञो देवः वः युष्मान् समजीगमत् सङ्गतमनस्कान् करोतु । ❀ गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

हे साम्मनस्यको चाहने वालो ! तुम्हारे शरीर और मन पारस्परिक अनुरागसे बँध जावें, तुम्हारे कृषि और वाणिज्य आदि कर्म भी पारस्परिक अनुरागसे भरे हुए हुआ करें, भग और ब्रह्मणस्पति देवता तुमको हमारे लिये बारंबार बुलावें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः ।

अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

सम्ऽज्ञपनम् । वः । मनसः । अथो इति । सम्ऽज्ञपनम् । हृदः ।

अथो इति । भगस्य । यत् । श्रान्तम् । तेन । सम् ऽज्ञपयामि । वः २

हे सांमनस्यकामाः वः युष्माकं मनसः ज्ञानसाधनस्य इन्द्रियस्य संज्ञपनम् सम्यग्ज्ञानजननम् । येन कर्मणा भवति तत् कर्म करोमी-त्यर्थः ।❀ संजानानाम् प्रयुंक्त इत्यस्मिन्नर्थे "हेतुमति च" णिच् । ततः पुकि "मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा" इति मित्त्वात् "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् । "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इति ल्यु-प्रत्ययः ❀ । अथो अपि च हृदः हृदयस्य मनसोपि आधारभूतस्य संज्ञपनम् समानज्ञानजननं करोमि ॥ अथो अपि च भगस्य एतत् संज्ञस्य सौभाग्यकरस्य देवस्य यच्छ्रान्तम् श्रमजनितं तपोस्ति । ❀ श्राम्यत्यस्मिन्निति श्रान्तम् । अधिकरणे क्तः । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । "अनुनासिकस्य क्विझलोः०" इति दीर्घ-त्वम् ❀ । तेन श्रमजनिततपसा वः युष्मान् सांमनस्यकामान् संज्ञपयामि समानज्ञानान् करोमि ॥

हे एकचित्तताको चाहने वाले मनुष्यों ! जिस कर्मसे तुम्हारी ज्ञानकी मन इन्द्रिय श्रेष्ठ ज्ञानको उत्पन्न करने वाली हो, तिस कर्मको मैं करता हूँ और तुम्हारे हृदयको भी समान ज्ञानको उत्पन्न करने वाला करता हूँ और सौभाग्यदायक भगदेवताका जो श्रमसे किया हुआ तप है उससे मैं तुमको समान ज्ञान वाला करता हूँ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृ-
धीह ॥ ३ ॥

यथा । आदित्याः । वसुऽभिः । सम्ऽबभूवुः । मरुत्ऽभिः । उग्राः ।
अहृणीयमानाः ।
एव । त्रिऽनामन् । अहृणीयमानः । इमान् । जनान् । सम्ऽमनसः ।
कृधि । इह ॥ ३ ॥

आदित्याः अदितेः पुत्रा मित्रवरुणादयः यथा येन प्रकारेण वसुभिः अष्टसंख्याकैर्गणदेवैः संबभूवुः समानज्ञाना अभूवन् । यथा च मरुद्भिः एकोनपञ्चाशत्संख्याकैः सह उग्राः उद्गूर्णबला रुद्रा अहृणीयमानाः अक्रुध्यन्तः समानज्ञाना अभूवन् । ❀ हृणीयतिः कण्ड्वादिः । अयं क्रुध्यतिकर्मा ❀ । एव एवं हे त्रिणामन् त्रिषु भूम्यन्तरिक्षद्युस्थानेषु पार्थिववैद्युतसूर्यात्मना सर्वेषां नमयितः । यद्वा त्रीणि गार्हपत्यादीनि नामानि यस्य स तथोक्तः । तादृश हे अग्ने अहृणीयमानः अक्रुध्यंस्त्वम् इमान् सांमनस्यकामान् जनान् इह अस्मिन् ग्रामनगरादौ संमनसः समानमनस्कान् परस्परानुरक्तचित्तान् कृधि कुरु । ❀ "श्रुशृणुपृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀।

[इति] अष्टमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

अदितिके पुत्र मित्र वरुण आदि जिस प्रकार आठ वसुओंके साथ समान ज्ञान वाले होगए हैं और प्रचण्ड बली रुद्र जिस प्रकार क्रोधभावको त्याग कर उनचास मरुतोंके साथ समान ज्ञान वाले होगए हैं। हे भूमि अन्तरिक्ष और द्युस्थानमें पार्थिव वैद्युत और सूर्यरूपमें सबसे नमन कराने वाले और गार्हपत्य आदि तीन नामों वाले अग्निदेव ! आप क्रोधको त्याग कर इन साम्मनस्य चाहने वाले मनुष्योंको इस ग्राम वा नगरमें परस्पर अनुरक्त चित्त वाले करिये ॥ ३ ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२४७) ॥

"निरमुं नुदे" इति तृचेन आभिचारिके तन्त्रे दर्भास्तरणं कुर्यात्

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन सूक्तेन अभ्यातानान्ते इङ्गिडं जुहुयात् ॥ [कौ० ६. २]॥

तस्मिन्नेव तन्त्रे अनेन तृचेन संस्थितहोमान् जुहुयात् ॥

"य एनं परिषीदन्ति" इति चतुर्ऋचेन विजयस्वस्त्ययनकामः खड्गाद्यसाधारणं शस्त्रं संपात्य हस्तेन विमृज्य अभिमन्त्र्य धारयेत्

तथा रात्रिस्वस्त्ययनकामः एतं चतुर्ऋचं जपित्वा प्रादेशेन मुखं विमाय स्वप्यात् ॥

तथा देशान्तरं जिगमिषुः स्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं सुप्तोत्थित एतं चतुर्ऋचं जपन् त्रीणि पदानि प्रक्रम्य उद्दिष्टं देशं गच्छेत् ॥

तत्रैव कर्मणि भूमौ त्रीन् प्रादेशान् मित्वा गच्छेत् ॥

सूत्रितं हि । "य एनं परिषीदन्तीति पदाद्युपं दृपदेन व्याख्यातम् । दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति । त्रीणि पदानि प्रमायोत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" इति [कौ० ७. १]॥

"निरमुं नुदे" इस तृचसे आभिचारिक तन्त्रमें दर्भोंको फैलावे।

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे अभ्यातानके अंतमें इङ्गिडकी आहुति देय। (कौशिकसूत्र ६ । २)॥

इसी तन्त्रमें इस तृचमें संस्थित होमोंको करे ॥

चार ऋचा वाले सूक्त 'य एनं परिषीदन्ति' विजयमें स्वस्त्ययन चाहने वाला पुरुष इससे खड्ग आदि असाधारण शस्त्रका सम्पातन कर उसको हाथसे स्वच्छ कर अभिमन्त्रित करके धारण करे।

तथा रात्रिमें स्वस्त्ययनको चाहने वाला पुरुष इस चार ऋचा वाले सूक्तको जप कर मुख पर प्रादेशको फेर कर सो जावे।

और परदेशको जाना चाहनेवाला पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धि के लिये सोकर उठते ही इस चार ऋचावाले सूक्तको जपता हुआ तीन पैर रख कर अपने अभिलषित स्थानको चल देय।

तहाँ ही भूमिमें तीन प्रादेशोंको नाप कर चल देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'य एनं परिषीदन्तीति पदायुधं दण्डेन व्याख्यातम् । दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति । त्रीणि पदानि प्रमायोच्छिष्ठति तिस्रो दिष्टीः (कौशिकसूत्र ७।१)॥

तत्र प्रथमा ॥

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।
नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥

निः । अमुम् । नुद । ओकसः । सऽपत्नः । यः । पृतन्यति ।
नैःऽबाध्येन । हविषा । इन्द्रः । एनम् । परा । अशरीत् ॥१॥

अमुं शत्रुम् ओकसः स्वनिवासस्थानात् निर्नुदे निर्गमयामि । मन्त्रसामर्थ्येन स्वस्थानात् प्रच्यावयामीत्यर्थः । ❀ कः पुनरसौ इत्याह । यः सपत्नः शत्रुः पृतन्यति अस्मान् बाधितुं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छति । ❀"कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति क्यचि पृतनाशब्दस्य अन्तलोपः ❀ । निर्णोदनप्रकारम् आह नैर्बाध्य-नेति । निःशेषेण बाधो निर्बाधः तम् अर्हतीति निर्बाध्यो हन्तव्यः शत्रुः तद्विषये प्रयुज्यमानं हविः नैर्बाध्यम् । ❀ "तस्येदम्" इति अण् ❀ । निर्बाधनक्षमेण हविषा आज्यादिना हूयमानेन परितुष्ट इन्द्रः एनं शत्रुं पराशरीत् पराङ्मृणातु । यथा न पुनरावर्तते तथा पराङ्मुखं हिनस्तु इत्यर्थः । ❀ शॄ हिंसायाम् । अस्मात् "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लुङ् ❀ ॥

जो शत्रु हमको पीड़ा देनेके लिये सेना एकत्रित करना चाहता है उस शत्रुको हम मंत्रशक्तिसे स्थान च्युत करते हैं । शत्रुका वध करनेके लिये प्रेरित घृतकी हविके होमनेसे प्रसन्न हुए इन्द्र इस शत्रुको इस प्रकार मारे" कि–जिससे यह फिर लौटकर न आसके१

द्वितीया ॥

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।

यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

परमाम् । तम् । पराऽवतम् । इन्द्रः । नुदतु । वृत्रऽहा ।

यतः । न । पुनः । आऽअयति । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥२॥

वृत्रहा वृत्रम् असुरं हतवान् इन्द्रः तं शत्रुं परमां परावतम् । परावत् इति दूरनाम । अतिशयितदूरदेशं नुदतु प्रेरयतु । तं दूरदेशं विशिनष्टि । यतः यस्माद् दूरात् प्रणुत्तः शत्रुः शश्वतीभ्यः समाभ्यः बहुसम्वत्सरकालादपि न पुनरायति पुनर्नावर्तते । तादृशम् अत्यन्तदूरं [देशं] शत्रुं गमयत्वित्यर्थः । ॐ परावतम् इति । "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः ॐ ॥

वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्र उस शत्रुको ऐसे दूर देशमें भेज दें, कि—जहाँसे वह सैंकड़ों वर्षोंमें भी फिर न आ सके ॥२॥

तृतीया ॥

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।

एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति

शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ३

एतु । तिस्रः । पराऽवतः । एतु । पञ्च । जनान् । अति ।

एतु । तिस्रः । अति । रोचना । यतः । न । पुनः । आऽअयति ।

शश्वतीभ्यः । समाभ्यः । यावत् । सूर्यः । असत् । दिवि ॥३॥

इन्द्रेण नुन्नः अस्मच्छत्रुः परावतः दूरवर्तिनीः तिस्रो भूमीः अत्येतु अतिक्रम्य गच्छतु। "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" [ऐ० ब्रा० २. १७] इति वाक्यशेषात् "तिस्रो भूमीर्धारयन्" इति [ऋ० २. २७. ८] मन्त्रवर्णाच्च तिस्रः परावत इत्युक्तम्। तथा पञ्च जनान्। निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चजनाः। तान् अत्येतु। मनुष्यसंचारदेशं विहाय दूरं गच्छत्वित्यर्थः। तथा तिस्रः त्रिसंख्याका रोचनाः सूर्यचन्द्राग्नीनां रोचमानाः प्रभा अत्येतु अतिक्रम्य गच्छतु। सूर्यादीनां प्रभा यत्र न सन्ति तं देशं गच्छत्वित्यर्थः। ❀ रुच दीप्तौ। "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀। यतो न पुनरायतीत्यादि व्याख्यातम्। उक्तं कालबहुत्वं विशिनष्टि यावत् सूर्य इति। यावत्कालपर्यन्तं दिवि द्युलोके सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः असत् भवेत्। ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। तावत्कालपर्यन्तं शत्रुः पुनर्नावर्तताम् इत्यर्थः॥

इन्द्रसे भेजा हुआ हमारा शत्रु दूरवर्तित तीनों भूमियोंके भी पार पहुँच जावे, निषाद आदि पाँच जनोंके भी पार जावे अर्थात् मनुष्योंके घूमनेके स्थानको लाँघकर दूर चला जावे। और चन्द्रमा सूर्य और अग्निकी जहाँ कान्ति नहीं हो तहाँ पहुँचे, और जब तक द्युलोकमें सूर्य रहें तब तक सैंकड़ों वर्षों तक लौट कर न आ सके ३

चतुर्थी॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि॥ १॥

ये। एनम्। परिऽसीदन्ति। सम्ऽआदधति। चक्षसे।
सम्ऽप्रेद्धः। अग्निः। जिह्वाभिः। उत्। एतु। हृदयात्। अधि १

एनं स्वस्त्ययनकामं ये रक्षःप्रभृतयो हिंसकाः परिषीदन्ति

हिंसितुं परितः उपविशन्ति ततः चक्षसे हिंसायै समादधति समाहिताः संनद्धा भवन्ति। ❀ नृचक्षाः राक्षसः इतिवत् चष्टिरत्र हिंसाकर्मा। तस्मात् असुनि "व्यसनयोश्च" इति ख्याञादेशाभावः ❀। यद्वा एवम् अर्थि परिचरितुं ये जनाः पशु पविशन्ति चक्षसे दर्शनाय समादधति इध्मप्रक्षेपेण प्रज्वलयन्ति। तैः संमेद्धः प्रकर्षेण संदीपितोऽग्निः स्वकीयाभिर्जिह्वाभिः सह हृदयादधि अस्मदीयाद् हृदयाद् उदेतु उद्गच्छतु। उत्पद्यताम् इत्यर्थः। "अहं त्वद् अस्मि मद् असि त्वम् एतत्। ममासि योनिस्तव योनिरस्मि" इति हि निगमः [तै० ब्रा० १. २. १. २०]। यद्वा पशु पविशतां रक्षःप्रभृतीनां हृदयात् संप्रद्धोऽग्निः उदेतु। तान् प्रदग्धुम् इत्यर्थः॥

जो राक्षस आदि इस स्वस्त्ययन चाहने वाले पुरुषको मारने के लिये इसके चारों ओर बैठ जाते हैं और हिंसा करनेके लिये उद्यत होजाते हैं उन घेर कर बैठने वाले राक्षस आदिके हृदयमें उनको भस्म करनेके लिये प्रचण्ड अग्नि अपनी जिह्वाओं सहित उदय होजावें॥ १॥

पञ्चमी॥

अ॒ग्नेः सां॑तप॒नस्या॒हमायु॑षे प॒दमा र॑भे।
अ॒द्धाति॒र्यस्य॒ पश्य॑ति धू॒ममु॒द्यन्त॑मास्य॒तः॥ २॥

अ॒ग्नेः। सा॒म्ऽत॒प॒नस्य॑। अ॒हम्। आयु॑षे। प॒दम्। आ। र॒भे॒।
अ॒द्धाति॑ः। यस्य॑। पश्य॑ति। धू॒मम्। उ॒त्ऽयन्त॑म्। आ॒स्य॒तः २

सांतपनस्य अत्यर्थं तपनं संतपनम् तत्संबन्धिनः अग्नेः पदम् स्थानं तद्वाचिपदात्मकं शब्दम् वा आयुषे जीवनाय अहम् आ रभे उपक्रमे। यस्याग्नेः आस्यतः आस्याद् मुखाद् उद्यन्तम् उद्गच्छन्तं धूमम् अद्धातिः। अद्धा प्रत्यक्षम् अतति सततं ध्यानेन प्राप्नोतीति

भृद्धातिः एतत्संज्ञो महर्षिः पश्यति साक्षात्करोति। यद्वा यस्याग्नेर्धूमं तपःप्रभावात् स्वस्माद् आस्याद् उद्गच्छन्तं पश्यति तादृशस्याग्नेः पदम् इति संबन्धः ॥

भृद्धाति ऋषि जिस अग्निके धूमको तपःप्रभाववश अपने मुखमेंसे निकलता हुआ देख चुके हैं, उस परम सन्तप्त करनेवाले अग्निके वाचक शब्दको मैं जीवन पानेके लिये आरम्भ करता हूं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यो अ॒स्य स॒मिधं॒ वेद॑ क्ष॒त्रिये॑ण स॒माहि॑ताम् ।
नाभि॒ह्वारे॑ प॒दं नि द॑धाति॒ स मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

यः । अ॒स्य । स॒म्ऽइध॑म् । वेद॑ । क्ष॒त्रिये॑ण । स॒म्ऽआहि॑ताम् ।
न । अ॒भि॒ऽह्वारे॑ । प॒दम् । नि । द॒धा॒ति॒ । सः । मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

क्षत्रियेण क्षत्रजातीयेन विजयकामेन पुंसा समाहिताम् सम्यग् आहितां क्षिप्ताम् अस्य अग्नेः समिधम् संदीपनीम् आहुतिं यः पुरुषो वेद जानाति स वेदिता मृत्यवे मृत्युं गन्तुम् अभिह्वारे अभितः कुटिले मृत्युप्राप्तिनिमित्ते गजव्याघ्रादिभूयिष्ठे स्थाने पदं न नि दधाति न निक्षिपति। इत्थं वेदितुर्मरणशङ्कापि नैवोदेतीत्यर्थः ॥

विजयाभिलाषी क्षत्रिय पुरुषसे भली प्रकार रक्खी हुई इन अग्निकी सन्दीपनी आहुतिको जो पुरुष जानता है, वह ज्ञाता पुरुष परम कुटिल मृत्युप्राप्तिके निमित्त गज व्याघ्र आदिसे भरे हुए स्थानमें पैरको नहीं रखता है ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

नैनं॑ घ्नन्ति पर्या॒यिणो॒ न स॒न्नाँ अव॑ गच्छति ।
अ॒ग्नेर्यः क्ष॒त्रियो॑ वि॒द्वान्नाम॑ गृ॒ह्णात्यायु॑षे ॥ ४ ॥

न । एनम् । घ्नन्ति । परिऽआयिनः । न । सन्नान् । अव । गच्छति । अग्नेः । यः । क्षत्रियः । विद्वान् । नाम । गृह्णाति । आयुषे ॥ ४ ॥

एनं स्वस्त्ययनकामं पर्यायिणः परित आगन्तारः शत्रवो न घ्नन्ति न हिंसन्ति । [सन्नान्] समीपस्थानपि तान् अयं नावगच्छति नावबुध्यते । अस्य ज्ञानविषयेपि शत्रवो नावस्थातुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । कः पुनरसौ इत्याह । यः क्षत्रियः विद्वान् उक्तप्रकारेण माहात्म्यं जानन् अग्नेर्नाम स्तावकं नामधेयम् आयुषे चिरकालजीवनाय गृह्णाति उच्चारयति । नैवैनं घ्नन्तीति संबन्धः ॥

[इति] अष्टमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो विद्वान् क्षत्रिय ऐसे माहात्म्यको जानकर अग्निके स्तोत्रका चिरकाल तक जीवित रहनेकी कामना करके उच्चारण करता है उस स्वस्त्ययन चाहने वालेको चारों ओरसे आने वाले शत्रु नहीं मारते, यदि शत्रु पासमें खड़े हों तब भी यह उनको नहीं जानता अर्थात् इसके ज्ञानविषयमें शत्रु टिकनेको समर्थ नहीं होते ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (२५९) ॥

"अस्थाद् द्यौः" इति तृचेन पलायनशीलायाः स्त्रिया निरोधनकर्मणि रज्जुवेष्टनम् अभिमन्त्र्य मध्यमस्थूणायां बध्नीयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि स्त्रीखट्वायाः पादम् अनेन तृचेन अभिमन्त्र्य उपले बध्नीयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन तृचेन तिलान् जुहुयात् ॥

सूत्रितं हि । "अस्थाद् द्यौरिति निवेष्टनम् । आवेष्टनेन वंशाग्रम् अवबध्य मध्यमायां बध्नाति" इत्यादि [कौ० ४. १२] ॥

"तेन भूतेन" इति तृचेन विवाहे आज्यं हुत्वा वरवध्वोर्मूर्ध्नि संपातान् आनयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि तेनैव तृचेन रसान् स्थालीपाकं च संपात्य अभिमन्त्र्य भोजनसमये जायापती प्राशयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन तृचेन आज्यमिश्रैर्यवैः अञ्जलिं परिपूर्य जुहुयात् ॥

सूत्रितं हि विवाहप्रकरणे । "तेन भूतेनेति [६. ७८] तुभ्यम् अग्रे [१४. २] शुम्भनी" [७. ११७] इति प्रक्रम्य "मूर्ध्नोः संपातान् आनयति । तेन भूतेन समशनं रसान् आशयति स्थाली-पाकं च । यवानाम् आज्यमिश्राणां पूर्णाहुतिं जुहोति" इति [कौ० १०. ४] ॥

'अस्याद्यौः' इस तृचसे भाग जानेके स्वभाव वाली स्त्रीके रोकनेके कर्म में रज्जुवेष्टन (रस्सीके लपेटन) को अभिमन्त्रित करके मध्यमस्थूणामें बाँध देवे ।

तथा इसी कर्म में स्त्रीके खाटके पायेको इस तृचसे अभिमन्त्रित करके पत्थरमें बाँध देवे ।

तथा इसी कर्म में इस तृचसे तिलोंकी आहुति देय

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'अस्याद्यौरिति निवेष्टनम् । आवेष्टनेन वंशाग्रम् अवबध्य मध्यमायां बध्नाति ।०' (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

'तेन भूतेन' इस तृचसे विवाहमें घृतकी आहुति देकर वर और वधूके मस्तक पर सम्पातोंको लावे ।

तथा तहाँ ही कर्म में रसोंको और स्थालीपाकको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके भोजनके समय पति पत्नीको खिला देवे ।

तथा इसी कर्ममें इस तृचसे घृत मिले हुए यवों (जौं) की अञ्जलिको भर कर आहुति देय ।

विवाहप्रकरणके सूत्रोंमें कहा है, कि-'तेन भूतेनेति (६।७८) तुभ्यम् अग्रे (१४ । २) शुम्भनी' (७ । ११७) इति प्रक्रम्य "मूर्ध्नोः सम्पातान् आनयति । तेन भूतेन समशनं रसान् आश-यति स्थालीपाकं च । यवानां आज्यमिश्राणां पूर्णाहुतिं जुहोति" (कौशिकसूत्र १० । ४)

तत्र प्रथमा ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥१॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् । इदम् ।
जगत् ।
आऽस्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । अश्वान् । अतिष्ठिपम् १

नियन्तुरीश्वरस्य आज्ञया यथा द्यौरस्थात् अप्रचलिता स्वस्थाने तिष्ठति । पृथिव्यपि यथा अस्थात् निश्चलं तिष्ठति । तयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानं विश्वम् सर्वम् इदं जगत् स्वे स्वे स्थाने अस्थात् तिष्ठति । पर्वता मेरुमन्दराख्योऽपि आस्थाने ईश्वरेण कल्पिते स्थाने अस्थुः तिष्ठन्ति । एवमेव हे योषित् स्थाम्नि । तिष्ठत्यस्मिन् गृहं सर्वम् इति स्थामा स्थूणा । ❀ "आतो मनिन्०" इति मनिन् प्रत्ययः ❀ । तत्र त्वाम् अतिष्ठिपम् बन्धनेन स्थापयामि । अश्वान् इति लुप्तोपमम् । यथा दुष्टान् अश्वान् सादिनो रज्जुभिर्बध्नन्ति तद्वत् । यद्वा स्थाम्नि स्थाने गृहे अश्वानिव त्वाम् अनेन कर्मणा स्थापयामि । ❀ तिष्ठतेर्ण्यन्ताच्छान्दसे लुङि चङि "तिष्ठतेरित्" इति इत्वम् ❀ ॥

नियन्ता ईश्वरकी आज्ञासे जिस प्रकार द्यौः अपने स्थानमें अचलरूपसे खड़ा हुआ है और पृथिवी अपने स्थान पर निश्चल खड़ी हुई है और इन द्यावापृथिवीके मध्यमें वर्तमान सब जगत् अपने २ स्थान पर प्रतिष्ठित है,मेरु मन्दर आदि पर्वत भी ईश्वरके द्वारा निर्दिष्ट अपने स्थानमें स्थित हैं, इसी प्रकार हे स्त्रि ! जिसके आधार पर सारा घर ठहरा हुआ है उस खंभेमें तुझको बन्धनके द्वारा मैं बाँधता हूँ जैसे दुष्ट घोड़ोंको सवार रस्सियोंसे बाँध लेते हैं, इसी प्रकार मैं तुझको इस कर्मसे बाँधता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

यः । उत्ऽआनट् । पराऽअयनम् । यः उत्ऽआनट् । निऽअयनम् ।
आऽवर्तनम् । निऽवर्तनम् । यः । गोपाः । अपि । तम् । हुवे ॥२॥

यो देवः परायणम् पराङ्मुखगमनम् उदानट् उत्कर्षेण व्याप्नोति तथा न्ययनम् नितरां नीचीनं वा गमनं यो देवः उदानट् उत्कर्षेण व्याप्नोति । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । अस्मात् छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "छन्दस्यपि दृश्यते" इति आडागमः । षत्वष्टुत्वे ❀ । यश्च देवः गोपाः गोपायिता पलायमानानाम् आवर्तनम् आगमनं निवर्तनम् गतिप्रतिरोधं च कर्तुं शक्नोति । अपिः संभावनायाम् । इत्थं संभाव्यमानं तं देवं हुवे आह्वयामि । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् ❀ ॥

जो देवता पराङ्मुखरूप गमनमें व्याप्त रहते हैं और जो देवता नीचेको छिप कर चलनेमें व्याप्त होगए हैं और जो देवता भागते हुओंकी आने जानेकी गतिको रोकनेमें समर्थ हैं, उन देवताका मैं आह्वान करता हूं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

जातऽवेदः । नि । वर्तय । शतम् । ते । सन्तु । आऽवृतः ।
सहस्रम् । ते । उपऽआवृतः । ताभिः । नः । पुनः । आ । कृधि ॥३॥

हे जातवेदः जातानां वेदितः अग्ने पलायनशीलाम् इमां स्त्रियं निवर्तय पलायनात् प्रत्यावर्तय । गृहे स्थापयेत्यर्थः । ते तव आवृतः आवर्तनोपायाः शतम् शतसंख्याकाः अस्मिन् विषये सन्तु भवन्तु । तथा सहस्रम् । सहस्रसंख्याकाः ते त्वदीया उपावृतः समीपदेशप्राप्त्युपायाः सन्तु भवन्तु । ताभिरावृद्भिः उपावृद्भिश्च नः अस्माकम् इमां स्त्रियं पुनरा कृधि अभिमुखीं कुरु ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप भागनेकी प्रकृति वाली इस स्त्रीको भागनेसे हटाइये—घरमें ही स्थित रखिये । आपके लौटानेके सैंकड़ों उपाय इस समय प्रयोगमें आवें । और आपके समीपमें रखनेके जो हजारों उपाय हैं—वे भी इस समय दीखें, उन उपायों से इस स्त्रीको आप हमारे अभिमुख करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तेन॑ भू॒तेन॑ ह॒विषा॒यमा प्या॑यतां॒ पुन॑ः ।

जा॒यां याम॑स्मा॒ आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ॥ ४ ॥

तेन॑ । भू॒तेन॑ । ह॒विषा॑ । अ॒यम् । आ । प्या॒य॒ता॒म् । पुन॒रिति॑ ।

जा॒याम् । याम् । अ॒स्मै॒ । आ॒ऽअ॒वा॒क्षुः । ताम् । रसे॑न । अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म् ॥

तेन प्रसिद्धेन भूतेन समृद्धिकरेण हूयमानेन हविषा अयं पतिः पुनरा प्यायताम् । पुनःपुनः प्रजापश्वादिभिः समृद्धो भवतु । अस्मै पत्ये यां स्त्रियं जायाम् आवाक्षुः जायात्वेन समीपम् आनयिषुः विवाहकर्तारः पितृमात्रादयः । ❀ वह प्रापणे । लुङि सिचि "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । तां जायां रसेन दधिमधुघृतादिना अभि वर्धताम् अयं हूयमानोऽग्निरभिवर्धयतु । ❀ "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ ॥

द्वितीया ॥

य उदानंट् परायणं य उदानण्न्यायनम् ।

आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

यः । उत्ऽआनट् । पराऽअयनम् । यः उत्ऽआनट् । निऽअयनम् ।

आऽवर्तनम् । निऽवर्तनम् । यः । गोपाः । अपि । तम् । हुवे ॥२॥

यो देवः परायणम् पराङ्मुखगमनम् उदानट् उत्कर्षेण व्याप्नोति तथा न्ययनम् नितरां नीचीनं वा गमनं यो देवः उदानट् उत्कर्षेण व्याप्नोति । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । अस्मात् छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "छन्दस्यपि दृश्यते" इति आडागमः । षत्वजश्त्वे ❀ । यश्च देवः गोपाः गोपायिता पलायमानानाम् आवर्तनम् आगमनं निवर्तनम् गतिप्रतिरोधं च कर्तुं शक्नोति । अपिः संभावनायाम् । इत्थं संभाव्यमानं तं देवं हुवे आह्वयामि । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणम् ❀ ॥

जो देवता पराङ्मुखरूप गमनमें व्याप्त रहते हैं और जो देवता नीचेको छिप कर चलनेमें व्याप्त होगए हैं और जो देवता भागते हुओंकी आने जानेकी गतिको रोकनेमें समर्थ हैं, उन देवताका मैं आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।

सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

जातऽवेदः । नि । वर्तय । शतम् । ते । सन्तु । आऽवृतः ।

सहस्रम् । ते । उपऽआवृतः । ताभिः । नः । पुनः । आ । कृधि ॥३॥

हे जातवेदः जातानां वेदितः अग्ने पलायनशीलाम् इमां स्त्रियं निवर्तय पलायनात् प्रत्यावय । गृहे स्थापयेत्यर्थः । ते तव आवृतः आवर्तनोपायाः शतम् शतसंख्याकाः अस्मिन् विषये सन्तु भवन्तु । तथा सहस्रम् । सहस्रसंख्याकाः ते त्वदीया उपावृतः समीपदेशप्राप्त्युपायाः सन्तु भवन्तु । ताभिरावृद्भिः उपावृद्भिश्च नः अस्माकम् इमां स्त्रियं पुनरा कृधि अभिमुखीं कुरु ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप भागनेकी प्रकृति वाली इस स्त्रीको भागनेसे हटाइये—घरमें ही स्थित रखिये । आपके लौटानेके सैंकड़ों उपाय इस समय प्रयोगमें आवें । और आपके समीपमें रखनेके जो हजारों उपाय हैं—वे भी इस समय दीखें, उन उपायों से इस स्त्रीको आप हमारे अभिमुख करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तेन॑ भू॒तेन॑ ह॒विषा॒यमा प्या॑यतां॒ पुन॑ः ।
जा॒यां याम॑स्मा॒ आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ४

तेन॑ । भू॒तेन॑ । ह॒विषा॑ । अ॒यम् । आ । प्या॒य॒ता॒म् । पुन॒रिति॑ ।

जा॒याम् । याम् । अ॒स्मै॒ । आ॒ऽअ॒वा॑क्षुः । ताम् । रसे॑न । अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म्

तेन प्रसिद्धेन भूतेन समृद्धिकरेण हूयमानेन हविषा अयं पतिः पुनरा प्यायताम् । पुनःपुनः प्रजापश्वादिभिः समृद्धो भवतु । अस्मै पत्ये यां स्त्रियं जायाम् आवाक्षुः जायात्वेन समीपम् आनयिषुः विवाहकर्तारः पितृमात्रादयः । ❀ वह प्रापणे । लुङि सिचि "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । तां जायां रसेन दधिमधुघृतादिना अभि वर्धताम् अयं हूयमानोऽग्निरभिवर्धयतु । ❀ "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ ॥

इस समृद्धि करने वाली होभी जाने वाली प्रसिद्ध ... जिसे यह पति वारंवार प्रजा पशु आदिसे समृद्ध होवे। इस पतिके लिये विवाह करने वाले माता पिता जिस स्त्रीको स्त्रीरूपसे समीपमें लाये हैं, उस जायाको यह आहूयमान (जिनके लिये आहुति दी जारही है वह) अग्निदेव दधि मधु घृत आदिसे बढ़ावें अर्थात् इसके घरमें दही शहद घी आदि सदा बढ़ता रहे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

अभि । वर्धताम् । पयसा । अभि । राष्ट्रेण । वर्धताम् ।
रय्या । सहस्रऽवर्चसा । इमौ । स्ताम् । अनुपऽक्षितौ ॥ २ ॥

पूर्वमन्त्रोक्त एवार्थः अनया विव्रियते। अयं वरो वधूश्च पयसा क्षीरेण अभि वर्धताम्। गोभिः समृध्यताम् इत्यर्थः॥ तथा राष्ट्रेण अभि वर्धताम्। ग्रामादिसमृद्धिर्भवत्वित्यर्थः॥ सहस्रवर्चसा अपरिमिततेजसा रय्या धनेन इमौ जायापती अनुपक्षितौ अनुपक्षीणौ संपूर्णकामौ स्ताम् भवताम्॥ ❀ अस्तेर्लोटि तसस्तामादेशे "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ❀ ॥

यह वधू और वर क्षीरसे समृद्ध रहें—अर्थात् इनके घरमें गोसम्पत्ति रहे। और इनका राज्य (ग्राम आदि) बढ़ता रहे। अपरिमित तेज वाले धनसे यह दम्पती पूर्णकाम रहें॥ २॥

षष्ठी ॥

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

त्वष्टा । जायाम् । अजनयत् । त्वष्टा । अस्यै । त्वाम् । पतिम् ।

त्वष्टा । सहस्रम् । आयूंषि । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । वाम् ३

त्वष्टा तनूकर्ता शिल्पकारी एतत्संज्ञो देवः जायाम् स्त्रियम् अजनयत् उदपादयत् । जायतेस्याम् अपत्यरूपेण पतिरिति जाया। श्रूयते हि । "तज्जाया जाया भवति यद् अस्यां जायते पुनः" इति [ऐ० ब्रा० ७. १३]। ईदृक्सामर्थ्योपेतं स्राजन्म कृतवान् इत्यर्थः । हे वर अस्यै अस्या जायायास्त्वां पतिम् भर्तारं त्वष्टैव अजनयत् । स्त्रीपुंसस्रष्टेस्त्वष्टैव कर्तेत्यर्थः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां प्रजनयिता" इति [तै० सं० २. १. ८. ४]। यस्माद् एवं तस्मात् हे जायापती वां युवयोः त्वष्टा देवः सहस्रसंवत्सरपरिमितानि आयूंषि एवमात्मकम् दीर्घम् आयुः कृणोतु करोतु । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः०" इति युष्मदो वाम् आदेशः । स च "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुवृत्तेरनुदात्तः ❀ ॥

[इति] अष्टमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

शरीरकी रचना करने वाले शिल्पकारी त्वष्टा देवताने जाया (स्त्री) को उत्पन्न किया है † । हे वर ! इस जायाके पति

---

† "जायतेऽस्यां अपत्यरूपेण पतिरिति जाया—पति जिसमें सन्तानरूपसे उत्पन्न होता है वह जाया कहलाती है" इस व्याकरणके अनुसार की हुई पतिशब्दकी व्युत्पत्तिका ऐतरेयब्राह्मण में भी समर्थन किया है, कि—"तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । जो इसमें पुनर्वार उत्पन्न होता है यही जायाका जायापन है" (ऐतरेयब्राह्मण २ । १ । ८ । ४)

(भर्ता) तुमको भी त्वष्टा देवताने ही उत्पन्न किया है अर्थात् स्त्री और पुरुषसृष्टिके त्वष्टा ही रचनेवाले हैं ‡ । इस कारण हे वधू वरो ! त्वष्टा देवता तुम्हारी सहस्र वर्ष तककी दीर्घायु करें ३

अष्टम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२५१) ॥

"अयं नो नभसस्पतिः" इति तृचेन धान्यस्फातिकामः अश्मानं संप्रोक्ष्य अभिमन्त्र्य कुसूलादिधान्यनिधानस्थानेषु निधाय तस्योपरि अन्वृचं तिस्रो धान्यमुष्टीर्निदध्यात् । सूत्रितं हि । "अयं नो नभसस्पतिरिति धन्येऽश्मानं संप्रोक्ष्य अन्वृचं काशीन् ओप्य आवापयति" इति [कौ० ३. ४] ॥

"अन्तरिक्षेण पतति" इति तृचेन काककपोतश्येनादिपक्षिहतम् अङ्गं श्वपदस्थानमृत्तिकाम् अभिमन्त्र्य प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि शुनोऽङ्गस्था मक्षिका अनेन अभिमन्त्र्य अग्नौ प्रक्षिप्य तथाविधम् अङ्गं धूपयेत् ॥

"अन्तरिक्षेण इति पक्षहतम् अङ्गं मन्त्रोक्तमृत्तिकया । कीटेन धूपयति" इति सूत्रात् [कौ० ४. ७] ॥

"अयं नो नभसस्पतिः" इस तृचसे धान्यकी वृद्धिको चाहने वाला पुरुष पत्थरका प्रोक्षण करके और अभिमन्त्रित करके कुठिया आदि धान्यके रखनेके स्थानोंमें रख कर उसके ऊपर प्रत्येक ऋचासे धान्यकी एक २ (तीन) मुट्ठियें रक्खे। इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि-'अयं नो नभसस्पतिरिरि धन्येऽश्मानं सम्प्रोक्ष्य अन्वृचं काशीन् ओप्य आवापयति" (कौशिकसूत्र ३।४)

"अन्तरिक्षेण पतति" इस तृचसे कौआ कबूतर बाज आदिसे चुटीले हुए अङ्ग पर कुत्तेके पैरके स्थानकी मृत्तिकाको अभिमंत्रित करके लेप करे ।

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ८ । ४ में कहा है, कि-त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां प्रजनयति ॥-त्वष्टा देवता अज्ञानी जीवोंके जोड़ों को उत्पन्न करते हैं" ॥

तथा वहाँ ही इसी कर्ममें कुचेके अङ्ग पर स्थित मक्खियोंको इससे अभिमन्त्रित करके उनको अग्निमें डाल उस अंगको धूप (धुआँ) देवे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अन्तरिक्षेण इति पक्षहतं अंगं मन्त्रोक्तमृत्तिकया । कीटेन धूपयति' (कौशिक-सूत्र ४ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒यं नो॒ नभ॑स॒स्पतिः॑ सं॒स्फानो॑ अ॒भि र॑क्षतु ।
अस॑माति॑ गृ॒हेषु॑ नः ॥ १ ॥

अ॒यम् । नः॒ । नभ॑सः । पतिः॑ । स॒म्ऽस्फानः॑ । अ॒भि । र॒क्ष॒तु॒ ।
अस॑मातिम् । गृ॒हेषु॑ । नः॒ ॥ १ ॥

अयं परिदृश्यमानोग्निः नभसः द्युलोकस्य पतिः हविःप्रदाना-दिना पालयिता । यद्वा नभ इति आदित्यनाम । अग्निस्तस्यापि आहुतिद्वारा पालयिता । "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते" इति स्मृतेः [म० स्मृ० ३. ७६]। ईदृशोग्निःसंस्फानः धान्यराशेर्वर्धयिता सन् नः अस्मान् अभि रक्षतु । तथा नः अस्माकं गृहेषु असमातिम् । ❀ मा माने इत्यस्माद् औणादिक-स्तिप्रत्ययः ❀ । मातिर्मानं परिच्छेदस्तेन सह वर्तत इति समातिः तद्वैपरीत्यम् असमातिः । कुसूलस्थानां धान्यानां परिच्छेदराहित्यं करोतु इत्यर्थः । अस्य तृचस्य क्रमाद् अग्निवाय्वादित्यपरत्वं तैत्ति-रीयब्राह्मणाद् अवगन्तव्यम् । तत्र हि एवम् आम्नायते । "अयं नो नभसा पुर इत्याह । अग्निर्वै नभसा पुरः । अग्निमेव तद् आह एतन्मे गोपायेति । स त्वं नो नभसस्पत इत्याह । वायुर्वै नभसस्पतिः । वायुमेव तद् आह एतन्मे गोपायेति । देव संस्फा-

नेत्याह । असौ वा आदित्यो देवः संस्फानः । आदित्यमेव तद् आह एतन्मे गोपायेति" इति [तै० सं० ३. ३. ८. ६] ॥

यह दीखते हुए अग्निदेव हवि पहुँचाने आदिके कारण द्युलोकका पालन करने वाले हैं । वा-आहुतिके द्वारा आदित्य का पालन करने वाले हैं ‡ । ऐसे अग्निदेव धान्योंकी रक्षा करते हुए हमको बढ़ावें । और हमारे घरमें कुसूल (कुठिया) आदि की गिनती न रक्खें अर्थात् हमारे घरमें अनगिनती कुठियें होवें ॥ †

---

‡ मनुस्मृति ३ । ७६ में कहा है, कि "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥-अग्निमें होमी हुई आहुति सूर्यदेवके पास भली प्रकार पहुँचती है।"

† इस ऋचके अग्नि वायु और आदित्यपरक होनेका तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वर्णन है । यथा-"अयं नो नभसा पुर इत्याह । अग्निर्वै नभसा पुरः । अग्निमेव तद् अह एतन्मे गोपायेति । स त्वं नो नभस्पत इत्याह । वायुर्वै नभस्पतिः । वायुमेव तद् आह एतन्मे गोपायेति । देव संस्फानेत्याह । असौ वा आदित्यो देवसंस्फानः । आदित्यमेव तद् आह एतन्मे गोपायेति ।-जो आकाशके द्वारा पुरस्कृत है वही यह हमारा है । अग्नि ही आकाशके द्वारा पुरस्कृत है । अत एव अग्निके विषयमें कहा, कि-यह मेरी रक्षा करें । फिर कहा, कि-आकाशके स्वामिन् ! आप ही हमारे हैं । वायु ही नभसस्पति हैं । तब उसने वायुके विषयमें ही कहा, कि-यह मेरी रक्षा करें, फिर उसने विचारा, कि-धनकी वृद्धि करने वाले देवता ही मेरी रक्षा कर सकते हैं । तब यह निश्चय हुआ, कि-आदित्यदेव ही अन्नकी वृद्धि करने वाले हैं, तब उसने आदित्यके विषयमें ही कहा, कि-यही मेरी रक्षा करें" । (तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३ । ३ । ८ । ६) ॥

द्वितीया ॥

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय ।

आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

त्वम् । नः । नभसः । पते । ऊर्जम् । गृहेषु । धारय ।

आ । पुष्टम् । एतु । आ । वसु ॥ २ ॥

हे नभसस्पते अन्तरिक्षस्य पालयितर्वायो त्वं नः अस्माकं गृहेषु ऊर्जम् बलकरं रसवद् अन्नं धारय स्थापय ॥ तथा पुष्टम् प्रजापश्वादिकम् ऐतु आगच्छतु । वसु धनं च ऐतु आगच्छतु ॥

हे अन्तरिक्षका पालन करने वाले वायुदेव ! आप हमारे घरों में बलप्रद रसमय अन्नको स्थापित करिये । प्रजा पशु आदि पुष्टिमय धन मेरे पास आवे और धन भी मेरे पास आवे ॥२॥

तृतीया ॥

देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे ।

तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

देव । सम्ऽस्फान । सहस्रऽपोषस्य । ईशिषे ।

तस्य । नः । रास्व । तस्य । नः । धेहि । तस्य । ते । भक्तिऽवांसः । स्याम ॥ ३ ॥

हे देव दानादिगुणयुक्त हे संस्फान प्रवृद्ध एवंभूत हे आदित्य सहस्रपोषस्य सहस्रसंख्याकानां प्रजानां पोषकस्य बहुलस्य धनस्य त्वम् ईशिषे ईश्वरो भवसि । ॐ ईश ऐश्वर्ये । अदादित्वात् शपो

लुक्। "ईशः से" इति इडागमः। "अधीगर्थदयेशाम्०" इति कर्मणि षष्ठी ❀। तस्य तथाविधस्य धनस्य। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀। तथाविधं धनं नः अस्मभ्यं रास्व प्रयच्छ। ❀ रा दाने ❀। यद्वा भागपदाध्याहारेण योज्यम्॥ तथा तस्य धनस्य भागं नः अस्माकं धेहि भोगार्थं धारय पोषय वा। ते त्वदीयस्य तस्य धनस्य भक्तिवांसः भागवन्तस्त्वत्प्रसादात् स्याम भवेम। ❀ भक्तिशब्दात् "छन्दसीवनिपौ" इति मत्वर्थीयो वनिप्। सकारोपजनश्छान्दसः❀॥

हे दानादिगुणसम्पन्न प्रवृद्ध आदित्य देव! आप सहस्रों प्रजाओंके पोषक धनोंके ईश्वर हैं, आप ऐसा धन हमको दीजिये। वा उस धनके भागको आप हममें भोगके लिये स्थापित करिये। हम आपके उस धनके आप प्रसादसे भागी हों॥ ३॥

चतुर्थी॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥१॥

अन्तरिक्षेण। पतति। विश्वा। भूता। अवऽचाकशत्।
शुनः। दिव्यस्य। यत्। महः। तेन। ते। हविषा। विधेम॥१॥

अन्तरिक्षेण आकाशमार्गेण काककपोतादिः पक्षी पतति पुरुषस्य अङ्गे निपतति। किं कुर्वन्। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूता भूतानि भूतजातानि अवचाकशत्। ❀ अवचाकशत् पश्यतिकर्मा ❀। जिघत्सया पुनःपुनः पश्यन्। तद्दोषशान्त्यर्थं दिव्यस्य दिवि भवस्य शुनः यत् महः तेजोस्ति तेन हविषा हे अग्ने ते त्वां विधेम परिचरेम। आन्तरिक्षपक्षुपघातजं दोषं दिव्यस्य शुनो महसा तुष्टोग्निर्निवर्तयतु इत्यर्थः॥

अन्तरिक्षके मार्गसे काक कपोत आदि पक्षी खानेकी इच्छासे सब भूतोंको बारम्बार देखता हुआ पुरुषके अंग पर गिरता है, उसके दोषकी शान्तिके लिये स्वर्गमें होने वाले श्वानका जो तेज है, उस हविसे हे अग्ने ! हम आपकी सेवा करते हैं। तात्पर्य यह है, कि–अन्तरिक्षसे गिरने वाले पक्षीके उपघातसे उत्पन्न हुए दोषको दिव्य श्वानके तेजसे तुष्ट हुए अग्निदेव हटा देवें ॥१॥

पञ्चमी ॥

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।

तान्त्सर्वानह्व ऊतयेस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

ये । त्रयः । कालकाञ्जाः । दिवि । देवाःऽइव । श्रिताः ।

तान् । सर्वान् । अह्वे । ऊतये । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ २ ॥

कालकाञ्जाख्या ये त्रयः असुराः सत्कर्मवशात् दिवि देवा इव श्रिताः आश्रिताः वर्तन्ते। तथा च तैत्तिरीयकम् । "कालकञ्जा वै नामासुरा आसन् । ते सुवर्गाय लोकायाग्निम् अचिन्वत" इति प्रक्रम्य "स इन्द्र इष्टकाम् आवृहत् । तेवाकीर्यन्त । येवाकीर्यन्त त ऊर्णनाभयोभवन् । द्वावुदपतताम् । तौ दिव्यौ श्वानावभवताम्" इति [तै० ब्रा० १. १. २. ६] तान् तथाविधान् सर्वान् कालकाञ्जान् अह्वे आह्वयामि ।❀ ह्वयतेश्छान्दसे लुङि "लिपिसिचिह्वश्च" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀। किमर्थम् आह्वानम् । ऊतये रक्षणार्थम् अस्मै अस्य पुरुषस्य । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀। अरिष्टतातये । रिष्टं हिंसा तदभावः अरिष्टम् । तस्य करणाय काककपोतादिपक्ष्युपघातजनितदोषशान्तये इत्यर्थः । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति अरिष्टशब्दात् करोत्यर्थे तातिल् प्रत्ययः । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥

कालकञ्ज नाम वाले जो तीन असुर सत्कर्मके कारण स्वर्गमें देवताओंकी समान आश्रय पाकर रहते हैं ‡ उन सब कालकञ्जों की मैं काक कपोत आदिके उपघातसे उत्पन्न होने वाले दोषकी शान्तिके लिये-इस पुरुषकी रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ॥२॥

षष्ठी ॥

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥३॥

अप्ऽसु । ते । जन्म । दिवि । ते । सधऽस्थम् । समुद्रे । अन्तः । महिमा । ते । पृथिव्याम् ।

शुनः । दिव्यस्य । यत् । महः । तेन । ते । हविषा । विधेम ।३।

हे अग्ने ते तव अप्सु उदकेषु जन्म और्ववैद्युतादिरूपेण दृश्यते । दिवि द्युलोके ते तव आदित्यात्मनः सधस्थम् सहस्थानम् । तथा समुद्रे अन्तः मध्ये पृथिव्यां च ते तव महिमा माहात्म्यं दृश्यते ।

‡ तैत्तिरीयब्राह्मणमें कालकञ्ज नामक असुरोंके विषयमें कहा है, कि-"कालकञ्जा वै नामासुरा आसन् । ते सुवर्गाय लोका-याग्निम् अचिन्वत ॥-कालकञ्ज नाम वाले असुर थे, उन्होंने स्वर्ग-लोकके लिये अग्निका चयन किया ।" इसका आरम्भ करके आगे कहा है, कि-"स इन्द्र इष्टकां आवृहत् । येऽस्याकीर्यन्त त ऊर्ध्वनाभयोऽभवन् । द्वावुदपतताम् । तौ दिव्यौ श्वानावभव-ताम् ॥-इन्द्रने उनके ऊपर ईंट फैंकी, वह ईंट जिनके लगी वे मकड़ी होगए । उस ईंटसे दो बच गए थे-उछल गए थे । वे दिव्य कुत्ते हुए" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ .२ । ६).॥

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः । तृतीयम् अप्सु नृमणा अजस्रम्" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ० १०. ४५. १] । शुनो दिव्यस्य इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इत्यष्टमेनुवाके] चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आपकी जलमें और्व वैद्युतरूपसे उत्पत्ति देखी जाती है, द्युलोकमें आपका आदित्यात्मभावसे सहस्थान है और समुद्रमें तथा पृथिवीमें आपकी महिमा दीखती है † हे अग्ने ! ऐसे आपकी हम दिव्य श्वानके तेजोरूप हविसे सेवा करते हैं २

आठवें अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२५३)

"यन्तासि" इति तृचेन गर्भाधाने कंकणादिकं संपात्य अभिमन्त्र्य स्त्रिया हस्ते बध्नीयात् । "यन्तासीति मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति सूत्रात् [कौ० ४. ११] ॥

"आगच्छतः" इति तृचेन विवाहकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा । "आगच्छत इति जायाकामः" इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

तथा विवाहे अनेन तृचेन आज्यं हुत्वा वरवध्वोर्मूर्ध्नि संपातान् आनयेत् । "आगच्छतः [६. ८२] सविता प्रसवानाम् [५. २४] इति मूर्ध्नोः संपातान् आनयति" इति [कौ० १०. ४] सूत्रम् ॥

"यन्तासि" इस तृचसे गर्भाधानमें कंकण आदिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके स्त्रीके हाथमें बाँध देय । इस विषय सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यन्तासीति मन्त्रोक्तम् बध्नाति" (कौशिकसूत्र (४ । ११) ॥

---

† ऋग्वेदसंहिता १० । ४५ । १ भी कहा है, कि—'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः । तृतीयं अप्सु नृमणा अजस्रम् ॥—अग्नि पहिले स्वर्गमें प्रादुर्भूत हुए, फिर वह जातवेदा अग्नि हममें दूसरे रूपमें प्रकट हुए । तीसरे रूपमें वह धनी सदा जलोंमें प्रकट रहते हैं" ऋग्वेदसंहिता १० । ४५ । १

विवाहकी इच्छा करने वाला पुरुष "आगच्छतः" इस तृच से इन्द्रका याग वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,कि–"आगच्छत इति जायाकामः" ॥ (कौशिकसूत्र ७.१०)॥

तथा विवाहमें इस तृचसे घृतकी आहुति देकर वर और वधू के मूर्धा पर सम्पातोंको लगावे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आगच्छतः (६ । ८२) सविता प्रसवा-नाम् (५ । २४) इति मूर्ध्नो सम्पातान् आनयति" (कौशिक-सूत्र १० । ४)॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि ।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

यन्ता । असि । यच्छसे । हस्तौ । अप । रक्षांसि । सेधसि ।
प्रऽजाम् । धनम् । च । गृह्णानः । परिऽहस्तः । अभूत् । अयम् १

हे अग्ने त्वं यन्तासि गर्भव्यापत्कराणां रक्षःप्रभृतीनां नियामको भवसि। अत एव आत्मीयौ हस्तौ यच्छसे आयतौ प्रसारयसि। ताभ्यां हस्ताभ्यां रक्षांसि गर्भधारणविघातकानि अप सेधसि अपगमयसि। प्रजाम् पुत्रादिरूपां तद्भोगार्थं धनं च कृण्वानः कुर्वाणः अयम् अग्निः परिहस्तः हस्तं परिवेष्ट्य वर्तमानः रक्षाकरः प्रतिसरः अभूत् ॥

हे अग्निदेव ! आप गर्भको नष्ट करने वाले राक्षस आदिको वशमें रख सकते हैं अत एव आप अपने हाथोंको फैलाते रहते हैं और उन हाथोंसे गर्भधारणविघातक राक्षसोंको नष्ट करते रहते हैं यह हाथोंको घुमा कर दिखाते हुए अग्निदेव पुत्र पौत्र

आदिरूप प्रजाको और उसके भोगके लिये धनको देते हुए प्राणियोंके रक्षक परिसर (कंकण) हुए हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

परिऽहस्त । वि । धारय । योनिम् । गर्भाय । धातवे ।
मर्यादे । पुत्रम् । आ । धेहि । तम् । त्वम् । आ । गमय । आऽगमे ॥

हे परिहस्त कङ्कणादिरूप प्रतिसर योनिम् गर्भाशयस्थानं वि धारय विवृतम् अवस्थापय । किमर्थम् । गर्भाय धातवे गर्भं धातुं धारयितुम् । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । धाञस्तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ❀ । मर्यादे मर्त्याः मरणधर्माणो मनुष्याः तैरादीयमाने स्वोत्पत्त्यर्थं स्वीक्रियमाणे स्थाने गर्भाशये हे जाये त्वं पुत्रम् आ धेहि अभिमुखं धारय । यद्वा हे मर्यादे मर्येण मनुष्येण स्वभोगाय स्म् आदीयमाने । जायायाः संबोधनम् । हे जाये त्वं पत्युर्मम आगमे आगमने सति तम् अभीष्टं पुत्रम् आ गमय । उत्पादयेत्यर्थः ॥

हे कंकण आदिरूप परिसर ! (हाथ पर लिपटने वाले रक्षा करने वाले पदार्थ) आप गर्भको स्थापित करनेके लिये गर्भाशय स्थानको विवृत करिये । हे जाये ! तू मरणधर्मी प्राणियोंके द्वारा अपनी उत्पत्तिके लिये स्वीकार किये जाने वाले गर्भाशयमें पुत्रको स्थापित कर । अथवा—हे मनुष्यके द्वारा अपने भोगके लिये स्वीकार की जाने वाली जाये ! तू मुझ पतिका आगमन होने पर अभीष्ट पुत्रको उत्पन्न कर ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति २

यम् । परिऽहस्तम् । अबिभः । अदितिः । पुत्रऽकाम्या ।

त्वष्टा । तम् । अस्यै । आ । बध्नात् । यथा । पुत्रम् । जनात् । इति ।२।

अदितिः देवमाता पुत्रकाम्या पुत्रं आत्मन इच्छन्ती यं परिहस्तम् हस्तं परिवेष्ट्य वर्तमानं कंकणादिरूपं प्रतिसरम् अबिभः धृतवती । ❀ पुत्रशब्दात् कर्मण इच्छार्थे "काम्यच" इति काम्यच् । ["सनाद्यन्ताः०" इति] धातुसंज्ञायां पचाद्यच् । अबिभरिति । डुभृञ् धारणपोषणयोः । अस्मात् लङि "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिलोपे "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ । तं तथाविधं प्रतिसरम् अस्यै अस्या जायायाः । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । त्वष्टा आ बध्नात् आबध्नातु । यथा येन प्रकारेण एषा पुत्रं जनात् जनयेत् इति अनेन अभिप्रायेण । त्वष्टा बध्नातु इति सम्बन्धः । ❀ जनात् इति । जनेर्ण्यन्तात् लेटि आडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ❀ ॥

देवमाता अदितिने पुत्रकी इच्छासे जिस कंकण आदिरूप रक्षाकर वलयको हाथके चारों ओर धारण किया था । उस प्रतिसर को इस स्त्रीके त्वष्टा देवता बाँधें, कि-जिससे यह पुत्रको उत्पन्न करे २

चतुर्थी ॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।

इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

आऽगच्छतः । आऽगतस्य । नाम । गृह्णामि । आऽयतः ।

इन्द्रस्य । वृत्रऽघ्नः । वन्वे । वासवस्य । शतऽक्रतोः ॥ १ ॥

आगच्छतः वर्तमानागमनस्य आगतस्य अस्मदन्तिकं प्राप्तस्य इन्द्रस्य नाम प्रीतिकरं वृत्रहादिनामधेयं गृह्णामि उच्चारयामि आयतः नियतोहं विवाहकामः। यद्वा आयत इत्यपि षष्ठी उत्तरवाक्ये संबध्यते। आयतः आगच्छतः वृत्रघ्नः वृत्रं हतवतः इन्द्रस्य वासवस्य वसुभिरुपास्यमानस्य शतक्रतो ।❁वर्णविकारश्छान्दसः❁। शतं क्रतवः कर्माणि वीर्यप्रख्यापकानि वृत्रवधादीनि यस्य स तथोक्तः। ❁ सर्वत्र कर्मणि षष्ठी ❁। एवंविधम् इन्द्रं वन्वे अहम् अभिमतफलं याचामि। ❁वनु याचने। तनादित्वादु प्रत्ययः❁॥

आते हुए और हमारे पास आये हुए इन्द्रको प्रसन्न करनेवाले वृत्रासुरसंहारक आदि नामोंका उच्चारण करता हूँ। और विवाहकी इच्छा करनेवाला मैं वृत्रासुरसंहारक वसुओंसे उपासित आते हुए शतक्रतु इन्द्रसे अभिलषित फलकी याचना करता हूँ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा ।
तेन मामब्रवीत् भगो जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

येन । सूर्याम् । सावित्रीम् । अश्विना । ऊहतुः । पथा ।
तेन । माम् । अब्रवीत् । भगः । जायाम् । आ । वहतात् । इति ।२।

येन पथा अध्वना अश्विना अश्विनौ एतत्संज्ञौ देवौ सावित्रीम् सवितुः पुत्रीं सूर्याख्यां स्त्रियम् ऊहतुः ऊढवन्तौ। विवाहकर्मणा जायात्वेन लब्धवन्तौ इत्यर्थः। तद्विवाहप्रकारश्च दाशतय्यां "सत्येनोत्तभिता" इति सूक्ते [ऋ० १०, ८५]मपञ्चितः। ऐतरेयब्राह्मणे च "प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्य

सावित्रीम् । तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन् । तस्या एतत् सहस्रं वहतुम् अन्वाकरोत् । तद् एतद् आश्विनम् इत्याचक्षते” इत्यादिना प्रतिपादितः [ऐ० ब्रा० ४. ७] ॥ ❀ ऊहतुरिति । वह प्रापणे इत्यस्मात् लिटि यजादित्वात्संप्रसारणद्विर्वचनादिकार्ये रूपम् । पथेति । पथिन्शब्दात् तृतीयैकवचने “भस्य टेर्लोपः” इति टिलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । तेन पथा जायाम् भार्याम् आ वहतात् आवह आनयेति भगो देवः मां विवाहार्थिनं प्रत्यब्रवीत् । विवाहोपायम् उपदिष्टवान् इत्यर्थः ॥

“जिस मार्गसे अश्विनीकुमारोंने सूर्या सावित्री नामक स्त्रीको विवाहकर्मसे स्त्रीरूपमें प्राप्त किया था † उस मार्गसे तू स्त्रीको ला” इस प्रकार भगदेवताने मुझ विवाहाभिलाषीको विवाह करनेके उपायका उपदेश दिया है ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

---

† अश्विनीकुमारोंके इस विवाहका वर्णन ऋग्वेदसंहिताके ‘सत्येनोत्तभिता’ सूक्त १० । ८५ में है । ऐतरेयब्राह्मण ४ । ७ में भी कहा है, कि–‘प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीं तस्यै सर्वे देवा वरा आगच्छन् तस्या एतत् सहस्रं वहतुं अकरोत् । तद् एतद् आश्विनं इत्याचक्षते ॥–प्रजापतिने सूर्या सावित्रीको राजा सोमको देनेका विचार किया, उस सूर्याके लिये सब देवता वर बन कर आये । तब प्रजापतिने उस सूर्याके लिये यह ऋचाएँ वहतु (वरके सत्कारकी वस्तुएँ) कीं । इस लिये ये सहस्र ऋचाएँ आश्विन कहलाती हैं।” (ऐतरेय ब्राह्मण ४।७)॥

यः । ते । अङ्कुशः । वसुऽदानः । बृहन् । इन्द्र । हिरण्ययः ।

तेन । जनिऽयते । जायाम् । मह्यम् । धेहि । शचीऽपते ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ते तव योऽङ्कुशः अङ्कुशवद् आकर्षको हस्तः वसुधानः वसूनि धनानि धीयन्ते धार्यन्ते अस्मिन्निति वसुधानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । अत एव बृहन् महान् हिरण्ययः हिरण्मयः अत्र हिरण्यप्रचुरः । ❀ "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि" इति हिरण्यशब्दान्मयटि निपात्यते ❀ । एवंविधो यो हस्तः अङ्कुश एव वा तेन साधनेन हे शचीपते शचीदेव्या पते इन्द्र जनीयते । जायन्तेऽस्याम् अपत्यानीति जनिर्जाया । ताम् आत्मन इच्छतेः । यद्वा पुत्रेणोत्पत्तिर्जनिः तत्कामाय मह्यं जायाम् भार्यां धेहि देहि प्रयच्छ ॥

पञ्चमं सूक्तम्

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये षष्ठकांडे अष्टमोऽनुवाकः

हे इन्द्र ! आपका जो अंकुशकी समान आकर्षक धनधारी बहुतसे सुवर्ण वाला हाथ है, उससे हे शचीपते ! आप मुझ पुत्रोत्पत्ति चाहने वालेको जाया-स्त्री-दीजिये ॥ ३ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (२५१) ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डमें आठवाँ अनुवाक समाप्त ॥

नवमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । "अपचितः" इति प्रथमं सूक्तम् । तत्र "अपचितः" इति तृचेन गण्डमालाभैषज्यकर्मणि शङ्खं घृष्ट्वा अभिमन्त्र्य शुनकलालां वा अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन जलूकां गृहगोधिकां वा अभिमन्त्र्य रुधिरमोक्षार्थं गण्डमालास्थाने संश्लेषयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि सैन्धवलवणं चूर्णयित्वा अभिमन्त्र्य गण्डमालायां विकीर्य तूष्णीं निष्ठीवेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपचितः [६. ८३] आ सुस्रसः [७. ८०] इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्य अभिनिष्ठीवति" इति [कौ० ४. ७] ॥

तत्रैव कर्मणि "ग्लौरितः प्र पतिष्यति" इत्यर्धर्चं जपन् गोमूत्रेण गण्डं मर्दयेत् प्रक्षालयेद् वा ॥

तथा अनेनैव दन्तमलम् अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

"ग्लौरित्यर्धर्चेन" इति [कौ० ४. ७] सूत्रात् ॥

"वीहि स्वाम्" इति चतुर्ऋचेन चतुष्पाद्गण्डभैषज्यार्थं शान्त्युदकम् अभिमन्त्र्य व्रणं प्रोक्षेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन आज्यं हुत्वा मनसा संकल्प्य व्रणे संपातान् आनयेत् ॥

सूत्रितं हि । "वीहि स्वाम् इत्यक्षातारुः शान्त्युदकेन संप्रोक्ष्य मनसा संपातवता" इति [कौ० ४. ७] ॥

नवम अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "अपचितः" यह प्रथम सूक्त है । इसमें "अपचितः" इस तृचसे गण्डमालाकी चिकित्सा के कर्ममें शंखको घिस कर और अभिमन्त्रित करके वा कुत्तेकी लारको अभिमंत्रित करके उसका गण्डमाला पर लेप करे ।

तथा इसी कर्ममें इस तृचसे जौंक वा छपकलीको अभिमंत्रित करके रुधिरमोक्षके लिये गण्डमालाके स्थानमें लगावे ।

तथा इसी कर्ममें सेंधे नमकका चूरा कर अभिमंत्रित करके गण्डमालामें बुरक कर चुपचाप थूके ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अपचितः (६ । ८३) आ सुस्रसः (७ । ८०) इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्य अभिनिष्ठीवति" (कौशिकसूत्र ४ । ७)

तथा इसी कर्ममें "ग्लौरितः प्रपतिष्यति" इस आधी ऋचाको जपता हुआ गोमूत्रसे गण्ड पर मालिश करे या धोवे ।

तथा इसी तृचसे दन्तमलको अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर लगावे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"ग्लौरित्य-र्धर्चेन (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

"वीहि स्वाम्" इस चार ऋचा वाले सूक्तसे चतुष्पाद् गण्डकी चिकित्साके लिये शान्त्युदकका अभिमन्त्रण करके गण्डको धोवे।

तथा इसी कर्म में इस चार ऋचा वाले सूक्तसे घृतकी आहुति दे मनसे संकल्प करके व्रणमें सम्पातोंको लावे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वीहि स्वां इत्यक्षा-ताङ्ग शान्त्युदकेन संप्रोक्ष्य मनसा सम्पातवता" (कौशिकसूत्र४।७)

तत्र प्रथमा॥

अपंचितः प्र पंतत सुपर्णो वंसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १ ॥

अपऽचितः। प्र। पतत। सुऽपर्णः। वसतेःऽइव।
सूर्यः। कृणोतु। भेषजम्। चन्द्रमाः। वः। अप। उच्छतु १

हे अपचितः दोषवशाद् अपाक् चीयमानाः गलाद् आरभ्य अधस्तात् प्रसृता गण्डमालाः प्र पतत अस्मात् शरीरात् प्रकर्षेण निर्गच्छत। तत्र दृष्टान्तः सुपर्ण इति। सुपर्णः शोभनपतनः श्येनः वसतेरिव आवासस्थानाद् नीडाद् यथा शीघ्रं प्रपतति तथा पुरुषस्य गण्डस्याधस्तात्प्रदेशम् आशु विसृज्य धावतेत्यर्थः। ❀ अपचित् इति। अपपूर्वाच्चिनोतेः कर्मणि क्विप् ❀। हे अपचितः वः युष्माकं भेषजम् चिकित्सनं सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः कृणोतु करोतु। [चन्द्रमाः] अमृतमयश्चन्द्रो वः युष्मान् अपोच्छतु अपवासयतु। अपवर्जयत्वित्यर्थः। ❀ उछी विवासे ❀॥

हे दोषवश गलेसे लेकर नीचेको फैलने वाली गण्डमालाओं! इस शरीरसे तुम पूर्णरीतिसे निकल जाओ। जिस प्रकार शोभन-उड़ानवाला बाज अपने घोंसलेसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है, इसी प्रकार तुम गण्डके नीचेके प्रदेशको छोड़कर शीघ्रतासे भाग जाओ। हे गण्डमालाओं! सबके प्रेरक आदित्य तुम्हारी चिकित्सा करें, अमृतमय चन्द्रमा तुमको दूर करें॥ १॥

द्वितीया॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन॥ २॥

एनी। एका। श्येनी। एका। कृष्णा। एका। रोहिणी इति।
द्वे इति।
सर्वासाम्। अग्रभम्। नाम। अवीरऽघ्नीः। अप। इतन॥२॥

अनया अपचितप्रभेदानां नामग्रहणेन तासाम् अपगमनं प्रार्थ्यते। एका गण्डमाला एनी एतवर्णा। ईषद्रक्तमिश्रश्वेतः एतवर्णः। एका अपरा श्येनी श्येतवर्णा। अत्यन्तशुभ्रेत्यर्थः। ❀ एतश्येतशब्दाभ्यां “वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः” इति ङीप् तकारस्य च नकारः ❀। एका अन्या गण्डमाला कृष्णा कृष्णवर्णा। अन्ये द्वे गण्डमाले रोहिणी रोहिण्यौ लोहितवर्णे। ❀ रोहितशब्दात् पूर्ववद् ङीप्नकारौ ❀। वातपित्तश्लेष्मवशाद् वर्णनानात्वाद् एतासां नानात्वम्। सर्वासाम् अपचिताम्। उदीरितवर्णव्यतिरेकाभावात्। नाम प्रीतिकरं नामधेयम् अहम् अग्रभम् अग्रहीषम् उच्चारयामि। ❀ छान्दसश्च्लेलुक्। “हृग्रहोर्भः” इति भत्वम् ❀। हे अपचितः यूयम् अस्माकामग्रहणात् प्रीताः सत्यः अवीरघ्नीः वीरम् इमं पुरुषं गण्डमालाग्रस्तम् अहन्त्यः अपे-

तन अपगच्छत । ❀ एतेलोंटि "तसनप्तनथनाश्च" इति तस्य तना-देशः । अवीरघ्नीरिति । वीरशब्दोपपदात् हन्तेः "बहुलं छन्दसि" इति क्विप् । "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् । "अल्लोपोनः" इति अका-रलोपः । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ❀ ॥

एक गण्डमाला कुछ रक्तवर्ण मिले श्वेत वर्ण वाली होती है, दूसरी एक परम शुभ्र वर्ण वाली होती है, दूसरी एक काले वर्ण वाली होती है और दो लाल वर्ण वाली होती हैं । वात पित्त श्लेष्म भेदसे अनेक वर्ण वाली इन सब अपचितों (गण्डमालाओं) के प्रीतिकर नामोंका मैं उच्चारण कर रहा हूं हे अपचितो ! तुम नाम ग्रहण करनेसे प्रसन्न हो इस वीर पुरुषका संहार न करती हुई भाग जाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒सू॒तिका रा॑माय॒ण्य॑प॒चित् प्र प॑तिष्यति ।
ग्लौरि॒तः प्र प॑तिष्यति॒ स ग॑लु॒न्तो न॑शिष्यति ॥३॥

अ॒सू॒तिका । रा॒मा॒य॒णी । अ॒प॒ऽचित् । प्र । प॒ति॒ष्य॒ति ।
ग्लौः । इ॒तः । प्र । प॒ति॒ष्य॒ति॒ । सः । ग॒लु॒न्तः । न॒शि॒ष्य॒ति॒ ॥३॥

असूतिका पूयस्रावम् अजनयन्ती । चिरपरिपाकेत्यर्थः । रामा-यणी रमते आसु प्राणवायुरिति रामा नाड्यः ता अयनं प्रधावन-मार्गो यस्याः सा रामायणी नाडी । व्रणात्मिकेत्यर्थः । एवंभूता अपचित् प्र पतिष्यति अस्मात् शरीरात् प्रगता अन्यत्र गमिष्यति । मन्त्रसामर्थ्याद् इत्यर्थः ॥ ग्लौः व्रणजनितो हर्षक्षयः इतः अस्माद् अङ्गात् प्र पतिष्यति व्याध्यपगमे तज्जनितदुःखानुभवोपि प्रकर्षेण निर्गमिष्यतीत्यर्थः । यद्वा ग्लौश्चन्द्रमाः इतः अस्माद् गोमूत्रजला-वसेकाद् अपचितं प्र पतिष्यति । ❀ पतिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ❀ ।

प्रगमयिष्यति । चन्द्रमा वोपोच्छतु इत्युक्त एवार्थोऽनूद्यते । स चन्द्रमाः गलुन्तः गण्डमालोद्भवविकारेण तत्रतत्र हस्तपादादिसंधिषु उद्भूतान् गहून् तस्यति उपक्षपयतीति गलुन्तः । ❀ तसु उपक्षये । अस्माद् औणादिकः क्विप् । नकारोपजनश्छान्दसः❀। न शिष्यति नावशेषयति । सर्वं व्रणविकारं निवर्तयतीत्यर्थः ॥

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा

यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

वीहि । स्वाम् । आऽहुतिम् । जुषाणः । मनसा । स्वाहा । मनसा ।

यत् । इदम् । जुहोमि ॥ ४ ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय

कम् ।

भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं

परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥

यस्याः । ते । आसनि । घोरे । जुहोमि । एषाम् । बद्धानाम् ।

अवऽसर्जनाय । कम् ।

भूमिः । इति । त्वा । अभिऽप्रमन्वते । जनाः । निःऽऋतिः ।

इति । त्वा । अहम् । परि । वेद । सर्वतः ॥ १ ॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।

मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

भूते । हविष्मती । भव । एषः । ते । भागः । यः । अस्मासु ।

मुञ्च । इमान् । अमून् । एनसः । स्वाहा ॥ २ ॥

चतुर्थी । हे व्रण रोगाभिमानिन् देव त्वं स्वाम् स्वकीयाम् आहुतिं मनसा जुषाणः सेवमानो वीहि भक्षय । स्वाहा स्वाहुतम् इदं हविरस्तु । अहमपि मनसैव यद् इदं हविर्जुहोमि हे रोगाभिमानिनि पापदेवते यस्यास्ते तव घोरे क्रूरे आसनि आस्ये जुहोमि हविः प्रक्षिपामि सा त्वं मनसा हूयमानं तद्धविः सेवस्वेत्यर्थः । किमर्थम् । एषां व्रणरोगजनितानां बन्धानाम् अवसर्जनाय विमोचनार्थम् । कम् इति पदपूरणः । यद्वा कम् इति उदकनाम । व्रणप्रक्षालनार्थम् इदम् औषधोदकम् तद्रोगशान्तये अवकल्पत इत्यर्थः

पञ्चमी । हे व्रणाभिमानिदेवते त्वा त्वां जनाः जन्ममात्रसारा विशेषज्ञानरहिताः प्राणिनः भूमिः पृथिवीति अभिप्रमन्वते अभितः प्रणुध्यन्ते । ❀ मनु अवबोधने ❀ । अहं तु त्वत्स्वरूपं जानान् त्वा त्वां निर्ऋतिरिति । सर्वरोगनिदानभूता पापदेवता निर्ऋतिः । सैवेति सर्वतः सर्वस्माद्धेतोः परि वेद परितो जानामि । हे भूते सर्वत्र विद्यमाने निर्ऋतिरूपे हविष्मती भव अस्माभिर्दत्तेन हविषा आज्यादिना युक्ता भव । एष ते तव भागः । यः अस्मासु इदानीं परिकल्पितः । अनेन हविर्भागेन तुष्टा इमान् समीपस्थान् गवादीन् अमून् दूरस्थान् अस्मद्दृष्टिगोचरान् एनसः रोगनिदानभूतात् पापाद् मुञ्च विसृज स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

अस्रुतिका अर्थात् पीव न बहाने वाली अर्थात् चिरकालमें पकने वाली, रामायणी अर्थात् प्राणवायुके रमण करनेकी नाड़ियों में दौड़नेके प्रधान मार्ग वाली व्रणाल्मिका अपचित् मन्त्रकी सामर्थ्यवश इस शरीरसे अन्यत्र होजावेगी, व्रणसे होने वाला हर्षका क्षय दूर होजावेगा अर्थात् व्याधिके दूर होनेसे उससे होने

वाला दुःखका अनुभव भी जाता रहेगा। वा चन्द्रमा इस गोमूत्र-जलके अवसेकसे अपचित्-गण्डमालाको दूर कर देंगे। और यह चन्द्रमा गण्डमालाके निकलनेके विकारसे हाथ पैर आदिमें निकले हुए गडुओंको नष्ट करेंगे, सम्पूर्ण व्रणविकारोंको दूर कर देंगे

हे व्रणरोगाभिमानिन् देव! आप अपनी आहुतिको मनसे सेवन करते हुए भक्षण करिये यह हवि स्वाहुत हो और मैं भी मनसे ही जो हविको होम रहा हूँ, सो हे रोगाभिमानिनी देवते! तेरे क्रूरमुखमें व्रणरोगसे होने वाले बंधोंको छुड़ानेके लिये-होमता हूँ, उस हविको आप मनसे सेवन करिये, व्रणप्रक्षालनके लिये यह औषधरूप जल रोगकी शांतिके करनेमें समर्थ होता है॥१॥

हे व्रणाभिमानी देवते! साधारण ज्ञान वाले पुरुष आपको भूमि-फैलने वाली-मानते हैं और मैं तो आपके स्वरूप जानने वाला होनेसे निर्ऋति अर्थात् सब रोगोंकी कारण पाप-देवता ही समझता हूँ, हे सर्वत्र विद्यमान निर्ऋतिरूपे! तू हमारी दी हुई हविसे हवि वाली हो, यह तेरा भाग है इस हविर्भागसे तू सन्तुष्ट होकर इन समीपमें स्थित गौ आदिको रोगके निदान-भूत पापोंसे छुड़ा, यह आहुति स्वाहुत हो॥ २॥

षष्ठी॥

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३॥

एवो इति। सु। अस्मत्। निःऽऋते। अनेहा। त्वम्। अयस्मयान्। वि। चृत। बन्धऽपाशान्।

यमः । मह्यम् । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय ।

नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

हे निर्ऋते निःशेषेण आर्तिकरि पापदेवते अनेहा अनाहन्त्री । ❀ नञ्याहन एह च [उ० ४. २२३] इति आङ्पूर्वाद्धन्तेरसुन् तत्संनियोगेन एहादेशश्च । "ऋदुशनस्पुरुदंसोनेहसां च" इति सौ अनङ् आदेशः ❀ । अस्मान् अबाधमाना त्वम् एवो-एव उ एव-मेव पूर्वोक्तप्रकारेणैव सुष्ठु अस्मत् अस्मत्तः अयस्मयान् अयोवि-कारान् अत्यन्तदृढान् बन्धपाशान् बन्धनरज्जुविशेषान् रोगात्म-कान् वि चृत विसृज्य छिन्द्धीत्यर्थः । ❀चृती हिंसाग्रन्थनयोः ❀ ॥ हे रुग्ण यमः वैवस्वतः प्राणापहारी देवः त्वां मह्यं पुनर्ददाति । तस्मै मृत्यवे प्राणापहारिणे यमाय नमो अस्तु नमस्कारोस्तु ॥

हे परम पीड़ा देने वाली पापदेवते ! तू हमको पीड़ा न दे और रोगात्मक बेड़ीरूप पाशोंको काट डाल । हे रोगिन् ! प्राणका अपहरण करने वाले विवस्वान्‌के पुत्र यमदेवता तुझको फिर मेरे अर्पण कररहे हैं, उन प्राणापहारी यमदेवके लिये नमस्कार हो ३

सप्तमी ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥

अयस्मये । द्रुऽपदे । बेधिषे । इह । अभिऽहितः । मृत्युऽभिः । ये । सहस्रम् ।

यमेन । त्वम् । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । उत्ऽतमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

"अयस्मये द्रुपदे" इत्येषा सप्तमेऽनुवाके व्याख्याता। [६. ६३. ३]॥

[इति] नवमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे निर्ऋते ! जिस समय तू पुरुषको लोहेकी बेड़ी या वृक्षसे बनी हुई पैरोंको जकड़नेकी बेड़ीमें बाँधती है उस समय इस लोकमें वह पुरुष मृत्युके ज्वर राक्षस आदि सहस्रों पाशोंसे बँधा हुआ होता है, हे निर्ऋते ! तू अपने अधिष्ठात्री पापदेवता यमसे और पितरोंसे भी एकमत होकर इस पुरुषको दुःखके स्पर्शसे शून्य अवस्था—अत एव स्वर्गमें पहुँचा ॥ ४ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त (२५७) ॥

"वरणो वारयातै" इति तृचेन राजयक्ष्मादिरोगभैषज्यकर्मणि वरणवृक्षमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य पुनस्तृचं जपित्वा बध्नीयात्। "शं नो देवी [२. २५] वरणः [६. ८५] पिप्पली" [६. १०६] इति प्रक्रम्य "तृतीयेन मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति [कौ० ४. २] सूत्रात् ॥

"वृषेन्द्रस्य" इति तृचेन श्रैष्ठ्यकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। "वृषेन्द्रस्येति वृषकामः" इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

'वरणो वारयातै' इस तृचसे राजयक्ष्मा आदि रोगोंकी चिकित्सा करनेके लिये वरणवृक्षकी मणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर फिर इस तृचका जप करके बाँध देवे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'शं नो देवी (२ । २५) वरणः (६ । ८५) पिप्पली' (६ । १०६) इति प्रक्रम्य "तृतीयेन मन्त्रोक्तं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ४ । २) ॥

"वृषेन्द्रस्य" इस तृचसे श्रेष्ठताको चाहने वाला इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"वृषेन्द्रस्येति वृषकामः" (कौशिकसूत्र ७ । १०) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥१॥

वरणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः ।
यक्ष्मः । यः । अस्मिन् । आऽविष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः ।
अवीवरन् ॥ १ ॥

अयं पुरोवर्ती देवः दानादिगुणयुक्तः [वरणः] वरणाख्यो वनस्पतिः वनानाम् अधिपतिर्वृक्षः । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । वरणवृक्षनिर्मितो मणिः वारयातै राजयक्ष्मादिरोगं वारयतु निवर्तयतु । ❀ वारयतेर्लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ ॥ अस्मिन् पुरुषे यो यक्ष्मः रोग आविष्टः तमु । उशब्दः अप्यर्थे । तं सर्वमपि रोगं देवा इन्द्रादयः सर्वे अवीवरन् वारयन्तु । ❀ वारयतेश्छान्दसे लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

यह सामने वर्तमान दानादिगुणसम्पन्न वरणवृक्षकी मणि राजयक्ष्मा आदि रोगको दूर करे । इस पुरुषमें जो यक्ष्मारोग प्रविष्ट होगया है उस रोगको इन्द्र आदि देवता दूर करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च ।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥

इन्द्रस्य । वचसा । वयम् । मित्रस्य । वरुणस्य च ।
देवानाम् । सर्वेषाम् । वाचा । यक्ष्मम् । ते । वारयामहे ॥ २ ॥

मणिबन्धनकर्तारो वयम् हे व्याधित ते तव यक्ष्मम् रोगम् इन्द्रस्य देवानाम् अधिपतेः वचसा आज्ञारूपेण वाक्येन वारयामहे निवारयामः । न केवलम् इन्द्रस्य वचसा । मित्रस्य वरुणस्य च अन्येषामपि सर्वेषां देवानां वाचा वाक्येन त्वदीयं रोगं निवारयामः॥

हे रोगिन् ! मणिको बाँधने वाले हम तेरे यक्ष्मारोगको देवाधिदेव इन्द्रदेवके आज्ञारूप वचनसे हटाते हैं, इन्द्रदेवके ही नहीं किंतु मित्र वरुण तथा अन्य सब देवताओंके वाक्यसे हटाते हैं २

तृतीया ॥

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः ।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

यथा । वृत्रः । इमाः । आपः । तस्तम्भ । विश्वधा । यतीः ।
एव । ते । अग्निना । यक्ष्मम् । वैश्वानरेण । वारये ॥ ३ ॥

यथा येन प्रकारेण वृत्रः आवरणशीलस्त्वष्टृपुत्रोसुरः इमाः परिदृश्यमाना विश्वधायनीः कृत्स्नस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः पोषयित्रीः आपः मेघस्था व्यापनशीला अपः तस्तम्भ निरुद्धगतीश्चकार । ❀ स्तुभि स्कभि गतिप्रतिबन्धे ❀ हे व्याधित ते तव यक्ष्मम् रोगम् एव एवं वैश्वानरेण विश्वनरहितेन सर्वप्राणिहितकारिणा अग्निना वारये निवारयामि ॥

जिस प्रकार आवरणशील त्वष्टापुत्र वृत्रासुरने इन सम्पूर्ण जगत्का पोषण करने वाले मेघस्थित जलोंकी गतिको रोक दिया था, हे रोगिन् ! इसी प्रकार तेरे यक्ष्मारोगको मैं अग्निके द्वारा हटाता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वृषेन्द्र॑स्य वृषा॑ दि॒वो वृषा॑ पृथि॒व्या अ॒यम् ।
वृषा॒ विश्व॑स्य भू॒तस्य॒ त्वमे॑कवृ॒षो भ॑व ॥ १ ॥

वृषा॑ । इन्द्र॑स्य । वृषा॑ । दि॒वः । वृषा॑ । पृ॒थि॒व्याः । अ॒यम् ।
वृषा॑ । विश्व॑स्य । भू॒तस्य॑ । त्वम् । ए॒क॒ऽवृ॒षः । भ॒व ॥ १ ॥

अयं श्रैष्ठ्यकामः पुरुषः इन्द्रस्य प्रसादात् वृषा सेचनसमर्थः श्रेष्ठो भवतु । यद्वा हविःप्रदानादिना उपजीव्यः सन् इन्द्रस्यापि श्रेष्ठो भवत्वित्यर्थः । दिवः द्युलोकस्य वृषा कामानां वर्षिता श्रेष्ठो भवतु । ❀ दिव इति । "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । पृथिव्या इति । प्रथनात् पृथिवी । "यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. १. ३. ७]। प्रथ प्रख्याने । प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च [उ० १. १४८] । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । किं बहुना द्यावापृथिव्युपलक्षितस्य विश्वस्य भूतस्य सर्वस्यापि प्राणिजातस्य वृषा सेचनसमर्थः उत्कृष्टो भवतु ॥ परः प्रत्यक्षकृतः । हे श्रैष्ठ्यकाम पुरुष उदीरितरीत्या त्वम् एकवृषो भव । यथा गोयूथमध्ये प्रधानभूतो वृषभः सर्वश्रेष्ठो वर्तते एवं सर्वोत्कृष्टो भवेत्यर्थः ॥

यह श्रेष्ठताको चाहने वाला पुरुष इन्द्रके प्रसादसे तृप्त करनेमें –सेचन करनेमें–समर्थ होवे, यह द्युलोकको भी तृप्त करने वाला हो, यह आहुतिके द्वारा पृथिवी पर भी वर्षा कराने वाला अत एव श्रेष्ठ हो और क्या यह द्यावापृथिवीके सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करनेमें समर्थ श्रेष्ठ होवे । हे श्रेष्ठताको चाहने वाले पुरुष ! इस प्रकार तू एकवृष हो अर्थात् जैसे गौओंके झुण्डमें प्रधान

वृषभ सर्वश्रेष्ठ रहता है तिस प्रकार तू सबोंमें सर्वश्रेष्ठ रह ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्रणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

समुद्रः । ईशे । स्रवताम् । अग्निः । पृथिव्याः । वशी ।
चन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् । ईशे । त्वम् । एकऽवृषः । भव ॥ २ ॥

स्रवताम् प्रवहताम् उदकानां समुद्रः अब्धि ईशे ईष्टे । ❁ ईश ऐश्वर्ये । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❁ । पृथिव्याः भूम्या अग्निर्वशी वशयिता स्वामी । नक्षत्राणाम् अश्विन्यादीनां चन्द्रमा ईशे ईष्टे । यथा एतेषां समुद्रादीनां स्वस्वविषयाधिपत्यम् अव्याहतम् एवम् हे श्रैष्ठ्यकाम त्वम् एकवृषो भवेति सबन्धः ॥

बहने वाले जलोंमें समुद्र ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, अग्नि पृथिवीके स्वामी हैं, अश्विनी आदि नक्षत्रोंके चन्द्रमा स्वामी हैं, जैसे इन समुद्र आदिकी अपने २ विषयमें प्रधानता है, इसी प्रकार हे श्रेष्ठता को चाहनेवाले पुरुष ! तू एकवृष हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

सम्ऽराट् । असि । असुराणाम् । ककुत् । मनुष्याणाम् ।
देवानाम् । अर्धऽभाक् । असि । त्वम् । एकऽवृषः । भव ॥ ३ ॥

हे इन्द्र त्वम् असुराणाम् सुरविरोधिनां दानवानां सम्राट् सम्यग् राजमानः ईश्वरोसि भवसि । तद्वद् अयं श्रैष्ठ्यकामो मनुष्याणाम्

मनोरपत्यानां सर्वप्राणिनां ककुत् वृषभस्य ककुदिव उन्नतो भवतु ॥ तथा हे इन्द्र त्वं देवानाम् अर्धभाग् असि । अर्धशब्दः समप्रविभागवचनः । अन्ये सर्वे देवा एको भागः इन्द्र एको भागः । सर्वदेवप्रतिनिधिर्भवसीत्यर्थः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "यत् सर्वेषाम् अर्धम् इन्द्रः प्रति तस्माद् इन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः" इति [तै० सं० ५. ४. ८. ३] । ईदृशस्य इन्द्रस्य प्रसादात् हे श्रैष्ठ्यकाम त्वम् इन्द्रवद् एकवृषो भव ॥

[इति नवमेऽनुवाके] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप देवताओंसे विरोध रखने वाले दानवोंके दमकते हुए ईश्वर होते हैं, इसी प्रकार यह श्रेष्ठताको चाहने वाला पुरुष मनुकी सन्तान सब प्राणियोंमें ककुद्की समान उन्नत हो जावे । हे इन्द्र ! आप देवताओंके अर्धभाग् हैं अर्थात् और सब देवता एक ओर और दूसरी ओर केवल इन्द्र होते हैं तात्पर्य यह है, कि—हे इन्द्र ! आप सब देवताओंके प्रतिनिधि होजाते हैं । ऐसे इन्द्रके प्रभावसे हे श्रेष्ठताको चाहने वाला पुरुष ! तू एकवृष (श्रेष्ठ) होजा ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (८५१) ॥

"आ त्वाहार्षम्" [६. ८७] "ध्रुवा द्यौः" [६. ८८] इति तृचाभ्यां स्थैर्यकामो राजा इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा । "आ त्वाहार्षं ध्रुवा द्यौरिति ध्रौव्यकामः" [कौ० ७. १०] इति सूत्रात् ॥

तथा भूमिकम्पलक्षणोत्पातप्रायश्चित्तार्थम् आभ्याम् तृचाभ्याम् आज्यं जुहुयात् । "अथ यत्रैतद् भूमिचलो भवति" इति प्रक्रम्य "आ त्वाहार्षम् [६. ८७] ध्रुवा द्यौः [६. ८८] सत्यं बृहत् [१२. १] इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात्" इति [कौ० १३. ६]॥

तथा उदकुम्भभङ्गलक्षणाद्भुतप्रायश्चित्तार्थम् आभ्यां तृचाभ्याम् अन्यं नवकलशं दृढीकरणार्थम् अभिमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "अथ

यत्रैतत् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वोखा वानिङ्गिता विकसति' इति प्रक्रम्य "अथ चेद् उदधानः स्यात् समुद्रं वः प्र हिणोमि [१०. ५. २३] इत्येताभ्याम् ऋग्भ्याम् अभिमन्त्र्य अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां [६. ८७, ८८] दृंहयित्वा" इति [कौ० १३. ४४]॥

तथा इन्द्रमहाख्ये उत्सवकर्मणि आभ्यां तृचाभ्याम् इन्द्रम् उत्थापयेत् । "अथ राज्ञाम् इन्द्रमहस्योपचारकल्पम्" इति प्रक्रम्य "अथेन्द्रम् उत्थापयति आ त्वाहार्षं ध्रुवा द्यौर्विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" इति [कौ० १४. ४]॥

तथा अग्निचयने "आ त्वाहार्षम्" इत्यनेन उन्नीतम् उख्याग्निं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । अग्निचयनं प्रक्रम्य सूत्रितम् । "संशितं मे [३. १९] इत्युख्यम् उन्नीयमानम् आ त्वाहार्षम् [६. ८७] इत्युन्नीतम्" इति [वै० ५. १]॥

स्थिरताको चाहने वाला राजा "आ त्वाहार्षम् (६ । ८७) ध्रुवा द्यौः (६ । ८८) इन दोनों तृचोंसे इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आ त्वाहार्षं ध्रुवा द्यौरिति ध्रौव्यकामः" (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

तथा भूमिकम्परूप उत्पातके प्रायश्चित्तके लिये इन दोनों तृचों से घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अथ यत्रैतद् भूमिचलो भवति" इति प्रक्रम्य "आ त्वाहार्षम् (६ । ८७) ध्रुवा द्यौः (६ । ८८) सत्यं बृहत् (१२ । १) इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात्" (कौशिकसूत्र १३ । ६)॥

तथा जलपूर्ण कलशके टूटनेरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये इन दोनों तृचोंसे दूसरे नवीन कलशको दृढ करनेके लिये अभिमन्त्रित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अथ यत्रैतद् कुंभ उदधानः सक्तुधानी वोखा वानिंगिता विकसति" इति प्रक्रम्य "अथ चेद् उदधानः स्यात् समुद्रं वः प्रहिणोमि (१० । ५ । २३) इत्येताभ्यां ऋग्भ्यां अभिमन्त्र्य अन्यं कृत्वा

ध्रुवाभ्यां (६ । ८७,८८) दृंहयित्वा" (कौशिकसूत्र १३ । ४४)॥

तथा इन्द्रमह नाम वाले उत्सव कर्ममें इन दोनों तृचाओंसे इन्द्रको उठावे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–

"अथ राज्ञां इन्द्रमहस्योपचारकल्पम्" इति प्रक्रम्य "अथेन्द्रं उत्थापयति आ त्वाहार्षं ध्रुवा द्यौर्विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" (कौशिकसूत्र १४ । ४) ॥

तथा ब्रह्मा अग्निचयनमें 'आ त्वाहार्षम्' इससे उन्नीत उख्यात्रिका अनुमन्त्रण करे। सूत्रमें अग्निचयनका आरंभ करके कहा है,–"संशितं मे (३ । १९) इत्युखं उन्नीयमानम् आ त्वाहार्षम् (६ । ८७) इत्युन्नीतम्" (वैतानसूत्र ५ । १)

तत्र प्रथमा ॥

आ त्वा॑हार्षम॒न्तर॑भूर्ध्रु॒वस्ति॒ष्ठावि॑चाचलत् ।
वि॒शस्त्वा॒ सर्वा॑ वाञ्छन्तु॒ मा त्वद्रा॒ष्ट्रमधि॑ भ्रशत् ॥१॥

आ । त्वा॒ । अ॒हा॒र्ष॒म् । अ॒न्तः । अ॒भूः । ध्रु॒वः । ति॒ष्ठ॒ । अवि॑ऽचाचलत् ।
वि॒शः । त्वा॒ । सर्वाः॑ । वा॒ञ्छ॒न्तु॒ । मा । त्वत् । रा॒ष्ट्रम् । अधि॑ । भ्र॒शत् ॥

हे राजन् त्वा त्वाम् आहार्षम् राष्ट्रम् आनयिषम् (आनैषम्) अन्तः अस्माकं मध्ये अभूः अधिपतिरभवः। ❀ भवतेर्लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक्। "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधः ❀। अविचाचलत् भृशं चलनरहितः सन् अस्मिन् राज्याधिपत्ये ध्रुवस्तिष्ठ स्थिर उपविश। ❀ [अवि] चाचलत् इति। चल गतौ। अस्माद् यङ्लुगन्तात् शतरि रूपम्। "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्प्रतिषेधः ❀। भूमण्डलमध्यवर्तिन्यः सर्वा विशः प्रजाः त्वा त्वां वाञ्छन्तु अस्माकम् अयमेव स्वामी इत्यनुरागयुक्ता भवन्तु। ❀ वाछि इच्छायाम् ❀। इदं राष्ट्रम् राज्यं त्वत्

सकाशाद् मा अधि भ्रशत् अधिकं कदाचिदपि भ्रष्टं मा भूत्। सर्वदा त्वच्छासने वर्तताम् इत्यर्थः। ❀ भ्रशु भ्रन्शु अधःपतने। अस्मान्माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀॥

हे राजन्! मैं आपको राष्ट्रमें ले आया हूँ, आप हमारे मध्य में अधिपति हूजिये और चलनरहित स्थितिमें स्थिर होकर बैठिये। भूमण्डलकी सब प्रजायें आपकी कामना करें अर्थात् यह हमारे स्वामी हैं–इस बातके अनुरागमें भरी रहें यह राज्य आपके पास से कभी भ्रष्ट न हो अर्थात् सदा आपके शासनमें रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इ॒हैवैधि॒ माप॑ च्योष्ठाः॒ पर्व॑त इ॒वावि॑चाचलत्।
इन्द्र॑ इ॒वेह ध्रु॒वस्ति॑ष्ठे॒हरा॒ष्ट्रमु धा॑रय ॥ २ ॥

इ॒ह। ए॒व। ए॒धि। मा। अप॑। च्यो॒ष्ठाः॒। पर्व॑तःऽइव। अवि॑ऽचाचलत्।
इन्द्र॑ःऽइव। इ॒ह। ध्रु॒वः। ति॒ष्ठ॒। इ॒ह। रा॒ष्ट्रम्। ऊं॒ इति॑। धा॒र॒य॒ २

इहैव अस्मिन्नेव राज्यसिंहासने एधि भव सर्वदा वर्तस्व। माप च्योष्ठाः कदाचिदपि अस्माद् राष्ट्रात् प्रच्युतो मा भूः। ❀ च्युङ् गुङ् गतौ। अस्मान्माङि लुङि च्लेः सिच्। "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀। कथंभूतः सन्। पर्वत इव अविचाचलत् सर्वदा सर्वथा चलनरहितः सन्। इन्द्र इह इव अस्मिन् राष्ट्रे ध्रुवस्तिष्ठ स्थिरो वर्तस्व। राष्ट्रमु। उशब्दः चार्थे। तव स्वभूतम् एतद् राष्ट्रं च धारय स्वेस्वे स्थानेवस्थापय। संभद्राधपरिहारेण पालयेत्यर्थः॥

आप इसी राजसिंहासन पर स्थिर रहिये, कभी भी इस राज्य से भ्रष्ट न हूजिये आप पर्वतकी समान अचल रहिये और इन्द्र

की समान इस राज्यमें स्थिर रहिये, अपने इस राज्यको आप धारण कीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रं एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।

तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

इन्द्रः । एतम् । अदीधरत् । ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा ।

तस्मै । सोमः । अधि । ब्रवत् । अयम् । च । ब्रह्मणः । पतिः ३

ध्रुवेण स्थैर्यकरेण अस्माभिर्दत्तेन हविषा तुष्ट इन्द्रः एतं राजानम् अस्मिन् राष्ट्रे ध्रुवम् स्थिरं प्रच्युतिरहितम् अदीधरत् धारितवान् । प्रतिष्ठापितवान् इत्यर्थः । तस्मै राज्ञे सोमो राजा अधि ब्रवत् अस्मदीयोयम् इति अधिकं ब्रवीतु । अयं च ब्रह्मणस्पतिः वेदराशेः पालयिता देवः अधि ब्रवीतु । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

स्थिरता लाने वाली हमारी दी हुई हविसे सन्तुष्ट हुए इन्द्रदेवने इस राज्यमें इस राजाको स्थिररूपसे स्थापित कर दिया है। ऐसे राजाके विषयमें सोम राजा पक्षपातपूर्वक कहें, कि-यह हमारा है। इसी प्रकार ब्रह्मणस्पति देवता भी स्नेहपूर्वक कहें ।३।

चतुर्थी ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।

ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥

ध्रुवा । द्यौः । ध्रुवा । पृथिवी । ध्रुवम् । विश्वम् । इदम् । जगत् ।

ध्रुवासः । पर्वताः । इमे । ध्रुवः । राजा । विशाम् । अयम् ॥४॥

यथा द्यौः ध्रुवा स्थिरा वर्तते। पृथिवी च यथा ध्रुवा निश्चला दृश्यते। द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानम् इदं विश्वम् सर्वं जगत् ध्रुवम् स्थिरं दृश्यते। तत्रत्या इमे परिदृश्यमानाः पर्वता यथा ध्रुवासः ध्रुवाः स्थिराः। ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀। तथा अयं विशाम् प्रजानां राजा ध्रुवः स्थिरो भवतु॥

जैसे स्वर्ग स्थिर है और जैसे पृथिवी निश्चल दीखती है, जैसे द्यावापृथिवीके बीचमें वर्तमान यह सब जगत् स्थिर दीखता है और यहाँके पर्वत जैसे स्थिर हैं, इसी प्रकार यह राजा प्रजाओंका स्थिर राजा हो॥ १॥

पञ्चमी॥

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ २॥

ध्रुवम्। ते। राजा। वरुणः। ध्रुवम्। देवः। बृहस्पतिः।
ध्रुवम्। ते। इन्द्रः। च। अग्निः। च। राष्ट्रम्। धारयताम्। ध्रुवम्॥

हे राजन् ते तव राज्यं राजा राजमान ईश्वरो वरुणः ध्रुवम् स्थिरं करोतु। देवः द्योतमानो बृहस्पतिः देवमन्त्री त्वदीयं राष्ट्रं ध्रुवं करोतु। ❀ बृहतां देवानां पतिर्बृहस्पतिः। "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ। "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। तथा ते त्वदीयं राष्ट्रम् इन्द्रश्च अग्निश्च ध्रुवम् स्थिरं धारयताम्। प्रत्येकापेक्षया ध्रुवशब्दस्यावृत्तिः॥

हे राजन्! आपके राज्यको राजा वरुण स्थिर करें, प्रकाशवान् देवमन्त्री बृहस्पति भी आपके राज्यको स्थिर करें और आपके राज्यको इन्द्रदेव और अग्निदेव भी स्थिर करें॥ २॥

षष्ठी॥

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ २ ॥

ध्रुवः । अच्युतः । प्र । मृणीहि । शत्रून् । शत्रुऽयतः । अधरान् । पादयस्व ।

सर्वाः । दिशः । समऽमनसः । सध्रीचीः । ध्रुवाय । ते समऽइतिः । कल्पताम् । इह ॥ २ ॥

हे राजन् ध्रुवः अस्मिन् राष्ट्रे स्थिरः अच्युतः चलनरहितः सन् शत्रून् प्र मृणीहि भञ्जहि । ❀ मृड् हिंसायाम् ❀ । शत्रूयतः शत्रुवद् आचरतः अन्यानपि जनान् अधरान् अधोमुखान् पातयस्व भूमौ निपतितान् कुरु । एवं शत्रूणाम् अपगमे सति सर्वाः प्राच्याद्या दिशः संमनसः समनस्काः सत्यः सध्रीचीः त्वया सह अञ्चन्त्यो वर्तमानाः । त्वत्सेवापरायणा भवन्त्वित्यर्थः । ❀ सह अञ्चन्तीति सध्रीच्यः । अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "सहस्य सध्रिः" इति सध्र्यादेशः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । इह सर्वासु दिक्षु ध्रुवाय निश्चलम् अवस्थिताय ते तुभ्यं समितिः आयोधनं कल्पताम् समर्थं भवतु आयोधनात् पलायनं कदाचिदपि मा भूद् इत्यर्थः ॥

[इति नवमेऽनुवाके] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे राजन् ! आप इस राज्यमें अचल रह कर शत्रुओंको मसलते रहिये और शत्रुभाव रखने वाले अन्य मनुष्योंको भी औंधे मुख

गिराइये। इस प्रकार शत्रुओंका विनाश करने पर इस प्रकार शत्रुरहित होने पर पूर्व आदि सब दिशाएँ आपकी सेवामें परायण रहें। इन सब दिशाओंमें निश्चल रहनेके लिये (आपको) आयोधन समर्थ करें अर्थात् आप युद्धसे कभी न भागें॥ ३॥

प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२६१)

"इदं यत् प्रेण्यः" इति तृचेन जायापत्योरन्योन्यं प्रीतिजननकर्मणि अननुकूलस्य शिरः कर्णौ च अनुमन्त्रयेत केशान् वा धारयेत्। सूत्रितं हि। "इदं यत् प्रेण्य इति शिरः कर्णम् अनुमन्त्रयते केशान् धारयते" इति [कौ० ४. १२]॥

"यां ते रुद्रः" इति तृचेन शारीरशूलरोगपरिहारार्थं लोहमणिं पाषाणमणिं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयाद् इति रुद्रदारिलयोर्भाष्यकारयोर्मतम्। शूलिनः शूलस्थानम् अनुमन्त्रयेतेति भद्रस्य भाष्कारस्य मतम्। "यां ते रुद्र इति शूलिने शूलम्" इति [कौ० ४. ७] सूत्रात्॥

"इदं यत् प्रेण्यः" इस तृचसे पति पत्नीके पारस्परिक प्रीति को उत्पन्न करनेके कर्ममें अनुकूल न रहने वालेके शिर और कानका अनुमन्त्रण करे वा केशोंको धारण करे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"इदं यत् प्रेण्य इति शिरः कर्णं अनुमन्त्रयते केशान् धारयते" (कौशिकसूत्र ४। १२)॥

"यां ते रुद्रः" इस तृचसे शरीरके शूलरोगको दूर करनेके लिये लोहमणि वा पाषाण-मणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँध देवे, यह रुद्र और दारिल नाम वाले भाष्यकारका मत है। और भद्र भाष्यकारका यह मत है, कि-शूलरोगीके शूलस्थानका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यां ते रुद्र इति शूलिने शूलम्" (कौशिकसूत्र ४।७)॥

तत्र प्रथमा ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दि ते शोचयामसि ॥ १ ॥

इदम् । यत् । प्रेण्यः । शिरः । दत्तम् । सोमेन । वृष्ण्यम् ।

ततः । परि । प्रऽजातेन । हार्दिम् । ते । शोचयामसि ॥ १ ॥

प्रेण्यः प्रेमप्रापकस्य यद् इदं शिरः वृष्ण्यम् वीर्यप्रदं सोमेन दत्तम् ततः तस्माद् दत्ताच्छिरसः परिप्रजातेन उत्पन्नेन स्नेहविशेषेण ते तव हार्दिम् हृन्मध्यवर्ति अन्तःकरणं शोचयामसि संतापयुक्तं कुर्मः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

प्रेमके प्रापक इस वीर्यप्रद शिरको सोमने दिया है, इस शिर से उत्पन्न होने वाले प्रेमसे हम तेरे हृदयके मध्यवर्ती अन्तःकरण को सन्तापयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शोचयामसि ते हार्दि शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूम इव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

शोचयामसि । ते । हार्दिम् । शोचयामसि । ते । मनः ।

वातम् । धूमःऽइव । सध्र्यङ् । माम् । एव । अनु । एतु । ते । मनः

हे जायापत्योरन्यतर ते तव हार्दिम् हृदयमध्यवर्ति अन्तःकरणं हृदयमेव वा परस्परानुरागोत्पादनेन शोचयामसि तप्तं कुर्मः । तथा ते तव मनः संकल्पविकल्पात्मकम् अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषमपि शोचयामसि शोचयामः । एवं संतापजननोत्तरकालं सध्रिम् सहभूतं वातम् वायुं धूम इव ते तव मनः मामेव अन्वेतु अनुगच्छतु ।

यथा धूमो वातानुसारेण पृष्ठतो धावति एवम् अनुरागवशात् त्वदीयं मनो माम् अनुधावत्वित्यर्थः । ❀ सध्रिम् इति । अनुत्तरपदस्यापि सहशब्दस्य सध्र्यादेशश्छान्दसः ❀ ॥

हे पति पत्नीमेंसे एक प्राणी ! तेरे हृदयको हम परस्परमें अनुराग उत्पन्न करके सन्तप्त करते हैं । और तेरे संकल्पविकल्पात्मक मनको और वृत्तिविशेष अन्तःकरणको भी प्रेम उत्पन्न करके संतापयुक्त करते हैं । इस प्रकार सन्ताप उत्पन्न करनेके अनन्तर ही साथ रहने वाले वायुके पीछे जैसे धुआँ जाता है, तिसी प्रकार तेरा मन मेरे अनुकूल हो जाय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।

मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

मह्यम् । त्वा । मित्रावरुणौ । मह्यम् । देवी । सरस्वती ।

मह्यम् । त्वा । मध्यम् । भूम्याः । उभौ । अन्तौ । सम् । अस्यताम्

हे जाये त्वा त्वां मित्रावरुणौ मित्रश्च वरुणश्च । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एतत्संज्ञौ देवौ मह्यं पत्ये समस्यताम् । संयोजयताम् इत्यर्थः । देवी द्योतमाना सरस्वती त्वां मह्यं समस्यतु । भूम्याः पृथिव्या मध्यम् मध्यस्थितं प्राणिजातं त्वा त्वां मह्यं संयोजयतु । तस्या एव भूम्या उभावन्तौ ऊर्ध्वाधःप्रदेशौ त्वां समस्यताम् संयोजयताम् । ❀ असु क्षेपणे । दिवादित्वात् श्यन् ❀॥

हे जाये ! मित्र और वरुणदेवता तुझको मुझमें संयुक्त करें, देवी सरस्वती भी तुझे मुझमें संयुक्त करें और पृथिवी पर रहने वाले प्राणी तुझको मुझ पर अनुरक्त करें और पृथिवीके ऊपर नीचेके प्रदेश भी तुझको मुझमें स्नेही करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

याम् । ते । रुद्रः । इषुम् । आस्यत् । अङ्गेभ्यः । हृदयाय । च ।
इदम् । ताम् । अद्य । त्वत् । वयम् । विषूचीम् । वि । वृहामसि १

हे व्याधित ते तव अङ्गेभ्यः हस्तपादादिभ्यः हृदयाय च अङ्गानि हृदयं च व्यद्धुं रुद्रः रोदयिता शूलरोगाभिमानी देवः याम् इषुम् बाणम् आस्यत् धनुर्यन्त्रेण प्राक्षिपत् । अद्य इदानीम् इदं तत्प्रतीकारार्थं ताम् इषुं विषूचीम् अनभिमुखीं [वयं त्वत् त्वत्तो] वि वृहामसि विवृहामः शरीरमध्यात् उत्क्षिपामः । ❀ वृहू उद्यमने । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

हे रोगिन् ! तेरे हाथ पैर आदि अंगोंको बींधनेके लिये शूलरोगके अभिमानी देवता रुलाने वाले रुद्रदेवने जिस बाणको धनुर्यन्त्रसे फेंका था, हम आज उसका प्रतीकार करनेके लिये उस बाणको उखाड़ते हैं ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः ।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि ॥ २ ॥

याः । ते । शतम् । धमनयः । अङ्गानि । अनु । विऽस्थिताः ।
तासाम् । ते । सर्वासाम् । वयम् । निः । विषाणि । ह्वयामसि २

हे शूलरोगिन् ते तव अङ्गानि अनु हस्तपादाद्यवयवाननु याः [शतम्] शतसंख्याका धमनयः नाड्यो विष्ठिताः विविधम् अवस्थिताः ते त्वदीयानां तासां सर्वासां धमनीनां निर्विषाणि विष-

रहितानि भैषज्यानि शूलनिबर्हणानि [वयं] इयामसि इयामः संपादयामः ॥

हे शूलरोगिन् ! तेरे हाथ पैर आदिमें जो सौ नाड़ियें विविध रीतिसे स्थित हैं तेरी उन सब नाड़ियोंकी निर्विष अर्थात् शूलको दूर करने वाली औषधियोंका हम सम्पादन करते हैं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

नम॑स्ते रुद्रास्य॑ते नम॒ः प्रति॑हितायै ।

नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॑ निप॑तितायै ॥ ३ ॥

नमः । ते । रुद्र । अस्यते । नमः । प्रतिऽहितायै ।

नमः । विऽसृज्यमानायै । नमः । निऽपतितायै ॥ ३ ॥

हे रुद्र रोदयितर्देव अस्यते व्याधिरूपाम् इषुं क्षिपते ते तुभ्यं नमोस्तु । ❀ "नमःस्वस्ति०" इति चतुर्थी ❀ । तथा प्रतिहितायै धनुषि संहितायै त्वदीयेषवे नमोस्तु । विसृज्यमानायै धनुषः सकाशात् प्रेर्यमाणायै तस्यै नमोस्तु । विसर्जनानन्तरं लक्ष्ये निपतितायै तस्यै नमोस्तु । इत्थं रुद्रस्य तदायुधस्य च विविधावस्थस्य नमस्कारेण तत्कृतपीडाभावः प्रार्थितः ॥

[इति] नवमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे रुलाने वाले रुद्रदेव ! व्याधिरूप बाणको फैंकने वाले आप को नमस्कार है । धनुष पर रक्खे हुए आपके बाणके लिये नमस्कार है और धनुष परसे छोड़े हुए बाणके लिये नमस्कार है, और धनुषसे छूट कर लक्ष्य पर गिरने वाले बाणके लिये नमस्कार है (इस प्रकार रुद्रदेवको और उनके बाणकी अनेक अवस्थाओंको नमस्कार करके उनकी की हुई पीड़ाके अभावकी प्रार्थना की है) ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२६३) ॥

"इमं यवम्" इति तृचेन सर्वरोगभैषज्यार्थम् अर्धर्चेनार्धर्चेन आज्यं हुत्वा सयवे केवले वा उदपात्रे चतुरः संपातान् द्वौ पृथिव्याम् आनीय संपातितमृत्सहितोदकेन तृचाभिमन्त्रितेन व्याधितम् आस्रावयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन यवमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "दिवे स्वाहा [५. ८] इमं यवम् [६. ९१] इति चतुर उदपात्रे संपातान् आनयति । द्वौ पृथिव्याम् । तौ मत्याहृत्यास्रावयति । सयवे चोत्तरेण यवं बध्नाति" इति [कौ० ४. ४]॥

"वातरंहाः" इति तृचेन अश्वशान्तौ आज्यं हुत्वा उदपात्रे संपातान् आनीय तेनोदकेन सूत्रोक्तरीत्या अश्वम् आचामयेत् आप्लावयेच्च। तद् उक्तं संहिताविधौ। "वातरंहा इति स्नातेऽश्वे संपातान् अभ्यति नयति । पलाशे सचूर्णे चोत्तरान् । आचामयति । आस्रावयति" इति [कौ० ५. ५.]॥

'इमं यवम्' इस तृचसे सब रोगोंकी चिकित्साके लिये आधी ऋचासे वा पूर्ण ऋचासे घृतकी आहुति देकर जौं पड़े हुए वा केवल जलपूर्ण पात्रमें चार सम्पातोंको लावे और दो को पृथ्वी पर लावे उस संम्पातित मट्टीसहित तृचसे अभिमन्त्रित जलसे रोगीको स्नान करावे ।

तथा इसी कर्ममें इस तृचसे यवमणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'दिवे स्वाहा (५ । ८) इमं यवम् (६ । ९१) इति चतुर उदपात्रे सम्पातान् आनयति। द्वौ पृथिव्याम् । तौ मत्याहृत्यास्रावयति । सयवे चोत्तरेण यवं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ४ । ४) ॥

"वातरंहाः" इस तृचसे अश्वशांतिमें घृतकी आहुति देकर

जलपूर्ण पात्रोंमें सम्पातोंको लावे, फिर उस जलसे सूत्रोक्त रीति से घोड़ेको आचमन करावे और स्नान करावे । इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–"वातरंहा इति स्नातेश्वे सम्पातान् अभ्यति नयति । पलाशे सचूर्णे चोवरान् । आचामयति । आसावयति (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥

इमम् । यवम् । अष्टाऽयोगैः । षट्ऽयोगेभिः । अचर्कृषुः ।
तेन । ते । तन्वः । रपः । अपाचीनम् । अप । व्यये ॥ १ ॥

इमं भैषज्याय प्रयुज्यमानं यवम् दीर्घशूकं धान्यम् अष्टायोगैः अष्टभिर्बलीवर्दैर्युज्यमाना हला अष्टायोगाः । [षड्योगेभिः] षड्भिर्युज्यमानाः षड्योगाः । इत्थं महद्भिर्हलैः अचर्कृषुः कर्षणं कृतवन्तः । ईदृशेन कर्षणेन उत्पादितवन्त इत्यर्थः । ❀ कृष विलेखने ❀ । तेन यवेन हे व्याधित ते तव तन्वः शरीरस्य रपः रोगनिदानभूतं पापम् अपाचीनम् अपाङ्मुखम् अप व्यये अपगमयामि ॥

इस औषधिके निमित्त प्रयोगमें आने वाले जौंको आठ बैलों वाले हलसे और छः बैलों वाले हलसे जोत कर उत्पन्न किया गया है । हे रोगिन् ! ऐसे जौंसे मैं तेरे रोगके मूलकारण पाप को नीचेको निकालता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न्य१ग् वातो वाति न्य१क् तपति सूर्यः ।

नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥

न्यक् । वातः । वाति । न्यक् । तपति । सूर्यः ।

नीचीनम् । अघ्न्या । दुहे । न्यक् । भवतु । ते । रपः ॥ २ ॥

न्यग् वात इत्याद्या उपमानार्थाः । यथा वातः वायुः न्यग् वाति नीचीनं गच्छति । ❀ वा गतिगन्धनयोः ❀। सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यश्च न्यक् नीचीनम् अवाङ्मुखं तपति । अघ्न्या । गोना-मैतत् । अहन्तव्या गौश्च नीचीनम् अधोमुखं पयो दुहे दुग्धे । ❀ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❀ । यथा एते वाता-दयो न्यक्त्वधर्मोपेताः हे व्याधित [एवं] ते तव रपः पापं रोगा-दयं न्यक् नीचीनम् अधोमुखं भवतु। शाम्यत्वित्यर्थः ॥

जैसे वायुदेव नीचेको चलते हैं और सूर्यदेव भी जिस प्रकार नीचेकी ओर मुख करके तपते हैं और गौ जैसे नीचेको मुख करके दुहाती है, यह वायु आदि जैसे नीचेपनके धर्मसे युक्त हैं, हे रोगिन्! इसी प्रकार तेरा पाप भी नीचेकी ओर मुख करे अर्थात् शान्त होजावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आप इद् वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥३॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीवऽचातनीः ।

आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । ते । कृण्वन्तु । भेषजम् ३ ।

आप इद्द वा उ आप एव खलु भेषजीः भेषज्यः सर्वौषधानां तद्विकारत्वात् । ❀ "०सुमङ्गलभेषजाच्च" इति भेषजशब्दात्

ङीप् । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ॥ । अत एव हेतोः आपः अमीवचातनीः अमीवानां रोगाणां विनाशयित्र्यः । ॥ चातयतिर्नाशने इति यास्कः [नि० ६. ३०] ॥ । तस्माद् विश्वस्य सर्वस्य रोगजातस्य भेषजीः भेषज्यः ता आपः ते तव भेषजम् रोगनिवर्तकम् औषधं कृण्वन्तु कुर्वन्तु ॥

सब औषधियें जलकी ही विकार हैं अतः जल ही रोगोंका नाश करने वाली औषधियें हैं, यह सम्पूर्ण जगत्की औषधरूप हैं, वे तेरी रोगनिवर्तक औषधिको दें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥

वातऽरंहाः । भव । वाजिन् । युज्यमानः । इन्द्रस्य । याहि । प्रऽसवे । मनःऽजवाः ।
युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः । विश्वऽवेदसः । आ । ते । त्वष्टा । पत्ऽसु । जवम् । दधातु ॥ १ ॥

हे वाजिन् अश्व युज्यमानः रथयुगे बध्यमानस्त्वं वातरंहाः वायुवेगो भव । इन्द्रस्य प्रसवे प्रेरणे अनुज्ञायां सत्यां मनोजवाः मनोवेगः सन् याहि गन्तव्यम् अवधिं प्राप्नुहि । विश्ववेदसः विश्वधनाः सर्वगोचरज्ञाना वा मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका देवाः त्वा त्वां युञ्जन्तु संनह्यन्तु । त्वष्टा देवः ते तव पत्सु पादेषु जवम् वेगम् आ दधातु करोतु ॥

हे घोड़े! रथमें जुता हुआ तू वायुकी समान वेग वाला हो, इन्द्रदेवके प्रेरणा करने पर मनकी समान वेग वाला होकर गन्तव्यस्थानकी अवधि पर प्राप्त हो, सबका ज्ञान रखने वाले उद्भास मरुद्गण तुझसे संयुक्त होवें, त्वष्टा देवता तेरे पैरोंमें वेगको स्थापित करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः ।
तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः

जवः । ते । अर्वन् । निऽहितः । गुहा । यः । श्येने । वाते । उत । यः । अचरत् । परीत्तः ।
तेन । त्वम् । वाजिन् । बलऽवान् । बलेन । आजिम् । जय । समने । पारयिष्णुः ॥ २ ॥

हे अर्वन् अश्व ते तव यो जवः वेगः गुहा गुहायाम् असाधारणे स्थाने निहितः निक्षिप्तोऽस्ति । श्येने पक्षिविशेषे वाते वायौ । उतशब्दः अप्यर्थे । यो जवः परीत्तः । परिदानं रक्षणार्थं दानम् । रक्षणाय दत्तः अचरत् चरति वर्तते । हे वाजिन् त्वं तेन वेगवता बलेन बलवान् भूत्वा समने संग्रामे पारयिष्णुः पारमापणशीलः सन् आजिम् युद्धं जय ॥

हे घोड़े! तेरा जो वेग गुहा अर्थात् असाधारण स्थानमें रखा हुआ है, बाजमें और वायुमें थातीके रूपमें रक्खा हुआ है, हे अश्व! तू उस वेगवान् बलसे बली होकर संग्राममें पार पहुँचाने वाला बनकर युद्धमें विजय पा ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।

अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥ २ ॥

तनूः । ते । वाजिन् । तन्वम् । नयन्ती । वामम् । अस्मभ्यम् । धावतु । शर्म । तुभ्यम् ।

अह्रुतः । महः । धरुणाय । देवः । दिविऽइव । ज्योतिः । स्वम् । आ । मिमीयात् ॥ २ ॥

हे वाजिन् वेगवन्नश्व ते तव तनूः शरीरयष्टिः तन्वम् आरूढस्य सादिनः शरीरं नयन्ती युद्धभूमिं प्रापयन्ती अस्मभ्यं वामम् वननीयं धनं धावतु प्रापयतु । तुभ्यं शर्म च शस्त्रक्षतादिव्यतिरेकेण सुखं यथा भवति तथा धावतु शीघ्रं गच्छतु । महः महतो दिवः अन्तरिक्षस्य अवकाशात्मकस्य ग्रामजनपदादेः धरुणाय धारणाय अह्रुतः अकुटिलगामी भूत्वा दिवि अन्तरिक्षे ज्योतिरिव सूर्यप्रकाश इव स्वम् स्वकीयं स्थानम् आ मिमीयात् आगच्छतु । ❀ माङ् माने शब्दे च । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वभाष्ये षष्ठकाण्डे नवमोऽनुवाकः ॥

हे वेगवान् अश्व ! तेरे शरीरकी यष्टि अपने शरीर पर सवार के शरीरको युद्धभूमिमें लाती हुई विजयको प्राप्त करावे । और तुझको भी शस्त्रके घावसे अछूता रखती हुई अत एव सुख देती

हुई शीघ्रतासे चले । और तू अवकाशात्मक ग्राम नगर आदिको धारण करनेके लिये सरलगामी बन स्वर्गके सूर्यकी समान दमकता हुआ अपने निवासस्थान पर आजा ॥ ३ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (२६५) ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डमें नवम अनुवाक समाप्त ।

दशमेनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र "यमो मृत्युः" इति प्रथमं सूक्तम् । अत्र आद्यस्य तृचस्य वास्तोष्पत्यगणे पाठाद् वास्तोष्पत्याख्यायां महाशान्तौ वास्तोष्पत्यगणप्रयुक्तो विनियोगोनुसंधेयः । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "वास्तोष्पत्यगणो वास्तोष्पत्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

यथा यत्र वास्तोष्पत्यगणस्य विनियोगस्तत्र सर्वत्र अस्यापि गणप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ बृहद्गणप्रयुक्तो विनियोग उन्नेयः ॥

तथा स्वस्त्ययनकर्मणि अनेन तृचेन आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रितं हि । "यमो मृत्युः [६.९३] विश्वजित् [६. १०७] शाकधूमम् [६.१२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १] ॥

अत्र "सं वो मनांसि" इति द्वितीयेन तृचेन सांमनस्यकर्मणि ग्राममध्ये संपातितोदकुम्भनिनयनम् तद्वत् सुराकुम्भनिनयनम् त्रिवर्षवत्सिकाया गोः पिशितानां प्राशनम् संपातितान्नप्राशनम् संपातितसुरायाः पायनम् तथाविधप्रपोदकपायनं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "सं वो मनांसि [६. ९४] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सौमनस्यानि । उदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजम् त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्तानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां प्रपां संपातवत् करोति" इति [कौ०२.३]॥

"अश्वत्थो देवसदनः" इति तृचेन राजयक्ष्मकुष्ठादिरोगशान्त्यर्थं कुष्ठाख्यौषधमिश्रितं नवनीतम् अभिमन्त्र्य प्रतिलोमं व्याधितशरीरं प्रलिंपेत्। "कुष्ठलिङ्गाभिर्नवनीतमिश्रेणाप्रतीहारं प्रलिंपति" इति [कौ० ४. ४] सूत्रात् ॥

"गर्भो असि" इत्यनया अग्निचयने अप्सु प्रक्षिप्यमाणम् उख्यं भस्म ब्रह्मा अनुजपेत्। "गर्भो अस्योषधीनाम् इत्युख्यं भस्माप्सूप्यमानम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. १] ॥

"या ओषधयः" इति तृचेन ब्राह्मणाक्रोशे जलोदरे च शान्त्यर्थं सोमलताम् अग्नौ प्रक्षिप्य व्याधितं धूपयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन मधुमिश्रं दधि अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

तथा क्षीरं तक्रेण संमिश्रय अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

तथा दधि मधु क्षीरम् उदश्वितं च एकीकृत्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि। "या ओषधय इति मन्त्रोक्तस्यौषधिभिर्धूपयति" इत्यादि [कौ० ४. ७] ॥

तथा "या ओषधयः" इत्यस्या अंहोलिङ्गगणे पाठात् "अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" [कौ० ४. ८] इत्यादिषु गणप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

दशम अनुवाकमें चार सूक्त हैं। उनमें 'यमो मृत्युः' यह प्रथम सूक्त है। इसके पहिले तृचका वास्तोष्पत्यगणमें पाठ है, अत एव वास्तोष्पत्या नाम वाली महाशांतिमें वास्तोष्पत्यगणके अनुसार इसका विनियोग करना चाहिये। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-'वास्तोष्पत्यगणो वास्तोष्पत्यायाम्" (नक्षत्रकल्प १८)॥

तथा जहाँ २ वास्तोष्पत्यगणका विनियोग हो तहाँ २ इसका भी विनियोग करना चाहिये।

और इसका बृहद्गणमें भी पाठ है, अतएव शान्त्युदकके अभि-

मन्त्रण आदिमें बृहद्गणके कारण इसका विनियोग करना चाहिये।

तथा स्वस्त्ययन कर्ममें इस तृचसे घृत समिधा पुरोडाशसे पूरी तककी तेरह वस्तुओंकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यमो मृत्युः (६ । ६३) विश्वजित् (६ । १०७) शकधूमम् (६ । १२८) भवाशर्वौ (११ । २) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

इसके "सं वो मनांसि" इस दूसरे तृचसे सांमनस्यकर्ममें ग्राम के मध्यमें संपातित पूर्ण कुम्भका लाना, इसी प्रकार सुराकुम्भ का लाना, तीन वर्षकी वत्सिका गौके पिशितोंका प्राशन, संपातित अन्नका प्राशन, सम्पातित सुराका पिलाना, तथा संपातित पौके जलका पिलाना आदि भी करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"सं वो मनांसि (६ । ६४) संज्ञानं नः (७ । ५४) इति सांमनस्यानि। उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति। एवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशित्पान्यशयति। भक्तं सुरां प्रपां सम्पातवत् करोति"। (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

"अश्वत्थो देवसदनः" इस तृचसे राजयक्ष्मा कुष्ठ आदि रोगों की शान्ति करनेके लिये कूट नाम वाली औषधि मिले हुए मक्खन को अभिमन्त्रित करके नीचेसे रोगीके शरीर पर लेप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"कुष्ठलिङ्गाभिर्नवनीतमिश्रेणा-प्रतीहारं प्रलिम्पति" (कौशिकसूत्र ४ । ४) ॥

"गर्भो असि" इस ऋचासे अग्निचयनमें जलमें डाली जाती हुई उख्य भस्मका ब्रह्मा अनुजप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"गर्भो अस्योषधीनां इत्युख्यं भस्माप्लुप्यमानम्" (वैतानसूत्र ५ । १) ॥

"या ओषधयः" इस तृचसे ब्राह्मणके कल्पनेमें और जलो-

दरमें भी शान्तिके लिये सोमलताको अग्निमें डाल कर रोगीको धूप देवे।

तथा इसी कर्ममें इसी सूक्तसे मधु मिले हुए दहीका अभिमन्त्रण करके पिलावे॥

तथा क्षीर (दूध) को मट्ठेसे मिला अभिमन्त्रित करके पिलावे।

तथा दही मधु दूध और उदश्वित् (आधा पानी मिला हुआ मट्ठा) को मिला कर पिलावे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"या ओषधय इति मन्त्रोक्तस्यौषधिभिः धूपयति०" (कौशिकसूत्र ४ । ७)॥

तथा 'या ओषधयः' इस ऋचाका अंहोलिंगगणमें पाठ होनेसे 'अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिंगाभिः (कौशिकसूत्र ४ । ८) इत्यादि गणके अनुसार विनियोग देखना चाहिये॥

तत्र प्रथमा॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डः देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान्॥ १॥

यमः। मृत्युः। अघऽमारः। निःऽऋथः। बभ्रुः। शर्वः। अस्ता। नीलऽशिखण्डः।

देवऽजनाः। सेनया। उत्तस्थिऽवांसः। ते। अस्माकम्। परि। वृञ्जन्तु। वीरान्॥ १॥

यमयति नियमयति पापानुसारेण प्राणिनो निगृह्णातीति यमः। मारयति प्राणांस्त्याजयतीति मृत्युः। अघमारः अघेन पापेन निमित्तेन मारयतीति अघमारः। ❀ "पुंसि संज्ञायाम्०" इति घः ❀।

निर्ऋथः निःशेषेण ऋच्छति पीडयतीति निर्ऋथः । ❀ ऋ गतौ इत्यस्मान्निरुपसृष्टाद् औणादिकः स्थक् प्रत्ययः ❀ । बभ्रुः पिङ्गलवर्णः भरणशीलो वा । ❀ भृञ् भरणे इत्यस्मात् कुर्भ्रश्च [उ० १. २२] इति कुप्रत्ययः द्विर्भावश्च ❀ । शृणाति हिनस्तीति शर्वः । ❀ शॄ हिंसायाम् इत्यस्माद् वप्रत्ययः ❀ । अस्ता । ❀ असु क्षेपणे इत्यस्मात् ताच्छीलिकस्तृन् ❀ । क्षेपणशीलः । नीलशिखण्डः नीलाः कृष्णवर्णाः शिखण्डाः शिखा यस्य स तथोक्तः । एतत्संज्ञका यमादयो देवजनाः देवजातयः पापिनां हिंसार्थं सेनया स्वस्वपरिवारजनसंघेन उत्तस्थिवांसः उत्थिताः स्वस्थानाद् उत्क्रान्ता वर्तन्ते । ❀ उत्पूर्वात् तिष्ठतेर्लिटः क्वसुः । "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इडागमः ❀ । जगदुपद्रवकारिणस्ते अस्माकं वीरान् पुत्रपौत्रादीन् परि वृञ्जन्तु परिहरन्तु । मा बाधन्ताम् इत्यर्थः । ❀ वृजी वर्जने । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ❀ ॥

पापके अनुसार प्राणियोंका यमन करनेवाले यम, मारनेवाली –प्राणोंको छुड़ाने वाली–मृत्यु, पापरूप निमित्तसे मारने वाला अघमार, शृणन–मारण–करने वाले पिंगलवर्णी शर्व, और क्षेप्ता नीलशिखण्ड–ये देवता पापियोंकी हिंसा करनेके लिये अपने २ परिवाररूप सेनाके साथ अपने स्थानसे उठकर घूमते रहते हैं, ये जगत्में उपद्रव करने वाले हमारे पुत्र पौत्र आदिको पीड़ा न दें १

द्वितीया ॥

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु

मनसा । होमैः । हरसा । घृतेन । शर्वाय । अस्त्रे । उत । राज्ञे । भवाय ।

दरमें भी शान्तिके लिये सोमलताको अग्निमें डाल कर रोगीको धूप देवे ।

तथा इसी कर्ममें इसी ऋचसे मधु मिले हुए दहीका अभिमन्त्रण करके पिलावे ॥

तथा क्षीर (दूध)को मठेसे मिला अभिमन्त्रित करके पिलावे ।

तथा दही मधु दूध और उदश्वित् (आधा पानी मिला हुआ मठा) को मिला कर पिलावे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"या ओषधय इति मन्त्रोक्तस्यौषधिभिः धूपयति०" (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

तथा 'या ओषधयः' इस ऋचाका अंहोलिंगगणमें पाठ होनेसे 'अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिंगाभिः (कौशिकसूत्र ४ । ८) इत्यादि गणके अनुसार विनियोग देखना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥

यमः । मृत्युः । अघऽमारः । निःऽऋथः । बभ्रुः । शर्वः । अस्ता । नीलऽशिखण्डः ।

देवऽजनाः । सेनया । उत्तस्थिऽवांसः । ते । अस्माकम् । परि । वृञ्जन्तु । वीरान् ॥ १ ॥

यमयति नियमयति पापानुसारेण प्राणिनो निगृह्णातीति यमः । मारयति प्राणांस्त्याजयतीति मृत्युः । अघमारः अघेन पापेन निमित्तेन मारयतीति अघमारः । ❀ "पुंसि संज्ञायाम्०" इति घः ❀ ।

निर्ऋथः निःशेषेण ऋच्छति पीडयतीति निर्ऋथः । ❀ ऋ गतौ इत्यस्मान्निरुपसृष्टाद् औणादिकः स्थक् प्रत्ययः ❀ । बभ्रुः पिङ्गलवर्णः भरणशीलो वा । ❀ भृञ् भरणे इत्यस्मात् कुर्भ्रश्च [उ० १. २२] इति कुप्रत्ययः द्विर्भावश्च ❀ । शृणाति हिनस्तीति शर्वः । ❀ शॄ हिंसायाम् इत्यस्माद् वप्रत्ययः ❀ । अस्ता । ❀असु क्षेपणे इत्यस्मात् ताच्छीलिकस्तृन् ❀ । क्षेपणशीलः । नीलशिखण्डः नीलाः कृष्णवर्णाः शिखण्डाः शिखा यस्य स तथोक्तः । एतत्संज्ञका यमादयो देवजनाः देवजातयः पापिनां हिंसार्थं सेनया स्वस्वपरिवारजनसंघेन उत्तस्थिवांसः उत्थिताः स्वस्थानाद् उत्क्रान्ता वर्तन्ते । ❀ उत्पूर्वात् तिष्ठतेर्लिटः क्वसुः । "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इडागमः ❀ । जगदुपद्रवकारिणस्ते अस्माकं वीरान् पुत्रपौत्रादीन् परि वृञ्जन्तु परिहरन्तु । मा बाधन्ताम् इत्यर्थः । ❀ वृजी वर्जने । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ❀ ॥

पापके अनुसार प्राणियोंका यमन करनेवाले यम, मारनेवाली –प्राणोंको छुड़ाने वाली–मृत्यु, पापरूप निमित्तसे मारने वाला अघमार, शृणन–मारण–करने वाले पिंगलवर्णी शर्व, और क्षेप्ता नीलशिखण्ड–ये देवता पापियोंकी हिंसा करनेके लिये अपने २ परिवाररूप सेनाके साथ अपने स्थानसे उठकर घूमते रहते हैं, ये जगत्में उपद्रव करने वाले हमारे पुत्र पौत्र आदिको पीड़ा न दें १

द्वितीया ॥

मन॑सा हो॒मैर्हर॑सा घृ॒तेन॒ श॒र्वाया॒स्त्र उ॒त राज्ञे॑ भ॒वाय॑ ।
न॒म॒स्ये॒भ्यो नम॑ ए॒भ्यः कृ॒णो॒म्य॒न्यत्रा॒स्मद॒घवि॑षा नयन्तु ॥

मन॑सा । हो॒मैः॑ । हर॑सा । घृ॒तेन॑ । श॒र्वाय॑ । अस्त्रे॑ । उ॒त । राज्ञे॑ । भ॒वाय॑ ।

नमस्येभ्यः । नमः । एभ्यः । कृणोमि । अन्यत्र । अस्मत् । अघऽविषाः । नयन्तु ॥ २ ॥

मनसा मनःसंकल्पमात्रेण हरसा हरणशीलेन तेजसा । तद्धेतुत्वात् ताच्छब्द्यम् । तेजोरूपेण घृतेन हरणशीलेन आज्येन क्रियमाणैः होमैः सह शर्वाय एतत्संज्ञाय देवाय । अस्त्रे क्षेप्त्रे एतन्नाम्ने । उत अपि च राज्ञे एतेषाम् ईश्वराय भवाय महादेवाय । एभ्यः "यमो मृत्युरघमारः" इति प्राग् अनुक्रान्तेभ्यः नमस्येभ्यः नमस्कारार्हेभ्यो नमस्कृणोमि नमस्करोमि । होमैर्नमस्कारेण च प्रीतास्ते अस्मत् अस्मत्तः अन्यत्र अघविषाः । अघं पापमेव विषं विषवन्मृतिकरं यासु ताः कृत्यास्तथोक्ताः । ता नयन्तु प्रापयन्तु ॥

संकल्पसे तेजोरूपघृतसे किये जाने वाले होमोंके द्वारा मैं शर्व अस्त्र और इनके ईश्वर महादेवके लिये तथा पूर्व मन्त्रमें कहे हुए नमस्कार करने योग्य व्यक्तियोंके लिये नमस्कार करता हूँ । वे होम और नमस्कारोंसे प्रसन्न होकर पाप ही जिनमें विषकी समान मारने वाला है उन कृत्याओंको हमसे अन्यत्र पहुँचावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम

त्रायध्वम् । नः । अघऽविषाभ्यः । वधात् । विश्वे । देवाः । मरुतः । विश्वऽवेदसः ।
अग्नीषोमा । वरुणः । पूतऽदक्षाः । वातापर्जन्ययोः । सुऽमतौ । स्याम

हे विश्वे देवाः हे मरुतः विश्ववेदसः सर्वधनाः सर्वगोचरज्ञानाः

वा यूयम् अघविषाभ्यः प्रागुक्ताभ्यः कृत्याभ्यः वधात् तत्कृतात् हननात् नः अस्मान् त्रायध्वम् पालयत । ❀ अघविषाभ्य इति । "भीत्रार्थानाम्०" इति पञ्चमी ❀ । विश्वे देवा इत्युक्तम् के पुनस्त इत्याह । अग्नीषोमा अग्निश्च सोमश्च अग्नीषोमौ । ❀ "ईदग्नेः सोमवरुणयोः" इति अग्निशब्दस्य दीर्घः । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । वरुणः वारयिता पापिनां निग्रहीता देवः पूतदक्षः पूतं शुद्धं दक्षो बलं यस्य स तथोक्तः । अनेन मित्रो विवक्षितः । "मित्रं हुवे पूतदक्षम्" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ० १. २. ७] । तथा वय वातापर्जन्ययोः वातश्च पर्जन्यश्च वातापर्जन्यौ । वातो वायुः सूत्रात्मा सर्वजगत्प्राणभूतः । पर्जन्यः वृष्टिप्रदो जीवनात्मा । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् ❀ । तयोः सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहात्मिकायां बुद्धौ स्याम भवेम ॥

हे सबका ज्ञान रखनेवाले मरुत् देवताओं और विश्वेदेवताओं ! तुम पिछले मन्त्रमें कही हुई अघविषा कृत्याओंसे और उनके मारनेके साधनोंसे हमको बचाओ । पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणदेव, पवित्र बलवाले मित्रदेव †, और अग्नि तथा सोमदेव हमारी अघविषाओंसे और उनके साधनोंसे रक्षा करें, हम वायु और पर्जन्यकी अनुग्रहरूपा शोभन बुद्धिमें रहें, अर्थात् वायु और पर्जन्य देवता हम पर अनुग्रह रक्खें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥१॥

† पूतदक्ष शब्दसे यहाँ मित्रका ग्रहण किया गया है, क्योंकि-ऋग्वेदसंहिता १ । २ । ७ में कहा है, कि-'मित्रं हुवे पूतदक्षम्-पवित्र बल वाले मित्र देवताका मैं आह्वान करता हूँ' ।

सम् । वः । मनांसि । सम् । व्रता । सम् । आऽकूतीः । नमामसि ।

अमी इति । ये । विऽव्रताः । स्थन । तान् । वः । सम् । नमयामसि

"सं वो मनांसि" इति द्वे चतुर्थीपञ्चम्यौ पूर्ववत् [३. ८, ५,६] व्याख्येये ॥

हे विरुद्ध मन वाले पुरुषों ! तुम्हारे परस्पर विरुद्ध मनोंको मैं एक विषयसे प्रसन्न होने वाले विरुद्धतारहित करता हूँ । तुम्हारे वार्तालाप आदि कर्मोंको और तुम्हारे संकल्पोंको मैं विरोधभाव से शून्य अनुकूल करता हूँ । पहिले जो तुम परस्परके विरुद्ध कर्म करते रहते थे उन तुमको मैं अनुकूल करता हूँ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनांसि । मम । चित्तम् । अनु ।
चित्तेभिः । आ । इत ।

मम । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनुऽवर्त्मानः । आ । इत ॥ २ ॥

हे विमनस्क पुरुषों ! तुम्हारे प्रतिकूल मनोंको मैं अपने मनसे स्वाधीन करता हूँ तथा तुम भी मेरे चित्तके अनुकूल हुए चित्तोंके साथ आओ, मेरे अधीन कामोंमें तुम अपने मनको लगाओ तथा मेरे स्वीकृत मार्ग पर चलनेकी इच्छा रख कर तुम आओ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

ओतं मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती ।

ओतौं म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं संरस्वति ॥ २ ॥

ओते इत्याऽउते । मे । द्यावापृथिवी इति । आऽउता । देवी । सरस्वती

आऽउतौ । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । ऋध्यास्म । इदम् । सरस्वति

द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावा आदेशः । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ते उभे मे मह्यम् ओते आभिमुख्येन संतते परस्परं संबद्धे वा । देवी द्योतमाना सरस्वती द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमाना वाग्देवता सापि ओता अस्मदाभिमुख्येन संबद्धा । ❀ आङ्पूर्वाद् वेञ् तन्तुसंताने इत्यस्मान्निष्ठा । "वचिस्वपि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । तथा इन्द्रश्च अग्निश्च मे मह्यं मदभिलषितफलसिद्ध्यर्थम् ओतौ आभिमुख्येन संबद्धौ परस्परमोतौ वा एककार्योद्युक्तौ । अतः एतेषाम् अनुग्रहात् हे सरस्वति मन्त्रात्मिके देवि इदम् इदानीं वयम् ऋध्यास्म समृद्धा भूयास्म । ❀ ऋधु वृद्धौ ❀ ॥

द्यावापृथिवी ये दोनों मेरे लिये परस्पर अभिमुख होकर संबद्ध हैं । और द्यावापृथिवीके बीचमें वर्तमान वाग्देवता सरस्वती भी हमारे सन्मुख ओतप्रोत हैं, इन्द्र और अग्नि देवता भी मेरे अभिलषित फलकी सिद्धिके लिये लगे हुए हैं, अतः इनके अनुग्रहसे हे मन्त्रात्मिके सरस्वती देवि ! हम इस समय समृद्ध होवें ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।

तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

अश्वत्थः । देवऽसदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ।

तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ १ ॥

"अश्वत्थो देवसदनः" इति सप्तम्यष्टम्यौ पूर्ववद् [५. ४. ३,४] अत्रापि व्याख्येये ॥

यहांसे तीसरे द्युलोकमें देवताओंके बैठनेका अश्वत्थ है तहाँ देवताओंने अमृतका वर्णन करने वाले कूटको जाना था ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमन्वत ॥ २ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्यऽबन्धना । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ २ ॥

स्वर्गमें सुवर्ण (हितरमणीयता) के बंधन वाली सुवर्णकी नौका चलती है तहाँ अमृतके पुष्प कूटको देवताओंने प्राप्त किया था २

नवमी ॥

गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । हिमऽवताम् । उत ।
गर्भः । विश्वस्य । भूतस्य । इमम् । मे । अगदम् । कृधि । ३॥

हे अग्ने त्वम् ओषधीनाम् । ओषः पाकः आसु धीयत इति ओषधयः सर्वा वीरुधः । तासां गर्भः गर्भवद् अन्तरवस्थितः असि भवसि । उत अपि च हिमवताम् शीतस्पर्शवताम् अन्येषामपि वनस्पतीनां हिमवत्प्रमुखानां पर्वतानां वा हे अग्ने त्वं गर्भो भवसि । किं बहुना । विश्वस्य सर्वस्यापि भूतस्य भूतजातस्य त्वं गर्भो भवसि । अग्नेः सर्वजगत्परिपाकहेतुत्वेन सर्वत्र अन्तरवस्थानात् । ईदृशस्त्वम् इमं मे मदीयं जनम् अगदम् रोगरहितं कृधि कुरु ॥

हे अग्ने ! आप जिनमें पाक है ऐसी सब ओषधियोंमें गर्भरूपसे भीतर स्थित हैं और हे अग्ने ! आप शीतल स्पर्श वाले हिमवान् आदि पर्वतोंमें वा शीत स्पर्श वाली औषधियोंमें भीतर गर्भरूपसे रहते हैं, अधिक क्या आप सब प्राणियोंमें गर्भरूपसे रहते हैं । ऐसे हे अग्निदेव ! आप मेरे मनुष्यको रोगरहित करिये ॥ ३ ॥

दशमी ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

याः । ओषधयः । सोमऽराज्ञीः । बह्वीः । शतऽविचक्षणाः
बृहस्पतिऽप्रसूताः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १ ॥

या ओषधयः वीरुधः सोमराज्ञीः सोमः अमृतमयो देवो राजा ईश्वरो यासां तास्तथोक्ताः । ❀ बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । बह्वीः बह्व्यः अनेकविधाः । ❀ "बह्वादिभ्यश्च" इति ङीष् ❀ । शतविचक्षणाः शतविधदर्शनाः । रसवीर्यविपाकेन नानाविधज्ञानोपेता इत्यर्थः । बृहस्पतिप्रसूताः बृहस्पतिना देवेन तत्तद्रोगभैषज्येषु प्रसूताः प्रेरिताः। विनियुक्ता इत्यर्थः । तास्तथाविधा ओषधयः नः अस्मान् अंहसः पापात् नानाविधरोगनिदानात् मुञ्चन्तु विसृजन्तु पृथक् कुर्वन्तु ॥

जिन औषधियोंका राजा सोम है, जो अनेक प्रकार की हैं, जो रसवीर्यविपाकसे अनेक प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न हैं और बृहस्पतिदेवके द्वारा अनेक रोगोंमें विनियुक्त हुई हैं, वे औषधियें हम को अनेक प्रकारके रोगोंके निदान पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

एकादशी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या॑दुत ।

अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।

अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देवऽकिल्बिषात् २

आपः ओषधयो वा मा मां शपथ्यात् शपथजनिताद् ब्राह्मणाक्रोशजात् पापाद् मुञ्चन्तु वियोजयन्तु । अथो अपि च । उतशब्दः अप्यर्थे । वरुण्यात् वरुणकृताद् अनृतवदनादिजनितात् पापादपि मुञ्चन्तु।"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" इति हि श्रुतिः [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] । अथो अपि च यमस्य अन्तकस्य संबन्धिनः पड्वीशात् पादबन्धनपाशाद् मुञ्चन्तु । ❁ पड्वीशशब्दः पृषोदरादिः ❁ । किम् अनेन विशेषकथनेन । विश्वस्मात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् देवकृतात् पापाद् मां मुञ्चन्तु ॥

जल वा औषधियें मुझको शपथजनित ब्राह्मणके आक्रोशरूप पापसे अलग रक्खें और झूंठ बोलनेसे होने वाले वरुणके अधिकारके पापसे भी मुझको अलग करें, और यमराजके अधिकारके पादबन्धनसे भी मुझको मुक्त रक्खें और क्या सब ही देवसम्बन्धी पापोंसे मुझको मुक्त रक्खें ॥ २ ॥

द्वादशी ॥

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः

सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

यत् । चक्षुषा । मनसा । यत् । च । वाचा । उपऽआरिम ।

जाग्रतः । यत् । स्वपन्तः ।

सोमः । तानि । स्वधया । नः । पुनातु ॥ ३ ॥

जाग्रतः जाग्रदवस्थापन्ना इन्द्रियैः शब्दस्पर्शादिविषयान् व्यवहरन्तो वयम् । ❀ जागृ निद्राक्षये । अस्मात् लटः शत्रादेशः । "जक्षित्यादयः०" इति अभ्यस्तत्वाद् "नाभ्यस्तात्०" इति नुमभावः ❀ । चक्षुषा । उपलक्षणम् एतत् । चक्षुरादीन्द्रियेण प्रतिषिद्धबाह्यविषयगतरूपादिग्राहिणा । मनसा प्रतिषिद्धविषयसंकल्पविकल्पजनकेन मानसेन्द्रियेण यद् उपारिम यत् पापम् उपगताः । ❀ ऋ गतौ इत्यस्मात् लिटि रूपम् ❀ । यच्च पापं वाचा । कर्मेन्द्रियाणाम् उपलक्षणम् एतत् । वागादिकर्मेन्द्रियेण कामचारवादादिना उपगताः स्मः । तथा स्वपन्तः स्वप्नावस्था वयं तत्र बाह्येन्द्रियाणाम् उपरमात् केवलं मनसैव यत् पापं चकृम नः अस्माकं तानि पापानि सोमः पितृलोकाधिपतिर्देवः स्वधया पितॄन् उद्दिश्य अस्माभिः क्रियमाणया । स्वधाकारोपलक्षितेन पित्र्यकर्मणेत्यर्थः । पुनातु शोधयतु । ❀पूञ् पवने । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ ॥

[इति] दशमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जागते हुए हम इन्द्रियोंसे शब्द स्पर्श आदि विषयोंका व्यवहार करते हुए, प्रतिषिद्ध बाहरी विषयोंके रूप आदिको ग्रहण करनेवाली चक्षु आदि इन्द्रियोंसे और निषिद्ध विषयोंका संकल्प विकल्प कर मनसे जिस पापको कर चुके हैं । और वाणी आदि कर्मेन्द्रियके कामचार कामवाद आदिसे जिस पापमें फँस गए हैं । तथा सोतेमें बाह्येन्द्रियोंका उपरम होनेसे केवल मनसे ही जिन पापोंको कर गए हैं । हमारे इन सब पापोंको पितृलोकके अधिपति सोमदेवता पितरोंके निमित्त कीहुई हमारी स्वधासे अर्थात् पितृकर्मसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

दशम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२६९) ॥

"अभिभूः" [६. ६७] "इन्द्रो जयाति" [६. ६८] "अभि त्वेन्द्र" [६. ६९] इति तृचैः संग्रामजयकर्मणि आज्यहोमं भक्त-

होमम् धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानम् शरेध्मेऽग्नौ शरसमिदाधानम् संपातिताभिमन्त्रितधनुःप्रदानं वा कुर्यात्। ‘ अभिभूः इन्द्रो जयाति अभि त्वेन्द्र इति सांग्रामिकाणि । आज्यसक्तून् जुहोति” इत्यादि-सूत्रात् [कौ० २. ५] ॥

तथा एषां तृचानाम् अपराजितगणे पाठाद् उपाकर्मादिषु “अभयैरपराजितैः” इति [कौ० १४. ३] “अपराजितगणोपराजितायाम्” [न० क० १८] इति च एवमादिषु गणप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा इन्द्रमहाख्ये कर्मणि एतैस्तृचैः पूर्णहोमं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि एतैस्तृचैः पशव आलब्धव्याः ॥

तथा तत्रैव एतैरिन्द्रोपस्थानं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “अभिभूर्यज्ञ इत्येतैस्त्रिभिः सूक्तैरन्वारब्धे राजनि पूर्णहोमं जुहुयात्” इत्यादि [कौ० १४. ४] ॥

अत्र “इन्द्रो जयाति” इति तृचेन परसेनाविद्वेषणकर्मणि राजा सेनां त्रिः परिगच्छेत् । “परि वर्त्मानि [६. ६७] इन्द्रो जयाति [६. ९८] इति राजा त्रिः सेनां परियाति” इति सूत्रात् [कौ० २. ७] ॥

तथा महाव्रते संनद्धं राजानम् अन्यं वा ब्रह्मा अनेन अनुमन्त्रयेत । “राजानम् अन्यं वा मर्माणि ते [७. १२३] इति संनद्धम् इन्द्रो जयाति [६. ९८] इत्यनुमन्त्रयते” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ६. ४]॥

“अभिभूः” (इस छठे काण्डके ९७ वें) “इन्द्रो जयाति” (इस छठे काण्डके ९८ वें) और “अभि त्वेंद्र” (इस छठे काण्डके ९९ वें) तृचोंसे संग्रामजयकर्ममें घृत, होम, सक्तुहोम, धनुषरूपी ईंधन वाली अग्निमें धनुषरूपी समिधाओंका आधान, वा संपातित अभिमन्त्रित धनुषका प्रदान करे। कौशिकसूत्र

२ । ५ में कहा है, कि–"अभिभूः इन्द्रो जयाति अभि त्वेन्द्र इति सांग्रामिकाखि । आज्यसक्तून् जुहोति०"।

तथा इन तृचोंका अपराजितगणमें पाठ होनेसे "अभयैपराजितैः-अभय और अपराजितगणके सूक्तोंसे आहुति देय" (कौशिक सूत्र १४ । ३) तथा "अपराजितगणोऽपराजितायाम् ।–अपराजित महाशांतिमें अपराजितगणका प्रयोग होता है" (नक्षत्रकल्प १८) इत्यादि अवसरों पर गणके कारण विनियोग करना चाहिये

तथा इन्द्रमहात्म्य नाम वाले कर्ममें इन तृचोंसे पूर्णहोम करे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इन तृचोंसे पशुओंका आलभन करे।

तथा तहाँ ही इन तृचोंसे इन्द्रका उपस्थान करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अभिभूर्यज्ञ इत्येतैस्त्रिभिः सूक्तैरन्वारब्धे राजनि पूर्णहोमं जुहुयात्०" (कौशिकसूत्र १४ । ४) ॥

इनमें 'इन्द्रो जयाति' इस तृचसे परसेनाविद्वेषणकर्ममें राजा सैनाकी ओर तीन वार जावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है कि–"परिवर्त्मानि (६ । ६७) इन्द्रो जयति (६ । ९८) इति राजा त्रिः सेनां परियाति" (कौशिकसूत्र २ । ७)

तथा महाव्रतके लिये उद्यत राजाको वा दूसरेको ब्रह्मा इससे अनुमन्त्रित करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ६ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"राजानं वा अन्यं वा मर्माणि ते (७ । १२३) इति सन्नद्धं इन्द्रो जयाति (६ । ९८) इत्यनुमन्त्रयते" ॥

तत्र प्रथमा ॥

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

अभिऽभूः । युज्ञः । अभिऽभूः । अग्निः । अभिऽभूः । सोमः । अभिऽभूः । इन्द्रः ।

अभि । अहम् । विश्वाः । पृतनाः । यथा । असानि । एव । विधेम । अग्निऽहोत्राः । इदम् । हविः ॥ १ ॥

यज्ञः अस्माभिर्जयकामैः क्रियमाणो यागः अभिभूः शत्रूणाम् अभिभविता भवतु । तथा यागनिष्पादकोयं सांग्रामिकोग्निः अभिभूः अभिभविता अस्तु । यागसाधनभूतः सोमः अभिभूः शत्रूणाम् अभिभविता । तेन सोमेन तर्पित इन्द्रः अभिभूः अभिभविता ॥ अहं शत्रुजयकामः विश्वाः सर्वाः पृतनाः सेनाः शात्रवीः यथा अभ्यसानि अभिभवानि एव एवम् अग्निहोत्राः अग्नौ जुह्वतो वयम् इदं संग्रामजयार्थं हविः विधेम विदध्याम । ❀ विध विधाने । तौदादिकः ❀ ॥

हम विजय चाहने वालोंका किया हुआ याग शत्रुओंको दबाने वाला हो, तथा यागको निष्पन्न करने वाली यह सांग्रामिक अग्नि भी शत्रुओंका तिरस्कार कराने वाली हो, यागका साधनभूत सोम भी शत्रुओंका तिरस्कार करानेवाला हो, शत्रुओंको जीतना चाहने वाला मैं शत्रुकी सम्पूर्ण सेनाओंको जिस प्रकार दबाने वाला बनूँ तिस लिये हम संग्राममें विजय दिलाने वाली हविको अग्निमें होमते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्

स्वधा। अस्तु। मित्रावरुणा। विपःऽचिता। प्रजाऽवत्। क्षत्रम्। मधुना।
इह। पिन्वतम्।

बाधेथाम्। दूरम्। निःऽऋतिम्। पराचैः। कृतम्। चित्। एनः।
प्र। मुमुक्तम्। अस्मत्॥ २॥

हे विपश्चिता विपश्चितौ मेधाविनौ हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ युवाभ्यां स्वधा। अन्ननामैतत्। हविर्लक्षणम् अन्नम् अस्तु तृप्तिकरं भवतु। तौ युवाम् इह अस्मिन् राजनि प्रजावत् प्रजाभिर्युक्तं क्षत्रम् बलं मधुना मधुररसेन पिन्वतम् सिञ्चतम्। ❀ पिवि सेचने। इदित्वान्नुम् ❀। निर्ऋतिम् पापदेवतां पराजयकारिणीं पराचैः पराङ्मुखं दूरं बाधेथाम्। अस्मत्तो दूरदेशे यथा सा पराङ्मुखी विनश्यति तथा हिंस्तम् इत्यर्थः। कृतं चित् शत्रुभिः कृतमपि एनः पापं पराजयनिमित्तम् अस्मत् सकाशात् प्र मुमुक्तम् प्रमोचयतम्। ❀ मुच्लृ मोक्षणे। छान्दसः शपः श्लुः ❀॥

हे मित्र और वरुण नाम वाले विद्वान् देवताओं! यह हविरूप स्वधा–अन्न आपको तृप्त करने वाला होवे, तुम दोनों इस राजा में प्रजाओंसे सम्पन्न बलको मधुरभावसे सींचो, और पापकारिणी निर्ऋतिदेवताको हमसे पराङ्मुख करके नष्ट करो और शत्रुओं के किये हुए भी पराजयरूप पापसे हमको मुक्त करो॥ २॥

तृतीया॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ ३॥

इमम् । वीरम् । अनु । हर्षध्वम् । उग्रम् । इन्द्रम् । सखायः । अनु । सम् । रभध्वम् ।

ग्रामऽजितम् । गोऽजितम् । वज्रऽबाहुम् । जयन्तम् । अज्म । प्रऽमृणन्तम् । ओजसा ॥ ३ ॥

इमम् अस्मदीयं वीरम् वीर्यवन्तं राजानम् अनु हे सैनिकाः हर्षध्वम् वीररसेन हृष्टा भवत । कीदृशम् । उग्रम् उद्गूर्णबलम् इन्द्रम् परमैश्वर्ययुक्तम् हे सखायः समानख्यानाः सैनिकाः अनु सं रभध्वम् राजानम् अनुसृत्य युद्धोद्युक्ता भवत । यद्वा इन्द्रः संग्रामाधिदेवता स एवात्र स्तूयते । अस्मिन् पक्षे हे सखायः समानख्याना मरुत इत्येतावानेव विशेषः । कीदृशम् इन्द्रम् । ग्रामजितम् ग्रामान् जयन्तं गोजितम् गाः शात्रवीर्जयन्तम् अपहरन्तं वज्रबाहुम् वज्रहस्तम् उद्यतायुधम् अत एव जयन्तम् शत्रून् पराजितान् कुर्वन्तम् । अज्म अजनशीलं क्षेपणशीलं शत्रुबलम् ओजसा बलेन प्रमृणन्तम् प्रकर्षेण हिंसन्तम् । ❀ मृण् हिंसायाम् । "आभ्यस्तयोरातः" इति आल्लोपः ❀ ॥

हे सैनिकों ! इस वीर्यवाले राजाके पीछे तुम वीररसमें भर प्रसन्न होओ. हे मित्रो ! इस प्रचण्ड बली परमैश्वर्यसम्पन्न ग्रामोंको जीतते हुए, शत्रुओंकी गौओंको जीतते हुए, वज्रकी समान भुजा उठा कर शत्रुओंको जीतते हुए, बाण फेंकनेके स्वभाव वाले और बलसे शत्रुओंके दबाने वाले राजाके अनुकूल रह कर तुम युद्धके लिये उद्यत होजाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥१॥

इन्द्रः । जयाति । न । परा । जयातै । अधिऽराजः । राजऽसु । राजयातै ।

चर्कृत्यः । ईड्यः । वन्द्यः । च । उपऽसद्यः । नमस्यः । भव । इह

अस्मिन् संग्रामे अस्य राज्ञः साहाय्यार्थम् आगत इन्द्रः तदात्मको वा अयं राजा जयाति जयतु न परा जयातै पराजयं मा प्राप्नोतु । अधिको राजा अधिराजः सर्वेषां राज्ञाम् अधिपतिरिन्द्रः राजसु अन्येषु भूपालेषु राजयातै अस्मान् राजयतु प्रकाशयतु वीर्यवत्तया प्रख्यापयतु । ❀ राजयतेर्लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ । स च इन्द्रः चर्कृत्य अतिशयेन शत्रूणां कर्तितः छेत्ता । ❀ कृती छेदने इत्यस्माद् यङन्तात् पचाद्यच् ❀ । ईड्यः स्तुत्यः वन्द्यः वन्दनीयः । ❀ उभयत्र "ऋहलोर्ण्यत्" । इति ण्यत् "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । उपसद्यः उपसदनीयः सर्वैः सेवनीयः । हे इन्द्र यस्मात् त्वम् एवंगुणविशिष्टः तस्माद् इह अस्मिन् संग्रामे नमस्यः अस्माभिः पूजनीयो भव । ❀ "नमसः पूजायाम्" इति स्मरणाद् नमःशब्दात् पूजार्थे "नमोवरिवः०" इति क्यच् । तदन्तात् पचाद्यच् ❀ ॥

इस संग्राममें इस राजाकी सहायताके लिये आये हुए इन्द्रदेव वा इन्द्रस्वरूप यह राजा विजय पावें, पराजित न होवे । सब राजाओंके अधि पति इन्द्र सब राजाओंमें वीर्यवान्के रूपसे इस को अधिक प्रकाशित करें । हे इन्द्र ! आप शत्रुओंको घोरछेदन करनेवाले हैं, स्तुति और वन्दनाके पात्र हैं और सबको इनका सेवन करना चाहिये, हे इन्द्र ! क्योंकि–आपमें ऐसे गुण हैं, इस कारण आप इस संग्राममें हमसे पूजनीय हूजिये ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु

त्वम् । इन्द्र । अधिऽराजः । श्रवस्युः । त्वम् । भूः । अभिऽभूतिः । जनानाम् ।
त्वम् । दैवीः । विशः । इमाः । वि । राज । आयुष्मत् । क्षत्रम् । अजरम् । ते । अस्तु ॥ २ ॥

इन्द्राभेदेन राज्ञः स्तुतिः । हे इन्द्र त्वम् अधिराजः राज्ञाम् अन्येषाम् अधिकः सन् श्रवस्युः । श्रव इत्यन्नस्य यशसो वा नामधेयम् । तद्युक्तो भवसि । ❀ "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । अधिराज इति । "राजाहःसखिभ्यः०" इति टच् समासान्ताः ❀। हे इन्द्र त्वं जनानाम् सर्वेषां प्राणिनाम् अभिभूतिः अभिभविता स्वमहिम्ना तिरस्कर्ता भूः भवसि । ❀ भवतेश्छान्दसे लुङि "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ । दैवी देवसंबन्धिनीः इमा विशः प्रजाः त्वं वि राज ईशिष्व । ❀ राजितः ऐश्वर्यकर्मा ❀ । आयुष्मत् चिरकालजीवनोपेतम् अजरम् जरारहितम् अपचयरहितं क्षत्रम् बलम् अस्तु भवतु । ❀ अजरम् इति । "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे इन्द्रके अभेदत्वसे सम्पन्न राजन् ! आप और राजाओंसे अधिक होकर अन्नसम्पन्न बनिये । हे इन्द्र ! आप अपनी महिमा से सब प्राणियोंका तिरस्कार कर डालते हैं । इन देवसम्बन्धी प्रजाओंके आप स्वामी बनिये, हे राजन् ! आपका बल चिरकाल तककी आयु—स्थिरता—और अपचयरहित होवे ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि ।

यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः ॥

प्राच्याः । दिशः । त्वम् । इन्द्र । असि । राजा । उत । उदीच्याः । दिशः । वृत्रऽहन् । शत्रुऽहः । असि ।

यत्र । यन्ति । स्रोत्याः । तत् । जितम् । ते । दक्षिणतः । वृषभः । एषि । हव्यः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र त्वं प्राच्या दिशः राजासि अधिपतिर्भवसि । उत उदीच्याः उत्तरस्या अपि दिशः अधिपतिरसि । प्राचीग्रहणं प्रतीच्या अप्युपलक्षणम् । उदीचीग्रहणं दक्षिणस्य अपि उपलक्षणम् । अत एव देशस्य द्वैविध्यम् उक्तम् ।

देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः

इति । तस्मात् सर्वासां दिशाम् अधिपतिरसीत्यर्थः । हे वृत्रहन् वृत्राणां शत्रूणां हन्तरिन्द्र त्वं शत्रुहोसि अस्मदीयानां शत्रूणां हन्ता भवसि । ❀ "आशिषि हनः" इति हन्तेर्डप्रत्ययः ❀ । यत्र यस्मिन् भूप्रदेशे स्रोत्याः स्रोतोर्हा जलप्रवाहा यन्ति प्रवहन्ति तत् सर्वं स्थानं ते तव जितम् स्वकीयमेव भवति। कृत्स्नं भूमण्डलं त्वदायत्तमेवेत्यर्थः । ईदृशो वृषभः कामानां वर्षिता हव्यः अस्माभिराह्वातव्यः सन् संग्रामजयार्थं दक्षिणतः अस्मद्दक्षिणभागे युद्धसमये एषि गच्छ साहाय्यार्थं वर्तस्व । ❀ हव्य इति । "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणे "अचो यत्" इति यत् । "यतोनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ [इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप पूर्वदिशाके राजा हैं और उत्तर दिशाके भी अधिपति हैं (पश्चिम और दक्षिणदिशा के भी अधिपति हैं) अतः सकल दिशाओंके अधिपति हैं। हे शत्रुओंका संहार करने वाले इन्द्र ! आप हमारे शत्रुओंको मार डाला करते हैं। जहाँ पर सोतोंसे चलनेवाला प्रवाह होता है वे सब स्थान आपके ही हैं अर्थात् सारा भूमण्डल आपके अधीन है। कामनाओंकी वर्षा करनेवाले ऐसे आप हमारे बुलाने पर संग्रामजयके लिये सहायता देनेके निमित्त हमारी सहायता करिये ॥ २ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (२६१) ॥

"अभि त्वेन्द्र" इति तृचस्य संग्रामजयादिकर्मसु पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रमपि तत्रैवोदाहृतम् ॥

तथा अग्निष्टोमे प्रातःसवने अनेन ब्रह्मा स्तोत्रम् अनुमन्त्रयेत । "अभि त्वेन्द्रेति स्तोत्रानुमन्त्रणम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ८] ॥

"देवा अदुः" इति तृचेन स्थावरजङ्गमविषभैषज्यार्थं वल्मीकमृदः संपातिताभिमन्त्रिताया बन्धनम् उदकेन सह पायनम् आचमनम् प्रलेपनं वा कुर्यात् । सूत्रितं हि । "देवा अदुरिति वल्मीकेन बन्धनपायनाचमनप्रदेहनम् उदकेन" इति [कौ० ४. ७]॥

तथा आहिताग्नेरन्त्यसंस्कारे पुरोडाशं हृदये निधाय अनेन अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "देवा अदुरित्युरसि पुरोडाशम्" इति [कौ० ११. २] ॥

'अभित्वेन्द्र' इस तृचका संग्रामजय आदि कर्मोंमें विनियोग पहिले सूक्तमें ही कह दिया और सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।

तथा अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें इससे ब्रह्मा स्तोत्रका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि— "अभि त्वेन्द्रेति स्तोत्रानुमन्त्रणम्" (वैतानसूत्र ३ । ८)

'देवा अदुः' इस तृचसे स्थावर (वृक्ष कन्द आदि) के और जङ्गम (चलनेवाले सर्प बिच्छू आदि) के विषकी चिकित्साके लिए सम्पातित अभिमन्त्रित बमईकी मट्टीको बाँधे, जलके साथ पिलावे, आचमन करावे वा लेप कर देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"देवा अदुरिति वल्मीकेन बन्धनपायनाचमनप्रदेहनम् उदकेन" (कौशिकसूत्र ४ । ७) ॥

तथा आहिताग्निके अन्तिमसंस्कारमें पुरोडाशको हृदय पर रख कर इससे अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"देवा अदुरित्युरसि पुरोडाशम्" (कौशिकसूत्र ११।२)

तत्र प्रथमा ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । इन्द्र । वरिमतः । पुरा । त्वा । अंहूरणात् । हुवे ।
ह्वयामि । उग्रम् । चेत्तारम् । पुरुऽनामानम् । एकऽजम् ॥ १ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वां वरिमतः उरुत्वाद्धेतोः । ❀ उरुशब्दाद्द इमनिचि "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वर् आदेशः ❀। विस्तीर्णशरीरत्वेन युगपत्संनिधानसमर्थत्वात् संग्रामेषु अंहूरणात् कुटिलगमनात् पराजयनिमित्तात् पुरा पूर्वमेव अभि हुवे आभिमुख्येन ह्वयामि । आह्वाने कारणम् आह । उग्रम् उद्गूर्णबलं चेत्तारम् वेदितारं जयोपायज्ञं पुरुनामानम् पुरुभिर्बहुभिः प्रशस्तैर्नामधेयैर्युक्तम् यद्वा बहूनां शत्रूणां नमयितारम् एकजम् । एक एव जायते युद्धेषु प्रादुर्भवतीति एकजः । तम् असहायशूरम् इन्द्रं ह्वयामि ॥

हे इन्द्र! विस्तीर्ण शरीर वाला होनेसे एक वार ही संनिधान करनेमें समर्थ होनेसे, मैं आपका संग्राममें पराजयनिमित्तक कुटिल

गमनसे पहिले ही अभिमुख करके आह्वान करता हूँ (आह्वान करनेका कारण यह है, कि-) आप प्रचण्ड बली हैं विजयके उपायोंको जानने वाले हैं और आपके बहुतसे नाम हैं और आप असहाय (किसीकी सहायताकी अपेक्षा न रखने वाले) शूर हैं १

द्वितीया ॥

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।

इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । जिघांसन् । नः । उत्ऽईरते ।

इन्द्रस्य । तत्र । बाहू इति । समन्तम् । परि । दद्मः ॥ २ ॥

अद्य इदानीं सेन्यः शत्रुसेनासंबन्धी यो वधः हननसाधनम् आयुधं नः अस्मान् जिघांसन् हन्तुम् इच्छन् उदीरते उद्गच्छति । ❀ ईर गतौ कम्पने च । छान्दसः शपो लुगभावः । जिघांसन्निति । "अज्झनगमां सनि" इति दीर्घः । "अभ्यासाच्च" इति कुत्वम् ❀ । तत्र तस्मिन् वधे इन्द्रस्य बाहू हस्तौ अस्मद्रक्षार्थं समन्तम् सर्वतः परि दध्मः प्राकारवत् परितो धारयामः ॥

इस समय जो शत्रुसेनाका आयुध हमको मारनेके लिये उठ रहा है, ऐसे अवसर पर हम इन्द्रकी भुजाओंको अपनी रक्षा करनेके लिये चारों ओरसे परकोटेके रूपमें धारण करते हैं ॥२॥

तृतीया ॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।

देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ३

परि । दद्मः । इन्द्रस्य । बाहू इति । समन्तम् । त्रातुः । त्रायताम् । नः ।

देव । सवितः । सोम । राजन् । सुऽमनसम् । मा । कृणु । स्वस्तये ३

त्रातुः पालयितुरिन्द्रस्य बाहू हस्तौ समन्तम् सर्वतः परि दध्मः। अतः स इन्द्रः नः अस्मान् त्रायताम् रक्षतु ॥ हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव हे राजन् सोम स्वस्तये क्षेमाय अविनाशाय मा मां संग्रामे सुमनसम् जयेन शोभनमस्कं कृणु कुरु । ❀ "सोर्मनसी अलो-मोषसी" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

पालन करनेवाली इन्द्रकी भुजाओंको हम चारों ओरसे धारण करते हैं अत एव इन्द्र हमारी रक्षा करें। हे सबके प्रेरक सविता देव ! और हे राजा सोम ! आप हमारा कल्याण करते हुए संग्राममें विजय पानेसे हमको शोभन मन वाला करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।
तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

देवाः । अदुः । सूर्यः । अदात् । द्यौः । अदात् । पृथिवी । अदात् ।
तिस्रः । सरस्वतीः । अदुः । सऽचित्ताः । विषऽदूषणम् ॥ १ ॥

देवा इन्द्रादयः सर्वे सचित्ताः समानमनस्काः सन्तः विषदूषणम् विषस्य स्थावरजङ्गमोद्भवस्य दूषकं निवर्तकम् औषधम् अदुः दत्तवन्तः । ❀ आशंसायां भूतवत्प्रत्ययः । डुदाञ् दाने । लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । "आतः" इति झेर्जुस् आदेशः ❀। सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्योपि विदूषणम् अदात् ददातु । द्यौः द्युलोकः अदात् ददातु । पृथिवी भूमिदेवता अदात् ददातु। तिस्रः त्रिसंख्याकाः सरस्वतीः सरस्वत्यस्त्रयीरूपाः । यद्वा इडा सरस्वती भारतीति तिस्रो देव्यः साहचर्यात् सरस्वत्य उच्यन्ते । ताश्च विष-निवारकम् इदम् औषधम् अदुः ददतु प्रयच्छन्तु ॥

३५ ।

इन्द्र आदि सब देवता एकसे मनसे हमको स्थावर और जंगम विषको दूर करने वाली औषधि दें, सबके प्रेरक आदित्यदेव भी हमें विषको दूर करने वाला पदार्थ दें, द्युलोक और पृथिवी-लोक भी विषको दूर करने वाली औषधि हमको दें, इड़ा सर-स्वती और भारती यह तीन देवियें भी हमको विषनिवारक औषधि दें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।

तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

यत् । वः । देवाः । उपऽजीकाः । आऽअसिञ्चन् । धन्वनि । उदकम् ।

तेन । देवऽप्रसूतेन । इदम् । दूषयत । विषम् ॥ २ ॥

हे देवाः वः युष्माकं संबन्धिन्यः उपजीकाः वल्मीकस्य निर्मात्र्यः एतत्संज्ञाः प्राणिविशेषा धन्वनि निरुदके स्थाने युष्मदीयाद् वर-प्रदानाद् यद् उदकम् आसिञ्चन् अक्षारयन् । तथा च तैत्तिरीय-कम् । "ता उपदीका अब्रुवन् वरं वृणामहै । अथ व इमं रन्धयाम । यत्र क्व च खनाम तदपोभितृणदामेति । तस्माद् उपदीका यत्र क्व च खनन्ति तदपोभितृन्दन्ति" इति [तै० आ० ५. १. ४] । तेनोदकेन देवप्रसूतेन देवैर्दत्तेन इदं विषं दूषयत निवर्तयत ॥

हे देवताओ ! तुम्हारी इन वमईकी मृत्तिकाको बनाने वाली उपजीकाओंने जलरहित स्थानमें आपके प्रसादसे जलको क्षरित किया है † उस देवताओंके दिये हुए जलसे इस विषको दूर करो २

† तैत्तिरीय आरण्यक ५ । १ । ४ में कहा है, कि-'ता उप-दीका अब्रुवन् वरं वृणामहै अथ व इदं रन्धयामः । यत्र क्व च खनाम तदपोऽभितृणदामेति । तस्माद् उपदीका यत्र क्व च खनंति

षष्ठी ॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा ।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ २ ॥

असुराणाम् । दुहिता । असि । सा । देवानाम् । असि । स्वसा ।
दिवः । पृथिव्याः । सम्ऽभूता । सा । चकर्थ । अरसम् । विषम् ।

हे वल्मीकमृत्तिके असुराणाम् सुरविरोधिनां दानवानां दुहितासि कुमारी भवसि । देवानाम् इन्द्रादीनामपि सा त्वं स्वसासि भगिनी भवसि । दिवः अन्तरिक्षाद् अवकाशात्मकात् पृथिव्याश्च संभूता उत्पन्ना सा वल्मीकमृत्तिका विषम् स्थावरजङ्गमोद्भवम् अरसम् रसरहितं निर्वीर्यं चकर्थ आकर्षतु । ॐ कृष आकर्षणे । छान्दसो लिट् ॐ ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे वल्मीकमृत्तिके (बमईकी मिट्टी !) तू देवताओंसे द्वेष रखने वाले दानवोंकी पुत्री है और देवताओंकी भी बहिन है है । अवकाशात्मक अन्तरिक्षसे और पृथिवीसे उत्पन्न हुई वल्मीकमृत्तिका स्थावर और जंगम विषको निर्वीर्य करे ॥ २ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (२७२) ॥

तदपोऽभि वृन्दन्ति ॥—उपदीका (उपजीका) ओंने कहा, कि—हम वर माँगे । उन्होंने यह विचारा, कि—हम इस कामको सिद्ध करें, कि—जहाँ कहीं हम खोदें, तहाँ जलको प्रकट करें । इस कारण उपदीकाएँ जहाँ खोदती हैं, तहाँ जलको प्रकट करती हैं ॥

"आ वृषायस्व" इति तृचेन वाजीकरणकामः एकशाखार्क-मणिं संपात्य अभिमन्त्र्य अर्कसूत्रेण बध्नीयात् ॥

तथा कृष्णमृगचर्ममणिं संपात्य अभिमन्त्र्य कृष्णमृगवालेन बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि। "आ वृषायस्वेत्युभयम् अप्येति" इति [कौ० ५.४]

"यथायं वाहः" इति तृचेन स्त्रीवशीकरणकर्मणि वृक्षत्वक्शर-खण्डतगराञ्जनकुष्ठवातसंभ्रमतृणादिद्रव्याणि पेषयित्वा आज्येन आलोड्य स्त्रिया अङ्गम् अनुलिम्पेत् । सूत्रितं हि । "वाञ्छ मे [६. ६] यथायं वाहः [६. १०२] इति संस्पृष्टयोर्वृत्तलिखुजयोः शकलावन्तरेणेषुतगराञ्जनकुष्ठमधुघरेष्मयितवृणम् आज्येन संनीय संस्पृशति" इति [कौ० ४. ११] ॥

वाजीकरणको चाहने वाला 'आवृषायस्व' इस तृचसे एक शाखार्ककी मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके अर्कसूत्र से बाँधे।

तथा कृष्णमृगकी चर्ममणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके कृष्णमृगके वालसे बाँधे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आ वृषायस्वेत्युभयं अप्येति" (कौशिकसूत्र ५ । ४) ॥

'यथायं वाहः' इस तृचसे स्त्रीवशीकरणकर्ममें वृक्षकी छाल सेंटेके टुकड़े तगर अञ्जन कूट वातसंभ्रमतृण आदि द्रव्योंको पीस कर घृतमें मिला कर स्त्रीके अंग पर चुपड़ दिये। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"वाञ्छ मे (६ । ६) यथायं वाहः (६ । १०२) इति संस्पृष्टयोर्वृत्तलिखुजयोः शकलावन्तरेणेषु-तगराञ्जनकुष्ठमधुघरेष्मयिततृणं आज्येन संनीय संस्पृशति" (कौशिक सूत्र ४ । ११) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्र॒थय॑स्व च ।
य॒थाङ्गं व॑र्धतां॒ शेप॒स्तेनं॑ यो॒षित॒मिज्जं॑हि ॥ १ ॥

आ । वृ॒ष॒ऽयस्व । श्व॒सि॒हि । वर्ध॑स्व । प्र॒थय॑स्व । च॒ ।
य॒था॒ऽअ॒ङ्गम् । व॒र्ध॒ता॒म् । शेपः॑ । तेन॑ । यो॒षित॑म् । इत् । ज॒हि॒ १

हे पुरुष त्वम् आ वृषायस्व आ समन्तात् वृषा सेचनसमर्थः पुङ्गवः स इव आचर । अनेन बद्धेन अर्कमणिना बहुरेतस्को भवेत्यर्थः । ❀ वृषशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् ❀ । श्वसिहि प्राणिहि । दृढप्राणो बलवान् भवेत्यर्थः । ❀ श्वस प्राणने । अदादित्वात् शपो लुक् । "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इति इडागमः ❀ । वर्धस्व उपचीयमानावयवो भव प्रथयस्व च विस्तीर्णशरीरो भव । ❀ प्रथ विस्तारे । चुरादिरदन्तः ❀ । यथा येन प्रकारेण त्वदीयम् अङ्गं शेपः पुंस्प्रजननं वर्धताम् । उपचितावयवं सत् मिथुनीभवनक्षमं भवति तथा वर्धस्व प्रथयस्व चेति संबन्धः । तेन प्रवृद्धेन शेपसा योषितम् सुरतार्थिनीं स्त्रियं जहि गच्छ । इच्छब्दः अवधारणे । स च उक्तफलस्य अव्यभिचारं सूचयति ॥

हे पुरुष ! तू सेचनसमर्थ वृषभकी समान आचरण कर, अर्थात् इस बँधी हुई मणिके प्रभावसे बहुतसे वीर्यवाला हो, दृढ़प्राण बलवान् हो, बढ़े हुए अंग वाला हो और विस्तीर्ण शरीर वाला भी हो । जिस प्रकारसे तेरा पुंस्प्रजनन बढ़े उपचित अवयव वाला होकर मिथुनीभवनक्षम हो तिस प्रकार बढ़ और फैल और उस बढ़े हुए शेपसे सुरतार्थिनी स्त्रीके पास ही जा ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम् ।
तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ २ ॥

येन । कृशम् । वाजयन्ति । येन । हिन्वन्ति । आतुरम् ।
तेन । अस्य । ब्रह्मणः । पते । धनुःऽइव । आ । तानय । पसः २

येन रसविशेषेण वशम् वन्ध्यं शुष्कवीर्यं पुरुषं वाजयन्ति वाजीकुर्वन्ति प्रजननसमर्थवीर्योपेतं कुर्वन्ति । येन रसविशेषेण आतुरम् रोगार्तं पुरुषं हिन्वन्ति प्रीणयन्ति पोषयन्ति । ❀ हिवि प्रीणने । इदित्वान्नुम् ❀ । हे ब्रह्मणस्पते मन्त्रराशेः पालक देव तेन रसविशेषेण अस्य वाजीकरणकामस्य पसः । प्रजनननामैतत् । पुंस्प्रजननं धनुरिव धनुर्दण्डमिव आ तानय आततम् उन्नमितं कुरु ॥

जिस रससे वन्ध्य पुरुषको–शुष्कवीर्य पुरुषको–प्रजननशक्तिसम्पन्न वीर्य वाला करते हैं और तिस रससे आतुर पुरुषको पुष्ट किया जाता है। हे मंत्रराशिके पालक ब्रह्मणस्पतिदेव ! उस रससे इस वाजीकरणकी कामना वालेके शिश्नको आप धनुषकी समान तना हुआ करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ३ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्ऽइव । धन्वनि ।
क्रमस्व । ऋशःऽइव । रोहितम् । अनवऽग्लायता । सदा ॥ ३ ॥

"आहं तनोमि" इत्येषा तृतीया पूर्ववद् [४. ४. ७] व्याख्येया ॥

हे वीर्याभिलाषिन् ! तेरे पुंव्यञ्जनको मैं मन्त्रके प्रभावसे धनुष पर चढ़ा कर तानी हुई प्रत्यञ्चाकी समान वीर्यसम्पन्न करता हूँ, इस कारण तू सेचन करनेमें समर्थ वृषभकी समान नाचते हुए मन और पुंव्यञ्जनके साथ सदा भार्याके पास जा ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥

यथा । अयम् । वाहः । अश्विना । सम्ऽएति । सम् । च । वर्तते ।
एव । माम् । अभि । ते । मनः । सम्ऽएतु । सम् । च । वर्तताम्

हे अश्विना अश्विनौ [यथा] अयं वाहः सुशिक्षितोश्वः समैति वाहकेच्छानुगुण्येन सम्यग् वा आगच्छति सं च वर्तते सम्यक् तदधीनं वर्तते च एव एवम् हे कामिनि ते त्वदीयं मनः मां कामुकम् अभिलक्ष्य समैतु सम्यग् आगच्छतु । सम्यग् मदधीनं वर्ततां च । मय्येव सर्वदा रमताम् इत्यर्थः ॥

हे अश्विनीकुमारो ! जैसे सुशिक्षित अश्व वाहककी इच्छाके अनुसार भली प्रकार आता है और उसके अधीन वर्ताव करता है, हे कामिनि ! इसी प्रकार मुझ कामुकको लक्ष्य करके तेरा मन आवे और मेरे अधीन रहकर भली प्रकार वर्ताव करे अर्थात् सदा मुझमें रमण करता रहे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

आ । अहम् । खिदामि । ते । मनः । राजऽअश्वः । पृष्ट्याम्ऽइव ।

रेष्मऽछिन्नम् । यथा । तृणम् । मयि । ते । वेष्टताम् । मनः ॥२॥

हे कामिनि ते तव मनः चित्तम् अहम् अनेन प्रयोगेण आ खिदामि मदभिमुखम् उत्खनामि उन्मूलयामि । आवर्जयामीत्यर्थः । ❀ खिद उत्खाते ❀ । तत्र दृष्टान्तः । राजाश्वः अश्वानां राजा राजाश्वः । ❀ राजदन्तादिषु पठितत्वात् षष्ठ्याः परनिपातः ❀ । स यथा अश्वश्रेष्ठः पृष्ट्याम् शङ्कुबद्धां सबन्धनरज्जुं लीलया आखिदति तद्वत् । रेष्मच्छिन्नम् रेष्मा रेषको वात्यात्मको वायुः तेन छिन्नं भग्नं तृणं यथा तद्वशं सत् परिभ्रमद् वर्तते हे कामिनि ते त्वदीयं मनः तद्वद् मयि वेष्टताम् मदधीनं सत् परिभ्राम्यतु मा कदाचिद् अपगच्छतु । ❀ वेष्ट वेष्टने ❀ ॥

हे कामिनि ! तेरे मनको इस प्रयोगसे मैं इस प्रकार उचाट करके अपनी ओरको खेंचता हूँ, जिस प्रकार अश्वोंका राजा खूँटेमें बँधी हुई रस्सी (पिछाड़ी) को लीलासे ही उखाड़ कर अपनी ओर खेंच लेता है, हे कामिनि ! जिस प्रकार वायुसे उखाड़ा हुआ तृण वायुमें चकराने लगता है, इसी प्रकार तेरा मन मेरे अधीन होकर मुझमें भ्रमण करता रहे-रमण करता रहे-कभी भी अन्यत्र न जावे ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

आऽअञ्जनस्य । मदुघस्य । कुष्ठस्य । नलदस्य । च ।

तुरः । भगस्य । हस्ताभ्याम् । अनुऽरोधनम् । उत् । भरे ॥३॥

आञ्जनस्य अञ्जनसाधनद्रव्यस्य त्रिककुत्पर्वतोद्भवस्य नीलाञ्जनादिमणेः मधुघस्य मधूकवृक्षस्य यष्टिमधुकस्य वा कुष्ठस्य एतत्संज्ञकस्य औषधस्य नलदस्य । सुगन्धिस्तृणविशेषो नलदः उशीरापरपर्यायः । एतेषां द्रव्याणाम् समुच्चयार्थश्चकारः । एतेषां समुदितानां द्रव्याणां संबन्धि अनुरोधनम् । अनुरुध्यते वशीक्रियते अनेनेति अनुरोधनम् अनुलेपनम् । ॐ अनौ रुध कामे इत्यस्मात् करणे ल्युट् ॐ । ईदृशम् अञ्जनादिद्रव्यसाधनभूतम् अनुलेपनं तुरः त्वरमाणस्य भगस्य सौभाग्यकरस्य देवस्य हस्ताभ्याम् अहम् उद् भरे उद्धरामि । त्वदीयम् अङ्गम् अनुलिम्पामीत्यर्थः ॥

चतुर्थं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये

षष्ठकाण्डे दशमोऽनुवाकः ॥

त्रिककुत् पर्वतमें उत्पन्न हुए नीलाञ्जन आदिके, मधूकवृक्षके कूटके और खसके उबटनेंको मैं त्वरा करने वाले सौभाग्यदायक देव भग देवताके हाथोंसे तेरे अंग पर लेपता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थं सूक्त समाप्त (२७५) ॥

अथर्ववेदसंहिताके छठे काण्डमें दशम अनुवाक समाप्त

एकादशेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । अत्र "संदानं वः" [१०३] "आदानेन" [१०४] इति तृचाभ्यां संग्रामजयकर्मणि भाङ्गपाशान् अन्यान् वा इङ्गिडालंकृतान् पाशान् संपात्य अभिमन्त्र्य परसेनाक्रमणस्थानेषु प्रक्षिपेत् । "संदानं व आदानेनेति पाशैरादानसंदानानि" इति हि सूत्रम् [कौ० २. ७] ॥

ग्यारहवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । यहाँ 'संदानं वः' (इस छठे काण्डके एकसौ तीनवें तृचसे) और 'आदानेन' (इस छठे काण्डके एकसौ चारवें तृचसे) संग्रामजयकर्ममें भांगपाशोंको वा इङ्गिडालंकृत अन्य पाशोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित शत्रुकी

सेनाके आक्रमण (घूमने फिरने) के स्थानोंमें फेंक देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'संदानं व आदानेनेति पाशै-रादानसंदानानि' (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत् ।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना ॥१॥

सम्ऽदानम् । वः । बृहस्पतिः । सम्ऽदानम् । सविता । करत् ।
सम्ऽदानम् । मित्रः । अर्यमा । सम्ऽदानम् । भगः । अश्विना १

हे शत्रुसेनाः बृहस्पतिर्देवः वः युष्माकं संदानम् बन्धनम् एभिः प्रक्षिप्तैः पाशैः करत् करोतु । ❀ संपूर्वो द्यतिर्बन्धने वर्तते । तस्माद् भावे ल्युट् ❀ । सविता सर्वप्रेरको देवः संदानम् युष्माकं बन्धनं करोतु । ❀ करोतेर्लेटि अडागमः । व्यत्ययेन वा शप् ❀ । मित्रश्च अर्यमा च संदानम् बन्धनं करोतु । भगश्च अश्विना अश्विनौ च संदानम् बन्धनं कुर्वन्तु ॥

हे शत्रुसेनाओं ! बृहस्पति देवता इन फेंके हुए पाशोंसे तुम्हें बन्धनमें डालें, सर्वप्रेरक सविता देवता तुम्हें बन्धनमें डालें, अर्यमा देवता भी तुम्हारा बन्धन करें, भग और अश्विनीकुमार भी तुमको बन्धनमें डालें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

सम् । परमान् । सम् । अवमान् । अथो इति । सम् । द्यामि । मध्यमान् ।

इन्द्रः । तान् । परि । अहाः । दाम्ना । तान् । अग्ने । सम् । द्य । त्वम् ॥ २ ॥

परमाम् उत्कृष्टां दूरदेशस्थां वा शत्रुसेनां पाशैरहं सं द्यामि बध्नामि । ❀ दो अवखण्डने । "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः । अत्र उपसर्गवशाद् बन्धनार्थः ❀ । अवमाम् अपकृष्टाम् आसन्नदेशवर्तिनीं वा परसेनां सं द्यामि । अथो अपि च मध्यमाम् मध्यवर्तिनीमपि सेनां सं द्यामि । तान् तथाविधसेनापतीन् शत्रून् संग्रामाधिपतिरिन्द्रः पर्यहाः परिहरतु वर्जयतु । ❀ हरतेर्लुङि च्लेः सिच् । "बहुलं छन्दसि" इति इडभावे "हल्ङ्या०" इत्यादिलोपे "रात् सस्य" इति सलोपः ❀ । हे अग्ने तान् परिहृतान् शत्रून् दाम्ना पाशेन त्वं सं द्य बधान ॥

श्रेष्ठ वा दूर देश पर स्थित शत्रुसेनाको मैं पाशोंसे बाँधता हूँ समीपके देशमें स्थित वा निकृष्ट शत्रुसेनाको भी मैं पाशोंसे बाँधता हूँ, मध्यवर्तिनी सेनाको भी मैं पाशोंसे बाँधता हूँ । इन्द्रदेव इन सेनाके सेनापतियोंको अलग करें, हे अग्ने ! उन छोड़ेहुए शत्रुओंको आप पाशसे बाँधिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना ताँ अग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अमी इति । ये । युधम् । आऽयन्ति । केतून् । कृत्वा । अनीकऽशः । इन्द्रः । तान् । परि । अहाः । दाम्ना । तान् । अग्ने । सम् । द्य । त्वम्

अमी दूरे दृश्यमाना ये शत्रवः युधम् युद्धम् आयन्ति आगच्छन्ति अनीकशः संघशः केतून् कृत्वा ध्वजान् कृत्वा । आगत्य युध्यन्त इत्यर्थः । इन्द्रस्तान् इत्यादि पूर्ववत् ॥

यह जो दूर पर दीखते हुए शत्रु संघ बाँध कर ध्वजा उड़ाते हुए युद्धमें युद्ध करनेको आरहे हैं, इन्द्रदेव इनको अलग करदें और हे अग्निदेव ! आप इनको पाशोंसे बाँध लेवें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।

अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥१॥

आऽदानेन । सम्ऽदानेन । अमित्रान् । आ । द्यामसि ।

अपानाः । ये । च । एषाम् । प्राणाः । असुना । असून् । सम् । अच्छिदन् ॥

आदीयते आवध्यते अनेनेति आदानम् पाशयन्त्रविशेषः । तेन यत् संदानं बन्धनं तेन अमित्रान् शत्रून् आ द्यामसि आद्यामः आबध्नीमः । ❀ "इदन्तो मसिः" ❀ । तेषां शत्रूणां ये च अपानाः अन्तर्मुखाः प्राणवायुवृत्तयः ये च प्राणाः बहिर्मुखाः श्वासवृत्तयः तान् असून् प्राणान् असुना प्राणेन समच्छिदम् सम्यक् छिनद्मि। पाशयन्त्रेण गलगतेन प्राणापानगती निरुध्य परस्परोपमर्देन हन्मीत्यर्थः । ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे । "इरितो वा" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

आदान और संदान नामक पाशयन्त्रोंसे हम शत्रुओंको बाँधते हैं, उन शत्रुओंकी अन्तर्मुख प्राणवायुवृत्ति (अपान) को और बहिर्मुख श्वासवृत्ति (प्राण) को मैं जीवनशक्तिके साथ छिन्न भिन्न करता हूँ अर्थात् गलेमें पाश डाल उनके प्राण और अपान की गतिको रोक कर मारता हूँ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।

अमित्रा येत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥२॥

इदम् । आऽदानम् । अकरम् । तपसा । इन्द्रेण । सम्ऽशितम् ।

अमित्राः । ये । अत्र । नः । सन्ति । तान् । अग्ने । आ । द्य । त्वम्

इदम् आदानम् आबन्धनसाधनं पाशयन्त्रं तपसा अभिचारकर्मोक्तनियमविशेषेण अकरम् अकार्षम् । ❀ "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । तच्च पूर्वम् इन्द्रेण संशितम् सम्यक् तीक्ष्णीकृतम् । ❀ शो तनूकरणे । "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इति इत्वम् ❀ । अत्र अस्मिन् संग्रामे नः अस्माकम् अमित्राः शत्रवो ये सन्ति हे अग्ने तान् सर्वान् शत्रून् त्वम् आ द्य आबधान पाशयन्त्रेण गृहाण ॥

मैंने इस आबन्धनसाधन पाशयन्त्र आदानको अभिचारकर्म में कहे हुए नियमरूप तपसे बना लिया है, इसको इन्द्रने पहिले तीक्ष्ण कर दिया है हे अग्ने ! इस संग्राममें जो हमारे शत्रु हैं, उनको आप पाशयन्त्रसे बाँधिये ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

आ । एनान् । द्यताम् । इन्द्राग्नी इति । सोमः । राजा । च । मेदिनौ ।

इन्द्रः । मरुत्वान् । आऽदानम् । अमित्रेभ्यः । कृणोतु । नः ।३।

इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी मेदिनौ मेदस्विनौ अस्माभिर्दत्तेन हविषा माद्यन्तौ वा देवौ एनान् अस्मच्छत्रून् आ द्यताम् आबध्नीताम् । तथा सोमो राजा च आबध्नातु । मरुत्वान् मरुद्गणैर्युक्त

इन्द्रः नः अस्माकम् अमित्रेभ्यः शत्रुभ्यः आदानम् आबन्धनं कृणोतु करोतु ॥

[इति] एकादशेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इन्द्र और अग्नि देवता हमारी दी हुई हविसे आनन्दमें भर कर इन हमारे शत्रुओंको बाँधें, राजा सोम भी हमारे शत्रुओंको बन्धनमें डालें, मरुद्गणोंसे युक्त इन्द्रदेव हमारे शत्रुओंके लिये आबन्धन करें ॥ ३ ॥

ग्यारहवें अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२१७)

"यथा मनो मनस्केतैः" इति तृचेन कासश्लेष्मरोगादिशान्त्यर्थं सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा अनेन उदकम् अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

तथा अनेन सूर्यम् उपतिष्ठेत ॥

"यथा मनः [६. १०५] अव दिवः [७. ११२] इत्यरिष्टेन" इति हि सूत्रम् [कौ० ४. ७] ॥

"आयने" इति तृचेन गृहादीनाम् अग्निदाहनिवृत्त्यर्थं गृहमध्ये गर्तं कृत्वा उदकम् अभिमन्त्र्य निनयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन अवकाम् अभिमन्त्र्य गृहस्योपरि वितनुयात् ॥

तथा तत्पापके दिव्ये तैलादिकम् अभिमन्त्र्य शपथकर्त्रे प्रयच्छेत्

तथा अग्निदग्धम् एतत्तृचेन अभिमन्त्रितोदकेन प्रक्षालयेत् ॥

सूत्रितं हि । "आयने त इति शमनम् । अन्तरा ह्रदं करोति । शाले चावकया शालां परितनोति । शप्यमानाय प्रयच्छति । निर्दग्धं प्रक्षालयति" इति [कौ० ७. ३] ॥

अथ "अपाम् इदम्" "हिमस्य त्वा" इत्याभ्याम् ऋग्भ्याम् अग्निचयने मण्डूकावकवेतसैर्विकृष्यमाणां चितिं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "चितिं परिषिञ्चति" इति प्रक्रम्य "इदं व

आपः [३. १२.७] हिमस्य त्वा [६. १०६. ३] उपद्याम् उप वेतसम् [१८. ३.५] अपाम् इदम् [६. १०६. २] इति मण्डूकावकवेतसैर्दक्षिणादिमतिदिशं विकृष्यमाणाम्" इति [वै० ५. २]

'यथा मनो मनस्केतैः' इस तृचसे खाँसी श्लेष्मरोग आदिकी शांतिके लिये सक्तुमंथका अभिमन्त्रण करके भक्षण करे।

तथा इससे जलको अभिमन्त्रित करके पिलावे।

तथा इससे सूर्यका उपस्थान करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'आयने' इस तृचसे गृह आदिके अग्निदाहको दूर करनेके लिये घरके बीचमें गड्ढेको खोदकर जलको अभिमन्त्रित करके ले जावे।

तथा तहाँ ही इससे अवकाका अभिमन्त्रण करके घरके ऊपर ताने।

तथा भुनते और दमकते हुए उड़दोंमें तैल आदिका अभिमन्त्रण कर शपथकारीको देवे।

तथा अग्निदग्धको इस तृचके द्वारा अभिमन्त्रित जलसे प्रक्षालन करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"आयने त इति शमनम्। अन्तरा ह्रदं करोति। शाले चावकया शालां परितनोति। शप्यमानाय प्रयच्छति। निर्दग्धं प्रक्षालयति' (कौशिकसूत्र ७।३)॥

यहाँ 'अपां इदम्' 'हिमस्य त्वा' इन दो ऋचाओंसे अग्निचयनमें मण्डूक अवक और वेंतसे विकृष्यमाण चितिका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"चितिं परिषिञ्चति" इति प्रक्रम्य "इदं व आपः (३ । १२ । ७) हिमस्य त्वा (६ । १०६ । ३) अप द्यां उपवेतसम् (१८ । ३ । ५) अपां इदं (६ । १०६ । २) इति मण्डूकावकवेतसैर्दक्षिणादि प्रतिदिशं विकृष्यमाणाम्" (वैतानसूत्र ५ । २)॥

तत्र प्रथमा ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा । मनः । मनःऽकेतैः । पराऽपतति । आशुऽमत् ।
एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । मनसः । अनु । प्रऽवाय्यम् ।१।

मनस्केतैः मनसा बुद्धिवृत्त्या केत्यमानैर्ज्ञायमानैर्दूरस्थैर्विषयैः सह यथा येन प्रकारेण मनः अन्तःकरणम् आशुमत् शीघ्रत्वयुक्तं परापतति भुवमण्डलपर्यन्तं पराङ्मुखं गच्छति । ❀ पत्लृ गतौ ❀ । एव एवम् हे कासे कासश्लेष्मरोगात्मिके कृत्ये त्वं मनसो वेगेन धावतः प्रवाय्यम् प्रगन्तव्यम् अवधिम् अनुलक्ष्य प्र पत प्रगच्छ । मनोवेगेन अस्मात् पुरुषाच्छीघ्रं दूरदेशं निर्गच्छेत्यर्थः । ❀ "प्रय्य-प्रवय्ये च च्छन्दसि" इति निपात्यते । व्यत्ययेन दीर्घः ❀ ॥

बुद्धिसे जाननेमें आनेवाले दूर पर स्थित विषयोंमें मन जिस प्रकार शीघ्रतायुक्त होकर गिरता है, इसी प्रकार हे कासश्लेष्म-रोगरूप कृत्ये ! तू मनके वेगसे गन्तव्यस्थानकी अवधिकी समान दूर जा अर्थात् मनके वेगके साथ इस पुरुषके शरीरसे दूर देश को चली जा ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा । बाणः । सुऽसंशितः । पराऽपतति । आशुऽमत् ।
एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । पृथिव्याः । अनु । सम्ऽवतम् २

यथा येन प्रकारेण सुसंशितः सुष्ठु सम्यक् तीक्ष्णीकृतो बाणः धनुर्यन्त्रविमुक्तः सन् आशुमत् परापतति पराङ्मुखः शीघ्रं भूमिं भित्त्वा गच्छति एव एवम् हे कासे त्वं पृथिव्याः बाणविद्धायाः भूम्याः संवतम् संहतप्रदेशम् अनुलक्ष्य प्र पत प्रधाव। बाणवेगेन पातालपर्यन्तं गच्छेत्यर्थः ॥

जैसे भली प्रकार तेज किया हुआ बाण धनुषसे छूट नीचेको मुख कर शीघ्रतासे चल भूमिको फोड़ता हुआ जाता है हे कासे! इसी प्रकार तू बाणसे विंधी हुई भूमिके विद्धदेशको देख कर दौड़ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यस्य । रश्मयः । पराऽपतन्ति । आशुऽमत् ।
एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । समुद्रस्य । अनु । विऽक्षरम् ३

सूर्यस्य रश्मयः किरणा उदयाद्रेः ऊर्ध्वं यथा आशुमत् परापतन्ति लोकालोकपर्यन्तं शीघ्रं परागच्छन्ति एव एवं समुद्रस्य उदधेः विक्षरम् विविधं क्षरणं प्रवाहो यस्मिन् देशे तं देशम् अनुलक्ष्य प्र पत प्रगच्छ। इमं पुरुषं विसृज्य समुद्रपर्यन्तं सूर्यरश्मिवत् शीघ्रं गच्छेत्यर्थः ॥

सूर्यकी किरणें उदयाचलके ऊपरसे जिस प्रकार शीघ्रताके साथ लोकालोकपर्वत तक शीघ्र ही पहुँच जाती हैं, इसी प्रकार तू समुद्रके विक्षर अर्थात् विविध प्रवाह वाले देश पर जा अर्थात् इस पुरुषको छोड़कर समुद्रतक सूर्यकी किरणोंकी समान शीघ्र ही जा

चतुर्थी ॥

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।

उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥१॥

आऽअयने । ते । पराऽअयने । दूर्वाः । रोहन्तु । पुष्पिणीः ।

उत्सः । वा । तत्र । जायताम् । ह्रदः । वा । पुण्डरीकऽवान् १

हे अग्ने ते तव आयने आभिमुख्येन गमने परायणे पराङ्मुखगमने च अस्मदीये देशे पुष्पिणीः पुष्पयुक्ता कोमला दूर्वा रोहन्तु प्ररोहन्तु उत्पद्यन्ताम् । तत्र तस्मिन् गृहादिदेशे उत्सो वा उदकप्रस्रवणं वा जायताम् उत्पद्यताम् । पुण्डरीकवान् तामरसयुक्तो ह्रदो वा उत्पद्यताम् । अनेन अग्निकृतबाधस्य अत्यन्ताभावः प्रार्थितः॥

हे अग्ने ! आपके अभिमुख होकर गमन करने पर और पराङ्मुख होकर गमन करने पर भी हमारे देशमें पुष्पयुक्त कोमल दूर्वा उत्पन्न हों और इस गृह आदि स्थानमें जलके झरनेसे बहा करें और कमल वाले तालाव हों ‡ ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।

मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥२॥

अपाम् । इदम् । निऽअयनम् । समुद्रस्य । निऽवेशनम् ।

मध्ये । ह्रदस्य । नः । गृहाः । पराचीना । मुखा । कृधि ॥ २ ॥

इदम् अस्मदीयं गृहम् अपाम् उदकानां न्ययनम् निलयनम् आवासस्थानं भवतु । तथा समुद्रस्य जलधेः निवेशनम् निविश-

‡ इस प्रकार यहाँ अग्निकी बाधाके अत्यन्ताभावकी प्रार्थना की है

तेस्मिन्निति निवेशनम् एदं भवतु । ❀ निपूर्वाद् विशतेः अधिकरणे ल्युट् ❀ । ह्रदस्य अगाधजलस्य तटाकादेर्मध्ये नः अस्माकं गृहा भवन्तु । न ह्येतेषां समुद्रादीनां दाहशङ्कास्ति तत्संबन्धप्रतिपादनेन अग्निदाहस्य अत्यन्तासंभव उक्तः । इदानीं प्रत्यक्षतः प्रार्थ्यते । हे अग्ने त्वं मुखा मुखानि ज्वालारूपाणि आस्यानि पराचीना पराचीनानि पराङ्मुखानि कृधि कुरु । ❀ उभयत्र "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः । "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः । "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

यह हमारा घर जलोंका आवासस्थान हो और समुद्रका घर हो, अगाध जलवाले तालाब आदिके बीचमें हमारे घर हों (समुद्र आदिके जलनेकी आशंका नहीं है अत एव उनके मिषसे अग्निके अत्यन्ताभावकी प्रार्थना की है अब प्रत्यक्षरूपसे प्रार्थना करते हैं, कि—) हे अग्ने ! अपने ज्वालारूप मुखोंको पराङ्मुख करिये २ षष्ठी ॥

हिमस्यं त्वा जरायुंणा शाले परिं व्ययामसि ।
शीतह्रंदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

हिमस्यं । त्वा । जरायुंणा । शाले । परिं । व्ययामसि ।
शीतऽह्रंदा । हि । नः । भुवंः । अग्निः । कृणोतु । भेषजम् ।३।

हे शाले हिमस्य शीतलोदकस्य जरायुणा जरायु गर्भवेष्टनम् तद्वद् आवेष्ट्य अवस्थितेन अवकारूपेण शैवालेन त्वा त्वां परि व्ययामसि परिव्ययामः परिवेष्टयामः । नः अस्माकं शीतह्रदा शीतलह्रदयुक्ता भुवः भवेः । हि यस्माद् एवं तस्मात् परिव्ययाम इत्यर्थः । इत्थम् अस्माभिः प्रार्थितः अग्निः गृहादीनां भेषजम् अदाहनिमित्तम् औषधं कृणोतु करोतु ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे शाले ! शीतलजलको जरायुरूपमें घेर कर स्थित अवका-रूप शैवालसे हम तुझको चारों ओरसे लपेटते हैं, तू हमारे लिये शीतह्रदा हो । इस प्रकार हमारे प्रार्थना करने पर अग्निदेव घर आदिकी अदाहरूप औषधिको करें ॥ ३ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (२७९) ॥

"विश्वजित् त्रायमाणायै" इति चतुर्ऋचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः ॥

तथा स्वस्त्ययनकर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन आज्यसमित्पुरो-डाशादिशष्कुल्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् ॥

सूत्रितं हि । "विश्वजित् [६. १०७]शक्रधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १] ॥

"त्वं नो मेधे" इति पञ्चर्चेन सूक्तेन मेधाजननकर्मणि क्षीरौ-दनं पुरोडाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन सूक्तेन आदित्यम् उपतिष्ठेत ॥

"पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "त्वं नो मेधे [६. १०८] यांश्च मे [६. ५३] इत्याशयति । आदित्यम् उप-तिष्ठते" इति [कौ० २. १] ॥

तथा उपनयने "त्वं नो मेधे" इति पञ्चर्चेन अग्निम् उपतिष्ठेत । त्वं नो मेध इत्युपतिष्ठते" इति [कौ० ७. ८] सूत्रात् ॥

"विश्वजित् त्रायमाणायै" इस चतुर्ऋचका बृहद्गणमें पाठ होने से शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है ।

तथा स्वस्त्ययनकर्ममें इस चतुर्ऋचसे घृत समिधा पुरोडाशसे पूरीतकके तेरह द्रव्योंकी आहुति देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि–"विश्वजित् (६ । १०७) शक्रधूमम् (६ । १२८) भवाशर्वौ (११ । २) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

"त्वं नो मेधे" इस पाँच ऋचा वाले सूक्तसे मेधाजननकर्ममें क्षीरौदन, पुरोडाश वा रसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके भक्षण करे।

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे आदित्यका उपस्थान करे।

"पुनर्स्य मेधाजननानि इसका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि–"(६ । १०८) यौश्च मे (६ । ५३)इत्याशयति । आदित्यं उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र २ । १) ॥

तथा उपनयनमें "त्वं नो मेधे" इस पाँच ऋचा वाले सूक्तसे अग्निका उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि–त्वं नो मेध इत्युपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७ । ८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।

त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम्

विश्वऽजित् । त्रायमाणायै । मा । परि । देहि ।

त्रायमाणे । द्विऽपात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुःऽपात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ १ ॥

हे विश्वजित् विश्वं कृत्स्नं जगज्जयति वशीकरोतीति विश्वजित् हे एतत्संज्ञक देव त्रायमाणायै जगत्पालनाधिकृतायै देवतायै मा मां स्वस्त्ययनकामं परि देहि रक्षणार्थं प्रयच्छ। हे त्रायमाणे एतत्संज्ञे देवते नः अस्माकं स्वम् स्वभूतं द्विपात् पादद्वयोपेतं सर्वम् पुत्रभृत्यादिकं रक्ष पालय। तथा नः अस्माकं स्वभूतं यच्च प्राणिजातं चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतं गोमहिषादिकम् अस्ति तत् पालय। ❀ द्वौ पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति विगृह्य समासे "संख्या-

सुपूर्वस्य" इति पादशब्दान्त्यलोपः समासान्तः। "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्०" इति द्विपाच्छब्दोन्तोदात्तः। चतुष्पाद् इत्यत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। पूर्वपदं च "त्रः संख्यायाः" [फि० २.५] इति आद्युदात्तम् ❀॥

हे सम्पूर्ण जगत्को वशमें रखने वाले विश्वजित् नामक देव! आप-मुझ स्वस्त्ययनकामको जगत्का पालन करना जिसके अधिकार में रहता है उस-त्रायमाणा देवताके अर्पण करिये। हे त्रायमाणे देवते! हमारा जो पुत्र भृत्य आदि दो पैर वाला प्राणिसमूह है और गौ भैंस आदि चार पैर वाला प्राणिसमूह है उसकी आप रक्षा करिये॥ १॥

द्वितीया॥

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।

विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम्॥ २॥

त्रायमाणे। विश्वऽजिते। मा। परि। देहि।

विश्वऽजित्। द्विऽपात्। च। सर्वम्। नः। रक्ष। चतुःऽपात्। यत्। च। नः। स्वम्॥ २॥

हे विश्वजित् सर्वजित् हे त्रायमाणे पालयित्रि मा मा विश्वजिते देवतायै परि देहि। परिदानं रक्षणार्थं दानम्। ❀ "घ्वसोरेद्धौ०" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀। हे त्रायमाणे द्विपाच्चतुष्पाच्च अस्मदीयं स्वं रक्षेति पूर्ववद् योजना॥

हे त्रायमाणा देवते! आप मुझको विश्वजित्को दीजिये। हे विश्वजित्! हमारा जो दो पैर वाला पुत्र भृत्य आदि प्राणिवर्ग

है और जो चार पैर वाला गौ भैंस आदि प्राणिसमूह है उसकी आप रक्षा करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि ।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥

विश्वऽजित् । कल्याण्यै । मा । परि । देहि ।
कल्याणि । द्विऽपात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुःऽपात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ३ ॥

हे विश्वजित् कल्याण्यै सर्वमङ्गलकारिण्यै देवतायै मां परि देहि । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे विश्वजित् ! सर्वमंगलकारिणी कल्याणीके लिये मुझको दीजिये हे कल्याणि ! हमारा जो दो पैर वाला पुत्र भृत्य आदि प्राणिवर्ग है और जो चार पैर वाला गौ भैंस आदि प्राणिसमूह है उसकी आप रक्षा करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

कल्याणि । सर्वऽविदे । मा । परि । देहि ।
सर्वऽवित् । द्विऽपात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुःऽपात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ४ ॥

हे कल्याणि मङ्गलकारिणि देवते सर्वविदे सर्वं कार्यजातं जानते देवाय मा मां परि देहि । हे सर्ववित् देव अस्मदीयं पुत्रपश्वादिकं त्वं रक्षेत्यर्थः ॥

हे मंगलकारिणी कल्याणि देवते ! आप सम्पूर्ण कार्योंको जानने वाले सर्वविद देवताके लिये दीजिये, हे सर्ववित् देव ! आप हमारा जो दो पैर वाला पुत्र भृत्य आदि प्राणिवर्ग है और जो चार पैर वाला गौ भैंस आदि प्राणिवर्ग है उसकी रक्षा करिये ४

पञ्चमी ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गंहि ।

त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥

त्वम् । नः । मेधे । प्रथमा । गोभिः । अश्वेभिः । आ । गहि ।

त्वम् । सूर्यस्य । रश्मिऽभिः । त्वम् । नः । असि । यज्ञिया ।१।

हे मेधे श्रुतधारणसामर्थ्यरूपिणी देवि प्रथमा मुख्या देवमनुष्यादिभिः सर्वैरुपास्यमाना त्वं गोभिः अस्मभ्यं दातव्यैः अश्वेभिः अश्वैश्च नः अस्मान् आ गहि आगच्छ । ❀ गमेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः । तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् हेर्लुगभावः ❀ । हे मेधे त्वं सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्य देवस्य रश्मिभिः सर्वव्यापिभिः किरणैः। लुप्तोपमम् एतत् । सूर्यरश्मयो यथा आशु सर्वं जगद् व्याप्नुवन्ति एवं सर्वविषयव्यापनशक्तैरात्मीयैः सामर्थ्यैरस्मान् आगच्छेति संबन्धः । तत्र हेतुरुच्यते । हे मेधे त्वं नः अस्माकं यज्ञिया यज्ञार्हा असि भवसि । अस्माभिर्दत्तेन हविषा यतः प्रीता भवसि तत आगच्छेत्यर्थः । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति अर्हार्थे यज्ञशब्दाद् घप्रत्ययः ❀ ॥

हे वेदको धारण करनेकी शक्तिरूप मेधे देवि ! आप मुख्य हैं देवता और मनुष्य आदि सब आपकी उपासना करते हैं ऐसी आप गौ और अश्वोंके साथ हमारे पास आइये। हे मेधे ! सर्व-प्रेरक सूर्यदेवकी किरणें जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार सब विषयोंमें व्याप्त होजाने वाली अपनी शक्तियोंके साथ आप हमारे पास आइये। (इसका कारण यह है,कि–) आप हमारी यज्ञिया हैं अर्थात् अर्थात् हमारी दी हुई हविसे प्रसन्न होती हैं, अतः आइये ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥

मेधाम् । अहम् । प्रथमाम् । ब्रह्मण्ऽवतीम् । ब्रह्मऽजूताम् । ऋषिऽस्तुताम् ।
प्रऽपीताम् । ब्रह्मचारिऽभिः । देवानाम् । अवसे । हुवे ॥ २ ॥

अहं मेधाकामः प्रथमाम् मुख्यां मेधां देवीं हुवे आह्वयामि। कीदृशीम्। ब्रह्मण्वतीम् ब्रह्म वेदः तद्युक्ताम्। तद्धारणेन तैर्युज्यमानाम् इत्यर्थः। ❀ "मादुपधायाः०" इति मतुपो वत्वम्। "अनो नुट्" इति नुडागमः ❀। ब्रह्मजूताम् ब्राह्मणजातीयैः सेविताम्। ऋषिष्टुताम् ऋषिभिः ·अतीन्द्रियार्थदर्शिभिर्वसिष्ठादिभिः प्रशंसिताम्। ब्रह्मचारिभिः। ब्रह्म वेदस्तत्र चरितुं शीलम् एषाम् इति ब्रह्मचारिणः गुरुकुलवासादिनियमोपेता अधीयानाः तैः। ❀चरतेस्ताच्छीलिको णिनिः❀। तैः प्रपीताम् सेविताम्। ❀ प्रपूर्वात् पिबतेः "घुमास्था०" इत्यादिना ईत्वम् ❀। यद्वा प्रपीताम् प्रवर्धिताम्। ❀ प्यायी वृद्धौ इत्यस्मान्निष्ठा। "प्यायः

पी" इति पीभावः ※। किमर्थम् । देवानाम् इन्द्रादीनाम् अवसे। अध्ययनतदर्थज्ञानतदनुष्ठानादिना रक्षणायेत्यर्थः ॥

बुद्धिको चाहने वाला—मैं वेदोंको धारण करनेसे वेदोंसे युक्त ब्रह्मण्वती, ब्राह्मणोंसे सेवित ब्रह्मजूता, अतीन्द्रियार्थदर्शी वसिष्ठ आदि ऋषियोंसे प्रशंसित ऋषिष्टुता, वेदका आचरण करनेके लिये गुरुकुलवास आदि नियम वाले ब्रह्मचारियोंसे वृद्धिको प्राप्त होने वाली श्रेष्ठ मेधादेवीका, अध्ययन अध्ययनके अर्थका ज्ञान और अनुष्ठान आदिसे इन्द्र आदि देवताओंकी रक्षा करनेके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ३

याम् । मेधाम् । ऋभवः । विदुः । याम् । मेधाम् । असुराः । विदुः । ऋषयः । भद्राम् । मेधाम् । याम् । विदुः । ताम् । मयि । आ । वेशयामसि ॥ ३ ॥

ऋभवो देवाः यां मेधां विदुः जानन्ति असुराः दानवा यां मेधां विदुः भद्राम् भन्दनीयां कल्याणीं वेदशास्त्रादिविषयां यां मेधाम् ऋषयः वसिष्ठाद्या विदुः तां सर्वतोदिक्कां मेधां मयि साधके आ वेशयामसि आवेशयामः आस्थापयामः । ※ "इदन्तो मसिः" ※ ॥

ऋभु देवता जिस मेधा (बुद्धि) को जानते हैं, दानव जिस बुद्धिको जानते हैं और वेदशास्त्रादिविषयक जिस कल्याणी बुद्धि को वसिष्ठ आदि ऋषि जानते हैं, उस चारों ओरकी बुद्धिको हम साधकमें स्थापित करते हैं ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

याम् । ऋषयः । भूतऽकृतः । मेधाम् । मेधाविनः । विदुः ।
तया । माम् । अद्य । मेधया । अग्ने । मेधाविनम् । कृणु ॥ ४ ॥

ऋषयः मन्त्रद्रष्टारो भूतकृतः पृथिव्यादीनि भूतानि कर्तुं शक्ताः कश्यपकौशिकादयो मेधाविनः धीमन्त इति प्रसिद्धा यां मेधां विदुः जानन्ति । ❀"विदो लटो वा" इति झेः उस् आदेशः ❀ । हे अग्ने तया मेधया अद्य इदानीं मां मेधाविनं कृणु मेधायुक्तं कुरु ॥

मन्त्राद्रष्टा ऋषि और पृथिवी आदि भूतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ कश्यप कौशिक आदि बुद्धिमान् जिस मेधाको जानते हैं हे अग्ने ! उस मेधासे आप मुझको मेधावी करिये ॥ ४ ॥

नवमी ॥

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

मेधाम् । सायम् । मेधाम् । प्रातः । मेधाम् । मध्यन्दिनम् । परि ।
मेधाम् । सूर्यस्य । रश्मिऽभिः । वचसा । आ । वेशयामहे ॥ ५ ॥

सायंकाले मेधाम् अहं स्तौमि । प्रातःकाले मेधां देवीं स्तौमि । मध्यन्दिनं परि मध्याह्नकालेपि मेधां भजे । किं बहुना । सूर्यस्य रश्मिभिः सार्धं सर्वस्मिन्नपि अहनि वचसा स्तुतिरूपेण वाक्येन तां महानुभावां मेधाम् आ वेशयामहे आत्मनि स्थापयामः । ❀कर्त्रभिप्रायक्रियावचनाद् विशेर्ण्यन्तात् "णिचश्च" इति आत्मनेपदम् ❀

[इति] एकादशेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

मैं सायंकालके समय मेधाकी स्तुति करता हूँ, प्रातःकालके समय मेधादेवीकी स्तुति करता हूँ, मध्याह्नके समय भी मेधादेवी की सेवा करता हूँ, अधिक क्या हम सूर्यकी किरणोंके साथ अर्थात् सारे दिन स्तुतिरूप वचनसे उस मेधादेवीको अपनेमें स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

ग्यारहवें अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (२८१) ॥

"पिप्पली क्षिप्तभेषजी" इति तृचेन धनुर्वातक्षिप्तवातादिकृत्स्न- वातव्याधिशान्त्यर्थं पिप्पलीं संपात्य अभिमन्त्र्य पुनस्तृचं जपित्वा प्राशयेत् । "पिप्पली [६. १०६] विद्रधस्य [६. १२७] या बभ्रवः [८. ७]" इति प्रक्रम्य "चतुर्थेनाशयति" इति [कौ० ४. २] सूत्रात् ॥

"भत्नो हि" इति तृचेन पापनक्षत्रजातस्य अपत्यस्य संपातिताभिमन्त्रितोदपात्रेण सूत्रोक्तरीत्या आप्लावनम् अवसेकं वा कुर्यात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन संपातिताभिमन्त्रितक्षीरौदनं प्राश्नीयात् ॥

"भत्नो हीति पापनक्षत्रे जाताय" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "उदक्रान्ते मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ५. १०] ॥

"पिप्पली क्षिप्तभेषजी" इस तृचसे धनुर्वातक्षिप्तवात आदि सम्पूर्ण वातव्याधियोंकी शांतिके लिये पिप्पलीको संपातित और अभिमन्त्रित करके फिर तृचको जपकर प्राशन करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पिप्पली (६ । १०६) विद्रधस्य (६ । १२७) या बभ्रवः (८ । ७)" इति प्रक्रम्य "चतुर्थेनाशयति" (कौशिकसूत्र ४ । २) ॥

"भत्नो हि" इस तृचसे पापनक्षत्रमें उत्पन्न हुई सन्तानका सम्पातित अभिमन्त्रित जलपूर्ण पात्रसे सूत्रमें कही हुई रीतिके अनुसार आप्लावन वा अवसेक करे ।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस तृचसे संपातित और अभिमन्त्रित क्षीरौदन (दूध भात) का प्राशन करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–"प्रत्नो हीति पापनक्षत्रे जाताय" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। 'उदकान्ते मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्याचमयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ५। १०)॥

तत्र प्रथमा ॥

पि॒प्प॒ली क्षि॑प्तभेष॒ज्यू॒३॒॑ताति॑विद्धभेष॒जी ।
ता दे॒वाः सम॑कल्पयन्नि॒यं जीवि॑त॒वा अ॑लम् ॥ १ ॥

पि॒प्प॒ली । क्षि॒प्त॒ऽभे॒ष॒जी । उ॒त । अ॒ति॒वि॒द्ध॒ऽभे॒ष॒जी ।

ताम् । दे॒वाः । सम् । अ॒क॒ल्प॒य॒न् । इ॒यम् । जीवि॑त॒वै । अल॑म् १

पिप्पली एतत्संज्ञा कणाद्यपरपर्याया ओषधिः क्षिप्तभेषजी क्षिप्तानि तिरस्कृतानि अन्यानि भेषजानि यया सा तथोक्ता। यद्वा क्षिप्तस्य वातरोगविशेषस्य भेषजी निवर्तिका। उत अपि च अतिविद्धभेषजी अतिशयेन विद्धानि ताडितानि भेषजान्तराणि यया सा तथोक्ता। यद्वा कृत्स्नं रोगम् अतिविध्यति निपीडयतीति अतिविद्धा। ❀ व्यध ताडने इत्यस्मात् कर्तरि क्तः ❀। अतिविद्धा चासौ भेषजी च अतिविद्धभेषजी। तां तादृशीं पिप्पलीं देवा इन्द्रादयः अमृतमथनसमये सम् अकल्पयन् सम्यक् कल्पितवन्तः। कथम् इति। इयम् एकैव ओषधिः जीवितवै सर्वरोगनिवारणेन सर्वान् प्राणिनो जीवयितुम् अलम् समर्था शक्ता इत्यभिप्रेत्य। ❀ जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् एयन्तात् तुमर्थे तवै प्रत्ययः ❀॥

पिप्पली नाम वाली औषधि क्षिप्त नाम वाले वातरोगकी औषध है–इस विषयमें अन्य औषधियोंका तिरस्कार करने वाली

है, यह रोगको पूर्णरीतिसे बाँधने वाली है, ऐसी पिप्पलीकी इन्द्र आदि देवताओंने अमृतमथनके समय कल्पनाकी थी, कि-यह एक ही औषधि सब रोगोंका निवारण करनेके कारण सब प्राणियों को जीवित रखनेमें समर्थ है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पिप्पल्यः१ः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

पिप्पल्यः । सम् । अवदन्त । आऽयतीः । जननात् । अधि ।
यम् । जीवम् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पुरुषः ॥ २ ॥

हस्तिपिप्पल्यादिजातिभेदभिन्नाः सर्वाः पिप्पल्यः ओषधयः जननाद् अधि अमृतमथनसमकालीनोत्पत्तेरूर्ध्वम् आयतीः आयत्यः आगच्छन्त्यः समवदन्त परस्परं संवादं संभाषणम् अकुर्वत ।❀"व्यक्तवाचां समुच्चारणे" इति आत्मनेपदम् ❀ । तत्प्रकार उच्यते । यं जीवम् जीवनवन्तं पुरुषम् अश्नवामहै वयं भेषजत्वेन व्याप्नवाम स पुरुषः न रिष्याति न रिष्यतु न विनश्यत्विति । ❀रिष हिंसायाम् । लेटि आडागमः ❀ ॥

हस्तिपिप्पली आदि सब पिप्पलियोंने अमृतमथनके समयके अपने आविष्कार होनेसे पहिले आते समय परस्पर वार्तालाप किया था, कि-जिस जीवन वाले पुरुषमें हम औषधिरूपमें व्याप्त हों वह नष्ट न हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः ।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥ ३ ॥

असुराः । त्वा । नि । अखनन् । देवाः । त्वा । अवपन् । पुनः ।

वातीऽकृतस्य । भेषजीम् । अथो इति । क्षिप्तस्य । भेषजीम् ॥३॥

हे पिप्पलि त्वा त्वाम् असुराः पूर्वं देवाः न्यखनन् निखातवन्तः । देवाः पुनस्त्वा त्वां सर्वप्राणिहिताय उदवपन् उद्धृतवन्तः । कीदृशीम् । वातीकृतस्य वातरोगाविष्टशरीरस्य भेषजीम् औषधभूताम् । अथो अपि च क्षिप्तस्य मुहुर्मुहुरवयवक्षेपणशीलस्य आक्षेपकनाम्नो वातरोगविशेषस्य भेषजीम् निवर्तयित्रीम् ॥

वातरोगसे भरे हुए शरीरवालेकी औषधि और बारंबार हाथ पैर फेंकनेके स्वभाव वाले आक्षेपक नामक रोगीकी औषधि हे पिप्पली ! तुझको पहिले असुरोंने गाड़ा था, फिर संसारका हित करनेके लिये देवताओंने तेरा उद्धार किया था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व

प्रत्नः । हि । कम् । ईड्यः । अध्वरेषु । सनात् । च । होता । नव्यः । च । सत्सि ।

स्वाम् । च । अग्ने । तन्वम् । पिप्रायस्व । अस्मभ्यम् । च । सौभगम् । आ । यजस्व ॥ १ ॥

प्रत्न इति पुराणनाम । हिशब्दः प्रसिद्धौ । कम् इति पूरणः । प्रत्नः चिरंतनः खलु अयम् अग्निः सर्वदेवात्मकत्वात् । "अग्निः सर्वा देवताः" इति श्रुतिः [तै० सं० २. २. ६. १] । अत एव ईड्यः स्तुत्यः । अध्वरेषु यज्ञेषु च सनात् चिरंतनो होता देवानाम्

आह्वाता होमनिष्पादको वा। हे अग्ने ईदृशस्त्वं नव्यः अभिनवश्च होता भूत्वा सत्सि वेद्यां सीदसि। "अग्निर्देवो होता देवान् यक्षत्" इति हि निगमः [आप० २. १६. ५]॥ इत्थं होतृत्वेन वेद्याम् उपविशंस्त्वं स्वाम् स्वकीयां तन्वम् शरीरं पिप्रयस्व आज्यादिहविषा पूरय। अस्मभ्यं च सौभगम् सौभाग्यकरं धनम् आ यजस्व आगमय। प्रयच्छेत्यर्थः। ❀ पिप्रयस्व च आ यजस्व चेति परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ। "चवायोगे प्रथमा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते ❀॥

अग्निदेव चिरन्तन हैं (क्योंकि-यह सर्वदेवरूप हैं इस विषयमें तैत्तिरीयसंहिताका प्रमाण भी है, कि-"अग्निः सर्वा देवताः॥-अग्नि सर्वदेवमय हैं" २।२।६।१) अत एव स्तुति करने योग्य हैं। यज्ञोंमें प्राचीन समयसे देवताओंका आह्वान करते चले आते हैं और होमको सम्पन्न करने वाले हैं, हे ऐसे अग्निदेव! ऐसे आप नवीन होता बनकर वेदीमें बैठते हैं (इस विषयमें शास्त्र का प्रमाण भी है, कि-"अग्निर्देवो होता देवान् यक्षत्॥-अग्निदेवने होता बनकर देवताओंका पूजन किया "आपस्तम्बश्रौतसूत्र २।१६।५) इस प्रकार होता बनकर वेदीमें बैठते हुए आप हमें सौभाग्यकर धन दीजिये॥ १॥

पञ्चमी॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ २॥

ज्येष्ठऽघ्न्याम्। जातः। विऽचृतोः। यमस्य। मूलऽबर्हणात्। परि। पाहि। एनम्।

अति । एनम् । नेषत् । दुःऽइतानि । विश्वा । दीर्घायुऽत्वाय ।
शतऽशारदाय ॥ २ ॥

ज्येष्ठं वयसा प्रवृद्धं हन्तीति ज्येष्ठघ्नी ज्येष्ठाख्यं नक्षत्रम् । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ज्येष्ठम् एषाम् अवधिष्मेति तज्ज्येष्ठघ्नी" इति [तै० ब्रा० १. ५. २. ८] । तस्यां ज्येष्ठघ्न्यां जातः पुत्रः ज्येष्ठस्य पितृभ्रात्रादेर्हन्ता भवति । तथा विचृतोः विचर्तनस्वभावे मूलनक्षत्रे जातः पुत्रः सर्वं कुलं विचृतति हिनस्ति । ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः इत्यस्मात् क्विप् ❀ । नक्षत्रस्य एकत्वेपि अधिष्ठानापेक्षया द्विवचनम् । "उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके" इति हि आम्नायते [२. ८. १] । मूलनक्षत्रं हि मूलोन्मूलनकरम् । तथा च तैत्तिरीयके तन्नामनिर्वचनम् । "मूलम् एषाम् अवृक्षामेति तन्मूलबर्हणी" इति [तै० ब्रा० १. ५. २. ८] । अतः पापनक्षत्रे जातम् एनं कुमारं यमस्य यमसंबन्धिनः यमेन क्रियमाणाद् मूलबर्हणात् संतानमूलोच्छेदनात् परि पाहि परितः सर्वतो रक्ष । ❀ बृहू उद्यमने । अस्माद् भावे ल्युट् । ततः कर्मणि षष्ठ्याः समासः । यमस्येति शेषषष्ठी । अतो न "उभयप्राप्तौ कर्मणि" इति नियमस्य अवसरः ❀ । एनं पुत्रं विश्वा विश्वानि सर्वाणि दुरितानि अति नेषत् अतिनयतु अतिक्रमयतु । किमर्थम् । दीर्घायुत्वाय चिरकालजीवनाय । तदेव विशेष्यते । शतशारदाय शतं शारदाः शरदृतुना युक्ताः संवत्सरा यस्मिन् । शतसंवत्सरपरिमितजीवनायेत्यर्थः ॥

अवस्थामें ज्येष्ठ (बड़े) को मारनेके प्रभाव वाले ज्येष्ठा नक्षत्र में † उत्पन्न हुआ पुत्र पिता भाई आदि बड़ोंका मारने-वाला होता है और हिंसन प्रभाव वाले मूल नक्षत्रों ‡ में उत्पन्न हुआ

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ५ । २ । ८ में कहा है, कि-"ज्येष्ठं

पुत्र सारे कुलका संहार करता है, अतः पापनक्षत्रमें उत्पन्न हुए इस कुमारको (हे अग्ने ! आप) यमके किये हुए मूलोच्छेदरूप कार्यसे रक्षित रखिये-अलग रखिये । इसको सौ वर्षके जीवन-रूप दीर्घायुके लिये सब देवता पापोंके पार पहुँचावें अर्थात् इसके दुर्लक्षणोंको शान्त करें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

व्याघ्रेह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्ज-
निंत्रीम् ॥ ३ ॥

व्याघ्रे । अह्नि । अजनिष्ट । वीरः । नक्षत्रऽजाः । जायमानः । सुऽवीरः ।

एषां अवधिष्मेति तज्ज्येष्ठघ्नी-इस कुलके बड़ेको हम मारें ऐसा विचार रखने वाला नक्षत्र ज्येष्ठघ्नी (ज्येष्ठा) कहलाता है ॥

‡ मूलनक्षत्र एक ही होता है तथापि अधिष्ठानकी ओर ध्यान देकर यहाँ द्विवचन दिया है । इसका वर्णन द्वितीयकाण्डके अष्टम सूक्तके प्रथममंत्र "उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके" में है । यह मूल नक्षत्र भी वंशवेलकी मूलको उखाड़ने वाला है । इसकी व्युत्पत्ति करते हुए तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । २ । ८ में कहा है, कि-मूलं एषां अवृक्षामेति तन्मूलबर्हिणी ॥ इनकी जड़को काटें यही मूलबर्हिणी (मूल) नक्षत्रका अर्थ है ॥" अर्थात् मूलनक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र वंशको नष्ट करता है अतः मूलशांति करनी चाहिये ॥

सः। मा। व॒धी॒त्। पि॒तर॑म्। वर्ध॑मानः। मा। मा॒तर॑म्। प्र।-

मि॒नी॒त्। जनित्रीम् ॥ ३ ॥

व्याघ्रे व्याघ्रवत्क्रूरे अह्नि उदीरिते पापनक्षत्रे वीरः पुत्रः अजनिष्ट जातोभूत्। नक्षत्रजाः दुष्टनक्षत्रे जातः। ❀जनी प्रादुर्भावे। "जनसनखनक्रमगमो विट्"। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀। जायमान एव सुवीरः शोभनवीर्ययुक्तो भवतु। स तथाविधः पुत्रः वर्धमानः उपचितावयवः प्रबुद्धः सन् पितरम् स्वजनकं मा वधीत् मा हन्तु। जनित्रीम् जनयित्रीम् उत्पादयित्रीं मातरं मा प्र मिनीत् मा प्रमिनातु हिनस्तु। ❀मीङ् हिंसायाम्। लुङि तिपि व्यत्ययेन ईत्वम् ❀ ॥

[इति।] चतुर्थं सूक्तम् ॥

व्याघ्रकी समान क्रूर पापनक्षत्र वाले दिनमें यह कुमार उत्पन्न हुआ है, अतएव यह उत्पन्न होते ही शोभन वीर्यसे युक्त होजावे और यह ऐसा पुत्र बड़ा होकर अपने पिताकी हिंसा न करे और अपनी माताकी भी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

चतुर्थं सूक्त समाप्त (२८३) ॥

"इमं मे अग्ने" इति चतुर्ऋचस्य मातृनामगणे पाठात् "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्" [कौ० १३. २] इत्यादिषु विनियोगा द्रष्टव्यः ॥

तथा गन्धर्वराक्षसाप्सरोभूतग्रहादिपीडाशान्तये घृताक्तसर्वौषधिहोमे चतुष्पथे प्रहृगृहीतशिरःस्थितमृन्मयकपालाग्निहोमादौ च अस्य विनियोगः। "मातृनाम्नोः सर्वसुरभिचूर्णान्यन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति। चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेन्वक्तानि। [तितउनि] प्रतीपं गाहमानो वपति इतरोवसिञ्चति

पश्चाद् । आमपात्र ओप्य आसिच्य मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति" इति [सूत्रम्] [कौ० ४. २] ॥

"मा ज्येष्ठम्" [११२] "त्रिते देवाः" [११३] इति तृचाभ्यां परिविचिपरिवेत्तृप्रायश्चित्तार्थम् उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य तयोः पर्वाणि मौञ्जपाशैर्बद्ध्वा आसावनम् अवसेकं वा कुर्यात् । अत्र "नदीनां फेनान् इत्यर्धर्चेन उत्तरपाशान् नदीफेने निदध्यात् । सूत्रितं हि । "मा ज्येष्ठं त्रिते देवा इति परिविचिपरिविविदानावुदकान्ते मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयति । अवसिञ्चति । फेनेषूत्तरान् पाशान् आधाय नदीनां फेनान् इति प्लावयति सर्वांश्च प्रविश्य" इति [कौ० ५. १०] ॥

'इमं मे अग्ने' इस चतुर्ऋचका मातृनामगणमें पाठ है अतएव 'दिव्यो गंधर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्' (कौशिकसूत्र १३ । २) आदिमें इसका विनियोग करना चाहिये ॥

तथा गंधर्व राक्षस अप्सरा भूत और ग्रह आदिकी पीड़ाकी शांतिके लिये किये जाने वाले घृतमें भीगी हुई सर्वौषधिके होममें और चौराहेमें ग्रहपीड़ित पुरुषके शिर पर स्थित मट्टीके कपालके अग्निहोम आदिमें भी इसका विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्रमें विधि लिखी है, कि-मातृनाम्नोः सर्वसुरभिचूर्णानि अन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति । चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेऽन्वक्तानि । तितउनिं प्रतीपं गाहमानो वपति इतरोऽवसिञ्चति पश्चाद् । आमपात्र ओप्य आसिच्य मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति" ॥ मातृनामगणके सूक्तोंके घृतप्लुत सर्वसुरभिचूर्णकी आहुति दें, बाकी रहे हुएसे लेप करे । चौराहेमें दर्भ (कुशाओं) के एँडुए वाले कपालमें इन घृतप्लुतों की आहुति देय- फिर अनेक छिद्रों वाली (तितउ) छुकनीमें

उसको डाले और दूर छिड़के आम (कच्चे) पात्रमें डाल तीन लड़ वाले मूँजके छींकेमें बाँधे ॥" (कौशिकसूत्र ४ । २) ॥

'मा ज्येष्ठम्' एकसौ बारहवें और 'त्रिते देवाः' एकसौ तेरहवें इन दोनों तृचोंसे परिविचि परिवेत्ताके प्रायश्चित्तके लिये जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमंत्रण करके उनके पर्वोंको मूँजके पाशोंसे बाँध कर आसावन वा अवसेक करे। यहाँ 'नदीफेनान्' इस आधी ऋचासे उत्तरपाशोंको नदीमें फेंक दे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"मा ज्येष्ठं त्रिते देवा इति परिविचि परिविविदानावुदकान्ते मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयति । अवसिञ्चति । फेनेषूत्तरान् पाशान आधाय नदीनां फेनान् इति प्रप्लावयति सर्वेंश्च प्रविश्य" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयंतो लालपीति ।
अतोधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोसति १

इमम् । मे । अग्ने । पुरुषम् । मुमुग्धि । अयम् । यः । बद्धः ।
सुऽयतः । लालपीति ।
अतः । अधि । ते । कृणवत् । भागऽधेयम् । यदा । अनुत्ऽमदितः ।
असति ॥ १ ॥

हे अग्ने मे मदीयम् इमं पुरुषं मुमुग्धि रोगनिदानभूतात् पापाद् मोचय । ❀ मुचेर्व्यत्ययेन शपः श्लुः । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः ❀ । योयं पुरुषो बद्धः पापरूपैः पाशैर्बद्धः सन् सुयतः सुष्ठु नियमितः निरुद्धप्रसरः सन् लालपीति भृशं प्रलपति । अतः

अस्माद्धेतोः हे अग्ने ते तव भागधेयम् हविर्भागम् अधि कृणवत् अधिकं करोतु अयं पुरुषः। यथा येन प्रकारेण असौ अनुन्मदितः उन्मादरहितः गन्धर्वाप्सरोग्रहजनितबुद्धिस्खालित्यरहितः असति भवेत्। ❁ अस भुवि। व्यत्ययेन शपो लुगभावः ❁ ॥

हे अग्ने! मेरे इस पुरुषको आप रोगके कारणरूप पापसे छुड़ाइये कि-जो यह पापरूप पाशोंसे बँधा हुआ नियंत्रित होकर प्रलाप कर रहा है, हे अग्ने! यह पुरुष आपको अधिक हवि देय (अतः) जिस प्रकार यह उन्मादरोगरहित हो (तैसा करिये) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अ॒ग्निष्टे॒ नि शं॑मयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्यु॑तम्।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान् भे॑ष॒जं यथानु॑न्मदि॒तोस॑सि ॥ २ ॥

अ॒ग्निः। ते॒। नि। श॒म॒य॒तु॒। यदि॑। ते॒। मनः॑। उ॒त्ऽयु॑तम्।
कृ॒णोमि॑। वि॒द्वान्। भे॒ष॒जम्। यथा॑। अनु॑त्ऽमदितः। अस॑सि २

हे गन्धर्वग्रहगृहीत से त्वाम् अग्निः नि शमयतु सम्यग् ज्ञापयतु। उन्मादं निवर्तयत्वित्यर्थः। ❁ "शमो दर्शने" इति मित्त्वात् "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❁। ते त्वदीयं मनः यदि उद्युतम् ग्रहविकारेण उद्भ्रान्त वर्तते। यदिशब्दो हेतौ। यस्माद् एवं तस्माद् कारणाद् विद्वान् प्रतीकारं जानन्नहं ग्रहविकारस्य भेषजम् औषधं कृणोमि करोमि। यथा येन प्रकारेण त्वम् अनुन्मदितः उन्मादरहितश्चित्तभ्रमरहितः अससि भवसि। तथाहं चिकित्सामीत्यर्थः ॥

हे गंधर्वरूपी ग्रहसे जकड़े हुए! अग्निदेव तेरे उन्मादको दूर करें। तेरा मन ग्रहविकारसे उद्भ्रान्त होरहा है अत एव उसके हटानेके उपायको जानने वाला मैं ग्रहविकारकी औषधिको करता कि—जिससे तू चित्तके भ्रमसे शून्य होजावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोसति ॥ ३ ॥

देवऽएनसात् । उत्ऽमदितम् । उत्ऽमत्तम् । रक्षसः । परि ।
कृणोमि । विद्वान् । भेषजम् । यदा । अनुत्ऽमदितः । असति ३

देवकृतम् एनः देवैनसम् । ❀ "अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि" इति अच् समासान्तः ❀ । देवकृतात् पापाद् उपघाताद् उन्मदितम् उन्मादं चित्तस्खलनं प्रापितं तथा रक्षसः रक्षःसकाशाद् ब्रह्मराक्षसादिग्रहणाद् उन्मत्तम् उन्मादेन परवशम् एनं परिप्राप्य विद्वान् तत्प्रतीकारज्ञोहं भेषजम् औषधं कृणोमि करोमि । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

देवकृत उपघातसे उन्मादको प्राप्त हुए तथा ब्रह्मराक्षस आदि के ग्रहणसे उन्मत्त हुए तुझ परवशके पास आकर मैं विद्वान् औषध करता हूँ, कि-जिससे तू चित्तभ्रमसे रहित होजाय॥३॥

चतुर्थी ॥

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोससि ॥ ४ ॥

पुनः । त्वा । दुः । अप्सरसः । पुनः । इन्द्रः । पुनः । भगः ।
पुनः । त्वा । दुः । विश्वे । देवाः । यथा । अनुत्ऽमदितः । असंसि ४

हे उन्मादगृहीत पुरुष त्वा त्वाम् अप्सरसः । एतद् गन्धर्वादीनामपि उपलक्षणम् । "गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ३. ४. ८. ४]।

उन्मादकारिण्योऽप्सरसः त्वां पुनः अदुः उन्मादपरिहारेण अस्मभ्यं दत्तवत्यः। इन्द्रश्च त्वा पुनरदात्। भगश्च पुनरदात्। किं बहुना। विश्वे सर्वे देवास्त्वां पुनः अदुः दत्तवन्तः। यथा येन प्रकारेण त्वम् अनुन्मदितः असति उन्मादविकाररहितो भवसि तथा अदुरिति संबन्धः॥

हे उन्मादग्रस्त पुरुष! तू जिस प्रकार उन्मादरहित रहे तिस प्रकार रहनेके लिये अप्सराओंने † तुझको उन्मादरहित करके देदिया है। इन्द्रदेवने भी लौटा दिया है, भगदेवताने भी लौटा दिया है और क्या सकलदेवताओंने तुझको लौटा दिया है॥४॥

पञ्चमी॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ १॥

मा। ज्येष्ठम्। वधीत्। अयम्। अग्ने। एषाम्। मूलऽबर्हणात्। परि। पाहि। एनम्।
सः। ग्राह्याः। पाशान्। वि। चृत। प्रऽजानन्। तुभ्यम्। देवाः। अनु। जानन्तु। विश्वे॥ १॥

हे अग्ने अयं परिवित्तः एषां पितृमातृभ्रात्रादीनां मध्ये ज्येष्ठम् भ्रातरं मा वधीत् मा हन्तु। ॐ "लुङि च" इति वधादेशः ॐ।

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३। ४। ८। ४ में कहा है, कि–"गंधर्वाप्सरसो वा एतं उन्मादयन्ति उन्माद्यति॥–जो उन्मादग्रस्त होजाता है उसको गंधर्व वा अप्सरायें ही उन्मादग्रस्त करती हैं"।

मूलबर्हणात् मूलोच्छेदनात् तद्धेतुभूताद् दोषाद् वा एनं परिवित्तं परि पाहि परिपालय । परिवेदनदोषं शमयेत्यर्थः । हे अग्ने स त्वं प्रजानन् विमोचनोपायं विद्वान् ग्राह्याः ग्रहणशीलायाः पिशाच्याः पाशान् बन्धनरज्जून् वि चृत विमुञ्च । ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः ❀ । तुभ्यं विमोक्त्रे विश्वे सर्वे देवाः अनु जानन्तु विमोचने अनुज्ञां कुर्वन्तु ॥

हे अग्ने ! यह परिवित्ति पिता माता और भाईमेंसे किसी ज्येष्ठ अर्थात् बड़ेको न मारे । मूलोच्छेदनरूप दोषसे इस परिवित्तिकी रक्षा करिये अर्थात् परिवेदनके दोषको शान्त करिये । (बड़े भाईके विवाहसे पहिले जो छोटा भाई विवाह करता है वह परिवित्ति कहलाता है और ऐसा बड़ा भाई परिवेत्ता कहलाता है) हे अग्ने ! आप विमोचन—छुड़ाने—के उपायोंको जानने वाले हैं अतः ग्रहणशीला पिशाचीके पाशबंधोंको खोलिये । सब देवता इस खोलनेके लिये अनुज्ञा देवें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन् ।
स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥

उत् । मुञ्च । पाशान् । त्वम् । अग्ने । एषाम् । त्रयः । त्रिऽभिः । उत्सिताः । येभिः । आसन् ।
सः । ग्राह्याः । पाशान् । वि । चृत । प्रऽजानन् । पितापुत्रौ । मातरम् । मुञ्च । सर्वान् ॥ ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वम् एषां पित्रादीनां पाशान् परिवेदनदोषोद्भवान् बन्धकान् पाशान् उन्मुञ्च उन्मोचय। शमयेत्यर्थः। पाशा विशेष्यन्ते। माता पिता पुत्र इत्येते त्रयः येभिर्थै [त्रिभिः] उत्तमाधममध्यमैः पाशैः परिवेदनदोषोद्भवैः उत्थिताः उत्क्रम्य अवस्थिता आसन्। तान् विमुञ्चेत्यर्थः। स प्राज्ञा इति पूर्ववत्। एषाम् इति प्रागुक्तमेव विवृणोति पितापुत्राविति। पिता च पुत्रश्च पितापुत्रौ। ❀ "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः ❀। पितरं पुत्रं मातरम् अन्यानपि सर्वान् भ्रात्रादीन् परिवेदनदोषाद् मुञ्च। दोषं शमयेत्यर्थः॥

हे अग्ने! आप पितर आदिके परिवेदन (अर्थात् बड़े भाईके विवाहसे पहिले हुए छोटे भाईके विवाह) रूप दोषसे उत्पन्न हुए पाशोंको शान्त करिये। माता पिता और पुत्र ये तीनों जिन परिवेदनदोषजन्य उत्तम अधम और मध्यम पाशोंसे भली प्रकार बँधे हुए हैं उनको खोलिये। हे अग्निदेव! आप खोलनेके उपायों को जानने वाले हैं पिता पुत्र और माताको ग्रहणशीला पिशाची के पाशोंसे अलग करिये। इस परिवेदनके दोष पापसे मुक्त करिये २

सप्तमी॥

येभिः॒ पाशैः॒ परि॑वित्तो॒ विब॒द्धोऽङ्ग॑अङ्ग॒ आर्पि॑त॒ उत्सि॑तश्च।
वि ते मु॑च्यन्तां वि॒मुचो॒ हि सन्ति॑ भ्रूण॒घ्नि पूषन् दुरि॒तानि॑ मृक्ष्व॥ ३॥

येभिः। पाशैः। परि॑ऽवित्तः। विऽबद्धः। अङ्गे॑ऽअङ्गे। आर्पि॑तः। उत्सि॑तः। च॒।

वि । ते । मुच्यन्ताम् । विऽमुचः । हि । सन्ति । भ्रूणऽघ्नि । पूषन् । दुःऽइतानि । मृक्ष्व ॥ ३ ॥

येभिः यैः पापरूपैः पाशैः परिवित्तः ज्येष्ठे अकृतदारपरिग्रहे पूर्वं गृहीतदारः पुरुषः अङ्गेअङ्गे अवयवेऽवयवे विबद्धः विविधं बद्धः आर्पितः आर्तिं प्रापितः [उच्छ्रितः] उत्क्रान्तावस्थितिश्च भवति ते तथाविधाः पाशा वि मुच्यन्ताम् विसृज्यन्ताम् । हि यस्माद् विमुचः विमोक्तारो देवाः सन्ति विद्यन्ते । तस्माद् विमुच्यन्ताम् इति संबन्धः । हे पूषन् पोषक देव भ्रूणघ्नि भ्रूणहनि । भ्रूणशब्दो गर्भवचनः । "गर्भो भ्रूण इमौ समौ" इत्यभिधानात् । यद्वा "कल्पप्रवचनाध्यायी भ्रूणः" इति बौधायनस्मरणात् कल्पप्रवचनसहितसाङ्गवेदाध्यायी भ्रूणः । तं हतवान् भ्रूणहा । ❀ "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु०" इति भूते क्विप् ❀ । तस्मिन् भ्रूणघ्नि दुरितानि परिवेदनोद्भवानि पापानि मृक्ष्व मार्जय । भ्रूणहा पूर्वमेव पापी तत्रैव पापायतने इदमपि पापं निवेशयेत्यर्थः ॥

हे देवताओं ! जिन पाशोंसे परिवित्त पुरुष अंग अंगमें बँधा हुआ पीड़ा पाकर उठ बैठता है उन पाशोंको आप खोलिये क्यों कि–देवता पाशोंको खोलनेवाले हैं अतः आप पाशोंको खोलिये, हे पूषा देव ! इन परिवेदनके कारण होने वाले पापोंको आप भ्रूणहत्या करने वालेमें (वा) बौधायनके वचनानुसार "कल्पप्रवचनसांगवेदाध्यायी भ्रूणः–कल्पप्रवचन सांग वेदका पढ़ने वाला भ्रूण होता है" उस श्रोत्रियका वध करने वालेमें संयुक्त करिये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

द्विते देवा अमृजतैतदेनंस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।

ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

त्रिते । देवाः । अमृजत । एतत् । एनः । त्रितः । एनत् । मनुष्येषु ।
ममृजे ।

ततः । यदि । त्वा । ग्राहिः । आनशे । ताम् । ते । देवाः । ब्रह्मणा ।
नाशयन्तु ॥ १ ॥

अत्र इयम् आख्यायिका । पुरा खलु देवाः पुरोडाशादिकं हविः संभृत्य तल्लेपजनितपापमार्जनाय एकतो द्वितस्त्रित इति त्रीन् पुरुषान् आप्याख्यान् अग्न्युदकसंपर्कवशाज्जनयामासुः । तेषु च तत् पापं निमृष्टवन्तः । ते च आप्त्याः सूर्याभ्युदितादिषु परंपरया पापं निमृष्टवन्त इति । तद् एतत् सर्वं तैत्तिरीये समाम्नायते । "देवा वै हविर्भृत्वाब्रुवन्" [तै० ब्रा० ३. २, ८. ६] इति प्रक्रम्य "ते देवा आप्त्येष्वमृजत । आप्त्या अमृजत सूर्याभ्युदिते । सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्रुक्ते । सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिनि । कुनखी श्यावदति । श्यावदन्नग्रदिधिषौ । अग्रदिधिषुः परिवित्ते । परिवित्तो वीरहणि । वीरहा । ब्रह्महणि । तद् ब्रह्महणं नात्यच्यवत" इति [तै० ब्रा० ३. २. ८. १२] ॥ तद् इदम् उच्यते । एतत् परिवित्तसमवेतम् एनः पापं पूर्वं देवास्त्रिते एतत्संज्ञे आप्त्ये अमृजत निमृष्टवन्तः । स च त्रितः एतत् स्वात्मनि समवेतं पापं मनुष्येषु सूर्याभ्युदितादिषु ममृजे मृष्टवान् निमार्जनेन स्थापितवान् । ततः तस्माद्धेतोः हे परिवित्त त्वा त्वां ग्राहिः ग्रहणशीला पापदेवता यदि । निपातानाम् अनेकार्थत्वाद् अत्र यदिशब्दो यच्छब्दार्थे । या ग्राहिरानशे प्राप ते त्वदीयां तां ग्राहिं प्रागुक्ता देवाः ब्रह्मणा मन्त्रेण नाशयन्तु ॥

इस परिवित्तमें होने वाले पापको पहिले देवताओंने † त्रित नाम वाले आप्त्यमें स्थापित किया था उन त्रितने अपनेमें समवेत इस पापको सूर्य निकलने पर भी सोते रहने वाले मनुष्योंमें संक्रमित कर दिया, इस कारण हे परिवित्त! तुझको जो ग्रहणशीला पापदेवता प्राप्त होगई है उसको पूर्वोक्त देवता और ब्राह्मण मंत्रसे नष्ट करें ॥ १ ॥

नवमी ॥

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।
नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥

† यहाँ पर यह आख्यायिका है, कि-प्राचीन समयमें देवताओंने पुरोडाश और हविको भली प्रकार धारण किया, फिर उसके लेपसे उत्पन्न हुए पापका मार्जन करनेके लिये अग्नि और जलके संपर्कसे एकत द्वित और त्रित नामक आप्त्योंको उत्पन्न किया और उनमेंसे उस पापको थातीकी भाँति रख दिया, उन्होंने उसको सूर्याभ्युदितमें स्थापित किया, सूर्याभ्युदितने सूर्याभिनिम्रुक्तमें स्थापित किया, सूर्याभिनिम्रुक्तने कुनखी–कुरूप नखों वाले–में स्थापित किया, कुनखीने श्यावदत–दूषित दाँत वाले–में स्थापित किया, श्यावदतने अग्रदिधिषुमें स्थापित किया, अग्रदिधिषुने परिवित्तमें स्थापित किया, परिवित्तने वीरहमें स्थापित किया, वीरहत्यारेने ब्रह्महत्यारेमें स्थापित किया वह पाप ब्रह्महत्यारेसे दूर न होसका। इस आख्यायिकाका तैत्तिरीयब्राह्मण ३। २। ८। १२ में वर्णन है।

मरीचीः । धूमान् । प्र । विश । अनु । पाप्मन् । उत्ऽआरान् । गच्छ । उत । वा । नीहारान् ।

नदीनाम् । फेनान् । अनु । तान् । वि । नश्य । भ्रूणऽघ्नि । पूषन् । दुःऽइतानि । मृक्ष्व ॥ २ ॥

हे पाप्मन् परिवेदनजनितपाप मरीचीः अग्निसूर्यादिप्रभाविशेषान् अनु प्र विश । परिवित्तं विसृज्य प्रगच्छेत्यर्थः । अथवा धूमान् अग्नेरुत्पन्नान् अनु प्र विश । यद्वा उदारान् ऊर्ध्वं गतान् मेघात्मना परिणतांस्तान् गच्छ प्रविश । उत वा अपि वा तज्जन्यान् नीहारान् अवश्यायान् गच्छ । ❀ निपूर्वात् हरतेः कर्मणि घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः ❀ । तथा च तैत्तिरीये सृष्टिं प्रक्रम्य आम्नायते । "तस्मात् तेपानाद् धूमोजायत । तद् भूयोतप्यत । तस्मात् तेपानान्मरीचयोजायन्त । तस्मात् तेपानाद् उदारा अजायन्त । तद् भूयोतप्यत । तद् अभ्रम् इव समहन्यत" इति [तै० ब्रा० २. २. ६. २] । हे पाप्मन् नदीनाम् सरितां तान् प्रसिद्धान् फेनान् फेनिलान् प्रवाहान् अनु वि विश्व अनुप्रविश्य विविधं गच्छ । ❀ "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् । व्यत्ययेन शपो लुक् ❀ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

हे परिवेदनजनित पाप ! तू परिवित्तको छोड़ कर अग्नि सूर्य आदिकी प्रभाओंमें प्रवेश कर, अथवा अग्निसे उत्पन्न हुए धूममें प्रवेश कर, अथवा ऊपर गए हुए मेघरूपसे परिणामको प्राप्त हुए उन धूओंमें प्रवेश कर अथवा उनसे उत्पन्न हुए नीहार-कुहरे-में प्रवेश कर † । हे पाप्मन् ! तू नदियोंके फेनयुक्त प्रवाहोंको लक्ष्यमें रखकर उनमें अनेक रीतिसे प्रवेश कर ॥ २ ॥

† तैत्तिरीयब्राह्मण २ । २ । ६ । २ में सृष्टिका आरम्भ

दशमी ॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

द्वादशऽधा । निऽहितम् । त्रितस्य । अपऽमृष्टम् । मनुष्यऽएनसानि ।
ततः । यदि । त्वा । ग्राहिः । आनशे । ताम् । ते । देवाः । ब्रह्मणा ।
नाशयन्तु ॥ १० ॥

त्रितस्य आप्त्यस्य संबन्धि प्रागुक्तरीत्या अपमृष्टं तद् एनः द्वादशधा निहितम् द्वादशसु स्थानेषु स्थापितम् । प्रथमं देवेषु पश्चात् त्रिषु आप्त्येषु ततः सूर्याभ्युदितादिषु अष्टसु एवं द्वादशसु स्थानेषु निक्षिप्तम् । तद् एनः मनुष्यैनसानि भवन्ति मनुष्यसमवेतानि इदानींतनानि पापानि संपद्यन्ते । उत्तरोऽर्धर्चो व्याख्यातः ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
षष्ठकाण्डे एकादशोनुवाकः ॥

आप्त्य त्रितका वह पाप बारह (पहिले देवताओंमें, फिर तीन आप्त्योंमें तदनन्तर सूर्याभ्युदित आदि आठमें इस प्रकार) स्थानोंमें स्थापित किया गया है । वहपाप इस समय मनुष्यमें संयुक्त होजाते हैं । हे पुरुष ! यदि तुझे ग्रहणशीला पिशाचीने पकड़ लिया है तो पूर्वोक्त देवता और ब्राह्मण इस मन्त्रसे उस को नष्ट करें ॥ ३ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (२८६)

अथर्ववेदसंहिता के छठे काण्डमें ग्यारहवाँ अनुवाक समाप्त ॥

करके कहा है, कि—तस्माद् तेऽपानाद् धूमोऽजायत । तद् भूयोऽतप्यत । तस्माद् तेपानान्मरीचयोजायन्त तस्माद् तेपानाद् उदारा अजायन्त । तद् भूयोऽतप्यत । तद् अभ्रं समहन्यत ।”

द्वादशेनुवाके पञ्च सूक्तानि । अस्यानुवाकस्य आचार्यमरणे आज्यसमित्पुरोडाशादिहोमे विनियोगः ॥

तथा खदाशयान्नप्रायश्चित्तार्थं याज्ञिकः खदाशयानां व्रीहियवतिलं कृत्वा अनेनानुवाकेन जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि पाकयज्ञतन्त्रं कृत्वा वैवस्वतदेवताकं चरुम् अनेनानुवाकेन जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि खदाशयान्नं शरावचतुष्टयपरिमितम् अनेन अनुवाकेन अभिमन्त्र्य ब्राह्मणाय प्रयच्छेत् ॥

सूत्रितं हि । "देवहेडनेन मन्त्रोक्तम् । आचार्यायोपदधीत । खदाशयस्यावपते । वैवस्वतं यजते । चतुःशरावं ददाति" इति [कौ० ५, १०] ॥

तथा सवान् आधास्यमानः सवाग्नौ अनेनानुवाकेन आज्यं जुहुयात् समिधः शकलान् वा आदध्यात् । सूत्रितं हि । "अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्" इति प्रक्रम्य "तस्मिन् देवहेडनेनाज्यं जुहुयात् समिधोभ्यादध्यात् शकलान् वा" इति [कौ० ८, १] ॥

तथा अन्त्येष्टौ चिताग्नावादीप्ते अनेनानुवाकेन आज्यं जुहुयात् ॥

"याम्यां यमभये" [न० क० १७] इति विहितायां याम्याख्यायां महाशान्तौ "यद् देवा देवहेडनम्" इति अनुवाकम् आवपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "यद् देवा देवहेडनम् इति याम्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

तथा सवयज्ञेषु ब्रह्मौदनिकाग्नौ "यद् देवा देवहेडनम्" [६. ११४] "यद् विद्वांसः" [६. ११५] "अपमित्यम् अप्रतीत्तम्" [६. ११७] एतैस्त्रिभिस्तृचैः पूर्णाहुतिं जुहुयात् । सवयज्ञं प्रक्रम्य सूत्रितम् । "ब्रह्मौदनिकम् अग्निं मथित्वा यद् देवा देवहेडनम् यद् विद्वांसो यदविद्वांसः अपमित्यम् अप्रतीत्तम्

इत्येतैस्त्रिभिः सूक्तैरन्वाध्ये दातरि पूर्णहोमं जुहुयात्" इति [कौ० ८. ८] ॥

तथा "यद् देवा देवहेडनम्" इति द्वाभ्यां तृचाभ्याम् अग्निष्टोमे तृतीयसवने आदित्यग्रहहोमं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । अग्निष्टोमं प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "आदित्यग्रहहोमं यद् देवा देवहेडनं द्वाभ्याम्" इति [वै० ३. १२] ॥

तथा अग्निष्टोम एव तृतीयसवनान्ते आभ्यां तृचाभ्यां सर्वप्रायश्चित्तहोमान् कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । "आग्नीध्रीये सर्वप्रायश्चित्तीयान् जुहोति" इति प्रक्रम्य "देवहेडनस्य सूक्ताभ्यां च" इति [वै० ३. १३]॥

अत्र "यद् विद्वांसः" इत्यनेन तृचेन आग्रयणेष्टौ वैश्वदेवं चरुं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । आग्रयणेष्टिं प्रक्रम्य "यद् विद्वांसः [६.११५] द्यावापृथिवी उपश्रुत्या [२.१६. २] सोमो वीरुधाम् [५.२४.७] इति वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान्" इति [वै० २. ४] वैताने सूत्रितत्वात् ॥

बारहवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इस अनुवाकका आचार्यमरणके घृत समिधा पुरोडाश आदिके होममें विनियोग होता है।

तथा खाट पर लेट कर अन्न खाने वालों का प्रायश्चित करने के लिये याज्ञिक खाट पर लेट कर खाने वालोंके धान जौं और तिलोंको इस अनुवाकसे होमे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें पाकयज्ञतन्त्रको करके वैवस्वत देवता वाले चरुकी इस अनुवाकसे आहुति देय ।

तथा इसी कर्ममें खट्वाशयके चार सकोरोंमें भरे हुए अन्नको इस अनुवाकसे अभिमन्त्रित करके ब्राह्मणोंको दे देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है कि– 'देवहेडनेन मंत्रोक्तम् । आचार्यायोपदधीत । खदाशयस्यावपते । वैवस्वतं यजते । चतुः शरावं ददाति ।" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तदनन्तर सवोंका आधान करता हुआ सवाग्निमें इस अनुवाकसे घृतकी आहुति देय वा समिधाओंके टुकड़ोंको रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्" इति प्रक्रम्य "तस्मिन् देवहेडनेनाज्यं जुहुयात् समिधोऽभ्यादध्यात् शकलान् वा (कौशिकसूत्र ८। १)॥

तथा अन्त्येष्टिकर्ममें चितामें अग्निके प्रज्वलित होने पर इस अनुवाकसे घृतकी आहुति देय।

"याम्याम् यमभये ॥–यमका भय होने पर याम्या शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित याम्या नाम वाली महाशान्तिमें "यद् देवा देवहेडनम्" इस अनुवाकको पढ़े। इसी बात को नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"यद् देवा देवहेडनम् इति याम्यायाम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तथा सवयज्ञोंकी ब्रह्मौदनिकाग्निमें "यद् देवा देवहेडनम्" इस छठे काण्डके एकसौ चौदहवें, "यद् विद्वांसः" इस छठे कांड के एकसौ पन्द्रहवें और "अपमित्यम् अप्रतीत्तम्" इस छठे कांड के एकसौ सत्रहवें–इन तृचोंसे पूर्णाहुति देय। सवयज्ञका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि—"ब्राह्मौदनिकं अग्निं मथित्वा यद् देवा देवहेडनम् यद् विद्वांसो यदविद्वांसः अपमित्यम् अप्रतीत्तम् इत्येतैस्त्रिभिः सूक्तैरन्वारब्धे दातरि पूर्णहोमं जुहुयात्" (कौशिक सूत्र ८। ८) ॥

तथा "यद् देवा देवहेडनम्" इन दो तृचोंसे अग्निष्टोमके तृतीय सवनमें आदित्यग्रहहोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। अग्निष्टोमका आरंभ करके वैतानसूत्रमें कहा, कि—"आदित्यग्रहहोमं यद् देवा देवहेडनम् द्वाभ्याम्" (वैतानसूत्र ३। १२) ॥

तथा अग्निष्टोममें ही तृतीयसवनके अन्तमें इन दोनों तृचोंसे सर्वप्रायश्चितहोमोंको करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–

"आग्नीध्रीये सर्वप्रायश्चित्तीयान् जुहोति" इति प्रक्रम्य "देवहेडनस्य सूक्ताभ्यां च" (वैतानसूत्र ३ । १३) ॥

यहाँ "यद् विद्वांसः" इस तृचसे आग्रयणेष्टिमें वैश्वदेव चरु का ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। आग्रयणेष्टिका आरम्भ करके वैतान सूत्र २ । ४ में कहा है, कि–"यद् विद्वांसः (६ । ११५) द्यावापृथिवी उपश्रुत्या (२ । १६ । २) सोमो वीरुधाम् (५।२४।७) वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान् ॥–इन तीनों तृचोंसे यथाक्रम वैश्वदेव द्यावापृथिवी और सोम देवताके चरुका अनुमन्त्रण करे" ॥

तत्र प्रथमा ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।

आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

यत् । देवाः । देवऽहेडनम् । देवासः । चकृम । वयम् ।

आदित्याः । तस्मात् । नः । यूयम् । ऋतस्य । ऋतेन । मुञ्चत १

हे देवाः अग्न्यादयः देवहेलनम् । ❀ हेलतिः क्रुध्यतिकर्मा ❀ । देवाः क्रुध्यन्ति येन पापेन । ❀ करणे ल्युट् ❀ । देवानां क्रोधकरं यत् पापं देवासः देवाः देवनशीला इन्द्रियपरवशाः सन्तः वयं चकृम कृतवन्तः । ❀ देवास इति । "आज्जसेरसुक्" । "देवसेनमेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः" इति परिगणनाद् इगुपधलक्षणं कं बाधित्वा अजन्तो देवशब्दः सर्वत्र अन्तोदात्तः । इह तु व्यत्ययेन आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे आदित्याः अदितेः पुत्रा देवाः यूयं तस्मात् तथाविधात् पापाद् ऋतस्य ऋतेन । इति ऋतं यज्ञस्य सत्यस्य च नामधेयम् । यज्ञसंबन्धिना सत्येन । यद्वा ऋतम् सत्यं परं ब्रह्म तत्संबन्धिना प्रणवादिरूपेण मन्त्रेण साधनेन नः अस्मान् मुञ्चत वियोजयत । इन्द्रियचापलेन उपार्जितं कृत्स्नं पापं मन्त्रसामर्थ्येन निर्दहतेत्यर्थः ॥

हे अग्नि आदि देवताओं ! देवता जिस पापसे क्रोधमें भर जाते हैं उस पापको हम देवनशील–क्रीड़ाशील–इन्द्रियोंके अधीन होकर कर चुके हैं। हे अदितिके पुत्र आदित्य देवताओं ! उस पापसे आप हमको यज्ञसम्बन्धी सत्यके द्वारा (वा) परब्रह्मसंबंधी प्रणव आदि मन्त्रके साधनसे, मुक्त करिये। अर्थात् इन्द्रियोंकी चपलतासे एकत्रित हुए पूर्ण पापको आप मन्त्रशक्तिसे नष्ट करिये १

द्वितीया ॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।

यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

ऋतस्य। ऋतेन। आदित्याः। यजत्राः। मुञ्चत। इह। नः।

यज्ञम्। यत्। यज्ञऽवाहसः। शिक्षन्तः। न। उपऽशेकिम ॥ २ ॥

हे आदित्याः अदितेः पुत्रा देवाः। ❀ "दित्यदित्या०" इत्यादिना अपत्येर्थे प्राग्दीव्यतीयो ण्यप्रत्ययः ❀। यजत्राः। ❀ "अमिनक्षीत्यादिना [उ० ३. १०५] यजेरत्रन् प्रत्ययः ❀। यष्टव्याः यूयम् ऋतस्य यज्ञस्य संबन्धिना ऋतेन सत्येन। यद्वा ऋतशब्दद्वयेनापि सत्यम् उच्यते। सत्यस्य सत्येन परब्रह्मणा। श्रूयते हि। "तद् एतत् सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्" इति [बृ० आ० २. १. २०]। तेन परब्रह्मणा ध्यातव्येन इह अस्मिन् कर्मणि नः अस्मान् मुञ्चत कर्माधिकारविघातकात् सर्वस्मात् पापाद् वियोजयत। ध्यायमानं हि परं ब्रह्म सर्वस्य पापस्य निवर्तकम्। स्मर्यते हि।

उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च।

प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥

इति। हे यज्ञवाहसः यज्ञस्य प्रापका निर्वर्तका देवाः वयं यज्ञम्

ज्योतिष्टोमादिकं शिक्षन्तः शक्तुं निष्पादयितुम् इच्छन्तः यत् यस्मात् पापाद्धेतोः नोपशेकिम शक्ताः समर्था न भवेम । तस्मात् पापाद् मुञ्चतेत्यर्थः । ॐ यज्ञवाहस इति । वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति वहेरसुन् प्रत्ययः । तत्र णिदित्यनुवृत्तेरुपधावृद्धिः । शिक्षन्त इति । शक्लृ शक्तौ । अस्मात् सनि "सनि मीमा०" इत्यादिना अचः स्थाने इस् आदेशः । "अत्र लोपोभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । शेकिमेति । तस्मादेव धातोश्छान्दसे लिटि एत्वाभ्यासलोपौ । क्रादिनियमाद् इट् ॐ ॥

हे अदितिके पुत्र पूजनीय देवताओं ! आप यज्ञसम्बन्धी सत्य से और सत्यके भी सत्य ‡ ध्यान करने योग्य परब्रह्म (के ध्यान) के द्वारा हमको इस कर्मके अधिकारके विघातक पापसे अलग करिये । हे यज्ञको सम्पन्न करने वाले देवताओं ! हम ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंको करनेकी इच्छा करके भी जिस पापके कारण उसको करनेमें समर्थ नहीं होते हैं उस पापसे आप हमको मुक्त करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।

अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ३

मेदस्वता । यजमानाः । स्रुचा । आज्यानि । जुह्वतः ।

---

‡ परब्रह्मका ध्यान करना सब पापोंको हटाने वाला है । कहा भी है, कि–

उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ।
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥

सम्पूर्ण उपपातक और महापातकोंमें एक प्रहर रातसे ब्रह्मका ध्यान करे ।

अकामाः। विश्वे। नः। देवाः। शिक्षन्तः। न। उप। शेकिम॥२॥

मेदस्वता। चतुर्थो धातुर्मेदः। तद्वता स्फीतावयवेन पशुना यजमानाः यागं निष्पादयन्तः स्रुचा जुह्वा आज्यानि जुह्वतः आहवनीये प्रक्षिपन्तः एवंभूता वयम् हे विश्वे देवाः वः युष्माकम् अकामाः कामनारहिताः। पापवशाद् भयमाना इत्यर्थः। शिक्षन्तः शक्तुं यागानुष्ठानं कर्तुम् इच्छन्तः नोप शेकिम। यस्मात् पापात् न शक्ता भवाम तस्मात् पापान्मुञ्चतेति शेषः॥

हे विश्वेदेवताओं! हम मेद वाले पशुके द्वारा यागको पूर्ण करना चाह कर, और स्रुवेसे घृतकी आहुति देना चाह कर भी पापवश डरते हुए यज्ञ नहीं कर पाते हैं, उस पापसे आप हमको छुड़ाइये॥ २॥

चतुर्थी॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः॥ १॥

यत्। विद्वांसः। यत्। अविद्वांसः। एनांसि। चकृम। वयम्।
यूयम्। नः। तस्मात्। मुञ्चत। विश्वे। देवाः। सऽजोषसः १

यत् पापनिमित्तं विद्वांसः जानन्तः यच्च पापनिमित्तम् अविद्वांसः अजानानाः ज्ञानाद् अज्ञानाद् वा वयम् एनांसि पापानि चकृम कृतवन्तः हे विश्वे देवाः सजोषसः सह प्रीयमाणा यूयं तस्मात् सायुक्तात् पापाद् नः अस्मान् मुञ्चत॥

हे विश्वेदेवताओं! हमने जानकारीमें या अनजानमें जिन पापोंको कर लिया, हे विश्वेदेवाओं! उन पापोंसे आप हमको मुक्त करिये, क्योंकि-आप हमसे प्रीति करने लगे हैं॥ १॥

पञ्चमी ॥

यदि॑ जाग्र॒द् यदि॒ स्वप॒न्नेन॑ एन॒स्यो᳡ऽक॑रम् ।
भू॒तं मा॒ तस्मा॒द् भव्यं॑ च द्रुप॒दादि॑व मुञ्चताम् ॥ २ ॥

यदि॑ । जाग्र॑त् । यदि॑ । स्वप॑न् । एनः॑ । ए॒न॒स्यः᳡ । अक॑रम् ।
भू॒तम् । मा॒ । तस्मा॑त् । भव्य॑म् । च॒ । द्रु॒प॒दात्ऽइ॑व । मु॒ञ्च॒ता॒म् ॥

एनः पापं प्रियम् अस्य एनसि साधुरिति वा एनस्यः अज्ञानाद् ईदृशोहं जाग्रत् जागरावस्थापन्नः सन् । यदिशब्दः यद् इत्यर्थे । यद् एनः पापम् अकरम् कृतवान् अस्मि । तथा स्वपन् स्वप्नावस्थां प्राप्तः सन् यदि [यत्] पापं कृतवान् अस्मि । ❀ जाग्रत् इति । जागृ निद्राक्षये । अस्मात् लटः शत्रादेशः । अदादित्वात् शपो लुक् । "जक्षित्यादयः षट्" इति अभ्यस्तत्वाद् "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमभावः । अकरम् इति । "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । तस्माद् उभयविधात् पापाद् भूतम् लब्धसत्ताकं प्राणिजातम् । भविष्यत्सत्ताकं प्राणिजातं भव्यम् । ❀"भव्यगेय०" इत्यादिना "अचो यत्" इति कर्तरि यत् । "यतोनावः" इति उदात्तत्वम् ❀ । यद्वा इमौ लोकौ भूतभव्यशब्दवाच्यौ । तथा च तैत्तिरीयकम् । "भूताय स्वाहा भविष्यते स्वाहेति भूताभव्यौ होमौ जुहोति । अयं वै लोको भूतम् असौ भविष्यत्" इति [तै० ब्रा० ३. ८. १८. ५] । ते उभे भूतभव्ये मा मां द्रुपदादिव । पादबन्धनार्थो द्रुमो द्रुपदः । तस्मादिव मुञ्चताम् वियोजयताम् ॥

अज्ञानवश पापको प्रिय समझता हुआ मैं जाग्रत अवस्थामें या स्वप्नमें जो पाप कर चुका हूँ उन दोनों पापोंसे वर्तमान और भविष्यत् मुझे इस प्रकार मुक्त कर दें जिस काठके पादबंधनसे मनुष्यको छुड़ाया करते हैं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

द्रुपदात्ऽइव । मुमुचानः । स्विन्नः । स्नात्वा । मलात्ऽइव ।
पूतम् । पवित्रेणऽइव । आज्यम् । विश्वे । शुम्भन्तु । मा । एनसः ३

द्रुपदादिव काष्ठमयात् पादबन्धनादिव पापाद् मुमुचानः विमुच्यमानः । ॐ व्यत्ययेन यकः श्लुः । यद्वा मुचेर्लिटः कानच् । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ॐ । तथा स्विन्नः स्वेदयुक्तः पुरुषः स्नात्वा अप्सु निमज्ज्य मलादिव यथा देहाश्रिताद् बाह्यमलाद् वियुज्यते एवं पापाद् वियुज्यमानः । भवानीति शेषः । तथा पवित्रेण पवनसाधनेन पूतम् शोधितम् आज्यमिव तद् यथा निष्कल्मषं भवति एवं मा मां विश्वे सर्वे देवाः एनसः पापाद् शुम्भन्तु शुद्धं कुर्वन्तु ॥

[इति] द्वादशेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जिस प्रकार काठके पाद बंधनसे छूटा हुआ पुरुष और पसीने में भीगा हुआ पुरुष, जलमें स्नान करके बाह्यमलसे छूटा हुआ, पुरुष होता है इसीप्रकार मैं पापसे मुक्त होता हूं । पवित्र करनेके साधन अँगोछे चलनी आदिसे पवित्र हुआ घृत जैसे मलिनतारहित होजाता है तैसे ही सब देवता मुझको पापसे शुद्ध करें ३

बारहवें अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२८८) ॥

"यद् यामं चक्रुः" इति तृचेन घृततैलमधूनां परिमितानां वृद्धिक्षयलक्षणाद्भुतप्रायश्चित्तार्थम् आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतत् सर्पिर्वा तैलं वा मधु वा विस्पन्दयते यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्र इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ४०] ॥

"अपमित्यम् अप्रतीत्तम्" इति त्रिभिस्तृचैः उत्तमर्णे मृते सति तत्पुत्राय सगोत्राय वा धनम् अभिमन्त्र्य ऋणी दद्यात् ॥

तथा अनेन तृचत्रयेण द्रव्यम् अभिमन्त्र्य उत्तमर्णस्य श्मशानभूमौ चतुष्पथे वा निक्षिपेत् ॥

तथा तृचत्रयेण द्रव्यम् अभिमन्त्र्य कक्षेषु निक्षिप्य तान् अग्निना दीपयेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपमित्यम् अप्रतीत्तम् इत्युत्तमर्णे मृते तदपत्याय प्रयच्छति । सगोत्राय । श्मशाने निवपति । चतुष्पथे च । कक्षान् आदीपयति" इति [कौ० ५. १०] ॥

तथा अस्य तृचत्रयस्य सर्वयज्ञेषु पूर्णहोमे विनियोग उक्तः ॥

तथा लौकिकाग्निना शालादाहे तच्छान्त्यर्थम् अनेन तृचत्रयेण व्रीहियवगोधूमादिमिश्रधान्यैः पूर्णाञ्जलिं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् ग्राम्योऽग्निः शालां दहत्यपमित्यम् अप्रतीत्तम् इत्येतैस्त्रिभिः सूक्तैर्मिश्रधान्यस्य पूर्णाञ्जलिं हुत्वा" इति [कौ० १३. ४१] ॥

तथा अग्निष्टोमावसाने गार्हपत्याग्नेररण्योरात्मनि वा समारोपणानन्तरम् उपोष्यमाणां वेदिम् अपमित्यम् इत्यनेन अनुमन्त्रयेत । "अपमित्यम् अप्रतीत्तम् इति वेदिम् उपोष्यमाणाम्" इति वैतानात् [वै० ३. १४] ॥

"यद् यामं चक्रुः" इस तृचसे परिमित घृत तैल मधुकी वृद्धिक्षयरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अथ यत्रैतत् सर्पिर्वा तैलं वा मधु वा विस्पन्दयते यद् यामं चक्रु निंखनन्तो अग्र इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" (कौशिकसूत्र १३।४०)॥

कर्ज देने वालेके मरने पर ऋणी "अपमित्यं अप्रतीत्तम्" इन तीन तृचोंसे उसके पुत्रको वा सगोत्रको धन अभिमन्त्रित करके देदेय ॥

तथा इन तीन तृचोंसे द्रव्यको अभिमन्त्रित करके कर्ज देने वालेकी श्मशानभूमिमें वा चौराहेमें धर देय।

तथा इन तीन तृचाओंसे द्रव्यको अभिमन्त्रित करके घास फूँसमें फेंक कर उसको अग्निसे जला देवे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अपमित्यम् अप्रतीत्तं इत्युत्तमर्णे मृते तदपत्याय प्रयच्छति। सगोत्राय। श्मशाने निवपति। चतुष्पथे च। कक्षान् आदीपयति" (कौशिकसूत्र ५। १०)॥

इन तीनों तृचोंका सवयज्ञोंके पूर्णाहोममें विनियोग होता है।

तथा लौकिक अग्निसे मकानके जलने पर उसकी शांतिके लिये इन तीनों तृचोंसे धान जौं गेहूँ आदि मिश्रधान्योंसे पूर्णाञ्जलिकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "अथ यत्रैतद् ग्राम्योऽग्निः शालां दहत्यपमित्यम् अप्रतीत्तं इत्यैतैस्त्रिभिः सूक्तैर्मिश्रधान्यस्य पूर्णाञ्जलिं हुत्वा" (कौशिकसूत्र १३।४१)

तथा अग्निष्टोमके अन्तमें गार्हपत्याग्निका अरणियोंमें वा अपने में अपने आप ही समावेश होनेके अनन्तर घटोगी जाती हुई वेदीका 'अपमित्यम्' से अनुमंत्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १४ का प्रमाण भी है, कि—'अपमित्यं अप्रतीत्तं' इति वेदिम् उगोष्यमाणाम्"।

तत्र प्रथमा॥

यद् याम॑म् च॒क्रुर्नि॒खन॑न्तो॒ अग्रे॑ कार्षी॑वणा अन्न॒वि॒दो॒ न वि॒द्यया॑।

वै॒व॒स्व॒ते राज॑नि॒ तज्जु॑हो॒म्यथ॑ य॒ज्ञियं॒ मधु॑मदस्तु॒ नोऽन्न॑म्

यत्। याम॑म्। च॒क्रुः। नि॒ऽखन॑न्तः। अग्रे॑। कार्षी॑वणाः। अ॒न्न॒ऽवि॒दः। न। वि॒द्यया॑।

वैवस्वते । राजनि । तत् । जुहोमि । अथ । यज्ञियम् । मधुऽमत् ।

अस्तु । नः । अन्नम् ॥ १ ॥

कार्षीवणाः कृषिं वनन्ति संभजन्त इति कृषीवनाः शूद्राः । तत्संबन्धिनः कर्मकराः कार्षीवणाः । ते अग्रे पुरा भूमिं निखनन्तः कृषन्तः यद् यामं यमसंबन्धि क्रूरं यत् कर्म चक्रुः कृतवन्तः । तत्र कारणम् आह न विदो न विद्यया इति । यस्मात् ते विद्यया विशेषज्ञानेन नोपलक्षिताः अत एव न विदः न वेदितारः कार्याकार्यविभागज्ञानशून्याः तस्माद् यामं कर्म कृतवन्तः इत्यर्थः । यद्वा अग्रे पुरा भूमिं निखनन्तः असुराः यद् यामं यमसंबन्धि प्राणापहरणनिमित्तं क्रूरं कर्म कृतवन्तः । श्रूयते हि । "असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्" इति [तै० सं० ६. २. ११.२] । तत् कर्म कार्षीवणा अज्ञजनाः न विदो न जानन्ति । ❀ विदुरित्युकारस्य व्यत्ययेन अकारः ❀ । यतस्ते विद्यया संस्कृतबुद्धया न भवन्ति । विशेषज्ञानशून्या इत्यर्थः । तत् तत्र अद्भुतशमने न्यूनाधिकपरिमाणोपेतं तत् आज्यमधुतैलादिकं वैवस्वते विवस्वान् आदित्यः तस्य पुत्रे राजनि ईश्वरे यमे जुहोमि हविष्ट्वेन प्रक्षिपामि । अथ अद्भुतशमनानन्तरं यज्ञियम् यज्ञार्हं तद् अन्नं मधुमत् माधुर्योपेतं [नः] अस्माकं भोक्तुं योग्यम् अस्तु ॥

कृषिका सेवन करनेवाले कृषीवनोंके कर्मोंको करनेवाले कार्षीवणों ने विद्याहीन होनेके कारण कार्याकार्यके विचारसे शून्य होने पर भूमिको खोदनारूप जो यमसंबन्धी कर्म पहिले किया था अथवा— पहिले भूमिको खोदते २ असुरोंने प्राणापहरणरूप जो यमसंबंधी क्रूर कर्म किया था, † उसको अज्ञ व्यक्ति कार्षीवण नहीं

† तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । ११ । २ में कहा है, कि—असुरा व निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन् ॥

जानते हैं, क्योंकि–वे विद्या अर्थात् संस्कृत बुद्धिसे रहित होते हैं उसके लिये अद्भुतशमनमें न्यूनाधिकपरिमाण वाले घृत मधु तेल आदिको विवस्वान्‌के पुत्र ईश्वर यमके लिये हविरूपमें होमता हूँ फिर अद्भुतशमन करनेके अनन्तर यह यज्ञके योग्य अन्न मधुररसमय हो हमारे भोगनेके योग्य होजाय ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे

वैवस्वतः । कृणवत् । भागऽधेयम् । मधुऽभागः । मधुना । सम् । सृजाति मातुः । यत् । एनः । इषितम् । नः । आऽअगन् । यत् । वा । पिता । अपऽराद्धः । जिहीडे ॥ २ ॥

वैवस्वतः विवस्वतः पुत्रो यमः भागधेयम् आत्मार्थं हविर्भागं कृणवत् करोतु । मधुभागः माधुर्योपेतहविषा भागेन युक्तः सन् मधुना माधुर्योपेतेन क्षीरघृतादिना अस्मान् [सं सृजाति] संसृजतु । मातुः सकाशाद् यद् एनः पापम् इषितम् प्रेरितं सत् नः अस्मान् कृतापराधान् [आगन्] आगमत् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । [वा] अथवा पिता अपराद्धः अस्मत्कृतापराधेन विमुखः सन् यत् जिहीळे क्रुध्यति । ❀ हेड क्रोधे । छान्दसो वर्णविकारः ❀ । मातापित्रोर्द्रोहकृतं यद् उत्पातस्य निमित्तं तदपि शाम्यत्वित्यर्थः ॥

विवस्वान्‌के पुत्र यम अपने लिये हवि भागको करें । मधुभाग माधुर्यमय हविभागसे युक्त होकर मधुमय क्षीर घृत आदिसे हमको संयुक्त करे । माताके पाससे प्रेरित होकर जो पाप हम कृताप-

राधोंको भास होगया है और हमारे किये हुए अपराधसे जो पिताजी क्रोधमें भर रहे हैं अर्थात् माता पिताके द्रोहके कारण जो उत्पात होरहे हैं वह भी शान्त होजावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् ।

यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

यदि । इदम् । मातुः । यदि । वा । पितुः । नः । परि । भ्रातुः । पुत्रात् । चेतसः । एनः । आऽअगन् ।

यावन्तः । अस्मान् । पितरः । सचन्ते । तेषाम् । सर्वेषाम् । शिवः । अस्तु । मन्युः ॥ ३ ॥

इदं परिदृश्यमानम् एनः पापं यदि मातुः सकाशात् आगन् आगमत् यदि वा पितुः सकाशात् यदि वा भ्रातुः सकाशात् यदि वा अन्यस्मादपि परिजनात् पुत्राद्व वा चेतसः आत्मीयाद् मनसः सकाशात् पापं नः अस्मान् आगमत् । तेन च पापेन क्रुद्धा यावन्तः यत्परिमाणाः पितरः अस्मान् सचन्ते समवयन्ति प्राप्नुवन्ति तेषां सर्वेषां मन्यु क्रोधः शिवो अस्तु शान्तो भवतु ॥

यह पाप यदि माताके पाससे आया हो अर्थात् माताके अपराध करनेके कारण दण्डरूपमें भोगना पड़ रहा हो, पिताके पास से आया हो अर्थात् पिताका अपराध करनेसे दण्डरूपमें मिल रहा हो, भाईके पाससे आया हो अर्थात् भाईका अपराध करनेसे

दण्डरूपमें मिल रहा हो, वा दूसरे संबंधी वा पुत्रके हृदय (के दुःख) से आया हो तो इस पापसे संबंध रखने वाले जो हमारे पिता आदि हमसे संबंध रखते हैं उन सबका क्रोध शान्त होजाय २

चतुर्थी ॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान् विचृतं वेत्थ सर्वान्

अपऽमित्यम् । अप्रतीत्तम् । यत् । अस्मि । यमस्य । येन । बलिना । चरामि ।
इदम् । तत् । अग्ने । अनृणः । भवामि । त्वम् । पाशान् । विऽचृतम् । वेत्थ । सर्वान् ॥ १ ॥

अपमित्यम् अपमातव्यम् अपाकर्तव्यं धान्यादिकम् ऋणम् उत्तमर्णाद् गृहीतम् अप्रतीत्तम् पुनस्तस्मै न प्रत्यर्पितम् ! ❀ मेङ् प्रणिदाने । अस्माद् अपपूर्वाच्छान्दसः क्यप् । "मयतेरिदन्यतरस्याम्" इति इत्वम् अत्रापि व्यत्ययेन प्रवर्तते । "ह्रस्वस्य पिति कृति॰" इति तुक् । प्रति पूर्वाद् ददातेर्निष्ठा । "अच उपसर्गात् तः" इति धातोस्तकारादेशः ।"दस्ति" इति उपसर्गस्य दीर्घः ❀ । ईदृशं यद् ऋणमेव अहम् अस्मि भवामि । ऋणबाहुल्यख्यापनार्थं तादात्म्यव्यपदेशः । यस्माद् एवं तस्माद् बलिना बलवता येन ऋणेन शासितुः यमस्य वशे चरामि हे अग्ने त्वत्प्रसादाद् इदम् इदानीं तत् तेन ऋणेन अनृणः ऋणरहितो भवामि । त्वं खलु तान् सर्वान् ऋणोद्भवान् पारलौकिकान् पाशान् बन्धनरज्जुविशेषान् विचृतम् विचर्तितुं मोचयितुं वेत्थ जानासि । शक्तो भवसीत्यर्थः । ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः । अस्मात् तुमर्थे "शकि णमुल्कमुलौ" इति शकेरप्रयोगेपि छान्दसः कमुल् प्रत्ययः ❀ ॥

भुगताने योग्य धान्यादि ऋण जो कर्ज देने वालेसे लिया था, किन्तु उनको लौटाकर नहीं देसका था, ऐसा ऋण ही जो मैं हूँ (यहाँ अधिक ऋण होनेसे अपनेमें उसका आरोप कर लिया है) इस कारण मैं जिस बलवान् ऋणके द्वारा यमराजके वशमें घूमूँगा, हे अग्ने ! आपके प्रसादसे मैं उस ऋणसे ऋण–रहित होजाऊँ, क्योंकि हे अग्निदेव ! आप ऋणके कारण होने वाले पारलौकिक पाशोंको खोलना जानते हैं ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।
अपमित्यं धान्यं १ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

इह । एव । सन्तः । प्रति । दद्मः । एनत् । जीवाः । जीवेभ्यः । नि । हरामः । एनत् ।
अपऽमित्य । धान्यम् । यत् । जघस । अहम् । इदम् । तत् । अग्ने । अनृणः । भवामि ॥ २ ॥

इहैव इह लोक एव सन्तः विद्यमाना एनद् ऋणं प्रति दद्मः उत्तमर्णाय प्रत्यर्पयामः । एतदेव विवृणोति । जीवाः इह लोके जीवन्त एव जीवेभ्यः जीवद्भ्य उत्तमर्णेभ्यो देहत्यागात् पुरैव एनद् ऋणं नि हरामः नितरां नियमेन वा अपाकुर्मः । धान्यं व्रीहियवादिकम् उत्तमर्णसकाशाद् अपमित्य प्रस्थाढकादिसंख्यया परिच्छिद्य गृहीत्वा यद् अहं जघस भक्षितवान् अस्मि । ॐ अपमित्येति । अपपूर्वात् मेङः "उदीचां माङो व्यतीहारे" इति क्त्वा प्रत्ययः ।

न्यथादेशे "मयतेरिदन्यतरस्याम्" इति इत्वम्। "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक्। जघसेति। "लिट्यन्यतरस्याम्" इति अदेर्लिटि उत्तमैकवचने घस्लृ आदेशः। "णल् उत्तमो वा" इति णित्वस्य विकल्पनाद् वृद्ध्यभावः ॐ। हे अग्ने इदम् इदानीं तत् तस्मात् परकीयधान्यभक्षणात् त्वत्प्रसादेन अनृणः ऋणरहितः ऋणनिमित्तनरकपातरहितो भवामि। ॐ अनृण इति। "बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॐ॥

इस लोकमें विद्यमान रहते हुए ही हम इस ऋणको उत्तमर्णके अर्पण करते हैं, इस लोकमें जीते रहनेकी अवस्थामें ही हम देहत्यागसे पहिले ही उत्तमर्णों (कर्ज देने वालों) को इस ऋणका भुगतान करते हैं। धान जौं आदिक जिस धानको मैं उत्तमर्णसे पाँच सेर आदिक संख्यामें लेकर खागया हूँ, हे अग्ने ! उस परकीय धान्यभक्षण इस समय आपके प्रसादसे मैं उऋण होता हूँ अर्थात् ऋणके कारण भोगनेमें आने वाले नरकपातसे रहित होता हूँ २

षष्ठी॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।

ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

अनृणाः। अस्मिन्। अनृणाः। परस्मिन्। तृतीये। लोके। अनृणाः। स्याम।

ये। देवऽयानाः। पितृऽयानाः। च। लोकाः। सर्वान्। पथः। अनृणाः। आ। क्षियेम॥ ३॥

हे अग्ने त्वत्प्रसादाद् अस्मिन् भूलोके अनृणाः। ऋणम् अत्र लौकिकं वैदिकं च परिगृह्यते। लौकिकं तावद् उत्तमर्णाद् गृहीतं हिरण्यधान्यादिकं प्रसिद्धम्। वैदिकं तु "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति [तै० सं० ६. ३. १०. ५]। तेन सर्वेण ऋणेन रहिताः स्याम भवेम। परस्मिन् लोके स्वर्गादौ एतद्देहपरित्यागेन दिव्यशरीरपरिग्रहेण सुकृतफलभोगस्थानेपि अनृणाः स्याम। ऋणादाननिमित्तो भोगप्रतिबन्धस्तत्रापि मा भूद् इत्यर्थः। तृतीये लोके स्वर्गादपि उत्कृष्टे नाकपृष्ठादौ वयम् अनृणा भवेम। अन्येपि ये लोकाः देवयानाः देवा एव येषु यान्ति गच्छन्ति ते तथोक्ताः। ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀। ये च लोकाः पितृयाणाः पितॄणाम् असाधारणभोगभूमयः तान् सर्वान् लोकान् तत्प्राप्त्युपायभूतान् पथः मार्गांश्च। यद्वा लोक्यन्त इति लोकाः पन्थानः देवानेव यैर्यान्ति ते देवयानाः पितॄनेव यैर्यान्ति ते पितृयाणाः। ❀ उभयत्र करणे ल्युट् ❀। य एवम् उभये विभिन्ना मार्गाः तान् सर्वान् अनृणाः ऋणप्रतिबन्धरहिताः सन्तः आ क्षियेम अभि गच्छेम। ❀ क्षि निवासगत्योः। तुदादित्वात् शः ❀ ॥

इति द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने! आपके प्रसादसे हम इस लोकमें लौकिक और वैदिक † दोनों प्रकारके ऋणोंसे अनृण होवें। इसी प्रकार हम

† पहिला–सुवर्ण धान्य आदि उत्तमर्णसे लिया हुआ लौकिक ऋण प्रसिद्ध ही है। दूसरा वैदिक ऋण होता है। तैत्तिरीयसंहिता ६। ३। १०। ५ में कहा है, कि–"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते॥–ब्राह्मण तीन ऋणों से बँधा हुआ उत्पन्न होता है" फिर वहाँ ही कहा है–कि–"ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः॥–उनमेंसे ब्रह्मचर्यके द्वारा ऋषियों

·१९·

इस देहको त्यागनेके अनन्तर दिव्य शरीरके मिलने पर पुण्य फलभोगनेके स्थान स्वर्ग आदि परलोकमें अनृण हों-अर्थात् ऋण लेनेके कारण होने वाला भोगका प्रतिबंध तहाँ भी न हो, स्वर्ग से भी उत्कृष्ट नाकपृष्ठ आदि तीसरे लोकमें हम अनृण होवें और जिनमें देवता ही जाते हैं वे देवयान मार्ग हैं और जो पितरोंकी असाधारण भोगभूमिरूप पितृयान हैं और इनको पानेके जो मार्ग हैं उन सबमें हम ऋणके प्रतिबन्धसे रहित होकर प्रवेश करें ३

द्वितीय सूक्त समाप्त (२९०) ॥

"यद्धस्ताभ्याम्" इति तृतीयं सूक्तम् । अस्य विनियोगः पूर्व-तृचेन सह उक्तः ॥

"यद्धस्ताभ्याम्" यह तृतीय सूक्त है। पहिले तृचके साथ इसका विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुप-
लिप्समानाः ।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः १

यत् । हस्ताभ्याम् । चकृम । किल्बिषाणि । अक्षाणाम् । गत्नुम् ।
उपऽलिप्समानाः ।
उग्रंपश्ये इत्युग्रम्ऽपश्ये । उग्रऽजितौ । तत् । अद्य । अप्सरसौ । अनु ।
दत्ताम् । ऋणम् । नः ॥ १ ॥

हस्ताभ्याम् । इन्द्रियाणाम् उपलक्षणम् एतत् । हस्तपादादी-

से, यज्ञके द्वारा देवताओंसे और प्रजा (सन्तान) उत्पन्न करके ऋषियोंसे उऋण होवें" ॥

न्द्रियैः किल्बिषाणि पापानि यत् चकृम वयं कृतवन्तः स्मः । अक्षाणाम् इन्द्रियाणां गत्नुम् गन्तव्यं शब्दस्पर्शादिविषयम् उपलिप्समानाः उपलब्धुम् अनुभवितुम् इच्छन्तः । यद् ऋणं चकृमेत्यर्थः । ❀ गत्नुम् इति । गमेः औणादिकः त्नुप्रत्ययः । "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः । उपपूर्वात् लभेः इच्छासनि "सनि मीमाघुरभलभ०" इति अच इस् आदेशः । "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । "पूर्ववत् सनः" इति आत्मनेपदम् ❀ । हे उग्रंपश्ये तीक्ष्णदर्शने । ❀ "उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च" इति खशि निपात्यते ❀ । हे उग्रजितौ उग्रान् उद्‌गूर्णबलान् प्रतिकर्तुम् अशक्यान् शत्रून् जयत इति उग्रजितौ । तत्रैका उग्रंपश्या । अपरा उग्रजित् । ❀ युगपदधिकरणवाचित्वाद् वृक्षौ च वृक्षौ च वृक्षौ इतिवद् उभयत्रापि द्विवचनम् ❀ । एतन्नामानौ अप्सरसौ अद्य इदानीं नः अस्माकं तत् भाग् उदीरितम् ऋणम् अनु दत्ताम् आनुकूल्येन उत्तमर्णेभ्यः प्रयच्छतम् ॥

हाथ पैर आदि इन्द्रियोंसे हमसे जो पाप बन गया है और इन्द्रियोंके शब्द स्पर्श आदि विषयोंको भोगनेकी लालसासे हमने जो ऋण कर लिया है, उस ऋणको तीक्ष्ण दर्शन वाली उग्रंपश्या और उग्रजिता नाम वाली अप्सरायें उत्तमर्णको देदेवें ॥ १ ॥

द्वितीयः ॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत् ।

ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥

उग्रंपश्ये इत्युग्रम्ऽपश्ये । राष्ट्रऽभृत् । किल्बिषाणि । यत् ।

अक्षऽवृत्तम् । अनु । दत्तम् । नः । एतत् ।

ऋणात् । नः । न । ऋणम् । एत्सैमानः । यमस्य । लोके ।

अधिऽरज्जुः । आ । अयत् ॥ २ ॥

हे उग्रंपश्ये । राष्ट्रभृतः पृथगुपादानाइ अत्र एकवचनान्तम् एतत् । हे राष्ट्रभृत् राष्ट्रं राज्यं बिभर्ति पोषयतीति राष्ट्रभृत् । एतत् संज्ञे अप्सरसौ यानि अस्माभिः कृतानि किल्बिषाणि पापानि यच्च पापम् अक्षवृत्तम् अक्षेषु इन्द्रियेषु निषिद्धानिषिद्धविभागपरिहारेण स्वस्वविषयप्रवृत्तेषु निष्पन्नम् । ❀ "तत्पुरुषे तुल्यार्थ०" इत्यादिना सप्तमीपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । नः अस्माकम् ऋणभूतम् एतत् सर्वं पापम् अनु दत्तम् आनुकूल्येन यथास्मान् न बाधते तथा दत्तम् प्रयच्छतम् । निवारयतम् इत्यर्थः । अनुदानप्रकारम् आह । ऋणान्न इति । ऋणान् ऋणिनः । ❀ मत्वर्थीयः प्रकारः ❀ । अनपाकृतिनो नः अस्मान् । यद्वा ऋणात् इति पदच्छेदः । ❀ भावप्रधानो निर्देशः ❀ । ऋणित्वाद्धेतोः नः अस्मान् यमस्य पुण्यपापानुरूपं दण्डयितुर्देवस्य संबन्धिनि लोके स्थाने उत्तमर्णः ऋणम् एत्समानः ऋणं ग्रहीतुम् अभित इच्छन् अधिरज्जुः अस्मद्ग्रहणाय पाशहस्तो भूत्वा न आयत् न प्राप्नोति । तथा अनुदत्तम् इति संबन्धः । ❀ अय गतौ । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥

हे उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् नाम वाली अप्सराओ ! जो हमारे किये हुए पाप हैं और जो पाप निषिद्ध तथा अनिषिद्ध विभाग को छोड़कर अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होनेसे होगया है, हमारे उस ऋणभूत सम्पूर्ण पापोंको आप अर्थात् वह जिस प्रकार हमको पीड़ित न कर सकें तिस प्रकार निवारण करिये और पुण्य तथा पापके अनुसार दण्ड देने वाले यमदेवके लोकमें उत्तमर्ण

ऋण लेनेकी इच्छासे हमको पकड़नेके लिये हाथमें पाश लेकर न आसके तिस प्रकार हमारे ऋणको दूर करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः ।
ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम् ३

यस्मै । ऋणम् । यस्य । जायाम् । उपऽएमि । यम् । याचमानः । अभिऽएमि । देवाः ।
ते । वाचम् । वादिषुः । मा । उत्ऽतराम् । मत् । देवपत्नी इति देवऽपत्नी । अप्सरसौ । अधि । इतम् ॥ ३ ॥

यस्मै उत्तमर्णाय वस्त्रहिरण्यधान्यादिकम् ऋणम् अहं धारयामि । ❀ धारयतेः प्रयोगाभावेपि अर्थसत्तां द्योतयितुं "धारेरुत्तमर्णः" इति चतुर्थी ❀ । यस्य पुरुषस्य जायाम् भार्याम् उपैमि कामुकः सन् उपगच्छामि । तथा यं पुरुषं स्वामिनम् उत्तमर्णं वा याचमानः इष्टं धनं प्रार्थयमानः हे देवाः अभ्येमि अभिगच्छामि। ते सर्वे मत् मत्तः उत्तराम् उत्कृष्टतरां वाचं प्रतिकूलां मा वादिषुः मा ब्रुवन्तु। हे देवपत्नी देवपत्न्यौ देवानां पत्न्यौ जायाभूते अप्सरसौ अधीतम् मद्विज्ञापनं चित्तेऽवधारयतम्। ❀ इक् स्मरणे ❀ ॥

जिस उत्तमर्णके लिये मैं वस्त्र सुवर्ण धान्य आदि ऋण धारण कर रहा हूँ, और जिस पुरुषकी स्त्रीके पास कामुक होकर जाता हूँ और हे देवताओं ! जिस उत्तमर्ण वा स्वामी पुरुषके पास इष्ट धनकी प्रार्थना करता हुआ जाऊँ, वे मुझसे अधिक प्रतिकूल

वाणी न बोलें हे देवपत्नी अप्सराओं ! मेरी विज्ञप्तिको चित्तमें धारण करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यद्दीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि ।
वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

यत् । अदीव्यन् । ऋणम् । अहम् । कृणोमि । अदास्यन् । अग्ने । उत । सम्ऽगृणामि ।
वैश्वानरः । नः । अधिऽपाः । वसिष्ठः । उत् । इत् । नयाति । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

अदीव्यन् व्यवहर्तुम् अशक्नुवन् यत् ऋणम् अहं कृणोमि करोमि हे अग्ने अदास्यन् पुनः प्रदानम् अकरिष्यन् । ❀ उत-शब्दः अप्यर्थे ❀ । संगृणामि दास्यामीति केवलं प्रतिजानामि । ❀ गॄ शब्दे । प्वादित्वात् ह्रस्वः ❀ । वैश्वानरः विश्वनरहितः सर्वेषां प्राणिनां हितकारी अत एव अधिपाः अधिकं पालयिता वसिष्ठः वासयितृतमः एवंभूतोग्निः सुकृतस्य पुण्यकर्मणः फलभूतं लोकम् नः अस्मान् उन्नयाति उन्नयतु ऊर्ध्वं प्रापयतु । ❀ इत्शब्दः अवधारणे ❀ । स्वयमेव नयत्वित्यर्थः ॥

व्यवहार करनेमें असमर्थ होने पर मैंने जो ऋण कर लिया है और उसको न दे सकता हुआ केवल देनेकी ही प्रतिज्ञा करता रहा हूँ, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी अत एव परम पालक वासयिता अग्नि पुण्यके फलरूप स्वर्गलोकमें हमें श्रेष्ठ गति प्राप्त करावें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

वैश्वानराय प्रतिं वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानराय। प्रति। वेदयामि। यदि। ऋणम्। सम्ऽगरः। देवतासु।
सः। एतान्। पाशान्। विऽचृतम्। वेद। सर्वान्। अथ। पक्वेन। सह। सम्। भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानराय विश्वनरहिताय अग्नये प्रति वेदयामि विज्ञापयामि। किं तद् इत्याह यद्यृणम् इति। यदिशब्दो यच्छब्दार्थः। यद् ऋणं लौकिकम् देवतासु देवताविषये यः संगरः अवश्यकर्तव्यतया प्रतिज्ञा "ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" [तै० सं० ६. ३. १०. ५] इति तद्धि वैदिकम् ऋणम्। तत् सर्वं वैश्वानराय निवेदयामीत्यर्थः। स तादृशो वैश्वानरोग्निः एतान् लौकिकवैदिकऋणात्मकान् सर्वान् पाशान् पाशवद्बन्धकान् विचृतम् विचर्तितुं विश्लेषयितुं वेद जानाति। ॐ विचृतम् इति। विपूर्वाच्चृतेः तुमर्थे कमुल् प्रत्ययः ॐ। अथ ऋणरूपपाशच्छेदनानन्तरं पक्वेन परिपक्वेन स्वर्गादिफलेन सह वयं सं भवेम संगच्छेमहि ॥

मैं वैश्वानर अग्निके लिये लौकिक ऋणको और देवताओंसे अवश्य करने को की हुई प्रतिज्ञाओंको अर्पण करता हूँ, यह अग्निदेव लौकिक वैदिक ऋणात्मक सम्पूर्ण पाशोंको खोलना

जानते हैं, ऋणरूपपाशच्छेदनके अनन्तर परिपक्व स्वर्ग आदि फलके साथ हम संयुक्त होवें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् ।
अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । पविता । मा । पुनातु । यत् । सम्ऽगरम् । अभिऽधावामि । आऽशाम् ।
अनाजानन् । मनसा । याचमानः । यत् । तत्र । एनः । अप । तत् । सुवामि ॥ ३ ॥

पविता शोधयिता सर्वभावानां शुद्धेः कर्ता वैश्वानरोग्निः मा मां पुनातु पूतं शुद्धं करोतु । यत् यस्माद्धेतोः संगरम् प्रतिज्ञाम् यदपे दास्यामीत्येवंरूपाम् ऋणापाकरणविषयां केवलम् अभिधावामि आभिमुख्येन प्राप्नोमि तथा आशाम् देवादीनाम् अभिलाषमेव उत्पादयामि न किंचिद् यागादिरूपम् ऋणापाकरणं करोमि अनाजानन् हिताहितविभागम् अजानन् प्रत्युत मनसा अन्तःकरणेन ऐहिकमेव सुखं याचमानः प्रार्थयमानः । ❀ उभयत्र लक्षणहेत्वोः क्रियाया इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । अज्ञानाद् विपर्ययज्ञानाच्च हेतोरित्यर्थः । तत्र तथाविधे अनृतकरणे यद् एनः पापम् उत्पन्नम् अस्ति तद् अप सुवामि अस्मत्तोपगमयामि । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शः ❀ ॥

इति तृतीयं सूक्तम् ॥

सब भावोंको शुद्ध करने वाले वैश्वानर अग्नि मुझे पवित्र करें। क्योंकि–मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा आदि ऋणको दूर करनेकी प्रतिज्ञाएँ ही करता रहा हूँ, देवताओंकी अभिलाषाओं को ही उत्पन्न करता रहा हूँ, यागादिरूप ऋणको मैंने दूर नहीं किया है, इसका कारण यह है, कि–हित और अहितके विचारको न कर मैं मनसे ऐहिकसुखकी ही याचना करता रहा हूँ। ऐसे अज्ञानवश बने हुए असत्यव्यवहारसे जो पाप उत्पन्न हुआ है उसको मैं अपने आपेसे अलग करता हूँ ॥ ३ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (२६२) ॥

"यद् अन्तरिक्षम्" इति चतुर्थं सूक्तम्। तत्र "विषाणा पाशान्" इति चतुर्ऋचेन दारुलोहरज्ज्वादिबन्धनमोचनार्थं चर्ममयलोहमयादिकं पूर्वबन्धनरज्जुसदृशं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्रयेत्। सूत्रितं हि। "विषाणा पाशान् इत्युन्मोचनम्। प्रतिरूपं संपातवन्तं करोति। वाचा बद्धाय भूमिपरिलेखम्" इति [कौ० ७. ३] ॥

"यद् अन्तरिक्षम्" यह चतुर्थ सूक्त है। इसमें "विषाणा पाशान्" इस चार ऋचा वाले खण्डसे काठ लोहे और रस्सी आदिके बंधनको छुड़ानेके लिये चमड़े वा लोहेके बंधनको पहिले के बंधन रज्जुकी समान बना सम्पातन करके अभिमंत्रित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"विषाणा पाशान् इत्युन्मोचनम्। प्रतिरूपं संपातवंतं करोति। वाचा बद्धाय भूमिपरिलेखम्" (कौशिकसूत्र ७। ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिं॒सिम॑।

अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

यत् । अन्तरिक्षम् । पृथिवीम् । उत । द्याम् । यत् । मातरम् । पितरम् । वा । जिहिंसिम ।

अयम् । तस्मात् । गार्हऽपत्यः । नः । अग्निः । उत् । इत् । नयाति । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

अन्तरिक्षादिशब्दैर्लोकवचनैस्तत्रत्या जना लक्ष्यन्ते । अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षलोकस्थान्जनान् पृथिवीम् भूलोकं तत्रत्यान् जनान् । उतशब्दः अप्यर्थः समुच्चये । द्याम् दिवं द्युलोकस्थांश्च जनान् यज्जिहिंसिम । तत्तद्विषयहिंसया यत् पापं कृतम् इत्यर्थः । तथा मातरम् जनयित्रीं पितरम् जनकम् । वाशब्दः समुच्चये । यज्जिहिंसिम । तयोः प्रतिकूलाचरणलक्षणाद्धिंसनाद् यत् पापम् उपार्जितम् इत्यर्थः । ❀ हिसि हिंसायाम् । अस्मात् लिटि रूपम् ❀ । तस्माद् उभयविधात् पापाद् अयं गार्हपत्यः गृहपतिना संयुक्तः अस्माभिः परिचर्यमाणोग्निः नः अस्मान् सुकृतस्य लोकम् इत् सुकृतपरिपाकस्य लोकं स्वर्गमेव उन्नयाति उन्नयतु उद्गमयतु । पापाद् उत्तारयत्वित्यर्थः । ❀ गार्हपत्य इति । "गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः" इति ञ्यप्रत्ययः ❀ ॥

अन्तरिक्षके प्राणियोंकी पृथिवीलोकके प्राणियोंकी और द्युलोकके प्राणियोंकी हम उनके विषयकी हिंसा करनारूप जो हिंसा कर चुके हैं और पिता तथा माताके प्रतिकूल आचरण करनारूप जो उनकी हिंसा हमसे बन गई है, इन दोनों प्रकारके पापोंसे यह

गार्हपत्य अग्नि हमारी सेवासे (प्रसन्न होकर पार उतारें और) हमको पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकमें ही श्रेष्ठ गति दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिश-स्त्या नः ।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

भूमिः । माता । अदितिः । नः । जनित्रम् । भ्राता । अन्तरिक्षम् । अभिऽशस्त्या । नः ।
द्यौः । नः । पिता । पित्र्यात् । शम् । भवाति । जामिम् । ऋत्वा । मा । अव । पत्सि । लोकात् ॥ २ ॥

नः अस्माकं भूमिः पृथिवीदेवता माता जननी । अदितिः अखण्डनीया अदीना वा देवमाता जनित्रम् जननकारणम् । अन्तरिक्षम् अवकाशात्मकोन्तरिक्षलोकः भ्राता सर्वदा सहभावित्वात् । अतो नः अस्माकं मात्रादिकृतं पापम् अस्तीत्यर्थः। ते सर्वे अभिशस्त्या अभिशंसनाद् मिथ्यापवादजनितात् पापाद् नः अस्मान्। रक्षन्त्विति शेषः ॥ तथा नः अस्माकं द्यौः द्युलोकः पिता वृष्ट्यादिप्रदानेन रेतःसेकस्य कर्ता। स च पित्र्यात् पितुरागताद् दोषाद् ऋणादानादिरूपात् । ❀ "पितुर्यच्च" इति यत्प्रत्ययः ❀ । शं भवाति सुखम् उत्पादयतु । पित्र्यमपि दोषं निवर्त्य अस्मान् सुखिनः करोत्वित्यर्थः । अहं च जामि व्यर्थमेव मृत्वा प्राणान् परित्यज्य परलोकहितं यागहोमदानादिकम् अन-

जुष्टाय लोकात् लोकनीयात् स्वर्गादेः मा अव पत्सि अवपन्नः अधोगतिर्मा भूवम् । यद्वा जामिम् इति पदच्छेदः । जामिर्भगिनी तद्वन्निषिद्धा स्त्री ताम् ऋत्वा गत्वा निषिद्धाचरणेन अवपन्नो मा भूवम् इत्यर्थः । ❀ पद गतौ । माङि लुङि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

पृथिवीदेवता भूमि हमारी माता है और अदीना देवमाता अदिति भी हमारी माता है अर्थात् हमारी उत्पत्तिका कारण है । अवकाशरूप अन्तरिक्षलोक सदा हमारे साथ रहनेसे हमारा भ्राता है, अतः हमारा माता आदिके संबंधका पाप है । वे सब हमको मिथ्या अपवादके पापसे बचावें । वृष्टि आदि करके रेतःसेक करने वाला द्यौ हमारा पिता है, वह पितासे आये हुए ऋण-ग्रहणरूप दोषसे हमें सुखी करे । मैं बहिनकी समान निषिद्ध स्त्री के पास जा निषिद्ध आचरणकर स्वर्ग आदि लोकसे भ्रष्ट न होऊँ २

तृतीया ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

यत्र । सुऽहार्दः । सुऽकृतः । मदन्ति । विऽहाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः ।
अश्लोणाः । अङ्गैः । अह्रुताः । स्वःऽगे । तत्र । पश्येम । पितरौ । च । पुत्रान् ॥ ३ ॥

यत्र यस्मिन्नुत्तमे स्वर्गादिलोके सुहार्दः शोभनहृदयाः सुकृतः शोभनं यागादिकं कृतवन्तो जनाः स्वायाः स्वकीयायाः तन्वाः शरीरस्य संबन्धिनं रोगम् पापफलभूतं ज्वरादिकं विहाय परित्यज्य मदन्ति दुःखासंस्पृष्टकेवलसुखानुभवेन माद्यन्ति वयमपि अङ्गैः अवयवैर्हस्तपादादिभिः अश्रोणाः कुष्ठादिरोगरहिताः अह्रुताः अकुटिलगतयः सन्तः तत्र पुण्यकृद्भिः प्राप्ये स्वर्गे लोके पितरौ पितरं मातरं च । ❀ "पिता मात्रा" इति पितुः शेषः ❀ । तथा आत्मीयान् पुत्रांश्च पश्येम साक्षात्कुर्याम ॥

जिस उत्तम स्वर्ग आदि लोकमें शोभन हृदय वाले और याग आदि पुण्योंको करने वाले मनुष्य पापके फलरूप ज्वर आदि शरीरसंबंधी रोगोंको त्याग कर दुःखके स्पर्शसे शून्य सुखका अनुभव करके प्रसन्न होते हैं, इसी प्रकार हम भी हाथ पैर आदि अंगोंमें कोढ़ आदि रोगसे रहित होते हुए और अकुटिल गतिको भोगते हुए स्वर्गमें माता पिता और पुत्र आदि आत्मीयोंको देखें ३

चतुर्थी ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।

दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

विऽसाना । पाशान् । वि । स्य । अधि । अस्मत् । ये । उत्ऽतमाः । अधमाः । वारुणाः । ये ।

दुःऽस्वप्न्यम् । दुःऽइतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

हे बन्धनाभिमानिनि निर्ऋतिदेवते पाशान् अस्मदवयवगतान् बन्धनरज्जुविशेषान् विषाणा विमुञ्चती अस्मत् अस्मत्तः अधि उपरि वि ष्य विमुञ्च । ❀ षो अन्तकर्मणि । "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀ । पाशा विशेष्यन्ते । ये पाशा उत्तमा उत्कृष्टा ऊर्ध्वकायाश्रिताः ये च अधमाः निकृष्टा अधःकायाश्रिता ये च वारुणाः वरुणसंबन्धिनः सर्वकायाश्रिताः पाशाः । "उदुत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय" इति हि निगमः [ऋ० १. २४. १५] । इत्थम् अनेकभेदभिन्नान् पाशान् अस्मत्तो विमुञ्चेत्यर्थः । अपि च दुःष्वप्न्यम् दुष्टस्वप्नदर्शनजनितं दुरितं पापम् [अस्मत्] अस्मत्तो निः स्व निर्गमय । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शः । "तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्" इति यण् ❀ । अथ पाशविमोचनानन्तरं सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकम् इमं च अमुं च गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

हे बंधनकी अभिमानी निर्ऋति देवते ! जो "उदुत्तमं वरुण पाशं अस्मद् अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय–हे वरुण ! आप मरणके लिये होने वाले उत्तम मध्यम और अधम पाशोंको आप खोलिये" ऋग्वेदसंहिता १ । २४ । १५ में कहे हुए उत्तम अर्थात् ऊपरके अंगमें स्थित पाश हैं और जो मध्यमांगमें स्थित पाश हैं और जो नीचेके अंगमें स्थित वरुणसंबंधी अधम हैं, उनको हमसे मुक्त कर और दुःस्वप्नजनित पापको भी हमसे अलग कर । और पाशविमोचनके अनन्तर पुण्यके फलरूप स्वर्गलोकको हम प्राप्त होवें १

पञ्चमी ॥

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।

अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

यत् । दारुणि । बध्यसे । यत् । च । रज्ज्वाम् । यत् । भूम्याम् ।
बध्यसे । यत् । च । वाचा ।
अयम् । तस्मात् । गार्हऽपत्यः । नः । अग्निः । उत् । इत् ।
नयाति । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ २ ॥

हे पुरुष त्वं दारुणि काष्ठविशेषे यद् बध्यसे । यच्च रज्ज्वां बध्यसे । भूम्यां वा गर्तरूपायां यद् बध्यसे । वाचा राजाज्ञाप्रकाशिन्या यच्च बध्यसे । तस्मात् सर्वस्माद् बन्धनाद् अयम् अस्मदीयो गार्हपत्योग्निः त्वाम् उत्तारयत्वित्यर्थः । [शेषं पूर्ववत्] ॥

हे पुरुष ! तू जो काष्ठ के बंधनमें यदि बँधता है, यदि रस्सीसे बँधता है गड्ढे आदि भूमिमें यदि तू बँधता है वा राजाज्ञाको प्रकाशित करने वाली वाणीसे बँधता है, उन सकल बंधनोंसे यह हमारे गार्हपत्य अग्नि तुझको पार उतारें औ तुझको पुण्य के फलरूप स्वर्गलोकमें पहुँचावें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भगऽवती । विऽचृतौ । नाम ।
तारके इति ।
प्र । इह । अमृतस्य । यच्छताम् । प्र । एतु । बद्धकऽमोचनम् ३

भगवती भाग्ययुक्ते विचृतौ नाम विचृन्नामनी तारके नक्षत्रे उदगाताम् उदयं प्राप्तवती । "विचृतौ नक्षत्रं पितरो देवता" इति श्रुतेः [तै० सं० ४. ४. १०. २] मूलनक्षत्रस्य विचृत् इति संज्ञा ।

❀ अधिष्ठानद्वयापेक्षया द्विवचनम् ❀। इह अस्मिन् बद्धे पुरुषे अमृतस्य। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। अमृतम् अमरणं प्र यच्छताम्। बद्धकमोचनम् कुत्सितं निगलादिभिर्बद्धः बद्धकः। ❀ कुत्सायां कन् प्रत्ययः ❀। तस्य मोचनं बन्धान्मोक्षः मैतु प्राप्नोतु ॥

भाग्ययुक्त विचृत उपनामक दो मूलनक्षत्र इस बद्ध पुरुषमें अमरणको देवें, यह पुरुष कुत्सित बेड़ी आदिके बंधनसे मोक्षको प्राप्त होरे सप्तमी ॥

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ४

वि। जिहीष्व। लोकम्। कृणु। बन्धात्। मुञ्चासि। बद्धकम्।
योन्याःऽइव। प्रऽच्युतः। गर्भः। पथः। सर्वान्। अनु। क्षिय ४

हे बन्धनाभिमानिदेव त्वं वि जिहीष्व विविधं गच्छ। ❀ ओहाङ् गतौ। शपः श्लुः। "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀। लोकं स्थानम् अस्य पुरुषस्य बन्धनार्तस्य कृणु कुरु। तस्माद् बन्धात् बन्धनाद् बद्धकम् इमं पुरुषं मुञ्चासि मुञ्च॥ हे पुरुष बन्धनमोक्षानन्तरं योन्याः प्रच्युतः मातुर्गर्भाशयाद् बहिर्विनिर्गतो गर्भ इव स यथा इतस्ततः अनिरुद्धगतिः प्रचलति एवं सर्वान् पथो मार्गान् अनुक्षिय अनुगच्छ। यथेष्टं वर्तस्वेत्यर्थः। ❀ क्षि निवासगत्योः ❀।

इति चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे बंधनके अभिमानीदेव! आप अनेक प्रकारसे जाइये। इस बंधनसे आर्त होने वाले पुरुषको स्थान दीजिये और उस बंधनसे इसको मुक्त करिये, हे पुरुष! बन्धनसे छूटनेके अनन्तर तू इस प्रकार सब मार्गोंमें विचरण कर जिस प्रकार माताके गर्भाशयसे निकला हुआ गर्भ विचरण करता है॥ ४॥

चतुर्थं सूक्त समाप्त (२९४)॥

"एतं भागम्" "एतं सधस्थाः" इति द्वाभ्यां सवयज्ञेषु संस्थित-होमान् जुहुयात्। तदनुमन्त्रणं च कुर्यात्। सूत्रितं हि। "एतं भागम् [६.१२२] एतं सधस्थाः [६.१२३] उलूखले [१०.६.२६] इति स्थितहोमान् आवपतेऽनुमन्त्रणं च" इति [कौ० ८.४]

तथा अग्निष्टोमे हविर्धाने स्वस्वचमससमीपे चमसिभिः स्वकीयान् पितॄन् उद्दिश्य पुरोडाशशकलेषु दत्तेषु सत्सु आभ्याम् अनुमन्त्र-येत। उक्तं वैताने। "हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः स्वेभ्य उपा-सनेभ्यस्त्रींस्त्रीन् पुरोडाशसंवर्तान् एतत् ते प्रततामह [१८.४.७५] इति निपृणन्ति। अत्र पितरः [कौ० ११.६] इति जपित्वा एतं भागम् [६.१२२] एतं सधस्थाः [६.१२३] श्येनो नृचक्षाः [७.४२.२] इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ३.१२]॥

अत्र "एतं सधस्थाः" इति द्वाभ्यां ब्रह्मा वैश्वकर्मणहोमान् अनु-मन्त्रयेत। "एतं सधस्थाः [६.१२३.१, २] इति द्वे येनासह-स्रम् [६.५.१७] इति वैश्वकर्मणहोमान्" इति [वै० ५.२] वैतानसूत्रात्॥

"शुद्धाः पूताः" इत्यनया सवयज्ञेषु ऋत्विजो हस्तप्रक्षालनार्थम् उदकं दद्यात्। सवयज्ञान् प्रक्रम्य सूत्रितम्। "चतुर आर्षेयान् शुक्ल-क्षिरोविद उपसादयति शुद्धाः पूता इति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ८.४]

"देवाः पितरः" इति तिस्रः यजमानस्य आर्षेयप्रवरणे वाच-येत्। "प्रवरे प्रव्रियमाणे वाचयेद् देवाः पितर इति तिस्रः" इति [वै० १.२] वैतानसूत्रात्॥

"दिवो नु मां बृहतः" इति सूक्तेन आकाशोदकस्रावनदोष-शान्त्यर्थम् उदकम् अभिमन्त्र्य शरीरं प्रक्षालयेत्॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तैलं शान्त्योषधीर्गन्धं हिरण्यं वासो वा अभिमन्त्र्य तैः शरीरम् उद्वर्तयेत्॥

सूत्रितं हि । “दिवो नु माम् इति विपद्भिन्दून् मज्जालयति मन्त्रोक्तैः स्पृशति” इति [कौ० ५, १०]॥

“एतं भागम्” और “एतं सधस्थाः” इन दो तृचोंसे सब यज्ञोंमें संस्थितहोमोंकी आहुति देय । और उनका अनुमंत्रण भी करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–“एतम् भागम् (६ । १२२) एतं सधस्थाः (६ । १२३) उलूखले (१० । ९ । २६)इति संस्थितहोमान् आवपतेऽनुमन्त्रणं च” (कौशिक-सूत्र ८ । ४)॥

तथा अग्निष्टोम के हविर्धानमें जब चमसपात्रको धारण करने वाले अपने २ चमसके समीपमें पितरोंके निमित्त पुरोडाशके टुकड़े देते हों तब इन दोनों तृचोंसे अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–“हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः स्वेभ्यः उपासीनेभ्यस्त्रींस्त्रीन् पुरोडाशसंवर्तान् एतत् ते प्रततामह (१८ । ४ । ७५) इति निपृणन्ति । अत्र पितरः (कौशिकसूत्र ११ । ९) इति जपित्वा एतं भागम् (६ । १२२) एतं सधस्थाः (६ । १२३) श्येनो नृचक्षाः (७ । ४२। २)इत्यनुमन्त्रयते” (वैतान-सूत्र ३ । १२)।

यहाँ ‘एतं सधस्थाः’ इन दो तृचोंसे ब्रह्मा वैश्वकर्मणहोमोंका अनुमंत्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि–“एतं सधस्थाः (६ । १२३ । १, २) इति द्वे येनासहस्रम् (९ । ५ । १७)इति वैश्वकर्मणहोमान् (वैतानसूत्र ५ । २)॥

“शुद्धाः पूताः” इस ऋचासे सब यज्ञोंमें ऋत्विजोंके हाथ धुलानेके लिये जलको देय । सबयज्ञोंका आरंभ करके कहा है, कि “चतुर आर्षेयान् भृग्वंगिरोविद उपसादयति शुद्धाः पूता इति मंत्रोक्तम्” (कौशिकसूत्र ८ । ४) ॥

“देवाः पितरः” इन तीन ऋचाओंको आर्षेयप्रवरणमें बँच

षावे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"प्रवरे प्रत्रियमाणे वाचयेद् देवाः पितर इति तिस्रः" (वैतानसूत्र १।२)।

"दिवो नु मां बृहतः" इस ऋचसे आकाशोदकस्नावनदोषकी शान्तिके लिये जलको अभिमंत्रित करके शरीरको प्रक्षालित करे।

तथा वहाँ ही कर्ममें तैल शान्ता औषधि, गंध सुवर्ण वा वस्त्र को अभिमन्त्रित करके उबटना करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"दिवो नु मां इति वियद्बिन्दून् प्रक्षालयति मन्त्रोक्तैः स्पृशति" (कौशिकसूत्र ५।१०)

तत्र प्रथमा॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य।

अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम

एतम्। भागम्। परि। ददामि। विद्वान्। विश्वऽकर्मन्। प्रथमऽजाः। ऋतस्य।

अस्माभिः। दत्तम्। जरसः। परस्तात्। अच्छिन्नम्। तन्तुम्। अनु। सम्। तरेम॥ १॥

हे विश्वकर्मन् विश्वं कृत्स्नं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्य स विश्वकर्मा। एतत्संज्ञ हे देव यस्त्वम् ऋतस्य सत्यस्य परब्रह्मणः प्रथमजाः प्रथमं जातः उत्पन्नः। स प्रथमशरीरी हिरण्यगर्भः सर्वजगत्स्रष्टेत्यर्थः। ❀ "जनसनखनक्रमगमो विट्"। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀। ईदृशस्य तव माहात्म्यं विद्वान् जानन् एतं भागम् पक्वम् अन्नं हविर्भागं वा परि ददामि रक्ष-

णार्थं तुभ्यं प्रयच्छामि। एवम् इह लोके अस्माभिस्तुभ्यं दत्तम् इमं भागं जरसः परस्तात् जराया ऊर्ध्वम् एतद् देहपातोत्तरकालम्। जरसः परस्ताद् इति वदता जरापर्यन्तम् आयुषो दैर्घ्यं प्रार्थितम्। जीर्णम् इमं देहं परित्यज्य अच्छिन्नम् अविच्छिन्नं तन्तुम्। तायते कुलं विस्तार्यते अनेनेति तन्तुः पुत्रपौत्रादिलक्षणः संतानः। तम् अनुप्रविश्य। सं चरेम संप्राप्नुयाम एतदेव हि संसारिणः पुरुषस्य अमृतत्वम्। तथा च मन्त्रवर्णः। "प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इति [तै० ब्रा० १. ५. ५. ६] "प्रजाभिरग्ने अमृतत्वम् अश्याम्" इति च [ऋ० ५. ४. १०]॥

हे विश्वकर्मन् देव! आप परब्रह्मसे पहिले उत्पन्न हुए हैं अर्थात् प्रथमशरीरी हिरण्यगर्भ सर्वजगत्स्रष्टा हैं। ऐसे आपके माहात्म्यको जानने वाला मैं इस पक्व हविर्भागको रक्षाके लिये आपको देता हूं। इस प्रकार इस लोकमें हमारे द्वारा आपको दिये हुए इस भागको हम बुढ़ापेसे आगे (शरीर त्याग कर) अविच्छिन्नतन्तु (पुत्र पौत्र आदिके) रूपमें प्रवेश कर पावें। † ॥१॥

द्वितीया॥

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन। अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

† यही संसारीपुरुषका अमृतत्व है। इस बातको तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।५।६ में कहा है, कि-"प्रजाम् अनुप्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम् ॥-हे मरणधर्मिन्! तू प्रजामें प्रजारूपमें उत्पन्न होता है, यही तेरा अमृतत्व है" और ऋग्वेदसंहिता ५।४।१० में कहा है, कि-"प्रजाभिरग्ने अमृतत्वं अश्याम् ॥-हे अग्ने! मैं प्रजा (सन्तानों) से अमृतत्वका उपभोग करूँ॥"

ततम् । तन्तुम् । अनु । एके । तरन्ति । येषाम् । दत्तम् । पित्र्यम् ।
आऽअयनेन ।
अबन्धु । एके । ददतः । प्रऽयच्छन्तः । दातुम् । च । इत् ।
शिक्षान् । सः । स्वः:ऽगः । एव ॥ २ ॥

एके केचन जना ऋणिनः सन्तः देहपातोत्तरकालं ततम् विस्तीर्णं तन्तुम् पुत्रपौत्रादिलक्षणं संतानम् अनुलक्ष्य तरन्ति ऋणम् अतिक्रामन्ति । पुत्रादिभिस्तस्य पितृगतस्य ऋणस्य अपाकरणात् । येषां जनानाम् ऋणवतां पित्र्यम् पितुरागतमपि ऋणम् आयनेन आगमनेन पुत्रपौत्रादिषु प्रवेशनेन दत्तम् उत्तमर्णेभ्यः प्रत्यर्पितं भवति । ते तरन्तीति पूर्वेण संबन्धः । अस्त्वेवं पुत्रपौत्रादिसंतानवताम् । येषां तु तदभावः कथं ते अनृणाः स्युरिति तत्राह अबन्ध्वेक इति । अबन्धु । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति जसो लुक् ❀ । अबन्धवः । अबध्नाति कुलं संततम् अविच्छिन्नं करोतीति बन्धुः पुत्रपौत्रादिलक्षणः संतानः । तद्रहिता एके जना ददतः । ❀ चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । हिरण्यधान्यादिकं ददते उत्तमर्णाय पितृकृतम् आत्मकृतं चेति उभयविधमपि ऋणं प्रयच्छन्तः इह लोक एव प्रत्यर्पयन्तो दातुं चेत् शिक्षान् सर्वात्मना प्रत्यर्पयितुं यदि शक्नुवन्ति शक्त्यभावेपि तदिच्छामात्रं वा विद्यते स एव तेषां स्वर्गः । तावन्मात्रेणापि सर्वम् ऋणम् अपाकृत्य स्वर्गभाजो भवन्तीत्यर्थः । ❀ शिक्षान् इति । शक्लृ शक्तौ इत्यस्मात् सनि "सनि मीमा०" इत्यादिना अचः स्थाने इस् आदेशः । "अत्र लोपोभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । लेटि आडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । संयोगान्तलोपे तस्य असिद्धत्वात् नलोपाभावः ❀ ॥

एक प्रकारके पुरुष ऋणी होने पर भी शरीरपातके अनन्तर पुत्र पौत्र आदि सन्तानके लक्ष्यसे ऋणको तर जाते हैं (अर्थात् पुत्र आदिके उस ऋणको भुगतानेसे वह ऋणको तर जाते हैं) और जिन ऋण वाले पुरुषोंका पितासे चला आता हुआ भी ऋण आने वाले पुत्र पौत्र आदिमें प्रवेश कर कर्जदारोंको भुगता दिया जाता है अर्थात् जिनके पुत्र पौत्र आदि पिता पितामहके कर्जको भुगता देते हैं वे भी तर जाते हैं। (यह तो पुत्र पौत्र आदि संतान वालोंकी बात हुई अब जिनके सन्तान नहीं हैं, वे किस प्रकार तर सकते हैं, इसके उत्तरमें कहते हैं, कि--) कुलको पुत्र पौत्र आदिके रूप में बाँधने वाले बंधु जिनके नहीं होते ऐसे पुरुष अपने और पिता के दोनोंके लिये हुए सुवर्ण और धान्य आदिका इस लोकमें भुगतान कर देते हैं वा शक्तिका अभाव होने पर जिनको भुगताने की उत्कट इच्छा रहती है वे उस इच्छासे भी स्वर्गको-प्राप्त होते हैं २

तृतीया ॥

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥

अनुऽआरभेथाम् । अनुऽसंरभेथाम् । एतम् । लोकम् । श्रत्ऽदधानाः । सचन्ते ।

यत् । वाम् । पक्वम् । परिऽविष्टम् । अग्नौ । तस्य । गुप्तये । दंपती इति दम्ऽपती । सम् । श्रयेथाम् ॥ ३ ॥

हे दंपती जायापती अन्वारभेथाम् परलोकहितं सत्कर्म अनुलक्ष्य तस्य आरम्भः क्रियताम् । अनुसंरभेथाम् आरम्भानन्तरं तत्रैव संरब्धौ संयुक्तौ भवताम् । सत्कर्मणाम् अग्निहोत्रादीनाम्

अनारम्भः आरब्धानां च तेषां परित्यागश्च सर्वथा न युक्त इत्यर्थः। एतम् कर्मफलभूतं लोकम् स्वर्गादिकं श्रद्दधानाः श्रद्धावन्तः आस्तिक्यबुद्धियुक्ताः कर्मानुष्ठानतत्परा जनाः सचन्ते सेवन्ते। ❀ "सचस्वा नः स्वस्तये" सेवस्व नः स्वस्तये इति हि निरुक्तम् [नि० ३. २१] ❀। यस्माद् एवं तस्मात् हे दंपती युवामपि श्रद्दधानौ भवतम् इत्यर्थः। वां युवाभ्याम् अर्थे यत् पक्वम् पाकेन संस्कृतं स्थालीपाकादिलक्षणम् अन्नम्। ❀ "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः०" इति चतुर्थीद्विवचनान्तस्य वाम् आदेशः। पक्वम् इति। पचेरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य "पचो वः" इति वत्वम् ❀। यद्वा युवयोः संबन्धि ब्राह्मणेभ्यो देयं पक्वम् अन्नम्। एतच्च स्मृतिविहितस्य वापीकूपतटाकनिर्माणादेः पूर्तस्य उपलक्षणम्। यच्च अन्नम् अग्नौ परिविष्टम् हवीरूपेण देवतार्थं प्रक्षिप्तम्। एतच्च इष्टशब्दवाच्यस्य अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादेर्यागस्य उपलक्षणम्। तस्य इष्टापूर्तस्य गुप्तये रक्षणाय हे दंपती युवां सं श्रयेथाम् संसेवेथाम्। ❀ श्रिञ् सेवायाम् ❀॥

हे दम्पती पतिपत्नी ! परलोकमें हित करने वाले सत्कर्मोंको लक्ष्यमें रखकर उनका आरंभ करो और उनका आरंभ करके उनमें ही परायण रहो। तात्पर्य यह है, कि–अग्निहोत्र आदि सत्कर्मोंका आरंभ न करना और आरंभ किये हुए अग्निहोत्र आदि का त्याग देना सर्वथा अनुचित है। इस कर्मके फलरूप स्वर्ग आदि लोकोंको कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर श्रद्धालु आस्तिक पुरुष ही भोगते हैं। (इस कारण हे दम्पती ! तुम भी श्रद्धालु होओ) तुम ब्राह्मणोंको जो पक्व अन्न देना चाहते हो (यह स्मृतिमें विहित वापी कूप तटाक आदि पूर्तका उपलक्षण है) और जो अन्न हविरूप अग्निमें आहुत होता है (यह इष्ट शब्दवाच्य अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदिका उपलक्षण है) ऐसे इष्टापूर्त की रक्षाके लिये हे दम्पति ! तुम सेवा करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥ ४ ॥

यज्ञम्। यन्तम्। मनसा। बृहन्तम्। अनुऽआरोहामि। तपसा। सऽयोनिः।
उपऽहूताः। अग्ने। जरसः। परस्तात्। तृतीये। नाके। सधऽमादम्। मदेम ॥ ४ ॥

यज्ञम् अस्माभिः कृतं यागं यन्तम् देवान् गच्छन्तं बृहन्तम् महान्तं मनसा बुद्ध्या अहम् अन्वारोहामि अनुप्रविश्य तत्रैव तिष्ठामि। कथंभूतः। तपसा अनशनादिरूपेण दीक्षानियमेन सयोनिः। योनिः दिव्यदेहोत्पत्तिबीजम् अपूर्वम्। तत्सहितः। यदि हि यजमानस्तपस्वी भवति तदा यज्ञस्तेन संबद्धो भवति। "योतपस्वी स्याद् असंश्लिष्टोस्य यज्ञः स्यात्। तपस्वी स्यात्। यज्ञमेव तत् संश्लेषयत इति विज्ञायते" इति स्मरणात्। सर्वथा यजमानेन तपस्विना भवितव्यम् इत्यभिप्रायः। यद्वा यज्ञम् यज्ञसाधनं यष्टव्यं वा अग्निं यन्तम् अस्मदीयं हविरादाय देवान् गच्छन्तम् इति योज्यम्। ❀ यज देवपूजादौ। "यजयाच०" इत्यादिना भावे अकर्तरि च कारके नङ् प्रत्ययः। यन्तम् इति। एतेर्लटः शत्रादेशे "इणो यण्" इति यण् ❀। हे अग्ने उपहूताः त्वया अनुज्ञाता जरसः परस्तात् चिरकालम् इह लोके उषित्वा जरसः परस्तात् जराया ऊर्ध्वम्। ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀। जीर्णम् इदं मानुषशरीरं परि-

त्यज्य तृतीये त्रित्वसंख्यापूरके नाके । कं सुखम् अकं दुःखम् नास्मिन् अकम् अस्तीति नाकः । ❀ "नभ्राणनपाड्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀ । दुःखासंस्पृष्टे स्वर्गलोके सधमादम् पुत्रपौत्रादिभिः सह हर्षो यथा भवति तथा मदेम हृष्येम । ❀ "सधमादस्थयोश्छन्दसि" इति सहशब्दस्य सधादेशः ❀ ॥

अनशन आदिरूप दीक्षानियमसे दिव्यदेहकी उत्पत्तिरूप बीज वाला मैं अपने किये हुए देवताओंकी ओर जाते हुए महान् यज्ञ में मनसे प्रवेश करके उसमें ही स्थित होता हूँ अथवा-यज्ञके साधन पूजनीय अग्निदेव जब हमारी दीहुई हविको लेकर देवताओंके पास जाते हैं, तब मैं उनमें मनसे प्रवेश करके स्थित होता हूँ । हे अग्ने ! आपके आज्ञा देने पर हम बुढ़ापे तक के चिरकाल तक इस लोकमें निवास करके, बुढ़ापेके अनन्तर इस जीर्ण मनुष्यशरीरको त्याग कर तीसरे लोक दुःखके लेशसे शून्य स्वर्गलोक-में पुत्र पौत्र आदिके साथ जिस प्रकार हर्ष प्राप्त हो तिस प्रकार हर्ष पावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्रऽपृथक् । सादयामि ।

यत्ऽकामः । इदम् । अभिऽसिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददातु । तत् । मे ॥ ५ ॥

शुद्धाः पापरहिताः पूताः जगत्पवित्रभूता योषितः स्त्रीरूपाः यज्ञियाः यज्ञार्हा इमा अपः ब्रह्मणाम् ब्राह्मणानां चतुर्णाम् आर्षेयाणाम् ऋत्विजां हस्तेषु प्रक्षालनेन पृथक् सादयामि ॥ अस्मदुपभोगार्थं स्थापयामि । यत्कामः यत्फलं कामयमानः इदम् इदानीम् हे आपः वः युष्मान् अहम् अभिषिञ्चामि अभितो निनयामि । ❀ षिच क्षरणे । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ । मरुत्वान् मरुद्गणैर्युक्तः स प्रसिद्ध इन्द्रः मे मह्यं तत् फलं ददातु प्रयच्छतु ॥

पापरहित जगत्में पवित्रभुत स्त्रीरूप इन यज्ञार्ह जलोंको मैं ऋत्विजरूप चार ब्राह्मणोंके हाथोंमें धोनेके लिये डालता हूँ, जिस पदार्थकी कामना वाला मैं तुम्हारे लिये अभिषिञ्चन करता हूँ, मरुद्गणोंसहित इन्द्रदेवता उस पदार्थको मुझे दें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ १ ॥

एतम् । सधऽस्थाः । परि । वः । ददामि । यम् । शेवऽधिम् । आऽवहात् । जातऽवेदाः ।
अनुऽआगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । तम् । स्म । जानीत । परमे । विऽओमन् ॥ १ ॥

हे सधस्थाः। सह तिष्ठन्ति एकत्र स्वर्गे लोके स्थाने यजमानेन सह निवसन्तीति सधस्था देवाः। ❀ "सुपि स्थः" इति तिष्ठतेः कप्रत्ययः। "सध मादस्थयोः०" इति सहस्य सधादेशः ❀। हे सहायभूता देवाः एतं हविर्भागं वः युष्मभ्यं परि ददामि। परिदानं रक्षणार्थं दानम्। यं भागं शेवधिम् निधिरूपं जातवेदाः जातानां वेदिता अग्निः आवहात् युष्मान् प्रापयति। ❀ आङ्पूर्वाद् वहेर्लेटि आडागमः ❀। एतम् इति पूर्वत्रान्वयः। अयं यजमानः स्वस्ति क्षेमेण तं शेवधिम् अन्वागन्ता पृष्ठत आगमिष्यति। ❀ "अनद्यतने लुट्" इति गमेर्लुट् ❀। परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमनि त्रिविधावनयुक्ते स्वर्गलोके तम् अन्वागतं यजमानं जानीत स्म अवगच्छत। मा विस्मरतेत्यर्थः। अविस्मरणद्योतनार्थः स्मशब्दः। ❀ व्योमन्निति। विपूर्वाद् अवतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति दृशिग्रहणाद् भावे मनिन्। "ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम् उपधायाश्च" इति ऊठि कृते गुणः। "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक्। विविधम् ओम रक्षणम् अस्मिन्निति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपाभावः ❀ ॥

हे स्वर्गमें यजमानके साथ एकत्र रहने वाले सहायक देवताओं! मैं इस हविर्भागको तुम्हारे लिये देता हूँ, कि-जिस निधिरूपको जातवेदा अग्नि आपको प्राप्त कराते हैं। यह यजमान भी इस निधिरूप हविके पीछे ही कुशलपूर्वक आवेगा। श्रेष्ठ स्वर्गलोकमें आये हुए इस यजमानसे आप परिचित रहें भूलें नहीं ६

सप्तमी ॥

जा॒नी॒त स्मै॑नं प॒र॒मे व्यो॑मन् देवा॒ः सध॑स्थाः वि॒द

लो॒कम॑त्र।

अ॒न्वा॒ग॒न्ता यज॑मानः स्व॒स्ती॑ष्टापू॒र्तं स्म॑ कृणुता॒विरस्मै

जानीत । स्म । एनम् । परमे । विऽओमन् । देवाः । सधऽस्थाः । विद । लोकम् । अत्र ।

अनुऽआगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । इष्टापूर्तम् । स्म । कृणुत । आविः । अस्मै ॥ २ ॥

जानीत स्मैनम् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् । हे सधस्थाः सहस्थाना देवाः अत्र अस्मिन् स्वर्गे अस्य यजमानस्य लोकं विद जानीथ । कर्मानुष्ठानसमय एव अवधारयत । तृतीयः पादः पूर्ववद् योजनीयः । अस्मै अन्वागताय यजमानाय तत्कृतम् इष्टापूर्तम् । इष्टं श्रुत्युक्तयागादि कर्म । स्मृत्युक्तवापीकूपतटाकनिर्माणादि पूर्तम् । तद् उभयम् आविष्कृणुत दर्शयत । तत्फलं प्रयच्छतेत्यर्थः ॥

हे साथ निवास करने वाले देवताओं ! परमव्योम स्वर्गमें इससे आप परिचित रहिये, इस स्वर्गमें इसके स्थानको आप निश्चित करें अर्थात् कर्मानुष्ठानके समय ही आप इसके स्थानको निश्चित कर दें । यह यजमान हविःप्रदानके अनन्तर स्वर्गमें क्षेमपूर्वक आवेगा । इस आये हुए यजमानके लिये इसके किये हुए श्रुतिमें कहे हुए याग आदि इष्टकर्म और स्मृतिमें कहे हुए वापी.कूप तटाक आदि पूर्त कर्मको प्रकट करिये अर्थात् इसको इसके किये हुए इष्टापूर्तका फल देना ॥ २ ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ३

देवाः । पितरः । पितरः । देवाः ॥ यः । अस्मि । सः । अस्मि ३

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ४

सः । पचामि । सः । ददामि । सः । यजे । सः । दत्तात् । मा । यूषम् ४

अष्टमी ॥ ये देवाः वसुरुद्रादित्यरूपास्ते अस्माकं पितरः पितृपितामहप्रपितामहात्मकाः पितृदेवताः । ये च अस्माकं पितरः पितृपितामहप्रपितामहरूपा मानुषास्त एव प्रागुक्ता देवाः । इत्थं परस्परव्यतिहारेण पितॄणां देवतात्मकत्वं दृढीकृतम् । अतः सर्वेषां जनकाः देवा एव । ततो यो अस्मि यदीयो भवामि सो अस्मि तदीयोहम् अस्मि । संभावितव्यतिक्रमा हि स्त्रियः । अत एतद्भावनया स्वपितुरेव अहं पुत्रो भवामीत्यर्थः । "स्त्र्यपराधात्, कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्" [जै० १. २. १३] इत्यत्र मीमांसाभाष्यकृता एतत् समर्थितम् । अतः स तदीय एवाहं पचामि पाकयज्ञान् करोमि । स ददामि दानानि करोमि । स यजे यागान् अनुतिष्ठामि । सोहं इष्टात् पुत्रादिभिरनुष्ठितश्राद्धादिजन्यफलाद् मा यूषम् पृथक्कृतो मा भूवम् । सत्यपि मातापित्रोर्व्यभिचारे एतन्मन्त्रपाठसामर्थ्येन ययास्वमेव सर्वं कर्मानुष्ठितं भवतीत्यर्थः । ❀ यूषम् इति । यौतेः पृथग्भावार्थाद् माङि लुङि "च्लेः सिच्"। वर्णव्यत्ययेन ऊकारः❀॥

वसु रुद्र आदित्यरूप जो देवता हैं वे हमारे पितृपितामहप्रपितामहात्मकपितर हैं और जो हमारे पिता पितामह, और प्रपितामहरूप मनुष्य हैं वे ही पूर्वोक्त देवता हैं (इस प्रकार पारस्परिक व्यतिहारसे पितरोंके देवत्वको दृढ़ किया है, अतः सबके जनक देवता ही हैं अत एव) मैं जिसका हूँ उसका ही हूँ † वही मैं पाकयज्ञोंको करता हूँ, दान करता हूँ, यागोंका अनुष्ठान करता हूँ, वह मैं पुत्र आदिके किये हुए श्राद्ध आदिसे उत्पन्न होने वाले फलसे पृथक् (हीन) न होऊँ (तात्पर्य यह है, कि–

† स्त्रियोंमें मानसिक व्यतिक्रम होना संभव है अत एव इस भावनासे मैं उस दोषसे मुक्त रहूँ । इसका समर्थन "स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्" इस १ । २ । १३ जैमिनीय सूत्रमें मीमांसाभाष्यकारने किया है ।

माता पिताका अपराध होने पर भी इस मन्त्रके पाठकी शक्तिसे सब कर्म यथोचित अनुष्ठित होजाता है)॥ ३ ॥ ४ ॥

नवमी ॥

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।

विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

नाके । राजन् । प्रति । तिष्ठ । तत्र । एतत् । प्रति । तिष्ठतु ।

विद्धि । पूर्तस्य । नः । राजन् । सः । देव । सुऽमनाः । भव ॥५॥

हे राजन् स्वामिन् सोम । "सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा" [तै० सं० १. ८. १०. २] इति श्रुतेः । स त्वं नाके स्वर्गे लोके प्रति तिष्ठ अस्मदीयम् अपराधं विस्मृत्य सुखं वर्तस्व । तत्र तस्मिन् स्वर्गे लोके एतत् अस्माभिः कृतम् इष्टापूर्तं प्रति तिष्ठतु प्रतिष्ठितं फलप्रदानसमर्थं वर्तताम् । हे राजन् नः अस्माकं पूर्तस्य । उपलक्षणम् एतत् । ॐ कर्मणि षष्ठी ॐ । इष्टापूर्तं विद्धि जानीहि । एतस्य कर्मण एतावत् फलं देयम् इति मनसा निश्चिनु । हे देव स तादृशस्त्वं सुमनाः शोभनमनस्को भव ॥

हे राजन्-स्वामिन्-सोम ! ‡ आप स्वर्गलोकमें हमारे अपराधों को भूल कर (हमसे) सुख भरा वर्ताव करिये। उस स्वर्गलोक में यह हमारा किया हुआ इष्टापूर्त प्रतिष्ठित हो अर्थात् फल देनेमें समर्थ हो । हे राजन् ! आप हमारे इष्टापूर्तको जानिये अर्थात् इस कर्मका इतना फल देना चाहिये इसका मनसे निश्चय करिये । हे ऐसे देव ! आप शोभन मन वाले हूजिये॥ ५ ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता । १ । ८ । १० । २ में कहा है, कि- "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥-—सोम हम ब्राह्मणोंके राजा हैं ॥"

दशमी ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥

दिवः । नु । माम् । बृहतः । अन्तरिक्षात् । अपाम् । स्तोकः । अभि । अपप्तत् । रसेन ।
सम् । इन्द्रियेण । पयसा । अहम् । अग्ने । छन्दःऽभिः । यज्ञैः । सुऽकृताम् । कृतेन ॥ १ ॥

दिवः द्युलोकात् । नुशब्दो वितर्के । अथवा बृहतः महतः अन्तरिक्षात् आकाशाद् निर्मेघाद् अपाम् उदकानां स्तोकः बिन्दुः स्वकीयेन रसेन माम् अभ्यपप्तत् ममोपरि पतितोभूत् । ❀ पत्लृ गतौ । लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः । "पतः पुम्" इति पुम् आगमः ❀ । हे अग्ने त्वत्प्रसादेन अकालवर्षबिन्दुसेकजनितदोषम् अनेन प्रक्षालनेन परिहृत्य इन्द्रियेण इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गं यत् तेजो बलं वा तेन । पयसा क्षीरेण पयोवत् सारभूतेन अमृतेन वा । ❀ सम् इत्युपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । संगच्छेय । तथा छन्दोभिः गायत्र्यादिच्छन्दोयुक्तैर्मन्त्रैः यज्ञैः अनुष्ठितैर्यागैः सुकृताम् पुण्यकृतां जनानां कृतेन कर्मणा । यद्वा सुकृताम् शोभनकर्मणां कृतेन फलेन अहं संगच्छेयेत्यर्थः । एतस्य सर्वस्य निवर्तकं हि दृष्ट्युदकाभिवर्षणम् । श्रूयते हि दीक्षितधर्मप्रकरणे । "दिव्या आपो शान्ता ओजो बलं दीक्षां तपोस्य निघ्नन्ति" इति [तै० सं० २. १. १. ३] ॥

द्युलोकसे अथवा महान् निर्मेघ अंतरिक्षसे जलका जो बिन्दु

अपने रसके साथ मेरे ऊपर गिरा है। हे अग्ने! मैं आपके प्रसादसे अकालवर्षाके बिन्दुके लगनेसे उत्पन्न होने वाले दोषको इस प्रक्षालनके द्वारा हर कर, दुग्धकी समान सारभूत अमृतसे संयुक्त होता हूँ। तथा गायत्री आदि छन्द वाले मन्त्रोंके द्वारा अनुष्ठित यागोंसे मैं पुण्यफलोंसे सम्पन्न होऊँ ॥ १ ॥

एकादशी ॥

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससः आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

यदि। वृक्षात्। अभिऽअपप्तत्। फलम्। तत्। यदि। अन्तरिक्षात्। सः। ऊं इति। वायुः। एव।
यत्र। अस्पृक्षत्। तन्वः। यत्। च। वाससः। आपः। नुदन्तु। निःऽऋतिम्। पराचैः ॥ २ ॥

वृक्षात् वृक्षाग्राद् यदि वर्षबिन्दुः अभ्यपप्तत् माम् अभिलक्ष्य पतितोभूत्। ❀ पूर्ववत् लुङि पुम् आगमः ❀। तत् पतितं वर्षजलं तद्वृक्षसंबन्धि फलमेव। यदि च अन्तरिक्षात् निरावरणाद् आकाशप्रदेशाद् वर्षबिन्दुः अभ्यपप्तत् स उ सोपि वायुरेव वाय्वात्मक एव। नास्माकं दोषायेत्यर्थः। तन्वः शरीरस्य संबन्धिनि यत्र यस्मिन्नङ्गे अस्पृक्षत् वर्षबिन्दुः स्पृशति। ❀ स्पृशतेश्छान्दसो लुङ्। "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति च्लेः क्सादेशः ❀। वाससः परिहितस्य अस्मदीयस्य वस्त्रस्य यच्च अङ्गं स्पृशति [वर्षबिन्दुस्तां] वर्षबिन्द्वात्मना पतितां निर्ऋतिम् अनिष्टकरीं पापदेव-

ताम् इमाः प्रक्षालनार्थाः शुद्धा आपः पराचैः पराङ्मुखीं नुदन्तु अस्मत्तः प्रेरयन्तु । दूरं गमयन्तु इत्यर्थः ॥

वृक्षके अग्रभागसे यदि वर्षाकी बिन्दु मुझको लक्ष्य बना कर गिर पड़ी है, तो वह गिरी हुई बिन्दु वृक्षका ही फल है और यदि निरावरण आकाशप्रदेशसे वर्षाकी बिन्दु गिरी है तो वह भी वायु ही है अर्थात् वायुका ही फल-करतूत-है वह हमें दोषी नहीं कर सकता, शरीरके जिस अंग पर वर्षाकी बिन्दुका स्पर्श हुआ है और पहिरे हुए वस्त्रके जिस भाग पर बिन्दुका स्पर्श हुआ है, उस वर्षाकी बिन्दुरूपसे पतित हुई अनिष्टकारिणी पाप-देवताको ये प्रक्षालनके लिये लिये हुए जल हमसे पराङ्मुख कर दूर भेजें ॥ २ ॥

द्वादशी ॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

अभिऽअञ्जनम् । सुरभि । सा । सम्ऽऋद्धिः । हिरण्यम् । वर्चः । तत् । ऊं इति । पूत्रिमम् । एव ।

सर्वा । पवित्रा । विऽतता । अधि । अस्मत् । तत् । मा । तारीत् । निःऽऋतिः । मो इति । अरातिः ॥ ३ ॥

यद् एतद् वर्षजलं मदङ्गे पतितं तत् अभ्यञ्जनम् अभ्यङ्गसाधनम् । इदं तैलं सुरभि सौरभ्योपेतं चन्दनादिकम् । सैव समृद्धिः अस्माकम् अभिवृद्धिः । हिरण्यम् स्वर्णमयालंकारादि । वर्चः बलम् । इत्थम् अभ्यञ्जनाद्यात्मना भाव्यमानं तत् वर्षबिन्दुजलं

पूत्रिमम् पवनसाधनमेव शुद्धिकरमेव। न दोषावहम् इत्यर्थः। ❀पूञ् पवने इत्यस्मात् छान्दसः क्त्रिमत्ययः। "क्त्रेर्मम् नित्यम्" इति मप् ❀। सर्वा सर्वाणि पवित्रा पवित्राणि पवनसाधनानि अभ्य-ञ्जनादीनि उक्तानि अनुक्तानि च अस्मदधि अस्माकम् उपरि वितता विततानि विस्तृतानि। ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀। तत् तस्मात् पवित्राच्छन्नत्वाद् निर्ऋतिः अनिष्ट-कारिणी पापदेवता अस्मान् मा तारीत् मातिक्रामतु। अरातिः शत्रुश्च मो मैव अतिक्रामतु। ❀ तॄ प्लवनतरणयोः। अस्मान् माङि लुङि सिचि वृद्धौ "इट ईटि" इति सिज्लोपः ❀॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
षष्ठकाण्डे द्वादशोऽनुवाकः॥

यह जो वर्षाका जल मेरे शरीर पर पड़ा है यह अभ्यंजन है अर्थात् उबटनका साधन है। यह सुगंधियुक्त तेल चन्दन आदि ही हमारी समृद्धि है और सुवर्णमय अलंकार आदि वस्त्र है, इस प्रकार अभ्यंजन आदि रूपसे विचारा हुआ वर्षाकी बिन्दुका जल शुद्धि करने वाला ही है दोषावह नहीं है, उक्त और अनुक्त सब पवित्र करनेके साधन हमारे ऊपर फैले हुए हैं, इस प्रकार पवित्र वस्तुओंसे आच्छन्न होनेके कारण पापदेवता हमारा अति-क्रमण न करे, शत्रु भी हम पर आक्रमण न करे॥ ३॥

अथर्वसंहिताके छठे काण्डमें बारहवाँ अनुवाक समाप्त (१२७)

त्रयोदशेऽनुवाके नव सूक्तानि। तत्र "वनस्पते वीड्वङ्गः" इति प्रथमं सूक्तम्। अत्र आद्येन तृचेन नवं रथम् अभिमन्त्र्य जयकामं राजानं रथम् आरोहयेत्। तद् उक्तं कौशिकेन। "वनस्पते [६.१२५] अश्विना [७.३] अय इन्द्रः [७.११५] दिशश्चतस्रः [८.८.२२] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति" इति [कौ० २.६]॥

तथा आधाने रथचक्रहोमानन्तरम् अनेन आतिष्ठेत् ॥

अत्र "इन्द्रस्यौजः" इत्यनया तत्रैव कर्मणि च रथचक्रे जुहुयात् ॥

उक्तं वैताने । "इन्द्रस्यौजो मरुताम् अनीकम् [६.१२५. ३] इति रथम् अभि हुत्वा वनस्पते वीड्वङ्गः [६. १२५] इत्यातिष्ठति" इति [वै० २. २]॥

तथा महाव्रते माध्यन्दिनसवने अनेनाभिमन्त्रितं रथं राजानम् अन्यं वा आरोहयेत् । "वनस्पते वीड्वङ्ग इत्यभिमन्त्रितं रथम् आरोहयति" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ६. ४] ॥

"उप श्वासय" इति तृचेन परसेनात्रासनविद्वेषणकर्मणि भेर्या-दिवादित्रं सूत्रोक्तप्रकारेण संपात्य त्रिस्ताडयित्वा वादकाय प्रय-च्छेत् । सूत्रितं हि । "उच्चैर्घोषः [५. २०] उप श्वासय [६. १२६] इति सर्ववादित्राणि प्रक्षाल्य तगरोशीरेण संधाव्य संपात-वन्ति त्रिराहत्य प्रयच्छति" इति [कौ० २. ७] ॥

तथा महाव्रते अनेन तृचेन भूमिदुन्दुभिं ताडयेत् । तद् उक्तं वैताने । "भूमिदुन्दुभिम् औक्षेणापिनद्धं पुच्छेनाघ्नन्त्युच्चैर्घोष उप श्वासय" इति [वै० ६. ४] ॥

तेरहवें अनुवाकमें नौ सूक्त हैं । उनमें "वनस्पते वीड्वङ्गः" यह प्रथम सूक्त है । इसके पहिले तृचसे नवीन रथको अभिमन्त्रित करके विजय चाहने वाले राजाको रथ पर चढ़ावे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"वनस्पते (६ । १२५) अयाविष्ठाः (७ । ३) अग्न इन्द्र (७ । ११५) दिशश्चतस्रः (८ । ८ । २२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति" (कौशिक-सूत्र २ । ६) ॥

तथा आधानमें रथचक्रहोमके अनन्तर इससे बैठे ।

यहाँ पर "इन्द्रस्यौजः" इस ऋचासे तहाँ ही कर्ममें रथके चक्रोंकी आहुति देवे ।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"इन्द्रस्यौजो मरुतां अनीकम् (६ । १२५ । ३) इति रथं अभि हुत्वा वनस्पते वीड्वङ्गः (६ । १२५) इत्यातिष्ठति" (वैतानसूत्र २ । २)॥

तथा महाव्रतके माध्यंदिनसवनमें इससे अभिमन्त्रित रथ पर राजाको वा और किसीको चढ़ावे। इसी बातको वैतानसूत्र ६।४ में लिखा है, कि–"वनस्पते वीड्वङ्ग इत्यभिमन्त्रितं रथं आरोहयति"॥

"उप श्वासय" इस तृचसे शत्रुकी सेनाको त्रस्त और विद्वेषी करनेके कर्ममें नगाड़े आदि बाजोंको सूत्रमें कही हुई रीतिसे संपातित कर तीन बार ताड़न करके बजाने वालेको देदेय, इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि"उच्चैर्घोषः (५ । २०) उप श्वासय (६ । १२६) इति सर्ववादित्राणि प्रक्षाल्य तगरोशीरेण संधाव्य सम्पातवन्ति त्रिराहत्य प्रयच्छति ॥—(उच्चैर्घोषः) इस पाँचवे काण्डके बीसवें सूक्तसे और (उप श्वासय) इस छठे काण्डके एक सौ छब्बीसवें सूक्तसे सब बाजोंको धोकर उन पर तगर और खश चढ़ा कर संपातन करके तीनबार बजा कर देदेय" (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥

तथा महाव्रतमें इस तृचसे भूमिदुन्दुभिको ताड़ित करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"भूमिदुन्दुभिं औक्षेणापिनद्धं पुच्छेनाघ्नन्त्युच्चैर्घोष उपश्वासय" (वैतानसूत्र ६ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभिः॒ संन॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥

वन॑स्पते । वी॒डु॒ऽअ॑ङ्गः । हि । भू॒याः । अ॒स्मत्ऽस॑खा । प्र॒ऽतर॑णः । सु॒ऽवीरः॑ ।

गोभिः । सम्ऽनद्धः । असि । वीडयस्व । आऽस्थाता । ते । जयतु । जेत्वानि ॥ १ ॥

हे वनस्पते । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । वनस्पतिविकार वृक्षनिर्मित रथ । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । वीड्वङ्गः दृढाङ्गो भूयाः । त्वदीयानि अङ्गानि ईशाचक्रयुगादीनि दृढानि भवन्त्वित्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धौ । ❀ "हि च" इति निघातप्रतिषेधाद् यासुट उदात्तत्वम् ❀ । अस्मत्सखा वयं सखायः समानख्याना मित्रभूता यस्य स तथोक्तः । ❀तत्पुरुषे हि "राजाहःसखिभ्यः॰" इति समासान्तः स्यात् । अतो नात्र प्रसङ्गः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । प्रतरणः प्रकर्षेण शत्रुभ्यस्तारयिता सुवीरः शोभनैर्वीरैर्योधैरुपेतः । ❀ "वीरवीर्यौ च" उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । गोभिः । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । गोविकारैश्चर्मरज्जुभिः संनद्धः सम्यक् दृढं बद्धः असि अत एव वीलयस्व दृढो भव । संग्रामयोग्यो भवेत्यर्थः । ते तव आस्थाता अधिष्ठाता पुरुषः जेत्वानि जेतव्यानि परकीयानि बलानि सुवर्णरजतराज्यादीनि वा परकीयाणि जयतु । ❀ जि जये "कृत्यार्थे तवैकेन॰" इति कर्मणि त्वन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे वृक्षसे बने हुए रथ ! तू दृढ़ अंगों वाला हो अर्थात् तेरे लांगलपद्धति चक्र जुए आदि अंग दृढ़ होवें । तू हमारा मित्ररूप है, शत्रुओंसे पार लगाने वाला है और सुन्दर वीरोंसे घिरा हुआ है, और चमड़ेकी रस्सियोंसे दृढ़तासे बँधा हुआ है अत एव तू दृढ़ हो संग्रामके योग्य हो । तुझ पर बैठने वाला पुरुष जीतने योग्य शत्रुसेनाओंको और सुवर्ण चाँदी राज्य आदिको जीते १

द्वितीया ॥

दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्यः॒ पर्याभृ॑तं॒ सहः॑ ।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज ॥ २ ॥

दि॒वः । पृ॒थि॒व्याः । परि॑ । ओजः॑ । उत्ऽभृ॑तम् । वन॒स्पति॑ऽभ्यः ।
परि॑ । आऽभृ॑तम् । सहः॑ ।
अ॒पाम् । ओ॒ज्मान॑म् । परि॑ । गोभिः॑ । आऽवृ॑तम् । इन्द्र॑स्य ।
वज्र॑म् । ह॒विषा॑ । रथ॑म् । य॒ज ॥ २ ॥

दिवः द्युलोकात् पृथिव्याश्च सकाशाद् ओजः तदीयं बलम् उद्भृतम् उद्धृतम् । द्युसंबन्धिवृष्टिजललक्षणस्य रेतसो निषेकात् पृथिव्यवयवैरुपचयाच्च । तदीयं सारम् उद्धृत्य रथात्मना निर्मितम् इत्यर्थः । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी । "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ । तथा वनस्पतिभ्यः सारवद्भ्यो वृक्षेभ्यः सकाशाद् आभृतम् आहृतं सहः पराभिभवनक्षमं बलमेव अयं रथः । तथा अपाम् उदकानाम् ओज्मानम् । ओजो बलम् । तदात्मकम् । उदकसंवर्धितवृक्षविकारत्वात् । परितो गोभिः गोविकारैश्चर्मभिरावृतम् आवेष्टितम् इन्द्रस्य वज्रम् इन्द्रायुधवद् अप्रतिहतगतिम् । यद्वा वज्रावयवत्वाद् वज्रो रथः । अवयवे समुदायशब्दः प्रयुज्यते । तथा च श्रुतिः । "इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् । स त्रेधा व्यभवत् । स्फ्यस्तृतीयम् । रथस्तृतीयम् । यूपस्तृतीयम्" इति [तै० सं० ६. १. ३. ४] । एवंभूतं रथम् हे होतः हविषा आज्यादिना यज प्रीणय ॥

द्युलोक और पृथिवीलोकके पाससे उनका ओज अर्थात् बल उद्धृत किया गया है अर्थात् द्युलोकसंबन्धी वृष्टिजलरूप वीर्यके निषेकसे और पृथिवीके अवयवोंके बढ़ावसे उनके सारको उद्धृत कर रथरूपसे बनाया गया है। तथा वनस्पतियोंसे अर्थात् सार वाले वृक्षोंसे एकत्रित किया हुआ उनका शत्रुओंको दमन करनेमें समर्थ लिया हुआ बल ही यह रथ है। तथा यह रथ जलोंका भी बल है, क्योंकि-जलसे बढ़े हुए वृक्षोंका विकार है। गोचर्मकी रस्सियोंसे बँधा हुआ है, और इन्द्रके आयुधकी समान अप्रतिहत गति वाला है, वा वज्रका अवयव होनेसे यह रथ वज्र ही है ‡ ऐसे रथको हे होतः! घृत आदि हविसे पूजो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्र॒स्यौजो॑ म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभिः॑। स इ॒मां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑ रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य। ओजः। म॒रुता॑म्। अनी॑कम्। मि॒त्रस्य॑। गर्भः॑। वरु॑णस्य। नाभिः॑।

‡ अवयवमें समुदाय शब्दका प्रयोग होता है अतः वज्रका अवयव होनेसे रथ भी वज्र कहलाता है। श्रुति कहती है, कि-"इन्द्रो वृत्राय वज्रं माहरत्। स त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयम्। रथस्तृतीयम्। यूपस्तृतीयम् ॥-इन्द्रने वृत्रासुरके वज्र मारा, वह वज्र तीन भागमें बँट गया। उसका तिहाई स्फ्य हुआ, तिहाई रथ हुआ और बाकी तिहाई भाग यूप हुआ।" (तैत्तिरीय-संहिता ६। १। ३। ४)॥

सः । इमाम् । नः । हव्यऽदातिम् । जुषाणः । देव । रथ । प्रति ।
हव्या । गृभाय ॥ ३ ॥

हे देव दानादिगुणयुक्त हे रथ त्वम् इन्द्रस्य ओजः बलम् असि । मरुताम् मरुद्गणानाम् अनीकम् समुदायरूपं बलम् असि । तथा मित्रस्य देवस्य गर्भः गर्भवद् अन्तरवस्थितः पालनीयोसि । वरुणस्य देवस्य नाभिः नाभिरिव अवयवभूतोसि । यद्वा वरुणेन संनद्धो भवसि । ❀ णह बन्धने इत्यस्मात् नहो भश्च [उ० ४. १२५] इत्यौणादिक इञ् प्रत्ययो भत्वं च ❀ । स तादृशस्त्वं नः अस्मदीयाम् इमां हव्यदातिम् । हव्यानि हवींषि दीयन्तेस्याम् इति हव्यदातिः यजिक्रिया । तां जुषाणः सेवमानः हव्या हव्यानि हवींषि अस्माभिर्दीयमानानि प्रति गृभाय प्रतिगृहाण । ❀"छन्दसि शायजपि" इति श्नः शायजादेशः । "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम्❀ ॥

हे दानादिगुण युक्त रथ! तू इन्द्रका बल है मरुद्गणोंका अनीक अर्थात् समुदायरूप बल है । तथा मित्र देवताका गर्भ है अर्थात् मित्र देवता गर्भकी समान तेरा पालन करते हैं वरुणदेवका तू नाभिकी समान अवयव है, वा तू वरुणसे बँधा हुआ है, ऐसा तू हमारी इस यज्ञक्रियाको सेवन करता हुआ हमारी हवियोंको ग्रहण कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥ १ ॥

उप । श्वासय । पृथिवीम् । उत । द्याम् । पुरुऽत्रा । ते । वन्वताम् । विऽस्थितम् । जगत् ।
सः । दुन्दुभे । सऽजूः । इन्द्रेण । देवैः । दूरात् । दवीयः । अप । सेध । शत्रून् ॥ १ ॥

हे दुन्दुभे पृथिवीम् भूमिम् उप श्वासय आत्मीयेन घोषेण उपश्वसिताम् आपूरिताम् कुरु । उत द्याम् द्यामपि द्युलोकमपि उप श्वासय आपूरय । ❀ श्वस प्राणने ❀ । विष्ठितम् त्रिविधम् अवस्थितं जगत् प्राणिजातं पुरुत्रा बहुषु देशेषु ते त्वदीयं जयघोषं वनुतान् संभजताम् । ❀ वन षण संभक्तौ । विकरणव्यत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ वनु याचने ❀ । श्रोत्रसुखं त्वदीयं जयघोषं सर्वो जनः प्रार्थयताम् इत्यर्थः । ❀ पुरुत्रेति । "देवमनुष्य०" इत्यादिना सप्तम्यर्थे पुरुशब्दात् त्रा प्रत्ययः ❀ । हे दुन्दुभे स तादृशस्त्वम् इन्द्रेण संग्रामाधिदेवतेन तदनुचरैर्देवैः मरुदादिभिश्च सजूः दूरात् सर्वे जना यावन्तं विप्रकृष्टदेशं दूरं मन्यन्ते ततोपि दवीयो दूरतरम् अस्मदीयान् शत्रून् अप सेध अपगमय । ❀ षिधु गत्याम् । भौवादिकः । दवीय इति । ईयसुनि "स्थूलदूर०" इत्यादिना यणादि परं लुप्यते पूर्वस्य च गुणो अव् आदेशः ❀ ॥

हे दुन्दुभे ! तू पृथिवीको अपनी गड़गड़ाहटसे पूर्ण कर । और द्युलोकको भी भरदे, अनेक रूपोंमें स्थित अनेक देशोंके प्राणी तेरे घोषका सेवन करें अर्थात् कानोंको सुख देने वाले तेरे घोष की सब प्रार्थना करें । हे दुन्दुभे ! ऐसी तू संग्रामके अधिपति देवता इन्द्रके साथ और उनके अनुचर मरुत् देवताओंके साथ हमारे शत्रुओंको भी दूरसे भी दूर देशमें खदेड़ दे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः ।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व

आ । क्रन्दय । बलम् । ओजः । नः । आ । धाः । अभि । स्तन । दुःऽइता । बाधमानः ।
अप । सेध । दुन्दुभे । दुच्छुनाम् । इतः । इन्द्रस्य । मुष्टिः । असि । वीडयस्व ॥ २ ॥

हे दुन्दुभे बलम् परकीयं शत्रुसंबन्धि रथतुरगगजपदातिलक्षणं युद्धाय संनद्धम् आ क्रन्दय पराजयेन आर्तध्वनियुक्तं कुरु । ❀ क्रदि आह्वाने रोदने च ❀ । अस्माकम् ओजः बलम् आ धाः आधेहि । युद्धाभिमुखं स्थापय । ❀ दधातेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥ तथा दुरिता दुरितानि पराजयनिमित्तानि पापानि यद्वा शत्रुकृतानि दुर्गतानि दुःखानि बाधमानः निवर्तयन् अभि ष्टन अभितः श्रवणकटुकं शत्रुहृदयभञ्जकं परुषं शब्दं कुरु । ❀ स्तन शब्दे । "अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम्" इति षत्वम् ❀ । इतः अस्माद् युद्धरङ्गाद् दुच्छुनाम् दुःखकरीं शत्रुसेनाम् अप सेध अपगमय । इन्द्रस्य देवस्य त्वं मुष्टिरसि मुष्टिवत् शत्रूणां भञ्जकोसि अतस्त्वं वीडयस्व दृढीभव ॥

हे दुंदुभे ! तू शत्रुओंके रथ घोड़े हाथी पैदल आदि युद्धके लिये तयार सेनादलको पराजित करके आर्तध्वनि करने वाला कर। हममें बलको स्थापित कर अर्थात् हमको युद्धके अभिमुख स्थापित कर और पराजय कराने वाले पापोंको और शत्रुके दिये हुए

दुःखोंको दलती हुई तू शत्रुओंके हृदयोंको तोड़ने वाले और कानों को कटु लगने वाले शब्दको कर। इस युद्धरंगसे दुःखदायिनी शत्रुसेनाको खदेड़ दे। तू इन्द्रदेवकी मुट्ठी है अर्थात् मुट्ठीकी समान शत्रुओंकी मरम्मत बनाने वाली है अतः तू दृढ़ हो॥ २॥

षष्ठी॥

प्रामूं जंयाभीइमे जंयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु

प्र। अमूम्। जय। अभि। इमे। जयन्तु। केतुऽमत्। दुन्दुभिः। वावदीतु। सम्। अश्वऽपर्णाः। पतन्तु। नः। नरः। अस्माकम्। इन्द्र। रथिनः। जयन्तु॥ ३॥

हे इन्द्र अमूं दूरे दृश्यमानां शत्रुसेनां प्रकर्षेण जय यथा अस्मत्समीपं नायाति तथा पराजितां कुरु। इमे अस्मदीया भटाः पुरोवर्तिनः अभि जयन्तु शत्रून् अभिमुखं जयं प्रतिपद्यन्ताम्। अयं दुन्दुभिः केतुमत् महानदइ उच्चैस्तरां वावदीतु भृशं वदतु। ध्वनिश्रवणमात्रेण यथा शत्रवः पलायन्ते तथा उच्चैर्ध्वनत्वित्यर्थः। ❀ केतुमत् इति। "ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्" इति मतुप उदात्तत्वम्। वावदीतु। वद व्यक्तायां वाचि। अस्माद् यङ्लुगन्तात् लोटि रूपम् ❀। नः अस्माकं नरः नेतारः सेनानायकाः अश्वपर्णाः अश्वपतनाः अश्वारूढाः सन्तः संपतन्तु युद्धभूमिम् इतस्ततो गच्छन्तु। तथा अस्माकं रथिनः रथारूढा अमात्यजना राजानश्च जयन्तु जयं प्रतिपद्यन्ताम्॥

[इति] त्रयोदशेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हे इन्द्र! इस दूर दीखने वाली शत्रुसेनाको आप भली प्रकार जीतिये अर्थात् यह जिस प्रकार हमारे समीप न आ सके तिस

रूपमें पराजित करिये, ये हमारे सामने लड़े हुए योधा शत्रुओं के सामने जाकर जयको पावें। यह दुन्दुभि चेतनकी समान बड़ी जोरसे दहाड़े, अर्थात् ध्वनिको सुननेसे ही शत्रु भागें, इस प्रकार गड़गड़ावे। हमारे सेनानायक नर घोड़ों पर सवार होकर युद्ध-भूमिमें चारों ओर भ्रमण करें, और हमारे रथारूढ़ मन्त्री और राजा भी विजय पावें॥ ३॥

तेरहवें अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२९९)

"विद्रधस्य बलासस्य" इति तृचेन जलोदरविसर्पादिसर्वरोगभैषज्यार्थं व्याधितस्य मूर्धनि संपातान् आनयेत्।

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन चतुरङ्गुलं पलाशशकलं पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य व्याधितशरीरं लिम्पेत्॥

सूत्रितं हि। "विद्रधस्य [६. १२७] या बभ्रवः [८. ७] इत्युपोत्तमेन पलाशस्य चतुरङ्गुलेनालिम्पति" इति [कौ० ४.२] "पञ्चमेन वरुणगृहीतस्य मूर्धनि संपातान् आनयति" इति च [कौ० ४. २]॥

"शकधूमम्" इति चतुरृचेन स्वस्त्ययनकामः आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानां त्रयोदशद्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात्॥

तथा नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणि शीघ्रं कर्तुकामः अनेन चतुरृचेन ब्राह्मणस्य संधिषु गोमयपिण्डान् निधाय अग्नित्वेन संकल्प्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण प्रश्नप्रतिवचने कुर्यात्॥

सूत्रितं हि। "शकधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १]। "उपोत्तमेन सुहृदो ब्राह्मणस्य शकृत्पिण्डान् "पर्वस्वाधाय शकधूम किम् अद्याहरिति पृच्छति। भद्रं सुमङ्गलम् इति प्रतिपद्यते" इति च [कौ० ७. १]॥

तथा सोमग्रहणजनितारिष्टशान्तये अनेनाज्यं जुहुयात्। "अथ यत्रैतच्चन्द्रमसम् उपल इति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "शकधूमं नक्षत्राणीत्येतेन सूक्तेन जुहुयात्" इति [कौ० १३. ८]॥

तथा ग्रहयज्ञे हविराज्यहोमादीनि अनेन सोमाय कुर्यात् । तदुक्तं शान्तिकल्पे । "शकधूमम् इति सोमाय" इति [शा० क० १५]

"विद्रधस्य बलासस्य" इस तृचसे जलोदर विसर्प आदि सकल रोगोंकी चिकित्साके लिये रोगीके शिर पर सम्पातोंको लावे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस तृचसे ढाकके चार अँगुलके टुकड़ेको पीसकर अभिमन्त्रित कर उसका रोगीके शरीर पर लेप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"विद्रधस्य (६।१२७) या बभ्रवः (८।७) इत्युपोत्तमेन पलाशस्य चतुरंगुलेनालिंपति" (कौशिकसूत्र ४ । २) "पञ्चमेन वरुणगृहीतस्य मूर्धिन सम्पातान् आनयति" इति च (कौशिकसूत्र ४ । २) ॥

"शकधूमम्" इस चतुर्ऋचसे स्वस्त्ययनको चाहने वाला घृत समिधा पुरोडाशसे पूरी तकके तेरह द्रव्योंमेंसे एककी आहुति देय तथा नित्य नैमित्तिक कर्मोंको शीघ्रतासे करना चाहने वाला पुरुष इस चतुर्ऋचसे ब्राह्मणकी संधियोंमें गोमयपिण्डोंको रख उसको अभि मान अभिमन्त्रित करके सूत्रोक्तरीतिसे प्रश्नोत्तर करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"शकधूमम् (६।१२८) भवाशर्वौ (११ । २) इत्युपदधीत (७ । १) उपोत्तमेन सुहृदो ब्राह्मणस्य शकृत्पिण्डान् पर्वस्वाधाय शकधूम किम् अद्याहरिति पृच्छति, भद्रं सुमंगलम् इति प्रतिपद्यते" ॥ (कौशिकसूत्र ७ । १)

तथा चन्द्र ग्रहणसे होनेवाले अरिष्टकी शान्तिके लिये इससे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–(कौशिकसूत्र १३ । ८)में "अथ यत्रैतद् चन्द्रमसं उपसत्रति ।–जब (राहु) चन्द्रमाको पकड़ता है" इसका आरम्भ करके कहा है कि–"शकधूमम् इति सूक्तेन जुहुयात् ।।–शकधूमम्से सोमके निमित्त आहुति देय" (कौशिकसूत्र १३ । ८) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें हवि घृत होम आदिको इससे सोमके लिये करे।

इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-"शकधूमम् इति सोमाय" (शान्तिकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

वि॒ऽद्र॒धस्य । ब॒लास॑स्य । लोहि॑तस्य । व॒न॒स्प॒ते ।
वि॒ऽसल्प॑कस्य । ओ॒ष॒धे॒ । मा । उत् । शि॒षः॒ । पि॒शि॒तम् । च॒न १

हे वनस्पते चतुरंगुलपलाशवृक्ष हे ओषधे विसर्पकादिव्याधेरौषधभूत विद्रधस्य विदरणशीलस्य व्रणविशेषस्य । बलासस्य बलं शरीरम् अस्यति क्षिपतीति बलासः कासश्वासादिः तस्य । लोहितस्य लोहितवर्णस्य । एतद् विसर्पकविशेषस्य नाम । यद्वा लोहितं रुधिरम् । रुधिरस्रावात्मकस्य रोगस्येत्यर्थः। विसल्पकस्य विविधं सर्पति नाडीमुखेन शरीरस्य अन्तर्व्याप्नोतीति विसर्पकः । ❀ कपिलकादित्वात् लत्वम् ❀। एवंविधस्य रोगजातस्य पिशितं चन । चनशब्दः अप्यर्थे । निदानभूतं दुष्टं मांसमपि । अपि शब्दाद् दुष्टत्वगादिकम्। मोच्छिषः मोच्छेषय । वातपित्तश्लेष्मणां दोषाणां तारतम्येन त्वगसृङ्मांसादीन् धातून् दूषयित्वा विसर्पकादयो रोगा उत्पद्यन्ते । सनिदानांस्तान् सर्वान् निवर्तयेत्यर्थः । ❀ उच्छिष इति । शिष्लृ विशेषणे । लृदित्वाच्च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

हे विसर्पक आदि व्याधियोंकी औषधरूप चतुरंगुलपलाशवृक्ष ! तू फटने वाले एक प्रकारके फोड़े विद्रधकी, शरीरके बलको चीण करने फेंकने (चीण) करने वाले श्वास खाँसी आदि बलास नामक रोगसमुदायको, लाल वर्ण वाले विसर्पको और दूषित

मांस त्वचा आदिको बाक़ी न रख। तात्पर्य यह है, कि—वात पित्त कफ दोषोंकी न्यूनाधिकतासे त्वचा मांस रुधिर आदिको दूषित करके विसर्पक आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनको उनके कारणों सहित आप दूर करिये॥ १॥

द्वितीया॥

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ।

वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्॥ २॥

यौ। ते। बलास। तिष्ठतः। कक्षे। मुष्कौ। अपऽश्रितौ।

वेद। अहम्। तस्य। भेषजम्। चीपुद्रुः। अभिऽचक्षणम्॥२॥

हे बलास कासश्वासादिरोग ते तव यौ विकारौ विसर्पकादिरूपौ कक्षे बाहुमूले तिष्ठतः। मुष्कौ अण्डौ च अपश्रितौ अपकृष्टम् आश्रितौ तस्य तादृग्विकारोपेतस्य बलासस्य अहं भेषजं वेद जानामि। किं तद् इति उच्यते। चीपद्रुः एतत्संज्ञो द्रुमविशेषः। अभिचक्षणम् व्याधिमूलं सम्यग् अभिचक्ष्य ज्ञात्वा निवर्तकम् औषधम् इत्यर्थः॥

हे कासश्वासात्मक बलासरोग! तेरे जो विसर्पक आदि बगलों में होते हैं, और अण्डकोषोंके पासमें होते हैं, ऐसे तुझ बलासकी औषधिको मैं जानता हूँ (उस औषधका नाम लेते हैं, कि—) चीपद्रुनामक वृक्ष व्याधिकी मूलको जानकर उखाड़ने वाला है २

तृतीया॥

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।

वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।

परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि॥ ३॥

यः । अङ्ग्यः । यः । कर्ण्यः । यः । अक्ष्योः । विऽसल्पकः ।

वि । वृहामः । विऽसल्पकम् । विऽद्रधम् । हृदयऽआमयम् ।

परा । तम् । अज्ञातम् । यक्ष्मम् । अधराञ्चम् । सुवामसि ॥ ३ ॥

यो विसर्पकः अङ्ग्यः अङ्गेषु हस्तपादादिषु भवः यः कर्ण्यः कर्णयोरुत्पन्नः । ❀ उभयत्र "शरीरावयवाच्च" इति यत् ❀ । अक्ष्योः अक्ष्णोर्यो विसर्पकः । ❀ "ई च द्विवचने" इति अक्षि-शब्दस्य ईकारान्तादेशः ❀ । एवं बहुविधं तं विसर्पकं वि वृहामः उत्खनामः । समूलम् उन्मूलयाम इत्यर्थः । ❀ वृहू उद्यमने ❀ ॥ तथा विद्रधम् विदरणस्वभावं व्रणविशेषं हृदयामयम् हृद्रोगं हृदया-श्रितम् अन्यमपि रोगं निवर्तयामः । तं तथाविधम् अज्ञातम् अनि-र्ज्ञातस्वरूपं यक्ष्मम् रोगम् अधराञ्चम् अधरम् अधस्ताद् अञ्च-न्तम् अधोमुखं गच्छन्तं परा सुवामसि पराङ्मुखं प्रेरयामः । ❀ षू प्रेरणे । "इदन्तो मसिः ❀ ॥

नाड़ियोंके मुखसे अनेक प्रकारसे सरक कर सारे शरीर तक में फैल जाने वाला जो विसर्पक हाथ पैर आदि अङ्गोंमें होजाता है, दोनों कानोंमें होजाता है, आँखोंमें होजाता है, ऐसे अनेक प्रकारके विसर्पकको हम समूल उखाड़ते हैं, तथा विद्रधनामक व्रणको, हृदयरोगको, जिसका स्वरूप पहिचाननेमें नहीं आता ऐसे यक्ष्मारोगको और नीचेको मुख करके चलने वाले रोगको हम पराङ्मुख करके भेजते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।

भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

शकऽधूमम् । नक्षत्राणि । यत् । राजानम् । अकुर्वत ।

भद्र॒ऽअ॑हम् । अ॒स्मै॒ । प्र । अ॒य॒च्छ॒न् । इ॒दम् । रा॒ष्ट्रम् । अ॒सा॒त् ।
इति॑ ॥ १ ॥

शकस्य शकृतः संबन्धी धूमो यस्मिन्नग्नौ स शकधूमः अग्निः । तदभेदाद् ब्राह्मणोत्र अभिधीयते । "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः" [तै० सं० ५. २. ८. २] इति श्रुतिः । तयोस्तादात्म्यं दर्शयति । तं शकधूमं ब्राह्मणं पुरा नक्षत्राणि तारकाः राजानं चन्द्रमसम् अकुर्वत व्यदधतेति यत् तस्य कारणम् उच्यते । अस्मै शकधूमाय भद्राहम् पुण्याहं कल्याणप्रदं [कालं] प्रायच्छन् । ❀ भद्रं च तद् अहश्चेति भद्राहः । "राजाहःसखिभ्यः०" इति टच् समासान्तः ❀ । किमर्थं प्रायच्छन् । तत्राह । इदं राष्ट्रम् राज्यं नक्षत्रमण्डलाधिपत्यम् असात् भवेत् । अस्य वशे सर्वं वर्तेत इत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥

(गोशकृत्सम्बन्धी धूम जिनमें होता है ऐसे अग्नि शकधूम कहलाते हैं, उन अग्निके अभेदसे ब्राह्मण भी शकधूम ‡ कहलाते हैं, ऐसे) शकधूम ब्राह्मणको पूर्वसमयमें तारोंने चन्द्रमा राजा बनाया था, उसका कारण यह है, कि—इस शकधूमके लिये पुण्यप्रद भद्राहको अर्थात् पुण्यप्रद कालको उन्होंने नक्षत्रमण्डलका अधिपतित्वरूप राज्य इनका होजाय इस लिये दिया था ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

भ॒द्राहं॑ नो म॒ध्यंदि॑ने भ॒द्राहं॑ सा॒यम॑स्तु नः ।
भ॒द्राहं॑ नो॒ अह्नां॑ प्रा॒ता रात्री॑ भ॒द्राह॑मस्तु नः ॥२॥

---

‡ "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः ॥ जो ब्राह्मण है वही यह वैश्वानर अग्नि है" इस प्रकार तैत्तिरीयसंहिता ५।२।८।२ में ब्राह्मण और अग्निके अभेदका वर्णन किया है ।

भद्रऽअहम् । नः । मध्यंदिने । भद्रऽअहम् । सायम् । अस्तु । नः ।

भद्रऽअहम् । नः । अह्नाम् । प्रातः । रात्री । भद्रऽअहम् । अस्तु ।

नः ॥ २ ॥

नः अस्माकं मध्यंदिने मध्याह्ने भद्राहम् शोभनदिनं पुण्यम् अहः । भवत्वित्यर्थः । तथा नः अस्माकं सायम् सूर्यास्तमयकालेपि भद्राहम् पुण्याहम् अस्तु ॥ अह्नाम् दिवसानां प्रातः पूर्वाह्णकालेपि नः अस्माकं भद्राहम् पुण्याहं भवतु । तथा रात्री कृत्स्नापि निशीथिनी नः भद्राहम् शुभकालो भवतु । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ ॥

मध्यान्हमें हमारा दिन पुण्याह हो । तथा सायङ्कालके समय भी हमारा पुण्याह हो, दिवसोंके प्रातःकालमें भी हमारा पुण्याह हो, तथा सारी रात्रिका समय भी हमारे लिये पुण्याह अर्थात् शुभकाल वाला हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।

भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

अहोरात्राभ्याम् । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।

भद्रऽअहम् । अस्मभ्यम् । राजन् । शकऽधूम । त्वम् । कृधि ॥३॥

अहोरात्राभ्याम् अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ । ❀ "अहःसर्वैकदेश०" इत्यादिना अकारः समासान्तः ❀ । अहोरात्राभ्यां सकाशात् नक्षत्रेभ्यः अश्विन्यादिभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ अहोरात्रयोर्विभेदकौ ताभ्यां च सकाशात् हे शकधूम ब्राह्मणात्मक हे राजन् नक्षत्राणाम् अधिप अस्मभ्यं

भद्राहम् पुण्याहं त्वं कृधि कुरु। ❀ सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् इति। पूर्वपदस्य "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ्। छान्दसः अकारः समासान्तः ❀॥

हे ब्राह्मणात्मक नक्षत्राधिप शकधूम राजन्! आप दिन और रात्रिसे, अश्विनी आदि नक्षत्रोंसे और दिन तथा रात्रिका विभाग करने वाले सूर्य और चन्द्रमासे हमारा पुण्याह करिये॥ ३॥

सप्तमी॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः॥ ४॥

यः। नः। भद्रऽअहम्। अकरः। सायम्। नक्तम्। अथो इति। दिवा।
तस्मै। ते। नक्षत्रऽराज। शकऽधूम। सदा। नमः॥ ४॥

हे शकधूम ब्राह्मणात्मक नक्षत्रराज नक्षत्राणाम् अधिप हे सोम यस्त्वं नः सायम् सायाह्नकाले नक्तम् रात्रौ अथो अपि च दिवा दिवसे भद्राहम् पुण्याहं सुदिनम् अकरः कृतवान् असि। ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀। तस्मै तथाविधाय ते तुभ्यं सदा सर्वदा नमः नमस्कारोस्तु॥

[इति] त्रयोदशेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

हे ब्राह्मणात्मक शकधूम और नक्षत्रराज सोम! जो आपने सायङ्कालके समय, रात्रिमें, दिनमें हमारा पुण्याह किया है, ऐसे आपको सर्वदा नमस्कार हो॥ ४॥

तेरहवें अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३०१)॥

"भगेन मा सम्" इति तृचेन शङ्खपुष्पिकामूलं खात्वा संपात्य अभिमन्त्र्य सौभाग्यकामस्य बध्नीयात्॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन शङ्खपुष्पिकापुष्पम् अभिमन्त्र्य शिरसि बध्नीयात् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "भगेन मा [६. १२९] न्यस्तिका [६. १३९] इदं खनामि [७. ३९] इति सौवर्चलम् ओषधिवच्छुक्लमसूनं शिरस्यपिहत्य ग्रामं प्रविशति" इति [कौ० ४. १२] ॥

"रथजिताम्" इत्यादिसूक्तत्रयेण दुष्टस्त्रीवशीकरणकर्मणि माषान् अभिमन्त्र्य स्त्रियाः संचरणस्थलेषु प्रक्षिपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचत्रयेण शरभृष्टीः संदीप्ताः प्रतिदिशं प्रक्षिपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि आवलेखिनीं स्त्रीप्रतिकृतिं कृत्वा सूत्रोक्तप्रकारेण धनुरिषुं च कृत्वा अनेन तृचत्रयेण प्रतिकृतिं हृदये विध्येत् ॥

"रथजिताम् इति माषान् निवपति शरभृष्टीरादीप्ताः प्रतिदिशम् अभ्यस्यत्यर्वाच्या आवलेखिन्या" इति [कौ०. ४. १२] ॥

"भगेन मा सम्" इस तृचसे शङ्खपुष्पिका-मूलको खोद कर सम्पातन और अभिमंत्रित करके सौभाग्य चाहने वालेके बाँधे ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे शङ्खपुष्पिकाके फूलको अभिमंत्रित करके शिरमें बाँधे । इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"भगेन मा (६ । १२९) न्यस्तिका (६ । १३९) इदं खनामि (७ । ३९) इति सौवर्चलम् ओषधिवच्छुक्लमसूनं शिरस्यपिहत्य ग्रामं प्रविशति" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

"रथजिताम्" आदि तीन सूक्तोंसे दुष्ट स्त्रीको वशमें करनेके कर्ममें उड़दोंको अभिमन्त्रित करके स्त्रीके विचरण करनेके स्थानों पर बखेर देय ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इन तीन तृचोंसे अग्निमें भूनने पर जलते हुए सेंटोंको प्रत्येक दिशाओंमें फेंके ।

तथा तहाँ ही कर्ममें कुरेद करके स्त्रीकी मूर्तिको बनावे फिर

सूत्रोक्तरीतिसे धनुष और बाणको बनावे फिर इन तीनों ऋचोंसे मूर्तिको हृदयमें बाँधे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"रथजितां इति माषान् निवपति शरभृष्टोरादीप्ताः प्रतिदिशं अभ्यस्यत्यर्कोच्या आवलेखिन्या" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।

कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भगेन । मा । शांशपेन । साकम् । इन्द्रेण । मेदिना ।

कृणोमि । भगिनम् । मा । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ १ ॥

संशफेन । संगताः शफा गोमहिषादीनां खुराः शफाकृतिरायुधविशेषो वा यस्य स तथोक्तः । तादृशेन भगेन सौभाग्यकरेण देवेन साकं सह मा मां सौभाग्यवन्तं करोमि । मेदिना स्निग्धेन अस्मत्सेवया परितुष्टेन इन्द्रेण मा मां भगिनम् भाग्यवन्तं कृणोमि करोमि ॥ अरातयः अदानशीलाः शत्रवः अप द्रान्तु अस्मत् सकाशात् अपेत्य कुत्सितां गतिं गच्छन्तु । ❀ द्रा कुत्सितायां गतौ । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

संगत शफ वाले गौ भैंस आदिके खुरोंकी समान आकारवाले भग नामक सौभाग्यप्रद देवताके द्वारा मैं अपनेको सौभाग्यवाला करता हूँ, हमारी सेवासे प्रसन्न हुए अत एव स्नेही इन्द्रके द्वारा मैं अपनेको भाग्यवान् करता हूँ, अदानशील शत्रु हमारे पाससे भाग कर कुत्सित गतिको प्राप्त हो जावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।

तेनं मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

येनं । वृक्षान् । अभिऽअभवः । भगेन । वर्चसा । सह ।

तेनं । मा । भगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ २ ॥

हे ओषधे येन भगेन सौभाग्यकरेण देवेन वर्चसा तत्कृतेन तेजसा सह वृक्षान् समीपस्थान् अभ्यभवः अभिभवसि तिरस्करोषि तेन भगेन मा मां भगिनम् सौभाग्यवन्तं कृणु कुरु । गतम् अन्यत् ॥

हे ओषधे ! जिस सौभाग्यदायक भग देवताके दिये हुए तेज से तू समीपमें स्थित वृक्षोंका तिरस्कार करती है, उस भगसे तू मुझको सौभाग्ययुक्त कर । हमारे शत्रु हमसे विमुख होवें और कुत्सित गतिको प्राप्त होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।

तेनं मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

यः । अन्धः । यः । पुनःऽसरः । भगः । वृक्षेषु । आऽहितः ।

तेनं । मा । भगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ ३ ॥

यो भगः अन्धः दृष्टिरहितः । ❀ तथा च यास्कः । अन्धो भग इत्याहुः । माशित्रम् अस्याक्षिणी निर्जघानेति च ब्राह्मणम् इति [नि० १२. १४] ❀ । यो भगः पुनःसरः । दृष्टिराहित्येन पुरतो गन्तुम् अशक्नुवन् गतप्रदेश एव पुनः सरति गच्छतीति पुनःसरः । अत एव वृक्षेषु स्थाणुषु मार्गस्थेषु स्थाणुषु आहतः ताडितो भवति । यो भगः आन्ध्येन पुरतोऽन्यत्र गन्तुम् अशक्नुवन् गृहीतं न परित्यजतीत्यर्थः । तेन भगेन सौभाग्यकरेण देवेन । उक्तार्थम् अन्यत् ॥

जो भग अंधा है, अत एव जो भग दृष्टिरहित होनेसे आगेको जानेमें असमर्थ होनेसे गतप्रदेशमें ही बारम्बार जाता है, अत एव मार्गस्थ वृक्षोंमें ही ताड़ित होता है, तात्पर्य यह है, कि–जो भग अन्धदेवता होनेसे आगेको जानेमें असमर्थ होनेसे पकड़े हुएको नहीं त्यागता है उस सौभाग्यकर भगदेवतासे तू मुझको सौभाग्य कर हमारे शत्रुमय हमसे विमुख होते हुए दुर्गतिको प्राप्त होवें

चतुर्थी ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

रथऽजिताम् । राथऽजितेयीनाम् । अप्सरसाम् । अयम् । स्मरः ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु १

हे रथजिते रथेन जेतव्ये माषाख्ये ओषधि रथजिताम् रथेन आत्मीयेन वाहनेन विश्वं जयन्तीनां धीनाम् ध्यानजननीनां विरागविशेषस्य उत्पादयित्रीणाम् अप्सरसाम् उर्वशीप्रभृतीनां संबन्धी अयं स्मरः कामः । तदधीने वर्तत इत्यर्थः । अतः इयं दुष्टा स्त्री मां स्मरकृतपीडाभावाद् न कामयत इत्यर्थः । यद्वा रथजिताम् रथेन रथाकारेण विमानेन विश्वं जयतां देवानां संबन्धिनि रथजिते रथेन जेतव्ये मेरुशिखरादौ भोगभूमदेशे धीनाम् ध्यातॄणां गन्धर्वाणाम् अप्सरसां च अयं स्वभूतः स्मरः । हे देवाः तं स्मरम् कामं प्र हिणुत एतस्याः समीपं प्रेषयत । ❀ हि गतौ वृद्धौ च । स्वादित्वात् श्नुः । "हिनु मीना" इति णत्वम् ❀ । असौ पराङ्मुखी स्त्री तेन स्मरेण पीडिता सती माम् अनु शोचतु अनुस्मृत्य शोकयुक्ता भवतु । ❀ शुच शोके ❀ ॥

हे रथसे जीती जा सकने वाली माष (उड़द) नाम वाली

ओषधे ! यह काम रथके आकारके विमानके द्वारा जीतने वाले देवसंबन्धी रथसे जीतने योग्य मेरुशिखर आदि भोगभूमिप्रदेश में ध्यान करने वाली अप्सराओंका होरहा है हे देवताओं ! उस कामको आप इस स्त्रीके समीप भेजिये, जिससे यह पराङ्मुखी स्त्री उस कामदेवसे पीड़ित होती हुई मुझको स्मरण करके शोक-युक्त होवे ॥ १ ॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

असौ । मे । स्मरतात् । इति । प्रियः । मे । स्मरतात् । इति ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु २

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

यथा । मम । स्मरात् । असौ । न । अमुष्य । अहम् । कदा । चन ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ३

पञ्चमी ॥ असौ पुरुषः मे मां स्मरतात् स्मरतु इति । इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ । प्रियः मयि अनुरागविशेषयुक्तः सन् मे मां स्मरतात् स्मरतु । ❀ स्मृ चिन्तायाम् । "तुह्योस्तातङ्०" इति तातङ् आदेशः ❀ । इति अनेन प्रकारेण आशंसमाना कामार्ता यथा असौ दुष्टा स्त्री मम स्मरात् मां स्मरेत् । ❀ "अधीगर्थ०" इति कर्मणि षष्ठी ❀ । इति चिन्तयेत् । अमुष्य अमूं स्त्रियम् अहं कदा चन कदाचिदपि कामार्तो न स्मरामि तथा हे देवाः स्मरं प्र हिणुत । यद्वा असौ मे स्मरताद् इति प्रियो मे स्मरताद् इति यया माम् अनु-

स्मृत्य सा परितप्यते तथा स्मरं प्र हिणुतेति संबन्धः। यथा मम स्मराद् इति स्त्रीवाक्यम्। असौ पुरुषो यथा मां स्मरेत् कदाचिदपि अहम् अमुष्य अमुं पुरुषं न स्मरामि इत्थं पुरुष एव कामातुरो माम् अभिगच्छेद् इति वशीकृतायाः स्त्रिया वाक्यम्। गतम् अन्यत्॥

यह पुरुष मेरा स्मरण करे, मुझमें विशेष अनुराग रख कर मेरा स्मरण करे, इस प्रकारसे कहती हुई कामार्ता दुष्टा स्त्री मेरा स्मरण करे। और हे देवताओं! मैं इस स्त्रीका कभी कामार्त होकर स्मरण न किया करूँ इस प्रकार आप कामको प्रेरित करिये। वा—"यह मेरा स्मरण करें, प्रिय मेरा स्मरण करें" इस प्रकार मेरा स्मरण करके वह जिस प्रकार परितप्त होवे, तिस प्रकार हे देवताओं आप कामको प्रेरित करिये॥ (अगले मन्त्र में वशीकृता स्त्रीका वाक्य है, कि—यह पुरुष मेरा स्मरण करे, मैं कभी भी इस पुरुषका स्मरण न करूँ, इस प्रकार यह पुरुष ही कामातुर होकर मेरे पास आवे, हे देवताओं! आप कामको प्रेरित करिये, यह मेरा स्मरण करके शोकयुक्त होवे॥ २॥ ३॥

षष्ठी॥

उन्मा॑दयत मरुत॒ उद॑न्तरिक्ष मादय।
अग्न॒ उन्मा॑दया॒ त्वमसौ मामनु शोचतु॥ ४॥

उत्। मा॒दय॒त। म॒रु॒तः॒। उत्। अ॒न्त॒रि॒क्ष॒। मा॒द॒य॒।
अग्ने॑। उत्। मा॒द॒य॒। त्वम्। अ॒सौ। माम्। अनु॑। शो॒च॒तु॒॥४॥

हे मरुतः मरुद्गणाः इमां स्त्रियम् उन्मादयत उन्मत्तां परवशाम् अस्मदायत्तां कुरुत। हे अन्तरिक्ष त्वमपि एनाम् उन्मादय एनाम् अस्मद्वशे कुरु। हे अग्ने त्वम् एनाम् उन्मादय स्वात्मानं विस्मृत्य

यथा अस्माकं वशो भवति तथा कुरु। एवं युष्माभिरुन्मादं भापिता असौ माम् अनुस्मृत्य शोचतु ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे मरुद्गणों! इस स्त्रीको उन्मत करिये अर्थात् परवश हमारे अधीन करिये। हे अन्तरिक्ष! आप भी इसको उन्मत्त करिये-इसको हमारे वशमें करिये। हे अग्ने! आप भी इसको उन्माद युक्त करिये-यह अपनेको भूल कर जिस प्रकार हमारे वशमें होजाय तिस प्रकार करिये। इस प्रकार आपके उन्मत्त करने पर यह मेरा स्मरण करके शोक करे ॥ ४ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (१०३)

"नि शीर्षतो नि पत्ततः" इति सूक्तस्य पूर्वतृचेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"नि शीर्षतो नि पत्ततः" इस सूक्तका पहिले तृचके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

नि। शीर्षतः। नि। पत्ततः। आऽध्यः। नि। तिरामि। ते।

देवाः। प्र। हिणुत। स्मरम्। असौ। माम्। अनु। शोचतु ॥१॥

हे जाये ते तव शीर्षतः शिरःप्रदेशाद् आरभ्य आध्यः आधीश्चिन्ताविशेषान् नि तिरामि शरीरे निक्षिपामि। तथा पत्ततः। ❀ एकस्तशब्दश्छान्दसः ❀। पत्तः पादत आरभ्य तव शरीरे आधीन् निक्षिपामि। इत्थं सर्वस्मिन्नपि त्वदीये अङ्गे स्मरकृतां पीडां निक्षिपामीत्यर्थः। ❀ आध्यः। आङ्पूर्वाद् दधातेः "उप-

सर्गे घोः किः" इति किप्रत्ययः । शसि व्यत्ययेन यणादेशः । यद्वा । आङ्पूर्वाद् ध्यै चिन्तायाम् इत्यस्माद् "ध्यायतेः संप्रसारणं च" इति भावे क्विप् संप्रसारणं च । आध्यः आध्यानानीत्यर्थः । "एरनेकाचः०" इति शसि यण् ॥ । व्याख्यातम् अन्यत् ॥

हे जाये! मैं तेरे शिरसे आरंभ करके पैर तक मानसिक चिन्ताओं को डालता हूँ, तात्पर्य यह है, कि—इस प्रकार तेरे सब अंगोंमें कामदेवकी पीड़ाको करता हूँ। हे देवताओं! आप कामदेवको भेजिये, जिससे यह मेरा स्मरण करके सन्तप्त होवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अनुमतेऽन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

अनुऽमते । अनु । इदम् । मन्यस्व । आऽकूते । सम् । इदम् । नमः ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु २

हे अनुमते सर्वकार्याणाम् अनुमन्त्रि हे अनुमतकारिणि देवपत्नि इदम् मदभिलषितम् अनु मन्यस्व अनुजानीहि । हे आकूते । आकूतिः संकल्पाभिमानिनी देवता। त्वमपि इदम् । अस्माभिः क्रियमाणं नमः नमस्कारं हविर्लक्षणम् अन्नं वा संप्राप्य । अनुमन्यस्वेत्यर्थः । शिष्टं व्याख्यातम् ॥

हे सब कार्योंमें अनुमति देने वाली अनुमति नाम वाली देवपत्नि! इस मेरी अभिलाषाकी आप अनुमति दीजिये, हे संकल्प की अभिमानिनी आकूति देवते! आप भी हमारे दिये हुए इस हविरूप अन्नको स्वीकार करके अनुमति दीजिये। हे देवताओं! आप कामदेवको भेजिये, जिससे यह मेरा स्मरण करके सन्तप्त होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।

ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥३॥

यत् । धावसि । त्रिऽयोजनम् । पञ्चऽयोजनम् । आश्विनम् ।

ततः । त्वम् । पुनः । आऽअयसि । पुत्राणाम् । न । असः । पिता ३

वशीकृता स्त्री प्रार्थयते । हे पुरुष त्वं त्रियोजनम् योजनत्रय-परिमितं दूरदेशं यद् धावसि गच्छसि । यद्वा पञ्चयोजनम् ततोपि दूरतरं पञ्चसंख्याकयोजनपरिमितं देशं धावसि । अथवा आश्विनम् अश्वेनैव प्रापणीयं न पादचारेणेति अत्यन्तं दूरं यद् धावसि ततः तस्माद् दूरदेशात् त्वं पुनरायसि पुनरागच्छ । नः अस्माकं पुत्राणां गृहे वर्तमानानां पिता असः पालको भव। यद्वा तव देशा-न्तरगमनाद् एतावन्तं कालं पुत्राः पितृरहिता आसन् इदानीं त्व-दागमनात् पितृमन्तो भवन्तु इत्यर्थः ॥

(वशमें की हुई स्त्री प्रार्थना करती है, कि-) हे पुरुष ! तू बारह कोस पर दौड़ रहा हो अथवा उससे भी दूर बीस कोस पर दौड़ रहा हो, अथवा अश्वों ही के द्वारा पहुँचने योग्यके स्थानमें घूम रहा हो तो भी फिर आ जा और हमारे घर में वर्तमान पुत्रोंका पिता-पालन करने वाला-हो । तेरे विदेशमें चले जानेसे इतने काल तक ये पुत्र पितारहित थे, इस समय तेरे आगमनसे पितासे सम्पन्न होवें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यं देवा स्मरमसिंचन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या ।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

यम् । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्ऽसु । अन्तः । शोशुचानम् ।
सह । आध्या ।

तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ १ ॥

सर्वे देवाः यं स्मरं मनोभवम् आध्या । आधिस्तु मानसी पीडा । सा हि स्मरस्य भार्या । "कामो गन्धर्वस्तस्याधयोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. ३] इति श्रुतेः । तया सह शोशुचानम् विरहाग्निना संतप्यमानगात्रम् अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये असिञ्चन् परिताप-शमनार्थम् आसिक्तवन्तः । यद्वा शोशुचानम् दीप्यमानं स्वशक्त्या सहितं स्मरम् अप्सु अन्तरिक्षनामैतत् । अवकाशात्मके अन्तरिक्षे अन्तरत्रस्थितान् तत्रात्यान् प्राणिनः पीडयितुम् असिञ्चन् । कामिनां साम्राज्ये अभ्यषिञ्चन्नित्यर्थः । हे योषित् ते तुभ्यं त्वदर्थं तं स्मरं वरुणस्य जलाधिपतेर्देवस्य धर्मणा धारणशक्त्या तपामि संतापयामि । स्मरकृतं संतापम् उत्पादयामीत्यर्थः ॥

मानसी पीड़ा आधिके साथ वर्तमान ‡ विरहाग्निसे सन्तप्त शरीर वाले जिस मनोभव कामदेवको सब देवताओंने जलोंके मध्यमें परिताप शान्त करनेके लिये आसेचन किया । वा—अपनी शक्तिसे दमकते हुए कामदेवको अवकाशरूप अन्तरिक्षके भीतर स्थित प्राणियोंको पीड़ित करनेके लिये अभिषिक्त किया है । हे योषित् !—तेरे लिये उस कामदेवको जलके अधिपति वरुण देवताकी धारणशक्तिसे सन्तापित करता हूँ अर्थात् तुझमें काम-देवकृत सन्तापको उत्पन्न करता हूँ ॥ १ ॥

‡ मानसी पीड़ा आधि कामदेवकी भार्या है । तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ७ । ३ में लिखा है, कि—"कामो गन्धर्वस्तस्याधयो-ऽप्सरसः ॥—काम गन्धर्व है, और आधियें अप्सराएँ हैं" ॥

पञ्चमी ॥

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥

यम् । विश्वे । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्ऽसु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या ।
तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ २ ॥

विश्वे देवाः एतत्संज्ञा देवगणाः । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

विश्वेदेवा नामक देवगणोंने मानसी पीड़ाके साथ वर्तमान रह कर सन्तप्त शरीरवाले जिन मनोभव कामदेवको जलोंके मध्यमें अभिषिक्त किया था । हे योषित् ! तेरे निमित्त उन कामदेवको मैं जलाधिपति वरुणदेवकी शक्तिसे सन्तप्त करता हूँ अर्थात् तुझ में कामके सन्तापको उत्पन्न करता हूँ ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥

यम् । इन्द्राणी । स्मरम् । असिञ्चत् । अप्ऽसु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या ।
तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ ३ ॥

इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ "इन्द्रवरुण०" इत्यादिना ङीषानुकौ ❀ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणीने मानसी पीड़ाके साथ वर्तमान रह कर सन्तप्त शरीरवाले जिन मनोभव कामदेवको जलोंके मध्यमें अभिषिक्त किया था। हे योषित्! तेरे निमित्त उन कामदेवको मैं जलाधिपति वरुणदेवकी शक्तिसे सन्तप्त करता हूँ अर्थात् तुझ में कामके सन्तापको उत्पन्न करता हूँ ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥

यम्। इन्द्राग्नी इति। स्मरम्। असिञ्चताम्। अप्ऽसु। अन्तः। शोशुचानम्। सह। आध्या।
तम्। ते। तपामि। वरुणस्य। धर्मणा। ॥ ४ ॥

इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी। ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति प्राप्तस्य उभयपदप्रकृतिस्वरत्वस्य "नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ०" इति प्रतिषेधः❀। तौ यं स्मरम् असिञ्चताम् अभ्यषिञ्चताम्। अन्यत् समानम् ॥

इन्द्र और अग्निदेवने मानसी पीड़ाके साथ वर्तमान रह कर सन्तप्त शरीर वाले जिन मनोभव कामदेवको जलोंके मध्यमें अभिषिक्त किया था। हे योषित्! तेरे निमित्त उन कामदेवको मैं जलाधिपति वरुणदेवकी शक्तिसे सन्तप्त करता हूँ अर्थात् तुझ में कामके सन्तापको उत्पन्न करता हूँ ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

यम् । मित्रावरुणौ । स्मरम् । असिञ्चताम् । अप्ऽसु । अन्तः ।

शोशुचानम् । सह । आध्या ।

तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ ५ ॥

मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

[इति] त्रयोदशेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

मित्र और वरुणदेवने मानसी पीड़ाके साथ वर्तमान रह कर सन्तप्त शरीरवाले जिन मनोभव कामदेवको जलोंके मध्यमें अभिषिक्त किया था । हे योषित् ! तेरे निमित्त उन कामदेवको मैं जलाधिपति वरुणदेवकी शक्तिसे सन्तप्त करता हूँ अर्थात् तुझमें कामके सन्तापको उत्पन्न करता हूँ ॥ ५ ॥

तेरहवें अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (१०५) ॥

"य इमां देवो मेखलाम्" इति पञ्चर्चेन अभिचारकर्मणि दीक्षायां मेखलां संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

अत्र "आहुतासि" इत्यनया तत्रैव कर्मणि मेखलाया ग्रन्थिम् आलिम्पेत् ॥

"मृत्योरहम्" इत्यनया बाधकीः समिध आदध्यात् ॥

उपनयनकर्मणि "श्रद्धाया दुहिता" इति द्वाभ्यां मेखलां बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "श्रद्धाया दुहितेति द्वाभ्यां मौञ्जीं मेखलां बध्नाति" इति [कौ० ७. ८] ॥

"अयं वज्रः" इति तृचेन अभिचारकर्मणि दीक्षायां दण्डं संपात्य अभिमन्त्र्य गृह्णीयात् ॥

तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन अन्नम् अभिमन्त्र्य कर्ता भुञ्जीत ॥

"य इमां देवो मेखलाम्" इस पाँच ऋचा वाले पञ्चर्चसे अभिचारकर्मकी दीक्षामें मेखला को संपातित और अभिमंत्रित करके बाँधे ।

यहाँ "आहुतासि" इस ऋचासे तहाँ ही कर्ममें मेखलाकी ग्रंथिको आलिम्पन करे ।

"मृत्योरहम्" इस ऋचासे बाधकी समिधाओंको रक्खे ।

उपनयनकर्ममें 'श्रद्धाया दुहिता' इन दो ऋचाओंसे मेखला को बाँधे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"श्रद्धायर दुहितेति द्वाभ्यां मौञ्जीं मेखलां बध्नाति" (कौशिकसूत्र ७।८)॥

"अयं वज्रः" इस तृचसे अभिचारकर्ममें दीक्षाके दण्डको सम्पातित और अभिमंत्रित करके ग्रहण करे ।

तहाँ ही कर्ममें कर्ता इस तृचसे अन्नको अभिमंत्रित करके भोजन करे ॥

तत्र प्रथमा ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उं नो युयोज ।

यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उं नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

यः । इमाम् । देवः । मेखलाम् । आऽबबन्ध । यः । सम्ऽननाह । यः । ऊं इति । नः । युयोज ।

यस्य । देवस्य । प्रऽशिषा । चरामः । सः । पारम् । इच्छात् । सः । ऊं इति । नः । वि । मुञ्चात् ॥ १ ॥

५४२

यो देवः शत्रुहननकुशलः इमां मेखलां स्वशत्रुवधार्थम् आबबन्ध पुरा आबद्धवान् । तथा यो देवः संननाह इदानीमपि अन्येषां मेखलां संनह्यति । यश्च नः अस्मान् युयोज अभिचारकर्मणि मेखलया योजयति । तथा वयं यस्य देवस्य प्रशिषा प्रशासनेन चरामः वर्तामहे स सर्वान्तर्यामी देवः पारं प्रारिप्सितस्य कर्मणः समाप्तिम् इच्छात् इच्छतु । ❀ इच्छतेर्लेटि आडागमः ❀ । स उ स एव नः अस्मान् वि मुञ्चात् शत्रुभ्यो विमुञ्चतु । शत्रुं निहत्य अस्मान् कृतार्थान् करोत्वित्यर्थः ॥

जिस शत्रुको मारनेमें कुशल देवताने पहिले अपने शत्रुका वध करनेके लिये इस मेखलाको बाँधा था, तथा जो देवता दूसरोंके भी इस मेखलाको बाँधते हैं । और जो हमको भी अभिचारकर्ममें मेखलासे संयुक्त करते हैं । और हम जिन देवके प्रशासनमें व्यवहार कर रहे हैं, वह सर्वान्तर्यामी देवता हमारे अभीप्सित कर्मको पूर्ण करनेकी इच्छा करें । वही हमको शत्रुओंसे मुक्त करें अर्थात् शत्रुओंको मार कर हमको कृतार्थ करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

आऽहुता । असि । अभिऽहुता । ऋषीणाम् । असि । आयुधम् ।
पूर्वा । व्रतस्य । प्रऽअश्नती । वीरऽघ्नी । भव । मेखले ॥ २ ॥

हे मेखले त्वम् आहुता आहुतिभिः संस्कृता असि । संपाताभिहुता च । सा ऋषीणाम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनां विश्वामित्रादीनाम् आयुधम् शत्रुहननसाधनम् असि । व्रतस्य कर्मणः प्रारिप्सितस्य पूर्वा प्रथमभाविनी प्राश्नती प्राश्नुवाना प्राप्नुवती । यद्वा ।

❀ व्रतस्येति कर्मणि षष्ठी ❀। व्रतं क्षीरादिकं प्राश्नती प्रथमं पिबन्ती। वीरघ्नी वीराः शत्रवः तेषां हन्त्री भव ॥

हे मेखले ! तू आहुतियोंसे संस्कृत है। ऐसी तू अतीन्द्रियार्थदर्शी विश्वामित्र आदि ऋषियोंकी आयुधरूप है। तू क्षीर आदि व्रतको पहिले पीती है। तू वीर शत्रुओंको मारने वाली हो ॥२॥

तृतीया ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।

तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि

मृत्योः। अहम्। ब्रह्मऽचारी। यत्। अस्मि। निःऽयाचन्। भूतात्। पुरुषम्। यमाय।

तम्। अहम्। ब्रह्मणा। तपसा। श्रमेण। अनया। एनम्। मेखलया। सिनामि ॥ ३ ॥

मृत्योः वैवस्वतस्य अहं कर्मकरो भवामि। यत् यस्माद् ब्रह्मचारी अस्मि ब्रह्मचर्यधर्मेण दीक्षादिनियमेन तपोविशेषेण युक्तो भवामि। तस्मात् मत्कृतेन अभिचारकर्मणा नियमविशेषेण च शत्रुवधः अवश्यंभावीति मृत्योरेव अहं सहायभूतो भवामीत्यर्थः। अतो हेतोः भूतात् भूतग्रामात् पुरुषम् शत्रुं यमाय यमार्थं निर्याचम् निःशेषेण याचे प्रार्थये। तं मारयितव्यम् एनं शत्रुं ब्रह्मणा मन्त्रेण तपसा अनशनादिरूपेण मत्कृतेन श्रमेण शरीरदण्डेन च अनया आबध्यमानया मेखलया अहं सिनामि बध्नामि। अनेन मेखलाबन्धनेन शत्रुमेव निरुद्धगतिं बध्नामीत्यर्थः। ❀ षिञ् बन्धने ❀ ॥

मैं वैवस्वत यमका कर्म करने वाला बनता हूँ, क्योंकि-मैं ब्रह्मचारी होता हूँ, अर्थात् तपोविशेष दीक्षादिनियम ब्रह्मचर्यसे युक्त होता हूँ। इस कारण अपने किये हुए अभिचारकर्मसे शत्रुका वध अवश्य होगा-इस प्रकार मृत्युका सहायक होता हूँ। अत एव मैं प्राणियोंके समूहमेंसे शत्रुकी यमदेवताके लिये याचना करता हूँ। मारने योग्य इस शत्रुको मैं मन्त्रके द्वारा, अपने किये हुए अनशन आदिरूप तपके द्वारा शरीरदण्डरूप बाँधी हुई इस मेखलाके द्वारा बाँधता हूँ। तात्पर्य यह है, कि-इस मेखलाबंधनसे मैं शत्रुकी गतिको रोक कर उसको बाँधता हूँ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।

सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

श्रद्धायाः । दुहिता । तपसः । अधि । जाता । स्वसा । ऋषीणाम् । भूतऽकृताम् । बभूव ।

सा । नः । मेखले । मतिम् । आ । धेहि । मेधाम् । अथो इति । नः । धेहि । तपः । इन्द्रियम् । च ॥ ४ ॥

श्रद्धाया दुहिता । श्रुतिस्मृत्युदितकर्मसु आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा । तस्या दुहिता पुत्री तपसोधि जाता सृष्ट्यादौ ब्रह्मणस्तपस उत्पन्ना । ❀ अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी । उपर्यर्थो वा ❀ । भूतकृताम् भूतग्रामस्य कर्तृणाम् ऋषीणाम् मरीच्यत्रिप्रभृतीनां स्वसा भगिनी

येयं मेखला इत्थं बभूव हे मेखले सा तादृशी त्वं नः मतिम् आगामिगोचरां बुद्धिम् आ धेहि आभिमुख्येन कुरु। तथा मेधाम् श्रुतधारणसमर्थां बुद्धिम् आ धेहि। अथो अपि च तपः नियम-विशेषम् इन्द्रियम् इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गं वीर्यं च नः अस्माकं विधेहि॥

श्रुति और स्मृतियें कहे हुए कर्मोंमें आस्तिक्यबुद्धिका नाम श्रद्धा है, उस श्रद्धाकी पुत्री, सृष्टिकी आदि में ब्रह्माजीके तपसे उत्पन्न हुई भूतोंको रचने वाले मरीचि अत्रि आदि ऋषियोंकी बहिन जो मेखला, इस प्रकार उत्पन्न हुई है, हे मेखले! वह तू हममें आगामी बातको सुझाने वाली मतिको स्थापित कर। और श्रुत (सुनेहुए) को धारण करनेमें समर्थ बुद्धिको हममें स्थापित कर। और नियमरूप तप तथा आत्मबलको हममें स्थापित कर ४

पञ्चमी॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले॥५॥

याम्। त्वा। पूर्वे। भूतऽकृतः। ऋषयः। परिऽबेधिरे।
सा। त्वम्। परि। स्वजस्व। माम्। दीर्घायुऽत्वाय। मेखले ५

हे मेखले यां त्वा त्वां भूतकृतः पृथिव्यादिभूतग्रामस्य कर्तारः पूर्वे पूर्वभाविन ऋषयः परिबेधिरे परिबद्धवन्तः सा तादृशी त्वं मां परिष्वजस्व आलिङ्ग। ❀ ष्वञ्ज परिष्वङ्गे ❀। किमर्थम्। दीर्घायुत्वाय आयुषो दैर्घ्याय। अभिचारदोषपरिहारेण चिरकाल-जीवनायेत्यर्थः॥

हे मेखले! जिस तुझको पृथिवी आदि भूतोंके कर्ता पूर्वज ऋषियोंने बाँधा था, ऐसी तू अभिचारदोषको दूर कर चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये मेरा आलिंगन कर॥ ५॥

षष्ठी ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः

अयम् । वज्रः । तर्पयताम् । ऋतस्य । अव । अस्य । राष्ट्रम् ।
अप । हन्तु । जीवितम् ।
शृणातु । ग्रीवाः । प्र । शृणातु । उष्णिहा । वृत्रस्यऽइव । शची-
ऽपतिः ॥ १ ॥

अयं धार्यमाणो दण्डः वज्रः शत्रूणां वर्जयिता इन्द्रस्य वज्र इव सन् ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा सामर्थ्येन तर्पयताम् तृप्तो भवतु । अप्रतिहतशक्तिर्भवतु इत्यर्थः । स वज्रः अस्य द्वेष्यस्य राज्ञो राष्ट्रम् राज्यम् अपहन्तु । अन्ततो जीवितम् जीवनं प्राणमपि अप हन्तु । तथा ग्रीवाः गलगतान्यस्थीनि शृणातु हिनस्तु छिनत्तु । उष्णिहाः उत्स्नातास्तत्रत्या धमनीः प्र शृणातु प्रच्छिनत्तु । ❀ शॄ हिंसायाम् । प्वादित्वाद् ह्रस्वः ❀। वृत्रस्येव शचीपतिः यथा शचीपतिरिन्द्रः वृत्रस्य असुरस्य ग्रीवा उष्णिहाश्च अच्छैत्सीद् एवं छिनत्तु इत्यर्थः ॥

यह धारण किया हुआ दण्ड इन्द्र के वज्रकी समान शत्रुओं का वर्जन करता हुआ सत्य और यज्ञकी शक्तिसे तृप्त होवे-अप्रतिहत शक्ति वाला होवे । वह वज्रस्वरूप दण्ड इस शत्रु राजा के राज्यको नष्ट करे और तथा इसके जीवनका भी नाश करे और इसके गलेकी हड्डियोंको काट डाले, तहाँकी भीगी रहने वाली नसोंको नष्ट करे । जिस प्रकार शचीपति इन्द्रने वृत्रासुर की गरदन और नसोंको काटा था इसीप्रकार यह भी द्वेष्यराजा की गरदन और नसोंको काटे ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।

वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥

अधरःऽअधरः । उत्तरेभ्यः । गूढः । पृथिव्याः । मा । उत् । सृपत् ।

वज्रेण । अवऽहतः । शयाम् ॥ २ ॥

उत्तरेभ्यः उत्कृष्टतरेभ्यः अधरोधरः अतिशयेन अधरः अधोगतिर्निकृष्टतरः गूढः संवृतः पृथिव्याम् अन्तर्निमग्नः तस्याः पृथिव्याः सकाशात् मा उत्सृपत् मोत्सर्पतु उत्तिष्ठतु । अनेन वज्रेण अवहतः चूर्णीकृतः शयाम् शेताम् । म्रियताम् इत्यर्थः । ❀ शीङ् स्वप्ने । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❀ ॥

ऊँचोंसे नीचोंसे नीचा होता हुआ पृथिवीका आलिंगन करता हुआ यह फिर पृथ्वी परसे न उठे, अर्थात् इस वज्रसे चूर्ण होकर सोजावे—मर जावे ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।

जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

यः । जिनाति । तम् । अनु । इच्छ । यः । जिनाति । तम् ।

इत् । जहि ।

जिनतः । वज्र । त्वम् । सीमन्तम् । अन्वञ्चम् । अनु । पातय ३

यः शत्रुः जिनाति हानिं मापयति । ❀ ज्या वयोहानौ । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । हे वज्र तं शत्रुम्

अन्विच्छ । तथा यो जिनाति तम् इत् तमेव जहि मारय । जिनतः हानिं प्रापयतः शत्रोः सीमन्तम् । सीम्नोरन्तः सीमन्तः तम् । ❀ "सीमन्तः केशेषु" इति शकन्ध्वादिषु पाठात् पररूपत्वम् ❀ । शिरसो मध्यदेशम् अन्वञ्चम् अनुलोमम् अनुपातय । अनुक्रमेण विदारयेत्यर्थः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

जो शत्रु हानि पहुँचाता है, हे वज्र ! तू उस शत्रुकी ही खोज कर और जो हानि पहुँचाना चाहता है उसको ही मार, हानि पहुँचाने वाले शत्रुके सीमन्त पर गिर–विदीर्ण कर ॥ २ ॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (३०७) ॥

"यद् अश्नामि" "यद् गिरामि" इत्याभ्याम् अभिचारकर्मणि अन्नम् अभिमन्त्र्य भुञ्जीत ॥ [कौ० ६. १] ॥

"यत् पिबामि" इत्यनया उदकम् अभिमन्त्र्य पिबेत् ॥ [कौ० ६. १] ॥

"देवी देव्याम्" "यां जमदग्निः" इति तृचाभ्यां केशवृद्धि-करणकामः काचमाचीफलं जीवन्तीफलं भृङ्गराजं वा संपात्य अभि-मन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि काचमाचीभृङ्गराजसहितोदकम् आभ्यां तृचा-भ्याम् अभिमन्त्र्य उषःकाले अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । "देवी देव्याम् [१३६] यां जमदग्निः [१३७] इति मन्त्रोक्ताफलं जीव्यलाकाभ्याम् अमावास्यायां कृष्णवसनः कृष्णभक्षः पुरा काकसंपाताद् अवनक्तत्रेवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ७] ॥

"यद् अश्नामि" "यद् गिरामि" इन दोसे अभिचारकर्ममें अन्न को अभिमंत्रित करके भक्षण करे । (कौशिकसूत्र ६ । १)

"यत् पिबामि" इस ऋचासे जलको अभिमन्त्रित करके पिये । (कौशिकसूत्र ६ । १) ।

"देवी देव्याम्" "यां जमदग्निः" इन दो ऋचाओंसे केशोंको बढ़ाने चाहने वाला काचमाचीफल जीवन्तीफल वा भँगरेको सम्पातित और अभिमंत्रित करके बाँधे।

तथा वहाँ ही कर्म में काचमाची भृङ्गराज पड़े जलको इन दोनों ऋचाओंसे अभिमंत्रित करके उषःकाल में अवसिञ्चन करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"देवी देव्या (१३६) यां जमदग्निः (१३७) इति मन्त्रोक्ताफलं जीव्यलाकाभ्यां अमावास्यायां कृष्णवसनः कृष्णभक्षः पुरा काकसम्पाताद् अवनक्षत्रेऽवसिञ्चति (कौशिकसूत्र ४। ७)॥

तत्र प्रथमा॥

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कु॒र्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे।

स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न् वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑॥ १॥

यत्। अ॒श्नामि॑। बल॑म्। कु॒र्वे॑। इ॒त्थम्। वज्र॑म्। आ। द॒दे॒।

स्क॒न्धान्। अ॒मुष्य॑। शा॒तय॑न्। वृ॒त्रस्य॑ऽइव। शची॒ऽपतिः॑॥१॥

अश्नामि भुञ्जे इति यत् तेन आत्मनो बलं कुर्वे करोमि। तेन च बलेन इत्थम् अनेन प्रकारेण वज्रम् वर्जकम् आयुधम् आ ददे गृह्णामि। इत्थम् इति इदमा आदानप्रकारस्य अभिनयः। ❀"आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀। शचीपति इन्द्रः वृत्रस्येव अमुष्य एतन्नाम्नः अस्मच्छत्रोः स्कन्धान् स्कन्धोपलक्षितान् शरीरावयवान् शातयन् छिन्दन्। ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः। शद्लृ शातने इत्यस्मात् णिचि "शदेरगतौ तः" इति तकारादेशः ❀॥

जैसे शचीपति इन्द्र वृत्रासुरके कंधोंको (काटते हैं, इसी प्रकार) मैं अमुक शत्रुके कंधोंको काटनेके लिये जो खाता हूँ उससे अपने

मैं बल सम्पादन करता हूँ और उस बलसे वर्जक आयुधको धारण करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः ।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥

यत् । पिबामि । सम् । पिबामि । समुद्रःऽइव । सम्ऽपिबः ।
प्राणान् । अमुष्य । सम्ऽपाय । सम् । पिबामः । अमुम् । वयम् २

अहम् उदकं पिबामीति यत् तेन सं पिबामि शत्रुमेव संगृह्य तदीयं रसं पिबामि । समुद्र इव यथा समुद्रः नदीमुखात् सर्वं जलम् आदाय संपिबः सम्यक् पाता भवति । स्वात्मसात् करोतीत्यर्थः । ❀ "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इति पिबतेः कर्तरि शप्रत्ययः । "पाघ्रा०" इत्यादिना पिबादेशः ❀ । सं पिबामीति उक्तम् अर्थं विवृणोति । अमुष्य शत्रोः प्राणान् प्राणापानव्यानादिकांश्चक्षुरादीन्द्रियाणि च प्रथमं संपाय रसीकृत्य सम्यक् पीत्वा अन्ततः अमुम् अवयविनं शत्रुमेव वयं सं पिबामः ॥

मैं जो जल पीता हूँ, सो उससे शत्रुको पकड़ कर उसके रस को ही पीता हूँ अर्थात् समुद्र जैसे नदीमुखसे सब जलको ग्रहण करके भली प्रकार पीता है अर्थात् उसको अधीन कर लेता है इसी प्रकार मैं भी करता हूँ । (स्पष्ट यह है, कि–) इस शत्रुके प्राण अपान व्यानआदिको और चक्षु आदि इन्द्रियोंको भी पहिले भली प्रकार रसरूपसे पीकरके अन्तमें इस शत्रुको ही पीता हूँ २

तृतीया ॥

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥३॥

यत् । गिरामि । सम् । गिरामि । समुद्रःऽइव । सम्ऽगिरः ।

प्राणान् । अमुष्य । सम्ऽगीर्य । सम् । गिरामः । अमुम् । वयम् ३

पिबतेः स्थाने गिरतिरेव विशेषः । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् । यत् पलादिकं गिरामि निगिरामि निगरणव्यापारेण अन्तर्नयामि । ❀ गृ निगरणे । तुदादित्वात् शः । "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम् ❀ । संगिर इति सम्यक् निगरिता । ❀ "इगुपधज्ञा०" इति किरते- र्विधीयमानः कप्रत्ययः गिरतेरपि द्रष्टव्यः । संगीर्येति । ऋत इत्वे "हलि च" इति दीर्घः ❀ ॥

मैं जो निगलता हूं मैं जो पल निगलता हूं, सो उससे शत्रुको पकड़ कर उसके रसको ही निगलता हूं अर्थात् समुद्र जैसे नदीमुख से सब जलको ग्रहण करके भली प्रकार निगलता है अर्थात् उसको अधीन कर लेता है इसी प्रकार मैं भी करता हूं, । (स्पष्ट यह कि-) इस शत्रुके प्राण अपान व्यान आदिको और चक्षु आदि इन्द्रियोंको भी पहिले भली प्रकार रसरूप निगल करके अंतमें इसशत्रुको ही निगलता हूं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे ।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि ॥१॥

देवी । देव्याम् । अधि । जाता । पृथिव्याम् । असि । ओषधे ।

ताम् । त्वा । निऽतत्नि । केशेभ्यः । दृंहणाय । खनामसि ॥१॥

हे ओषधे काचमाचीप्रभृतिके देवी द्योतमाना देव्याम् पृथिव्याम् अधि जाता उत्पन्ना असि भवसि । हे नितत्नि नितत्वाने न्य- क्प्रसरणशीले ओषधे । ❀ "आदृगमन०" इति तनोतेश्छान्दसः

क्तिमत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनम्। "तनिपत्योश्छन्दसि" इति उपधालोपः ❀। तां पूर्वोक्तगुणविशिष्टां त्वा त्वां केशेभ्यः केशानाम् अर्थे दृंहणाय दृढीकरणाय खनामसि खनामः खननेन संगृह्णीमः ॥

हे काचमाची आदि दमकती हुई औषधे! तू देवी पृथिवीमें उत्पन्न हुई है। हे तिरछी होकर फैलनेके स्वभाव वाली ओषधे! पूर्वोक्त गुण वाली तुझको हम केशोंके दृढ़ करनेके लिये खोदते हैं—खोद कर संग्रह करते हैं ॥ १ ॥

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि २

दृंह। प्रत्नान्। जनय। अजातान्। जातान्। ऊं इति। वर्षीयसः। कृधि

यस्ते केशोवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥ ३ ॥

यः। ते। केशः। अवऽपद्यते। सऽमूलः। यः। च। वृश्चते।

इदम्। तम्। विश्वऽभेषज्या। अभि। सिञ्चामि। वीरुधा ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥ प्रत्नान् पुरातनान् केशान् हे ओषधे त्वं दृंह दृढीकुरु। अजातान् अनुत्पन्नान् केशान् जनय उत्पादय। जातान् उ उत्पन्नानपि केशान् वर्षीयसः प्रवृद्धतमान् आयततमान् कृधि कुरु। हे केशदृंहणन [दृंहण] काम ते तव यः केशः अवपद्यते मध्ये भग्नो भूमौ निपतति समूलः मूलसहितः सन् यः केशः वृश्चते छिद्यते। इदं तम् इति उत्तरत्र संबन्धः ॥

षष्ठी ॥ इदम् अनेन प्रयोगेण तं सर्वं केशं विश्वभेषज्या सर्वस्य केशाश्रितरोगजातस्य निवर्तयित्र्या वीरुधा ओषध्या अभि षिञ्चामि

अभितः सिञ्चामि आर्द्रीकरोमि । अस्माद् औषधप्रयोगाद् मन्त्र-सामर्थ्याच्च सर्वं केशाश्रितरोगजातं निवर्तत इत्यर्थः ॥

[इति] त्रयोदशेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे औषधे ! तू पुरातन केशोंको दृढ़ कर, उत्पन्न न हुए केशोंको उत्पन्न कर । उत्पन्न हुए केशोंको भी बढ़े हुए कर । हे केशोंको बढ़ाना चाहने वाले ! तेरा जो केश भूमि पर गिर पड़ता है और जो केश मूलसहित होने पर भी काट डाला जाता है उन सब प्रकारके केशसमूहोंको मैं सबप्रकारके केशोंके रोगको निवारण करनेवाली औषधिसे सींचता हूँ । तात्पर्य यह है, कि—इस औषधके प्रयोग और मन्त्रशक्तिसे सब प्रकारके केशरोग दूर होते हैं ॥२॥

तेरहवें अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (१०९) ॥

"यां जमदग्निः" इति तृचस्य पूर्वतृचेन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रमपि तत्रैवोदाहृतम् ॥

"त्वं वीरुधाम्" इति पञ्चर्चेन अभिचारकर्मणि सूत्रोक्तप्रकारेण मूत्रपुरीषस्थानं बाधकेन काष्ठेन हन्यात् ॥

"यां जमदग्निः" इस तृचका पहिले तृचके साथ विनियोग कह दिया है । सूत्र भी वहाँ ही कहा है ।

"त्वं वीरुधाम्" इस पञ्चर्चसे अभिचारकर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे मूत्रपुरीषस्थानको बाधककाष्ठ से पीटे ।

तत्र प्रथमा ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

याम् । जमत्ऽअग्निः । अखनत् । दुहित्रे । केशऽवर्धनीम् ।
ताम् । वीतऽहव्यः । आ । अभरत् । असितस्य । गृहेभ्यः ॥१॥

जमत् इति ज्वलतिकर्मसु पाठात् [निघ० १. १७] जमच्छन्दो दीप्तिवचनः । जमन्तः ज्वलन्तः अग्नयो यस्य स जमदग्निः महर्षिः दुहित्रे आत्मजाया अर्थं केशवर्धनीम् केशाभिवृद्धिकरीं याम् ओषधिम् अखनत् खननेन उद्धृतवान् ताम् ओषधिं वीतहव्याख्यो महर्षिः केशवृद्ध्यर्थम् असितस्य कृष्णकेशस्य एतत्संज्ञस्य मुनेर्गृहेभ्यः सकाशाद् आ अभरत् आहरत् । ❀ "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ ॥

जिनके यहाँ प्रज्वलित अग्नियें रहती थी उन महर्षि जमदग्निने अपनी पुत्रीके लिये केशोंको बढ़ाने वाली जिस औषधिको खोदा था और उसी औषधिको वीतहव्य नाम वाले महर्षि कृष्णकेश नामक मुनिके घरसे लाये थे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥

अभीशुना । मेयाः । आसन् । विऽआमेन । अनुऽमेयाः ।
केशाः । नडाःऽइव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ॥ २ ॥

हे केशाभिवृद्धिकाम त्वदीयाः केशाः प्रथमम् अभीशुना । अंगुलिनायैतत् । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । अंगुलिभिः मेयाः मातव्याश्चतुरंगुलाः षडंगुला इत्येवं परिच्छेद्या आसन् । ततो व्यामेन प्रसारितहस्तद्वयपरिमाणेन अनु पश्चात् मेयाः मातव्या आसन् । चतुररत्निर्व्याम इति याज्ञिकाः । हे पुरुष ते तव शीर्ष्णः शिरसः परि परितः असिताः कृष्णवर्णाः केशाः नडा इव वर्धन्ताम् । नडास्तृणविशेषाः । ते यथा तटाकोदकप्रान्तेषु उत्पन्नाः संहताः सन्तः शीघ्रं वर्धमाना द्राघीयांसो भवन्ति तथा केशा अपि वर्धन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे केशोंको बढ़ाना चाहने वाले! पहिले तेरे केश अँगुलियों से नापने योग्य थे अर्थात् चार अँगुल या छः अंगुल थे। फिर व्याम (फैले हुए दो हाथों) से नापने योग्य हुए, हे पुरुष! तेरे शिरके चारों ओर बाल नड नामक तृणोंकी समान बढ़ें वे जैसे किनारेके स्थानोंमें उत्पन्न हो एकत्रित हो शीघ्र ही बढ़कर बड़े होजाते हैं इसी प्रकार केश भी बड़े होजावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ३

दृंह । मूलम् । आ । अग्रम् । यच्छ । वि । मध्यम् । यमय । ओषधे ।
केशाः । नडाःऽइव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ३

हे ओषधे केशानां मूलं दृंह दृढीकुरु । यथा नोत्खिद्यन्ते तथा कुर्वित्यर्थः । तथा केशानाम् अग्रम् आ यच्छ आयतम् आयामयुक्तं कुरु । एवं केशानां मध्यं वि यमय विविधं यमय नियमय स्थिरीकुरु । उत्तरोऽर्धर्चो व्याख्यातः ॥

हे ओषधे ! तू केशोंकी जड़को मजबूत कर, जिस प्रकार यह न उखड़ें तैसा कर, तथा केशोंके अग्रभागको लम्बा कर। केशों के मध्यभागको भी स्थिर कर, जैसे नदियोंके किनारों पर उत्पन्न हुए नड (नल) बढ़ते हैं, ऐसे ही तेरे शिर परके काले केश बढ़ें ३

चतुर्थी ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

त्वम् । वीरुधाम् । श्रेष्ठऽतमा । अभिऽश्रुता । असि । ओषधे ।

इमम् । मे । अद्य । पुरुषम् । क्लीबम् । ओपशिनम् । कृधि ॥१॥

हे ओषधे निर्वीर्यकारिन् ओषधिविशेष वीरुधाम् अन्यासां लतानां त्वं श्रेष्ठतमा अतिशयेन प्रशस्या । ❀ प्रशस्य शब्दाद् इष्ठनि "प्रशस्यस्य श्रः" इति आदेशः । पुनः श्रैष्ठ्यप्रकर्षविवक्षायां तमप् ❀ । अत एव हे ओषधे त्वम् अभिश्रुता अभितः सर्वतः प्रख्याता अप्रतिहतवीर्यतया प्रसिद्धा असि भवसि । अथ इदानीं मे मदीयम् इमं पुरुषम् द्वेष्यं पुरुषं क्लीबम् निर्वीर्यं सन्तम् ओपशिनम् । उपशेते अस्मिन् पुरुष इति ओपशः स्त्रीव्यञ्जनम् । तद्वन्तं कृधि कुरु । नपुंसकत्वे हि पुंस्त्वशङ्कापि स्यात् सापि अस्य मा भूद् इत्यर्थः ॥

हे ओषधे ! तू निर्वीर्य करने वाली है, अन्य लताओंमें तू श्रेष्ठ है, अत एव तू चारों ओर अप्रतिहत वीर्य वाली प्रसिद्ध है । तू इस समय मेरे द्वेष्य पुरुषको कि-जो निर्वीर्य होरहा है, उसको ओपशिन (जिसमें पुरुष उपशयन करता है ऐसी स्त्री-व्यञ्जन वाला) कर अर्थात् नपुंसकत्वमें तो पुंस्त्वकी शंका भी हो सकती है परंतु इसके पक्षमें वह भी न हो ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्डयौ ॥ २ ॥

क्लीबम् । कृधि । ओपशिनम् । अथो इति । कुरीरिणम् । कृधि ।

अथ । अस्य । इन्द्रः । ग्रावऽभ्याम् । उभे इति । भिनत्तु । आण्ड्यौ ॥२॥

उक्त एवार्थः अनूद्य विधीयते । हे ओषधे मदीयं

शत्रुं क्लीबम् नपुंसकम् ओपशिनम् स्त्रीत्वोपेतं कृधि कुरु । अथो अपि च कुरीरिणम् कुरीराः केशाः तद्वन्तं कृधि कुरु । पुंस्त्वापगमेन स्त्रीत्वापातात् तद्वत् प्रशस्तकेशयुक्तं कुर्वित्यर्थः ॥

स्तनकेशवती स्त्री स्यात् लोमशः पुरुषः स्मृतः

इति हि व्यक्तिविदः । अत एव सिनीवाल्याः प्रशंसार्थो मन्त्र इत्थम् आम्नातः । "सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा" इति [तै० सं० ४. १. ५. ३] । अथ अनन्तरम् अस्य द्वेष्यस्य उभे आण्ड्यौ वीर्यस्य आश्रयभूतौ अण्डौ इन्द्रः ग्रावभ्याम् पाषाणाभ्यां भिनत्तु मर्दयतु । यथासौ पुत्रोत्पादनक्षमो न भवेत् तथा करोत्वित्यर्थः ॥

(पूर्वमन्त्रमें कहे हुए अर्थको ही स्पष्ट करके कहते हैं, कि-) हे ओषधे ! तू हमारे शत्रुको नपुंसक और स्त्रीत्वसे युक्त कर और इसको केश वाला कर, अर्थात् इसमेंसे पुरुषत्वके दूर होनेसे इसमें श्रेष्ठ केशसम्पन्न होना आदि स्त्रीत्वको कर ‡ । तदनन्तर इस पुरुषके वीर्यके आश्रयभूत दोनों अण्डकोशोंको इन्द्रदेव पत्थरों से कुचल डालें अर्थात् जिस प्रकार यह पुत्रोत्पत्ति करनेमें असमर्थ रहे तैसा करें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

क्लीबं क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्

‡ व्यक्तिवेत्ता कहते हैं, कि-"स्तनकेशवती स्त्री लोमशः पुरुषः स्मृतः ॥-स्त्री स्तन और केश वाली होती है । और पुरुष लोम वाला होता है ॥" अत एव सिनीवालीकी प्रशंसाके लिये तैत्तिरीयसंहिता ४ । १ । ५ । ३ में कहा है, कि-"सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा ॥-सिनीवाली (अन्नवती वाला) सुन्दर जटाओं वाली, सुन्दर केशों वाली और सुन्दर औपश वाली ।"

कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३ ॥

क्लीब । क्लीबम् । त्वा । अकरम् । वध्रे । वध्रिम् । त्वा । अकरम् ।

अरस । अरसम् । त्वा । अकरम् ।

कुरीरम् । अस्य । शीर्षणि । कुम्बम् । च । अधिऽनिदध्मसि ३

हे क्लीब द्वेष्य त्वा त्वाम् अनेन कर्मणा क्लीबम् अकरम् अकार्षम् । हे वध्रे । निसर्गषण्डको वध्रिः । हे तथाविध शत्रो त्वा त्वां वध्रिम् स्वभावतः षण्ढम् अकरम् अकार्षम् । हे अरस रसो रेतः । हे अरेतस्क शत्रो त्वा त्वाम् अरसम् अरेतस्कम् अकरम् अकार्षम् । यस्माद् एवं तस्माद् अस्य द्वेष्यस्य नपुंसकीभूतस्य शीर्षणि शिरसि कुरीरम् केशजालं कुम्बम् तदाभरणं च स्त्रीणाम् असाधारणम् अधिनिदध्मसि उपरि निक्षिपामः । यद् आह आपस्तम्बः । "अत्र पत्नीशिरसि कुम्बकुरीरम् अध्यूहते" इति [आप० १०. ९. ५]॥

हे क्लीब शत्रो ! मैंने तुझको इस कर्मसे क्लीब कर दिया है। हे स्वाभाविक क्लीब-वध्रे ! मैंने तुझको स्वाभाविक क्लीब कर दिया है। हे अरस ! अर्थात् वीर्यशून्य ! मैंने तुझको वीर्यशून्य कर दिया है। ऐसा होगया है इस कारण इस नपुंसकीभूत शत्रु के शिर पर हम केशजालको और स्त्रियोंके असाधारण भूषण कुम्बको धरते हैं † ॥ ३ ॥

---

† आपस्तम्बने १० । ९ । ५ में कहा है, कि-"अत्र पत्नीशिरसि कुम्बकुरीरं अध्यूहते ॥-यहाँ पत्नीके शिर पर कुम्ब और कुरीर रक्खा जाता है ॥"

सप्तमी ॥

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥४॥

ये इति॑ । ते॒ । ना॒ड्यौ॑ । दे॒वकृ॑ते॒ इति॑ दे॒वऽकृ॑ते । ययोः॑ । तिष्ठ॑ति ।
वृष्ण्य॑म् ।
ते इति॑ । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । शम्य॑या । अ॒मुष्याः॑ । अधि॑ । मु॒ष्कयोः॑ ॥४

देवकृते देवेन विधात्रा निर्मिते हे स्त्वदीये ये नाड्यौ रेतोवहे । ययोर्नाड्योः वृष्ण्यम् । वृषा सेचनसमर्थः पुरुषः । तत्संबन्धि वीर्यं वृष्ण्यम् तिष्ठति आश्रित्य वर्तते ते शुक्राधारभूते देवनिर्मिते नाड्यौ ते तव मुष्कयोः अण्डयोरुपरि स्थिते अमुष्याः प्रसिद्धायाः शिलाया अधि उपरि शम्यया लकुटेन भिनद्मि पेषयामि ॥

विधाताके द्वारा रची हुई जो तेरी वीर्यको बहाने वाली नाड़ियें हैं, कि-जिनमें पुरुषका वीर्य रहता है, उन वीर्यकी आधार-भूत अण्डकोशोंके ऊपर स्थित तेरी दोनों नाड़ियोंको मैं इस शिलाके ऊपर लकड़ीसे कुचता हूँ ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

यथा॑ न॒डं क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना ।
ए॒वा भि॑नद्मि ते॒ शेपो॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥५॥

यथा॑ । न॒डम् । क॒शिपु॑ने । स्त्रियः॑ । भि॒न्दन्ति॑ । अश्म॑ना ।
ए॒व । भि॒न॒द्मि॒ । ते॒ । शेपः॑ । अ॒मुष्याः॑ । अधि॑ । मु॒ष्कयोः॑ ॥५॥

स्त्रियः कशिपुने कटाय कटं निर्मातुं यथा येन प्रकारेण नडम्

कटोपादानं तृणविशेषम् अश्मना भिन्दन्ति आघ्नन्ति एव एवम् हे शत्रो ते तव मुष्कयोः अण्डयोः वर्तमानं शेपः अमुष्याः शिलाया अधि उपरि अश्मना भिनधि आहन्मि । अनेन कर्मणा त्वां निर्वीर्यं करोमीति तात्पर्यम् ॥

[इति] त्रयोदशेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

जैसे स्त्रियें चटाई बनानेके लिये चटाईके उपादान नडको पत्थर से कूटती हैं इसी प्रकार हे शत्रो ! तेरे अण्डकोशों पर वर्तमान उपस्थको हम इस शिलाके ऊपर पत्थरसे कुचलते हैं । तात्पर्य यह है, कि—इस कर्मसे हम तुझको निर्वीर्य करते हैं ॥ ५ ॥

तेरहवें अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (१११) ॥

"न्यस्तिका" इति सूक्तेन पञ्चर्चेन स्त्रीवशीकरणकर्मणि "भगेन मा सम् [६. १२६] इत्यत्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं तु तत्रैव उदाहृतम् ॥

"यौ व्याघ्रौ" इति तृचेन कुमारस्य कुमार्या वा प्रथमम् उपरितनदंत-जननिमित्तदोषपरिहारार्थं व्रीहियवतिलानाम् अन्यतमं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि व्रीहियवमाषतिलान् एकीकृत्य अनेनाभि-मन्त्र्य उपजातदन्ताभ्यां दंशयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन स्थालीपाकं संपाद्य अभिमन्त्र्य उक्तं शिशुम् आशयेत् ॥

सूत्रितं हि- "यस्योत्तमदन्तौ पूर्वौ जायेते यौ व्याघ्रावित्या-वपति । मन्त्रोक्तान् दंशयति । शान्त्युदकभृतम् आदिष्टानम् आशयति । पितरौ च" इति [कौ० ५. १०] ॥

"न्यस्तिका" इस पाँच ऋचा वाले सूक्तसे स्त्रीवशीकरणकर्म में 'भगेन मा सम्' इस छटे काण्डके एकसौ उन्तीसवें सूक्तमें कहे हुए कर्म करे । सूत्र वहाँ ही कह दिया है ।

"यौ व्याघ्रौ" इस तृचसे कुमार वा कुमारीके पहिले ऊपरके

निकलने वाले दाँतोंकी दोषशान्तिके लिये धान जौं तिल इनमें से एककी आहुति देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें धान उड़द जौं और तिलोंको मिला कर इससे अभिमन्त्रित करके निकले हुए दो दाँतोंसे कटवावे। तथा तहाँ ही कर्ममें इससे स्थालीपाकको सम्पातितं और अभिमन्त्रित करके पूर्वोक्त बालकको खिलावे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यस्योत्तमदन्तौ पूर्वौ जायेते यौ व्याघ्रावित्यावपति। मन्त्रोक्तान् दंशयति। शान्त्युदकभृतं आदिष्टानां आशयति पितरौ च" (कौशिकसूत्र ५।१०)॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते॥ १॥

निऽअस्तिका। रुरोहिथ। सुभगम्ऽकरणी। मम।
शतम्। तव। प्रऽतानाः। त्रयःऽत्रिंशत्। निऽतानाः।
तया। सहस्रऽपर्ण्या। हृदयम्। शोषयामि। ते॥ १॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥२॥

शुष्यतु। मयि। ते। हृदयम्। अथो इति। शुष्यतु। आस्यम्।
अथो इति। नि। शुष्य। माम्। कामेन। अथो इति। शुष्कऽआस्या। चर॥ २॥

तत्र प्रथमा ॥ हे शङ्खपुष्पिके न्यस्तिका दौर्भाग्यलक्षणं नितराम् अस्यन्ती त्वम् । ❀ असु क्षेपणे इत्यस्माद् औणादिकस्तिकन् प्रत्ययः ❀ ।· रुरोहिथ प्रादुर्भूतासि उत्पन्ना भवसि । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । क्रादिनियमाद् इट् ❀ । किं कुर्वती । मम सुभगंकरणी सौभाग्यं कुर्वती । ❀ "आढ्यसुभग०" इत्यादिना करोतेः ख्युन् प्रत्ययः । "खित्यनव्ययस्य" इति पूर्वपदस्य मुम् । "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀ । हे ओषधे तव शतम् शतसंख्याकाः प्रतानाः प्रतायन्ते विस्तार्यन्ते इति प्रतानाः शाखाः । ❀ "हलश्च" इति तनोतेर्घञ् प्रत्ययः ❀ । शतायुषः पुरुषस्य उपकाराय प्रताना अपि शतसंख्याका उत्पद्यन्त इत्यर्थः । नितानाः न्यग्विस्तार्यमाणाः प्ररोहा त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाः संभवन्ति । त्रयस्त्रिंशत्संख्यानां देवानाम् उपकारकत्वात् तत्संख्यया नितानाः प्ररोहन्तीत्यर्थः । त्रयश्च त्रिंशच्च त्रयस्त्रिंशत् । "त्रेस्त्रयः" इति पूर्वपदस्य त्रिशब्दस्य त्रयस् आदेशः स च आद्युदात्तः । "संख्या" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

द्वितीया ॥ हे कामिनि तया तथाविधया प्रागुदीरितमाहात्म्योपेतया सहस्रपर्ण्या सहस्रसंख्याकपत्रोपेतया ते त्वदीयं हृदयम् अहं शोषयामि कामाग्निना परितप्तं करोमि । ❀ शुष शोषणे ❀ । मयि मद्विषये ते तव हृदयम् जीवायतनं हृदयस्थानं शुष्यतु शुष्कं परितप्तं भवतु । अथो अपि च आस्यम् त्वदीयं मुखमपि शुष्यतु शुष्कं द्रवरहितं भवतु । अथो अपि च माम् उद्दिश्य कामेन अभिलाषेण नि शुष्य नितरां परितप्यस्व । अथो अपि च सा त्वं शुष्कास्या द्रवरहिताननना सती चर माम् अभिगच्छ ॥

हे शङ्खपुष्पिके ! तू दुर्भाग्यके लक्षणोंको दूर फेंकती हुई और मेरे सौभाग्यका उदय करती हुई उत्पन्न होती है । हे औषधे ! तेरी सैंकड़ों शाखायें फैलती हैं । अर्थात् शतायु पुरुषका उपकार

करनेके लिये तेरी सैंकड़ों शाखायें फैलती हैं और तिरछी नीचे को फैलने वाली तैंतीस शाखायें (तैंतीस देवताओंका उपकार करनेके लिये) फैलती हैं ॥ १ ॥

हे कामिनि ! पूर्वोक्त माहात्म्यसे सम्पन्न सहस्रों पत्ते वाली सहस्रपर्णीसे मैं तेरे हृदयको सन्तप्त करता हूं, मेरे विषयमें तेरा हृदय सन्तप्त होवे और तेरा मुख भी सूख जाय-द्रवरहित होजावे और तू मेरी अभिलाषासे बहुत ही सन्तप्त हो-फिर ऐसी तू मेरे पास आ २

तृतीया ॥

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

सम्ऽवननी । सम्ऽउष्पला । बभ्रु । कल्याणि सम् । नुद ।
अमूम् । च । माम् । च । सम् । नुद । समानम् । हृदयम् । कृधि

हे बभ्रु बभ्रुवर्णे पीतवर्णे हे कल्याणि मङ्गलकारिणि ओषधे संवननी संवननं वशीकरणं तद्वती । ※ संपूर्वाद्वनतेः करणे ल्युट् । टिड्ढाणञ्० ङीप् ※ । समुष्पला सम्यक् उप्तफला सती सं नुद मत्समीपं तां स्त्रियं नुद प्रेरय । तदनन्तरम् अमूं च कामिनीं मां कामुकं च सं नुद संयोजय सम्यग् मिथुनीभावय । आवयोः हृदयं समानम् एकं कृधि कुरु ॥

हे पीतवर्णवाली मंगलकारिणी औषधे ! तुझमें वशीकरण का गुण है, तू फलोंके आहुति देने पर उस स्त्रीको मेरे पास भेज। फिर उस कामिनीको और मुझ कामुकको भली प्रकार मिला, हम दोनोंके हृदयको एक कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम् ।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥४॥

यथा । उदकम् । अपपुषः । अपऽशुष्यति । आस्यम् ।

एव । नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । शुष्कऽआस्या । चर

यथा येन प्रकारेण उदकम् अपपुषः जलम् अपीतवतस्तृषार्तस्य पुरुषस्य आस्यम् मुखं अप शुष्यति एव एवम् हे कामिनि माम् उद्दिश्य कामेन नि शुष्य परितप्ता भव । अन्यत् पूर्ववत् । ❀अप-पुष इति । पा पाने इत्यस्मात् लिटः क्वसुः । ङसि "वसोः संप्र-सारणम्" इति संप्रसारणम् । "आतो लोप इटि च" इति आकार-लोपः । न च तस्मिन् कर्तव्ये संप्रसारणस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धवद्भावः । अत्र ग्रहणं समानाश्रयप्रतिपत्त्यर्थम् इत्युक्तत्वात् । ङसि संप्रसारणं क्वसौ आल्लोप इति अनयोर्व्याश्रय-त्वात् । "न लोकाव्यय०" इति कर्मणि षष्ठ्याः प्रतिषेधः ❀ ॥

जिस प्रकार जल न पीने वाले पुरुषका मुख सूख जाता है, इसी प्रकार हे कामिनि ! तू मुझको लक्ष्यमें रख कामसे सूखने लग । फिर शुष्क मुख वाली तू मेरे पास आ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

यथा । नकुलः । विऽछिद्य । सम्ऽदधाति । अहिम् । पुनः ।

एव । कामस्य । विऽछिन्नम् । सम् । धेहि । वीर्यऽवति ॥ ५ ॥

नास्य कुलम् अस्तीति नकुलः प्राणी । ❀ "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀ । स यथा अहिम् सर्पं विच्छिद्य खण्डयित्वा पुनः संदधाति संयोजयति एव एवम् हे वीर्यावति अतिशयितवीर्ययुक्ते ओषधे कामस्य विच्छिन्नम् स्त्रियाः पराङ्मुखत्वेन कामकृतविकारेण अवखण्डितं मां सं धेहि पुनः संयोजय ॥

जिसके कुल नहीं है ऐसा नकुल प्राणी जिस प्रकार साँपको खण्डित कर फिरउसको जोड़ देता है, इसी प्रकार हे परमवीर्यसंपन्न ओषधे ! स्त्रीके पराङ्मुख होनेके कारण कामके द्वारा खण्डित हृदय वाले मुझको फिर जोड़ दे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यौ व्या॒घ्राव॑व॑रू॒ढौ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ।

तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः ॥ १ ॥

यौ । व्या॒घ्रौ । अव॑ऽरूढौ । जिघ॑त्सतः । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ ।

तौ । दन्तौ॑ । ब्रह्मणः । प॒ते॒ । शि॒वौ । कृ॒णु॒ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ ॥ १ ॥

व्याघ्रौ व्याघ्रवत् हिंसकौ यौ दन्तौ उपरितनपङ्क्तिस्थौ अवरूढौ अवाङ्मुखं प्ररूढौ प्रथमत उत्पन्नौ पितरं मातरं च जिघत्सतः अत्तुं भक्षयितुम् इच्छतः । ❀ अद भक्षणे । "लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घस्लृ आदेशः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् ❀ । हे ब्रह्मणस्पते मन्त्रस्याधिपते हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने तौ तथाविधौ दन्तौ शिवौ सुखकरौ मातापित्रोरहिंसकौ कृणु कुरु ॥

व्याघ्रकी समान हिंसक ऊपरकी पंक्तिके नीचेको मुख करके प्रथम उत्पन्न हुए दाँत माता पिताको खाना चाहते हैं, हे मन्त्रके अधिपति देव ! और हे अग्ने ! आप उनको माता पिताके अहिंसक सुखप्रद करिये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं
पितरं मातरं च ॥ २ ॥

व्रीहिम् । अत्तम् । यवम् । अत्तम् । अथो इति । माषम् । अथो
इति । तिलम् ।
एषः । वाम् । भागः । निऽहितः । रत्नऽधेयाय । दन्तौ । मा ।
हिंसिष्टम् । पितरम् । मातरम् । च ॥ २ ॥

हे प्रथमोत्पन्नौ उपरितनदन्तौ व्रीहिम् अत्तम् भक्षयतं तथा यवम् अत्तम् भक्षयतम् । अथो अपि च माषम् अत्तम् । अथो अपि च तिलम् अत्तम् । हे दन्तौ रत्नधेयाय रमणीयफलाय वाम् युवयोः एषः व्रीहियवादिलक्षणो भागो निहितः निक्षिप्तः । तेन तृप्तौ युवाम् अस्य शिशोः पितरं मातरं च मा हिंसिष्टम् मा वधिष्टम् ॥

हे पहिले उत्पन्न हुए ऊपरके दाँतों ! तुम धानोंको खाओ जौंको खाओ उड़दको खाओ और तिलको खाओ हे दाँतों ! तुम्हें रमणीय फल देनेके लिये यह व्रीहियवादिका भाग रक्खा है। उससे तृप्त हुए तुम दोनों इस शिशुके माता पिताको मत मारो २

अष्टमी ॥

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ ३ ॥

उपऽहूतौ । सऽयुजौ । स्योनौ । दन्तौ । सुऽमङ्गलौ ।

अन्यत्र । वाम् । घोरम् । तन्वः । परा । एतु । दन्तौ ।

मा । हिंसिष्टम् । पितरम् । मातरम् । च ॥ ३ ॥

उपहूतौ समीपम् आहूतौ देवेन अनुज्ञातौ वा सयुजौ समानं युञ्जानौ मित्रभूतौ स्योनौ सुखकरौ सुमङ्गलौ सुशोभनौ एवंगुणविशिष्टौ तौ दन्तौ भवताम् । हे दन्तौ वाम् युवयोः घोरम् क्रूरं कर्म मातापितृहननलक्षणम् अन्यत्र अन्यस्मिन् देशे तन्वाः शिशुशरीरात् परैतु परागच्छतु । गतम् अन्यत् ॥

[इति] त्रयोदशेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

वे दाँत समीपमें बुलाये हुए और देवके द्वारा अनुज्ञात मित्ररूप सुखदायक और मंगलकारी हों, हे दाँतो ! माता पिताको मारनारूप तुम्हारा घोर कर्म इस शिशुके शरीरसे अन्यत्र चला जावे । इसके माता पिताकी तुम हिंसा न करो ॥ ३ ॥

तेरहवें अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (३१३) ॥

"वायुरेनाः" इति तृचेन पुष्टयर्थचित्राकर्मणि वृक्षशाखादिसंभारान् संपातयेत् ॥

तत्रैव कर्मणि "वायुरेनाः" इति ऋचा प्रभाते उदकधारोपेतया शाखया गां परिक्रामेत् ॥

तत्रैव कर्मणि "लोहितेन स्वधितिना" इति मन्त्रेण सूत्रोक्तरीत्या वत्सकर्णं छिन्द्यात् ॥

तत्रैव कर्मणि "यथा चक्रुः" इति ऋचा कर्णलोहितं दधिमधुघृतोदकमिश्रितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य वत्सं प्राशयेत् ॥

आह च कौशिकः । "वायुरेना इति युक्तयोश्चित्राकर्मनिशायां संभारान् संपातवतः करोति । अपरेद्युर्वायुरेना इति शाखयोदक-

धारयागाः परिक्रामति । प्रथमजस्य शकलम् अवधायौदुम्बरेणा-सिना लोहितेनेति मन्त्रोक्तम् । यथा चक्षुरितीक्षुकाशकांड्या लोहितं निमृज्य रसमिश्रम् अश्नाति । सर्वम् औदुम्बरम्" इति [कौ० ३.६]

"उच्छ्रयस्व" इति तृचेन पुष्ट्यर्थबीजवपनकर्मणि व्रीह्यादिबीजम् आज्यमिश्रं कृत्वा अभिमन्त्र्य प्रत्यृचं तिस्रो मुष्टीर्लाङ्गलपद्धतौ निधाय पांसुभिराच्छादयेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "उच्छ्रयस्वेति बीजोपहरणम् । आज्यमिश्रान् यवान् उर्वरायां कृष्टे फालेन उदुह्य अन्वृचं काशीन् निनयति निवपति" इति [कौ० ३. ७] ॥

"वायुरेनाः" इस तृचसे पुष्ट्यर्थचित्राकर्ममें वृत्तादि सामग्रियों को सम्पातित करे ।

तहाँ ही कर्ममें "वायुरेनाः" इस ऋचासे प्रभातकालमें जलकी धारासे संयुक्त शाखासे गौकी परिक्रमा करे ।

तहाँ ही कर्म में "लोहितेन स्वधितिना" इस मन्त्रसें सूत्रोक्त-रीतिके अनुसार बछड़ेके कानको छेदे ।

तहाँ ही कर्ममें "यथा चक्षुः" इस ऋचासे कानके रक्तको दही मधु घृत और जलसे मिला सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बछड़ेको चटा देवे ।

कौशिकने भी कहा है, कि—"वायुरेना इति युक्तयोश्चित्राकर्म-निशायां संभारान् सम्पातवतः करोति । अपरेद्युर्वायुरेना इति शाखोदकधारया गाः परिक्रामति । प्रथमजस्य शकलम् अवधायौ-दुम्बरेणासिना लोहितेनेति मन्त्रोक्तम् । यथा चक्षुरितीक्षुकाश-काण्ड्या लोहितं निमृज्य रसमिश्रं अश्नाति । सर्वं औदुम्बरम् ।" (कौशिकसूत्र ३ । ६) ॥

"उच्छ्रयस्व" इस तृचसे पुष्ट्यर्थ बीजवापनकर्ममें धान आदि के बीजको घीमें मिलाकर अभिमंत्रित करके प्रत्येक ऋचासे तीन मुट्ठियोंको लांघल पद्धतिमें डाल धूलसे ढक देय । इसी बातको

कौशिकसूत्रमें कहा है, कि– 'उच्छ्रयस्वेति बीजोपहरणम्। आज्यमिश्रान् यवान् उर्वरायां कृष्टे फालेन उद्धृत्य अन्वृचं काशीन् निनयति निवपति" (कौशिकसूत्र ३ । ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥ १ ॥

वायुः । एनाः । सम्ऽआकरत् । त्वष्टा । पोषाय । ध्रियताम् ।
इन्द्रः । आभ्यः । अधि । ब्रवत् । रुद्रः । भूम्ने । चिकित्सतु ॥१॥

एनाः अस्मदीया गाः वायुर्देवः समाकरत् समाकरोतु संघश आनयतु । वायुर्हि तेषां रक्षिता । तथा च तैत्तिरीयकम् । "वायव स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । "वायव एवैनान् परिददाति" इति [तै० ब्रा० ३. २. १. ३] ॥ तथा त्वष्टा देवः पोषाय अभिवृद्धये इमा गाः ध्रियताम् धारयतु । स एव हि पशूनाम् अभिवृद्धेः कर्ता । "त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्" इति श्रुतेः [तै० सं० १. ७. ४. ५] । ❀ धृङ् अवस्थाने । तुदादित्वात् शः । "रिङ् शयग्लिङ्क्षु" इति रिङ् आदेशः ❀ । आभ्यो गोभ्यः इन्द्रो देवानाम् अधिपतिः अधि ब्रवत् अधिब्रवीतु आधिक्यं वदतु । रुद्रः पशूनाम् अभिमन्ता पीडाकरो देवः भूम्ने बहुत्वाय चिकित्सतु । पादास्यादिरोगपरिहारेण बह्वीः करोतु इत्यर्थः । ❀ भूम्न इति । बहुशब्दाद् इमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति इमनिच आदिवर्णलोपो बहोर्भूभावश्च । चिकित्सतु । कित ज्ञाने । "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इति व्याधिप्रतीकारलक्षणेर्थे कितेः सन् प्रत्ययः ❀ ॥

इन हमारी गौओंको वायुदेव झुण्डके झुण्ड लावें ‡ तथा त्वष्टा देवता पुष्टिके लिये इन गौओंको धारण करें † । इन्द्रदेवता इनके विषयमें स्नेही वचन कहें, पशुओंको पीड़ा देने वाले रुद्रदेव इन की अधिकताके लिये इनकी चिकित्सा करें अर्थात् इनके पैर और मुखके दोषोंको दूर कर इनको बढ़ावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

लोहितेन । स्वऽधितिना । मिथुनम् । कर्णयोः । कृधि ।
अकर्ताम् । अश्विना । लक्ष्म । तत् । अस्तु । प्रऽजया । बहु २

हे गोपाल लोहितेन लोहितवर्णेन ताम्रविकारेण स्वधितिना शस्त्रेण कर्णयोः वत्ससंबन्धिनोः मिथुनम् स्त्रीपुंसात्मकम् चिह्नं कृधि कुरु । अश्विना अश्विनौ देवौ तादृशं लक्ष्म चिह्नम् अकर्ताम् कृतवन्तौ । ❀ करोतेश्छान्दसो लुङ् । "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् ❀ । तत् तथाविधं लक्ष्म प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया बहु बहुलं समृद्धम् अस्तु ॥

---

‡ वायु इनके अधिपति हैं, इसका तैत्तिरीयब्राह्मण ३।२।२।३में वर्णन है, कि—"वायवः स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति ॥—०वायु अन्तरिक्षके अधिपति हैं, जो अन्तरिक्षके देवता हैं वही पशुओंके देवता हैं ।०"

† त्वष्टा देवता ही पशुओंकी वृद्धि करने वाले हैं । "त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत् ॥—त्वष्टा देवता पशुओंके जोड़ोंके रूप को बनाने वाले हैं" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ४ । ५) ॥

हे गोपाल ! लालवर्णके ताँबेके शस्त्र स्वधितिसे बछड़ोंके कानोंमें स्त्रीपुंसरूप चिह्नको कर । अश्विनीकुमार भी तैसा चिह्न करें । तैसा चिह्न पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजासे समृद्ध होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

यथा । चक्रुः । देवऽअसुराः । यथा । मनुष्याः । उत ।
एव । सहस्रऽपोषाय । कृणुतम् । लक्ष्म । अश्विना ॥ ३ ॥

देवाश्च असुराश्च देवासुराः । ते यथा पशूनां लक्ष्म लक्षणं कर्णयोः स्वधितिना चक्रुः कृतवन्तः । मनुष्या उत मानवा अपि यथा चक्रुः कृतवन्तः हे अश्विना अश्विनौ एव एवं सहस्रपोषाय गवाम् अपरिमिताभिवृद्धये लक्ष्म चिन्हं कृणुतम् कुरुताम् ॥

देवता और असुरोंने जिस प्रकार पशुओंके कानोंमें स्वधिति से चिह्न (लक्षण) कर दिया है । और मनुष्योंने जिस प्रकार किया है, हे अश्विनीकुमारो ! इसी प्रकार तुम अपरिमित गौओं की पुष्टिके लिये लक्षण करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥

उत् । श्रयस्व । बहुः । भव । स्वेन । महसा । यव ।

पृणीहि । विश्वा । पात्राणि । मा । त्वा । दिव्या । अशनिः । वधीत् १

हे यव धान्य त्वम् उच्छ्रयस्व उत्तिष्ठ प्ररूढः सन् उन्नतो भव। तथा बहुः अनेकविधो भव । स्वेन आत्मीयेन महसा तेजसा रसवीर्येण सह विश्वा विश्वानि सर्वाणि पात्राणि कुसूलकोष्ठागारादीनि पृणीहि वर्णव्यत्ययः । पृणीहि पूरय । दिव्या दिवि भवा अशनिः त्वा त्वां मा वधीत् मा हिंसीत् ॥

हे यव ! तू उग कर ऊँचा हो, तथा अनेक प्रकारका हो, अपने रसवीर्यरूप तेजसे कुठिया कोठे आदि पात्रोंको भरदे । आकाशका वज्र तेरा संहार न करे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥२ ॥

आऽशृण्वन्तम् । यवम् । देवम् । यत्र । त्वा । अच्छऽआवदामसि ।
तत् । उत् । श्रयस्व । द्यौःऽइव । समुद्रःऽइव । एधि । अक्षितः २

आशृण्वन्तम् आभिमुख्येन अस्मदुक्तम् आकर्णयन्तं यवम् यवधान्यरूपेण अवस्थितं देवं तत्र तस्यां भूमौ त्वा त्वाम् अच्छवदामसि आभिमुख्येन वदामः प्रार्थयामहे । तत् तत्र भूम्यां द्यौरिव आकाश इव उच्छ्रयस्व उन्नतो भव । सस्यावस्थायाम् उक्तम् । फलावस्थायामपि आह । समुद्र इव अक्षितः अक्षीणः क्षयरहितः एधि भव । ❀ अस्तेर्लोटि सिपो हिरादेशः । असोरल्लोपे "घ्वसोरेद्धौ०" इति एत्वम् । तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति

प्रसिद्धत्वात् फलान्तलक्षणं हेर्धित्वम् । अक्षित इति । क्षि क्षये । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति षष्ठुदत्तत्वाद् दीर्घाभावात् "क्षियो दीर्घात्" इति नत्वस्यापि अभावः ❀ ॥

अभिमुख होकर हमारे वचनको सुनते हुए यव–धान्यरूपसे अवस्थित देवता ! हम तुझसे इस भूमिमें प्रार्थना करते हैं, कि–तू इस भूमिमें जिस प्रकार अन्तरिक्षमें बढ़ता है, तिस प्रकार (सस्यावस्थामें भी) बढ़ । (फलावस्थामें भी) समुद्रकी समान अक्षीणरूपसे बढ़ (२१) ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अक्षिंतास्त उपसदोक्षिंताः सन्तु राशयः ।

पृणन्तो अक्षिंताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिंताः ॥ ३ ॥

अक्षिताः । ते । उपऽसदः । अक्षिताः । सन्तु । राशयः ।

पृणन्तः । अक्षिताः । सन्तु । अत्तारः । सन्तु । अक्षिताः ॥ ३ ॥

हे यव ते तव उपसदः उपसत्तारः उपगन्तारः कर्मकरा अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु । राशयः धान्यसमूहा अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु । पृणन्तः गृहादिकं पूरयन्तः समाहर्तारो जना अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु । अत्तारः भोक्तारो जना अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु ॥

[इति] षष्ठकाण्डे त्रयोदशेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

श्रीमद्राजाधिराज–परमेश्वर–श्रीवीरप्रतापहरिहरमहाराजसा-
म्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिता-
भाष्ये षष्ठकाण्डे त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

समाप्तः षष्ठः काण्डः ॥

हे यव ! तेरे पास जाने वाले-कर्मकर्ता-क्षयरहित होवें, धान्यके समूह क्षयरहित होवें। गृह आदिमें लाने वाले मनुष्य क्षयरहित होवें। भोक्ता पुरुष क्षयरहित होवें ॥ २ ॥

छठे काण्डके तेरहवें अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (३१५) ॥
तेरहवाँ अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका छठाकाण्ड ऋषिकुमार
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक कु० ऋ० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

वैदिक-संहिता

- ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र
- ऋग्वेद संहिता। भाष्यकार रामगोविन्द त्रिवेदी
- ऋग्वेद संहिता। सायणाचार्य कृत भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित। 1-8 भाग सम्पूर्ण
- ऋग्वेद संहिता। (प्रथम अध्याय, सूक्त 1-15) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक श्री उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। सम्पा. श्री दौलतराम गौड़
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (निर्णयसागर संस्करण)
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। पदपाठ उव्वट महीधरभाष्य सवलित तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. रामकृष्ण शास्त्री
- सामवेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- सामवेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित।
- अथर्ववेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- अथर्ववेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। 1-8 भाग

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ४

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१-८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 4

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय — पृष्ठ

❀ सप्तम–काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक–

विषय — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

❋ अष्टम-काण्ड ❋

प्रथम अनुवाक—

विषय पृष्ठ

श्रीहरिः

अथर्ववेदसंहिता

सप्तम-काण्डम्

सायणभाष्य और अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

॥ॐ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ॐ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सब जगत्‌की रचना की है उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सप्तमे काण्डे दशानुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "धीती वा ये" इति प्रथमे सूक्ते आद्याभ्यां द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्मणि आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानां त्रयोदशानां द्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात् जपेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । "धीती वेत्यर्थम् उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा सर्वफलकामः आभ्याम् ऋग्भ्याम् इन्द्राग्नी यजते उपतिष्ठते वा । "तदिद् आस [५. २] धीती वा [७. १] इतीन्द्राग्नी" [कौ० ७. १०] इति कौशिकसूत्रात् ॥

अथ "अथर्वाणं पितरम्" इत्यनयर्चा सर्वफलकामः अथर्वाणं यजत उपतिष्ठते वा । "यस्येदमा रजः [६. ३३] अथर्वाणम्

[७. २] अदितिर्द्यौः" [७.६] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

"अया विष्ठा" इति ऋचेनं नवं रथम् अभिमन्त्र्य जयकामं राजानम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । "अया विष्ठा [७. ३] अयम् इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति" इति [कौ० २. ६] ॥

"एकया च" [७. ४] इत्यनया अश्वशान्तौ सर्वौषधिचूर्णम् अश्वस्य मूर्ध्नि प्रकिरेत् । "वातरंहाः [६. ९२] इति स्नातेश्वे" इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम् । "चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च" इति [कौ० ५. ५] ॥

तथा चातुर्मास्ये शुनासीरीयपर्वणि वायव्ययागानुमन्त्रणम् अनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । "वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यम् एकया चेति" [वै० २. ५] ॥

"यज्ञेन" इत्यनया सोमयागे आतिथ्येष्टौ हविर्ब्रह्माभिमृशेत् । "आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३] ॥

सप्तम काण्डमें दश अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें तीन सूक्त हैं। प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे अर्थोत्थापन विघ्न-शमनकर्ममें घृत समिधा पुरोडाशसे लेकर पूरी तकके तेरह द्रव्यों मेंसे किसी एक द्रव्यसे आहुति देय वा जप करे। इसी बातको संहिताविधिमें अर्थात् कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"धीती वेत्यर्थं उत्थास्यन्नुपदधीत जपति" (कौशिकसूत्र ५ । ५.) ।

तथा सब फलोंको प्राप्त करना चाहने वाला भी इन दो ऋचाओंसे इन्द्र और अग्निदेवका यजन वा उपस्थान करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि— "तदिद्द आस (५ । २) धीती वा (७ । १) इतीन्द्राग्नी" और सर्वफलकाम "अथर्वाणम् पितरम्" इन आठ ऋचाओंसे अथर्वाका यजन वा

उपस्थान करे इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि-
"यस्येदमा रजः ६।२३)-अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्द्यौः(७।६)"

"अया विष्ठा" इन दो ऋचाओंसे नवीन रथको अभिमन्त्रित कर विजयाभिलाषी राजाको बैठावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २ । ६ में कहा है, कि-"अया विष्ठा (७ । ३) अग्न इन्द्रः (७ । ११५) दिशश्चतस्रः (८ । ८ । २२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति" ॥

"एकया च" इस (७ । ४) से अश्वशान्तिमें सर्वौषधिचूर्ण को घोड़ेके मस्तक पर बुरबुरा देय (बखेर देय) कौशिकसूत्र में 'वातरंहा' (६ । ९२) से घोड़ेको स्नान करानेके लिये कह कर आगे कहा है, कि-"चूर्णैरवकिरति त्रिरेकया च" ॥

तथा चातुर्मास्यके शुनासीरीयपर्वमें इस ऋचासे वायव्ययाग का अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र २ । ४ में कहा है, कि-"वायव्यं शुनासीरीयं सौर्यं एकया चेति" ॥

सोमयागकी आतिथ्येष्टिमें "यज्ञेन" इस ऋचासे ब्रह्मा हविका अभिमर्शन करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम्" (वैतानसूत्र ३ । ३ ॥

तत्र प्रथमा ॥

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येवदन्नृतानि ।

तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः

धीती । वा । ये । अनयन् । वाचः । अग्रम् । मनसा । वा । ये । अवदन् । ऋतानि ।

तृतीयेन । ब्रह्मणा । वावृधानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः

यद्यपि अस्मिन् ऋचे देवताविशेषो न प्रतीयते तथापि "अनिरुक्तो वै प्रजापतिः" इति [ऐ० ब्रा० ६, २०] श्रुतेर्देवता अत्र प्रजापतिः । "अथर्वाणं पितरम्" इत्यष्टर्चेपि प्रजापतिर्देवता । अथर्वशब्दः प्रजापतिवाचक इति वक्ष्यते । अतः कृत्स्नम् इदं सूक्तं प्राजापत्यम् । अत एव अर्थोत्थापनकर्मणि समिदाज्यादिहोमे देवताविशेषादर्शनात् प्रजापतिर्देवतेति निश्चीयते ॥ अथवा "धीती वेति ऋचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः" इति विनियोगविधानात् तयोश्च "उभा दातारा विषां रयीणाम्" [ऋ० ६. ६०. १३] इत्यादिषु फलदातृत्वप्रसिद्धेः देवताविशेषानादेशस्थलेषु च प्रजापतिवद् इन्द्रस्यापि देवतात्वेन स्मरणात् ऐन्द्रेषु च मन्त्रेषु "मुञ्चामि त्वा हविषा" [ऋ० १०. १६१. १]इत्यादिषु अग्नेर्निपातमात्रत्वाद् इन्द्राग्नी देवतेति अध्यवसीयते । अपि च "यत् सर्वेषाम् अर्धम् इन्द्रः प्रति" [तै० सं ५. ४. ८. ३]इति "अग्निः सर्वा देवताः" [तै० सं० २. २. ६. १]इति इन्द्रस्याग्नेश्च सर्वदेवतात्मकत्वाभिधानात् तयोर्यागेन सर्वकामप्राप्तिर्युक्ता । अतस्तस्य तयोर्वा इतरदेवतावन्न स्तुतिहविःप्रदानमात्रेण अर्थसिद्धिः किं तु तन्माहात्म्यज्ञानेनैव इत्यभिप्रेत्य आद्ययर्चा तज्ज्ञानप्रकारः उत्तरया तत्सार्वात्म्यम् अभिधीयते ॥

ईदृशी खलु विवक्षूणां शब्दाभिव्यक्तिः । प्रथमम् अभिलषितम् अर्थं विवक्षोः पुरुषस्य तद्वाचकशब्दप्रयोगार्थं तदिच्छावशेन जातात् प्रयत्नात् मूलाधारे प्राणवायोः परिस्पन्दो जायते । तेन परिस्पन्देन मूलाधारे सकलशब्दमूलकारणभूता निष्पन्दा सूक्ष्मा परा वाक् आविर्भवति । सैव मूलाधाराद् ऊर्ध्वं नाभिदेशं प्राप्ता सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थदर्शनात् पश्यन्तीति उच्यते ।

सैव हृदयदेशं प्राप्ता अर्थविशेषनिश्चयबुद्धियुक्ता मध्यदेशावस्थानाद् मध्यमेति गीयते । सैव कण्ठताल्वादिस्थानेषु वर्णरूपेण व्यज्यमाना विशेषेण परावबोधप्रचण्डा वैखरीति भण्यते । अत्र पराद्यवस्थात्मकास्त्रयः शब्दा देहान्तर्गतत्वाद् अस्फुटत्वेन विवक्षितम् अर्थं परेभ्यो न प्रतिपादयन्ति । वैखर्यात्मकः शब्द एव अर्थप्रत्यायनक्षमः । "गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" इति हि निगमः [ऋ० १. १६४. ४५]। गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते इति हि यास्केन व्याख्यातम् [नि० प० १. ६]। आगमोपि ।

स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी ।
यस्यां दृष्टस्वरूपायाम् अधिकारो निवर्तते ॥
अविभागेन वर्णानां सर्वतः संहृतक्रमा ।
प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ।
अन्तःसंजल्परूपा तु न श्रोत्रम् उपसर्पति ॥
ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या परबोधप्रकाशिनी ।
मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता ॥

इति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ये प्रजापतेः इन्द्राग्न्योर्वा वाचकशब्दं विवक्षवः स्तोतारः धीती । ॐ ध्यायतेः क्तिनि छान्दसं संप्रसारणम् । "हलः" इति दीर्घः । "सुपां सुलुक्०" इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ । धीत्या ध्यानात्मकेन विवक्षाजन्यप्रयत्नजातप्राणवायुपरिस्पन्दाविर्भूतेन परावस्थापन्नेन प्रथमेन शब्दब्रह्मणा इति यावत् । "तृतीयेन ब्रह्मणा" इति वक्ष्यमाणत्वाद् अत्रापि संख्याविशिष्टब्रह्मपदं संबध्यते । वाशब्दः चार्थे । वाचो अग्रम् । "सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति" इति [क० व० २. १५] श्रुतेः सकलवाक्प्रपञ्चनिधापत्वेन मुख्यम्

निखिलवाग्व्यवहारस्य वा आदिभूतं प्रजापतिरूपम् अर्थम् इंद्राग्नि-रूपं वा अनयन् ध्यानविषयत्वं प्रापितवन्तः। ❀ "यद्वृत्ता-न्नित्यम्" इति निघातनिषेधः। अडागमस्य उदात्तत्वेन आद्यु-दात्तं पदं भवति ❀। ये च विवक्षवः मनसा सामान्यधर्मग्राहकेण पश्यन्त्यात्मकेन द्वितीयेन शब्दब्रह्मणेत्यर्थः। ऋतानि सत्यभूतानि अखण्डपरावस्थापेक्षया ईषद् उद्गतानि वा वाक्यानि देवतावाचक-शब्दविचारविषयाणि अवदन्। वदनम् अत्र सामान्यज्ञानं विवक्षितम्। पूर्ववाक्ये यच्छब्दश्रुतेस्तच्छब्दः अध्याहार्यः। ते विवक्षवः तृतीयेन। ध्यानमनोवच्छिन्नपरापश्यन्त्यपेक्षया तृती-यत्वम्। त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा। अन्तर्विभक्तवर्णात्मकेन अर्थविशेषाध्यवसायबुद्धियुक्तेन मध्यमाख्येनेत्यर्थः। वावृधानाः। ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः। वृधेर्लिटः कानच्। तुजादित्वाद् दीर्घः। "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। वर्धयन्तः अशब्दविषयम् अर्थं शब्दवाच्यत्वेन पोषयन्तः तुरीयेण चतुर्थेन। ❀ "चतुरश्छयता-वाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः ❀। चतुःसंख्यापूरकेण वैखर्या-त्मकेन वर्णपदवाक्यरूपेण ब्रह्मणा धेनोः। वाङ्नामैतत्। वाच्य-वाचकयोरभेदाद् वाच्ये वाचकशब्दः। मन्त्रप्रतिपाद्यस्य। यद्वा धेनुवद् धेनुः। अभिमतफलप्रदानेन प्रीणनकारिणः प्रजापतेः नाम नामधेयम् प्रजासर्जनपालनादिधर्मकं प्रजापतिरिति। इन्द्राग्नि-देवतापक्षे इदंदर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्टम् [नि० १०. ८] इन्द्र इति अग्रणीत्वाङ्गनादिगुणकम् अग्निरिति च नामधेयम् अम-न्वत। उच्चारितवन्त इत्यर्थः। ❀ धातूनाम् अनेकार्थत्वात्। मनु अवबोधने। तनादिकः ❀। एवं परादिवाचा प्रतिपादितस्वरूपः प्रजापतिः अस्माकम् अभीष्टं साधयित्विति इन्द्राग्नी वा साधय-ताम् इति प्रार्थना॥

अथवा वाचो अग्रम् इति पदेन वेदात्मिकाया वाचो निदानं

पर्यवसानभूमिर्वा परमात्मतत्त्वं विवक्ष्यते । तथा च ऐतरेयारण्यके "तदिद् आस भुवनेषु ज्येष्ठम्" [ऋ० १०. १२०] इत्यस्य सूक्तस्य तच्छब्दप्रशंसावसरे समाम्नायते । "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् [ऋ० १०. ७१. १] इत्येतद्ध्येव प्रथमं वाचो अग्रम्" इति [ऐ० आ० १. ३. ३] । "तदिद् आस" इत्यत्र तच्छब्देन सर्वश्रुतिप्रसिद्धं सर्वजगत्कारणं ब्रह्म अभिहितं तद् अत्र एतच्छब्देन विवक्ष्यत इति तत्रार्थः । तादृशं सकलवाङ्निदानभूतं तत्त्वं ये जिज्ञासवो महर्षयो देवा वा धीती । कर्मनामैतत् । धीत्या । वाशब्दो विकल्पवाची । बाह्यविषयव्यापृतया । अप्रदृष्त्या अनयन् । ज्ञातुं प्रयत्नं कृतवन्त इत्यर्थः । अनेन जाग्रदवस्थाभिमानिविश्वसंज्ञात्मना तत्त्वं ग्रहीतुम् उद्युक्त इत्युक्तं भवति । ये वा ततोपि सूक्ष्मदर्शिनो मनसा केवलेन अन्तःकरणेन ऋतानि सत्यब्रह्मविषयाणि वाक्यानि अवदन् । अनेन स्वप्नावस्थायां केवलमनोव्यापारात् तदभिमानितैजसात्मकब्रह्मणा तत्त्वज्ञानाय प्रयतन्त इत्युक्तं भवति । ये वा ततोप्यान्तरं वस्तु जिज्ञासमाना वावृधानाः । ❀ वर्धतेः "लक्षणहेत्वोः०" इति हेतौ शानचि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ । परिच्छेदापनयनरूपवर्धनाद्धेतोः तृतीयेन त्रित्वसंख्यापूरकेण ब्रह्मणा चैतन्यात्मना । अत्र सुषुप्तौ कारणशरीराभिमानी प्रज्ञानघनः प्राज्ञो विवक्षितः । तेन जागरस्वप्नावस्थावत् सुषुप्तौ बाह्यान्तरेन्द्रियजनितविक्षेपाभावाद् अपरिच्छिन्नब्रह्मभावेन वर्तन्त इति शेषः । एवम् अवस्थात्रयाभिमानिविश्वादितादात्म्येन तत्त्वं बुभुत्सवः सर्वेपि तत्रतत्र निरस्तसमस्तभेदं तत्त्वम् अलभमानाः सन्तः धेनोः वाचो अग्रम् इति निर्दिष्टस्य फलप्रदस्य वा परमात्मनः नाम नामकं यत्स्वरूपं प्रति सर्वे प्रणताः तद् निरस्तसमस्तोपाधिकं सत्यज्ञानादिलक्षणं तत्त्वं तुरीयेण तुर्यावस्थापन्नेन कारणशरीराभिमानरहितेन सर्वसाक्षिणा चैतन्येनात्मना अमन्वत

जानन्ति स्म। "गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः" हि निगमः [ऋ० ५. ४०. ६]। "स ब्रह्मा [स शिवः] स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति श्रुतौ [तै० आ० १०. ११. २] परमात्मनो नानादेवतानानव्यपदेशार्थत्वदर्शनाद् अत्र प्रजापतिशब्दव्यपदेश्यम् इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्यं वा तदेव तत्त्वं सम्यग् अधिगतं सत् अस्माकम् अभिमतं साधयत्विति प्रार्थ्यते ॥

यद्यपि इस ऋचमें किसी देवताकी प्रतीति नहीं होती है, तथापि 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः ॥—जहाँ किसी देवताको न कहा हो तहाँ प्रजापति देवता समझना चाहिये' इस ऐतरेयब्राह्मण ६।२० की श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रजापतिदेवता समझना चाहिये। 'अथर्वाणम् पितरम्' इस अष्टर्चमें भी प्रजापति देवता है, क्योंकि-अथर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक है—यह आगे कहा जावेगा, अत एव यह पूर्ण सूक्त प्रजापति देवता वाला है, अत एव अर्थोत्थापनकर्मके समिदाज्यादि होममें किसी देवताका वर्णन न होनेसे प्रजापति देवताका यहाँ निश्चय किया जाता है। अथवा-"धीती वेति ऋचेन इन्द्राग्नी यजेत सर्वकामः।—धीती वा इस दो ऋचा वाले सूक्तसे सर्वकाम इन्द्र और अग्निका पूजन करे" इस विनियोगके अनुसार इन्द्र और अग्नि देवताका निश्चय होता है और "उभा दातारविषां रयीणाम्—ये दोनों धन और अन्नके देने वाले हैं" इस ऋग्वेदके ६।६०।१३ वें आदि मन्त्रोंमें इन दोनों देवताओंका फलदातृत्व प्रसिद्ध है और जहाँ किसी देवताका वर्णन न हो तहाँ प्रजापतिकी समान इन्द्र भी देवतारूपसे स्मृत होते हैं और 'मुञ्चामि त्वा हविषा' (ऋ० १०।१६१।१) इत्यादि ऐन्द्र मन्त्रोंमें अग्निके निपातभाक् होनेके कारण इन्द्र और अग्निदेवताकी प्रतीति होती है॥ और भी एक बात है कि-तैत्तिरीयसंहिता ५।४।८।३ में कहा है, कि-'यत् सर्वेषा-

मर्धं इन्द्रं प्रति–सबका आधा भाग इन्द्रकी ओर जाता है" तथा तैत्तिरीयसंहिता २ । २ । ६ । १ में कहा है, कि–'अग्निः सर्वा देवताः ॥–अग्नि सर्वदेवस्वरूप हैं' इस प्रकार इन्द्र और अग्निके सर्वदेवतात्मक होनेसे उनके यागसे सर्वकामप्राप्ति उचित ही है। अतएव प्रजापति देवता वा इन्द्र और अग्नि देवताओंकी दूसरे देवताकी समान स्तुतिहविः प्रदानमात्रसे ही अर्थसिद्धि नहीं होती, किंतु उनके माहात्म्यके ज्ञानसे ही अर्थसिद्धि होजाती है–इस बातको लक्ष्यमें रख कर पहिली ऋचासे इनके ज्ञानका प्रकार और दूसरी ऋचासे सार्वात्म्य कहा जाता है।

कहनेकी इच्छा करने वालोंका शब्द इस प्रकार प्रकट होता है, कि–पहिले अभिलषित अर्थको कहनेकी इच्छा वाले पुरुषके तद्वाचकशब्दके लिये उसकी इच्छाके अनुसार उत्पन्न हुए प्रयत्न से मूलाधारमें प्राणवायुका परिस्पन्द होता है। उस परिस्पन्दसे मूलाधारमें सकल शब्दोंकी मूलकारणभूत स्पन्दरहित सूक्ष्म परा वाक् आविर्भूत होती है। वही मूलाधारसे ऊपर नाभिस्थानमें प्राप्तहुई सामान्यज्ञानरूपा विवक्षितपदार्थके दर्शनके कारण पश्यंती कहलाती है। वही हृदयदेशको प्राप्त हुई किसी अर्थकी निश्चय बुद्धिसे युक्त–मध्यदेशमें अवस्थान करनेके कारण मध्यमा कहलाती है। वही तालु आदि स्थानोंमें वर्णरूपसे प्रकट होती हुई विशेषरूपसे दूसरे के ज्ञानके लिये प्रचण्ड होनेके कारण वैखरी कहलाती है। यहाँ परा आदि तीन अवस्थाओंमें विद्यमान शब्द देहके मध्यमें होनेसे अस्फुट होनेके कारण विवक्षित अर्थको दूसरों को नहीं जताते हैं। वैखर्यात्मक शब्द ही अर्थको जतानेमें समर्थ है। ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५ में भी कहा है, कि–'गुहा त्रीणि निहिता नेंगयंति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥–अर्थात् पराद्यवस्थात्मक तीन शब्द गुहामें स्थित रहते हैं अत एव कुछ चेष्टा नहीं

करते हैं और चौथे स्थानमें स्थित शब्दको मनुष्य वाणी कहते हैं निरुक्तपरिशिष्ट १ । ६ में यास्कमुनिने व्याख्या की है, कि— "गुहायां त्रीणि पदानि निहितानि नार्थं वेदयन्ते ।" इस विषयमें आगम भी है, कि—"स्वरूपं ज्योतिरेवान्तः परा वाग् अनपायिनी । यस्यां दृष्टस्वरूपायां अधिकारो निवर्तते ॥ अविभागेन वर्णानां सर्वतः संहृतक्रमा । माणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ॥ मध्यमा बुद्ध्युपादानात् कृतवर्णपरिग्रहा । अन्तःसञ्जल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ॥ ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यङ्ग्या पर बोधप्रकाशिनी । मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरीमता ।—अन्तः ज्योतिःस्वरूप ही अनपायिनी परा वाक् है, उसके स्वरूपका दर्शन होने पर अधिकार निवृत्त होजाता है । मयूरके अण्डेके रसके समान वर्णोंमें अविभागरूपसे संहृतक्रम वाली माणका आश्रय करनेसे पश्यन्ती कहलाती है । बुद्धिरूप उपादान वाली वर्णोंको ग्रहण करनेवाली वाक् मध्यमा कहलाती है, यह भीतर ही भीतर कहनेके रूपमें होती है, किसीके कानके पास नहीं जाती है । और तालु ओष्ठ आदिके स्पर्शसे प्रकट होने वाली दूसरेको बोधरूपमें प्रकाशित होने वाली मनुष्यमात्रको सुलभ बाहरी वाक् वैखरी कहलाती है ॥"

अब इस ऋचाका यह अर्थ है, कि—प्रजापति वा इन्द्र और अग्निके वाचकशब्दको कहना चाहनेवाले स्तोता धीतिसे अर्थात् ध्यानात्मक विवक्षाजन्यप्रयत्नसे उत्पन्न प्राणवायुके परिस्पन्दसे आविर्भूत परावस्थाको प्राप्त हुए प्रथम शब्दब्रह्मसे, जिस 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति—सब वेद जिस पदको कहते हैं' (कठवल्ली २ । १५) श्रुतिके द्वारा सकल वाक्य प्रतिपाद्यस्वरूपसे मुख्य वा सम्पूर्ण व्यवहारोंके आदिभूत प्रजापतिरूप अर्थको वा इन्द्राग्निरूप अर्थको ध्यानविषयको प्राप्त करते हैं फिर जो विवक्षु (कहनेकी

इच्छा वाले स्तोता) मनसे अर्थात् सामान्यधर्मग्राहक पश्यन्तीरूप द्वितीय शब्दब्रह्मसे अखण्डपरावस्थाकी अपेक्षा ईषद् उद्गत सत्यों को वा देवतावाचक शब्दविचारविषयक वाक्योंको सामान्यज्ञान रूपमें जानते हुए। वे स्तोता ध्यान और मनसे अवच्छिन्न परा और पश्यन्तीकी अपेक्षा तृतीयब्रह्मसे अर्थात् अन्तर्विभक्तवर्णात्मक अर्थविशेषका निश्चय करनेकी बुद्धिसे युक्त मध्यमाख्यब्रह्म से अशब्दविषयक अर्थको शब्दवाच्यस्वरूपसे पुष्ट करते हुए, वे चौथे वैखर्यात्मक वर्णपदवाक्यरूप ब्रह्मसे वाणीको वा—अभिमत फलदाता होनेसे तृप्त करने वाले प्रजापतिके (प्रजाकी रचना पालन आदि धर्म वाले) नामको वा—इदं दर्शनभूतेन्धनादिगुणविशिष्ट इन्द्रके नामको और अग्रणीत्व अंगनादिगुणसंपन्न अग्नि के नामको उच्चारण कर रहे हैं। अतः यह प्रार्थना है, कि—इस प्रकार परा आदि वाणीसे जिनके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है वे प्रजापति वा इन्द्र और अग्निदेवता हमारे अभीष्टको सिद्ध करें।

अथवा 'वाचो अग्रम्' पदसे वेदात्मिका वाणीका निदान वा पर्यवसानभूमि परमात्मतत्त्व कहा जासकता है। इसी प्रकार ऐतरेयारण्यकमें 'तदिद् आस भुवनेषु ज्येष्ठम्' (ऋग्वेद १० । १२०) इस सूक्तके तत् शब्दकी प्रशंसाके अवसर पर कहा है। 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम् (ऋ० १० । ७१ । १) "एतद्ध्येव प्रथमं वाचो अग्रम्" (ऐतेरेयारण्यक १ । ३ । ३)। अतः 'तदिद् आस' यहाँ तत्—शब्दसे सर्वश्रुति प्रसिद्ध सब जगत्का कारण ब्रह्म कहा है वही यहाँ ऐतरेयमें एतत्-शब्दसे विवक्षित है ॥ अतएव ऐसे सब वाणियोंके निदानभूत तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले महर्षि तथा देवता धीतिसे अर्थात् बाह्यविषयव्याहृत अन्तवृत्तिसे उसको जाननेका प्रयत्न करते हैं। (इससे यह कहा, कि-

जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी विश्व नाम वालेसे तत्त्वको ग्रहण करनेके लिये पुरुष उद्युक्त हो सकते हैं) । वा-जो इससे भी अधिकसूक्ष्मदर्शी केवल अन्तःकरणसे सत्यज्ञानविषयक वाक्यों का मनन करते हैं । (इससे यह कहा, कि-स्वप्नावस्थामें केवल मनके व्यापारसे तदभिमानी तैजसात्मक ब्रह्मसे तत्त्वको जाननेके लिये पुरुष प्रयत्न करसकते हैं) । और इससे भी भीतरकी वस्तुको जाननेकी इच्छावश परिच्छेदके अपनयनरूप वर्धनके कारण तीसरे चैतन्यात्मा ब्रह्मसे रहते हैं। (यहाँ सुषुप्तिमें कारण शरीराभिमानी प्रज्ञानघन प्राज्ञ विवक्षित है । अत एव जागर और स्वप्नावस्थाकी समान सुषुप्तिमें बाह्य और भीतरी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले विशेषके अभावके कारण वे अपरिच्छिन्न ब्रह्मभावसे रहते हैं) ॥ इस प्रकार तीनों अवस्थाओंके अभिमानी विश्वादि तादात्म्यसे तत्त्वको जाननेकी इच्छा वाले सब ही तहाँ २ समस्त भेदोंसे शून्य तत्त्वको न पाते हुए वाणीके मुख्यरूपसे निर्दिष्ट फलप्रदके वा परमात्माके नाम वाले स्वरूपके प्रति प्रणत हो उस समस्त उपाधियोंसे निरस्त सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाले तत्त्वको तुर्यावस्थापन्न कारणशरीराभिमानरहित सर्वसाक्षी चैतन्यरूपमें जानते हैं। ऋग्वेदसंहिता ५ । ४० । ६ में भी कहा है, कि-'गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ अत्रि ऋषिने गुप्त सूर्यको तमसापव्रत तुरीय ब्रह्मसे पाया था" । तैत्तिरीय आरण्यक १० । ११ । २ में कहा है, कि-स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।- वह ब्रह्म ही ब्रह्मा है, शिव है, हरि है, इन्द्र है, अक्षर है और परम है वह अपने आप दीप्त रहता है" इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माका अनेक देवताओंके नामसे व्यवहार करनेके कारण यहाँ प्रजापतिशब्दव्यपदेश्य वा इन्द्राग्निशब्दव्यपदेश्य वही तत्त्व अधिगत होकर हमारे अभिमतको सिद्ध करे, यह प्रार्थना की है ॥१॥

द्वितीया ॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।

स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्व१ स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥ २ ॥

सः । वेद । पुत्रः । पितरम् । सः । मातरम् । सः । सूनुः । भुवत् । सः । भुवत् । पुनःऽमघः ।

सः । द्याम् । और्णोत् । अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः । आ । अभवत् ॥ २ ॥

अनया उक्तविधस्य देवस्य ब्रह्माभेदेन सार्वात्म्यम् अभिधीयते । स विश्वात्मकः प्रजापतिः पुत्रः स्वीयं रूपम् सम्यक् जानतः पुरुषान् अनर्थहेतोः संसारात् त्रायत इति पुत्र इति व्यपदिश्यते । ❀ पुत्रः पुरु त्रायते [नि० २. ११] इत्यादि निरुक्तम् ❀ । पितरम् द्युलोकं वेद वेत्ति । स एव मातरम् पृथिवीं वेत्ति । प्रजापतिः द्यावाभूमी स्वधार्यत्वेन जानातीत्यर्थः । "द्यौः पिता । पृथिवी माता" इति हि मन्त्रवर्णः [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५.] । "ताभ्याम् इदं विश्वम् एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च" [ऋ० १०. ८८. १५] इति श्रुतेः द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् तयोः प्राधान्येनाभिधानम् । अथवा "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" [ऋ० १०. १२१. १] इति मन्त्रवर्णात् प्रजापतिः परमात्मना प्रथमं सृष्टः । तस्य पिता सकलजगदधिष्ठानं परं ब्रह्म । माता चित्प्रतिबिम्बिता मूलप्रकृतिः तौ प्रजापतिः स्वाभेदेन जानाति । पुत्रशब्दः अत्र मुख्यार्थवाची । कारणपरिज्ञानेन कार्य-

मपि तदभेदात् परिज्ञातं भवतीति कारणभूतमातापितृपरिज्ञानमात्रम् अत्रोक्तम् । न केवलं परिज्ञाता अपि तु स प्रजापतिः सूनुः सर्वस्य जगतः स्वस्वकर्मसु प्रेरयिता भुवत् भवति । "एष उ एव साधु कर्म कारयति तम्" [कौ० उ० ३. ८] इत्यादिश्रुतेः । ॐ षू प्रेरणे इत्यस्माद् औणादिको नुप्रत्ययः । भुवत् इति । भवतेर्लेटि व्यत्ययेन शः । "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधः ॐ । स एव मघः । ॐ खिङ्प्रत्ययः ॐ । धनवाचिना मघशब्देन कर्मफलं विवक्ष्यते । कर्मफलमपि भुवत् भवति । पुनःशब्दः चार्थे । स च अनुक्तसमुच्चयार्थः । भोक्तापि स एवेत्यर्थः । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्" [श्वे० उ० १. १२] इति हि श्रुतिः । यद्वा पुनर्मघ इति समस्तं पदम् । स्तोतृभ्यो बहुधनप्रदानेपि पुनःपुनः अभिवृद्धधन इत्यर्थः । किं च स प्रजापतिः द्याम् । ॐ द्यु अभिगमने इत्यस्माद् उत्पन्नो द्योशब्दः ॐ । सुकृतिभिरभिगन्तव्यां दिवम् और्णोत् स्वात्मना व्याप्नोति । ॐ ऊर्णुञ् आच्छादने लङि । शप्लुकि वृद्ध्यभावे रूपम् ॐ । अन्तरिक्षम् । अन्तरा क्षान्तम् इत्यन्तरिक्षम् आकाशं तदपि व्याप्नोति । स च स्वः स्वर्गं पुण्यभोगस्थानं च व्याप्नोति । इदं पृथिव्यादेरुपलक्षणम् । व्याप्यापेक्षया व्यापकस्य अधिकवृत्तिप्रदर्शनात् सर्वेभ्योपि लोकेभ्यः प्रजापतिः अधिकवृत्तिरित्यर्थः । "ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवः" [छा० ३. १४. ३] इत्यादिश्रुतेः । किं बहुना । स प्रजापतिः इदं परिदृश्यमानं नामरूपात्मकं विश्वं जगद् अभवत् । विश्वात्मना स एवावतिष्ठते । स आभवत् आ सर्वतो व्याप्य वर्तते । आवृत्याबृत्य तद्रूपेण कारणात्मना वा वर्तते । सोऽस्माकम् अभिमतसर्वफलानि साधयत्विति प्रार्थ्यते ॥

(इस ऋचासे उक्तविध देवका ब्रह्म भेदसे सार्वात्म्य कहा जाता है कि—)वह विश्वात्मक प्रजापति पुत्र है अर्थात् अपने रूप

को भली भाँति जानने वाले पुरुषोंका अनर्थके हेतु संसारसे त्राण करता है अत एव पुत्र है। वह पिताको अर्थात् द्युलोकको जानता है और वह माताको अर्थात् पृथिवीको जानता है। तात्पर्य यह है, कि–प्रजापति द्यावापृथिवीको स्वधार्यत्वरूपसे जानता है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।५।५ के मन्त्रमें कहा है, कि–"द्यौः पिता पृथिवी माता–द्यौ पिता है, पृथिवी माता है" और ऋग्वेदसंहिता १०।८८।१५ में भी कहा है, कि–'ताभ्यां इदं विश्वं एजत् सम् एति यद् अन्तरा पितरं मातरं च।–माता पिताके बीचमें होनेसे यह विश्व भली प्रकार कम्पित होता रहता है" इस प्रकार द्यावा–पृथिवीके मध्यमें विश्वका अवस्थान होनेसे उनका प्रधानरूपसे वर्णन किया गया है। अथवा–"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।-पहिले हिरण्यगर्भ हुआ" ऋग्वेदके इस १०।१२१।१ मन्त्रके अनुसार परमात्माने प्रजापतिको पहिले रचा है। उसका पिता सकल जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है और माता चित्प्रति-बिम्बिता मूल-प्रकृति है। उनको प्रजापति स्वाभेदसे जानते हैं। यहाँ पुत्रशब्द मुख्यार्थवाची है। कारणके परिज्ञानसे कार्य भी उससे अभिन्न होनेके कारण परिज्ञात होजाता है, इस प्रकार कारणभुत माता पिताका परिज्ञान मात्र यहाँ कहा, केवल परि-ज्ञाता नहीं कहा, और वह प्रजापति सब जगत्के सूनु होते हैं अर्थात् सब जगत्को अपने २ कर्ममें प्रेरित करते हैं। इसी बातको कौषीतकि उपनिषत् ३। ८ में कहा है, कि–'एष उ एव साधु कर्म कारयति तम्।–यही उससे साधु कर्म कराता है' ०। और यही प्रजापति कर्म होते हैं और यही भोक्ता होते हैं और यह प्रजापति पुण्यात्माओंको मिलने योग्य द्यौको अपने आपेसे व्याप्त कर लेते हैं और आकाशमें भी व्याप्त रहते हैं। तथा वह पुण्यभोगके स्थान स्वर्गको भी व्याप्त करके स्थित हैं।

यह पृथिवी आदिका उपलक्षण है। व्याप्यकी अपेक्षा व्यापक अधिक वृत्तिमें रहता है अतएव प्रजापति सब लोकोंसे भी अधिक वृत्ति हैं-अधिक देशमें रहते हैं। इसी बातको छान्दोग्योपनिषत् की ३। १४। ३ श्रुतिमें भी कहा है, कि-"ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अंतरिक्षाज्ज्यायान् दिवः।-वह पृथिवीसे भी श्रेष्ठ है, अन्तरिक्षसे भी बड़ा है और द्यौसे भी बड़ा है"। अधिक क्या कहें, वह प्रजापति इस परिदृश्यमान नामरूपात्मक सकल जगत् होगए हैं। विश्वात्मारूपसे वही अवस्थित हैं, वह सब ओरसे व्याप्त होकर स्थित हैं। कारणात्मारूपसे स्थित हैं। ऐसे प्रजापति देवता हमारे सकल अभिमत फलोंको सिद्ध करें। यही हम प्रार्थना करते हैं॥ २ ॥

तृतीया ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः १

अथर्वाणम्। पितरम्। देवऽबन्धुम्। मातुः। गर्भम्। पितुः।
असुम्। युवानम्।
यः। इमम्। यज्ञम्। मनसा। चिकेत। प्र। नः। वोचः। तम्।
इह। इह। ब्रवः॥ १ ॥

अथर्वशब्दः प्रजापतिवाची। तथा च गोपथब्राह्मणे। "ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत्। स्वयंभ्वेकमेव तद् ऐक्षत। मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे" [गो० ब्रा० १. १] प्रक्रम्य "तद् अथर्वाभवत्" इत्यथर्वसृष्टिम् अभिधाय तस्याथर्वणः परब्रह्मणश्च अभेदं प्रतिपाद्य समाम्नायते। "तम् अथर्वाणं ब्रह्माब्रवीत् प्रजापते प्रजा सृष्ट्वा

पालयस्वेति। तद् यद् अब्रवीत् प्रजापतेः प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत्। तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम्। अथर्वा वै प्रजापतिः" इति [गो० ब्रा० १. ४]। "प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वैतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत" इति [गो० ब्रा० २. १६]। अतः अथर्वशब्देन प्रजापतिरुक्तः। तस्य प्रजानां स्रष्टृत्वं पालकत्वं च अनेन प्रदर्श्यते। पितरम् पालकं प्रजानाम्। न केवलं पालकः अपि तु देवबन्धुम् देवानां बन्धुं कारणं स्रष्टारम्। "समुद्रो बन्धुः" [१ ५. ११. १०] [बृ० आ० १. १. २] इत्यत्र बंधुशब्दः कारणम् आहेति व्याख्यातम्। मनुष्यादिसृष्टेर्देवसृष्टिः पूर्वभाविनीति सा प्रथमम् उक्ता। स्त्रीपुंससृष्टिरपि तस्मादेव भवतीत्याह। मातुर्गर्भम् यस्य गर्भस्य या माता तस्यास्तं गर्भं युवानम् मिश्रयन्तं कुर्वन्तम्। पितुर्गर्भजनकस्य असुम् प्राणं प्राणसहितम्। रेत इत्यर्थः। तच्च युवानम् सिञ्चन्तम्। "न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते" इति [ऐ० आ० २. २. २] "आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते" इति [ऋ० १०. १८४. १] च श्रुतिभ्यः। ❀ युवानम् इति। यौतेरादादिकात् लटः शानचि छान्दसः व्यत्ययः उवङा-देशे रूपम् ❀। स्त्रीपुंससृष्टिः इतरसृष्टेरुपलक्षणम्। यद्वा "स इदं सर्वम् अभवत्" इति स्वस्यैव जगदात्मना भवनाद् गर्भरूपत्वम् असुरूपत्वं च संपद्यते। "यज्ञाद्वा पुरुषो जायते यज्ञ पुत्रः" इति हि श्रुतिः। तथापि युवानम् नित्यतरुणम्। न कदाचिदपि जननादिभावविकारवन्तम् इत्यर्थः। एतादृशम् अथर्वाणम्। ❀ थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः इति हि यास्कः [नि० ११. १८]। अत्र चरतिना च्युतिर्विवक्ष्यते ❀। च्युतिरहितं प्रजापतिं स्वमनीषितसिद्धये प्रार्थय इति शेषः। एवं सम्यग्विदिताथर्वस्वरूपो मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वेन ज्ञातं तत्स्वरूपं परेषां प्रत्याययितुं स्वयम् अजानन्निव तटस्थम् अभिज्ञं पृच्छति उत्तरार्धेन य इति। यः अथर्वा।

“एतद् वा अथर्वणो रूपं यद् तूष्णीशो ब्रह्मा”[गो०ब्रा०२.१६] इत्याम्नानाद् अथर्वात्मक ऋत्विग्भूतो ब्रह्मा इमम् अनुष्ठीयमानं सर्वफलसाधनं यज्ञं स्वर्गादिसाधनं प्रसिद्धम् अग्निष्टोमादि यज्ञं वा मनसा चिकेत । ❀ कित संज्ञाने ❀ । जानाति अनुसंधत्ते । एतद् उक्तं भवति । यज्ञस्य हि द्वौ पक्षौ । तत्रैकः पक्षः त्रिभिर्होत्रादिभिर्वाचा संस्क्रियते । अपरस्तु ब्रह्मणा मनसेति । अत्र “तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी” इति प्रक्रम्य ब्राह्मणे समाम्नायते । “स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति” इति [गो० ब्रा० ३, २] ।

तं मनसा यज्ञान् अनुसंदधानम् अथर्वाणं नः अस्माकं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि । हे विद्वन्निति शेषः । किं यदाकदाचित् । नेत्याह । इहेह अस्मिन्नस्मिन् अभिलषितसाधने कर्मणि अवः ब्रूहि । जानासि चेद् ब्रूहि । मद्व्यतिरिक्तो न कोपि जानातीत्यर्थः । ❀ वोच इति । ब्रवीतेश्छान्दसे लुङि च्लेरङि अडभावे रूपम् । इहेहेति । वीप्सायां द्विर्वचनम् । “अनुदात्तं च” इति आम्रेडितस्य अनुदात्तत्वम् । अव इति । पञ्चमलकारे “लेटोडाटौ” इति अडागमः ❀ ॥ यद्वा प्रजापतिस्वरूपं सामान्यतो ज्ञात्वा तद्विशेषजिज्ञासार्थं पार्श्वस्थं पृच्छति । यो विद्वान् इमम् अथर्वाणं पितरं देवबन्धुमित्याद्युक्तलक्षणं सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानं वा यज्ञम् यष्टव्यं यज्ञात्मकं वा प्रजापतिं मनसा मनसैव चिकेत जानाति । न केवलं श्रुतिवाक्यश्रवणेन किं तु मननिदिध्यासनाभ्यां यस्तत्त्वं साक्षात्करोति तम् अभिज्ञं नः अस्माकं प्रब्रूहि । “आचार्यवान् पुरुषो वेद” इति श्रुतेः [छा० ६. १४. २] आचार्योपदेशेनैव अधिगतं देवतास्वरूपं पुरुषार्थाय भवतीति विवक्षया अभिज्ञप्रश्नः । अथ तेनाभिज्ञेन प्रदर्शितं तत्त्वोपदेष्टारं गुरुं पृच्छति तम् इहेह अव इति । यष्टव्यदेवतास्वरूपपरिज्ञाने क्रियमाणं कर्म सगुणं भवेद् इति मनीषया

प्रश्नः ॥ अथवा मन्त्रद्रष्टा महर्षिः स्वात्मानमेव संबोध्य ब्रूते । य उक्तविधः प्रजापतिः तं नः अस्मदर्थं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि यष्टव्यदेवतास्वरूपं सम्यग् ज्ञात्वा ब्रूहि । इहेह ब्रूहीति पुनर्वचनम् आदरार्थम् । तथाहि देवतास्तुतिकरणविषये मन्त्रद्रष्टुः स्वात्मानम् अभिमुखीकृत्य वचनं शाखान्तरे समाम्नायते । "अग्निं स्तुहि दैववात्तं देवश्रवः" इति [ऋ० ३. २३. ३] ॥

अथर्वशब्द प्रजापतिका वाचक है। इस विषयमें गोपथब्राह्मण प्रमाण है। यथा–'ब्रह्म वा इदं अग्र आसीत् । स्वयंभ्वेकमेव तद्वैक्षत । मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे । पहिले ब्रह्म ही था, उस अकेले स्वयंभूने देखा, उसने केवल मुझ दूसरे देवको रचा" यह आरम्भ कर 'तदथर्वा अभवत् ।–फिर वह अथर्वा हुआ' इस प्रकार अथर्वसृष्टिको कह कर उस अथर्वाके और परब्रह्मके अभेद का प्रतिपादन कर कहा है, कि–'तम् अथर्वाणं ब्रह्मा अब्रवीत् प्रजापते प्रजाः सृष्ट्वा पालयस्वेति तस्मात् प्रजापतिरभवत् । तत् प्रजापतेः प्रजापतित्वम् । अथर्वा वै प्रजापतिः ।—उस अथर्वासे ब्रह्माजीने कहा, कि–हे प्रजापते ! तुम प्रजाकी रचना कर उस का पालन करो, इस कारण वह प्रजापति हुए'। (गोपथब्राह्मण १ । ४) तथा 'प्रजापतिरथर्वा देवस्तपस्तप्त्वैतं चातुष्प्राश्यं ब्रह्मौदनं निरमिमीत ।–प्रजापति अथर्वादेवने तप करके इस चातुष्प्राश्य ओदनको बनाया" । [गोपथब्राह्मण २ । १६] अतः अथर्वा शब्दसे प्रजापति कहे जाते हैं। उनका प्रजाओंका स्रष्टत्व और पालकत्व इस मन्त्रमें कहा है, कि–वह देवताओंके बन्धु अर्थात् कारण हैं। 'समुद्रो बन्धुः' (५ । ११ । १०) में बन्धु शब्दसे कारण अर्थ लिया है अत एव यहाँ पर भी बन्धु शब्दका कारण अर्थ किया है। और मनुष्य आदिकी सृष्टिसे देवताओंकी सृष्टि पहिले होती है अत एव पहिले उसका वर्णन किया है।

और स्त्री पुरुषकी सृष्टि भी उन प्रजापतिसे ही होती है अत एव मन्त्रमें कहा है, कि वह प्रजापति जिस गर्भकी जो माता होती है उस गर्भको उस मातासे मिलाते हैं और गर्भजनक पिताके वीर्यसहित प्राणको सींचते हैं। ऐतरेय आरण्यक ३। २। २ में कहा है, कि–'न ह वा ऋते प्राणाद् रेतः सिच्यते।–प्राणके विना वीर्य सिक्त नहीं होता है। ऋग्वेदसंहिता १०। १८४। १ में भी कहा है, कि–'आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।–प्रजापति तुझमें वीर्यको सिक्त करें और धाता देवता अपनी महिमा के द्वारा तेरे गर्भको स्थिर रक्खें"। स्त्रीपुरुषकी सृष्टिका वर्णन अन्य सृष्टियोंके उपलक्षणके लिये है। ऐसे च्युतिरहित प्रजापति अथर्वाकी मैं अपनी अभिलाषाको सिद्ध करनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। अथवा 'स इदं सर्वं अभवत्।–वह यह सब कुछ होगया' इस प्रकार अपनेको ही जगत्रूपमें होनेके कारण गर्भरूपत्व और प्राणरूपत्व संपत्तिपन्न होसकता है। श्रुतिमें भी कहा है, कि–'यथाहुः पुरुषो जायते यच्चधुः' इस पक्षमें इस अर्थश्रुतिका यह अर्थ होगा, कि-"देवताओंके कारण प्रजाओंके पालक, माताके गर्भरूप और पिताके प्राणमय वीर्यरूप तथापि सर्वदा जनन आदि भावविकारोंसे रहित होनेके कारण नित्य तरुण प्रजापति (अथर्वा) की मैं अपनी अभिलाषाकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करता हूँ।" इसप्रकार अथर्वाके स्वरूपसे भली प्रकार परिचित हुए मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आप जाने हुए उस स्वरूपको दूसरोंको जतानेके लिये अपने आप अजानसे बन कर तटस्थ अभिप्रसे मन्त्रके उत्तरार्धके द्वारा बूझते हैं, कि–जो 'एतद्द वा अथर्वणो रूपं उष्णीषी ब्रह्मा।–जो पगड़ीधारी ऋत्विग्भूत ब्रह्मा है यही अथर्वाका रूप है" अथर्वात्मक ऋत्विग्भूत ब्रह्मा इस अनुष्ठीयमान सर्वफलसाधन यज्ञका वा अग्निष्टोम आदि स्वर्ग आदिके साधन यज्ञोंका मनसे अनुसंधान

करता है, हे विद्वन् ! उस अथर्वाको हमें प्रकृष्टरूपसे बताइये । कभी बता देंगे इस बात पर मत टाल दीजिये किंतु इस अभिलषित साधन कर्ममें ही कहिये ॥ यहाँ यह विशेष बात है, कि-यज्ञके दो पक्ष होते हैं । उनमें होता आदि तीन पहिले पक्षको वाणीसे संस्कृत करते हैं और दूसरे पक्षको ब्रह्मा मनसे संस्कृत करता है ।-गोपथब्राह्मणमें 'तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी' कहकर आगे कहा है, कि-'स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति' (गोपथब्राह्मण ३।२)॥

अथवा-प्रजापतिके रूपको सामान्यरीत्या जान कर विशेषभावसे जाननेके लिये पासमें बैठे हुएसे बूझते हैं, कि-जो विद्वान् इन पालक देवबन्धु आदि गुणोंसे संपन्न अथर्वाको स्वात्मत्वरूपसे अनुभव करके जानता हो वा यज्ञात्मक प्रजापतिको मनसे जानता हो अर्थात् केवल श्रुतिवाक्यश्रवणसे नहीं, किन्तु मनन निदिध्यासन आदिसे तत्त्वका साक्षात्कार करने वाला हो उस अभिज्ञ पुरुषका हमसे वर्णन करिये । छान्दोग्योपनिषत् ६ । १४।२ में कहा है, कि-'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।-आचार्य वाला पुरुष तत्त्वको समझ सकता है' अत एव आचार्यके उपदेशसे ही जाना हुआ देवताका स्वरूप पुरुषार्थके युक्त होसकता है इस आकांक्षा से अभिज्ञ पुरुषको पूछा है । यहाँ गुरुको इस लिये बूझा है, कि-यष्टव्यदेवताके स्वरूपका परिज्ञान होने पर जो कर्म किया जाता है वह सगुण (सफल) होता है । अथवा-यह अर्थ भी होसकता है, कि-मन्त्रद्रष्टा महर्षि अपने आपेको ही सम्बोधित करके कहते हैं, कि-जो ऐसे प्रजापति हैं उनका हमसे भली प्रकार वर्णन करिये-यष्टव्य देवताके स्वरूपको भली भाँति समझ कर कहिये । अन्य शाखाओंमें भी मन्त्रद्रष्टा ऋषिने देवता-स्तुतिकरणविषयमें अपने आपेको अभिमुख करके वचन कहा है । यथा-'अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवः ।" (ऋग्वेदसंहिता ३।२३।२) १

चतुर्थी ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्व मैरयत

अया । विऽस्था । जनयन् । कर्वराणि । सः हि । घृणिः । उरुः । वराय । गातुः ।
सः । प्रतिऽउदैत् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वया । तन्वा । तन्वम् । ऐरयत ॥ १ ॥

अया अनया । ❀ तृतीयाया याजादेशः । "हलि लोपः" इति लोपः ❀ । उक्तरीत्या विष्ठाः । विविधं तिष्ठतीति । ❀ "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । सर्वात्मभावेन स्थित इत्यर्थः । अथवा अया अयम् । ❀प्रथमाया आकारः ❀ । अयं प्रजापतिः विष्ठा विश्वात्मना स्थितः कर्वराणि । कर्मनामैतत् । यज्ञादिकर्माणि कार्यजातानि वा जनयन् उत्पादयन् वर्तते । स प्रजापतिः घृणिः दीप्यमानः । ❀ घृण दीप्तौ । औणादिक इन् प्रत्ययः ❀ । वराय वरणीयाय कर्मफलाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उरुः महान् गातुः मार्गः । फलप्राप्तौ अयमेव साधनान्तरनिरपेक्षो महान् उपाय इत्यर्थः । हि शब्दो हेतौ । यस्मात् फलप्राप्तिमार्गः तस्मात् स तादृशो धरुणम् धारकं चिरकालं भगत्वेनावस्थायि मध्वः मधुनः । ❀ नुमभावश्छान्दसः ❀ । मधुवद् आस्वाद्यस्य फलस्य अग्रं सारं प्रत्युदैत् । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । प्रत्युद्गमयति स्तोतृभ्यः । ❀ एतेश्छान्दसो लुङ् । गादेशाभावे सिचि वृद्धिः ❀ । सर्वेषां फलप्रदत्वं स्वस्य सर्वनियन्तृत्वम् अन्तरेण न संभवतीति तद् उप-

पादयति त्वयेति । त्वया स्वीयया तन्वा विराडात्मिकया तन्वम् । ❀ जात्येकवचनम् ❀ । सर्वप्राणिशरीराणि ऐरयंत प्रेरयति तत्तत्कर्मस्विति । ❀ ईर गतौ कम्पने च । छान्दसो लङ् ❀ ॥ अस्य मन्त्रस्य अभिनवे रथे जयकामस्य नृपतेरास्थापने विनियोगात् तत्परतया व्याख्यायते । अथा अयं जयकामो राजा कर्वाणि शत्रुत्रासनादीनि कर्माणि जनयन् । ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । त्रासनादिजननाद्धेतोः विप्राः विशेषेण विशिष्टे वा रथे स्थितः । मन्त्रायुधादिसंस्काराद् रथस्य वैशिष्ट्यम् । स तादृशः खलु राजा दीप्यमानः स्वसेनयेति शेषः । तेजस्वी वा वराय वरिष्ठाय जयलक्षणाय फलाय महान् मार्गः । स राजा धरुणम् ध्रियमाणं परैः अनभिभाव्यं मधुनः जयलक्षणस्य सारं प्रत्युदैत् प्रत्युद्गच्छतु प्राप्नोतु । स च पराभिभवनम् अन्तरेण न घटत इति तद् उपपादयति त्वया स्वीयेन तन्वा शरीरेण स्वगतबलेन सेनालक्षणबलेन वा तन्वम् शत्रुशरीराणि कम्पयति उच्चाटयति ॥

यह प्रजापति विश्वात्मारूपसे स्थित रहते हुए यज्ञ आदि कर्मोंको उत्पन्न करते रहते हैं, यह दीप्यमान प्रजापति वरण करने योग्य कर्मफलके महान् मार्ग हैं, तात्पर्य यह है, कि—फलप्राप्तिके यही किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे शून्य महान् उपाय हैं, क्योंकि—यह फलप्राप्तिके मार्ग हैं, इस कारण यह चिरकाल तक भाग्यरूपसे स्थिर रहने वाले धारक मधुकी समान आस्वाद्य फलके सारभागको स्तोताओंकी ओर प्रेरित करते हैं । (सबका फलप्रदत्व और अपना ही सर्वनियन्तृत्व दूसरेके विना नहीं होसकता अत एव कहते हैं, कि—वह अपने विराडात्मक शरीरसे सब प्राणियोंके शरीरोंको उनके कर्मों में प्रेरित करते हैं । (इस मन्त्रका विजयाभिलाषी राजाको नवीन

रथमें बैठानेके लिये भी विनियोग किया है, उस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि-) यह विजयाभिलाषी राजा शत्रुत्रासन आदि कर्मों को करनेके लिये मन्त्रायुधादिसंस्कारसम्पन्न विशिष्ट रथमें स्थित होगया है, अब यह दमकता हुआ राजा जयरूप श्रेष्ठ फलका महान् मार्ग है, यह राजा धारण किये हुए और शत्रुसे तिरस्कृत न होसकने वाले जयरूप सारको प्राप्त हो, यह अपने सेनारूप शरीरसे अपने शरीरमें स्थित बलसे शत्रुओंके शरीरोंका उच्चाटन कर रहा है ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

एकया । च । दशऽभिः । च । सुऽहुते । द्वाभ्याम् । इष्टये । विंशत्या । च । तिसृऽभिः । च । वहसे । त्रिंशता । च । वियुक्ऽभिः । वायो इति । इह । ताः । वि । मुञ्च ॥ १ ॥

हे सुहुते शोभनाह्वान सुष्ठु ह्वातव्य वा हे वायो । सर्वप्रेरकः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा वायुः । एकया च दशभिश्च । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चशब्दौ ❀ । एकादशभिः वियुग्भिः विशेषेण युज्यन्ते रथे इति वियुजो वडवाः । ❀ युजेः कर्मणि क्विप् ❀ । ताभिर्वहसे । वहतिरत्र गतिमात्रवाची । आगच्छ । किमर्थम् । इष्टये यागाय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म आयाहि । यद्वा इष्टये इच्छायै । ❀ "मन्त्रे वृषेषपच०" इति क्तिन्नुदात्तः । "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । अस्मदीयफलकामनां पूरयितुम्

एकादशभिरश्वाभिः वहसे । ❀ व्यत्ययेन कर्मार्थे कर्तृप्रत्ययः ❀। उह्यसे । ❀ दशभिरिति, "झल्युपोत्तमम्" इति स्वरेण मध्योदात्तं पदम् ❀ । तथा द्वाभ्यां च विंशत्या च द्वाविंशत्या वडवाभिर्वहसे । ❀ विंशत्येति । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तिरुदात्ता ❀। तथा तिसृभिश्च त्रिंशता च त्रयस्त्रिंशता अश्वाभिर्वहसे । अयम् अर्थः । सुहुत इति विधेयविशेषणम् यतस्त्वं सुहुतिः अतः अस्मदाह्वानानुसारेण अस्माकं फलप्रदानादरानुसारेण वा शीघ्रम् आगन्तुं कदाचिद् एकादशभिः कदाचिद् द्वाविंशत्या कदाचित् त्रयस्त्रिंशता वडवाभिः अस्मदीयं यागं प्राप्नुहीति । अतित्वराग-मनविवक्षायां वायोःअपरिमिता अश्वाः शाखान्तरे समाम्नायन्ते। "आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार" इति [ऋ० ७. ९२. १]। वायोरश्वा नियुत इत्युच्यन्ते । आगत्य च हे वायो इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि अश्वशान्तिलक्षणे वा ता वडवा वि मुञ्च । इहैव स्थापय । इतः प्रदेशात् प्रदेशान्तरम् आभिर्वडवाभिर्मा प्राप इत्यर्थः ॥

हे शोभनरीतिसे आह्वान करने योग्य सर्वप्रेरक प्रजापते वा वायो ! आप ग्यारह घोड़ियोंसे, बाईस घोड़ियोंसे वा तैंतीस घोड़ियोंसे यज्ञमें (हमारी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये) आइये और उन घोड़ियोंको यहीं छोड़ दीजिये अर्थात् यहाँसे अन्यत्र न जाइये † ॥ १ ॥

† फलप्रदानकी आवश्यकतानुसार वायु ग्यारह बाईस व तैंतीस घोड़ियों पर शीघ्रतासे आसकते हैं । अति–शीघ्रताकी इच्छा होने पर वायुके असंख्य घोड़ोंका वर्णन अन्य शाखाओंमें मिलता है । यथा–'आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार" (ऋग्वेदसंहिता ७ । ९२ । १.) ॥

षष्ठी ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १ ॥

यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् ।
ते । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ॥ १ ॥

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ता यजमानाः पूर्वं यज्ञेन अग्निना निर्मन्थ्येन यज्ञं होमाधारम् आहवनीयम् अग्निम् अयजन्त । ❀ यजिरत्र संगतकरणवाची ❀ । अनुष्ठानाय संयोजितवन्त इत्यर्थः । "यद् अग्रावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नेय आतिथ्यं क्रियते" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ६. २. १. ७] । तानि धर्माणि अग्निसाधनानि कर्माणि प्रथमानि । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमानि प्रकृष्टतमानि आसन् । फलप्रसवसमर्थानि अभवन्नित्यर्थः । ❀ धर्माणीति । धर्मशब्दः अपूर्वे पुंलिङ्गः तत्साधने नपुंसक इति "अर्धर्चाः पुंसि०" इति सूत्रे वृत्तिकारेण लिङ्गानुशासनं कृतम् ❀ । ते ह ते खलु देवा महिमानः महत्त्वयुक्ता नाकम् कं सुखम् अकं दुःखं तद् अत्र नास्तीति नाकः स्वर्गः स सचन्तः संगताः । ❀ षच समवाये । लङि "०अमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ । यत्र यस्मिन् नाके पूर्वे पुरातनाः साध्याः । प्राणाभिमानिनो देवाः साध्या इत्युच्यन्ते । तथा च वाजसनेयकम् । "प्राणा वै साध्या

देवास्त एतम् अग्रम् एनम् असाधयन्” इति [श० ब्रा० १०. २. २. ४]। यद्वा छन्दोभिमानिनो देवा आदित्या अङ्गिरसश्च साध्या देवा इत्युच्यन्ते। ते देवाः सन्ति निवसन्ति। तस्माद् इदानीमपि यज्ञाधिकारिभिः एवं कर्तव्यम् इत्यर्थः। अत्र ऐतरेयक ब्राह्मणम्। “यज्ञेन देवा वैतद् देवा यज्ञम् अयजन्त यद् अग्निनाग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकम् आयन्” इति [ऐ० ब्रा० १. १६]। “यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति। छन्दांसि वै साध्या देवाः। तेऽग्रेऽग्निनाग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकम् आयन्नादित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च। तेऽग्रेऽग्निनाग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकम् आयन्” इति [ऐ० ब्रा० १. १६]। यद्वा देवा इदानीं देवभावम् आपन्नाः पूर्वं यज्ञेनाग्निना पशुभूतेन यज्ञं यष्टव्यम् अग्निम् अयजन्त पूजितवन्तः। अग्नेरेव मूर्तिभेदेन देवत्वं पशुत्वं च द्रष्टव्यम्। “अग्निः पशुरासीत्। तम् आलभन्त। तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्” इति हि यास्कः [नि० १२. ४१]। साध्याः यज्ञादिसाधनवन्तः। “साधनाः द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः” इति हि यास्कः [नि० १२. ४१]। शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम्। अथवा यज्ञेन ज्ञानयज्ञरूपेण यज्ञः। “यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. २. ८. ५] विष्णुः। तम् अयजन्त आत्मत्वेन ध्यातवन्तः। ते नाकं स्वर्गम्

> दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम्।
> अभिलाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्

इत्युक्तनित्यसुखरूपम्

> यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।

इति [भ० गी० १५. ६] भगवतोक्तं स्थानं सचन्त सेवन्ते प्राप्नुवन्ति। साध्याः। ❀ व्यत्ययेन कर्तरि कृत्यप्रत्ययः ❀। साधकाः। अहंग्रहोपासका इत्यर्थः। यद्वा साध्यं ज्ञानेन प्राप्यं वस्तु येषाम् आत्मत्वेन अस्तीति। ❀ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀। शिष्टं समानम्॥

देवता अर्थात् कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए यजमानोंने, मथ कर निकाली हुई अग्निरूप यज्ञसे होमाधार आहवनीय अग्निरूप यज्ञ को संगत किया था †। ये अग्निसाधन आदि कर्म मुख्य हुए थे अर्थात् फलको देनेमें समर्थ हुए थे। वे देवता महत्त्वसंपन्न होकर जहाँ दुःखका लेश भी नहीं होता, उस नाकस्थानसे संगत होगए हैं, उस नाक (स्वर्ग) में पुरातन प्राणाभिमानी साध्य देवता रहते हैं §। इस कारण इस समय भी यज्ञाधिकारियोंको ऐसा ही करना चाहिये ×।

अथवा-इस समय जो देवत्वको प्राप्त हैं उन्होंने पहिले यज्ञसे अर्थात् पशुभूत अग्निसे पूजनीय अग्निका पूजन किया था +।

---

† तैत्तिरीयसंहिता ६। २। १। ७ में कहा है, कि-'यदग्नावग्निं मथित्वा प्रहरति तेनैवाग्नय आतिथ्यं क्रियते।-जो अग्निमें अग्निको मथकर डाला जाता है उसीसे अग्निके लिये अतिथिसत्कार किया जाता है"।

§ प्राणाभिमानी देवता साध्य कहलाते हैं, इसी बातको वाजसनेयकमें कहा है, कि-'प्राणा वै साध्या देवास्त एतं अग्रं एवं असाधयन्।-प्राण ही साध्य देवता हैं, उन्होंने इस मुख्य धर्मका साधन किया था। अथवा छन्दोऽभिमानी देवता आदित्य और अंगिरस् भी साध्य देवता कहलाते हैं।

× इस विषयमें ऐतरेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि-'यज्ञेन वै तद्द देवा यज्ञम् अयजन्त। यद् अग्निनाऽग्निम् अयजन्त ते स्वर्गं लोकं आयन्" (ऐतरेयब्राह्मण १। १६) "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति। छन्दांसि वै साध्या देवाः। तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निम् अयजन्त। ते स्वर्गं लोकं आयन्" (ऐतरेय ब्राह्मण १। १६)

+ निरुक्त १२। ४१ में कहा है, कि-"अग्निः पशुरासीत्।

ये पूजन आदि धर्म मुख्य हैं, ऐसा करनेसे ये स्वर्गसे संयुक्त होगए हैं, तहाँ पहिले साध्य देवता रहते हैं।

अथवा—देवताओंने ज्ञानरूपयज्ञसे यज्ञरूप ‡ विष्णुका आत्मत्व-रूपसे ध्यान किया। अतः वे दुःखसे शून्य ÷ भगवान्के कहे हुए स्थानको ❀ प्राप्त होगए। ये आत्मरूपसे ध्यान आदि मुख्य कर्म हैं, तहाँ साध्य अर्थात् ज्ञानसे प्राप्य वस्तुको आत्मरूपमें मानने वाले देवता रहते हैं॥ १॥

सप्तमी॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उं वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु

यज्ञः। बभूव। सः। आ। बभूव। सः। प्र। जज्ञे। सः। ऊं इति। ववृधे। पुनः।

तम् आलभन्त। तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम्।—अग्नि पशु था, उसका आलभन किया और उससे यजन किया"।

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १। २। ८। ४ में कहा है, कि—'यज्ञो वै विष्णुः।—यज्ञ विष्णु हैं।

÷ 'दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम्। अभि-लाषोपनीतं यत् सुखं स्वर्गपदास्पदम्॥—जो दुःखसे मिदता न हो और जिसके अनन्तर प्राणी दुःखसे ग्रस्त न होजाता हो और जो अभिलाषा करते ही मिला हो उस सुखको स्वर्ग कहते हैं' यह नित्य सुखरूप स्थान नाक कहलाता है।

❀ भगवान्ने भगवद्गीताके १५ वें अध्यायके ६ठे श्लोकमें कहा है, कि—"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।—प्राणी जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है"॥

सः । देवानाम् । अधिऽपतिः । बभूव । सः । अस्मासु । द्रविणम् । आ । दधातु ॥ २ ॥

यज्ञः यज्ञरूपः प्रजापतिः प्रसिद्धो वा यज्ञः स बभूव विश्वात्मना व्याप्तः निर्वृत्तो वा अभूत् । स आ बभूव सर्वतः कारणात्मना अभवत् । [यद्वा] स निर्वृत्तो यज्ञः आवृत्य भवतु पुनःपुनर्भवतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀। स प्र जज्ञे ।❀जानातेर्जायतेर्वा रूपम् ❀। प्रज्ञातः प्रसिद्धो यज्ञः प्रकर्षेण जातः । फलोन्मुखो जात इत्यर्थः । उशब्दः अवधारणे । स एव पुनर्वावृधे अद्यापि जगदात्मना पुनःपुनर्वर्धते वर्धतां वा यज्ञः ।❀तुजादित्वाद् अभ्यासस्य दीर्घः ❀। स देवानाम् इन्द्रादीनाम् अधिपतिः अधिको मुख्यः स्वामी बभूव । यज्ञो वा हेतुत्वाद् देवानाम् अधिकं पालयिताभूत् । स यज्ञः अस्मासु हविषा परिचरत्सु द्रविणम् धनम् अभिमतं फलम् आ दधातु स्थापयतु ॥

यज्ञरूप प्रजापति वा प्रसिद्ध यज्ञ विश्वात्मारूपसे व्याप्त हुआ है और चारों ओर कारणात्मारूपसे व्याप्त है और वह यज्ञ फलोन्मुख होता है और वह आजकल जगदात्मारूपसे वारंवार बढ़ता है, वह इन्द्र आदि देवताओंका स्वामी हुआ है। ऐसा यज्ञ हम हवि से सेवा करने वालोंमें-धन-अभिमत फल-को स्थापित करे॥२॥

अष्टमी ॥

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ३

यत् । देवाः । देवान् । हविषा । अयजन्त । अमर्त्यान् । मनसा । अमर्त्येन ।

मदेम। तत्र। परमे। विऽओमन्। पश्येम। तत्। उत्ऽइतौ। सूर्यस्य

देवाः कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः यत् फलम्। उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः। अमर्त्यान् अमरणधर्मणो देवान् इन्द्रादीन् अमर्त्येन अमर्त्यसंबन्धिना। देवविषयेणेत्यर्थः। अविनाशिना वा। भोगायतनेष्वागमापायिष्वपि मनसोवस्थानाद् नित्यत्वम्। तादृशेन चिरकालावस्थायिना मनसा हविषा चरुपुरोडाशादिना अयजन्त इष्टवन्तः इति स्वेषामेव परोक्षेणाभिधानम्। "विद्वान् यजेत" इति "विद्वान् याजयेत" इति वचनाद् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकमन्त्रार्थयष्टव्यदेवताकर्तृज्ञानरूपं वैदुष्यं कर्मसु अपेक्षितम् तच्च पूर्वापरानुसंधानसाधनभूतेन मनसा विना न संभवतीति मनसेत्युक्तम्। "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्" इति हि [ऐ० ब्रा० ३. ८] श्रुतिः। वषट्कारवचनम् उपलक्षणम्। तत्र तस्मिन् परमे उत्कृष्टे केवलपुण्यफलभोगस्थाने व्योमन् व्योमनि द्युलोके मदेम वयं यजमाना हृष्यास्म। ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" प्रत्ययः ❀। अपि च सूर्यस्योदितौ। द्युलोके हि नित्योदितः सूर्यः। सूर्यप्रकाशे यावत्सूर्यप्रकाशं तत् फलं पश्येम। ❀ पश्यतिरत्र आलोचनवाची ❀। भोग्यत्वेन जानीमः। चिरकालं पुण्यफलम् अनुभवेमेत्यर्थः॥ एवं द्रव्ययज्ञस्वरूपतत्फलतद्भोगस्थानपरतया व्याख्यातः ज्ञानयज्ञपरत्वेनापि अयं मन्त्रो व्याख्यायते। आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः विविदिषवः। यत्। ❀ सप्तम्या लुक् ❀। यस्मिन् ब्रह्माग्नौ देवान्। देवशब्देन देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो विवक्ष्यन्ते। तासां मनसश्च विषयेषु सातत्येन प्रवर्तनाद् अमर्त्यत्वाभिधानम्। अथवा तत्त्वविद्योदयपर्यन्तम् इन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविनश्वरत्वम्। ❀ मनसेति सहार्थे तृतीया ❀। अन्तर्वृत्त्युपर-

मेपि ममसो अस्माकमस्तु प्रभुप्रसादात् । मनःसहिता अच्छूती: हविषा । ❀ भावप्रधानो निर्देशः ❀ । हविष्ट्वेन संकल्प्येति शेषः । ❀ यद्वा हविष्ट्वसंकल्पे मनसः कारणत्वात् तृतीया ❀ अमर्त्येन । मर्त्यशब्देन अविद्याविषया उत्पन्ने । विनाशिविषयासक्तेनेत्यर्थः ।

मनं एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं स्मृतम् ॥

इति श्रुतेः । तादृशेन विषयासक्तिना मनसा इन्द्रियवृत्तीर्हविष्ट्वेन संकल्प्य अयजन्त तथाविधा वयं तत्र तस्मिन् परमे । तस्य सर्वजगदधिष्ठानत्वात् तस्य तु अधिष्ठानान्तराभावात् परमत्वम् । "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति [छा० उ० ७. २४. १] श्रुतेः स्वमहिमप्रतिष्ठे व्योमनि व्योमवत् असंगे सर्वगते चिदानन्दस्वरूपे अप्राप्ति विषये मदेम तुष्यास्म । न केवलं संतोषः अपि तु सूर्यस्य सुवृत्तेरकस्य परमात्मनः उदितौ परिपूर्णप्रकाशसाक्षात्कारेण अविद्यास्तमये सति तद् प्रकाशात्मकं तत्त्वं पश्येम स्वात्मतया अनुभवेम । ❀ संप्रश्ने लिङ् ❀ ॥

कर्म से देवत्वको प्राप्त हुए मनुष्य जिस फलको उद्देश्यमें रख कर अमरणधर्मा इन्द्र आदि देवताओंका—उत्पन्न और नष्ट होने वाले भोगरूप स्थानोंमें भी रहनेके कारण नित्य मनसे—चरु पुरोडाश आदिके द्वारा यजन करते हुए ‡ ऐसे हम यजमान केवल पुण्यफलभोगके स्थान द्युलोकमें आनन्द पावें और द्युलोकमें

‡ मनके विषयमें श्रुतिमें कहा है, कि—'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्तेर्निर्विषयं मतम् ॥ मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण है, विषयासक्त मन—बंधनका कारण होता है और विषयशून्य मन मुक्तिका कारण होता है' अतः यहाँ विषयासक्त मनकी आहुति देनेका ही अभिप्राय है ।

सूर्य नित्य उदित रहता है अतः हम सूर्यके उदयको देखते रहें अर्थात् चिरकाल तक पुण्यफलका अनुभव करें ॥

यह मन्त्र ज्ञानयज्ञपरक भी है, उस समय इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी, कि–आत्मविषयक विद्यासे क्रीड़ा करने वाले जाननेकी इच्छा वाले यहाँ देवता माने गए हैं अतः ऐसे देवगण अध्यात्मिमें विषयोंमें सन्तत प्रवर्तनके कारण अमर्त्य देवत्वकी साधन-भूत इन्द्रियरूप देवताओंको, तत्त्वविद्याके उदय तक स्थिर रहनेके कारण नित्य मनके साथ हविरूपमें कल्पना करके होमते हुए ऐसे हम सब जगत्का अधिष्ठान होनेसे परम और दूसरा अधिष्ठान भी न होनेसे परम ‡ अपनी महिमामें प्रतिष्ठित व्योमकी समान असंगत,सर्वगत चिदानन्दरूप ब्रह्ममें हर्षको पावें, केवल हर्ष (सन्तोष) को ही न पावें, किंतु भली प्रकार प्रेरणा करने वाले (सूर्य) परमात्माका उदय होने पर परिपूर्ण प्रकाशका साक्षात्कार होनेसे अविद्याका अस्त होजानेके कारण प्रकाशात्मक तत्त्वका स्वात्मरूपसे अनुभव करें ॥ ३ ॥

नवमी ॥

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । यज्ञम् । देवाः । अतन्वत ।

अस्ति । नु । तस्मात् । ओजीयः । यत् । वि॒ऽहव्येन । ईजिरे ४

‡ छान्दोग्योपनिषत् ७ । २४ । १ की श्रुतिमें कहा है, कि–“स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि)–हे भगवन् ! वह किसमें प्रतिष्ठित है, वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है” ॥

सर्वातिशायिसर्वात्मकहिरण्यगर्भरूपफलप्रापकात् पुरुषमेधाख्य-महाक्रतोरपि सर्वात्मकब्रह्मस्वरूपावाप्तिफलप्रापको ज्ञानयज्ञः श्रेयान् इत्यनया अभिधीयते। पुरुषमेधविधायकं वाक्यम् एवं वाजसनेय-ब्राह्मणे समाम्नायते। "पुरुषो ह वै नारायणोकामयत। अति-तिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत्। तम् आहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वा-त्यतिष्ठत्। सर्वाणि भूतानीदं सर्वम् अभवत्" इति [श० ब्रा० १३.५.५.१.]। देवाः दीव्यन्तीति देवा यजमानाः पुरुषेण अश्व-रूपेण हविषा। "अथ स पुरुषोश्व आसीत्" इति वाजसनेयश्रुतेः। अथ साक्षात् पुरुषस्य अनालम्भनात् पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सर्ग-विधानाद् अश्वमेधातिदिष्टोश्वः पशुः पुरुषशब्देन विवक्ष्यते। तेन हविषा यज्ञं पुरुषमेधाख्यम् अतन्वत विस्तारितवन्तः। ❀ यद्-वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀। "ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते" [तै० ब्रा० ३. ४. १. १] इत्यादिना समाम्नाता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य-शूद्रादिरूपा बहवः पुरुषपशवो विद्यन्ते इति यज्ञविस्तारोक्तिः। एवं पुरुषहविष्कयज्ञ इति यद् अस्ति तस्माद् ओजीयः अतिशयेन ओजस्वि सारवत् अस्ति नु विद्यते खलु। सामान्यनिर्देशेन यज्ञ-स्वरूपापेक्षया वा नपुंसकत्वम्। ❀ ओजीय इति ओजस्विशब्दाद् ईयसुनि विनो लुकि रूपम् ❀। ओजीयोस्तीति प्रतिज्ञातम् तद् दर्श-यति। विहव्येन हव्यं होतव्यं हविः। विगतहविष्केण ज्ञानयज्ञेन ईजिरे इष्टवन्तः स्वात्मानं परमात्माभेदेन साक्षात्कृतवन्त इति यत् तद् ओजीय इति। द्रव्ययज्ञज्ञानयज्ञयोरुभयोः सार्वात्म्यलक्षण-फलसाम्येपि पुरुषमेधफलस्य कर्मजन्यत्वेन विनाशित्वं ज्ञानयज्ञ-फलं तु न तथेति तस्माद् ओजीय इत्युक्तम्। भगवतापि उक्तम्।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप। इति [भ० गी० ४. ३३]॥

[सबसे अधिक सर्वात्मक हिरण्यगर्भरूप फलको प्राप्त कराने वाले पुरुषमेध नाम वाले महाक्रतुसे भी सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप फलकी प्राप्ति कराने वाला ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, इसी बातका इस ऋचामें प्रतिपादन किया है, पुरुषमेधविधायक वाक्य वाजसनेयकमें इस प्रकार कहा है, कि–"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्याम् इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत्। तम् आहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत्। सर्वाणि भूतानीदं सर्वं अभवत्।–पुरुषरूपमें स्थित नारायणने कामना की, कि–मैं सब भूतोंमें अधिष्ठित होऊँ, यह सब मैं ही होजाऊँ। तब उसने इस पाँच रात्रिमें पूर्ण होनेवाले पुरुषमेध यज्ञक्रतुको देखा। उसकी सामग्रीको एकत्रित कर उससे यजन किया और यजन करनेके अनन्तर स्थित होगया, फिर सब भूत और यह सब होगया" (शतपथब्राह्मण १३।४।५।१)। मन्त्रके पुरुषशब्दका अर्थ अश्वरूप हवि है। क्योंकि–वाजसनेयककी श्रुतिमें कहा है, कि–"अथ स पुरुषोऽश्व आसीत्।–तदनन्तर वह पुरुष अश्व होगया"। यहाँ साक्षात् पुरुषका आलंभन न होने पर पर्यग्निकरणके अनन्तर उत्सर्गका विधान होनेसे अश्वमेधके लिये अतिदिष्ट अश्वपशु पुरुषशब्दसे विवक्षित है।] स्तुति करने वाले यजमानरूप देवताओंने पुरुषपशुकी हविसे पुरुषमेध नाम वाले यज्ञको विस्तृत किया †। ऐसे पुरुषहविष्क यज्ञसे भी, हविरहित यज्ञसे जो यजन किया जाता है वह ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ‡ ॥ ४ ॥

---

† 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते' (तैत्तिरीयब्राह्मण ३।४।१।१) में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदिरूप बहुतसे पुरुषपशु हैं उनसे यज्ञके विस्तार करनेका वर्णन किया है।

‡ अपने आत्माका परमात्माके अभेदसे साक्षात्कार करना

दशमी ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः ।
पुरुऽधा । अयजन्त ।
यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् ।
इह । इह । ब्रवः ॥ ५ ॥

एवं कर्मयज्ञात् ज्ञानयज्ञस्य उत्कर्षं श्रुत्वा कर्मयज्ञं निन्दन् अविनाशिफलकामस्तटस्थो ब्रूते । मुग्धाः कार्याकार्यविवेकरहिता देवा यजमानाः । उतशब्दः अप्यर्थे । शुनापि अयजन्त । यज्ञो हि पशुसाधनकः । तत्र अत्यन्तगर्हितस्यापि शुनः पशुत्वेन निर्देशात् कर्मयज्ञस्य निन्दा दर्शिता । असाध्यानां परमावधिः श्वा । तथा । उतशब्दः अप्यर्थे । गोः गोरूपपशोः अङ्गैः अवयवैरपि । "हृदयस्याग्रेवद्यति" [तै० सं० ६. ३. १०. ४] इति अंगावदानश्रवणाद् अङ्गैरित्युक्तम् । अवध्यानां परमावधिर्गौः । पुरुधा बहुधा अयजन्त । एकदा करणे प्रमादाज्ञानादिकृतम् इति संभावना भवति । अतस्तन्निरासाय पुरुधेत्युक्तम् । सर्वदा शुनकगवादिरूपैः पशुभिर्यज्ञं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं पूर्वार्धेन कर्मयज्ञं निन्दित्वा

ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है । इन द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ दोनोंमें सार्वात्म्यलक्षणफलकी समानता होने पर भी पुरुषमेधका फल कर्मजन्य होनेसे विनाशी है और ज्ञानयज्ञका फल विनाशी नहीं है अत एव वह श्रेष्ठ है । भगवान्‌ने भी कहा है, कि–'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' । (भगवद्गीता ४ । ३३) ॥

उत्तरार्धेन ज्ञानयज्ञप्राप्तये तदभिज्ञं प्रार्थयते । यो विद्वान् इमं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं मनसा चिकेत जानासि स्म तं तथाविधं गुरुं नः अस्माकं प्र वोचः प्रकर्षेण ब्रूहि । तेन प्रदर्शितं गुरुं ब्रूते । इहैव इहैव इदानीमेव अत्रः परमात्मस्वरूपं ब्रूहि ॥

[इति] सप्तमे काण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(इस प्रकार कर्मयज्ञसे ज्ञानयज्ञके उत्कर्षको सुनकर कर्मयज्ञकी निन्दा करता हुआ अविनाशी फलको चाहने वाला तटस्थ कहता है, कि–) कार्य और अकार्यके विवेकसे रहित यजमानोंने कुत्तेसे यज्ञ किया है और गौके अंगोंसे भी अनेक बार यज्ञ किया है (यज्ञ पशुसे सिद्ध होता है । उसमें परमगर्हित कुत्तेको भी पशु-रूपसे ग्रहण किया है अतः कर्मयज्ञको निन्दनीय बताया है, क्यों-कि–अखाद्य वस्तुओंमें कुत्ता परम अखाद्य है और गौ परम अवध्य है तथापि "हृदयस्याग्रेऽवद्यति" तैत्तिरीयसंहिता ६ । ३ । १० । ४ में अंगोंका अवदान करना कहा है । एक बार कोई बात प्रमाद से भी होसकती है अतः अनेक बार कहा है । इस प्रकार पूर्वार्धसे कर्मयज्ञकी निन्दा करके उत्तरार्धसे ज्ञानयज्ञकी प्राप्तिके लिये उस को जानने वालेकी प्रार्थना करते हैं, कि–) जो विद्वान् यष्टव्य परमात्माको मनसे जान चुका हो ऐसे गुरुको ध्यान देकर बताइये (और प्रदर्शित गुरुसे कहते हैं, कि–) इसी समय आप परमात्म-स्वरूपको कहिये ॥ ५ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें -प्रथम सूक्त समाप्त

"अदितिर्द्यौरदितिः" इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आद्या-भिश्चतसृभिः सर्वफलकामः अदितिं यजते उपतिष्ठते वा । "अथर्वा-णम् [७. २] अदितिर्द्यौः [७. ६] दितेः पुत्राणाम्" [७.८] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

तथा आधाने पवमानेष्टौ आदित्यहविरनुमन्त्रणे "अदितिर्द्यौः"

इति विनियुक्ता । आधानं प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "पवमानः पुनातु [६. १९. २] स्वेषस्ते [१८. ४. ५९] अग्नी रक्षांसि [८. ३. २६] अदितिर्द्यौः" [७. ६] इति [वै० २. २] ॥

"महीमू षु" [७. ६. २] इति तृचेन नौघटादिभिरुदकतरणे स्वस्त्ययनकामो नावादिकम् अभिमन्त्र्य तेन तरेत् ॥

तथा नावादिभिर्दूरदेशगमने स्वस्त्ययनकामः अनेन तृचेन नावं संपात्य तरेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन तृचेन नौमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य नाविकेभ्यो बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "महीमू ष्विति तरणान्यारोहयति । दूरान्नावं संपातवतीं नौमणिं बध्नाति" इति [कौ० ७. ३] ॥

"महीमू षु" इति ऋचा विवाहे चतुर्थिकाकर्मणि खट्वां स्पर्शयेत् । "महीमू ष्विति तल्पम् आलम्भयति" इति [कौ० १०.५] सूत्रात् ॥

तथा आवसथ्याधाने क्रव्याद्विसर्जनानंतरं गृहसमीपे नदीरूपाणि कृत्वा उदकेन आपूर्य "महीमू षु" "सुत्रामाणम्" इत्याभ्यां नावम् आरोहयेत् । सूत्रितं हि । 'प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् [१२. २. ४८] सुत्रामाणम् [७. ७. १] महीमू षु [७. ६. २] इति सहिरण्यां सयवां नावम् आरोहयति" इति [कौ० ६. ३] ॥

सोमयागे दीक्षायां "सुत्रामाणम्" इत्येनां कृष्णाजिनस्थो यजमानो जपेत् । "पुनन्तु मा [६. १९. १] इति पाव्यमानः सुत्रामाणम् [७. ७. १] इति कृष्णाजिनम् उपवेशितः" इति वि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १] ॥

अग्निचयने "वाजस्य नु प्रसवे" इति वाजप्रसवीयहोमान् ब्रह्म

अनुमन्त्रयेत । "वाजस्य नु प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्" इति [वै० ५. २] वैतानसूत्रात् ॥

सर्वफलकामो "दितेः पुत्राणाम्" इति देवान् यजते उपतिष्ठते वा । "अथर्वाणम् अदितिर्द्योर्दितेः पुत्राणाम्" इति [कौ० ७.१०] हि कौशिकं सूत्रम् ॥

प्रवासे द्रव्यलाभार्थं "भद्रादधि" इति ऋचा आज्यसमित्पुरोडाशादीनाम् अन्यतमं जुहुयाद् ऋचं जपेद् वा ॥

तथा अश्वादियानेन गच्छन् अनया अश्वादिकं संपात्य अभिमन्त्र्य उदकेन संप्रोक्षयेद् मोचयेच्च ॥

तथा विक्रेयं वस्त्रादिकम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य लाभकामः अभिमतं देशं नयेत् ॥

तथा लाभकामः अनया वस्त्रादिकम् अभिमन्त्र्य स्वीकुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत । जपति । यानं संप्रोक्ष्य विमोचयति । द्रव्यं संपातवद् उत्थापयति । निमृज्योपयच्छति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा ग्रहयज्ञे "भद्रादधि" इत्यनया हविराज्यसमिदाधानोपस्थानानि बृहस्पतये कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "स बुध्न्यात् [४. १. ५] भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [७. ६] बृहस्पतिर्नः [७.५३] इति बृहस्पतये" इति [शा० क० १५] ॥

"प्रपथे पथाम्" इति चतुर्ऋचेन नष्टद्रव्यलाभार्थं नष्टद्रव्याकाङ्क्षिणो दक्षिणं पाणिम् उन्मृज्य संपात्य विमृज्य वा उत्थापयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन चतुर्ऋचेन एकविंशतिशर्करा अभिमन्त्र्य चतुष्पथे निधाय विकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । "प्रपथ इति नष्टैषिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणिं निमृज्योत्थापयेत् । एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति" [कौ० ७. ३] ।

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि "प्रपथे पथाम्" इत्यनया पौष्णं हविरनुमन्त्रयेत। "चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत" इति प्रक्रम्य "प्रपथे पथाम् [७. १०] मरुतः पर्वतानाम् [५.२४.६]" इति [वै०-२. ४] वैताने सूत्रितम् ॥

"अदितिर्द्यौरदितिः" यह दूसरा सूक्त है। सर्वफलकाम व्यक्ति इसकी पहिली चार ऋचाओंसे अदितिका उपस्थान वा यजन करे। कौशिकसूत्र ७। १० में कहा है, कि-"अथर्वाणम् (७।२) अदितिर्द्यौः (७। ६) दितेः पुत्राणाम् (७। ८)" ॥

तथा आधानकी पवमानेष्टिके आदित्यहविके अनुमन्त्रणमें 'अदितिर्द्यौः' का विनियोग होता है। आधानके प्रकरणमें वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पवमानः पुनातु (६। १९। २) त्वेषस्ते (१८। ४। ५९) अग्नी रक्षांसि (८। ३। २६) अदितिर्द्यौः (७।६)" (वैतानसूत्र २। २) ॥

'महीमू षु' (७। ६। २) इस तृचसे नौका घट आदिके द्वारा जलके तरनेमें स्वस्त्ययनको चाहने वाला नौका आदिको अभिमन्त्रित करके उस नौका आदिसे तरे।

तथा दूरदेशमें नौका आदिसे जाना चाहने वाला स्वस्त्ययन चाहता हो तो इस तृचसे नौकाको सम्पातित करके तरे।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस तृचसे नौमणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके नाविकोंके बाँध देय।

कौशिकसूत्र ७। ३ में कहा है, कि-"महीमू ष्विति तरणान्यारोहयति। दूराभावं संपातवतीं नौमणिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ७। ३) ॥

विवाहके चतुर्थिकाकर्ममें 'महीमू षु' इस ऋचासे खट्वाका स्पर्श करे। कौशिकसूत्र १०। ५ में कहा है, कि-"महीमू ष्विति तल्पं आलम्भयति" ॥

तथा आवसथ्याध्यानमें क्रयद्विसर्जनके अनन्तर घरके नदीरूपोंको बना कर जलसे भरे फिर 'महीमू षु' 'सुत्रामाणम्' इन दोनोंसे नौका पर चढ़े। सूत्रमें इस विषयका प्रमाण है, कि–"प्राग्दक्षिणं सप्त नदीरूपाणि कारयित्वा उदकेन पूरयित्वा आ रोहत सवितुर्नावम् एताम् (१२ । २ । ४८) सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) महीमू षु (७ । ६ । २) इति सहिरण्यां सयवां नावं आरोहयति।–अर्थात् प्राग्दक्षिण सात नदीरूपोंको बना कर उनको जलसे भरे फिर बारहवें काण्डके दूसरे अनुवाकके अड़तालीसवें 'आरोहत सवितुर्नावम् एताम्'सूक्तसे, सप्तम काण्डके सातवें अनुवाकके प्रथम सूक्त 'सुत्रामाणम्' से और सातवें काण्डके छठे अनुवाकके दूसरे सूक्त 'महीमू षु' से सुवर्ण और जौं वाली नौका पर चढ़े" (कौशिकसूत्र ६ । ३)।

सोमयागकी दीक्षामें कृष्णमृगचर्म पर विराजमान यजमान 'सुत्रामाणम्' इस ऋचाका जप करे। वैतानसूत्र ३ । १ में कहा है, कि–पुनन्तु मा (६ । १९ । १) इति पाव्यमानः सुत्रामाणम् (७ । ७ । १) इति कृष्णाजिनं उपवेशितः" ॥

अभिचयनमें अध्वर्यु वाजप्रसवीयहोमका 'वाजस्य नु प्रसवे' से अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ५ । २ में कहा है, कि–'वाजस्य नु प्रसव इति वाजप्रसवीयहोमान्' ॥

सर्वफलकाम "दितेः पुत्राणाम्" से देवोंका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अथर्वाणं अदितिर्द्यौर्दितेः पुत्राणाम्' (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

प्रवासमें द्रव्यका लाभ होनेके लिए 'भद्रादधि' इस ऋचासे, घृत समिधा पुरोडाश आदिमेंसे किसी एककी आहुति देवे वा इस ऋचाका जप करे।

तथा अश्वादियानसे चलता हुआ इससे अश्व आदिका संपातन और अभिमन्त्रण करके जलसे प्रोक्षण करे और छोड़ देय।

तथा बेचनेके वस्त्र आदिको इससे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके लाभ चाहने वाला अभीष्ट स्थानको चला जावे।

तथा लाभ चाहने वाला इससे वस्त्र आदिको अभिमन्त्रित करके स्वीकार करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'भद्रादधीति प्रवत्स्यन्नुपदधीत। जपति। यानं संप्रोक्ष्य विमोचयति। द्रव्यं संपातवद्द उत्थापयति। निर्ज्योपयच्छति"(कौशिकसूत्र (५ । ६)॥

तथा ग्रहयज्ञमें 'भद्रादधि' इस ऋचासे हवि घृत समिदाधान और उपस्थानोंको बृहस्पतिके लिये करे। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि–"स बुध्न्यात् (४ । १ । ५) भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७ । ८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) इति बृहस्पतये (शान्तिकल्प १५)॥

नष्ट द्रव्य चाहने वालोंके नष्ट द्रव्यके लाभके लिये 'प्रपथे पथाम्' इस चतुर्ऋचसे दक्षिण पाणिको शुद्ध संपातित करे उठावें॥ तथा तहाँ ही कर्ममें इस चतुर्ऋचसे इक्कीस रेतेके कणोंको अभिमन्त्रित करके चौराहेमें रख कर बखेर देय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'प्रपथ इति नष्टैषिणां प्रक्षालिताभ्यक्तपाणिपादानां दक्षिणं पाणिं निष्ट्ज्योत्थापयेत्। एवं संपातवतो विमृज्यैकविंशतिशर्कराश्चतुष्पथे निक्षिप्यावकिरति' (कौशिकसूत्र ७ । ३)॥

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें 'प्रपथे पथाम्' इस ऋचासे पूषा देवताकी हविका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत' इति प्रक्रम्य 'प्रपथे पथाम् (७ । १०) मरुतः पर्वतानाम् (५ । २४ । ६)" (वैतानसूत्र २।४)

तत्र प्रथमा॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः

विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒-र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

अदि॑तिः । द्यौः । अदि॑तिः । अ॒न्तरि॑क्षम् । अदि॑तिः । मा॒ता । सः । पि॒ता । सः । पु॒त्रः ।

विश्वे॑ । दे॒वाः । अदि॑तिः । पञ्च॑ । जनाः॑ । अदि॑तिः । जा॒तम् । अदि॑तिः । जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा । सैव द्यौः द्योतनशीलो नाकः । सैव अन्तरिक्षम् अन्तरा द्यावापृथिव्यो-र्मध्ये ईक्ष्यमाणं व्योम । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी । सैव पिता उत्पादकस्तातश्च । स पुत्रः मातापित्रोर्जातः पुत्रोपि सैव । विश्वे देवाः सर्वेपि देवा अदितिरेव । पञ्च जनाः निषादपञ्च-माश्चत्वारो वर्णाः । यद्वा गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि । तद् उक्तं यास्केन । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः इति [नि० ३. ८]। ऐतरेयब्राह्मणे तु एवम् आम्नातम् । "सर्वेषां वा एतत् पञ्चजना-नाम् उक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितृणां च" इति [ऐ० ब्रा० ३. ३१]। तत्र गन्धर्वाप्सरसाम् ऐक्यात् पञ्च-जनत्वम् । एवं विधाः पञ्च जना अपि अदितिरेव । जातम् जननं प्रजानाम् उत्पत्तिः सापि अदितिरेव । जनित्वम् जन्माधिकरणम् । यद्वा जातम् उत्पन्नं जनित्वम् उत्पत्स्यमानं च यद् अस्ति तदपि अदितिरेव । एवं सकलजगदात्मना अदितिः स्तूयते । उक्तं च यास्केन । इत्यदितेर्विभूतिम् आचष्टे इति [नि० ४. २३]।

❀ अदितिः । दो अवखण्डने । अस्मात् कर्मणि क्तिनि "द्यति-स्यतिमास्थाम्०" इति इत्वम् । यास्कपक्षे तु दीङ् क्षये इत्यस्मात्

क्तिनि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम् । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । स पितेति स पुत्र इति "निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकताम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददते" इत्युद्देश्यलिंगतया पुंलिङ्गत्वम् । जनित्वम् । जनेरौणादिक इत्वन् प्रत्ययः ॥

अखण्डनीय पृथिवी वा अदीना देवमाता—अदिति ही द्योतनशीला द्यौः (स्वर्ग) है, वही द्यावापृथिवीके मध्यमें दीखता हुआ अन्तरिक्ष है, और वही अदिति माता अर्थात् जगत्का निर्माण करने वाली जननी है, वही पिता अर्थात् उत्पादक तात है, माता पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र भी वही है और सब देवता भी अदिति ही हैं, निषाद पञ्चम जन भी अदिति ही हैं। प्रजाकी उत्पत्ति जनन भी अदिति ही है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और होरहा है वह सब अदिति ही है (इस प्रकार सकलजगदात्मारूपसे अदितिकी स्तुति की है यास्कमुनिने भी कहा है, कि—'इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे' (नि० ४।२३)॥ १॥

द्वितीया ॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्

महीम् । ऊं इति । सु । मातरम् । सुऽव्रतानाम् । ऋतस्य । पत्नीम् । अवसे । हवामहे ।
तुविऽक्षत्राम् । अजरन्तीम् । उरूचीम् । सुऽशर्माणम् । अदितिम् । सुऽप्रनीतिम् ॥ २ ॥

महीम् महतीं मंहनीयां वा सुव्रतानाम् । व्रतम् इति कर्मनाम ।

शोभनकर्मणां पुरुषाणां मातरम् मातृस्थानीयाम् ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पत्नीम् पालयित्रीं तुविक्षत्राम् बहुबलां बहुधनां वा । ❀ त्रिचक्रादित्वाद् उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀। अजरन्तीम् अविनश्वरीम् उरूचीम् उरून् महतः अञ्चतीम् उरु महद् अतिदूरं वा गच्छन्तीं बहुप्रकारगतिं वा । ❀ "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ❀ । सुशर्माणम् सुसुखाम् । ❀ "सोर्मनसी अलोमोषसी" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । सुप्रणीतिम् सुखेन कर्मणां प्रणेत्रीं सुष्ठु प्रणीयमानां वा अदितिम् अखण्डनीयां देवमातरं नावं वा अवसे रक्षणाय सु सुष्ठु हवामहे आह्वयामः । ❀ व्यत्ययेन शः ❀ । उ इति पदपूरणे ॥

शोभन कर्म वाले पुरुषोंकी मातृस्थानीया, सत्य और यज्ञका पालन करने वाली, परम धनबलवती, अविनाशिनी, सुन्दर सुख से सम्पन्न अनेक प्रकारकी गति वाली, सुखसे प्रणीत विशाल देवमाता अदिति वा नौकाका हम रक्षाके लिये आह्वान करते हैं २

तृतीया ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥ १ ॥

सुऽत्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सुऽशर्माणम् । अदितिम् । सुऽप्रणीतिम् ।
दैवीम् । नावम् । सुऽअरित्राम् । अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ १ ॥

सुत्रामाणम् सुष्ठु त्रायमाणां पृथिवीम् विस्तीर्णाम्। ❀ प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च [उ० १. १४८] इति प्रत्ययसंप्रसारणे। षित्वात् ङीप् ❀। द्याम् द्योतमानाम् अभिगन्तव्यां वा अनेहसम् अपापाम्। सुशर्माणम् इति पादः पूर्वस्याम् ऋचि व्याख्यातः। स्वरित्राम् शोभनारित्राम्। अरित्रम् उदकक्षेपणसाधनभूतो दण्डः। अस्रवन्तीम् अच्छिद्रां दैवीम् देवानाम् इयम्। ❀ "देवाद्यञञौ" इति अञ् प्रत्ययः ❀। देवमातरं देवसंबन्धिनीं वा नावम् नौसदृशीं प्रसिद्धां वा नावम् अनागसः अनपराधा वयं स्वस्तये क्षेमाय आ रुहेम आरूढा भूयास्म। ❀ "लिङ्याशिष्यङ्"। "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀॥ अस्य मन्त्रस्य दीक्षायां कृष्णाजिनादिरूढेन यजमानेन जप्यत्वाद् नौशब्देन कृष्णाजिनं विवक्ष्यते। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। "कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः" इत्याम्नातम् [ऐ० ब्रा० १. १३]। सर्वाणि विशेषणानि पूर्ववद् योज्यानि॥

भली प्रकार रक्षा करने वाली विस्तीर्ण, गन्तव्य, पापरहित सुन्दर सुखसे सम्पन्न अखण्डनीय देवमाता अदिति वा नौका की हम शरण लेते हैं-आरोहण करते हैं-। यह सुखपूर्वक कर्मोंका प्रणयन करती हैं वा भली प्रकार प्रणीत हैं। छिद्ररहित हैं देवताओंसे इनका सम्बन्ध है और नौकाकी समान तारने वाली हैं इनके पार उतारनेका (वा नौकाका दण्ड शोभन है, और यह निरपराधा हैं अत एव ऐसी नौका पर हम चढ़ते हैं, वा देवमाता अदितिकी हम शरण लेते हैं ‡॥ १॥

---

‡ इस मन्त्रको कृष्णमृगचर्म पर आरूढ़ यजमान जपता है अत एव नौकाशब्दसे कृष्णमृगचर्म लिया जाता है। इसी बातको ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि-'कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौः-कृष्णमृगचर्म सुन्दरतासे तारने योग्य नौ है" (ऐतरेयब्राह्मण १। १३)॥

चतुर्थी ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्रऽसवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम । वचसा । करामहे ।

यस्याः । उपऽस्थे । उरु । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रिऽवरूथम् । नि । यच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ उत्पत्त्यर्थम् । ❀ "थाथ०" इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । मातरम् अन्नस्य निर्मात्रीं महीम् महतीम् अदितिं नाम । अदितिः अदीना अखण्डनीया वा । एवंनामधेयाम् एवंस्वभावां नावं वा नु क्षिप्रं वचसा स्तुत्या करामहे कुर्महे । अदितिं नावं वा अन्नप्रसवार्थं स्तुम इत्यर्थः । ❀ करोतेर्व्यत्ययेन शप् ❀ । यस्या अदित्या उपस्थे उत्सङ्गे समीपे उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आकाशं वर्तते सा अदितिः नः अस्माकं त्रिवरूथम् त्रिभूमिकं त्रिकक्ष्यं शर्म गृहं नि यच्छात् नियच्छतु प्रयच्छतु । ❀यमेर्लेटि आडागमः। "इषुगमियमां छः" इति छादेशः❀॥

अन्नकी उत्पत्तिके लिये, अन्नका निर्माण कर सकने वाली विशाल अखण्डनीय नौकाकी हम वाणीसे स्तुति करते हैं, जिस अखण्डनीय नौकाके समीपमें विशाल आकाश है, वह अदिति अर्थात् अखण्डनीया नौका हमको तिखन्ना भवन देवे ।

अथवा-अन्नकी उत्पत्तिके लिये हम, अन्नका निर्माण करने वाली विशाला देवमाता अदिति देवीकी वाणीसे स्तुति करते हैं, उन अदिति देवीकी गोदमें बड़ा आकाश है वह अदितिदेवी हम को तिमँजला भवन देवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्म- णाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः । पुत्राणाम् । अदितेः । अकारिषम् । अव । देवानाम् । बृहताम् । अनर्मणाम् ।
तेषाम् । हि । धाम । गभिऽसक् । समुद्रियम् । न । एनान् । नमसा । परः । अस्ति । कः । चन ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्वे भार्ये अदितिर्दितिश्च । तत्र अदितेरुत्पन्ना देवाः । दितेस्तु दैत्या दानवाः । तथा सति देवयागे अस्या ऋचो विनियोगाद् देवप्रशंसापरत्वेन व्याख्यायते । दितेः पुत्राणाम् दैत्यानां संबन्धि । तेषां हि धामेति तृतीयपादे दैत्यस्थानस्य उक्तत्वाद् अत्र षष्ठ्या तत्संबन्धि स्थानं विवक्ष्यते । दैत्यानां स्थानम् अव । ॐ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ॐ । अवकृष्य दैत्येभ्यः अपहृत्य अदितेः । जन्ये जनकशब्दः । पुत्राणाम् इति वा अनुषङ्गः । अदितेः पुत्राणां देवानाम् । अर्पयेति शेषः । दितेः पुत्राणां स्थानम् अवा-

कारिषम् अवकिरामि अवक्षिपामि। यथा तद् धाम दैत्यानां निवासाय न भवेत् तथा विप्रकीर्णं करोमीत्यर्थः। ❀ कॄ विक्षेपे। लुङि "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमे वृद्धौ रूपम् ❀। देवा विशेष्यन्ते। बृहताम् गुणैर्महताम् अनर्मणाम् अर्म हतस्थानम् तद्रहितानां शत्रुभिरनभिभाव्यानाम्। हिर्हेतौ। हि यस्मात् समुद्रियं समुद्रे भवम्। ❀ "समुद्राभ्राद् घः" इति घः ❀। समुद्रम् अन्तरिक्षं प्रसिद्धो वा समुद्रः। तत्र दैत्या निवसन्तीति हि प्रसिद्धिः। तादृशं समुद्रभवं तेषां दैत्यानां धाम स्थानं गभिषक्। गम्भीरम् इत्यर्थः। परैर्दुष्प्रवेशम्। दुर्जयम् इति यावत्। अतः अवकृष्य किरामि अवक्षिपामि तेषामिति संबन्धः। किमिति दैत्यतिरस्कारः तद् आह। एनान्। देवानां बृहताम् अनर्मणाम् इति गुणाधिक्यस्य उक्तत्वात् ते देवा अत्र अन्वादिश्यन्ते। एनान् देवान् परः। ❀ परशब्दयोगे पञ्चम्या भवितव्यम्। अत्र छान्दसो विभक्तिव्यत्ययः ❀। एतेभ्यो देवेभ्यः परः अन्यः कश्चन। चनेति निपातसमुदायः अप्यर्थे। कश्चिदपि नमसा नमस्कारेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा न संभाव्योस्ति। अतो देवानामेव यष्टव्यत्वेन प्रशस्तत्वात् तदर्थेनानेन यागेन अस्माभिरभिलषितसिद्धिराशास्यते

(कश्यप मुनिकी दिति और अदिति नाम वाली दो भार्यायें थीं। इनमें अदितिसे देवता उत्पन्न हुए और दितिसे दैत्य उत्पन्न हुए। और देवयागमें इस ऋचाका विनियोग है अतः देवताओंकी प्रशंसामें इसकी व्याख्या की जाती है, कि-) दैत्योंके स्थानको मैं दैत्योंसे छीन कर अदितिके पुत्र देवताओंका करता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वह धाम दैत्योंके निवासके लिये न हो तिस प्रकार उसको विप्रकीर्ण करता हूँ, ये देवता गुणोंसे बड़े हैं और हतस्थानसे रहित हैं। उन दैत्योंका स्थान समुद्र (वा) अन्तरिक्षमें है और वह गम्भीर है अर्थात् शत्रु उसमें कठिनतासे प्रवेश कर

सकते हैं और इन देवताओंसे अधिक हविका वा नमस्कारका पात्र और कोई नहीं है, अत एव पूजनीय होनेके कारण देवताओंके निमित्त किये हुए इस यागसे हम अपनी अभिलषित सिद्धिकी आशा करते हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्

भद्रात् । अधि । श्रेयः । प्र । इहि । बृहस्पतिः । पुरःऽएता । ते । अस्तु ।

अथ । इमम् । अस्याः । वरे । आ । पृथिव्याः । आरेऽशत्रुम् । कृणुहि । सर्वऽवीरम् ॥ १ ॥

हे पशुधनादिलाभकाम पुरुष भद्रात् मङ्गलात् संपदः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । श्रेयः संपदं प्रेहि प्रगच्छ प्रकर्षेण गच्छ । उत्तरोत्तरं संपदं प्राप्नुहीत्यर्थः । यद्वा भद्रात् भन्दनीयाद् अस्मात् स्थानात् श्रेयः अतिशयितलाभहेतुं स्थानं प्रेहि । देशान्तरं गच्छतः पुरुषस्य बृहस्पतिसाहायकं दर्शयति । ते लाभार्थं गच्छतस्तव बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतनामा देवः पुरएता अस्तु पुरतो गन्ता अग्रगामी भवतु । ❀ आसकाले लोट् । "पुरोऽव्ययम्" इति गतित्वाद् "गतिकारकोपपदात् कृत्" इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ उत्तरार्धे बृहस्पतिः संबोध्यते । हे बृहस्पते त्वम् अथ पुरतो गमनानन्तरम् इमं लाभकामं पुरुषम् अस्याः पृथिव्या वरे उत्कृष्टे लाभस्थाने आ । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । आस्थापय । अस्मिन् प्रदेशे

धनादिलाभविशेषो भवति तत्र इमं पुरुषं संयोजयेत्यर्थः । अपि च सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयः [यस्य] तादृशं शत्रुम् आरे दूरे कृणुहि कुरु । लाभस्थाने लाभकामस्य पुरुषस्य ये परिपन्थिनो जनाः तान् दूरम् अपसारयेत्यर्थः । ॐ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ॐ ॥

हे वस्त्र धन आदिके लाभको चाहने वाले ! आप इस मङ्गलमय कर्मसे उत्कृष्टसम्पत्तिको प्राप्त करिये, अथवा—इस कल्याणमय स्थानसे परमलाभ कराने वाले स्थानको भेजिये (देशान्तर को जाने वाले पुरुषकी बृहस्पतिसाहाय्यको दिखाते हैं, कि—) लाभार्थ जानेवाले तुम्हारे आगे २ बड़े २ देवताओंके पति बृहस्पतिदेव चलें । और हे बृहस्पते ! आप आगे २ होने पर इस लाभ चाहने वाले पुरुषको इस पृथिवीके लाभके श्रेष्ठ स्थानमें स्थापित करिये । और जिसके पास पुत्र भृत्य आदि सब वीर हैं उस शत्रुको दूर करिये अर्थात् लाभस्थानमेंसे इसके प्रतिद्वन्द्वियोंको हटादीजिये ।

सप्तमी ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः । उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

प्रऽपथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्रऽपथे । दिवः । प्रऽपथे । पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रियऽतमे । सधस्थे इति सधऽस्थे । आ । च । परा । च । चरति । प्रऽजानन् ॥ १ ॥

पूषा पोषको मार्गरक्षको देवः पथाम् मार्गाणां प्रपथे प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथः । मार्गमुखे अजनिष्ट प्रादुर्भवति रक्षणार्थम् । तथा पूषैव दिवः द्युलोकस्य प्रपथे प्रवेशद्वारे पृथिव्याः प्रपथे प्रवेशद्वारे । अजनिष्ट इति संबन्धः । सोयं पूषा प्रियतमे अतिशयेन प्रीतिमत्यौ सधस्थे परस्परं सहैव अवस्थिते । ❀ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । तादृश्यौ उभे द्यावापृथिव्यौ अभिलक्ष्य प्रजानन् यजमानैः कृतं कर्म तत्फलं च प्रकर्षेण विद्वान् आ चरति च परा चरति च दिवः पृथिवीम् आगच्छति पृथिव्या दिवं परागच्छति । सर्वप्राणिकृतस्य कर्मणः साक्षी भूत्वा उभयोरपि लोकयोर्गमनागमने करोतीत्यर्थः ॥

मार्गरक्षक पोषक पूषा देवता प्रवेश मार्गमें रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भू होजाते हैं, तथा पूषा देवता ही द्युलोकके प्रवेशद्वारमें रक्षा करनेके लिये आविर्भूत होते हैं और पृथिवीके प्रवेशद्वारमें रक्षाके लिये आविर्भूत रहते हैं। और यह पूषा देवता परमप्रेमी परस्पर साथ ही साथ स्थित दोनों द्यावापृथिवीको लक्ष्य कर यजमानोंके किये हुए कर्म और कर्मफलको जानते हुए द्यौसे पृथिवी पर आते हैं और पृथिवी परसे द्यौ पर जाते हैं । अर्थात् सब प्राणियोंके किये हुए कर्मोंके साक्षी बन कर दोनों लोकोंमें गमनागमन करते हैं १

अष्टमी ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।

स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभयऽतमेन । नेषत् ।

स्वस्तिऽदाः । आघृणिः । सर्वऽवीरः । अप्रऽयुच्छन् । पुरः । एतु । प्रऽजानन् ॥ २ ॥

पूषा पोषको देवः इमाः सर्वा आशाः दिशः अनु वेद अनुक्रमेण जानाति । स पूषा देवः अस्मान् अभयतमेन अत्यन्तभयरहितेन मार्गेण नेषत् नयतु । ❀ नयतेर्लेटि "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । अडागमः ❀ । सोयं पूषा स्वस्तिदाः क्षेमस्य कल्याणस्य वा दाता आघृणिः आगतदीप्तिर्व्याप्तदीप्तिर्वा सर्ववीरः सर्वैर्वीरैः पुत्रादिभिर्युक्तः अप्रयुच्छन् । ❀ युच्छ प्रमादे ❀ । प्रमादम् अकुर्वन् प्रजानन् अस्मदभिप्रायं मार्गं वा प्रकर्षेण जानन् पुर एतु पुरतो गच्छतु । अस्मदभिलषितसाधनायेति शेषः ॥

पोषक पूषा देव इन सब दिशाओंको अनुक्रमसे जानते हैं, वह पूषा देवता हमको परम निर्भय मार्गसे लेजावें यह पूषादेवता क्षेम और कल्याणके देने वाले हैं और दीप्तिसे व्याप्त रहते हैं, पुत्र आदि सब वीरोंसे युक्त हैं–ऐसे सूर्यदेव हमारे अभिलषित मार्गको जानते हुए हमारे आगे २ हमारे अभिलषितको जाननेके लिये चलें ॥ २ ॥

नवमी ॥

पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन ।

स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

पूषन् । तव । व्रते । वयम् । न । रिष्येम । कदा । चन ।

स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ३ ॥

हे पूषन् पोषक देव तव व्रते कर्मणि यागरूपे वर्तमाना वयं कदा चन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम । पुत्रमित्रादिभि-

धनेन च वियुक्ता मा भूमेत्यर्थः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । दैवादिकः ❀ ॥ किं च इह अस्मिन् कर्मणि इदानीं वा ते तव स्तोतारः स्तुतिं कुर्वाणाः स्मसि भवामः ॥

हे पूषन् ! हम आपके यागरूप कर्ममें वर्तमान रहते हुए कभी भी नष्ट न होवें अर्थात् पुत्र मित्र और धनसे भी वियुक्त न होवें, क्योंकि—हम इस कर्ममें आपकी स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

दशमी ॥

परि॑ पूषा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु दक्षि॑णम् ।
पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

परि॑ । पूषा । प॒रस्ता॑त् । हस्त॑म् । द॒धा॒तु । दक्षि॑णम् ।
पुन॑रिति॑ । नः॒ । न॒ष्टम् । आ । अ॒ज॒तु । सम् । न॒ष्टेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ ॥४॥

पूषा पोषको देवः परस्तात् परतः अतिदूराद् देशादपि । धनम् आदातुम् इति शेषः । दक्षिणं हस्तं परिदधातु प्रसारयतु । यत्र-यत्र अस्माकं दित्सितं धनम् अस्ति तद् धनम् अस्माकं दातुं तत्र-तत्र देशे हस्तं प्रसारयतु इत्यर्थः । नः अस्मान् नष्टं धनं पुनः आजतु पुनरागच्छतु । ❀ अज गतिक्षेपणयोः ❀ । न केवलम् आगमनं किं तु नष्टेन पुनरागतेन धनेन सं गमेमहि संगच्छेमहि । धनेन संगता भवेमेत्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् गमेरात्मनेपदिनो "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

इति सप्तमे काण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पोषक पूषा देव अतिदूर देशसे भी धन लेनेके लिये दाहिने हाथको फैलावें । अर्थात् जहाँ २ हमारे देने योग्य धन है उस धनको हमको देनेके लिये उस २ देशमें हाथ फैलावें, हमारा नष्ट

हुआ धन हम पर आवे, वह धन हम पर आवे ही नहीं, किन्तु हम उस पुनर्वार आये हुए धनसे संयुक्त होवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३२१) ॥

"यस्ते स्तनः" इति तृतीयं सूक्तम् । तत्र जम्भगृहीतबालकभैषज्यार्थं "यस्ते स्तनः" इत्यनया स्तनम् अभिमन्त्र्य बालं पाययेत्

तथा तत्रैव कर्मणि प्रियंगुतण्डुलानाम् उपरि क्षीरं दुग्ध्वा अनया ऋचा अभिमन्त्र्य व्याधितं पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "यस्ते स्तन इति जम्भगृहीताय स्तनं प्रयच्छति । प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति" इति [कौ० ४. ८] ॥

अशनिनिवारणकर्मणि "यस्ते पृथु स्तनयित्नुः" इति ऋचा अशनिम् उपतिष्ठेत । "यस्ते पृथु स्तनयित्नुरित्यशनिम्" इति [कौ० ५. २] सूत्रात् ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि केतवे कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "यस्ते पृथु स्तनयित्नुः [७. १२] देवो देवान्" [१८. १. ३०] इत्यादि "केतुं कृण्वन्नकेतवे [ऋ० १. ६. ३] इति केतवे" [शा० क० १५] इत्यन्तम् ॥

तथा उपाकर्मणि अनया आज्यं जुहुयात् ॥

"सभा च मा" इति पञ्चर्चेन सभाजयकर्मणि क्षीरौदनं पुरोडाशं रसान् वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि पञ्चर्चं जपन् सभास्तम्भं गृह्णीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन सभाम् उपतिष्ठते ॥

"सभा च मेति भक्षयति । स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते" इति [कौ० ५. २] कौशिकसूत्रात् ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मणि कृत्यानिःसारणानन्तरं स्वगृहम् आगत्य "यथा सूर्यः" इत्यृचं जपन् प्रदक्षिणं गच्छेत् । "यथा सूर्य इत्याहृत्याव्रजति" इति सूत्रात् [कौ० ५. २] ॥

अभिचारकर्मणि "यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्" इति सूक्तं शत्रुं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तत्रैव कर्मणि "यावन्तो मा सपत्नानाम्" इति जपित्वा शत्रून् निरीक्षते ॥

तथा नैर्ऋतकर्मणि निर्ऋतिप्रतिकृतिविसर्जनानन्तरं "यथा सूर्यः" इति जपन् पुनः स्वगृहम् आगच्छेत्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति" इति [न० क० १५]

"यस्ते स्तनः" यह दूसरा सूक्त है। इसकी 'यस्ते स्तनः' ऋचासे जम्भगृहीत बालककी चिकित्साके लिये स्तनको अभिमन्त्रित करके पिला देय।

तथा तहाँ ही कर्ममें कँगनीके चावलोंके ऊपर दूध दुह कर इस ऋचासे अभिमन्त्रित कर रोगीको पिला देय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यस्ते स्तन इति जंभगृहीताय स्तनं प्रयच्छति। प्रियंगुतण्डुलान् अभ्यवदुग्धान् पाययति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

अशनिनिवारणकर्ममें 'यस्ते पृथु स्तनयित्नुः' इस ऋचासे अशनिका उपस्थान करे। कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा है, कि-'यस्ते पृथु स्तनयित्नुरित्यशनिम्'।

तथा ग्रहयज्ञमें इस ऋचासे हवि घृत होम समिदाधान और उपस्थानोंको केतुके लिये करे। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है कि-'यस्ते पृथुः स्तनयित्नुः (७ । १२) देवो देवान्' (१८ । १ । ३०) इत्यादि 'केतुं कृण्वन्नकेतवे (ऋ० १ । ६ । ३) इति केतवे" (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा उपाकर्ममें इस ऋचासे आहुति देय।

'सभा च मा' इस पञ्चर्चसे सभाजयकर्ममें क्षीरौदनको पुरोडाशको वा रसोंको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे।

तथा तहाँ ही कर्ममें पञ्चर्चको पढ़ता हुआ सभास्तम्भको ग्रहण करे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस पञ्चर्चसे सभामें बैठे।

कौशिकसूत्र ५।२ में कहा है, कि–'सभा च मेति मन्त्रयति। स्थूणे गृह्णाति उपतिष्ठते'॥

कृत्याप्रतिहरणकर्ममें कृत्यानिःसारणके अनन्तर अपने घरमें आकर 'यथा सूर्यः' इस ऋचाको जपता हुआ प्रदक्षिण जावे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ५।३ का प्रमाण है, कि–"यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति"॥

अभिचार कर्ममें 'यथा सूर्यो नक्षत्राणाम्' इस ऋचका शत्रुको देख कर जप करे।

तथा तहाँ ही कर्ममें 'यावन्तो मा सपत्नानाम्' को जप कर शत्रुओंको देखे।

तथा नैर्ऋतकर्ममें निर्ऋतिकी प्रतिकृतिके विसर्जनके अनन्तर 'यथा सूर्यः' को जपता हुआ फिर अपने घरको आवे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–'उपानहावुपमुच्य यथा सूर्य इत्यावृत्याव्रजति' (नक्षत्रकल्प १५)॥

तत्र प्रथमा॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑।

येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः॥ १॥

यः । ते । स्तनः । शशयुः । यः । मयःऽभूः । यः । सुम्नऽयुः ।

सुऽहवः । यः । सुऽदत्रः ।

येन । विश्वा । पुष्यसि । वार्याणि । सरस्वति । तम् । इह ।

धातवे । कः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदवाक्यादिना सरणवति वाग्देवते ते तव यः स्तनः शिशयुः शिशोः पोषं कुर्वन् भवति । ❀ "प्रातिपदिकाद्ध धात्वर्थे बहुलम् इष्ठवच्च" इति शिशुशब्दात् पुष्णातिधात्वर्थे णिच् प्रत्ययः । इष्ठवद्भावात् शिशोष्टिलोपः । ण्यन्ताद् औणादिक उप्रत्ययः । णिलोपाभावश्छान्दसः । ण्यन्तत्वादेव अनवग्रहः ❀ । शेतेर्वा । शिशयुः निगूढः । अनुपासकानाम् अप्रकाश इत्यर्थः । "यस्ते स्तनो गुहायां निहितः" इति वाजसनेयश्रुतेः । यश्च स्तनो मयोभूः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भावयिता । यश्च सुम्नयुः सुम्नं सुखं परेषाम् इच्छतीति सुम्नयुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच् ❀ । सामान्यविशेषविवक्षया मयोभूः सुम्नयुरिति विशेषणद्वयम् । सुहवः शोभनाह्वानः सर्वैराप्यायनार्थं सम्यग् आहूयमानः । काम्यमान इत्यर्थः । यश्च सुदत्रः कल्याणदानः सुधनो वा । येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वरणीयानि धनानि पुष्यसि पोषयसि । स्तोतृभ्य इति शेषः । तं तादृशगुणोपेतं स्तनम् इह अस्मिन् जन्मगृहीते बालके धातवे धातुं पातुं योग्यं कः कुरु । ❀ धेट् पाने । तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः । करिति । करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेलुकि गुणे । "हल्ङ्या०" इत्यादिना सिपो लोपे "०अमाङ्योगेपि" इति अडभावे रूपम् ❀ ॥

हे वर्णपदवाक्यादिरूपसे सरने वाली सरस्वती देवि ! आपका

जो स्तन बालकोंको पुष्ट करने वाला है अथवा अनुपासकोंके लिये सोता रहता है † और आपका जो स्तन सुख देने वाला है, सबसे क्राम्यमान है, सुन्दर घन वाला है और जिस स्तनसे आप वरणीय समस्त धनोंको स्तोताओंके पुष्ट लिये करती हैं ऐसे स्तनको पीनेका पात्र इस बालकको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम् ।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

यः । ते । पृथुः । स्तनयित्नुः । यः । ऋष्वः । दैवः । केतुः । विश्वम् । आऽभूषति । इदम् ।
मा । नः । वधीः । विऽद्युता । देव । सस्यम् । मा । उत । वधीः । रश्मिऽभिः । सूर्यस्य ॥ १ ॥

हे देव द्योतनशील पर्जन्य ते तव स्वभूतः पृथुः विस्तीर्णो महान् यः स्तनयित्नुः गर्जनरूपशब्दं कुर्वन् अशनिः यश्च ऋष्वः बाधकः। ❀ ऋष हिंसायाम् । औणादिकः क्वन् प्रत्ययः ❀। दैवः देवस्य पर्जन्यस्य संबन्धी देवैर्निर्मितो वा । ❀ "देवाद् यञञौ" इति

†वाजसनेयश्रुतिमें कहा है, कि- 'यस्ते स्तनो गुहायां निहितः।– आपका जो स्तन (अज्ञानियोंके लिये) गुहामें स्थित रहता है– अप्रकाशित रहता है" ।

अच् प्रत्ययः ❀ । केतुः अनर्थज्ञापकोशनिः केतुरूपो वा ग्रहः इदं परिदृश्यमानं विश्वम् आभूषति व्याप्नोति । बाधितुम् इति शेषः। हे देव पर्जन्य विद्युता तादृश्या अशन्या नः अस्माकं सस्यम् शाल्यादिकं मा वधीः मा बाधिष्ठाः। ❀ हन्तेलु ङि वधादेशः ❀ । उत अपि च सूर्यस्य सवितुः रश्मिभिः संतापकरैः किरणैः अस्मदीयं सस्यं मा वधीः मा शोषय । अयम् अर्थः । क्षेत्रेषु उप्ताः शाल्यादयः अतिवृष्ट्यनावृष्टिभ्यां बाध्यन्ते । सस्यविनाशेन तदुपजीविन्यः प्रजा विनश्यन्ति । अतोत्र तत्परिहारः प्रार्थ्यत इति ॥

हे द्योतनशील पर्जन्य ! आपका जो विस्तृत गर्जनरूप शब्दको करने वाला अशनि है वह बाधक केतु (वह अनर्थसूचक अशनि या केतुग्रह) बाधा देनेके लिये सारे विश्वमें व्याप्त होजाता है । हे देव ! वैसी अशनिसे हमारे सट्टी आदि धान्यको नष्ट न होने दीजिये और सूर्यदेवकी (सन्तापदायिनी) किरणोंके द्वारा हमारे धान्यको न सुखाइये । तात्पर्य यह है, कि—खेतोंमें बोये हुए अन्न अतिवृष्टि और अनावृष्टिसे नष्ट होजाते हैं और धान्य का नाश होनेसे उससे आजीविका चलाने वाली प्रजा विनष्ट होजाती है, अतः उसका परिहार करनेके लिये यहाँ प्रार्थना की है १

तृतीया ॥

सभा च॑ मा समि॑तिश्चावतां प्र॒जाप॑तेर्दुहि॒तरौ॑ संवि॒दाने॑ । येना॑ सं॒गच्छा॒ उप॑ मा॒ स शि॑क्षा॒च्चारु॑ वदानि पितरः॒ संग॑तेषु ॥ १ ॥

स॒भा । च॒ । मा॒ । सम्ऽइ॑तिः । च॒ । अ॒व॒ता॒म् । प्र॒जाऽप॑तेः । दु॒हि॒तरौ॑ । सं॒वि॒दा॒ने इति॑ सम्ऽवि॒दा॒ने ।

येन । सम्ऽगच्छै । उप । मा । सः । शिक्षात् । चारु । वदानि । पितरः । सम्ऽगतेषु ॥ १ ॥

सभा विदुषां समाजः । समितिः संयन्ति संगच्छन्ते युद्धाय अत्रेति समितिः संग्रामः । सांग्रामीणजनसमेत्यर्थः । यद्वा संग्रामनामानि यज्ञनामानि भवन्तीति यास्केनोक्तत्वात् समितिशब्देन यज्ञ उच्यते । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ते उभे अपि मा मां वादिनम् अवताम् रक्षताम् । कीदृश्यौ । प्रजापतेः सर्वजगत्स्रष्टुर्दुहितरौ पुत्र्यौ ।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् [या० स्मृ० १. ६]

इति "यं आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः" इति [च] स्मृतेर्विद्वत्संघस्य सभात्वात् तदुक्तेश्च सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूपत्वात् प्रजापतिपुत्रीत्वव्यपदेशः । ते च सभे संविदाने अस्मद्रक्षणविषयम् ऐकमत्यं प्राप्ते । ❀ विदेः संपूर्वात् "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ । किं च येन वादिना संगच्छै वक्तुं संगतो भवानि । ❀ पूर्ववद् आत्मनेपदिनो गमेर्लोटि रूपम् ❀ । स विद्वान् मा मां संगतम् उप शिक्षात् उपेत्य शिक्षयतु । समीचीनं वादयत्वित्यर्थः । ❀ शिक्ष विद्योपादाने । ण्यन्तात् लेटि आडागमः ❀ । यद्वा शिक्षात् मा वक्तुं शक्तं समर्थम् इच्छतु । ❀ शकेः सन्नन्तात् पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । अयम् अर्थः । येन सह अहं विवदे स स्वयं मदुक्तवचनविघटनपटूनि वाक्यानि अभाषमाणः प्रत्युत मामेव स्ववचनतिरस्कारकवाक्यवादिनं करोत्विति । अपि च हे पितरः पालकाः मदुक्तं वाक्यं साधु साध्विति अनुमोदमानाः पितृभूता वा हे सभासदो जनाः संगतेषु मया सह वक्तुं मिलितेषु वादिषु चारु न्यायोपेतं सदुत्तरं वदानि । यथा सम्यग् वदामि तथा अनुगृह्णीतेत्यर्थः ॥

विद्वान् पुरुषोंका समूह सभा कहलाती है, और यज्ञसभा वा संग्रामसभा समिति कहलाती है ये दोनों सभासमितियें प्रजापतिकी पुत्रियें एकमत होकर ‡ मुझ वादीकी रक्षा करें। जिस वादीसे मैं संगत होऊँ वह मुझसे अपने वचनोंका तिरस्कार कराने वाले वाक्योंका ही उच्चारण करा सके, हे पालकों! वा मेरे कहे हुए वाक्यका साधु २ कहकर अनुमोदन करनेसे पितारूप सभासदों! मैं अपने साथ वाद करते हुए मनुष्योंसे सदुत्तर ही कहूँ, तिस प्रकार मुझ पर अनुग्रह करो ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नरिष्टा । नाम । वै । असि ।
ये । ते । के । च । सभाऽसदः । ते । मे । सन्तु । सऽवाचसः २

हे सभे ते तव नाम नामधेयं विद्म जानीमः । ❁ "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः ❁ । तन्नाम दर्शयति । हे सभे नाम ।

---

‡ सभा और समितिको प्रजापतिकी पुत्री कहनेका तात्पर्य यह है कि-'चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा । सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् ॥-वेद धर्मको जाननेवाले चार पुरुष वा त्रैविद्य पुरुष परिषत् कहलाते हैं, ऐसी परिषत् (सभा) जो कुछ कहे वह धर्म है' (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ९) और यद्ध आर्याः प्रशंसन्ति स धर्मः ।-शिष्ट पुरुष जिसकी प्रशंसा करें वह धर्म है" । के अनुसार विद्वत्संघके सभा होनेसे और उसकी उक्तिके सर्वशास्त्रनिर्णीतधर्मरूप होनेसे उन दोनोंको सब जगत्के रचयिता प्रजापतिकी पुत्री कहा है ।

नाम्नेति यावत् । नरिष्टा । ॐ रिषिणा क्रान्तेन नसमासः ॐ । अहिंसिता परैरनभिभाव्या । एतन्नामिका असि वै भवसि खलु । एकस्य वचनम् अन्यैराद्रियते तिरस्क्रियतेपि । बहवः संभूय यद्येकं वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम् अतः अनतिलङ्घ्यवाक्यत्वाद् नरिष्टेति नाम सभाया युज्यते । अतस्ते तव संबन्धिनः ये के च सभासदः सभायां सीदन्तो विद्वांसस्ते सर्वे मे मम सवाचसः समानवाक्याः [सन्तु] भवन्तु । न हि सभा सर्वा संभूय एकं प्रति ब्रूते अपि तु तत्रस्थाः कतिपये । तेपि मद्विषये अनुकूलवाक्याः भवन्तु इति प्रार्थ्यते ॥

हे सभे ! हम तेरे नामको जानते हैं, तू नरिष्टा नाम वाली है (अर्थात् दूसरोंसे अनभिभूत नामवाली है · एकके वाक्यको कुछ पुरुष आदर करते हैं और कुछ तिरस्कार भी करते हैं और जो बहुतसे एकत्रित होकर एक वाक्यको कहें तो वह वाक्य अलंघनीय होता है अतः अनतिलङ्घ्य वाक्य वाली होनेसे सभाका नाम नरिष्टा नाम ठीक ही है) अतः तेरे जो संबन्धी सभासद हैं वे सब विद्वान् मेरे समानवाक्य होवें ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे ।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥३॥

एषाम् । अहम् । सम्ऽआसीनानाम् । वर्चः विऽज्ञानम् । आ । ददे ।
अस्याः । सर्वस्याः । सम्ऽसदः । माम् । इन्द्र । भगिनम् । कृणु ३

समासीनानाम् सभायाम् अवतिष्ठमानानाम् एषाम् पुरोवर्तिनां वादिनां वर्चः तेजो वैदुष्यजनितप्रभावविशेषम् विज्ञानम् वेदशास्त्रार्थविषयं ज्ञानं च । विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरिति तद्विदः । तद् अहम्

आ ददे स्वीकरोमि। अपहरामीत्यर्थः। ❀ ददातेः "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀। किं बहुना। हे इन्द्र। इन्द्रस्यैव वागनुशासनकर्तृत्वात् सभाजयकर्मणि तस्यैव प्रार्थनम्। तथा च तैत्तिरीयके। "ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुरु" इति प्रक्रम्य आम्नातम्। "ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३]। तादृशेन्द्र अस्याः पुरः स्थितायाः सर्वस्याः संसदः सभाया भगिनम्। भगो भाग्यं वैदुष्यलक्षणं जयलक्षणं वा। तद्वन्तं मां कृणु कुरु। सर्वामपि सभां मदेकवाक्यश्रवणपरां कुर्वित्यर्थः। अथवा भगो भागः। तद्वन्तं कुरु। सर्वस्याः सभाया यावती वैदुष्यकृता संभावना तावद्भागभाजं कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

इस सभामें सामने बैठे हुए वादियोंके विद्वत्ताके कारण उत्पन्न हुए प्रभावविशेषात्मक तेजको और वेदशास्त्रार्थविषयकज्ञानरूप विज्ञानको मैं अपहृत करता हूँ (अधिक क्या ? इन्द्र ही वाणीके अनुशासनकर्ता हैं अतः सभाजय कर्ममें उनकी ही प्रार्थना की जाती है। इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—'ते देवा इन्द्रं अब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुरु।—उन देवताओंने इन्द्रसे कहा, कि—हमारी इस वाणीको व्याकृत करिये। इसका आरम्भ करके कहा है, कि—'तां इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते।—इन्द्रने उसको मध्यमें अवक्रम करके व्याकृत किया है, इस कारण यह व्याकृत वाणी कही जाती है") ऐसे इन्द्रदेव ! इस पूरी सभाके सामने मुझे भाग्यसम्पन्न करें ॥३॥

षष्ठी ॥

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।

तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

यत् । वः । मनः । पराऽगतम् । यत् । बद्धम् । इह । वा । इह । वा ।

तत् । वः । आ । वर्तयामसि । मयि । वः । रमताम् । मनः ४

हे सभासदः वः युष्माकं यन्मनः मानसं परागतम् अस्मत्तः परागत्य अन्यत्र गतम् । अस्मदनभिमुखम् इत्यर्थः । यच्च मनः इह वा अस्मिन् वा विषये बद्धं-संसक्तम् । मनसो विषयानासङ्गेन अनवस्थानात् तत्संबन्धार्हान् सर्वान् पदार्थान् अभिनयेन दर्शयति । इह वा इह वेति अस्मद्व्यतिरिक्तसर्वविषयेषु संसक्तं वर्तते । तत् तादृशं वः युष्माकं मनः आ वर्तयामसि अस्मदभिमुखं कुर्मः । आवर्तितं च वो मनः मयि रमताम् मदनुकूलार्थचिन्तापरं भवत्वित्यर्थः॥

हे सभासदों ! तुम्हारा जो मन हमसे विमुख होकर अन्यत्र चला गया है और जो मन हमसे व्यतिरिक्त अमुक अमुक विषय में आसक्त होरहा है, तुम्हारे ऐसे मनको हम अपनी ओर अभिमुख करते हैं, और मेरी ओर लौटा हुआ तुम्हारा मन मुझमें रमण करे-मेरे अनुकूल विचार करे ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्ऽयन् । तेजांसि । आऽददे ।

एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे १

उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् सूर्यः नक्षत्राणाम् तारकाणाम् तेजांसि दीप्तिं यथा आददे आदत्ते निस्तेजस्कानि करोति । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । एव एवम् । ❀ अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । स्त्रीणां पुंसां च द्विषताम् स्त्रीणां द्विषतीनां पुरुषाणां द्विषतां च । ❀ "पुमान्

स्त्रिया” इति पुंसो द्विषत एकशेषः ❀। वर्चः तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्। आ ददे स्वीकरोमि अपहरामि। ❀ददातेर्वर्तमाने लटि उत्तमैकवचने रूपम् ❀॥

जिस प्रकार उदय होते हुए सूर्य नक्षत्रोंके तेजको ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् नक्षत्रोंको निस्तेज कर देते हैं, इसी प्रकार मैं द्वेष करने वाले स्त्री पुरुषोंके पराभिभवनशक्तिरूप तेजको हरता हूँ १

अष्टमी ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।

उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥२॥

यावन्तः। मा। सऽपत्नानाम्। आऽयन्तम्। प्रतिऽपश्यथ।

उत्ऽयन्। सूर्यःऽइव। सुप्तानाम्। द्विषताम्। वर्चः। आ। ददे २

सपत्नानाम् शत्रूणां मध्ये यावन्तः यत्परिमाणाः शत्रवो यूयम् आ यन्तम् युद्धाय युष्मान् अभिगच्छन्तम् मा मां प्रतिपश्यत प्रतिकूलं निरीक्षध्वम्। ❀ अतिसर्गे लोट् ❀। द्विषताम् तेषां प्रतिकूलं पश्यतां शत्रूणां युष्माकं वर्चः पराक्रमरूपं तेजः आ ददे अपहरामि। तत्र दृष्टान्तः। उद्यन् उदयं गच्छन् [सूर्य इव] सूर्यो यथा सुप्तानां उदयकाले स्वपतां जनानां वर्चः अपहरति तद्वत्। सूर्यस्योदये अस्तमये वा स्वपतां पुरुषाणां वर्चसः सूर्येण अपहृतत्वात् तत्समाधानाय आपस्तम्बेन प्रायश्चित्तरूपाणि कर्माणि विहितानि। “स्वपन्नभिनिर्मुक्तोनाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत। श्वोभूत उदकम् उपस्पृश्य वाचं विसृजेत्। स्वपन्नभ्युदितोनाश्वान् वाग्यतोऽहस्तिष्ठेत्। आ तमितोः प्राणम् आयच्छेदित्येके” इति [आप० ध० २. ५. १२. १२–१५] ॥

सप्तमकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[इति] अथर्ववेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

हे शत्रुओंमेंसे जितने शत्रु तुम मुझको आता हुआ देख रहे हो, द्वेष करने वाले तुम शत्रुओंके तेजको मैं इस प्रकार अप-हृत करता हूँ जिस प्रकार सूर्य उदय होते समय सोने वालोंके तेजको हर लेता है ‡ ॥ २ ॥

सप्तम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त और प्रथम अनुवाक समाप्त (३९९)

द्वितीयेऽनुवाके द्वे सूक्ते । तत्र "अभि त्वम्" इत्याद्ये सूक्ते आदि-त्यदृश्यं येन सूत्रोक्तं स्थानं गत्वा तत्र उदपात्रं संपात्य सोममिश्रं कृत्वा सारूपवत्सम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामः अश्नीयात्

"तां सवितः" इति ऋचा एकवारमसूताया गोर्बन्धरज्जुमणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामो बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "अभि त्वम् [७. १५] इति महावकाशेरण्य उन्नते विमिते प्राग्द्वारे प्रत्यग्द्वारे वाप्सु संपातान् आनयति । कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति । सोममिश्रेण संपातवन्तम्

---

‡ सूर्योदय वा सूर्यास्तके समय सोने वालोंके तेजको सूर्यदेव हर लेते हैं, इसका समाधान करनेके लिये आपस्तम्ब मुनिने प्राय-श्चित्तरूप कर्म कहे हैं, कि–'स्वपन्नभिनिम्रुक्तो नाश्वान् वाग्यतो रात्रिम् आसीत। श्वोभूत उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेत् । स्वपन्न-भ्युदितोऽनाश्वान् वाग्यतोऽहस्तिष्ठेद् । आ तमितो प्राणम् आय-च्छेद् ।–सूर्यके अस्तके समय सोनेसे अभिनिम्रुक्तसंज्ञक होजावे तो कुछ खावे नहीं, वाणीको नियममें रक्खे और रात्रि भर बैठा रहे और दूसरा दिन होने पर जलमें स्नान कर वाणीको खोले, सूर्योदयके समय सोता हो तो भोजन न करे और दिन भर वाणीको नियममें रक्खे वा जब तक अंगोंमें ग्लानि न आवे तब तक प्राणवायुको धारण करे' (आपस्तम्बधर्मसूत्र द्वितीयप्रश्न पञ्चम पटल बारहवीं खण्डिकाके १३ । १४ । १५ सूत्र) ॥

अश्नाति । आदीप्ते संपन्नं तां सवितः [७. १६] इति पुष्टिदाम बध्नाति" इति [कौ० ३. ७]॥

तथा सोमक्रयणानन्तरम् "अभि त्यम्" इत्यनेन ब्रह्मा हिरण्यपाणिः सोमं विचिनुयात् । "चर्मणि सोमम् अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ३]॥

"बृहस्पते सवितः" इत्यनया सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारिणम् उत्थापयेत् ॥

तथा आधाने संभारस्पर्शनदिवसे सुप्तान् यजमानादीन् अनया उत्थापयेत् । "अथाग्न्याधेयम्" इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "वाग्यता जाग्रतो रात्रिम् आसते । अपररात्रे वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्" इति [वै० २. १]॥

"धाता दधातु" इति चतुर्ऋचेन सर्वफलकामो धातारं यजेत उपतिष्ठेत वा । सूत्रितं हि । "अदितिर्द्यौः [७. ६] दितेः पुत्राणाम् [७. ८] बृहस्पते सवितः [७. १७] धाता दधातु" [७. १८] इति [कौ० ७. १०]॥

तथा वीरपुत्रप्रजननार्थम् अनेन चतुर्ऋचेन गर्भिण्या उदरम् अभिमन्त्रयेत । "याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातर्व्याभिरुदरम् अभिमन्त्रयते" इति [कौ० ४. ११ सूत्रात्]॥

द्वितीय अनुवाकमें दो सूक्त हैं । तहाँ 'अभित्यम्' ये आदिके सूक्त हैं इनमेंके पहिले चतुर्ऋचसे सूत्रोक्त स्थानमें जाकर तहाँ जलपूर्ण पात्रका सम्पातन कर सोमसे मिलावे फिर सारूपवत्स ओदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टि चाहने वाला उसका भक्षण करे ।

'तां सवितः' इस ऋचासे एक बार ब्याही हुई गौके बाँधनेकी रस्सीकी ग्रंथि बना सम्पातन और अभिमन्त्रण कर पुष्टिको चाहने वाला बाँध लेय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अभित्यम्' (७।१५) इति महावकाशेरण्य उन्नते विमिते प्राग्द्वारे वाप्सु सम्पातान् आनयति। कृष्णाजिने सोमांशून् विचिनोति। सोममिश्रेण सम्पातवन्तं अश्नाति। आदीक्षे सम्पन्नं तां सवितः (७।१६) इति पृष्टिदाम बध्नाति' (कौशिकसूत्र २।७)॥

तथा सोमक्रयणके अनन्तर हाथमें सुवर्ण लिये हुए ब्रह्मा 'अभित्यम्'से सोमको हिलावे। इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि—'चर्मणि सोमं अभि त्यम् इति हिरण्यपाणिर्विचिनोति' (वैतानसूत्र ३।३)॥

'बृहस्पते सवितः' इस ऋचासे सूर्योदय तक सोने वाले ब्रह्मचारीको उठावे।

तथा आधानके संभारस्पर्शन दिवसमें सोते हुए यजमान आदिको इस ऋचासे उठावे। 'अथाग्न्याधेयम्' का आरंभ करके वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'वाग्यता जाग्रतोरात्रिम् आसते। अपररात्रं वा बृहस्पते सवितरिति सुप्तान् बोधयेत्' (वैतानसूत्र२।१)॥

सर्वफलकाम 'धाता दधातु' इस चतुरृचसे धाताका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'अदितिर्द्यौः (७।६) दितेः पुत्राणाम् (७।८) बृहस्पते सवितः (७।१७) धाता दधातु (७।१८) (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

तथा वीरपुत्र उत्पन्न होनेके लिये इस चतुरृचसे गर्भिणीके उदरका अभिमंत्रण करे। कौशिकसूत्र ४।११ में कहा है, कि—'याम् इच्छेद् वीरं जनयेद् इति धातर्व्याभिरुदरम् अभिमंत्रयते'॥

तत्र प्रथमा॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्॥ १॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कविऽक्रतुम् ।

अर्चामि । सत्यऽसवम् । रत्नऽधाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् १

त्यं तं प्रसिद्धं देवम् द्योतनात्मकम् ओण्योः सर्वस्य अवित्र्यो-र्द्यावापृथिव्योः सवितारम् प्रसवितारम् एतन्नामधेयं देवम् अभ्य-र्चामि अभिष्टौमि । ❀ ओण्योरिति । अवतेः औणादिको निप्रत्ययः । "ज्वरत्वर०" इत्यादिना ऊठ् गुणः । छान्दसं णत्वम् । "उदात्तस्वरितयोः०" इति ओकारः स्वर्यते "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । सवितारं विशिनष्टि । कवि-क्रतुं कवीनां मेधाविनामिव क्रतुः कर्म यस्य तादृशं कमनीयकर्माणं वा सत्यसवम् सत्यानुज्ञं यथार्थप्रेरणम् रत्नधाम् रमणीयधनानां धारयितारं दातारं वा प्रियमभि प्रियं प्रेम प्रीणयितारं स्तोतारं वा अभिलक्ष्य । रत्नधाम् इति संबन्धः । यद्वा अभि आभिमुख्येन प्रियं सर्वस्य प्रीतिकरम् अत एव मतिम् सर्वैर्मन्तव्यम् । ❀ "मन्त्रे वृषेष०" इति क्तिन्नुदात्तः ❀ । ईदृशं देवम् अभ्यर्चामि । ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा । पादादित्वात् न निघातः ❀ ॥

उन कमनीय कर्म वाले, यथार्थ प्रेरणा वाले, रमणीय धनोंको धारण करने वाले अत एव सबको प्रिय और मन्तव्य तथा रक्षा करने वाली द्यावापृथिवीके सवितानामक देवकी मैं पूजा करता हूँ १

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि ।

हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ॥ २ ॥

ऊर्ध्वा । यस्य । अमतिः । भाः । अदिद्युतत् । सवीमनि ।

हिरण्यऽपाणिः । अमिमीत । सुऽक्रतुः । कृपात् । स्वः ॥ २ ॥

यस्य सवितुर्देवस्य अमतिः अमनशीला व्यापनशीला। ❀ अम-तेर्गतिकर्मण औणादिकः अतिप्रत्ययः। अत एव मध्योदात्तः ❀। एतादृशी भाः दीप्तिः ऊर्ध्वा उत्कृष्टा अदिद्युतत् द्योतयति। विश्वम् इति शेषः। ❀ द्योततेर्ण्यन्तात् चङि उपधाह्रस्वत्वम् ❀। यस्य च देवस्य सवीमनि सवे अनुज्ञायां सत्याम्। ❀ षू प्रेरणे। "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति मनिन्। छान्दसम् इटो दीर्घत्वम् ❀। येन सवित्रानुज्ञातः सुक्रतुः शोभनकर्मा पुष्टिकामो ब्रह्मा वा हिरण्य-पाणिः हिरण्यहस्तः सन् कृपा कल्पनया अंगुल्यादिविषयया स्वः स्वर्गप्रदं सुखप्रदम्। सोमम् इत्यर्थः। अमिमीत मिमीते। ❀ छान्दसो लङ् ❀। [त्वं प्रसिद्धम् इति पूर्वमन्त्रेण संबन्धः]॥ यद्वा। ❀ सवीमनीति निमित्तसप्तमी। सुनोतेरौणादिक ईमनिन् प्रत्ययः❀। अभिषवार्थं हिरण्यपाणिः हितरमणीयरश्मिः हिरण्यहस्तो वा। "हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप स्तुहि" इति हि निगमः [ऋ० १. २२. ५]। स्वः आदित्यः सविता कृपा कृपया पुष्टि-कामं ब्रह्माणं वा आविश्य स्वयमेव मिमीते। सोमम् इति शेषः। ❀ कृपा। कृपू सामर्थ्ये। क्विप्। "सावेकाचः०" इति विभक्ते-रुदात्तत्वम् ❀॥

जिन सविता देवताकी व्याप्तिस्वभावा कान्ति उत्कृष्ट रूपसे विश्वको चमकाती है और जिन देवताकी अनुज्ञा होने पर शोभन कर्म वाला ब्रह्मा हितरमणीय हाथसे अंगुलि आदिकी कल्पनासे स्वर्ग देने वाले सोमको बनाते हैं उन सविता देवताकी हम स्तुति करते हैं॥ २॥

तृतीया॥

सा॒वी॒र्हि दे॑व प्रथ॒माय॑ पि॒त्रे व॒र्ष्माण॑मस्मै वरि॒माण॑मस्मै

अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः ॥ २ ॥

सावीः । हि । देव । प्रथमाय । पित्रे । वर्ष्माणम् । अस्मै । वरिमाणम् । अस्मै ।

अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वार्याणि । दिवःऽदिवः । आ । सुव । भूरि । पश्वः ॥ २ ॥

हे देव द्योतनात्मक सवितः प्रथमाय । प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमनाय प्रकृष्टमाय पित्रे पालकाय यजमानाय सावीर्हि प्रेरयैव । फलम् इति शेषः । सामान्येनोक्तं विशिनष्टि । अस्मै पुष्टिकामाय वर्ष्माणम् देहम् । पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिम् इत्यर्थः । तां प्रयच्छेति संबन्धः । अस्मै पुष्टिकामाय यजमानाय वरिमाणम् उरुत्वं च प्रयच्छ । यद्वा वर्ष्माणम् देहं यथा यजमानस्य देहः पुत्रपौत्रादिजननक्षमो भवति तथा कुरु । वरिमाणम् पुत्रपौत्रादिलक्षणम् उरुत्वं प्रयच्छेति ॥ अथ अनन्तरं हे सवितः अस्मभ्यं वार्याणि वरणीयानि फलानि आ सुवेति क्रियया संबन्धः । अपि च दिवोदिवः दिवसान् दिवसान् प्रतिदिवसम् । "दिवेदिव आ सुव" इति शाखान्तरे [ऋ० ३. ५६. ६] पठ्यते । भूरि भूरीन् । ❀ सुपो लुक् ❀ । पश्वः पशून् । ❀ छान्दसो यण् आदेशः ❀ । आ सुव अस्मदभिमुखं प्रेरय ॥

हे द्योतनात्मक सवितः देव ! आप इस श्रेष्ठ पालक यजमानके लिये फलोंको प्रेरित ही करिये । इस पुष्टि चाहने वालेको देहको अर्थात् पुत्र पौत्र आदिरूप देहको दीजिये और इसको महत्त्व दीजिये, वा–इस यजमानका देह जिस प्रकार पुत्र पौत्र आदिको

उत्पन्न करनेमें समर्थ हो तैसा करिये और इसको पुत्र पौत्र आदि-रूप महत्त्व दीजिये । और हे सवितः देवता ! आप हमारे लिये प्रतिदिन वरणीय फलोंको और बहुतसे पशुओंको हमारे अभि-मुख प्रेरण करते रहिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि ।
पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् । पितृऽभ्यः । आयूंषि ।
पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परिऽज्मा । चित् । क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः दान्तमना दानमना वा वरेण्यः वरणीयः सविता सर्व-प्रेरको देवः रत्नम् रमणीयं धनं दक्षम् । बलनामैतत् । बलं च दधत् प्रयच्छन् तथा पितृभ्यः पूर्वेभ्यः सकाशात् आयूंषि शत-संवत्सरपरिमितम् आयुः । तपनपरिस्पन्दबाहुल्यात् तत्कालाव-च्छिन्नस्यापि आयुषो बहुत्वम् पुत्रपौत्राद्यपेक्षया वा बहुवचनम् । तादृशम् आयुश्च दधत् विदधत् प्रयच्छन् सोमम् अभिषुतं पिबात् पिबतु । ❁ पातेर्लेटि आडागमः ❁ । पीतः स सोमः इष्टे यागे सवितृदेवत्ये एनं सवितारं ममदत् मदयतु । ❁ माद्यतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । वाक्यादित्वात् न निघातः "चङ्यन्यतरस्याम्"

इति उपोत्तमस्य उदात्तत्वम् ❀ । ततः परिज्मा चित् परितो व्यापनशीलोपि स सोमः अस्य सवितुः धर्मणि धारके स्थाने जठररूपे क्रमते अप्रतिबद्धो वर्तताम् । ❀ "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

दान देनेमें मनको परायण रखने वाले, वरणीय सर्वप्रेरक सविता देवता रमणीय धन और बलको देते हुए हमें पितरोंसे आयुओंको देते हुए इस अभिषुत सोमको पियें, और वह पिया हुआ सोम इस सवितृदेवत्य यागमें सविता देवताको प्रसन्न करे । उस समय वह व्यापनशील भी सोम इन सविता देवताके धारक जठरस्थानमें अप्रतिबद्धरूपसे रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तां स॑वितः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सु॒म॒तिं वि॒श्ववा॑राम् ।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑हत् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥ १ ॥

ताम् । स॒वि॒त॒रिति॑ । स॒त्यऽस॑वाम् । सु॒ऽचि॒त्राम् । आ । अ॒हम् । वृ॒णे । सु॒ऽम॒तिम् । वि॒श्वऽवा॑राम् ।

याम् । अ॒स्य॒ । कण्वः॑ । अदु॑हत् । प्रऽपी॑नाम् । स॒हस्र॑ऽधाराम् । म॒हि॒षः । भगा॑य ॥ १ ॥

हे सवितः प्रसवितः सर्वस्य प्रेरयितः तां तादृशीम् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणगुणां त्वदीयां सत्यसवाम् सत्यानुज्ञां सुचित्राम् सुष्ठु चायनीयां विश्ववाराम् सर्वैर्वरणीयां सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् ।

❀ "मन्क्तिन्व्याख्यान०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ताम् अहम् आ वृणे आभिमुख्येन याचे । याम् अस्य सवितुः संबन्धिनीं सुमतिं महिषः । महन्नामैतत् । महान् कण्वः एतन्नामा ऋषिः अदुहत् दुग्धवान् । स्वाधीनां कृतवान् इत्यर्थः । कीदृशीम् । प्रपीनाम् प्रवृद्धाम् । ❀ प्यायतेः पीभावः ❀ । सहस्रधाराम् बहुधाराम् । ❀ सुमतेर्गोसादृश्यविवक्षया पीनत्वादिविशेषणयोगाद् दुहिधातुप्रयोगः ❀ । किमर्थं दुग्धवान् । भगाय भाग्याय । यां कण्वो दुग्धवान् तां सवितृसंबन्धिनीं सुमतिम् आ वृणे इति संबन्धः॥

हे सर्वप्रेरक सविता देव ! मैं उस सत्य अनुज्ञा वाली, भली प्रकार चयन करने योग्य, सबोंसे वरणीय शोभना अनुग्रहरूपा बुद्धिकी याचना करता हूँ, कि–जिस आपकी प्रवृद्ध अनेक धारा वाली बुद्धिको भाग्यके लिये महान् कण्व ऋषिने दुहा था– अपने अधीन किया था ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

बृह॑स्पते॒ सवि॑तर्व॒र्धयै॑नं ज्यो॒तयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय ।
संशि॑तं चि॒त् संत॒रं सं शि॑शाधि॒ विश्व॑ एन॒मनु॑ मदन्तु दे॒वाः ॥ १ ॥

बृह॑स्पते । सवि॒तः । व॒र्धय॑ । ए॒न॒म् । ज्यो॒तय॑ । ए॒न॒म् । म॒ह॒ते । सौभ॑गाय ।
सम्ऽशि॑तम् । चि॒त् । सम्ऽत॒रम् । सम् । शि॒शा॒धि॒ । विश्वे॑ ।
ए॒न॒म् । अनु॑ । म॒द॒न्तु॒ । दे॒वाः ॥ १ ॥

हे बृहस्पते बृहतां महतामपि देवानां पते हे सवितः प्रसवितः एतन्नामक देव । ❀ "नामन्त्रिते समानाधिकरणे०" इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वप्रतिषेधाद् द्वितीयं इदं सवितृपदं निहन्यते ❀ ।

एनं सूर्योदयपर्यन्तं सुप्तं ब्रह्मचारिणं यजमानादिकं वा वर्धय। उदयकाले स्वपतः पुरुषस्य दोषश्रवणात् तद्दोषपरिहारेण एनं यजमानं समर्धयेत्यर्थः। ❀ द्वितीयस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानत्वाद्ध वर्धयेति पदं न निहन्यते ❀। किं च एनं यजमानादिकं महते प्रभूताय सौभगाय सौभाग्याय द्योतय। यथा महत् सौभाग्यं भवति तथा दीप्तं कुर्वित्यर्थः। अपि च संशितम् संशितव्रतं चित् अपि व्रतवन्तमपि संतरम् सम्यक् अतिशयेन। ❀ समस्तरपि तरपि प्रत्यये "अमु च च्छन्दसि" इति अम् ❀। सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु। संतरं सं शिशाधि इत्युपसर्गद्वयश्रुतेर्व्रतलोपपरिहारेण यजमानादेः कर्मसाफल्यम् आशास्यते। ❀ शो तनूकरणे। लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः। इत्वं च अभ्यासस्य छान्दसम्। "वा छन्दसि" इति अपित्त्वे प्रतिषिद्धे पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिभावः ❀। किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं यजमानादिकम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम्। साधीयान् असाविति सर्वेऽनुमन्यन्ताम् इत्यर्थः॥

हे बृहस्पति नामक देव! और हे सविता देव! इस सूर्योदय तक सोते रहने वाले ब्रह्मचारी वा यजमान आदिको बढ़ाइये, तात्पर्य यह है, कि–उदयकालमें भी सोने वालेके लिये दोषश्रुति है उस दोषको दूर कर इस यजमानको बढ़ाइये। और इस यजमानको बड़े भारी भाग्यके लिये प्रदीप्त करिये, यद्यपि यह व्रत का पालन करता है, इसको और भी व्रतोंका भी पालन करने वाला करिये सब देवता इसका अनुमोदन करें, कि-यह साधु है ॥१॥

सप्तमी ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगतः । पतिः ।

सः । नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

धाता विश्वस्य धारयिता एतन्नामको देवः नः अस्मभ्यं रयिम् धनं दधातु विदधातु प्रयच्छतु । कीदृशः । ईशानः सर्वार्थसाधनशक्तः । ❀ अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ❀ । जगतस्पतिः पालयिता । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति सत्वम् ❀ । किं च स धाता देवः नः अस्मान् पूर्णेन आप्यायितेन समृद्धेन धनेन यच्छतु नियच्छतु । योजयत्वित्यर्थः ॥

विश्वको धारण करने वाले धाता नामक देवता हमको धन देवें, यह धाता देवता सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं और जगत्का पालन करने वाले हैं, ऐसे ये धाता देवता हमको पूर्ण धनसे संयुक्त करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् ।

वयम् । देवस्य । धीमहि । सुऽमतिम् । विश्वऽराधसः ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधारको देवः दाशुषे हविर्दत्तवते मह्यं यजमानाय प्राचीम् प्रकृष्टगमनाम् अस्मदभिमुखगमनां जीवातुम् जीवनकारिणीम् । ❀ जीवेः आतुप्रत्ययः ❀ । अक्षिताम् अनुपक्षीणाम् । सुमतिम् इति अनुषज्यते । तां दधातु धारयतु ॥ वयमपि विश्वराधसः सर्वधनस्य अतिप्रभूतधनस्य देवस्य धातुः सुमतिम् कल्याणीं मतिम् अनुग्रहात्मिकां धीमहि धारयेम । ❀ धीङ् आधारे ।

श्यनोलुक् ※ । यद्वा दाशुषे यजमानाय प्राचीम् प्राश्नताम् अनु-
गुणां जीवातुम् जीवनाय पर्याप्ताम् अक्षितां रयिं दधातु ॥ वय-
मपि धनप्रदानार्थं धातुः सुमतिं धीमहि ध्यायेम । याचेमेत्यर्थः ॥

सबको धारण करने वाले धाता देवता शुभ्र हवि अर्पण करने
वाले यजमानको जीवनदायिनी अक्षय सुमतिको देवें, हम परम
धनी देवकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिको धारण करते हैं । अथवा-
वह शुभ्र हवि देने वाले यजमानको प्राचीन कालके योग्य जीवन-
निर्वाहक्षम अक्षत धनको देवें, हम भी धनप्रदानके लिये धाताकी
अनुग्रहरूपा बुद्धिका ध्यान करते हैं-अर्थात् याचना करते हैं २

नवमी ॥

धा॒ता विश्वा॒ वार्या॑ दधातु प्र॒जाका॑माय दा॒शुषे॑ दु॒रो॒णे ।
तस्मै॑ दे॒वा अ॒मृतं॒ सं व्य॑यन्तु विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः
स॒जोषाः॑ ॥ ३ ॥

धा॒ता । विश्वा॑ । वार्या॑ । द॒धा॒तु॒ । प्र॒जाऽका॑माय । दा॒शुषे॑ । दु॒रो॒णे ।
तस्मै॑ । दे॒वाः । अ॒मृत॑म् । सम् । व्य॒य॒न्तु॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः ।
अदि॑तिः । स॒ऽजोषाः॑ ॥ ३ ॥

धाता देवः विश्वा विश्वानि वार्या वार्याणि वरणीयानि फलानि
दधातु विदधातु । कस्मै कस्मिन्निति तद् आह । प्रजाकामाय
पुत्रादिकम् इच्छते दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दुरोणे ।
※ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्तीति यास्कः [नि० ४.५]※ ।
दुरवने । गृहे । अपि च तस्मै यजमानाय देवा इन्द्राद्याः अमृतम्
अमरणसाधनम् अविनाशं वा सं व्ययन्तु संवृणवन्तु । प्रयच्छन्तु
इत्यर्थः । ※ व्येञ् संवरणे ※ । के ते देवाः । विश्वे सर्वे देवाः ।

अदितिः अदीना अखण्डनीया वा देवमाता। सजोषाः सहप्रीयमाणा परस्परं स्निग्धा। ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः। असुनि रूपम्। अदितेर्विशेषणम्। देवविशेषणपक्षे जसो लुक् ❀ ॥

धाता देवता समस्त वरणीय फलोंको हवि देने वाले प्रजाभिलाषी यजमानको देवें और इस यजमानके घरमें देवता अमरणसाधन वस्तु स्थापित करें सब देवता और अदितिदेवी प्रसन्न होकर (इसको वरणीय फल देवें) ॥ ३ ॥

दशमी ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः ।

त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु

धाता। रातिः। सविता। इदम्। जुषन्ताम्। प्रजाऽपतिः। निधिऽपतिः। नः। अग्निः।

त्वष्टा। विष्णुः। प्रऽजया। सम्ऽरराणः। यजमानाय। द्रविणम्। दधातु ॥ ४ ॥

धाता सर्वस्य स्रष्टा रातिः दाता सर्वश्रेयसाम्। ❀ कर्तरि क्तिच्। यद्वा "मन्त्रे वृषेष०" क्तिन्नुदात्तः व्यत्ययेन कर्त्रर्थे भवति ❀। सविता सर्वस्य प्रेरकः अभ्यनुज्ञाता वा। प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता च परमेष्ठी। स एव विशेष्यते। निधिपतिः निधीयन्ते पुरुषार्था येष्विति निधयो वेदाः तेषां पाता रक्षिता। अग्निः अंगनादिगुणयुक्तो वह्निः। त्वष्टा रूपाणां कर्ता। विष्णुः व्यापको देवश्च। एते धात्रादयः सर्वे नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषन्ताम् सेवन्ताम्। इदानीम् एत एव एकैकशः उच्यन्ते। एष धात्रादि-

देवः प्रजया पुत्रपौत्रादिकया संरराणः सम्यग् रममाणः प्रजो-त्पत्त्यादिहेतुः । यद्वा प्रजया सह संरराणः संप्रयच्छन् । अभि-मतं फलम् इति शेषः । ❀ रमतेः अन्त्यलोपश्छान्दसः । रातेर्वा शपः श्लुः ❀ । यजमानाय यागं कुर्वते द्रविणम् धनं दधातु प्रयच्छतु ॥

[इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सबके स्रष्टा धाता देवता, सब कल्याणोंके दाता सर्वप्रेरक सूर्यदेव प्रजाओंके पालक और जिनमें पुरुषार्थ स्थापित किये गए हैं उन वेदोंके रक्षक परमेष्ठी, अंगनादि गुणयुक्त अग्निदेव, रूपोंके कर्ता त्वष्टा देवता, व्यापक विष्णुदेव-इनमेंसे प्रत्येक देवता इस हमारी हविका सेवन करें। और प्रजाके साथ अभिमत फल को देकर इस याग करने वाले यजमानको धन भी देवें ॥ ४ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१३३) ॥

"प्र नभस्व" इति सूक्तेन वृष्टिकामो मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः आज्यहोमः काशादिविषुवकवेत-साख्या ओषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रिता-नाम् अप्सु प्लावनम् श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आम-पात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "समुत् पतन्तु [४. १५] प्र नभस्व [७. १६] इति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेरमानम् अवभृथयाप्सु निदधाति" इत्यन्तम् [कौ० ५. ५] ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतदुपतारका" इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र

नमस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इत्युक्तम् [कौ० १३. ११] ॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागे “न प्रंस्तताप” इत्यनया अनुमन्त्रयेत । “न प्रंस्तताप [७. १६. २] सं वर्चसा [६. ५३. ३] देवानां पत्नीः [७. ५१] सुगार्हपत्यः [१२. २. ४५] इति पत्नीसंयाजान्” इति वैतानात् [वै० १. ४] ॥

“प्रजापतिर्जनयतु” इति ऋचा वन्ध्यायाः पुत्रलाभकर्मणि तस्या उत्संगे आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया लोहिताजमांसं संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया ऋचा उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजाकामां स्त्रियं परिश्राव्य अग्रे निनयेत् ॥

तथा अनया ओदनं सुरां प्रपां वा संपात्य अभिमन्त्र्य प्रजाकामायै दद्यात् ॥

सूत्रितं हि । “प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति । लोहिताजाया पिशितान्याशयति प्रपान्तानि” इति [कौ०४.११]॥

तथा अभिलषितफलकामः अनया प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत वा॥

“अन्वद्य नोऽनुमतिः” इति षड्टचेन अभिलषितफलकामः अनुमतिं यजेत उपतिष्ठेत वा । सूत्रितं हि । “धाता दधातु [७. १८] प्रजापतिर्जनयतु [७. २०] अन्वद्य नोऽनुमतिः” [७. २१]इति [कौ० ७. १०] ॥

पूर्णमासयागे अनुमतिदेवताम् “अन्वद्य नः” इति षड्टचेन परिगृह्णीयात् । उक्तं वैताने । “देवताः परिगृह्णाति” इति प्रक्रम्य “अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्” इति [वै० १. १] ॥

पितृमेधकर्मणि इष्टकाभिश्चितं श्मशानं “समेत विश्वे” [७. २२] इत्यनया सर्वे बान्धवाः परिषिञ्चेयुः ॥

"अयं सहस्रम्" इति द्वाभ्यां पृश्निसवे हविर्दर्शनसंपातप्रदानादीनि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "आयं गौः पृश्निः [६. ३१] अयं सहस्रम् [७. २३]इति पृश्निं गाम्" इति [कौ० ८.७] ॥

"प्र नभस्व" इस ऋचसे वृष्टि चाहने वाला मरुत् देवताओंके लिये वा मन्त्रोक्त देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम और घृतहोम करे । काश दिविधुवक और वेत नाम वाली औषधियोंको एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण करके जलमें नीचेको मुख करके लेजाय, उन ही सम्पातित और अभिमन्त्रित कास आदिको जलमें डुबावे, कुत्तेके और मेढ़के अभिमन्त्रित शिरको जलमें फेंक देवे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, मूसीसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संप्रोक्षित करके तीन लड़ वाले छींके पर रक्खे फिर उसको जल में फेंक देवे–इन अभिवर्षण कर्मोंको करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'समुत्पतन्तु (४ । १५) प्र नभस्व(७।१६) इति वर्षकामो द्वादशरात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेऽश्मानम् अवघात्सु निदधाति" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ५ । ५) ॥

तथा उपतारकास्रुतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अथ यत्रैतदुपतारका इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्षीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र १३ । ११) ॥

दर्शपूर्णमासके पत्नी संयाजोंमें सौम्ययागका "न घ्रंस्तताप" ऋचासे अनुमन्त्रण करे । वैतानसूत्र १ । ४ में कहा है, कि–"न घ्रंस्तताप (७ । १६ । २) सं वर्चसा (६ । ५३ । ३) देवानां पत्नीः (७ । ५१) सुगार्हपत्यः (१२ । २ । ४५) इति पत्नीसंयाजान्" "प्रजापतिर्जनयतु" इस ऋचासे वन्ध्याके पुत्रलाभकर्ममें उसके उत्संग (समीप) में घृतको होमे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे लाल बकरेके मांसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचासे जलपूर्ण कलश वा सुराकुम्भ का संपातन और अभिमन्त्रण करके प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको घुमा कर आगे लावे।

तथा इस ऋचासे ओदन सुरा वा घीका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके उसको प्रजाभिलाषिणी स्त्रीको देदेय।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"प्रजापतिरिति प्रजाकामाया उपस्थे जुहोति। लोहिताजायाः पिशितान्याशयति प्रपाशान्तानि" (कौशिकसूत्र ४। ११)॥

तथा अभिलषित फलको चाहने वाला इस ऋचासे प्रजापति का यजन वा उपस्थान करे।

"अन्वद्य नोनुमतिः" इस षड्चसे अभिलषित फलको चाहने वाला अनुमतिका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"धाता दधातु (७। १८) प्रजापतिर्जनयतु (७। २०) अन्वद्य नोनुमिति (७। २१)" (कौशिकसूत्र ७।१० ॥

पूर्णमासयागमें अनुमति देवताको "अन्वद्य नः" इस षड्च से परिग्रहण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"देवता परिगृह्णाति" इति प्रक्रम्य "अन्वद्य न इति पौर्णमास्याम्" (वैतानसूत्र १। १)॥

पितृमेधकर्ममें ईंटोंसे चिने हुए श्मशानकी "समेत विश्वे" (७। २२) ऋचासे सब बान्धव परिषिञ्चन करें॥

"अयं सहस्रम्" इन दो ऋचाओंसे पृश्निसवमें हविप्रशन संपात प्रदान आदि कर्म करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि–"आयं गौः पृश्निः (६। ३१) अयं सहस्रम् (७। २३) इति पृश्निं गाम्" (कौशिकसूत्र ८। ७)॥

तत्र प्रथमा ॥

प्र न॑भस्व पृथिवि भि॒न्द्धी॒३॒॑दं दि॒व्यं नभः॑ ।
उ॒द्नो दि॒व्यस्य॑ नो धात॒रीशा॑नो॒ वि ष्या॒ दृति॑म् ॥१॥

प्र । न॒भ॒स्व॒ । पृ॒थि॒वि॒ । भि॒न्द्धि । इ॒दम् । दि॒व्यम् । नभः॑ ।
उ॒द्नः । दि॒व्यस्य॑ । नः॒ । धा॒तः॒ । ईशा॑नः । वि । स्य॒ । दृति॑म् १

अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते । तदर्थम् आदौ अतिवृष्ट्या भूमेर्बाधा मा भूद् इति तस्याः स्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते । हे पृथिवि विस्तीर्णे भूमे त्वं प्र नभस्व । ❀ नभतिर्गतिकर्मा ❀ । प्रकर्षेण संगता उच्छ्वसिता भव । अयम् अर्थः । सस्यादिवृद्ध्यर्थं पर्जन्यस्तवोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति तयातिवृष्ट्या त्वं शिथिलावयवा मा भव किं तु दृढा भवेति । यद्वा । ❀ नभ तुभ हिंसायाम् । क्रैयादिकः । व्यत्ययेन शप् ❀ । वृष्ट्या प्रकर्षेण बाधिता मृदिता भव । शाल्यादिबीजवापनार्थं क्षेत्रादिकर्षणक्लेशवती भवेत्यर्थः । ❀ नह्यतेर्वा विकरणव्यत्ययः । हकारस्य भकारः ❀ । प्र नह्यस्व संनद्धा भवेति । एवं पृथिवीं संस्तुत्य वृष्ट्यर्थं देवः प्रार्थ्यते । इदं पुरोवर्ति दिव्यम् दिवि भवं नभः मेघं भिन्द्धि विदारय । इति सामर्थ्यात् पर्जन्यः संबोध्यते । तथा कृत्वा दिव्यस्य दिवि भवस्य उद्नः उदकस्य । ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना उदकस्य उदन् आदेशः । कर्मार्थे षष्ठी ❀ । उदकस्य भागम् इति वा नः अस्मभ्यं धात धेहि प्रयच्छ । ❀ दधातेर्लोटि शपो लुकि "तिङां तिङो भवन्ति" इति हेस्तादेशः ❀ । एतदेव प्रकारान्तरेणाह । ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिम् जलपूर्णां भस्त्रां मेघरूपां विष्य विमुञ्च । ❀ स्यतिः उपसृष्टो विमोचने । षो अन्तकर्मणि । "ओतः श्यनि" इति ओकारलोपः ❀ । यथा जलपूर्णदृतिमुखात् महज्जलं स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

हे पृथिवि ! तू प्रकृष्टरूपसे संगत होकर उच्छ्वसित हो, तात्पर्य यह है, कि—सस्य आदिकी वृद्धिके लिये पर्जन्य तेरे ऊपर बड़ी भारी वृष्टि करेगा उस वृष्टिसे तू शिथिल अवयव वाली न होकर दृढ़ ही रहना अथवा जोतनेसे बाधित होकर मुदित हो—सट्टी आदिके बीज बोनेके लिये खेत्रादिकर्षण क्लेश वाली हो। हे पर्जन्य! आप इस दिव्य मेघको विदीर्ण करिये और ऐसा करके दिव्य अर्थात् आकाशमें हुए जलको हमें दीजिये। वृष्टिको प्रदान करनेमें समर्थ आप जलपूर्ण मेघरूपा भस्त्राको खोलिये अर्थात् जैसे जलसे भरी हुई मशकके मुखसे पानी निकलता है तिस प्रकार मेघोंसे बड़ी भारी वृष्टिको करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न घ्रंस्ततापु न हिमो जघानु प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदुमित् तत्र भुद्रम् ॥ २ ॥

न । घ्रन् । ततापु । न । हिमः । जघानु । प्र । नभताम् । पृथिवी । जीरऽदानुः ।

आपः । चित् । अस्मै । घृतम् । इत् । क्षरन्ति । यत्र । सोमः । सदम् । इत् । तत्र । भुद्रम् ॥ २ ॥

घ्रन् । अनुकरणशब्दोयम् । घर्म इत्यर्थः । "घड् घ्रमित्यपतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० आ० ५. १. ५]। अनेन घर्मशब्दवाच्यः कालो लक्ष्यते । स घर्मः ग्रीष्मो न ततापु। ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । न तापयति संतापेन न बाधते। हिमः

हेमन्तर्तुः न जघान। अतिशैत्येन गात्रसंकोचनरूपबाधं न करोतीत्यर्थः। पृथिवी च जीरदानुः जीवनप्रदा। ❀ जीवे रदानुप्रत्ययः ❀। यद्वा। ❀ रकि ज्यः प्रसारणे जीर इति भवति। "दाभाभ्यां नुः" [उ० ३. ३२] इति नुप्रत्यये दानुरिति। अस्यां व्युत्पत्तौ अवग्रहो युज्यते ❀। जीरदानुः प्रवृद्धदाना सती प्र नभताम्। उक्तो नभतिशब्दार्थः। वर्षेण आप्यायिता भवत्वित्यर्थः। किं च अस्मै यजमानाय आपश्चित् आपोपि घृतम् इत् घृतमेव सत्यः क्षरन्ति घृतवत् प्रीतिकारण्यो भवन्ति। "आपो भद्रा घृतमिद् आप आसुः" इति [तै० सं० ५. ६. १. ३] श्रुत्यन्तरात्। यद्वा आपः घृतमेव क्षरन्ति कुर्वन्ति। वृष्ट्या गोसमृद्धौ घृतवृद्धिर्भवतीति भावः। घर्महेमन्तजनितसंतापशैत्यबाधाभावः पृथिव्याप्यायनं घृतक्षरणं च केन हेतुना भवतीति तद् आह। यत्र यस्मिन् देशे सोमः एतन्नामा देवः। इज्यत इति शेषः। तत्र तस्मिन् देशे सदम् इत् सर्वदैव भद्रम् कल्याणं भवति। सौम्ययागेन अनिष्टनिवृत्तिः इष्टप्राप्तिश्च भवतीत्यर्थः॥

जिस देशमें सोम नामक देवताकी पूजा होती है उस देशमें सर्वदा कल्याण ही होता है। उसमें घ्रन् अर्थात् ‡ ग्रीष्म ताप नहीं देता है और हेमन्त ऋतु भी अतिशीतके कारण गात्रसंकोचनरूप बाधाको नहीं करता है। और पृथिवी भी जीवनप्रदान करती हुई बढ़ती है और जल भी घृतरूप होते हुए ही बरसते

---

‡ घ्रन यह अनुकरण शब्द है इसका घर्म अर्थात् ग्रीष्म अर्थ है। तैत्तिरीय आरण्यक ४। १। ५ में कहा है कि-'यद् घ्रमित्यपतत् तद् घर्मस्य घर्मत्वम्। जो घ्रन् करता हुआ गिरता है यही घर्मका घर्मत्व है।'

हैं-घृतके समान प्रीति देने वाले होते हैं † अथवा जल घृतको ही करते हैं अर्थात् वृष्टिसे गोसमृद्धि होने पर घृतकी वृद्धि होती है २

तृतीया ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः । जनयति । प्रऽजाः । इमाः । धाता । दधातु । सुऽमनस्यमानः ।

सम्ऽजानानाः । सम्ऽमनसः । सऽयोनयः । मयि । पुष्टम् । पुष्टऽपतिः । दधातु ॥ १ ॥

प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा पालयिता स देवः इमाः प्रजाः पुत्रादिका जनयतु उत्पादयतु । धाता पोषको देवः सुमनस्यमानः सुमना इवाचरन् । ❀ "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । सलोपो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । सौमनस्यं प्राप्तो दधातु पोषयतु । प्रजा इत्यनुषङ्गः । किं च ताः प्रजाः संजानानाः समानज्ञानाः । कार्यविषये परस्परम् ऐकमत्यं प्राप्ता इत्यर्थः । ❀ "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति जानातेरकर्त्रभिप्रायेपि आत्मनेपदम् ❀ । संमनसः संगतमनस्काः । अन्योन्याविसंवादिकार्यचिन्तापरा इत्यर्थः । सयोनयः समानकारणाः । यथा प्रजा उक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति

† तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । १ । २ में कहा है कि—"आपो भद्रा घृतमिद्व आप आसुः ।—जल कल्याणकारक हैं और जल ही घृत है" ॥

तथा पुष्टपतिः पोषस्य पतिः एतन्नामा देवो मयि पुष्टम् पोषं प्रजाविषयं दधातु विदधातु ॥

प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति देव पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाओंको उत्पन्न करें, पोषक धाता देव सुमनकी समान आचरण करते हुए पुष्ट करें। और वह प्रजायें प्रत्येक कार्यमें एकमत रहें-एक मन रहें और एक कारण रहें-ऐसा करनेके लिये पुष्टिपति नामक देवता मुझमें प्रजाविषयक पुष्टिको स्थापित करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनुऽमतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् ।
अग्निः । च । हव्यऽवाहनः । भवताम् । दाशुषे । मम ॥ १ ॥

अनुमतिः अनुमन्त्री सर्वकर्मसु अनुज्ञात्री पौर्णमासाभिमानिनी देवता । कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे । इति हि तद्विदः । अद्य इदानीं नः अस्माकं यज्ञं देवेषु यष्टव्येषु अनु मन्यताम् अनुजानातु । ज्ञापयत्वित्यर्थः । अग्निश्च अग्निरपि दाशुषे । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । हविर्दत्तवतो मम हव्यवाहनः हव्यं प्रापयिता यष्टव्यान् देवान् भवताम् भवतात् । ❀ व्यत्ययेनात्मनेपदम् । हव्यवाहन इति । "हव्येनन्तःपादम्" इति ञ्युट् ❀ ॥

सब कर्मोंकी अनुमन्त्री पौर्णमासकी अभिमानी देवता ‡ आज

‡ कलाहीने सानुमतिः पूर्णे राका निशाकरे ।-कलाहीनमें वह अनुमति कहलाती है और पूर्णकला वाला चन्द्रमा होने पर वह पूर्णमासी राका कहलाती है ॥

हमारे यज्ञको पूजनीय देवताओंको विदित करे और अग्निदेव भी शुभ्र हवि देने वालेकी हविको पूजनीय देवताओंको प्राप्त कराने वाले बनें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अन्विदंनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनुऽमते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि ।

जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । ररास्व । नः २

हे अनुमते एतन्नामिके देवते त्वं अनु मंसिषे अनुमन्येथाः । ❀ इत् अवधारणे । मन्यतेः पञ्चमलकारे रूपम् ❀ । किं च नः अस्माकं शम् सुखं कृधि कुरु । आहुतम् आभिमुख्येन अग्नौ प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । हे देवि द्योतमाने अनुमते नः अस्मभ्यं प्रजां पुत्रादिलक्षणां ररास्व प्रयच्छ । ❀ रातेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे अनुमति नामक देवते ! तुम अनुमति दो, और हमें सुख दो और अग्निमें होमी हुई हविका सेवन करो, हे देवि अनुमते ! हमें पुत्र आदिरूपा प्रजा दीजिये ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्

तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अनु । मन्यताम् । अनुऽमन्यमानः । प्रजाऽवन्तम् । रयिम् । अक्षीयमाणम् ।
तस्य । वयम् । हेडसि । मा । अपि । भूम । सुऽमृडीके । अस्य । सुऽमतौ । स्याम ॥ ३ ॥

अनुमन्यमानः अनुमन्ता पुंदेवः । यद्वा लिङ्गव्यत्ययः । अत एव शाखान्तरे स्त्रीलिंगत्वेन पठ्यते । "अनु मन्यताम् अनुमन्यमाना" इति "तस्यै वयं हेडसि" इति च [तै० सं० ३. ३. ११. ४] । अनुमन्त्री अनुमतिर्देवता रयिम् अनु मन्यताम् अनुजानातु । कीदृशम् । प्रजावन्तम् पुत्रादियुक्तम् अक्षीयमाणं च । किं च तस्य अनुमन्तुः पुंदेवस्य तस्या अनुमतेर्वा हेडसि । ❀क्रोधनामैतत्❀ । क्रोधेपि वयं मा भूम । क्रोधविषया मा भूमेत्यर्थः । किं तु अस्य अनुमन्तुः अस्या अनुमतेर्वा सुमृलीके । मृलीकम् इति सुखनाम । शोभनसुखरूपे शोभनसुखकारिण्यां वा सुमतौ अनुग्रहात्मिकायां शोभनायां बुद्धौ स्याम भवेम ॥

अनुमन्यमान अर्थात् अनुमन्ता पुंदेव ! हमें पुत्र आदिसे सम्पन्न अक्षय धन देवें, इन देवताके क्रोधमें हम न पड़ें और इनकी सुखदायिनी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें रहें ॥ ३ ॥

सप्तमी ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सुऽहवम् । सुऽप्रनीते । अनुऽमते । अनुऽमतम् । सुऽदानु ।

तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्वऽवारे । रयिम् । नः । धेहि । सुऽभगे । सुऽवीरम् ॥ ४ ॥

हे सुप्रणीते सुप्रणयने यजमानानां धनादेः सुष्ठु प्रणेत्रि वा हे अनुमते ते तव सुहवम् सुष्ठु ह्वातव्यम् अनुमतम् सर्वेषाम् अभिमतं सुदानु शोभनदानम् अभिमतफलप्रदायकं यन्नाम नामधेयम् अनुमतिरूपम् अस्ति तेन नाम्ना नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय। ❀ "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀। हे विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अनुमते नः अस्माकं सुवीरम् शोभनापत्यं रयिम् धनं धेहि ॥

हे यजमानोंके धनका भली प्रकार प्रणयन करने वाली अनुमति देवते! तेरा जो भली प्रकार आह्वान करने योग्य सर्वोका अभिमत, अभिमत फलको देने वाला अनुमतिरूप नाम है, उस नामसे हमारे यज्ञको पूर्ण कर, हे सर्वोसे वरणीय शोभनभाग्ययुक्त अनुमति देवते! तू हमको शोभनधनसम्पन्न धन दे ॥ ४ ॥

अष्टमी ॥

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ५

आ । इमम् । यज्ञम् । अनुऽमतिः । जगाम । सुऽक्षेत्रतायै । सुऽवीरतायै । सुऽजातम् ।

भद्रा । हि । अस्याः । प्रऽमतिः । बभूव । सा । इमम् । यज्ञम् । अवतु । देवऽगोपा ॥ ५ ॥

अनुमतिर्देवी इमम् अनुष्ठीयमानम् अस्मदीयं यज्ञम् आ जगाम

आगच्छतु । ❀ छान्दसो लिट् ❀ । किमर्थम् । सुक्षेत्रतायै सुभूमित्वाय फलाय । सुवीरतायै शोभनपुत्रत्वरूपफलाय सुक्षेत्रपुत्रादिरूपं फलं दातुम् । कीदृशं यज्ञम् । सुजातम् मन्त्रद्रव्यादिना सुष्ठु निष्पन्नम् । किं च हि यस्माद् अस्या अनुमतेः भद्रा भन्दनीया कल्याणी प्रमतिः प्रकृष्टानुग्रहबुद्धिः बभूव अतः देवगोपा देवानाम् अग्न्यादीनां गोप्त्री सा अनुमतिः इमं यज्ञम् अवतु रक्षतु ॥

अनुमति देवी हमारे इस अनुष्ठीयमान मन्त्र द्रव्य आदिसे भली प्रकार सम्पन्न यज्ञमें सुक्षेत्र पुत्र आदिरूप फल देनेके लिये आवे, क्योंकि-इस अनुमतिसे कल्याणी श्रेष्ठ अनुग्रहरूपा बुद्धि होती है अतः अग्नि आदिकी रक्षक अनुमति इस यज्ञकी रक्षा करे५

नवमी ॥

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः

अनुऽमतिः । सर्वम् । इदम् । बभूव । यत् । तिष्ठति । चरति । यत् । ऊं इति । च । विश्वम् । एजति ।
तस्याः । ते । देवि । सुऽमतौ । स्याम । अनुऽमते । अनु । हि । मंससे । नः ॥ ६ ॥

अनुमतिर्देवी इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगद् बभूव । सर्वशब्दार्थं विशिनष्टि । यत् जगत् तिष्ठति स्थावरवृक्षगुल्मादिरूपेण वर्तते । चरति यत् जगत् अबुद्धिपूर्वं चेष्टते । यदु च यदपि च विश्वम् सर्वं जगद् एजति बुद्धिपूर्वकं चेष्टते । ❀ एजृ कम्पने ❀ । स्था-

चराचरात्मकं सर्वं जगद् अनुमतिर्बभूव । हे देवि अनुमते तस्या- स्तादृश्यास्ते तव सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ स्याम भवेम । हे अनुमते हि यस्मात् नः अस्मान् अनु मंसिषे अनुमन्यसे । ❀ मन्यतेः पञ्चमलकारे "सिप् बहुलं लेटि" इति सिप् ❀ ॥

जो जगत् स्थावर वृक्ष गुल्म आदिरूपसे स्थित है और जो जगत् अबुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है और जो जगत् बुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है वह सब स्थावरजङ्गमात्मक जगत् अनुमतिरूप है, हे ऐसी अनुमतिदेवि ! ऐसी आप हमारा अनुमोदन करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम् ।

स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एक- मित् पुरु ॥ १ ॥

सम्ऽएत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । विऽभूः । अतिथिः । जनानाम् ।

सः । पूर्व्यः । नूतनम् । आऽविवासत् । तम् । वर्तनिः । अनु । वावृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

पैतृमेधिककर्मणा संस्कृतस्य पुरुषस्य सूर्यप्रशंसापूर्वकं तदनु- ग्रहं प्रार्थयते । हे विश्वे सर्वे बान्धवाः दिवः द्युलोकस्य पतिम् स्वामिनं सूर्यं वचसा मन्त्ररूपेण स्तोत्रेण समेत संप्राप्नुत । संस्तु- तेत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । लोटि तस्य तबादेशः ❀ । सूर्यो विशे- ष्यते । जनानाम् जन्मवतां प्राणिनाम् एकः मुख्यो विभूः स्वामी

अतिथिः संततम् अतनशीलः । ❀ अत सातत्यगमने । ऋतन्य-ञ्जीत्यादिना [उ० ४. २] इथिन् प्रत्ययः ❀ । अतिथिवद् अर्घ्यादिना पूज्यो वा । पूर्व्यः पुरातनः । ❀ स्वार्थिको यत् ❀ । [स] सूर्यः नूतनम् पितृभूतम् इमं पुरुषम् आविवासत् । ❀ विवासतिः परिचरणकर्मा ❀ । परिचरतु । स्वीयोयम् इति अनुगृह्णात्वि-त्यर्थः । यद्वा पूर्व्यः । ❀ "पूर्वैः कृतम् इनयौ च" इति यप्रत्ययः ❀ । पूर्वैः पितृभिः अस्मदीयोयम् इति स्वीकृतः स पुरुषो नूतनम् पुनः-पुनरुदयेन अभिनवं सूर्यं परिचरतु । अथ वा पूर्व्यः स पितृभूतः नूतनम् इष्टफलिनम् अभिनवं प्रदेशम् अभिगच्छत्विति । तम् एक-मेव सूर्यं पुरु बहुधा वर्तनिः सत्कर्ममार्गः अनु वहते अनुवर्तते ॥

(पैतृमेधिककर्म से संस्कृत होने वाले पुरुष पर अनुग्रह करने के लिये सूर्यकी प्रशंसा करते हैं, कि-) हे सब बान्धवों ! द्युलोक के स्वामी सूर्यकी मन्त्ररूप वचनसे स्तुति करो, यह सूर्यदेव जन्म वाले प्राणियोंके प्रधान स्वामी हैं और अतिथिकी समान अर्घ आदिसे पूजनीय हैं, यह प्राचीन सूर्यदेव इस पितृभूत नूतन पुरुष को अपना समझ कर इस पर अनुग्रह करें । इन एक सूर्य से ही अनेक प्रकारका सन्मार्ग चलता है ॥ १ ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि १

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः । विऽधर्मणि ॥ १ ॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन् ।

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥

ब्रध्नः । समीचीः । उषसः । सम् । ऐरयन् ।

अरेपसः । सऽचेतसः । स्वसरे । मन्युमत्ऽतमाः । चिते । गोः २

एकादशी ॥ अयं परिदृश्यमानः सर्वैः स्वात्मत्वेन अनुभूयमानो वा सूर्यः न अस्माकं सहस्रम् । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया ❀ । सहस्रसंवत्सरकालपर्यन्तं दृशे दर्शनाय । ❀ "दृशे विख्ये च" इति केमप्रत्ययान्तत्वेन निपातितः । आ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । [आ भवतु] अनेककालपर्यन्तं सूर्यः अस्मच्चक्षुर्गोचरो भवत्वित्यर्थः । तं विशिनष्टि । कवीनाम् क्रान्तदर्शिनां पुंसां मतिः मननीयः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । ज्योतिः प्रकाशरूपः । किं च विधर्मणि विविधे धर्मसाधने कर्मणि । ❀ निमित्तसप्तमी ❀ । ब्रध्नः सर्वेषां स्वस्वकर्मसु तत्फलेषु च बन्धकः संयोजकः सूर्यः । ❀ बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३. ५] इति नक् प्रत्ययः ❀ । उषसः उषःकालोपलक्षितानि अहानि समीचीः संगतानि अनुक्रमेण प्राप्तानि समैरयत् । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । सम्यक् प्रेरयतु । सत्कर्मकरणाय पुनःपुनरहानि प्रेरयत्वित्यर्थः ॥

द्वादशी ॥ उषसो विशेष्यन्ते । अरेपसः अपापाः पापहारिण्यः सचेतसः समानज्ञानाः स्वसरे । अहर्नामैतत् अह्नि विषये मन्युमत्तमाः । ❀ मन्यतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । अतिशयेन दीप्तिमत्यः प्रकाशयुक्ताः गोः पृश्निरूपायाः चिते । ❀ चायतेश्चितशब्दो निपातितः ❀ । पूजादानादिकर्मणि निमित्ते ब्रध्नः प्रेरयत्विति पूर्वेण संबन्धः । यद्वा । ❀ चिनोतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ । गोशब्देन आदित्य उच्यते । ❀ गौः विष्टप् नभ इति षट् पदानि दिवश्चादित्यस्य च साधारणानीति हि यास्कः [निघ० १. ४] ❀ । तस्य आदित्यस्य चिते चयनाय ज्ञापनाय । भवन्तु इति शेषः । अथ वा स्वसरे गोश्चित इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः । ❀ चायतेर्निशामनार्थादेव चितशब्दः ❀ । गोः आदित्यस्य चिते दर्शनयोग्ये स्वसरे अह्नि विषये उषसो भवन्तु इति ॥

यह सबसे स्वात्मत्वरूपसे अनुभूयमान सूर्य हमें सहस्र वर्ष तक दर्शन देते रहें, यह सूर्यदेव चतुर पुरुषोंके माननीय हैं, प्रकाश रूप हैं और अनेक प्रकारके धर्मोंका साधन करने वाले कर्म में और फलमें सबको टिके रखने वाले हैं, ऐसे सूर्यदेव उषःकालोपलक्षित दिनोंको अनुक्रमसे संगत करते रहें—सत्कर्म करनेके लिये दिनोंको बारम्बार प्रेरित करें ॥ १ ॥

पापहारिणी समान ज्ञान वाली उषाएँ दिनमें परमप्रकाशयुक्त होती हैं वे आदित्यको जताने वाली होवें ॥ २ ॥

त्रयोदशी ॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१॥

दौःऽस्वप्न्यम् । दौःऽजीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः ।
दुःऽनाम्नीः । सर्वाः । दुःवाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि १

व्याख्याता । [४. १७. ५] ॥

द्वितीयं सूक्तम् । [इति] सप्तमे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

दुःस्वप्नमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्न्यको, कठिनतासे जीवन बितानेकी स्थितिको, राक्षसजातिको, अभिचारक्रियासे उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करनेवाली पापलक्ष्मियों को, छेदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियोंको, और काट डालूँ खालूँ आदि दुर्वचनोंका नित्य उच्चारण करनेवाली पिशाचियोंको हम इससे दूर करते हैं ॥ १ ॥

सप्तम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३३९) ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "यन्न इन्द्रः" इति प्रथमं सूक्तम् । यत्र आद्यया ऋचा मन्त्रोक्ता इन्द्राद्या नव देवताः सर्वफलकामो यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तत्रैव कर्मणि "ययोरोजसा" इति द्वाभ्यां विष्णुवरुणौ यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

सर्वसंपत्कामो "विष्णोर्नु कम्" इत्यष्टर्चेन विष्णुं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "यन्न इन्द्रः [७. २५] ययोरोजसा [७. २६] विष्णोर्नु कम्" [७. २७] इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा "वैष्णवीम् अन्नकामस्यान्नक्षये च" इति [न० क० १७] विहितायां वैष्णव्याख्यायां महाशान्तौ "विष्णोर्नु कम्" इति आवपेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "विष्णोर्नु कम् इति वैष्णव्याम्" इति [न० क० १८] ॥

आतिथ्येष्टौ "विष्णोर्नु कम्" इति वैष्णवं हविरभिमृशेत् । तद् उक्तं वैताने । "आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् [७. ५] इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्" [७. २७] इति [वै० ३. ३] ॥

तथा सोमयागे औपवसथ्याहनि हविर्धानयोः उपस्तभ्यमानम् उपस्तम्भनकाष्ठम् अनया अनुमन्त्रयेत । "विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ५] ॥

सोमयागे "यस्योरुषु" इति सोमक्रयणार्थं निष्क्रामेत् । "यस्योरुष्विति निष्क्रम्य" इति [वै० ३. ३] वैतानसूत्रात् ॥

पशुयागात् प्राक् क्रियमाणायाम् इष्टौ "उरु विष्णो" इत्यनया वैष्णवं पूर्णहोमं अनया अनुमन्त्रयेत । "अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमम् उरु विष्णो" [वै० २. ६] इति हि वैतानम् ॥

तथा अद्भुतशान्तौ "उरु विष्णो" इत्यनया विष्णुं यजेत । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः" इति [न० क० १४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रणीताप्रणयनप्रभृति हविष्कृदुद्वादनाद् अर्वाक् अभिवदनप्रायश्चित्तार्थम् "इदं विष्णुः" इति जपेत्। "प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्या हविष्कृत उद्वादनाद्। यदि वदेद् वैष्णवीं जपेत्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. २]॥

सोमयागे उत्तरवेद्यभिप्रणयनानन्तरं दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्म-होमम् "इदं विष्णुः" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत॥

तस्मिन्नेव कर्मणि उत्तरहविर्धानस्य वर्त्महोमं "त्रीणि पदा" इति अनुमन्त्रयेत॥ तद् उक्तं वैताने। "दक्षिणहविर्धानस्य वर्त्मा-भिहोमम् इदं विष्णुः[७. २७. ४] इत्युत्तरस्य त्रीणि पदा [७. २७. ५]" इति [वै० ३. ५]॥

तृतीयसवने सोमयागानन्तरम् "इदं विष्णुः" इति चमसान् अप्सु प्रक्षिपेत्। "अप्सुसोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति" [वै० ३. १३] इति वैताने सूत्रितम्॥

तथा "त्वाष्ट्रीं वस्वक्षये" इति [न० क० १७] विहितायां त्वाष्ट्र्याख्यायां महाशान्तौ "इदं विष्णुः" इत्यनया त्रिवृन्मणि-बन्धनं कुर्यात्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "अग्निः सूर्यः [५. २८. २] इदं विष्णुः [७. २७. ४] इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्" इति [न० क० १९]॥

पशुतन्त्रे अवटे स्थापितं यूपं "विष्णोः कर्माणि" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "धर्ता ध्रियस्व [१२. ३. ३५] इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि [७. २७. ६] इति द्वाभ्याम् उच्छ्रितम्" इति [वै० २. ६] वैतानं सूत्रम्॥

तथा अग्निचयने कूर्माभ्यञ्जनानन्तरम् उलूखलमुसलं च "विष्णोः कर्माणि" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "विष्णोः कर्माणीत्युलूखल-मुसलं निधीयमानम्" इति [वै० ५. २] वैताने सूत्रितत्वात्॥

तीसरे अनुवाकमें तीन सूक्त हैं। उनमें 'यन्न इन्द्रः' यह

सूक्त है। इसकी पहिली ऋचासे मन्त्रोक्त इन्द्र आदि नौ देवताओं का यजन वा उपस्थान करे।

तहाँ ही कर्म में 'ययोरोजसा' इन दो ऋचाओंसे विष्णु और वरुणदेवका यजन वा उपस्थान करे।

सर्वसम्पत्काम 'विष्णोर्नु कम्' इस ऋचसे विष्णुका यजन वा उपस्थान करे।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"यन्न इन्द्रः (७।२५) ययोरोजसा (७।२६) विष्णोर्नु कम् (७। २७)" इति (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

तथा "वैष्णवीं अन्नकामस्यान्नक्षये च–। अन्नक्षय होने पर अन्नकामके लिये वैष्णवी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैष्णवी नाम वाली महाशान्तिमें "विष्णोर्नु कम्" को पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"विष्णोर्नु कम् इति वैष्णवकाम्" (नक्षत्रकल्प १८)॥

आतिथ्येष्टिमें "विष्णोर्नु कम्" से वैष्णव हविका अभिमर्शन करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"आतिथ्यायां हविरभिमृशति यज्ञेन यज्ञम् (७।५) इति वैष्णवं विष्णोर्नु कम्" (७।२७) इति (वैतानसूत्र ३।३)॥

तथा सोमयागके औपवसथ्य दिनमें हविर्धानमें उपस्तभ्यमान उपस्तंभन काष्ठका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ३।५ में कहा है, कि–"विष्णोर्नु कम् इत्युपस्तम्भनम् उपस्तभ्यमानम्"॥

सोमयागमें 'यस्योरुषु' से सोमक्रयणके लिये निष्क्रमण करे। वैतानसूत्र ३।३ में कहा है, कि–"यस्योरुष्विति निष्क्रम्य"॥

पशुयागसे पहिले की जाने वाली इष्टिमें 'उरु विष्णो' ऋचा से वैष्णव पूर्णहोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतान-

सूत्र २ । ६ में कहा है, कि–"अथ पशुः । वैष्णवं पूर्णहोमं उरु विष्णो" ॥

तथा अद्भुतशान्तिमें "उरु विष्णो" इस ऋचासे विष्णुका यजन करे । इसी बातको नक्षत्रकल्प १४ में कहा है, कि–"उरु विष्णो विक्रमस्वेति विष्णोः" ॥

दर्शपूर्णमासके प्रणीताप्रणयन आदि हविष्कृदुद्वादनसे पहिले अभिवदनके प्रायश्चित्तके लिये "इदं विष्णुः" का जप करे । वैतानसूत्र १ । २ में कहा है, कि–"प्रणीतासु प्रणीयमानासु वाचं यच्छत्या हविष्कृत उद्वादनात् । यदि वदेद्व वैष्णवीं जपेत्" ॥

सोमयागमें उत्तरवेदीकी अग्निके प्रणयनके अनन्तर दक्षिण-हविर्धानके वर्त्म होमका 'इदं विष्णुः' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे ।

उसी कर्म में उत्तरहविर्धानके वर्त्म होमको "त्रीणि पदा" से अनुमन्त्रित करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि "दक्षिण-हविर्धानस्य वर्त्माभिहोमं 'इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इत्यु-त्तरस्य त्रीणि पदा (७ । २७ । ५) (वैतानसूत्र ३ । ५ ॥)

तृतीयसवनमें सोमयागके अनन्तर 'इदं विष्णुः' से चमसोंको जलमें डाले । इस बातका वैतानसूत्र ३ । १३ में प्रमाण है, कि-"अप्सु सोमचमसान् वैष्णव्यर्चा निनयति" ॥

तथा "त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये–वस्त्रक्षय होने पर त्वाष्ट्री शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित त्वाष्ट्री नाम वाली महा-शान्तिमें 'इदं विष्णु' इस ऋचासे तिलड़ी मणिको बाँधे इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"अग्निः सूर्यः (५ । २८ । २) इदं विष्णुः (७ । २७ । ४) इति त्रिवृतं त्वाष्ट्र्याम्" (नक्षत्र-कल्प १९) ॥

पशुतन्त्रमें अवटमें स्थापित यूपका "विष्णोः कर्माणि" इन दो ऋचाओंसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्रका

प्रमाण भी है, कि–"घर्ता ध्रियस्व (१२ । ३ । ३५) इति पादेनावटे निधीयमानं विष्णोः कर्माणि (७ । २७ । ६) इति द्वाभ्यां उच्छ्रितम्" (वैतानसूत्र २ । ६ ॥

तथा अग्निचयनमें कूर्माभ्यञ्जनके अनन्तर उलूखल और मुसलको भी "विष्णोः कर्माणीत्युलूखलमुसलं निधीयमानम्" (५ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः ।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्

यत् । नः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अग्निः । विश्वे । देवाः । मरुतः । यत् । सुऽअर्काः ।

तत् । अस्मभ्यम् । सविता । सत्यऽधर्मा । प्रजाऽपतिः । अनुऽमतिः । नि । यच्छात् ॥ १ ॥

इन्द्रः । ❀ इदि परमैश्वर्ये । "ऋजेन्द्राग्र०" इत्यादिना [उ० २. २८] रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । यास्कस्तु इन्द्र इरां दृणाति [नि० १०. ८] इत्यादिना इन्द्रशब्दं बहुधा निरुवाच ❀ । परमैश्वर्यादिगुणविशिष्टो देवः न अस्मभ्यं यत् फलम् असनत् अददात् ।❀ षणु दाने । व्यत्ययेन शप् ❀ । संभजनार्थस्य भौवादिकस्य वा रूपम् । यत् फलं समभजत् । अग्निः अङ्गनादिगुणविशिष्टो देवो यत् । असनद् इति सर्वत्र क्रियानुषङ्गः । विश्वे देवाः एतन्नामका गणदेवाः । मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका मरुद्गणाः । स्वर्काः । ❀ अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति । अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्तीति यास्कः [नि० ५. ४] ❀ । सु-

मन्त्राः सुदेवा वा एतन्नामानो देवाश्च । यद् असनन् इति क्रिया-पदस्य बहुवचनान्तत्वेन विपरिणामः । तत् फलम् अस्मभ्यं सविता सर्वस्य प्रेरकः सत्यधर्मा यथार्थकर्मा एतन्नामा देवः प्रजापतिः अनुमतिश्च नि यच्छात् नि यच्छतु स्थापयतु । ❀ प्रत्येकवि-वक्षया एकवचनम् यम उपरमे । अस्मात् पञ्चमलकारे "इषुग-मियमां छः" । आडागमः ❀ ॥

परम ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न इन्द्रदेवने हमको जो फल दिया है, अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेवने हमको जो फल दिया है, विश्वेदेवा और उड्श्वास मरुद्गण देवताओंने हमको जो फल दिया है, उस फलको सूर्यदेव, सत्यधर्मा, प्रजापति और अनु-मति देवी भी हमको देवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीरऽतमा । शविष्ठा ।
यौ । पत्येते इति । अप्रतिऽइतौ । सहःऽभिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

ययोः विष्णुवरुणयोः ओजसा बलेन रजांसि । ❀ लोका रजांस्युच्यन्त इति हि निरुक्तम् [४१. ६] ❀ । रञ्जनात्मकानि पृथिव्यादीनि स्थानानि स्कभिता स्कम्भितानि । दृढीकृतानीत्यर्थः ।

❀ शेर्लोपः ❀। यौ विष्णुवरुणौ वीर्यैः वीरकर्मभिः शत्रुजयादिरूपैः पराक्रमैः वीरतमा अत्यन्तशूरौ शविष्ठा। शव इति बलनाम। अतिशयेन बलवन्तौ। ❀ शवस्विशब्दाद् इष्ठनि विनो लुक्। उभयत्र सुप आकारः ❀। किं च यौ विष्णुवरुणौ सहोभिः बलैः अप्रतीतौ अप्रतिगतौ अतिरस्कृतौ सन्तौ पत्येते। ❀ पत्यतिरैश्वर्यकर्मा ❀। ऐश्वर्यं सामर्थ्यं प्राप्नुतः। तादृशं विष्णुम् व्यापनशीलं देवं वरुणम् अनर्थनिवारकं देवं च पूर्वहूतिः पूर्वाह्वानः इतरेभ्यः फलार्थिभ्यः प्रथमाह्वानोयं यष्टा अगन् गच्छतु। हविषा संयोजयतु इत्यर्थः। गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति मकारस्य नत्वे रूपम् ❀॥

जिन विष्णु और वरुणके बलसे रंजनात्मक पृथिवी आदि लोक दृढ़ हुए हैं, जो विष्णु और वरुण शत्रुजय आदि रूप वीरकर्मोंसे अत्यन्त शूर हैं और जो विष्णु और वरुण अतिरस्कृत रह कर ही ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं, ऐसे व्यापनशील विष्णुदेव और अनर्थनिवारक वरुणदेवको अन्य फलार्थियोंसे पूर्व आह्वान वाला यह यष्टा हविसे संयुक्त करे॥ १॥

तृतीया॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः॥२॥

यस्य। इदम्। प्रऽदिशि। यत्। विऽरोचते। प्र। च। अनति। वि। च। चष्टे। शचीभिः।

पुरा । देवस्य । धर्मणा । सहःऽभिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् ।

पूर्वऽहूतिः ॥ २ ॥

यस्य विष्णोः वरुणस्य च । ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ । प्रदिशि प्रदेशने आज्ञायां यद् इदं विश्वं विरोचते विशेषेण दीप्यते । प्रानिति च प्रकर्षेण चेष्टते च । ❀ श्वस प्राणने । अन च इति धातुः ❀ । शचीभिः कर्मभिः वि चष्टे च । ❀ पश्यतिकर्मैतत् ❀ । स्वस्वकर्तव्यं फलं वा विशेषेण पश्यति च । किं च देवस्य द्योतमानस्य विष्णोर्वरुणस्य च धर्मणा धारकेण कर्मणा सहोभिः बलैश्च पुरा पूर्वं जगद् व्यरोचिष्ट प्रानीत् व्यचष्टेति कालविपरिणामेन योज्यम् । ❀ पुराशब्दस्य निपातस्य रोचते इत्यादिधातुयोगे "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् ❀ । देवस्य धारकेण कर्मणा बलैश्च यद् इदं विश्वं विरोचिष्यते प्राणिष्यति विख्यास्यति विशेषेण द्रक्ष्यति । एवं विष्णुवरुणयोराज्ञायां विश्वं जगद् भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु रोचनादिव्यापारास्पदं भवति । तादृशं विष्णुं वरुणं च पूर्वहूतिः इतरेभ्यः प्रथमाह्वानीयं फलार्थी जनः अगन् गच्छतु । हविषा संयोजयतु इत्यर्थः ॥

जिन विष्णु और वरुणकी आज्ञामें जो यह विश्व दमक रहा है और चेष्टा कर रहा है । और अपने २ कर्तव्य और फलोंको विशेषरूपसे देखता है । और जिन प्रकाशमान विष्णु और वरुण के धारक कर्मसे और बलोंसे जगत् चेष्टा कर चुका है कर रहा है और करेगा उन विष्णु और वरुणको यह पूर्वाह्वान होता हवि से संयुक्त करे ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

विष्णोर्नु कं प्र वोचं वीर्या॑णि यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि ।

यः । अस्कभायत् । उत्ऽतरम् । सधऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ॥ १ ॥

विष्णोः व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं प्र वोचम् प्रकर्षेण ब्रवीमि । ❀ छान्दसो लुङ् ❀ । कम् इति पूरणः । विष्णुर्विशेष्यते । यो देवः पार्थिवानि पृथिवीमयानि रजांसि लोकान् विममे निर्ममे । "तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीरुत द्यून्" इति [ऋ० २. २७. ८] मन्त्रवर्णे एकैकस्य लोकस्य त्रित्व-संख्या श्रूयते । यद्वा "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इति [ऐ० ब्रा० २. १७] एकैकस्य त्रिवृत्करणश्रवणात् पार्थिवानीत्यत्र पृथिवीशब्देन पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका उच्यन्ते । "द्वितीयस्यां पृथिव्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्" इति हि तैत्तिरीयश्रुतिः [तै० सं० १. २. १२. १] । पृथिवीषु भवानि । ❀ पृथिवीशब्दाद् भवार्थे अञ् प्रत्ययः ❀ । रजांसि ज्योतींषि अग्निविद्युत्सूर्यात्मकानि विममे निर्मितवान् । किं च यो विष्णुः उत्तरम् उद्गततरं सधस्थं स्थानम् । सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवा इति सधस्थम् स्वर्गम् । ❀ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । अस्कभायत् अस्तभ्नात् अधारयत् । ❀ "स्तन्भुस्तुन्भु०" इत्यादिना स्कभेः श्नाप्रत्यये "श्नायच् छन्दसि सर्वत्र" इति शायजादेशः ❀ । किं कुर्वन् । त्रेधा त्रिधा पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विचक्रमाणः पादप्रक्षेपं कुर्वन् उरुगायः उरुभिर्महात्मभिर्गीयमानः स्तूयमानः उरुगमनो वा । तस्य विष्णोर्वीर्याणि प्रब्रवीमीति संबन्धः ॥

व्यापनशील विष्णुके वीरकर्मोंको मैं तुमसे शीघ्रतासे कहता हूँ, कि-इन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गको रचा है और इन विशालकीर्ति विष्णुदेवने श्रेष्ठ स्वर्गको धारण किया है इनको उन्होंने तीन पैर रख कर किया है ॥ १ ॥

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्याणि । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः ।

पराऽवतः । आ । जगम्यात् । परस्याः ॥ २ ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।

उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।

घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ।

उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ।

घृतम् । घृतऽयोने । पिब । प्रऽप्र । यज्ञऽपतिम् । तिर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥ तत् । ❀ लिङ्व्यत्ययः ❀ । स महानुभावो विष्णुः

वीर्याणि वीरकर्माणि । उद्दिश्येति क्रियाध्याहारः । प्र स्तवते प्र-कर्षेण स्तूयते । ❀ स्तौतेः कर्मणि व्यत्ययेन शप् ❀ । मृगो न मृग इव सिंह इव भीमः भयानकः कुचरः कुत्सितं चरन् कौ भूम्यां वा चरन् गिरिष्ठाः पर्वते तिष्ठन् भूमौ संचरन्नपि सिंहः उत्सव-नेन पर्वतस्थितो भवति । एवं स विष्णुः परस्याः परावतः अति-दूराद्द देशादपि आ जगम्यात् स्तुतिकर्मत्वेन आगच्छतु । ❀ गमे-श्छान्दसः शपः श्लुः ❀ । यस्य विष्णोः उरुषु विस्तीर्णेषु त्रिषु विक्रमणेषु पादनिधानस्थानेषु विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतानि अधिक्षियन्ति अधिवसन्ति । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । प्रथमे विक्रमे भौमानि द्वितीये अन्तरिक्ष्याणि तृतीये दिव्यानि भूतानि वसन्तीत्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ हे विष्णो व्यापक उरु प्रभूतं वि क्रमस्व लोकत्रये पादत्रयं कुरु । किं च नः अस्माकं क्षयाय निवासाय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । निवासस्य उरु प्रभूतं धनादिकं कृधि कुरु । अस्माकं निवासं बहुधनादियुक्तं कुर्वित्यर्थः । हे घृतयोने घृतस्य योने कारणभूत घृतं योनिर्यस्येति वा घृतयोनिः । अत्र अग्न्यात्मना विष्णुः स्तूयते । हे विष्णो इदं हूयमानं घृतम् आज्यं पिब । अपि च यज्ञपतिम् । यजमानं मम तिर प्रवर्धय । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्ध-नार्थः । "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति प्रशब्दस्य द्विर्वचनम् ❀ ॥

उन महानुभाव विष्णुके वीरकर्मोंकी प्रशंसा की जाती है, कि जैसे भयानक सिंह पृथिवी पर घूमता हुआ भी कूद कर पर्वत पर जा चढ़ता है, इसी प्रकार बहुत दूर पर भी विराजमान विष्णुदेव स्तुतिके कारण यहाँ आजावें, जिन विष्णुके विस्तीर्ण पादनिधानस्थानोंमें सकल भुवन निवास कर रहे हैं अर्थात् पहिले पादनिधानस्थान में भूलोकके दूसरेमें अन्तरिक्षके और तीसरेमें दिव्य भूत निवास कर रहे हैं (ऐसे विष्णुदेव स्तुतिकर्मसे यहाँ आजावें) । हे व्या-

पक विष्णुदेव ! आप तीनों लोकोंमें पैरोंको रखिये, और हमारे निवासके लिये बहुतसा धन आदि हमको दीजिये (अग्निरूपमें विष्णुकी स्तुति करते हैं, कि-) हे घृतसे होने वाले ! इस होमे जाते हुए घृतको पीजिये और यज्ञपति यजमानको बढ़ाइये॥२॥३॥

सप्तमी ॥

इदं विष्णुर्वि चंक्रमे त्रेधा नि दधे पदा । समूंढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ॥ सम्ऽऊढम् । अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

विष्णुः व्यापी भगवान् इदं विश्वं वि चक्रमे विक्रान्तवान् । कतिधा विचक्रमे इति तद् आह । त्रेधा त्रिधा पदा पदानि नि दधे स्थापयामास । "पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमाँल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत्" इति श्रुतेः । अस्य विक्रममाणस्य विष्णोः पांसुरे पांसुमति । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । पादे लोकत्रयं समूढम् सम्यग् ऊढं समवस्थापितं समाकृष्टं वा अभवत् । ❀ अत्र "विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । यद् इदं किं च तद् वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः" [नि० १२. १८] इत्यादि निरुक्तम् अनुसंधेयम् ❀ ॥

व्यापनशील भगवान् विष्णुदेवने इस विश्वका विक्रमण किया अर्थात् इसके ऊपर पैर रक्खे उन्होंने पैरको तीन बार रक्खा † इन विक्रममाण भगवान्के धुलिसे भरे चरणमें तीनोंलोक समागए थे

† इस श्रुतिमें वामन अवतारका वर्णन है । अन्य श्रुतियोंमें भी कहा है, कि-"पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि च विष्णुर्वामनो भूत्वेमाँल्लोकांस्त्रिभिः क्रमैरभ्यजयत् ।-भगवान् विष्णुने वामन

अष्टमी ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।

इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि पदा पदानि वि चक्रमे विक्रान्तवान् । गोपाः गोपायिता अदाभ्यः अहिंस्यः परैरनभिभाव्यो विष्णुः । अतः अस्मात् लोकात् पृथिव्या आरभ्य धर्माणि कर्माणि अग्निहोत्रादीनि धारयन् । अपि वा । अतः एभ्यस्त्रिभ्यः पदेभ्यो धर्माणि भूतधारकाणि रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि धारयन् । विचक्रमे इति संबन्धः ॥

दूसरोंसे न दबने वाले रक्षक विष्णुदेवने तीन पैर रखे इन तीन पैरोंसे ही उन्होंने पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको धारण किया था ॥ ५ ॥

नवमी ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ।

इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

बन कर पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग इन तीनोंमें तीन पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया था” ॥

विष्णोः व्यापकस्य देवस्य कर्माणि पश्यत । हे स्तोतार इति शेषः । यतः । ❀ "इतराभ्योपि दृश्यन्ते" इति तृतीयार्थे तसिल् प्रत्ययः ❀ । यैः कर्मभिः व्रतानि नानाविधानि युष्मदीयानि कर्माणि पस्पशे स्पृशति बध्नाति वा । ❀ स्पश बन्धनस्पर्शनयोः । स्वरितेत् । छान्दसो लिट् । शर्पूर्वस्य खयः शेषः ❀ । पुनः कीदृशो विष्णुः । इन्द्रस्य देवस्य युज्यः योग्यः अनुगुणः सखा समानख्यानो मित्रभूतः ॥ ❀ युज्य इति । युजेः संपदादिलक्षणे क्विपि युग् इति पदं भवति । युजि योगे सादुः । "तत्र साधुः" इति यत् ❀ ॥

[इति] तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे स्तोताओं ! व्यापक विष्णुदेवके कर्मोंको देखो ! कि–जिन कर्मोंसे वे तुम्हारे कर्मोंको बाँधते हैं । और यह विष्णुभगवान् इन्द्रके योग्य सखा हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३४१) ॥

"तद्ध विष्णोः" इति द्वितीयं सूक्तम् । तत्र आथर्योरृचोः सर्वसंपत्कर्मणि "विष्णोर्नु कम्" इत्यत्र विनियोगोऽभिहितः ॥

दर्शपूर्णमासयोः "वेदः स्वस्तिः" इति वेदं विमुञ्चेत् । "वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति" इति [वै० १. ४] वैतानसूत्रात् ॥

प्रायणीयेष्टौ अनया स्वस्तियागम् अनुमन्त्रयेत । "प्रायणीयायां पथ्यायाः स्वस्तेः" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः" इति [वै० ३. ३] सूत्रितम् ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा "अग्नाविष्णू" इति द्वाभ्यां शरपिञ्जूलीभिः सह उदकघटं सपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयेद् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । "अग्नाविष्णु [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]" इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन तृचेन अग्राविष्णू यजेत उपतिष्ठेत वा। [कौ० ७. १०]॥

गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि "स्वाक्तम्" [१] इत्यनया अञ्जनम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणोऽक्षिणी अभ्यञ्ज्यात्। "आयुर्दाः [२. १३] इति गोदानं कारयिष्यन्" इति [कौ० ७. ४] प्रक्रम्य "स्वाक्तं म इत्यनक्ति" इति [कौ० ७. ५] हि सूत्रितम्॥

पश्चाद्वज्यमानं यूपम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "स्वाक्तं म इत्यज्यमानम्" इति वैतानसूत्रात् [वै० २. ६]॥

आभिचारकर्मणि "इन्द्रोतिभिः" [१] इत्यनया अशनिहतवृक्षसमिधम् आदध्यात्॥

उपनयने आयुष्कामस्य माणवकस्य मूर्धानम् "उप प्रियम्" इत्यनुमन्त्रयेत। "आवतस्ते [५. ३०. १] उप प्रियम् [७. ३२] अन्तकाय मृत्यवे" [८. १] इति [कौ० ७. ६] सूत्रितम्॥

पुष्टिकर्मणि तटाकादिसर्वजनसाधारणोदके मिश्रधान्यं प्रक्षिप्य "सं मा सिञ्चन्तु" [१] इत्यनया संपात्य अभिमन्त्र्य पुष्टिकामोऽश्नीयात्। "सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्" इति [कौ० ३. ७] कौशिकसूत्रात्॥

तथा अग्निकार्ये अनया माणवकोऽग्निं पर्युक्षेत्। "सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पर्युक्षति" इति [कौ० ७. ८] कौशिकसूत्रात्॥

तथा अग्निचयने अभिषिच्यमानं यजमानं ब्रह्मा एनाम् ऋचं वाचयेत्। "सं मा सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति" इति वैतानसूत्रात् [वै० ५. २]॥

"तद्द् विष्णोः" यह दूसरा सूक्त है। इसकी पहिली दो ऋचाओं का सर्वसम्पत्कर्म के 'विष्णोर्नु कम्' में विनियोग कहा है।

दर्शपूर्णमासके 'वेदः स्वस्तिः' से वेदका विमुञ्चन करे। वैतानसूत्र १। ४ में कहा है, कि—"वेदः स्वस्तिरिति वेदं विचृतति"

प्रायणीयेष्टिमें इस ऋचासे स्वस्तियागका अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ३। ३ में कहा है, कि—"प्रायणीयायां पथ्यायाः स्व-स्तेः" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीर्वेदः स्वस्तिः" ॥

सर्वव्याधिभैषज्यके लिये रोगीके शरीरको मूंजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँध कर 'अग्नाविष्णू' इन दो ऋचाओंसे सेंठोंके मुट्ठों के साथ जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी को स्नान करा देय अथवा उस पर जल छिड़के ॥ इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"अग्नाविष्णू (७। ३०) सोमारुद्रा (७। ४३)" इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभि-रासावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४। ८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस ऋचसे अग्नि और विष्णुका यजन वा उपस्थान करे। इस बातका कौशिकसूत्र ७। १० में वर्णन है।

गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें 'स्वाक्तम्' इस ऋचासे अञ्जनका अभिमन्त्रण करके उसको ब्रह्मचारीकी आँखोंमें डाले 'आयुर्दाः (२। २३) इति गोदानं कारयिष्यन्" इति कौशिक सूत्र ७। ४) प्रक्रम्य "स्वाक्तं म इत्यनक्ति" इति (कौशिक सूत्र ७। ५) हि सूत्रितम् ॥

पशुमें बाँधे जाते हुए यूपका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र २। ६ में कहा है, कि—"स्वाक्तं म इत्यज्यमानम्"

अभिचारकर्ममें "इन्द्रोतिभिः" ऋचासे बिजलीसे मारे हुए वृक्षकी समिधाको रक्खे।

उपनयनमें आयु चाहने वाले बालकके मूर्धाको 'उपप्रियम्' से अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि— "आयतस्ते (५। ३०। १) उप प्रियम् (७। ३३) अन्तकाय मृत्यवे" (८। १) इति (कौशिकसूत्र ७। ६) ॥

पुष्टिकर्ममें पुष्टिकी कामना वाला तालान्न आदि सर्वजनसुलभ

जलमें मिश्रधान्यको डाल कर 'सं मा सिञ्चन्तु' ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण भी है, कि–"सं मा सिञ्चन्त्विति सर्वोदके मैश्रधान्यम्" ॥

तथा माणवक इससे अग्निकार्यमें अग्निका पर्युक्षण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।८ का प्रमाण भी है, कि–"सं मा सिञ्चन्त्विति त्रिः पर्युक्षति" ॥

तथा ब्रह्मा अग्निचयनमें अभिषिच्यमान यजमानसे इस ऋचा का उच्चारण करावे। वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि–" सं मा सिञ्चन्त्वित्यभिषिच्यमानं वाचयति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।
दिविऽइव । चक्षुः । आऽततम् ॥ ७ ॥

तत् प्रसिद्धं पूर्वत्रोक्तं वा विष्णोः व्यापकस्य देवस्य परमम् उत्कृष्टं पूर्णं वा पदम् स्थानम् पद्यते गम्यत इति पदं ज्ञातव्यं तत्त्वम् सदा सर्वदा सूरयः मेधाविनः पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति। कादृशम्। दिवि द्युलोके चक्षुरिव आततम्। सर्वेषां चक्षुःस्थानीयं सूर्यमण्डलम् इह चक्षुःशब्देनोच्यते। "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः" इति हि निगमः [ऋ० १. ११५. १]। आततम् समन्तात् विस्तारितम्। ❀ "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀। सूर्यमण्डलमिव सर्वत्र प्रकाशस्वरूपं तत्त्वं पश्यन्तीत्यन्वयः ॥

भगवान् विष्णुके उस उत्कृष्ट पूर्ण पद या ज्ञातव्य तत्त्वको

बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं, वह जैसे सबका चक्षुः स्थानीय सूर्य-मण्डल (रूप चक्षु) द्युलोकमें विस्तृत है, इसी प्रकार उस सर्वत्र प्रकाशस्वरूप तत्त्वको बुद्धिमान् पुरुष देखते हैं ॥ ७ ॥

द्वितीया ॥

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ ८ ॥

दिवः । विष्णो इति । उत । वा । पृथिव्याः । महः । विष्णो इति । उरोः । अन्तरिक्षात् ।

हस्तौ । पृणस्व । बहुऽभिः । वसव्यैः । आऽप्रयच्छ । दक्षिणात् । आ । उत । सव्यात् ॥ ८ ॥

हे विष्णो देव दिवः द्युलोकात् उत वा अपि वा पृथिव्याः महः महतः दिवः पृथिव्याश्च महतोन्यस्मात् महर्लोकादेः । ❀ मह-च्छब्दात् पञ्चम्येकवचने टिलोपश्छान्दसः । महतेर्वा पूजार्थात् क्विबन्तात् पञ्चम्येकवचनम् ❀ । यद्वा मह इति पदम् अन्तरिक्ष-स्य विशेषणम् । हे विष्णो । पुनरामन्त्रणम् आदरार्थम् । उरोः विस्तीर्णात् । ❀ भाषितपुंस्कत्वेन नुमभावः ❀ । अन्तरिक्षात् लोकात् । आनीतैरिति शेषः । बहुभिः अधिकैः वसव्यैः वसूनां समूहैः । ❀ "वसोः समूहे च" इति यत्प्रत्ययः ❀ । हस्तौ त्व-दीयौ पृणस्व पूरय । द्युलोकादिभ्य आनीतैर्बहुभिर्धनैस्त्वदीयौ हस्तौ पूरय । प्रभूतं धनराशिं हस्ताभ्यां गृहाणेत्यर्थः । ततस्तं प्रभूतं धनराशिं दक्षिणात् हस्ताद् आप्रयच्छ आभिमुख्येन अस्मभ्यं

देहि । उत अपि च सव्यात् वामहस्ताच्च आ । प्रयच्छेत्यनुषङ्गः । ❁ दाण् दाने । "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❁ ॥

हे विष्णुदेव ! आप द्युलोकसे पृथिवीलोकसे महर्लोकसे और विशाल अन्तरिक्षलोकसे लाये हुए पदार्थोंसे अपने दोनों हाथों को भरिये अर्थात् विशाल धनको अपने दोनों हाथोंसे ग्रहण करिये, फिर उस विशाल धनराशिको अपने सीधे और बायें हाथसे हमको भली प्रकार दीजिये ॥ ८ ॥

तृतीया ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः । घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी १

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः । पदे । पुनते । देवऽयन्तः ।

घृतऽपदी । शक्वरी । सोमऽपृष्ठा । उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्वऽदेवी

इडा धेनुरूपा । एवशब्दः अवधारणे । अस्मान् सत्कर्मकारिणः व्रतेन कर्मणा अनु वस्ताम् अनुक्रमेणाच्छादयतु । अस्माभिरनुष्ठीयमानं कर्म यथा फलप्रदं भवति तथा करोत्वित्यर्थः । ❁ वस आच्छादने । आदादिकः अनुदात्तेत् ❁ । यस्या इडायाः पदे पादे देवयन्तः देवकामा यजमानाः पुनते स्वात्मानं पुनन्ति । ❁ देवशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" ❁ । घृतपदी घृतं पदे यस्याः सा । "यत्रयत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्युच्यते" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं २. ६. ७. १]। शक्वरी शक्ता फलदाने समर्था । ❁ शक्केः क्वनिपि "वनो र च" इति ङीब्रेफौ ❁ । सोमपृष्ठा सोमः पृष्ठे यस्यास्तादृशी वैश्वदेवी विश्वेषां

देवानाम् इयं विश्वदेवात्मिका इडा नाम धेनुः यज्ञम् अस्मदीयम् उपास्तृत सर्वत्र विस्तृतं करोतु । ※ स्तृञ् आच्छादने । छान्दसे लुङि सिचो लुकि रूपम् ※ ॥

धेनु इस सत्कर्म करने वालोंको कर्म से आच्छादित करे अर्थात् किया हुआ कर्म जिस प्रकार फलप्रद हो तिस प्रकार करे, जिस धेनुके पदमें देवताओंसे कामना करने वाले यजमान अपनेको पवित्र करते हैं, ऐसी यह घृतपदी ‡ फलदानमें समर्थ, सोमपृष्ठा सम्पूर्ण देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली यह इडा (धेनु) हमारे यज्ञको-सर्वत्र विस्तृत करे ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति । हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्रुऽघनः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः । नः । स्वस्ति ।

हविःऽकृतः । यज्ञियाः । यज्ञऽकामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदो नाम दर्भमुष्टिः स्वस्तिः अविनाशहेतुः अस्माकं भवतु ।

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ७ । १ में कहा है, कि–"यत्र यत्र न्यक्रामत् तत्र घृतमपीड्यत तस्माद् घृतपद्युच्यते ॥–उस गौने जहाँ २ पैर रक्खा तहाँ २ घृत पीड़ित हुआ–निकला, अतएव यह घृतपदी कहलाती है" ॥

* अयं स्वस्तिशब्दो निपातो गुणभावे अविनाशे वर्तते। अत्र मतुब्लोपाद् गुणिनि अविनाशहेतौ वर्तते। अत एव सुबुत्पत्तिः। यद्वा सुपूर्वात् अस्तेः क्तिनि भूभावाभावश्छान्दसः *। द्रुघणः द्रुः द्रुमो हन्यते अनेनेति द्रुघणः खनित्रादिः। * "करणेयोविद्रुषु" इति अप् घत्वं च *। स च स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु। परशुः पर्शुः पार्श्वास्थिः तृणादिच्छेदनी वेदिः हविरासादनाधारभूता परशुः वृक्षच्छेदनसाधनभूतश्च नः अस्माकं स्वस्तिः अविनाशहेतुर्भवतु। किं च हविष्कृतः हविःसंपादका यज्ञियाः यज्ञार्हा यज्ञकामा यज्ञं कामयमानाः। अथ वा हविष्कृतः।* षष्ठ्यन्तं पदम् *। हविःसंपादकस्य मम यज्ञकामास्ते मरुतः वेदद्रुघणादयो देवासः देवात्मकः इमम् अस्मदीयं यज्ञं जुषन्ताम् सेवन्ताम् ॥

वेद अर्थात् दर्भकी मुट्ठी हमारे अविनाशमें कारण हो और जिस से पेड़ काटा जाता है वह खनित्र (गडाँसा) आदि द्रुघण हमारे लिये स्वस्ति (अविनाशहेतु) हो जिस पर फरसेसे तृण आदि काटे जाते हैं वह परशुर्वेदि और फरसा हमारे लिये स्वस्ति हो ये देवात्मक वेद द्रुघण आदि हविका सम्पादन करने वाले मुझ यजमानके सेवन करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू इति। महि। तत्। वाम्। महिऽत्वम्। पाथः। घृतस्य। गुह्यस्य। नाम।

दमेऽदमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

हे अग्नाविष्णू । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् ❀ । वाम् युवयोस्तत् वक्ष्यमाणं प्रसिद्धं वा महित्वम् माहात्म्यं महि महत् महनीयं पूजनीयम् । ❀ इन् सर्वधातुभ्यः इति [उ० ४.११७] महेरिन् प्रत्ययः ❀ । यतः गुह्यस्य गोपनीयस्य गुहारूपजुहूगतस्य वा नाम आज्यसांनाय्यादिनामवतो घृतस्य क्षरणशीलस्य वस्तुनः पाथः पिबथः । ❀ पा पाने । शपो लुक् छान्दसः ❀ । कीदृशौ । दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यज्वगृहेषु सप्त सप्तसंख्याकानि रत्ना रत्नानि रमणीयानि गवाश्वादिसप्तपशुरूपाणि रत्नानि दधानौ धारयन्तौ । किं च वाम् युवयोः प्रति प्रत्येकं जिह्वा रसना घृतम् हूयमानम् आज्यम् आ चरण्यात् आभिमुख्येन प्राप्नोतु । भक्षयत्वित्यर्थः । एतत् महित्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ चरण गतौ इति कण्ड्वादौ पठ्यते । तस्मात् लेटि आडागमः ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आपका परमपूजनीय माहात्म्य है कि-जो स्रुवेरूप गुफा वाले क्षरणशील आज्य सांनाय्य आदि नामक घृतको पीते हो, आप यजमानोंके घर २ में गौ अश्व आदि सात पशुरूप रत्नोंको स्थापित करते हैं, आप दोनोंमेंसे प्रत्येककी जिह्वा होमे हुए घृतको अभिमुख होकर प्राप्त करे १

षष्ठी ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।

दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णू इति । महि । धाम । प्रियम् । वाम् । वीथः । घृतस्य । गुह्या । जुषाणौ ।

दमेऽदमे । सुऽस्तुत्या । वावृधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । उत् । चरण्यात् ॥ २ ॥

हे अग्नाविष्णू वाम् युवयोः धाम स्थानं तेजो वा महि महत् महनीयं वा प्रियम् इष्टं सर्वेषां प्रीतिकारि वा भवति । किं च घृतस्य गुह्या गुह्यानि सांनाय्यचरुपुरोडाशादीनि स्वरूपाणि वीथः भक्षयथः । ❀ वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु ❀ । जुषाणौ परस्परं प्रीयमाणौ दमेदमे गृहेगृहे सर्वेषु यजमानगृहेषु सुष्टुत्या शोभनया गुणिनिष्ठगुणाभिधानरूपया स्तुत्या वावृधानौ अत्यर्थं वर्धमानौ । यस्माद् एवं तस्माद् वाम् युवयोः जिह्वा प्रति प्रत्येकं घृतम् उच्चरण्यात् प्राप्नोतु भक्षयतु। ❀ चरण्यते रूपसिद्धिरुक्ता ❀ ॥

हे अग्नि और विष्णुदेव ! आप दोनोंका तेज (वा धाम) विशाल है और सबको प्रिय हैं, आप घृतके सांनाय्य चरु पुरोडाश आदि स्वरूपोंका भक्षण करते हैं और आप परस्पर प्रेम रख कर सब यजमानोंके घरमें अपने गुणोंकी वर्णनरूपा स्तुतिसे बढ़ते हैं, इस कारण आपमेंसे प्रत्येककी जिह्वा घृतका भक्षण करे २

सप्तमी ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

सुऽआक्तम् । मे । द्यावापृथिवी इति । सुऽआक्तम् । मित्रः । अकः । अयम् ।

सुऽआक्तम् । मे । ब्रह्मणः । पतिः । सुऽआक्तम् । सविता । करत्

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मदीयम् अक्षियुगं यूपं वा स्वाक्तम् अञ्जनेन सुष्ठु आ सर्वतः अक्तम् रञ्जितं कुरुताम् । अयं परिदृश्यमानो मित्रः सूर्यः स्वाक्तम् अकः करोतु । सर्वत्र अक्षियुगं यूपो वा कर्म । ❀ अकः इति करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि गुणे "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपे रूपम् ❀ ॥ तथा ब्रह्मणः मन्त्रस्य पतिः पालयिता देवः मे मदीयम् अक्षि यूपं वा स्वाक्तं करोतु । सविता सर्वस्य प्रेरयिता देवोपि स्वाक्तं करत् करोतु । ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः । पञ्चमलकारे वा अडागमे रूपम् ❀ ॥

द्यावापृथिवी मेरे नेत्रयुगलको वा यूपको अञ्जनसे भली प्रकार रञ्जित करें, यह सूर्यदेव मेरे दोनों नेत्रोंको वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें, तथा ब्रह्मणस्पति देवता भी मेरे नेत्रयुग्मको वा यूप को भली प्रकार रञ्जित करें और सविता देवता मेरे दोनों नेत्रों को वा यूपको भली प्रकार रञ्जित करें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । ऊतिऽभिः । बहुलाभिः । नः । अद्य । यावत्ऽश्रेष्ठाभिः । मघऽवन् । शूर । जिन्व ।

यः । नः । द्वेष्टि । अधरः ।सः । पदीष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः ।

तम् । ऊं इति । प्राणः । जहातु ॥ १ ॥

हे इन्द्र बहुलाभिः महीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः अथ इदानीं नः अस्मान् । पालयेति शेषः । हे मघवन् धनवन् हे शूर शौर्यवन् इन्द्र श्रेष्ठाभिः प्रशस्यतमाभिस्ताभिरूतिभिः यावत् साकल्येन अस्मान् जिन्व प्रीणय । ❀ जिवि प्रीणने । इदित्वात् नुम् ❀ । यः शत्रुः नः अस्मान् द्वेष्टि हिनस्ति सः अधरः अधोमुखः सन् पदीष्ट पततु । ❀ सांहितिकः सकारश्छान्दसः ❀ । यं च शत्रुं वयं द्विष्मस्तं तदीयः प्राणो जहातु परित्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आप अनेक रक्षाओंसे हमारी रक्षा करिये, हे धनवन् शूर इन्द्र ! आप श्रेष्ठतासे रक्षा कर हमको जीवित रखिये, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है वह औंधे मुख होकर गिर पड़े, और जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं उसको उसका प्राण त्याग देय १

नवमी ॥

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।

अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप । प्रियम् । पनिप्नतम् । युवानम् । आहुतिऽवृधम् ।

अगन्म । बिभ्रतः । नमः । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥१॥

प्रियम् सर्वेषाम् इष्टं प्रीणनकारिणं वा पनिप्नतम् शब्दायमानं स्तूयमानं वा । ❀ पण व्यवहारे स्तुतौ च । पनं च इत्यस्माद्व यङ्लुगन्ताच्छतरि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । युवानम् फलस्य

मिश्रयितारं नित्यतरुणं वा आहुतिवृधम् आज्याद्याहुतिभिर्वर्धमानम् अग्निं नमः नमस्कारम् हविर्लक्षणम् अन्नं वा बिभ्रतः धारयन्तो वयम् उपागन्म उपगच्छेम परिचरेम । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" "म्वोश्च" इति नकारे रूपम् ❀ । अतः मे मम मदीयस्य वा माणवकस्य दीर्घं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृणोतु करोतु ।

सबको प्रसन्न करनेवाले-सबको इष्ट, स्तुति पाते हुए, फलको कर्तासे मिलाने वाले, घृत आदिकी आहुतियोंसे बढ़ने वाले, अग्निदेवके पास हम हविरूप अन्न वा नमस्कारको लेकर जाते हैं इस कारण वह मेरी वा मेरे बालककी सौ वर्ष तककी आयु करें १

दशमी ॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः
कृणोतु मे ॥ १ ॥

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।
सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्रऽजया । च । धनेन ।
च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

मरुदादयो देवताः मा मां फलार्थिनं यष्टारं प्रजया पुत्रादिरूपया धनेन च सं सिञ्चन्तु संयोजयन्तु अभिषिञ्चन्तु वा । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चशब्दौ । प्रतिदेवतं क्रियानुषङ्गद्योतनार्थं सम् इति उपसर्गः ❀ । किं च मे मम मदीयस्य माणवकस्य वा दीर्घम् आयुः कृणोतु । अग्निः संनिहितत्वाद् आयुष्करणे संबध्यते । अपि वा मरुदादयः । तदा कृणोत्विति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ॥

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

मरुत् आदि देवता मुझ फल चाहने वाले यजमानको पुत्र आदिरूप प्रजासे और धनसे संयुक्त करें और मेरे बालककी दीर्घायु करें, पूषा देवता, बृहस्पति देवता और यह अग्निदेवता भी मुझ को प्रजा धन और दीर्घायु देवें ॥ १ ॥

तीसरे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३५९) ॥

विद्वेषिणः पुमपत्यराहित्याय "अग्ने जातान्" इत्यनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणेन संघृष्य अभिमन्त्र्य ओदनेन सह विद्वेषिण्यै प्रयच्छेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया अश्वतरीमूत्रं पाषाणाभ्यां संघृष्य अभिमन्त्र्य तस्या अलंकारान् आलिम्पेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनया विद्वेषिण्याः सीमन्तम् ईक्षेत ॥

विद्वेषिण्या वन्ध्याकरणकर्मणि "प्रान्यान्" इति सूक्तेन पूर्वमन्त्रोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "अग्ने जातान् [१] इति न वीरं जनयेत् प्रान्यान् [७. ३६] इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्ममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते" इति [कौ० ४. १२] ॥

अभिचारकर्मणि "अग्ने जातान्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अशनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

अग्निचयने पञ्चम्यां चितौ असपत्नेष्टकाम् उपधीयमानाम् "अग्ने जातान्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "अग्ने जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः" इति [वै० ५. २] हि वैतानं सूत्रम् ॥

विवाहे चतुर्थदिवसे "अक्ष्यौ नौ" इत्यनया वरवध्वौ अन्योन्यम् अक्षिणी अञ्ज्याताम् । "अक्ष्यौ नाविति समञ्जाते" इति [कौ० १०. ५] सूत्रम् ॥

सौभाग्यसंवननकर्मणि "इदं खनामि" इति पञ्चर्चेन सौवर्चलमूलं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पञ्चर्चेन शङ्खपुष्पीपुष्पम् अभिमन्त्र्य स्त्रियः शिरसि बध्नीयात् ॥

"इदं खनामीति सौवर्चलम् ओषधिवत् शुक्लप्रसूनं शिरस्युपहृत्य ग्रामं प्रविशति" इति सूत्रम् [कौ० ४, १२] ॥

विद्वेषीके पुरुषको पुरुषसन्तानसे हीन करनेके लिये 'अग्ने जातान्' इस ऋचासे खिच्चरीके मूत्रको पत्थरसे घोटकर अभिमन्त्रित करे फिर उसको ओदनके साथ मिलाकर विद्वेषिणीको देदेय

तथा इसी कर्ममें इससे खिच्चरीके मूत्रको पाषाणोंसे घोट और अभिमंत्रित करके उसके अलंकारोंको भिगोवे ।

तथा इसी कर्ममें इससे विद्वेषिणीके सीमन्तको देखे ।

विद्वेषिणीको वन्ध्या करनेके कर्ममें "मान्यान्" तृचसे पूर्वमन्त्रके लिये कहे हुए कर्मोंको करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अग्ने जातान् (१) इति न वीरं जनयेत् मान्यान् (७ । २६) इति न विजायेतेत्यश्वतरीमूत्रम् अश्ममण्डलाभ्यां संघृष्य भक्तेऽलंकारे । सीमन्तम् अन्वीक्षते" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

अभिचारकर्ममें "अग्ने जातान्" इन दो ऋचाओंसे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रक्खे ॥

अग्निचयनकी पाँचवीं चितिमें रक्खी जाने वाली असपत्नेष्टका को "अग्ने जातान्" इन दो ऋचाओंसे अथवा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । २ का प्रमाण है, कि-"अग्ने जातान् इति द्वाभ्यां पञ्चम्यां चितावसपत्नेष्टका निधीयमानाः" ॥

विवाहके चतुर्थ दिनमें "अक्षौ नौ" ऋचासे वर और वधू

परस्परके नेत्रोंको स्वच्छ करें । कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है, "अक्तौ नाविति समञ्जाते" ॥

सौभाग्यसंवननकर्म में "इदं खनामि" इस पञ्चर्चसे सौवर्चल-मूलको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे ।

तथा तहाँ ही कर्म में इस पञ्चर्चसे शङ्खपुष्पीके पुष्पको अभि-मन्त्रित करके स्त्रीके शिरमें बाँधे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"इदं खनामीति सौवर्चलम् ओषधिवत् शुक्लप्रसूनं शिरस्युपचृत्य ग्रामं प्रवि-शति (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जात-वेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥ १ ॥

अग्ने । जातान् । प्र । नुद । मे । सऽपत्नान् । प्रति । अजातान् । जातऽवेदः । नुदस्व ।
अधःऽपदम् । कृणुष्व । ये । पृतन्यवः । अनागसः । ते । वयम् । अदितये । स्याम ॥ १ ॥

हे अग्ने मे मदीयान् जातान् निष्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्र णुद प्रकर्षेण प्रेरय अतिदूरम् अपसारय ॥ तथा हे जातवेदः जातानां वेदितः जातप्रज्ञ वा अजातान् अनुत्पन्नान् उत्पत्स्यमा-नान् शत्रुपुत्रान् प्रति नुदस्व विनाशय ॥ किं च ये शत्रवः पृत-

न्यवः संग्रामेच्छवः । ❀ पृतनाशब्दाद् इच्छायां क्यचि “कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः” इति अन्त्यलोपः ❀ । तान् अस्माभिः सह योद्धुम् इच्छून् सपत्नान् अधस्पदम् पादस्याधस्ताद् देशे कृणुष्व कुरु । मदीयपादाधःप्रदेशवर्तिनः कुरु । एवं शत्रुबाधा प्रार्थिता । अथ तद्दोषपरिहारश्चतुर्थपादेन प्रार्थ्यते । ते तादृशाः शत्रुपीडाकाङ्क्षिणो वयम् । ❀ पुत्रादिसाहित्यं वक्तुं बहुवचनम् ❀ । अदितये अदितिः अखण्डनीया पृथिवी अदीना वा देवमाता तस्यै । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । अदित्याः प्रसादाद् अनागसः स्याम पापरहिता भवेम । अयम् अर्थः । भूमिर्हि पुण्यकृतः स्वस्योपरि चिरकालम् अवस्थापयति पापकृतस्तिरस्करोति । अतः अत्र शत्रुपीडाकाङ्क्षिणोपि अस्मान् तत्पापपरिहारेण भूमिश्चिरकालम् अवस्थापयत्विति प्रार्थ्यते । शत्रुहननार्थम् अग्नेः प्रार्थनाद् वा तन्माता अदितिः पापरहितान् अस्मान् करोत्विति आशास्यते । यद्वा अदितये अखण्डितत्वाय अदीनत्वाय अनभिशस्तये वा अनागसः स्यामेति ॥

हे अग्ने ! मेरे उत्पन्न हुए शत्रुओंको दूर हटाइये, और हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! आप अभी उत्पन्न न हुए किंतु उत्पन्न होने वाले शत्रुके पुत्रोंको नष्ट करिये और जो हमसे संग्राम करना चाहते हैं, उन संग्रामाभिलाषी शत्रुओंको पैरके नीचे दबाइये । (इस प्रकार शत्रुबाधाकी प्रार्थना की अब उसके दोषके परिहारकी चौथे पादमें प्रार्थना करते हैं, कि–) अखण्डनीया पृथिवी वा अदीना देवमाता अदितिके प्रसादसे हम पापरहित होवें, अर्थात् अखण्डित रहनेके लिये अदीन रहनेके लिये और आक्रोशशून्य रहनेके लिये हम निष्पाप होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वे एनमनु मदन्तु देवाः १

प्र । अन्यान् । सऽपत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजातान् । जातऽवेदः । नुदस्व ।
इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

हे जातवेदः अन्यान् अस्मत्प्रातिकूल्यकारित्वेन विभिन्नान् सपत्नान् सहसा बलेन शीघ्रं वा प्र सहस्व प्रकर्षेण अभिभव । प्रत्यजातान् इति पादो व्याख्यातः । किं च इदम् अनुभूयमानं स्वनिवासाश्रयं राष्ट्रम् अस्मदीयं जनपदं सौभगाय सौभाग्याय पिपृहि पूरय । यस्मिन् देशे परोपद्रवकारी वर्तते स देशः सस्यादिना अभिवृद्धो न भवतीति प्रसिद्धिः । अतः अत्र राज्यस्य सौभाग्यपूर्तिः प्रार्थ्यते । किं च विश्वे सर्वे देवाः एनं शत्रुहननकर्मणः प्रयोक्तारम् अनु मदन्तु अनुमोदन्ताम् ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप हमारे साथ प्रतिकूलताका व्यवहार करनेके कारण शत्रुओंको शीघ्रतासे घर दबाइये, और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उन उत्पन्न होने वाले शत्रुपुत्रोंको भी आप नष्ट करें, और इस निवासभूत राष्ट्रको सौभाग्यसे पूर्ण करिये, (जिस देशमें उपद्रव करने वाला शत्रु रहता है वह देश धान्य आदिसे समृद्ध नहीं रह सकता, अत एव राज्यको सौभाग्यसे पूर्ण करनेकी प्रार्थना की है) और सकल देवता भी इस शत्रुहनन कर्मके प्रयोग करने वालेका अनुमोदन करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धमनीः । उत ।
तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । बिलम् । अपि । अधाम् २

हे विद्वेषिणि स्त्रि ते त्वदीया या इमाः शतम् शतसंख्याका हिराः नाड्यः गर्भधारणार्थम् अन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा या नाड्यः सन्ति उत अपि च सहस्रम् सहस्रसंख्याका धमनी धमन्यः गर्भाशयस्य अवष्टम्भिका बाह्याः स्थूला या नाड्यः सन्ति ते त्वदीयानां तासां सर्वासां नाडीनां बिलम् मुखम् अश्मना पाषाणेन अहम् वन्ध्याकरणकर्म प्रयोक्ता अप्यधाम् अपिहितवान् आच्छादितवान् अस्मि । यथा गर्भधारणक्षमा न भवन्ति तथा अकार्षम् । छान्दसो मां लुङ् । अपिदधामि ॥

हे विद्वेष करने वाली स्त्रि ! तेरी जो सौ सूक्ष्म नाड़ियें गर्भ धारण करनेके लिये भीतर स्थित हैं, और गर्भाशयको थामने वाली जो हजार स्थूल नाड़ियें बाहर हैं, वन्ध्याकरणकर्म का प्रयोग करने वाला मैं तेरी इन सब नाड़ियोंके मुखको पत्थरसे दबाता हूं अर्थात् जिस प्रकार वे गर्भधारण करनेमें समर्थ न हों वैसा करता हूं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः ।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्रऽजा ।
अभि । भूत । मा । उत । सूनुः ।
अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपिऽधानम् ।
कृणोमि ॥ ३ ॥

हे प्रतिकूले नारि ते त्वदीयं योनेः परं पुत्रजननक्षमत्वेन उत्कृष्टं स्थानं गर्भाशयं योनेः परस्तात् प्रदेशे वर्तमानं वा स्थानम् अवरं कृणोमि निकृष्टं गर्भं धारयितुम् अक्षमं करोमि । योनिप्रदेशात् नीचीनं बहिर्भूतं वा करोमि । यत एवम् अतः प्रजा स्त्र्यपत्यरूपा त्वा त्वां मा अभि भूत् सर्वतो मा प्राप्नोतु । ❀ भवतेः प्राप्त्यर्थात् लुङि रूपम् ❀ । उत अपि च सूनुः पुत्रो मा । अभि भूद् इत्यनुषङ्गः । एतदेवाह । त्वा त्वाम् अप्रजसम् न विद्यते प्रजा स्त्रीपुंसापत्यरूपा यस्यास्ताम् । ❀ नञ्पूर्वात् प्रजाशब्दात् "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् प्रत्ययः समासान्तः ❀ । प्रजारहिताम् अस्वाम् अश्वतरीमेव कृणोमि करोमि । यथा अश्वतरी स्त्रीव्यञ्जनयुक्तापि प्रजारहिता तथा त्वां करोमीत्यर्थः । किं च ते तव संबन्धिनः । गर्भधारणस्थानस्येति शेषः । अश्मानम् पाषाणम् अपिधानम् संवरणम् आच्छादनं कृणोमि करोमि ॥

हे प्रतिकूल नारि ! तेरी योनिके पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट गर्भाशयस्थानको गर्भ धारण करने में असमर्थ अत एव निकृष्ट करता हूँ अथवा योनिप्रदेशसे नीचा अर्थात् बाहर करता हूँ । ऐसा होता है अतः स्त्रीसन्तानरूपा प्रजा तुझको प्राप्त न हो और पुत्र भी तुझको प्राप्त न हो, तुझ स्त्रीपुरुषसन्तानरहिताको खिच्चरीकी समान करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि—जैसे खिच्चरी स्त्रीव्यञ्जनसे सम्पन्न होने पर भी प्रजा-

रहित रहती है, तिसी प्रकारकी मैं तुझको करता हूँ और तेरे गर्भधारणस्थानका पाषाणको ढकन बनाता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

अक्ष्यौ॒ नौ॒ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ॒ स॒मञ्ज॑नम् ।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति ॥१॥

अ॒क्ष्यौ॒ । नौ॒ । मधु॑संकाशे॒ इति॒ मधु॑ऽसंकाशे । अनी॑कम् । नौ॒ । स॒म्ऽअ॑ञ्जनम् ।
अ॒न्तः । कृ॒णु॒ष्व॒ । माम् । हृ॒दि । मनः॑ । इत् । नौ॒ । स॒ह । अस॑ति १

नौ तव च मम च । ❁ "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्" इति अस्मद् एकशेषे षष्ठीद्विवचनस्य नौ इत्यादेशः ❁ । आवयोर्दम्पत्योः अक्ष्यौ अक्षिणी मधुसंकाशे मधुसदृशे । भवेताम् इति शेषः । यथा मधु मधुरं स्निग्धं च एवम् आवयोः अक्षिणी परस्परम् अनुरक्ते मधुरप्रेक्षणे अत्यन्तस्निग्धे च भवेताम् इत्यर्थः । तथा नौ आवयोः अनीकम् । अनीकशब्दः अग्रवाची । लोचनाग्रं समञ्जनम् समेताञ्जनं भवतु । किं च माम् । जाया पतिं प्रति पतिर्जायां प्रति स्वात्मानं माम् इति निर्दिशति । हृदि हृदये अन्तः कृणुष्व । यथा तव अहं हृदयंगमा प्रिया भवामि तथा कुर्वित्यर्थः । नौ आवयोः मन इत् । इच्छब्दः अप्यर्थे । मनोपि सह असति समानम् एककार्यकारि भवतु । ❁ अस्तेर्लेटि अडागमः ❁ ॥

तेरे और मेरे अर्थात् दोनों दम्पतीके नेत्र मधुकी समान होजावें, तात्पर्य यह है, कि-जैसे मधु मधुर और स्निग्ध होता है, इसी प्रकार हम दोनोंके नेत्र परस्पर अनुरागयुक्त मधुरतासे देखने वाले और परम स्निग्ध भी होजावें । हम दोनोंके नेत्रोंका अग्र-

भाग अञ्जनसे युक्त होवें। और (जाया पतिसे और पति स्त्रीके लिये कहता है, कि-) तू मुझको हृदयके भीतर कर अर्थात् मैं जिस प्रकार हृदयङ्गम प्रिय होऊँ, तैसा कर। हमारा मन भी एक कार्यको करने वाला होवे ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वासंसा।
यथासो मम केवंलो नान्यासां कीर्तयांश्चन ॥ १ ॥

अभि। त्वा। मनुऽजातेन। दधामि। मम। वासंसा।

यथा। असः। मम। केवंलः। न। अन्यासाम्। कीर्तयाः। चन १

स्वपतिं प्रति स्त्रिया वाक्यम् एतत्। हे पते त्वा त्वां मनुजातेन मनुना मन्त्रेण जातेन मन्त्रपूर्वकं परिहितेन मनोर्वा जातेन निष्पन्नेन मम वाससा वस्त्रेण अभि दधामि। ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते ❀। बध्नामि। किमर्थं बन्धनम् तद् आह। यथा येन प्रकारेण मम केवलः असाधारणः असः भवेः। ❀ चनेति निपातसमुदायः चार्थे ❀। यथा च अन्यासां नारीणाम्। नामधेयम् इति शेषः। न कीर्तयाः न कीर्तयेः नोच्चरेः। तथा बध्नामीति शेषः। ❀ असः इति। अस्तेर्लेटि "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः। अडागमः। कीर्तया इति। कृत संशब्दने। णिचि "उपधायाश्च" इति इत्वम्। तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ ॥

(अपने पतिके प्रति स्त्रीका वाक्य है, कि- हे पते! मैं आपको मन्त्रपूर्वक धारण किये हुए वस्त्रसे इस लिये बाँधती हूँ, कि जिस प्रकार आप केवल मेरे ही रहें और अन्य स्त्रियोंके नामका भी उच्चारण न करें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेषजम् । माम्ऽपश्यम् । अभिऽरोरुदम् ।
पराऽयतः । निऽवर्तनम् । आऽयतः । प्रतिऽनन्दनम् ॥ १ ॥

इदं वशीकरणकारि भेषजम् सौवर्चलाख्यं खनामि उद्धरामि । औषधं विशिनष्टि । मांपश्यम् । पश्यतीति पश्यः । ❀ "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इति शः । "शित्वात् पाघ्रा०" इत्यादिना पश्यादेशः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यत्र बहुलग्रहणात् मांपश्यम् इत्यत्र द्वितीयाया अलुक् ❀ । मामेव नारीं पश्यत् ममैवानुकूलम् । यद्वा । ❀ पश्यतिरन्तर्णीतण्यर्थः ❀ । मामेव असाधारण्येन पत्ये प्रदर्शयत् पतिवशीकारकम् अभिरोरुदम् पत्युः अन्यनारीसंसर्गम् अभितो निरुन्धत् । ❀ रुधिर् आवरणे । यङन्तात् पचाद्यच् । "यङोचि च" इति यङो लुक् । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति लघूपधगुणनिषेधः । धकारस्य दकारोपजनश्छान्दसः ❀ । परायतः स्वस्मात् पराङ्मुखं गच्छतः पत्युः निवर्तनम् निषेधकं पुनरावर्तनकारणम् आयतः मां प्रति आगच्छतः पत्युः प्रतिनन्दनम् आनन्दकारि । एवंगुणविशिष्टं भेषजं खनामीति संबन्धः । ❀ परायत इति । परापूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च इण् गतौ इत्यस्मात् शतरि "इणो यण्" इति यण् आदेशः । निवर्तनं प्रतिनन्दनम् इत्यत्र करणे ल्युट् ❀ ॥

मैं इस वशीकरण करने वाली सौवर्चल नामक औषधिको खोदती हूँ, यह मुझ नारीको असाधारणरूपसे पतिके लिये दिखाती है अत एव यह औषधि पतिवशीकारक है और पतिके

अन्यनारीसंसर्गको रोकने वाली है और अपनेसे पराङ्मुख पति को लौटाने वाली है और मेरी ओर आने वाले पतिको आनंदित करने वाली है, ऐसे गुणोंसे सम्पन्न औषधिको मैं खोदती हूँ१

अष्टमी ॥

येना॑ निच॒क्र आ॑सु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।

तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि॒ सुप्रि॑या ॥ २ ॥

येन॑ । नि॒ऽच॒क्रे । आ॒सु॒री । इन्द्र॑म् । दे॒वेभ्यः॑ । परि॑ ।

तेन॑ । नि । कु॒र्वे॒ । त्वाम् । अ॒हम् । यथा॑ । ते॒ । अस॑ानि । सुऽप्रि॑या

आसुरी असुरस्य माया । ❀ "असुरस्य स्वम्" "मायायाम् अण्" इति अण् प्रत्ययः ❀ । देवेभ्यः परि । ❀ "अपपरी वर्जने" इति परिः कर्मप्रवचनीयः । "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति पञ्चमी ❀ । देवान् वर्जयित्वा इन्द्रं येन भेषजेन निचक्रे मुद्दे स्वाधीनं कृतवती । यद्वा असुरः असुमान् । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । बलवान् पुलोमाख्यः । तस्येयम् आसुरी शची । शेषं पूर्ववत् । तेन भेषजेन अहम् हे पते त्वां नि कुर्वे स्वाधीनं कुर्वे । यथा येन प्रकारेण ते तव सुप्रिया अत्यन्तं प्रिया असाधारण्येन प्रीतिजननी असानि भवानि । तथा नि कुर्वे इति संबन्धः । ❀ अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀ ॥

पुलोमा नामवाले असुरकी पुत्री आसुरी शचीने जिस औषधि से देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्रको अपने वशमें कर लिया है, हे पते ! उसी औषधिसे मैं तुमको स्वाधीन करती हूँ, जिस प्रकार मैं आपको असाधारणरूपसे प्रीति देने वाली होऊँ तिस प्रकार स्वाधीन करती हूँ ॥ २ ॥

नवमी ॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाच्छावदामसि ॥२॥

प्रतीची । सोमम् । असि । प्रतीची । उत । सूर्यम् ।
प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छऽआवदामसि २

अनया ऋचा शङ्खपुष्प्याख्या ओषधिः स्तूयते । हे ओषधे सोमम् प्रतीची वशीकरणार्थं प्रत्यगञ्चना असि भवसि । उत अपि च सूर्यम् सुष्ठु प्रेरकम् आदित्यं प्रतीची भवसि । अहोरात्राभिमानिनोः सूर्यचन्द्रमसोः अभिमुखा भवसीत्यर्थः । किं बहुना विश्वान् देवान् प्रतीची असि । ❀ प्रतिपूर्वात् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपः । "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ । यत एवम् अतः तां सर्वदेववशीकरणसमर्थां त्वा त्वाम् अच्छावदामसि पतिरुचिकरणाय अभिमुखं स्तुमः । ❀ 'अच्छ गत्यर्थवदेषु' इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ❀ ।

(इस ऋचासे शङ्खपुष्पी नामक ओषधिकी स्तुति की है, कि— हे ओषधे ! तू सोमको वशमें करनेके लिये उनके प्रति जाती है और सूर्यदेवकी ओर भी जाती है, अर्थात् दिन और रात्रिके अभिमानी देवता सूर्य और चन्द्रमाके अभिमुख होती है अधिक क्या सकल देवताओंके अभिमुख होती है अत एव तुझ सब देवताओंको वशमें करनेमें समर्थ ओषधिकी हम पतिकी रुचिको उत्पन्न करनेके लिये अभिमुख होकर स्तुति करती हैं ॥ २ ॥

दशमी ॥

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद ।

मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ४

पतिवशीकरणाय ओषधिं संप्राथ्र्य नारी पुनः स्वपतिं ब्रूते । हे पते अहं वदामि त्वं नेत् नैव वदेः । एवं पत्युः सर्वत्र वदननिषेधे प्राप्ते स्थानान्तरे तस्य वाग्व्यापारं दर्शयति । अहशब्दो विनिग्रहार्थीयः । त्वं तु सभायां विद्वत्समाजे वद । अयम् अर्थः । हे पते यदा मत्समीपम् आगच्छसि तदा अहमेव वदामि त्वं तु मदुक्तमेव अनुवद कदापि प्रतिकूलं मा वादीः । मद्व्यतिरिक्तस्थानेपि सभायामेव यथेच्छं वद मान्यत्रेति । एतद्द प्रकारान्तरेणाह । यथा हे पते त्वम् । इत् अवधारणे । ममैव केवलः असाधारणः असः भवेः । अन्यासां नारीणां नामधेयमपि [न कीर्तयाः] न कीर्तयेः ॥

(नारी पतिवशीकरणके लिये ओषधिकी प्रार्थना कर फिर अपने पतिसे कहती है, कि—) हे पते ! मैं ही कहूँ आप कुछ न कहें, (इस प्रकार सर्वत्र पतिका भाषणनिषेध प्राप्त होने पर कहती है, कि -) आप तो विद्वानोंके समाजमें ही बोलें । तात्पर्य यह है, कि—हे पते ! जब आप मेरे समीपमें आवें उस समय मुझे ही बोलने दीजिये आप तो मेरी कही हुई बातको ही कहिये, जहाँ मैं न होऊँ उस सभास्थानमें ही यथेच्छ भाषण करिये । आप मेरे लिये असाधारणरूपमें प्राप्त हों अन्य स्त्रियोंके नामका भी आप कीर्तन न करें ॥ ४ ॥

एकादशी ॥

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः ।

इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत् ॥ ५ ॥

यदि । वा । असि । तिरःऽजनम् । यदि । वा । नद्यः । तिरः ।

इयम् । ह । मह्यम् । त्वाम् । ओषधिः । बद्ध्वाऽइव । निऽआनयत् ५

हे पते यदि तिरोचनम् । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । तिरः तिरोभूतम् अचनं गमनं यस्मिन् कर्मणि तत् तिरोचनम् । तिरोभूतगतिः मच्चक्षुर्विषयो न भवेः । वाशब्दो विकल्पे । यदि वा नद्यः निम्नगास्तिरः आवयोर्व्यवधायिका भवेयुः । ह । तथापीत्यर्थः । इयं प्रस्तुता ओषधिः शङ्खपुष्प्याख्या मह्यं पतिप्रीतिकामिन्यै त्वां पतिं बद्ध्वेव निगृह्येव न्यानयत् नितराम् अभिमुखं नयतु । ❀ नयतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे तृतीयोनुवाकः ॥

यदि किसी कार्यवश आपका मेरे सामनेसे चलना फिरना अन्तर्धान होजाय अर्थात् आप किसी अन्य स्थानको चले जावें अथवा कोई नदी हम दोनोंके बीचमें आ आपको मुझसे अन्तर्हित कर देगी तो यह मेरी शङ्खपुष्पी नामक ओषधि मुझ पतिकी प्रीतिको चाहने वालीके लिये आपको बाँध कर सी मेरे अभिमुख ले आवे ॥ ५ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३५४)

सप्तमकाण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "दिव्यम् सुपर्णम्" इति आद्यसूक्ते आद्ययर्चा पुष्टिकर्मणि वृषभवपया इन्द्रं यजेत । "दिव्यं सुपर्णम् इत्यृषभदण्डिनो वपयेन्द्रं यजते" इत्यादि [कौ० २. ७] सूत्रम् ॥

अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतं पुरोडाशं "यस्य व्रतम्" इति अनुमन्त्रयेत । "सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति

व्रतेषु [७. ७०] यस्य व्रतम्” [७. ४१] इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४]॥

नवगृहकरणार्थं गृहोदये “अति धन्वानि” इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां गृहनिर्माणस्थाने श्येनदेवताकं चरुं जुहुयात्। सूत्रितं हि। “अति धन्वानीत्यवसाननिवेशनानुचरणानिनयनेज्या” इति [कौ० ५, ७]॥

अग्निष्टोमे हविर्धाने पुरोडाशपिण्डावापानन्तरम् उक्षान् पिण्डान् “श्येनो नृचक्षाः” इति अनुमन्त्रयेत। सूत्रितं वैताने। “हविर्धानं यथाचमसं दक्षिणतः” इति प्रक्रम्य “एतं सधस्थाः [६. १२३] श्येनो नृचक्षाः [७. ४२. २] इत्यनुमन्त्रयते” इति [वै० ३. १२]॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं व्याधितशरीरं मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा “सोमारुद्रा” इति द्वाभ्यां शरपिंजूलीभिः सह उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आप्लावयेत् अवसिञ्चेद् वा। तद् उक्तं संहिताविधौ। “अग्नाविष्णू [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३]” इति प्रक्रम्य “मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिंजूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४, ८]॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन त्र्यृचेन सोमारुद्रौ यजेत उपतिष्ठेत वा॥

मिथ्याभिशस्तस्य लोकनिन्दानिवृत्त्यर्थं “शिवास्ते” इत्यनया ओदनं मन्थं वा अभिमन्त्र्य दद्यात्॥

तथा अनयैव द्रुघणमणिं तदाकृतिं पलाशायोलोहहिरण्यानाम् अन्यतमस्य मणिं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्॥

सूत्रितं हि। “उतामृतासुः [५. १. ७] शिवास्ते [७. ४४] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति। द्रुघणशिरो बध्नाति। प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्” इति [कौ० ४. १०]॥

सांमनस्यकर्मणि “उभा जिग्यथुः” इत्यनया हस्त्यादियानं संपात्य अभिमन्त्र्य सांमनस्यकामान् आरोप्य सूत्रोक्तप्रकारेण

स्वगृहम् आगत्य ओदनं मन्थं वा संपात्य अभिमन्त्र्य सह भोज-येत् । सूत्रितं हि । "उभा जिग्यथुरित्यार्द्धपादाभ्यां सांमनस्यम् । यानेन प्रत्यश्वो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति" इति [कौ० ५. ६]॥

तथा उक्थ्ये अच्छावाकयाज्याहोमानुमन्त्रणम् अनया ऋचा कुर्यात् । "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ६०] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ४. १]॥

ईर्ष्याविनाशार्थं "जनाद्व विश्वजनीनात्" इत्येनाम् ईर्ष्यालुं पश्यन् जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनया सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य ईर्ष्यावते दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि ईर्ष्यावन्तं स्पृशन् एनाम् ऋचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि । "ईर्ष्याया ध्राजिम् [६. १८] जनाद्व विश्व-जनीनात् [७. ४६] त्वाष्ट्रेणाहम् [७. ७८. ३] इति प्रति-जापप्रदानाभिमर्शनानि" इति [कौ० ४. १२]॥

चौथे अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इसके 'दिव्यं सुपर्णम्' के पहिले सूक्तकी पहिली ऋचासे पुष्टिकर्ममें वृषभकी वपासे इन्द्रका यजन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—"दिव्यं सुपर्णं इत्यृषभदपिडनो वपयेन्द्रं यजते" (कौशिकसूत्र ३ । ४)॥

अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वत पुरोडाशका 'यस्य व्रतम्' से अनु-मन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण है, कि—"सरस्वत्यै च चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७।७०) यस्य व्रतम्" (७ । ४१) ॥

नवीन घर बनानेकी भूमिकी शुद्धिके लिये "अति धन्वानि" इन दो ऋचाओंसे गृहनिर्माणस्थानमें श्येनदेवता वाले चरुकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अति-

पन्थानीत्यवशानिवेशनानुचरणःनिनयनेऽध्या" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

अग्निष्टोमके हविर्धानमें पुरोडाशपिण्ड रखनेके अनन्तर रखे हुए पिण्डोंको "श्येनो नृचक्षाः" से अनुमन्त्रण करे। इस बातका वैतानसूत्रमें प्रमाण भी है, कि—"हविर्धाने यथाचमसं दक्षिणतः" इति प्रक्रम्य "एतं सधस्थाः (६ । १२३) श्येनो नृचक्षाः (७ । ४२ । २) इत्यनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँध कर "सोमारुद्रा" इन दो ऋचाओंसे सेंटोंकी मुट्ठीसहित जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगीको आसावित वा अवसिञ्चित करे। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—अग्नाविष्णू (७ ३०) सोमारुद्रा (७।४२)" इति प्रक्रम्य "मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी कामना वाला पुरुष इस सूक्तसे सोम और रुद्रदेवताका यजन वा उपस्थान करे ॥

जिसको झूँठा कलंक लग रहा हो उसकी लोकनिन्दाको दूर करनेके लिये "शिवास्तं" इस ऋचासे ओदन वा मन्थको अभिमन्त्रित करके देवे।

तथा इसी ऋचासे द्रुघणमणिको वा उसकी समान आकार वाली पलाश लोहा और सुवर्णमेंसे एककी मणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "उतामृतासुः ५।१।७) शिवास्ते (७ । ४४) इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति। द्रुघणशिरो बध्नाति। प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्" (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

सांमनस्यकर्ममें 'उभा जिग्यथुः' ऋचासे हाथी आदि सवारी को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सांमनस्य चाहनेवालोंको सूत्रोक्तरीतिसे अपने घर पर आ ओदन वा मंथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके जिमावे - इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उभा जिग्यथुरित्यादृपादाभ्यां साम्मनस्यम्। यानेन प्रत्यञ्चो ग्रामान् प्रतिपाद्य प्रयच्छति" (कौशिकसूत्र ५ । ६)॥

तथा उक्थ्यमें प्रक्षा इस ऋचासे अच्छावाकयाज्यहोमका अनु-मन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ४ । १ का प्रमाण भी है, कि-"एतेषां याज्यहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ (७ । ६०) बृह-स्पतिर्न (७ । ५३) उभा जिग्यथुः" (७ । ४४) ॥

ईर्ष्या (डाह) को नष्ट करनेके लिये "जनाद् विश्वजनी-नात्" ऋचाको ईर्ष्यालुको देखता हुआ जपे।

तथा तहाँ ही कर्ममें इससे सक्तुमंथको अभिमन्त्रित करके डाह रखने वालेको देदेय।

तथा तहाँ ही कर्ममें ईर्ष्या वालेको छूता हुआ इस ऋचाका जप करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ईर्ष्याया ध्राजिम् (६ । १८) जनाद् विश्वजनीनाद् (७ । ४६) त्वाष्ट्रेणाहम् (७ । ७८ । ३) इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति

दिव्यम् । सुऽपर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् । अपाम् । गर्भम् । वृषभम् । ओषधीनाम् ।

अभीपतः । वृष्ट्या । तर्पयन्तम् । आ । नः । गोऽस्थे ।
रयिऽस्थाम् । स्थापयाति ॥ १ ॥

दिव्यम् दिवम् अर्हतीति दिव्यः । ❀ "छन्दसि च" इति यः । तं सुपर्णम् शोभनपतनं पयसम् पयस्वन्तम् । ❀ पयःशब्दात् मतुपो लुक् ❀ । उदकवन्तं बृहन्तम् महान्तम् अपां गर्भम् मध्यभूतम् ओषधीनां वृषभम् वर्षितारं वृद्धिकरम् । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेषामपि वृषभम् । यद्वा अपां वृषभम् ओषधीनां गर्भम् । अभीपतः अभिगताः सर्वतः संगता आपोस्मिन्निति । ❀ "ऋक्पूरब्धू०ः" इति अप् समासान्तः । "अन्तरुपसर्गेभ्योप ईत्" । आद्यादित्वात् तसिः ❀ । सर्वतो वृष्ट्या तर्पयन्तम् । विश्वम् इति शेषः । यद्वा । ❀ पत्लृ गतौ । क्विप् । छान्दसम् उपसर्गस्य दीर्घत्वम् ❀ । अभिपतनशीलान् वृष्टिकामान् सर्वप्राणिनो वृष्ट्या तर्पयन्तं रयिष्ठाम् धनवति प्रदेशे तिष्ठन्तम् एवंगुणकं सरस्वन्तं देवं नः अस्मदीये गोष्ठे गोनिवासस्थाने आ स्थापयाति आस्थापयतु । इन्द्र इति विनियोगाद् अत्रगम्यते । सरस्वांस्तु मन्त्रान्तरप्रसिद्ध्या । आस्थापनकर्तृत्वेन इन्द्रस्यैव प्राधान्यात् तस्यैव यष्टव्यत्वम् ॥

स्वर्गके योग्य, शोभनरूपसे चलने वाले, जल वाले, विशाल, जलोंके मध्यरूप, औषधि आदि सबके बढ़ाने वाले अथवा औषधियोंके गर्भरूप, सब ओर वृष्टि करके विश्वको तृप्त करनेवाले, वृष्टि चाहने वाले सकल प्राणियोंको वृष्टिसे तृप्त करने वाले, धनमय देशमें स्थित रहने वाले, ऐसे सरस्वान् देवको इन्द्रदेव हमारी गौओंके स्थान गोष्ठमें स्थापित करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑पति॒ष्ठन्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्ट॒पति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे १

यस्य । व्रतम् । पशवः । यन्ति । सर्वे । यस्य । व्रते । उपऽतिष्ठन्ते ।

आपः ।

यस्य । व्रते । पुष्टऽपतिः । निऽविष्टः । तम् । सरस्वन्तम् । अवसे । हवामहे ॥ १ ॥

यस्य सरस्वतो व्रतम् कर्म सर्वेपि पशवो यन्ति अनुगच्छन्ति । तन्निमित्तत्वात् पुष्टेः । यस्य च व्रते कर्मणि आपः उपतिष्ठन्ते परस्परं संगच्छन्ते । तन्निमित्तत्वाद् वृष्टेः । ❀ "अकर्मकाच" इति आत्मनेपदम् ❀ । यस्य च व्रते कर्मणि पुष्टिपतिः तत्तत्पोषणपतिर्निविष्टः । तदधीनत्वाद् वृष्टेः पुष्टेश्च । [1]तं तादृशं सरस्वन्तम् एतन्नामानं देवम् अवसे रक्षणाय तृप्त्यर्थ वा हवामहे आह्वयामः ॥

जिन सरस्वान् देवताका सब पशु अनुगमन करते हैं और जिन के कर्म से जल परस्पर मिलते हैं और जिनके कर्म में प्रत्येक वस्तुओंके पोषणपति निविष्ट हैं, क्योंकि–वृष्टि और पुष्टि उनके ही आधीन है । उन सरस्वान् नामक देवताका हम तृप्ति वा रक्षण के लिये आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

तृतीया ॥

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वंसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम् । रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्टऽपतिम् । रयिऽस्थाम् ।

रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् । रयीणाम् ॥ २ ॥

प्रत्यञ्चम् प्रत्यगञ्चनं हविर्दत्तवतः प्रीणयितुम् अभिमुखं गच्छन्तं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दाश्वांसम् इष्टफलं प्रयच्छन्तम्। ❀ "दाश्वान् साह्वान्०" इति क्वसौ निपातितः ❀। पुष्टपतिम् पोषणपतिं रयिष्ठाम् धनस्थाने तिष्ठन्तं रायस्पोषम् रायो धनस्य पोषं पोषकम्। ❀ पुष पुष्टौ। पचाद्यच् ❀। श्रवस्युम्। श्रव इत्यन्ननाम श्रूयते इति यास्कः [नि० १०. ३]। तद् यजमानानां दातुम् इच्छन्तं रयीणाम् धनानां सदनम् नित्यनिवासस्थानम् एवंविधं सरस्वन्तं देवं वसानाः। ❀ विवासतेः परिचरणकर्म स्याद् अत्र केवलोपि वसतिः परिचरणार्थः ❀। हविरादिना परिचरन्तः। ❀ वसतेरादादिकात् हेत्वर्थे शानच् ❀। परिचरणाद्धेतोः। इह अस्मिन् कर्मणि आ हुवेम आह्वयेम। ❀ "ह्वयतेः लिङ्याशिष्यङ्"। "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❀॥

हवि देने वालेको प्रसन्न करनेके लिये उसके अभिमुख आने वाले, हवि देने वाले यजमानको इष्ट फल देने वाले, पुष्टिके स्वामी, धनके स्थानमें स्थित, धनके पोषक, अन्नको यजमानों को देनेकी इच्छावाले, धनोंके नित्य निवास्थान सरस्वान् देवता की हम हवि आदिसे सेवा कर इस कर्ममें बुलाते हैं॥ २॥

चतुर्थी॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः। तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात्॥ १॥

अति। धन्वानि। अति। अपः। ततर्द। श्येनः। नृऽचक्षाः। अवसानऽदर्शः।

तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्या । शिवः । आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा सर्वकर्म साक्षी प्राणिभिर्द्रष्टव्यो वा । तदेवाह । अवसानदर्शः अवसाने अन्तभूते द्युलोके द्रष्टव्यः । अथ वा अवसीयते निश्चीयत इति अवसानं कर्मफलं तद् दर्शयतीति अवसानदर्शः । तादृशः श्येनः शंसनीयगतिः सूर्यः धन्वानि मरुदेशान् अति अतिक्रम्य अपः उदकानि अति ततर्द । अतिशयेन करोत्वित्यर्थः । ॐ उतृदिर् हिंसानादरयोः ॐ । निरुदकप्रदेशेपि यथा वृष्टिर्भवति तथा प्रभूतं वर्षत्विति यावत् । किं च अवरा अवराणि द्युलोकाद् अधस्तनानि विश्वानि रजांसि लोकान् तरन् अवतरन् अतिक्रामन् श्येनः सख्या समानख्यानेन मित्रभूतेन इन्द्रेण । ॐ सहयोगाभावेपि तृतीया ॐ । तेन सह शिवः कल्याणकारी सन् आ जगम्यात् नवगृहनिर्माणस्थानम् आगच्छतु ॥

सब प्राणियोंके कर्मके साक्षी वा सकल प्राणियोंसे द्रष्टव्य, कर्मफलको दिखाने वाले वा अवसानके अर्थात् अन्तके द्युलोक में दीखने वाले प्रशंसनीय गति वाले सूर्यदेव मरुदेशोंको अनादर कर जलोंको वर्षावें अर्थात् जिस प्रकार जलरहित स्थानोंमें भी वृष्टि हो तिस प्रकार बहुतसी वृष्टि करें और द्युलोकसे नीचेके लोकोंको अतिक्रमण कर सूर्यदेव अपने मित्र इन्द्रके साथ कल्याणकारी हो हमारे नवीन घर बनानेके स्थानमें आवें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः ।

स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृऽचक्षाः । दिव्यः । सुऽपर्णः । सहस्रऽपात् । शतऽयोनिः । वयःऽधाः ।

सः । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । पराऽभृतम् । अस्माकम् । अस्तु । पितृषु । स्वधाऽवत् ॥ २ ॥

नृचक्षाः नृणां द्रष्टा दिव्यः दिवि भवः सुपर्णः सुपतनः सहस्रपात् सहस्रकिरणः । ❀ पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । शतयोनिः शतस्य अपरिमितस्य कार्यस्य कारणभूतः अपरिमितफलस्य मिश्रयिता वा । अथ वा शतसंख्याकानि योनयः कारणानि प्रतिपदार्थं भिन्नानि असाधारणानि यस्येति । वयोधाः अन्नस्य धारयिता दाता स तादृशः श्येनः सूर्यः नः अस्मान् नि यच्छात् नियच्छतु । चिरकालं स्थापयस्वित्यर्थः । अपि च यद् वसु धनं पराभृतम् अन्यैश्चोरादिभिः पराहृतम् अपहृतम् अस्ति अथ वा यद् वसु पुरोडाशशकलरूपं पराभृतम् पराचीनेन पाणिना प्राहृतं प्रक्षिप्तं तद् वसु अस्माकं पितृषु स्वधावत् स्वधाकारेण हुतम् अस्तु ॥

मनुष्योंको देखने वाले, स्वर्गमें रहने वाले, सुन्दरतासे चलने वाले, अनन्त किरणों वाले, अपरिमित कार्योंके कारणभूत या अपरिमित फलोंके सम्मेलक अन्नके धारण करने वाले-अन्नसे पुष्ट करने वाले सूर्यदेव हमको चिरकाल तक स्थापित रक्खें और जिस धनको चोर आदि लेगए हैं अथवा जो पुरोडाशखण्डरूप से पराचीन हाथसे अग्निमें होमा गया है, वह हमारा धन पितरोंमें स्वधाकाररूपमें आहुत हो ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेशं

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्त-
मस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा । वि । वृहतम् । विषूचीम् । अमीवा । या । नः ।
गयम् । आऽविवेश ।
बाधेथाम् । दूरम् । निःऽऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः ।
प्र । मुमुक्तम् । अस्मत् ॥ १ ॥

हे सोमारुद्रा । ✽ सुप आकारः ✽ । हे सोमारुद्रौ विषूचीम् विष्वग्गमनां वक्ष्यमाणम् अमीवाशब्दवाच्यं रोगं वि वृहतम् विनाशयतम् । ✽ वृहू उद्यमने । तौदादिकः ✽ । या अमीवा रोगः नः अस्माकं गयम् गृहं शरीरं वा आविवेश सर्वतो व्याप्ता । तां वि वृहतम् इति संबन्धः ॥ किं च निर्ऋतिम् निकृष्टगमनहेतुं रोगनिदानभूतां पिशाचीं पराचैः पराङ्मुखं दूरं बाधेथाम् । यथा पुनरस्मान् नागच्छति तथा पराङ्मुखं दूरं गमयित्वा नाशयतम् । ✽ पराचैरिति । निपातोयम् उच्चैर्नीचैरितिवत् ✽ । किं च । चिच्छब्दः चेदर्थे । एनः अस्माभिः कृतं चेत् । अप्यर्थे वा चिच्छब्दः । कृतमपि एनः पापम् अस्मत् अस्मत्तः । ✽ पञ्चमीबहुवचने "पञ्चम्या अत्" ✽ । प्र मुमुक्तम् प्रकर्षेण मोचयतम् । ✽ मुञ्चतेः शपः श्लुः ✽ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओं ! विषूचीरोगको और अमीवारोग को आप नष्ट करिये, जो अमीवा रोग हमारे घरमें सब ओरसे व्याप्त हो रहा है उसको आप नष्ट करिये । आप निकृष्टगमनकी हेतु, रोगकी निदानभूत पिशाचीको दूर लेजाकर बाधित करिये, और यदि हमसे कुछ पाप बनगया हो तो उसको भी आप हमसे दूर करिये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥ २ ॥

सोमारुद्रा । युवम् । एतानि । अस्मत् । विश्वा । तनूषु । भेषजानि । धत्तम् ।
अव । स्यतम् । मुञ्चतम् । यत् । नः । असत् । तनूषु । बद्धम् । कृतम् । एनः । अस्मत् ॥ २ ॥

हे सोमारुद्रा हे सोमारुद्रौ युवम् युवाम् अस्मत् । षष्ठ्याः "सुपां सुलुक्०" इति लुक् । व्यत्ययो वा विभक्तेः ❀ । अस्मत् अस्माकं तनूषु शरीरेषु विश्वा सर्वाणि एतानि रोगनिर्हरणक्षमत्वेन प्रसिद्धानि भेषजानि धत्तम् स्थापयतम् । किं च नः अस्माकं तनूषु बद्धम् संबद्धं यत् अस्माभिः कृतम् एनः पापम् असत् स्यात् अस्ति वा तद् अस्मत् अस्मत्सकाशाद् मुञ्चतम् मोचयतं विश्लेषयतम् । ततो मुक्त्वा तद् अव स्यतम् अवसाययतं विनाशयतम् । ❀ षो अन्तकर्मणि । लोटि रूपम् ❀ ॥

हे सोम और रुद्र देवताओ ! आप दोनों हमारे शरीरोंमें रोगों को दूर करनेमें प्रसिद्ध औषधियोंको स्थापित करें, और हमारे शरीरोंमें जो हमारा किया हुआ पाप चिपट रहा हो उसको आप हमसे अलग करिये और अलग करके उसको नष्ट कर डालिये २

अष्टमी ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुम-
नस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि
पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । बिभर्षि ।
सुऽमनस्यमानः ।
तिस्रः । वाचः । निऽहिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एका ।
वि । पपात । अनु । घोषम् ॥ १ ॥

सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना । तत्र पराद्यास्तिस्रोवस्था देहान्तरवस्थानाद् न परेभ्योर्थं प्रतिपादयितुं क्षमाः । वैखरी तु ताल्वोष्ठादिस्थानेषु वर्णपदवाक्यरूपेण अभिव्यज्यमाना परश्रोत्रग्रहणयोग्या भवति । एवं परायवस्थापन्ना वाक् स्तुतिरूपा निन्दारूपा चेति द्विविधा भवति । तथा च अस्या ऋचः अयम् अर्थः । ते इति युष्मच्छब्देन बिभर्षीति मध्यमपुरुषेण च मिथ्याभिशस्तः पुरुषोऽभिधीयते । हे अकारणं निन्दित पुरुष ते तव विषये शिवाः स्तुतिरूपाः कल्याण्यः एकाः अन्या वाचः सन्ति । तथा ते तव विषये अशिवाः अस्तुतिरूपा निन्दार्था एकाः अन्या वाचः सन्ति । सर्वास्ता उभयीर्वाचः त्वं सुमनस्यमानः। सुमना इवाचरन् । ❀आचारार्थे "कर्तुः क्यङ्०"❀। स्तुतिवाक्यश्रवणे यथा सुमनस्कत्वं प्राप्नोषि एवं निन्दावाक्यश्रवणे सौमनस्यं प्राप्नुवन् बिभर्षि बिभृहि । ❀ लोडर्थे लट् ❀ ।

स्तुतिनिन्दाजातहर्षविषादयोरपि समानं सौमनस्यं प्राप्नुहीत्यर्थः। अथ वाचः परायवस्थाचतुष्टयात्मकत्वेपि प्रथमावस्थात्रयरूपाया वाचो नार्थप्रत्यायकत्वं तुरीयावस्थापन्नायास्तु अर्थबोधकत्वम् इति उत्तरार्धेनाह। तासां पूर्वोक्तानां द्वितयीनां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् शब्दप्रयोक्तरि पुरुषे अन्तः देहमध्ये निहिताः अवस्थिता भवन्ति। एका वैखरीरूपा घोषम् अनु ताल्वोष्ठव्यापार-जन्यं ध्वनिम् अनुलक्ष्य वि पपात विशेषेण वर्णपदादिरूपेण वर्तते। यद्वा पूर्वार्धेन निन्दावाक्यस्य स्तुतिवाक्यसमानतापत्तिम् आपाद्य निन्दावाक्यप्रयोगेपि प्रयोक्तुरेव महती बाधा नाभियुज्यमानस्य बाधेत्याह। तासाम् अशिवानां निन्दारूपाणां वाचां मध्ये तिस्रो वाचः पराद्याः अस्मिन् मिथ्यापवदितरि जने अन्तर्निहिताः। एका वाक् वैखरी घोषम् जनसंघध्वनिम् अनु-लक्ष्य वि पपात निन्दात्वेन विरुद्धा पतिता। अयम् अर्थः। निन्दा-वाक्यस्यापि परादिचतुष्टयात्मकत्वात् तादृशवाक्यप्रयोक्तृशरीर-मध्ये त्रयाणां भागानाम् अवस्थानात् तस्मिन्नेव निन्दा महती। मिथ्याभियुज्यमाने तु एक एव भागः पतित इति नास्ति निंदेति॥

(सब वाणियें परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी इन चार अवस्थाओंसे सम्पन्न होती हैं, इनमें परा आदि तीन अवस्थाएँ शरीरके भीतर होनेसे दूसरेको अपना प्रयोजन नहीं जता सकती और वैखरी तालु ओष्ठ आदि स्थानोंमें वर्ण पद वाक्यरूपसे प्रकट होती हुई दूसरेके कानोंके ग्रहण करने योग्य होती है। इस प्रकार परा आदि अवस्थाको प्राप्त होने वाली वाणी स्तुतिरूप और निन्दारूपसे दो प्रकारकी होती है। अतः इस ऋचाका यह अर्थ होगा, कि—) हे निष्कारण निन्दित पुरुष! तेरे विषयमें एक स्तुति-रूप वाणियें कही जाती हैं और दूसरी निन्दारूप वाणियें कही जाती हैं, इन दोनों प्रकारकी वाणियोंको तू सुन्दर प्रसन्न, मन

से ग्रहण कर अर्थात् अपनी स्तुतिके वचनको सुनकर जिस प्रकार तेरा मन प्रसन्न रहता है इसी प्रकार निन्दाकी बातोंको सुनकर भी तेरा मन प्रसन्न रहे दुःखी न हो, (तात्पर्य यह है, कि— स्तुति और निन्दासे उत्पन्न हुए हर्ष और विषादके कारण भी तेरा मन एकसा रहे ।) पूर्वोक्त दो प्रकारकी वाणियोंकी तीन अवस्थाएँ शब्दमयोक्ता पुरुषके देहके भीतर होती हैं, एक वैखरी रूपा घोषके पीछे तालु ओष्ठ आदिसे उत्पन्न ध्वनिको लक्ष्य कर वर्ण पदादि विशेषरूपसे पतित होती है । तात्पर्य यह है, कि— निन्दाप्रयोग करने वालेके शरीरमें ही तीन अवस्थाएँ रहनेसे उसमें ही बड़ी निन्दा रहती है और मिथ्या अभिशस्त होनेवाले में तो एक ही भाग पतित होता है, अत एव उसकी निन्दा नहीं होती है ॥ १ ॥

नवमी ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये । कतरः । चन । एनयोः ।

इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेथाम् । त्रेधा । सहस्रम् । वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

हे इन्द्राविष्णू उभा उभौ युवां जिग्यथुः सर्वदा जयथ एव । ❀ छान्दसो लिट् । "सन्लिटोर्जेः" इति कुत्वम् ❀ । न कदाचिदपि परा जयेथे । अन्यैर्न जीयेथे इत्यर्थः । ❀ "विपराभ्यां जेः" इति आत्मनेपदम् ❀ । किम् एतौ परस्परसाहाय्याज्जेतारौ अप-

राजितौ च। नेत्याह। एनयोः इन्द्राविष्णवोर्युवयोर्मध्ये कतरश्चन एकोपि। ❀ "किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्" ❀। न परा जिग्ये नान्यैः पराजितो भवति ॥ हे विष्णो इन्द्रश्च त्वं च युवां यद् वस्तु प्रति अपस्पृधेथाम् अस्पर्धेथाम् असुरैः सह। ❀ "अपस्पृधेथाम् आनृचुः०" इति स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं संप्रसारणं च निपात्यते ❀। तद् वस्तु त्रेधा त्रिधा लोकवेदवागात्मना स्थितं सहस्रम् अपरिमितं तद् वस्तु व्यैरयेथाम्। व्यक्रमेथाम् इत्यर्थः। विक्रमणं च वैष्णवमपि ऐकात्म्याद् उभयोरित्युच्यते। अत्र ऐतरेयब्राह्मणम्। "उभा जिग्यथुरित्युभौ हि तौ जिग्यतुः" इत्यादि "इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। तान् ह स्म जित्वोचतुः कल्पामहा इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः। सोऽब्रवीद् इन्द्रो यावद् एवायं विष्णुस्त्रिर्विक्रमते तावद् अस्माकम् अथ युष्माकम् इतरद् इति। स इमाँल्लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्। तदाहुः किं तत् सहस्रम् इतीमे लोका इमे वेदा अथो वाग् इति ब्रूयात्" इत्यन्तम् अनुसंधेयम् [ऐ० ब्रा० ६. १५]॥

हे इन्द्र और विष्णु देवताओं! आप सर्वदा जीतते ही रहते हैं कभी हारते नहीं हैं, अब यह शङ्का होती है, कि—क्या यह परस्परकी सहायतासे जीतते हैं और अपराजित रहते हैं तो इसका उत्तर यह है, कि—इन इन्द्र और विष्णुमें कोई एक भी दूसरोंसे पराजित नहीं है। हे विष्णुदेव! और हे इन्द्रदेव! आप जिस वस्तुके लिये असुरोंसे स्पर्धा करते हैं उस लोक वेद और वाणी इन तीन प्रकारोंमें स्थित अपरिमित वस्तुको अपने वशमें करलेते हैं १

दशमी ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥

जनात् । विश्वऽजनीनात् । सिन्धुतः । परि । आऽभृतम् ।

दूरात् । त्वा । मन्ये । उत्ऽभृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ॥२॥

अत्र ईर्ष्यानिवर्तनक्षमम् औषधं संबोध्यते ॥ विश्वजनीनात् विश्वजनहितात् । ❀ "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः" इति खः ❀ । तादृशात् जनात् । जनपदाद् इत्यर्थः । एकदेशेन व्यपदेशो भीमसेनो भीम इतिवत् । तथा सिन्धुतः समुद्रात् । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । आभृतम् आहृतम् । ❀ "हृग्रहोर्भः" ❀ । तथा दूरात् दूरदेशाद् उद्भृतम् उद्धृतं त्वां सक्तुमन्थलक्षणम् औषधम् ईर्ष्यायाः क्रोधस्य नाम खलु भेषजम् निवर्तनक्षमम् औषधं मन्ये जानामि । ❀ मन ज्ञाने । दिवादित्वात् श्यन् । लटि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ।

(इस मन्त्रमें ईर्ष्याको हटानेमें समर्थ औषधिको सम्बोधित कर कहते हैं, कि-) सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले जनपदसे तथा समुद्रसे तथा दूर देशसे लाई हुई सक्तुमन्थरूप औषधको मैं क्रोधको हटानेमें समर्थ औषधि मानता हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३९१) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि तप्तपरशुना क्वाथितम् उदकम् "अग्नेरिवास्य दहतः" इत्यनया अभिमन्त्र्य ईर्ष्यालुं पाययेत् । "अग्नेरिवेति परशुफाण्टम्" इति [कौ० ४. १२] सूत्रात् ॥

सर्वव्याधि भैषज्यार्थं व्याधितशरीरे मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा "सिनीवालि" इति मन्त्रेण शरपिञ्जूलीभिः सह उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितम् आसावयेत् अवसिञ्चेद् वा । तद् उक्तं संहिताविधौ । "सोमारुद्रा [७. ४३] सिनीवालि [७. ४८] वि ते मुञ्चामि [७. ८३] शुम्भनी [७. ११७]

इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” इति [कौ० ४. ८]॥

तथा सर्वसंपत्कामः अनेन नवर्चेन यथालिङ्गं सिनीवाली कुहू राका देवपत्न्य इति चतस्रो देवता यजेत उपतिष्ठेत वा । ‘ अग्ना-विष्णू [७. ३०] सोमारुद्रा [७. ४३] सिनीवालि पृथुष्टुके [७. ४८] बृहस्पतिर्नः” [७. ५३] इति कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०]॥

तथा दर्शयागे “सिनीवालि” इति तृचेन सिनीवालीदेवतां परिगृह्णीयात् । [तद् उक्तं वैताने]। “देवताः परिगृह्णाति । सिनी-वालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ताम् अमावास्यायाम्” इति [वै० १.१]

दर्शयाग एव “कुहूं देवीम्” इति तृचेन कुहूं देवीं परिगृह्णीयात् ॥ पूर्णमासयागे “राकाम् अहम्” इति तृचेन राकां देवीं परिगृह्णी-यात् ॥ “कुहूं देवीम् [७. ४९] यत् ते देवा अकृण्वन् भाग-धेयम् [७. ८४] इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् [७. ५०] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] इति पौर्णमास्याम्” इति वैतानसूत्रात् [वै० १.१]॥

दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु “देवानां पत्नीः” इति तृचेन देवपत्नीयागम् अनुमन्त्रयेत । “सं वर्चसा [६. ५३. ३] देवानां पत्नीः [७. ५१] सगार्हपत्यः [१२. २. ४५] इति पत्नी-संयाजान्” इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० १. ४]॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें तपे हुए फरसेसे बुझाये हुए जलको ‘अग्ने-रिवास्य दहतः’ ऋचासे अभिमन्त्रित करके ईर्ष्यालुको पिला देवे इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि–“अग्नेरिवेति पर-शुफाण्टम्” (कौशिकसूत्र ४ । १२) ।

सर्वव्याधिकी चिकित्साके लिये रोगीके शरीरको मूँजके पाशों से जोड़ों पर बाँध कर ‘सिनीवालि’ आदि नौ ऋचाओंसे सैंटों के मुट्ठोंके साथ जलपूर्ण घटको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको आप्लावित वा अवसिञ्चित करे । इसी बातको संहिता-

त्रिधिमें कहा है, कि-"सोमारुद्रा (७।४२) सिनीवालि (७।४८) वि ते मुञ्चामि (७ । ८३) शुंभनी (७ । ११७) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा सर्वसम्पत्काम इस नौ ऋचा वाले सूक्तसे लिंगानुसार सिनीवाली कुहू राका और देवपत्नी आदि चार देवताओंका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण है, कि-"अग्नाविष्णू (७ । ३०) सोमारुद्रा (७।४२) सिनीवालि पृथुष्टुके (७ । ४८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) ॥

तथा दर्शयागमें 'सिनीवालि' ऋचसे सिनीवाली देवताका परिग्रहण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"देवता परिगृह्णाति । सिनीवालि पृथुष्टुक इति मन्त्रोक्ता अमावास्यायाम्" (वैतानसूत्र १ । १) ॥

दर्शयागमें ही "कुहूं देवीम्" इस ऋचसे कुहू देवीका परिग्रहण करे ॥-पूर्णमासयागमें "राका अहम्" इस ऋचसे राका देवीका परिग्रहण करे ॥ इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ में कहा है, कि-"कुहूं देवीम् (७ । ४९) यद् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् (७ । ८४) इत्यमावास्यायाम् । राका अहम् (७ । ५०) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) इति पौर्णमास्याम्" ॥

दर्श पूर्णमासके पत्नीसंयाजोंमें 'देवानां पत्नीः' इस ऋचसे देवपत्नीयागका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'सं वर्चसा (६ । ५३ । ३ देवानां पत्नीः (७।५१) सु गार्हपत्यः (१२ । २ । ४५) इति पत्नीसंयाजान् (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।

एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ १ ॥

अग्नेःऽइव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।

एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्ऽइव । शमय ॥ १ ॥

अग्नेरिव दहतः क्रोधेन मदीयकार्याणि विनाशयतः अस्य पुरः परिदृश्यमानस्य ईर्ष्यालोः तथा पृथक् प्रत्येकं प्रतिपदार्थं दहतः भस्मीकुर्वतो दावस्य । अत्र उपमावाचक इवशब्दोऽध्याहार्यः । दावस्य अग्नेरिव पृथक् दहतः एतस्य पुरोवर्तिनः क्रुध्यतः पुरुषस्य । पुरोवर्तिनम् ईर्ष्यालुम् इदमेतच्छब्दाभ्याम् अंगुल्या निर्दिशति । तादृशस्य पुरुषस्य एतां मद्विषये प्रयुज्यमानाम् ईर्ष्याम् उद्ना उदकेन । ❀ "पद्दन्नोमास्॰" इत्यादिना उदकस्य उदन्भावः ❀ । तप्तपरशुक्वथितेनोदकेन शमय शान्तां कुर्विति ईर्ष्यानिवारको देवः संबोध्यते । तत्र दृष्टान्तः । अग्निमिवेति । यथा अग्निं ज्वलन्तम् उद्ना उदकेन शमयन्ति तद्वत् ॥

हे ईर्ष्यानिवारक देव ! अग्निकी समान मेरे कार्योंको भस्म करते हुए तथा दावाग्निकी समान मेरे प्रत्येक कार्योंको भस्म करते हुए इस ईर्ष्यालु पुरुषकी ईर्ष्याको इस प्रकार शांत करिये, जिस प्रकार जलसे अग्निको शान्त करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १ ॥

सिनीवालि । पृथुऽस्तुके । या । देवानाम् । असि । स्वसा ।

जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । दिदिड्ढि । नः १

दृष्टचन्द्रा अमावास्या सिनीवाली स्त्रीत्वेन रूप्यते । हे सिनीवालि ! अत्र यास्कः । सिनम् अन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा वालेनैवास्याम् अणुत्वात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वेति [नि० ११. ३१] । पर्ववत्यन्नवतीति अल्पकलचन्द्रोपेतेति वेति तस्यार्थः । तादृशि हे सिनीवालि पृथुष्टुके पृथुजघने पृथुकेशस्तुके वा । ❀ स्त्यायतेः स्तुकशब्दः ❀ । बहुभिः संस्तुते वा । ❀ स्तौतेर्निष्ठातकारस्य वर्णोपजनश्छान्दसः ❀ । या त्वं देवानां स्वसा स्वयं सारिणी इष्ट्यादिना असि भवसि भगिनी वा समानकार्यत्वात् सा त्वम् आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् हविः जुषस्व सेवस्व । किं च हे देवि सिनीवालि नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रादिकां दिदिड्ढि उपचिनु । देहीत्यर्थः । ❀ दिहेर्दिशतेर्वा लोटि शपः श्लुः ❀ ॥

हे अल्पचन्द्रकला संयुक्त अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवते सिनीवालि ! हे अनेकोंसे स्तुत सिनीवालि ! आप देवताओंकी स्वसा हैं अर्थात् इष्टि आदिसे स्वयं सारिणी होती हैं और समान कार्य वाली होनेसे आप देवताओंकी भगिनी हैं ऐसी आप इस अभिमुख आहुत हविका सेवन करें और हे सिनीवालि देवते ! आप हमको पुत्र आदि प्रजा दीजिये ॥ १ ॥

तृतीया ॥

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी ।

तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥२॥

या । सुऽबाहुः । सुऽअंगुरिः । सुऽसूमा । बहुऽसूवरी ।

तस्यै । विश्पत्न्यै । हविः । सिनीवाल्यै । जुहोतन ॥ २ ॥

या सिनीवाली सुबाहुः सुपाणिः स्वंगुरिः शोभनांगुलिः सुषूमा

सुयोनिः। ❀ सूतेः सूमशब्दः ❀। सुष्ठु प्रसवित्री वा। बहुसूवरी बह्वीनां प्रजानां सवित्री। ❀ सूतेः क्वनिप्। "वनो र च" इति ङीब्रेफौ ❀। तस्यै सिनीवाल्यै विश्पल्न्यै विशां प्रजानां पालयित्र्यै। ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति पत्युर्नकारः। अयस्मयादित्वेन भत्वाद् विशो जश्त्वाभावः ❀। हविःजुहोतन जुहुत हे ऋत्विग्यजमानाः। ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः। पित्त्वेन ङित्त्वाभावाद् गुणः ❀ ॥

हे ऋत्विज और यजमानो! सिनीवाली देवता सुन्दर पाणि वाली, शोभन अंगुलि वाली, सुषूमा है उस प्रजाकी पालिका सिनीवालीके लिये हविकी आहुति दो ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

या। विश्पत्नी। इन्द्रम्। असि। प्रतीची। सहस्रऽस्तुका। अभिऽयन्ती। देवी।

विष्णोः। पत्नि। तुभ्यम्। राता। हवींषि। पतिम्। देवि। राधसे। चोदयस्व ॥ ३ ॥

या सिनीवाली विश्पत्नी विशां पालयित्री इन्द्रम् परमैश्वर्यसंपन्नं देवं प्रतीची प्रत्यगञ्चना असि भवसि। अमावास्यायाम् इन्द्रस्य इज्यमानत्वाद् इन्द्रं प्रतीचीत्युक्तम्। कीदृशी। सहस्रस्तुका। सहस्रशब्दो बहुवाची। बहुकेशस्तुका पृथुजघना वा सहस्रसंख्याकैः

स्तोतृभिः संस्तुता वा । अभियन्ती अभिमुखं गच्छन्ती यष्टव्यान् देवान् । यद्वा फलप्रदानाय अस्मान् अभिगच्छन्ती देवी द्योतनशीला । किं च हे विष्णोः पत्नि विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य इन्द्रस्य वा पत्नि तुभ्यं हवींषि राता रातानि दत्तानि । अतः हे देवि सिनीवालि तुष्टा त्वं पतिम् त्वदीयम् इन्द्रं राधसे । राध इति धननाम । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । अस्मभ्यं धनं दातुं चोदयस्व प्रेरयस्व ॥

जो सिनीवाली प्रजाओंकी पालिका है, परमैश्वर्यसंपन्न इन्द्रदेवके सामने जाती है और उनकी पूजा करती है, सहस्रों पुरुष उसकी स्तुति करते हैं, हे व्यापनशील देवताकी पत्नि ! तुझको हवि देदी है, अतः तू सन्तुष्ट होकर अपने पति इन्द्रको धन देनेके लिये प्रेरणा कर ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सुऽकृतम् । विद्मनाऽअपसम् । अस्मिन् । यज्ञे । सुऽहवा । जोहवीमि ।
सा । नः । रयिम् । विश्वऽवारम् । नि । यच्छात् । ददातु । वीरम् । शतऽदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूः । तां देवीम् । ❀ कुहूशब्दं बहुधा

यास्को निरुवाच । कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयत इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वेति [नि० ११. ३२] ❀ । तादृशीं कुहूम् अस्मिन् यज्ञे दर्शयागे सर्वाभिलषितसाधने कर्मणि च जोहवीमि भृशम् आह्वयामि । ह्वयतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा । हविषा यजामि । तां विशिनष्टि । सुकृतम् सुकर्माणं विद्मनापसम् । अप इति कर्मनाम । विदितकर्माणम् । ❀ विदेः औणादिको मक् प्रत्ययः । [विद्मो वदनम् ।] तद्वत् विद्मनम् । पामादिलक्षणो नप्रत्ययः । तादृशम् अपः कर्म यस्या इति विग्रहः ❀ । सुहवाम् शोभनाह्वानाम् । सा कुहूः विश्ववारम् सर्वैर्वरणीयं रयिम् धनं नः अस्मभ्यं नि यच्छात् नियमयतु स्थापयतु । प्रयच्छत्वित्यर्थः । तथा शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् प्रशस्यं स्तोत्रार्हं वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं ददातु प्रयच्छतु ॥

नष्टचन्द्रा अमावास्या कुहूदेवी सुन्दर कर्म वाली है, विदित कर्म वाली है और शोभन आह्वान वाली है उस कुहू देवीका मैं इस दर्शयागमें और सब अभिलाषाओंके साधन कर्ममें भी बड़े आग्रहके साथ आह्वान करता हूँ, वह कुहू देवी मुझको सबके वरण करने योग्य धनको देवें और बहुतसा प्रदान करने वाले और प्रशंसा पाने वाले विक्रमी पुत्रको देवे ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु

कुहूः । देवानाम् । अमृतस्य । पत्नी । हव्या । नः । अस्य । हविषः । जुषेत ।

शृणोतु । यज्ञम् । उशती । नः । अद्य । रायः । पोषम् । चिकितुषी ।
दधातु ॥ २ ॥

देवानाम् । ❀ निर्धारणे षष्ठी ❀ । देवानां मध्ये कुहूर्देवी अमृतस्य अमृतत्वस्य अविनाशस्य उदकस्य वा पत्नी पालयित्री । यद्वा देवानां मध्ये यः अमृतः अविनश्वरो देवस्तस्य पत्नी नारी । अथवा देवानाम् इति सर्वविकारोपलक्षणम् । सर्वेषां भूतानाम् अमृतस्य च पत्नी पालयित्री हव्या आह्वानार्हा नः अस्मदीयस्य अस्य दीयमानस्य हविषः । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । अस्मदीयम् इदं हविः जुषेत सेवेत । किं च नः अस्मदीयं यज्ञम् उशती कामयमाना । ❀ वश कान्तौ । शतरि "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । अद्य इदानीं शृणोतु । अस्मदीयम् आह्वानम् इति शेषः । ततः चिकितुषी अस्मदीयं यज्ञं ज्ञातवती रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं दधातु अस्माकं विदधातु । ❀ चिकितुषीति । कित ज्ञाने । क्वसौ ङीपि संप्रसारणे रूपम् ❀ ॥

देवताओंमें कुहूदेवी अमृतस्वरूप जलका पालन करने वाली हैं, अथवा–देवताओंमें जो अविनाशी देवता हैं उनकी नारी हैं, वा सकल भूतोंका और अमृतका भी पालन करने वाली हैं और आह्वानके योग्य हैं, ऐसी कुहूदेवी इस हमारी हविका सेवन करें और हमारे यज्ञकी कामना करती हुई आज हमारे आह्वानको सुनें और हमारे यज्ञको जानती हुई हममें धनकी पुष्टि करें ॥२॥

सप्तमी ॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

राकाम् । अहम् । सुऽहवा । सुऽस्तुती । हुवे । शृणोतु । नः । सुऽभगा । बोधतु । त्मना ।

सीव्यतु । अपः । सूच्या । अच्छिद्यमानया । ददातु । वीरम् । शतऽदायम् । उक्थ्यम् ॥ १ ॥

संपूर्णचन्द्रा पौर्णमासी राका । तां देवीं सुहवाम् शोभनाह्वानाम् आह्वानप्रयोजनकारिणीं सुष्टुती शोभनया स्तुत्या अहं हुवे आह्वयामि । सा च सुभगा सुज्ञानादिका नः अस्माकं शृणोतु आह्वानम् । श्रुत्वा च त्मना आत्मना । ❀ "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" इति आकारलोपः ❀ । स्वयमेव बोधतु बुध्यताम् अस्मदभिप्रायम् । बुद्ध्वा च अपः कर्म प्रजननलक्षणं सीव्यतु । अपः प्रजननकर्मेति हि यास्कः [नि० ११. ३१] । तत् अच्छिद्यमानया सूच्या सूचिस्थानीयया सीवन्या नाड्या सीव्यतु संतनोतु बध्नातु । ❀ षिवु तन्तुसंताने । दैवादिकः । "हलि च" इति दीर्घः ❀ । यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं कार्यक्षमं भवति एवम् इदं करोतु । "राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यती यैषा शिश्नेधि । पुमांसोस्य पुत्रा जायन्ते" इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० ३. ३७] । तथा च कृत्वा वीरम् विक्रान्तं पुत्रं शतदायम् बहुधनं बहुप्रदं वा उक्थ्यम् कर्मभिः स्तोत्रार्हं ददातु प्रयच्छतु ॥

सम्पूर्ण चन्द्रमा वाली पौर्णमासी राका कहलाती है। उन शोभन आह्वान वाली राका देवीका मैं सुन्दर स्तुतिके द्वारा आह्वान करता हूँ, वह सुन्दर ज्ञानवाली हमारे आह्वानको सुनें

और सुन कर हमारे अभिप्रायको अपने आप जानलें और जान कर न टूटने वाली सूचिस्थानीया सीवनी नाड़ीसे प्रजननकर्मको सन्तन करें जैसे वस्त्र आदि सुईसे सीने पर चिरकालके लिये कार्यक्षम होता है इसी प्रकार ये इस कर्मको करें ‡ और इस प्रकार करके विक्रमी बहुत प्रदान करने वाले और स्तुतिके पात्र पुत्रको मुझको देवें ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा ॥ २ ॥

याः । ते । राके । सुऽमतयः । सुऽपेशसः । याभिः । ददासि । दाशुषे । वसूनि ।
ताभिः । नः । अद्य । सुऽमनाः । उपऽआगहि । सहस्रऽपोषम् । सुऽभगे । रराणा ॥ २ ॥

हे राके देवि यास्ते तव सुमतयः कल्याणबुद्धयः अनुग्रहात्मिकाः सुपेशसः सुरूपाः शोभनविषया वा यास्ते सुष्टुतयः सुरूपा इति वा याभिः सुमतिभिः दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वसूनि धनानि

‡ ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३७ में कहा है, कि—"राका हि वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति यैषा शिश्नेऽधि । पुमांसोऽस्य पुत्रा जायन्ते ।—राका अर्थात् पूर्णचन्द्रा रात्रि पुरुषकी शिश्नपैकी सीवनी को सीती हैं, ऐसा करने पर इसके पुरुष पुत्र उत्पन्न होते हैं" ॥

ददासि प्रयच्छसि ताभिः सुमतिभिरुपलक्षिता तथाभूतसंकल्पा नः अस्मान् अद्य इदानीं सुमना भूत्वा उपागहि उपागच्छ। ❀ गमेः शपो लुकि मलोपः। तस्यासिद्धत्वेन हेतुगभावः ❀। किं कुर्वती। हे सुभगे शोभनसौभाग्ये कल्याणधनप्रापिणि वा राके सहस्रपोषम् बहूनां धनानां पोषं पुष्टिं रराणा प्रयच्छन्ती उपागच्छेति। ❀ रातेर्व्यत्ययेन आत्मने पदम्। शपः श्लुः ❀॥

हे राके देवि! आपमें जो अनुग्रहरूपा कल्याणमयी सुरूपा बुद्धियें हैं कि–जिनसे आप हवि देने वाले यजमानके लिये धन-प्रदान करती हैं, आज आप उन बुद्धियोंसे संयुक्त हो प्रसन्न मन रख कर हमारे पास आइये, हे सुभगे! आप बहुतसे धनोंकी पुष्टि देती हुई हमारे पास आइये॥ २॥

नवमी॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥ १॥

देवानाम्। पत्नीः। उशतीः। अवन्तु। नः। प्र। अवन्तु। नः। तुजये। वाजऽसातये।
याः। पार्थिवासः। याः। अपाम्। अपि। व्रते। ताः। नः। देवीः। सुऽहवाः। शर्म। यच्छन्तु॥ १॥

देवानां पत्नीः पत्न्यः उशतीः उशत्यः कामयमानाः नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु। तथा नः अस्माकं तुजये तोकाय अपत्याय वाज-

सातये अन्नलाभाय च प्रावन्तु प्रकर्षेण आगच्छन्तु रक्षन्तु वा। ❀ अव रक्षणादिषु ❀॥ किं च या देवपत्न्यः पार्थिवासः पार्थिव्यः। पृथिवीस्थाना इत्यर्थः। याश्च। अपिशब्दः चार्थे। अपां व्रते कर्मणि कारके अन्तरिक्षे स्थितास्ता देवीः देव्यः सुहवाः शोभनाह्वाना नः अस्मभ्यं शर्म सुखं गृहं वा यच्छतु। ❀ वचनव्यत्ययः ❀। यच्छन्तु प्रयच्छन्तु इत्यर्थः॥

देवताओंकी पत्नियें हमारी रक्षा करनेकी कामना रखती हुई हमारे पास आवें और हमको अन्नप्राप्ति करानेके लिये और हमको उनका लाभ करानेके लिये आवें। जो देवियें पृथिवी पर रहती हैं और जो जलका कर्म करने वाले अन्तरिक्षमें स्थित हैं वे शोभन आह्वान वाली देवियें हमको सुख देवें॥ १॥

दशमी॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ २॥

उत। ग्नाः। व्यन्तु। देवऽपत्नीः। इन्द्राणी। अग्नायी। अश्विनी। राट्।
आ। रोदसी। वरुणानी। शृणोतु। व्यन्तु। देवीः। यः। ऋतुः। जनीनाम्॥ २॥

उत अपि च देवपत्नीः देवाः पतयो यासां ताः देवानां पत्न्य इति वा। ग्नाः देव्यः व्यन्तु कामयन्ताम् अश्नन्तु वा। हवींषीति शेषः। ता देवपत्नीर्दर्शयति। इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी। ❀ "इन्द्रवरुण०" इति ङीषानुकौ ❀। अग्नायी अग्नेः पत्नी। ❀ "वृष-

कृष्यग्निकुसितकुसीदानाम् उदात्तः" इति ऐकारादेशो ङीप् च ॐ। अश्विनी अश्विनोर्जाया राट् राजन्ती। ॐ राजतेः क्विप् ॐ। रोदसी रुद्रस्य जाया वरुणानी वरुणस्य पत्नी आ शृणोतु अभिमुखं सर्वतो वा शृणोतु। अस्मदीयं हव्यं व्यन्तु अश्नन्तु कामयन्ता वा हवींषि देवीर्देव्यः। कस्मिन् काले हविःकामनं तम् आह। यः जनीनां जायानाम् ऋतुः कालस्तस्मिन्। पत्नीसंयाजकाल इत्यर्थः। ॐ अत्र "अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी। अग्नाय्यग्नेः पत्नी। अश्विन्यश्विनोः पत्नी राट् राजते। रोदसी रुद्रस्य पत्नी। वरुणानी [च] वरुणस्य पत्नी। व्यन्तु देव्यः कामयन्ताम्। य ऋतुः कालो जायानाम्" इति निरुक्तम् अनुसंधेयम् [नि० १२. ४६] ॐ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

देवता जिनके पति हैं ऐसी देवपत्नियें हवियोंकी कामना करें वा रक्षा करें, इन्द्रदेवकी पत्नी इन्द्राणी, अग्निदेवकी पत्नी अग्नायी रुद्रकी जाया रोदसी, वरुणदेवकी स्त्री वरुणानी, अश्विनीकुमारों की दमकती हुई पत्नी भली प्रकार सुनें और हमारी हविको पत्नियोंके ऋतुकालमें अर्थात् पत्नीसंयाजमें भक्षण करें † ॥२॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३६६)।

द्यूतजयकर्मणि स्थलशुद्धिम् अक्षाधिवासनं च कृत्वा "यथा वृक्षम् अशनिः" इति तृचेन अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतं कुर्यात्। सूत्रितं हि। "पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति। उत्तरासु संभिनत्ति। आदेवनं संस्तीर्य। उद्भिन्दतीं संजयन्तीम् [४. ३८] यथा वृक्षम् अशनिः [७. ५२] इदम् उग्राय [७. ११४] इति वासितान् अक्षान् निवपति" इति [कौ० ५. ५]॥

सर्वफलकामः "बृहस्पतिर्नः" इति ऋचा बृहस्पतिं यजेन उप-

† यही बात निरुक्त १२।४६ में कही है।

तिष्ठेत् वा। "बृहस्पतिर्नः [७. ५३] यत् ते देवाः" [७. ८४] इति हि सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा उक्थ्यक्रतौ ब्राह्मणाच्छंसिनो याज्याहोमम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। उक्तं वैताने। "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ५८] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनया हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि बृहस्पतये कुर्यात्। तद् उक्तं शान्तिकल्पे। "भद्रादधि श्रेयः प्रेहि [७. ६] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] इति बृहस्पतये" इति [शा० क० १५] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" [न० क० १७] इति विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ बृहस्पतिर्नः इत्येनाम् आवपेत्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् [७. ५३] अमुत्र भूयात् [७. ५५] इति बार्हस्पत्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

द्यूतजयकर्म में स्थलशुद्धिको और अक्षाधिवासनको करके "यथा वृक्षम् अशनिः" इस नौ ऋचा वाले टुकड़ेसे फाँसोंको अभिमन्त्रित करके जुआ खेले। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पूर्वास्वषाढासु गर्तं खनति। उत्तरासु संभिनत्ति। आदेवनं संस्तीर्य। उद्भिन्दन्तीं सञ्जयन्तीं (४। ३८) यथा वृक्षं अशनिः (७। ५२) इदं उग्राय (७। ११४) इति वासितान् अक्षान् निवपति।—पूर्वाषाढ़ामें गड्ढेको खोदे, उत्तराषाढ़में भली प्रकार विदारण करे, फिर आदेवनको ठीक करे फिर चौथे कांड के अड़तीसवें और सातवें काण्डके बावनवें और एकसौ चौदहवें सूक्तसे वासित अक्षोंसे खेले" (कौशिकसूत्र ५। ५) ॥

सर्वफलकी कामना वाला "बृहस्पतिर्नः" ऋचासे बृहस्पतिका

यजन वा उपस्थान करे, इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि–'बृहस्पतिर्नः (७।५३) यत् ते देवाः (७।८४)"

तथा ब्रह्मा, उक्थ्य ऋतुमें ब्राह्मणाच्छंसीके याज्यहोमका इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र ४ । १ में कहा है, कि–"एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणासुतपौ (७ । ५८) बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) उभा जिग्यथुः (७ । ४५) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें बृहस्पतिके लिये इस ऋचासे हवि, घृत, होम की समिधाओंका रखना आदि, करे इसी बातको शांतिकल्पमें कहा है, कि–"भद्रादधि श्रेयः प्रेहि (७ । ६) बृहस्पतिर्नः (७।५३) इति बृहस्पतये" (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य-राज्यश्री और ब्रह्म तेजकी कामना वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे" इस नक्षत्र-कल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या महाशान्तिमें "बृहस्पतिर्नः" इस ऋचाको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७ । ५३) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति बार्हस्पत्यायाम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति ।
एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । बध्यासम् । अप्रति ॥१॥

अशनिः वैद्युतोग्निः अप्रति । ॐ प्रतिनिध्यर्थे प्रतिः कर्मप्रवचनीयः ॐ । न विद्यते प्रति प्रतिनिधिः समानो यस्य अप्रतिस्यः सन् विश्वाहा विश्वेषु सर्वेष्वहःसु यथा वृक्षम् तरुं हन्ति

बाधते। यद्वा विश्वस्य हन्ता। ❀ हन्तेः क्विप् ❀। अशनिः अप्रति अप्रतिपत्तं यथा वृक्षं विनाशयति एव एवम् अहम् अप्रति अप्रति-निधिः सन्। प्रतिकितवपराजये मम सदृशः अन्यो नास्तीत्यर्थः। यद्वा अप्रति अप्रतिपत्तं वध्यासम् इति संबन्धः। अद्य इदानीं कितवान्। ❀ कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिरिति यास्कः [नि० ५, २२]। अक्षैर्दीव्यन् पुरुषः परैरपह्रियमाणधनः किं तवास्ति न किंचिद् इति सर्वैर्भाष्यत इत्यर्थः ❀। तादृशान् कितवान् अक्षैः देवनसाधनैः अप्रति अप्रतिपत्तं वध्यासं हनिष्यामि। यथा प्रतिकितवा द्यूतक्रियायां मम प्रतिस्पर्धिनो न भवन्ति तथा अक्षैः पराजितान् करिष्यामीत्यर्थः। ❀ "हनो वध लिङि" इति हन्तेर्वधादेशः ❀॥

वैद्युत अग्नि अपनी सानी न रखता हुआ जिस प्रकार प्रति-दिन वृक्षोंको मारता रहता है, इसी प्रकार मैं आज कितवों ‡ (जुआरियों) को अपना प्रतिद्वन्द्वी न रखता हुआ अप्रतिम बन कर फाँसोंके द्वारा मारता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ २॥

तुराणाम्। अतुराणाम्। विशाम्। अवर्जुषीणाम्।

---

‡ निरुक्त ५। २२ में कितव (जुआरी) शब्दकी व्याख्या इस प्रकारकी है, कि—"कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः— तेरा क्या है किं तव अस्ति—इस शब्दकी अनुकृति कर कितव शब्द कहा जाता है तात्पर्य यह है, कि—फाँसोंसे खेलने वाले पुरुषका धन जब छिन जाता है तब उससे सब कहने लगते हैं, कि—तेरा क्या है ?।

सम्ऽएतु । विश्वतः । भगः । अन्तःऽहस्तम् । कृतम् । मम ॥२॥

तुराणाम् । ❀ तुर त्वरणे । इगुपधलक्षणः कः ❀ । द्यूतकर्मणि त्वरमाणानाम् अतुराणाम् अत्वरमाणानाम् । अहमेव प्रथमः अक्षप्रक्षेपेण प्रतिवादिनं जेष्यामि अहमेवेति अहमहमिकया त्वरमाणास्तुराः । विमृश्यकारिण्यः अतुराः । तासाम् अवर्जुषीणाम् अवर्जनशीलानां प्रतिकितवैः पराजयेपि पुनरहमेव जेष्यामीति द्यूतक्रियाम् अपरित्यजन्तीनां पुनःपुनर्जयलाभाद् अवर्जयन्तीनां वा । सर्वदा द्यूतव्यसनवतीनाम् इत्यर्थः । विशाम् प्रजानां भगः भाग्यम् जयलक्षणं विश्वतः समैतु सर्वतः सम्यग् अभिमुखम् आगच्छतु । द्यूतजयकामिनं माम् इति शेषः ॥ न केवलं तत एव जयप्रार्थना अपि तु मम अन्तर्हस्तम् हस्तमध्ये कृतम् । कृतशब्दवाच्यश्चतुःसंख्यायुक्तः अक्षविषयः अयः । स हस्तमध्ये स्थितो वर्तते । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः" इति [तै० ब्रा० १. ५. ११. १] ॥ तत्र कृतस्य लाभाद् द्यूतजयो भवति । अत एव दाशतय्यां लब्धकृतात् कितवाद् भीतिराम्नायते । "चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः" इति [ऋ० १. ४१. ६] तत्र निरुक्तम् । चतुरोक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयाद् इति [नि० ३. १६] ॥

द्यूतकर्ममें त्वरा करने वाले और शीघ्रता न करने वालोंमें मैं ही (मुख्य हूँ) द्यूतका त्याग न करने वाली प्रजाओंका भाग मुझ कृत† नामक फाँसेको हाथमें धारण करने वालेके पास चारों ओरसे टूट पड़े ॥ २ ॥

† कृत शब्द चार फाँसोंका नाम है । एकसे लेकर पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं उनमें चारकी कृत संज्ञा है । इसी बातको

तृतीया ॥

ई॒डे अ॒ग्निं स्वाव॑सुं नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत् कृ॒तं नः। रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वा॒जय॑द्भिः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृ॒ध्याम् ॥ ३ ॥

ईडे। अ॒ग्निम्। स्वऽव॑सुम्। नमः॑ऽभिः। इ॒ह। प्र॒ऽस॒क्तः। वि। च॒यत्। कृ॒तम्। नः।

रथैः॑ऽइव। प्र। भ॒रे। वा॒जय॑त्ऽभिः। प्र॒ऽद॒क्षि॒णम्। म॒रुता॑म्। स्तोम॑म्। ऋ॒ध्याम् ॥ ३ ॥

स्ववसुम् स्वकीयधनं स्वकीयेभ्यः स्तोतृभ्यो दीयमानं धनं यस्य तम् अग्निं नमोभिः स्तोत्रैः ईळे स्तौमि। इह द्यूतकर्मणि प्रसक्तः प्रकर्षेण आसक्तोग्निः देवनकर्माधिपतिः नः अस्माकं दीव्यतां कृतम् कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं वि चयत् विचिनोतु करोत्वित्यर्थः। ❁ चिनोतेर्लेटि अडागमः ❁। वाजयद्भिः वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः।

तैत्तिरीयब्राह्मणमें कहा है, कि-"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्। अथ ये पञ्च कलिः सः। जो चार स्तोम हैं वह कृत हैं, जो पाँच फाँसे हैं वे कलि कहलाते हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण १। ५। ११। १) इनमें कृतका लाभ होनेसे द्यूतमें विजय होती है। अत एव जिस को कृतकी प्राप्ति होजाती है उस कितवसे भीति होनेका वर्णन ऋग्वेदसंहितामें कहा है, कि-"चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयाद् आ निधातोः॥ अर्थात् चार फाँसे देने वाले जुआरीसे डरे" ऋग्वेदसंहिता १। ४१। ६) इस विषयको निरुक्तमें इस प्रकार कहा है, कि-"चतुरोऽक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात्" (निरुक्त ३। १६)॥

❀ राजशब्दात् करोत्यर्थे णिच् ❀। अन्नलाभकरणै रथैरिव स्थितैरक्षैः प्र भरे प्रहरे। प्रतिकितवान् इति शेषः। ❀ "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀। ततः मरुताम्। देवोपलक्षणम्। सर्वेषां देवानां स्तोमम् स्तोत्रं संघं वा प्रदक्षिणम् अनुक्रमेण ऋध्याम् समर्धयेयम्॥

जो अपने धनको स्तोताओंको देते रहते हैं ऐसे स्वावसु अग्निदेवकी मैं स्तोत्रोंसे स्तुति करता हूँ, इस द्यूतकर्म में प्रसक्त देवनकर्माधिपति अग्निदेव इम जुआड़ियोंको कृत नामक फाँसेको देवें, सब जैसे रथमें स्थित अश्वोंके द्वारा अन्नको लाते हैं तिसी प्रकार मैं इन अक्षोंके द्वारा शत्रुओंकी सामग्रीको लाऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्
वृष्ण्या रुज ॥ ४ ॥

वयम्। जयेम। त्वया। युजा। वृतम्। अस्माकम्। अंशम्।
उत्। अव। भरेऽभरे।
अस्मभ्यम्। इन्द्र। वरीयः। सुऽगम्। कृधि। प्र। शत्रूणाम्।
मघऽवन्। वृष्ण्या। रुज ४ ॥

हे इन्द्र त्वया युजा सहायेन वृतम् वृणोति अक्षैः संरुणद्धीति वृत् प्रतिकितवः। ❀ वृणोतेः क्विप् ❀। तादृशं कितवं वयं जयेम। तथा भरेभरे संग्रामेसंग्रामे द्यूतलक्षणे अस्माकं जिगीषूणाम् अंशम् जयलक्षणम् उद् अव उद्गमय। ❀ अत्र रक्षणादिषु ❀। किं च अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं सुगम् सुगमनं कृधि

कुरु। ❁ उरुशब्दाद् ईयसुनि "प्रियस्थिर०" इति वर् आदेशः ❁। हे मघवन् धनवन् इन्द्र शत्रूणाम् शातयितॄणां प्रतिकितवानां वृष्ण्या वृष्ण्यानि वृष्णि भवानि। ❁ "भवे छन्दसि"- इति यत्। टिलोपः ❁। वीर्याणि जयलक्षणानि प्र रुज निवारय। ❁ रुजो भङ्गे तौदादिकः ❁। यथा प्रतिकितवा अस्मान् न जयेयुः यथा तान् वयं जयेम जयेन च तेभ्यो धनं स्वीकुर्याम तथा कुर्विति इन्द्रः प्रार्थ्यते ॥

हे इन्द्रदेव! आपकी सहायतासे मैं जिसका अक्षोंके द्वारा वरण करता हूँ उस प्रतिपक्षीको जीत लूँ और जो द्यूतलक्षणरूप संग्राममें हमको जीतना चाहते हैं, उनके जयलक्षणरूप अंशको आप उच्चाटित करिये। और हमारे लिये बहुतसे धनको सुगमतासे आने वाला करिये। हे धनवन् इन्द्र! आप शत्रुओंके जयकर्मोंको निवारित करिये। अर्थात् इन्द्रदेव! हमारी यह प्रार्थना है, कि-जैसे प्रतिपक्षी हमको न जीत सकें और हम जीत कर उनसे धन लेलेवें तैसा आप करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।

अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैषम्। त्वा। सम्ऽलिखितम्। अजैषम्। उत। सम्ऽरुधम्।

अविम्। वृकः। यथा। मथत्। एव। मथ्नामि। ते। कृतम् ५

लोके हि कितवाः अस्मिन् पदे प्रतिकितवम् अक्षशलाकादिभिः संरोत्स्यामीति अङ्कान् कुर्वन्ति तत्रैव च संरुन्धन्ति। तादृशः प्रतिकितवोऽत्र संबोध्यते। हे कितव संलिखितम् पदेषु सम्यग् अङ्कान् लिखितवन्तमपि त्वा त्वाम् अजैषम् अहमेव जयामि। उत अप्यर्थे।

संरुधम् । ॐ रुधेः क्विप् ॐ । संरोद्धारमपि त्वाम् अजैषम् जयामि । यद्वा संलिखितम् सम्यक् लिखितं चिह्नितं पदम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि । उत अपि च संरुधम् । ॐ संरुन्धन्ति अत्रेति । अधिकरणे कप्रत्ययः ॐ । तादृशं स्थानम् अभिलक्ष्य त्वां जयामि । किं च वृकः अरण्यश्वा अविम् अजं यथा मथत् मथ्नाति एव एवं ते तव कृतं कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं मथ्नामि विनाशयामि

(संसारमें जुआरी मैं इस पदमें अक्षशलाका आदिसे कितव को रोकूँगा. इस प्रकार अङ्कित करते हैं और तहाँ ही रोकते भी हैं । तैसे ही प्रतिकितवको यहाँ सम्बोधित किया है, कि–) हे कितव ! पदमें भली प्रकार अंकोंको लिखते हुए भी तुझको मैं ही जीतूँगा और संरोद्धा भी तुझको मैं जीतूँगा, जिस प्रकार भेड़िया भेड़को मथ डालता है, इसी प्रकार मैं तेरे कृत नामक पाशको मथता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत । प्रऽहाम् । अतिदीवा । जयति । कृतम्ऽइव । श्वऽघ्नी । वि । चिनोति । काले ।
यः । देवऽकामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत अपि च अतिदीवा अतिशयेन दीव्यन् पुरुषः । ❀ कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः इति [उ० १. १५४] अति पूर्वाद् दीव्यतेः कनिन्। कित्वादेव गुणाभावः ❀ । प्रहाम् अक्षैः प्रहन्तारं प्रतिकितवं भयाति । यतः श्वघ्नी । श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्वं पुनराहृतं भवतीति यास्कः [नि० ५. २२] ❀ । परस्वस्य हन्ता कितवः काले द्यूतकाले कृतमिव । इवशब्द एवार्थे । कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयमेव वि चिनोति मृगयते । हस्तस्थेष्वक्षेषु प्रागेव निधानात् कृतत्वम् अक्षाणां लाभाय अन्विष्यते अतो जयातीति संबन्धः ॥ यो देवकामः देवान् कामयमानः दीव्यन् पुरुषः धनं न रुणद्धि द्यूतलब्धं धनं न व्यर्थं स्थापयति किं तु देवतार्थं विनियुङ्क्ते तं राया धनेन स्वधाभिः अन्नैर्बलैर्वा सं सृजत्येव संयोजयत्येव । इन्द्र इति देवता गम्यते । इत् अवधारणे ॥

बड़ा भारी खिलाड़ी पुरुष अक्षोंसे प्रहार करने वाले प्रतिकितवको जीत लेता है, क्योंकि-वह जुआड़ी द्यूतके समयमें लाभ के हेतु कृत नामक अयको ही ढूँढता है, यह देवताओंकी इच्छा करता हुआ खिलाड़ी पुरुष उस धनको रोकता नहीं है अर्थात् व्यर्थ ही स्थापित नहीं करता है, किन्तु देवताके निमित्त विनियुक्त करता है और उसको स्वधासे संयुक्त करता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ७

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् । यवेन । वा । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वे ।

यूयम् । राजऽसु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम

हे इन्द्र दुरेवाम् दुष्टगमनां दारिद्र्याद् आगताम् अमतिम् दुर्बुद्धिं गोभिः पशुभिः तरेम । हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र विश्वे सर्वे वयं यवेन वा । यवशब्दो धान्योपलक्षणम् । धान्येन वा क्षुधम् बुभुक्षां तरेम निवारयेम ॥ राजसु नृपेषु राजमानेषु दीव्यत्सु वा पुरुषेषु । स्थितानीति शेषः । प्रथमा प्रथमानि मुख्यानि प्रकृष्टतमानि धनानि वयम् अरिष्टासः अहिंसिताः प्रतिकितवैरपराजिताः सन्तः वृजनीभिः बलकारिणीभिरक्षशलाकाभिः जयेम साधयेम ॥

हे इन्द्रदेव ! हम दुष्ट गति वाली दरिद्रतासे आई हुई दुर्बुद्धि को पशुओंके द्वारा तरें, यव आदि धान्यके द्वारा बुभुक्षाका निवारण करें, राजाओंमें स्थित श्रेष्ठ धनको हम प्रतिकितवोंसे पराजित न होकर बलकारिणी अक्षशलाकाओंसे जीत लें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ८

कृतम् । मे । दक्षिणे । हस्ते । जयः । मे । सव्ये । आऽहितः ।
गोऽजित् । भूयासम् । अश्वऽजित् । धनम्ऽजयः । हिरण्यऽजित् ८

मे मम दक्षिणे हस्ते पाणौ कृतम् कृतशब्दवाच्यो लाभहेतुः अयः अस्ति । कृतायलाभो हि महान् द्यूतजयः । तद् उक्तं द्यूतक्रियाम् अधिकृत्य आपस्तम्बेन । "कृतं यजमानो विजिनाति" इति [आप० ५. २०. १] । तथा मे मम सव्ये हस्ते जय आहितः कृतायसाध्यो जयो निहितोस्ति । अतः अहं गोजित् परकीयानां गवां जेता भूयासम् । अश्वजित् प्रतिकितवसंबन्धिनाम् अश्वानां जेता । धनंजयः । धनशब्दः सामान्यवाची । दासीभूम्यादिधनस्य

जेता । ❀ "संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः" इति जयतेः तृच् प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुम् ❀ । हिरण्यजित् सुवर्णस्य जेता भूयासम् । लोके हि कितवा द्यूतकर्मणि गवादि-धनं शुल्कं कृत्वा दीव्यन्ति तत्र ये जयन्ति ते तद्धनं स्वीकुर्वन्ति । अत्र जयस्य पूर्वार्धेन उक्तत्वाद् गवादिधनजयलाभः उत्तरार्धेन प्रार्थ्यते ॥

मेरे दाहिने हाथमें कृतनामक अय है, तथा मेरे बायें हाथमें जय नामक अय है, अत एव मैं दूसरोंकी गौओंका जीतनेवाला होऊँ, अश्वोंका धनका तथा दासी भूमि आदिका भी जीतने वाला होऊँ तथा सुवर्णका भी जीतने वाला भी होऊँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।

सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नान्वेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फलऽवतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्ऽइव ।

सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नान्नाऽइव । नह्यत ९

अनया देवनसाधनभूतान् अक्षान् जयाय प्रार्थयते । हे अक्षाः द्युवम् द्यूतक्रियाम् । ❀ दीव्यतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति ऊठ् । तदन्ताद् द्वितीयैकवचने अमि उवङ् आदेशः ❀ । द्यूतक्रियां फलवतीं फलोपेतां दत्त प्रय-च्छत । यथा द्यूतेन धनलाभो भवति तथा कुरुतेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः क्षीरिणीं गामिवेति । फलं कस्माद् भवति तत् आह । कृतस्य कृतशब्दवाच्यस्य चतुःसंख्यायुक्तात्तविषयस्य लाभहेतोः अयस्य धारया संतत्या उपर्युपरि लाभहेतुकृतायप्रवाहेण मा मां सं नह्यत संयोजयत । तत्र दृष्टान्तः धनुः स्नान्वेवेति । यथा धनुः कार्मुकं स्नान्ना स्नायुनिर्मितया मौर्व्या संनह्यन्ति । यथा मौर्वी-

संनद्धं कार्मुकं जयकारि भवति एवं मां कृतायपरंपरया जयिनं कुरुतेत्यर्थः ॥

(इस ऋचासे खेलनेके साधन अक्षोंकी विजयके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—चीरिणी गौकी समान फलवती द्यूतक्रियाको दीजिये अर्थात् जिस प्रकार द्यूतमें धनलाभ हो तैसा करिये, जैसे धनुष ताँतकी डोरोंसे बँधा हुआ होता है, इसी प्रकार आप मुझे कृतकी धारासे बाँधिये। अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यचा बँधा हुआ धनुष जय करने वाला होता है इसी प्रकार कृतायकी परम्परा से आप मुझको विजयी करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् । अधरात् । अघऽयोः ।
इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः । वरीयः । कृणोतु ॥ १ ॥

बृहस्पतिः बृहतां देवानां पाता हितकारित्वेन पालयिता एतन्नामा देवः नः अस्मान् परि पातु परितः सर्वतो रक्षतु । सर्वत इत्युक्तम् कस्माद् इति तद् आह । पश्चात् प्रतीच्या दिशः । ❀ "पश्चात्" इति अस्तात्यर्थे निपातितः ❀ । उत अपि च उत्तरस्मात् ऊर्ध्वाल्लोकात् अधरात् अधस्तनाल्लोकात् अघायोः अघं

हिंसालक्षणं परेषाम् इच्छतीति अघायुः। ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच्। "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀। अभिजिघांसतः पुरुषात् परि पात्विति संबन्धः। तथा इन्द्रः पुरस्तात् प्राच्या दिशः उत अपि च मध्यतः मध्यात् प्रदेशात् नः अस्मान् परि पात्विति। सर्वाभ्यो दिग्भ्यो योऽघायुरागच्छति ततोस्मान् इन्द्राबृहस्पती परिपालयताम् इत्यर्थः। अपि च सखा सखिभूत इन्द्रः सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः स्तोतृभ्यः अस्मभ्यं वरीयः उरुतरं धनं कृणोतु करोतु॥

तृतीयं सूक्तम्। समाप्तश्चतुर्थोऽनुवाकः॥

बड़े २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवता पश्चिमकी ओरसे ऊपरकी ओरसे नीचेकी ओरसे और हिंसा-लक्षण अघको चाहने वाले अघायुकी ओरसे इस प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा करें। भगवान् इन्द्रदेव पूर्व-दिशासे और मध्यप्रदेशसे हमारी रक्षा करें। तात्पर्य यह है, कि-चाहे किसी ओरसे हमारा शत्रु आता हो, उससे इन्द्र और बृहस्पति देवता हमको बचावें। और सखाभूत इन्द्र अपने मित्र-रूप स्तोताओंके लिये हमसें बहुतसा धन करें॥ १॥

तृतीय सूक्त समाप्त (३६८)॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम कांडमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि। तत्र "संज्ञानं नः" इति आद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम्। तस्य शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः॥

तथा सौमनस्यकर्मणि "संज्ञानं नः" इति तृचेन उदकुम्भं सुराकुम्भं वा संपात्य अभिमन्त्र्य ग्रामं परिक्राम्य ग्राममध्ये निनयेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन तृचेन त्रिहायण्या वत्सतर्याः सुपक्वानि मांसानि संपात्य अभिमन्त्र्य भक्षयेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अन्नं सुरां मपां वा अनेन ऋचेन संपात्य अभिमन्त्र्य यथायोगं भक्षणं पानं वा कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "सं वो मनांसि [६. ६४] संज्ञानं नः [७. ५४] इति सांमनस्यानि । उदकुम्भं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुम्भम् । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां मपां संपातवत् करोति" इति [कौ० २. ३] ॥

उपनयने आचार्यो माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य "अमुत्रभूयात्" इति षडृचं जपेत् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आ यातु मित्रः [३. ८] अमुत्रभूयात्" [७. ५५] इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" इति [न०क०१७] विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ "अमुत्रभूयात्" इति आवपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चात् [७. ५३] अमुत्रभूयात् [७. ५५] इति बार्हस्पत्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

पुष्ट्यर्थे आग्रहायणीकर्मणि अग्निसमीपात् शातकृच्यिते "उद्वयम्" इति उत्क्रामेत् । "उदायुषा [३. ३१. १०] इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् [७. ५५. ७] इत्युत्क्रामति" इति हि [कौ० ३. ७] सूत्रम् ॥

अन्नप्राशनकर्मणि भूमौ उपवेशितं बालम् "उद्वयम्" इत्यनया आदित्यं प्रदर्शयेत् ॥

तथा सोमयागे अवभृथस्नानानन्तरम् "[उद्वयम्]" इत्यनया जलाद् उत्क्रामेत् । "संमोक्षति । अपां सूक्तैरित्यानुपस्पर्शनान्तम् । उद्वयम् इत्युत्क्रामति" इति वैताने सूत्रितम् [वै० ३. १४] ॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् "ऋचं साम" इत्यनया

आज्यं जुहुयात् । "ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति" इति हि [कौ० ५. ६] सूत्रम् ॥

पाँचवें अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें 'संज्ञानं नः' प्रथम सूक्तका बृहद्गणमें पाठ है । इसका शान्त्युदकाभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है ।

तथा सांमनस्यकर्ममें 'संज्ञानं नः' इस द्व्यृचसे जलपूर्ण कलश वा सुरापूर्ण कलशका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके ग्राममें घुमा कर ग्राम मध्यमें लेजावे ।

तथा इसी कर्ममें इस ऋचसे त्रिवर्षा वत्सतरीके शुक्त्य मांसों का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे ।

तथा इसी कर्ममें अन्न सुरा वा मपाको इस ऋचसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके यथायोग्य पान वा भक्षण करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'सं वो मनांसि' (६ । ६४) संज्ञानं नः (७ । ५४) इति सांमनस्यानि उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति । एवं सुराकुलिजं । त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्त्यानि पिशितान्याशयति । भक्तं सुरां मपां सम्पातवत् करोति ।" (कौशिकसूत्र २ । ३) ॥

उपनयनके समय-आचार्य माणवककी नाभिका स्पर्श करके 'अमुत्र भूयात्' आदिक छः ऋचाओंको जपे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति । आयातु मित्रः (३ । ८) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा 'बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य-राज्य श्री और ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे' इस नक्षत्र-कल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्तिमें 'अमुत्र भूयात्' को पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-'बृह-

स्पतिर्नः परिपातु पश्चात् (७। ५३) अमुत्र भूयात् (७ । ५५) इति बार्हस्पत्यायाम्' (नक्षत्रकल्प १८) ॥

पुष्टिके लिये किये जाने वाले आग्रहायणी कर्ममें अग्निके समीपसे प्रातःकाल उठते समय 'उद्वयम्' से उत्क्रमण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ का प्रमाण भी है, कि–'उदायुषा (३ । २१ । १०) इत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयम् (७ । ५५ । ७) इत्युत्क्रामति' ॥

अन्नप्राशनकर्ममें भूमिमें बैठाये हुए बालकको 'उद्वयम्' ऋचा से सूर्यदेवका दर्शन करावे।

तथा सोमयागमें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'उद्वयम्' ऋचासे जलसे उत्क्रमण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि–"सम्प्रोक्षति । अपां सूक्तैरित्युदकस्पर्शनान्तम् । उद्वयं इत्युत्क्रामति" ॥

अध्यापकोंके द्रव्य एकत्रित करनेके विघ्नको शांत करनेके लिये "ऋचं साम" इस ऋचासे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"ऋचं सामेत्यनुमवचनीयस्य जुहोति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥१॥

सम्ऽज्ञानम् । नः । स्वेभिः । सम्ऽज्ञानम् । अरणेभिः ।

सम्ऽज्ञानम् । अश्विना । युवम् । इह । अस्मासु । नि । यच्छतम् १

स्वेभिः स्वकीयैः पुरुषैः नः अस्माकं संज्ञानम् संगतं ज्ञानम् ऐकमत्यम् । भवत्विति शेषः । तथा अरणेभिः अरणैः अरमणैः अनु-

कृतम् अवदद्भिः। ❀ रणतिः शब्दार्थः ❀। प्रतिकूलैः पुरुषैः। यद्वा। ❀ अर्तेः अरणशब्दः ❀। अरातिभिः सह संज्ञानम् समानज्ञानं भवतु। ❀ स्वेभिः अरणेभिः इत्युभयत्र "बहुलं छन्दसि" इति भिस ऐसोऽभावः। "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वम् ❀। हे अश्विना अश्विनौ युवम् युवाम् इह अस्मिन् विषये इह इदानीं वा अस्मासु संज्ञानम् समानज्ञानं स्वीयैः परैश्च सह ऐकमत्यं नि यच्छतम् नियमयतम्। स्थापयतम् इत्यर्थः॥

अपने पुरुषोंमें हमारा एकमत होवे। और जो हमारे अनुकूल भाषण नहीं करते हैं, वे भी हमारे साथ अनुकूल मत रक्खें, हे अश्विनीकुमारो! आप दोनों इस विषयमें अपने और पराये दोनों प्रकारके पुरुषोंके साथ एकमतको स्थापित करिये॥ १॥

द्वितीया॥

सं जा॑नाम॒हे मन॑सा॒ सं चि॑कि॒त्वा मा यु॑ष्महि॒ मन॑सा॒ दैव्ये॑न।

मा घोषा॒ उत् स्थु॑र्बहु॒ले वि॒नि॒र्ह॑ते॒ मेषुः॑ पप्त॒दिन्द्र॒स्याह॒न्याग॑ते॥ २॥

सम्। जा॒ना॒म॒हे॒। मन॑सा। सम्। चि॒कि॒त्वा। मा। यु॒ष्म॒हि॒। मन॑सा। दैव्ये॑न।

मा। घोषाः॑। उत्। स्थुः॒। ब॒हु॒ले। वि॒ऽनि॑र्ह॑ते। मा। इषुः॑। प॒प्त॒त्। इन्द्र॑स्य। अह॑नि। आऽग॑ते॥ २॥

मनसा अन्यदीयेन सं जानामहै समानज्ञाना भवाम। यद्वा मनः कर्म। परकीयं मनः संयोजयामः। यथा अस्मद्विषयेऽनुकूलं भवति तथा कुर्म इत्यर्थः। ❀ "संमतिभ्याम् अनाध्याने" इति

जानातेरात्मनेपदम्। "संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि" इति मनसस्तृतीया ❀। चिकित्वा ज्ञात्वा। सम्। उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः। संगतकार्यकारिणो भवाम। यद्वा पूर्वं मनसा संगतिरुक्ता। इदानीं निश्चयात्मकज्ञानेन संगतिः प्रार्थ्यते। चिकित्वा चिकित्वना। ज्ञानेनेत्यर्थः। सं जानामहै इत्यनुषङ्गः। स्वेषां परेषां च मनसा ज्ञानेन च संगता भवामेत्यर्थः। ❀ चिकित्वेति। कित ज्ञाने। "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति क्त्वाप्रत्ययः। छान्दसं द्विर्वचनम्। "एकाचः०" इति इण्निषेधः। यद्वा "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" इति क्वनिपि पूर्ववद् द्विर्वचनम्। तृतीयाया डादेशः ❀। किं च दैव्येन देवसंबन्धिना देवताविषयेण। ❀ "देवाद् यञञौ" इति यञ् प्रत्ययः ❀। तादृशेन मनसा मा युष्महि मा वियुक्ता भूम। प्रतिकूलजनितविक्षेपराहित्येन स्वकीयं मनः सर्वदा देवताविषयं भवत्वित्यर्थः। ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः। "माङि लुङ्"। सिच्। "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति गुणाभावः ❀। अपि च बहुले अधिके विनिर्हते। ❀ हृ कौटिल्ये। "हृ ह्वरेश्छन्दसि" इति निष्ठायां हृ इत्यादेशः ❀। कौटिल्ये निमित्ते घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः शब्दाः मा उत्स्थुः उत्थिता मा भूवन्। यद्वा बहुलशब्देन तमो विवक्ष्यते। विनिर्हते विशेषेण स्तैन्यादिकौटिल्यनिमित्ते बहुले तमसि। रात्रावित्यर्थः। घोषाः वैमनस्यनिबन्धनाः शब्दा उत्थिता मा भूवन्। ❀ उत्पूर्वात् तिष्ठतेः "माङि लुङ्"। वचनस्य ऊर्ध्वकर्मत्वं विवक्षित्वा आत्मनेपदाभावः ❀। तथा अहनि अह्नि वासरे आगते च इन्द्रस्य इषुः। ऐन्द्र्या वाचः शत्रुनिवारकत्वाद् इषुत्वेन रूपणम्। "वाग् अस्यैन्द्री सपत्नक्षयणी" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ६. २. २]। यद्वा इन्द्रस्य इषुः अशनिः अशनिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् मा पप्तत् अस्मासु मा पततु। अहोरात्रोपलक्षितेषु सर्वेषु दिवसेष्वपि वैमनस्यनिब-

न्वनाः परेषां वाचः अस्मासु मा पतन्तु किं तु अनुकूला एव भवन्तु इत्यर्थः ॥

हम अपने मनसे दूसरेके मनको संयुक्त करें अर्थात् उसका मन जिस प्रकार हमारे विषयमें अनुकूल होवे, तैसा करते हैं। किसी बातको जानने पर हम मिलकर कार्य करने वाले होवें और देवसंबन्धी मनसे हम वियुक्त न होवें, अर्थात् प्रतिकूल विषयसे उत्पन्न हुए विक्षेपकी शून्यताके कारण हमारा मन सदा देवताओंके विषयमें रमण करता रहे। और बड़ीभारी कुटिलता के कारण मनको उच्चाटित करने वाले घोष न होवें दिन आदि के आने पर इन्द्रकी अशनिरूपा वाणी हम पर न गिरे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

अमुत्रऽभूयात्। अधि। यत्। यमस्य। बृहस्पते। अभिऽशस्तेः। अमुञ्चः।

प्रति। औहताम्। अश्विना। मृत्युम्। अस्मत्। देवानाम्। अग्ने। भिषजा। शचीभिः ॥ १ ॥

हे बृहस्पते। ❀ संबुद्धौ सोर्लोपाभावश्छान्दसः ❀। बृहतां महतां देवानां पते हविःप्रदानेन पालयितरग्ने अमुत्रभूयात् परलोके भवनम् अमुत्रभूयम्। ❀"भुवो भावे" इति भावे क्यप् प्रत्ययः❀। परलोकभवनरूपाद् यमस्य पितृपतेः संबन्धिनः अभिशस्तेः अभिशंसनाद् मरणहेतोः यत् यस्मात् अमुञ्चः मोचयसि इमं माणवकम्

इति शेषः। अधिशब्दः अनर्थकः। यद्वा। ❀ अमुत्रभूयाद् इति ल्यब्लोपे पञ्चमी ❀। परलोकभवनम् अभिलक्ष्य क्रियमाणाद् यमकर्तृकाद् अभिशंसनाद् मोचयसि तस्मात् कारणात् हे अग्ने त्वयि एवं कुर्वाणे त्वत्प्रसादादेव देवानां भिषजा भिषजौ वैद्यौ अश्विना अश्विनौ शचीभिः क्रियाभिः अस्मत् अस्मत्तः अस्मदीयात्। माणवकाद् इत्यर्थः। मृत्युम् मरणकारणं मत्यौहताम्। निवारयताम् इत्यर्थः। ❀ अमुत्रः औहताम् इत्युभयत्र छान्दसो लुक् ❀॥

हे हवि प्रदान करके बड़े २ देवताओंका पालन करनेवाले अग्ने! आप परलोकभवनरूप यमके सम्बन्धी मरणहेतुक अभिशंसनसे इस बालकको बचा सकते हैं, इस कारण हे अग्ने! आपके प्रसादसे देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार क्रियाओंके द्वारा इस बालकसे मृत्युके कारणोंको दूर करें॥ १॥

चतुर्थी॥

सं क्रा॑मतं॒ मा ज॑हीतं॒ शरी॑रं प्राणापा॒नौ ते॑ स॒युजा॑-

विह॒ स्ता॑म्।

श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानो॒ऽग्निष्टे॑ गो॒पा अ॑धि॒पा व॒सि॑ष्ठः॥२

सम्। क्रा॒म॒त॒म्। मा। ज॒ही॒त॒म्। शरी॑रम्। प्रा॒णा॒पा॒नौ। ते॒।

स॒ऽयुजौ॑। इ॒ह। स्ता॒म्।

श॒तम्। जी॒व॒। श॒रदः॑। वर्ध॑मानः। अ॒ग्निः। ते॒। गो॒पाः। अ॒धि॒ऽपाः।

वसि॑ष्ठः॥ २॥

हे प्राणापानौ सं क्रामतम् आयुष्कामस्य शरीरे संक्रान्तौ भवतम्। तथा शरीरम् आयुष्कामस्य देहं मा जहीतम् मा त्यजतम्।

सर्वदा शरीरे तिष्ठतम् इत्यर्थः। ❀ ओहाक् त्यागे। लोटि "ईह-ल्यघोः" इति ईत्वम् ❀॥ प्राणापानौ संबोध्य तयोः शरीरेऽवस्थानं संप्रार्थ्य आयुष्कामं प्रत्याह उत्तरेण पादत्रयेण। हे आयुष्काम ते तव इह अस्मिन् शरीरे प्राणापानौ प्राणितीति प्राणः नासिका-विवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः। अपानितीति अपानः हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः। तौ सयुजौ संयुक्तौ परस्परसंयुक्तौ स्ताम् भवताम्। यावन्तं कालं प्राणापानौ परस्परसंबद्धौ देहे वर्तेते तावन्तम् आयुर्भवतीति तयोः साहित्यं प्रार्थितम्। अनन्तरम् हे आयुष्काम शतं शरदः शतवर्षपर्यन्तं जीव प्राणान् धारय। तथा जीवतस्ते तव वर्धमानः हविरादिना समृद्धिं गच्छन् अग्निः गोपाः गोपायिता भवतु। ❀ गुपू रक्षणे। क्विपि "गुपूधूपविच्छि०" इति आयप्रत्ययः। "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः ❀। अधिपाः अधिकं पाता मदीयोयम् इति आदरातिशयेन अग्निः पाल-यिता भवतु। वसिष्ठः वासयितृतमश्चास्तु वसुमत्तमो वा भवतु। ❀ वासयितृशब्दाद् इष्ठनि "तुरिष्ठेमेयःसु" इति तृचो लोपः। वसुमच्छब्दाद् इष्ठनि मतोर्लुकि टेर्लोपः ❀॥

हे प्राण और आपनों! तुम इस आयुष्कामके शरीरमें संलग्न रहो, हे आयुष्काम! तेरे शरीरमें नासिका विवरमेंसे बाहर निक-लने वाला प्राण और हृदयके अधोभागमें चलने वाला अपान ये दोनों संयुक्त रहें। हे माणवक! फिर तू सौ वर्ष तक जीवन धारण कर। और तुझ जीवितसे हवि आदिके द्वारा बढ़ते हुए अग्निदेव तेरी रक्षा करें। और परमधनी अग्निदेव तेरे ऊपर पक्षपात कर तेरी दृढ़तासे रक्षा करने वाले हो जावें॥ २॥

पञ्चमी॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविं-ताम्।

अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ २ ॥

आयुः । यत् । ते । अतिऽहितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः । पुनः । आ । तौ । इताम् ।

अग्निः । तत् । आ । अहाः । निःऽऋतेः । उपऽस्थात् । तत् । आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥ २ ॥

हे आयुष्काम ते तव यद् आयुः जीवनं पराचैः पराङ्मुखम् अतिहितम् अतिक्रम्य गतम् । ❀ हि गतौ इत्यस्माद् निष्ठायां रूपं हितम् इति ❀ । यद्वा अतिहितम् अतिक्रम्य अन्यत्र निहितम् । मृत्युनेति शेषः । ❀ "दधातेर्हिः" इति निष्ठायां हिभावः ❀ । तद् आयुरिति उत्तरवाक्येन संबन्धः । आयुषः प्राणापानागमननिमित्तत्वाद् वाक्यमध्ये तयोरागमनं प्रार्थ्यते प्राणोपान इति । तौ वायू देहधारकौ पुनः एताम् आगच्छताम् । ❀ इण् गतौ । लोटि प्रथमपुरुषद्विवचने रूपम् ❀ । तद् आयुः अतिहितं जीवनम् अग्निः निर्ऋतेः निकृष्टगमनस्य मृत्योः उपस्थात् अन्तिकाद् आहाः आहार्षीत् आहरतु आनयतु । ❀ हरतेश्छान्दसो लुङ् । सिचि वृद्धिः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः । "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपः ❀ । तद् अग्निना आनीतम् आयुः हे आयुष्काम ते तव आत्मनि शरीरे पुनः आ वेशयामि मन्त्रसामर्थ्येन आस्थापयामि । ❀ विश प्रवेशने ❀ ॥

हे आयुष्काम ! तेरा जो जीवन पराङ्मुख होकरके मृत्युके द्वारा अन्तर्हित होने वाला था, उसको प्राण और अपान फिर

प्राप्त करावें और उस आयुको निकृष्ट गति वाली मृत्युके पाससे अग्निदेव ले आवें। हे आयुष्काम! उस अग्निसे लाई हुई तेरी आयुको मैं मन्त्रशक्तिसे पुनः स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो॑ऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ४

मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवऽहाय । परा । गात् ।

सप्तर्षिऽभ्यः । एनम् । परि । ददामि । ते । एनम् । स्वस्ति । जरसे । वहन्तु ॥ ४ ॥

इमम् आयुष्कामं प्राणः मा हासीत् मा त्यजतु । ❀ ओहाक् त्यागे । लुङि रूपम् ❀ । अपानः अवहाय अस्माच्छरीराद् निष्क्रम्य परित्यज्य वा मा परा गात् मैव परागच्छतु । ❀ अव-हायेति । जिहीतेर्जहातेर्वा ल्यपि रूपम् ❀ । सप्तर्षिभ्यः । ऋषि-शब्देन प्राणा उच्यन्ते। "के त ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः" इति वाजसनेयश्रुतेः [श० ब्रा० ६.१.१.१]। सप्तसंख्याकेभ्यः प्राणेभ्यः। "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" इति [तै० ब्रा० १.२.३.३] श्रुतेः। तेभ्यः एनम् आयुष्कामम् । ❀ "इदमोन्वादेशे०" एनादेशः ❀ । परि ददामि । रक्षार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामि । अथ ते सप्त प्राणा एनम् आयुष्कामं जरसे । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । जरार्थं स्वस्ति क्षेमेण वहन्तु प्रापयन्तु । जरापर्यन्तं स्थापयन्तु इत्यर्थः । ❀ जराया जरस् आदेशः ❀ । अत्र प्राणापानयोः शरीरे चिरकालम् अवस्थानं सर्वेन्द्रियाणां च प्राबल्यं बहुकालं प्रार्थितम् ॥

इस आयुष्कामको प्राण न त्यागे और अपान भी इसके शरीरको त्याग कर न जावे, मैं इस आयुष्कामको सप्त प्राणरूप ‡ सप्तर्षियोंके लिये रक्षा करनेके लिये समर्पित करता हूँ वे इसको बुढ़ापे तक कल्याणको प्राप्त करावें। (यहाँ प्राण और अपानके शरीरमें चिरकाल तक रहनेकी और सब इन्द्रियोंकी बहुत समय तक प्रबलताकी प्रार्थना की है) ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौऽइव । व्रजम् ।
अयम् । जरिम्णः । शेवऽधिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

आयुषः प्राणापानास्थाननिबन्धनत्वात् पुनःपुनः प्राणापानयोः शरीरे प्रवेशः प्रार्थ्यते। हे प्राणापानौ प्रविशतम् आयुष्कामस्य शरीरम् । प्रवेशमात्रे दृष्टान्तः । अनड्वाहौ अनोवहनशक्तौ बलीवर्दौ यथा व्रजम् गोष्ठं प्रविशतः तद्वत् । [अयम्] आयुष्कामः जरिम्णः जरायाः शेवधिः निधिर्भवतु । ❀ शेवं सुखं धीयतेऽत्रेति "कर्मण्यधिकरणे च" इति धोः किप्रत्ययः ❀ । किं

‡ यहाँ ऋषि शब्दसे प्राणोंका ग्रहण किया गया है, क्योंकि-शतपथब्राह्मण ६ । १ । १ । १ श्रुतिमें कहा है, कि-'के त ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः ।-वे ऋषि कौनसे हैं, प्राण ही वे ऋषि हैं । और तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ की श्रुतिमें कहा है, कि-'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः ।-सात मुख्य प्राण हैं' ।

च अरिष्टः अहिंसितः मृत्युबाधारहितः सर्वेन्द्रियैरहीनो वा इह अस्मिन् लोके वर्धताम् समृद्धो भवतु ॥

(आयु प्राण और अपानके अवस्थानके निमित्तवश ही रह सकती है, अत एव प्राण और अपानके शरीरमें प्रवेश करनेकी वारम्वार प्रार्थना की जाती है) हे प्राण और अपान ! जैसे गाड़ीको खेंचने वाले बैल गोठमें प्रवेश करते हैं, तिसी प्रकार तुम आयु चाहने वालेके शरीरमें प्रवेश करो । यह आयुष्काम बुढ़ापे की निधि हो अर्थात् बुढ़ापे तक रहे । और यह मृत्युकी बाधासे रहित रह कर इस लोकमें समृद्ध होवे ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

आ ते॑ प्रा॒णं सु॑वामसि॒ परा॒ यक्ष्मं॑ सुवामि ते ।

आयु॑र्नो॑ वि॒श्वतो॑ दध॒द॒यम॒ग्निर्वरे॑ण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते॒ । प्रा॒णम् । सु॒वा॒म॒सि॒ । परा॑ । यक्ष्म॑म् । सु॒वा॒मि॒ । ते॒ ।

आयुः॑ । नः॒ । वि॒श्वतः॑ । द॒ध॒त् । अ॒यम् । अ॒ग्निः । वरे॑ण्यः ॥६॥

हे आयुष्काम ते तव प्राणम् आ सुवामसि आगमयामः । ❀ षू प्रेरणे । तौदादिकः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ तथा ते तव यक्ष्मम् आयुःप्रतिबन्धकं रोगं मृत्युं वा परा सुवामि पराङ्मुखं प्रेरयामि ॥ किं च वरेण्यः वरणीयः संभजनीयः अयं हूयमानः अग्निः नः अस्मदीयस्य आयुष्कामस्य आयुः शतसंवत्सरपरिमितं जीवनं विश्वतः सर्वतः दधत् विदधातु । करोत्वित्यर्थः । ❀ दधातेर्लेटि "घोर्लोपो लेटि वा" इति लोपः । "लेटोऽडाटौ" इति अडागमः ॥

हे आयुष्काम ! हम तेरे प्राणोंको लाते हैं तथा तेरी आयुके प्रतिबन्धक यक्ष्मारोगको पराङ्मुख करके भेजते हैं और यह

आहूयमान वरणीय अग्निदेव हमारे इस आयुष्कामकी सब प्रकार सौ वर्ष तककी आयु करें ॥ ६ ॥

नवमी ॥

उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

उत् । वयम् । तमसः । परि । रोहन्तः । नाकम् । उत्ऽतमम् ।
देवम् । देवऽत्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्ऽतमम् ॥ ७ ॥

तमसः । "पाप्मा वै तमः" इति हि श्रुतिः [तै० सं० ५. १. ८. ६] । पाप्मनः परि उपरि वयम् उत्क्रान्ताः । ❀ उदुपसर्गः ससाधनां क्रियाम् आह । "पञ्चम्याः परावध्यर्थे" इति सकारः ❀। किं कुर्वन्तः । उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं स्वर्गं रोहन्तः आरोहन्तः । ततश्च देवत्रा देवेषु । ❀ "देवमनुष्य०" इति सप्तम्यर्थे त्रा प्रत्ययः ❀ । उत्तमम् उद्गततमं ज्योतिः ज्योतीरूपं द्योतमानं सूर्यं देवम् अगन्म गच्छेम । ❀ गमेर्लिङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "म्वोश्च" इति मकारस्य नकारः ❀ ॥

हम स्वर्गमें चढ़ते हुए पापके पार होगए हैं, और हम देवताओंमें उत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यदेवको प्राप्त होरहे हैं ॥ ७ ॥

दशमी ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।
एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् ऋग्वेदं साम सामवेदम् अधीतं यजामहे हविषा पूजयामः। याभ्याम् ऋक्सामाभ्यां कर्माणि यज्ञरूपाणि कुर्वते ऋत्विग्यजमानाः। एते ऋक्सामे सदसि सीदन्त्यत्रेति सदः एतन्नामके मण्डपे राजतः दीप्येते। ऋक्सामयोस्तत्रैव प्रयोगात्। तथा देवेषु यज्ञं यच्छतः प्रयच्छतः। स्तुतशस्त्राभ्यां यज्ञनिष्पत्तेः॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हम पढ़े हुए ऋग्वेद और यजुर्वेदकी हविसे पूजा करते हैं इन ऋक् और सामसे हम ऋत्विज और यजमान यज्ञरूप कर्मोंको करते हैं। ये ऋक् और साम सदःनामक मण्डपमें दमकते रहते हैं और यही देवताओंको यज्ञकी प्राप्ति कराते हैं॥ १॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१७१)॥

अध्यापकानाम् अर्थार्जनविघ्नशमनार्थम् "ऋचं साम यद् अप्राक्षम्" इति ऋचा केवलया "ऋचं साम यजामहे" इतिपूर्वमन्त्रसहितया च आज्यं जुहुयात्। "ऋचं सामेत्यनुप्रश्नस्नीयस्य जुहोति। युक्ताभ्यां तृतीयाम्" इति हि [कौ० ५. ६] सूत्रितम्॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्मणि "ये ते पन्थानः" इत्येनाम् ऋचं जपन् प्रथमं दक्षिणपादप्रक्षेपपुरःसरं गच्छेत्॥

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्मणि असंख्याताः शर्करास्तृणानि वा अनया अभिमन्त्र्य गृहक्षेत्रादिषु प्रक्षिपेद् इन्द्रम् उपतिष्ठेत वा॥

सूत्रितं हि। "स्वस्तिदाः [१. २१] ये ते पन्थानः [७. ५७. २] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति। असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते" इति [कौ० ७. १]॥

वृश्चिकमशकपिपीलिकाशर्कोटकादिविषभैषज्यार्थं "तिरश्चिराजेः" इत्यष्टर्चेन मधुकम् अभिमन्त्र्य वृश्चिकादिदष्टं पाययेत्॥

तथा तत्रैव कर्मणि क्षेत्रमृत्तिकां वल्मीकमृत्तिकां वा सजीवपशुचर्मावेष्टिताम् अनेन अष्टर्चेन संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। केवलां मृत्तिकाम् अभिमन्त्र्य उदकेन पाययेत्॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनैव उदपात्रं हरिद्रामिश्रम् आज्यं वा संपात्य अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

सूत्रितं हि । "तिरश्चिराजेरिति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिवेष्ट्य । पायनानि" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा उपाकर्मणि "अरसस्य शर्कोटस्य" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । अरसस्य शर्कोटस्य [७. ५८. ५] इन्द्रस्य प्रथमो रथः" [१०. ४] इति हि सूत्रितम् [कौ० १४. ३] ॥

अध्यापकोंके अर्थार्जनके विघ्नको शांत करनेके लिये "ऋचं साम यद् अप्राक्षम्" केवल इस ऋचासे और "ऋचं साम यजामहे" पूर्व ऋचा सहित ऋचासे भी घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ५ । ६ का प्रमाण भी है, कि–"ऋचं सामेत्यनुप्रवचनीयस्य जुहोति । युक्ताभ्यां तृतीयाम्" ॥

मार्गस्वस्त्ययनकर्ममें 'ये ते पन्थानः' इस ऋचाका जप करता हुआ पहि दाहिने पैरको रख कर चले ।

तथा सर्वस्वस्त्ययनकर्ममें असंख्य धूलिकण और तिनकोंको इस ऋचासे अभिमन्त्रित करके घर खेत आदिमें फैंके । वा इन्द्र का उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि— "स्वस्तिदाः (१ । २१) ये ते पन्थानः (७ । ५७ । २) इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामति । असंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७ । १) ॥

बीछू मच्छर चीटीं शर्कोटक आदिके विषकी चिकित्साके लिये "तिरश्चः तिराजेः" इस अष्टर्चसे मधुघाको अभिमन्त्रित करके बीछू आदिके काटे हुएको पिला देवे ॥

तथा तहाँ ही कर्ममें खेतकी मट्टीको वा चमईकी मटीको-सजीव पशुके चाममें लपेट कर इस अष्टर्चसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे, केवल मट्टीको अभिमन्त्रित करके जलके साथ पिलादेय

तथा इसी कर्ममें इससे जलपूर्ण पात्रका वा हल्दी मिले हुए घीका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पिला देय ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"तिरश्चिराजेति मन्त्रोक्तम् । आकृतिलोष्ठवल्मीकौ परिवेष्ट्य । पायनानि" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा उपाकर्ममें "अरसस्य शर्कोटस्य" ऋचासे घृतकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र १४ । २ का प्रमाण भी है, कि–"अरसस्य शर्कोटस्य" (७।५८।५) इन्द्रस्य प्रथमो रथः (१०।४)" ॥

तत्र प्रथमा ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यत् । अप्राक्षम् । हविः । ओजः । यजुः । बलम् ।
एषः । मा । तस्मात् । मा । हिंसीत् । वेदः । पृष्टः । शचीऽपते १

ऋचम् ऋग्वेदं हविः अप्राक्षम् पृच्छामि स्म । साम सामवेदम् ओजः । शरीरधारकोष्टमो धातुरोज इत्युच्यते । तद् अप्राक्षम् । यजुः यजुर्वेदं बलम् बाह्यं वीर्यम् अप्राक्षम् । ऋचा याज्यारूपया हविर्हूयत इति ऋग्वेदं प्रति हविःप्रश्नः । माध्यन्दिनसवने गीयमानानां पृष्ठस्तोत्राणां यज्ञमाणस्त्वेन ताण्डकब्राह्मणे संस्तवात् सामवेदं प्रति आन्तरबलरूपौजःप्रश्नः । यजुषा यज्ञशरीरनिर्वृत्तेर्यजुर्वेदं प्रति बलप्रश्नः । ❀ "अकथितं च" इति ऋगादेः कर्मता । अप्राक्षम् इति । पृच्छतेलुङि "एकाचः०" इति इण्निषेधे "वदव्रज०" इति हलन्तलक्षणा वृद्धिः ❀ । यच्छब्दो हेत्वर्थे । यत् यस्मात् ऋगादीन् प्रति हविरादिकम् अप्राक्षं तस्मात् कारणात् तत्पदसाधारणधर्मप्रश्नाद् धेतोः हे शचीपते इन्द्राणीपते इन्द्र ।

वाग्व्याकरणकर्तृत्वाद् इन्द्रः संबोध्यते । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ताम् इन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३.] । हे वागनुशासनकर्तः इन्द्र पृष्टः इत्थं विचारित एषः मया सम्यग् अधीतो वेदः ऋक्साम-यजुरात्मकः मा माम् अध्यापकं मा हिंसीत् मा हिनस्तु । अध्या-पननिबन्धनं प्रत्यवायं मा करोतु अपि तु फलम् अभिमतं प्रयच्छ-त्वित्यर्थः ॥

मैंने ऋग्वेदसे हविको बूझा है, सामवेदसे शरीरधारक अष्टम-धातु ओजको बूझा है और यजुर्वेदसे बलको बूझा है (ताण्डक-ब्राह्मणमें माध्यन्दिनसवनमें गाये जाने वाले पृष्ठ और स्तोत्रोंको यज्ञका प्राण कहा है अत एव सामवेदसे आन्तर बलरूप ओज को बूझा है और यजुर्वेदसे यज्ञशरीरकी निष्पत्ति होती है अत एव यजुर्वेदसे बलके समझनेका वर्णन किया है) क्योंकि-मैंने ऋक् आदिसे हवि आदिको बूझ लिया है इस तत्तदसाधारण-धर्मप्रश्नके कारण हे शचीपते इन्द्र ! + इस प्रकार पढ़ा हुआ वेद मुझ अध्यापककी हिंसा न करे अर्थात् अध्यापनविषयक प्रत्यवायको न करे किंतु अभिमत फलको देवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते॒ पन्था॒नोव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।

तेभि॑ः सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ २ ॥

+ वाणीके व्याकरणका कर्ता होनेसे यहाँ इन्द्रदेवको सम्बोधित किया है । इसका प्रमाण तैत्तिरीयसंहिता ६ । ४ । ७ । ३ में है, कि-"ताम् इन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते । इन्द्रने इसको मध्यसे पकड़ कर प्रकट किया, इस लिये यह व्याकृत वाणी कहलाती है" ।

ये । ते । पन्थानः । अव । दिवः । येभिः । विश्वम् । ऐरयः ।

तेभिः । सुम्नऽया । आ । धेहि । नः । वसो इति ॥ २ ॥

हे वसो वासयितः वसुमन् वसुमद वा इन्द्र ते ये तव पन्थानः मार्गा दिवः द्युलोकस्य अव अवस्ताद् अधोदेशे वर्तन्ते येभिः पथिभिः विश्वम् जगद् ऐरयः प्रेरयसि स्वस्वकर्मसु । ❀ ईर गतौ । छान्दसो लङ् ❀ । तेभिः तैर्विश्वप्रेरणसाधनैर्मार्गैः नः अस्मान् सुम्नया । ❀ सप्तम्या याजादेशः ❀ । सुम्ने सुखे आ धेहि स्थापय ।

हे धनप्रद इन्द्र ! आपके जो मार्ग द्युलोकके अधोदेशमें हैं, कि-जिनसे आप जगत्को अपने २ कर्मोंमें प्रेरित करते रहते हैं, उन विश्वप्रेरणसाधनमार्गोंसे हमको सुखमें स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिऽराजेः । असितात् । पृदाकोः । परि । सम्ऽभृतम् ।

तत् । कङ्कऽपर्वणः । विषम् । इयम् । वीरुत् । अनीनशत् ॥ १ ॥

तिरश्चिराजेः तिरश्च्यः तिर्यग्भूता राजयो रेखा यस्य स तिरश्चिराजिः सर्पविशेषः । ❀ तिरःशब्दोपपदाद् अञ्चतेः क्विन्नन्ताद् "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीपि "अचः" इति अकारलोपः । पुंवद्भावाभावश्छान्दसः । "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" इति ङीपो ह्रस्वत्वम् ❀ । तिरश्चीननानारेखोपेतात् सर्पविशेषात् असितात् सितः श्वेतः न सितः असितः तस्मात् कालोरगात् पृदाकोः । ❀ पर्द कुत्सिते शब्दे । "पर्देः संप्रसारणं च" इति [उ० ३.८०] आकुप्रत्ययः । तत्संनियोगेन संप्रसारणम् ❀ । पर्दयति कुत्सितं

शब्दयति स्वेन दष्टान् प्राणिन इति पृदाकुः सर्पविशेषः। तस्मात्। ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। तिरश्चिराजिप्रभृतेः सर्पविशेषात् सम्भृतम् संपादितं विषम्। तथा कङ्कपर्वणः एतन्नामकाद् दंशकविशेषात् संभृतं तद् विषम् इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् विशेषेण रोहन्ती मधुकाख्या ओषधिः अनीनशत् नाशयतु॥

जिसमें तिरछी रेखायें पड़ी हुई हैं, ऐसे सर्पसे, काले सर्पसे, अपने काटे हुए प्राणीको पदाने वाले पृदाकु सर्पसे भरे हुए विषको और कंकपर्वा नामक काटने वाले प्राणीसे भरे हुए विषको यह मधुक नाम वाली ओषधि नष्ट करे॥ १॥

चतुर्थी॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः।
सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी॥ २॥

इयम्। वीरुत्। मधुऽजाता। मधुऽश्चुत्। मधुला। मधूः।
सा। विऽहुतस्य। भेषजी। अथो इति। मशकऽजम्भनी॥२॥

इयं प्रयुज्यमाना वीरुत् ओषधिः मधुजाता मधुनो निष्पन्ना अत एव मधुश्च्युत् मधुरं रसं श्च्योतति क्षरतीति मधुश्च्युत् मधुररसस्राविणी मधुला मधुमती। ❀ "सिध्मादिभ्यश्च" इति लो मत्वर्थीयः ❀। मधूः नामतः। सा एतत्संज्ञा उक्तविषगुणोपेता मधुकाख्या ओषधिः विहुतस्य विशेषेण कौटिल्यकारिणो विषस्य भेषजी प्रतिकर्त्री। ❀ हृ कौटिल्ये। "हृ ह्वरेश्छन्दसि" इति निष्ठायां हु इत्यादेशः ❀। अथो अपि च मशकजम्भनी। ❀ जभतिर्हिंसाकर्मा ❀। मशकानां दंशकानां हिंसित्री॥

यह प्रयोगकी जाती हुई ओषधि मधुसे निष्पन्न हुई है अत एव मधुर रसको बहाती है, मधुमयी है, और मधु नाम वाली है

और यह औषधि कुटिलता करने वाले विषकी औषधि है तथा काटने वाले माखियोंका हिंसन करने वाली है॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यतो॑ द॒ष्टं यतो॑ धी॒तं तत॒स्ते॑ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । द॒ष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । नि । ह्व॒या॒म॒सि॒ ।
अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्र॒ऽदं॒शिनः॑ । म॒शक॑स्य । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

विषदष्टं संबोध्य उच्यते । यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । यस्मिन् प्रदेशे दष्टम् । सर्पादिनेति शेषः । ❀ भावे निष्ठा ❀ । तथा यतः यस्मिन् प्रदेशे धीतम् पीतं सर्पादिना । ❀ धेट् पाने । भावे निष्ठा । "घुमास्था०" इति ईत्वम् ❀ । हे सर्पदष्ट पुरुष ते तव ततः तस्माद् अवयवाद् निर्ह्वयामसि विषं निर्गमयामः । ❀ अय वय पय मय चय तय गतौ । अन्तर्भावितण्यर्थः । तथा त्रिप्रदंशिनः त्रिभिस् मुखपुच्छपादरूपैरङ्गैः प्रकर्षेण दशतीति त्रिप्रदंशी । ❀ "बहुलम् आभीक्ष्ण्ये" इति दंशेर्णिनिः ❀ मुखपुच्छाभ्यां पादेन च दष्टवतः अर्भस्य अर्भकस्य अल्पस्य अल्पसामर्थ्यस्य वा मशकस्य विषम् अरसम् निर्वीर्यम् ।

शृङ्गारादौ रसे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।

इति-वचनाद् रसशब्दो वीर्यवाची । निर्वीर्यं निर्ह्वयामसीति संबन्धः । विषं मूर्च्छनादिविकारानुत्पादकं कुर्म इत्यर्थः ॥

(हे विषदष्ट) तेरे जिस अंगमें सर्प आदिने काट लिया है तथा जिस देशमें सर्प आदिने पीलिया है, हे सर्पदष्ट पुरुष ! तेरे उस अंगसे हम विषको निकालते हैं, तथा मुख पूँछ और पैर इन तीन अंगोंसे काटने वाले त्रिप्रदंशी अल्पवीर्य मच्छरके विष

को हम निर्वीर्य करते हैं अर्थात् उसके विषको मूर्च्छा आदि विकारोंको न कर सकने वाला करते हैं ॥ ३ ॥

षष्ठी ॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अयम् । यः । वक्रः । विऽपरुः । विऽअङ्गः । मुखानि । वक्रा ।
वृजिना । कृणोषि ।
तानि । त्वम् । ब्रह्मणः । पते । इषीकाम्ऽइव । सम् । नमः ४

योयं सर्पादिना दष्टः पुरुषः वक्रः कुटिलावयवः संकोचितावयवः विपरुः । परुः पर्वः । विश्लिष्टपर्वा विगतसंधि व्यङ्गः विवशावयवः । एवंभूतः सन् मुखानि । आदिशब्दाध्याहारः । मुखादीनि अङ्गानि । मुखगतावयवापेक्षया वा बहुवचनम् । वक्रा वक्राणि कुटिलानि अतएव वृजिना वृजिनानि कष्टानि अनवस्थितानि । अङ्गानां यथासंनिवेशम् अनवस्थानाद् वृजिनत्वम् । तथाविधानि कृणोषि । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । कृणोति करोति हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो मन्त्रस्य पालक विषनिर्हरणमन्त्रसामर्थ्यमद एतन्नामक देव त्वं तानि दष्टपुरुषसंबन्धीनि वक्रत्वाद्यवस्थापन्नानि अङ्गानि सं नमः संनमय ऋजूकुरु । तत्र दृष्टान्तः इषीकामिवेति । यथा इषीकाम् पूर्वम् ऋजुं दीर्घां बलात् कौटिल्यं मापितां पश्चात् कौटिल्यपरिहारेण सहजम् आर्जवं मापयन्ति तद्वत् । एवं सर्पादिविषेण कौटिल्यं गतं विषनिर्हरणेन यथावस्थितम् ऋजुं कुर्वित्यर्थः । ❀ नमेः अन्तर्णीतण्यर्थात् पञ्चमलकारे अडागमः ❀ ॥

यह जो पुरुष सर्प आदिके काटनेसे अपने अंगोंको सकोड़ रहा

है और इसके जोड़ ढीले पड़ रहे हैं और यह जो मुख आदि अंगों को कुटिल और अनवस्थित कर रहा है। हे विषको दूर करनेकी मन्त्रशक्तिको देने वाले ब्रह्मणस्पते देव ! आप डसे हुए पुरुषके टेढ़े हुए अंगोंको इस प्रकार सरल कर दीजिये; कि जिस प्रकार पहिले सीधी लम्बी सींकको बलपूर्वक नमा लेते हैं फिर उसको सीधी कर देते हैं, इसी प्रकार सर्प आदिके विषसे कुटिलताको प्राप्त हुए इसको विष हटा कर ऋजु (सरल) करिये ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उपऽसर्पतः ।
विषम् । हि । अस्य । आऽअदिषि । अथो इति । एनम् । अजीजभम् ॥५

अरसस्य निर्वीर्यस्य विषसामर्थ्यरहितस्य नीचीनस्य न्यग्भूतस्य अवाङ्मुखस्य उपसर्पतः समीपं गच्छतः अस्य शर्कोटस्य एतन्नामधेयस्य सर्पविशेषस्य विषम् आदिषि खण्डितवान् अस्मि। हिः अवधारणे। विषम् अनीनशमेव। ॐ दो। अवखण्डने। अस्मात् लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "स्थाघ्वोरिच्च" इति धातोः इत्वम् । सिचः कित्वम् ॐ ॥ अथो अपि च एनं विषिणं शर्कोटम् अजीजभम् अनीनशम् । शर्कोटनामकं सर्पं तद्विषं च मन्त्रसामर्थ्येन अहं मयोक्ता अहिंसिषम् इत्यर्थः ॥

विषशक्तिविहीन नीचेको मुख करके समीपमें चलते हुए इस शर्कोटक नामक सर्पके विषको मैंने नष्ट कर दिया है और इस विष वाले सर्पको भी मैंने नष्ट कर दिया है। तात्पर्य यह है, कि मुझ मन्त्रप्रयोक्ताने शर्कोटक नामक सर्पको और उसके विषको भी मन्त्रशक्तिसे नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः ।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥

न । ते । बाह्वोः । बलम् । अस्ति । न । शीर्षे । न । उत । मध्यतः ।
अथ । किम् । पापया । अमुया । पुच्छे । बिभर्षि । अर्भकम् ॥६॥

अत्र पुच्छेन दंशी वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक ते तव बाह्वोः हस्तयोः बलं परपीडाकारि सामर्थ्यं नास्ति । तथा शीर्षे शिरसि बलं नास्ति । उत अपि च मध्यतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । मध्ये मध्यावयवे बलं नास्ति । अथेति प्रश्ने । अमुया अनया । ❀ अदःशब्दात् तृतीयैकवचने "अदसोसेर्दादु दो मः" इति उत्वः मत्वे ❀ । पापया पापिष्ठया परपीडाकारिण्या बुद्ध्या अर्भकम् । ❀ अर्तेः औणादिके भन्प्रत्यये अर्भः । सः अल्पार्थवाची । तस्माद् "अल्पे च" इति अल्पार्थे कन् प्रत्ययः ❀ । अत्यल्पं विषं पुच्छे किं बिभर्षि किमर्थं धारयसि । बाह्वादिस्थानेषु विषं नास्ति । पुच्छेपि वर्तमानम् अत्यल्पमेव । तदपि परपीडार्थं वहसि । तेनापि परपीडा न भवतीत्यर्थः ॥

(अब पूँछसे डसने वाले बिच्छूको सम्बोधित करके कहते हैं, कि–) हे वृश्चिक ! तेरी भुजाओंमें दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने वाला बल नहीं है और तेरे शिर तथा मध्यमें भी दूसरोंको पीड़ा देने वाला बल नहीं है, फिर तू दूसरोंको कष्ट पहुँचाने वाली बुद्धिवश स्वल्पसे विषको पूँछमें क्या लिये फिरता है ? अर्थात् तू जिस को पीड़ा पहुँचानेके लिये पूँछमें लिये फिरता है उससे दूसरेको पीड़ा नहीं होसकती ॥ ६ ॥

नवमी ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः ।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

अदन्ति । त्वा । पिपीलिकाः । वि । वृश्चन्ति । मयूर्यः ।
सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

अत्र पूर्वार्धे सर्पः संबोध्यते । उत्तरार्धे विषनिर्हरणक्षमाः संबोध्यन्ते । हे सर्प त्वा त्वां पिपीलिका अदन्ति भक्षयन्ति । मयूर्यः मयूरस्त्रियः । ❀ "जातेरस्त्रीविषयाद् अयोपधात्" इति ङीष् ❀ । वि वृश्चन्ति विशेषेण छिन्दन्ति सर्पम् । ❀ ओव्रश्चू छेदने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥ हे सर्वे सर्पविषनिर्हरणक्षमा यूयं शार्कोटम् । शर्कोटो नाम सर्पविशेषः । तस्य संबन्धि । ❀ "तस्येदम्" इति अण् ❀ । विषम् अरसम् निर्वीर्यं भलब्रवाथ साधु ब्रूत । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु । अस्मात् पचाद्यचि भल इति भवति । स साध्वर्थवाची । क्रियाविशेषणम् एतत् । सह इति योगविभागात् । तिङन्तेन समासः । ब्रूनेः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति आडागमः ❀ ॥

हे सर्प ! तुझको चींटियें खा डालती हैं और मोरनियें टुकड़े टुकड़े उड़ा देती हैं । हे सर्पविषको दूर करनेमें समर्थ औषधियो ! तुम शर्कोटकके विषको निर्वीर्य कहो ॥ ७ ॥

दशमी ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः । उभाभ्याम् । प्रऽहरसि । पुच्छेन । च । आस्येन । च ।

आस्ये । न । ते । विषम् । किम् । ऊं इति । ते । पुच्छऽधौ । असत् ॥ ८ ॥

अत्र वृश्चिकः संबोध्यते । हे वृश्चिक यस्त्वं पुच्छेन आस्येन उभाभ्याम् । ॐ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ॐ । ताभ्यां प्रहरसि अन्यान् बाधसे तथापि आस्यपुच्छयोर्मध्ये ते तव आस्ये मुखे विषं न । अस्तीति शेषः । ते तव पुच्छधौ । पुच्छं धीयतेत्रेति पुच्छधिः । पुच्छशब्देन तद्गतरोमाणि विवक्ष्यन्ते । पुच्छधिशब्देन रोमवान् अवयवः । उशब्दः अप्यर्थे । तत्र पुच्छेपि किम् असत् विषं किं स्यात् । न भवेद् इत्यर्थः । अतो मुखपुच्छयोर्विषाभावाद् वृश्चिको न बाधत इत्यर्थः । ॐ अस्तेर्लेटि अडागमः ॐ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वृश्चिक ! तू पूँछ और मुख दोनोंसे प्रहार करता है तथापि मुख और पूँछ इन दोनोंमेंसे तेरे मुखमें विष नहीं है, फिर तेरी पूँछमें भी क्या थोड़ासा विष होगा ? ॥ ८ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१७३) ॥

याचकानाम् अभिलषितार्थप्राप्तये "यद् आशसा" इति द्वाभ्यां सरूपवत्साया गोर्दुग्धेन शृतं पायसं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् । "यं याचामि [४. ७. ५.] यद् आशसा [७. ५६] इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि" इति हि सूत्रितम् [कौ० ५. १०] ॥

उक्थ्यक्रतौ मैत्रावरुणयाज्याहोमानुमन्त्रणम् 'इन्द्रावरुणा सुतपौ' इत्यनया कुर्यात् । उक्तं वैताने । "एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ [७. ६०] बृहस्पतिर्नः [७. ५३] उभा जिग्यथुः" [७. ४५] इति [वै० ४. १] ॥

अभिचारकर्मणि "यो नः शपात्" इत्यनया अशनिहतवृक्ष-समिध आदध्यात् ॥

याचकोंके अभिलषित अर्थकी प्राप्तिके लिये 'यद् आशसा' इन दोसे सरूपवत्सा गौके दूधमें बने पायसको सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यं याचामि (५।७।५) यद् आशसा (७।५६) इति याचिष्यन् मन्त्रोक्तानि" (कौशिकसूत्र ५।१०)॥

'इन्द्रावरुणा सुतपौ' इस ऋचासे उक्थ्यक्रतुमें मैत्रावरुणयाज्या-होमका अनुमन्त्रण करे॥ इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"एतेषां याज्याहोमान् इन्द्रावरुणा सुतपौ (७।६०) बृहस्पतिर्नः (७।५३) उभा जिग्यथुः (७।४५) इति (वैतान-सूत्र ४।१)॥

अभिचारकर्ममें "यो नः शपात्" इस ऋचासे अशनिसे मारे हुए वृक्षकी समिधाओंको रक्खे॥

तत्र प्रथमा॥

यदा॒शसा॒ वद॑तो मे विचुक्षु॒भे यद् याच॑मानस्य॒ चर॑तो॒ जनाँ॒ अनु॑।

यदा॒त्मनि॑ त॒न्वो॑ मे॒ विरि॑ष्टं॒ सर॑स्वती॒ तदा पृ॑णद् घृ॒तेन॑॥

यत्। आ॒ऽशसा॑। वद॑तः। मे॒। वि॒ऽचु॒क्षु॒भे। यत्। याच॑मानस्य।

चर॑तः। जना॑न्। अनु॑।

यत्। आ॒त्मनि॑। त॒न्वः॑। मे॒। विऽरि॑ष्टम्। सर॑स्वती। तत्। आ।

पृ॒ण॒त्। घृ॒तेन॑॥ १॥

वदतः याचितुं दातृन् व्यक्तं भाषमाणस्य मे मम यद् अङ्गम् आशसा। ॐ शसु हिंसायाम्। संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ॐ। आशसनेन दातृभिः कृतेन याच्ञाप्रतिघातेन भर्त्सनप्रहरणादिरूपेण

हिंसनेन वा विचुक्षुभे विशेषेण क्षुभितं याच्यमानवस्त्वलाभेन विक्षिप्तम् आसीत् तथा याचमानस्य। ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेत्वर्थे शानच् प्रत्ययः ❀। याचनाद्धेतोः जनान् दातॄन् अनु अनुलक्ष्य। ❀ "अनुर्लक्षणे" इति [अनुः] कर्मप्रवचनीयः ❀। वीप्सार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः। जनान्जनान् चरतः गच्छतः परिभ्राम्यतो मम यद् अङ्गं विचुक्षुभे इष्टफलप्राप्त्यभावेन पर्याकुलम् आसीत् मे मम तन्वः शरीरस्य विरिष्टम्। ❀ रिषेर्हिंसार्थान्निष्ठा ❀। विशेषेण बाधितं क्लिष्टं तत् अङ्गम् आत्मानि मय्येव क्षोभरहितं सरस्वती। स्थापयत्विति शेषः। यद्वा आत्मशब्दः स्वभाववाची। याञ्चायाः पूर्वं यथा क्षोभरहितं तथा स्वभावे स्थापयतु। न केवलं क्षोभराहित्यम् अपि तु सरस्वती वाग्देवता तद् अङ्गं घृतेन घृतवत्सारभूतेन फलेन आ पृणत् आपूरयतु। ❀ पृण प्रीणने। लेटि आडागमः ❀॥

याचना करनेके लिये दाताओंसे स्पष्टतासे भाषण करने वाले मेरा जो अंग याञ्चाके प्रतिघातसे वा भर्त्सन प्रहरण आदि हिंसा से विक्षिप्त होरहा है अर्थात् प्रार्थित वस्तुके न मिलनेसे विक्षिप्त हो गया है। और याचनाके कारण प्रत्येक मनुष्यके पास घूमते हुए मेरा जो अंग इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अभाववश व्याकुल होरहा है, मेरे शरीरके उस विशेषरूपसे बाधित अंगको सरस्वती देवी स्वाभाविक दशामें ही स्थापित करे। वह केवल क्षोभरहित ही न करे, किंतु वाग्देवता सरस्वती उस अंगको घृतकी समान सारभूत फलसे पूर्ण करे॥ १॥

द्वितीया॥

स॒प्त क्ष॑रन्ति॒ शिश॑वे म॒रुत्व॑ते पि॒त्रे पु॒त्रासो॒ अप्य॑वी-

वृत॒न्नृ॒तानि॑॥

उभे इदंस्योभे अंस्य राजत उभे यतेते उभे अंस्य

पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । स्रवन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि ।

अवीवृतन् । ऋतानि ।

उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य । राजतः । उभे इति ।

यतेते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः ॥ २ ॥

मरुत्वते मरुद्भिर्युक्ताय शिशवे अपां पुत्रभूताय वरुणाय सप्त नद्यः स्रवन्ति स्रवन्ति । "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः" इति हि दाशतय्याम् आम्नायते [ऋ० ८. ६९. १२]। "अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः" इति मन्त्रान्तरम् [तै० सं० १. ८. १२. १]। यद्वा मरुत्वत्पदसामर्थ्याद् इन्द्र उच्यते । मरुत्वते मरुद्भिस्तद्वते शिशवे । ❀ शो तनूकरणे इत्यस्माद् उत्पन्नः शिशुशब्दः ❀ । शत्रूणां शातयित्रे इन्द्राय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । तस्याज्ञया सप्त सर्पणशीलाः स्रवणशीलाः सप्तसंख्याका वा नद्यः स्रवन्ति प्रवहन्ति । तथा च दाशतय्यां नदीवाक्यत्वेन अयं मन्त्र आम्नायते ।

इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोनयत् सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

इति [ऋ० सं० ३. ३३. ६]॥ किं च पित्रे । पितृशब्देन द्युलोक उच्यते । "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५] मन्त्रवर्णात् । द्युलोकस्थिताय इन्द्राय इन्द्रप्रमुखाय देवगणाय वा । ❀ तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ❀ । पुत्रासः । ❀ पुत्रः पुरु त्रायते इति निरुक्तम् [नि० २. ११] ❀ । हविःप्रदानादिना पोषकाः पुत्रभूता वा मनुष्याः । अपिशब्दः चार्थे ।

ऋतानि सत्यभूतानि यज्ञादिरूपाणि कर्माणि अवीवृतन् वर्तयन्ति अनुतिष्ठन्ति । ❀ वर्ततेर्ण्यन्तात् लुङि चङि "उर्ऋत्" इति ऋकारादेशः ❀ ॥ उभे द्विवचनसामर्थ्याद् द्यावापृथिव्यावुच्येते । इत् अवधारणे । ते एव अस्य पितृपुत्रशब्दव्यवहृतस्य देवमनुष्यात्मकस्य संघस्य । निवासस्थाने भवत इति शेषः । तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य देवमनुष्यसंघस्य राजतः ईश्वर्यौ भवतः । ❀ राजतिः ऐश्वर्यकर्मा ❀ । तेषाम् आश्रयत्वेन तयोः स्वामित्वम् । उभे द्यावापृथिव्यौ यतेते प्रयत्नं कुरुतः देवमनुष्यार्थम् । ❀ यती प्रयत्ने ❀ । तथा उभे द्यावापृथिव्यौ अस्य । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । इमं देवमनुष्यसंघं पुष्यतः अन्नोदकैः पोषयतः । "भूमिं पर्जन्याः जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" इति [ऋ० १. १६४. ५१] श्रुत्यन्तरात् । द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिङ्गाद् यावत्काभिलषितप्राप्तौ अस्य मन्त्रस्य विनियोगोऽभिहितः ॥

मरुतोंसे युक्त जलोंके पुत्र रूप वरुणदेवके निमित्त सात नदियें बहती रहती हैं † । अथवा मरुतों सहित शातन करने वाले इन्द्रदेवकी आज्ञासे सात नदियें बहती रहती हैं । द्युलोकरूप ‡ पिता के लिये द्युलोकस्थित इन्द्रप्रमुख देवताओंके लिये हविःप्रदान आदि पोषण करने वाले पुत्रस्वरूप मनुष्य, यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । द्यावा और पृथिवी इस पिता पुत्र शब्दसे व्यवहृत देवमनुष्यसंघके ईश्वर हैं, और ये दोनों देवता और मनुष्यों के कल्याणके लिये यत्न करते रहते हैं तथा वे देवता और

† ऋग्वेदसंहिता ८ । ६६ । १२ में कहा है, कि—"सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिंधवः" तथा तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ । १२ । १ में कहा है, कि—"अपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः" ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ५ में कहा है, कि—"द्यौः पिता पृथिवी माता ।—द्यौः पिता है, पृथिवी माता है"

मनुष्योंको अन्न और जलसे पुष्ट करते रहते हैं ÷ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये

इन्द्रावरुणा । सुतऽपौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिबतम् । मद्यम् । धृतऽव्रतौ ।

युवोः । रथः । अध्वरः । देवऽवीतये । प्रति । स्वसरम् । उप । यातु । पीतये ॥ १ ॥

हे सुतपौ सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य पातारौ हे धृतव्रतौ विधृतकर्माणौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ मद्यम् मदार्हं मदकरं तृप्तिकरम् इमम् अस्मदीयं सुतम् अभिषुतं सोमं पिबतम् । तदर्थं युवोः युवयोः अध्वरः हिंसारहितः शत्रुभिरपराजितो रथः पीतये युवयोः सोमपीताय देववीतये देवकामाय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀। यजमानस्य स्वसरम् गृहं प्रति उप यातु समीपे आगच्छतु ॥

हे अभिषुत सोमका पान करने वाले, कर्मधारी इन्द्र और वरुण देवताओ ! मद करने वाले तृप्तिमद इस निचोड़े हुए सोम को पिओ । और इस लिये तुम्हारा अपराजित रथ तुम दोनोंको सोम पिलाने वाले देवकाम यजमानके घरके समीप ले आवे २

÷ ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५१ में कहा है, कि—"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ।—भूमिको मेघ तृप्त करते करते हैं और अग्नियें द्यौको तृप्त करती हैं ।" अत एव द्यावापृथिवीकर्तृकपोषणलिंगसे याचककी अभिलषितप्राप्तिमें इस मन्त्र का विनियोग कहा है ।

चतुर्थी ॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम्

इन्द्रावरुणा । मधुमत्ऽतमस्य । वृष्णः । सोमस्य । वृषणा । आ । वृषेथाम् ।

इदम् । वाम् । अन्धः । परिऽसिक्तम् । आऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयेथाम् ॥ २ ॥

हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षकौ हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ युवां मधुमत्तमस्य अतिशयेन माधुर्योपेतस्य वृष्णः वर्षितुः अभिमतस्य सेक्तुः सोमस्य । भागम् इति शेषः । सोमं वा आ वृषेथाम् । आश्नीतम् इत्यर्थः । "यथाभागम् आवृषायध्वमिति यथाभागम् अश्नीतेत्येवैतदाह" इति [श० ब्रा० २, ४. २. २०] वाजसनेयश्रुतेः । वाम् युवयोरर्थाय इदम् अन्धः अन्नं सोमलक्षणं परिषिक्तम् ग्रहचमसपात्रेषु अस्माभिः परितः सिक्तम् । अतः अस्मिन् स्तीर्णे बर्हिषि आसद्य उपविश्य मादयेथाम् सोमपानेन तृप्तौ भवतम् ॥

हे अभिमत फलकी वर्षा करनेवाले इन्द्र और वरुण देवताओ! तुम परम मधुरता भरे अभिमतफलवर्षी सोमके भागका भक्षण करो, तुम्हारे लिये यह सोमलक्षणरूप अन्न ग्रह चमस आदि पात्रोंमें सिक्त है, अतः इस फैले हुए कुशासन पर बैठ कर सोमपानसे तृप्त होओ ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।

वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।

वृक्षःऽइव । विऽद्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

यः शत्रुः अशपतः सनिन्दम् उपालम्भम् अकुर्वाणान् नः अस्मान् शपात् निन्दावाक्यैर्भर्त्सयेत् । यश्च शपतः परुषवाक्यप्रयोक्तॄन् नः अस्मान् शपात् पुनर्निन्देत् स शत्रुः विद्युता अशन्या हतः भस्मीकृतो वृक्ष इव स यथा मूलसहितः शुष्यति एवम् आ मूलात्-। ❀ अभिविधावाकारः ❀ । पितृपुत्रादिभिः सहितः अनु शुष्यतु अनुक्रमेण विनश्यतु । ❀ शुष शोषे । दिवादिः ❀ ॥

तृतीयं सूक्तम् ॥ [इति] सप्तमे काण्डे पञ्चमोऽनुवाकः ॥

जो शत्रु हम निन्दनीय उपालम्भ न देने वालोंको निन्दावाक्योंसे धमकावे और जो कठोर वाक्यका प्रयोग करने वाले हमारी पुनर्निन्दा करे वह शत्रु बिजलीसे मारे हुए वृक्षकी समान मूलसहित सूख जावे। पिता पुत्र आदिसहित अनुक्रमसे सूख जावे १

तृतीय सूक्त समाप्त (३०३)॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेऽनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र "ऊर्जं बिभ्रत्" इति आद्ये सूक्ते आदितः षड्ऋचं देशान्तराद् आगतः स्वगृहं दृष्ट्वा समिधो गृहीत्वा प्रजपन् स्वगृहम् आगत्य हस्तस्थाः समिधो वामेन हस्तेन धृत्वा वलीकतृणानि दक्षिणेन हस्तेन स्पृष्ट्वा षड्ऋचं जपित्वा गृहं प्रविश्य आहितेऽग्नौ अनेन षड्ऋचेन ताः समिधः पुष्टयर्थम् आदध्यात् । सूत्रितं हि । "ऊर्जं बिभ्रद् इति गृहसंकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । प्रतिव्रज्य समिध आधाय" इति [कौ० ३. ७] ॥

स्वगृहे वर्तमानानां सर्वेषां सांमनस्यार्थं च समिध आनीय

"ऊर्जं बिभ्रत्" इति सूक्तं जपित्वा ताः समिधः सकृद् आदध्यात्। तद् उक्तं संहिताविधौ। "समिध आदाय ऊर्जं बिभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति" इति [कौ० ५. ६]॥

तथा ऋण्याद्विसर्जनानन्तरं सर्वेपि एतत् सूक्तं जपन्तो यजमानगृहं प्रविशेयुः। "निःसालाम् [२. १४] इति शालानिवेशनं संप्रोक्ष्य ऊर्जं बिभ्रत् [७. ६२] इति प्रपादयति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ८. ४]॥

तथा अन्त्येष्टौ शवदहनानन्तरं संस्कर्ता "ऊर्जं बिभ्रत्" इति पट्टचं जपन् स्वकीयात् स्वगृहं प्रवेशयेत्॥

"इहैव स्त" इत्यनया प्रवासं करिष्यन् स्वकीयान् गृहान् पुत्रादींश्चावेक्षेत। 'इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते' इति [कौ० ३.७] सूत्रम्

आग्रहायण्यां "यद् अग्ने तपसा" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां क्षीरौदनपुरोडाशरसानाम् अन्यतमं संपात्य अभिमन्त्र्य मेधाकामः अश्नीयाद् अग्निम् उपतिष्ठेत वा। "यद् अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति अग्निं उपतिष्ठते" इति [कौ० २. १] सूत्रितत्वात्॥

तथा उपनयने अग्निकार्ये आभ्याम् ऋग्भ्याम् अग्निं परिसमूहेत्। "सं मा सिञ्चन्तु [७. ३४] इति त्रिः पर्युक्षति। यद् अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे [७. ६३] इति द्वाभ्यां परिसमूहति" इति [कौ० ७. ८]॥

आवसथ्याधाने "अयम् अग्निः" इत्येषा महाशान्तिगणे आवपनीया। "पिप्पलम् अग्निः शमयिष्यन्" इति प्रक्रम्य "अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] नक्षम् आ रोह [१२. २] इत्यनुवाकं महाशान्तिं च शान्त्युदक आवपति" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ६. १]॥

तथा अग्निचयने आतिच्छन्दसीष्टकानुमन्त्रणानन्तरम् अनया गार्हपत्ये चीयमानाम् इष्टकां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। तद् उक्तं वैताने।

"अग्निं होतारं मन्ये [१. १२७. १] इत्यतिच्छन्दसीः । गार्ह-पत्य उक्तम् । अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] येना सहस्रम्" [६. ५. १७] इति [वै० ५. २] ॥

छठे अनुवाकमें चार सूक्त हैं। इनमेंसे पहिले 'ऊर्जं बिभ्रत्' इस पहिले सूक्तकी पहिली छः ऋचाओंको देशान्तरसे आया हुआ पुरुष अपने घरको देख समिधाओंको ग्रहण कर जप करता हुआ अपने घरमें आवे फिर हाथकी समिधाओंको बायें हाथसे पकड़ कर बरौनीके तृणोंको दाहिने हाथसे छू छः ऋचाओंको जप घरमें प्रवेश कर आहित अग्निमें इस षडृचसे उन समिधाओं को पुष्टिके लिये रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ऊर्जं बिभ्रद् इति गृहसकाशे जपति । सव्येन समिधो दक्षिणेन शालावलीकं संस्तभ्य जपति । अतिव्रज्य समिध आधाय" (कौशिकसूत्र ३ । ७) ॥

अपने घरमें वर्तमान सबके सामनस्य (एकसे मन) के लिये भी समिधाओंको ला 'ऊर्जं बिभ्रत्' इस सूक्तको जपता हुआ उन समिधाओंको एक बार रक्खे । इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-"समिध आधाय ऊर्जं बिभ्रद् इति असंकल्पयन्नेत्य सकृद् आदधाति" (कौशिकसूत्र ४ । ६) ॥

तथा क्रव्याद्विसर्जनके अनन्तर सब ही इस सूक्तको जपते हुए यजमानके घरमें प्रवेश करें । इस विषयमें कौशिकसूत्र ६ । ४ का प्रमाण भी है, कि "निःसालां (२ । १४) इति शाला-निवेशनं सम्प्रोक्ष्य ऊर्जं बिभ्रत् (७ । ६२) इति प्रपादयति" ॥

तथा अन्त्येष्टिमें शवदहनके अनन्तर संस्कर्तापुरुष 'ऊर्जं बिभ्रत्' इन छः ऋचाओंको जपता हुआ अपने पुरुषोंको अपने घरमें प्रवेश करावे ॥

"इहैव स्तः" इस ऋचासे प्रवास करते समय अपने घर और

पुत्र स्त्री आदिको देखे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ३। ७ का प्रमाण है, कि-"इहैव स्तेति प्रवत्स्यन्नवेक्षते"॥

बुद्धिको चाहने वाला पुरुष आग्रहायणीमें 'यद्व अग्ने तपसा' इन दो ऋचाओंसे क्षीर ओदन पुरोडाश और रसमेंसे एकको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके खावे वा अग्निका उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र २। १ का प्रमाण भी है, कि-"यद्व अग्ने तपसेत्याग्रहायण्यां भक्षयति। अग्निम् उपतिष्ठते"।

तथा उपनयनके समय अग्निकार्यमें इन दोनों ऋचाओंसे अग्निका परिसमूहन करे॥ इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। ८ का प्रमाण भी है, कि-"सं मा सिञ्चन्तु (७। ३४) इति त्रिः पर्युक्षति। यद्व अग्ने तपसा तपः अग्ने तपस्तप्यामहे (७। ६३) इति द्वाभ्यां परिसमूहति"॥

आवसथ्याधानमें महाशान्तिगणके समय "अयम् अग्निः"को पढ़ना चाहिये। इस विषयमें कौशिकसूत्र ६। १ का प्रमाण भी है, कि-"पिठ्यं अग्निं शमयिष्यन्" इति प्रकृत्य "अयं अग्निः सत्पतिः (७। ६४) नलं आरोह (१२। २) इत्यनुवाकं महाशान्तिं च शान्त्युदकं आवपति"॥

तथा अग्निचयनमें आतिच्छन्दसीष्टकाके अनुमंत्रणके अनंतर इस ऋचासे गार्हपत्यमें चिनी जाती हुई ईंटका ब्रह्मा अनुमंत्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अग्निं होतारं मन्ये (१। १२७। १) इत्यातिच्छन्दसीः। गार्हपत्य उक्तम्। अयं अग्निः सत्पतिः (७।६४) येनासहस्रम् (६।५।१७)"। वैतानसूत्र (५। २)॥

तत्र प्रथमा॥

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।

गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥१॥

ऊर्जम् । बिभ्रत् । वसुऽवनिः । सुऽमेधाः । अघोरेण । चक्षुषा । मित्रियेण ।

गृहान् । आ । एमि । सुऽमनाः । वन्दमानः । रमध्वम् । मा । बिभीत । मत् ॥

ऊर्जम् अन्नं बिभ्रत् धारयन् वसुवनिः अन्नादिसाधनस्य वसुनो धनस्य संभक्ता । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति वनतेः कर्मोपपदाद् इन् प्रत्ययः ❀ । सुमेधाः शोभनमेधायुक्तः ।❀"नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् समासान्तः ❀ । अघोरेण अभयकरेण न केवलम् अप्रतिकूलेन किं तु मित्रियेण मित्रं सुहृत् तदर्हेण अनुकूलेन स्निग्धेन चक्षुषा । पश्यन्निति शेषः । सुमनाः शोभनमनस्कः धनादिसाहित्येन प्राप्तसौमनस्यः वन्दमानः स्तुवन् गृहान् ऐमि आगच्छामि । ❀ "गृहाः पुंसि च" इति वचनाद् गृहशब्दः पुंलिङ्गो बहुवचनान्तश्च ❀ । हे गृहाः यूयं रमध्वम् क्रीडत सुखिनः स्यात । मयाधिपतिनेति शेषः । अतः मत् मत्तः । ❀ "पञ्चम्या अत्" इति अत् आदेशः ❀ । देशान्तराद् आगच्छतो मत्तः मा बिभीत अन्यो गृहस्वामी सन् अस्मान् प्रविशतीति भयं मा प्राप्नुत । ❀ "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति मत् इत्यत्र अपादानसंज्ञायां पञ्चमी ❀ ॥

अन्नको धारण किये हुए, अन्न आदिके साधन धनका संभक्ता, सुन्दर बुद्धि वाला, मैं अभयंकर मित्रभाव भरे स्नेहमय नेत्रसे देखता हुआ और धन आदि सामग्रीसे मनमें प्रसन्न होता हुआ और स्तुति करता हुआ घरोंको आरहा हूँ । हे घरो ! तुम मुझ अधिपतिसे क्रीड़ा करो, सुखी होओ । मुझ देशान्तरसे

आने वाले पुरुषसे न डरो अर्थात् दूसरा गृहस्वामी बनता हुआ इसमें प्रवेश कर रहा है, यह भय मत करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

इमे । गृहाः । मयःऽभुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः ।
पूर्णाः । वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आऽयतः ॥२॥

मयोभुवः । मय इति सुखनाम । सुखस्य भावयितारः ऊर्जस्वन्तः अन्नरसवन्तः पयस्वन्तः क्षीरादिसमृद्धाः वामेन वननीयेन धनेन पूर्णाः संपूर्णाः समृद्धास्तिष्ठन्तः ते इमे पुरतो दृश्यमाना अस्मदीया गृहाः आयतः प्रवासाद् आगच्छतो नः अस्मान् जानन्तु स्वामित्वेन अवबुध्यन्ताम् । ❀ आयत इति । आङ्पूर्वाद् एतेः शतरि "इणो यण्" इति यण् ❀ ॥

सुख देने वाले, अन्नरस वाले, क्षीर आदिसे समृद्ध ये हमारे घर प्रवाससे आते हुए हमको स्वामी ही समझें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधिऽएति । प्रऽवसन् । येषु । सौमनसः । बहुः ।
गृहान् । उप । ह्वयामहे । ते । नः । जानन्तु । आऽयतः ॥ ३ ॥

प्रवसन् प्रवासं कुर्वन् देशान्तरे वसन् पुरुषो येषाम् यान् गृहान्

अध्येति स्मरति । ❀ इक् स्मरणे । "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति येषाम् इत्यत्र षष्ठी ❀ । येषु गृहेषु सौमनसः सौमनस्यवान् बहुः अधिकः पदार्थो वर्तते । ❀ सुमनःशब्दाद् भावे अण् द्रष्टव्यः । सौमनसम् अस्यास्तीति अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययो मत्वर्थीयः । सुमनसोऽयम् इति वा । "तस्येदम्" इति अण् ❀ । तान् गृहान् उक्तविशेषणान् उप ह्वयामहे प्राप्तुं प्रार्थयामहे । अनुज्ञास्वीकाराय यत् प्रार्थनं तद् उपहव इत्युच्यते । ❀ "निसमुपविभ्यो ह्वः" इति आत्मनेपदम् ❀ । ते नो जानन्त्वायत इति पादो व्याख्यातः ॥

देशान्तरमें बसता हुआ मनुष्य जिन गृहोंका स्मरण करता है और जिन घरोंमें बहुतसे सुन्दर पदार्थ हैं उन घरोंको प्राप्त होनेकी हम प्रार्थना करते हैं, वे घर प्रवाससे आते हुए हमको अपना स्वामी समझें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उप॑हूता भूरि॑धनाः सखा॑यः स्वादुसं॑मुदः ।
अ॒क्षु॒ध्या अ॑तृ॒ष्या स्त गृ॒हा मास्मद् बिभी॑तन ॥४॥

उप॑ऽहूताः । भूरि॑ऽधनाः । सखा॑यः । स्वादु॒ऽसं॑मुदः ।
अ॒क्षु॒ध्याः । अ॒तृ॒ष्याः । स्त । गृ॒हाः । मा । अ॒स्मत् । बिभी॒तन ४

हे गृहाः उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता यूयं भूरिधनाः प्रभूतधनोपेताः स्त भवत । सखायः समानख्याना मित्रभूता भवत । स्वादुसंमुदः स्वादुभिर्मधुरैः पदार्थैः संमोदमाना भवत । अक्षुध्याः क्षुधं बुभुक्षाम् अर्हन्तीति क्षुध्याः न क्षुध्या अक्षुध्याः । अतृष्याः तृषं पिपासाम् अर्हन्तीति तृष्याः न तृष्या [अतृष्या] क्षुत्तृष्णोपेतैर्जनैर्युक्ता मा भूत अपि तु धनादिसमृद्ध्या सर्वदा तृप्तैर्जनैर्युक्ता भवतेत्यर्थः । ❀ क्षुत्तृष्णाशब्दाभ्यां "तद् अर्हति" इत्यर्थे "छन्दसि

च" इति यप्रत्ययः । अस्तेर्लोटि मध्यमबहुवचने रूपं स्तेति ❀ । हे गृहाः अस्मत् अस्मत्तः देशान्तराद् आगच्छद्भयो मा बिभीतन भयं मा प्राप्नुत । ❀ ञिभी भये । लोटि तस्य तनादेशः ❀ ॥

हे घरो ! अनुज्ञाके लिये प्रार्थित तुम बहुतसे धनसे सम्पन्न होओ, मित्ररूप बनो और मधुर पदार्थोंसे सम्पन्न रहो, क्षुधा और तृष्णासे व्याकुल पुरुषोंसे व्याप्त न रहो किंतु तुममें रहने वाले धन आदिसे सम्पन्न और तृप्त रहें । हे गृहों ! परदेशसे लौटते हुए हमसे तुम डरो मत ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।

अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

उपऽहूताः । इह । गावः । उपऽहूताः । अजऽअवयः ।

अथो इति । अन्नस्य । कीलालः । उपऽहूतः । गृहेषु । नः ॥५॥

इह एषु अस्मदीयेषु गृहेषु गावः धेनव उपहूताः अनुज्ञार्थं प्रार्थिता भवन्तु । अजावयः अजाश्च अवयश्च उपहूताः सन्तु । अथो अपि च नः अस्माकं गृहेषु अन्नस्य कीलालः सारभूतोंशः उपहूतो भवतु । एतद् उपलक्षणम् । यद्यद् गृहे भोग्यं वर्तते तत् सर्वम् अनुज्ञायै प्रार्थितं भवत्वित्यर्थः ॥

इन हमारे घरोंमें धेनुएँ उपहूत हों, भेड़ बकरियें उपहूत हों और हमारे घरमें अन्नका सारभूत अंश उपहूत हो, तात्पर्य यह है, कि-जो २ उपभोग्य वस्तु है वह सब उपहूत हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥६॥

सूनृताऽवन्तः । सुऽभगाः । इराऽवन्तः । हसाऽमुदाः ।

अतृष्याः । अक्षुध्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ६

हे गृहा सूनृतावन्तः । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृतेत्युच्यते । तद्वन्तः स्त भवत । अरिष्टादिनिमित्तवाग्राहित्येन पुत्रमित्रादिसंपत्तिनिमित्तवाक्सहिता भवतेत्यर्थः । प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्दिवसे न ज्ञापनीयम् इत्याश्वलायनेनोक्तम् । "विदितमप्यशीर्के न तद् अहर्ज्ञापयेयुः" इति [आश्व० २. ५. १८] । सर्वदापि अरिष्टराहित्यम् अनेन पदेन प्रार्थ्यते । सुभगाः शोभनभाग्योपेता भवत । इरावन्तः इरा अन्नं तद्वन्तः स्त । हसामुदाः । ❀ हसे हसने । भावे क्विप् । तदन्तात् तृतीया हसेति । मोदतेः इगुपधलक्षणः कः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति बहुलग्रहणात् तृतीयाया अलुक् ❀ । हासेन मोदमानाः गृहस्थितानां हासेन तदीयः संतोषोभिव्यज्यते । हासाभिव्यक्तसंतोषा भवत । अतृष्या अक्षुध्या इत्यर्धर्चो व्याख्यातः ॥

हे घरो ! तुममें प्रिय और सत्य वाणियें बोली जावें अर्थात् अरिष्ट आदिकी निमित्त वाणीकी शून्यता वाले और पुत्र मित्र आदि सम्पत्तिनिमित्तक वाणीसे सम्पन्न होओ । शोभनभाग्य से सम्पन्न होओ, अन्नसे सम्पन्न होओ, घरमें, स्थित व्यक्तियों के हाससे प्रसन्नता भरे रहो, तुममें क्षुधा और तृषारहित पुरुष रहें और हे घरो ! तुम हमसे डरो मत ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।

ऐष्यांमि भद्रेणां सह भूयांसो भवता मयां ॥ ७ ॥

इह । एव । स्त । मा । अनु । गात । विश्वा । रूपाणि । पुष्यत ।

आ । एष्यामि । भद्रेण । सह । भूयांसः । भवत । मया ॥७॥

हे गृहाः इहैव अस्मिन् प्रदेश एव स्त भवत सुखिनो वर्तध्वम् । मा अनु गात प्रवसन्तं मां गृहस्वामिनं मानुगच्छत । ❀ एतेः "माङि लुङ्" । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀। विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि पुष्यत समृद्धानि कुरुत । भद्रेण भन्दनीयेन धनेन सह ऐष्यामि पुनरागमिष्यामि । ततः मया देशान्तरात् पुनरागतेन अर्जितधनेन भूयांसः अतिप्रभूता भवत । ❀ भद्रेणा सह भवता मया इत्यु-भयत्र छान्दसः सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे घरों ! तुम इस ही प्रदेशमें सुखी रहो, मुझ प्रवास करने वाले स्वामीके पीछे न जाओ, रूप वाली पुत्र आदि सम्पूर्ण वस्तुओंको पुष्ट करो । मैं कल्याणकारी धनके साथ फिर लौटूँगा तब तुम मेरे देशान्तरसे कमाये हुए धनसे अतिप्रभूत होना ॥७॥

अष्टमी ॥

यदंग्ने तपंसा तपं उपतप्यामंहे तपंः ।

प्रियाः श्रुतस्यं भूयास्मायुंष्मन्तः सुमेधसंः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उपऽतप्यामहे । तपः ।

प्रियाः । श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सुऽमेधसः ॥ १ ॥

हे अग्ने तपसा तव संबन्धिना पर्युक्षणपरिसमूहनसमिदा-धानादिरूपेण कर्मणा यत् तपो निर्वर्तयितव्यम् अस्ति तत् तपः

उप त्वत्समीपे तप्यामहे आर्जयामः । यद्वा तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपेण यत् तपः तपनं शरीरक्लेशनम् । "तपः क्लेशसहिष्णुत्वम्" इति हि तद्विदः । कृच्छ्रादिचरणेन यच्छरीरशोषणं तत् तप उपतप्यामहे । तव समीपे परिचरणेन आर्जयाम इत्यर्थः । यद्वा तपसा । ❀ तप पर्यालोचने इत्यस्माद् असुन् ❀ । पर्यालोचनेन देवताविषयज्ञानेन । "मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते" इति हि तद्विदः । ❀ सहार्थे तृतीया ❀ । तेन तपसा सहितं तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिरूपो नियमः । "शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति हि पातञ्जलं सूत्रम् [पा० सू० २. ३२] । तत् तपः हे अग्ने त्वत्समीपे परिचरणेन तप्यामहे आर्जयामः । ❀ "तपस्तपःकर्मकस्यैव" इति कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ❀ । तेन तपसा श्रुतस्य सम्यग् अधीतस्य वेदशास्त्रादेः प्रियाः प्रियतमाः सुहृदः निवासस्थानत्वेन प्रीणयितारः आयुष्मन्तः दीर्घकालजीविनः सुमेधसः शोभनधारणाशक्तिसहिता भूयास्म ॥

हे अग्ने ! आपके पर्युक्षण परिसमूहन समिदाधान आदिरूप कर्मसे जो कर्म सम्पन्न करना है उस कर्मको हम आपके समीप करते हैं अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण आदिरूप जो तप करना है उसको हम आपके समीप आपकी सेवा करते हुए करते हैं । उस तपके द्वारा हम भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिके प्रियतम और प्रसन्न करने वाले तथा दीर्घायु और शोभन धारणाशक्ति वाले होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तप॑ः ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मेध॑सः ॥ २ ॥

अग्ने । तपः । तप्यामहे । उप । तप्यामहे । तपः ।

श्रुतानि । शृण्वन्तः । वयम् । आयुष्मन्तः । सुऽमेधसः ॥ २ ॥

हे अग्ने तपस्तप्यामहे शरीरशोषणरूपं नियमम् आर्जयामः । किम् अन्यत्र । नेत्याह । उप तप्यामहे । तव समीप एव तादृशं तपः साधयाम इत्यर्थः । ❀ पूर्ववत् कर्मकर्तरि यगात्मनेपदे ❀ । तेन तपसा श्रुतानि सम्यग् अधीतानि वेदशास्त्रादीनि शृण्वन्तः । ❀ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ❀ । वेदशास्त्रश्रवणाद्धेतोः वयम् आयुष्मन्तः दीर्घकालजीवनवन्तः सुमेधसः समीचीनधारणाशक्तियुक्ताश्च । भूयास्मेति शेषः ॥

हे अग्ने ! हम आपके समीप ही शरीरशोषणरूप नियमको साधित करते हैं, उस तपके द्वारा भली प्रकार पढ़े हुए वेदशास्त्र आदिको सुनते हुए हम उस श्रवणके प्रभावसे आयुष्मान् और समीचीनधारणाशक्तिसे सम्पन्न होवें ॥ २ ॥

दशमी ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ १ ॥

अयम् । अग्निः । सत्ऽपतिः । वृद्धऽवृष्णः । रथीऽइव । पत्तीन् । अजयत् । पुरःऽहितः ।
नाभा । पृथिव्याम् । निऽहितः । दविद्युतत् । अधःऽपदम् । कृणुताम् । ये । पृतन्यवः ॥ १ ॥

सत्पतिः सतां महतां देवानां हविःप्रदानेन पालयिता सतो विद्यमानस्य स्थावरजङ्गमादेर्जगतः स्वामी वा वृद्धवृष्ण्यः वृष्णि भवं वृष्ण्यं बलं प्रवृद्धबलः पुरोहितः पुरतो होमार्थम् ऋत्विग्भिर्निहितः पुरोभाविहितकारी वा। अयं पुरोवर्ती अग्निः गार्हपत्यरूपः पत्नीम् पालयित्रीं प्रजाम्। पत्नीवत् पत्नी। पत्नीभूताम् इष्टकां वा अजयत् जयति स्वाधीनां करोति। तत्र दृष्टान्तः। रथी रथवान् पुरुषः पत्नीम् प्रजाम् अन्यदीयां स्वीयां वा नारीं यथा जयति स्वाधीनां करोति एवम् अग्निरिति। किं च पृथिव्याम् देवयजनलक्षणायां भूमौ तत्रापि नाभा नाभौ नाभिस्थानीयायाम् उत्तरवेद्याम्। "एषा उत्तरवेदीनाभिः" इति ऐतरेयश्रुतेः [ऐ० ब्रा० १. २८]। तत्र निहितः स्थापितः दविद्युतत् अत्यर्थं दीप्यमानः। ❀ द्योततेर्यङ्लुकि "दाधर्ति०" इति सूत्रे निपातनाद् रूपसिद्धिः ❀। तादृशोग्निः अधस्पदम् पादस्याधोदेशे कृणुताम् कुरुताम्। कान् इति तत्राह। ये पृतन्यवः पृतनां संग्रामम् इच्छवः शत्रवस्तान् मदीयपादस्याधोदेशे निधत्तादिति॥

[इति] षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

सत् अर्थात् बड़े २ देवताओंको हविःप्रदान कर उनका पालन करने वाले वा–स्थावर जंगमरूप विद्यमान जगत्के स्वामी, प्रवृद्ध बल वाले, होमके लिये ऋत्विजोंके द्वारा आगे रखे जाने वाले यह गार्हपत्य अग्निदेव पालन करने वाली प्रजाको वा पत्नीकी समान इष्टकाको स्वाधीन करते हैं, उसका उदाहरण यह है, कि– जैसे रथ वाला पुरुष प्रजाको वा अपनी या पराई स्त्रीको स्वाधीन कर सकता है इसी प्रकार यह अग्निदेव इष्टकाको स्वाधीन कर रहे हैं। और देवताओंके यजन करनेकी पृथ्वीकी नाभि-

स्थानीया उत्तरवेदीमें † स्थापित परमप्रदीप्त यह अग्निदेव मुझसे संग्राम करना चाहने वाले योधाओंको मेरे पैरके नीचे दबावें ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१७९) ॥

आवसथ्याधाने मथनार्थं यजमानः अरण्योः "पृतनाजितम्" इति ऋचा अग्निम् आह्वयेत् । "मूलत उत्तरारणिम् अपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति" इति हि [कौ० ६. १] सूत्रम् ॥

शरीरे काकाभिघातदोषशान्त्यर्थम् "इदं यत् कृष्णः" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् उदकम् अभिमन्त्र्य काकोपहतशरीरं प्रक्षालयेत् ॥

तथा काकावदंशनदोषशान्तये आभ्याम् ऋग्भ्याम् उल्मुकम् अभिमन्त्र्य काकावमृष्टं शरीरं परिभ्रामयेत् ॥

काकस्पर्शनदोषशान्त्यर्थं "श्यावदता" इति मन्त्रोक्तरोगशान्तये च "प्रतीचीनफलः" इति त्रिभिः अपामार्गसमिध आदध्यात् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "इदं यत् कृष्णः [७, ६६] कृष्णशकुनेनाधिक्षिप्तं प्रक्षालयति । अपमृष्टं पर्यग्नि करोति । प्रतीचीनफलः [७, ६७] इत्यपामार्गेध्म आपामार्गीरादधाति" इति [कौ० ५, १०] ॥

विवाहे कुमार्याः स्नापनानन्तरं "यद् दुष्कृतम्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अङ्गानि वाससा प्रमार्जयेत् । "यद् दुष्कृतम् इति वाससाङ्गानि प्रमृज्य" इति हि [कौ० १०, २] सूत्रम् ॥

"यदन्तरिक्षे" "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इति द्व्यृचस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । सूत्रितं हि । "यदन्तरिक्षे [७, ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७, ६९] शिवा नः" [७, ७१] इति [कौ० १.६] ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण १ । २८ में कहा है, कि—"यद् उत्तरवेदीनाभिः—जो उत्तरवेदी है वह नाभि है" ।

तथा "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इत्यनया प्रतिग्रहदोषशान्तये प्रतिग्राह्यं वस्त्वभिमन्त्र्य गृह्णीयात् ॥

तथा नित्यनैमित्तिककाम्येषु कर्मसु पाकयज्ञतन्त्रे च कर्मसमापनानन्तरं न्यूनातिरेकदोषशान्तये अनया आत्मानम् अनुमन्त्रयेत सूत्रितं हि । "यद् अन्नम् [६. ७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्वकर्मा । वशाया पाकयज्ञा व्याख्याताः" इति [कौ० ५. ९] ॥

तथा गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि वपनार्थम् अनया क्षुरं संमार्ज्य नापिताय प्रयच्छेत् । "पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति त्रिर्निमृज्य" इति हि [कौ० ७. ५] सूत्रम् ॥

सवयज्ञेषु "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इत्यनया इन्द्रियाणाम् अभिमर्शनम् अनुमन्त्रणं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "वाङ् म आसन्" [१९. ६०] इति "मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता [५. १०. ८] द्यौश्च [६. ५३] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७. ६९] इति प्रतिमन्त्रयते" इति [कौ० ८. ७] ॥

तथा ब्रह्मचारिणो दण्डभङ्गे अनया अन्यं दण्डम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारी गृह्णीयात् । "यद्यस्य दण्डो भिद्येत" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मैत्विन्द्रियम् इत्याददीत" इति [कौ० ७. ८] ॥

अग्निष्टोमे तृतीयसवने हौत्रादिधिष्ण्येषु विहृतान् अग्नीन् "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" इति ऋचा ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "विहृतान् अनुमन्त्रयते । उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः [६. ५३. २] पुनर्मैत्विन्द्रियम्" [७. ६९] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ८] ॥

आहिताग्नेः प्रेतसंस्कारे "ओ चित् सखायम्" इति काण्डजपानन्तरं सारस्वतहोमेषु "सरस्वति व्रतेषु" इति सूक्तेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि सारस्वतयागं "सरस्वति व्रतेषु" इति अनया अनुमन्त्रयेत। "सविता प्रसवानाम् [५. २४] सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] प्रपथे पथाम्" [७. १०] इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४]॥

तथा अन्वारम्भणीयेष्टौ सारस्वतचरुयागम् अनया अनुमन्त्रयेत। उक्तं वैताने। "सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु [७. ७०] यस्य व्रतम्" [७. ४१] इति [वै० २.४]॥

यजमान, आवसथ्याधानमें मथन करनेके लिये अरणीमें 'पृतनाजितम्' ऋचासे अग्निका आह्वान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ६। १ का प्रमाण भी है, कि—"मूलत उत्तरारणिं उपसंधाय पृतनाजितम् इत्याह्वयति" (कौशिकसूत्र ६। १)॥

शरीरके काकाभिघातदोषकी शान्तिके लिये "इदं यत् कृष्णः" इन दो ऋचाओंसे जलको अभिमन्त्रित करके काकोपहतशरीर को प्रक्षालित करे।

तथा काकके काटनेके दोषकी शान्तिके लिये इन दो ऋचाओं से उल्मुकको अभिमन्त्रित करके काकावमृष्ट शरीर पर घुमावे।

काकस्पर्शनदोषकी शान्तिके लिये "श्यावदता" इस मन्त्रमें कहे हुए रोगकी शान्तिके लिये "प्रतीचीनफलः" इन तीन ऋचाओंसे अपामार्ग (चिरचिटे) की समिधाओंको रक्खे।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"इदं यद् कृष्णः (७। ६६) इति कृष्णशकुने नाभिदिग्धं प्रक्षालयति। अपमृष्टं पर्यग्नि करोति। प्रतीचीनफलः (७। ६७) इत्यपामार्गेध्म आपामार्गीरादधाति" (कौशिकसूत्र (५। १०)॥

विवाहमें कुमारीको स्नान करानेके अनन्तर "यद् दुष्कृतं" इन दो ऋचाओंसे अंगोंको वस्त्रसे प्रमार्जित करे। इस विषयमें

कौशिकसूत्र १० । २ का प्रमाण भी है, कि–यद्द दुष्कृतं इति-वाससाङ्गानि प्रमृज्य" ॥

'यदन्तरिक्षे' 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' इन दो ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'यदन्तरिक्षे (७ । ६८) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) शिवा नः (७ । ७१) (कौशिकसूत्र १ । ९) ॥

तथा प्रतिग्रह-दोषकी शान्तिके लिये 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचासे प्रतिग्राह्य वस्तुको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे।

तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मोंमें तथा पाकयज्ञतन्त्रमें भी कर्म समाप्त करनेके अनन्तर न्यूनातिरेकदोषकी शांतिके लिये इस ऋचासे अपना अनुमन्त्रण करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'यद् अन्नम् (६।७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति प्रतिगृह्णाति । उत्तमा सर्वकर्मा । तथा पाकयज्ञा व्याख्याताः' (कौशिकसूत्र ५ । ९) ॥

तथा गोदान नाम वाले संस्कारकर्ममें वपन (मुण्डन) करनेके लिये इस ऋचासे क्षुरेको स्वच्छ करके नापितको देदेय। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ५ का प्रमाण भी है, कि–'पुनः प्राणः (६ । ५३ । २) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति त्रिर्निमृज्य ॥

सवयज्ञोंमें 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचासे इन्द्रियोंका अभिमर्शन और अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'वाङ्म आसन् (१९ । ६०) इति मन्त्रोक्तान्यभिमन्त्रयते बृहता (५ । १० । ८) द्यौश्च (६ । ५३) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) इति प्रतिमन्त्रयते' (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥

तथा ब्रह्मचारीका दण्ड भंग होने पर इस ऋचासे दूसरे दंडे

को अभिमंत्रित करके ब्रह्मचारी ग्रहण करे । 'पलाशस्य दण्डो भियेत' आदिका आरम्भ करके कौशिकसूत्र ८ । ७ में कहा है, कि—'शीर्णे भग्ने नष्टेऽन्यं कृत्वा पुनर्मैत्विन्द्रियम् इत्याददीत' ॥

अग्निष्टोमके तृतीयसवनमें होम आदि धिष्ण्योंमें विहृत अग्नियों का 'पुनर्मैत्विन्द्रियम्' ऋचासे ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'विहृतान् अनुमंत्रयते उत्तरयोः सवनयोः पुनः प्राणः (६ । ५३ । २) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७।६६)' वैतानसूत्र (३ । ८) ॥

आहिताग्निके प्रेतसंस्कारमें 'ओ चित् सखायम्' इस कांडका जप करनेके अनंतर सारस्वत होमोंमें "सरस्वति व्रतेषु" आदि दो ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय ।

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें सारस्वतयागका "सरस्वति व्रतेषु" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र २ । ४ का प्रमाण भी है, कि—'सविता प्रसवानाम् (५ । २४) सरस्वति व्रतेषु (७ । ७०) पमये पयाम् (७ । १०)" ॥

तथा अन्वारंभणीयेष्टिमें सारस्वतचरुयागका इस ऋचासे अनुमंत्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"सरस्वत्यै चरुं सरस्वते द्वादशकपालं सरस्वति व्रतेषु (७ । ७०) यस्य व्रतम् (७ । ४१)" । (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात् ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

पृतनाऽजितम् । सहमानम् । अग्निम् । उक्थैः । हवामहे । परमात् । सधऽस्थात् ।

सः । नः । पर्षत् । अति । दुःऽगानि । विश्वा । क्षामत् । देवः । अति । दुःऽइतानि । अग्निः ॥ १ ॥

पृतनाजितम् शत्रुसंग्रामजेतारं तदेवाह सहमानम् अभिभवन्तम् । ❀ षह अभिभवने इति नैरुक्तो धातुः ❀ । यद्वा । ❀ षह मर्षणे ❀ । देवतागणार्थं यजमानादिभिर्दीयमानं हविर्भारं तितिक्षमाणम् अग्निम् मथ्यमानं परमात् उत्कृष्टात् सधस्थात् सहस्थानाद् अरणिलक्षणात् । ❀ "सादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । सर्वस्माल्लोकात् उत्कृष्टाद् देवतानां सहनिवासस्थानाद् द्युलोकाद् वा उक्थैर्वक्तव्यैः स्तोत्रैः हवामहे आह्वयामः । ❀ ह्वयतेः "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❀ । स आहूतोऽग्निः नः अस्माकं विश्वा विश्वानि दुर्गाणि दुर्गमनानि कष्टानि अरिष्टानि अति पर्षत् अतिपारयतु । यथा अस्माकम् आपदो न भवन्ति तथा करोत्विति । ❀ पृ पालनपूरणयोः इत्यस्मात् लेटि "सिब्बहुलम्" इति सिप् । आडागमः ❀ । अरिष्टहेतुपापनिवारणम् आशास्ते चतुर्थपादेन । देवः दीप्यमानोऽग्निः मथ्यमानः दुरितानि दुर्गमनानि पापानि अति क्षामत् अत्यर्थं क्षामाणि दग्धानि करोतु । अरिष्टहेतुभूतं पापसंघं निःशेषेण विनाशयत्वित्यर्थः । ❀ क्षामत् इति । क्षै क्षये । अस्मान्निष्ठायां "क्षायो मः" इति निष्ठातकारस्य मकारादेशः । क्षामशब्दात् तत् करोतीत्यर्थे णिच् । तस्मात् लेटि तिप इकारस्य "इतश्च लोपः०" इति लोपः । "लेटोऽडाटौ" इति अडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ ॥

शत्रुओंको संग्राममें जीतने वाले, देवताओंके लिये यजमान आदिके दिये हविर्भारको सहने वाले अग्निका हम सब लोकोंसे उत्कृष्ट देवताओंके सहनिवासस्थान द्युलोकसे उक्थ्य नामक स्तोत्रों के द्वारा आह्वान करते हैं। वह बुलाये हुए अग्निदेव हमें सब कष्टोंके पार पहुँचावें अर्थात् जिस प्रकार हम पर आपत्तियें न पड़े वैसा करें। यह मथे जाते हुए अग्निदेव दुर्गति देने वाले पापोंको बहुत ही भस्म करें। अर्थात् अरिष्टके हेतुभूत पापोंको पूर्णरूपसे नष्ट करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः १

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभिऽनिष्पतन् । अपीपतत् ।
आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुःऽइतात् । पान्तु । अंहसः १

कृष्णः कृष्णवर्णः शकुनिः पक्षी । काक इत्यर्थः । अभिनिष्पतन् अभितः सर्वतः अभिमुखं वा आकाशमार्गाद् अवपतन् इदं मदीयम् अंगम् अपीपतत् पातयामास पक्षाभ्याम् अभिजघानेति यत् तस्मात् अभिहननजनितात् सर्वस्माद् दुरिताद् दुष्टगमनाद् अंहसः पापाद् मा माम् अभिहतावयवम् आपः अभिमन्त्रिताः पान्तु रक्षन्तु ॥

काले वर्ण वाले पक्षी काकने सामनेसे वा आकाशमार्गसे आ कर (पक्षोंसे) मेरे अंगोंको पीड़ित किया है, उस अभिघातके कारण दुर्गतिप्रद पापसे मुझ अभिहितावयवको अभिमंत्रित जल रक्षा करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अवऽअमृक्षत् । निःऽऋते । ते । मुखेन ।
अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्हऽपत्यः । प्र । मुञ्चतु ।२।

हे निर्ऋते मृत्युदेवते ते तव मुखेन कृष्णः शकुनिः काकः इदं मदीयम् अङ्गम् अवामृक्षत् अवमृष्टवान् । काकः स्वचञ्चुपुटेन मदीयम् अङ्गं नोपहतवान् किं तु मृत्युमुखेनेति काकस्पर्शनदोषः अतिकष्ट इति ज्ञापयितुं निर्ऋतिमुखेन अभिमर्शनवचनम् । ❀ मृश आमर्शने । लुङि "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सः ❀। काकः अङ्गं मुखेन अवमृष्टवान् इति यत् तस्माद् एनसः पापाद् गार्हपत्यः गृहपतिना मया होमार्थं निहितोग्निः एतत्संज्ञको वा मा मां प्र मुञ्चतु प्रकर्षेण मोचयतु । काकावमर्शनजनितदोषरहितं करोतु॥

हे मृत्युदेवते ! तेरे मुखके द्वारा जो इस कौएने मेरे अङ्गका स्पर्श किया है (कौएने अपनी चोंचसे ही मेरे अङ्गको ताड़ित नहीं किया है किंतु मृत्युमुखसे ताड़ित किया है, यह इस बातको ज्ञापित करनेके लिये कहा है, कि–काकस्पर्शन अतिकष्टप्रद है) उस पापसे गार्हपत्य अग्नि मुझको मुक्त करें अर्थात् कौएके स्पर्शसे उत्पन्न होने वाले दोषसे रहित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीनऽफलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥१॥

हे अपामार्ग पापापमार्जनसाधन एतत्संज्ञक इध्मप्रकृतिभूत काष्ठविशेष त्वं हि यस्मात् प्रतीचीनफलः प्रत्यङ्मुखानि फलानि यस्य । अग्राद् आरभ्य फलस्य मूलपर्यन्तम् आत्माभिमुखं स्पर्शने कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम् । तादृशः रुरोहिथ रूढवान् असि तस्मात् सर्वान् शपथान् दोषान् मत् मत्तः सकाशात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इतः अस्माद् वरीयः । ❀ क्रियाविशेषणम् एतत् ❀ । उरुतरम् अत्यर्थं यावयाः पृथक्कुरु । इतः इति मत् इत्यस्य विशेषणम् । अस्मात् काकाभिहतावयवाद् मत् इति । यद्वा इतः अस्मात् कारणाद् इति व्याख्येयम् । ❀ यावयाः इति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । ण्यन्तात् लेटि आडागमे रूपम् ❀॥

हे पापको मार्जित करनेके साधन ईंधनरूप चिरचिटे ! तू प्रतीचीनफलरूपमें बढ़ा है अतः मुझमेंसे सकल दोषोंको पूर्णरूपसे दूर कर ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया ।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुःऽकृतम् । यत् । शमलम् । यत् । वा । चेरिम । पापया ।

त्वया । तत् । विश्वतःऽमुख । अपामार्ग । अप । मृज्महे ॥ २ ॥

यद् दुष्कृतम् दुःखफलाय कृतं पापं दुष्टं कृतं वा दुष्कृतं यच्च शमलम् मलिनम् पापम् । वाशब्दो विकल्पवाची । यत् पापया । ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀ । यत् पापं चेरिम

चरितवंतः स्मः । अथ वा पापया-पापप्रवृत्तिहेतुभूतया बुद्धया यद् एनश्चेरिम । ❀ चरतेर्लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । तत् पापम् हे विरवणोन्मुख सर्वतः प्रसृतशाखायुक्त हे अपामार्ग त्वया साधनेन अप मृज्महे अपमार्जयामः अपसारयामः । ❀ मृजूष् शुद्धौ । आदादिकः ❀ ॥

हम दुःखमय फल देनेवाले जिस पापको कर चुके हैं और जो मलिन पाप हमसे बन गया है और पापप्रवृत्तिकी हेतुभूत बुद्धिसे जिस पापको हम कर चुके हैं, उस पापको हे चारों ओर शाखा वाले चिरचिटे ! तेरे द्वारा हम दूर भगाते हैं ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

श्यावदंता कुनखिनां बण्डेन यत् सहासिम ।
अपांमार्ग त्वयां वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावऽदता । कुनखिना । बण्डेन । यत् । सह । आसिम ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥ ३ ॥

श्यावदता श्यावाः श्यावंवर्णा दन्ता यस्य तेन । ❀ "विभाषा श्यावारोकाभ्याम्" इति श्यावपदाद् उत्तरस्य दन्तशब्दस्य दतृ इत्यादेशः ❀ । श्यावदन्तयुक्तेन पुरुषेण कुनखिना कुत्सितानि नखानि कुनखानि तद्वता च बण्डेन । निर्वीर्यः पण्डो बण्ड इत्युच्यते । नपुंसकेन वा सह आशिम भुक्तवन्तः स्मः । ❀ अश भोजने । तस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् ❀ । अशनं व्यवहारमात्रोपलक्षणम् । एतैः सह व्यवहृतवन्तः स्म इति यद् अस्ति हे अपामार्ग त्वया साधनेन सर्वं तत् पापं वयम् अप मृज्महे अपमार्जयामः निवारयामः ॥

काले पीले रंगसे मिश्रित दाँत वाले, कुत्सित नाखूनों वाले, और निर्वीर्य पुरुषके साथ जो हमसे खान पान आदि व्यवहार बन गया है उससे उत्पन्न हुए पापको हे अपामार्ग हम तेरे द्वारा दूर भगाते हैं॥ ३॥

सप्तमी ॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु १

यदि। अन्तरिक्षे। यदि। वाते। आस। यदि। वृक्षेषु। यदि। वा। उलपेषु।
यत्। अश्रवन्। पशवः। उद्यमानम्। तत्। ब्राह्मणम्। पुनः। अस्मान्। उपऽऐतु॥ १॥

मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदो मेघे वाताभिरूपे वृक्षच्छायायां हरितसस्यसंनिधौ पशोश्च समीपे नाध्येतव्यः। तथाध्ययने सम्यक् पठितोपि वेदो निर्वीर्यो भवति। तद् उक्तम् आपस्तम्बेन स्वाध्यायधर्मप्रकरणे। "नाभ्रे न च्छायायां न पर्याहृत आदित्ये न हरियवान् प्रेक्षमाणो न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापाम् अन्ते". [आप० १५. २१. ८] इति। अत्र तादृशकालस्थलेषु अधीतस्यापि वेदस्य वीर्यवत्त्वम् अनेन प्रार्थ्यते। अन्तरिक्षे। मेघाच्छन्ने इति विशेषणसाहित्यं द्रष्टव्यम्। तादृशे अन्तरिक्षे यदि ब्राह्मणम् आस। कर्मविधायकं वाक्यं ब्राह्मणम् इत्युच्यते। एतद् मन्त्रस्यापि उपलक्षणम्। मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो यदि तत्राधीत आसीत्। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति हि आपस्तम्बवचनम्। यद्वा ब्राह्मणम् ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य अध्येत-

ध्यत्वेन संबन्धि । वेदवाक्यम् इत्यर्थः । वाते वायौ । प्रभूते सतीति विशेषणं द्रष्टव्यम् । यदि आस आम्नाणम् अधीतम् आसीत् । ❀ अस्तेर्लिटि भूभावाभावश्छान्दसः ❀ । यदि आम्नायं वृक्षेषु वृक्षच्छायायाम् आस । वाशब्दो विकल्पवाची । उलपेषु । उलपशब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम् । यदि उलपेषु आम्नाणम् अधीतम् आसीत् । तथा पशवः ग्राम्या आरण्याश्च उद्यमानम् अभिधीयमानम् अधीयमानं यद् आम्नाणम् अश्रवन् अशृण्वन् । ❀ शृणोतेर्लङि सामान्यविहितः शवेव छन्दोविषयत्वाद् अवस्थितः । उद्यमानम् इति । वद व्यक्तायां वाचि । कर्मणि यकि यजादित्वात् संप्रसारणम् ❀ । तत् तादृशेषु निमित्तेषु अधीतं आम्नाणम् अस्मान् अधीतवतः पुनरुपैतु निषिद्धकालस्थलेषु अध्ययनेन अस्मत्तो निष्क्रान्तं आम्नाणं पुनः वीर्यवत्त्वेन फलप्रदं सत् आगच्छतु ॥

(मन्त्र और आम्नाणरूप वेदको मेघ होने पर, अधिक वायु (अंधड़) चलने पर, वृक्षकी छायामें, हरे धान्यके पास, और पशुके पास नहीं पढ़ना चाहिये । क्योंकि-इस प्रकार अध्ययन करने पर भली प्रकार पढ़ा हुआ वेद भी मोघ होजाता है । इसी बातको आपस्तम्बमुनिने स्वाध्यायधर्मप्रकरणमें कहा है, कि–‘नाभ्रे न च्छायायां न पर्याप्तेच आदित्ये न हरितयवान् प्रेक्षमाणे न ग्राम्यस्य पशोरन्ते नारण्यस्य नापां अन्ते” [आपस्तम्ब १५ । २१ । ८] और इस मन्त्रसे ऐसे स्थलोंमें पढ़े हुए वेदके वीर्यवत्त्वकी भी प्रार्थना की गई है, कि-मेघसे आच्छन्न अन्तरिक्षमें जो आम्नाणसे उपलक्षित मन्त्रभागरूप भी वेद पढ़ा गया, अंधड़में पढ़ा गया, वृक्षकी छायामें पढा गया, हरितसस्यों में पढ़ा गया है और जिसको बोलते समय पशुओंने सुना है तो ऐसे स्थलोंमें पढ़ा हुआ वेद हम पढ़ने वालोंको फिर प्राप्त हो अर्थात् निषिद्ध समय और स्थलोंमें अध्ययन करनेके कारण हम

से निकला ब्राह्मण फिर वीर्यवान् होनेसे हमको फल देता हुआ हममें आवे ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव १

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् । ब्राह्मणम् । च ।

पुनः । अग्नयः । धिष्ण्याः । यथाऽस्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव १

इन्द्रियम् इन्द्रेण दत्तं वीर्यम् । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्०" इति सूत्रेण इन्द्रियशब्दो निपातितः ❀ । यद्वा । ❀ इन्द्रियम् इति जातावेकवचनम् ❀ । चक्षुरादीन्द्रियाणि । मा मां पुनरैतु पुनरागच्छतु । आत्मा देहाभिमानी । पुनरैतु इत्यनुषङ्गः । द्रविणम् प्रतिग्राह्यं धनम् । माम् ऐतु इत्यनुषङ्गः । तथा ब्राह्मणम् मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदश्च । पुनरैतु इति संबन्धः । तथा धिष्ण्याः होत्रादिधिष्ण्येषु विहृता अग्नयः इहैव अस्मिन्नेव विहृतप्रदेशे यथास्थाम । यथास्थानम् इत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेः "आतो मनिन्०" ❀ । पुनः कल्पयन्ताम् समर्थाः प्रवृद्धा भवन्तु ॥

इन्द्रदेवका दिया हुआ वीर्य अथवा चक्षु आदि इन्द्रियें मुझमें फिर आवें, देहाभिमानी जीवात्मा भी मुझमें फिर आवे, प्रतिग्राह्य धन मुझमें आवे, और मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद भी मुझमें फिर आवे, होत्र आदि स्थानोंमें विहार करने वाली अग्नियें भी यथास्थानमें फिर समृद्ध होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धामऽसु ।
जुषस्व । हव्यम् । आऽहुतम् । प्रऽजाम् । देवि । ररास्व । नः १

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति हे देवि ते तव संबन्धिषु व्रतेषु कर्मसु दिव्येषु दिवि भवेषु देवार्हेषु वा धामसु स्थानेषु गार्हपत्यादिरूपेषु। ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि इति हि यास्कः [नि० ६, २८] ❀ । तेषु स्थानेषु आहुतम् अभिमुखं प्रक्षिप्तं हव्यम् होतव्यं हविः जुषस्व सेवस्व । किं च हे देवि सरस्वति नः अस्मभ्यं प्रजाम् प्रकर्षेण जायमानां पुत्रादिरूपां ररास्व देहि । ❀ रातेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली सरस्वती देवि ! आपके कर्मोंमें वा देवयोग्य गार्हपत्य आदि स्थानोंमें आहुत हव्य का आप सेवन करिये । और हे सरस्वति देवि ! आप हमको पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको पुष्कलतासे दीजिये ॥ १ ॥

दशमी ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत् ।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम२

इदम् । ते । हव्यम् । घृतऽवत् । सरस्वति । इदम् । पितॄणाम् । हविः । आस्यम् । यत् ।

इमानि । ते । उदिता । शम्ऽतमानि । तेभिः । वयम् । मधुऽमन्तः । स्याम ॥ २ ॥

हे सरस्वति ते त्वदर्थं हूयमानं घृतवत् घृतोपेतं यद् इदं हव्यम् हविः । पितॄणाम् । अर्पयेति शेषः । आस्यम् क्षेपणीयम् । ❀ असु क्षेपणे । "ऋहलोर्ण्यत्" ❀ । पित्रर्थं हूयमानं यद् इदं हविः । शंतमानि अस्माकम् अत्यर्थं सुखकराणि यानि इमानि हवींषि हे सरस्वति ते त्वदर्थम् उदिता उदितानि उक्तानि । ❀ वद व्यक्तायां वाचि । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । यजादित्वात् संप्रसारणम् ❀ । त्वदर्थम् उक्तानि शंतमानि यानि इमानि हवींषि इति वा योज्यम् । एकत्र श्रुतो यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते । तृतीयपादे विभक्तिविपरिणामेन योज्यः । तेभिस्तैः त्वदर्थं हुतैर्हविर्भिर्वयं मधुमन्तः मधुररसोपेतान्नवन्तः स्याम भवेम ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे सरस्वति देवि ! आपके निमित्त जो घृतप्लुत हवि होमी जा रही है, इसको आप पितरोंके निमित्त प्रेरित करिये । आपके लिये जो कल्याणप्रद हवि हमने कही है उनसे हम मधुररस भरे अन्नसे सम्पन्न होजावें ॥ २ ॥

छटे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (३८५) ॥

"शिवा नः" "शं नो वातो वातु" इत्यनयोर्बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः । "शिवा नः [७, ७१] शं नो वातो वातु [७, ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्" [११, ६] इति हि [कौ० १, ६] सूत्रम् ॥

अभिचारकर्मणि "यत् किं चासौ" इति पञ्चर्चेन मध्यमपलाशेन फलीकरणान् जुहुयात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" इत्यनया तण्डुलानां पर्यग्निकरणं कुर्यात् ॥

"ब्रह्मणा शुद्धाः [११. १. १८] इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् [७. ७४] इति त्रिः पर्यग्नि करोति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. २] ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने धिष्ण्याग्निम् अवलोकयन् "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" इति ब्रह्मा यजमानश्च जपेत् । "धिष्ण्यम् अवेक्ष्य परि त्वाग्न इति जपति ब्रह्मा च" इति [वै० ३. ११] ॥

तथा अग्निचयने उखार्थं परिलिख्यमानं मृत्पिण्डम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "परि त्वाग्न इति मृत्पिण्डं परिलिख्यमानम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ५. १] ॥

सोमयागे प्रवर्ग्ये घर्मधुग्दोहार्थम् उत्तिष्ठतः अध्वर्य्वादीन् "उत्तिष्ठताव पश्यत" इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "घर्मदुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठताव पश्यत" इति वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

"शिवा नः" और "शं नो वातु" इन दोनों ऋचाओंका बृहद्गणमें पाठ है अत एव इनका शान्तिजलके अभिमन्त्रण करने आदिमें विनियोग है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । १ का प्रमाण भी है, कि—"शिवा नः (७ । ७१) शं नो वातु (७ । ७२) अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन्" (११ । ६) ॥

अभिचारकर्ममें "यत् किं चासौ" इस पञ्चर्चसे मध्यमपलाशके द्वारा फलीकरणोंकी आहुति देय ।

दर्शपूर्ण मासमें "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" ऋचासे तण्डुलोंका पर्यग्निकरण करे ।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । २ का प्रमाण भी है, कि—

"ब्राह्मण शुद्धाः (११ । १ । १८) इति तण्डुलान् परि त्वाग्ने पुरं वयम् (७ । ७४) इति त्रिः पर्यग्निकरोति" ॥

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें धिष्ण्याग्निको देखता हुआ "परि त्वाग्ने पुरं वयम्" ऋचाका ब्रह्मा और यजमान जप करें इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि—"धिष्ण्यम् अवेक्ष्य परि त्वाग्न इति जपति ब्रह्मा च" ॥

तथा अग्निचयनमें कुंडके लिये फोड़ी जाती हुई मिट्टीका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ५ । १ का प्रमाण भी है, कि—"परि त्वाग्न इति मृत्पिंडं परिलिख्यमानम्" ॥

सोमयागके प्रवर्ग्यमें घर्म दुग्दोहके लिये उठतेहुए अध्वर्यु आदिका ब्रह्मा "उत्तिष्ठतावपश्यत" ऋचासे अनुमन्त्रण करे, इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि—"घर्म दुग्दोहायोत्तिष्ठत उत्तिष्ठतावपश्यत" ॥

तत्र प्रथमा ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।

मा ते युयोम संदृशः ॥ १ ॥

शिवा । नः । शम्ऽतमा । भव । सुऽमृडीका । सरस्वति ।

मा । ते । युयोम । सम्ऽदृशः ॥ १ ॥

हे सरस्वति वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवति वाग्देवते शिवा सर्वसुखरूपा त्वं नः अस्माकं शंतमा अत्यर्थं रोगनिर्हरणक्षमा भव । ❀ शं योरित्यत्र यास्केन शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् [नि० ४. २१] इत्युक्तम् ❀ । यद्वा अत्यर्थं सुखप्रदा भव । सुमृळीका । ❀ "मृळीकम्" इति सुखनाम ❀ । शोभनसुखप्रदा भव । शंतमेति सुमृळीकेति पदद्वयेन फलविशेषेण सुखदाने तार-

तव्यम् उक्तम् इति मन्तव्यम् । हे सरस्वति ते तव संदृशः समीचीनाद् दर्शनाद् यथार्थस्वरूपज्ञानाद् मा युयोम पृथग्भूता मा भवेम। ❀ यौतेर्लोटि उत्तमबहुवचने शपः श्लुः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति आडभावः । व्यत्ययेन गुणः ॥

हे वर्ण पद आदिरूपसे प्रसरण करने वाली वाग्देवते सरस्वति ! सर्वसुखरूपा आप हमारे रोगको पूर्णरूपसे शान्त करने वाली हूजिये । शोभन सुख देने वाली हूजिये । हे सरस्वति ! आपके यथार्थस्वरूपके दर्शनसे हम कभी वञ्चित न होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा
नो व्युच्छतु ॥ १ ॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः ।
अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् ।
शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

वातः बहिः संचरन् वायुः नः अस्माकं शं वातु सुखकरः सन् चरतु । तथा सूर्यः सुष्ठु सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नः अस्माकं शम् सुखं तपतु संतापकारी मा भवतु । अहानि दिनानि च नः अस्माकं शं सुखं भवन्तु । अहस्सु सुखम् अस्माकं भवत्वित्यर्थः । रात्री । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् । जातावेकवचनम् ❀ । शम् सुखं प्रति धीयताम् प्रतिदधातु सन्दधातु। न इत्यनुषङ्गः। ❀ दधातेर्व्यत्ययेन कर्तरि कर्मप्रत्ययः ❀। यद्वा। ❀ धीङ् आधारे इति दिवादौ पठ्यते ❀ । रात्री शम् सुखं यथा भवति तथा प्रति धीयताम् ।

प्रतितिष्ठन्त्वित्यर्थः। तथा उषाः उषःकालः। ※जातावेकवचनम्※। उषसः नः अस्माकं शम् सुखं यथा भवति तथा व्युच्छन्तु विवासिताः प्रकाशिता भवन्तु। ※ उछी विवासे ※॥

बाहर विचरण करने वाले वायुदेव ! हमें सुखदायक होते हुए विचरण करें। तथा सुखपूर्वक सबको प्रेरित करने वाले सूर्यदेव हमें सुखप्रद ताप दें, सन्ताप न दें। दिन हमें सुखदायक हों अर्थात् दिवसोंमें हमको सुख हो, रात्रि हमें सुख दें और उषःकाल हम को सुखदायक होते हुए उदित होवें॥ १॥

तृतीया॥

यत् किं चासौ मन॑सा यच्च॑ वा॒चा य॒ज्ञैर्जु॒होति॑ ह॒विषा॒ यजु॑षा।

तन्मृ॒त्युना॒ निर्ऋ॑तिः संवि॒दा॒ना पु॒रा स॒त्यादाहु॑तिं हन्त्वस्य॥ १॥

यत्। किम्। च॒। अ॒सौ। मन॑सा। यत्। च॒। वा॒चा। य॒ज्ञैः। जु॒होति॑। ह॒विषा॑। यजु॑षा।

तत्। मृ॒त्युना॑। निःऽऋ॑तिः। स॒म्ऽवि॒दा॒ना। पु॒रा। स॒त्यात्। आऽहु॑तिम्। ह॒न्तु। अ॒स्य॥ १॥

असौ। अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची। दूरस्थः शत्रुः यत् किं च कर्म शत्रुहननरूपं मनसा। कर्तुं ध्यायतीत्यध्याहारः। यच्च कर्म वाचा। करोमीति वदतीत्यध्याहारः। तथा यज्ञैः अभिचारकर्मभिः हविषा तदुचितेन द्रव्येण यजुषा मन्त्रेण जुहोति होमं करोति। अस्य प्रतिपक्षनिवारणार्थं मनोवाक्कायैरुपायं कुर्वतः शत्रोः तत्

मनसा ध्यातं वाचा उक्तं कर्म आहुतिम् क्रियया निष्पाद्यमानं होमकर्म सत्यात् सत्यभूतात् कर्मफलात् पुरा पूर्वमेव निर्ऋतिः पापदेवता मृत्युना संविदाना ऐकमत्यं प्राप्ता सती हन्तु विनाशयतु। शत्रुणा करणत्रयेण अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म यावत् फलप्रदं भवति तस्मात् पूर्वमेव मृत्युसहिता पापदेवता तं शत्रुं विनाशयत्वित्यर्थः। ❀ संविदानेति। संपूर्वाद् वेत्तेः "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀॥

यह दूरस्थ शत्रु शत्रुहनन आदिरूप कर्मको मनमें करनेका ध्यान कर रहा हो, और जिस कर्मको वाणीसे "करता हूँ" कह रहा हो और अभिचारकर्मोंसे हवियोंसे और मंत्रोंसे जो होम कर रहा हो तो इस मन वाणी वा शरीरसे उपाय करने वाले मनमें विचारे हुए, वाणीसे कहे हुए वा आहुतिके द्वारा निष्पन्न होने वाले होम कर्म के सत्य होनेसे पहिले ही पापदेवता निर्ऋति मृत्यु के साथ एकमत होकर नष्ट कर देय। अर्थात् शत्रुका तीनों प्रकार से हमारे लिये किया हुआ कर्म जब तक फलप्रद हो उससे पहिले ही मृत्युकी सहायतासे पापदेवता उस शत्रुको नष्ट कर डाले॥१॥

चतुर्थी॥

यातुधाना निर्ऋतिराद् रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि
यदसौ जुहोति॥ २॥

यातुऽधानाः। निःऽऋतिः। आत्। ऊं इति। रक्षः। ते। अस्य। घ्नन्तु। अनृतेन। सत्यम्।

इन्द्रऽइषिताः । देवाः । आज्यम् । अस्य । मथ्नन्तु । मा । तत् ।

सम् । पादि । यत् । असौ । जुहोति ॥ २ ॥

यातुधाना । यातवो यातनाः पीडास्तासां धानं निधानं यस्याम् अस्तीति सा यातुधाना परपीडाकारिणी निर्ऋतिः निकृष्टगमना पापराक्षसी । आदु । अपि चेत्यर्थः । रक्षः राक्षसः । ते निर्ऋति-राक्षसाः अस्य शत्रोः सत्यम् यथार्थं कर्मफलम् अनृतेन असत्येन फलेन घ्नन्तु विनाशयन्तु । यथा शत्रुणा अस्मद्विषये क्रियमाणम् अभिचारकर्म स्वोचितफलप्रदं न भवति किं तु विपरीतफलप्रदं भवति तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः । फलप्रतिबन्धं प्रार्थ्य तदीयकर्मणो बाधां प्रार्थयते । इन्द्रेषिताः इन्द्रेण प्रेरिता देवाः अस्य शत्रोः आज्यम् आज्यसाधनं होमकर्म मथ्नन्तु विनाशयन्तु । ❀ मन्थ विलोडने । क्र्यादिः ❀ । असौ शत्रुः यज्जुहोति अस्मद्बाधार्थं यत् कर्म करोति तत् कर्म मा सं पादि मा संपन्नं भवतु । फल-प्रदं न भवत्वित्यर्थः । यद्वा अङ्गविकलं भवतु । ❀ पद गतौ । "चिण् ते पदः" इति कर्तरि च्लेश्चिण् आदेशः ❀ ॥

यातनाओंकी खजाना यातुधानी पापराक्षसी निर्ऋति और राक्षस शत्रुके यथार्थ कर्मफलको असत्यसे नष्ट करदें अर्थात् शत्रुका हमारे लिये किया हुआ अभिचारकर्म जिस प्रकार उचित फल देने वाला न हो किंतु विपरीत फल देने वाला होजाय तैसा करें। (फलप्रतिबन्धकी प्रार्थना कर उसके कर्मके बाधाकी प्रार्थना करते हैं, कि– इन्द्रदेवके प्रेरित देवता इस शत्रुके घृतसाधन होम-कर्मको नष्ट कर डालें यह शत्रु हमको बाधा देनेके लिये जिस कर्मको कर रहा है वह सम्पन्न न हो अर्थात् फलप्रद न हो, अंगविकल होजावे ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥२॥

अजिरऽअधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौऽइव ।
आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभिऽअघायति २

अजिराधिराजौ । ❀ अज गतिक्षेपणयोः इत्यस्माद् अजिर-शिशिर० [उ० १.५३] इति सूत्रेण अजिरशब्दो निपातितः ❀ । शत्रुक्षेपणसमर्थः अजिरः । अधिको राजा अधिराजः । ❀ "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच् समासान्तः ❀ । एतन्नामानौ मृत्युदूतौ संपातिनौ आकाशमार्गाद् द्वेष्यस्य पक्षिण उपरि निष्पतनशीलौ श्येनौ एतन्नामधेयौ पक्षिणाविव पृतन्यतः संग्रामेच्छोः पुरुषस्य आज्यम् घृतसाधनकं होमकर्म हताम् हिंस्ताम् । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि तसस्ताम् आदेशः ❀ । पृतन्यच्छब्दार्थम् आह । यः कश्च शत्रुः नः अस्माकम् अभ्यघायति अभिमुखं हिंसारूपं पापं कर्तुम् इच्छति तस्य आज्यं हताम् इति संबंधः । ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यचि "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् ❀ ॥

अजिर और अधिराज नाम वाले मृत्युके दूत, आकाशमार्ग से शत्रुपक्षी पर गिरने वाले बाजोंकी समान, संग्राम करना चाहने वाले पुरुषके घृतसाधनक होमकर्मको नष्ट कर डालें और जो शत्रु हमारे अभिमुख आकर हिंसारूप पापको करना चाहता है उसके घृतसे सिद्ध होने वाले होमको नष्ट कर डालें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।

अ॒ग्नेर्दे॒वस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेऽवधिषं ह॒विः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते॒ । उ॒भौ । बा॒हू इति॑ । अपि॑ । न॒ह्यामि॒ । आ॒स्य॑म् ।

अ॒ग्नेः । दे॒वस्य॑ । म॒न्युना॑ । तेन॑ । ते॒ । अ॒व॒धि॒ष॒म् । ह॒विः ॥४॥

अनेन ऋचेन शत्रुं संबोध्य ब्रूते । हे अस्मद्विषये अभिचारकर्तः ते तव उभौ बाहू होमकर्मणि व्यापृतौ पाणी अपाञ्चौ अपाञ्चनौ पृष्ठभागसंबद्धौ अपि नह्यामि बध्नामि । यथा होमकरणशक्तौ न भवतः तथाकरोमि । तथा आस्यम् मन्त्रोच्चारणसमर्थं मुखम् अपि नह्यामि यथा वदनात् होमसाधनभूतमन्त्रा नोद्गच्छन्ति तथा करोमि । तेन बाह्वास्यबन्धनेन कारणेन देवस्य । ❀ दीव्यतेर्विजिगीषार्थात् पचाद्यच् ❀ देवस्य विजयमानस्य अग्नेः मन्युना तेजसा क्रोधेन वा ते तव हविः होतव्यं द्रव्यं तत्साधनकं कर्म अवधिषम् हनिष्यामि । ❀ हन्तेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्मको करने वाले शत्रो ! होमकर्ममें संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् जिस प्रकार वे होम करनेमें समर्थ न रहें तिस प्रकार बाँधता हूँ । और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें तिस प्रकार करता हूँ । और इस बाहुमुखबन्धनके कारण विजयमान अग्निदेवके क्रोधसे मैं तेरे कर्मको नष्ट कर डालूँगा ॥ ४ ॥

सप्तमी ॥

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म् ।

अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेऽवधिषं ह॒विः ॥ ५ ॥

अपि॑ । न॒ह्यामि॒ । ते॒ । बा॒हू इति॑ । अपि॑ । न॒ह्यामि॒ । आ॒स्य॑म् ।

अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥५॥

पूर्वमन्त्रसमानार्थत्वात् पूर्वेण व्याख्यातकल्पोयं मन्त्रः । घोरस्य भयङ्करस्य इति विशेषः ॥

हे हमारे लिये अभिचारकर्म करने वाले शत्रो ! होमकर्म में संलग्न तेरी दोनों भुजाओंको मैं पीठकी ओर करके बाँधता हूँ अर्थात् वे जिस प्रकार होम करनेमें असमर्थ रहें तिसप्रकार बाँधता हूँ, और तेरे मन्त्रोच्चारण करनेमें समर्थ मुखको भी बाँधता हूँ अर्थात् तेरे मुखमेंसे होमके साधनभूत मन्त्र न निकल सकें, तिस प्रकार करता हूँ और इस कारण अग्निदेवके भयङ्कर क्रोधसे तेरी हविसे सिद्ध होने वाली इष्टिको मैं नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

अष्टमी ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।
धृषत्ऽवर्णम् । दिवेऽदिवे । हन्तारम् । भंगुरऽवतः ॥ १ ॥

हे सहस्य । सह इति बलनाम । तस्मै हित । ❁ "तस्मै हितम्" इति यत् ❁ । सहसो बलाद् वा जात । मथनेन निपन्नत्वात् । ❁ "भवे छन्दसि" इति यत् प्रत्ययः ❁ । तादृश हे अग्ने पुरम् पूरकं कर्मफलानां विप्रम् । मेधाविनामैतत् । मेधाविनं त्वा त्वां वयं परि धीमहि रक्षसाम् अपहननाय परितो धारयामः परिधिं वा कुर्मः । ❁ दधातेर्लिङि द्विर्वचनाभावश्छान्दसः । शपो वा लुक् ❁ । अग्निं विशिनष्टि । धृषद्वर्णम् धर्षकरूपं भंगुरावतः भङ्गशीलकर्मवतो रक्षसः दिवेदिवे अन्वहं हन्तारम् विनाशयितारम् ॥

हे मथ कर बलपूर्वक उत्पन्न करे हुए अग्ने ! इस कर्म फलोंके पूरक आप विद्वान्को राक्षसोंका संहार करनेके लिये चारों ओरसे धारण करते हैं, हे अग्निदेव ! आपका रूप धर्षक है और यज्ञ आदिको भंग करनेके स्वभाव वाले राक्षसोंका आप प्रति-दिन संहार कर डालते हैं ॥ १ ॥

नवमी ॥

उत् तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।

यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यत । इन्द्रस्य । भागम् । ऋत्वियम् ।

यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रातम् । ममत्तन ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः उत्तिष्ठत आसनाद् ऊर्ध्वं तिष्ठत नोपविशत ॥ ❀ ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । उत्थाय च ऋत्वियम् ऋतौ वसन्तादिकाले भवम् इन्द्रस्य भागम् भजनीयं घर्मं पच्य-मानम् अव पश्यत निरीक्षध्वम् । ❀ ऋतुशब्दाद् भवार्थे "छन्दसि घस्" । "सिति च" इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया बाधाद् ओर्गुणा-भावः । भजेः कर्मणि घञन्तो भागशब्दः ❀ । श्रातम् । हविः-परतया नपुंसकत्वम् । यदि स भागः श्रातः पक्वस्तर्हि जुहोतन इन्द्रार्थम् अग्नौ जुहुत । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनवा-देशः । पित्त्वाद् गुणः ❀ । अश्रातम् । अत्रापि हविःपरतया नपुंसकत्वम् । यदि अश्रातः अपक्वस्तर्हि ममत्तन पचत । तृप्तानाम् अपां मदन्तीशब्दव्यवहारदर्शनाद् अत्र ममत्तनेति शब्दस्य तथा कुरुतेत्यर्थो युक्तः । यद्वा यदि अपक्वस्तर्हि पाकपर्यन्तं ममत्तन इन्द्रं स्तुतिभिर्मदयतेति । ❀ श्रीञ् पाके इत्यस्माद् निष्ठा[याम्] "अप-स्पृधेथाम् आनृचुः०" इति सूत्रे श्राभावो निपात्यते ❀ ॥

हे ऋत्विजों ! आसनसे ऊपरको उठो, बैठे न रहो और उठ कर वसन्त आदिक ऋतुमें होने वाले यज्ञमें इन्द्रके बनते हुए (पकते हुए) भागका निरीक्षण करो, यदि भाग पक्व होगया हो तो उसकी इन्द्रके लिये अग्निमें आहुति दो और पक्व न हुआ हो तो पकने तक इन्द्रको स्तुतियोंसे प्रसन्न करते रहो ॥ १ ॥

दशमी ॥

श्रातं ह॒विरो ष्विंन्द्र॒ प्र यांहि ज॒गाम॒ सूरो॒ अध्व॑नो॒ वि मध्य॑म् ।
परिं त्वासते नि॒धिभिः॒ सखायः कु॒लपा न॒ व्राजप॑तिं चर॑न्तम् ॥ २ ॥

श्रा॒तम् । ह॒विः । ओ इति । सु । इन्द्र॒ । प्र । या॒हि॒ । ज॒गाम॑ । सूरः॑ । अध्व॑नः । वि । मध्य॑म् ।
परि॑ । त्वा॒ । आ॒स॒ते॒ । नि॒धि॒ऽभिः॑ । सखा॑यः । कु॒ल॒ऽपाः । न ।
व्रा॒ज॒ऽप॑तिम् । चर॑न्तम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र हविः दधिघर्माख्यं त्वदीयं श्रातम् पक्वम् । ओ आ उ सु सुष्ठु प्र याहि प्रकर्षेण शीघ्रम् आगच्छ । सूरः सूर्यः अध्वनः गन्तव्यस्य मार्गस्य वि मध्यम् विफलं मध्यम् ईषदू ऊनं मध्यभागं जगाम गतवान् । तव यागार्थं मध्याह्नो जात इत्यर्थः । सखायः समानख्याना ऋत्विजश्च निधिभिः निहितैः अभिषुत्य आसादितैः सोमैः सार्धं त्वा त्वां पर्यासते पर्युपासते । तत्र दृष्टान्तः । कुलपा न । कुलस्य वंशस्य रक्षकाः पुत्रा यथा व्राजपतिम् व्राजा गन्तव्या गृहास्तेषां पतिं चरन्तम् गच्छन्तम् उपासते तथेत्यर्थः ।

ॐ अज गतौ । अस्मात् कर्मणि घञ् । "अजिव्रज्योश्च" इति कुत्वनिषेधः ॐ ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी दधिघर्म नामक हवि पक्क होगई है, इसलिये आप शीघ्रतासे आइये, सूर्यदेव आधेसे कुछ ही कम मार्गमें पहुँच चुके हैं अर्थात् आपके यागके लिये मध्याह्न होगया है । और आपकी समान प्रसिद्धि वाले ऋत्विज भी निचोड़ कर रखे हुए सोमोंको लिए हुए आपकी इस प्रकार उपासना कर रहे हैं, जिस प्रकार कुलके रक्षक पुत्र विचरण करते हुए गृहपति की उपासना करते हैं ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (३९०) ॥

अग्निष्टोमे प्रवर्ग्ये हूयमानम् आज्यं "श्रातं मन्ये" इति सूक्तेन ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "उप ह्वये [७. ७७. ७] इति घर्मदुघाम् । घर्मसूक्तेन [७. ७७] घर्मं हूयमानम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४]॥

अग्निष्टोमे माध्यन्दिनसवने दधिघर्महोमं "श्रातं मन्ये" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "श्रातं मन्य इति दधिघर्महोमम् । घर्मवच्चः" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. ११] ॥

प्रवर्ग्ये होतृकर्तृकं वषट्कारम् अनुवषट्कारं च "स्वाहाकृतः" इति द्वाभ्यां ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेऽनुवषट्कृते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ४] ॥

प्रवर्ग्ये दुह्यमानां घर्मदुघाम् "उप ह्वये" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । वैताने सूत्रितम् । "उप ह्वय इति घर्मदुघाम्" इति [वै० ३.४] ॥

प्रवासं करिष्यन् "सूयवसात्" इत्यनया स्वकीयान् पशून् अभिमन्त्रयेत । "सूयवसाद् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ३. ७] ॥

मधुपर्के उत्सृष्टां गाम् अनया अभ्यागतोऽनुमन्त्रयेत । "सूयवसाद् इति प्रतिष्ठमानाम्" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १२. ३] ॥

अग्निष्टोमके प्रवर्ग्यमें होमे जाने वाले घृतका "श्रातं मन्ये" इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"उपह्वये (७ । ७७ । ७) इति घर्मदुघाम् घर्मसूक्तेन (७ । ७७) घर्मं हूयमानम्" ॥

अग्निष्टोमके माध्यन्दिनसवनमें दधिघर्म होमका "श्रातं मन्ये" से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ११ का प्रमाण भी है, कि–"श्रातं मन्य इति दधिघर्म होमम् । घर्मं वद्धतः" ॥

प्रवर्ग्यमें होतृकर्तृक वषट्कार और अनुवषट्कारका "स्वाहाकृतः" इन दोसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण भी है, कि–"स्वाहाकृत इति द्वाभ्यां घर्मस्य वषट्कृतेऽनुवषट्कृते" ॥

प्रवर्ग्यमें दुही जाती हुई घर्मदुघाका "उप ह्वये" से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । ४ का प्रमाण है, कि– "उप ह्वय इति घर्मदुघाम्" ॥

प्रवास करते समय पुरुष "सूयवसात्" ऋचासे अपने पशुओं का अभिमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । ७ में कहा है, कि–"सूयवसात् इति सूयवसे पशून् अभिमन्त्रयते" ॥

मधुपर्कमें उत्सृष्ट गौका अभ्यागत इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १२ । ३ का प्रमाण भी है, कि– "सूयवसादिति प्रतिष्ठमानाम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः ॥ १ ॥

आ॒तम् । म॒न्ये॒ । ऊध॑नि । श्रा॒तम् । अ॒ग्नौ । सुऽशृ॑तम् । म॒न्ये॒ ।
तत् । ऋ॒तम् । नवी॑यः ।

माध्य॑न्दिनस्य । सव॑नस्य । द॒ध्नः । पिब॑ । इ॒न्द्र॒ । व॒ज्रि॒न् । पु॒रु॒ऽकृ॒त् ।
जु॒षा॒णः ॥ १ ॥

ऊधनि गोरूधसि एतद् दधिघर्माख्यं हविः पयोरूपेण आतम् पक्वम् इति मन्ये जाने । पुनश्च दुग्धं पयः अग्नावपि श्रातम् पक्वम् इदानीं दध्यवस्थमपि अग्नौ पच्यते । ❀ श्रीञ् पाके इत्यस्मात् निष्ठायाम् "अपस्पृधेथाम्०" इति सूत्रे आभावो निपात्यते ❀ । अतः सुशृतम् सुपक्वम् इति मन्ये जाने । ❀ श्रा पाके इत्यस्माद् आदादिकान्निष्ठायां कर्मकर्तरि "शृतं पाके" इति निपात्यते ❀ । अत एव तत् हविः ऋतम् सत्यभूतं नवीयः नवतरं भत्यग्रतरं भवति । हे वज्रिन् वज्रवन् हे पुरुकृत् बहुकर्मकृद् इन्द्र जुषाणः प्रीयमाणस्त्वं माध्यन्दिनस्य मध्यन्दिने भवस्य सवनस्य सूयमानस्य सोमस्य संबन्धिनो दध्नः । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । दधि दधिघर्माख्यं हविः पिब ॥

गौके ऐनमें यह दधिघर्म नामक हवि दुग्धरूपसे पक्व होती है यह मैं जानता हूं और इस समय दधिकी अवस्थामें भी अग्निमें पक रहा है । अत एव यह सुपक्व है, इस बातको मैं जानता हूं, अत एव यह हवि सत्य और नवीन है हे अनेकों कर्मोंको करनेवाले वज्रधारिन् इन्द्र ! आप प्रसन्नतामें भर कर इस मध्य दिनमें निचोड़े हुए सोम पड़े दहीकी दधिघर्म नाम वाली हविको पीजिये ॥१॥

द्वितीया ॥

समि॑द्धो अ॒ग्निर्वृ॑षणा र॒थी दि॒वस्त॒प्तो घ॒र्मो दु॑ह्यते वामि॒षे मधु॑ ।

वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

सम्ऽइद्धः । अग्निः । वृषणा । रयी । दिवः । तप्तः । घर्मः । दुह्यते । वाम् । इषे । मधु ।

वयम् । हि । वाम् । पुरुऽदमासः । अश्विना । हवामहे । सधऽमादेषु । कारवः ॥ १ ॥

एतदादीनाम् ऋचां मन्त्रस्य एव लिङ्गानुसाराद् आश्वलायनेन विनियोग उक्तः । तत्र इयम् उत्तरा च दुह्यते इति लिङ्गेन घर्मदुघादोहनसमये विनियुक्ते । हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ हे अश्विनौ दिवः द्युलोकस्य । ❀ तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम् ❀ । द्युलोकस्थितस्य देवगणस्य रयी रथिकः । नेतेत्यर्थः । "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । तादृशोग्निः समिद्धः सम्यग् दीप्तः । तेनाग्निना घर्मः महावीरपात्रस्थम् आज्यं तप्तः सम्यक् पक्वम् । अनन्तरं वाम् युवयोः । ❀ युष्मच्छब्दस्य षष्ठीद्विवचने वाम् इत्यादेशः ❀ । युवयोः इषे अन्नाय मधु मधुररसोपेतं मधुवत् प्रीणनकारि वा पयः दुह्यते । गौरध्वर्युभिः इति शेषः । ❀ दुह प्रपूरणे । कर्मणि यक् । दुहेर्द्विकर्मकत्वाद् "अकथितं च" इति मधुनः कर्मत्वे द्वितीया ❀ । हे अश्विना अश्विनौ वाम् युवाम् । ❀ युष्मदो द्वितीयाद्विवचने वाम् आदेशः ❀ । पुरुदमासः । दम इति गृहनाम । बहुगृहाः । पृणातेः पुरुशब्दः । हविःपूर्णगृहा वा । कारवः स्तोतृनामैतत् । ❀ करोतेः कृवापाजिमि० इति [उ०१.१] उण् प्रत्ययः ❀ । स्तुतिकर्तारो वयं हि वयं खलु होतारः सधमादेषु । सह माद्यन्ति देवा अत्रेति सधमादा यज्ञाः । ❀ माद्यतेः

अधिकरणे घञ्। "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀। यज्ञेषु हवामहे आह्वयामः॥

हे अभीष्ट फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों! आप द्युलोकमें स्थित देवताओंके नेता हैं। और "अग्निमुखा वै देवाः" इस श्रुतिके अनुसार महिमासम्पन्न प्रदीप्त अग्निदेवके द्वारा दीप्त महावीर नामक पात्रमें स्थित घृत भली प्रकार पक्व होगया है, और आपके भक्षण करनेके लिये अध्वर्युओंने गौसे मधुर रस सम्पन्न दुग्ध भी दुह लिया है। हे अश्विनीकुमारों! आप दोनों को हविसे पूर्ण घर वाले हम स्तोता यज्ञोंमें बुलाते हैं॥ १॥

तृतीया॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम्।

दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः २

सम्ऽइद्धः। अग्निः। अश्विना। तप्तः। वाम्। घर्मः। आ। गतम्।

दुह्यन्ते। नूनम्। वृषणा। इह। धेनवः। दस्रा। मदन्ति। वेधसः

हे अश्विना अश्विनौ अग्निः समिद्धः संदीप्तः। तेन वाम् युवाभ्याम्। ❀ युष्मच्छब्दस्य चतुर्थीद्विवचने वाम् इति आदेशः❀। युवयोरर्थाय घर्मः महावीरस्थितम् आज्यं तप्तः सम्यग्दीप्तम्। अतः आगतम् आगच्छतम्। घर्मरूपं हविर्भोक्तुम् इति शेषः। ❀ गमेश्छान्दसे लुङि, "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "अनुदात्तोपदेश०" इति अनुनासिकलोपे रूपम्। लोटि वा विकरणस्य लुक् ❀। हे वृषणा वृषणौ अभिमतफलस्य वर्षितारौ युवयोरर्थाय इह प्रवर्ग्याख्ये कर्मणि धेनवः प्रीणयित्र्यो गावो नूनम् अत्यर्थं दुह्यन्ते पयः ❀। दुहेर्द्विकर्मकत्वात् पय इति कर्मणा अन्येन भाव्यम् ❀। अतः दस्रा दस्रौ शत्रूणाम् उपक्षपयितारौ अश्विनौ

वेधसः । ❀ विध विधाने इत्यस्माद् असुन् ❀ । स्तुत्या परिचरन्तो होतारः मदन्ति मदयन्ति । स्तुतिभिरिति होतृणां परोक्षेण अभिधानम् । ❀ माद्यतेर्णिचि "मदी हर्षग्लपनयोः" इति मित्त्वेन ह्रस्वत्वम् । "छन्दस्युभयथा" इति झेः आर्धधातुकत्वेन णिलोपः ❀ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! अग्नि प्रदीप्त होरहे हैं और उनके द्वारा आपके निमित्त महावीर पात्रमें रक्खा हुआ घृत भली प्रकार तप गया है, अतः आप घर्म रूप हविका भोग लगानेके लिये आइये । हे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आपके निमित्त इस प्रवर्ग्य नामक कर्म में धेनुएं बहुतसा दूध देरही हैं, अतः शत्रुओंको ध्वस्त करने वाले अश्विनीकुमारोंकी स्तुतिसे सेवा करते हुए होता आनन्दमें मग्न होरहे हैं ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाऽकृतः । शुचिः । देवेषु । यज्ञः । यः । अश्विनोः । चमसः । देवऽपानः ।
तम् । ऊं इति । विश्वे । अमृतासः । जुषाणाः । गन्धर्वस्य । प्रति । आस्ना । रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहाकृतः इति लिङ्गाद् घर्मयागानन्तरम् इयं पठनीयेति आश्वलायनेनोक्ता । शुचिः दीप्तो यज्ञः प्रवर्ग्याख्यो देवेषु अश्विप्रभृ-

तिषु । अथ वा देवशब्देन अश्विनावुच्येते । मवर्ग्ये तयोरेव यष्टव्यत्वात् । ❀ बहुवचनं तु पूजायाम् । विषयसप्तमी ❀ । देवविषये स्वाहाकृतः । स्वाहाशब्दो दानवाचकः । दत्त इत्यर्थः । न चात्र स्वाहाकारेण हविर्हूयते किं तु वषट्कारेण । देवपानः देवौ अश्विनौ पिबतः अत्रेति देवपानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । तादृशः अश्विनोश्चमसः । ❀ चमतेर्भक्षणार्थाद् औणादिकः असप्रत्ययः ❀ । भक्षणसाधनो य उपयमनाख्यः पात्रविशेषोऽस्ति तमु तमेव चमसं विश्वे सर्वे अमृतासः अमृताः अमरणधर्माणो देवा अग्न्यादयो जुषाणाः प्रीयमाणाः । ❀ हेत्वर्थे जुषे शानच् प्रत्ययः ❀ । प्रीतिहेतोः गन्धर्वस्य । गां वेदरूपां वाचं धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः । तथा च तैत्तिरीयके आदित्यस्य वेदसाहित्यं श्रूयते । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] । ❀ गोशब्दोपपदाद् धृञो "गवि गं धृञो वः" इति वप्रत्ययः गोशब्दस्य गम् इत्यादेशः ❀ । तस्यादित्यस्य । रात्रावादित्यस्य अग्नावनुप्रवेशात् तदभेदेन अग्निर्वा गन्धर्वः । तस्य आस्ना आस्येन । ❀ "पद्दन्नः०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । प्रति रिहन्ति प्रत्येकं लिहन्ति आस्वादयन्ति । "त्वामग्न आदित्यास आस्यम्" इति हि [ऋ० २. १. १३] मन्त्रवर्णे अग्निरूपेण आस्येन देवा हविर्भक्षयन्तीति स्पष्टम् आम्नातम् ॥

(स्वाहाकृतः लिंगसे घर्मयागके अनन्तर इसका पाठ करना चाहिये, यह आश्वलायन मुनिने कहा है, और देवशब्दसे यहाँ अश्विनीकुमारोंका ग्रहण किया गया है और आदर करनेके लिये बहुवचन दिया गया है, क्योंकि—प्रवर्ग्यमें अश्विनीकुमारोंका ही यजन होता है । और इस मन्त्रका स्वाहाशब्द दानवाचक है, यहाँ स्वाहाकारसे हवि नहीं होमी जाती है, किंतु वषट्कारसे हवि

होभी जाती है। गंधर्व शब्दका अर्थ सूर्य है, क्योंकि-वह वेदरूपा वाणीको धारण करते हैं। तैत्तिरीयकमें आदित्यका वेदसाहित्य इस प्रकार वर्णित है, कि-"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।-पूर्वाह्नके समय दिव्में देव ऋग्वेदकी ऋचाओंसे सम्पन्न रहते हैं, और मध्याह्नके समय यजुर्वेदमें रहते हैं और अस्तके समय सामवेदसे महीयमान होते हैं, इस प्रकार तीनों वेदोंसे भरेहुए सूर्यदेव आरहे हैं" तैत्तिरीयब्राह्मण३।१२।९।१ और गंधर्व शब्दसे अग्निका ग्रहण होसकता है, क्योंकि-रात्रिमें आदित्यका अग्निमें प्रवेश होता है अतएव अभेदवश अग्निको ही यहाँ गंधर्वशब्दसे कहा है। और भी एक बात है, कि-ऋग्वेदसंहिता २।१।१३ में स्पष्टरीतिसे कहा है, कि-अग्निस्वरूप मुखसे देवता हविका भक्षण करते हैं। यथा-"त्वामग्न आदित्यास आस्यम्") प्रदीप्त प्रवर्ग्य नामक यज्ञ अश्विनीकुमारोंके लिये हुआ है। और जो अश्विनीकुमारोंके पानका पात्र उपयमन नामक भक्षणपात्र है उसी चमसको प्रत्येक अमर देवता अग्निरूप मुखसे चाटते हैं॥ ३॥

पञ्चमी॥

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः॥ ५॥

यत्। उस्रियासु। आऽहुतम्। घृतम्। पयः। अयम्। सः। वाम्। अश्विना। भागः। आ। गतम्।

माध्वी इति । धर्तारा । विदथस्य । सत्पती इति सत्ऽपती । तप्तम् । घर्मम् । पिबतम् । रोचने । दिवः ॥ ४ ॥

एषा ऋक् पिबतम् इति लिङ्गाद् घर्मयागे याज्यात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता । उस्रियासु । गोनामैतत् । पयोनिवासस्थानभूतासु गोषु वर्तमानं घृतम् घृतवत् क्षरणशीलं घृतोत्पादकं वा यत् पयः क्षीरम् आहुतम् महावीरपात्रे अभिमुखं प्रक्षिप्तम् । ❀ हु दानादानयोः । कर्मणि निष्ठा ❀ । हे अश्विना अश्विनौ सोयं तद् इदं प्रक्षिप्तं पयः । ❀ भागविशेषणत्वात् तदिदंशब्दयोः पुंलिङ्गता । "निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोरेकत्वम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददते" इति वचनात् ❀ । इदं तत् पयः वाम् युवयोर्भागः भजनीयोंशः । अतः आ गतम् आगच्छतम् । आगत्य च हे माध्वी । ❀ मधुशब्दाद् अणि स्त्रियाम् "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि" इति यणादेशो निपात्यते ❀ । मधुसंबन्धिनी विद्या माध्वी । विद्यावेदित्रोरभेदोपचाराद् अश्विनावपि माध्वीशब्देन उच्येते । अत एव मधुज्ञाता । "माध्वी मम श्रुतं हवम्" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ. ५. ७५. १] । अश्विनोर्मधुविद्यावेदितृत्वं दाशतय्याम् आम्नायते । "आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्र वोचद् ऋतायन्" इति [ऋ० १. ११७. २२] । हे माध्वी मधुविद्यावेदितारौ विदथस्य । यज्ञनामैतत् । विदन्ति जानन्ति अनेन फलम् इति विदथो यज्ञः । तस्य धर्तारा धर्तारौ धारयितारौ । यज्ञस्वरूपनिर्वर्तकावित्यर्थः । द्रव्यदेवते हि यागस्य स्वरूपम् इति हि तद्विदः । हे सत्पती सतां महतां देवानां पालयितारौ आपन्निर्हरणत्वेन रक्षकौ । "अश्विनौ हि देवानां भिषजौ"

इति [ऐ० ब्रा० १. १८] श्रुतेः। तादृशौ युवां दिवः द्युलोकस्य रोचने रोचके प्रकाशके अग्नौ तप्तम् घृतं घर्मम् आज्यं पिबतम् ॥

(इस ऋचाका "पिबतम्" इस लिंगसे घर्मयागमें याज्यात्व-रूपसे आश्वलायन मुनिने विनियोग किया है। मधुसम्बन्धी विद्या माध्वी विद्या कहलाती है। विद्या और उसके जानने वालोंमें अभेद का उपचार करने पर उस विद्याको जाननेवाले अश्विनीकुमारों को भी माध्वी शब्दसे वर्णन किया है। ऋग्वेदसंहिता ५। ७५। १ में कहा है, कि-"माध्वी मम श्रुतं हवम्।-हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! तुम मेरे आह्वानको सुनो" और अश्विनी-कुमारोंके मधुविद्या जाननेकी बात ऋग्वेदसंहिता १। ११७। २२ में वर्णित है। यथा-"आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यै-रयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन्।-हे अश्विनीकुमारों ! तुम अथर्ववेदी दधीचिके निमित्त अश्वके शिरको प्रेरित करो, तो वह तुमको मधुविद्याका यथार्थरीतिसे उपदेश देंगे"। ऐतरेयब्राह्मण १। १८ में अश्विनीकुमारोंको रोगरूप आपत्तिको दूर करने वाले होनेके कारण देवताओंके रक्षक अर्थात् वैद्य कहा है, यथा "अश्विनौ हि देवानां भिषजौ।-अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं"।) हे अश्विनीकुमारों ! गौओंमें रहने वाला घृतका उत्पादक दुग्ध महावीर नामक यज्ञपात्रमें डाल दिया गया है। हे अश्विनीकुमारों ! यह दुग्ध आपका भाग है, अतः आप आइये और आकर हे मधुविद्याको जानने वाले अश्विनीकुमारों ! आप इस मन्त्रके यज्ञस्वरूपपूरक बनिये (क्योंकि-द्रव्य और देवता ही यागके स्वरूप होते हैं, यह यज्ञवेत्ताओंका मत है) और हे सत् अर्थात् बड़े २ देवताओंकी आपत्तिको दूरकर उनकी रक्षा करने वाले अश्विनीकुमारों ! आप द्युलोकके प्रकाशक अग्निमें तपे हुए घृतको पीजिये ॥ ४ ॥

षष्ठी ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः

तप्तः । वाम् । घर्मः । नक्षतु । स्वऽहोता । प्र । वाम् । अध्वर्युः ।
चरतु । पयस्वान् ।
मधोः । दुग्धस्य । अश्विना । तनायाः । वीतम् । पातम् । पयसः ।
उस्रियायाः ॥ ५ ॥

इयमपि वीतं पातम् इति लिङ्गाद् घर्मयाज्यात्वेन विनियुक्ता ।
हे [अश्विना] अश्विनौ वाम् युवां स्वहोता स्वाधीनहोतृकः ।
होता सम्यग् अभिष्टुत इत्यर्थः । ❀ "ऋतश्छन्दसि" इति क-
प्रत्ययनिषेधः ❀ । तप्तः सम्यग् रुचिरः घर्मः महावीरपात्रस्थम्
आज्यं नक्षतु । ❀ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा इति यास्कः [निघ० २,१८] ।
नक्ष गतौ इति धातुः ❀ । व्याप्नोतु । तथा वाम् युवाभ्याम् ।
❀ चतुर्थीद्विवचनस्य वाम् आदेशः ❀ । युवयोरर्थाय अध्वर्युः
एतन्नामा ऋत्विक् पयस्वान् । ❀ पीयतेः असुनि पयः ❀ ।
प्रीणनकारिपयोयुक्तः सन् प्र चरतु यजतु । हविर्ददात्वित्यर्थः ।
अथ अनन्तरम् हे अश्विना अश्विनौ तनायाः । ❀ तनोतेः पचा-
द्यजन्तात् स्त्रियां टापि तनेति भवति ❀ । पयोदध्याज्यरूपहविः-
प्रदानेन यज्ञं विस्तारयन्त्या उस्रियायाः । गोनामैतत् । घर्मदुघाया
दुग्धस्य मधोः मधुररसोपेतस्य मधुवत्प्रीणनकारिणो वा पयसः ।
❀ कर्मार्थे षष्ठी ❀ । पयः वीतम् भक्षयतं पातम् पिबतं च ।

❀ वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु। अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। पा पाने। "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक्॥

(इस ऋचाका भी 'वीतम्' 'पातम्' लिंगसे घर्मयाज्यास्वरूपसे विनियोग होता है) हे अश्विनीकुमारों! आप दोनोंमें होतासे भली प्रकार अभिष्टुत तपा हुआ महावीरस्थित घृत व्याप्त होवे, और आप पर प्रसन्न होता हुआ अध्वर्यु आपको हवि देवे। और आप दुग्ध दही घृतरूप हवि देकर यज्ञका विस्तार करने वाली गौके मधुकी समान तृप्त करने वाले दुग्धको पियो और भक्षण करो

सप्तमी॥

उप॑ द्रव॒ पय॑सा गोधुगो॒षमा घ॒र्मे सि॑ञ्च॒ पय॑ उ॒स्रिया॑याः।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योनुप्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति॥ ३॥

उप॑। द्र॒व॒। पय॑सा। गो॒ऽधु॒क्। ओ॒षम्। आ। घ॒र्मे। सि॒ञ्च॒। पयः॑। उ॒स्रिया॑याः।
वि। नाक॑म्। अ॒ख्य॒त्। स॒वि॒ता। वरे॑ण्यः। अ॒नु॒ऽप्रयान॑म्। उ॒षसः॑। वि। रा॒ज॒ति॥ ६॥

एषा ऋक् पयसा उप द्रवेति लिङ्गाद् घर्मदुघापयसि आह्रियमाणे होत्रा पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम्। हे गोधुक् घर्मदुघादोग्धरध्वर्यो त्वम् ओषम् तप्तं घर्मम्। ❀ उष प्लुष दाहे। अस्मात् कर्मणि घञ् ❀। रुचितं घर्मं पयसा दुग्धेन सह उप द्रव निकटम् आगच्छ। ❀ द्रु गतौ। भौवादिकः ❀। आगत्य च उस्रियायाः घर्मदुघाया धेनोः पयः क्षीरं घर्मे तप्ते आज्ये आ सिञ्च

आच्चारय। यतः वरेण्यः वरणीयः सविता सर्वस्य प्रेरक आदित्यः नाकम् दुःखेन असंभिन्नं सुखरूपं स्वर्गं व्यख्यत्। प्रकाशयतीत्यर्थः। ❀ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। अस्मात् लुङि ख्याञादेशे "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेः अङ् आदेशः। ख्या प्रकथने इत्यस्माद् वा लुङि पूर्ववत् अङ् ❀। स आदित्यः उषसः प्रयाणम् प्रकृष्टं गमनम् अनुलक्ष्य वि राजति विशेषेण दीप्यते। उषसोनन्तरं सूर्यः प्रादुर्भवतीत्यर्थः। तथा च आम्नातम् अन्यत्र। "सूर्यो देवीम् उषसं रोचमानां मर्यो न योषाम् अभ्येति पश्चात्" इति [ऋ० १. ११५. २.]। यस्माद् उदितः सूर्यः द्युलोकं स्वतेजसा प्रकाशयति अतः पयसा सह आगच्छ। आगत्य तत् पयः घर्मे आसिञ्च इति होता अध्वर्युं ब्रूते॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—"पयसा उप द्रव" इस लिंगसे होताको चाहिये, कि—घर्मदुघा (गौ) के दूधको लाते समय इस ऋचाका पाठ करे हे घर्मदुघाको दुहनेवाले अध्वर्यो! आप तपे हुए घृतके पास दूध लेकर आइये और आकर घर्मदुघा धेनुके दूधको तपे हुए घृतमें डालिये। क्योंकि—वरणीय सर्वप्रेरक सवितादेवताने दुःखके लेशसे शून्य स्वर्गलोकको प्रकाशित कर दिया है। और वह आदित्य उषाके प्रयाणको लक्ष्य कर विशेषरूपसे दिप रहे हैं ‡ ॥१६॥

‡ सूर्यदेव उषःकालके अनन्तर उदित होते हैं, इस विषयका ऋग्वेदसंहिता १। ११५। २ में भी वर्णन है, कि—"सूर्यो देवीं उषसं रोचमानां मर्यो न योषां अभ्येति पश्चात्"। इस मन्त्रमें होताने अध्वर्युसे कहा है, कि—उदित हुए सूर्यदेव अपने तेजसे द्युलोकको प्रकाशित करने लगे हैं अतः आप दूधके साथ आइये और आकर उस दूधको घृत पर छिड़किये॥

अष्टमी ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विष॒न्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥

उप॑ । ह्व॒ये॒ । सु॒ऽदुघा॑म् । धे॒नुम् । ए॒ताम् । सु॒ऽहस्तः॑ । गो॒ऽधुक् ।
उ॒त । दो॒ह॒त् । ए॒ना॒म् ।

श्रेष्ठ॑म् । स॒वम् । स॒वि॒ता । सा॒वि॒ष॒त् । नः॒ । अ॒भिऽइ॑द्धः । घ॒र्मः ।
तत् । ऊं॒ इति॑ । सु । प्र । वो॒च॒त् ॥ ७ ॥

एषा ऋक् उप ह्वये इति लिङ्गाद् दोहार्थं घर्मदुघाह्वाने विनियुक्ता। सुदुघाम् दोग्धुं सुशकाम्। ❀ दोग्धेः "ईषद् :सुदु०" इति खल् प्रत्ययः। हकारस्य घकारोपजनश्छान्दसः ❀। एतां पुरोवर्तिनीं धेनुम् उप ह्वये आह्वयामि। ❀ ह्वयतेः "निसमुपविभ्यो ह्वः" इति आत्मनेपदम् ❀। उत अपि च एनाम् आहूतां धेनुं सुहस्तः कल्याणहस्तः गोधुक् गोदोग्धा अध्वर्युः दोहत् दोग्धु। ❀ दुहेः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति अडागमः ❀। श्रेष्ठम् प्रशस्यतमम्। ❀ "प्रशस्यस्य श्रः" इति आदेशः ❀। सवम्। सूयते प्रेर्यत इति सवः पयः। ❀ एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः [नि० ११. ४३]। षू प्रेरणे इत्यस्मात् "जहसयौ छन्दसि" इति अच् प्रत्ययः ❀। तं सवं सविता सर्वस्य प्रेरको देवः नः अस्माकं साविषत् प्रेरयतु। ❀ षू प्रेरणे। अस्मात् लेटि "सिब्बहुलम्०" इति सिप्। इडागमः। "सिब्बहुलं छन्दसि णित्" इति णिद्भावाद् वृद्धिः। वृद्धौ आवादेशः ❀। घर्मः प्रवर्ग्यः अभीद्धः अभिदीप्तः अभिरुचितः। तत्। ❀ सुपो लुक् ❀।

च इति अवधारणे । तमेव दीप्तं घर्मं सु सुष्ठु प्र वोचत् प्रब्रवीति अभिष्टौति । अथ वा यस्माद् अभीद्धो घर्मः तत् तस्माद् घर्मं पय आसेचयितुं सुष्ठु प्रब्रवीति धेनुम् इति होतुः परोक्षेण अभि-धानम् । ॐब्रूञश्छान्दसो लुङ् । अमाङ्योगेपि" इति अडभावः॥।

("उपह्वये" इस लिंगसे दोहार्थ घर्मदुघाह्वानमें इस ऋचाका विनियोग होता है) मैं इस अच्छी प्रकार दुही जा सकने वाली धेनुका आह्वान करता हूँ, इस आहूत धेनुको कल्याणमय हाथ वाला गोधुक् अध्वर्यु दुहे । और इस सव ‡ उपनामक दूधको सर्वप्रेरक सविता देवता हमारे लिये प्रेरित करें (होता परोक्षरूप से कहता है, कि-) क्योंकि-घृत तप गया है अतः वह धेनुसे दूध डालनेके लिये कह रहा है ॥ ७ ॥

नवमी ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय

हिङ्ऽकृण्वती । वसुऽपत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा । निऽआगन् ।
दुहाम् । अश्विऽभ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् । महते । सौभगाय ॥ ८ ॥

‡ निरुक्त ११ । ४३ में कहा है, कि-"एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां यद् उदकं यद् वा पय इति हि यास्कः ।-यास्क मुनिका मत है, कि-यह जल और उदक सब सवोंमें श्रेष्ठ सव है" ॥

एषा ऋक् न्यागन्नित्यागमनलिङ्गाद् धेनौ आगच्छन्त्यां पठनीयेति आश्वलायनेनोक्तम्। हिङ्कृण्वती हिं इति शब्दानुकृतिः हिं कुर्वन्ति हि वत्सं प्रति गावः। हिङ्कारं कुर्वती वसूनाम् धनानां वसुपत्नी वसूनां पालयित्री। ❀ वसूनां वसुपत्नीत्यत्र शब्दद्वयवृत्तिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते ❀। एतादृशी धेनुः मनसा वत्सम् इच्छन्ती कामयमाना नि नितराम् आगन् आगच्छतु। ❀ गमेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀। आगता च इयम् अघ्न्या। गोनामैतत्। अहन्तव्या गौ अश्विभ्याम् देवताभ्याम्। मत्वर्थे अश्विनावेव यष्टव्यौ। तयोरर्थाय पयः क्षीरं दुहाम् दुग्धाम्। ❀ दुहेर्लोटि "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तकारलोपः ❀। सा धेनुः स्वयं च अस्माकं महते प्रभूताय सौभगाय सौभाग्याय सुधनत्वाय वर्धताम् समृद्धा भवतु॥

(आश्वलायन मुनिने कहा है, कि—"न्यागन्" इस आगमनलिंगसे धेनुके आते समय इस ऋचाका पाठ करना चाहिये) बछड़े की ओर हिं शब्द करती हुई, धनोंकी पालिका धेनु मनसे बछड़े को चाहती हुई आवे और यह अहन्तव्य अघ्न्या गौ अश्विनीकुमारोंके लिये दुग्धको दुहे। और वह धेनु स्वयं भी हमें बड़ा भारी सौभाग्य देनेके लिये समृद्ध होवे।

दशमी॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्। विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ १०॥

जुष्टः। दमूनाः। अतिथिः। दुरोणे। इमम्। नः। यज्ञम्। उप। याहि। विद्वान्।

विश्वाः । अग्ने । अभिऽयुजः । विऽहत्य । शत्रुऽयताम् । आ । भर । भोजनानि ॥ ९ ॥

हे अग्ने जुष्टः प्रीतः सर्वैः सेव्यमानो वा दमूनाः दान्त[मनाः] । ❀ दममना वा दानमना वा [दान्तमना वा] इति यास्कः [नि० ४. ४] ❀ । तादृशः अतिथिः अतिथिवत् पूज्यः । यद्वा दुरोणे अतिथिरिति संबन्धः । ❀ दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः इति हि निरुक्तम् [नि० ४. ५] ❀ । सर्वेषु यज्वगृहेषु अतिथिः अतनशीलः विद्वान् जानन् मदीयां त्वद्विषयभक्तिं जानन् नः अस्मदीयम् इमं यज्ञम् उप याहि समीपे आगच्छ । आगत्य च हे अग्ने विश्वाः सर्वाः अभियुजः अभियोक्त्रीः परसेना विहत्य विशेषेण हत्वा शत्रूयताम् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां भोजनानि भुज्यमानानि धनानि आ भर आहर । अस्मभ्यम् इति शेषः । ❀ "हृग्रहोर्भः" इति हरतेर्हकारस्य भकारः । शत्रूयताम् इति । शत्रुशब्दात् क्यचि "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः ❀ ॥

हे अग्ने ! सब आपकी सेवा करते हैं और आपका मन दान्त है और सकल यजन करने वालोंके घरमें आप जाते रहते हैं, अतः आप मेरी भक्तिको जान कर मेरे यज्ञमें आइये । और आकर हे अग्निदेव ! सब अभियोक्त्री सेनाओंको नष्ट कर शत्रुओं के भोगमें आते हुए धनको हमारे लिये लाइये ॥ ९ ॥

एकादशी ॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥ १० ॥

अग्ने । शर्ध । महते । सौभगाय । तव । द्युम्नानि । उत्ऽतमानि । सन्तु ।
सम् । जाःऽपत्यम् । सुऽयमम् । आ । कृणुष्व । शत्रुऽयताम् । अभि । तिष्ठ । महांसि ॥ १० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्माकं महते सौभगाय सुधनत्वाय शर्ध । आर्द्रहृदयो भवेत्यर्थः । अस्मभ्यं धनं दातुं सुमना भवेति यावत् । ❀ शृधु शृधु उन्दे । भौवादिकः । आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वेन पादादित्वाद् अनिघातः ❀ । तव द्युम्नानि द्योतमानानि तेजांसि उत्तमानि उद्गततमानि सन्तु भवन्तु । किं च जास्पत्यम् । जाया च पतिश्च जास्पती तयोः कर्म जास्पत्यम् । ❀ "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" इति यक् ❀ । तत् सुयमम् सुखयमम् अनन्यश्लिष्टं सम् आ कृणुष्व सम्यक्कुरु । यथा आवां जायापती त्वदेकपरिचरणवन्तौ भवाव तथा अनुगृहाणेत्यर्थः । सुयमम् इति । यमेः खल् प्रत्ययः घञ् प्रत्ययो वा ❀ । अपि च शत्रूयताम् शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां महांसि तेजांसि अभि तिष्ठ आक्राम । अभिभवेत्यर्थः ॥

हे अग्ने! आप हमको बहुतसा धन देनेके लिये आर्द्रहृदय हूजिये आपके प्रदीप्त तेज ऊपरको जाने वाले होजावें और जायापतीके के कर्मको आप अन्योन्यसंश्लिष्ट करिये, तात्पर्य यह है, कि–जिससे हम दोनों दम्पती एक आपकी ही सेवा करने वाले होवें और जो हमको शत्रु समझते हों उनके तेजको आप दबा दीजिये ॥

द्वादशी ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम ।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती

सुयवसऽअत् । भगवती । हि । भूयाः । अथ । वयम् । भगऽवन्तः । स्याम ।

अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्वऽदानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् । आऽचरन्ती ॥ ११ ॥

एषा ऋक् प्रवर्ग्ये परिधानीयात्वेन आश्वलायनेन विनियुक्ता । हे घर्मदुघे सुयवसात् शोभनतृणानि अदन्ती । अद भक्षणे इत्यस्मात् कर्मोपपदात् "अदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ । शोभनं यवसम् अदन्ती त्वं भगवती धनवती भाग्यवती वा भूयाः । हीति पूरणः । ❀ भवतेः आशीर्लिङि रूपम् ❀ । अथ अनन्तरं वयं भगवन्तः धनवन्तः स्याम भूयास्म । हे अघ्न्ये अहिंस्ये गौः विश्वदानीम् सर्वदा । ❀ कालार्थे "दानीं च" इति तदिदंशब्दाभ्यां विहितः छन्दोविषयत्वाद् विश्वशब्दादपि उत्पन्नः ❀ । सर्वदा तृणं घासम् अद्धि भक्षय । ❀ अद भक्षणे । लोटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" ❀ । तथा आचरन्ती सर्वतश्चरन्ती त्वं शुद्धम् निर्मलम् उदकं पिब च ॥

चतुर्थं सूक्तम् ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे षष्ठोऽनुवाकः ॥

(आश्वलायन मुनिने इस ऋचाका प्रवर्ग्यमें परिधानीयारूप से विनियोग किया है) हे धर्मदुघे ! तू शोभन तृणोंको खाती हुई भाग्यवान् बन, फिर हम भी धनी होवें । हे अहिंस्ये गौ ! तू सदा घासको खा और चारों ओर घूमती हुई शुद्ध निर्मल जलको पी ॥ ११ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (२६८) ॥

अथर्ववेदसंहिता सातवाँ काण्डमें छठा अनुवाक समाप्त ॥

सप्तमेऽनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "अपचिताम्" इति आद्ये सूक्ते प्रथमाभ्याम् ऋग्भ्यां प्रत्यृचं गण्डमालाभैषज्यार्थं सूत्रोक्तलक्षणेन धनुषा शरेण च गण्डमालां विध्येत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि कृष्णोर्णास्तुकावज्वालितम् उदकम् आभ्याम् अभिमन्त्र्य उषःकाले व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपचिताम् इति वैणवेन दार्भूषेण कृष्णोर्णाज्येन" इत्यादि [कौ० ४. ८] ॥

ईर्ष्याविनाशकर्मणि "त्वाष्ट्रेणाहम्" इत्येनाम् ईर्ष्यावन्तं दृष्ट्वा जपेत् ॥

तथा ईर्ष्यावते अनया सक्तुमन्थम् अभिमन्त्र्य दद्याद् ईर्ष्यावन्तं स्पृष्ट्वा वा जपेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "त्वाष्ट्रेणाहम् इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" इति [कौ० ४. १२] ॥

दर्शपूर्णमासयोः व्रतोपायने "व्रतेन त्वं व्रतपते" इत्येषा विनियुक्ता । "व्रतम् उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १. १] ॥

"प्रजानतीः इति अनुवस्य गोपुष्टिकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"आ सुस्रसः" इति द्वाभ्यां गण्डमालाभैषज्यकर्मणि शङ्खं घृष्ट्वा अभिमन्त्र्य शुनकलालां वा अभिमन्त्र्य गण्डमालां प्रलिम्पेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन अृचेन जलूकां गृहगोधिकां वा अभिमन्त्र्य रुधिरमोक्षार्थं गण्डमालास्थाने संश्लेषयेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि सैन्धवलवणं चूर्णयित्वा अनेन अृचेन अभिमन्त्र्य गण्डमालास्थाने विकीर्य तूष्णीं निष्ठीवेत् ॥

सूत्रितं हि । "अपचिताम् [७. ७८] आ सुस्रसः [७,८०] इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति" इति [कौ० ४. ७] ॥

तथा गण्डमालाभैषज्यकर्मण्येन "अपचितां लोहिनीनाम्" इत्यत्रोक्तानि कर्माण्यपि अनेन तृचेन कुर्यात् । सूत्रमपि तत्रैवो-दाहृतम् ॥

राजयक्ष्मभैषज्यार्थं "यः कीकसाः" इति तृचेन वीणातन्त्री-खण्डं बाघखंडं शङ्खखंडं वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि "यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति" इत्यादि[कौ० ४.८] ॥

सप्तम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमें "अपचिताम्" इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे प्रत्येक ऋचा पर गण्डमाला की चिकित्साके लिये सूत्रोक्त रीतिसे धनुष और बाणसे भी गंड-मालाको बींधे । और काले ऊनके स्तुकसे तपे हुए जलको इन ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके उषःकालके समय रोगी पर अव-सेचन करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि–"अपचितां इति वैणवेन दार्भ्येण कृष्णोर्णज्येन" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

ईर्ष्याविनाशकर्ममें "त्वाष्ट्रेणाहम्" ऋचाका ईर्ष्यावान्को देख कर जप करे ।

तथा इस ऋचासे सक्तुमन्थका अभिमन्त्रण करके ईर्ष्या वाले को देदेय, वा ईर्ष्या वालेको देख कर इस ऋचाका जप करे ।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि–"त्वाष्ट्रेणाहं इति प्रतिजापप्रदानाभिमर्शनानि" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

दर्शपूर्णमासके व्रतोपायनमें 'व्रतेन त्वं व्रतपते' ऋचाका विनि-योग किया जाता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि–"व्रतं उपैति व्रतेन त्वं व्रतपते" ॥

"प्रजावतीः" इस ऋचका गोपुष्टिकर्म में विनियोग कहा है ।

"आ सुस्रसः" इन दो ऋचाओंसे गण्डमालाकी चिकित्साके

कर्म में शंखको घिस कर अभिमन्त्रित करके गण्डमाला पर पोत देय वा कुत्तेकी लारको अभिमंत्रित करके गण्डमाला पर पोत देय।

तथा तहाँ ही कर्म में इस ऋचसे जौंक वा छिपकलीको अभिअभिमन्त्रित करके रुधिर चूँसनेके लिये गण्डमालाके स्थानमें लगा देय।

तथा तहाँ ही कर्म में सैंधा नमकका चूरा करके इन दोनों ऋचाओंसे अभिमन्त्रित करके गण्डमालाके स्थानमें बुरक कर चुप चाप थूकना आरम्भ करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है,कि–"अपचितास् (७।७८) आ सुस्रः (७।८०) इति किंस्त्यादीनि लोहितलवणं संक्षुद्याभिनिष्ठीवति" (कौशिकसूत्र ४। ७) ॥

तथा गण्डमालाकी चिकित्साके कर्म में ही "अपचितां लोहनीनाम्" में कहे हुए कर्मोंको भी इस ऋचसे करे। सूत्र भी तहाँ ही कहा है।

राजयक्ष्मा रोगकी चिकित्साके लिये, "यः कीकसाः" ऋचसे वीणातन्त्रीखण्डको, वाघखण्डको वा शंखखण्डको सम्पातित औरअभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का प्रमाण भी है, कि–"यः कीकसा इति वीणातन्त्रीं बध्नाति०"

तत्र प्रथमा ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अपऽचिताम्। लोहिनीनाम्। कृष्णा। माता। इति। शुश्रुम।
मुनेः। देवस्य। मूलेन। सर्वाः। विध्यामि। ताः। अहम् ॥१॥

दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गलाद् आरभ्य अधस्तात् कक्षा-

दिसंधिस्थानेषु प्रसृता गण्डमालाः अपचितः । यद्वा अपचिन्वन्ति पुरुषस्य वीर्यम् इति अपचितः । ❀ अपपूर्वात् चिनोतेः कर्तरि कर्मणि वा क्विप् । "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" ❀ । ताश्च लोहिन्यः लोहितवर्णाः । ❀ लोहितशब्दात् "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः ❀ । वर्णभेदविशिष्टा गण्डमालाप्रभेदाः षष्ठकाण्डे "अपचितः प्र पतत" इति [६. ८३] सूक्ते स्पष्टम् उक्ताः । लोहितवर्णानाम् अपचितां कृष्णा कृष्णवर्णा रोगनिदानभूता पिशाची माता जननी उत्पादयित्रीति शुश्रुम श्रुतवन्तः स्म । ❀ शृणोतेर्लिटि उत्तमबहुवचने "कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि" इति इण्निषेधः ❀ । मातृकीर्तनेन अपचितः रोगान्तरवत् साधारणौषधादिना परिहरणीया न भवन्तीति द्योत्यते। ताः पूर्वोक्तदुःसाधाः सर्वा अपचितः मुनेः मननीयस्य देवस्य द्योतमानस्य । अथर्वण इत्यर्थः । मूलेन । ❀ मूल प्रतिष्ठायाम् इति धातुजोयं शब्दः ❀ । अथर्वसंबन्धिना सर्वकारणभूतसामर्थ्येन । तदात्मना भावितेन शरेणेत्यर्थः । तेन शरेण अहं प्रयोक्ता विध्यामि विदारयामि । यद्वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो वृक्षविशेष उच्यते । मुनेर्मननीयस्य स्तुत्यस्य देवस्य देवरूपस्य वनस्पतेः । तस्य देवतात्मकत्वम् "अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देवयन्तः" [ऋ० ३. ८. १] इत्यादिषु स्पष्टम् अवगम्यते । तस्य मूलेन मूलवत् सारभूतो यो वृक्षस्यांशस्तन्निर्मितेन मूलप्रदेशनिर्मितेन वा शरेण विध्यामि । अथ वा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदार्भूपसंज्ञको वृक्ष उच्यते । तस्य मूलेन सामर्थ्याधायकेन शरेण विध्यामीति संबन्धः । अभिष्यस्य हि धनुषः सामर्थ्यम् इषुविसर्जनेन गम्यते इति तस्य मूलभूतः शर इत्युक्तम् । केचिद् आहुः । मुनेः मन्युमतः देवस्य । ❀ दीव्यतेर्विजि गीषार्थात् पचाद्यच् ❀ । विजयमानस्य क्रोधवतः क्रूरस्य ।

रुद्रस्य इत्यर्थः । तस्य मूलेन प्रधानभूतवीर्यरूपेण शत्रून्मूलनसाधनेन वा शरेण विध्यामि । गण्डमालावेधनसाधनभूतोयं शरः लौकिकः शरो न भवति किं तु असुरपुरनिर्भेदकस्य रुद्रस्य संबन्धी शरोयम् इति लौकिकशरस्य रुद्रशरात्मना भावनम् इति । रुद्रस्य पुरनिर्भेदनार्थम् इषुविसर्जनं तैत्तिरीये समाम्नायते । "त इषुं समस्कुर्वत । अग्निम् अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम् तेब्रुवन् क ईमाम् असिष्यतीति । रुद्र इत्यब्रुवन् । रुद्रो वै क्रूरः । सोस्यतु" इति [तै० सं० ६, २, ३. १]। एतद्ध उक्त भवति । पापदेवतानिष्पादिता गण्डमाला अहं भैषज्यकर्ता लौकिकेन शरेण न विध्यामि किं तु रुद्रस्य शरेणेति ॥

(दोषवश नीचेको फैलने वाली गलेसे लेकर नीचेके बगल आदि संधिस्थानोंमें फैली हुई) गण्डमालाएँ अपचित् कहलाती हैं और वह पुरुषके वीर्यका अपचिन्वन कर डालती हैं, उन) लोहित वर्ण वाली अपचित्-गण्डमालाओंकी माता रोगनिदानभूता माता कृष्णवर्णा पिशाची कृष्णा है यह हम सुनते हैं (माताका कीर्तन करके यह सूचित किया है, कि-अन्य रोगोंकी समान साधारण औषधि आदिसे इनकी चिकित्सा नहीं होसकती अतः) इन दुःसाध्य सब अपचितोंको मैं प्रकाशवान् अथर्वा मुनिके सबके कारणरूपसे भावित शरसे बींधता हूँ (वा मननीय अर्थात् स्तुत्य देवरूप वनस्पतिके मूलकी समान सारभूत अंशसे निर्मित वा जड़से निर्मित बाणसे हम अपचितोंको बींधते हैं, वनस्पतिका देवतात्मकत्व ऋग्वेदसंहिता ३ । १ । ८ में स्पष्टरूपसे वर्णित है, कि-"अञ्जन्ति त्वां अध्वरे देवयन्तः"॥ अथवा वेणुदाभूष नामक वृक्षके मूलसे बने बाणसे बींधता हूँ । अथवा क्रोध वाले रौद्रदेवके प्रधानभूतवीर्यरूप शत्रून्मूलनसाधन बाणसे बींधता हूँ । तात्पर्य यह है, कि-गण्डमालाको वेधनेका साधनभूत यह बाण लौकिक

बाण ही नहीं है, किन्तु असुरपुरध्वंसक रुद्रसम्बन्धी है। इस प्रकार रुद्ररूपसे इसकी भावना की गई है। पुरोंको भेदनेके लिये रुद्रदेवका बाण छोड़ना तैत्तिरीयसंहिता ६।२।३।१ में कहा है, कि-"त इषुं समस्कुर्वत। अग्निं अनीकं सोमं शल्यं विष्णुं तेजनम्। तेऽब्रुवन् क इमां असिष्यतीति। रुद्र इत्यब्रुवन्। रुद्रो वै क्रूरः सोऽस्यतु।-उन्होंने बाण बनाना आरम्भ किया। अग्निको अनीक बनाया। सोमको फलक बनाया। विष्णुको बाँस बनाया। फिर उन्होंने कहा, कि—इसको कौन छोड़ेगा, तब उन्होंने फिर कहा, कि—रुद्र इसके योग्य हैं। रुद्रदेवता क्रूर हैं अतः वह इसको छोड़ें।" तात्पर्य यह है, कि-इस पाप देवता से निष्पादित गण्डमालाको मैं चिकित्सक लौकिकशरसे नहीं बींधता हूँ किंतु रुद्रदेवके बाणसे बींधता हूँ)॥ १॥

द्वितीया ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

विध्यामि। आसाम्। प्रथमाम्। विध्यामि। उत। मध्यमाम्। इदम्। जघन्याम्। आसाम्। आ। छिनद्मि। स्तुकाम्ऽइव २

दोष-प्रकर्षसाम्याल्पत्वभेदेन गण्डमालास्त्रिविधाः। तासाम् अपसारणम् अनया उच्यते। आसाम् अपचितां मध्ये प्रथमाम् मुख्यां दोषप्रकर्षेण उद्भूतां दुश्चिकित्सामपि गण्डमालां विध्यामि। मुनेद्रवस्य मूलेनेति संबन्धः अस्या अपि ऋचः शरेण वेधने विनियुक्तत्वात्। उत अपि च मध्यमाम् दोषसाम्येन उद्भूतां नातिदुःसाधाम्। सुसाधाम् इत्यर्थः। तादृशीम् अपचितं विध्यामि शरेण। तथा इदम् इदानीम् आसाम् अपचितां मध्ये जघन्याम् अल्पदोष-

समुद्भूताम् ईषत्प्रयत्नेन निर्हरणीयां गण्डमालाम् आ छिनद्मि सर्वतो विदारयामि। ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे। रुधादिः ❀। छेदने दृष्टान्तः स्तुकाम् इवेति। यथा ऊर्णास्तुका अनायासेन छिद्यते तथेति॥

(दोषके प्रकर्ष साम्य और अल्पत्वके भेदसे गण्डमालाओंके तीन भेद हैं। उनके अपसारणका इसमें वर्णन है, कि-) इन गण्डमालाओंमें दोषप्रकर्षके कारण मुख्य उभरी हुई दुश्चिकित्स्य गण्डमालाको भी मैं (जड़के बने बाणसे) वेधता हूँ और मध्यम अर्थात् दोषसाम्यसे उद्भूत अतिदुःसाध्य नहीं किंतु सुसाध्य गण्डमालाको भी बींधता हूँ और इन गण्डमालाओंमें जो निकृष्ट अल्पदोषसे उभरी हुई अत एव थोड़े ही प्रयत्नसे दूर करने योग्य गण्डमाला है उसको मैं इस प्रकार बींध डालूँगा जिस प्रकार ऊर्णास्तुकाको अनायास ही छेद डाला जाता है॥ २॥

तृतीया॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्यामंमीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेण। अहम्। वचसा। वि। ते। ईर्ष्याम्। अमीमदम्।

अथो इति। यः। मन्युः। ते। पते। तम्। ऊं इति। ते। शमयामसि॥ ३॥

हे ईर्ष्योपेत पुरुष ते तव ईर्ष्याम् क्रोधं स्त्रीविषये क्रियमाणं त्वाष्ट्रेण। अवयवविभागकर्ता त्वष्टा। श्रूयते हि। "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" इति [तै० सं० १. ५. ६. २]। तत्संबन्धि त्वाष्ट्रम्। तेन वचसा वाक्येन मन्त्रेण अहं प्रयोक्ता स्त्री वा व्यमीमदम् विगत-

मदां करोमि । निवारयामीत्यर्थः । ईर्ष्याया मदो नाम उद्रेकः । ईर्ष्याम् उद्रेकरहितां करोमीति यावत् । न केवलम् ईर्ष्योद्रेकशमनम् । अथो अपि तु हे पते वल्लभ ते तव यो मन्युः क्रोधः मद्विषयः ते तव तं क्रोधं शमयामसि शमयामः । उ इत्यवधारणे । अत्रापि त्वाष्ट्रेण वचसा इति संबध्यते । यथा लोके दुष्टाः पुत्राः पितुराज्ञया दुर्व्यसनाद् निवर्तन्ते एवं पुरुषगतेर्ष्याविनाशने सर्वोत्पादकस्य त्वष्टुरुक्तिः करणत्वेनोक्ता ॥

हे ईर्ष्याके चक्करमें पड़े हुए व्यक्ति ! मैं तेरे स्त्री वा पुरुषविषयक क्रोधको त्वष्टा ‡ देवके मन्त्ररूप वचनसे मदरहित करता हूं अर्थात् निवारण करता हूं और हे पते ! आपका मुझ पर जो क्रोध है उसको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥

व्रतेन । त्वम् । व्रतऽपते । सम्ऽअक्तः । विश्वाहा । सुऽमनाः । दीदिहि । इह ।

---

‡ त्वष्टा देवता अवयवोंका विभाग करने वाले हैं। श्रुतिमें भी कहा है, कि—"यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते।—त्वष्टा देवता सिक्त वीर्यके जितने रूप बनाते हैं उतने रूपमें वह वीर्य उत्पन्न होता है" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । २) अत एव उन पितारूप सर्वोत्पादक त्वष्टादेवके वचनसे क्रोधको शान्त करना कहा है। क्योंकि—दुष्टभी पुरुष भी पिताकी आज्ञा पाने पर दुराचरणसे निवृत्त होजाते हैं ॥

तम् । त्वा । वयम् । जातऽवेदः । सम्ऽइद्धम् । प्रजाऽवन्तः । उप । सदेम । सर्वे ॥ ४ ॥

हे व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालयितः । कर्मफलप्रदातृत्वाद् व्रतपतिस्त्वम् अग्नेः । "त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि" इति [तै० सं० १. २. ११. १] मन्त्रान्तरम् व्रतेन अनुष्ठीयमानेन दर्शपूर्णमासादिकर्मणा समक्तः संस्कृतः संभावितः । सम्यग् इष्ट इत्यर्थः । ❀ अञ्जेः कर्मणि निष्ठा ❀ । एवंविधस्त्वं विश्वाहा विश्वेषु अहस्सु सर्वदा सुमनाः शोभनमनस्कः अस्मद्विषये अनुग्रहबुद्धियुक्तः सन् इह अस्मिन् अस्मदीये गृहे दीदिहि । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मेति यास्कः ❀ । दीप्यस्व । हे जातवेदः जातानां भूतानां वेदितः जातैर्विद्यमान ज्ञायमान वा जातप्रज्ञ जातधन वा हे अग्ने समिद्धम् सम्यग्दीप्तं तं पूर्वोक्तगुणं त्वा त्वां प्रजावन्तः प्रजायन्त इति प्रजाः पुत्रपौत्रादिसमेताः सर्वे वयम् उप सदेम उपसद्यास्म तव परिचरणं क्रियास्म । ❀ सदेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ्प्रत्ययः ❀ ॥

हे व्रतपते † ! अर्थात् कर्मफल देनेके कारण कर्मके स्वामिन् अग्ने ! आप इस अनुष्ठीयमान दर्श पूर्णमास आदि कर्मसे भली प्रकार पूजा पाकर सब दिनोंमें हम पर अनुग्रहबुद्धि रखते हुए हमारे घरमें प्रज्वलित रहिये । हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! प्रदीप्त आपकी हम सब पुत्र पौत्र आदिसहित उपासना कररहे हैं ४

पञ्चमी ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।

---

† तैत्तिरीयसंहिता १ । २ । ११ । १ में कहा है, कि-"त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि" ॥

मा वं स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु

प्रजाऽवतीः । सुऽयवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सुऽप्रपाने ।
पिबन्तीः ।
मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघऽशंसः । परि । वः । रुद्रस्य ।
हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

प्रजावतीरित्येषा पञ्चमी व्याख्याता [४. २१. ७] ॥

पुत्र पौत्र आदि से सम्पन्न, शोभन तृण वाले देशमें घासका भक्षण करती हुई, सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल जलको पीती हुई तुमको चोर न हर सके और तुमको मारना चाहने वाला व्याघ्र आदि भी तुम्हारा हरण न कर सके और ज्वरके अभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़ देय ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः ।
उप मा देवीर्देवेभिरेत ।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥ २ ॥

पद्ऽज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम्ऽहिताः । विश्वऽनाम्नीः ।
उप । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इत ।
इमम् । गोऽस्थम् । इदम् । सदः । घृतेन । अस्मान् । सम् । उक्षत

हे रमतयः । गोनामैतद् । तदुक्तम् आपस्तम्बेन । "चिद् असि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सूनुः सूनरीत्युच्चैरुपह्वे सप्त

मनुष्यगवीः" [आप० ४. १० ४] इति पयःप्रदानादिना रम-यित्र्यो धेनवः । ❀ रमु क्रीडायाम् । औणादिकः अतिप्रत्ययः ❀ । पदज्ञाः सहचरीणां गवां पदानि जानत्यः स्थ भवथ । यद्वा पद्यते गम्यत इति पदं गृहं तज्जानत्यः स्थ । गोसंचरस्थाने चरित्वा पुनरस्मदीयमेव गृहं ज्ञात्वा आगच्छन्त्यो भवतेत्यर्थः । गा विशि-नष्टि । संहिताः वत्सैः सहिताः अन्यगवीभिर्वा सहिताः परस्परम् आनुकूल्यं प्राप्ताः । विश्वनाम्नीः व्याप्तनामधेयाः ❀ "वा छन्दसि" इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । सर्वत्र प्रसिद्धसंज्ञाः बहुविधनाम-धेया वा । एकस्या गोरनेकसंज्ञासद्भावस्तैत्तिरीये समाम्नायते । इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि" इति [तै० सं० ७. १. ६. ८] । यद्वा विश्वं जगत् नमयन्ति स्वात्माभिमुखं कुर्वन्तीति विश्वनाम्न्यः । क्षीरादि-लाभाय हि सर्वे धेनूः प्रार्थयन्ते । अत एव हे देवीः देव्यः दीव्यन्त्यो गावो यूयं देवेभिः देवैर्दीव्यद्भिः स्वकीयवत्सादिभिः सह मा मां पुष्टिकामम् उपैत समीपम् आगच्छत । ❀ इण् गतौ । लोटि मध्यमबहुवचने रूपम् ❀ । आगत्य च इमम् अस्मदीयं गोष्ठम् गावस्तिष्ठन्ति अत्रेति गोष्ठः गोनिवासस्थानम् । ❀ गोशब्दोप-पदात् तिष्ठतेः अधिकरणे कः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इति सका-रस्य मूर्धन्यादेशः ❀ । इदम् अस्मदीयं सदः सीदन्त्यत्रेति सदो गृहम् अस्मान् गोष्ठगृहस्वामिनश्च घृतेन घृतोत्पादकेन पयसा घृतेन वा समुक्षत सम्यक् सिञ्चत । ❀ उक्ष सेचने ❀ । यथा गव्य-समृद्धिर्भवति तथा यूयम् अस्मद्गृहेषु समृद्धा भवतेत्यर्थः ॥

हे दुग्ध आदि प्रदान कर आनन्दित करने वाली रमतियों +

+ आपस्तम्ब मुनिने गौओंके अनेक नाम लिखे हैं; कि-"चिदसि मनासि धीरसि रन्ती रमतिः सूनुः सूनरीत्युच्चैरुपह्वये सप्त मनुष्यगवीः ।" (आपस्तम्ब ४ । १० । ४) ॥

गौओं! तुम अपने निवास स्थानको जानती हो अर्थात् जंगलमें चरनेके स्थानमें चर कर फिर हमारे घरको जान कर आजाया करती हो और बछड़ोंसे अनुकूलता रखती हो। आपके बहुतसे × नाम हैं वा आप सबको दुग्ध आदि देकर अपने अनुकूल बना लेती हैं अत एव सब धेनुओंकी प्रार्थना करते हैं। इस प्रकारकी दमकती हुई तुम अपने दमकते हुए बछड़ोंके साथ मुझ पुष्टिकी कामना वालेके पास आओ और आकर हमारे गोठको हमारे घरको और हम गृहस्वामियोंको भी घृतके उत्पादक दुग्ध से वा घृतसे भली प्रकार समुचित करो। तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार गव्यसमृद्धि हो तिस प्रकार तुम हमारे घरोंमें बढ़ो २

सप्तमी ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः ।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

आ । सुऽस्रसः । सुऽस्रसः । असतीभ्यः । असत्ऽतराः ।
सेहोः । अरसऽतराः । लवणात् । विऽक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचित इत्युत्तरमन्त्रेऽभिधानाद् अत्रापि अपचित एवोच्यन्ते । सुस्रसः अत्यर्थं स्रवन्त्यः सर्वदा पूयादिस्रवणशीलाः। ❀ सुपूर्वात् स्रंसतेः क्विप् । "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" इति नकारलोपः ❀ । अत एव असतीभ्यः सतीविरुद्धा असत्यः बाधिका रोगव्यक्तयस्ताभ्योपि असत्तराः अत्यर्थम् असत्यो

× एक गौके अनेक नामोंका होना तैत्तिरीयमें कहा है, कि-"इडे रन्ते दिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि ।-हे अघ्निये गौ! तेरे इडा रन्ता सरस्वती दिति प्रिया प्रेयसी मही ये नाम प्रसिद्ध हैं" (तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । ६ । ८)॥

बाधिका एवंविधा अपचिन्नामिका गण्डमालाः आसुस्रसः आ समन्तात् निरवशेषं स्रवणशीला भवन्तु। मन्त्रौषधप्रयोगेण निःशेषं स्रवणेन विनश्यन्तु इत्यर्थः। अपचितो विशिनष्टि। शेहोः शेहु-र्नामविप्रकीर्णावयवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः तस्मा-दपि अरसतराः निःसारतराः। अपचितो हि पाकावस्थातः पूर्वम् अबाधिका इव दृश्यन्ते। पश्चात् कक्षादिसंधिप्रदेशेषु व्याप्ता व्रण-रूपेण बाधन्ते। रोगप्रादुर्भावकाले स्वरूपापरिज्ञानेन अरसत्वम् उक्तम्। पाकोत्तरकालं कृत्स्नावयवव्याप्त्यनन्तरं लवणात् सर्वदा स्रवणशीलत्वेन प्रसिद्धात् एतन्नामधेयात् पदार्थादपि विक्लेदी-यसीः अतिशयेन विविधं क्लेदनवत्यः। यथा लवणो यत्रकुत्रापि निहितोपि सर्वदा स्रवति।तस्मादपि पाकावस्थोत्तरकालं सर्वाङ्ग-संधिषु पूयादिस्रवणशीला भवन्ति। एतादृश्योऽपचितः आसुस्रसो भवन्त्विति संबन्धः। ❀ विक्लेदीयसीरिति। विविधः क्लेदो यासां ता विक्लेदाः अतिशयेन विक्लेदा विक्लेदीयस्यः। "द्वि-वचनविभज्योपपदे०" इति ईयसुन् प्रत्ययः। "टेः" इति टिलोपः। "वा छन्दसि" इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀॥

ग्रीवामें रहने वाली गण्डमालायें सदा पीपको बहाती रहती हैं वे सती बाधिका रोगव्यक्तियोंसे भी अधिक पीड़ा देती हैं अत एव असती हैं, ये गण्डमालायें मन्त्र तथा औषधिके प्रयोग से बहुत ही बहने लगें अर्थात् नष्ट होजावें। ये गंडमालायें विप्र-कीर्ण अवयव वाले अत्यन्त निःसार तूलादिरूप सेहुसे भी अधिक निःसार हैं, (क्योंकि-ये अपचित् पाकावस्थासे पहिले पीड़ा न देने वालीसीं दीखती हैं, फिर बगल आदि संधिप्रदेशोंमें व्याप्त हो व्रणरूपसे पीड़ा देती हैं, अतएव रोगप्रादुर्भाव कालमें स्वरूप का ज्ञान न होनेके कारण इनको अरस कहा है) और यह लवण से भी अधिक बहने वाली हैं (अर्थात् पाकके अनन्तर सारे शरीर

में व्याप्त होजाने पर सदा स्रवणशील लवणकी समान सर्वांग-संधियोंसे बहती रहती हैं ऐसी अपचित् भी और अधिक बहैं १ अष्टमी ॥

या ग्रैव्या॑ अप॒चितोऽथो॒ या उ॑पप॒क्ष्याः॑ ।
वि॒जाम्नि॒ या अ॑प॒चितः॑ स्वयं॒स्रसः॑ ॥ २ ॥

याः । ग्रैव्याः॑ । अ॒प॒ऽचितः॑ । अथो॒ इति॑ । याः । उ॒प॒ऽप॒क्ष्याः॑ ।
वि॒ऽजाम्नि॑ । याः । अ॒प॒ऽचितः॑ । स्व॒य॒म्ऽस्रसः॑ ॥ २ ॥

ग्रैव्याः ग्रीवायां भवाः गलप्रदेशे उत्पन्नाः । ❀ ग्रीवाशब्दात् "ढ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्" इति "तत्र भवः" इत्यर्थे ढ्यप्रत्ययः । "ग्रीवाभ्योण् च" इति अण्प्रत्यये तु ङीपि यणादेशे च कृते ग्रैव्य इति भवति ❀। ग्रीवाभवा या अपचितः । अथो अपि च उपपक्ष्याः उपपक्षे पक्षसमीपे उपकक्षे भवा या अपचितः । विजाम्नि विशेषेण जायते अपत्यम् अत्रेति विजामा गुह्यप्रदेशः । ❀ जायतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति मनिन् । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति प्रत्ययविशेषे विहितम् आत्वं छन्दोविषयत्वाद् अस्मिन्नपि भवति ❀ । विजाम्नि गुह्यप्रदेशे तदुपलक्षिते ऊरुसंधौ या अपचिताः दोषवशाद् अपाक् चीयमाना गण्डमालास्ताः सर्वाः स्वयंस्रसः स्वयं स्रवणशीलाः मन्त्रौषधप्रयोगेण निरवशेषं स्रवन्त्यो भवन्तु इति तच्छब्दाध्याहारेण वाक्यं पूरणीयम् । यद्वा स्वयंस्रसः तारायौषधप्रक्षेपाभावेपि दोषातिरेकवशाद् ग्रीवोपपक्षोरुसंधिस्थानेषु व्रणरूपेण पूयादिस्रवणशीला या अपचितः सन्ति ताः सर्वाः आशुस्रसो भवन्तु इति पूर्वमन्त्रेण संबन्धः । या ग्रैव्या इत्युत्तरमन्त्रे यच्छब्दश्रुतेः आशुस्रस इति पूर्वमन्त्रे तच्छब्दं विनापि वाक्यं पूर्यते ॥

गलेकी गण्डमालाएँ, बगलमें होने वाली कक्षहारियें गुह्यप्रदेश आदि की अपचित् जो दोषवश बढ़ जाती हैं वे मन्त्र और औषधिके प्रयोगसे अपने आप बहने लगें ॥ २ ॥

नवमी ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥३॥

यः । कीकसाः । प्रऽशृणाति । तलीद्यम् । अवऽतिष्ठति ।
निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥ ३ ॥

यो राजयक्ष्माख्यो रोगः कीकसाः अस्थीनि प्रशृणाति प्रसरति व्याप्नोति । अस्थिपर्यन्तं व्याप्नोतीत्यर्थः । ❀ सरतेर्विकरणव्यत्ययः ❀ । यश्च रोगः तलीद्यम् । तलिद्द इति अन्तिकनाम । अन्तिके भवं तलीद्यम् । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । इकारस्य दीर्घश्छान्दसः ❀ । अस्थिसमीपगतं मांसम् अवतिष्ठति अवक्रम्य तिष्ठति । मांसं शोषयतीत्यर्थः । यः कश्चित् दुःसाधो राजयक्ष्माख्यो रोगः ककुदि ककुन्नाम ग्रीवापरभागः तस्मिन् श्रितः संश्रितः ककुत्स्थानं तनूकुर्वन् यो रोगोस्ति तं सर्वं शरीरगतसर्वधातुशोषकं जायान्यम् निरन्तरजायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगं निर्हाः निर्हरतु । मन्त्रसंस्कृतम् औषधम् अग्न्यादिसंज्ञको वा देवः विनाशयतु । ❀ हरतेश्छान्दसे लुङि रूपम् ❀ । जायान्यशब्दो रोगविशेषपरः । स च जायासंबन्धेन प्राप्नोतीति तैत्तिरीयके समाम्नायते । "प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञे ददात् । तासां रोहिणीम् उपैत्" इति प्रक्रम्य समाम्नायते । "तासां रोहिणीम् एवोपैत् । तं यक्ष्म आर्छत् । तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत्

पापीयान् अभवत् तद् पापयक्ष्मस्य यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य । य एवम् एतेषां जन्म वेद नैनम् एते यक्ष्मा विन्दन्ति” इति [तै० सं० २. ३. ५. २]। तत्र जायेन्य इति पठ्यते अत्र तु जायान्य इति आकारवत्त्वेन इति विशेषः ॥

जो राजयक्ष्मा नाम वाला रोग हड्डियोंतकमें व्याप्त होजाता है और अस्थियोंके पासके मांसको खेंच लेता है और जो (दुःसाध्य) यक्ष्मारोग ककुदमें होजाता है, उन शरीरगत सब धातुओंको सोखने वाले निरन्तर जायासंभोगसे उत्पन्न हुये जायान्य ‡ क्षयरोगोंको (मन्त्रसंस्कृत औषध वा अग्नि आदि देवता) नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

दशमी॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।

---

‡ जायान्य शब्द रोगविशेषका वाचक है और इसके जायाके संबंधसे प्राप्त होनेका वर्णन तैत्तिरीयकमें वर्णित है, कि–“प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन् । ताः सोमाय राज्ञेऽदाद् । तासाम् रोहिणीं एवोपैत् ।–प्रजापतिकी तैंतीस पुत्रियें थीं, उनको प्रजापतिने राजा चन्द्रमाके अर्पण कर दिया, वह उनमेंसे रोहिणी पर ही आसक्त रहा” इसका आरंभ कर आगे कहा है, कि–“तासां रोहिणीमेवोपैत् । तं यक्ष्म आर्च्छत् तद् राजयक्ष्मस्य जन्म । यत् पापीयान् अभवत् तत् पापयक्ष्मस्य । यज्जायाभ्योन्वविन्दत् तज्जायेन्यस्य । य एवं एतेषां जन्म वेद नैनं एते यक्ष्मा विन्दन्ति ।–जब वह रोहिणीमें ही आसक्त रहा तब यक्ष्मा रोगने उसको घेर लिया । यही राजयक्ष्माका जन्म है । जो पापीय होगया यही पापयक्ष्माका जन्म है । और जो जायाओंसे प्राप्त हुआ यही जायान्यकी व्युत्पत्ति है । जो इस प्रकार इनके जन्मको जानता है उसको ये यक्ष्मा रोग प्राप्त नहीं होते हैं” ॥

तदचितस्य भेषजमुभयोः सुचितस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् ।

तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सुऽक्षतस्य । च ॥ ४ ॥

जायान्यः क्षयरोगः पक्षी पक्षवान् पतत्री भूत्वा पतति सर्वत्र चरति । स रोगः पूरुषम् पुरुषम् आ विशति सर्वतः प्रविशति । पुरुषस्य कृत्स्नं शरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । अक्षितस्य । ❀ क्षि निवासगत्योः ❀ । शरीरे चिरकालावस्थानरहितस्य । सुक्षितस्य चिरकालम् अवस्थितस्य । यद्वा ❀ । क्षणु हिंसायाम् इति धातुः । इकारोपजनश्छान्दसः ❀। अक्षितस्य अहिंसकस्य शरीरम् अशोषयतः सुक्षितस्य शरीरगतसर्वधातून् सुष्ठु निःशेषं शोषयतः । ❀ चशब्दः समुच्चये ❀ । उभयोः अक्षितसुक्षितयोः क्षयरोगयोः तत् प्रसिद्धं मन्त्राभिमन्त्रितं वीणातन्त्रीखण्डादिरूपं भेषजम् निवर्तनौषधं भवति ॥

[इति] सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जायान्य नामक क्षयरोग पर वाला (सा) बन कर सर्वत्र विचरण करता है। वह रोग पुरुषके सारे शरीरमें व्याप्त होजाता है, वह चिरकालके नहीं किन्तु थोड़े समयसे शरीरमें बसे हुए जायान्य रागको और चिरकालसे शरीरमें बसे हुये जायान्य रोगको इस प्रकार दोनों प्रकार जायान्य–क्षयरोगको मन्त्राभिमन्त्रित वीणातन्त्रीखंड आदि रूप औषधि, हटाने वाली है ॥४॥

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३६५) ॥

"विम वै ते" इत्यस्या ऋचो राजयक्ष्मभैषज्ये "यः कीकसाः" [७, ८०] इति सूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

सोमयागे माध्यन्दिनसवने "धृषत् पिब" इत्यनया द्रोणकलश-

स्थं सोमं अनया अनुमन्त्रयेत । "द्रोणकलशस्थम् अनुमन्त्रयते भूपत् पिबेति माध्यन्दिने" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३.६] ॥

अभिचारकर्मणि "सांतपनाः" इति तृचेन विधुद्धतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि मध्यन्दिने काले सांतपनमरुद्यागं "सांतपनाः" इति अनया अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "मध्यन्दिने सांतपनानां मरुतां सांतपनाः" इति [वै० ४. ५] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्मणि "वि ते मुञ्चामि" इत्यनया उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् आप्लावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । "सिनीवालि [७. ४८] वि ते मुञ्चामि [७. ८३] शुम्भनी [७. ११७] इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः मुच्यमानयोक्त्रां पत्नीम् अनया ऋचा अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "वि ते मुञ्चामि [७. ८३] अहं वि ष्यामि [१४. १. ५७] प्र त्वा मुञ्चामि [१४. १. १६] इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानाम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० १. ४]

दर्शपूर्णमासयोः "अस्मै क्षत्राणि" इत्यनया हविरासादनानन्तरम् इध्मम् उपसमादध्यात् । "अग्निर्भूम्याम् [१२. १. १६] इति तिसृभिरुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि [७. ८३] एतम् इध्मम्" [१०. ६. ३५] इति [कौ० १. २] सूत्रात् ॥

"यत् ते देवा अकृण्वन्" इति चतसृभिः स्वाभिलषितफलकामः अमावास्यां यजेत उपतिष्ठेत् वा । "बृहस्पतिर्नः [७. ५३] यत् ते देवा अकृण्वन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात्" [७. ८५] इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

तथा दर्शयागे पार्वणहोमे "यत् ते देवा अकृण्वन्" इत्यनया कुर्यात् । "यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्" इति कौशिकसूत्राद् [कौ० १. ४] ॥

तथा श्रौतदर्शयागे "यत् ते देवा अकृण्वन्" इति कुहूदेवतां परिगृह्णीयात् । "कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. १] ॥

"विद्म वै ते" इस ऋचाका राजयक्ष्माकी चिकित्सामें "यः कीकसः" इस ७ । ८० के ऋचके साथ विनियोग कह दिया है ।

सोमयागके माध्यन्दिनसवनमें "धृषत् पिब" ऋचासे द्रोणकलशमें स्थित सोमका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतान सूत्र ३ । ६ का प्रमाण भी है, कि—"द्रोणकलशस्थं अनुमन्त्रयेत धृषत् पिबेति माध्यन्दिने" ॥

अभिचारकर्ममें "सांतपनाः" तृचसे विजलीसे मारे हुये वृक्ष की समिधाओंको रक्खे ।

तथा चातुर्मास्यके साकमेधपर्वमें मध्यन्दिनसमयमें सान्तपन मरुद्यागका "सान्तपनाः" से ब्रह्मा अनुमंत्रण करे । इसी बात का वैतानसूत्रमें वर्णन है, कि—"मध्यन्दिने सान्तपनानां मरुतां सांतपनाः" (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें "वि ते मुञ्चामि" ऋचासे जलपूर्ण घटका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके सूत्रोक्त रीतिसे रोगीको आप्लावित वा अवसिञ्चित करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"सिनीवालि (७ । ४८) वि ते मुञ्चामि (७ ८३) शंभनी (७ । १११) इति मौञ्जैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयवसिञ्चति" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा दर्श पूर्णमासमें रस्सीसे छूटी हुई पत्नीका ब्रह्मा इस मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"वि ते मुञ्चामि (७ । ८३) अहं विष्यामि (१४ । १ । ५७) प्र त्वा मुञ्चामि (१४ । १ । १९) इति पत्नीं योक्त्रेण विमुच्यमानां अनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र १ । ४) ॥

दर्श पूर्णमासमें "अस्मै क्षत्राणि" ऋचासे हविके आसादनके अनन्तर ईंधनको रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ४ का प्रमाण भी है, कि-"अग्निर्भूम्यां (१२ । १ । १६) इति तिसृभि-रुपसमादधाति अस्मै क्षत्राणि (७ । ८३) एतम् इध्मम् (१० । ६ । ३५) ॥"

अपने अभिलषित फलको चाहने वाला "यत् ते देवा अकृण्वन्" इन चार ऋचाओंसे अमावास्यामें यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । १० का प्रमाण भी है, कि-'बृहस्पतिर्नः (७ । ५३) यत् ते देवा अकृण्वन् (७ । ८४) पूर्णा पश्चात् (७ । ८५) " ॥

तथा "यत् ते देवा अकृण्वन्" ऋचासे दर्शयागमें पार्वण-होमको करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १ । ५ का प्रमाण है, कि-"यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयम् इत्यमावास्यायाम्" ॥

तथा श्रौतदर्शयागमें "यत् ते देवा अकृण्वन्" से कुहूदेवताका परिग्रहण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । १ का प्रमाण भी है, कि-"कुहूं देवीं यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयं इत्यमावास्यायाम्"॥

तत्र प्रथमा ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ १ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।
कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृण्मः । हविः । गृहे १

हे जायान्य जायाभ्य आगत राजयक्ष्माख्य रोग ते तव जानम् जन्म उत्पत्तिनिदानं वा विद्म वै जानीमः खलु । वैशब्दः श्रुत्यन्तर-प्रसिद्धिद्योतनार्थः । "यज्जायाभ्योविन्दत् तज्जायेन्यस्य" इति

तैत्तिरीयश्रुतिः [तै० सं० २. ३. ५. २] उदाहृता । हे जायान्य जायासंबन्धाद् आगत रोग यतः यस्मान्निदानात् जायसे उत्पद्यसे तन्निदानं जानीम इति संबन्धः । एवं तवोत्पत्तिं जानाना वयं यस्य यजमानस्य गृहे हविः रोगनिर्हरणक्षमेन्द्रादिदेवतासंबन्धि आज्यादिरूपं कृणमः कुर्मः देवतोद्देशेन तदुचितं हविः प्रक्षिपामः तत्र तस्मिन् यजमाने । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये हे क्षयरोग त्वं कथं ह हनः केन प्रकारेण हन्याः ? यद्रोगनिर्हरणार्थं यत्र देवता इज्यते तत्र स रोगो न बाधत इत्यर्थः । ❀ हन इति । हन्तेः पञ्चमलकारे अडागमः । कृणम इति । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उमत्ययलोपः ❀ ॥

हे स्त्रीसे आये हुए जायान्य राजयक्ष्मा रोग ! हम तेरी उत्पत्ति या उत्पत्तिनिदानको जानते ही ‡ हैं । हे जायासम्बन्धसे आये हुए ! तू जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसको हम जानते हैं, इस प्रकार तेरी उत्पत्तिको जानने वाले हम जिस यजमानके घर में रोगको दूर करनेमें समर्थ इन्द्र आदि देवताओंकी घृत आदि की हविको कर रहे हैं उस घरमें तू किस प्रकार संहार कर रहा है ? अर्थात् जहाँ रोगको दूर करनेके लिये देवताओं की पूजा की जाती है तहाँ वह रोग पीड़ा नहीं देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

धृषत् पिब कुलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।

---

‡ (वै) ही शब्द इस बातको जताता है, कि—इस विषयका वर्णन अन्य श्रुतिमें भी है । जैसे जायान्य रोगका वर्णन तैत्तिरीय संहिता २ । ३ । ५ । २ की श्रुतिमें भी है, कि—'यज्जायाभ्योऽविन्दत् तज्जायेन्यस्य ।'

माध्यंन्दिने सवंन॒ आ वृ॑षस्व रयि॒ष्ठानो॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ २ ॥

धृ॒षत् । पि॒ब । क॒लशे॑ । सोम॑म् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒ऽहा । शू॒र॒ । स॒म्ऽअ॒रे । वसू॑नाम् ।

माध्य॑न्दिने । सव॑ने । आ । वृ॒ष॒स्व॒ । र॒यि॒ऽस्थानः॑ । र॒यिम् । अ॒स्मासु॑ । धे॒हि॒ ॥ २ ॥

हे इन्द्र धृषत् धृष्टः धर्षको वा शत्रूणाम् । ❀ञिधृषा प्रागल्भ्ये । शतरि व्यत्ययेन शः ❀ । कलशे द्रोणकलशाख्ये स्थितं सोमं पिब । किंनिमित्तम् । हे शूर विक्रान्त वृत्रहा वृत्रं हतवान् त्वं वसूनाम् धनानां समरे संगमे निमित्ते । अस्मान् धनं संयोजयितुं पिबेत्यर्थः । ❀ संपूर्वाद् अर्तेः "ऋदोरप्" । "थाथ०" इत्यादिस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । सोमपानस्य कालम् आह । माध्यन्दिने मध्यन्दिनसंबन्धिनि सवने । सूयते अभिषूयते सोमः अत्रेति सवनः कालः । तत्र आ वृषस्व सर्वतः सिञ्च । जठरे सोमम् इति शेषः । यद्वा । ❀ आवृषतिर्मत्तखकर्मा इति यास्कः ❀ । मत्त च । सोमम् इति शेषः । ततः रयिस्थानः तिष्ठन्ति अस्मिन् धनानि इति स्थानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः ❀ । धननिवासस्थानभूतः स त्वं रयिम् धनम् अस्मासु धेहि धारय ॥

हे शत्रुओंको धमकाने वाले इन्द्र ! आप द्रोणकलशमें स्थित सोमको पीजिये क्योंकि—हे वृत्रहन् शूर ! धनोंके संगमनके निमित्त अर्थात् हमें धनसम्पन्न करनेके लिये हमको धनसे सम्पन्न करिये आप मध्यन्दिनसवनके समय सोमका भक्षण करिये फिर धनके निवासस्थान आप ! हममें धनको स्थापित करिये ॥ २ ॥

तृतीया ।

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन

अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्ऽतपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन

अस्माक । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

हे सांतपनाः संतापकारी संतपनः सूर्यः तत्संबन्धिनः । मध्यन्दिने हि सूर्यः संतपति । ❀ संतपनस्य इमे इति "तस्येदम्" इति अण् । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा संपतनं संतापः । तस्येमे इति पूर्ववद् अण् ❀ । उभयत्रापि मध्यन्दिनकाले यष्टव्या इत्यर्थः । हे मरुतः इदं हविः । युष्मभ्यं कल्पितम् इति शेषः । हे मरुतः तत् हविः जुजुष्टन सेवध्वम् । ❀ जुषतेर्व्यत्ययेन श्लुः ❀ । अस्माक अस्माकम् ऊती । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ऊतये अस्मद्रक्षणार्थम् हे रिशादसः रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः । तेषाम् उपक्षपयितारः । ❀ दस्यतेः अन्तर्णीतण्यर्थात् क्विप् ❀ । यद्वा रिशानाम् अत्तारः । ❀ अद् भक्षणे । इत्यस्माद् असुन् । दस्यतेरत्तेर्वा रूपम् इति अनवधारणाद् अनवग्रहः । अपादादित्वाद् आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अस्मान् रक्षितुं शत्रूणां बाधका यूयं हविः सेवध्वम् इति संबन्धः ॥

हे सूर्यसे संबंध रखने वाले मरुत् देवताओं ! ये हवि आपके लिये कल्पित है आप इसका सेवन करिये, हमारी रक्षा करनेके लिये शत्रुओंके बाधक आप हविका सेवन करिये ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति ।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुःऽहृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति ।

द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन । तम् ॥ २ ॥

हे वसवः वासकाः । प्रशस्या इत्यर्थः । वसुप्रदा वा हे मरुतः यो मर्तः मरणधर्मा मनुष्यः दुर्हृणायुः दुष्टं क्रुध्यन् तिरः तिरोभूतः अन्तर्हितः दृष्टिविषयम् अप्राप्तः सन् नः अस्माकं चित्तानि जिघांसति हन्तुम् इच्छति । क्षोभयतीत्यर्थः । स शत्रुः द्रुहः पापानां द्रोग्धुर्वरुणस्य पाशान् प्रति मुञ्चताम् धारयतु । वरुणपाशैर्बद्धो भवत्वित्यर्थः । तं जिघांसन्तं जनं तपिष्ठेन तापयितृतमेन तपसा तापकेन आयुधेन हन्तन हिंस्त हे मरुतः । ❀ हन्तेर्लोटि तस्य तस्य तनबादेशः । पित्वाद् अनुनासिकलोपाभावः ❀ ॥

हे धन देने वाले मरुत्–देवताओं ! जो मरणधर्मी पुरुष दुर्भाव से क्रोध कर हमारे परोक्षमें हमारे चित्तोंको क्षुब्ध करना चाहता वह शत्रु पापसे द्रोह करने वाले वरुणदेवके पाशको धारण करे । और आप उस घात करनेकी इच्छा वाले पुरुषको तापक आयुध से मार डालिये ॥ २ ॥

पञ्चमी ॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः ।

ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

सम्ऽवत्सरीणाः । मरुतः । सुऽअर्काः । उरुऽक्षयाः । सऽगणाः । मानुषासः ।

ते । अस्मत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्ऽतपनाः । मत्सराः । मादयिष्णवः ॥ ३ ॥

संवत्सरीणाः संवत्सरं भाविनः वर्षेवर्षे प्रादुर्भविष्यन्तः । ❀ "सम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी" इत्यर्थे "संपरिपूर्वात् ख च" इति संपूर्वाद् वत्सरात् खप्रत्ययः ❀ । स्वर्काः । ❀ अर्कशब्दं यास्को बहुधा निरुवाच । अर्को मन्त्रो भवति यद् अनेनार्चन्ति अर्को देवो भवति यद् एनम् अर्चन्ति अर्कम् अन्नं भवति इत्यादि [नि० ५. ४] ❀ । सुमन्त्राः । मन्त्रैः सम्यक् स्तूयमाना इत्यर्थः । सूर्यरूपदेवसंबन्धिनो वा अप्रमदत्वेन शोभनान्ना वा । उरुक्षयाः । क्षयशब्दो निवासवाची । उरुर्विस्तीर्णः क्षयः अन्तरिक्षरूपो निवासो येषां ते । अन्तरिक्षसंचारिण इत्यर्थः । सगणाः । "सप्तगणा वै मरुतः" इति [तै० सं० २. २. ५. ७] श्रुतेः स्वीयस्वीयसंघयुक्ताः । मानुषासः वृष्टिनिमित्तत्वेन मनुष्यहितकारिणः । सांतपनाः शत्रूणां संतापकारिणः । मत्सराः माद्यन्तः मादयिष्णवः सर्वस्य संतोषकरणशीलाः । ते एवंगुणविशिष्टा मरुतः अस्मत् अस्मत्तः सकाशाद् एनसः पापकारिणः पाशान् बाधकान् प्र मुञ्चन्तु प्रमोचयन्तु ॥

प्रत्येक सम्वत्सरमें प्रादुर्भूत होने वाले, सुन्दर मन्त्रोंसे स्तूयमान, अन्तरिक्षरूप विशाल निवास वाले, वृष्टिके निमित्त होनेके

कारण मनुष्योंका हित करने वाले, शत्रुओंको सन्तप्त करने वाले (सात) गण वाले और सबको संतोष देने वाले मरुत् देवता हमको पापमय पाशोंसे मुक्त करें ॥ २ ॥

षष्ठी ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । निऽयोजनम् ।
इह । एव । त्वम् । अजस्रः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

हे अग्ने ते तव त्वक्कर्तृकां रशनाम् व्यापिकां रज्जुम् । ❁ अशे- रश च [उ० २. ७५] इति युच् प्रत्ययः ❁ । त्वक्कर्तृकां रुग्ण- विषयां कण्ठ्यावस्थितां कण्ठबन्धनसाधनभूतां वा बाधिकां रज्जुं वि मुञ्चामि विमोचयामि मयोक्ता अहम् । तथा योक्त्रम् योजनोप- युक्तं रज्जुविशेषं मध्यप्रदेशबन्धनसाधनम् । वि मुञ्चामीति क्रिया- नुषङ्गः । तथा नियोजनम् नितरां योजनसाधनं नीचीनं वा बंधन- साधनं सर्वांगयन्त्रबंधकं रज्जुविशेषम् । वि मुञ्चामीत्यनुषङ्गः । सर्वत्र क्रियानुषङ्गं द्योतयितुं वीत्युपसर्गश्रुतिः । अतः बंधनमोच- नात् हे अग्ने त्वम् इहैव अस्मिन्नेव रोगार्ते । ❁ विषयसप्तमी ❁ । रुग्णविषये अजस्रः । ❁ जसु हिंसायाम् इति धातुः । "नमि- कम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः" इति ताच्छीलिको रप्रत्ययः ❁ । अबाधनशीलः एधि भव । ❁ अस्तेर्लोटि हेर्धिभावे "घ्वसो- रेद्धौ०" इति एकारादेशः ❁ ॥ यद्वा रोगार्त एव संबोध्यते । हे रोगार्त ते तव संबंधिनीम् रशनाम् हननसाधनभूतं मृत्युपाशं वि मुञ्चामि । एवं योक्त्रनियोजनशब्दौ व्याख्येयौ । अतो रश- नादिविमोकात् हे अग्ने । अग्निवद् अग्निः । अग्निवद् दीप्य-

मान रोगान्मुक्त पुरुष त्वम् इहैव अस्मिन्नेव लोके अजस्रः परै-र्मृत्युना वा अबाधितः एधि भव। ❀ अस्मिन् पक्षे कर्मणि रमत्ययो द्रष्टव्यः ❀ ॥ पत्नी वा संबोध्यते ॥

मैं मयोक्ता आपकी रोगरूपिणी कण्ठ वा बगलमें व्याप्त रज्जुको खोलता हूँ और मध्यमदेशके बंधनकी साधन योक्त्ररज्जुको खोलता हूँ और सर्वावयवबन्धनसाधक नीचीन योक्त्रको भी खोलता हूँ। इस बन्धनको खोलनेके कारण हे अग्ने! आप इस रोगार्त पुरुषके यहाँ अबाधनशील होकर बढ़िये ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु

अस्मै। क्षत्राणि। धारयन्तम्। अग्ने। युनज्मि। त्वा। ब्रह्मणा। दैव्येन।

दीदिहि। अस्मभ्यम्। द्रविणा। इह। भद्रम्। प्र। इमम्। वोचः। हविःऽदाम्। देवतासु ॥ २ ॥

हे अग्ने अस्मै यजमानाय क्षत्राणि। बलनामैतत्। बलानि धारयन्तम्। प्रयच्छन्तम् इत्यर्थः। तादृशं त्वा त्वां दैव्येन देव-संबंधिना ब्रह्मणा मन्त्रेण युनज्मि हविर्वहनार्थं योजयामि। अथ अस्मभ्यं द्रविणा द्रविणानि धनानि भद्रम् भंदनीयं सुखं पुत्रादिलाभादिनिमित्तं च इह इदानीं दीदिहि। देहीति यावत्। ❀-ददातेश्छांदसं रूपम् ❀। अथवा। ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मा इति यास्कः [निघ० १. १६] ❀। अस्मभ्यं धनादिकं संदीपय। समर्धयेत्यर्थः। यद्वा धनं सुखं च अस्मभ्यं दातुम् इह इदानीं

दीदिहि। इध्मेन दीप्यस्वेत्यर्थः। ततः हविर्दाम् चरुपुरोडाशादि-रूपं हविः प्रयच्छन्तम्। ❀ ददातेः क्विप् ❀। तादृशम् इमं यजमानं देवतासु अग्नीन्द्रादिषु प्र वोचः प्रब्रूहि। असौ यजमानो हविषा देवता यजत इति तस्यै तस्यै यष्टव्यदेवतायै कथयेत्यर्थः॥

हे अग्निदेव! इस यजमानको बल देने वाले आपको मैं दिव्य मन्त्रसे हवि वहन करनेके लिये नियुक्त करता हूँ, अतः आप इस समय हमको धन और पुत्रलाभ आदिसे होनेवाला सुख दीजिये। अथवा—आप हमको धन और सुख देनेके लिये इस समय प्रदीप्त हूजिये, तदनन्तर चरु पुरोडाश आदिरूप हविको देने वाले इस यजमानकी बात इन्द्र अग्नि आदि देवताओंसे कहिये अर्थात् यह यजमान हविसे अमुक देवताओंका यजन कर रहा है यह बात आप पूज्य देवताओंसे कहिये॥ २॥

अष्टमी॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा।

तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥ १॥

यत्। ते। देवाः। अकृण्वन्। भागऽधेयम्। अमाऽवास्ये। सम्ऽवसन्तः। महिऽत्वा।

तेन। नः। यज्ञम्। पिपृहि। विश्वऽवारे। रयिम्। नः। धेहि। सुऽभगे। सुऽवीरम्॥ १॥

अमा सह वसतः सूर्यचन्द्रावस्याम् इति अमावास्या। ❀ "अमा-

वस्यदन्यतरस्याम्" इति पक्षे यपत् प्रत्ययः । णित्त्वाद् उपधावृद्धिः ❀ । तस्याः संबुद्धिः । हे अमावास्ये ते तव महित्वा महत्त्वेन । ❀ तृतीयाया आकारादेशः ❀ । यद्वा महित्वा महित्वे । ❀ सप्तम्या आकारः ❀। कर्मकालव्याप्तिपर्यन्तं संवसन्तः सम्यगवसन्तः । हविरपेक्षया तिष्ठन्तो देवाः अग्नीन्द्रसोमादयः भागधेयम् हविषो भागम् अकृण्वन् अकुर्वन् । स्वीकृतवन्त इति यत् । "यत् ते देवा अदधुर्भागधेयम्" इति तैत्तिरीये श्रूयते [तै० सं० ३. ५. १. १]। यद्वा हे अमावास्ये ते तुभ्यं यद् भागधेयं हविषो भागम् अमावास्यायां यष्टव्यत्वेन संवसन्तो देवा अकृण्वन् अकुर्वन् प्रायच्छन् । दर्शे अमावास्याया अपि हविषो भागोस्ति । ❀ भागधेयम् इति । "रूपनामभागेभ्यो०" धेयप्रत्ययः ❀ । तेन हविर्भागस्वीकरणेन नः अस्मदीयं यज्ञं पिपृहि पूरय साङ्गं कुरु हे विश्ववारे विश्वैः सर्वैर्वरणीये । किं च हे सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते अमावास्ये नः अस्मभ्यं सुवीरम् । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्रादयः । शोभनपुत्रादियुक्तं रयिम् धनं धेहि प्रयच्छ ॥

हे अमावास्ये ! पूज्य होनेसे साथमें वसते हुए देवताओंने तुम्हारे लिये महत्वके कारण जो भाग दिया है, उस हविर्भागको स्वीकार कर तुम हमारे यज्ञको पूर्ण करो–सांग करो । हे सबोंसे वरणीय सौभाग्यवति अमावास्ये ! आप हमको कर्ममें कुशल शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न धन दीजिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे। मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे

अहम् । एव । अस्मि । अमाऽवास्या । माम् । आ । वसन्ति । सुऽकृतः । मयि । इमे ।

मयि । देवाः । उभये । साध्याः । च । इन्द्रज्येष्ठाः । सम् । अग-

च्छन्त । सर्वे ॥ २ ॥

अत्र देवतावासस्थानभूतत्वेन अमावास्याशब्दनिष्पत्तिरिति देवता स्वयमेव स्वनाम निर्वक्ति । अहमेव अमावास्याभिमानिनी देवता अमावास्या अस्मि । न केवलं शब्दतः अपि तु अर्थतोपि एतन्नामिका भवामि । तद् दर्शयति पादत्रयेण । सुकृतः सुकर्माणो देवा मां मयि आ वसन्ति निवसन्ति यष्टव्यत्वेन अवतिष्ठन्ते । ❁ "उपान्वध्याङ्वसः" इति आङ्पूर्ववसिप्रयोगे माम् इत्यस्य कर्मता । आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिः । आङ्वसत्योर्मध्ये मा इति अस्मदो द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगः । आङुपसर्गस्य ह्रस्वत्वम् । इति अमावास्याशब्दनिष्पत्तिः प्रदर्शिता । प्रत्ययस्तु पूर्वमेव उक्तः ❁ । माम् इति द्वितीयार्थमेव विवृणोति मयीमे इति । इमे देवाः मयि निवसन्ति इति आवासपदस्य अर्थकथनद्वारेणापि अमावास्याशब्दो निरुच्यते । साध्याः । चशब्दः अनुक्तसमुच्चयार्थः । सिद्धाश्च साध्यसिद्धनामका उभये द्विप्रकारा इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रप्रमुखाः सर्वे देवाः मयि समगच्छन्त संगच्छन्ते यष्टव्यत्वेन मिलिता भवन्ति । एतद् उक्तं भवति । माम् आ वसन्ति देवा मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन मयि संगच्छन्ते इति अन्वर्थम् अमावास्याशब्दवाच्या भवामीति । अमा सह वसुरूप इन्द्रो वसति अस्यां तिथौ इति अमावास्याशब्दनिरुक्तिरिति तैत्तिरीये श्रूयते । "अमा वै नोद्य वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तद् अमावास्याया अमावास्यत्वम्" इति [तै० सं० २. ५. ३. ६]॥

(यहाँ देवताके आवासरूपसे अमावास्या शब्दको कहा गया है वह देवता स्वयमेव कहते हैं, कि–) मैं ही अमावास्याका अभिमानी देवता हूँ, (केवल शब्दसे ही ऐसा नहीं हूँ किन्तु अर्थसे

भी ऐसा ही हूँ, क्योंकि-) सुन्दर कर्म वाले देवता मुझमें यष्टव्यरूपसे रहते हैं (आ मा वसन्ति देवा इति अमावास्याशब्द-निरुक्तिः) यही मेरा अमावास्यात्मक अन्वर्थक नाम है। ये देवता मुझमें रहते हैं। और साध्य सिद्ध नामक इन्द्रज्येष्ठ और इन्द्र-प्रमुख इस प्रकार दोनों प्रकारके भी देवता मुझमें यष्टव्यत्वसे मिलित होजाते हैं ‡ ॥ २ ॥

दशमी ॥

आगन् रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥ ३ ॥

आ। अगन्। रात्री। सम्ऽगमनी। वसूनाम्। ऊर्जम्। पुष्टम्। वसु। आऽवेशयन्ती।
अमाऽवास्यायै। हविषा। विधेम। ऊर्जम्। दुहाना। पयसा। नः। आ। अगन् ॥ ३ ॥

रात्री अमावास्याकालयुक्ता तिथिः वसूनाम् धनानां संगमनी संयोजयित्री। ❀ विधेयविशेषणम् एतत् ❀। अस्मान् धनं संयो-

---

‡ अमा अर्थात् साथमें वसुरूप इन्द्र इस तिथिमें रहते हैं-इस प्रकारकी अमावास्या शब्दकी निरुक्ति तैत्तिरीयककी श्रुतिमें है, कि-"अमा वै नोऽद्य वसु वसतीति। इन्द्रो हि देवानां वसु। तद्अमावस्याया अमावास्यत्वम्।-हमारे वसु आज साथमें वसते हैं, इन्द्र ही देवताओंके वसु हैं, यही अमावास्याका अमावास्यापन है" (तैत्तिरीयसंहिता २।५।३।६) ॥

जयितुम् आगन् आगच्छतु । ❀ गमेश्छान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुक् । “मो नो धातोः” इति नत्वम् ❀ । तथा ऊर्जम् अन्नरसं पुष्टम् पोषं वसु धनं च आवेशयन्ती अस्मदभिमुखं प्रयच्छन्ती आगन्निति संबन्धः। अमावास्यां गोरूपेणाह । नः अस्माकम् ऊर्जम् अन्नरसं पयसा क्षीरेण सह दुहाना आगन् आगच्छतु । “अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” इति शाखान्तरे श्रूयते [तै० ब्रा० ३. ७. ५. १३] । तादृश्यै अमावास्यायै तदर्थम् । यद्वा । ❀ कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । अमावास्यां देवतां हविषा आज्यादिरूपेण विधेम परिचरेम ॥

[इति] सप्तमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अमावास्याकालसम्पन्न तिथि वाली रात्रि धनोंका सम्मेलन कराने वाली है, वह हमको धनसे सम्पन्न करनेके लिये आवे । तथा अन्नरसका धनका और पुष्टिका अपनेमें समावेश करती हुई हमारी ओर आवे । (अमावास्याका गोरूपमें वर्णन करते हैं, कि–) यह हमारे लिये अन्नरसको क्षीरके साथ दुहाती हुई आवे ‡ । ऐसी अमावास्याकी हम हविसे सेवा करते हैं ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१९९) ॥

“अमावास्ये न” इत्यस्याः सर्वाभिलषितकर्मणि “यत् ते देवा अकृण्वन्” इत्यत्र विनियोग उक्तः ॥

सर्वफलकामः “पूर्णा पश्चात्” इति द्वाभ्याम् “पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्” इत्यनया च पौर्णमासीं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि “प्रजापते न त्वत्” इत्यनया प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ५ । १३ में भी कहा है, कि— “अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना” ॥

"यत् ते देवा अकृण्वन् [७. ८४] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] प्रजापते" [७. ८५. ३] इति [कौ० ७. १०] सूत्रात् ॥

पूर्णमासयागे "पूर्णा पश्चात्" इति पूर्णमासीं देवतां परिगृह्णीयात्। "राकाम् अहम् [७. ५०] पूर्णा पश्चात् [७. ८५] इति पौर्णमास्याम्" इति [वै० १. १] वैतानसूत्रात् ॥

तत्रैव कर्मणि "पूर्णा पश्चात्" इति पार्वणहोमं जुहुयात्। "पूर्णा पश्चाद् इति पौर्णमास्याम्" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० १.५.] ॥

दर्शपूर्णमासयोः संनतिहोमानन्तरं "प्रजापते न त्वत्" इत्यनया आज्यं जुहुयात्। "पृथिव्याम् अग्नये समनमन् [४. ३६] इति संनतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति च" इति [कौ० १. ५] सूत्रात् ॥

तथा सर्वेषु श्रौतकर्मसु अनुमन्त्रणमन्त्रानादेशे "प्रजापते न त्वत्" इत्यनया अनुमन्त्रणं कुर्यात्। तद् उक्तं वैताने। "मन्त्रानादेशे लिङ्गवतेति भागलिः। प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति शुना कौशिकः। यथादेवतम् इति माठरः" इति [वै० १. १] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः प्राजापत्यम् आघारम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति प्राजापत्यम् आघारम्" इति [वै० १. २] सूत्रात् ॥

तथा "मारुद्गणीं बलकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ "प्रजापते न त्वत्" इत्येताम् ऋचम् आवपेत्। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "मरुतां मन्वे [४. २७] प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः [७. ८५. ३] इति मारुद्गण्याम्" इति [न० क० १८] ॥

विवाहे "पूर्वापरम्" इति ऋचेन आज्यसमित्पुरोडाशादीनि जुहुयात्। सूत्रितं हि। "सत्येनोत्तभिता [१४. १] पूर्वापरम् [७. ८६] इत्युपदधीत" इति [कौ० १०. १] ॥

महाशान्तौ ग्रहदशे "सोमस्यांशो युधां पते" इति चतुर्ऋचेन

हविराज्यहोमसमिदाधानोपस्थानानि शुभाय कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "यद् राजानः [३. २९] सोमस्यांशो युधां पते [७. ८६. ३–६] इति शुभाय" इति [न० क० १५]॥

"अथावास्ये न" इसका सर्वाभिलषित कर्ममें "यत् ते देवा अकृण्वन्" में विनियोग कह दिया है।

सर्वफलकाम व्यक्ति "पूर्णा पश्चात्" इन दोसे और "पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्" इस ऋचासे पौर्णमासीका यजन वा उपस्थान करे।

उसी कर्ममें "प्रजापते न त्वत्" ऋचासे प्रजापतिका यजन वा उपस्थान करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण भी है, कि— "यत् ते देवा अकृण्वन् (७। ८४) पूर्णा पश्चात् (७। ८५) प्रजापते (७। ८५। ३)"॥

पूर्णमासयागमें "पूर्णा पश्चात्" से पूर्णमासी देवताका परिग्रहण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १। १ का प्रमाण भी है, कि– "राकां अहम् (७। ५०) पूर्णा पश्चात् (७।८५) इति पौर्णमास्याम्"

तहाँ ही कर्ममें "पूर्णा पश्चात्" से पार्वणहोमकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र १। ५ का प्रमाण भी है, कि–"पूर्णा पश्चात् इति पौर्णमास्याम्"।

दर्शपूर्णमासमें सन्नतिहोमके अनन्तर "प्रजापते न त्वत्" ऋचा से घृतकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र १। ५ का प्रमाण भी है, कि–"पृथिव्यां अग्नये समनमन् (४। ३९) इति सन्नतिभिश्च प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७। ८५। ३) इति च"॥

तथा सकल श्रौत कर्मोंमें जहाँ अनुमन्त्रणका मन्त्र न लिखा हो तहाँ "प्रजापते न त्वत्" से अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"मन्त्रानादेशे लिंगवतेति भागलिः।

प्रजापते न त्वद् एतान्यन्य इति युवा कौशिकः ।-भागलि ऋषि का मत है, कि-अनुमन्त्रणके मन्त्रका आदेश न होने पर लिंग (चिह्न) वाले मन्त्रसे अनुमन्त्रण करे और युवा कौशिक ऋषिका मत है, कि-"प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः" से अनुमन्त्रण करे"। (वैतानसूत्र १ । १) ॥

तथा दर्शपूर्णमासमें प्राजापत्य आघारका ब्रह्मा इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्र १ । २ प्रमाण है, कि-"प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः इति प्राजापत्यं आघारम्" ॥

तथा "मारुद्गणीं बलकामस्य ।-बलकी कामना वालेके लिये मारुद्गणी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महा-शान्तिमें "प्रजापतये न त्वद्" ऋचाको भी सम्मिलित कर लेय। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"मरुतां मन्वे (४ । २७) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः (७ । ८५ । ३) इति मारुद्गण्याम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

विवाहमें "पूर्वापरम्" ऋचसे घृत समिधा पुरोडाश आदिकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"सत्येनो-त्तभिता (१४ । १) पूर्वापरम् (७ । ८६) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र १० । १) ॥

महाशांतिके ग्रहयज्ञमें "सोमस्यांशो युधां पते" इस चतुर्ऋच से हवि घृतहोम समिदाधान और उपस्थानोंको बुधके निमित्त करे । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-"यद् राजानः (३ । २९) सोमस्यांशो युधां पते (७ । ८६ । ३—६) इति बुधाय" (नक्षत्रकल्प १५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि-
भूर्जजान ।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ४ ॥

अमाऽवास्ये । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परिऽभूः । जजान ।

यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ४ ॥

हे अमावास्ये त्वत् त्वत्तः अन्यः कश्चिद् देवः एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀"शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । रूपाणि रूप्यमाणानि भूतजातानि परिभूः । ❀कृद्योगलक्षणषष्ठ्यभावश्छान्दसः ❀ । परिभूः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः । परिग्राहको व्यापको न जजान नोत्पन्नः । त्वमेव एतानि परिगृह्यासीत्यर्थः । ❀ जन जनने । लिटि रूपम् ❀ । यद्वा एतानि भूतजातानि त्वत्तः अन्यो देवः परिभूः व्यापकः सन् न जजान नोत्पादयामास । त्वमेव एतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषीति भावः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । ण्यन्तस्य लिटि मन्त्रविषयत्वाद् आमभावः । "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः तत् फलं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । तथा वयं च रयीणाम् धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम ॥

हे अमावास्ये ! तेरे बिना कोई भी देवता सब प्राणियों को व्यापक होकर उत्पन्न नहीं कर सका है अर्थात् तू ही इन देवताओंको परिग्रहण करके सृष्टि रचनेमें समर्थ हुई है। हम भी

जिस फलकी कामना करते हुए तेरे लिये हविकी आहुति देते हैं वह फल हमको प्राप्त हो और हम धनके स्वामी होवें ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः । पौर्णऽमासी । जिगाय ।
तस्याम् । देवैः । सम्ऽवसन्तः । महिऽत्वा । नाकस्य । पृष्ठे । सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा पूर्णचन्द्रोपेता पौर्णमासी पश्चात् प्रतीच्यां दिशि जिगाय जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । उत अपि च पूर्णा पौर्णमासी पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जिगाय । तथा मध्यतः प्राक्प्रतीच्योर्दिशोर्मध्ये आकाशमध्ये पौर्णमासी । पूर्णः संपूर्णो माश्चन्द्रः अस्मिन् पर्वणीति पौर्णमासी तिथिः । ❀ "सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्" इति अणन्तत्वेन निपातितः ❀ । उज्जिगाय उज्जयति । पूर्णकलचन्द्रोपेता पौर्णमासी प्राच्यां प्रतीच्यां च दिशि मध्ये च प्रकाशयुक्ता वर्तत इत्यर्थः । अत्र जेतव्यस्याश्रवणाज्जयतिः उत्कर्षवाची । ❀ "सन्लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद् उत्तरस्य जयतेः कवर्गादेशः ❀ । तस्यां पौर्णमास्यां देवैः यष्टव्यैरग्नीषोमादिभिः सह महित्वा महत्त्वेन संवसन्तः संभूय निवसन्तो वयम् । यष्टयष्टव्ययोः एकप्रदेशावस्थानात् संवसन्त इत्युक्तम् । नाकस्य दुःखरहितस्य

स्वर्गस्य पृष्ठे उपरि भागे इषा अन्नेन सं मदेम संमाद्येम। ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" ❀। पौर्णमास्याम् अग्नीषोमादियागेन स्वर्गभोगप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

जिसमें चन्द्रमा पूर्ण होता है वह तिथि पौर्णमासी कहलाती है ऐसी पूर्णमासी पूर्वदिशामें सर्वोत्कृष्टरूपसे रहती है, पश्चिम दिशामें सर्वोत्कृष्ट भावसे दमकती है और इन दोनों दिशाओंके मध्य आकाशमें यह पूर्णिमातिथि दमकती है। उस पौर्णमासीमें पूजनीय अग्नि सोम आदि देवताओंके साथ महत्त्वके कारण वसते हुए हम स्वर्गके ऊपर अन्नसे आनन्दको प्राप्त होवें। तात्पर्य यह है, कि–पौर्णमासीमें अग्नीषोम आदि याग करनेसे स्वर्गके भोगों की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

तृतीया ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।

स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्णऽमासम् । यजामहे ।

सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुपऽदस्वतीम् ॥२॥

वृषभम् वर्षितारम् अभिमतफलानां प्रधानभूतं वा वाजिनम् अन्नवन्तम् अन्नसाधनत्वात् हविर्भिर्वा युक्तं पौर्णमासम्। ❀ पूर्णो मास्चन्द्रः अस्मिन्निति पूर्णमाः। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकः अण् ❀। पौर्णमासं पर्व वयं यजामहे आहुत्या। स च अस्माभिरिष्टः पौर्णमासः नः अस्माकम् अक्षिताम् अविनाशितां परैरबाधिताम् अनुपदस्वतीम् उपभोगेपि क्षयरहितां रयिम् रायं धनं ददातु। अक्षिताम् इत्यनेन परकृतः क्षयो निरस्यते। अनुपदस्वतीम् इत्यनेन उपभोगेन व्ययेपि क्षयराहित्यम् उच्यते। ❀ अक्षिताम् इति।

२०

दि क्षये । कर्मणि क्तः । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्युदासाद् दीर्घाभावः । अत एव "क्षियो दीर्घात्" इति निष्ठानत्वाभावश्च । अनुपदस्वतीम् इति । दसु उपक्षये । संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । तदन्तान्मतुप् । "मादुपधायाः०" इति वत्वम् । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः । अनुपदस्वतीम् इति । "नञ्" इति तत्पुरुषसमासः । "तत्पुरुषे तुल्यार्थ०" इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हविरूप अन्न वाले पौर्णमास पर्वकी इस-आहुति से उपासना करते हैं, इससे पूजित हुआ पौर्णमास हमको विनाशरहित और उपभोग करने पर भी क्षयरहित धनको स्थापित करें ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजाऽपते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परिऽभूः । जजान ।
यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ३ ॥

एषा ऋक् "अमावास्ये न त्वदेतानि" [७. ८४. ४] इत्यनेन व्याख्याता । अमावास्यापदस्थाने प्रजापतिपदं विशिष्यते ॥

हे प्रजापतिदेव ! आप व्यापकरूपसे सब रूपोंकी सृष्टि करने वाले हुए हैं आपके विना और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है, हम

जिस कामनाको मनमें रख कर आहुति दे रहे हैं वह कामनाएँ हमको प्राप्त हों और हम धनके भी स्वामी बनें ॥ ३ ॥

पञ्चमी ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः

पौर्णऽमासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् । अतिऽशर्वरेषु ।

ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके । सुऽकृतः । प्रऽविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्णमासी पूर्णचन्द्रवती एतन्नामिका तिथिः अह्नां रात्रीणाम् अहो रात्राणां मध्ये प्रथमा आदिभूता मुख्या वा यज्ञिया यज्ञार्हा आसीत् भवति । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀ । कस्मिन् विषय इति तत्र आह । अतिशर्वरेषु । अतिक्रान्तानि शर्वरीम् अतिशर्वराणि । ❀ "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः ❀ । रात्रिम् अतीत्य वर्तमानेषु सोमादिहविष्षु । यद्वा अतिशयिता शर्वरी येषु हविष्षु इति अतिशर्वराणि । तृतीयसवनव्यापिषु हविष्षु । यज्ञियासीद् इति संबन्धः । अयम् अर्थः । इष्टिपशुसोमानां दर्शपूर्णमासौ प्रकृतिभूतौ । तत्रापि पूर्णमासयागः प्रथमानुष्ठेयः । स च पौर्णमास्यामेव तिथौ क्रियत इति सर्वेषाम् अहोरात्राणां प्रथमत्वेन यज्ञार्हेति ॥ हे यज्ञिये यज्ञार्हे पौर्णमासि त्वां ये ऋत्विग्यजमाना यज्ञैः दर्शपूर्णमासादिभिः अर्दयन्ति अभिमतफलं याचन्ते । ❀ अर्द गतौ याचने च ❀ ॥ अमी इष्टवन्तस्ते

सुकृतः सुकर्माणो यजमानाः नाके दुःखरहिते स्वर्गलोके प्रविष्टाः स्थिता भवन्ति ॥

पूर्ण चन्द्र वाली तिथि पौर्णमासी दिन और रात्रियोंमें मुख्य है और यज्ञके योग्य है। यह पौर्णमासी रात्रि बिता कर होने वाली तृतीयसवनव्यापी और सोमादि हवियोंमें यज्ञिया है, तात्पर्य यह है, कि–इष्टिपशुसोम दर्श और पूर्णमासके प्रकृतिभूत हैं, क्योंकि–तहाँ पर भी पूर्णमासयागका अनुष्ठान प्रथम ही किया जाता है, और वह पौर्णमासीमें ही किया जाता है, अतः यह सकल दिन और रात्रियोंमें प्रथमस्वरूपसे यज्ञिया है। हे यज्ञिये पौर्णमासी! जो ऋत्विज और यजमान दर्श और पूर्णमास यज्ञोंके द्वारा तुझसे अभीष्ट फलकी याचना करते हैं, वे यज्ञ करनेवाले सुकृती दुःखरहित स्वर्गलोकमें प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥

षष्ठी ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥

पूर्वऽअपरम्। चरतः। मायया। एतौ। शिशू इति। क्रीडन्तौ।
परि। यातः। अर्णवम्।
विश्वा। अन्यः। भुवना। विऽचष्टे। ऋतून्। अन्यः। विऽदधत्।
जायसे। नवः ॥ १ ॥

कश्चित् पूर्वो गच्छति सूर्यः। अन्यस्तम् अनुचरति चन्द्रमाः। एवम् एतौ सूर्यचन्द्रौ पूर्वापरम्। क्रियाविशेषणम् एतत्। पौर्वापर्येण मायया सह चरतः द्युलोके गच्छतः। तौ शिशुवद् भ्रमणात् जायमानत्वाद्वा शिशू इत्युच्येते। शिशू सन्तौ क्रीडन्तौ

विहरन्तौ अर्णवम् । अन्तरिक्षनामैतत् । अर्णांसि उदकानि अस्मिन् सन्तीति अर्णवः । ❀ "अर्णसः सलोपश्च" इति वप्रत्ययः सकारलोपश्च ❀ । अन्तरिक्षं परि यातः परि गच्छतः । तयोरन्यः आदित्यो [विश्वा] विश्वानि भुवना भुवनानि भूतजातानि विचष्टे पश्यति । ❀ "एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम्" इति निघातनिषेधः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀ । अन्यश्चन्द्रमाः ऋतून् वसंतादीन् तदवयवभूतान् मासान् अर्धमासांश्च विदधत् कुर्वन् नवः नूतनः जायते उत्पद्यते । यद्यपि उभयोर्जनिरस्ति तथापि सूर्यस्य सर्वदा प्रवृद्धेः उदयो नाभिप्रेतः । चन्द्रस्य तु कलाह्रासवृद्धिसद्भावाद् नवो जायत इत्युक्तिर्युक्ता । "चन्द्रमा वै जायते पुनः" इत्यादिश्रुतेश्च [वा० सं० २३. १०] ॥

(एक सूर्य पहिले चलता है, दूसरा चन्द्रमा उसके पीछे चलता है इस प्रकार) पूर्वापरकी मायासे द्युलोकमें विचरण करते हुए सूर्य और चन्द्रमा (बालककी समान भ्रमण करनेसे वा उत्पन्न होनेसे) शिशु रूपमें जिसमें जल रक्खा होता है उस अर्णवोपनामक अन्तरिक्षमें चलते रहते हैं । इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् सूर्य सकल भुवनों प्राणियों-को देखता है और दूसरा चन्द्र वसन्त आदि ऋतुओंको उनके अवयवरूप मास पक्षोंको भी करता हुआ नवीन ही उत्पन्न होता रहता है † ॥ १ ॥

---

† यद्यपि दोनोंकी जनि (उदय) होती है तथा सदा प्रवृद्धि रहनेके कारण सूर्यका उत्पन्न होना कहना उपपन्न नहीं है । और चन्द्रमामें कलाओंका ह्रास और वृद्धि होती रहती है अतः उसका नवीन उत्पन्न होना कहना युक्तिसंगत ही है । वाजसनेयसंहिता २३ । १० में भी कहा है, कि-"चन्द्रमा वै जायते पुनः ।-चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है" ॥

सप्तमी ॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरसे दीर्घमायुः

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि । अग्रम् ।
भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

हे चन्द्रमः त्वं जायमानः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु एकैककलाधिक्येन उत्पद्यमानः सन् नवोनवः पुनःपुनरभिनवो भवसि प्रतिदिनं नूतन एव भवसि । ❀ "अनुदात्तं च" इति द्वितीयो नवशब्दः अनुदात्तः ❀ । किं च अह्नाम् तिथीनां केतुः केतुवत् केतयिता ज्ञापयिता प्रतिपदादादीनां तिथीनां चन्द्रकलाह्रासवृद्ध्यधीनत्वात् । तादृशस्त्वम् उषसाम् रात्रीणाम् अग्रम् एषि अग्रणीर्भवसि । रात्रीणां कर्तृत्वात् । यद्वा अह्नां केतुः अहरवसाने शुक्लपक्षे प्रतीच्यां दिशि दृश्यसे कृष्णपक्षे तु उषसाम् रात्रीणाम् अग्रम् अवसानम् एषि । प्राच्यां दिशि दृश्यस इत्यर्थः । केचन एतं पादम् आदित्यदेवत्यम् आहुः । तस्मिन् पक्षे अह्नां केतुत्वम् उषसाम् अग्रगतिश्च सूर्यस्य प्रसिद्धे । एवम् आयन् आगच्छन् प्रतिदिनं ह्रासवृद्धिभ्यां पर्यायन्तम् अभिगच्छन् हे चन्द्रमः त्वं देवेभ्यो भागम् हविर्भागं वि दधासि करोषि । तिथिविशेषरूपपर्वनिबन्धनत्वात् सर्वयागानाम् । एवमुक्तलक्षण हे चन्द्रमः त्वं दीर्घम् आयुः प्र तिरसे ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ❀ । प्रवर्धयसि । ❀ अत्र निरुक्तम् । नवोनवो भवसि जायमान इति पूर्वपक्षादिम् अभि-

मेत्य । अह्नां केतुरुषसाम् एत्यग्रम् इति अपरपक्षान्तम् अभिमेत्य । आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके । भागं देवेभ्यो विदधात्या-यन्निति अर्धमासेज्याम् अभिमेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घम् आयुः इति [नि० ११. ६] ❀ ॥

हे चन्द्रदेव ! आप शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा आदिमें एक एक कलाके अधिक होते रहनेसे प्रतिदिन नवीन ही उत्पन्न होते रहते हैं और आप केतुकी समान तिथियोंके ज्ञापक हैं, क्योंकि तिथियें चन्द्रमाकी कलाके अधीन होती हैं, ऐसे आप रात्रियोंके अग्रणी हैं, क्योंकि—आप रात्रियोंके कर्ता हैं । अथवा दिनोंके केतु हैं दिनके अन्तमें शुक्लपक्षमें पश्चिम दिशाकी ओर दीखते हैं और कृष्णपक्षमें रात्रिके अवसानसे पहिले ही आप अवसानको प्राप्त होजाते हैं, इस प्रकार प्रतिदिनकी ह्रासवृद्धिसे पक्षान्तको प्राप्त होते हुए हे चन्द्रदेव ! आप देवताओंके लिये हविका विभाग करते रहते हैं (क्योंकि–सब यागतिथिविशेषरूप पर्वमें होते हैं) हे पूर्वोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न चन्द्रदेव ! आप दीर्घायुको बढ़ाते हैं २

अष्टमी ॥

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि ।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥ ३ ॥

सोमस्य । अंशो इति । युधाम् । पते । अनूनः । नाम । वै । असि ।
अनूनम् । दर्श । मा । कृधि । प्रऽजया । च । धनेन । च ॥३॥

हे सोमस्यांशो सोमस्य चन्द्रमसः अंशभूत सोमपुत्र हे बुध हे युधां पते युद्धानां योधानां वा पालक । बुधग्रहबलेन हि युद्धजयो भवतीति प्रसिद्धम् । ❀ आमन्त्रितद्वयेपि "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति सोमस्येति युधाम् इति च पदद्वयस्य आमन्त्रितानु-

प्रदेशः । तत्र सोमस्यांशो इत्यत्र "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । युधां पते इत्यस्य "नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधात् "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ॐ ।

एवंगुणविशिष्ट सोमपुत्र हे बुध त्वम् अनूनः संपूर्णो नाम असि भवसि खलु । सर्वदा तेजस्वित्वेन अनूनत्वम् । अतः हे दर्श द्रष्टव्य बुध मा मां हविरादिना त्वां प्रीणयन्तं प्रजया पुत्रादिकया धनेन । परस्परसमुच्चयार्थौ चशब्दौ । अनूनम् संपूर्णं समृद्धं कृधि कुरु ॥ एवं विनियोगानुसारेण बुधग्रहपरतया व्याख्यातः । मन्त्रार्थपर्यालोचनया सोम एव प्रतीयते । तस्मिन् पक्षे अयम् अर्थः । हे सोमस्यांशो सोमस्य संपूर्णकलस्य चन्द्रस्य अंशो अंशभूत एककलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदि दृश्यमान चन्द्र हे युधां पते त्वं नाम नाम्ना अनूनोसि संपूर्णकल इति प्रसिद्धोसि । चन्द्रस्य संपूर्णकलत्वमेव सहजो धर्मः । तत्र कलाह्रासवृद्धी सूर्यमरीचिसमाश्लेषतारतम्येनेति ज्योतिःशास्त्रविद आहुः । यतः संपूर्णकलः अतो हे दर्श द्रष्टव्य सर्वैरभिनंदनीय त्वं मा मां तुभ्यं हविः प्रयच्छन्तम् । प्रजाधनाभ्यां संपूर्णं कुरु इति । सोमदेवत्योपि मंत्रो जन्यजनकयोरभेदोपचाराद् बुधग्रहविषयहविर्दानादिषु विनियुज्यते । ॐ कृधीति । डुकृञ् करणे । लोटि हेः "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति धिरादेशः । विकरणस्य लुक् छान्दसः ॐ ॥

हे सोमके अंश अर्थात् पुत्ररूप बुध ! और युद्धोंके वा योधाओंके पालक बुध ! (क्योंकि–बुधग्रहके बलसे ही युद्धमें विजयकी प्राप्ति होती है, यह प्रसिद्ध है) आपका अनून- संपूर्ण नाम है (सर्वदा तेजस्विताके कारण आपको अनून कहा है) अतः हे दर्श अर्थात् द्रष्टव्य बुध ! आपको हवि आदिसे प्रसन्न करते हुए मुझको आप पुत्र आदि प्रजा और धनसे सम्पूर्ण समृद्ध करिये । (इस प्रकार

विनियोगके अनुसार यह बुधग्रहपरक व्याख्या करदी। मन्त्रार्थकी पर्यालोचनासे यह सोमपरक ही सिद्ध होता है, इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि–हे सम्पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके अंशभूत एक कलावच्छिन्न शुक्लप्रतिपदामें दीखते हुए चन्द्र! हे बुधांपते! आप अनून अर्थात् सम्पूर्ण कला वाले ही प्रसिद्ध हैं (अर्थात् संपूर्ण-कलत्व ही चन्द्रमाका स्वाभाविक धर्म है और कलाओंकी जो वृद्धि और ह्रास दीखता है यह सूर्यकी किरणोंके संगकी न्यूनाधिकताके अनुसार दीखता है, यह ज्योतिषशास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है, इस प्रकार सम्पूर्ण कला वाले होनेसे) हे दर्श! सर्वोंसे अभिनन्दनीय आप शुभ्र हवि देने वालेको प्रजा और धनसे पूर्ण करिये (सोमदेवता वाला मंत्र भी जन्यजनकके अभेदोपचारवश बुधग्रहविदान आदिमें विनियुक्त होता है) ॥ ३ ॥

नवमी ॥

दर्शो॑ऽसि दर्श॒तो॑ऽसि स॒मग्रो॑ऽसि स॒म॑न्तः ।
स॒मग्रः॑ स॒मन्तो॑ भूयासं॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ४ ॥

दर्शः॑ । अ॒सि॒ । द॒र्श॒तः । अ॒सि॒ । सम्ऽअ॑ग्रः । अ॒सि॒ । सम्ऽअ॑न्तः ।
सम्ऽअ॑ग्रः । सम्ऽअ॑न्तः । भू॒यास॑म् । गोभिः॑ । अश्वैः॑ । प्र॒ऽजया॑ ।
प॒शुऽभिः॑ । गृ॒हैः । धने॑न ॥ ४ ॥

हे सोम त्वं दर्शोसि सूर्येण सहैव द्रष्टव्यो भवसि । अमावास्यायां सूर्येण सह चन्द्रमा दृश्यते इति सा तिथिर्दर्शशब्देन उच्यते । यद्वा दर्शोसि शुक्लप्रतिपदि एककलात्मना द्रष्टव्यो भवसि । अनन्तरं दर्शतः तृतीयादिषु ततोपि स्फुटं दर्शनीयो भवसि । अथ

समग्रः अष्टम्यादिषु ततोपि स्फुटतरं कलासमृद्धो भवसि। अनन्तरं समन्तः पौर्णमास्यां संगतान्तप्रदेशः सर्वकलापूर्णमण्डलो भवसि। यत् एवम् अतोहं गवादिभिः समग्रः समृद्धः समन्तः संपूर्णश्च भूयासम् ॥

हे सोम! आप दर्श हैं (अर्थात् सूर्यके साथ ही द्रष्टव्य होते हैं, अमावास्यामें सूर्यके साथ ही चन्द्रमा दीखता है अतः वह तिथि दर्श कहलाती है वह तिथिरूप आप हैं अथवा "आप दर्श हैं" का यह अर्थ भी होसकता है, कि—शुक्ल-प्रतिपदामें एककलारूपसे आप द्रष्टव्य होते हैं) फिर तृतीया आदिमें उससे भी स्फुट दर्शनीय होजाते हैं, फिर आप समग्र हो जाते हैं अर्थात् अष्टमी आदिमें उससे भी स्फुटतर कलासमृद्ध हो जाते हैं फिर आप समन्त होजाते हैं अर्थात् पौर्णमासीमें सर्व-कलाओंसे पूर्ण मण्डल वाले होजाते हैं। आप ऐसे हैं अत एव मैं भी गौ आदिसे समग्र समृद्ध और सम्पूर्ण होजाऊं ॥ ४ ॥

दशमी ॥

योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तस्य। त्वम्। प्राणेन। आ। प्यायस्व।

आ। वयम्। प्याशिषीमहि। गोभिः। अश्वैः। प्रऽजया। पशुऽभिः। गृहैः। धनेन ॥ ५ ॥

यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि प्रातिकूल्यम् आचारति यं वा शत्रुं वयं

द्विष्मः तस्य प्राणेन हे सोम त्वम् आ प्यायस्व आप्यायितो भव। शत्रोः प्राणम् अपहरेत्यर्थः। वयं च गवादिभिः आ प्यासिषीमहि आप्यायिता भूयास्म। ❀ स्फायी ओप्यायी वृद्धौ। आशिषि लिङि "सिब्बहुलम्०" इति बहुलवचनाद् अलेट्यपि सिप्। "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः। "लिङः सीयुट्। इडागमः❀॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है अर्थात् हमारे प्रतिकूल आचरण करता है वा जिस शत्रुसे हम द्वेष करते हैं हे सोम! उसके प्राणसे आप आप्यायित हूजिये अर्थात् उसके प्राणको हरिये। हम भी गौओंसे घोड़ोंसे प्रजासे पशुओंसे घरसे और धनसे आप्यायित होवें

एकादशी ॥

यं दे॒वा अं॒शुमा॑प्या॒यय॑न्ति॒ यमक्षि॑तम॒क्षिता॑ भ॒क्षय॑न्ति।
तेना॒स्मानिन्द्रो॒ वरु॑णो॒ बृह॒स्पति॒रा प्या॑यन्तु॒ भुव॑नस्य
गो॒पाः ॥ ६ ॥

यम्। दे॒वाः। अं॒शुम्। आ॒ऽप्या॒यय॑न्ति। यम्। अक्षि॑तम्। अक्षि॑ताः। भ॒क्षय॑न्ति।
तेन॑। अ॒स्मान्। इन्द्रः। वरु॑णः। बृह॒स्पतिः। आ। प्या॒य॒य॒न्तु॒।
भुव॑नस्य। गो॒पाः ॥ ६ ॥

यम् अंशुम् एककलात्मकं सोमं देवा आप्याययन्ति शुक्लपक्षे प्रतिदिनम् एकैककलाप्रदानेन वर्धयन्ति यं च सोमम् अक्षितम् अविच्छिन्नं सर्वेष्वपि अहस्सु क्षयरहितं यं सोमम् अक्षिताः अक्षीणाः पित्रादयः भक्षयन्ति पिबन्ति। ❀ "वा क्रोशदैन्ययोः" इति पक्षे दीर्घाभावः ❀। तेन सोमेन सह इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नो देवा-

नाम् अधिपतिः वरुणः पापनिवारको देवः बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां हितकारित्वेन पतिः पालयिता च देवः भुवनस्य भूतजातस्य गोपाः गोपायितारः मरुद्भिमदा इन्द्रादयः अन्ये वा विश्वे देवाः अस्मान् हविरादिना प्रीणयितॄन् आप्याययन्तु वर्धयन्तु ॥

सप्तमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीर हरिहरमहाराजप्रवर्तिते

अथर्वसंहिताभाष्ये सप्तमकाण्डे सप्तमोऽनुवाकः ॥

जिस एककलात्मक सोमको देवता आप्यायित करते हैं अर्थात् शुक्लपक्षमें प्रतिदिन एक २ कलाको प्रदान कर सोमको बढ़ाते हैं और जिस सब ही दिनोंमें क्षयरहित सोमको अक्षीण पितर आदि भक्षण करते हैं–पीते हैं, उस सोमके साथ देवाधिपति परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेव, पापनिवारक वरुणदेव, बड़े २ देवताओंके हितकारक होनेसे उनके पालक बृहस्पति, ये प्राणियोंके रक्षक वृद्धिदाता इन्द्र आदि देवता और विश्वेदेवा भी हम हवि आदिसे तृप्त करने वालोंको बढ़ावें–तृप्त करें ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४०१)॥

अथर्ववेदसंहिताके सप्तम काण्डमें सप्तम अनुवाक समाप्त

अष्टमेऽनुवाके द्वे सूक्ते। तत्र "अभ्यर्चत" इति आद्ये सूक्ते आद्येन षड्चेन संपत्कामः सर्वफलकामो वा अग्निं यजेत उपतिष्ठेत वा। "समास्त्वाग्ने [२.६] अभ्यर्चत [७.८७] इत्यग्निं संपत्कामः" "इति अभ्यर्चत [७. ८७] को अस्या नः" [७.१०८] इति च कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. १०] ॥

अग्निचयने समिदाधानानन्तरम् "अभ्यर्चत" इति ब्रह्मा जपेत्। तद् उक्तं वैताने। "उदेनम् उत्तरं नय [६. ५] इति समिध आधीयमानाः। चत्वारि शृङ्गा [ऋ० ४. ५८, ३] अभ्यर्चत ७. ८७] इति जपति" इति [वै० ५. २] ॥

तथा "आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च" इति [न०क०१७] विहितायां महाशान्तौ "अभ्यर्चत" इति श्रावयेत् ॥

तथा वास्तोष्पत्याख्यायां महाशान्तौ "अभ्यर्चत" इत्यनेन औदुम्बरमणिं बध्नीयात् ॥

तदु उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्" इति [न० क० १८] ॥

"अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्" इति च [न० क० १९] ॥

ब्रह्मचारिणः स्वाग्निनाशप्रायश्चित्तार्थं "मय्यग्रे" इति पञ्चर्चेन पञ्च समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि । "मय्यग्र इति पञ्चप्रश्नेना-दधाति" इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा आधाने मथिताग्निं "मय्यग्रे" इत्यनेन आज्येनाक्तं कुर्यात् । "मय्यग्र इत्येतयानक्ति" इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. १] ॥

दर्शपूर्णमासयोः "घृतं ते अग्ने" इत्यनया आज्यनिर्वापकाले अग्निं ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "घृतं ते अग्न इत्याज्ये निरुप्य-माणेऽग्निम्" इति वैतानं सूत्रम् [वै० १. २] ॥

जलोदरभैषज्यार्थं नद्योः संगमे मण्डपं कृत्वा "अप्सु ते राजन्" इति चतुर्ऋचेन लवणोदकं संपात्य अभिमन्त्र्य पिंजूलीभिस्तस्मिन् मण्डपे व्याधितम् आस्रावयेत् ॥

तथा अनेन चतुर्ऋचेन अभिमन्त्रितशीतोदकेन तस्मिन् मण्डपे व्याधितं पिंजूलीभिः सह अवसिञ्चेद् वा ॥

सूत्रितं हि । "अप्सु त इति वहन्त्योर्मध्ये विमिते पिंजूलीभि-रास्रावयति । अवसिञ्चति । अनुष्णाः संपातवतीरसंपाताः" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा धूमकेतुदर्शनलक्षणाद्भुतप्रायश्चित्तार्थं वारुणपशोरवदानानि "अप्सु ते राजन्" इति चतुर्ऋचेन प्रत्यृचं जुहुयात् । तदु उक्तं

कौशिकेन । "अप्सु ते राजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्" इति [कौ० १३. ३५] ॥

पशुतन्त्रे हृदयशूलोद्वासनानन्तरम् "अप्सु ते राजन्" इत्यस्य जपे विनियोगः । "अप्सु ते राजन्निति जपन्ति" इति वैतानं सूत्रम् [वै० २. ६] ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तौ "अप्सु ते राजन्" इति वरुणं यजेत । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "इन्द्रेमं प्रतरं कृधि [६. ५. २] इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् [७. ८८] इति वरुणस्य" इति [न० क० १४] ॥

तथा शवसंस्कारानन्तरम् उदकसमीपे ब्रह्मा "उदुत्तमम्" इति जपेत् ॥

अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थं "यास्मत् पाशान्" इति जपेत् ॥

आठवें अनुवाकमें दो सूक्त हैं । इनमेंसे "अभ्यर्चत" इस प्रथम सूक्तके पहिले पड्चसे सम्पत्तिको चाहने वाला वा सब प्रकारके फलको चाहने वाला अग्निका यजन वा उपस्थान करे ॥ इस विषयमें कौशिक ७ । १० का प्रमाण भी है, कि—समास्त्वाग्ने (२ । ६) अभ्यर्चत (७ । ८७) इत्यग्निं सम्पत्कामः" इति "अभ्यर्चत (७ । ८७) को अस्या नः" (७ । १०८) इति च ॥

अग्निचयनमें समिदाधानके अनन्तर "अभ्यर्चत" का ब्रह्मा जप करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"उदेनं उत्तरं नय (६ । ५) इति समिध आधीयमानाः । चत्वारि शृंगा (ऋ० ४ । ५८ । ३) अभ्यर्चत (७ । ८७) इति जपति" ॥ (वैतानसूत्र ५ । २) ॥

तथा "आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च ।—अग्निका भय होने पर और सर्वकामके लिये आग्नेयी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें "अभ्यर्चत" को पढ़े ।

तथा वास्तोष्पत्या नामकी महाशान्तिमें "अभ्यर्चत" से औदुम्बर मणिको बाँधे।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"अभ्यर्चतेत्याग्नेयाम्' (नक्षत्रकल्प १८) और 'अभ्यर्चतेत्यौदुम्बरम्' (नक्षत्रकल्प १९)॥

ब्रह्मचारीके अपनी अग्निके नाशके प्रायश्चित्तके लिये 'मय्यग्रे' इस पञ्चर्चसे पाँच समिधाओंको रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि--मय्यग्र इति पञ्चमश्नेनादधाति' (कौशिकसूत्र ७।८)॥

तथा आधानमें मथित अग्निको 'मय्यग्रे' से घृतसे आक्त करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २। १ का प्रमाण भी है, कि—'मय्यग्र इत्येतयानक्ति' ॥

दर्शपूर्णमासमें 'घृतं ते अग्ने' से आज्यनिर्वापकालमें ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १। २ का प्रमाण भी है, कि—'घृतं ते अग्ने इत्याज्ये निरुप्यमाणेऽग्निम्' ॥

जलोदरकी चिकित्सा करनेके लिये दो नदियोंके संगम स्थान पर मण्डप बना कर 'अप्सु ते राजन्' इस चतुर्ऋचसे उष्ण जल को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके झुड़ियोंसे उस मण्डपमें रोगीको आप्लावित करे।

तथा इस चतुर्ऋचसे अभिमन्त्रित शीतल जलके द्वारा उस मण्डपमें व्याधितको पिञ्जूलियों (कुशा आदिकी झुडियों) से अवसिञ्चित करे।

सूत्रमें भी कहा है, कि–'अप्सु त इति नद्योर्मध्ये विमिते पिंजूलीभिराप्लावयति। अवसिञ्चति। अप्सुष्णाः सम्पातवतीरसम्पाताः।' (कौशिकसूत्र (४ । ८) ॥

तथा धूमकेतुदर्शनरूप अद्भुतका प्रायश्चित्त करनेके लिये वारुणपशुके अवदानोंका "अप्सु ते राजन्" इस चतुर्ऋचकी प्रत्येक

ऋचासे आहुति देवे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'अप्सु ते राजन्निति चतसृभिर्वारुणस्य जुहुयात्' (कौशिकसूत्र १३। ३५)॥

पशुतन्त्रमें हृदयशूलोद्वासनके अनन्तर 'अप्सु ते राजन्' का जप में विनियोग किया जाता है। इस विषयमें वैतानसूत्र २। ६ का प्रमाण भी है, कि-'अप्सु ते राजन्निति जपन्ति'॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें 'अप्सु ते राजन्' से वरुणका यजन करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"इन्द्रेमं प्रतरं कृधि (६। ५। २) इति इन्द्रस्य अप्सु ते राजन् (७। ८८) इति वरुणस्य" (नक्षत्रकल्प १४)॥

तथा शवसंस्कारके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा "उदुत्तमम्" का जप करे।

अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये "प्रास्मत् पाशान्" का जप करे॥

तत्र प्रथमा॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्॥

अभि। अर्चत। सुऽस्तुतिम्। गव्यम्। आजिम्। अस्मासु। भद्रा। द्रविणानि। धत्त।
इमम्। यज्ञम्। नयत। देवता। नः। घृतस्य। धाराः। मधुऽमत्। पवन्ताम्॥ १॥

सुष्टुतिम् सुस्तोत्रम् अग्निम्। ❀ "नड्सुभ्याम्" इति उत्तर-

पदान्तोदात्तत्वम् ❀। अभ्यर्चत। ❀ अर्चतिः स्तुतिकर्मा ❀। अभिष्टुत। आपो गावो वा संबोध्यन्ते। कीदृशम्। गव्यम् गोसंबन्धिनम् आजिम् संघम् अभिलक्ष्य सुस्तुतिम्। गोसंघादिलाभार्थं स्तूयमानम् इत्यर्थः। ❀ "गोरजादौ तद्धिते यद्वक्तव्यः" इति यत् प्रत्ययः। "वान्तो यि प्रत्यये" इति वान्तादेशः। "यतोनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। यद्वा गव्यम् गोभ्यो हितम्। ❀ हितार्थे यत् ❀। आजिम् अभिगन्तव्यं यज्ञैः। अथवा आजिशब्देन विजिगीषूणां लक्ष्यदेशगमनम् उच्यते। आजिम् आजिधावनं प्रति सुस्तुतिम् इति संबन्धः। सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम् अग्नेरेव निर्दिष्टदेशगमनात्। तथा च ऐतरेयके श्रूयते। "तासां वै देवतानाम् आजिं धावन्तीनाम् अभिसृष्टानाम् अग्निर्मुखं प्रथमः प्रत्यपद्यत" इति [ऐ० ब्रा० ४, ८]। किं च भद्रा भद्राणि भन्दनीयानि द्रविणानि धनानि अस्मासु धत्त निधत्त। तथा नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं देवताः अग्न्यादिकाः नयत प्रापयत। अत एव घृतस्य क्षरणशीलस्य आज्यस्य धाराः प्रवाहा मधुमत्। क्रियाविशेषणम् एतत्। मधुररसोपेतं यथा तथा पवन्ताम्। ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀। गच्छन्तु यष्टव्या देवता इति। यद्वा मधुमत् मधुमत्यो धारा इति। ❀ डीब्जसोर्लुक् छान्दसः ❀॥

गोसंघकी प्राप्तिके लिये सुन्दर स्तुतियोंके पात्र युद्धस्थलमें गमन करने वाले ‡ अग्निकी हे गौओं ! पूजा करो और हममें कल्याणमय धनोंको स्थापित करो और इस यज्ञमें अग्नि आदि देवताओंको लाओ और हमारे यज्ञमें घृतकी धारायें मधुरभावसे देवताओंकी ओर चलें ॥ १ ॥

---

‡ सबसे पहिले अग्निका युद्धगमन तैत्तिरीयकमें प्रसिद्ध है, "तासां वै देवतानां आजिं धावन्तीनां अभिसृष्टानां अग्निर्मुखं प्रथमं प्रत्यपद्यत।" (ऐतरेयब्राह्मण ४। ८)।

द्वितीया ॥

मय्यग्रे॑ अ॒ग्निं गृ॑ह्णामि स॒ह क्ष॒त्रेण॒ वर्च॑सा॒ बले॑न ।
मयि॑ प्र॒जां मय्यायु॑र्दधामि॒ स्वाहा॒ मय्य॒ग्निम् ॥ २ ॥

मयि॑ । अग्रे॑ । अ॒ग्निम् । गृ॒ह्णामि॒ । स॒ह । क्ष॒त्रेण॑ । वर्च॑सा । बले॑न ।
मयि॑ । प्र॒ऽजाम् । मयि॑ । आयुः॑ । द॒धा॒मि॒ । स्वाहा॑ । मयि॑ । अ॒ग्निम् २

अग्रे प्रथमम् अग्निम् आहुताधारं मथ्यमानम् अग्निं मयि गृह्णामि धारयामि । मदधीनं करोमीत्यर्थः । केन सहेति तद् आह । क्षत्रेण बलेन वर्चसा तेजसा । यद्वा क्षत्रेण क्षतात् त्रायकेण वर्चसा बलेन शारीरेण सामर्थ्येन सह अग्निं गृह्णामि । क्षत्रतेजोबलार्थम् अग्निं स्वाधीनं करोमीत्यर्थः । तथा अग्निस्वाधीनीकरणेन प्रजाम् पुत्रादिलक्षणां मयि दधामि । पुत्रादिकं लभेयेत्यर्थः । आयुः जीवनं मयि दधामि । आयुष्मान् भूयासम् इति यावत् । तथा अग्निम् जाठरं वैश्वानरम् अग्निं मयि दधामि अन्नपाकादिजनितारोग्यार्थम् अग्निं धारयामि । स्वाहा इदं समिदादिरूपम् अग्नौ स्वाहुतम् अस्तु ॥

पहिले मैं आहुताधार मथ्यमान अग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, अपने आधीन करता हूँ, क्षतसे रक्षा करने वाले शारीरिक बल तेजको पानेके लिये मैं अग्निको स्वाधीन करता हूँ, फिर अग्निस्वाधीनीकरणके अनन्तर मैं अपनेमें पुत्र आदि लक्षणों वाली प्रजाको धारण करता हूँ अर्थात् पुत्र पौत्र आदि प्रजाको मैं पाऊँ । मैं अपनेमें जीवनको धारण करता हूँ अर्थात् मैं आयुष्मान् होऊँ तथा अन्नपाक आदिसे होने वाले आरोग्यके अर्थ मैं जाठर वैश्वानरग्निको अपनेमें धारण करता हूँ, यह समिधा आदि अग्नि में भली प्रकार आहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः ।

क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ३

इह । एव । अग्ने । अधि । धारय । रयिम् । मा । त्वा । नि । क्रन् । पूर्वऽचित्ताः । निऽकारिणः ।

क्षत्रेण । अग्ने । सुऽयमम् । अस्तु । तुभ्यम् । उपऽसत्ता । वर्धताम् । ते । अनिःऽस्तृतः ॥ ३ ॥

हे अग्ने इहैव अस्मास्वेव त्वां परिचरत्सु रयिम् धनम् अधि धारय अधिकं स्थापय । ❀ "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति दीर्घः ❀ । ये पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वं त्वद्विषयमनस्का निकारिणः अस्मदपकारिणः ते त्वा त्वां मा नि क्रन् स्वाधीनं मा कार्षुः । एवं वा योजना । निकारिणः अस्मदपकारिणः पूर्वचित्ताः अस्मत्तः पूर्वमपि त्वद्विषयागकरणमनसोपि त्वां यागेन स्वाधीनं मा कार्षुरिति । ❀ करोतेः "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ । हे अग्ने तुभ्यं तव । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । क्षत्रेण बलेन सह । स्वरूपम् इति शेषः । सुयमम् अस्तु सुस्थितम् अस्तु येन अस्मान् अनुगृह्णासि । ❀ यमेः खलि "लिति" इति प्रत्ययात्पूर्वस्य उदात्तत्वम् । "तुभ्यमह्यौ ङयि" इति तुभ्यादेशे "ङयि च" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । अपि च ते तव उपसत्ता उपसदनशीलः परिचारकोयं यजमानः वर्धताम् पूर्यतां कामैः । अनिस्तृतः केनचिदपि अहिंसितः अतिरस्कृतप्रभावः । ❀ स्तृणातिर्हिंसाकर्मा छादनकर्मा

षा । उपसचेति । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् लुचि "एकाचः०" इति इण्निषेधः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी सेवा करने वाले हममें ही आप धनको अधिकाधिक स्थापित करिये । और जो हमसे द्वेष रखने वाले हमसे पहिले ही आपके लिये यज्ञ करनेका संकल्प कर चुके हों वे आपको यागसे स्वाधीन न कर सकें । हे अग्ने ! अपने बलके साथ आप अपने (हम पर अनुग्रह कर सकने वाले) रूपमें सुस्थिर हूजिये । और आपकी सेवा करने वाला यह यजमान किसीसे भी न्यूनभाव न होता हुआ कार्योंसे सम्पन्न होवे-बढ़े ३

चतुर्थी ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ४ ॥

अनु । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि । प्रथमः । जातऽवेदाः ।
अनु । सूर्यः । उषसः । अनु । रश्मीन् । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ ४ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः उषसाम् अग्रम् प्रादुर्भावम् अनु अख्यत् ख्याति प्रकाशते । दृश्यत इति यावत् । प्रथमं तावद् उषसां मुखे अग्निः प्रकाशते । ❀ "लक्षणेत्थंभूत०" इत्यादिना अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति ख्यातेर्लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" ❀ । अहानि च । अन्वख्यत् इति क्रियानुषङ्गः । अहान्यनु प्रतिप्रकाशते । प्रथमो मुख्यः ।

प्रथमानो वा । ❀ प्रथेरमच् प्रत्ययः ❀ । महान् जातवेदाः जातानि वस्तूनि वेदयतीति जातवेदाः जातानां वेदिता जातप्रज्ञो वा प्रकाशते । ❀ गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४. २२६] इति वेत्तेरसुन् ❀ । सूर्यात्मना अग्निः उत्तरार्धेन स्तूयते । सूर्यः सूर्यात्मकः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । "उद्यन्तं वावादित्यम् अग्निरनुसमारोहति । तस्माद्‌ धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इति [तै० ब्रा० २. १. २. १०] । सूर्यात्मकोऽग्निः उषसोऽनु प्रकाशते । ततो रश्मीन् व्यापनशीलान् किरणान् अनु प्रकाशते । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वा विवेश सर्वत्र द्यावापृथिव्योराविष्टः प्रकाशत इति । ❀ "दिवसश्च पृथिव्याम्" इति द्यावादेशः । द्वितीयाद्विवचनस्य "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव उषःकालोंके प्रादुर्भावके साथ ही प्रकाशित होते हैं—दीखते हैं, पहिले उषःके मुखोंमें अग्नि प्रकाशित होते हैं, और यह अग्निदेव दिनोंके साथ भी प्रकाशित होते हैं और यह मुख्य जातवेदा अग्नि सूर्य बनकर † उषःको प्रकाशित करते हैं फिर किरणोंको प्रकाशित करते हैं । इस क्रम से यह सूर्यात्मक अग्नि द्यावापृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाश फैलाते हैं।

पञ्चमी ॥

प्रत्यं॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्यत् प्रत्यहा॑नि प्र॒थ॒मो जा॒तवे॑दाः ।

---

† इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सूर्यरूप अग्निकी स्तुति की गई है । तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि—"उद्यन्तं वावादित्यं अग्निरनुसमारोहति । तस्माद्‌ धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे ।—उदय होते हुए सूर्यदेव पर अग्निदेव अनुसमारोहण करते हैं । इस कारण दिनमें अग्नि का धुआँ ही दीखता है" (प्रकाश नहीं दीखता है) (तैत्तिरीयब्राह्मण २ । १ । २ । १०) ॥

प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ ५ ॥

प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि । प्रथमः । जातऽवेदाः ।

प्रति । सूर्यस्य । पुरुऽधा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान ॥ ५ ॥

पूर्वार्धं पूर्वमन्त्रेण व्याख्यातम् । अनोः स्थाने प्रति पदं विशिष्यते । ❀ "लक्षण०" इत्यादिना प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀ । किं च पुरुत्रा पुरून् बहुरूपत्वाद् बहुधा प्रवृत्तान् । ❀ "देवमनुष्य०" इत्यादिना त्राप्रत्ययः ❀ । सूर्यस्य रश्मींश्च प्रति अख्यत् प्रकाशते सूर्यस्य रश्मीन् प्रति स्वयमेव प्रकाशते अग्निसूर्ययोः अत्यन्तभेदाभावात् । इत्थम् अनेन क्रमेण द्यावापृथिवी प्रत्या ततान सर्वत्र द्यावापृथिव्योराततो भवति । प्रकाशम् आत्मीयम् आतनोतीति यावत् ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव प्रत्येक उषःकालके प्रादुर्भावमें प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव प्रत्येक दिनोंके साथ ही प्रकाशित होते हैं और मुख्य जातवेदा सूर्यात्मक अग्निदेव, अनेकरूप होनेसे अनेक प्रकारसे प्रवृत्त सूर्यकी किरणोंमें भी स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, (क्योंकि–अग्नि और सूर्यमें अत्यन्त भेद नहीं है) इस प्रकार यह द्यावापृथिवी आदि सबमें अपने प्रकाशका विस्तार करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वा मनुरद्या समिन्धे ।

घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥ ६ ॥

घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सधऽस्थे । घृतेन । त्वाम् । मनुः । अद्य । सम् । इन्धे ।

घृतम् । ते । देवीः । नप्त्यः । आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् । दुह्रताम् । गावः । अग्ने ॥ ६ ॥

हे अग्ने ते तव संबन्धि घृतम् आज्यं दिव्ये दिवि भवे सधस्थे सहस्थाने देवैः सह निवासस्थाने । वर्तत इति शेषः । अद्य इदानीं मनुः एतत्संज्ञकः त्वां घृतेन क्षरणशीलेन दीपकेन वा आज्येन समिन्धे सम्यग् दीपयति । मनुर्नाम राजर्षिः इदानीमपि अग्निम् आज्याहुतिभिः समर्धयतीत्यर्थः । हे अग्ने ते तुभ्यं देवीः द्योतमानाः नप्त्यः न पातयित्र्यः नप्तृसंज्ञापत्यभूता वा । आप इत्यर्थः । घृतम् आज्यम् आ वहन्तु अभिमुखं प्रापयन्तु । उदकैरेव ओषध्यादि- वृद्ध्या अपां न पातयितृत्वम् । "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदि- त्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः" इति [म० स्मृ० ३. ७६] स्मृते अपां नप्तृसंज्ञकापत्यभूतत्वम् । किं च हे अग्ने तुभ्यं त्वदर्थं गावः धेनवः घृतं दुह्रताम् दुहताम् । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति रुडागमः ❀ ॥

हे अग्निदेव ! आपका घृत देवताओंके साथ २ रहनेके स्थान द्यौमें है । आज कल भी मनु नामक राजर्षि आपको क्षरणशील (दीपक वा) घृतके द्वारा भली प्रकार प्रदीप्त करते रहते हैं

आपके प्रकाशवान् नप्ता जल ‡ घृतको आपके अभिमुख लावें और हे अग्ने ! गौएँ आपके लिये घृतको दुहें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्ऽसु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।
ततः । धृतऽव्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

हे राजन् सर्वेषां देवानां स्वामिन् वरुण पापनिवारक देव ते तव अप्सु उदकेषु उदकमध्ये मिथः अनन्यसाधारणः परेषाम् अनभिगम्यो वा हिरण्ययः हिरण्मयः । ❁ "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि" इति मयटो मकारलोपो निपात्यते ❁। सुवर्णमयो गृहः निवासस्थानम् अस्ति यतः ततः तस्मात् कारणाद् धृतव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । नियतकर्मा सत्यकर्मा राजा वरुणः सर्वा सर्वाणि धामानि स्थानानि अस्मदीयानि मुञ्चतु त्यजतु । ❁ धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति हि यास्कः [नि० ९. २८] ❁ । जलोदरादयो रोगा हि वरुणकर्तृकाः । तस्य हि जलमध्ये निवासस्थानम् अस्ति । अतः स्वेन

‡ जलसे ही औषधि आदिकी वृद्धि होती है अत एव जलों का 'न पातयितृत्व' है और अपत्यरूप नप्तृत्व भी है, क्योंकि—मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके छिहत्तरवें श्लोकमें लिखा है, कि—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः० ।—अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति आदित्यके पास पहुँचती है । और आदित्यसे वृष्टि होती है ।' इस प्रकार जल अग्निका पोता हुआ ।

गृहीतानि अस्मदीयावयवरूपाणि स्थानानि त्यक्त्वा स्वगृहे निवसत्वित्यर्थः ॥

हे सब देवताओंके स्वामिन् पापनिवारक वरुणदेव ! जलोंके भीतर जो दूसरोंको नहीं मिल सकता ऐसा मिथः अर्थात् अनन्यसाधारण सुवर्णमय घर है । इस कारण सत्यकर्मा राजा वरुणदेव उन हममें विद्यमान अपने सब घरोंको छोड़ देवें ॥ (तात्पर्य यह है, कि-जलोदर आदि रोग वरुणदेवके करनेसे होते हैं । इन वरुणदेवका जलके मध्यमें निवासस्थान है अतः वह अपने आप ग्रहण किये हुए हमारे अवयवरूप स्थानोंको छोड़ कर अपने घरमें निवास करें) ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः ।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥ २ ॥

धाम्नःऽधाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः ।
यत् । आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम ।
ततः । वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

हे राजन् हे वरुण इतः अस्माद् धाम्नोधाम्न सर्वस्माद् रोगस्थानात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । ❀ धाम्नोधाम्न इति । वीप्सायां द्विर्वचनम् । "अनुदात्तं च" इति आम्रेडितस्य अनुदात्तत्वम् ❀ । किं च हे वरुण ततोपि पापात् नः अस्मान् मुञ्च मोचय । हे आपः इति हे अघ्न्याः इति हे वरुण इति यद् ऊचिम यच्छापवाक्यम् अवोचाम । यच्छापवाक्यवचनेन पापम् आर्जितं तस्मादपि मुञ्चेति

संबन्धः । शापो हि प्रशस्तदेवतानामसंकीर्तनेन परेषाम् अनर्थाशंसनम् । यद्वा सत्यसति वा विषये "आपो वै सर्वा देवताः" [ऐ० ब्रा० २, १६] इति सर्वदेवतात्मिकानाम् अपां साक्षित्वेन प्रमाणीकरणम् । हविराधारभूताया गोर्वा जलाधिपतेर्वरुणस्य वा । उपलक्षणम् एतत् प्रशस्तदेवतानाम् अन्यासामपि । हे आपः यूयम् अस्मिन् सत्ये असत्ये वा विषये साक्षिभूता भवथ हे आपः युष्मभ्यं शपामहे इदम् इत्थम् इत्येवंविधं प्रशस्तदेवतानामधेयपुरःसरं यद् वाक्यं तेन पापम् आर्ज्यते। सत्येपि हि विषये शपथकरणेन धर्मस्यार्धं वैवस्वतो निकृन्तीति किञ्च असत्ये किमु वक्तव्यम् । अतो देवतानामधेयकीर्तनरूपशपथकरणजनितपापाद् अस्मान् मोचयेत्यर्थः । अत्र ऊचिमेति पदेन वचनमात्रं न विवक्षितं किं तु शपथरूपमेव । अत एव तैत्तिरीये "यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे" [तै० ब्रा० २, ६, ६, २] इति समाम्नायते । ❀ आपो अघ्न्या वरुणेति श्रुताद्युदाचानां मन्त्रपदानाम् इदम् अनुकरणम् । ततश्च सत्यपि पदात् परत्वे आमन्त्रितनिघातो न प्रवर्तते । अघ्न्याशब्दो यप्रत्ययान्तः अन्तोदात्तः । यथा "दुहाम् अश्विभ्यां पयो अघ्न्येयम्" [ऋ० १, १६४, २७] इति । तस्य आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । वरुणेति । षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । ऊचिमेति । ब्रूञो लिटि वच्यादेशः । यजादित्वात् संप्रसारणम् । "लिटयभ्यासस्योभयेषाम्" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ❀ ॥

हे राजन् वरुणदेव ! हमारे शरीरमें स्थित अपने सब रोग-स्थानों. की पीड़ा) से हमको मुक्त करिये और हे वरुण ! हम को पापसे भी मुक्त करिये । हे जलों ! अघ्न्य ! हे वरुण ! और हम जिस शापवाक्यको बोल चुके हैं (अर्थात् शापवाक्य कहनेसे जो पाप हमने अर्जित किया है) उस पापसे भी हमको मुक्त करिये † २

† प्रशस्तदेवताका नाम लेकर दूसरोंके लिये अनर्थमय वाक्य

नवमी ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम २

उत्। उत्ऽतमम्। वरुण। पाशम्। अस्मत्। अव। अधमम्। वि। मध्यमम्। श्रथय।

अथ। वयम्। आदित्य। व्रते। तव। अनागसः। अदितये। स्याम२

हे वरुण उत्तमम् ऊर्ध्वकायस्थितं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः सका-

कहना शाप कहलाता है, और जिस विषयके सत् वा असत् होने पर 'आपो वै सर्वा देवताः।-जल सम्पूर्ण देवमय हैं' इस ऐतरेय ब्राह्मण २। १६ के अनुसार सर्वदेवतात्मक जलोंका साक्षीरूपसे प्रमाण करना भी शाप कहलाता है। और हविकी आधारभूत गौका तथा जलाधिपति वरुणका साक्षीरूपमें प्रमाण करना शाप कहलाता है, अधिक क्या ? सकल प्रशस्त देवताओं का साक्षीरूपमें प्रमाण करना यहाँ शापशब्दवाच्य है। जैसे कि-हे जलों ! तुम इस सत्य वा असत्य विषयमें साक्षी रहो, हे देवताओं ! हम आपके लिये इस प्रकार शाप खाते हैं। इस प्रकार जो प्रशस्त देवताका नाम लेकर शाप खाया जाता है तो उससे पाप अर्जित होता है। बात सच्ची हो तब भी शपथकरणसे धर्मके आधे भागको यमराज अवश्य काट लेते हैं, फिर असत्य के विषयमें तो कहा ही क्या जावे। अतः देवताके नाम लेने रूप शपथसे उत्पन्न हुए पापसे हमको छुड़ाइये। (तैत्तिरीय ब्राह्मण २। ६। ६। २ में कहा है, कि-"यदापो अघ्निया इति वरुणेति शपामहे" ॥

शाद् वच्छ्रथय ऊर्ध्वम् उत्कृष्य नाशय । अधमम् अधःकायस्थितं पाशम् अव श्रथय अधस्ताद् अवकृष्य नाशय । मध्यमम् मध्यदेहस्थितं पाशं वि श्रथय विकृष्य नाशय । ❀ अथ दौर्बल्ये । चुरादिरदन्तः । वर्णव्यत्ययेन उपान्त्यस्य दीर्घत्वम् । यद्वा श्रन्थ प्रतिहर्षमोचनयोः । अस्मात् लोटि "श्नायच्छन्दसि सर्वत्र" इति श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशः । "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀ । अथ अनन्तरम् हे आदित्य अदितेः पुत्रः । ❀ "दित्यदित्यादित्य०" इति एयप्रत्ययः ❀ । हे आदित्य वरुण तव व्रते कर्मणि । ❀ विषयसप्तमी ❀ । कर्मार्थं यागयोग्यतासिद्ध्यर्थम् अनागसः विमुक्तसर्वपाशा वयम् अदितये अखण्डितत्वाय अनभिशस्तये स्याम भवेम । ❀ अनागस इति । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्येष स्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ ॥

हे वरुण ! हमारे शरीरके ऊपरके भागमें स्थित पाशको हमारे पाससे ऊपरको खींच कर नष्ट करिये । और शरीरके नीचे भागमें स्थित पाशको भी खींच कर नष्ट करिये । और मध्यदेशमें स्थित पाशको भी निकाल कर नष्ट करिये । हे अदितिके पुत्र ! इसके अनन्तर हम आपके यागकी योग्यताकी सिद्धिके लिये सब पाशोंसे रहित होकर अखण्डित स्थितिमें रहनेके लिये समर्थ होवें ॥ २ ॥

दशमी ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये ।

दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । ये । उत्ऽतमाः ।
अधमाः । वारुणाः । ये ।

दुःऽस्वप्न्यम् । दुःऽइतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम ।
सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ ४ ॥

हे वरुण अस्मत् अस्मत्तः सर्वान् पाशान् प्र मुञ्च । ये वारुणाः वरुणस्य भवतः संबन्धिनः उत्तमा अधमाश्च ये पाशाः सन्ति । उद्भूताभिभूतशक्तिभेदाद् अधर्मपाशानां द्वैविध्यम् । ❀ "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठाद् उत्तमशब्दः अन्तोदात्तः❀। किं च दुःस्वप्न्यम् दुष्टे स्वप्ने भवं दुरितम् पापम् अरिष्टम् अस्मत् अस्मत्तः निः ष्व निःसुव । निर्गमयेत्यर्थः । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् लोटि तुदादित्वात् शः । षत्वादेशो व्यत्ययेन ❀ । अथ पाशदुरितविमोचनानन्तरं सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य लोकं गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

[इति] अष्टमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वरुणदेव ! हमसे सब पाशोंको छुड़ाइये, जो वरुणदेवके (उद्भूत और अनुद्भूतशक्ति-भेदसे) उत्तम और अधम पाश हैं, उनसे आप हमको मुक्त करिये । दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले पाप को हमसे दूर करिये । इस प्रकार पाश और पापोंसे मुक्त होनेके उपरान्त हम पुण्यलोकको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४०३) ॥

"अनाधृष्यो जातवेदाः" इति प्रथमाया ऋचः अग्न्युपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

इन्द्रमहाख्ये उत्सवे "इन्द्र क्षत्रम्" इत्यनया हविर्जुहुयात् । 'इन्द्र क्षत्रम् इति हविषो हुत्वा" इति हि [कौ० १४. ४] सूत्रम् ॥

अग्निचयने पुरीषाच्छन्नां चितिं "मृगो न भीमः" इति अनया अनुमन्त्रयेत । "मृगो न भीमा [७. ८६. २]वैश्वानरो न ऊतये [६. ३५] इति चितिं पुरीषाच्छन्नाम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५. २] ॥

स्वस्त्ययनार्थं "त्यमू षु" "त्रातारम्" इत्याभ्यां प्रत्येकम् इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा । "त्यमू षु [७. ९०] त्रातारम् [७. ९१] आ मन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्ययनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा "त्यमू षु" "त्रातारम्" इत्यनयोः स्वस्त्ययनगणे पाठाद् उपाकर्मणि आज्यहोमे विनियोगः । "स्वस्त्ययननैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] सूत्रात् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्यनार्थं 'त्यमू षु' "त्रातारम्" इति जपेत्

तथा इन्द्रमहाख्योत्सवे "त्रातारम् इन्द्रम्" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । "त्रातारम् इन्द्रम्" [७. ९१] इन्द्रः सुत्रामा [७. ९६] इत्याज्यं हुत्वा" इति हि [कौ० १४. ४] सूत्रम् ॥

स्वस्त्ययनकामः "यो अग्नौ" इति ऋचा रुद्रान् यजेत उपतिष्ठेत वा । "यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

तथा अन्त्येष्ट्यादिषु स्वस्त्ययनार्थम् एताम् ऋचं जपेत् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः "यो अग्नौ" इत्यनया आग्नीध्रः संमार्गम् अग्नौ निक्षिपेत् । उक्तं वैताने । "अग्नीध्रः संमार्गं प्रहरति यो अग्नाविति" [वै० १. ४] ॥

तथा चातुर्मास्येषु साकमेधपर्वणि त्रैयम्बककर्मणि अस्या विनियोगः । उक्तं वैताने । "अथोदञ्चश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति" इति [वै० २. ५] ॥

तथा अग्निष्टोमे शालादहनानन्तरं "यो अग्नौ" इत्यनेन अग्नये

नमस्कारं कुर्यात् । "यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

सर्पविषभैषज्यार्थम् "अपेहि" इत्यनया तृणानि मन्त्राल्य सर्पाभिमुखं प्रक्षिपेत् । दष्टस्थाने निक्षिपेद् वा । सूत्रितं हि । "अपेहीति तृणानि मघृत्य अहिम् अभि निरस्यति । यतो दष्टः" इति [कौ० ४. ५] ॥

परिमोक्षविधौ "अपो दिव्याः" इति चतसृभिः शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा वेदव्रतादिषु "अपो दिव्याः" इति तृचेन "एधोसि" इत्यनया च तिस्रः समिध आदध्यात् ॥

सूत्रितं हि । "अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकम् अभिमन्त्रयते । अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्ज समिध आदधाति" इति [कौ० ५. ६] ॥

तथा आचार्यमरणे तत्संस्कारानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति चतसृभिः ब्रह्मचारी स्नायात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "त्रिरात्रम् अपर्यावर्तमानः शयीत । नोपशयीतेति कौशिकः । स्नानीयाभिः स्नायात्" इति [कौ० ५. १०] ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः इडाभागप्राशनानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति तिसृभिः प्रस्तरे मार्जनं कुर्यात् । तद् उक्तं वैताने । "अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते" इति [वै० १. ३] ॥

तथा अग्निष्टोमे अवभृथस्नानानन्तरम् "अपो दिव्याः" इति आहवनीयाग्निम् उपतिष्ठेत । "अपो दिव्याः" इत्याहवनीयम् उपतिष्ठते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. १४] ॥

अग्निकार्ये ब्रह्मचारी "इदम् आपः" इति हस्तौ प्रक्षालयेत् । "इदम् आपः प्र वहत इति पाणी प्रक्षालयते" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ७. ८] ॥

तथा चातुर्मास्येषु वरुणप्रघासपर्वणि "इदम् आपः" इति मार्जनं कुर्यात्। "आषाढ्यां वरुणप्रघासः" इति प्रक्रम्य "इदम् आपः प्र वहतेति मार्जयते" इति वैताने सूत्रितम् [वै० २. ४]॥

दर्शपूर्णमासयोः दक्षिणाप्रतिग्रहानन्तरम् "एधोसि" इति मन्त्रेण आग्नीध्रः समिधम् आदध्यात्। तद् उक्तं वैताने। "संप्रेषित आग्नीध्र एधोसीति समुद्घृत्य समिधम् आधाय" इति [वै १. ४]॥

तथा स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः संस्रावहोमानन्तरम् "एधोसि" इति मन्त्रेण द्वितीयां "समिदसि" इति मन्त्रेण तृतीयां समिधम् आदध्यात्। "तेजोसि" इति मन्त्रेण मुखं विमृज्यात्। सूत्रितं हि "अग्नये स्वाहेति समिधम् आदधाति। एधोसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोसीति मुखं विमार्ष्टि" इति [कौ० १. ६]॥

तथा अग्निकार्ये ब्रह्मचारी "एधोसि" इति हस्तम् अग्नौ प्रताप्य उष्णाग्नं भक्षयेत्। "एधोसीत्युष्णमग्नं भक्षयति" इति हि [कौ० ७. ८] सूत्रम् ॥

जारोच्चाटनार्थं "अपि वृश्च" इति तृचेन जारं दृष्ट्वा वदेत् ॥

तथा अनेन पाषाणम् अभिमन्त्र्य जारसंगमस्थाने प्रक्षिपेत् ॥

सूत्रितं हि। "अपि वृश्चेति जायायै जारम् अन्वाह। क्लीबपदे बाधकं धनुर्निष्यति। आशयेश्मानं प्रहरति" इति [कौ० ४. १२]॥

'अनाधृष्यो जातवेदाः' इस पहिली ऋचाका अग्निदेवके उपस्थानमें लिंगके अनुसार विनियोग किया जाता है।

इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'इन्द्र क्षत्रम्' ऋचासे हविकी आहुति देवे। इस विषयमें कौशिकसूत्र १४। ४ का प्रमाण है, कि-'इन्द्र क्षत्रं इति हविषो हुत्वा'॥

अग्निचयनमें पुरीषाच्छन्ना चितिका ब्रह्मा 'मृगो न भीमः' से अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ५। २ का प्रमाण भी है, कि-'मृगो न भीमः (७। ८६। ३) वैश्वानरो न ऊतये (६। ३५) इति चितिं पुरीषाच्छन्नाम्'॥

स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमू षु' और 'त्रातारम्' इन दोनों मेंसे प्रत्येकसे इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण भी है, कि-'त्यमू षु (७। ९०) त्रातारम् (७। ९१) आ मन्द्रैः (७। १२२) इति स्वस्त्ययनकामः'॥

तथा 'त्यमू षु' और 'त्रातारम्' इन दोनों सूक्तोंका स्वस्त्ययन-गणमें पाठ होनेसे उपाकर्मके घृतहोममें विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्र १४। २ का प्रमाण है, कि-'स्वस्त्ययनै-राज्यं जुहुयात्' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययन करनेके लिये 'त्यमू षु' और 'त्रातारम्' का जप करे।

तथा इन्द्रमह नामक उत्सवमें 'त्रातारम् इन्द्रम्' ऋचासे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें कौशिकसूत्र १४। ४ का प्रमाण भी है, कि-'त्रातारम् इन्द्रम् (७। ९१) इन्द्रः सुत्रामा (७। ९६) इत्याज्यं हुत्वा' ॥

स्वस्त्ययन चाहने वाला 'यो अग्नौ' ऋचासे रुद्रोंका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण भी है, कि-'यो अग्नाविति रुद्रान् स्वस्त्ययनकामः' ॥

तथा अन्त्येष्टि आदिमें स्वस्त्ययनके लिये इस ऋचाका जप करे।

तथा दर्श और पूर्णमासमें आग्नीध्र 'यो अग्नौ' ऋचासे संमार्ग को अग्निमें डाल देय। इस विषयमें वैतानसूत्र १। ४ का प्रमाण भी है, कि-'आग्नीध्रः सम्मार्गं प्रहरति यो अग्नाविति'।

तथा चातुर्मास्योंमें साकमेधपर्वके त्रैयम्बक कर्ममें इसका विनि-योग होता है। इस विषयमें वैतानसूत्र २। ५ का प्रमाण भी है, कि-'अथोदञ्चश्चतुष्पथे त्रैयम्बकं यो अग्नाविति' ॥

तथा अग्निष्टोममें शालादहनके अनन्तर 'यो अग्नौ' से अग्निके लिये नमस्कार करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १४ का प्रमाण है, कि-'यो अग्नाविति नमस्कृत्य तेनैव निष्क्रामन्ति' ॥

सर्पविषकी चिकित्सा करनेके लिये 'अपेहि' ऋचासे तृणोंको प्रज्वलित करके सर्पके अभिमुख फेंक देवे। सूत्रमें भी कहा है, कि–'अपेहीति तृणानि प्रवृत्य अहिं अभि निरस्यति। यतो दष्टः' (कौशिकसूत्र ४ । ५) ॥

परिमोत्तविधिमें 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे शान्ति-जलका अभिमन्त्रण करे।

तथा वेदव्रत आदिमें 'अपो दिव्याः' इस द्व्यृचसे और 'एधोऽसि' इस तृचसे भी तीन समिधाओंको रक्खे।

इनमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अपो दिव्या इति पर्यवेतव्रत उदकान्ते शान्त्युदकं अभिमन्त्रयते। अस्तमिते समित्पाणिरेत्य तृतीयावर्जं समिध आदधाति।' (कौशिकसूत्र ५ । ६) ॥

तथा आचार्यमरणमें उनके संस्कारके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन चार ऋचाओंसे ब्रह्मचारी स्नान करे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-'त्रिरात्रं अपर्यावर्तमानः शयीत नोपशयीतेति कौशिकः। स्नानीयाभिः स्नायात्' (कौशिकसूत्र ५ । १०) ॥

तथा दर्श और पूर्णमासयागमें इडाभागप्राशनके अनन्तर 'अपो दिव्याः' इन तीन ऋचाओंसे प्रस्तरमें मार्जन करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'अपो दिव्या इति तिसृभिः पवित्रवति मार्जयते' (वैतानसूत्र १ । ३) ॥

तथा अग्निष्टोममें अवभृथ स्नानके अनन्तर 'अपो दिव्याः' से आहवनीयका उपस्थान करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३ । १४ का प्रमाण है, कि–'अपो दिव्या इत्याहवनीयं उपतिष्ठते'

अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी 'इदं आपः' से हाथोंको प्रक्षालित करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि–'इदं आपः प्रवहत इति पाणी प्रक्षालयते' ॥

तथा चातुर्मास्योंके वरुणप्रघासपर्वमें "इदं आपः" से मार्जन

करे। "आषाढ्यां वरुणप्रघासः-आषाढ़ीमें वरुणप्रघास होता है" इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि-"इदं आप प्रवहतेति मार्जयते" (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

दर्श और पूर्णमासमें दक्षिणाका प्रतिग्रह करनेके अनन्तर अग्नीध्र 'एधोऽसि' मन्त्रसे समिधाको रक्खे। इसी बातको वैतान-सूत्र १ । ४ में कहा है, कि-"सम्प्रेषित आग्नीध्र एधोऽसीति समुद्धृत्य समिधं आधाय" ॥

तथा स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें संस्रावहोमके अनन्तर "एधोऽसि" मन्त्रसे दूसरीको, 'समिदसि' मन्त्रसे तीसरी समिधाको रक्खे और 'तेजोऽसि' मन्त्रसे मुखकी शुद्धि करे। इस विषयमें सूत्र का प्रमाण भी है, कि-'अग्नये स्वाहेति समिधं आदधाति। एधोऽसीति द्वितीयां समिदसीति तृतीयां तेजोऽसीति मुखं विमार्ष्टि।' (कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

तथा अग्निकार्यमें ब्रह्मचारी 'एधोऽसि' से हाथको अग्निसे तपाकर ऊष्मका भक्षण करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ८ का प्रमाण भी है, कि-'एधोऽसीत्युष्मभक्षं भक्षयति' ॥

जारोच्चाटनके लिये 'अपि वृश्च' तृचसे जारको देखकर बोले। तथा इससे पाषाणको अभिमन्त्रित करके जारसंगम स्थानमें डाल देय।

तत्र प्रथमा ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।

विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः । जातऽवेदाः । अमर्त्यः । विऽराट् । अग्ने । क्षत्रऽभृत् ।

दीदिहि । इह ।

विश्वाः । अमीवाः । प्रऽमुञ्चन् । मानुषीभिः । शिवाभिः ।

अद्य । परि । पाहि । नः । गयम् ॥ १ ॥

हे अग्ने अनाधृष्यः ईषदपि धर्षयितुम् अशक्यः । ❀ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । "ऋदुपधाच्चाक्लृपि चृतेः" इति क्यप् । "कृत्योके-ष्णुच्०" इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । जातवेदाः जातानां वेदिता जातधनो वा अमर्त्यः अमरणधर्मा विराट् विविधं राजमानः क्षत्रभृत् क्षत्रस्य बलस्य भर्ता धारयिता ईदृशः सन् इह अस्मिन् कर्मणि स्थाने वा दीदिहि दीप्यस्व । ❀ दीदेतिर्दीप्ति-कर्मा इति यास्कः । दीप्यतेर्वा "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । तथा दीप्तश्च त्वं विश्वाः सर्वा अमीवाः रोगान् प्रमु-ञ्चन् प्रकर्षेण मोचयन् विनाशयन् मानुषीभिः मानुषहिताभिः । ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ०" इति अञ्प्रत्ययान्तो मानुषशब्दः । तस्मात् "तस्येदम्" इत्यर्थे अण् । "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् ❀ । शिवाभिः कल्याणकारिणीभिः ऊतिभिः अद्य इदानीं नः अस्माकं गयम् गृहं परि पाहि सर्वतो रक्ष ॥

हे अग्ने ! आप अनाधृष्य हैं, उत्पन्न हुए प्रत्येक प्राणीको जानने वाले हैं, अमर्त्य (देवता) हैं, अनेक प्रकारसे दमकते रहते हैं, बलके धारक हैं, ऐसे आप इस कर्ममें दीप्त हूजिये । और प्रदीप्त होकर सकल रोगोंको नष्ट करते हुए मनुष्यका कल्याण करने वाली रक्षाओंके साथ हमारे घरकी भली प्रकार रक्षा करिये

द्वितीया ॥

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम् ।

अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥ २ ॥

इन्द्र । क्षत्रम् । अभि । वामम् । ओजः । अजायथाः । वृषभ । चर्षणीनाम् ।

अप । अनुदः । जनम् । अमित्रऽयन्तम् । उरुम् । देवेभ्यः । अकृणोः । ऊं इति । लोकम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र क्षत्रम् क्षतात् त्रायकं वामम् वननीयम् ओजः बलम् अभिलक्ष्य अजायथाः उत्पन्नोसि । हे वृषभ कामानां वर्षितः चर्षणीनाम् मनुष्याणाम् अस्माकम् । ❀ "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । उत्पत्त्यनन्तरम् अमित्रयन्तम् अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तं जनम् अपानुदः अपागमयः । अपगमय्य च देवेभ्यः उरुम् विस्तीर्णं लोकम् स्वर्गाख्यम् अकृणोः अकार्षीः सुखनिवासाय । ❀ उशब्दः समुच्चये ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप क्षतसे रक्षा करनेवाले सेवनीय बलको लक्ष्य करके उत्पन्न हुए हैं, हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले अग्नि-देव ! उत्पत्तिके अनन्तर आप शत्रुकी समान आचरण करतेहुए जनसंघको दूर करिये । और देवताओंके लिये विशाल स्वर्गलोक को सुखनिवासके लिये दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः ।

सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । पराऽवतः । आ । जगम्यात् । परस्याः ।

सृकम् । सम्ऽशाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् । ताढि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

कुचरः कुत्सितचरणः गिरिष्ठाः पर्वतनिवासी । ❀ तिष्ठतेर्विच् प्रत्ययः ❀ । मृगो न सिंह इव भीमः भयंकरो भवति इन्द्रः । स च परस्याः परावतः अतिशयेन दूराद् द्युलोकाद् आ जगम्यात् आगच्छतु । ❀ गमेर्विधिलिङि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ ॥ अथ प्रत्यक्षकृत उत्तरोऽर्धर्चः । आगत्य च हे इन्द्र सृकम् सरणशीलं तिग्मम् तीक्ष्णं पविम् वज्रं संशाय सम्यक् तीक्ष्णीकृत्य । ❀ शो तनूकरणे । ल्यपि रूपम् ❀ । शत्रून् अस्मदीयान् वैरिणः वि ताल्हि तेन वज्रेण विशेषेण विविधं वा ताडय । विनाशयेत्यर्थः । ❀ तड आघाते । अस्माण्ण्यन्तात् लोटि "छन्दस्युभयथा" इति हेः आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ❀ । तथा मृधः संग्रामोद्युक्तान् युयुत्सून् अन्यानपि शत्रून् वि नुदस्व विशेषेण प्रेरय । तिरस्कुर्वित्यर्थः ॥

कुत्सित चरणवाले, पर्वतनिवासी सिंहकी समान भयंकर इन्द्र परम दूर द्युलोकसे आजावें और आकर हे इन्द्रदेव ! आप सरण-शील तीक्ष्ण वज्रको भली प्रकार तीक्ष्ण करके हमारे वैरियोंको उस वज्रसे नष्ट करिये और संग्राम करनेके लिये उद्यत अन्य शत्रुओंका भी तिरस्कार करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम १

त्यम्। ऊं इति। सु। वाजिनम्। देवऽजूतम्। सहःऽवानम्। तरुतारम्। रथानाम्।

अरिष्टऽनेमिम्। पृतनाऽजिम्। आशुम्। स्वस्तये। तार्क्ष्यम्। इह। आ। हुवेम॥ १॥

त्यमु तं प्रसिद्धमेव तार्क्ष्यम् तृक्षपुत्रं सुपर्णम्। ❀ तृक्षशब्दो गर्गादिषु पठ्यते ❀। इह अस्मिन् कर्मणि स्वस्तये क्षेमाय सु सुष्ठु आ हुवेम आह्वयेम। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संप्रसारणम्। "लिङ्याशिष्यङ्"। यद्वा प्रार्थनायां लिङि। व्यत्ययेन शः ❀। कीदृशम्। वाजिनम् अन्नवन्तं बलवन्तं वा देवजूतम् देवैः सोमाहरणाय प्रेरितम्। ❀ जु इति गत्यर्थः सौत्रो धातुः। अस्मात् कर्मणि निष्ठा। "तृतीया कर्मणि" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। यद्वा देवैः प्रीयमाणं तर्प्यमाणम्। ❀ यद् आह यास्कः। जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वेति [नि० १०. २८] ❀। सहोवानम् सहस्वन्तं बलवन्तम् अभिभवनशक्तिमन्तं वा। ❀ "छन्दसीवनिपौ" इति वनिप् ❀। अत एव रथानाम् अन्यदीयानां तरुतारम् संग्रामे तरीतारम्। यद्वा रंहणशीला इमे लोका रथाः। तेषां सोमाहरणसमये शीघ्रं तरीतारम्। श्रूयते हि। 'एष हीमाँल्लोकान्त्सद्यस्तरति' इति [ऐ० ब्रा० ४. २०]। ❀ तरतेस्तृचि "प्रसितस्कभित०" इत्यादिसूत्रे उडागमो निपात्यते ❀। अरिष्टनेमिम्। नेमिशब्देन तद्वान्

रथो लक्ष्यते । अहिंसितरथम् । यद्वा नेमिः नमनशीलम् आयुधम् अतिरस्कृतायुधम् । अथ वा उपचाराज्जनके जन्यशब्दः । अरिष्टनेमेर्मम जनकम् । पृतनाजम् पृतनानां शत्रुसेनानां प्राजितारं प्रगमयितारं जेतारं वा । ❀ अज गतिक्षेपणयोः । अस्मात् क्विप् । "वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते" इति वचनाद् वीभावाभावः । जयतेर्वा डप्रत्ययः ❀ । आशुं शीघ्रगामिनम् ॥

हम उन प्रसिद्ध वृत्तपुत्र सुपर्णको ही इस कर्ममें स्वस्तिके लिये आह्वान करते हैं, यह सुपर्ण बलवान् हैं, देवताओंने सोमका आहरण करनेके लिये इनको प्रेरित किया था, इनमें अभिभवन (तिरस्कार) करनेकी शक्ति है । यह रंहणशील इन लोकरूप रथोंको सोमहरणके समय शीघ्र ही तर गए थे † और यह मुझ अरिष्टनेमिके पिता हैं, और यह शत्रुओंकी सेनाओंको जीतनेवाले हैं तथा शीघ्रगामी हैं (ऐसे सुपर्णका मैं आह्वान करता हूँ) १

पञ्चमी ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥ १ ॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवितारम् । इन्द्रम् । हवेऽहवे । सुऽहवम् । शूरम् । इन्द्रम् ।
हुवे । नु । शक्रम् । पुरुऽहूतम् । इन्द्रम् । स्वस्ति । नः । इन्द्रः । मघऽवान् । कृणोतु ॥ १ ॥

† ऐतरेय ब्राह्मण ४ । २० में कहा है, कि–"एष हीमान् लोकान् सद्यस्तरति" ॥

त्रातारम् रक्षकम् इन्द्रं हुवे ह्वयामि । अवितारम् इन्द्रम् इति पुनरुक्तिः पातृतमत्वख्यापनार्था । यद्वा त्राणं नाम उपस्थितेभ्यो भयहेतुभ्यो रक्षणम् । अवनं तु उदेष्यतां निरोध इति विशेषः । अथ वा पारमैश्वर्यलक्षणम् अवनम् । हवेहवे सर्वेषु ह्वानेषु सुहवम् ह्वातुं सुशकं शूरम् समर्थम् इन्द्रं ह्वयामि । तथा शक्रम् शक्तं सर्वत्र पुरुहूतम् इन्द्रं नु क्षिप्रं हुवे ह्वयामि । स च मघवान् धनवान् इन्द्रः स्वस्ति क्षेमम् अविनाशं न अस्माकं कृणोतु करोतु । ❀कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उमत्ययः❀॥

मैं रक्षक इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, मैं उपस्थित भयोंसे रक्षा करने वाले इन्द्रदेवका आह्वान करता हूँ, सकल संग्रामोंमें सरलतासे आह्वान करने योग्य इन्द्रदेवका मैं आह्वान करता हूँ तथा मैं शक्र पुरुहूत इन्द्रका आह्वान करता हूँ वह धनी इन्द्र हमारा क्षेम करें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ १ ॥

यः । अग्नौ । रुद्रः । यः । अप्ऽसु । अन्तः । यः । ओषधीः । वीरुधः । आऽविवेश ।

यः । इमा । विश्वा । भुवनानि । चक्लृपे । तस्मै । रुद्राय । नमः । अस्तु । अग्नये ॥ १ ॥

यो रुद्रः रोदयति शत्रून् इति रुद्रः । ❀ "रोदेर्णिलुक् च"

[उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः । णेलुक् ❀ । एतन्नामा देवः अग्नौ अन्तः मध्यम् आविवेश यष्टव्यत्वेन अग्निमध्यं प्रविष्टः । यश्च अप्सु अन्तः आविवेश वरुणात्मना प्रविष्टः । ❀ "ऊडि-दम्०" इत्यादिना अप्शब्दात् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । यश्च वीरुधः विशेषेण विविधं वा रोहन्तीः ओषधीः ओषः फल-पाको धीयते निधीयते आस्विति ताः फलपाकान्ता लताः आवि-वेश सोमात्मना आविष्टः । ❀ वीरुध इति । विपूर्वाद् रोहतेः क्विपि "नहिवृति०" इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः । हकारस्य धत्वा-रोपजनश्छान्दसः ❀ । किं बहुना यो रुद्रः इमा इमानि नामरू-पात्मना परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भवन्ति भूतानि । स्रष्टुम् इति शेषः । चाकॢपे समर्थो भवति । ❀ कृपू सामर्थ्ये । लिटि "कृपो रो लः" इति लत्वम् । अभ्या-सस्य छान्दसः सांहितिको दीर्घः ❀ । तस्मै सर्वजगत्स्रष्ट्रे सर्वं जगत् अनुप्रविष्टाय रुद्राय रुद्रात्मने अग्नये नमः नमस्कारोस्तु । यद्वा अग्नये अङ्गनादिगुणविशिष्टाय रुद्राय नमोस्तु ॥

शत्रुओंको रुलाने वाले जो रुद्र नामक देव यष्टव्यरूपसे अग्नि के मध्यमें प्रविष्ट हैं और जो वरुणरूपसे जलमें प्रविष्ट होगए हैं और जो लताओंमें सोमात्मारूपसे प्रविष्ट होगए हैं, अधिक क्या ? जो रुद्र इन समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वजगत् के स्रष्टा सब जगत्में अनुप्रविष्ट रुद्रात्मक अग्निदेवके लिये नम-स्कार है अथवा अंगनादि गुणविशिष्ट रुद्रदेवके लिये नमस्कार है १

सप्तमी ॥

अ॒पेह्य॒रिर॑स्य॒रिर्वा अ॑सि ।

वि॒षे वि॒षम॑पृक्था वि॒षमिद् वा अ॑पृक्थाः ।

अ॒हिमे॒वाभ्य॒पेहि॒ तं ज॑हि ॥ १ ॥

अप । इहि । अरिः । असि । अरिः । वै । असि ।

विषे । विषम् । अपृक्थाः । विषम् । इत् । वै । अपृक्थाः ।

अहिम् । एव । अभिऽअपेहि । तम् । जहि ॥ १ ॥

अत्र सर्पविषं संबोध्यते । हे विष अपेहि अपगच्छ अस्माद् दष्टात् पुरुषात् । यतस्त्वम् अरिः शत्रुः असि भवसि । न केवलम् अस्यैव अरिरसि वै सर्वस्य शत्रुर्भवसि खलु । अतो विषे विषवति सर्पे । ❀ अर्शआदित्वाद् अच् प्रत्ययः ❀ । विषम् अपृक्थाः संपर्चयः संयोजय । एतदेव पुनराह । विषमित् विषमेव अपृक्थाः संयोजय । वैशब्दः अवधारणे । विषवति सर्प एव पुनर्विषमेव संयोजयेत्यर्थः । ❀ पृची संपर्के । छान्दसे लुङि "एकाचः" इति इण्निषेधः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ । उक्तार्थमेव विशदयति । हे विष त्वं यस्य विषं भवसि तम् अहिम् आहन्तारं सर्पमेव अभ्युपेहि अभिलक्ष्य समीपं गच्छ । गत्वा च तम् अहिं जहि विनाशय ॥

(इस मन्त्रमें सर्पविषको सम्बोधित किया गया है, कि—) हे विष ! तू इस डसे हुए पुरुषमेंसे निकल जा, क्योंकि—तू शत्रु है, तू केवल इसका ही शत्रु नहीं है, किन्तु सबका शत्रु है, अत एव तू विष वाले सर्पमें संयुक्त होजा ! तू विषको अर्थात् अपने को सर्पसे संयुक्त कर, हे विष ! तू जिसका विष है उस काटने वाले सर्पको ही प्राप्त हो और प्राप्त होकर उस सर्पका विनाश करडाल

अष्टमी ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ।

पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा १

दिव्याः दिवि भवा अपः उदकानि । ❀ "ऊडिदम्०" इति शस उदात्तत्वम् ❀ । अचायिषम् पूजयामि । स्नानार्थम् अभिष्टौमीत्यर्थः । ❀ चायृ पूजानिशामनोः । लुङि रूपम् ❀ । तासाम् अपां रसेन समपृक्ष्महि संगताः स्मः । रसेन संसिक्ता भवाम इत्यर्थः। वचनव्यत्ययो वा । समपृक्षि संगतोस्मि । ❀ पृची संपर्के । "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु" इति सिचः कित्त्वम् ❀ ॥ हे अग्ने अहं त्वां पयस्वान् अन्नवान् हविर्भिस्तद्वान् आगमम् आगतोस्मि । हविषा यष्टुं तव समीपम् आगतोस्मीत्यर्थः । गमेर्लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀ । तं तादृशं त्वत्समीपं प्राप्तं मा मां वर्चसा । ❀ वर्चो दीप्तौ ❀ । तेजोविशेषेण सं सृज संयोजय । "अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम्" इति हि निगमः [ऋ० ३. २२. २]॥

द्योमें होने वाले जलोंका (मैं स्नान करनेके लिये) पूजन करता हूँ, उनके रससे मैं संयुक्त होऊँ । हे अग्ने ! मैं आपके पास पय अर्थात् हविरूप अन्न लेकर आगया हूँ अर्थात् हवि लेकर आपका यजन करनेके लिये आगया हूँ, ऐसे मुझको आप तेज से † संयुक्त करिये ॥ १ ॥

नवमी ॥

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृ॒ज सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।

वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥२॥

† ऋग्वेदसंहिता ३ । २२ । २ में कहा है, कि–'अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्याम् ।–हे अग्निदेव ! आपका जो द्योमें और पृथिवीमें वर्च (तेज) है' ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्रऽजया । सम् । आयुषा ।

विदुः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषिऽभिः २

हे अग्ने मा मां वर्चसा तेजसा बलेन वा सं सृज संयोजय। प्रजया पुत्रादिकया सं सृज । आयुषा जीवनेन च सं सृज । किं च अस्य एनम् । ❀ अन्वादेशे इदमः अशादेशोऽनुदात्तः । विभक्तिः सुप्त्वाद् अनुदात्ता । अतः सर्वानुदात्तं पदम् ❀ । एनं मे माम् । ❀ कर्मार्थे षष्ठी ❀ । देवा विदुः असौ पूत इति जानीयुः । तथा ऋषिभिः अतीन्द्रियदर्शिभिर्मुनिभिः सह इन्द्रश्च विद्यात् मां पूतं जानीयात् । यद्वा अस्य एतादृशस्य मे अभिमतफलं साधयितुम् इन्द्रादयो विदुरिति ॥

हे अग्ने ! आप मुझको बलसे सम्पन्न करिये, पुत्र पौत्र आदि प्रजा और जीवनसे सम्पन्न करिये, इस मुझको देवता और ऋषियों सहित इन्द्रदेव 'यह पवित्र है' यह समझें ॥ २ ॥

दशमी ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।

यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ॥ ३ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ।

यत् । च । अभिऽदुद्रोह । अनृतम् । च । यत् । शेपे । अभीरुणम् ३

हे आपः इदं पापं प्र वहत अपनयत । यद् अवद्यम् गर्ह्यं निन्दारूपं यच्च मलम् दुरितं च मयि वर्तते यच्च अनृतम् असत्यम् अभिदुद्रोह पित्रादिभ्यः अयथार्थनिर्बन्धेन द्रोहम् अकार्षम् यच्च अभीरुणम् । उत्तमर्णाय देयं वस्तु रुणम् इत्युच्यते । तद्

ऋणम् अभिमाप्य शेपे अपलापाय शपथं कृतवान् अस्मि । तत् पापम् अपनयतेति संबन्धः । ❁ अभिदुद्रोहेति । द्रुह जिघांसायाम् । लिटि उत्तमएकस्मि रूपम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातनिषेधः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः । शेपे इति । शप आक्रोशे । अस्माल्लिटि उत्तमैकवचने इटि "शप उपालम्भने" इति आत्मनेपदम् । वाचा शरीरस्पर्शनम् उपालम्भः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः ❁ ॥

हे जलों ! मेरे इस पापसंघको दूर करो, जो निन्दारूप मल और पाप मुझमें वर्तमान है, और जो असत्य है तथा पिता आदिका यथार्थसम्मान न करना रूप जिस तथा द्रोहको मैं कर चुका हूँ और ऋणको लेकर उसका अपलाप करनेके लिये जो मैंने शपथ खाई है (इन समस्त कार्योंके करनेसे उत्पन्न हुए पापको आप दूर करिये) ॥ ३ ॥

एकादशी ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒य स॒मिद॑सि॒ समे॑धिषीय ।

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि ॥ ४ ॥

एधः । अ॒सि॒ । ए॒धि॒षी॒य । स॒म्ऽइत् । अ॒सि॒ । सम् । ए॒धि॒षी॒य ।

तेजः । अ॒सि॒ । तेजः । मयि॑ । धे॒हि॒ ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वम् एधः इद्धः दीप्तः असि भवसि । ❁ ञिइन्धी दीप्तौ । घञि "अत्रोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः" इति उपधानकारलोपो निपात्यते ❁ । यतस्त्वं समिदाधानेन दीप्तो भवसि अतः । यद्वा । ❁ एध वृद्धौ इत्यस्माद् उत्पन्न एधशब्दः ❁ । हविषा प्रवृद्धो भवसि । अतोऽहम् एधिषीय फलेन समृद्धो भूयासम् । ❁ ञिइन्धी दीप्तौ । आशीर्लिङि व्यत्ययेन नकारलोपे गुणे च रूपम् । यद्वा

एष इन्धौ इत्यस्मात् आशीर्लिङि रूपम् । उभयत्र लिङः सीयुट्। वलादिलक्षण इट् । "इटोत्" इति अदादेशः ❀ । तथा हे अग्ने समित् समिद्धः समित्संबन्धनी वा संदीपनी शक्तिरसि । ❀इन्धेः कर्मणि करणे वा क्विपि उपधानकारलोपः ❀ । यतः अग्ने त्वं समिदसि अतोहं समेधिषीय फलैः समिद्धः संपूर्णो भूयासम् । ❀ अत्र इन्धेः आशीर्लिङि छान्दसं रूपं प्रदर्शितं भवति ❀ । हे अग्ने त्वं तेजोसि दीप्तिः तेजःसाधनं वा भवसि । अतस्त्वं तेजस्तादृशं मयि धेहि स्थापय ॥

हे अग्ने ! आप प्रदीप्त होजाते हैं, (आप समिदाधानसे समृद्ध होते हैं इस कारण) मैं भी फलसें समृद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप समित्सम्बन्धिनी संदीपिनी शक्ति हैं अत एव मैं भी फलोंसे समिद्ध होऊँ, हे अग्ने ! आप तेजःस्वरूप हैं अत एव मुझमें तेज को स्थापित करिये ॥ ४ ॥

द्वादशी ॥

अपि॑ वृश्च पुराण॒वद् व्रत॑तेरिव गुष्पि॒तम् ।
ओजो॑ दा॒सस्य॑ दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराणऽवत् । व्रततेःऽइव । गुष्पितम् ।

ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वं पुराणवत् । ❀ व्यत्ययेन द्वितीयार्थे वतिः ❀ । पुराणान् पुरातनान् शत्रूनिव इदानींतनमपि जाररूपं शत्रुं वृश्च छिन्धि । ❀ "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" इति निपातनात् तुडभावः । ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । यद्वा । ❀ पुराणवदिति "तत्र तस्येव" इति षष्ठ्यर्थे वतिः ❀ । पुराणानां पुरातनानां शत्रूणा-

सिव नूतनस्यापि जाररूपशत्रोर्बलं वृश्च इति बलशब्दाध्याहारेण योजना । छेदने दृष्टान्तः व्रततेरिव शुष्पितम् इति । ❀ शुष्पतिशुष्फतिपर्यायो द्रष्टव्यः ❀ । यथा व्रततेर्लताया शुष्फं कुञ्जं शाखासमूहं वृश्चन्ति तद्वदिति । तदेवाह तृतीयपादेन । दासस्य उपक्षपयितुः शत्रोर्जारस्य ओजः बलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा दम्भय विनाशय । ❀ दम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः ❀ ॥

हे अग्ने ! आप पुरातन शत्रुओंकी समान इस जाररूप शत्रुका भी छेदन करिये, अथवा इस पुरातन शत्रुओंकी समान इस जाररूप शत्रुके बलको इस प्रकार काट डालिये, जिस प्रकार लताओंके कुञ्ज (शाखासमूह) को काटते हैं । और दासके अर्थात् उपक्षय करने वाले शत्रु जारके वीर्यको नष्ट करिये ॥ १ ॥

त्रयोदशी ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहे ।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्ऽभृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहे ।
म्लापयामि । भ्रजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥ २ ॥

अस्य पुरोवर्तिनो जारस्य शत्रोः संभृतम् एकत्र संपादितं तद् वसु धनम् इन्द्रेण सहायभूतेन वयं वि भजामहे विभक्तम् अपगतं करवामहे । यद्वा तस्य धनं वयं विशेषेण भजामहे । तस्य धनस्य वयं भागिनो भवाम इत्यर्थः ॥ उत्तरार्धे जारः संबोध्यते । हे जार ते तव शुभ्रम् श्वेतवर्णं भ्रजः दीप्तम् अपत्यप्रजननसमर्थं रेतः वरुणस्य वारकस्य देवस्य व्रतेन कर्मणा म्लापयामि क्षीणं करोमि । ❀ म्लै म्लै हर्षक्षये । एयन्तात् पुगागमः । भ्रजतेर्दीप्त्यर्थाद् असुनि रूपं भ्रज इति ❀ ॥

इस जार-शत्रुके एकत्रित किये हुए धनको हम इन्द्रकी सहायतासे निकालते हैं । हे जार ! तेरा जो सन्तानको उत्पन्न करनेमें समर्थ शुभ्र वर्ण वाला दमकता हुआ वीर्य है उसको मैं निवारक वरुणदेवके कर्मसे क्षीण करता हूं ॥ २ ॥

चतुर्दशी ॥

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः ।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः ।
यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेपः । अपऽअयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ।
अवस्थस्य । क्नदिऽवतः । शाङ्कुरस्य । निऽतोदिनः ।
यत् । आऽततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्ऽततम् । नि ।
तत् । तनु ॥ ३ ॥

शेपः पुंस्प्रजननस्य नाम । ❀ दृश्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० पा० ४, २००] इति असुन् । पुडागमः ❀ । यथा येन प्रकारेण शेपः जारस्य व्यञ्जनम् अपायातै अपगच्छेत् । भोग्यायाः पतिवत्न्या नार्याः सकाशाद् अपगतं भवेत् । ❀ अय पय गतौ । लेटि "लेटोऽडाटौ" इति आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति एकारस्य ऐकारादेशः ❀ । च यथा च स्त्रीषु भोग्यासु अनावयाः । ❀ वेतेर्गत्यर्थाद् असुन् । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । अनागच्छद् असत् भवेत् । यथा जारस्य व्यञ्जनं स्त्रीषु संसक्तं न भवेदित्यर्थः । ❀ असत् इति । अस्तेर्लेटि रूपम् ❀ । यद्वा । आवयति अत्तिकर्मा । ❀ आङ्पूर्वाद् वेतेर्भक्षणार्थाद् असुन् ❀ । अत्र भक्षणं भोगमात्रोपलक्षणम् । यथा च जारः स्त्रीषु परकीयासु अनावयाः अभोक्ता संभोग-

रहितः असत् भवेत्। अयम् अर्थः। यथा जारस्य शेपो भोग्यायाः स्त्रियाः सकाशाद् अपगच्छेत् भोक्तुं न शक्नुयात् यथा च स्त्रीव्यञ्जने संसक्तं जारो वा संभोक्ता न भवेत् तथा कुर्विति देवः प्रार्थ्यते। कस्य शेपः इति तत्र आह उत्तरेणार्धेन। अवस्थस्य स्त्रीसमीपे अवतिष्ठमानस्य। ❀ अवपूर्वात् तिष्ठतेः "स्थः क च" इति कप्रत्ययः ❀। अथ वा अवः अवस्तात् स्त्रिया अधःप्रदेशे संभोगाय तिष्ठतः। ❀ "पूर्वाधराणाम् असिपुरधश्चैषाम्" इति अधरशब्दस्य असिप्रत्यये अव् आदेशः। अवोपसृष्टात् तिष्ठतेः असिप्रत्ययान्ताधरशब्दपूर्वाद् वा तिष्ठते रूपम् इति व्युत्पत्त्यनवधारणाद् अनवग्रहः ❀। स्त्रीसमीपे संभोगाय तिष्ठतः क्रदिवतः। ❀ क्रदेः आह्वानार्थाद् औणादिको भावे इप्रत्ययः। रेफस्य नकारोपजनश्छान्दसः ❀। संभोगार्थम् आह्वानवतः शाङ्कुरस्य शङ्कुरिव शङ्कुः पुंव्यञ्जनं तद्वान् शङ्कुरः। ❀ रो मत्वर्थीयः ❀। शङ्कुर एव शाङ्कुरः। ❀ प्रज्ञादित्वाद् अण् ❀। पुंव्यञ्जनवतः नितोदिनः नितरां संभोगेन नारीं व्यथयतः। ❀ तुद व्यथने इत्यस्माद् "बहुलम् आभीक्ष्ण्ये" इति णिनिः ❀। एतादृशस्य जारस्य आततम् आयामवत् यत् शेपोऽस्ति तत् शेपः अव तनु अवततं दैर्घ्यरहितं कुरु। तथा उत्ततम् ऊर्ध्वं विस्तृतम् उन्नतं यत् शेपः तत् नि तनु नितनं नीचीनं कुरु॥

अष्टमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरमहाराजराज्यधुरंधरसायणाचार्यविरचिते माधवीये अथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे सप्तमकाण्डे अष्टमोऽनुवाकः॥

जिस प्रकार जारका पुंव्यञ्जन नारीके पाससे दूर होजावे और स्त्रियोंमें संसक्त न होवे, (इस प्रकारकी हम देवताओंसे प्रार्थना करते हैं) स्त्रीके अधः प्रदेशमें संभोगके लिये स्थित,

संभोगके लिये आह्वान वाले शंकु (खूँटे) की समान पुंव्यञ्जन वाले, संभोगसे नारीको अतिपीड़ित करने वाले आपके आतत पुंव्यञ्जनको दीर्घतारहित करिये और उन्नतको नीचा करिये २

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४१०) ॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

नवमेनुवाके द्वे सूक्ते। तत्र "इन्द्रः सुत्रामा" इत्याद्ये सूक्ते आद्येन तृचेन ग्रामकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि उदुम्बरपलाशकर्कन्धूनां समिदाधान-स्रुभोपस्तरणहोमादीनि कर्माणि अनेन कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसांपदानामप्ययः" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथा इन्द्रमहाख्ये उत्सवे "इन्द्रः सुत्रामा" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अर्वाञ्चम् इन्द्रम् [५. ३. ११] त्रातारम् इन्द्रम् [७. ९१] इन्द्र सुत्रामा [७. ९६] इत्याज्यं हुत्वा" इति [कौ० १४. ४] ॥

अग्निष्टोमे ["ध्रुवं ध्रुवेण" इति ऋचा] आसन्दीं नीयमानं सोमराजम् अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद् आसन्द्यां नीयमानम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० ३.२]

तथा अग्निष्टोमे आग्निमारुतशस्त्रावसाने अवनीयमानं ध्रुवपात्रस्थसोमम् अनया ऋचा अनुमन्त्रयेत । "ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवम् अवनीयमानम् अनुमन्त्रयते" इति हि [वै० ३. १२] सूत्रम् ॥

आभिचारिके कर्मणि "उदस्य श्यावौ" इति तृचेन आज्यं जुहुयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि सूत्रोक्तरीत्या अनेन तृचेन मण्डूकमूलम् मणुदेत् ॥

अभिचारकर्मणि "असदन् गावः" इति ऋचा रक्तशालितण्डुलैः क्षीरौदनं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य द्वेष्याय दद्यात् ॥

दर्शपूर्णमासयोः "यद्द अद्य त्वा प्रयति" इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमान् जुहुयात्। "यद्द अद्य त्वा प्रयति [७, १०२] इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमाः। मनसस्पते [७. १०२. ८]इत्युत्तमं चतुर्गृहीतेन" इति [कौ० १. ६] सूत्रात् ॥

उपनयनकर्मणि ब्रह्मचारिणं "समिन्द्र णः" इत्यनया अष्टर्चेनाभिमन्त्रितम् उदपात्रम् अवेक्षयेत्। "उपनयनं" प्रक्रम्य सूत्रितम्। "उदपात्रं समवेक्षयेत् समिन्द्र णः" इति [कौ० ७. ६] ॥

नवम सूक्तमें दो अनुवाक हैं। उनमेंसे 'इन्द्रः सुत्रामा' इस पहिले सूक्तके पहिले तृचसे ग्रामकी चाहना वाला इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे।

तथा उसी कर्ममें गूलड़ पलाश और बेरकी समिधाओंका आधान, सभामें पिरालसा बिछाना और होम आदि कर्मोंको करे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'इन्द्रः सुत्रामेति ग्रामकामो ग्रामसाम्पदानामप्ययः।' (कौशिकसूत्र ७। १३) ॥

तथा इन्द्रमह नाम वाले उत्सवमें "इन्द्रः सुत्रामा" से घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अर्वाञ्चं इन्द्रम् (५। ३। ११) त्रातारम् इन्द्रम् (७। ९१) इन्द्र सुत्रामा (७। ९६) इत्याज्यं हुत्वा" (कौशिकसूत्र १४। ४) ॥

अग्निष्टोममें "ध्रुवं ध्रुवेण ऋचासे पालकी पर ले जाते हुए सोमराजका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–'ध्रुवं ध्रुवेणेति राजानं राजवहनाद्व आसन्द्यां नीयमानं अनुमन्त्रयेत' (वैतानसूत्र ३। ३) ॥

तथा अग्निष्टोममें अग्निमारुतशस्त्रावसानमें अवनीयमान ध्रुवपात्रमें स्थित सोमका 'इस ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे।–इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १३ का प्रमाण है, कि–'ध्रुवं ध्रुवेणेति ध्रुवं अवनीयमानं अनुमन्त्रयेत' ॥

आभिचारिक कर्ममें 'उदस्यश्यावौ' तृचसे घृतकी आहुति देवे।
तथा इसी कर्ममें सूत्रोक्तरीतिसे इस तृचसे मण्डूकके मुखका अपनुदन करे।

अभिचारकर्ममें 'असदन् गावः' ऋचासे रक्तशाली तण्डुलों से क्षीर भात बना कर सम्पातित और अभिमंत्रित द्वेष्यके लिये देदेय।

दर्श और पूर्णमासमें 'यद्द्य त्वा प्रयति' इस अष्टर्चसे संस्थित होमोंको करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र १। ६ का प्रमाण है, कि–'यद्द्य त्वा प्रयति (७। १०२) इत्यष्टर्चेन संस्थितहोमाः। वनस्पते (७। १०२। ८) इत्युत्तमं चतुर्गृहीतेन'॥

उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीको 'सनिन्द्र णः' इस ऋचासे अष्टर्चसे अभिमंत्रित जलपूर्ण पात्रको दिखावे। उपनयनका आरंभ करके कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि–'उदपात्रं समवेक्षयेत् सनिन्द्र णः'॥

तत्र प्रथमा॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम १

इन्द्रः। सुऽत्रामा। स्वऽवान्। अवःऽभिः। सुऽमृडीकः। भवतु। विश्वऽवेदाः।
बाधताम्। द्वेषः। अभयम्। नः। कृणोतु। सुऽवीर्यस्य। पतयः। स्याम॥ १॥

सुत्रामा सुष्ठु त्राता। ❀ "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति मनिन्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। स्ववान् धनवान् हितावा

सः इन्द्रः अवोभिः रक्षणैः सुमृलीकः सुसुखः सुष्ठु सुखयिता भवतु । कीदृशः । विश्ववेदाः बहुधनः विश्वं विद्वान् वा । द्वेषः । द्विष अप्रीतौ । असुन् । शेवु क् ❀ । द्वेषांसि द्वेष्टृन् बाधताम् हिनस्तु । अभयं च नः अस्माकं कृणोतु करोतु । वयं सुवीर्यस्य शोभनवीर्योपेतस्य धनादिकस्य पतयः स्वामिनः स्याम भूयास्म । ❀ सुवीर्यस्येति । "वीरवीर्यौ च" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इंद्र रक्षाओंके द्वारा हमको सुन्दर सुख देने वाले होवें और यह बड़े भारी धनसे सम्पन्न इन्द्र हमारे शत्रुओंका संहार करें । और हमको अभय भी देवें । और हम शोभन वीर्य वाले धनके स्वामी होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम २

सः । सुऽत्रामा । स्वऽवान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः ।

सनुतः । युयोतु ।

तस्य । वयम् । सुऽमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम२

सुत्रामा सुष्ठु त्राता स्ववान् धनवान् स प्रसिद्ध इन्द्रः अस्मत् अस्मत्तः आराच्चित् दूरादेव द्वेषः द्वेष्टृन् । ❀ द्विषतेर्व्यत्ययेन विप् प्रत्यये गुणः । द्वितीयाबहुवचनं शस् ❀ । सनुतः । अन्तर्हितनामैतत् । तिरोहितान् गूढान् युयोतु पृथक् करोतु । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । यज्ञियस्य यज्ञार्हस्य तस्य इन्द्रस्य सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ वर्तमानाः वयं तस्यैव भद्रे कल्याणे सौमनसे सुमनसो भावे अपि स्याम विषयभूता भवेम । ❀ सौमनस इति । सुमनःशब्दाद् भावे अण् प्रत्ययः ❀ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र हमसे दूर ही हमारे शत्रुओंको तिरोहित कर डालें अलग २ कर डालें, हम यज्ञके पात्र उन इन्द्रदेवकी अनुग्रहरूपा बुद्धिमें रहते हुए उनके कल्याणमय भावको पाते रहें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः ।

घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥ १ ॥

इन्द्रेण । मन्युना । वयम् । अभि । स्याम । पृतन्यतः ।

घ्नन्तः । वृत्राणि । अप्रति ॥ १ ॥

इन्द्रेण सहायेन मन्युना तदीयेन कोपेन । यद्वा मन्यतिर्दीप्तिकर्मा । मन्युमता इन्द्रेण सहायेन वयं पृतन्यतः पृतनां संग्रामम् इच्छतः युयुत्सून् शत्रून् अभि ष्याम अभिभवेम । ❁ "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति क्यचि पृतनाशब्दस्य अन्त्यलोपः । अभि ष्यामेति । "उपसर्गप्रादुर्भ्याम् अस्तिर्यच्परः" इति षत्वम् ❁ । किं कुर्वन्तः वयम् । वृत्राणि आवारकाणि पापानि । शत्रून् इत्यर्थः । अप्रति अप्रतिपक्षं घ्नन्तः यथा प्रतिपक्षशेषो न भवति तथा घ्नन्तः । निःशेषं हिंसन्त इत्यर्थः ॥

प्रदीप्त इन्द्रदेवकी सहायतासे हम संग्राम करना चाहने वाले शत्रुओंको दबा डालें, उन शत्रुओंका कुछ भी भाग शेष न रखते हुए उनको समाप्त कर डालें ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।

यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अव । सोमम् । नयामसि ।

यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्ऽमनसः । करत् १

ध्रुवेण स्थिरेण सुप्रतिष्ठितेन हविषा पुरोडाशादिना युक्तं ध्रुवम् ध्रुवग्रहस्थं सोमम् अव नयामसि अवाङ्मुखं निनयामः । यद्वा ध्रुवम् स्थिरं सोमं राजवहनाद् अनसः सकाशाद् आसन्दीं प्रति अवतारयामः । यथा येन प्रकारेण इन्द्रो नः अस्माकं विशः प्रजाः केवलीः असाधारणाः संमनसः संगतमनस्काः समानमनस्काश्च करत् करोतु । तथा अव नयामसीति संबन्धः । ❀ "केवलमामक-भागधेय०" इति केवलशब्दाद् ङीप् । करत् इति । करोतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

सुप्रनिष्ठित स्थिर पुरोडाश आदि हविसे युक्त ध्रुवग्रहस्थ सोम को हम अवाङ्मुख लाते हैं अथवा स्थिर सोमको गाड़ीसे राजा की सवारी पालकीमें लाते हैं (ऐसा करनेसे) इन्द्र देवता हमारी प्रजाओंको असाधारणरूपसे समान मन वाली करें ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः ।

उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्ऽइव । पेततुः ।

उच्छोचनऽप्रशोचनौ । अस्य । उत्ऽशोचनौ । हृदः ॥ १ ॥

अस्य मण्डूकात्मना भावितस्य शत्रोः संबन्धिनौ विथुरौ । ❀ व्यथ भयचलनयोः इत्यस्माद् औणादिकः कुरच् प्रत्ययः । छान्दसं संप्रसारणम् ❀ । संततं चलनशीलौ श्यावौ श्याववर्णौ ओष्ठौ उत्पेततुः उत्पतताम् उद्गच्छताम् । मण्डूकमुखापनोदनेन

शत्रोरोष्ठौ विदारितौ भवताम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ श्यैङ् गतौ इत्यस्माद् उत्पन्नः श्यावशब्दः ❀ । श्यावौ परस्परसंसक्तौ शत्रुरूपेण भावितस्य मण्डूकस्य प्राणापानौ विथुरौ व्यथनशीलौ भयवन्तौ सन्तौ उत्पततान् इति । श्याववर्णौ वा प्राणापानौ । तौ हि वायोर्वृत्तिभेदौ । वायोर्हि धूम्रवर्णत्वं मन्त्रशास्त्रप्रसिद्धम् । उद्गमने दृष्टान्तः । गृध्रौ द्यामिवेति । यथा गृध्रौ तार्क्ष्यौ द्याम् दिवम् उत्पततः । ❀ "औतोम्शसोः" इति द्योशब्दस्य अमि परत आकारादेशः । पेततुरिति । छान्दसो लिट् ❀ । किं च उच्छोचनप्रशोचनौ । उच्छोचयति ऊर्ध्वम् उत्कृष्य उत्कृष्टं वा शोकं करोतीति उच्छोचनः । प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः । एतत्संज्ञकौ मृत्युदूतौ अस्य पुरोवर्तिमण्डूकरूपेण भावितस्य शत्रोः हृदः हृदयस्य उच्छोचनौ उत्कर्षेण शोचयितारौ । भवत इति शेषः । ❀ शोचयतेर्नन्द्यादित्वात् ल्युः ❀ ॥

इस मण्डूकात्मारूपसे भावित शत्रुके सदा चलते रहने वाले श्याव वर्ण वाले (ओठ) चिर जावें अर्थात् मण्डूकका मुख चीरनेसे शत्रुके ओष्ठ विदीर्ण होजावें । अथवा—शत्रुरूपसे भावित मण्डूकके परस्परसंसक्त प्राण और अपान भयभीत होकर (इस प्रकार) उड़ जावें जिस प्रकार गीध आकाशमेंको उड़ते हैं । ऊपरको उत्कृष्टरूपसे खेंच कर शोक देने वाले उच्छोचन और प्रकृष्टरूपसे शोक देने वाले प्रशोचन नाम वाले दोनों मृत्युदूत इस सामने वर्तमान मण्डूकरूपमें भावित शत्रुके हृदयको बड़ा ही शोक देने वाले होवें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसदौऽइव ।

कुकुरौऽइव । कूजन्तौ । उत्ऽअवन्तौ । वृकौऽइव ॥ २ ॥

एनौ पूर्वमन्त्रोक्तौ श्यावौ ओष्ठौ प्राणापानौ वा शत्रुसंबन्धिनौ । ❀ इदंशब्दस्य अन्वादेशे "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इति एनादेशः अनुदात्तः ❀ । अहं मयोक्ता उदतिष्ठिपम् उत्थापयामि उद्गमयामि । बलान्निःसारयामीत्यर्थः । ❀ तिष्ठतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि "तिष्ठतेरित्" इति इत्वम् ❀ । बलात्कारेण उत्थापने दृष्टान्तत्रयं गावावित्यादि । यथा श्रान्तसदौ श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ गोष्ठे श्रमेण निषीदन्तौ गावौ वालदण्डमूलनितोदनादिना बलाद् उत्थापयन्ति । यथा च कूजन्तौ ध्वनिं कुर्वन्तौ कुकुरौ श्वानौ पाषाणप्रहरणादिना बलाद् अपसारयन्ति । यथा च वृकौ । अरण्यश्वा वृक इत्युच्यते । उदवन्तौ गोयूथमध्ये वत्सान् उद्गृह्य गच्छन्तौ धावन्तौ वृकौ यथा गोपालाः बलाद् यूथाद् अपसारयन्ति तद्वत् । ओष्ठयोः प्राणापानयोर्वा द्वित्वाद् द्वित्वसंख्यावन्तौ गावौ श्वानौ वृकौ दृष्टान्तत्वेन उपन्यस्तौ । ❀ अवतेर्धातो रक्षणाद्यनेकार्थस्मरणाद् अत्र गत्यर्थः अवतिः ❀ ॥

जैसे थक कर बैठे हुए बैलोंको (पूँछ आदि खेंच कर) उठाते हैं और भौंकते हुए कुत्तोंको (पाषाण आदि फेंक कर) भगा देते हैं और बछड़ोंको पकड़ कर लेजाने वाले भेड़ियोंको गोपाल बलपूर्वक भगा देते हैं । इसी प्रकार मैं पूर्वमन्त्रमें कहे हुए शत्रुके ओठ वा प्राणोंको बलपूर्वक अलग करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।

अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ३

आऽतोदिनौ । निऽतोदिनौ । अथो इति । सम्ऽतोदिनौ । उत । अपि । नह्यामि । अस्य । मेढ्रम् । यः । इतः । स्त्री । पुमान् । जभार ॥ २ ॥

अत्र शत्रोरोष्ठौ प्राणापानौ वा उत्क्रमणवेलायाम् एतदेतदवस्थापन्नौ करोतीति पूर्वार्धेन उच्यते । आतोदिनौ सर्वतो व्यथनशीलौ शत्रोः सर्वावयवसंक्लेशकारिणौ । उत्थापयामीति पूर्वमन्त्रोक्तक्रियानुषङ्गः । तथा नितोदिनौ नितरां निकृष्टं वा व्यथयन्तौ अतिकष्टं बाधाकारिणौ । अथो अनन्तरम् उत अपि च संतोदिनौ संभूय व्यथाकारिणौ । उद्गमयामीति संबन्धः । किं च यः स्त्री पुमान् वा द्वेष्यः इतः अस्मदीयात् स्थानात् जभार जहार । आस्माकीनं धनम् इति शेषः । यद्वा इतः अस्मिन् प्रदेशे जहार प्रहृतवान् अस्मान् बाधितवान् । अस्य शत्रोः मेढ्रम् । मर्मस्थानोपलक्षणम् एतत् । अपि नह्यामि बध्नामि । यथा मर्मस्थानबन्धनेन मरिष्यति तथा करोमीत्यर्थः ॥

मैं शत्रुके प्राणोंको उत्क्रमणके समय सब अवयवोंको क्लेश देने वाले, अति कष्ट देने वाले और एकत्रित होकर व्यथित करने वाले करके उखाड़ता हूँ। जिस स्त्री वा पुरुषने हमारे धनको हर लिया है वा हम पर प्रहार किया है उसके मेढ़ आदि मर्मस्थानोंको मैं बाँधता हूँ, (कि—वह मर्मस्थानोंके बन्धनसे मर जावे) ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

असंदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः ।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ।

आऽस्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । वृक्कौ । अतिष्ठिपम् १

सदने । सीदन्ति अत्रेति सदनम् । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । यथा गावः गोष्ठे असदन् सीदन्ति निषीदन्ति । ❀ सदेश्छान्दसे लुङि लृदित्त्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ । यथा च वयः पक्षी वसतिम् स्वकीयं नीडम् अपप्तत् पतति गच्छति । प्रविशतीत्यर्थः। ❀ पतेर्लुङि पूर्ववत् अङ् । "पतः पुम्" इति पुम् आगमः ❀ । यथा च पर्वताः गिरयः स्थाने स्वकीये आस्थुः आतिष्ठन्ति । ❀ तिष्ठतेर्लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । "आतः" इति झेर्जुस् ❀ । यथा गवादिकाः स्वेस्वे सदने सुखेन निवसन्ति तथा स्थाम्नि । तिष्ठन्ति अत्रेति स्थाम गृहम् । ❀ तिष्ठतेः अधिकरणे मनिन् प्रत्ययः ❀ । शत्रोर्गृहे वृक्कौ वृकश्च वृकी च एतौ । ❀ "पुमान् स्त्रिया" इति पुंस एकशेषः ❀ । दम्पतिभूतौ वृक्कौ अतिष्ठिपम् स्थापयामि निदधामि। शत्रुगृहं वृकावासस्थानं करोमि। आगन्तुकवृकप्रवेशशङ्कानिरासाय वृकाविति स्त्रीपुंसौ निर्दिष्टौ यथा वृकः स्त्रीपुत्रादिभिः शत्रोर्गृहे वर्तते तथा करोमीति । अनेन शत्रुं निःशेषं हत्वा तद्गृहम् अरण्यं करोमीत्यर्थ उक्तो भवति ॥

जैसे गौ गोठमें सुखपूर्वक बैठती हैं और जैसे पक्षी घोंसलेकी ओर दौड़ते हैं और जैसे पर्वत अपने स्थानमें स्थित हैं, इसी प्रकार मैं शत्रुके घरमें वृक और वृकीको स्थापित करता हूँ अर्थात् इस प्रकार शत्रुको निःशेष करके उसके घरको जंगलसा बनाना चाहता हूँ ॥ १ ॥

नवमी ॥

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।

ध्रुवमयो ध्रुवमुता शंविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम्

यत् । अद्य । त्वा । प्रऽयति । यज्ञे । अस्मिन् । होतः । चिकित्वन् ।

अवृणीमहि । इह ।

ध्रुवम् । अयः । ध्रुवम् । उत । शविष्ठ । प्रऽविद्वान् । यज्ञम् । उप ।

याहि सोमम् ॥ १ ॥

हे होतः देवानाम् आह्वातः यष्टर्वा । ❀ ह्वयतेर्जुहोतेर्वा रूपम् एतत् ❀ । हे चिकित्वन् ज्ञानवन् । ❀ कित ज्ञाने । अस्माद् यङ्लुगन्तात् मतुप् । अभ्यासस्य गुणाभावश्छान्दसः । "नामन्त्रिते समानाधिकरणे०" इति पूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवत्वनिषेधेन पदात् परत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणक हे अग्ने त्वा त्वाम् अद्य इदानीं प्रयति प्रवर्तमाने । विच्छेदेन विना क्रियमाण इत्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे इह अस्मिन् प्रयोजने यत् यस्माद् अवृणीमहि होतृत्वेन वयं वृतवन्तः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । प्रयतीति । प्रपूर्वाद् एतेः शतरि यणादेशः । "शतुरनुमो नद्यजादी" इति सप्तम्या उदात्तत्वम् ❀ । यस्माद् वयं होतृत्वेन त्वां वृतवन्तः तस्माद् ध्रुवम् सर्वथा अयः अयाक्षीः यज । यष्टव्यान् देवान् इति शेषः । "ऋधग् अयाड् ऋधग् उताशमिष्ठाः" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० सं० १. ४. ४४. २] । ❀ यजतेः "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लङि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । उत अपि च ध्रुवम् अशमिष्ठाः शमय । कर्मणो वैगुण्यम् इति शेषः । किं च प्रविद्वान् प्रकर्षेण जानन् सोमम् सोमवन्तं यज्ञम् उप याहि समीपम् आगच्छ । यद्वा यज्ञं प्रविद्वान् अस्मदभिमतफलोपायत्वेन प्रजानन् सोमम् अस्माभिर्दीय-

मानं हविः उप याहि उपगच्छेति ॥ अथ वा यत् यस्मात् त्वां वृत वन्तः तस्माद् यज्ञम् उप याहि । आगत्य च ध्रुवम् अयाक्षीः यष्टव्यान् देवान् ध्रुवम् अशमिष्ठाः यज्ञं संस्थापितवान् असीति ॥
❀ भूतार्थे एव लुङ् प्रत्ययः ❀ ॥

हे देवताओंका आह्वान करने वाले ज्ञानवान् अग्ने ! हम आपका अविच्छिन्नरूपसे होते हुए इस यज्ञमें होतारूपसे वरण करते हैं हमने आपका होतारूपसे वरण किया है, इस कारण आप देवताओंका पूजन करिये और कर्मकी विगुणताको शान्त कर दीजिये । और हमारे अभीष्टफलके उपायको समझते हुए हमारी दी हुई हविके समीप आइये ॥ १ ॥

दशमी ॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेष । गोभिः । सम् । सूरिऽभिः । हरिऽवन् । सम् । स्वस्त्या ।
सम् । ब्रह्मणा । देवऽहितम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् । सुऽमतौ । यज्ञियानाम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र नः अस्मान् मनसा गोभिः शब्दैः स्तुतिलक्षणैश्च सं नेष संनय संयोजय । मनस्विनो वाग्मिनश्च कुरु । त्वां स्तोतुम् इत्यर्थः । यद्वा गोभिः पशुभिः संनय । ❀ नयतेर्लोटि शप् ।

"सिब्बहुलम्०" इति सिप्। "अतो हेः" इति हेर्लोपः ❀ । किं च हे हरिवः । हरिसंज्ञकौ अश्वौ । ❀ हरी इन्द्रस्येति यास्कवचनात् [निघ० १. १५] ❀ । तद्वन् हे इन्द्र सूरिभिः विद्वद्भिः । संनयेति क्रियानुषङ्गः । स्वस्त्या अविनाशेन संनय । किं च ब्रह्मणा वेदेन वेदार्थज्ञानेन तदर्थानुष्ठानेन वा संनय । यच्च देवहितम् देवेभ्यो हितम् अस्ति अग्निहोत्रादि कर्म तेनापि संनय । ❀ "क्ते च" इति चतुर्थ्यन्तपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तथा यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ अनुग्रहात्मिकायां संनय अस्मान् । ❀ सुमतौ इति । "मन्त्रे वृषेष०" इति क्तिन उदात्तत्वम् । "मन्क्तिन्व्याख्यान०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

[इति] नवमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमको मनसे और स्तुतिरूपा वाणियोंसे संयुक्त करिये अर्थात् अपनी स्तुति करनेके लिये आप हमको मनस्वी और वाग्मी करिये । अथवा पशुओंसे संयुक्त करिये । और हे हरिनामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप विद्वानोंके साथ स्वास्तिके साथ हमको संयुक्त करिये और वेदार्थज्ञानके साथ वा वेदानुष्ठान के साथ हमको संयुक्त करिये और देवताओंका हित करने वाला जो अग्निहोत्र आदि है उससे भी हमको संयुक्त करिये । और यज्ञमें पूजनीय देवताओंकी अनुग्रहरूपा बुद्धिसे भी हमको संयुक्त करिये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४१६) ॥

दर्शपूर्णमासयोः संस्थितहोमेषु "यान् आवहः" इत्यादीनां षण्णाम् ऋचाम् "यदद्य त्वा प्रयति" इत्यत्र विनियोगः उक्तः ॥

तथा श्रौतदर्शपूर्णमासयोः "यान् आवहः" इति षड्ऋचेन संस्थितहोमान् जुहुयात् । उक्तं वैताने । "यान् आवह इति षड्भिः

संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासाम् उत्तमा" इति [वै० १. ४] ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रह्रियमाणप्रस्तरानुमन्त्रणं "सं बर्हिरक्तम्" इत्यनया ब्रह्मा कुर्यात्। "सं बर्हिरक्तम् इति प्रस्तरं प्रह्रियमाणम्" इति [वै० १. ४] ॥

स्मार्तदर्शपूर्णमासयोः "सं बर्हिरक्तम्" इत्यनया बर्हिःप्रहरणं कुर्यात्। "बर्हिराज्यशेषेणानक्ति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "सं बर्हिरक्तम् इत्यनुप्रहरति" इति [कौ० १. ६] ॥

श्रौतदर्शपूर्णमासयोः वेदिं परिस्तृणन्तम् अध्वर्युम् "परि स्तृणीहि" इत्यनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। "परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्तृणन्तम्" इति वैतानसूत्रात् [वै० १. २] ॥

दुःस्वप्नदर्शननिमित्तदोषपरिहारार्थम् "पर्यावर्ते" इति ऋचं जपन् पर्यावर्तेत ॥

स्वप्ने अन्नभक्षणनिमित्तदोषपरिहारार्थं "यत् स्वप्ने" इति ऋचं जपेत् ॥

सूत्रितं हि। "पर्यावर्ते [७. १०५] इति पर्यावर्तते। यत् स्वप्ने [७. १०६] इत्यश्नात्यवेक्षते" इति [कौ० ५. १०] ॥

स्वस्त्ययनार्थं "नमस्कृत्य" इत्यनया मान्त्रवर्णिकीभ्यो देवताभ्यो नमस्कारम् उपस्थानं वा कुर्यात्। "नमस्कृत्येति मन्त्रोक्तम्" इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ३] ॥

दर्श और पूर्णमासके संस्थित होमोंमें "यान् आवहः" इत्यादि छः ऋचाओंका "यदद्य त्वा प्रयति" में विनियोग कह दिया है।

तथा श्रौत दर्शपूर्णमासयागमें "यान् आवहः" इस षड्चसे संस्थित होमोंकी आहुति देय। इसी बातको वैतानसूत्र १। ४ में कहा है, कि–"यान् आवह इति षड्भिः संस्थितहोमान् जुहोति मनसस्पत इत्यासां उत्तमा" ॥

ब्रह्मा 'सं बर्हिरक्तम्' ऋचासे दर्श और पूर्णमासमें प्रह्रियमाण प्रस्तरका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ११४ का प्रमाण है, कि-"सं बर्हिरक्तं इति प्रस्तरं प्रह्रियमाणम्" ॥

स्मार्त दर्श और पूर्णमासमें 'सं बर्हिरक्तम्' से बर्हिप्रहरण करे। कौशिकसूत्र १।६ में इस विषयका प्रमाण भी है, कि—"बर्हिराज्यशेषेणानक्ति" का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि-'सं बर्हिरक्तं इत्यनुप्रहरति'

श्रौतदर्शपूर्णमासमें वेदीका परिस्तरण करते हुए अध्वर्युको "परि स्तृणीहि" ऋचासे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र १।२ का प्रमाण भी है, कि-"परि स्तृणीहीति वेदिं परिस्तृणन्तम्" ॥

दुःस्वप्न देखनेसे होसकने वाले दोषको दूर करनेके लिये 'पर्यावर्ते' ऋचाका जप करता हुआ पर्यावर्तन करे।

स्वप्नमें किये हुए अन्नभक्षणसे होसकने वाले दोषका परिहार करनेके लिये 'यत् स्वप्ने' ऋचाको जपे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पर्यावर्ते (७।१०५) इति पर्यावर्तते। यत् स्वप्ने (७।१०६) इत्यशात्यवेक्षते" (कौशिकसूत्र ५।१०) ॥

स्वस्त्ययनके लिये "नमस्कृत्य" ऋचासे मांत्रवर्णिक (मन्त्र में वर्णित) देवताओंके लिये नमस्कार वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।२ का प्रमाण है, कि-'नमस्कृत्येति मंत्रोक्तम्'

तत्र प्रथमा ॥

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि २

यान् । आऽअवहः । उशतः । देव । देवान् । तान् । प्र । ईरय ।

स्वे । अग्ने । सधऽस्थे ।

जक्षिऽवांसः । पपिऽवांसः । मधूनि । अस्मै । धत्त । वसवः ।

वसूनि ॥ २ ॥

हे देव दीप्यमान हे अग्ने त्वम् उशतः हवींषि कामयमानान् यान् देवान् आवहः आवाहितवान् आहूतवान् असि । ❀ वहेर्लङि यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । उशत इति । वशेः शतरि अदादित्वात् शपो लुक् । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । "शतुरनुमः०" इति द्वितीयाया उदात्तत्वम् ❀ । तान् आहूतान् देवान् स्वे स्वकीये सधस्थे सहस्थाने यत्र ते सह तिष्ठन्ति तत्र प्रेरय प्रस्थापय । ❀ "सुपि स्थः" इति तिष्ठतेः अधिकरणार्थेपि को द्रष्टव्यः । "सध मादस्थयोः०" इति सहस्य सधादेशः ❀ ॥ ते देवाः संबोध्यन्ते । जक्षिवांसः पुरोडाशादीन् भक्षितवन्तः मधूनि मधुररसोपेतानि आज्यादीनि पपिवांसः पीतवन्तः हे वसवः लोकानां वासयितारः यूयं वसूनि धनानि अस्मै यजमानाय धत्त । प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ जक्षिवांस इति । लिडादेशे क्वसौ "लिट्यन्यतरस्याम्" इति अदेर्घस्लादेशः । "गमहन०" इति उपधालोपः । पपिवांस इत्यत्रापि लिटः क्वसुः । उभयत्र "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इडागमः । वसव इति । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ ॥

हे दमकते हुए अग्निदेव ! आपने हविकी कामना करने वाले जिन देवताओंको बुला लिया है । उन बुलाये हुए देवताओंको जहाँ वे एकत्रित होकर स्थित होते हैं उस सधस्थमें प्रेरित करिये । पुरोडाश आदिका भक्षण करने वाले, मधुररससम्पन्न घृत

आदिका पान करने वाले वसुओ ! आप इस यजमानको धन दीजिये ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः ।

वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

सुऽगा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । आऽजग्म । सवने । मा । जुषाणाः ।

वहमानाः । भरमाणाः । स्वाः । वसूनि । वसुम् । घर्मम् । दिवम् । आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

हे देवाः वः युष्माकं सदना सदनानि स्थानानि सुगा सुगानि सुगमनानि सुखेन गन्तव्यानि अकर्म अकार्ष्म । ❀ सुपूर्वाद् गमेः "गमश्च" इति डः । अत्र सदनेत्यत्रापि "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः । अकर्मेति । करोतेः "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "छन्दस्युभयथा" इति तिङ आर्धधातुकत्वेन ङित्वाभावाद् गुणः❀। देवा विशेष्यन्ते । जुषाणाः हवींषि सेवमानाः तैः प्रीयमाणा वा ये यूयम् इमा इमानि सवना सवनानि आजग्म आगताः स्थ । ❀ गमेर्लिटि मध्यमबहुवचने "गमहन०" इति उपधालोपः ❀ । यतः युष्मदर्थं सदनानि अकार्ष्मः अतः यूयं स्वा स्वानि स्वकीयानि वसूनि धनानि वहमानाः प्रापयन्तः अस्मान् । तथा भरमाणाः पोषयन्तः अस्मदर्थं धनानि हस्तैर्धारयन्तो वा वसुम् सर्वस्य

लोकस्य वासयितारं घर्मम् आदित्यम् आ रोहत आतिष्ठत । अनु अनन्तरं दिवम् द्युलोकम् आ रोहत आतिष्ठत । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे ❀ । अस्मभ्यं धनानि दत्त्वा स्वीयं स्थानं गच्छतेत्यर्थः ॥

हे हविसे प्रसन्न हुए देवताओं ! आप यहाँ आये थे अब आपके लिये हमने आपके स्थानोंको सुखसे प्रस्थान करने योग्य कर दिया है । क्योंकि-हमने आपके लिये भवन ठीक कर दिये हैं अतः आप हमारे लिये धनोंको प्राप्त कराते हुए और हमारे लिये पुष्टि देते हुए आदित्य पर आरोहण करिये फिर द्युलोक पर आरोहण करिये । अर्थात् हमको धन देकर अपने स्थानोंको पधारिये ॥ ४ ॥

तृतीया ॥

यज्ञ॑ य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ । स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

यज्ञ॑ । य॒ज्ञम् । ग॒च्छ॒ । य॒ज्ञऽप॑तिम् । ग॒च्छ॒ ॥ स्वाम् । योनि॑म् । ग॒च्छ॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

हे यज्ञ त्वं यज्ञम् यष्टव्यं परमात्मानं विष्णुं गच्छ येन त्वं प्रतिष्ठितो भवेः । अनन्तरं यज्ञपतिम् यज्ञस्य पालयितारं यजमानं गच्छ फलप्रदानेन प्राप्नुहि । ❀ "पत्य।वैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अनन्तरं स्वाम् आत्मीयां योनिं गच्छ । योनिः कारणम् सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरी शक्तिः । तां प्राप्नुहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यं तवास्त्विति ॥

हे यज्ञ ! आप पूजनीय परमात्मा विष्णुके पास जाइये कि-जिनसे आप प्रतिष्ठित हुए हैं । फिर यज्ञके पालक यज्ञपति यजमानको फलप्रदानसे प्राप्त हूजिये । फिर सब जगत्की कारण-

भूत पारमेश्वरी शक्ति अपनी योनिको प्राप्त हूजिये । यह भली प्रकार आहुत घृत आपका हो ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः । सुवीर्यः स्वाहा ६

एषः । ते । यज्ञः । यज्ञऽपते । सहऽसूक्तवाकः ॥ सुऽवीर्यः ।

स्वाहा ॥ ६ ॥

हे यज्ञपते यजमान एष यज्ञः सहसूक्तवाकः । सूक्तं वक्तीति सूक्तवाकः यथाक्रमं यष्टव्यदेवतानामकीर्तनपरः मंत्रः । तत्सहित एष यज्ञः । अथ वा सूक्तवचनसहितः विविधस्तोत्रकः सुवीर्यः सुबलः शोभनपुत्रपौत्रादिकर्मयुक्तो वा ते तव । श्रेयसे कल्पताम् इत्यर्थः । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् आज्यम् अस्येस्तु ॥

हे यज्ञपते ! यह पूजनीय देवताके नामका कीर्तन करने वाले मंत्ररूप सूक्तके साथ वर्तमान शोभन कर्मयुक्त यज्ञ आपके कल्याण के लिये समर्थ होवे, भली प्रकार आहुत यह घृत अग्निके लिये हो ६

पञ्चमी ॥

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः । देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

वषट् । हुतेभ्यः । वषट् । अहुतेभ्यः ॥ देवाः । गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत ॥ ७ ॥

हुतेभ्यः इष्टेभ्यो देवेभ्यः वषट् । प्रदानवाची वषट् शब्दः । इदम् आज्यं हुतम् अस्तु । अहुतेभ्यः पूर्वम् अनिष्टेभ्यो देवेभ्यो वषट् इदम् आज्यं वषट् हुतम् अस्तु । अस्य संस्थितहोमत्वात् पूर्वं

हविःप्रदानेन प्रीणिता अपि देवा हूयन्ते किल किम् उत पूर्वम् अहुता देवा इत्युभयत्र वषट्कारप्रयोगः। ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति हुताहुतशब्दाभ्यां चतुर्थी ❀। हे गातुविदः गातुर्मार्गस्तं जानाना हे देवाः यूयम्। ❀ "विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्" इति पूर्वस्यामन्त्रितस्य अविद्यमानत्वनिषेधाद् द्वितीयस्य निघातः ❀। गातुम् मार्गं वित्त्वा लब्ध्वा अस्माद् दीर्घं यज्ञं प्रति आगमनकाले येन मार्गेण आगतास्तमेव मार्गं लब्ध्वा गातुम् इत समाप्ते कर्मणि पुनः स्वकीयगृहगमनाय तमेव मार्गं तेनैव मार्गेण प्रतिनिवर्तध्वम्। ❀ वित्त्वेति। विदेर्लाभार्थात् क्त्वाप्रत्यये "एकाचः०" इति इट्प्रतिषेधः। ज्ञानार्थात् तु निषेधाभावाद् इट्प्रवर्तेत। तस्मादेव वा "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः। गातुं वित्त्वा विदित्वा ज्ञात्वेति तत्रार्थः। इतेति। इण् गतौ। लोटि मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक्❀॥

जिन देवताओंका यजन कर चुके हैं उनके लिये यह घृत हुत होवे और पहिले जिनकी पूजा नहीं की गई है उन देवताओंके लिये यह घृत आहुत हो। हे मार्गको जानने वाले देवताओ! यज्ञमें आगमनके समय जिस मार्गसे आप आए थे उसी मार्गको जान कर कर्मके समाप्त होने पर फिर उसी मार्गसे अपने घरको जाने के लिये लौट जाओ॥ ७॥

षष्ठी॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा
वाते धां स्वाहा॥ ८॥

मनसः। पते। इमम्। नः। दिवि। देवेषु। यज्ञम्।

स्वाहा । दिवि । स्वाहा । पृथिव्याम् । स्वाहा । अन्तरिक्षे ।

स्वाहा । वाते । धाम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

हे मनसस्पते सर्वभूतानाम् अन्तरात्मतया मनसोपि पते हे देव । ❀ "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति मनस इति शब्दस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद् मनसस्पत इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । नः अस्मदीयम् इमं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु अग्न्यादिषु धाम् । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । धाः धेहि स्थापय । इति स्वाहा सरस्वती । अब्रवीद् इत्यर्थः । मन्त्रमध्यवर्तिनां स्वाहाशब्दानां प्रदानार्थत्वाभावात् । वस्तुतश्च स्वाहाशब्दस्य वाक्कर्तृकवचनरूपेणैव निरुक्तत्वात् । स्वा स्वकीया प्रजापतिसंबन्धिनी वाग् आह अब्रवीत् इति स्वाहाशब्दस्य अर्थ उक्तः । तथा च तैत्तिरीयके वाक्प्रजापत्योरुक्तिप्रत्युक्तिरूपं वाक्यम् एवं श्रूयते । "तं वाग् अभ्यवदज्जुहुधीति । कस्त्वम् इत्यब्रवीत् । स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत् । सोजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म" इति [तै० ब्रा० २. १. २. ३] । एवम् उत्तरे त्रयः स्वाहाशब्दा व्याख्येयाः । अनन्तरं द्युपृथिव्यन्तरिक्षलोकेषु अस्मदीयं यज्ञं धाः स्थापयेति सरस्वत्याहेति । ततः इमम् अस्मदीयं यज्ञं वाते सर्वकर्माधारे धाः स्थापय । यस्माद् अयं यज्ञः प्रयुक्तः तत्रैव वाते स्थापय । "वाताद् अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० ३. ३. ६. १२] । "मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" इति च [तै० ब्रा० ३. ७. ४. १] । स्वाहा इदम् आज्यं स्वाहुतम् अस्तु इति अन्तिमस्वाहाशब्दस्य प्रदानार्थता ।❀दिवीति। "ऊडिदम्०" इति सप्तम्या उदात्तत्वम् । पृथिव्याम् इति । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । धाम् इति । दधातेर्लेटि

"बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक्। "तिङां तिङो भवन्ति" इति सिपो मिबादेशः। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀ ॥

हे सब भूतोंके अन्तरात्मा होनेसे मनके पते देव! हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये। इस बातको प्रजापतिसंबधिनी वाणी सरस्वती कहती है ‡। फिर पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोकमें हमारे इस यज्ञको द्युलोकमें वर्तमान देवताओंमें स्थापित करिये। इस बातको प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी सरस्वती कहती है। फिर हमारे इस यज्ञको सर्वकर्माधार वातमें स्थापित करिये ÷ यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

‡ जो स्वाहा शब्द मन्त्रके अन्तमें आते हैं उनका ही 'यह आहुति स्वाहुत हो' यह अर्थ होता है, मन्त्रके मध्यमें आये स्वाहा शब्दका अर्थ आहुति स्वाहुत हो यह नहीं होना है, किन्तु वाक्-कर्तृक वचनरूपमें निरुक्तसे उक्त होनेके कारण सरस्वती होता है। अर्थात् अपनी प्रजापतिसम्बन्धिनी वाणी कहती है यह मध्यगत स्वाहाशब्दका अर्थ होता है। इसी लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण २। १। २। ३ में वाणी और प्रजापतिका उक्तिप्रत्युक्तिरूपवाक्य इस प्रकार लिखा है, कि—"तं वागभ्यवदज्जुहुधीति। कस्त्वं इत्यब्रवीत्। स्वैव ते वाग् इत्यब्रवीत्। सोऽजुहोत् स्वाहेति। तत् स्वाहाकारस्य जन्म।—वाणीने उससे कहा कि—आहुति दो। उसने कहा, कि—तू कौन है। उत्तर दिया, कि—स्वाहा यही स्वाहाकारका जन्म है ॥

÷ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ३। ६। १२ में कहा है, कि—'वाताद् अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुंक्ते।—वातसे अध्वर्यु यज्ञका प्रयोग करता है' और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ७। ४। १ में भी कहा है, कि—"मनसस्पतिना देवेन वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्।—मनसस्पति देवके द्वारा वातसे यज्ञको प्रयुक्त करो" ॥

सप्तमी ॥

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा १

सम् । बर्हिः । अक्तम् । हविषा । घृतेन । सम् । इन्द्रेण । वसुना ।
सम् । मरुत्ऽभिः ।
सम् । देवैः । विश्वऽदेवेभिः । अक्तम् । इन्द्रम् । गच्छतु । हविः ।
स्वाहा ॥ १ ॥

बर्हिः स्रुगाद्यासादनस्थानभूतं हविषा पुरोडाशादिना घृतेन आज्येन च समक्तम् सम्यग् अभ्यक्तम् अभूत्। ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणादिषु। कर्मणि निष्ठा ❀। तथा वसुना वासकेन वस्वाख्यदेवसहितेन वा इन्द्रेण समक्तम् इत्यनुषङ्गः। मरुद्भिश्च समक्तम्। तथा विश्वदेवेभिः विश्वदेवैः एतत्संज्ञकैः देवैः गण-देवैः समक्तम् अभूत्। तादृशं सर्वदेवाधिष्ठितं हविरासादनाधार-भूतं बर्हिः इन्द्रम् सर्वदेवप्रमुखं गच्छतु प्राप्नोतु। स्वाहा इदं बर्हिः स्वाहुतम् अस्तु ॥

स्रुचा आदि रखनेका स्थानरूप बर्हि पुरोडाश घृत आदिसे समक्त होगया है और वसुनामक देवता और इन्द्रसे भी समक्त होगया है। मरुत् देवता और विश्वेदेवताओंसे भी समक्त हो गया है, ऐसा सब देवताओंसे अधिष्ठित हविके आसादनका आधारभूत बर्हि सर्वदेवप्रमुख इन्द्रदेवको प्राप्त हो, यह बर्हिः स्वा-हुत हो ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्।

होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके

परि। स्तृणीहि। परि। धेहि। वेदिम्। मा। जामिम्। मोषीः।
अमुया। शयानाम्।
होतृऽसदनम्। हरितम्। हिरण्ययम्। निष्काः। एते। यजमा-
नस्य। लोके॥ १॥

अत्र आस्तीर्यमाणो दर्भस्तम्बः संबोध्यते। हे दर्भस्तम्ब परि स्तृणीहि वेदिं परित आस्तीर्णो भव आच्छादय वा। ❀ स्तृञ् छादने। क्र्यादिः ❀। एतदेवाह। वेदिं परि धेहि वेदिम् आच्छादय। अमुया अनया वेद्या सह शयानाम् तिष्ठन्तीम्। वेद्या यजमानसंमितत्वात् तत्समानाकृतित्वं यजमानस्यास्तीति शयानाम् इत्युक्तम्। ❀ शीङः शानच् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀। अथ वा। ❀ सप्तम्या याजादेशः ❀। अमुष्यां वेद्याम्। ❀ विषयसप्तमी ❀। वेदिविषये शयानाम्। परिचरन्तीम् इत्यर्थः। यद्वा। ❀ द्वितीयाया याजादेशः ❀। अमूं वेदिं शयानाम्। उपवसन्तीम् इत्यर्थः। जामिम् जायत इति जामिः प्रजा तां बन्धुभूतां यजमानं मा मोषीः। मा हिंसीरित्यर्थः। ❀ मुष स्तेये। "माङि लुङ्" ❀। कीदृशो दर्भः संबोधितः तं दर्शयति। होतृषदनम्। ❀ होता सीदति अत्रेति अधिकरणे ल्युट् ❀। दर्भरूपवस्त्वपेक्षया नपुंसकत्वम्। दर्भकदम्बकापेक्षया वा। हरितम् हरिद्वर्णं हिरण्ययम् हिरण्मयं शोभनवर्णं हितरमणीयं वा एतादृशम् हे दर्भरूप वस्तु। त्वं परि स्तृणीहीति पूर्वत्र संबन्धः॥ अथ परोक्षकृतश्चरमः पादः। एते आस्तीर्यमाणा दर्भाः यजमानस्य लोके पुण्यभोगस्थाने निष्काः सुवर्णमया अलंकारा भवन्तु॥

(इस ऋचासे फैलाये जाते हुए दर्भस्तम्बको सम्बोधित किया गया है) हे दर्भस्तम्ब ! वेदी पर चारों ओर फैल जाइये। वेदी को चारों ओरसे ढक दीजिये और इस विराजमान वेदीकी संतान-रूप यजमानको नष्ट न करिये । यह दर्भ होताओंके बैठनेका स्थान है, हरित वर्ण वाला है, शोभन वर्ण वाला है, ऐसे हे दर्भ! आप वेदी पर फैल जाइये । यह बिछाये हुए दर्भ यजमानके पुण्यभोगस्थलमें सुवर्णमय अलंकार होवें ॥ १ ॥

नवमी ॥

पर्यावर्ते दुष्ष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परिऽआवर्ते । दुःऽस्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ।
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । पराः । स्वप्नऽमुखाः । शुचः १

दुष्ष्वप्न्यात् दुष्टस्वप्नभवात् पापात् पर्यावर्ते प्रतिनिवृत्तो भवामि। अपसरामीत्यर्थः। ❀ वृतु वर्तने । लटि उत्तमे रूपम् ❀ । तथा स्वप्नात् । पापाद् इति अनुषज्यते । दुष्टात् स्वप्नात् जनितायाः इति शेषः । अभूत्याः असंपदः अश्रेयसः । पर्यावर्त इति संबन्धः । किं च अहं ब्रह्म मन्त्रम् अन्तरम् दुःस्वप्ननिवारकं व्यवधायकं कृण्वे कुर्वे । यथा दुःस्वप्नजनितं दुरितं मां न प्राप्नोति तथा तन्नि-र्हरणसमर्थं मन्त्रसंघं कवचं करोमीत्यर्थः । तेन व्यवधिकरणेन स्वप्नमुखाः । मुखशब्द उपाये वर्तते । स्वप्नद्वारिकाः दुःस्वप्न-निबन्धनाः शुचः शोकाः पराः । भवन्तु इति क्रियाध्याहारः ॥

मैं दुष्ट स्वप्नसे होने वाले पापसे पर्यावृत्त होता हूँ-लौटता हूँ। स्वप्नके पापसे मुक्त होता हूँ और असम्पत्तिसे मुक्त होता हूँ, मैंने दुःस्वप्ननिवारक मन्त्रको व्यवधायक (रोकने वाला) कर लिया

है अर्थात् दुःस्वप्नजनित दुरित मुझको प्राप्त न हो इस लिये मैं उस को दूर करनेमें समर्थ मन्त्रपुंजको कवचकी समान धारण कर रहा हूँ। इस कारण दुःस्वप्ननिबन्धन शोक पलायन कर जावें १

दशमी ॥

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥१॥

यत् । स्वप्ने । अन्नम् । अश्नामि । न । प्रातः । अधिऽगम्यते ।
सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । नहि । तत् । दृश्यते । दिवा ।

यद् अन्नं स्वप्ने अश्नामि भक्षयामि । ॐ अश भोजने । क्र्यादिः ॐ । तद् अन्नं प्रातर्नाधिगम्यते न दृश्यते । हि यस्मात् तद् अन्नं दिवा अहनि न दृश्यते अतः तत् स्वप्ने अन्नभोजनं सर्वम् अन्नभोजनसदृशम् अखाद्यभक्षणादिकं मे मम शिवम् मङ्गलकारि अस्तु भवतु । स्वप्ने अन्नभोजनेन यद् अरिष्टं भवति तद् अनेन मन्त्रजपेन शाम्यतु मत्युत कल्याणकारि भवत्वित्यर्थः ॥

मैं जिस अन्नको स्वप्नमें खाता हूँ, वह अन्न प्रातःकाल नहीं दीखता है, क्योंकि-वह अन्न दिनमें नहीं दीखता है, अतः वह स्वप्नका अन्न भोजन और अखाद्यभक्षण आदि सब अन्न मेरे लिये मङ्गलकारी हो (अर्थात् स्वप्नमें अन्नभोजनसे जो अरिष्ट होता है वह इस मन्त्रजपसे शान्त होजावे और कल्याण करने वाला हो ॥ १ ॥

एकादशी ॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे ।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मां हिंसिषुरीश्वराः ॥ १ ॥

नमः॑ऽकृत्य । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वीभ्या॑म् । अ॒न्तरि॑क्षाय । मृ॒त्यवे॑ ।

मे॒क्षा॒मि॒ । ऊ॒र्ध्वः । तिष्ठ॑न् । मा । मा॒ । हिं॒सि॒षुः॒ । ई॒श्व॒राः ॥१॥

द्यावापृथिव्यादिभ्यो नमस्कृत्य नमस्कारं कृत्वा तिष्ठन् आसीनोहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि । ऊर्ध्वलोकं मा गमिष्यामीत्यर्थः । यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि । किं तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी । भवामीति शेषः । ❀ मैष्यामीति । "अमानोनाः प्रतिषेधे" इति प्रतिषेधवाचिनो मा इति निपातस्य ग्रहणं न तु ङितो माशब्दस्य । यदि माङस्तर्हि "माङि लुङ्" स्यात् । तस्य सर्वलकाराणाम् अपवादत्वात् । एतेर्लृट् । "स्यतासी०" इति स्यः ❀ । ईश्वराः स्वामिनः द्युपृथिव्यन्तरिक्षदेवता अग्निवायुसूर्या मृत्युश्च मा मां मा हिंसिषुः मा वधिषुः । चिरकालम् इह लोके माम् अवस्थापयन्तु इत्यर्थः ॥

नवमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति सायणीये अथर्वसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे

सप्तमकाण्डे नवमोनुवाकः ॥

द्यावापृथिवीके लिये, अन्तरिक्षके लिये और मृत्युदेवताके लिये नमस्कार करके बैठा हुआ मैं ऊपरके लोकोंमें न जाऊँ, किंतु इसी लोकमें चिरकाल तक बैठा रहूँ, द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष लोकके ईश्वर अग्नि वायु और सूर्यदेव तथा मृत्यु मेरा वध न करें अर्थात् मुझे चिरकाल तक इसी लोकमें स्थापित रक्खें॥१॥

नवम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२२)॥

सप्तमकाण्डमें नवम अनुवाक समाप्त ॥

दशमेनुवाके त्रीणि सूक्तानि । तत्र "को अस्या नः" इति आद्ये सूक्ते आद्याभ्याम् ऋग्भ्यां सर्वफलकामः प्रजापतिं यजेत उपतिष्ठेत

वा । "को अस्या न इति प्रजापतिम्" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

"कः पृश्निम्" इत्येषा उर्वराख्ये सवयज्ञे विनियुक्ता । "कः पृश्निम् इत्युर्वराम्" इति [कौ० ८. ७] सूत्रात् ॥

उपनयने आदित्यवीक्षणानन्तरम् "अपक्रामन्" इत्यनया माणवकं प्राङ्मुखम् उपवेशयेत् । सूत्रितं हि । "अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चम् अवस्थाप्य" इति [कौ० ७. ६]॥

ग्रामगृहादिषु अन्योक्तसंदेशाकथने तत्प्रायश्चित्तार्थं "यद् अस्मृति" इत्यनया अग्निम् उपतिष्ठेत । "यद् अस्मृतीति संदेशम् अपर्याप्य" इति हि [कौ० ५. १०] सूत्रम् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोः "यद् अस्मृति" इत्यनया कर्मविस्मरणप्रायश्चित्तार्थं जुहुयात् "यन्मे स्कन्नम् यद् अस्मृति [१११] इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ" [कौ० १. ६] सूत्रितम् ॥

अग्निष्टोमे दीक्षानियमलोपप्रायश्चित्तार्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत । "व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निम् उपतिष्ठते" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. २] ॥

कासश्लेष्मभैषज्यार्थम् "अव दिवस्तारयन्ति" इति ऋचा अन्नं सक्तुमन्थं वा अभिमन्त्र्य भक्षयेद् उदकं वा अभिमन्त्र्य आचामयेत् सूर्योपस्थानं वा कुर्यात् । "यथा मनः [६. १०५] अव दिवः [७. ११२] इत्यरिष्टेन" इति [कौ० ४. ७] सूत्रात् ॥

अभिचारकर्मणि "यो नस्तायत्" इति तृचेन अशनिहतवृक्षसमिध आदध्यात् ॥

द्यूतजयकर्मणि "इदम् उग्राय" इति सप्तर्चेन दधिमधुनोक्षिरान् वासितान् अक्षान् अभिमन्त्र्य द्यूतक्रीडां कुर्यात् । "इदम् उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति" इति हि कौशिकं सूत्रम् [कौ० ५. ५] ॥

अभयाधाने "इदम् उग्राय" इति घृतेन अभ्यक्तान् अक्षान् अध्वर्यवे दद्यात् । तद् उक्तं वैताने । "इदम् उग्रायेत्यन्वक्तान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति" इति [वै० २. २] ॥

दशम अनुवाकमें तीन सूक्त हैं । इनमेंसे "को अस्या नः" इस प्रथम सूक्तकी पहिली दो ऋचाओंसे सकल फलोंको चाहने वाला प्रजापति देवताका यजन वा उपस्थान करे । इस विषयमें कौशिक सूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि–'को अस्या न इति प्रजापतिम्' ॥

"कः पृश्निम्" इस ऋचाका उर्वर नामक सवयज्ञमें विनियोग होता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।७ का प्रमाण है, कि–"कः पृश्निम् इत्युर्वराम्" ॥

उपनयनमें सूर्यको देखनेके अनन्तर "अपक्रामन्" ऋचासे बालकको पूर्वकी ओर मुख करके बैठावे । कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि–"अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणान इत्येनं बाहुगृहीतं प्राञ्चं अवस्थाप्य" ॥

ग्राम घर आदिमें दूसरेके कहे हुए सन्देशेको न कहनेका प्रायश्चित्त करनेके लिये "यद् अस्मृति" ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । कौशिकसूत्र ५।१० में कहा है, कि–"यद् अस्मृतीति संदेशं अपर्याप्य" ॥

तथा दर्श और पूर्णमासमें "यद् अस्मृति" ऋचासे कर्मविस्मरण का प्रायश्चित्त करनेके लिये आहुति देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र १।६ का प्रमाण भी है, कि–"यन्मे स्कन्नं यद् अस्मृति" (१११) इति च स्कन्नास्मृतिहोमौ' ॥

अग्निष्टोममें दीक्षानियमलोपका प्रायश्चित्त करनेके लिये इस ऋचासे अग्निका उपस्थान करे । वैतानसूत्र ३।२ में कहा है, कि–"व्रतलोपे यदस्मृतीत्यग्निं उपतिष्ठते" ॥

खाँसी और कफरोगकी चिकित्साके लिये "अवदिवस्तार-

यन्ति" ऋचासे अन्नको वा सक्तु मन्थको अभिमन्त्रित करके भक्षण करावे वा अभिमन्त्रित करके आचमन करा देय वा सूर्यो-पस्थान करे। कौशिकसूत्र ४। ७ में कहा है, कि 'यथा मनः (६। १०५) अव दिवः (७। ११२) इत्यरिष्टेन' ॥

अभिचारकर्ममें "यो नस्तायत्" आदि दो ऋचाओंसे बिजली से ताड़ित वृक्षकी समिधाओंको रक्खे।

द्यूतजयकर्ममें "इदं उग्राय" इस सप्तर्चसे दही और शहदमें तीन रात डाले हुए फाँसोंको अभिमन्त्रित करके द्यूतक्रीड़ा करे कौशिकसूत्र ५। ५ में कहा है, कि—"इदं उग्रायेति वासितान् अक्षान् निवपति" ॥

अग्न्याधानमें 'इदं उग्राय' से घृतप्लुत फाँसोंको अध्वर्यु को देवे। इसी बातको वैतानसूत्र २। २ में कहा है, कि—'इदं उग्रायेत्यन्क्तान् अक्षान् विदेवनायाध्वर्यवे प्रयच्छति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

को अस्य नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।

को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्यऽवत्याः । उत् । नेष्यति । क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ।

कः । यज्ञऽकामः । कः । ऊं इति । पूर्तिऽकामः । कः । देवेषु । वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

अस्मिन् ऋचे प्रश्नवाचिना किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते। अनि

रुक्तत्वात् तस्य । श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "कोऽहं स्याम् इत्यब्रवीत् एतत् प्रदायेति । एतत् स्या इत्यब्रवीद् यद् एतद् ब्रवीषीति" इति [तै० ब्रा० २. २. १०. २] । को ह वै नाम प्रजापतिरिति प्रश्नवाचिन एव किंशब्दस्य प्रजापतिवाचकत्वं युक्तम् । अन्यथा "कस्मै देवाय हविषा विधेम" [ऋ० १०. १२१. १] इत्यत्र स्मै इति आदेशो न स्यात् । अयम् अस्या ऋचोर्थः । वस्यः वसीयः प्रशस्तं फलम् । ❀ वसुशब्दाद् ईयसुनि ईकारलोपश्छान्दसः ❀। इच्छन् अस्मभ्यं प्रदातुं कामयमानः कः क्षत्रियः क्षत्रियजात्यभिमानी को राजा । ❀ "क्षत्राद् घः" इति घः ❀ । अस्याः इदानीं बाधिकाया अवद्यवत्याः । गर्ह्यम् अवद्यम् । ❀ "अवद्यपण्यवर्या०" इति गर्ह्यार्थे अवद्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀ । निंद्यरूपादियुक्ताया द्रुहः द्रोग्ध्र्याः । ❀ द्रुह जिघांसायाम् क्विप् ❀। अहितकारिण्याः पिशाच्या दुर्गतेः सकाशात् नः अस्मान् उन्नेष्यति उद्धरिष्यति । को वा यज्ञकामः अस्माभिरनुष्ठीयमानं यज्ञं कामयमानो भवति । उशब्दः वार्थे । पूर्तिकामः अस्माकं धनादिपूर्तिम् अभिवाञ्छन् भवति । को वा देवेषु मध्ये दीर्घम् चिरकालभावि आयुः जीवनं वनते संभजते । ❀ वन षण संभक्तौ । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । ❀ वनतिर्दानार्थवाची । धातूनाम् अनेकार्थत्वात् ❀। देवेषु मध्ये को वा दीर्घम् आयुः प्रयच्छति॥ अत्रोक्तानां प्रश्नवाक्यानां कः प्रजापतिरेव अस्मान् दुर्गताद् उद्धरिष्यति अस्मदीयं यज्ञं पूर्तिं च कामयते आयुश्च प्रयच्छति इत्युत्तरं भवति । किंशब्देन प्रजापतिरुच्यते इत्युक्तत्वात् ॥

प्रशस्त फलको देना चाहने वाला कौन राजा इस बाधिका निन्दनीया द्रोहिणी पिशाची दुर्गतिसे आज हमारा उद्धार करेगा। और हमारे अनुष्ठित इस यज्ञको कौन चाहता है। और कौन हमारी धन आदिकी पूर्तिको करेगा। और देवताओंमें कौन

दीर्घायुका सेवन करता है अथवा कौन दीर्घायुका प्रदान करता है (उत्तर क अर्थात् प्रजापति) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्

बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति

कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । दत्ताम् । अथर्वणे । सुऽदुघाम् । नित्यऽवत्साम् ।

बृहस्पतिना । सख्यम् । जुषाणः । यथाऽवशम् । तन्वः । कल्पयाति २

पृश्निम् शात्त्रवर्णाम् । ❀ पृश्निः प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ता इति हि यास्कः [नि० २, १४] ❀ । लोहितादिवर्णोपेतां सुदुघाम् सुष्ठु दोग्ध्रीम् । ❀ "दुहः कब्घश्च" इति कप् प्रत्ययः । घकारश्च अन्तादेशः ❀ । दोग्धुं सुशकां वा । ❀ "ईषद्दुःसुषु०" इति खल् । वर्णोपजनश्छान्दसः । "तिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ । नित्यवत्साम् सर्वदा वत्सोपेताम् । अनेन सर्वदा नवप्रसूतत्वम् उक्तं भवति । अथर्वणे वरुणेन दत्तां धेनुम् । वरुणेनाथर्वणे गौर्दत्तेति पञ्चमकाण्डे स्पष्टम् आम्नातम् । "कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः । पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः" इति [५. ११] । एतादृशीं धेनुं बृहस्पतिना बृहतां महतां देवानां पालकेन देवेन सख्यम् सौहार्दं जुषाणः सेवमानः को देवः यथावशम् यथाकामम् । ❀ पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः ❀ । तन्वः तनूः कल्पयाति कल्पयेत् समर्थानि कुर्यात् । ❀ कल्पयतेर्लेटि आडागमः ❀ । कः कल्पयेत् इति प्रश्नस्य प्रजापतिरेव कल्पयतीत्युत्तरं भवति ॥

लोहित आदि वर्णोंसे युक्त, अच्छी तरहसे दुहाने वाली, सदा बछड़ेसे युक्त रहने वाली, अथर्वाके द्वारा वरुणको भी दी हुई धेनुको बृहस्पतिके साथ मित्रता रखने वाले प्रजापतिदेव कामना के अनुसार शरीरकी शक्तियोंको प्रदान करें ॥ १ ॥

तृतीया ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अपऽक्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ।
प्रऽनीतीः । अभिऽआवर्तस्व । विश्वेभिः । सखिऽभिः । सह १

हे माणवक त्वं पौरुषेयात् पुरुषेभ्यो हितं तत्र वर्तमानं कामचारभक्षणादिकं लौकिकं कर्म तस्मात् । ❀ "सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ" इति ढञ् प्रत्ययः । ढस्य एय् आदेशः ❀ । तस्मात् लौकिकात् कर्मणः अपक्रामन् अपगच्छन् दैव्यम् देवसंबन्धि । ❀ "देवाद् यञञौ" इति यञ् प्रत्ययः ❀ । तद् वचः वाक्यं वेदलक्षणं वृणानः संभजमानः । ❀ वृङ् संभक्तौ । क्र्यादिः । हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । स्वाध्यायस्य संभजनाद्धेतोः प्रणीतीः प्रकृष्टनयनादिवेदब्रह्मचर्यनियतीः अभ्यावर्तस्व अभिगच्छ । विश्वेभिः सर्वैः सखिभिः समानख्यानैः सब्रह्मचारिभिः सह। अभ्यावर्तस्वेति॥

हे माणवक ! तू पुरुषोंके लिये हितकर कामचार भक्षण आदि लौकिककर्मसे दूर हटता हुआ देवसंबन्धी वेदलक्षण वाक्यको भजता हुआ स्वाध्यायका सेवन करनेके लिये ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन आदि वेदको शीघ्र ही सिखाने वाली प्रणीतियोंका अपने सकल सहपाठियोंके साथ आश्रय ले ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्व-
मस्तु नः ॥ १ ॥

यत् । अस्मृति । चकृम । किम् । चित् । अग्ने । उपऽआरिम । चरणे ।
जातऽवेदः ।
ततः । पाहि । त्वम् । नः । प्रऽचेतः । शुभे । सखिऽभ्यः ।
अमृतऽत्वम् । अस्तु । नः ॥ १ ॥

हे अग्ने वयम् अस्मृति स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मानुसंधानरहितं यत् किंचित् कर्म चकृम अकार्ष्म । सातत्येन क्रियमाणे कर्मखि मध्ये यत् किंचित् कर्म अनुष्ठेयं विस्मृतवन्तः अन्योक्तं वा संदेशादिकं तदीयाय जनाय न कथितवन्तो वा । तथा हे जातवेदः जातानां वेदितः जातैः भूतैर्ज्ञायमान वा चरणे अनुष्ठाने उपारिम यत् कर्म उपार्तं लुप्तम् अकार्ष्म । यत्कर्मानुष्ठाने मूढा अभूमेत्यर्थः । ❀ चकृमेति । करोतेर्लिटि क्रादिनियमात् इण्निषेधः । उपारिमेति । उपपूर्वाद् अर्तेः "इडत्यर्तिव्ययतीनाम्" इति इडागमः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघाते "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀। हे प्रचेतः प्रकृष्टज्ञान अग्ने त्वं ततः तस्माद् विस्मरणनिबन्धनात् पापात् नः अस्मान् पाहि पालय । ततः सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः प्रियभूतेभ्यो नः अस्मभ्यं त्वदनुग्रहात् शुभे शोभने सांगे कर्मणि । संपन्ने इति शेषः । अमृतत्वम् अविनाशित्वम् अस्तु ॥

हे अग्ने ! हमने पूर्वोत्तरकर्मके अनुसंधानसे रहित जो कुछ स्मरणरहित कर्म कर लिया है, अर्थात् चलते हुए कर्ममें मध्यमें

करने योग्य कर्मको भूल कर अगला कर्म कर लिया है वा दूसरे से कहने योग्य संदेशेको भूल गए हैं। हे जातवेदः! अनुष्ठानके समय जो कर्म हमसे लुप्त होगया है तात्पर्य यह है, कि-जिस कर्मके अनुष्ठानमें हम मूढ़ होगए थे, हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले अग्ने! आप उस विस्मरणसे होसकने वाले पापसे हमारी रक्षा करिये। फिर हम समान प्रसिद्धि वालोंका आपके अनुग्रहसे सांग कर्म पूर्ण होने पर अविनाशित्व होवे ॥ १ ॥

पञ्चमी ॥

अत्रं दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन् ॥१॥

अत्र । दिवः । तारयन्ति । सप्त । सूर्यस्य । रश्मयः ।
आपः । समुद्रियाः । धाराः । ताः । ते । शल्यम् । असिस्रसन् ॥१

एकस्य हि सूर्यस्य अंशभूताः सप्त सूर्या विद्यन्ते। तत्र प्रधानभूतः कश्यपसंज्ञकः सर्वदा महामेरौ वर्तते। इतरे तदंशभूता आरोगादिनामानो विश्वस्य प्रकाशकाः प्रवर्षकाश्च भवन्ति। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः। ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति" इति। "कश्यपोऽष्टमः। स महामेरुं न जहाति" इति। "यस्मिन् सूर्या अर्पिताः सप्त साकम्" इति च [तै० आ० १. ७. १]॥ तथा चास्या ऋचः अयम् अर्थः। सूर्यस्य कश्यपनाम्नः संबन्धिनः सप्त सप्तसंख्याका रश्मयः व्यापकाः किरणा आरोगादयः सूर्याः समुद्रियाः। समुद्रम् अन्तरिक्षम्। ❀ समुद्द्रवन्त्यस्मादाप इति हि यास्कः [नि० २. १०]। तत्र भवाः। "समुद्राभ्राद् घः" इति घः ❀। अन्तरिक्षभवा धारारूपा आपः। ❀ द्वितीयार्थे प्रथमा ❀। अपः दिवः

द्युलोकाद् अव तारयन्ति अवपातयन्ति । अवर्षन्तीत्यर्थः । ताः सूर्यरश्मिभिरवतारिता आपः हे रुग्ण ते तव शल्यवत् शल्यम् पीडाकारिणं कासश्लेष्मादिरोगम् असिस्रसन् स्रंसयन्तु विनाशयन्तु । ※ स्रंसु गतौ । ण्यन्ताद् लुङि चङि "अनिदिताम्०" इति उपधानकारलोपः । "सन्वल्लघुनि०" इति सन्वद्भावात् "सन्यतः" इति अभ्यासस्य इत्वम् ※ ॥

(एक ही सूर्यके अंशभूत सात सूर्य हैं। उनमें,प्रधानभूत कश्यप नामक सूर्य सदा महामेरुमें रहते हैं। दूसरे उनके अंशभूत आरोग आदि नाम वाले विश्वको प्रकाशित करते रहते हैं और वर्षा भी करते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में कहा है, कि— "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः। ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति।—आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास नामक सात सूर्य इसके लिये द्यौमें तपते रहते हैं"। "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति।—कश्यप आठवें हैं वे महामेरुको नहीं छोड़ते हैं" ॥ तथा 'यस्मिन् सूर्याः अर्पिताः सप्त साकम्।—जिसमें एक साथ ही सात सूर्य अर्पित हैं" ॥ अब इस ऋचाका अर्थ यह है, कि—) कश्यप नामक सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली सात किरणें अर्थात् आरोग आदि सात सूर्य अन्तरिक्षमें होने वाली जलरूप धाराओंको द्युलोकसे नीचे उतारती हैं, वे सूर्यकी किरणोंसे नीचेको उतारे हुए वर्षारूप जल हे रोगिन्! तेरे शल्यकी समान पीड़ा देने वाले खाँसी श्लेष्मा आदि रोगको नष्ट कर डालें ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने ।

प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् । अरणः । वा । नः । अग्ने ।

प्रतीची । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने । वास्तु । भूत् । मो । इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

हे अग्ने यः शत्रुः नः अस्मान् तायत् । अन्तर्हितनामैतत् । अन्तर्हितम् अप्रकाशं दिप्सति दम्भितुं हिंसितुम् इच्छति । ॐ "दम्भ इच्च" इति सन्प्रत्यये इकारादेशः । "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः ॐ । यश्च शत्रुः नः अस्मान् आविः प्रकाशं दिप्सति । तथा विद्वान् परबाधनोपायं जानन् स्वः स्वीयः बन्धुर्वा नः अस्मान् दिप्सति । अरणः । ॐ ऋतेः अरणः ॐ । अरातिर्वा नः अस्मान् हन्तुम् इच्छति । तान् अप्रकाशहननोद्युक्तादीन् शत्रून् दत्वती दन्तोपेता । ॐ "छन्दसि च" इति दन्तशब्दस्य दत् आदेशः ॐ । अरणी आर्तिकारणी राक्षसी प्रतीची प्रत्यगञ्चना एतु प्राप्नोतु । दन्ताभ्यां तान् भक्षयितुम् अभिगच्छत्वित्यर्थः । निःशेषहननाय दत्वतीति विशेषणम् । किं च हे अग्ने एषां पूर्वोक्तानाम् अन्तर्हितघातकादीनां वास्तु गृहं मा भूत् । अपत्यम् पुत्रादिकं मो मैव भूत् ॥

हे अग्ने ! जो शत्रु हमको अन्तर्हित करना चाहता है, जो हमको मारना चाहता है, जो हमारे प्रकाशको बन्द करना चाहता है, दूसरोंको पीड़ा देनेकी युक्तिको जानने वाला जो अपना बंधु हमको मारना चाहता है, जो शत्रु हमको मारना चाहता है।

उनको यह दाँतोंकी रस्सी वाली पीड़ा देने वाली राक्षसी अभिमुख होकर प्राप्त हो और इन शत्रुओंका घर न रहे और इनके पुत्र आदि भी न रहें ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः ।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभिऽदासात् । तिष्ठतः । वा । चरतः । जातऽवेदः ।
वैश्वानरेण । सऽयुजा । सऽजोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह । जातऽवेदः ॥ २ ॥

यः शत्रुः सुप्तान् निद्राणान् नः अस्मान् अभिदासात् अभिदासयेत् अभितः उपक्षपयेत् अभिमुख वा हिंस्यात् । ॐ दसु उपक्षये । एयन्तात् लेटि आडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः ॐ । यः शत्रुः जाग्रतः प्रबुध्यमानान् नः अस्मान् अभिदासयेत् । ॐ जागृ निद्राक्षये । शतरि अदादित्वात् शपो लुक् । "जक्षित्यादयः षट्" इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ॐ । तथा हे जातवेदः जातप्रज्ञ हे अग्ने तिष्ठतः सुखेन एकत्रासीनान् अस्मान् यो हिंस्यात् चरतः कार्येषु व्याप्रियमाणान् वा अस्मान् यः शत्रुः उपक्षपयेत् । ॐ तिष्ठतश्चरत इत्युभयत्र लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॐ । हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने त्वं वैश्वानरेण विश्व-

नरसंबन्धिना एतत्संज्ञकेन जाठराग्निना । ❀ "नरे संज्ञायाम्" इति विश्वशब्दस्य दीर्घः ❀ । तेन अग्निना सयुजा सहयोक्ता सहायेन सजोषाः समानप्रीतिः सन् प्रतीचः स्वप्नजागरणाद्यवस्थापन्नान् अस्मान् उपद्रावयितुं प्रतिमुखम् आगच्छतस्तान् शत्रून् निर्दह निःशेषेण भस्मसात् कुरु । जाठराग्निः अन्तर्दहतु त्वं तु बहिर्दहेत्यर्थः ॥

जो शत्रु हम सोतों हुओंको क्षीण करना चाहता है, जो हम जागते हुओंको मारे, और हे जातवेदा अग्ने ! जो हम बैठे हुओं को या घूमने वालोंको मारे सन्मुख आते हुए उन सब शत्रुओंको आप वैश्वानर (जाठर) अग्निके साथ मित्रता कर मार डालिये । तात्पर्य यह है, कि–जाठर अग्नि भीतरसे भस्म करे और आप बाहरसे भस्म करिये ॥ २ ॥

अष्टमी ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनूऽवशी ।
घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥ १ ॥

उग्राय उद्गूर्णबलाय बभ्रवे बभ्रुवर्णाय एतत्संज्ञकाय द्यूतजयकारिणे देवाय इदं नमः नमस्करणम् । भवतु इति शेषः । ❀ "नमःस्वस्ति०" इति नमःशब्दयोगे बभ्रव इति चतुर्थी ❀ । यो बभ्रुः अक्षेषु देवनसाधनेषु तनूवशी यथाकामी । स्वेच्छाधीनजय इत्यर्थः । घृतेन आज्येन मन्त्राभिमन्त्रितेन कलिम् । पराजयहेतुः पञ्चसंख्यायुक्तोऽक्षविषयोऽयः कलिरित्युच्यते । तं शिक्षामि ताडयामि । हन्मीत्यर्थः । एकादयः पञ्चसंख्यान्ता अक्षविषया अयाः । तत्र पञ्चानां

कलिरिति संज्ञा । तथा च तैत्तिरीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः" इति [तै० ब्रा० १.५.११.१]। तत्र कलिशब्दवाच्यस्य अयस्य आगमने पराजयो भवति । तम् अनेन आज्येन विनाशयामि । अहम् अन्यैर्न पराजीये किं तु अन्यान् अहमेव जयामीत्यर्थः । ॐ शिक्षतिर्विद्योपादानवाची । तच्च विद्याग्रहणम् अध्यापककर्तृककशाताडनं विना न भवतीति अत्र लक्षणया ताडनमात्रं विवक्ष्यते । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॐ। यद्वा । ॐ शकेः सनि प्रत्यये "सनि मीमा०" इति इस् आदेशः । "अत्र लोपः०" इति अभ्यासलोपः ॐ । कलिं शिक्षामि शक्तं समर्थं कर्तुम् इच्छामि । यथा कलिः स्वयं पराजयसमर्थः पराजयवान् भवति तथा करोमीत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे देवतानुग्रहम् आशास्ते । स नमस्कृतः अक्षद्यूतदेवता बभ्रुः ईदृशे देवननिबन्धने कलिपराभावनरूपे जयलक्षणे च फले नः अस्मान् मृडाति मृडयतु सुखयतु । ॐ मृड सुखने । लेटि आडागमः ॐ ॥

प्रचण्ड बल वाले बभ्रु नामक द्यूतमें विजय देनेवाले देवताके लिये यह नमस्कार हो, यह बभ्रु अक्षों (फाँसों) में अपनी कामनाके अनुसार विजय दिलाने वाले हैं। और मन्त्राभिमन्त्रित घृतसे मैं (पञ्चसंख्यायुक्त पराजयके हेतु) कलि नामक फाँसेको ताड़ित करता हूँ † यह बभ्रु देवता इस खेलनेसे होने वाले जय-पराजयमें हमको सुख देवें ॥ १ ॥

† एकसे पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं । उनमें पाँचोंकी कलि संज्ञा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ११ । १ में कहा है, कि–"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पञ्च कलिः सः ।– जो चारका फाँसा होता है वह कृत कहलाता है और पाँचका कलि कहलाता है" ॥

नवमी ॥

घृतम॑प्स॒राभ्यो॑ वह॒ त्वम॑ग्ने पां॒सून॒क्षेभ्य॒ः सिक॑ता अ॒पश्च॑ ।
य॒था॒भा॒गं ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णा मद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि
ह॒व्या ॥ २ ॥

घृ॒तम् । अ॒प्स॒राभ्यः॑ । व॒ह॒ । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । पां॒सून् । अ॒क्षेभ्यः॑ ।
सिक॑ताः । अ॒पः । च॒ ।
य॒था॒ऽभा॒गम् । ह॒व्यऽदा॑तिम् । जु॒षा॒णाः । मद॑न्ति । दे॒वाः ।
उ॒भया॑नि । ह॒व्या ॥ २ ॥

हे अग्ने त्वम् अप्सराभ्यः । अप्सु सरन्त्यश्चरन्त्यः अन्तरिक्षचारिण्यो वा । ताभ्यः तदर्थं घृतम् अक्षाभ्यञ्जनसाधनम् आज्यं वह प्रापय । अस्माकं जयार्थम् इति शेषः । तथा अक्षेभ्यः । अक्षशब्देन तैर्दीव्यन्तः प्रतिकितवा उच्यन्ते । अक्षहस्तेभ्यः प्रतिकितवेभ्यः पांसून् सूक्ष्मान् भूरजःकणान् सिकताः शर्कराः अपः उदकानि च प्रापय । यथा तेषां पराजयो भवति तथा तन्मुखेषु पांस्वादीन् प्रक्षिपेत्यर्थः ॥ किं च यथाभागम् भागम् अनतिक्रम्य स्वीयस्वीयभागानुसारेण हव्यदातिम् हविषः प्रदानं जुषाणाः सेवमाना देवाः इन्द्राद्या उभयानि द्विप्रकाराणि औषधपाशुकभेदेन सोमाज्यभेदेन श्रौतस्मार्तकर्मभेदेन वा द्विविधानि हव्या हव्यानि हवींषि । आस्वाद्येति शेषः । मदन्ति माद्यन्ति तृप्ता भवन्ति । ते देवा अपि अस्माकं द्यूतजयं कुर्वन्तु इति प्रार्थना ॥

हे अग्ने ! आप अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली अप्सराओंके लिये (पाँसोंको स्वच्छ करने वाले) घृतको पहुँचाइये। और

फाँसोंसे खेलने वाले हमारे प्रतिद्वन्द्वी जुआरियोंके निमित्त जल और रेता धूल दीजिये (अर्थात् उनका पराजय करनेके लिये उनके मुखमें धूल आदि झोंक दीजिये) और अपने २ भागके अनुसार हव्यदानका सेवन करते हुए इन्द्र आदि देवता औषध पाशुक, सोम और घृत, तथा श्रौत और स्मार्त इन दो प्रकारकी हवियोंका आस्वादन कर तृप्त होवें (वे भी हमको द्यूतमें विजय देवें, यही प्रार्थना है) ॥ २ ॥

दशमी ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥ ३ ॥ ॥

अप्सरसः । सधऽमादम् । मदन्ति । हविःऽधानम् । अन्तरा । सूर्यम् । च ।
ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सऽपत्नम् । मे । कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

अप्सरसः द्यूतक्रियादेवताः सधमादम् सह संभूय मादः मादनं यस्मिन् मदनकर्मणि तत् । ॐमाद्यतेर्घञ्प्रत्ययेन । "सधमादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ॐ । सहमदनं यथा भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति । कुत्रेति तद् उच्यते । हविर्धानम् हविर्धीयते अत्रेति हविर्धानो भूलोकः । ॐ अधिकरणे ल्युट् ॐ । तं सूर्यम् सूर्याधिष्ठितं द्युलोकं तं च अन्तरा । ॐ"अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया ॐ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये अन्तरिक्षलोके माद्यन्ति । ताः अप्सरसः मे मम हस्तौ देवनसाधनौ पाणी घृतेन

घृतवत् सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन सं सृजन्तु संयोजयन्तु । तथा सपत्नम् प्रतिदीव्यन्तं कितवं मे मम रन्धयन्तु । ❀ रध्यति- र्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] ❀ । वशयन्तु स्वाधीनं कुर्वन्तु । ❀ रध हिंसासंराध्योः । णिचि "रधिजभोरचि" इति नुम् आगमः ❀ ॥

[इति] दशमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्यूतक्रियाकी देवता अप्सरायें (जिसमें एकत्रित होकर मद होता है उस) हविःधान अर्थात् भूलोकमें, सूर्याधिष्ठित द्युलोकमें और इन दोनोंके बीचके लोक अन्तरिक्षलोकमें मदमें भरी रहती हैं, वे अप्सरायें मेरे खेलनेके हाथोंको घृतकी समान सारमय जय- रूप फलसे संयुक्त करें और खेलते हुए प्रतिपक्षी जुआरीको मेरे वशमें करें ॥ ३ ॥

दशम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"आदिनवं प्रतिदीव्ने" इति चतुर्ऋचस्य द्यूतजयकर्मणि "इदम् उग्राय" इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

परसेनाजयार्थम् "अग्न इन्द्रश्च" इति द्वाभ्यां नवरथं संपात्य अभिमन्त्र्य ससारथिं राजानम् आरोहयेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "अग्न इन्द्रः [७. ११५] दिशश्चतस्रः [८. ८. २२] इति नवं रथं राजानं ससारथिम् आस्थापयति" इति [कौ० २. ६] ॥

तथा सर्वफलकामः "अग्न इन्द्रश्च" इति तिसृभिः अग्नीन्द्रौ यजेत उपतिष्ठेत वा । "अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

आग्रयणेष्टौ "अग्न इन्द्रश्च" इति आग्नेन्द्रपुरोडाशयागम् अनु- मन्त्रयते । "अग्न इन्द्र इत्याग्नेन्द्रम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० २. ४] ॥

वृषोत्सर्गे "इन्द्रस्य कुक्षिः" इत्यनया वृषभं संपात्य अभिमन्त्र्य

विसृजेत् । "इन्द्रस्य कुक्षिः [७. ११६] साहस्रः [९. ४] इत्यृषभं संपातवन्तम् अतिसृजति" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० ३.७]॥

अग्निष्टोमे प्रातःसवने सोमसहितं पूतभृत्पात्रम् "इन्द्रस्य कुक्षिः" इति ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । "इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासिक्ते सोमे पूतभृतम्" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ३. ७] ॥

सर्वव्याधिभैषज्यार्थं "शुम्भनी" इति सूक्तेन उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य मौञ्जैः पाशैः संधिषु बद्धं व्याधितं दर्भपिञ्जूलीभिः आसावयेद् अवसिञ्चेद् वा । सूत्रितं हि । "शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा "शुम्भनी" इत्यस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् "ओषधिवनस्पतीनाम् अनूक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इत्यादौ [कौ० ४. ८] विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

विवाहे "शुम्भनी" इत्यनया आज्यं हुत्वा वरवध्वोर्मूर्ध्नोः संपातान् आनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनयर्चा वरवध्वोरञ्जल्योः उदपात्रोदकं निनयेत् ॥

सूत्रितं हि । "तुभ्यम् अग्रे [१४. २] शुम्भनी [७. ११७] अग्निर्जनविद् इति मूर्ध्नोः संपातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुम्भन्याञ्जल्योर्निनयति" इति [कौ० १०. ४] ॥

'आदिनवं प्रतिदीव्ने' इस चतुर्ऋचका द्यूतजयकर्ममें 'इदं उग्राय' के साथ विनियोग कह दिया है ।

शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिये 'अम इन्द्रश्च' इन दो ऋचाओं से नवीन रथको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके सारथि-सहित राजाको उस पर चढ़ावे । इसी बातको कौशिकसूत्र २।६

में कहा है, कि–'अग्न इन्द्रः (७।११५) दिशश्चतस्रः (८।८।२२) इति नवं रथं राजानं ससारथिं आस्थापयति' ॥

तथा सर्वफलकाम "अग्न इन्द्रश्च" इन तीन ऋचाओंसे अग्नि और इन्द्रदेवका यजन वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिक-सूत्र ७।१० का प्रमाण है, कि–"अग्न इन्द्रश्चेति मन्त्रोक्तान् सर्वफलकामः" ॥

आग्रयणेष्टिमें "अग्न इन्द्रश्च" से आग्नेन्द्रपुरोडाशयागका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २।४ का प्रमाण है, कि–' अग्न इन्द्र इत्याग्नेयम्" ॥

वृषोत्सर्गमें 'इन्द्रस्य कुक्षिः' ऋचासे वृषभको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके छोड़ देय इस विषयमें कौशिकसूत्र ३।७ का प्रमाण है, कि–'इन्द्रस्य कुक्षिः (७।११६, साहस्रः (६।४) इत्यृषभं सम्पातवन्तं अतिसृजति' ॥

अग्निष्टोमके प्रातःसवनमें सोमसहित पूतभृत्पात्रका 'इन्द्रस्य कुक्षिः' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३।७ का प्रमाण है, कि–'इन्द्रस्य कुक्षिरित्यासक्ते सोमे पूतभृतम्' ॥

सर्वव्याधिचिकित्साके लिये "शुम्भनी" मृचसे जलपूर्ण घट को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके रोगीको मूँजके पाशोंसे जोड़ों पर बाँधे फिर दर्भकी मुट्ठीसे आसावित वा अवसिञ्चित करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ४।८ का प्रमाण भी है, कि–'शुम्भनी इति मौञ्जैः पाशैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिरासानयत्य-वसिञ्चति" ॥

तथा "शुम्भनी" ऋचाका अंहोलिंगगणमें पाठ होनेसे 'ओषधि-वनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिंगाभिः' इत्यादिमें विनियोग करना चाहिये।

विवाहमें "शुम्भनी" ऋचासे घृतकी आहुति देकर वर और वधूके मस्तक पर सम्पातोंको लावे।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस ऋचासे वर और वधूके हाथमें जल-पूर्णपात्रके जलको डाले।

इस विषयमें कौशिकसूत्र १० । ४ का प्रमाण भी है, कि— 'तुभ्यं अग्ने १४ । २ शुम्भनी ७। ११७ अग्निर्जनवित् इति मूर्ध्नोः सम्पातान् आनयति । उदपात्र उत्तरान् शुंभन्याञ्जल्योर्निनयति'

तत्र प्रथमा ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ४

आदिनवम् । प्रतिऽदीव्ने । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ।
वृक्षम्ऽइव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रतिऽदीव्यति ४

प्रतिदीव्ने प्रतिकूलम् दीव्यते प्रतिकितवाय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । प्रतिदिवानं जेतुम् आदिनवम् आदीव्यामि अक्षैः आदीवनं करोमि । ❀ आङ्पूर्वाद् दीव्यतेश्छान्दसे लङि व्यत्ययेन श्नः । "लोपो व्योर्वलि" इति वकारलोपः । "तस्थस्थमिपाम्०" इति अम् आदेशो गुणश्च । यद्वा । लङि व्यत्ययेन श्नम् । प्रतिपूर्वाद् दीव्यतेः कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः इति [उ० १..१५४०] कनिन् प्रत्ययः । चतुर्थ्येकवचने अल्लोपे कृते "हलि च" इति दीर्घः ❀ । अस्मान् आदीव्यतः घृतेन घृतवत्सारभूतेन जयलक्षणेन फलेन अभि क्षर संयोजय । देवनक्रियाभिमानी देवः संबोध्यते । यः कितवः अस्मान् प्रतिदीव्यति जेतुं प्रतिकूलं द्यूतं करोति तम् अशन्या विद्युता वृक्षम् शुष्कं तरुमिव जहि तिरस्कुरु । ❀ "हन्तेर्जः" इति जादेशः ॥

(हे देवनक्रियाके अभिमानी देव ! मैं प्रतिपक्षी जुआरीको जीतनेके लिये खेलता हूँ, मुझको आप घृतकी समान सारभूत

जयरूप फलसे संयुक्त करिये। जो जुआरी हमसे खेलना चाहता है उसको आप बिजलीसे मारे हुए वृक्षकी समान तिरस्कृत कर डालिये ॥ ४ ॥

द्वितीया ॥

यो नो॑ द्युवे धन॑मि॒दं च॒कार॒ यो अ॒क्षाणां॒ ग्लह॑नं॒ शेष॑णं च ।

स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॒दं जु॑षा॒णो ग॑न्ध॒र्वेभि॑: सध॒माद॑ं मदेम

यः । नः॒ । द्यु॒वे । धन॑म् । इ॒दम् । च॒कार॑ । यः । अ॒क्षाणा॑म् । ग्लह॑नम् । शेष॑णम् । च॒ ।

सः । नः॒ । दे॒वः । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒षा॒णः । ग॒न्ध॒र्वेभि॑: । स॒ध॒ऽमाद॑म् । म॒दे॒म ॥ ५ ॥

यो देवः नः अस्माकं द्युवे द्यूताय तदर्थम् । यद्वा द्युवे दीव्यते नः । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । मह्यम् । अथ वा नः अस्मदीयाय द्युवे दीव्यते पुरुषाय इदं प्रतिकितवसंबन्धि धनं चकार जयेन संपादितवान् । ❀ द्युव इति । दीव्यतेः कर्तरि भावे वा क्विप् । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति वकारस्य ऊठ् । यण् आदेशः ❀। यश्च देवः अक्षाणां परकीयानां ग्लहनम् ग्रहणं स्वकीयैरक्षैर्जित्वा स्वीकरणं शेषणम् स्वीयानाम् अक्षाणां जयाहस्थाने अवशेषणं च कृतवान् । ❀ग्लहनम् इति । ग्लहु ग्लहे इति धात्वन्तरम् अन्यैर्भ्वादौ पठ्यते। तस्मात् ल्युट् । ग्रहातेर्वा । रेफस्य लत्वं छान्दसम् ❀ । स देवः द्यूताभिमानी नः अस्मदीयम् इदं हविः जुषाणः सेवमानो भवतु । वयं च गन्धर्वेभिः गन्धर्वैः अक्षाधिष्ठायकैः सधमादम् सहमदनं यथा तथा मदेम हृष्यास्म । ❀ माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

२६

जिन देवताने हमारे जुएके लिये इस प्रतिपक्षीके धनको जय से सम्पादित किया है और जिन देवताने शत्रुओंके अक्षोंको जितवा कर दिलाया है और शत्रुओंके फाँसोंको निःशेष कर दिया है, वह द्यूताभिमानी देवता हमारी हविका सेवन करें और इन अक्षोंके अधिष्ठायक गन्धर्वोंके साथ आनन्द पावें ॥ ५ ॥

तृतीया ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

सम्ऽवसवः । इति । वः । नामऽधेयम् । उग्रम्ऽपश्याः । राष्ट्रऽभृतः । हि । अक्षाः ।
तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

हे गन्धर्वाः अक्षा वा यूयं संवसव इति संप्राप्तधनाः संप्रापितधना यतो भवथ अतो वः युष्माकं संवसव इति नामधेयं भवति। हि यस्माद् उग्रंपश्या । ❀ षष्ठ्या लुक् ❀ । उग्रंपश्यायाः राष्ट्रभृतः । इदं द्वयम् अप्सरोविशेषनामधेयम् । तयोः संबन्धिनो भवन्ति अक्षाः । अक्षाणाम् एतत्संबन्धित्वं तैत्तिरीये श्रूयते । "उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चाचराणि यद्ध अक्षवृत्तम् अनुवृत्तम् एतत्" इति [तै० ब्रा० २. ४. १]। तेभ्यः गन्धर्वाप्सरोभ्यः तदधिष्ठितेभ्यः अक्षेभ्यो वा वः युष्मभ्यं युष्मदर्थम् इन्दवः । ❀ लुप्तमत्वर्थीयः ❀ । इन्दुमन्तः सोमवन्तः सोमोपलक्षितहविर्युक्ता वयं हविषा उचितेन विधेम परिचरेम । ❀ विध विधाने तौदादिकः ❀ । अनन्तरं वयं दीव्यन्तः रयीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम भवेम । द्यूते प्रतिक्रितवजयेन धनवन्तः स्यामेत्यर्थः ॥

हे गन्धर्वो ! वा अक्षो ! धनको प्राप्त कराने वाले होनेसे आपका संवसव नाम है, यह अक्ष उग्रंपश्या और राष्ट्रभृत् नामक अप्सराओं के सम्बन्धी हैं ‡ उन गंधर्व अप्सराओंकी वा उनसे अधिष्ठित अक्षोंकी सोम वाली हविको लिये हुए हम सेवा करते हैं, तद्-नन्तर खेलते हुए हम धनके स्वामी होवें ॥ ६ ॥

चतुर्थी ॥

देवान् यन्नांथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥७॥

देवान् । यत् । नाथितः । हुवे । ब्रह्मऽचर्यम् । यत् । ऊषिम ।
अक्षान् । यत् । बभ्रून् । आऽलभे । ते । नः । मृडन्तु । ईदृशे ७

नाथितः उपतप्तः । ❀ नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु । अस्मात् निष्ठा ❀ । देवान् अग्न्यादीन् हुवे आह्वयामि धनलाभार्थम् इति यत् । ❀ ह्वयतेर्व्यत्ययेन शपः शः ❀ । ब्रह्मचर्यम् वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचारिनियमम् ऊषिम ऊषितवन्त इति यत् । ❀ वसेर्निवासार्थात् लिटि उत्तमबहुवचने धातोरभ्यासस्य च संप्रसारणे "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वे रूपम् ❀ । बभ्रून् बभ्रुवर्णान् बभ्रुणा अक्षाभिमानिना देवेन अधिष्ठितान् वा अक्षान् देवनसाधनभूतान् आलभे देवितुं स्पृशामीति यत् । ❀ आङ्पूर्वो लभिः स्पर्शार्थः । तस्माद् वर्तमाने लटि उत्तमे रूपम् ❀ । तेन कारणेन ते देवादयः ईदृशे जयलक्षणे फले नः अस्मान् मृडन्तु सुखयन्तु ॥

‡ तैत्तिरीय आरण्यक २ । ४ । १ में अक्षोंका अप्सराओंसे सम्बन्ध सुना जाता है, कि—'उग्रंपश्ये राष्ट्रभृच्चराखि यद् अक्षवृत्तं अनुदत्तं एतत्' ॥

उपतप्त हुआ मैं धनके लाभके लिये अग्नि आदि देवताओंका आह्वान करता हूँ। हमने जो ब्रह्मचर्य किया है और हम बभ्रु-देवतासे अधिष्ठित पाशोंको छू रहे हैं इस कारण वे देवता आदि ऐसे जयलक्षणरूपफलमें हमको सुख देवें ॥ ७ ॥

पञ्चमी ॥

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा ॥ १ ॥

अग्ने । इन्द्रः । च । दाशुषे । हतः । वृत्राणि । अप्रति ॥ उभा । हि । वृत्रहन्ऽतमा ॥ १ ॥

हे अग्ने इन्द्रश्च युवां दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तदर्थं वृत्राणि आवरकाणि शत्रुरूपाणि दुरितानि अप्रति अप्रतिपक्षम् निःशेषम् इत्यर्थः । हथः हिंस्थः । ❀ हन्तेर्वर्तमाने लटि मध्यम-द्विवचने रूपम् ❀ । हि यस्माद् उभा उभौ अग्नीन्द्रौ वृत्रहन्तमा वृत्रहन्तमौ अतिशयेन वृत्रं हतवन्तौ । ❀"ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु०" इति क्विप् । तदन्तात् आतिशायनिकस्तमप् । "नाद् घस्य" इति नुडागमः ❀ ॥

हे अग्ने ! और हे इन्द्रदेव ! आप हवि देने वाले यजमानके आवरक शत्रुरूप पापोंको निःशेषरूपसे नष्ट करिये, क्योंकि—आप दोनों वृत्रको मारने वाले ही हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा। प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेहम्

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आऽतस्थतुः ।
भुवनानि । विश्वा ।
प्रचर्षणी इति प्रऽचर्षणी । वृषणा । वज्रबाहू इति वज्रऽबाहू । अग्निम् ।
इन्द्रम् । वृत्रऽहना । हुवे । अहम् ॥ २ ॥

अग्रे पूर्वं याभ्याम् अग्नीन्द्राभ्यामेव स्वः स्वर्गम् अजयन् स्वाधीनीकृतवन्तो देवाः। यौ च अग्नीन्द्रौ विश्वा विश्वानि भुवनानि भवन्ति भूतजातानि आतस्थतुः स्वमहिम्ना आक्रान्तवन्तौ। व्याप्तवन्तौ यौ च प्रचर्षणी प्रकर्षेण द्रष्टारौ। स्वोपासकसंबन्धिकर्मफलस्येति शेषः। यद्वा चर्षणय इति मनुष्यनाम। प्रकृष्टाश्चर्षणयो मनुष्या ययोर्यष्टृत्वेन सन्तीति तौ। वृषणा वृषणौ वर्षितारौ अभिमतफलस्य। वज्रबाहू। वज्रो बाह्वोर्ययोरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। वज्रः वर्जकम् आयुधम्। आयुधपाणी अत एव वृत्रहणा वृत्रहणौ वृत्रं हत-वन्तौ। तादृशम् अग्निम् इन्द्रं च अहं जयकामः हुवे आह्वयामि॥

पहिले जिन दोनों अग्नि और इन्द्रके द्वारा ही देवताओंने स्वर्गको अपने वशमें किया था और जो इन्द्र और अग्निदेवता सकल भूतोंमें अपनी महिमासे व्याप्त होगए हैं और जो उपासक के कर्मफलको भली प्रकार देखने वाले हैं-वा अनेक पुरुष जिन का पूजन करते हैं ऐसे अभिमत फलकी वर्षा करने वाले, हाथमें वज्र धारण करने वाले वृत्रके नाशक इन्द्र और अग्निका विजयाभिलाषी मैं आह्वान करता हूँ ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॑ग्रभीच्चम॒सेन॒ बृह॒स्पतिः॑ ।
इन्द्र॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥ ३ ॥

उप । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । बृहस्पतिः ।

इन्द्र । गीःऽभिः । नः । आ । विश । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

हे इन्द्र त्वा त्वां बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः हिताचरणेन पालयिता एतन्नामा देवः चमसेन । चमन्ति अदन्ति अत्र सोमम् इति चमसः सोमपात्रम् । तेन उपाग्रभीत् उपगृहीतवान् । अन्यत्र यथा न गच्छसि तथा स्वाधीनं कृतवान् इत्यर्थः । ❀ग्रहेः लुङ् । "हृग्रहोर्भः०" ❀ । अतो बृहस्पतिपरिग्रहात् हे इन्द्र सुन्वते सोमम् अभिषुण्वते यजमानाय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । यजमानं धनादिना पोषयितुं नः मयोक्तृणाम् अस्माकं गीर्भिः स्तुतिभिः आ विश । स्तूयमान आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आपको बड़े २ देवताओंका हिताचरण कर उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवने सोमपात्रके द्वारा ग्रहण कर लिया है अर्थात् आप अन्यत्र न जा सकें इस प्रकार आपको स्वाधीन कर लिया है । अतः बृहस्पतिके पकड़ने से हे इन्द्र ! आप सोमका अभिषव करने वाले यजमानको धन आदिसे पुष्ट करनेके लिये हमारी स्तुतियोंसे प्रवेश करिये अर्थात् स्तुति पाते हुए आइये ॥ ३ ॥

अष्टमी ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् ।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम्

इन्द्रस्य । कुक्षिः । असि । सोमऽधानः । आत्मा । देवानाम् ।
उत । मानुषाणाम् ।

इह । प्रऽजाः । जनय । याः । ते । आसु । याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

अत्र अतिसृज्यमानो वृषभः पूतभृत्पात्रं वा संबोध्यते । हे वृषभ पूतभृत्कलश वा त्वं सोमधानः । सोमो धीयते निधीयतेऽत्रेति सोमधानः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । सोमाधारभूतः इन्द्रस्य कुक्षिः जठरम् असि । तथा । उतशब्दः चार्थे । देवानां मानुषाणां च आत्मा शरीरम् असि । किं च इह लोके प्रजाः पुत्रादिका जनय उत्पादय । आसु पुरोवर्तिनीषु गोषु यजमानादिरूपासु वा विद्यु ते त्वदर्थं या विद्यन्ते अन्यत्र अन्यस्मिन् देशे या गावो यजमानादिरूपा वा प्रजा विद्यन्ते ताः प्रजा इह अस्मिन् लोके ते त्वदर्थं रमन्ताम् सुखेन विहरन्तु । यद्वा इह आसु गोषु प्रजासु वा प्रजाः जनय यास्त्वदर्थम् आसु बभूवुः । तथा अन्यत्र च या भवन्ति ता इह अस्मिन् प्रदेशे त्वदर्थं रमन्ताम् । ❀आसु । "ऊडिदम्०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा । अस्तेर्लेटि प्रथमपुरुषबहुवचने उसि अन्त्यलोपश्छान्दसः । भूभावो व्यत्ययेन न प्रवर्तते । यद्वृत्तयोगात् अनिघाते प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । अस गतिदीप्त्यादानेषु । अस्माद् वा लिट् । सुबन्तपक्षे तिङन्तपक्षे च स्वरः समानः ❀ ॥

(यहाँ उत्सृज्यमान वृषभ वा पूतभृत् पात्रको सम्बोधित किया गया है, कि—) हे वृषभ ! वा पूतभृत् कलश ! आप सोमको धारण करने वाले हैं, मनुष्योंके और देवताओंके आत्मा हैं, इस लोकमें आप प्रजाओंको उत्पन्न करिये, जो इन सामने खड़ी हुई गौओंमें वा यजमानादिरूप प्रजाओंमें प्रजाएँ हैं वा अन्यत्र हैं वे आपके लिये सुखसे विहार करें ॥ १ ॥

नवमी ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्तिऽसुम्ने ।
महिव्रते इति महिऽव्रते ।
आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः १

शुम्भनी शुम्भन्यौ । ❀ शुभ शुम्भ शोभार्थे । अस्मात् ल्युट् ❀ । सर्वस्य शोभाकारिण्यौ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये विश्वस्यावस्थानात् । अन्तःस्वप्ने । स्वपन्तीति स्वप्नाः अज्ञानावृता जनाः । ❀ "स्वपो नन्" इति नन् प्रत्ययः कर्तरि व्यत्ययेन भवति ❀ । स्वप्नाः अचेतनाश्चेतनाश्च ययोरन्तः मध्ये वर्तन्ते तादृश्यौ महिव्रते महद् व्रतं कर्म ययोस्ते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । वर्तेते इति शेषः । तथा सप्त सर्पणस्वभावाः सप्तसंख्याका वा देवीः देव्यः द्योतमाना आपः सुस्रुवुः स्रवन्ति । ❀ स्रु गतौ ❀ । ताः द्यावापृथिव्यौ आपश्च अंहसः पापाद् नः अस्मान् मुञ्चन्तु मोचयन्तु पृथक् कुर्वन्तु ॥

द्यावापृथिवी परमशोभायुक्त हैं, उनके मध्यमें चेतन और अचेतन अज्ञानावृत व्यक्ति रहते हैं, इनका कर्म विशाल है, और दमकते हुए सात जल भी सरकते रहते हैं । ये द्यावापृथिवी और जल हमको पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

दशमी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या॑दुत ।
अथो यमस्य पड्वींशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् २

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।

अथो इति यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देवऽकिल्बिषात् २

"मुञ्चन्तु मा शपथ्यात्" इत्येषा पूर्वमेव व्याख्याता [६. ९६. २]

[इति] दशमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जल मुझको शपथजनित ब्राह्मणके आक्रोशरूप पापसे अलग रक्खें, और झूठ बोलनेसे भोगने पड़ने वाले वरुणके अधिकार के पापसे भी मुझको अलग करें और यमराजके अधिकारके पादबन्धनसे भी मुझको मुक्त रक्खें और क्या सब ही देवसंबन्धी पापोंसे मुझको मुक्त रक्खें ॥

दशम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४३२) ॥

स्त्रीपुरुषयोः परस्परविद्वेषणार्थं बाणापर्ण्याख्यौषधिचूर्णं लोहितायाजायाः क्षीरद्रप्सेन संमिश्र्य "तृष्टिके" इति मृचेन अभिमन्त्र्य शय्यायां परिकिरेत् ॥

तथा दौर्भाग्यकरणार्थम् "आ ते ददे" इत्यनया मन्त्रोक्तान् अवयवान् स्पृशन् अभिमन्त्रयेत विद्वेषिणीं दृष्ट्वा जपेद् वा ॥

सूत्रितं हि । "तृष्टिके [७. ११८] इति बाणापर्णीम् । आ ते ददे [७. ११९] इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह" इति [कौ० ४. १२] ॥

रक्षोग्रहादिभैषज्यार्थं "प्रेतो यन्तु" इत्यनया आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तद्रव्याणां त्रयोदशानाम् अन्यतमं जुहुयात् । "मामये [६. ३४] प्रेतः [७. ११९. २] इत्युपदधीत" इति हि [कौ० ४. ७] सूत्रम् ॥

नैर्ऋतकर्मसु चतुर्थे कर्मणि काकस्य जङ्घायां सपुरोडाशं लोहकण्टकं बद्ध्वा "प्र पततः" इत्यनया तं काकं विसृजेत् ॥

पञ्चमे नैर्ऋतकर्मणि सूत्रोक्तलक्षणैर्वस्त्रैः परिधानाच्छादनशिरो-

वेष्टनानि कर्तां कृत्वा "या मा लक्ष्मीः" इत्यनया लोहितखण्ड-सहितम् उष्णीषम् उदके प्रक्षिपेत् ॥

"एकशतं लक्ष्म्यः" इत्यनया आच्छादनवस्त्रं लोहखण्डेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

"एता एनाः" इत्यृचा परिधानीयं लोहेन सह अप्सु प्रक्षिपेत् ॥

तदु उक्तं संहिताविधौ । "कृष्णचैलपरिहितः । निर्ऋति-कर्माणि प्रयुङ्क्ते" इति प्रक्रम्य "कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायाम् अङ्कम् अनुग्रथ्य अङ्के पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति । नीलं संधाय लोहितम् आच्छाद्य शुक्लं परिणह्य द्वितीययोष्णीषम् अङ्के-नोपसाद्य सव्येन सहाङ्केन अवाङ् अप्सु प्रविध्यति । तृतीययाच्छन्नं चतुर्थ्या संवीतम्" इति [कौ० ३. १] ॥

काम्यकर्मसु विघ्नरूपदुःस्वप्नदर्शनदोषपरिहारार्थं "प्र पतेतः पापि लक्ष्मि" इति चतसृभिर्दुःस्वप्नदर्शनम् अभिषिञ्चेत् । "चत्वारः खलु विनायका भवन्ति" इति [शा० क० ४] प्रक्रम्य शान्ति-कल्पेऽभिहितम् । "ताभिष्ट्वाम् अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा । प्र पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः" इति [शा० क० ६. १६] ॥

सर्वज्वरभैषज्यार्थं सूत्रोक्तप्रकारेण मण्डूकं बद्ध्वा खट्वाया अधः संस्थाप्य तस्या उपरि स्थितं व्याधितं "नमो रूराय" इति सूक्ताभिमन्त्रितोदकेन अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । "नमो रूरायेति शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सक्तं बद्ध्वा" इति [कौ० ४. ८] ॥

स्वस्त्ययनकामः "आ मन्द्रैः" इति सूक्तेन इन्द्रस्य यागम् उप-स्थानं वा कुर्यात् । "स्तुष्व सु [७. ६०] त्रातारम् [७. ६१] आ मन्द्रैः [७. १२२] इति स्वस्त्ययनकामः" इति हि [कौ० ७. १०] सूत्रम् ॥

शवसंस्कारानन्तरं कर्ता प्रतिदिनं स्वस्त्ययनार्थम् "आ मन्द्रैः" इति जपेत् ॥

तथा अग्निष्टोमे हारियोजनग्रहहोमानुमन्त्रणम् "आ मन्द्रैः" इति कुर्यात् । "हारियोजनहोमम् आ मन्द्रैः" इति वैतानसूत्रात् [वै० ३. १३] ॥

परसेनात्रासनार्थं "मर्माणि ते" इत्यनया कवचम् अभिमन्त्र्य धारणार्थं राज्ञे दद्यात् । "मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति" इति हि [कौ० २. ७] सूत्रम् ॥

महाव्रते दुन्दुभ्याहननानन्तरं "मर्माणि ते" इति राजानं संनाहयेत् । उक्तं वैताने । "तीर्थदेशे राजानम् अन्यं वा मर्माणि त इति संनद्धम्" इति [वै० ६. ४] ॥

स्त्री पुरुषमें परस्पर विद्वेष करानेके लिये बाणापर्णी नामक औषधके चूर्णको लाल बकरीके पतले दहीमें मिलाकर "तुष्टिके" सूक्तसे अभिमन्त्रित करके शय्यामें बखेर देय ।

तथा दौर्भाग्यकरणके लिये "आ ते ददे" ऋचासे मन्त्रमें कहे हुए अवयवोंका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे वा विद्वेषीको देख कर जप करे ।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"तुष्टिके (७।११८) इति बाणापर्णीम् । आ ते ददे (७ । ११९) इति मन्त्रोक्तानि संस्पृशति । अपि चान्वाह" (कौशिकसूत्र ४ । १२) ॥

राक्षस ग्रह आदिकी चिकित्साके लिये 'प्रेतो यन्तु' ऋचासे घृत समिधा पुरोडाश आदि तेरह द्रव्योंमेंसे एक द्रव्यकी आहुति देय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ७ का प्रमाण भी है, कि–"प्राग्नये (६ । ३४] प्रेतः (७ । ११९ । २) इत्युपदधीत" ॥

नैर्ऋतकर्मके चतुर्थ कर्ममें काककी जङ्घामें पुरोडाशसहित लोहकण्टकको बाँध कर "प्र पतेतः" ऋचासे कौएको छोड देय ।

पञ्चम नैर्ऋतकर्ममें सूत्रमें कहे हुए वस्त्रोंसे कर्ता परिधान (बिछौना) आच्छादन (ओढ़ना , शिरोवेष्टन (पगड़ी) करके 'या मा लक्ष्मीः' ऋचासे लोहखण्डसहित पगड़ीको जलमें फेंकदेय।

"एकशतं लक्ष्म्यः" ऋचासे आच्छादनवस्त्रको लोहखण्डके साथ जलमें फेंक देय।

"एता एनाः" ऋचासे परिधानीयवस्त्रको लोहेके साथ जलमें फेंक देय।

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-"कृष्णचैलपरिहितः। निर्ऋतिकर्माणि प्रयुङ्क्ते" इति प्रक्रम्य 'कृष्णशकुनेः सव्यजङ्घायां अङ्कम् अनुग्रथ्य अंके पुरोडाशं प्र पतेत इत्यनावृतं प्रपातयति। नीलं सन्धाय लोहितं आच्छाद्य शुक्लं परिणह्य द्वितीययोष्णीषं अंकेनोपसाद्य सव्येन सहांकेन अवाक् अप्सु प्रविध्यति। तृतीययाच्छनम् चतुर्थ्या सम्वीतम्" (कौशिकसूत्र ३।१)॥

काम्यकर्मोंमें विघ्नरूप दुःस्वप्नके दर्शनकी दोषकी शान्तिके लिये 'प्र पतेतः पापि लक्ष्मि' इन चार ऋचाओंसे दुःस्वप्नदर्शन का अभिषेक करे। शान्तिकल्प ४ में 'चत्वारः खलु विनायका भवन्ति।—चार विनायक हैं' का आरम्भ करके शान्तिकल्प ६।१६ में कहा है, कि-'ताभिष्ट्वा अभिषिञ्चामि पावमानीः पुनन्तु त्वा। प्र पतेतः पापि लक्ष्मीति चतस्रः'॥

सर्वज्वरकी चिकित्साके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे मेंडक को बाँध कर खट्वाके नीचे स्थापित करे फिर उस खट्वाके ऊपर स्थित रोगीको 'नमो रूराय' इस ऋचसे अभिमन्त्रित जल से अवसिञ्चित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'नमो रूरायेति शयने निवेश्य इषीकाचितं मण्डूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकक्षं बद्ध्वा नमो रूरायसे खाटमें बैठा कर सींकों से घिरे हुए मण्डूकको नीले और लाल डोरोंसे बगलमें बाँध कर" (कौशिकसूत्र ४।८)॥

स्वस्त्ययनको चाहने वाला 'आ मन्द्रैः' ऋच से इन्द्रका याग वा उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७। १० का प्रमाण है, कि–'त्यमूषु (७ । ९०) त्रातारम् (७ । ९१) आ मन्द्रैः (७ । १२२) इति स्वस्त्ययनकामः' ॥

शवसंस्कारके अनन्तर कर्ता प्रतिदिन स्वस्त्ययनके लिये 'आ मन्द्रैः' को जपे।

तथा अग्निष्टोममें 'आ मन्द्रैः' से हारियोजनग्रहहोमका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १३ का प्रमाण है, कि–'हारियोजनहोमं आ मन्द्रैः' ॥

शत्रु की सेनाको डरानेके लिये 'मर्माणि ते' ऋचासे कवचको अभिमन्त्रित करके धारण करनेके लिये राजाको देवे। इस विषय में कौशिकसूत्र २। ७ का प्रमाण भी है, कि–'मर्माणि त इति क्षत्रियं संनाहयति' ॥

महाव्रतमें दुन्दुभिको ताडित करनेके अनन्तर 'मर्माणि ते' से राजाको कवच पहिरावे।

इसी बातको वैतानसूत्र ६। ४ में कहा है, कि "तीर्थदेशे राजानं अन्यं वा मर्माणि त इति सन्नद्धम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके। तृष्टऽवन्दने। उत्। अमूम्। छिन्धि। तृष्टिके।
यथा। कृतऽद्विष्टा। असः। अमुष्मै। शेप्याऽवते ॥ १ ॥

हे तृष्टिके। कुत्सिता तृष्टा तृष्टिका। ✻ "कुत्सिते" इति कप्रत्ययः। ञितृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः ✻। अति-

पिपासया अन्तः शरीरे दाहो जन्यते । अत्र जन्ये जनकशब्दः । अतः तृष्टशब्दस्य दाहजनकत्वमात्रमेव अत्रार्थो विवक्षितः । हे कुत्सिते दाहजनिके हे वाणापर्ण्याख्यौषधे हे तृष्टवन्दने । वन्दना नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि प्ररूढास्तदीयशाखाम् आवेष्टमाना विभिन्नपर्णलताविशेषाः । तृष्टाः दाहजनिका वन्दना लताविशेषा यस्याः सा ओषधिः स्वयमपि दाहजनिका दाहकलतोपेता च । एतादृशि अतिरूक्षे ओषधे त्वम् अमूं स्त्रियम् उच्छिन्धि उद्धृत्य विभिन्नां कुरु । भोक्तुः पुरुषाद् बलात्कारेण पृथक्कुर्वित्यर्थः । उच्छेदनप्रकारमेवाह । हे तृष्टिके कोपजनिके हे ओषधे शेप्यावते । शेप इति पुंस्प्रजननस्य नाम । तत्र भवं शेप्यं वीर्यं तद्वते प्रजननसामर्थ्यवते संभोगक्षमाय अमुष्मै पुरुषाय यथा कृतद्विष्टा कृतं संपादितं द्विष्टं द्वेषणं क्रोधो यया द्वेषकारिणी यथा येन प्रकारेण असः भवेः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । योषिदोषध्योः अभेदविवक्षया भवेरिति मध्यमपुरुषप्रयोगः । यद्वा । ❀ अस इति । तिपः स्थाने व्यत्ययेन सिप् ❀ । यथा असौ योषित् पुरुषाय द्विष्टा भवेत् तथा अमूम् उच्छिन्धीति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली हे तृषाको उत्पन्न करनेकी लता वाली ! तू इस स्त्रीको भोक्ता पुरुषके पाससे बलात्कारपूर्वक पृथक् कर । हे कोपजनिके औषधे ! इस प्रजननसामर्थ्य वाले संभोगक्षमपुरुषके लिये यह जिस प्रकार द्वेष उत्पन्न करने वालीहो तिस प्रकार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्य॑सि ।

परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ।

परिऽवृक्ता । यथा । असति । ऋषभस्य । वशाऽइव ॥ २ ॥

हे ओषधे तृष्टिका कुत्सिता दाहजनिका त्वं तृष्टा दाहजनकस्वभावा असि भवसि । तृतीयपादगतो यथाशब्दः अत्रापि अनुषज्यते । यथा तृष्टासि । यथा च विषा विषस्वरूपा त्वं विषातकी । ॐ तकि कृच्छ्रजीवने ॐ । विषम् आतङ्कयति संयोजयतीति विषातकी । विषस्य संयोजयित्री असि । यथा च परिवृक्ता सर्वैः परिवर्जिता असति भवसि । स्प्रष्टुम् अयोग्यासि । चरमः पादो दृष्टान्तः । ऋषभस्य पुंगवस्य वशेव यथा वशा वन्ध्या गौः पुंगवस्य परिवर्जनीया भवति एवम् इयं योषिदपि भोगयोग्या च न भवेत् ॥ यद्वा एकं विशेषणम् ओषधिपरतया द्वितीयं योषित्परतया व्याख्येयम् । यथा ओषधे त्वं तृष्टासि एवम् इयं योषित् तृष्टिका पुरुषस्य क्रोधरूपदाहजनिका भवेत् । यथा च ओषधे त्वं विषातक्यसि एवम् इयं योषित् विषा पुरुषस्य विषरूपिणी स्यात् । यथा विषम् अभोज्यम् एवम् इयम् इति विषेत्युक्तम् । यथा च ओषधे त्वं परिवृक्ता सर्वैः प्राणिभिः परिवर्जिता असति भवसि एवम् इयं योषित् स्वपुरुषस्य परिवृक्ता संभोगेन त्यक्ता भवेत् । तत्र दृष्टान्तः । ऋषभस्य वशेवेति । यथा पुंगवस्य वन्ध्या गौर्भोग्या न भवति एवम् इयं पुरुषस्य भोग्या न स्याद् इति ॥

हे कुत्सित दाहको उत्पन्न करने वाली तृष्टिका ओषधे ! तू दाहजनक स्वभाव वाली है विषस्वरूप है, इस कारण तू वंध्या गौ जिस प्रकार वृषभसे परित्यक्त रहती है, तिस प्रकार तू सबसे परित्यक्त रहती है । (दूसरा अर्थ) हे ओषधे ! जैसे तू तृष्टिका (दाहजनिका) है इसी प्रकार यह स्त्री पुरुषके क्रोधरूप दाहको उत्पन्न करने वाली हो हे ओषधे ! जैसे तू विषातकी है इसी प्रकार यह पुरुषके लिये विषकी समान लगे अर्थात् जिस प्रकार विष अभोज्य होता है ऐसे ही यह अभोग्या होजाय । हे ओषधे !

जैसे सब प्राणी तुझको छोड़ देते हैं, तिसी प्रकार पुरुष इस स्त्री को त्याग देय। उसमें दृष्टान्त यह है, कि-जैसे साँडके लिये वंध्या गौ भोग्या नहीं होती है, इसी प्रकार यह पुरुषके भोगके योग्य न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥ १ ॥

आ। ते॒। द॒दे॒। व॒क्षणा॑भ्यः। आ। ते॒। अ॒हम्। हृद॑यात्। द॒दे॒।
आ। ते॒। मुख॑स्य। सम्ऽका॑शात्। सर्व॑म्। ते॒। वर्चः॑। आ। द॒दे॒ १

हे नारि ते तव वक्षणाभ्यः। ऊरुसंधिर्वङ्क्षण इत्युच्यते। तेन स्त्रीप्रजननं लक्ष्यते। स्त्रीलिङ्गत्वं योनिशब्दापेक्षया बहुवचनं तु अवयवबहुत्वापेक्षया। यद्वा। ❀ वक्ष रोषे इति धातुः। रुध्यते पुरुषो यैरिति। वक्षणाः। ल्युप्रत्ययेन टाप् ❀। कटिविकट्यूरुपादेभ्य इत्यर्थः। तेभ्योऽङ्गेभ्यः वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे स्वीकरोमि। अपहरामीत्यर्थः। तथा हे नारि ते तव हृदयात् समीचीनपदार्थध्यायिनो धीरान्मनसः सकाशाद् वर्चः साधुपुरुषध्यानरूपं तेजः अहम् आ ददे। नारीविषयदौर्भाग्यकामोहम् अपहरामीत्यर्थः। तथा ते तव मुखस्य चिरवाह्लादकस्य वदनस्य संकाशाद् वर्चः विश्वसंमोहनरूपं तेजः। आ इति उपसर्गश्रुतेर्ददे इत्यपङ्क्तः। किं बहुना ते तव सर्वम् सर्वावयववर्ति वर्चः सौभाग्यलक्षणं तेजः आ ददे अपहरामि। ❀ "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥ अयं मन्त्रः प्रकरणात् स्त्रीविषयदौर्भाग्यकरणे विनियुज्यते ॥

हे नारि! जिनसे पुरुष रुँधता है मोहको उत्पन्न होता है उन

तेरे ऊरु कटि विकटि पैर आदि अङ्गोंसे मैं सौभाग्यरूप तेजको ग्रहण करता हूँ। और हे नारि! तेरे समीचीनपदार्थका ध्यान करने वाले धीर मनसे साधु पुरुषका ध्यान करने योग्य तेजको नारीविषयकदौर्भाग्यको चाहने वाला मैं अपहरण करता हूँ। और तेरे मुख से सबको आल्हादित करने वाले तेजका मैं अपहरण करता हूँ, अधिक क्या मैं तेरे सब अवयवोंमें विद्यमान सौभाग्यरूप तेजको दूर करता हूँ (इस मन्त्रका प्रकरणवश स्त्रीविषयकदौर्भाग्यकरण में विनियोग होता है) ॥ १ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । विऽआध्यः । प्र । अनुऽध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ।
अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥ २ ॥

व्याध्यः आधयो मानस्यः पीडाः । विविधा मनोनिष्ठाः पीडा व्याधयः रोगा वा । इतः अस्मात् रक्षोग्रहादिगृहीतात् पुरुषात् प्र यन्तु प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् दधाते किः । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति "जसि च" इति विहितस्य गुणस्याभावे यण् आदेशः ❀। यद्वा विविधानि आध्यानानि दुश्चिन्तनानि प्रगच्छन्तु । ❀ व्याङ्पूर्वाद् ध्यायतेः "अन्येभ्योपि दृश्यते" इति क्विपि संप्रसारणे च यण् आदेशः ❀ । तथा अनुध्याः अनुध्यानानि रक्षोग्रहादिविषयाणि अनुगतानि संततानि स्मरणानि प्र । यन्तु इति अनुषङ्गः । तथा अशस्तयः अस्तुतयः परकृता निन्दाः हिंसा वा प्रो प्रैव यन्तु । किं च अग्निर्देवः रक्षस्विनीः रक्षो राक्षसः तद्वतीः तत्सहिताः पिशाचीः हन्तु विनाशयतु । सोमश्च दुरस्यतीः दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः

इन्तु । ❀ "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति दुष्टशब्दस्य क्यचि दुरस्भावो निपात्यते । तदन्ताद् शतृप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् ❀ ॥

तुम्हारी विविध प्रकारकी मानसी पीड़ायें वा व्याधियें दूर होजावें । और राक्षस आदिके सब समय सदा रहनेवाले स्मरण दूर होजावें । और परकृतनिन्दायें दूर होजावें । अग्निदेवता राक्षसियों सहित पिशाचियोंको नष्ट कर डालें । और सोमदेव भी दूसरोंका बुरा चाहने वाली पिशाचियोंको नष्ट कर डालें २

पञ्चमी ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा संजामसि ॥ १ ॥

प्र । पत । इतः । पापि । लक्ष्मि । नश्य । इतः । प्र । अमुतः । पत । अयस्मयेन । अङ्केन । द्विषते । त्वा । आ । सजामसि ॥ १ ॥

हे पापि पापरूपिणि लक्ष्मि । अलक्ष्मीत्यर्थः । ❀ "केवलमामक०" इत्यादिना पापशब्दात् ङीप् । पापि लक्ष्मि इत्युभयत्र "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इतः अस्मात् प्रदेशात् प्र पत प्रगच्छ । तथा इतः अस्मिन् प्रदेशे । ❀ सप्तम्यर्थे तसिः ❀ । नश्य अदृष्टा विनष्टा भव । ❀ णश अदर्शने । दैवादिकः ❀ । किं च अमुतः । अदःशब्दो विप्रकृष्टवाची । अतिदूरात् देशादपि प्र पत प्रगच्छ । अपि च हे अलक्ष्मि अतिदूराद् देशादपि प्रगच्छन्तीं त्वा त्वाम् अयस्मयेन अयोमयेन अंकेन कण्टकेन सह द्विषते शत्रवे सचामसि संबध्नीमः । ❀ षच समवाये अयस्मयेनेति । "अयस्मयादीनि च्छन्दसि" इति निपातनाद् भसंज्ञायां पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ ॥

हे पापरूपिणि लक्ष्मि अर्थात् अलक्ष्मि ! इस प्रदेशसे जा तथा इस प्रदेशमें नष्ट हो जा और दूरसे भी दूर देशमें चली जा। हे अलक्ष्मि ! अति दूर देशको भी जाती हुई तुझको हम लोहे के काँटेके साथ शत्रुसे संयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

षष्ठी ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥ २ ॥

या । मा । लक्ष्मीः । पतयालूः । अजुष्टा । अभिऽचस्कन्द । वन्दनाऽइव । वृक्षम् ।
अन्यत्र । अस्मत् । सवितः । ताम् । इतः । धाः । हिरण्यऽहस्तः । वसु । नः । रराणः ॥ २ ॥

पतयालूः पातयित्री दौर्गत्यकारिणी । ❀ पत गत्याम् इति चुरादौ अदन्तः पठ्यते । तस्माद् आलुच् प्रत्ययः ❀ । अजुष्टा अप्रिया निन्द्या या लक्ष्मीः मा माम् अभिचस्कन्द अभितो व्याप्ता वर्तते । तत्र दृष्टान्तः वन्दनेव वृक्षम् इति । वन्दना लताविशेष इति "तृष्टिके तृष्टवन्दने" इत्यत्र [११८] उक्तम् । सा यथा वृक्षम् अभित आवेष्ट्य वर्तते । ❀ स्कन्दिर्गतिशोषणयोः ❀। अलक्ष्मीः मा मां शोषयामास-वा । यथा वृक्षं वन्दना शोषयति। प्ररूढवन्दनस्तरुः शुष्यतीति प्रसिद्धम् । हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव ताम् अलक्ष्मीम् अस्मत् अस्मत्तः इतः अस्माद् अन्यत्र प्रदेशे धाः धेहि स्थापय । ❀ दधातेर्लेटि "इतश्च लोपः०" इति सिप इकार-

लोपः ॥ किं कुर्वन् । हिरण्यहस्तः सुवर्णयुक्तपाणिः हिरण्मय-
पाणिर्वा नः अस्माकं वसु धनं रराणः प्रयच्छन् । ॥ रा दाने ।
लिटः कानच् ॥ । "हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उप ह्वये"
[ऋ० १. २२. ५] इत्यादौ सवितुर्हिरण्यहस्तत्वम् आम्नायते ॥

दुर्गति देने वाली अप्रिय जो लक्ष्मी मेरे चारों ओर वृक्षको सुखाने वाली वन्दनाकी समान व्याप्त है, अर्थात् मुझको सुखा रही है, (यह प्रसिद्ध ही है, कि-जिसके ऊपर वन्दना चढ़ जाती है वह वृक्ष सूख जाता है) हे सूर्यदेव ! आप सुवर्णको हाथमें ले ‡ हमको सुवर्ण देते हुए उस अलक्ष्मीको इस हमारे स्थानसे दूसरे स्थानमें भेज दीजिये ॥ २ ॥

सप्तमी ॥

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोधि जाताः
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं
जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एकऽशतम् । लक्ष्म्यः । मर्त्यस्य । साकम् । तन्वा । जनुषः ।
अधि । जाताः ।
तासाम् । पापिष्ठाः । निः । इतः । प्र । हिण्मः । शिवाः ।
अस्मभ्यम् । जातऽवेदः । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

एकशतम् एकाधिकशतसंख्याका लक्ष्म्यः मर्त्यस्य मरणधर्मणः

‡ ऋग्वेदसंहिता १ । २२ । ५ में कहा है, कि-"हिरण्यपाणिम् ऊतये सवितारम् उपह्वये ।-मैं सुवर्णपाणि सूर्यदेवका रक्षाके लिये आह्वान करता हूं ॥ २ ॥

मनुष्यस्य तन्वा शरीरेण साकम् सह जनुषः। ❀ ऋषिः पश्र्व्यर्थानुवादी ❀। जन्मनः उत्पत्तिप्रभृति जाताः उत्पन्नाः। मनुष्यस्य शरीरोत्पत्तिसमकाल एव एकशतं लक्ष्म्य उत्पन्नाः। तासां लक्ष्मीणां मध्ये पापिष्ठाः अतिशयेन पापीः अलक्ष्मीः इतः अस्मात् प्रदेशाद् निः निःशेषं प्र हिण्मः प्रेषयामः अपसारयामः। ❀ हि गतौ वृद्धौ च। स्वादित्वात् श्नुः। "हिनु मीना" इति णत्वम्। "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उकारलोपः ❀। हे जातवेदः जातानां वेदितः अग्ने तासां मध्ये याः शिवाः मङ्गलकारिण्यो लक्ष्म्यः ताः अस्मभ्यं नि यच्छ नियमय। स्थापयेत्यर्थः। ❀ यमेः "इषुगमियमां छः" इति छा देशः ❀। यद्वा नि यच्छ नितरां प्रयच्छ। ❀ दाण् दाने। "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀॥

एकसौ एक लक्ष्मियें मनुष्यके जन्मके साथ उत्पन्न हुई हैं, उन मेंसे परम पापभरी (अलक्ष्मियों) को हम यहाँसे पूर्णरूपसे विदा करते हैं। हे जातवेदा अग्ने! इनमें जो कल्याणकारिणी लक्ष्मियें हैं उनमें हमको नियमपूर्वक स्थापित करिये॥ ३॥

अष्टमी॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥४॥

एताः। एनाः। वि॒ऽआकरम्। खिले। गाः। विस्थिताःऽइव।
रमन्ताम्। पुण्याः। लक्ष्मीः। याः। पापीः। ताः। अनीनशम्॥ ४

एताः निर्दिष्टा एनाः एकशतं लक्ष्म्य इत्यन्वादिष्टा लक्ष्मीः व्याकरम् विविच्य आकरोमि द्विधा करोमि। ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ्। "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀।

तत्र दृष्टान्तः। यथा खिले व्रजे विष्ठिताः विशेषेण संभूय स्थिता एकत्र प्रदेशेऽवस्थिता गा यथा विविञ्चन्ति गोपालास्तत्तत्कार्यकरणाय॥ तत्र पुण्याः कल्याण्यो लक्ष्मी लक्ष्म्यः रमन्ताम् मयि सुखेन निवसन्तु। याः पापीः पापकारिण्यो दुर्लक्ष्म्यः ताः सर्वा अनीनशन्। नश्यन्तु इत्यर्थः। ❀ स्वार्थिको णिच् ❀। नाशयन्तु वा देवाः॥

मैं इन एक सौ एक लक्ष्मियोंको विचार कर दो भागोंमें इस प्रकार विभक्त करता हूँ, (जिस प्रकार) गोठमें वर्तमान गोपाल गौओंको विभक्त कर लेते हैं। इन लक्ष्मियोंमेंसे कल्याणमयी लक्ष्मियें मुझमें रमण करें और पापकारिणी सब लक्ष्मियें–दुर्लक्ष्मियें नष्ट होजावें॥ ४॥

नवमी॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे।

नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने॥ १॥

नमः। रूराय। च्यवनाय। नोदनाय। धृष्णवे।

नमः। शीताय। पूर्वकामऽकृत्वने॥ १॥

च्यवनाय। ❀ च्युङ् प्लुङ् गतौ। "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀। च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे नोदनाय। ❀ नुद प्रेरणे ❀। इतस्ततः प्रेरकाय विक्षेपयित्रे धृष्णवे। ❀ धृष प्रसहने इति चुरादौ पठ्यते। "आधृषाद् वा" इति विकल्पितो णिच्। "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुः ❀। प्रसहनकारिणे रूराय उष्णज्वराय ज्वराभिमानिने देवाय नमः नमस्कारोस्तु। तथा पूर्वकामकृत्वने पूर्वेषाम् अभिलाषाणां कर्तित्रे छेत्रे शीताय ज्वराय शीतज्वराभिमानिने नमः नमस्कारोस्तु। शीतज्वरो हि इदं

करोमि इदं करोमीति पूर्वं काम्यमानम् अभिलाषं निकृन्तति चिरकालं बाधाकारित्वात् । ❀ कृती छेदने । "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । "नेड्वशि कृति" इति इण्निषेधः ❀ ॥

शरीरमेंसे पसीना बहाने वाले, शरीरको इधर उधर फिकवाने वाले, धर्षक उष्णज्वर (के अभिमानी) रूरके लिये नमस्कार हो, तथा पहिली अभिलाषाओंको छिन्न भिन्न करनेवाले शीतज्वरके अभिमानी शीतके लिये नमस्कार हो अर्थात् शीतज्वर ही यह करूँगा वह करूँगा आदि अभिलाषाओंको चिरकाल तक रहनेके कारण नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

दशमी ॥

यो अ॑न्ये॒द्युरु॑भये॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥२॥

यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒ये॒ऽद्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । इ॒मम् । म॒ण्डूक॑म् । अ॒भि । ए॒तु॒ । अ॒व्र॒तः ॥ २ ॥

यो ज्वरः अन्येद्युः अन्यस्मिन् दिवसे इमं पुरुषम् अभ्येति अभिगच्छति । यश्च उभयेद्युः उभयोर्दिवसयोः । अतीतयोरिति शेषः । अभ्येति । चातुर्थिकज्वर इत्यर्थः । इदम् अनियतकालागामिनो ज्वरस्य उपलक्षणम् । ❀ "सद्यः परुत् परार्यैषमः०" इति सूत्रे अन्येद्युरुभयेद्युरिति शब्दौ निपातितौ ❀ । अव्रतः । व्रतशब्दो नियमवाची । अनियतकालः स ज्वरः मण्डूकम् भेकम् अभ्येतु अभिगच्छतु ॥

जो ज्वर तीसरे दिन इस पुरुषको आजाता है अथवा चौथे दिन आजाता है, ऐसा अनियमित ज्वर मण्डूक पर उतर जावे २

एकादशी ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ।

मा त्वा के चिद् वि यमन् विं न पाशिनोति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

मा । मन्द्रैः । इन्द्र । हरिऽभिः । याहि । मयूररोमऽभिः ।

मा । त्वा । के । चित् । वि । यमन् । विम् । न । पाशिनः ।

अति । धन्वऽइव । तान् । इहि ॥ १ ॥

हे इन्द्र मन्द्रैः मदशीलैः स्तुत्यैर्वा मयूररोमभिः मयूररोमसदृशरोमयुक्तैः श्यामवर्णैः हरिभिः अश्वैः आ याहि आगच्छ । हे इन्द्र त्वा त्वां के चित् स्तोतारः मा वि यमन् स्तुतिभिर्मा विशेषेण नियच्छन्तु । मा निरौत्सुरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः विं न पाशिन इति । नशब्द उपमार्थे । यथा विम् पक्षिणं पाशिनः पाशवन्तो व्याधा पाशैर्बध्नन्ति तद्वत् । तान् अन्यान् स्तोतॄन् अति । ❀ अति क्रमणे अतिः कर्मप्रवचनीयः ❀ । अतीत्य इहि गच्छ अस्मान् । तत्र दृष्टान्तः धन्वेवेति । यथा धन्व निर्जलं मरुप्रदेशं पिपासिताः पान्थाः शीघ्रम् अतियन्ति तद्वत् । मद्व्यतिरिक्तान् अन्यान् स्तोतॄन् अतीत्य अस्मान् एव शीघ्रम् आगच्छेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! आप मदमाते और मयूरोंके रोमकी समान रोम वाले घोड़ोंके द्वारा यहाँ आइये । जैसे जल वाले बहेलिये पक्षीको बाँध लेते हैं, इस प्रकार आपको कोई और स्तोता रोक न सकें. जैसे प्यासा मनुष्य मरुदेशको शीघ्र ही लाँघ जाता है तिसी प्रकार आप उन अन्य स्तोताओंको लाँघकर शीघ्र हमारे पास ही आइये १

द्वादशी ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

मर्माणि । ते । वर्मणा । छादयामि । सोमः । त्वा । राजा । अमृतेन । अनु । वस्ताम् ।

उरोः । वरीयः । वरुणः । ते । कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु । देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

हे जयकाम राजन् ते त्वदीयानि मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा कवचेन छादयामि मयोक्ता अहं संवृणोमि । सोमो राजा त्वा त्वाम् अमृतेन अविनाशिना तेजसा वा अनु वस्ताम् मर्मच्छादनानन्तरम् आच्छादयतु । ❀ वस आच्छादने । आदादिकः । अनुदात्तेत् । लोटि "आम् एतः" इति आम् आदेशः ❀ ॥ तथा उरोः महोरपि वरीयः उरुतरं सुखं वरुणः शत्रुनिवारकः एतन्नामा देवः ते तुभ्यं कृणोतु करोतु । ❀ वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयसुन् । "प्रियस्थिर०" इत्यादिना वर् आदेशः ❀ ॥ तथा देवाः इन्द्राद्याः सर्वे जयन्तम् परसेनां त्रासयन्तं [त्वा] त्वाम् अनु मदन्तु अनुहृष्यन्तु । जहि भिन्धि इत्येवंविधैर्वाक्यैः प्रोत्साहयन्तु इत्यर्थः ॥

तृतीयं सूक्तम् ।

सप्तमकाण्डे दशमोऽनुवाकः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये सप्तमकाण्डः समाप्तः ॥

हे जयाभिलाषिन् राजन् ! प्रयोग करने वाला मैं आपके मर्म-स्थानोंको कवचसे ढकता हूँ, मर्माच्छादनके अनन्तर राजा सोम आपको अविनाशी तेजसे सम्पन्न करें । और वरुण देवता आपको बड़ेसे बड़ा सुख देवें । और शत्रुसेनाको जीतते हुए आपका इन्द्र आदि देवता अनुमोदन करें अर्थात् मार डालिये, काट डालिये आदि वाक्योंसे आपको उत्साहित करें ॥ १ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (४३८) ॥

दशम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका सप्तम काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ सप्तमः काण्डः समाप्तः ॥

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

अष्टमं काण्डम्

सायणभाष्य और भाष्यानुवादसहित

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ॥
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥

वागीश आदि देवता सब कार्योंका आरम्भ करते समय जिनको प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण वेदोंकी सृष्टि की है उन विद्यातीर्थ महेश्वर–शंकर–को मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

अष्टमकाण्डे पञ्चानुवाकाः । तत्र आद्येऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तेषु "अन्तकाय मृत्यवे" इत्यादिसूक्तद्वयम् अर्धसूक्तम् इत्युच्यते । अनेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । "उपनयनम्" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आरभस्व" [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामस्य "अन्तकाय" इति सूक्तद्वयेन शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "उप प्रियम् [७. ३३] अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व" [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा अस्य अर्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" [कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ "अन्तकाय" इत्यनेन जपं कुर्यात् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः । अन्तकाया रभस्वेति" इति [न०क०२३] ॥

आठवें काण्डमें पाँच अनुवाक हैं। पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। इसमें "अन्तकाय मृत्यवे" ये दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं। इस अर्थसूक्तसे उपनयनकर्ममें बालककी नाभिका स्पर्श कर आचार्य जप करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ में कहा है, कि–"उपनयनम्" का आरम्भ करके फिर कहा है, कि–'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२) इति" ॥

तथा "अन्तकाय" इन दोनों सूक्तोंसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका अभिमन्त्रण करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।६ का प्रमाण है, कि–"उप प्रियम् (७।३३) अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८।२)" ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात् ।–विश्वकर्मगणके आयुष्यगणके और स्वस्त्ययनगणके मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय।" इन का कौशिकसूत्र ७।६ आदिमें विनियोग करना चाहिये।

तथा तीस महाशान्तियोंकी प्रधानरूप महाशान्तिमें 'अन्तकाय' से जप करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"पुनस्तदेव जप्यं तु शन्तातीयं अथावतः। अन्तकाया रभस्वेति" (नक्षत्रकल्प २३)॥

तत्र प्रथमा॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥ १॥

अन्तकाय। मृत्यवे। नमः। प्राणाः। अपानाः। इह। ते। रमन्ताम्।
इह। अयम्। अस्तु। पुरुषः। सह। असुना। सूर्यस्य। भागे। अमृतस्य। लोके॥ १॥

आयुष्कामस्य आयुर्वृद्धिः मृत्योरधीनेति तन्नमस्कार आदौ क्रियते। अन्तकाय अन्तं करोतीत्यन्तकस्तस्मै सर्वप्राणिनाशकर्त्रे मृत्यवे प्राणिनियोजकाय एतन्नामकाय देवाय नमः नमस्कारः। अस्त्विति शेषः। हे आयुष्काम माणवकादे ते तव प्राणाः। प्राणन्तीति प्राणाः बहिर्मुखसंचारिणो वायवः। अपानाः। अप अनन्तीत्यपानाः अवाङ्मुखसंचारिणः। ते च अन्तकानुग्रहाद् इह अस्मिन् शरीरे रमन्ताम् क्रीडन्तु। प्राणापहर्तुर्मृत्योर्नमस्कारेण प्रीतत्वात् तद्विषयभीतिम् अपहाय सुखेन संचरन्तु इत्यर्थः। प्राणापानयोर्व्यापारवृत्तेर्बहुत्वाद् बहुवचनप्रयोगः। एवं प्राणापानयोरनपगमम् आशास्य इदानीं तत्सहितस्य पुरुषस्य अनपगतिम्

आशास्ते । अयं प्राणमच्युतिं शङ्कमानः पुरुषः असुना प्राणेन । वृत्तिबहुत्वानपेक्षयात् सामान्याभिप्रायेण एकवचनम् । तेन सह सर्वदा अविनाभूतः सन् इह भूलोक एवास्तु भवतु । इह अस्त्विति यद् उक्तं तद् विशिनष्टि । सूर्यस्य आदित्यस्य भागे प्रदेशविशेषे भूलोके । सूर्यव्याप्तेर्विषयभूतास्त्रयो भागाः द्यौरन्तरिक्षं भूश्च । तत्र अपेक्षितत्वाद् इह भागशब्देन भूलोकः परिगृह्यते । तम् एव विशिनष्टि । अमृतस्य लोके । अमृतशब्देनात्र पौत्रादिरूपेणाव-स्थानम् अभिधीयते मनुष्यैराशास्यमानत्वात् । श्रूयते हि । "प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इति [तै० आ० १.५.५.६]। तथाविधस्य अमृतस्य लोके । लोक्यत इति लोकः स्थानं भूलोक इत्युक्तं भवति ॥

(आयुष्कामकी आयुर्वृद्धि मृत्युके अधीन है अत एव पहिले उसको ही नमस्कार करते हैं, कि-) अन्त करने वाले अन्तक, सकल प्राणियोंका नाश करने वाले मृत्यु नामक देवताके लिये नमस्कार है । बहिर्मुखसञ्चारी प्राणन करने वाले प्राण, और अवाङ्मुखसञ्चारी अपान अंतकके अनुग्रहसे इस शरीरमें क्रीड़ा करें । तात्पर्य यह है, कि-प्राणका हरण करनेवाले मृत्युके नमस्कार के द्वारा प्रसन्न होने पर उसकी भीतिको छोड़ कर (अनेक प्रकारकी व्यापारवृत्ति वाले) प्राण और अपान सुखपूर्वक विच-रण करें । (इस प्रकार प्राण और अपानके अनपगमनकी प्रार्थना कर अब उनके साथ वर्तमान पुरुषके अनपगमनकी आशा करते हैं, कि-) यह प्राणोंके छूटनेकी शङ्का करता हुआ पुरुष प्राणसे रहता हुआ प्रजा आदिसे अमृतलोक इस सूर्यके भागरूप भू लोकमें रहे † ॥ १ ॥

† सूर्यव्याप्तिके द्यौ अन्तरिक्ष और भू ये तीन लोक हैं यहाँ अपेक्षित होनेसे भाग शब्दसे भूलोकका ही ग्रहण किया है और

द्वितीया ॥

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् ।

उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

उत् । एनम् । भगः । अग्रभीत् । उत् । एनम् । सोमः । अंशुऽमान् ।

उत् । एनम् । मरुतः । देवाः । उत् । इन्द्राग्नी इति । स्वस्तये ।२।

भगो नाम आदित्यमूर्तिविशेषः । "अंशश्च भगश्च" [तै० आ० १. १३. ३] इति अदितिपुत्राणां मध्ये श्रवणात् । सर्वप्राणिभिर्भजनीयो भगो देवः एनं मूर्च्छालक्षणे अन्धे तमसि प्रविशन्तं पुरुषम् उद् अग्रभीत् उद्धृतवान् । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ ॥ तथा अंशुमान् अमृतमयैरंशुभिस्तद्वान् सोमो देवः । एनम् उत् । अग्रभीत् इत्यनुषज्यते । एवं मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका देवा एनम् उत् । अग्रभीषुरिति वचनविपरिणामेन अनुषङ्गः कर्तव्यः । एवम् इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च उभावपि मुख्यौ देवौ उदग्रभीष्टाम् । अत्र द्विवचनविपरिणामः किमर्थम् उद्ग्रहणम् इति तत्राह । स्वस्तये । सु अस्तीति स्वस्तिः । क्षेमायेत्यर्थः ॥

भग (सूर्य) नामक सब प्राणियोंके भजने योग्य देवताने इस मूर्छारूप अन्धकारमें प्रवेश करते हुए पुरुषका उद्धार कर

पुत्र पौत्र आदिरूपमें वर्तमान रहनारूप अमृतत्वकी मनुष्य प्रार्थना करते हैं, अत-एव मर्त्यलोकको अमृतका लोक कहा है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ५ । ६ में कहा है, कि—प्रजाम् अनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम् ।—जो तू प्रजारूपमें उत्पन्न होता है, हे मर्त्य ! यही तेरा अमृतत्व है" ॥

लिया है तथा (अमृतमय) किरणों वाले चन्द्रदेवने भी इसका उद्धार कर लिया है, उड्श्वास मरुद्गणोंने भी इसका उद्धार कर लिया है तथा इन्द्र और अग्निदेवताने भी इसका उद्धार करनेके लिये इसको ग्रहण कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥

इह । ते । असुः । इह । प्राणः । इह । आयुः । इह । ते । मनः ।
उत् । त्वा । निःऽऋत्याः । पाशेभ्यः । दैव्या । वाचा । भरामसि ३

हे आयुरर्थयमान पुरुष ते असुः मुख्यः प्राणश्चक्षुरादिः इह शरीरे अस्तु । तथा ते प्राणः पञ्चवृत्त्यात्मको वायुरपि इह अस्तु । एवं ते आयुरपि इह अस्तु । तथा ते मनोपि इह अस्तु । एते सर्वेपि त्वां विहाय अन्यत्र मापसरन्तु । हे गतासो पुरुष त्वा त्वां निर्ऋत्याः एतन्नामिकायाः पापदेवतायाः पाशेभ्यः बन्धनरज्जुभ्यः सकाशाद् दैव्या देवसंबन्धिन्या वाचा मन्त्ररूपया उद्भरामसि ऊर्ध्वं भरामः हरामः नयामः ॥

हे आयुकी प्रार्थना करने वाले पुरुष ! तेरा मुख्य प्राण चक्षु आदि इस शरीरमें रहे, तथा पञ्चवृत्त्यात्मक प्राण भी इस शरीर में रहे, तेरी आयु भी इसी शरीरमें रहे और तेरा मन भी यहीं ही रहे । अर्थात् ये सब तुझको छोड़ कर अन्यत्र न जावें । हे गतासो पुरुष ! तुझ निर्ऋति नामक पापदेवताके पाशोंसे देवसम्बन्धी मन्त्ररूपा वाणीसे उद्धार करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत् क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।

मा च्छित्था अस्माल्लोकाद॒ग्नेः सूर्य॑स्य सं॒दृशः॑ ।४।

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः ।

पड्वीशम् । अवऽमुञ्चमानः ।

मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्ऽदृशः ।

हे पुरुष त्वम् अतः अस्माद् मृत्युपाशनिचयाद् उत्क्राम उत्क्रमणं कुरु । माव पत्थाः अवपतनं मा कार्षीः । ❀ पद गतौ इत्यस्मात् लुङि "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः । "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ । बद्धस्य कथम् उत्क्रमणं घटत इत्यत आह । मृत्योः हिंसकस्य देवस्य पड्वीशम् पादबन्धनपाशम् अवमुञ्चमानः विच्छिन्दन् अस्माद् भूलोकाद् मा च्छित्थाः छिन्नो मा भूः । ❀ छिदेर्लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ । किमर्थम् इति चेद् उच्यते । अग्नेः सूर्यस्य च संदृशः संदर्शनाद्धेतोः अग्नि-सूर्ययोश्चिरकालसंदर्शनाय । चिरजीवनायेत्यर्थः । "ज्योक् च सूर्यं दृशे" इति हि श्रुतिः [ऋ० १०, ६, ७] । ❀ संपूर्वाद् दृशेः संपदादित्वाद् भावे क्विप् ❀ ॥

हे पुरुष ! तू इस मृत्युके पाशजालसे उत्क्रमण कर, इसमें ही नीचेको मत गिर । तू हिंसक मृत्युदेवके पाशबन्धनको काट दे और इस भूलोकसे अग्नि और सूर्यदेवका दर्शन करनेके लिये ‡ छिन्न न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तुभ्यं॒ वातः॑ पवतां मा॒तरि॒श्वा तुभ्यं॑ वर्षन्त्व॒मृता॒न्याप॑ः ।

‡ ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ७ में कहा है, कि—"ज्योक् च सूर्यं दृशे" ॥

सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ५

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्षन्तु । अमृतानि । आपः ।

सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् । मा । प्र । मेष्ठाः ॥ ५ ॥

पुनः-मरणाभावं सोपपत्तिकम् आशास्ते । हे मुमूर्षो पुरुष तुभ्यं त्वदर्थं मातरिश्वा । माता अन्तरिक्षम् निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानीति व्युत्पत्तेः । तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा । तादृशो वातः वायुस्तव सुखाय पवताम् । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । संचरतु । तथा आपश्च तुभ्यं त्वदर्थम् अमृतानि वर्षन्तु सिञ्चन्तु । तथा सूर्यो देवस्ते तव तन्वे शरीराय शम् सुखं यथा भवति तथा तपाति तपतु । ❀ तप संतापे । अस्मात् लेट् । "लेटोडाटौ" इति आडागमः ❀ । एतत् सर्वं मृत्योरनुग्रहम् अन्तरेण न घटत इति तदनुग्रहम् आशास्ते । हे पुरुष त्वां मृत्युर्देवो दयताम् रक्षां करोतु । अतस्त्वं मा प्र मेष्ठाः मृतिं मा गाः । ❀ मीङ् हिंसायाम् । लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः ❀ ॥

हे मुमूर्षु पुरुष ! जिसमें भूतोंका निर्माण होता है उस माता-रूप अन्तरिक्षमें श्वास लेने वाले मातरिश्वा वायु तेरे लिये सुख-पूर्वक चलें, और जल भी तेरे लिये अमृतकी वर्षा करें, सूर्य-नारायण तेरे शरीरको जिस प्रकार सुख पहुँचे तिस प्रकार तपें, (यह सब मृत्युके अनुग्रहके बिना नहीं होसकता अतः मृत्युसे आशा करते हैं, कि-) मृत्युदेवता तेरे ऊपर दया करें, इस लिये तू मृत्युको प्राप्त न हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि

उत्ऽयानम् । ते । पुरुष । न । अवऽयानम् । जीवातुम् । ते । दक्षऽतातिम् । कृणोमि ।

आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सुऽखम् । रथम् । अथ । जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

हे पुरुष ते तव उद्यानम् उद्गमनमेव । मृत्युपाशाद् इति शेषः । अवयानम् अवाग्गमनं नैवास्ति । तत् कथम् एतत् संपत्स्यत इति तत्राह । ते तव जीवातुम् जीवनौषधं कृणोमि करोमि । केवलं जीवनमेव न किं तु दक्षतातिम् । ॐ स्वार्थिकस्तातिः ॐ । दक्षं बलं च कृणोमि । त्वं च आ रोह अधितिष्ठ इमम् अमृतम् अमरणधर्मकं सुखम् इन्द्रियेभ्योनुकूलं रथम् यानम् । देहो वा रथत्वेन उपचर्यते । अतो जीवात्मनो देहेवस्थानं प्रार्थ्यते । आरुह्य च अजिर्विः अजीर्णः सन् । ॐ जृष् वयोहानौ । औणादिको विन् प्रत्ययः । "ॠत इद्धातोः" इति इत्वम् ॐ । विदथम् वेदनम् आ वदासि आवद । लब्धसंज्ञोस्मीति आचक्ष्वेत्यर्थः ॥

हे पुरुष ! मृत्युके पाशसे तेरा उद्गमन ही होवे उस पर नीचे को गिरना न हो (ऐसा होनेका उपाय यह है, कि—) तेरे जीनेके लिये औषधको करता हूँ । तेरे लिये बलको करता हूँ । तू इस अमरणधर्मक इन्द्रियसुखके निमित्त रथरूप शरीर पर आरोहण कर और आरूढ़ होकर अजीर्ण रहता हुआ वेदनको कह अर्थात् मुझको होश होगया है—यह कह ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो

मानु गाः पितॄन् ।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः ।

प्र । मदः । मा । अनु । गाः । पितॄन् ।

विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

तत्र तस्मिन् यमविषये ते मनो मा गात् गतं मा भूत् । तथा मा तिरो भूत् अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत् । किं च त्वं जीवेभ्यः बन्धुभ्यस्तेषाम् अर्थाय मा प्र मदः अनवधानं माप्नुहि । ❀ मदी हर्षे । पुषादित्वाद् अङ् । मदिः मोपसृष्टः अनवधाने वर्तते ❀ । पितॄन् मृतान् पूर्वपुरुषान् मानु गाः अनुगतिं मा कार्षीः । विश्वे देवाः इन्द्राद्या इन्द्रियाणि वा त्वा त्वाम् अभि रक्षन्तु सर्वतः पालयन्तु । कुत्रेति चेद् उच्यते । इह अस्मिन्नेव शरीरे इह भूतले वा ॥

यमके विषयमें तेरा मन न जावे, तथा विलीन भी न होवे और तू बन्धुरूप जीवोंसे प्रमाद न कर, पितरोंके पास मत जा । इन्द्र आदि संपूर्ण देवता वा इन्द्रियें इस शरीरमें ही चारों ओर तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।

आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥८॥

मा । गतानाम् । आ । दीधीयाः । ये । नयन्ति । पराऽवतम् ।

आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ ।
रभामहे ॥ ८ ॥

गतानाम् पितृलोकं प्राप्तानाम् । मार्गम् इति शेषः । मा दीधीथाः तं प्रति देवनं मा कार्षीः । ❀ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । लुङ् । छान्दसः सिचो लुक् ❀ । अथ वा गतमार्गं मा ध्याय । ❀ ध्यै चिन्तायाम् । छान्दसी रूपसिद्धिः ❀ । अथ वा । ❀ गतानाम् इति कर्मणि षष्ठी ❀ । मृतान् मा चिन्तयेत्यर्थः । ते विशेष्यन्ते । ये गतास्त्वामपि परावतम् दूरदेशं नयन्ति । यथा त्वं पुनर्नायासि तथा प्रापयन्तीत्यर्थः । अतस्त्वं तमसः । म्रियमाणस्य पुरुषस्य समस्तस्यापि ज्ञानस्य नाशात् तमःप्रवेश इव भवति अतस्तमसः सकाशात् ज्योतिः । ज्योतिः प्रकाशः । प्रकाशं ज्ञानम् आ रोह अधितिष्ठ । आश्रयेत्यर्थः । अन्धकारप्रविष्टस्य कथम् आरोहणम् इति तत्राह । ते तव हस्तौ आ रभामहे गृह्णीमः । आरोहणानुकूलप्रयत्नं कुर्म इत्यर्थः ॥

पितृलोकको प्राप्त हुए पितरोंके मार्गका चिन्तवन न कर–उन मरे हुओंका ध्यान न कर–वे गए हुए भी तुझको दूर देश को लेजासकते हैं, जिस प्रकार तू फिर न आवे तिस प्रकार ले जा सकते हैं (मरनेके निकट पड़े हुए पुरुषका समस्त ज्ञान नष्ट होजानेसे उसका वह अंधकार प्रवेश सा होता है अतः उस) अंधकारसे ज्योति प्रकाश–ज्ञान पर आरूढ़ हो (अंधकारमें घुसे हुएका आरोहण किस प्रकार हो सकता है, इस शंकाके उत्तर में कहते हैं, कि–) तेरे हाथोंको हम ग्रहण करते हैं अर्थात् आरोहणके अनुकूल प्रयत्नको करते हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

श्या॒मश्च॑ त्वा॒ मा श॒बल॑श्च॒ प्रेषि॑तौ य॒मस्य॒ यौ प॑थि॒रक्षी॒ श्वानौ॑ ।
अ॒र्वाङेहि॒ मा वि दी॑ध्यो॒ मात्र॑ तिष्ठः॒ परा॑ङ्मनाः ९

श्या॒मः । च॒ । त्वा॒ । मा । श॒बलः॑ । च॒ । प्रऽइ॑षितौ । य॒मस्य॑ । यौ । प॒थि॒रक्षी॒ इति॑ प॒थि॒ऽरक्षी॑ । श्वानौ॑ ।
अ॒र्वाङ् । आ । इ॒हि॒ । मा । वि । दी॒ध्यः॒ । मा । अत्र॑ । ति॒ष्ठः॒ । परा॑क्ऽमनाः ॥ ९ ॥

हे मुमूर्षो पुरुष त्वा त्वां श्यामश्च एतन्नामा श्वा । वर्णप्रयुक्तेयं संज्ञा । मा । बाधताम् इति शेषः । एवं शबलश्च श्वा मा बाधताम् । चित्रवर्णत्वात् शबल इति संज्ञा । तौ विशेष्येते । यमस्य सर्वप्राणिप्राणापहर्तुर्देवस्य पथिरक्षी मार्गरक्षकौ यौ श्वानौ स्तः । तत्र श्यामश्च शबलश्चेति संबन्धः । श्वभ्याम् असंदष्टः सन् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः एहि आगच्छ । मा वि दीध्यः ध्यानं मा कार्षीः । किम् इत्याशङ्कायां मृतानां मार्गम् इत्यवतिष्ठते । तदेव मन्त्रान्तरेणाह । अत्र अस्मिन् भूलोके वर्तमानः सपदि पराङ्मनाः अप्रतिनिवृत्तिचित्तविषयध्यानोपेतः सन् मा तिष्ठः मा वर्तस्व ॥

हे मुमूर्षु पुरुष ! सब प्राणियोंके प्राणोंको हरने वाले यमराजके जो श्याम और शबल नामक मार्गरक्षक दो कुत्ते हैं वे तुझको बाधा न दें, कुत्तोंसे न कटवा कर हमारी ओर मुख कर के आ, ध्यान मत करे, विषयोंसे पराङ्मुख होकर यहाँ न रह (सांसारिक सभी कामोंको कर) ॥ ९ ॥

दशमी ॥

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥

मा । एतम् । पन्थाम् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् ।

न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ।

तमः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पत्थाः । भयम् । परस्तात् । अभ-

यम् । ते । अर्वाक् ॥ १० ॥

हे गतासो पुरुष त्वम् एतं पूर्वोक्तं पन्थाम् पन्थानं मृता येन गच्छन्ति तं मानु गाः अनुसृत्य मा याहि । अनुगमननिषेधस्य कारणम् आह । एष मार्गो भीमो भयहेतुः । एतच्छब्दार्थम् आह । येन मार्गेण पूर्वम् मृतेः प्राकाले नेयथ न गच्छसि । ❀ वचनव्यत्ययः ❀ । [तं] मार्गं ब्रवीमि । मानु गा इति निषेधप्रतियोगितया वच्मीत्यर्थः । एतत् मरणलक्षणं तमः अन्धकारम् अज्ञानं मा प्र पत्थाः प्रपदनं मा कार्षीः । पुरस्तात् पूर्वदेशे यमपुरप्रदेशे भयम् । भवतीति शेषः । अर्वाक् अस्मदभिमुखागमनमार्गे ते तव अभयम् भयाभावः । क्षेमं भवतीत्यर्थः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे गतासु पुरुष ! जिससे मरे हुए पुरुष जाते हैं उस मार्गका अनुसरण करके तू न जा, क्योंकि—यह मार्ग भयंकर है, इस मार्ग से मरनेसे पहिले नहीं जाना चाहिये। हे पुरुष ! तू इस मरणात्मक अन्धकारको प्राप्त न हो, यमदेशमें भय होता है और हमारी ओर मुख करके आनेके मार्गमें भयाभाव अर्थात् क्षेम होगा ॥ १० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"रक्षन्तु त्वा" इत्यस्य सूक्तस्य उपनयनकर्मादिषु पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा हिरण्यगर्भाख्ये महादाने "रक्षन्तु त्वा" इत्यनेन कर्तू रक्षां कुर्यात् । "हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "यदाबध्नन् [१. ३५] इति हिरण्यस्रजम् आग्रथ्य रक्षन्तु त्वा [८. २. ११–२१] इति रक्षां कृत्वा" इति [प० १३. १] ॥

तथा अश्वरथाख्यमहादाने अनेन यजमानम् अभिमन्त्रयेत । "अथाश्वरथदानविधिः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "पुनन्तु मा [६. १९] इत्यात्मानम् आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्नयः [८. २] इति यजमानम् अभिमन्त्र्य" इति [प० १४. १] ॥

"रक्षन्तु त्वा" इस सूक्तका उपनयन कर्म आदिमें पहिले सूक्त के साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा हिरण्यगर्भ नामक महादानमें "रक्षन्तु त्वा" से कर्ताकी रक्षा करे । परिशिष्टमें "हिरण्यगर्भविधिम् अनुक्रमिष्यामः" का आरंभ करके कहा है, कि–"यदाबध्नन् (१ । ३५) इति हिरण्य-स्रजं आग्रथ्य रक्षन्तु त्वा (८ । २) इति यजमानं अभिमन्त्र्य" (परिशिष्ट १३ । १)

तथा अश्वरथ नामक महादानमें इससे यजमानका अभि-मन्त्रण करे । "अथाश्वरथदानविधिः" का आरम्भ करके परि-शिष्टमें कहा है, कि–"पुनन्तु मा (६ । १९) इत्यात्मानं आलभ्य जपेद् रक्षन्तु त्वाग्नयः (८ । २) इति अभिमन्त्र्य" (परिशिष्ट १४ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षंतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते ।

वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्नयः । ये । अप्ऽसु । अन्तः । रक्षतु । त्वा । मनुष्याः । यम् । इन्धते ।

वैश्वानरः । रक्षतु । जातऽवेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र । धाक् । विऽद्युता । सह ॥ ११ ॥

अप्सु अन्तः उदकेषु मध्ये ये अग्नयो वाडवादिरूपेण वर्तन्ते तेऽग्नयः त्वा त्वाम् हे रक्षाकाम राजादे रक्षन्तु पालयन्तु । उदकेष्वग्निसद्भावम् आह मन्त्रः । "अप्स्वग्ने सधिष्टव" [ऋ० ८. ४३. ९] अग्निं च विश्वशंभुवम्" [ऋ० १०. ९. ६] इत्यादिकः । "सोपः प्राविशत् [तै० सं० २. ६. ६. १] इति च । अवधिष्ठानबहुत्वम् अपेक्ष्य अग्नीनां बहुत्वाभिधानम् । यद्वा अग्नीषोमयोरखिलजगत्कारणत्वेन विकारेषु सर्वेष्वपि अग्निसंभवाद् बहुत्वाभिधानम् । तथा यम् अग्निं मनुष्या आहवनीयादिरूपेण वर्तमानं वा पाकाद्यर्थम् अवस्थापितं वा इन्धते दीप्तं कुर्वन्ति सोपि त्वां रक्षतु । ❀ अन्ता रक्षत्वित्यत्र "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀ । एवं वैश्वानरः विश्वेषां नराणां संबन्धी जाठरोग्निः स च जातवेदाः जातप्रज्ञो जातधनो वा त्वां रक्षतु । तथा दिव्यः दिवि भवो वैद्युतो विद्युता स्वशरीरेण सह सहितः सन् त्वां मा प्र धाक् प्रकर्षेण मा दहतु । ❀ दह भस्मीकरणे । "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ।

जो अग्नियें वड़वा आदि रूपसे जलोंमें रहती है + वे हे रक्षा-

+ जलमें अग्निका होना इन मन्त्रोंमें स्पष्टतया कहा है, कि-

काम ! तेरी रक्षा करें। तथा जिन आहवनीयादिरूपमें या पाक आदिके लिये स्थापित अग्निको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वे अग्नियें भी हे रक्षाकाम ! तेरी रक्षा करें। इसी प्रकार वैश्वानर जाठराग्नि जातवेदा तेरी रक्षा करें। और द्यौमें होने वाला दिव्य वैद्युत अग्नि अपने शरीर बिजलीके द्वारा तुझे भस्म न करें॥११॥

द्वितीया ॥

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर ।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा । त्वा । क्रव्यऽअत् । अभि । मंस्त । आरात् । सम्ऽकसुकात् । चर ।
रक्षतु । त्वा । द्यौः । रक्षतु । पृथिवी । सूर्यः । च । त्वा । रक्षताम् ।
चन्द्रमाः । च ।
अन्तरिक्षम् । रक्षतु । देवऽहेत्याः ॥ १२ ॥

क्रव्यात् मांसाशनोग्निः । ❀ "क्रव्ये च" इति अदेर्विट् ❀ । स च त्वा त्वां माभि मंस्त मम त्वम् आहार इत्यभिमानं मा करोतु । "नास्य रुद्रः पशून् अभिमन्यते" [तै० सं० १. ६. ७. ४] इत्यादौ तथा दर्शनात् । ❀ मन ज्ञाने । लुङि सिचि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । त्वं च संकसुकात् शव-

"अप्स्वग्ने सधिष्टव" (ऋग्वेदसंहिता ८ । ४३ । ९) तथा "अग्निं च विश्वशंभुवम्०" (ऋग्वेदसंहिता १० । ९ । ६) और तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में भी कहा है, कि–"सोऽपः प्राविशत्–वह जलमें प्रवेश कर गया" ॥

भक्षकाद् एतन्नामकाद् अग्नेः आरात् दूरदेश एव चर। तथा द्यौः पृथिवी सूर्यश्चन्द्रमाश्च प्रत्येकं स्वस्वसंबन्धिनो भयात् त्वा त्वां रक्षतु। अन्तरिक्षमपि त्वां देवहेत्याः देवप्रेरिताद् आयुधाद् रक्षतु॥

मांसका भक्षण करने वाला क्रव्याद् अग्नि मेरा यह आहार है–इस प्रकार तुझको न माने। और तू भी शवभक्षक संकुसुक नामक अग्निसे दूरस्थानमें ही विचरण कर। तथा सूर्य चन्द्रमा द्यौ और पृथिवी अपने २ भयसम्बन्धसे तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्ष भी देवप्रेरित आयुधसे तेरी रक्षा करे॥ १२॥

तृतीया॥

बोधश्च॑ त्वा प्रतीबोधश्च॑ रक्षतामस्वप्नश्च॑ त्वानवद्राणश्च॑ रक्षताम्।
गोपायंश्च॑ त्वा जागृ॑विश्च रक्षताम्॥ १३॥

बोधः। च। त्वा। प्रतिऽबोधः। च। रक्षताम्। अस्वप्नः। च। त्वा। अनवऽद्राणः। च। रक्षताम्।

गोपायन्। च। त्वा। जागृविः। च। रक्षताम्॥ १३॥

[बोधप्रतीबोधौ नाम ऋषी]। "ऋषी बोधप्रतीबोधौ" इति प्रागुक्तत्वात् [५. ३०. १०]। तत्सहपाठाद् अत्रोक्ताः षडपि ऋषयः। बोधः सर्वदा प्रतिबुध्यमानः। प्रतीबोधः प्रतिवस्तु प्रतिक्षणं वा बुध्यमानः। अस्वप्नः स्वप्नरहितः। अनवद्राणः निद्रारहितः। गोपायन् सर्वदा देहस्य गोपायिता। जागृविः जागरणशीलः। एते सर्वे देहाश्रयाः प्राणापानमनोबुद्धिचक्षुर्द्वयरूपा इन्द्रियाभिमानिदेवा यथोचितं बोद्धव्याः। ते युग्मशस्त्वां रक्षन्त्वित्यर्थः॥

सदा बुध्यमान बोध, प्रतिवस्तुको जानने वाले प्रतिबोध, स्वप्नरहित अस्वप्न, निद्रारहित अनवद्राण, सदा देहकी रक्षा करने

वाले गोपायन् और जागरणशील जागृवि ऋषि तेरी रक्षा करें। तात्पर्य यह है, कि-ये सब देहाश्रय प्राण अपान, मन बुद्धि और नेत्रद्वयरूप इन्द्रियाभिमानी देवता युग्म २ होकर तेरी रक्षा करें १३

चतुर्थी ॥

ते त्वां रक्षन्तु ते त्वां गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहां ॥ १४ ॥

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥

ते बोधाद्याः त्वा त्वां रक्षन्तु पालयन्तु । ते त एव त्वा गोपायन्तु । गोपायनं सर्वतो रक्षणम् । तेभ्यः बोधादिभ्यो देवेभ्यो नमः नमस्कारोस्तु । तेभ्यः स्वाहा । इदं द्रव्यं स्वाहुतम् अस्तु ॥

वे बोध आदि तेरा पालन करें, वे ही तेरी चारों ओरसे रक्षा करें, इन बोध आदि देवताओंके लिये नमस्कार हो, यह द्रव्य उनके लिये आहुत हो ॥ १४ ॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वां प्राणो बलं हासीदसुं तेनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥

जीवेभ्यः । त्वा । सम्ऽउदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु । सविता । त्रायमाणः ।

मा । त्वा । प्राणः । बलम् । हासीत् । असुम् । ते । अनु । ह्वयामसि ॥ १५ ॥

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

मा । त्वा । जम्भः । सम्ऽहनुः । मा । तमः । विदत् । मा । जिह्वा । आ । बर्हिः । प्रऽमयुः । कथा । स्याः ।
उत । त्वा । आदित्याः । वसवः । भरन्तु । उत् । इन्द्राग्नी इति । स्वस्तये ॥ १६ ॥

उत त्वा द्यौरुत पृथिव्युत प्रजापतिरग्रभीत् ।
उत त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत । त्वा । द्यौः । उत । पृथिवी । उत । प्रजाऽपतिः । अग्रभीत् ।
उत । त्वा । मृत्योः । ओषधयः । सोमऽराज्ञीः । अपीपरन् १७

पञ्चमी । जीवेभ्यः । अत्र जीवोपयुक्तानि इन्द्रियाणि जीवशब्दव्यपदेशं भजन्ते । तेषाम् अर्थाय । अथ वा जीवाः पोषणीयाः पुत्रभार्यादासादयः । तेषाम् अर्थाय । तादर्थ्ये विशिनष्टि । समुदे तेषां संमोदाय त्वां वाय्वादयः प्रत्येकं समुदायो वा दधातु स्थापयतु मृत्योराकृष्य प्रयच्छतु । त्रायमाण इति सवितुर्विशेषणम् । त्वां पालयमानः ॥ किं च त्वा त्वां प्राणः शरीरबलं च मा हासीत् मा त्याक्षीत् । ते असुम् अनु ह्वयामसि आनुकूल्येन आह्वयामः ॥ किं च त्वा त्वां संहनुः संहतदन्तो जम्भः असुरः । अथ वा संहनुः संहतहनुर्जम्भः अस्थूलदन्तो मा विदत्

मा विन्दतु । भक्षयितुम् इति शेषः । "तं वो जम्भे दधामि" [तै० सं० ४. ५. ११. २] इत्यादिमन्त्रदर्शनात् । तथा तमः अज्ञानमपि मा विदत् । एवं बर्हिः बर्हिरिव आयामविस्तारोपेता उत्पमाना जिह्वा रक्षःप्रभृतेः संबन्धिनी मा विदत् । किमर्थम् एवं प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह । कथा केन प्रकारेण त्वं प्रमयुः प्रगतहिंसः प्रगतहिंसको वा स्याः भवेः । एवमर्थं 'जम्भादि मा विददि'त्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ आदित्याः अदितेः पुत्रा देवा धात्रादयः त्वा त्वाम् उद्धरन्तु ऊर्ध्वं हरन्तु मृत्योर्मुखात् । तथा वसवः अष्टसंख्याका धरादयः उद्धरन्तु । इन्द्राग्नी । इन्द्रश्च अग्निश्च देवौ उद्धरताम् । किमर्थम् । स्वस्तये क्षेमाय । तथा द्यौः द्युदेवता त्वाम् उद्धरतु पृथिवी च उद्धरतु । किं बहुना । प्रजापतिः सर्वेषां देवानां पिता उदग्रभीत् उद्ग्रहणम् अकार्षीत् उद्गृह्णातु । सोमराज्ञीः सोमस्य पत्न्यः ओषधयो देव्यो मृत्योः सकाशात् त्वाम् उदपीपरन् अपालयन् ॥

वायु इन्द्र धाता और रक्षा करते हुए सूर्यदेव तुझको मृत्युसे खेंच कर जीवकी उपयोगी इन्द्रियोंके लिये वा पोषणीय पुत्र भार्या दास आदिके लिये, उनको प्रसन्न करनेके लिये देवें । प्राण और बल तुझको न छोड़े, हम तेरे प्राणको अनुकूलरूपमें बुलाते हैं ॥

मिले हुए ओठों वाला जंभ नामक असुर भक्षण करनेके लिये तुझको खानेके लिये न पासके । अज्ञान भी तुझको प्राप्त न होवे और कुशाकी समान विस्तार आदि वाली राक्षस आदिकी जिह्वा भी तुझको प्राप्त न होवे । क्योंकि-तू प्रगतहिंसक होगया है ॥

अदितिके पुत्र धाता आदि मृत्युके मुखसे तेरा उद्धार करें । धर आ द आठवसु भी तेरा मृत्युमुखसे उद्धार करें । इन्द्र और अग्निदेवता भी क्षेमके लिये तेरा उद्धार करें ॥ द्युदेवता और

पृथिवी भी तेरा उद्धार करे। अधिक क्या सब देवताओंके पिता प्रजापति भी तेरा उद्धार करें, सोमकी पत्नियें औषधियें भी मृत्युसे तेरा पालन करें ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सप्तमी ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम् । देवाः । इह । एव । अस्तु । अयम् । मा । अमुत्र । गात् । इतः ।
इमम् । सहस्रऽवीर्येण । मृत्योः । उत् । पारयामसि ॥ १८ ॥

हे देवाः आदित्याद्या अयं पुरुषः इहैव भूलोके अस्तु भवतु । एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह । अयम् इतः अस्माद् भूलोकाद् अमुत्र स्वर्गे मा गात् । वयं रक्षाकर्तारः इमं पुरुषं सहस्रवीर्येण अपरिमितसामर्थ्येन रक्षाविधानेन मृत्योः सकाशाद् उत्पारयामसि उत्पारयामः ॥

हे देवताओं ! यह पुरुष इस भूलोकमें ही रहे। यह इस लोक से स्वर्गलोकमें न जावे। रक्षा करने वाले हम अपरिमित शक्ति वाले रक्षाविधानसे मृत्युके फन्देसे इसको बाहर कर रहे हैं ॥१८॥

अष्टमी ॥

उत् त्वां मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वां व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् । सम् । धमन्तु । वयःऽधसः ।
मा । त्वा । व्यस्तऽकेश्यः । मा । त्वा । अघऽरुदः । रुदन् १९

हे आयुष्काम पुरुष त्वा त्वां मृत्योरुदपीपरन् पालयन्तु वयो-

धसः अन्नस्य आयुष्यस्य वा धातारो देवाः सं धमन्तु संधानं कुर्वन्तु च । ❀ धमतिर्गतिकर्मा ❀ । त्वा त्वां प्रति व्यस्तकेश्यः कीर्णकेशा बन्धुयोषितो मा रुदन् अश्रुविमोकं मा कार्षुः । तथा अघरुदः अघे व्यसने दुःखे बान्धवेन रोदनकर्तारो मा रुदन् ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! अन्न वा आयुको पुष्ट करने वाले देवता तेरा संधान करें । तेरे लिये बांधवोंकी स्त्रियें बाल बखेर कर न रोवें, और दुःखमें रोने वाले बांधव भी तेरे निमित्त रोने वाले न होवें ॥ १९ ॥

नवमी ॥

आहा॑र्षम॒विदं॑ त्वा॒ पुन॒रागाः॒ पुन॑र्णवः ।
सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च ते॒ऽविदम् ॥ २० ॥

आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । अ॒वि॒द॒म् । त्वा॒ । पुन॒रिति॑ । आ । अ॒गाः॒ । पुनः॑ऽनवः ।
सर्व॑ऽअङ्ग । सर्व॑म् । ते॒ । चक्षुः॑ । सर्व॑म् । आयुः॑ । च॒ । ते॒ । अ॒वि॒द॒म् ॥

हे मृत्युग्रस्त पुरुष त्वा त्वाम् आहार्षम् मृत्युमुखाद् आहृतवान् अस्मि । आहृत्य च त्वा त्वाम् अविदम् लब्धवानस्मि । हे पुनर्नव पुनरुत्पन्न त्वं पुनरागाः पुनरागतोसि । पुनर्जीवलाभात् पुनर्नवत्वव्यपदेशः । हे सर्वाङ्ग केनचिदपि चक्षुराद्यङ्गेन अविकल संपूर्णाङ्ग । मृत्यभावेपि प्रायेण अंगवैकल्यं हृद्रोगग्रस्तस्य भवतीत्यभिप्रायेण एवम् आह । ते तव सर्वं चक्षुः । चक्षुर्विषयम् इत्यर्थः । सर्वमपि इन्द्रियजातं स्वविषयप्रकाशकम् । भवत्विति शेषः । ते तव सर्वम् शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः अविदम् लब्धवान् अस्मि ॥

हे मृत्युग्रस्त पुरुष ! मैंने तुझको मृत्युके मुखसे खेंच लिया है और खेंचकर तुझको पालिया है, हे दूसरी वार उत्पन्न हुए

पुरुष ! तू फिर आया है, इसलिये फिर नवीन होगया है । हे चक्षु आदि प्रत्येक अङ्गसे अविकलरूपमें सम्पन्न ! तेरी चक्षु आदि सकल इन्द्रियें अपने २ विषयोंको प्रकाशित करने वाली होवें । तेरे निमित्त सौ वर्षकी आयुको मैंने प्राप्त कर लिया है २०

दशमी ॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१॥

वि । अवात् । ते । ज्योतिः । अभूत् । अप । त्वत् । तमः । अक्रमीत् ।
अप । त्वत् । मृत्युम् । निःऽऋतिम् । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि

हे त्रिसंज्ञ पुरुष ते व्यवात् व्यौच्छत् तमोविवासनम् अभूत् । अत एव ज्योतिः संज्ञानम् अभूत् । तथा त्वत् त्वत्तः सकाशात् तमः कृत्स्नम् अपाक्रमीत् अपक्रान्तम् अभूत् । कुतो हेतोरिति तत्राह । त्वत् त्वत्तः मृत्युम् प्राणापहर्त्री देवतां निर्ऋतिम् पापदेवताम् अप । नि दध्मसीति उत्तरक्रियानुषङ्गः । तथा यक्ष्मम् बाह्यम् आभ्यन्तरं च रोगम् अप नि दध्मसि अपनिदध्मः त्वत्तः प्रच्यावयामः ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे संज्ञाहीन पुरुष ! तेरा तम दूर होगया है, अत एव संज्ञान होगया है । तथा तेरे पाससे सारा अन्धकार दूर होगया है, क्योंकि—तेरे पाससे हम प्राणोंका अपहरण करने वाली मृत्यु-देवताको और पापदेवता निर्ऋतिको अलग कर चुके हैं और तेरे भीतरी बाहरी रोगको भी दूर कर चुके हैं ॥ २१ ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२९) ॥

"आ रभस्व" इति सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । तेन उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपं कुर्यात् । "उपनयनं" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व" [८. २] इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामः "आ रभस्व" इति सूक्तत्रयेण शरीरम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा ऋषिहस्तेन आयुष्कामस्य शरीरम् अनेनाभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "आ रभस्व [८. १] प्राणाय नमः [११.४] विषासहिम् [१७. १] इत्यभिमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ६]॥

तथा अस्यार्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्"[कौ० १४. ३] इत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा नामकरणाख्ये कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदकधारां निनयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनार्थसूक्तेन देवदारुमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तस्यैव मणिं निघृष्य पायनं च कुर्यात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "अथ नामकरणम् आ रभस्वेमाम् इत्यविच्छिन्नाम् उदकधाराम् आलम्भयति । पूतिदारुं बध्नाति । पाययति" इति [कौ० ७. ६] ॥

अन्त्येष्टौ "आ रभस्व" इति त्रिभिः प्रेताग्निम् आदीपयेत् ॥

त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां महाशान्तौ "आ रभस्व" इत्येतज्जपेत् । उक्तं नक्षत्रकल्पे ॥

पुनस्तदेव जप्यं तु शंतातीयम् अथावतः ।
अन्तकाया रभस्वेति [न० क० २३] ॥

तथा "वैश्वदेवीं गतायुषाम्" इति [न० क० १७] विहि-

तायां महाशान्तौ देवदारुमणिबन्धनम् अनेन कुर्यात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्" इति [न० क० १६] ॥

'आरभस्व' आदि तीन सूक्तोंका समूह अर्थसूक्त कहलाता है। इससे उपनयनकर्ममें माणवककी नाभिका स्पर्श करके आचार्य जप करे। उपनयनका आरंभ करके सूत्रमें कहा है, कि-'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अन्तकाय मृत्यवे (८।१) आ रभस्व (८ । ३)' ॥

तथा आयुको चाहने वाला 'आरभस्व' आदि तीन सूक्तोंसे शरीरका अभिमन्त्रण करे।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका इससे अभिमंत्रण करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'आरभस्व (८ । १) प्राणाय नमः (११ । ४) विषासहिम् (१७ । १) इत्यभिमन्त्रयते' (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा इस अर्थसूक्तका आयुष्यगणमें पाठ होनेसे 'विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्' कौशिकसूत्र ७ । ६ आदि में विनियोग करना चाहिये।

तथा नामकरण नामक कर्ममें इस अर्थसूक्तसे कुमारके हाथमें अविच्छिन्न (अटूट) जलधाराको डाले।

तथा इसी कर्ममें इस अर्थसूक्तसे देवदारुकी मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। और उसीकी मणिको घिस कर भी पिलावे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-'अथ नामकरणं आ रभस्वेमां इत्यवच्छिन्नां उदकधारां आलंभयति। पूतिदारुं बध्नाति । पाययति' ॥

अन्त्येष्टिमें 'आ रभस्व' आदि तीनसे प्रेताग्निको प्रचण्ड करे।

तीस महाशान्तियोंकी प्रधान महाशांतिमें 'आरभस्व' का जप

करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–'पुनस्तदेव जप्यं तु शान्तातीयं अथावतः। अन्तकाया रभस्वेति' (नक्षत्रकल्प २३)॥

तथा 'वैश्वदेवीम् गतायुषाम्–गतायुओंके लिये वैश्वदेवी महाशान्तिको करे' इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वैश्वदेवी महाशान्तिमें इससे देवदारुमणिबंधनको करे। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि-'आ रभस्वेति पूतिदारुं वैश्वदेव्याम्'॥

तत्र आ रभस्वेति प्रथमसूक्ते प्रथमा॥

आ रभस्वेमामृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयु पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः॥ १॥

आ। रभस्व। इमाम्। अमृतस्य। श्नुष्टिम्। अच्छिद्यमाना। जरत्ऽअष्टिः। अस्तु। ते।
असुम्। ते। आयुः। पुनः। आ। भरामि। रजः। तमः। मा। उप। गाः। मा। प्र। मेष्ठाः॥ १॥

हे आयुष्काम पुरुष इमाम् अस्माभिः क्रियमाणाम् अमृतस्य अमरणत्वस्य श्नुष्टिम् प्रस्तुतिम् आ रभस्व उपक्रमस्व। अनुभवितुम् इति शेषः। यद्वा कुमारस्य हस्ते अविच्छिन्नाम् उदकधारां निनयेदिति विनियोगाद् अमृतशब्देन उदकम् उच्यते। तस्य श्नुष्टिम्। उदकधाराम् इत्यर्थः। अच्छिद्यमाना परैर्विच्छेत्तुम् अनर्हा जरदष्टिः जरावस्थापर्यन्तम् अष्टिः अशनं जरदष्टिः। सा ते अस्तु भवतेस्तु। तदर्थं ते तव असुम् प्राणं मृत्युना अपहृतम् आयुश्च

पुनः आ भरामि आहरामि । त्वं च रजः रागम् अस्माकं सत्त्वगुणप्रतिबन्धकं मोप गाः मा प्राप्नुहि । ❀ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ । एवं तमः आवरकं हिताहितविवेकप्रतिरोधकं तम आख्यगुणं मोप गाः । न केवलं रजस्तमसोरप्राप्तिरेव प्रार्थ्यते किं तु मृतिनिवारणमपि मा प्र मेष्ठा इति । हिंसां च मा प्राप्नुहि । ❀ मीङ् हिंसायाम् । लुङि रूपम् ❀ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ! इस हमारी कीहुई अमरणत्वकी प्रस्तुति का उपक्रम कर (अथवा—इस हमारी दी हुई जलधाराका अनुभव कर) यह तेरे निमित्त दूसरोंसे न टूटने योग्य, जरावस्था तक रहनेवाली हो । मैं तेरे निमित्त, मृत्युसे हरे हुए प्राण और आयुको फिर लाता हूँ। तू हममें सत्त्वगुणके प्रतिबंधक रज-राग-को प्राप्त न होना । इसप्रकार हिताहित विवेकके प्रतिबन्धक आवरक तमोगुणको प्राप्त न हो और हिंसाको प्राप्त न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ २ ॥

जीवताम् । ज्योतिः । अभिऽएहि । अर्वाङ् । आ । त्वा । हरामि । शतऽशारदाय ।
अवऽमुञ्चन् । मृत्युऽपाशान् । अशस्तिम् । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । ते । दधामि ॥ २ ॥

हे पुरुष त्वं जीवताम् मनुष्याणां ज्योतिः दीप्तिं ज्ञानम् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः अभ्येहि अभ्यागच्छ । अहं तु त्वा त्वाम् आ

हरामि। मृत्युसकाशाद् इति शेषः। किमर्थम्। शतशारदाय। शतसंख्याकशरदवधिकम् आयुः शतशारदम्। शतायुषे। चिरकालजीवनायेत्यर्थः।मृत्युपाशबद्धस्य कथम् आगमनम् इति तत्राह। मृत्युपाशान् मृत्योः ज्वरशिरोरोगादिनानाविधान् पाशान् अवमुञ्चन् उत्सृजन्। तथा अशस्तिम् निन्दाम् अवमुञ्चन्। सा हि कोश इव आच्छादयति। एतत् सर्वं सत्यायुषि संभवतीत्याशङ्क्याह। द्राघीयः अतिदीर्घं शतसंवत्सरलक्षणम् आयुः।❀"प्रियस्थिर०" इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः❀। ते त्वदर्थं प्रतरम् प्रकृष्टतरं दधामि स्थापयामि॥

हे पुरुष! तू जीवित पुरुषोंके स्थानको चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये हमारे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो तू ज्वर शिरोरोग आदि मृत्युके अनेक प्रकारके पाशोंको त्यागता हुआ तथा निन्दाको त्यागता हुआ प्राप्त हो, मैं तेरी अतिदीर्घ प्रकृष्टतर आयु को स्थापित करता हूँ॥ २॥

तृतीया॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत् ते मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ ३॥

वातात्। ते। प्राणम्। अविदम्। सूर्यात्। चक्षुः। अहम्। तव। यत्। ते। मनः। त्वयि। तत्। धारयामि। सम्। वित्स्व। अङ्गैः। वद। जिह्वया। अलपन्॥ ३॥

हे गतासो पुरुष ते तव प्राणं वातात् स्वाश्रयभूताद् बाह्यवायोः सकाशाद् अविदम् लब्धवान् अस्मि। प्राणवायोर्मरण-

वस्थायां वायुप्राप्तेः उत्पत्त्यवस्थायां तत एवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते। तथा च श्रूयते। "वातं प्राणम् अन्ववसृजतात्" इति [ऐ० ब्रा० २. ६] "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति च। अहं तव चक्षुश्च सूर्याद् अविदम्। पूर्वं-वन्मृतिसमये चक्षुषः सूर्यप्राप्तेः उत्पत्तिसमयेपि सूर्यादेवोत्पत्तेश्च एवम् उच्यते। "सूर्यं चक्षुर्गमयतात्" इति[ऐ० ब्रा० २. ६] "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति च। किं च यत् ते मनः उत्क्रमणसमये निर्गतं तत् त्वय्येव धारयामि स्थापयामि। त्वं तु यत एवम् अतो विश्वाङ्गैः कृत्स्नैरङ्गैरुपेतः सन् जिह्वया आलपन् व्यक्तम् उच्चरन् वद वाचम् उदीरय। जीवनस्य अभिवदनं स्पष्टं लिङ्गम् इति तत् प्रार्थ्यते॥

हे गतासु पुरुष! मैंने तेरे प्राणको स्वाश्रयभूत बाह्य वायुसे प्राप्त कर लिया है। प्राणवायु मरणावस्थामें वायुको प्राप्त हो जाता है और उत्पत्तिदशामें भी उससे ही उत्पन्न होजाता है अत एव यह कहा है। ऐतरेयब्राह्मण २। ६ में कहा है, कि–'वातं प्राणं अन्ववसृजतात्।-वात प्राणको रचता हुआ' तथा ऐतरेय ब्राह्मण २। ४। २ में भी कहा है, कि–'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।–वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश कर गया') और मैंने तेरे चक्षुको सूर्यसे प्राप्त कर लिया है (ऐतरेय ब्राह्मण २। ६ में कहा है, कि–'सूर्यं चक्षुर्गमयतात्।–चक्षु सूर्यको प्राप्त होगया' ऐतरेय ब्राह्मण २। ६ तथा ऐतरेय आरण्यक २। ४। २ में कहा है, कि–'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।–आदित्यने चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया'') और तेरा जो मन उत्क्रमणके समय निकल गया था उसको तुझमें ही स्थापित करता हूँ अत एव तू सम्पूर्ण अंगोंसे सम्पन्न होकर जिह्वासे स्पष्ट वाणीका उच्चारण कर॥ ३॥

चतुर्थी ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ॥ ४ ॥

प्राणेन । त्वा । द्विऽपदाम् । चतुःऽपदाम् । अग्निम्ऽइव । जातम् । अभि । सम् । धमामि ।

नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः । प्राणाय । ते । अकरम् ४

हे निर्यत्प्राण त्वा त्वां द्विपदाम् पुरुषादीनां चतुष्पदाम् गवाश्वादीनां च प्राणेन । सर्वप्राणिनां प्राणेनेत्यर्थः । तेन जातम् मथनाद् उत्पन्नम् अग्निमिव तं यथा अणीयांसं सन्तं नान्यादिसाधनेन मुखवायुना अभिसंधमति तद्वद् अल्पप्राणं सन्तं सर्वप्राणिप्राणेन अभि सं धमामि संयोजयामि प्रभूतप्राणं करोमि । हे मृत्यो ते तव चक्षुषे क्रूराय नमः अकरम् । तथा ते प्राणाय प्रकृष्टाय बलायापि नमः अकरम् करोमि । ❀ करोतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति अङ् ❀ ॥

हे क्षीणप्राण ! तुझको द्विपद पुरुष आदिके तथा चतुष्पद गौ आदिके अर्थात् सकल प्राणियोंके प्राणोंसे तुझको इस प्रकार प्रभूत प्राण वाला करता हूँ जिस प्रकार मथनसे उत्पन्न हुए अल्प अग्निको मुखकी वायुसे बढ़ाते हैं, हे मृत्यो ! तेरी क्रूर चक्षुके लिये मैं नमस्कार करता हूँ, तथा तेरे प्राणबलके लिये भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि ।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ ५ ॥

अयम् । जीवतु । मा । मृत । इमम् । सम् । ईरयामसि ।

कृणोमि । अस्मै । भेषजम् । मृत्यो इति । मा । पुरुषम् । वधीः ५

अयं गतासुः पुरुषो जीवतु । मा मृत मरणं मा प्राप्नुयात् । ❀ मृङ् प्राणत्यागे । "लुङ्" । "उश्च" इति सिचः कित्त्वम् । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिचो लोपः ❀ । इमं पुरुषं समीरयामसि सम्यक् प्रेरयामः । यथा चेष्टते तथा प्रयतामहे । तद् एव एकवद् आह । अस्मै मुमूर्षवे पुरुषाय भेषजम् चिकित्सां कृणोमि करोमि । हे मृत्यो त्वं तु पुरुषम् अमुं मा वधीः मा जहि ॥

यह गतासु पुरुष जीवित रहे मरणको प्राप्त न हो, इस पुरुष को हम भली प्रकार प्रेरित करते हैं अर्थात् यह जिस प्रकार चेष्टा कर सके वैसा प्रयत्न करते हैं, मैं इस मुमूर्षु पुरुषके लिये चेष्टा करता हूँ। हे मृत्यो! तू इस पुरुषका वध न कर ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघऽरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।

त्रायमाणाम् । सहमानाम् । सहस्वतीम् । इह । हुवे । अस्मै ।

अरिष्टऽतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । ❀ मत्वर्थीयो लः ❀ । जीववतीम् । जीवप्रदाम् इत्यर्थः । नघरुषाम् । न हन्तीति नघा । नघा रुषा रोषोऽस्यां

सा नघरुषा । यस्याः कोपोपि न घातकस्तादृशीम् इत्यर्थः । अथ वा घर्षरहिताम् अघकारिरोषरहिता वा । स्वयं जीवन्तीम् । कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः । अथ वा सजीवाम् । त्रायमाणाम् रक्षन्तीं स्वसेविनां रोगपरिहारेण रक्षाकर्त्रीम् । सहमानाम् रोगस्याभिभवित्रीम् । सहस्वतीम् सहो बलं तद्वतीम् । एवंमहिमोपेताम् ओषधीम् पाठाख्याम् अहं व्याधिनाशकामः इह अस्मिन् शान्तिकर्मणि हुवे आह्वयामि । कस्मै प्रयोजनाय । उच्यते । अस्मै संनिहिताय पुरुषाय । रिष्टं हिंसा तदभावाय अरिष्टतातये अरिष्टकरणाय । उत्तरमन्त्रे अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीति मृत्युशब्दश्रवणाद् अत्रापि मृत्युः संबोध्यः । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति करोत्यर्थे तातिल् ❀ । अथ वा जीवलादयः प्रत्येकम् ओषधिविशेषाः । ओषधीम् इत्येतत् प्रत्येकं संबध्यते । इह हुवे इति सर्वत्रान्वयः ॥

जीवन प्रदान करने वाली, कोप करने पर भी न मारने वाली, स्वयं जीवित रहने वाली–कभी शुष्क न होने वाली, अपना सेवन करने वालोंके रोगका अपहरण करके रक्षा करने वाली, रोगको दबाने वाली ऐसी पाठा नामक औषधिको मैं व्याधिको नष्ट करने वाला इस शान्तिकर्म में आह्वान करता हूँ । इस संनिहित पुरुषकी अहिंसाकरणके लिये आह्वान करता हूँ ६

सप्तमी ॥

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः

अधि । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तव । एव । सन् । सर्वऽहायाः । इह । अस्तु ।

भवाशर्वौ । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अपऽसिध्य । दुःऽइतम् ।

धत्तम् । आयुः ॥ ७ ॥

हे मृत्यो त्वम् अधि ब्रूहि । पक्षपातेन वचनम् अधिवचनम् । मदीयोयम् इति वद । मा आ रभथाः आरम्भं मा कार्षीः । हन्तुम् इति शेषः । हननोद्योगो निषिध्यते । तवैव अयं जनस्तवैव । त्वम् इति शेषः । अतः इमं सं सृज । प्राणैरिति शेषः । अयम् इह अस्मिन् भूलोके सर्वहायाः सर्वगतिरस्तु । ❀ बहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति असुनि णिद्वद्भावाद् युगागमः ❀ । किं च हे भवाशर्वौ युवाम् भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ ईश्वरमूर्तिभेदौ । ❀ "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" इति आनङ् ❀ । मृडतम् सुखयतम् अमुष्मै शर्म सुखं यच्छतम् दत्तम् । ❀ "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । शर्म यच्छतम् इत्युक्तम् अर्थं विवृणोति । दुरितम् उपस्थितं व्याध्यादिलक्षणं पापम् अपसिध्य निराकृत्य आयुः धत्तम् स्थापयतं प्रयच्छतम् ॥

हे मृत्यो ! आप आग्रहपूर्वक कहिये, यह मेरा है । और इस को मारनेका आरम्भ न करिये । यह आपका ही जन है अतः इसके प्राण छोड़ दीजिये । यह इस भूलोकमें सब प्रकारकी गति वाला होवे । हे भव और शर्व देवताओं ! आप इसके लिये सुख दीजिये । इसके व्याधि आदिरूप पापको दूर करके इसको आयु दीजिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३यमेतु ।

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः ।
अयम् । एतु ।
अरिष्टः । सर्वऽअङ्गः । सुऽश्रुत् । जरसा । शतऽहायनः । आत्मना ।
भुजम् । अश्नुताम् ॥ ८ ॥

हे मृत्यो त्वम् अस्मै त्वत्तो मृतिम् आशङ्कमानाय अधि ब्रूहि असौ मदनुग्रहार्ह इति शब्दं कुरु । इमं प्रति दयस्व दयां कुरु इमं रक्ष वा । अयम् इतः अस्माद् मृत्योः उदेतु उद्गच्छतु । उक्तम् अर्थं स्पष्टम् आह । अरिष्टः अहिंसितः सर्वाङ्गः सर्वैरङ्गैश्चक्षुरादिभिः संपन्नः सुश्रुत् सुष्ठु श्रोता जरसा वार्धकावस्थया शतहायनः शतं हायना अस्य स तथोक्तः शतसंवत्सरं जीवन् आत्मना अनन्यापेक्षः सन् भुजम् भोगम् अश्नुताम् प्राप्नोतु ॥

हे मृत्यु ! तुमसे मृत्युकी आशंका करते हुए इस पुरुषके विषय में आप यह मेरे अनुग्रहका पात्र है-ऐसा शब्द करिये। इस पर दया करो। यह इस मृत्युसे उदय होवे, (स्पष्ट करते हैं, कि-) यह अहिंसित रहता हुआ, चक्षु आदि सकल अंगोंसे सम्पन्न होकर भली प्रकार सुनता हुआ, बुढ़ापेसे सौ वर्षका होता हुआ दूसरेकी अपेक्षा न रख स्वयं ही भोगोंको भोगे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि

देवानाम् । हेतिः । परि । त्वा । वृणक्तु । पारयामि । त्वा । रजसः । उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् ।

आरात् । अग्निम् । क्रव्यऽअदम् । निःऽऊहन् । जीवातवे । ते । परिऽधिम् । दधामि ॥ ९

देवानाम् रुद्रादीनां हेतिः आयुधं त्वा त्वां परि वृणक्तु परिवर्जयतु हिंसां मा कुर्यात् । त्वा त्वां रजसः मूर्छालक्षणाद् आवरणात् पारयामि पालयामि वा । किं च त्वा त्वां मृत्योः सकाशाद् उदपीपरम् उद्धरामि । ❀ पृ पालनपूरणयोः । एयन्तस्य लुङि रूपम् ❀ । आरात् दूरदेश एव क्रव्यादम् मांसाशनम् अग्निं निरौहम् निरूहामि निर्गमयामि च । ते तव जीवातवे जीवनाय परिधिम् प्राकारं दधामि स्थापयामि च । देवयजनम् अग्निम् इति शेषः । परिधिं दधामि ॥

देवताओंका आयुध तुझको त्याग देय—हिंसा न करे तेरा मूर्छारूप रजसे उद्धार करता हूँ । और तेरा मृत्युसे उद्धार करता हूँ । और मांसभक्षक अग्निको दूर ही निकाले देता हूँ और तेरे जीवनके लिये प्राकाररूपमें देवयजन अग्निको स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि १०

यत् । ते । निऽयानम् । रजसम् । मृत्यो इति । अनवऽधर्ष्यम् ।
पथः । इमम् । तस्मात् । रक्षन्तः । ब्रह्म । अस्मै । वर्म । कृण्मसि

हे मृत्यो ते तव संबन्धि यत् नियानम् नियान्त्यत्रेति नियानं मार्गः। कीदृक्। रजसम् रजोमयम् अनवधृष्यम् केनापि धर्षितुम् अशक्यम्। तस्माद् उक्तलक्षणात् पथः मार्गाद् इमं मुमूर्षुं पुरुषं रक्षन्तो वयम् अस्मै मुमूर्षवे ब्रह्म परिवृढं शान्तिरूपं कर्म उदीरितलक्षणं मन्त्रसमूहं वा वर्म तनुत्रं कृण्मसि कृण्मः कुर्मः॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

हे मृत्यो! तेरा मार्ग रजोमय है, कोई भी उसका धर्षण नहीं कर सकता, ऐसे मार्गसे इस मुमूर्षु पुरुषकी रक्षा करते हुए हम इस मुमूर्षु पुरुषके लिये मन्त्ररूप कवचको करते हैं॥१०॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त॥

"कृणोमि ते प्राणापानौ" इति सूक्तस्य "आ रभस्व" [८,२] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः॥

कलहरूपनिर्ऋतिगृहीते कुले तच्छान्त्यर्थम् "आरादरातिम्" इति त्र्यृचेन आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं च। "अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते। तत्र जुहुयाद् आरादरातिम् इति द्वे" इति [कौ० १३. ५]॥

नैर्ऋतकर्मणि अनेन त्र्यृचेन इङ्गिडाज्यादीनि शर्करामिश्राणि कृत्वा जुहुयात्। "अथातो नैर्ऋतं कर्म" इति प्रक्रम्य नक्षत्रकल्पे सूत्रितम्। "आरादरातिम् इति द्वे। अपेत एतु निर्ऋतिरित्येतैः सपमांसम् इङ्गिडम् आज्यम्" इत्यादि [न० क० १५]॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु "शिवे ते स्ताम्" इति त्र्यृचेन व्रीहियवशमीरभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात्। सूत्रितं हि। "शिवे ते स्ताम् [१४] इति द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति" "शिवे ते स्ताम् इति परिदानान्तानि" इति च [कौ० ७. ५]॥

बालकस्य निष्क्रमणकर्मणि "शिवे ते स्ताम्" इति त्र्यृचेन बालकं निष्क्रमयेत्। सूत्रितं हि। "शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति" इति [कौ० ७. ६]॥

अद्भुतमहाशान्तौ "शिवास्ते सन्त्वोषधयः" इत्यृचा सूर्याचन्द्रमसौ यजेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । " 'उरु विष्णो वि क्रमस्व' [७. २७. ३] इति विष्णोः 'शिवास्ते सन्त्वोषधयः' [८. २. १५] इति सूर्याचन्द्रमसोः" इति [न० क० १४] ॥

तथा मिथ्याभिशापनिवृत्त्यर्थं "शिवास्ते" इत्यनया सक्तुमन्थम् ओदनं वा अभिमन्त्र्य अभ्याख्याताय दद्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि द्रुघणमणिं पलाशायोलोहहिरण्यानाम् अन्यतमं वा मणिम् अनया संपात्य अभिमन्त्र्य निन्दिताय बध्नीयात् ॥

सूत्रितं हि । "उतामृतासुः [५. १. ७] शिवास्ते [८. २. १५] इत्यभ्याख्याताय प्रयच्छति । द्रुघणशिरो रज्ज्वा बध्नाति । प्रतिरूपं पलाशायोलोहहिरण्यानाम्" इति [कौ० ५. १०] ॥

नामकरणे "यत् ते वासः" इत्यनया बालकं वस्त्रेण आच्छादयेत् । "यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्" इति सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

गोदानाख्यसंस्कारकर्मणि चौले उपनयने च "यत् क्षुरेण" इत्यनया क्षुरस्य अभ्युक्षणं मार्जनं च कुर्यात् । "यत् क्षुरेणेत्युदपात्रे क्षुरम् अभ्युक्ष्य त्रिः प्रमार्ष्टि" इति [कौ० ७. ४] "यत् क्षुरेणेत्युक्तम्" इति च कौशिकसूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

अन्नप्राशनकर्मणि "शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां व्रीहियवौ पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य बालकं प्राशयेत् । "शिवौ ते स्ताम्" इति व्रीहियवौ प्राशयति" इति सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

तथा आभ्याम् ऋग्भ्यां व्रीहियवावभिमन्त्र्य गोदानादिषु कुमारस्य मूर्ध्नि परिदद्यात् । "शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवाभ्याम्" इति ॥

गोदानादिषु संस्कारकर्मसु "अह्ने च त्वा" इत्यनया व्रीहियवावभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । "अह्ने च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति" इति हि सूत्रम् [कौ० ७. ६] ॥

'कृणोमि ते प्राणापानौ' सूक्तका 'आरभस्व' इस ८ । २ के साथ विनियोग कह दिया है ।

कलहरूपा पापराक्षसीसे गृहीत कुलमें शान्ति करनेके लिये 'आरादरातिम्' इस ऋचसे घृतकी आहुति देवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'अथ यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते । तत्र जुहुयादारादरातिम् इति द्वे' जिस कुलमें कलह मचता रहता है उसको निर्ऋति (पापराक्षसी) से गृहीत कहते हैं । ऐसे अवसर पर 'आरादरातिम्' इन दो ऋचाओंसे आहुति देवे ।' (कौशिक सूत्र १२ । ५)॥

नैर्ऋतकर्ममें इस ऋचसे शर्करामिश्रित इंगिड घृत आदिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके आहुति देय। "अथातो नैर्ऋतकर्म" को कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"आरादरातिं इति द्वे । अपेत एतु निर्ऋतिरित्येतैः सममांसम् इङ्गिडं आज्यम्" (नक्षत्रकल्प १५) ॥

गोदान आदि संस्कारकर्मोंमें 'शिवे ते स्ताम्' इस ऋचसे धान जौं और जएडको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे । इस विषयका सूत्रमें भी प्रमाण है, कि–'शिवे ते स्ताम् (१४) इति द्यावापृथिवीभ्यां परिददाति' इति 'शिवे ते स्ताम् इति परिदानान्तानि' इति च (कौशिकसूत्र ७ । ५) ॥

बालकके निष्क्रमण कर्ममें 'शिवे ते स्ताम्' इस ऋचसे बालकका निष्क्रमण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि–'शिवे ते स्ताम् इति कुमारं प्रथमं निर्णयति' ॥

अद्भुतमहाशान्तिमें "शिवास्ते सन्त्वोषधयः" ऋचासे सूर्य और चन्द्रमाका यजन करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"उरु विष्णो विक्रमस्व (७ । २७ । ३) इति विष्णोः

शिवास्ते सन्त्वोषधयः (८ । ५ । १५) इति सूर्याचन्द्रमसोः (नक्षत्रकल्प १४) ॥

तथा झूठे अभिशापकी निवृत्तिके लिये 'शिवास्ते' ऋचासे सक्तुमन्थको वा ओदनको अभिमन्त्रित करके अभ्याख्यातको देदेय

तथा इसी कर्ममें द्रुघणमणिको (कुल्हाड़े की मणिको) वा ढाक लोहा सुवर्णमेंसे एक की मणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके निन्दितके बाँध देय ।

नामकरणमें 'यत् ते वासः' ऋचासे बालकको वस्त्रसे आच्छादित करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि–'यत् ते वास इत्यहतेनाच्छादयेत्' ॥

गोदाननामक संस्कारकर्ममें अथवा चौल तथा उपनयनमें भी 'यत् क्षुरेण' ऋचासे क्षुरेका अभ्युक्षण और मार्जन करे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि–'यत् क्षुरेणेत्युदक्पात्रं क्षुरं अभ्युक्ष्य त्रिः प्रमार्ष्टि' इति (कौशिकसूत्र ७ । ४) 'यत् क्षुरेणेत्युक्तम्' इति (कौशिकसूत्र (७ । ६) ॥

अन्नप्राशनकर्ममें 'शिवौ ते स्तां व्रीहियवौ इन दो ऋचाओं से धान और जौंको पीस कर और अभिमन्त्रित करके बालक को चटा देवे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण भी है, कि–'शिवौ ते स्ताम् इति व्रीहियवौ प्राशयति' ॥

तथा इन दोनों ऋचाओंसे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके गोदान आदिमें कुमारके मस्तक पर लगावे । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि-'शिवौ ते स्तां इति व्रीहियवाभ्याम्'॥

गोदान आदिसंस्कारकर्मोंमें "अहे च त्वा" ऋचासे धान और जौंको अभिमन्त्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि–'अहे च त्वेत्यहोरात्राभ्यां परिददाति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान्

कृणोमि। ते। प्राणापानौ। जराम्। मृत्युम्। दीर्घम्। आयुः।
स्वस्ति।
वैवस्वतेन। प्रऽहितान्। यमऽदूतान्। चरतः। अप। सेधामि।
सर्वान् ॥ ११ ॥

हे आयुष्काम पुरुष ते तव प्राणापानौ शरीरे ऊर्ध्वाधःसंचारिणौ वायू कृणोमि। प्रतिपदं कृणोमि त इति यथोचितं तत्तद्वाक्यशेषोऽध्याहर्तव्यः। ते प्राणापानौ स्थिरौ कृणोमि। जरां मृत्युं च। त्वां यथा न स्पृशतस्तथा कृणोमि। दीर्घम् आयुश्च ते कृणोमि। तथा कृत्वा स्वस्ति। अविनाशिनामैतत्। अविनाशं कृणोमि। कथम् एतत् सर्वं घटते यमदूतेष्वासन्नेषु इति तत्राह। वैवस्वतेन यमेन प्रहितान् प्रेषितान् चरतः आनयनाय व्यापारयतः सर्वान् यमदूतान् अप सेधामि दूरे निराकरोमि। मन्त्रसामर्थ्याद् इत्यभिप्रायः॥

हे आयुष्काम पुरुष! तेरे शरीरमें मैं ऊपर और नीचेको विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंको स्थिर करता हूँ। जरा और मृत्युको भी स्पर्श न करनेवाले करता हूँ, तेरी आयुको दीर्घ करता हूँ। फिर तेरे लिये स्वस्ति करता हूँ (अब शङ्का होती है, कि—यमदूतोंके पास होने पर यह सब बातें कैसे संभव हैं, इस शंकाका उत्तर देनेके लिये कहते हैं, कि—) यमराजके भेजे हुए लेजानेके लिये चेष्टा करते हुए सकल यमदूतोंको मैं मन्त्रशक्तिसे दूर करता हूँ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥१२॥

आरात् । अरातिम् । निःऽऋतिम् । परः । ग्राहिम् । क्रव्यऽअदः पिशाचान् ।

रक्षः । यत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । तत् । तमःऽइव । अप । हन्मसि ॥

अरातिम् अदात्रीं शत्रुभूतां वा पुरोग्राहिम् पुरस्ताद् ग्रहणशीलाम् एवंविधां निर्ऋतिम् पापदेवतां कलहोत्पादिकाम् । "यत्रैतत् कुलं कलहि भवति तन्निर्ऋतिगृहीतम् इत्याचक्षते" इति सूत्रकारवचनात् [कौ० १३. ५] । आरात् हन्मसीति संबन्धः । निकृष्टं हन्मः । तथा क्रव्यादः मांसाशनान् पिशाचान् अप हन्मसि । एवं दुर्भूतम् दुष्टत्वम् आपन्नं यत् सर्वं रक्षोस्ति राक्षसजातिरस्ति । अथ वा दुष्टं च तद् भूतं च दुर्भूतं तादृग् रक्षः तत् तम एव तमोवद् आवरकमेव । तद् अप हन्मः ॥

हम शत्रुभूत पुरोग्रहण करने वाली पापदेवता कलहोत्पादिका निर्ऋतिको निकृष्टरूपसे मारते हैं । मांसभक्षी पिशाचोंको मारते हैं । और जो दुर्भावनारूप सब रक्षस्त्व है उसको पासमें ही मारते हैं, इन अन्धकारकी समान आवरक सबको हम मारते हैं १२

तृतीया ॥

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥

अग्नेः । ते । प्राणम् । अमृतात् । आयुष्मतः । वन्वे । जातऽवेदसः ।

यथा । न । रिष्याः । अमृतः । सऽजूः । असः । तत् । ते ।

कृणोमि । तत् । । ऊं इति । ते । सम् । ऋध्यताम् ॥१३॥

अमृतात् अमरणाद् देवाद् आयुष्मतः चिरजीविनः । "अग्नि-रायुष्मान्" इति हि श्रुतिः [तै० सं० २. ३. १०. ३]। तथा-विधमाहात्म्यवतः अग्नेः सकाशात् हे निर्ऋत्यादिना अपहृतप्राण पुरुष ते प्राणं वन्वे याचे । पुनः कीदृशाद् अग्नेः । जातवेदसः जातप्रज्ञाद् जातधनाद् वा । हे पुरुष त्वं च यथा न रिष्याः हिंसितो न भवेः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । अस्माद् दैवादिकात् लेटि आडागमः ❀ । अमृतः अमरणः सजूः सह प्रीयमाणश्च असः भवेः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । तत् तादृक् शान्तिकर्म ते त्वदर्थं कृणोमि करोमि । तदु तदेव ते तव समृध्यताम् समृद्धं भवतु ॥

हे निर्ऋति आदिके द्वारा अपहृत प्राण वाले मनुष्य ! मैं अमृत अर्थात् न मरने वाले अमर देवता आयुष्मान् जात-वेदा अग्निसे तेरे प्राणकी याचना करता हूँ । हे पुरुष ! तू भी जिस प्रकार हिंसित न हो, अमर और साथ ही साथ प्रसन्न होने वाला हो तिस प्रकार तेरे लिये शान्तिकर्मको करता हूँ, वही तेरे लिये समृद्ध होवे ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।

शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।

शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥१४॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्ऽतापे । अभिऽश्रियौ ।

शम् । ते । सूर्यः । आ । तपतु । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ।

शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्वा । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥

हे कुमार ते तव निष्क्रमणसमये । यद्वा गोदानादिभिः कर्मभिः संस्क्रियमाण पुरुष । ते तव द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देव्यौ शिवे मङ्गले कल्याणकारिण्यौ स्ताम् भवताम् । तथा असंतापे संतापम् अकुर्वत्यौ स्ताम् । अभिश्रियौ आश्रश्रीके श्रीप्रदे स्ताम् । तथा सूर्यश्च ते त्वदर्थं शम् सुखं यथा भवति तथा आ तपतु प्रकाशयतु । एवं ते हृदे हृदयाय मनोनुकूलतायैः वातः वायुः शम् सुखं यथा भवति तथा वातु संचरतु । तथा त्वा त्वां प्रति दिव्याः दिवि भवाः पयस्वतीः बहुभिः पयोभिः स्वाद्वंशैरुपेता आपः शिवाः सत्यः अभि क्षरन्तु अभि स्रवन्तु ॥

हे कुमार ! तेरे निष्क्रमणके समयमें (अथवा हे गोदान आदि से संस्क्रियमाण पुरुष !) तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणकारिणी होवें सन्तापको न देने वाली होवे, लक्ष्मी देने वाली होवें । और सूर्यदेव भी जिस प्रकार तुझको सुख मिले तिस प्रकार तपें, और तेरे हृदयकी अनुकूलता दिखाते हुए वायु भी सुखप्रद होकर बहें । और द्योमें होने वाला स्वादु अंशोंसे सम्पन्न जल कल्याणकारक होते हुआ बहे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।

तत्रं त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसांवुभा ॥ १५ ॥

शिवाः । ते । सन्तु । ओषधयः । उत् । त्वा । अहार्षम् ।

अधरस्याः । उत्तराम् । पृथिवीम् । अभि ।

तत्र । त्वा । आदित्यौ । रक्षताम् । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ॥१५॥

हे कुमार ते [तव] ओषधयः आहारार्थम् उपयुज्यमाना व्रीह्यादयः शिवाः सुखकराः सन्तु भवन्तु । त्वा त्वाम् अधरस्याः पृथिव्याः सकाशाद् उत्तरां पृथिवीम् अभिलक्ष्य उदाहार्षम् उद्धरणम् अकार्षम् । पृथिव्या एकस्या अपि अधरोत्तरभावः अंशभेदेन त्रित्वाद् उपपद्यते । "तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८.] "तिस्रो महीरुपराः" [ऋ० ७. ८७. ५] इत्यादिमन्त्रेषु त्रित्वस्याम्नानात् । अवममध्यमोत्तमभेदेन पृथिव्यास्त्रैविध्यम् आम्नायते मन्त्रान्तरे । "यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्थः" [ऋ० १. १०८. ९] । अतः अवमस्याः सकाशात् परमाम् पृथिवीम् अभिलक्ष्य उद्धरणम् अत्र अभिधीयते । तत्र उत्तरस्यां पृथिव्याम् हे बालक त्वा त्वाम् आदित्यौ अदितेः पुत्रौ देवौ रक्षताम् पालयताम् । कौ तावादित्यौ इति तौ दर्शयति । उभा उभौ सूर्याचन्द्रमसौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् आदेशः ❀ ॥

हे कुमार ! आहारके लिये उपयोगमें आने वाली व्रीहि आदि औषधियें तुझे सुख पहुँचाने वाली होवें, तुझको मैंने नीचेकी पृथिवीसे उत्तरकी पृथ्वीको लक्ष्य करके उद्धृत कर लिया है‡।

---

‡ पृथिवी एक है तब भी अधरोत्तरभाव अंशभेदवश त्रित्व के कारण उत्पन्न होता है । ऋग्वेदसंहिता २ । २७ । ८ में कहा है, कि—"तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् ।—तीन भूमियोंको और

उस उत्तरकी भूमिमें हे बालक ! अदितिके पुत्र सूर्य चन्द्रमा नामक देवता तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् ।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते १६

यत् । ते । वासः । परिऽधानम् । याम् । नीविम् । कृणुषे । त्वम् ।
शिवम् । ते । तन्वे । तत् । कृण्मः । सम्ऽस्पर्शे । अद्रूक्ष्णम् ।
अस्तु । ते ॥ १६ ॥

हे बालक ते तव परिधानम् उपरि आच्छादनीयं यद् वासोस्ति त्वं च यां नीविं कृणुषे । नाभिदेशे संबद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते । मध्यदेशाच्छादनम् इत्यर्थः नीव्यपेक्षया याम् इति स्त्रीलिङ्गव्यपदेशः । तत् द्विप्रकारकं वस्त्रं ते तन्वे तव शरीराय शिवम् सुखकरं कृण्मः । तच्च वस्त्रं संस्पर्शे विषये अद्रूक्ष्णम् अरूक्षं यथा मार्दवम् अश्नुते व्याप्नोति गच्छति तथा कृण्मः ॥

हे बालक ! तेरा जो ऊपरके अङ्गको ढकने वाला परिधान-वस्त्र है, और तू जिस वस्त्रको नीवी करता है (नाभि पर बँधा

तीन भूको धारण किया" ॥ तथा ऋग्वेदसंहिता ७ । ८७ । ५ में भी कहा है कि—"तिस्रो महीरुपराः" ॥ इत्यादि मन्त्रोंसे पृथ्वी के त्रित्वका वर्णन है । अन्य मन्त्रोंमें भी उत्तम मध्यम निकृष्ट-भेदसे पृथिवीके तीन भेदोंका वर्णन है, यथा—ऋग्वेदसंहिता १ । १०८ । ९ में कहा है, कि—"यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यां उत स्थः ।—हे इन्द्र और अग्नि देवताओं ! तुम उत्तर मध्यम और अवम पृथिवीमें हो" ॥

हुआ वस्त्र नीवी कहलाता है) उन दोनों प्रकारके वस्त्रोंको हम तेरे शरीरको सुख देने वाले करते हैं। और वे दोनों वस्त्र जिस प्रकार अरूक्षण (कोमल स्पर्श वाले) हों वैसा करते हैं ॥१६॥

सप्तमी ॥

यत् क्षुरेण मर्चयंता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सुऽतेजसा । वप्ता । वपसि । केशऽश्मश्रु ।
शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥ १७ ॥

यत् यदा हे देव सवितः संस्कारक पुरुष वा त्वं वप्ता केशानां छेत्ता नापितः सन् मर्चयता व्यापारयता सुतेजसा शोभनतेजोयुक्तेन क्षुरेण केशश्मश्रु शिरोरोमाणि मुखरोमाणि च वपसि । यद्यपि वपतिधातुर्बीजसंतानार्थस्तथापि केशसमभिव्याहारात् छेदने वर्तते । तदा वपनं कुर्वन् मुखम् गोदानचौलोपनयनैः संस्क्रियमाणस्य बालस्य मुखं शुभम् दीप्तं तेजस्वि कुरु । वपने सति मुखविकाशभावाद् एवं प्रार्थ्यते । नः अस्माकं पुत्रस्य आयुर्मा प्र मोषीः ॥

हे संस्कारक सवितः ! जब आप मुण्डन करने वाले होकर शोभन तेज वाले व्यापारमें प्रवृत्त छुरेसे शिर और मुखके बालों को मूँड रहे हैं, उस समय गोदान उपनयन और चौलसे संस्क्रियमाण बालकके मुखको दमकता हुआ करिये और हमारे पुत्रकी आयुका अपहरण न करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

शिवौ। ते। स्ताम्। व्रीहिऽयवौ। अबलासौ। अदोमधौ।

एतौ। यक्ष्मम्। वि। बाधेते इति। एतौ। मुञ्चतः। अंहसः १८

हे अन्नम् अश्नन् बालक ते तव व्रीहियवौ अन्नत्वेन कल्पितौ शिवौ स्ताम् मङ्गलौ सुखकरौ भवताम्। अबलासौ शारीरबलस्य अक्षेप्तारौ। बलकरावित्यर्थः। तथाविधौ स्ताम्। तथा अदोमधू उपयोगानन्तरं मधुरौ॥ एवम् इष्टमासिम् आशास्य अरिष्टपरिहारम् आशास्ते। एतौ व्रीहियवौ यक्ष्मम् शरीरगतं रोगं वि बाधेते विशेषेण पीडयतः। एतावेव व्रीहियवौ कुमारम् अंहसः पापाद् मुञ्चतः मोचयतः॥

हे अन्नका भक्षण करते हुए बालक! तेरे अन्नरूपसे कल्पित धान और जौ मंगल देने वाले होवें, शारीरिक बलका क्षय न करने वाले होवें अर्थात् बलको देने वाले होवें और उपयोगके अनन्तर मधुर होवें। ये धान और जौ शरीरगत रोगको विशेषरूपसे बाधा देते हैं, ऐसे ये धान और जौ बालकको पापसे मुक्त करें॥ १८॥

नवमी॥

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।

यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि १९

यत्। अश्नासि। यत्। पिबसि। धान्यम्। कृष्याः। पयः।

यत्। आद्यम्। यत्। अनाद्यम्। सर्वम्। ते। अन्नम्। अविषम्। कृणोमि॥ १९॥

हे कुमार त्वं यद् धान्यं कृच्छ्राद् अश्नासि अभ्यवहरसि। तथा यद् धान्यं कृच्छ्रात् पयः पयोवत्सारभूतं पिष्टमयम् अन्नं

पयोमिश्रितं वा धान्यम् व्रीह्यादिरूपं पिबसि । यद् आद्यम् अद-नीयं सुखेन भक्षणीयम् यच्च अनाद्यम् अदनानर्हं कठिनद्रव्यम् । अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम् । सर्वम् यद् अश्नासीत्यादिना उक्तम् अन्नम् अविषम् निर्विषम् अमृतं कृणोमि करोमि ॥

हे कुमार ! तुम जिस धान्यको कठिनतासे खाते हो, और दुग्धकी समान सारभूत पिसे हुएको-वा दुग्धमिश्रित धान और जौंको पीते हो, और सुखसे खाने योग्य जिस वस्तुको खाते हो वा कटु तिक्त आदि होनेसे कठिन अतएव अनाद्य जिस अन्न को खाते हो तुम्हारे लिये उन सब अन्नोंको मैं निर्विष (अमृत) करता हूँ ॥ १९ ॥

दशमी ॥

अह्ने च त्वा रात्र॑ये चो॒भाभ्यां॒ परि॑ दद्मसि ।
अ॒राये॑भ्यो जिघ॒त्सुभ्य॑ इ॒मं मे॒ परि॑ रक्षत ॥ २० ॥

अह्ने॑ । च॒ । त्वा॒ । रात्र॑ये । च॒ । उ॒भाभ्या॑म् । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ।
अ॒राये॑भ्यः । जि॒घ॒त्सुऽभ्यः॑ । इ॒मम् । मे॒ । परि॑ । र॒क्ष॒त ॥ २० ॥

हे कुमार त्वा त्वाम् अह्ने अहर्देवतायै रात्रये रात्रिदेवतायै च उभाभ्यां देवताभ्यां परि दध्मसि परिदद्मः । रक्षार्थं प्रयच्छामः । उक्तकालद्वयव्यतिरेकेण कालान्तराभावात् तदुभयाभिमानिदेवताके रक्षणे सति सर्वदा बालस्य रक्षा भवतीत्यभिप्रायः । परिदान-प्रकार उच्यते । अरायेभ्यः अधनेभ्यो धनापहर्तृभ्यो वा जिघत्सु-भ्यः अदनेच्छावद्भ्यो भक्षकेभ्यः रक्षःपिशाचादिभ्यः सकाशाद् इमं मे मदीयं बालं परि रक्षत परितः पालयत हे विश्वे देवाः अह्नि संचरद्भ्यो रात्रौ संचरद्भ्यश्च । ❀ जिघत्सुभ्य इति । अदेः

"लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घस्लादेशे "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् ❀ ॥

इत्यष्टमकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे कुमार ! हम तुझको रात्रिके अभिमानी देवताके लिये और दिनके अभिमानी देवताके लिये इस प्रकार दोनों देवताओंको रक्षा करनेके लिये देते हैं । हे सकल देवताओं ! आप घना-पहारकोंसे, खाजाना चाहने वालोंसे तथा दिन और रात्रियें घूमने वाले प्राणियोंसे भी इस बालककी रक्षा करो ॥ २० ॥

अष्टम काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

"शतं तेयुतम्" इत्यस्य सूक्तस्य "आ रभस्व" [८. २] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

गोदानादिषु कर्मसु व्रीहियवौ "शरदे त्वा" इत्यभिमन्त्र्य कुमारस्य मूर्ध्नि दद्यात् । "शरदे त्वेत्यृतुभ्यः" इति हि सूत्रम् [७. ६] ॥

"शतं तेयुतम्" सूक्तका "आरभस्व" (८ । २) के साथ विनियोग कह दिया है ।

गोदान आदि कर्मोंमें धान और जौंको "शरदे त्वा" से अभिमंत्रित करके कुमारके मस्तक पर रक्खे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ६ का प्रमाण है, कि—'शरदे त्वेत्यृतुभ्यः' ।

तत्र प्रथमा ॥

शतं तेयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः २१

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि । चत्वारि । कृण्मः ।

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

हे बालक ते तव शतं हायनान् शतसंख्याकान् संवत्सरान्। "शतायुः पुरुषः" [तै० ब्रा० १, ७, ६, २] इति श्रुतिविहितान् अयुतम् अयुतसंख्याकान् कृण्मः कुर्मः। तथा ते द्वे युगे। जाया-पतिलक्षणम् एकं युगम्। स्त्र्यपत्यपुमपत्यलक्षणम् अपरं युगम्। एवं द्वे युगले। त्रीणि युगानि चत्वारि युगानि च कुर्मः। उपलक्षणम् एतत्। पुत्रपौत्रादिद्वारा अनेकयुगलानि कुर्मः। यद्यपि एक-शतपर्यन्तं जीवनमपि मनुष्याणां न संभवति तथापि आकल्पं जीव कल्पायुष्यम् अस्तु इत्याद्याशीर्दर्शनाद् दीर्घायुषि तात्पर्यं न विरुध्यते। अथवा एवं योजना। हे बालक ते शतं हायनान् कृण्मः। तानेव अयुतं च हायनान् कृण्मः। तानेव द्वे युगे कृण्मः। त्रीणि च युगानि कृण्मः। चत्वारि युगानि कृण्म इति। अयम् अभिप्रायः। तत्र प्रथमं क्रियमाणेन संस्कारविशेषेण सर्वमनुष्य-साधारणान् शतसंवत्सरान् कुर्मः। तानेव अयुतसंख्याकान् कुर्मः। चतुर्णां युगानां संधिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य मिलित्वा अयुतं संवत्सराः स्युः। तान् विभज्य द्वे कलिद्वाप-राख्ये। त्रीणि त्रेतासहितानि। चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्म इति आशास्यते। एवंरूपां प्रार्थनां ते प्रसिद्धा इन्द्राग्नी विश्वे च देवा अहृणीयमानाः ईदृक्प्रार्थना कथं कर्तुं युज्यत इति हृणीं लज्जां क्रोधं वा अकुर्वाणाः सन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुमतिं कुर्वताम्॥

हे बालक! तेरे लिये हम ('शतायुः' पुरुषः।—पुरुष सौ वर्ष की आयु वाला हो सकता है' तैत्तिरीयब्राह्मण १।७।६।२ की श्रुतिमें कहे हुए) सौ वर्षोंको करते हैं अयुत वर्षोंको करते हैं। तेरे लिये हम स्त्रीपुरुषरूप एक युग और पुत्रपुत्री सन्तारूप दो युग इस प्रकार दो युगोंको करते हैं और पुत्र पौत्र आदिके द्वारा दो तीन (आदि अनेक) युगोंको करते हैं इस प्रार्थना पर क्रोध वा लज्जा न करते हुए देवता अनुमति दें॥ २१॥

द्वितीया ॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥२२॥

शरदे । त्वा । हेमन्ताय । वसन्ताय । ग्रीष्माय । परि । दद्मसि ।
वर्षाणि । तुभ्यम् । स्योनानि । येषु । वर्धन्ते । ओषधीः ॥ २२ ॥

हे बालक त्वा त्वां शरदे ऋतवे परि दद्मसि परिदद्मः । परिदानं रक्षार्थं दानम् । हे शरदृतो अमुं रक्षेति प्रयच्छाम इत्यर्थः । तावत्पर्यन्तं जीवन्तं हेमन्ताय परिदद्मः । ततो वसन्ताय । ततो ग्रीष्माय च परिदद्मः । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेभ्योपि ऋतुभ्यः प्रयच्छामीत्युक्तं भवति । सर्वेष्वपि ऋतुषु जीवनस्य अपेक्षितत्वात् । हे बालक तुभ्यं वर्षाणि जीवनकालमध्यपातीनि षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनसंख्याकानि प्रभवादिरूपाणि स्योनानि सुखकराणि । भवन्त्विति शेषः । येषु वर्षेषु ओषधीः ओषध्यः भोगसाधनभूतव्रीह्यादयो वर्धन्ते अभिवृद्धिं प्राप्नुवन्ति । तानि वर्षाणीति पूर्वेण संबन्धः । वर्षाणि स्वीयाभिरभिवृद्धाभिरोषधीभिस्तव सुखकराणि सन्तु इत्यर्थः ॥

हे बालक ! हम तुझको रक्षार्थ शरद् ऋतुके अर्पण करते हैं, हेमन्त वसंत और ग्रीष्म ऋतुके भी अर्पण करते हैं । प्रभव आदि नाम वाले तीनसौ पैसठ दिन रूप वर्ष तुझको सुखद होवें, कि–जिन वर्षोंमें औषधियें बढ़ती हैं । तात्पर्य यह है, कि–अपनेमें बढ़ी हुई औषधियोंसे तेरे जीवनके मध्यमें आने वाले प्रभव आदि सम्वत्सर तुझको सुख देवें ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।

तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः २३

मृत्युः । ईशे । द्विऽपदाम् । मृत्युः । ईशे । चतुःऽपदाम् ।

तस्मात् । त्वाम् । मृत्योः । गोऽपतेः । उत् । भरामि । सः । मा ।

बिभेः ॥ २३ ॥

द्विपदाम् पदद्वयभूतानां मनुष्यपक्ष्यादीनां मृत्युः सर्वप्राणिसंहर्ता देवः ईशे ईष्टे स्वामी भवति । तथा चतुष्पदाम् गवाश्वादीनां मृत्युरेव ईष्टे । न हि मृत्युम् अपलपन् कश्चिदपि प्राणन् दृश्यते ऋते मुमुक्षोः । यस्मादेवं तस्मात् त्वां गोपतेः । गावः पराधीनत्वाद् यथा गोपालं नातियन्ति एवम् एतेपि मृत्योर्वशगा इति मृत्युर्गोपतिरित्युच्यते । अथवा गोशब्देनात्र पशवोऽभिधीयन्ते । पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च । तेषाम् उभयेषां पतिः । तादृशाद् मृत्योः सकाशाद् उद्भरामि उद्धरामि । मन्त्रवीर्याद् इत्यभिप्रायः । स मृत्युभीतस्त्वं मा बिभेः भीतिं मा कार्षीः ॥

मृत्यु मनुष्य पक्षी आदि दो पैर वालोंके स्वामी हैं तथा चार पैर वाले गौ घोड़े आदिके भी स्वामी हैं, इस प्रकारद्विपात् चतुष्पात् मुमुक्षुव्यतिरिक्त अज्ञानी जीवात्मक पशुरूप गौके ईश्वर मृत्युके पाससे मन्त्रशक्तिके प्रभावसे मैं तेरा उद्धार करता हूँ, अतएव मृत्युसे डरा हुआ तू डर मत ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । बिभेः ।

न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अधमम् । तमः २४

हे अरिष्ट । न विद्यते रिष्टं दैवं यस्य सः अरिष्टः दैवविमुख इत्यर्थः । स संबोध्यते । अथवा रिष्टं रेषो हिंसा सा यस्य नास्ति सः अरिष्टः । निरस्तहिंस इत्यर्थः । मृत्युकर्तृकहिंसारहित इति यावत् । तादृश त्वं न मरिष्यसि मृतिं न प्राप्नोषि । दार्ढ्याय पुनराह । न मरिष्यसि त्वम् अतो मा बिभेः मरिष्यामीति भीतिं मा प्राप्नुहि । भीत्यभावे कारणम् आह न वै तत्रेति । तत्र तस्मिन् शान्तिकर्मविषये तस्मिन् शान्तिकर्मयुक्ते देशे वा । उत्तरमन्त्रे "यत्रेदं ब्रह्म क्रियते" इति वक्ष्यमाणत्वात् । न म्रियन्ते वै न प्राणं त्यजन्ति खलु । वैशब्दः प्रसिद्धौ । सा च महाशान्तिकृत्सु पुरुषेषु सार्वजनीना । मा भून्मृतिः । अधमतमःप्राप्तिः किम् अस्ति सापि नेत्याह नो यन्त्यधमं तम इति । अधमं तमः मरणकालीना दुःसहा मूर्छा । तामपि नैव प्राप्नुवन्ति । यद्वा मृत्यनन्तरं दुष्कर्मभिः प्राप्तव्यं सवितृप्रकाशशून्यम् अधोलोकस्थं तमिस्रम् । तस्य प्राप्तिर्नैवेत्यर्थः ॥

हे मृत्युकर्तृक हिंसारहित-अरिष्ट ! तू मरेगा नहीं, तू मरेगा नहीं, अतः मैं मर जाऊँगा-ऐसा भय न कर । इस शांतिकर्म युक्त देशमें पुरुष मरते नहीं हैं और इस शांति करने वालोंको अधम तम अर्थात् मृत्युके समयकी मूर्छा नहीं होती है । अथवा-इस शान्तिकर्मको करने वाले मरणके अनन्तर दुष्कर्मोंसे प्राप्त होने वाले सूर्यके प्रकाशसे रहित नीचेके लोकमें स्थित तमिस्रको भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

सर्वो॒ वै तत्र॑ जीवति॒ गौरश्व॒ः पुरु॑षः प॒शुः ।

यत्रे॒दं ब्रह्म॑ क्रि॒यते॑ परि॒धिर्जीव॑नाय॒ कम् ॥ २५ ॥

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ।

यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परिऽधिः । जीवनाय । कम् २५

पूर्वमन्त्रे सोरिष्ट न मरिष्यसि न वै तत्र म्रियन्त इति यदुक्तं तदेव अस्मिन् मन्त्रे सोपपत्तिकं विस्पष्टीक्रियते । अर्थस्तु स्पष्ट एव । सर्वशब्दस्य विवरणं गौरश्व इत्यादि । ब्रह्म परिवृढं महाशान्त्याख्यं कर्म । परिधिः रक्षःपिशाचादिनिवारकः प्राकारः । यथा यज्ञे अग्नेः परिधिः एवम् । तस्य परिधानं किमर्थम् इति तत्राह जीवनाय कम् इति । जीवनायेत्येतावतो नाधिकम् कम् इत्यस्य पूरणार्थत्वात् । ❁ तथा च यास्कः । "मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्" इत्युक्त्वा उदाजहार । "शिशिरं जीवनाय कम् इति शिशिरं जीवनाय" इति [नि० १. १०] ॥

जहाँ यह महाशान्तिकर्म राक्षस पिशाच आदिको रोकनेवाले परकोटेरूपमें जीवनार्थ किया जाता है तहाँ गौ अश्व पुरुष पशु आदि सब ही जीवित रहते हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अममिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्

परि । त्वा । पातु । समानेभ्यः । अभिऽचारात् । सबन्धुऽभ्यः ।
अमम्रिः । भव । अमृतः । अतिऽजीवः । मा । ते । हासिषुः । असवः ।
शरीरम् ॥ २६ ॥

हे शान्त्यर्थिन् पुरुष त्वा त्वां मया कृतं शान्तिकर्म परि परितः पातु पालयताम् । कुतः सकाशात् । समानेभ्यः विद्यैश्वर्यपराक्रमैः सदृशेभ्योऽन्येभ्यः । तथा सबन्धुभ्यः समानबन्धुभ्यः । अभिचारात् तत्कृतात् हिंसाप्रयोगात् । त्वं च अमम्रिः अमरणशीलो

भव । तथा अमृतः मृतिरहितः अतिजीवः अतिशयितजीव भव । ते तव शरीरम् असवः प्राणाः चक्षुरादीन्द्रियरूपा अमुख्यप्राणाः प्रसिद्धा मुख्यप्राणाश्च मा हासिषुः मा जह्युः ॥

हे शान्तिको चाहने वाले पुरुष ! मेरा किया हुआ शान्तिकर्म चारों ओरसे तेरी रक्षा करे । विद्या ऐश्वर्य आदिमें समान अन्य पुरुषोंसे, समान बन्धुओंसे, उनके किये हुए अभिचारसे शांतिकर्म तेरी रक्षा करे । तू अमरणशील अमृत और चिरकाल तक जीवित रहने वाला हो, चक्षु आदि गौण प्राण और मुख्यप्राण तेरे शरीरको न छोड़ें ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥२७॥

ये । मृत्यवः । एकऽशतम् । याः । नाष्ट्राः । अतिऽतार्याः ।
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥२७॥

ये प्रसिद्धा मृत्यवः हिंसका यमस्य हेतयः ज्वरशिरोव्यथादयः एकशतम् एकशतसंख्याका मुख्यभूताः सन्ति । याश्च नाष्ट्राः नाशकारिण्यः अतितार्याः अतितरीतव्या लङ्घनीया हिंसिकाः सन्ति । तस्मात् उक्ताद् द्विविधाद् मृत्युरूपाद् नाष्ट्रारूपाच्च त्वां देवाः इन्द्रादयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु । तथा वैश्वानराद् अग्नेरधि । अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । अग्नेः सकाशात् त्वां मुञ्चन्तु ॥

जो (यमकी आयुधरूप ज्वर, शिरकी पीड़ा आदिरूप) एक सौ (मुख्य) मृत्युएँ (नाशिका शक्तियें) हैं और जिनको लाँघा नहीं जासकता ऐसी नाशकारिणी नाष्ट्रा शक्तियें हैं । उन मृत्यु और नाष्ट्रा दोनों प्रकारकी शक्तियोंसे इन्द्र और देवता तुझको मुक्त करें । और वैश्वानर अग्निसे भी तुझको मुक्त रक्खें २७

अष्टमी ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षःऽहा । असि । सपत्नऽहा ।
अथो इति । अमीवऽचातनः । पूतऽद्रुः । नाम । भेषजम् ॥ २८ ॥

अनेन मन्त्रेण पूतद्रुनामकः सर्वारिष्टनिवर्तको रक्षामण्युपादानभूतो वृक्षविशेषः कथ्यते । हे पूतद्रो त्वम् अग्नेः पारयिष्णु पारमापकं शरीरम् असि । वृक्षस्यान्तः अग्नेरवस्थानात् शरीरत्वव्यपदेशः । विशेषतः अस्य वृक्षस्य शरीरत्वाभिधानम् । अथवा पारयिष्णुरिति पृथग्विशेषणम् । स्वनिर्दिष्टव्यापारस्य पारमापकः रक्षोहा रक्षसां हन्ता असि भवसि । सपत्नहा शत्रुहन्ता च असि । अथो अपि च अमीवचातनः रोगस्य प्रच्यावकः । एवंमहिमा त्वं पूतद्रुर्नाम पूतद्रुसंज्ञकं भेषजम् औषधम् । तादृशस्त्वम् अभिमतं साधयेति शेषः ॥

इत्यथर्वसंहिताभाष्ये अष्टमकाण्डे प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे (सर्वारिष्टनिवारक रक्षामणिके उपादान) पूतद्रु नामक वृक्ष ! तू अग्निका पारमापक शरीर है (अर्थात् तेरे भीतर अग्नि रहता है) और तू राक्षसोंका मारने वाला है और शत्रुओंका संहार करने वाला है और रोगोंका दूर करने वाला है और पूतद्रु औषध है । ऐसा पूतद्रु हमारे अभीष्टको सिद्ध करे ॥२८॥

अथर्ववेदसंहिताके अष्टम काण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

द्वितीयेऽनुवाके षट् सूक्तानि । अस्यानुवाकस्य चातनगणे पाठात् "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ० ४. १] इत्युक्तेषु कर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि कथ्यन्ते । रक्षोग्रहपिशा-

चादिभैषज्यार्थम् अनेनानुवाकेन फलीकरणतुषपलाशकलानाम् अन्यतमं जुहुयात् । एतैरेव धूपयेद् वा ॥

तथा अनेनानुवाकेन पिशाचादिग्रस्तं पुरुषम् अनुमृयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन त्रपुसमुसलखदिरसर्षपाणाम् अन्यतमस्य समिध आदध्यात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि खादिरान् शंकून् लोहमयान् ताम्रमयान् वा विषमसंख्यान् निखननार्थं "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकेन अभिमन्त्रयेत । तप्तशर्करा अभिमन्त्र्य शयनादौ परिकिरेद् वा ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन सूत्रोक्तरीत्या यवसक्तून् जुहुयात् ॥

तथा असाध्यग्रहवशीकरणार्थम् अनेनानुवाकेन वीरणतूलसहितम् इङ्गिडाज्यं पलाशपर्णपृष्ठभागेन जुहुयात् ॥

तथा गृहादौ ग्रहपिशाचादिसद्भावासद्भावशङ्कायाम् अनेनानुवाकेन सर्पपेध्मं शरमयं बर्हिश्च अभिमन्त्र्य गृहस्योपरि स्थापयेत् । प्रभाते इध्माबर्हिषोर्विकारे ग्रहास्तित्वं जानीयात् ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि वैश्रवणनमस्कारानन्तरम् अनेनानुवाकेन उदकम् अभिमन्त्र्य ग्रहगृहीतम् आचामयेत् मोक्षयेद् वा रात्रौ उल्मुकद्वयम् अभिमन्त्र्य संघर्षयेद् वा ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम् । त्रपुसमुसलखदिरताष्ट्रार्घानाम् आदधाति । अयुग्मान् खादिरान् शंकून् अदयो नि विध्य [५. २९, ४] इति पश्चाद् अग्नेः समं भूमिं निखनति । एवम् आयस लोहान् । तप्तशर्कराभिः शयनं राशिपन्यानि परिकिरति । अमावास्यायां सकृद्गृहीतान् यवान् अनपहतान् अप्रतीहारपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य ताष्ट्रार्घेध्म आगपति । य आगच्छेतं ब्रूयाच्छणशुल्बेन जिह्वां निमृजानः शालायाः प्रस्कन्देति । तथाऽकुर्वन्नना । अधे हुवाने ।

वीरिणतूलमिश्रम् इङ्गिडं मधुदेन जुहोति । इध्माबर्हिः शालायाम् आसजति अपरेद्युर्विकृतो पिशाचतो रुजति । उक्तो होमः । वैश्रवणायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामयत्यभ्युक्षति । निरयुन्मुक्के संघर्षति" इति [कौ० ४. १] ॥

तथा शान्त्युदकाभिमन्त्रणे "चातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्" [शा० क० १६] इत्यादिषु च अस्यानुवाकस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

तथा वशाशमनकर्मणि पशुसंज्ञपनानन्तरं "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकं जपेत् । सूत्रितं हि । "अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्तः [२. ३४. ५] इति दक्षिणतस्तिष्ठन् रक्षोहणम् [८.३] जपति" इति [कौ०.५. ८] ॥

तथा घृतकम्बलाख्ये महाभिषेके अभिषेकानन्तरं "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकं जपेत् । "बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम्" इति प्रक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

ब्राह्मणाः स्वस्ति वाच्याथ प्राङ्मुखः संविशेत् ततः ।
रक्षोहणम् अनुवाकं जपेद् कर्ताथ ऋत्विजः । इति ॥

दूसरे अनुवाकमें छः सूक्त हैं । इस अनुवाकका चातनगणमें पाठ है, अत एव इसका "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम् ।–चातनोंके कहनेसे व्याख्यात होगया" कौशिकसूत्र ४ । १ इत्यादि में कहे हुए कर्मोंमें विनियोग होता है । वे कर्म ये हैं । राक्षस ग्रह पिशाच आदिकी चिकित्साके लिये इस अनुवाकसे फलीकरण तुष और तृणके टुकड़ेमेंसे एककी आहुति देय । वा इन्ही से धूप देय ।

तथा इस अनुवाकसे पिशाच आदिसे ग्रस्त पुरुषसे उसके बातें करने पर पढ़े ।

तथा उसी कर्ममें इस अनुवाकसे राँग मूसल खैर और सरसों इनमेंसे एककी समिधाओंको रक्खे ।

तथा इसी कर्ममें खैरके वा लोहेके अथवा ताँबेके विषमसंख्यक (१।३।५ आदि) खूँटोंको खोदनेके अर्थ "रक्षोहणम्" अनुवाकसे अभिमन्त्रित करे। गरम रेतेको अभिमन्त्रित करके खाट आदि पर बखेर देय।

तथा इसी कर्ममें इस अनुवाकसे सूत्रमें कही हुई रीतिके अनुसार जौके सत्तुओंकी आहुति देय।

तथा असाध्य ग्रहको वशमें करनेके लिये इस अनुवाकसे खस के रेशेसहित इङ्गिडघृतकी पलाशके पत्तेकी पीठके द्वारा आहुति देय।

तथा घर आदिमें पिशाचके होने न होनेकी शंका होने पर इस अनुवाकसे सरसोंके ईंधनको तथा सेंटोंसहित कुशाको भी अभिमन्त्रित करके घरके ऊपर धर देय। प्रभातके समय ईंधन और कुशामें विकार हो जाय तो ग्रह आदि है—यह समझे।

इसी कर्ममें कुबेरको नमस्कार करनेके अनन्तर इस अनुवाक से जलको अभिमन्त्रित करके ग्रहगृहीतको पिला देय वा मोक्षण करे अथवा—रात्रिमें दो उल्मुकोंको अभिमन्त्रित करके संघर्षण करे

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्। त्रपुसमुसलखदिरताष्टर्यधानां आदधाति। अपण्यान् खादिरान् शंकून् अदग्धौ निबध्य (५।२६।४) इति पश्चाद् अग्नेः समं भूमिं निखनति। एवं आयसलोहान्। तप्तशर्कराभिः शयनं राशिपल्यानि परिकिरति। अमावास्यायां सकृद्गृहीतान् यवान् अनपहतान् अप्रतीहारपिष्टान् आभिचारिकं परिस्तीर्य ताष्टर्येध्म आवपति। य आगच्छेत्तं ब्रूयाच्छ्लक्ष्णशुल्बेन जिह्वां निमृजानः शालायाः मस्कन्देति। तथाऽऽकुर्वन्नना। अघेह्वाने। वीरिणतूलमिश्रं इंगिडं मपुटेन जुहोति। इध्माबर्हिः शालायां प्रासजति। अपरेद्युर्विकृतौ पिशाचतो रुजति। उक्तो होमः। वैश्रवणायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामत्यभ्युक्षति। निशयुल्मुके संघर्षति"। (कौशिकसूत्र ४।१)॥

तथा शान्त्युदकके अभिमन्त्रणमें "यातनैर्मातृनामभिर्जुहुयात्" (शान्तिकल्प १६) इत्यादिमें भी इस अनुवाकका गणप्रयुक्त विनियोग करना चाहिये।

तथा वशाशमनकर्ममें पशुसंज्ञपनके अनन्तर 'रक्षोहणम्' अनुवाकका जप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्तः (२ । ३४ । ५) इति। दक्षिणतस्तिष्ठन् रक्षोहणम् (८।३) जपति"। (कौशिक ५।८)

तथा घृतकम्बल नामक महाभिषेकमें भी अभिषेकके अनन्तर "रक्षोहणम्" अनुवाकका जप करे। "बृहस्पतिर्महेन्द्राय चकार घृतकम्बलम् ।-बृहस्पतिजीने महेन्द्रके लिये घृतकम्बलको किया था" कह कर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि-"ब्राह्मणाः स्वस्तिवाच्याथ प्राङ्मुखः संविशेत्ततः । रक्षोहणं अनुवाकं जपेत् कर्ताथ ऋत्विजः ॥-ब्राह्मण स्वस्तिवाचन कर पूर्वकी ओर मुख करके बैठें फिर कर्ता रक्षोहण अनुवाकका जप करे।०" ॥

तत्र प्रथमा ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म। शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रक्षःऽहनम् । वाजिनम् । आ । जिघर्मि । मित्रम् । प्रथिष्ठम् । उप । यामि । शर्म ।

शिशानः । अग्निः । क्रतुऽभिः । सम्ऽइद्धः । सः । नः । दिवा । सः । रिषः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

एतदनुवाकविनियोजकसूत्रोक्तफलकामोहं रक्षोहणम् रक्षसाम्

अपहन्तारं वाजिनम् वाजो बलं तत्साधनम् अन्नं वा तद्वन्तम् अग्निम् आ जिघर्मि घृतं सर्वतः क्षारयामि। जुहोमीत्यर्थः। यद्वा दीपयामि समिन्धे। आज्यादिनेति शेषः। तथा कृत्वा मित्रम् सखिभूतं मयिष्ठम् पृथुतरं तम् अग्निं शर्म शरणम् उप यामि उपगच्छामि। अथ वा शर्म सुखम्। लब्धुम् इति शेषः। सोऽग्निः शिशानः ज्वालास्तीक्ष्णीकुर्वन्। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लौ अभ्यासस्य इत्वम्। आत्वम्। शानच् ❀। क्रतुभिः क्रत्वङ्गभूतैराज्यादिभिः कर्मभिर्वा समिद्धः सम्यग्दीप्तः। भवत्विति शेषः। स तादृशो रक्षोहा अग्निः नः अस्मान् रिषः हिंसकात् दिवा अहनि पातु रक्षतु। स एव अग्निः नक्तम् रात्रौ रिषः सकाशात् पातु। सर्वेष्वहःसु सर्वासु च रात्रिषु पात्वित्यर्थः॥

इस अनुवाकका विनियोग करने वाला मन्त्रोक्त फलको चाहने वाला मैं राक्षसोंको मारने वाले बलवान् अग्निदेव पर चारों ओर से घृत टपकाता हूँ। अग्निको दीप्त करता हूँ ऐसा करनेके उपरान्त मित्ररूप विशाल अग्निकी सुख पानेके लिये शरण लेता हूँ। वह अग्नि ज्वालाओंको तीक्ष्ण करता हुआ क्रतुके अंग घृत आदिसे भली प्रकार प्रदीप्त होवे। ऐसे अग्निदेव दिनके समय हमें हिंसकोंसे बचावें॥ १॥

द्वितीया॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन्॥

अयःऽदंष्ट्रः। अर्चिषा। यातुऽधानान्। उप। स्पृश। जातऽवेदः। सम्ऽइद्धः।

आ । जिह्वया । मूरऽदेवान् । रभस्व । क्रव्यऽअदः । वृष्ट्वा । अपि ।

धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने समिद्धः अस्मदत्तैराज्यादिभिः सम्यग्दीप्तस्त्वम् अयोदंष्ट्रः अयोमयदन्तयुक्तः सन् अर्चिषा ज्वालया क्रूरया यातुधानान् यातवो यातनास्ता एषु धीयन्ते यातुधानाः तान् उप स्पृश । संदहेत्यर्थः । तथा मूरदेवान् मूलेन औषधेन दीव्यन्ति परेषां हननाय क्रीडन्तीति मूरदेवाः तान् । अभिचरत इत्यर्थः । अथ वा "मूरा अमूर" इत्यत्र यास्केन "मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्वम् असि" [नि० ६. ८] इत्युक्तत्वात् मूढाः कार्याकार्यविभागबुद्धिशून्याः सन्तो ये दीव्यन्ति ते मूरदेवाः तान् जिह्वया ज्वालया आ रभस्व स्पृश । दहेत्यर्थः । तथा क्रव्यादः मांसभक्षकान् रक्षःपिशाचादीन् वृष्ट्वा घर्षित्वा । ❀ इडभावश्छान्दसः ❀ । आसन् तव आस्ये । ❀ "पद्दन्०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः ❀ । अपि धत्स्व अपिधानं कुरु ओष्ठाभ्याम् आच्छादय । भक्षयेत्यर्थः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! हमारे दिये हुए घृत आदिसे भली प्रकार बढ़े हुए आप लोहेके दाँत करके अपनी क्रूर ज्वालासे यातुधानों का स्पर्श करिये और औषधिसे क्रीड़ा करने वाले अर्थात् अभिचारक पुरुषोंको अपनी ज्वालासे भस्म करिये और मांसभक्षक राक्षस पिशाच आदिको दबा कर अपने मुखमें धर लीजिये ॥२॥

तृतीया ॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्

उभा। उभयाविन्। उप। धेहि। दंष्ट्रौ। हिंस्रः। शिशानः।

अवरम्। परम्। च।

उत। अन्तरिक्षे। परि। याहि। अग्ने। जम्भैः। सम्। धेहि।

अभि। यातुऽधानान्॥ ३॥

हे उभयाविन् उभयवन् अयं रक्षणीयः अयं हन्तव्यः इत्युभयविषजनपरिज्ञानवन्। यद्वा अवरं परं चेति वक्ष्यमाणौ अवरपरौ उभयशब्देन उच्येते। तदुभयवन् हिंस्रः हिंसनशीलः शिशानः तीक्ष्णज्वालस्तीक्ष्णदन्तो वा अवरम् अस्मत्तो निकृष्टं द्वेष्यं परं च अस्मत्तोधिकं द्वेष्यं च उभा दंष्ट्रौ उभे दंष्ट्रे उप धेहि उपहिते कुरु दंष्ट्रान्तर्वर्तिनौ कुरु। खादेत्यर्थः॥ उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे परि याहि संचर। हे अग्ने संचर्यं च मम बाधनाय तत्र संचरतो यातुधानान् रक्षःप्रभृतीन् जम्भैः दन्तैः अभि सं धेहि अभिसंहितान् संदष्टान् कुरु। यद्वा यातुधानान् अभि अन्तरिक्षे परि याहि। तान् एव जम्भैः सं धेहि॥

हे यह मारने योग्य है और यह रक्षा करने योग्य है—इस प्रकार दोनोंको जानने वाले हिंसनशील, तीक्ष्ण ज्वाला वाले अग्ने! आप अपनी ऊपरकी और नीचेकी दोनों डाढ़ोंको हमसे श्रेष्ठ और निकृष्ट शत्रुओंको मारनेके लिये बन्द करिये। और आकाशमें विचरण करिये और तहाँ विचरण करके हे अग्ने! मुझे पीड़ा देनेके लिये विचरते हुए यातुधानोंको अपने दाँतोंसे काटिये॥ ३॥

चतुर्थी॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा

हन्त्वेनम्।

प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने । त्वचम् । यातुऽधानस्य । भिन्धि । हिंस्रा । अशनिः । हरसा । हन्तु । एनम् ।

प्र । पर्वाणि । जातऽवेदः । शृणीहि । क्रव्यऽअत् । क्रविष्णुः । वि । चिनोतु । एनम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वं यातुधानस्य रक्षआदेः त्वचम् बाह्यधातुं भिन्धि छिन्धि भिन्नां कुरु । तव च हिंस्रा अशनिः हिंसको वज्रो हरसा तापेन एनं यातुधानं हन्तु हिनस्तु । पूर्वं त्वचः कर्तनं प्रार्थ्य तावता अपरितुष्टमना आह प्र पर्वाणीति । हे जातवेदः जातधन जातप्रज्ञ वा अग्ने यातुधानस्य पर्वाणि शरीरग्रन्थीन् प्र शृणीहि प्रकर्षेण भिन्नानि कुरु । तथा कृते क्रव्यात् मांसभक्षको वृकादिः क्रविष्णुः क्रव्यम् इच्छन् एनं यातुधानं वि चिनोतु इतस्ततो भक्षणाय आकृष्य विप्रकीर्णं करोतु ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानकी बाह्यधातु त्वचाको भेद दीजिये । और आपका हिंसक वज्र इस यातुधानको अपने तेजसे नष्ट कर डाले हे जातवेदा अग्ने ! आप यातुधानोंके जोड़ोंको बखेर दीजिये । ऐसा होनेके उपरान्त मांसभक्षक भेड़िया आदि मांसको चाहता हुआ इस यातुधानको इधर उधरको खचेड़े ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ५ ॥

यत्र। इदानीम्। पश्यसि। जातऽवेदः। तिष्ठन्तम्। अग्ने। उत।
वा। चरन्तम्।
उत। अन्तरिक्षे। पतन्तम्। यातुऽधानम्। तम्। अस्ता। विध्य।
शर्वा। शिशानः॥ ५॥

हे जातवेदः अग्ने त्वं यत्र यस्मिन् देशे इदानीम् अस्मिन् काले अस्मदुपद्रवकाले पश्यसि यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसादिकम्। कथंभूतम् इति तत्राह। तिष्ठन्तम् कस्मिंश्चिद् देशे स्थितिं कुर्वाणम् उत वा अपि वा चरन्तम् एकत्र अवस्थितिम् अकुर्वाणम् उत अपि च अन्तरिक्षे आकाशे पतन्तम् गच्छन्तं तं यातुधानम् अस्ता क्षेप्ता त्वं शिशानः तीक्ष्णः सन् शर्वा शरुणा विध्य ताडय॥

हे जातवेदा अग्ने! आप इस उपद्रवके समय जिस देशमें हम पर उपद्रव करने वाले राक्षस आदिको कहीं बैठे हुए वा विचरते हुए वा अन्तरिक्षमें विचरते हुए देखें तो आप उसको फूँक दीजिये और तीक्ष्ण होकर अपनी हिंसक ज्वालासे बींध डालिये॥ ५॥

षष्ठी॥

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम्॥ ६॥

यज्ञैः। इषूः। सम्ऽनममानः। अग्ने। वाचा। शल्यान्। अशनिऽभिः। दिहानः।

ताभिः । विध्य । हृदये । यातुऽधानान् । प्रतीचः । बाहून् । प्रति । भङ्ग्धि । एषाम् ॥ ६ ॥

हे अग्ने यज्ञैः अस्मदनुष्ठितैर्यागैः प्रयोगैः इषूः तव बाणान् संनममानः ऋजूकुर्वन् वाचा स्तुत्यात्मकमन्त्ररूपया शल्यान् बाणाग्राणि दिहानः दिग्धान् कुर्वन् तीक्ष्णीकुर्वन् वा । अशनिभिरित्येतद् व्यवहितमपि सामर्थ्याद् यज्ञविशेषणम् । अशनिसदृशै रक्षोघातुकैर्यज्ञैरित्यर्थः । अथ वा वाचा अशनिभिः वाङ्मयैर्दीप्तैः शाखैः दिहानः तीक्ष्णीकुर्वन् ताभिरिषुभिर्बाणैः यातुधानान् हृदये हृदयप्रदेशे विध्य ताडय । ततः एषां यातुधानानां बाहून् भुजान् प्रतीचः प्रति भङ्ग्धि अस्माकं वधाय प्राचः सतः प्रतीचः कृत्वा भङ्ग्धि मर्दय भग्नान् कुरु ॥

हे अग्ने ! हमारे अनुष्ठित यागोंसे अपने बाणोंको सरल करते हुए, स्तुतिमन्त्ररूपा वाणीसे बाणोंके अग्रभागको तीक्ष्ण करते हुए आप शत्रुओंके हृदयोंको बींध डालिये । फिर इन यातुधानोंकी हमको ताड़ित करनेके लिये हमारी ओर चलती हुई भुजाओंको तोड़ डालिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान् ।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आऽरब्धान् । स्पृणुहि । जातऽवेदः । उत । आऽरेभाणान् । ऋष्टिऽभिः । यातुऽधानान् ।

अग्ने॑ । पूर्वः॑ । नि । जहि॒ । शोशु॑चानः । आम॒ऽअदः॑ । दिव॒ङ्काः॑ ।

तम् । अ॒दन्तु॒ । एनीः॑ ॥ ७ ॥

उत अपि च हे जातवेदः अग्ने त्वम् आरब्धान् त्वां स्तोतुं प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय । उत अपि च आरेभाणान् शब्दं कृतवतो यातुधानान् ऋष्टिभिः आयुधैर्घातय । किं च हे अग्ने त्वं पूर्वः शत्रुतः प्रथमभागः सन् शोशुचानः ज्वलन् तान् यातुधानान् नि जहि मारय । अथ एकवद् अभिधानम् । तं हतम् आमादः अपक्वमांसाशाना एनीः एतवर्णाः शुभ्रवर्णाः संध्यावर्णा वा दिवङ्काः पक्षिविशेषाः अदन्तु भक्षयन्तु ॥

हे अग्ने! आपकी स्तुति करते हुए हमारा आप पालन करिये । और शब्द करते हुए यातुधानोंको आयुधोंसे मारिये । और आप पहिले ही प्रदीप्त होकर उन यातुधानोंको मार डालिये । उन मरे हुए यातुधानोंको अपक्व मांसका भक्षण करने वाले दिवंक नामक शुभ्र वर्णके पक्षी मार कर खा जावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

इ॒ह प्र ब्रू॑हि यत॒मः सो अ॑ग्ने यातु॒धानो॒ य इ॒दं कृ॒णोति॑ ।
तमा र॑भस्व स॒मिधा॑ यविष्ठ नृ॒चक्ष॑स॒श्चक्षु॑षे रन्धयैनम् ॥

इ॒ह । प्र । ब्रू॒हि॒ । य॒त॒मः । सः । अ॒ग्ने॒ । या॒तु॒ऽधानः॑ । यः । इ॒दम् । कृ॒णोति॑ ।

तम् । आ । र॒भ॒स्व॒ । स॒म्ऽइधा॑ । य॒वि॒ष्ठ॒ । नृ॒ऽचक्ष॑सः । चक्षु॑षे । र॒न्ध॒य॒ । ए॒न॒म् ॥ ८ ॥

हे अग्ने इह अस्मिन् प्रकृते शान्तिविषये यो यातुधानः राक्षसः

इदं शरीरपीडनादिकं कृणोषि। कृणोतीत्यर्थः। अथवा यस्त्वम् इदं प्रहरणं कृणोषि करोषि सः प्रहारविषयः प्रहारकर्ता वा यातुधानो यतम इति प्र ब्रूहि आचक्ष्व। अथ वा किं तेन तत्स्वरूपपरिज्ञानेन। तं घातकं पापिनम् हे यविष्ठ्य युवतम। ❀ स्वार्थिको यत् ❀। समिधा दाहिकया ज्वालया आ रभस्व स्पृश। दहेत्यर्थः। एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह। हे अग्ने एनं पापिनं नृचक्षसः नॄन् पश्यतीति नृचक्षाः सुकृतिनां पापिनां प्राणिनां च साक्षितया द्रष्टुस्तव चक्षुषे चक्षुषः रन्धय वशं प्रापय। दहेत्यर्थः॥

हे अग्ने! इस प्रकृत शान्तिविषयमें जो राक्षस इस शरीरपीड़न आदि कर्मको कर रहा है उसको बताइये। और उस घातकको हे यविष्ठ! अपनी दाहिका ज्वालासे स्पर्श करिये। हे अग्ने! उस पापीको सुकृती और दुष्कृती मनुष्योंको साक्षीरूपसे देखने वाली अपनी दृष्टिके वशमें करिये—भस्म करिये॥ ८॥

नवमी॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

तीक्ष्णेन। अग्ने। चक्षुषा। रक्ष। यज्ञम्। प्राञ्चम्। वसुऽभ्यः। प्र। नय। प्रऽचेतः।
हिंस्रम्। रक्षांसि। अभि। शोशुचानम्। मा। त्वा। दभन्। यातुऽधानाः। नृऽचक्षः॥ ९॥

हे अग्ने त्वं तीक्ष्णेन क्रूरेण चक्षुषा भयंकरेण दर्शनेन उक्तविधेन तेजसा वा यज्ञम् अस्मदीयं रक्ष पालय। हे प्रचेतः प्रकृष्टमनः अस्मासु कृपाचित्त त्वम् अस्मदीयं तं यज्ञं वसुभ्यः वासकेभ्यो देवेभ्यः प्राञ्चं प्रणय प्रगमय। हे नृचक्षः नृणां द्रष्टः अग्ने यज्ञरक्षासमये हिंस्रम् हिंसाशीलं रक्षांसि राक्षसान् वा अभिशोशुचानम् अभितो भृशं दीपयन्तं दहन्तम्। ❀ शुचेर्यङ्लुगन्ताच्छतरि रूपम् ❀। तादृशं त्वा त्वां यातुधानाः राक्षसा मा दभन् मा हिंसिषुः॥

आप अपने भयङ्कर नेत्रसे यज्ञकी रक्षा करिये। हे कृपायुक्त चित्त वाले अग्निदेव! आप हमारे यज्ञको वासक देवताओंके लिये शीघ्रतासे पहुँचाइये। हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने! यज्ञरक्षा के समय चारों ओरसे प्रदीप्त होकर राक्षसोंको मारते हुए तुम हिंसकको राक्षस न दबा सकें॥ ९॥

दशमी॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।

तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥

नृऽचक्षाः। रक्षः। परि। पश्य। विक्षु। तस्य। त्रीणि। प्रति। शृणीहि। अग्रा।

तस्य। अग्ने। पृष्टीः। हरसा। शृणीहि। त्रेधा। मूलम्। यातुऽधानस्य। वृश्च॥ १०॥

हे अग्ने नृचक्षाः नृणाम् अनुग्राह्याणां निग्राह्याणां च द्रष्टा त्वं

विक्षु प्रजासु मध्ये पीडयद् रक्षः राक्षसं परि पश्य परितः अव-लोकय। तथा कृत्वा तस्य रक्षसः त्रीणि अग्रा अग्राणि उपरि-भागान् प्रति शृणीहि। प्रत्येकं छिन्धीत्यर्थः। तस्यैव पृष्टीः पार्श्वा-स्थीनि हे अग्ने हरसा तेजसा शृणीहि छिन्धि। तथा तस्य यातु-धानस्य मूलम् पादप्रदेशं त्रेधा त्रिधा छिन्धि। पादस्य त्रीणि पर्वा-णीत्यर्थः॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

हे दण्ड और अनुग्रहके पात्र मनुष्योंको देखने वाले अग्ने! आप प्रजाओंको पीड़ित करने वाले राक्षसको चारों ओर देखिये और देखकर राक्षसके ऊपरके तीन अंगोंको छिन्न भिन्न करिये हे अग्ने! उसकी पसलियोंको तेजसे छिन्न भिन्न कर डालिये। और उसके पैरके तीन अवयवोंको काट दीजिये॥ १०॥

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त॥

"त्रिर्यातुधानः" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनेन उक्तो विनियोगः॥ गवां लोहितदोहलक्षणाद्भुतशान्त्यर्थं "यः पौरुषे-येण" [१५–१८] इति चतुर्ऋचेन आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं हि। "अथ यत्रैतद् धेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभि-श्चतसृभिर्जुहुयात्" इति [कौ० १३. २०]॥

"त्रिर्यातुधानः" सूक्तका "रक्षोहणम्" सूक्तके साथ विनि-योग कह दिया है।

गौओंके रक्त दुहनेकी अद्भुतशान्तिके लिये "यः पौरुषेयेण" इन पन्द्रहवेंसे अठारहवें तकके चार मन्त्रोंसे घृतकी आहुति देय। कौशिकसूत्र १३। २० में कहा भी है, कि—"अथ यत्रैतद् धेनवो लोहितं दुहते यः पौरुषेयेणेत्येताभिश्चतसृभिर्जुहुयात्"॥

तत्र प्रथमा॥

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।

तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

त्रिः । यातुऽधानः । प्रऽसितिम् । ते । एतु । ऋतम् । यः । अग्ने । अनृतेन । हन्ति ।

तम् । अर्चिषा । स्फूर्जयन् । जातऽवेदः । समऽअक्षम् । एनम् । गृणते । नि । युङ्ग्धि ॥ ११ ॥

हे अग्ने यातुधानः राक्षसः ते तव प्रसितिम् । ज्वालां त्रिः त्रिवारम् एतु प्राप्नोतु । तावता निःशेषेण दग्धो भवतीत्यभिप्रायः। यातुधानं विशिनष्टि । यः ऋतम् मम सत्यवचनं यज्ञं वा अनृतेन असत्यवचनेन छद्मना वा हन्ति विनाशयति । हे जातवेदः जातप्रज्ञ अग्ने तम् एनं यातुधानम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालया स्फूर्जयन् गृणते तव स्तोत्रं कुर्वते मह्यं गृणतो मम समक्षम् दृष्टि-संमुख एव नि युङ्ग्धि निगृह्य वर्जय विनाशय ॥

हे अग्ने ! राक्षस तुम्हारी ज्वालाको तीन वार प्राप्त होवे । जो मेरे सत्यवचनको वा यज्ञको असत्यवचनसे वा छलसे नष्टकरता है हे जातप्रज्ञ अग्ने स्तुति करने वाले मेरे सामने ही उस यातुधान को पकड़ कर अपनी ज्वालासे नष्ट करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।

मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥ १२ ॥

यत् । अग्ने । अद्य । मिथुना । शपातः । यत् । वाचः । तृष्टम् ।

जनयन्त । रेभाः ।

मन्योः । मनसः । शरव्या । जायते । तया । विध्य । हृदये ।

यातुऽधानान् ॥ १२ ॥

हे [अग्ने] अद्य अस्मिन्नहनि यत् यस्मात् मिथुना स्त्री-पुंसौ शपातः शपतः परस्परम् आक्रोशतः यच्च वाचस्तृष्टम् तृषा-युक्तम् । कटुकम् इत्यर्थः । जनयन्त जनयन्ति उत्पादयन्ति । के । रेभाः स्तोतारः । यातुधानेभ्यो निमित्तेभ्य इत्यभिप्रायः । मन्योः तव क्रोधयुक्ताद् दीप्ताद् वा मनसः सकाशाद् या शरव्या इषुः ज्वालारूपा जायते तया इष्वा यातुधानान् हृदये हृदयदेशे विध्य ताडय ॥

हे अग्ने ! आज जिसके कारणसे स्त्री और पुरुष परस्पर आक्रोश मचा रहे हैं और जिसके निमित्त स्तोता कटु वाणी का उच्चारण कर रहे हैं उस यातुधानको आप अपने क्रोधयुक्त मनसे जिससे, कि-ज्वालारूपा बाणावली निकल रही है उससे हृदयमें ताड़ित करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।

परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातुऽधानान् । परा । अग्ने । रक्षः हरसा । शृणीहि ।

परा । अर्चिषा । मूरऽदेवान् । शृणीहि । परा । असुऽतृपः ।
शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

हे अग्ने यातुधानान् राक्षसान् तपसा तापकेन तेजसा परा शृणीहि पराङ्मुखं विनाशय । तथा रक्षः राक्षसं हरसा प्राणापहारकेण तेजसा परा शृणीहि । तथा मूरदेवान् मारणेन कर्मणा दीव्यन्तीति मूरदेवाः तान् अर्चिषा दीप्यमानया ज्वालया परा शृणीहि । असुतृपः असुभिः परमाणैरात्मानं तर्पयन्तो ये तान् शोशुचतः भृशं दीप्तान् राक्षसान् परा शृणीहि । अथवा शोशुचतः भृशं दीप्यमानान् । तव ज्वालयेति शेषः ॥

हे अग्ने ! आप यातुधानोंको तापक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये तथा राक्षसोंको प्राणापहारक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये और मारण कर्मसे क्रीड़ा करने वाले-मूरदेव-अभिचारकोंको अपनी दमकती हुई ज्वालासे नष्ट कर डालिये दूसरेके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करने वाले परम प्रदीप्त राक्षसोंको आप नष्ट करिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

परा॒द्य दे॒वा वृ॒जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु
सृ॒ष्टाः ।
वा॒चास्ते॑नं शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न् विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं
या॒तु॒धानः॑ ॥ १४ ॥

परा । अद्य । दे॒वाः । वृ॒जि॒नम् । शृ॒ण॒न्तु॒ । प्र॒त्यक् । ए॒न॒म् ।
श॒पथाः॑ । य॒न्तु॒ । सृ॒ष्टाः॑ ।

वाचाऽस्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । एतु ।

प्रऽसितिम् । यातुऽधानः ॥ १४ ॥

अद्य अस्मिन्नहनि देवाः सर्वे वह्निप्रमुखा वृजिनम् प्राणानां वर्जकं राक्षसं पापं वा परा शृणन्तु यथा न प्रतिगच्छति तथा हिंसन्तु । एनं वृजिनं वृष्टाः कटुकाः शपथाः अस्मान् प्रति तेन प्रयुक्तानि शपनानि प्रत्यक् प्रतिमुखं यन्तु गच्छन्तु । किं च वाचास्तेनम् । मृषावचनेन यः प्रहरति स वाचास्तेनः । तं शरवः देवशराः मर्मन् मर्मणि प्रदेशे ऋच्छन्तु गच्छन्तु । स यातुधानः विश्वस्य सर्वस्यापि देवस्य प्रसितिम् प्रकर्षेण अभिप्रचित्री हेतिम् एतु गच्छतु । अथवा विश्वस्य व्याप्तस्याग्नेः प्रसितिम् ज्वालाम् एतु । ❀ प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः [नि० ६. १२] ❀ ॥

आज अग्नि आदि सकल देवता प्राणोंके वर्जक राक्षसको वा पापको जिस प्रकार वह फिर लौट कर आक्रमण न कर सके तिस प्रकार मार डालें । और इस राक्षसके पास उसके भेजे शाप लौट कर उसको ही लगें । और उस मिथ्या वाणीसे मारने वालेके मर्मोंमें देवताओंके बाण लगें, और वह यातुधान व्यापक अग्निदेवके ज्वालारूप आयुधको प्राप्त होवे ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।

यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्ऽअङ्क्ते । यः । अश्व्येन । पशुना ।
यातुऽधानः ।
यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि ।
हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

यो यातुधानः पौरुषेयेण पुरुषसंबन्धिना क्रविषा मांसेन । ❀ "सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ" इति ढञ् ❀ । समङ्क्ते सम्यग् अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानम् । यश्च यातुधानः अश्व्येन अश्वसंबन्धिना अश्वरूपेण क्रविषा पशुना अजादिरूपेण च समङ्क्ते । हे अग्ने यश्च अघ्न्यायाः । गोनामैतत् । अहन्तव्याया गोः क्षीरं भरति हरति । तेषाम् उक्तप्रकाराणां सर्वेषां यातुधानानां शीर्षाणि शिरांसि हरसा तेजसा ज्वालया अपि वृश्च छिन्धि ॥

जो यातुधान पुरुषके मांससे अपनी पुष्टि करता है, और जो यातुधान अश्वके मांससे अपनी पुष्टि करता है और जो गौके क्षीरका अपहरण करता है, हे अग्ने ! इन सब प्रकारके यातुधानों के शिरको आप अपनी ज्वालासे छिन्न भिन्न करिये ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः । परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातुऽधानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् ।
अदितये । दुःऽएवाः ।

परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधी-

नाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

यातुधानाः राक्षसाः गवां क्षीरं कामयमानास्तासां विषं भरन्ताम् संगृह्णन्तु ॥ तथा दुरेवाः दुष्टं गन्तारः अदितये सर्वानुग्राहिकायै देव्यै । यद्वा "इयं वा अदितिः" इति [तैः सं० २. २. ६. १] श्रुतेः सर्वाश्रयभूतायै भूम्यै तस्या अर्थाय आ वृश्चन्ताम् छिन्ना भवन्तु । भूमौ यानि लब्धव्यानि तैर्विरहिता भवन्तु इत्यर्थः ॥ किं च एनान् यातुधानान् सविता सर्वानुज्ञाता देवः परा ददातु निरस्यतु घातकेभ्यः प्रयच्छतु । ओषधीनाम् व्रीह्यादीनां भागं परा जयन्ताम् अभागिनो जयन्तु ॥

गौओंके दूधकी कामना करनेवाले यातुधान गौओंके विषको ग्रहण करें, तथा दुर्गमन करने वाले राक्षस पृथिवीके लिये छिन्न भिन्न होजावें अर्थात् भूमिसे जो पदार्थ मिल सकते हों उनसे हीन होजावें और सविता देवता इनको घातकोंके अर्पण करें और यह व्रीहि आदिके भागको पाने वाले न होवें ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानो नृचक्षः ।

पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्माणि ॥ १७ ॥

सम्ऽवत्सरीणम् । पयः । उस्रियायाः । तस्य । मा । आशीत् ।

यातुऽधानः । नृऽचक्षः ।

पीयूषम् । अग्ने । यतमः । तितृप्सात् । तम् । प्रत्यञ्चम् । अर्चिषा । विध्य । मर्मणि ॥ १७ ॥

हे नृचक्षः नृणां द्रष्टरग्ने यातुधानः राक्षसः उस्रियायाः अस्मदीयाया गोः संबन्धि संवत्सरीणम् संवत्सरे भवम् । ❀ "संपरिपूर्वात् ख च" इति खः ❀ । गर्भाधानादि प्रसवपर्यन्तम् ऊधस्युपचितम् इत्यर्थः । अथवा प्रायेण प्रसवदिनप्रभृति संवत्सरपर्यन्तं गावो दुहन्ति तदभिप्रायेणेदम् अभिधानम् । तथाविधं पयः क्षीरं यद् अस्ति तस्य तत् क्षीरम् मा आशीत् मा भक्षयतु पिबतु । तथा यतमः यातुधानः पीयूषम् हविर्लक्षणम् अमृतं गोरेव घृतलक्षणं पीयूषं [वा] तितृप्सात् तर्पयितुम् इच्छेद् आत्मानम् । ❀ तृप्यतेः सनि "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इति इण्निषेधः । तदन्तात् लेटि आडागमः ❀ । तं राक्षसम् अर्चिषा स्वकीयया ज्वालया प्रत्यञ्चम् प्रतिमुखं विध्य ताडय । कुत्र देश इति । मर्मणि मर्मप्रदेशे । यस्मिन् देशे वेधनेन शीघ्रं म्रियते तत्रेत्यर्थः ॥

हे मनुष्योंको देखने वाले अग्ने ! राक्षस हमारी गौके इसको वर्ष भर तक प्राप्त होने वाले दूधका पान न कर सके । जो राक्षस गौके घृतरूप हविसे अपनेको तृप्त करना चाहताहै उस राक्षसको आप अपनी ज्वालासे मर्मदेशमें ताड़ित करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानन् दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातुऽधानान् । न । त्वा । रक्षांसि ।

पृतनासु । जिग्युः ।

सहऽमूरान् । अनु । दह । क्रव्यऽअदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत ।

दैव्यायाः ॥ १८ ॥

एषा प्राग् [५. २९. ११] व्याख्याता यद्यपि तथापि व्यवहितत्वात् पुनर्व्याख्यायते । हे अग्ने त्वं सनात् चिरकालप्रभृति यातुधानान् राक्षसान् मृणसि हंसि । तथापि त्वा त्वां रक्षांसि केपि राक्षसाः पृतनासु संग्रामेषु न जिग्युः न जितवन्तः । अतस्त्वं क्रव्यादः मांसाशनान् राक्षसान् सहमूरान् मूलसहितान् अनु दह क्रमेण भस्मीकुरु । तेपि दैव्यायाः देवस्य तव संबन्धिन्याः । ते तव हेत्याः आयुधाद् मा मुक्षत मुक्ता मा भूवन् तद्वशं प्राप्नुवन्तु ॥

हे अग्ने ! आप चिरकालसे राक्षसोंको मारते रहते हैं, तथापि कोई भी राक्षस संग्रामोंमें आपको जीत नहीं सके हैं । अतः आप मांसभक्षक राक्षसोंको मूलसहित भस्म करिये । वे आप देवके आयुधसे न छूट सकें आपके वशमें होजावें ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात् ।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शाशुचतो
दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अधरात् । उदक्तः । त्वम् । पश्चात् । उत ।

रक्ष । पुरस्तात् ।

प्रति । त्ये । ते । अजरासः । तपिष्ठाः । अघशंसम् । शोशुचतः ।
दहन्तु ॥ १९ ॥

हे अग्ने त्वं नः अस्मान् अधरात् अधोदिशः सकाशात् तत्रस्थेभ्यः पीडकेभ्यो राक्षसेभ्यः रक्ष पाहि । तथा उदक्तः उदग्दिशः सकाशात् तत्रत्येभ्यो रक्ष । एतद्दक्षिणदिशोप्युपलक्षणम् । अथवा अधरादित्यनेन अवाची दक्षिणा दिग् विवक्ष्यते । किं च त्वं पश्चात् प्रतीच्या दिशः सकाशाद् रक्ष । उत अपि च पुरस्तात् पूर्वस्या दिशः सकाशाद्व रक्ष । तेषु तत्तद्देशेष्ववस्थितेषु कथं रक्षा भवतीत्याशङ्क्याह प्रति ते त इति । ते तव संबन्धिनस्ते प्रसिद्धास्तत्रतत्र वर्तमानाः स्फुलिङ्गाः । ज्वालारूपा इति शेषः । अघशंसम् अघं हिंसां शंसन्तं राक्षसं प्रति दहन्तु विनाशं कुर्वन्तु । कीदृशाः । अजरासः अजरा अजीर्णाः । तपिष्ठाः अतिशयेन तापकाः । शोशुचतः भृशं दीप्ताः ॥

हे अग्ने ! आप हमारी दक्षिण दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । उत्तर दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पश्चिम दिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये, पूर्वदिशामें रहने वाले राक्षसोंसे रक्षा करिये । आपके ज्वालारूप अजर तापक ज्वालारूप स्फुलिंग (चिनगारियें) हिंसारूप पापको कहने वाले राक्षसका संहार करें ॥ १९ ॥

दशमी ॥

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः

पश्चात् । पुरस्तात् । अधरात् । उत । उत्तरात् । कविः । काव्येन ।

परि । पाहि । अग्ने ।

सखा । सखायम् । अजरः । जरिम्णे । अग्ने । मर्तान् । अमर्त्यः ।

त्वम् । नः ॥ २० ॥

हे अग्ने त्वम् अस्मान् पश्चादित्यादिना उक्ताभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः सकाशात् कविः क्रान्तप्रज्ञः । तत्र [तत्र] बाधमानान् राक्षसान् जानन्नित्यर्थः । काव्येन कवेः कर्म काव्यम् तेन कवेस्तव रक्षणव्यापारेण परि पाहि सर्वतो रक्ष । रक्षकं रक्षणीयं च उभावपि विशिनष्टि । सखा मम सखिभूतस्त्वं सखायम् तव सखिभूतं रक्ष । अजरः जरारहितः जरिम्णे अत्यन्तजीर्णाय मह्यम् । रक्षां कुर्विति शेषः । हे अग्ने अमर्त्यस्त्वं मर्त्यान् मरणधर्मणः नः अस्मान् । पाहीत्यन्वयः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप क्रान्तप्रज्ञ (जानने वाले) होनेसे पूर्व पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाके राक्षसोंसे हमको अपने रक्षणव्यापारसे रक्षित करिये मेरे मित्र बने हुए आप मुझ मित्रकी रक्षा करिये । आप अजर हैं अतः मुझ अत्यन्त जीर्णकी रक्षा करिये । हे अग्ने ! आप अमर्त्य हैं अतः मुझ मरणधर्मीकी रक्षा करिये ॥ २० ॥ (७)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥

"तदग्ने चक्षुः" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यत्रोक्ता विनियोगा अनुसंधेयाः ॥

अग्निरहितप्रदेशे अग्निदर्शनलक्षणे अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् "अग्नी रक्षांसि" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । "अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो

भवति तत्र जुहुयात्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ३८]॥

सशब्देऽग्नौ तच्छान्त्यर्थम् अनया अग्निम् उपतिष्ठेत। "अग्नी रक्षांसि सेधतीति सेधन्तम्" इति तत्र [कौ० ५. १०] सूत्रम्॥

अग्न्याधाने पावकगुणकाग्नियागम् अनया ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत। तद् उक्तं वैताने। "अग्नी रक्षांसि [८. ३. २६] अदितिर्द्यौः [७. ६. १]" इति [वै० २. २]॥

'तदग्ने चक्षुः' इस सूक्तके विनियोग 'रक्षोहणम्' में देखने चाहियें।

अग्निरहित स्थानमें अग्निदर्शनरूप अद्भुतकी शान्तिके लिये "अग्नी रक्षांसि" ऋचासे घृतकी आहुति देय। "अथ यत्रैतद् अनग्नावाभासो भवति तत्र जुहुयात्" को कह कर सूत्रमें कहा है, कि–'अग्नी रक्षांसि सेधतीति प्रायश्चित्तिः०' (कौशिकसूत्र १३।३८)

शब्दसहित अग्निके होने पर उसकी शान्तिके लिये इस ऋचासे अग्निका उपस्थान करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ५।१० का प्रमाण भी है, कि—

अग्न्याधानमें पावकगुणकाग्नियागका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें वैतानसूत्र २।२ का प्रमाण है, कि–"अग्नी रक्षांसि (८।३।२६) अदितिर्द्यौः (७।६।१)" इति॥

तत्र प्रथमा॥

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान्।

अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष॥२१॥

तत्। अग्ने। चक्षुः। प्रति। धेहि। रेभे। शफऽआरुजः। येन। पश्यसि। यातुऽधानान्।

अथर्वऽवत् । ज्योतिषा । दैव्येन । सत्यम् । धूर्वन्तम् । अचितम् । नि । ओष ॥ २१ ॥

हे अग्ने त्वं रेभे शब्दं कुर्वते रक्षसे तत् चक्षुः प्रति धेहि स्थापय । दहेत्युक्तं भवति वह्निदृष्टेर्दाहकत्वात् । शफारुजः शफवत् शफाः । नखा इत्यर्थः । अथ वा पशुरूपधारिणां शफा अपि संभवन्ति । तैराक्जन्तीति शफारुजः । तादृशान् यातुधानान् येन पश्यसि तच्चक्षुरित्यर्थः । किं च अथर्ववत् अथर्वाख्यो महर्षिरिव स एव प्रजापतिरिति ग्रन्थादौ च तस्य माहात्म्यं प्रतिपादितम् । स यथा तपोमन्त्रप्रभावाभ्यां कृत्स्नान् असुरान् निर्ददाह तद्वत् त्वमपि दैव्येन देवसंबन्धिना ज्योतिषा तेजसा सत्यम् यथार्थं धूर्वन्तम् हिंसन्तम् अचितम् अचेत्तारं संज्ञारहितं न्योष नितरां दह । ॐ उष दाहे । लोएमध्यमरूपम् ॥

हे अग्निदेव ! आप शब्द करते हुए राक्षस पर चक्षुः स्थापित करिये अर्थात् उसको भस्म करिये । (क्योंकि-वह्निकी दृष्टि दाहक होती है) तथा पशुका रूप धारण करके खुर्मोसे पीड़ा देने वाले राक्षसोंको आप जैसे नेत्रसे देखते हैं और अथर्वा (प्रजापति) महर्षि तप और मन्त्रके प्रभावसे जिस प्रकार असुरों को भस्म कर चुके हैं, इसी प्रकार आप दिव्य तेजसे यथार्थमें हिंसा करने वाले संज्ञारहित राक्षसको पूर्णरीतिसे भस्म करिये २१

द्वितीया ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।

घृषत्ऽवर्णम् । दिवेऽदिवे । हन्तारम् । भङ्गुरऽवतः ॥ २२ ॥

व्याख्यातेयं प्राक् [७. ७४] । हे अग्ने सहस्य सहसे हित । अभिभवनशीलेत्यर्थः । अथवा सहो बलम् तेन जात । मथनाद् उत्पन्नत्वात् । वयं त्वा त्वां परि परितो धीमहि ध्यायेमहि परिधिं कर्मो वा । कीदृशम् । पुरम् कामानां पूरकम् । त्रिमम् मेधाविनं विविधं प्रीणयितारं वा । घृषद्वर्णम् घर्षकवर्णयुक्तम् । दिवेदिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावताम् भङ्गस्वभावोपेतबलयुक्तानां राक्षसानां हन्तारम् प्रविनाशयितारम् । अग्नेर्दर्शनेनैव असुराणां बलानि भङ्गुराणि भवन्तीत्यभिप्रायः । यद्वा सर्वप्राणिबलानां भङ्गुरीकरणसामर्थ्यवताम् इत्यर्थः ॥

हे बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न हुए अग्ने ! हम आपको परिधि बनाते हैं ! आप कामनाओंको पूर्ण करने वाले हैं, अनेक प्रकारसे तृप्त करने वाले हैं, घर्षकवर्णसे सम्पन्न हैं और प्रतिदिन भंगत्वके स्वभाव वाले राक्षसोंको मारने वाले हैं अर्थात् अग्नि के दर्शनमात्रसे ही असुरोंके बल भंग होजाते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

विषेणं भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।

अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥

विषेण । भङ्गुरऽवतः । प्रति । स्म । रक्षसः । जहि ।

अग्ने । तिग्मेन । शोचिषा । तपुःऽअग्राभिः । अर्चिऽभिः ॥२३॥

हे अग्ने विषेण विषवद्विनाशकेन व्यापेन वा । एतत् शोचिषेत्यस्य विशेषणम् । तिग्मेन तीक्ष्णेन शोचिषा तेजसा भङ्गुरावतः । उक्तो भङ्गुरावच्छब्दार्थः । तद्रूपान् रक्षसः राक्षसान्

प्रति जहि । स्मेति पूरणः । तथा तपुरग्राभिः तापकाग्रोपेताभिः अर्चिभिः ज्वालाभिरपि जहि ॥

हे अग्ने ! आप विषकी समान नाशक अपने तीक्ष्ण तेजसे भंगशील राक्षसोंका संहार करिये और तापक अग्रभागसे युक्त ज्वालाओंसे भी (शत्रुओंका) नाश करिये ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।

प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्षे ॥ २४ ॥

वि । ज्योतिषा । बृहता । भाति । अग्निः । आविः । विश्वानि । कृणुते । महिऽत्वा ।

प्र । अदेवीः । मायाः । सहते । दुःऽएवाः । शिशीते । शृङ्गे इति । रक्षःऽभ्यः । विऽनिक्षे ॥ २४ ॥

अयम् अग्निः बृहता महता ज्योतिषा तेजसा वि भाति प्रकाशते ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे अग्ने महित्वा महत्त्वेन तेजसाम् आधिक्येन विश्वानि सर्वाण्यपि भूतजातानि आविष्कृणुषे स्पष्टानि करोषि । विश्वानि प्रति आत्मानं वा आविष्कुरुषे प्रभूतेन तेजसा । अयम् अग्निः अदेवीः आसुरीः दुरेवाः दुःखेन गन्तव्या मायाः प्र सहते प्रकर्षेण अभिभवति । तथा रक्षोभ्यो विनिक्षे विनाशाय । ❀ निक्ष चुम्बने । तुमर्थे केन् प्रत्ययः । वकारोपजनश्छान्दसः ❀ । शृङ्गे विषाणे शिशीते तीक्ष्णे करोति ॥

यह अग्निदेव बड़े भारी तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं और अपने तेजकी अधिकतासे सब भूतोंको स्पष्ट करते रहते हैं और यह अग्निदेव असुरोंकी दुःखपूर्वक सहने योग्य मायाओंको नष्ट कर डालते हैं और राक्षसोंका नाश करनेके लिये अपने विषाणों (ज्वालाओं) को तीक्ष्ण करते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा
जातवेदो वि निंक्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति । ते । शृङ्गे इति । अजरे इति । जातऽवेदः । तिग्महेती
इति तिग्मऽहेती । ब्रह्मसंशिते इति ब्रह्मऽसंशिते ।
ताभ्याम् । दुःऽहार्दम् । अभिऽदासन्तम् । किमीदिनम् । प्रत्यञ्चम् ।
अर्चिषा । जातऽवेदः । वि । निक्ष्व ॥ २५ ॥

हे जातवेदः अग्ने ये प्रसिद्धे ते तव शृङ्गे विषाणे स्तः ताभ्याम् अर्चिषा प्रत्यञ्चं वि निक्ष्व विनाशयेत्युत्तरत्र संबन्धः । किंगुणके शृङ्गे इति तत्राह । अजरे जरारहिते अविनश्वरे तिग्महेती तीक्ष्णायुधभूते तीक्ष्णहननसाधने ब्रह्मसंशिते ब्रह्मणा मन्त्रेण अस्माभिः प्रयुक्तेन तीक्ष्णभूते । उक्तलक्षणाभ्यां शृङ्गाभ्यां हन्तव्यः क इति तं सविशेषम् आह । दुर्हार्दम् दुष्टहृदयम् अभिदासन्तम् सर्वत उपक्षपयन्तं किमीदिनम् किम् इदानीम् इति वदन्तं किम् इदं किम् इदम् इत्यन्विष्य चरन्तं वा राक्षसादिकम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके जो प्रसिद्ध सींग हैं वे जरा रहित हैं,

तीक्ष्ण आयुधरूप हैं, हमारे द्वारा प्रयोग किये गए मन्त्रोंसे तीक्ष्ण होगए हैं उन सींगोंसे आप दूषित हृदय वाले चारों ओरसे क्षय करते हुए, इस समय क्या होरहा है, इस समय क्या होरहा है इस प्रकार छिद्रान्वेषी राक्षसको भली प्रकार नष्ट कर डालिये२५

षष्ठी ॥

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥ २६ ॥

अग्निः । रक्षांसि । सेधति । शुक्रऽशोचिः । अमर्त्यः ।
शुचिः । पावकः । ईड्यः ॥ २६ ॥

अनया सूक्तत्रयोक्तम् अर्थं संगृह्य अभिधत्ते । अयं अग्निः रक्षांसि सर्वप्रकारेण बाधमानान् नानाप्रकारान् राक्षसान् सेधति निवारयति विनाशयति । अग्निर्विशेष्यते । शुक्रशोचिः दीप्तप्रकाशः । अमर्त्यः मरणधर्मरहितः । शुचिः शुद्धः । पावकः पावयिता शोधयिता । ईड्यः स्तुत्यः ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

यह अग्निदेव सकल प्रकारसे पीड़ा देने वाले अनेक प्रकारके राक्षसोंको निवारण करते हैं । इन अग्निदेवका प्रकाश दमकता रहता है यह मरणधर्मरहित हैं, शुद्ध हैं और शुद्ध करने वाले हैं तथा स्तुतिके पात्र हैं ॥ २६ ॥ ॥ ८ ॥

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४८१) ॥

"इन्द्रासोमा" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनेन सह उक्ता विनियोगाः ॥

अत्र ऋक्संहिताया बृहद्देवतानुक्रमणी ।

संवत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परं तु यत् ।

ऋषिर्ददर्श रात्तोघ्नं पुत्रशोकपरिप्लुतः ।
हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा । इति ॥

"इन्द्रासोमा" सूक्तके विनियोग "रक्षोहणम्" सूक्तके साथ कह दिये हैं ।

इस विषयमें ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें कहा है, कि-"सम्वत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परन्तु यत् । ऋषिर्ददर्श रात्तोघ्नं पुत्रशोकपरिप्लुतः ॥ हते पुत्रशते क्रुद्धः सौदासैर्दुःखितस्तदा ॥-सौ पुत्रोंके मारे जाने पर सौदासके उपद्रवोंसे दुःखी ऋषिने वर्ष भर तक माण्डूकमन्त्र और ऐन्द्रासोम मन्त्रोंको देखा फिर पुत्रशोकमें डूबे हुए मुनिने रक्षोघ्न मन्त्रोंको देखा" ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः । परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥ १ ॥

इन्द्रासोमा । तपतम् । रक्षः । उब्जतम् । नि । अर्पयतम् । वृषणा । तमःऽवृधः ।
परा । शृणीतम् । अचितः । नि । ओषतम् । हतम् । नुदेथाम् । नि । शिशीतम् । अत्रिणः ॥ १ ॥

हे इन्द्रासोमा इन्द्रासोमौ इन्द्रश्च सोमश्च । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् । आमन्त्रिताद्युदात्तः ❀ । रक्षः । ❀ जातावेकवचनम् ❀। रक्षांसि तपतम् संतापयतम् । ❀ "आमन्त्रितं पूर्वम्०" इत्यविद्यमानत्वात् तपतम् इत्यस्य निघाताभावः ❀। तथा उब्जतम्

हिंस्तम् ।॥ उब्जतिर्हिंसाकर्मा । वाक्यादित्वान्निघाताभावः ॥ । हे वृषणा कामानां वर्षितारौ युवां न्यर्पयतम् नीचैर्गमयतम् । कान् । तमोवृधः तमसि रात्रौ अन्धकारे तमसा मायया वा वर्धमानान् । एवम् अचितः अचित्तान् अज्ञानिनो राक्षसान् परा शृणीतम् पराङ्मुखं हिंस्तम् । तथा न्योषतम् नितरां दहतम् । ॥ उष दाहे ॥ । तथा अत्त्रिणः भक्षकान् राक्षसान् हतम् । तथा नुदेथाम् हतांस्तान् अस्मत्तः प्रेरयेथाम् । ॥ तिङः परत्वात् निघाताभावः ॥ । एवं नि शिशीतम् नितरां तनूकुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप राक्षसोंको सन्ताप दीजिये और उनको नष्ट कर डालिये । हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्र और सोम देवताओं ! आप रात्रिमें अन्धकारमें–मायासे–बढ़ने वाले अज्ञानी राक्षसोंका भी संहार करिये और उन को खाक कर दीजिये । भक्षक राक्षसोंको मारिये और उन मारे हुओंको हमारी ओर धकेल दीजिये । इस प्रकार उनके पक्षको बहुत ही क्षीण कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रासोमा सम॒घशं॑सम॒भ्य॑१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॑ग्नि॒माँ इ॑व ब्र॒ह्मद्वि॑षे क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मीदिने॑ ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा । सम् । अ॒घऽशंसम् । अ॒भि । अ॒घम् । तपुः । ययस्तु । च॒रुः । अ॒ग्निमान्ऽइव । ब्र॒ह्मऽद्विषे । क्र॒व्यऽअदे । घो॒रऽचक्षसे । द्वेषः । ध॒त्तम् । अ॒नवा॒यम् । कि॒मीदिने ॥ २ ॥

हे इन्द्रासोमौ अघशंसम् अघस्य अनर्थस्य शंसितारम् अघम् पापिनं सम्यग् अभि । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । भवतम् इति शेषः । तिरस्कुरुतम् इत्यर्थः । स राक्षसः तपुः तापं ययस्तु गच्छतु । चरुः ओदनः । कीदृशः । अग्निमान् इव अग्निसंयुक्त इव । अग्नौ क्षिप्तश्चरुरिव तापं प्राप्नोतु । किंच युवां ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यादे मांसाशनाय घोरचक्षसे भयंकरदर्शनाय किमीदिने किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति चरते वा राक्षसाय । यास्केन उक्तोयम् अर्थः [नि० ६. ११] । तादृशाय द्वेषः अप्रीतिम् अनवायम् अव्यवधानं यथा भवति तथा धत्तम् धारयतम् । सर्वदा तस्मिन्नहितं कुरुतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप पापको कहने वालेका भली प्रकार पराभव करिये । वह राक्षस ऐसे तापको प्राप्त होवे, जिस प्रकार चरु अग्निसे संयुक्त होकर तपता है और आप ब्राह्मणद्वेषी मांसभक्षी भयंकर नेत्र वाले राक्षसमें द्वेष और अप्रीति करो अर्थात् सदा उसका अहित करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा । दुःऽकृतः । वव्रे । अन्तः । अनारम्भणे । तमसि । प्र । विध्यतम् ।
यतः । न । एषाम् । पुनः । एकः । चन । उत्ऽअयत् । तत् । वाम् । अस्तु । सहसे । मन्युऽमत् । शवः ॥ ३ ॥

हे इन्द्रासोमौ दुष्कृतः दुष्टकारिणो राक्षसान् वव्रे आवरके अनारम्भणे अनालम्बने तमसि अन्तः प्र विध्यतम् प्रवेश्य ताडयतम् । यतः यस्माद् अन्धकाराद् एषां पतितानां राक्षसानां दुष्कृतां मध्ये पुनः एकश्चन एकोपि न उदयत् नोद्गच्छेत् । ❀ एतर्लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः । गुणायादेशौ ❀ । तथा वाम् युवयोः तत् शवः बलं सहसे तेषाम् अभिभवाय मन्युमत् अस्तु क्रोधोपेतं भवतु ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप दूषित कर्म करनेवाले राक्षसों को आलम्बनरहित अन्धकारमें लेजाकर ताड़ित करिये जिससे कि-इन अन्धकारमें पड़े हुए दुष्कर्मी राक्षसोंमेंसे एक भी न उदय होसके । आप दोनोंका बल इनका तिरस्कार करनेके लिये क्रोधसे सम्पन्न होजावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत् तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । वधम् । सम् । पृथिव्याः । अघऽशंसाय । तर्हणम् ।

उत् । तक्षतम् । स्वर्यम् । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । वावृधानम् । निऽजूर्वथः ॥ ४ ॥

हे इन्द्रासोमौ दिवः अन्तरिक्षाद् द्युलोकाद् वा वधम् हननसाधनम् आयुधं सम् एकधैव वर्तयतम् । तथा पृथिव्याः सकाशा-

दपि सं वर्तयतम् । किमर्थम् । अघशंसाय अघं शंसतीति अघशंसो राक्षसः तदर्थं तद्वधार्थम् । कीदृशं वधम् । तर्हणम् हिंसकम् । तद् वज्रम् उच्छ्वानम् उत्तेजनं तीक्ष्णं कुरुतम् । स्वर्यम् स्वरणार्हम् आयुधम् । पर्वतेभ्यः मेघेभ्यः सकाशाद् येन वज्रेण वधशब्दवाच्येन वावृधानम् वर्धमानं रक्षः राक्षसं निजूर्वथः हथः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! आप द्युलोकसे और पृथिवीसे हननके साधन आयुधको वधलक्षण पापकी प्रशंसा करने वाले राक्षस पर एक साथ प्रेरित करो हिंसक वज्रको तीक्ष्ण करो, जिससे कि—तुम पर्वत और मेघोंसे उठते हुए राक्षसको मार सको ४

पञ्चमी ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्मंहन्मभिः तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्निऽतप्तेभिः । युवम् । अश्महन्मऽभिः ।
तपुःऽवधेभिः । अजरेभिः । अत्त्रिणः । नि । पर्शाने । विध्यतम् । यन्तु । निऽस्वरम् ॥ ५ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवम् युवां वर्तयतम् इतस्ततः प्रेरयतम् । सामर्थ्याद् आयुधानीति गम्यते । कस्मिन् देशे । दिवस्परि द्युलोकस्य अन्तरिक्षस्य परितः । किंच अग्नितप्तेभिः अग्निना संतप्तैः अश्मइन्मभिः अश्मा अयःसारः अयःसारमयैर्हननसाधनैः तपुर्वधेभिः संतापकैरायुधैः । पुनः कीदृशैः । अजरेभिः जरारहितैर्दृढैः अत्त्रिणः

भक्षकान् असुरान् पर्शाने पार्श्वास्थिप्रदेशे नि विध्यतम् । ते च निःस्वरम् निःस्वनं निःशब्दं यथा भवति तथा यन्तु गच्छन्तु । म्रियन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र और सोमदेवताओं ! तुम अन्तरिक्षमें चारों ओर आयुधोंको घुमाओ और अग्निसे तपे हुए लोहेके सन्तापक अजर आयुधोंसे राक्षसोंकी पसलियोंको बींधडालो वे भी शब्द-रहित दशाको प्राप्त होजावें अर्थात् मर जावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।

यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रासोमा । परि । वाम् । भूतु । विश्वतः । इयम् । मतिः । कक्ष्या । अश्वाऽइव । वाजिना ।

याम् । वाम् । होत्राम् । परिऽहिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि । नृपती इवेति नृपतीऽइव । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

हे इन्द्रासोमौ वाम् युवाम् इयम् अस्माभिः कृता मतिः मन्यत इति मतिः स्तुतिः विश्वतः सर्वतः परि भूतु परिगृह्णातु । विषयी-करोत्वित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । कक्ष्या कक्षबन्धनसाधनभूता रज्जुः वाजिना वाजिनौ बलवन्तौ अश्वेव अश्वाविव । तौ यथा रज्जु-र्बध्नाति तद्वत् । मतिं विशिनष्टि । यां होत्राम् आह्वानार्हां मेधया धारणयुक्तया बुद्ध्या वाम् युवाभ्यां युवयोरर्थाय परिहिनोमि प्रेर-

यामि ॥ इदानीम् अवयवश आह । इमा इमानि अक्षराणि मन्त्रान् नृपतीव राजानाविव तौ यथा बन्दिकृतवाक्यानि श्रुत्वा प्रीणयत-स्तद्वत् जिन्वतम् प्रीणयतम् ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओ ! जैसे कक्षबंधनसाधनभूता रस्सी बलवान् घोड़ोंको पकड़ लेती है तिसी प्रकार हमारी की हुई स्तुति आपको पकड़ लेय जिस आह्वान करने योग्य धारणा-युक्त बुद्धिसे आपको प्रेरित कर रहा हूँ वह बुद्धि (स्तुति-मति) आपको ग्रहण कर लेय जैसे बन्दियोंकी वाणियें दो राजाओंको प्रसन्न करती हैं, इसी प्रकार ये मन्त्र आपको प्रसन्न करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः । इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदा चिद-भिदासति द्रुहुः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयत्ऽभिः । एवैः । हतम् । द्रुहः । रक्षसः । भङ्गुरऽवतः ।

इन्द्रासोमा । दुःऽकृते । मा । सुऽगम् । भूत् । यः । मा । कदा । चित् । अभिऽदासति । द्रुहुः ॥ ७ ॥

हे इन्द्रासोमौ युवां तुजयद्भिः बलवद्भिः एवैः गमनसाधनैरश्वैः प्रति स्मरेथाम् । स्मृतिरत्र आगमनपर्यन्तव्यापारा । प्रतिगच्छतम् इत्यर्थः । आगत्य च द्रुहः द्रोहकारिणो भङ्गुरावतः भञ्जनशीलान् रक्षसः राक्षसान् हतम् हिंस्तम् ॥ किं च हे इन्द्रासोमौ दुष्कृते दुष्टकारिणे राक्षसाय सुगम् सुगमनं जीवद्गमनं सुखं वा मा भूत् ।

दुष्कृतं विशिनष्टि । यो दुष्कृत् द्रुहुः द्रोहशीलः सन् कदा चित् एकवारमपि मा माम् अभिदासति उपक्षपयति बाधते । तस्मा इति ॥

हे इन्द्र और सोम देवताओं ! आप गमनके साधन बलवान् अश्वोंका (यहाँ आनेके निमित्त) स्मरण करिये और आकर द्रोहकारी भञ्जनशील राक्षसोंको मार डालिये । हे इन्द्र और सोम देवताओं ! दुष्कर्मी राक्षसोंका जीवन सुखमय न होवे । जो द्रोह रख कर एक वार भी हमको पीड़ा दे चुका हो उसका जीवन सुखमय न हो सके ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः
आप इव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता

यः । मा । पाकेन । मनसा । चरन्तम् । अभिऽचष्टे । अनृतेभिः । वचःऽभिः ।
आपःऽइव । काशिना । सम्ऽगृभीताः । असन् । अस्तु । असतः । इन्द्र । वक्ता ॥ ८ ॥

हे इन्द्र यो राक्षसादिः पाकेन परिपक्वेन मनसा । अन्यायाचरणस्यापि मनोमूलत्वात् मन एव अत्राभिधीयते । चरन्तम् प्रवर्तमानं मा माम् अनृतेभिः अनृतरूपैः अयं ब्राह्मणं हतवान् अयं ब्रह्मस्वं हृतवान् इत्येवमाद्यात्मकैः वचोभिः वचनैः अभिचष्टे अभिशापं करोति स राक्षसादिः काशिना मुष्टिना संगृभीताः संगृहीता आप इव ता यथा अङ्गुलिविवरेभ्यो गच्छन्ति तद्वत् असतः अविद्यमानस्य अकृतस्यार्थस्य वक्ता स्वयमपि असन्नस्तु शून्यो भवतु ॥

हे इन्द्र ! जो राक्षस आदि परिपक्व मनसे मुझको अनृत वचनों के द्वारा अभिशाप लगता है, कि-यह ब्रह्महत्यारा है इसने ब्राह्मण

का धन चुराया है–वह राक्षस आदि, जैसे अञ्जलिमें लिये हुए जल अँगुलियोंके छिद्रोंमेंसे निकलजाते हैं, इसीप्रकार असत् होजावे

नवमी ॥

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥ ९ ॥

ये । पा॒क॒ऽशं॒सम् । वि॒ऽहर॑न्ते । एवैः॑ । ये । वा॒ । भ॒द्रम् । दू॒षय॑न्ति । स्व॒धाभिः॑ ।
अह॑ये । वा॒ । तान् । प्र॒ऽददा॑तु । सोमः॑ । आ । वा॒ । द॒धा॒तु॒ । निःऽऋ॑तेः । उ॒पऽस्थे॑ ॥ ९ ॥

ये राक्षसाः पाकशंसम् परिपक्वशंसनं सत्यभाषिणं माम् एवैः प्रापणैरात्मीयैः कामैर्हेतुभिः विहरन्ते विशेषेण हरन्ति उपक्षपयन्ति । यथा कामं परिवदन्तीत्यर्थः । ये च भद्रम् कल्याणवर्तनं मां मदीयं भद्रम् भद्रं कर्म वा स्वधाभिः । स्वधेत्यन्ननाम । अन्नैर्निमित्तभूतैः दूषयन्ति तान् उभयविधान् अहये । सर्पे वृत्रासुरेप्यहिरित्यभिधानम् । वृत्राय सर्पाय वा प्रददातु प्रयच्छतु सोमः । वा अथवा निर्ऋतेः । निर्ऋतिः पापदेवता । हिंसित्र्याः पापदेवताया उपस्थे उत्सङ्गे आ दधातु आस्थापयतु ॥

जो राक्षस मुझ सत्यभाषीको अपने कारणसे पीड़ित करते हैं अर्थात् इच्छानुसार मेरे विषयमें कुवाक्य कहते हैं, और जो मुझ कल्याणकारीको स्वधासे अर्थात् अन्नके निमित्तसे दूषित करते हैं उनको सोम देवता सर्पके अर्पण कर दें अथवा उनको पापदेवता निर्ऋतिकी गोदीमें स्थापित कर दें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् ।
रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥

यः । नः । रसम् । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । अश्वानाम् । गवाम् । यः । तनूनाम् ।
रिपुः । स्तेनः । स्तेयऽकृत् । दभ्रम् । एतु । नि । सः । हीयताम् । तन्वा । तना । च ॥ १० ॥

हे अग्ने यो राक्षसादिः नः अस्माकं रसम् मम शरीरसारं दिप्सति जिघांसति यश्च अश्वानां मदीयानां रसं दिप्सति यश्चापि गवां यो वा तनूनाम् आत्मीयपुत्रादिशरीराणां रसं दिप्सति स पूर्वोक्तप्रकारो रिपुः शत्रुः स्तेनः तस्करः स्तेयकृत् मोषकर्ता दभ्रम् एतु । ॐ दभि हिंसायाम् ॐ । हिंसां प्राप्नोतु । स एव तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च तनयेन च नि हीयताम् वियुक्तो भवतु ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जो राक्षस आदि हमारे शरीरके रसको नष्ट करता चाहता है । और जो मेरे घोड़ोंके गौओंके वा आत्मीय पुत्र शरीर के रसका अपहरण करना चाहता है वह तस्कर चोर हिंसाको प्राप्त होवे-मर जावे और वही अपने शरीर और पुत्रसे वियुक्त होजावे ॥ १० ॥ (९)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

"परः सो अस्तु" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

"परः सो अस्तु" इस सूक्तका "रक्षोहणम्" अनुवाकके अनुकूल विनियोग होता है।

तत्र प्रथमा ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः । अधः । अस्तु । विश्वाः ।
प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । मा । दिवा । दिप्सति । यः । च । नक्तम् ॥ ११ ॥

हे देवाः स राक्षसादिः तन्वा स्वकीयेन शरीरेण तना च पुत्रेण च। ❀ उभयत्र व्यत्ययेन तृतीया ❀। तनोः पुत्रस्य चेत्यर्थः। उभयोः परः अन्यः विरोधी अथवा परस्ताद् वर्तमानो वियुक्तः अस्तु। तथा विश्वाः व्याप्तास्तिस्रः पृथिवीः त्रिप्रकारा भूमीः। भूमेर्लोकस्य च त्रैविध्यं मन्त्रान्तरेषु प्रसिद्धम्। "तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८]। "तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः" इति [ऋ०. ७. ८७. ५.]। अधो अस्तु। तिसृणामपि पृथिवीनाम् अधस्तात् नरके वर्तमानोऽस्त्वित्यर्थः। अस्य पापिनो यशः

अन्नं कीर्तिर्वा प्रति शुष्यतु विनश्यतु । यस्य ईदृशो विनाशः तं दर्शयति । यो द्वेष्टा दिवा अहनि मा मां दिप्सति हन्तुम् इच्छति यश्च नक्तम् रात्रौ दिप्सति । तस्येति संबन्धः ।

हे देवताओं ! जो द्वेष्टा दिन और रात्रिमें हमको मारना चाहता है वह राक्षस आदि अपने शरीरसे और पुत्रसे वियुक्त होवे और तीन पृथिवियोंके नीचे होजावे अर्थात् तीनों पृथ्वियोंके नीचे वर्तमान नरकमें जा पड़े । उस पापीका यश शुष्क होजावे ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।

तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२ ॥

सुऽविज्ञानम् । चिकितुषे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति ।

तयोः । यत् । सत्यम् । यतरत् । ऋजीयः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥ १२ ॥

अस्याः "इन्द्रासोमा" इत्यादिसूक्तत्रयस्य ऋक्संहितायामपि समानत्वात् तदीयबृहद्देवतानुक्रमण्याम् उदाहृतं वचनम् एतत् ॥

हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः ।
वसिष्ठं राक्षसोसि त्वं वासिष्ठं रूपम् आस्थितः ॥
अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांसु राक्षसोब्रवीत् ।
अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥

इति ॥ चिकितुषे विदुषे जनाय इदं सुविज्ञानम् विज्ञातुं सुशकं भवति । किं तत् । सच्च सत्यं च असच्च अनृतं च वचसी सत्यासत्यरूपे वचने पस्पृधाते मिथः स्पर्धेते । तयोः सदसतोर्मध्ये यत् सत्यम् यथार्थवचनं यतरच्च ऋजीयः ऋजुतरम् अकुटिलं तदित् तदेव सोमो देवः अवति रक्षति । असत् उक्तविलक्षणम् असत्यं हन्ति हिनस्ति । एवं सति आवयोर्मध्ये कोऽनृतवादीति विद्वद्भिः सुज्ञानम् इत्यर्थः । अतः अस्मासु असत्यभूतम् आरोपयन्तं राक्षसम् हे सोम त्वं घातयेत्यभिप्रायः ॥

विद्वान् प्राणी इस बातको भली प्रकार जान सकता है, कि–सत् और असत् वचन परस्पर स्पर्धा करते हैं । इस सत्य और असत्य वचनोंमें जो यथार्थवचन होता है वह सरल होता है और सोमदेवता उसीकी रक्षा करते हैं और असत्यवक्ताको मार देते हैं । इस दशामें हम दोनोंमें कौन झूठ बोलने वाला है यह भली भाँति जाना जा सकता है । तात्पर्य यह है, कि–हे सोम ! हम पर असत्यारोपण करते हुए राक्षसको आप मार दीजिये † १२

† यह ऋचा और "इन्द्रासोमा" आदि तीन सूक्त ऋग्वेदसंहितामें भी एकसे हैं अत एव उसकी बृहद्देवतानुक्रमणीमें जो वचन उद्धृत किया है उसको यहाँ पर भी उद्धृत करते हैं, कि–"हत्वा पुत्रशतं पूर्वं वसिष्ठस्य महात्मनः । वसिष्ठं राक्षसोऽसि त्वं वासिष्ठं रूपमास्थितः ॥ अहं वसिष्ठ इत्येवं जिघांसू राक्षसोऽब्रवीत् । अत्रोत्तरा ऋचो दृष्टा वसिष्ठेनेति नः श्रुतम् ॥-महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंको मारकर राक्षसने वसिष्ठजीका रूप धारण कर लिया और वसिष्ठजीको मारनेकी इच्छासे वसिष्ठजीसे कहने लगा, कि–मैं वसिष्ठ हूँ और तू राक्षस है, उस समय वसिष्ठजीने सुविज्ञानम् आदि ऋचाएँ देखी थीं । ऐसा हमने सुना है ॥"

तृतीया ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १२ ॥

न । वै । ऊं इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् । मिथुया । धारयन्तम् ।
हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभौ । इन्द्रस्य । प्रऽसितौ । शयाते इति ॥ १२ ॥

सोमो देवः वृजिनम् । पापवाचिना वृजिनशब्देन तद्वान् लक्ष्यते । पापवन्तं राक्षसं न हिनोति वा उ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । उशब्दः अवधारणे । नैव मुञ्चति अयं जीवत्विति न परित्यजति । मिथुया मिथ्याभूतं अनृतं धारयन्तं क्षत्रियम् क्षत्रं बलम् तद्वन्तं बलिनं राक्षसादिकं च सोमो न हिनोति । तर्हि सोमः किं करोति । उच्यते । रक्षः राक्षसं वृजिनरूपं हन्ति हिनस्ति । तथा असत् अनृतं वदन्तं हन्ति । उभौ उक्तविधौ दुष्टौ इन्द्रस्य प्रसितौ बन्धनसाधने पाशे शयाते । अथवा प्रसितौ ❁ निष्ठान्तं पदम् ❁ । प्रकर्षेण बद्धौ सन्तौ शयाते । ❁ षिञ् बन्धने इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । क्तिन्पक्षे "तादौ च निति कृति०" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❁ ॥

सोम देवता पाप वाले राक्षसको नहीं छोड़ते, वे मिथ्याको धारण करने वाले क्षत्रबलसम्पन्न बली राक्षस आदिको नहीं

छोड़ते हैं, किंतु वह पापरूप राक्षसको मार डालते हैं और असत्य-भाषीको भी मार डालते हैं, दोनों प्रकारके दुष्ट इन्द्रके पाशमें शयन करते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि॑ वा॒हमनृ॑तदेवो॒ अस्मि॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रोघ॒वाच॑स्ते निर्ऋ॒थं स॑चन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि॑ । वा॒ । अ॒हम् । अनृ॑तऽदेवः । अस्मि॑ । मोघ॑म् । वा॒ । दे॒वान् । अ॒पि॒ऽऊ॒हे । अ॒ग्ने ।

किम् । अ॒स्मभ्य॑म् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । हृ॒णी॒षे॒ । द्रो॒घ॒ऽवा॒चः॑ । ते॒ । निः॒ऽऋ॒थम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १४ ॥

हे अग्ने अहं यदि वा अनृतदेवः अनृतेन दीव्यतीत्यनृतदेवः अथ वा अनृताः असत्यभूता देवा अस्य । देवशून्य इत्यर्थः । तादृशोस्मि वा । अथ वा मोघम् व्यर्थं देवान् स्तोतव्यान् यष्टव्यांश्च अप्यूहे वहामि । उभयविधोपि न भवामीत्यर्थः । अतः कारणात् किम् कथंकारम् अस्मभ्यम् हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने हृणीषे क्रुध्यसि । क्रोधो न कार्यः । अस्मद्विलक्षणा द्रोघवाचः देवताद्रोहविषयवचनोपेताः ते राक्षसाः निर्ऋथम् निकृष्टाम् आर्तिं नाशं सचन्ताम् समवयन्तु गच्छन्तु ॥

हे अग्ने ! यदि मैं अनृतसे खेलता होऊँ अथवा देवताओंसे हीन होऊँ वा स्तोतव्य और पूज्य देवताओंको व्यर्थ ही बुलाता होऊँ कष्ट देता होऊँ (परन्तु मैं दोनों प्रकारका नहीं हूँ) फिर हे अग्ने ! आप मुझ पर क्रोध क्यों कर रहे हैं । किंतु जो मुझसे

नहीं है देवताओंके लिये द्रोह भरे वचनोंका उच्चारण करते हैं वे राक्षस निकृष्ट आर्तिको प्राप्त होजावें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥

अद्य । मुरीय । यदि । यातुऽधानः । अस्मि । यदि । वा । आयुः । ततप । पुरुषस्य ।
अध । सः । वीरैः । दशऽभिः । वि । यूयाः । यः । मा । मोघम् । यातुऽधानः । इति । आह ॥ १५ ॥

प्रायेण अयं मन्त्रः पूर्वश्च अराक्षसम् अहिंसकं त्वं हिंसको राक्षसोसीत्येवं यो मिथ्याभियोगं करोति तं प्रति मिथ्याभिशस्तस्य शपथरूपौ मन्त्रौ । हे आरोपक पुरुष अहं यदि यातुधानः यातनानां विधायकः पीडाकृद् अस्मि । यदि वा पुरुषस्य आयुः जीवनं ततप संतापं हिंसाम् अकार्षम् । तर्हि अद्य अस्मिन्नेव दिने मुरीय म्रियेय । अथ अथ यो अनागसं मां यस्त्वं मोघम् व्यर्थं यातुधानेति आह । पुरुषव्यत्ययः । स त्वं च दशभिः दशसंख्याकैः वीरैः पुत्रैः वि यूयाः वियुक्तो भवेः ॥

(प्रायः यह मन्त्र और पहिला मन्त्र "अराक्षस अर्थात् अहिंसक पुरुषसे तू राक्षस अर्थात् हिंसक है" इस प्रकार जो मिथ्या अभियोग लगाता है उसके निमित्त मिथ्या अभिशस्तके शपथरूप हैं) हे आरोपक मैं यदि यातुधान हूं अर्थात् पीड़ादायक हूं

अथवा पुरुषोंके जीवनको सन्तप्त करता होऊँ तो आज ही मर जाऊँ अन्यथा यदि तू मुझ निरपराधको व्यर्थ ही यातुधान कहता हो तो तू दश पुत्रोंसे हीन होजावे ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यो मायांतुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट

यः । मा । अयातुम् । यातुऽधान । इति । आह । यः । वा । रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ।

इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः । पदीष्ट ॥ १६ ॥

यः अध्यारोपयिता मा माम् अयातुम् अराक्षसं सन्तम् हे यातुधान राक्षस इत्याह यो वा यश्च परमार्थतो रक्षाः राक्षसः शुचिः शुद्धोहम् अयातुः इत्याह ब्रूते तम् उभयविधम् असत्यवादिनम् इन्द्रो देवः महता अतिशयितप्रभाववता वधेन हननसाधनेन वज्रेण हन्तु हिनस्तु । स उभयविधो जनः विश्वस्य सर्वस्यापि जन्तोः प्राणिनः अधमः निकृष्टः सन् पदीष्ट पततु नश्यतु ॥

जो मुझ अराक्षसको हे राक्षस ! इस प्रकार कहता है और जो वास्तवमें राक्षस होने पर भी अपनेको शुद्ध कहता है अर्थात् कहता है, कि—मैं राक्षस नहीं हूँ ! इस प्रकार दोनों रीतिसे झूँठ बोलने वालेको इन्द्रदेव अपने परमप्रभावान् हननसाधन वज्रसे मार डालें और ऐसा प्राणी सब प्राणियोंमें अधम होकर पतित होजावे ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं१ गूहमाना
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः

प्र । या । जिगाति । खर्गलाऽइव । नक्तम् । अप । द्रुहुः । तन्वम् ।
गूहमाना ।
वव्रम् । अनन्तम् । अव । सा । पदीष्ट । ग्रावाणः । घ्नन्तु । रक्षसः ।
उपब्दैः ॥ १७ ॥

या राक्षसी नक्तम् रात्रौ खर्गलेव उलूकीव प्र जिगाति प्रकर्षेण गच्छति अस्मान् हन्तुम् । या च द्रुहुः द्रोहकारिणी राक्षसी तन्वम् स्वकीयां तनुं गूहमाना संवृण्वती अप्रकाशयन्ती अप । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । उपगच्छति । सा उक्तलक्षणा दुष्टराक्षसी अनन्तम् अन्तरहितम् अनवधिकम् असंख्यातं वा वव्रम् गर्तम् अव अवाङ्मुखं पदीष्ट पततु । किं च ग्रावाणः सोमम् अभिषुण्वन्तः पाषाणाः उपब्दैः स्वकीयैः सोमाभिषवध्वनिभिः रक्षसः राक्षसान् घ्नन्तु विनाशयन्तु ॥

जो राक्षसी । रात्रिमें उलूकीकी समान हमारा संहार करनेके लिये झपटती है और जो द्रोहकारिणी राक्षसी अपने शरीरको अप्रकट रखती हुई आती है वह दुष्ट राक्षसी अथाह गड्ढेमें उल्टे मुख होकर गिरे और सोमको पेलते हुए पत्थर सोमाभिषवकी ध्वनिसे राक्षसोंको नष्ट कर डालें ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वि१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सम् । पिनष्टन ।

वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्तऽभिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

हे मरुतः यूयं विक्षु प्रजासु मध्ये वि तिष्ठध्वम् विविधं तिष्ठत । रक्षसः राक्षसान् इच्छत हन्तुम् इच्छां कुरुत । तदनन्तरं गृभायत गृह्णीत । गृहीत्वा च सं पिनष्टन सम्यक् चूर्णं यथा भवति तथा पेषणं कुरुत । ये वा राक्षसाः वयः पक्षिणो भूत्वा नक्तभिः रात्रिभिः रात्रिषु पतयन्ति गच्छन्ति संचरन्ति । ये वा ये च देवे दैवे देवसंबन्धिनि दीप्ते प्रकाशमाने वा अध्वरे यागे रिपः हिंसाः दधिरे धारयन्ति । तान् राक्षसान् संपिनष्टनेति संबन्धः ॥

हे मरुत् देवताओं ! तुम प्रजाओंमें अनेक प्रकारसे स्थित रहो, राक्षसोंको मारनेकी इच्छा करो उनको पकड़ कर उनका चूरा कर डालो और जो राक्षस पक्षी बन कर रात्रिमें विचरण करते हैं और जो प्रकाशमय देवयागमें हिंसा करते हैं उन राक्षसोंका आप चूरा कर डालिये ॥ १८ ॥

नवमी ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन

प्र । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोमऽशितम् । मघऽवन् । सम् । शिशाधि ।

प्राक्तः । अपाक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः ।
पर्वतेन ॥ १६ ॥

हे मघवन् इन्द्र दिवः द्युलोकाद् अन्तरिक्षाद् अश्मानम् अशनिलक्षणं वज्रं प्र वर्तय परिस्फारय । तदेव सोमशितम् सोमेन तीक्ष्णीकृतं यथा भवति तथा सं शिशाधि सम्यक् तीक्ष्णीकुरु । तादृशेन पर्वतेन पर्ववता वज्रेण प्राक्तः अपाक्तः अधरात् उदक्तः प्राक्पश्चाद्दक्षिणोत्तराभ्यो दिग्भ्यः । सर्वस्माद् देशाद् इत्यर्थः । रक्षसः राक्षसान् अभि जहि मारय ॥

हे मघवन् ! आप अन्तरिक्षसे अश्माको अर्थात् अशनिरूप वज्रको प्रेरित करिये । फिर हे इन्द्र ! जिस प्रकार वह सोमसे तीक्ष्ण होसकता हो तिस प्रकार तीक्ष्ण करिये । फिर उस पर्व वाले वज्रसे पूर्व पश्चिम उत्तर दिशाके राक्षसोंका संहार करिये१६

दशमी ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥

एते । ऊं इति । त्ये । पतयन्ति । श्वऽयातवः । इन्द्रम् । दिप्सन्ति । दिप्सवः । अदाभ्यम् ।
शिशीते । शक्रः । पिशुनेभ्यः । वधम् । नूनम् । सृजत् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥ २० ॥

त्ये । तच्छन्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः । त्ये ते एते उक्तप्रकाराः

श्वयातवः श्ववत् खादन्तो यातुधानाः श्वरूपधारिणः श्वसहिता वा पतयन्ति गच्छन्ति । आगत्य च दिप्सवः हिंसेच्छवः सन्तः अदाभ्यम् अहिंस्यम् इन्द्रं दिप्सन्ति जिघांसन्ति । स च शक्रः शक्त इन्द्रः पिशुनेभ्यः राक्षसेभ्योर्थाय तान् हन्तुं वधम् वज्रं शिशीते निशितं करोति । स एवेन्द्रः यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यो राक्षसेभ्यो नूनम् निश्चयम् अशनिम् वज्रं सृजत् सृजतु सृजति वा ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

ये जो कुत्तेकी समान खाने वाले राक्षस आते हैं और आकर हिंसाकी इच्छा कर अहिंस्य इन्द्रको मारना चाहते हैं उन राक्षसों को मारनेके लिये इन्द्रदेव वज्रको तीक्ष्ण किया करते हैं, वही इन्द्र इन हिंसाशील राक्षसों पर वज्रको अवश्य छोड़ें ॥ २० ॥ (१०)

अष्टम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"इन्द्रो यातूनाम्" इति सूक्तस्य "रक्षोहणम्" इत्यनुवाकेन उक्तो विनियोगः ॥

"इन्द्रो यातूनाम्" सूक्तका "रक्षोहणम्" अनुवाकके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः । यातूनाम् । अभवत् । पराऽशरः । हविःऽमथीनाम् । अभि । आऽविवासताम् ।

अभि । इत् । ऊं इति । शक्रः । परशुः । यथा । वनम् । पात्राऽ-

इव । भिन्दन् । सतः । एतु । रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रो देवः यातूनाम् हिंसकानां राक्षसानां पराशरः पराशात-यिता प्रक्षिप्तशरो वा अभवत् भवतु । कीदृशाम् ? हविर्मथीनाम् हवींषि देवतार्थानि पुरोडाशादीनि मथ्नतां तथा अभ्याविवास-ताम् अभिमुखं गच्छताम् । उ अपि च । इदिति पूरणः । शक्रः इन्द्रः राक्षसान् हन्तुम् अभ्येतु । यथा परशुः कुठारो वनम् वृक्ष-समूहं छेत्तुम् एति । पात्रेव पात्राणि मृन्मयानीव भिन्दन् यथा लकुट एति । तद्वत् सतः भासमान् रक्षसः राक्षसान् भिन्दन् । ❀ तिरः सत इति प्राप्तस्येति यास्कः [नि० ३. २०] ❀ । एतु गच्छतु ॥

इन्द्र देवता हविका मथन करनेके लिये अभिमुख आने वाले राक्षसोंको बाण फेंककर मार डालें । जैसे कुठार वृक्षोंको काटने के लिये आता है और जैसे दण्डे वाला पुरुष मट्टीके बर्तनोंको फोड़नेके लिये आता है, इसी प्रकार इन्द्रदेव राक्षसोंको मारते हुए आवें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र २२

उलूकऽयातुम् । शुशुलूकऽयातुम् । जहि । श्वऽयातुम् । उत ।

कोकऽयातुम् ।

सुपर्णऽयातुम् । उत । गृध्रऽयातुम् । दृषदाऽइव । प्र । मृण । रक्षः ।

इन्द्र ॥ २२ ॥

हे इन्द्र उलूकयातुम् उलूकैर्घूकैः परिवारैः सह यातयतीति वा उलूकैर्यातीति वा उलूकयातुः तं जहि विनाशय। तथा शिशुलूकयातुम् अल्पोलूकाकारेण यान्तम् अल्पोलूकैः उलूकजातिविशेषैर्यान्तं वा जहि। एवं श्वयातुम् इत्यादीनि व्याख्येयानि। श्वा प्रसिद्धः। कोकश्चक्रवाकः। सुपर्णो गरुत्मान् पक्षिराट्। गृध्रस्तद्वान्तरजातीयः। सर्वत्र जहीति संबन्धः। किं बहुना। दृषदा पाषाणेन मृत्पात्रमिव रक्षः नानाकारेण वर्तमानं राक्षसं प्र मृण प्रकर्षेण मारय। अत्र ऋक्संहिताबृहद्देवतानुक्रमणिका।

उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान्।
स्त्रीपुंरूपांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि।

इति॥

हे इन्द्र! आप उलूकके आकारमें, उल्लूके बच्चेके आकारमें, कुत्तेके आकारमें, चक्रवाकके आकारमें, गरुड़के आकारमें आते हुए राक्षसको इस प्रकार मार डालिये जिस प्रकार पत्थरसे मट्टी के वर्तनको फोड़ डालते हैं†॥ २२॥

तृतीया॥

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।

† ऋग्वेदसंहिताकी बृहद्देवतानुक्रमणिकामें इस पर लिखा है, कि—"उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान् निशाचरान्। स्त्रीपुरुषांश्च जह्येतान् जिघांसून् इन्द्र मे जहि॥—हे इन्द्रदेव! उलूक परिवारके साथ आते हुए वा उलूकके रूपमें वा उलूककी समान आते हुए इन अनेक रूपधारी राक्षसोंका आप संहार करिये। हे इन्द्र! इन वध करना चाहने वाले स्त्रीपुरुषरूपधारी राक्षसों को आप नष्ट करिये"॥

पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोन्तरिक्षं दिव्यात् पात्व-
स्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातुऽमावत् । अप । उच्छन्तु ।
मिथुनाः । ये । किमीदिनः ।

पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् ।
पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

नः अस्मान् यातुमावत् यातुमत् हिंसकं रक्षः राक्षसजातिः मा अभि नट् मा प्राप्नोतु । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । तस्माल्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀ । तथा किमीदिनः किम् इदानीम् इति वा किम् इदं किम् इदम् इति वा चरन्तो राक्षसा ये मिथुनाः मिथुनभूताः स्त्रीपुंसाः सन्ति ते अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु । किं च पृथिवी देवी नः अस्मान् पार्थिवात् पृथिवीसंबन्धात् स्वसंबन्धिनः अंहसः रक्षःपिशाचादिकृतात् पीडनात् पापाद्वा पातु रक्षतु । एवम् अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षदेवता अस्मान् दिव्यात् दिवि भवात् स्वसंबन्धाद्व अंहसः पातु ॥

हमको यातना देने वाली हिंसक राक्षस जाति प्राप्त न होवे और किमीदिन नामक स्त्रीपुरुष दम्पती राक्षस दूर होजावें । और पृथिवीदेवी हमको राक्षस पिशाच आदिके उपद्रवसे बचावें और अन्तरिक्ष देवता भी हमको अन्तरिक्षसंबंधी पीड़ासे बचावें

चतुर्थी ॥

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाश-
दानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातुऽधानम् । उत । स्त्रियम् । मायया ।

शाशदानाम् ।

विऽग्रीवासः । मूरऽदेवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् ।

उत्ऽचरन्तम् ॥ २४ ॥

हे इन्द्र त्वं पुमांसम् पुंरूपधारिणं यातुधानम् यातनाकारिणं राक्षसं जहि नाशय । उत अपि च मायया परव्यामोहिन्या क्रियया शाशदानाम् हिंसतीं स्त्रियम् राक्षसीं जहि । किं च मूरदेवाः मारण-क्रीडाः मूलेन विषौषध्या दीव्यन्तीति वा मूरदेवाः ते विग्री-वासः विच्छिन्नग्रीवाः सन्तः ऋदन्तु नश्यन्तु । ते मूरदेवाः उच्च-रन्तं सूर्यं मा दृशन् मा द्राक्षुः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप पुरुषरूपधारी यातनादायक राक्षसका संहार करिये और दूसरेको मोहमें डालने वाली क्रियासे हिंसा करती हुई स्त्रीको भी नष्ट करिये और मूल आदिसे अभिचारकर्म करने वाले अभिचारक गरदन टूट कर नष्ट होजावें और वे उदित होते हुए सूर्यको न देख सकें ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ।

रक्षःऽभ्यः । वधम् । अस्यतम् । अशनिम् । यातुमत्ऽभ्यः ॥२५॥

हे सोम त्वम् इन्द्रश्च प्रत्येकं हिंसकराक्षसान् प्रति चक्ष्व प्रति-कूलं प्रत्येकं वा पश्य । तथा वि चक्ष्व विविधं विपरीतं वा राक्ष-

सान् पश्य । युवां जागृतम् अस्मद्रक्षाविषये अपनिद्रौ भवतम् । किं च रक्षोभ्यो यातुमद्भ्यः हिंसावद्भ्यः अशनिम् अशनिलक्षणं वधम् हननसाधनम् आयुधम् अस्यतम् क्षिपतम् ॥

इत्यष्टमकाण्डे द्वितीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च द्वितीयोनुवाकः ॥

हे सोम ! आप और इन्द्रदेव भी प्रत्येक हिंसक राक्षस पर दृष्टि डालिये और उन पर प्रतिकूल दृष्टि डालिये । आप दोनों हमारे रक्षाके काममें जागते रहिये–सावधान रहिये । और यातना देने वाले हिंसक राक्षसों पर अपना वज्र मारिये ॥२५॥

अष्टमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४४२)

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अयं प्रतिसरः" इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् अभिलषितार्थसिद्ध्यर्थम् । अनेनार्थसूक्तेन दध्नि मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "आयमगन् [३. ५] अयं प्रतिसरः [८. ५] अयं मे वरणः [१०. ३] अरातीयोः [१०. ६] इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" इति [कौ० ३. २] ॥

तथा अस्य सूक्तद्वयस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणहोमादौ विनियोगः । सूत्रितं हि । "अयं प्रतिसरः [८. ५] यां कल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ३] । "अथ शान्तिकृत्यादूषणैश्चातनैर्मातृनामभिः" इति [शा० क० १६] । "कृत्यादूषण एव च । चातनो मातृनामा च" इति [न० क० २३] ॥

तथा "रौद्रीं रोगार्तस्य" [न० क० १७] इति विहितायां रौद्र्याख्यायां महाशान्तौ तिलकमणिबन्धने एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्र्याम्" इति [न० क० १६] ॥

पिष्टरात्रीविधाने प्रतिसरबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । "अथातः पिष्ट-रात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति उपक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे । "अयं प्रतिसर इति प्रतिसरम् आवध्य" इति [प० ६. १] ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "अयं प्रतिसरः" यह दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्तका अभिलषित प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये प्रयोग किया जाता है । इस अर्थसूक्तसे दही और शहदमें तीन रात बसाई हुई तिलकमणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आयमगन् (३ । ५) अयं प्रतिसरः (८।५) अयं मे वरणः (१० । ३) अरातीयो (१० । ६) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

और इस सूक्तद्वयका कृत्याप्रतिहरणगणमें भी पाठ है अत एव इसका शान्तिजलके अभिमन्त्रण आदिमें विनियोग होता है । इस विषयमें सूत्रप्रमाण भी है, कि–"अयं प्रतिसरः (८ । ५) यां कल्पयन्ति (१० । १) इति महाशान्तिं आवपते ।–दोनों सूक्त महाशान्तिमें पढे जाते हैं" (कौशिकसूत्र (५ । ३) ॥ "अथ शान्तिकृत्यादूषणैश्चातनैर्मातृनामभिः" (शान्तिकल्प १६) ॥ "चातनो मातृनामा च कृत्यादूषण एव च" (नक्षत्रकल्प २३) ॥

तथा "रौद्रीं रोगार्तस्य ।–रोगार्तके लिये रौद्रीशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित रौद्री नामक महाशान्तिके तिलकबन्धनमें इस सूक्तका विनियोग किया जाता है । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"अयं प्रतिसर इति मन्त्रोक्तं रौद्र्याम्" (नक्षत्रकल्प (१६) ॥

पिष्टरात्रिविधानके प्रतिसरबंधनमें भी इस सूक्त का पाठ है । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें "अयातो पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः ।–अब पिष्टरात्रिके कल्पकी व्याख्या करते हैं" का

आरम्भ करके कहा है, कि—"अयं प्रतिसर इति प्रतिसरं आबध्य ।—अयं प्रतिसरः सूक्तसे रक्षासूत्रको बाँध कर" (अथर्व-परिशिष्ट ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रतिऽसरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ।
वीर्यऽवान् । सपत्नऽहा । शूरऽवीरः । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः १

अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः । यः कृत्याः करोति तं प्रति सरतीति प्रतिसरस्तादृशः । वीरः विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुप्रभृतीनि इति वीरः वीराय वीर्याय वीर्याख्याय सामर्थ्याय विक्रान्ताय पुरुषाय वा बध्यते । मणिर्विशेष्यते । वीर्यवान् वीरस्य कर्म वीर्यम् तद्वान् अतिशयितवीर्यः । सपत्नहा शत्रुघातकः । शूरवीरः शूरान् वीरयति संग्रामे इति वा शूरश्चासौ वीरश्चेति वा शूरवीरः । परिपाणः परिपाल्यनेन साधनेन प्रयोक्ता यजमानम् इति परिपाणः परिरक्षासाधनभूतः परितो रक्षिता वा । ❀ परिपूर्वात् पातेः करणे ल्युट् । "वा भावकरणयोः" इति णत्वविकल्पः । नन्द्यादित्वात् ल्युर्वा ❀। सुमङ्गलः शोभनेन मङ्गलेन उपेतः ॥

यह तिलकवृक्षकी बनी हुई प्रतिसरमणि प्रतिसर है अर्थात् जो कृत्या करता है उसकी ओर सरने वाली है । यह शत्रु आदि को अनेक प्रकारसे खदेड़ती है अत एव वीर है। और यह समर्थ पुरुषके बाँधी जाती है । यह मणि वीरतासे भरी हुई है शत्रुओं की घातक है शूरोंमें वीरता लाने वाली है और इसके प्रयोगसे

प्रयोग करने वाला यजमानकी रक्षा करता है अत एव यह परिपाण है और सुन्दर मङ्गल करने वाली है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्नऽहा । सुऽवीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ।
प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ॥ २ ॥

अयं स्राक्त्यो मणिः सपत्नहा वैरिघातकः सुवीरः शोभनैर्वीरैरुपेतः । पुत्रादिप्रदातेत्यर्थः । सहस्वान् बलवान् वाजी वेजनवान् सहमानः शत्रूणाम् अभिभविता उग्रः उद्गूर्णबलः कृत्याः परोत्पादिताः प्रत्यक् कर्त्रभिमुखं दूषयन् विनाशयन् एति गच्छति बाहुदण्डम् आरोहति । अथ वा प्रत्यक् अस्मदभिमुखम् एति वीरः विविधस् ईरयिता शत्रूणाम् ॥

यह स्राक्त्य मणि शत्रुओंको नष्ट करने वाली, पुत्र, आदि शोभन वीरोंको देने वाली, बलवती, अन्न आदिसे भरने वाली, शत्रुओंका तिरस्कार कराने वाली और प्रचण्ड बलमयी है और कर्ताकी कृत्याको उसीकी ओर दूषित कर्म करनेके लिये प्रेरित करती हुई भुजदण्ड पर आरोहण करनेके लिये आरही है ।२।

तृतीया ॥

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी ।

अ॒नेना॑जयद् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जयत्

प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अ॒नेन॑ । इन्द्रः॑ । म॒णिना॑ । वृ॒त्रम् । अ॒हन् । अ॒नेन॑ । असु॑रान् ।

परा॑ । अ॒भा॒व॒य॒त् । म॒नी॒षी ।

अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ ।

अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अनेन स्राक्त्येन मणिना पूर्वम् इन्द्रः वृत्रम् असुरम् अहन् केनापि उपायेन जेतुम् अशक्यमपि अमुं मणिं बद्ध्वा तत्सामर्थ्येन हतवान् । तथा अनेनैव मणिना मणिबन्धनसामर्थ्येन मनीषी जयोपायज्ञानवान् इन्द्रः असुरान् अन्यान् पराभावयत् पराभूतान् विनष्टान् अकरोत् । किं च अनेनैव मणिना इमे प्रसिद्धे उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अजयत् । द्यावापृथिव्योर्विजयो नाम तदाधिपत्यम् । किं च अनेनैव मणिना चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्रागाद्याः अजयत् स्वाधीनं कृतवान् ॥

इस स्राक्त्य मणिसे ही पहिले समयमें इन्द्रदेवने वृत्रासुरको जीत लिया था । इस मणिबन्धनके प्रभावसे ही मनीषी इन्द्रने जयके उपायको जान कर दूसरे असुरोंको विनष्ट कर डाला था । इसी मणिके द्वारा इन्द्रने द्यावा पृथिवीका अधिपतित्व पाया था । और इसी मणिके प्रभावसे इन्द्रने पूर्व आदि चार श्रेष्ठ दिशाओं को जीता था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अ॒यं स्रा॒क्त्यो म॒णिः प्र॑तीव॒र्तः प्र॑तिस॒रः ।

ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः

अयम् । स्राक्त्यः । मणिः । प्रतिऽवर्तः । प्रतिऽसरः ।

ओजस्वान् । विऽमृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ४

अयं स्राक्त्यः तिलकविकारो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिकूलं प्रतिमुखं वर्तयत्यनेनेति प्रतीवर्तः । ❀ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्॰ इत्यादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः ओजस्वान् शत्रुनिरासक्षमतेजोयुक्तः विमृधः विगतसंग्रामः मणिधारकदर्शनेनैव शत्रूणां पलायनात् संग्रामस्यैव अभावात् । विमृधो विमर्दयिता वा । वशी सर्वस्य वशयिता स तादृशो मणिः अस्मान् सर्वतः सर्वस्मात् अभिभवात् पातु रक्षतु ॥

यह स्राक्त्यमणि प्रतिकूल व्यक्तियोंको उलटा मुख करवा कर भगाने वाली प्रतीवर्त है, रोग आदिको हटाने वाली प्रतिसर है, शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले तेजसे सम्पन्न ओजस्वान् है, इस मणिको धारण करने वाले पुरुषको देखते ही शत्रु भाग जाते हैं इस प्रकार संग्रामका अभाव करनेसे यह विमृध है । और सबको वशमें करने वाली है, ऐसी यह मणि सब प्रकारके अपमानोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः ।

सविता । तत् । इन्द्रः ।

ते । मे । देवाः । पुरःऽहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिऽसरैः । अजन्तु ॥ ५ ॥

तत् वक्ष्यमाणं प्रतीचीः कृत्या इत्यादिकम् अग्निर्देवो मे आह उक्तवान् । प्राश्विनः प्रतिसरैः प्रतिसरणसाधनैर्मणिभिः कृत्याः प्रतीचीः अजन्ति इत्येतत् मे मह्यम् अस्माकम् अग्निराहेत्यर्थः । तदु तद्व एव सोमोप्याह । एवं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रजातस्य स्वामी एतन्नामको देवोप्याह । तथा सविता सर्वप्राणिनां प्रेरकः एतन्नामको देवोप्याह । किं बहुना । तत् साधनम् इन्द्रः मे आह । ते प्रसिद्धा अन्येपि देवाः पुरोहिताः पुरतः संनिधापिताः पुरोहितवत् हितकारिणो वा । आहुरिति विपरिणामः कर्तव्यः ॥ अथ वा तत् स्राक्त्यमणिबन्धनस्य सर्वसंपत्साधनत्वम् अभिराह । तदु तद्व एव सोमोप्याह एवं बृहस्पत्यादिष्वपि योज्यम् । ते ये अग्न्यादयो मणेः सर्वफलसाधनत्वम् आहुः त एव पुरोहिताः फलनिष्पादनविषये पुरतः स्थापिताः सन्तो मे मदर्थम् अन्यैरुत्पादिताः कृत्याः प्रतिसरैः फलसाधनत्वेन अभिहितैर्मणिभिः साधनैः प्रतीचीः अजन्तु गमयन्तु इति व्याख्येयम् ॥

स्राक्त्यमणिबन्धन सब सम्पत्तियोंका साधन है इस बातको अग्निदेवने कहा है, बृहस्पतिदेवने कहा है, सब प्राणियोंके प्रेरक सवितादेवने भी कहा है और इन्द्रदेवने भी कहा है। मणिके सर्वफलसाधनत्वको कहने वाले अपने सामने फलनिष्पादनके लिये स्थापित ये अग्नि आदिदेवता, मेरे निमित्त शत्रुओंकी उत्पादित कृत्याओंको, प्रतिसरोंके प्रभावसे, उलटे मुख करके अभिचारकोंके पास भेजदें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥

अन्तः । दधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ।

ते । मे । देवाः । पुरःऽहिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रतिऽसरैः । अजन्तु

द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च अन्तर्दधे कृत्यायाश्च मम च अन्तरालदेशे दधे स्थापयामि व्यवधानं करोमि । उत अपि च अहरपि अन्तर्दधे । उत अपि च सूर्यमपि अन्तर्दधे । ते मे देवाः द्यावापृथिव्यादयः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

मैं अपने और कृत्याके बीचमें द्यावापृथिवीको स्थापित करता हूँ, दिन और सूर्यदेवको भी अपने और कृत्याके बीचमें रोकने वालोंके रूपमें स्थापित करता हूँ । फल–विषयमें हित करनेके लिये सामने स्थापित किये हुए वे देवता, प्रतिसरमन्त्रोंके प्रभाव से कृत्याको विमुख करके लौटा दें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।

सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

ये । स्राक्त्यम् । मणिम् । जनाः । वर्माणि । कृण्वते ।

सूर्यःऽइव । दिवम् । आऽरुह्य । वि । कृत्याः । बाधते । वशी ॥७॥

ये जनाः कृत्यापरिहारार्थिनो मनुष्याः स्राक्त्यम् मणिं वर्माणि तनुत्राणि कृण्वते कुर्वते । स मणिः सूर्य इव दिवम् आरुह्य दिवम् आरूढः सूर्यो यथा तमांसि बाधते एवं वशी वशयिता सन् कृत्याः अन्योत्पादिता वि बाधते विशेषेण नाशयति ॥

कृत्याका परिहार करना चाहने वाले जो मनुष्य स्राक्त्य-

मणिको कवच बनाते हैं तो यह शत्रुओंको वशमें करने वाली मणि, सूर्यदेव जिस प्रकार आकाशमें चढ़कर (अंधकारको नष्ट करदेते हैं) इस प्रकार दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याको नष्ट कर डालती है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स्राक्त्येनं मणिना ऋषिणेव मनीषिणा ।

अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

स्राक्त्येन । मणिना । ऋषिणाऽइव । मनीषिणा ।

अजैषम् । सर्वाः । पृतनाः । वि । मृधः । हन्मि । रक्षसः ॥ ८ ॥

अहं साधकः स्राक्त्येन तिलकवृक्षकारेण मणिना मनीषिणा विपश्चिता ऋषिणेव अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा अथर्वाख्येन महर्षिणा यथा तथा । अथ वा ऋषिर्मन्त्रः । उक्तरूपेण मन्त्रेणेव मन्त्रेण यथा तथा सर्वाः पृतना अजैषम् जितवान् अस्मि जयानि वा । तथा मृधः ममाथिनो रक्षसः राक्षसान् स्राक्त्येन मणिनैव वि हन्मि घातयामि ॥

मैं साधक अतीन्द्रियार्थद्रष्टा विद्वान् महर्षि अथर्वाकी समान इस स्राक्त्यमणिसे सब सेनाओंको जीत चुका हूँ और ममाथी राक्षसोंको स्राक्त्यमणिसे ही मार रहा हूँ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः

स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः ।

उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः । कृत्याः । स्वयम्ऽकृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आऽभृताः उभयीः । ताः । परा । यन्तु । पराऽवतः । नवतिम् । नाव्याः । अति ॥

आङ्गिरसीः आङ्गिरस्यः अङ्गिरसा प्रयुक्ता याः प्रसिद्धाः कृत्याः सन्ति । अङ्गिरसो महर्षेः कृत्याप्रयोगविधातृत्वम् आङ्गिरसकल्पाख्यसूत्रनिर्माणादेव प्रसिद्धम् । तथा आसुरीः आसुर्यः असुरैर्निर्मिता याः कृत्याः सन्ति । एवं स्वयंकृताः परार्थप्रयोगे सति केनचिद् वैकल्येन स्वस्मिन्नेव पर्यवसिताः स्वयंकृता इत्युच्यन्ते । स्वस्मिन्नेव कृत्यापर्यवसानम् "यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्" [शि० १०] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । या उ च याः काश्चन अन्येभिः अन्यैर्मत्सरिभिः आभृताः आहृताः प्रयुक्ताः कृत्याः सन्ति ता उक्तरूपा उभयीः उभय्यः उभयप्रकारा अपि परावतः दूरदेशात् परा यन्तु परागच्छन्तु । ननु चतुष्प्रकारा निर्दिष्टाः कथम् उभयविधत्वम् इति चेत् उच्यते । आङ्गिरस्यः आसुर्यश्च अमानुष्यः एका कोटिः स्वयंकृता अन्यैः कृताश्च मानुष्यः इत्यपरा इत्युभयविधत्वम् । परागमनस्य अवधिं दर्शयति नवतिम् इत्यादिना । नाव्याः नावा तार्या महानद्यः । ताश्च नवतिसंख्याकाः । ता अति । अतिक्रम्येत्यर्थः ॥

जो अंगिरा ऋषिसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो असुरोंसे आविष्कृत कृत्याएँ हैं, जो स्वयंकृत कृत्याएँ हैं (दूसरों के लिये प्रयोग करने पर किसी त्रुटिके कारण अपने ऊपर ही पड़ने वाली कृत्या स्वयंकृत कृत्या कहलाती । इसका उदाहरण शिक्षा १० में इस प्रकार लिखा है, कि—"यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्") और जो दूसरे शत्रुओंके द्वारा डाली हुई कृत्याएँ

हैं। ये दोनों प्रकारकी कृत्याएँ नव्बे नदियोंके पार दूरसे भी दूर देशमें चली जावें ‡ ॥ ९ ॥

दशमी ॥

अ॒स्मै म॒णिं वर्म॑ बध्नन्तु दे॒वा इन्द्रो॒ विष्णुः॑ सवि॒ता रु॒द्रो अ॒ग्निः ।
प्र॒जाप॑तिः पर॒मे॒ष्ठी वि॒राड् वै॑श्वान॒र ऋष॑यश्च॒ सर्वे॑ १०

अ॒स्मै । म॒णिम् । वर्म॑ । ब॒ध्न॒न्तु॒ । दे॒वाः । इन्द्रः॑ । विष्णुः॑ । स॒वि॒ता । रु॒द्रः । अ॒ग्निः ।
प्र॒जाऽप॑तिः । प॒र॒मे॒ऽस्थी । वि॒ऽराट् । वै॒श्वा॒न॒रः । ऋष॑यः । च॒ । सर्वे॑ ॥ १० ॥

अस्मै यजमानाय कृत्यापरिहारादिफलकामाय मणिम् स्राक्त्यं वर्म परकृतकृत्यादिप्रहारपरिहारकं कवचतत्स्थानीयं कृत्वा बध्नन्तु। के देवास्तान् विशिनष्टि इन्द्रो विष्णुरित्यादिना। प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा स च परमेष्ठी परमे निरतिशये स्थाने वर्तमानः विराट् कृत्स्न-ब्रह्माण्डाभिमानी देवः वैश्वानरः विश्वेषां नराणां हितो जाठ-रोऽग्निः हिरण्यगर्भो वा । स्पष्टम् अन्यत् ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

---

‡ यहाँ यह शंका होती है, कि-मंत्रमें चार प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं, तो फिर दो प्रकारकी कैसे कहा, इसका उत्तर यह है, कि-आंगिरसी और आसुरी इन अमानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है और स्वयंकृत तथा अन्यकृत मानुषी कृत्याओंकी एक कोटी है। इस प्रकार दो प्रकारकी कृत्याएँ कहीं हैं ॥

इस कृत्यापरिहार आदि फल चाहनेवाले यजमानके लिये इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजाओंके स्रष्टा प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर हिरण्यगर्भदेवता तथा सकल ऋषि परकृत-कृत्यापरिहारक मणिरूप कवचको बाँधे ॥१०॥ (१२)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"उत्तमो असि" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः॥

"उत्तमो असि" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥ ११ ॥

उत्ऽतमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्ऽइव । व्याघ्रः । श्वपदाम्ऽइव ।
यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रतिऽस्पाशनम् । अन्तितम् ॥

हे मणे मण्युपादान वृक्ष वा त्वम् उत्तमोसि सर्वाभिमतफलसाधनत्वेन कतिपयफलसाधिकानाम् ओषधीनां मध्ये श्रेष्ठोसि। उत्तमत्वे दृष्टान्तम् आह। अनड्वान् अनोवहनसमर्थः पुंगवो जगतामिव गच्छतां चतुष्पदां मध्ये यथा उत्तमस्तद्वत्। अनडुह उत्तमत्वम् "अनड्वान् दाधार पृथिवीम्" [४. ११] इत्यत्र प्राग् उक्तम्। उपकारकत्वे दृष्टान्तम् अभिधाय शत्रुहिंसादिक्रूरकर्मणि दृष्टान्तम् आह व्याघ्रः श्वपदामिवेति। श्वपदः वृकसृगालाद्या अरण्यदुष्टमृगाः। तेषां मध्ये व्याघ्र इव। ❀ व्याघ्रो व्याघ्राणाद्

व्यादाय हन्तीति वेति यास्कः [नि० ३. १८] ❀ । यम् ईदृशविधं सर्वपुरुषार्थसाधनाय ऐच्छाम तम् अविदाम लब्धवन्तः स्मः । अथ वा यं त्वया साध्यं पुरुषार्थम् ऐच्छाम तम् अविदाम । ❀ विन्दतेर्लुङि च्लेः अङ् ❀ । तं विशिनष्टि । प्रतिस्पाशिनम् अभिचरतः प्रतिमुखं बाधकम् । अन्तितम् अत्यन्तसंनिहितम् । अथवा तं तमेव प्रतिस्पाशिनं प्रतिकूलं बाधनावन्तं द्वेष्टारम् अन्ति अन्तिके अविदाम ॥

हे मणिके उपादानभूत वृक्ष ! तू थोड़ेसे फलको साधने वाली ओषधियोंमें उत्तम है । जैसे बोझा ढोने वाले चौपायोंमें बैल श्रेष्ठ होता है, † (उपकारकत्वमें दृष्टान्त देकर शत्रुहिंसादि क्रूरकर्ममें दृष्टान्त देते हैं, कि–) जैसे भेड़िये गीदड़ आदि वनके दुष्ट पशुओंमें व्याघ्र श्रेष्ठ है । इसी प्रकार तू श्रेष्ठ हमने तुझसे जिस पुरुषार्थ को पाना चाहा था उसको पा लिया है अर्थात् अभिचार करने वाले अत्यन्त संनिहित प्रतिकूल बाधा देने वाले शत्रुको समीप में (पकड़वा कर) पालिया है ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्याघ्रः । भवति । अथो इति । सिंहः । अथो इति । वृषा । अथो इति । सपत्नऽकर्शनः । यः । बिभर्ति । इमम् । मणिम् १२

† बैलकी उत्तमताके विषयमें चतुर्थ काण्डके ग्यारहवें सूक्तमें कहा था, कि "अनड्वान् दाधार पृथिवीम् ।–बैल पृथ्वीको धारण कर रहा है" ॥

उपमाप्रधाना व्याघ्रादिनिर्देशाः। व्याघ्र इव सिंह इव च परा-भिभवनशीलो भवति स इत्। स एवेत्यर्थः। अथो अपि च वृषेव स यथा गोषु स्वच्छन्दसंचारी भवति तद्वत् स भवतीत्यर्थः। अथो अपि च स एव सपत्नकर्षणः शत्रुविनाशकश्च भवति। स इत्युक्तम् क इत्याह। यः पुरुषः इमम् उक्तमहिमोपेतं मणिं बिभर्ति धारयति स इद् इति संबन्धः॥

जो पुरुष उक्तमहिमासे सम्पन्न मणिको धारण करता है, वह व्याघ्रकी समान पराभव करने वाला होता है और जैसे साँड गौओंमें स्वच्छन्दचारी होता है वैसा होता है और शत्रुओंका विनाशक होता है॥ १२॥

तृतीया॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम्॥१३॥

न। एनम्। घ्नन्ति। अप्सरसः। न। गन्धर्वाः। न। मर्त्याः।
सर्वाः। दिशः। वि। राजति। यः। बिभर्ति। इमम्। मणिम् १२

सर्वाः। दिशः प्रति। सर्वासु दिक्षित्यर्थः। वि राजति। सर्वदिक्स्वामी भवतीत्यर्थः। स्पष्टम् अन्यत्।

जो पुरुष इस मणिको धारण करता है उस पर अप्सरायें प्रहार नहीं करती हैं गंधर्व और मनुष्य भी उस पर प्रहार नहीं करते हैं और वह सकल दिशाओंमें शोभा पाता है अर्थात् सब दिशाओंको जीत लेता है॥ ३॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत्।

मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

कश्यपः । त्वाम् । असृजत । कश्यपः । त्वा । सम् । ऐरयत् ।

अबिभः । त्वा । इन्द्रः । मानुषे । बिभ्रत् । सम्ऽश्रेषिणे । अजयत् ।

मणिम् । सहस्रऽवीर्यम् । वर्म । देवाः । अकृण्वत ॥ १४ ॥

चतुर्थी ॥ कश्यपः प्रजापतिः हे मणे त्वाम् असृजत सृष्टवान् । अनेन जन्मतः प्राशस्त्यम् उक्तम् । तथा स एव कश्यपः त्वा त्वां समैरयत् सर्वोपकारकत्वाय प्रेरितवान् । अनेन प्रयोक्तृगौरवद्वारा प्राशस्त्यम् उक्तं भवति । अथ धारयितृगौरवादपि प्राशस्त्यं दर्शयति अबिभस्त्वेन्द्र इति । हे प्रशस्तमणे त्वा त्वाम् इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः स्वकीयवृत्रहननादिसिद्धये स्वाराज्यप्राप्तये च अबभिः भरणं कृतवान् । यस्माद् एवं तस्मात् त्वां मानुषे । जातावेकवचनम् ॥ मानुषेषु मध्ये बिभ्रत् पुरुषः संश्रेषणे परस्परसंश्लेषणसाधने संग्रामे अजयत् जयति ॥

पञ्चमी ॥ सहस्रवीर्यम् अपरिमितसामर्थ्यं मणिम् स्राक्त्यं देवाः पुरा वर्म कवचम् अकृण्वत कृतवन्तः वर्मवद् रक्षाकरम् अकुर्वन् ॥

हे मणे ! कश्यप प्रजापतिने तेरा आविष्कार किया है और उन्होंने ही सर्वोपकारके लिये तुझको प्रेरित किया है और हे प्रशस्त मणे ! सब देवताओंके अधिपति इन्द्रदेवने वृत्रहनन आदि आदि कार्यकी सिद्धिके लिये और स्वराज्यप्राप्तिके लिये तुझको धारण किया था । इस कारण मनुष्यसमाजमें जो पुरुष तुझको धारण करता है वह परस्पर टकरानेके साधन संग्राममें विजय पाता है ॥

अपरिमित शक्तिसम्पन्न स्राक्त्यमणिको पूर्वकालमें देवताओंने कवचकी समान रक्षा करने वाला बनाया था ॥ १४ ॥

षष्ठी ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः । त्वा । कृत्याभिः । यः । त्वा । दीक्षाभिः । यज्ञैः । यः । त्वा ।
जिघांसति ।
प्रत्यक् । त्वम् । इन्द्र । तम् । जहि । वज्रेण । शतऽपर्वणा ।१५।

हे शान्तिकाम पुरुष यः पुमान् त्वा त्वां कृत्याभिः हिंसाभिः क्रियाभिः जिघांसति हन्तुम् इच्छति यश्च त्वा त्वां दीक्षाभिः यज्ञियैर्वाग्यमनादिनियमविशेषैः जिघांसति । तथा यश्च त्वां यज्ञैः हिंसासाधनैः श्येनेष्वादिभिर्यागैः जिघांसति तं पुमांसं घातकम् हे इन्द्र इन्द्रात्मक त्वं शतपर्वणा शतसंधिकेन वज्रेण प्रत्यक् प्रतिमुखं जहि घातय ॥

हे शान्तिकाम ! जो पुरुष तुझको हिंसक क्रिया (कृत्या)ओं से मारना चाहता है, दीक्षाओंसे मारना चाहता है, हिंसासाधन श्येनयाग आदिसे मारना चाहता है, उस घातकपुरुषको हे इन्द्र ! सौ पर्व वाले वज्रसे प्रतिमुख मार डालिये ॥ १५ ॥

सप्तमी ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम् । इत् । वै । प्रतिऽवर्तः । ओजस्वान् । सम्ऽजयः । मणिः ।
प्रऽजाम् । धनम् । च । रक्षतु । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः ॥१६॥

अयं मणिः प्रतीवर्त इद् वै कृत्यादिप्रतिवर्तनसाधन एव खलु ।

❀ प्रतिपूर्वाद् वृतेः करणे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । ओजस्वान् अतिशयितौजाः संजयः संगतजयः सम्यग् जेता वा । स मणिः प्रजाम् पुत्रादिरूपां धनं च रक्षतु पालयतु । पुनर्विशेष्यते । परिपाणः परिपातीति परिपाणः मां परितो रक्षकः । ❀ नन्द्यादित्वात् ल्युः । णत्वं छान्दसम् ❀ । सुमङ्गलः शोभनमाङ्गल्यसाधनभूतः ॥

यह मणि कृत्या आदिको हटानेका साधन है और यह परम बलप्रद, भली प्रकार जीतने वाली है ऐसी यह मणि प्रजा और धनकी रक्षा करे। यह मणि चारों ओरसे मेरी रक्षा करने वाला है और शोभन मङ्गलोंका साधन है ॥ १६ ॥

अष्टमी ॥

असपत्नं नो अधराद॑सपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥१७॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ।
इन्द्र । असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥

हे इन्द्र शूर त्वम् । मणिर्वा इन्द्रशब्देन उच्यते । नः अस्माकम् अधरात् । उत्तरसाहचर्याद् अत्र अधरशब्दो दक्षिणदेशवाची । "पश्चात् पुरस्ताद् अधरात्" इति हि प्रागुक्तम् [८. ३. २०] । दक्षिणदिग्भागाद् असपत्नम् सपत्नविघातकम् । ज्योतिरिति संबन्धः । तत् पुरः पुरोदेशे कृधि कुरु । एवम् उत्तरात् पश्चात् इति वाक्यद्वयमपि व्याख्येयम् । अथ वा अधरात् उत्तरतः पश्चात् इति देशत्रयस्य उपादानात् पुरो ज्योतिरिति पूर्वदेशो विवक्षितः । अथ वा दिक्त्रयदेशेभ्योपि असपत्नम् सपत्नाभावम् पुरोदेशे ज्योतिश्च हे इन्द्र शूर त्वं कृधि कुर्विति व्याख्येयम् ॥

हे शूरवीर इन्द्र ! हमारे उत्तर दक्षिण और पश्चिमकी ओर असपत्न अर्थात् शत्रुविनाशक ज्योति रहे और आप हमारे सामने ज्योतिको करिये ॥ १७ ॥

नवमी ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ।

वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे ॥

मे मह्यं द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ देवते वर्म तनुत्रं धत्ताम् कुरुताम् । तथा अहः अहरभिमानिदेवतापि मे वर्म दधातु । एवं सूर्येन्द्राग्निधातृवाक्यान्यपि योज्यानि ॥

द्यावापृथिवी देवता मेरे लिये कवचको धारण करें-दें । दिन के अभिमानी देवता सूर्य मुझको कवच दें, इन्द्र अग्नि और धाता देवता भी मुझको कवच दें ॥ १८ ॥

दशमी ॥

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथा-
सानि ॥ १९ ॥

ऐन्द्राग्नम् । वर्म । बहुलम् । यत् । उग्रम् । विश्वे । देवाः । न ।

अतिऽविध्यन्ति । सर्वे ।

तत् । मे । तन्वम् । त्रायताम् । सर्वतः । बृहत् । आयुष्मान् ।

जरत्ऽअष्टिः । यथा । असानि ॥ १९ ॥

यत् मणिलक्षणम् ऐन्द्राग्नम् इन्द्राग्निदेवताकम् इन्द्राग्निभ्याम् अभिमानितं बहुलम् प्रभूतम् उग्रम् उद्गूर्णबलं वर्म कवचम् तद् विश्वे देवाः एतत्संज्ञया व्यवह्रियमाणा देवाः सर्वेपि नातिविध्यन्ति अतिवेधनं न कुर्वन्ति । किं तु सर्वेपि पालयन्तीत्यर्थः । तत् तथाविधं मणिलक्षणं वर्म मे तन्वम् तनूं शरीरं सर्वतः त्रायताम् पालयतु । कीदृक् तद् । बृहत् प्रभूतम् । अहं च यथा आयुष्मान् शतसंवत्सरेण आयुष्येण तद्वान् जरदष्टिः जीर्णावस्थापर्यन्तम् अशनवान् असानि भूयासं तथा त्रायताम् ॥

जो मणिरूप इन्द्र और अग्नि देवता वाला प्रचण्ड कवच है उसका इन्द्र आदि सब अतिवेधन नहीं करते हैं अर्थात् पालन करते हैं। ऐसा मणिरूप कवच मेरे शरीरकी चारों ओरसे रक्षा करें कि-जिससे मैं बड़ी आयु वाला और बुढ़ापे तक रहने वाला होऊँ ॥ १९ ॥

एकादशी ॥

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।

इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे २०

आ । मा । अरुक्षत् । देवऽमणिः । मह्यै । अरिष्टऽतातये ।

इमम् । मेथिम् । अभिऽसंविशध्वम् । तनूऽपानम् । त्रिऽवरूथम् ।

ओजसे ॥ २० ॥

देवमणिः देवेन इन्द्रेण धृतत्वाद् वा देवैः इन्द्राग्न्यादिभिरभिमानितत्वाद् वा देवमणिः । स मा माम् आरुक्षत् भुजादिप्रदेशम्

आरूढवान् । किमर्थम् । मह्यै महत्यै । मह्यम् इति वा । अरिष्टता-तये । रिष्टं नाशस्तदभावः अरिष्टम् अरिष्टकरणाय। क्षेमायेत्यर्थः। किं च हे नराः यूयमपि इमं मेथिम् शत्रूणां विलोडयितारं विना-शयितारम् । यद्वा मेथी खले यथा उच्छ्रिता वर्तते एवम् अयम-पीति मेथीवत् मेथिः । तम् अभिसंविशध्वम् अभितः सम्यग् आश्रयध्वम् । अथ वा इमं मेथीस्थानीयं मणिम् हे इन्द्रादिदेवा यूयम् अभिसंविशध्वम् अधितिष्ठत । कीदृशम् । तनूपानम् तन्वाः शरीरस्य पातारम् त्रिवरूथम् त्रिविधावरणोपेतम् आद्यन्तमध्य-भागैस्त्र्यात्मकं वा । किमर्थम् अभिसंवेशनम् इति उच्यते। ओजसे बलाय बलाभिवर्धनाय ॥

इन्द्र आदि देवताओंकी धारणकी हुई देवमणि मेरा क्षेम करने के लिये मेरे भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हुई है । हे मनुष्यों ! तुम भी इस शत्रुओंका विलोडन करने वाली शरीररक्षक, तीन आवरण वाली मणिको बलके निमित्त धारण करो ॥ २० ॥

द्वादशी ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभि-संविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥

अस्मिन् । इन्द्रः । नि । दधातु । नृम्णम् । इमम् । देवासः । अभिऽसंविशध्वम् ।
दीर्घायुऽत्वाय । शतऽशारदाय । आयुष्मान् । जरत्ऽअष्टिः । यथा । असत् ॥ २१ ॥

अस्मिन् मणौ इन्द्रो देवो नृम्णम् सुखम् अस्मदभिमतं नि

दधातु स्थापयतु । इमं मणिम् हे देवासः देवा यूयम् अभिसंविशध्वम् अभितः अधितिष्ठत । किमर्थम् एवं प्रार्थनेति चेत् उच्यते। दीर्घायुत्वाय प्रभूतस्य आयुषः प्राप्तये । एतस्यैव व्याख्यानं शतशारदायेति । शरच्छब्देन तदुपलक्षितः संवत्सरोभिधीयते । शतसंख्याकाः शरदः शतशरदः । शतशरत्संख्यायुः शतशारदम् तस्मै । तस्यैव तात्पर्यम् आह । आयुष्मान् उक्तशतसंवत्सरलक्षणेन आयुष्येण युक्तः । न केवलम् आयुर्वृद्धिरेव पर्याप्ता किंतु तावत्कालम् अशिथिलेनापि भवितव्यम् इत्यभिप्रेत्याह जरदष्टिरिति । उक्तो जरदष्टिशब्दार्थः । उक्तगुणद्वयविशिष्टो यथा येन प्रकारेण असत् भवेत् तथास्मिन्निन्द्रो नृम्णं दधातु । देवा अपि इमम् अभिसंविशध्वम् इति संबन्धः ॥

इस मणिमें इन्द्रदेवता हमारे अभिमत सुखको स्थापित करें, हे देवताओं ! आप भी इस मणिमें अधिष्ठित होवें । जिस प्रकार यह यजमान सौ वर्ष तककी दीर्घायु वाला आयुष्मान् और बुढ़ापे तक रहने वाला हो तिस प्रकार देवता मणिमें सुखको स्थापित करें

त्रयोदशी ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥

स्वस्तिऽदाः । विशाम् । पतिः । वृत्रऽहा । विऽमृधः । वशी ।
इन्द्रः । बध्नातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपराऽजितः ।
सोमऽपाः । अभयम्ऽकरः । वृषा ।

सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः । दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥

इन्द्रो देवः ते तव उक्तमहिमोपेतं मणिं बध्नातु इति वाक्यार्थः । कीदृश इन्द्र इति तं विशिनष्टि । स्वस्तिदाः स्वभक्तानाम् अविनाशिलक्षणक्षेमप्रदाता । स्वयं च विशाम् देवमनुष्यादिलक्षणानां प्रजानां पतिः पालयिता स्वामी । वृत्रहा वृत्रस्य असुरस्य हन्ता । विमृधः विगतयुद्धः विविधं शत्रुविनाशकारी वा । वशी सर्वस्य वशयिता । जिगीवान् जयशीलः । अपराजितः स्वयम् अन्यैरनभिभूतः । सोमपाः सर्वेष्वपि सोमयागेषु स्वयमेव मुख्यत्वेन सोमस्य पाता । अभयंकरः अभयं भयराहित्यं तस्य कर्ता । वृषा सेक्ता अतिशयितपुंस्त्वस्य अभिमतफलस्य वर्षिता वा । स तादृशो देवो मणिं बद्ध्वा त्वा त्वां सर्वतः सर्वस्मादपि भयनिमित्ताद् रक्षतु । किम् एकदा । नेत्याह । दिवा नक्तं च । सर्वदेत्यर्थः । सर्वत इत्युक्तमेवार्थम् आदरार्थं पुनराह विश्वत इति ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

अपने भक्तोंको क्षेमरूप कल्याणके देने वाले देवता और मनुष्य आदि प्रजाओंके स्वामी, वृत्रासुरके संहारक, अनेक प्रकारसे युद्ध करने वाले और सबको वशमें रखने वाले इन्द्रदेव तेरे मणिको बाँधें । विजयी, दूसरोंसे अपराजित सोमपान करने वाले, अभयप्रद और अभिमत फलकी वर्षा करने वाले वह इन्द्रदेव रात दिन चारों ओरसे तेरी रक्षा करें ॥ २२ ॥ (१३)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४४२) ॥

"यौ ते माता" इति सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । अस्य अर्थसूक्तस्य "दिव्यो गन्धर्वः [२ . २] इमं मे अग्ने [६. ११२] यौ ते माता [८. ६] इति मातृनामानि" इति [कौ० १. ८] मातृगणे पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणाज्यहुतहोमशान्तिहोमादौ गण-

प्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः । सूत्रितं हि । "वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५.७] । "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्" इति [कौ० १३.२] । "चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्" इत्यादि [शा० क० १६] ॥

सीमन्तोन्नयनकर्मणि अनेन अर्थसूक्तेन श्वेतपीतसर्षपान् संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात् । तथा च सूत्रम् । "यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ बध्नाति" इति [कौ० ४. ११] ॥

"यौ ते माता" आदि तीन सूक्तोंका समुदाय अर्थसूक्त कहलाता है । इस अर्थसूक्तका "दिव्यो गन्धर्वः (२ । २) इमं मे अग्ने (६ । १११) यौ ते माता (८ । ६) इति मातृनामानि" इस कौशिकसूत्र १ । ८ के अनुसार मातृनामगणमें पाठ होनेसे शान्त्युदकाभिमन्त्रण और अद्भुत होमशान्ति आदिमें गण के कारण विनियोग समझना चाहिये । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्ति आवपते" (कौशिकसूत्र ५ । ७) । "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात्" (कौशिकसूत्र १३ । २) "चातनैर्मातृनामभिर्वास्तोष्पत्यैराज्यं जुहुयात्" (शांतिकल्प १६) ॥

सीमन्तोन्नयनकर्ममें इस अर्थसूक्तसे पीली और सफेद सरसों को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके गर्भिणीके बाँध देवे इस विषयमें कौशिकसूत्र ४ । ११ का प्रमाण भी है, कि-"यौ ते मातेति मन्त्रोक्तौ बध्नाति ।-यौं ते माता से मन्त्रमें कहे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको बाँधे ॥"

तत्र प्रथमा ॥

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒ताया॑: पति॒वेद॑नौ ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑ध॒दलि॑श उ॒त व॒त्सप॑: ॥ १ ॥

यौ। ते। माता। उत्ऽममार्ज। जातायाः। पतिऽवेदनौ।

दुःऽनामा। तत्र। मा। गृधत्। अलिंशः। उत। वत्सऽपः ॥१॥

हे गर्भिणि जातायाः उत्पन्नाया उत्पत्तिसमनन्तरमेव ते तव माता जनयित्री यौ प्रसिद्धौ दुर्नामसुनामाख्यौ दुर्नामवत्सपाख्यौ वा पतिवेदनौ तव पत्युर्दुःखवेदनोत्पादकौ परिह्रियमाणौ सन्तौ पतिलम्भकौ वा। दुर्नामसुनामानाविति पक्षे सुनामा अनुकूलत्वात् पतिलम्भकः। दुर्नामा तु प्रतिक्रियया पतिलम्भक इति। पक्षान्तरे अलीश इत्येतद् वत्सपविशेषणम्। उक्तस्वरूपौ यौ उन्ममार्ज ऊर्ध्वमुखं मार्जनम् उन्मार्जनम्। तत् कृतवती परिहृतवती। पत्युः परिग्रहायेति शेषः। तत्र तयोर्मध्ये दुर्नामा त्वग्दोषाख्यः मा गृधत् अभिकाङ्क्षां मा करोतु। ❀ गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। माङि लुङि पुषादित्वात् अङ् ❀। तथा अलीशः अलयो भ्रमराकारेण वर्तमानाः केचन रोगाः तदभिमानिदेवा वा तेषाम् ईशः स्वामी वत्सपः वत्सानां पाता संवर्तव्याध्यभिमानी देवः। सोपि त्वां मा गृधत्। दुर्नामसुनामानौ यदि यच्छब्दार्थौ तथा उक्तव्यतिरिक्तः अलीशोपि त्वां मा गृधत्। उत अपि च वत्सपोपि मा गृधत् इति व्याख्येयम् ॥

हे गर्भिणि! तेरे उत्पन्न होने पर तेरी माताने तेरे पतिको प्राप्त करानेवाले जिनका उन्मार्जन किया था उनमेंसे दुर्नामा (त्वग्दोष) तेरी अभिकांक्षा न करे और भ्रमराकारसे वर्तमान अलि नामक रोगोंके स्वामी अभिमानी देवता तुझको न पकड़ें और सम्वर्त व्याधियोंका अभिमानी देवता वत्सप तुझको न पकड़े ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।

आश्रेषं वब्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालऽअनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पलीजकम् ।

आऽश्रेषम् । वव्रिऽवाससम् । ऋक्षऽग्रीवम् । प्रऽमीलिनम् ॥ २ ॥

पलालानुपलालौ पलालवत् पलालः । अतितुच्छाङ्ग इत्यर्थः । अनुपलालोपि तादृशः । तौ द्वावपि नाशयामीति शेषः । शर्कु-रेकः शर्शर् इति कौति शब्दयत इति शर्कुः । तं च विनाशं-यामि । एवम् उत्तरत्रापि । कोकम् । कोकश्चक्रवाकः । तदाकारेण वर्तमानः कोकः । यद्वा । ❀ कुक वृक आदाने । पचाद्यजन्तः ❀ । पलादेः आदातारं संहर्तारम् । मलिम्लुचः अत्यन्तमलिनः तं च । पलीचकम् पल्या पलितेन चकत इति पलीचकः जरठवद् वर्तमानः पलितकारी वा । आश्रेषम् आश्लिष्यतीत्याश्रेषः आश्लिष्य हन्तारं पीडयितारम् । वव्रिवाससम् वव्रिः रूपनाम । रूपोपेतवसन-वन्तम् । ऋक्षग्रीवम् ऋक्षस्य वानरविशेषस्य ग्रीवेव ग्रीवा यस्य तादृशम् । प्रमीलिनम् प्रमीलः अक्षिसंकोचः । प्रतिक्षणं संकुच-न्नेत्रम् इत्यर्थः । एते सर्वे गर्भिण्यादीनां पीडकाः । तान् प्रत्येकं नाशयामीत्यर्थः ॥

पलाल (पिराल) की समान अति तुच्छ अङ्ग वाले गर्भिणी-पीड़क राक्षसको और अनुपलालको नष्ट करता हूँ । शर् शर् शब्द करने वाले शर्कुको मारता हूँ चक्रवाककी समान आकार वाले कोक राक्षसको मारता हूँ । मलिम्लुच (अतीव मलिन रहने वाले) को, झुर्रियें डालने वाले पलीजकको, अड़ कर पीड़ित करने वाले आश्रेषको, रूपवान् वस्त्र पहिरने वाले वव्रिवासको, ऋक्ष-एक प्रकारके वन्दरकी समान ग्रीवा वाले ऋक्षग्रीवको, प्रतीक्षण आँखोंको संकुचित करते रहने वाले प्रमीलिन नामक गर्भिणीपीड़क राक्षसको मैं नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा सं वृ॑तो मोप॑ सृ॑प ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा ।
कृणोम्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॒र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृ॒तः । मा । उप॑ । सृ॒पः । ऊ॒रू इति॑ । मा । अव॑ । सृ॒पः । अ॒न्त॒रा ।
कृणोमि॑ । अ॒स्यै॒ । भे॒ष॒जम् । ब॒जम् । दु॒र्ना॒म॒ऽचात॑नम् ॥ ३ ॥

हे दुर्नामाख्यरोगाभिमानिन् अस्या ऊरू अन्तरा ऊर्वोर्मध्ये । ❀ "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया ❀ । मा सं वृतः संवृर्ति संकोचं वा मा कार्षीः । ❀ वृतु वर्तने । "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदम् । द्युतादित्वाद् अङ् ❀ । तथा मोप सृपः उपसर्पणम् अन्तःप्रवेशं मा कार्षीः । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् ❀ । तथा ऊरू अन्तरा माव सृपः अवाक् सर्पणं मा कार्षीः । किमर्थम् एवम् इति चेद् उच्यते । अस्यै गर्भिण्यै दुर्नामचातनम् दुर्नामाख्यस्य दोषस्य विनाशकं बजम् श्वेतसर्षप-रूपं भेषजम् औषधं कृणोमि कृणोमि करोमि । उत्तरत्र बजः पिङ्ग इति विशेष्यमाणत्वात् अत्र केवलबजग्रहणेपि श्वेतोभिमतः । श्वेत-पीतोभयविधसर्षपाणां गर्भिण्या बन्धनं सूत्र उक्तम् ॥

हे दुर्नाम नामक रोगके अभिमानी देवते ! तू इस गर्भिणीके ऊरुओंके मध्यमें संकोचको न कर तथा अन्तःप्रवेश भी न कर तथा ऊरुओंमें नीचेको भी मत सरक, क्योंकि—मैं इस गर्भिणीके लिये दुर्नाम नामक दोषकी विनाशक श्वेत सरसोंरूप औषधि को कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।

अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥ ४ ॥

दुःऽनामा । च । सुऽनामा । च । उभा । सम्ऽवृतम् । इच्छतः ।

अरायान् । अप । हन्मः । सुऽनामा । स्त्रैणम् । इच्छताम् ॥४॥

दुःखेन नमयितुं शक्यो दुर्नामा । सुखेन अल्पप्रयत्नेन नमयितुं वशीकर्तुं शक्यः सुनामा । सुभगो दुर्भगश्चेत्यर्थः । तौ उभा उभौ संवृतम् संवर्तनं सहैव प्राप्तिं संचरणं वा इच्छतः । ❀ वृणोतेः संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । तत्र अरायान् न विद्यन्ते रायो येषां ते अराया अलक्ष्मीकास्तान् दुर्नामप्रभृतीन् अप हन्मः विनाशयामः । सुनामा द्वितीयः स्त्रैणम् स्त्रियाः संबन्ध्यङ्गं स्त्रीसमूहं वा इच्छताम् इच्छतु । ❀ स्त्रीशब्दात् "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्" इति नञ् । इच्छताम् इति । "इषुगमियमां छः" । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ ॥

दुर्नाम (दुर्भग) और सुनाम (सुभग) दोनों एक साथ रहना चाहते हैं । इनमेंसे धनरहित दुर्नाम आदिको हम नष्ट करते हैं और दूसरा स्त्रियोंकी इच्छा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्बऽजः । उत । तुण्डिकः ।

अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

यः प्रसिद्धः कृष्णः कृष्णवर्णः केशी केशवान् प्रकृष्टकेशः एतन्नामा असुरः । तथा स्तम्बजः स्तम्बे जातः असुरः । उत अपि

च तुण्डिकः तुण्डं मुखम् । कुत्सितमुखः एतन्नामा असुरः एते सर्वे अरायाः दुर्भगास्तान् अरायान् अस्या गर्भिण्याः मुष्काभ्याम् । स्त्रीणामपि मुष्कम् अस्ति । "न्यक्कं पुंसो न तु स्त्रियाः" इति स्मरणात् । मुष्काख्यप्रदेशाभ्यां तत्रापि भंससः कटिसंधिप्रदेशाद् अप हन्मसि अपहन्मः ॥

जो कृष्णवर्णका केशी नामक असुर है, और जो स्तम्बमें हुआ स्तम्बज नामक असुर है, और जो कुत्सित मुखवाला तुण्डिक नामक असुर है, ये सब दुर्भाग हैं इनको हम गर्भिणीके मुष्कों से और कटिसंधिप्रदेशसे नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥६॥

अनुऽजिघ्रम् । प्रऽमृशन्तम् । क्रव्यऽअदम् । उत । रेरिहम् ।
अरायान् । श्वऽकिष्किणः । बजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनुजिघ्रम् अनुजिघ्रतीति अनुजिघ्रः । ❀ घ्रा गन्धोपादाने । "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इति शः । "पाघ्रा०" इत्यादिना जिघ्रादेशः ❀ । आघ्रायैव हिंसकम् इत्यर्थः । तथा प्रमृशन्तम् प्रमृश्यैव हन्तारं क्रव्यादम् मांसभक्षकम् । उत अपि च रेरिहम् लीढ्वैव हन्तारम् । उक्तव्यतिरिक्तान् अन्यान् अरायान् अधनान् अलक्ष्मीकरांश्च । अरायविशेषणं किष्किण इति । किष्किष् इति शब्दं कुर्वन्तस्तान् । यद्वा । ❀ किष्क हिंसायाम् इति चुरादौ पठ्यते ❀ । नित्यं हिंसकान् पिङ्गः पिशङ्गवर्णो बजः सर्षपः अनीनशत् भृशं नाशितवान् नाशयतु वा । "श्वेतांश्च पीतांश्च सर्ष-

पान् संघात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात्” इति [कौ० ४, ११] विनियोगाभिधानाद् अत्र पीतसर्षपाणां विधानयोग उक्तः ॥

सूँघ कर ही मार डालने वाले अनुजिघ्रको और स्पर्श करके मार डालने वाले प्रमृशको, मांसभक्षक क्रव्यादको और चाटकर मारने वाले रेरिहको, इनके अतिरिक्त भी दूसरे अलक्ष्मीक राक्षसों को और किष् किष् शब्द करने वाले नित्यहिंसक राक्षसको पीला सरसों नष्ट करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । स्वप्ने । निऽपद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिताऽइव । च ।
बजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीबऽरूपान् । तिरीटिनः ॥७॥

हे गर्भिणि यो राक्षसादिः त्वा त्वां स्वप्ने निद्रावस्थायां भ्राता सहोत्पन्न इव भूत्वा विश्वासं जनयन् निपद्यते निपतति अभिगच्छति । तथा यश्च पितेव जनक इव तद्रूपधारी भूत्वा स्वप्ने त्वां निपद्यते । यद्वा तान् इति बहुवचनेन निर्देशात् यः कश्चित् स्वप्ने स्वकीयसहजरूपेण निपद्यते यश्च भ्राता भूत्वा यस्तु पितेव भूत्वेति योज्यम् । भ्रात्रादिरूपेण आगत्य गर्भध्वंसनम् अन्यत्राप्याम्नायते “यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि” इति [ऋ० १०, १६२, ५] । तान् सर्वान् बजः श्वेतसर्षपः सहताम् अभिभवतु इतः अस्माद् गर्भिणीसकाशात् । तथा क्लीबरूपान् पण्ढरूपं धृत्वा आगतान् तिरीटिनः अन्तर्धानेन अटतश्च । सहताम् इति संबन्धः ॥

हे गर्भिणि! जो राक्षस आदि स्वप्नमें भ्राताकासा विश्वास दिला कर तेरे शरीरमें प्रवेश करता है और पिताकी समान बन कर तुझको कष्ट देता है † । उनको यह श्वेत सरसों इस गर्भिणी के समीपसे तिरस्कृत करे । और हिजड़ेका रूप धारण करके आने वाले राक्षसोंको और अन्तर्धान होकर घूमने वाले राक्षसों को यह सरसों गर्भिणीके समीपमें तिरस्कृत करे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ।
छायाम्ऽइव । प्र । तान् । सूर्यः । परिऽक्रामन् । अनीनशत् ८

हे गर्भिणि त्वा त्वां यः राक्षसादिः स्वपन्तीम् प्रबोधरहितां स्वापकाले चरति गच्छति । यश्च जाग्रतीम् प्रबुद्धां प्रबोधकाले दिप्सति दम्भितुम् इच्छति । ❀ दन्भु दम्भे । "सनीवन्तर्ध०" इत्यादिना इड्विकल्पः । "दन्भ इच्च" इति अचः स्थाने इत्वम् ❀ । अत्र तान् इति बहुवचननिर्देशाद् यो यः स्वपन्तीम् यो यो जाग्रतीम् इति वीप्सार्थो द्रष्टव्यः । तान् सर्वान् यथा सूर्यः परिक्रामन् आकाशे परिभ्रमन् छायाम् अन्धकारं नाशयति तद्वद् अयं सर्षपः

† भ्राता आदिके रूपमें आकर गर्भको ध्वंस करनेका वर्णन अन्यत्र भी है । यथा—"यस्त्वा भ्राता भूत्वा पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तम् इतो नाशयामसि ॥— जो भ्राता पति वा जारके रूपमें तेरे पास आता है और तेरी सन्तानको नष्ट करना चाहता है उसको हम यहाँसे दूर भगाते हैं" (ऋग्वेदसंहिता १० । १६२ । ५) ॥

सर्वम् अमङ्गलम् आक्रम्य प्राचीनशत् प्रकर्षेण विनाशितवान् नाशयतु वा ॥

हे गर्भिणी ! जो राक्षस आदि स्वप्नके समय तुझ प्रबोधरहित पर आक्रमण करता है और जो तुझ जागती हुईको मारना चाहता है, उन सबको यह सरसों इस प्रकार नष्ट कर देय, जिस प्रकार आकाशमें भ्रमण करता हुआ सूर्य अन्धकारको नष्ट कर डालता है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृतऽवत्साम् । अवऽतोकाम् । इमाम् । स्त्रियम् ।
तम् । ओषधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिऽवम् ९

यो राक्षसादिः स्त्रियम् इमां गर्भिणीं मृतवत्साम् मृतपुत्रां कृणोति करोति । तथा अवतोका अवपन्नगर्भा वा कृणोति तं दुष्टम् हे ओषधे सर्षपरूपे त्वं नाशय । अस्याः कमलम् गर्भद्वारम् अञ्जिवम् अभिव्यक्तिमत् म्लक्षणोपेतं वा । कुर्विति शेषः ॥

हे सर्षपरूप औषध ! जो राक्षस आदि इस स्त्रीको मृतवत्सा करता है तथा अवपन्न (विपत्तिग्रस्त) गर्भ वाली करता है, उस दुष्टको तू नष्ट कर इसके गर्भद्वारको अभिव्यक्ति वाला कर ९

दशमी ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।

तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥१॥०

ये । शालाः । परिऽनृत्यन्ति । सायम् । गर्दभऽनादिनः ।

कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । स्रिमाः ।

तान् । ओषधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०

ये पिशाचाः सायं समये गर्दभनादिनः गर्दभवद् आक्रोशन्तः सन्तः । ❀ "कर्तर्युपमाने" इति णिनिः ❀ । शालाः परिनृत्यन्ति शालानां गृहाणां परितो नृत्यन्ति । एवं ये च कुसूलाः कुसूलाकृतयः परिनृत्यन्ति । ये च कुक्षिलाः बृहत्कुक्षयः । ककुभाः अर्जुनवृक्षवद् भयंकराकृतयः । एवं खरुमाः श्रुमाश्च नानाकारैर्ध्वनिभिश्च विशिष्टाः सन्तः शालायाः परितो नृत्यन्ति तान् सर्वान् हे ओषधे गौरसर्षप पीतसर्षप वा त्वं गन्धेन तव परिमलेनैव विषूचीनान् विष्वगञ्चनान् कृत्वा वि नाशय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो पिशाच सायंकालके समय गधेकी समान रेंकते हुए घरों में नाचते हैं और जो कुसूल (कुठिया) की आकृतिमें चारों ओर नाचते हैं । और जो अर्जुन वृक्षकी समान भयंकर आकृति वाले बड़ी कोख वाले खरूप श्रुम आदि अनेक प्रकारकी ध्वनि करते हुए शालाके चारों ओर नाचते हैं, उन सबको हे गौर और पीत सर्षपरूप औषधे ! तू अपनी गंधसे ही चारों ओर भगाती हुई नष्ट कर ॥ १० ॥ (१४)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

"ये कुकन्धाः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"ये कुकन्धाः" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति ।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये । कुकुन्धाः । कुकूरभाः । कृत्तीः । दूर्शानि । बिभ्रति ।
क्लीबाःऽइव । प्रऽनृत्यन्तः । वने । ये । कुर्वते । घोषम् । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ ११ ॥

ये प्रसिद्धाः कुकन्धाः एतत्संज्ञकाः पिशाचाः । कीदृशाः। कुकूरवाः कुकू इत्येवमात्मकेन रवेण युक्ताः कुक्कुटवद्ध्वनिं कुर्वाणाः कृत्यैः हिंसाकर्मभिः दूष्याणि दूषणीयानि हिंसारूपाणि कर्माणि बिभ्रति धारयन्ति । क्लीबा इव उन्मत्ता इव प्रनृत्यन्तः हस्तपादशिरआदि-चालनं कुर्वन्तो ये च पिशाचाः वने अरण्ये घोषम् शब्दं कुर्वते तान् उभयविधानपि इतः गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः॥

जो कुकंध नामक पिशाच कुक्कुटकी समान कुकू ध्वनि करते हुए हिंसाकर्मोंसे दूषितकर्मोंको धारण करते हैं और जो उन्मत्तों की समान हाथ पैर आदि फेंकते हुए वनमें शब्द करते फिरते हैं उन दोनों प्रकारके पिशाचोंको हम गर्भिणीके पाससे नष्ट करते हैं ॥

द्वितीया ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मकंकान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये । सूर्यम् । न । तितिक्षन्ते । आऽतपन्तम् । अमुम् । दिवः

अरायान् । बस्तऽवासिनः । दुःऽगन्धीन् । लोहितऽआस्यान् ।

मक्कान् । नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये भूतविशेषा दिवः द्युलोकाद् आतपन्तम् सर्वतस्तापं कुर्वन्तम् अमुं सूर्यं न तितिक्षन्ते न सहन्ते । घूका इव रात्रौ गिरिगुहादौ वा वर्तन्त इत्यर्थः । तान् अरायान् अश्रीकान् बस्तवासिनः अजि-चर्मवसनान् दुर्गन्धीन् दुष्टेन पुराणकुणपादिसदृशेन गन्धेन उपे-तान् लोहितास्यान् सर्वदा नवमांसभक्षणेन लोहितोपेतमुखान् लोहितवर्णमुखान् वा मक्कान् । ❀ मस्कतिर्गत्यर्थः । सलोप-श्छान्दसः ❀ । कुत्सितगतीन् पिशाचान् । यद्वा । ❀ मकिर-लंकारार्थः । नुमभावः पूर्ववत् ❀ । कुत्सितालंकारान् नाशया-मसि नाशयामः ॥

जो भूत द्युलोकसे सब ओर ताप देते हुए सूर्यको नहीं सह सकते तात्पर्य यह है, कि–रात्रिमें उल्लुओंकी समान गिरिगुहा आदिमें विचरण करते रहते हैं उन अश्रीक, बकरीके चमड़ेके वस्त्र वाले, दुर्गन्धित सदा नवीन मांसका भक्षण करनेसे रक्तसे सने हुए मुख वाले, कुत्सित अलंकारोंको धारण करने वाले राक्षसों को हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥१३॥

ये । आत्मानम् । अतिऽमात्रम् । अंसे । आऽधाय । बिभ्रति ।

स्त्रीणाम् । श्रोणिऽप्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥ १३ ॥

ये पिशाचाः स्त्रीणाम् आत्मानम् शरीरम् । कीदृशम् आत्मा-

नम्। अतिमात्रम् गर्भिणीत्वाद् अतिस्थूलम् अंसे आधाय स्थापयित्वा बिभ्रति। अथ वा क्रियाविशेषणम् एतत्। अतिवेलं बिभ्रतीत्यर्थः। अथ वा वस्तुतः अल्पमपि आत्मानम् अतिमात्रम् आकाशस्पर्शिनम् अंसे स्वस्कन्धप्रदेशे आधाय मायाबलेन स्थापयित्वा बिभ्रति सर्वदा धारयन्ति। स्त्रीणां गर्भिणीनां श्रोणिप्रतोदिनः कटिप्रदेशं प्रकर्षेण व्यथयतस्तान् रक्षांसि राक्षसान् हे इन्द्र नाशय घातय॥

जो पिशाच गर्भिणी होनेके कारण बहुत स्थूल भी स्त्रियों के शरीरको अपने कंधे पर रख कर घूमने लगते हैं हे इन्द्र! उन स्त्रियोंके कटिप्रदेशको व्यथित करने वाले राक्षसोंको आप नष्ट करिये॥ १३॥

चतुर्थी॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेष्ठाः प्रहासिनं स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥ १४॥

ये। पूर्वे। वध्वः। यन्ति। हस्ते। शृङ्गाणि। बिभ्रतः।
आपाकेऽस्थाः। प्रऽहासिनः। स्तम्बे। ये। कुर्वते। ज्योतिः। तान्। इतः। नाशयामसि॥ १४॥

ये पिशाचाः वध्वः वधूनां स्वस्त्रीणां पूर्वे पूर्वभाविनः सन्तो यन्ति सस्त्रीका गच्छन्ति। कथंभूताः। हस्ते स्वस्वहस्तेषु शृङ्गाणि विषाणानि वादनार्थानि पानार्थानि वा बिभ्रतः धारयन्तः। ये च आपाकेष्ठाः आपाकेषु पाकशालासु कुलालगृहेषु वा तिष्ठन्तीति आपाकेष्ठाः। प्रहासिनः प्रकृष्टहासयुक्ताः अट्टहासं कुर्वतः। ये च

स्तम्बे आर्द्रेषु व्रीह्यादिस्तम्बेषु गृहस्तम्बेषु वा ज्योतिः अग्निरूपं कुर्वते उत्पादयन्ति तान् सर्वान् इतः अस्माद् गर्भिण्याधावासनात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो पिशाच अपनी स्त्रियोंके आगे २ हाथमें सींगोंको लेकर घूमते हैं और जो पाकशालाओंमें स्थित होकर अट्टहास्य करते हैं और जो गीले व्रीहिस्तम्बोंमें वा गृहस्तम्भ आदिमें अग्निरूप ज्योतिको उत्पन्न करते हैं उन सबको हम गर्भिणीके आवासस्थानसे भगाते हैं ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः ।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥ १५ ॥

येषाम् । पश्चात् । प्रऽपदानि । पुरः । पार्ष्णीः । पुरः । मुखा ।
खलऽजाः । शकधूमऽजाः । उरुण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भऽमुष्काः । अयाशवः ।
तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । पते । प्रतिऽबोधेन । नाशय ॥ १५ ॥

येषां रक्षःप्रभृतीनां पश्चात् पश्चाद्भागे प्रपदानि पादाग्रप्रदेशाः पुरः पुरोभागे पार्ष्णीः पार्ष्णयः । ननु पश्चात् प्रपदानि सन्तु मुखान्यपि पश्चाच्चेत् किं वैकृतम् इति तत्राह । पुरः पूर्वस्मिन् देशे मुखा मुखानि प्रपदप्रतिकूलानि मुखानि । उक्तविकारान्

तान्। तथा ये खलजाः खलो धान्यशोधनप्रदेशस्तत्र जाताः। ये च शकधूमजाः गवाश्वादिपुरीषपिण्डोत्पन्नाः। ये च अरुण्डाः रुण्डरहिता अशिरस्काः। ये च मुट्मुटाः मुट्मुट इति शब्दं कुर्वन्तः छिन्नसर्वावयवा इव वर्तमाना वा। कुम्भमुष्काः कुम्भोपमेन मुष्केण उपेताः। अयाशवः अयो वायुः वायुवद् आशुगामिनः। एवम् उक्तप्रकारा ये सन्ति तान् सर्वान् हे ब्रह्मणस्पते बृहतो वेदराशेः स्वामिन् एतन्नामक देव अस्या ओषधेर्बजरूपायाः प्रतीबोधेन। प्रतीबोधसाधनेन सामर्थ्येनेत्यर्थः। प्रतिनियतेन ज्ञानेन वा। ❀ "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः ❀। तेन नाशय विनष्टान् कुरु॥

जिन राक्षस आदिके पश्चिमकी ओर पैरकी अँगुलियें होती हैं और सामने एड़ियें होती हैं और मुख पूर्वकी ओर होता है ऐसे राक्षसोंको, और धान्यशोधनदेश-खलमें होने वाले राक्षसों को गौके गोबर और घोड़ेकी लीद आदिसे होने वाले राक्षसों को, मुण्डरहित राक्षसोंको, मुट् मुट् शब्द करने वाले राक्षसोंको घड़ेकी समान अण्डकोशों वाले राक्षसोंको और वायुकी समान शीघ्रगामी राक्षसोंको हे वेदराशिके स्वामिन्! बृहस्पति नामक देव! आप सरसोंके बलसे नष्ट करिये, ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्तऽअक्षाः। अप्रऽचङ्कशाः। अस्त्रैणाः। सन्तु। पण्डगाः।

अत्र । भेषज । पादय । यः । इमाम् । सम्ऽविवृत्सति । अपतिः ।
स्वपतिम् । स्त्रियम् ॥ १६ ॥

पर्यस्ताक्षाः इतस्ततो विप्रकीर्णलोचनाः प्रचङ्कुशाः प्रक्षीणो-रुप्रदेशाः । यद्वा प्रगतमतयः । पन्नगाः पादेन न गच्छन्तः । एवं-रूपा ये सन्ति ते अस्त्रैणाः स्त्रीसमूहविरोधिनः स्त्रीरहिताः सन्तु भवन्तु । अथ वा पन्नगाः सर्पा भवन्तु । किं च हे भेषज सर्षपरूप त्वम् अव पातय अवाङ्मुखं विनाशय । कम् । यो राक्षसादिः इमां गर्भिणीं स्त्रियं संविवृत्सति संवर्तनं कर्तुम् इच्छति । यच्छब्द-निर्दिष्टं विशिनष्टि अपतिरिति । न विद्यते पतिः स्वामी यस्य स तथोक्तः अनियन्त्रितः । स्त्रियं विशिनष्टि स्वपतिम् इति । स्वा-धीनपतिकाम् । यद्वा अपतिः पतिराहित्येन स्वपतीं निद्रां कुर्वतीम् इमां स्त्रियं संवर्तितुम् इच्छति । ❀ वर्ततेः सनि "वृद्भ्यः स्यसनोः" इति परस्मैपदम् ❀ ॥

फैले हुए नेत्रों वाले, क्षीण ऊरु वाले, जो राक्षस हैं वे स्त्री समूहविरोधी स्त्रियोंसे रहित होजावें वा सर्प होजावें हे सर्षपरूप औषधे ! जो अनियन्त्रित राक्षस इस सोती हुई स्त्रीको घेरना चाहता है उसको तू नष्ट कर ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना १७

उत्ऽहर्षिणम् । मुनिऽकेशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ।
उपऽएषन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ।

पदा । प्र । विध्य । पार्ष्ण्या । स्थालीम् । गौःऽइव । स्पन्दना १७

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

यः । ते । गर्भम् । प्रतिऽमृशात् । जातम् । वा । मारयाति । ते ।
पिङ्गः । तम् । उग्रऽधन्वा । कृणोतु । हृदयाविधम् ॥ १८ ॥

सप्तमी ॥ उद्धर्षिणम् उत्कृष्टेन अतिप्रवृद्धेन धर्षणेन उपेतं मुनिकेशम् मुनिवज्जटात्मककेशवन्तम् एतन्नामानम् । तथा जम्भयन्तम् हिंसन्तं हिंसकं मरीमृशम् पुनःपुनः मृशन्तम् एतन्नामानं च । तथा उपेषन्तम् सर्वत इच्छन्तम् । गर्भिणी कुत्रास्त इत्यन्विष्यन्तम् इत्यर्थः । तथाविधम् उदुम्बलम् एतन्नामकं च । उत अपि च तुण्डेलम् प्रकृष्टतुण्डवन्तं शालडम् एतन्नामानम् असुरम् । अथ वा उद्धर्षिप्रभृतीनि प्रत्येक योगरूढानि असुरनामानि । पदा प्रविध्येत्युत्तरत्र संबन्धः ॥

अष्टमी ॥ सर्षपाख्यौषधिः पदा पादेन प्रविध्य सम्यक् ताडयित्वा मारयात् मारयतु तत्र । दृष्टान्तः । स्थालीम् दोहनसाधनं मृत्पात्रं गौरिव दुष्टा गौर्यथा स्पन्दनात् पश्चात्पादयोश्चालनात् । सा यथा पात्रं भिनत्ति तद्वत् । कं प्रति एवम् उच्यत इति तम् आह । यस्ते गर्भम् इति । यो राक्षसादिः हे गर्भिणि ते गर्भं प्रतिमृशात् प्रतिमृशेत् पीडयेत् यथा सजीवो न जायते तथा कुर्याद् वा । अथ वा जातम् उत्पन्नं ते पुत्रं मारयाति मारयेत् । तं पदा प्रविध्येति पूर्वत्रान्वयः । किं च पिङ्गः गौरसर्षपः तं गर्भघातकं राक्षसम् उग्रधन्वा । ❀ धन्वतिर्गतिकर्मा ❀ । उद्गूर्णगतिः सन् हृदयाविधम् हृदयप्रदेशे विद्धं ताडितं कृणोतु करोतु । अथ वा

वेधलिङ्गात् उग्रगन्धशब्दो भयंकरेण गन्धेनोपेतम् आचष्टे सर्षपस्य औषधस्य देवताभिप्रायेण उग्रगन्धत्वं न विरुध्यते ॥

प्रचण्डतासे धर्षण करने वाले मुनिकी समान जटात्मक केश वाले मुनिकेश नामक असुरको, तथा हिंसा करने वाले मरीमृश को तथा गर्भिणी कहाँ है इस प्रकार सर्वत्र खोज करते हुए उदुम्बल को, प्रकृष्ट तुण्ड वाले शालुड नामक असुरको, सरसों पैरसे इस प्रकार मारे जिस प्रकार दूध दुहानेके बाद (दुष्ट) गौ दूधके पात्रमें लात मार देती है ॥ १७ ॥

हे गर्भिणी ! जो तेरे गर्भको पीड़ित करता है अर्थात् सजीव उत्पन्न न हो ऐसा कर देता है अथवा तेरे उत्पन्न हुए पुत्रको मारने के लिये उद्यत रहता है उसको यह औषधि पैरसे मारे । गौर-सर्षप ! उस गर्भघातक राक्षसको तू प्रचण्ड गति वाला होकर हृदय में ताड़ित कर ॥ १८ ॥

नवमी ॥

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु १९

ये । अम्नः । जातान् । मारयन्ति । सूतिकाः । अनुऽशेरते ।
स्त्रीऽभागान् । पिङ्गः । गन्धर्वान् । वातः । अभ्रम्ऽइव । अजतु १९

ये रक्षःपिशाचाद्याः अम्नो जातान् अर्धोत्पन्नान् गर्भान् मारयन्ति विनाशयन्ति ये च सूतिकाः अभिनवप्रसवा अनुशेरते स्वयमपि योषिद्रूपेण शयनं कुर्वन्ति तान् स्त्रीभागान् स्त्रियो गर्भिण्यो भागो येषां ते स्त्रीभागाः स्त्रीग्रहीतॄन् गन्धर्वान् रक्षः-पिशाचाद्यान् पिङ्गः गौरसर्षपः वातः वायुः अभ्रमिव निरुदकं मेघमिव अजतु निरस्यतु ॥

जो राक्षस पिशाच आदि आधे उत्पन्न हुए गर्भोंको मार डालते हैं और जो स्त्रीरूप धारण कर सूतिका बनकर शयन करते हैं उन गर्भिणी स्त्रियोंको अपना भाग समझने वाले गंधर्व राक्षस पिशाच आदिको गौरसर्षप इस प्रकार मारे जिस प्रकार जलरहित मेघको वायु मारता है ॥ १६ ॥

दशमी ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं मावं पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥

परिऽसृष्टम् । धारयतु । यत् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ।
गर्भम् । ते । उग्रौ । रक्षताम् । भेषजौ । नीविऽभार्यौ ॥ २० ॥

परिशिष्टम् होमादिविनियोगावशिष्टं सर्षपद्वयं धारयतु न परित्यजतु गर्भिणी स्त्री । धारणस्य अभिप्रायम् आह । यत् यत् पुत्रादिलक्षणं वस्तु हितम् अभिमतं तत् मात्र पादि अवपन्नं विस्रस्तं मा भूत् । अनेन अभिप्रायेण धारयतु । हे गर्भिणि ते गर्भम् उग्रौ उद्गूर्णबलौ भेषजौ भेषजरूपौ श्वेतपीतोभयविधसर्षपौ नीविभार्यौ नीव्यां भर्तव्यौ वस्त्राञ्चलेन धार्यौ रक्षताम् पालयताम् । "श्वेतपीतसर्षपौ संपात्य अभिमन्त्र्य गर्भिण्या बध्नीयात्" इति हि अत्र विनियोगः ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

होम विनियोग आदिसे बचे हुए दोनों प्रकारके सरसोंको यह गर्भिणी स्त्री न त्यागे धारण करे, धारण करनेका अभिप्राय यह है, कि-जो पुत्र आदिरूप वस्तु अभिमत है वह गिरे नहीं । हे गर्भिणी ! प्रचण्ड बली औषधरूप दोनों सरसों नीवीमें धारण करने पर तेरी रक्षा करें ॥ २० ॥ (१५)

अष्टम काण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

"पवीनसात्" इति सूक्तस्य "यौ ते माता" [८. ६] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"पवीनसौ" सूक्तका "यौ ते माता" (८ । ६) के साथ विनियोग कह दिया है ।

पवीनसात् तङ्गल्वा३च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥२१॥

पवि॑ऽनसात् । तङ्गल्वा॒त् । छायकात् । उत । नग्नकात् ।
प्रऽजायै । पत्ये । त्वा । पिङ्गः । परि । पातु । किमीदिनः ॥२१॥

पवीनसात् पविर्वज्रः । पवज्रसदृशनासिकोपेतात् किमीदिनः असुरादेः सकाशात् तङ्गल्वात् एतन्नामकाच्च किमीदिनः सायकात् विनाशकारिणः सकाशात् उत अपि च नग्नकात् नग्नात् । एतन्नामकेभ्यः असुरेभ्यः सकाशात् हे गर्भिणि त्वा त्वां पिङ्गः पिङ्गवर्णः सर्षपः परि पातु परितो रक्षतु । कस्मै प्रयोजनायेति उच्यते । प्रजायै प्रजार्थं पुत्रलाभार्थं पत्ये पत्यर्थं पत्युरानुकूल्यार्थं च ।'

हे गर्भिणी ! प्रजा उत्पन्न करनेके लिये और पतिके अनुकूल रहनेके लिये यह पीली सरसों तुझको वज्रकी समान नासिका वाले असुरसे, तङ्गल्व नामक असुरसे विनाशक सायक नामक असुर से और नग्नक नामक असुर से रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

द्व्या॒स्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्विऽआस्यात् । चतुःऽअक्षात् । पञ्चऽपादात् । अनङ्गुरेः ।

वृन्तात् । अभि । प्रऽसर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्व्यास्यात् द्वे आस्ये पुरः पश्चाच्चेति वा पुरत एव वा यस्य स्तः स द्व्यास्यः । तस्मात् । यत एवम् अतोसौ चतुरक्षः अक्षचतुष्टय-वान् । तस्मात् । पञ्चपादात् पादपञ्चकोपेतात् अनङ्गुरेः अङ्गुलिर-हिताद् वृन्तात् लतापुञ्जात् अभिप्रसर्पतः अभिमुखं गच्छतः । अथ वा वृन्तात् वृन्तवद् वृन्तं शिरः पादाग्रं वा तस्मात् । अवा-ङ्मुखयाभिगच्छतः पश्चात् वरीवृतात् भृशं सर्वाङ्गं व्याप्य वर्तमानात् हे ओषधे त्वं परिपाहि परितो रक्ष । ❀ वृतु वर्तने। अस्माद् यङ्-लुगन्तात् पचाद्यचि "रीगृदुपधस्य च" इत्यभ्यासस्य रीगागमः । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधः ❀ ॥

हे ओषधे ! तू आगे पीछे इस प्रकार दो मुख वाले, चार नेत्र वाले पाँच पैर वाले अंगुलिरहित लताजालकी समान पैर वाले नीचेको मुख करके चलने वाले और सब अंगोंमें व्याप्त होकर वर्तमान राक्षससे रक्षा कर ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि २३

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ।

गर्भान् । खादन्ति । केशऽवाः । तान् । इतः । नाशयामसि २३

ये पिशाचा आमम् अपक्वं मांसम् अदन्ति भक्षयन्ति ये च पौरुषेयम् पुरुषस्य संबन्धि क्रविः । क्रविस्शब्दो मांसवचनः । "य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ०

१. १६२. १०]। मनुष्यमांसभक्षणं न मनुरम् इत्यभिप्रेत्य पृथगभिधानम्। ये च केशवाः प्रकृष्टकेशाः पिशाचविशेषाः गर्भान् मायारूपेण प्रविश्य खादन्ति भक्षयन्ति तान् त्रिविधानपि इतः अस्मात् गर्भिण्यादेः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः ॥

जो राक्षस कच्चे मांसको खाते हैं और पुरुषके भी कच्चे मांस को खजाते हैं। और जो बड़े २ बाल वाले राक्षस मायासे प्रवेश करके गर्भोंका भक्षण करते हैं उन तीनोंको हम गर्भिणीके पास से हटावे हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेधि नि विध्यताम् ॥२४॥

ये। सूर्यात्। परिऽसर्पन्ति। स्नुषाऽइव। श्वशुरात्। अधि।

बजः। च। तेषाम्। पिङ्गः। च। हृदये। अधि। नि। विध्यताम् २४

ये पीडयितारः सूर्यात् सर्वस्य प्रेरकाद् देवाद् अनुज्ञाताः सन्तः परिसर्पन्ति परिगच्छन्ति भूलोकं गच्छन्ति पीडयितुम्। तत्र दृष्टान्तम् आह। स्नुषेव यथा स्नुषा श्वशुरादधि। ❁ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❁। श्वशुरात् स्वपतेर्जनकाद् अनुज्ञाता त्वं पत्युः सकाशं गच्छ इत्येवम् अनुज्ञाता सती तत्समीपं परिसर्पति तद्वत्। तेषां सूर्याद् आगतानां हृदये हृदयदेशे बजश्च बजः श्वेतसर्षपः स च पिङ्गश्च गौरसर्षपश्च। उभयत्र चशब्दः परस्परापेक्षः। अधि नि विध्यताम् अधिष्ठाय ताडयताम् ॥

जो पीडक सूर्यदेवकी अनुज्ञासे भूलोकमें पीड़ा देनेको इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार श्वशुरकी अनुज्ञासे पुत्रवधू पतिके

पास जाती है। उन सूर्यसे आये हुओंके हृदयमें यह पीली सफेद सरसों जाकर ताड़ना करे ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः २५

पिङ्ग । रक्ष । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ।
आण्डऽअदः । गर्भान् । मा । दभन् । बाधस्व । इतः । किमीदिनः २५

हे पिङ्ग गौरसर्षप त्वं जायमानम् उत्पद्यमानं शिशुं रक्ष । जायमानम् इति सामान्येन अभिधाय विशेषेणाह । जायमानं पुमांसं जायमानां स्त्रियं वा मा क्रन् मा कुर्वन्तु । पीडायाम् इति शेषः । अथ वा जायमानं पुमांसं वस्तुतः पुंगर्भं स्त्रियं मा क्रन् स्त्र्यपत्यं मा कुर्वन्तु । यथा एवं न भवति तथा रक्ष। केचन भूतविशेषाः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति स्वसामर्थ्यात् । ❀ करोतेर्माङि लुङि "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक ❀ । किं च अपरे आण्डादाः आण्डप्रदेशभक्षकाः। ❀ "अदोनन्ने" इति विट् ❀ । ते पिशाचाः गर्भान् मा दभन् मा हिंसन्तु । तान् उभयविधान् किमीदिनः किम् इदं किम् इदम् इति चरतो रक्षःप्रभृतीन् हे पिङ्ग इतः गर्भिणीसकाशाद् बाधस्व पीडय ॥

हे गौर सर्षप ! तू उत्पन्न हुई संततिकी रक्षा कर, और उत्पन्न होते हुए पुंगर्भको वा स्त्रीगर्भको भूतपीड़ामें न डालें और अण्डप्रदेश भक्षक आण्डाद गर्भको न मार सकें इन दोनों प्रकारके राक्षसोंको हे सर्षप ! गर्भिणीके पाससे दूर कर ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।

वृक्षाद्दिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥ २६ ॥

अमजाःऽत्वम् । मार्तऽवत्सम् । आत् । रोदम् । अघम् । आऽवयम् ।
वृक्षात्ऽइव । स्रजम् । कृत्वा । अप्रिये । प्रति । मुञ्च । तत् ॥२६॥

हे पिङ्ग त्वम् अस्या गर्भिण्या यद् अमजास्त्वम् अपत्यविधुरत्वम् यच्च मार्तवत्सम् मृतवत्सत्वं दौर्भाग्यम् आत् अपि च रोदम् सर्वदा उत्पद्यमानं दुःखं हृद्रोदनं वा । अघवावयम् अघानां पापानां तत्फलभूतानां दुःखानां वा असकृद् वयनम् । एतानि सर्वाणि । वृक्षादिव स्रजं कृत्वा यथा वृक्षाद् बहूनि पुष्पाणि आदाय मालां निर्माय प्रियतमे प्रतिमुञ्चति तद्वत् अमजास्त्वादिकानां स्रजं कृत्वा तत् माल्यम् अप्रिये द्वेष्ये प्रति मुञ्च संयोजय ॥

इत्यष्टमकाण्डे तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥
समाप्तश्च तृतीयोनुवाकः ॥

हे गौर सर्षप ! तू इस गर्भिणीकी अपत्यहीनताको, मृतवत्सतारूप दुर्भाग्यको और सदा हृदयके रोदनको और पापोंके ताने बानेको इस प्रकार शत्रुके डाल जिस प्रकार वृक्ष परसे फूल चुन उनकी मालाको प्रियतमके गलेमें डालते हैं ॥ २६ ॥ (१५)

अष्टमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

यक्ष्मादिसर्वव्याधिभैषज्ये कर्मणि "या बभ्रवः" इत्यर्धसूक्तेन दशवृक्षशकलानां लाक्षाहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य पुनः सूक्तं जपित्वा बध्नाति । तद् उक्तं कौशिकेन । "उत्तमेन शाकलम्" इति [कौ० ४. २] ॥ पालाशः उदुम्बरः जम्बुः काम्पीलः स्रक् वङ्कः शिरीषः स्रक्त्यः वरणः बिल्वः जङ्गिडः कुटकः गृहः गलावलः वेतसः शिम्बलः सिपुनः स्यन्दनः अरणिका अश्मयोक्तः तुन्युः पूतदारुरिति शान्ता वृक्षाः । एतेषां कतमानामपि दशानां शकलैर्निर्मितः शाकलो मणिः ॥

तथा सौत्रामणीयागे अनेन सूक्तेन ओषधीभिः संधीयमानां सुराम् अनुमन्त्रयेत। तद् उक्तं वैताने। "रशमाशनया [५. २.३] या बभ्रव इत्योषधीभिः सुरां संधीयमानाम्" इति [वै० ५. ३]॥

यक्ष्मा आदि सकल व्याधियोंकी चिकित्साके लिये "या बभ्रवः" इस अर्थसूक्तसे दश वृक्षोंके टुकड़ोंको लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर संपातन और अभिमन्त्रित करे फिर सूक्त को जप कर बाँधे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-"उत्त-मेन शाकलम्" (कौशिकसूत्र ४ । २)। पलाश, गूलड़, जामन, कबीला, स्रक्, वङ्क, सिरस, स्रयक्त, वरण, वेल, जंगिड़, कुटक, गृह्य, गलागल, वेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरणिका, अश्म-योक्त, तुन्यु, और पूतदारु ये शान्तवृक्ष कहलाते हैं। इनमेंसे किन्हीं भी दश वृक्षोंके टुकड़ोंसे निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है॥

तथा सौत्रामणियागमें इस सूक्तके द्वारा औषधियोंसे खिचती हुई सुराका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"रसमाशन्या (५ । २ । ३) या बभ्रव इत्योषधिभिः सुरां संधीयमानाम्" (वैतानसूत्र ५ । ३)॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः।

असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः॒ सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि॥१॥

याः। ब॒भ्रवः। याः। च॒। शु॒क्राः। रोहि॑णीः। उ॒त। पृश्न॑यः।

असि॑क्नीः। कृ॒ष्णाः। ओष॑धीः। सर्वा॑ः। अ॒च्छ॒ऽआव॑दामसि॥१॥

जो बभ्रुवर्णकी औषधियें हैं, जो श्वेतवर्णकी औषधियें हैं, जो लालवर्णकी औषधियें हैं और जो छोटे शरीर वाली औष-धियें और जो नीली तथा काली औषधियें हैं उन सबसे हम अभिमुख होकर (रोगको दूर करनेकी) प्रार्थना करते हैं॥१॥

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि ।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥ २ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देवऽइषितात् । अधि ।
यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ २ ॥

वर्षारूप वीर्यका सेचन करनेसे द्यौ जिनका पिता है और उत्पन्न करनेसे पृथिवी जिनकी माता है और समुद्र (जलस्थान) जिनका मूल है वे औषधियें इस पुरुषको दैवप्रेरित यक्ष्मारोगसे बचावें ॥ २ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यम१ङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओषधयः ।
ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात्ऽअङ्गात् । अनीनशन् ३

जो जल सामने वर्तमान हैं और जो दिव्य ओषधियें हैं, हे रोगिन् ! वे तेरे पापकर्मोंके कारण उत्पन्न हुए यक्ष्मारोगको अंग प्रत्यंगोंसे निकाल कर फेंक दें ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो

वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

प्रऽस्तृणतीः । स्तम्बिनीः । एकऽशुङ्गाः । प्रऽतन्वतीः । ओषधीः । आ । वदामि ।

अंशुऽमतीः । काण्डिनीः । याः । विऽशाखाः । ह्वयामि । ते । वीरुधः । वैश्वऽदेवीः । उग्राः । पुरुषऽजीवनीः ॥ ४ ॥

फैलने वाली, स्तम्ब वाली, मुख्य करके पाकरका आश्रय लेने वाली, छायी हुई औषधियोंकी मैं प्रार्थना करता हूँ, किरणों (टहनियों) वाली, गूदे वाली और अनेक प्रकारकी शाखाओं वाली, समस्त देवताओंसे सम्बन्ध रखने वाली, प्रचण्ड बलमयी और रोगी पुरुषको जीवन देने वाली औषधियोंको हे रोगिन्! मैं तेरे लिये आह्वान करता हूँ ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥

यत् । वः । सहः । सहमानाः । वीर्यम् । यत् । च । वः । बलम् ।
तेन । इमम् । अस्मात् । यक्ष्मात् । पुरुषम् । मुञ्चत । ओषधीः । अथो इति । कृणोमि । भेषजम् ॥ ५ ॥

हे रोगको दबाने वाली औषधियों! तुममें जो रोगको दबानेकी शक्ति है और तुममें जो बल है उससे आप इस पुरुषको यक्ष्मा-रोगसे मुक्त करो, क्योंकि-मैं (मन्त्रशक्तिसम्पन्न) औषधिको कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये ॥ ६ ॥

जीवलाम् । नघऽरिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ।
अरुन्धतीम् । उत्ऽनयन्तीम् । पुष्पाम् । मधुऽमतीम् । इह । हुवे ।
अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ ६ ॥

मैं कल्याण करनेके लिये जीवनप्रदा और जिसका रोष भी कभी घातक नहीं होता ऐसी, रोपण करने वाली ऊपरको जाने वाली पुष्पमती मधुमती जीवन्ती (लता) का आह्वान करता हूँ ६

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्रऽचेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ।
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःऽइतात् । अधि ॥ ७ ॥

प्रकृष्ट ज्ञान वाली मेरे मन्त्ररूप वचनको स्निग्ध करने वाली औषधियें यहाँ आवें, जिससे कि—हम इस पुरुषको रोगरूप पाप से पार उतार सकें ॥ ७ ॥

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः ।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥ ८ ॥

अग्नेः । घासः । अपाम् । गर्भः । याः । रोहन्ति । पुनःऽनवाः ।

ध्रुवाः । सहस्रऽनाम्नीः । भेषजीः । सन्तु । आऽभृताः ॥ ८ ॥

जल जिनका गर्भ है और जो अग्निकी मत्त्य हैं तथा बार-म्बार नवीनरूपमें उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार (गुणतः) स्थिर रहने वालीं, सहस्रों नाम वालीं औषधियें यहाँ लाईं हुईं होवें ८

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः ।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अवकऽउल्बाः । उदकऽआत्मनः । ओषधयः ॥ ९ ॥
वि । ऋषन्तु । दुःऽइतम् । तीक्ष्णऽशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

जल ही जिनका आत्मा है, सिवार जिनका गर्भवेष्टन है, उग्र गंध वाले शृंगाकार दो फल जिनमें होते हैं ऐसी औषधियें (रोगरूप) पापको नष्ट करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

उत्ऽमुञ्चन्तीः । विऽवरुणाः । उग्राः । याः । विषऽदूषणीः ।
अथो इति । बलासऽनाशनीः । कृत्याऽदूषणीः । च । याः । ताः ।
इह । आ । यन्तु । ओषधीः ॥ १० ॥

रोगसे उन्मुक्त करने वाली, झूँठ बोलने पर होनेवाले वरुण-कर्तृक जलोदर आदि रोगोंसे रहित करने वाली, रोगका प्रभाव दूर करनेमें प्रचण्ड, विषको दूर करने वालीं और बलक्षय करने

वाले कफरोगका नाश करने वाली और कृत्याओंको दूषित करने वाली औषधियें यहाँ आवें ॥ १० ॥ (१७)

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपऽक्रीताः । सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभिऽस्तुताः ।

त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम्

खरीदी हुई नहीं किंतु स्वयं लाई हुई रोगोंको दबाने वाली, मन्त्रोंसे स्तुत जो औषधियें हैं वे इस ग्राममें गौ अश्व पुरुष और पशुकी रक्षा करें ॥ ११ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम् ॥१२॥

मधुऽमत् । मूलम् । मधुऽमत् । अग्रम् । आसाम् । मधुऽमत् । मध्यम् । वीरुधाम् । बभूव ।

मधुऽमत् । पर्णम् । मधुऽमत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः । सम्ऽभक्ताः । अमृतस्य । भक्षः । घृतम् । अन्नम् । दुहताम् । गोऽपुरोगवम् ॥ १२ ॥

इन वीरुधोंका मूल मधुमय होता है अग्रभाग और मध्यभाग भी मधुमय होता है, इनका पत्ता मधुमय—रोग दूर करनारूप मिष्ट फलको देने वाला होता है, और इनका पुष्प भी मधुमय

होता है उस मधुका सेवन करने वाला अमृतका भक्षक होता है नीरोग रहता है–पुत्र पौत्र आदि रूपमें अमर रहता है वह पुरुष गौको आगे रख कर घृत और अन्नको दुहता रहे ॥ १२ ॥

यावंतीः कियंतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मां सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः । कियतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । ओषधीः ।
ताः । मा । सहस्रऽपर्ण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

पृथिवीमें जितनी भी ओषधियें हैं वे अनन्त पत्तों वाली ओषधियें मुझे मृत्युदायक पापसे मुक्त करें ॥ १३ ॥

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्तिऽपाः ।
अमीवाः । सर्वाः । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् ॥

ओषधियोंसे रचित यह वैयाघ्रमणि आरोपित रोगरूप पापों से रक्षा करने वाला है, वह रोग और राक्षसोंको इससे दूर लेजाकर नष्ट कर डाले ॥ १४ ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेग्नेरिव विजन्त आभृ-
ताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु
स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहस्यऽइव । स्तनथोः । सम् । विजन्ते । अग्नेःऽइव । विजन्ते ।
आऽभृताभ्यः ।
गवाम् । यक्ष्मः । पुरुषाणाम् । वीरुत्ऽभिः । अतिऽनुत्तः । नाव्याः ।
एतु । स्रोत्याः ॥ १५ ॥

सिंहकी दहाड़से प्राणी जिस प्रकार उद्विग्न होने लगते हैं और अग्निसे जिस प्रकार घबड़ाने लगते हैं तैसे ही इन खाई हुई औषधियोंसे खेदड़ा हुआ पशुओंका और पुरुषोंका रोग नौका से तरने योग्य नदीके पार चला जावे ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

मुमुचानाः । ओषधयः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ।
भूमिम् । सम्ऽतन्वतीः । इत । यासाम् । राजा । वनस्पतिः १६

जिनका राजा वनस्पति है और जो भूमिको आच्छादित कर लेती हैं ऐसी ये रोगसे मुक्त करने वाली औषधियें वैश्वानर अग्निसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे १७

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ।
ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । ओषधीः । सन्तु । शम् । हृदे १७

महर्षि अंगिराकी वर्णित जो औषधियें पर्वतोंमें और सम-

स्थानोंमें उत्पन्न होती हैं वे दुग्धकी समान सारमयी कल्याण-कारिणी ओषधियें हमारे हृदयको सुख देने वाली होवें ॥१७॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।

अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् १८

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ।

अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्ऽभृतम्

जिन ओषधियोंको मैं जानता हूं और जिनको मैं नेत्रसे देख रहा हूं । और जिन अज्ञात ओषधियोंको हम जानें और इनमें इन २ रोगोंको दूर करनेका तत्व भरा हुआ है इस रूपमें हम जिन ओषधियोंको जानते हैं ॥ १८ ॥

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

सर्वाः । सम्ऽअग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ।

यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुःऽइतात् । अधि ॥१९॥

वे समग्र ओषधियें मेरे वचनको जान लें, कि-जिस प्रकार मैं इस पुरुषको रोगरूप पापके पार पहुँचा सकूँ (तैसा करें)१९

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ।

व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्रौ । अमर्त्यौ ॥ २० ॥

अश्वत्थ ओषधियोंका दर्भ है, सोम राजा है, अमृत हवि (भक्ष्य पदार्थ) है, धान और जौं ओषधियें हैं ये दोनों अन्तरिक्षके पुत्र हैं अन्तरिक्षमेंसे वृष्टिके द्वारा होते हैं। और अमर्त्य हैं ॥ २० ॥ (१८)

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः।

यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

उत्। जिहीध्वे। स्तनयति। अभिऽक्रन्दति। ओषधीः।

यदा। वः। पृश्निऽमातरः। पर्जन्यः। रेतसा। अवति ॥ २१ ॥

हे ओषधियों! जब (बिजली) कड़कती है (मेघ) गरजता है और वायु तथा पर्जन्य वर्षारूप वीर्यसे तुम्हारी रक्षा करता है तब तुम अनेक प्रकारसे चलती—हिलती—हो ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य। अमृतस्य। इमम्। बलम्। पुरुषम्। पाययामसि।

अथो इति। कृणोमि। भेषजम्। यथा। असत्। शतऽहायनः २२

उस ओषधसमूहके अमृत रूप बलको हम इस पुरुषको पिलाते हैं इस प्रकार मैं इसकी ओषधिको करता हूँ, जिस प्रकार ये सौ वर्षका हो जाय ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।

सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे २३

वराहः । वेद । वीरुधम् । नकुलः । वेद । भेषजीम् ।

सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २३

वराह जिन लताओंको जानता है, और नौला जिस औषधिको जानता है तथा सर्प और गंधर्व जिन औषधियोंको जानते हैं उनका हम इस रुग्ण पुरुषकी रक्षाके लिये आह्वान करते हैं ॥ २३ ॥

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२४॥

याः । सुऽपर्णाः आङ्गिरसीः । दिव्याः । याः । रघटः । विदुः ।

वयांसि । हंसाः । याः । विदुः । याः । च । सर्वे । पतत्रिणः ।

मृगाः । याः । विदुः । ओषधीः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे २४

जितनी सुन्दर पत्तों वाली औषधियोंका अंगिरा मुनिने प्रयोग किया है, और जिन दिव्य औषधियोंको रघट जानते हैं पक्षी और हंस जिन औषधियोंको जानते हैं और जिनको सकल पक्षी जानते हैं और पशु भी जिन औषधियोंको जानते हैं उन सकल औषधियोंका मैं इसकी रक्षाके लिये आह्वान करता हूँ ॥ २४ ॥

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥ २५ ॥

यावतीनाम् । ओषधीनाम् । गावः । प्रऽअश्नन्ति । अघ्न्याः ।

यावतीनाम् । अजऽअवयः ।

तावतीः । तुभ्यम् । ओषधीः । शर्म । यच्छन्तु । आऽभृताः २५

जितनी औषधियोंको अवध्य गौएँ (रोगनिवृत्ति के लिये) खाती हैं और जिनको भेड़ बकरियें खाती हैं, लाई हुई वे सब औषधियें तुझे कल्याण दें ॥ २५ ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।

तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

यावतीषु । मनुष्याः । भेषजम् । भिषजः । विदुः ।

तावतीः । विश्वऽभेषजीः । आ । भरामि । त्वाम् । अभि २६

लताओंमेंसे जितनी लताओंमें वैद्य औषधिको जानते हैं उन सकल औषधियोंको हम कल्याण करनेके लिये तेरे सन्मुख ला चुके हैं ॥ २६ ॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।

संमातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

पुष्पऽवतीः । प्रसूऽमतीः । फलिनीः । अफलाः । उत ।

संमातरःऽइव । दुहाम् । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ २७ ॥

पुष्प वाली, (नीरोगताके) प्रसव वाली, फल वाली और फलरहित औषधियें इस पुरुषका कल्याण करनेके लिये आरोग्य-फलको दुहें ॥ २७ ॥

उत त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वींशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥

उत । त्वा । अहार्षम् । पञ्चऽशलात् । अथो इति । दशऽशलात् । उत ।
अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देवऽकिल्बिषात् ॥

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे रोगिन् ! मैंने (मन्त्रशक्तिसे) तुझको पाँचशलाका वाले और दश शलाका वाले काठके पादबंधनसे यमदेवके पादबंधनसे अधिक क्या सम्पूर्ण देवताओंका अपराध करने पर भोगने पड़ने वाले पादबंधनरूप रोगसे उद्धृत कर लिया है ॥ २८ ॥ (१९)

चतुर्थ अनुवाकमे प्रथम सूक्त समाप्त ॥ (४४१)

"इन्द्रो मन्थतु" इति अर्थसूक्तस्य शत्रुजयशत्रुभयनाशनशत्रुजयस्वकीयबलवर्धनकर्मसु विनियोगः । तानि कर्माणि सेनाकर्माणि नाम भवन्ति । तत्र सेनाग्निसिद्ध्यर्थं "पूतिरज्जुः" [२] इत्यर्धर्चेन अग्निपातदेशे जीर्णां रज्जुम् अवधाय अश्वत्थबधकयोर्नाम पिप्पलकरिमालकयोः काष्ठयोः "इन्द्रो मन्थतु" इति ऋचा अग्निं मन्थति । धूमं दृष्ट्वा अग्निपदरहितेनार्धर्चेन अनुमन्त्रयते । "अग्निं पराद्दश्य" [२] इत्यादिनार्धर्चेन धूमपदरहितेन अग्निम् अनुमन्त्रयते । तादृशेग्नौ सेनाकर्माणि स्युः । तान्येवम् ।

"इन्द्रो मन्थतु" इति सूक्तेन मत्यृचम् अश्वत्थसमिध आदधाति । शत्रुजयो भवति ॥

तथा अनेन सूक्तेन मत्यृचं करिमालकसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन मत्यृचम् एरण्डसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन मत्यृचं पलाशसमिध आदधाति । तिरिणिसमिध इति केशवः ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं खदिरसमिध आदधाति ॥

तथा अनेन सूक्तेन प्रत्यृचं शरसमिध आदधाति ॥ शत्रुभयं न भवति । कर्मविकल्पः ॥ सपत्नक्षयणी समाप्ता ॥

तथा अभ्यातानान्तं कृत्वा अनेन सूक्तेन भाङ्गपाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । सर्वत्र क्रुद्धेनाभिमन्त्रणं पाशादिषु । तत उत्तरतन्त्रम् ॥

तथा तन्त्रं कृत्वा अनेन सूक्तेन मौञ्जान् पाशान् संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति । तन्त्रं च ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि आश्वत्थानि कूटानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥

तथा अनेन सूक्तेन बाधकदण्डानि भाङ्गानि जालानि संपात्याभिमन्त्र्य सेनाक्रमेषु वपति ॥ समाप्तानि जयकर्माणि ॥

उक्तेषु सर्वकर्मसु अङ्गभूतानि वक्ष्यमाणानि त्रीणि कर्माणि भवन्ति । "स्वाहैभ्यः" [२४] इति पदद्वयेन स्वमित्रबलवृद्ध्यर्थम् आज्यं जुहोति दक्षिणहस्तेन बाधककाष्ठप्रज्वालितेग्नौ । "दुराहामीभ्यः" [२४] इति पदद्वयेन परबलविनाशार्थं सव्येन हस्तेन इङ्गिडं जुहोत्युक्ताग्नौ । कर्माग्नेरुत्तरस्मिन् देशे रक्तपिप्पलशाखां भूम्युदरे ऊर्ध्वां कृत्वा नीललोहितवर्णाभ्यां सूत्राभ्यां सर्वां वेष्टयित्वा "नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि" [२४] इत्यनेन दक्षिणा दूरे प्रकर्षेण त्याजयति ॥

सेनाकर्माणि अरण्ये कार्याणि न ग्रामे । युद्धप्रदेशे वा यथाप्रसङ्गम्

तद् उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रो मन्थत्विति पूतिरज्जुरिति पूतिरज्जुम् अवधायाश्वत्थबधकयोरग्निं मन्थति । धूमम् इति धूमम् अनुमन्त्रयते । अग्निम् इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नक्षयणीरादधाति अश्वत्थबधकताजद्भङ्गाह्वखदिरशराणाम् । उक्ताः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भाङ्गानि जालानि बाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति

मित्रेभ्यो जुहोति दुराशामीभ्य इति सव्येनेङ्गिडम् अमित्रेभ्यो बाधके। उत्तरतोऽग्नेर्लोहिताश्वत्थस्य शाखां निहत्य नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परितत्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रहावयति" इति [कौ० २. ७]॥ ताजद्भङ्ग एरण्डः। कूटं निषादानां मणिबन्धनम्॥ आहः पलाश इति दारिलः। तिर्णिरिति केशवः। वृक्षविशेषपर्यायार्थे आहपदं सूत्रेऽपपाठो न चेत् भाक्तेन प्रमादेन भवितव्यम्। परुष इत्येव नाम्ना भवितव्यम् सूक्ते परुषाहपददर्शनात्। परुषाहः परुष इति आह्वा यस्य स इति विग्रहः॥

"इन्द्रो मन्थतु" इस अर्थसूक्तका शत्रुक्षय, शत्रुभयनाश शत्रुजय और अपने बलको बढ़ानेमें विनियोग किया जाता है। ये कर्म सेनाकर्म कहलाते हैं। इनमें सेनाग्निसिद्धिके लिये "पूतिरज्जुः" इस दूसरी आधी ऋचासे अग्निपातदेशमें जीर्ण रज्जुको रख कर पीपल और करिमालक काष्ठोंमें "इन्द्रो मन्थतु" ऋचासे अग्निको मथे। धूमको देखकर अग्निपदरहित शेष आधी ऋचासे अनुमन्त्रण करे। "अग्निं परादश्य" (२) इस धूमपदरहित अर्धर्चसे अग्निका अनुमन्त्रण करे। और ऐसे अग्निमें सेनाकर्म करे। वे कर्म ये हैं।

"इन्द्रो मन्थतु" इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर अश्वत्थकी समिधाओंको रक्खे। ऐसा करनेसे शत्रुका क्षय होता है।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर करिमालककी समिधाओंको रक्खे।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे अरण्डकी समिधाओंको रक्खे।

तथा इस सूक्तकी प्रत्येक ऋचासे पलाशकी समिधाओंको रक्खे। केशवका मत है, कि—तिर्णिसमिधाओंको रक्खे।

तथा इस सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर सैंटोंकी समिधाओंको

रक्खे तो शत्रुका भय नहीं होता यहाँ कर्मका विकल्प है । यह शत्रुञ्जयिणी विधि पूर्ण हुई ।

तथा अभ्यातान तक करके इस सूक्तसे मंगके पाशोंको संपातित करके और अभिमन्त्रित सेनाके चलनेके मार्गमें डाल देय। पाश आदि सबका कोषमें भरकर अनुमन्त्रण करे । इसके बाद उत्तर तन्त्र होता है।

इसी प्रकार तन्त्रको करके इस सूक्तसे मूँजके पाशोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके पादसञ्चारस्थलमें बखेर देय । तन्त्र भी करे ।

तथा इस सूक्तसे बाधक दण्डोंको, पीपलके काष्ठको और निषादोंके माणिबंधनको संपातित और अभिमन्त्रित करके सेनाके सञ्चारस्थलमें बखेर देय । ये जय कर्म समाप्त होगए ।

पूर्वोक्त सब कर्मोंमें अङ्ग भूत तीन कर्म होते हैं । वे तीन कर्म ये हैं, कि-"स्वाहैभ्यः" (२४) इन दो पदोंसे अपने मित्रके बलकी वृद्धि करनेके लिये बाधक-काष्ठसे प्रज्वालित अग्निमें दाहिने हाथसे घृतकी आहुति देय । "दुराहामीभ्यः" (२४) इन दो पदोंसे शत्रुके बलका विनाश करनेके लिये पूर्वोक्त अग्निमें बायें हाथसे इंगिड़की आहुति देय। कर्माग्निमें उत्तर देशमें लाल पीपलकी शाखाको भूमिरूप उदरमें ऊपरको करके लाल और नीले डोरोंसे सारी शाखाको लपेटे । फिर "नीललोहितेनामून्भ्यवतनोमि" (२४) से दक्षिण दिशामें दूर फिकवा देय ।

सेनाकर्मोंको जङ्गलमें करावे, ग्राममें न करावे । वा प्रसङ्गानुसार युद्धप्रदेशमें करावे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-"इन्द्रो मन्थत्विति पूतिरज्जुरिति पूतिरज्जुं अवधायाश्वत्थबधकयोरग्निं मन्थति । धूमं इति धूमं अनुमन्त्रयते अग्निं इत्यग्निम् । तस्मिन्नरण्ये सपत्नच-

यणी रादधाति अश्वत्थबधक ताजद्भङ्गाहूखरिर शराणाम् । उक्ताः पाशाः । आश्वत्थानि कूटानि भांगानि जालानि बाधकदण्डानि । स्वाहैभ्य इति मित्रेभ्यो जुहोति । दुराहामीभ्य इति सव्येनेङ्गिडम् अमित्रेभ्यो बाधके । उत्तरतोऽग्नेर्लोहिताश्वत्थस्य शाखां निहत्य नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां परितत्य नीललोहितेनामून् इति दक्षिणा प्रहावयति" (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥ सूत्रके ताजद्भंगका अर्थ एरण्ड है । कूटका अर्थ निषादोंका प्राणिबंधन है । दारिलका मत है, कि-आढ पलाशको कहते हैं । और केशवका मत है, कि-तिणिको कहते हैं ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्ऽदरः ।
यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्रऽशः ॥ १ ॥

पुरन्दर इन्द्रदेव शूर और समर्थ हैं तथा शत्रुओंकी सेनाओं को मथने वाले हैं (वह इन्द्रदेव हममें अधिष्ठित होकर) अग्नि को मथें, जिससे, कि-हम शत्रुओंकी सेनाओंको अनेक प्रकारसे मार सकें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥२॥

पूतिऽरज्जुः । उपऽध्मानीः । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ।
धूमम् । अग्निम् । पराऽदृश्य । अमित्राः । हृत्ऽसु । आ । दधताम् । भयम् ॥ २ ॥

अग्नि संयोग वाली पूतिरज्जु (जीर्णरस्सी) इस सेनाको जीर्ण करे। धूमको और अग्निको देखकर शत्रु हृदयमें डरने लगें ।२।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ।३।

अमून् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून् । खदिर ।
अजिरम् ।

ताजद्भङ्गःऽइव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ।३।

हे अश्वत्थ ! तू इन शत्रुओंको मारडाल और हे खदिर ! तू इन शत्रुओंमेंसे प्रत्येक गमनशील शत्रुको खाजा । ये ताजद्भंग (एरण्ड) की समान टूट जावें और वधक काष्ठ इनको प्रहारों से मार डाले ॥ ३ ॥

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥४॥

परुषान् । अमून् । परुषऽआह्वः । कृणोतु । हन्तु । एनान् ।
वधकः । वधैः ।

क्षिप्रम् । शरःऽइव । भज्यन्ताम् । बृहत्ऽजालेन । सम्ऽदिताः ४

परुष नामक वस्तु इनको परुष-प्राणहीन होनेसे अकड़े हुए कठोर-करे और वधक काष्ठ हिंसाके उपायोंसे इनको मारडाले। और जैसे बड़े भारी जालसे तोड़े हुए शर. टूट जाते हैं तिसी प्रकार शत्रु टूट जावें ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् । जालम् । आसीत् । जालऽदण्डाः । दिशः । महीः ।
तेन । अभिऽधाय । दस्यूनाम् । शक्रः । सेनाम् । अप । अवपत् ॥

अन्तरिक्ष जाल हुआ था और महनीय दिशाएँ जालकी दण्डरूप हुई थी उससे दस्युओंकी सेनाको धारण करके इन्द्रने उनका खण्डन कर डाला था ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

बृहत् । हि । जालम् । बृहतः । शक्रस्य । वाजिनीऽवतः ।
तेन । शत्रून् । अभि । सर्वान् । नि । उब्ज । यथा । न । मुच्यातै ।
कतमः । चन । एषाम् ॥ ६ ॥

हविर्युक्त यज्ञक्रिया वाले महान् इन्द्रदेवका (शत्रुओंको पकड़नेका) जाल विशाल है, हे इन्द्र ! उससे आप शत्रुओंको औंधे मुख करके गिराइये जिससे इन शत्रुओंमेंसे कोई न छूट सके ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ ७ ॥

बृहत् । ते । जालम् । बृहतः । इन्द्र । शूर । सहस्रऽअर्घस्य ।
शतऽवीर्यस्य ।
तेन । शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । निऽअर्बुदम् । जघान । शक्रः ।
दस्यूनाम् । अभिऽधाय । सेनया ॥ ७ ॥

हे शूर इन्द्र ! यज्ञोंमें सहस्रों अर्घ पाने वाले, सैंकड़ों पराक्रम करने वाले आपका जाल (वैरियोंको फँसानेकी शक्ति) विशाल है। इन्द्रदेवने सेनाके द्वारा उसी जालसे वैरियोंको पकड़ कर सैंकड़ों हजारों लाखों और अर्बुदों दस्युओंको मार डाला था ७

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥८॥

अयम् । लोकः । जालम् । आसीत् । शक्रस्य । महतः । महान् ।
तेन । अयम् । इन्द्रऽजालेन । अमून् । तमसा । अभि । दधामि ।
सर्वान् ॥ ८ ॥

महिमामय इन्द्रदेवका यह महान् लोक ही विशाल जाल है मैं उस इन्द्रजालसे इन सब वैरियोंको अंधकारसे आच्छादित करता हूँ ८

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना ।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

सेदिः । उग्रा । विऽऋद्धिः । आर्तिः । च । अनपऽवाचना ।
श्रमः । तन्द्रीः । च । मोहः । च । तैः । अमून् । अभि । दधामि
सर्वान् ॥ ९ ॥

निर्ऋति राक्षसी, भयंकर व्यृद्धि, आर्ति, अनपवाचना-अवश्य होने वाली निन्दा, श्रम तन्द्रा तथा मोह इनसे मैं उन शत्रुओंको नष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

मृत्यवेमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा

मृत्यवे । अमून् । प्र । यच्छामि । मृत्युऽपाशैः । अमी इति । सिताः ।
मृत्योः । ये । अघलाः । दूताः । तेभ्यः । एनान् । प्रति । नयामि ।
बद्ध्वा ॥ १० ॥

मैं इन शत्रुओंको मृत्युके अर्पण करता हूँ, ये मृत्युके पाशसे बँध गये हैं, दुःख देने वाले मृत्युके जो दूत हैं उनकी ओर मैं इन शत्रुओंको (मन्त्रशक्तिसे) बाँध कर लिये जाता हूँ १० (२०)

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ११

नयत । अमून् । मृत्युऽदूताः । यमऽदूताः । अप । उम्भत ।
परःऽसहस्राः । हन्यन्ताम् । तृणेढु । एनान् । मत्यम् । भवस्य ११

हे मृत्युदूतों ! तुम इनको लेजाओ और हे यमदूतों ! (इनसे तुम नरकको) पूर्ण करो, फिर इनके सहस्रों (सैनिकों) को मार डालो । और महादेवका मननीय संहार इनको मार डाले ११

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥ १२ ॥

साध्याः । एकम् । जालऽदण्डम् । उत्ऽयत्य । यन्ति । ओजसा ।

रुद्राः । एकम् । वसवः । एकम् । आदित्यैः । एकः । उत्ऽयतः

साध्यदेवता एक जालदण्डको उद्यत कर बलपूर्वक शत्रुओं पर जा रहे हैं। तथा रुद्र-देवता एक जालदण्डको, वसुदेवता एक जालदण्डको उठा रहे हैं और आदित्योंने एक जालदण्ड को उठा लिया है ॥ १२ ॥

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्टात् । उब्जन्तः । यन्तु । ओजसा ।

मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

अतः अब विश्वेदेवता भी ऊपरसे ही बलपूर्वक मारते हुए चलें और रुद्रदेवता मध्यमें सेनाको मारकर पृथ्वी पर डाल दें १३

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१४॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ।

द्विऽपात् । चतुःऽपात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् ।

मैं वनस्पतियोंको और वनस्पतिसे बनने वाली औषधियोंको तथा लताओंको तथा दो पैर और चार पैरों वाले (जीवों)को (मन्त्रशक्तिसे) अनवरत प्रेरित करता हूँ, जिससे ये इस सेना को मार डालें ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्वऽअप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्यऽजनान् । पितॄन् ।
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् १५

मैं गन्धर्व अप्सरा सर्प देवता राक्षस और देखे हुए तथा न देखे हुए पितरोंको (मन्त्रशक्तिसे) इस प्रकार प्रेरित करता हूँ, कि-जिस प्रकार वे इस सेनाको नष्ट कर डालें ॥ १५ ॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उप्ताः । मृत्युऽपाशाः । यान् । आऽक्रम्य । न । मुच्यसे ।
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्रऽशः ॥१६॥

हे शत्रो ! जिनको लाँघने पर तू बच न सके ऐसे ये सहस्रों मृत्युपाश लगा दिये हैं, यह कूट इस शत्रुसेनाको सहस्रों प्रकार से मारे ॥ १६ ॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

घर्मः । सम्ऽइद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्रऽहः ।
भवः । च । पृश्निऽबाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् १७

घर्म नामक हवि अग्निसे भली प्रकार तप रहा है, यह होम

सहस्रों शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखता है। श्वेत भुजा वाले भव और शर्व देवताओं आप इस सेनाको मार डालिये ॥१७॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः। आषम्। आ। पद्यन्ताम्। क्षुधम्। सेदिम्। वधम्। भयम्। इन्द्रः। च। अक्षुऽजालाभ्याम्। शर्व। सेनाम्। अमूम्। हतम् १८

ये शत्रु मृत्युके (आष–आस्य) मुखको प्राप्त होवें, क्षुधाको, अवसाद करने वाली अलक्ष्मी सेदिको, वध और भयको प्राप्त होवें। इन्द्र देवता और हे शर्वदेवता! आप भी इस सेनाको मार डालिये ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

पराऽजिताः। प्र। त्रसत। अमित्राः। नुत्ताः। धावत। ब्रह्मणा। बृहस्पतिऽप्रनुत्तानाम्। मा। अमीषाम्। मोचि। कः। चन १९

हे शत्रुओं! तुम मन्त्रशक्तिसे पराजित होजाओ, त्रस होओ और इस मन्त्रशक्तिके खदेड़ने पर भागने लगो। बड़े २ मन्त्रोंके अधिष्ठात्री देवता बृहस्पतिसे खदेड़े हुए इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न छूटने पावे ॥ १९ ॥

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम्।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि ॥ २० ॥

अव । पद्यन्ताम् । एषाम् । आयुधानि । मा । शकन् । प्रतिऽधाम् ।

इषुम् ।

अथ । एषाम् । बहु । बिभ्यताम् । इषवः । घ्नन्तु । मर्मणि २०

इन शत्रुओंके आयुध नीचेको गिर पड़ें, ये बाणको फिर धनुष पर चढ़ानेको समर्थ न होसकें। फिर इन परम भयभीत होते हुओंके मर्मस्थलमें बाण चोट करें ॥ २० ॥

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ २१ ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्तरिक्षम् ।

सह । देवताभिः ।

मा । ज्ञातारम् । मा । प्रतिऽस्थाम् । विदन्त । मिथः । विऽघ्नानाः ।

उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष और देवता इनको शाप दें तब ये शत्रु प्रतिष्ठाको न पाते हुए और किसी अथर्ववेदके ज्ञाताको न पाते हुए परस्परमें ही विघ्न डालते हुए मृत्युको प्राप्त होजावें २१

दिशश्चतस्रोश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः ।

द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोभीशवोन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देवऽरथस्य । पुरोडाशाः । शफाः ।
अन्तरिक्षम् । उद्धिः ।
द्यावापृथिवी इति । पक्षसी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तःऽदेशाः ।
किम्ऽकराः । वाक् । परिऽरथ्यम् ॥ २२ ॥

अग्निदेवरथकी चार दिशाएँ ही खिचरियें हैं, पुरोडाश ही खुम है, अन्तरिक्ष ही उद्धि–ऊपर रहनेका स्थान–है, द्यावापृथिवी पक्षसी हैं, ऋतुएँ लगामें हैं, अन्तर्देश ही किंकर हैं, और वाणी परिरथ्य है ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

सम्ऽवत्सरः । रथः । परिऽवत्सरः । रथऽउपस्थः । विऽराट् ।
ईषा । अग्निः । रथऽमुखम् ।
इन्द्रः । सव्यऽस्थाः । चन्द्रमाः । सारथिः ॥ २३ ॥

इन्द्र बाईं ओर बैठने वाले हैं, चन्द्रमा सारथि हैं सम्वत्सर रथ है, परिवत्सर रथकी बैठक है, विराट् ईषा है, अग्नि रथका मुख है ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।

इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ।
इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः ।
दुराहा । अमीभ्यः ।
नीलऽलोहितेन । अमून् । अभिऽअवतनोमि ॥ २४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

हे राजन् ! इधरसे जीत, इधरसे विशेषरूपसे जीत ! जीत जीत ! यह आहुति स्वाहुत हो । हमारे ये यजमान आदि जीतें, और ये शत्रु पराजित होजावें इन मित्रोंकी विजयके लिये यह आहुति स्वाहुत हो और इन शत्रुओंके लिये बुरी प्रकारसे आहुत हो मैं नीले और लाल डोरेसे इनको लपेटता हूँ ॥ २४ ॥ (५१)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त ॥ (४४६)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

कुतस्ताविति सूक्ते विराडादिविषयः संवादो विचारश्च ॥

"कुतस्तौ" "विराड् वै" इति सूक्ताभ्यां जपं करोति स्वर्गकाम इति विनियोगमाला ॥

'कुतस्तौ' सूक्तमें विराट् आदिके विषयका सम्वाद और विचार है। विनियोगमालामें कहा है, कि-स्वर्गको चाहने वाला 'कुतस्तौ' "विराड् वै" सूक्तोंसे जप करे ॥

कुतस्तौ जातौ कंतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कंतमस्याः पृथिव्याः ।

वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वां पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥

कुतः । तौ । जातौ । कतमः । सः । अर्धः । कस्मात् । लोकात् कतमस्याः । पृथिव्याः ।

वत्सौ । विऽराजः । सलिलात् । उत् । ऐताम् । तौ । त्वा पृच्छामि । कतरेण । दुग्धा ॥ १ ॥

जो विराट्के वत्स हैं वे कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, वह समृद्धि सम्पन्न किस लोक और किस पृथिवीसे प्रकट हुआ है। विरा के वत्स जलसे उदित हुए हैं, उनका ही विषय मैं आपसे बूझत हूँ आपने उनको किस मार्गसे समझा है (दुहा है) ॥ १ ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः

यः । अक्रन्दयत् । सलिलम् । महिऽत्वा । योनिम् । कृत्वा त्रिऽभुजम् । शयानः ।

वत्सः । कामऽदुघः । विऽराजः । सः । गुहा । चक्रे । तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

जिन्होंने त्रिभुजरूपसे जलमें शयन कर जलको कारण बना कर अपनी महिमासे जलको क्रन्दित कर दिया था, विराट्का

वत्स इच्छाको पूर्ण करने वाला है, उसने प्रत्यङ्मुख गमन करके शरीरकी गुहा बनाई है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि । त्रीणि । बृहन्ति । येषाम् । चतुर्थम् । विऽयुनक्ति । वाचम् । ब्रह्म । एनत् । विद्यात् । तपसा । विपःऽचित् । यस्मिन् । एकम् । युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

जो तीन विशाल हैं-महिमामय हैं इनमेंसे (एक) चौथी वाणीको और जिसमें एकाकी होने पर ही पुरुष संगत होसकता है उसको ब्रह्म जाने ॥ ३ ॥

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती मिता ॥ ४ ॥

बृहतः । परि । सामानि । षष्ठात् । पञ्च । अधि । निःऽमिता । बृहत् । बृहत्याः । निःऽमितम् । कुतः । अधि । बृहती । मिता ४

बृहत्से श्रेष्ठ पाँच साम निर्मित हैं उनसे पश्चात् निर्मित है, और बृहती-महती द्यावःपृथिवीने बृहत्को निर्मित किया है तो बृहती कहाँसे मित है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥५॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निःऽमिता ।

माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥ ५ ॥

बृहतीकी मात्रासे माताकी मात्रा अधिनिर्मित है, माया (माता) से माया उत्पन्न हुई मातलि मायासे उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।

ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रतिऽमा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति विऽबबाधे । अग्निः ।

ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः । यन्ति । अभि । षष्ठम् । अह्नः ॥ ६ ॥

जहाँ तक द्यावापृथिवी हैं वहाँ तक अग्नि बाधा देसकते हैं। वैश्वानर अग्निदेवकी प्रतिमा पर ही द्यौ प्रतिष्ठित है अर्थात् अग्नि-साध्य याग आदि करने पर ही स्वर्गकी प्राप्ति होती है। और दिनके छटे भागमें स्तोम यहाँसे पश्चात्को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।

विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥ ७ ॥

षट् । त्वा । पृच्छाम । ऋषयः । कश्यप । इमे । त्वम् । हि ।

युक्तम् । युयुक्षे । योग्यम् । च ।

विऽराजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि ।

धेहि । यतिऽधा । सखिऽभ्यः ॥ ७ ॥

हे कश्यप ! आप युक्त और योग्यका उचितरीतिसे योग करना जानते हैं अतः हम छः ऋषि आपसे बूझते हैं, कि-विराट्को ब्रह्माका पिता कहते हैं अतः हम मित्रोंके अर्थ आप उस विराट् का यतियोंकी रीति पर उपदेश दीजिये ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्यां व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

याम् । प्रऽच्युताम् । अनु । यज्ञाः । प्रऽच्यवन्ते । उपऽतिष्ठन्ते ।

उपऽतिष्ठमानाम् ।

यस्याः । व्रते । प्रऽसवे । यक्षम् । एजति । सा । विऽराट् ।

ऋषयः । परमे । विऽओमन् । ॥ ८ ॥

जिस विराट्के प्रच्युत होने पर यज्ञ प्रच्यावित होने लगते हैं। और उपतिष्ठित होने पर उपतिष्ठित होते हैं अर्थात् जब पुरुष विराट्की भक्ति करना छोड़ देते हैं तब यज्ञोंका भी करना छोड़ देते हैं और जब विराट्का उपस्थान करते हैं तब यज्ञोंको भी

करते हैं। कर्म में जिसका (स्तुतिरूपसे) प्रसव होने पर पूज्य-भाव होने लगता है हे ऋषियों ! वह विराट् परमाकाशमें है ।८।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।

विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अप्राणा । एति । प्राणेन । प्राणतीनाम् । विऽराट् । स्वऽराजम् । अभि । एति । पश्चात् ।

विश्वम् । मृशन्तीम् । अभिऽरूपाम् । विऽराजम् । पश्यन्ति । त्वे इति । न । त्वे इति । पश्यन्ति । एनाम् ॥ ९ ॥

हे ऋषियों ! अप्राणविराट् प्राणन करने वाली प्रजाओंके प्राणरूपमें आता है, फिर विराट् स्वराट्को प्राप्त होजाता है। सबका स्पर्श करते हुए विराट्को पुरुष तुझमें ही देख सकते हैं (और मायासे मोहित हों तो) तुझमें नहीं देख सकते ॥ ८ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।

क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥

कः । विऽराजः । मिथुनऽत्वम् । प्र । वेद । कः । ऋतून् । कः । ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ।

क्रमान् । कः । अस्याः । कतिऽधा । विऽदुग्धान् । कः । अस्याः ।

धाम । कतिऽधा । विऽव्युष्टीः ॥ १० ॥

प्रजापति ही विराट्के मिथुनत्व ऋतु और कल्पोंको जानते हैं, वही इसके क्रमोंको विदुग्धोंको धामोंको और तमोविवासनको जानते हैं ॥ १० ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवग-ज्जनित्री ॥ ११ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विऽऔच्छत् । आसु । इत-

रासु । चरति । प्रऽविष्टा ।

महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । वधूः । जिगाय ।

नवऽगत् । जनित्री ॥ ११ ॥

यह विराट् उषारूपमें प्रथम उत्पन्न होता है, (इस प्रकार इसका परम महत्व सूचित होता है) यह उषारूपमें सृष्टिकी आदि में उत्पन्न होकर अंधकारको दूर कर चुका है । यह विराडात्मक उषा दीखती हुई दूसरी उषाओंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है, ऐसी विराडात्मक उषामें बड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम अग्नि आदि बड़े २ देवता इस विराट्में रहते हैं तात्पर्य यह है, कि— सूर्य आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं । यह विराडात्मक उषा सूर्यकी वधू है और यह दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् उषा प्राणियोंको प्रकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करती हुई सर्वोत्कृष्ट भावसे वर्तमान रहती है ॥ ११ ॥

छन्दःपक्षे उषसा पेपिंशाने समानं योनिमनु सं चरेते ।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानतीः केतुमती अजरे भूरिरेतसा

छन्दःपक्षे इति छन्दःऽपक्षे । उषसा । पेपिशाने इति । समानम् ।
योनिम् । अनु । सम् । चरेते इति ।
सूर्यपत्नी इति सूर्यऽपत्नी । सम् । चरतः । प्रजानती इति प्रऽजानती । केतुमती इति केतुऽमती । अजरे इति । भूरिऽरेतसा

अजर छन्दपक्ष उषःस्वरूप विराट्से रूपके स्पष्ट होने पर एक से ही कारणका अनुसरण करते हैं । सूर्यपत्नी ज्ञानवती उषा अपने प्रकाशरूप बड़े भारी वीर्यसे उनको जानती है ॥ १२ ॥

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । तिस्रः । आ । अगुः । त्रयः । घर्माः ।
अनु । रेतः । आ । अगुः ।
प्रऽजाम् । एका । जिन्वति । ऊर्जम् । एका । राष्ट्रम् । एका ।
रक्षति । देवऽयूनाम् ॥ १३ ॥

सत्यके मार्गमें अग्नि सूर्य और चन्द्रमा ये तीन जाते हैं ये तीनों अपने तेजरूप वीर्यके साथ जाते हैं । इनमेंसे एककी शक्ति ऋत्विजोंकी तृप्ति करती है एक बलकी पुष्टि करती है और एक ऋत्विजोंके राष्ट्रकी रक्षा करती है ॥ १३ ॥

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥ १४ ॥

अग्नीषोमौ । अदधुः । या । तुरीया । आसीत् । यज्ञस्य । पक्षौ । ऋषयः । कल्पयन्तः ।
गायत्रीम् । त्रिऽस्तुभम् । जगतीम् । अनुऽस्तुभम् । बृहत्ऽअर्कीम् । यजमानाय । स्वः । आऽभरन्तीम् ॥ १४ ॥

जो चौथी शक्ति है उसको अग्नि और सोम और ऋषियोंने धारण कर लिया, फिर ऋषियोंने गायत्री त्रिष्टुप् जगती अनुष्टुप्, और यजमानको स्वर्ग देने वाली अर्की और बृहत् इस प्रकार यज्ञके पक्षोंकी कल्पना की ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥ १५ ॥

पञ्च । विऽउष्टीः । अनु । पञ्च । दोहाः । गाम् । पञ्चऽनाम्नीम् । ऋतवः । अनु । पञ्च ।
पञ्च । दिशः । पञ्चऽदशेन । क्लृप्ताः । ताः । एकऽमूर्ध्नीः । अभि । लोकम् । एकम् ॥ १५ ॥

पाँच तमोनिवासिनी शक्तियोंके अनुकूल पाँच दोह हैं, पञ्चनाम्नी गौके अनुकूल पाँच ऋतुएँ हैं। पाँच दिशाएँ पञ्चदशसे समर्थ होकर किसी एक योगीके निमित्त एकरूप होजाती हैं १५

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः
षडुर्वीः ॥ १६ ॥

षट्। जाता। भूता। प्रथमऽजा। ऋतस्य। षट्। ऊं इति।
सामानि। षट्ऽअहम्। वहन्ति।
षट्ऽयोगम्। सीरम्। अनु। सामऽसाम। षट्। आहुः। द्यावा-
पृथिवीः। षट्। उर्वीः॥ १६॥

ऋतसे पहिले छः भाणी उत्पन्न हुए, छः साम दिनके छः भागोंका वहन करते हैं, षड्योग सीरके पीछे सामसाम है, द्यावापृथिवीके और उर्वियोंके छः भेदोंका वर्णन विद्वान् पुरुष करते हैं १६

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त
दीक्षाः ॥ १७ ॥

षट्। आहुः। शीतान्। षट्। ऊं इति। मासाः। उष्णान्।
ऋतुम्। नः। ब्रूत। यतमः। अतिऽरिक्तः।

सप्त । सुऽपर्णाः । कवयः । नि । सेदुः । सप्त । छन्दांसि । अनु ।
सप्त । दीक्षाः ॥ १७ ॥

छः मासोंको शीतके मास कहते हैं और छः को उष्ण ऋतु कहते हैं, इनके अतिरिक्त और जो है उसका हमसे वर्णन करिये ! विद्वान् पुरुष जानते हैं, कि–सात सुपर्ण हैं, सात छन्द हैं और सात दीक्षायें हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा-
वयम् ॥ १८ ॥

सप्त । होमाः । सम्ऽइधः । ह । सप्त । मधूनि । सप्त । ऋतवः ।
ह । सप्त ।
सप्त । आज्यानि । परि । भूतम् । आयन् । ताः । सप्तऽगृध्राः ।
इति । शुश्रुम । वयम् ॥ १८ ॥

सात होम हैं, सात मधु हैं, सात समिधायें हैं और सात ऋतुएँ हैं, सात प्रकारके घृत पुरुषको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार सात ‡ शुभ्र वस्तुओंको हमने सुना है ॥ १८ ॥

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पि-
तानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथ-
मार्पितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुःऽउत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अधि । आर्पितानि ।

कथम् । स्तोमाः । प्रति । तिष्ठन्ति । तेषु । तानि । स्तोमेषु । कथम् । आर्पितानि ॥ १९ ॥

सात छन्द हैं, चार उत्तर हैं, एक दूसरेमें अर्पित हैं, स्तोम उनमें किस प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं और वे स्तोमोंमें किस प्रकार अर्पित हैं ॥ १९ ॥

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते ।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः २०

कथम् । गायत्री । त्रिऽवृतम् । वि । आप । कथम् । त्रिऽस्तुप् । पञ्चऽदशेन । कल्पते ।

त्रयःऽत्रिंशेन । जगती । कथम् । अनुऽस्तुप् । कथम् । एकऽविंशः २०

गायत्री त्रिवृत्से किस प्रकार व्याप्त है, और त्रिष्टुप् पञ्चदश से किस प्रकार समर्थ होता है, त्रयस्त्रिंशसे जगती, अनुष्टुप् और एकविंश किस प्रकार समर्थ होता है ॥ २० ॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति २१

अष्ट । जाता । भूता । प्रथमऽजा । ऋतस्य । अष्ट । इन्द्र । ऋत्विजः । दैव्याः । ये ।

अष्टऽयोनिः । अदितिः । अष्टऽपुत्रा । अष्टमीम् । रात्रिम् ।
अभि । हव्यम् । एति ॥ २१ ॥

हे इन्द्र ! ऋतके आठ मुख्य भूत हुए, वे दिव्य आठ ऋत्विज् हैं। आठ (दिक्पाल रूप) पुत्र वाली अत एव आठकी कारण अष्टमीकी रात्रिके दिन हव्यको स्वीकार करती है ॥ २१ ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् ।
सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ।
समानऽजन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः ।
सम् । चरति । प्रऽजानन् ॥ २२ ॥

इस प्रकार इस शास्त्ररूप कल्याणको मानता हुआ तुम्हारी मित्रतामें तुम्हारी समान जन्म वाला मैं सुखी हूँ। क्रतु ही तुम्हारा कल्याण करने वाला है वह तुम सबको जानता हुआ विचरण करता रहता है ॥ २२ ॥

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्या३न्नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥ २३ ॥

अष्ट । इन्द्रस्य । षट् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्तऽधा ।

अपः । मनुष्या॒न् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अनु । सेचिरे ॥ २३ ॥

इन्द्रकी आठ, यमकी छः और ऋषियोंकी सतत्तर औषधियें हैं। उनको और मनुष्योंको पाँच प्रकारके जल सिञ्चन करते हैं २३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथमम् । दुहाना ।
अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुःऽधा । देवान् । मनुष्या॒न् । असुरान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

पहिले दुहाती हुई असाधारण प्रथमप्रसूता गौने कान्तिमय दुग्ध इन्द्रके निमित्त दूध दुहा फिर देवता मनुष्य असुर और ऋषि इन चारोंको चार प्रकारसे तृप्त किया ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एकऽऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम । काः । आऽशिषः ।
यक्षम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । कतमः । नु । सः ।

वह कौनसी गौ है, वह एक ऋषि कौन है, धाम क्या है और आशीर्वादात्मक वचन क्या है, पृथिवीमें एकवृत् ही पूज्य है, वह (मुख्य) एकर्तु कौनसी है ॥ २५ ॥

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥

एकः । गौः । एकः । एकऽऋषिः । एकम् । धाम । एकऽधा । आऽशिषः ।

यक्षम् । पृथिव्याम् । एकऽवृत् । एकऽऋतुः । न । अति । रिच्यते ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वह एक ही गौ है, एक-मुख्य ऋषि भी एक हैं, एक ही स्थान है और एक ही प्रकारकी आशीष हैं। पृथिवीमें एक वृत् ही पूज्य है और एकर्तु बढ़ती नहीं है ॥ २६ ॥ (२४)

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४५७)

"विराड् वै" इति षट्पर्यायात्मकं सूक्तम् । तस्य विनियोग-विचारादि पूर्वसूक्त उक्तम् ॥

"विराड् वै" यह षट्पर्यायात्मक सूक्त है। इसका विनियोग विचार आदि पहिले ही कह दिया है।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वम-बिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

विऽराट् । वै । इदम् । अग्रे । आसीत् । तस्याः । जातायाः । सर्वम् । अबिभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति १

यह जगत् पहिले विराट् ही था, इस विराट्के प्रकट होने पर सब डरे, कि—यही यह जगत् होगा ॥ १ ॥

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्हऽपत्ये । नि । अक्रामत् ॥२॥

तब विराट्ने उत्क्रमण किया और वह गार्हपत्यमें प्रविष्ट होगया २

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गृहऽमेधी । गृहऽपतिः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

जो गृहमेधी इस प्रकार जानता है वह गृहपति होता है ॥३॥

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आऽहवनीये । नि ।०॥ ४ ॥

फिर वह उत्क्रमण करके आहवनीयमें प्रविष्ट होगया ॥ ४ ॥

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

यन्ति । अस्य । देवाः । देवऽहूतिम् । प्रियः । देवानाम् । भवति ।०॥५

जो इस बातको जानता है देवता उसके बुलाने पर आते हैं और वह देवताओंका प्रिय होजाता है ॥ ५ ॥

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिणऽअग्नौ । नि ।०॥ ६ ॥

फिर उस विराट्ने उत्क्रमण करके दक्षिणाग्निमें प्रवेश किया ६

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ।७।

पक्षऽअ्रतः । दक्षिणीयः । वासतेयः । भवति ।०॥ ७ ॥

जो इस बातको इस प्रकार जानता है, वह यज्ञार्त दक्षिणीय वास्तेय होता है ॥ ७ ॥

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि ।०॥ ८ ॥

तदनन्तर वह विराट् उत्क्रमण करके सभामें प्रवेश कर गया ८

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति ।०॥ ९ ॥

जो इस बातको जानता है वह सभ्य होता है और इसकी सभामें (प्राणी) आते हैं ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥

०सा । सम्ऽइतौ । नि ।०॥ १० ॥

वह उत्क्रमण करके समितिमें पहुँच गया ॥ १० ॥

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

०अस्य । सम्ऽइतिम् । साम्ऽइत्यः । भवति ।०॥ ११ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह सामित्य (युद्धमें प्रतिष्ठा पाने वाला) होता है और उसकी समितिमें सैनिक आते हैं ॥ ११ ॥

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥

०सा । आऽमन्त्रणे । नि । अक्रामत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह आमन्त्रण में प्रवेश कर गया ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३

यन्ति। अस्य। आऽमन्त्रणम्। आऽमन्त्रणीयः। भवति। यः०॥ १३

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

जो इस बातको जानता है वह आमन्त्रणीय (बुलाने योग्य) होजाता है। और पुरुष इसके बुलाने पर इसके पास जाते हैं॥ १३॥ (२५)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (७४८)॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१॥

०सा। अन्तरिक्षे। चतुःऽधा। विऽक्रान्ता। अतिष्ठत्॥ १।

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह अन्तरिक्षमें चार रूपमें विक्रान्त होकर स्थित होगया॥ १॥

तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति॥ २॥

ताम्। देवऽमनुष्याः। अब्रुवन्। इयम्। एव। तत्। वेद। यत्। उभये। उपऽजीवेम। इमाम्। उप। ह्वयामहै। इति॥ २॥

उससे देवता और मनुष्योंने कहा, कि–यह उसको जानता है जिससे हम दोनों उपजीवन करते हैं, इसलिये हम इसका समीप में आह्वान करें॥ २॥

तामुपाह्वयन्त॥ ३॥

ताम्। उप। अह्वयन्त॥ ३॥

(तब उन्होंने) उसका उपाह्वान किया॥ ३॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥४॥

ऊर्जे । आ । इहि । स्वधे । आ । इहि । सूनृते । आ । इहि ।

इराऽवति । आ । इहि । इति ॥ ४ ॥

कि-हे ऊर्जे प्राणस्थापक बलकर अन्नकी अधिष्ठात्री) देवते ! हे पितरोंकी तृप्तिसम्पादिके स्वधे ! हे प्रियवाणीरूपे सूनृते ! हे इरावती ! आइये ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्य१भिधान्य१भ्रमूधः ५

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । गायत्री । अभिऽधानी ।

अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥

उस समय इन्द्र उसका बछड़ा बना, गायत्री अभिधानी हुई और मेघ ऊध (ऐन) हुए ॥ ५ ॥

बृहच्च रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च

वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत् । च । रथम्ऽतरम् । च । द्वौ । स्तनौ । आस्ताम् ।

यज्ञायज्ञियम् । च । वामऽदेव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत्साम और रथन्तर साम ये दो स्तन हुए तथा यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम नामक भी दो स्तन हुए ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ७

ओषधीः । एव । रथम्ऽतरेण । देवाः । अदुहन् । व्यचः । बृहता ७

देवताओंने रथन्तर सामसे औषधियोंको ही दुहा, बृहत्सामसे व्यचको दुहा ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वामऽदेव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

वामदेव सामसे जलको दुहा और यज्ञायज्ञिय सामसे यज्ञको दुहा ॥ ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

ओषधीः । एव । अस्मै । रथम्ऽतरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ९

(जो इस बातको जानता है) रथन्तर साम उसके लिये औषधियोंको ही दुहता है और बृहत्साम व्यचको दुहता है ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥१०॥

अपः । वामऽदेव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः ।०॥ १० ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो इस प्रकारसे जानता है उसके लिये वामदेव साम जलको और यज्ञियायज्ञिय यज्ञको दुहता है ॥ १० ॥ (२६)

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४४९) ॥

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयो-घ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयः । अघ्नत । सा । सम्ऽवत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर विराट् फिर उत्क्रमण करके वनस्पतियोंके पास

पहुँचा, उसको वनस्पतियोंने हनन कर डाला तब वह सम्वत्सर में होगया ॥ १ ॥

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्मात् । वनस्पतीनाम् । सम्ऽवत्सरे । वृक्णम् । अपि । रोहति । वृश्चते । अस्य । अप्रियः । भ्रातृव्यः । यः ।०॥ २ ॥

इसलिये वनस्पतियोंका कटा हुआ अंग भी वर्षभरमें उग आता है, जो इस बातको जानता है उसका अप्रिय शत्रु नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोघ्नत् सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥

० सा । पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अघ्नत । सा । मासि । सम् ।० ॥ ३ ॥

तब विराट् ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसको पितरोंने हनन कर डाला-अपनेमें लीन कर लिया, तब वह मास मासमें होने लगा ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृऽभ्यः । मासि । उपऽमास्यम् । ददति । प्र । पितृऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः ।०॥ ४ ॥

इसलिये पुरुष पितरोंके निमित्त प्रत्येक मासमें मुखके पासकी वस्तु–भोजन–देते हैं जो इस बातको इस प्रकार जानता है वह पितृयानमार्गको जान जाता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत साधे-
मासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अघ्नत । सा । अर्धऽमासे । सम् ।०॥ ५ ॥

वह विराट् उत्क्रमण करके देवताओंके पास पहुँचा, देवताओंने उसका हनन कर डाला, वह अर्धमासमें फिर प्रादुर्भूत होगया ५

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं
पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्धऽमासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । देवऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः ।०॥ ६ ॥

इस लिये देवताओंके लिये अर्धमासमें वषट् करते हैं जो इस बातको जानता है वह देवयानके मार्गको जान सकता है ॥ ६ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३नागच्छत् तां मनुष्या३ अघ्नत
सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

सा । मनुष्या३न् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्या३ः । अघ्नत । सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और वह मनुष्योंके पास पहुँचा, उसका मनुष्योंने हनन किया, वह तुरत ही प्रादुर्भूत होगया

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तस्मात् । मनुष्येभ्यः । उभयऽद्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य । गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥

इति पञ्चमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इसलिये मनुष्योंके लिये दूसरे दिन उपहरण करते हैं-जो इस बातको जानता है तो (देवता) उसके घरमें प्रतिदिन (अन्न) पहुँचाते रहते हैं ॥ ८ ॥ (२७)।

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (४५०) ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वन्त माय एहीति ॥ १ ॥

०सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्वयन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और वह असुरोंके पास पहुँचा, असुरोंने उसका समीपमें आह्वान किया, कि-हे माये ! आओ १

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् २

तस्याः । विऽरोचनः । प्राह्रादिः । वत्सः । आसीत् । अयःऽपात्रम् । पात्रम् ॥ २ ॥

उसका प्रह्लादका पुत्र विरोचन वत्स हुआ और लोहेका पात्र पात्र हुआ ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्विऽमूर्धा । आर्त्व्यः । अधोक् । ताम् । मायाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥

उसको द्विमूर्धा आर्त्व्यने दुहा और मायाको ही दुहा ॥ ३ ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । मायाम् । असुराः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः । भवति । यः । ० ॥ ४ ॥

उस मायासे असुर उपजीवन करते हैं, जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । उप । अह्वयन्त । स्वधे । आ । इहि । ० ॥ ५ ॥

तदनन्तर उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और पितरोंके पास पहुँचा, उसको पितरोंने 'हे स्वधे ! आओ' कहकर आह्वान किया ॥ ५ ॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ६

तस्याः । यमः । राजा । वत्सः । आसीत् । रजतऽपात्रम् । पात्रम् ६

उस समय उसका वत्स राजा यम हुआ और चाँदीका पात्र पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तामन्तको मार्त्यवोधोक् तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्तकः । मार्त्यवः । अधोक् । ताम् । स्वधाम् । एव । अधोक् ७

उसको मृत्युके अधिपति देवता अन्तकने दुहा, और उससे स्वधाको ही दुहा ॥ ७ ॥

तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ०॥८

उस स्वधासे पितर उपजीवन करते हैं, जो इस बातको जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्या३ नागच्छत् तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उप । अह्वयन्त । इराऽवती । आ । इहि । ० ॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और मनुष्योंके पास पहुँचा मनुष्योंने 'इरावती ! आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया ९

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् १०

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् १०

उस समय विवस्वान्के पुत्र मनु उसके बछड़े बने और पृथिवी पात्र बनी ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ११

ताम् । पृथी । वैन्यः । अधोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् । च । अधोक् ॥ ११ ॥

उसको राजा वेनके पुत्र पृथुने दुहा और कृषि तथा सस्य (रूप दुग्ध) को दुहा ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति । कृष्टऽराधिः । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

उस कृषि और धान्यसे ही मनुष्य अपनी आजीविका चलाते हैं। जो इस बातको जानता है वह जुते हुए पदार्थोंमें सिद्धि पानेवाला होता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

०सा । सप्तऽऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्तऽऋषयः । उप । अह्वयन्त । ब्रह्मण्ऽवति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और सात ऋषियोंके पास पहुँचा, उसको सप्तर्षियोंने 'हे ब्रह्मण्वती ! आओ' कह कर समीपमें बुलाया ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् १४

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् १४

उस समय राजा सोम उसके वत्स बने और छन्दः पात्र बने १४

तां बृहस्पतिराङ्गिरसोऽधोक्तां ब्रह्म च तपश्चाधोक्॥१५

ताम् । बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्म । च । तपः । च । अधोक् ॥ १५ ॥

उसको आंगिरस बृहस्पतिने दुहा और उससे ब्रह्म और तप को दुहा ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तत् । ब्रह्म । च । तपः । च । सप्तऽऋषयः । उप । जीवन्ति । ब्रह्मऽवर्चसी । उपऽजीवनीयः । ० ॥ १६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

अत एव उस तप और वेदसे सप्तऋषि आजीविका चलाते हैं, जो इस बातको जानता है वह ब्रह्मवर्चस्वी होता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं। (१६)। (२८)

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७५१) ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥ १ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः उप । अह्वयन्त । ऊर्जे । आ । इहि । ० ॥ १ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और देवताओंके पास पहुँचा। देवताओंने 'हे ऊर्जे । आओ' कहकर उसको समीपमें बुलाया १

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । चमसः । पात्रम् ॥ २ ॥

उस समय इन्द्र उसका बछड़ा बना और चमसपात्र हुआ ॥२॥

तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । देवः । सविता । अधोक् । ताम् । ऊर्जाम् । एव । अधोक् ३

सविता देवता उसके दुहने वाले बने और उन्होंने ऊर्जाको ही दुहा । ३ ॥

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद

ताम् । ऊर्जाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः ।० ४

उस ऊर्जासे देवता अपनी आजीविका चलाते हैं । जो इस बातको जानता है उससे प्राणी आजीविका चलाते हैं ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वा-प्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥

०सा । गन्धर्वऽअप्सरसः । आ । अगच्छत् । ताम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । अह्वयन्त । पुण्यऽगन्धे । आ । इहि ।०॥ ५ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और गंधर्व तथा अप्सराओं के पास पहुँचा, उसको गंधर्व तथा अप्सराओंने "हे पुण्यगंधे ! आओ" कहकर समीपमें बुलाया ॥ ५ ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

तस्याः । चित्रऽरथः । सौर्यऽवर्चसः । वत्सः । आसीत् । पुष्करऽपर्णम् ।
पात्रम् ॥ ६ ॥

उसका सूर्यवर्चाका पुत्र चित्ररथ बछड़ा बना और पुष्करपर्ण पात्र हुआ ॥ ६ ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक्

ताम् । वसुऽरुचिः । सौर्यऽवर्चसः । अधोक् । ताम् । पुण्यम् ।
एव । गन्धम् । अधोक् ॥ ७ ॥

उसको सूर्यवर्चाके पुत्र वसुरुचिने दुहा, और उसने पवित्र गंध को ही दुहा ॥ ७ ॥

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धि-
रुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गन्धर्वऽअप्सरसः । उप । जीवन्ति ।
पुण्यऽगन्धिः । उपऽजीवनीयः ।०॥ ८ ॥

उस पवित्र गंधसे अप्सरा और गंधर्व आजीविका चलाते हैं, जो इस बातको जानता है वह पवित्र गंध वाला होजाता है और प्राणी उससे आजीविका चलाते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वय-
न्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

०सा । इतरऽजनान् । आ । अगच्छत् । ताम् । इतरऽजनाः । उप ।
अह्वयन्त । तिरःऽधे । आ । इहि ।०॥ ९ ॥

उस विराट्ने फिर उत्क्रमण किया और इतरके पास पहुँचा, उसको इतरजनोंने उपाह्वान किया, कि-"हे तिरोधे" आओ ६

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्

तस्याः। कुबेरः। वैश्रवणः। वत्सः। आसीत्। आमऽपात्रम्।

पात्रम् ॥ १० ॥

उसके विश्रवा मुनिके पुत्र कुबेर वत्स हुए और कचा पात्र पात्र पात्र हुआ ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः काबेरको धोक् तां तिरोधामेवाधोक्

ताम्। रजतऽनाभिः। काबेरकः। अधोक्। ताम्। तिरःऽधाम्। एव। अधोक् ॥ ११ ॥

उसको रजतनाभि काबेरकने दुहा और तिरोधाको ही दुहा ११

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ।१२।

ताम्। तिरःऽधाम्। इतरऽजनाः। उप। जीवन्ति। तिरः। धत्ते। सर्वम्। पाप्मानम्। उपऽजीवनीयः।०॥ १२ ॥

उस तिरोधासे ही इतरजन आजीविका चलाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह अपने सब पापको तिरोहित कर देता है और मनुष्य उससे आजीविका चलाते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । सर्पान् । आ । अगच्छत् । ताम् ।

सर्पाः । उप । अह्वयन्त । विषऽवति । आ । इहि । इति १३

उस विराट्ने उत्क्रमण किया और सर्पोंके पास पहुँचा, सर्पों ने उसको समीपमें बुलाया, कि-'हे विषवति ! आओ' ॥१३॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम्

तस्याः । तक्षकः । वैशालेयः । वत्सः । आसीत् । अलाबुऽपात्रम् ।

पात्रम् ॥ १४ ॥

वैशालेय तक्षक उसका वत्स हुआ और अलाबुपात्र (राम-तुरईका तोंवा) पात्र हुआ ॥ १४ ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतो धोक् तां विषमेवाधोक् ॥१५॥

ताम् । धृतऽराष्ट्रः । ऐराऽवतः । अधोक् । ताम् । विषम् । एव ।

अधोक् ॥ १५ ॥

उसको ऐरावतवंशी धृतराष्ट्र नामक सर्पने दुहा और उससे विषको ही दुहा ॥ १५ ॥

तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तत् । विषम् । सर्पाः । उप । जीवन्ति । उपऽजीवनीयः । भवति । यः ।०

इति पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

उस विषसे सर्प उपजीवन करते हैं । जो इस बातको यथार्थ रीतिसे जानता है प्राणीउससे आजीविका करते हैं ॥ १६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें छटा सूक्त समाप्त (४५२)

तद् यस्मा एवं विदुषेलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् १

तत् । यस्मै । एवम् । विदुषे । अलाबुना । अभिऽसिञ्चेत् । प्रतिऽआहन्यात् ॥ १ ॥

इस कारण जिस ऐसा जानने वालेके ऊपर रामतुरईसे सिञ्चन करता है तो मार डालता है ॥ १ ॥

न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात्

न । च । प्रतिऽआहन्यात् । मनसा । त्वा । प्रतिऽआहन्मि । इति । प्रतिऽआहन्यात् ॥ २ ॥

किन्तु मनसे मारता हूं ऐसा विचार न करे तो मार डालता है २

यत् । प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्रतिऽआहन्ति । विषम् । एव । तत् । प्रतिऽआहन्ति ॥३॥

जो मारता है वह विषको ही मारता है ॥ ३ ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ४

विषम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनुऽविसिच्यते । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥

जो ऐसा जानता है उसका अप्रिय शत्रुरूप विष ही अनुवि-
षिक्त होता है ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (४५२)

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका अष्टमकाण्ड मु० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक मु० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

वैदिक-संहिता

☆ ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)

☆ ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र।

☆ ऋग्वेद संहिता। भाषामात्र। रामगोविन्द त्रिवेदी

☆ ऋग्वेद संहिता। सायणाचार्य कृत भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित। 1-8 भाग सम्पूर्ण

☆ ऋग्वेद संहिता। (प्रथम अध्याय, सूक्त 1-19) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक-प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'

☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)

☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। सम्पा. श्री [illegible]

☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (निर्णयसागर [illegible])

☆ शुक्लयजुर्वेद संहिता। पदपाठ-उव्वट-महीधरभाष्य-[illegible] तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. [illegible] शास्त्री

☆ सामवेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)

☆ सामवेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप शर्मा गौड़ कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित।

☆ अथर्ववेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)

☆ अथर्ववेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप गौड़ कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। 1-8 भाग

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ५

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१-८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

◆

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

◆

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

AṬHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 5

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 0542-2420404
e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Reprint Edition 2007

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

Printed at Ratna Offsets Ltd.
Kamachha, Varanasi

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

चतुर्थ अनुवाक-

पञ्चम अनुवाक-

❋ एकादशकाण्ड ❋

प्रथम अनुवाक-

द्वितीय अनुवाक-

श्रीहरिः

अथर्ववेदसंहिता

नवम-काण्ड

भाषानुवाद-सहित

"दिवस्पृथिव्याः" इति चतुर्विंशत्यात्मकम्। तत्र प्रथमासु दशसु मधुकशाया गोरूपेण वर्णनम्। द्वितीये दशके वर्चस आशंसनम् अश्विभ्यां सकाशाद् इतरदेवेभ्यश्च। शिष्टास्वृक्षु कशायाः पुनरपि वर्णनम्॥

सांप्रदायिकास्तु एवं विनियुञ्जन्ति। "दिवस्पृथिव्याः" इत्यर्थसूक्तस्य मेधाजननकर्मणि वर्चस्यकर्मणि च विनियोगः। एतद्विस्तरः "मातरश्विम्" इति सूक्ते [२. १६] द्रष्टव्यः॥

उत्सर्जनकर्मणि "यथा सोमः प्रातःसवने" [९. १. ११-२४] इति सूक्तम् आज्यहोमे विनियुज्यते। तद् उक्तं कौशिकेन। "गिराधरगराटेषु [६. ६९] यथा सोमः प्रातःसवने" इति [कौ० १४. ३]॥

तथा "दिवस्पृथिव्याः" इति सूक्तं सोमयागे सोमसवने विनियुज्यते। तद् उक्तं वैताने। "दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति" इति [वै० ३. ६]॥

"दिवस्पृथिव्याः" यह चौबीस ऋचाओं वाला सूक्त है। इसकी पहिली दश ऋचाओंमें मधुकशाका गोरूपसे वर्णन है। दूसरे दशकमें अश्विनीकुमारों तथा अन्य देवताओंसे वर्चस्की प्रार्थना की गई है। बाकी ऋचाओंमें कशाका ही फिर वर्णन किया है।

साम्प्रदायिक इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि-"दिवस्पृथिव्याः" इस अर्थसूक्तका मेधाजननकर्ममें और वर्चस्यकर्ममें विनियोग है। इसका अधिक विस्तार "मातरभिम्" इस २। १६ सूक्तमें देखना चाहिये।

उत्सर्जन कर्ममें "यथा सोमः प्रातः सवने" (इस नवम कांडके प्रथमसूक्तकी ग्यारहवीं ऋचासे चौबीसवीं ऋचा तकका) सूक्त घृतहोममें विनियुक्त होता है। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-"गिरावरगराटेषु (६। ६६) यथा सोमः प्रातः सवने" (कौशिकसूत्र १४। ३)॥

तथा "दिवस्पृथिव्याः" यह सूक्त सोमयागमें सोमसवनमें विनियुक्त होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति" (वैतानसूत्र ३।६)॥

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात् समुद्राद्ग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वामृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः॥ १॥

दिवः। पृथिव्याः। अन्तरिक्षात्। समुद्रात्। अग्नेः। वातात्। मधुऽकशा। हि। जज्ञे।
ताम्। चायित्वा। अमृतम्। वसानाम्। हृत्ऽभिः। प्रऽजाः। प्रति। नन्दन्ति। सर्वाः॥ १॥

मधुकशा गौ स्वर्गसे पृथिवीसे अन्तरिक्षसे समुद्रसे और अग्निसे प्रकट हुई है। उस अमृतधारिणीकी पूजा करके सकल प्रजायें हृदयमें आनन्द पाया करती हैं॥ १॥

महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः ।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् २

महत् । पयः । विश्वऽरूपम् । अस्याः । समुद्रस्य । त्वा । उत ।
रेतः । आहुः ।
यतः । आऽएति । मधुऽकशा । रराणा । तत् । प्राणः । तत् ।
अमृतम् । निऽविष्टम् ॥ २ ॥

इस मधुरूप दुग्धसे सम्पन्न गौके बड़े भारी दुग्धको ही समुद्रका जल कहते हैं, जिस ओर यह मधुकशा स्तुति पाती हुई आती है उस स्थानमें रहने वालोंका प्राण अमृतमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ २ ॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥३॥

पश्यन्ति । अस्याः । चरितम् । पृथिव्याम् । पृथक् । नरः ।
बहुऽधा । मीमांसमानाः ।
अग्नेः । वातात् । मधुऽकशा । हि । जज्ञे । मरुताम् । उग्रा । नप्तिः ३

मनुष्य इसके चरित्रकी अनेक प्रकारसे मीमांसा करके इसके चरित्रको पृथिवीमें अनेकरूप वाला देखते हैं, कि—यह मरुतोंकी प्रचण्ड नप्ति अग्निसे और वायुसे प्रकट हुई है ॥ ३ ॥

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान् भर्गश्चरति मर्त्येषु

माता । आदित्यानाम् । दुहिता । वसूनाम् । प्राणः । प्रऽजानाम् । अमृतस्य । नाभिः ।
हिरण्यऽवर्णा । मधुऽकशा । घृताची । महान् । भर्गः । चरति । मर्त्येषु ॥ ४ ॥

यह मधुकशा आदित्योंकी माता है, वसुओंकी पुत्री है, प्रजाओंकी प्राण है और अमृतकी नाभि है, घृताची हित रमणीय वर्ण वाली मधुकशा महान् तेजके रूपमें मनुष्योंमें विचरण करती है ॥ ४ ॥

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः ।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥ ५ ॥

मधोः । कशाम् । अजनयन्त । देवाः । तस्याः । गर्भः । अभवत् । विश्वऽरूपः ।
तम् । जातम् । तरुणम् । पिपर्ति । माता । सः । जातः । विश्वा । भुवना । वि । चष्टे ॥ ५ ॥

देवताओंने मधुकशाको प्रकट किया, उसका गर्भ विश्वरूप हुआ। उस तरुण उत्पन्न हुएका माताने पालन किया, उसने उत्पन्न होते समय सकल-प्राणियोंको प्रकाशित कर दिया ॥ ५ ॥

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः

सोमधानो अक्षितः ।

ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन् मदेत ॥ ६ ॥

कः । तम् । प्र । वेद । कः । ऊं इति । तम् । चिकेत । यः ।

अस्याः । हृदः । कलशः । सोमऽधानः । अक्षितः ।

ब्रह्मा । सुऽमेधाः । सः । अस्मिन् । मदेत ॥ ६ ॥

उसको कौन जानता है उसको स्पष्टतासे कौन जानता है, इसका हृदय सोम रखनेका कलशरूप है और कभी क्षीण नहीं होता, सुन्दर बुद्धि वाला ब्रह्मा इसमें हर्ष पाता है ॥ ६ ॥

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ

सहस्रधारावक्षितौ ।

ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

सः । तौ । प्र । वेद । सः । ऊं इति । तौ । चिकेत । यौ ।

अस्याः । स्तनौ । सहस्रऽधारौ । अक्षितौ ।

ऊर्जम् । दुहाते इति । अनपऽस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

इसके जो सहस्रों धारों वाले अक्षीण स्तन हैं, कि-जो अवि-

नाशी रहते हुए बलप्रद दुग्धको दुहाते हैं उनको वही ब्रह्मा जानता है ॥ ७ ॥

हिङ्कृण्वती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम्।
त्रीन् घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

हिङ्ऽकरिक्रती। बृहती। वयःऽधाः। उच्चैःऽघोषा। अभिऽएति। या। व्रतम्।
त्रीन्। घर्मान्। अभि। वावशाना। मिमाति। मायुम्। पयते। पयःऽभिः ॥ ८ ॥

वारम्वार हिं हिं शब्द करती हुई, हविको धारण करने वाली उच्च स्वर करती हुई जो गौ कर्मस्थलमें आती है वह अग्नि चन्द्र सूर्य इन तीन तेजोंको वशमें करती हुई अपने दुग्धसे इन देवताओंकी शरणमें जाने वालोंके शब्दको शक्तिसम्पन्न करती है ८

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥९॥

याम्। आऽपीनाम्। उपऽसीदन्ति। आपः। शाक्वराः। वृषभाः। ये। स्वऽराजः।
ते। वर्षन्ति। ते। वर्षयन्ति। तत्ऽविदे। कामम्। ऊर्जम्। आपः ९

जिस पुष्ट मधुकशाके पास अपनी कांतिसे दमकने वाले कामनाओंकी वर्षा करने वाले जल आते हैं, वे जल उस मधु-

कशाको जानने वालेके लिये कामनाओंकी और बलमद अन्नकी वर्षा करते और कराते हैं ॥ ९ ॥

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि ।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः १०

स्तनयित्नुः । ते । वाक् । प्रजाऽपते । वृषा । शुष्मम् । क्षिपसि । भूम्याम् । अधि ।
अग्नेः । वातात् । मधुऽकशा । हि । जज्ञे । मरुताम् । उग्रा । नप्तिः १०

हे प्रजापते ! स्तनयित्नु (वज्रकी कड़क) ही आपकी वाणी हैं, आप वर्षा करने वाले हैं और भूमि पर बलकी वर्षा करते हैं अग्निसे और वायुसे मरुद्गणोंकी उग्र नप्ति मधुकशा हुई है १०

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥

यथा । सोमः । प्रातःऽसवने । अश्विनोः । भवति । प्रियः ।
एव । मे । अश्विना । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ ११ ॥

प्रातःसवनमें सोम जैसे अश्विनीकुमारोंको प्रिय होता है, इसी प्रकार अश्विनीकुमार मुझमें वर्चको स्थापित करें ॥ ११ ॥

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥

० सोमः । द्वितीये । सवने । इन्द्राग्न्योः । भवति । ० ।

० मे । इन्द्राग्नी इति । वर्चः । ० ॥ १२ ॥

द्वितीयसवनमें जैसे सोम इन्द्र और अग्निको प्रिय होता है इसी प्रकार इन्द्र और अग्नि मुझमें वर्चको स्थापित करें॥ १२ ॥

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।

एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥

यथा । सोमः । तृतीये । सवने । ऋभूणाम् । भवति । प्रियः ।

एव । मे । ऋभवः । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ १३ ॥

जैसे तृतीयसवनमें सोम ऋभुदेवताओंको प्रिय होता है, इसी प्रकार ऋभुदेवता मुझमें वर्चको स्थापित करें ॥ १३ ॥

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

मधु । जनिषीय । मधु । वंशिषीय ।

पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा १४

मैं मधुको प्रकट करूँ, मधुसे कान्तिमान् होऊँ, हे अग्ने ! मैं पय आदिकी हवि वाला आगया हूँ, आप मुझे वर्चसे संयुक्त करिये ॥ १४ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।

विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः १५

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्रऽजया । सम् । आयुषा ।

विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषिऽभिः १५

हे अग्ने! आप मुझे अन्नभक्षणसे होनेवाले तेजसे प्रजासे और आयुसे सम्पन्न करिये देवता और ऋषि मुझको यह जानें, कि यह इस (अग्नि) का (सेवक) है ॥ १५ ॥

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि ।

एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १६ ॥

यथा । मधु । मधुऽकृतः । सम्ऽभरन्ति । मधौ । अधि ।

एव । मे । अश्विना । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ १६ ॥

जैसे मधुको करने वाले मधुके ऊपर ही मधुको डालते जाते हैं इसी प्रकार अश्विनीकुमार मेरे यहाँ वर्चकी स्थापना करें ॥१६॥

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ।

एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् १७

यथा । मक्षाः । इदम् । मधु । निऽअञ्जन्ति । मधौ । अधि ।

एव । मे । अश्विना । वर्चः । तेजः । बलम् । ओजः । च । ध्रियताम् ॥ १७ ॥

जैसे मधुमक्षिकायें मधुके ऊपर मधुको इकट्ठा करती जाती हैं, इसी प्रकार अश्विनीकुमार, मुझमें वर्च तेज बल और ओजको स्थापित करें ॥ १७ ॥

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु ।

सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ।१८।

यत् । गिरिषु । पर्वतेषु । गोषु । अश्वेषु । यत् । मधु ।

सुरायाम् । सिच्यमानायाम् । यत् । तत्र । मधु । तत् । मयि १८

गिरियोंमें, पर्वतोंमें, गौओंमें और घोड़ोंमें जो मधु है और खिचती हुई सुरामें जो मधु है वह मधु मुझमें हो ॥ १८ ॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥

अश्विना । सारघेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः । पती इति ।
यथा । वर्चस्वतीम् । वाचम् । आऽवदानि । जनान् । अनु ॥१९॥

हे शोभाके लिये धारण किये जाने वाले अलंकारोंके स्वामी अश्विनीकुमारो ! आप मुझको मधुमक्षिकाओंके एकत्रित किये हुए रससे सम्पन्न करिये,—जिस प्रकार मैं दीप्तिमयी मधुर वाणीको मनुष्योंसे कह सकूँ, तिस प्रकार आप मुझको मधुसे सींचिये ॥ १९ ॥

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि ।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति २०

स्तनयित्नुः । ते । वाक् । प्रजाऽपते । वृषा । शुष्मम् । क्षिपसि । भूम्याम् । दिवि ।
ताम् । पशवः । उप । जीवन्ति । सर्वे । तेनो इति । सा । इषम् । ऊर्जम् । पिपर्ति ॥ २० ॥

हे प्रजापते ! स्तनयित्नु ही आपकी वाणी है, तथा भूमिमें और स्वर्गमें बल-(दायक पदार्थ वृष्टि) की वर्षा करते हैं और आप कामनाओंकी वर्षा करने वाले हैं, उससे सब पशु आजीविका करते हैं और वह अन्न तथा बलको पुष्ट करती है २०

पृथिवी दण्डो३न्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥ २१ ॥

पृथिवी । दण्डः । अन्तरिक्षम् । गर्भः । द्यौः । कशा । विऽद्युत् । प्रऽकशः । हिरण्ययः । बिन्दुः ॥ २१ ॥

पृथिवी दण्ड है, अन्तरिक्ष गर्भ है, द्यौ कशा है, विद्युत् प्रकाश है, और हिरण्यय बिन्दु है ॥ २१ ॥

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति । ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ २२ ॥

यः । वै । कशायाः । सप्त । मधूनि । वेद । मधुऽमान् । भवति । ब्राह्मणः । च । राजा । च । धेनुः । च । अनड्वान् । च । व्रीहिः । च । यवः । च । मधु । सप्तमम् ॥ २२ ॥

जो कशाके साथ मधुओंको जानता है वह मधुमान् होजाता है (वे सात मधु ये हैं) ब्राह्मण, राजा, धेनु, अनड्वान्, धान, जौं और सातवाँ मधु ॥ २२ ॥

मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।

मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥

मधुऽमान् । भवति । मधुऽमत् । अस्य । आऽहार्यम् । भवति ।

मधुऽमतः । लोकान् । जयति । यः । एवम् । वेद ॥ २३ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह मधुमान् होजाता है इसका भोजन भी मधुमय होता है और वह मधुमय लोकोंको जीतता है ॥

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति

तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेनु मा बुध्यस्वेति ।

अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद २४

यत् । वीध्रे । स्तनयति । प्रजाऽपतिः । एव । तत् । प्रऽजाभ्यः ।

प्रादुः । भवति ।

तस्मात् । प्राचीनऽउपवीतः । तिष्ठे । प्रजाऽपते । अनु । मा । बुध्यस्व ।

इति ।

अनु । एनम् । प्रऽजाः । अनु । प्रजाऽपतिः । बुध्यते । यः । एवम् । वेद

इति प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जिसमें विविध प्रकारसे ग्रह नक्षत्र आदि दिपते हैं उस वीध्र-आकाश-में जो कड़क होती है वही प्रजापति प्रजाओंके लिये प्रादुर्भूत होते हैं, इस कारण प्राचीनोपवीत (दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीतधारी) स्थित रहे, कि-प्रजापति मुझको जानें । जो इस प्रकार जानता है प्रजा उसको ही प्रजापतिसे उतरता हुआ समझती है ॥ २४ ॥ (२)

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४५४)

"सपत्नहनम्" इति सूक्तं कामदेवताकम्। कामइच्छारूपो देवः। तं संबोध्य सपत्नक्षयं प्रार्थयते। तद् एवम्। "सपत्नहनम्" इत्यर्थसूक्तेन अभिचारकर्मणि ऋषभं संपातवन्तं कृत्वा द्वेष्याभिमुखं विसृजति ॥ तथा तत्रैव कर्मणि आश्वत्थीः स्वयंपतिताः समिध आदधाति। तथा च सूत्रम्। "सपत्नहनम् इत्यृषभं संपातवन्तम् प्रतिसृजति। आश्वत्थीरवपन्नाः स्वयम्" इति [कौ० ६. ३] ॥

तथा सोमयागे अनूबन्ध्यायाम् अपराजितायां तिष्ठन्त्यां कामदेवतानमस्कारे अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तद् उक्तं वैताने। "अनूबन्ध्यायाम् अपराजितायां तिष्ठन्त्यां सपत्नहनम् इति कामं नमस्करोति" इति [वै० ३. १४] ॥

"सपत्नहनम्" यह काम देवता वाला सूक्त है। इच्छारूपदेवको काम कहते हैं, उसको सम्बोधित करके शत्रुक्षयकी प्रार्थना की गई है। उसकी विधि इस प्रकार है। अभिचारकर्ममें 'सपत्नहनम्' अर्थसूक्तसे ऋषभको सम्पातित करके शत्रुकी ओर छोड़ देय और-वहाँ ही कर्ममें अपने आप गिरी हुई पीपलकी समिधाओंको रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"सपत्नहनं इत्यृषभं सम्पातवन्तं प्रतिसृजति। आश्वत्थीरवपन्नाः स्वयम्" (कौशिकसूत्र ६। ३) ॥

तथा सोमयागमें अपराजिता अनूबन्ध्याके स्थित होने पर "सपत्नहनम्" सूक्तका कामदेवको नमस्कार करनेमें विनियोग किया जाता है। इस विषयमें वैतानसूत्र ३। १४ का प्रमाण भी है, कि–"अनूबन्ध्यायां अपराजितायां तिष्ठन्त्यां सपत्नहनं इति कामं नमस्करोति" ॥

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन
नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण

सपत्नऽहनम् । ऋषभम् । घृतेन । कामम् । शिक्षामि । हविषा ।
आज्येन ।
नीचैः । सऽपत्नान् । मम । पादय । त्वम् । अभिऽस्तुतः । महता ।
वीर्येण ॥ १ ॥

मैं शत्रुनाशक काम ऋषभको घृत और हविसे शिक्षित करता हूँ, हे ऋषभ ! तू हमसे स्तुति पाकर बड़े बलसे मेरे शत्रुओंको नीचे गिरा दे ॥ १ ॥

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति ।
तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥ २ ॥

यत् । मे । मनसः । न । प्रियम् । न । चक्षुषः । यत् । मे । बभस्ति ।
न । अभिऽनन्दति ।
तत् । दुःऽस्वप्न्यम् । प्रति । मुञ्चामि । सऽपत्ने । कामम् । स्तुत्वा ।
उत् । अहम् । भिदेयम् ॥ २ ॥

जो मेरे मन और चक्षुको प्रिय नहीं है, जो मुझको खाता (सा) है, मुझे प्रसन्न नहीं करता है, कामकी स्तुति करके मैं उस दुःस्वप्नको वैरीकी ओर छोड़ता हूँ और उसको विदारण करता हूँ ॥ २ ॥

दुष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजास्तामस्वगतामवर्तिम्

उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यंहूरणा चिकित्सात् ॥ ३ ॥

दुःऽस्वप्न्यम् । काम । दुःऽइतम् । च । काम । अप्रजस्ताम् । अस्वगताम् । अवर्तिम् ।

उग्रः । ईशानः । प्रति । मुञ्च । तस्मिन् । यः । अस्मभ्यम् । अंहुरणा । चिकित्सात् ॥ ३ ॥

हे काम ! आप दुःस्वप्नको, दुरितको, प्रजाहीनताको, अस्वगताको, और वृत्तिकी अभावरूपा दरिद्रताको उस पर छोड़िये जो हमको पराजयनिमित्तक कुटिलतागतिसे सम्पन्न जाननेकी इच्छा करता है, क्योंकि–हे काम ! आप उग्र हैं और ईश हैं ३

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ४

नुदस्व । काम । प्र । नुदस्व । काम । अवर्तिम् । यन्तु । मम । ये । सऽपत्नाः ।

तेषाम् । नुत्तानाम् । अधमा । तमांसि । अग्ने । वास्तूनि । निः । दह । त्वम् ॥ ४ ॥

हे काम ! आप वृत्तिकी अभावरूप दरिद्रताको हमसे अलग प्रेरित करिये, हे काम ! मेरे जो शत्रु हैं वे इस जीविकाके अभावरूप दरिद्रताको प्राप्त होवें, हे काम ! आप मेरे शत्रुओंकी ओर इसको

प्रकृष्टतासे प्रेरित करिये। हे अग्ने! उनकी गृहकी वस्तुओंको आप जला दीजिये, उन पीड़ितोंके लिये अधम अंधकार होजावें ॥४॥

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।
तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

सा। ते। काम। दुहिता। धेनुः। उच्यते। याम्। आहुः। वाचम्। कवयः। विऽराजम्।
तया। सऽपत्नान्। परि। वृङ्ग्धि। ये। मम। परि। एनान्। प्राणः। पशवः। जीवनम्। वृणक्तु ॥ ५ ॥

कवि जिसको तपःसे ओजस्विनी वाणी कहते हैं, वह धेनु (वाणी) आपकी पुत्री है, उसको आप मेरे शत्रुओंको नष्ट करिये, इन मेरे शत्रुओंको प्राण पशु और जीवन भली प्रकार त्याग देय५

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ६

कामस्य। इन्द्रस्य। वरुणस्य। राज्ञः। विष्णोः। बलेन। सवितुः। सवेन।
अग्नेः। होत्रेण। प्र। नुदे। सऽपत्नान्। शम्बीऽइव। नावम्। उदकेषु। धीरः ॥ ६ ॥

जैसे धीर और वज्ररूप पतवारको धारण करने वाला शम्बी जलमें नावको प्रेरित करता है, इसी प्रकार मैं कामके इन्द्रके वरुणके सोमके और विष्णुके बलसे सविता देवताके यज्ञसे तथा अग्निहोत्रसे शत्रुओंको खदेड़ता हूं ॥ ६ ॥

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव

विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥ ७ ॥

अधिऽअक्षः । वाजी । मम । कामः । उग्रः । कृणोतु । मह्यम् । असपत्नम् । एव ।

विश्वे । देवाः । मम । नाथम् । भवन्तु । सर्वे । देवाः । हवम् । आ । यन्तु । मे । इमम् ॥ ७ ॥

यह यज्ञहविरूप अन्नसे सम्पन्न आँखोंके सामने होता हुआ प्रचंड याज्ञिक कर्म मुझको शत्रुरहित अवश्य कर देय सकलदेवता मेरे नाथ बनें और सकलदेवता मेरे इस यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम् ।

कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥

इदम् । आज्यम् । घृतऽवत् । जुषाणाः । कामऽज्येष्ठाः । इह । मादयध्वम्

कृण्वन्तः । मह्यम् । असपत्नम् । एव ॥ ८ ॥

हे कामप्रमुख देवताओ ! इस घृत (आदि मिली हवि) को घृतकी समान सेवन करते हुए और मुझको शत्रुरहित करते हुए आनन्द पाओ ॥ ८ ॥

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः ।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥९॥

इन्द्राग्नी इति । काम । सऽरथम् । हि । भूत्वा । नीचैः । सऽपत्नान् । मम । पादयाथः ।
तेषाम् । पन्नानाम् । अधमा । तमांसि । अग्ने । वास्तूनि । अनुऽनिर्दह । त्वम् ॥ ९ ॥

हे काम ! इन्द्र और अग्निदेवता रथमें सवार होकर मेरे शत्रुओं को नीचे गिरावें और हे अग्ने ! जब वे गिर जावें तब उनके निमित्त अधम अंधकारोंको प्रकट कर उनके घरकी वस्तुओंको भस्म कर डालिये ॥ ९ ॥

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥

जहि । त्वम् । काम । मम । ये । सऽपत्नाः । अन्ध । तमांसि । अव । पादय । एनान् ।
निःऽइन्द्रियाः । अरसाः । सन्तु । सर्वे । मा । ते । जीविषुः । कतमत् । चन । अहः ॥ १० ॥

हे काम ! मेरे जो शत्रु हैं उनको आप मार डालिये और घोर अंधकाररूप मृत्युके अधीन करिये, ये सब इन्द्रियोंकी शक्तिसे रहित और निर्वीर्य होजावें और वे किसी दिन भी जीवित न रह सकें ॥ १० ॥

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु

अवधीत् । कामः । मम । ये । सऽपत्नाः । उरुम् । लोकम् । अकरत् । मह्यम् । एधतुम् ।
मह्यम् । नमन्ताम् । प्रऽदिशः । चतस्रः । मह्यम् । षट् । उर्वीः । घृतम् । आ । वहन्तु ॥ ११ ॥

जो मेरे शत्रु थे उनको कामने मार डाला है और कामने वृद्धि पानेके लिये मुझे बड़ा भारी लोक दे दिया है, इस लिये चारों श्रेष्ठ दिशाएँ अर्थात् सकल दिशाओंके प्राणी मुझको प्रणाम करें और छः उर्वियें मुझको घृत प्रदान करें ॥ ११ ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥

ते । अधराञ्चः । प्र । प्लवन्ताम् । छिन्ना । नौःऽइव । बन्धनात् ।
न । सायकऽप्रणुत्तानाम् । पुनः । अस्ति । निऽवर्तनम् ॥ १२ ॥

जैसे बंधन टूट जाने पर नौका नीचेको बहने लगती है, इसी

प्रकार ये मेरे शत्रु अधोगतिमें पड़ते चले जावें, क्योंकि बाणसे भेजे हुए फिर लौट नहीं सकते ॥ १२ ॥

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः ।

यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

अग्निः । यवः । इन्द्रः । यवः । सोमः । यवः ।

यवऽयावानः । देवाः । यवयन्तु । एनम् ॥ १३ ॥

अग्नि भी शत्रुओंको दूर करने वाले हैं, इन्द्र भी शत्रुओंको पृथक् करने वाले हैं और सोम भी शत्रुओंको दूर करने वाले हैं अतः आप शत्रुको दूर करिये और हमारी रक्षा करिये देवता इस शत्रुको दूर कर दें ॥ १३ ॥

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् ।

उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४ ॥

असर्वऽवीरः । चरतु । प्रऽनुत्तः । द्वेष्यः । मित्राणाम् । परिऽवर्ग्यः । स्वानाम् ।

उत । पृथिव्याम् । अव । स्यन्ति । विऽद्युतः । उग्रः । वः । देवः । प्र । मृणत् । सऽपत्नान् ॥ १४ ॥

हमारा शत्रु इस मन्त्रशक्तिसे प्रेरित होकर पुत्र पौत्र आदि वीर्यसे उत्पन्न होने वाले सकल वीरोंसे रहित होकर विचरण करे और अपने बान्धवोंसे त्यागने योग्य हो जावे, बिजलियें

पृथिवीमें इसके खण्ड २ कर डालें और (हे यजमानों !) उग्र देवता आपके शत्रुओंको मथ डालें ॥ १४ ॥

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान् ।

उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

च्युता । च । इयम् । बृहती । अच्युता । च । विऽद्युत् । बिभर्ति । स्तनयित्नून् । च । सर्वान् ।

उत्ऽयन् । आदित्यः । द्रविणेन । तेजसा । नीचैः । सऽपत्नान् । नुदताम् । मे । सहस्वान् ॥ १५ ॥

जो सकल मेघगर्जनोंका भरण करती है वह बिजली च्युत वा अच्युत होने पर और उदय होते हुए अभिभव करने वाले आदित्य भी अपने तेजःस्वरूप धनसे शत्रुओंको नीचे गिरा देवें १५

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम् ।

तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

यत् । ते । काम । शर्म । त्रिऽवरूथम् । उत्ऽभु । ब्रह्म । वर्म । विऽततम् । अनतिऽव्याध्यम् । कृतम् ।

तेन । सऽपत्नान् । परि । वृङ्ग्धि । ये । मम । परि । एनान् ।

प्राणः । पशवः । जीवनम् । वृणक्तु ॥ १६ ॥

हे काम ! आपका जो सुखप्रद त्रिवरूथ अनतिव्याध्य विस्तृत ब्रह्ममय कवच बना हुआ है उससे आप मेरे शत्रुओंको नष्ट करिये, इन मेरे शत्रुओंको प्राण पशु और जीवन भली प्रकार त्याग देय १६

येन देवा असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय ।

तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १७ ॥

येन । देवाः । असुरान् । प्रऽअनुदन्त । येन । इन्द्रः । दस्यून् । अधमम् । तमः । निनाय ।

तेन । त्वम् । काम । मम । ये । सऽपत्नाः । तान् । अस्मात् । लोकात् । प्र । नुदस्व । दूरम् ॥ १७ ॥

जिससे देवताओंने असुरोंको खदेड़ दिया था और जिससे इन्द्रदेवने दस्युओंको मृत्युरूप अधम तममें डाल दिया था, हे काम ! उस शक्तिसे आप मेरे शत्रुओंको इस लोकसे दूर फैंक दीजिये १७

यथा देवा असुरान् प्राणुदन्तः यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे ।

तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात् प्र णुदस्व दूरम् ॥ १८ ॥

यथा । देवाः । असुरान् । प्रऽअनुदन्त । यथा । इन्द्रः । दस्यून् ।
अधमम् । तमः । बबाधे ।
तथा । त्वम् । काम । मम । ये । सऽपत्नाः । तान् । अस्मात् ।
लोकात् । प्र । नुदस्व । दूरम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार देवताओंने असुरोंको खदेड़ा था और जिस प्रकार इन्द्रने दस्युओंको अधम तमसे पीड़ा दी थी, इसी प्रकार हे काम ! आप जो मेरे शत्रु हैं उनको इस लोकसे दूर खदेड़ दीजिये ॥१८॥

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ १९ ॥

कामः । जज्ञे । प्रथमः । न । एनम् । देवाः । आपुः । पितरः ।
न । मर्त्याः ।
ततः । त्वम् । असि । ज्यायान् । विश्वहा । महान् । तस्मै । ते ।
काम । नमः । इत् । कृणोमि ॥ १९ ॥

काम प्रथम उत्पन्न हुआ है, इसकी समता देवता और पितर भी नहीं कर सके, सम्पूर्ण प्राणियोंको प्राप्त होने वाले काम अत एव आप ज्येष्ठ और महान् हैं ऐसे आपके लिये मैं हविरूप अन्नको करता हूँ-देता हूँ-॥ १९ ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः । ततस्त्वम्० ॥ २० ॥

यावती इति । द्यावापृथिवी इति । वरिम्णा । यावत् । आपः ।

सिस्यदुः । यावत् । अग्निः ।० ॥ २० ॥

जितने बड़े द्यावापृथिवी हैं अग्नि और जल जितनेमें विस्तृत होते हैं, हे काम ! आप उससे भी ज्येष्ठ और महान् हैं और सब भूतोंमें जाने वाले हैं अतः आपके लिये हम हविरूप अन्नको देते हैं ॥ २० ॥

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः । ततस्त्वम्० ॥ २१ ॥

यावतीः । दिशः । प्रऽदिशः । विषूचीः । यावतीः । आशाः । अभिऽचक्षणाः । दिवः । ० ॥ २१ ॥

दिशा और प्रदिशाएँ जितने परिमाणमें अनेक प्रकारसे गई हैं और स्वर्गसे जितनी (दूरीको) दिशाएँ कहती हैं, हे काम ! आप उतनेसे भी ज्येष्ठ और महान् हैं और सबमें जाने वाले हैं, ऐसे आपको मैं नमस्कार ही करता हूँ ॥ २१ ॥

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः । ततस्त्वम्० ॥ २२ ॥

यावतीः । भृङ्गाः । जत्वः । कुरूरवः । यावतीः । वघाः । वृक्षऽसर्प्यः । बभूवुः । ० ॥ २२ ॥

जितने परिमाणमें भृङ्ग जतु कुरूरु और वृक्षसर्पि वघा होती हैं, हे काम ! आप उससे भी ज्येष्ठ और महान् हैं और सबमें जाने वाले हैं ऐसे आपको मैं नमस्कार ही करता हूँ ॥ २२ ॥

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो। ततस्त्वम्० ॥ २३ ॥

ज्यायान्। निऽमिषतः। असि। तिष्ठतः। ज्यायान्। समुद्रात्। असि। काम। मन्यो। इति।० ॥ २३ ॥

हे काम और मन्यो! आप पलक मारने वाले (प्राणियों) से भी ज्यायान् हैं, बैठे हुएसे भी बड़े हैं और समुद्रसे भी बड़े हैं आप इनसे बड़े हैं अर्थात् सबमें जाते हैं अत एव महान् हैं, ऐसे आपको मैं नमस्कार ही करता हूँ ॥ २३ ॥

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

न। वै। वातः। चन। कामम्। आप्नोति। न। अग्निः। सूर्यः। न। उत। चन्द्रमाः।

ततः। त्वम्। असि। ज्यायान्। विश्वहा। महान्। तस्मै। ते। काम। नमः। इत्। कृणोमि ॥ २४ ॥

वायु अग्नि सूर्य और चन्द्रमा भी कामकी बराबरी नहीं कर सकते अत एव हे काम आप बड़े हैं सबमें व्याप्त होसकते हैं ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २४ ॥

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।

ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥ २५ ॥

याः । ते । शिवाः । तन्वः । काम । भद्राः । याभिः । सत्यम् । भवति । यत् । वृणीषे ।

ताभिः । त्वम् । अस्मान् । अभिऽसंविशस्व । अन्यत्र । पापीः । अप । वेशय । धियः ॥ २५ ॥

प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे काम ! आपके जो कल्याणकारक मङ्गलमय शरीर हैं और जिनके द्वारा आप जिसका वरण करते हैं वह सत्य होता है, उन अपने शरीररूप बुद्धियोंसे आप हममें प्रवेश करिये और अपनी पापबुद्धियोंको हमसे अन्यत्र शत्रुओंमें प्रवेश कराइये २५ (५)

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४१५)

प्रथम अनुवाक समाप्त

"उपमिताम्" इति सूक्तेन शालासवं ददाति सवयज्ञविधानेन स्वर्गकामः इति विनियोगमाला । सूत्रमपि । "उपमिताम् इति यच्छालया सह दास्यन् भवति तदन्तर्भवत्यपिहितम्" इत्यादि [कौ० ८, ७] ॥

वंशसंदंशादिबद्धां शालां दाता प्रतिग्रहीत्रे उद्घाट्य प्रददाति । शाला नाम गृहम् ॥

विनियोगमालामें कहा है, कि—स्वर्गको चाहने वाला सवयज्ञ की विधिके अनुसार "उपमिताम्" सूक्तसे शालासवको देय । कौशिकसूत्र ८ । ७ में भी कहा है, कि—"उपमितां इति यच्छा-

लया सह दास्यन् भवति तदन्तर्भवत्यपिहितम्" शाला घरको कहते हैं और दाता प्रतिग्रहीताको बाँस आदिसे भली प्रकार बँधी हुई शालाको खोल कर देय। यह विधि है।

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥१॥

उपऽमिताम् । प्रतिऽमिताम् । अथो इति । परिऽमिताम् । उत
शालायाः । विश्वऽवारायाः । नद्धानि । वि । चृतामसि ॥ १ ।

उपमित प्रतिमित और परिमित शालाको हम खोलते हैं, सबसे वरण करने योग्य शालाके बन्दोंको हम खोलते हैं ॥ १ ॥

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥२॥

यत् । ते । नद्धम् । विश्वऽवारे । पाशः । ग्रन्थिः । च । यः । कृतः
बृहस्पतिःऽइव । अहम् । बलम् । वाचा । वि । स्रंसयामि । तत् २

हे सबसे वरणीय विश्ववारे शाले ! जो तुझमें बँध रहा है और जो (तेरे द्वारमें) गाँठ लगाई गई है, मैं बृहस्पतिकी समान उसको मन्त्ररूप वाणीसे खोलता हूँ ॥ २ ॥

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान् ।
परूंषि विद्वांछस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥

आ । ययाम । सम् । बबर्ह । ग्रन्थीन् । चकार । ते । दृढान् ।
परूंषि । विद्वान् । शस्ताऽइव । इन्द्रेण । वि । चृतामसि ॥३।

विद्वान् शस्ता पुरुषने तुझको ठीक किया है लंबा बनाया है और तुझमें दृढ़ गाँठें लगाई हैं हम उन गाँठोंको इन्द्र (ऐश्वर्य) से खोलते हैं ॥ ३ ॥

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च ।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥४॥

वंशानाम् । ते । नहनानाम् । प्राणाहस्य । तृणस्य । च ।
पक्षाणाम् । विश्वऽवारे । ते । नद्धानि । वि । चृतामसि ॥ ४ ॥

हे सबसे वरणीय विश्ववारे ! तेरे बाँसोंके, बंधन स्थानोंके प्राणाहके तृणके और पक्षोंके बँधे हुए बन्दोंको हम खोलते हैं ४

संदंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च ।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि ॥ ५ ॥

सम्ऽदंशानाम् । पलदानाम् । परिऽस्वञ्जल्यस्य । च ।
इदम् । मानस्य । पत्न्याः । नद्धानि । वि । चृतामसि ॥ ५ ॥

मानपत्नीसंबंधी संदंशोंके पलदोंके परिष्वञ्जल्यके बंधनोंको हम खोलते हैं ॥ ५ ॥

यानि ते ऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम् ।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव ॥ ६ ॥

यानि । ते । अन्तः । शिक्यानि । आऽबेधुः । रण्याय । कम् ।

प । ते । तानि । चृतामसि । शिवा । मानस्य । पत्नी । नः । उद्धिता । तन्वे । भव ॥ ६ ॥

हे मानपत्नि ! तू कल्याण करने वाली है, तेरे अन्दर जो हमें के सुख देनेके लिये बाँधे गए हैं उन (मचानों) को हम खोलते हैं, तू हमारे शरीरको ऊपरके लोक स्वर्गमें सुख देने वाली हो ॥ ६ ॥

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥

हविःऽधानम् । अग्निऽशालम् । पत्नीनाम् । सदनम् । सदः ।
सदः । देवानाम् । असि । देवि । शाले ॥ ७ ॥

हे देवि शाले ! तू हविर्धान अग्निशाला और पत्नियोंके साथ बैठनेके कमरोंसे और देवताओंके बैठनेके आसनोंसे सम्पन्न है ७

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

अक्षुम् । ओपशम् । विऽततम् । सहस्रऽअक्षम् । विषुऽवति ।
अवऽनद्धम् । अभिऽहितम् । ब्रह्मणा । वि । चृतामसि ॥ ८ ॥

हे विषूवति ! सहस्र झरोखे वाले, शयनके कमरे विस्तृत अक्षुको कि जो बन्द था उसको हम मंत्रसे अभिमन्त्रित करके खोलते हैं ८

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥

यः । त्वा । शाले । प्रतिऽगृह्णाति । येन । च । असि । मिता । त्वम् ।

उभौ । मानस्य । पत्नि । तौ । जीवताम् । जरदष्टी इति जरत्ऽअष्टी

हे शाले ! जो तुझको ग्रहण कर रहा है और जिसने तुझको बनाया है, हे मानपत्नि ! वे दोनों बुढ़ापे तक जीवित रहें ॥९॥

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।

यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥

अमुत्र । एनम् । आ । गच्छतात् । दृढा । नद्धा । परिष्कृता ।

यस्याः । ते । विऽचृतामसि । अङ्गम्ऽअङ्गम् । परुःऽपरुः ॥ १० ॥

हम जिसके जोड़ २ को और अंगको ग्रंथिसे रहित कर रहे हैं-स्वच्छ कर रहे हैं-हे शाले ! ऐसी तू जिसके द्वारा दृढ़ नद्ध और परिष्कृत हुई है उसको स्वर्गमें प्राप्त होना ॥ १० ॥ (६)

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।

प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥

यः । त्वा । शाले । निऽमिमाय । सम्ऽजभार । वनस्पतीन् ।

प्रऽजायै । चक्रे । त्वा । शाले । परमेऽस्थी । प्रजाऽपतिः॥ ११ ॥

हे शाले ! जिसने तुझे बनाया है और जो (कड़ी आदिके लिये) वनस्पतियोंको लाया है (उसको तू स्वर्गमें प्राप्त होना) हे शाले ! परमेष्ठी प्रजापतिने तुझको प्रजाके लिये बनाया था ११

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।

नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥

नमः । तस्मै । नमः । दात्रे । शालाऽपतये । च । कृण्मः ।

नमः । अग्नये । प्रऽचरते । पुरुषाय । च । ते । नमः ॥ १२ ॥

उन दाताके लिये नमस्कार है और हम शाला पतिके लिये भी नमस्कार करते हैं, अग्निके लिये और विचरण करने वाले पुरुषके लिये और तेरे लिये नमस्कार है ॥ १२ ॥

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।

विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥

गोभ्यः । अश्वेभ्यः । नमः । यत् । शालायाम् । विऽजायते ।

विजाऽवति । प्रजाऽवति । वि । ते । पाशान् । चृतामसि ॥ १३ ॥

जो शालामें उत्पन्न होते हैं उन गौ और अश्वोंके लिये यह अन्नहै, हे विजावति ! प्रजावति ! हम तेरे पाशोंको खोलते हैं १३

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।

विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥१४॥

अग्निम् । अन्तः । छादयसि । पुरुषान् । पशुऽभिः । सह ।

विजाऽवति । प्रजाऽवति । वि । ते । पाशान् । चृतामसि ॥१४॥

हे विजावति प्रजावति शाले ! तू अपने भीतर अग्नि पुरुष और पशुओंको ढक लेती है, हम तेरी ग्रन्थियोंको खोलते हैं १४

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।

यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

अन्तरा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । यत् । व्यचः । तेन ।
शालाम् । प्रति । गृह्णामि । ते । इमाम् ।
यत् । अन्तरिक्षम् । रजसः । विऽमानम् । तत् । कृण्वे । अहम् ।
उदरम् । शेवधिऽभ्यः ।
तेन । शालाम् । प्रति । गृह्णामि । तस्मै ॥ १५ ॥

पृथिवी और द्यौके भीतर जो व्यच (यज्ञाग्निज्वाला) है उनके द्वारा मैं तेरी इस शालाको ग्रहण करता हूँ जो अन्तरिक्ष और पृथिवीकी निर्माणशक्ति है मानों उसको ही मैं (यजमान की) निधियोंके लिये उदरमें रखता हूँ । और इसी कारण उस स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही मैं इस शालाको ग्रहण करता हूँ ॥१५॥

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता ।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः १६

ऊर्जस्वती । पयस्वती । पृथिव्याम् । निऽमिता । मिता ।
विश्वऽअन्नम् । बिभ्रती । शाले । मा । हिंसीः । प्रतिऽगृह्णतः १६

बलदायनी दुग्धवती पृथिवीमें नपी और बनी हुई सम्पूर्ण अन्नोंको धारण कर सकने वाली शाले ! तू प्रतिग्रह करने वालों को नष्ट न कर ॥ १६ ॥

तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी ।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥ १७ ॥

तृणैः । आऽवृता । पलदान् । वसाना । रात्रीऽइव । शाला । जगतः । निऽवेशनी ।
मिता । पृथिव्याम् । तिष्ठसि । हस्तिनीऽइव । पत्ऽवती ॥ १७ ॥

तृणोंसे आवृत, पलदोंको धारण करने वाली, रात्रिकी समान जगत्को आश्रय देने वाली हे शाले ! तू पद्वती हस्तिनी की समान पृथिवीमें बनी हुई खड़ी है ॥ १७ ॥

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन् ।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ १८ ॥

इटस्य । ते । वि । चृतामि । अपिऽनद्धम् । अपऽऊर्णुवन् ।
वरुणेन । सम्ऽउब्जिताम् । मित्रः । प्रातः । वि । उब्जतु ॥१८॥

विगत सम्वत्सरकी समान तेरे बंधोंको अलग करता हुआ मैं खोलता हूँ, वरुणके द्वारा उद्घाटित तुझको प्रातःकालके समय सूर्यदेवता उद्घाटित करें ॥ १८ ॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ।

ब्रह्मणा । शालाम् । निऽमिताम् । कविऽभिः । निऽमिताम् । मिताम् ।

इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । शालाम् । अमृतौ । सोम्यम् । सदः १६

मन्त्रके द्वारा और चतुर पुरुषोंके द्वारा निर्मित इस शालाको सोमपानस्थानमें बैठने वाले इन्द्र और अग्नि देवता रक्षा करें १६

कुलायेधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः ।

तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते २०

कुलाये । अधि । कुलायम् । कोशे । कोशः । सम्ऽउब्जितः ।

तत्र । मर्तः । वि । जायते । यस्मात् । विश्वम् । प्रऽजायते ॥२०॥

कुलायमें (घर-घौंसलेमें) कुलाय (शरीररूप घौंसला) है उस कोशमें गर्भकोश नीचेको मुख करके स्थित है उसमें मरणधर्मी उत्पन्न होता है उससे सम्पूर्ण विश्व ही उत्पन्न होता है २०

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।

अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ

इवा शये ॥ २१ ॥

या । द्विऽपक्षा । चतुःऽपक्षा । षट्ऽपक्षा । या । निऽमीयते ।

अष्टाऽपक्षाम् । दशऽपक्षाम् । शालाम् । मानस्य । पत्नीम् । अग्निः ।

गर्भःऽइव । आ । शये ॥ २१ ॥

जो दो खन (मञ्जिल) वाली चार मञ्जिल वाली, छः कमरे वाली, आठ कमरे वाली, दश कमरे वाली शाला बनाई जाती है, उस मानपत्नी शालामें मैं इस इस प्रकार शयन करता हूँ जैसे जठराग्नि उदररूप गर्भाशयमें शयन करती है ॥ २१ ॥

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

प्रतीचीम् । त्वा । प्रतीचीनः । शाले । प्र । एमि । अहिंसतीम् ।
अग्निः । हि । अन्तः । आपः । च । ऋतस्य । प्रथमा । द्वाः २२

हे शाले ! मैं प्रतीचीन अहिंसिका प्रतीची शालामें प्रवेश करता हूँ और मेरे साथ मुझसे पूर्व समयमें प्रकट हुए अग्नि और जल ये दोनों भी प्रवेश करते हैं ॥ २२ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

इमाः । आपः । प्र । भरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्मऽनाशनीः ।
गृहान् । उप । प्र । सीदामि । अमृतेन । सह । अग्निना ॥२३॥

मैं इन क्षयरहित यक्ष्मारोगका नाश करने वाले जलोंको साथ में भरण कर रहा हूँ और अमृत अग्निके साथ घरोंके समीप बैठ रहा हूँ ॥ २३ ॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

मा । नः । पाशम् । प्रति । मुचः । गुरुः । भारः । लघुः । भव ।
वधूम्ऽइव । त्वा । शाले । यत्रऽकामम् । भरामसि ॥ २४ ॥

हे शाले ! हम तेरा वधूकी समान भरण कर रहे हैं अतः तू

अपने पाशोंको हमारी ओर न छोड़ना। और तेरा भार गुरु है अतः तू लघु होजा ॥ २४ ॥

प्राच्या॑ दि॒शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २५ ॥

प्राच्याः॑ । दि॒शः । शाला॑याः । नमः॑ । म॒हि॒म्ने । स्वाहा॑ । दे॒वेभ्यः॑ । स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २५ ॥

शालाकी पूर्वदिशाकी महिमाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २५ ॥

दक्षि॑णाया दि॒शः० ॥ २६ ॥

दक्षि॑णायाः । दि॒शः । ० ॥ २६ ॥

शालाकी दक्षिणदिशाकी महिमाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २६ ॥

प्र॒तीच्या॑ दि॒शः० ॥ २७ ॥

प्र॒तीच्याः॑ । दि॒शः । ० ॥ २७ ॥

शालाकी पश्चिम दिशाकी महिमाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २७ ॥

उदी॑च्या दि॒शः० ॥ २८ ॥

उदी॑च्याः । दि॒शः । ० ॥ २८ ॥

शालाकी उत्तरदिशाकी महिमाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंको यह आहुति प्राप्त हो ॥ २८ ॥

ध्रुवायां दिशः० ॥ २९ ॥

ध्रुवायाः । दिशः । ० ॥ २९ ॥

शालाकी ध्रुवा दिशाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके निमित्त यह आहुति प्राप्त हो ॥ २९ ॥

ऊर्ध्वायां दिशः० ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वायाः । दिशः । शालायाः । ० ॥ ३० ॥

शालाकी ऊर्ध्वादिशाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके निमित्त यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ३० ॥

दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥

दिशःऽदिशः । शालायाः । नमः । महिम्ने । स्वाहा । देवेभ्यः । स्वाह्येभ्यः ॥ ३१ ॥

इति द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

शालाकी प्रत्येक (अवान्तर दिशाकी महिमाके लिये नमस्कार है, स्वाहाके योग्य देवताओंके निमित्त यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ३१ ॥ (८)

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५१६) ॥

ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्नभिन्नदेवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसां तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम् । वृषभबलिहवनस्य महत्त्वं च वर्ण्यते । तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते । सांप्रदायिकास्तु एवं विनियुञ्जन्ति सूक्तम् । तद्यथा । वृषोत्सर्गे "साहस्रः" इत्यर्थसूक्तेन ऋषभं संपात्य अभि-

मन्त्र्य विसृजेत् ॥ "रेतोधायै" इत्येतैः षड्भिः सौत्रमन्त्रैः "एतं वो युवानम्" [६. ४. २४] इत्यृचा च वत्सस्याभिमन्त्रणं कृत्वा मोचनं कुर्यात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन पुष्टिकामो वशाविधानेन [कौ० ५. ८] ऋषभेण इन्द्रं यजते ॥

तथा अनेन सूक्तेन संपत्कामः पौर्णमास्यां वशाधिनेन श्वेतेन ऋषभेण इन्द्रं यजते ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रस्य कुक्षिः [७. ११६] साहस्रः [९. ४] इत्यृषभं संपातवन्तम् अतिसृजति । रेतोधायै "त्वाति सृजामि वयोधायै त्वातिसृजामि यूथत्वायै त्वातिसृजामि गणत्वायै त्वातिसृजामि सहस्रपोषायै त्वातिसृजाम्यपरिमितपोषायै त्वातिसृजामि । एतं वो युवानम् इति पुराणं प्रवृत्य नवम् उत्सृजति संप्रोक्षति । उत्तरेण पुष्टिकाम ऋषभेणेन्द्रं यजते । संपत्कामः श्वेतेन पौर्णमास्याम्" इति [कौ० २. ७] ॥

तथा ऋषभसवे अनेन सूक्तेन निरुप्तहविरभिमर्शनं संपातं दातृ-वाचनं दानं च कुर्यात् । तद् आह कौशिकः । "साहस इत्यृष-भम्" इति [कौ० ८. ७] ॥ अभिमर्शनादिषु सूत्रं तु "आशा-नाम्" [१. ३१] इति सूक्त उदाहृतम् ॥

परिशिष्टेऽपि वृषोत्सर्गे अस्य सूक्तस्य विनियोगः कृतः । तथा चोक्तम्।"साहस्रस्त्वेष इति ऋषभं संपातवन्तं कृत्वा"इति[प०१७]॥

ब्राह्मण वृषभका हनन करके उसके मांसकी भिन्न २ देव-ताओंके लिये आहुति देय। इसमें उसके अङ्गोंकी प्रशंसा है, और कौन २ से अंग कौन २ से देवताओंको प्रिय होते हैं, उसका विवेचन है । और वृषभबलिहवनका महत्व भी वर्णित है । और उससे उत्पन्न होने वाले श्रेयकी भी स्तुति की गई है । साम्प्रदा-यिक सूत्रके अनुसार इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि-वृषो-

त्सर्गमें "साहस्रः" नामक अर्थसूक्तसे ऋषभको सम्पातित और अभिमंत्रित करके छोड़ देय। "रेतोधायै" इन छः सूत्रोक्त मंत्रोंसे और "एतं वो युवानम्" इस नवम काण्डके चतुर्थसूक्तकी चौबीसवीं ऋचासे भी वत्सका अभिमंत्रण करके मोक्षण करे।

इस सूक्तसे द्वारा पुष्टि चाहने वाला यथाविधानसे ऋषभसे इन्द्रका यजन करे (कौशिकसूत्र ५ । ८) ॥

तथा सम्पत्ति चाहने वाला पुरुष पूर्णिमाके दिन यथाविधानके अनुसार इस सूक्तसे श्वेत ऋषभसे इन्द्रका यजन करे ॥

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"इन्द्रस्य कुक्षिः (७ । ११६) साहस्रः (६ । ४) इत्यृषभं सम्पातवंतं अतिसृजाति। रेतोधायै त्वातिसृजामि, वयोधायै त्वतिसृजामि, युयत्वायै त्वातिसृजामि, गणत्वायै त्वतिसृजामि, सहस्रपोषायै त्वातिसृजामि, अपरिमितपोषायै त्वातिसृजामि। एतं वो युवानं इति मतृस्य नवं वत्सृजति। सम्पोक्षति। उत्तरेण पुष्टिकाम ऋषभेणेन्द्रं यजते। सम्पत्कामः श्वेतेन पौर्णमास्याम्" (कौशिकसूत्र २ । ७) ॥

तथा ऋषभसवमें इस सूक्तसे निरुप्त हविका अभिमर्शन, सम्पात, दातृवाचन और दान करे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"साहस्र इत्यृषभम्" (कौशिकसूत्र ८ । ७) ॥ अभिमर्शन आदिका सूत्र "आशानाम्" (१ । ३) सूक्तमें कह दिया है ॥

परिशिष्टमें भी वृषोत्सर्गके अवसर पर इस सूक्तका विनियोग किया है। यथा "साहस्रस्त्वेष इति ऋषभं सम्पातवन्तं कृत्वा" (अथर्वपरिशिष्ट १७) ॥

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।

भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥ १ ॥

साहस्रः । त्वेषः । ऋषभः । पयस्वान् । विश्वा । रूपाणि । वक्षणासु । बिभ्रत् ।

भद्रम् । दात्रे । यजमानाय । शिक्षन् । बार्हस्पत्यः । उस्रियः । तन्तुम् । आ । अतान् ॥ १ ॥

यह सहस्रों (गौओंको गर्भ धारण करानेकी शक्ति वाला) कान्तिमान् ऋषभ है अत एव (परम्परासंबंधसे गौओंके द्वारा) दूध वाला है–दूध देसकता है, यह अपनी वीर्यवाहिनी नाड़ियों में अनेकों (बछड़े बछियाओं) के रूपोंको धारण कर रहा है अतएव यह बृहस्पतिप्रयुक्त मन्त्रसे सम्पन्न तथा गौओंके योग्य वृषभ यजमानको कल्याणकी शिक्षा देता हुआ, सन्तानतन्तुको विस्तृत करे ॥ १ ॥

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥

अपाम् । यः । अग्रे । प्रतिऽमा । बभूव । प्रऽभूः । सर्वस्मै । पृथिवीऽइव । देवी ।

पिता । वत्सानाम् । पतिः । अघ्न्यानाम् । साहस्रे । पोषे । अपि । नः । कृणोतु ॥ २ ॥

जो भक्तोंके आगे प्रतिमाकी समान खड़ा होजाता है और पृथिवी देवी जैसे सबके लिये प्रभु है तैसे ही जो सबके लिये प्रभु है, जो बछड़ोंका पिता है और न मारने योग्य गौओंका पति है, वह हमको सहस्र प्रकार प्रकारकी पुष्टिमें स्थापित करे ॥ २ ॥

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ३

पुमान् । अन्तःऽवान् । स्थविरः । पयस्वान् । वसोः । कबन्धम् । ऋषभः । बिभर्ति ।
तम् । इन्द्राय । पथिऽभिः । देवऽयानैः । हुतम् । अग्निः । वहतु । जातऽवेदाः ॥ ३ ॥

वृषभ पुमान् अन्तर्वान् स्थविर और पयस्वान् है तथा वह वसुके कबन्धको धारण करता है ऐसे हुत ऋषभको जातवेदा अग्नि देवयान मार्गोंसे इन्द्रके पास पहुँचावें ॥ ३ ॥

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः ॥ ४ ॥

पिता । वत्सानाम् । पतिः । अघ्न्यानाम् । अथो इति । पिता । महताम् । गर्गराणाम् ।

वत्सः । जरायु । प्रतिऽधुक् । पीयुषः । आमिक्षा । घृतम् । तत् ।
ऊं इति । अस्य । रेतः ॥ ४ ॥

वृषभ वत्सोंका पिता है, न मारने योग्य गौओंका स्वामी है और गरगर शब्द करने वाले मेघोंका (अपने आप साक्षात्-सम्बन्धसे कृषि आदिमें हविष्यान्नको उत्पन्न करके और परम्परा सम्बन्धसे दुग्ध घृतादिको उत्पन्न कर) पालन करने वाला है, इसका वीर्य वत्स जरायु प्रतिधुक्, पीयूष, आमिक्षा (गरम दूधमें दही डालनेसे बना हुआ पदार्थ), और घृत ही है४

देवानां भाग उपनाह एषो३पां रस ओषधीनां घृतस्य ।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम्

देवानाम् । भागः । उपऽनाहः । एषः । अपाम् । रसः । ओषधीनाम् ।
घृतस्य ।
सोमस्य । भक्षम् । अवृणीत । शक्रः । बृहन् । अद्रिः । अभवत् ।
यत् । शरीरम् ॥ ५ ॥

यह उपनाह देवताओंका भाग है, तथा औषधि और घृतका रस जलोंका भाग है और जो पर्वताकार शरीर है इस सोमके भक्षको इन्द्रने वरण किया है ॥ ५ ॥

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्य१स्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥ ६ ॥

सोमेन । पूर्णम् । कलशम् । बिभर्षि । त्वष्टा । रूपाणाम् । जनिता । पशूनाम् ।

शिवाः । ते । सन्तु । प्रऽजन्वः । इह । याः । इमाः । नि । अस्मभ्यम् । स्वऽधिते । यच्छ । याः । अमूः ॥ ६ ॥

हे स्वधिते ! आप सोमपूर्ण कलशको धारण करते हैं, आप रूपोंको-शरीरोंको-बनाने वाले हैं और जीवोंको उत्पन्न करने वाले हैं, तुम्हारी सन्तान शुभ हों आपकी जो सन्तान हैं और जो यह सन्तान हैं उनको आप मुझे दीजिये ॥ ६ ॥

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव ऐतु दत्तः ॥ ७ ॥

आज्यम् । बिभर्ति । घृतम् । अस्य । रेतः । साहस्रः । पोषः । तम् । ऊं इति । यज्ञम् । आहुः ।

इन्द्रस्य । रूपम् । ऋषभः । वसानः । सः । अस्मान् । देवाः । शिवः । आ । एतु । दत्तः ॥ ७ ॥

यह वृषभ घृतको धारण करता है, इसका वीर्य चरणशील है, और सहस्रों प्रकारकी पुष्टियोंको देने वाला है अत एव इसको यज्ञ कहते हैं वृषभ इन्द्रके रूपको धारण कर रहा है, हे देवताओं ! ऐसा दिया हुआ ऋषभ हमको कल्याणरूपमें प्राप्त हो ॥ ७ ॥

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः

इन्द्रस्य । ओजः । वरुणस्य । बाहू इति । अश्विनोः । अंसौ । मरुताम् । इयम् । ककुत् ।
बृहस्पतिम् । सम्ऽभृतम् । एतम् । आहुः । ये । धीरासः । कवयः । ये । मनीषिणः ॥ ८ ॥

जो धीर कवि और विद्वान् पुरुष हैं, वे इस ऋषभके विषयमें कहते हैं, कि–इसका ओज इन्द्रका, बाहु वरुणका, अंस अश्विनीकुमारोंके, और ककुत् मरुद्गणोंका और संभृत् बृहस्पतिका (प्रिय वा भाग है) ॥ ८ ॥

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति

दैवीः । विशः । पयस्वान् । आ । तनोषि । त्वाम् । इन्द्रम् । त्वाम् । सरस्वन्तम् । आहुः ।
सहस्रम् । सः । एकऽमुखाः । ददाति । यः । ब्राह्मणे । ऋषभम् । आऽजुहोति ॥ ९ ॥

हे ऋषभ ! तू दैवी प्रजाओंको–देवताओंको–पय आदि हवि

से सम्पन्न करता हुआ विस्तृत करता रहता है—पुष्ट करता रहता है, इस लिये तुझको ही सरस्वान् इन्द्र कहते हैं, जो मन्त्रोंके निष्पन्न होने वाले यज्ञमें ऋषभका हवन करता है वह एक मुख वाली सहस्र गौओंका ही दान कर देता है ॥ ९ ॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १० ॥

बृहस्पतिः । सविता । ते । वयः । दधौ । त्वष्टुः । वायोः । परि आत्मा । ते । आऽभृतः ।
अन्तरिक्षे । मनसा । त्वा । जुहोमि । बर्हिः । ते । द्यावापृथिवी इति उभे इति । स्ताम् ॥ १० ॥

तेरे वयको बड़े २ देवताओंके पति सविता देवताने धारण किया है, त्वष्टाका और वायुका आत्मा तेरे चारों ओर स्थित है मैं मनके द्वारा अन्तरिक्षमें तेरी आहुति देता हूं दोनों द्यावा पृथिवी तेरे बर्हि होवें ॥ १० ॥

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् ।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥

यः । इन्द्रःऽइव । देवेषु । गोषु । एति । विऽवावदत् ।
तस्य । ऋषभस्य । अङ्गानि । ब्रह्मा । सम् । स्तौतु । भद्रया ११

जैसे इन्द्र देवताओंमें आगमन करते हैं ऐसे ही जो गौओंमें गर्जता हुआ आता है, उस ऋषभके अंगोंकी ब्रह्मा कल्याणमयी वाणीसे स्तुति करे ॥ ११ ॥

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥१२॥

पार्श्वे इति । आस्ताम् । अनुऽमत्याः । भगस्य आस्ताम् । अनुऽवृजौ ।
अष्ठीवन्तौ । अब्रवीत् । मित्रः । मम । एतौ । केवलौ । इति १२

पार्श्व अनुमतिके हैं, अनूवृज भगके हैं, टखनोंके विषयमें मित्रदेवताने कहा, कि–यह तो केवल मेरे ही हैं ॥ १२ ॥

भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥

भसत् । आसीत् । आदित्यानाम् । श्रोणी इति । आस्ताम् ।
बृहस्पतेः ।
पुच्छम् । वातस्य । देवस्य । तेन । धूनोति । ओषधीः ॥ १३॥

भसत् (कटिप्रदेश) आदित्योंका है और श्रोणी बृहस्पतिके हैं, पूँछ वायुदेवताका है उसीसे वह औषधियोंको कंपित करते रहते हैं ॥ १३ ॥

गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

गुदाः । आसन् । सिनीवाल्याः । सूर्यायाः । त्वचम् । अब्रुवन् ।

उत्थातुः । अब्रुवन् । पदः । ऋषभम् । यत् । अकल्पयन् ।१४।

गुदा सिनीवालीके भागकी है और त्वचा सूर्याकी कहते हैं, पद उत्थाताके हैं, ऐसा वह कहते हैं, कि-जिन्होंने ऋषभकी कल्पना की है ॥ १४ ॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

क्रोडः । आसीत् । जामिऽशंसस्य । सोमस्य । कलशः । धृतः ।

देवाः । सम्ऽगत्य । यत् । सर्वे । ऋषभम् । विऽअकल्पयन् १५

क्रोड़ जामिशंसका था और कलशको सोमने धारण कर लिया, इस प्रकार सब देवताओंने एकत्रित होकर ऋषभकी कल्पनाकी थी ॥ १५ ॥

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

ते । कुष्ठिकाः । सरमायै । कूर्मेभ्यः । अदधुः । शफान् ।

ऊबध्यम् । अस्य । कीटेभ्यः । श्वऽवर्तेभ्यः । अधारयन् ॥१६॥

उन्होंने कुष्ठिकाओंको सरमाके लिये निश्चित किया और कूर्मों को शफ दे दिये, और इसके ऊबध्यको मांससे आजीविका चलाने वाले कीटोंके लिये निश्चित किया ॥ १६ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षं ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।

शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥

शृङ्गाभ्याम् । रक्षः । ऋषति । अवर्तिम् । हन्ति । चक्षुषा ।

शृणोति । भद्रम् । कर्णाभ्याम् । गवाम् । यः । पतिः । अघ्न्यः १७

जो अघ्न्य गौओंका पति है वह सींगोंसे राक्षसोंको दूर कर देता है और अवर्ति (दरिद्रता) को नेत्रोंसे भगा देता है और कानोंसे कल्याणको सुनता है ॥ १७ ॥

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति १८

शतऽयाजम् । सः । यजते । न । एनम् । दुन्वन्ति । अग्नयः ।

जिन्वन्ति । विश्वे । तम् । देवाः । यः । ब्राह्मणे । ऋषभम् ।

आऽजुहोति ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण ऋषभका दान करता है वह शतयाज यज्ञको करता है, अग्नियें उसको पीड़ा नहीं देती हैं और सकल देवता उसको तृप्त करते हैं ॥ १८ ॥

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेभ्यः । ऋषभम् । दत्वा । वरीयः । कृणुते । मनः ।

पुष्टिम् । सः । अघ्न्यानाम् । स्वे । गोऽस्थे । अव । पश्यते १९

जो ब्राह्मणोंके लिये ऋषभका दान करके अपने मनको उदार बनाता है, वह अपनी गोठमें गौओंकी पुष्टिको देखता है ॥ १९ ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् ।

तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥

गावः । सन्तु । प्रऽजाः । सन्तु । अथो इति । अस्तु । तनूऽबलम् ।

तत् । सर्वम् । अनु । मन्यन्ताम् । देवाः । ऋषभऽदायिने ॥ २० ॥

गौएँ होवें, प्रजा होवें और शारीरिकबल होवे, देवता ऋषभ-दाताके लिये इन सबका अनुमोदन करें ॥ २० ॥

अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।

अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥

अयम् । पिपानः । इन्द्रः । इत् । रयिम् । दधातु । चेतनीम् ।

अयम् । धेनुम् । सुऽदुघाम् । नित्यऽवत्साम् । वशम् । दुहाम् ।

विपःऽचितम् । परः । दिवः ॥ २१ ॥

यह (हविको) पीते हुए इन्द्र ज्ञानस्वरूप धनको देवें और यह इन्द्रदेव स्वर्गमें इस विद्वान् यजमानको ऐसी गौ (दें, कि वह) सरलतासे दुहाती हो, सदा बछड़ेसे सम्पन्न रहती हो और वश में रहकर दुहावे ॥ २१ ॥

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।

आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सच-
तास् ॥ २२ ॥

पिशङ्गऽरूपः । नभसः । वयःऽधाः । ऐन्द्रः । शुष्मः । विश्वऽरूपः ।
नः । आ । अगन् ।

आयुः । अस्मभ्यम् । दधत् । प्रऽजाम् । च । रायः । च । पोषैः ।
अभि । नः । सचताम् ॥ २२ ॥

वानरकेसे रंग वाला, आकाशके अन्न (हवि) को धारण करने वाला विश्वरूप इन्द्रका बल हमारे समीप आरहा है, वह हमको आयु प्रजा देता हुआ हमको धनकी पुष्टियोंसे सम्पन्न करे२२

उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः ।
उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् ॥ २३ ॥

उप । इह । उपऽपर्चन । अस्मिन् । गोऽस्थे । उप । पृञ्च । नः ।
उप । ऋषभस्य । यत् । रेतः । उप । इन्द्र । तव । वीर्यम् २३

हे उपपर्चन ! यहाँ आइये और इस गोष्ठमें हमको संपृक्त करिये, ऋषभका जो वीर्य है, हे इन्द्र ! वह आपका ही वीर्य है ॥ २३ ॥

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत
वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः
सचध्वम् ॥ २४ ॥

एतम् । वः । युवानम् । प्रति । दुध्मः । अत्र । तेन । क्रीडन्तीः ।
चरत । वशान् । अनु ।

मा । नः । हासिष्ट । जनुषा । सुऽभागाः । रायः । च । पोषैः ।
अभि । नः । सचध्वम् ॥ २४ ॥

द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥
इति द्वितीयोनुवाकः ॥

हे गौओ ! मैं इस युवा वृषभको तुम्हारे अर्थ रखता हूँ, इस गोठमें तुम उससे क्रीड़ा करती हुई वशमें रहने वाले बछड़ोंके पीछे घूमो, हे सुभागा गौओं ! तुम हमको मत त्यागो और धनकी पुष्टियोंसे हमको सम्पन्न करो ॥ २४ ॥

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४९७) ॥
द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

अस्मिन् सूक्ते पञ्चौदने नाम सवे हूयमानस्याजस्य जीवतो मारितस्य च प्रशंसा । अपराजिताया आनीयमानोजः प्रोक्तप्रकारेण हतः संस्कृतश्च इन्द्रं तर्पयित्वा तृतीयनाके नाम स्वर्गभागे यत्रा सुकृतां पुण्यलोके गच्छति । तत्र गतपूर्वस्य यजमानादेश्च तमोहन्ता भवतीत्यादि वर्णनम् ॥

सांप्रदायिका अप्येवमेव । पञ्चौदनसवे "आ नयैतम्" इत्यर्थसूक्तस्य विनियोगः । एतत्सूक्तेन निरुप्तहविरभिमर्शनं संपातं दातृवाचनं दानं च कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । "आ नयैतम् इत्यपराजिताद्दु अजम् आनीयमानम् अनुमन्त्रयते" इत्यादि "आ नयैतम् इति सूक्तेन संपातवन्तम् आञ्जनान्तम्" इत्यन्तम् [कौ० ८. ५] इति ॥

तथा पशौ अनेन सूक्तेन अपराजिताद् आनीयमानम् अजम्

अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "आ नयैतम् इत्याद्याञ्जनान्तम्" इति [वै० २. ६] ॥

तथा अग्निचयने पुनश्चितौ "येना सहस्रम्" इत्यनया गार्हपत्ये चीयमाना इष्टका ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "गार्हपत्य उक्तम् । अयम् अग्निः सत्पतिः [७. ६४] येना सहस्रम्" [६. ५. १७] इति [वै० ५. २] ॥

तथा तत्रैव वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणे तस्या एव विनियोगः । तद् उक्तं वैताने । "ये भक्षयन्तः [२. ३५] एतं सधस्थाः [६. १२३] इति द्वे येना सहस्रम् [६. ५. १७] इति वैश्वकर्मणहोमान्" इति [वै० ५. २] ॥

इस सूक्तमें पञ्चौदन नामक सवमें आहुत होने वाले जीवित और मारित बकरेकी प्रशंसा है। अपराजितासे लाया हुआ अज–बकरा–उक्त रीतिसे हत और संस्कृत होने पर इन्द्रको तृप्त करके तृतीयनाक (स्वर्ग वा पुण्यात्माओंके पुण्यलोक) में जाता है और तहाँ पहिले पहुँचे हुए यजमान आदिके तम–पापको नष्ट करने वाला होता है । इत्यादि वर्णन है ।

साम्प्रदायिक इसका इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि–"पञ्चौदनसवमें "आनयैतम्" इस अर्थसूक्तका विनियोग है । इस सूक्त से निरुप्त हविका (होमनेसे पहिले ही हविका) अभिमर्शन, सम्पात दातृवाचन और दान भी करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आ नयैनं इत्यपराजिताद् अजं आनीयमान अनुमन्त्रयते" इत्यादि "आ नयैतम् इति सूक्तेन सम्पातवन्तं आञ्जनान्तं" इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ८ । ५) ॥

तथा पशुके विषयमें वैतानसूत्रमें भी कहा है, कि–इस सूक्त से अपराजितसे आनीयमान पशुका अनुमन्त्रण करे । "आनयैतं इत्याद्यांजनान्तम्" (वैतानसूत्र २ । ६) ॥

तथा अग्निचयनकी पुनश्चितिमें "येना सहस्रम्" ऋचासे गार्हपत्यमें चिनी जाती हुई ईंटका ऐसा अनुमन्त्रण करे। इसी बात बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"गार्हपत्य उक्तम्। अयं अग्निः सत्पतिः (७। ६४) येना सहस्रम् (९। ५। १७)" इति (वैतानसूत्र ५। २)॥

तथा वहाँ ही वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणमें भी इसका विनियोग है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"ये भक्षयन्तः (२। ३५) एतं सधस्थाः (६। १२३) इति द्वे येना सहस्रम् (९। ५। १७) इति वैश्वकर्मणहोमान्" (वैतानसूत्र ५। २)॥

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ १ ॥

आ। नय। एतम्। आ। रभस्व। सुऽकृताम्। लोकम्। अपि। गच्छतु। प्रऽजानन्।
तीर्त्वा। तमांसि। बहुऽधा। महान्ति। अजः। नाकम्। आ। क्रमताम्। तृतीयम् ॥ १ ॥

इसको लाइये और यज्ञकर्मका आरंभ करिये, यह अज भी पुण्यात्माओंके लोकोंको जानता हुआ, बहुतसे अंधकारों (पापों) को तरता हुआ तृतीयनाक (स्वर्ग) में चढ़े ॥ १ ॥

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम्।

ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

इन्द्राय । भागम् । परि । त्वा । नयामि । अस्मिन् । यज्ञे । यजमानाय । सूरिम् ।

ये । नः । द्विषन्ति । अनु । तान् । रभस्व । अनागसः । यजमानस्य । वीराः ॥ २ ॥

हे अज ! तू विद्वान् है ऐसे तुझको मैं इन्द्रके भागके लिये इस यज्ञमें यजमानके पास लाता हूँ, जो हमसे द्वेष करते हों उन पर तू पैर रख और यजमानके वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्र आदि सो निष्पाप हैं ॥ २ ॥

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन् ।

तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ३ ॥

प्र । पदः । अव । नेनिग्धि । दुःऽचरितम् । यत् । चचार । शुद्धैः । शफैः । आ । क्रमताम् । प्रऽजानन् ।

तीर्त्वा । तमांसि । बहुऽधा । विऽपश्यन् । अजः । नाकम् । आ । क्रमताम् । तृतीयम् ॥ ३ ॥

हे अज ! तूने जो दुश्चरित किये हैं उनके निमित्त अपने पैरोंको

शुद्ध कर और जानता हुआ शुद्ध शफोंसे स्वर्गमें चढ़, अंधकारों को पार कर यह अज अनेक प्रकारके लोकोंको देखता हुआ तृतीय नाक (स्वर्ग) पर आरूढ़ हो ॥ ३ ॥

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः ।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम् ॥ ४ ॥

अनु । छ्य । श्यामेन । त्वचम् । एताम् । विऽशस्तः । यथाऽपरु । असिना । मा । अभि । मंस्थाः ।
मा । अभि । द्रुहः । परुऽशः । कल्पय । एनम् । तृतीये । नाके । अधि । वि । श्रय । एनम् ॥ ४ ॥

हे विशस्तः ! इस श्यामसे इसकी त्वचाको छेद, जिससे कि-जोड़ तलवारका अनुभव न कर सकें, द्रोह न कर, इसको जोड़ जोड़से कल्पित कर और तीसरे नाकमें (पहुँचनेके लिये) इसको पचा ॥ ४ ॥

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम् ।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः ॥ ५ ॥

ऋचा । कुम्भीम् । अधि । अग्नौ । श्रयामि । आ । सिञ्च । उदकम् । अव । धेहि । एनम् ।

परिऽआधत्त । अग्निना । शमितारः । शृतः । गच्छतु । सुऽकृताम् ।

यत्र । लोकः ॥ ५ ॥

ऋचासे कुम्भीको मैं अग्नि पर चढ़ाता हूँ, जल छिड़क और इसको रख, हे शमिताओं ! तुम इसको रक्खो, यह अग्निसे पक कर तहाँ जावे जहाँ पुण्यात्माओंका लोक है ॥ ५ ॥

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम् ।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम् ॥ ६ ॥

उत् । क्राम । अतः । परि । च । इत् । अतप्तः । तप्तात् । चरोः ।

अधि । नाकम् । तृतीयम् ।

अग्नेः । अग्निः । अधि । सम् । बभूविथ । ज्योतिष्मन्तम् ।

अभि । लोकम् । जय । एतम् ॥ ६ ॥

तू चारों ओर से न तपा हुआ हो तब भी इस तपे हुए चरुसे स्वर्गमें जानेके लिये उत्क्रमण कर, तू अग्निसे अग्नि (की समान तेजस्वी) होगया है अत एव इस ज्योतिष्मान् लोकको जीत ६

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ७

अजः । अग्निः । अजम् । ऊं इति । ज्योतिः । आहुः । अजम् ।

जीवता । ब्रह्मणे । देयम् । आहुः ।

अन्नः । तमांसि । अप । हन्ति । दूरम् । अस्मिन् । लोके ।
श्रत्ऽदधानेन । दत्तः ॥ ७ ॥

अन्न ही अग्नि है, अन्नको ज्योति कहते हैं, और जीवित पुरुषको अन्नका दान करना चाहिये, ऐसा भी कहते हैं इस लोकमें श्रद्धालुके द्वारा दिया हुआ अन्न दूर स्वर्गलोकमें अंधकारों—पापोंको नष्ट करता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥

पञ्चऽओदनः । पञ्चऽधा । वि । क्रमताम् । आऽक्रंस्यमानः । त्रीणि । ज्योतींषि ।
ईजानानाम् । सुऽकृताम् । प्र । इहि । मध्यम् । तृतीये । नाके ।
अधि । वि । श्रयस्व ॥ ८ ॥

पञ्चौदन पाँच प्रकारसे विक्रमित हो, सूर्य चन्द्र अग्नि इन तीन ज्योतियों पर आरोहण करे और हे पञ्चौदन ! तू यजन करने वाले सुकृतोंके मध्यमें पहुँच और स्वर्गमें विश्रयण कर ॥ ८ ॥

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति

अज । आ । रोह । सुऽकृताम् । यत्र । लोकः । शरभः । न ।
चत्तः । अति । दुःऽगानि । एषः ।
पञ्चऽओदनः । ब्रह्मणे । दीयमानः । सः । दातारम् । तृप्त्या ।
तर्पयाति ॥ ६ ॥

हे अज ! तू तहाँ चढ़ जहाँ पुण्यात्माओंका लोक है, तहाँ शरभ नहीं पहुँच सकता, क्योंकि—यह स्वर्ग दुर्गम पदार्थोंसे सम्पन्न है। ब्रह्माके लिये किया हुआ पञ्चौदन दाताको तृप्तिसे तृप्त कर कर देता है ॥ ६ ॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा-स्येका ॥ १० ॥

अजः । त्रिःऽनाके । त्रिऽदिवे । त्रिऽपृष्ठे । नाकस्य । पृष्ठे ।
ददिऽवांसम् । दधाति ।
पञ्चऽओदनः । ब्रह्मणे । दीयमानः । विश्वऽरूपा । धेनुः ।
कामऽदुघा । असि । एका ॥ १० ॥

अज दान करने वालेको त्रिनाक त्रिपृष्ठ आदि गुणसम्पन्न स्वर्गमें स्थापित करता है। हे अज ! ब्रह्माके लिये दिया हुआ पञ्चौदन दाताके लिये कामपूरिका मुख्या गौ बन जाता है ॥ १० ॥ (११)

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः

एतत् । वः । ज्योतिः । पितरः । तृतीयम् । पञ्चऽओदनम् । ब्रह्मणे । अजम् । ददाति ।

अजः । तमांसि । अप । हन्ति । दूरम् । अस्मिन् । लोके । श्रत्ऽदधानेन । दत्तः ॥ ११ ॥

हे पितरो ! जो तृतीय पञ्चौदनरूप अजको ब्रह्माके लिये देता है,वह तुम्हारी ज्योति है, इस लोकमें श्रद्धालुका दिया हुआ अज इस लोकसे दूर परलोकमें अन्धकारको नष्ट कर डालता है ११

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेजं ददाति ।
स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३स्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

ईजानानाम् । सुऽकृताम् । लोकम् । ईप्सन् । पञ्चऽओदनम् । ब्रह्मणे । अजम् । ददाति ।

सः । विऽआप्तिम् । अभि । लोकम् । जय । एतम् । शिवः । अस्मभ्यम् । प्रतिऽगृहीतः । अस्तु ॥ १२ ॥

यजन करने वाले पुण्यात्माओंके लोकको चाहता हुआ पुरुष

पञ्चौदनके अजको ब्रह्माके लिये देता है, वह ऐसा अज ! तू व्याप्तिरूप इस स्वर्गलोकको जीत और हमारे लिये कल्याणमय स्थान तेरे द्वारा ग्रहण किया हुआ होजावे ॥ १२ ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्

इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । विप्रः । विप्रस्य । सहसः । विपःऽचित् ।

इष्टम् । पूर्तम् । अभिऽपूर्तम् । वषट्ऽकृतम् । तत् । देवाः । ऋतुऽशः । कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

अग्निकी लपटसे अज प्रकट हुआ है, ब्राह्मणको जानने वाला है, बलका जानने वाला है (उसके द्वारा सम्पन्न) इष्टको पूर्तको अभिपूर्तको और वषट्कृतको देवता ऋतुशः कल्पित कर लें॥

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।

तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः १४

अमाऽउतम् । वासः । दद्यात् । हिरण्यम् । अपि । दक्षिणाम् ।

तथा । लोकान् । सम् । आप्नोति । ये । दिव्याः । ये । च । पार्थिवाः १४

जो पुरुष वस्त्र लिपटी हुई सुवर्णकी दक्षिणाको भी साथमें देता है, वह दिव्य और पार्थिव लोकोंको पाता है ॥ १४ ॥

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः

स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेधि सप्तरश्मौ १५

एताः । त्वा । अज । उप । यन्तु । धाराः । सोम्याः । देवीः ।

घृतऽपृष्ठाः । मधुऽश्चुतः ॥

स्तभान । पृथिवीम् । उत । द्याम् । नाकस्य । पृष्ठे । अधि । सप्तऽरश्मौ

ये मधुश्च्युत् सोममय घृतपृष्ठा दमकती हुईं सोममय धाराएँ हे अज ! तुझको प्राप्त हों और हे अज ! तू पृथिवीको और द्यौको सप्तरश्मि (सूर्य) के ऊपर विराजमान स्वर्गमें स्तंभित कर १५

अजो३स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्

तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

अजः । असि । अज । स्वःऽगः । असि । त्वया । लोकम् । अङ्गि-

रसः । प्र । अजानन् ।

तम् । लोकम् । पुण्यम् । प्र । ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

हे अज ! तू अज स्वर्ग है, तेरे द्वारा अंगिराओंने स्वर्गलोकको जाना था, उस ही पुण्यलोकको मैंने जान लिया है ॥ १६ ॥

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम् ।

तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ १७ ॥

येन । सहस्रम् । वहसि । येन । अग्ने । सर्वऽवेदसम् ।

तेन । इमम् । । यज्ञम् । नः । वह । स्वः । देवेषु । गन्तवे ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! जिस शक्तिके द्वारा आप सब प्रकारके धन (को देने

वाली हवि) को सहस (रीतिसे देवताओंके पास) पहुँचा देते हैं, उस शक्तिके द्वारा आप हमारे इस यज्ञको स्वर्गमें जानेके लिये, देवताओंके पास पहुँचाइये ॥ १७ ॥

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥

अजः । पक्वः । स्वःऽगे । लोके । दधाति । पञ्चऽओदनः । निःऽऋतिम् । बाधमानः ।
तेन । लोकान् । सूर्यऽवतः । जयेम ॥ १८ ॥

पञ्चौदन अज पक्व होकर स्वर्गलोकमें स्थापित करता है और निर्ऋतिको बाधा देता है, इस अजके द्वारा हम सूर्यसे सम्पन्न लोकोंको जीतलें ॥ १८ ॥

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥ १९ ॥

यम् । ब्राह्मणे । निऽदधे । यम् । च । विक्षु । याः । विऽप्रुषः । ओदनानाम् । अजस्य ।
सर्वम् । तत् । अग्ने । सुऽकृतस्य । लोके । जानीतात् । नः । सम्ऽगमने । पथीनाम् ॥ १९ ॥

जिस धनको हमने ब्राह्मणोंमें स्थापित किया है, और जिस धनको हमने प्रजामें स्थापित किया है, और अजके ओदनकी जो बिन्दुएँ हैं हे अग्ने! ये सब हमको, मार्गोंके संगमन पुण्यात्माओं के लोकमें हमको (फलदान करनेके निमित्त) जानें ॥ १९ ॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद्द्यौ पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥

अजः । वै । इदम् । अग्रे । वि । अक्रमत । तस्य । उरः । इयम् । अभवत् । द्यौः । पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षम् । मध्यम् । दिशः । पार्श्वे इति । समुद्रौ । कुक्षी इति २०

अजने पहिले व्यक्रमण किया था, उसका उरःस्थल यह द्यौ-पृष्ठ हुई थी, अन्तरिक्ष मध्य हुआ, दिशाएँ पसलियें हुईं और समुद्र कोख हुए ॥ २० ॥

सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

सत्यम् । च । ऋतम् । च । चक्षुषी इति । विश्वम् । सत्यम् । श्रद्धा । प्राणः । विऽराट् । शिरः ।
एषः । वै । अपरिऽमितः । यज्ञः । यत् । अजः । पञ्चऽओदनः २१

सत्य और ऋत नेत्र हुए, सम्पूर्ण सत्य और श्रद्धा प्राण हुआ, विराट् शिर हुआ अत एव यह पञ्चौदन अज, अपरिमित यज्ञ है—अपरिमित फलको देने वाला है ॥ २१ ॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

अपरिऽमितम् । एव । यज्ञम् । आप्नोति । अपरिऽमितम् । लोकम् ।
अव । रुन्धे ।
यः । अजम् । पञ्चऽओदनम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति २२

जो पुरुष दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह अपरिमित यज्ञफलको प्राप्त होता है और अपरिमित लोकको अपने लिये खोल लेता है ॥ २२ ॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

न । अस्य । अस्थीनि । भिन्द्यात् । न । मज्ज्ञः । निः । धयेत् ।
सर्वम् । एनम् । सम्ऽआदाय । इदम्ऽइदम् । प्र । वेशयेत् ।२३।

इस (अज) की अस्थियोंको न तोड़े और इसकी मज्जाको न धोवे, किंतु इस सबको लेकर यह है यह है कह कर (अग्निमें) प्रवेश कर देय ॥ २३ ॥

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २४ ॥

इदम्ऽइदम् । एव । अस्य । रूपम् । भवति । तेन । एनम् ।
सम् । गमयति ।

इषम् । महः । ऊर्जम् । अस्मै । दुहे । यः । अजम् । पञ्चऽओद-
नम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति ॥ २४ ॥

यही इसका रूप है, इसके द्वारा ही यह इसको फलसे संयुक्त करता है, जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है उसके लिये यह यज्ञ अन्न, महिमा और बलको प्रदान करता है॥

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः काम-
दुघा भवन्ति ।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥

पञ्च । रुक्मा । पञ्च । नवानि । वस्त्रा । पञ्च । अस्मै । धेनवः ।
कामऽदुघाः । भवन्ति ।
यः । अजम् ।० ॥ २५ ॥

जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है उसके पाँच सुवर्ण, पाँच नये वस्त्र और पाँच धेनुएँ इच्छाको पूर्ण करती रहती हैं ॥ २५ ॥

पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे
भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं
ददाति ॥ २६ ॥

पञ्च । रुक्मा । ज्योतिः । अस्मै । भवन्ति । वर्म । वासांसि । तन्वे ।
भवन्ति ।

स्वःऽगम् । लोकम् । अश्नुते । यः । अजम् । पञ्चऽओदनम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति ॥ २६ ॥

जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह स्वर्गलोकको भोगता है पञ्चवरुनमा ज्योति उसके लिये होती है और उसके शरीरके लिये कवच और वस्त्र मिलते हैं ॥ २६ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥

या । पूर्वम् । पतिम् । वित्त्वा । अथ । अन्यम् । विन्दते । अपरम् ।
पञ्चऽओदनम् । च । तौ । अजम् । ददातः । न । वि । योषतः ॥२७॥

जो वाग्दानसे पहिले पतिको जान कर फिर दूसरे पतिको पाती है, वे दोनों पञ्चौदन अजको देनेसे वियुक्त नहीं होते हैं ॥ २७ ॥

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

समानऽलोकः । भवति । पुनःऽभुवा । अपरः । पतिः ।
यः । अजम् । पञ्चऽओदनम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति २८

जो ऐसा पुनर्भूका पति होता है दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देनेसे उस पुनर्भूके साथ समान लोकमें रहता है २८

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

अनुपूर्वऽवत्साम् । धेनुम् । अनड्वाहम् । उपऽबर्हणम् ।

वासः । हिरण्यम् । दत्त्वा । ते । यन्ति । दिवम् । उत्ऽतमाम् २९

अनुपूर्ववत्सा धेनुको और उपबर्हण (उपसेचका) वृषभको और सुवर्णसहित वस्त्रको देकर वे दानी पुरुष उत्तम स्वर्गको जाते हैं २९

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥३०॥

आत्मानम् । पितरम् । पुत्रम् । पौत्रम् । पितामहम् ।

जायाम् । जनित्रीम् । मातरम् । ये । प्रियाः । तान् । उप । ह्वये ॥३०॥

मैं अपनेको, पिताको, पुत्रको, पौत्रको, पितामहको, स्त्रीको, माताको और जो मेरे प्रिय हैं उनको समीपमें बुलाता हूं ३० (१५)

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद ।
एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २१ ॥

यः । वै । नैदाघम् । नाम । ऋतुम् । वेद ।

एषः । वै । नैदाघः । नाम । ऋतुः । यत् । अजः । पञ्चऽओदनः ।

निः । एव । अप्रियस्य । भ्रातृव्यस्य । श्रियम् । दहति । भवति ।

आत्मना ।

यः । अजम् । पञ्चऽओदनम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति २१

जो पञ्चौदन अज है यही नैदाघ ऋतु है। जो नैदाघ-नामक-ग्रीष्म ऋतुको जानता है। और जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन नामक अजको देता है सो वह अपने कृत्योंसे अप्रिय शत्रुकी लक्ष्मीको भस्म कर डालता है॥ २१॥

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद ।

कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ।

एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ०।०।०॥ २२ ॥

०। वै । कुर्वन्तम् । नाम ।०।

कुर्वतीम्ऽकुर्वतीम् । एव । अप्रियस्य । भ्रातृव्यस्य । श्रियम् । आ । दत्ते ।

०। वै । कुर्वन् । नाम ।०॥ २२ ॥

जो कुर्वन्त नामक ऋतुको जानता है वह अप्रिय शत्रुकी संतान आदिको अबाधरूपसे करती हुई लक्ष्मीको ग्रहण कर लेता है, जो यह पञ्चौदन अज है यही कुर्वन्त नामक ऋतु है, जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह अपने कृत्यसे अप्रिय शत्रुकी लक्ष्मीको भस्म कर डालता है ॥ २२ ॥

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद ।

संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ।

एष वै संयन्नाम ०।०।०॥ २३ ॥

०। वै। समुऽयन्तम्। नाम।०।

संयतीम्ऽसंयतीम्। एव।०।

०। वै। समुऽयन्। नाम।० ॥ ३३ ॥

जो संयंत नामक ऋतुको जानता है वह अप्रिय शत्रुकी संयम की लक्ष्मीको हर लेता है, जो पञ्चौदन अज है संयंत नामक ऋतु है, जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह अपने कृत्यसे अप्रिय शत्रुकी लक्ष्मीको भस्म कर डालता है ॥ ३३ ॥

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद।

पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।

एष वै पिन्वन्नाम०।०।० ॥ ३४ ॥

०। वै। पिन्वन्तम्। नाम।०।

पिन्वतीम्ऽपिन्वतीम्। एव।०।

०। वै। पिन्वन्। नाम।०॥ ३४ ॥

जो पिन्वन्त नामक ऋतुको जानता है वह अप्रिय शत्रुकी पोषिका लक्ष्मीका हरण कर लेता है, जो पञ्चौदन अज है वही पिन्वन्त नामक ऋतु है, जो दक्षिणासे दमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह अपने कृत्यसे अप्रिय शत्रुकी लक्ष्मीको भस्म कर डालता है ॥ ३४ ॥

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद।

उद्यतीमुंद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।

एष वा उद्यन्नाम०।०।०॥ ३५ ॥

०। वै । उत्ऽयन्तम् । नाम ।० ।

उद्यतीम्ऽउद्यतीम् । एव ।० ।

०। वै । उत्ऽयन् । नाम ।० ॥ ३५ ॥

जो उद्यन्त, नामक ऋतुको जानता है वह अप्रिय शत्रुकी उद्यत रहनेसे प्राप्त होने वाली लक्ष्मीका हरण कर लेता है। जो पंचौदन अज है वही उद्यन्त नामक ऋतु है, जो दक्षिणासे दमकते हुये पञ्चौदन अजको देता है वह अपने कृत्यसे शत्रुकी लक्ष्मीको भस्म कर डालता है ॥ ३५ ॥

यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद ।

अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रिय-

मा दत्ते ।

एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।

निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥

यः । वै । अभिऽभुवम् । नाम । ऋतुम् । वेद ।

अभिभवन्तीम्ऽअभिभवन्तीम् । एव । अप्रियस्य । भ्रातृव्यस्य ।

श्रियम् । आ । दत्ते ।

एषः । वै । अभिऽभूः । नाम । ऋतुः । यत् । अजः । पञ्चऽओदनः ।

निः । एव । अप्रियस्य । भ्रातृव्यस्य । श्रियम् । दहाति । भवति ।
आत्मना ।

यः । अजम् । पञ्चऽओदनम् । दक्षिणाऽज्योतिषम् । ददाति २६

अथवा जो अभिभू नामक ऋतुको अर्थात् समयको जानता है, वह अप्रिय शत्रुकी घर्षण करने वाली लक्ष्मीका हरण कर लेता है, जो पञ्चौदन अज है, वही अभिभू नामक ऋतु है, जो दक्षिणासे चमकते हुए पञ्चौदन अजको देता है वह शत्रुकी लक्ष्मी को पूर्णरूपसे भस्म कर डालता है ॥ २६ ॥

अजं च पचत पञ्च चौदनान् ।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति
गृह्णन्तु त एतम् ॥ २७ ॥

अजम् । च । पचत । पञ्च । च । ओदनान् ।
सर्वाः । दिशः । सम्ऽमनसः । सध्रीचीः । सऽअन्तर्देशाः । प्रति ।
गृह्णन्तु । ते । एतम् ॥ २७ ॥

अजका और पञ्चौदनका पचन करो । अन्तर्दिशाओं सहित सब दिशाएँ एकसा मन रख कर एक साथ इसका सत्कार करें ॥

तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं
जुहोमि ॥ २८ ॥

ताः । ते । रक्षन्तु । तव । तुभ्यम् । एतम् । ताभ्यः । आज्यम् ।
हविः । इदम् । जुहोमि ॥ २८ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वे दिशाएँ तेरे इस यज्ञकी रक्षा करें, मैं उनके लिये इस हवि का होम करता हूँ ॥ ३८ ॥ (१७)

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४५८) ॥

"यो विद्याद्" इति सूक्तेन जपं करोति स्वर्गकामः इति विनियोगमाला संप्रदायानुसारेण । वस्तुतस्तु यो विद्यादित्यारभ्य यत्क्षत्तारम् इत्यन्तेषु षट्सु पर्यायेषु अतिथेर्माहात्म्यं तथा तस्य सभाजनं तत्सभाजनस्य च यज्ञफलतुल्यं फलं चेति आतिथ्यस्य प्रशंसा वर्ण्यते ॥

विनियोगमालामें कहा है, कि—स्वर्गको चाहने वाला सम्प्रदाय के अनुसार "यो विद्यात्" सूक्तसे जप करे । वास्तवमें तो 'यो विद्यात्' सूक्तसे लेकर "यत् क्षत्तारम्" तकके छः पर्याय सूक्तोंमें अतिथिका माहात्म्य तथा उसकी पूजा, उसकी पूजाका यज्ञ फलकी समान फल और अतिथिका माहात्म्य वर्णित है ।

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥

यः । विद्यात् । ब्रह्म । प्रतिऽअक्षम् । परूंषि । यस्य । सम्ऽभाराः । ऋचः । यस्य । अनूक्यम् ॥ १ ॥

जो (अतिथिरूप) प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, कि जिसकी परुष (गाँठे) ही संभार हैं और अनूक्य (कन्धे और मध्यदेशकी संधि) ही ऋचाएँ हैं ॥ १ ॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥

सामानि । यस्य । लोमानि । यजुः । हृदयम् । उच्यते । परिऽस्तरणम् । इत् । हविः ॥ २ ॥

जिसके लोम ही साम हैं, हृदय ही यजु कहलाता है और परिस्तरण ही हवि है ॥ २ ॥

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥

यत् । वै । अतिथिऽपतिः । अतिथीन् । प्रतिऽपश्यति । देवऽयजनम् । प्र । ईक्षते ॥ ३ ॥

अतिथिपति जो अतिथिको देखता है वह देवयजनको ही देखता है ॥ ३ ॥

यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति

यत् । अभिऽवदति । दीक्षाम् । उप । एति । यत् । उदकम् । याचति । अपः । प्र । नयति ॥ ४ ॥

जो अतिथिसे भाषण करता है वही इसका दीक्षा लेना है, जो उदककी प्रार्थना करता है वह ही प्रणयन करता है ॥ ४ ॥

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

याः । एव । यज्ञे । आपः । प्रऽनीयन्ते । ताः । एव । ताः ॥५॥

वह जल वही है जो यज्ञमें प्रणयन किया जाता है ॥ ५ ॥

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥

यत् । तर्पणम् । आऽहरन्ति । यः । एव । अग्नीषोमीयः । पशुः । बध्यते सः । एव । सः ॥ ६ ॥

और जो तर्पणका–तृप्ति करने वाले पदार्थका आहरण किया जाता है वह अग्नीषोमीय पशुको बाँधना ही है ॥ ६ ॥

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥ ७ ॥

यत् । आऽवसथान् । कल्पयन्ति । सदःऽहविर्धानानि । एव । तत् । कल्पयन्ति ॥ ७ ॥

और जो आवसथ–टिकनेके स्थान–की कल्पना करते हैं वह मानो सदा हविर्धानोंकी ही कल्पना करते हैं ॥ ७ ॥

यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥

यत् । उपऽस्तृणन्ति । बर्हिः । एव । तत् ॥ ८ ॥

जो उपस्तृणन करता है वही बर्हि है ॥ ८ ॥

यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे

यत् । उपरिऽशयनम् । आऽहरन्ति । स्वःऽगम् । एव । तेन । लोकम् । अव । रुन्द्धे ॥ ९ ॥

और जो उपरिशयनका आहरण करता है वह स्वर्गलोकको ही खोलता है ॥ ९ ॥

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥१०॥

यत् । कशिपुऽउपबर्हणम् । आऽहरन्ति । परिऽधयः । एव । ते१०

और जो कशिपु-उपबर्हण लाते हैं वह परिधि ही हैं ॥ १० ॥

यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥

यत् । आञ्जनऽअभ्यञ्जनम् । आऽहरन्ति । आज्यम् । एव । तत् ११

और जो अञ्जनके अभ्यञ्जनको लाते हैं वह आज्य ही है ११

यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ १२

यत् । पुरा । परिऽवेषात् । खादम् । आऽहरन्ति । पुरोडाशौ । एव । तौ ॥ १२ ॥

और जो परोसनेसे पहिले खानेकी वस्तुओंको लाते हैं वह पुरोडाशोंको ही लाते हैं ॥ १२ ॥

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥१३॥

यत् । अशनऽकृतम् । ह्वयन्ति । हविःऽकृतम् । एव । तत् । ह्वयन्ति

और जो भोजन करनेको बुलाते हैं, वे हवि स्वीकार करनेके लिये ही आह्वान करते हैं ॥ १३ ॥

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंशव एव ते ॥ १४ ॥

ये । व्रीहयः । यवाः । निःऽउप्यन्ते । अंशवः । एव । ते ॥ १४ ॥

और जो धान और जौं हैं वे अंशु (सोम) ही हैं ॥ १४ ॥

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

यानि । उलूखलऽमुसलानि । ग्रावाणः । एव । ते ॥ १५ ॥

और जो उलूखल और मूसल हैं वे ही ग्रावा (सोमरस निकालनेके पत्थर) हैं ॥ १५ ॥

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥

शूर्पम् । पवित्रम् । तुषाः । ऋजीषा । अभिऽसवनीः । आपः ॥

शूर्प (छाज) पवित्र है, भूसी ऋजीष है और अभिषवणी जल है ॥ १६ ॥

स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥१७॥

स्रुक् । दर्विः । नेक्षणम् । आऽयवनम् । द्रोणऽकलशाः । कुम्भ्यः ।

वायव्यानि । पात्राणि । इयम् । एव । कृष्णऽअजिनम् ।१७।

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

दर्वी (ओदन उतारनेका साधन) ही स्रुवा है और पवित्र करना ही आयवन (जलमें डाले हुए चावलोंको मिलानेका साधनरूप काष्ठ) है, कलशियें ही द्रोणकलश हैं और कृष्णमृग-चर्म ही वायव्य पात्र हैं ॥ १७ ॥ (१५)

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४५९) ॥

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥ १ ॥

यजमानऽब्राह्मणम् । वै । एतत् । अतिथिऽपतिः । कुरुते । यत् ।

आऽहार्याणि । प्रऽईक्षते । इदम् । भूया३ः । इदा३म् । इति ॥१॥

अतिथिपति यह अधिक गुणमय है, यह अल्प है इस प्रकार जो देखता है, वह यजमानब्राह्मणको ही करता है ॥ १ ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते २

यत् । आह । भूयः । उत् । हर । इति । प्राणम् । एव । तेन । वर्षीयांसम् । कुरुते ॥ २ ॥

और फिर जो यह कहता है, कि—(भोजनको) उठाइये—खाइये-सो इससे प्राणको ही वर्षीयान्—बढ़ता हुआ-करता है २

उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

उप । हरति । हवींषि । आ । सादयति ॥ ३ ॥

वह जो उपहरण करता है वह हविको ही प्राप्त कराता है ३

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥

तेषाम् । आऽसन्नानाम् । अतिथिः । आत्मन् । जुहोति ॥ ४ ॥

उन परोसे हुए पदार्थोंका अतिथि अपनी आत्मामें होम करता है

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥५॥

स्रुचा । हस्तेन । प्राणे । यूपे । स्रुक्ऽकारेण । वषट्ऽकारेण ॥५॥

(वह) हाथरूपी स्रुवेसे, प्राणरूपी यूपसे और वषट्काररूपी स्रुक्कार से (उनका अपनी आत्मामें हवन करता है)॥ ५ ॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥

एते । वै । प्रियाः । च । अप्रियाः । च । ऋत्विजः । स्वःऽगम् । लोकम् । गमयन्ति । यत् । अतिथयः ॥ ६ ॥

इन प्रिय वा अप्रिय अतिथिरूप ऋत्विजोंको ही इसको स्वर्ग-लोकको लेजाना पड़ता है ॥ ६ ॥

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

सः। यः। एवम्। विद्वान्। न। द्विषन्। अश्नीयात्। न। द्विषतः। अन्नम्। अश्नीयात्। न। मीमांसितस्य। न। मीमांसमानस्य ७

जो ऐसा जानता है उसको चाहिये कि—जिससे द्वेष करता हो और जो द्वेष करता हो और जिसने (गोत्र आदि बूझ कर) अपनी मीमांसा न करली हो वा जिसकी मीमांसा न करली हो उसके अन्नको न खावे ॥ ७ ॥

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥

सर्वः। वै। एषः। जग्धऽपाप्मा। यस्य। अन्नम्। अश्नन्ति ॥८॥

जिसके अन्नको खाता है वह खाने वाला उसके सम्पूर्ण पापों का ही भक्षण करने वाला है ॥ ८ ॥

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

सर्वः। वै। एषः। अजग्धऽपाप्मा। यस्य। अन्नम्। न। अश्नन्ति ॥९॥

और जिसके अन्नको नहीं खाता है उसके वह किसी पाप का भक्षण नहीं करता है ॥ ९ ॥

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततांध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥

सर्वदा । वै । एषः । युक्तऽग्रावा । आर्द्रऽपवित्रः । विततऽअध्वरः ।

आहृतऽयज्ञक्रतुः । यः । उपऽहरति ॥ १० ॥

जो अतिथियोंके लिये अन्न देता रहता है वह सदा ग्रावाओं से युक्त, आर्द्रपवित्र यज्ञको करता रहने वाला और यज्ञको पूर्ण करने वाला रहता है ॥ १० ॥

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ११

प्राजाऽपत्यः । वै । एतस्य । यज्ञः । विऽततः । यः ।०॥ ११ ॥

जो अतिथिको बलि देता है, यह उसका प्राजापत्य यज्ञ होता है

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति १२

प्रजाऽपतेः । वै । एषः । विऽक्रमान् । अनुऽविक्रमते । यः । उपऽहरति ॥ १२ ॥

जो अतिथिसत्कार करता है वह प्रजापतिके कदम पर ही कदम रखता है ॥ १२ ॥

योतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥

यः । अतिथीनाम् । सः । आऽहवनीयः । यः । वेश्मनि । सः । गार्हऽपत्यः । यस्मिन् । पचन्ति । सः । दक्षिणऽअग्निः ।१३।

इति तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जो अतिथियोंका (आह्वान है) वही आहवनीय अग्नि है

और जो घरमें अग्नि होता है वह गार्हपत्य अग्नि होता है और जिसमें पाक होता है वह दक्षिणाग्नि होता है ॥ १३ ॥ (१८)

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४६०) ॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थे॒रश्ना॑ति ॥ १ ॥

इ॒ष्टम् । च॒ । वै । ए॒षः । पू॒र्तम् । च॒ । गृ॒हाणा॑म् । अ॒श्ना॒ति॒ । यः । पूर्वः॑ । अति॑थेः । अ॒श्नाति॑ ॥ १ ॥

जो अतिथिसे पहिले खालेता है वह घर भरके पुरुषोंके इष्ट (श्रुतिविहित याग) कर्मके और पूर्त (स्मृतिविहित बावड़ी कुआ तालाब बनवाना आदि) कर्मके फलोंका भक्षण कर लेता है-फल को नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च० ॥ २ ॥

पयः॑ । च॒ । वै । ए॒षः । रस॑म् । च॒ ।० ॥ २ ॥

जो अतिथिसे पहिले खालेता है वह घरके दुग्ध और रसका ही नाश कर डालता है ॥ २ ॥

ऊ॒र्जां च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑० ॥ ३ ॥

ऊ॒र्जाम् । च॒ । वै । ए॒षः । स्फा॒तिम् । च॒ ।० ॥ ३ ॥

जो अतिथिसे पहिले खालेता है वह घरके बल और वृद्धिको ही नष्ट कर डालता है ॥ ३ ॥

प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑० ॥ ४ ॥

प्र॒ऽजाम् । च॒ । वै । ए॒षः । प॒शून् । च॒ ।० ॥ ४ ॥

जो अतिथिसे पहिले खाता है वह घरकी प्रजा और पशुओं का ही भक्षण करता है ॥ ४ ॥

कीर्तिं च वा एष यशश्च० ॥ ५ ॥

कीर्तिम् । च । वै । एषः । यशः । च । ० ॥ ५ ॥

जो अतिथिसे पहिले भोजन करता है वह घरकी कीर्ति वा यश को ही नष्ट करता है ॥ ५ ॥

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥

श्रियम् । च । वै । एषः । सम्ऽविदम् । च । गृहाणाम् । अश्नाति । यः । पूर्वः । अतिथेः । अश्नाति ॥ ६ ॥

जो अतिथिसे पहिले खाता है वह घरकी लक्ष्मी और एकमतिका ही नाश करता है ॥ ६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ७

एषः । वै । अतिथिः । यत् । श्रोत्रियः । तस्मात् । पूर्वः । न । अश्नीयात् ॥ ७ ॥

जो श्रोत्रिय है वह वास्तविक अतिथि है, उससे पहिले भोजन न करे ॥ ७ ॥

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

अशितऽवति । अतिथौ । अश्नीयात् । यज्ञस्य । सात्मऽत्वाय । यज्ञस्य । अविऽछेदाय । तत् । व्रतम् ॥ ८ ॥

अतिथिके भोजन कर चुकने पर भोजन करे, यही गृहस्थका यज्ञके सात्मत्व और अविच्छेदके लिये व्रत होता है ॥ ८ ॥

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥

एतत् । वै । ऊँ इति । स्वादीयः । यत् । अधिऽगवम् । क्षीरम् । वा । मांसम् । वा । तत् । एव । न । अश्नीयात् ॥ ९ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जो स्वादिष्ट वस्तु हों उनको (अपने आप) न खावे (जैसे) मांस वा गौका दूध ॥ ९ ॥ (१७)

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७६१) ॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥

सः । यः । एवम् । विद्वान् । क्षीरम् । उपऽसिच्य । उपऽहरति १

जो इस बातको जानता हुआ दुग्धका उपसेचन करके भक्ष्य पदार्थोंको अतिथिके निमित्त लाता है ॥ १ ॥

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥

यावत् । अग्निऽस्तोमेन । इष्ट्वा । सुऽसमृद्धेन । अवऽरुन्द्धे । तावत् । एनेन । अव । रुन्द्धे ॥ २ ॥

जो सुसमृद्ध अग्निष्टोमसे यजन करने पर पुरुष स्वर्गके जितने स्थानको अपने लिये खोल सकता है उतनें ही स्थानको इस अतिथिके द्वारा पाजाता है ॥ २ ॥

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥

०। विद्वान्। सर्पिः। उपऽसिच्य।०॥ ३ ॥

जो इस बातको जानता हुआ घृतका उपसेचन करके भक्ष्य पदार्थोंको अतिथिके लिये लाता है ॥ ३ ॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा० ॥ ४ ॥

यावत्। अतिऽरात्रेण। इष्ट्वा।०॥ ४ ॥

सो सुसमृद्ध अतिरात्रको करने पर स्वर्गके जितने अधिकार मिल सकते हैं, उतने अधिकारोंको वह इस अतिथिके द्वारा पा जाता है ॥ ४ ॥

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥

०। विद्वान्। मधु। उपऽसिच्य।०॥ ५ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मधु डालकर भक्ष्य पदार्थोंको अतिथिके लिये लाता है ॥ ५ ॥

यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा० ॥ ६ ॥

यावत्। सत्त्रऽसद्येन। इष्ट्वा।०॥ ६ ॥

सो सुसमृद्ध सत्रसद्य यज्ञके करनेसे जितने स्वर्गफलको पा सकता है उतने ही फलको वह इस अतिथिके द्वारा पाता है ॥६॥

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥

०। विद्वान्। मांसम्। उपऽसिच्य।० ॥ ७ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मांसका उपसेचन करके भक्ष्य पदार्थोंको लाता है ॥ ७ ॥

यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसंमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

यावत् । द्वादशऽअहेन । इष्ट्वा । सुऽसमृद्धेन । अवऽरुन्द्धे । तावत् । एनेन । अव । रुन्द्धे ॥ ८ ॥

तो सुसमृद्ध द्वादशाहको करनेसे जितने फलको पासकता है उतने फलको इस अतिथिके द्वारा पाजाता है ॥ ८ ॥

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥

सः । यः । एवम् । विद्वान् । उदकम् । उपऽसिच्य । उपऽहरति ९

जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिये भक्ष्य पदार्थों को जलका उपसेचन करके लाता है ॥ ९ ॥

प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥१०॥

प्रऽजानाम् । प्रऽजननाय । गच्छति । प्रतिऽस्थाम् । प्रियः । प्रऽजानाम् । भवति । यः । एवम् । विद्वान् । उदकम् । उपऽसिच्य । उपऽहरति ॥ १० ॥

इति तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

वह प्रजाओंके प्रजननको पाता है प्रतिष्ठाको पाता है और प्रजाओंका प्रिय होजाता है । जो ऐसा जानकर उदकका उपसेचन करके अतिथिके लिये भक्ष्य पदार्थोंको लाता है ॥१०॥ (२८)

तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५६२) ॥

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥

तस्मै । उषाः । हिङ् । कृणोति । सविता । प्र । स्तौति ॥ १ ॥

उसके लिये उषा हिं शब्दको करती है, और सविता उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

बृहस्पतिः । ऊर्जया । उत् । गायति । त्वष्टा । पुष्ट्या । प्रति । हरति । विश्वे । देवाः । निऽधनम् ॥ २ ॥

बृहस्पति अन्नरसजनित पुष्टि—ऊर्जा—से उद्गायन करते हैं, त्वष्टा पुष्टि प्रदान करते हैं, और विश्वेदेवता जिस वाक्यसे साम परिसमाप्त किया जाता है उस निधनसे उसकी स्तुति करते हैं २

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ३

निऽधनम् । भूत्याः । प्रऽजायाः । पशूनाम् । भवति । यः । एवम् । वेद

जो ऐसा जानता है वह भूतिका, प्रजाका और पशुओंका निधन होता है । अर्थात् सामपरिसमाप्तिवाक्यसे भूति प्रजा और पशुओंका पाने वाला होता है ॥ ३ ॥

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ४

तस्मै । उत्ऽयन् । सूर्यः । हिङ् । कृणोति । सम्ऽगवः । प्र ।० ४

उदय होते हुए सूर्य उसके लिये (प्रसन्नतासूचक) हिं शब्द को करते हैं और किरणोंसे भली प्रकार सम्पन्न होने पर सूर्य उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।
निधनं० ॥ ५ ॥

मध्यन्दिनः । उत् । गायति । अपरऽअह्णः । प्रति । हरति । अस्तम्ऽ-
यन् । निऽधनम् । निऽधनम् ।० ॥ ५ ॥

सूर्यदेव उसकी मृत्युका अस्त करते हुए मध्यन्दिनके समय उद्गान करते हैं और अपराह्णके समय भोजन देते हैं, जो ऐसा जानता है वह निधन नामक वाक्यके द्वारा भूति प्रजा और पशुओं को पाने वाला होजाता है ॥ ५ ॥

तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ६

तस्मै । अभ्रः । भवन् । हिङ् । कृणोति । स्तनयन् । प्र । स्तौति ६

अभ्र प्रादुर्भूत होता हुआ उसके लिये हिं करता है और गर्जना करता हुआ स्तुति करता है ॥ ६ ॥

विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम्
निधनं० ॥ ७ ॥

विऽद्योतमानः । प्रति । हरति वर्षन् । उत् । गायति । उत्ऽगृह्णन् ।
निऽधनम् ।० ॥ ७ ॥

दमकता हुआ प्रतिहरण करता है, बरसता हुआ गाता है और निधनका उद्ग्रहण करता है ॥ ७ ॥

अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र
स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥

अतिथीन् । प्रति । पश्यति । हिङ् । कृणोति । अभि । वदति ।

प्र । स्तौति । उदकम् । याचति । उत् । गायति ॥ ८ ॥

अतिथियोंकी ओर देखता है हिंकार करता है, अभिवदन करता है, स्तुति करता है, याचना करता है, उद्गान करता है ८

उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥

उप । हरति । प्रति । हरति । उत्ऽशिष्टम् । निऽधनम् ॥ ९ ॥

जो उच्छिष्ट और निधनका प्रतिहरण और उपहरण सकता है ॥ ९ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥

निऽधनम् । भूत्याः । प्रऽजायाः । पशूनाम् । भवति । यः ।०।१०।

इति तृतीये अनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

जो ऐसा जानता है वह भूति प्रजा और पशुओंका निधन सामसे पाने वाला होसकता है ॥ १० ॥ (१९)

तृतीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४६२) ॥

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥

यत् । क्षत्तारम् । ह्वयति । आ । श्रावयति । एव । तत् ॥ १ ॥

जो अभिमत कार्यको करने वाले क्षत्ताका आह्वान करता है वह श्रुतिको ही सुनाता है ॥ १ ॥

यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥

यत् । प्रतिऽशृणोति । प्रतिऽआश्रावयति । एव । तत् ॥ २ ॥

जो प्रतिज्ञा करता है वह प्रतिश्राव ही करता है ॥ २ ॥

यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥

यत् । परिऽवेष्टारः । पात्रऽहस्ताः । पूर्वे । च । अपरे । च । प्रऽपद्यन्ते । चमसऽअध्वर्यवः । एव । ते ॥ ३ ॥

और जो हाथमें पात्रको लिये हुए पहिले पीछे परोसने वाले विचरण करते हैं वह चमस और अध्वर्यु ही हैं ॥ ३ ॥

तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥

तेषाम् । न । कः । चन । अहोता ॥ ४ ॥

इन अतिथियोंमें आहुति न देने वाला कोई नहीं है ॥ ४ ॥

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् । वै । अतिथिऽपतिः । अतिथीन् । परिऽविष्य । गृहान् । उपऽउदैति । अवऽभृथम् एव । तत् । उपऽअवैति ॥ ५ ॥

जो अतिथिपति अतिथियोंको परोस कर गृहोंके समीप आता है वह मानो अवभृथ स्नान करके ही घरमें बैठता है ॥ ५ ॥

यत् सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ६ ॥

यत् । सभागयति । दक्षिणाः । सभागयति । यत् । अनुऽतिष्ठते । उत्ऽअवस्यति । एव । तत् ॥ ६ ॥

और जो वह भोजनके पदार्थोंको अलग २ देता है वह भिन्न २ पुरुषोंको दक्षिणा देता है और जो अनुकूल होकर खड़ा रहता है वह उदवसान ही करता है ॥ ६ ॥

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

सः । उपऽहूतः । पृथिव्याम् । भक्षयति । उपऽहूतः । तस्मिन् । यत् । पृथिव्याम् । विश्वऽरूपम् ॥ ७ ॥

वह पृथिवीमें बुलाने पर भक्षण करता है, पृथिवीमें जितने रूपधारी प्राणी हैं उनके आदरपूर्वक बुलाने पर उनके यहाँ भक्षण करता है ॥ ७ ॥

स उपहूतोन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥

०। उपऽहूतः । अन्तरिक्षे । भक्षयति । उपऽहूतः । तस्मिन् । यत् । अन्तरिक्षे । विश्वऽरूपम् ॥ ८ ॥

वह अन्तरिक्षमें बुलाने पर भक्षण करता है अन्तरिक्षमें जितने रूपधारी प्राणी हैं उनके आदरपूर्वक बुलाने पर उनके यहाँ भक्षण करता है ॥ ८ ॥

स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥

०। उपऽहूतः । दिवि । भक्षयति । उपऽहूतः । तस्मिन् । यत् । दिवि । विश्वऽरूपम् ॥ ९ ॥

वह उपहूत होने पर स्वर्गमें भक्षण करता है, स्वर्गमें जितने रूपवान् प्राणी हैं उनके यहाँ आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर भोजन करता है ॥ ९ ॥

स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥

०। उपऽहूतः। देवेषु। भक्षयति। उपऽहूतः। तस्मिन्। यत्। देवेषु। विश्वऽरूपम् ॥ १० ॥

वह उपहूत होने पर देवताओंमें भोजन करता है देवताओंमें जो रूपवान् प्राणिसमूह है उससे वह उपहूत होता है ॥ १० ॥

स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥

०। उपऽहूतः। लोकेषु। भक्षयति। उपऽहूतः। तस्मिन्। यत्। लोकेषु। विश्वऽरूपम् ॥ ११ ॥

वह उपहूत होने पर लोकोंमें भक्षण करता है, जो लोकोंमें रूपवान् पदार्थ है वह उसका आदरपूर्वक आह्वान करता है ११

स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥

सः। उपऽहूतः। उपऽहूतः ॥ १२ ॥

वह इस लोकमें आदरपूर्वक आहूत होता है, आदरपूर्वक परलोकमें आहूत होता है ॥ १२ ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥

आप्नोति । इमम् । लोकम् । आप्नोति । अमुम् ॥ १३ ॥

वह इस लोकको प्राप्त करता है और परलोकको प्राप्त करता है

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥

ज्योतिष्मतः । लोकान् । जयति । यः ।० ॥ १४ ॥

तृतीयेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

इति तृतीयोनुवाकः ॥

जो इस बातको जानता है वह ज्योतिर्मय लोकोंको जीतता है॥ १४ ॥ (२०)

तृतीय अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (४६७)

तृतीय अनुवाक समाप्त

"प्रजापतिश्च" इति सूक्तस्य गोष्ठकर्मणि विनियोगः । "प्रजापतिरिति गोष्ठकर्माणि" इत्यादिसूत्रात् [कौ० ३. २] । विस्तरस्तु "एह यन्तु पशवः" इति सूक्ते [२. २६] द्रष्टव्यः ॥

तथा अनडुत्सवे अनेन सूक्तेन निरुप्तहविरभिमर्शनं संपातं दातृवाचनं दानं च कुर्यात् । "प्रजापतिश्चेत्यनड्वाहम्" इति [कौ० ८, ७] सूत्रात् ॥

वस्तुतस्तु मेध्यवृषभस्य यानि भिन्नभिन्नान्यङ्गानि तानि भिन्नभिन्नदेवतारूपाणि भवन्तीति तस्य प्रशंसा ॥

"प्रजापतिश्च" सूक्तका गोष्ठकर्ममें विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिकसूत्र ३ । २ में कहा है, कि—"प्रजापतिरिति गोष्ठकर्माणि ।" इसका विस्तार दूसरे काण्डके २६ वें सूक्त "एह यन्तु पशवः" में देखना चाहिये ।

तथा अनुडुत्सवमें इस सूक्तसे निरुप्त हविका अभिमर्शन संपात दातृवाचन और दान भी करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । ७ का प्रमाण भी है, कि—"प्रजापतिश्चेत्यनड्वाहम्" ।

वास्तवमें पवित्र वृषभके जो भिन्न २ अंग हैं वे भिन्न २ देवता-रूप हैं इस प्रकार उसकी प्रशंसा की है ॥

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः । च । परमेऽस्थी । च । शृङ्गे इति । इन्द्रः । शिरः । अग्निः । ललाटम् । यमः । कृकाटम् ॥ १ ॥

प्रजापति और परमेष्ठी इस (वृषभ वा गौ) के सींग हैं, इन्द्र शिर है, अग्नि ललाट है, यम कृकाट है ॥ १ ॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः २

सोमः । राजा । मस्तिष्कः । द्यौः । उत्तरऽहनुः । पृथिवी । अधरऽहनुः

राजा सोम मस्तिष्क है, द्यौ उत्तर हनु है, पृथिवी अधर हनु है २

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

विऽद्युत् । जिह्वा । मरुतः । दन्ताः । रेवतीः । ग्रीवाः । कृत्तिकाः । स्कन्धाः । घर्मः । वहः ॥ ३ ॥

बिजली जिह्वा है, मरुत् दाँत हैं रेवती ग्रीवा है, कृत्तिका स्कंध है, और घर्म वह है ॥ ३ ॥

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ४

विश्वम् । वायुः । स्वःऽगः । लोकः । कृष्णऽद्रम् । विऽधरणी । निऽवेष्यः

विश्व वायु है, स्वर्ग लोक है, कृष्णद्र विधरणी निवेष्य है ४

श्येनः क्रोडो३न्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥

श्येनः । क्रोडः । अन्तरिक्षम् । पाजस्यम् । बृहस्पतिः । ककुत् । बृहतीः । कीकसाः ॥ ५ ॥

श्येन क्रोड है अन्तरिक्ष पाजस्य–बलमद ऊवध्य–है बृहस्पति ककुद है, बृहती अस्थियें हैं ॥ ५ ॥

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसद् पर्शवः ॥ ६ ॥

देवानाम् । पत्नीः । पृष्टयः । उपऽसदः । पर्शवः ॥ ६ ॥

देवपत्नियें पसलियें हैं, और उपसद् कोख हैं ॥ ६ ॥

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥

मित्रः । च । वरुणः । च । अंसौ । त्वष्टा । च । अर्यमा । च । दोषणी इति । महाऽदेवः । बाहू इति ॥ ७ ॥

मित्र और वरुण कंधे हैं, त्वष्टा और अर्यमा भुजाएँ हैं और महादेव बाहु हैं ॥ ७ ॥

इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥८॥

इन्द्राणी । भसत् । वायुः । पुच्छम् । पवमानः । बालाः ॥ ८ ॥

इन्द्राणी कटि है, वायु पूँछ है, और पवमान बाल हैं ॥८॥

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥

ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । श्रोणी इति । बलम् । ऊरू इति ॥९॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय श्रोणी–नितम्ब–हैं, बल ऊरुएँ हैं ॥९॥

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः

कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

धाता । च । सविता । च । अष्ठीवन्तौ । जङ्घाः । गन्धर्वाः

अप्सरसः । कुष्ठिकाः । अदितिः । शफाः ॥ १० ॥

धाता और सविता ऊरु और पादके मध्यस्थ जानु (टखने) है, गंधर्व जंघाएँ हैं, अप्सराएँ कुष्ठिकायें हैं, अदिति शफ हैं १०

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥

चेतः । हृदयम् । यकृत् । मेधा । व्रतम् । पुरिऽतत् ॥ ११ ॥

चेतः हृदय है, मेधा यकृत् है, और व्रत पुरीतत् नाड़ी है ११

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

क्षुत् । कुक्षिः । इरा । वनिष्ठुः । पर्वताः । प्लाशयः ॥ १२ ॥

क्षुधाके अभिमानी देवता कुक्षि हैं, इरा बड़ी आँत है, पर्वत प्लाशि हैं ॥ १२ ॥

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

क्रोधः । वृक्कौ । मन्युः । आण्डौ । प्रऽजा । शेपः ॥ १३ ॥

क्रोध वृक्क हैं, मन्यु अण्डकोश हैं, प्रजा लिंग है ॥ १३ ॥

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः १४

नदी । सूत्री । वर्षस्य । पतयः । स्तनाः । स्तनयित्नुः । ऊधः १४

नदी सूत्री है, वर्षपति स्तन है, कड़क ऐन है ॥ १४ ॥

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् १५

विश्वऽव्यचाः । चर्म । ओषधयः । लोमानि । नक्षत्राणि । रूपम् १५

विश्वव्यचा चर्म है, औषधियें लोम है, और नक्षत्र रूप है १५

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

देवऽजनाः । गुदाः । मनुष्याः । आन्त्राणि । अत्राः । उदरम् १६

देवजन गुदा हैं, मनुष्य अँतड़ियें हैं, अत्र उदर है ॥ १६ ॥

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

रक्षांसि । लोहितम् । इतरऽजनाः । ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

राक्षस लोहित हैं और इतरजन ऊबध्य (अर्धपक्व घास आदि मिला गोबर) है ॥ १७ ॥

अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

अभ्रम् । पीवः । मज्जा । निऽधनम् ॥ १८ ॥

अभ्र पुष्टता है, निधन मज्जा है ॥ १८ ॥

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥

अग्निः । आसीनः । उत्थितः । अश्विना ॥ १९ ॥

अग्नि आसीन है, उत्थित अश्विनीकुमार है ॥ १९ ॥

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥ २० ॥

इन्द्रः । प्राङ् । तिष्ठन् । दक्षिणा । तिष्ठन् । यमः ॥ २० ॥

पूर्वकी ओर जो वह ठहरता है वह इन्द्र है, उसका दक्षिण ओर खड़ा होना यम है ॥ २० ॥

प्रत्यङ् तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥

प्रत्यङ् । तिष्ठन् । धाता । उदङ् । तिष्ठन् । सविता ॥ २१ ॥

पश्चिमकी ओर खड़ा हुआ वृषभ धाता है, उत्तरकी ओर खड़ा हुआ वृषभ सविता है ॥ २१ ॥

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

तृणानि । प्रऽआप्तः । सोमः । राजा ॥ २२ ॥

तृणोंको प्राप्त हुआ वृषभ राजा सोमरूप है ॥ २२ ॥

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

मित्रः । ईक्षमाणः । आऽवृत्तः । आऽनन्दः ॥ २३ ॥

देखता हुआ मित्ररूप है, आवृत्त आनन्दरूप है ॥ २३ ॥

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् २४

युज्यमानः। वैश्वऽदेवः । युक्तः । प्रजाऽपतिः । विऽमुक्तः । सर्वम् २४

युज्यमान वैश्वदेवरूप है, युक्त प्रजापतिरूप है और विमुक्त सर्वरूप है ॥ २४ ॥

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥

एतत् । वै । विश्वऽरूपम् । सर्वऽरूपम् । गोऽरूपम् ॥ २५ ॥

यह सब विश्वरूप सर्वरूप गोरूप ही है ॥ २५ ॥

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥

उप । एनम् । विश्वऽरूपाः । सर्वऽरूपाः । पशवः । तिष्ठन्ति । यः । एवम् । वेद ॥ २६ ॥

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जो ऐसा जानता है उसको सब प्रकारके सब रूपोंके पशु प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥ (२१)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४६१) ॥

शिरोरोगादिसर्वभैषज्ये कर्मणि "शीर्षक्तिम्" इत्यर्थसूक्तेन व्याधितशरीरम् अभिमृशति । ततः "पादाभ्यां ते" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् आदित्यम् उपतिष्ठते । तथा च सूत्रम् । "शीर्षक्तिम् इत्यभिमृशति । उत्तमाभ्याम् [२१, २२] आदित्यम् उपतिष्ठते" इति [कौ० ४. ८] ॥

तथा अस्य सूक्तस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य यत्रयत्र सर्वव्याधिभैषज्यादिषु विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्रास्य विनियोगोनुसंधेयः । विस्तरस्तु "अक्षीभ्याम्" इति सूक्ते [२. ३३] द्रष्टव्यः ॥

शिरोरोग आदि सर्वभैषज्यकर्ममें 'शीर्षक्तिम्' इस अर्थसूक्तसे रोगीके शरीरका अभिमर्शन करे । तदनन्तर "पादाभ्याम् ते" इन दो ऋचाओंसे आदित्यका उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "शीर्षक्तिम् इत्यभिमृशति । उत्तमाभ्याम् (२१, २२) आदित्यम् उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

तथा इस सूक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है अत एव उस गण का सर्वव्याधिचिकित्सा आदिमें जहाँ २ विनियोग होगा वहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये । इनका विस्तार "अक्षीभ्याम्" इस दूसरे काण्डके तैंतीसवें सूक्तमें देखना चाहिये ।

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

शीर्षक्तिम् । शीर्षऽआमयम् । कर्णऽशूलम् । विऽलोहितम्
सर्वम् । शीर्षण्यम् । ते । रोगम् । बहिः । निः । मन्त्रयामहे १

शीर्षक्ति, शीर्षामय, कर्णशूल और विलोहित इन तेरे सकल शिरोरोगोंको हम बाहर निर्मंत्रित करते हैं—बाहर निकालते हैं १

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् । सर्वं० २

कर्णाभ्याम् । ते । कङ्कूषेभ्यः । कर्णऽशूलम् । विऽसल्पकम् ।० २

तेरे कानोंसे तेरे कंकूषोंसे कर्णशूल और विसल्पक रोगको मैं निकालता हूँ ॥ २ ॥

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः । सर्वं० ३

यस्य । हेतोः । प्रऽच्यवते । यक्ष्मः । कर्णतः । आस्यतः ।० ।३।

जिसके कारण यक्ष्मा रोग कान और मुखसे प्रच्यवित होता है उस तेरे पूर्ण शीर्षण्य रोगको हम बाहर निकालते हैं ॥ ३ ॥

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् । सर्वं० ४

यः । कृणोति । प्रऽमोतम् । अन्धम् । कृणोति । पुरुषम् ।०॥४॥

जो रोग पुरुषको प्रमोत कर देता है और पुरुषको अंधा कर देता है उस शिरोरोगको हम पूर्णरूपसे बाहर निकालते हैं ॥४॥

अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्गयं विसल्पकम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥

अङ्गऽभेदम् । अङ्गऽज्वरम् । विश्वऽअङ्ग्यम् । विऽसल्पकम् ।
सर्वम् । शीर्षण्यम् । ते । रोगम् । बहिः ।०।। ५ ।।

अङ्गको तोड़ने वाले अङ्गज्वरको, विश्वाङ्ग्य रोगको, विसल्पक रोगको और तेरे शीर्षरोगको हम पूर्णरूपसे बाहर निकालते हैं ५

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम् ।
तक्मानं विश्वशारदं बहि० ।। ६ ।।

यस्य । भीमः । प्रतिऽकाशः । उत्ऽवेपयति । पुरुषम् ।
तक्मानम् । विश्वऽशारदम् । बहिः ।० ।। ६ ।।

जिसका भयंकर प्रतीकाश पुरुषको कँपा देता है, उस भरपूर शरद् ऋतुमें होने वाले ज्वरको हम बाहर निकालते हैं ।। ६ ।।

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके ।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहि० ।। ७ ।।

यः । ऊरू इति । अनुऽसर्पति । अथो इति । एति । गवीनिके इति ।
यक्ष्मम् । ते । अन्तः । अङ्गेभ्यः । बहिः ।० ।। ७ ।।

जो ऊरुओंमें घूमता है, गवीनिका नामवाली नाड़ियोंमें घूमता है, उस यक्ष्मारोगको हम तेरे अंगोंके भीतरसे निकालते हैं ।।७।।

यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि ।
हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहि० ।। ८ ।।

यदि । कामात् । अपऽकामात् । हृदयात् । जायते । परि ।
हृदः । बलासम् । अङ्गेभ्यः । बहिः ।०।। ८ ।।

जो कामवश वा अकामवश हृदयसे उत्पन्न होता है उस हृदयके बलको क्षीण करने वाले रोगको हम अंगोंसे बाहर निकालते हैं ॥ ८ ॥

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात् ।

यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

हरिमाणम् । ते । अङ्गेभ्यः । अप्वाम् । अन्तरा । उदरात् ।

यक्ष्मऽधाम् । अन्तः । आत्मनः । बहिः । निः । मन्त्रयामहे ।९।

हम तेरे अंगोंसे हरिमा नामक रोगको और उदरके भीतरसे अघारोगको और अन्तरात्मासे यक्ष्मोधा रोगको निकालते हैं ९

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत् ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १० ॥

आसः । बलासः । भवतु । मूत्रम् । भवतु । आमयत् ।

यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् १०

बलास क्षिप्त होजाय, मूत्ररोग नष्ट होजावे, सब यक्ष्मोंके विष को मैं मंत्रशक्तिके प्रभावसे तुझसे निकला हुआ बतलाता हूं १०

बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात् । यक्ष्माणां०

बहिः । बिलम् । निः । द्रवतु । काहाबाहम् । तव । उदरात् ।० ११

काहाबाह नामक रोग तेरे उदररूप बिलसे बाहर निकल जावे, सब यक्ष्माओंके विषको मैं मन्त्रप्रभाववश तुझसे निकला हुआ बतलाता हूं ॥ ११ ॥

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

उदरात् । ते । क्लोम्नः । नाभ्याः । हृदयात् । अधि ।
यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् १२

मैं तेरे उदर क्लोम नाभि और हृदयसे सकल यक्ष्माओंके विष को मन्त्रशक्तिसे निकला हुआ बतलाता हूँ ॥ १२ ॥

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥

याः । सीमानम् । विऽरुजन्ति । मूर्धानम् । प्रति । अर्षणीः ।
अहिंसन्तीः । अनामयाः । निः । द्रवन्तु । बहिः । बिलम् ॥१३॥

जो सीमाओंको पीड़ित करती हैं और मस्तकमें जाती हैं वे हिंसा न करने वाली अस्थियें अनामय होती हुईं शरीररूप बिल से बाहर न निकलें ॥ १२ ॥

या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिं० १४

याः । हृदयम् । उपऽअर्षन्ति । अनुऽतन्वन्ति । कीकसाः ।० ।१४।

जो हृदय और जत्रुकी संधिकी कीकस नामक अस्थियें हृदय को जाती हैं और हृदयमें फैली हुई हैं, वे अहिंसिका और अनामय होती हुईं शरीररूपी बिलके बाहर न निकलें ॥ १४ ॥

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिं० १५

याः । पार्श्वे इति । उपऽअर्षन्ति । अनुऽनिक्षन्ति । पृष्टीः ।० १५

जो पार्श्वमें जाती हैं पृष्टियोंको शुद्ध करती हैं वे अहिंसिका और अनामय रहती हुई शरीररूपी बिलके बाहर न निकलें १५

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ।१६।

याः । तिरश्चीः । उपऽऋषन्ति । अर्षणीः । वक्षणासु । ते ।० १६

जो तिरछी जाती हैं और तेरी वक्षणाओंमें मिलती हैं वे अस्थियें अहिंसिक और अनामय रहती हुई तेरे शरीररूपी बिलसे बाहर न निकलें ॥ १६ ॥

या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिं० ।

याः । गुदाः । अनुऽसर्पन्ति । आन्त्राणि । मोहयन्ति । च ॥१७॥

जो अस्थियें गुदाके पीछे २ चलती हैं और आँतोंको मोहमें डालती हैं, वे अहिंसिका और अनामय रहती हुई शरीररूपी बिलसे बाहर न निकलें ॥ १७ ॥

याः मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च ।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

याः । मज्ज्ञः । निःऽधयन्ति । परूंषि । विऽरुजन्ति । च ।

अहिंसन्तीः । अनामयाः । निः । द्रवन्तु । बहिः । बिलम् ।१८।

जो मज्जाको धोती हैं, गाँठोंको पीड़ारहित करती हैं, वे अस्थियें अहिंसिका अनामय रहती हुई शरीररूपी बिलके बाहर न निकलें ॥ १८ ॥

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥

ये । अङ्गानि । मदयन्ति । यक्ष्मासः । रोपणाः । तव ।

यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् १९

जो यक्ष्मा रोगको फेंकने वालीं और अंगों पर मांस चढ़ाने वाली औषधियें तेरे अंगोंको आनन्दित कर सकती हैं, उनके द्वारा मैं सकल यक्ष्माओंके विषको मैं तुझसे निकला हुआ कहता हूं ॥ १९ ॥

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

विऽसल्पस्य । विऽद्रधस्य । वातीऽकारस्य । वा । अलजेः ।

यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् २०

विसल्प विद्रध वातीकार और अलजि इन सब यक्ष्माओंके विषको मैं तेरे शरीरसे मन्त्रशक्तिसे निकला हुआ कहता हूं २०

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् २१

पादाभ्याम् । ते । जानुऽभ्याम् । श्रोणिऽभ्याम् । परि । भंससः ।

अनूकात् । अर्षणीः । उष्णिहाभ्यः । शीर्ष्णः । रोगम् । अनीनशम्

मैंने तेरे पैरोंसे, जानुओंसे श्रोणियोंसे कटिसे, अनूकसे, उष्णिहा नाड़ियोंसे और शिरसे रोगको नष्ट कर दिया है ॥२१॥

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।

उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ २२ ॥

सम् । ते । शीर्ष्णः । कपालानि । हृदयस्य । च । यः । विधुः । उत्ऽयन् । आदित्य । रश्मिऽभिः । शीर्ष्णः । रोगम् । अनीनशः । अङ्गऽभेदम् । अशीशमः ॥ २२ ॥

चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

तेरे शिरसे उदय होते हुए आदित्यने किरणोंके द्वारा रोगको नष्ट कर दिया है और जो चन्द्रमा है उसने तेरे कपालको और हृदयके अंगभेदको शान्त कर दिया है ॥ २२ ॥ (२३)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४६६) ॥
चतुर्थ अनुवाक समाप्त

"अस्य वामस्य" इत्यनुवाकस्य सलिलगणमध्ये पाठः । अतः "०सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति । मन्थान्तानि" इति [कौ० ३. १] "सलिलैः सर्वकामः" [कौ० ३. ७] इत्यादावस्य विनियोगः ॥ सलिलगणश्च "आपो हि ष्ठा" इति सूक्ते [१. ५] द्रष्टव्यः

अस्य वामस्येति सूक्तमन्त्रा ऋगन्तर्भूते तस्मिन्नेव सूक्ते [ऋ० १६४] दृष्टाः । तत्र तद्भाष्यं सायणीयं द्रष्टव्यम् ॥

"अस्य वामस्य" अनुवाकका सलिलगणमें पाठ है । अतः "सलिलैः क्षीरौदनं अश्नाति । मन्थनान्तानि" इति (कौशिकसूत्र ३ । १) "सलिलैः सर्वकामः" (कौशिकसूत्र ३ । ७) इत्यादिमें इसका विनियोग है । सलिलगणको "आपो हि ष्ठा" इस प्रथमकाण्डके पञ्चम सूक्तमें देखना चाहिये ।

अस्य वामस्य–सूक्तके मन्त्र ऋग्वेदके १६४ वें सूक्तमें है तहाँ पर इन पर सायण भाष्य भी है ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥

अस्य । वामस्य । पलितस्य । होतुः । तस्य । भ्राता । मध्यमः । अस्ति । अश्नः ।
तृतीयः । भ्राता । घृतऽपृष्ठः । अस्य । अत्र । अपश्यम् । विश्पतिम् । सप्तऽपुत्रम् ॥ १ ॥

यह सूर्य स्तुति आदिके द्वारा पालन करने वाले हैं, आह्वान करने योग्य हैं, इनका मध्यमस्थानीय भ्राता—भागहर्ता—व्यापक वायु है, वही द्युलोकसे आदित्यके द्वारा जलसे भरा जाता है और वही द्युलोकको जलको लेजाता है (वायु आदित्य और अग्नि इस प्रकार तीन भ्राताओंका वर्णन होनेसे) इस वायुका तीसरा भाई घृतपृष्ठा अग्नि है । इन तीन प्रकारसे विभक्त वायु आदित्य और अग्निरूप ज्योतियोंमें मैं प्रजाओंके पालक सर्पणशील किरणरूप पुत्र वाले सूर्यको ही मुख्यरूपसे देखता हूं ॥ १ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थु

सप्त । युञ्जन्ति । रथम् । एकऽचक्रम् । एकः । अश्वः । वहति । सप्तऽनाम
त्रिऽनाभि । चक्रम् । अजरम् । अनर्वम् । यत्र । इमा । विश्वा । भुवना । अधि । तस्थुः ॥ २ ॥

सर्पणशील किरणें इन अन्य ज्योतियोंको निस्तेज करके अकेले ही अंतरिक्षमें विचरण करने वाले एकचक्र सूर्य रूप रथमें लग जाती हैं और यह मुख्य व्यापक सूर्य सप्त ऋषियोंसे नमन पाते हुए विचरण करते हैं और यह सूर्य ग्रीष्म वर्षा हेमन्त नामक तीन ऋतुओंके चक्र वाले अजर और अनश्रित कालको करते रहते हैं इसी कालमें सकल भुवन ठहरे हुए हैं ॥ २ ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥ ३ ॥

इमम् । रथम् । अधि । ये । सप्त । तस्थुः । सप्तऽचक्रम् । सप्त । वहन्ति । अश्वाः ।
सप्त । स्वसारः । अभि । सम् । नवन्त । यत्र । गवाम् । निऽहिता । सप्त । नाम ॥ ३ ॥

इनके रथके पास जो सात ऋषि खड़े रहते हैं और सर्पणशील कालचक्रको सात घोड़े खींचते हैं, सर्पणशील किरणेरूप बहने इनकी स्तुति करती हैं और तहाँ किरणरूप गौएँ निहित हैं और वे सात किरणें रसका इनमें संनमन कराती हैं ॥ ३ ॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥

कः । दुदर्श । प्रथमम् । जायमानम् । अस्थन्ऽवन्तम् । यत् । अनस्था । बिभर्ति ।

भूम्याः । असुः । असृक् । आत्मा । क्व । स्वित् । कः । विद्वांसम् । उप । गात् । प्रष्टुम् । एतत् ॥ ४ ॥

इन प्रथम उत्पन्न हुए अस्थन्वन्‌को कौन देखता है इनको अस्थिरहित अरुण वहन करते हैं ? भूमिके प्राणदाता जलकी सृष्टि करने वाला आत्मा कहाँ है ? कौन पुरुष इनको बूझनेके लिये विद्वान्‌के पास गया था ॥ ४ ॥

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥

इह । ब्रवीतु । यः । ईम् । अङ्ग । वेद । अस्य । वामस्य । निऽहितम् । पदम् । वेः ।

शीर्ष्णः । क्षीरम् । दुहते । गावः । अस्य । वव्रिम् । वसानाः । उदकम् । पदा । अपुः ॥ ५ ॥

जो इन सूर्यको जानता हो वह इनके विषयमें कहे, कि—इन सेवनीय आकाशचारी सूर्यकी प्रतिष्ठा (कैसी है ?) इनके शिरोरूप मण्डल से (वर्षा होने पर) गौएँ क्षीरको दुहाती हैं, और वह रूपवती गौएँ इनकी चरणरूप किरणसे वर्षा होने पर जल का पान करती हैं ॥ ५ ॥

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ

पाकः । पृच्छामि । मनसा । अविऽजानन् । देवानाम् । एना । निऽहिता । पदानि ।
वत्से । बष्कये । अधि । सप्त । तन्तून् । वि । तत्निरे । कवयः । ओतवै । ऊं इति ॥ ६ ॥

मैं सूर्यदेवके विषयमें पूर्णरूपसे न जानता हुआ मनसे सूर्यदेव के विषयमें बूझता हूँ, सम्पूर्ण देवताओंकी रक्षा इन्हीं सूर्यमें प्रतिष्ठित है, चतुर पुरुषोंने तरुण वत्समें विस्तार करनेके लिये सात तन्तुओं को स्थापित कर दिया है ॥ ६ ॥

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अचिकित्वान् । चिकितुषः । चित् । अत्र । कवीन् । पृच्छामि । विद्मनः । न । विद्वान् ।
वि । यः । तस्तम्भ । षट् । इमा । रजांसि । अजस्य । रूपे । किम् । अपि । स्वित् । एकम् ॥ ७ ॥

मैं जानकार नहीं अतः जानकार चतुर पुरुषोंसे बूझता हूँ, मैं विद्वानोंसे बूझता हूँ क्योंकि—मैं स्वयं इस बातको नहीं जानता हूँ वह अजके रूपमें छः रजोंको स्तंभित कर देता है या एकको ॥ ७

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
स बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ८

माता । पितरम् । ऋते । आ । बभाज । धीती । अग्रे । मनसा । सम् । हि । जग्मे ।

सा । बीभत्सुः । गर्भऽरसा । निऽविद्धा । नमस्वन्तः । इत् । उपऽवाकम् । ईयुः ॥ ८ ॥

सत्यरूप सूर्य निमितकालमें ही माता, पिताकी सेवा करती है और मन बुद्धि संयुक्त होती है, वह बीभत्सु गर्भरससे निविद्ध होजाती है, इन उपवाकके पास हविरूप अन्न वाले माणी पहुँच जाते हैं ॥ ८ ॥

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥

युक्ता । माता । आसीत् । धुरि । दक्षिणायाः । अतिष्ठत् । गर्भः । वृजनीषु । अन्तः ।

अभीमेत् । वत्सः । अनु । गाम् । अपश्यत् । विश्वरूप्यम् । त्रिषु ।
योजनेषु ॥ ९ ॥

दक्षिणदिशाके बोझमें माता युक्त हुई थी और गर्भ बलवती स्त्रियोंमें स्थित होता है वछड़ा गौकी ओर देखता है, और शब्द करता है तीन योजनोंमें विश्वरूप्य है ॥ ९ ॥

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥ १० ॥

तिस्रः । मातृः । त्रीन् । पितृन् । बिभ्रत् । एकः । ऊर्ध्वः । तस्थौ ।
न । ईम् । अव । ग्लपयन्त ।
मन्त्रयन्ते । दिवः । अमुष्य । पृष्ठे । विश्वऽविदः । वाचम् । अविश्वऽविन्नाम् ॥ १० ॥

तीन द्युलोकरूप तीन पिता और तीन पृथ्वीरूप तीन माताओं के बीचमें एक सूर्य ऊँचा स्थित है, विश्ववेत्ता द्युपृष्ठमें विश्वको न प्राप्त होने वाली वाणीकी यहाँ मन्त्रणा करते हैं ॥ १० ॥

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥

पञ्चऽअरे । चक्रे । परिऽवर्तमाने । यस्मिन् । आऽतस्थुः । भुवनानि ।
विश्वा ।

तस्य । न । अक्षः । तप्यते । भूरिऽभारः । सनात् । एव । न ।

छिद्यते । सऽनाभिः ॥ ११ ॥

जिसमें सकल विश्व स्थित है उस पाँच (ऋतु) अरे के चक्र के घूमने पर उसके भूरि भार वाला अक्ष स्वयं संतप्त नहीं होता है और वह (सूर्य) प्राचीन होने पर नाभिसहित छिन्नभिन्न नहीं होता है ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।

अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥

पञ्चऽपादम् । पितरम् । द्वादशऽआकृतिम् । दिवः । आहुः । परे ।

अर्धे । पुरीषिणम् ।

अथ । इमे । अन्ये । उपरे । विऽचक्षणे । सप्तऽचक्रे । षट्ऽअरे ।

आहुः । अर्पितम् ॥ १२ ॥

(ऋतुरूप) पाँच पैर वाले, पिता, (मासरूप) बारह आकृति वालेको, स्वर्गके परार्धरूप पुरीमें शयन करने वाला कहते हैं। दूसरे इसको विचक्षण मेघमें सप्तचक्रमें और ऋतुरूप छः अरोंमें अर्पित कहते हैं ॥ १२ ॥

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥

द्वादशऽअरम् । नहि । तत् । जराय । वर्वर्ति । चक्रम् । परि । द्याम् । ऋतस्य ।
आ । पुत्राः । अग्ने । मिथुनासः । अत्र । सप्त । शतानि । विंशतिः । च । तस्थुः ॥ १३ ॥

वह बारह अरे वाला (स्वयं) जीर्णताको प्राप्त होनेके लिये आकाशमें नहीं चलता है, (दूसरोंको ही जीर्ण कर देता है वह अमृतका चक्र है हे अग्ने ! इसमें पुत्रस्वरूप सातसौ बीस जोड़े (दिन) स्थित रहते हैं ॥ १३ ॥

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥

सऽनेमि । चक्रम् । अजरम् । वि । वहते । उत्तानायाम् । दश । युक्ताः । वहन्ति ।
सूर्यस्य । चक्षुः । रजसा । एति । आऽवृतम् । यस्मिन् । आऽतस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥ १४ ॥

नेमिसहित वह अजर चक्र बढ़ता रहता है उसको उत्तान अवस्था में दश युक्त होकर वहन करते हैं, सूर्यका चक्षु अन्धकारावृत आता है, उसमें सकल विश्व अवस्थित हैं ॥ १४ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।

कुविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

स्त्रियः । सतीः । तान् । ऊं इति । मे । पुंसः । आहुः । पश्यत् । अक्षण्ऽवान् । न । वि । चेतत् । अन्धः ।

कविः । यः । पुत्रः । सः । ईम् । आ । चिकेत । यः । ता । विऽजानात् । सः । पितुः । पिता । असत् ॥ १५ ॥

सती स्त्रियोंने मुझसे उनको पुरुष कहा है, उनको जो देख सकता है वह अक्षण्वान् (अक्षयत्ववाला) होता है अन्यथा ज्ञानांध होता है जो कविपुत्र इस तत्त्वको जानता है वह पालकों का भी पालक होजाता है ॥ १५ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषांमिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥

साकम्ऽजानाम् । सप्तथम् । आहुः । एकऽजम् । षट् । इत् । यमाः । ऋषयः । देवऽजाः । इति ।

तेषाम् । इष्टानि । विऽहितानि । धामऽशः । स्थात्रे । रेजन्ते । विऽकृतानि । रूपऽशः ॥ १६ ॥

जो देवज छः यम ऋषि हैं ये सांकजोंके सप्तयको एकज कहते

हैं, उनके इष्ट धामपूर्वक विहित हैं, वे स्थानमें अनेक प्रकारके होकर शोभा पाते हैं ॥ १६ ॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि
यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥

अवः । परेण । परः । एना । अवरेण । पदा । वत्सम् । बिभ्रती ।
गौः । उत् । अस्थात् ।

सा । कद्रीची । कम् । स्वित् । अर्धम् । परा । आगात् । क्व ।
स्वित् । सूते । नहि । यूथे । अस्मिन् ॥ १७ ॥

पर पैरसे अन्नको और अवर पैरसे वत्सको धारण करती हुई श्वेतवर्णा गौ उठती है, वह कद्रीची किसी आधे भागमें जाती है, वह कहीं ब्याती है यूथमें नहीं ब्याती है ॥ १७ ॥

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि
प्रजातम् ॥ १८ ॥

अवः । परेण । पितरम् । यः । अस्य । वेद । अवः । परेण ।
परः । एना । अवरेण ।

कविऽयमानः । कः । इह । प्र । वोचत् । देवम् । मनः । कुतः ।
अधि । प्रऽजातम् ॥ १८ ॥

परके द्वारा जो इसके पिता अन्नको जानता है और इस अवर के द्वारा जो परको जानता है, कवीयमान प्रजापतिने कहा, कि- दिव्य मन कहाँसे हुआ है ॥ १८ ॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

ये । अर्वाञ्चः । तान् । ऊँ इति । पराचः । आहुः । ये । पराञ्चः । तान् । ऊँ इति । अर्वाचः । आहुः ।
इन्द्रः । च । या । चक्रथुः । सोम । तानि । धुरा । न । युक्ताः । रजसः । वहन्ति ॥ १९ ॥

जो अर्वाक् हैं वे पराञ्चोंको कहते हैं और जो पराक् हैं वे अर्वाञ्चोंको कहते हैं, हे सोम ! तुम और इन्द्र जिनको करते हो उनको भारसे सम्पन्न न होकर लोक धारण करते हैं ॥ १९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

द्वा । सुऽपर्णा । सऽयुजा । सखाया । समानम् । वृक्षम् । परि । सस्वजाते इति ।

तयोः । अन्यः । पिप्पलम् । स्वादु । अत्ति । अनश्नन् । अन्यः । अभि । चाकशीति ॥ २० ॥

समान ख्याति वाले और एकसी मायासे युक्त होसकने वाले दो शोभन पतन (आत्मा) एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं, उनमें से एक स्वादु पिप्पलको खाता है (जीवात्मा संसारासक्तिमें फँस जाता है) और दूसरा न खाता हुआ द्रष्टा ही रहता है ॥२०॥

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥

यस्मिन् । वृक्षे । मधुऽअदः । सुऽपर्णाः । निऽविशन्ते । सुवते । च । अधि । विश्वे ।
तस्य । यत् । आहुः । पिप्पलम् । स्वादु । अग्रे । तत् । न । उत् । नशत् । यः । पितरम् । न । वेद ॥ २१ ॥

वृक्षके जिस भागको स्वादु पिप्पल कहते हैं, वृक्षके उस भाग में जो मधुभक्षी पक्षी बैठते हैं वे सृष्टिको फैलाते हैं, जो कारणको नहीं जानता है उसका वह संसार नष्ट नहीं होता है ॥ २१ ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २२ ॥

यत्र । सुऽपर्णाः । अमृतस्य । भक्षम् । अनिऽमेषम् । विदथा । अभिऽस्वरन्ति ।

एना । विश्वस्य । भुवनस्य । गोपाः । सः । मा । धीरः । पाकम् । अत्र । आ । विवेश ॥ २२ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जहाँ पर पक्षी कर्मोंको अमृतफलस्वरूप कहते हैं, वह सकल जगत्का रक्षक धीर सूर्यमें प्रवेश नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४६०)

"यद् गायत्रे" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

'यद् गायत्रे' सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत ।

यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥ १ ॥

यत् । गायत्रे । अधि । गायत्रम् । आऽहितम् । त्रैस्तुभम् । वा । त्रैस्तुभात् । निःऽअतक्षत ।

यत् । वा । जगत् । जगति । आऽहितम् । पदम् । ये । इत् । तत् । विदुः । ते । अमृतऽत्वम् । आनशुः ॥ १ ॥

जो गायत्रमें गायत्र आहित है, त्रैष्टुभ् त्रैष्टुभ्से निरतक्षित हुआ है अथवा जगती (छन्द वा पृथिवी) में जगत् आहित

है जो इस बालको यथार्थरीतिसे जानते हैं वे अमृतत्वका भोग करते हैं ॥ १ ॥

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त
वाणीः ॥ २ ॥

गायत्रेण । प्रति । मिमीते । अर्कम् । अर्केण । साम । त्रैस्तुभेन ।
वाकम् ।
वाकेन । वाकम् । द्विऽपदा । चतुःऽपदा । अक्षरेण । मिमते । सप्त ।
वाणीः ॥ २ ॥

गायत्रसे अर्कको, अर्कसे सामको, त्रैष्टुभसे वाकको, वाकसे वाकको और द्विपदा चतुष्पदा छन्दसे सात वाणियोंको शब्दित किया जाता है ॥ २ ॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे
महित्वा ३ ॥

जगता । सिन्धुम् । दिवि । अस्कभायत् । रथम्ऽतरे । सूर्यम् । परि ।
अपश्यत् ।
गायत्रस्य । सम्ऽइधः । तिस्रः । आहुः । ततः । मह्ना । प्र ।
रिरिचे । महिऽत्वा ॥ ३ ॥

जगत्के द्वारा सिंधुको द्यौमें स्कम्भित किया रथन्तरमें सूर्यको

देखा, गायत्रीकी तीन समिधाओंको कहते हैं, तदन्तर यह अपनी महिमासे बढ़ता है ॥ ३ ॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥ ४ ॥

उप । ह्वये । सुऽदुघाम् । धेनुम् । एताम् । सुऽहस्तः । गोऽधुक् । उत । दोहत् । एनाम् ।
श्रेष्ठम् । सवम् । सविता । साविषत् । नः । अभिऽइद्धः । घर्मः । तत् । ऊं इति । सु । प्र । वोचत् ॥ ४ ॥

सुन्दर हाथ वाला गौओंको दुहने वाला दुहता हुआ मैं सरलता से दुहाने वाली धेनुको समीपमें बुलाता हूँ ॥ ४ ॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय

हिङ्ऽकृण्वती । वसुऽपत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा । अभिऽआगात् ।
दुहाम् । अश्विऽभ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् । महते । सौभगाय ॥ ५ ॥

मनसे पालन करने योग्य मनसे वत्सकी इच्छा करती हुई

यह गौ हिं करती हुई धनवानोंके यहाँ आगई है, यह अघ्न्या अश्विनीकुमारोंके लिये दूधको दुहे, और महासौभाग्यके लिये हमारे घरमें बढ़े ॥ ५ ॥

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उं ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः

गौः । अमीमेत् । अभि । वत्सम् । मिषन्तम् । मूर्धानम् । हिङ् । अकृणोत् । मातवै । ऊं इति ।
सृक्वाणम् । घर्मम् । अभि । वावशाना । मिमाति । मायुम् । पयते । पयःऽभिः ॥ ६ ॥

अपनी ओर देखते हुए बछड़ेकी ओर गौ शब्द करती है और उसके पास पहुँच कर उसको सूँघ कर हिं शब्दको करती है (इसका कारण यह है कि–) तू मेरा ही है यह जतानेके लिये शब्द करती है, वह सरणशील घर्मके लिये शब्द करती है और वत्सको तथा हमको प्रतिदिन दुग्धसे बढ़ाती है ॥ ६ ॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ ७ ॥

अयम् । सः । शिङ्क्ते । येन । गौः । अभिऽवृता । मिमाति । मायुम् । ध्वसनौ । अधि । श्रिता ।

सा । चित्तिऽभिः । नि । हि । चकार । मर्त्यान् । विऽद्युत् । भवन्ती । प्रति । वव्रिम् । औहत ॥ ७ ॥

यह मेघ शब्दसा करता है (वास्तवमें शब्द नहीं करता है, किंतु माध्यमिका वाणीके उसमें स्थित होकर शब्द करने पर उस के साहचर्यसे प्रतीत होता है, कि-मेघ ही शब्द कर रहा है) उस मेघने माध्यमिका वाणीको आच्छादित कर लिया है और वह उससे आच्छादित होकर शब्द करती है-वा अपनेको वायु वा आदित्यकी समान बना लेती है, इस कार्यको वह जलको बहाने वाले मेघमें अधिष्ठित होकर करती है (इस प्रकार यह आधी ऋचाका मेघान्तर्वर्ती वाणी-अनभिव्यक्तरूपा बिजलीकी अभिधायक है) यह मेघशरीरा वाणी चटचटा आदि शब्दकर्मों से मनुष्योंको भयसे नीचा बना देती है। इस प्रकार बिजलीके रूपमें अपनेको प्रकट कर वर्षाके अन्तमें अपने रूपको अन्तर्धान कर लेती है ॥ ७ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः

अनत् । शये । तुरऽगातु । जीवम् । एजत् । ध्रुवम् । मध्ये । आ । पस्त्यानाम् ।

जीवः । मृतस्य । चरति । स्वधाभिः । अमर्त्यः । मर्त्येन । सऽयोनिः

मैं त्वरासे प्राप्त होने वाले यमलोकके भयसे काँपते हुए जीव में घरके मध्यमें श्वास लेता हुआ शयन करता हूँ, मर्त्यके साथ सयोनि हुआ अमर्त्य जीव मृतकोंके लोकमें पहुँच कर स्वधाके साथ भक्षण करता है ॥ ८ ॥

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान

विऽधुम् । दद्राणम् । सलिलस्य । पृष्ठे । युवानम् । सन्तम् ।
पलितः । जगार ।
देवस्य । पश्य । काव्यम् । महिऽत्वा । अद्य । ममार । सः । ह्यः ।
सम् । आन ॥ ६ ॥

विधमनशील, दमनशील सलिलपृष्ठ पर तरुण युवा चन्द्रमाको पलित आदित्य निगल लेता है, देवकी चतुरताको देखो जो चन्द्रमा आज मरता है उसकी महिमासे वही कलको भली प्रकार श्वास लेने लगता है ॥ ६ ॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश

यः । ईम् । चकार । न । सः । अस्य । वेद । यः । ईम् । ददर्श ।
हिरुक् । इत् । नु । तस्मात् ।
सः । मातुः । योना । परिऽवीतः । अन्तः । बहुऽप्रजाः । निःऽऋतिः ।
आ । विवेश ॥ १० ॥

जो गर्भको करता है, वह इस गर्भके तत्त्वको नहीं जानता है (क्योंकि-वह तो कामार्थी वा पुत्रार्थी होकर ही गर्भको करता है) और जो इस गर्भके भीतर होता है वह इस गर्भ (के दुःख) को देखता है और मातृयोनि-गर्भाशय-स्थानमें माताके अशित,

पीत, लीढ, भक्षण इन चार प्रकारके भोजन व्यवहारसे जरायुसे वेष्टित होकर समयानुसार उत्पन्न होता है (जो इस तत्त्वको नहीं जानता है वह) बहुत बार उत्पन्न होनारूप निर्ऋति-राक्षसीमें प्रवेश करता है ॥ (और जो गर्भतत्त्वको जानता है वह मुक्त होजाता है ॥ १० ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः

अपश्यम् । गोपाम् । अनिऽपद्यमानम् । आ । च । परा । च । पथिऽभिः । चरन्तम् ।

सः । सध्रीचीः । सः । विषूचीः । वसानः । आ । वरीवर्ति । भुवनेषु । अन्तः ॥ ११ ॥

संरक्षक आत्माको हमने संसारचक्रमें विचरण न करते हुए देखा है, और उसको इसीलोकमें और परलोकमें सत्त्व रज तम आदिसे मिलने वाले मार्गोंमें घूमते हुए भी देखा है, वह साथमें जाने वाली और अपनेमें व्याप्त इन्द्रियोंको धारण करता हुआ भुवनोंमें घूमता है ॥ ११ ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।

उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्

द्यौः । नः । पिता । जनिता । नाभिः । अत्र । बन्धुः । नः । माता । पृथिवी । मही । इयम् ।

उत्तानयोः । चम्वोः । योनिः । अन्तः । अत्र । पिता । दुहितुः ।
गर्भम् । आ । अधात् ॥ १२ ॥

यह जो उपरिस्थित द्यौ है यही मेरा पिता है क्योंकि-यही वृष्टि करता हुआ परम्परा-क्रमसे सन्तानोत्पत्ति-क्षम वीर्यका उत्पादक है, और इस लोकमें बाँधने वाली नाभि है, और अंग से संबन्ध होनेके कारण बंधु है। और यह पृथिवी वर्षाके जल को औषधिरूपमें परिणत करा शरीरको स्थित रखनेके कारण माता है। और इन द्यावापृथिवीको सूत्रात्मा वायु उत्तान धारण किये रहता है, इनमें पितारूप द्यौ दूरमें स्थित अत एव दुहितामें पृथिवीमें वृष्टिरूप गर्भको स्थापित करता है ॥ १२ ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ १३ ॥

पृच्छामि । त्वा । परम् । अन्तम् । पृथिव्याः । पृच्छामि । वृष्णः ।
अश्वस्य । रेतः ।
पृच्छामि । विश्वस्य । भुवनस्य । नाभिम् । पृच्छामि । वाचः । परमम् । विऽओम ॥ १३ ॥

मैं तुमसे पृथिवीके परमस्थानको, वर्षक व्यापकके वीर्यको बूझता हूँ, मैं तुमसे सकल विश्वकी नाभिको बूझता हूँ और वाणीसे पर व्योमको मैं तुमसे बूझता हूँ ॥ १३ ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो
अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं
व्योम ॥ १४ ॥

इयम् । वेदिः । परः । अन्तः । पृथिव्याः । अयम् । सोमः । वृष्णः ।
अश्वस्य । रेतः ।
अयम् । यज्ञः । विश्वस्य । भुवनस्य । नाभिः । ब्रह्मा । अयम् ।
वाचः । परमम् । विऽओम ॥ १४ ॥

यह वेदी ही पृथिवीकी सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, यह सोम ही व्यापक वर्षकका वीर्य है, यह यज्ञ ही सकल विश्वको बाँधे रहने वाली नाभि है और यह ब्रह्म वाणीसे पर परमव्योम है ॥१४॥

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा
चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे
भागमस्याः ॥ १५ ॥

न । वि । जानामि । यत्ऽइव । इदम् । अस्मि । निण्यः । सम्ऽ-
नद्धः । मनसा । चरामि ।
यदा । मा । आऽअगन् । प्रथमऽजाः । ऋतस्य । आत् । इत् ।
वाचः । अश्नुवे । भागम् । अस्याः ॥ १५ ॥

मैं इस बातको स्पष्टरीतिसे नहीं जान सका हूँ कि–मैं परब्रह्म नाम वाला कारण (इदम्–यह) हूँ वा उसका कार्य द्वैत हूँ। इन कार्यकारण द्वैताद्वैतके बीचमें वर्तमान अन्तर्हित और अविद्यासे और सन्देहग्रन्थियोंसे सन्नद्ध होकर मनसे द्वैत और अद्वैत दोनों के बीचमें घूमता रहता हूँ। ऐसी दशामें यदि सब इन्द्रियोंसे प्रथम होने वाली प्रथमजा बुद्धि कि–जो भगवान् सूर्यकी स्वभूता है उससे मैं कारणसतत्त्व हूँ वा द्वैतसतत्त्व हूँ इस बातको जान कर इस कृत्स्नमाश्रता वाणीके भागको भोगूँ अर्थात् उस सबको मैं प्राप्त कर लूँ॥ १५॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १६ ॥

अपाङ्। प्राङ्। एति। स्वधया। गृभीतः। अमर्त्यः। मर्त्येन। सऽयोनिः।
ता। शश्वन्ता। विषूचीना। विऽयन्ता। नि। अन्यम्। चिक्युः। न। नि। चिक्युः। अन्यम्॥ १६॥

स्वधासे गृभीत अमरणधर्मा आत्मा कि–जो मर्त्य मनके साथ गर्भसे प्रकट होने वाला है उनमेंसे आत्मा ब्रह्मके पास पहुँचता है ब्रह्मस्वरूप होजाता है और मन उसके पास नहीं पहुँच सकता वे शाश्वत विषूची वियन्ता आत्मा अन्य (कार्य) को देखते हैं और (अविद्यावस्थामें) अन्य (कारण) को नहीं देखते हैं१६

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।

ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥ १७ ॥

सप्त । अर्धऽगर्भाः । भुवनस्य । रेतः । विष्णोः । तिष्ठन्ति । प्रऽदिशा । विऽधर्मणि ।

ते । धीतिऽभिः । मनसा । ते । विपःऽचितः । परिऽभुवः । परि । भवन्ति । विश्वतः ॥ १७ ॥

सात किरणें विधारक सूर्यमें व्यापक भुवनके वीर्यस्वरूप होकर स्थित रहती हैं, वे धीति और मनसे सब कर्मोंकी प्रादुर्भूत होनेकी कारण दृष्टिरूपमें सारे विश्वमें फैल जाती हैं ॥ १७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥

ऋचः । अक्षरे । परमे । विऽओमन् । यस्मिन् । देवाः । अधि । विश्वे । निऽसेदुः ।

यः । तत् । न । वेद । किम् । ऋचा । करिष्यति । ये । इत् । तत् । विदुः । ते । अमी इति । सम् । आसते ॥ १८ ॥

पूजनीय ॐकारके अक्षर परम व्योममें सम्पूर्ण देवता रहते हैं । जो इस बातको नहीं जानता वह ऋक् आदिके मन्त्रोंसे क्या

कर सकता है और जो इसको जानते हैं वे ये विद्वानोंको उपदेश दे रहे हैं ॥ तात्पर्य-वह अक्षर ॐ है, ॐ कारके अतिरिक्त पूजा नहीं की जाती है अतः ऋच् ॐ के जिसमें अनेक प्रकार शब्द-समूह ओत है उस परम व्योममें-अकार उकार मकाररूप तीन मात्राओंमें जो अवशिष्ट रहता है, वह अपर आकाशकी अपेक्षा परमव्योम है ऋक् आदिमें जो देवता हैं वे मन्त्रद्वारसे अक्षरमें निषण्ण हैं, क्योंकि-वह शब्दका कारण है, जैसे कि—उसकी प्रथम मात्रामें पृथिवी अग्नि ऋग्वेद पृथिवीलोकके निवासी निषण्ण हैं। दूसरी मात्रामें अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद और अन्तरिक्षलोक-निवासी हैं, तीसरी मात्रामें द्यौ, आदित्य, साम और सूर्यलोक-निवासी हैं। श्रुतिमें भी कहा है, कि-"ॐकार एवेदं सर्वम्"। जो इस विभूतिसे अक्षरको नहीं जानता वह ऋगादिमन्त्रोंसे क्या कर सकता है और जो उसके परिज्ञानसे तद्भाव्यको प्राप्त हो जाते हैं-प्रणवविग्रह आत्मामें प्रवेश कर समीकृत होजाते हैं वे शान्तज्वाल अग्निकी समान निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं ॥१८॥

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

ऋचः । पदम् । मात्रया । कल्पयन्तः । अर्धऽऋचेन । चक्लृपुः । विश्वम् । एजत् ।
त्रिऽपात् । ब्रह्म । पुरुऽरूपम् । वि । तस्थे । तेन । जीवन्ति । प्रऽदिशः । चतस्रः ॥ १९ ॥

इस ॐकारके पदकी मात्रासे कल्पना करते हुए उस अर्थसे इस चेष्टाशील जगत्की कल्पना की गई है, त्रिपाद् पुरुरूप ब्रह्म निश्चल रहता है और उसकी एक मात्रासे चारों दिशा (ओंके प्राणी) एँ जीवित रहती हैं ॥ १९ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथा वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥

सुयवसऽअत् । भगऽवती । हि । भूयाः । अथ । वयम् । भगऽवन्तः । स्याम ।
अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्वऽदानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् । आऽचरन्ती ॥ २० ॥

सुन्दर जल वाले आदित्यसे तू जलरूप धन वाली हो फिर हम भी तेरे जलसे धन वाले होवें, हे अघ्न्ये पृथ्वि ! तू जिस पर तृणणा (मारना) की जाती है उस मेघको सञ्चूर्णित कर और शुद्ध जलका सेवन करती हुई सूर्यरश्मियोंसे लाये हुए जलको पी २०

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥

गौः । इत् । मिमाय । सलिलानि । तक्षती । एकऽपदी । द्विऽपदी ।
सा । चतुःऽपदी ।
अष्टाऽपदी । नवऽपदी । बभूवुषी । सहस्रऽअक्षरा । भुवनस्य ।
पङ्क्तिः । तस्याः । समुद्राः । अधि । वि । क्षरन्ति ॥ २१ ॥

यह माध्यमिका वाणी गौ ही इस सब जगत्‌का निर्माण करती है। (उसकी रीति यह होती है, कि–) वह जलको करती है (क्योंकि–निर्माणोंके पहिले जल है उसके जलको निर्माण करने की परिपाटी यह है, कि–) मध्यमके साथ एकत्वको प्राप्त होकर वह एकपदी होती है, मध्यम आदित्यके साथ द्विपदी होजाती है और दिशाओंके साथ चतुष्पदी होजाती है, और अवान्तर दिशाओं से अष्टापदी होजाती है, दिशा विदिशा और सूर्यसे नवपदी हो जाती है और जो विभक्त भूतोंका परम अवन है उस परमव्योम सर्वभावोंके अविभक्त एक आत्मामें बहूदका होती हुई सलिल-निर्माणके द्वारा इस सबको रचती है वह भुवनकी पंक्ति है, उससे मेघ क्षरित होते रहते हैं ॥ २१ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिव-
मुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवीं व्यूदुः॥२२

कृष्णम् । निऽयानम् । हरयः । सुऽपर्णाः । अपः । वसानाः
दिवम् । उत् । पतन्ति ।
ते । आ । अवृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य । आत् । इत् । घृतेन ।
पृथिवीम् । वि । ऊदुः ॥ २२ ॥

रसका हरण करने वाली शोभन पतन वाली सूर्यकी किरणें जलको लेतीं हुई (उत्तरायणमें) द्योतनवान् सूर्यमें जाती हैं और वे ही किरणें दक्षिणायनमें जब जलके निवासस्थान सूर्यमण्डल से लौटती हैं तो पृथिवी जलसे गीली होजाती है॥ २२ ॥

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत ।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति॥२३

अपात् । एति । प्रथमा । पत्ऽवतीनाम् । कः । तत् । वाम् । मित्रावरुणा । आ । चिकेत ।
गर्भः । भारम् । भरति । आ । चित् । अस्याः । ऋतम् । पिपर्ति । अनृतम् । नि । पाति ॥ २३ ॥

पैररहित किरण पैर वालियोंसे पहिले आजाती है, हे सूर्य और वरुण देवताओ ! तुम्हारे स्वरूपको कौन जान सकता है ? इस किरणके भारको पृथ्वीरूप गर्भ धारण करता है, वह सत्यवक्ताको पुष्ट करती है और असत्यवक्ताको नष्ट कर डालती है २३

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

विऽराट् । वाक् । विऽराट् । पृथिवी । विऽराट् । अन्तरिक्षम् । विऽराट् । प्रजाऽपतिः ।

विऽराट् । मृत्युः । साध्यानाम् । अधिऽराजः । बभूव । तस्य । भूतम् ।

भव्यम् । वशे । सः । मे । भूतम् । भव्यम् । वशे । कृणोतु २४

विराट् ही वाणी है, विराट् पृथिवी है, विराट् अन्तरिक्ष है, विराट् प्रजापति है, विराट् ही मृत्यु है, वही साध्योंका अधिराज है उस (सर्वव्यापक) विराट्के वशमें भूत और भविष्य है, वही विराट् भूत और भविष्यको मेरे वशमें कर देय ॥ २४ ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥

शकऽमयम् । धूमम् । आरात् । अपश्यम् । विषुऽवता । परः ।

एना । अवरेण ।

उक्षाणम् । पृश्निम् । अपचन्त । वीराः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् ॥ २५ ॥

विषुवत् और एनावर नामक यज्ञसे मैंने शकमय धूमको समीपमें ही देखा है, उक्षाका और, पृश्निका वीरोंने पचन किया, ये ही धर्म ही (यज्ञके) तुल्य थे ॥ २५ ॥

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ २६ ॥

त्रयः । केशिनः । ऋतुऽथा । वि । चक्षते । सम्ऽवत्सरे । वपते ।
एकः । एषाम् ।
विश्वम् । अन्यः । अभिऽचष्टे । शचीभिः । ध्राजिः । एकस्य ।
ददृशे । न । रूपम् ॥ २६ ॥

जो अग्नि वायु सूर्यरूप तीन केशी समय २ पर स्वकर्माधिकार-युक्त अनुग्रहसे लोक पर अनुग्रह करते हैं । इनमेंसे एक पृथिवी-स्थान अग्नि सम्वत्सरमें पृथ्वीको भस्म करता है, ऐसा करने पर वह कर्म करनेके योग्य होजाती है और एक आदित्य स्वाधि-कारयुक्त कर्मोंसे अनुग्रह करता है और एककी (अर्थात् वायुकी) गति ही दीखती है रूप नहीं दीखता है । २६ ॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ २७ ॥

चत्वारि । वाक् । परिऽमिता । पदानि । तानि । विदुः । ब्राह्मणाः ।
ये । मनीषिणः ।
गुहा । त्रीणि । निऽहिता । न । ईङ्गयन्ति । तुरीयम् । वाचः ।
मनुष्याः । वदन्ति ॥ २७ ॥

वाणीके चार परिमित पद हैं, पाँचवाँ पद नहीं है, जो बुद्धि-मान् ब्राह्मण हैं वे ही उनको जानते हैं, उनमेंसे तीन पद गुहामें निहित हैं वे अर्थको नहीं जताते हैं, चौथी (वैखरी) वाणीको मनुष्य कहते हैं ॥ २७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥

इन्द्रम् । मित्रम् । वरुणम् । अग्निम् । आहुः । अथो इति । दिव्यः । सः । सुऽपर्णः । गरुत्मान् ।
एकम् । सत् । विप्राः । बहुऽधा । वदन्ति । अग्निम् । यमम् । मातरिश्वानम् । आहुः ॥ २८ ॥

पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष अग्नि मित्र वरुण आदि नामोंसे इन एक अग्नि को ही कहते हैं और जो द्यौमें होने वाला, शोभन पतन वाला, स्तुतियोंका पात्र सूर्य है वही अग्नि है यह कहते हैं। अधिक क्या इस एक ही अग्निको आत्मस्वरूपसे देखते हुए मेधावी आत्मवेत्ता अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नामोंसे कहते हैं ॥ २८ ॥ (२८)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४६८) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका नवम काण्ड ऋषिकुमार
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक कु० ऋ० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणाभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित
समाप्त.

॥ नवमः काण्डः समाप्तः ॥

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

दशम-काण्ड

भाषानुवाद-सहित

"यां कल्पयन्ति" इत्यर्थसूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् कृत्यानिर्हरणार्थे शान्त्युदक एतत् सूक्तं विनियुज्यते । तदु उक्तं कौशिकेन । "यां कल्पयन्तीति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ३] ॥ कृत्याप्रतिहरणगणः "दूष्या दूषिरसि" इति इति सूक्ते [२. ११] द्रष्टव्यः । विनियोगान्तरं च तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

"यां कल्पयन्ति" इस अर्थसूक्तका कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ होनेसे कृत्याको दूर करनेके शान्तिजलमें इस सूक्तका विनियोग किया जाता है । इसी बातको कौशिक मुनिने कहा है, कि— "यां कल्पयन्ति इति महाशान्तिं आवपते ।" (कौशिकसूत्र ५ । ३ ॥ और कृत्याप्रतिहरणगणको "दूष्या दूषिरसि" इस दूसरे काण्डके ग्यारहवें सूक्तमें देखना चाहिये ।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥

याम् । कल्पयन्ति । वहतौ । वधूम्ऽइव । विश्वऽरूपाम् । हस्तऽकृताम् । चिकित्सवः ।

सा। आरात्। एतु। अप। नुदामः। एनाम् ॥ १ ॥

चिकित्सक पुरुष जिस विश्वरूपा हाथसे की हुई कृत्याको दहेजमें वधूकी समान मानते हैं, वह कृत्या हमारे समीपसे चली जावे, इसको हम खदेड़ते हैं ॥ १ ॥

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥

शीर्षण्ऽवती। नस्वती। कर्णिनी। कृत्याऽकृता। सम्ऽभृता। विश्वऽरूपा ॥

सा। आरात्। एतु। अप। नुदामः। एनाम् ॥ २ ॥

शीर्ष वाली, नाक वाली, कान वाली सम्पादित की हुई कृत्या आपत्ति अनेक प्रकारकी होती है, वह हमारे समीपसे चली जावे इसको हम अपने पाससे खदेड़ते हैं ॥ २ ॥

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

शूद्रऽकृता। राजऽकृता। स्त्रीऽकृता। ब्रह्मऽभिः। कृता।

जाया। पत्या। नुत्ताऽइव। कर्तारम्। बन्धु। ऋच्छतु ॥ ३ ॥

शूद्रसे की हुई, राजासे की हुई, स्त्रियोंसे की हुई और मंत्रोंके द्वारा की हुई कृत्या इस प्रकार कर्ताके पास जावे, जिस प्रकार पतिसे प्रेरित की हुई स्त्री अपने भाई बान्धवोंके पास जाती है ३

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्याः अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ।
याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ४

अभिचारकोंने जिसको क्षेत्रमें गौओंमें वा पुरुषोंमें किया था उन सब कृत्याओंको मैं इस औषधिसे दूषित कर चुका हूँ ॥ ४ ॥

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

अघम् । अस्तु । अघऽकृते । शपथः । शपथिऽयते ।
प्रत्यक् । प्रतिऽप्रहिण्मः । यथा । कृत्याऽकृतम् । हनत् ॥ ५ ॥

हिंसारूप पाप हिंसा करने वालेके पास पहुँच जावे, शपथ शपथ देने वालेके पास पहुँचे, हम कृत्याको इस प्रकार पीछेको लौटाते हैं जिस प्रकार वह कृत्याका प्रयोग करने वालेको ही मार डाले ॥ ५ ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

प्रतीचीनः । आङ्गिरसः । अधिऽअक्षः । नः । पुरःऽहितः ।
प्रतीचीः । कृत्याः । आऽकृत्य । अमून् । कृत्याऽकृतः । जहि ६

हमारा अध्यक्ष पुरोहित आंगिरावंशी है, पश्चिमका है, हे ऐसे

पुरोहित आप सामने आती हुई कृत्याओंको खण्डित करके कृत्या करने वालोंको ही मार डालिये ॥ ६ ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम् ।

तं कृत्येभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥७॥

यः । त्वा । उवाच । परा । इहि । इति । प्रतिऽकूलम् । उत्ऽआय्यम् ।

तम् । कृत्ये । अभिऽनिवर्तस्व । मा । अस्मान् । इच्छः । अनागसः ॥७

हे कृत्ये ! जिसने तुझसे कहा है, कि—तू मेरे ऊपरको आते हुए प्रतिकूल पुरुषके पास जा, हे कृत्ये ! तू उसी पर लौट जा और हम निरपराधोंकी इच्छा न कर ॥ ७ ॥

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।

तं गच्छ तत्र तेयनमज्ञातस्तेयं जनः ॥ ८ ॥

यः । ते । परूंषि । सम्ऽदधौ । रथस्यऽइव । ऋभुः । धिया ।

तम् । गच्छ । तत्र । ते । अयनम् । अज्ञातः । ते । अयम् । जनः ॥८

जैसे ऋभु बुद्धिसे रथके पर्वोंको जोड़ता है, इसी प्रकार जिसने तेरी अस्थियोंके जोड़ोंको (मन्त्रपूर्वक) जोड़ा है, तू उसके ही पास जा वही तेरा स्थान है, और यह जन तो तुझसे अपरिचित ही है ॥ ८ ॥

ये त्वा कृत्वा लेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।

शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

ये । त्वा । कृत्वा । आऽलेभिरे । विद्वलाः । अभिऽचारिणः ।

शम्ऽभु । इदम् । कृत्याऽदूषणम् । प्रतिऽवर्त्म । पुनःऽसरम् । तेन ।

त्वा । स्नपयामसि ॥ ६ ॥

हे कृत्ये ! जिन विद्वल अभिचारकोंने तुझको पाया है, तो यह कृत्याको दूषित करने वाला कृत्याके मार्गको उल्टा करने वाला कल्याणकारक पुनःसर है, उससे हम तुझको स्नान कराते हैं ६

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।

अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥

यत् । दुःऽभगाम् । प्रऽस्नपिताम् । मृतऽवत्साम् । उपऽएयिम ।

अप । एतु । सर्वम् । मत् । पापम् । द्रविणम् । मा । उप । तिष्ठतु १०

हम जिस मृतवत्सतारूप दुर्भाग्यको प्राप्त होगए हैं और (शोक-में) स्नान कराने वाली जिस कृत्याको प्राप्त होगए हैं, वह मेरा सब पाप दूर होजाय और धन मेरे पास स्थित रहे ॥ १० ॥ (१)

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।

संदेश्या३त् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ११

यत् । ते । पितृऽभ्यः । ददतः । यज्ञे । वा । नाम । जगृहुः ।

सम्ऽदेश्या३त् । सर्वस्मात् । पापात् । इमाः । मुञ्चन्तु । त्वा । ओषधीः

पितरोंके निमित्त देते समय जो नाम लिया था उस पूर्ण सन्देश्य पापसे ये ओषधियें तुझको मुक्त करें ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्या३दभिनिष्कृतात्

मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

देवऽएनसात् । पित्र्यात् । नामऽग्राहात् । सम्ऽदेश्यात् । अभिऽनिष्कृतात् ।

मुञ्चन्तु । त्वा । वीरुधः । वीर्येण । ब्रह्मणा । ऋक्ऽभिः । पयसा । ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

देवताओंके अपराधसे, पितरोंका नाम लेनेसे, सन्देश्यसे, अभिनिष्कृतसे उनसे ये औषधियें तुझको, मन्त्रबल, ऋषियोंके सारभूत तपोबल और ऋचाओंके द्वारा मुक्त करें ॥ १२ ॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

यथा । वातः । च्यावयति । भूम्याः । रेणुम् । अन्तरिक्षात् । च । अभ्रम् ।

एव । मत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । ब्रह्मऽनुत्तम् । अप । अयति १३

जैसे वायु भूमिसे धूलिको उड़ा देता है और अन्तरिक्षसे मेघको उड़ा देता है, इसी प्रकार मेरे सब दुष्कृत्य मन्त्रसे प्रेरित होकर उड़ जावें ॥ १३ ॥

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

अप । क्राम । नानदती । विऽनद्धा । गर्दभीऽइव ।

कर्तृन् । नक्षस्व । इतः । गुत्वा । ब्रह्मणा । वीर्य॑ऽवता ॥ १४ ॥

जैसे बंधनरहित गधैया (ताड़ना करने पर) रेंकती हुई दुलत्तियेँ चलाती है, इसी प्रकार हे कृत्ये ! तू वीर्यवान् मन्त्रसे पिट कर दौड़ती हुई अपने कर्ताओंको नष्ट कर ॥ १४ ॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः ।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥

अयम् । पन्थाः । कृत्ये । इति । त्वा । नयामः । अभिऽप्रहिताम् । प्रति । त्वा । प्र । हिण्मः ।
तेन । अभि । याहि । भञ्जती । अनस्वतीऽइव । वाहिनी । विश्वऽरूपा । कुरूटिनी ॥ १५ ॥

यह तेरा मार्ग है इस प्रकार हम तुझको भेजते हैं, शत्रुकी प्रेरित की हुई तुझको हम शत्रुकी ओर ही प्रेरित करते हैं, इस कर्मसे तू गाड़ी वाली, अनेक प्रकारके (हाथी घोड़े आदि) शरीरोंसे सम्पन्न, पृथ्वीमें शब्द करती हुई सेनाकी समान शत्रु पर झपट ॥ १५ ॥

पराक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठा परेहि ॥ १६ ॥

पराक् । ते । ज्योतिः । अपथम् । ते । अर्वाक् । अन्यत्र । अस्मत् ।
अयना । कृणुष्व ।
परेण । इहि । नवतिम् । नाव्याः । अति । दुःऽगाः । स्रोत्याः ।
मा । क्षणिष्ठाः । परा । इहि ॥ १६ ॥

तेरी ज्योति शत्रुओंके पास पहुँचे, तेरा कुमार्ग नीचेको होजाय, तू हमसे अन्यत्र अपना निवासस्थान बना तू परम दुर्गम नौकाओंसे तरने योग्य नब्बे नदियोंके पार जा, हमारी हिंसा न कर दूर जा १६

वात इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् ।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्ये प्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

वातःऽइव । वृक्षान् । नि । मृणीहि । पादय । मा । गाम् ।
अश्वम् । पुरुषम् । उत् । शिषः । एषाम् ।
कर्तॄन् । निऽवृत्य । इतः । कृत्ये । अप्रजाःऽत्वाय । बोधय १७

जैसे वायु वृक्षोंको तोड़ डालता है, इसी प्रकार तू शत्रुओंको मार इन शत्रुओंके गौ घोड़े और पुरुषको शेष न रख, अपने कर्ताओंको यहाँसे हटाकर तुम सन्तानहीन होगए हो यह उनको जता दे ॥ १७ ॥

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥ १८ ॥

याम् । ते । बर्हिषि । याम् । श्मशाने । क्षेत्रे । कृत्याम् । वलगम् । वा । निऽचख्नुः ।

अग्नौ । वा । त्वा । गार्हऽपत्ये । अभिऽचेरुः । पाकम् । सन्तम् । धीरऽतराः । अनागसम् ॥ १८ ॥

अभिचारकोंने तुझको अग्निमें, श्मशानमें वा खेतमें दुबका कर किया है वा गार्हपत्य अग्निमें अभिचरित किया है, मैं निरपराध हूँ और अपनी अवस्थासे पक रहा हूँ (ऐसे मुझ पर अभिचार करने वाले नष्ट होजावें) ॥ १८ ॥

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम् । तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥ १९ ॥

उपऽआहृतम् । अनुऽबुद्धम् । निऽखातम् । वैरम् । त्सारि । अनु । अविदाम । कर्त्रम् ।

तत् । एतु । यतः । आऽभृतम् । तत्र । अश्वःऽइव । वि । वर्तताम् । हन्तु । कृत्याऽकृतः । प्रऽजाम् ॥ १९ ॥

उपाहृत, अनुबुद्ध निखात और कपटपूर्वक गमन करने वाले वैरको हम कर्ता पर प्राप्त कराते हैं, वह जहाँसे आया है वहाँ ही घोड़ेकी समान (अपने स्थानको पहिचानता हुआ) लौट जावे और कृत्याका प्रयोग करने वालेकी प्रजाको नष्ट कर डाले ॥ १९ ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥

सुऽआयसाः । असयः । सन्ति । नः । गृहे । विद्म । ते । कृत्ये । यतिऽधा । परूंषि ।
उत् । तिष्ठ । एव । परा । इहि । इतः । अज्ञाते । किम् । इह । इच्छसि ॥ २० ॥

हे कृत्ये ! हमारे घरमें अच्छे लोहेकी तलवारें हैं और हम तेरे अस्थिपर्वोंको भी जानते हैं, अतः तू यहाँसे उठकर शत्रुके पास भाग जा, हे हमसे अज्ञाते ! तू यहाँ पर क्या चाहती है? २०

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजापती २१

ग्रीवाः । ते । कृत्ये । पादौ । च । अपि । कर्त्स्यामि । निः । द्रव ।
इन्द्राग्नी इति । अस्मान् । रक्षताम् । यौ । प्रऽजानाम् । प्रजापती इति प्रजाऽपती ॥ २१ ॥

हे कृत्ये ! मैं तेरे ग्रीवा और दोनों पैरोंको काटूँगा, अतः तू भाग जा, जो प्रजाओंके पालक इन्द्र और अग्निदेव हैं वे हमारी रक्षा करें ॥ २१ ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु

सोमः । राजा । अधिऽपाः । मृडिता । च । भूतस्य । नः । पतयः । मृडयन्तु ॥ २२ ॥

राजा सोम प्राणियोंको सुख देने वाले हैं अत एव प्राणियोंके अधिप हैं, वे हमारे स्वामी हमको सुख देवें ॥ २२ ॥

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते ।

दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

भवाशर्वौ । अस्यताम् । पापऽकृते । कृत्याऽकृते ।

दुःऽकृते । विऽद्युतम् । देवऽहेतिम् ॥ २३ ॥

भव और शर्व नामक देवता कृत्याका प्रयोग करने वाले पापी दुष्कर्मी पर देवायुध बिजलीको प्रेरित करें ॥ २३ ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।

सेतो३ष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

यदि । आऽइयथ । द्विऽपदी । चतुःऽपदी । कृत्याऽकृता । सम्ऽभृता । विश्वऽरूपा ।

सा । इतः । अष्टाऽपदी । भूत्वा । पुनः । परा । इहि । दुच्छुने २४

कृत्याको करने वालेके द्वारा दो और चार पैर वालोंमें भरी हुई विश्वरूपा कृत्ये ! यदि तू आरही है, तो दुच्छुने ! तू यहाँसे आठ पैर वाली बनकर फिर लौट जा ॥ २४ ॥

अभ्य१क्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।

जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

अभिऽअक्ता । आऽअक्ता । सुऽअरंकृता । सर्वम् । भरन्ती । दुःऽकृतम् । परा । इहि ।
जानीहि । कृत्ये । कर्तारम् । दुहिताऽइव । पितरम् । स्वम् ॥२५॥

घृतसे अक्त भली प्रकार अलंकृत सकल दुष्कृतोंको धारण करने वाली कृत्ये ! दूर हट और जैसे पुत्री अपने पिताको जानती है तिस प्रकार अपने उत्पादकको जान ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

परा । इहि । कृत्ये । मा । तिष्ठः । विद्धस्यऽइव । पदम् । नय ।
मृगः । सः । मृगऽयुः । त्वम् । न । त्वा । निऽकर्तुम् । अर्हति २६

हे कृत्ये ! तू दूर हट यहाँ मत खड़ी हो और जैसे व्याधा विंधे हुए मृगके स्थान पर जाता है, इसी प्रकार तू शत्रुके स्थान पर जा, तेरा प्रयोग करने वाला मृग है और तू व्याधरूपा है अत एव वह तेरा नाश नहीं कर सकेगा ॥ २६ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

उत । हन्ति । पूर्वऽआसिनम् । प्रतिऽआदाय । अपरः । इष्वा ।
उत । पूर्वस्य । निऽघ्नतः । नि । हन्ति । अपरः । प्रति ॥२७॥

पहिले बैठे हुएको दूसरा बाणको लेकर मार देता है और पहिले मारने वालेको दूसरा मार डालता है ॥ २७ ॥

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

एतत्। हि। शृणु। मे। वचः। अथ। इहि। यतः। आऽइयथ।
यः। त्वा। चकार। तम्। प्रति ॥ २८ ॥

मेरे इस वचनको सुन और फिर तू तहाँ जा जहाँसे तू आई है जिसने तुझको किया है उसकी ओर जा ॥ २८ ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघी-
यसी भव ॥ २९ ॥

अनागःऽहत्या। वै। भीमा। कृत्ये। मा। नः। गाम्।
अश्वम्। पुरुषम्। वधीः।
यत्रऽयत्र। असि। निऽहिता। ततः। त्वा। उत्। स्थापयामसि।
पर्णात्। लघीयसी। भव ॥ २९ ॥

हे कृत्ये! निरपराधकी हिंसा भयंकर होती है, अतः तू हमारी गौ घोड़े और पुरुषका वध न कर, तू जहाँ २ पर स्थापित की गई है हम तुझको तहाँसे उठाते हैं, तू पत्तेसे भी हलकी होजा २९

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ३०

यदि। स्थ। तमसा। आऽवृता। जालेन। अभिहिताःऽइव।

सर्वाः । सम्ऽलुप्य । इतः । कृत्याः । पुनः । कर्त्रे । प्र । हिण्मसि ३०

हे कृत्याओं ! यदि तुम अंधकार वा जालसे आवृत हो, तो उन सब कृत्याओंको हम यहाँसे लुप्त करके कर्ताके पास ही लौटाते हैं ३०

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।

मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ २१ ॥

कृत्याऽकृतः । वलगिनः । अभिऽनिष्कारिणः । प्रऽजाम् ।

मृणीहि । कृत्ये । मा । उत् । शिषः । अमून् । कृत्याऽकृतः । जहि ॥ २१ ॥

हे कृत्ये ! तू कपटी अभिनिष्कारी कृत्याकृत्की सन्तानका नाश कर इनको बाकी न छोड़, इन कृत्या करने वालोंको मार डाल ॥ २१ ॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ २२ ॥

यथा । सूर्यः । मुच्यते । तमसः । परि । रात्रिम् । जहाति । उषसः । च । केतून् ।

एव । अहम् । सर्वम् । दुःऽभूतम् कर्त्रम् । कृत्याऽकृता । कृतम् । हस्तीऽइव । रजः । दुःऽइतम् । जहामि ॥ २२ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

२८००

जैसे सूर्य राहुसे (वा अंधकारसे) मुक्त होजाता है तथा रात्रि को और उषाके करने वाले कारणोंको भी त्याग देता है और जिस प्रकार हाथी धूलको झाड़ देता है, इसी प्रकार मैं कृत्याकृत्के किये हुए कर्तक पूर्णपापको झाड़ता हूँ ॥ ३२ ॥ (४)

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७७९)

अस्मिन् सूक्ते पुरुषस्य अर्थात् मनुष्यस्य माहात्म्यं वर्ण्यते । तत्र तद्भिन्नभिन्नावयवान् को देवोकरोद् इत्यादिप्रश्नरूपेण तत्प्रश्नानाम् उत्तररूपेण च ॥

यज्ञलम्पटाः सांप्रदायिकास्तु एतत् सूक्तं पुरुषमेधे विनियोजयन्ति । तद् यथा । पुरुषमेधे स्नातालंकृतम् उत्सृज्यमानं पुरुषपशुं "केन पार्ष्णी" इत्यर्धसूक्तेन अनुमन्त्रयते । तद् उक्तं वैताने । "तं ह स्नातम् अलंकृतम् उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः [१६.६] केन पार्ष्णी [१०. २] इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ७. २] ॥

तथा अस्य सूक्तस्य शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे समिदाधानोपस्थानयोश्च विनियोगः । "अथाज्यभागान्ते विषासहिम् [१७. १] इत्यादित्याय हविषो हुत्वाज्यं जुहुयात् समिध आधायोपतिष्ठते" इति प्रक्रम्य शान्तिकल्पे सूत्रितम् । "सहस्रबाहुः पुरुषः [१६. ६] केन पार्ष्णी [१०. २] प्राणाय नमः [११.६] इति शनैश्चराय" इति [शा० क० १५] ॥

इस सूक्तमें पुरुषका अर्थात् मनुष्यका माहात्म्य वर्णन किया गया है । मनुष्योंके भिन्न २ अवयवोंको किस देवताने बनाया ? इत्यादि प्रश्नोत्तरके रूपमें वह माहात्म्य वर्णन किया गया है ।

यज्ञलम्पट साम्प्रदायिक इस सूक्तका पुरुषमेधमें विनियोग करते हैं, कि—पुरुषमेधमें स्नान करके अलंकृत उत्सृज्यमान पुरुषपशुका 'केन पार्ष्णी' इस अर्धसूक्तसे अनुमन्त्रण किया जाता है, इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है कि—"तं ह स्नातं अलंकृतं

उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः (१९।६) केन पार्ष्णी (१०।२) इत्यनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र ७।२)॥

तथा इस सूक्तका शनैश्चरग्रहदेवताकी हवि आज्यहोम समिदाधान तथा उपस्थानमें विनियोग होता है। शान्तिकल्पमें 'आज्यभागके अन्तमें 'विषासहिम्' (१७।१) से आदित्यके लिये हविकी आहुति देकर घृतकी आहुति देय समिधाओंको रख कर उपस्थान करे' का आरम्भ करके कहा है, कि—"सहस्रबाहुः पुरुषः (१९।६) केन पार्ष्णी (१०।२) माणाय नमः (११।६) इति शनैश्चराय" (शान्तिकल्प १५)॥

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥ १॥

केन। पार्ष्णी इति। आभृते इत्याऽभृते। पुरुषस्य। केन। मांसम्। सम्ऽभृतम्। केन। गुल्फौ।
केन। अङ्गुलीः। पेशनीः। केन। खानि। केन। उत्ऽश्लङ्खौ। मध्यतः। कः। प्रतिऽस्थाम्॥ १॥

मनुष्यकी पार्ष्णियों (एड़ियों) को किसने भरा है, मांसको किसने भरा है घुटनोंको किसने भरा है, रूपवती अंगुलियों को किसने पुष्ट किया है, रवांखोंको और मध्यमें प्रतिष्ठाको किसने किया है॥ १॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य

जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥

कस्मात् । नु । गुल्फौ । अधरौ । अकृण्वन् । अष्ठीवन्तौ । उत्ऽतरौ । पुरुषस्य ।
जङ्घे इति । निःऋत्य । नि । अदधुः । क्व । स्वित् । जानुनोः ।
संधी इति सम्ऽधी । कः । ऊं इति । तत् । चिकेत ॥ २ ॥

देवताओंने नीचेके घुटनोंको किससे निर्मित किया है और ऊरु तथा पादकी मध्यस्थ जानुओंको किससे किया है, जंघाओंको निऋत करके किससे किया है, जानुओंकी संधि कहाँ है और उसको कौन जानता है? ॥ २ ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥

चतुष्टयम् । युज्यते । संहितऽअन्तम् । जानुऽभ्याम् । ऊर्ध्वम् ।
शिथिरम् । कबन्धम् ।
श्रोणी इति । यत् । ऊरू इति । कः । ऊं इति । तत् । जजान ।
याभ्याम् । कुसिन्धम् । सुऽदृढम् । बभूव ॥ ३ ॥

संहितान्त, जानुओंसे ऊपरका भाग, शिथिर और कबन्ध ये

चारों युक्त होते हैं, जिनसे कुसिंध दृढ़ होगया है उन श्रोणी और ऊरुओंको कौन जानता है ॥ ३ ॥

कति॑ दे॒वा क॑त॒मे त आ॑स॒न् य उरो॑ ग्री॒वाश्चि॒क्युः पूरु॑षस्य ।

कति॒ स्तनौ॒ व्य॑दधुः कः क॑फो॒डौ कति॑ स्क॒न्धान् कति॑ पृ॒ष्टीर॑चिन्वन् ॥ ४ ॥

कति॑ । दे॒वाः । क॒त॒मे । ते । आ॒स॒न् । ये । उरः॑ । ग्री॒वाः । चि॒क्युः । पुरु॑षस्य ।

कति॑ । स्तनौ॑ । वि । अ॒द॒धुः॒ । कः । क॒फो॒डौ । कति॑ । स्क॒न्धान् । कति॑ । पृ॒ष्टीः । अ॒चि॒न्व॒न् ॥ ४ ॥

जो पुरुषकी ग्रीवा और उरःस्थलको जानते हैं, वे देवता कितने हैं और वे कितने प्रकारके हैं, कितने देवताओंने स्तनोंको बनाया है कफोड़ोंको कितने देवताओंने बनाया है, कितने देवताओं ने स्कंधोंको बनाया है और कितने देवताओंने पृष्टियोंको ठीक किया है ॥ ४ ॥

को अ॑स्य बा॒हू सम॑भरद् वी॒र्यं॑ कर॒वादिति॑ ।

अंसौ॒ को अ॑स्य तद् दे॒वः कुसि॑न्धे॒ अध्या द॑धौ ॥५॥

कः । अ॒स्य । बा॒हू इति॑ । सम् । अ॒भ॒र॒त् । वी॒र्य॑म् । क॒र॒वा॒त् । इति॑ ।

अंसौ॑ । कः । अ॒स्य । तत् । दे॒वः । कु॒सि॒न्धे । अधि॑ । आ । द॒धौ॑ ५

किस देवताने इसकी भुजाओंको पुष्ट किया है, और किसने

वीर्यको किया है, किस देवताने इसके कंधोंको किया है, और कुसिंध पर किसने रक्खा है ॥ ५ ॥

कः स॒प्त खानि॒ वि त॑तर्द शी॒र्षणि॒ कर्णा॑वि॒मौ ना॒सिके॒ चक्ष॑णी॒ मुख॑म् ।

येषां॑ पुरु॒त्रा वि॑ज॒यस्य॑ म॒ह्मनि॒ चतु॑ष्पादो द्वि॒पदो॒ यन्ति॒ याम॑म् ॥ ६ ॥

कः । स॒प्त । खानि॑ । वि । त॒तर्द॒ । शी॒र्षणि॑ । कर्णौ॑ । इ॒मौ । नासि॑के॒ इति॑ । चक्ष॑णी॒ इति॑ । मुख॑म् ।

येषा॑म् । पु॒रु॒ऽत्रा । वि॒ऽज॒यस्य॑ । म॒ह्मनि॑ । चतुः॑ऽपादः । द्वि॒ऽपदः॑ । यन्ति॑ । याम॑म् ॥ ६ ॥

किस देवताने मनुष्यके शिरमें दो कान, दो नथोड़े, दो नेत्र और एक मुख इस प्रकार सात छिद्रोंको शिर फाड़ कर किया है कि–इन देवताओंकी विजयकी महिमारूप अनेक स्थानोंमें होकर दो और चार पैर वाले जीव यमके निवासस्थानको चले जाते हैं ॥ ६ ॥

हन्वो॒र्हि जि॒ह्वामद॑धात् पुरू॒चीमधा॑ म॒हीमधि॑ शिश्राय॒ वाच॑म् ।

स आ व॑रीवर्ति॒ भुव॑नेष्व॒न्तर॒पो वसा॑नः॒ क उ॒ तच्चि॑केत ॥ ७ ॥

हन्वोः॑ । हि । जि॒ह्वाम् । अद॑धात् । पु॒रू॒चीम् । अध॑ । म॒हीम् । अधि॑ । शि॒श्रा॒य॒ । वाच॑म् ।

सः । आ । परीवर्ति । भुवनेषु । अन्तः । अपः । वसानः । कः ।
ऊं इति । तत् । चिकेत ॥ ७ ॥

अनेक स्थानोंमें जाने वाली जिह्वाको ठोड़ीमें किसने रक्खा है, फिर उसमें बड़ी भारी वाणीको किसने स्थापित किया है, जल को धारण करने वाला वह देव प्राणियोंके भीतर घूमता रहता है, उसको कौन जानता है ? ॥ ७ ॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

मस्तिष्कम् । अस्य । यतमः । ललाटम् । ककाटिकाम् । प्रथमः ।
यः । कपालम् ।
चित्वा । चित्यम् । हन्वोः । पुरुषस्य । दिवम् । रुरोह । कतमः ।
सः । देवः ॥ ८ ॥

जो प्रथम देवता इस पुरुषके मस्तिष्कका जितना भाग ललाट है उसका, ककाटिकाका, कपालका और हनुओंके चयनीय अंशका चयन करके स्वर्गको गया है वह कौनसा देवता है ॥ ८ ॥

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

प्रियऽअप्रियाणि । बहुला । स्वप्नम् । संबाधऽतन्द्र्यः ।

आऽनन्दान् । उग्रः । नन्दान् । च । कस्मात् । वहति । पुरुषः ९

यह उग्र पुरुष किस देवतासे बहुतसी प्रिय और अप्रिय बातों को, स्वप्नको सम्बाधतन्द्रियोंको आनन्दोंको और हर्षोंको धारण करता है ॥ ९ ॥

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

आर्तिः । अवर्तिः । निःऽऋतिः । कुतः । नु । पुरुषे । अमतिः ।
राद्धिः । सम्ऽऋद्धिः । अविऽऋद्धिः । मतिः । उत्ऽइतयः कुतः १०

पुरुषमें पीड़ा, आजिविकारहितत्व, पाप और मति कहाँसे आती है, सिद्धि समृद्धि विशेष ऋद्धि, मति और उदिति कहाँसे आती है ॥ १० ॥ (४)

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

कः । अस्मिन् । आपः । वि । अदधात् । विषुऽवृतः । पुरुऽवृतः ।
सिन्धुऽसृत्याय । जाताः ।
तीव्राः । अरुणाः । लोहिनीः । ताम्रऽधूम्राः । ऊर्ध्वाः । अवाचीः ।
पुरुषे । तिरश्चीः ॥ ११ ॥

जो जल सिंधुकी ओर बहनेके लिये हुए हैं, अनेकोंका वरण करने वाले हैं, सब ओर वर्तमान हैं, उस जलको तीव्र अरुण, लोहित, ताम्रधूम वर्णमें ऊपर नीचे और तिरछे जानेके लिये पुरुषमें किसने स्थापित किया है ॥ ११ ॥

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्मानं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे १२

०अस्मिन् । रूपम् । अदधात् । कः । मह्मानम् । च । नाम । च ।
गातुम् । कः । अस्मिन् । कः । केतुम् । कः । चरित्राणि । पुरुषे १२

किस देवताने इस पुरुषमें रूपको, महिमाको, नामको ज्ञानको, चरित्रोंको, और गतिको स्थापित किया है ॥ १२ ॥

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु ।
समानमस्मिन् को देवोधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

०अस्मिन् । प्राणम् । अवयत् । कः । अपानम् । वि॰आनम् । ऊं इति ।
सम्॰आनम् । अस्मिन् । कः । देवः । अधि । शिश्राय । पुरुषे १३

किस देवताने इस पुरुषमें प्राण अपान व्यान और समान-वायुको प्रतिष्ठित किया है (ब्रह्माने किया है) ॥ १३ ॥

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोनृतं कुतो मृत्युः कुतोमृतम् १४

कः । अस्मिन् । यज्ञम् । अदधात् । एकः । देवः । अधि । पुरुषे ।

कः । अस्मिन् । सत्यम् । कः । अनृतम् । कुतः । मृत्युः । कुतः ।
अमृतम् ॥ १४ ॥

किस प्रधानदेवने इस पुरुषमें यज्ञको स्थापित किया है, और सत्य, झूठ, मृत्यु और अमरत्वको भी इस पुरुषमें स्थापित किया है ॥ १४ ॥

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् १५

कः । अस्मै । वासः । परि । अदधात् । कः । अस्य । आयुः ।
अकल्पयत् ।
बलम् । कः । अस्मै । प्र । अयच्छत् । कः । अस्य । अकल्पयत् ।
जवम् ॥ १५ ॥

इसमें जिससे शरीर ढका हुआ है उस चर्मको किसने स्थापित किया है, इसकी आयुकी कल्पना किसने की है, इसको बल किसने दिया है और इसमें वेगकी कल्पना किसने की है ॥ १५ ॥

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

केन । आपः । अनु । अतनुत । केन । अहः । अकरोत् । रुचे ।
उषसम् । केन । अनु । ऐन्द्ध । केन । सायम्ऽभवम् । ददे ॥१६॥

किसके द्वारा जल इसमें विस्तृत हुए हैं, किसके द्वारा देवता ने कान्तिके लिये इसके अर्थ दिनको किया है। किसके द्वारा उषाको दीप्त किया है और किसके द्वारा सायंभवको दिया है १६

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ १७

कः । अस्मिन् । रेतः । नि । अदधात् । तन्तुः । आ । तायताम् ।
इति ।
मेधाम् । कः । अस्मिन् । अधि । औहत् । कः । बाणम् । कः ।
नृतः । दधौ ॥ १७ ॥

प्रजातन्तुको विस्तृत करो इस लिये इसमें वीर्यको किसने स्थापित किया है इसमें मेधाको किसने स्थापित किया है किस नृत ने इसमें बाणको स्थापित किया है (उत्तर–ब्रह्माने) ॥ १७ ॥

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥१८॥

केन । इमाम् । भूमिम् । और्णोत् । केन । परि । अभवत् । दिवम् ।
केन । अभि । मह्ना । पर्वतान् । केन । कर्माणि । पुरुषः ॥१८॥

किस प्रभावके द्वारा इसने भूमिको आच्छादित कर लिया है, और किस प्रभावसे यह स्वर्ग पर आरूढ़ होजाता है और पुरुष किस महिमासे पुरुष पर्वत पर चढ़ता है और कर्मोंको करता है १८

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम् ।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन् निहितं मनः १९

केन । पर्जन्यम् । अनु । एति । केन । सोमम् । विऽचक्षणम् ।

केन । यज्ञम् । च । श्रद्धाम् । च । केन । अस्मिन् । निऽहितम् ।

मनः ॥ १९ ॥

किससे यह पुरुष पर्जन्यको प्राप्त होता है और किससे विचक्षण सोमको प्राप्त होता है, किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त होता हैं, और ब्रह्मने इस सत्कर्ममें इसके मनको प्रेरित किया है ॥ १९ ॥

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।

केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २० ॥

केन । श्रोत्रियम् । आप्नोति । केन । इमम् । परमेऽस्थिनम् ।

केन । इमम् । अग्निम् । पुरुषः । केन । सम्ऽवत्सरम् । ममे २०

किस (कर्म वा देवता) के द्वारा यह श्रोत्रियको प्राप्त होरहा है, और किसके द्वारा यह परमेष्ठीको प्राप्त होरहा है, किसके द्वारा यह पुरुष अग्निको प्राप्त होरहा है और किसके द्वारा यह सम्वत्सर का मान कर रहा है ॥ २० ॥ (५)

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम् ।

ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

ब्रह्म । श्रोत्रियम् । आप्नोति । ब्रह्म । इमम् । परमेऽस्थिनम् ।

ब्रह्म । इमम् । अग्निम् । पुरुषः । ब्रह्म । सम्ऽवत्सरम् । ममे

ब्रह्म ही श्रोत्रियको प्राप्त होता है, ब्रह्म ही इस परमेष्ठीको प्राप्त होता हो, ब्रह्म ही इस अग्निको प्राप्त होरहा है और ब्रह्म ही सम्वत्सरका मान करता है । (ब्रह्मके द्वारा ही पुरुष इन सबको प्राप्त होता है) ॥ २१ ॥

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः ।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २२ ॥

केन । देवान् । अनु । क्षियति । केन । दैवऽजनीः । विशः ।
केन । इदम् । अन्यत् । नक्षत्रम् । केन । सत् । क्षत्रम् । उच्यते २२

किस कर्मके द्वारा देवताओंके अनुकूल निवास कर सकता है, किस प्रकार देवप्रजाओंके अनुकूल रह सकता है, किसके द्वारा और क्षत्र नहीं होता और किसके द्वारा सत् क्षत्र होजाता है ॥२२॥

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः ।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २३ ॥

ब्रह्म । देवान् । अनु । क्षियति । ब्रह्म । दैवऽजनीः । विशः ।
ब्रह्म । इदम् । अन्यत् । नक्षत्रम् । ब्रह्म । सत् । क्षत्रम् । उच्यते २३

मन्त्र देवताओंके अनुकूल निवास करता है, मन्त्र देवसंबंधी प्रजाओंके अनुकूल रहता है, ब्रह्म ही यह है और क्षत्र नहीं है, सत् ब्रह्म ही क्षत्र कहलाता है ॥ २३ ॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२४॥

केन । इयम् । भूमिः । विऽहिता । केन । द्यौः । उत्ऽतरा । हिता ।
केन । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः । हितम् ॥ २४ ॥

इस भूमिको किसने स्थापित किया है, उत्तर द्यौको किसने

स्थापित किया है, ऊपरके भागको, तिर्यक्भागको और जिसमें अनेक प्रकारके प्राणी गमन करते हैं उस अन्तरिक्षको किसने बनाया है ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥

ब्रह्मणा । भूमिः । विऽहिता । ब्रह्म । द्यौः । उत्ऽतरा । हिता ।
ब्रह्म । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः ।
हितम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मने ही भूमिको बनाया है और ब्रह्मने ही श्रेष्ठ द्यौको बनाया है और ब्रह्मने ऊपरके भागको, तिरछे भागको और जिसमें अनेक प्रकारके प्राणी गमन करते हैं उस अन्तरिक्षको बनाया है २५

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥

मूर्धानम् । अस्य । सम्ऽसीव्य । अथर्वा । हृदयम् । च । यत् ।
मस्तिष्कात् । ऊर्ध्वः । प्र । ऐरयत् । पवमानः । अधि । शीर्षतः २६

अथर्वा (प्रजापतिने) इसके मूर्धा और हृदयको सियाँ, फिर उस ऊर्ध्व पवमानने मस्तिष्कसे और शिरसे प्रेरणा की । २६ ।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः २७

तत् । वै । अथर्वणः । शिरः । देवऽकोशः । सम्ऽउब्जितः ।

तत् । प्राणः । अभि । रक्षति । शिरः । अन्नम् । अथो इति ।
मनः ॥ २७ ॥

वह यह अथर्वाका दिया हुआ शिर भली प्रकार सरलतासे स्थित है और देव (इन्द्रिय वा देवताओं) का कोशरूप है, प्राण उसकी रक्षा करता है और अन्न और मन भी उस शिरकी रक्षा करता है ॥ २७ ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

ऊर्ध्वः । नु । सृष्टा३ः । तिर्यङ् । नु । सृष्टा३ः । सर्वाः । दिशः ।
पुरुषः । आ । बभूवाँ३ ।
पुरम् । यः । ब्रह्मणः । वेद । यस्याः । पुरुषः । उच्यते ॥२८॥

जिसका पुरुष कहलाता है उस ब्रह्माकी पुरीको जो जानता है वह पुरुष ऊपरकी रची दिशायें, तिरछी रची हुई दिशायें अधिक क्या सब दिशाओंमें प्रकट होजाता है, अपने प्रभावको प्रकट करता है ॥ २८ ॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः २९

यः । वै । ताम् । ब्रह्मणः । वेद । अमृतेन । आऽवृताम् । पुरम् ।
तस्मै । ब्रह्म । च । ब्राह्माः । च । चक्षुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । ददुः २९

ब्रह्माकी अमृतसे भरी उस पुरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और मन्त्रमय कर्म, चक्षुः प्राण और प्रजाको देते हैं ॥ २९ ॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

न । वै । तम् । चक्षुः । जहाति । न । प्राणः । जरसः । पुरा ।
पुरम् । यः । ब्रह्मणः । वेद । यस्याः । पुरुषः । उच्यते ॥३०॥

जिस ब्रह्मपुरमें शयन करनेसे (पुरि शेते पुरुषः) पुरुष जिसका पुरुष कहलाता है उस ब्रह्मपुर (हृदयपुण्डरीक) को जो जानता है, बुढ़ापेसे पहिले प्राण चक्षु उसको नहीं छोड़ते हैं ३०

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

अष्टाऽचक्रा । नवऽद्वारा । देवानाम् । पूः । अयोध्या ।
तस्याम् । हिरण्ययः । कोशः । स्वःऽगः । ज्योतिषा । आऽवृतः ३१

आठ चक्र वाली और नौ द्वार वाला देवताओंकी (इन्द्रियोंकी) अयोध्या पुरी है, उसमें हिरण्मय स्वर्गप्रद कोश ज्योतिसे आवृत है

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ३२

तस्मिन् । हिरण्यये । कोशे । त्रिऽअरे । त्रिऽप्रतिस्थिते ।
तस्मिन् । यत् । यक्षम् । आत्मन्ऽवत् । तत् । वै । ब्रह्मऽविदः । विदुः ३२

उस त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित हिरण्मय कोशमें जो पूजनीय आत्माका स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ॥ ३२ ॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥

प्रऽभ्राजमानाम् । हरिणीम् । यशसा । सम्ऽपरिवृताम् ।

पुरम् । हिरण्ययीम् । ब्रह्म । आ । विवेश । अपराऽजिताम् ३३

प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥ इति प्रथमोनुवाकः ॥

पापहारक, यशसे सम्पन्न होनेके कारण दमकते हुए हिरण्मय अपराजित पुरमें ब्रह्म प्रवेश करता है ॥ ३३ ॥ (६)

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७०)

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

अस्मिन् सूक्ते वरणस्य नाम मणेः प्रतापो वीर्यं शत्रुक्षयसामर्थ्यं धारयितृसर्वदुःखपरिहरणं च वर्ण्यते । तदनुसारेणैव सांप्रदायिकास्तद् विनियोजयन्ति । तद् यथा ।

शत्रुजयादिकामः "अयं मे वरणः" इत्यर्धसूक्तेन दध्नि मधुनि च त्रिरात्रं वासितं वरणमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "अयं मे वरणः [१०. ३] अरातीयोः [१०. ६] इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" इति [कौ० ३. २]॥

तथा "अभयां भयार्तस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् अभयाख्यायां महाशान्तौ वरणमणिबन्धनेपि एतद् सूक्तम् । उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अयं मे वरणो मणिरिति वारणम् अभयायाम्" इति [न० क० १९] ॥

इस सूक्तमें वरणनामक मणिका प्रताप वीर्य, इस मणिकी शत्रुओंका क्षय करनेकी शक्ति तथा अपने धारण करने वालोंके

सब दुःखोंके हरणका वर्णन किया जावेगा। इसी लिये साम्प्रदायिक विनियोग करते हैं, कि–

शत्रुक्षय आदिको चाहने वाला "अयं मे वरणः" इस अर्थसूक्तसे दही और मधुमें तीन रात तक बसाई हुई वरणमणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"अयं मे वरणः (१०। ३) अरातीयो (१०। ६) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति" (कौशिकसूत्र ३। २)॥

तथा "अभया भयार्तस्य–भयार्तके लिये अभया शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित अभया नाम वाली महाशान्तिके वरणमणिबन्धनमें भी यह सूक्त आता है। इसी बात को नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"अयं मे वरणो मणिरिति वारणं अभयायाम्" (नक्षत्रकल्प १९)॥

अयं मे वरणो मणिः संपत्नक्षयणो वृषा।

तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्र मृणीहि दुरस्यतः॥ १॥

अयम्। मे। वरणः। मणिः। सपत्नऽक्षयणः। वृषा।

तेन। आ। रभस्व। त्वम्। शत्रून्। प्र। मृणीहि। दुरस्यतः १

यह वरण नामक वृक्षकी बनी हुई मेरी मणि शत्रुओंका संहार करनेकी शक्ति रखती है और अभिमत फलोंकी वर्षा करने वाली है, उससे तू उद्योगका आरम्भ कर और दुष्टताकी बौछार करने वाले शत्रुओंका मर्दन कर डाल॥ १॥

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः

प्र । एनान् । मृणीहि । प्र । मृण । आ । रभस्व । मणिः । ते ।

अस्तु । पुरःऽएता । पुरस्तात् ।

अवारयन्त । वरणेन । देवाः । अभिऽआचारम् । असुराणाम् ।

श्वःऽश्वः ॥ २ ॥

तू इन शत्रुओंको मसल, इनको दवाना आरम्भ कर, मणि तेरे आगे २ चलने वाला हो, देवता इस वरण नामक मणिकी सहायतासे दूसरे दिन ही असुरोंके अभ्याचारको दूर कर देते थे २

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।

स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥ ३ ॥

अयम् । मणिः । वरणः । विश्वऽभेषजः । सहस्रऽअक्षः । हरितः ।

हिरण्ययः ।

सः । ते । शत्रून् । अधरान् । पादयाति । पूर्वः । तान् । दभ्नुहि ।

ये । त्वा । द्विषन्ति ॥ ३ ॥

यह वरणमणि सब प्रकारके दुःखोंकी चिकित्सारूप है, सहस्राक्षकी समान पराक्रमी है, हरित है और हितरमणीय है, यह तेरे शत्रुओंको नीचेको गिरा देगी, जो तुझसे द्वेष करते हैं, पहिले तू उनको मार डाल ॥ ३ ॥

अयं ते कृत्यां वितंतां पौरुषेयादयं भयात् ।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥४॥

अयम् । ते । कृत्याम् । विऽततांम् । पौरुषेयात् । अयम् । भयात् ।
अयम् । त्वा । सर्वस्मात् । पापात् । वरणः वारयिष्यते ॥ ४ ॥

यह वरणमणि तेरे लिये फैलाई हुई कृत्याको निवारण कर देगी और पुरुषसे होने वाले भयसे तुझको निर्भय कर देगी और यह वरणमणि तुझको सकल पापोंसे भी अलग रक्खेगी ४

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥५॥

वरणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः ।
यक्ष्मः । यः । अस्मिन् । आऽविष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः ।
अवीवरन् ॥ ५ ॥

यह सामने वर्तमान दानादिगुण युक्त वरणमणि हमारे रोग शत्रु आदिको हटा देय, इस पुरुषमें जो यक्ष्मा आदि रोग प्रविष्ट होगया है, उसको देवता निवारण करें ॥ ५ ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावाद-
जुष्टाम् ।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते

स्वप्नम् । सुप्त्वा । यदि । पश्यासि । पापम् । मृगः । सृतिम् ।
यति । धावात् । अजुष्टाम् ।

परिऽक्षवात् । शकुनेः । पापऽवादात् । अयम् । मणिः । वरणः । वारयिष्यते ॥ ६ ॥

हे पुरुष ! यदि तू सोकर पापमय स्वप्नको देख चुका है और अप्रीतिकर दिशाकी ओर यदि मृग दौड़ गया है तो इन दोनों दुर्निमित्तोंसे और छींकसे, कौए आदि पक्षियों पापवादसे यह वरणमणि तुझको बचावेगा ॥ ६ ॥

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात् ।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ७ ॥

अरात्याः । त्वा । निःऽऋत्याः । अभिऽचारात् । अथो इति । भयात् ।
मृत्योः । ओजीयसः । वधात् । वरणः । वारयिष्यते ॥ ७ ॥

हे पुरुष ! यह वरणमणि तुझको शत्रुसे, निर्ऋतिसे अभिचारसे भयसे और मृत्युके ओजभरे बलसे बचावेगी ॥ ७ ॥

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

यत् । मे । माता । यत् । मे । पिता । भ्रातरः । यत् । च । मे ।
स्वाः । यत् । एनः । चकृम । वयम् ।
ततः । नः । वारयिष्यते । अयम् । देवः । वनस्पतिः ॥ ८ ॥

यह वनस्पतिदेव मणि, मेरी माता मेरे पिता, भाई और मेरे आत्मीयोंने जो कुछ पाप किया है, उससे मेरी रक्षा करेगी ।८।

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः ।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

वरणेन । प्रऽव्यथिताः । भ्रातृव्याः । मे । सऽबन्धवः ।
असूर्तम् । रजः । अपि । अगुः । ते । यन्तु । अधमम् । तमः ।९।

इस वरणमणिसे मेरे गोत्रके बंधुरूप शत्रु मुझसे व्यथित हो रहे हैं, वे विस्तृत रजको प्राप्त होरहे हैं और वे भयंकर अंधकार को प्राप्त होवें ॥ ९ ॥

अरिष्टोहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः ।
तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥१०॥

अरिष्टः । अहम् । अरिष्टऽगुः । आयुष्मान् । सर्वऽपुरुषः ।
तम् । मा । अयम् । वरणः । मणिः । परि । पातु । दिशःऽदिशः

मैं रिष्ट—हिंसा—से रहित होगया हूँ, शान्तिको प्राप्त होरहा हूँ मैं आयुष्मान् होऊँ और पुत्र भृत्य आदि सब पुरुषोंसे सम्पन्न रहूँ, उस मुझको यह वरणमणि दिशा प्रदिशामें रक्षित रक्खे १०

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ११

अयम् । मे । वरणः । उरसि । राजा । देवः । वनस्पतिः ।
सः । मे । शत्रून् । वि । बाधताम् । इन्द्रः । दस्यून्ऽइव । असुरान्

यह वनस्पतिकी बनी वरणमणि दानादिगुणयुक्त है, दमकती

रहती है यह मेरे वक्षःस्थलमें विराजमान है, अतः जैसे इन्द्र असुरोंको पीड़ा देते हैं, तिस प्रकार मेरे शत्रु-डाँकुओं-को बाधा देय ११

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ १२ ॥

इमम् । बिभर्मि । वरणम् । आयुष्मान् । शतऽशारदः ।
सः । मे । राष्ट्रम् । च । क्षत्रम् । च । पशून् । ओजः । च । मे । दधत्

मैं सौ वर्षकी आयु पा आयुष्मान् होनेके लिये इस वरणमणि को धारण करता हूँ, यह मणि मुझमें राष्ट्र, रक्षकशक्ति, पशु और बलको स्थापित करे ॥ १२ ॥

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा ।
एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान्
वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १३ ॥

यथा । वातः । वनस्पतीन् । वृक्षान् । भनक्ति । ओजसा ।
एव । सऽपत्नान् । मे । भङ्ग्धि । पूर्वान् । जातान् । उत । अप-
रान् । वरणः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १३ ॥

जैसे वायु अपने बलसे वनस्पतियोंको और वृक्षोंको तोड़ डालता है, इसी प्रकार यह वरणमणि मेरे पहिले उत्पन्न हुए और पीछे उत्पन्न होने वाले शत्रुओंको नष्ट कर डाले (हे यजमान!) यह वरणमणि तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।

एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

यथा । वातः । च । अग्निः । च । वृक्षान् । प्सातः । वनस्पतीन् । ०। सऽपत्नान् । मे । प्साहि । पूर्वान् ।० ॥ १४ ॥

जैसे अग्नि और वायु वृक्ष और वनस्पतियोंके पास जा उनका भक्षण कर-डाल-ते हैं, इसी प्रकार हे वरणमणे ! तू मेरे पहिले और पीछेके शत्रुओंको नष्ट कर (उत्तरमें पुरोहित यजमानसे कहता है, कि–) वरणमणि तेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय पूर्वान् जाताँ
उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥ १५ ॥

यथा । वातेन । प्रऽक्षीणाः । वृक्षाः । शेरे । निऽअर्पिताः । एव । सऽपत्नान् । त्वम् । मम । प्र । क्षिणीहि । नि । अर्पय । पूर्वान् । जातान् । उत । अपरान् । वरणः । त्वा । अभि । रक्षतु १५

जैसे वायुसे क्षीण हुए वृक्ष पृथ्वीके अर्पित होकर सोजाते हैं हे वरणमणि ! तू इस प्रकार मेरे पूर्वजात और परजात शत्रुओं को क्षीण कर पृथ्वीके अर्पण करदे (उत्तरमें पुरोहित यजमान को आशीर्वाद देता है, कि–) वरणमणि तेरी रक्षा करे ॥१५॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः ।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः १६

तान् । त्वम् । प्र । छिन्द्धि । वरण । पुरा । दिष्टात् । पुरा । आयुषः ।
ये । एनम् । पशुषु । दिप्सन्ति । ये । च । अस्य । राष्ट्रऽदिप्सवः १६

जो इस यजमानके पशुओंको छीनना चाहते हैं और इसके राष्ट्रका हरण करना चाहते हैं हे वरणमणे! तू उनको आयु और प्रारब्धसे पहिले ही नष्ट कर ॥ १६ ॥

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥१७॥

यथा । सूर्यः । अतिऽभाति । यथा । अस्मिन् । तेजः । आऽहितम् ।
एव । मे । वरणः । मणिः । कीर्तिम् । भूतिम् । नि । यच्छतु ।
तेजसा । मा । सम् । उक्षतु । यशसा । सम् । अनक्तु । मा १७

जिस प्रकार सूर्य बहुत दमकते हैं और जिस प्रकार इनमें तेज अधिष्ठित है इसी प्रकार यह वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे, तेजसे मुझको सम्पन्न करे, यशसे मुझको सम्पन्न करे १७

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा मे० १८

यथा । यशः । चन्द्रमसि । आदित्ये । च । नृऽचक्षसि ॥०॥ १८

जैसे सब प्राणियोंके साक्षी और चन्द्रमामें यश प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार यह वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे, तेजसे और यशसे मुझको सम्पन्न करे ॥ १८ ॥

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि । एवा० १९

०। यशः। पृथिव्याम्। यथा। अस्मिन्। जातऽवेदसि ॥० १९

जैसे पृथिवीमें यश प्रतिष्ठित है और जिस प्रकार जातवेदा अग्निमें यश प्रतिष्ठित है इसी प्रकार यह वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे, तेजसे और यशसे मुझको सम्पन्न करे १९

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा० २०

०। यशः। कन्यायाम्। यथा। अस्मिन्। सम्ऽभृते। रथे ॥० २०

जिस कन्यामें यश है और जिस प्रकार संभृत रथमें यश है इसी प्रकार यह वरणमणि मुझको भूति और कीर्ति देवे, तेजसे और यशसे सम्पन्न करे ॥ २० ॥

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा० २१

०। यशः। सोमऽपीथे। मधुऽपर्के। यथा। यशः ॥०॥ २१ ॥

जिस प्रकार सोमपीथमें और मधुपर्कमें यश प्रतिष्ठित है इसी प्रकार यह वरणमणि मुझको भूति और कीर्ति देवे तथा तेज और यशसे मुझको सम्पन्न करे ॥ २१ ॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा० २२

०। यशः। अग्निऽहोत्रे। वषट्ऽकारे। यथा। यशः ॥ ० ॥२२॥

अग्निहोत्रमें और वषट्कारमें जिस प्रकार यश प्रतिष्ठित है, इसी प्रकार वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे तेजसे और यशसे मुझे सम्पन्न करे ॥ २२ ॥

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा०

०। यशः। यजमाने। यथा। अस्मिन्। यज्ञे। आऽहितम् ॥० २३

यजमानमें जैसा यश होता है और जिस प्रकार इस यजमान में यज्ञ आहित होता है, इसी प्रकार यह वरण मणि मुझको कीर्ति और भूति देवे तथा तेज और यशसे मुझे सम्पन्न करे ॥ २३ ॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि । एवा०

यथा । यशः । प्रजाऽपतौ । यथा । अस्मिन् । परमेऽस्थिनि ॥० २४

जिस प्रकार प्रजापतिमें यश है और जिस प्रकार परमेष्ठीमें यश है इसी प्रकार यह मेरी वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे तथा तेज और यशसे मुझे सम्पन्न रक्खे ॥ २४ ॥

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा
मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥

यथा । देवेषु । अमृतम् । यथा । एषु । सत्यम् । आऽहितम् ।
एव । मे । वरणः । मणिः । कीर्तिम् । भूतिम् । नि । यच्छतु ।
तेजसा । मा । सम् । उक्षतु । यशसा । सम् । अनक्तु । मा २५

इति द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

अमृत जिस प्रकार देवताओंमें है और जिस प्रकार देवताओं में सत्य प्रतिष्ठित है, इसी प्रकार वरणमणि मुझको कीर्ति और भूति देवे, मुझको तेज और यशसे सम्पन्न करे ॥ २५ ॥ (९)

॥द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४०१) ॥

अस्मिन् सूक्ते नानासर्पास्तेषां च विषाणि तत्तत्प्रतीकाराश्च कथिताश्विषयः । सर्पविषभैषज्ये च मन्त्राः । सर्पविषहारिकाश्च काश्चिदोषधयः ॥ सांप्रदायिका एवं विनियोजयन्ति । तद् यथा ।

विषभैषज्ये कर्मणि "इन्द्रस्य प्रथमः" इत्यर्धसूक्तस्य "ब्राह्मणो जज्ञे" इति [४, ६] सूक्तवद् विनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन सूक्तेन पैद्वं पिष्ट्वा अभिमन्त्र्य दक्षिणेनाङ्गुष्ठेन दक्षिणनासापुटे नस्यं ददाति ॥ "पैद्वं कीटकम् । तलिणीति लोके प्रसिद्धा । तं पिष्ट्वा" इति केशवः "पैद्वः हिरण्यवर्णसदृशः कीटश्चित्रितो वा । स पैद्व इत्युच्यते" इति च ॥

तथा "अहिभये अनेन सूक्तेन श्वेतवस्त्रवेष्टितं पैद्वम् अभिमन्त्र्य यत्राहिभयं तत्र निखनति" इति केशवः ॥ "सर्पाद्भये पैद्व वस्त्रे बद्ध्वा स्थापयति तस्मिन् वेश्मनि" इति दारिलः ॥

शङ्काविषभैषज्ये कर्मणि "अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय" इति ऋचा [२५] सर्पदष्टं शिरःप्रभृति आप्रपदान्तं हस्तेन मार्ष्टि ।

तत्रैव कर्मणि "आरे अभूत्" इति ऋचा [२६] उल्मुकं प्रताप्य अभिमन्त्र्य ततो विषप्रर्णं दृष्ट्वा तत्संमुखं क्षिपति । सर्पादर्शने यतो दष्टस्ततो निरस्यति उल्मुकम् ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रस्य प्रथम इति तक्षकायेति [कौ० ४. ४] उक्तम् [४, ६]। पैद्वं प्रकृष्य दक्षिणेनाङ्गुष्ठेन दक्षिणस्यां नस्तः । अहिभये सिच्यवगूहयति । अङ्गादङ्गाद् इत्या प्रपदात् । दंश्योत्तमया निताप्याहिम् अभि निरस्यति यतो दष्टः" इति [कौ० ४, ८] ॥

इस सूक्तमें अनेक प्रकारके सर्प, उनके विष और उनके प्रतीकारके उपाय वर्णित हैं । और सर्पविषकी चिकित्साके मन्त्र भी हैं और सर्पविषको दूर करने वाली कुछ औषधियें भी हैं, साम्प्रदायिक यहाँ इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि—

विषभैषज्यकर्ममें "इन्द्रस्य प्रथमः" इस अर्धसूक्तका "ब्राह्मणे जज्ञे" इस चतुर्थकाण्डके छठे सूक्तकी समान विनियोग करना चाहिये ।

तथा तहाँ ही कर्ममें इस सूक्तसे पैद्वको पीस कर और अभिमन्त्रित करके दाहिने अँगूठेसे दाहिने नथौड़ेमें नस्यको देवे। पैद्व कीटको कहते हैं वह लोकमें तलिणीके नामसे प्रसिद्ध है। केशव का मत है, कि-सुवर्णकी समान वर्णमाला कीट पैद्व कहलाता है या सुवर्णकी समान चित्रित कीट पैद्व कहलाता है।

तथा केशवका मत है, कि-सर्पभय होने पर इस सूक्तसे श्वेत वस्त्रमें पैद्वको लपेट कर और अभिमन्त्रित करके सर्पभयस्थानमें गाढ़ देय। और दारिलका मत है, कि-सर्पका भय होने पर पैद्व को वस्त्रमें लपेट कर घरमें रक्खे।

शंकाविषमैषज्यकर्ममें "अङ्गादङ्गात् प्रच्यावय" इस पच्चीसवीं ऋचासे सर्पदष्टके शिरसे लेकर पैरोंके अग्रभाग तक हाथसे मार्जन करे।

तहाँ ही कर्ममें "आरे अभूत्" इस छब्बीसवीं ऋचासे उल्मुक को तपा कर और अभिमन्त्रित करके विषव्रणको देख उसकी ओर फेंके। सर्प न दीखने पर जिधरसे डसा हो उस ओर उल्मुक को फेंक देय।

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि-

"इन्द्रस्य प्रथम इति तक्षकायेति कौ० ४।४) उक्तम्' ४।६)। पैद्वं प्रकर्ष्य दक्षिणेनाङ्गुष्ठेन दक्षिणस्यां नस्तः। अहिभये सिच्यव-गूहयति। अङ्गादङ्गादित्यामपदात्। दंशमोत्तमया निताप्याहिम् अभि निरस्यति यतो दष्टः" (कौशिकसूत्र ४ । ८) ॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्। अहीनामपमा रथं स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । प्रथमः । रथः । देवानाम् । अपरः । रथः । वरुणस्य । तृतीयः । इत् ।

अहीनाम् । अपस्मा । रथः । स्थाणुम् । आरत् । अथ । अर्षत्॥१

प्रथम रथ इन्द्रका, अपर रथ देवताओंका है, वरुणका रथ तीसरा है, सर्पोंका रथ अपमा है वह स्थाणुमें भी चला जाता है फिर भाग जाता है ॥ १ ॥

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः ।
रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥

दर्भः । शोचिः । तरूणकम् । अश्वस्य । वारः । परुषस्य । वारः ।
रथस्य । बन्धुरम् ॥ २ ॥

यह दर्भ सर्पोंको शोक देने वाला है, अश्वनामक सर्पके विष को रोकने वाला है, परुष नामक विषको हटाने वाला है, रथका बंधुर है, तरूणक है ॥ २ ॥

अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ३ ॥

अव । श्वेत । पदा । जहि । पूर्वेण । च । अपरेण । च ।
उदप्लुतम्ऽइव । दारु । अहीनाम् । अरसम् । विषम् । वाः । उग्रम्

हे श्वेतसर्षप ! तू पूर्वप्रक्षेपरूप अपने पूर्व पैरसे और अपरप्रक्षेपरूप अपरपदसे सर्पोंको मार। जैसे उतराता हुआ काठ होता है इसी प्रकार (मन्त्रशक्तिसे) सर्पोंको विष नीरस होगया है तू इस उग्र विषका निवारण कर ॥ ३ ॥

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

अरम्ऽघुषः । निऽमज्य । उत्ऽमज्य । पुनः । अब्रवीत् ।

उदप्लुतम्ऽइव । दारु । अहीनाम् । अरसम् । विषम् । वाः । उग्रम्

अरंघुषने गोता लगा निकल कर फिर कहा, कि–उतराते हुए काठकी समान सर्पोंका विष नीरस होगया है (हे औषधे !) तू इसे सर्पके विषको हटा ॥ ४ ॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।

पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

पैद्वः । हन्ति । कसर्णीलम् । पैद्वः । श्वित्रम् । उत । असितम् ।

पैद्वः । रथर्व्याः । शिरः । सम् । बिभेद । पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

पैद्व कसर्णील नामक सर्पको नष्ट कर देता है, पैद्व श्वित्र और काले सर्पको नष्ट कर डालता है, पैद्वने रथर्व्याके और पृदाकुके शिरको फोड़ डाला था ॥ ५ ॥

पैद्व प्रेहि प्रथमोनु त्वा वयमेमसि ।

अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

पैद्व । प्र । इहि । प्रथमः । अनु । त्वा । वयम् । आ । ईमसि ।

अहीन् । वि । अस्यतात् । पथः । येन । स्म । वयम् । आऽईमसि ।

हे पैद्व ! तू मुख्य है अतः तू यहाँ आ हम तेरी प्रार्थना करते हैं तू उस मार्गसे सर्पोंको फेंक दे, जिस मार्गसे हम जाना चाहते हैं ६

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् ।

इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

इदम् । पैद्वः । अजायत । इदम् । अस्य । पराऽअयनम् ।

इमानि । अर्वतः । पदा । अहिऽघ्न्यः । वाजिनीऽवतः ॥ ७ ॥

सर्प विनाशक पैद्व प्रकट होगया है, यह इसका परायण है, पैरोंसे यह इन बलसम्पन्न शीघ्रगामी विक्रमोंको बर्तता है ॥७॥

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।

अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

सम्ऽयतम् । न । वि । स्परत् । विऽआत्तम् । न । सम् । यमत् ।

अस्मिन् । क्षेत्रे । द्वौ । अही इति । स्त्री । च । पुमान् । च । तौ ।

उभौ । अरसा ॥ ८ ॥

सर्पका बन्द मुख हमें काटनेके लिये खुले नहीं, और खुला हुआ मुख बन्द न होवे अर्थात् मन्त्रकी शक्तिसे बँधा हुआ हो जावे । इस क्षेत्रमें नर और मादा दो सर्प हैं वे दोनों मन्त्रशक्ति से निर्वीर्य होजावें ॥ ८ ॥

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके ।

घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥

अरसासः । इह । अहयः । ये । अन्ति । ये । च । दूरके ।

घनेन । हन्मि । वृश्चिकम् । अहिम् । दण्डेन । आऽगतम् ॥९॥

जो सर्प यहाँ पासमें हैं और जो दूर हैं वे सब सर्प विषरहित होजावें; मैं बीछूको मुद्गरसे मारता हूँ और आये हुए साँपको दण्डसे मारता हूँ ॥ ९ ॥

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च।
इन्द्रो मेहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥

अघऽअश्वस्य। इदम्। भेषजम्। उभयोः। स्वजस्य। च।
इन्द्रः। मे। अहिम्। अघऽयन्तम्। अहिम्। पैद्वः। अरन्धयत्

अघाश्व और विना किसी कारणके उत्पन्न होने वाले स्वज इन दोनों दोनोंकी भेषज (मेरे पास है) इन्द्रदेवने अघरूप पाप करना चाहने वाले सर्पके लिये पैद्वको मेरे वशमें कर दिया है। १० ॥ (१०)

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥

पैद्वस्य। मन्महे। वयम्। स्थिरस्य। स्थिरऽधाम्नः।
इमे। पश्चा। पृदाकवः। प्रऽदीध्यतः। आसते ॥ ११ ॥

हम यह समझते हैं, कि-स्थिर प्रभाव वाले स्थिर पैद्वके पीछे ये सर्प शोक ही करते रह जाते हैं ॥ ११ ॥

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥

नष्टऽअसवः। नष्टऽविषाः। हताः। इन्द्रेण। वज्रिणा।
जघान। इन्द्रः। जघ्निम। वयम् ॥ १२ ॥

वज्रधारी इन्द्रने इन सर्पोंसे विष और प्राणको नष्ट कर दिया था, इन्द्रके मारे हुए ही इनको अब हम मारते हैं ॥ १२ ॥

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥

हताः । तिरश्चिऽराजयः । निऽपिष्टासः । पृदाकवः ।
दर्विम् । करिक्रतम् । श्वित्रम् । दर्भेषु ॥ असितम् । जहि ॥१३॥

तिरछी धारियों वाले तिरश्चिराजि नामक सर्प मन्त्रशक्तिसे मारे गए, कुत्सित शब्द करने वाले पृदाकु नामक सर्प पीस दिये गए, (हे यजमान !) तु करिक्रत् श्वित्र और काले सर्पको कुशाओंमें मार डाल ॥ १३ ॥

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

कैरातिका । कुमारिका । सका । खनति । भेषजम् ।
हिरण्ययीभिः । अभ्रिऽभिः । गिरीणाम् । उप । सानुषु ॥१४॥

किरातोंके देशोंमें रहने वाली सका कुमारी सुवर्णके खोदने के आयुधसे पर्वतोंके शिखरों पर औषधियोंको खोदती है १४

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

आ-। अयम् । अगन् । युवा । भिषक् । पृश्निऽहा । अपराऽजितः ।
सः । वै । स्वजस्य । जम्भनः । उभयोः । वृश्चिकस्य । च ॥१५॥

जिसमें मन्त्र व्याप्त हैं ऐसा यह युवा वैद्य आगया है वह कभी

पराजित नहीं हुआ है, यह स्वज नामक सर्प और वृश्चिक (बीछू) दोनोंका नाश करने वाला है ॥ १५ ॥

इन्द्रो मेहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च ।
वातापर्जन्यो३भा ॥ १६ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । मित्रः । च । वरुणः । च । वातापर्जन्या । उभा ॥ १६ ॥

इन्द्र मित्र वरुण तथा दोनों वायु और पर्जन्यने मेरे (शत्रु) सर्पको वशमें कर लिया है ॥ १६ ॥

इन्द्रो मेहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । पृदाकुम् । च । पृदाक्वम् । स्वजम् । तिरश्चिऽराजिम् । कसर्णीलम् । दशोनसिम् ॥ १७ ॥

इन्द्रने मेरे कल्याणके लिये पृदाकु पृदाक्व स्वज तिरश्चिराजि कसर्णील और दशोनसि नामक सर्पको वशमें कर लिया है १७

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव ।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः १८

इन्द्रः । जघान । प्रथमम् । जनितारम् । अहे । तव । तेषाम् । ऊं इति । तृह्यमाणानाम् । कः । स्वित् । तेषाम् । असत् । रसः ॥ १८ ॥

हे सर्प ! तेरे उत्पादकको पहिले इन्द्रने मार डाला था ! उन

सर्पोंके मारे जानेके समय उनमेंसे नष्ट होता हुआ कौनसा सर्प बलवान् बना था ? ॥ १८ ॥

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् ।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥

सम् । हि । शीर्षाणि । अग्रभम् । पौञ्जिष्ठःऽइव । कर्वरम् ।
सिन्धोः । मध्यम् । पराऽइत्य । वि । अनिजम् । अहेः । विषम् १९

जैसे पौञ्जिष्ठ कर्वरको ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार मैंने सिंधु के मध्यमें लौट कर सर्पके विषको शुद्ध कर दिया है ॥ १९ ॥

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥

अहीनाम् । सर्वेषाम् । विषम् । परा । वहन्तु । सिन्धवः ।
हताः । तिरश्चिऽराजयः । निऽपिष्टासः । पृदाकवः ॥ २० ॥

जितनी नदियें हैं वे सब सर्पोंके विषको बहा लेजावें, तिरश्चि-राजि नामक सर्प मारे गए और पृदाकु इस मन्त्रशक्तिसे कुचल जायें ॥ २० ॥ (११)

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ ॥ २१ ॥

ओषधीनाम् । अहम् । वृणे । उर्वरीःऽइव । साधुऽया ।
नयामि । अर्वतीःऽइव । अहे । निःऽएतु । ते । विषम् ॥ २१ ॥

मैं अपनी साधुता भरी बुद्धिसे ओषधियोंमेंसे उर्वरी ओष-

धियोंका वरण करता हूँ, मैं उनको शीघ्रगामिनी नदियोंकी समय भेजता हूँ, समान हे सर्प! तेरा विष दूर होजावे ॥ २१ ॥

यद्ग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।

कान्दाविषं कनक्कं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥

यत् । अग्नौ । सूर्ये । विषम् । पृथिव्याम् । ओषधीषु । यत् ।

कान्दाऽविषम् । कनक्कम् । निःऽएतु । आ । एतु । ते । विषम् २२

सूर्यमें अग्निमें पृथिवीमें और औषधियोंमें जो विष है और जो कन्दविष तथा कनक्क विष है वह सब विष तुझमें आजावे (अर्थात् विषसे विष नष्ट होजावे) तेरा विष पूर्णरूपसे निकल जावे॥

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युतं आबभूवुः ।

येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥ २३ ॥

ये । अग्निऽजाः । ओषधिऽजाः । अहीनाम् । ये । अप्सुऽजाः । विऽद्युतः । आऽबभूवुः ।

येषाम् । जातानि । बहुऽधा । महान्ति । तेभ्यः । सर्पेभ्यः । नमसा । विधेम ॥ २३ ॥

जो अग्नि औषधि और जलमें सर्पोंसे उत्पन्न हुई बिजलिएँ (मनुष्यको कँपाने वाले विष) हैं और जिनसे बड़े २ कर्म हुए हैं उन सर्पोंकी हम हविसे-नमस्कारसे-सेवा करते हैं ॥ २३ ॥

तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि ।
अघस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥

तौदी । नाम । असि । कन्या । घृताची । नाम । वै । असि ।
अघःऽपदेन । ते । पदम् । आ । ददे । विषऽदूषणम् ॥ २४ ॥

हे औषधे ! तू तौदी या घृताची नाम वाली कमनीय औषधि है मैं नीचेको पैर करके तेरे विषदूषण स्थानको ग्रहण करता हूँ २४

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत् तेजोवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

अङ्गात्ऽअङ्गात् । प्र । च्यवय । हृदयम् । परि । वर्जय ।
अध । विषस्य । यत् । तेजः । अवाचीनम् । तत् । एतु । ते २५

हे रोगिन् ! तू हृदयको बचाता हुआ प्रत्येक अङ्गोंसे विषको प्रच्यवित कर फिर उस विषका तेज नीचेको आता हुआ नष्ट हो जावे ॥ २५ ॥

आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि ।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणयीत् ।
दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ॥ २६ ॥

आरे । अभूत् । विषम् । अरौत् । विषे । विषम् । अप्राक् । अपि ।
अग्निः । विषम् । अहेः । निः । अधात् । सोमः । निः । अनयीत् ।
दंष्टारम् । अनु । अगात् । विषम् । अहिः । अमृत ॥ २६ ॥

द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

विष दूर होगया है जो नवीन विष था वह भी विषमें रुक गया है अग्निने सर्पके विषको अलग कर दिया है, सोम उसको अलग लेगया है, वह विष काटने वाले सर्पको पहुँच गया है, इस लिये सर्प मर गया है ॥ २६ ॥ (१२)

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५७२) ॥
द्वितीय सूक्त समाप्त

अभिचारकर्मैतत् । शत्रुनाशनसमर्थबलम् उदके प्रवेश्य तदुदके वज्रत्वं कल्पयित्वा शत्रुम् अभिलक्ष्य तत् प्रक्षिपति । तद् एवम् । आदावपः संबोध्य यस्माद् यूयम् इन्द्रस्यौजो भवथ इन्द्रस्य सह आदि भवथ तस्माद् इन्द्रबलैर्युष्मान् युक्ताः करोमीत्याह। अनन्तरम् इन्द्रस्य भागः अर्थाद् अंशो भवथ सोमस्य भागः स्थ वरुणस्य भागः स्थ मित्रावरुणयोर्भागः स्थ यमस्य भागः स्थ पितॄणां सवितुश्च भागः स्थेत्याह। अनन्तरं योऽपां त्रैलोक्यस्थसकलजन्तूनां भागः पूजनीयो युष्मासु अर्थात् पूर्वोक्तास्वप्सु भवति यश्च तादृश ऊर्मिः यश्च तादृशो वत्सः अर्थाद् अपां नपान्नाम वैद्युतोग्निः यश्च तादृशो वृषभः महाबलः कश्चित् पशुः यश्च अपां मध्य उदपद्यतेति वेदप्रसिद्धो हिरण्यगर्भ इति बलवान् आद्यो देवः यश्च अप्सु वर्तमानो नानावर्णोश्मप्रतीको मेघः ये च अपां मध्ये वर्तमाना अग्नयस्तान् सर्वान् प्रत्येकं शत्रुं प्रति क्षिपामि तं शत्रुम् अहं हन्यां तम् अनेन मन्त्रेण अनेन कर्मणा अनेन उदवज्रेण विदारयाणीत्याह । अनन्तरं स्वकृतात् त्रैहायणाद् अनृतवचनपापाद् रक्षणं याचते । अनन्तरं शत्रोरुपरि उदवज्रं प्रक्षेप्तुं प्रक्रामति यत्र प्रक्रामति स्वक्रमं संबोध्य तम् आह त्वं विष्णोः क्रमोसि अर्थाद् येन क्रमेण विष्णुस्त्रीन् लोकान् आक्रमत तादृशो बलवान् असि स्वयं पृथिव्या च तीक्ष्णीकृतं शस्त्रम् असि तेन त्वया शत्रुं पृथिव्याः सकाशान्निर्णोदयामीति । तथैव त्वम् अन्तरिक्षतीक्ष्णीकृतोसि द्यौसंशितोसि दिक्संशितोसि आशासंशितोसि

ऋक्संशितोसि यज्ञसंशितोसि ओषधीसंशितोसि अप्संशितोसि कृषिसंशितोसि प्राणसंशितोसि तस्मात् तत्तदभिमानिप्रदेशात् तं शत्रुं निर्णोदयानीति । एवमुक्त्वा जितमस्माभिर्जिताः शत्रुसेना इत्याह । अनन्तरं दक्षिणां दिशं सरति किंचित्सृत्वा ताम् अभिमुखो भवतीत्यर्थः । तथैव इतरदिशश्च सप्तर्षिनाम नक्षत्रं ब्राह्मणांश्च अभिमुखो भवति प्रत्येकं च तेभ्यः सकाशाद् द्रविणं याचते । यं च शत्रुम् अभिष्यामि तं हनानि इयं समित् तं हेतिर्भूत्वा भक्षतु इत्याह । अनन्तरं भुवस्पतिमन्नं याचते तथैव अग्निं वर्चः प्रजाम् आयुश्च याचते । अग्निं च यातुधानभेदनं याचते । अन्ते च पूर्वोक्तानि यान्युदकानि तान्येव चतुर्भृष्टिं वज्रं कल्पयित्वा शत्रुशिरश्छेदाय प्रक्षिपति स च शत्रोरङ्गानि भिनत्तु देवाश्च तत् सर्वं मेऽनुजानन्त्वित्याशास्ते ॥

सांप्रदायिकास्तु वक्ष्यमाणप्रकारेण तस्मिन्नेव कर्मणि विनियुञ्जन्ति सूक्तम् ।

अभिचारकर्मणि उदवज्राणां विधानम् उच्यते । "इन्द्रस्यौजः" इति सूक्तस्य आद्यानां षण्णाम् ऋचाम् पूर्वार्धर्चैः कांस्यघटं प्रक्षालयति । "जिष्णवे योगाय" इति उत्तरार्धर्चैः षड्भिः कांस्यघटम् उदकसमीपे निदधाति । "इदम् अहं यो मा प्राच्या दिशः" इत्यंष्टर्चेन कल्पजेन सूक्तेन उदकमध्ये निदधाति घटम् । "इदम् अहम्" इति सूक्तेन उदकमध्ये घटस्य मुखं करोति । "इदमहं यो मा प्राच्या दिशः" इति सूक्तेन घटम् उदकपूर्णं कृत्वा अपक्रामति । "इदमहम्" इति सूक्तेन उदकपूर्णं घटं मण्डपे स्थापयति । एतद् अभिचारे उदकाहरणम् । तदनन्तरं वज्रप्रहरणविधिः । "इन्द्रस्यौजः" इति सर्वं कृत्वा "इदमहम्" इति स्थापनान्तं कृत्वा "अग्नेर्भागः" [७-१४] इत्याद्यष्टाभिर्ऋग्भिः आनीतोदकस्य द्विधाकरणम् । अर्धं घटे कृत्वा अर्धं भाजने करोति । तद्भाजनम् अग्नौ तापयति ।

घटम् अन्यस्मै पुरुषाय प्रदापयति । "अग्नेर्भागः" इत्यादयोऽष्टौ स्नापने मन्त्राः । ततो बहिर्दक्षिणामुख उपविश्य भाजनम् अग्रे कृत्वा "वातस्य रंहितस्य" इति सौत्रमन्त्रेण उदकं संगृह्य "शम् अग्नये" इति कल्पजेन सूक्तेन सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽभयं दद्यात् । "यो व आपोपाम्" [१५] इत्यृचा वज्रप्रक्षेपः ॥ पुनरपि "वातस्य रंहितस्य" इत्यादि कृत्वा "यो व आपोपामूर्मिः" [१६] इति ऋचा वज्रक्षेपः । एवम् उत्तराभिरृग्भिः [१७–२१] वज्रप्रक्षेपः । "एनानधराचः पराचः" इति कल्पजया ऋचा भाजनस्थम् उदकं भूमौ निनयति । एवमेव "यं वयम्" [४२] इति सूक्तेन अन्वृचम् "अपामस्मै वज्रम्" [५०] इति ऋचा च वज्रप्रक्षेपः । "विष्णोः क्रमोसि" [२५–३६] इति द्वादशभिर्विष्णुक्रमान् क्रमते शत्रो-रभिमुखम् । तद् उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रस्यौज इति प्रक्षालयति । जिष्णवे योगायेत्यपो युनक्ति । वातस्य रंहितस्यामृतस्य योनिरिति प्रतिगृह्णाति । उत्तमाः प्रताप्याधराः प्रदायैनमेनानधराञ्चः पराचो-वाञ्चस्तपसस्तमूनयत देवाः पितृभिः संविदानः प्रजापतिः प्रथमो देवतानाम् इत्यतिसृजति । इदम् अहं यो मा प्राच्या दिशोघायुर-भिदासादपश्चाद्दीदिपुगूहः । तस्येमौ प्राणापानावपक्रामामि ब्रह्मणा । दक्षिणायाः प्रतीच्या उदीच्या ध्रुवाया व्यध्वाया ऊर्ध्वायाः । इदम् अहं यो मा दिशाम् अन्तर्देशेभ्य इत्यपक्रामामीति । एवम् अभि-ष्ठानापोहननिवेष्टनानि । सर्वाणि खलु शश्वद् भूतानि आकाशाद् वज्रम् उद्यच्छमानाच्छङ्कन्ते मां हनिष्यसि मां हनिष्यसीति । तेभ्योभयं प्रदेच्छम् अग्नये शं पृथिव्यै शम् अन्तरिक्षाय शं वायवे शं दिवे शं सूर्याय शं चन्द्राय शं नक्षत्रेभ्यः शं गन्धर्वाप्सरोभ्यः शं सर्पेतरजनेभ्यः शिवं मह्यम् इति । यो व आपोपां यं वयम् अपाम् अस्मै वज्रम् इत्यन्वृचम् उदवज्रान् । विष्णोः क्रमोसीति विष्णुक्रमान्" इति [कौ० ६. ३] ॥

"यदर्वाचीनम्" इति ऋचा [२२] आचामयति अनृतभाषण-संजातपापापनोदनकामम् ॥

"समुद्रं वः म हिणोमि" इति ऋचा [२३] पल्न्यञ्जलावुद-पात्रं निनयति सर्वेषु तन्त्रेषु । "बर्हिषि पल्न्यञ्जलौ निनयति समुद्रं वः म हिणोमि" इति [कौ० १. ६] सूत्रात् ॥

"सूर्यस्यावृतम्" इति पञ्चभिः [३७-४१] मदक्षिणम् आवर्तते सर्वेषु तन्त्रेषु । "सूर्यस्यावृतम् इत्यभिदक्षिणम् आवर्तते" इति [कौ० १. ६] सूत्रात् ॥

यह अभिचार कर्म है, कि—शत्रुनाशनसमर्थ बलको जलमें प्रवेश करा कर उसको वज्रमान कर शत्रुकी ओर लक्ष्य करके फेंके । उस की रीति यह है,कि—आरंभमें जलको संबोधित करके कहे,कि—क्यों कि-तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी अभिभवनशक्ति हो इस लिये मैं तुमको इन्द्रके बलसे सम्पन्न करता हूँ । फिर कहे, कि—तुम इन्द्रके भाग हो,सोमके भाग हो,वरुणके भाग हो,मित्रावरुण दोनोंके भाग हो, यमके भाग हो, पितरोंके भाग हो और सविता देवताके भाग हो । फिर कहे, कि—त्रिलोकीमें स्थित सकल जलोंका जो पूज-नीय भाग तुममें स्थित है और जो तुममें तैसी लहरें हैं और जो तुममें तैसा वत्स है अर्थात् अपान्नपात् नामक जो वैद्युत अग्नि है और तैसा महाबली कोई वृषभ पशु है, और जो जलके मध्यमें उत्पन्न हुए वेदप्रसिद्ध हिरण्यगर्भ नामक बलवान् आदिदेव हैं और जो जलमें वर्तमान अनेक वर्ण वाला पर्वताकार मेघ है और जो जलमें वर्तमान अग्नियें हैं, इन सबमेंसे प्रत्येकको मैं शत्रुकी ओर छोड़ता हूँ, उस शत्रुको मैं मार डालूँ, उस शत्रुको मैं इस मन्त्रसे इस कर्मसे और इस जलरूपी वज्रसे विदीर्ण कर डालूँ । तदनन्तर अपने तीन वर्षके असत्यभाषणसे रक्षा पानेके लिये प्रार्थना करे । तदनन्तर शत्रुके ऊपर जलवज्र फेंकनेके लिये पैर

उठावे जो पैर उठावे उस अपने पैर धरनेको सम्बोधित करके उससे कहे, कि—तू विष्णुका क्रम (पादविक्षेप) है अर्थात् जिस क्रमसे विष्णुने तीनों लोकोंको आक्रमित किया था तू तैसा ही बलवान् है स्वयं पृथ्वीका तीक्ष्ण किया हुआ शस्त्र है उस तुझसे मैं शत्रुको पृथिवीसे निर्खोदन करता हूँ इसी प्रकार तू अन्तरिक्ष-तीक्ष्णीकृत है, द्यौ संशित है, दिक्संशित है, आशासंशित है, ऋक्-संशित है, यज्ञसंशित है ओषधिसंशित है, अप्संशित है, कृषि-संशित है, प्राणसंशित है, इस कारण मैं उन २ के अभिमानी देवताओंके प्रदेशसे उस शत्रुको निर्खोदित करता हूँ। इस बात को कह कर कहे, कि—हमने शत्रसेनाको जीत लिया। तदनन्तर दक्षिणदिशाकी ओर सरके और कुछ सरक कर उस दिशाकी ओर मुख कर लेय। तदनन्तर प्रत्येक दिशाकी ओर, सप्तर्षि नामक नक्षत्रोंकी ओर और ब्रह्मणोंकी ओर मुख करे और इनमें से प्रत्येकके पाससे धनकी याचना करे और कहे, कि—मैं जिस शत्रुको खोजता हूँ उसको मारूँगा, यह समिधा आयुध होकर उसको खा डाले। तदनन्तर ध्रुवस्पतिसे अन्नकी याचना करे तथा अग्नि वर्च प्रजा और आयुकी याचना करे। और अग्निसे राक्षसोंमें भेद डालनेकी याचना करे। अंतमें जो पूर्वोक्त उदक है उसको चतुर्भृष्टिवज्र मान कर शत्रुका शिर काटनेके लिये फैंक देय और आशा करे, कि—यह शत्रुके अंगोंको काट देय और सब देवता भी मुझे इस कामके लिये अनुमति देवें॥

साम्प्रदायिक इसी कर्ममें इस सूक्तका इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि—

अभिचारकर्ममें जलवज्रोंका विधान कहा जाता है, कि—“इन्द्र-स्यौजः” इस सूक्तकी पहिली छः ऋचाओंकी आधी ऋचाओंसे काँसीके कलशका प्रक्षालन करे। ‘जिष्णवे योगाय’ इन आधी

छः ऋचाओंसे कांस्यघटको जलके समीप रक्खे। "इदं अहम्" इस सूक्तसे जलमें घटके मुखको करे। "इदमहं यो मा प्राच्या दिशः" इस सूक्तसे घटको जलसे भर कर अपक्रमण करे। "इदमहम्" सूक्तसे घटको मण्डपमें स्थापित करे। इस प्रकार घटमें जलका आहरण किया जाता है। तदनन्तर वज्रप्रहरणकी विधि है, कि—"इन्द्रस्यौजः" इस सत्रको करके "इदमहमहम्" से स्थापनतकके कर्मको करे और "अग्नेर्भागः" इस सातवीं ऋचासे १४ वीं ऋचा तककी आठ ऋचाओंसे लाये हुए जलको दो भागोंमें बाँटे। आधेको घड़ेमें करके आधेको पात्रमें रक्खे। उस पात्रको अग्निमें गरम करे। घटको दूसरे पुरुषको दिला देय। "अग्नेर्भागः" इत्यादि आठ ऋचाएँ तापनके मन्त्र हैं। तदनन्तर बाहरकी ओर दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके बैठे और पात्र को आगे रख कर "वातस्य रंहितस्य" इस सूत्रमें कहे हुए मन्त्र से उदकका संग्रह करके "शम् अग्नये" इस कल्पज सूक्तसे सब प्राणियोंको अभय देवे। "यो व आपोपाम्" इस पन्द्रहवीं ऋचासे वज्रको फेंके। फिर भी "वातस्य रंहितस्य" इत्यादि करके "यो वः आपोपामूर्मिः" इस सोलहवीं ऋचासे वज्रको फेंके। इसी प्रकार अगली सत्रहवींसे इक्कीसवीं तककी छः ऋचाओंसे वज्रप्रक्षेप होता है। 'एनानधराचः पराचः' इस कल्पकी ऋचासे भाजनमें स्थित जलको भूमिमें डाल देय। इसी प्रकार 'यं वयम्' (४२) सूक्तसे प्रत्येक ऋचा पर और "अपामस्मै वज्रम्" इस पचासवीं ऋचासे भी वज्रप्रक्षेप होता है। "विष्णोः क्रमोऽसि" इस पच्चीसवींसे छत्ती-सवीं तककी बारह ऋचाओंसे शत्रुके अभिमुख विष्णुक्रमोंको कदम उठा कर रक्खे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"इन्द्रस्यौज इति प्रक्षालयति। जिष्णवे योगायेत्यपो युनक्ति। वातस्य रंहितस्यामृतस्य योनिरिति प्रतिगृह्णाति। उत्तमाः प्रतप्या-

धरां: प्रदायैनमेनानधराचः पराचोऽवाञ्चस्तमं नयत देवाः पितृभिः सम्विदानः प्रजापतिः प्रथमो देवतानाम् इत्यतिसृजति । इदं अहं यो मा प्राच्यादिशोघायुरभिदासादपवादीदिपुगृहः तस्येमौ प्राणापानावपक्रामामि ब्रह्मणा । दक्षिणायाः प्रतीच्या उदीच्या ध्रुवाया व्यध्वाया ऊर्ध्वायाः । इदं अहं यो मा दिशां अन्तर्देशेभ्य इत्यपक्रामामीति । एवं अभिष्ठानापोहननिवेष्टनानि । सर्वाणि खलु शश्वद् भूतानि ब्राह्मणाद् वज्रम् उद्यच्छमानाच्छङ्कन्ते मां हनिष्यसि मां हनिष्यसीति । तेभ्योभयं वदेच्छं अग्नये शम् पृथिव्यै शम् अन्तरिक्षाय शम् वायवे शम् दिवे शम् सूर्याय शम् चन्द्राय शं नक्षत्रेभ्यः शं गंधर्वाप्सरोभ्यः शम् सर्पेतरजनेभ्यः शिवं मह्यम् इति । यो न अपोपो यं वयं अपो अस्मै वज्रं इत्यन्तृचम् उदवज्रान् । विष्णोः क्रमोसि विष्णुक्रमान्" (कौशिकसूत्र ६ । २) ॥

अनृतभाषणसे होने वाले पापको दूर करना चाहने वालेको "यदर्वाचीनम्" इस छब्बीसवीं ऋचासे आचमन करावे ।

सब तन्त्रोंमें । "समुद्रं वः प्रहिणोमि" इस तेईसवीं ऋचासे पत्नीकी अञ्जलिमें जलपात्रको रक्खे। कौशिकसूत्र १ । ६ में कहा है, कि–"बर्हिषि पत्न्यञ्जलौ निनयति समुद्रं वः प्र हिणोमि" ॥

सकल तन्त्रोंमें "सूर्यस्यावृतम्" इन सैंतीसवींसे इकतालीसवीं तककी ऋचाओंसे प्रदक्षिण परिक्रमा करे। कौशिकसूत्र १ । ६ में कहा है, कि–"सूर्यस्यावृत इत्यभिदक्षिणं आवर्तते" ॥

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्यः बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।

जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । ओजः । स्थ । इन्द्रस्य । सहः । स्थ । इन्द्रस्य । बलम् ।

स्थ । इन्द्रस्य । वीर्यम् । स्थ । इन्द्रस्य । नृम्णम् । स्थ ।

जिष्णवे । योगाय । ब्रह्मऽयोगैः । वः । युनज्मि ॥ १ ॥

हे जलो ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रकी अभिभव करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके वीर्य हो, इन्द्रके धन हो, ऐसे तुम को मैं जयशील योगके लिये ब्रह्मयोगोंसे युक्त करता हूं ॥ १ ॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि २

०योगाय । क्षत्रऽयोगैः । वः ।० ॥ २ ॥

हे जलो ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी तिरस्कार करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रके वीर्य हो और इन्द्रके धन हो, ऐसे तुमको मैं जयशील योगके लिये क्षत्रयोगसे युक्त करता हूं २

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ३

०योगाय । इन्द्रऽयोगैः । वः ।० ॥ ३ ॥

हे जलो ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी तिरस्कार करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रके वीर्य हो, और इन्द्रके धन हो, ऐसे तुमको मैं जीतनेके लिये इन्द्रयोगोंसे युक्त करता हूं ॥ ३ ॥

इन्द्रस्यौज० । जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ४

०योगाय । सोमऽयोगैः । वः ।० ॥ ४ ॥

हे जलो ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी तिरस्कार करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रके वीर्य हो, और इन्द्रके धन हो, ऐसे तुमको मैं जयशील योगके लिये सोमयोगोंसे युक्त करता हूं ४

इन्द्रस्यौज ० । जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि ५

०योगाय । अप्सुऽयोगैः । वः । युनज्मि ॥ ५ ॥

हे जलों ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी तिरस्कार करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रके वीर्य हो, और इन्द्रके धन हो, ऐसे तुमको मैं जयशील योगके लिये अप्योगोंसे युक्त करता हूँ ५

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१
स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु
युक्ता म आप स्थ ॥ ६ ॥

इन्द्रस्य । ओजः । स्थ । इन्द्रस्य । सहः । स्थ । इन्द्रस्य । बलम् ।
स्थ । इन्द्रस्य । वीर्यम् । स्थ । इन्द्रस्य । नृम्णम् । स्थ ।
जिष्णवे । योगाय । विश्वानि । मा । भूतानि । उप । तिष्ठन्तु ।
युक्ताः । मे । आपः । स्थ ॥ ६ ॥

हे जलों ! तुम इन्द्रके ओज हो, इन्द्रकी तिरस्कार करनेकी शक्ति हो, इन्द्रके बल हो, इन्द्रके वीर्य हो, और इन्द्रके धन हो, जयशीलयोगके लिये सकलभूत मेरे पास रहे जल मेरे पास उचित रूपमें उपस्थित रहें ॥ ६ ॥

अग्नेर्भाग स्थं ।
अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ ७ ॥

अग्नेः । भागः । स्थ ।

अपाम् । शुक्रम् । आपः । देवीः । वर्चः । अस्मासु । धत्त ।

प्रजाऽपतेः । वः । धाम्ना । अस्मै । लोकाय । सादये ॥ ७ ॥

हे जलों ! तुम अग्निके भाग हो, प्रजापतिके तेजसे इस लोक को नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलों को हममें स्थापित करो ॥ ७ ॥

इन्द्रस्य भाग स्थ ।०।०। ॥ ८ ॥

इन्द्रस्य । भागः ।० ॥ ८ ॥

हे जलों ! तुम इन्द्रके भाग हो, प्रजापतिके तेजसे इस लोकको नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलोंको हममें स्थापित करो ॥ ८ ॥

सोमस्य भाग स्थ ।०।०। ॥ ९ ॥

सोमस्य । भागः ।० ॥ ९ ॥

हे जलों ! तुम सोमके भाग हो, प्रजापतिके तेजसे इस लोक को नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलों को हममें स्थापित करो ॥ ९ ॥

वरुणस्य भाग स्थ ।०।० ॥ १० ॥

वरुणस्य । भागः ।० ॥ १० ॥

हे जलों ! तुम वरुणके भाग हो, प्रजापतिके तेजसे इस लोक को नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलों को हममें स्थापित करो ॥ १० ॥

मित्रावरुणयोर्भाग स्थ ।०।० ॥ ११ ॥

मित्रावरुणयोः । भागः ।० ॥ ११ ॥

हे जलों ! तुम मित्रावरुणके भाग हो प्रजापतिके तेजसे इस लोकको नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलोंको हममें स्थापित करो ॥ ११ ॥

यमस्य भाग स्थ ।०।० ॥ १२ ॥

यमस्य । भागः ।० ॥ १२ ॥

हे जलों ! तुम यमके भाग हो प्रजापतिके तेजसे इस लोकको नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलोंको हममें स्थापित करो ॥ १२ ॥

पितृणां भाग स्थं ।०।०। ॥ १३ ॥

पितृणाम् । भागः ।० ॥ १३ ॥

हे जलों ! तुम पितरोंके भाग हो प्रजापतिके तेजसे इस लोकको नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलोंको हममें स्थापित करो ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ ।
अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त ।
प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥

देवस्य । सवितुः । भागः । स्थ ।
अपाम् । शुक्रम् । आपः । देवीः । वर्चः । अस्मासु । धत्त ।
प्रजाऽपतेः । वः । धाम्ना । अस्मै । लोकाय । सादये ॥ १४ ॥

हे जलों ! तुम सविता देवके भाग हो, प्रजापतिके तेजसे इस लोकको नष्ट करनेके लिये जलोंके वीर्य, वर्च और दमकते हुए जलोंको हममें स्थापित करो ॥ १४ ॥

यो व आपोऽपां भागो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः ।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या

यः । वः । आपः । अपाम् । भागः । अप्ऽसु । अन्तः । यजुष्यः ।
देवऽयजनः ।
इदम् । तम् । अति । सृजामि । तम् । मा । अभिऽअवनिक्षि ।
तेन । तम् । अभिऽअतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् ।
वयम् । द्विष्मः ।
तम् । वधेयम् । तम् । स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन । कर्मणा ।
अनया । मेन्या ॥ १५ ॥

हे जलों ! जो तुममें जलीय भाग है जो जलीय भाग यजुर्वेद के मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य है, देवताओंकी संगति करनेवाला है, उस जलीय भागको, जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते है उस पर छोड़ता हूँ, उस जलीय अंशसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ । इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस मन्त्र-रूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥

यो व॑ आपोपामूर्मिर॒प्स्वन्तः ०।०।०।० ॥ १६ ॥

०अपाम् । ऊर्मिः । अप्ऽसु ।० ॥ १६ ॥

हे जलों! जो तुममें लहरें हैं जो लहरें यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य हैं, देवताओंकी संगति करने वाली हैं, उन लहरों को, जो हमसे द्वेष करते हैं और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ, उन लहरोंसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ। इस मन्त्र से इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥ १६ ॥

यो व॑ आपोपां व॒त्सो॒३प्स्व॒न्तः ०।०।०।० ॥ १७ ॥

०अपाम् । वत्सः । अप्ऽसु ।० ॥ १७ ॥

हे जलों! जो तुममें वत्स है जो वत्स यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य है, देवताओंकी संगति करने वाला है, उस वत्सको, जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ, उस वत्ससे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ। इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥ १७ ॥

यो व॑ आपोपां वृ॑ष॒भो॒३प्स्व॒न्तः ०।०।०।० ॥ १८ ॥

०अपाम् । वृषभः । अप्ऽसु ।० ॥ १८ ॥

हे जलों! जो तुममें वृषभ है जो वृषभ यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य है, देवताओंकी संगति करने वाला है उस वृषभको, जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ, उस वृषभसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ। इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥ १८ ॥

यो वं आपोपां हिरण्यगर्भोऽ३प्सु ०।०।०।० ॥१६॥

०अपाम्। हिरण्यऽगर्भः। अप्ऽसु।० ॥ १६ ॥

हे जलों! जो तुममें हिरण्यगर्भ है जो हिरण्यगर्भ यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य है, देवताओंकी संगति करने वाला है, उस हिरण्यगर्भको, जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ, उस हिरण्यगर्भसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ। इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ १६

यो वं आपोपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽ३प्सु ०।०।०।० २०

यः। वः। आपः। अपाम्। अश्मा। पृश्निः। दिव्यः। अप्ऽसु।

अन्तः। यजुष्यः। देवऽयजनः।

इदम्। तम्। अति। सृजामि। तम्। मा।० ॥ तेन। तम्। २०

हे जलों! जो तुममें अग्नियें हैं जो अग्नियें यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य हैं, देवताओंकी संगति करने वाली हैं, उन अग्नियोंको, जो हमसे द्वेष करता है, और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ, उन अग्नियोंसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ। इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥ २० ॥

ये वं आपोपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः।

इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि।

तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।

तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या॥

ये । वः । आपः । अपाम् । अग्नयः । अप्ऽसु । अन्तः ।
यजुष्याः । देवऽयजनाः ।
इदम् । तान् । अति । सृजामि । तान् । मा । अभिऽअवनिक्षि ।
तैः । तम् । अभिऽअतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् ।
वयम् । द्विष्मः ।
तम् । वधेयम् । तम् । स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन ।
कर्मणा । अनया । मेन्या ॥ २१ ॥

हे जलों ! जो तुममें दिव्य पृश्नि पत्थर हैं जो दिव्य पृश्नि पत्थर यजुर्वेदके मन्त्रोंसे सेवन करने योग्य है, देवताओंकी संगति करने वाला है, उस दिव्य पृश्नि पत्थरको, जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उस पर छोड़ता हूँ उस दिव्य पृश्नि पत्थरसे मैं अपनेको पुष्ट करता हूँ । इस मन्त्रसे इस अभिचारकर्मसे और इस जलरूप आयुधसे उस शत्रुको आच्छादित कर दूँ और मार डालूँ ॥ २१ ॥

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः २२

यत् । अर्वाचीनम् । त्रैहायनात् । अनृतम् । किम् । च । ऊदिम ।
आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुःऽइतात् । पान्तु । अंहसः २२

जो हमने तीन वर्षके भीतर अत एव नवीन असत्यभाषण किया है उस दुर्गति देने वाले सकल पापसे जल मुझको मुक्त करे॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् २३

समुद्रम् । वः । प्र । हिणोमि । स्वाम् । योनिम् । अपि । इतन ।
अरिष्टाः । सर्वऽहायसः । मा । च । नः । किम् । चन । आममत् २३

हे जलों ! मैं तुमको समुद्रकी ओर प्रेरित करता हूँ, तुम अपनी योनि (समुद्र) में लीन होजाओ, हे जलों ! तुम्हारी गति सर्वत्र है और तुम हिंसाको दूर करने वाले हो, हमको कोई भक्षण न कर सके ॥ २३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

अरिप्राः । आपः । अप । रिप्रम् । अस्मत् ।
प्र । अस्मत् । एनः । दुःऽइतम् । सुऽप्रतीकाः । प्र । दुःऽस्वप्न्यम् ।
प्र । मलम् । वहन्तु ॥ २४ ॥

हे निष्पाप जलों ! तुम हमसे पापको दूर करो, हे सुप्रतीक जलों ! तुम हमसे दुर्गतिप्रद पाप, दुःस्वप्नजनित दुःख और मल को बहा दो ॥ २४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः ।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्नऽहा । पृथिवीऽसंशितः । अग्निऽतेजाः ।

पृथिवीम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । पृथिव्याः । तम् । निः ।

भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ।

सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ २५ ॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है पृथिवीने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें अग्निका तेज भरा हुआ है, तू पृथ्वी पर विक्रमण कर मैं पृथिवीसे उसको दूर करता हूँ, कि—जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ २५ ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः ।

अन्तरिक्षमनु वि क्रमेहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो०।०

०सपत्नऽहा । अन्तरिक्षऽसंशितः । वायुऽतेजाः ।

अन्तरिक्षम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । अन्तरिक्षात् । तम् ।०२६

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, अन्तरिक्षने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें वायुका तेज भरा हुआ है, तू अन्तरिक्ष पर विक्रमण कर मैं अन्तरिक्षसे उसको दूर करता हूँ, कि—जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः ।

दिवमनु वि क्रमेहं दिवस्तं ०।० ॥ २७ ॥

० सपत्नऽहा । द्यौऽसंशितः । सूर्यऽतेजाः ।

दिवम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । दिवः । तम् ।० ॥ २७ ॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है द्यौने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें सूर्यका तेज भरा हुआ है, तू द्यौ पर विक्रमण कर मैं द्यौसे उसको दूर करता हूं, कि-जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ २७ ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः।
दिशोनु वि क्रमेहं दिग्भ्यस्तं ०।० ॥ २८ ॥

०सपत्नऽहा । दिक्ऽसंशितः । मनःऽतेजाः ।

दिशः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । दिक्ऽभ्यः । तम् ।० ।।२८।।

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, दिक्ने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें मनका तेज भरा हुआ है, तू दिक् पर विक्रमण कर मैं दिक्से उसको दूर करता हूँ, कि-जो हमसे द्वेष करता है, और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ २८ ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेहमाशाभ्यस्तं ०।० ॥ २९ ॥

० सपत्नऽहा । आशाऽसंशितः । वातऽतेजाः ।

आशाः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । आशाभ्यः । तम् ।० ।२९।

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, आशाने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें वातका तेज भरा हुआ है, तू आशा पर विक्रमण कर मैं आशासे उसको दूर करता हूँ, कि-जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ २९ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोनु वि क्रमेहमृग्भ्यस्तं ०।० ॥ ३० ॥

० सपत्नऽहा । ऋक्ऽसंशितः । सामऽतेजाः ।

ऋचः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । ऋक्ऽभ्यः । तम् ।० ।३०।

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, ऋक्ने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें सामका तेज भरा हुआ है, तू ऋक् पर विक्रमण कर मैं ऋक्से उसको दूर करता हूँ, कि-जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते है, वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ ३० ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेहं यज्ञात् तं ०।० ॥ ३१ ॥

० सपत्नऽहा । यज्ञऽसंशितः । ब्रह्मऽतेजाः ।

यज्ञम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । यज्ञात् । तम् ।०॥ ३१ ॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, यज्ञने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें ब्रह्मका तेज

भरा हुआ है, तू यज्ञ पर विक्रमण कर मैं यज्ञसे उसको दूर करता हूँ, कि–जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, माण उसको त्याग देय ॥ ३१ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः ।
ओषधीरनु वि क्रमेहमोषधीभ्यस्तं ०।० ॥ ३२ ॥

० सपत्नऽहा । ओषधीऽसंशितः । सोमऽतेजाः ।
ओषधीः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । ओषधीभ्यः।तम् ।० ३२

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, औषधिने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें सोमका तेज भरा हुआ है, तू औषधि पर विक्रमण कर मैं औषधिसे उसको दूर करता हूँ, कि–जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, माण उसको त्याग देय ॥ ३२ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः ।
अपोनु वि क्रमेहमद्भ्यस्तं ०।० ॥ ३३ ॥

० सपत्नऽहा । अप्सुऽसंशितः । वरुणऽतेजाः ।
अपः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । अत्ऽभ्यः । तम् ।० ॥३३॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, जलने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें वरुणका तेज भरा हुआ है, तू जल पर विक्रमण कर मैं जलसे उसको दूर करता हूँ, कि–जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, माण उसको त्याग देय ॥ ३३ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।

कृषिमनु वि क्रमेहं कृष्यास्तं ०।० ॥ ३४ ॥

०सपत्नऽहा । कृषिऽसंशितः । अन्नऽतेजाः ।

कृषिम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । कृष्याः । तम् ।० ॥ ३४ ॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, कृषिने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें अन्नका तेज भरा हुआ है, तू कृषि पर विक्रमण कर मैं कृषिसे उसको दूर करता हूँ, कि—जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ ३४ ॥

विष्णोः क्रमोसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः ।

प्राणमनु वि क्रमेहं प्राणात् तं निर्भजामो योऽस्मान्

द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्नऽहा । प्राणऽसंशितः । पुरुषऽतेजाः ।

प्राणम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । प्राणात् । तम् । निः ।

भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ।

सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ ३५ ॥

तू शत्रुओंका नाश करने वाला विष्णुका ही क्रम है, प्राणने तुझको काम लेनेके लिये तीक्ष्ण किया है तुझमें पुरुषका तेज भरा हुआ है, तू प्राण पर विक्रमण कर मैं प्राणसे उसको दूर करता हूँ, कि—जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं वह जीवित न रहे, प्राण उसको त्याग देय ॥ ३५ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य॑ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३६ ॥

जितम् । अस्माकम् । उत्ऽभिन्नम् । अस्माकम् । अभि । अस्थाम् । विश्वाः । पृतनाः । अरातीः ।
इदम् । अहम् । आमुष्यायणस्य । अमुष्याः । पुत्रस्य । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि । वेष्टयामि । इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ३६ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है, मैं शत्रुकी सम्पूर्ण सेनाओंको दबा रहा हूँ मैं अमुक गोत्र वाले और अमुकीके पुत्र शत्रुके वर्च तेज प्राण और आयुको (इस अभिचारकर्मसे) घेर रहा हूँ, इस शत्रुको मैं यह नीचेको गिराये देता हूँ ॥ ३६ ॥

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् ।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३७॥

सूर्यस्य । आऽवृतम् । अनुऽआवर्ते । दक्षिणाम् । अनु । आऽवृतम् ।
सा । मे । द्रविणम् । यच्छतु । सा । मे । ब्राह्मणऽवर्चसम् ३७

दक्षिणकी ओर फैले हुए सूर्यसे सञ्चरित मार्गका मैं अनुवर्तन करता हूँ, वह दक्षिण दिशा मुझको धन और ब्रह्मवर्च देवे ३७

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते ।

ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३८॥

दिशः । ज्योतिष्मतीः । अभिऽआवर्ते ।

ताः । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ताः । मे ।० ॥ ३८ ॥

मैं ज्योतिष्मती दिशाओंकी ओर प्रदक्षिणा करता हूँ–उनसे प्रार्थना करता हूँ, वे मुझको धन देवें और मुझको ब्राह्मणवर्चस देवें ॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते ।

ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥३९॥

सप्तऽऋषीन् । अभिऽआवर्ते ।

ते । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ते । मे ।० ॥ ३९ ॥

मैं सप्तर्षियोंके अभिमुख होकर स्थित होता हूँ, वे मुझको धन देवें और वे मुझको ब्राह्मणवर्च देवें ॥ ३९ ॥

ब्रह्माभ्यावर्ते ।

तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४०॥

ब्रह्म । अभिऽआवर्ते ।

तत् । मे । द्रविणम् । यच्छतु । तत् । मे ।० ॥ ४० ॥

मैं मन्त्रके अभिमुख होकर स्थित होता हूँ, वह मुझको धन देवे और मुझको ब्रह्मवर्च देवे ॥ ४० ॥

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते ।

ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥४१॥

ब्राह्मणान् । अभिऽआवर्ते ।

ते । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ते । मे । ब्राह्मणऽवर्चसम् ॥४१॥

मैं ब्राह्मणोंकी प्रदक्षिणा करता हूँ वे मुझको धन देवें और ब्राह्मणवर्चको देवें ॥ ४१ ॥

यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहे ।

व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम् ॥ ४२ ॥

यम् । वयम् । मृगयामहे । तम् । वधैः । स्तृणवामहै ।

विऽआत्ते । परमेऽस्थिनः । ब्रह्मणा । आ । अपीपदाम । तम् ४२

हम जिसके निमित्त चेष्टा कर रहे हैं उसको मारक साधनोंसे आच्छादित करते हैं हम मन्त्रशक्तिसे उसको परमेष्ठी खुले हुए (अग्निरूप मुखमें) डालते हैं ॥ ४२ ॥

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि ।

इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद् देवी सहीयसी ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्य । दंष्ट्राभ्याम् । हेतिः । तम् । सम् । अधात् । अभि ।

इयम् । तम् । प्सातु । आऽहुतिः । सम्ऽइत् । देवी । सहीयसी ४३

यह समिधारूप आयुध उस शत्रुको अग्निकी डाढ़ोंके अर्पण कर देय यह दमकती हुई तिरस्कार करने वाली आहुति उस शत्रुका भक्षण कर लेय ॥ ४३ ॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि ।

सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ४४

राज्ञः । वरुणस्य । बन्धः । असि ।

सः । अमुम् । आमुष्यायणम् । अमुष्याः । पुत्रम् । अन्ने । प्राणे ।

बधान ॥ ४४ ॥

हे मन्त्र ! तू राजा वरुणका पाश है सो इस अमुक गोत्रवाले अमुकी देवीके पुत्रको अन्न और प्राण विषयमें बाँध ले ॥४४॥

यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।

तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

यत् । ते । अन्नम् । भुवः । पते । आऽक्षियति । पृथिवीम् । अनु ।

तस्य । नः । त्वम् । भुवः । पते । सम्ऽप्रयच्छ । प्रजाऽपते ।४५।

हे पृथिवीके अधिष्ठात्री देव ! आपका जो अन्न पृथिवीमें निवास करता है, हे पृथिवीके अधिपति प्रजापते ! उसके (सार भागको) आप हमको दीजिये ॥ ४५ ॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ४६ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेन । सम् । अपृक्ष्महि ।

पयस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज ।

वर्चसा ॥ ४६ ॥

मैंने दिव्य जलको एकत्रित कर लिया है और उससे हम अपने

को संयुक्त कर रहे हैं, हे अग्ने! मैं जल लेकर आपके पास आगया हूँ, इस लिये ऐसे मुझको आप वर्चसे सम्पन्न करिये ४६

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ४७

सम्। मा। अग्ने। वर्चसा। सृज। सम्। प्रऽजया। सम्। आयुषा।
विद्युः। मे। अस्य। देवाः। इन्द्रः। विद्यात्। सह। ऋषिऽभिः ४७

हे अग्निदेव! आप मुझको तेज प्रजा और आयुसे भली प्रकार संयुक्त करिये, ऋषियों सहित इन्द्र यह जानें, कि-यह अग्निका भक्त है॥ ४७॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ ४८॥

यत्। अग्ने। अद्य। मिथुना। शपातः। यत्। वाचः। तृष्टम्। जनयन्त। रेभाः।
मन्योः। मनसः। शरव्या३। जायते। या। तया। विध्य। हृदये। यातुऽधानान्॥ ४८॥

हे अग्ने! आज जिसके कारणसे स्त्री और पुरुष परस्पर आक्रोश मचा रहे हैं और जिसके निमित स्तोता कटु वाणीका उच्चारण कर रहे हैं उस पीड़ा देने वाले शत्रुको आप अपने क्रोधयुक्त मनसे जिससे ज्वालारूप बाणावलि निकल रही है उस मनसे हृदयमें ताड़ित करिये॥ ४८॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवां छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि

परा । शृणीहि । तपसा । यातुऽधानान् । परा । अग्ने । रक्षः । हरसा । शृणीहि ।
परा । अर्चिषा । मूरऽदेवान् । शृणीहि । परा । असुऽतृपः । शोशुचतः । शृणीहि ॥ ४९ ॥

हे अग्ने ! आप पीड़ादायक शत्रुओंको अपने तापक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये, और राक्षसस्वरूप शत्रुओंको प्राणापहारक तेजसे पराङ्मुख करके नष्ट कर डालिये, और मारणकर्मसे क्रीड़ा करने वाले—मूरदेव—शत्रुओंको अपनी दमकती हुई ज्वालासे नष्ट कर डालिये, दूसरेके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करने वाले परम प्रदीप्त शत्रुओंको आप नष्ट कर डालिये ।४९।

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान् ।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ ५० ॥

अपाम् । अस्मै । वज्रम् । प्र । हरामि । चतुःऽभृष्टिम् । शीर्षऽभिद्याय । विद्वान् ।
सः । अस्य । अङ्गानि । प्र । शृणातु । सर्वा । तत् । मे । देवाः । अनु । जानन्तु । विश्वे ॥५० ॥

॥ इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मन्त्रशक्तिको जानने वाला मैं इस शत्रुका शिर फोड़नेके लिये चतुर्भृष्टि जलवज्रका प्रहार करता हूँ, यह वज्र इसके सब अंगों को विशीर्ण कर डाले, सकल देवता भी इस विषयमें मेरे अनुकूल सम्मति देवें ॥ ५० ॥ (१७)

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५७२) ॥

खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय तथा सर्वकामाप्तये बध्नाति सूक्तेनानेन ॥ सांप्रदायिका हि वक्ष्यमाणप्रकारेण विनियुञ्जन्ति ॥

सर्वकामसिद्ध्यर्थं खदिरफालमणिं त्रिवासितं कृत्वा हिरण्यवेष्टितं कृत्वा "एतमिध्मम्" [३५] इत्यृचा इध्मम् उपसमाधाय "तमिमं देवता" [२६] इति वासितम् उल्लुप्य आसाद्य "अरातीयोः" इत्यर्थसूक्तेन संपात्याभिमन्त्र्य "ब्रह्मणा तेजसा" [३०] इति ऋचा बध्नाति । यस्मात् सर्वे कामाः संपद्यन्तेनेन मणिना तस्माद् अयं मणिः सर्वकामः । तथा च सूत्रम् । "आयमगन् [३. ५] अयं प्रतिसरः [८.५] अयं मे वरणः [१०.३] अरातीयोः [१०.६] इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति । उत्तमस्य चतुरो जातरूपशकलेनानुसूत्रं गमयित्वावसृज्य त्रैधं पर्यस्यति । एतमिध्मम् इत्युपसमाधाय तमिमं देवता इति वासितम् उल्लुप्य ब्रह्मणा तेजसेति बध्नाति" इति [कौ० ३. २] ॥ मन्त्रोक्तान् मन्त्रोक्तद्रव्यविकारान् । वासितान् त्रयोदश्यादयस्तिस्रो वास्तियस्ताशु विधिवद् दधिमधुनि वासितान् । बन्धनस्थानं च मन्त्रस्थम् । उत्तमस्य अरातीयोरिति सूक्तस्य । अवसृज्य कुटिलां कृत्वा । त्रैधं पर्यस्यति त्रिरावेष्टयति । पार्श्वे सर्वतो वेष्टनम् आयसेन । शिरसि बन्धनकरणम् अधिरोहत्विति लिङ्गात् । इत्यादि दारिलः ॥

तथा पशौ हृश्च्यमानयूपानुमन्त्रणे इदं सूक्तं विनियुक्तम् । तद् उक्तं वैताने । "अरातीयोरिति यूपं वृश्च्यमानम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० २.६] ॥

तथा "पार्थिवीं भूमिकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां पार्थिव्यां महाशान्तौ खदिरफालमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तं विनियुज्यते। तदुक्तं नक्षत्रकल्पे। "अरातीयोरिति फालं पार्थिव्याम्" इति [न० क० १६]॥

खदिरकाष्ठके फालके विकारकी मणिको शत्रुका नाश करनेके लिये तथा सब कामोंकी प्राप्तिके लिये इस सूक्तसे बाँधे। साम्प्रदायिक पुरुष इसका निम्नलिखितरीतिसे विनियोग कहते हैं कि—

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये खादिरफालमणिको त्रिवासित और सुवर्णवेष्टित करके "एतमिध्मम्" इस पैंतीसवीं ऋचासे ईंधनको पासमें रख कर "तमिमं देवता" इस २६ वीं ऋचासे उन्लुप्त करके और पाकर "अरातीयोः" इस अर्थसूक्तसे सम्पातित और अभिमंत्रित करकें "ब्रह्मणा तेजसा" इस तीसवीं ऋचासे बाँधे। इस मणिसे सब काम सम्पन्न होजाते हैं, अत एव इस मणिका नाम सर्वकाम है। इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि— "आयमगन् (२ । ४) अयं प्रतिसरः (८ । ५) अयं मे वरणः (१० । ३) अरातीयोः (१० । ६) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति। उत्तमस्य चतुरो जातरूपशकलेनानुसूत्रं गमयित्वावसृज्य त्रैधं पर्यस्यति। एतमिध्मं इत्युपसमाधाय तमिमं देवता इति वासितं उन्लुप्य ब्रह्मणा तेजसेति बध्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २)॥ सूत्रके मंत्रोक्त शब्दका अर्थ मंत्रोक्तद्रव्यविकार है। उत्तमशब्दसे अरातीयोः सूक्त लिया गया है। वासित शब्दका अर्थ त्रयोदशीसे आरंभ करके तीन तिथियोंमें विधिके अनुसार दही और मधुमें वासित हैं। बन्धनका स्थान मन्त्रमें लिखा हुआ है। अवसृज्यका अर्थ कुटिल करके है। त्रैधं पर्यस्यतिका अर्थ है–तीन बार लपेटे। पार्श्वमें चारों ओरसे लोहेसे लपेटे। क्योंकि–दारिलने कहा है, कि–"शिरसि बंधनकरणम् अधिरोहतु इति लिंगात्"॥

तथा पशुके लिये वृश्च्यमान यूपके अनुमन्त्रणके समय इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अरातीयोरिति यूपं वृश्च्यमानं अनुमन्त्रयते" (वैतान-सूत्र २। ६) ॥

तथा "पार्थिवीं भूमिकामस्य।–भूमि चाहने वालेके लिये पार्थिवी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित पार्थिवी महाशान्तिके खदिरफालमणिबंधनमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि–"अरातीयो-रिति फालं पार्थिव्याम्" ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा ॥ १ ॥

अरातिऽयोः। भ्रातृव्यस्य। दुःऽहार्दः। द्विषतः। शिरः।
अपि। वृश्चामि। ओजसा ॥ १ ॥

द्वेष और दुर्भाव रखने वाले शत्रुके शिरको मैं मन्त्रबलसे काटता हूँ ॥ १ ॥

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

वर्म। मह्यम्। अयम्। मणिः। फालात्। जातः। करिष्यति।
पूर्णः। मन्थेन। मा। आ। अगमत्। रसेन। सह। वर्चसा २

रस और मंथसे पूर्ण हुआ यह मणि तेजके साथ मेरे पास आरहा है यह फालसे उत्पन्न हुआ मणि मेरी कवचकी समान रक्षा करेगा ॥ २ ॥

यत् त्वा शिक्वः पराव॒धीत् तक्षा हस्ते॑न॒ वास्या॑ ।
आप॑स्त्वा॒ तस्मा॑ज्जीव॒लाः पुन॑न्तु॒ शुच॑यः॒ शुचि॑म् ३

यत् । त्वा । शि॒क्वः । परा॒ऽअ॒वधी॑त् । तक्षा॑ । हस्ते॑न । वास्या॑ ।
आपः॑ । त्वा॒ । तस्मा॑त् । जी॒व॒लाः । पुन॑न्तु । शुच॑यः । शुचि॑म् ३

तुझको जो शिक्वने काटा है और बढ़ईने हाथसे बसूलेके द्वारा काटा है, इस कारण जीवदान करने वाले पवित्र जल तुझपवित्र को पवित्र करें ॥ ३ ॥

हि॒र॒ण्य॒स्रग॒यं म॒णिः श्र॒द्धां य॒ज्ञं महो॑ दध॑त् ।
गृ॒हे व॑सतु॒ नोऽति॑थिः ॥ ४ ॥

हि॒र॒ण्य॒ऽस्रक् । अ॒यम् । म॒णिः । श्र॒द्धाम् । य॒ज्ञम् । महः॑ । दध॑त् ।
गृ॒हे । व॒स॒तु॒ । नः॒ । अति॑थिः ॥ ४ ॥

यह हिरण्यस्रक् मणि श्रद्धा यज्ञ उत्सवको धारण करता हुआ अतिथिकी समान हमारे घरमें वसे ॥ ४ ॥

तस्मै॑ घृ॒तं सु॒रां मध्वन्न॑मन्नं॒ क्षदामहे ।
स नः॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रेभ्यः॒ श्रेयः॑श्रेयश्चिकित्सतु भूयो॑भूयः
श्वः॑श्वो दे॒वेभ्यो॑ म॒णिरेत्य॑ ॥ ५ ॥

तस्मै॑ । घृ॒तम् । सु॒राम् । मधु॑ । अन्न॑म्ऽअन्नम् । क्ष॒दा॒म॒हे॒ ।
सः॒ । नः॒ । पि॒ताऽइ॑व । पु॒त्रेभ्यः॑ । श्रेयः॑ऽश्रेयः । चि॒कि॒त्स॒तु॒ ।
भूयः॑ऽभूयः । श्वः॑ऽश्वः । दे॒वेभ्यः॑ । म॒णिः । आ॒ऽइत्य॑ ॥ ५ ॥

हम इस मणिके लिये घृत सुरा मधु और अन्न अर्पण करते हैं, जैसे पिता पुत्रोंके लिये कल्याणका विधान करता रहता है, इसी प्रकार यह मणि हमारे लिये प्रत्येक कल्याणकी बातोंकी योजना करे, यह मणि देवताओंके पाससे बारम्बार आकर हमारे कल्याणके उपायोंको करे ॥ ५ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिर-
मोजसे ।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः
श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । मणिम् । फालम् । घृतऽश्चुतम् ।
उग्रम् । खदिरम् । ओजसे ।
तम् । अग्निः । प्रति । अमुञ्चत । सः । अस्मै । दुहे । आज्यम् ।
भूयःऽभूयः । श्वःऽश्वः । तेन । त्वम् । त्वम् । द्विषतः । जहि ४

घृतकी समान सार पदार्थोंकी वर्षा करने वाली और शत्रुके लिये उग्र जिस खदिरफालमणिको बृहस्पतिने बल पानेके लिये बाँधा था उसका अग्निने प्रतिमुञ्चन किया था, अर्थात् अपने शरीर पर उसको बँधवाया था उसके लिये उसने प्रतिदिन बारम्बार घृतकी समान सार पदार्थोंको दुहा था, उस मणिसे तू शत्रुओंको मार

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं० ।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।

सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ७ ॥

० तम् । इन्द्रः । प्रति । अमुञ्चत । ओजसे । वीर्याय । कम् ।

सः । अस्मै । बलम् । इत् । दुहे । भूयःऽभूयः ।० ॥ ७ ॥

घृतकी समान सार पदार्थोंकी वर्षा करने वाली और शत्रुके लिये उग्र जिस खदिरफालमणिको बृहस्पतिने बल पानेके लिये बाँधा था, इन्द्रने उसको ओज और वीर्य पानेके लिये बँधवाया था, तब वह मणि इन इन्द्रदेवके लिये प्रतिदिन बारम्बार बलको देती रहती है, उस मणिसे तू शत्रुओंको मार ॥ ७ ॥

यमबं० । तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे ।

सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ८ ॥

० तम् । सोमः । प्रति । अमुञ्चत । महे । श्रोत्राय । चक्षसे ।

० अस्मै । वर्चः । इत् ।० ॥ ८ ॥

घृतकी समान सार पदार्थोंकी वर्षा करने वाली और शत्रुके लिये जिस खदिरफालमणिको बृहस्पतिने बल पानेके लिये बाँधा था, सोमने उसको महत्त्वमय श्रोत्र और दृष्टिशक्ति पानेके बँधवाया था, तब वह मणि इन सोमदेवके लिये प्रतिदिन बारम्बार वर्चको देती रहती है, उस मणिसे तू शत्रुओंको मार ॥ ८ ॥

यमबं० । तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद् दिशः ।

सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ ९ ॥

० तम् । सूर्यः । प्रति । अमुञ्चत । तेन । इमाः । अजयत् । दिशः ।

० अस्मै । भूतिम् । इत् ।० ॥ ९ ॥

घृतकी समान सार पदार्थोंकी वर्षा करने वाली और शत्रुके लिये उग्र जिस खदिरफालमणिको बृहस्पतिदेवने बल पानेके लिये बाँधा था, उसको सूर्यदेवने बँधवाया था और उसके द्वारा दिशाओंको जीत लिया था, वह मणि दूसरे दिन अधिकाधिक-भावसे सूर्यदेवको भूति ही देती रहती है, ऐसी मणिसे तू शत्रुओं को मार ॥ ६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिर-
मोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां
हिरण्ययीः ।
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १० ॥

० बृहस्पतिः । मणिम् । फालम् । घृतऽश्चुतम् । उग्रम् । खदिरम् ।
ओजसे ।
तम् । बिभ्रत् । चन्द्रमाः । मणिम् । असुराणाम् । पुरः । अजयत् ।
दानवानाम् । हिरण्ययीः ।
० अस्मै । श्रियम् । इत् । दुहे ।० ॥ १० ॥

बृहस्पति देवने जिस घृतकी समान सार पदार्थोंको देने वाली शत्रुके लिये उग्र खदिरफालमणिको ओजके लिये बाँधा, उस मणिको धारण करके चन्द्रदेवने असुरोंके सुवर्णमय नगरोंको जीत लिया था, इस प्रकार यह मणि इसके लिये प्रतिदिन बारम्बार लक्ष्मी प्रदान करती रहती है उस मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १० ॥ (१८)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः० ॥ ११ ॥

०बृहस्पतिः । वाताय । मणिम् । आशवे ।
सः । अस्मै । वाजिनम् । दुहे ।० ॥ ११ ॥

बृहस्पतिदेवने वायुदेवके जिस मणिको शीघ्रताके लिये बाँधा था, वह मणि वायुदेवको प्रतिदिन बारम्बार वेग प्रदान करती रहती है, उस मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ ११ ॥

यमब०। तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः० ॥ १२ ॥

०तेन । इमाम् । मणिना । कृषिम् । अश्विनौ । अभि । रक्षतः ।
सः । भिषक्ऽभ्याम् । महः । दुहे ।० ॥१२ ॥

बृहस्पतिदेवने अश्विनीकुमारोंके लिये जिस मणिको बाँधा था, उस मणिसे अश्विनीकुमार कृषिकी रक्षा करते हैं वह अश्विनीकुमारोंको प्रतिदिन बारम्बार जल देती रहती है, उस मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १२ ॥

यमब० । तं बिभ्रत् सविता मणिं तेनेदमजयत् स्वः ।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः० ॥ १३ ॥

०तम् । बिभ्रत् । सविता । मणिम् । तेन । इदम् । अजयत् । स्वः ।
सः । अस्मै । सूनृताम् । दुहे ॥ १३ ॥

बृहस्पतिदेवने जिस मणिको बाँधा था सविता देवने उस मणिको धारण करके स्वर्गको जीत लिया है, वह इन सवितादेवके लिये प्रतिदिन बारम्बार सूनृता वाणीको प्रदान करती है, ऐसी मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १३ ॥

यमब॰ । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः॰ ॥ १४ ॥

॰तम् । आपः । बिभ्रतीः । मणिम् । सदा । धावन्ति । अक्षिताः ।
सः । आभ्यः । अमृतम् । इत् । दुहे ।॰ ॥ १४ ॥

जिस मणिको बृहस्पतिदेवने जलोंके बाँधा था, उस मणिको धारण करके जल सदा अक्षीणरूपसे दौड़ते रहते हैं, वह मणि इन जलोंके लिये प्रतिदिन अधिकाधिक अमृत ही प्रदान करती रहती है, उस मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १४ ॥

यमब॰ । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ।
सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः॰ ॥ १५ ॥

॰तम् । राजा । वरुणः । मणिम् । प्रति । अमुञ्चत । शम्ऽभुवम् ।
सः । अस्मै । सत्यम् । इत् ।॰ ॥ १५ ॥

जिस मणिको बृहस्पतिदेवने बाँधा और जिस कल्याणको देने वाली मणिको राजा वरुणने बँधवाया था, वह मणि इन वरुण-देवको प्रति दूसरे दिन अधिकाधिक सत्य ही प्रदान करती रहती है उस मणिके प्रभावसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १५ ॥

यमब॰ । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वाँल्लोकान् युधाजयन् ।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः॰ ॥ १६ ॥

०तम् । देवाः । बिभ्रतः । मणिम् । सर्वान् । लोकान् । युधा । अजयन् ।

सः । एभ्यः । जितिम् । इत् ।० ॥ १६ ॥

जिस मणिको बृहस्पतिदेवने बाँधा था और उस मणिको धारण करके देवताओंने युद्धके द्वारा सब लोकोंको जीत लिया था उस मणिने इनके लिये विजयको ही दुहा था उस मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥ १६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।

तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम् ।

स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं

द्विषतो जहि ॥ १७ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । वाताय । मणिम् । आशवे ।

तम् । इमम् । देवताः । मणिम् । प्रति । अमुञ्चन्त । शम्ऽभुवम् ।

सः । आभ्यः । विश्वम् । इत् । दुहे । भूयःऽभूयः । श्वःऽश्वः ।

तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ १७ ॥

बृहस्पतिदेवने जिस मणिको वायुदेवके शीघ्रताके लिये बाँधा था, उस कल्याणप्रदमणिको देवताओंने भी बाँधा था, वह मणि उन देवताओंके लिये प्रति दूसरे दिन अधिकाधिकरूपमें विश्व को ही प्रदान करती रहती है, ऐसी मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत ।

संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥

ऋतवः । तम् । अबध्नत । आर्तवाः । तम् । अबध्नत ।

सम्ऽवत्सरः । तम् । बद्ध्वा । सर्वम् । भूतम् । वि । रक्षति १८

ऋतुओंने इस मणिको बाँधा था और ऋतुके अवयव महीनों ने भी इसको बाँधा है और सम्वत्सर इस मणिको धारण करके सब प्राणियोंकी रक्षा करता है ॥ १८ ॥

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत ।

प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥

अन्तःऽदेशाः । अबध्नत । प्रऽदिशः । तम् । अबध्नत ।

प्रजापतिऽसृष्टः । मणिः । द्विषतः । मे । अधरान् । अकः ॥१९॥

अन्तर्देशोंने भी इसको बाँधा है और प्रदिशाओंने भी इसको बाँधा है, प्रजापतिद्वारा आविष्कृत यह मणि मेरे शत्रुओंको बुरी दशामें डाल देय ॥ १९ ॥

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत ।

तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं

द्विषतो जहि ॥ २० ॥

अथर्वाणः । अबध्नत । आथर्वणाः । अबध्नत ।

तैः । मेदिनः । अङ्गिरसः । दस्यूनाम् । बिभिदुः । पुरः । तेन ।

त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ २० ॥

अथर्ववेदियोंने इस मणिको बाँधा है अथर्ववेदके मन्त्रसमूहके

द्वारा बाँधा है, इन मन्त्रोंकी सहायता प्राप्त कर उन्होंने शत्रुओंके पुरोंको भेद डाला है, ऐसी मणिसे तू शत्रुओंको मार ॥ २० ॥

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् ।

तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

तम् । धाता । प्रति । अमुञ्चत । सः । भूतम् । वि । अकल्पयत् ।

तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ २१ ॥

इस मणिको धाताने धारण किया था और उससे प्राणिसमूह की रचना की थी, ऐसी मणिसे तू शत्रुओंका संहार कर ॥२१॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । देवेभ्यः । असुरऽक्षितिम् ।

सः । मा । अयम् । मणिः । आ अगमत् । रसेन । सह । वर्चसा

बृहस्पतिदेवने असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको देवताओंके बाँधा था, वह मणि रस और वर्चके साथ मेरे पास आ गई है ॥ २२ ॥

यमब० । स मायं मणिरागमत् सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥ २३ ॥

०अगमत् । सह । गोभिः । अजाविऽभिः । अन्नेन । प्रजया । सह २३

बृहस्पतिदेवने असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको देवताओंके बाँधा था, वह मणि गौ भेड़ बकरी अन्न और प्रजाके साथ (अर्थात इन वस्तुओंको देनेके लिये) मेरे पास आगई है ॥२३॥

यमब॰ । स मायं मणिरागमत् सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥

॰अगमत् । सह । व्रीहिऽयवाभ्याम् । महसा । भूत्या । सह २४

बृहस्पतिदेवने असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको देवताओंके बाँधा था वह मणि अन्न धान, उत्सव और भूतिके साथ मेरे पास आरही है ॥ २४ ॥

यमब॰ । स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥ २५ ॥

॰अगमत् । मधोः । घृतस्य । धारया । कीलालेन । मणिः । सह ॥

असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको बृहस्पतिने देवताओंके बाँधा था वह यह मणि मेरे पास मधु घृतधारा और अन्न के साथ आरही है ॥ २५ ॥

यमब॰। स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥ २६ ॥

॰ अगमत् । ऊर्जया । पयसा । सह । द्रविणेन । श्रिया । सह ॥

असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको बृहस्पतिदेवने देवताओंके बाँधा था, वह यह मणि अन्न बल धन और श्रीके साथ मेरे पास आगई है ॥ २६ ॥

यमब॰ । स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥

आ॒ऽअगमत् । तेजसा । त्विष्या । सह । यशसा । कीर्त्या । सह २७

असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको बृहस्पतिदेवने देवताओंके बाँधा था वह यह मणि तेज, दीप्ति यश और कीर्तिके साथ मेरे पास आगई है ॥ २७ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमत् सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥२८॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । देवेभ्यः । असुरऽक्षितिम् ।

सः । मा । अयम् । मणिः । आ । अगमत् । सर्वाभिः । भूतिऽभिः ।

सह ॥ २८ ॥

असुरोंका क्षय करने वाली जिस मणिको बृहस्पतिदेवने देवताओंके बाँधा था वह यह मणि सब विभूतियोंके साथ मेरे पास आगई है ॥ २८ ॥

तामिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये ।

अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥

तम् । इमम् । देवताः । मणिम् । मह्यम् । ददतु । पुष्टये ॥२९॥

अभिऽभुम् । क्षत्रऽवर्धनम् । सपत्नऽदम्भनम् । मणिम् ॥ २९ ॥

शत्रुओंको दबाने वाली, क्षात्रशक्तिको बढ़ाने वाली, शत्रुओंकी हिंसा करने वाली इस मणिको देवता पुष्टिके लिये मुझे दें २९

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।

असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥

अक्ष्णा । तेजसा । सह । प्रति । मुञ्चामि । मे । शिवम् ।

असपत्नः । सपत्नऽहा । सऽपत्नान् । मे । अधरान् । अकः ३०

हे मणे ! मैं कल्याणकारिणी तुझको मन्त्रशक्तिके साथ ग्रहण करता हूँ, तू स्वयं शत्रुरहित है और अपने धारण करने वालेके शत्रुओंका संहार करने वाली है, अतः तू मेरे शत्रुओंको हीन-दशामें डाल दे ॥ ३० ॥

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः ।

यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

उत्ऽतरम् । द्विषतः । माम् । अयम् । मणिः । कृणोतु । देवऽजाः ।

यस्य । लोकाः । इमे । त्रयः । पयः । दुग्धम् । उपऽआसते ।

सः । मा । अयम् । अधि । रोहतु । मणिः । श्रैष्ठ्याय । मूर्धतः ३१

देवताओंसे आविष्कृत यह मणि मुझको शत्रुओंसे उत्कृष्ट करे, जिस मणिके दुग्ध और जलकी सम्पूर्ण देवता उपासना करते हैं, ऐसी यह मणि श्रेष्ठता देनेके लिये मूर्धतः (श्रेष्ठतासे) मुझ पर अधिरोहण करे ॥ ३१ ॥

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥३२॥

यम् । देवाः । पितरः । मनुष्याः । उपऽजीवन्ति । सर्वदा ।

सः । मा । अयम् । अधि । रोहतु । मणिः । श्रैष्ठ्याय । मूर्धतः ३२

जिस मणिसे देवता मनुष्य और पितर सदा उपजीवित रहते हैं, ऐसी यह मणि उत्तमतासे मुझ पर आरोहण करे ॥ ३२ ॥

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति ।

एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥

यथा । बीजम् । उर्वरायाम् । कृष्टे । फालेन । रोहति ।

एव । मयि । प्रऽजा । पशवः । अन्नम्ऽअन्नम् । वि । रोहतु ३३

जैसे फालसे कुरद आने पर पृथ्वीमें बोया हुआ बीज उगता है, इसी प्रकार यह मणि मुझमें प्रजा पशु और खाने योग्य अन्न को उगावे ॥ ३३ ॥

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम् ।

तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

यस्मै । त्वा । यज्ञऽवर्धन । मणे । प्रतिऽअमुचम् । शिवम् ।

तम् । त्वम् । शतऽदक्षिण । मणे । श्रैष्ठ्याय । जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

हे यज्ञवर्धन मणे ! मैं जिसके लिये तुझ कल्याणकारिणीको बाँध रहा हूँ, हे शतदक्षिण मणे ! तू उसको श्रेष्ठता प्रदान करके तृप्त कर ॥ ३४ ॥

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।

तस्मिन् विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्स-

मिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥

एतम् । इध्मम् । सम्ऽआहितम् । जुषाणः । अग्ने । प्रति । हर्य । होमैः

तस्मिन् । विदेम । सुऽमतिम् । स्वस्ति । प्रऽजाम् । चक्षुः । पशून् । समऽइद्धे । जातऽवेदसि । ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥

तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

हे अग्ने ! आप इस भली प्रकार रक्खे हुए ईंधनका सेवन करते हुए होमोंसे दीप्त हूजिये मन्त्रशक्तिके द्वारा प्रदीप्त हुए इस जातवेदा अग्निसे हम सुमति, कल्याण, प्रजा नेत्र और पशुओं को प्राप्त करें ॥ ३५ ॥ (२१)

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७४)
तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

"कस्मिन्नङ्गे" इति स्कम्भसूक्तम् । स्कम्भ इति सनातनतमो देवो ब्रह्मणोऽप्याद्यभूतः । अतो ज्येष्ठं ब्रह्मेति तस्य संज्ञा । तस्मिन् सर्वमेतत् तिष्ठति तत्सर्वम् एतेनाविष्टम् । विराडपि तस्मिन्नेव समाहितः । तस्मिन्नेव देवादयः सर्वे समाहिता इत्यादि वर्णनम् ॥

"कस्मिन्नङ्गे" यह स्कंभसूक्त है । यह सनातनसे भी सनातन देवका नाम है, यह ब्रह्मासे भी आदिके हैं । अत एव इनकी "ज्येष्ठ ब्रह्म" संज्ञा है । उनमें ही यह सब स्थित होरहा है और उनमें ही यह सब जगत् आविष्ट है । विराट् भी उनमें ही समाहित है । और उनमें ही देवता आदि सब ही समाहित हैं, यही सूक्तमें वर्णित है ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम् ।
क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

कस्मिन् । अङ्गे । तपः । अस्य । अधि । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे ।
ऋतम् । अस्य । अधि । आऽहितम् ।
क्व । व्रतम् । क्व । श्रद्धा । अस्य । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे ।
सत्यम् । अस्य । प्रतिऽस्थितम् ॥ १ ॥

इस स्कंभ देवताके किस अंगमें तप अधिष्ठित है और इसके किस अंगमें ऋत अधिष्ठित है । इसके किस अंगमें श्रद्धा रहती है और व्रत कहाँ रहता है और इसके किस अंगमें सत्य प्रतिष्ठित है १

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते
मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य
मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

कस्मात् । अङ्गात् । दीप्यते । अग्निः । अस्य । कस्मात् । अङ्गात् ।
पवते । मातरिश्वा ।
कस्मात् । अङ्गात् । वि । मिमीते । अधि । चन्द्रमाः । महः । स्कम्भस्य ।
मिमानः । अङ्गम् ॥ २ ॥

इसके किस अङ्गसे अग्नि प्रदीप्त होती है और इसके किस अंगसे पवन चलता है, उत्सवरूप चन्द्रमा इस स्कंभके किस अंग को मानित करता हुआ इसके किस अंगसे मान करता है ॥२॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्त-
रिक्षम् ।

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥ ३ ॥

कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । भूमिः । अस्य । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । अन्तरिक्षम् ।

कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । आऽहिता । द्यौः । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । उत्ऽतरम् । दिवः ॥ ३ ॥

इस स्कम्भके किस अंगमें भूमि रहती है और किस अंगमें अन्तरिक्ष रहता है, किस अंगमें आहित हुई द्यौ रहती है और द्यौसे श्रेष्ठ स्थान इसके किस अंगमें रहता है ॥ ३ ॥

क्व॑ प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व॑ प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥

क्व॑ । प्रऽईप्सन् । दीप्यते । ऊर्ध्वः । अग्निः । क्व॑ । प्रऽईप्सन् । पवते । मातरिश्वा ।

यत्र । प्रऽईप्सन्तीः । अभिऽयन्ति । आऽवृतः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ४ ॥

कहाँ जानेकी लिप्सा रखता हुआ अग्नि ऊपरको दमकता है और कहाँ जानेकी लिप्सा रखता हुआ मातरिश्वा–वायु–चलता

है, जहाँ जानेकी इच्छा रखते हुए आवर्तनके चकरमें पड़े हुए प्राणी उसके अभिमुख होकर चलते हैं, उस स्कंभको बताइये, कि-वह कौनसा है ॥ ४ ॥

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।

यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं० ॥ ५ ॥

क्व । अर्धऽमासाः । क्व । यन्ति । मासाः । सम्ऽवत्सरेण । सह । सम्ऽविदानाः ।

यत्र । यन्ति । ऋतवः । यत्र । आर्तवाः । स्कम्भम् ।० ॥ ५ ॥

सम्वत्सरके साथ एकमति रखने वाले पक्ष कहाँ जाते है, मास कहाँ जाते हैं । जहाँ ऋतुएँ जाती हैं और जहाँ मास जाते हैं उस स्कंभको बताइये, कि-वह कौनसा है ॥ ५ ॥

क्व१ प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं० ॥ ६ ॥

क्व । प्रेप्सन्ती इति प्रऽईप्सन्ती । युवती इति । विरूपे इति विऽरूपे । अहोरात्रे इति । द्रवतः । संविदाने इति सम्ऽविदाने ।

यत्र । प्रऽईप्सन्तीः । अभिऽयन्ति । आपः । स्कम्भम् ।० ॥६॥

मिश्रित और अमिश्रित होने वाली अनेक प्रकारके रूपोंको धारण करने वाली सम्मति करके कहाँ जानेकी इच्छा रखता

हुई रात दिन दौड़ती रहती हैं और जहाँ प्राप्त होनेकी इच्छा रखते हुए जल जा रहे हैं उस स्कंभको हमसे कहिये ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् ।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

यस्मिन् । स्तब्ध्वा । प्रजाऽपतिः । लोकान् । सर्वान् । अधारयत् ।

स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ७ ॥

जिसमें स्तम्भित होकर प्रजापति सब लोकोंको धारण कर रहे हैं, उस स्कंभको बताइये वह कौनसा है ॥ ७ ॥

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्

कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥ ८ ॥

यत् । परमम् । अवमम् । यत् । च । मध्यमम् । प्रजाऽपतिः । ससृजे । विश्वऽरूपम् ।

कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । तत्र । यत् । न । प्रऽअविशत् । कियत् । तत् । बभूव ॥ ८ ॥

जो परम है, जो अवम है और जो मध्यम है, तथा प्रजापति ने जिन सकल रूपोंको रचा है, उनमें स्कंभने कितने अंशसे प्रवेश किया है और जिससे प्रवेश नहीं किया है वह कितना अंश है ८

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।

एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश

तत्र ॥ ९ ॥

कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । भूतम् । कियत् । भविष्यत् ।

अनुऽआशये । अस्य ।

एकम् । यत् । अङ्गम् । अकृणोत् । सहस्रऽधा । कियता । स्कम्भः ।

प्र । विवेश । तत्र ॥ ९ ॥

स्कंभ कितने अंशसे भूतकालमें प्रविष्ट है और इसके कितने अंशमें भविष्यत् शयन कर रहा है, जो स्कंभ अपने एक अंगको सहस्र प्रकारका कर लेता है, वह कितने अंशसे उसमें प्रवेश करता है ॥ ९ ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।

असंच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः

यत्र । लोकान् । च । कोशान् । च । आपः । ब्रह्म । जनाः । विदुः ।

असत् । च । यत्र । सत् । च । अन्तः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि ।

कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ १० ॥

मनुष्य जिसमें लोक, कोश और जलको जानते हैं और जिसके भीतर सत् और असत् है उस स्कंभको बताइये, कि—वह कौनसा है ? ॥ १० ॥ (२१)

यत्र तपः पराक्रम्यं व्रतं धारयत्युत्तरम् ।

ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं०

यत्र । तपः । पराऽक्रम्य । व्रतम् । धारयति । उत्ऽतरम् ।

ऋतम् । च । यत्र । श्रद्धा । च । आपः । ब्रह्म । सम्ऽआहिताः ।

स्कम्भम् ।० ॥ ११ ॥

तप करके और व्रत करके जिस स्थानमें श्रेष्ठतासे पुरुष प्रतिष्ठित होता है और जहाँ पर ऋत श्रद्धा जल और ब्रह्म समाहित हैं उस स्कंभका आप हमसे वर्णन करिये ॥ ११ ॥

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।

यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं०

यस्मिन् । भूमिः । अन्तरिक्षम् । द्यौः । यस्मिन् । अधि । आऽहिता ।

यत्र । अग्निः । चन्द्रमाः । सूर्यः । वातः । तिष्ठन्ति । आर्पिताः ।

स्कम्भम् ।० ॥ १२ ॥

जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ समाहित है और जहाँ अग्नि चन्द्रमा सूर्य और वात अर्पित हैं उस स्कंभका हमसे वर्णन करिये १२

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ।

स्कम्भं तं० ॥ १३ ॥

यस्य । त्रयःऽत्रिंशत् । देवाः । अङ्गे । सर्वे । सम्ऽआहिताः ।

स्कम्भम् । तम् ।० ॥ १३ ॥

जिसके अंगमें तेंतीस देवता प्रतिष्ठित हैं उस स्कंभको बताइये वह कौनसा है ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।

एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं० ॥ १४ ॥

यत्र । ऋषयः । प्रथमऽजाः । ऋचः । साम । यजुः । मही ।

एकऽऋषिः । यस्मिन् । आर्पितः । स्कम्भम् ।० ॥ १४ ॥

जिसमें प्रथम उत्पन्न हुए ऋषि ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद पृथ्वी और एकर्षि अर्पित हैं, उस स्कंभका हमसे वर्णन करिये, वह कौन सा है॥ १४ ॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेधि समाहिताः स्कम्भं तं०

यत्र । अमृतम् । च । मृत्युः । च । पुरुषे । अधि । समाहिते इति समऽआहिते ।

समुद्रः । यस्य । नाड्यः । पुरुषे । अधि । समऽआहिताः । स्कम्भम् ।० ॥ १५ ॥

जिस पुरुषमें अमृत और मृत्यु भली प्रकार आहित हैं और समुद्र जिसकी नाड़ियें हैं और जिस पुरुषमें स्थित हैं उस स्कंभ को बताइये, कि-वह कौनसा है ?॥ १५ ॥

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः

यस्य । चतस्रः । प्रऽदिशः । नाड्यः । तिष्ठन्ति । प्रथमाः ।

यज्ञः । यत्र । पराऽक्रान्तः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः ।

स्वित् । एव । सः ॥ १६ ॥

जिसकी मुख्य नाड़ियें चारों दिशारूपमें स्थित हैं, जिसमें यज्ञ पहुँचता है, उस स्कंभको बताइये वह कौनसा है ॥ १६ ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।

यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।

ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

ये । पुरुषे । ब्रह्म । विदुः । ते । विदुः । परमेऽस्थिनम् ।

यः । वेद । परमेऽस्थिनम् । यः । च । वेद । प्रजाऽपतिम् ।

ज्येष्ठम् । ये । ब्राह्मणम् । विदुः । ते । स्कम्भम् । अनुऽसंविदुः ॥

जो पुरुषमें ब्रह्मको जानते हैं वे परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको जानते हैं, जो प्रजापतिको जानते हैं और जो ज्येष्ठ ब्राह्मण को जानते हैं वे स्कंभको जानते हैं ॥ १७ ॥

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोभवन् ।

अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः

यस्य । शिरः । वैश्वानरः । चक्षुः । आङ्गिरसः । अभवन् ।

अङ्गानि । यस्य । यातवः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः

स्वित् । एव । सः ॥ १८ ॥

वैश्वानर जिसका शिर है और अंगिरावंशी जिसके नेत्र हुए

ये, यातु जिसके अंग हैं, उस स्कंभका उपदेश दीजिये, कि-वह कौनसा है ॥ १८ ॥

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।

विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥

यस्य । ब्रह्म । मुखम् । आहुः । जिह्वाम् । मधुऽकशाम् । उत ।

विऽराजम् । ऊधः । यस्य । आहुः । स्कम्भम् ।० ॥ १९ ॥

जिसके मुखको ब्रह्म कहते हैं और जिसकी जिह्वाको मधुकशा कहते हैं और जिसके ऐनको विराट् कहते हैं, उस स्कंभका उपदेश दीजिये, कि-वह कौनसा है ॥ १९ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं

ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥

यस्मात् । ऋचः । अपऽअतक्षन् । यजुः । यस्मात् । अपऽअकषन् ।

सामानि । यस्य । लोमानि । अथर्वऽअङ्गिरसः । मुखम् । स्कम्भम् ।

तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ २० ॥

जिससे ऋचाएँ अपतक्षित हुई हैं, यजुर्वेदके मंत्र जिससे प्रकट हुए हैं, साम जिसके लोम हैं अथर्ववेद जिसका मुख है उस स्कंभ को बताइये वह कौनसा है ॥ २० ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।

उतो सन्मन्यन्तेवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

असत्ऽशाखाम् । प्रऽतिष्ठन्तीम् । परमम्ऽइव । जनाः । विदुः ।

उतो इति । सत् । मन्यन्ते । अवरे । ये । ते । शाखाम् । उपऽआसते २१

अप्रकट शाखा यदि प्रतिष्ठित होती है तो मनुष्य उसको परम मानते हैं और जो दूसरे उसकी उपासना करते हैं वे उसको सत् (श्रेष्ठ) मानते हैं ॥ २१ ॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।

भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं

तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

यत्र । आदित्याः । च । रुद्राः । च । वसवः । च । सम्ऽआहिताः ।

भूतम् । च । यत्र । भव्यम् । च । सर्वे । लोकाः । प्रतिऽस्थिताः ।

स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ २२ ॥

जिसमें आदित्य रुद्र और वसु समाहित हैं, भूत भव्य और सब लोक जिसमें प्रतिष्ठित हैं उस स्कंभका उपदेश दीजिये वह कौनसा है ॥ २२ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।

निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

यस्य । त्रयःऽत्रिंशत् । देवाः । निऽधिम् । रक्षन्ति । सर्वदा ।

निऽधिम् । तम् । अद्य । कः । वेद । यम् । देवाः । अभिऽरक्षथ २३

जिसकी निधिकी तैंतीस देवता सदा रक्षा करते हैं, जिसकी देवता रक्षा करते हैं उसनिधिको आजकल कौन जानता है २३

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् २४

यत्र । देवाः । ब्रह्मऽविदः । ब्रह्म । ज्येष्ठम् । उपऽआसते ।
यः । वै । तान् । विद्यात् । प्रतिऽअक्षम् । सः । ब्रह्मा । वेदिता ।
स्यात् ॥ २४ ॥

जहाँ ब्रह्मवेत्ता देवता ब्रह्मज्येष्ठकी उपासना करते हैं, जो उनको प्रत्यक्ष जानता है वह ब्रह्मा जानने वाला होसकता है ॥ २४ ॥

बृहन्तो नाम ते देवा येसतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

बृहन्तः । नाम । ते । देवाः । ये । असतः । परि । जज्ञिरे ।
एकम् । तत् । अङ्गम् । स्कम्भस्य । असत् । आहुः । परः । जनाः २५

जो बृहत् नामक देवता हैं वे असत्से उत्पन्न हुए हैं, वे स्कंभ का एक अंग हैं दूसरे पुरुष उसको असत् कहते हैं ॥ २५ ॥

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

यत्र । स्कम्भः । प्रऽजनयन् । पुराणम् । विऽअवर्तयत् ।
एकम् । तत् । अङ्गम् । स्कम्भस्य । पुराणम् । अनुऽसंविदुः २६

स्कंभने जहाँ उत्पन्न किया पुराणको ही व्यवर्तित किया, स्कंभ के उस एक अंगको पुराण जानते हैं ॥ २६ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

यस्य । त्रयःऽत्रिंशत् । देवाः । अङ्गे । गात्रा । विऽभेजिरे ।
तान् । वै । त्रयःऽत्रिंशत् । देवान् । एके । ब्रह्मऽविदः । विदुः ॥

जिसके अंगमें तैंतीस देवता अंगरूपमें शोभा पाते हैं, उन तैंतीस देवताओंको एक कोटिके पुरुष जानते हैं ॥ २७ ॥

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥२८॥

हिरण्यऽगर्भम् । परमम् । अनतिऽउद्यम् । जनाः । विदुः ।
स्कम्भः । तत् । अग्रे । प्र । असिञ्चत् । हिरण्यम् । लोके । अन्तरा ॥

परम हिरण्यगर्भको पुरुष अवर्णनीय जानते हैं, उस हिरण्यगर्भको स्कंभने ही लोकमें पहिले प्रासिञ्चन किया था ॥ २८ ॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

स्कम्भे । लोकाः । स्कम्भे । तपः । स्कम्भे । अधि । ऋतम् । आऽहितम् ॥ २९ ॥

स्कम्भ । त्वा । वेद । प्रतिऽअक्षम् । इन्द्रे । सर्वम् । सम्ऽआहितम् २९

लोक तप और ऋत स्कंभमें ही समाहित हैं हे स्कंभ ! (इन्द्रने) तुझको प्रत्यक्ष देखा है इन्द्र (आत्मा) में ही समाहित है २९

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।

इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

इन्द्रे । लोकाः । इन्द्रे । तपः । इन्द्रे । अधि । ऋतम् । आऽहितम् ।

इन्द्रम् । त्वा । वेद । प्रतिऽअक्षम् । स्कम्भे । सर्वम् । प्रतिऽस्थितम् ३०

लोक तप और ऋत इन्द्रमें ही समाहित हैं, हे इन्द्र ! मैं तुझ को प्रत्यक्ष जानता हूँ । स्कम्भमें ही सब समाहित है ३० (२४)

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मा-

न्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

नाम । नाम्ना । जोहवीति । पुरा । सूर्यात् । पुरा । उषसः ।

यत् । अजः । प्रथमम् । सम्ऽबभूव । सः । ह । तत् । स्वऽराज्यम् ।

इयाय । यस्मात् । न । अन्यत् । परम् । अस्ति । भूतम् ३१

(ब्रह्मज्ञानरूप) सूर्य और उषःकालसे पहिले ही नामरूपात्मक जगत्को नामसे पुकारता है जो पहिले अज था और जिस से पर कोई भूत नहीं है उस स्वराज्यको यह आत्मा प्राप्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३२

यस्य । भूमिः । प्रऽमा । अन्तरिक्षम् । उत । उदरम् ।

दिवम् । यः । चक्रे । मूर्धानम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ३२

भूमि जिसकी प्रमा है, अन्तरिक्ष उदर है, और जिसने द्युलोक को मूर्धा बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥३२॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३३

यस्य । सूर्यः । चक्षुः । चन्द्रमाः । च । पुनःऽनवः ।

अग्निम् । यः । चक्रे । आस्यम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः

बारंबार नवीन होने वाले चन्द्रमा, और सूर्य जिसके नेत्र हैं और जिन्होंने अग्निको अपना मुख बनाया है उन ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३३ ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ३४

यस्य । वातः । प्राणापानौ । चक्षुः । अङ्गिरसः । अभवन् ।

दिशः । यः । चक्रे । प्रऽज्ञानीः । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः

प्राण और अपान जिसके वायु हैं, और अङ्गिरागोत्री जिसके नेत्र हुए थे, दिशाओंको जिसने प्रज्ञानी बनाया था उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ ३४ ॥

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।

स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ २५ ॥

स्कम्भः । दाधार । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति । स्कम्भः । दाधार । उरु । अन्तरिक्षम् । स्कम्भः । दाधार । प्रऽदिशः । षट् । उर्वीः । स्कम्भे । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । आ । विवेश ॥ २५ ॥

स्कंभने द्यावापृथिवीको धारण कर रक्खा है, स्कंभने इस विशाल अन्तरिक्षको धारण किया है, स्कंभ ही प्रदिशा और छः उर्वियोंको धारण करता है और स्कंभ ही इस भुवनमें प्रविष्ट है २५

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वांन्त्समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः २६

यः । श्रमात् । तपसः । जातः । लोकान् । सर्वान् । सम्ऽआनशे । सोमम् । यः । चक्रे । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः

जो श्रमपूर्वक तप करने पर प्रकट होता है और सब लोकोंको भोगता है और जिसने केवल सोमको किया है उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ २६ ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः । किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥२७॥

कथम् । वातः । न । इलयति । कथम् । न । रमते । मनः ।

किम् । आपः । सत्यम् । प्रऽईप्सन्तीः । न । इलयन्ति । कदा । चन

वायु किस प्रकार प्रेरणा नहीं करता है, मन किस प्रकार रमण नहीं करता है, किस सत्यको चाहते हुए जल कभी चेष्टा नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः
परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

महत् । यक्षम् । भुवनस्य । मध्ये । तपसि । क्रान्तम् । सलिलस्य । पृष्ठे ।
तस्मिन् । श्रयन्ते । ये । ऊं इति । के । च । देवाः । वृक्षस्य ।
स्कन्धः । परितःऽइव । शाखाः ॥ ३८ ॥

भुवनमें एक बड़ी पूजनीय वस्तु है, वह तपसे प्राप्त हो सकती है और सलिलपृष्ठ पर विराजती है, जैसे वृक्षके गुद्दे में टहनियें होती हैं इस प्रकार सब देवता उन (नारायण) का आश्रय लेते हैं ॥ ३८ ॥

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेमितं स्कम्भं
तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥

यस्मै । हस्ताभ्याम् । पादाभ्याम् । वाचा । श्रोत्रेण । चक्षुषा ।
यस्मै । देवाः । सदा । बलिम् । प्रऽयच्छन्ति । विऽमिते । अमि-
तम् । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ३९

देवता जिनके लिये हाथ पैर वाणी नेत्र और चक्षुसे सदा बलि देते रहते हैं जो निमित शरीरमें अमित है उस स्कंभका हम को उपदेश दीजिये, कि-वह कौनसा है ॥ ३६ ॥

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ४०

अप । तस्य । हतम् । तमः । विऽआवृत्तः । सः । पाप्मना ।
सर्वाणि । तस्मिन् । ज्योतींषि । यानि । त्रीणि । प्रजाऽपतौ ४०

(जो स्कंभको जान लेता है) उसका सब अंधकार नष्ट हो जाता है, वह पापसे निवृत्त होजाता है, जो तीन ज्योतियें प्रजापतिमें हैं वे सब ज्योतियें उसमें हो जाती हैं ॥ ४० ॥

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

यः । वेतसम् । हिरण्ययम् । तिष्ठन्तम् । सलिले । वेद ।
सः । वै । गुह्यः । प्रजाऽपतिः ॥ ४१ ॥

जो हितरमणीय जलमें स्थित वेंतको जानता है वही गुह्य प्रजापति है ॥ ४१ ॥

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम् ॥ ४२ ॥

तन्त्रम् । एके इति । युवती इति । विरूपे इति विऽरूपे । अभिऽआक्रामम् । वयतः । षट्ऽमयूखम् ।

श । अन्या । तन्तून् । तिरते । धत्ते । अन्या । न । अप । वृञ्जाते इति । न । गमातः । अन्तम् ॥ ४२ ॥

मिश्रण और अमिश्रण करने वाले अनेक प्रकारके ये दिन रात शुभ्र छः मयूख (ऋतु) वाले गमनशील वर्षके अधीन हैं मैं इन पर आक्रमण करता हूँ, इनमेंसे एक तन्तुओंका विस्तार करता है और उनको धारण करता है और दूसरा भी उनको नहीं छोड़ता है और ये दिन रात अन्तको प्राप्त नहीं होते हैं ४२

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न जानामि यतरा वि परस्तात् ।

पुमानेनद् वयत्युद्गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके ॥ ४३ ॥

तयोः । अहम् । परिनृत्यन्त्योःऽइव । न । वि । जानामि । यतरा । परस्तात् ।

पुमान् । एनत् । वयति । उत् । गृणत्ति । पुमान् । एनत् । वि । जभार । अधि । नाके ॥ ४३ ॥

इन नाचते हुए दिन और रातमें जो पर है उसको मैं नहीं जानता दिन-पुमान् इनको तन्तुसन्तानित करता है उद्गृणन करता है और स्वर्गमें भरण करता है ॥ ४३ ॥

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥ ४४ ॥

इमे । मयूखाः । उप । तस्तभुः । दिवम् । सामानि । चक्रुः । तसराणि । वातवे ॥ ४४ ॥

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

ये मयूख द्यौको स्तंभित करते हैं और साम वहनेके लिये तसर करते हैं ॥ ४४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७७१) ॥

"यो भूतम्" इति सूक्तमपि स्कम्भदेवताकम् ॥ अत्रापि स्कम्भस्य ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं सर्वेषामाश्रयभूतत्वं च दृश्यते ॥

"यो भूतम्" यह सूक्त भी स्कम्भ देवताका है। इसमें भी स्कंभ का ज्येष्ठत्व श्रेष्ठत्व और सबका आश्रयभूतत्व ही दीखता है।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

यः । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । यः । च । अधिऽतिष्ठति । स्वः । यस्य । च । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः १

जो भूत भविष्यत् और सबमें अधिष्ठित है और स्वर्ग जिसका केवल है उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये नमस्कार है ॥ १ ॥

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् २

स्कम्भेन । इमे इति । विस्तभिते इति विऽस्तभिते । द्यौः । च । भूमिः । च । तिष्ठतः ।

स्कम्भे । इदम् । सर्वम् । आत्मन्ऽवत् । यत् । प्राणत् । निऽमिषत् । च । यत् ॥ २ ॥

स्कंभके द्वारा रोके हुए ये द्यौ और भूमि ठहरे हुए हैं जो श्वास लेता हुआ और पलक मारता हुआ है यह सब आत्ममय स्कम्भ ही है ॥ २ ॥

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितो-विशन्त ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश ॥ ३ ॥

तिस्रः । ह । प्रऽजाः । अतिऽआयम् । आयन् । नि । अन्याः । अर्कम् । अभितः । अविशन्त ।
बृहन् । ह । तस्थौ । रजसः । विऽमानः । हरितः । हरिणीः । आ । विवेश ॥ ३ ॥

तीन प्रजाएँ प्रकृष्टरूपसे प्राप्त करने योग्य इसको पाती हैं और दूसरी चारों ओरसे सूर्यमें प्रवेश करती हैं भूलोकका निर्माता ब्रह्म स्थित रहता है, हरित हरिणीमें प्रवेश करता है ॥ ३ ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

द्वादश । प्रऽधयः । चक्रम् । एकम् । त्रीणि । नभ्यानि । कः । ऊं इति । तत् । चिकेत ।

तत्र । आऽहताः । त्रीणि । शतानि । शङ्कवः । षष्टिः । च ।
खीलाः । अविऽचाचलाः । ये ॥ ४ ॥

(मासरूप) बारह प्रधि हैं, (गरमी जाड़ा और वर्षारूप) तीन नभ्य हैं, इनको कौन (प्रजापति) जानता है, उसमें तीन सौ साठ खूँटे ठुके हुए हैं, ये कीले अविचल हैं ॥ ४ ॥

इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एक एकजः ।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ॥५॥

इदम् । सवितः । वि । जानीहि । षट् । यमाः । एकः । एकऽजः ।
तस्मिन् । ह । अपिऽत्वम् । इच्छन्ते । ये । एषाम् । एकः ।
एकऽजः ॥ ५ ॥

हे सवितः ! आप इस बातको समझिये, कि—छः (ऋतुएँ) यम (दो दो मासकी) हैं और एक (वर्ष) एकज है, इन प्राणियों में जो एक (ब्रह्म) से उत्पन्न हुए (जीव) हैं (उनमेंसे) एक श्रेणीके जीव उसीमें लीन होना चाहते हैं ॥ ५ ॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

आविः । सत् । निऽहितम् । गुहा । जरत् । नाम । महत् । पदम् ।
तत्र । इदम् । सर्वम् । आऽर्पितम् । एजत् । प्राणत् । प्रतिऽस्थितम् ६

प्रकाशमय आत्मा गुहारूप शरीरके भीतर स्थित है, जरत् नामक महत् पद है, उसीमें यह चेष्टा करने वाला और श्वास लेने वाला सब जगत् प्रतिष्ठित है ॥ ६ ॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव ॥ ७ ॥

एकऽचक्रम् । वर्तते । एकऽनेमि । सहस्रऽअक्षरम् । प्र । पुरः । नि । पश्चा ।
अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । क्व । तत् । बभूव ॥ ७ ॥

एकचक्र एकनेमि सहस्राक्षर आगे और पीछे घूमता है, उसने अपने आधे भागसे भुवनको प्रकट किया है और जो इसका आधा भाग है वह कहाँ है ॥ ७ ॥

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति ।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोवरं दवीयः ८

पञ्चऽवाही । वहति । अग्रम् । एषाम् । प्रष्टयः । युक्ताः । अनुऽसंवहन्ति ।
अयातम् । अस्य । ददृशे । न । यातम् । परम् । नेदीयः । अवरम् । दवीयः ॥ ८ ॥

इनके अग्रको पञ्चवाही प्राप्त कराती है, प्रष्टियें भी युक्त होकर अनुवहन करती हैं, इसका अयात ही दीखता है और इसका यात नहीं दीखता, यह अत्यन्तसमीपसे भी अत्यन्त समीप है और दूरसे भी दूर है ॥ ८ ॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

तिर्यक्ऽबिलः । चमसः । ऊर्ध्वऽबुध्नः । तस्मिन् । यशः । निऽहितम् । विश्वऽरूपम् ।
तत् । आसते । ऋषयः । सप्त । साकम् । ये । अस्य । गोपाः । महतः । बभूवुः ॥ ९ ॥

ऊपरकी ओर (शिखारूप) जड़ वाला तिर्यग्बिल चमस है उसमें विश्वरूप यश (आत्मा) निहित है उसमें (इन्द्रिय आदि) सात ऋषि साथ २ रहते हैं, जो इस महान् शरीरके रक्षक हैं ९

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः ।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥

या । पुरस्तात् । युज्यते । या । च । पश्चात् । या । विश्वतः । युज्यते । या । च । सर्वतः ।
यया । यज्ञः । प्राङ् । तायते । ताम् । त्वा । पृच्छामि । कतमा । सा । ऋचाम् ॥ १० ॥

जो पहिले विनियुक्त होती है और जो अन्तमें विनियुक्त होती है और जो सब समय विनियुक्त होती है और जिससे यज्ञका विस्तार किया जाता है वह ऋचाओंमेंसे कौनसी ऋचा है १०

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भुवत् ।
तद् दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत् संभूय भवत्येकमेव ॥

यत् । एजति । पतति । यत् । च । तिष्ठति । प्राणत् । अप्राणत् । निऽमिषत् । च । यत् । भुवत् ।
तत् । दाधार । पृथिवीम् । विश्वऽरूपम् । तत् । सम्ऽभूय । भवति । एकम् । एव ॥ ११ ॥

जो चेष्टा करता है, जो गिरता है, जो स्थित रहता है, जो प्राणक्रिया करता है और प्राणक्रिया नहीं करता है, जो निमिषत् है जो होनारूप है उसीने इस पृथ्वीको धारण कर रक्खा है वह सकल रूपोंमें होकर फिर एकरूप ही होजाता है ॥ ११ ॥

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अनन्तम् । विऽततम् । पुरुऽत्रा । अनन्तम् । अन्तऽवत् । च । समन्ते इति सम्ऽअन्ते ।

ते इति । नाकऽपालः । चरति । विऽचिन्वन् । विद्वान् । भूतम् ।

उत । भव्यम् । अस्य ॥ १२ ॥

यह अनन्त अनेक स्थलोंमें फैला हुआ है, वह अनन्त पासमें अन्त वाला भी प्रतीत होता है तेरे स्वर्ग सुखका पालक जीव उसको ढूँढता हुआ फिरता है, वह सबको जानने वाला है भूत और भव्य भी इसीका है ॥ १२ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः १३

प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अदृश्यमानः । बहुऽधा ।

वि । जायते ।

अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् ।

कतमः । सः । केतुः ॥ १३ ॥

वह प्रजापति गर्भके भीतर अदृश्य रहता हुआ विचरण करता है और अनेक प्रकारमें प्रकट होता है, उसने अपने आधे भागसे विश्वको प्रकट किया है, जो इसका आधा भाग है वह कौनसा ज्ञान है ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् ।

पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥१४॥

ऊर्ध्वम् । भरन्तम् । उदकम् । कुम्भेनऽइव । उदऽहार्यम् ।

पश्यन्ति । सर्वे । चक्षुषा । न । सर्वे । मनसा । विदुः ॥ १४ ॥

कुंभके द्वारा ऊपरको खेंचने योग्य जलकी समान ऊपरको भरते हुएको सब नेत्रसे देखते हैं, परन्तु मनसे नहीं जानते१४

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति१५

दूरे । पूर्णेन । वसति । दूरे । ऊनेन । हीयते ।

महत् । यक्षम् । भुवनस्य । मध्ये । तस्मै । बलिम् । राष्ट्रऽभृतः । भरन्ति ॥ १४ ॥

वह अपनेको पूर्ण समझने वालेसे दूर बसता है और जो न्यून होता है उससे दूर पर ही छिप जाता है, भुवनके मध्यमें एक महापूज्य वस्तु है, राष्ट्रभृत् उसके लिये ही बलिको भरा करते हैं॥

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।

तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥

यतः । सूर्यः । उत्ऽएति । अस्तम् । यत्र । च । गच्छति ।

तत् । एव । मन्ये । अहम् । ज्येष्ठम् । तत् । ऊं इति । न । अति । एति । किम् । चन ॥ १६ ॥

जिससे सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्तको प्राप्त होजाता है उसीको मैं ज्येष्ठ मानता हूं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

ये अर्वाङ्ग मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।

आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

ये । अर्वाक् । मध्ये । उत । वा । पुराणम् । वेदम् । विद्वांसम् । अभितः । वदन्ति ।

आदित्यम् । एव । ते । परि । वदन्ति । सर्वे । अग्निम् । द्वितीयम् । त्रिऽवृतम् । च । हंसम् ॥ १७ ॥

जो इस पुराण विद्वान् और चारों ओरसे जानने वालेको मध्यमें और पीछे कहते हैं, वे आदित्यको ही कहते हैं, वे दूसरे अग्निका भी इसी रूपमें वर्णन करते हैं और त्रिवृत् हंस (आत्मा) का भी इसी रूपमें वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ १८ ॥

सहस्रऽअह्नयम् । विऽयतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वःऽगम् ।

सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उपऽदद्य । सम्ऽपश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ १८ ॥

स्वर्गके लिये जाने वाले इस पापहारक हंसके पक्ष सहस्र दिनों तक फैले रहते हैं वह सब देवताओंको हृदयमें संहृत करके सकल भुवनोंको देखता हुआ चला जाता है ॥ १८ ॥

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।

प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् १९

सत्येन। ऊर्ध्वः। तपति। ब्रह्मणा। अर्वाङ्। वि। पश्यति।

प्राणेन। तिर्यङ्। प्र। अनति। यस्मिन्। ज्येष्ठम्। अधि। श्रितम्१९

जिसमें ज्येष्ठ अधिश्रित होता है वह सत्यके द्वारा ऊपर तप रहा है, मन्त्रबलसे नीचेको देख रहा है (और वह सूर्य) प्राण-बलसे (वर्षा करनेके लिये) तिरछा प्राणन करता है ॥ १९ ॥

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।

स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् २०

यः। वै। ते इति। विद्यात्। अरणी इति। याभ्याम्। निःऽम-

थ्यते। वसु।

सः। विद्वान्। ज्येष्ठम्। मन्येत। सः। विद्यात्। ब्राह्मणम्।

महत्॥ २०॥

जिनसे (आत्मज्ञानरूप) धन मथा जाता है उन (विद्या और अविद्यारूप) अरणियोंको जो जानता है, वह विद्वान् ज्येष्ठको जान सकता है वह महद्ब्राह्मणको जान जाता है॥ २०॥

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्वश्राभरत्।

चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥२१॥

अपात्। अग्रे। सम्। अभवत्। सः। अग्रे। स्वः। आ। अभरत्।

चतुःऽपात् । भूत्वा । भोग्यः । सर्वम् । आ । अदत्त । भोजनम् २१

वह पहिले पादहीन ही होता है और स्वर्गका ही भरण करता है, फिर चतुष्पाद होकर भोगने योग्य बनता है और सब भोजन को ग्रहण कर लेता है ॥ २१ ॥

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु ।
यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

भोग्यः । भवत् । अथो इति । अन्नम् । अदत् । बहु ।
यः । देवम् । उत्तरऽवन्तम् । उपऽआसातै । सनातनम् ॥ २२ ॥

जो श्रेष्ठता सनातन देवकी उपासना करता है, वह भोगनेके योग्य होजाता है और बहुतसे अन्नका दान करता है ॥ २२॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥२३॥

सनातनम् । एनम् । आहुः । उत । अद्य । स्यात् । पुनःऽनवः ।
अहोरात्रे इति । प्र । जायेते इति । अन्यः । अन्यस्य । रूपयोः२३

इन (सूर्य वा आत्मा) को सनातन कहते हैं यह (चन्द्ररूप में वा जीवरूपमें जन्म धारण करके) फिर नवीन होजाते हैं इन सूर्यसे दिन और रात्रि प्रकट होती हैं, अन्यके रूप इन दोनों दिन रातोंसे यह सूर्य अन्य हैं ॥ २३ ॥

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥ २४ ॥

शतम् । सहस्रम् । अयुतम् । निऽअर्बुदम् । असम्ऽख्येयम् । स्वम् । अस्मिन् । निऽविष्टम् ।

तत् । अस्य । घ्नन्ति । अभिऽपश्यतः । एव । तस्मात् । देवः । रोचते । एषः । एतत् ॥ २४ ॥

सैंकड़ों सहस्रों अयुत अर्बुद और असंख्येय (जन्म वा दिन) इनमें ही अपने आप निविष्ट हैं, वे दिन वा जन्म इनमें ही लीन होजाते हैं यह उनका साक्षी ही रहता है, (उनमें लिप्त नहीं होता है) इसी कारण यह देव दमकता रहता है ॥ २४ ॥

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।

ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

बालात् । एकम् । अणीयःऽकम् । उत । एकम् । नऽइव । दृश्यते ।

ततः । परिऽस्वजीयसी । देवता । सा । मम । प्रिया ॥ २५ ॥

यह आत्मा एक बालसे भी बहुत छोटा है इसी लिये यह मुख्य होने पर भी नहीं सा दीखता है, संसारमें क्रीड़ा करने वाली जो आत्मा उसका आलिंगन करती करती है वा मुझको प्रिय है २५

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।

यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

इयम् । कल्याणी । अजरा । मर्त्यस्य । अमृता । गृहे ।

यस्मै । कृता । शये । सः । यः । चकार । जजार । सः ॥ २६ ॥

जो इन आत्मदेवके लिये उद्यत होती है वह आत्मा कल्याणी

है अजर रहती है और मर्त्यलोकमें अमृतरूप है जो पुरुष ब्रह्म (की उपासना) को करता है वह पूजा पाता है ॥ २६ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि॒ त्वं कु॑मा॒र उ॒त वा॑ कु॒मारी॑ ।
त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्चसि॒ त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः ॥

त्वम् । स्त्री । त्वम् । पुमा॑न् । अ॒सि॒ । त्वम् । कु॒मा॒रः । उ॒त । वा॒ । कु॒मारी॑ ।
त्वम् । जी॒र्णः । द॒ण्डेन॑ । व॒ञ्च॒सि॒ । त्वम् । जा॒तः । भ॒व॒सि॒ । वि॒श्वतः॑ऽमुखः ॥ २७ ॥

हे आत्मन् ! तू ही स्त्री है, तू ही कुमारी है, तू ही पुरुष है, तू (शरीररूपसे) जीर्ण होकर दमसे वञ्चित करता है, तू प्रकट होकर विश्वतोमुख होजाता है ॥ २७ ॥

उ॒तैषां॑ पि॒तोत वा॑ पु॒त्र ए॑षामु॒तैषां॑ ज्ये॒ष्ठ उ॒त वा॑ कनि॒ष्ठः ।
एको॑ ह दे॒वो मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टः प्रथ॒मो जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः ॥ २८

उ॒त । ए॒षा॒म् । पि॒ता । उ॒त । वा॒ । पु॒त्रः । ए॒षा॒म् । उ॒त । ए॒षा॒म् । ज्ये॒ष्ठः । उ॒त । वा॒ । क॒नि॒ष्ठः ।
एकः॑ । ह॒ । दे॒वः । मन॑सि । प्रऽवि॑ष्टः । प्र॒थ॒मः । जा॒तः । सः ।
ऊं॑ इति॑ । गर्भे॑ । अ॒न्तः ॥ २८ ॥

तू इन प्राणियोंका पिता है, पुत्र है, इनका ज्येष्ठ है और कनिष्ठ है, एक ही देवता मनमें प्रविष्ट है; वह पहले प्रकट हुआ है और वही गर्भमें-भीतर है ॥ २८ ॥

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥ २९ ॥

पूर्णात् । पूर्णम् । उत् । अचति । पूर्णम् । पूर्णेन । सिच्यते ।
उतो इति । तत् । अद्य । विद्याम । यतः । तत् । परिऽसिच्यते २९

पूर्णसे ही पूर्ण उदञ्चित होता है, पूर्णसे पूर्णको सींचा जाता है आजकल हम उसको जान गए हैं, कि—जहाँसे वह सींचा जाता है२९

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ३०

एषा । सनत्नी । सनम् । एव । जाता । एषा । पुराणी । परि । सर्वम् । बभूव ।
मही । देवी । उषसः । विऽभाती । सा । एकेनऽएकेन । मिषता । वि । चष्टे ॥ ३० ॥

यह सनत्नी तपके ही अनुकूल हुई है, यह पुराणी है और सबको व्याप्त करके स्थित है, ऐसी यह पृथ्वी देवी उषासे दमकती है, वह एक अनेक चेष्टा करने वालोंसे देखी जाती है॥ ३० ॥ (२८)

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥

अविः । वै । नाम । देवता । ऋतेन । आस्ते । परिऽवृता ।
तस्याः । रूपेण । इमे । वृक्षाः । हरिताः । हरितऽस्रजः ॥ ३१ ॥

अचि नामक देवता उस ऋतसे आच्छादित है उसके रूपसे यह हरी माला वाले वृक्ष हरे वर्ण वाले हैं ॥ ३१ ॥

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

अन्ति । सन्तम् । न । जहाति । अन्ति । सन्तम् । न । पश्यति

देवस्य । पश्य । काव्यम् । न । ममार । न । जीर्यति ॥ ३२ ॥

यह पासमें आये हुएको-शरणमें आये हुएको नहीं छोड़ता है और यह (जीव) पासमें वर्तमान (आत्मा) को नहीं देखता है इस (आत्म-) देवकी चतुरताको देखो यह न मरता है और न जीर्ण होता है ॥ ३२ ॥

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

अपूर्वेण । इषिताः । वाचः । ताः । वदन्ति । यथाऽयथम् ।

वदन्तीः । यत्र । गच्छन्ति । तत् । आहुः । ब्राह्मणम् । महत् ३३

अपूर्वदशाको प्राप्त हुएसे प्रेरित हुई वाणियें यथायथ वर्णन करती हैं, वह कहती हुई जहाँ लीन होजाती है उसको ही महाब्राह्मण (महद्-ब्रह्म) कहते हैं ॥ ३३ ॥

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।

अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ३४

यत्र । देवाः । च । मनुष्याः । च । अराः । नाभौऽइव । श्रिताः ।

अपाम् । त्वा । पुष्पम् । पृच्छामि । यत्र । तत् । मायया । हितम्

जैसे अरे नाभिमें अर्पित होते हैं, इसी प्रकार देवता जिसमें अर्पित हैं, मैं तुझसे जलके पुष्प (नारायण) को बूझता हूँ, जहाँ वह मायासे स्थित है ॥ ३४ ॥

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः ।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥ ३५ ॥

येभिः । वातः । इषितः । प्रऽवाति । ये । ददन्ते । पञ्च । दिशः । सध्रीचीः ।
ये । आऽहुतिम् । अतिऽअमन्यन्त । देवाः । अपाम् । नेतारः । कतमे । ते । आसन् ॥ ३५ ॥

जिनसे प्रेरित किया हुआ वायु बहता है, जो पाँच सध्रीची दिशाओंको देते हैं, और जो देवता आहुतिको बहुत कुछ मानते हैं, वे जलके नेता किसमें हैं ॥ ३५ ॥

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोन्तरिक्षं पर्येको बभूव ।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

इमाम् । एषाम् । पृथिवीम् । वस्ते । एकः । अन्तरिक्षम् । परि । एकः । बभूव ।

दिवम् । एषाम् । ददते । यः । विऽपर्ता । विश्वाः । आशाः ।
प्रति । रक्षन्ति । एके ॥ २६ ॥

एक इस पृथ्वीको आच्छादित करता है वह एक ही अन्तरिक्ष के चारों ओर है वही विपर्ता इन प्राणियोंको स्वर्ग देता है मुख्य २ व्यक्ति दिक्पाल सकल दिशाओंकी रक्षा करते हैं ॥ २६ ॥

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् २७

यः । विद्यात् । सूत्रम् । विऽततम् । यस्मिन् । आऽउताः ।
प्रऽजाः । इमाः ।
सूत्रम् । सूत्रस्य । यः । विद्यात् । सः । विद्यात् । ब्राह्मणम् ।
महत् ॥ २७ ॥

जिसमें ये सब प्रजायें ओत हैं उस फैले हुए सूत्रको जो जानता है और जो कारणके कारणको जानता है वह महद् ब्रह्मको जान सकता है ॥ २७ ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ २८ ॥

वेद । अहम् । सूत्रम् । विऽततम् । यस्मिन् । आऽउताः । प्रऽजाः ।
इमाः ।
सूत्रम् । सूत्रस्य । अहम् । वेद । अथो इति । यत् । ब्राह्मणम् ।
महत् ॥ २८ ॥

जिसमें ये सब प्रजाएँ ओतप्रोत हैं उस फैले हुए सूत्रको मैं जानता हूँ, मैं सूत्रके सूत्रको भी जानता हूँ, कि—जो महद्ब्रह्म है ३८

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत् प्रदहन् विश्वदाव्यः ।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात् क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ ३९ ॥

यत् । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । अग्निः । ऐत् । प्रऽदहन् । विश्वऽदाव्यः ।
यत्र । अतिष्ठन् । एकऽपत्नीः । परस्तात् । क्वऽइव । आसीत् । मातरिश्वा । तदानीम् ॥ ३९ ॥

विश्व भरको भस्म कर सकने वाला अग्नि द्यावापृथिवी के मध्यमें भस्म करता हुआ आता है जहाँ मुख्य पालिकाएँ देवता रहती हैं, उस समय मातरिश्वा कहाँ था ॥ ३९ ॥

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् ।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥ ४० ॥

अप्ऽसु । आसीत् । मातरिश्वा । प्रऽविष्टः । प्रऽविष्टाः । देवाः । सलिलानि । आसन् ।
बृहन् । ह । तस्थौ । रजसः । विऽमानः । पवमानः । हरितः । आ । विवेश ॥ ४० ॥

मातरिश्वा जलमें प्रविष्ट था, प्रविष्ट हुए देवता भी सलिलरूप में थे, भूलोकका निर्माता ब्रह्म निश्चल था, उस पापहारीने पवित्र करने वाले वायुके रूपमें जलमें प्रवेश किया ॥ ४० ॥

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेधि वि चक्रमे ।
साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व ॥ ४१ ॥

उत्तरेणऽइव । गायत्रीम् । अमृते । अधि । वि । चक्रमे ।
साम्ना । ये । साम । सम्ऽविदुः । अजः । तत् । ददृशे । क्व ॥ ४१

उत्तरसे गायत्रीमें प्रवेश किया, सामसे जो सामको जानते हैं (उनको ही अजका प्रत्यक्ष होता है) वह अज कहाँ दीखता है ४१

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ४२ ॥

निऽवेशनः । सम्ऽगमनः । वसूनाम् । देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा ।
इन्द्रः । न । तस्थौ । सम्ऽअरे । धनानाम् ॥ ४२ ॥

सविता देवता वस्तुओंमें भी देवताकी समान हैं, सत्यधर्मा हैं, पुण्यात्मा उन्हींमें जाते हैं और वह सूर्यलोकमें उनको वसाते हैं। इन्द्र देवता धनके समरमें स्थित नहीं रहते हैं ॥ ४२ ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ४३

पुण्डरीकम् । नवऽद्वारम् । त्रिऽभिः । गुणेभिः । आऽवृतम् ।
तस्मिन् । यत् । यक्षम् । आत्मन्ऽवत् । तत् । वै । ब्रह्मऽविदः । विदुः ४३

नौ द्वार वाला पुण्डरीक तीन गुणोंसे आवृत है उसमें जो पूजनीय आत्मा वाला स्थान है उसको ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ॥४३॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥

अकामः । धीरः । अमृतः । स्वयम्ऽभूः । रसेन । तृप्तः । न । कुतः । चन । ऊनः ।
तम् । एव । विद्वान् । न । बिभाय । मृत्योः । आत्मानम् । धीरम् । अजरम् । युवानम् ॥ ४४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥
इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अकाम धीर अमृत स्वयंभू ब्रह्म अपने रससे अपने आप तृप्त रहता है, वह किसी विषयमें भी न्यून नहीं है, उस धीर अजर सदा तरुण रहने वाले आत्माको जानने वाला मृत्युसे नहीं डरता ॥ ४३ ॥ (२६)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७६)
चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

"अघायताम्" इति सूक्तम् आहुत्यर्थगोवधे विनियुज्यते । सा च वन्ध्या गौः शतौदनेत्युच्यते । तस्या वधेन तस्या मांसाहुत्या च यद्यजनं तद् अग्निष्टोमादपि अतिरात्रादपि च श्रेष्ठम् इत्यादिरूपा प्रशंसा । यैवं हन्यते तां मति हन्तृभ्यो मा भैषीस्त्वं देवी

भविष्यसि त्वां स्वर्गे देवा गोप्स्यन्तीत्यादि प्रोत्साहनम् । यस्त्वां हन्ति यो वा पचति यो वा जुहोति स उत्तमं स्वर्गं गच्छतीत्यादिका गोभिवचनेन प्रशंसा च क्रियते गोमेधस्य ॥

सांप्रदायिकास्तु एवम् ।

"अघायताम्" इत्यर्थसूक्तेन शतौदनसवे निरुप्तहविरभिमर्शनं संपातं दातृवाचनं दानं च कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । "अघायताम् इत्यथ मुखम् अपिनह्यमानम् अनुमन्त्रयते । सपत्नेषु वज्रं ग्रावा त्वैषः [२] इति निपतन्तम् । वेदिष्टे [२] इति मन्त्रोक्तम् आस्तृणाति । त्रिंशत्योदनास्तु अयणीषु शतम् अवदानानि वध्रि संनद्धानि पृथगोदनेषूपर्यादधाति । मध्यमायाः प्रथमे रन्ध्रिण्यामिक्षां दशमेभितः सप्तसप्तापूपान् परिश्रयति । पञ्चदशे पुरोडाशौ अग्रे हिरण्यम् अपो देवीः [२७] इत्यग्रत उदकुम्भान् । बालास्ते [३] इति सूक्तेन संपातवतीं प्रदक्षिणम् अग्निम् अनुपरिणीयोपवेशनप्रक्षालनाचमनम् उक्तम् । पाणाबुदकम् आनीय अथामुष्यौदनस्यावदानानां च मध्यात् पूर्वार्धाच्च द्विरवदायोपरिष्टाद् उदकेनाभिघार्य जुहोति सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणाम् आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वेत्यथ प्राश्नाति । अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि बृहस्पतेर्मुखेन इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि वरुणस्योदरे तथयाहुतम् इष्टं प्राश्नीयाद् देवा त्वा प्राश्नास्यात्मास्यात्मन्नात्मानं मे मा हिंसीरिति प्राशितम् अनुमन्त्रयते योऽग्निर्मणा नाम ब्राह्मणेषु प्रविष्टः । तस्मिन्न एष सुहुतोस्त्वोदनः स मा मा हिंसीत् परमे व्योमन् । सो अस्मभ्यम् अस्तु परमे व्योमन्निति दातारं वाचयति । वीक्षणान्तं शतौदनायाः प्रातर्जपेन व्याख्यातम्" इति कौ० ८, ६ ॥

"अघायताम्" यह सूक्त आहुत्यर्थ गोवधमें विनियुक्त होता है। वह वंध्या गौ शतौदना कहलाती है। उसके वधसे उसके मांस की आहुतिसे जो यजन होता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्रसे

भी श्रेष्ठ है, यह कर्ममार्गमें प्रवृत्ति कराने वाला प्रशंसापरक वचन है। जो मारी जाती है उसके प्रति 'तू हन्ताओंसे मत डर तू देवी होजावेगी, स्वर्गमें देवता तेरी रक्षा करेंगे' इत्यादि प्रोत्साहनवचन है। जो तुझे हनन करता है जो पचन करता है, जो आहुति देता है, वह उत्तम स्वर्गको जाता है। इत्यादि गोभिवचनके द्वारा गोमेध की प्रशंसा भी की है।

साम्प्रदायिक इसका इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि–

"अघायताम्" इस अर्थसूक्तसे शतौदनमें निरूपहविका अभिमर्शन सम्पात दातृवाचन और दान करे। यही सूत्रमें लिखा है, कि–"अघायताम् इत्यत्र मुखम् अपिनह्यमानम् अनुमन्त्रयते। सपत्नेषु वज्रं ग्रावा त्वैषः [२] इति निपतन्तम्। वेदिष्टे [२] इति मन्त्रोक्तम् आस्तृणाति। विंशत्योदनान् अपणीषु शतम् अवदानानि बभ्रिसंनद्धानि पृथगोदनेषूपर्यादधाति। मध्यमायाः प्रथमे रन्ध्रप्रभृत्यामितो दशमेभितः सप्तसप्तापूपान् परिश्रयति। पञ्चदशे पुरोडाशौ अग्रे हिरण्यम् अपो देवीः [२७] इत्यग्रत उदकुम्भान्। यास्ते [३] इति सूक्तेन संपातवतीं प्रदक्षिणम् अग्निम् अनुपरिणीयोपवेशनप्रक्षालनाचमनम् उक्तम्। पाणावुदकम् आनीय अथामुष्यौदनस्यावदानानां च मध्यात् पूर्वार्धाच्च द्विरवदायोपरिष्टाद् उदकेनाभिघार्य जुहोति सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणाम् आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वेत्यथ प्राश्नाति। अग्नेष्टास्येन प्राश्नामि बृहस्पतेर्मुखेन इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि वरुणस्योदरे तद्यथाहुतम् इष्टं प्राश्नीयाद् देवा त्वा प्राश्नान्पात्मास्यात्मन्नात्मानं मे मा हिंसीरिति प्राशितम् अनुमन्त्रयते योऽग्निर्नृमणा नाम ब्राह्मणेषु प्रविष्टः। तस्मिन्म एव सुहुतोऽस्त्वोदनः स मा मा हिंसीत् परमे व्योमन्। सो अस्मभ्यम् अस्तु परमे व्योमन्निति दातारं वाचयति। वीक्षणान्तं शतौदनायाः प्रातर्जपेन व्याख्यातम्" इति (कौशिकसूत्र ८. ६)॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥ १ ॥

अघऽयताम् । अपि । नह्य । मुखानि । सऽपत्नेषु । वज्रम् । अर्पय । एतम् ।
इन्द्रेण । दत्ता । प्रथमा । शतऽओदना । भ्रातृव्यऽघ्नी । यजमानस्य । गातुः ॥ १ ॥

यजमानको स्वर्ग भेजने वाली, शत्रुसंहारिका गौको इन्द्रने पहिले दिया था, यह वधरूप पाप करना चाहने वाले शत्रुओंके मुखको बन्द करके उनमें इस वज्रको अर्पित करे ॥ १ ॥

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते ।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोधि नृत्यतु ॥२॥

वेदिः । ते । चर्म । भवतु । बर्हिः । लोमानि । यानि । ते ।
एषा । त्वा । रशना । अग्रभीत् । ग्रावा । त्वा । एषः । अधि । नृत्यतु ॥ २ ॥

तेरा चर्म वेदि होवे और तेरे जो लोम हैं वे कुशायें हैं, इस रस्सीने तुझको पकड़ लिया है और ग्रावा तेरे ऊपर नृत्य करे २

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्ट्व्ये ।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ३ ॥

वालाः । ते । मऽउक्षणीः । सन्तु । जिह्वा । सम् । मार्ष्टु । अघ्न्ये ।

शुद्धा । त्वम् । यज्ञिया । भूत्वा । दिवम् । प्र । इहि । शतऽओदने ३

तेरे बाल मोक्षणी बनें, हे अघ्न्ये ! तेरी जिह्वा मार्जन करे, हे शतौदने ! तू शुद्ध यज्ञिया होकर स्वर्गको जा ॥ ३ ॥

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते ।

प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

यः । शतऽओदनाम् । पचति । कामऽप्रेण । सः । कल्पते ।

प्रीताः । हि । अस्य । ऋत्विजः । सर्वे । यन्ति । यथाऽयथम् ४

जो शतौदनाका पचन करता है, वह कामपूरकरूपसे समर्थ होता है, और ऋत्विज इससे प्रसन्न होकर यथायोग्य रीतिसे चले जाते हैं ॥ ४ ॥

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः ।

अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

सः । स्वःऽगम् । आ । रोहति । यत्र । अदः । त्रिऽदिवम् । दिवः ।

अपूपऽनाभिम् । कृत्वा । यः । ददाति । शतऽओदनाम् ॥ ५ ॥

जो शतौदनाको अपूपनाभि करके देता है वह जहाँ अन्तरिक्ष में स्वर्ग है उस स्वर्गमें जाता है ॥ ५ ॥

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ।

हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥६॥

सः । तान् । लोकान् । सम् । आप्नोति । ये । दिव्याः । ये । च ।

पार्थिवाः ।

हिरण्यऽज्योतिषम् । कृत्वा । यः । ददाति । शतऽओदनाम् ॥६॥

जो गौको सुवर्णसे दमकती हुई करके देता है, वह उन लोकों को प्राप्त होता है, कि-जो दिव्य और पार्थिव हैं ॥ ६ ॥

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥७॥

ये । ते । देवि । शमितारः । पक्तारः । ये । च । ते । जनाः ।

ते । त्वा । सर्वे । गोप्स्यन्ति । मा । एभ्यः । भैषीः । शतऽओदने ७

हे देवि ! जो तेरा पचन करने वाले हैं और जो तेरा शमन करने वाले प्राणी हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे, तू इनसे न डर ॥७॥

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।

आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ८

वसवः । त्वा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मरुतः । त्वा ।

आदित्याः । पश्चात् । गोप्स्यन्ति । सा । अग्निऽस्तोमम् । अति ।

द्रव ॥ ८ ॥

वसु दक्षिणकी ओरसे तेरी रक्षा करेंगे और मरुत् उत्तरकी ओरसे तेरी रक्षा करेंगे और आदित्य पीछेसे तेरी रक्षा करेंगे अतः तू अग्निष्टोमकी ओर दौड़ ॥ ८ ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ९ ॥

देवाः । पितरः । मनुष्याः । गन्धर्वऽअप्सरसः । च । ये ।

ते । त्वा । सर्वे । गोप्स्यन्ति । सा । अतिऽरात्रम् । अति । द्रव ९

देवता पितर मनुष्य गंधर्व और अप्सरायें ये सब तेरी रक्षा करेंगे, वह तू अतिरात्रकी ओर जा ॥ ९ ॥

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः ।

लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् १०

अन्तरिक्षम् । दिवम् । भूमिम् । आदित्यान् । मरुतः । दिशः ।

लोकान् । सः । सर्वान् । आप्नोति । यः । ददाति । शतऽओदनाम् ॥

जो शतौदनाको देता है वह अन्तरिक्ष द्यौ भूमि आदित्य मरुत् और दिशा इन सबके लोकोंको पाता है ॥ १० ॥

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति ।

पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥

घृतम् । प्रऽउक्षन्ती । सुऽभगा । देवी । देवान् । गमिष्यति ।

पक्तारम् । अघ्न्ये । मा । हिंसी । दिवम् । प्र । इहि । शतऽओदने

हे शतौदने देवि ! तू सुभगा देवि ! तू घृतका प्रोक्षण करती हुई देवताओंको प्राप्त होगी, तू पक्ताका हिंसन न कर स्वर्गको जा॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि

तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

ये । देवाः । दिविऽसदः । अन्तरिक्षऽसदः । च । ये । ये । च ।
इमे । भूम्याम् । अधि ।
तेभ्यः । त्वम् । धुक्ष्व । सर्वदा । क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति ।
मधु ॥ १२ ॥

जो देवता स्वर्गमें रहते हैं, जो अन्तरिक्षमें रहते हैं और जो भूमि पर रहते हैं, उनके लिये तू सदा क्षीर घृत और मधुको दुह १२

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

यत् । ते । शिरः । यत् । ते । मुखम् । यौ । कर्णौ । ये इति ।
च । ते । हनू इति ।
आमिक्षाम् । दुहताम् । दात्रे । क्षीरम् ।० ॥ १३ ॥

जो तेरा शिर मुख कान और हनु हैं, वे दाताके लिये क्षीर घृत मधु और आमिक्षाको दुहे ॥ १३ ॥

यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी ।
आमिक्षां० ॥ १४ ॥

यौ । ते । ओष्ठौ । ये इति । नासिके इति । ये इति । शृङ्गे इति ।
ये इति । च । ते अक्षिणी इति ॥० ॥ १४ ॥

जो तेरे ओठ नथुने सींग और नेत्र हैं वे दाता यजमानके लिये आमिक्षा क्षीरघृत और मधुको दुहें ॥ १४ ॥

यत् ते क्रोमा यद्धृदयं पुरीतत् सहकण्ठिका ।
आमिक्षां० ॥ १५ ॥

यत् । ते । क्रोमा । यत् । हृदयम् । पुरिऽतत् । सहऽकण्ठिका ०

जो तेरा क्रोम पुरीतत् हृदय और कण्ठनाड़ी है वह दाताके लिये आमिक्षा क्षीर घृत और मधु प्रदान करे ॥ १५ ॥

यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः ।
आमिक्षां० ॥ १६ ॥

यत् । ते । यकृत् । ये इति । मतस्ने इति । यत् । आन्त्रम् । याः । च । ते । गुदाः ॥० ॥ १६ ॥

हे मतस्ने ! जो तेरा यकृत् अन्त्रसमूह और गुदाकी नसे हैं वे दाताके लिये आमिक्षा घृत क्षीर और मधु प्रदान करें ॥१६॥

यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते ।
आमिक्षां० ॥ १७ ॥

यः । ते । प्लाशिः । यः । वनिष्ठुः । यौ । कुक्षी इति । यत् । च । चर्म । ते ॥० ॥ १७ ॥

जो तेरा प्लाशि वनिष्ठु और कुक्षियें तथा चर्म है वे दाताके लिये आमिक्षा घृत क्षीर और मधु दुहें ॥ १७ ॥

यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम् ।
आमिक्षां० ॥ १८ ॥

यत् । ते । मज्जा । यत् । अस्थि । यत् । मांसम् । यत् । च ।
लोहितम् ॥० ॥ १८ ॥

जो तेरी मज्जा अस्थियें मांस और लोहित हैं वे दाताके लिये आमिक्षा घृत क्षीर और मधु प्रदान करें ॥ १८ ॥

यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् ।
आमिक्षां० ॥ १९ ॥

यौ । ते । बाहू इति । ये इति । दोषणी इति । यौ । अंसौ ।
या । च । ते । ककुत् ॥ ० ॥ १९ ॥

जो तेरी भुजा बाहु अंस और ककुद् हैं वे दाताको आमिक्षा घृत क्षीर और मधु प्रदान करें ॥ १९ ॥

यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः ।
आमिक्षां० ॥ २० ॥

याः । ते । ग्रीवाः । ये । स्कन्धाः । याः । पृष्टीः । याः । च ।
पर्शवः ॥० ॥ २० ॥

जो तेरी ग्रीवा स्कंध पृष्टि और पसलियेँ हैं वे दाताके लिये आमिक्षा घृत क्षीर और मधु प्रदान करें ॥ २० ॥

यौ त ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत् ।
आमिक्षां० ॥ २१ ॥

यौ । ते । ऊरू इति । अष्ठीवन्तौ । ये इति । श्रोणी इति । या ।
च । ते । भसत् ॥० ॥ २१ ॥

जो तेरी ऊरू अष्ठीवान् श्रोणी और कटि हैं, वे दाताके लिये आमिक्षा क्षीर घृत और मधुरता प्रदान करें ॥ २१ ॥

यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः ।
आमिक्षां० ॥ २२ ॥

यत् । ते । पुच्छम् । ये । ते । बालाः । यत् । ऊधः । ये । च । ते । स्तनाः ॥० ॥ २२ ॥

जो तेरी पूँछ बाल ऐन और थन हैं वे दाताके लिये आमिक्षा दूध घृत और मधु प्रदान करें ॥ २२ ॥

यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः ।
आमिक्षां० ॥ २३ ॥

याः । ते । जङ्घाः । याः । कुष्ठिकाः । ऋच्छराः । ये । च । ते । शफाः ॥० ॥ २३ ॥

जो तेरी जंघाएँ कुष्ठिका ऋच्छर और खुम हैं वे दाताके लिये आमिक्षा दूध घृत और मधु प्रदान करें ॥ २३ ॥

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये ।
आमिक्षां दुहतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

यत् । ते । चर्म । शतऽओदने । यानि । लोमानि । अघ्न्ये ।
आमिक्षाम् । दुहताम् । दात्रे । क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति । मधु ।

हे शतौदने ! जो तेरा चर्म है हे अघ्न्ये ! जो तेरे लोम हैं वे दाताके लिये आमिक्षा क्षीर घृत और मधुरता प्रदान करें ॥२४॥

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

क्रोडौ । ते । स्ताम् । पुरोडाशौ । आज्येन । अभिऽघारितौ ।
तौ । पक्षौ । देवि । कृत्वा । सा । पक्तारम् । दिवम् । वह ॥ २५ ॥

तेरे क्रोड़ घृतसे अभिघारित पुरोडाश हो जावें हे देवि ! तू उनको पक्ष बना कर पक्ताके साथ स्वर्गको प्राप्त हो ॥ २५ ॥

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः ।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ २६ ॥

उलूखले । मुसले । यः । च । चर्मणि । यः । वा । शूर्पे । तण्डुलः । कणः ।
यम् । वा । वातः । मातरिश्वा । पवमानः । ममाथ । अग्निः । तत् । होता । सुऽहुतम् । कृणोतु ॥ २६ ॥

उलूखलमें मूसलमें चर्ममें वा छाजमें जो तण्डुलका कण रह गया है वा जिसको मातरिश्वाने पवित्र करते हुए मथा है उसको होता अग्नि सुहुत करें ॥ २६ ॥

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २७ ॥

अपः। देवीः। मधुऽमतीः। घृतऽश्चुतः। ब्रह्मणाम्। हस्तेषु। प्रऽपृथक्। सादयामि।

यत्ऽकामः। इदम्। अभिऽसिञ्चामि। वः। अहम्। तत्। मे। सर्वम्। सम्। पद्यताम्। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

मैं मधुमयी घृतकी समान सार फलोंको देने वाली जलदेवियों को ब्राह्मणोंके हाथमें अलग २ देता हूँ, हे ब्राह्मणो! मैं जिस कामनाके लिये तुम्हारा अभिषेचन करता हूँ, वह सब मुझमें सम्पन्न होवें, हम सब धनपति होवें॥ २७॥ (३२)॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४७७)॥

"नमस्ते जायमानायै" इति सूक्ते पूर्वसूक्तोक्तवशा न केवलं मेध्यमांसात्मिका गौर्भवति अपि तु सा विशसनादनन्तरं महती काचिद् देवी भूत्वा देवेषु मध्ये सर्वात्मिका भवति, यज्ञियेषु च यज्ञिया भवतीत्यादि तस्या माहात्म्यं प्रशंसा चोक्ता॥

सांप्रदायिकास्तु एवम्। "नमस्ते जायमानायै" इत्यर्थसूक्तेन वशासवे निक्तहविरभिमर्शनसंपातदातृवाचनदानादि कुर्यात्। तदुक्तं कौशिकेन। "नमस्ते जायमानायै [१०. १०] ददामि [१२. ४] इति वशाम् उदपात्रेण संपातवता संप्रोक्ष्याभिमन्त्र्याभिनिगद्य दद्याद् दाता वाच्यमानो भूमिष्ठा [३. २९. ८] इत्येनां प्रतिगृह्णाति" इति [कौ० ८, ७]॥

"नमस्ते जायमानायै" सूक्तमें यह कहा है, कि—पूर्वसूक्तोक्तवशा केवल मेध्यमांसात्मिका गौ ही नहीं होती है, किन्तु वह विशसनके अनन्तर एक बड़ी भारी देवी बन कर देवताओंमें सर्वात्मिका होती है, यज्ञियोंमें यज्ञिया होती है। इस प्रकार उसकी प्रशंसा और माहात्म्य इसमें कहा है।

साम्प्रदायिक कहते हैं, कि–"नमस्ते जायमानायै" इस अर्थसूक्तसे वशासत्रमें निरुप्त हविका अभिमर्शन सम्पात दातृवाचन और दान करे। इसी बातको कौशिकने कहा है, कि–"नमस्ते जायमानायै (१० । १०) ददामि (१२ । ४) इति वशां उदपात्रेण संपातवता सम्प्रोक्ष्याभिमन्त्र्याभिनिगद्य दद्याद् दाता वाच्यमानो भूमिष्ट्वा (३ । २९ । ८) इत्येनां प्रतिगृह्णाति" (कौशिकसूत्र ८ । ७)॥

नमस्ते जायमानायै जातायां उत ते नमः ।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः ॥ १ ॥

नमः । ते । जायमानायै । जातायै । उत । ते । नमः ।
बालेभ्यः । शफेभ्यः । रूपाय । अघ्न्ये । ते । नमः ॥ १ ॥

हे अघ्न्ये ! तुझ जायमाना और जाताके लिये प्रणाम है तेरे बालोंके लिये खुरोंके लिये और रूपके लिये प्रणाम है ॥ १ ॥

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः ।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात्२

यः । विद्यात् । सप्त । प्रऽवतः । सप्त । विद्यात् । पराऽवतः ।
शिरः । यज्ञस्य । यः । विद्यात् । सः । वशाम् । प्रति । गृह्णीयात् २

जो वशाकी सात प्रकर्षता वाली वस्तुओंको जानता है जो वशासे दूर रखने योग्य सात वस्तुओंको जानता है और जो यज्ञके शिरको जानता है, वह वशाका प्रतिग्रहण कर सकता है ॥२॥

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः ।

शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥३॥

वेद । अहम् । सप्त । प्रऽवतः । सप्त । वेद । पराऽवतः ।

शिरः । यज्ञस्य । अहम् । वेद । सोमम् । च । अस्याम् । विऽचक्षणम्

मैं सात प्रवतोंको और सात परावतोंको जानता हूँ और मैं यज्ञके शिरको भी जानता हूँ और इसमें जो सोम है उसको भी जानता हूँ ॥ ३ ॥

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः ।

वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

यया । द्यौः । यया । पृथिवी । यया । आपः । गुपिताः । इमाः ।

वशाम् । सहस्रऽधाराम् । ब्रह्मणा । अच्छऽआवदामसि ॥ ४ ॥

जिस वशासे द्यौ और पृथिवी तथा ये जल रक्षित हैं, उस सहस्रधारा वशासे हम मन्त्रके द्वारा अभिमुख होकर वार्तालाप करते हैं ॥ ४ ॥

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः ।

ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

शतम् । कंसाः । शतम् । दोग्धारः । शतम् । गोप्तारः । अधि । पृष्ठे । अस्याः ।

ये । देवाः । तस्याम् । प्राणन्ति । ते । वशाम् । विदुः । एकऽधा ५

इसकी पृष्ठमें सौ दुग्ध पीनेके पात्र हैं, सौ दोग्धा हैं, जो देवता इसमें प्राणन करते हैं वे वशाको एक प्रकारसे जानते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

यज्ञऽपदी । इराऽक्षीरा । स्वधाऽप्राणा । महीलुका
वशा । पर्जन्यऽपत्नी । देवान् । अपि । एति । ब्रह्मणा ॥ ६ ॥

यज्ञपदी इरा क्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका, पर्जन्यका पालन करने वाली वशा मन्त्रशक्तिके द्वारा देवताओंको तृप्त करे है॥६॥

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

अनु । त्वा । अग्निः । प्र । अविशत् । अनु । सोमः । वशे । त्वा ।
ऊधः । ते । भद्रे । पर्जन्यः । विऽद्युतः । ते । स्तनाः । वशे ॥७॥

हे वशे ! तुझमें अग्निने प्रवेश किया है, सोमने तुझमें प्रवेश किया है, हे भद्रे ! पर्जन्य तेरा ऐन है और हे वशे ! बिजलियें तेरे स्तन हैं ॥ ७ ॥

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे ।
तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

अपः । त्वम् । धुक्षे । प्रथमाः । उर्वराः । अपराः । वशे ।
तृतीयम् । राष्ट्रम् । धुक्षे । अन्नम् । क्षीरम् । वशे । त्वम् ॥ ८ ॥

हे वशे ! तू पहिले जल प्रदान करती है, फिर उर्वर वस्तुओं को प्रदान करती है फिर तीसरे राज्यको प्रदान करती है, हे वशे ! फिर तू अन्न और क्षीरको देती है ॥ ८ ॥

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि ।
इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥ ९ ॥

यत् । आदित्यैः । हूयमाना । उपऽअतिष्ठः । ऋतऽवरि ।
इन्द्रः । सहस्रम् । पात्रान् । सोमम् । त्वा । अपाययत् । वशे ॥९॥

हे ऋतावरि ! तू जो आदित्योंके बुलाने पर उनके पास आई थी उस समय हे वशे ! इन्द्रने तुझे सहस्र पात्रोंसे सोम पिलाया था ९

यदनूचीन्द्रमैरात् त्वं ऋषभो ह्वयत् ।
तस्मात् ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धो हरद् वशे ॥१०॥

यत् । अनूची । इन्द्रम् । ऐः । आत् । त्वा । ऋषभः । अह्वयत् ।
तस्मात् । ते । वृत्रऽहा । पयः । क्षीरम् । क्रुद्धः । अहरत् । वशे१०

जब तू अनूची इन्द्रके पास थी उस समय ऋषभने तुझको आह्वान किया था, इसी कारण तेरे क्षीर पयको वृत्रहाने क्रुद्ध होकर हर लिया था ॥ १० ॥

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे ।
इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

यत् । ते । क्रुद्धः । धनऽपतिः । आ । क्षीरम् । अहरत् । वशे ।
इदम् । तत् । अद्य । नाकः । त्रिषु । पात्रेषु । रक्षति ॥ ११ ॥

धनपतिने क्रोधमें तेरे जिस क्षीरको वशमें कर लिया था उस की स्वर्ग तीन पात्रोंमें रक्षा कर रहा है ॥ ११ ॥

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्य॑हरद् वशा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥

त्रिषु । पात्रेषु । तम् । सोमम् । आ । देवी । अहरत् । वशा ।
अथर्वा । यत्र । दीक्षितः । बर्हिषि । आस्त । हिरण्यये ॥ १२ ॥

उस सोमको देवी वशाने तीन पात्रोंमें भर लिया है, जहाँ हित रमणीय कुशा पर अथर्वा दीक्षित होकर बैठे हुए हैं ॥ १२ ॥

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता ।
वशा समुद्रमध्यष्ठाद् गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥१३॥

सम् । हि । सोमेन । अगत । सम् । ऊं इति । सर्वेण । पत्ऽवता ।
वशा । समुद्रम् । अधि । अस्थात् । गन्धर्वैः । कलिऽभिः । सह १३

वशा सोमके साथ और सकल पैर वालोंके साथ संगत हो जाती है और कलि तथा गन्धर्वोंके साथ वशा जल पर भी अधिष्ठित होती है ॥ १३ ॥

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः ।
वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

सम् । हि । वातेन । अगत । सम् । ऊं इति । सर्वैः । पतत्रिऽभिः ।
वशा । समुद्रे । प्र । अनृत्यत् । ऋचः । सामानि । बिभ्रती १४

यह वशा वायु और पर वाले प्राणियोंके साथ संगत होगई थी ऋचा और सामोंको धारण करती हुई वशा समुद्रमें नाचती है १४

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा ।
वशा समुद्रमत्यंख्यद् भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥१५॥

सम् । हि । सूर्येण । अगत । सम् । ऊं इति । सर्वेण । चक्षुषा ।
वशा । समुद्रम् । अति । अख्यत् । भद्रा । ज्योतींषि । बिभ्रती १५

सूर्य और सबके नेत्रसमूहसे संगत हुई ज्योतियोंको धारण करती हुई भद्रा वशाने समुद्रसे भी अधिक प्रसिद्धि पाई है ॥ १५ ॥

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि ।
अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद् वशे त्वा ॥ १६ ॥

अभिऽवृता । हिरण्येन । यत् । अतिष्ठः । ऋतऽवरि ।
अश्वः । समुद्रः । भूत्वा । अधि । अस्कन्दत् । वशे । त्वा ।१६।

हे मधुमयि ! जो तू सुवर्णसे मढ़कर खड़ी हुई थी उस समय हे वशे ! शीघ्र चलने वाले समुद्र अधिस्कन्दित हुए थे ॥ १६ ॥

तद् भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा ।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥१७॥

तत् । भद्राः । सम् । अगच्छन्त । वशा । देष्ट्री । अथो इति ।
स्वधा ।
अथर्वा । यत्र । दीक्षितः । बर्हिषि । आस्त । हिरण्यये ॥१७॥

जहाँ हित रमणीय कुशाओं पर दीक्षित अथर्वा बैठते हैं तहाँ वशा देष्ट्री और स्वधा कल्याणकारिणी होजाती हैं ॥ १७ ॥

वशा माता राजन्य॑स्य वशा माता स्व॑धे तव ।
वशाया॑ य॒ज्ञ आयु॑धं तत॒श्चित्तम॑जायत ॥ १८ ॥

वशा । माता । राजन्य॑स्य । वशा । माता । स्वधे । तव ।
वशायाः । यज्ञे । आयुधम् । ततः । चित्तम् । अजायत ॥ १८ ॥

वशा क्षत्रियकी निर्मात्री है, और हे स्वधे ! वशा तेरी भी निर्मात्री है, यज्ञ ही वशाका आयुध है, तदनन्तर चित्त हुआ है १८

ऊ॒र्ध्वो बिन्दु॒रुद॑चरद् ब्रह्म॑णः ककु॑दा॒दधि॑ ।
तत॒स्त्वं ज॑ज्ञिषे वशे॒ ततो॒ होता॑जायत ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वः । बिन्दुः । उत् । अचरत् । ब्रह्मणः । ककुदात् । अधि ।
ततः । त्वम् । जज्ञिषे । वशे । ततः । होता । अजायत ॥ १९ ॥

ब्रह्मके ककुद्से एक विन्दु ऊपरको उछला, हे वशे ! उससे तू उत्पन्न हुई फिर होता हुआ है ॥ १९ ॥

आ॒स्नस्ते॑ गाथा॑ अभवन्नु॒ष्णिहा॑भ्यो॒ बलं॑ वशे ।
पा॒जस्या॑ज्जज्ञे य॒ज्ञ स्तने॑भ्यो र॒श्मय॒स्तव॑ ॥ २० ॥

आस्नः । ते । गाथाः । अभवन् । उष्णिहाभ्यः । बलम् । वशे ।
पाजस्यात् । जज्ञे । यज्ञः । स्तनेभ्यः । रश्मयः । तव ॥ २० ॥

हे वशे ! तेरे मुखसे गाथाएँ प्रकट हुई हैं और उष्णिहा नाड़ियोंसे बल प्रकट हुआ है, बलप्रदभागसे यज्ञ प्रकट हुआ है और तेरे स्तनोंसे रश्मियें प्रकट हुई हैं ॥ २० ॥

ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव ।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अत्रा उदरादधि वीरुधः ॥ २१ ॥

ईर्माभ्याम् । अयनम् । जातम् । सक्थिऽभ्याम् । च । वशे । तव ।
आन्त्रेभ्यः । जज्ञिरे । अत्राः । उदरात् । अधि । वीरुधः ॥२१॥

हे वशे ! तेरे व्रणोंसे और सक्थियोंसे अयन हुआ है आंतों से अन्न हुए हैं और उदरसे लताएँ हुई हैं ॥ २१ ॥

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे ।
ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत् स हि नेत्रमवेत् तव ॥ २२ ॥

यत् । उदरम् । वरुणस्य । अनुऽआविशथाः । वशे ।
ततः । त्वा । ब्रह्मा । उत् । अह्वयत् । सः । हि । नेत्रम् । अवेत् ।
तव ॥ २२ ॥

हे वशे ! जो तू वरुणके उदरमें प्रवेश कर गई थी, वहाँसे ब्रह्मा ने तेरा उदाह्वान किया था वही तेरा नेत्रको जान सकता था २२

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः ।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥

सर्वे । गर्भात् । अवेपन्त । जायमानात् । असूस्वः ।
ससूव । हि । ताम् । आहुः । वशा । इति । ब्रह्मऽभिः । क्लृप्तः ।
स । हि । अस्याः । बन्धुः ॥ २३ ॥

जितने प्राणसर्वस्व प्राणी हैं वे गर्भसे उत्पन्न होनेसे डरते हैं, यह वशा ही उनको उत्पन्न करती है ऐसा कहते हैं, मन्त्रोंसे समर्थ हुआ कृत्य ही इसका बन्धु है ॥ २३ ॥

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी ।
तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४

युधः । एकः । सम् । सृजति । यः । अस्याः । एकः । इत् । वशी ।
तरांसि । यज्ञाः । अभवन् । तरसाम् । चक्षुः । अभवत् । वशा ॥

एक युध ही रचता है वही इसका मुख्य वशी है, तरस् यज्ञ हुए और तरस् (बल) वालोंका नेत्र वशा ही है ॥ २४ ॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

वशा । यज्ञम् । प्रति । अगृह्णात् । वशा । सूर्यम् । अधारयत् ।
वशायाम् । अन्तः । अविशत् । ओदनः । ब्रह्मणा । सह ॥२५॥

वशा ही यज्ञका प्रतिग्रहण करती है और वशा ही सूर्यको रोके हुए है और ब्रह्माके साथ ओदन भी वशामें ही प्रविष्ट है ॥ २५ ॥

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः

वशाम् । एव । अमृतम् । आहुः । वशाम् । मृत्युम् । उप । आसते ।
वशा । इदम् । सर्वम् । अभवत् । देवाः । मनुष्याः । असुराः ।
पितरः । ऋषयः ॥ २६ ॥

ज्ञानी पुरुष वशाको ही अमृत कहते हैं, वशारूप मृत्युकी उपासना करते हैं, देवता मनुष्य असुर पितर और ऋषि यह सब वशामय ही था ॥ २६ ॥

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ।

तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

यः । एवम् । विद्यात् । सः । वशाम् । प्रति । गृह्णीयात् ।

तथा । हि । यज्ञः । सर्वऽपात् । दुहे । दात्रे । अनपऽस्फुरन् २७

जो इस प्रकार जानता हो वह वशाका प्रतिग्रहण करता है, तब सकल पादोंसे पूर्ण हुआ यज्ञ दाताको कर्मफल देनेमें कुछ भी पीछेको न हटता हुआ पूर्णरूपसे फल देता है ॥ २७ ॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।

तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८॥

तिस्रः । जिह्वाः । वरुणस्य । अन्तः । दीद्यति । आसनि ।

तासाम् । या । मध्ये । राजति । सा । वशा । दुःऽप्रतिग्रहा २८

वरुणके मुखके भीतर तीन जिह्वायें दमकती रहती हैं, उनमें जो बीचमें शोभा देती है वह वशा दुष्प्रतिग्रहा है ॥ २८ ॥

चतुर्धा रेतो अभवद् वशायाः ।

आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम् २६

चतुःऽधा । रेतः । अभवत् । वशायाः ।

आपः । तुरीयम् । अमृतम् । तुरीयम् । यज्ञः । तुरीयम् । पशवः ।
तुरीयम् ॥ २६ ॥

वशाका वीर्य चार भागोंमें बँटा हुआ है उसका चौथाई भाग जल है, चौथाई भाग अमृत है, चौथा भाग यज्ञ है और चौथा भाग पशु हैं ॥ २६ ॥

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः ।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये ॥ ३० ॥

वशा । द्यौः । वशा । पृथिवी । वशा । विष्णुः । प्रजाऽपतिः ।
वशायाः । दुग्धम् । अपिबन् । साध्याः । वसवः । च । ये ३०

वशा ही द्यौ है, वशा ही पृथिवी है और वशा ही विष्णु प्रजापति हैं, जो साध्य और वसु हैं वे वशाके दुग्धको ही पीते हैं ३०

वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते ॥ ३१ ॥

वशायाः । दुग्धम् । पीत्वा । साध्याः । वसवः । च । ये ।
ते । वै । ब्रध्नस्य । विष्टपि । पयः । अस्याः । उप । आसते ३१

साध्य और वसु वशाके दुग्धको पीकर सब जगत्को अपनी महिमासे रचने वाले सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती ईश्वरके आकाशमें विष्टब्ध सूर्यमण्डलमें इसके दुग्धकी उपासना करते हैं ॥ ३१ ॥

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते ।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः ३२

सोमम् । एनाम् । एके । दुह्रे । घृतम् । एके । उप । आसते ।

ये । एवम् । विदुषे । वशाम् । ददुः । ते । गताः । त्रिऽदिवम् ।

दिवः ॥ ३२ ॥

एक इससे सोमको दुहते हैं और एक घृतको पाते हैं, जिन्होंने ऐसा जानने वालेको वशा प्रदान की थी वे द्युलोकके स्वर्गभागमें गए थे ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वांल्लोकान्त्समश्नुते ।

ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणेभ्यः । वशाम् । दत्त्वा । सर्वान् । लोकान् । सम् । अश्नुते ।

ऋतम् । हि । अस्याम् । आर्पितम् । अपि । ब्रह्म । अथो इति । तपः ।

पुरुष ब्राह्मणोंके लिये वशाका दान करके सकल लोकोंका उपभोग करता है, इस वशामें सत्य ब्रह्म और तप भी अर्पित है ३३

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत ।

वशेदं सर्वमभवद् यावत् सूर्यो विपश्यति ॥ ३४ ॥

वशाम् । देवाः । उप । जीवन्ति । वशाम् । मनुष्याः । उत ।

वशा । इदम् । सर्वम् । अभवत् । यावत् । सूर्यः । विऽपश्यति ३४

पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पञ्चमोनुवाकः ॥

इति दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

देवता वशाके द्वारा दूसरोंको जीविका देने वाले हैं, और मनुष्य वशाके द्वारा दूसरोंको जीविका देसकते हैं, यह सब जगत् कि—जहाँ तक सूर्यकी दृष्टि पहुँचती है वशा ही है ॥३४॥ (१५)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७८) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका दशमकाण्ड स्व० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक स्व० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित
समाप्त.

॥ दशम काण्ड समाप्त ॥

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

एकादशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

श्रीः ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सकल जगत्की रचना की है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

एकादशकाण्डे पञ्चानुवाकाः । प्रथमेऽनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "अग्ने जायस्व" इत्यादिसूक्तचतुष्टयम् अर्थसूक्तम् । तेन ब्रह्मौदनसवे निरुप्तहविरभिमर्शनसंपातदानवाचनदानानि कुर्यात् । तत्र "अग्ने जायस्व" [१] इति प्रथमया ब्रह्मौदनादिसवयज्ञेषु मथ्यमानम् अग्निम् अनुमन्त्रयेत । "कृणुत धूमम्" [२] इति द्वितीयया मथनसमये उत्पद्यमानधूमानुमन्त्रणं कुर्यात् । "अग्नेऽजनिष्ठाः" [३] इति तृतीयस्यास्त्रिभिः पादैर्मथ्यमानं जाताग्निम् अनुमन्त्रयेत । "अस्यै रयिम्" इति चतुर्थेन पादेन पत्न्यै फलं काङ्क्षन् अग्निम् अनुमन्त्रयेत । "समिद्धः" [४] इति चतुर्थ्या काष्ठैः प्रज्वाल्यमानम् अग्निम् अनुमन्त्रयेत । "उत्तमं नाकम्" इति चतुर्थं पादं दातारं वाचयेत् । यद् आह कौशिकः । "अग्नीन् आधास्यमानः सजन् वा द्वादशरात्रं संवत्सरं ब्राह्मौदनिकम् अग्निं दीपयति" इत्युपक्रम्य

"अग्ने जायस्वेति मथ्यमानम् अनुमन्त्रयते । पत्नी मन्त्रं संनमयति यजमानश्च । कृणुत धूमम् इति धूमम् अग्नेजनिष्ठा इति जातं समिद्धो अग्निरिति समिध्यमानम्" इति [कौ० ८. १] ॥

ब्रह्मौदनसवयज्ञ एव देवपितृमनुष्यार्थं व्रीहिराशीन् त्रेधा विभक्तान् "त्रेधा भागः" [५] इति ऋचस्त्रिभिः पादैः कर्ता अनुमन्त्रयेत । "यो देवानाम्" इति चतुर्थपादेन पत्नीम् अनुमन्त्रयेत । "अग्ने सहस्वान्" [६] इति ऋचा दातारम् अनुमन्त्र्य देवभागं कुम्भ्यां निर्वपेत् । सूत्रितं हि । आदिष्टान् अंशान् अजानत्यै प्रयच्छति । तांस्त्रेधा भाग इति व्रीहिराशिषु निदधाति । तेषां यः पितॄणां तं श्राद्धं करोति । यो मनुष्याणां तं ब्राह्मणान् भोजयति । यो देवानां तम् अग्ने सहस्वान् इति दक्षिणं जान्वाच्यापराजिताभिमुखः मुष्टिभिः प्रसृताञ्जलिभिः कुम्भ्यां निर्वपति" इति [कौ० ८. २] ॥

तत्रैव कर्मणि "साकं सजातैः" [७] इति ऋचा निरुप्तान् व्रीहीन् उलूखले आवपेत् । सूत्रितं हि । "साकं सजातैरिति व्रीहीन् उलूखल आवपति" इति [कौ० ८. २] ॥ अत्र "साकम्" इत्यर्धर्चेन उलूखले व्रीहीन् आवपेत् । "ऊर्ध्वो नाकस्य" इत्यर्धर्चेन पच्यमानस्य ओदनस्योपरि गर्तं कुर्याद् इति भाष्यकारः ॥

तत्रैव कर्मणि ब्राह्मौदनिकस्याग्नेः पश्चाद्भागे औक्षं वा आनडुहं वा चर्म प्रस्तृणन्तं यजमानम् "इयं मही" [८] इति ऋचा वाचयेत् । "इयं महीति चर्मास्तृणाति प्राग्ग्रीवम् उत्तरलोम" इति [कौ० ८. १] सूत्रात् ॥

"एतौ ग्रावाणौ" [९] इति ऋचः प्रथमपादेन उलूखलमुसलं चर्मणि स्थापयेत् । "निर्भिन्ध्यंशून्" इति पादत्रयेण व्रीहीन् अवहन्यात् । "गृहाण ग्रावाणौ" इत्यर्धर्चेन उलूखलमुसलम् अवहननार्थं पत्नीं ग्राहयेत् । "त्रयो वराः" इत्यर्धर्चेन निर्वापानन्तरं वरं

[वृणान्तावनुमन्त्रयते । सूत्रितं हि । "एतौ] ग्रावाणौ [९] अयं ग्रावा [१२. ३. १४] इत्युलूखलमुसलं शूर्पं मन्त्राक्षितं चर्मण्या-धाय गृहाण ग्रावाणौ [१०] इत्युभयं गृह्णाति" इति [कौ० ८, २] "निर्भिन्ध्यंशून् ग्राहिं पाप्मानम् इत्यवहन्ति" इति [कौ० ८. २] "त्रयो वरा इति त्रीन् वरान् वृणीष्व" इति च [कौ० ८. २]॥

ग्यारहवें काण्डमें पाँच अनुवाक हैं। प्रथम अनुवाकमें सात सूक्त हैं। इनमें 'अग्ने जायस्व' इत्यादि चार सूक्त अर्थसूक्त नाम से कहे जाते हैं। इस अर्थसूक्तसे ब्रह्मौदनसवमें होमनेसे पहिले हविका अभिमर्शन सम्पात दातृवाचन और दान करे। यहाँ पर 'अग्ने जायस्व' इस पहिली ऋचासे ब्रह्मौदन आदि सवयज्ञोंमें मथी जाती हुई अग्निका अनुमन्त्रण करे। 'कृणुत धूमम्' इस दूसरी ऋचासे मथनके समय निकलते हुए धूमका अनुमन्त्रण करे। 'अग्ने जनिष्ठाः' इस तीसरी ऋचाके तीन पादोंसे मथन करने पर उत्पन्न हुई अग्निका अनुमन्त्रण करे। 'अस्यै रयिम्' इस चतुर्थपादसे पत्नीके लिये फलको चाहता हुआ अग्निका अनुमन्त्रण करे। 'समिद्धः' इस चौथी ऋचासे काष्ठोंसे प्रज्व-लित की जाती हुई अग्निका अनुमन्त्रण करे। 'उत्तमं नाकम्' इस चौथे पादको दातासे बँचवावे। इसी बातको कौशिकमुनिने 'अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन् सम्वत्सरं ब्राह्मौद-निकम् अग्निं दीपयति' को कह कर कहा है, कि—'अग्ने जाय-स्वेति मथ्यमानं अनुमन्त्रयते। पत्नी मन्त्रं संनमयति यजमानश्च। कृणुत धूमं इति धूमं अग्ने जनिष्ठा इति जातं समिद्धो अग्निरिति समिद्ध्यमानम्।' (कौशिकसूत्र ८। १) ॥

कर्ता ब्रह्मौदनसवयज्ञमें देवता मनुष्य और पितरोंके लिये तीन भागमें बाँटी हुई धानकी ढेरियोंका 'त्रेधा भागः' इस पञ्चम ऋचाके तीन पादोंसे अनुमन्त्रण करे। 'अग्ने सहस्वान्' इस

छटी ऋचासे दाताका अनुमन्त्रण करके देवभागको कुम्भीमें डाल देय। सूत्रमें भी कहा है, कि–'आदिष्टान् अंशान् अजानस्यै प्रयच्छति। तांस्त्रेधा भाग इति व्रीहिराशिषु निदधाति। तेषां यः पितॄणां तं श्राद्धं करोति। यो मनुष्याणां तं ब्राह्मणान् भोजयति। यो देवानां तां अग्ने सहस्वान् इति दक्षिणं जान्वाच्यापराजिताभिमुखः मद्धो वा मुष्टिभिः प्रसृताञ्जलिभिः कुम्भ्यां निर्वपति ॥ •उनको तीन भागोंमें बाँटे उनमेंसे पितरोंका भाग हो उससे श्राद्ध करे, जो मनुष्योंका भाग हो उससे ब्राह्मणोंको जिमावे, जो देवताओंका भाग हो उसको देवकुम्भीमें डाले" (कौशिकसूत्र८।२)

तहाँ ही कर्ममें "साकं सजातैः" इस सातवीं ऋचासे होमनेसे पहिले धानोंको ओखलीमें डाले। इसी बातको कौशिकसूत्र ८।२ में कहा है, कि–"साकं सजातैरिति व्रीहीन् उलूखल आवपति"॥ यहाँ पर "साकम्" इस आधी ऋचासे ओखलीमें धानोंको डाले और "ऊर्ध्वो नाकस्य" इस आधी ऋचासे पकते हुए भातके ऊपर गड्ढा करे। यह भाष्यकारका मत है।

तहाँ ही कर्ममें आसौदनिक अग्निके पश्चाद्भागमें औक्ष वा आनडुह चर्मका प्रस्तृणन करते हुए यजमानसे "इयं मही" इस आठवीं ऋचाको बँचवावें। इसी बातको कौशिकसूत्र ८। १ में कहा है, कि–"इयं महीति चर्मास्तृणाति प्राग्ग्रीवं उत्तरलोम"॥

"एतौ ग्रावाणौ" इस नवम ऋचाके प्रथम पादसे उलूखल और मूसलको चर्म पर स्थापित करे "निर्भिध्यंशून्" इन तीन पादोंसे धानोंको कूटे। "गृहाण ग्रावाणौ" इस आधी ऋचासे उलूखलमूसलको कूटनेके लिये पत्नीको पकड़ावे। "अयो वराः" इस आधी ऋचासे निर्वापनके अनन्तर वरका वरण करने वालों का अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"एतौ ग्रावाणौ (९) अयं ग्रावा (१२ । ३ । १४) इत्युलूखल-

मुसलं शूर्पं प्रक्षालितं चर्मण्याधाय गृह्णाति प्रावाणौ (१०) इत्यु-
भयं गृह्णाति" इति (कौशिकसूत्र ८।२) "निर्भिन्धंशून् आहिं
पाप्मानं इत्यवहन्ति" (कौशिकसूत्र ८।२) "वयो वसा इति
त्रीन् वरान् वृणीष्व" (कौशिकसूत्र ८।२)॥

तत्र प्रथमा॥

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह १

अग्ने। जायस्व। अदितिः। नाथिता। इयम्। ब्रह्मऽओदनम्।
पचति। पुत्रऽकामा।
सप्तऽऋषयः। भूतऽकृतः। ते। त्वा। मन्थन्तु। प्रऽजया। सह।
इह॥ १॥

हे अग्ने जायस्व मथनाद् उत्पद्यस्व। ❀ जनी प्रादुर्भावे। दिवा-
दित्वात् श्यन्। "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ❀। किमर्थं जनन-
प्रार्थनम् इति आह। नाथिता नाथमाना याचमाना। ❀ नाथृ
याञ्चायाम्। अस्मात् कर्तरि निष्ठा ❀। इष्टफलम् आशंसमाना
इयम् अदितिः अदीना देवमाता पुत्रकामा पुत्रान् कामयमाना।
❀ "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इति कर्मण्यप्रत्ययः ❀। ब्रह्मौ-
दनम्। ब्रह्मणे जगत्स्रष्ट्रे स्वाहाकारेण देय ओदनो ब्रह्मौदनः।
यद्वा ब्रह्मौदनसवाख्ये अस्मिन् कर्मणि ब्राह्मणानां भोजनाय भाग-
त्वेन कल्पित ओदनो ब्रह्मौदनः। तं पचति निर्वापादिक्रमेण पक्वं
करोति। तदर्थम् हे अग्ने जायस्वेत्यर्थः। ब्रह्मौदनपाकेन अदितेः
पुत्रोत्पत्तिस्तैत्तिरीयके समाम्नायते। "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो
देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत्। तस्या उच्छेषणम् अददुः। तत्

प्राश्नात् । सा रेतोधत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त" इति [तै० सं० ६. ५. ६. १]। अदितिकर्तृकस्य ब्रह्मौदनपाकस्य पूर्वम् अतिवृत्तत्वेन इदानीम् अभावात् अदितिशब्दस्य स्थाने पत्नी-यजमानयोर्नामग्रहणं कर्तव्यम् । यद् आह कौशिकः । "पत्नी मन्त्रं संनमयति यजमानश्च" इति [कौ० ८. २]। सप्तऋषयः सप्त-संख्याका ऋषयः अतीन्द्रियार्थस्य द्रष्टारो मरीच्यत्रिप्रमुखाः । ❀ "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति संख्याशब्दस्य समानाधिकरणेन उत्तरपदेन समासः ❀ । भूतकृतः भूतानां पृथिव्यादीनां कर्तारः स्रष्टारस्ते प्रसिद्धाः हे अग्ने त्वा त्वाम् इह अस्मिन् देवयजने प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया यजमानसंबन्धिन्या सह मन्थन्तु मथनेन उत्पाद-यन्तु । ❀ मन्थ विलोडने इति धातुः ❀ ॥

हे अग्ने ! आप मथनसे उत्पन्न हूजिये, क्योंकि–इष्टफलको चाहती हुई यह अदीना † देवमाता अदिति पुत्रको चाहती हुई ‡

† अदितिने पहिले इस ब्रह्मौदनपाकको किया था, परन्तु इस समय अदिति उपस्थित नहीं होंगी अत एव अदिति शब्दके स्थान में पत्नी और यजमानका नाम ग्रहण करना चाहिये । इसी बातको कौशिकसूत्र ८ । २ में कहा है, कि–'पत्नी मन्त्रं संनम-यति यजमानश्च' ॥

‡ ब्रह्मौदनके पाकसे अदितिके पुत्रोंका उत्पन्न होना तैत्तिरी-यकमें वर्णित है, कि–'अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत् । तस्या उच्छेषणं अददुः । तत् प्राश्नात् सा रेतोऽ-धत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त ॥–अदितिने पुत्रकी इच्छा करके साध्य देवताओंके लिये ब्रह्मौदनको तयार किया उन्होंने उसका उच्छेषण उसको दिया उसका अदितिने प्राशन किया और वीर्य धारण करने पर उसके चार आदित्य उत्पन्न हुए' (तैत्तिरीयसंहिता ६ । ५ । ६ । १) ॥

ब्रह्मौदनको × पकाना चाहती है अतः आप मथनसे प्रकट हूजिये। अतीन्द्रिय अर्थोंके द्रष्टा मरीचि आदि सात ऋषि पृथिवी आदि भूतोंको रचने वाले हैं, वे मुझको इस देवयजनमें यजमानकी पुत्र पौत्र आदि प्रजाके साथ मथनसे उत्पन्न करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कृणुत धूमं वृषणः सखायोद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥

कृणुत । धूमम् । वृषणः । सखायः । अद्रोघऽअविता । वाचम् । अच्छ ।
अयम् । अग्निः । पृतनाषाट् । सुऽवीरः । येन । देवाः । असहन्त । दस्यून् ॥ २ ॥

हे वृषणः वृषाणः कामानां वर्षितारः । ❀ "वा षपूर्वस्य निगमे" इति दीर्घाभावः ❀ । सखायः समानख्यानाः सर्वजगन्मित्रभूताः सप्तऋषयः ऋत्विजो वा यूयं धूमं कृणुत मथनेन उत्पादयत । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः" इति वचनात् तिङ एव उदात्तत्वम् । पादादित्वाद् निघाताभावः ❀ ॥ अद्रोघाविता अद्रोहकारिणां सुचरित्राणां यजमानानाम् अविता रक्षिता वाचम् अच्छ मथ्यमानाग्नेः स्तुत्यर्थम् अनूच्यमानाम् ऋग्रूपां

× जगत्स्रष्टा ब्रह्माके लिये स्वाहा कहकर दिया जाने वाला ओदन ब्रह्मौदन कहलाता है। वा ब्रह्मौदनसव नामक कर्ममें ब्राह्मणोंके भोजनके भागरूपसे कल्पित ओदन भी ब्रह्मौदन कहला सकता है ॥

वाचम् अभिलक्ष्य अयं जायमानोग्निः पृतनाषाट् पृतनाः शत्रवीः सेनाः सहते अभिभवतीति पृतनाषाट् । ⊛ षह अभिभवे । "छन्दसि सहः" इति ण्विप्रत्ययः । "सहेः साडः सः" इति षत्वम् ⊛ । "अग्ने हंसि न्यत्रिणम्" इति निगमः [ऋ० सं० १०. ११८. १] । सुवीरः वीरा विक्रान्ता देवाः शोभनैस्तैरुपेतः । यद्वा वीर्याज्जायन्त इति वीराः पुत्रा यजमानसंबन्धिनः । शोभनैस्तैर्युक्तः । जायत इत्यर्थः । ⊛ "वीरवीर्यौ च" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ⊛ । शोभनवीर्योपेतत्वम् अग्नेः समर्थयते । येन अग्निना देवा इन्द्रादयो दस्यून् उपक्षपयितॄन् असुरान् असहन्त अभ्यभवन् । सोयम् अग्निरिति संबन्धः ॥

हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले सकल जगत्के मित्ररूप सप्तर्षियों वा ऋत्विजों ! तुम मथनके द्वारा धूमको उत्पन्न करो, क्योंकि—द्रोह न करने वाले सच्चरित्र यजमानोंके रक्षक यह अग्निदेव स्तुतिमय ऋचारूप वाणीको लक्ष्यमें रख कर शत्रुओंकी सेनाको दबाते हैं, यह सुभट देवताओंसे सम्पन्न रहते हैं, इनके द्वारा देवताओंने अपना उपक्षय करने वाले असुरोंको दबाया था २

तृतीया ॥

अग्ने जनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अग्ने । अजनिष्ठाः । महते । वीर्याय । ब्रह्मऽओदनाय । पक्तवे । जातऽवेदः ।
सप्तऽऋषयः । भूतऽकृतः । ते त्वा । अजीजनन् । अस्यै । रयिम् । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छ ॥ ३ ॥

हे अग्ने अजनिष्ठाः मथनेन उत्पन्नो भवसि। ❀ जनी प्रादुर्भावे। लुङि रूपम् ❀। महते प्रभूताय वीर्याय सामर्थ्याय। लोके दाहपाकक्षमस्याग्नेः सद्भावेपि मन्त्रसामर्थ्येन मयि तस्माद् अग्नेरेव वीर्याधिक्यं जायत इत्यर्थः। यस्माद् एवम् अग्नेर्वीर्यं महत् तस्माद् विशिनष्टि। हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां प्राणिनां वेदितरग्ने ब्रह्मौदनाय पक्तवे। ❀ पचेस्तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ❀। पक्तुं भूतकृतः भूतानां पृथिव्यादीनां कर्तारः स्रष्टारस्ते प्रसिद्धाः सप्तऋषयः त्वा त्वाम् अजीजनन् मन्त्रसामर्थ्येन निरतिशयवीर्यम् उदपीपदन्। ❀ जनयतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀। अस्यै पत्न्यै सर्ववीरम् सर्वैर्वीरैः पुत्रपौत्रादिरूपैर्युक्तं रयिम् धनं नि यच्छ नियमय। यथा एनां रयिः प्राप्नोति तथा कुर्वित्यर्थः। ❀ यम उपरमे। "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ❀। अथ वा नितरां प्रयच्छ। ❀ दाण् दाने। "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀॥

हे अग्ने! आप मथनसे उत्पन्न होते हैं, लोकमें दाह पाकमें समर्थ भी अग्नि मन्त्रशक्तिसे मुझको महावीर्य प्रदान करनेके लिये प्रकट होते हैं, हे उत्पन्न होने वाले प्राणियोंको जाननेवाले अग्ने! ब्रह्मौदनको पकानेके लिये पृथिवी आदि भूतोंके कर्ता सप्तर्षियोंने आपको प्रकट कर लिया है अतः आप इस पत्नीको पुत्र पौत्र आदि सब वीरों वाला धन दीजिये॥ २॥

चतुर्थी

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥४

सम्ऽइद्धः । अग्ने । सम्ऽइधा । सम् । इध्यस्व । विद्वान् । देवान् ।
 यज्ञियान् । आ । इह । वक्षः ।
तेभ्यः । हविः । श्रपयन् । जातऽवेदः । उत्ऽतमम् । नाकम् ।
 अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने समिद्धः संदीप्तस्त्वं समिधा मन्त्रेण आधीयमानया पलाशादिवृक्षसंभूतया संमिद्धः पुनरलौकिकप्रभावेन संदीपितः स तादृशस्त्वं विद्वान् जानन् यज्ञियान् यज्ञार्हान् देवान् । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀ । इह अस्मिन् देवयजने वा आ वक्षः आवह । ❀ वहेर्लेटि अडागमः । "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । ढत्वकत्वषत्वानि ❀ । हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने तेभ्यो देवेभ्यः हविः श्रपयन् ब्रह्मौदनलक्षणम् अन्नं पचन् । ❀ श्रा पाके इत्यस्मात् एयन्तात् लटः शत्रादेशः । आकारान्तलक्षणे पुकि कृते घटादिपाठात् "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् ❀ । इमं यजमानम् उत्तमम् अतिशयेन उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं स्वर्गं लोकम् अधि रोहय । देहावसानानन्तरं प्रापयेत्यर्थः । ❀ उत्तमम् इति । "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठात् अन्तोदात्तत्वम् । नाकम् इति । नास्मिन् अकम् अस्तीति नाकः । "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀ ॥

हे अग्ने ! पलाश आदिकी समिधाओंसे प्रदीप्त हुए आप फिर अलौकिक प्रभावसे दीप्त होकर इस यज्ञमें यज्ञके योग्य देवताओं को लाइये और हे जातवेदः ! आप उन देवताओंके लिये हवि पकाइये और देहपातके अनन्तर भी इस यजमानको स्वर्गमें चढ़ाइये ४

पञ्चमी ॥

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां
 मर्त्यानाम् ।

अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥

त्रेधा । भागः । निऽहितः । यः । पुरा । वः । देवानाम् । पितृणाम् । मर्त्यानाम् ।

अंशान् । जानीध्वम् । वि । भजामि । तान् । वः । यः । देवानाम् । सः । इमाम् । पारयाति ॥ ५ ॥

यः युष्माकं देवानाम् अग्न्यादीनां पितृणाम् पितृपितामहप्रपितामहानां मर्त्यानाम् मनुष्याणां भोजयितव्यानां ब्राह्मणानां यो भागस्त्रेधा त्रिविधः पुरा निहितः व्रीह्यवस्थायां विभज्य स्थापितः। ॐ "एधाच्च" इति त्रिशब्दाद् विधार्थे एधाच् प्रत्ययः ॐ। हे देवाद्याः अंशान् भागान् जानीध्वम् अवगच्छत। ॐ ज्ञा अवबोधने। क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः। "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः ॐ। वः युष्मभ्यं तान् भागान् अहं वि भजामि पृथक्करोमि। तत्र देवार्थेन भागेन निर्वापादिकं कर्तव्यम् पित्रर्थेन वृद्धिश्राद्धम् मनुष्यार्थेन ब्राह्मणभोजनम् इति विभागस्य उपयोगः। तत्र देवानां यो भागः सः अग्नौ हवीरूपेण हूयमानः सन् इमां पत्नीं पारयाति इष्टफलस्य पारं गमयति। ॐ पार तीर कर्मसमाप्ताविति धातुः ॐ ॥

तुम अग्नि आदि देवताओंका, पिता पितामह और प्रपितामह—पितरोंका और जिमानेके ब्राह्मणात्मक मनुष्योंका जो भाग व्रीहि आदिकी अवस्थामें पहिले तीन भाग करके रक्खा गया था, हे हे देवता आदिकों ! तुम अपने २ अंशको जान लो , तुम्हारे उन्हीं भागोंको मैं पृथक् २ करता हूँ, इनमें जो देवताओंका भाग है वह अग्निमें हविरूपसे आहुत होकर इस यजमानपत्नीको इष्टफलकी प्राप्ति करावे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥

अग्ने । सहस्वान् । अभिऽभूः । अभि । इत् । असि । नीचः । नि । उब्ज । द्विषतः । सऽपत्नान् ।
इयम् । मात्रा । मीयमाना । मिता । च । सऽजातान् । ते । बलिऽहृतः । कृणोतु ॥ ६ ॥

हे अग्ने सहस्वान् सहः पराभिभवनक्षमं बलं तद्वान् । ❀ "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वात् पदत्वाभावाद् रुत्वाभावः ❀ । अत एव अभिभूः अभिभविता शत्रूणाम् अभ्यसि । इत् अवधारणे । अभिभवस्येव । सर्वोत्कृष्टो वर्तस इत्यर्थः । तस्माद्धेतोः द्विषतः द्वेष्टॄन् अप्रियकारिणः सपत्नान् अस्मदीयान् शत्रून् नीचः न्यञ्चनान् नीचीनगमनान् करिष्णून् न्युब्ज अधोमुखान् पातय । ❀ निपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । शसि भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् । न्युब्जेति । उब्ज आर्जवे । अत्र उपसर्गवशाद् अधोमुखीकरणम् अर्थः । यथा "दशाभिः कलशो मृष्टा न्युब्जति" इति [आप० १२. २६. ६] ❀ । मात्रा निर्मात्रा मीयमाना क्रियमाणा मिता निर्मिता च इयं शाला हे यजमान ते तुभ्यं सजातान् समानजन्मनः पुरुषान् बलिहृतः । बलिः उपायनद्रव्यम् । तस्य हर्तॄन् कृणोतु करोतु ॥

हे शत्रुओंको दबानेके बलसे सम्पन्न अग्ने ! आप शत्रुओंको वृथा ही देते हैं अतः हमारे शत्रुओंको अधः पतित करिये, और हे यजमान ! यह निर्माताकी बनाई और नापी हुई शाला तेरी समान द्रव्यकी भेंट लेने वाले पुत्र आदि बलिभृतोंको करे ॥६॥

सप्तमी ॥

साकं संजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ८ ॥

साकम् । सऽजातैः । पयसा । सह । एधि । उत् । उब्ज । एनाम् । महते । वीर्याय ।
ऊर्ध्वः । नाकस्य । अधि । रोह । विष्टपम् । स्वःऽगः । लोकः । इति । यम् । वदन्ति ॥ ७ ॥

हे यजमान सजातैः समानजन्मभिः पुरुषैः साकम् सार्धं पयसा पयोवत्सारभूतेन कर्मफलेन सह एधि भव। ❀ असतेर्लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः। "ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वम्। तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति धित्वं भवति ❀। एनां पत्नीं महते अधिकाय वीर्याय यथा एषा महद् वीर्यं प्राप्नोति तथा उद् उब्ज उद्गमय उन्नतशिरस्कां कुरु। हे यजमान त्वं देहावसाने ऊर्ध्वः ऊर्ध्वदिगभिमुखः सन् नाकस्य दुःखसंस्पर्शरहितस्य लोकस्य विष्टपम् उपरिप्रदेशम् अधि रोह अधिरूढो भव। यं स्थानविशेषं स्वर्गो लोकः -लोकनीयः सुकृतफलोपभोगप्रदेश इति वदन्ति अभिज्ञाः कथयन्ति ॥

हे यजमान ! तू समान जन्म वाले पुरुषोंके साथ पयकी समान सार भूत कर्मफलके साथ वृद्धिको प्राप्त हो और इस पत्नीको अधिक वीर्य पानेके लिये उन्नत शिर वाली कर और देहपात होने पर दुःखके स्पर्शसे शून्य ऊपरके प्रदेशमें स्थित लोकमें चढ़, कि जिसको पुरुष स्वर्ग कहते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना ।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

इयम् । मही । प्रति । गृह्णातु । चर्म । पृथिवी । देवी । सुऽमनस्यमाना ।
अथ । गच्छेम । सुऽकृतस्य । लोकम् ॥ ८ ॥

इयं पुरोवर्तिनी मही देवयजनभूमिः चर्म आनडुहं निर्वापार्थम् आस्तीर्यमाणम् अजिनं प्रति गृह्णातु स्वीकरोतु । आस्तीर्णाजिना सा पृथिवी देवी देवतारूपा सुमनस्यमाना शोभनं मनः कुर्वती अनुग्रहबुद्धियुक्ता भवतु । अवहननाधिकरणत्वेन प्राप्तखेदा न भवत्वित्यर्थः । अथ अवहननाधारभूतायाः पृथिव्या अनुग्रहानन्तरं सुकृतस्य यागादिजन्यस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकं वयं गच्छेम प्राप्नुयाम ॥

यह सामने वर्तमान देवयजन भूमि निर्वापके लिये फैलाये हुए आनडुह चर्मको स्वीकृत करे । और अजिनके फैलने पर वह पृथिवीदेवी हमारे ऊपर अनुग्रह करनेका विचार करे अर्थात् अवहनन आदिके द्वारा खेदको प्राप्त न होवे और अवहननकी आधारभूत पृथिवीके अनुग्रहके अनन्तर हम याग आदिसे होने वाले पुण्यके फलभूत लोकको प्राप्त होवें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु ।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भर-न्त्युदूह ॥ ९ ॥

एतौ । ग्रावाणौ । सऽयुजा । युङ्ग्धि । चर्मणि । निः । भिन्धि । अंशून् । यजमानाय । साधु ।
अवऽघ्नती । नि । जहि । ये । इमाम् । पृतन्यवः । ऊर्ध्वम् । प्रऽजाम् । उत्ऽभरन्ती । उत् । ऊह ॥ ९ ॥

हे ऋत्विक् एतौ पुरोवर्तिनौ ग्रावाणौ अश्मवद् दृढतरौ उलूखलमुसलौ सयुजा सयुजौ एकस्मिन् अवहननकर्मणि सह युञ्जानौ व्याप्रियमाणौ मिथुनौ वा चर्मणि अवहननार्थम् आस्तीर्णे आनडुहेऽजिने युङ्ग्धि योजय स्थापय । ❀ युजिर् योगे । लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः । तस्य ङित्वात् "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपे "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः ❀ । अंशून् । उलूखलमुसलयोर्ग्रावत्वेन रूपणाद् व्रीहयः सोमांशुत्वेन रूप्यन्ते । सोमलताखण्डवद् यागनिर्वर्तकान् व्रीहीन् यजमानाय यजमानार्थं साधु शोभनं निर्भिन्धि युक्ताभ्याम् उलूखलमुसलाभ्याम् अवजहि वितुषीकुरु । ❀ भिदिर् विदारणे । पूर्ववल्लोण्मध्यमैकवचने रूपम् ❀ । हे पत्नि अवघ्नती अवहननं कुर्वती नि जहि निबाधस्व । के पुनस्ते निहन्तव्या इत्याह य इति । इमाम् आत्मीयां प्रजां हन्तुं ये शत्रवः पृतन्यवः पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तः

वर्तन्ते तान् नि जहीत्यर्थः । ❀ पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" । "क्याच्छन्दसि" इति उमत्ययः । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति आकारलोपः ❀ । अपि च अवहननानन्तरम् उद्धरन्ती मुसलम् ऊर्ध्वं हरन्ती । ❀ "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ । प्रजाम् अस्मदीयाम् ऊर्ध्वम् उरु ऊरु उन्नतं स्थानम् उद्गमय । श्रेष्ठ्यं गमयेत्यर्थः ॥

हे ऋत्विक् ! इन सामने वर्तमान पत्थरकी समान दृढ़ और अवहननरूप कर्ममें एक साथ प्रयोगमें आने वाले उलूखल मूसलको आप इस फैले हुए अजिनमें स्थापित करिये (उलूखल और मूसलमें पत्थरभावका आरोपण कर लिया है अतः यहाँ अंशुशब्दसे धानोंका ग्रहण किया जायगा अतः सोमलताखण्ड की समान यागनिष्पादक) अंशुओंको अर्थात् धानोंको यजमान के लिये शोधन करिये तात्पर्य यह है, कि—ओखली मूसलसे इनके तुसको उतारिये । हे पत्नि ! तू अवहनन करती २ हमारे उन शत्रुओंको बाधा दे जो सेनाको चाह कर हमारी प्रजाको नष्ट करना चाहते हैं उनको नष्ट कर और अवहननके अनन्तर मूसलको ऊपरको उठाती हुई तू हमारी प्रजाको श्रेष्ठ पदमें स्थापित कर ॥ ६ ॥

दशमी ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः ।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि

गृहाण । ग्रावाणौ । सकृतौ । वीर । हस्ते । आ । ते । देवाः । यज्ञियाः । यज्ञम् । अगुः ।

भयः । वराः । यतमान् । त्वम् । वृणीषे । ताः । ते । सम्ऽऋद्धीः ।
इह । राधयामि ॥ १० ॥

हे वीर वीर्यवन् अध्वर्यो हस्ते स्वकीये पाणौ सुकृती शोभन-कर्माणौ ग्रावाणौ उलूखलमुसलौ गृहाण स्वीकुरु । ❁ ग्रह उपादाने । "हलः श्नः शानज्झौ" इति शानजादेशः ❁ । ते प्रसिद्धा यज्ञिया यज्ञार्हा देवास्त्वदीयं यज्ञम् आ अगुः आगमन् । ❁ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❁ । त्रयः त्रिसंख्याका वराः यजमानेन वरयितव्याः प्रार्थनीयाः पदार्थाः । कर्मसमृद्धिः तत्फलभूता ऐहिकी समृद्धिः आमुष्मिकी समृद्धिरिति । हे यजमान त्वं यतमान् यादृग्विधान् वरान् वृणीषे प्रार्थयसे ते तव ताः प्राग् उदीरिताः वरयितव्या समृद्धीः इह अस्मिन् यज्ञे राधयामि संसाधयामि । ❁ राध साध संसिद्धौ ❁ ॥

[इति] एकादशे काण्डे प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वीर अध्वर्यो ! आप अपने शोभन कर्मवाले हाथोंमें ओखली और मूसलरूप पत्थरोंको ग्रहण करिये, यज्ञके योग्य देवता तेरे यज्ञमें आगए हैं, हे यजमान ! जिनको तू माँगना चाहता है वे तीन वर हैं, उन कर्मसमृद्धि, उसकी फलरूपा ऐहिकी समृद्धि और परलोककी समृद्धि—समृद्धियोंको मैं इस यज्ञमें सिद्ध करता हूँ ॥ १० ॥ (१)

ग्यारहवें काण्डमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"इयं ते धीतिः" इति सूक्तस्य ब्रह्मौदनसवे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः । तत्र "इयं ते धीतिः" इति प्रथमाया ऋचः पूर्वार्धर्चेन परापवनार्थं शूर्पं गृह्णीयात् । "परा पुनीहि" इति उत्तरार्धर्चेन तुषान् उद्वहेत् । सूत्रितं हि । "इयं ते धीतिः [११] वर्षवृद्धम् [१२. ३. १९] इति शूर्पं गृह्णाति । ऊर्ध्वं प्रजाम् [६]

विश्वव्यचाः [१२. ३. १९] इत्युद्हति । परा पुनीहि [११] इति तुषम्" इति [कौ० ८. २] ॥

"उपश्वसे" [१२] इति ऋचा तुषेभ्यस्तण्डुलान् पृथक् कुर्यात् । "उपश्वस इत्यपविनेक्ति" इति हि [कौ० ८.२] सूत्रम् ॥

"परे हि नारि" [१३] इति ऋचा उदकम् आहरन्तीं पत्नीं संप्रेषयेत् । "एमा अगुः" [१४] इति ऋचः प्रथमपादेन आगच्छन्तीं पत्नीम् अनुमन्त्रयते । "उत्तिष्ठ नारि" इति पादद्वयेन पत्नीम् आह्वयेत् । "आ त्वागन् यज्ञः" इति पादैकदेशेन जलकुम्भदात्री पत्नी कर्तारं प्रेषयेत् । "प्रति कुम्भं गृभाय" इति अर्धपादेन पत्नी जलकुम्भं ग्राहयेत् कर्तारम् । तत्रैव कर्मणि "ऊर्जो भागः" [१५] इति ऋचः प्रथमपादेन जलकुम्भं भूमौ निदध्यात् । "ऋषिप्रशिष्टापः" इति पादत्रयेण उदपात्रम् आस्तीर्णचर्मणि निदध्यात् । सूत्रितं हि । "परेहि नारीत्युदहृतं संप्रेष्यति अथ उपगताम् अलंकृताम् । एमा अगुरित्यायतीम् अनुमन्त्रयते । उत्तिष्ठ नारीति पत्नीं संप्रेष्यति । प्रति कुम्भं गृभायेति प्रतिगृह्णाति । ऊर्जो भाग इति निदधाति" इति "ऋषिप्रशिष्टा [१५] इत्युदपात्रं चर्मणि निदधाति" इति च [कौ० ८. १] ॥

पैतृमेधिके चयनाख्ये कर्मणि "ऊर्जो भागः" इति ऋचा अस्थीनि अश्मभिः इष्टकाभिर्वा आच्छादयेत् ॥

"अग्ने चरुः" [१६] इति ऋचा चरुस्थालीम् अग्नावधिश्रयेत् । अग्ने चरुरधिश्रयति" इति [कौ० ८. २] सूत्रात् ॥

तथा दर्शपूर्णमासयोश्चरुविधिश्रयणेपि एषा विनियुक्ता । सूत्रितं हि । "फलीकृतांस्त्रिः प्रक्षाल्य तण्डुलान् अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षद् इति चरुम् अधिनिदधाति" इति [कौ० १. २] ॥

ब्रह्मौदनसव एव "शुद्धाः पूताः" इति ऋचा अधिश्रिते चरुपात्रे उदकम् आसिञ्चेत् । "ब्रह्मणा शुद्धाः" इति ऋचा आसि-

क्तासु अप्सु तण्डुलान् आवपेत् । सूत्रितं हि । "शुद्धाः पूताः [१७] पूताः पवित्रैः [१२. ३. २५] इति पवित्रे अन्तर्धायोदकम् आसिञ्चति । ब्रह्मणा शुद्धाः [१८] संख्याता स्तोकाः [१२. ३. २८] इत्यासिक्तान्निरुप्तांस्तण्डुलान् आवपेत्" इति [कौ० ८. २] ॥

"तथा दर्शपूर्णमासयोश्चरुस्थाल्याम् उदकासेचने तण्डुलावापे च "शुद्धाः पूताः" "ब्रह्मणा शुद्धाः" इत्येते ऋचौ विनियुक्ते । सूत्रितं हि । "शुद्धाः पूता इत्युदकम् आसिञ्चति ब्रह्मणा शुद्धा इति तण्डुलान्" इति [कौ० १. २] ॥

"उरुः प्रथस्व" इति ऋचा चरुं श्रपयेत् । "उरुः प्रथस्व [१९] उद्योधन्ति [१२. ३. २९] इति श्रपयति" इति [कौ० ८. २] सूत्रात् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि "उरुः प्रथस्व" इत्येषा दातृवाचने विनियुक्ता । "उरुः प्रथस्व महता महिम्ना [१९] इदं मे ज्योतिः [२८] सत्याय [१२. ३. ४६—४८] इति तिस्रः" [कौ० ८. ६] इति सूत्रात् ॥

'इयं ते धीतिः' सूक्तका ब्रह्मौदनसवमें विनियोग होता है, यह पहिले सूक्तमें कह दिया है । 'इयं ते धीतिः' इस पहिली ऋचाके आधे भागसे परावपनके कालको लेवे । और 'परापुनीहि' इस आधी ऋचासे तुषोंको हटावे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । २ का प्रमाण भी है, कि—'इयं ते धीतिः (११) वर्षवृद्धम् (१२ । ३ । १९) इति शूर्पं गृह्णाति । ऊर्ध्वं प्रजाम् (९) विश्वव्यचाः (१२ । ३ । १९) इत्युद्वहति । परापुनीहि (११) इति तुषम्' (कौशिकसूत्र ८ । २) ॥

'उपश्वसे' इस १२ वीं ऋचासे तुषोंको चावलोंसे अलग कर लेय । इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । २ का प्रमाण है, कि—'उपश्वस इत्यपविवेक्ति' ॥

'परे हि नारि' इस तेरहवीं ऋचासे जलको लाने वाली पत्नी को प्रेषित करे। 'एमा अगुः' इस चौदहवीं ऋचाके प्रथमपादसे आती हुई पत्नीका अनुमन्त्रण करे। 'उत्तिष्ठ नारि' इन दो पादों से पत्नीका आह्वान करे। 'आ त्वागन् यज्ञः' इस पादके एक देशसे जलकुम्भदात्री पत्नी कर्ताको प्रेषित करे। 'प्रति कुंभं गृभाय" इस आधे पादसे पत्नी कर्ताको जलकुम्भ पकड़ावे। तहाँ ही कर्म में 'ऊर्जो भागः' इस पन्द्रहवीं ऋचाके प्रथम भागसे जलकुम्भको भूमिमें स्थापित करे। 'ऋषिप्रशिष्टापः' इन तीन पादोंसे जलपात्रको बिछे हुए चर्म रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'परे हि नारीत्युदहृतं सम्प्रेष्यति अप उपगतां अलंकृताम्। एमा अगुरित्यायतीम् अनुमन्त्रयते। उत्तिष्ठ नारीति पत्नीं सम्प्रेष्यति। प्रति कुम्भं गृभायेति प्रतिगृह्णाति। ऊर्जो भाग इति निदधाति' इति 'ऋषिप्रशिष्टा (१५) इत्युद-पात्रं चर्मणि निदधाति' (कौशिकसूत्र ८। १)।

पैतृमेधिक चयन-नामक कर्म में "ऊर्जो भागः" ऋचासे हड्डियों को पत्थरोंसे वा ईंटोंसे आच्छादित कर देय।

"अग्ने चरुः" इस सोलहवीं ऋचासे चरुस्थालीको अग्निमें चढ़ावे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। २ का प्रमाण भी है, कि-"अग्ने चरुरित्यधिश्रयति"॥

तथा दर्शपूर्णमासके चर्वाधिश्रयणमें भी इस ऋचाका विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्र १। २ का प्रमाण है, कि-'फलीकृतान् त्रिः प्रक्षाल्य तण्डुलान् अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षत् इति चरुं अधि निदधाति।'

ब्रह्मौदनसवमें ही 'शुद्धाः पूताः' ऋचासे अधिश्रित चरुपात्रमें जलको डाले। 'ब्रह्मणा शुद्धाः' ऋचासे जल छिड़कने पर डाले हुए जलमें चावलोंको डाले। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। २ का

प्रमाण भी है, कि–'शुद्धाः पूता (१७) पूताः पवित्रैः (१२। ३ २५) इति पवित्रे अन्तर्धायोदकं आसिञ्चति । ब्रह्मणा शुद्धाः (१८ । संख्याताः स्तोकाः (१२ । ३ । २८) इत्यासिक्तान् निरुप्तांस्तण्डुलान् आवपेत्' ॥

तथा दर्शपूर्णमासकी चरुस्थालीमें जल डालने पर और तण्डुल छोड़ने पर 'शुद्धाः पूताः' और 'ब्रह्मणा शुद्धाः' इन दोनों ऋचाओं का विनियोग करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"शुद्धाः पूता इत्युदकम् आसिञ्चति ब्रह्मणा शुद्धा इति तण्डुलान्" (कौशिक-सूत्र १ । २) ॥

"उरुः प्रथस्व" इस ऋचासे चरुको पकावे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । २ का प्रमाण है, कि–"उरुः प्रथस्व (१६) उद्योधन्ति (१२ । ३ । २६) इति श्रपयति" ॥

तथा वहाँ ही कर्ममें "उरुः प्रथस्व" इस ऋचाका दातृवाचनमें विनियोग होता है। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८ । ६ का प्रमाण है, कि–"उरुः प्रथस्व महता महिम्ना (१६) इदं मे ज्योतिः (२८) सत्याय (१२ । ३ । ४६–४८) इति तिस्रः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

इ॒यं ते॑ धी॒तिरि॒दमु॑ ते ज॒नित्रं॑ गृ॒ह्णातु॒ त्वामदि॑तिः॒ शूर॑-
पुत्रा ।
परा॑ पुनीहि॒ य इ॒मां पृ॑त॒न्यवो॑ऽस्यै र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छ ॥

इ॒यम् । ते॒ । धी॒ति । इ॒दम् । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । ज॒नित्र॑म् । गृ॒ह्णा॑तु । त्वाम् । अदि॑तिः । शूर॑ऽपुत्रा ।

परा । पुनीहि । ये । इमाम् । पृतन्यवः । अस्यै । रयिम् । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छ ॥ ११ ॥

हे शूर्प ते तव यत् परापवनं तण्डुलेभ्यस्तुषविवेचनम् इयमेव धीतिः पानम् । ❀ धेट् पाने । अस्माद् भावे क्तिन् । "घुमास्था०" इति ईत्वम् ❀ । इदमु इदमेव परापवनकर्म ते तव जनित्रम् जनननिमित्तं कारणम् । एवंविधं त्वा त्वां शूरपुत्रा शूराः शौर्योपेता मित्रवरुणधातृप्रभृतयः पुत्रा यस्याः सा अदितिः अदीना देवमाता गृह्णातु परापवनार्थं हस्ते धारयतु । ये शत्रवः इमां पत्नीं हिंसितुं पृतन्यवः पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तो भवन्ति तान् निरसितुं परा पुनीहि अवहतेभ्यो व्रीहिभ्यस्तुषान् पृथक् कुरु । ❀ पूञ् पवने । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । अस्यै पत्न्यै [सर्ववीरम्] सर्वैर्वीरैः पुत्रपौत्रादिभिरुपेतं [रयिम्] धनं नि यच्छ नितरां प्रयच्छ ॥

हे छाज ! चावलोंसे तुषोंका विवेचन करना ही तेरा जो परापवन है वह पान है । और यह परापवनकर्म ही तेरा जनित्र (कारण) है ऐसे तुझको मित्र वरुण धाता आदि वीर पुत्रों वाली अदिति देवी परापवनके हाथमें ग्रहण करे । जो इस पत्नी को मारनेके लिये सेना एकत्रित करना चाहते हैं उनको तिरस्कृत करनेके लिये कूटे हुए धानोंको भूसीसे पृथक् कर और इस पत्नीके लिये पुत्र पौत्र आदि वीरोंसे सम्पन्न धन दे ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

उपऽश्वसे । ध्रुवये । सीदत । युयम् । वि । विच्यध्वम् । यज्ञियासः । तुषैः ।

श्रिया । समानान् । अति । सर्वान् । स्याम । अधःऽपदम् । द्विषतः । पादयामि ॥ १२ ॥

ध्रुवये ध्रुवाय स्थिराय सत्यफलाय कर्मणे हे तण्डुलाः युष्मान् उपश्वसे उपसमीपे आश्वासयामि मभूतान् करोमि । यागे विनियोक्तय इत्यर्थः । ❀ श्वस प्राणने इति धातुः । ध्रु गतिस्थैर्ययोः इत्यस्माद् औणादिकः किमत्ययः ❀ । अतो यूयं सीदत शूर्पे उपविशत । यज्ञियासः यज्ञिया यज्ञार्हा यूयं तुषैर्वि विच्यध्वम् विविक्ताः पृथक्कृता भवत । ❀ विचिर् पृथग्भावे इति धातुः ❀ । वयमपि युष्मज्जनितया श्रिया संपदा सर्वान् समानान् समानजन्मनः पुरुषान् अति स्याम अतिक्रान्ता भवेम । द्विषतः द्वेष्टॄन् शत्रून् अधस्पदम् पादयोरधस्तात् पादयामि क्षिपामि । ❀ "अधःशिरसी पदे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

स्थिर सत्य फल वाले कर्मके लिये हे तण्डुलों ! तुम्हें समीपमें आश्वासित करता हूँ—मभूत करता हूँ अर्थात् यागमें विनियुक्त करता हूँ, अतः तुम छाजमें बैठो और यज्ञके योग्य तुम तुषोंसे अलग होजाओ और हम भी तुमसे प्राप्त हुई श्रीसे सब समानजन्म वालोंको लाँघ जावे और मैं द्वेष करने वाले शत्रुओंको पैरोंके नीचे गिराता हूँ ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोध्यरुक्षद् भराय ।

तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरी-
तरा जहीतात् ॥ १२ ॥

परा । इहि । नारि । पुनः । आ । इहि । क्षिप्रम् । अपाम् । त्वा । गोऽस्थः । अधि । अरुक्षत् । भराय ।
तासाम् । गृह्णीतात् । यतमाः । यज्ञियाः । असन् । विऽभाज्य । धीरी । इतराः । जहीतात् ॥ १२ ॥

उदकाहर्त्री प्रेष्यते । हे नारि परा इहि परागच्छ उदकाहरणार्थं पराङ्मुखी जलाशयं गच्छ । तत्र जलं गृहीत्वा क्षिप्रम् शीघ्रं पुनरेहि पुनरागच्छ । तस्मिन् समये त्वा त्वाम् अपाम् उदकानां गोष्ठः । गावस्तिष्ठन्ति पानार्थम् अस्मिन्निति गोष्ठो जलराशिः । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति अधिकरणे कप्रत्ययः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इति षत्वम् ❀ । भराय भरणार्थम् अध्यरुक्षत् अधिरोहतु । शिरसि आरोहतु । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सप्रत्ययः ❀ । तासां प्राप्तानाम् अपां मध्ये यतमाः यादृश्य आपो यज्ञियाः यज्ञार्हा आसन् अभवन् ता गृह्णीतात् घटादिना गृहाण । ❀ ग्रह उपादाने । "तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम्" इति हेस्तातङ् आदेशः ❀ । यद्वा । इदानीं बहुवद् उच्यते । हे उदकाहर्त्र्यो नार्यः गृह्णीतात् गृह्णीत घटादिपात्रेषु उदकं पूरयत । ❀ "तस्य तात्" इति तशब्दस्य तात् आदेशः । यतमा इति । "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्" इति यच्छब्दात् डतमच् प्रत्ययः ❀ । इतरा अयज्ञिया अपः धीरी धीमती त्वं विभाज्य यज्ञियाभ्यो विविच्य जहीतात् जहीहि परित्यज । ❀ ओहाक् त्यागे । तातङि "घुमास्था०" इति ईत्वम् ❀ ॥

हे नारि! तू जल लानेके लिये पराङ्मुखी होकर जलाशय पर जा और वहाँ से जल लेकर शीघ्र ही लौट आ। उस समय तुझ पर जिसमें गौएँ जल पीती हैं वह जलोंका गोष्ठ भरण करनेके लिये आरोहण करे—तेरे शिर पर चढ़े। उन जलोंमें जो जल यज्ञके योग्य होवें उन ही को तू घट आदिसे ग्रहण करना और यज्ञके अयोग्य जलोंको तू बुद्धिमती है इस कारण यज्ञिय जलोंसे अलग करके त्याग देना॥ १३॥

चतुर्थी॥

एमा अंगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय॥ १४॥

आ। इमाः। अगुः। योषितः। शुम्भमानाः। उत्। तिष्ठ। नारि। तवसम्। रभस्व।
सुऽपत्नी। पत्या। प्रऽजया। प्रजाऽवती। आ। त्वा। अगन्। यज्ञः। प्रति। कुम्भम्। गृभाय॥ १४॥

शुम्भमानाः शोभनालंकारयुक्ता इमा योषितः उदकाहर्त्र्यः स्त्रियः आ अगुः आगमन्। हे नारि पत्नि उत्तिष्ठ आसनात् उत्थिता भव। ❀ "०अनूर्ध्वकर्मणि" इति पर्युदासाद् आत्मनेपदाभावः ❀। तव त्वाम् उपगतास्ताः सं रभस्व संग्रहीतुम् उद्युक्ता भव। ❀ रभ राभस्ये। राभस्यं कार्योपक्रम इति तद्व्याख्या ❀। पत्या शोभनपतिना सुपत्नी पत्नीनां श्रेष्ठतमा। यद्वा पत्या गुणाधिकेन पुरुषेण शोभनपतिका। ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति

शोभनकारी ❀ । प्रजया पुत्रादिरूपया प्रजावती शोभनपुत्रयुक्ता। भवेत्यर्थः । ईदृशीं त्वा त्वां यज्ञः आ अगन् उदकरूपेण प्राप्त् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "हल्ङ्या०" इत्यादिलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । कुम्भम् उदकपूर्णघटं प्रति गृभाय प्रतिगृहाण आदत्स्व । ❀ ग्रहेर्लोण्मध्यमैकवचने "छन्दसि शायजपि" इति श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशः । "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ ॥

हे शोभामद अलंकारोंको धारण करने वाली ! ये जल लाने वाली स्त्रियें आगई हैं, अत एव हे पत्नि ! तू आसनसे उठ, और अपने पास आई हुई स्त्रियोंको ग्रहण कर और अधिक गुण वाले पतिसे शोभन पति वाली हो और पुत्रपौत्र आदिरूप प्रजा से शोभन प्रजा वाली हो, ऐसी तुझको यह यज्ञ जलरूपसे प्राप्त होवे तू जलपूर्ण कलशको ग्रहण कर ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।

अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥

ऊर्जः । भागः । निऽहितः । यः । पुरा । वः । ऋषिऽप्रशिष्टा । अपः । आ । भर । एताः ।

अयम् । यज्ञः । गातुऽवित् । नाथऽवित् । प्रजाऽवित् । उग्रः । पशुऽवित् । वीरऽवित् । वः । अस्तु ॥ १५ ॥

हे आपः वः युष्माकम् ऊर्जः बलकरस्य सारभूतस्य जलरा-

शेवो भागः अंशः पुरा पूर्वं निहितः ब्रह्मणा परिकल्पितः । स एव अत्राहृत्य निधीयत इति शेषः । हे पत्नि एताः आहृताः सारभूता अपः ऋषिप्रशिष्टा ऋषिणा मन्त्रेण अतीन्द्रियार्थदर्शिना ब्रह्मणा वा प्रशिष्टा अनुशिष्टा अनुज्ञाता त्वम् आ भर आस्तीर्णे चर्मणि आहर । स्थापयेत्यर्थः । ॐ ऋषिप्रशिष्टेति । शासु अनुशिष्टौ । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । "शास इदङ्हलोः" इति इत्वम् ॐ ॥ अयं क्रियमाणः ब्रह्मौदनसवाख्यो यज्ञः गातुवित् गातोः स्वर्गमार्गस्य लम्भकः । नाथवित् नाथ्यमानस्य आशंसनीयस्य स्वर्गादिफलस्य लम्भयिता । यद्वा नाथः स्वामी तस्य लम्भकः । प्रजावित् प्रजायन्त इति प्रजाः पुत्रपौत्रादिरूपाः तासां लम्भकः । उग्रः उद्गूर्णबलः । परैरनभिभवनीय इत्यर्थः । पशुवित् पशूनां गवाश्वादीनां लम्भयिता । वीरवित् विविधम् ईर्यन्ते तत्तत्कर्मणि प्रेर्यन्त इति वीराः कर्मकरास्तेषां लम्भयिता हे यजमानपत्न्यादयः वः युष्मभ्यम् एवंविधफलप्रदः अस्तु भवतु ॥

हे जलों ! तुममें जो बलप्रद सारभूत जलराशिका भाग पहिले ब्रह्माजीने परिकल्पित किया है, वही यहाँ लाकर रक्खा जावेगा, हे पत्नि ! इन लाये हुए सारभूत जलोंको तू मन्त्र (वा अतीन्द्रियार्थदर्शी ब्रह्मा) के द्वारा अनुज्ञा पाने पर चर्म पर स्थापित कर यह चलता हुआ ब्रह्मौदनसव यज्ञमार्गको प्राप्त कराने वाला है, पुत्र पौत्र आदि रूप प्रजाको देने वाला है, प्रचण्ड बलको देने वाला है, गौ घोड़े आदि पशुओंको प्राप्त कराने वाला है, विविध प्रकारसे नाना कर्मोंमें जिनको प्रेरित किया जाता है उन कर्मकर–वीरोंको देने वाला है हे यजमान पत्नी आदिकों ! तुम को यह इन ही फलोंको देने वाला होवे ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

अग्ने॑ च॒रुर्य॒ज्ञिय॒स्त्वाध्य॑रुक्ष॒च्छुचि॒स्तपि॑ष्ठ॒स्तप॑सा तपैनम्

आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिं

स्तपन्तु ॥ १६ ॥

अग्ने । चरुः । यज्ञियः । त्वा । अधि । अरुक्षत् । शुचिः । तपिष्ठः ।

तपसा । तप । एनम् ।

आर्षेयाः । दैवाः । अभिऽसंगत्य । भागम् । इमम् । तपिष्ठाः । ऋतुऽभिः । तपन्तु ॥ १६ ॥

हे अग्ने त्वा त्वां यज्ञियः यज्ञार्हः चरुः हविःश्रपणार्था स्थाली अध्यरुक्षत् अधिरोहतु उपरि तिष्ठतु । शुचिः शुद्धो निर्मलः तपिष्ठः तप्तृतमः । ❀ तप्तृशब्दात् "तुश्छन्दसि" इति इष्ठनि "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः ❀ । तपसा संतापकेन आत्मीयेन तेजसा एनं चरुं तप तप्तं कुरु । आर्षेयाः । गोत्रप्रवर्तकान् ऋषीन् ये विदुस्ते आर्षेया ब्राह्मणाः । दैवाः । देवाः । होतव्या इन्द्रादयः तत्संबन्धिजना दैवाः । ते उभये स्वस्वं भागम् अंशम् अभिसंगत्य अभिप्राप्य इमं चरुं तपिष्ठाः तप्तृतमाः सन्तः ऋतुभिः वसन्तादिभिः कालविशेषैः तपन्तु तप्तं कुर्वन्तु ॥

हे अग्ने ! आप पर हवि राँधनेके लिये यज्ञिया चरुस्थाली अधिरोहण करे, और निर्मल तथा तपाते हुए आप अपने सन्तापक तेजसे इस चरुको तप्त करें, गोत्र प्रवर्तक ऋषियोंको जानने वाले आर्षेय ब्राह्मण और जिनके निमित्त हवि होमी जाती है उन इन्द्र आदिसे सम्बन्ध रखने वाले दैव, ये दोनों अपने २ भागको पाकर इस चरुको तपाते हुए वसन्त आदि कालोंसे इस को तप्त करें ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । आपः । चरुम् । अव । सर्पन्तु । शुभ्राः ।

अदुः । प्रऽजाम् । बहुलान् । पशून् । नः । पक्ता । ओदनस्य । सुऽकृताम् । एतु । लोकम् ॥ १७ ॥

शुद्धाः निर्मलाः पूताः पवित्राभ्याम् उत्पूता उत्पवनाख्यसंस्कारेण पवित्रीकृताः योषितः योषिद्रूपा मिश्रयित्र्यो वा यज्ञियाः यज्ञार्हाः शुभ्राः शुक्लवर्णा इमाः आहृता आपश्चरुम् अव सर्पन्तु स्थालीं प्रविशन्तु । ता आपो नः अस्मभ्यं प्रजाम् पुत्रादिरूपां बहुलान् अनेकविधान् गोमहिषाद्यांश्च पशून् अदुः ददतु प्रयच्छन्तु ॥ ओदनस्य ब्रह्मौदनाख्यस्य पक्ता पाचको यजमानः । पचेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । सुकृताम् पुण्यकर्तां लोकम् सुखोपभोगस्थानं स्वर्गादिकम् एतु गच्छतु ॥

उत्पवन नामक संस्कारसे पवित्र किये हुए निर्मल और मिश्रण करने वाले यज्ञके उपयुक्त ये लाये हुए शुभ्र वर्णसम्पन्न जल चरुस्थालीमें प्रवेश करें और ये जल हमको पुत्र आदि रूप प्रजा और गौ भैंस आदि बहुतसे पशुओंको देवें और यह ब्रह्मौ-

दनका पक्ता यजमान पुण्यात्माओंके सुख भोगनेके स्थान स्वर्ग आदिको प्राप्त होवे ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।

अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मणा । शुद्धाः । उत । पूताः । घृतेन । सोमस्य । अंशवः । तण्डुलाः । यज्ञियाः । इमे ।

अपः । प्र । विशत । प्रति । गृह्णातु । वः । चरुः । इमम् । पक्त्वा सुऽकृताम् । एत । लोकम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मणा मन्त्रेण शुद्धाः निर्दोषाः उत अपि च घृतेन क्षरणशीलेन उदकेन पूताः प्रक्षालिताः । यद्वा श्रपणानन्तरभाविना अभिघारणेनाज्येन पूताः पवित्रीकृताः सोमस्य अमृतमयस्य अंशवः लतावयवाः । तदात्मका इत्यर्थः । "निर्भिन्ध्यंशून्" इति हि प्राग् [६] उक्तम् । अत एव यज्ञियाः यज्ञार्हा इमे तण्डुलाः यूयम् अपः स्थालीगतानि उदकानि प्र विशत । चरुः स्थाली च वः युष्मान् प्रति गृह्णातु स्वीकरोतु । इमम् ओदनं पक्त्वा । ओदनपाकेन अशौदनसवाख्यं कर्म लक्ष्यते । एतत् कर्म कृत्वेत्यर्थः । व्याख्यातम् अन्यत् ॥

मन्त्रसे शुद्ध हुए अत एव निर्दोष और श्रपण (पकने) के अनन्तर घृतसे पवित्र होने वाले, सोमके अंशरूप ये तण्डुल हैं,

हे यज्ञके उपयुक्त ऐसे तण्डुलों ! तुम चरुस्थालीमें स्थित जलोंमें प्रवेश करो और यह चरुस्थाली तुमको स्वीकार करे, इस ब्रह्मौदनका पक्ता यजमान पुण्य करने वालोंके लोक स्वर्गको प्राप्त होवे १८

नवमी ॥

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि

उरुः । प्रथस्व । महता । महिम्ना । सहस्रऽपृष्ठः । सुऽकृतस्य । लोके ।

पितामहाः । पितरः । प्रऽजा । उपऽजा । अहम् । पक्ता । पञ्चऽदशः । ते । अस्मि ॥ १९ ॥

हे ओदन सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूते लोके स्वर्गादौ महता अधिकेन महिम्ना माहात्म्येन उरुः विस्तीर्णः सहस्रपृष्ठः सहस्रावयवः सन् प्रथस्व विस्तीर्णो भव । अस्मदीयाः पितरः पितामहाः । ❁ उपलक्षणम् एतत् ❁ । पितृपितामहाद्याः सप्तपुरुषा हे ओदन त्वया तृप्यन्ते । तथा प्रजा पुत्रदुहितृरूपा तत्पुत्रादिरूपा । ❁ एतदपि उपलक्षणम् ❁ । अनन्तराः पुत्राद्याः सप्तपुरुषास्त्वया प्रीयन्ते । एतदुभयापेक्षया पक्वा ब्रह्मौदनस्य पक्ता अहं ते तव पञ्चदशः पञ्चदशसंख्यापूरकः अस्मि भवामि । मदनुष्ठितेन अनेन यज्ञेन एते सर्वे प्रीयन्त इत्यर्थः ॥

हे ओदन ! पुण्यके फलरूप स्वर्गादिमें तू अपनी विस्तृत महिमासे सहस्रों अवयवों वाला होता हुआ विस्तृत हो, हे ओदन ! तुझसे पिता पितामह आदि सात पुरुष तृप्त होते हैं, पुत्र पुत्रीरूप प्रजा और उनकी सन्तानरूप उपजा ये सात पाढ़ीतकके पुरुष

भी तुमसे तृप्त होते हैं इन दोनोंकी अपेक्षा पन्द्रहवाँ पक्ता मैं भी तृप्त होऊँ अर्थात् मेरे अनुष्ठित इस यज्ञसे सब तृप्त होवें ॥१९॥

दशमी ॥

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥

सहस्रऽपृष्ठः । शतऽधारः । अक्षितः । ब्रह्मऽओदनः । देवऽयानः । स्वःऽगः ।

अमून् । ते । आ । दधामि । प्रऽजया । रेषय । एनान् । बलिऽहाराय । मृडतात् । मह्यम् । एव ॥ २० ॥

सहस्रपृष्ठः सहस्रशरीरः शतधारः शतसंख्याकाभिर्धाराभिरमृतमयीभिर्युक्तः अक्षितः अक्षीयमाणः । भुज्यमानोपि क्षयम् अप्राप्नुवन्नित्यर्थः । देवयानः देवान् इन्द्रादीन् यान्ति गच्छन्ति पुण्यकृतः अनेनेति देवयानः । देवत्वप्राप्तिसाधनभूत इत्यर्थः । तथा स्वर्गः फलभूतं स्वर्गं प्रति अन्तरङ्गसाधनत्वात् तदात्मकोयम् इत्यर्थः । हे यजमान त्वया क्रियमाणोयं ब्रह्मौदनः एतत्संज्ञकः सवयज्ञः । उक्तगुणविशिष्टो भवतीत्यर्थः । अपि च ते तव बलिहाराय बलिः उपायनद्रव्यं तद्धरणार्थम् अमून् प्रसिद्धान् सपत्नान् आ दधामि अभिमुखं स्थापयामि । एनान् प्रजया पुत्रभृत्यादिरूपया रेशय लेशय अल्पीकुरु । उपक्षीणान् कुर्वित्यर्थः । ॐ लिश अल्पीभावे । रलयोः एकत्वस्मरणाद् रेफः ॐ । मह्यमेव मायेव मायेव माग् उदीरितः सवयज्ञः मृडतात् मृडयतु सुखयतु सर्वोत्कृष्टं करोतु ।

❀ मृड दुखने । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदान-त्वाद् अस्मदश्चतुर्थी ❀ ॥

[इति एकादशकाण्डे] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे यजमान ! तेरा किया हुआ यह यज्ञ सहस्रों शरीर वाला है अमृतमयी सैंकड़ों धारोंसे अक्षय रहता है अर्थात् भोगने पर भी क्षयको प्राप्त नहीं होता है और जिसके द्वारा पुण्यकर्ता इन्द्र आदि देवताओंको प्राप्त होते हैं अर्थात् देवत्वकी प्राप्तिका साधन-भूत, फलभूत स्वर्गका साधन होनेसे स्वर्गरूप ही है हे यज्ञ ! तेरे निमित्त मैं इन सजातियोंको भेंटके रूपमें स्थापित करता हूँ, तू इनको पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजासे अल्प कर, यह सब यज्ञ मुझको ही सुख देवे-मुझको ही सर्वोत्कृष्ट करे ॥ २० ॥ (२)

एकादशकाण्डमें द्वितीय सूक्त समाप्त

"उदेहि वेदिम्" इति सूक्तस्य ब्रह्मौदनसवे "अग्ने जायस्व" [११. १] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तत्र "उदेहि वेदिम्" इति प्रथमया चरोरुद्वासनं कुर्यात् । "अभ्यावर्तस्व" इत्यनया चरुस्थालीं प्रदक्षिणम् आवर्तयेत् । सूत्रितं हि । "उदेहि वेदिम् [२१] धर्ता ध्रियस्व [१२. ३. ३५] इत्युद्वासयति । अभ्यावर्तस्व [२२] इति कुम्भीं प्रदक्षिणम् आ-वर्तयेत्" इति [कौ० ८. २] ॥

"अदितेर्हस्तम्" इति ऋचा स्रुचं वेद्यां सादयेत् । "अदिते-र्हस्तं [२४] सर्वान्त्समागाः [१२. ३. ३६] इति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ८. ३] सूत्रात् ॥

"भृतं त्वा हव्यम्" [२५] इति ऋचा चतुर आर्षेयान् आसने उपवेशयेत् । सूत्रितं हि । "भृतं त्वा हव्यम् इति चतुर आर्षेयान् भृग्वङ्गिरोविद उपसादयति" इति [कौ० ८. ४] ॥

"सोम राजन्" [२६] इति ऋचा चतुर आर्षेयान् ऋत्विजो

यजमान आह्वयेत् । “शुद्धाः पूताः” [२७] इति ऋचा तेषाम् ऋत्विजां हस्तप्रक्षालनार्थम् उदकं दद्यात् । “शुद्धाः पूता इति मन्त्रोक्तम्” इति [कौ० ८. ४] सूत्रात् ॥

“इदं मे ज्योतिः इति ऋचा ओदने हिरण्यं निदध्यात् । सूत्रितं हि । “इदं मे ज्योतिः [२८] समग्नयः [१२. ३. ५०] इति हिरण्यमधिनिदधाति” इति [कौ० ८. ३] ॥

अत्र “इदं मे ज्योतिः” इति प्रथमपादं दातारं वाचयन् हिरण्यम् अधिनिदध्यात् । “कृण्वे पन्थाम्” इति “चरमपादं च दातारं वाचयेत्” इति हि भाष्यकारः ॥

“पक्वं क्षेत्रात्” इति मध्यमेन पादद्वयेन बर्हिष्यासादितम् ओदनम् ईषत् कर्षयेत् । “पक्वं क्षेत्रात् [२८] वर्षं वनुष्व [१२. ३. ५३] इत्युपकर्षयति” इति हि [कौ० ८. ४] सूत्रम् ॥

“इदं मे ज्योतिः” इति समस्ता ऋक् दातृवाचने विनियुक्ता । “इदं मे ज्योतिः [२८] सत्याय [१२. ३. ४६–४८] इति तिस्रः” इति हि सूत्रम् [कौ० ८. ६] ॥

“अग्नौ तुषान्” [२९] इति ऋचः प्रथमपादेन अग्नौ तुषान् जुहुयात् । “अग्नौ तुषान् इति तुषान् आवपति” इति [कौ०८.४] सूत्रात् ॥

“परः कम्बूकान्” इति शेषेण पादत्रयेण फलीकरणान् उदूहयेत् । “परः कम्बूकान् इति सव्येन पादेन फलीकरणान् अपोहयति” इति [कौ० ८. ४] सूत्रम् ॥

“श्राम्यतः” [३०] इत्यादिका ऋचः ओदनसंपाते विकल्पेन विनियुक्ताः । सूत्रितं हि । “सूक्तेन पूर्वं संपातवन्तं करोति श्राम्यत इति प्रभृतिभिर्वा” इति [कौ० ८. ४] ॥

‘उदेहि वेदिम्’ सूक्तका ‘अग्ने जायस्व’ (११ । १) सूक्तके साथ ब्रह्मौदनसवमें विनियोग कह दिया है ।

और 'उदेहि वेदिम्' इस पहिली ऋचासे चरुका उद्वासन करे। 'अभ्यावर्तस्व' इस ऋचासे चरुस्थालीको प्रदक्षिणा करता हुआ घुमावे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। २ का प्रमाण भी है कि–'उदेहि वेदिम् (२१) धर्ता ध्रियस्व (१२ । ३ । ३५) इत्युद्वासयति। अभ्यावर्तस्व (२२) इति कुंभीं प्रदक्षिणां आवर्तयेत्' ॥

'अदितेर्हस्तम्' ऋचासे स्रुवेको वेदी पर रक्खे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। २ का प्रमाण भी है, कि–'अदितेर्हस्तम् (२४) सर्वान्त्समागाः (१२ । ३ । ३६) इति मंत्रोक्तम्'। 'भूतम् त्वा हव्यम्' इस पच्चीसवीं ऋचासे चार आर्षेय ब्राह्मणोंको आसन पर बैठावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'भूतं त्वा हव्यं इति चतुर आर्षेयान् भृग्वङ्गिरोविद उपसादयति' (कौशिकसूत्र ८। ४) ॥

यजमान 'सोमो राजन्' इस छब्बीसवीं ऋचासे चार आर्षेय ऋत्विजोंको बुलावे। और 'शुद्धाः पूताः' इस सत्ताइसवीं ऋचासे उन ऋत्विजोंको हाथ धोनेके लिये जल देवे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। ४ का प्रमाण भी है, कि–'शुद्धाः पूता इति मन्त्रोक्तम्' ॥

"इदं मे ज्योतिः" इस ऋचासे ओदनमें सुवर्णको रक्खे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। ३ का प्रमाण है, कि–"इदं मे ज्योतिः (२८) समग्नयः (२२ । ३ । ५०) इति हिरण्यमभिनिदधाति ॥"

यहाँ "इदं मे ज्योतिः" इस प्रथमपादको दातासे पढ़वाता हुआ सुवर्णको रक्खे। और भाष्यकार कहते हैं, कि–"कृण्वे पन्थानम्" इस अन्तिमपादको भी दातासे बचवावे ॥

"पक्वं क्षेत्रात्" इन मध्यके दो पादोंसे कुशाओं पर रक्खे हुए ओदनको कुछ खींचे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। ४ का प्रमाण

भी है, कि–"पक्वं क्षेत्रात् (२८) वर्षं वनुष्व (१२।३।५२) इत्युपकर्षयति"॥

"इदं मे ज्योतिः" यह समस्त ऋक् दानवाचनमें विनियुक्त होती है। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।६ का प्रमाण है, कि–"इदं मे ज्योतिः (२८) सत्याय (१२।३।४६-४८) इति तिस्रः"॥

'अग्नौ तुषान्' इस उन्तीसवीं ऋचाके प्रथम पादसे अग्निमें तुषोंको होमे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।४ का प्रमाण है, कि–'अग्नौ तुषान् इति तुषान् आवपति॥'

'परः कम्बूकान्' इन अन्तिम तीन पादोंसे फलीकरणोंका उद्वहन करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।४ का प्रमाण भी है, कि-'परः कम्बूकान् इति सव्येन पादेन फलीकरणान् अपोहयति'॥

'आक्यतः' यह तीसवीं आदि ऋचाएँ ओदनसम्पातमें विकल्प से विनियुक्त होती हैं। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८।४ का प्रमाण भी है, कि–'सूक्तेन पूर्वं सम्पातवन्तं करोति आम्यत इति प्रभृति-भिर्वा'॥

तत्र प्रथमा॥

उदेहि वेदिं प्रजयां वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम्। श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि॥ २१॥

उत्ऽएहि। वेदिम्। प्रऽजया। वर्धय। एनाम्। नुदस्व। रक्षः। प्रऽतरम्। धेहि। एनाम्।

श्रिया। समानान्। अति। सर्वान्। स्याम। अधःऽपदम्। द्विषतः। पादयामि॥ २१॥

हे पक्वौदन वेदिम् हविरासादनाय प्रोक्षणादिबर्हिस्तरणादि-संस्कारसंस्कृतां भूमिं प्रति उदेहि उदागच्छ । अग्नेः सकाशाद् उत्थाय वेद्याम् आसीदेत्यर्थः । एनां पत्नीं प्रजया पुत्रादिरूपया सर्धय समृद्धां कुरु । रक्षः यज्ञविघातकं राक्षसं नुदस्व अस्मात् स्थानात् प्रेरय प्रच्यावय । ❀ नुद प्रेरणे ❀ । तथा एनां पत्नीं प्रतरम् प्रकृष्टतरं यथा भवति तथा धेहि धारय पोषय वा । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀ । श्रिया समानान् इति उत्तरोर्धर्चो व्याख्यातः [१२] ॥

हे पक्वौदन ! तू प्रोक्षणादिबर्हिस्तरणादिसंस्कारसे संस्कृत भूमिरूप वेदीमें हविरूपसे स्थित होनेके लिये आ, अर्थात् अग्निके समीपसे उठ कर वेदीमें बैठ, इस पत्नीको पुत्र आदिरूप प्रजासे समृद्ध कर, यज्ञविघातक राक्षसको इस स्थानसे खदेड़ तथा इस पत्नीको अधिकतासे पुष्ट कर । हम सब समान पुरुषोंसे सम्पत्ति में अधिक होजावें, मैं द्वेष करने वाले शत्रुओंको औंधे गिराता हूं १

द्वितीया ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।

मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥

अभिऽआवर्तस्व । पशुऽभिः । सह । एनाम् । प्रत्यङ् । एनाम् । देवताभिः । सह । एधि ।

मा । त्वा । प्र । आपत् । शपथः । मा । अभिऽचारः । स्वे । क्षेत्रे । अनमीवा । वि । राज ॥ २२ ॥

हे ब्रह्मौदन एनान् पत्नीयजमानादीन् पशुभिः लब्धव्यैर्गोमहिषाद्यैः सह अभ्यावर्तस्व अभिलक्ष्य आवृत्तो भव । तथा एनान् यज्ञियाभिर्देवताभिः सह प्रत्यङ् प्रत्यञ्चन् आभिमुख्येन गच्छन् एधि भव ॥ हे यजमान यद्वा हे पत्नि शपथः परकृत आक्रोशस्त्वा त्वां मा प्रापत् मा प्राप्नोतु । ❀ आप्लृ व्याप्तौ । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ । तथा परकृतः अभिचारः मारणकर्म मा प्राप्नोतु । तथा स्वे स्वकीये क्षेत्रे स्थाने अनमीवा अमीवा रोगस्तद्रहिता सती वि राज विशेषेण राजमाना भव । ❀ राजतिः ऐश्वर्यकर्मा ❀ ॥

हे ब्रह्मौदन ! इन पत्नी यजमान आदिके अभिमुख होकर गौ महिष आदि पशुओंके साथ आ । और पूजनीय देवताओंके सहित आ । हे यजमान और हे यजमानपत्नि ! दूसरेका किया हुआ आक्रोश तुझको प्राप्त न होवे । तथा दूसरेका किया हुआ मारण-कर्म भी तेरे पास न फटके तथा तू अपने स्थान पर नीरोग रहती हुई ऐश्वर्य भोग ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

ऋतेन॑ त॒ष्टा मन॑सा हि॒तैषा ब्र॑ह्मौद॒नस्य॒ विहि॑ता वेदि॒रग्रे॑ ।
अं॒स॒द्रीं शु॒द्धामुप॑ धेहि नारि॒ तत्रौ॑द॒नं सा॑दय दै॒वाना॑म् ॥ २३ ॥

ऋतेन॑ । त॒ष्टा । मन॑सा । हि॒ता । ए॒षा । ब्र॒ह्म॒ऽओ॒द॒नस्य॑ । विऽहि॑ता । वेदिः॑ । अग्रे॑ ।

अंसध्रीम् । शुद्धाम् । उप । धेहि । नारि । तत्र । ओदनम् ।
सादय । दैवानाम् ॥ २३ ॥

ऋतेन सत्येन ब्रह्मणा तष्टा तनूकृता सम्यङ्निर्मिता । ❀ तक्षू त्वक्षू तनूकरणे । कर्मणि निष्ठा । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । "स्कोः संयोगाद्योः०" इति कलोपः ❀ । मनसा प्रथमसृष्टेन हैरण्यगर्भेण हिता धारिता । ❀ "दधातेर्हिः" इति निष्ठायां हिरादेशः ❀ । एषा एवंगुणविशिष्टा वेदिः ब्रह्मौदनस्य सादनाय अग्रे पुरा विहिता महर्षिभिः कल्पिता । हे नारि पत्नि अंसध्रीम् अंशान् भागान् देवमनुष्यपितृसंबन्धिनो धारयतीति अंसध्री तां शुद्धाम् अनुपहतां वेदिम् उप धेहि उप समीपे धारय । तत्र वेद्यां पक्वम् इमं देवानां स्वभूतम् ओदनं सादय गमय । आसादयेत्यर्थः ॥

इस वेदीको ब्रह्माजीने बनाया था और प्रथमसृष्ट हिरण्यगर्भने इसको स्थापित किया था ऐसी वेदीको ब्रह्मौदन स्थापित करने के लिये ऋषियोंने भी पहिले कल्पित किया था, सो हे नारि ! देवता मनुष्य और पितरोंके अंशोंको धारण करने वाली शुद्ध वेदीके समीपमें तू आ और उस पर इस बने हुए देवांश ओदन को रख ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु

अदितेः । हस्ताम् । स्रुचम् । एताम् । द्वितीयाम् । सप्तऽऋषयः । भूतऽकृतः । याम् । अकृण्वन् ।

सा । गात्राणि । विदुषी । ओदनस्य । दर्विः । वेद्याम् । अधि । एनम् । चिनोतु ॥ २४ ॥

अदितेः देवमातुः द्वितीयम् द्वित्वसंख्यापूरकं हस्तम् एतां होमसाधनभूतां यां स्रुचं भूतकृतः भूतानां प्राणिनां स्रष्टारः [सप्तऋषयः] अकृण्वन् अकुर्वन् सैषा दर्विः होमसाधनभूता स्रुक् ओदनस्य पक्वस्य गात्राणि शरीराणि तत्परूंषि च विदुषी जानती वेद्याम् अधि उपरि एनं ब्रह्मौदनं चिनोतु स्थापयतु ॥

सप्तर्षियोंने देवमाता अदितिके दूसरे हाथके रूपमें इस होमसाधन स्रुवेको किया था, वह यह स्रुवारूपा दर्वी ओदनके पक्व शरीरोंको जानती हुई वेदीके ऊपर ब्रह्मौदनको स्थापित करे २४

पञ्चमी ॥

शृतं त्वां हव्यमुप सीदन्तु देवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥

शृतम् । त्वा । हव्यम् । उप । सीदन्तु । देवाः । निःऽसृप्य । अग्नेः । पुनः । एनान् । प्र । सीद ।
सोमेन । पूतः । जठरे । सीद । ब्रह्मणाम् । आर्षेयाः । ते । मा । रिषन् । प्रऽअशितारः ॥ २५ ॥

हे ओदन शृतम् पक्वम् अत एव हव्यम् हवनयोग्यं त्वा त्वां देवा उप सीदन्तु यष्टव्या देवा उपसन्ना भवन्तु । ❀ 'शृतं पाके'

इति निपात्यते ॐ। भृतस्यैव हविषो देवार्हता तैत्तिरीये स्पष्टम् आम्नायते। "यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽशृतः स रौद्रो यः शृतः स सदेवः" इति [तै० सं० २. ६. ३. ४]। हे तादृशौदन त्वम् अग्नेः सकाशात् निःसृप्य निर्गत्य पुनरेनान् प्र सीद प्राप्नुहि। सोमेन अमृतमयेन सोमरसेन क्षीरदध्यादिरूपेण। श्रूयते हि सोमात्मकत्वं दधिपयसोः। "सोमः खलु वै सांनाय्यम्" इति [तै० ब्रा० ३. २. ३. ११]। तेन पूतः शुद्धः सन् ब्रह्मणाम् ब्राह्मणानां जठरे उदरे सीद उपविश। आर्षेयाः स्वस्वगोत्रप्रवराभिज्ञा भृग्वङ्गिरोविदस्ते ब्राह्मणा ओदनस्य प्राशितारः भोक्तारः मा रिषन् मा विनश्यन्तु। तेषाम् उदरे प्रविष्टस्त्वं हिंसां मा कृथा इत्यर्थः॥

हे ओदन! पके हुए अत एव हवनके योग्य तेरे पास पूजनीय देवता † आवें। हे ओदन! तू अग्निसे निकल कर फिर इनको प्राप्त हो क्षीर दधि आदिरूप ‡ सोमरससे शुद्ध होकर इन ब्राह्मणोंके उदरमें बैठ, ये अपने २ गोत्र प्रवरको जानने वाले आर्षेय अथर्ववेदी ब्राह्मण भोजन करके हिंसित न हों॥ २५॥

षष्ठी॥

सोमं राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।

† पकी हुई हविकी ही देवार्हता तैत्तिरीयकमें स्पष्ट लिखी हुई है, कि–"यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽशृतः स रौद्रो यः शृतः स सदेवः॥–अर्थात् हविका जला हुआ भाग राक्षसोंका होता है, कच्चा रुद्रदेवका होता है और पका हुआ देवताओंका अंश होता है" (तैत्तिरीयसंहिता २। ६। ३। ४)॥

‡ दधि और पयका सोमात्मकत्व श्रुतिमें कहा है, कि–"सोमः खलु वै सान्नाय्यम्" (तैत्तिरीयसंहिता ३। २। ३। ११)॥

ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोह-
वीमि ॥ २६ ॥

सोम । राजन् । सम्ऽज्ञानम् । आ । वप । एभ्यः । सुऽब्राह्मणाः ।
यतमे । त्वा । उपऽसीदान् ।
ऋषीन् । आर्षेयान् । तपसः । अधि । जातान् । ब्रह्मऽओदने ।
सुऽहवा । जोहवीमि ॥ २६ ॥

हे राजन् राजमान सोम तदात्मक ब्रह्मौदन एभ्यः भोक्तृभ्यो ब्राह्मणेभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । संज्ञानम् सम्यग् ज्ञानम् आ वप निधेहि । मोहं मा कृथा इत्यर्थः । यतमे यज्जातीयाः सुब्राह्मणाः शोभना ब्राह्मणा भृग्वङ्गिरोविदः त्वा त्वाम् उपसीदान् उपसन्ना भवन्ति । ❀ सीदतेर्लेटि आडागमः । यतमे इति । "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्" इति डतमच् प्रत्ययः । तस्य सर्वनामगणे पाठात् तदन्तस्य सर्वनामसंज्ञायां जसः शीभावः ❀ । एभ्य इति पूर्वेण संबन्धः । अपि च तपसोऽधि जाता दीक्षारूपात् तपस उत्पन्ना । "ब्रह्मणो वा एष जायते यो दीक्षते" इति हि ब्राह्मणम् [आप० १०. ११. ६] । एवंभूता सुहवा शोभनाह्वाना पत्नी आर्षेयान् प्रागुक्तलक्षणान् ऋषीन् ब्रह्मौदने विषये जोहवीमि पुनःपुनराह्वयामि । ❀ ह्वयतेर्यङ्लुगन्तात् लटि उत्तमैकवचने "ह्वः संप्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति संप्रसारणम् । "गुणो यङ्लुकोः" इति अभ्यासस्य गुणः ❀ ॥

हे राजमान सोमात्मक ब्रह्मौदन ! इन भोक्ता ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ ज्ञान दीजिये इनको मोहमें न डालिये, जो भृग्वंगिरोवेत्ता सुब्राह्मण तेरे पास बैठे हैं उन आर्षेय ऋषियोंको मैं दीक्षारूप

तप + से उत्पन्न हुई शोभन आह्वान वाली पत्नी ब्रह्मौदनके लिये बारम्बार बुलाती हूँ ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्रऽपृथक् । सादयामि ।
यत्ऽकामः । इदम् । अभिऽसिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददात् । इदम् । मे ॥ २७ ॥

शुद्धाः निर्मलाः पापरहिताः पूताः स्वसंसर्गेण अन्यस्यापि पावयित्र्यः योषितः स्त्रीरूपा मिश्रणशीला वा यज्ञियाः यज्ञार्हा इमाः एवंगुणविशिष्टा अपः ब्रह्मणाम् प्रागुदीरितलक्षणानां ब्राह्मणानां हस्तेषु पाणिषु । अत्र प्र इत्युपसर्गः उपसृष्टां क्रियाम् आह । प्रक्षालनक्रियाव्याजेनेत्यर्थः । प्रकर्षेण वा पृथक् सादयामि । सांकर्यं यथा न भवति तथा विक्षिपामीत्यर्थः । हे उदीरितलक्षणा आपः वः युष्मान् अहं यत्कामः यत् फलं कामयमानः इदम्

+ आपस्तम्बश्रौतसूत्र १० । ११ । ६ में कहा है, कि-"ब्रह्मणो वा एष जायते यो दीक्षते ॥-जो दीक्षा लेता है वह तपसे ही उत्पन्न होता है" ॥

इदानीम् अभिषिञ्चामि अभितः चारयामि इदं काम्यमानं फलं सः प्रसिद्धो मरुत्वान् मरुद्गणेषु उक्त इन्द्रो मे मह्यं ददात् ददातु ॥

निर्मल पापरहित अपने संसर्गसे दूसरेको भी पवित्र करने वाले मिश्रणशील यज्ञके उपयुक्त जलोंको मैं ब्राह्मणोंके हाथमें अलग २ डालता हूँ, हे पूर्वोक्त लक्षणों वाले जलो! मैं जिस कामना से तुम्हें अभिषिञ्चित करता हूँ उस फलको मरुद्गणोंके साथ इन्द्र मुझको देवें ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः २८

इदम् । मे । ज्योतिः । अमृतम् । हिरण्यम् । पक्वम् । क्षेत्रात् ।
कामऽदुघा । मे । एषा ।
इदम् । धनम् । नि । दधे । ब्राह्मणेषु । कृण्वे । पन्थाम् । पितृषु ।
यः । स्वःऽगः ॥ २८ ॥

इदं निधीयमानं हिरण्यम् अमृतम् अविनश्वरं मे मम ज्योतिः प्रकाशः । स्वर्गमार्गस्य प्रकाशको दीप इत्यर्थः ॥ पक्वम् पाकेन संस्कृतम् एतद् अन्नम् क्षेत्रात् व्रीहियवादिसस्याढ्याद् भूप्रदेशाद् उत्पन्ना एषा [मे] कामदुघा कामानां दोग्ध्री धेनुः । ❀ "दुहः कब्घश्च" इति कब्घत्वे ❀ ॥ इदं धनं दक्षिणात्वेन दीयमानं ब्राह्मणेषु नि दधे निक्षिपामि यथा मम तत् स्वर्गे लोके कोटिगुणितं स्यात् । तथा पितृषु अस्मदीयेषु पितृपितामहादिषु विषये यः प्रसिद्धस्तैरभिलषितः स्वर्गः पुण्यलोकः तस्य पन्थाम् पन्थानं कृण्वे करोमि ॥

ये दिया हुआ सुवर्ण मेरे स्वर्गमार्गका अविनश्वर दीपक है, और यह संस्कृत ओदन, धान जौं आदिसे भरे हुए क्षेत्रसे आई हुई कामधेनु है, और इस धनको मैं दक्षिणारूपसे ब्राह्मणोंमें स्थापित कर रहा हूँ, यह स्वर्गमें कोटिगुणा होजावे। और मैं इससे पितरोंका अभिलषित जो स्वर्ग है उसके मार्गको बना रहा हूँ २८

नवमी ॥

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम्।

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥

अग्नौ। तुषान्। आ। वप। जातऽवेदसि। परः। कम्बूकान्। अप। मृड्ढि। दूरम्।

एतम्। शुश्रुम। गृहऽराजस्य। भागम्। अथो इति। विद्म। निःऽऋतेः। भागऽधेयम् ॥ २९ ॥

हे ऋत्विक् जातवेदसि जातानां वेदितरि अग्नौ तुषान् प्रक्षेपणार्थतण्डुलेभ्यः पृथक्कृतान् आ वप प्रक्षिप। तेषाम् अग्नौ प्रक्षेपः प्रतिपत्तिरित्यर्थः ॥ तथा कम्बूकान् फलीकरणान् परः परस्ताद् दूरम् अप मृड्ढि पादेन अपमार्जनं कुरु। गृहराजस्य गृहाणाम् अधिपतेर्वास्तुनाथस्य। ❀ "राजाहःसखिभ्यः०" इति टच् ❀। एतं कम्बूकाख्यं भागं शुश्रुम अभिज्ञेभ्यो वयं श्रुतवन्तः। अथो अपि च निर्ऋतेः पापदेवताया भागधेयम् हविर्भागम् एतं विद्म जानीमः। ❀ "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः। भागशब्दात् स्वार्थे धेयप्रत्ययः ❀ ॥

हे ऋत्विक् ! जातवेदा अग्निमें ब्रह्मौदनके तण्डुलोंसे पृथक् किये हुए तुषोंको डालिये और फलीकरणोंको पैरसे अलग करिये, हमने सुना है, कि-यह फलीकरण वास्तुनाथका भाग होता है और हम यह जानते हैं, कि-यह पापदेवता निर्ऋतिका भी भाग होता है दशमी ॥

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।

येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम

श्राम्यतः । पचतः । विद्धि । सुन्वतः । पन्थाम् । स्वःऽगम् । अधि । रोहय । एनम् ।

येन । रोहात् । परम् । आऽपद्य । यत् । वयः । उत्ऽतमम् । नाकम् । परमम् । विऽओम ॥ ३० ॥

श्राम्यतः दीक्षारूपं तपस्तप्यमानान् । ॐ श्रमु तपसि खेदे च । अस्मात् लटः शत्रादेशः । "शमाम् अष्टानां दीर्घः श्यनि" इति दीर्घः ॐ । दीक्षाजनितश्रमानन्तरं पचतः उक्तरीत्या ब्रह्मौदन-पाकं कुर्वतः सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतः । सवयज्ञ एव सोमयाग-त्वेन रूप्यते । सवयज्ञानुष्ठातॄन् यजमानान् हे ब्रह्मौदन त्वं विद्धि जानीहि । एनान् यजमानान् स्वर्गम् स्वर्गप्रापकं पन्थाम् पन्थानं मार्गम् अधि रोहय उपरि आरोहय । उत्तमम् उत्कृष्टतमं नाकम् दुःखसंस्पर्शरहितं परमम् सर्वस्य परस्ताद् उपरि देशे वर्तमानं स्वर्गाख्यं यद् व्योमास्ति तद् येन पथा अयं यजमानो रोहात् रोहेत् आरूढो भवेत् । कथं भूत्वेत्याह । परम् उत्कृष्टं वयः पक्षिरूपं श्येनात्मकं यद् अस्ति तद् आपद्य आस्थाय । श्रूयते हि तैत्ति-

रीयके । "श्येनो वै वयसां पतिष्ठः । श्येन एव भूत्वा सुवर्गं लोकं पतति" इति [तै० सं० ५. ४. ११. १] । तं पन्थानम् आरो- हयेति पूर्वत्रान्वयः ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

दीक्षारूप तपको तपते हुए, ब्रह्मौदनपाकको करते हुए और सत्रयज्ञरूपी सोमाभिषव करते हुए सत्रयज्ञके अनुष्ठाता यजमानों को हे ब्रह्मौदन ! आप जानिये और इन यजमानोंको स्वर्ग प्राप्त कराने वाले मार्ग पर चढ़ाइये, दुःखके लेशसे शून्य ऊपर जो परमोत्कृष्ट स्वर्ग नामक व्योम है उसमें यह यजमान श्रेष्ठ श्येन पक्षी का रूप धारण करके जिस प्रकार आरोहण कर सके तैसा करिये + ॥ ३० ॥ (१)

तृतीय सूक्त समाप्त

"बभ्रेरध्वर्यो" इति सूक्तस्य ब्रह्मौदनसवे "अग्ने जायस्व" [११. १] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः । तत्र "बभ्रेरध्वर्यो" इति ऋचा ओदनस्योपरि गर्तं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "बभ्रेरध्वर्यो [३१] इदं मापम् [१२. ३. ४५] इत्युपर्यापानं करोति" इति [कौ० ८. ३.] ॥

"घृतेन गात्रा" इति पादेन घृतेन ओदनं विष्यन्दयेत् । "घृतेन गात्रा [३१] आ सिञ्च सर्पिः [१२. ३. ४५] इति सर्पिषा विष्यन्दयति" इति [कौ० ८. ३] सूत्रात् ॥

"कृण्वे पन्थाम्" इति चरमपादं दातारं वाचयेत् । "बभ्रे

+ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ११ । १ में कहा है, कि–'श्येनो वै वयसां पतिष्ठः । श्येन एव भूत्वा सुवर्गं लोकं पतति ॥ श्येन ही पक्षियोंमें अधिक उड़ने वाला है, श्येन बन कर ही प्राणी स्वर्ग पर आरोहण करता है' ॥

रक्षः'' इत्यादिभिर्ऋग्भिः ओदनम् अनुमन्त्रयेत। "समाचिनुष्व" इत्यनया आज्यं जुहुयात्। "अग्ने प्रेहि [४. १४. ५] समाचिनुष्व [३६] इत्याज्यं जुहुयात्" इति हि [कौ० ८. ४] सूत्रम् ॥

'बभ्रोरध्वर्यो' सूक्तका ब्रह्मौदनसवमें 'अग्ने जायस्व' (११।१) के साथ विनियोग कह दिया है। इसकी 'बभ्रेरध्वर्यो' ऋचासे ओदनके ऊपर गर्त करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'बभ्रेरध्वर्यो ३१) इदं मावम् (१२ । ३ । ४५) इत्युपर्यापानं करोति' (कौशिकसूत्र ८ । ३)॥

'घृतेन गात्रा' पादसे घृतसे ओदनको विष्यन्दित करे। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। ३ का प्रमाण है, कि–'घृतेन गात्रा (३१) आ सिञ्च सर्पिः (१२ । ३ । ४५) इति सर्पिषा विष्यन्दयति'॥

'कृणवे पन्थाम्' इस अन्तिम पदको दातासे पढ़वावे। 'बभ्रे रक्षः' इत्यादि ऋचाओंसे ओदनका अनुमन्त्रण करे। 'समाचिनुष्व' ऋचासे घृतकी आहुति देय इसमें कौशिकसूत्र ८ । ४ का प्रमाण है, कि–'अग्नेप्रेहि (४ । १४ । ५) समाचिनुष्व (३६) इत्याज्यं जुहुयात्' ॥

तत्र प्रथमा ॥

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

बभ्रेः । अध्वर्यो इति । मुखम् । एतत् । वि । मृड्ढि । आज्याय । लोकम् । कृणुहि । प्रऽविद्वान् ।

घृतेन । गात्रा । अनु । सर्वा । वि । मृड्ढि । कृण्वे । पन्थाम् ।
पितृषु । यः । स्वःऽगः ॥ ३१ ॥

हे अध्वर्यो अध्वरस्य नेतर्ऋत्विक् भर्भ्रेः भरणशीलस्य पोषकस्य पक्वस्य ओदनस्य । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । "आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च" इति किप्रत्ययः ❀ । तथाविधस्य ओदनस्य एतन्मुखम् उपरिप्रदेशं वि मृड्ढि विशेषेण मार्जय शोधय। ❀ मृजूष् शुद्धौ । अस्मात् लोटि सेर्हिरादेशः । "हुझल्भ्यः०" इति हेर्धित्वम् । अदादित्वात् शपो लुक् । "व्रश्च०" इत्यादिषत्वे जश्त्वम् ❀ । मुखविमार्जनानन्तरम् हे अध्वर्यो विद्वान् जानन् आज्याय । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । आज्यस्य धारणार्थं लोकम् स्थानं गर्तरूपं कृणुहि कुरु ओदनमध्ये कल्पय । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः । "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ❀ । तथा सर्वाणि गात्रा गात्राणि स्थालीगतस्य ओदनस्य अङ्गानि घृतेन क्षरणशीलेन आज्येन अनु वि मृड्ढि आनुपूर्व्येण विमार्जय। स्वभ्यक्तानि कुर्वित्यर्थः । अनेन ओदनेन पन्थाम् पन्थानं मार्गं कृण्वे कुर्वे । कीदृशः स पन्था इत्याह पितृष्विति । पितृषु पितृपितामहादिषु पूर्वपुरुषेषु विषयभूतेषु यः पन्थाः स्वर्गः स्वर्लोकं प्रति ऋजुत्वेन गच्छति तथाविधः ।❀ स्वःशब्दोपपदाद् 'गमेर्डोऽन्यत्रापि दृश्यते" इति डप्रत्ययः ❀ । स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतो मार्ग इत्यर्थः ॥

हे अध्वरके नेता अध्वर्यु ऋत्विक् ! इस पोषक ओदनके मुखको (उपरिप्रदेशको) भली प्रकार शुद्ध करिये, हे विद्वान् अध्वर्यो ! मुखका विमार्जन करनेके अनन्तर ओदनके मध्यमें घृतके धारण करनेके लिये गर्तरूप स्थानको करिये, तथा स्थाली के ओदनके सब अवयवोंको घृतसे अभ्यक्त करिये, पितरोंके

पास जो मार्ग स्वर्गमें जाता है उसी मार्गको मैं ओदनके द्वारा करता हूं ॥ ३१ ॥

द्वितीया ॥

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ ३२ ॥

बभ्रे । रक्षः । सम्ऽमदम् । आ । वप । एभ्यः । अब्राह्मणाः । यतमे । त्वा । उपऽसीदान् ।
पुरीषिणः । प्रथमानाः । पुरस्तात् । आर्षेयाः । ते । मा । रिषन् । प्रऽअशितारः ॥ ३२ ॥

हे बभ्रे भरणशील ब्रह्मौदन अब्राह्मणाः ब्राह्मणव्यतिरिक्ताः क्षत्रियाद्या यतमे ये त्वा त्वाम् उपसीदान् उपसीदेयुः प्राशनार्थम् उपसन्ना भवेयुः । ❀ "वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने०" इति यच्छब्दात् डतमच् । तदन्तस्य सर्वनामसंज्ञायां जसः शीभावः ❀ । एभ्यः ब्राह्मणव्यतिरिक्तेभ्यः रक्षःसमदम् रक्षोजात्या सह मदनम् । यद्वा समानं माद्यन्ति अस्मिन्निति समत् संग्रामः राक्षसैः कलहम् आ वप प्रक्षिप । राक्षसकृतां पीडां प्रापयेत्यर्थः । ये तु पुरस्तादुक्ता आर्षेयाः ऋषिगोत्रप्रवराभिज्ञाः पुरीषिणः पृणाति पूरयतीति वा पुरीषं प्रजापश्वादिकम् । श्रूयते हि । "प्रजा वै पशवः पुरीषम् । प्रजयैवैनं पशुभिः पुरीषवन्तं करोति" इति [तै० सं० २. ६. ४. ३]। यास्कस्तु पुरीषशब्दं निरवोचत् । पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वेति [नि० २. २२]। तद्व एषाम् अस्तीति पुरीषिणः । अत एव

प्रथमानाः लोके पुत्रपौत्रादिसमृद्ध्या विस्तीर्यमाणास्ते भृग्वङ्गिरोविदो ब्राह्मणाः हे ओदन तव प्राशितारः भोक्तारः मा रिषन् हिंसां मा प्राप्नुवन्तु । ❀ रिष हिंसायाम् ❀ । समृद्धा भवन्तु इत्यर्थः ॥

हे भरणशील ब्रह्मौदन ! ब्राह्मणके अतिरिक्त जो क्षत्रिय आदि प्राशनके लिये तेरे पास बैठें, इनके लिये संग्राममें राक्षसों से प्रयुक्त कलहको दीजिये और जो ऋषि गोत्र और प्रवरको जानने वाले ब्राह्मण तेरे पास बैठे हैं वे प्रथम प्रसिद्ध ब्राह्मण पुत्र पशु आदिसे समृद्ध होवें और तेरा प्राशन करने वाले वे ब्राह्मण नष्ट न होवें ॥ ३२ ॥

तृतीया ॥

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ ३३ ॥

आर्षेयेषु । नि । दधे । ओदन । त्वा । न । अनार्षेयाणाम् ।
अपि । अस्ति । अत्र ।
अग्निः । मे । गोप्ता । मरुतः । च । सर्वे । विश्वे । देवाः । अभि ।
रक्षन्तु । पक्वम् ॥ ३३ ॥

हे ओदन त्वा त्वाम् आर्षेयेषु प्रागुक्तलक्षणेषु ब्राह्मणेषु नि दधे नितरां स्थापयामि । अत्र अस्मिन् ब्रह्मौदने अनार्षेयाणाम् ऋषिगोत्रप्रवरानभिज्ञानां पुरुषाणाम् । ❀अपिः संभावनार्थः❀ । संभावनापि नैवास्ति विद्यते । मे मम अग्निः अग्रणीर्देवो गोप्ता गोपायिता रक्षिता । ❀ गुपू रक्षणे । तृचि "आयादय आर्ध-

धातुके वा" इति आयप्रत्ययाभावः ❀। तथा सर्वे संसगणात्मका मरुतः मरुत्संज्ञा देवाश्च। मम गोप्तार इति विपरिणामेन संबन्धः। अपि च विश्वे सर्वे देवाः मित्रवरुणार्यमादयः पक्वम् पाकेन संस्कृतम् इमं ब्रह्मौदनम् अभि रक्षन्तु अभितः पालयन्तु। ❀ पक्वम् इति। पचेः कर्मणि निष्ठा। "पचो वः" इति निष्ठातकारस्य वकारः ❀॥

हे ओदन! मैं तुझको पूर्वोक्त लक्षणों वाले आर्षेय ब्राह्मणों में स्थापित करता हूँ इस ब्रह्मौदनमें अनार्षेयोंकी अर्थात् ऋषि गोत्र प्रवरसे अनभिज्ञ पुरुषोंकी संभावना भी नहीं है, अग्निदेव मेरे रक्षक हैं और सकल मरुद्गण भी मेरे रक्षक हैं और मित्र वरुण अर्यमा आदि सकल देवता भी इस संस्कृत ब्रह्मौदनकी चारों ओरसे रक्षा करें॥ ३३॥

चतुर्थी॥

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥

यज्ञम्। दुहानम्। सदम्। इत्। प्रऽपीनम्। पुमांसम्। धेनुम्। सदनम्। रयीणाम्।
प्रजाऽअमृतत्वम्। उत। दीर्घम्। आयुः। रायः। च। पोषैः। उप। त्वा। सदेम॥ ३४॥

यज्ञम् अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाद्यात्मकं दुहानम् उत्पादयन्तम्। ब्रह्मौदनपाकानन्तरमेव हि आधानहविर्विधानक्रियास्वधिकार इति ब्रह्मौदनस्य कारणस्योपन्यासः। सदम् इत् सदैव प्रपीनम् प्रवृद्धी-

धस्कम् । ॐ प्यायी वृद्धौ । अस्मात् प्रपूर्वात् निष्ठायां "प्यायः पी" इति पी आदेशः ॐ । पुमांसं धेनुम् । उक्तलक्षणो ब्रह्मौदनः पुंरूपा धेनुरित्यर्थः । तथा रयीणाम् धनानां सदनम् उपवेशनस्थानम् । "अन्नाद्ध भूतानि जायन्ते" [तै० आ० ८. २] इत्यादिश्रुतेः । हे ओदन एवंभूतं त्वा त्वां भुञ्जाना वयं प्रजाऽमृतत्वम् प्रकर्षेण जायत इति प्रजा पुत्रपौत्रादिरूपा तया यत् अमृतत्वम् अमरणधर्मता । सांतत्येन वृत्तिरित्यर्थः । श्रूयते हि । "प्रजाम् अनु प्रजायसे । तदु ते मर्त्यामृतम्" इति [तै० ब्रा० १. ५. ५. ६] "प्रजाभिरग्ने अमृतत्वम् अश्याम्" इति [ऋ० सं० ५. ४. १०] च । [ताम्] उत अपि च दीर्घम् शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः जीवनम् । तथा रायः धनस्य पोषैः समृद्धिभिश्च सह प्रजाऽमृतत्वादिकं सर्वं फलम् उप सदेम उपगम्यास्म । यद्वा प्रजाऽमृतत्वादिरूपं त्वाम् इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः । ॐ सदेः आशीर्लिङि लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ॐ ॥

(ब्रह्मौदन पाकके अनन्तर ही आधान आदि वैतान क्रियाओं का अधिकार प्राप्त होता है अत एव) यह ब्रह्मौदन अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि यज्ञोंको उत्पन्न करने वाला है, सदा प्रवृद्धोधस्क है, पुंगवरूप है, धनोंका सदन है, हे ऐसे ब्रह्मौदन ! हम तुझसे पुत्र पौत्र आदि प्रजारूप अमृतत्वको दीर्घायुको और धनपुष्टिको प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

पञ्चमी ॥

वृषभो॑ऽसि स्व॒र्ग ऋषी॑नार्षे॒यान् ग॑च्छ ।
सु॒कृतां॑ लो॒के सी॑द॒ तत्र॑ नौ संस्कृ॒तम् ॥ ३५ ॥

वृषभः । असि । स्वःऽगः । ऋषीन् । आर्षेयान् । गच्छ ।

सुऽकृताम् लोके । सीद । तत्र । नौ । संस्कृतम् ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मौदन त्वं वृषभः कामानां वर्षिता असि भवसि । तथा स्वर्गः स्वर्लोकस्य गन्ता गमयिता वा भवसि । अतः ऋषीन् मन्त्रद्रष्टॄन् आर्षेयान् उदीरितलक्षणान् ब्राह्मणान् गच्छ अस्माभिर्दीयमानः प्राप्नुहि । तैरुपभुक्तः सन् पश्चाद् अदृष्टरूपेण सुकृताम् पुण्यकृतां फलभूते लोके नाकपृष्ठाख्ये सीद उपविश । ततः परं नौ आवयोस्तत्र खलु सुकृतफलभूते लोके संस्कृतम् संस्कारो भोक्तृभोक्तव्यात्मकः । संपत्स्यत इत्यर्थः ॥

हे ब्रह्मौदन ! तू कामनाओंकी वर्षा करने वाला है तू स्वर्गलोकको प्राप्त कराने वाला है अतः ऋषि गोत्र और प्रवरको जानने वाला मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मणोंके पास मेरे देने पर प्राप्त हो और उनसे उपभुक्त होकर पीछेसे अदृष्टरूपसे पुण्यात्माओंके फलभूत स्वर्गलोकमें स्थित हो वहाँ हमारा और तेरा भोक्तृभोक्तव्यात्मक संस्कार सम्पन्न होगा ॥ ३५ ॥

षष्ठी ॥

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥

सम्ऽआचिनुष्व । अनुऽसंप्रयाहि । अग्ने । पथः । कल्पय । देवऽयानान् ।
एतैः । सुऽकृतैः । अनु । गच्छेम । यज्ञम् । नाके । तिष्ठन्तम् । अधि । सप्तऽरश्मौ ॥ ३६ ॥

हे ओदन त्वं समाचिनुष्व समाचयनम् सर्वेषाम् अङ्गानां समूहीभवनं कुरु । अनु पश्चात् संप्रयाहि गन्तव्यान् प्रति गच्छ । हे

अग्ने त्वमपि अस्य ओदनस्य गमनाय देवयानान् पथः देवा एव यैर्यान्ति गच्छन्ति तादृशान् मार्गान् कल्पय विरचय। वयमपि एतैरेव देवयानैः पथिभिः सुकृतैः पुण्यफलभूतैः नाके दुःखासंस्पृष्टे स्वर्गे लोके अधि सप्तररमौ आदित्यमण्डलस्योपरि तिष्ठन्तं यज्ञम् अनु गच्छेम अनुप्राप्नुयाम। स्मर्यते हि। "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते" इति [म० स्मृ० ३. ७६]॥

हे ओदन! तू सकल अङ्गोंका एकत्रित होनारूप समाचयन कर, फिर गन्तव्योंके पास जा। और हे अग्निदेव! आप भी इस ओदनके गमनके लिये जिन मार्गोंसे देवता जाते हैं उन देवयानोंकी रचना करिये और हम भी इन ही देवयानमार्गोंसे पुण्यों के फलोंके द्वारा दुःखके संस्पर्शसे शून्य स्वर्गलोकमें आदित्यमण्डलके ऊपर स्थित यज्ञके पीछे २ प्राप्त हों‡॥ ३६॥

सप्तमी॥

येन॑ दे॒वा ज्योति॑षा॒ द्यामु॒दाय॑न् ब्रह्मौ॒द॒नं प॒क्त्वा सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒कम्।

तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॒रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम्॥ ३७॥

येन॑। दे॒वाः। ज्योति॑षा। द्याम्। उ॒त्ऽआय॑न्। ब्र॒ह्म॒ऽओ॒द॒नम्। प॒क्त्वा। सु॒ऽकृ॒तस्य॑। लो॒कम्।

‡ मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ७६ में कहा है, कि—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते॥—अग्निमें विधिपूर्वक होमी हुई आहुति आदित्यके पास पहुँचती है"॥

तेन । गेष्म । सुऽकृतस्य । लोकम् । स्वः । आऽरोहन्तः । अभि ।

नाकम् । उत्ऽतमम् ॥ ३७ ॥

देवा इन्द्रादयो येन ज्योतिषा सूर्यरश्मिलक्षणेन तेजसा । "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः" [भ० गी० ८. २४] इत्युदीरितलक्षणस्य देवयानमार्गस्य उपलक्षणम् एतत् । येन पथा द्याम् द्युलोकं स्वर्गम् उदायन् उदगच्छन् । किं कृत्वेत्याह । ब्रह्मौदनं पक्त्वा । एतद् ब्रह्मौदनसवाख्यं कर्म अनुष्ठायेत्यर्थः । द्यां विशिनष्टि । सुकृतस्य पुण्यकर्मणः फलभूतं लोकम् यतो देवा अनेन पथा उदायन् ततो हेतोः अस्य मार्गस्य देवयानसंज्ञा निष्पन्नेति भावः । तेन देवयानेन पथा वयमपि सुकृतस्य सुकर्मणः सवयज्ञात्मकस्य फलभूतं लोकं जेष्म जयेम प्राप्नुयाम । उक्त एवार्थो विव्रियते । उत्तमम् उत्कृष्टतमं नाकम् नाकपृष्ठाख्यं स्थानविशेषम् अभिलक्ष्य स्वः आरोहन्तः । तदुपायत्वेन स्वर्गाख्यं स्थानं प्रथमम् अधिरोहन्त इत्यर्थः । यद्वा । ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । स्वर्गारोहणाद्धेतोः सुकृतफलं प्रथमं जयेमेति पूर्वत्र संबन्धः ॥

एवम् "अग्ने जायस्व" इत्यादिसूक्तचतुष्टयं ब्रह्मौदनाख्यस्य साङ्गस्य कर्मणः प्रतिपादकत्वेन अर्थत एकत्वाद् अर्थसूक्तम् इति मन्त्रद्रष्टृभिः परिभाष्यते । एवं सर्वेष्वर्थसूक्तेषु द्रष्टव्यम् ॥

[इति] एकादशकाण्डे प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इन्द्र आदि देवता ब्रह्मौदन कर "अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः" आदि भगवद्गीतामें वर्णित जिस सूर्यज्योतिरूप ज्योतिसे अर्थात् देवयान-मार्गसे द्युलोकमें गए हैं अत एव देवताओंके जानेके कारण जिस का नाम देवयान मार्ग है, हम भी पुण्यकर्मके फलभूत–सवयज्ञके फलभूत लोकको उसी देवयान मार्गसे प्राप्त होवें, हम उत्कृष्ट

नाकपृष्ठको लक्ष्यमें रख कर पहिले स्वर्गनामक स्थानमें चढ़ें और फिर नाकपृष्ठ नामक स्थानमें जावें ॥ ३७ ॥

इस प्रकार "अग्ने जायस्व" आदि चारों सूक्त ब्रह्मौदन नामक कर्मके ही सकल अंगोंके प्रतिपादक हैं और इनका प्रयोजन एक है अत एव मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने इन चारोंके समूहको अर्थसूक्त नामसे परिभाषित किया है। इसी प्रकार सकल अर्थसूक्तोंमें समझना चाहिये।

ग्यारहवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (४८९) ॥

"भवाशर्वौ मृडतम्" इत्यादिसूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम्। तेन अर्थसूक्तेन स्वस्त्ययनकामः आज्यसमित्पुरोडाशादिशष्कुल्यन्तानां त्रयोदशद्रव्याणाम् अन्यतमं जुहुयात्। सर्वाणि वा त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात्। सूत्रितं हि। "विश्वजित् [६. १०७] शाकधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत" इति [कौ० ७. १]॥

तथा रुद्रभूतप्रेतराक्षसलोकपालादिनिमित्ताभिघाते स्वस्त्ययनार्थं सरूपवत्साया गोर्दुग्धे पक्वं चरुं त्रिधा विभज्य समस्तेन अर्थसूक्तेन रुद्रदेवतायै तिस्र आहुतीर्जुहुयात्। सूत्रितं हि। "विश्वजित् [६. १०७] शाकधूमम् [६. १२८] भवाशर्वौ [११. २] इत्युपदधीत। उत्तमेन सारूपवत्सस्य रुद्राय त्रिर्जुहोति" इति [कौ० ७. १]॥

तथा मांसमुखाग्रपतनलक्षणाद्भुतशान्त्यर्थम् अनेन अर्थसूक्तेन रुद्राय आज्यं जुहुयात्। "अथ यत्रैतन्मांसमुखो निपतति तत्र जुहुयात्" इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम्। "रुद्राय स्वाहेति हुत्वा भवाशर्वौ मृडतं माभि यातम् इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ३७]॥

तथा अग्निचयने रौद्रीरिष्टका अनेनार्थसूक्तेन अनुमन्त्रयेत।

तद् उक्तं वैताने। "भवाशर्वौ मृडतम् [११. २] यस्ते सर्पः [१२. १. ४६] इति रौद्रीः" इति [वै० ५. २]॥

तथा सर्वकामप्राप्त्यर्थं शान्त्यर्थं वा क्रियमाणे लक्षहोमे एतद् अर्थसूक्तम्। तथा च आथर्वणपरिशिष्टेभिहितम्।" 'ब्रजश्च मे क्षत्रं च मे' ये अग्नयः [३. २१] नमो देववधेभ्यः [६. १३] भवाशर्वौ [११. २] प्राणाय नमः [११. ६] इति हुत्वा" इति॥

"भवाशर्वौ" आदि तीन सूक्तोंका समूह एक ही अर्थ–प्रयोजन–को कहने वाला होनेसे अर्थसूक्त कहलाता है। स्वस्त्ययन चाहने वाला इस अर्थसूक्तसे घृत समिधा पुरोडाश पूरी आदि तेरह द्रव्योंमेंसे एककी आहुति देय। वा सब तरह द्रव्योंकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"विश्वजित् (६। १०७) शकधूमम् (६। १२८ भवाशर्वौ (११। २) इत्युपदधीत" (कौशिकसूत्र ७। १)॥

तथा रुद्र भूत प्रेत राक्षस लोकपाल आदिसे अभिघातमें स्वस्त्ययनके लिये अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दुग्ध में बने हुए चरुको तीन भागोंमें बाँट कर समस्त अर्थसूक्तसे रुद्रदेवताके लिये तीन आहुति होमे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"विश्वजित् (६। १०७) शकधूमम् (६। १२८) भवाशर्वौ (११। २) इत्युपदधीत। उत्तमेन सारूपवत्सस्य रुद्राय त्रिर्जुहोति" (कौशिकसूत्र ७। १)॥

तथा मांसमुखाग्रपतनलक्षण अद्भुतकी शान्तिके लिये इस अर्थसूक्तसे रुद्रदेवके लिये घृतकी आहुति देय। कौशिकने "अथ यत्रैतन्मांसमुखो निपतति तत्र जुहुयात्" का आरम्भ करके कहा है, कि–"रुद्राय स्वाहेति हुत्वा भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तिः। रुद्राय स्वाहासे आहुति देकर भवाशर्वौ सूक्तसे आहुति देय, यही इसका प्रायश्चित्त है।" (कौशिकसूत्र १६। २७)॥

तथा अग्निचयनमें रौद्री (रुद्रनिमित्तक) ईंटोंका इस अर्थ-सूक्तसे अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि- "भवाशर्वौ मृडतम् (११ । २) यस्ते सर्पः (१२ । १ । ४६) इति रौद्रीः" (वैतानसूत्र ५ । २) ॥

तथा सर्वकामप्राप्तिके लिये वा शान्तिके लिये किये जाने वाले लक्षहोममें यह अर्थ सूक्त उपयुक्त होता है। इसी बातको आथर्वणपरिशिष्टमें कहा है,कि-'व्रजश्च मे चत्रं च मे' "ये अग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः (६ । १३)भवाशर्वौ (११ । २) प्राणाय नमः (११ । ६) इति हुत्वा" ॥

तत्र प्रथमा ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम् प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥

भवाशर्वौ । मृडतम् । मा । अभि । यातम् । भूतपती इति भूतऽपती । पशुपती इति पशुऽपती । नमः । वाम् ।
प्रतिऽहिताम् । आऽयताम् । मा । वि । स्राष्टम् । मा । नः । हिंसिष्टम् । द्विऽपदः । मा । चतुःऽपदः ॥ १ ॥

एतदादिसूक्तत्रयेण भौमान्तरिक्षाद्युत्पातदोषनिवृत्तये अष्टमूर्तिर्महादेवः प्रार्थ्यते । ताश्च पारमेश्वर्यो मूर्तयः आगमिकैरेवम् अनुक्रान्ताः ।

शर्वं पशुपतिं चोग्रं रुद्रं भवम् अथेश्वरम् ।
महादेवं च भीमं च ।

इति । तासाम् उत्पत्तिः शतपथब्राह्मणे षष्ठकाण्डे "असद् वा

इदम् अग्र आसीत्" [श० ब्रा० ६. १. १. १] इत्यादिना प्रपञ्चिता । तत्र सृष्ट्यादौ भवति यस्मात् सर्वं जगद् इति भवः । शृणाति सर्वं जगद्धिनस्ति संहृतिसमये इति शर्वः । स्थितिकालवर्तिनीनाम् अन्यासां मूर्तीनाम् उपसंग्रहाय सृष्टिसंहृतिकारिण्यौ आद्यन्तवर्तिन्यौ परमेश्वरस्य मूर्ती निर्दिश्येते । भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ । ❀"देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः❀ । हे भवाशर्वौ एतत्संज्ञौ देवौ मृडतम् अस्मान् सुखयतम् । ❀ मृड सुखने ❀। तथा मा माम् अभि यातम् रक्षणार्थम् आभिमुख्येन गच्छतम् । यद्वा हिंसार्थम् अभिगमनं मा कार्ष्टम् । हे भूतपती भूतानां प्राणिनां स्वामिनौ हे पशुपती पशूनां गोमहिषादीनां पालयितारौ वाम् युवाभ्यां नमः । करोमीति शेषः । अस्मदीयेन नमस्कारेण संतुष्टौ युवां प्रतिहिताम् आत्मीये धनुषि प्रतिसंहिताम् आयताम् ज्यया सह आकृष्टाम् आत्मीयाम् इषुं मा वि स्राष्टम् अस्मदाभिमुख्येन मा विसृजतम् । "याम् इषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे" इति हि निगमः [तै० सं० ४. ५. १. २] । ❀ सृज विसर्गे इत्यस्माद्धातोर्माङि लुङि मध्यमद्विवचने "सृजिदृशोर्झल्यम् अकिति" इति अम् आगमः । "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति वृद्धिः । "झलो झलि" इति सलोपः । "व्रश्च०" इत्यादिषत्वे ष्टुत्वम् ❀ । तथा नः अस्माकं द्विपदः पादद्वयोपेतान् पुत्रभृत्यादिरूपान् मनुष्यान् मा हिंसिष्टम् । ज्वरादिरोगेण पीडितान् मा कार्ष्टम् इत्यर्थः । तथा चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतान् गोमहिषाश्वादीन् अस्मदीयान् मा हिंसिष्टम् । ❀ द्वौ पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति विगृह्य समासे "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः । शसि भसंज्ञायां "पादः पत्" इति पद्भावः । द्विपद इत्यत्र "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । चतुष्पद इत्यत्र तु "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

(इन तीन सूक्तोंमें भूमिके और अन्तरिक्ष आदिके उत्पातोंकी दोषकी निवृत्तिके लिये अष्टमूर्ति महादेवजीकी प्रार्थना की गई है। परमेश्वरकी इन मूर्तियोंका शास्त्रकारोंने इस प्रकार वर्णन किया है, कि–"शर्वं पशुपतिं चोग्रं रुद्रं भवं मथेश्वरम् महादेवं च भीमं च" इनकी उत्पत्ति शतपथब्राह्मण ६।१।१।१ में "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिमें वर्णित है। इनमेंसे सृष्टि की आदिमें जिनसे जगत् (भवति) होता है वह भवमूर्ति कहलाते हैं और प्रलयके समय जो सब जगत्का शृणन करते हैं–हिंसन करते हैं–वह शर्व कहलाते हैं। स्थितकालके भीतर वर्तमान रहने वाली अन्य मूर्तियोंका उपसंग्रह करनेके लिये यहाँ सृष्टि और संहार करने वाली आदि और अन्तकी दो मूर्तियोंका ही निर्देश किया है कि) हे भव और शर्व देवताओ ! आप हमको सुख दीजिये और रक्षा करनेके लिये मेरे अभिमुख चलिये अथवा हिंसा करनेके लिये मेरे सन्मुख न पधारिये। हे भूतों (प्राणियों) के स्वामियो ! हे गौ भैंस आदि पशुओंका पालन करने वाले ! मैं आपके लिये प्रणाम करता हूँ, मेरे प्रणामसे प्रसन्न हुए आप अपने धनुष पर चढ़ाये हुए और प्रत्यञ्चाके साथ खैंचे हुए अपने बाणको मेरी ओर न छोड़िये + । तथा हमारे दो पैर वाले पुत्र भृत्य आदिका संहार न करिये अर्थात् ज्वर आदि रोगोंसे उनकी हिंसा न करिये तथा हमारे चार पैर वाले गौ भैंस घोड़े आदिका संहार न करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शुने॑ क्रो॒ष्ट्रे मा शरी॑राणि॒ कर्त॑मलि॒क्लवे॑भ्यो॒ गृध्रे॑भ्यो॒ ये च॑ कृ॒ष्णा अ॑वि॒ष्यवः॑ ।

+ तैत्तिरीयसंहिता ४।५।१।२ में कहा है, कि–'यामिषुं गिरिशं त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे' ॥

मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त २

शुने । क्रोष्ट्रे । मा । शरीराणि । कर्तम् । अलिक्लवेभ्यः । गृध्रेभ्यः ।

ये । च । कृष्णाः । अविष्यवः ।

मक्षिकाः । ते । पशुऽपते । वयांसि । ते । विऽघसे । मा । विदन्त २

हे भवाशर्वौ शरीराणि अस्मत्संबन्धीनि शुने सारमेयाय । ❀ "श्वयुवमघोनाम् अतद्धिते" इति संप्रसारणम् ❀ । क्रोष्ट्रे शृगालाय । ❀ "विभाषा तृतीयादिष्वचि" इति क्रोष्टृशब्दस्य तृज्वद्भावः । उभयत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । श्वशृगालभक्षणार्थं कर्तुं मा । मकरतम् इत्यर्थः । तथा अलिक्लवेभ्यः विक्लवा अधृष्टाः कातरास्तद्विपरीतेभ्यः । ❀ वर्णविकारश्छान्दसः ❀। गृध्रेभ्यः मांसलुब्धेभ्यः पक्षिभ्यः । ये च कृष्णाः कृष्णवर्णा वायसाः अविष्यवः आमिषम् इच्छन्तः अन्तरिक्षे संचरन्ति तेभ्यश्च । गृध्रकाकादिपक्षिणां भक्षणार्थमपि अस्मच्छरीराणि मा कुरुतम् इत्यर्थः । हे पशुपते पशूनाम् अधिपते रुद्र ते त्वदीया मक्षिकाः तथा ते त्वदीयानि वयांसि पक्षिणश्च विघसे विशेषेण अद्यत इति विघसः अन्नम् । ❀ "उपसर्गेऽदः" इति अप् । "घञपोश्च" इति घस्लृ आदेशः ❀। तस्मिन् विघसे अन्ने निमित्तभूते सति मा विदन्त अच्छरीराणि न लभन्ताम् । मा भक्षयन्तु इत्यर्थः । ❀ विद्लृ लाभे । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

हे भव और शर्व देवताओं! हमारे शरीरोंको कुत्ते और गीदड़ के भक्षणके लिये मत करिये और धृष्ट मांसलुब्ध गीधोंके लिये भी मत करिये और जो कृष्णवर्णके वायस मांसको चाहते हैं हमारे शरीरोंको उनके स्पर्शेण भी न करिये। हे पशुपते! आपकी

जो मक्खियें और पक्षी हैं वे विशेषरूपसे खाया जाने वाले अन्न के रूपमें मुझको प्राप्त न कर सकें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

क्रन्दा॑य ते प्राणाय॒ याश्च॑ ते भव॒ रोप॑यः ।

नम॑स्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षाया॑मर्त्य॑ ॥ ३ ॥

क्रन्दा॑य । ते॒ । प्राणाय॑ । याः । च॒ । ते॒ । भव॒ । रोप॑यः ।

नमः॑ । ते॒ । रुद्र॒ । कृण्मः॒ । सहस्र॒ऽअक्षाय॑ । अमर्त्य॒ ॥ ३ ॥

हे भव ! ते तव क्रन्दाय क्रन्दनाय शब्दाय प्राणाय प्राणवायवे नमस्कुर्मः । यद्वा क्रन्दयति रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति क्रन्दः । ❀ क्रदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च ❀ । तथा प्राणाय प्राणयित्रे प्राणनव्यापारेण चेष्टयित्रे जगत्प्राणभूताय वा ते तुभ्यं नमस्कुर्मः । तथा हे भव ते तव याश्च रोपयः रोपयित्र्यो मोहयित्र्यस्तन्वः सन्ति ताभ्यश्च नमस्कुर्म इत्यर्थः । ❀ रुप रुप लुप विमोहने । अस्माद् औणादिक इकारप्रत्ययः ❀ ॥ हे रुद्र । रोदयति सर्वम् अन्तकाल इति रुद्रः । ❀ रोदेर्णिलुक् च इति [उ०२.२२] रक् प्रत्ययः । णिचो लुका लुप्तत्वात् प्रत्ययलक्षणाभावात् लघूपधगुणाभावः ❀ । यद्वा रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तस्य द्रावको देवो रुद्रः परमेश्वरः । हे देव सहस्राक्षाय सहस्रम् अक्षीणि दर्शनशक्तयो यस्य स तथोक्तः । सर्वजगत्साक्षिणे । निरावरणज्ञानरूपायेत्यर्थः । ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः ❀ । अमर्त्यः । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति चतुर्थ्येकवचनस्य सु आदेशः ❀ । अमर्त्याय अमरणधर्मणे । सांसारिकदुःखासंस्पृष्टायेत्यर्थः । एवंभूताय ते तुभ्यं नमः नमस्कारं कृण्मः कुर्मः ॥

हे भव ! आपके क्रन्दन शब्दके लिये और प्राणवायुके लिये

हम नमस्कार करते हैं और आपके मोहमें डालने वाले शरीरोंके लिये नमस्कार करते हैं, हे दुःखके हेतु रुद्रको भगाने वाले रुद्र-देव! सर्वजगत्के साक्षी निरावरणज्ञानरूप अमरणधर्मी आपके लिये हम नमस्कार करते हैं॥ ३॥

चतुर्थी॥

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

पुरस्तात्। ते। नमः। कृण्मः। उत्तरात्। अधरात्। उत।
अभिऽवर्गात्। दिवः। परि। अन्तरिक्षाय। ते। नमः॥ ४॥

हे रुद्र ते तुभ्यं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि नमः कृण्मः नमस्कारं कुर्मः। तथा उत्तरात् उत्तरस्यां दिशि। अधरात्। अधरशब्दो दक्षिणादिग्वचनः। "पश्चात् पुरस्ताद् अधराद् उदक्तात्" [ऋ० १०. ८७. २१] इत्यादिनिगमेषु तथा दर्शनात्। अधरस्यां दक्षिणस्यां दिशि। ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति सप्तम्यर्थे आतिप्रत्ययः ❀। उतशब्दः अप्यर्थे। दक्षिणोत्तरदिशोरवस्थिताय ते तुभ्यं नमः। कृण्म इत्यनुषङ्गः। अभीवर्गात् अभितो वृज्यते गृहादिरूपेण परिच्छिद्यते इति अभीवर्गः अवकाशात्मक आकाशः। ❀ वृजी वर्जने। कर्मणि घञ्। "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः ❀। तादृशाद् दिवः द्योतमानाद् आकाशात् परि उपरिभागे। ❀ "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति पञ्चमी। "पञ्चम्याः परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀। आकाशमण्डलस्य मध्ये अन्तरिक्षाय अन्तरा क्षान्ताय नियन्तृत्वेन अवस्थिताय ते तुभ्यं नमस्कुर्मः। "अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवा अधि" इति हि निगमान्तरम् [तै० सं०. ४. ५. ११. १]॥

हे रुद्र ! हम आपको पूर्वदिशामें नमस्कार करते हैं, उत्तर दिशामें आपको नमस्कार करते हैं दक्षिणदिशामें आपको नमस्कार करते हैं, और आकाशमण्डलके मध्यमें नियन्तारूपसे स्थित आप के लिये हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मुखा॑य ते पशुपते॒ यानि॒ चक्षूं॑षि ते भव ।
त्वचे॒ रू॒पाय॑ सं॒दृशे॑ प्रती॒चीना॑य ते॒ नमः॑ ॥ ५ ॥

मुखा॑य । ते॒ । प॒शु॒ऽप॒ते॒ । यानि॑ । चक्षूं॑षि । ते॒ । भ॒व ।
त्व॒चे । रू॒पाय॑ । स॒म्ऽदृशे॑ । प्र॒ती॒चीना॑य । ते॒ । नमः॑ ॥ ५ ॥

हे पशुपते पशूनां पालयितर्देव ते त्वदीयाय मुखाय आस्याय नमोस्तु । हे भव एतत्संज्ञक देव ते तव यानि चक्षूंषि दर्शनसाधनानि इन्द्रियाणि सन्ति तेभ्यो नमोस्तु । तथा त्वचे त्वच्छरीरसंबन्धिने चर्मणे रूपाय नीलपीतादिवर्णाय संदृशे सम्यग्दर्शनाय । यद्वा सम्यग् अर्थान् पश्यतीति संदृक् संद्रष्टा तद्रूपाय । प्रतीचीनाय प्रत्यगात्मरूपिणे ते तुभ्यं नमोस्तु । ❀ प्रतिपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः ॥ "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खप्रत्ययः ❀ ॥

हे पशुओंके पालक देव ! आपके मुखके लिये नमस्कार हो, हे भवनामक देव ! आपकी जो दर्शनसाधन इन्द्रियें हैं उनके लिये नमस्कार हो, आपकी त्वचाके लिये, आपके नील पीत वर्णके लिये, आपकी सम्यग्दृष्टिके लिये और प्रत्यगात्मरूपी आपको प्रणाम पहुँचे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते ।

दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

अङ्गेभ्यः । ते । उदराय । जिह्वायै । आस्याय । ते ।

दत्ऽभ्यः । गन्धाय । ते । नमः ॥ ६ ॥

हे पशुपते ते तव संबन्धिभ्यः अङ्गेभ्यः हस्तपादादिभ्यो नमोस्तु । सामान्योक्तमेव प्राधान्यख्यापनाय विशेषतो निर्दिशति । ते तव लीलाविग्रहधारिणः संबन्धिने उदराय जिह्वायै रसनायै आस्याय आस्याख्यकुहराय दद्भ्यः दन्तेभ्यः गन्धाय गन्धग्राहकेन्द्रियाय घ्राणाय ते त्वत्संबन्धिने नमः । ❀ दद्भ्य इति । "पद्दन्०" इत्यादिना दन्तशब्दस्य दद्भावः ❀ ॥

हे पशुपते ! आपके हाथ पैर आदि अंगोंके लिये नमस्कार है, लीलाविग्रहधारी आपके उदर जिह्वा मुख दाँत और गंधग्राहक घ्राणेन्द्रियके लिये प्रणाम है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना ।

रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

अस्त्रा । नीलऽशिखण्डेन । सहस्रऽअक्षेण । वाजिना ।

रुद्रेण । अर्धकऽघातिना । तेन । मा । सम् । अरामहि ॥ ७ ॥

अस्त्रा क्षेप्त्रा नीलशिखण्डेन नीलवर्णकेशसंनिवेशविशेषयुक्तेन सहस्राक्षेण सहस्रसंख्याकचक्षुरिन्द्रिययुक्तेन वाजिना वेगवता अर्धकघातिना सेनाया अर्धं हन्तुं शीलम् अस्य । ❀ "सुप्यजातौ

णिनिस्ताच्छील्ये" इति हन्तेर्णिनिप्रत्ययः। "हनस्तोचिण्णलोः" इति तत्वम्। "हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु" इति घत्वम् ॥ एवंगुण-विशिष्टेन तेन प्रसिद्धेन रुद्रेण मा सम् अरामहि मा संगच्छामहै। आर्ता मा भूमेत्यर्थः। ॥ ऋ गतौ। अस्मात् माङि लुङि "समो गम्यृच्छि" इति आत्मनेपदम्। "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" इति च्लेः अङ् आदेशः ॥ ॥

हम फूँकने वाले, नीले केशों वाले, सहस्रों नेत्रों वाले, वेगवान् आधी सेनाका नाश कर डालने वाले प्रसिद्ध रुद्रदेवसे संगत न हों—आर्त न हों ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

स नो॑ भ॒वः परि॑ वृणक्तु वि॒श्वत॒ आप॑ इवा॒ग्निः परि॑ वृणक्तु नो भ॒वः।
मा नो॒ऽभि मां॑स्त॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ ८ ॥

स। नः॒। भ॒वः। परि॑। वृ॒ण॒क्तु॒। वि॒श्वतः॑। आपः॑ऽइव। अ॒ग्निः। परि॑। वृ॒ण॒क्तु॒। न॒। भ॒वः।
मा। नः॒। अ॒भि। मां॒स्त॒। नमः॑। अ॒स्तु॒। अ॒स्मै ॥ ८ ॥

सः उदीरितप्रभावो भवः नः अस्मान् विश्वतः विश्वस्मात् सर्व-स्माद् उपद्रवजातात् परि वृणक्तु परितो वर्जयतु। अयमेवार्थो दृष्टान्तेन दृढीक्रियते आप इवाग्निरिति। यथा दहन्नग्निः आपः। ॥ शसि छान्दसी वृद्धिः ॥। अपः उदकानि परिवर्जयति परित्य-जति एवं न अस्मान् भवः परि वृणक्तु परित्यजतु। नः अस्मान् माभि मस्त मा अभिमन्यताम्। मा बाधताम् इत्यर्थः ॥। अभि-पूर्वो मन्यतिर्हिंसने वर्तते। अस्मान्माङि लुङि "एकाच उपदेशे-

नुदात्तात्” इति सिच इट्प्रतिषेधः । “न माङ्योगे” इति अड-भावः ❁ । अस्मै भवाय नमोस्तु नमस्कारो भवतु ॥

प्रकट महिमा वाले वह भव हमको सब उपद्रवोंसे मुक्त रक्खें, जैसे अग्नि जलको छोड़ देता है, तैसे ही रुद्रदेव हमको छोड़ देवें, वह हमको पीड़ा न देवें, उन भवके लिये प्रणाम हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते । तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥

चतुः । नमः । अष्टऽकृत्वः । भवाय । दश । कृत्वः । पशुऽपते । नमः । ते ।

तव । इमे । पञ्च । पशवः । विऽभक्ताः । गावः । अश्वाः । पुरुषाः । अजऽअवयः ॥ ९ ॥

अष्टकृत्वो भवायेति विशेषणात् चतुर्नम इत्यत्र शर्वायेति अर्थात् संबध्यते । चतुः चतुर्वारं शर्वाय नमोस्तु । ❁ “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” इति क्रियाभ्यावृत्तिगणने सुच् प्रत्ययः❁।तथा भवाय देवाय अष्टकृत्वः अष्टवारं नमोस्तु । ❁ “संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्” इति कृत्वसुच् प्रत्ययः ❁ । हे पशुपते ते तुभ्यं दशकृत्वः दशवारं नमोस्तु । कस्माद् एवं प्राभ्र्यास इत्युच्यते। इमे वक्ष्यमाणा विभक्ताः जातितो भिन्नाः हे पशुपते तव स्वभूताः गावः गोत्वजातीयाः सास्नादिमद्व्यक्तयः अश्वाः अश्वजात्याक्रान्ता एकखुराः पशवः पुरुषाः मनुष्यजातीयाः अजाश्च अवयश्च अजावयः । अजत्वा-

वित्वे द्वे जाती विभिन्नव्यक्तिके प्रसिद्धे । यस्मादिमे पञ्चधा भिन्ना पशवस्तव स्वभूतास्तस्मात् तान् रक्षेति प्रार्थ्यस इत्यर्थः ॥

शर्वदेवके लिये वारवार नमस्कार है, भवदेवके लिये नमस्कार है, हे पशुपते ! आपके लिये दशवार नमस्कार है, (इस प्रार्थना का कारण यह है, कि–) आपके जो जातिसे भिन्न २ गौ घोड़े पुरुष बकरी और भेड़ रूप पाँच (पशु) अज्ञानी प्राणी हैं उनकी रक्षा करिये ॥ ९ ॥

दशमी॥॥

तव॒ चत॑स्रः प्र॒दिश॒स्तव॒ द्यौस्तव॑ पृथि॒वी तवे॒दमु॑ग्रो॒र्व॑ऽन्तरि॑क्षम् ।

तवे॒दं सर्व॑मात्म॒न्वद् यत् प्रा॒णत् पृ॑थि॒वीमनु॑ ॥ १० ॥

तव॑ । चत॑स्रः । प्र॒ऽदिशः । तव॑ । द्यौः । तव॑ । पृ॒थि॒वी । तव॑ । इ॒दम् । उ॒ग्र॒ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् ।

तव॑ । इ॒दम् । सर्व॑म् । आ॒त्म॒न्ऽवत् । यत् । प्रा॒णत् । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ ।

हे उग्र उद्गूर्णबल रुद्र चतस्रः चतुःसंख्याकाः प्रदिशः प्रधानभूताः प्राच्याद्या महादिशस्तव स्वभूताः । तथा द्यौः स्वर्गलोकोपि तव वशे वर्तते । पृथिवी भूलोकश्च तव स्वभूता । इदं परिदृश्यमानम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षं च तवाधीनम् । इत्थं दिग्वलयं लोकत्रयं च व्याप्य अवस्थितस्य तव इदं परिदृश्यमानं सर्वम् आत्मन्वत् आत्मना भोक्तृरूपेण अधिष्ठितं शरीरजातं स्वभूतम् । ❀ आत्मा अस्यास्तीति आत्मन्वत् । मतुपि पदसंज्ञायां नलोपे "मादुपधायाः०" इति वत्वम् । "अनो नुट्" इति नुडागमः ❀ । तथा पृथिवीम् अनु । ❀ लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् ❀ । पृथिवीं

लक्षीकृत्य। पृथिव्याम् इत्यर्थः। यत् प्राणत् प्राणनव्यापारं कुर्वद् वर्तते तत् सर्वं तव। प्रशासने इत्यर्थः। तस्मात् सर्वेषाम् अनुग्रहाय त्वमेव नमस्कार्यो भवसीति भावः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे प्रचण्डबली रुद्र ! पूर्व आदि चारों महादिशाएँ आपकी ही हैं, और स्वर्गलोक भी आपके वशमें हैं और यह विस्तीर्ण अन्तरिक्ष भी आपका ही है, यह भूलोक भी आपका ही है, इस प्रकार दिग्वलय और लोकत्रयको व्याप्त करके स्थित सब आपका भोक्तृरूपसे अधिष्ठित है-शरीर ही है, पृथ्वीमें जो कुछ प्राणनव्यापार करता है वह सब आपकी आज्ञामें ही रहता है, अतः सब पर अनुग्रह करनेके लिये आप ही नमस्कार्य हैं ॥१०॥(५)

पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"उरुः कोशः" इत्यस्य सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः॥

"उरुः कोशः" सूक्तका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

उरुः। कोशः। वसुऽधानः। तव। अयम्। यस्मिन्। इमा। विश्वा। भुवनानि। अन्तः।
सः। नः। मृड। पशुऽपते। नमः। ते। परः। क्रोष्टारः। अभिऽभाः। श्वानः। परः। यन्तु। अघऽरुदः। विऽकेश्यः ॥ ११ ॥

हे पशुपते पशूनां पालयितर्महादेव उरुः विस्तीर्णो वसुधानः वसूनि वासहेतुभूतानि पुण्यपापरूपाणि कर्माणि धीयन्ते अस्मिन्निति वसुधानः। ❀ दधातेः अधिकरणे ल्युट् ❀। एवंभूतः कोशः अण्डकटाहात्मकः तवायम्। तव स्वभूतोयम् इत्यर्थः। कोशं विशिनष्टि। यस्मिन् अण्डकटाहात्मके महति कोशे अन्तः मध्ये इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि वर्तन्ते। स कोशस्तव स्वभूत इति संबन्धः। स तथाविधस्त्वं नः अस्मान् मृड सुखय। ते तुभ्यं नमोस्तु। त्वत्प्रसादात् अभिभाः अभिभवितारः क्रोष्टारः क्रोशनशीलाः सृगाला मांसभक्षकाः श्वानश्च परः परस्तात् अस्मत्तो दूरदेशे यन्तु गच्छन्तु। तथा अघरुदः अघम् अमङ्गलं यथा भवति तथा रुदत्यः रोदनं कुर्वत्यः विकेश्यः विकीर्णकेशाः पिशाच्यश्च परो यन्तु परस्ताद् दूरं गच्छन्तु ॥

हे पशुओंके पालक रुद्रदेव! निवासके हेतुभूत पुण्यपापरूप कर्म जिसमें किये जाते हैं वह अण्डकटाहात्मक कोश आपका ही है, इस अण्डकटाहात्मक महाकोशमें ये सकल भूत रहते हैं। ऐसे आप हमको सुख दीजिये आपके लिये प्रणाम है। आपके प्रसाद से अभिभव करने वाले क्रोशनशील शृगाल, मांसभक्षक कुत्ते हमसे दूरके स्थान पर चले जावें और बालोंको बखेरे हुए अमङ्गल करनेके लिये रोने वाली पिशाचियें भी दूर चली जावें॥ ११॥

द्वितीया ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्

रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशी३तः

धनुः। बिभर्षि। हरितम्। हिरण्ययम्। सहस्रऽघ्नि। शतऽवधम्। शिखण्डिन्।

रुद्रस्य । इषुः । चरति । देवऽहेतिः । तस्यै । नमः । यतमस्याम् ।

दिशि । इतः ॥ ॥ १२ ॥

हे रुद्र त्वं संहृतिसमये विश्वसंहरणार्थं धनुर्बिभर्षि धारयसि । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ । कीदृशं तद्धनुरिति विशिनष्टि । हरितम् हरिद्वर्णं हिरण्ययम् हिरण्यविकारम् । स्वर्णमयम् इत्यर्थः । ❀ "ऋत्व्य-[वास्त्व्य] वास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि" इति हिरण्यशब्दात् मतुपि वर्णलोपो निपात्यते ❀ । सहस्रघ्न्यम् सहस्रसंख्याकान् एकयत्नेन हन्ति हिनस्तीति सहस्रघ्न्यम् । ❀ वर्णोपजनश्छान्दसः । 'स्तम्बे क च" इति विहितः कप्रत्ययो बहुलवचनाद् अत्रापि द्रष्टव्यः ❀ । यद्वा सहस्रं हन्यन्ते प्राता-हन्यन्ते अनेनेति सहस्रघ्न्यम् । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति करणे कप्रत्ययः ❀ । शतवधम् शतसंख्याकस्य प्राणिजातस्य मारकम् । यद्वा शतं सहस्रम् इति अपरिमितनाम । अपरिमितस्य विश्वस्य संहारकम् इत्यर्थः । शिखण्डिमयूरपिच्छादिनिर्मिताः शिखण्डा-स्तद्युक्तम् । तस्मै त्वदीयाय धनुषे नमोस्तु ॥ इदानीम् इषुं नमस्क-रोति । रुद्रस्य रोदयितुर्देवस्य इषुर्बाणः चरति सर्वत्र अप्रतिहत-गतिर्वर्तते । देवहेतिः देवस्य संबन्धिनी हननसाधनभूता शक्तिरेव सेत्यर्थः । तस्यै इष्वै नमोस्तु नमस्कारो भवतु । इतः अस्मात् अस्म-दीयात् स्थानाद् यतमस्याम् यस्यां दिशि वर्तते तस्यां दिशि अव-स्थितायै तस्यै नमोस्त्विति संबन्धः ॥

हे रुद्र ! आप संहारके समय विश्वका संहार करनेके लिये धनुषको धारण करते हैं, वह धनुष हरे वर्णका सुवर्णका बना हुआ होता है और एक वारके प्रयत्नसे ही सहस्रोंको समाप्त कर देता है अपरिमित जीवोंको मार डालता है, शिखण्डोंसे युक्त होता है आपके ऐसे धनुषके लिये प्रणाम है । रुलाने वाले देवता

रुद्रका बाण सर्वत्र अप्रतिहतरूपसे चलता है, वह देवताओंका आयुध है वह बाण जिस दिशामें स्थित हो उस दिशामें ही स्थित; उस बाणके लिये नमस्कार है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति ।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

यः । अभिऽयातः । निऽलयते । त्वाम् । रुद्र । निऽचिकीर्षति ।
पश्चात् । अनुऽप्रयुङ्क्षे । तम् । विद्धस्य । पदनीःऽइव ॥ १३ ॥

हे रुद्र यः पुरुषस्त्वया अभियातः अभिगतो निलयते पुरतः स्थातुम् अशक्तः पलायते । यद्वा तत्रैव निलीनो भवति [न च केवलं निलीनो भवति] प्रत्युत त्वां निचिकीर्षति निकर्तुं हिंसितुम् इच्छति । ❀ निपूर्वः करोतिर्हिंसने वर्तते । कृञ् हिंसायाम् इति प्रकृत्यन्तरं वा ❀ । हे देव तम् अपकृतवन्तं जनं पश्चात् अनन्तरमेव त्वम् अनुप्रयुङ्क्षे तत्कृतस्य अपकारस्य अनुप्रयोगं करोषि । यथापराधं दण्डयसीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । विद्धस्य शस्त्रहतस्य पुरुषस्य पदनीरिव तदीयानि पदानि भूमौ निक्षिप्तानि नयन् । यत्र शत्रुर्निवसति तावत्पर्यन्तं गमयन् पुरुषः निलीनं शत्रुम् उपलभ्य प्रतिविध्यति तद्वद् इत्यर्थः ॥

हे रुद्र ! जो पुरुष आपसे अभिगत होकर सामने खड़े रहने को समर्थ न होता हुआ भाग जाता है अथवा वहाँ छिप कर आपको मारना चाहता है हे देव ! उस अपराधी पुरुषको आप उसके अनुरूप ही दण्ड देते हैं (उसका उदाहरण यह है, कि -) जैसे घायल होने पर दुबके हुए पुरुषके पदचिन्होंको ढूँढता हुआ पुरुष उसको पाकर प्रहार करता है ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ १४ ॥

भवारुद्रौ। सऽयुजा। सम्ऽविदानौ। उभौ। उग्रौ। चरतः। वीर्याय।
ताभ्याम्। नमः। यतमस्याम्। दिशि। इतः ॥ १४ ॥

भवश्च रुद्रश्च भवारुद्रौ। ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः ❀। सयुजा सयुजौ समानं युञ्जानौ मित्रभूतौ संविदानौ समानं जानानौ। ऐकमत्यं गतावित्यर्थः। ❀ विद ज्ञाने। अस्मात् संपूर्वात् "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀। तौ उभौ उग्रौ उद्गूर्णबलौ परैरधृष्यौ सन्तौ वीर्याय। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀। वीर्यम् वीरकर्म चरतः अनुतिष्ठतः। यद्वा उग्रौ दुष्प्रधर्षौ चरतः सर्वत्र वर्तेते। किमर्थम्। वीर्याय। ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। स्ववीर्यप्रकटनार्थम् ताभ्यां भवारुद्राभ्यां नमोस्तु। दूरस्थयोरेव तयोर्नमस्कारः कर्तव्यः न संनिधानम् अपेक्षणीयम् तस्यार्तिकरत्वात् इत्यभिप्रेत्याह यतमस्याम् इति। इतः अस्मात् अस्मदावासस्थानाद् यतमस्यां दिशि यस्यां कस्यांचिद् दिशि तौ वर्तेते तत्रस्थयोरेव तयोर्नमस्कारः। नमस्कारार्थमपि संनिहितौ मा भूताम् इत्यर्थः॥

भव और रुद्र देवता मित्ररूप हैं, उनकी सम्मति एक रहती है ऐसे वे दोनों दूसरोंसे न दबते हुए प्रचण्डबली होकर अपना वीर्य प्रकट करनेके लिये सर्वत्र विचरण करते रहते हैं, उन भव और रुद्रदेवताओंके लिये नमस्कार है (वे दूर हों तभी उनको नमस्कार कर देना चाहिये उनके पास आनेकी बाट नहीं देखनी चाहिये, क्योंकि–उनका पास होना पीड़ा देगा, इसी आशयसे

कहते हैं, कि–) वे यहाँसे जिस दिशामें हों तहाँ ही पर विराजमान उनके लिये प्रणाम पहुँच जावे, तात्पर्य यह है, कि–नमस्कार के लिये भी वे हमारे समीप न आवें ॥ १४ ॥

पञ्चमी॥

नमस्तेस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥

नमः । ते । अस्तु । आऽयते । नमः । अस्तु । पराऽयते ।
नमः । ते । रुद्र । तिष्ठते । आसीनाय । उत । ते । नमः ॥१५॥

हे रुद्र आयते अस्मदाभिमुख्येन गच्छते ते तुभ्यं नमोस्तु । तथा परायते पराङ्मुखं गच्छते तुभ्यं नमोस्तु । ॐ आङ्पूर्वात्परापूर्वाच्च इण् गतौ इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः । "इणो यण्" इति यण् आदेशः । "शतुरनुमः०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॐ । आगमनं परागमनं च विहाय यत्रक्वापि तिष्ठते ते तुभ्यं नमोस्तु । उत अपि च आसीनाय स्वस्थाने उपविष्टाय ते तुभ्यं नमः ॥

हे रुद्र ! हमारे अभिमुख आते हुए आपके लिये नमस्कार हो, हमसे पराङ्मुख होकर जाते हुए आपके लिये नमस्कार है, हे रुद्र ! बैठे हुए आपके लिये प्रणाम है और खड़े हुए आपके लिये प्रणाम है ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥

नमः । सायम् । नमः । प्रातः । नमः । रात्र्या । नमः । दिवा ।

भवाय । च । शर्वाय । च । उभाभ्याम् । अकरम् । नमः ॥१६॥

हे रुद्र सायम् सायंकाले तुभ्यं नमोस्तु । [प्रातः] प्रातःकाले प्रभातसमये च तुभ्यं नमोस्तु । तथा रात्र्या रात्रिसमये तुभ्यं नमोस्तु । दिवा दिवससमयेपि तुभ्यं नमोस्तु । एतेन नमस्कारस्य सार्वकालिकत्वम् उक्तम् । "भवाशर्वौ मृडतम्" इति यौ देवौ प्राक् सह निर्दिष्टौ तत्र भवाय च नमः शर्वाय च नमः । उभाभ्यां परस्परानुरागेण संयुक्ताभ्यां च नमः अकरम् अहं नमस्करोमि । ❀ करोतेश्छान्दसो लुङ् । "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः । "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀ ॥

हे रुद्र ! सायंकालमें आपको प्रणाम प्राप्त हो, प्रातःकालके समय हम आपको प्रणाम करते हैं, रात्रिके समय आपके लिये प्रणाम हो और दिनके समय भी आपको प्रणाम है (इस प्रकार सब समय आपको प्रणाम है) मैं भव और शर्व दोनोंके लिये प्रणाम करता हूँ ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् ।
मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥

सहस्रऽअक्षम् । अतिऽपश्यम् । पुरस्तात् । रुद्रम् । अस्यन्तम् । बहुऽधा । विपःऽचितम् ।
मा । उप । अराम । जिह्वया । ईयमानम् ॥ १७ ॥

सहस्राक्षम् सहस्रसंख्याकैः अक्षिभिर्युक्तं पुरस्तात् पुरोभागे अतिपश्यम् अतिशयेन अतिक्रम्य वा पश्यतीति अतिपश्यः ।

❀ दृशिर् प्रेक्षणे इत्यस्मात् "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" इति शप्रत्ययः। "पाघ्राध्मास्था०" इत्यादिना पश्यादेशः ❀। यद्वा पुरस्तात् इति उत्तरत्र संबध्यते। पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि बहुधा बहुप्रकारम् अस्यन्तम् शरजालं क्षिपन्तं विपश्चितम् मेधाविनं सूक्ष्मदर्शिनं जिह्वया ईयमानम् जिह्वाग्रेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नुवन्तम्। भक्षणार्थं लिहन्तम् इत्यर्थः। एवंभूतं रुद्रं मा उपाराम मा उपगच्छाम। ❀ अर्तेर्माङि लुङि "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀॥

सहस्रों नेत्र वाले परमसूक्ष्मदर्शी पूर्वकी ओर बहुतसे बाणजालोंको छोड़ते हुए मेधावी और जिह्वासे सारे जगत्को भक्षण करनेके लिये व्याप्त करते हुए रुद्रके समीप हम न पहुँचे ॥१७॥

अष्टमी॥

श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम्।
पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥ १८ ॥

श्यावऽअश्वम्। कृष्णम्। असितम्। मृणन्तम्। भीमम्। रथम्। केशिनः। पादयन्तम्।
पूर्वे। प्रति। इमः। नमः। अस्तु। अस्मै॥ १८॥

श्यावाश्वम् श्यावाः कपिशवर्णा अश्वा यस्य स तथोक्तः तम् कृष्णम् कृष्णवर्णम् असितम् सितेतरपरिच्छदम् मृणन्तम् हिंसन्तम्। ❀ मृ हिंसायाम्। प्वादित्वात् ह्रस्वः ❀। भीमम् बिभेति अस्माद् इति भीमो भयंकरः। ❀ "भीमादयोपादाने" इत्यपादाने भियः धुग्वा [उ० १. १४५] इति मक् प्रत्ययः ❀। एतत्संज्ञकं रुद्रं

केशिनः केशी नाम असुरः। तस्य रथं पादयन्तम् भङ्क्त्वा भूमौ क्षिपन्तम् एवंभूतं देवं पूर्वे अन्येभ्यः स्तोतृभ्यः प्रथमभाविनः सन्तो वयं प्रतीमः जानीमः। रक्षकत्वेन अवगच्छाम इत्यर्थः। अस्मै रुद्राय नमोस्तु॥

कपिश वर्णके अश्व वाले, काले परिच्छदका मर्दन करने वाले, जिनसे जगत् डरता है उन भीम महादेवको, कि-जिन्होंने केशी नामक असुरके रथको भूमिमें गिरा दिया था ऐसे महादेवको हम अन्य स्तोताओंसे पहिले ही जानते हैं-रक्षक रूपसे जानते हैं, उन रुद्रदेवके लिये नमस्कार हो ॥ १८ ॥

नवमी ॥

मा नो॒ऽभि स्रा॑ म॒त्यं॑ देवहे॒तिं मा नः॑ क्रुधः पशुपते॒ नम॑स्ते।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् दि॒व्यां शाखां॒ वि धू॑नु ॥ १९ ॥

मा। नः॒। अ॒भि। स्रा॒ः। म॒त्य॑म्। दे॒व॒ऽहे॒तिम्। मा। नः॒।
क्रु॒धः॒। प॒शु॒ऽप॒ते॒। नमः॑। ते॒।
अ॒न्यत्र॑। अ॒स्मत्। दि॒व्याम्। शाखा॑म्। वि। धू॒नु॒॥ १९ ॥

हे रुद्र देवहेतिम् देवसंबन्धि आयुधं वज्रात्मकम् आत्मीयाम् इषुं वा नः अस्माकं मर्त्यम् मरणधर्माणं जनम् अभिलक्ष्य मा स्राः मा विसृज। ※ सृजतेः "माङि लुङ्"। मध्यमैकवचने च्लेः सिच्। "सृजिदृशोर्झल्यम् अकिति" इति अम् आगमः। वृद्धौ "झलो झलि" इति सिचो लोपः। "बहुलं छन्दसि" इति इडभावः। "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति सिलोपः। छान्दसो जकारलोपः ※। हे पशुपते नः अस्मभ्यं मा क्रुधः क्रुद्धो मा भूः। ※ क्रुध कोपे। माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ※। ते तुभ्यं नमो-

स्तु । देवहेतिविसर्जनस्य अवकाशम् आह अन्यत्रेति। अस्मत् अस्मत्तः अन्यत्र देशे दिव्याम् दिवि भवां शाखाम् शाखावत् प्रसृतां देवहेतिं वि धूनु विसृज । ❀ धूञ् कम्पने । स्वादित्वात् श्नुप्रत्ययः । "उतश्च प्रत्ययात्०" इति हेर्लुक् ❀ ॥

हे रुद्र ! अपने आयुध बाणको हम मरणधर्मियोंको लक्ष्य करके न छोड़िये, हे पशुपते ! हमें पर क्रुद्ध न हूजिये, आपके लिये प्रणाम है, हमसे अन्यत्र स्थानमें दिव्य शाखाकी समान अपने देवायुधको छोड़िये ॥ १९ ॥

दशमी ॥

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः ।
मा त्वया समरामहि ॥ २० ॥

मा । नः । हिंसीः । अधि । नः । ब्रूहि । परि । नः । वृङ्ग्धि । मा । क्रुधः ।

मा । त्वया । सम् । अरामहि ॥ २० ॥

हे रुद्र नः अस्मान् मा हिंसीः अस्मद्विषये हिंसां मा कृथाः । नः अस्मान् अधि ब्रूहि आधिक्येन कथय। अनुग्राह्यत्वेन पक्षपातवचनम् अधिवचनम् । नः अस्मान् परि वृङ्ग्धि तवायुधविषयात् परिहर । अस्मान् परिहृत्य अन्यत्र त्वद्धेतिः प्रवर्तताम् इत्यर्थः । मा क्रुधः अस्मद्विषये क्रुद्धो मा भूः । एवंभूतेन त्वया वयं मा समरामहि संगच्छामहै । उक्तार्थम् एतत् [७] ॥

इति एकादशकाण्डे प्रथमेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे रुद्र ! हमारे विषयमें हिंसा न करिये, किंतु हमारे विषयमें पक्षपातपूर्वक कहिये, कि—यह हमारे अनुग्रह करने योग्य है अपने आयुधसे हमको अलग रखिये, तात्पर्य यह है, कि—हमसे अन्यत्र

आपका आयुध प्रवृत्त होवे, आप हमारे विषयमें क्रोध न करिये, ऐसे गुणों वाले आपसे हम संयुक्त न होवें ॥ २० ॥ (६)

एकादश काण्डके प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त ॥

"मा नो गोषु" इति सूक्तस्य स्वस्त्ययनादिकर्मसु विनियोगः पूर्वमेव उक्तः ॥

"मा नो गोषु" सूक्तका स्वस्त्ययन आदि कर्मोंमें विनियोग पहिले ही कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

मा नो॒ गोषु॒ पुरु॑षेषु॒ मा गृ॑धो॒ नो अ॒जा॒वि॒षु॑ ।

अ॒न्यत्रो॑ग्र॒ वि व॑र्तय॒ पिया॑रूणां प्र॒जां ज॑हि ॥२१॥

मा । नः॒ । गोषु॑ । पुरु॑षेषु । मा । गृ॒धः॒ । नः॒ । अ॒ज॒ऽअ॒वि॑षु ।

अ॒न्यत्र॑ । उ॒ग्र॒ । वि । व॒र्त॒य॒ । पिया॑रूणाम् । प्र॒ऽजाम् । ज॒हि॒ ।२१।

हे रुद्र नः अस्माकं संबन्धिषु गोषु पुरुषेषु पुत्रभृत्यादिषु च मा गृधः हिंसितुम् अभिकाङ्क्षां मा कृथाः। तथा नः अस्माकम् अजाविषु अजेषु अविषु च मा गृधः। ❁ गृधु अभिकाङ्क्षायाम्। माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❁। हे उग्र उद्गूर्णबल तव हेतिम् अन्यत्र अस्मत्तः अन्यस्मिन् स्थाने पियारूणां प्रजायां वि वर्तय गमय क्षिप। तथा कृत्वा च पियारूणाम् देवहिंसकानां प्रजां जहि। ❁ जहीति। "हन्तेर्जः" इति जादेशे तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् "अतो हेः" इति लुगभावः ❁ ॥

हे रुद्र ! हमारे गौ और पुत्र भृत्य आदिको मारनेकी इच्छा न करिये, हमारी भेड़ बकरियोंको मारनेकी इच्छा न करिये। हे प्रचण्ड बली ! आप अपने आयुधको हमसे अन्यत्र

देवहिंसकोंकी प्रजा पर छोड़िये और ऐसा करके देवहिंसकोंकी प्रजाको नष्ट कर डालिये ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

यस्य॑ त॒क्मा कासि॑का हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः क्रन्द॒ एति॑ ।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ २२ ॥

यस्य॑ । त॒क्मा । कासि॑का । हे॒तिः । एक॑म् । अश्व॑स्यऽइव । वृष॑णः । क्रन्दः॑ । एति॑ ।
अ॒भि॒ऽपू॒र्वम् । नि॒ःऽनय॑ते । नमः॑ । अ॒स्तु॒ । अ॒स्मै ॥ २२ ॥

तक्मा कृच्छ्रेण जीवनप्रापिका । ❀ तकि कृच्छ्र जीवने । अस्मात् "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति मनिन् ❀ । कासिका । ❀ कासृ शब्दकुत्सायाम् ❀ । कुत्सितशब्दकारिणी आर्तस्वर-करी ज्वरादिपीडा यस्य रुद्रस्य हेतिः हननसाधनम् आयुधम् एकम् अपकारिणं पुरुषं वृषणः सेचनसमर्थस्य अश्वस्य क्रन्दः हेषाशब्द इव एति प्राप्नोति । सा हेतिस्तत्र अभिपूर्वम् पूर्वपूर्वम् अभिलक्ष्य तत्र योयः प्रथमभावी तंतं निर्णयते निःशेषेण गमयति नाशं प्रापयति । अस्मै ज्वराद्युपद्रवकारिणे रुद्राय नमोस्तु ॥

जीवनको कठिनतामें डाल देने वाली खाँसी, कुत्सित स्वर कराने वाली आर्तस्वरकरी ज्वरादिपीड़ा जिन रुद्रदेवका आयुध है वह एक अपराधी पुरुषके पास सेचनसमर्थ अश्वके हींसनेकी समान प्राप्त होजाता है, वह आयुध पूर्व पूर्वको लक्ष्य करके जो योग्य होने वाला होता है उसको नष्ट कर देता है, उन ज्वर आदिका उपद्रव करने वाले रुद्रदेवके लिये नमस्कार है ॥२२॥

तृतीया ॥

यो३ऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन् देवपीयून्

तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

यः । अन्तरिक्षे । तिष्ठति । विऽस्तभितः । अयज्वनः । प्रऽमृणन् ।

देवऽपीयून् ।

तस्मै । नमः । दशऽभिः । शक्वरीभिः ॥ २३ ॥

यो रुद्रः अन्तरिक्षे आकाशे निराधारप्रदेशे विष्टभितः विशेषेण स्तभितः निरुद्धगतिस्तिष्ठति । किं कुर्वन् । अयज्वनः दर्शपूर्णमासादियागेन इष्टवन्तो जना यज्वानः तद्विपरीता अयज्वानः तान् देवपीयून् देवानां हिंसकान् जनान् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् । तस्मै रुद्राय दशभिः शक्वरीभिः शक्वर्य इति अङ्गुलिनाम । कर्मसु शक्ताभिः अङ्गुलिभिः नमोस्तु। अञ्जलिबन्धनेन प्रणामं कुर्म इत्यर्थः॥

जो रुद्र अन्तरिक्ष (निराधारप्रदेश) में निरुद्धगति होकर ठहरे रहते हैं तहाँ वह दर्श पूर्णमास आदि यागोंसे यजन न करने वालोंको मारते रहते हैं, हम उन रुद्रदेवके लिये कर्ममें समर्थ दश अंगुलियोंसे अर्थात् हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः

शकुना वयांसि ।

तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या

आपो वृधे ॥ २४ ॥

तुभ्यम् । आरण्याः । पशवः । मृगाः । वने । हिताः । हंसाः । सुऽपर्णाः । शकुनाः । वयांसि ।

तव । यक्षम् । पशुऽपते । अप्ऽसु । अन्तः । तुभ्यम् । क्षरन्ति । दिव्याः । आपः । वृधे ॥ २४ ॥

हे पशुपते पशूनां पालयितर्महादेव तुभ्यं त्वदर्थम् आरण्याः अरण्ये भवाः पशवः । तानेव यथेच्छं स्वीकुरु । ग्राम्यान् पशून् मा बाधिष्ठा इत्यर्थः । आरण्यानेव पशून् निर्दिशति । वने अरण्ये हिताः विधात्रा स्थापिता मृगाः हरिणशार्दूलसिंहाद्याः । हंसाः एतत्संज्ञाः पक्षिणः । सुपर्णाः शोभनपतनाः श्येनाः । शकुनाः अन्ये च शकुनयो वनचराः पक्षिणः । एवमात्मकानि वयांसि पक्षिजातानि हे रुद्र त्वदर्थं भागत्वेन कल्पितानि । तव त्वदीयं यक्षम् पूज्यं स्वरूपम् अप्सु अन्तः उदकेषु मध्ये वर्तते अतः तुभ्यं त्वदर्थं वृधे उन्दनाय । ❀ वृधु वृधु उन्दे । अस्मात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ । अभिषेकाय दिव्याः दिवि भवा आपः क्षरन्ति प्रवहन्ति । अस्मदुपभोग्यम् उदकमपि मा स्पृक्ष इत्यर्थः ॥

हे पशुओंके पालक महादेव ! आपके लिये विधाताने वनमें हरिण शार्दूल सिंह आदि मृग, हंस, बाज, वनचर पक्षी आदिको स्थापित किया है, उनको ही आप यथेष्टरूपसे स्वीकृत करिये, ग्राम्य पशुओंको न मारिये, आपका पूज्यरूप जलमें रहता है अतः आप का अभिषेक करनेके लिये दिव्य जल बहते रहते हैं, तात्पर्य यह है, कि आप हमारे उपभोगके जलका भी स्पर्श न करिये ॥२४॥

पञ्चमी ॥

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि ।

न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे ॥२५॥

शिशुमाराः। अजगराः। पुरीकयाः। जषाः। मत्स्याः। रजसाः। येभ्यः। अस्यसि।

न। ते। दूरम्। न। परिऽस्था। अस्ति। ते। भव। सद्यः। सर्वान्। परि। पश्यसि। भूमिम्। पूर्वस्मात्। हंसि। उत्तरस्मिन् समुद्रे ॥ २५ ॥

आरण्यपशुवज्जलचरप्राणिनामपि रुद्रभागत्वम् उच्यते। शिशुमाराः नक्रविशेषाः। अजगराः सर्पविशेषाः। पुलीकयाद्या जलचराः प्राणिविशेषाः। हे रुद्र त्वदर्थम् एते सर्वे जलचराः प्राणिन इत्यर्थः। रजसा आत्मीयेन तेजसा येभ्यः जलचरप्राणिभ्यः अस्यसि आयुधं क्षिपसि। हे भव ते तव सर्वगतस्य दूरम् विप्रकृष्टं नैवास्ति। ते परिष्ठा परिहृत्य स्थिता प्रजापि न विद्यते। यतस्त्वं सर्वांम् कृत्स्नां भूमिं सद्यः क्षणादेव परि पश्यसि परितः अवलोकयसि। तथा पूर्वस्मात् पुरोवर्तिनः समुद्रात् उत्तरस्मिन् उत्तरदिग्वर्तिनि समुद्रे जलधौ हंसि क्षणादेव गच्छसि। ॐ हन्तिरत्र गत्यर्थः ॐ। अतः सर्वगतस्य तव विप्रकृष्टं नैवास्ति तथा च शिशुमारादयस्तव नित्यसंनिहिता इत्यर्थः ॥

(अब यह कहा जाता है, कि-जंगली पशुओंकी समान जलचर प्राणी भी रुद्रके भाग हैं) शिशुमार (गोह) अजगर पुलीकय झष और मत्स्य आदि जलचर प्राणी हे रुद्र ! आपके ही लिये हैं जिनके लिये आप अपने तेजसे आयुधको फेंकते हैं (क्योंकि-) हे भव ! आप सर्वगतसे दूर कुछ नहीं है (अतः वे नष्ट

होजाते हैं) और आपसे छीनकर जिसको रक्खा जासके ऐसी प्रजा भी नहीं है। क्योंकि—आप क्षणभरमें ही सकल भूमिको देख डालते हैं आप पूर्वके समुद्रसे क्षणभरमें उत्तरके समुद्रमें पहुँच जाते हैं अतः सर्वगत आपके लिये कुछ दूर नहीं है, गोह आदि आपके समीप ही हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा न॒ः सं स्रा॑ दि॒व्ये-
ना॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् वि॒द्युतं॑ पात॒यैता॒म् ॥ २६ ॥

मा । न॒ः । रु॒द्र॒ । त॒क्मना॑ । मा । वि॒षेण॑ । मा॑ । न॒ः । सम् । स्रा॒ः ।
दि॒व्येन॑ । अ॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । वि॒ऽद्युत॑म् । पा॒त॒य॒ । ए॒ताम् ॥ २६ ॥

हे रुद्र तक्मना कृच्छ्रजीवनकारिणा ज्वरादिरोगेण त्वदीयेन आयुधेन नः अस्मान् मा सं स्राः मा संसृज । तथा विषेण स्थावरजङ्गमोद्भवेन प्राणापहारिणा मा संसृज । तथा दिव्येन दिवि भवेन अग्निना वैद्युतरूपेण तेजसा नः अस्मान् मा संसृज । अस्मत्तः अन्यत्र आरण्यपश्वादिषु एतां विद्युतम् त्वदायुधभूतां विद्योतमानाम् अशनिं पातय प्रक्षिप ॥

हे रुद्र ! जीवनको कष्टमय कर देने वाले ज्वर आदि रोग-रूप आयुधसे आप हमको संयुक्त न करिये, तथा स्थावर और जंगमसे होने वाले विषसे हमको संयुक्त न करिये, तथा आकाश में होने वाली वैद्युत तेजोरूप अग्निसे हमको संयुक्त न करिये,

इससे अन्यत्र जंगली पशु आदि पर इस दमकती हुई बिजली-रूप अपने आयुधको गिराइये ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व१न्तरिक्षम् ।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ २७ ॥

भवः । दिवः । भवः । ईशे । पृथिव्याः । भवः । आ । पप्रे । उरु । अन्तरिक्षम् ।
तस्मै । नमः । यतमस्याम् । दिशि । इतः ॥ २७ ॥

भवः एतत्संज्ञो देवो दिवः द्युलोकस्य ईशे ईष्टे । द्युलोकम् ईशितव्यत्वेन अधितिष्ठतीत्यर्थः ❀ । ईश ऐश्वर्ये । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । "अधीगर्थदयेशाम्०" इति कर्मणि षष्ठी ❀ । तथा स एव भवः पृथिव्याः भूलोकस्यापि ईशे ईष्टे । तथा उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानं लोकं स एव भवः आ पप्रे स्वतेजसा आपूरयति । ❀ प्रा पूरणे । अस्मात् छान्दसो लिट् । "आतो लोप इटि च" इति आल्लोपः ❀ । तस्मै त्रैलोक्यव्यापिने । अन्यद् उक्तार्थम् [१४] ॥

भव नामक देव द्युलोकके स्वामी हैं वही भव भूलोकके भी स्वामी हैं और वही द्यावापृथिवीके मध्यमें वर्तमान विशाल अन्तरिक्षलोकको भी अपने तेजसे पूरण कर देते हैं भवदेव यहाँसे जिस दिशामें हो तहाँ ही उनको प्रणाम है ॥ २७ ॥

अष्टमी

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ

यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड

भव । राजन् । यजमानाय । मृड । पशूनाम् । हि । पशुऽपतिः ।
बभूथ ।

यः । श्रत्ऽदधाति । सन्ति । देवाः । इति । चतुःऽपदे । द्विऽपदे ।
अस्य । मृड ॥ २८ ॥

हे राजन् सर्वस्याधिपते हे भव यजमानाय त्वदर्थं यागं कुर्वते जनाय मृड सुखय । त्वं खलु पशूनां पशुपतिर्बभूथ "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ताः" [६] इति प्रागुदीरितानां गवाश्वादीनां पशूनां पतिः पालयिता भवसि । पशूनां पशुपतिरिति द्व्यवृत्तिभ्यां बहुत्वं स्वामित्वं च प्रतिपाद्यते । ❀ "बभूथाततन्थ जगृभ्म ववर्थेति निगमे" इति भवतेस्थलि इडभावो निपात्यते ❀ । हि यस्माद् एवं तस्माद् यजमानाय मृडेति संबन्धः ॥ यः आस्तिकः पुरुषो देवा इन्द्रादयो रक्षकः सन्तीति श्रद्दधाति आद्रियते । विश्वसितीत्यर्थः । अस्य श्रद्दधानस्य पुरुषस्य संबन्धिने चतुष्पदे गवाश्वादये द्विपदे पुत्रभृत्यादिरूपाय च मृड सुखय ॥

हे राजन् सर्वसस्याधिपते ! हे भव ! आपके निमित्त जो याग कर रहा है उसको आप सुख दीजिये आप पाँच प्रकारके पशुओं के स्वामी हैं अतः यजमानको सुख दीजिये । जो आस्तिक पुरुष इन्द्र आदि देवता रक्षक हैं ऐसा विश्वास रखता है उस श्रद्धालु पुरुषके गौ घोड़े आदि चार पैर वाले जीवोंको और दो पैर वाले पुत्र भृत्य आदि जीवोंको सुख दीजिये ॥ २८ ॥

नवमी ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत
मा नो वक्ष्यतः ।

मा नो॑ हिंसीः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॒ स्वां त॒न्व॑ रुद्र॒ मा रीरिषो नः ॥ २९ ॥

मा । नः॒ । म॒हान्त॑म् । उ॒त । मा । नः॒ । अ॒र्भ॒कम् । मा । नः॒ । वह॑न्तम् । उ॒त । मा । नः॒ । व॒क्ष्यतः॑ ।

मा । नः॒ । हिं॒सीः॒ । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ । स्वाम् । त॒न्व॑म् । रु॒द्र॒ । मा । रि॒रि॒षः॒ । नः॒ ॥ २९ ॥

हे रुद्र नः अस्माकं संबन्धिनं महान्तम् मवयसं वृद्धं मा हिंसीः। उत अपि च नः अस्माकम् अर्भकम् शिशुं मा हिंसीः। नः अस्माकं संबन्धिनं वहन्तम् भारवहनक्षमं मध्यवयस्कं पुरुषं मा हिंसीः। उत अपि च वक्षतः कृतवहनव्यापारान् पुरुषान् नः अस्मदीयान् मा हिंसीः। तथा नः अस्मदीयं पितरं मातरं च मा हिंसीः। तथा नः अस्माकं स्वाम् स्वकीयां तन्वम् शरीरं मा रीरिषः मा हिंसीः। ❀ रिष रुष हिंसायाम्। ण्यन्तात् लुङि रूपम्। "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀ ॥

हे रुद्र! हममें जो बड़ा हो उसको न मारिये, और हमारे शिशुको भी न मारिये और हमारा भार वहन करनेमें समर्थ जो मध्यम पुरुष है उसका भी आप संहार न करिये, हमारा वहन करने वाले पुरुषोंका भी संहार न करिये तथा हमारे पिता माताकी भी हिंसा न करिये, तथा हमारे अपने शरीरकी भी हिंसा न करिये ॥२९॥

दशमी ॥

रु॒द्रस्यै॑लब॒कारे॑भ्योऽसंसूक्तगि॒लेभ्यः॑ ।

इ॒दं म॒हास्ये॑भ्यः॒ श्वभ्यो॑ अकरं॒ नमः॑ ॥ ३० ॥

रुद्रस्य । एलबऽकारेभ्यः । असंसूक्तऽगिलेभ्यः ।

इदम् । महाऽआस्येभ्यः । श्वऽभ्यः । अकरम् । नमः ॥ ३० ॥

अतः परं महादेवस्य परिवारा नमस्कारेण प्रार्थ्यन्ते । रुद्रस्य महादेवस्य संबन्धिभ्यः एलबकारेभ्यः । ❀ इल प्रेरणे । अस्माद् भावे घञ् । ततो मत्वर्थीयो वकारः ❀ । एलवानि प्रेरणयुक्तानि कर्माणि कुर्वन्तीति एलबकाराः कर्मकराः प्रमथगणाः । तेभ्यः अहं नमस्करोमि । तथा असंसूक्तगिलेभ्यः । सम्यक् सूक्तं शोभनं भाषितं संसूक्तम् । तद्विपरीतम् असंसूक्तम् असमीचीनम् अशोभन-वचनं गृणन्ति भाषन्त इति असंसूक्तगिलाः । ❀ गॄ शब्दे इत्य-स्माद् औणादिक इलच् प्रत्ययष्टिलोपश्च ❀ । यद्वा साहम्भाषणं यथा भवति तथा गिरन्ति भक्षयन्तीति असंसूक्तगिलाः । ❀ गॄ निगरणे इत्यस्माद् पचाद्यच् । गुणं बाधित्वा "ॠत इद्धातोः" इति व्यत्ययेन इत्वम् । "अचि विभाषा" इति लत्वम् । यद्वा गल अदने इत्यस्माद् वा अच् प्रत्ययः । छान्दसम् इत्वम् ❀ । एवंभूतेभ्यो रुद्रगणेभ्यो नमस्करोमि ॥ महास्येभ्यः महत् प्रभूतम् आस्यं मुख-विवरम् एषाम् अस्तीति महास्याः । ❀ "आन्महतः०" इति आत्वम् ❀ । मृगयाविहारार्थं किरातवेषधारिणो देवस्य संबन्धिभ्यः श्वभ्यः ,सारमेयेभ्यः इदं नमः अकरम् करोमि । ❀ करोतेश्छा-न्दसो लुङ् । 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

(अब महादेवजीके परिवारको नमस्कार करके प्रार्थना करते हैं, कि-) महादेवजीके प्रेरणायुक्त कर्मोंको करने वाले प्रमथगणों को मैं प्रणाम करता हूँ, और कटुभाषी रुद्रगणोंको मैं प्रणाम करता हूँ, मृगयाविहार करनेके लिये किरातका वेष धारण करने वाले भवके जिनका बड़ा मुख होता है उन कुत्तोंके लिये मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३० ॥

एकादशी ॥

नम॑स्ते घोषिणी॑भ्यो नम॑स्ते केशिनी॑भ्यः ।
नमो॒ नम॑स्कृताभ्यो नमः॑ संभुञ्जतीभ्यः॑ ।
नम॑स्ते देव सेनाभ्यः॑ स्वस्ति नो॒ अभ॑यं च नः॑ २१

नमः॑ । ते॒ । घोषिणीभ्यः॑ । नमः॑ । ते॒ । केशिनीभ्यः॑ ।
नमः॑ । नमः॑ऽकृताभ्यः॑ । नमः॑ । सम्ऽभुञ्जतीभ्यः॑ ।
नमः॑ । ते॒ । देव॒ । सेनाभ्यः॑ । स्वस्ति । नः॒ । अभ॑यम् । च॒ । नः॒ २१

हे रुद्र ते त्वदीयाभ्यो घोषिणीभ्यः प्रभूतघोषयुक्ताभ्यः सेनाभ्यः नमोस्तु । तथा ते त्वदीयाभ्यः केशिनीभ्यः विपरीताकृतिकेशयुक्ताभ्यः विकीर्णकेशयुक्ताभ्यो वा सेनाभ्यो नमोस्तु । याश्च त्वदीयाः सेना नमस्कृताः चण्डेश्वरप्रभृतयः ताभ्यश्च नमोस्तु । संभुञ्जतीभ्यः सहभोजनं कुर्वतीभ्यः सेनाभ्यो नमोस्तु । हे देव रुद्र ते त्वदीयाभ्यः उक्तव्यतिरिक्ताभ्यः सेनाभ्यो नमोस्तु । हे देव त्वत्प्रसादात् नः अस्मभ्यं स्वस्ति क्षेमम् अभयं च न भयराहित्यमपि भवतु । स्वस्तिशब्दयोगात् स्वस्त्ययनकर्मसु विनियोगः । भयराहित्यप्रार्थनाच्च अद्भुतशान्तावपि । इति लिङ्गानुसारेण सर्वत्र विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

सप्तमं सूक्तम् ।

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
एकादशकाण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

हे रुद्र ! आपकी प्रभूत घोष वाली सेनाओंके लिये नमस्कार हो, आपकी केशिनी सेनाओंके लिये प्रणाम है और आपकी जो चण्डेश्वर आदि नमस्कृत सेनायें हैं उनके लिये नमस्कार है और

आपकी एक साथ खाने वाली सेनाओंके लिये प्रणाम है, हे देव रुद्र ! आपकी इनके अतिरिक्त जो सेनाएँ हैं उनके लिये भी प्रणाम है। हे देव ! आपके प्रसादसे हमारा क्षेम और अभय हो ॥ २१ ॥ (७)

सप्तम सूक्त समाप्त (४८०) ॥
एकादश काण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेऽनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र "तस्यौदनस्य" इत्यादिसूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । तेन बृहस्पतिसवाख्ये सवयज्ञे हविरभिमर्शन-संपातदातृवाचनदानादीनि कर्माणि कुर्यात् ॥

तथा अभिचारकर्मणि सवविधानेन ओदनं पक्त्वा पृषातकेन उपसिच्य अनेन अर्थसूक्तेन अभिमृश्य संपात्य अभिमन्त्र्य द्वेष्याय प्रयच्छेत् । द्वेष्यं वा अनेन अर्थसूक्तेन अभिमृशेत् हुताज्यशेषेण संपातयेद् वा ॥

विपक्षे बाधपुरःसरम् ओदनस्यैव प्राशितृत्वं प्राशितव्यत्वं च अग्रे वक्ष्यते। तत्र प्राशितुरोदनस्य शिरःप्रभृतीनि अङ्गानि कल्पयति॥

दूसरे अनुवाकमें छः सूक्त हैं। इनमें "तस्यौदनस्य" आदि तीन सूक्तोंका समूह एक ही प्रयोजनको प्रतिपादित करने वाला होनेसे अर्थसूक्त कहलाता है । इससे बृहस्पतिसव नामक सवयज्ञमें हवि का अभिमर्शन, सम्पात दातृवाचन आदि कर्म करे ॥

तथा अभिचारकर्ममें सवविधानसे ओदनको पका कर पृषातक (दही घी) से छिड़क कर इस अर्थसूक्तसे अभिमर्शित सम्पातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुको देदेय वा शत्रुको इस अर्थसूक्तसे अभिमर्शित करे, वा हुताज्यशेषसे सम्पातित करे ।

विपक्षमें बाधाके साथ २ ओदनका प्राशितृत्व और प्राशयितव्यत्व आगे कहा जावेगा । उनमेंसे प्राशिता (भक्षक) ओदनके शिर आदि अंगोंकी कल्पना करते हैं, कि—

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥

तस्य । ओदनस्य । बृहस्पतिः । शिरः । ब्रह्म । मुखम् ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । श्रोत्रे इति । सूर्याचन्द्रमसौ । अक्षिणी इति । सप्तऽऋषयः । प्राणापानाः ॥ २ ॥

तस्य प्रसिद्धस्य विराडात्मना भावनीयस्य ओदनस्य बृहस्पतिर्देवः शिरः मूर्धा । तस्यापि कारणभूतं यद् ब्रह्म तत् ओदनस्य मुखम् आस्यम् ॥ द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❁ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः ❁ । ते उभे अस्य ओदनस्य विराडात्मनः श्रोत्रे । ❁ श्रवणेन्द्रियस्य एकत्वेपि तद्गोलकापेक्षया द्वित्वम् ❁ । सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः । ❁ "राज सूयसूर्य०" इति निपात्यते ❁ । चन्द्रम् आह्लादकरम् अमृतं मिमीते सर्वस्य जगतो निर्मिमीत इति चन्द्रमाः । ❁ चन्द्रे माङो डित् इति [उ० ४. २२७] औणादिकः असिप्रत्ययः । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ । "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः ❁ । तौ अस्य विराडात्मन ओदनस्य अक्षिणी चक्षुषी । ये सप्तऋषयः मरीच्यत्रिप्रभृतयस्ते प्राणापानाः । मुखनासिकाभ्यां बहिर्निःसरन् वायुः प्राणः । अन्तः प्रविशन् वायुः अपानः । प्राणश्च अपानश्च प्राणापानौ । ये सप्तऋषयस्तेऽस्य प्राणापानात्मना भावनीया इत्यर्थः । ❁ प्राणापानयोर्द्वित्वेपि उद्देश्यसंख्यापेक्षया तयोर्बह्वयपेक्षया वा बहुवचननिर्देशः ❁ ॥

इस विराडात्मारूपसे भावनीय ओदनके बृहस्पतिदेव शिर हैं, उसका भी कारण भूत जो ब्रह्म है वह इस ओदनका मुख है। द्यौ और पृथिवी इस विराडात्मारूपसे भावनीय ओदनके कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा इस विराडात्मारूपसे भावनीय ओदनके नेत्र हैं,जो मरीचि आदि सात ऋषि हैं वे इसके प्राण और अपान हैं।१।२।

इत्थम् ओदनस्य देवतारूपाणि अङ्गानि परिकल्प्य तत्साधनेष्वपि देवतारूपत्वं संपादयति ॥

इस प्रकार ओदनके देवतारूप अंगोंकी कल्पना करके अब इसके साधनोंमें भी देवतारूपत्वका सम्पादन करते हैं, कि—

चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥

चक्षुः । मुसलम् । कामः । उलूखलम् ॥ ३ ॥

दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोपाविनक् ॥ ४ ॥

दितिः । शूर्पम् । अदितिः । शूर्पऽग्राही । वातः । अप । अविनक् ४

अस्य उक्तमहिमोपेतस्य ओदनस्य उपादानभूतव्रीह्यवहननार्थं यन्मुसलं तच्चक्षुः चक्षुरिन्द्रियम् । यत् उलूखलं स कामः अभिलाषः । मुसलोलूखले हविरवहननार्थे चक्षुरादिरूपेण भावनीये इत्यर्थः ॥ दितिः असुरमाता सैव परापवनार्थं शूर्पम् । अदितिः देवमाता सा शूर्पग्राही तस्य शूर्पस्य ग्रहीत्री। या शूर्पेण परापुनाति सा अदित्यात्मना भावनीयेत्यर्थः । वातः वायुः अपाविनक् व्रीहिभ्यस्तण्डुलानां विवेचयिता अभवत् । विवेचयितरि वायुबुद्धिः कार्येत्यर्थः । अत एव तैत्तिरीयके "वायुर्वो विविनक्तु" इति मन्त्रवर्णः [तै० सं० १. १. ५. २] । ❀ विचिर् पृथग्भावे । अस्मात् लङि रुधादित्वात् श्नम् । "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति तिलोपे "चोः कुः" इति कुत्वम् ❀ ॥

इस ओदनके उपादानभूत धानोंके कूटनेका जो मूसल है वही इसकी चक्षु है जो ओखली है वही अभिलाषा है अर्थात् मूसल ओखली आदिकी नेत्र आदिके रूपमें भावना करनी चाहिये, दिति ही इसके परापवनका छाज है, और जो छाजसे छड़ती है वह अदिति है और वायु धान और चावलोंका विवेचयिता है, अर्थात् विवेचयितामें वायुकी बुद्धि करनी चाहिये + ॥३॥४॥

ओदनस्य विराडात्मना उपासनम् अभिधित्सुस्तत्संबन्धिनां कणादीनां तत्तद्वस्त्वात्मकत्वेन तस्य ओदनस्य सार्वात्म्यं प्रतिपादयति ॥

ओदनकी विराडात्मभावसे उपासना करना चाहने वाला ओदनसे सम्बन्ध रखने वाले कण आदिकी तत्तद्वस्त्वात्मकरूपसे ओदनके सार्वात्म्यका प्रतिपादन करता है, कि—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥

अश्वाः । कणाः । गावः । तण्डुलाः । मशकाः । तुषाः ॥ ५ ॥

कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥

कब्रु । फलीऽकरणाः । शरः । अभ्रम् ॥ ६ ॥

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥७॥

श्यामम् । अयः । अस्य । मांसानि । लोहितम् । अस्य । लोहितम्

ये ओदनसंबन्धिनः कणास्ते अश्वाः । अश्वात्मना भावनीया इत्यर्थः । ओदनस्य उपादानभूता ये तण्डुलास्ते गावः । धरापूता-

+ इसी लिये तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—"वायुर्वो विविनक्तु ।—वायु तुमको अलग २ करे" ॥

स्तुषा मशकाः क्षुद्रजन्तवः ॥ ये फलीकरणास्तत् । कभ्रु । कं शिर एव भ्रुवौ यस्य प्राणिजातस्य तत् कभ्रु । शिरसो भ्रुवोश्च भेदो न दृश्यत इत्यर्थः । तथाविधप्राण्यात्मना फलीकरणा भावनीया इत्यर्थः । यद् अभ्रम् अन्तरिक्षे संचरन् मेघस्तद् अस्य शिरः । "बृहस्पतिना शीर्ष्णा" इति [११. ४. १]भाशने वक्ष्यमाणत्वात् तदुपयोगिदेवतात्मकं शिरः प्राग् उक्तम् । चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्य जगतः ओदने भावनीयत्वप्रतिपादनप्रसङ्गायातम् एतच्छिर इति न पौनरुक्त्यम् ॥ श्यामम् श्यामवर्णं यत् अयः खनित्राद्युपादानं तत् अस्य विराडात्मन ओदनस्य मांसानि । यल्लोहितम् लोहितवर्णम् अयः ताम्रात्मकं लोके दृश्यते तत् सर्वम् अस्य ओदनस्य लोहितम् असृग् धातुः ॥

जो ओदनके कण हैं वे अश्व हैं उनकी अश्वरूपसे भावना करनी चाहिये, ओदनके उपादानरूप तण्डुलोंकी गौरूपसे भावना करनी चाहिये, अलग करी हुई भूसीकी मच्छररूपसे भावना करनी चाहिये, फलीकरणोंकी 'शिर ही जिसकी भौं होती है ऐसे कभ्रुरूपसे भावना करनी चाहिये, और मेघकी शिरोरूपमें भावना करनी चाहिये, (यद्यपि बृहस्पतिरूपसे शिरकी भावना पहिले ही कर ली है तथापि चेतनाचेतनात्मक सकल जगत्की ओदनरूपसे भावनाके सिलसिलेमें आये हुए शिरकी पुनरुक्तता नहीं है) और जो कुदाली आदिका उपादान लोहा है वह इस विराडात्मा ओदनका मांस है और जो लाल वर्णका ताँबा दीखता है वह इस ओदनका रक्त है ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

पुनरन्यान्यपि वस्तूनि ओदने संपादयति ॥

अब अन्य वस्तुओंको भी ओदनमें सम्पादित करते हैं, कि-

त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥

त्रपु । भस्म । हरितम् । वर्णः । पुष्करम् । अस्य । गन्धः ॥ ८ ॥

खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥

खलः । पात्रम् । स्फ्यौ । अंसौ । ईषे इति । अनूक्ये३ इति ॥९॥

आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

आन्त्राणि । जत्रवः । गुदाः । वरत्राः ॥ १० ॥

ओदनपाकानन्तरभावि यद् भस्म तत् त्रपु सीसम् । तदात्मना भस्म भावनीयम् इत्यर्थः । यत् । हरितम् हेम तत् अस्य ओदनस्य वर्णः । यत् पुष्करम् कमलं तद् अस्य ओदनस्य गन्धः ॥ यः खलः व्रीह्यादिधान्यस्य पलालेभ्यो विवेचनस्थानं तद् अस्य पात्रम् धारणार्थम् आवपनम् । स्फौ मद्धौ धान्याधारस्य शकटस्यावयवौ । तावस्य ओदनस्य अंसौ । ❀ स्फायी वृद्धौ इत्यस्माद् औणादिको डमत्ययः ❀ । ये शकटसंबन्धिन्यौ ईषे ते अस्य ओदनस्य अनूक्ये अंसयोर्मध्यदेहस्य च संधी । ❀ अनु उच्यते समवेयते संधीयत इति अनूक्यं । कर्मणि ण्यत् । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ ॥ लोके सर्वप्राणिसंबन्धीनि आन्त्राणि यानि सन्ति तानि जत्रवः अनडुद्ग्रीवाणां शकटयोजनार्था रज्जवः । अशितपीतान्नरससंचारणार्थाः सर्वप्राणिशरीरेषु या गुदास्ता अस्या वरत्राः ओदनसंबन्धिशकटलाङ्गलयोजनार्थाश्चर्मविकारा रज्जवः ॥

ओदनपाकके अनन्तर जो भस्म होती है वह सीसा है अर्थात् सीसेके रूपमें उसकी भावना करनी चाहिये । और जो सुवर्ण है वह ओदनका वर्ण है और जो कमल है वह इस ओदनकी गंध है और जो व्रीहि आदि धान्योंका भूसी आदिसे अलग करनेका स्थान है वह इसका पात्र है, शकटके अवयव स्फ इसके अंश हैं,

और जो शकटकी ईषा हैं वे मनुष्य हैं, अँतड़ियें बैलोंके गलेमें बाँधनेकी रस्सियें हैं और गुदायें चर्मरज्जुएँ हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

इत्थं सर्वात्मकस्य ओदनस्य स्थाल्यपिधानयोर्द्यावापृथिव्यात्मकताम् आह ॥

इसी प्रकार सर्वात्मक ओदनकी स्थाली और ढकनकी द्यावापृथिव्यात्मकताको कहा जाता है, कि—

इ॒यमे॒व पृ॑थि॒वी कु॒म्भी भ॑वति॒ राध्य॑मानस्यौद॒नस्य॒ द्यौर॑पि॒धान॑म् ॥ ११ ॥

इ॒यम् । ए॒व । पृ॒थि॒वी । कु॒म्भी । भ॒व॒ति॒ । राध्य॑मानस्य । ओ॒द॒नस्य॑ । द्यौः । अ॒पि॒ऽधान॑म् ॥ ११ ॥

इयं परिदृश्यमाना पृथिवी प्रथिता विस्तीर्णा भूमिरेव राध्यमानस्य पच्यमानस्य ओदनस्य उदीरितरीत्या सर्ववस्त्वात्मकस्य कुम्भी पाकार्था स्थाली भवति। द्यौः द्युलोकः अपिधानम् कुम्भीमुखस्य च्छादकं पात्रम्। द्यावापृथिव्योरन्तरालं सर्वम् अयम् ओदनो व्याप्य वर्तत इत्यर्थः ॥

यह विस्तीर्णभूमि ही सर्ववस्त्वात्मक पच्यमान ओदनको पकाने की कुंभी है और द्युलोक उसका ढकन है, तात्पर्य यह है, कि— द्यावापृथिवीके मध्यमें वर्तमान यह ओदन सबको व्याप्त करके वर्तमान है ॥ ११ ॥

पुनरन्यदपि अवयवजातम् अस्मिन् संपादयति ॥

अब अन्य अवयवोंका भी इसमें सम्पादन करते हैं, कि—

सीता॒: पर्श॑वः॒ सिक॑ता॒ ऊब॑ध्यम् ॥ १२ ॥

सीताः । पर्शवः । सिकताः । ऊबध्यम् ॥ १२ ॥

सीताः कर्षणोत्पन्ना बीजावापार्था लाङ्गलपद्धतयः। ता अस्य

ओदनस्य पर्शवः पार्श्वस्थीनि । नद्यादिषु याः सिकतास्ता अस्य ऊवध्यम् अर्धजीर्णतृणात्मकम् उदरगतं शकृत् ऊवध्यम् इति उच्यते॥

लांगलपद्धतियें इस ओदनकी पार्श्वस्थियें हैं, नदी आदिकोंमें जो रेत है वह ऊवध्य है ॥ १२ ॥

पुनरन्यां संपत्तिम् आह ॥

अब अन्य सम्पत्तिका वर्णन करते हैं, कि–

ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥

ऋतम् । हस्तऽअवनेजनम् । कुल्या । उपऽसेचनम् ॥ १३ ॥

ऋतम् इति उदकनाम । लोके विद्यमानं कृत्स्नम् उदकं हस्तावनेजनम् अस्य ओदनस्य हस्तप्रक्षालनार्थम् । कुल्या अल्पा सरित् । तत्रत्यं समस्तम् उदकम् अस्य ओदनस्य उपसेचनम् मिश्रणसाधनम्

संसारमें विद्यमान सम्पूर्ण जल इस ओदनमें हाथ धोनेका जल है और छोटी २ नदियें इसका उपसेचन है ॥ १३ ॥

उदीरितमहिमोपेतस्य पाकार्था कुम्भी पृथिव्येवेत्युक्तम् । तस्या अग्नौ स्थापनप्रकारम् आह ॥

पूर्वोक्त ओदनकी कुंभीके अग्निमें स्थापन करनेकी रीतिको कहते हैं, कि—

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥

ऋचा । कुम्भी । अधिऽहिता । आर्त्विज्येन । प्रऽइषिता ॥१४॥

ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥

ब्रह्मणा । परिऽगृहीता । साम्ना । परिऽऊढा ॥ १५ ॥

उदीरितलक्षणा ओदनपाकार्था कुम्भी स्थाली ऋचा ऋग्वेदेन अधिहिता अग्नावुपरि आहिता स्थापिता । आर्त्विज्येन ऋत्विजः अध्वर्यवः । तत्संबन्धिकर्मप्रतिपादकेन यजुर्वेदेन प्रेषिता अग्निं

भगमिता। ब्रह्मणा ब्रह्मवेदेन आथर्वणेन परिगृहीता परितो धारिता। साम्ना सामवेदेन पर्यूल्हा पर्यूढा अङ्गारैः परिवेष्टिता ॥

पूर्वोक्तलक्षण वाली कुंभीको ऋग्वेदरूपी अग्नि पर स्थापित किया है और यह यजुर्वेदरूपी अग्नि पर गई है और अथर्ववेदसे धारित है और सामवेदरूपी अंगारोंसे घिरी हुई है ॥१४॥१५॥

इत्थम् अधिश्रितायां स्थाल्याम् ओदनपाकस्य अनुगुणं साधनम् आह ॥

इस प्रकार चढ़ाई हुई बटलोईके अनुकूल साधनोंको कहते हैं, कि-

बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥

बृहत् । आऽयवनम् । रथम्ऽतरम् । दर्विः ॥ १६ ॥

बृहत् साम आयवनम् । उदके प्रक्षिप्तानां तण्डुलानां मिश्रणसाधनं काष्ठम् । तथा रथन्तरं साम दर्विः ओदनोद्धारणसाधनम् ।

बृहत्-साम ही जलमें डाले हुए तण्डुलोंको मिलानेका काष्ठ है और रथन्तर साम ओदन निकालनेका साधन करछली है १६

ईदृग्विधस्य ओदनस्य पक्तॄन् दर्शयति ॥

अब ऐसे ओदनके पक्ताओंको दिखाते हैं कि—

ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥

ऋतवः । पक्तारः । आर्तवाः । सम् । इन्धते ॥ १७ ॥

ऋतवः वसन्ताद्याः षट् अस्य ओदनस्य पक्तारः पचिक्रियायाः कर्तारः । सर्वजगदात्मकौदनपाकस्य कालाधीनत्वात् नान्यः पक्तुं शक्नोतीत्यर्थः । आर्तवाः ऋतुसंबन्धिनः अहोरात्राः तत्तदृतौ जायमानाः प्राणिविशेषा वा समिन्धते संदीपयन्ति । यथा ओदनः पच्यते तथा अग्निं ज्वलयन्तीत्यर्थः । ॐ इन्धी दीप्तौ ॐ ।

वसन्त आदि छः ऋतुएँ इस ओदनकी पक्ता हैं । सर्वजगदात्मक ओदनका पाक कालाधीन है अतः उसको दूसरा कौन पका

सकता है और ऋतुसंबन्धी दिन रात ही इसको प्रज्वलित करने वाले हैं ॥ १७ ॥

साक्षात्पक्तृत्वम् आदित्यस्यैवेति दर्शयति ॥

अब यह दिखाते हैं, कि—साक्षात् पक्तृत्व आदित्यका ही है

चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे ॥ १८ ॥

चरुम् । पञ्चऽबिलम् । उखम् । घर्मः । अभि । इन्धे ॥ १८ ॥

चरुशब्दः ओदनवचनः । तस्य पाकार्था स्थाल्यपि चरुरित्युच्यते । तं चरुं पञ्चबिलम् "गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः" [११. २. ९] इति मन्त्रोदीरितपञ्चपशूत्पत्तिहेतुत्वेन पञ्चधा विभिन्नमुखम् । यद्वा अन्तः पञ्चधा मृद्भिः प्रविभक्तावकाशश्चरुः पञ्चबिलः । यद् आह आपस्तम्बः । "पञ्चबिलस्य चरोर्विज्ञायते आज्य आग्नेयः पूर्वस्मिन् बिले । दधन्यैन्द्रो दक्षिणे । शृते प्रतिदुहि नीतमिश्रे वा वैश्वदेवः पश्चिमे । अप्सु मैत्रावरुण उत्तरे । पयसि बार्हस्पत्यो मध्यमे" इति । एवंभूतम् उखम् । चरुशब्दापेक्षया पुंलिङ्गता । उखां स्थालीं घर्मः प्रवर्ग्यात्मकस्तीक्ष्ण आदित्यः अभीन्धे अभितपति ॥

चरुशब्द ओदनका वाचक है, उसके पकानेकी स्थाली भी चरु कहलाती है उस पञ्चबिल ‡ वाले चरुको प्रवर्ग्यात्मक तीक्ष्ण आदित्य तपाता है ॥ १८ ॥

अस्यौदनस्य सर्वलोकप्राप्तिसाधनताम् आह ॥

अब यह दिखाते हैं, कि—यह ओदन सब लोकोंकी प्राप्तिका साधन है ।

‡ गौ घोड़े पुरुष भेड़ और बकरी इन पाँचकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे पाँच प्रकारसे विभिन्न मुख वाला यह ओदन पञ्चबिल कहलाता है ॥

ओद॒नेन॑ यज्ञव॒चः सर्वे॑ लो॒काः स॒माप्याः॑ ॥ १९ ॥

ओद॒नेन॑ । य॒ज्ञऽव॒चः । सर्वे॑ । लो॒काः । स॒म्ऽआप्याः॑ ॥ १९ ॥

इत्थं महाप्रभावेण पक्वेन ओदनेन यज्ञवचः यज्ञैः अग्निष्टोमादिभिः प्राप्तव्यत्वेन उच्यमानाः । ❀ वचेः कर्मणि विच् ❀ । सर्वे लोकाः भूम्यन्तरिक्षस्वर्गाद्याः समाप्याः सम्यग् आप्तुम् अर्हाः । सर्वलोकावाप्तिः अस्यौदनस्य फलम् इत्यर्थः ॥

इस प्रकार महाप्रभाव वाले पक्व ओदनसे, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंसे जिन लोकोंकी प्राप्ति कही जाती है, वे सब भूमि अन्तरिक्ष और स्वर्ग आदि लोक, भली प्रकार प्राप्त हो सकते हैं अर्थात् सब लोकोंकी प्राप्ति ही इस ओदनका फल है ॥ १९ ॥

पुनरपि अस्य महिमानम् आह ॥

फिर इसकी महिमाका वर्णन करते हैं, कि–

यस्मि॑न्त्समु॒द्रो द्यौर्भूमि॒स्त्रयो॑ऽवरप॒रं श्रि॒ताः ॥ २० ॥

यस्मि॑न् । स॒मु॒द्रः । द्यौः । भूमिः॑ । त्रयः॑ । अ॒व॒र॒ऽप॒रम् । श्रि॒ताः २०

यस्मिन्नोदने समुद्रः उदधिः द्यौः आकाशः द्युलोको वा भूमिः पृथिवी एते त्रयः अवरपरं श्रिताः । एकः अवरः अधस्ताद् भवति अन्यः परस्ताद् यथा भवति तत् अवरपरम् । उत्तराधरभावेन स्थिता इत्यर्थः ॥

जिस ओदनमें समुद्र आकाश (वा द्युलोक) तथा भूमि तले ऊपर स्थित हैं (वही यह ओदन है) ॥ २० ॥

सर्वजगत्कल्पनास्पदत्वलक्षणं माहात्म्यम् अस्य दर्शयति ॥

इसके सर्वजगत्कल्पनास्पदत्व लक्षणको दिखाते हैं, कि–

यस्य॑ दे॒वा अक॑ल्प॒न्तोच्छि॑ष्टे॒ षड॑शी॒तयः॑ ॥ २१ ॥

यस्य । देवाः । अकल्पन्त । उत्ऽशिष्टे । षट् । अशीतयः ॥२१॥

यस्य ओदनस्य उच्छिष्टे यागावशिष्टे अंशे षडशीतयः षड्गुणिताशीतिसंख्याका देवा अकल्पन्त समर्था वीर्यवन्तः अभवन् । अथ वा । ॐ क्लृपिरन्तर्णीतण्यर्थः ॐ । सर्वं जगद् अकल्पयन् । तथा च अग्रे समाम्नास्यते । "उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः" [११. ६. १] इत्यादिना । तेन ओदनेन सर्वे लोकाः समाप्या इति संबन्धः ॥

जिस ओदनके यागावशिष्ट अंशमें चार सौ अस्सी देवता वीर्यवान् हुए हैं वा चारसौ अस्सी देवताओंने सकल जगत्की कल्पना की है उस ओदनसे सकल लोक प्राप्त होसकते हैं ॥ २१ ॥

उक्तं माहात्म्यं गुरुमुखात् ज्ञातव्यम् इत्यभिप्रेत्य शिष्यप्रश्नम् उद्भावयति ॥

उक्त माहात्म्य गुरुमुखसे जानना चाहिये, इस बातको लक्ष्य में रख कर शिष्यप्रश्नका उद्भावन करते हैं, कि—

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् २२

तम् । त्वा । ओदनस्य । पृच्छामि । यः । अस्य । महिमा । महान्

हे गुरो त्वा त्वाम् ओदनस्य तं महिमानं पृच्छामि । अस्यौदनस्य यो महिमा महान् अधिकतरः ॥

हे गुरो ! जो इस ओदनकी बड़ी भारी महिमा है उसको मैं आपसे बूझता हूँ ॥ २२ ॥

तत्र प्रतिवचने वर्जनीयं दर्शयति ॥

अब प्रतिवचनमें वर्जनीयको दिखाते हैं, कि—

स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥

सः । यः । ओदनस्य । महिमानम् । विद्यात् ॥ २३ ॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति

न । अल्पः । इति । ब्रूयात् । न । अनुपऽसेचनः । इति । न ।

इदम् । च । किम् । च । इति ॥ २४ ॥

स प्रसिद्धो यो गुरुः उदीरितलक्षणस्य ओदनस्य महिमानम् माहात्म्यं विद्यात् जानीयात् असौ उपदेशसमये अल्प इति न ब्रूयात् महिम्नोऽल्पत्वं नोपदिशेत् । अनुपसेचनः उपसिच्यते अनेनेति उपसेचनं क्षीराज्यदध्यादि तद्रहित इति च न ब्रूयात् । न च इदम् इति पुरोवर्तित्वेन निर्दिश्य ब्रूयात् । किम् इति अनिर्दिष्टरूपेण च न ब्रूयात् । प्रागुक्तप्रकारेणैव सार्वात्म्यं ब्रूयाद् इत्यर्थः ॥

जो गुरु इसकी महिमाको जानता होवे वह गुरु उपदेशके समय यह अल्प है ऐसा न कहे अर्थात् इसकी महिमाको थोड़ी न बतलावे और इसमें क्षीर घृत आदि उपसेचनकी आवश्यकता नहीं है—यह भी न कहे और यह होगया, वा क्या है इस प्रकार भी न कहे अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे इनके सार्वात्म्यका ही वर्णन करे ॥ २३ ॥ २४ ॥

आधिक्यवचनमपि अस्य विषये न युक्तम् इत्याह ॥

अब यह कहते हैं, कि—इसके विषयमें आधिक्यवचन भी युक्त नहीं है ।

यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

यावत् । दाता । अभिऽमनस्येत । तत् । न । अति । वदेत् २५

दाता सवयज्ञानुष्ठाता यावत् फलम् अभिमनस्येत मनसा अभिप्राप्तुम् इच्छेत् तत् नाति वदेत् । तत् फलम् अतिक्रम्य अधिकं न ब्रूयाद् इत्यर्थः ॥

सवयज्ञका अनुष्ठाता दाता जितने फलको मनसे चाहे उस फल से बढ़ कर अधिक न कहे ॥ २५ ॥

अथ वक्ष्यमाणैः पर्यायैस्तस्यौदनस्य प्राशने भावनाविशेषं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्नद्वयम् अवतारयति ॥

अब आगेके पर्यायोंसे इस ओदनके प्राशनमें भावनाविशेषको कहनेके लिये ब्रह्मवादियोंके दो प्रश्नोंका अवतरण करते हैं, कि—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति ॥ २६ ॥

ब्रह्मऽवादिनः । वदन्ति । पराञ्चम् । ओदनम् । प्र । आशी३ः । प्रत्यञ्चा३म् । इति ॥ २६ ॥

त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति ॥ २७ ॥

त्वम् । ओदनम् । प्र । आशी३ः । त्वाम् । ओदना३ः । इति २७

ब्रह्म वेदः तद् वदितुं शीलम् एषाम् इति ब्रह्मवादिनो ब्रह्म विचारका महर्षयः । ते संभूय वदन्ति परस्परं भाषन्ते । हे देवदत्त त्वम् इमम् ओदनं पराञ्चम् पराङ्मुखं स्थितं प्राशीः प्राशितवान् असि उत प्रत्यञ्चम् आत्माभिमुखं स्थितं प्राशितवान् असि । प्राशितुस्तव प्राशितव्यः स ओदनः किं पराङ्मुखः उत अभिमुख इति प्रश्नः ❀ "विचार्यमाणानाम्" इति प्लुतः ❀ ॥ तथा हे देवदत्त त्वम् ओदनं प्राशीः भक्षितवान् असि अथ वा स एव ओदनस्त्वां प्राशीत् इति प्रश्नान्तरम् । ❀अत्रापि पूर्ववत् प्लुतः❀ ॥

ब्रह्मवादी विचारक महर्षि एकत्रित होकर परस्पर भाषण करते हैं, कि-हे देवदत्त ! तू इस पराङ्मुख ओदनका प्राशन कर चुका है वा आत्माभिमुख ओदनका प्राशन कर चुका है । प्रश्न यह है,

कि—प्राशिता तेरे वह प्राशितव्य ओदन पराङ्मुख है वा अभिमुख है तथा हे देवदत्त ! तू ओदनको खा चुका है अथवा ओदन ने तेरा प्राशन कर लिया है ॥ २७ ॥

अत्र आद्ये प्रश्ने प्रथमकल्पे दोषम् आह ॥

अब प्रथम प्रश्नमें प्रथमकल्पमें दोष दिखाते हैं, कि—

परांञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह २८

पराञ्चम् । च । एनम् । प्रऽआशीः । प्राणाः । त्वा । हास्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ २८ ॥

चशब्दश्चेदर्थे । पराञ्चम् पराङ्मुखत्वेन स्थितम् एनम् ओदनं प्राशीश्चेत् प्राणाः प्राणवायवः त्वा त्वां हास्यन्ति त्यक्ष्यन्तीत्येनं प्राशितारम् आह विद्वान् ब्रवीतु । बहिर्मुखः प्राणो बहिर्मुखौदनमाशनाय शरीराद् विनिर्गतो भवेद् इत्यर्थः ॥

यदि तूने पराङ्मुख स्थित ओदनको खाया है तो प्राणवायु तुझको त्याग देगी—इस प्रकार विद्वान् प्राशितासे कहे अर्थात् बहिर्मुख प्राण बहिर्मुख ओदनका प्राशन करनेके लिये शरीरसे विनिर्गत होगा ॥ २८ ॥

द्वितीयकल्पम् अनूद्य दूषयति ॥

द्वितीय कल्पको दिखा कर दूषित करते हैं कि—

प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह २७

प्रत्यञ्चम् । च । एनम् । प्रऽआशीः । अपानाः । त्वा । हास्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ २९ ॥

अत्रापि चशब्दश्चेदर्थे । प्रतिमुखम् अवस्थितं चेद् एनम् ओदनं प्राशीस्तर्हि त्वा त्वाम् अपानाः अपानवायुवृत्तयो हास्यन्ति

त्यक्ष्यन्ति । इत्येनं प्राशितारम् आह अभिज्ञो ब्रूयात् । अपानवायोरोदनस्य च प्रत्यङ्मुखत्वेन अधोद्वारात् अपानस्य शरीराद् विनिर्गम एव स्याद् इत्यर्थः ॥

यदि तूने प्रतिमुख ओदनका प्राशन किया है तो अपानवायुवृत्तियें तुझको त्याग देंगी, विद्वान् इस प्रकार प्राशितासे कहे अर्थात् अपानवायुका और ओदनका प्रत्यङ्मुख होनेसे अधोद्वार से अपानका विनिर्गम ही होगा ॥ २६ ॥

द्वितीयप्रश्नः अनङ्गीकारपरास्त इत्याह ॥

द्वितीयप्रश्न अंगीकार न करनेसे परास्त होजाता है, कि–

नैवाहमो॑द॒नं न मामो॑द॒नः ॥ ३० ॥

न । ए॒व । अ॒हम् । ओ॒द॒नम् । न । माम् । ओ॒द॒नः ॥ ३० ॥

अहम् ओदनं नैव प्राशिषम् । ओदनोपि मां न प्राशीत् । अतः पक्षद्वयस्यानङ्गीकारात् तत्प्रयुक्तदोषाभाव इत्यर्थः ॥

मैंने ओदनका प्राशन नहीं किया है और ओदनने भी मेरा प्राशन नहीं किया है, तात्पर्य यह है, कि–दोनों पक्षोंको अंगीकार न करनेसे उनका दोष नहीं लग सकता ॥ ३० ॥

कथं तर्हि तत्प्राशनम् इति तत्राह ॥

फिर उसका प्राशन कैसे हुआ है ? तो कहते हैं, कि–

ओ॒द॒न ए॒वौद॒नं प्राशी॑त् ॥ ३१ ॥

ओ॒द॒नः । ए॒व । ओ॒द॒नम् । प्र । आ॒शी॒त् ॥ ३१ ॥

भोक्तृभोक्तव्यप्रपञ्चात्मक ओदन इति उक्तम् । अतः ओदन एव कर्ता ओदनं स्वात्मानं प्राशीत् प्राशितवान् । ॐ अश भोजने इत्यस्मात् लुङि रूपम् ॐ ॥

[इति] प्रथमसूक्तम् ॥

यह ओदन भोक्तृभोक्तव्यप्रपञ्चात्मक है यह कह ही चुके हैं, अत एव ओदनकर्ताने ही स्वात्मरूप ओदनका प्राशन किया है ॥ ३१ ॥ (८)

प्रथम सूक्त समाप्त ॥

अथ उत्तरैः पर्यायैः ओदनस्यैव भोक्तृत्वं भोज्यत्वं च विपक्षे बाधपुरःसरं समर्थ्यते । तत्र प्रथमम् "तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरः" इति यद् उक्तं विपक्षे बाधपुरःसरं तस्य प्रयोजनं प्रथमेन पर्यायेणाह ॥

अब अगले पर्यायोंसे ओदनका भोक्तृत्व और भोज्यत्व वाद-विवादके साथ समर्थित होगा। तहाँ पहिले ही "तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरः" आदि जो कहा है विपक्षमें बाधा दिखाते हुए उसके प्रयोजनको प्रथम पर्यायसे कहते हैं कि—

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । बृहस्पतिना शीर्ष्णा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । शीर्ष्णा । प्रऽआशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ ज्येष्ठतः । ते । प्रऽजा । मरिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ बृहस्पतिना । शीर्ष्णा ॥

तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद १

पूर्वे प्रथमभाविनोऽनुष्ठातार ऋषयः येन च शिरसा एतम् ओदनं प्राश्नन् प्राशितवन्तः । ❀ अश भोजने । क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः ❀ । ततस्तस्माद् अन्येन शीर्ष्णा शिरसा । ❀"शीर्षश्छन्दसि" इति शिरःशब्दस्य शीर्षन् आदेशः ❀ । ततश्चेति चशब्दश्चेदर्थे । अन्येन चेत् शिरसा एनम् उक्तप्रभावम् ओदनं प्राशीः हे देवदत्त प्राशितवान् असि ते तव प्रजा पुत्रादिरूपा ज्येष्ठत आरभ्य ज्येष्ठादिक्रमेण मरिष्यति इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह अभिज्ञो ब्रूयात् । इत्थम् अयथाप्राशने दोष उपन्यस्तः । एतद्दोषपरिहारेण प्राशनम् आह तं वा इति । तं तथाविधम् ओदनम् अहम् अर्वाञ्चम् अर्वाङ्मुखम् अञ्चन्तं न प्राशिषम् । तथा पराञ्चम् पराङ्मुखम् अञ्चन्तमपि न प्राशिषम् । तथा प्रत्यञ्चम् आत्माभिमुखम् अञ्चन्तमपि न प्राशिषम् । अतः पराञ्चं चैनं प्राशीः इत्यादिना उक्तदोषस्य अप्रसङ्गः । कथं तर्हि प्राशीरित्याह । बृहस्पतिना शीर्ष्णा बृहस्पत्यात्मना ओदनसंबन्धिशिरसा । ऋषयो हि पूर्वम् अनेनैव शिरसा ओदनं प्राश्नन् । अहमपि ओदनात्मकस्तेनैव शिरसा एनम् ओदनं प्राशिषम् प्राशितवान् अस्मि । ओदन एवौदनं प्राशीत् इति युक्तम् । तेनैव शिरसा एनम् ओदनम् अजीगमम् गन्तव्यं देशं प्रापितवान् अस्मि । ❀ गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ । एष वै इत्थं खलु प्राशितोऽयम् ओदनः सर्वाङ्गः सर्वैरवयवैरुपेतः सर्वपरुः सर्वैः परुभिः पर्वभिः अवयवसंधिभिरुपेतः सर्वतनूः संपूर्णशरीरः । इत्थं वेदितुः फलम् आह सर्वाङ्ग एवेति । यः पुरुषः एवम् उक्तप्रकारेण ओद-

नस्य प्राशनं वेद जानाति सोपि सर्वाङ्गत्वादिफलं प्राप्तः सन् सं भवति पुण्यभूते स्वर्गादिलोके उत्पद्यते। एवम् उत्तरेपि पर्याया व्याख्येयाः ॥

पहिले अनुष्ठान करने वालोंने जिस शिरसे ओदनका प्राशन किया था यदि उससे अतिरिक्त दूसरे शिरसे हे देवदत्त! तूने प्राशन किया है तो तेरी पुत्र आदि प्रजा ज्येष्ठसे आरम्भ करके क्रमशः मरने लगेगी। इस प्रकार इस प्राशितासे अभिज्ञ पुरुष कहे (इस प्रकार अयथाप्राशनमें दोष दिखाया, इस दोषको दूर करते हुए प्राशनको कहते हैं, कि -) मैंने उस ओदनको अवाङ्मुख होने पर नहीं खाया है और प्रत्यङ्मुख तथा आत्माभिमुख गमन करने पर भी नहीं खाया है। (अतः पराङ्मुख और अर्वाङ्-मुखका दोष मुझको नहीं लग सकता, फिर शंका होती है, कि-उसका प्राशन किया किस प्रकार है? तो कहते, कि-) बृहस्पत्या-त्मक ओदनसम्बन्धी शिरसे ऋषियोंने इसका प्राशन किया था, मुझ ओदनात्मकने भी उस ही शिरसे इसका प्राशन किया है। मुझ ओदनने ही ओदनका प्राशन किया है यह पहिले ही कह दिया है। उसी शिरसे इस ओदनको मैंने गन्तव्यस्थानको प्राप्त करा दिया है। इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सकल अंगोंसे, सकल पर्वोंसे युक्त हो पूर्ण शरीर वाला होजाता है और वेदितासे सर्वाङ्ग फलको ही कहता है। जो पुरुष इस प्रकार ओदनके प्राशनको जानता है वह भी सर्वाङ्गत्व आदि फलको प्राप्त होता हुआ पुण्यभूत स्वर्गादिलोकमें उत्पन्न होता है ॥१॥

"द्यावापृथिवी श्रोत्रे" इति द्यावापृथिव्योः ओदनसंबन्धिश्रोत्र-त्वेन भावनं यद् उक्तं तत्प्रयोजनमपि विपसे बाधपुरःसरं द्वितीय-मन्त्रेण उपन्यस्यति ॥

"द्यावापृथिवी श्रोत्रे" इत्यादिमें जो ओदनसम्बन्धिश्रोत्ररूप

द्यावापृथिवीका श्रोत्रत्व भावित किया था उसका प्रयोजन भी विपक्षमें बाधा दिखाते हुए दूसरे मंत्रमें कहते हैं, कि-

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बधिरो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । श्रोत्राभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ बधिरः । भविष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ द्यावापृथिवीभ्याम् । श्रोत्राभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ २ ॥

एतम् अनुषज्य वाक्यं पुरस्तात् व्याख्येयम् । अयम् अर्थः । याभ्यां श्रोत्राभ्यां पूर्वे प्रथमभाविन ऋषयः एतम् ओदनं प्राश्नन्

ततोऽन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां लौकिकाभ्यां यदि ओदनं प्राशितवान् असि तर्हि त्वं बधिरः नष्टश्रोत्रेन्द्रियो भविष्यसि इत्येनं प्राशितारम् आह । तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् ओदनस्य श्रोत्रत्वेन भाविताभ्यां ताभ्यामेव एनम् ओदनं प्राशिषम् ताभ्यामेव एनम् प्रतीगमम् गमितवान् अस्मि न तु आत्मीयाभ्यां श्रोत्राभ्यां येन उक्तदोषः प्रसज्येत् इति भावः । एष वा ओदन इत्यादिवाक्यशेषः सर्वत्र समानार्थः । एवम् उत्तरेषु पर्यायेषु अनुषङ्गेण वाक्यपरिसमाप्तिर्वाक्ययोजना च कर्तव्या ॥

जिन कर्णोंसे पहिले ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया है यदि तूने उनसे अतिरिक्त लौकिक श्रोत्रोंसे प्राशन किया है तो तू बहिरा होजायगा, इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति प्राशन करने वालेसे कहे । इस प्रकार अयथाप्राशनमें दोष दिखाया, उस दोषको दूर करते हुए प्राशनके विषयमें कहते हैं, कि–) ऐसे ओदनके पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अवाङ्मुख होने पर मैंने नहीं खाया है अत एव उक्तदोष नहीं लग सकता, अब यह कहते हैं, कि– प्राशन कैसे किया है, कि–) श्रोत्ररूपसे भावित द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रोंसे मैंने इस ओदनका प्राशन किया है और उनहीसे उसको यथास्थान स्थापित किया है, अपने लौकिक श्रोत्रोंसे नहीं किया है, अत एव उक्त दोषका प्रसंग नहीं है, इस प्रकार प्राशित हुआ ओदन सर्वांग सर्वपरु और सम्पूर्णशरीर होजाता है और वेदिता को ऐसा ही फल देता है । जो पुरुष इस प्रकारसे ओदनके प्राशनको जानता है वह भी सर्वांगत्व आदि फलको पाता हुआ पुण्यभूत स्वर्ग आदि लोकमें उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

"सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी" इति यद् उक्तं प्राक् तस्य प्रयोजनकथनपरस्तृतीयो मन्त्रः ॥

पहिले कहा था, कि-सूर्य और चन्द्रमा इस ओदनके नेत्र हैं, तीसरा मन्त्र उसी प्रयोजनको स्पष्ट करता है, कि—

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । अक्षीभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ अन्धः । भविष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । अक्षीभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

याभ्यां चक्षुर्भ्यां पूर्व ऋषयः एतम् ओदनं प्राश्नन् ततश्च ताभ्यां चेद् अन्याभ्याम् अक्षीभ्यां चक्षुर्भ्याम् एनम् ओदनं प्राशित·

वान् असि तर्हि अयथाप्राशनात् अन्धः लुप्तचक्षुष्को भविष्यसि इत्येनं प्राशितारम् आह ब्रूयात् । ❀ अक्षीभ्याम् इति । "ई च द्विवचने" इति अक्षिशब्दस्य ईकारान्तादेशः ❀ । तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तद्रूपाभ्याम् अक्षीभ्याम् ओदनसंबन्धिचक्षुर्भ्याम् । ताभ्याम् एनं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववत् । एष वा ओदनः सर्वाङ्ग इत्यादिवाक्यशेषः समानार्थः ॥

जिन नेत्रोंसे पहिले ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था यदि तूने उनके अतिरिक्त अन्य लौकिक नेत्रोंसे इसका प्राशन किया है तो उस अयथाप्राशनसे तू अंधा होजावेगा, इस प्रकार जानने वाला प्राशन करने वालेसे कहे, इस प्रकार अयथाप्राशन में दोष दिखाया इस दोषको दूर करनेके लिये प्राशनको बताते हैं, कि–मैंने इस ओदनको अर्वाङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा पराङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है किन्तु ओदनसम्बंधी सूर्य और चन्द्ररूपी नेत्रोंसे इसका प्राशन किया है । मैं भी ओदन हूँ और ओदनने ही ओदनका प्राशन किया है, उन ही सूर्यचन्द्र नेत्रोंसे मैंने इसको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाया है इस प्रकार यह प्राशित ओदन सर्वांग सर्वपरु और पूर्ण शरीर वाला होता हुआ सर्वांग फलको ही देता है कहता है जो पुरुष इस प्रकारसे ओदनके प्राशनको जानता है वह सर्वांगत्व आदि फलको पाता हुआ स्वर्ग में प्रकट होता है ॥ २ ॥

"ब्रह्म मुखम्" इति यद् ओदनस्य मुखकल्पनं कृतं तस्योपयोगम् आह ॥

"ब्रह्म मुखम्" से जो ओदनके मुखकी कल्पना की थी उसके उपयोगको कहते हैं कि–

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। ब्रह्मणा मुखेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ततः। च। एनम्। अन्येन। मुखेन। प्रऽआशीः। येन। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्रऽआश्नन्॥ मुखतः। ते। प्रऽजा। मरिष्यति। इति। एनम्। आह॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम्॥ ब्रह्मणा। मुखेन॥ तेन। एनम्। प्र। आशिषम्। तेन। एनम्। अजीगमम्॥ एषः। वै। ओदनः। सर्वऽअङ्गः। सर्वऽपरुः। सर्वऽतनूः॥ सर्वऽअङ्गः। एव। सर्वऽपरुः। सर्वऽतनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद॥ ४॥

येन च ओदनसंबन्धिना ब्रह्मात्मकेन मुखेन पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततोऽन्येन चेन्मुखेन ओदनं प्राशीस्तर्हि मुखतः मुखाद् आरभ्य अभिमुखप्रदेशे वा ते त्वदीया प्रजा मरिष्यति विनङ्क्ष्यति इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह कश्चिद् ब्रूयात्। तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत्। ब्रह्मणा यत् जगत्कारणं ब्रह्म वेदात्मकं वा तदात्मकेन मुखेन ओदनसंबन्धिना। तेन प्रागुक्तेन एनम् ओदनं प्राशिषम् इत्यादि समानम्॥

जिस ओदनसंबन्धी ब्रह्मात्मक मुखसे पहिले ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था यदि तूने उससे अतिरिक्त लौकिक-मुखसे इसका प्राशन किया है तो उस अयथाप्राशनके फलसे तेरे मुखके सामने ही तेरी प्रजा मरने लगेगी। वेत्ता पुरुष इस प्रकार प्राशन करने वालेसे कहे इस प्रकार अयथाप्राशनमें दोष दिखाया उस दोषका परिहार करनेके लिये प्राशिता कहता है, कि—मैंने इस ओदनका अर्वाङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा पराङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है किंतु जगत्के कारण ब्रह्मरूपी मुखसे इसका प्राशन किया है, मैं भी ओदन हूँ और ओदनने ही ओदनका प्राशन किया है, उस ही ब्रह्ममुखसे मैंने इसको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाया है, इस प्रकार यह प्राशित ओदन सर्वांग सर्वपरु और पूर्ण शरीर वाला होता हुआ सर्वांग फलको ही वेत्तासे कहता है। जो पुरुष इस प्रकारसे ओदनके प्राशनको जानता है वह सर्वांगत्व आदि फलको या पुण्य फल भोगनेके स्थान स्वर्ग आदिमें प्रकट होता है॥ ४॥

पूर्वं "बृहस्पतिः शिरः" इत्यादिना कानिचिदेव अङ्गानि उपलक्षणत्वेन ओदनस्य परिकल्पितानि। अस्मिन् प्रकरणे अनुक्तानामपि अवयवानां प्राशने करणत्वेन विनियोगादेव तत्तदवयवजातम् ओदनस्य अर्थात् क्लृप्तं वेदितव्यम्। तत्र अग्नेर्जिह्वैव प्राशितुर्जिह्वेति पञ्चमेन मन्त्रेण प्रतिपादयति॥

पहिले "बृहस्पतिः शिरः" इत्यादिसे ओदनके कुछ अंगोंको उपलक्षणत्वसे परिकल्पित किया, इस प्रकरणमें अनुक्त अवयवोंके भी प्राशनमें करण होनेसे विनियोगसे ही उन २ अवयवोंका ओदनसम्बंधी क्लृप्तत्व समझना चाहिये। अब अग्निकी जिह्वा ही प्राशिताकी जिह्वा है इसको पञ्चम मंत्रसे प्रतिपादित करते हैं, कि-

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्वं ऋषयः

प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

ततः । च । एनम् । अन्यया । जिह्वया । प्रऽआशीः । यया । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ जिह्वा । ते । मरिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ अग्नेः । जिह्वया ॥ तया । एनम् । प्र । आशिषम् । तया । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ५ ॥

यया जिह्वया पूर्वं ऋषयः एतम् ओदनं प्राश्नन् ततोन्यया आत्मीयया जिह्वया चेत् हे देवदत्त त्वम् ओदनं प्राशीस्तर्हि ते त्वदीया जिह्वा मरिष्यति प्राणांस्त्यक्ष्यति। प्राणत्यागेन शुष्का स्वकार्यक्षमा न भविष्यतीत्यर्थः । ❀ मृङ् प्राणत्यागे। “म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च” इति आत्मनेपदस्य नियमनात् परस्मैपदम् । “ऋद्धनोः स्ये” इति इडागमः ❀ । तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । अग्नेः अवयवभूतया जिह्वया । सैव प्राशितुः ओदनस्य च जिह्वेत्यर्थः ।

तथा जिह्वया एनम् ओदनम् अहं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिस जिह्वासे पहिले ऋषियोंने प्राशन किया था, हे देवदत्त! यदि तूने उसके अतिरिक्त लौकिक जिह्वासे प्राशन किया होगा सो तेरी जीभ मर जावेगी अर्थात् प्राणत्यागसे शुष्क होजावेगी–अपना कार्य करनेमें समर्थ न रहेगी, इस प्रकार विद्वान् पुरुष प्राशन करने वालेसे कहे, इस प्रकार अयथाप्राशनमें दोष दिखाया इस दोषको दूर करनेके लिये प्राशनका वर्णन करते हैं, कि— उस ओदनका मैंने पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अवाङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है अत एव उक्तदोषका अप्रसंग है, अब शंका होती है, कि–किस प्रकार प्राशन किया ? तो इसका उत्तर यह है, कि–इस ओदनकी अवयवभूत अग्निरूपी जिह्वासे मैंने इसका प्राशन किया है, वही प्राशिता और ओदनकी जिह्वा है। ऋषियोंने पहिले इसी जिह्वासे ओदनका प्राशन किया था, मैं भी ओदनात्मक हूँ अतः ओदनने ही ओदनका प्राशन किया है और इसको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाया है। इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सम्पूर्ण शरीर वाला होकर वेदितासे सर्वांगत्व आदि फलको कहता है। जो पुरुष इसप्रकार से ओदनके प्राशनको जानता है वह सर्वांगत्व आदि फलको पाता हुआ पुण्यभूत स्वर्गादिलोकमें उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

दन्तानामपि विपरिवृत्तिं षष्ठेन मन्त्रेण दर्शयति ॥

दाँतोंकी विपरिवृत्तिको छठे मन्त्रसे दिखाते हैं, कि—

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्येश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं

तैरेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

ततः । च । एनम् । अन्यैः । दन्तैः । प्रऽआशीः । यैः । च । एनम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ दन्ताः । ते । शत्स्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ ऋतुऽभिः । दन्तैः ॥ तैः । एनम् । प्र । आशिषम् । तैः । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ६ ॥

यैर्दन्तैः एतम् ओदनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततोऽन्यैर्दन्तैश्चेत् एनम् ओदनं प्राशीः प्राशितुस्ते तव दन्ताः शत्स्यन्ति विशीर्णाः पतिष्यन्ति इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह अभिज्ञो ब्रूयात् । तं प्रति उत्तरं तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । ऋतुभिः वसन्तग्रीष्मादिभिर्दन्तैः । ऋतवः अस्य दन्ता इति अर्थाद् उक्तं भवति । तैः ऋत्वात्मकैर्दन्तैः एनम् ओदनं प्राशिषम् अतो नोक्तदोषप्रसङ्गः । अन्यद् उक्तार्थम् ॥

जिन दाँतोंसे पहिले ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था हे देवदत्त ! यदि उन दाँतोंके अतिरिक्त अन्य लौकिक दाँतों से तूने इस ओदनका प्राशन किया है तो तेरे दाँत गिर जावेंगे, इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशितासे कहे । इस प्रकार अयथा -

प्राशनमें दोष दिखाया उसका परिहार करनेके लिये प्राशिता कहता है, कि—ऐसे ओदनको मैंने प्रत्यङ्मुख अवाङ्मुख और पराङ्मुख होने पर नहीं खाया है अत एव उक्तदोष मुझे नहीं लग सकता, अब यह शंका होती है, कि—इसका प्राशन कैसे हुआ है ? इसके उत्तरमें प्राशिता कहता है, कि—मैंने इसको वसंत ग्रीष्म आदि ऋतुरूप दाँतोंसे प्राशित किया है, इन्हीं दाँतोंसे पहिले ऋषियोंने इसका प्राशन किया था अत एव उक्त दोष मुझको नहीं लग सकता, ओदनने ही ओदनको खाया है, उन्हीं दाँतोंसे मैंने इसको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाया है, इस प्रकार प्राशित यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और पूर्णशरीर होकर वेदिता से सर्वांगत्व आदि फलको कहता है। जो पुरुष इस प्रकारसे ओदनके प्राशनको जानता है, वह सर्वांगत्व आदि फलोंको पाता हुआ पुण्यभूत स्वर्गादिलोकोंमें उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

"सप्तऋषयः प्राणापानाः" इति यत् प्राग् उक्तं तस्य इदानीम् उपयोगम् आह सप्तमेन मन्त्रेण ॥

"सप्त ऋषयः प्राणापानाः" सात ऋषि प्राण और अपान हैं—इस पूर्वोक्त बातका प्रयोजन सप्तम मन्त्रसे कहते हैं, कि—

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्येभ्यश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

ततः । च । एनम् । अन्यैः । प्राणापानैः । प्रऽआशीः । यैः । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ प्राणापानाः । त्वा । हास्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सप्तर्षिऽभिः । प्राणापानैः ॥ तैः । एनम् । प्र । आशिषम् । तैः । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एनम् । वेद ७

यैः प्राणापानैः अध्यात्मकैः एतम् ओदनं पूर्वेभिज्ञाः प्राश्नन् ततोऽन्यैश्चेत् प्राणापानैः एनम् ओदनं प्राशीस्तर्हि प्राशितारं त्वा त्वां प्राणापानाः प्राणापानात्मिका मुख्यप्राणस्य वृत्तयो हास्यन्ति त्यक्ष्यन्ति । ❀ ओहाक् त्यागे ❀ । इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह विशेषज्ञो ब्रूयात् । तस्योत्तरं तं वा अहम् इत्यादि । सप्तऋषिभिः एतद्रात्मकैः प्राणापानैः । तैरेनं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिन अध्यात्मक प्राणापानोंसे इस ओदनको पहिले अभिज्ञ पुरुषोंने प्राशन किया था, हे देवदत्त ! यदि तूने उनसे अतिरिक्त लौकिक प्राणापानोंसे इसका प्राशन किया है तो प्राण और अपानरूप मुख्य प्राणकी वृत्तियें तुझको छोड़ देंगी । इस प्रकार विशेषज्ञ पुरुष प्राशितासे कहे । इस प्रकार अयथाप्राशन में दोष दिखाया उसका उत्तर देता हुआ प्राशिता कहता है, कि- मैंने इस ओदनको पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अवाङ्मुख होने पर भक्षण नहीं किया है, अतः मुझ पर यह दोष नहीं लग सकता

फिर किस प्रकार प्राशन किया है? इसके उत्तरमें प्राशिता कहता है, कि—सप्त ऋषिरूप प्राणापानोंसे मैंने इसका प्राशन किया है, पूर्व ऋषियोंने भी इसी प्रकार प्राशन किया था अतः उक्त दोषका प्रसंग नहीं है। मैं भी ओदनात्मक हूँ ओदनने ही ओदन का प्राशन किया है और उन्हीं प्राणापानोंसे मैंने इसको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाया है। इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु पूर्णशरीर होजाता है। जो पुरुष इस प्रकारसे से ओदनके प्राशनको जानता है वह सर्वांगत्व आदि फलको पाता है अर्थात् पुण्यभूत स्वर्गादिमें सर्वांगभावसे प्रकट होता है ७

इत्थम् उत्तमाङ्गवर्तिनाम् अवयवानां प्राशने करणभूतानां देवतारूपत्वम् अभिधाय अन्येषाम् अवयवानां तथात्वम् अभिधित्सुः कृत्स्नशरीरव्यापिरूपस्य अन्तरिक्षरूपेण विपरिहृत्तिम् आह अष्टमेन पर्यायेण ॥

इस प्रकार उत्तमांगके अवयवोंके प्राशनमें करणभूत देवतारूपत्वको कह कर अन्य अवयवोंको भी वैसा ही कहनेके अभिप्रायसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त रूपकी अन्तरिक्षरूपसे विपरिहृत्ति को आठवें मन्त्रसे कहते हैं, कि—

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अन्तरिक्षेण व्यचसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । व्यचसा । प्रऽआशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ राजऽयक्ष्मः । त्वा । हनिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ अन्तरिक्षेण । व्यचसा ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ८

येन व्यचसा व्याप्तिमता रूपेण कृत्स्नशरीरवर्तिना एतम् ओदनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततोऽन्येन चेद् व्यचसा एनम् ओदनं प्राशीस्तर्हि त्वा त्वां प्राशितारं राजयक्ष्मः एतत्संज्ञः क्षयरोगो हनिष्यति मारयिष्यति। ❀ "ऋद्धनोः स्ये" इति इडागमः। यक्ष पूजायाम् इत्यस्मात् अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् [उ० १. १३७] इति औणादिको मन् प्रत्ययः ❀। राज्ञः सोमस्य संबन्धी यक्ष्मो राजयक्ष्मः। श्रूयते हि तैत्तिरीयके "राजानं यक्ष्म आरद् इति तद् राजयक्ष्मस्य जन्म" इति [तै०सं० २.५.६.५]। इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह ब्रूयात्। तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिस रूपसे पहिले ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था हे देवदत्त ! यदि तूने उस अन्तरिक्षात्मक रूपके अतिरिक्त अन्यलौकिकरूपसे इसका प्राशन किया है तो राजयक्ष्मा तुझको समाप्त करदेगा, इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशितासे कहे (उक्त दोषको दूर करता हुआ प्राशिता कहता है, कि—) मैंने इस ओदन

को अर्वाङ्मुख पराङ्मुख वा प्रत्यङ्मुख होने पर भक्षण नहीं किया है किंतु अन्तरिक्षात्मक रूपसे प्राशन किया है अतः उक्त दोष नहीं लग सकता, उसी रूपसे मैंने इसको यथास्थान पहुँचाया है, इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होजाता है। जो पुरुष इस प्रकारसे ओदनके प्राशनको जानता है वह स्वर्गलोकमें सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होकर प्रकट होता है ॥ ८ ॥

[पृष्ठभागस्य द्युलोकरूपेण विपरिद्वत्तिम् आह नवमेन मन्त्रेण ॥]

पृष्ठभागकी द्युलोकरूपसे विपरिद्वत्तिको नवम मन्त्रसे कहते हैं,कि-

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। विद्युत् त्वां हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। दिवा पृष्ठेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

ततः। च। एनम्। अन्येन। पृष्ठेन। प्रऽआशीः। येन। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्रऽआश्नन् ॥ विऽद्युत्। त्वा। हनिष्यति। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ दिवा। पृष्ठेन ॥ तेन। एनम्। प्र। आशिषम्। तेन। एनम्। अजीगमम् ॥ एषः। वै। ओदनः।

सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ९ ॥

येन दिवा द्युलोकात्मकेन पृष्ठेन मध्यशरीरापरभागेन एतम् ओदनं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततोऽन्येन चेत् पृष्ठेन आत्मीयेन शरीरापरभागेन त्वम् एनम् ओदनं प्राशीः विद्युत् विद्योतमाना अशनिस्त्वा त्वां हनिष्यति । इत्येनम् आह इत्यादि पूर्ववत् । दिवा द्युलोकात्मकेन पृष्ठेन शरीरापरभागेन । तेन अवयवेन एनं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जिस पृष्ठसे पूर्वके ऋषियोंने इसका प्राशन किया था हे देवदत्त ! यदि तूने उस पृष्ठके अतिरिक्त अन्य पृष्ठसे इसका प्राशन किया तो बिजली तेरा वध करेगी । इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशितासे कहे । उक्त दोषको दूर करता हुआ प्राशिता कहता है, कि–मैंने इसको प्रत्यङ्‌ अवाङ्‌ पराङ्‌ होनेपर प्राशित नहीं किया है अतः उक्त दोष नहीं लग सकता, किन्तु द्यौरूपी पृष्ठसे प्राशन किया है, उसीसे इसको यथास्थान पहुँचाया है । इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होजाता है। जो पुरुष इस प्रकारसे इस ओदनके प्राशनको जानता है वह स्वर्ग आदि लोकोंमें सर्वांग आदि पाकर प्रादुर्भूत होता है ९

अवयवान्तरस्यापि देवतात्मकत्वं ब्रूते दशमेन मन्त्रेण ॥

दशम मंत्रसे अन्य देवताओंका भी अवयवात्मकत्व कहते हैं, कि-

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । पृथिव्योरसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजी-

गमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद

ततः । च । एनम् । अन्येन । उरसा । प्रऽआशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ कृष्या । न । रात्स्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ पृथिव्या । उरसा ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद १०

येन उरसा पूर्वे ऋषयः प्राशितवन्तस्ततोऽन्येन चेद् उरसा स्तनमण्डलस्य उपरिवर्तिना पुरोभागस्थावयवेन त्वम् ओदनं प्राशीस्तर्हि कृष्या कर्षणक्रियया न रात्स्यसि । व्रीहियवादिसस्यैः समृद्धो न भविष्यसीत्यर्थः । ❀ राध साध संसिद्धौ लटि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । अन्यद् उक्तार्थम् । पृथिव्या उरसा पृथिवीत्वेन भाव्यमानेन उरसा तेनैनम् प्राशिषम् इत्यादि समानम् ॥

जिस उरस्से पूर्व ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था यदि तूने उस वक्षःस्थलसे प्राशन नहीं किया है तो तुझे कृषिमें सिद्धि न मिलेगी, इस प्रकार वेत्ता प्राशन करने वालेसे कहे,इस दोषको दूर करनेके लिये प्राशिता कहता है, कि–इसके पराङ्-मुख अवाङ्मुख वा प्रत्यङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है,

किन्तु पृथिवीरूप वक्षःस्थलसे प्राशन किया है अतः मुझको यह दोष नहीं लग सकता और उसीसे इसको यथास्थान पहुँचाया है। इस प्रकार प्राशित हुआ ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू हो जाता है। जो पुरुष ओदनके इस प्रकारके प्राशनको जानता है वह पुण्यफलभूत स्वर्ग आदिमें सर्वांगत्व आदिको पाता हुआ प्रकट होता है॥ १०॥

उदरस्यापि देवतात्मना भावनाम् आह एकादशेन मन्त्रेण॥

ग्यारहवें मन्त्रसे उदरकी भी देवतात्मारूपसे भावनाको कहते हैं, कि-

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्येनोदरेण। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः। सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ११॥

ततः। च। एनम्। अन्येन। उदरेण। प्रऽआशीः। येन। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्रऽआश्नन्॥ उदरऽदारः। त्वा। हनिष्यति। इति। एनम्। आह॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम्॥ सत्येन। उदरेण॥ तेन। एनम्। प्र। आशिषम्। तेन। एनम्। अजीगमम्॥

एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥

सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः ।

एवम् । वेद ॥ ११ ॥

पूर्वं ऋषयो येन उदरेण प्राश्नन् ततोऽन्येन उदरेण यदि इमम् ओदनं प्राशीस्तर्हि त्वा त्वाम् उदरदारः उदरस्य दरणात्मकः अतीसाराख्यो रोगो हनिष्यति मारयिष्यति । अन्यत् पूर्ववत् । सत्येन । यथार्थकथनात्मकं सत्यम् । तेन उदरेण तद्रूपतया भाव्यमानेन उदरेण । एनम् ओदनं प्राशिषम् इत्यादि समानम् ॥

प्राचीन ऋषियोंने जिस उदरसे ओदनका प्राशन किया था हे देवदत्त ! यदि तुने उससे विपरीत उदरसे ओदनका प्राशन किया है तो उदरका दरण करने वाला अतीसार नामक रोग तुझको मार डालेगा । इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशितासे कहे । उक्त दोषका परिहार करता हुआ प्राशिता कहता है, कि—मैंने इसके प्रत्यक् मुख पारक् मुख वा अवाक् मुख होने पर इसका प्राशन नहीं किया है, किन्तु सत्यरूपी उदरसे प्राशन किया है अतः उक्त दोष मुझको नहीं लग सकता । मैंने सत्यरूपी उदरसे प्राशन किया है और उसीसे ओदनको यथास्थान पहुँचाया है । इस प्रकार प्राशित हुआ ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होजाता है जो पुरुष इस प्रकारसे इसके प्राशनको जानता है वह सर्वांगत्व आदिसे संपन्न होकर स्वर्गादिमें प्रकट होता है ॥११॥

अवयवान्तरस्यापि देवतारूपेण भावनम् आह द्वादशेन मंत्रेण ॥

बारहवें मन्त्रसे दूसरे अवयवकी भी देवतारूपसे भावनाको कहते हैं, कि—

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः

प्राश्नन् । अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । समुद्रेण वस्तिना । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । वस्तिना । प्रऽआशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ अप्ऽसु । मरिष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ समुद्रेण । वस्तिना ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १२ ॥

वसति अस्मिन् अशितपीतान्नोदकम् इति वस्तिः मूत्राशयः । ❀ इतरावयवानामिव तस्यापि प्राशने साधकतमत्वविवक्षया करणत्वम् ❀ । येन वस्तिना पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् ततोऽन्येन चेद् वस्तिना त्वम् ओदनं प्राशीस्तर्हि त्वम् अप्सु उदकेषु मरिष्यसि इति अनेन प्रकारेण एनं प्राशितारम् आह ब्रूयात् । तं वा अहम् इत्यादि उक्तार्थम् । समुद्रेण वस्तिना समुद्रात्मना भावितेन आत्मीयेन वस्तिना । तेनैनं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववत् । समुद्रस्य वस्ति-

रूपता तैत्तिरीयके समाम्नायते । "तद् अभ्रमिव समहन्यत । तद् वस्तिम् अभिनत् । स समुद्रोभवत् । तस्मात् समुद्रस्य न पिबन्ति" इति [तै० ब्रा० २. २. ६. ३] ॥

जिसमें खाया पिया हुआ अन्न जल बसता है वह मूत्राशय वस्ति कहलाता है अतः जिस वस्तिसे † प्राचीन ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया है उसी वस्तिसे हे देवदत्त ! तूने प्राशन नहीं किया है तो तू जलमें मरण पावेगा । इस प्रकार प्राशितासे कहे । उक्त दोषको दूर करनेके लिये प्राशिता कहता है, कि-मैंने अवाङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा पराङ्मुख रहने पर इस ओदनका प्राशन नहीं किया है, किन्तु समुद्ररूपी वस्तिसे प्राशन किया है । मैंने समुद्ररूपी वस्तिसे प्राशन किया है और उसीसे इसको यथास्थान पहुँचाया है । इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वाङ्ग सर्व-परु और सर्वतनू होजाता है । और दाता स्वर्गमें सर्वाङ्ग आदि फल पाता हुआ प्रकट होता है॥ १२ ॥

ऊर्वोरपि देवताभावनाम् आह त्रयोदशेन मन्त्रेण ॥

तेरहवें मन्त्रसे ऊरुओंके भी देवभावको कहते हैं, कि—

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् ।

† तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । २ । ६ । ३ में कहा है, कि–"तद् अभ्रमिव समहन्यत । तद् वस्तिं अभिनद् । स समुद्रोऽभवत् । तस्मात् समुद्रस्य न पिबन्ति ।-उसने अभ्रकी समान पीटा और उसने वस्तिको फाड़ डाला वह समुद्र होगया, अतः समुद्रके (जलको) नहीं पीते हैं" ॥

ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । ऊरुऽभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ ऊरू इति । ते । मरिष्यतः । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ मित्रावरुणयोः । ऊरुऽभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १३ ॥

याभ्याम् ऊरुभ्याम् पूर्वे ऋषयः प्राश्नन् । ❀ साधकतमत्वविवक्षया करणत्वम् ❀ । ततोऽन्याभ्यां चेद् ऊरुभ्याम् एनम् ओदनं प्राशीः ते प्राशितुस्तव ऊरू मरिष्यतः स्यक्तमाणौ शुष्कौ भविष्यत इत्येनम् आह । तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । मित्रावरुणयोः मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तयोः संबन्धिभ्याम् ऊरुभ्याम् । ताभ्याम् एनं प्राशिषम् इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

जिन ऊरुओंसे प्राचीन ऋषियोंने प्राशन किया था, हे देव-

दुस ! यदि तूने उनसे अतिरिक्त दूसरी ऊरुओंसे प्राशन किया है तो तेरी ऊरुएँ मर जावेंगी । इस दोषको दूर करनेके लिये प्राशिता कहता है, कि–मैंने इस ओदनके पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख या अवाङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है किन्तु मित्रावरुण देवरूपी ऊरुओंसे भावित ऊरुओंसे प्राशन किया है, उनसे ही इसको यथास्थान पहुँचाया है अतः पूर्वोक्तदोष मुझको नहीं लग सकता । इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होजाता है। जो पुरुष इस प्रकार इसके प्राशनको जानता है वह सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है १३

जानुनोरपि देवतासंबन्धित्वेन भावनम् आह चतुर्दशेन मन्त्रेण ॥

चौदहवें मन्त्रसे जानुओंकी भी देवतारूपसे भावनाको कहते है,कि

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । स्त्रामो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । अष्ठीवत्ऽभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ स्त्रामः । भविष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न ।

अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ त्वष्टुः । अष्ठीवत्ऽभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १४ ॥

अष्ठीवन्तौ अस्थिमन्तौ ऊर्वोरधःप्रदेशवर्तिनौ अवयवौ जानुलक्षणौ । ❀ "आसन्दीवद् अष्ठीवत्०" इति मतुपि निपात्यते ❀। ताभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् अन्याभ्याम् इत्यादि सर्वं पूर्ववद् योज्यम् । स्रामः शुष्कजङ्घः । शुष्कजङ्घो भविष्यसि इत्येनं प्राशितारम् आह । तं वा अहम् इत्यादि पूर्ववत् । त्वष्टुः देवस्य संबन्धिभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् ॥ गतार्थम् अन्यत् ॥

जिन अस्थिवाली जानुओंसे प्राचीन ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था, हे देवदत्त ! यदि तूने उनके अतिरिक्त लौकिक जानुओंसे प्राशन किया होगा तो तू स्राम होजावेगा अर्थात् तेरी जानुएँ सूख जावेंगी । इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशन करने वालेसे कहे इस दोषका परिहार करनेके लिये प्राशन करने वाला कहता है, कि-मैंने इस ओदनको पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अर्वाङ्मुख होने पर नहीं प्राशन किया है, किन्तु त्वष्टाकी जानुओं से प्राशन किया है, और उन्हींसे इसको यथास्थान पहुँचाया है। इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होजाता है जो पुरुष इस प्रकार इसके प्राशनको जानता है वह पुण्यफलभूत स्वर्ग आदिमें सर्वांग सर्वपरु और पूर्णशरीरसम्पन्न होकर प्रकट होता है ॥ १४ ॥

पादयोरपि देवतासंबन्धित्वेन भावनम् आह पञ्चदशेन मन्त्रेण ॥

अब पन्द्रहवें मन्त्रसे पादोंकी भी देवतारूपसे भावनाको कहते हैं, कि—

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥१५॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । पादाभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ बहुऽचारी । भविष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ अश्विनोः । पादाभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १५ ॥

जङ्घयोरधोवर्तिनो पादौ । बहुचारी बहु अधिकं चरितुं शीलम्

अस्य स तथोक्तः । ❀ "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः ❀ । सर्वदा प्रवासशील इत्यर्थः । अश्विनोः संबन्धिभ्यां तदीयत्वेन भाविताभ्यां पादाभ्याम् ॥ वाक्ययोजना पूर्ववत् ॥

पहिले ऋषियोंने जिन पादोंसे इस ओदनका प्राशन किया था, हे देवदत्त ! यदि तूने उनके अतिरिक्त लौकिक पादोंसे प्राशन किया है तो तू बहुचारी होजावेगा । इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशन करने वालेसे कहे, इस दोषका परिहार करनेके लिये प्राशनकर्ता कहता है, कि-मैंने इसके पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अर्वाङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है, किन्तु अश्विनीकुमारों के पादोंसे प्राशन किया है और उन्हींसे इसको यथास्थान पहुँचाया है । इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वांग सर्वपरु और सर्वतनू होता है । जो पुरुष इसके इस प्रकारके प्राशनको जानता है वह पुण्यभूत स्वर्गलोकमें सर्वाङ्गत्व आदिको पाता हुआ प्रकट होता है ॥ १५ ॥

पादाग्रयोरपि देवतासंबन्धित्वेन भावनम् आह ॥

अब सोलहवें मन्त्रसे पादाग्रोंकी भी देवतारूपसे भावनाको कहते हैं, कि-

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वां हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । प्रऽपदाभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एनम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् । सर्पः । त्वा । हनिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सवितुः । प्रऽपदाभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १६ ॥

प्रपदाभ्यां पादाग्राभ्याम् । सर्पः प्रसिद्धः । सवितुः सर्वस्य प्रेरकस्य देवस्य संबन्धिभ्यां प्रपदाभ्यां पादाग्राभ्याम् ॥

पहिले ऋषियोंने जिन पादाग्रोंसे इस ओदनका प्राशन किया था, हे देवदत्त ! यदि तूने उनके अतिरिक्त लौकिक पादाग्रोंसे प्राशन किया है तो सर्प तुझको मार डालेगा । इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशन करने वालेसे कहे, इस दोषका परिहार करनेके लिये प्राशनकर्ता कहता है, कि–मैंने इसके पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अर्वाङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है, किन्तु सविता-देवताके पादाग्रोंसे प्राशन किया है और उन्हींसे इसको यथा-स्थान पहुँचाया है । इस प्रकार प्राशित हुआ यह ओदन सर्वाङ्ग सर्वपरु और सर्वतनू होता है । जो पुरुष इसके इस प्रकारके प्राशनको जानता है वह पुण्यभूत स्वर्गलोकमें सर्वाङ्गत्व आदिको पाता हुआ प्रकट होता है ॥ १६ ॥

हस्तयोरपि देवतासंबन्धित्वेन भावनम् आह ॥

अब सत्तरहवें मन्त्रसे हाथोंकी भी देवतारूपसे भावनाको कहते हैं, कि-

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । ऋतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनुः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ १७॥

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । हस्ताभ्याम् । प्रऽआशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ ब्राह्मणम् । हनिष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ ऋतस्य । हस्ताभ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥ सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १७ ॥

ब्राह्मणं हनिष्यसीति । ब्रह्महत्या तव भविष्यतीत्यर्थः । ऋतं सत्यं परं ब्रह्म तस्य संबन्धिभ्यां हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् एनम् इत्यादि अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ॥

पहिले ऋषियोंने जिन हाथोंसे इस ओदनका प्राशन किया था, हे देवदत्त! यदि तूने उनके अतिरिक्त लौकिक हाथोंसे प्राशन किया है तो तुझे ब्रह्महत्या लगेगी। इस प्रकार अभिज्ञ पुरुष प्राशन करने वालेसे कहे, इस दोषका परिहार करनेके लिये प्राशनकर्ता कहता है, कि–मैंने इससे पराङ्मुख प्रत्यङ्मुख वा अर्वाङ्मुख होने पर प्राशन नहीं किया है, किन्तु परब्रह्मके सत्य-सम्बंधी हाथोंसे प्राशन किया है और उन्हींसे इसको यथास्थान पहुँचाया है। इस प्रकार प्राशित हुआ। यह ओदन सर्वांग सर्व-परु और सर्व तनू होता है। जो पुरुष इसके इस प्रकारके प्राशनको जानता है वह पुण्यभूत स्वर्गलोकमें सर्वांङ्गत्व आदिको पाता हुआ प्रकट होता है॥ १७॥

इत्थं प्राशितुः सर्वेष्वङ्गेषु देवताप्रतिपत्तीर्विधाय तदाधारभूतायां भूम्यामपि प्रतिपत्तिविशेषं विपक्षे बाधपुरः सरं दर्शयति॥

इस प्रकार प्राशिताके सब अंगोंमें देवताप्रतिपत्तिको कह कर उसकी आधारभूत भूमिमें भी प्रतिपत्तिविशेषको कहनेके लिये विपक्षमें बाधा दिखाते हुए प्रतिपत्ति कहते हैं, कि–

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ १८॥

ततः। च। एनम्। अन्यया। प्रतिऽस्थया। प्रऽआशीः। यया।

च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्रऽआश्नन् ॥ अप्रतिऽस्थानः । अना-

यतनः । मरिष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् ।

न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सत्ये । प्रतिऽ-

स्थाय ॥ तया । एनम् । प्र । आशिषम् । तया । एनम् । अजी-

गमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्वऽअङ्गः । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः ॥

सर्वऽअङ्गः । एव । सर्वऽपरुः । सर्वऽतनूः । सम् । भवति । यः ।

एवम् । वेद ॥ १८ ॥

प्रतितिष्ठति अस्याम् इति प्रतिष्ठा पादयोराधारभूता भूमिः । ❀ ष्ठा गतिनिवृत्तौ । "आतश्चोपसर्गे" इति अधिकरणे अङ् प्रत्ययः ❀ । यया च प्रतिष्ठया सत्यब्रह्मात्मिकया एतम् ओदनं पूर्वे प्रथमभाविन ऋषयः प्राशन् ततोऽन्यया चेत् प्रतिष्ठया एनम् ओदनं प्राशीः प्राशितवान् असि तर्हि त्वम् अप्रतिष्ठानः प्रतिष्ठा-रहितः । तस्यैव अर्थकथनम् अनायतन इति । स्थानोपवेशनाय भूमिरहितो भविष्यसि इत्येनं प्राशितारम् आह कश्चिद् विद्वान् ब्रूयात् । इति विपक्षे बाधोपन्यासः । तस्यैतद् उत्तरं तं वा अहम् इत्यादि । तं खलु उक्तप्रभावम् ओदनम् अहम् अर्वाञ्चम् अभि-मुखम् अवस्थितं न प्राशिषम् । न पराञ्चम् पराङ्मुखम् अवस्थित-मपि न प्राशिषम् । न प्रत्यञ्चम् प्रत्यङ्मुखम् आभिमुख्येन अव-स्थितमपि न प्राशिषम् । किं तु आत्मभूतम् ओदनं सत्ये सर्वदा बाधविधुरे "विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म" [बृ० आ० ३. ६. ३४] इत्याद्युपनिषदेकवेद्ये सर्वजगत्कल्पनास्पदे ब्रह्मणि प्रतिष्ठाय प्रति-ष्ठितः समाश्रितो भूत्वा तेन सर्वजगत्प्रतिष्ठात्मकेन प्राशिषम् प्राशित-

वान् अस्मि । तेनैव सत्येन एनम् अजीगमम् उदरमध्यं गमितवान् अस्मि । यद्वा । अस्य सवयज्ञस्य फलभूतं नाकपृष्ठाख्यं लोकं गमितवान् अस्मि । एष खलु उदीरितभावनया प्राशित ओदनः सर्वाङ्गः सर्वैरङ्गैः अवयवैरुपेतः सर्वपरुः सर्वैःपर्वभिः अवयवसंधिभिरुपेतः सर्वतनूः कृत्स्नशरीरो भवति । सर्वशरीराभिमानिविराडात्मको भवतीत्यर्थः । उक्तम् अर्थं वेदितुः फलम् आह सर्वाङ्ग एवेत्यादिना ॥

इत्थम् आद्यन्तयोः पर्याययोः संपूर्णाम्नानात् मध्यवर्तिषु पर्यायेषु अनुषङ्गेण वाक्यपरिसमाप्तिं कृत्वा व्याख्यातव्यम् ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जिसमें प्रतिष्ठित होता है वह पादोंकी आधारभूता पृथिवी प्रतिष्ठा कहलाती है । जिस सत्य ब्रह्मात्मिका प्रतिष्ठासे प्राचीन ऋषियोंने इस ओदनका प्राशन किया था, हे देवदत्त ! उससे अतिरिक्त अन्य प्रतिष्ठासे यदि तूने इस ओदनका प्राशन किया है तो तू अप्रतिष्ठान अर्थात् प्रतिष्ठारहित होजावेगा (उसीको स्पष्ट करते हैं, कि–) तू अनायतन अर्थात् बैठने उठनेके लिये भूमिसे रहित होजावेगा । इस प्रकार कोई विद्वान् पुरुष प्राशितासे कहे । प्राशिता इस दोषको दूर करनेके लिये उत्तर देता है, कि–मैंने उक्तप्रभाव वाले ओदनका अभिमुख अवस्थित होने पर भी प्राशन नहीं किया है, और पराङ्मुख अवस्थित होने पर भी प्राशन नहीं किया है और प्रत्यङ्मुख अवस्थित होने पर भी प्राशन नहीं किया है, किंतु आत्मभूत ओदनको सदा बाधासे अलग "विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म" (बृहदारण्यक ३ । ९ । ३४) इत्यादि उपनिषत् से ही जाननेमें आने वाले, सब जगत्की कल्पनाके आस्पद ब्रह्म में प्रतिष्ठित होकर उस सर्व जगत्प्रतिष्ठात्मकसे प्राशन किया है । उसी सत्यसे इसको मैंने उदरमें पहुँचाया है अथवा इस यज्ञके

फलभूत नाकपृष्ठलोक पर पहुँचा दिया है। यह इस भावनासे प्राशित हुआ ओदन सब अंगोंसे पूर्ण, सब अवयवसंधियोंसे युक्त पूर्ण शरीर वाला होजाता है तात्पर्य यह है, कि–सर्व शरीराभिमानी विराडात्मक होजाता है (अब इसके जानने वालेको मिलने वाले फलका वर्णन करते हैं, कि–) जो पुरुष इसके प्राशन के इस प्रकारके फलको जानता है वह स्वर्गमें सकल अंग सकल जोड़ और पूर्णशरीर पाता हुआ प्रकट होता है ॥ १८ ॥ ( )

दूसरे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

"एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपम्" इत्यस्य सूक्तस्य "तस्यौदनस्य" इति सूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"एतद्वै ब्रध्नस्य" सूक्तका विनियोग "तस्यौदनम्" सूक्तके साथ कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ १ ॥

एतत् । वै । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । यत् । ओदनः ॥ १ ॥

यत् योऽयम् उक्तमहिमोपेत ओदनः एतत् खलु ब्रध्नस्य विष्टपम् बध्नाति तद्दिम्ना सर्वं जगत् सृजतीति ब्रध्नः सूर्यमण्डलमध्यवर्ती ईश्वरः । ❀ बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३. ५] इति औणादिको नक् प्रत्ययः प्रकृतेर्ब्रधादेशश्च ❀ । तस्य विष्टपम् वियति विष्टब्धं मण्डलम् । सूर्यमण्डलात्मकोयम् ओदन इत्यर्थः ॥

यह पूर्वोक्त महिमासे सम्पन्न जो ओदन है यह महिमासे सकल जगत् को रचने वाले सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती ईश्वरका आकाशमें विष्टब्ध मण्डल है अर्थात् यह ओदन सूर्यमण्डलात्मक है ॥ १ ॥

एतद् वेदितुः फलम् आह द्वितीयया ॥

इसको जानने वालेको जो फल मिलता है उसका दूसरी ऋचा से वर्णन करते हैं, कि–

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद २

ब्रध्नऽलोकः । भवति । ब्रध्नस्य । विष्टपि । श्रयते । यः । एवम् । वेद ॥

यः पुरुषः एवम् उक्तप्रकारेण वेद ओदनस्य सूर्यमण्डलात्मकत्वं वेद । मण्डलाभिमानिसूर्यरूपेण ओदनम् उपास्त इत्यर्थः । असौ ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य सूर्यस्य यो लोकस्तल्लोकवर्ती भवति । यद्वा सूर्य इव लोकनीयः दर्शनीयो भवति । ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपि विष्टब्धे मण्डलात्मके स्थाने श्रयते सेवते । सूर्यात्मको भवतीत्यर्थः । "असौ वादित्यो ब्रध्नस्य विष्टपम्" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० ५. ३. ३. ५] ॥

जो पुरुष उक्तरीतिसे ओदनके सूर्यमण्डलात्मकत्वको जानता है अर्थात् मण्डलाभिमानी सूर्यरूपसे ओदनकी उपासना करता है वह ब्रध्नलोक होता है अर्थात् सूर्यलोकको प्राप्त होजाता है । अथवा सूर्यकी समान दर्शनीय होजाता है । सूर्यके विष्टब्ध मण्डल का सेवन करता है अर्थात् सूर्यात्मक होजाता है । तैत्तिरीयसंहिता ५ । ३ । ३ । ५ में भी कहा है, कि-"असौ वा आदित्यो ब्रध्नस्य विष्टपम्" ॥ २ ॥

अथ सूर्यात्मकाद् ओदनात् सर्वेषां देवानां सृष्टिम् आह तृतीयया ॥

अब तीसरी ऋचासे सूर्यात्मक ओदनसे सकल देवताओंकी सृष्टिको कहते हैं, कि–

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ३ ॥

एतस्मात् । वै । ओदनात् । त्रयःऽत्रिंशतम् । लोकान् । निः ।

अमिमीत । प्रजाऽपतिः ॥ ३ ॥

एतस्माद् सूर्यात्मकाद् ओदनात् सर्वजगदुपादानभूतात् प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा देवः त्रयस्त्रिंशतं लोकान् "अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" इति [ऐ० ब्रा०१.१०] ऐतरेयकादिश्रुतिप्रसिद्धा ये त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवास्तेषां लोकान् अधिष्ठातृसहितान् निरमिमीत निर्मितवान् ॥

प्रजाओंकी रचना करने वाले इन प्रजापति देवने सब जगत् के उपादानभूत इस सूर्यात्मक ओदनसे आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार + इन तैंतीस देवताओंकी और उनके लोकोंकी सृष्टि की है ॥ ३ ॥

तल्लोकप्राप्तिसाधनत्वेन यज्ञोपि अस्मादेव सूर्यात्मकाद् ओदनात् सृष्ट इत्याह ॥

उन लोककी प्राप्तिका साधन होनेसे यज्ञ भी इसी सूर्यात्मक ओदनसे सृष्ट है, इस बातका चतुर्थ ऋचामें वर्णन करते हैं,कि-

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ४ ॥

तेषाम् । प्रऽज्ञानाय । यज्ञम् । असृजत ॥ ४ ॥

तेषां देवलोकानां प्रज्ञानाय प्रकर्षेण ज्ञानाय तत्तल्लोकोपभोग्यसुखसाक्षात्काराय तत्साधनत्वेन इमं यज्ञम् असृजत सृष्टवान् । यज्ञसृष्टयभिधानादेव सर्वजगत्सृष्टिरुक्ता भवति ।"अभि-

+ ऐतरेय ब्राह्मण १ । १० में तैंतीस देवताओंका वर्णन है, कि-"अष्टौ वसवः एकादशः रुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" ॥

ष्टोमेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत" [तै० सं० ७. १. १. २] इत्यादिश्रुतेः । स्मर्यते च । अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः इति [म० स्मृ० ३. ७६] ॥

उन लोकोंका पूर्णरीतिसे ज्ञान करानेके लिये अर्थात् उन लोकोंके भोगनेमें आने वाले सुखोंका साक्षात्कार करानेके लिये इस यज्ञकी रचना की गई है † ॥ ४ ॥

इत्थं सर्वजगदुपादानभूतस्य ओदनस्य सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिहिरण्यगर्भतादात्म्यं विदुषो माहात्म्यं दर्शयति ॥

इस प्रकार सब जगत्के उपादानभूत ओदनकी सूर्यमण्डलान्तवर्ती हिरण्यगर्भसे तादात्म्यताको जानने वालेके महात्म्यको दिखाते हैं, कि—

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥५॥

सः । यः । एवम् । विदुषः । उपऽद्रष्टा । भवति । प्राणम् । रुणद्धि

स यः यः कश्चन पुरुषः एवम् उक्तप्रकारेण विदुषः उपासकस्य उपद्रष्टा भवति उप समीपे तत्कृतस्य अकामोपनतस्य द्रष्टा साक्षात्कर्ता भवति । तस्य मनसि उपरोधं जनयतीत्यर्थः । स उपरोधकः स्वशरीरे वर्तमानं प्राणं रुणद्धि आवृणोति निरुद्धगतिं करोति । प्राणोपासकस्य अनिष्टाचरणाद् इत्यर्थः ॥

---

† यज्ञसृष्टिके कहनेसे ही सब जगत्की सृष्टिका वर्णन आ जाता है । क्योंकि—तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । १ । २ में कहा है, कि—"अग्निष्टोमेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत ।—प्रजापतिने अग्निष्टोमसे प्रजाओंकी रचना की" । मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके छिहत्तरवें श्लोकमें भी कहा है, कि—"आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" ॥

जो कोई पुरुष इस प्रकारसे जानने वाले उपासकका उपद्रष्टा होता है अर्थात् उस निष्कामभावसे कर्म करते हुएके समीपमें बैठ कर साक्षात्कार करता है-उसके मनमें उपरोध-विघ्न-डालता है वह उपरोधक अपने शरीरमें वर्तमान प्राणका उपरोध करता है अर्थात् उसकी गतिको रोक देता है, क्योंकि-प्राणोपासकका अनिष्टाचरण करता है ॥ ५ ॥

न केवलम् एतावानेव दोषः सर्वफलहानिरपि तस्य स्यादृ इत्याह ॥

केवल इतना ही दोष नहीं होता है, उसको सकल फलोंकी हानि भी भोगनी पड़ती है, कि—

न च॑ प्रा॒णं रु॑णद्धि स॒र्वज्या॒निं जी॑यते ॥ ६ ॥

न । च॒ । प्रा॒णम् । रु॒ण॒द्धि । स॒र्व॒ऽज्या॒निम् । जी॒य॒ते ॥ ६ ॥

प्राणं रुणद्धि इत्येतावदेव न च अपि तर्हि सर्वज्यानिम् प्रजा-पश्वादिरूपस्य सर्वस्य अभिमतस्य वस्तुनः ज्यानिर्हानिर्यथा भवति तथा जीयते हीयते निहीनो भवति । ❀ ज्या वयोहानौ । अस्मात् कर्मणि लट् । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । जीयत इत्येतावतावयोहानिमात्रं गम्यते । हानेः सर्ववस्तुविषयता-प्रतिपत्त्यर्थंविशेषणसंबन्धाय ज्यानिं जीयत इति पुनरुक्तिः ॥

प्राणरोध होता है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रजा पशु आदि सकल अभिमतकी हानि होजाती है और वह हीन होजाता है ६

न केवलम् एतावदेव इत्याह ॥

इतने पर ही शान्ति नहीं होती है, किन्तु—

न च॑ स॒र्वज्या॑निं जी॑यते पु॒रैनं॑ ज॒रसः॑ प्रा॒णो ज॑हाति ७

न । च॒ । स॒र्व॒ऽज्या॒निम् । जी॒य॒ते॑ । पु॒रा । ए॒न॒म् । ज॒रसः॑ । प्रा॒णः । ज॒हा॒ति ॥ ७ ॥

सर्वज्यानिं जीयत इति एतावदेव न च एनं निन्दकं जरसः जरावस्थायाः पुरा प्राणो जहाति परित्यजति । म्रियतेसावित्यर्थः । एतद् उक्तं भवति । विदुषो व्यतिक्रमं दृष्ट्वा निन्दतः पुरुषस्य प्रथमं प्राणरोधो भवति ततः सर्ववस्तुहानिर्भवति ततः अकालमरणम् इति॥

इति तृतीयं सूक्तम् ॥

उसकी सर्वज्यानि ही होती हो यह बात नहीं है, किन्तु इस निन्दक पुरुषके प्राण बुढ़ापेसे पहिले ही इसको छोड़ देते हैं अर्थात् वह मर जाता है । इस विषयमें यह कहा जासकता है, कि–विद्वान्‌के व्यतिक्रमको देख कर निन्दा करने वाले पुरुषका प्रथम प्राण-रोध होता है, फिर सब वस्तुओंकी हानि होती है फिर अकाल-मरण होजाता है ॥ ७ ॥ (१०)

तृतीय सूक्त समाप्त (४८३) ॥

"प्राणाय नमः" इत्यादिसूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । अनेन उप-नयनकर्मणि माणवकस्य नाभिं संस्पृश्य आचार्यो जपेत् । "उप-नयनम्" प्रकम्य सूत्रितम् । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशं संस्तभ्य जपति आ रभस्व [८. २] प्राणाय नमः [११. ६] विपासहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आयुष्कामः अनेनार्थसूक्तेन दक्षिणं कर्णम् अनुमन्त्रयेत ॥

तथा ऋषिहस्ते आयुष्कामस्य शरीरम् अभिमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "आ रभस्व [८. २] प्राणाय नमः [११. ६] विपा-सहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा अस्यार्थसूक्तस्य आयुष्यगणे पाठाद् "त्रिशनकर्मभिरा-युष्यैःस्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति होमेषु विनियोगोऽनुसंधेयः [कौ० १४. ३] ॥

तथा "अमृतं दिव्यान्तरिक्षभौमेषु प्रयुञ्जीत" [न० क० १७] इति विहितायाम् अमृताख्यायां महाशान्तौ अनेनार्थसूक्तेन व्रीहि-

यवमयं मणिं बध्नीयात् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । प्राणाय नम इति व्रीहियवम् अमृतायां बध्नीयात्" इति [न० क० १६] ॥

तथा ग्रहयज्ञे अनेनार्थसूक्तेन शनैश्चराय हविराज्यहोमं समिदाधानम् उपस्थानं वा कुर्यात् । तद् उक्तं शान्तिकल्पे । "सहस्रबाहुः पुरुषः [१६. ६] केन पार्ष्णी [१०. २] प्राणाय नमः [११. ६] इति शनैश्चराय" इति [शा० क० १५] ॥

तथा शान्त्यर्थे लक्षहोमे एतद् अर्थसूक्तं होमे विनियुक्तं परिशिष्टे । "नमो देववधेभ्यः [६. १३] भवाशर्वौ [११. २] प्राणाय नमः [११. ६] इति हुत्वा" इति ॥

"प्राणाय नमः" इत्यादि तीन सूक्तोंका समूह एक ही प्रयोजनका प्रतिपादक होनेसे अर्थसूक्त कहलाता है । इससे उपनयनकर्ममें बालककी नाभिका स्पर्श करके आचार्य जप करे । "उपनयनम्" का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि-"दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशं संस्तभ्य जपति आ रभस्व (८ । १) प्राणाय नमः (११ । ६) विषासहिम् (१७ । १) इत्यनुमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा आयुष्काम इस अर्थसूक्तसे दाहिने कानका अनुमन्त्रण करे ।

तथा ऋषिहस्तसे आयुष्कामके शरीरका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें कौशिकसूत्र ७ । ४ का प्रमाण भी है, कि-"आ रभस्व (८ । २) प्राणाय नमः (११ । ६) विषासहिम् (१७ । १)" ॥

और इस सूक्तका आयुष्यगणमें भी पाठ है अतः "विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इत्यादिसे विहित होमों में इसका विनियोग खोजना चाहिये (कौशिकसूत्र १४ । ३) ॥

तथा "अमृतां दिव्यान्तरिक्षभौमेषु प्रयुञ्जीत ।-दिव्य अन्तरिक्ष वा भूमिसम्बंधी उत्पात होने पर अमृता शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित अमृता नाम वाली महाशान्तिमें इस अर्थ-

सूक्तसे धान जौंकी मणिको बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"प्राणाय नम इति व्रीहियवं अमृतायां बध्नीयात्" (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तथा ग्रहयज्ञमें इस अर्थसूक्तसे शनैश्चरके लिये हवि घृतका होम, समिदाधान वा उपस्थान करे। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि–"सहस्रबाहुः पुरुषः (१९ । ६) केन पार्ष्णी (१० । २) प्राणाय नमः (११ । ६) इति शनैश्चराय" (शान्तिकल्प १५) ॥

तथा शान्तिके लिये किये जाने वाले लक्षहोममें इस अर्थसूक्त का विनियोग करना चाहिये। इस विषयमें अथर्वपरिशिष्टका प्रमाण है, कि–नमो देववधेभ्यः (६।१३) भवाशर्वौ (११ । २) प्राणाय नमः (११ । ६) इति हुत्वा" ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

प्राणाय । नमः । यस्य । सर्वम् । इदम् । वशे ।
यः । भूतः । सर्वस्य । ईश्वरः । यस्मिन् । सर्वम् । प्रतिऽस्थितम् १

प्राणाय प्रकर्षेण अनिति सर्वप्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टत इति प्राणः समष्टिशरीराभिमानी प्रथमसृष्टो हिरण्यगर्भः। "प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः" इति [प्र० उ० १. ८] "स प्राणम् असृजत" इति [प्र० उ० ६. ४] "कस्मिन्न्वहम् उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि" [प्र० उ० ६. ३] इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मै प्राणाय नमः नमस्कारोस्तु। ❀ "अनितेः" इति नकारस्य णत्वम् ❀। तस्य सगुणब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति। यस्य प्राणस्य वशे सर्वम् इदं चराचरात्मकं जगद्

वर्तते । एतेन तस्य सकलजगन्नियन्तृत्वम् उक्तम् । यः प्राणो भूतः भूतकालावच्छिन्नः न तु भविष्यन् । सर्वदा लब्धसत्ताक इत्यर्थः । ❀ भू सत्तायाम् इत्यस्मात् कर्तरि निष्ठा ❀ । सर्वस्य प्राणिजातस्य ईश्वरः ईशिता कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्तः । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "स्थेशभासपिसकसो वरच्" इति वरच् प्रत्ययः । "स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च" इति षष्ठी ❀ । यस्मिन् उदीरितलक्षणे प्राणे परब्रह्मात्मके सर्वं समस्तं जगत् प्रतिष्ठितम् । कारणभूते तस्मिन् समवायवृत्त्या वर्तत इत्यर्थः । तस्मै प्राणाय नम इति संबन्धः ॥

सब प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त होकर चेष्टा करनेसे प्राण अर्थात् समष्टिशरीरके अभिमानी प्रथम रचे हुए हिरण्यगर्भके लिये प्रणाम है (इस प्राणका निम्न लिखित श्रुतियोंमें वर्णन है, कि- "प्राणः प्रजानां उदयत्येष सूर्यः ।-यह प्रजाओंके प्राणरूप सूर्य उदित होते हैं" [प्रश्नोपनिषत् १ । ८] "स प्राणं असृजत । उसने प्राणकी सृष्टिकी" [प्रश्नोपनिषत् ६ । ४] "कस्मिन्न्वहम् उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि।- किसके उत्क्रान्त होने पर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होऊँगा" [प्रश्नोपनिषत् ६ । ३] इत्यादि श्रुतियोंमें प्रशंसित प्राणके लिये प्रणाम है अब उस प्राणकी सगुण ब्रह्मात्मकताको दिखाते हैं, कि-) उस प्राणके वशमें यह चराचरात्मक जगत् रहता है। इससे प्राणका सकल जगत्का नियन्तृत्व कहा । वह प्राण भूतकालावच्छिन्न है भविष्यन् नहीं है अर्थात् सर्वदा लब्धसत्ताक है । सब प्राणियोंका ईश्वर है अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थ है उस परब्रह्मात्मक प्राणमें सब जगत् प्रतिष्ठित है अर्थात् उस कारणभूतमें समवायवृत्तिसे रहता है ऐसे प्राणके लिये प्रणाम है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

नमः । ते । प्राण । क्रन्दाय । नमः । ते । स्तनयित्नवे ।
नमः । ते । प्राण । विऽद्युते । नमः । ते । प्राण । वर्षते ॥ २ ॥

हे प्राण क्रन्दाय क्रन्दनशीलाय ध्वनते ते तुभ्यं नमः । ❀ क्रदि आह्वाने रोदने च । इदित्त्वात् नुम् । पचाद्यच् ❀ । तथा स्तनयित्नवे मेघजालं प्रविश्य स्तनितं गर्जितं कुर्वते । ❀ स्तन शब्दे । अस्माण्ण्यन्ताद् औणादिक इत्नुच् प्रत्ययः "अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु" इति णेः अय् आदेशः ❀ । एवंभूताय ते तुभ्यं नमः । हे प्राण विद्युते विद्युदात्मना विद्योतमानाय ते तुभ्यं नमः । तदनन्तरं वर्षते वृष्टिं कुर्वते ते तुभ्यम् हे प्राण नमोस्तु ॥

हे प्राण ! ध्वनि करने वाले आपके लिये प्रणाम है तथा मेघजालमें प्रवेश करके गर्जना करने वाले प्राणके लिये प्रणाम है, और हे प्राण ! बिजलीके रूपमें दमकते हुए आपके लिये प्रणाम है तथा वर्षा करते हुए आपके लिये प्रणाम है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

यत् । प्राणः । स्तनयित्नुना । अभिऽक्रन्दति । ओषधीः ।
प्र । वीयन्ते । गर्भान् । दधते । अथो इति । बह्वीः । वि । जायन्ते

यत् यदा प्राणः जगत्प्राणभूतः सूर्यात्मको देवः स्तनयित्नुना

मेघध्वनिना ओषधीः व्रीहियवाद्या ग्राम्या आरण्याश्च वीरुधः अभिक्रन्दति अभिलक्ष्य शब्दायते । यथा गोयूथमध्ये दृप्तो वृषभः गर्भम् आधित्सुस्ता अभिलक्ष्य शब्दं करोति तथेत्यर्थः । तदा ता ओषधयः प्रतीयन्ते प्राणाभिक्रन्दनमात्रादेव गर्भं गृह्णन्ति । ❀ वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु ❀ । वर्षर्तुः सर्वासाम् ओषधीनां गर्भग्रहणकाल इत्यर्थः तदानीमेव गर्भान् दधते धारयन्ति । अथो अनन्तरमेव बह्वीः बह्व्यो बहुप्रकारा वि जायन्ते विविधम् उत्पद्यन्ते ॥

(जैसे गौओंके झुण्डमें गर्भाधान करनेकी इच्छा वाला साँड गरजता है इसी प्रकार) जब प्राण अर्थात् जगत्का प्राणभूत सूर्यात्मकदेव मेघध्वनिसे-व्रीहि यव आदि औषधियोंको, ग्रामीण और वन्य पशुओंको तथा लताओंको अभिलक्षित करके गर्जता है उस समय वे औषधियें प्राणके अभिक्रन्दनमात्रसे ही गर्भको धारण करती हैं। तात्पर्य यह है, कि-वर्षा ऋतु सकल औषधियों के गर्भको ग्रहण करनेका काल है । उसी समय वे गर्भको धारण करती हैं और उसके अनन्तर ही अनेक प्रकारसे उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।

सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

यत् । प्राणः । ऋतौ । आऽगते । अभिऽक्रन्दति । ओषधीः ।

सर्वम् । तदा । प्र । मोदते । यत् । किम् । च । भूम्याम् । अधि ४

प्राणो देवः ऋतावागते ऋतुकाले समागते वर्षर्तौ आगते वा यत् यदा ओषधीः अभिक्रन्दति तदा सर्वं प्र मोदते प्रहृष्यति ।

* मुद हर्षे *। भूम्याम् अधि उपरि यत् किं च यत् किमपि प्राणिजातं वर्तते। तत् सर्वम् इत्यन्वयः ॥

जब ऋतुकाल आने पर वा वर्षा ऋतुके आने पर प्राणदेव ओषधियोंको लक्ष्य करके अभिक्रन्दन करते हैं उस समय सब प्रसन्न होते हैं। भूमि पर जितने प्रकारके प्राणी हैं वे सब प्रसन्न होते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।

पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

यदा। प्राणः। अभिऽअवर्षीत्। वर्षेण। पृथिवीम्। महीम्।

पशवः। तत्। प्र। मोदन्ते। महः। वै। नः। भविष्यति ॥ ५ ॥

यदा यस्मिन् काले प्राणो देवः महीम् महतीं पृथिवीम् विस्तीर्णां भूमिं वर्षेण वृष्टिकर्मणा अभ्यवर्षीत् अभितः सिक्तां करोति तत् तदानीं पशवः गवाद्याः प्र मोदन्ते प्रहृष्यन्ति। केनाभिप्रायेणेत्याह। महो वै उत्सवः खलु नः अस्माकं भविष्यति। वृष्टेरनन्तरं पृथिव्यां भूयांसि सस्यानि उत्पद्यन्ते। तद्भक्षणेन अस्माकं पुष्टिर्भविष्यतीति प्रनृत्यन्तीत्यर्थः ॥

जिस समय प्राणदेव विशाल विस्तृत भूमिको वृष्टिकर्मसे चारों ओरसे सींचते हैं, उस समय गौ आदि पशु आनन्दित होते हैं, कि-हमारे लिये बड़ा भारी उत्सव होगा। तात्पर्य यह है, कि-वृष्टिके अनन्तर पृथ्वीमें बहुतसा अन्न उत्पन्न होगा। उसके भक्षण से हम पुष्ट होंगे, यह विचार कर वे पशु नाचने लगते हैं ॥५॥

षष्ठी ॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।

आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

अभिऽसृष्टाः । ओषधयः । प्राणेन । सम् । अवादिरन् ।

आयुः । वै । नः । प्र । अतीतरः । सर्वाः । नः । सुरभीः । अकः ६

प्राणेन देवेन अभिसृष्टाः अभिषिक्ता ओषधयो ग्राम्या आरण्याश्च तेनैव प्राणेन समवादिरन् समवदन्त संभाषणं कृतवत्यः। ❀ "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः" इति आत्मनेपदम् । लुङि व्यत्ययेन झस्य रन् आदेशः । तस्य "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वाद् इडागमः । उपधावृद्धिश्छान्दसी ❀ । संवदनप्रकारमेव दर्शयति आयुरिति । हे प्राण नः अस्माकम् आयुः जीवनं त्वं प्रातीतरः प्रावर्धयः । ❀ प्रपूर्वस्तरतिर्वर्धनार्थः । अस्माण्णयन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ । तथा नः अस्मान् सर्वाः । ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयान्तस्य अस्मदो नस् आदेशः ❀ । सुरभीः शोभनगन्धयुक्ता अकः अकार्षीः । ❀ डुकृञ् करणे । अस्माल्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति तिलोपः ❀ ॥

प्राणदेवसे अभिषिक्त हुई ओषधियें उस प्राणसे परस्पर भाषण करती हैं, कि–हे प्राण ! तू हमारे जीवनको बढ़ा तथा हम सब को शोभन गन्धसे युक्त कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।

नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

नमः । ते । अस्तु । आऽयते । नमः । अस्तु । पराऽयते ।

नमः । ते । प्राण । तिष्ठते । आसीनाय । उत । ते । नमः ॥७॥

हे प्राण आयते आगच्छते ते तुभ्यं नमोस्तु । तथा परायते पराङ्मुखं गच्छते तुभ्यं नमोस्तु । हे प्राण तिष्ठते यत्रक्वापि अवस्थिताय ते तुभ्यं नमोस्तु । आसीनाय उपविष्टाय ते तुभ्यं नमोस्तु । उतशब्दः अप्यर्थे । आगमनादिक्रियाः सर्वाः प्राणव्यापारनिर्वर्त्याः इति तत्तदवस्थापन्नस्य नमस्कार्यत्वम् ॥

हे प्राण ! तुझ आते हुएके लिये प्रणाम है, तुझ पराङ्मुख जाते हुएके लिये प्रणाम है, हे प्राण ! तुझ जहाँ कहीं स्थितके लिये प्रणाम है और तुझ उपविष्टके लिये प्रणाम है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥ ८ ॥

नमः । ते । प्राण । प्राणते । नमः । अस्तु । अपानते ।
पराचीनाय । ते । नमः । प्रतीचीनाय । ते । नमः । सर्वस्मै ।
ते । इदम् । नमः ॥ ८ ॥

हे प्राण देव प्राणते प्राणनव्यापारं कुर्वते ते तुभ्यं नमोस्तु । तथा अपानते अपाननव्यापारं कुर्वते अपानवृत्त्यात्मकाय तुभ्यं नमोस्तु । तथा पराचीनाय पराञ्चनाय परागमनस्वभावाय देहाद् बहिरवस्थिताय ते तुभ्यं नमोस्तु । तथा प्रतीचीनाय प्रतिमुखम् अञ्चते देहमध्ये वर्तमानाय ते तुभ्यं नमोस्तु । ॐ "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः ॐ । किं बहुना सर्वस्मै सर्वव्यापारकर्त्रे सर्वप्राणिशरीरान्तर्वर्तिने ते तुभ्यम् इदं नमः अयं नमस्कारो भवतु । ॐ "सर्वस्य सुपि" इति आद्युदात्तत्वम् ॐ ॥

हे प्राण ! प्राणन व्यापार करते हुए आपके लिये प्रणाम है, तथा अपानन व्यापार करते हुए अपानवृत्त्यात्मक आपके लिये प्रणाम है। तथा परागमनस्वभाव-देहसे बाहर स्थित आपके लिये प्रणाम है। तथा देहके मध्यमें वर्तमान प्रतीचीन गमन करने वाले आपके लिये प्रणाम है, अधिक क्या ? सब व्यापारोंको करने वाले आपके लिये यह प्रणाम प्राप्त हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी ।

अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

या । ते । प्राण । प्रिया । तनूः । योःइति । ते । प्राण । प्रेयसी ।

अथो इति । यत् । भेषजम् । तव । तस्य । नः । धेहि । जीवसे ९

हे प्राण ते तव या प्रिया प्रीतिविषया तनूः शरीरम् अस्ति तथा प्राण ते तव यौ । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । ये प्रेयसी प्रियतमरूपे प्राणापानवृत्तिद्वयात्मके अग्नीषोमरूपे वा । अथो अपि च तव संबन्धि यद् भेषजम् अमृतत्वप्रापकम् औषधम् अस्ति तस्य सर्वस्य प्रियतनुप्रभृतिकस्य सकाशात् नः अस्माकं जीवसे जीवनाय धेहि अमृतत्वसाधनम् औषधं प्रयच्छ ॥

हे प्राण ! आपकी प्रीतिका विषय जो शरीर है और हे प्राण ! आपकी अग्नीषोमात्मक वा प्राणापानवृत्त्यात्मक जो प्रेयसी हैं और आपकी जो अमृतत्वप्रापक औषधि है, उन सबके पाससे आप हमको जीवनके लिये अमृतत्वसाधन औषधिको दीजिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥

प्राणः । प्रऽजाः । अनु । वस्ते । पिता । पुत्रम्ऽइव । प्रियम् ।

प्राणः । ह । सर्वस्य । ईश्वरः । यत् । च । प्राणति । यत् । च । न

प्राणो देवः प्रजाः प्रजायमाना देवतिर्यङ्मनुष्याद्याः अनु वस्ते अनुक्रमेण च्छादयति । तच्छरीराणि नाडीद्वारा व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । ❀ वस आच्छादने । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तत्र दृष्टान्तः पिता पुत्रमिव । यथा पिता प्रियम् स्निग्धं पुत्रं वस्त्रेण स्वकीयेन आच्छादयति तथेत्यर्थः । यच्च जङ्गमात्मकं वस्तु प्राणनि प्राणनव्यापारं करोति यच्च स्थावरात्मकं न प्राणनि प्राणनव्यापारं न करोति । किं तु आत्माविनाभूतः प्राणः स्थावरेषु निरुद्धगनिरेव अन्तर्वर्तते । तस्य सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मनो जगतः प्राणः खलु ईश्वरः ईशिता स्वामी ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

जैसे पिता अपने प्रिय पुत्रको अपने वस्त्रसे ढकता है इसी प्रकार प्राणदेव उत्पन्न होने वाले देवता तिर्यक् मनुष्य आदि सबको अनुक्रमसे आच्छादित करते हैं और उनके शरीरोंको नाड़ियोंमें व्याप्त होकर ढके रहते हैं जो जङ्गमात्मक वस्तु प्राणनव्यापार करती है और जो स्थावरात्मक वस्तु प्राणनव्यापार नहीं करती है किंतु आत्माविनाभूत प्राण जिन स्थावरोंमें निरुद्धगति ही भीतर रहता है । इन सब स्थावर जङ्गमात्मक जगत्का प्राण ही ईशिता है—स्वामी है ॥ १० ॥ (११)

चतुर्थ सूक्त समाप्त

"प्राणो मृत्युः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"प्राणो मृत्युः" सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

प्राणः । मृत्युः । प्राणः । तक्मा । प्राणम् । देवाः । उप । आसते ।
प्राणः । ह । सत्यऽवादिनम् । उत्ऽतमे । लोके । आ । दधत् ॥

प्राण एव देवो मृत्युः स्वनिर्गमनेन सर्वप्राणिनां मरणस्य कर्ता । स एव प्राणस्तक्मा कृच्छ्रजीवनकरो ज्वरादिरोगः । तथा तं प्राणम् देहमध्यवर्तिनं देवाः इन्द्रियाणि उपासते । स्वस्वविषयोपभोगाय सेवन्त इत्यर्थः । यद्वा प्राणम् हिरण्यगर्भं समष्ट्यात्मकम् अग्न्यादयो देवा उपासते । स एव प्राणः सत्यवादिनम् । सत्यं यथार्थं वदितुं शीलम् अस्य स तथोक्तः । सत्यवदनशीलं महानुभावम् उत्तमे उत्कृष्टतमे लोके आदधत् आदधाति स्थापयति ॥

प्राण ही अपने निकलनेसे सब प्राणियोंका मरण कर देता है अतः प्राण ही मृत्यु है, और वही प्राण जीवनको दुःखमय बना देने वाला ज्वरादिरोग-तक्मा-है, उस देहके मध्यमें रहने वाले प्राणकी देवता (अर्थात् इन्द्रियें) उपासना करते हैं अर्थात् अपने २ विषयका उपभोग करनेके लिये उसकी सेवा करते हैं अथवा-समष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भरूपी प्राणकी अग्निआदि देवता उपासना करते हैं । वही प्राण सत्यभाषणके स्वभाव वाले सत्यवादी पुरुषको उत्कृष्ट लोकमें स्थापित करता है ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

प्राणः । विऽराट् । प्राणः । देष्ट्री । प्राणम् । सर्वे । उप । आसते ।

प्राणः । ह । सूर्यः । चन्द्रमाः । प्राणम् । आहुः । प्रजाऽपतिम् ॥

प्राण एव देवो विराट् स्थूलप्रपञ्चाभिमानी ईश्वरः । तथा प्राणो देष्ट्री स्वस्वव्यापारेषु सर्वेषां प्रेरयित्री परदेवता । तथाविधं प्राणं सर्वे जना उपासते स्वाभिलषितफलसिद्ध्यर्थं सेवन्ते । प्राण एव सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः । तथा चन्द्रमाः अमृतमयः सोमोपि स एव प्राणस्य अग्नीषोमात्मकत्वम् उक्तम् । तथाविधमेव प्राणं प्रजापतिम् प्रजानां स्रष्टारं देवम् आहुः अभिज्ञाः कथयन्ति । ❀ "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

प्राणदेव ही विराट् है अर्थात् स्थूल प्रपञ्चाभिमानी ईश्वर है तथा प्राण ही देष्ट्री है अर्थात् सबको अपने २ व्यापारोंमें प्रेरित करने वाली परदेवता है, ऐसे प्राणकी सब उपासना करते हैं अर्थात् अपनी अभिलषित फलसिद्धिके लिये उपासना करते हैं। प्राण ही सबका प्रेरक सूर्य है, अमृतमय सोम भी वही है (इससे प्राणका अग्नीषोमात्मकत्व कहा) ऐसे प्राणको अभिज्ञ पुरुष, प्रजाओंकी रचना करने वाले प्रजापतिदेव कहते हैं ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।

यवे ह प्राण आहितोपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

प्राणापानौ । व्रीहिऽयवौ । अनड्वान् । प्राणः । उच्यते ।

यवे । ह । प्राणः । आऽहितः । अपानः । व्रीहिः । उच्यते १३

प्राणश्च अपानश्च प्राणापानौ मुख्यस्य प्राणस्य प्रधानभूतौ वृत्तिविशेषौ । तावेव व्रीहिश्च यवश्च व्रीहियवौ । प्राणापानात्मकौ

तावित्यर्थः। यो वृत्तिमान् मुख्यः प्राणः सः अनड्वान् उच्यते। व्रीहियवयोः कर्षणेन उत्पादयिता बलीवर्दो वृत्तिमत्प्राणात्मना ज्ञातव्य इत्यर्थः। उक्तमेवार्थं विवृणोति। यवे ह यवे खलु प्राणः प्राणवृत्त्यात्मको वायुः आहितः स्रष्ट्रा स्थापितः। अपानवृत्त्यात्मकस्तु वायुः व्रीहिरुच्यते। व्रीहिषु अवस्थानेन तदात्मकः कथ्यत इत्यर्थः। अत एव तौ व्रीहियवौ ओषधीषु मध्ये पुष्टिकरत्वेन सर्वप्राणिभिरुपजीव्यौ अतो लोकरक्षणाय प्राण एव व्रीहियवानडुद्रूपेण कथ्यत इत्यर्थः॥

प्राण और अपान मुख्य प्राणके ही वृत्तिविशेष हैं, वे ही व्रीहि और यव हैं अर्थात् प्राणापानात्मक हैं, जो वृत्तिमान् मुख्य प्राण है वह अनड्वान् कहलाता है। अर्थात् व्रीहि यवको जोत कर उत्पन्न करने वाले बलीवर्दको वृत्ति वाले प्राणात्मारूपमें समझना चाहिये। (इसी बातको स्पष्ट करते हैं, कि—) स्रष्टाने यवमें ही प्राणवृत्त्यात्मक वायुको स्थापित किया है और अपानवृत्ति वाला वायु व्रीहि कहलाता है अर्थात् व्रीहियोंमें अवस्थान करनेसे तदात्मक कहलाता है अत एव औषधियोंमें पुष्टिकर होनेसे इन दोनोंसे सब प्राणी अपनी आजीविका चलाते हैं। अत एव लोकरक्षणके कारण प्राण ही व्रीहि यव और अनड्वान्के रूपसे कहा जाता है॥ १३॥

चतुर्थी॥

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥ १४॥

अप। अनति। प्र। अनति। पुरुषः। गर्भे। अन्तरा।

यदा। त्वम्। प्राण। जिन्वसि। अथ। सः। जायते। पुनः १४

अन्नात्मकत्वं प्राणस्य उक्तम्। तद्रसपरिणामरूपशरीरधारी पुरुषो गर्भे स्त्रिया गर्भाशये अन्तरा मध्ये अपानति हे प्राण त्वत्प्रवेशेन अपानव्यापारं करोति प्राणति प्राणनव्यापारं करोति च। हे प्राण शुक्रशोणितावस्थायामेव पुरुषशरीरं प्रविश्य तत्परिणामाय प्राणापानवृत्ती जनयसीत्यर्थः। हे प्राण त्वं यदा यस्मिन् काले जिन्वसि गर्भीभूतं पुरुषं मातृभुक्ताहारपरिणतान्नरसेन प्रीणयसि। पुष्यसीत्यर्थः। ❀ जिवि प्रीणने। इदित्वात् नुम् ❀। अथो अनन्तरमेव स पुरुषः पुनर्जायते स्वार्जितपरिपक्वपुण्यपापफलोपभोगाय पुनर्भूम्याम् उत्पद्यते। प्राण एव सर्वस्योत्पादक इत्यर्थः॥

प्राणके अन्नात्मकत्वका पहिले मन्त्रमें वर्णन कर दिया है, उसी रसके परिणामरूप शरीरको धारण करने वाला पुरुष स्त्रीके गर्भाशयके मध्यमें हे प्राण! तुम्हारे प्रवेशसे अपानव्यापारको करता है और प्राणनव्यापारको करता है। अर्थात् हे प्राण! आप शुक्रशोणित अवस्थामें ही पुरुषके शरीरमें प्रवेश करके उसके परिणामके लिये प्राण और अपान वृत्तियोंको प्रकट कर देते हो। हे प्राण! जब आप गर्भीभूत पुरुषको माताके खाये हुए आहारके परिणत अन्नरससे पुष्ट करते हैं उसके अनन्तर ही वह पुरुष अपने अर्जित परिपक्व पुण्यपापका फल भोगनेके लिये भूमिमें फिर प्रकट होजाता है। तात्पर्य यह है, कि-प्राण ही सब का उत्पादक है॥ १४॥

पञ्चमी॥

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥

प्राणम्। आहुः। मातरिश्वानम्। वातः। ह। प्राणः। उच्यते।

प्राणे । ह । भूतम् । भव्यम् । च । प्राणे । सर्वम् । प्रतिऽस्थितम्

मातरि । अन्तरिक्षे श्वसिति वर्तत इति मातरिश्वा अन्तरिक्षाधिपतिर्वायुः । तं वायुं प्राणं प्राणात्मकम् आहुः । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति श्रुतेः [ऐ० आ० २. ४. २] । उक्त एवार्थो व्यतिहारेण दृढीक्रियते वातो ह प्राण उच्यते इति । "सैषानस्तमिता देवता यद् वायुः" [बृ० आ० १. ३. २२]इति सर्वजगदाधारभूतः सूत्रात्मा यो वातः सदा गमनशीलो वायुः स एव प्राण उच्यते । अतो नानयोर्भेद इत्यर्थः । तस्मिन् प्राणे जगदाधारभूते सूत्रात्मनि भूतम् भूतकालावच्छिन्नम् उत्पन्नं जगत् भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन्नम् उत्पत्स्यमानं जगत् । तद् उभयम् आश्रित्य वर्तते । किं बहुना तस्मिन् प्राणे सर्वम् इदं जगत् प्रतिष्ठितम् आश्रितम् ॥

माता अर्थात् अन्तरिक्षमें श्वसन करते रहने वाले अन्तरिक्षाधिपति मातरिश्वा वायुको प्राण कहते हैं + । सब जगत्का आधारभूत सूत्रात्मा जो वायु सदा गमनशील है वही प्राण कहलाता है । अत एव इनमें भेद नहीं है इस जगत्के आधारभूत सूत्रात्मा प्राणमें भूतकालावच्छिन्न उत्पन्न हुआ जगत्, और भविष्यत्कालावच्छिन्न उत्पन्न होने वाला जगत्, आश्रय करके रहता है, अधिक क्या ? इस प्राणमें सब ही जगत् प्रतिष्ठित है–आश्रित है–॥ १५ ॥

+ ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि–"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।–वायुने प्राण बनकर नासिकामें प्रवेश किया" । और बृहदारण्यक १ । ३ । २२ में कहा है, कि–"सैषाऽनस्तमिता देवता यद् वायुः ।–जो वायु है वही कभी अस्त न होने वाला देवता है" ॥

षष्ठी ॥

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।

ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि १६

आथर्वणीः । आङ्गिरसीः । दैवीः । मनुष्यऽजाः । उत ।

ओषधयः । प्र । जायन्ते । यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि १६

आथर्वणी अथर्वणा महर्षिणा सृष्टा आङ्गिरसीः अङ्गिरोभिः सृष्टाः । ❀ उभयत्र "तस्येदम्"-अर्थे अण् ❀। दैवीः देवैः सृष्टाः । ❀ "देवाद् यञञौ" इति प्राग्दीव्यतीयः अञ् प्रत्ययः । सर्वत्र "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्ण-दीर्घः ❀ । मनुष्यजाः मनुष्येभ्य उत्पन्नाः । उतशब्दः अप्यर्थे । एवं नानाविधा ओषधयः प्र जायन्ते प्रकर्षेण उत्पद्यन्ते हे प्राण त्वं यदा यस्मिन् काले जिन्वसि वृष्टिप्रदानेन प्रीणयसि ॥

हे प्राण ! जब आप वृष्टिकालमें वृष्टि प्रदान कर तृप्त करते हैं तब महर्षि अथर्वाकी रची हुई, अंगिरागोत्र वालोंकी रची हुई, देवताओंसे आविष्कृत और मनुष्योंसे उत्पन्न होने वाली इस प्रकार सब औषधियें उत्पन्न होती हैं ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।

ओषधयः प्र जायन्तेथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

यदा । प्राणः । अभिऽअवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् ।

ओषधयः । प्र । जायन्ते । अथो इति । याः । काः । च । वीरुधः

पूर्वोर्धर्चो व्याख्यातः । ओषधयो व्रीहियवाद्याः वृष्ट्यनन्तर-

प्राणे । ह । भूतम् । भव्यम् । च । प्राणे । सर्वम् । प्रतिऽस्थितम्

मातरि । अन्तरिक्षे श्वसिति वर्तत इति मातरिश्वा अन्तरिक्षाधिपतिर्वायुः । तं वायुं प्राणं प्राणात्मकम् आहुः । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति श्रुतेः [ऐ० आ० २. ४. २]। उ ह एवार्थौ व्यतिहारेण स्वीक्रियते वातो ह प्राण उच्यते इति । "सैषानस्तमिता देवता यद् वायुः" [बृ० आ० १. ३. २२]इति सर्वजगदाधारभूतः सूत्रात्मा यो वातः सदा गमनशीलो वायुः स एव प्राण उच्यते। अतो नानयोर्भेद इत्यर्थः । तस्मिन् प्राणे जगदाधारभूते सूत्रात्मनि भूतम् भूतकालावच्छिन्नम् उत्पन्नं जगत् भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन्नम् उत्पत्स्यमानं जगत् । तद् उभयम् आश्रित्य वर्तते । किं बहुना तस्मिन् प्राणे सर्वम् इदं जगत् प्रतिष्ठितम् आश्रितम् ॥

माता अर्थात् अन्तरिक्षमें श्वसन करते रहने वाले अन्तरिक्षाधिपति मातरिश्वा वायुको प्राण कहते हैं + । सब जगत्का आधारभूत सूत्रात्मा जो वायु सदा गमनशील है वही प्राण कहलाता है । अत एव इनमें भेद नहीं है इस जगत्के आधारभूत सूत्रात्मा प्राणमें भूतकालावच्छिन्न उत्पन्न हुआ जगत्, और भविष्यत्कालावच्छिन्न उत्पन्न होने वाला जगत्, आश्रय करके रहता है, अधिक क्या ? इस प्राणमें सब ही जगत् प्रतिष्ठित है–आश्रित है–॥ १५ ॥

+ ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि–"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।–वायुने प्राण बनकर नासिकामें प्रवेश किया" । और बृहदारण्यक १ । ३ । २२ में कहा है, कि–"सैषाऽनस्तमिता देवता यद् वायुः ।–जो वायु है वही कभी अस्त न होने वाला देवता है" ॥

षष्ठी ॥

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।

ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि १६

आथर्वणीः । आङ्गिरसीः । दैवीः । मनुष्यऽजाः । उत ।

ओषधयः । प्र । जायन्ते । यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि १६

आथर्वणी अथर्वणा महर्षिणा सृष्टा आङ्गिरसीः अङ्गिरोभिः सृष्टाः । ❀ उभयत्र "तस्येदम्"-अर्थे अण् ❀ । दैवीः देवैः सृष्टाः । ❀ "देवाद् यञञौ" इति प्राग्दीव्यतीयः अञ् प्रत्ययः । सर्वत्र "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । मनुष्यजाः मनुष्येभ्य उत्पन्नाः । उतशब्दः अप्यर्थे । एवं नानाविधा ओषधयः प्र जायन्ते प्रकर्षेण उत्पद्यन्ते हे प्राण त्वं यदा यस्मिन् काले जिन्वसि वृष्टिप्रदानेन प्रीणयसि ॥

हे प्राण ! जब आप वृष्टिकालमें वृष्टि प्रदान कर तृप्त करते हैं तब महर्षि अथर्वाकी रची हुई, अंगिरागोत्र वालोंकी रची हुई, देवताओंसे आविष्कृत और मनुष्योंसे उत्पन्न होने वाली इस प्रकार सब औषधियें उत्पन्न होती हैं ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।

ओषधयः प्र जायन्तेथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

यदा । प्राणः । अभिऽअवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् ।

ओषधयः । प्र । जायन्ते । अथो इति । याः । काः । च । वीरुधः

पूर्वोर्धर्चो व्याख्यातः । ओषधयो व्रीहियवाद्याः वृष्टयनन्तर-

मेव प्र जायन्ते । अथो अपि च याः काश्च वीरुधः विरोहणशीला लतारूपा आरण्याः ता अपि सर्वाः प्र जायन्ते ॥

जब प्राण वर्षारूपसे विशाल पृथ्वी पर बरसता है तो वर्षाके अनन्तर ही व्रीहि यव आदि औषधियें उत्पन्न होती हैं और जो लतारूप औषधियें हैं वे भी उत्पन्न होती हैं ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

यः । ते । प्राण । इदम् । वेद । यस्मिन् । च । असि । प्रतिऽस्थितः ।
सर्वे । तस्मै । बलिम् । हरान् । अमुष्मिन् । लोके । उत्ऽतमे १८

हे प्राण ते त्वदीयम् इदम् उदितं माहात्म्यं यो वेद जानाति यस्मिंश्च विदुषि त्वं प्रतिष्ठितोसि उदीरितमहिमोपेतत्वेन भाव्यमानो भवसि तस्मै विदुषे सर्वे देवाः अमुष्मिन् स्वर्गे उत्तमे उत्कृष्टतमे लोके बलिम् अमृतमयं भागं हरान् हरन्ति । ॐ हरतेर्लेटि आडा-गमः । "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः । संयोगान्तलोपः ॐ ॥

हे प्राण ! जो तेरे इस वर्णन किये हुए माहात्म्यको जानता है और जिस विद्वान्में तू प्रतिष्ठित होता है अर्थात् पूर्वोक्त महिमासे भाव्यमान होता है उस विद्वान्के लिये सब देवता उत्कृष्टलोक स्वर्गमें अमृतमय भागको देते हैं ॥ १८ ॥

नवमी ॥

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः १९

यथा । प्राण । बलिऽहृतः । तुभ्यम् । सर्वाः । प्रऽजाः । इमाः ।

एव । तस्मै । बलिम् । हरान् । यः । त्वा । शृणवत् । सुऽश्रवः १६

हे प्राण सर्वा इमाः जाः प्रदेवतिर्यङ्मनुष्याद्याः यथा येन प्रका-रेण तुभ्यं त्वदर्थं बलिहृतः बलेर्भोक्तव्यस्य अन्नस्य हर्तारः उप-हर्तारो भवन्ति एव एवं तस्मै विदुषे बलिं हरान् हरन्तु प्रयच्छन्तु । हे सुश्रवः शृण्वन् प्राण त्वा त्वां यः शृणवत् शृणुयात् तव माहा-त्म्यप्रतिपादकं मन्त्रजातं श्रवणेन्द्रियेण जानीयात् । तस्मै इति संबन्धः । ❀ शृणवत् इति । श्रु श्रवणे । अस्मात् लेटि अडागमः । "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः शृभावश्च । सुश्रुव इति । तस्मादेव धातोर्लिटः क्वसुः ❀ ॥

हे प्राण ! देवता तिर्यक् मनुष्य आदि सम्पूर्ण प्रजायें जिस प्रकार आपके लिये भोक्तव्य अन्नको लाती हैं हे सुश्रवः ! इसी प्रकार वे प्रजायें आपके माहात्म्यको जो श्रवणेन्द्रियसे जाने उस विद्वान्के लिये बलिको लावें ॥ १६ ॥

दशमी ॥

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥

अन्तः । गर्भः । चरति । देवतासु । आऽभूतः । भूतः । सः । ऊं इति । जायते । पुनः ।

सः । भूतः । भव्यम् । भविष्यत् । पिता । पुत्रम् । प्र । विवेश । शचीभिः ॥ २० ॥

देवतासु देवेषु अन्तः मध्ये गर्भः सन् प्राणश्चरति । न केवलं मनुष्यादिष्वित्यर्थः । आभूतः आसमन्ताद् व्याप्तो भूतः नित्यः सन् स उ स एव प्राणः पुनर्जायते । तत्तच्छरीरेण सह पुनरुत्पद्यत

इवेत्यर्थः। भूतः नित्यवर्तमानः स प्राणः भूतम् भूतकालावच्छिन्नं वस्तु भविष्यत् भाविकालावच्छिन्नम् उत्पत्स्यमानं च वस्तु शचीभिः आत्मीयाभिः शक्तिभिः प्र विवेश। पिता पुत्रम्। लुप्तोपमम् एतत्। यथा पिता स्वकीयं पुत्रं स्वावयवैरनुप्रविशति तथेत्यर्थः। अथ वा प्राण एव हि सर्वस्य लोकस्य पिता जनकः। सोयं पुत्रम् स्वस्माद् उत्पन्नं पुत्रभूतं सर्वं जगत् सात्मकं कर्तुं प्रविवेशेत्यर्थः॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम्॥

प्राण केवल मनुष्य आदिके भीतर नहीं विचरण करता है, किंतु देवताओंमें भी गर्भ होकर विचरण करता है, चारों ओरसे व्याप्तहुआ वह नित्य प्राण ही फिर उत्पन्न होता है अर्थात् उसके शरीरके साथ फिर उत्पन्न होजाता है। इस नित्य वर्तमान प्राण ने भूतकालावच्छिन्न वस्तु, भविष्य-कालावच्छिन्न उत्पन्न होने वाली वस्तुमें भी अपनी शक्तियोंसे इस प्रकार प्रवेश कर लिया है, जिस प्रकार पिता अपने पुत्रमें अपने अवयवोंसे प्रवेश करता है। अथवा प्राण ही सब जगत्का जनक है वह अपनेसे उत्पन्न हुए पुत्रभूत सर्वजगत्को सात्मक करनेके लिये उसमें प्रवेश करता है॥ २०॥ (१२)

पञ्चम सूक्त समाप्त (४८३)॥

"एकं पादम्" इति सूक्तस्यापि पूर्ववद् विनियोगः॥

"एकं पादम्" इस सूक्तका भी पहिले सूक्तकी समान विनियोग है।

तत्र प्रथमा॥

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्या-
न्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन २१

एकम् । पादम् । न । उत् । खिदति । सलिलात् । हंसः । उत्ऽचरन् ।

यत् । अङ्ग । सः । तम् । उत्ऽखिदेत् । न । एव । अद्य । न । श्वः । स्यात् । न । रात्री । न । अहः । स्यात् । न । वि । उच्छेत् । कदा । चन । ॥ २१ ॥

हन्ति गच्छतीति हंसः जगत्प्राणभूतः सूर्यः । स सलिलाद् उच्चरन् उद्गच्छन् । उद्यन्नित्यर्थः । एकं पादं नोत्खिदति नोद्धरति । एकं पादं निश्चलं स्थापयित्वा एकेनैव पादेन परिभ्रमतीत्यर्थः । तथा च मन्त्रवर्णः । "तं सूर्यं देवम् अजम् एकपादम्" इति [तै० ब्रा० ३. १. २. ८] । अङ्ग हे देवदत्त स उच्चरन् सूर्यः यत् यदि तं निहितं पादम् उत्खिदेत् क्षिपेत् तर्हि असौ द्वाभ्यां पादाभ्याम् अस्मदादिवद् यत्रक्वापि गच्छेत् निषीदेद् वा । तथा च कालपरिच्छेदकस्य सूर्यस्य परिस्पन्दाभावात् अद्य श्वः रात्री अहः इत्येवं विभिन्नव्यवहारो न स्यात् । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति रात्रिशब्दात् ङीप् ❀ । कदा चन कदाचिदपि न व्युच्छेत् । व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः । सूर्यस्योदयेऽसंभाव्यमाने तत्पुरोभाविनी उषा अपि नोदियात् । तथा च जगदान्ध्यमेव स्याद् इत्यर्थः ॥ अथ वा हन्ति गच्छति कृत्स्नशरीरं व्याप्य वर्तत इति हंसः प्राणः । सलिलात् सलिलोपलक्षितात् पाञ्चभौतिकाद् देहाद् उच्चरन् प्राणरूपस्यात्मना ऊर्ध्वं गच्छन् एकं पादम् अपानरूपस्यात्मकं नोत्खिदति नोत्क्षिपति । यदि स प्राणस्तमपि अपानात्मकं पादम् उत्खिदेत् शरीराद् उत्क्षिपेत् तदा प्राणस्य कार्त्स्न्येन शरीरतो निर्गतत्वात् मृतशरीरस्य तस्य अद्य श्वः रात्रिः अहः इत्येवमात्मकः कालविभागो न स्यात् । कदाचिदपि न व्युच्छेत् तमसो

निवृत्तिर्न स्यात् । अतः जगत् सजीवं कर्तुम् एकं पादं नोत्खिदतीत्यर्थः ॥

जो गमन करता है वह सूर्यात्मक सब जगत्का प्राणभूत हंस सलिलसे ऊपरको उठता हुआ एक पैरको नहीं उठाता है अर्थात् एक पादको निश्चल रख कर एक पैरसे ही परिभ्रमण करता है (इसी बातको तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १ । २ । ८ में कहा है, कि- "तं सूर्यं देवं अजं एकपादम् ।-उन अज एकपाद सूर्यदेवको") हे देवदत्त ! यह उदय होता हुआ सूर्य यदि उस टिके हुए पैरसे भी उदय होवे तो यह दोनों पैरोंसे हमारी समान चाहे जहाँ चला जाय वा बैठ जाय उस समय कालपरिच्छेदक सूर्यके परिस्पन्दके अभाववश आज कल दिन रात आदि विभिन्न व्यवहार न होवे और कभी उषाका प्रादुर्भाव भी न होवे अर्थात् जब सूर्योदयकी संभावना न हो तो उषाका भी उदय नहीं होगा और जगत्में अन्धकार ही भर जावे ॥

अथवा-पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर रहनेवाला प्राण हंस कहलाता है वह सलिल आदि पाँच भूतोंवाले देहसे प्राणवृत्तिरूपसे ऊपरको जाता हुआ अपानवृत्त्यात्मक एक पादको नहीं उठाता है । यदि यह प्राण उस अपानवृत्त्यात्मक पादको भी उठा लेय तो प्राणके पूर्णरूपसे शरीरसे निकल जाने पर मृतशरीरका आज कल रात्रि दिन आदि कालविभाग न होवे । और अन्धकारकी निवृत्ति भी कभी न होवे अतः वह जगत्को सजीव रखनेके लिये एक पादको नहीं उठाते हैं ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥

अष्टाऽचक्रम् । वर्तते । एकऽनेमि । सहस्रऽअक्षरम् । प्र । पुरः । नि । पश्चा ।

अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । कतमः । सः । केतुः ॥ २२ ॥

अष्टाचक्रम् त्वगसृगाद्याः सप्त धातवः ओजो नाम अष्टमो धातुः । तेत्र रथात्मना वर्णनीयस्य शरीरस्य चक्रत्वेन रूप्यन्ते । अष्टौ चक्राणि यस्य तद् अष्टाचक्रं शरीरम् । ❀ "छन्दसि च" इति अष्टनो दीर्घः ❀ । तादृक् शरीरम् एकनेमि एकेनैव प्राणेन नेमिनेव वेष्टितम् । लोके हि रथचक्रं नेमिवेष्टितमेव प्रवर्तते । अत्र तु चक्राष्टकमपि एक एव प्राणात्मको नेमिः आवेष्ट्य वर्तयतीत्यर्थः । सहस्राक्षरम् बहुभिरक्षैरुपेतम् । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । यद्वा प्राणपरिस्पन्दवशेन सहस्रं बहुविधानि अक्षराणि वर्णावर्णात्मकानि शब्दरूपाणि यस्य तत् तथोक्तम् । यद्वा । ❀ अश्नोतेः औणादिकः सर प्रत्ययः ❀ । बहुविधव्याप्तिकम् इत्यर्थः । एवं-रथात्मकं शरीरं पुरः पुरस्तात् पूर्वस्मिन् भागे प्र वर्तते पश्चात् अपरभागे नि वर्तते । इत्थंमहानुभावः प्राणः प्राणिशरीरं प्रविश्य तत्र प्रवृत्तिनिवृत्ती जनयतीत्यर्थः । शरीरस्य रथत्वेन रूपणम् अन्यत्रापि आम्नातम् ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु [क० व० ३. ३]

इत्यादिना । स प्राणः सूत्रात्मभावेन स्थितः अर्धेन स्वात्मनोंशेन एकेन विश्वम् सर्वं भुवनम् भूतजातं जजान प्राणवाय्वात्मना प्रविश्य जनयामास । अस्य सूत्रात्मनः प्राणस्य यद् अन्यद् अर्धम् प्राणरूपेणावस्थितात् अपरो भागः तस्यापरिच्छिन्नस्य केतुः कतमः कीदृशः । परब्रह्मात्मकस्य प्राणस्य एकदेश एव कृत्स्नं जगद् वर्तते । अवशिष्टं स्वरूपम् आनन्त्यात् इदम् ईदृग् इति

निर्धारयितुम् अशक्यम् इत्यर्थः। श्रूयते हि "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि" इति [ऋ० १०. ९०. ३]। स्मृतिश्च भवति।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्। इति [भ० गी० १०. ४२]॥

त्वचा रक्त आदि सात धातुएँ और ओज नामक आठवीं धातु इस प्रकार जो आठ धातुएँ हैं वे यहाँ रथात्मारूपसे वर्णनीय शरीरके चक्ररूपमें कही जाती है, कि–जिसमें आठ चक्र हैं ऐसा शरीर प्राणरूप एकनेमि वाला है। लोकमें रथचक्र नेमिसे वेष्टित दीखता है और यहाँ पर आठ चक्र वाले भी शरीरको एक प्राण-रूपी नेमि आवेष्टन कर रही है। यह अष्टाचक्र बहुतसे अक्षोंसे संपन्न है अथवा प्राणपरिस्पन्दके कारण अनेक प्रकारके वर्णा वर्णा-त्मक शब्दरूपोंसे सम्पन्न है अथवा अनेक प्रकारकी व्याप्ति वाला है, ऐसे रथात्मा शरीरको पहिले पूर्वभागमें व्याप्त होकर वर्तता है फिर अपरभागमें वर्तता है अर्थात् इस प्रकार महानुभाव प्राण प्राणीके शरीरमें प्रवेश करके वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्तिको प्रादु-र्भूत करता है। अन्यत्र भी (शरीरका रथरूपसे वर्णन मिलता है, कि-"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।–अर्थात् आत्मा को रथी जान और शरीरको रथ जान" कठवल्ली उपनिषत् ३।३॥) वह सूत्रात्मभावसे स्थित प्राण अपने एक आधे अंशसे सारे भुवनके प्राणियोंको, प्राणवायुरूपसे, प्रविष्ट होकर उत्पन्न करता है। इस प्राणरूपसे अवस्थित सूत्रात्मा प्राणका जो दूसरा भाग है उस अपरिच्छिन्नका ज्ञापक कैसा ? अर्थात् परब्रह्मात्मक प्राणका एकदेश ही सारे जगत्के रूपमें वर्त-मान है तब उसके अवशिष्ट स्वरूपका अनन्तताके कारण "यह ऐसा है" इस बातका निर्धारण करना अशक्य है। श्रुतिमें भी

कहा है, कि–"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।–इस प्रभुका एक पाद सकल प्राणी हैं और इसके तीन पाद स्वर्ग में हैं"। ऋग्वेदसंहिता १०। ९०। ३)॥ श्रीमद्भगवद्गीता १०।४२ में भी कहा है, कि–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्।–मैं इस सकल जगत्को अपने एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ" २२

तृतीया ॥

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

यः। अस्य। विश्वऽजन्मनः। ईशे। विश्वस्य। चेष्टतः।
अन्येषु। क्षिप्रऽधन्वने। तस्मै। प्राण। नमः। अस्तु। ते ॥२३॥

यः प्राणो विश्वजन्मनः विश्वानि सर्वाणि नानारूपाणि जन्मानि यस्य तत् तथोक्तम् तस्य चेष्टतः व्याप्रियमाणस्य अस्य विश्वस्य सर्वस्य जगतः ईशे ईष्टे। ❀ ईश ऐश्वर्ये। "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❀। अन्येषु प्राणिशरीरेषु क्षिप्रधन्वने क्षिप्रं गच्छते व्याप्नुवते। ❀ धविर्गत्यर्थः। इदित्त्वात् नुम्। कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वीत्यादिना [उ० १. १४५] कनिन् प्रत्ययः ❀। हे प्राण तस्मै तथाविधाय ते तुभ्यं नमोस्तु॥

जो प्राण! अनेक प्रकारके जन्म धारण करने वाले चेष्टा-सम्पन्न सकल जगत्का स्वामी है और जो दूसरोंके शरीरमें शीघ्रतासे व्याप्त होजाता है, ऐसे हे प्राण! आपके लिये प्रणाम प्राप्त हो॥ २३॥

चतुर्थी॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४॥

यः । अस्य । सर्वऽजन्मनः । ईशे । सर्वस्य । चेष्टतः ।

अतन्द्रः । ब्रह्मणा । धीरः । प्राणः । मा । अनु । तिष्ठतु ॥२४॥

पूर्वोऽर्धर्चो व्याख्यातः । विश्वशब्दस्य स्थाने सर्वशब्द एव विशेषः । स जगदीश्वरः प्राणः अतन्द्रः आलस्यरहितः सर्वदा सर्वत्र संचरिष्णुः धीरः धिया ज्ञानशक्त्या युक्तः ब्रह्मणा सर्वगतब्रह्मात्मकेन अनवच्छिन्नेन रूपेण मा माम् अनु तिष्ठतु अनुवर्तताम् ॥

जो अनेक रूपके जन्म धारण करने वाले सकल जगत् का स्वामी है वह जगदीश्वर प्राण आलस्यरहित होकर सर्वत्र सर्वदा संचरण करता हुआ अपनी ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न रहता हुआ, सर्वगतब्रह्मात्मक अनवच्छिन्न रूपसे मुझमें स्थित रहे—मेरा अनुवर्तन करे ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वः । सुप्तेषु । जागार । ननु । तिर्यङ् । नि । पद्यते ।

न । सुप्तम् । अस्य । सुप्तेषु । अनु । शुश्राव । कः । चन ॥ २५ ॥

हे प्राण त्वम् ऊर्ध्वः उत्थितः सन् सुप्तेषु निद्रापरवशेषु प्राणिषु जागर जागृहि तद्रक्षणार्थं निद्रारहितो वर्तस्व । ॐ जागृ निद्राक्षये । लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः ॐ । जागरणे कारणम् आह नन्विति । सुप्तः प्राणी तिर्यङ् तिर्यगवस्थितः नि पद्यते निद्रापरवशः शेते । ननु इति प्रश्ने । अतस्त्वं जागृहीत्यर्थः । प्राणस्यापि सुप्तिः किं न स्याद् इति तत्राह न सुप्तम् इति । प्राणिषु

सुप्तेषु निद्रापरवशेषु सत्सु तच्छरीरमध्यवर्तिनः अस्य प्राणस्य सुप्तम् स्वापं कश्चन कोपि पुरुषः न अनु शुश्राव अनु पारंपर्यक्रमेण श्रुतवान् । प्राणस्वपनस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ इत्यर्थः ॥

हे प्राण ! आप उठ कर निद्रापरवश प्राणियोंमें जागिये—उनकी रक्षा करनेके लिये निद्रारहित रहिये (जागरणका कारण यह है, कि—सोता हुआ प्राणी विवश होकर निद्राके अधीन हो कर सोजाता है) अतः आप जागिये (प्राण भी क्यों न सोवे तो कहते हैं, कि—) प्राणियोंके सोने पर इस प्राणके सोनेको किसीने परम्परा क्रमसे भी नहीं सुना है अर्थात् प्राणके सोनेका वर्णन करने वाला वक्ता और श्रोता भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पद्मी ॥

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि २६

प्राण । मा । मत् । परिऽआवृतः । न । मत् । अन्यः । भविष्यसि ।
अपाम् । गर्भम्ऽइव । जीवसे । प्राण । बध्नामि । त्वा । मयि २६

हे प्राण मत् सकाशात् मा पर्यावृतः पराङ्मुखो मा भूः । ❀ वृतु वर्तने । अस्मात् माङि लुङि "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदम् । पुषादिद्युताद्य्लृदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । पर्यावृत्त्य-संभवम् आह । हे प्राण त्वं मत् सकाशाद् अन्यो न भविष्यसि मया सह तादात्म्यापन्न एव वर्तसे । अतः पर्यावृत्तिशङ्कापि न संभवतीत्यर्थः । अतो हे प्राण त्वा त्वां मयि मच्छरीरे जीवसे जीवनाय बध्नामि आसजामि । अपां गर्भमिव अपाम् उदकानां गर्भ-भूतं वैश्वानराग्निं जीवनार्थं देहमध्ये धारयन्ति तद्वदित्यर्थः । अग्नेः अब्गर्भत्वं मन्त्रवर्णाद् अवगम्यते । "अपां गर्भं दर्शतम् ओषधी-

नाम्" [ऋ० १. १६४. ५२] "अग्ने विश्वस्य भुतस्याग्ने गर्भो अपामसि" इति [तै० सं० ४, २. ३. ३] च ॥

षष्ठं सूक्तम् ॥

इति सायणार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये

एकादशकाण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

हे प्राण ! तू मुझसे पराङ्मुख न हो । हे प्राण ! तू मुझसे अन्य न होसकेगा, क्योंकि–मेरे साथ तादात्म्यापन्न ही रहता है अतः पराङ्मुख होनेकी शङ्का भी नहीं है अत एव हे प्राण ! मैं तुझको अपने शरीरमें जीवनके लिये बाँधता हूँ, जैसे कि जलोंके गर्भरूप वैश्वानर अग्निको जीवनके लिये देहके मध्यमें धारण करते हैं,इसी प्रकार मैं तुझको अपने शरीरमें धारण करता हूँ† २६ (१३)

छठा सूक्त समाप्त (४८४) ॥

एकादश काण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "ब्रह्मचारीष्णंश्चरति" इत्यादिभिस्त्रिभिः सूक्तैर्ब्रह्मचारिणो माहात्म्यम् उच्यते । तस्य ब्रह्मयज्ञजपे विनियोगः ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "ब्रह्मचारीष्णंश्चरति" इन तीन सूक्तोंसे ब्रह्मचारीका माहात्म्य कहा जाता है । इसका ब्रह्मयज्ञजपमें विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।

---

† अग्निका अपगर्भत्व और मन्त्रोंमें भी वर्णित है । यथा–"अपां गर्भं दर्शतं ओषधीनाम्" ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ५२ और तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ३ । ३ में कहा है,कि–"अग्ने विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि" ॥

स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥१॥

ब्रह्मऽचारी । इष्णन् । चरति । रोदसी इति । उभे इति । तस्मिन् । देवाः । सम्ऽमनसः । भवन्ति ।

सः । दाधार । पृथिवीम् । दिवम् । च । सः । आऽचार्यम् । तपसा । पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलम् अस्य स तथोक्तः उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ इष्णन् आत्मीयेन तपसा अभीक्ष्णं व्याप्नुवन् चरति स्वनियमे प्रवर्तते । ❀ इष अभीक्ष्ण्ये । अस्मात् लटः शत्रादेशः । क्र्यादित्वात् श्ना-प्रत्ययः ❀ । तस्मिन् ब्रह्मचारिणि सर्वे इन्द्रादयो देवाः संमनसः समानमनस्का भवन्ति । अनुग्रहबुद्धियुक्ता भवन्तीत्यर्थः । स ब्रह्मचारी आत्मीयेन तपसा पृथिवीम् भूमिं दिवम् द्युलोकं च दाधार । ❀ तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् ❀ । धारयति पोषयति । तथा आचार्यम् स्वं गुरुं तेनैव तपसा पिपर्ति पालयति । सन्मार्गवृत्त्या आचार्यं परिपालयतीत्यर्थः । "शिष्यपापं गुरोरपि" इति शिष्यकृतेन पापेन गुरोरपि पातित्यस्मरणाद् एवम् उक्तम् । ❀ "चरेराङि चागुरौ" इति गुरावभिधेये आङ्पूर्वाच्चरतेः "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यदेव प्रत्ययो भवति। "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् । पिपर्तीति पॄ पालनपूरणयोः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ ॥

जिसका वेदात्मक ब्रह्मको अध्ययन करनेके आचरण करनेका स्वभाव होता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है, वह द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों लोकोंको अपने तपसे निरन्तर व्याप्त करता हुआ अपने नियममें वर्तमान रहता है, उस ब्रह्मचारी पर सब

देवता एकसा मन रखते हैं अर्थात् सब देवता उस पर अनुग्रह करते हैं, वह ब्रह्मचारी अपने तपसे भूमि और द्युलोकका पोषण करता है तथा अपने गुरुका भी उसी तपसे पालन करता है तात्पर्य यह है, कि–सन्मार्गमें चलकर आचार्यका भी पालन करता है। स्मृतिमें कहा है, कि–"शिष्यपापं गुरोरपि।–शिष्यका पाप गुरुको भी लगता है" अतः उसका पुण्य भी अवश्य मिलेगा यह विचार कर ऊपरकी बात कही है) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

ब्रह्मऽचारिणम् । पितरः । देवऽजनाः । पृथक् । देवाः । अनुऽसंयन्ति । सर्वे ।
गन्धर्वाः । एनम् । अनु । आयन् । त्रयःऽत्रिंशत् । त्रिऽशताः । षट्ऽसहस्राः । सर्वान् । सः । देवान् । तपसा । पिपर्ति ॥ २ ॥

ब्रह्मचारिणम् ब्रह्मचर्यम् आचरन्तं पुरुषं पितरः पितृगणा देवजनाः एतत्संज्ञा देवगणा अन्ये च सर्वे देवा इन्द्रादयः पृथग् अनुसंयन्ति । तस्य रक्षणार्थं पृथक् पृथक् तम् अनुगच्छन्तीत्यर्थः । तथा गन्धर्वाः अन्तरिक्षसंचारिणो विश्वावसुप्रभृतयः एनं ब्रह्मचारिणम् अन्वायन् अनुगच्छन्ति। ये च त्रयस्त्रिंशद् देवाः "अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" [ऐ॰ ब्रा॰ १. १०] इत्येवं प्राग उदाहृताः ये च त्रिशताः त्रय इति अत्रापि

संबध्यते। त्र्युत्तरत्रिशतसंख्याकास्तद्विभूतिरूपा देवाः। तथा षट्सहस्राः ये च तद्विभूतिरूपाः षट्सहस्रसंख्याका देवाः। एवमेव वैश्वदेवनिविदि देवानां संख्या उत्तरोत्तरं भूयसी तन्माहात्म्यप्रतिपादनाय समाम्नायते। "ये स्थ त्रय एकादशास्त्रयश्च त्रिंशच्च त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा" इति प्रक्रम्य "अतो वा देवा भूयांसः स्थ" इति [निवि० १. ७]। तत्र प्रकृतसंख्यातो भूयस्त्वश्रवणाद् अत्र षट्सहस्रा इति अधिकसंख्योक्तिः। तान् सर्वान् देवान् स ब्रह्मचारी तपसा आत्मीयेन ब्रह्मचर्यनियमेन पिपर्ति पालयति। देवमनुष्यादिरूपं सर्वं जगद् ब्रह्मचर्येण ध्रियत इत्यर्थः॥

पितर और देवजन तथा इन्द्र आदि सब देवता भी ब्रह्मचर्यका पालन करने वाले ब्रह्मचारीके पीछे उसकी रक्षा करनेके लिये चला करते हैं। और अन्तरिक्षचारी विश्वावसु आदि गन्धर्व इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं और (ऐतरेयब्राह्मण १। १० में वर्णित आठ वसु ग्यारह रुद्र बारह आदित्य प्रजापति और वषट्कार रूप) जो तैंतीस देवता हैं और इनकी विभूतिरूप तीनसौ तीन देवता हैं और इनकी विभूतिरूप जो छः हजार देवता हैं (इसी प्रकार वैश्वदेवनिवित्में देवताओंके माहात्म्यका प्रतिपादन करते हुए देवताओंकी उत्तरोत्तर अधिक संख्याका प्रतिपादन किया गया है, कि—"ये स्थ त्रय एकादशास्त्रयश्च त्रिंशच्च त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा" इसका आरंभ करके आगे कहा है, कि—"अतो वा देवा भूयांसः स्थ—हे देवताओ! तुम इससे भी अधिक हो" यहाँ प्रकृतसंख्यासे भी अधिकका श्रवण होनेसे छः हजारकी बढ़ती संख्याको कहा गया है) ब्रह्मचारी इन सब देवताओंका अपने ब्रह्मचर्यनियमरूप तपसे पालन करता है। तात्पर्य यह है, कि—देव मनुष्य आदिक सब जगत् ब्रह्मचर्यसे ही धारण किया जाता है॥ २॥

तृतीया ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति
देवाः ॥ ३ ॥

आऽचार्यः। उपऽनयमानः। ब्रह्मऽचारिणम्। कृणुते। गर्भम्।
अन्तः।
तम्। रात्रीः। तिस्रः। उदरे। बिभर्ति। तम्। जातम्। द्रष्टुम्।
अभिऽसंयन्ति। देवाः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचारिणम् माणवकम् उपनयमानः स्वसमीपम् उपगमयन् आचार्यः अन्तः विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं कृणुते करोति। ❀ उपनयमान इति। "संमाननोत्सर्जनाचार्यकरण०" इति आत्मनेपदम् ❀। तं गर्भीभूतं ब्रह्मचारिणं तिस्रो रात्रीः। ❀ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया ❀। तावत्कालपर्यन्तं त्रिरात्रम् उदरे आत्मीये बिभर्ति धारयति चतुर्थे दिवसे जातम् विद्यामयशरीराद् उत्पन्नं तं ब्रह्मचारिणं द्रष्टुम् अवलोकयितुं देवा अभिसंयन्ति अभिमुखं संभूय गच्छन्ति। उपनयनसंस्कारेण माणवकस्य आचार्यसकाशाद् उत्पत्तिं भगवान् आपस्तम्बोपि आह स्म। "स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः" इति आप० ध० १. १. १५-१७ ॥

ब्रह्मचारीको अपने समीपमें लाता हुआ—उपनयन करता हुआ—आचार्य उसको अपने विद्याशरीरके मध्यमें गर्भ (सा) करता है उस गर्भीभूत ब्रह्मचारीको तीन रात तक अपने उदरमें

धारण करता है, चौथे दिन उस विद्याशरीरसे उत्पन्न हुए ‡ ब्रह्मचारीको देखनेके लिये देवता अभिमुख होकर आते हैं ॥३॥

चतुर्थी ॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति

इयम् । सम्ऽइत् । पृथिवी । द्यौः । द्वितीया । उत । अन्तरिक्षम् ।
सम्ऽइधा । पृणाति ।

ब्रह्मचारी । सम्ऽइधा । मेखलया । श्रमेण । लोकान् । तपसा ।
पिपर्ति ॥ ४ ॥

पूर्वं ब्रह्मचारिणो माहात्म्यकथनपुरःसरं तदुत्पत्तिरभिहिता । अधुना स्तुतिव्याजेन तन्नियमा उपदिश्यन्ते । इयं परिदृश्यमाना पृथिवी ब्रह्मचारिणः प्रथमा समित् । द्यौः द्युलोकात्मिका द्वितीया समित् । उत अपि च अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योर्मध्ये समिधा अग्नावाधीयमानया पृणाति पूरयति । ❀ पृ पालनपूरणयोः । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इत्थं ब्रह्मचारी समिधा आधीयमानया मेखलया धार्यमाणया मौञ्ज्या श्रमेण इन्द्रियनिग्रहोद्भूतखेदेन तपसा अन्येनापि देहसंतापकेन नियमजातेन लोकान् सर्वा-

‡ भगवान् आपस्तम्बने भी उपनयनसंस्कारके द्वारा आचार्यसे माणवककी उत्पत्तिको कहा है, कि—"स हि विद्यातस्तं जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म । शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ।—अर्थात् वह आचार्य ब्रह्मचारीको विद्यासे उत्पन्न करते हैं, वही श्रेष्ठ जन्म है, मातापिता तो शरीरको ही उत्पन्न करते हैं" ॥ (आपस्तम्बधर्मसूत्र १ । १ । १५–१७) ॥

क्तान् पृथिव्यादीन् पिपर्ति पूरयति पालयति वा । अतः समिदाधानादिकम् अवश्यम् अस्य कर्तव्यम् इत्यर्थः ॥

(पहिले ब्रह्मचारीके माहात्म्यको कह कर उसकी उत्पत्ति कही, अब स्तुतिव्याजसे उसके नियमोंका उपदेश देते हैं, कि-) यह दीखती हुई पृथ्वी इस ब्रह्मचारीकी पहिली समिधा है, द्युलोक दूसरी समिधा है और ब्रह्मचारी द्यावा पृथिवीके भीतर अग्निमें स्थापित की हुई समिधासे जगत्को तृप्त करता है । इस प्रकार ब्रह्मचारी आधीयमान समिधासे, धारण की हुई मेखलासे, मौञ्जीके श्रमसे और इन्द्रियनिग्रहमें होने वाले खेदसे (तपसे) तथा देहसन्तापक अन्य नियमोंसे भी पृथिवी आदि लोकोंका पालन करता है । तात्पर्य यह है, कि-समिदाधान आदि ब्रह्मचारीका आवश्यकीय कर्तव्य है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

पूर्वः । जातः । ब्रह्मणः । ब्रह्मऽचारी । घर्मम् । वसानः । तपसा । उत् । अतिष्ठत् ।

तस्मात् । जातम् । ब्राह्मणम् । ब्रह्म । ज्येष्ठम् । देवाः । च । सर्वे । अमृतेन । साकम् ॥ ५ ॥

यत् सर्वजगत्कारणं ब्रह्म सत्यज्ञानादिलक्षणं तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मचारी पूर्वो जातः प्रथमम् उत्पन्नः । स च उत्पन्नो घर्मम् दीप्तं रूपं वसानः आच्छादयन् तपसा समिदाधानादिरूपेण

सह उदतिष्ठत् उत्थितवान् । तस्मात् ब्रह्मचार्यात्मना तपस्तप्यमानाद् ब्रह्मणः सकाशाद् ब्राह्मणम् ब्राह्मणानां स्वभूतं ज्येष्ठम् प्रशस्यतमं वृद्धतमं वा ब्रह्म वेदात्मकं जातम् प्रादुर्भूतम् । तत्प्रतिपाद्याः सर्वे अग्न्यादयो देवाश्च अमृतेन अमृतत्वप्रापकेन स्वोपभोग्येन साकं सह । जाता इत्यर्थः । प्रथमजननाद् ब्रह्मचारी सर्वश्रेष्ठ इत्यर्थः ॥

सब जगत्का कारण सत्यज्ञानादिलक्षण जो ब्रह्म है उस ब्रह्मसे ब्रह्मचारी पहिले प्रकट हुआ था, वह उत्पन्न हो प्रदीप्त रूपको धारण कर, समिदाधान आदिक तपसे उठा, उस ब्रह्मचारीरूपसे तपको तपते हुए ब्रह्मके सकाशसे, ब्राह्मणोंका स्वभूत परमश्रेष्ठ वेदात्मक ब्रह्म प्रकट हुआ था उससे प्रतिपाद्य अग्नि आदि देवता भी अमृतत्वप्रापक अपने उपभोगके साथ प्रकट हुए तात्पर्य यह है, कि–प्रथमजननके कारण ब्रह्मचारी सर्वश्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मऽचारी । एति । सम्ऽइधा । सम्ऽइद्धः । कार्ष्णम् । वसानः । दीक्षितः । दीर्घऽश्मश्रुः ।
सः । सद्यः । एति । पूर्वस्मात् । उत्तरम् । समुद्रम् । लोकान् सम्ऽगृभ्य । मुहुः । आऽचरिक्रत् ॥ ६ ॥

समिधा सायंप्रातरग्नावधीयमानया तज्जनितेन तेजसा समिद्धः संदीपितः कार्ष्णम् कृष्णमृगसंबन्धि अजिनं वसानः धारयन् दीक्षितः भिक्षाचरणादिभिर्नियमविशेषैर्नियन्त्रितः दीर्घश्मश्रुः दीर्घैरायतैः श्मश्रुभिर्युक्तः सन् ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यधर्मेण युक्तः एति वर्तते। स उदीरितलक्षणो ब्रह्मचारी सद्यः शीघ्रं पूर्वस्मात् समुद्रात् उत्तरम् उत्तरदिगवस्थितं समुद्रम् एति गच्छति। तपसो महिम्ना व्याप्नोतीत्यर्थः। तथा लोकान् सर्वान् पृथिव्यन्तरिक्षादीन् संगृह्य हस्ते धृत्वा मुहुः अत्यर्थम् आचरिक्रत् आभिमुख्येन करोति। सर्वे लोका अस्य वशे भवन्तीत्यर्थः। ॐ आचरिक्रत् इति। करोतेर्यङ्लुगन्तात् लङि रूपम् ॐ॥

सायंकाल और प्रातःकाल अग्निमें रखी जाने वाली समिधासे और उससे उत्पन्न हुए तेजसे भली प्रकार दीप्त हुआ, कृष्णमृगके चर्मको पहिनने वाला, भिक्षाचरण आदि नियमोंसे नियन्त्रित ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यधर्मका पालन करता है। ऐसे लक्षणों वाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही पूर्वसमुद्रसे उत्तरसमुद्र पर चला जाता है अर्थात् इनमें अपने तपसे व्याप्त होजाता है। तथा पृथिवी अन्तरिक्ष आदि लोकोंको हाथमें करके उनको अभिमुख करता है, तात्पर्य यह है, कि—सब लोक इसके वशमें होजाते हैं॥ ६॥

सप्तमी॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।

गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह॥७॥

ब्रह्मऽचारी। जनयन्। ब्रह्म। अपः। लोकम्। प्रजाऽपतिम्। परमेऽस्थिनम्। विऽराजम्।

गर्भः । भूत्वा । अमृतस्य । योनौ । इन्द्रः । ह । भूत्वा । असुरान् । ततर्ह ॥ ७ ॥

उक्तलक्षणो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यमहिम्ना ब्रह्म ब्राह्मणजातिम् अपः स्नानपानार्था गङ्गाद्या नदीः इमम् आत्मनः फलभूतं स्वर्गादिलोकं प्रजापतिम् प्रजानां स्रष्टारम् अवान्तरसृष्टिकरं परमेष्ठिनम् परमे उत्कृष्टे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्ठी तम् आदिब्रह्माणं विराजम् स्थूलप्रपञ्चशरीराभिमानिनम् ईश्वरं च जनयन् उत्पादयन् वर्तते। स्वस्वकारणाद्धि उत्पद्यमानानाम् एषां ब्रह्मचर्यं निमित्तकारणम् इति तदाश्रयभूतो ब्रह्मचार्येव जनयन्निति उपचर्यते। अमृतस्य अमरणशीलस्य ब्रह्मणः संबन्धिन्यां योनौ सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकायां प्रकृतौ प्रथमं ब्रह्मचारी गर्भो भूत्वा उदीरितं सर्वं जनयति। पश्चात् इन्द्रो ह भूत्वा तपोबलाद् इन्द्रत्वं प्राप्य असुरान् सुरविरोधिनो दैत्यान् ततर्ह जघान। ❀ तृह हिंसि हिंसायाम् ❀। इत्थं सर्वजगत्कर्तृत्वेन ब्रह्मचारिणः स्तुतिः॥

ऐसा ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकी महिमासे ब्राह्मण जातिको उत्पन्न करता रहता है, स्नान पानके लिये गंगा आदि नदियोंको उत्पन्न करता रहता है, अपने फलरूप स्वर्ग आदिक लोकोंको उत्पन्न करता रहता है, प्रजाओंके स्रष्टा अवान्तरसृष्टिकर प्रजापतिको उत्पन्न करता रहता है, परमेष्ठीको उत्पन्न करता रहता है, स्थूलप्रपञ्चशरीराभिमानी ईश्वर विराट्को उत्पन्न करता रहता है (अपने अपने २ कारणोंसे उत्पन्न होने वाले इनका ब्रह्मचर्य निमित्तकारण है अतः उनका आश्रयभूत ब्रह्मचारी ही उनको उत्पन्न करता है ऐसा उपचार किया जाता है) अमरणशील ब्रह्मकी सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक योनि (प्रकृति) में पहिले ब्रह्मचारी गर्भ होकर सब वर्णितोंको उत्पन्न करता है फिर इन्द्र होकर तपो-

बलसे इन्द्रत्वको पाकर सुरविरोधी असुरोंको मारता है (इस प्रकार सर्वजगत् कर्तृत्वरूपसे ब्रह्मचारीकी स्तुति की है) ॥७॥

अष्टमी ॥

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।

ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥

आऽचार्यः । ततक्ष । नभसी इति । उभे इति । इमे इति । उर्वी इति । गम्भीरे इति । पृथिवीम् । दिवम् । च ।

ते इति । रक्षति । तपसा । ब्रह्मऽचारी । तस्मिन् । देवाः । सम्ऽमनसः । भवन्ति ॥ ८ ॥

इमे परिदृश्यमाने उभे नभसी नभः अन्तरिक्षम् । तत्साहचर्याद् द्विवचनेन पृथिव्युपलक्ष्यते । द्यावापृथिव्यौ आचार्यस्ततक्ष तक्षणेन जनयामास । ॐतक्षू त्वक्ष तनूकरणे । अस्मात् लिट्ॐ । नभसी विशेष्येते । उर्वी विस्तीर्णे गंभीरे गाम्भीर्ययुक्ते । परिच्छेत्तुम् अशक्ये इत्यर्थः । ते एव व्यस्तं निर्दिशति पृथिवीं दिवं चेति । तं द्यावापृथिव्योरुत्पादकम् आचार्यं ब्रह्मचारी आत्मीयेन तपसा ब्रह्मचर्यनियमेन रक्षति पालयति । तस्मिंस्तथाविधे ब्रह्मचारिणि सर्वे देवाः संमनसः समानमनस्काः प्रीता भवन्ति ॥

इस दीखते हुए आकाश और पृथिवीको आचार्यने तक्षण किया है, ये दोनों विशाल हैं और गम्भीरतासम्पन्न हैं अर्थात् इनकी नाप नहीं की जासकती । इस पृथिवी द्यौ और इनके

उत्पादक आचार्यकी भी ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्यनियमसे रक्षा करता है। ऐसे ब्रह्मचारी पर सब देवता अनुग्रह करते हैं ॥८॥

नवमी ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥

इमाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । ब्रह्मचारी । भिक्षाम् । आ । जभार । प्रथमः । दिवम् । च ।
ते इति । कृत्वा । सम्ऽइधौ । उप । आस्ते । तयोः । आर्पिता । भुवनानि । विश्वा ॥ ६ ॥

इमां परिदृश्यमानां पृथिवीम् प्रथितां विस्तीर्णां भूमिं ब्रह्मचारी प्रथमः प्रथमभावी सन् भिक्षाम् आ जभार भिक्षात्वेन आहृतवान्। अनन्तरं दिवम् द्युलोकं च द्वितीयां भिक्षाम् आजहार। ❀ "हृग्रहो-र्भः०" इति भत्वम् ❀ । ते द्यावापृथिव्यौ भिक्षणेन लब्धे समिधौ कृत्वा उपास्ते अग्निं परिचरति। समिन्धनसाधनयोस्तयोर्द्यावा-पृथिव्योः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आर्पिता अर्पितानि स्थापितानि। आश्रित्य वर्तन्त इत्यर्थः ॥

इस विस्तीर्ण भूमिको प्रथमभावी ब्रह्मचारीने भिक्षारूपमें ग्रहण किया फिर द्युलोकको भी भिक्षारूपमें लेलिया भिक्षामें मिलेहुए उन द्यावापृथिवीकी समिधा बनाकर उसने अग्निकी उपासना की थी, समिन्धनके साधन उन द्यावापृथिवीका आश्रय लेकर समस्त प्राणी रहते हैं ॥ ६ ॥

दशमी ॥

अर्वाग॒न्यः प॒रो अ॒न्यो दि॒वस्पृ॒ष्ठाद् गुहा॑ नि॒धी निहि॑तौ॒ ब्राह्म॑णस्य ।
तौ र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तत् केव॑लं कृणुते॒ ब्रह्म॑ वि॒द्वान् ॥ १० ॥

अ॒र्वाक् । अ॒न्यः । प॒रः । अ॒न्यः । दि॒वः । पृ॒ष्ठात् । गुहा॑ । नि॒धी इति॑ नि॒ऽधी । निऽहि॑तौ । ब्राह्म॑णस्य ।
तौ । र॒क्ष॒ति॒ । तप॑सा । ब्र॒ह्म॒ऽचा॒री । तत् । केव॑लम् । कृ॒णु॒ते॒ । ब्रह्म॑ । वि॒द्वान् ॥ १० ॥

दिवः द्युलोकस्य पृष्ठात् उपरिभागाद् अर्वाक् अधः भूलोके अन्यः एको निधिर्वेदात्मकः गुहा गुहायाम् आचार्यहृदयरूपायां निक्षिप्तः । अन्यः अपरो निधिस्तत्प्रतिपाद्यदेवतारूपः परः परस्ताद् उपरि देशे गुहायां ज्ञातुम् अशक्ये स्थाने निक्षिप्तः । ब्राह्मणस्य अधीतवेदस्य संबन्धिनौ तौ निहितौ निक्षिप्तौ निधी ब्रह्मचारी तपसा ब्रह्मचर्यनियमेन रक्षति पालयति । विद्वान् वेदार्थरहस्याभिज्ञः तत् शब्दतदर्थात्मकं निधिद्वयं केवलम् निष्प्रपञ्चं ब्रह्म कृणुते कुरुते । स्वात्मभूते परब्रह्मणि वेदराशेस्तदर्थस्य च अध्यस्तत्वेन अधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव तादूप्येण साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥

[इति] तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्युलोकके उपरिभागसे नीचे भूलोकमें एक वेदात्मक निधि आचार्यकी हृदयरूपी गुफामें स्थित है । दूसरी तत्प्रतिपाद्यदेवतारूप निधि ऊपरके देश-जाननेके लिये अशक्य स्थान-गुफामें

निक्षिप्त है। वेदको पढ़ने वाले ब्राह्मणकी धरोहड़रूप उन निधियों की ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य नियमरूप तपसे रक्षा करता है, वेद के रहस्यको जानने वाला विद्वान् शब्द और तदर्थात्मक दोनों निधियोंको केवल-निष्प्रपञ्च-ब्रह्म करता है, अर्थात् स्वात्मभूत परब्रह्ममें वेदराशि और उसके अर्थके अध्यस्त होनेसे अधिष्ठान भूत ब्रह्मका ही तादूप्यसे साक्षात्कार करता है ॥१०॥ (१४)

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

द्वितीयसूक्ते प्रथमा ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।

तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

अर्वाक् । अन्यः । इतः । अन्यः । पृथिव्याः । अग्नी इति । सम्ऽएतः । नभसी इति । अन्तरा । इमे इति ।

तयोः । श्रयन्ते । रश्मयः । अधि । दृढाः । तान् । आ । तिष्ठति । तपसा । ब्रह्मऽचारी ॥ ११ ॥

इतः अस्याः पृथिव्या अर्वाक् अधःप्रदेशे अन्यः एकोग्निः अनुघत्सूर्यात्मको वर्तते । अन्यः अपरः पार्थिवोऽग्निः पृथिव्या उपरि वर्तते । ततः सूर्य उदिते सति इमे नभसी अन्तरा अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये तावग्नी समेतः परस्परं संगतौ भवतः । ❀ "अन्तरान्तरेणयुक्ते" इति द्वितीया ❀ । तयोः सूर्याग्न्योः संबन्धिनो रश्मयः परस्परसंमेलनेन अतिदृढाः श्रयन्ते द्यावापृथिव्यौ आश्र-

यन्ति। "वैश्वानरो यतते सूर्येण" इति हि [ऋ० १.९८.१] निगमः। इत्थम् अग्निद्वयोपेतां तां भूमिं ब्रह्मचारी तपसा तपोमहिम्ना आ तिष्ठति अधितिष्ठति। अग्निरूपेण तस्या अधिदेवता भवतीत्यर्थः॥

इस पृथ्वीके नीचे उदय न हुआ सूर्य रूप एक अग्नि रहता है, दूसरा पार्थिव अग्नि पृथ्वीके ऊपर रहता है, सूर्यका उदय होने पर द्यावापृथिवीके बीचमें ये दोनों अग्नियें मिल जाती हैं, उन सूर्य और अग्निकी किरणें परस्परके सम्मेलनसे अतिदृढ़ होकर द्यावापृथिवीका आश्रय करती हैं। इस प्रकार दोनों अग्नियोंसे सम्पन्न भूमि पर ब्रह्मचारी अपने तापकी महिमासे अधिष्ठित होता है अर्थात् अग्निरूपसे उसका अधिदेवता होता है११

द्वितीया ॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिंञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२ ॥

अभिऽक्रन्दन्। स्तनयन्। अरुणः। शितिङ्गः। बृहत्। शेपः। अनु। भूमौ। जभार।
ब्रह्मऽचारी। सिञ्चति। सानौ। रेतः। पृथिव्याम्। तेन। जीवन्ति। प्रऽदिशः। चतस्रः॥ १२ ॥

अभिक्रन्दन् अभितः शब्दं कुर्वन्। एतदेव विव्रियते। स्तनयन् मेघेषु स्तनितं गर्जितं कुर्वन् श्यतिङ्गः श्येतवर्णो जलपूर्णो मेघं

प्राप्तः एवंभूतो वरुणः बृहत् प्रभूतं शेपः आत्मीयं प्रजननं भूमौ पृथिव्याम् अनु जभार जहार। तेन वरुणसंबन्धिना शेपसा ब्रह्मचारी स्वतपोमहिम्ना सर्वजगदुत्पादकम् उदकलक्षणं वरुणसंबन्धि रेतः पृथिव्यां सानौ उन्नतप्रदेशे सिञ्चति वर्षति। एतेन सर्वजगदुत्पादनार्थम् ऊर्ध्वरेतस्कत्वं ब्रह्मचारिणः सूचितं भवति। वारुणमेव रेतः सिञ्चति न स्वकीयम् इत्यर्थस्य अवगमात्। तेन वृष्टेन उदकलक्षणेन रेतसा प्रदिशश्चतस्रः प्राच्याद्या महादिशो जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति। तत्रत्याः प्राणिनः समृद्धा भवन्तीत्यर्थः। यस्मिन् राष्ट्रे ब्रह्मचारी निवसति तत्र कालवृष्टिर्भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

चारों ओर शब्द करता हुआ, मेघोंमें गर्जना करता हुआ श्वेतवर्णके जलपूर्ण मेघको प्राप्त हुआ वरुण अपने बृहत् प्रजनन को पृथिवीमें डालता है, उस वरुणके प्रजननसे ब्रह्मचारी अपने तपकी महिमाके द्वारा उदकरूप वरुणसम्बंधी रेतको पृथ्वीके उन्नत प्रदेशमें बरसाता है (इससे सब जगत्की उत्पत्तिके लिये ब्रह्मचारीका ऊर्ध्वरेतस्कत्व सूचित किया, क्योंकि—वह वरुणके ही रेतःका सिञ्चन करता है अपने रेतःका नहीं, इस अवगमसे) उस वृष्टिरूप वीर्यसे चारों दिशायें—जीवन धारण करती हैं, अर्थात् उनके प्राणी समृद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है, कि—जिस राष्ट्रमें ब्रह्मचारी रहता है उस राष्ट्रमें कालवृष्टि होती है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥ १३ ॥

अग्नौ । सूर्ये । चन्द्रमसि । मातरिश्वन् । ब्रह्मऽचारी । अपऽसु ।

सम्ऽइधम् । आ । दधाति ।

तासाम् । अर्चींषि । पृथक् । अभ्रे । चरन्ति । तासाम् । आज्यम् ।

पुरुषः । वर्षम् । आपः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यनियमवान् पुरुषः अग्नौ पृथिव्यामवस्थिते अन्तरिक्षगते सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् मातरिश्वनि वायौ अप्सु च समिधम् आ दधाति प्रक्षिपति । अत्र अग्न्यादीनां पूर्वपूर्वस्याभावे उत्तरोत्तरस्मिन् समिदाधानं कर्तव्यम् सर्वथा लोपो न कर्तव्यः तत्र सूर्यादिषु संस्मृत्य तद्रश्मियुक्तप्रदेशे समिदाधानम् । अपां संनिधानात् तदपेक्षया तासाम् इति स्त्रीलिङ्गेन प्रतिनिर्देशः । तासां तेषाम् अग्न्यादीनाम् अर्चींषि दीप्तयः अभ्रे अन्तरिक्षे पृथक् चरन्ति असंकीर्णा वर्तन्ते । यद्वा अभ्रे उदकपूर्णे मेघे धनुराकारेण पृथक् पृथग् वर्तन्ते । तासाम् । पूर्ववत् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । तेषाम् अग्न्यादीनां ब्रह्मचारिणा समिध्यमानानाम् आज्यादिकं कार्यम् । अग्न्यादयो ब्रह्मचारिसमिन्धनेन आज्यादिकम् उत्पादयन्तीत्यर्थः । आज्यम् इत्यनेन गोसमृद्धिरुक्ता । पुरुष इत्यनेन पुत्रादिसमृद्धिः । वर्षम् इति काले वृष्टिप्रादुर्भावः । आप इति वापी कूपतटाकादिसमृद्धिः ॥

ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करने वाला ब्रह्मचारी पुरुष पृथ्वी पर स्थित अग्निमें, अन्तरिक्षमें स्थित सूर्यमें, चन्द्रमामें, वायुमें और जलमें समिधाओंको डालता है । अर्थात् अग्नि आदि पूर्व २ के अभावमें अगले २ में समिधान करना चाहिये सर्वथा लोप नहीं करना चाहिये सूर्य आदिसे उनकी किरणोंसे संयुक्त देश समझना चाहिये) इन अग्नि आदिकी दीप्तियें अन्तरिक्षमें पृथक् २

असंकीर्णरूपसे रहती हैं अथवा उदकपूर्ण मेघमें धनुषाकारसे अलग २ रहती हैं। ब्रह्मचारीसे समिद्ध अग्नि आदिका आज्य (घृत) पुरुष वर्षा और जल कार्य होता है। अर्थात् अग्नि आदि ब्रह्मचारीके समिन्धन करनेसे घृत (वाली गौ) आदिको उत्पन्न करते हैं। यहाँ पुरुषशब्दसे पुत्रादिकी समृद्धि समझनी चाहिये, और वर्षा शब्दसे वर्षाका प्रादुर्भाव और जलशब्दसे बावड़ी कुआ तालाब आदिका ग्रहण करना चाहिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ १४ ॥

आऽचार्यः । मृत्युः । वरुणः । सोमः । ओषधयः । पयः ।
जीमूताः । आसन् । सत्वानः । तैः । इदम् । स्वः । आऽभृतम् १४

आचार्य एव मृत्युः मारयिता देवः। अपराधाचरणाद् रुष्टस्तस्य जीवनम् अपहरतीत्यर्थः। तथा स एव आचार्यो वरुणः दुरितस्य वारयिता देवः। परिचर्यापरं ब्रह्मचारिणं पापान्निवारयतीत्यर्थः। तथा आचार्य एव सोमश्चन्द्रमाः तद्वद् आह्लादकत्वात्। ओषधयः व्रीहियवाद्याः। पयः क्षीरम्। तत् सर्वम् आचार्यात्मकमेव तत्प्रसादलभ्यत्वात्। यद्वा यो मृत्युर्यमः स नचिकेतसे ब्रह्मविद्याम् उपदिश्य आचार्यः संपन्नः। वरुणोपि भृगवे ताम् उपदिश्य आचार्योभवत्। एवं सोमोपीति। सर्वदेवतात्मक आचार्य इत्यर्थः। तत्र आचार्यरूपस्य वरुणस्य ये सत्वानः सदनशीला अनुचरास्ते जीमूता आसन् जीवनम् उदकं तस्य मूतवद् भर्तारः जलपूर्णा मेघा अभवन्। तैर्जीमूतैः इदं स्वः सुष्ठु अरणशीलम् उदकम् आभृतम् आहृतम्। दृष्ट्यर्थम् आत्मनि धारितम् इत्यर्थः। यद्वा इदं स्वः सुखापं सर्वं जगत् आभृतम्। वृष्ट्या समन्तात् पोषितम् इत्यर्थः ॥

आचार्य ही मृत्यु हैं अर्थात् मारक देव हैं, तात्पर्य यह है कि-अपराधका आचरण करनेसे रुष्ट होकर उसके जीवनका अपहरण कर लेते हैं और वही आचार्य वरुण हैं अर्थात् दुरित को निवारण करने वाले देव हैं अर्थात् परिचर्यामें परायण ब्रह्मचारीको पापसे निवारण करते हैं। तथा आचार्य ही चन्द्रमाकी समान आह्लादक होनेसे सोम हैं, व्रीहि यव आदि ओषधियें और क्षीर आचार्यके प्रसादसे ही प्राप्त होता है—अथवा-जो यम हैं वह नचिकेताके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर आचार्य होगए हैं। इसी प्रकार सोम भी सर्वदेवतात्मक आचार्य हैं, इनमें आचार्यरूप वरुणके जो सदनशील अनुचर हैं वे जलपूर्ण मेघ बन गए हैं, उन मेघोंने इस क्षरणशील जलको वृष्टिके लिये अपनेमें धारण कर रक्खा है वा-उन मेघोंने इस सुपाप जगत्को वृष्टिसे भली प्रकार पुष्ट किया है ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।

तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥१५

अमा । घृतम् । कृणुते । केवलम् । आऽचार्यः । भूत्वा । वरुणः । यत्ऽयत् । ऐच्छत् । प्रजाऽपतौ ।

तत् । ब्रह्मऽचारी । प्र । अयच्छत् । स्वान् । मित्रः । अधि । आत्मनः॥१५

वरुणो देवः आचार्यो भूत्वा घृतम् क्षरणशीलम् उदकं केवलम् अमा सह कृणुते कुरुते । उदकमेव अनन्यसाधारणं स्वम् आत्मना सहितं करोतीत्यर्थः । सः वरुणः प्रजापतौ स्वजनके ब्रह्मणि यद्यत्

फलम् ऐच्छत् मित्रो देवो ब्रह्मचारी भूत्वा स्वकीयब्रह्मचर्यमाहात्म्येन स्वात् स्वकीयात् आत्मनः शरीरात्। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी। ल्यब्लोपे च इयं पञ्चमी ❀। स्वशरीरम् अनपेक्ष्येत्यर्थः। तत् अपेक्षितं सर्वम् आचार्यभूताय वरुणाय प्रायच्छत् दत्तवान्। ततश्च शिष्येण सता ब्रह्मचारिणा विद्योपदेष्टुर्गुरोः प्रीतिकरम् अपेक्षितं धनं संपाद्य प्रदातव्यम् इत्ययमपि एको नियमो ब्रह्मचारिण उक्तो वेदितव्यः॥

वरुणदेव आचार्य बन कर जिस क्षरणशील जलको अपने साथ रखते हैं, वही वरुण अपने जनक प्रजापतिसे जिस २ फल को चाहते थे, मित्रदेवने ब्रह्मचारी बनकर अपने ब्रह्मचर्य के माहात्म्य वश अपने शरीरसे अर्थात् अपने शरीरकी भी अपेक्षा न रख आचार्य वरुणको वह दक्षिणा दी थी (इससे यह सिद्ध होता है, कि–शिष्य बनने वाले ब्रह्मचारीको विद्याका उपदेश देने वाले गुरुको प्रसन्न करने वाली सब वस्तुएँ धन पाकर देनी चाहियें, यह भी ब्रह्मचारीका एक मुख्य नियम है)॥ १५॥

षष्ठी॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥ १६॥

आऽचार्यः। ब्रह्मऽचारी। ब्रह्मऽचारी। प्रजाऽपतिः।
प्रजाऽपतिः। वि। राजति। विऽराट्। इन्द्रः। अभवत्। वशी १६।

आचार्यः प्रथमं विद्याम् उपदिश्य ब्रह्मचार्यात्मना जातः। स च ब्रह्मचारी तपसा ब्रह्मचर्येण अधिकं महिमानं प्राप्य प्रजापतिः जगत्स्रष्टा अभवत्। स च प्रजापतिः वि राजति विराड् भवति।

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" [श्वे० ६. १८] इति श्रुत्युक्तः स्थूलप्रपञ्चशरीराभिमानी ईश्वरो विराट् । स च वशी स्वतन्त्रः इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः सर्वजगत्स्रष्टा परमात्मा अभवत् । ततः आचार्यः परंपरया सर्वदेवतात्मक इति तस्य माहात्म्यं केन वर्णयितुं शक्यम् इति भावः ॥

आचार्य पहिले विद्याका उपदेश देकर ब्रह्मचारीके रूपसे प्रकट हुए हैं, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य रूप तपसे बड़ी भारी महिमा को पाकर जगत्स्रष्टा प्रजापति हुए हैं, वह प्रजापति विराट् † होजाते हैं, वह स्वतन्त्र परमैश्वर्य युक्त सर्वजगत्–स्रष्टा परमात्मा हुए हैं । भाव यह है, कि–इस प्रकार आचार्यपरम्परासे सर्वदेवतात्मक होजाता है अत एव ब्रह्मचारीके माहात्म्यका वर्णन करनेकी शक्ति किसमें हैं ? ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

ब्रह्मऽचर्येण । तपसा । राजा । राष्ट्रम् । वि । रक्षति ।
आऽचार्यः । ब्रह्मऽचर्येण । ब्रह्मऽचारिणम् । इच्छते ॥ १७ ॥

ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थम् आचर्यम् आचरणीयं समिदाधान-

---

† श्वेताश्वतर उपनिषत् ६ । १८ में कहा है, कि–"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।–जो पहिले ब्रह्माकी सृष्टि करता है और ब्रह्माके लिये वेदोंको प्रेरित करता है" वह ब्रह्मचारी इस श्रुतिमें कहा हुआ स्थूलप्रपञ्चशरीराभिमानी ईश्वर विराट् होजाता है ।

भैक्षचर्योऽर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम् । तेन ब्रह्मचर्येण तपसा तत्कृतेन उपवासादिव्रतनियमेन च राजा राष्ट्रं स्वकीयं वि रक्षति विशेषेण पालयति । यस्य राज्ञो जनपदे ब्रह्मचर्येण युक्ताः पुरुषास्तपश्चरन्ति तदीयं राष्ट्रम् अभिवर्धत इत्यर्थः । यद्वा राज्ञः कर्तव्यत्वेन कालविशेषेषु श्रुतिस्मृत्युदितं ब्रह्मचर्यं तपोऽनुतिष्ठन् राजा तेनैव ब्रह्मचर्येण तपसा राष्ट्रं पालयतीत्यर्थः । आचार्योऽपि ब्रह्मचर्येण नियमेन ब्रह्मचारिणम् शिष्यम् इच्छते आत्मनोऽभिलष्यति । ब्रह्मचर्यनियमस्थमेव आचार्यं शिष्या उपगच्छन्तीत्यर्थः । ॐ इषु इच्छायाम् । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ॐ ॥

वेदका नाम भी ब्रह्म है उस वेदको पढ़नेके लिये आचरण करने योग्य समिदाधान, भिक्षाचर्या और ऊर्ध्वरेतस्कत्व आदि जो ब्रह्मचारियोंसे अनुष्ठीयमान कर्म है वह ब्रह्मचर्य कहलाता है। उस ब्रह्मचर्य के द्वारा, और उसके निमित्त किये जाने वाले उपवासादि व्रत नियमात्मक तपसे राजा अपने राष्ट्रका विशेषरूपसे पालन करता है, तात्पर्य यह है, कि—जिस राजाके राज्यमें ब्रह्मचर्य से युक्त पुरुष तप करते हैं उसका राष्ट्र बढ़ता है । अथवा—राजाके लिये कर्तव्यरूपसे निर्दिष्ट समय २ पर श्रुति स्मृतिमें कहे हुए ब्रह्मचर्य तपको करता हुआ राजा उस ब्रह्मचर्य और तपके द्वारा राष्ट्रका पालन करता है, आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाना चाहता है, तात्पर्य यह है, कि—ब्रह्मचर्य के नियममें स्थित आचार्य के पास ही शिष्य जाते हैं ॥१७॥

अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८॥

ब्रह्मऽचर्येण । कन्या । युवानम् । विन्दते । पतिम् ।

अनड्वान् । ब्रह्मऽचर्येण । अश्वः । घासम् । जिगीर्षति ॥१८॥

अत्रापि ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते । कन्या अकृतविवाहा स्त्री ब्रह्मचर्यं चरन्ती तेन ब्रह्मचर्येण युवानम् युवत्वगुणोपेतम् उत्कृष्टं पतिं विन्दते लभते ॥ किं बहुना पशुजातिरपि ब्रह्मचर्येण स्वाभिलषितं फलं लभत इत्याह अनड्वान् इति । अनड्वान् अनो।वहन् पुंगवः ब्रह्मचर्येण ऊर्ध्वरेतस्कत्वादिना धर्मेण अनोवहनादिकं स्वकार्यं निर्वर्तयन् उत्कृष्टं पतिं लभते । तथा अश्वः ब्रह्मचर्येण घासम् भक्षणीयं तृणादिकं जिगीर्षति भक्षितुम् इच्छति ॥

(यहाँ पर भी ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं, कि-) जिसका विवाह नहीं हुआ है ऐसी अकृतविवाहा स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई-परपुरुष आदि पर चित्त न डुलाती हुई-ब्रह्मचर्य के द्वारा युवा हुए उत्कृष्ट पतिको पाती है (अधिक क्या पशु जाति भी ब्रह्मचर्य के द्वारा अपने अभिलषित फलको पाती है :) अनड्-वान् ऊर्ध्वरेतस्कत्व आदि ब्रह्मचर्य से अपने कार्य को पूर्ण करता हुआ उत्कृष्ट पतिको पाता है तथा अश्व भी ब्रह्मचर्य से भक्षणीय घास आदि तृणोंको खाना चाहता है ॥ १८ ॥

नवमी ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥ १९ ॥

ब्रह्मऽचर्येण । तपसा । देवाः । मृत्युम् । अप । अघ्नत ।

इन्द्रः । ह । ब्रह्मऽचर्येण । देवेभ्यः । स्वः । आ । अभरत् १९

ब्रह्मचर्यरूपेण तपसा देवाः अग्न्यादयो मृत्युम् मरणम् अपा-

घ्नत अपहतवन्तः । अमर्त्याः संपन्ना इत्यर्थः । इन्द्रो ह इन्द्रोपि ब्रह्मचर्येण साधनेन देवेभ्यः देवानाम् अर्थे स्वः स्वर्गम् आभरत् आहरत् ॥

ब्रह्मचर्य रूपी तपसे अग्नि आदि देवताओंने मरणको दूर भगा दिया है, इन्द्रने भी ब्रह्मचर्य रूपी साधनसे देवताओंके लिये स्वर्ग को सम्पादित किया है ॥ १९ ॥

दशमी ॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥

ओषधयः । भूतऽभव्यम् । अहोरात्रे इति । वनस्पतिः ।
सम्ऽवत्सरः । । सह । ऋतुऽभिः । ते । जाताः । ब्रह्मऽचारिणः२०

ओषः पाकः आसु धीयत इति ओषधयो व्रीहियवाद्याः अरण्यजा वीरुधश्च । भूतभव्यम् भूतम् उत्पन्नं चराचरात्मकं भव्यम् उत्पत्स्यमानम् । अहोरात्रे अहश्च रात्रिश्च । ❀ "हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि" इति नपुंसकलिङ्गता निपात्यते ❀ । वनस्पतिः वनानां पालयिता देवः । ❀ "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इति सुट् । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । संवसन्ति अस्मिन्निति संवत्सरो द्वादशमासात्मकः कालः ऋतुभिः वसन्ताद्यैः षड्भिः सह । ते ओषध्यादयः अनुक्रान्ताः सर्वे ब्रह्मचारिणस्तपोमाहात्म्यात् जाताः उत्पन्नाः ॥

[इति] तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

व्रीहि यव आदि ओषधियें और वनकी ओषधियें, उत्पन्न हुआ चराचरात्मक जगत् और उत्पन्न होने वाला जगत्, दिन और रात्रि, वनका पालक देव छः ऋतुओं सहित द्वादशमा-

सात्मक सम्वत्सर, ये सब ब्रह्मचारीके तपोमाहात्म्यसे ही प्रकट होते हैं ॥ २० ॥ (१५)

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

तृतीयसूक्ते प्रथमा ॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

पार्थिवाः । दिव्याः । पशवः । आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ।
अपक्षाः । पक्षिणः । च । ये । ते । जाताः । ब्रह्मऽचारिणः २१

पार्थिवाः पृथिव्याः संबन्धिनो जनाः । ❀ "पृथिव्या ञाञौ इति "तस्येदम्" अर्थे अञ् प्रत्ययः ❀ । तथा दिव्याः दिवि भवाः । ❀ "द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्" इति शैषिको यत् प्रत्ययः ❀ । आरण्याः अरण्ये भवाः पशवः सिंहशार्दूलहरिणाद्याः । ग्राम्याः गवाश्वमहिषाद्याः । एवंभूता ये पशवः सन्ति तथा अपक्षाः पक्षरहिताः प्राणिनो ये सन्ति पक्षिणः पक्षवन्तश्च ये सन्ति ते सर्वे ब्रह्मचारिणो जाताः ब्रह्मचर्यप्रभावाद् उत्पन्ना इत्यर्थः ॥

पार्थिव प्राणी, द्यौके प्राणी, जंगली सिंह शार्दूल हरिण आदि पशु, गौ घोड़े भैंस आदि ग्रामीण पशु ऐसे पशु तथा अपक्ष प्राणी और पक्ष वाले पशु भी ब्रह्मचारीसे ही—ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही—प्रकट हुए हैं ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

पृथक् । सर्वे । प्राजाऽपत्याः । प्राणान् । आत्मऽसु । बिभ्रति ।

तान् । सर्वान् । ब्रह्म । रक्षति । ब्रह्मऽचारिणि । आऽभृतम् २२

प्राजापत्याः प्रजापतिना सृष्टा देवमनुष्याद्याः सर्वे आत्मसु शरीरेषु प्राणान् पृथक् नाना स्वस्वसंबन्धिन एव बिभ्रति धारयन्ति पोषयन्ति वा । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "अदभ्यस्तात्" इति झस्य अदादेशः । "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ । तान् सर्वान् प्राणान् ब्रह्मचारिणि आचार्यमुखाद् आभृतम् आहृतम् अध्ययनेन संपादितं ब्रह्म वेदात्मकं रक्षति पालयति । ब्रह्मचार्यधीतं ब्रह्म सर्वप्राणिरक्षणक्षमम् इत्यर्थः ॥

प्रजापतिके रचे हुए देवता मनुष्य आदि सब अपने शरीरोंमें पृथक् २ स्वसम्बन्धी प्राणोंको धारण करते हैं वा पोषण करते हैं, आचार्यके मुखसे आया हुआ ब्रह्मचारीमें स्थित वेदात्मक ब्रह्म ही उन सब प्राणोंकी रक्षा करता है तात्पर्य यह है, कि–ब्रह्मचारीका पढ़ा हुआ वेद सब प्राणियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ है २२

तृतीया ॥

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥

देवानाम् । एतत् । परिऽसूतम् । अनभिऽआरूढम् । चरति । रोचमानम् ।
तस्मात् । जातम् । ब्राह्मणम् । ब्रह्म । ज्येष्ठम् । देवाः । च । सर्वे । अमृतेन । न साकम् ॥ २३ ॥

एतत् सर्वापरोक्षं परब्रह्म देवानां परिषूतम् परिगृहीतम् । आत्म-

तया साक्षात्कृतम् इत्यर्थः । रोचमानम् स्वप्रकाशचिद्रूपतया दीप्यमानम् अनभ्यारूढम् अन्यैरनाक्रान्तं सर्वोत्कर्षेण चरति वर्तते । तस्मात् सकाशाद् ब्राह्मणम् ब्रह्मणः संबन्धि ब्राह्मणस्य वा असाधारणं स्वं ज्येष्ठम् प्रवृद्धतमं प्रशस्यतमं वा ब्रह्म वेदात्मकं जातम् प्रादुर्भूतम् । "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः" इति श्रुतेः [बृ० आ० २. ४. १०] । देवाः तत्प्रतिपाद्या अग्न्यादयश्च सर्वे अमृतेन स्वोपभोग्येन अमृतत्वप्रापकेन सुधारसेन साकम् सह जाता इत्यर्थः ॥

यह सबसे अपरोक्ष–सबको प्रत्यक्ष—परब्रह्म देवताओंसे परिगृहीत है अर्थात् देवताओंने इसको आत्मत्वसे साक्षात् किया है, यह स्वप्रकाशचिद्रूपतासे दमकता रहता है, इससे बढ़कर कोई नहीं है; उससे ब्राह्मणका असाधारण ज्येष्ठ धन वेदात्मक ब्रह्म प्रकट हुआ है † और वेदप्रतिपाद्य अग्नि आदि देवता भी अमृतत्वप्रापक सुधारसके साथ प्रकट हुए हैं ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।

प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥

---

† बृहदारण्यक २ । ४ । १० में कहा है, कि–"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः ।– इस महान् भूतके ये ऋग्वेद सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद श्वासरूप हैं" ॥

ब्रह्मऽचारी । ब्रह्म । भ्राजत् । बिभर्ति । तस्मिन् । देवाः । अधि । विश्वे । सम्ऽओताः ।

प्राणापानौ । जनयन् । आत् । विऽआनम् । वाचम् । मनः । हृदयम् । ब्रह्म । मेधाम् ॥ २४ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यवान् पुरुषो भ्राजत् दीप्यमानं ब्रह्म वेदात्मकं बिभर्ति धारयति । तस्मिन् अधि उपरि विश्वे सर्वे देवाः समोताः संबद्धाः । "यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" इति श्रुतेः [तै० आ० २. १५]। स च सर्वेषां देवानां निवासभूतो ब्रह्मचारी प्राणापानौ सर्वप्राणिसंबन्धिनौ जनयन् उत्पादयन् वर्तते । आत् अनन्तरं व्यानम् । "अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः" इति [छा० १. ३. ३] श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं व्यानाख्यं वायुम् वाचम् वागिन्द्रियं परापश्यन्त्यादिरूपां वा शब्दात्मिकां वाचम् मनः सर्वेन्द्रियानुग्राहकम् अन्तःकरणम् हृदयम् तदावासस्थानभूतं हृदयकमलम् ब्रह्म वेदात्मकम् मेधाम् आशुविद्याग्रहणकुशलां बुद्धिम् एतत् सर्वं ब्रह्मचारी जनयन् वर्तते॥

ब्रह्मचर्यवान् ब्रह्मचारी पुरुष दीप्यमान वेदात्मक ब्रह्मको धारण करता है, उस पर सब देवता सम्बद्ध हैं ‡ । वह सब देवताओं का निवासभूत ब्रह्मचारी सब प्राणियोंके प्राण और अपानोंको प्रकट करता रहता है । इसके अनन्तर "यः प्राणापानयोः संधिः स व्यानः—जो प्राण और अपानकी संधि है वह व्यान है" इस छान्दोग्य १ । ३ । ३ की श्रुतिमें प्रसिद्ध व्यान नामक वायुको,

‡ तैत्तिरीय आरण्यक २ । १५ में कहा है, कि—"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे निवसन्ति ।—जितने देवता हैं वे सब वेदवेत्ता ब्राह्मणमें निवास करते हैं ॥"

शब्दात्मिका वा परापश्यन्तीरूपा वाणीको, सर्वेन्द्रियोंके अनुग्राहक अन्तःकरणको उसके आवासस्थानरूप हृदयकमलको, वेदात्मक ब्रह्मको, शीघ्रतासे विद्याको ग्रहण कर लेने वाली बुद्धि को उत्पन्न करता हुआ ब्रह्मचारी रहता है ॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥

चक्षुः । श्रोत्रम् । यशः । अस्मासु । धेहि । अन्नम् । रेतः । लोहितम् । उदरम् ॥ २५ ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

तानि । कल्पत् । ब्रह्मऽचारी । सलिलस्य । पृष्ठे । तपः । अतिष्ठत् । तप्यमानः । समुद्रे ।
सः । स्नातः । बभ्रुः । पिङ्गलः । पृथिव्याम् । बहु । रोचते २६

पञ्चमी ॥ हे ब्रह्मन् ब्रह्मचार्यात्मक अस्मासु स्तोतृषु चक्षुः रूपग्राहकम् इन्द्रियं श्रोत्रम् शब्दग्राहकम् । प्रधान्याद् उपलक्षणत्वेन एतद् इन्द्रियद्वयम् उक्तम् । चक्षुःश्रोत्रादीनि सर्वाणि इन्द्रियाणि यशः कीर्तिं च अस्मासु धेहि धारय । आन्ध्यबाधिर्यादिकं कदाचिदपि अस्माकं मा भूद् इत्यर्थः । तथा भोज्यम् अन्नम् पुत्रादिकारणं रेतः लोहितम् शरीरगतम् असृक् उदरम् उदरोपलक्षितं समस्तशरीरम् । तानि एतानि अन्नादीनि ब्रह्मचारी कल्पत् कल्पयन् सलि-

तस्य पृष्ठे उदकस्य मध्ये तपस्तप्यमानः समुद्रे अतिष्ठत् । वर्तत इत्यर्थः । स तपस्वी ब्रह्मचारी अनिशं स्नातः स्नानेन पवित्रीकृतः बभ्रुः बभ्रुवर्णः । एतदेव विव्रियते पिङ्गल इति । पिङ्गलवर्णः सन् पृथिव्याम् भूम्यां बहु अधिकं रोचते दीप्यते ॥

[इति] तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मन् ! आप हम स्तोताओंमें रूपग्राहक चक्षु इन्द्रियोंको, शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रियको (अन्य सब इन्द्रियोंको) यश तथा कीर्तिको भी हममें स्थापित करिये, तात्पर्य यह है, कि—अंधापन बहिरापन आदि कभी न हो ! अन्न, पुत्र आदिके कारण वीर्य, शरीरगत रक्त और उदर सबकी कल्पना करता हुआ ब्रह्मचारी, जलमें तप करता हुआ रहता है वह तपस्वी ब्रह्मचारी सर्वदा स्नानसे पवित्र रहता है बभ्रु और पिंगलवर्णका होकर पृथ्वीमें बड़ा दमकता है॥२५॥२६॥ (१६)

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४८५) ॥

"अग्निं ब्रूमः" इत्यादि सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम् । तस्य बृहद्गणे लघुगणे च पाठात् शान्त्युदकाभिमन्त्रणादौ विनियोगः ॥

अस्यार्थसूक्तस्य "मुञ्चन्तु मा [११. ८. ७] भवाशर्वाविदम् [११. ८. ६] या देवीः पञ्च [११. ८. २२] पन्मातली रथक्रीतम्" [११. ८. २३] इत्येताश्चतस्र ऋचो वर्जयित्वा सप्तमतीके अंहोलिङ्गगणे पाठात् "अनुक्तान्यमतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" [कौ० ४. ८] इत्यादिषु सर्वभैषज्यादिकर्मसु गणप्रयुक्तो विनियोगोनुसंधेयः ॥

तथा "हस्तिरथदानानुक्रमं वक्ष्ये" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे।

तस्मात् सर्वेषु दानेष्वनुक्तविधिकेषु च ।

अग्निं ब्रूम इति सूक्तेनाज्यतन्त्रेण होमयेत् । इति [प०१४.१]॥

"अग्निं ब्रूमः" आदि दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं इसका

बृहद्गण और लघुगणमें पाठ होनेसे शान्त्युदकाभिमन्त्रणादिमें विनियोग होता है।

"मुञ्चन्तु मा" (११ । ८ । ७) "भवाशर्वाविदम्" (११ । ८ । ६) "या देवीः पञ्च" (११ । ८ । २२) और "यन्मातली रथक्रीतम्" (११ । ८।२३) इन ऋचाओंको छोड़कर सप्तमतीक-अंहोलिंगगणमें पाठ होनेसे "अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिङ्गाभिः" (कौशिकसूत्र ४ । ८) इत्यादिके सर्वभैषज्यादिमें गणप्रयुक्त विनियोग देखना चाहिये।

तथा "हस्तिरथदानानुक्रमं वक्ष्ये" का आरंभ करके अथर्व-परिशिष्टमें कहा है, कि-"तस्मात् सर्वेषु दानेषु अनुक्तविधिकेषु च। अग्निं ब्रूम इति सूक्तेनाज्यतन्त्रेण होमयेत्॥ सब दानोंमें और जिनकी विधि नहीं कही है उनमें "अग्निं ब्रूमः" इस आज्य-तन्त्र वाले सूक्तसे होम करे।" (अथर्वपरिशिष्ट १४ । १)॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒ग्निं ब्रू॑मो॒ वन॒स्पती॒नोष॑धीरु॒त वी॒रुधः॑ ।

इन्द्रं॒ बृह॒स्पतिं॒ सूर्यं॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १ ॥

अ॒ग्निम् । ब्रू॒मः । व॒न॒स्पती॑न् । ओष॑धीः । उ॒त । वी॒रुधः॑ ।

इन्द्र॑म् । बृह॒स्पति॑म् । सूर्य॑म् । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

अग्निः अग्रणीः सर्वेषां देवानाम् आदिभूतो देवः। "अग्नि-रग्रे प्रथमो देवतानाम्" इति [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३] श्रुतेः। तादृशम् अग्निं ब्रूमः स्तुमः। यद्वा इष्टफलं याचामहे। तथा वन-स्पतीन् पृथिव्यधिदेवत्वेन तेनाग्निना संवर्धितान् महावृक्षान् ओषधीः व्रीहियवाद्याः उत अपि च वीरुधः आरण्या लतारूपाः ताः सर्वा ब्रूमः स्तुमः। तथा इन्द्रम् द्युलोकाधिपतिं बृहस्पतिम् बृहतां

देवानां पतिं सूर्यम् सर्वस्य प्रेरकम् आदित्यं च ब्रूमः स्तुमः । ते सर्वे नः अस्मान् अंहसः पापात् मुञ्चन्तु ॥

हम सब देवताओंके आदिभूत ‡ अग्रणी अग्निदेवकी स्तुति करते हैं, वा उनसे इष्टफलकी याचना करते हैं तथा पृथिवीके अधिदेवता अग्निसे सम्वर्द्धित महावृक्षोंकी, व्रीहि यव आदि ओष-धियोंकी और वनकी लताओंकी हम स्तुति करते हैं—वा उनसे इष्टफलकी याचना करते हैं, तथा द्युलोकके अधिपति इन्द्रदेवकी, बड़े २ देवताओंके पालक बृहस्पतिकी और सर्वप्रेरक सूर्यदेवकी भी हम स्तुति करते हैं ये सब हमको पापसे मुक्त करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

ब्रूमः । राजानम् । वरुणम् । मित्रम् । विष्णुम् । अथो इति । भगम् ।
अंशम् । विवस्वन्तम् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ।२।

अत्र वरुणादयः सूर्यमूर्तयः स्तूयन्ते । राजानम् राजमानम् ईशितारं वा वरुणं देवं ब्रूमः स्तुमः । मित्रम् सर्वस्य मित्रभूतं देवं विष्णुम् व्यापनशीलं देवम् अथो अपि च भगम् भजनीयं देवम् अंशम् एतत्संज्ञं देवं विवस्वन्तम् विवस्वत्संज्ञं देवं ब्रूमः स्तुमः । ते नो मुञ्चन्त्वंहस इति समानम् ॥ एते च आदित्यास्तैत्तिरीयेऽनु-क्रम्यन्ते । “मित्रश्च वरुणश्च । धाता चार्यमा च । अंशश्च भगश्च ।

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ४ । ३ । ३ में कहा है, कि—“अग्नि-रग्रे प्रथमो देवतानाम्” ॥

इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते" [तै० आ० १. १३. ३]। आचार्यैस्तु द्वादशादित्याः परिगणिताः।

धात्रर्यममित्राख्या वरुणांशभगा विवस्वदिन्द्रयुताः।

पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्ताः। इति ॥

(इस ऋचामें वरुण आदि सूर्यमूर्तियोंकी स्तुति की जाती है कि–) राजमान ईश्वर वरुणदेवकी हम स्तुति करते हैं, सबके मित्रभूत मित्रदेवकी, व्यापनशील विष्णुकी, भजनीय देवता भग की अंशदेवकी और विवस्वान् नामक देवकी हम स्तुति करते हैं † वे हमको पापसे मुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम्।

त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

ब्रूमः। देवम्। सवितारम्। धातारम्। उत। पूषणम्।

त्वष्टारम्। अग्रियम्। ब्रूमः। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः ॥३॥

देवम् दानादिगुणयुक्तं सवितारम् सर्वस्य प्रेरकं ब्रूमः स्तुमः। तथा धातारम्। उतशब्दः अप्यर्थे। पूषणमपि स्तुमः। अग्रियम् अग्रे भवः अग्रियः। प्रथमगण्य इत्यर्थः। ❀ "अग्राद् यत्" "घच्छौ च" इति घच् प्रत्ययः। चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् ❀। तादृशं त्वष्टारं ब्रूमः स्तुमः ॥ गतम् अन्यत् ॥

† तैत्तिरीय आरण्यक १। १३। ३ में आदित्योंका वर्णन इस प्रकार किया है, कि–"मित्रश्च वरुणश्च। धाता चार्यमा च। अंशश्च भगश्च। इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते" ॥ और आचार्योंने बारह आदित्योंको कहा है, कि–"धाताऽर्यममित्राख्या वरुणांश भगा। विवस्वदिन्द्रयुताः। पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्तः"

इस दानादिगुण युक्त सर्वप्रेरक सूर्यदेवताकी स्तुति करते हैं, धाता और पूषा देवताकी भी स्तुति करते हैं, अग्रगण्य त्वष्टा देवताकी भी स्तुति करते हैं, ये हमको पापसे मुक्त करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् ।

अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

गन्धर्वऽअप्सरसः । ब्रूमः । अश्विना । ब्रह्मणः । पतिम् ।

अर्यमा । नाम । यः । देवः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥४॥

गन्धर्वाश्च अप्सरसश्च गन्धर्वाप्सरसः । "अग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १]इत्यादिमन्त्रवर्णप्रसिद्धान् गन्धर्वाप्सरोरूपान् देवगणान् ब्रूमः स्तुमः । तथा अश्विना अश्विनौ स्तुमः । ब्रह्मणो वेदराशेः पतिं स्वामिनम् तथा अर्यमा नाम अर्यमेति प्रसिद्धो यो देवोस्ति तमपि स्तुमः । ते सर्वे नः अस्मान् अंहसः मुञ्चन्त्विति शेषं समानम् ॥

हम गन्धर्व और अप्सराओंकी स्तुति करते हैं अर्थात् "अग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसः ।–अग्नि गंधर्व है और औषधियें उसकी अप्सरायें हैं" इस तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ ।७। १ मन्त्रमें प्रसिद्ध गन्धर्व और अप्सरारूप देवताओंकी हम स्तुति करते हैं । तथा अश्विनीकुमारोंकी हम स्तुति करते हैं, वेदोंके पति ब्रह्माकी और अर्यमा नामक देवताकी भी हम स्तुति करते हैं, ये सब देवता हमको पापसे मुक्त करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।

विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

अहोरात्रे इति । इदम् । ब्रूमः । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ।

विश्वान् । आदित्यान् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ५

अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे ते उद्दिश्य इदं स्तुतिवाक्यं ब्रूमः । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ अहोरात्रयोरधिष्ठातृदेवौ उभा उभौ स्तुमः । विश्वान् सर्वान् आदित्यान् अदितेः पुत्रान् ब्रूमः स्तुमः ॥ गतम् अन्यत् ॥

दिन और रात्रिको लक्ष्यमें रख कर हम इस स्तुतिवाक्यको कहते हैं, दिन और रात्रिके अधिष्ठात्री देवता सूर्य और चन्द्रमा की हम स्तुति करते हैं अदितिके सब पुत्रोंकी भी हम स्तुति करते हैं वे सब हमको पापसे मुक्त करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः ।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

वातम् । ब्रूमः । पर्जन्यम् । अन्तरिक्षम् । अथो इति । दिशः ।

आशाः । च । सर्वाः । ब्रूमः । ते । न । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ६ ॥

वातम् वायुं ब्रूमः स्तुमः । पर्जन्यम् वृष्टिमदं देवम् अन्तरिक्षम् आकाशम् अथो अपि च दिशः दिग्देवता आशाः विदिशश्च सर्वास्ता ब्रूमः स्तुमः ॥

हम वायुदेवकी स्तुति करते हैं, वृष्टिमद पर्जन्यदेवकी स्तुति करते हैं आकाशकी दिग्देवता और विदिशाके देवताओंकी भी स्तुति करते हैं, वे सब हमको पापसे मुक्त करें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या॒दहोरात्रे अथो उषाः ।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्या॑त् । अहोरात्रे इति । अथो इति । उषाः ।
सोमः । मा । देवः । मुञ्चन्तु । यम् । आहुः । चन्द्रमाः । इति ७

शपथ्यात् शपथमभवात् पापात् मा मां मुञ्चन्तु अहोरात्रे अहरभिमानिदेवता राज्यभिमानिदेवता च अथो अपि च उषाः अहोरात्रयोः संधौ वर्तमाना उषःकालाभिमानिनी देवता । तासां बहुत्वात् मुञ्चन्तु इति बहुवचनम् । तथा सोमो देवः मा मां तस्मात् पापात् मुञ्चतु । तं विशिनष्टि । यं सोम चन्द्रमा इति आहुः अभिज्ञाः कथयन्ति । स सोमोऽत्र मोचक इत्यर्थः ॥

शपथसे होने वाले पापसे दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मुझको मुक्त करें, दिन और रात्रिकी संधिमें वर्तमान उषःकाल के अभिमानी देवता मुझको शपथजनित पापसे मुक्त करें। विद्वान् पुरुष जिन सोमको चन्द्रमा कहते हैं वह सोम मुझको शपथजनित पापसे मुक्त करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः ।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

पार्थिवाः । दिव्याः । पशवः । आरण्याः । उत । ये । मृगाः ।
शकुन्तान् । पक्षिणः । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ।८।

पार्थिवाः इत्यादि व्याख्यातम् [११. ७. २१] । हरिण-

शार्दूलसिंहाद्या मृगाः । तान् पार्थिवादीन् स्तुम इति शेषः । शकुन्तान् शकुनभूतान् पक्षिणः पिङ्गलादीन् ब्रूमः स्तुमः ॥

पृथिवीके जन, द्यौके प्राणी, वनके सिंह शार्दूल आदि पशु, ग्रामके गौ भैंस आदि पशु हैं उनकी और शकुनभूत पिंगल आदि पक्षियोंकी हम स्तुति करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें ॥८॥

नवमी ॥

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः ।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥९॥

भवाशर्वौ । इदम् । ब्रूमः । रुद्रम् । पशुऽपतिः । च । यः ।
इषूः । याः । एषाम् । सम्ऽविद्म । ताः । नः । सन्तु । सदा ।
शिवाः ॥ ९ ॥

भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ । तावुद्दिश्य इदं स्तुतिवाक्यं ब्रूमः वदामः । तथा रुद्रं स्तुमः । यश्च पशुपतिर्देवस्तमपि स्तुमः । एते च देवाः "भवाशर्वौ मृडतम्" [११. २] इत्यस्मिन् सूक्ते मपश्रिताः । एषां देवानां या इषूः शरान् संविद्मः संजानीमः ता नः अस्माकं सदा सर्वदा शिवाः सुखहेतवः सन्तु भवन्तु ॥

भव और शर्व देवताओंको अभिलक्षित करके हम इस वचन को कहते हैं, और रुद्र तथा पशुपति देवताकी भी हम स्तुति करते हैं, इन देवताओंके जिन बाणोंको हम जानते हैं, वे हमारे लिये सुखके हेतु होवें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् ।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥

दिवम् । अमः । नक्षत्राणि । भूमिम् । यक्षाणि । पर्वतान् ।

समुद्राः । नद्यः । वेशन्ताः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१०॥

दिवम् द्योतमानां द्यां अमः स्तुमः । तत्राश्रितानि नक्षत्राणि पुण्यकृतां धामानि । "सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि" इति श्रुतेः [तै० सं ५. ४. १. ३] । तानि स्तुमः । तथा भूमिं स्तुमः । यक्षाणि पूज्यानि तत्रत्यानि पुण्यक्षेत्राणि स्तुमः । तथा पर्वतान् हिमवत्प्रमुखान् महागिरीन् स्तुमः । समुद्राः सप्तसंख्याका भूम्याश्रिताः प्रसिद्धाः । नद्यश्च गङ्गाद्याः । वेशन्ताः तदपेक्षया अल्पानि अन्यानि सरांसि । तान् सर्वान् स्तुमः ॥

[इति] तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हम द्योतमान द्यौकी स्तुति करते हैं और उसमें आश्रित पुण्यात्माओंके स्थानरूप † नक्षत्रोंकी स्तुति करते हैं, भूमिकी स्तुति करते हैं और भूमिमें पूज्य पुण्यक्षेत्रोंकी स्तुति करते हैं, हिमाचल आदि महापर्वतोंकी स्तुति करते हैं, सात समुद्रोंकी, गंगा आदि नदियोंकी उनकी अपेक्षा अल्प जल वाले सरोवर आदिकी स्तुति करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें १० (१७)

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

"सप्तऋषीन् वा इदं अमः" इति सूक्तस्य पूर्ववद् विनियोगः । श्रौतदर्शपूर्णमासयोः प्राशित्रभक्षणानन्तरम् "यन्मातली रथक्रीतम्" इत्यनया ब्रह्मा अद्भिर्मार्जयेत् । तद् उक्तं वैताने । "प्राशित्रं यवमात्रम् अधस्ताद् उपरिष्टाद् वाभिघारितम्" इत्युपक्रम्य "मातल्याद्भिर्मार्जयित्वा प्राणान् संस्पृशते" इति [वै० १. ३] ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । १ । ३ में कहा है, कि—"सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि ।—जो नक्षत्र हैं ये पुण्यात्माओं के धाम हैं" ॥

"सप्त ऋषीन् वा इदं ब्रूमः" इस सूक्तका पहिलेकी समान विनियोग है।

श्रौत दर्श पूर्णमासके प्राशित्रभक्षणके अनन्तर "यन्मातली रथक्रीतम्" ऋचासे ब्रह्मा जलसे मार्जन करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"मातल्याद्भिर्मार्जयित्वा प्राणान् संस्पृशते" (वैतानसूत्र १ । ३) ॥

पञ्चमसूक्ते प्रथमा ॥

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥

सप्तऽऋषीन् । वै । इदम् । ब्रूमः । अपः । देवीः । प्रजाऽपतिम् ।
पितॄन् । यमऽश्रेष्ठान् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥११॥

सप्तऋषीन् उद्दिश्य खलु इदं स्तुतिवचनं ब्रूमः । अथ वा तान् इदं फलं याचामहे । तथा अपो देवीः अब्देवताः प्रथमसृष्टाः स्तुमः । प्रजापतिम् तासां स्रष्टारं स्तुमः । तथा यमश्रेष्ठान् यमः श्रेष्ठो मुख्योधिपतिर्येषां तान् पितॄन् बर्हिषदग्निष्वात्तादीन् ब्रूमः स्तुमः ॥

हम सप्तर्षियोंके निमित्त इसको अर्थात् स्तुति वचनको कहते हैं वा सप्तर्षियोंसे इसकी अर्थात् फलकी याचना करते हैं तथा जलदेवताओंकी स्तुति करते हैं और उनके स्रष्टा प्रजापतिकी स्तुति करते हैं और जिनमें यम श्रेष्ठ हैं उन बर्हिषद अग्निष्वात्ता आदि पितरोंकी स्तुति करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ।
पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१२॥

ये । देवाः । दिवि॑ऽसदः । अन्तरिक्ष॒ऽसदः । च । ये ।

पृथिव्याम् । शक्राः । ये । श्रिताः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥

ये दिविसदः द्युलोके सीदन्तः उपविशन्तो देवाः । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् ❀ । तथा ये च अन्तरिक्षसदः अन्तरिक्षे उपविष्टाः तथा पृथिव्याम् भूमौ शक्राः शक्ता देवा ये श्रिताः आश्रिताः ॥ अन्यद् गतम् ॥

जो द्युलोकमें रहने वाले देवता हैं, अन्तरिक्षमें रहने वाले जो देवता हैं और पृथिवीमें जो समर्थ देवता हैं वे हमको पापसे मुक्त करें ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑वो दि॒वि दे॒वा अथ॑र्वाणः ।

अङ्गि॑रसो मनी॒षिण॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १३ ॥

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । दिवि । देवाः । अथर्वाणः ।

अङ्गिरसः । मनीषिणः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

आदित्याः अदितेः पुत्रा द्वादशसंख्याकाः । रुद्राः एकादश । वसवः अष्टौ । एते च दिवि वर्तमाना गणत्रयात्मका देवाः । विंशतिकाण्डात्मकस्यास्य वेदस्य द्रष्टारो महर्षयः अथर्वाणस्तेपि तत्संख्याकाः । अङ्गिरसोपि अस्य वेदस्य द्रष्टारस्तावन्तः । मनीषिणः मनस ईषिणः सर्वज्ञाः ते सर्वे अस्माभिः स्तुताः नः अस्मान् अंहसः पापात् मुञ्चन्तु ॥

अदितिके पुत्र बारह आदित्य ग्यारह रुद्र, आठ वसु ये गण-त्रयरूपसे द्योमें वर्तमान देवता बीस काण्ड वाले अथर्ववेदके द्रष्टा

महर्षि अथर्वा, आंगिरस, और मनीषी हमसे स्तुत होकर हमको पापसे मुक्त करें ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

यज्ञम् । ब्रूमः । यजमानम् । ऋचः । सामानि । भेषजा ।
यजूंषि । होत्राः । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १४ ॥

यज्ञम् अग्निष्टोमादिकं ब्रूमः स्तुमः । तथा यजमानम् तत्फलभाजं स्तुमः । ऋचः तस्मिन् यज्ञे याज्यादिरूपेण विनियुक्ताः पादबद्धा मन्त्राः । तथा सामानि फलवद्यज्ञसाधनस्तोत्रनिर्वर्तकानि प्रगीतमन्त्रात्मकानि रथन्तरबृहद्वैरूपादीनि । भेषजा यानि च भेषजानि शान्तिकराणि वामदेव्यादीनि। यजूंषि तस्मिन् यज्ञे आध्वर्यवकर्मसु करणतया विनियुक्तानि क्रियमाणानुवादीनि वा प्रश्लिष्टपठितानि । होत्राः । होता मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाक आग्नीध्र इति तस्मिन् सोमयागे सप्त वषट्कर्तारः तेषां क्रिया होत्राः । एतान् ऋक्सामादीन् यज्ञावयवान् ब्रूमः स्तुमः ॥

हम अग्निष्टोम आदिक यज्ञोंकी स्तुति करते हैं और उनके फलको पाने वाले यजमानकी प्रशंसा करते हैं, और उन यज्ञोंमें याज्यादिरूपसे विनियुक्त पादबद्ध मन्त्रों (ऋचाओं) की स्तुति करते हैं, तथा फलप्रद यज्ञके साधन स्तोत्रोंको सम्पन्न करने वाले प्रगीत, रथन्तर, बृहत्, वैरूप आदि सामोंकी स्तुति करते हैं, और शान्तिकर वामदेव्य ओषधियोंकी हम स्तुति करते हैं, यज्ञमें अध्वर्युके द्वारा प्रयुक्त अनुवादादिरूप यजुओंकी हम प्रशंसा करते हैं । होता मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, आग्नीध्र

ये सोमयागके जो सात वषट्कर्ता हैं इनकी क्रियाएँ होत्र कहलाती हैं, उन होत्रोंकी हम स्तुति करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें १४

पञ्चमी ॥

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

पञ्च । राज्यानि । वीरुधाम् । सोमऽश्रेष्ठानि । ब्रूमः ।
दर्भः । भङ्गः । यवः । सहः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः १५

वीरुधाम् विरोहणशीलानाम् ओषधीनां पञ्चसंख्याकानि राज्यानि राज्ञा भिषजा विनियुज्यमानानि पत्रकाण्डपुष्पफलमूलात्मकानि सोमश्रेष्ठानि । सोमो ह्यासां राजा । अतः स एव श्रेष्ठः प्रशस्यतमो येषां तथाविधानि वीरुधां राज्यानि ब्रूमः स्तुमः । तथा दर्भः कुशमयः प्रसिद्धः । भङ्गः शणः । यवः ओषधिविशेषः प्रसिद्धः । सहः कश्चिद् ओषधिविशेषः । एतेपि अस्माभिः स्तुताः पापाद् मुञ्चन्तु ॥ यद्वा वीरुधाम् ओषधीनां मध्ये पञ्चसंख्याकानि राज्यानि राज्ञः सोमस्य कर्माणि क्रियाविशेषनिष्पन्नानि । भेषजानीत्यर्थः । तानि च सोमश्रेष्ठानि सोमो लतारूपेण उत्पन्नः श्रेष्ठः प्रशस्यतमः येषां तानि । एतेन सोमलतात्मकम् एकं राज्यम् इत्युक्तं भवति । दर्भादीनि च चत्वारि एवं पञ्च राज्यानि स्तुम इति ॥

विरोहणशील ओषधियोंके पाँच राज्य हैं अर्थात् भिषगात्मक राजासे विनियुज्मान पत्र काण्ड पुष्प फल मूलात्मक पाँच राज्य हैं, इन लताओंमें सोम श्रेष्ठ है, ऐसे लताओंके राज्यकी हम स्तुति करते हैं, दर्भ (कुशा) भङ्ग (सन) यव और सह नामक ओषधि ये सब भी हमसे स्तुति पाकर हमको पापसे मुक्त करदें ॥

अथवा–औषधियोंमें पाँच राज्य हैं अर्थात् राजा सोमकी क्रियाओंसे तयार होती हैं, इनमें सोम श्रेष्ठ होता है। इनमें सोम-लतात्मक एक राज्य होता है और दर्भ चार राज्य हैं अत एव हम इन पाँचों राज्योंकी स्तुति करते हैं ये हमको पापसे मुक्त करें॥

षष्ठी ॥

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥

अरायान्। ब्रूमः। रक्षांसि। सर्पान्। पुण्यऽजनान्। पितॄन्।
मृत्यून्। एकऽशतम्। ब्रूमः। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः १६

अरायान् दानप्रतिबन्धकान् हिंसकान् ब्रूमः स्तुमः। यद्वा अरायाः आर्तिकरा रक्षोवद् बाधकाः पिशाचविशेषाः। तान् ब्रूमः स्तुमः। तथा रक्षांसि। ❀ रक्षो रक्षितव्यम् अस्माद् इति यास्कः [नि० ४. १८] ❀। राक्षसान्। सर्पान् पन्नगान्। पुण्यजनान् यातुधानान्। पितॄन् पूर्वपुरुषान् पितृलोकं गतान्। मृत्यून् मारयितॄन् देवान् एकशतम् एकोत्तरशतसंख्याकान्। "शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः। आत्मैकशतम्" [तै० ब्रा० १. ७. ६. ४] श्रुतेर्मर्त्यः पुरुषः एकशतप्रकारः। ततो मारयितृमृत्योरपि तावत्प्रकारत्वं युज्यत एव। तथा च अन्यत्रापि मन्त्रवर्णो दृश्यते। "अपास्य योसिनाद् पाशान् मृत्यून् एकशतं च" इति। तान् सर्वान् ब्रूमः स्तुमः॥

हम दानप्रतिबन्धक हिंसकोंकी स्तुति करते हैं अथवा पीड़ा देने वाले राक्षसोंकी समान बाधक पिशाचोंकी स्तुति करते हैं और जिनसे रक्षा करनी चाहिये उन राक्षसोंकी स्तुति करते हैं, सर्पों

की, यातुधानोंकी, पितृलोकमें गए हुए पूर्वपुरुष पितरोंकी स्तुति करते हैं, एकसौ एक मृत्युओं–मारक देवताओंकी स्तुति करते हैं†॥

सप्तमी ॥

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७॥

ऋतून् । ब्रूमः । ऋतुऽपतीन् । आर्तवान् । उत । हायनान् ।
समाः । सम्ऽवत्सरान् । मासान् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः

ऋतून् वसन्तादीन् ब्रूमः स्तुमः । तथा ऋतुपतीन् तेषाम् ऋतूनाम् अधिपतीन् । तत्र वसन्तस्य वसवोधिपतयः । "वसन्तेनर्तुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुतम्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० २.६.१६.१]। ग्रीष्मस्य रुद्रा अधिपतयः । "ग्रीष्मेण देवा ऋतुना रुद्राः पञ्चदशे स्तुतम्" इति [तै० ब्रा० २.६. १६.१] आम्नानात् । वर्षतोरादित्या अधिपतयः । "वर्षाभिर्ऋतुनादित्याः" इति [तै० ब्रा० २.६.१६.१] श्रूयमाणत्वात् । शरदतोऋभवोधिपतयः । "शारदेनर्तुना देवा एकविंश ऋभवः स्तुतम्" इति [तै० ब्रा० २.६.१६.२] श्रुतेः । "हेमन्तशिशिरयोः समा-

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ७ । ६ । ४ में कहा है, कि–"शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः । आत्मैकशतम् ।–पुरुष सौ वर्षकी आयु वाला होसकता है, उसमें सैंकड़ों पराक्रम होसकते हैं और पुरुष एक सौ एक प्रकारके हैं" इस श्रुतिके अनुसार पुरुष एक सौ एक प्रकारके हैं अत एव मारक मृत्युके भी उतने ही भेद होना ठीक ही है । दूसरे मन्त्रोंमें भी एक सौ एक मृत्युओंका वर्णन है, कि–"अपास्य योऽसिनात् पाशान् मृत्यून् एकशतं च" ॥

सेन" [ऐ० ब्रा० १. १] इति एकत्वश्रवणात् समासेन तयोर्मरुतोधिपतयः । श्रूयते हि । "हेमन्तेनर्तुना देवा मरुतस्त्रिणवे स्तुतम्" इति [तै० ब्रा० २. ६. १९. २]। इत्थं वसुरुद्रादीन् ऋतुपतीन् ब्रूमः स्तुमः । आर्तवान् तत्तदृतुविशेषसंबन्धिनः पदार्थान्। उतशब्दः अप्यर्थे । हायनान् समाः संवत्सरान् इति पर्यायशब्दाश्चान्द्रसौरसावनभेदेन त्रिविधसंवत्सराभिप्रायाः । मासान् चैत्राद्यान् । एतान् सर्वान् ब्रूमः स्तुमः ॥

हम वसन्त आदि ऋतुओंकी स्तुति करते हैं और वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त और शिशिर ऋतुओंके अधिपति वसु रुद्र आदित्य ऋभु और मरुद्गणोंकी हम स्तुति करते हैं और इन ऋतुओं में होने वाले पदार्थोंकी स्तुति करते हैं. (जिनमें मास शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होकर अमावस्या पर पूर्ण होता है उन) चान्द्र सम्वत्सरोंकी हम स्तुति करते हैं (और जिनमें संक्रान्तिके आरंभ से संक्रान्तिकी समाप्ति तक मास पूर्ण होता है उन)सौरसंवत्सरों की (और जिनमें कृष्ण प्रतिपदासे आरम्भ कर पूर्णिमाके दिन मास पूर्ण होता है उन) सावन सम्वत्सरोंकी हम स्तुति करते हैं तथा चैत्र आदि मासोंकी हम स्तुति करते हैं, ये हमको पापसे से मुक्त करदें ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

एतं देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत ।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥

आ । इत । देवाः । दक्षिणतः । पश्चात् । प्राञ्चः । उत्ऽएत । पुरस्तात् । उत्तरात् । शक्राः । विश्वे । देवाः । सम्ऽएत्य । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १८ ॥

हे देवाः दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि स्थिता यूयम् एत आगच्छत । एवं चतसृषु दिक्षु अवस्थिताः सर्वे देवाः समेत्य समागत्य ते यूयम् अस्मान् अंहसः पापात् । मुञ्चतेति शेषः ॥

हे देवताओ ! दक्षिण दिशामें स्थित तुम आओ और हे पश्चिम उत्तर तथा पूर्वदिशामें स्थित देवताओ ! तुम अपनी २ दिशाओं से शीघ्रतापूर्वक आओ और आकर हमको पापसे मुक्त करो १८

नवमी ॥

विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१९॥

विश्वान् । देवान् । इदम् । ब्रूमः । सत्यऽसंधान् । ऋतऽवृधः ।
विश्वाभिः । पत्नीभिः । सह । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः १९

विश्वे देवा नाम देवगणाः । तान् उद्दिश्य इदं स्तुतिवचनं ब्रूमः वदामः । यद्वा इदं फलं याचामहे । कीदृशान् । सत्यसंधान् सत्यप्रतिज्ञान् । ऋतावृधः ऋतम् इति सत्यस्य यज्ञस्य वा नामधेयम् तस्य वर्धयितॄन् । विश्वाभिः पत्नीभिः विश्वाख्याभिर्देवीभिः सह । तान् ब्रूमः इत्यर्थः । ते न इत्यादि समानम् ॥

हम सत्यप्रतिज्ञ यज्ञवर्धक विश्वेदेवताओंकी उनकी सब पत्नियों सहित स्तुति करते हैं अथवा उनसे फलकी याचना करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें ॥ १९ ॥

दशमी ॥

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः ।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २० ॥

सर्वान् । देवान् । इदम् । ब्रूमः । सत्यऽसंधान् । ऋतऽवृधः ।

सर्वाभिः । पत्नीभिः । सह । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥२०॥

विश्वशब्दस्य स्थाने सर्वशब्द एव विशेषः । उक्तान् अनुक्तांश्च सर्वान् देवान् । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

हम सब पत्नियोंसहित सत्यप्रतिज्ञ यज्ञवर्धक देवताओंसे फल की याचना करते हैं वे हमको पापसे मुक्त करें ॥ २० ॥

एकादशी ॥

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।

भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

भूतम् । ब्रूमः । भूतऽपतिम् । भूतानाम् । उत । यः । वशी ।

भूतानि । सर्वा । सम्ऽगत्य । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥२१॥

भूतम् लब्धसत्ताकं वस्तुमात्रं ब्रूमः स्तुमः । भूतपतिम् तस्य भूतस्य अधिपतिम् ईश्वरम् । उत अपि च तेषां सर्वेषां भूतानां यो वशी वशयिता नियन्ता तमपि स्तुमः । सर्वा सर्वाणि तानि भूतानि संगत्य संभूयागत्य ॥ गतम् अन्यत् ॥

हम सत्ता वाली वस्तुमात्र-भूत-की स्तुति करते हैं, और इन भूतोंके अधिपति ईश्वरकी स्तुति करते हैं और जो इन भूतोंका नियमन करने वाले देवता हैं उनकी भी हम स्तुति करते हैं, वे सब एकत्रित होकर आवें और आकर हमको पापसे मुक्त करें २१

द्वादशी ॥

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः ।

संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥

याः । देवीः । पञ्च । प्रऽदिशः । ये । देवाः । द्वादश । ऋतवः ।

सम्ऽवत्सरस्य । ये । दंष्ट्राः । ते । नः । सन्तु । सदा । शिवाः २२

याः प्रसिद्धाः पञ्चसंख्याकाः प्रदिशः प्रधानदिशः देवीः देव्यो दानादिगुणयुक्ता देवतारूपा वा सन्ति ये देवाः दानादिगुणयुक्ता द्वादशसंख्याका ऋतवः "मधुश्च माधवश्च" इत्येवम् [तै० सं० १. ४. १४] अनुक्रान्ता मासाः तथा संवत्सरस्य द्वादशमासात्मकस्य प्रजापतेर्ये दंष्ट्राः दशन्ति खादन्ति एभिरिति दंष्ट्रा दन्तविशेषाः । ॐ "दाम्नीशस०" इत्यादिना करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः ॐ । ते चात्र संवत्सरसंबन्धिनो विष्ट्यादिदुष्टकालात्मकाः । ते सर्वे नः अस्माकं सदा सर्वदा शिवाः कल्याणहेतवः सन्तु ॥

जो देवतारूप प्रधान पाँच दिशायें हैं और जो दानादिगुण युक्त बारह (ऋतु) मास हैं और द्वादशमासात्मक प्रजापतिरूप सम्वत्सरकी, जिनसे डसा जाता है ऐसे विष्टि आदि दुष्टकालात्मक जो; डाढ़े हैं, वे सब हमारे लिये सुखके कारण हों ॥२२॥

त्रयोदशी ॥

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम् ।

तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् २३

यत् । मातली । रथऽक्रीतम् । अमृतम् । वेद । भेषजम् ।

तत् । इन्द्रः । अप्ऽसु । प्र । अवेशयत् । तत् । आपः । दत्त । भेषजम् ॥ २३ ॥

मातली इन्द्रस्य सारथिः रथक्रीतम् रथस्य क्रयेण लब्धम् अमृतम् अमरणसाधनं यद् भेषजं वेद जानाति तत् भेषजम् इन्द्रस्तस्य रथस्य अधिपतिर्देवः अप्सु उदकेषु प्रावेशयत् प्राक्षिपत् ।

हे आपः यूयं तत् मातलिना क्रीतम् इन्द्रेण क्षिप्तं भेषजम् औषधं दत्त अस्मभ्यं प्रयच्छत ॥

पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये एकादशकाण्डे
तृतीयोऽनुवाकः ॥

इन्द्रका सारथी मातलि रथक्रयसे मिले हुए जिस अमरण-साधन भेषजको जानता है, उस भेषजको उस रथके अधिपति देवता इन्द्रने जलमें डाल दिया है, हे जलो ! तुम उस मातलिकी खरीदी हुई और इन्द्रकी डाली हुई औषधिको हमें दो २३ (१०)

पञ्चम सूक्त समाप्त (४८६)

एकादश काण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेऽनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र आद्यैस्त्रिभिः सूक्तैर्ब्रह्मौद-नाख्ये सवयज्ञे हुतशिष्टस्य ओदनस्य सर्वजगत्कारणभूतब्रह्मा-भेदेन स्तुतिः क्रियते । तत्रैव एषां विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

चौथे अनुवाकमें छः सूक्त हैं । इनमें पहिले तीन सूक्तोंसे ब्रह्मौ-दन नामक सवमें होमनेसे बचे हुए ओदनकी सर्वजगत्कारण-भूत ब्रह्मके अभेदसे स्तुति की गई है । उसमें इनका विनियोग देखना चाहिये ।

तत्र प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १ ॥

उत्ऽशिष्टे । नाम । रूपम् । च । उत्ऽशिष्टे । लोकः । आऽहितः ।
उत्ऽशिष्टे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । विश्वम् । अन्तः । सम्ऽआहितम् ॥ १ ॥

उच्छिष्टे । होमाद् ऊर्ध्वं शिष्यते अवशिष्यत इति हुतावशिष्टः प्राशनार्थं ओदनः उच्छिष्टः । तस्य देवसृष्टिहेतुत्वं तावच्छ्रूयते हि । "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत्। तस्या उच्छेषणम् अददुः । तत् प्राश्नात् । सा रेतोधत्त । तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्" इत्यादि [तै० ब्रा० १. १. ६. १] । तथा अस्मिन्नेव वेदे मुण्डकोपनिषदि अन्नस्य सर्वजगद्धेतुता समाम्नायते ।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नम् अभिजायते ।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥

इति [मु० १. १. ८] । तस्मिन् उच्छिष्टे हुतशिष्टे अन्ने नाम नामधेयात्मकः शब्दप्रपञ्चः रूपम् तेन निरूपणीयः अर्थप्रपञ्चश्च तद् उभयम् आश्रितम् आस्थितम् । नामरूपात्मकः प्रपञ्चस्तस्मिन् कारणभूते समाश्रित्य लब्धसत्ताकोऽवतिष्ठत इत्यर्थः । यद्वा "अथात आदेशो नेति नेति" [बृ० आ० २. ३. ११] "नेह नानास्ति किंचन" [बृ० आ० ४.२.२१] इत्येवं दृश्यप्रपञ्चनिषेधाद् ऊर्ध्वं तदवधित्वेन शिष्यते अवशिष्यत इत्युच्छिष्टं बाधावधित्वेन शिष्यमाणं परं ब्रह्म । तस्मिन् शुक्त्यादौ रजतादिवत् नाम रूपं चेति द्विधाभूतं समस्तं जगत् आहितम् आरोपितम् । वर्तत इत्यर्थः । इत्थं सामान्येन सर्वजगदाधारत्वम् अभिधाय विशेषतो निर्दिशति उच्छिष्टे लोक आहित इत्यादिना । उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे ब्रह्माभिन्ने कारणभूते तस्मिन्नोदने लोकः पृथिव्यादिरूपः सर्वो लोकः आहितः आस्थितः । तस्मिन्नेव उच्छिष्टे द्युलोकाधिपतिः इन्द्रश्च पृथिव्यधिपतिः अग्निश्च उभौ आहितौ । किं बहुना एतदुपलक्षितं विश्वम् सर्वं जगत् अन्तः मध्ये समाहितम् सम्यग् ईश्वरेण स्थापितम्

(होमके अनन्तर जो बचता है वह होमनेसे बचा हुआ प्राशनके लिये रक्खा हुआ ओदन यहाँ उच्छिष्ट शब्दसे अभिहित हुआ

है। वह देवताओंकी सृष्टिका कारण हुआ है, यह श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ही है, कि-"अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनं अपचत्। तस्या उच्छेषणं अददुः। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्०।-पुत्राभिलाषिणी अदितिने साध्यदेवताओंके लिये ब्रह्मौदनका पाक किया, उन्होंने अदिति के लिये उच्छेषण दिया। उसने उसका प्राशन किया। फिर वीर्य धारण किया, तब उसके धाता और अर्यमा उत्पन्न हुए" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।६।१)। तथा इस वेदके ही मुण्डकोपनिषद्में अन्नकी सर्वजगद्धेतुता कही है, कि-"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नं अभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥-ब्रह्म तपसे वृद्धिको प्राप्त होता है, उससे अन्न होता है, अन्न से प्राण मन सत्य और लोक प्रकट हुए हैं और कर्मोंमें जो अमृत है वह भी प्रकट हुआ है।" [मुण्डकोपनिषत् १।१।८] उस उच्छिष्टमें अर्थात् होमनेसे बचे हुए अन्नमें नाम अर्थात् नामधेयात्मक शब्द-प्रपञ्च और रूप अर्थात् निरूपणीय अर्थप्रपञ्च भी ये दोनों ही आहित हैं अर्थात् नामरूपात्मक प्रपञ्च उस कारणभूतमें आश्रय करके सत्ताको पाकर प्रादुर्भूत होता है। अथवा-"अथातो आदेशो नेति नेति अब यह आदेश है, कि-यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है" (बृहदारण्यक २। ३। ११) और "नेह नानास्ति किञ्चन-ब्रह्मके अतिरिक्त इस जगत्की अन्य अनेक वस्तुएँ (तत्त्व) नहीं हैं" (बृहदारण्यक ४। २। २१) इस प्रकार दृश्यप्रपञ्चके निषेधसे ऊपर जो तदवधित्वसे बाकी रहता है वह उच्छिष्ट बाधा की अवधिसे बचा हुआ-परब्रह्म है, उस परब्रह्ममें सीपीमें चाँदी आदिकी समान नाम और रूप इन दोमें वर्तमान सब जगत् आरोपित है। इस प्रकार सामान्यरूपसे जगदाधारत्वको कह कर अब विशेषरूपसे कहते हैं, कि-उस उच्छिष्यमाण ब्रह्माभिन्न कारणभूत ओदनमें पृथिवी आदिक समस्त लोक आहित हैं, उसी

उच्छिष्टमें द्युलोकाधिपति इन्द्र और पृथिवीके अधिपति अग्नि ये दोनों स्थित हैं अधिक क्या इनसे उपलक्षित सकल विश्व ही इस ओदनके मध्यमें ईश्वरके द्वारा भली प्रकार स्थापित किया हुआ है १

द्वितीया ॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥

उत्ऽशिष्टे । द्यावापृथिवी इति । विश्वम् । भूतम् । सम्ऽआहितम् ।
आपः । समुद्रः । उत्ऽशिष्टे । चन्द्रमाः । वातः । आऽहितः ॥२॥

प्रथमयर्चा संग्रहेण उक्त पदार्थः एतदादिभिर्मन्त्रैर्बहुधा प्रपञ्च्यते ॥ द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि तदात्मके हुतशिष्टौदने वा समाहिते । आश्रित्य वर्तेते इत्यर्थः । भूतम् तत्रत्यं यद् भूतजातं विश्वम् सर्वं तद् उच्छिष्टे समाहितम् सम्यग् निहितम् । तदाधारवशात् प्रचलतीत्यर्थः । तथा आपः व्यापनशीलाः प्रथमसृष्टा जगत्कारणभूताः तासां समुदायात्मकः समुद्रश्च तस्मिन् उच्छिष्टे समाहिताः । चन्द्रमाः तस्मात् समुद्रात् मथ्यमानाद् उत्पन्नः वातः वायुः अन्तरिक्षाधिपतिर्देवः आहितः आश्रितः॥

(पहिली ऋचासे सूत्ररूपमें जो बातें कही हैं उन्हींका इन ऋचाओंसे विस्तार करते हैं, कि–) द्यावापृथिवी उच्छिष्यमाण ब्रह्ममें वा तदात्मक होमनेसे अवशिष्ट ओदनमें समाहित है अर्थात् उसका आश्रय लेकर रहते हैं, और इनमें रहने वाला जो भूतसंघ है वह भी उच्छिष्टमें समाहित है, उसके आधारवश प्रचलन करता है, तथा व्यापनशील प्रथमसृष्ट जगत्कारणभूत जल और जलोंका समुदायरूप समुद्र भी उस उच्छिष्टमें समाहित है, उस समुद्रके मथनेसे उत्पन्न हुआ चन्द्रमा और अन्तरिक्षाधिपति वायुदेव ये सब उसी ब्रह्ममें समाश्रित हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ३

सन् । उत्ऽशिष्टे । असन् । च । उभौ । मृत्युः । वाजः । प्रजाऽपतिः ।
लौक्याः । उत्ऽशिष्टे । आऽयत्ताः । व्रः । च । द्रः । च । अपि ।
श्रीः । मयि ॥ ३ ॥

सन् सत्तया क्रोडीकृतो भावरूपः प्रपञ्चः । असन् अभावात्मकश्च । उभौ सदसतौ उच्छिष्टे तस्मिन् उदीरितलक्षणे । कार्यत्वेन वर्तेते इत्यर्थः । तथा तस्य सदसदात्मकस्य प्रपञ्चस्य मारको मृत्युः वाजः तदीयं बलं तस्य सर्वस्य स्रष्टा प्रजापतिश्च तत्रैव आहिताः । तथा लौक्याः लोकसंबन्धिन्यः प्रजाः तस्मिन् उच्छिष्टे आहिताः स्थापिताः । तथा व्रः वारको वरुणः द्रः द्रावकः अमृतमयः सोमः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तावपि अस्मिन् आहितौ । तत्प्रसादात् श्रीः संपत् मयि विदुषि आहिता आस्थिता भवतु ॥

सत्तारूपसे क्रोडीकृत भावरूप प्रपञ्च और अभावात्मक प्रपञ्च ये दोनों सत् और असत् उस पूर्वोक्त लक्षण वाले उच्छिष्टमें आश्रित हैं अर्थात् कार्यत्वरूपसे वर्तमान रहते हैं । तथा सदसदात्मक प्रपञ्चके मारक मृत्युदेव, उनका बल, और उन सबके स्रष्टा प्रजपत्ति भी वहाँ ही आश्रित हैं और लोककी प्रजाएँ भी उसी उच्छिष्टमें आश्रित हैं, तथा वारक वरुणदेव और द्रावक अमृतमय सोम–ये दोनों भी इसीमें समाहित हैं, उसके प्रसादसे मुझ विद्वान्में सम्पत्ति आश्रित हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश ।

नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥

दृढः । दृंहऽस्थिरः । न्यः । ब्रह्म । विश्वऽसृजः । दश ।

नाभिम्ऽइव । सर्वतः । चक्रम् । उत्ऽशिष्टे । देवताः । श्रिताः ४

दृढः दृढाङ्गः । महद्दृढशरीरो देव इत्यर्थः । ❀ दृह दृहि वृद्धौ । "दृढः स्थूलबलयोः" इति निष्ठायां निपात्यते ❀ । दृंहस्थिरः दृंहणेन स्थिरीकृतो लोकः । न्यः नेतारस्तत्रत्याः प्राणिनः । ब्रह्म परिदृढं जगत्कारणम् अव्यक्तात्मकम् । विश्वसृजः विश्वस्य स्रष्टारो नव ब्रह्माणः तत्स्रष्टा [दशमः एवं] दशसंख्याकाः । यद्वा नव प्राणाः मुख्यः प्राण एकः । एते हि प्रथमसृष्टा विश्वस्य स्रष्टारः । एते सर्वे उच्छिष्टे समाहिताः । अपि च देवताः इन्द्राद्याः सर्वे देवा नाभिमिव चक्रम् यथा रथचक्रं मध्यस्थं नाभिं सर्वत आवेष्ट्य वर्तते एवम् उच्छिष्टे श्रिताः आश्रिताः । कारणभूतं ब्रह्म आवेष्ट्य वर्तन्त इत्यर्थः ॥

दृढ़ शरीर वाला देव, और दृंहणसे स्थिर किया हुआ लोक और तहाँके नेता प्राणी, परिदृढ़ जगत्कारण अव्यक्त ब्रह्म, विश्वकी रचना करने वाले नौ ब्रह्म और उनकी रचना करने वाला दशम ब्रह्म । अथवा—नौ प्राण और मुख्य प्राण एक ये प्रथमसृष्ट दश प्राण विश्वके स्रष्टा हैं—ये सब उच्छिष्टमें समाहित हैं और इन्द्र आदि सब देवता भी, रथचक्रकी नाभि चारों ओरको घेरे रहती है, इसी प्रकार उस उच्छिष्टका आश्रय लेकर रहते हैं- अर्थात् कारणभूत ब्रह्मका आवेष्टन करके रहते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।

हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥

ऋक् । साम । यजुः । उत्ऽशिष्टे । उत्ऽगीथः । प्रऽस्तुतम् । स्तुतम् ।

हिङ्ऽकारः । उत्ऽशिष्टे । स्वरः । साम्नः । मेडिः । च । तत् । मयि

अनयोत्तरया च यज्ञाङ्गानां तदाश्रितत्वं प्रतिपाद्यते ऋक् साम यजुरिति । सर्वत्र जातावेकवचनम् । ऋचः पादबद्धा मन्त्रा यज्ञे याज्यानुवाक्यादिरूपेण विनियुक्ताः । सामानि प्रगीतमन्त्राः "आज्यैः स्तुवते" "पृष्ठैः स्तुवते" इत्येवं स्तोत्रसाधनत्वेन विनियुक्ताः । यजूंषि प्रश्लिष्टपठिता अनुष्ठेयार्थप्रकाशका मन्त्राः । तेषां लक्षणं जैमिनिराचार्योऽसूत्रयत् । "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २. १. ३५] "गीतिषु सामाख्या" [जै० २. १. ३६] "शेषे यजुःशब्दः" [जै० २. १. ३७] इति । एवं त्रिविधा मन्त्रा उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि समाश्रिताः । तत्र आज्यादिस्तोत्रनिर्वर्तकानां साम्नां पञ्च भक्तयः हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्याः प्रयोगशास्त्रेण कल्पिताः । तत्र च उद्गात्रा गीयमानो भाग उद्गीथः । प्रस्तुतम् प्रस्तोत्रा गीयमानः प्रस्तावाख्यो भागः । प्रस्तूयते स्तुतेः प्रारम्भः क्रियते अनेनेति प्रस्तुतम् । ❀ प्रपूर्वात् स्तौतेः करणे निष्ठा ❀ । स्तुतम् स्तोत्रम् स्तवनकर्म । हिङ्कारः सर्वैरुद्गातृभिः आदौ प्रयुज्यमानो हिं इति शब्दः । स्वरः कृत्स्नसामाश्रितः क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिमन्द्रात्मकः सप्तविधः स्वरः । अथ वा कानिचित् सामानि आ इ ई इत्येवमात्मकैः स्वरैः परिसमाप्यन्ते । तानि च सामानि स्वरनिधनानि इत्युच्यन्ते । स आकारोत्र स्वरशब्देन विवक्षितः । स च साम्नः सम्बन्धी । तथा मेडिः मेलयिता ऋगक्षराणां गानविशेषस्य च संसर्जकः स्तोभविशेषः । अथ वा मेलिरिति वाङ्नाम । साम्नः संबन्धिनी वाक् । कानिचित् सामानि वाङ्निधनानि

गीयन्ते । तदभिप्रायम् एतत् । तद्ध एतद्ध उद्गीथादिकं सर्वम् उच्छिष्टे समाश्रितम् । तत् सर्वं मयि यज्ञसमृद्ध्यर्थं भवत्वित्यर्थः ॥

(इस ऋचासे और अगली ऋचासे भी यज्ञाङ्गोंका तदाश्रितत्व प्रतिपादित किया जाता है, कि–) यज्ञमें याज्यानुवाक्यादिरूपसे विनियुक्तपादबद्ध मन्त्र ऋक् "आज्यैः स्तुवते" "पृष्ठैः स्तुवते" इत्यादि स्तोत्रसाधनत्वसे विनियुक्त प्रगीत–मन्त्र साम, प्रश्लिष्ट-पठित अनुष्ठेय अर्थके प्रकाशक मन्त्र यजुः ‡ इस प्रकार ये तीनों प्रकारके मन्त्र उच्छिष्यमाण ब्रह्ममें समाश्रित हैं (यहाँ आज्यादि स्तोत्रोंको सम्पन्न करने वाले सामोंकी हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन नामक पाँच भक्तियें प्रयोगशास्त्रमें कल्पित हैं इनमें) जो उद्गाता जिस भागको गाता है वह उद्गीथ कह-लाता है । प्रस्तोता जिसको गाता है वह प्रस्ताव नामक भाग प्रस्तुत कहलाता हैं । और जिससे स्तुतिका प्रारम्भ किया जाता है वह प्रस्तुत कहलाता है । और स्तवन स्तोत्रकर्म स्तुत कहलाता है, सब उद्गाताओंसे आदिमें प्रयुज्यमान हिं शब्द हिंकार कहलाता हैं । और पूर्ण सामका आश्रय लेने वाला क्रुष्ट प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ मन्द्र और अतिमन्द्ररूप सात प्रकारका स्वर । अथवा–कुछ साम आ इ ई आदि स्वरोंसे समाप्त किये जाते हैं वे साम स्वर–निधन कहलाते हैं वह आकार ही यहाँ स्वर शब्दसे अभि-लषित है । ऋचाओंके अक्षरोंका और गानविशेषका मिलाने वाला एक स्तोत्र मेडि–अथवा सामसम्बन्धी वाणी–ये सब उद्गीथ आदि उच्छिष्टमें समाश्रित हैं, तात्पर्य यह है, कि–वह सब मुझ में यज्ञसमृद्धिके लिये होवें ॥ ५ ॥

‡ इनका लक्षण जैमिनि आचार्यने इस प्रकार लिखा है, कि– "तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" (जैमिनीयसूत्र २।१।३५) "गीतिषु सामाख्या" (जै० २ । १ । ३६) "शेषे यजुःशब्दः" (जै० २ । १ । ३७) ॥

षष्ठी ॥

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम् ।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥ ६ ॥

ऐन्द्राग्नम् । पावमानम् । महाऽनाम्नीः । महाऽव्रतम् ।

उत्ऽशिष्टे । यज्ञस्य । अङ्गानि । अन्तः । गर्भःऽइव । मातरि ६

ऐन्द्राग्नम् इन्द्राग्न्योः स्तावकम् "इन्द्राग्नी आ गतं सुतम्" इति तृचे [ऋ० ३. १२. १] गीयमानं साम ऐन्द्राग्नं प्रातःसवने प्रयुज्यमानम् । पावमानम् त्रिष्वपि सवनेषु सवनादौ गीयमानं पवमानसोमदेवताकं साम । ❀ उभयत्र "सास्य देवता" इति अण् प्रत्ययः ❀ । महानाम्नीः महानाम्न्यः । "विदा मघवन् विदा गातुम् अनुशंसिषो दिशः" [ऐ० आ० ४. १] इत्याम्नाता ऋचः । तत्र गीयमानं शाक्वरं सामापि महानाम्नीशब्देनोच्यते। ताश्च द्वादशाहमध्यवर्तिनि दशरात्रे पञ्चमेऽहनि पृष्ठसामत्वेन विनियुक्ताः । महाव्रतम् राजनगायत्रबृहद्रथन्तरभद्राख्यैः पञ्चभिः सामभिः क्रियमाणं स्तोत्रम् । तच्च गवामयनस्योपान्त्येहनि प्रथमं पृष्ठस्तोत्रम् । एकाहोपि सोमयागस्तद्वान् महाव्रतम् इति आख्यायते । एवम् ऐन्द्राग्नादीनि यज्ञस्य अङ्गानि उच्छिष्टे अन्तः मध्ये मातरि गर्भ इव वर्तन्ते । यथा मातुरुदरमध्ये आश्रितो गर्भः पुष्यन् अभिवर्धते एवम् एतान्यपि कारणभूते ब्रह्मणि आश्रितत्वेन भाव्यमानानि अङ्गिनं यज्ञं फलसमृद्धं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

इन्द्र और अग्निकी जिसके द्वारा स्तुति की जाती है वह 'इन्द्राग्नी आ गतं सुतम्' इस ऋग्वेदसंहिता ३ । १२ । १ के तृचसे गाया जाने वाला और प्रातःसवनमें प्रयुज्यमान साम ऐन्द्राग्न, तीनों सवनोंमें गाया जाने वाला पवमान सोमदेवताका साम पावमान,

"विदा मघवन् विदा गातुं अनुशंसिषो दिशः" ये ऐतरेय आरण्यक ४। १ में कही हुई महानाम्नी नामक ऋचाएँ अथवा तहाँ गाया जाने वाला महानाम्नी शब्दसे अभिहित शाक्वर नामक साम, इन शाक्वर सामकी ऋचाओंका बारह दिनके मध्यमें होने वाले दशरात्रके पञ्चम दिनमें पृष्ठसामरूपसे विनियोग होता है। राजन गायत्र बृहद् रथन्तर और भद्रनामक पाँच सामोंसे किया जाने वाला स्तोत्र महाव्रत कहलाता है, यह गवामयनके अन्तके दिनसे पहिले दिनमें होने वाला प्रथम पृष्ठस्तोत्र होता है और इस प्रथम पृष्ठस्तोत्र वाला एकाह सोमयाग भी महाव्रत कहलाता है। इस प्रकारके ये ऐन्द्राग्न आदि यज्ञके अङ्ग उच्छिष्टके भीतर इस प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार माताके भीतर गर्भ रहते हैं। तात्पर्य यह है, कि–जैसे माताके उदरके मध्यमें आश्रित गर्भ पुष्टि पाता हुआ बढ़ता है, इसी प्रकार कारणभूत ब्रह्ममें आश्रितत्वसे भाव्यमान ये, अंगी यज्ञको फलसमृद्ध करते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः ।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥ ७ ॥

राजऽसूयम् । वाजऽपेयम् । अग्निऽस्तोमः । तत् । अध्वरः ।
अर्कऽअश्वमेधौ । उत्ऽशिष्टे । जीवऽबर्हिः । मदिन्ऽतमः ॥ ७ ॥

अङ्गवद् अङ्गिनामपि तदाश्रयत्वम् इतः परं प्रतिपाद्यते। राजा सूयते प्रेर्यते यस्मिन् कर्मणि तद् राजसूयम् इष्टिपशुसोमदर्विहोमात्मकं शस्त्रप्रधानम्। ॐ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना क्यपि निपात्यते। "गतिकारकोपपदात् कृत्" इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ। वाजपेयम् वाजः अन्नं द्रवीकृत्य पेयं यस्मिन् कर्मणि

तत् तथोक्तम् । "राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत" इति [आश्व० ९. ९. १९] क्षत्रिय एव राजसूये कर्मणि अधिकारी । वाजपेये तु ब्राह्मणक्षत्रियौ उभावपि अधिक्रियेते । श्रूयते हि । "स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः । तं वा एतं वाजपेयम् इत्याहुः" इति [तै० ब्रा० १. ३. ०. ३] । तथा अग्निष्टोमः चरमस्तोत्रे यज्ञायज्ञीये अग्निः स्तूयत इति अग्निष्टोमः द्वादशस्तोत्रशस्त्रसहितः सर्वसोमानां प्रकृतिभूतः सोमयागः । तत् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀। सोऽध्वरः हिंसाप्रत्यवायरहितः । "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत" इति आलभ्य पशुहिंसाया विहितत्वेन "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषेधशास्त्रस्य तत्रानुपवेशाभावात् । अर्काश्वमेधौ अर्कश्चि-त्योग्निः । अश्वो मेधः पशुर्यस्मिन् त्रिरात्रात्मके अहीने सोमे सोऽश्वमेधः । तौ अर्काश्वमेधौ । अथ वा विराडात्मना उपास्य-मानश्चित्योग्निः अर्कः । तस्य च तथात्वेन उपासनम् ऐतरेयकोप-निषदि समाम्नायते । "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते । एतमग्नावध्वर्यवः । एतं महाव्रते छन्दोगाः" इति [ऐ० आ० ३. २. ३.] । अश्वमेधशब्देन च "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" [बृ० आ० १. १. १] इत्याद्युपनिषदा अश्वमेधाङ्गस्य अश्वस्य विराडात्मना यद् उपासनम् उक्तं तद् विवक्षितम् । "तावेतावर्का-श्वमेधौ" [बृ० आ० १. २. ७] इति तदुपासनप्रकरणे समाम्ना-नात् । एतदेवाभिप्रेत्य तैत्तिरीयैरपि आम्नायते । "अर्को वा एष यद् अग्निः असावादित्योश्वमेधः" इति [तै० सं० ५. ७. ५. २] । एते राजसूयादयः सर्वे उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे निष्प्रपञ्चे ब्रह्मणि तदात्मना भाव्यमाने ओदने वा समाश्रिताः । तथा जीवबर्हिः जीवावस्थान्येव बर्हींषि यस्य यागविशेषस्य स तथोक्तः । मदिन्तमः मादयितृतमः देवानां तृप्तिविशेषकरः अन्योपि सोमयागः । स सर्वोपि उच्छिष्टे समाश्रित इत्यर्थः । ❀ "नाड्घस्य" इति तमपो नुडागमः ❀ ॥

(अब अङ्गकी समान अंगियोंका भी तदाश्रयत्व प्रतिपादन करते हैं, कि- जिसमें राजाको प्रेरित किया जाता है वह इष्टि पशु सोम दर्वि होमात्मक राजसूय यज्ञ, जिसमें वाज अर्थात् अन्न पतला करके पिया जाता है वह वाजपेय † यज्ञ, जिसमें चरमस्तोत्र यज्ञायज्ञीयमें अग्निकी स्तुति की जाती है वह अग्निष्टोम यज्ञ, द्वादशस्तोत्रशस्त्रसहित सर्वसोमोंका प्रकृतिभूत सोमयाग हिंसाके प्रत्यवायसे रहित होनेके कारण अध्वर ‡ कहलाता है, नित्याग्नि अर्कयज्ञ, जिस तीन रातसे कममें न होने वाले यज्ञमें अश्व पशु होता है वह अश्वमेध यज्ञ, अथवा विराडात्मकसे उपास्यमान चित्य अग्नि अर्क ÷, और अश्वमेधके अंग अश्वकी

† आश्वलायनसूत्र ६ । ६ । १६ में कहा है, कि-"राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत ।-स्वर्गकी कामना वाला राजा राजसूयसे यजन करे" ॥ अत एव क्षत्रिय ही राजसूय यज्ञका अधिकारी है । और वाजपेय यज्ञमें तो ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंका अधिकार है श्रुतिमें भी कहा है, कि-"स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः । तं वा एतं वाजपेयं इत्याहुः ।-यह ब्राह्मण और क्षत्रियका यज्ञ है, इसको वाजपेय यज्ञ कहते हैं" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ३ । २ । ३) ॥

‡ "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत ।" इस प्रकार आलम्भन करके हिंसाके विहित होनेसे "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" यह निषेधशास्त्र यहाँ प्रवृत्त नहीं होता है ।

÷ इसकी इस प्रकारकी उपासनाका ऐतरेयकोपनिषत्में वर्णन है, कि-"एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते । एतमग्नावध्वर्यवः । एतं महाव्रते छन्दोगाः ।-बह्वृच इसीकी महा उक्थमें मीमांसा करते हैं । अध्वर्यु अग्निमें इसीको करते हैं और छन्दोग महाव्रतमें इसीको करते हैं" (ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । ३) ।

उपनिषत् प्रतिपाद्य विराडात्मारूपसे उपासनारूप अश्वमेध + ये सब राजसूय आदि उच्छिष्यमाण निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें वा तादात्म्य से भाव्यमान ओदनमें समाश्रित हैं। और जीवबर्हिःयाग, तथा देवताओंकी विशिष्टतृप्ति करने वाला मदिन्तम नामक सोमयाग भी उसी उच्छिष्टमें समाश्रित हैं॥ ७॥

अष्टमी॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्त्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥८॥

अग्निऽआधेयम्। अथो इति। दीक्षा। कामऽप्रः। छन्दसा। सह। उत्ऽसन्नाः। यज्ञाः। सत्त्राणि। उत्ऽशिष्टे। अधि। समऽआहिताः

अग्न्याधेयम् अग्नयो गार्हपत्यादयो यस्मिन् कर्मणि आधीयन्ते तद् अग्न्याधेयम्। अथो अग्न्याधानानन्तरमेव सोमयागस्य या दीक्षा दीक्षणीयेष्ट्यादिरूपा कामप्रच्छन्दसा कामान् अभिलषितान् फलविशेषान् प्राति यजमानस्य पूरयतीति कामप्रम्। ॐ प्रा पूरणे। "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः ॐ। तादृशेन छन्दसा

+ अश्वमेधके विषयमें बृहदारण्यक १।१।१ में कहा है, कि—"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।—यह उषा ही पवित्र अश्व का शिर है"। इस प्रकार जो उपनिषत्में अश्वमेधके अंग अश्वकी विराड्रूपसे जो उपासना कही है वही यहाँ विवक्षित है। इसी बातको बृहदारण्यक उपनिषत् १।२।७ में कहा है, कि—"तावेतावर्काश्वमेधौ।—वही ये अर्क और अश्वमेध यज्ञ हैं"॥ इसी बातको तैत्तिरीयसंहिता वाले भी कहते हैं, कि—"अर्को वा एष यद् अग्निः। असावादित्योऽश्वमेधः।—जो अग्नि है वही अर्क है और जो आदित्य है वही अश्वमेध है"॥

गायत्रीत्रिष्टुबादिना सवननिष्पादकेन सह । उत्सन्नयज्ञाः इदानीं दुरधिगमतया अनुष्ठानाभावात् लुप्तप्राया यज्ञा उत्सन्नयज्ञा इत्युच्यन्ते । तानेव निर्दिशति सत्त्राणीति । सीदन्ति एषु बहवो यजमानाः कर्तृत्वेनेति बहुकर्तृकाः सोमयागाः सत्त्राणि उच्यन्ते । श्रूयते हि । "चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सत्त्रम् आसीरन्" इति । तानि च त्रयोदशरात्रप्रभृतीनि विश्वसृजाम् अयनान्तानि । न खल्विदानींतनानाम् अल्पमतीनाम् अल्पायुषां तदनुष्ठानं संभवतीति तेषाम् उत्सन्नयज्ञत्वम् । एवम् अनुक्रान्ता अग्न्याधेयादयः सर्वे यागा उच्छिष्टे ब्रह्मणि अधि समाहिताः समाश्रिताः ॥

जिसमें गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी स्थापना की जाती है वह अग्न्याधेय, और यजमानकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले गायत्री त्रिष्टुप् आदि सवननिष्पादक छन्दोसहित अग्न्याधेयके अनन्तर ही सोमयागकी जो दीक्षणीयेष्टिरूप दीक्षा होती है वह दीक्षा, और इस समय कठिनतासे होसकने वाले अत एव अनुष्ठानके अभाववश लुप्त हुए उत्सन्न यज्ञ, कि–जिनमें बहुतसे यजमान कर्तारूपसे बैठने हैं वे बहुकर्तृक सोमयागात्मक सत्र ‡ ये सब यज्ञ उच्छिष्यमाण ब्रह्म वा तादात्म्यरूपसे भावित ओदनमें समाश्रित हैं॥८

नवमी ॥

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः ।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

‡ श्रुतिमें कहा है, कि–"चतुर्विंशतिपरमाः सप्तदशावराः सत्रं आसीरन् ।–अधिकसे अधिक चौबीस और न्यूनसे न्यून सत्रह सत्रमें बैठते हैं" वे यज्ञ त्रयोदशरात्रसे विश्वसृजोंके अयन तक हैं । आज कलके अल्पमति अल्पायु पुरुषोंसे उनका अनुष्ठान नहीं बन सकता अत एव उनका उत्सन्नयज्ञत्व है ।

अग्निऽहोत्रम् । च । श्रद्धा । च । वषट्ऽकारः । व्रतम् । तपः ।

दक्षिणा । इष्टम् । पूर्तम् । च । उत्ऽशिष्टे । अधि । सम्ऽआहिताः

अग्नये होत्रं होमः अस्मिन् कर्मणि इति अग्निहोत्रम् "सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्" इति [आप० ६. १५. १४] विहितम् । श्रद्धा श्रद्धानं तदनुष्ठानविषया आस्तिक्यबुद्धिः । ❀ "श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिरिष्यते" इति वचनात् "आतश्चोपसर्गे" इति अङ् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । वषट्कारः याज्यान्ते हविःप्रदानाय प्रयुज्यमानो वौषट् इति शब्दः । व्रतम् । "नानृतं वदेत् । नास्य ब्राह्मणोनाश्वान् गृहे वसेत्" [तै० ब्रा० १. १. ४. २] इत्यादिशास्त्रविहितम् आहिताग्नेः प्रातिस्विकम् अनृतवदनवर्जनादिरूपं कर्म

अहिंसा सत्यम् अस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः ।

इत्येवमादिरूपं वर्ज्यसाधारणं च व्रतशब्देन विवक्षितम् । तपः शरीरसंतापकरं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् । यद्वा "पयो ब्राह्मणस्य व्रतम् यवागू राजन्यस्य आमिक्षा वैश्यस्य" इति [तै० ब्रा० २. ८. १.] दीक्षादिवसेषु देहयात्रार्थं विहितं पयःपानादिकं व्रतम् । तपो ब्रह्मचर्यं चित्तैकाग्र्यं वा ।

मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते ।

इति स्मरणात् । दक्षिणा "तस्य द्वादशशतं दक्षिणा" इत्यादिशास्त्रेण विहिता ऋत्विगानतये देयद्रव्यस्य क्लृप्तिः । तथा इष्टम् श्रुतिविहितं यागहोमादि कर्म । पूर्तम् स्मृतिपुराणाभिहितं वापीकूपतटाकदेवायतनारामादिनिर्माणम् । एते च अग्निहोत्रादयः सर्वे उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे प्रपञ्चासंस्पृष्टे ब्रह्मणि । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । समाहिताः समाश्रिताः ॥

"सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् ।—सायंकाल और प्रातःकालके

समय अग्निहोत्रमें होम करे" इस आपस्तम्बश्रौतसूत्र ६।१५।१४ से विहित जिसमें अग्निमें होम किया जाता है वह अग्निहोत्र, कर्मोंके अनुष्ठानकी आस्तिक्यबुद्धि श्रद्धा, याज्यान्तमें हविःप्रदानके लिये प्रयोग किया जाने वाला शब्द वौषट्, "नानृतं वदेत्। नास्य ब्राह्मणोऽनाश्वान् गृहे वसेत्।—झूँठ न बोले, इसके घरमें बिना खाया हुआ (भूखा) ब्राह्मण न रहने पावे" इस तैत्तिरीय-ब्राह्मण १।१।४।२ आदि शास्त्रोंसे विहित आहिताग्निका प्रतिदिनका अनृतभाषणवर्जनादिक कर्म तथा "अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।—अहिंसा सत्य अस्तेय पवित्रता और इन्द्रियनिग्रह" आदि और जिसका सर्वसाधारणको त्याग करना चाहिये ये सब व्रतशब्दसे कहे जाने वाले कर्म व्रत, अथवा 'पयो ब्राह्मणस्य व्रतम् यवागू राजन्यस्य आमिक्षा वैश्यस्य॥—पय ब्राह्मणका व्रत है राजन्यको व्रतमें यवागू पीनी चाहिये और वैश्यको आमिक्षाका भक्षण करना चाहिये' इस तैत्तिरीय आरण्यक २।८।१ से विहित दीक्षादिवसोंमें देहयात्राके लिये विहित पयःपान आदि व्रत, "मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते।—मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता तप कहलाती है" इत्यादिसे विहित चित्तकी एकाग्रतारूपी तप, "तस्य द्वादशशतं दक्षिणा—उस यज्ञकी दक्षिणा बारह सौ है" इत्यादि शास्त्रसे विहित ऋत्विजको प्रसन्न करनेके लिये दी जाने वाली दक्षिणा, श्रुतिविहित यागादि कर्म इष्ट, स्मृति और पुराणोंसे विहित बावड़ी कूप तालाब देवालय बगीचे आदिका बनवानारूप पूर्त, ये सब अग्निहोत्र आदि प्रपञ्चसे अछूते उच्छिष्यमाण ब्रह्ममें वा तादात्म्यरूपसे भावित ओदनमें आश्रित हैं॥ ९॥

दशमी॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।

ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥१०॥

एकऽरात्रः । द्विऽरात्रः । सद्यःऽक्रीः । प्रऽक्रीः । उक्थ्यः ।

आऽउतम् । निऽहितम् । उत्ऽशिष्टे । यज्ञस्य । अणूनि । विद्यया १०

एकां रात्रिं व्याप्य वर्तमानः सोमयाग एकरात्रः । तथा द्वे रात्री व्याप्य वर्तमानः सोमयागो द्विरात्रः । द्विरात्रप्रभृतयः सोमयागा अहीना इत्युच्यन्ते । "द्विरात्रप्रभृतय उपरिष्टाद् अतिरात्रा अहीना एकादशरात्रात्" इति सूत्रितत्वात् । अतो नैषां सत्रेष्वन्तर्भाव इति पृथगुपादानम् । ❀ "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः" इति समासान्तः अकारप्रत्ययः ❀ । सद्यस्क्रीः प्रक्रीः इत्युभौ एकाहौ सोमयागविशेषौ । सद्यस्तदानीमेव क्रीयते सोमोऽस्मिन्निति सद्यःक्रीः । प्रक्रीशब्दोपि इत्थं निर्वक्तव्यः । उक्थ्यः अग्निष्टोमसंस्थात ऊर्ध्वभावीनि त्रीणि स्तुतशस्त्राणि उक्थसंज्ञकानि यस्य सन्ति स सोमयाग उक्थ्यः । तद् एतद् एकरात्रादिकम् उच्छिष्टे उदीरितलक्षणे ओतम् आबद्धं निहितम् निक्षिप्तम् । वर्तत इत्यर्थः । इत्थं यज्ञस्य संबन्धीनि अणूनि सूक्ष्माणि रूपाणि विद्यया भावनया । तत्रैव कारणभूते ब्रह्मणि निहितानीत्यर्थः ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

एक रात्रिमें होने वाला सोमयाग एकरात्र, तथा जो सोमयाग दो रात्रियोंमें होता है वह द्विरात्र ‡, जिसमें तत्काल ही सोमका

‡ द्विरात्र आदि सोमयाग अहीन कहजाते हैं "द्विरात्रप्रभृतय उपरिष्टाद् अतिरात्रा अहीना एकादशरात्रात् ।—द्विरात्रसे लेकर एकादशरात्र तकके सोमयाग अहीन कहलाते हैं" अतः इनका सत्रोंमें अन्तर्भाव न होनेसे पृथक् वर्णन किया है ॥

क्रयण होता है वह सद्यःक्री एकाह सोमयाग, और जिसमें सोम का प्रकृष्टरूपसे क्रयण होता है वह प्रक्री एकाह सोमयाग, जिसमें अग्निष्टोम संस्थासे आगे तीन उक्थसंज्ञक उक्थ स्तुत शस्त्र (स्तुति) होते हैं ऐसा उक्थ नामक सोमयाग, ये सब उच्छिष्टमें बँधे हुए रहते हैं इसी प्रकार यज्ञके सूक्ष्मरूप भी निश्चय अर्थात् भावनासे कारणभूत ब्रह्ममें ही स्थित हैं ॥ १० ॥ (१९)

चतुर्थे अनुवाके प्रथमं सूक्तं समाप्तम् ॥

द्वितीयसूक्ते प्रथमा ॥

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥

चतुःऽरात्रः । पञ्चऽरात्रः । षट्ऽरात्रः । च । उभयः । सह ।
षोडशी । सप्तऽरात्रः । च । उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । ये ।
यज्ञाः । अमृते । हिताः ॥ ११ ॥

चतसृभी रात्रिभिरावर्त्यमानः सोमयागश्चतूरात्रः । एवं पञ्चरात्रषड्रात्रसप्तरात्रा व्याख्येयाः । उभय इत्यनेन चतूरात्रादीनां द्विगुणितत्वं विवक्षितम् । उभौ चतूरात्रलक्षणौ अवयवावस्य सः अष्टरात्र उभयः । एवं पञ्चरात्रो द्विगुणितो दशरात्रो भवति । षड्रात्रो द्विगुणितो द्वादशरात्र इत्येवम् अवगन्तव्यम् । सहशब्द एतेषां साहित्यम् आचष्टे । षोडशी उक्थ्यसंस्थात उपरि षोडशं षोडशसंख्यापूरकं स्तोत्रं शस्त्रं च यस्यास्ति स सोमयागः षोडशी । तन्निर्वचनम् एवम् आम्नायते । "यद्व वाव षोडशं स्तोत्रं षोडशं शस्त्रं तेन षोडशी । तत् षोडशिनः षोडशित्वम्" इति [तै० सं०

६. ६. ११. १]। ये च अन्ये यज्ञा अमृते हिताः अमृतलक्षण-फलजनने समर्थाश्चतूरात्रादयः सर्वे ते यज्ञा उच्छिष्टात् ब्रह्मौद-नोच्छेषणाद् उच्छिष्यमाणात् जगत्कारणाद् ब्रह्मण एव वा जज्ञिरे जाता बभूवुः। ❀ जनी प्रादुर्भावे। "गमहन०" इति उपधालोपः। "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवत्त्वात् साचकस्य द्विर्वचनम् ❀॥

चार रात्रियोंमें पूर्ण होने वाला चतुरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र और इनके दुगुनेके साथ अर्थात् अष्टरात्र दशरात्र, द्वादशरात्र, और उक्थसंस्थाके अनन्तर जिनमें सोलह स्तोत्र और शस्त्र होते हैं वह षोडशी + सोमयाग, सप्तरात्र-ये तथा अन्य अमृत-रूप फल देनेमें समर्थ यज्ञ भी ब्रह्मौदनके उच्छेषणसे उच्छिष्यमाण उच्छिष्टसे वा जगत्-कारण ब्रह्मसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं॥ ११॥

द्वितीया॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोपि तन्मयि॥१२॥

प्रतिऽहारः। निऽधनम्। विश्वऽजित्। च। अभिऽजित्। च। यः। साह्नऽअतिरात्रौ। उत्ऽशिष्टे। द्वादशऽअहः। अपि। तत्। मयि १२

उद्गीथभक्त्यनन्तरभाविनी प्रतिहर्त्रा उच्यमाना साम्नश्चतुर्थी

+ तैत्तिरीयसंहिता ६। ६। ११। १ में कहा है, कि-"यद्वात्र षोडशं स्तोत्रं षोडशं शस्त्रं तेन षोडशी। तत् षोडशिनः षोडशित्वम्॥-क्योंकि-इसमें सोलह स्तोत्र और सोलह शस्त्र (स्तुति का एक भेद) होते हैं,-इसीलिये ये षोडशी याग कहलाता है। यही षोडशीका षोडशित्व है"॥

भक्तिः प्रतिहारः । ❀ "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । येन भागेन साम परिसमाप्यते तन्निधनम् । तच्च सर्वैरुद्गातृभिर्वक्तव्यम् । विश्वजिदभिजितौ द्वौ सोमयागौ अग्निष्टोमसंस्थौ । साह्नातिरात्रौ । एकेन अह्ना समाप्यमानः सवनत्रयात्मकः सोमयागः साह्नः । रात्रिम् अतीत्य वर्तत इति अतिरात्रः एकोनत्रिंशत्स्तुतशस्त्रवान् सोमयागः । एते प्रतिहारादयः उच्छिष्टे ब्रह्मणि परिकल्पिताः । द्वादशाहोऽपि । द्वादशानाम् अह्नां समाहारो यस्मिन् क्रतौ स क्रतुर्द्वादशाहः । स च सत्राहीनात्मकः । सोपि तस्मिन् ब्रह्मणि आश्रितः । ❀ "राजाहःसखिभ्यः०" इति टच् समासान्तः । "न संख्यादेः समाहारे" इति अह्नादेशाभावः ❀ । यद् एतद् अनुक्रान्तं यज्ञजातं तत् सर्वं मयि भवत्विति प्रार्थना अवगन्तव्या ॥

उद्गीथभक्तिके अनन्तर होने वाली प्रतिहर्ताके द्वारा उच्चारित सामकी चौथी भक्ति प्रतिहार कहलाती है । जिस भागसे सामको समाप्त किया जाता है वह निधन कहलाता है (उसका सब उद्गाताओं को उच्चारण करना चाहिये)। विश्वजित् और अभिजित् नामक दो सोमयाग अग्निष्टोमसंस्थ हैं । एक दिनमें पूर्ण होने वाला तीन सवनका सोमयाग साह्न कहलाता है । और जिसमें रात्रि भरसे अधिक समय लगता है वह उन्तीस स्तुत और शस्त्र वाला सोमयाग अतिरात्र कहलाता है । ये प्रतिहार आदि सब उच्छिष्ट ब्रह्म में समाहित हैं । बारह दिनमें होने वाला अहीनात्मक सत्र द्वादशाह कहलाता है वह भी उस ब्रह्ममें आश्रित है । ये सब यज्ञ मुझमें होवें—ऐसी प्रार्थना है ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।

उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥

सूनृता । सम्ऽनतिः क्षेमः । स्वधा । ऊर्जा । अमृतम् । सहः ।

उत्ऽशिष्टे । सर्वे । प्रत्यञ्चः । कामाः । कामेन । ततृपुः ॥१३॥

सूनृता प्रियसत्यात्मिका वाक् । संनतिः फलस्य नतिः उपनतिः । तस्य उपनतस्य फलस्य परिरक्षणं क्षेमः । स्वधा पितॄणां संबन्धिनी तृप्तिकरी । यद्वा अन्ननामैतत् । सर्वप्राण्युपभोग्यम् अन्नम् । ऊर्जा प्राणस्य स्थापकं बलकरम् अन्नम् । ❀ ऊर्ज बलप्राणनयोः । अस्मात् पचाद्यच् ❀ । अमृतम् देवोपभोग्यम् अमृतत्वप्रापकं पीयूषम् । सहः पराभिभवनक्षमं बलम् । एते सर्वे कामाः काम्यमानाः फलविशेषा उच्छिष्टे ब्रह्मणि आश्रिताः प्रत्यञ्चः आत्माभिमुखम् अञ्चन्तः प्राप्नुवन्तः कामेन काम्यमानेन अभिलषितफलेन ततृपुः यजमानं तर्पयन्ति प्रीणयन्ति । ❀ तृप प्रीणने । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट् ❀ ॥

प्रिय और सत्य वाणी सूनृता, फलकी उपनति संनति, उस उपनत (प्राप्त) हुएकी रक्षा क्षेम, पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधा, प्राणका स्थापक बलप्रद अन्न, देवताओंका उपभोग्य अमृतत्व देने वाला पीयूष अमृत, दूसरोंको दबानेका बल सहः । ये सब अभिलाषा करने योग्य फल संसारप्रपञ्चसे अस्पृष्ट ब्रह्ममें आश्रित हैं । ये आत्माके अभिमुख करते हुए अभिलषित फलसे यजमानको तृप्त करते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।

आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥

नव । भूमीः । समुद्राः । उत्ऽशिष्टे । अधि । श्रिताः । दिवः ।

आ । सूर्यः । भाति । उत्ऽशिष्टे । अहोरात्रे इति । अपि । तत् । मयि

नव भूमीः नवखण्डात्मिकाः पृथिव्यः । समुद्राः सप्तसंख्याकाः । दिवः द्युलोका उपरितनाः । उच्छिष्टे अधि उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि श्रिताः आश्रिताः । सूर्यश्चायम् उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे स्वप्रकाशे परब्रह्मणि आश्रितः सन् आ भाति आसमन्ताद् दीप्यते । "तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति" इति श्रुतेः [क० व० ५. १५] । अहोरात्रे अपि तद् आश्रित्य आभातः । तद् उक्तं सर्वं मयि भवत्विति ॥

नौ खण्ड वाली भूमि, सात समुद्र, ऊपरके द्युलोक, ये सब उच्छिष्यमाण ब्रह्ममें आश्रित हैं । यह सूर्यदेव भी उच्छिष्यमाण स्वप्रकाश परब्रह्ममें आश्रित होकर चारों ओर दमकते हैं ‡ । दिन रात्रि भी उसीका आश्रय लेकर दमकते हैं । ये सब मुझमें होजावें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥१५॥

उपऽहव्यम् । विषुऽवन्तम् । ये । च यज्ञाः । गुहा । हिताः ।

बिभर्ति । भर्ता । विश्वस्य । उत्ऽशिष्टः । जनितुः । पिता १५

उपहव्यम् एतत्संज्ञं सोमयागम् । विषूवन्तम् । गवामयनाख्यस्य संवत्सरसत्त्रस्य मासषट्कात्मकयोः पूर्वोत्तरपक्षयोर्मध्ये एकविंश-स्तोमकोनुष्ठेयः सोमयागो विषूवान् तम् । ये चान्ये यज्ञा गुहा

‡ कठोपनिषत् ५ । १५ में कहा है, कि—"तस्य भासा सर्वं इदं विभाति ।—उसकी कान्तिसे यह सब दमक रहा है"

हिताः गुहायां निगूढा अज्ञायमाना वर्तन्ते तान् सर्वान् यज्ञान् अयम् उच्छिष्टः उच्छिष्यमाण ओदनः परमात्मा वा बिभर्ति धारयति पोषयति वा । कीदृशः स इति विशेष्यते । विश्वस्य सर्वस्य जगतो भर्ता । जनितुः जनयितुः स्वजनकस्य सत्रयज्ञानुष्ठातुः पिता पुण्यलोके तस्योत्पादकः । परमात्मपक्षे तु लोके यो जनयिता तस्य सर्वस्यापि पिता । सर्वे जनयितारोपि अस्मात् प्रथमम् उत्पद्य ततः स्वकार्यं जनयन्तीत्यर्थः । ततः सर्वकारणकारणभूत इति भावः ॥

उपहव्य नामक सोमयागको सम्वत्सरसत्र गवामयनके छः छः मासके पूर्व और उत्तर पक्षके मध्यमें जो एकविंश स्तोमोंसे अनुष्ठित होता है उस सोमयाग विषुवान्को, और जो यज्ञ अज्ञात पड़े हुए हैं उन सब यज्ञोंको यह उच्छिष्यमाण ओदन वा परमात्मा पुष्ट वा धारण करता है वह तादात्म्योपलक्षित ओदन सब जगत्का भरण करने वाला है और सत्रयज्ञके अनुष्ठाता अपने जनकका पिता है अर्थात् उनको पुण्यलोकमें उत्पन्न करने वाला है (परमात्माके पक्षमें यह अर्थ होगा, कि—)लोकमें जो उत्पादक है वह उसका ही उत्पादक है—पिता है । अर्थात् सब उत्पन्न करने वाले भी पहिले इससे उत्पन्न होकर फिर अपने कार्यको उत्पन्न करते हैं अत एव यह सब कारणोंका भी कारण है ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

पिता जनितुरुच्छिष्टोसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥

पिता । जनितुः । उत्ऽशिष्टः । असोः । पौत्रः । पितामहः ।
सः । क्षियति । विश्वस्य । ईशानः । वृषा । भूम्याम् । अतिऽघ्न्यः ।

उच्छिष्टः हुतावशिष्ट ओदनः जनितुः जनयितुः स्वोत्पादकस्य पिता लोकान्तरे दिव्यशरीरस्य उत्पादकः। तथा असोः प्राणस्य पौत्रः। प्राणचलनात् शरीरस्य चलनं तेन च ओदनस्य पाक इति व्यवधानापेक्षया पौत्रत्वम्। तथा तस्यैव प्राणस्य अयं पितामहः। भाविस्वर्गभोगयोग्यस्य शरीरस्य तावद् अयं पिता। तस्य शरीरोत्पत्त्यनन्तरं तत्र प्राणसंचार इति भाविशरीरव्यवधानाद् भाविनः प्राणस्य अयं परंपरया उत्पादक इति पितामहत्वम् ॥ "अथात आदेशो नेति" [बृ० आ० २. ३. ११] इति दृश्यप्रपञ्चनिषेधावधित्वेन उच्छिष्यमाणः परमात्मा यदा उच्छिष्टशब्दार्थः तदा एवं योजना। जनितुर्जनयितुः उत्पादकस्य प्राणिजातस्य उच्छिष्यमाणः परमात्मा पिता। स्वस्वकार्यम् उत्पादयतां सर्वेषाम् अयम् आद्यस्रष्टेत्यर्थः। तथा असोः प्राणस्य प्रथमसृष्टस्य हिरण्यगर्भात्मनः पौत्रः। पुत्रश्चतुर्मुखो ब्रह्मा तत्सृष्टा देवादयः पौत्राः। तदात्मना परमात्मैव अवस्थित इत्यर्थः। तत्र यः पितामहो हिरण्यगर्भः तस्य च परमात्मनश्च वास्तवभेदाभावात् पितामहत्वमपि विज्ञेयम्। एवंभूतः स उच्छिष्टः विश्वस्य सर्वस्य जगत ईशानः ईश्वरो भवन् वृषा कामानां वर्षिता अतिघ्न्यः अतिक्रान्तहननः सन् भूम्याम् पृथिव्यां क्षियति निवसति। सर्वप्राणिशरीरेषु वर्तते ॥

होमनेसे बचा हुआ अत एव उच्छिष्ट कहाने वाला यह ओदन अपने उत्पादकका भी उसको दूसरे लोकमें दिव्य शरीरसे सम्पन्न करके उत्पन्न करने वाला होनेसे उसका पिता है। प्राणके चलन से शरीरका चलन होता है और शरीरके चलनेसे ओदनका पाक होता है इस प्रकार यह ओदन प्राणका पौत्र है। और आगेके स्वर्गके भोगके योग्य शरीरका यह पिता है और उस शरीरकी उत्पत्तिके अनन्तर ही प्राणका सञ्चार होता है अत एव यह प्राण का पितामह है। ("अथात आदेशो नेति नेति" इस बृहदा-

रण्यक २। ३। ११ के अनुसार दृश्यमपञ्चके निषेधकी अवधि-रूपसें बचा हुआ परमात्मा जब उच्छिष्ट शब्दका अर्थ होता है उस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि-) उत्पादक प्राणियोंका उच्छिष्य-माण परमात्मा ही पिता है, तात्पर्य यह है, कि-अपने २ कर्मको उत्पन्न करने वाले सबका यह आद्यस्रष्टा है। प्रथमसृष्ट हिरण्य-गर्भात्मक प्राणका यह पौत्र है, पुत्र चतुर्मुख ब्रह्मा हुए और उनके रचे हुए देवता आदिक पौत्र हुए तात्पर्य यह है, कि-पर-मात्मा ही उनके रूपमें स्थित हैं। इनमें जो पितामह हिरण्यगर्भ हैं उनका और परमात्माका वास्तवमें अभेद है अत एव वह पितामह भी है। ऐसा वह उच्छिष्ट सब जगत्का ईश्वर रहता हुआ, काम-नाओंकी वर्षा करता हुआ और हनन न करता हुआ पृथ्वीमें रहता है अर्थात् सब प्राणियोंके शरीरमें रहता है ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥

ऋतम् । सत्यम् । तपः । राष्ट्रम् । श्रमः । धर्मः । च । कर्म । च ।
भूतम् । भविष्यत् । उत्ऽशिष्टे । वीर्यम् । लक्ष्मीः । बलम् । बले ॥

ऋतम् मनसा यथार्थसंकल्पनम् । सत्यम् वाचा यथार्थभाषणम् । तपः शरीरसंतापकरो व्रतोपवासादिनियमविशेषः । राष्ट्रम् राज्यम् । श्रमः शान्तिः शब्दादिविषयोपभोगस्य उपरतिः । धर्मः तज्जन्यः अपूर्वविशेषः । कर्म वर्णाश्रमानुसारेण विहितं यागदान-होमादि । भूतम् उत्पन्नं जगत् । भविष्यत् उत्पत्स्यमानम् । एतत् सर्वम् उच्छिष्टे ब्रह्मणि तदात्मके ओदने वा कार्यत्वेन नित्यम् आश्रितम् तथा वीर्यम् सामर्थ्यम् । लक्ष्मीः सर्ववस्तुसंपत्तिः ।

बलम् सर्वकर्मनिर्वर्तनक्षमं शरीरगतं सामर्थ्यं बले बलवति तस्मिन् उच्छिष्टे । वर्तन्त इत्यर्थः ॥

मनसे यथार्थ संकल्प करना ऋत कहलाता है वह ऋत, वाणीसे यथार्थ कथनरूप सत्य, शरीरको संताप देने वाला व्रत उपवास और नियमरूप तप, राज्य, शब्द आदि विषयोंके उप भोगकी उपरति श्रान्ति श्रम, उससे उत्पन्न होने वाला अपूर्व-धर्म, वर्णाश्रमके अनुसार किया हुआ यागदान होम आदि कर्म, उत्पन्न हुआ जगत्-भूत, उत्पन्न होने वाला जगत् भविष्यत्, ये सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें वा तदात्मक ओदनमें कार्यरूपसे नित्य आश्रित हैं। तथा शक्ति, सब वस्तुओंकी भली प्रकार प्राप्ति सम्पत्ति, और सब कार्योंको पूर्ण करनेकी शक्तिरूप शरीरगत बल ये सब उस बलवान् ब्रह्ममें समाश्रित हैं ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

सम्ऽऋद्धिः । ओजः । आऽकूतिः । क्षत्रम् । राष्ट्रम् । षट् । उर्व्यः ।
सम्ऽवत्सरः । अधि । उत्ऽशिष्टे । इडा । प्रऽएषाः । ग्रहाः । हविः ॥ १८

समृद्धिः इष्टफलस्य अभिवृद्धिः । ओजः शारीरबलम् अष्टमो धातुः । आकूतिः इष्टफलविषयः संकल्पः । क्षत्रम् क्षात्रं तेजः । राष्ट्रम् क्षत्रधर्मेण परिपालनीयं राज्यम् । षट् षट्संख्याका उर्व्यः । ताश्च मन्त्रान्तरे परिगण्यन्ते । "षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च" रात्रिश्चापश्चौषधयश्च इति [आश्व १. २. १] । तथा संवत्सरः द्वादशमासात्मकः कालः । इडा नाम देवता यस्याः प्रीतये यज्ञेषु हुतशिष्टात् पुरोडाशादेर्भागोवदीयते । प्रैषाः कर्मसु

ऋत्विजां प्रेरका मन्त्राः । ग्रहाः वायव्यैर्गृह्यमाणा ऐन्द्रवायवादयः सोमाः । हविश्चरुपुरोडाशादिलक्षणम् । एतत् सर्वम् उच्छिष्टे अधि उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि आधारे । वर्तत इत्यर्थः ॥

इष्ट फलकी वृद्धि-समृद्धि, शरीरका बल अष्टम धातुरूप ओज, इष्टफल विषयक संकल्प-आकूति, क्षात्र तेज, क्षत्रधर्मसे पालन करने योग्य राज्य-राष्ट्र, और आश्वलायन श्रौतसूत्र १ । २ । १ में कही हुई "षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च ।-द्यौ पृथिवी दिन रात्रि जल और ओषधियें ये छः उर्वियें मेरी रक्षा करें" छः उर्वियें तथा बारह मास वाला काल सम्वत्सर, जिसकी प्रीतिके लिये होमनेसे बचा हुआ पुरोडाश आदिका भाग दिया जाता है वह इडा देवता, ऋत्विजोंको कर्ममें प्रेरित करने वाले मन्त्र प्रैष, वायव्योंसे गृह्यमाण ऐन्द्रवायवादि सोमरूप ग्रह, चरु पुरोडाशादिरूप हवि, ये सब उच्छिष्यमाण ब्रह्मात्मक आधारमें रहते हैं ॥ १८ ॥

नवमी ॥

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः ।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥

चतुःऽहोतारः । आप्रियः । चातुःऽमास्यानि । निऽविदः ।
उत्ऽशिष्टे । यज्ञाः । होत्राः । पशुऽबन्धाः । तत् । इष्टयः ॥१९॥

चतुर्होतारः चतुर्होतृसंज्ञका मन्त्राः "चित्ति स्रुक्" इत्याद्याः पञ्चानुवाकास्तैत्तिरीयके [तै० आ० ३. १-५] समाम्नाताः । यद्यपि तेषां दशहोता चतुर्होता [पञ्चहोता] षड्ढोता सप्तहोतेति क्रमेण संज्ञा तथापि ते सर्वे चतुर्होतृसंज्ञयैवोच्यन्ते । तथा च तत्रैव होतृविध्यवसाने श्रूयते । "त्वं वै ये नेदिष्ठं हूतः प्रत्यश्रौषीः । त्वं

वै नानाख्यातार इति । तस्मान्नु हैनांश्चतुर्होतार इत्याचक्षते" इति [तै० आ० २. ३. ११. ४] । आप्रियः पशुयागसंबन्धिनां प्रयाजानां याज्याः । श्रूयते हि तन्नामनिर्वचनम् । "आप्रीभिराप्नुवन् तद् आप्रीणाम् आप्रित्वम्" इति [तै० ब्रा० २. २. ८. ६] । भगवान् आश्वलायनोपि सूत्रयति स्म । "एकादश प्रयाजाः । तेषां प्रैषाः । प्रथमं प्रैषसूक्तम् । अध्वर्यु प्रेषितो मैत्रावरुणः प्रैष्यति । प्रैषैर्होतारम् । होता यजत्याप्रीभिः प्रैषलिङ्गाभिः" इति [आश्व० ३. २. १-५] । चातुर्मास्यानि चतुर्षु मासेषु क्रियमाणानि वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इति [श० प० २. ६. ३. १, आप० ८. १. १] श्रुत्या विहितानि । निविदः स्तोतव्यगुणप्रकर्षनिवेदनपरा मन्त्राः "अग्निर्देवेद्धः । अग्निर्मन्विद्धः । इन्द्रो मरुत्वान्त्सोमस्य पिबतु । इन्द्रो देवः सोमं पिबतु" [निवि० १. १-३] इत्येवमाद्याः । "निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्" इति हि [ऐ० ब्रा० ३. ६] ब्राह्मणम् । तथा यज्ञा यागाः । होत्राः होतृप्रमुखाः सप्त वषट्कर्तारः । पशुबन्धाः अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यात्मकाः सोमाङ्गभूताः पशुयागाः स्वतन्त्राश्च "वायव्यं श्वेतम् आलभेत" [तै० सं० २. १. १. १]इत्यादिना विहिताः । इष्टयोपि अङ्गभूताः स्वतन्त्राश्च । तद् एतद् अनुक्रान्तं चतुर्होतृप्रभृतिकं सर्वम् उच्छिष्टे उच्छिष्यमाणे ब्रह्मणि तदात्मके ओदने वा समाश्रित्य वर्तत इत्यर्थः ॥

तैत्तिरीय आरण्यक ३ । १—५ में "चित्ति स्रुक्" आदि पाँच अनुवाक कहे हैं उनके मन्त्र चतुर्होता कहलाते हैं [यद्यपि क्रमशः इनकी चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्त—होता आदि संज्ञायें सुनी जाती हैं तथापि ये सब चतुर्होता नामसे ही अभिहित होते हैं । तहाँ ही होतृविधिके अन्तमें श्रुतिमें कहा है, कि—"त्वं वै मे नेदिष्ठ

हूतः प्रत्यश्रौषीः । त्वं वै नानाख्यातार इति । तस्मान्नु हैनान् चतुर्होतार इत्याचक्षते” (तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ३ । ११ । ४)] पशुयागके प्रयाजोंके याज्य आप्रिय † यथा “अक्षय्यं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवन्ति ।– चातुर्मास्योंसे यजन करने वाले अक्षय पुण्यको पाते हैं” इस शतपथब्राह्मण २ । ६ । ३ । १ और आपस्तम्बश्रौतसूत्र ८ । १ । १ के अनुसार चारों मासोंमें किये जाने वाले वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीर नामक चार पर्व । स्तुतिके पात्रकी गुणाधिकताको दिखाने वाले मन्त्र निवित् ‡ । याग । होता आदि सात वषट्कर्ता । अग्नीषोमीय सवनीय अनुबन्ध्यात्मक सोमाङ्गभूत पशुयाग, तथा “वायव्यं श्वेतं आलभेत ।–वायुके लिये श्वेतका आलभन करे” तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । १ आदिसे विहित स्वतन्त्र पशुयाग,

† आप्रिओंके नामका निर्वचन इस प्रकार है, कि–“आप्रीभिराप्नुवन् तद् आप्रीणां आप्रित्वम् ।–आप्रिओंसे प्राप्त किया यही आप्रिओंका आप्रित्व है” (तैत्तिरीयब्राह्मण २ ।२।८।६) । भगवान् आश्वलायनने भी सूत्र बनाया है, कि–‘एकादश प्रयाजाः । तेषां प्रैषाः । प्रथमं प्रैषसूक्तम् । अध्वर्यु प्रेषितो मैत्रावरुणः प्रैष्यति । प्रैषैर्होतारम् । होता यजत्याप्रीभिः प्रैषसलिङ्गाभिः ।–ग्यारह प्रयाज होते हैं, उनके प्रैष होते हैं, प्रथम प्रैषसूक्त होता है, अध्वर्यु से प्रेषितः मैत्रावरुण प्रैषोंसे होताको प्रेषित करता है । होता प्रैषसलिङ्ग आप्रिओंसे यजन करता है’ (आश्वलायनश्रौतसूत्र ३।२।१–५)॥

‡ “अग्निर्देवेद्धः । अग्निर्मन्विद्धः । इन्द्रो मरुत्वान् सोमस्य पिबतु । इन्द्रो सोमं पिबतु” ये निवित् १ । १–३ आदिक मन्त्र निवित् कहलाते हैं । ऐतरेयब्राह्मण ३ । ६ में कहा है, कि–“निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम् ।–निविद् मन्त्रोंसे निवेदन करते हैं यही निविदोंका निवित्त्व है” ॥

स्वतन्त्र तथा अंगभूत इष्टियें। ये चतुर्होता आदि सब उच्छिष्य-माण ब्रह्ममें आश्रित हैं ॥ १९ ॥

दशमी ॥

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥२०॥

अर्धऽमासाः । च । मासाः । च । आर्तवाः । ऋतुऽभिः । सह । उत्ऽशिष्टे । घोषिणीः । आपः । स्तनयित्नुः । श्रुतिः । मही २०

अर्धमासाः पञ्चदशदिवसात्मकाः पक्षाः । मासाश्चैत्राद्याः । आर्तवाः तत्तदृतुसंबन्धिनः पदार्थविशेषाः । ऋतुभिः तैर्वसन्ताद्यैः सह । सर्वे एते उच्छिष्टे समाश्रिताः । तथा घोषिणीः घोषिण्यः घोषयुक्ता आपः । स्तनयित्नुः स्तनयन् गर्जितं कुर्वन् मेघः । शुचिः शुद्धा मही महती भूमिः । एतेपि तस्मिन् उच्छिष्टे । समाश्रिता इत्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पन्द्रह दिवसरूप पक्ष, चैत्र आदि मास, वसन्त आदि ऋतुओं सहित सब ऋतुओंके पदार्थ आर्तव ये सब उच्छिष्टमें आश्रित हैं। घोषयुक्त जल गर्जना करता हुआ मेघ, पवित्र और विशाल भूमि, ये सब उच्छिष्टमें समाश्रित हैं ॥ २० ॥ (२०)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

तृतीयसूक्ते प्रथमा ॥

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥२१॥

शर्कराः । सिकताः । अश्मानः । ओषधयः । वीरुधः । तृणा ।

अभ्राणि । विऽद्युतः । वर्षम् । उत्ऽशिष्टे । सम्ऽश्रिता । श्रिता २१

शर्कराः क्षुद्रपाषाणविशेषाः । सिकताः वालुकाः । अश्मानः पाषाणाः । ओषधयः व्रीहियवाद्याः । वीरुधः विरोहणशीला लताः । तृणा तृणानि गवादिभिरुपभोग्यानि । अभ्राणि उदकपूर्णा मेघाः । विद्युतस्तडितः । वर्षम् वृष्टिः । एते सर्वे उच्छिष्टे संश्रिताः समवस्थिताः । श्रिताः इति पुनरुक्तिरादरार्था । यद्वा ये च अन्ये संश्रिताः स्वाश्रयसमवेताः पदार्थास्ते सर्वे श्रिता इति ॥

क्षुद्र पाषाणरूप शर्करा, रेता, पत्थर, व्रीहि जौ आदि औषधि, विरोहणशील लतायें गौ आदिके खानेकी वस्तु तृण, जलपूर्ण मेघ, बिजलियें, ये सब उच्छिष्ट में आश्रित हैं और जो स्वाश्रयसमवेतपदार्थ हैं वे भी सब ब्रह्ममें ही आश्रित हैं ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

राद्धिः । प्रऽआप्तिः । सम्ऽआप्तिः । विऽआप्तिः । महः । एधतुः । अतिऽआप्तिः । उत्ऽशिष्टे । भूतिः । च । आऽहिता । निऽहिता । हिता ॥ २२ ॥

राद्धिः संसिद्धिः सम्यग् निष्पत्तिः । प्राप्तिः प्रेप्सितस्य फलस्य अधिगमः । समाप्तिः सम्यग् आप्तिः । व्याप्तिः विविधा आप्तिः । महः तेजः उत्सवो वा । एधतुः अभिवृद्धिः । अत्याप्तिः अतिक्रान्ता आप्ति । भूतिः समृद्धिः । सा च आहिता आभिमुख्येन स्थिता निहिता निक्षिप्ता । अत्र सर्वत्र उपसर्गवशाद् अर्थभेदोवगन्तव्यः । राद्ध्यादयः सर्वास्तस्मिन् उच्छिष्टे हिताः स्थिताः ॥

भली भाँति पूर्णरूपराद्धि, इष्ट फलकी प्राप्ति, भली प्रकार प्राप्ति–समाप्ति, अनेक प्रकारकी वस्तुओंकी प्राप्ति व्याप्ति, तेज वा उत्सव, अभिवृद्धि, अत्याप्ति, समृद्धि, ये सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें आश्रित हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२३॥

यत् । च । प्राणति । प्राणेन । यत् । च । पश्यति । चक्षुषा ।

उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः २३

यच्च प्राणिजातं प्राणेन प्राणवायुना प्राणति प्राणनव्यापारं करोति यद्वा प्राणेन घ्राणेन्द्रियेण प्राणति गन्धान् आजिघ्रति यच्च प्राणिजातं चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण पश्यति नीलपीतादिकं साक्षात् करोति ते सर्वे प्राणिनः उच्छिष्टात् उच्छिष्यमाणाद् ब्रह्मणः सकाशात् जज्ञिरे । तथा दिविश्रितः द्युलोके स्थिताः । ❀ श्रिञ् सेवायाम् । "क्विप् च" इति क्विप् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यत्र "हृद्द्युभ्यां ङेरुपसंख्यानम्" इति अलुक् ❀ । ये च अन्ये दिवि द्युलोके वर्तमाना देवास्ते सर्वे उच्छिष्टाज्जज्ञिरे ॥

प्राणिसमूह जो प्राणवायुसे प्राणनव्यापारको करता है, अथवा घ्राणेन्द्रियसे गन्धोंको सूँघता है । और प्राणी जो नेत्रेन्द्रियसे नील पीत आदिका साक्षात्कार करते हैं, ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मसे प्रकट हुए हैं, जो देवता द्युलोकमें स्थित हैं और भी जो देवता द्युलोकमें वर्तमान हैं वे सब उच्छिष्टसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं ।२३।

चतुर्थी ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥

ऋचः । सामानि । छन्दांसि । पुराणम् । यजुषा । सह ।

उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः २४

उच्छिष्टाज्जज्ञिर इति उत्तरोऽर्धर्चः अनुषज्यते । ऋचः पादबद्धा मन्त्राः । सामानि गीतविशिष्टा मन्त्राः । छन्दांसि गायत्र्युष्णिगादीनि चतुरुत्तराधिकानि सप्तसंख्याकानि । पुराणम् पुरातनवृत्तान्तकथनरूपम् आख्यानम् । यजुषा यजुर्मन्त्रेण सह उच्छिष्टाज्जज्ञिरे । शेषं पूर्ववत् ॥

पादबद्ध मन्त्र ऋक्, गीतात्मक मन्त्र साम, गायत्री उष्णिक् आदि चार अक्षरोंसे अधिकके सात छन्द, पुरातन वृत्तान्तका वर्णन करने वाले पुराण, यजुर्वेदके मन्त्रों सहित उच्छिष्टसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं और जो द्युलोकके आश्रयसे रहने वाले देवता हैं वे भी उच्छिष्टसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२५॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ।

उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः ।२५।

प्राणापानौ प्राणवृत्तिः अपानवृत्तिश्च । चक्षुः रूपदर्शनसाधनम् इन्द्रियम् । श्रोत्रम् शब्दग्रहणसाधनम् इन्द्रियम् । अक्षितिः क्षयाभावः । या च क्षितिः क्षयः । यद्वा अक्षितिः अक्षीयमाणा देवता । क्षितिः क्षयाभिमानिनी । एते सर्वे पदार्था उच्छिष्टाज्जज्ञिरे इति ॥

प्राणवृत्ति, और अपानवृत्ति, रूपदर्शनकी साधन नेत्रेन्द्रिय, शब्दग्रहणकी साधन कर्णेन्द्रिय, क्षयका अभाव, क्षय, द्युलोकमें स्थित देवता ये सब उच्छिष्टसे प्रादुर्भूत हुए हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२६॥

आऽनन्दाः । मोदाः । प्रऽमुदः । अभिमोदऽमुदः । च । ये ।
उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः २६

आनन्दाः विषयोपभोगजनिताः सुखविशेषाः । मोदाः विषयदर्शनजन्या हर्षाः । ॐ मुद हर्षे इत्यस्माद् भावे घञ् ॐ । प्रकृष्टा मुदः प्रमुदः प्रकृष्टविषयलाभजन्या हर्षाः । ये च अभीमोदमुदः आभिमुख्येन वर्तमानो मोदः अभिमोदः । ॐ "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः ॐ । अभिमोदेन मोदयन्ति हर्षयन्तीत्यभिमोदमुदः संनिहिताः सुखहेतवः पदार्थाः । ते सर्वे उच्छिष्टाज्जज्ञिरे इति ॥

विषयोपभोगजनित सुखरूप आनन्द, विषयदर्शनसे होनेवाला हर्ष मोद, श्रेष्ठ वस्तुके मिलनेसे होने वाला हर्ष प्रमुद, अभिमुख वर्तमान मोद होकर मोद देने वाले सुखहेतुक पदार्थ अभीमोदमुद, तथा स्वर्गमें रहने वाले सब दिविश्रित् देवता ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मसे ही प्रकट हुए हैं ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२७॥

देवाः । पितरः । मनुष्याः । गन्धर्वऽअप्सरसः । च । ये ।

उत्ऽशिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिविऽश्रितः २७

देवाः अष्टौ वसव एकादश रुद्रा इत्येवं गणशो वर्तमानाः । पितरः पितृलोकनिवासिनः पूर्वपुरुषाः । मनुष्याः मनोः सकाशाद् उत्पन्ना मनुष्यजात्याक्रान्ताः । ❀ "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" इति मनुशब्दाद् यत् प्रत्ययः षुगागमश्च । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀ । गन्धर्वाप्सरसः गन्धर्वाः विश्वावसुप्रभृतयः । अप्सरसः उर्वशीप्रभृतयः । ये च एते देवाद्या अनुक्रान्तास्ते सर्वे उच्छिष्टात् प्रक्षेदनोच्छेषणाद् उच्छिष्यमाणाद् ब्रह्मणः सकाशाद् वा जज्ञिरे उत्पन्नाः । तथा दिवि द्युलोके वर्तमाना ये च अन्ये देवाः तथा दिविश्रितः दिवम् आश्रित्य वर्तमाना देवजनाः ते सर्वे उच्छिष्टाज्जज्ञिरे इति ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

आठ वसु, ग्यारह रुद्र आदिक गणोंमें वर्तमान देव, पितृलोक-निवासी पूर्वपुरुष पितर, मनुजीसे उत्पन्न हुए मनुष्य–जातिरूप मनुष्य, विश्वावसु आदि गंधर्व, उर्वशी आदि अप्सरायें, और स्वर्गमें रहने वाले दिविश्रित् देवता ये सब उच्छिष्यमाण ब्रह्मसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं ॥ २७ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४८७) ॥

"यन्मन्युर्जायाम्" इत्यादिसूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम् । अस्य सूक्तत्रयस्य ब्रह्मयज्ञजपे विनियोगः । अनेन च सूक्तत्रयेण षाट्कौशिकस्य शरीरस्य मध्ये आत्मत्वेन प्रविष्टं ब्रह्म उपदेष्टुम् उपलब्ध्यधिकरणभूतस्य तस्य शरीरस्य तत्साधनभूतानाम् इन्द्रियाणां च देवानां प्रश्नप्रतिवचनरूपेण उत्पत्तिम् अभिधित्सुस्तदुपायभूतां सृष्टिं प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम् उपोद्घातयति "यन्मन्युः" इति ऋचेन ॥

'यन्मन्युर्जायाम्' इत्यादि तीन सूक्त एक ही प्रयोजनके कारण अर्थसूक्त कहलाते हैं। इस सूक्तत्रयका ब्रह्मयज्ञजपमें विनियोग होता है। सूक्तत्रयसे छः कोश वाले शरीरके मध्यमें आत्मत्वसे प्रविष्ट ब्रह्मका उपदेश देकर आत्माकी उपलब्धिके अधिकरणभूत उस शरीरकी और तत्साधनभूत इन्द्रियोंकी उत्पत्तिको देवताओंके प्रश्नोत्तररूपसे कहनेकी इच्छासे तदुपायभूता सृष्टिको प्रश्नप्रतिवचनोंके द्वारा "यन्मृत्युः" ऋचसे उपोद्घातित करते हैं।

तत्र प्रथमा ॥

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि ।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥

यत् । मन्युः । जायाम् । आऽअवहत् । सम्ऽकल्पस्य । गृहात् । अधि ।
के । आसन् । जन्याः । के । वराः । कः । ऊं इति । ज्येष्ठऽवरः । अभवत् ॥ १ ॥

स्वमहिमप्रतिष्ठस्य परब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाया मायाशक्तेश्च प्राणिकर्मपरिपाकजनितसंबन्धवशाज्जायमाना "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेय" [तै० आ० ८. ६] इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्या या पारमेश्वरी सिसृक्षावस्था सा लौकिकविवाहत्वेन रूप्यते। यत् यदा मन्युः मन्यते सर्वं जानातीति मन्युः निरावरणज्ञान ईश्वरः। अत एव तस्य सर्वदेवतात्मकत्वम् आम्नायते। "मन्युर्भगो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो विश्ववेदाः" [तै० ब्रा० २. ४. १. ११] इति। ❀ मन ज्ञाने इत्यस्माद् औणादिको युप्रत्ययः ❀। स जायाम् आवहत् जायतेस्यां सर्वं जगद् इति

जाया सिसृक्षावस्थापन्ना पारमेश्वरी मायाशक्तिः । ताम् आभिमुख्यं प्रापयत् । भार्यात्वेन अभ्यमन्यतेत्यर्थः । लोके हि जाया कस्यचित् श्वशुरस्य गृहाद् आनीयते । तद् दर्शयति संकल्पस्येति । "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति [तै० आ० ८. ६] श्रावमिक ईश्वरकृतः संकल्पः । तस्य गृहाद् आवासात् । तद्वशादेव हि एषा सिसृक्षावस्था समभावत इत्येवं व्यपदिश्यते । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । तदा तस्मिन् जायाया आवहने जन्याः जनसम्बन्धिनो बान्धवा वधूवरपक्षीयाः के आसन् । सृष्टेः प्राक् कस्यचिदपि अभावाद् एवं प्रश्नः । के वा वराः कन्यावरणस्य कर्तारः । को नाम तस्मिन् समये ज्येष्ठवरः प्रधानभूतो वरः उद्वाहकर्ता अभवत् ॥

(अपनी महिमामें प्रतिष्ठित परब्रह्मसे और सत्त्वरजस्तमोगुणरूपा मायाशक्तिसे प्राणियोंकी कर्मपरिपाकके कारण जायमान जो, "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय ।—उसने कामना की, कि—मैं बहुत होजाऊँ प्रजनन करूँ" इस तैत्तिरीय आरण्यक ८ । ६ आदिकी श्रुतियोंमें प्रतिपादित, पारमेश्वरी सिसृक्षावस्था रचना करनेकी इच्छाकी अवस्था—है उसका लौकिकविवाहरूपसे वर्णन किया जाता है, कि—) जब सबको जानने वाले निरावरणज्ञान ईश्वर † मन्युने जिसमें सब जगत् उत्पन्न होता है उस सिसृक्षा-

† मन्यु शब्द मन ज्ञाने धातुसे बना है "मन्यते सर्वं जानातीति मन्युः—जो सबको जानता है वह मन्यु है" । अर्थात् निरावरणज्ञान ईश्वर मन्यु शब्दका अर्थ है अत एव उसके सर्वदेवात्मकस्वका वर्णन शास्त्रोंमें किया है, कि—"मन्युर्भगो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो विश्ववेदाः ।—मन्यु ही भग है और मन्यु ही देवता था, मन्यु ही होता है और मन्यु ही विश्ववेदाः [सब को जानने वाला] है" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ४ । १ । ११)

वस्थासम्पन्न पारमेश्वरी मायाशक्ति जायाको संकल्पके घर ‡ से बिवाहा था। उस समय सृष्टिसे पहिले किसीके भी न होने पर वरपक्ष और कन्यापक्षके सम्बन्धी कौन हुए थे और कन्याको वरण करने वाले कौन २ थे और इनमें प्रधान उद्वाहकर्ता कौन था?

द्वितीया ॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ २ ॥

तपः। च। एव। आस्ताम्। कर्म। च। अन्तः। महति। अर्णवे।
ते। आसन्। जन्याः। ते। वराः। ब्रह्म। ज्येष्ठऽवरः। अभवत् २

तस्मिन् सृष्टिसमये स्रष्टुः परमेश्वरस्य तपः स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकम्। "यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः" इति श्रुतेः [मु० १. १. ९]। तस्य कर्म च प्राणिभिरनुष्ठितं पुण्यापुण्यरूपकं सुखदुःखफलोन्मुखं परिपक्वं कर्म च आस्ताम् अभवताम्। एवकारेण तदुभयव्यतिरिक्तस्य सत्ता निवार्यते। तपःकर्मणी एव सम्यगुपकरणत्वेन तस्मिन् समये अवस्थिते इत्यर्थः। श्रूयते हि। "तपसा चीयते ब्रह्म" [मु० १. १. ८]। "स तपोतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत" इति [तै० आ० ८. ६]। तपःकर्मणोः सत्ताया आधारं निर्दिशति। महति प्रभूते अर्णवे समुद्रे प्रलयकालीने अन्तः मध्ये। ❀ "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम्

‡ संसारमें जायाको किसी श्वशुरके घरसे लाया जाता है अत एव यहाँ संकल्पको श्वशुरके रूपमें दिखाया है। उस संकल्प का वर्णन "सोकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इस तैत्तिरीयारण्यक ८। ६ की श्रुतिमें है॥

आसीत्” इति हि [तै० ब्रा० १. १. ३. ५] ब्राह्मणम् । अर्णांसि उदकानि विद्यन्ते अस्मिन् इति अर्णवः । “अर्णसो लोपश्च” इति मत्वर्थीयो वकारः सलोपश्च ❀ । अनयोरेव तपःकर्मणोर्व्यवस्वन्तराभावाद् व्यक्तिबाहुल्यबहुत्वम् उपचर्य कृतस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं त आसं जन्या इति । ❀ निर्दिश्यमानप्रतिनिर्दिश्यमानयोः एकताम् आपादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गताम् उपाददत इति न्यायेन त इति प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षं पुंल्लिङ्गत्वम् ❀ । तास्तपःकर्मव्यक्तयो जन्याः विवाहप्रवृत्ता बन्धुजना आसन् । त एव वराः वरयितारश्च आसन् । यत् सिसृक्षावस्थं जगत्कारणं ब्रह्म मायाशक्तिरूपाया जायाया आवहने स एव ज्येष्ठवरः अभवत् । प्रधानभूत उद्वाहकर्ताभवद् इत्यर्थः ॥

उस सृष्टिके समय स्रष्टा परमात्माका रचने योग्यकी पर्यालोचनारूप तप था, (क्योंकि-मुण्डक उपनिषत् १ । १ । ६ की श्रुतिमें कहा है, कि-“यः सर्वज्ञः स सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः । जो ब्रह्म सर्वज्ञ है वह सर्ववित् है उसका तप ज्ञानमय तप है”) और दूसरा उसका प्राणियोंसे अनुष्ठित पुण्यापुण्यरूप-सुखदुःखफल देनेको उन्मुख परिपक्व कर्म था ये दो ही थे तीसरा कोई नहीं था अर्थात् तप और कर्म ही उस समय उपकरणरूप में थे । (श्रुतिमें भी कहा है, कि-“तपसा चीयते ब्रह्म” मुण्डक १ । १ । ८ “स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत, उसने तप किया और तप करके इस सबकी रचना की ' अब तप और कर्मकी सत्ताके आधारको दिखाते हैं, कि-) ये दोनों प्रलयकालीन महासमुद्रके भीतर थे (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३ । ५ में भी कहा है, कि-“आपो वा इदं अग्रे सलिलं आसीत् । यह जगत् पहिले जल ही था”) ये तप और कर्म ही वरपक्ष और कन्यापक्षके विवाहमें लगे हुए बन्धु थे और ये ही वरयिता

(वराती) थे और जो सिसृक्षावस्थ जगत् कारण ब्रह्म है वह मायाशक्तिरूपा जायाको लाने वाला ज्येष्ठवर-उद्वाहकर्ता था २

तृतीया ॥

दशं साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।

यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ३

दश । साकम् । अजायन्त । देवाः । देवेभ्यः । पुरा ।

यः । वै । तान् । विद्यात् । प्रतिऽअक्षम् । सः । वै । अद्य ।

महत् । वदेत् ॥ ३ ॥

यद् ब्रह्म सशक्तिकम् अभवद् इत्युक्तं तस्मात् सकाशाद् देवेभ्यः अधिष्ठातृभ्यः अग्न्यादिभ्यः पुरा तेषां उत्पत्तेः प्रागेव दशसंख्याका देवाः दीव्यन्ति स्वस्वविषयं प्रकाशयन्तीति देवा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि। यद्वा सप्त शीर्षण्याः प्राणा द्वौ अवाञ्चौ मुख्यः प्राण एक इति दश। अथ वा "प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रम्" इत्युत्तरत्र वक्ष्यमाणाः दशसंख्याका देवाः साकम् सह अजायन्त। श्रूयते हि।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। इति [मु० २. १. ३] यो वै यः खलु उपासकः तान् देवान् प्रत्यक्षं विद्यात् अपरोक्षं जानीयात् स खलु विद्वान् अद्य इदानीं महत् देशकाल-कृतपरिच्छेदरहितं सर्वगतं ब्रह्म वदेत् उपदिशेत् ॥

(जिस ब्रह्मके सशक्तिक होनेका वर्णन पहिले किया है उस सशक्तिक ब्रह्मसे) अग्नि आदि अधिष्ठात्री देवताओंकी उत्पत्ति के पहिले अपने २ विषयको प्रकाशित करने वाले ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप दश देवता प्रादुर्भूत हुए। वा दो कान दो नथुने दो नेत्र और एक मुख ये सात शिरके और एक मुख्य

प्राण तथा दो गौण प्राण इस प्रकार दश देवता प्रकट हुए हैं अथवा अगले मन्त्रमें प्रतिपादित प्राण आदि दश देवता प्रकट हुए हैं (मुण्डक उपनिषत् २ । १ । ३ में कहा है, कि-"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" ।) जिस उपासकने इन देवताओंको अपरोक्षरूपसे जान लिया हो वही विद्वान् पुरुष देश काल आदिके परिच्छेदसे रहित अत एव महत्-सर्वगत-ब्रह्मका उपदेश दे सकता है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ।
व्यानऽउदानौ । वाक् । मनः । ते । वै । आऽकूतिम् । आ । अवहन् ॥

इदम्तु जगन्मध्ये अवस्थितस्य क्रियाशक्त्यात्मकस्य मुख्यप्राणस्य प्राणापानाख्ये वृत्ती । चक्षुः दर्शनसाधनम् इन्द्रियम् । श्रोत्रम् शब्दग्रहणसाधनम् इन्द्रियम् । अक्षितिः अक्षीयमाणा ज्ञानशक्तिः । क्षितिः क्षीयमाणा निवासहेतुभूता वा क्रियाशक्तिः । ज्ञानशक्तिर्हि आत्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वाद् न कदाचित् क्षीयते । क्रियाशक्तिस्तु अपवर्गसमये लिङ्गशरीरेण सह निवर्तत इति क्षितिशब्दाभिधेया । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । या एवंविधा द्विविधा शक्तिः । अस्तीत्यर्थः । व्यानोदानौ अजस्रं सर्वासु नाडीषु विविधम् अनिति प्रेरयतीति व्यानः । उत् ऊर्ध्वम् अनिति उद्गाराद्विव्यापारं करोतीति उदानः । एते प्राणस्य द्वे वृत्ती । वाक् वदनसाधनम् इन्द्रियम् । मनः सर्वेन्द्रियानुग्राहकं सुखादिज्ञानसाधनम् अन्तःकरणम् । त एते प्राणापानादयो दश देवाः आकूतिम् पुरुषकृतं सं-

रूपम् आवहन् आभिमुख्येन प्रापयन्ति । पुरुषस्य अभिमतम् अर्थं निष्पादयन्तीत्यर्थः ॥

हृदयकमलके मध्यमें स्थित क्रियाशक्तिरूप मुख्यप्राणकी प्राण और अपान नामक दो वृत्तियें, दर्शनसाधन नेत्रेंद्रिय, शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रेंद्रिय, क्षीण न होनेवाली ज्ञानशक्ति अक्षिति, क्षीण होने वाली वा निवासकी हेतुभूत क्षिति†, अन्नरसको सब नाड़ियोंमें अनेक प्रकारसे प्रेरित करने वाली व्यानवृत्ति, ऊपर को उद्गार (डकार) आदि व्यापारको करनेवाली उदान वृत्ति, बोलनेकी साधन वाणी, सब इन्द्रियों पर अनुग्रह करने वाला, सुखादि ज्ञानका साधन अन्तःकरण, ये प्राण अपान आदि दश देवता पुरुषके किये हुए संकल्पको अभिमुख करके प्राप्त कराते हैं अर्थात् पुरुषके अभिमत अर्थको निष्पन्न कराते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अजाता आसन्नृतवोथो धाता बृहस्पतिः ।

इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥

अजाताः । आसन् । ऋतवः । अथो इति । धाता । बृहस्पतिः ।

इन्द्राग्नी इति । अश्विना । तर्हि । कम् । ते । ज्येष्ठम् । उप । आसत५

ऋतवः वसन्ताद्याः कालविशेषास्तस्मिन् सृष्टिसमये अजाता आसन् अनुत्पन्ना अभवन् । अथो अपि च धाता एतत्संज्ञकः

† ज्ञानशक्ति आत्मस्वरूपसे नित्य रहनेके कारण कभी क्षीण नहीं होती अत एव उसको अक्षिति कहा है । और क्रियाशक्ति अपवर्ग (मोक्ष) के समय लिङ्गशरीरके साथ निवृत्त होजाती है अत एव उसको क्षिति कहा है ।

अदितेः पुत्रः । बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः सुरगुरुः । इन्द्राग्नी । अश्विना अश्विनौ एतत्संज्ञौ देवौ । एते षड् देवा ऋतूनाम् अधिपतयः । तेपि । तस्मिन् समये अजाता अभवन् । एवं तर्हि तस्मिन् काले ते धात्रादयः स्वोत्पत्त्यर्थं ज्येष्ठम् वृद्धतमं कारणभूतं कं जनयितारम् उपासते अभ्यर्थयन्ते । अस्य प्रश्नस्य उत्तरम् अनन्तरभाविनी ऋक् ॥

उस सृष्टिके समय कालविशेष वसन्त आदि ऋतु उत्पन्न नहीं हुईं थीं, धाता नामक अदितिके पुत्र, बड़े २ देवताओंके पति सुरगुरु बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमार ये वसन्त आदि ऋतुओंके अधिपति देवता भी उत्पन्न नहीं हुए थे, इस दशामें इन धाता आदिने अपनी उत्पत्तिके लिये ज्येष्ठ कारणभूत किस उत्पादककी अभ्यर्थना की थी ? (इसका उत्तर अगली ऋचामें दिया जावेगा) ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

तप॑श्चैवास्तां॒ कर्म॑ चा॒न्तर्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे ।

तपो॑ ह ज॒ज्ञे कर्म॑ण॒स्तत् ते ज्ये॒ष्ठमुपा॑सत ॥ ६ ॥

तपः । च । एव । आस्ताम् । कर्म । च । अन्तः । महति । अर्णवे ।

तपः । ह । जज्ञे । कर्मणः । तत् । ते । ज्येष्ठम् । उप । आसत ६

पूर्वार्धर्चो व्याख्यातः । तत्र जगत्स्रष्टुरीश्वरस्य स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकं तपः कर्मणः कल्पान्तरे प्राणिभिरनुष्ठितात् पुण्यापुण्यात्मकात् परिपक्वात् कर्मणः सकाशात् जज्ञे । स्वमहिमप्रतिष्ठस्य असङ्गोदासीनस्य सृष्ट्युन्मुखत्वं प्राणिकर्मपरिपाककृतम् इति तदीयस्य तपसोपि कर्मैव कारणम् इत्यर्थः । अतस्ते धात्रादयो ज्येष्ठम् वृद्धतमं सृष्टेः कारणभूतं परिपक्वं स्वकृतं तत् कर्म

उपासते स्वोत्पादनाय प्रार्थयन्ते । देवमनुष्यादिरूपस्य सर्वस्य जगतः कर्मैव मूलकारणम् इत्यर्थः ॥

ज्ञानमय तप और प्राणियोंका फलोन्मुख कर्म ही महासमुद्रके भीतर उपकरणरूपमें थे। इनमें भी जगत्स्रष्टा ईश्वरका रचने योग्यकी पर्यालोचनारूप तप, पूर्वकल्पमें प्राणियोंके अनुष्ठित पुण्य और अपुण्यरूप परिपक्वकर्मसे ही उत्पन्न हुआ था, तात्पर्य यह है, कि--अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित रहने वाले असङ्ग उदासीन ईश्वरके सृष्टिके उन्मुख होनेमें भी प्राणियोंके कर्मका परिपाक ही कारण है अर्थात् उसके तपका भी कर्म ही कारण है। अतः वे धाता आदि इद्धतम सृष्टिके कारणभूत अपने किये हुए परिपक्व कर्मकी ही स्वोत्पादनके लिये प्रार्थना करते हैं। तात्पर्य यह है, कि-देव मनुष्य आदि सब जगत्का कर्म ही मूलकारण है ६

सप्तमी ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥

या । इतः । आसीत् । भूमिः । पूर्वा । याम् । अद्धातयः । इत् । विदुः ।

यः । वै । ताम् । विद्यात् । नामऽथा । सः । मन्येत । पुराणऽवित्

इतः अस्याः पुरोवर्तिन्या भूमेः पूर्वा पूर्वभाविनी अतीतकल्पस्था या भूमिः आसीत् अभवत् । यां पूर्वां भूमिम् अद्धातयः अद्धा सत्यतत्त्वम् अतन्ति व्याप्नुवन्ति इति अद्धातयः तपःप्रभावसमासादितसार्वज्ञ्याः अतीतानागतज्ञा महर्षयः । इच्छब्दः अवधारणे । त एव विदुः जानन्ति । नान्ये । ताम् अतीतकल्पस्थां भूमिं यो

वै यः खलु नामथा नामप्रकारेण तस्यां यद्यद् वस्त्वस्ति तत् सर्वं नामग्राहं विद्यात् जानीयात्। ॐ नामशब्दात् छान्दसस्थाल् प्रत्ययः ॐ। पुराणवित् पुरातनस्य अर्थस्य वेदिता स विद्वान् मन्येत इदानींतनीमपि सर्वां भूमिं मन्येत जानीयात् ज्ञातुं शक्नोतीत्यर्थः॥

इस सामने वर्तमान भूमिसे पहिले जो बीते हुए कल्पकी भूमि थी उसको तपके प्रभावसे सर्वज्ञताको पाने वाले महर्षि ही जानते हैं, दूसरे नहीं जानते हैं। उस अतीत कल्पकी भूमिको जो उसमें इस २ नामकी वस्तु थी, इस रूपमें जान जाय वह पुरातन अर्थका वेत्ता विद्वान् पुरुष आज कलकी भूमिको भी इसी रूपमें जान सकता है॥ ७॥

अष्टमी॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत॥ ८॥

कुतः। इन्द्रः। कुतः। सोमः। कुतः। अग्निः। अजायत।
कुतः। त्वष्टा। सम्। अभवत्। कुतः। धाता। अजायत॥८॥

धात्रादयो देवा अजाता आसन्निति उक्तम् तेषाम् उत्पत्तिकारणम् अनया पृच्छ्यते। कुतः कस्मात् कारणाद् इन्द्रः अजायत उदपद्यत। एवम् उत्तरमपि योजना। एषां प्रश्नानां प्रतिवचनम् उत्तरया ऋचा क्रियते॥

(उस समय धाता आदि देवता उत्पन्न नहीं हुए थे, यह बात पहिले ही कह दी है अब ऋचासे उनकी उत्पत्तिके कारणको बूझते हैं और अगली ऋचासे इसका उत्तर दिया जावेगा) इन्द्र किस कारणसे उत्पन्न हुआ है, सोम कौनसे कारणसे प्रकट हुआ है

और अग्नि कौनसे कारणसे प्रकट हुआ है, त्वष्टा किस कारण से प्रकट हुआ है और धाता किस कारणसे प्रादुर्भूत हुआ है ८

नवमी ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

इन्द्रात् । इन्द्रः । सोमात् । सोमः । अग्नेः । अग्निः । अजायत ।
त्वष्टा । ह । जज्ञे । त्वष्टुः । धातुः । धाता । अजायत ॥ ९ ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे यादृश इन्द्रस्तस्माद् इन्द्राद् इदानींतन इन्द्रो जज्ञे । तत्समानरूपो जात इत्यर्थः । एवं सोमात् सोम इत्यादिषु योजना । पूर्वपूर्वसृष्ट्यनुसारेणैव इदानींतना अपि इन्द्रादयो देवाः सृष्टा इत्यर्थः । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्" इति श्रुतेः [ऋ० सं० १०. १९०. ३] । यद्वा इन्द्रात् इन्द्रत्वमापकात् कर्मणः इन्द्रो जज्ञे । इन्द्रशब्दः स्वकारणभूते कर्मणि उपचर्यते । इत्थं सोमात् सोम इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । "तपो ह जज्ञे कर्मण- स्तत् ते ज्येष्ठम् उपासते" [६] इति हि कर्मणः सर्वजगत्कार- णत्वम् उक्तम् । ❀ अस्मिन् पक्षे इन्द्राद् इन्द्र इति "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति पञ्चमी ❀ । अथ वा अधिभूतम् अवस्थिता ये इन्द्रादयः तेभ्यः सकाशाद् अध्यात्मम् अवस्थितानाम् अधिष्ठातृ- देवानाम् उत्पत्तिः कथ्यत इति बोद्धव्यम् ॥

पहिले कल्पमें जैसे रूप वाला इन्द्र था उससे उसकी ही समान रूप वाला आज कलका इन्द्र प्रकट हुआ है पहिले कल्पमें जैसे रूप वाला सोम था उससे उसकी ही समान आज कलका सोम प्रकट हुआ है, इसी प्रकार पूर्व कल्पके अग्नि त्वष्टा और धातासे उनकी ही समान रूप वाले अग्नि त्वष्टा और धाता देवता प्रकट

वै यः खलु नामथा नामप्रकारेण तस्यां यद्यद् वस्त्वस्ति तत् सर्वं नामग्राहं विद्यात् जानीयात् । ❀ नामशब्दात् छान्दसस्थाल् प्रत्ययः ❀ । पुराणवित् पुरातनस्य अर्थस्य वेदिता स विद्वान् मन्येत इदानींतनीमपि सर्वां भूमिं मन्येत जानीयात् ज्ञातुं शक्नोतीत्यर्थः ॥

इस सामने वर्तमान भूमिसे पहिले जो बीते हुए कल्पकी भूमि थी उसको तपके प्रभावसे सर्वज्ञताको पाने वाले महर्षि ही जानते हैं, दूसरे नहीं जानते हैं । उस अतीत कल्पकी भूमिको जो उसमें इस २ नामकी वस्तु थी, इस रूपमें जान जाय वह पुरातन अर्थका वेत्ता विद्वान् पुरुष आज कलकी भूमिको भी इसी रूपमें जान सकता है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥ ८ ॥

कुतः । इन्द्रः । कुतः । सोमः । कुतः । अग्निः । अजायत ।
कुतः । त्वष्टा । सम् । अभवत् । कुतः । धाता । अजायत ॥ ८ ॥

धात्रादयो देवा अजाता आसन्निति उक्तम् तेषाम् उत्पत्तिकारणम् अनया पृच्छ्यते । कुतः कस्मात् कारणाद् इन्द्रः अजायत उदपद्यत । एवम् उत्तरत्रापि योजना । एषां प्रश्नानां प्रतिवचनम् उत्तरया ऋचा क्रियते ॥

(उस समय धाता आदि देवता उत्पन्न नहीं हुए थे, यह बात पहिले ही कह दी है अब ऋचासे उनकी उत्पत्तिके कारणको बूझते हैं और अगली ऋचासे इसका उत्तर दिया जावेगा) इन्द्र किस कारणसे उत्पन्न हुआ है, सोम कौनसे कारणसे प्रकट हुआ है

और अग्नि कौनसे कारणसे प्रकट हुआ है, त्वष्टा किस कारण से प्रकट हुआ है और धाता किस कारणसे प्रादुर्भूत हुआ है ८

नवमी ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

इन्द्रात् । इन्द्रः । सोमात् । सोमः । अग्नेः । अग्निः । अजायत ।
त्वष्टा । ह । जज्ञे । त्वष्टुः । धातुः । धाता । अजायत ॥ ९ ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे यादृग्रूप इन्द्रस्तस्माद् इन्द्राद् इदानींतन इन्द्रो जज्ञे । तत्समानरूपो जात इत्यर्थः । एवं सोमात् सोम इत्यादिषु योजना । पूर्वपूर्वसृष्ट्यनुसारेणैव इदानींतना अपि इन्द्रादयो देवाः सृष्टा इत्यर्थः । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्" इति श्रुतेः [ऋ० सं० १०. १९०. ३] । यद्वा इन्द्रात् इन्द्रत्वप्रापकात् कर्मणः इन्द्रो जज्ञे । इन्द्रशब्दः स्वकारणभूते कर्मणि उपचर्यते । इत्थं सोमात् सोम इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । "तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठम् उपासते" [६] इति हि कर्मणः सर्वजगत्कारणत्वम् उक्तम् । ❀ अस्मिन् पक्षे इन्द्राद् इन्द्र इति "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति पञ्चमी ❀ । अथ वा अधिभूतम् अवस्थिता ये इन्द्रादयः तेभ्यः सकाशाद् अध्यात्मम् अवस्थितानाम् अधिष्ठातृदेवानाम् उत्पत्तिः कथ्यत इति बोद्धव्यम् ॥

पहिले कल्पमें जैसे रूप वाला इन्द्र था उससे उसकी ही समान रूप वाला आज कलका इन्द्र प्रकट हुआ है पहिले कल्पमें जैसे रूप वाला सोम था उससे उसकी ही समान आज कलका सोम प्रकट हुआ है, इसी प्रकार पूर्व कल्पके अग्नि त्वष्टा और धातासे उनकी ही समान रूप वाले अग्नि त्वष्टा और धाता देवता प्रकट

हुए हैं, तात्पर्य यह है, कि-पहिली सृष्टिके अनुसार ही आज कलके इन्द्र आदि रचे गए हैं। इसी बातको ऋग्वेदसंहिता १०। १९०। ३ में कहा है, कि-"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।-धाताने पूर्वकल्पके अनुसार सूर्य और चन्द्रमाकी सृष्टिकी"॥ अथवा इन्द्रत्वमापक कर्मसे इन्द्र प्रकट हुआ यह अर्थ करना चाहिये, इस पक्षमें इन्द्र शब्दका स्वकारणभूत कर्ममें उपचार होता है, यही बात सोम आदिके लिये भी लगानी चाहिये। छठी ऋचामें कर्मका सर्वजगत्कारणत्व कहा ही जा चुका है, कि—"तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासते"। अथवा यह समझना चाहिये, कि-अधिभूतरूपमें जो देवता अवस्थित थे उनसे अध्यात्मरूपमें अवस्थित अधिष्ठात्री देवताओंका यहाँ वर्णन है ॥ ९ ॥

दशमी ॥

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥

ये । ते । आसन् । दश । जाताः । देवाः । देवेभ्यः । पुरा ।
पुत्रेभ्यः । लोकम् । दत्त्वा । कस्मिन् । ते । लोके । आसते १०

देवेभ्यः अधिष्ठातृभ्यः अग्न्यादिदेवताभ्यः पुरा पूर्वं ये ते देवाः प्रागुक्ताः प्राणापानाद्या दशसंख्याका जाता आसन् ते पुत्रेभ्यः आत्मजेभ्यो लोकम् स्वकीयं स्थानं दत्त्वा कस्मिन् लोके स्थाने आसते उपविशन्ति। यथा लौकिका जनाः पुत्रान् उत्पाद्य तेषां स्वकीयं स्थानं दत्त्वा स्थानान्तरं स्वनिवासार्थम् आश्रयन्ति एवम् एषां स्रष्टानाम् इन्द्रियाणां तदधिष्ठातॄणां च देवानां निवासाश्रयः क इति प्रश्नार्थः। अस्य प्रश्नस्य "देवाः पुरुषम् आविशन्" [१३] इति प्रतिवचनम् अग्रे भविष्यति ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जिन अग्नि आदि अधिष्ठात्री देवताओंसे, पूर्वोक्त प्राण अपान आदि दश देवता प्रकट हुए हैं, वे अपने आत्मजोंको अपना स्थान देकर किस लोकमें रहते हैं (तात्पर्य यह है, कि–जैसे लौकिक पुरुष पुत्रोंको उत्पन्न करके उनको अपना स्थान दे अपने निवास के लिये दूसरे स्थान पर चले जाते हैं, इस प्रकार इन रचे हुए इन्द्रिय-देवताओंका और उनके अधिष्ठात्री देवताओंका भी निवासस्थान कौनसा है ? इसका उत्तर १३ वीं ऋचामें दिया जावेगा) ॥ १० ॥ (२२)

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

पञ्चमसूक्ते प्रथमा ॥

यदा केशानस्थि स्नावं मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

यदा । केशान । अस्थि । स्नाव । मांसम् । मज्जानम् । आऽअभरत् ।
शरीरम् । कृत्वा । पादऽवत् । कम् । लोकम् । अनु । प्र । अविशत् ॥

यदा यस्मिन् सृष्टिकाले केशान् शिरोरुहान् अस्थिस्नावादिधातून् शरीरोपादानभूतान् स्रष्टा समभरत् एकत्र संभृतवान् । तत्र अस्थि प्रसिद्धम् स्नाव अस्थ्नां संधिबन्धनार्थं सिराजातम् मांसम् प्रसिद्धम् मज्जा अस्थ्यन्तर्गतो रसः । तैः संभृतैः पादवत् । उपलक्षणम् एतत् । हस्तपादाद्यङ्गोपाङ्गसहितं शरीरं कृत्वा निर्माय । तदानीं कम् कन्यं लोकं स्थानम् अनु प्राविशत् । तदेव शरीरम् आत्मभावेन प्राविशद् इत्यर्थः । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [तै० आ० ८. ६] "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" [छा० उ० ६. ३. २] इत्यादिश्रुतेः ॥

जब स्रष्टाने सृष्टिके समय बाल, हड्डी, नसें, मांस मज्जाको एकत्रित किया तो उनसे हाथ पैर आदि अंगोपांगसहित शरीर को रच कर किस अन्य स्थानमें उसने प्रवेश किया था—तात्पर्य यह है, कि--उसी शरीरमें आत्मभावसे प्रवेश किया यह था। इस विषयमें "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।—उस शरीरको रच कर वह उसमें ही प्रवेश कर गया" (तैत्तिरीय आरण्यक ८।६) और "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।—इस जीवरूपसे प्रवेश करके मैं नाम और रूपोंको प्रकट करता हूं" (छान्दोग्योपनिषत् ६।३।२)॥ ११॥

द्वितीया ॥

कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् १२

कुतः। केशान्। कुतः। स्नाव। कुतः। अस्थीनि। आ। अभरत्।
अङ्गा। पर्वाणि। मज्जानम्। कः। मांसम्। कुतः। आ। अभरत्

केशादीन् संभृत्य ईश्वरः शरीरं स्रष्टवान् इत्युक्तम्। अत्र केशाद्युपादानत्वं स्रष्टृत्वं च वस्त्वन्तरविरहात् स्वात्मन एवेति काक्वा प्रतिपाद्यते। स्रष्टा ईश्वरः कुतः कस्माद् उपादानकारणात् केशान् सम्" अभरत्। किं तदुपादानकारणम्। न किंचिद् अस्ति। "सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" [छा० उ० ६. २, १] इति अद्वितीयत्वश्रुतेर्वस्त्वन्तरस्याभावात् स्वात्मन एव केशादीन् समभरद् इत्यर्थः। तथा च अभिन्ननिमित्तोपादानत्वम् ईश्वरस्य श्रूयते। "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" [तै० आ० ८, ६] तत्र कामयितृत्वात् कुलालादिवन्निमित्तत्वम्। प्रजायेयेति उत्तमपुरुषश्रुत्या स्वस्यैव बहुभावावस्थाप्रतिपादनाद् उपादानत्वम्।

आह च भगवान् बादरायणः। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" [ब्रा० १. ४. २३] इति। तथा कुतः कस्माद् उपादानकारणात् स्नाव उत्पन्नम्। न कस्माच्चित्। किं तु स्वस्मादेव। एवम् उत्तरत्रापि योज्यम्। अङ्गा अङ्गानि हस्तपादादीनि पर्वाणि तत्संधीन् मज्जानम् अस्थ्यन्तर्गतं रसम्। कर्मकर्तृभावस्य एकत्र विरोधात् केशाद्युपादानभूताद् अन्य एव कश्चित् संभर्ता स्याद् इत्याशङ्क्य तदनन्यत्वमपि प्रतिपादयति क इति। कः अन्यः एतान् आभरत्। न कश्चिद् अस्ति। उपादानभावेन स्थित एव ईश्वरः केशादीनाम् आहर्तापि अभवद् इत्यर्थः। विचित्रशक्तियोगित्वेन एकस्यैव कर्तृत्वं कर्मत्वं च न व्याहन्यत इत्यर्थः। यद्वा कुतः केशान् इत्यादिषु सर्वत्र कारणप्रश्नमात्रं क्रियते। को मांसम् इति कर्तृप्रश्नमात्रम्। तस्य सर्वस्य प्रतिवचनम् उत्तरया क्रियते॥

(ईश्वरने केश आदि सामग्रीको एकत्रित कर सृष्टि की, यह बात पहिले कह दी है। अब यह कहते हैं, कि केश आदि उपादानत्व और स्रष्टत्व और किसी वस्तुके न होनेसे स्वात्मासे ही प्रकट हुए हैं) स्रष्टा ईश्वरने किस उपादानकारणसे केशोंको एकत्रित किया था? अर्थात् वह उपादान कारण कौनसा है? कोई उपादानकारण नहीं है "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इस छान्दोग्योपनिषत् ६। २। १ के अनुसार अद्वितीयत्व श्रुति होनेसे दूसरी वस्तु न होनेसे उसने अपनेसे ही केशोंको एकत्रित किया। तथैव ईश्वरका अभिन्न-निमित्तोपादानत्व भी श्रुतिमें कहा है, कि-"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।-उसने कामना की कि—मैं बहुत होकर प्रकट होऊँ" (तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६) यहाँ कामयिता होनेसे कुलाल आदिकी समान निमित्तकारणत्व है और "प्रजायेय" इस उत्तमपुरुषसे अपनेको ही बहुभावावस्थानप्रतिपादनके कारण उपादानकारणत्व है।

इसी बातको भगवान् वेदव्यासजीने वेदान्तसूत्र १ । ४ । २३ में कहा है, कि—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" ॥ स्नाव कहाँसे उत्पन्न हुआ ? कहींसे नहीं अपनेसे ही उत्पन्न हुआ और उसने अस्थियोंको कहाँसे उत्पन्न किया कहीं से नहीं अपनेसे ही, उसने हाथ पैर आदि अंगोंको, उनके जोड़ों को, अस्थियोंके भीतर रहने वाले रस मज्जाको और मांसको कहाँसे एकत्रित किया, कहींसे नहीं अपनेमेंसे ही एकत्रित किया इनको और कौन एकत्रित कर सकता है । (कर्मकर्तृभावके एकत्र होनेमें विरोध स्पष्ट है अत एव उपादान केश आदिसे संभर्ता और ही होना चाहिये ऐसी आशंकाको हटानेके लिये कहा है, कि—और कौन एकत्रित कर सकता है—संभर्ता होसकता है ? उपादानभावसे स्थित ही ईश्वर केशादि आदिका आहर्ता भी हुआ था, विचित्रशक्तिके कारण एकका ही कर्तृत्व और कर्मत्व व्याहत नहीं होसकता ॥ अथवा—"कुतः केशान्" इत्यादिमें सर्वत्र कारणप्रश्न ही किया है और "को मांसम्" में ही कर्तृप्रश्न है । इन सबका उत्तर अगली ऋचामें दिया जावेगा) ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

सम्ऽसिचः । नाम । ते । देवाः । ये । सम्ऽभारान् । सम्ऽअभरन् ।
सर्वम् । सम्ऽसिच्य । मर्त्यम् । देवाः । पुरुषम् । आ । अविशन् १३

ये देवाः प्रागुक्ता ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियात्मकाः साधिष्ठातृकाः प्राणापानाद्या वा संभारान् संध्रियन्त इति संभाराः प्राग् उदीरिताः केशाद्याः तान् समभरन् एकत्र संभृतवन्तः ते देवाः

संसिचो नाम । संसिञ्चन्ति । सम् इति एकीभावे । तान् संभारान् एकीकृत्य बन्धकेन रसेन आबध्नन्तीति संसिचः संसेचनसमर्थाः । संधायका इत्यर्थः । ते मर्त्यम् मरणधर्माणम् सर्वं शरीरं संसिच्य असृजा आर्द्रीकृत्य पुरुषम् पुरुषाकृतिं कृत्वा तम् आविशन् प्रविष्टवन्तः । यावत् शरीरे प्राणा निवसन्ति तावन्तं कालं प्राणाधिष्ठितं शरीरं सर्वव्यवहारक्षमं भवति । तस्मात् प्राणदेवाः पृथिव्यादिपञ्चभूतमात्राभ्यः समुद्भूतं प्रागुदीरितकेशास्थ्यादिधातुमयं पुरुषशरीरं प्रविश्य वर्त्तन्त इत्यर्थः ॥

जो ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय वा प्राणापान आदि साधिष्ठातृक देवता हैं वे संभारोंको एकत्रित करते हैं और उनका नाम संभारों को एकत्रित करके बंधक रससे एकत्रित करके संसिञ्चन करने वाले, संसिच् हैं । वे मरणधर्मी पूर्ण शरीरको रक्तसे गीला करके उसकी पुरुषाकृति बना उसमें प्रवेश कर गए । तात्पर्य यह है, कि-शरीरमें जब तक प्राण रहते हैं तब तक प्राणाधिष्ठित शरीर व्यवहार करनेमें समर्थ रहता है । इस लिये प्राणदेव पृथिवी आदि पञ्च भूतमात्राओंसे समुद्भूत पूर्वोक्त केश अस्थि आदि धातुमय पुरुषशरीरमें प्रवेश करके रहते हैं ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् ।
पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥ १४ ॥

ऊरू इति । पादौ । अष्ठीवन्तौ । शिरः । हस्तौ । अथो इति । मुखम् । पृष्टीः । बर्जह्ये३ इति । पार्श्वे इति । कः । तत् । सम् । अदधात् । ऋषिः ॥ १४ ॥

ऊरू जान्वोरुपरि वर्तमानौ । पादौ तयोरधस्ताद्भागौ । अष्ठी-

वन्तौ ऊरुपादयोर्मध्यस्थे जानुनी । शिरः मूर्धानम् । हस्तौ बाहू । अथो अपि च मुखम् आस्यम् । पृष्टीः पृष्ठवंशस्य अभितो वर्तमानाः पर्शूः । वर्जह्ये एतत्संज्ञौ अवयवौ । उभे पार्श्वे । तत् अनुक्रान्तं सर्वम् अङ्गजातं क ऋषिः संधानोपायज्ञानवान् समदधात् परस्परं संहितं संश्लिष्टं कृतवान् । अस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनम् उत्तरया क्रियते ॥

घुटनोंके ऊपर वर्तमान भाग ऊरू, उनके नीचेके भाग पाद, ऊरू और पादके मध्यस्थ भाग अष्ठीवान् (घुटने), शिर, हाथ, मुख, पसलियें वर्जह्य, और पृष्टि इन सब अंगोंको संधानके उपायको जानने वाले किस ऋषिने परस्पर संश्लिष्ट किया है (इसका उत्तर अगली ऋचामें दिया जावेगा) ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

शिरो॒ हस्ता॒वथो॒ मुखं॒ जि॒ह्वां ग्री॒वाश्च॒ कीक॑साः ।
त्व॒चा प्रा॒वृत्य॒ सर्वं॒ तत् सं॒धा सम॑दधा॒न्मही॒ ॥ १५ ॥

शिरः॑ । हस्तौ॑ । अथो॒ इति॑ । मुख॑म् । जि॒ह्वाम् । ग्री॒वाः । च । कीक॑साः ।
त्व॒चा । प्र॒ऽआ॒वृत्य॑ । सर्व॑म् । तत् । स॒म्ऽधा । सम् । अ॒द॒धा॒त् । म॒ही ॥ १५ ॥

शिरः मूर्धानम् । हस्तौ बाहू । अथो अपि च मुखम् आस्यम् । जिह्वाम् तन्मध्ये वर्तमानां रसनाम् । ग्रीवाः कन्धराः । कीकसाः कीकसान् अस्थीनि । उपलक्षणम् एतत् । एतदुपलक्षितानि प्रागुदीरितानि अस्थिस्नावादीनि ऊरुपादादीनि च सर्वाणि अङ्गानि त्वचा चर्मणा प्रावृत्य प्राहृतानि आच्छन्नानि कृत्वा सर्वं तत्

अङ्गजातं महो । ❀ वर्णोपजनश्छान्दसः ❀ । महती संधा संधानकर्त्री देवता समदधात् संहितं परस्परसंश्लिष्टं स्वस्वव्यापारक्षमं कृतवती । ❀ संधेति । "आतश्चोपसर्गे" इति संपूर्वाद् दधातेः कर्तरि कप्रत्ययः ❀ ॥

मस्तक भुजा मुख जिह्वा ग्रीवा अस्थिएँ इन सबको चर्मसे ढक कर महती सन्धानक्षम देवताने अपना २ व्यापार करनेमें समर्थ किया ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत् ।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥ १६ ॥

यत् । तत् । शरीरम् । अशयत् । सम्ऽधया । सम्ऽहितम् । महत् । येन । इदम् । अद्य । रोचते । कः । अस्मिन् । वर्णम् । आ । अभरत् ॥ १६ ॥

तत् उक्तप्रकारं यत् शरीरं संधया संधाख्या देवतया संहितं कृतावयवसंधानं महत् महाङ्गम् अशयत् शेते । वर्तत इत्यर्थः । इदं शरीरम् अद्य इदानीं येन वर्णेन कृष्णगौरादिरूपेण रोचते दीप्यते अस्मिन् शरीरे को नाम देवः तं वर्णम् आभरत् आहरत् संपादितवान् । अस्य प्रतिवचनम् उत्तरया क्रियते ॥

इस प्रकार संधात्री देवताके द्वारा जिसके अवयव जोड़े गए हैं ऐसा जो महाशरीर वर्तमान है वह शरीर आज कल जिस कृष्ण गौर वर्णसे दमक रहा है इस शरीरमें किस देवताने वर्णको स्थापित किया है (इसका उत्तर अगली ऋचामें दिया जावेगा) १६

सप्तमी ॥

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती ।

ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत् ॥१७॥

सर्वे । देवाः । उप । अशिक्षन् । तत् । अजानात् । वधूः । सती ।

ईशा । वशस्य । या । जाया । सा । अस्मिन् । वर्णम् । आ ।

अभरत् ॥ १७ ॥

सर्वे इन्द्रादयो देवाः उपाशिक्षन् समीपे शक्ता भवितुम् ऐच्छन् । वधूः सती परमेश्वरेण कृतोद्वाहा भगवती आद्या परचिद्रूपिणी शक्तिः तत् देवैः कृतम् अजानात् ज्ञातवती । 'या एषा विश्वस्य सर्वस्य जगतः ईशा ईशाना नियन्त्री मायाशक्तिः । "यन्मन्युर्जायाम् आवहत्" [१] इति ह्युक्तम् । सा पारमेश्वरी शक्तिः अस्मिन् षाट्कौशिके शरीरे गौरपीतनीलादिवर्णम् आभरत् आहरत् । उदपादयत् इत्यर्थः ॥

इन्द्र आदि सब देवता इस शरीरके पास रहना चाहते थे अत एव (प्रथममन्त्रमें वर्णित) वधू बनती हुई भगवती आद्या परचिद्रूपिणी शक्तिने देवताओंकी इस इच्छाको जाना, यह परमात्मा की वधूरूपिणी शक्ति सकल जगत्की ईश्वरी है इसीने इस छः कोश वाले शरीरमें गौर पीत नील आदि वर्णोंको उत्पन्न किया है ॥

अष्टमी ॥

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

यदा । त्वष्टा । विऽअतृणत् । पिता । त्वष्टुः । यः । उत्तरः ।

गृहम् । कृत्वा । मर्त्यम् । देवाः । पुरुषम् । आ । अविशन् १८

यत् पूर्वं सामान्येन उक्तं "देवाः पुरुषमाविशन्" इति तद् अत्र

विशेष्यते "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" इति हि श्रूयते [तै० सं० १.५.६.२]। तत्र यः अध्यात्मम् अवस्थितस्त्वष्टा मनुष्यगवाश्वादिरूपाणां विकर्ता देवः तस्य त्वष्टुः पिता उत्पादकः उत्तरः उत्कृष्टतरो यस्त्वष्टा अधिदैवं स्थितः विचित्रस्य जगतो निर्माता एतत्संज्ञो देवः स यदा यस्मिन् काले व्यतृणत् विविधं चक्षुःश्रोत्रादीनि छिद्राणि पुरुषशरीरे तर्दनेन अकरोत्। ॐ उतृदिर् हिंसानादरयोः ॐ। तदा मर्त्यम् मरणधर्मकं त्वष्ट्रा देवेन वितृण्णं बहुच्छिद्रं पुरुषशरीरं गृहं कृत्वा आवासस्थानं कृत्वा देवाः इन्द्रियाणि प्राणापानादयश्च तं पुरुषम् आविशन् प्रविष्टवन्तः ॥

(पहिले जो सामान्यरीतिसे कहा था, कि–"देवाः पुरुषमाविशन्" उसीको यहाँ पर स्पष्ट करते हैं, श्रुतिमें कहा है, कि– "यावच्छो वै रेतस सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" तैत्तिरीयसंहिता १। ५। ६। २) जो अध्यात्मरूपसे अवस्थित मनुष्य गौ अश्व आदि रूपोंका कर्ता त्वष्टा देवता है उस त्वष्टाका उत्पादक जो श्रेष्ठ अधिदैवत त्वष्टा है, कि–जो इस विचित्र जगत्का निर्माता है उसने जिस समय चक्षु श्रोत्र आदि छिद्रोंको पुरुषके शरीरमें तर्दनसे किया उस समय इन्द्रिय (देवता) और प्राण अपान आदिने मरणधर्मीको त्वष्टाके द्वारा बहुतसे छिद्र वाला पुरुषशरीररूप घर बना कर उस पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

नवमी ॥

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥१९॥

स्वप्नः । वै । तन्द्रीः । निःऽऋतिः । पाप्मानः । नाम । देवताः ।

जरा। खालत्यम्। पालित्यम्। शरीरम्। अनु। प्र। अविशन् १६

इत्थं शरीरस्योत्पत्तिम् अभिधाय प्रथमसृष्टानाम् इन्द्रियाणां प्राणापानादीनां च तत्र प्रवेश उक्तः। तावता सात्मकं सत् तच्छरीरं सर्वव्यवहारक्षमं जातम्। इतः परं सर्वविकाराश्रयत्वम् अस्य उच्यते। स्वप्नः स्वापो निद्रा। ❀ ञिष्वप् शये। "स्वपो नन्" इति भावे नन् प्रत्ययः ❀। वैशब्दो लोकप्रसिद्धिं द्योतयति। तन्द्री अलसता। निर्ऋतिः पापदेवता दुर्गतिः। पाप्मानः ब्रह्महत्यादिपापानि। स्वप्नादिरूपा एता देवताः पुरुषशरीरम् अनुप्राविशन्। तथा जरा वयोहानिकरी चरमावस्था। खालित्यम् चित्तस्य चक्षुरादीनां च स्खलनम्। पालित्यम् पलितत्वम्। एतदभिमानिनो देवाश्च शरीरम् अनु प्राविशन्॥

(इस प्रकार शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन करके उसमें प्रथमसृष्ट इन्द्रियोंका और प्राण अपान आदिका भी प्रवेश कहा, इननेसे वह शरीर सात्मक होकर सब व्यवहारोंको करनेमें समर्थ होगया। अब इसके सब विकारोंके आश्रय होनेका वर्णन करते हैं, कि–) निद्रा, अलसता, पापदेवता दुर्गति निर्ऋति, ब्रह्महत्यादि पाप, ये निद्रादि देवता इस पुरुषके शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं तथा आयुकी हानि करने वाली अन्तिम अवस्था जरा, चित्त और नेत्र आदिका स्खलन खालित्य, पलितत्व, इनके अभिमानी देवताओंने भी शरीरमें प्रवेश किया॥ १९॥

दशमी॥

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २०॥

स्तेयम्। दुःऽकृतम्। वृजिनम्। सत्यम्। यज्ञः। यशः। बृहत्।

बलम् । च । क्षत्रम् । ओजः । च । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् २०

स्तेयम् स्तैन्यं तस्करत्वम् । ❀ "स्तेनाद् यन्नलोपश्च" इति स्तेनशब्दाद् भावे यत्-प्रत्ययो नलोपश्च ❀ । दुष्कृतम् दुष्कर्म सुरापानादिकम् । वृजिनम् तज्जनितं दुरितम् । सत्यम् यथार्थ-कथनम् । यज्ञो यागः । यशः कीर्तिः । बृहत् प्रभूतम् । यशसो विशेषणम् एतत् । बलम् प्रसिद्धम् एतत् । क्षत्रम् क्षत्रियसंबन्धि तेजः । ओजः शरीरगतो बलहेतुरष्टमो धातुः । एते सर्वे पुरुषस्य शरीरम् अनु प्राविशन् । जीवच्छरीरम् आश्रित्य उत्पद्यन्त इत्यर्थः ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

चोरी, सुरापानादि दुष्कर्म, उससे उत्पन्न होने वाला पाप, यथार्थकथन, याग, महायश, बल, क्षत्रसम्बन्धी तेज, शरीरगत बलहेतुक अष्टम धातु ओज, इन सबने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया अर्थात् ये जीवित शरीरका आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं २०

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

षष्ठसूक्ते प्रथमा ॥

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः ।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥

भूतिः । च । वै । अभूतिः । च । रातयः । अरातयः । च । याः ।
क्षुधः । च । सर्वाः । तृष्णाः । च । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् २१

भूतिः समृद्धिः । अभूतिः असमृद्धिः । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । रातयो मित्राणि । अरातयः शत्रवः । या इमा भूतिप्रभृतयः क्षुधः बुभुक्षा अन्नाकाङ्क्षाः तृष्णाः पिपासाः एताश्च सर्वाः पुरुषस्य शरीरम् अनु प्राविशन् । आश्रित्य प्रभवन्तीत्यर्थः ॥

समृद्धि असमृद्धि मित्र शत्रु ये जो समृद्धि आदि हैं तथा जो क्षुधा पिपासा आदि हैं इन सबने पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया है अर्थात् ये सब पुरुषके शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होते हैं २१

द्वितीया ॥

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च ।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥२२॥

निन्दाः । च । वै । अनिन्दाः । च । यत् । च । हन्त । इति ।
न । इति । च ।
शरीरम् । श्रद्धा । दक्षिणा । अश्रद्धा । च । अनु । प्र । अविशन् २२

निन्दाः कुत्सनानि । अनिन्दाः अकुत्सनानि । हन्तेति हर्षे । यच्च वस्तु हर्षजनकम् । नेत्ययं शब्दः संनिहितस्य हन्तार्थस्य हर्षस्य निषेधे । यच्च वस्तु हर्षाजनकम् । श्रद्धा श्रद्धानम् अभिलाषविशेषः । दक्षिणा दक्ष्यते समृध्यते अनयेति दक्षिणा धनसमृद्धिः । ❀ दक्ष वृद्धौ इत्यस्माद् द्रुदक्षिभ्याम् इनन् [उ० २. ५०] इति इनन् प्रत्ययः ❀ । अश्रद्धा श्रद्धानाभावः अभिलाषराहित्यम् एतानि सर्वाणि पुरुषस्य शरीरम् अनु प्राविशन् । तद् आश्रित्य प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥

निन्दा, अनिन्दा, हर्षजनक या हर्षनाशक वस्तु, श्रद्धा, जिससे धन समृद्ध होता है वह धनसमृद्धि दक्षिणा, अश्रद्धा (अभिलाषाराहित्य) इन सबने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया अर्थात् ये जीवित रहते हुए शरीरका आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं ।२२।

तृतीया ॥

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।

शरीरं ब्रह्म प्राविंशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥

विद्याः । च । वै । अविद्याः । च । यत् । च । अन्यत् । उपऽदेश्यम् ।

शरीरम् । ब्रह्म । प्र । अविशत् । ऋचः । साम । अथो इति । यजुः

विद्याः शास्त्रजनितज्ञानानि । अविद्याः अज्ञानानि । यच्चान्यत् वस्तु उपदेश्यम् उपदेशसमधिगम्यं विद्याविद्यानाम् आश्रयभूतं तच्छाब्दं ब्रह्म पुरुषस्य शरीरं प्राविशत् । परापश्यन्त्यादिरूपेण तत्रैव प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ अथो अपि च ऋक्सामयजुरात्मकास्त्रयो वेदाः पुरुषशरीरम् अनु प्राविशन् । यद्वा ऋगादीनां पृथगुपादानात् तदङ्गभूताः पुराणादयो विद्याशब्देन विवक्षिताः । अविद्याशब्देन च वेदविरुद्धागमाः ॥

विद्या अर्थात् शास्त्रजनित ज्ञान, अविद्या अर्थात् अज्ञान, इनके अतिरिक्त और जो उपदेश्य वस्तु है अर्थात् उपदेशसे मिलने वाला अविद्या और विद्याका आश्रयभूत शाब्द ब्रह्म है उस सबने पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया तात्पर्य यह है, कि–परा पश्यन्ती आदि रूपसे वह वहाँ ही प्रादुर्भूत होता है। तथा ऋक् यजुः सामात्मक तीनों वेदोंने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया (अथवा ऋक् आदिका अलग वर्णन होनेसे विद्या शब्दसे वेदके अंग पुराण आदि को लेना चाहिये और अविद्यासे वेदविरुद्ध आगम का ग्रहण करना चाहिये) ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥

आऽनन्दाः । मोदाः । प्रऽमुदः । अभिमोदऽमुदः । च । ये ।

हसः । नरिष्टा । नृत्तानि । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् २४

पूर्वोर्धर्चो व्याख्यातः [११. ८.२६] । हसः हासः । ❀ हसे हसने । "स्वनहसोर्वा" इति भावे अप् ❀ । नुरिष्टाः मनुष्यस्य इच्छागोचराः शब्दस्पर्शादिविषयाः । नृत्तानि नर्तनानि भरतशास्त्रोक्तानि एते आनन्दादयः सर्वे पुरुषस्य शरीरम् अनु प्राविशन्

आनन्द, मोद प्रमुद, अभीमोदमुद, हँसना, मनुष्यकी इच्छाके गोचर शब्द स्पर्श आदि विष, भरतशास्त्रोक्त नर्तन इन सबने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये ।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥

आऽलापाः । च । प्रऽलापाः । च । अभिलापऽलपः । च । ये ।
शरीरम् । सर्वे । प्र । अविशन् । आऽयुजः । प्रऽयुजः । युजः २५

आलापाः आभाषणानि सार्थकानि वचनानि । प्रलापाः निरर्थकानि वचनानि । ❀ लप व्यक्तायां वाचि । भावे घञ् ❀ । ये च अभीलापलपः अभिलापः उक्तविधः शब्दः तेन लपन्ति ब्रुवन्तीति अभीलापलपः शब्दस्य उच्चारयितारः । ❀ "क्विप् च" इति लपेः क्विप् ❀ । ते सर्वे आलापादयः पुरुषशरीरं प्राविशन् । आयुजः आयोजनानि प्रयुजः प्रयोजनानि युजः योजनानि । ❀ सर्वत्र संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । उपसर्गवशाद् अमीषाम् अर्थभेदोऽवगन्तव्यः ❀ । एतम् आयोजनादिक्रियाः शरीरम् अनु प्राविशन् ॥

सार्थक वचन–आलाप, निरर्थक वचन–प्रलाप, शब्दके उच्चा-

रक्त, इन सबने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया, आयोजन प्रयोजन और योजन ये सब भी पुरुषशरीरमें प्रविष्ट हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ।
व्यानऽउदानौ । वाक् । मनः । शरीरेण । ते । ईयन्ते ॥ २६ ॥

अयः पादाः पूर्ववद् [११. ८. २५] व्याख्येयाः। ते प्राणापानादयः सर्वे शरीरम् अनुप्रविश्य तेन सह ईयन्ते स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तन्ते । ❀ ईङ् गतौ । दिवादित्वात् श्यन् प्रत्ययः ❀ ॥

प्राण, अपान, चक्षु-श्रोत्र, अक्षिति, क्षिति, व्यान, उदान, वाणी और मन ये सब शरीरमें प्रवेश करके उसके साथ अपने २ व्यापारोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥

आऽशिषः । च । प्रऽशिषः । च । सम्ऽशिषः । विऽशिषः । च । याः ।
चित्तानि । सर्वे । सम्ऽकल्पाः । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥

आशिषः आशासनानि इष्टफलप्रार्थनानि । ❀ "आशासः क्वौ०" इति वचनाद् इत्वम् ❀ । तथा प्रशिषः प्रशासनानि । संशिषः संशासनानि । विशिषः विविधानि शासनानि । ❀ अत्र उपसर्गवशाद् धात्वर्थस्य भेदोऽवगन्तव्यः ❀ । या एता आशी-

रायाः सन्ति। चित्तानीति बहुवचनेन मनोबुद्ध्यहंकाराः संगृह्यन्ते। तथा संकल्पा इति बहुवचनेन सर्वा अन्तःकरणवृत्तयः। एते सर्वे पुरुषस्य शरीरम् अनु प्राविशन् ॥

इष्टफलकी प्रार्थनारूप आशासन, प्रशासन, संशासन, विविध प्रकारके शासन, ये तथा चित्त मन बुद्धि अहंकार, अन्तःकरण की सकल वृत्तियें इन सबने भी पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया अर्थात् ये जीवित शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होते हैं ॥२७॥

अष्टमी ॥

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् २८

आस्तेयीः । च । वास्तेयीः । च । त्वरणाः । कृपणाः । च । याः ।
गुह्याः । शुक्राः । स्थूलाः । अपः । ताः । बीभत्सौ । असादयन्

आसमन्तात् स्नानम् आस्नेयम् । ❀ ष्णा शौचे । "अचो यत्" इति भावे यत् । "ईयति" इति ईत्वम् ❀ । तत्संबन्धिन्य आपः आस्नेय्यः । ❀ "तस्येदम्" इति अण् । "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀ । वाशब्दो विकल्पार्थः । ❀ तस्य लुप् सुपेति स्नेयशब्देन समासः ❀ । विकल्पेन स्नानं वास्नेयं तत्सम्बन्धिन्य आपः । यद्वा । ❀ आस उपवेशने इत्यस्माद् औणादिको न-प्रत्ययः ❀ । आसनस्य शरीरे प्राणावस्थानस्य निमित्तभूता आपः आस्नेय्यः। तथा वस्नम् मूल्यद्रव्यं सर्वव्यवहारास्पदं शरीरं तदुपादानभूता आपः वास्नेय्यः। "पञ्चम्याम् आहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति श्रुतेः । ❀ आस्नशब्दाद् वस्नशब्दाच्च शैषिको ढक् प्रत्ययः ❀ । तथा त्वरणाः त्वरया गच्छन्त्यः । कृपणाः कृशा अल्पाः । एवंभूताश्च या आपः सन्ति । याश्च

गुह्याः गुहायां भवाः । शुक्राः शुक्लवर्णाः शुक्रात्मना परिणता वा । स्थूलाः स्थौल्योपेता महत्यः आपः व्यापनशीला नद्यादिरूपेण वर्तमाना ताः सर्वा आपः बीभत्सौ बीभत्स्यमाने जुगुप्स्यमाने पुरुषशरीरे असादयन् । अथ वा ता एव आपो बीभत्सौ जुगुप्स्यमाने पुरुषे स्वकार्यं शरीरम् असादयन्नित्यर्थः । ❀ बध बन्धने । मान्बधदान्शान्भ्यः०" इति सन् प्रत्ययः । स च "बधेर्वैरूप्ये" इति स्मरणात् कुत्सनेऽर्थे भवति । "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

जिनसे भली प्रकार स्नान होसकता है ऐसे जल, और नहीं भी होसकता ऐसे जल, प्राणको स्थिर रखने वाले जल, वा शरीरके उपादानभूत सर्वव्यवहारास्पद जल, त्वरासे जाने वाले त्वरण जल, अल्प जल, गुहामें होने वाले जल, शुक्ररूपमें परिणत हुए जल, नदी आदि के रूपमें वर्तमान स्थूल जल, इन सबने निन्दित शरीरमें अपने कार्यको स्थापित किया ॥ २८ ॥

नवमी ॥

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥

अस्थि । कृत्वा । सम्ऽइधम् । तत् । अष्ट । आपः । असादयन् ।

रेतः । कृत्वा । आज्यम् । देवाः । पुरुषम् । आ । अविशन् २९

अस्थि प्राणिशरीरसंबन्धि अस्थिजातं समिधम् समिन्धनसाधनं शरीरपरिपाकस्य निमित्तं कृत्वा तत् तत्र षाट्कौशिके शरीरे अष्टसंख्याका आग्नेयीश्चेत्यादिना अनुक्रान्ता अपः असादयन् । तस्य समिन्धनस्य अभिवृद्धिकारणम् आज्यं रेतः शुक्लं कृत्वा

परिकल्प्य। अत्रास्थीनि पुरुषशरीरान्तर्गतानि शरीरवृद्धिहेतुत्वात् समित्त्वेन रूप्यन्ते रेतश्च स्वशरीरवृद्धेः पुत्राद्युत्पत्तिहेतुत्वेन च आज्यत्वेन रूप्यते। अत एव तैत्तिरीयके अग्न्याधेयप्रकरणे आधीयमानासु समित्सु अस्थित्वं तदञ्जनसाधने आज्ये रेतस्त्वं च आरोप्य स्तूयते। "अस्थि वा एतद् यत् समिधः। एतद् रेतो यद् आज्यम्" इति [तै० ब्रा० १. १. ९. ४]। इत्थं कृत्वा देवाः इन्द्रियाणि तदधिष्ठातारः अग्न्यादयो वा पुरुषशरीरं प्राविशन् ॥

आठ जलोंने प्राणियोंकी अस्थियोंको समिन्धनसाधन बनाकर शरीरपरिपाकके लिये शरीरमें स्थापित किया और उस समिधनकी वृद्धिके लिये वीर्यको घृत बनाया (यहाँ शरीरकी अस्थिएँ शरीरकी वृद्धिका कारण होनेसे समिधाएँ मानी गई हैं और वीर्य अपने शरीरकी वृद्धिका और पुत्रादिकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे घृत माना गया है, अत एव तैत्तिरीयब्राह्मणके अग्न्याधेयप्रकरणमें समिधाओंके रखनेके समय, समिधाओंमें अस्थित्व और तदञ्जनसाधन घृतमें वीर्यत्वका आरोपण करके स्तुति की है, कि-"अस्थि वा एतद् यत् समिधः। एतद् रेतो यत् आज्यम्।-जो समिधाएँ हैं वे अस्थियें हैं और जो घृत है वह रेत है" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।९।४) इस प्रकार देवता अर्थात् इन्द्रियें वा उनके अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवताओंने पुरुषके शरीरमें प्रवेश किया ॥ २९ ॥

दशमी ॥

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

याः। आपः। याः। च। देवताः। या। विऽराट्। ब्रह्मणा। सह।

शरीरम् । ब्रह्म । प्र । अविशत् । शरीरे । अधि । प्रजाऽपतिः ३०

याः प्रागुदीरिता आपः याश्च देवताः इन्द्रियाभिमानिन्यः या च "विराड् वा इदम् अग्र आसीत्" [८. १०. १] इत्यादिना सार्वात्म्येन उक्ता विराट्संज्ञा देवता ब्रह्मणा ब्राह्मणतेजसा सह वर्तमाना ताः सर्वाः शरीरं प्राविशन् । तदनन्तरं यज्जगत्कारणं परं ब्रह्म तदपि अन्तर्यामिरूपेण तच्छरीरं प्राविशत् । तस्मिन् शरीरे अधि प्रजापतिः प्रजानां पालयिता पुत्राद्युत्पादको जीवो वर्तते ॥

जो पूर्वोक्त जल हैं, जो इन्द्राभिमानी देवता हैं, जो "विराड् वा इदं अग्रं आसीत्" इस (८ । १० । १) से सार्वात्म्यरूपमें प्रतिपादित विराट्संज्ञक देवता है ये ब्राह्मणतेजके साथ रहनेवाले देवता शरीरमें प्रविष्ट हुए । तदनन्तर जो जगत्कारण परब्रह्म है वह भी अन्तर्यामीरूपसे शरीरमें प्रवेश कर गया । उस शरीरमें प्रजाओंका पालक—पुत्रादिका उत्पादक जीव रहता है ॥ ३० ॥

एकादशी ॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

सूर्यः । चक्षुः । वातः । प्राणम् । पुरुषस्य । वि । भेजिरे ।

अथ । अस्य । इतरम् । आत्मानम् । देवाः । प्र । अयच्छन् । अग्नये

"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति श्रुतेः सूर्यः चक्षुरभिमानी देवः । स च पुरुषस्य संबन्धि चक्षुरिन्द्रियम् आत्मीयभागत्वेन स्वीकृतवान् । वातः वायुः प्राणम् प्राणेन्द्रियं भागत्वेन स्वीचकार । "वायुः प्राणो भूत्वा

नासिके प्राविशत्” [ऐ० आ० २. ४. २] इति श्रुतेः। उपलक्षणम् एतत्। एवम् अन्यान्यपि इन्द्रियाणि पुरुषसंबन्धीनि तत्तदधिदेवता वि भेजिरे विभज्य स्वीकृतवत्यः। अथ अनन्तरम् इतरम् प्राणेन्द्रियव्यतिरिक्तम् आत्मानम् षाट्कौशिकं स्थूलशरीरम् अग्नये सर्वे देवा भागत्वेन प्रायच्छन्। अग्निना मरणानन्तरं स्थूलशरीरमेव केवलं दह्यते।

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि॥
वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदशं विदुः॥

इति यत् सप्तदशात्मकं लिङ्गशरीरम् उक्तं तस्य मुक्तिपर्यन्तं विनाशाभावात् तत्तद्देवतारूपेण अवस्थानमेवेत्यर्थः॥

“आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।—आदित्यने चक्षु बन कर नेत्रोंमें प्रवेश किया” इस ऐतरेय आरण्यक २।४।२ की श्रुतिके अनुसार चक्षुका जो अभिमानी देवता सूर्य है उसने पुरुषकी चक्षुरिन्द्रियको अपने भागरूपमें स्वीकार किया। वायुने घ्राणेंद्रियको अपने भागरूपमें स्वीकार किया। इस विषयमें ऐतरेय आरण्यक २।४।२ में कहा है, कि—“वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।—वायुने प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश किया” (ये दोनों इन्द्रियें उपलक्षणरूपमें यहाँ दिखाई गई हैं अत एव पुरुष सम्बन्धीअन्य इन्द्रियोंको भी उनके अधिदेवताओंने अपने भागरूप में स्वीकार किया) इसके अनन्तर प्राणेन्द्रियोंसे अतिरिक्त इसके छः कोश वाले स्थूलशरीरको अग्निके निमित्त सब देवता भागरूपमें देते हैं। अर्थात् मरणके अनन्तर केवल स्थूल शरीर ही भस्म होता है और जो “ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि। वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदश विदुः॥” पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय, प्राणापान आदि पाँच वायु, मन तथा बुद्धि इन सत्रहसे संगठित लिंगशरीर है वह मुक्तिपर्यन्त विनष्ट नहीं

होता मुक्तिके समय ही विनष्ट होता है अत एव तत्तद्देवतारूपसे अवस्थान ही होता है ॥ ३१ ॥

द्वादशी ॥

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

तस्मात् । वै । विद्वान् । पुरुषम् । इदम् । ब्रह्म । इति । मन्यते ।
सर्वाः । हि । अस्मिन् । देवताः । गावः । गोस्थेऽइव । आसते ॥

तस्मात् खलु कारणात् विद्वान् उक्तप्रकारं सर्वं जानन् पुरुषम् पुरुषशरीरम् इदम् अपरोक्षम् अन्तर्बहिर्व्याप्य अवस्थितं ब्रह्मेति मन्यते जानाति । कुत इत्यत आह । हि यस्मात् सर्वा देवताः प्राणापानादिवायवः सर्वेन्द्रियाणि तदधिष्ठातारः अग्न्यादयश्च अस्मिन् शरीरे आसते निवसन्ति । तत्र दृष्टान्तः गावो गोष्ठ इव। यथा गावः स्वकीये गोष्ठे स्थाने विस्रम्भेण निवसन्ति तथेत्यर्थः। तस्मात् सर्वाभिर्देवताभिः आश्रितं जीवरूपेण अन्तर्यामिरूपेण च ब्रह्मणा प्रविष्टं पुरुषशरीरं तत्तादात्म्येन विद्वान् साक्षात्करोतीत्यर्थः॥

इस कारण इन सब बातोंको जानने वाला विद्वान् पुरुष पुरुष-शरीरको भीतर बाहर व्याप्त होकर स्थित अपरोक्ष ब्रह्म ही समझता है । क्योंकि—जैसे गौएँ अपने गोठमें विश्वस्त होकर रहती हैं इसी प्रकार सब देवता अर्थात् प्राण अपान आदिक वायुएँ और उनके अधिष्ठात्री अग्नि आदि देवता इस शरीरमें रहते हैं । तात्पर्य यह है, कि सब देवताओंसे आश्रित, जीवरूप और अन्तर्यामीरूपसे भी ब्रह्मके द्वारा प्रविष्ट पुरुषशरीरका विद्वान् पुरुष तत्तादात्म्य-भावसे साक्षात्कार करता है ॥ ३२ ॥

त्रयोदशी ॥

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥

प्रथमेन । प्रऽमारेण । त्रेधा । विष्वङ् । वि । गच्छति ।
अदः । एकेन । गच्छति । अदः । एकेन । गच्छति । इह । एकेन ।
नि । सेवते ॥ ३३ ॥

शरीरम् अभिमन्यमानो जीवात्मा तेन शरीरेण तत्र प्रविष्टैरिन्द्रियैश्च पुण्यापुण्यात्मकानि कर्माणि अनुष्ठाय तत्फलोपभोगार्थं मरणानन्तरं स्वर्गनरकादीनि स्थानानि प्राप्नोति । तद् अत्र निरूप्यते । प्रथमेन प्रथमभाविना स्थूलशरीरेण प्रमृतेन । * हेतौ तृतीया * । भोगायतनस्य शरीरस्य तदारम्भककर्मक्षयेण । त्यागाद्धेतोरित्यर्थः । त्यक्तशरीरः स जीवात्मा त्रेधा त्रिप्रकारं विष्वङ् नाना वि गच्छति नियमेन प्रयाति ॥ अदः विप्रकृष्टं स्वर्गाख्यं स्थानम् एकेन पुण्येन कर्मणा गच्छति प्राप्नोति । अदः विप्रकृष्टं नरकाख्यं स्थानम् एकेन पापेन कर्मणा गच्छति प्राप्नोति । तथा इह अस्मिन् भूलोके एकेन पुण्यपापात्मकेन मिश्रितेन कर्मणा नि षेवते नितरां सुखदुःखात्मकान् भोगान् सेवते । श्रूयते हि । "पुण्येन पुण्यलोकं नयति पापेन पापम् उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" इति ॥

(शरीरका अभिमान करता हुआ जीवात्मा उस शरीरसे और उस शरीरमें प्रविष्ट इन्द्रियोंसे भी पुण्य पापरूप कर्मोंका अनुष्ठान करके उनका फल भोगनेके लिये स्वर्ग नरक आदि स्थानों को प्राप्त होता है, इसी बातका इस मन्त्रमें निरूपण किया जाता है, कि-पहिले उत्पन्न हुए स्थूलशरीरका मरण होने पर अर्थात्

भोगायतन शरीरको उसका आरम्भ करने वाले कर्मोंका क्षय होनेके कारण त्यागनेसे वह त्यक्तशरीर जीवात्मा तीन प्रकारसे नियममें बँधा हुआ जाता है। एक प्रकारके पुण्यकर्मसे स्वर्गनामक स्थानको प्राप्त होता है और एक प्रकारके (पाप) कार्यसे नरक नामक स्थानको प्राप्त होता है तथा पुण्य और पाप दोनोंसे मिले हुए कर्मसमूहसे इस भूलोकमें सुख दुःखात्मक भोगोंका सेवन करता है। (अन्य श्रुतिमें भी कहा है, कि—"पुण्येन पुण्यलोकं नयति पापेन पापं उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्") ॥ २३ ॥

चतुर्दशी ॥

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् ।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥ २४ ॥

अप्ऽसु । स्तीमासु । वृद्धासु । शरीरम् । अन्तरा । हितम् ।

तस्मिन् । शवः । अधि । अन्तरा । तस्मात् । शवः । अधि । उच्यते

स्तीमासु अनार्द्रं सर्वं जगद् आर्द्रं कुर्वतीषु । ❀ तिम ष्टिम ष्टीम आर्द्रीभावे । तत्र स्तीमतेः पचाद्यच् ❀ । तथाविधासु वृद्धासु प्रवृद्धासु अप्सु उदकेषु अन्तरा मध्ये शरीरम् ब्रह्माण्डात्मकं समष्टिभूतं हितम् निहितं वर्तते । । स्मर्यते हि ।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत् ।
तद् अण्डम् अभवद् हैमं कोटिसूर्यसमप्रभम् । [म०स्मृ०१.९]

इति । तस्मिन् ब्रह्माण्डशरीरे अधि उपरि अन्तरा मध्ये च शवः बलात्मकः सूत्रात्मा सर्वाधारभूतवस्त्वात्मकः परमेश्वरो वर्तते । तस्मात् समष्टिशरीराद् अधिकत्वेन स [शवः] बलात्मकः सूत्रात्मा उच्यते । श्रूयते हि । "वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम् ।

वायुना वै गौतम सूत्रेणायं लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति" इति [बृ० आ० ३. ७. ६] ॥

चतुर्थेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

[इति] एकादशकाण्डे चतुर्थोनुवाकः ॥

सब अनार्द्र जगत्को आर्द्र करने वाले प्रवृद्ध जलोंके मध्यमें ब्रह्मांडात्मक समष्टिभूत शरीर स्थित है। मनुस्मृतिमें भी कहा है, कि- "अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवाकिरत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥-पहिले जलकी ही सृष्टि की और उसमें वीर्यको निक्षिप्त किया तब वह सूर्यकी समान कान्ति वाला हैम अण्ड हुआ") उस ब्रह्माण्डशरीरके भीतर और ऊपर शव अर्थात् बलात्मक सूत्रात्मा सर्वाधारभूतवस्तुरूप परमेश्वर रहता है। इस समष्टि शरीरसे अधिक होनेके कारण वह शव बलात्मक सूत्रात्मा कहलाता है (बृहदारण्यक ३। ७। ६ में भी कहा है, कि- "वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्। वायुना वै गौतम सूत्रेणायं लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति") ॥२४॥ (२४)

चतुर्थ अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४८८)

एकादश काण्डमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेनुवाके षट् सूक्तानि। तत्र "ये बाहवः" इत्यादि सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम्। "उत्तिष्ठत सं नह्यध्वम्" इत्यादि सूक्तत्रयम् अर्थसूक्तम्। आभ्याम् अर्थसूक्ताभ्यां जयकामो राजा युद्धकाले यथालिङ्गं स्वीयान् भटान् प्रति संप्रैषं कुर्यात् जपं कुर्याच्च ॥

तथा शत्रुजयकर्मणि "ये बाहवः" इत्यनुवाकेन पृषदाज्यं सक्तूंश्च जुहुयात् ॥

तथा अनेनानुवाकेन धनुरिध्मेऽग्नौ पृषदाज्येन अक्ता धनुःसमिध आदध्यात्। इषिध्मेऽग्नौ पृषदाज्येन अक्ता इषुसमिध आदध्यात् ॥

तथा अनेनानुवाकेन पृषदाज्येन धनुः संपात्य त्रिमृज्य अभिमन्त्र्य योद्धुं जयकामाय राज्ञे प्रयच्छेत् ॥

भाङ्गपाशान् अनेनानुवाकेन पृषदाज्येन संपात्य अभिमन्त्र्य परसेनाक्रमणस्थानेषु प्रक्षिपेत् ॥

तथा मौञ्जपाशान् आमपात्राणि त्रिसंधीनि लोहमयानि पात्राणि वज्ररूपाणि अर्बुदरूपाणि वा अनेनानुवाकेन पृषदाज्येन संपात्य अभिमन्त्र्य युद्धस्थानेषु प्रक्षिपेत् ॥

तथा अनेन अनुवाकेन शितिपदीं गां पृषदाज्येन संपात्य अभिमन्त्र्य राज्ञश्चिह्नितकेतुदण्डे रहस्यं बध्नीयात् । अन्यां शितिपदीं गां संपात्य अभिमन्त्र्य शत्रुसेनामध्ये निरस्येत् । ततो युद्धार्थं सेनानायकम् उत्सृजेत् ॥

एतत् सर्वं कौशिकेन सूत्रितम् । "ये बाहव उत्तिष्ठतेति यथालिङ्गं संप्रेष्यति । होमार्थे पृषदाज्यम् । प्रदानान्तानि वाप्यानि । वाप्यैस्त्रिषन्धीनि वज्ररूपाण्यर्बुदरूपाणि । शितिपदीं संपातवतीं दर्भरज्ज्वा क्षत्रियापोपासङ्गदण्डे बध्नाति । द्वितीयाम् अस्यति" इति [कौ० २. ७] ॥

पाँचवें अनुवाकमें छः सूक्त हैं। इनमें "ये बाहवः" आदि तीन सूक्तोंका समूह अर्थसूक्त कहलाता है। और "उत्तिष्ठत संनह्यध्वम्" आदि तीन सूक्तोंका समूह दूसरा अर्थसूक्त कहलाता है। विजय को चाहने वाला राजा इन दोनों अर्थसूक्तोंसे युद्धके समय लिंगानुसार अपने भटोंके प्रति सम्प्रैष और जपको करे।

तथा शत्रुजय कर्ममें "ये बाहवः" अनुवाकसे बिन्दुरूपमें घीकी और सत्तुओंकी आहुति देय।

तथा इस अनुवाकसे धनुषरूपी ईंधन वाली अग्निमें पृषदाज्य से भीगी हुई धनुषसमिधाओंको रक्खे। और बाणरूपी ईंधन वाली अग्निमें पृषदाज्यसे भीगी हुई बाणसमिधाओंको रक्खे।

तथा इस अनुवाकसे पृषदाज्यसे सम्पातित अभिमंत्रित और विमार्जित करके विजयाभिलाषी योद्धा राजाको देदेय।

इस अनुवाकसे भंग अर्थात् सनके पृषदाज्यसे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुकी सेनाके घूमनेके स्थानमें डाल देय।

तथा मूंजके पाशोंको, कच्चे पात्रोंको तीन स्थानमें जुड़े हुए लोहेके वज्ररूप वा अर्बुदरूप पात्रोंको इस अनुवाकके द्वार पृषदाज्यसे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके युद्धस्थानमें डालदेय।

तथा इस अनुवाकसे शितिपदीगौको पृषदाज्यसे सम्पातित और अभिमन्त्रित करके राजाके चिन्हित केतुदण्डमें एकान्तमें बाँध देय। दूसरी शितिपदी (चितकबरे पैरों वाली) गौको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके शत्रुसेनाके मध्यमें छोड़ देय। तदनंतर युद्ध करनेके लिये सेनानायकको भेजे।

इस सबके विषयमें कौशिकसूत्र २। ७ का प्रमाण है, कि— "ये बाहव उत्तिष्ठतेति यथालिङ्गं संप्रेष्यति। होमार्थे पृषदाज्यम्। प्रदानान्तानि बाप्यानि। बाप्यैस्त्रिसंधीनि वज्ररूपाण्यर्बुदरूपाणि। शितिपदीं सम्पातवतीं दर्भरज्ज्वा क्षत्रियायोपासङ्गदण्डे बध्नाति। द्वितीयां अस्यति" (कौशिकसूत्र २। ७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय १

ये। बाहवः। याः। इषवः। धन्वनाम्। वीर्याणि। च।
असीन्। परशून्। आयुधम्। चित्तऽआकूतम्। च। यत्। हृदि।
सर्वम्। तत्। अर्बुदे। त्वम्। अमित्रेभ्यः। दृशे। कुरु। उत्ऽआरान्। च। प्र। दर्शय॥ १॥

ये अस्मदीयानां योद्धॄणां भटानां बाहवः आयुधग्राहिणो हस्ताः या इषवः बाणाः तथा धन्वनाम् धनुषाम् अस्मदीयानां यानि च वीर्याणि वीरकर्माणि शत्रुनिपातनसामर्थ्यानि सन्ति तान् सर्वान् खाह्वादीन् असीन् खड्गान् परशून् परस्वधान् कुठारविशेषान् यद् अन्यदपि आयुधम् आयोधनसाधनशस्त्रम् यच्च अस्मदीयानां योद्धॄणां हृदि हृदये अवस्थितं चित्ताकूतम् चित्तेन मनसा संकल्प्यमानं शत्रूणां मारणम्। यद्वा चित्तानि अस्मदीयानां भटानां धैर्ययुक्तानि मनांसि आकूतानि संकल्पाः इमम् अनेन प्रकारेण हनिष्यामि इमम् अनेनेत्येवं बहुधा भिन्नाः। ❀ "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" इति एकवद्भावाद् एकवचनम् ❀। ये बाहव इत्यादिना यद् एतद् अनुक्रान्तं तत् सर्वम् हे अर्बुदे ❀। अर्बुदो नाम सर्पऋषिः। तथा च ऐतरेयके समाम्नायते। "अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्" इति [ऐ० ब्रा० ६.१]। तस्य द्वौ पुत्रौ अर्बुदिश्च न्यर्बुदिश्चेति। ❀ अपत्येर्थे "अत इञ्" इति इञ्। "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति आदिवृद्धिर्न क्रियते ❀। अर्बुदस्य हे पुत्र हे सर्प त्वम् उक्तं सर्वम् अमित्रेभ्यः अस्मच्छत्रुभ्यः दृशे दृष्टये कुरु। यथा शत्रूणां मनसि भीतिर्जायते तथा अस्मदीयानि युद्धोपकरणानि दर्शयेत्यर्थः। अपि च उदारान् उद्गतान् अन्तरिक्षचरान् रक्षःपिशाचादीन् मन्त्रसामर्थ्योद्भावितान् शत्रूणां भीत्यर्थं प्रदर्शय। यद्वा सूर्यरश्मिप्रभवा उल्कादय आन्तरिक्षा उत्पाता उदाराः। तानपि तेभ्यः पराजयार्थं प्रदर्शय। "तस्मात् तेपानाद् उदारा अजायन्त" इति तैत्तिरीयकम् [तै० ब्रा० २. २. ६. २]। उदारयन्ति आर्तिम् उद्भावयन्तीति उदाराः। ❀ ऋ गतौ। अस्मात् उत्पूर्वात् ण्यन्तात् पचाद्यच् ❀॥

हमारे योधाओंके जो आयुधोंको ग्रहण करने वाले हाथ हैं, जो बाण हैं और हमारे धनुषोंके जो शत्रुओंको गिरानेमें समर्थ

वीरकर्म हैं इन सबोंको, तथा खड्ग फरसे तथा जो कुछ अन्य आयुध हैं उनको और हमारे योधाओंके हृदयमें जो शत्रुओंको मारनेके संकल्प उठ रहे हैं उनको हे मन्त्रकर्ता † अर्बुदनामक सर्पऋषिके पुत्र अर्बुदे ! तू हमारे शत्रुओंके दृष्टिगोचर कर अर्थात् शत्रुओंके हृदयमें जिस प्रकार भय हो तिस प्रकार इन सब सामग्रियोंको दिखा और मन्त्रशक्तिसे प्रकट किये हुए अन्तरिक्षचर राक्षस पिशाच आदिको शत्रुओंके डरानेके लिये दिखा। अथवा–सूर्यकी किरणोंसे होने वाले उल्का आदि अन्तरिक्षके उत्पातोंको दिखा ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

उत् । तिष्ठत । सम् । नह्यध्वम् । मित्राः । देवऽजनाः । यूयम् ।
सम्ऽदृष्टा । गुप्ता । वः । सन्तु । या । नः । मित्राणि । अर्बुदे २

हे मित्राः मित्रभूता अस्माकं जये प्रवृत्ता हे देवजनाः यूयम् उत्तिष्ठत अस्मात् सेनानिवेशाद् उद्गच्छत। ❀ "उदोनूर्ध्वकर्मणि" इति पर्युदस्तत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । सं नह्यध्वम् उत्थानानन्तरं युद्धाय संनद्धा भवत । तथा वः युष्माभिः संदृष्टाः सम्यङ्निरीक्षिताः अस्मदीया भटाः गुप्ताः रक्षिताः सन्तु भवन्तु । व इति तृतीयार्थे षष्ठी । हे अर्बुदे सर्प नः अस्माकं या यानि मित्राणि अस्मदीयैः शत्रुभिः सह योद्धुम् आगतानि तानि त्वया गुप्तानि रक्षितानि भवन्त्वित्यर्थः ॥

† ऐतरेयब्राह्मण ६ । १ में कहा है, कि–"अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत् ।–कद्रूके पुत्र अर्बुद मन्त्रकर्ता सर्पऋषि हैं" ॥

हे हमारी जयमें मङ्गल अत एव मित्ररूप देवताओं ! आप इस छावनीसे उठ कर खड़े हूजिये और उठ कर युद्धके लिये तयार हूजिये, तथा आपके द्वारा भली प्रकार निरीक्षित हुए हमारे भट रक्षित होवें और हे अर्बुदे सर्प ! जो हमारे मित्र हमारे शत्रुओं से लड़नेके लिये आए हैं वे आपसे रक्षित रहें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

उत् । तिष्ठतम् । आ । रभेथाम् । आदानऽसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणाम् । सेनाः । अभि । धत्तम् । अर्बुदे ॥ ३ ॥

हे अर्बुदे त्वं च न्यर्बुदिश्च युवाम् उत्तिष्ठतम् स्थानाद् उच्चलतम् । आ रभेथाम् युद्धम् उपक्रमेथाम् । ❀ रभ राभस्ये । राभस्यं कार्योपक्रम इति तद्वृत्तिः ❀ । अनन्तरम् आदानसंदानाभ्याम् आदीयते गृह्यते अनेनेति ग्रहणार्थं रज्जुयन्त्रम् आदानम् । संदीयते बध्यते अनेनेति संदानं बन्धनरज्जुः । ताभ्यां रज्जुभ्याम् अमित्राणां शत्रूणां संबन्धिनीं सेनाम् अभि धत्तम् बध्नीतम् ॥ ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते । यथा । "अश्वाभिधानीम् आदत्ते" इति [तै० सं० ५. १. २. १] ❀ ॥

हे अर्बुदे सर्प ! आप और न्यर्बुदि भी दोनों अपने स्थानसे उठिये और युद्धका आरम्भ करिये और जिसको पकड़नेके लिये ग्रहण किया जाता है उस आदान नामक रज्जुसे और जिससे बाँधा जाता है उस संदान नामक रज्जुसे आप शत्रुओंकी सेनाको वश में करिये ॥ ३ ॥

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

अर्बुदिः । नाम । यः । देवः । ईशानः । च । निऽअर्बुदिः ।
याभ्याम् । अन्तरिक्षम् । आऽवृतम् । इयम् । च । पृथिवी । मही ।
ताभ्याम् । इन्द्रमेदिऽभ्याम् । अहम् । जितम् । अनु । एमि । सेनया ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

उत् । तिष्ठ । त्वम् । देवऽजन । अर्बुदे । सेनया । सह ।
भञ्जन् । अमित्राणाम् । सेनाम् । भोगेभिः । परि । वारय ॥५॥

चतुर्थी ॥ अर्बुदिन्यर्बुद्योर्माहात्म्यम् अनया प्रतिपाद्यते । अर्बुदिरिति प्रसिद्धः सर्पात्मको यो देवः तथा ईशानः सर्वस्य ईशिता यश्च न्यर्बुदिरिति प्रसिद्धः सर्पः 'याभ्याम् अर्बुदिन्यर्बुदिभ्याम् अन्तरिक्षं सर्वम् आवृतम् स्वशरीरैरावेष्टितम् इयं परिदृश्यमाना मही महती पृथिवी च याभ्याम् आवृता '। तौ सर्पात्मकौ देवौ संग्रामजयकर्मणि सर्वोत्कर्षेण वर्तेते इत्यर्थः ॥

पञ्चमी ॥ ताभ्यां द्यावापृथिव्यौ व्याप्य वर्तमानाभ्याम् इन्द्रमेदिभ्याम् इन्द्रस्य स्निग्धाभ्याम् । ❀ ञिमिदा स्नेहने । अस्मात् ताच्छीलिको णिनिः ❀ । अर्बुदिन्यर्बुदिभ्यां जितं शत्रुबलम्

अहं पश्चात् सेनया अन्वेमि अनुगच्छामि । हे देवजन देवजातीय अर्बुदे त्वं सेनया आत्मीयया सह उत्तिष्ठ उद्गच्छ । शत्रून् प्रथमम् अभियाहीत्यर्थः । अनन्तरम् अमित्राणाम् शत्रूणां सेनां भञ्जन् आमर्दयन् भग्नवीर्यां कुर्वन् भोगेभिः भोगैः आत्मीयैः सर्पशरीरैः परि वारय परिवेष्टय । यथा शत्रुसेना अस्मान् न पश्यति तथा तदीयानि अक्षीणि पिधेहीत्यर्थः ॥

(इस ऋचासे अर्बुदि और न्यर्बुदिके माहात्म्यका वर्णन करते हैं, कि–) जो अर्बुदि नामक प्रसिद्ध सर्पदेवता है तथा जो सबका ईश्वर न्यर्बुदि नामक प्रसिद्ध सर्प है और जिन अर्बुदि न्यर्बुदि नामक सर्पोंसे सब जगत् घिरा हुआ है अर्थात् उन्होंने अपने शरीरसे सम्पूर्ण जगत्को बाँध रक्खा है और इस विशाल पृथिवीको भी बाँध रक्खा है तात्पर्य यह है, कि–यह सर्पात्मक दोनों देव संग्रामजयकर्ममें सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्तमान रहते हैं ।

इन द्यावापृथिवीको व्याप्त करके रहने वाले इन्द्रके स्नेही अर्बुदि न्यर्बुदि नामक सर्पोंसे जीते हुए शत्रुबल पर मैं पीछेसे सेना लेकर चढ़ूँगा, हे देवजातीय अर्बुदे ! तू अपनी सेनाके साथ उठ अर्थात् शत्रुओं पर प्रथम ही चढ़ाई कर । फिर शत्रुओंकी सेना का मर्दन कर भग्नवीर्य करके अपने सर्पशरीरोंसे उसको चारों ओरसे घेर ले अर्थात् शत्रुसेना जिस प्रकार हमारी ओर न देख सके तिस प्रकार उसकी आँखोंको ढक दे ॥ ४ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।

तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

सप्त । जातान् । निऽअर्बुदे । उत्ऽआराणाम् । सम्ऽईक्षयन् ।

तेभिः । त्वम् । आज्ये । हुते । सर्वैः । उत् । तिष्ठ । सेनया ६

हे न्यर्बुदे एतत्संज्ञ सर्प उदाराणाम् प्रागुक्तलक्षणानां मध्ये सप्तसंख्याकान् जातान् उत्पन्नान् दृष्टितिरोधायकान् समीक्षयन् शत्रूणां दर्शयंस्त्वम् आज्ये हुते। उपलक्षणम् एतत्। आज्योपलक्षितेषु द्रव्येषु हुतेषु सत्सु तेभिः तैः सर्वैरुपलक्षितः सन् अस्मदीयया सेनया सह उत्तिष्ठ उद्गच्छ॥

हे न्यर्बुदि नामक सर्प! तू पूर्वोक्त लक्षणों वाले दृष्टिके मन्द करने वाले सात–उदार–उत्पातोंको शत्रुओंको दिखाता हुआ घृत आदिके होमने पर उन उत्पातोंको लेकर हमारी सेनाके साथ उठ ६

सप्तमी॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव॥ ७॥

प्रतिऽघ्नाना। अश्रुऽमुखी। कृधुऽकर्णी। च। क्रोशतु।
विऽकेशी। पुरुषे। हते। रदिते। अर्बुदे। तव॥ ७॥

हे अर्बुदे तव रदिते दन्तैर्विलेखने खादने सति तथा तेन रदनेन शत्रुभूते पुरुषे हते मृते सति तदीया जाया प्रतिघ्नाना प्रतिमुखं स्वकीयं वक्षस्ताडयन्ती। ❀ प्रतिपूर्वाद् हन्तेर्लटः शानच्। “गमहन०” इति उपधालोपः ❀। अश्रुमुखी बाष्पमुखी कृधुकर्णी। कृध्विति ह्रस्वनाम। कर्णाभरणपरित्यागेन ह्रस्वकर्णी च विकेशी विकीर्णशिरोरुहा च सती क्रोशतु रोदनं करोतु। ❀ क्रुश आह्वाने रोदने च ❀॥

हे अर्बुदि नामक सर्प! तू जब अपने दाँतोंसे डस कर मेरे शत्रुको मारले उस समय उसकी स्त्री उसकी ओर मुख करके अपने

वक्षःस्थलको पीटे, आँसू बहावे, कानोंके आभूषणोंको त्याग कर हस्तकर्णी होजावे और बालोंको खोल कर रोने लगे ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

सम्ऽकर्षन्ती । करूकरम् । मनसा । पुत्रम् । इच्छन्ती ।
पतिम् । भ्रातरम् । आत् । स्वान् । रदिते । अर्बुदे । तव ॥८॥

हे अर्बुदे तव त्वदीये रदिते रदने दन्तैर्विलेखने सति विषावेशवशात् शत्रुस्त्री करूकरं संकर्षन्ती । करु इति अनुकरणशब्दोयम् । तत्करोतीति करूकरम् हस्तपादाद्यवयवगतं संधिमद् अस्थिजातं तत् सम्यक् कर्षन्ती । लोके हि भयवशाद् उभयोर्हस्तयोः परस्पराङ्गुलिनिपीडनेन तादृशं शब्दम् उत्पादयन्ति । तदनन्तरं मनसा अन्तःकरणेन विषप्रतीकाराय पुत्रम् आत्मीयं सुतम् इच्छन्ती। तदनन्तरं पतिम् भर्तारम् इच्छन्ती । ततो भ्रातरम् आत्मीयं सहजम् । आत् अनन्तरं स्वान् स्वकीयान् बन्धुजनान् विषनिर्हरणाय इच्छन्ती । इत्थम् इतिकर्तव्यतामूढा भवत्वित्यर्थः ॥

हे अर्बुदे ! तेरे दाँतोंसे डसने पर विषका आवेश होनेसे शत्रुस्त्री हाथ पैरकी संधिकी अस्थियोंको दबा कर करु-शब्द (कट कट शब्द) को करने लगे । फिर मनसे विषका प्रतीकार करनेके लिये अपने पुत्रको चाहे, पतिका ध्यान रक्खे, भाईको चाहे तथा विषको दूर करनेके लिये अपने बांधवोंको चाहे। इस प्रकार कर्तव्यविमूढ़ होजावे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।

ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ ९ ॥

अतिक्रुवाः । जाष्कमदाः । गृध्राः । श्येनाः । पतत्रिणः ।

ध्वाङ्क्षाः । शकुनयः । तृप्यन्तु । अमित्रेषु । सम्ऽईक्षयन् । रदिते ।

अर्बुदे । तव ॥ ९ ॥

अतिक्रुवाः । विशिष्टक्रैव्ययुक्ता विक्रुवाः तद्विपरीता अतिक्रुवा । धृष्टाः पक्षिण इत्यर्थः । याश्च पक्षिजातयः क्रमदाः क्रमस्य शरीरावसादस्य दात्र्यः । ता अनुक्रामति । गृध्राः श्वेतवर्णा मांसाभिलाषिणः पक्षिणः । श्येनाः प्रसिद्धाः । पतत्रिणः अन्ये च मांसभक्षकाः पक्षिणः पतत्रिशब्देन विवक्षिताः । ध्वाङ्क्षाः काकाः । एवमात्मकाः शकुनयः हे अर्बुदे तव रदिते त्वदीये रदने विषदन्तैर्विलेखने अमित्रेषु अस्मदीयेषु शत्रुषु सति समीक्षयन् । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । तन्मरणं प्रतीक्षमाणास्तदनन्तरं तद्भक्षणेन तृप्यन्तु तृप्ता भवन्तु ॥

हे अर्बुदे ! तेरे काटने पर हमारे शत्रुओंके मरणकी बाट देखते हुए शरीरको कष्ट देने वाले ढीठ गिद्ध बाज और कौए आदि पक्षी उनके मांससे तृप्त होवें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥

अथो इति । सर्वम् । श्वापदम् । मक्षिका । तृप्यतु । क्रिमिः ।
पौरुषेये । अधि । कुणपे । रदिते । अर्बुदे । तव ॥ १० ॥

अथो अपि च सर्वं श्वापदम् शुनः पदानीव पदानि यस्य सृगालव्याघ्रादेः तत् सर्वं श्वापदम्। मक्षिका मांसनिषेविणी या नीलमक्षिकेति प्रसिद्धा। क्रिमिः मांसेषु जीर्णेषु जायमानः प्राणी। एतत् सर्वम् हे अर्बुदे तव रदिते सति पौरुषेये पुरुषसंबन्धिनि कुणपे शवशरीरे अधि उपरि तृप्यतु। तव खादनेन सर्वेषु शत्रुषु मृतेषु तच्छरीराणि गृध्रादयः पक्षिश्वसृगालादयश्च भक्षयन्त्वित्यर्थः॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

और जिनका कुत्तेकी समान पैर होता है ऐसे गीदड़ व्याघ्र आदि श्वापद, मांसका सेवन करनी वाली नीली मक्खी, मांसके जीर्ण होने पर प्रादुर्भूत होने वाले प्राणी कीड़े ये सब, हे अर्बुदे! तेरे काटने पर शत्रुके शवके ऊपर तृप्त होवें अर्थात् तेरे काटनेसे सब शत्रुओंके मर जाने पर उनके शरीरोंको गीध कौए कुत्ते गीदड़ आदि भक्षण कर जावें॥ १० ॥ (२१)

पञ्चम अनुवाक में प्रथम सूक्त समाप्त

"आ गृह्णीतम्" इति सूक्तस्य शत्रुजयकर्मणि विनियोग उक्तः॥

"आ गृह्णीतं" सूक्तका शत्रुजयकर्ममें विनियोग कह दिया है।

द्वितीयसूक्ते प्रथमा॥

आ गृ॑ह्णीतं॒ सं बृ॑हतं प्राणापा॒नान् न्य॑र्बुदे।
नि॒वा॒शा घोषाः॒ सं य॑न्त्व॒मित्रे॑षु समी॒क्षय॑न् रदि॒ते
अर्बु॑दे॒ तव॑ ॥ ११ ॥

आ। गृ॒ह्णी॒त॒म्। सम्। बृ॒ह॒त॒म्। प्रा॒ण॒पा॒नान्। नि॒ऽअ॒र्बु॒दे।
नि॒ऽवा॒शाः। घोषाः॑। सम्। य॒न्तु॒। अ॒मित्रे॑षु। स॒म्ऽई॒क्षय॑न्।
र॒दि॒ते। अ॒र्बु॒दे॒। तव॑॥ ११॥

हे न्यर्बुदे त्वं च अर्बुदिश्च युवां शत्रुसंबन्धिनः प्राणापानान् आ गृह्णीतम् आसमन्तात् स्वीकुरुतम् । तदनन्तरं सं वृहतम् समूलम् उत्खिदतम् । ❀ वृहू उद्यमने । तुदादित्वात् शप्रत्ययः ❀ ॥ हे अर्बुदे तव रदिते सति अमित्रेषु शत्रुषु तद् रदितं समीक्षयन् । ❀ षष्ठ्यर्थे प्रथमा ❀ । समीक्षयतां जनानां निवाशाः नीचीनं वाश्यमाना आभाष्यमाणा घोषाः शब्दाः सं यन्तु सम्यग्वर्तन्ताम् । विषनिपीडितानाम् आर्तस्वरा उत्पद्यन्ताम् इत्यर्थः ॥

हे न्यर्बुदि ! और अर्बुदि ! आप दोनों शत्रुओंके प्राणोंको ग्रहण करें, तदनन्तर उसको जड़सहित उखाड़ फेंके, हे अर्बुदि ! तेरे काटने पर शत्रु उस उस डसनेके स्थानको देख कर रोवाराट मचाने लगें ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

उत् । वेपय । सम् । विजन्ताम् । भिया । अमित्रान् । सम् । सृज । उरुऽग्राहैः । बाहुऽअङ्कैः । विध्य । अमित्रान् । निऽअर्बुदे ॥१२॥

हे न्यर्बुदे एतत्संज्ञ सर्पजातीय देव अमित्रान् अस्मदीयान् शत्रून् उद् वेपय उत्कम्पय । ❀ टुवेपृ कम्पने इति धातुः ❀ । ते च अनन्तरं सं विजन्ताम् भयात् स्वस्थानात् प्रचलिताः उद्विग्ना भवन्तु । ❀ ओविजी भयचलनयोः ❀ । भिया अस्मत्सकाशात् उत्पन्नतया भीत्या सं सृज संयोजय तदनन्तरम् उरुग्राहैः ऊरूणां ग्रहणैः बाह्वङ्कैः बाहुना चक्रबन्धनैः अमित्रान् अस्मदीयान् शत्रून् विध्य ताडय ॥

हे न्यर्बुदि नामक सर्पजातीय देव ! आप हमारे शत्रुओंको

कँपाइये और वे भी अपने स्थानसे प्रचलित होकर उद्विग्न होवें। उनको आप हमसे भयभीत करिये फिर आप हमारे शत्रुओंको टाँगोंके और हाथोंके क्रियाराहित्यसे ताड़ित करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

मुह्यन्तु । एषाम् । बाहवः । चित्तऽआकूतम् । च । यत् । हृदि ।
मा । एषाम् । उत् । शेषि । किम् । चन । रदिते । अर्बुदे । तव ॥

हे अर्बुदे तव रदिते खादने सति एषां शत्रूणां बाहवः विषावेशवशाद् मुह्यन्तु मूढा व्यापारासमर्था भवन्तु । एषां शत्रूणां हृदि हृदये यत् चित्ताकूतम् चित्तेन संकल्पितम् अर्थजातं तदपि मुह्यतु मूढं विस्मृतं भवतु । यद्वा चित्तानि मनांसि आकूतानि कर्तव्यविशेषविषयास्तद्वृत्तयः । तत् सर्वं मुह्यतु । अपि च एषां शत्रूणां संबन्धि किं चन किमपि रथतुरगहस्त्यादिलक्षणं बलं मा उच्छेषि उच्छिष्टम् अवशिष्टं मा भूत् । सर्वमपि त्वया हन्यताम् इत्यर्थः ॥

हे अर्बुदि ! आपके डसने पर शत्रुओंकी भुजाएँ विषका आवेश होने पर मूढ़ होजावें अर्थात् व्यापार करनेमें असमर्थ होजावें और इन शत्रुओंके हृदयोंमें जो संकल्प हों वह भी उनको विस्मृत हो जावें, इन शत्रुओंका रथ हाथी घोड़ा आदि कुछ भी न बचे अर्थात् आप सबको नष्ट कर डालिये ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥

प्रतिऽघ्नानाः । सम् । धावन्तु । उरः । पटौरौ । आऽघ्नानाः ।

अघारिणीः । विऽकेश्यः । रुदत्यः । पुरुषे । हते । रदिते । अर्बुदे ।

तव ॥ १४ ॥

हे अर्बुदे तव रदिते खादने सति पुरुषे स्वकीये भर्तरि हते सति तदीयाः स्त्रियः प्रतिघ्नानाः प्रतिमुखं स्वशरीरम् आघ्नत्यस्ताडयन्त्यः । तथा उरः वक्षःस्थलं पटौरौ तत्प्रदेशौ च आघ्नानाः हस्ताभ्याम् आताडयन्त्यः । विकेश्यः विकीर्णकेश्यः । अघारिणीः अघेन भर्तृवियोगजनितेन दुःखेन आर्ताः । रुदत्यः संजातरोदनाः सत्यः सं धावन्तु मृतपुरुषसमीपं शीघ्रं गच्छन्तु । ❀ "सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशो वक्तव्यः" इति "पाघ्रा०" इत्यादिना धाव् आदेशः ❀ ॥

हे अर्बुदि ! तेरे काटनेसे अपने भर्ताके मर जाने पर उनकी स्त्रियें मुखको पीटती हुई छातियोंको कूटती हुई, पटुर नामक स्थानोंको ताड़ित करती हुई बालोंको खोल भर्तृवियोगजनित दुःखसे आर्त हो रोती हुई मरे हुए स्वामीकी ओर दौड़ें ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।

अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।

सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय

श्वन्ऽवतीः । अप्सरसः । रूपकाः । उत । अर्बुदे ।

अन्तःऽपात्रे । रेरिहतीम् । रिशाम् । दुर्निहितऽएषिणीम् ।

सर्वाः । ताः । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु ।
उत्ऽआरान् । च । प्र । दर्शय ॥ १५ ॥

श्वन्वतीः शुना क्रीडार्थेन सारमेयेण सहिता अप्सरसः गन्धर्वस्त्रियः । रूपकाः मायावशात् केवलं रूपमात्रेण उपलभ्यमानाः सेनारूपकाः । हे अर्बुदे ताः सर्वा अमित्रेभ्यो दर्शय । तथा पात्रे अन्तः मध्ये रेरिहतीम् पुनःपुनर्लिहतीं दुर्निहितैषिणीम् दुष्टनिक्षिप्तम् इच्छन्तीं वशाम् गाम् हे अर्बुदे त्वं सर्वास्ताः प्राग् उदीरिता अमित्रेभ्यः शत्रुभ्यो दृशे दर्शनाय कुरु । उदारान् उल्कापातादीन् अद्भुतान् विकृतदर्शनान् यक्षराक्षसांश्च प्र दर्शय ॥

हे अर्बुदि ! क्रीड़ा करनेके लिये कुत्तोंको साथमें रखने वाली अप्सराओंको, मायावश केवल रूपमात्रसे जाननेमें आने वाले सेनारूपकोंको आप शत्रुओंको दिखाइये । तथा पात्रके मध्य में बारंबार चाटती हुई दुष्ट निक्षिप्तको चाहने वाली वशा गौको तथा उल्कापात आदिको और विकृतदर्शनयक्षराक्षसोंको दिखाइये॥

खड्रेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् ।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसंश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥

खड्रे । अधिऽचङ्क्रमाम् । खर्विकाम् । खर्वऽवासिनीम् ।
ये । उत्ऽआराः । अन्तःऽहिताः । गन्धर्वऽअप्सरसः । च । ये ।
सर्पाः । इतरऽजनाः । रक्षांसि ॥ १६ ॥

चतुर्दंष्ट्रांछ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् ।

स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥ १७ ॥

चतुःऽदंष्ट्रान् । श्यावऽदतः । कुम्भऽमुष्कान् । असृक्ऽमुखान् । स्वऽभ्यसाः । ये । च । उत्ऽभ्यसाः ॥ १७ ॥

षष्ठी ॥ दूरभूतं खं खदूरम् आकाशे दूरदेशे अधि उपरि चङ्क्रमाम् चङ्क्रमणशीलां मायावशाद् इतस्ततः प्रादुर्भवन्तीं खर्विकाम् अल्पहस्त्रां खर्वनाशिनीम् खर्वम् अल्पं शब्दायमानां मानवशात् मितभाषमाणाम् हे अर्बुदे त्वं शत्रुभ्यः प्र दर्शय यथा ते पराजयेरन् । ये उदाराः यक्षराक्षसादयः अन्तर्हिताः स्वमायया व्यवहिताः अस्मद्दृग्गोचरा न भवन्ति ये च गन्धर्वाप्सरसस्तथाविधाः तान् सर्वान् पराजयार्थं शत्रुभ्यो दर्शय ॥

सप्तमी ॥ सर्पाः सर्पस्वरूपाः इतरजनाः इतरजनसंज्ञका देवाः । यद्वा सर्पाः सर्पात्मका देवास्तदपेक्षया इतरजनाः तत्सदृशा देवजातयः । रक्षांसि राक्षसाः । ते च चतुर्दंष्ट्रा दंशनसाधनचतुर्दन्तयुक्ताः । तान् । श्यावदतः श्यामवर्णदन्तयुक्तान् । एतानपि मायामयान् अमित्रेभ्यो दर्शय । तथा कुम्भमुष्कान् कुम्भाकृतिमुष्कयुक्तान् । असृङ्मुखान् रक्तास्यान् । स्वभ्यसाः स्वायत्तभीतयो राक्षसाः । ये च उद्भ्यसाः उद्गतभीतयः । ❀ भ्यस भये । "घञर्थे कविधानम्" इति कप्रत्ययः ❀ । घोरेण रूपेण इत्थं विविधभयजनका राक्षसा इत्यर्थः । तान् सर्वान् अमित्रेभ्यो मायया दर्शय ॥

आकाशमें दूर देश पर घूमने वाली मायावश इधर उधर प्रकट होती हुई, छोटी, मानवश थोड़ा शब्द करने वालीको आप शत्रुओं को दिखाइये, जिससे वह पराजित होजावें । जो यक्ष राक्षस आदि अपनी मायासे अन्तर्हित होनेके कारण हमारे दृग्गोचर नहीं होते हैं और जो गंधर्व हैं उनको आप पराजयके लिये शत्रुओंको दिखाइये ॥

जो सर्परूप देवता हैं और जो इतरजन नामक देवता हैं और जो चार काले दाँत वाले राक्षस हैं इन मायामय व्यक्तियोंको भी वैरियोंको भी दिखाइये तथा घड़ेकी समान अण्डकोशों वाले, रक्त से सने मुख वाले, भयको वशमें रखने वाले निर्भय राक्षसोंको भी मायासे दिखाइये ॥ १६ ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

उद् वेपय त्वमर्बुदेमित्राणाममूः सिचः ।
जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥

उत् । वेपय । त्वम् । अर्बुदे । अमित्राणाम् । अमूः । सिचः ।
जयन् । च । जिष्णुः । च । अमित्रान् । जयताम् । इन्द्रऽमेदिनौ ।

हे अर्बुदे त्वम् अमित्राणाम् शत्रूणाम् अमूः सेनाः शुचः शोचमाना विषावेशजनितशोकार्ताः उद् वेपय उत्कम्पय । ❀ शुच शोके । अस्मात् "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । तथा अमित्रान् शत्रून् जयन् पराभावयन् जिष्णुः जयशीलश्च अर्बुदिन्यर्बुदी इन्द्रमेदिनौ इन्द्रेण सह स्निह्यन्तौ जयताम् अस्माकं जयं कुरुताम् ॥

हे अर्बुदे ! आप वैरियोंकी सेनाओं को विषके आवेशके कारण शोक करने वाली करके कँपाइये। विजयशील अर्बुदि और न्यर्बुदि कि—जो इन्द्रके मित्र हैं वे वैरियोंको हराते हुए हमारी विजय करें १८

नवमी ॥

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९॥

प्रऽब्लीनः । मृदितः । शयाम् । हतः । अमित्रः । निऽअर्बुदे ।

अग्नि॑ऽजिह्वाः । धू॒मऽशि॑खाः । जय॑न्तीः । य॒न्तु । सेन॑या ॥ १९ ॥

हे न्यर्बुदे अमित्रः अस्मदीयः शत्रुः प्रम्लीनः प्रभीतः मृदितः संपिष्टगात्रः हतः गतासुः शयाम् शेताम् । ❁ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । म्ली भये । अस्मात् प्रपूर्वात् कर्मणि निष्ठा । तकारस्य नत्वम् ❁ । अग्निजिह्वाः अग्नेर्ज्वालाः धूमशिखाः धूमप्ररोहाः मायावशात् त्वयोत्पादिताः जयन्तीः शत्रुबलं जयन्त्यः सेनया अस्मदीयया सह यन्तु गच्छन्तु ॥

हे न्यर्बुदे ! हमारा वैरी भयभीत हो अवयवोंके चूर्णित होजाने पर मर कर शयन करे और धूमशिखा अग्निजिह्वायें वैरियों की सेनाओंको जीतती हुई हमारी सेनाके साथ चलें ॥ १९ ॥

दशमी ॥

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥

तया॑ । अर्बु॑दे । प्रऽनु॑त्तानाम् । इन्द्रः॑ । ह॒न्तु॒ । वर॑म्ऽवरम् ।
अ॒मित्रा॑णाम् । श॒ची॒ऽप॑तिः । मा । अ॒मीषा॑न् । मो॒चि॒ । कः । च॒न ॥

हे अर्बुदे त्वया प्रणुत्तानाम् युद्धाङ्गात् प्रच्यावितानाम् । ❁ "नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त०" इति निपातनात् निष्ठानत्वाभावः ❁ । अमित्राणाम् शत्रूणां शचीपतिः शच्याः पतिः इन्द्रः वरंवरम् श्रेष्ठं श्रेष्ठं हन्तु मारयतु । अमीषां शत्रूणां मध्ये कश्चन कश्चिदपि मा मोचि मा मुच्यताम् क्रमशः सर्वो हन्यताम् इत्यर्थः । ❁ मुच्लृ मोक्षणे इत्यस्मात् कर्मणि माङि लुङ् । "चिण् भावकर्मणोः" इति च्लेश्चिण् आदेशः । "चिणो लुक्" इति तशब्दस्य लुक् ❁ ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अर्बुदे ! आपके द्वारा युद्धरंगसे भगाये हुए हमारे वैरियोंमेंसे श्रेष्ठ २ को शचीपति इन्द्र चुन २ कर मारें और इन वैरियोंमेंसे कोई भी न छूटने पावे ॥ २० ॥ (२१)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

"उत् कसन्तु हृदयानि" इति सूक्तस्य शत्रुजयकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"उत्कसन्तु हृदयानि" सूक्तका शत्रुजयकर्ममें विनियोग कर दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु ।
शौष्कास्यमनु वर्ततामुमित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥

उत् । कसन्तु । हृदयानि । ऊर्ध्वः । प्राणः । उत् । ईषतु ।
शौष्कऽआस्यम् । अनु । वर्तताम् । अमित्रान् । मा । उत । मित्रिणः

शत्रूणां संबन्धीनि हृदयानि अन्तःकरणानि उत् कसन्तु शरीराद् उद्गच्छन्तु । तथा प्राणः प्राणवायुः ऊर्ध्वः सन् उदीषतु शत्रुशरीरान्निर्गच्छतु । ❀ ईश गतौ ❀ । अमित्रान् शत्रून् शौष्कास्यम् शुष्कास्यता । भीतिवशाद् आस्यस्य निर्द्रवत्वम् । तद् अनु वर्तताम् अनुगच्छतु । आस्यशोषणेन शत्रवो म्रियन्ताम् इत्यर्थः । अपि च मित्रिणः अस्माकं मित्रभूतान् जनान् मा अनुवर्तताम् । तेषाम् आस्यशोषो मा भूद् इत्यर्थः ॥

शत्रुओंके अन्तःकरण शरीरसे निकल जावें, और प्राणवायु भी ऊपरको जाकर शत्रुके शरीरसे निकल जावें, शत्रुओंको डरके कारण शुष्कास्यता प्राप्त हो, अर्थात् मुख सूखनेसे शत्रु मर जावें । और यह शुष्कास्यता हमारे मित्रोंको प्राप्त न होवे ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये ।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय

ये । च । धीराः । ये । च । अधीराः । पराञ्चः । बधिराः । च । ये ।
तमसाः । ये । च । तूपराः । अथो इति । बस्तऽअभिवासिनः ।
सर्वान् । तान् । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु ।
उत्ऽआरान् । च । प्र । दर्शय ॥ २२ ॥

ये च धीराः शूरा भटाः ये च अधीराः अशूराः कातराः । पराञ्चः पराङ्मुखा युद्धात् पलायमानाः ये च बधिराः भयवशात् हतश्रवणसामर्थ्याः । तमसा मोहेन ये च तूपराः तूपरः शृङ्गहीनः पशुः । तद्वद् अवस्थिताः । अथो अपि च बस्ताभिवासिनः बस्ताश्च अवयश्च बस्तावयः तद्वद् वाशितुं शीलम् एषां ते बस्ताभिवाशिनः । बस्ताभिध्वनिं कुर्वाणा इत्यर्थः । हे अर्बुदे त्वं सर्वांस्तान् स्वमायया उद्भावितान् अमित्रेभ्यः शत्रुभ्यो दृशे दर्शनाय कुरु पराजयार्थम् । गतम् अन्यत् ॥

जो धीर योधा हैं और जो कातर अधीर हैं और जो युद्धसे पराङ्मुख होकर भाग जाते हैं और भयके कारण जिनकी शक्ति नष्ट होजाती है और जो मोहके कारण भग्नशृंग पशुकी समान खड़े रह जाते हैं और जो भेड़ बकरियोंकी समान शब्द करने वाले योधा हैं, हे अर्बुदे ! अपनी मायासे प्रकट कियेहुए उन सबको आप शत्रुओंका पराजय करनेके लिये शत्रुओंकी दृष्टिके सामने करिये ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

अर्बुदिश्च त्रिषंधिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेमित्राणां सहस्रशः

अर्बुदिः । च । त्रिऽसंधिः । च । अमित्रान् । नः । वि । विध्यताम् ।
यथा । एषाम् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । हनाम । शचीऽपते । अमित्राणाम् ।
सहस्रशः ॥ २३ ॥

त्रिषंधिः कश्चित् सेनामोहको देवः संधित्रयोपेतवज्रायुधाभिमानी वा । स च अर्बुदिश्च उभौ नः अस्माकम् अमित्रान् शत्रून् वि विध्यताम् विविधं ताडयताम् । हे वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तरिन्द्र हे शचीपते शच्या देव्याः पते यथा येन प्रकारेण एषाम् अमित्राणाम् शत्रूणां सम्बन्धिनो जनान् सहस्रशः सहस्रसंख्याकान् एकोद्योगेन हनाम मारयाम । तथा वि विध्यताम् इति संबन्धः । ❀ "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इति सहस्रशब्दात् शस् प्रत्ययः ❀ ॥

तीन संधि वाले वज्रका अभिमानी वा सेनामोहक त्रिषन्धि-नामक देव और अर्बुदि ये दोनों हमारे शत्रुओंको अनेक प्रकारसे नष्ट करें हे शचीपति इन्द्र ! हम जिस प्रकार इन शत्रुओंको सहस्रों प्रकारसे मार सकें इस प्रकार आप इनको ताड़ित करिये ॥२३॥

चतुर्थी ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ।

गन्धर्वऽअप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्यऽजनान् । पितॄन् ।

सर्वान् । तान् । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु ।

उत्ऽआरान् । च । प्र । दर्शय ॥ २४ ॥

वनस्पतीन् वृक्षान् । वानस्पत्यान् वनस्पतिविकारान् । ओषधीः व्रीहियवाद्याः । उत वीरुधः विरोहणशीला आरण्याः । गन्धर्वाप्सरसः गन्धर्वान् अप्सरसश्च सर्पान् विकृतवेषान् भुजङ्गान् देवान् पुण्यजनान् यक्षान् पितॄन् मृतान् पूर्वपुरुषान् मायामयान् । तान् सर्वान् हे अर्बुदे त्वं शत्रुभ्यो दृष्टिविषयान् कुरु । उक्तार्थम् अन्यत् ॥

वृक्षोंको, वृक्षोंसे बने हुए पदार्थोंको, व्रीहि यव आदि ओषधियोंको, लताओंको, गन्धर्व और अप्सराओंको, सर्पोंको, देवताओंको यक्षोंको और मरे हुए मायामय पूर्वपुरुषोंको हे अर्बुदे! तू शत्रुओंको दिखा और आन्तरिक्ष उत्पातोंको भी दिखा॥२४॥

पञ्चमी ॥

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।

ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥

ईशाम् । वः । मरुतः । देवः । आदित्यः । ब्रह्मणः । पतिः ।

ईशाम् । वः । इन्द्रः । च । अग्निः । च । धाता । मित्रः । प्रजाऽपतिः ।

ईशाम् । वः । ऋषयः । चक्रुः । अमित्रेषु । सम्ऽईक्षयन् । रदिते ।

अर्बुदे । तव ॥ २५ ॥

हे शत्रवः वः युष्माकं मरुदाद्या देवाः। मत्ययश्रवणसामर्थ्यात् चक्रुरिति अन्ते श्रूयमाणं सर्वत्र संबध्यते। ईशां चक्रुः ईश्वराः शिक्षका भवन्तु। तथा इन्द्रश्च अग्निश्च इत्यनुक्रान्ताश्च देवाः हे शत्रवः वः युष्मान् ईशां चक्रुः ईश्वराः युष्माकं नियन्तारो भवन्तु। तथा ऋषयः अथर्वाङ्गिरःप्रभृतयः ईशां चक्रुः ईश्वराः शिक्षका भवन्तु। ❀ ईश ऐश्वर्ये। "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इति आम् मत्ययः। "आम्मत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य" इत्यनुप्रयुज्यमानस्य करोतेः आत्मनेपदाभावश्छान्दसः ❀। हे अर्बुदे अमित्रेषु अस्मदीयेषु शत्रुषु तव रदिते दन्तैर्विलेखने खादने सति तत् समीक्षयन्। ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀। अवलोकयन्तो देवाद्याः। ईशां चक्रुः इति संबन्धः॥

हे शत्रुओ! मरुत् आदि देवता तुमको दण्ड दें इन्द्र और अग्नि देवता तुम्हारे नियन्ता होवें, आदित्य, ब्रह्मणस्पति, धाता, मित्र, प्रजापति, अथर्वा, अङ्गिरा आदि ऋषि तुम्हारे शिक्षक होवें, हे अर्बुदे! आपके काटने पर इन्द्र आदि देवता ऐसा करें॥ २५॥

षष्ठी॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥२६॥

तेषाम्। सर्वेषाम्। ईशानाः। उत्। तिष्ठत। सम्। नह्यध्वम्। मित्राः। देवऽजनाः। यूयम्।

इमम्। सम्ऽग्रामम्। सम्ऽजित्य। यथाऽलोकम्। वि। तिष्ठध्वम्

तेषां सर्वेषाम् अस्मदीयानां शत्रूणाम् ईशानाः ईश्वराः शिक्षकाः

सन्तः उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं च तेषां शिक्षणाय उत्थाय संनद्धा भवत । हे मित्रा देवजनाः यूयम् इमम् अस्मदीयं प्रस्तुतं संग्रामं संजित्य सम्यग् जित्वा अस्मदीयान् शत्रून् निरस्य यथालोकम् यथास्थानं वि तिष्ठध्वम् । स्वंस्वं स्थानं गच्छतेत्यर्थः । ❀ "समव-प्रविभ्यः स्थः" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे देवजनों ! हमारे मित्ररूप आप हमारे शत्रुओंके शिक्षक बननेके लिये तयार हूजिये और आप हमारे इस प्रस्तुत संग्राम को जीत कर अर्थात् हमारे शत्रुओंको अपमानित कर अपने २ स्थानको चले जाइये ॥ २६ ॥ (२७)

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५८९) ॥

"उत्तिष्ठत" इति सूक्तस्य शत्रुजयकर्मणि संप्रैषणादिषु विनियोग उक्तः ॥

"उत्तिष्ठत सूक्तका शत्रुजयकर्मके सम्प्रैषण आदिमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । सम् । नह्यध्वम् । उत्ऽआराः । केतुऽभिः । सह ।
सर्पाः । इतरऽजनाः । रक्षांसि । अमित्रान् । अनु । धावत ॥१॥

हे उदाराः औदार्यगुणोपेताः सेनानायकाः केतुभिः आत्मीयैः ध्वजैः सह उत्तिष्ठत युद्धार्थम् उद्गच्छत सं नह्यध्वम् संनद्धाः कवचादिभिः संबद्धा युद्धोद्युक्ता भवत । यद्वा उदाराः पूर्वोक्ता मायामयाः अद्भुतरूपा यातुधानाद्याः । तत्र संबोध्याः ॥ सर्पाः हे सर्पा-

कृतयो देवजनाः। इतरजनाः सर्पव्यतिरिक्ता देवजातयः एतत्संज्ञाः। हे रक्षांसि राक्षसाः युयमपि अस्मदीयान् अमित्रान् शत्रून् अनु धावत अनु पृष्ठतः शीघ्रं गच्छत ॥

हे उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न सेनानायकों ! तुम अपनी ध्वजाओंके साथ युद्धके लिये सन्नद्ध होजाओ कवच आदि पहिर कर युद्धके लिये चल दो, हे सर्पकी समान आकार वाले देवजनों ! हे सर्पोंके अतिरिक्त देवताओं ! और हे राक्षसों ! तुम भी हमारे वैरियोंके पीछे दौड़ो ॥ १ ॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

ईशाम् । वः । वेद । राज्यम् । त्रिऽसंधे । अरुणैः । केतुऽभिः । सह ।
ये । अन्तरिक्षे । ये । दिवि । पृथिव्याम् । ये । च । मानवाः ।
त्रिऽसंधेः । ते । चेतसि । दुःऽनामानः । उप । आसताम् ॥ २ ॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषंधिना ॥

अयःऽमुखाः । सूचीऽमुखाः । अथो इति । विकङ्कतीऽमुखाः ।
क्रव्यऽअदः । वातऽरंहसः । आ । सजन्तु । अमित्रान् । वज्रेण ।
त्रिऽसंधिना ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥ हे अमित्राः वः युष्माकं राज्यम् राष्ट्रं त्रिसंधिर्वज्रः

भिमानी देवः ईशां वेद ईशितव्यत्वेन जानातु । युष्मत्तः अपहृत्य स्ववशं करोत्वित्यर्थः । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "इजादेश्च गुरुमतः०" इति पूर्ववद् आम् प्रत्ययः । कृभ्वस्तिव्यतिरिक्तस्य विदेरनुप्रयोगश्छान्दसः ❀ । हे त्रिसंधे वज्रात्मक देव अरुणैः अरुणवर्णैः केतुभिः आत्मीयैर्ध्वजैः सह । उत्तिष्ठेति शेषः । ये केतवः अन्तरिक्षे उत्पातरूपेण प्रादुर्भवन्ति ये च दिवि द्युलोके ये च पृथिव्याम् भूलोके मानवाः मनुष्यसंबन्धिनः केतवः । तैः केतुभिः सहेति पूर्वेण संबन्धः ॥

तृतीया ॥ हे त्रिसंधे त्वे तव चेतसि मनसि वर्तमानं दुर्णामानम् दुष्टसंज्ञकम् अस्मदीयं शत्रुम् उपासताम् संभजन्ताम् । के पुनस्त इत्याह ॥ अयोमुखाः अयःसदृशतुण्डयुक्ताः पक्षिणः । सूचीमुखाः सूच्याकारतुण्डयुक्ताः पक्षिणः । अथो अपि च विकङ्कतीमुखाः विकङ्कतः बहुकण्टको वृक्षविशेषः । ❀ "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीय ईकारः ❀ । विकङ्कतवद् बहुकण्टकयुक्तमुखाः पक्षिविशेषाः ॥ क्रव्यादः क्रव्यम् आममांसम् अदन्ति भक्षयन्तीति क्रव्यादो गृध्रादयः । ❀ "क्रव्ये च" इति अद भक्षणे इत्यस्माद् विट् प्रत्ययः ❀ । वातरंहसः वातवेगाः त्रिसंधिना एतत्संज्ञेन देवेन वज्रेण वज्रायुधाभिमानिना प्रेरिताः सन्तः अमित्रान् अस्मदीयान् शत्रून् आ सजन्तु आसक्ता भवन्तु । यद्वा संधित्रयोपेतेन वज्रायुधेन आसक्तान् संबद्धान् कुर्वन्तु । यथा ते वज्रेण हन्येरन् तथा प्रवर्तन्ताम् इत्यर्थः । यस्य हि निकटे एवंरूपाः पक्षिण उपसर्पन्ति तस्य मरणम् अवश्यं भवतीति शाकुनिकशास्त्रप्रसिद्धिः ॥

हे वैरियो ! त्रिषन्धि नामक जो वज्राभिमानी देवता है वह तुम्हारे राष्ट्रको दण्ड देनेयोग्य समझे अर्थात् राज्यको तुमसे छीन कर अपने वशमें कर लेय । हे त्रिषन्धिनामक देव ! आप अपनी अरुण वर्णकी ध्वजाओंके साथ उठिये, जो केतु अन्तरिक्षमें उत्पात-

रूपसे प्रकट होते हैं और जो द्युलोकमें उत्पातरूपमें होते हैं और जो मनुष्योंकी ध्वजाएँ पृथिवीमें होती हैं उनके साथ हे त्रिषंधे! आप उठिये ॥ २ ॥

हे त्रिसंधे! आपके चित्तमें जो खोटे नाम वाले प्राणियोंका समूह है वह हमारे वैरीकी उपासना करे। (उन प्राणियोंका वर्णन करते हैं, कि–) लोहेकी समान चोंच वाले पक्षी, सुईकी समान चोंच वाले पक्षी, और बहुतसे काँटों वाले वृक्षोंकी समान काँटेदार मुखवाले पक्षी, कच्चे मांसका भक्षण करने वाले गीध आदि पक्षी त्रिषंधि नामक देवके प्रेरणा करने पर वायुकी समान वेगसे जाकर वैरियों पर टूट पड़ें (शकुनशास्त्रमें भी यह बात प्रसिद्ध है, कि–जिसके समीप ऐसे पक्षी जाते हैं उसका मरण ही होता है) ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु।
त्रिषंधेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥

अन्तः। धेहि। जातऽवेदः। आदित्य। कुणपम्। बहु।
त्रिऽसंधेः। इयम्। सेना। सुऽहिता। अस्तु। मे। वशे ॥ ४ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितः सांग्रामिकाग्ने आदित्य। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति विभक्तेर्लुक् ❀। आदित्यम् दिवि वर्तमानं सूर्यं बहु बहुलं कुणपम्। ❀ तृतीयार्थे द्वितीया ❀। बहुलेन शवशरीरेण अन्तरिक्षे निपद्यमानेन अन्तर्धेहि आच्छादय। त्रिषंधेर्देवस्य संबन्धिनी इयं सेना मे मम वशे सुहितास्तु सम्यग् निहितास्तु। तया वयं शत्रून् जयेमैवेत्यर्थः ॥

हे सांग्रामिक अग्ने! आप स्वर्गमें वर्तमान सूर्यको शवशरीरोंके

कारण आच्छादित कर दीजिये, त्रिसन्धिदेवकी सेना मेरे वशमें भली प्रकार आजावे, उस सेनासे हम वैरियोंको जीत ही डालें ४

पञ्चमी ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।

अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषंधेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

उत् । तिष्ठ । त्वम् । देवऽजन । अर्बुदे । सेनया । सह ।

अयम् । बलिः । वः । आऽहुतः । त्रिऽसंधेः । आऽहुतिः । प्रिया ॥

हे देवजन देवजातीय अर्बुदे त्वम् आत्मीयया सेनया सह उत्तिष्ठ उद्गच्छ । हे अर्बुदे आहुतिः हूयमानः पृषदाज्यहोमः वः युष्माकम् अयं बलिः तृप्तिकरो हविर्भागः । यतो बलिप्रियास्त्वदीयाः सर्पाः अतोऽस्मदीयं हूयमानं पृषदाज्यं स्वीकृत्य अस्मदीयान् शत्रून् मारयन्तु इत्यर्थः । तथा त्रिषंधेर्देवस्य या सेना प्राग् उक्ता सापि आहुतिप्रिया अनयाहुत्या प्रीता सती शत्रून् हिनस्तु ॥

हे देवजातीय अर्बुदे ! आप अपनी सेनाके साथ उठिये, हे अर्बुदे ! यह होमा हुआ पृषदाज्यहोम आपको तृप्त करने वाला हविर्भाग है । तात्पर्य यह है, कि-आपके सर्प बलिप्रिय हैं अतः हमारे होमे हुए पृषदाज्यको स्वीकृत करके हमारे शत्रुओंका विनाश करें । और त्रिषन्धिदेवकी जो सेना है वह भी इस आहुतिसे प्रसन्न होकर शत्रुओंका संहार करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्येयं चतुष्पदी ।

कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषंधेः सह सेनया ॥ ६ ॥

शितिऽपदी । सम् । द्यतु । शरव्या । इयम् । चतुःऽपदी ।

कृत्ये । अमित्रेभ्यः । भव । त्रिऽसंधेः । सह । सेनया ॥ ६ ॥

शितिः श्वेतवर्णः पादे यस्याः सा शितिपदी गौः । सेयं चतुष्पदी पादचतुष्टयोपेता शरव्या शरूणां बाणानां समूहः शरव्या। ❀ "पाशादिभ्यो यः" इति समूहेर्थे यप्रत्ययः ❀। शरसंहतिरूपा भूत्वा सं पततु शत्रून् संप्राप्नोतु । हे कृत्ये कृत्यारूपिणि शितिपदि त्वम् अमित्रेभ्यः शत्रुभ्यः कृत्यारूपा संहर्त्री भव । त्रिषंधेर्देवस्य सेनया सह । सेनापि तव सहायभूतेत्यर्थः ॥

यह श्वेत वर्णके पादों वाली चार पैरकी गौ बाणोंकी समूहरूप होकर शत्रुओंके ऊपर पतित हो । हे कृत्यारूपिणि शितिपदि ! तू शत्रुओंके लिये कृत्यारूपिणी हो त्रिसंधिदेवकी सेना भी तेरी सहायता करनेके लिये उद्यत रहे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
त्रिषंधेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

धूमऽअक्षी । सम् । पततु । कृधुऽकर्णी । च । क्रोशतु ।
त्रिऽसंधेः । सेनया । जिते । अरुणाः । सन्तु । केतवः ॥ ७ ॥

शत्रुसंबन्धिनी सेना धूमाक्षी धूमेन मायामयेन आवृतानि अक्षीणि चक्षूंषि यस्याः सा तथोक्ता। ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति षच् समासान्तः । षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् ❀ । तादृशी सती सं पततु सम्यग् निपद्यताम् । तथा कृधुकर्णी अल्पश्रोत्रा पटहध्वनिना हतश्रवणसामर्थ्या च सा परकीया सेना क्रोशतु आक्रोशतु । इतिकर्तव्यतामूढा भवतु । इत्थं त्रिषंधेर्देवस्य सम्बन्धिन्या सेनया परकीये बले जिते जेतव्ये सति तत्संबन्धिनः अरुणाः अरुणवर्णाः केतवः ध्वजाः सन्तु भवन्तु ॥ यद्वा

धूमैरक्षीणि आवृण्वती कृत्वा धूमाक्षी । सा सं पततु शत्रुसेनां समागच्छतु । तथा कधुकर्णी । कधु इति अल्पनाम । कर्णयोः अल्पत्वापादिका श्रवणशक्तेर्विहन्त्री कृत्वा कधुकर्णी । सा च भीत्युत्पादनाय क्रोशतु । एवं त्रिषंधेः सेनया परकीये बले जिते सति तदीयाः केतवः अरुणाः रुधिरेणाक्ताः अरुणवर्णा भवन्तु ।

शत्रुकी सेनाके नेत्र मायामय धूमसे ढक जावें ऐसा होने पर वह गिरने लगे और नगाड़ोंकी ध्वनिसे श्रवणशक्तिके नष्ट हो-जाने पर (कर्तव्यविमूढ हो) रोने लगे । जब त्रिसन्धिदेव इस प्रकार अपनी सेनासे शत्रुओंको जीतना चाहें तो उनके केतु लाल लाल होजावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अवांयन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरंन्ति श्वापंदो मक्षिकाः सं रंभन्तामामादो गृध्राः कुणंपे रदन्ताम् ॥ ८ ॥

अव । अयन्ताम् । पक्षिणः । ये । वयांसि । अन्तरिक्षे । दिवि । ये । चरन्ति ।

श्वापदः । मक्षिकाः । सम् । रभन्ताम् । आमऽअदः । गृध्राः । कुणपे । रदन्ताम् ॥ ८ ॥

अथ जयानन्तरभावीनि कार्याणि प्रार्थ्यन्ते । अन्तरिक्षे आकाशे ये वयांसि पक्षिणः संचरन्ति ते पक्षिणः अवायन्ताम् मृते शत्रुबले मांसभक्षणाय अधस्तान्मुखं निपद्यन्ताम् । ❀ अय पय गतौ । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् ❀ । तथा दिवि द्युलोके ये पक्षिणश्चरन्ति तेऽप्यवायन्ताम् । तथा श्वापदः शुनः पादा इव पादा

येषां ते तथोक्ताः श्वसृगालादयः मक्षिकाश्च सं रभन्ताम् शत्रुसेनायां शवभक्षणार्थम् उपक्रमन्ताम् । तथा आमादः आममांसभक्षका गृध्राः पक्षिविशेषाः कुणपे शत्रुसेनासम्बन्धिशवशरीरे रदन्ताम् स्वतुण्डैः पादैश्च विलिखन्तु । भक्षणाय उद्युञ्जताम् इत्यर्थः । ❀ रद विलेखने ❀ ॥

(अब विजयके अनन्तर होने वाले कार्योंकी प्रार्थना की जाती है, कि–) आकाशमें जो पक्षी विचरण करते हैं वह शत्रुदलके मरने पर मांसका भक्षण करनेके लिये नीचेको मुख करके गिरें, और द्युलोकमें जो पक्षी विचरण करते हैं वे भी नीचेको मुख करके शवों पर गिरें, और कुत्तेकी समान पैरों वाले गीदड़ आदि और मक्षिकाएँ भी शत्रुसेना पर शवभक्षणके लिये धावा बोल दें । तथा कच्चे मांसका भक्षण करने वाले गीध भी शत्रुदलके शवोंको अपनी चोंच और पञ्जोंसे कुरेदें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥ ९ ॥

याम् । इन्द्रेण । सम्ऽधाम् । सम्ऽअधत्थाः । ब्रह्मणा । च । बृहस्पते ।
तया । अहम् । इन्द्रऽसंधया । सर्वान् । देवान् । इह । हुवे । इतः । जयत । मा । अमुतः ॥ ९ ॥

हे बृहस्पते देव इन्द्रेण देवानाम् अधिपतिना ब्रह्मणा च तत्स्रष्ट्रा प्रजापतिना च यां संधाम् सन्धानक्रियां प्रतिज्ञारूपां समधत्थाः । ❀ छान्दसो वर्णविकारः ❀ । संहितवान् असि। तथा च मन्त्रा-

न्तरम् । "इयं वः सा सत्या संधाभूद् याम् इन्द्रेण समधद्ध्वम्" इति [तै० सं० १. ७. ८. ४.] । हे इन्द्र तया संधया प्रतिज्ञारूपया संधानक्रियया सर्वान् देवान् इह अस्मिन् संग्रामे हुवे आह्वयामि । हे आहूता देवाः इतः आसु अस्मदीयासु सेनासु जयत जयं कुरुत । अमुतः अमीषु परसेनासु मा जेष्ट ॥

हे बृहस्पति-देव ! आपने देवराज इन्द्रसे और उनके रचयिता ब्रह्माजीसे जो संधानक्रियारूप प्रतिज्ञा की है हे इन्द्र ! उस प्रतिज्ञारूप संधानक्रियासे मैं सब देवताओंको इस संग्राममें बुलाता हूँ, हे आहूत देवताओं ! इस हमारी सेनामें विजयको प्रदान करिये और शत्रुकी सेनाओंको विजय न दीजिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः ।
असुरक्षयणं वधं त्रिषंधिं दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥

बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । ऋषयः । ब्रह्मऽसंशिताः ।
असुरऽक्षयणम् । वधम् । त्रिऽसंधिम् । दिवि । आ । अश्रयन् १०

आङ्गिरसः अङ्गिरसः पुत्रो बृहस्पतिः देवमन्त्री ब्रह्मसंशिताः ब्रह्मणा मन्त्रेण स्वभ्यस्तेन तीक्ष्णीकृता अन्य ऋषयश्च असुरक्षयणम् असुराणां क्षयकरं वधम् हननसाधनम् आयुधं त्रिषंधिम् एतत्संज्ञं देवं सन्धित्रयोपेतं वज्रं वा दिवि द्युलोके स्थितम् आश्रयन् असेवन्त । समभजन्तेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

अङ्गिराके पुत्र देवमन्त्री बृहस्पति और अपने अभ्यस्त मन्त्रसे तीक्ष्ण हुए अन्य ऋषि भी असुरोंका क्षय करनेवाले हननसाधन वज्रनामक आयुधका स्वर्गमें आश्रय लिया करते हैं ॥१०॥ (२८)

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

"येनासौ गुप्त आदित्यः" इति सूक्तस्य शत्रुसेनाजयकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"येनासौ गुप्त आदित्यः" सूक्तका शत्रुसेनाजयकर्ममें विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषंधिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥

येन । असौ । गुप्तः । आदित्यः । उभौ । इन्द्रः । च । तिष्ठतः ।
त्रिऽसंधिम् । देवाः । अभजन्त । ओजसे । च । बलाय । च ११

येन त्रिसंधिना असौ दूरे दिवि दृश्यमान आदित्यः गुप्तः रक्षितः असुरकृतोपद्रवपरिहारेण पालितः स आदित्य इन्द्रश्च उभौ येन त्रिसन्धिना वज्रेण बलेन तिष्ठतः स्वस्थाने प्रतिष्ठितौ भवतः तं त्रिसन्धिम् असुरक्षयणम् आयुधभूतं देवं देवाः सर्वे अभजन्त असेवन्त । किमर्थम् । ओजसे ओजो नाम शरीरान्तर्गतोऽष्टमो धातुः । बलं तेजः । तस्मै च तत्कार्याय बलाय च । ❀ उभयत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ ॥

जिस त्रिसन्धिदेवने इन असुरोंके उपद्रवको दूर करके द्यौमें दीखते हुए सूर्यदेवकी रक्षा की थी । वह सूर्य और इन्द्र उस त्रिसन्धि (वज्र) के बलसे ही स्वर्गमें स्थिर रहते हैं ऐसे असुरक्षयके आयुधरूप त्रिसन्धिका सब देवता ओज और बलके लिये सेवन करते हैं ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥ १२

सर्वान् । लोकान् । सम् । अजयन् । देवाः । आऽहुत्या । अनया ।

बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । वज्रम् । यम् । असिञ्चत । असुरऽक्षय-
णम् । वधम् ॥ १२ ॥

देवाः इन्द्रादयः अनया आहुत्या अनेन पृषदाज्यहोमेन सर्वान् लोकान् समजयन् असुरान् निहत्य प्राप्नुवन् । आङ्गिरसः अङ्गिरसः पुत्रो बृहस्पतिः असुरक्षयणम् असुराणां क्षयकरं यं वधम् हननसाधनं वज्रम् आयुधम् असिञ्चत सेचनेन निर्मितवान् । पृषदाज्याहुतिरेव वज्रात्मना परिणतेत्यर्थः । अनया वज्ररूपया आहुत्येति पूर्वमान्वयः ॥

इन्द्र आदि सब देवताओंने इस पृषदाज्यहोमसे असुरोंको मार कर सब लोकोंको प्राप्त किया था, अंगिराके पुत्र बृहस्पतिने इस हननसाधन आयुधको सेचन निर्मित किया था ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेमित्रान् हन्म्यो-
जसा ॥ १३ ॥

बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । वज्रम् । यम् । असिञ्चत । असुरऽक्षय-
णम् । वधम् ।

तेन । अहम् । अमूम् । सेनाम् । नि । लिम्पामि । बृहस्पते । अमि-
त्रान् । हन्मि । ओजसा ॥ १३ ॥

पूर्वार्धर्चः पूर्ववद् व्याख्येयः । हे बृहस्पते तेन त्वया निर्मितेन असुराणाम् अन्तकारिणा वज्रेण अहम् अमूः शात्रवीः सेनाम् । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । सेनाः नि लिम्पामि नितरां छिनद्मि । सेनाच्छेदनानन्तरं तदधिपतीन् अमित्रान् शत्रून् ओजसा आत्मीयेन बलेन नि हन्मि निहिनस्मि ॥

अंगिराके पुत्र बृहस्पतिने असुरोंके क्षयके साधन जिस वज्र को निर्मित किया है उस वज्रसे बृहस्पते ! मैं शत्रुओंको बलपूर्वक मारता हूँ, सेनाको नष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥

सर्वे । देवाः । अतिऽआयन्ति । ये । अश्नन्ति । वषट्ऽकृतम् ।

इमाम् । जुषध्वम् । आऽहुतिम् । इतः । जयत । मा । अमुतः १४

सर्वे इन्द्रादयो देवाः अत्यायन्ति शत्रून् अतिक्रम्य अस्मदभिमुखम् आगच्छन्ति । ते विशेष्यन्ते । ये देवा वषट्कृतम् वषट्कारेण दत्तं हविः अश्नन्ति भुञ्जते । ते सर्वे यूयम् इमाम् अस्मदीयाम् आहुतिं जुषध्वम् सेवध्वम् । तया प्रीता यूयम् इतः । ❀ सप्तम्यर्थे तसिल् प्रत्ययः ❀ । आसु अस्मदीयासु सेनासु जयत जयं कुरुत । अमुतः अमूषु परकीयासु सेनासु मा जयत । तत्र पराजय एव भवत्वित्यर्थः ॥

जो वषट्कारसे दी हुई हविका भोग लगाते हैं वे इन्द्र आदि सब देवता वैरियोंको जीतकर हमारी ओर आरहे हैं हे ऐसे सब देवताओ ! आप हमारी सेनाको विजय दीजिये और वैरियोंको पराजय दीजिये ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषंधेराहुतिः प्रिया ।
संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

सर्वे । देवाः । अतिऽआयन्तु । त्रिऽसंधेः । आऽहुतिः । प्रिया ।
सम्ऽधाम् । महतीम् । रक्षत । यया । अग्रे । असुराः । जिताः१५

सर्वे इन्द्रादयो देवाः अत्यायन्ति शत्रून् अतिक्रम्य अस्मदभिमुखम् आगच्छन्तु । तथा त्रिसन्धेः एतन्नाम्नः सेनामोहकस्य देवस्य इयम् अस्मदीया आहुतिः प्रिया प्रीतिकरी भवतु । हे देवाः संधाम् जयविषयप्रतिज्ञां महतीम् प्रौढां रक्षत । सा च त्रिसंधेराहुतिः तां प्रतिज्ञां रक्षतु । यया सन्धया अग्रे पूर्वं देवासुरयुद्धकाले असुरा जिताः पराजयं प्रापिताः । तां संधाम् इति पूर्वेणान्वयः ॥

इन्द्र आदि सब देवता वैरियोंका अतिक्रमण करके हमारी ओर आवें, और यह हमारी आहुति त्रिसंधि नामक देवको प्रसन्न करे, हे देवताओं ! आप जयविषयक बड़ी प्रौढ़ प्रतिज्ञाकी रक्षा करिये । इसी प्रतिज्ञासे अपने पहिले असुरोंको जीता था ॥१५॥

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु ।
इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥ १६ ॥

वायुः । अमित्राणाम् । इषुऽअग्राणि । आ । अञ्चतु ।

इन्द्रः । एषाम् । बाहून् । प्रति । भनक्तु । मा । शकन् । प्रतिऽधाम् । इषुम् ।

आदित्यः । एषाम् । अस्त्रम् । वि । नाशयतु । चन्द्रमाः । युताम् । अगतस्य । पन्थाम् ॥ १६ ॥

षष्ठी ॥ वायुर्देवः अमित्राणाम् शत्रूणाम् इष्वग्राणि इषूणाम् शराणाम् अग्राणि आञ्चतु अभिमुखं गच्छतु । प्रतिकूलवातेन लक्ष्यप्राप्तेः प्रागेव निपात्यन्ताम् इत्यर्थः । तथा इन्द्रो देवः एषां शत्रूणां बाहून् प्रति भनक्तु प्रातिकूल्येन भग्नान् आयुधग्रहणासमर्थान् करोतु । ❀ भञ्जो आमर्दने । रुधादित्वात् श्नम् प्रत्ययः ❀ । अतस्ते इषुम् बाणं प्रतिधाम् पुनर्धनुषि प्रतिहितां कर्तुं मा शकन् शक्ता न भवन्तु । ❀ शक्लृ शक्तौ । माङि लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

सप्तमी ॥ एषां शत्रूणाम् अस्त्रम् आयुधजातम् आदित्यः सूर्यो वि नाशयतु सामर्थ्यकुण्ठनेन विनष्टं करोतु । तथा चन्द्रमाः सोमः अगतस्य अप्राप्तस्य आजिगमिषतः शत्रोः पन्थाम् पन्थानम् अस्मत्प्राप्त्युपायभूतं मार्गं युताम् ततः पृथक्कुरुताम् । तादृशं मार्गं शत्रुर्न पश्यत्वित्यर्थः । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

वायुदेव वैरियोंके बाणोंके अग्रभागके सामने जावें, अर्थात् प्रतिकूल वायुके कारण वे लक्ष्यप्राप्तिसे पहिले ही गिर जावें, तथा इन्द्रदेव वैरियोंकी भुजाओंको आयुध ग्रहण करनेमें असमर्थ करदें (तोड़ डालें) अतएव वे फिर बाणको प्रत्यञ्चा पर न चढ़ा सकें॥

सूर्यदेव इन वैरियोंके आयुधोंको शक्तिहीन करके खुट्ले कर देंय, तथा चन्द्रमा न आये हुए अर्थात् आने वाले वैरीके हमारे

पास आनेके मार्गको पृथक् कर दें अर्थात् उस मार्गको वैरी न देख सके ॥ १६ ॥

अष्टमी ॥

यदि॒ प्रेयु॑र्दे॒वपु॑रा॒ ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥

यदि॑ । प्र॒ऽई॒युः । दे॒व॒ऽपु॒राः । ब्रह्म॑ । वर्मा॑णि । च॒क्रि॒रे ।
त॒नू॒ऽपान॑म् । प॒रि॒ऽपान॑म् । कृ॒ण्वा॒नाः । यत् । उ॒प॒ऽऊ॒चि॒रे । सर्व॑म् ।
तत् । अ॒र॒सम् । कृ॒धि ॥ १७ ॥

यदि प्रेयुरित्येका पूर्वम् [५, ८, ६] आम्नाता । सा तत्रैव व्याख्याता ॥

हे देव ! यदि पहिले उन्होंने तनूनपान और परिपाणको करते समय अपने मन्त्रमय कवच बना लिये हों तो उस समय उन्होंने जो कुछ कहा हो उस सबको आप नीरस करिये ॥ १७ ॥

नवमी ॥

क्र॒व्यादा॑नुव॒र्तय॑न् मृ॒त्युना॑ च पु॒रोहि॑तम् ।
त्रिषं॑धे॒ प्रेहि॒ सेन॑या॒ जया॒मित्रा॒न् प्र प॑द्यस्व ॥ १८ ॥

क्र॒व्य॒ऽअदा॑ । अ॒नु॒ऽव॒र्तय॑न् । मृ॒त्युना॑ । च॒ । पु॒रः॒ऽहि॒तम् ।
त्रि॒ऽसं॑धे । प्र । इ॒हि॒ । सेन॑या । जय॑ । अ॒मित्रा॑न् । प्र । प॒द्य॒स्व॒ १८

हे त्रिषंधे एतत्संज्ञक देव पुरोहितम् पुरस्तात् स्थितं शत्रुं क्रव्यादा । क्रव्यम् आममांसम् अत्ति भक्षयतीति क्रव्यात् । तेन अनुवर्तयन् अनुगमयन् । मृत्युना मारकेण देवेन च अनुगमयन् । सेनया आत्मीयया प्रेहि प्रगच्छ । गत्वा च अमित्रान् शत्रून्

अथ तदर्थं प्र पद्यस्व शत्रुमध्यं प्रविश । ❀ पद गतौ । दिवादित्वात् श्यन् प्रत्ययः ❀ ॥

हे त्रिसन्धि नामक देव ! आप सामने स्थित शत्रुको कच्चे मांसका भक्षण करने वाले राक्षसके पासको खदेड़ते हुए, मृत्यु के देवसे मिलाते हुए अपनी सेनासहित उस पर चढ़ाई करिये और चढ़ कर शत्रुओंके मध्यमें विजयके लिये प्रवेश करिये १८

दशमी ॥

त्रिषंधे तमसा त्वममित्रान् परि वारय ।
पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

त्रिऽसंधे । तमसा । त्वम् । अमित्रान् । परि । वारय ।
पृषदाज्यऽप्रनुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥१९॥

हे त्रिषंधे एतत्संज्ञक देव त्वं तमसा मायामयेन अन्धकारेण अमित्रान् शत्रून् परि वारय परिवृतान् परिवेष्टितान् कुरु । पृषदाज्यप्रणुत्तानाम् दधिमिश्रम् आज्यं पृषदाज्यम् । तद् अस्मिन् कर्मणि होम्यत्वेन विहितम् । तेन हूयमानेन प्रणुत्तानां प्रकर्षेण क्षिप्तानाम् अमीषां शत्रूणां मध्ये कश्चन एकोऽपि मा मोचि मुक्तो मा भूत् । सर्वांस्तमसा आहृत्य मारयेत्यर्थः ॥

हे त्रिषंधि नामक देव ! आप अपने मायामय अन्धकारसे शत्रुओंको घेर लीजिये दही मिला हुआ घृत पृषदाज्य कहलाता है, उस पृषदाज्यसे खदेड़े हुए शत्रुओंमेंसे एक भी न छूटने पावे अर्थात् आप सबको अंधकारसे घेर कर मार डालिये ॥ १९ ॥

एकादशी ॥

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥

शितिऽपदी । सम् । पततु । अमित्राणाम् । अमूः । सिचः ।

मुह्यन्तु । अद्य । अमूः । सेनाः । अमित्राणाम् । निऽअर्बुदे ॥२०॥

शितिः श्वेतवर्णः पादे यस्याः सा शितिपदी गौः । सा परसेनामध्ये विसृज्यमाना अमित्राणां शत्रूणां शुचः शोचमाना अस्मदायुधैर्निपीड्यमाना अमूः सेनाः सं पततु संगच्छतु । हे न्यर्बुदे एतत्संज्ञक सर्प अमित्राणाम् शत्रूणाम् अमूः दूरे दृश्यमानाः सेना अद्य इदानीं युद्धसमये मुह्यन्तु मूढा भवन्तु । स्वमायावशेन तासां मोहम् उत्पादयेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

शितिपदी गौ हमारे आयुधोंसे पीड़ा पाकर इन शोक करती हुई शत्रुसेनाओंमें कूद पड़े, हे न्यर्बुदि नामक सर्प ! दूर पर दीखती हुई शत्रुओंकी सेनाएँ मूढ़ होजावें अर्थात् आप अपनी मायासे उनको मोहमें डाल दीजिये ॥ २० ॥ (२९)

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त

"मूढा अमित्रा न्यर्बुदे" इति सूक्तस्य शत्रुजयकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"मूढा अमित्रा न्यर्बुदे" सूक्तका शत्रुजयकर्ममें विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् ।

अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

मूढाः । अमित्राः । निऽअर्बुदे । जहि । एषाम् । वरम्ऽवरम् ।

अनया । जहि । सेनया ॥ २१ ॥

हे न्यर्बुदे एतत्संज्ञक देव त्वम् अमित्रान् शत्रून् मूढाः त्वदीयया मायया मूढान् संजातमोहान् कर्तव्याकर्तव्यविभागज्ञानशून्यान् कुरु। एषां शत्रूणां मध्ये वरंवरम् श्रेष्ठं श्रेष्ठं जहि मारय। तथा अनया अस्मदीयया सेनया तान् जहि। त्वत्प्रसादाद् अस्मदीयापि सेना जयं लभताम् इत्यर्थः॥

हे न्यर्बुदे! आप अपनी मायासे शत्रुओंको कर्तव्य अकर्तव्यके ज्ञानसे शून्य अत एव मूढ़ करिये और शत्रुओंमेंसे छटा छटाको छाँट छाँट कर मारिये तथा इस हमारी सेनासे उनका संहार करिये अर्थात् आपके प्रसादसे हमारी सेना भी विजय पावे २१

द्वितीया॥

यश्चं कवची यश्चाकवचोऽ३मित्रो यश्चाज्मनि।
ज्यापाशैः कंवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥ २२॥

यः। च। कवची। यः। च। अकवचः। अमित्रः। यः। च। अज्मनि।
ज्याऽपाशैः। कवचऽपाशैः। अज्मना। अभिऽहतः। शयाम् २२

यः शत्रुः कवची कवचवान् तनुत्रेणावृतशरीरः यश्च शत्रु अकवचः कवचरहितः अनावृतशरीरः यश्च अमित्रः शत्रुः अज्मनि अजति गच्छत्यनेनेति अज्म रथादि यानम् तत्र वर्तते स सर्वः शत्रुः ज्यापाशैः स्वस्वधनुर्गतैर्मौर्वीपाशैः कवचपाशैः वर्मबन्धनपाशैः अज्मना रथादिना तत्रत्यैः पाशैश्च अभिहितः बद्धः शयाम् शेताम्। ❀ “लोपस्त आत्मनेपदेषु” इति तलोपः ❀। अयम् अर्थः। यद्यत् स्वरक्षणाय धनुःकवचादिकम् आबध्यते तदेव तस्य गतिप्रतिबन्धकं भवत्विति॥

जो शत्रु कवच पहर रहा हो, जो शत्रु कवच न पहर रहा हो,

नद्ध हो जो शत्रु रथ आदि सवारीमें बैठा हुआ हो वे शत्रु अपने कवच बाँधनेके पाशोंसे, मत्यञ्चापाशोंसे और रथ आदि के पाशोंसे बाँध कर शयन कर जाँय। तात्पर्य यह है, कि—अपनी रक्षाके लिये जिस धनुष कवच आदिको बाँधे वही उसकी गतिको रोक देय ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

ये । वर्मिणः । ये । अवर्माणः । अमित्राः । ये । च । वर्मिणः ।

सर्वान् । तान् । अर्बुदे । हतान् । श्वानः । अदन्तु । भूम्याम् २३

उक्त एवार्थो विव्रियते । ये शत्रवो वर्मिणः वर्मणा शस्त्रवारक-कवचेन युक्ताः ये अवर्माणः वर्मरहिताः च [अमित्राः] शत्रवो वर्मिणः वर्म कवचव्यतिरिक्तं शस्त्रनिवारकम् तद्युक्ताः। तदाच्छन्ना इत्यर्थः। हे अर्बुदे तान् सर्वान् त्वया हतान् मारितान् भूम्याम् पृथिव्यां निपातितान् श्वानः श्वसृगालाद्याः श्वापदाः अदन्तु भक्षयन्तु॥

जो शत्रु शस्त्रोंको रोकने वाले कवचोंको पहर रहे हैं, जो कवचरहित हैं, और कवचके अतिरिक्त अस्त्रनिवारक और वस्तुओंको पहिर रहे हैं, हे अर्बुदे ! आपके द्वारा उन सबके मारे जाने पर उन मरे हुओंको भूमिमें कुत्ते गीदड़ आदि खा जावें २३

चतुर्थी ॥

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः २४

ये । रथिनः । ये । अरथाः । असादाः । ये । च । सादिनः ।

सर्वान् । अदन्तु । तान् । हतान् । गृध्राः । श्येनाः । पतत्रिणः २४

ये शत्रवो रथिनः रथारूढाः ये च अरथाः रथरहिताः ये च असादाः अश्वादियानरहिताः पदातयः ये च सादिनः अश्वारूढाः हे अर्बुदे त्वत्प्रसादेन अस्माभिर्हतान् मारितान् तान् सर्वान् शत्रून् गृध्रादयः पक्षिणो रदन्तु विलिखन्तु । नखैस्तु खेन विलिख्य भक्षयन्त्वित्यर्थः । ॐ रद विलेखने इति धातुः ॐ ॥

जो शत्रु रथसवार हैं, जो रथहीन हैं, जो घोड़े आदि सवारी से रहित पैदल हैं और जो घुड़सवार हैं, हे अर्बुदे ! आपके प्रसादसे उन सब मारे हुए शत्रुओंको गीध आदि पत्ती चोंच और नाखूनोंसे कुरेदें ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

सहस्रऽकुणपा । शेताम् । आमित्री । सेना । सम्ऽअरे । वधानाम् ।
विऽविद्धा । ककजाऽकृता ॥ २५ ॥

आमित्री अमित्रसंबन्धिनी शात्रवी सेना अस्मदीयाम् सेनां प्राप्य वधानाम् हननसाधनानाम् आयुधानां समरे संगमने सति विविद्धा विविधशस्त्रपातेन हता सहस्रकुणपा असंख्यातशवयुक्ता सती ककजाकृता कुत्सितजनना विलोलजनना वा कृता भवतु ॥

शत्रुओंकी सेना हमारी सेनाके पास आकर आयुधोंका सम्मेलन होने पर बड़ी घायल हो सहस्रों ल्हाशोंसे पट जाय और कुत्सित जन्म वाली होजाय ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।

य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥

मर्माविधम् । रोरुवतम् । सुऽपर्णैः । अदन्तु । दुःचितम् । मृदितम् । शयानम् ।

यः । इमाम् । प्रतीचीम् । आऽहुतिम् । अमित्रः । नः । युयुत्सति

सुपर्णैः शोभनपतनैः शरैः मर्माविधम् मर्मसु स्तनमूलादिस्थानेषु विध्यमानम् । ❀ व्यध ताडने इत्यस्मात् मर्मशब्दोपपदात् संपदादिलक्षणः कर्मणि क्विप् । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ । मर्मव्यधनादेव रोरुवतम् अत्यर्थं क्रोशन्तं दुश्चितम् दुःखैः पूरितं मृदितम् चूर्णीकृतम् अत एव भूमौ शयानम् एवंभूतं शत्रुम् अदन्तु श्वसृगालादयो भक्षयन्तु । यः अमित्रः शत्रुः नः अस्माकं संबन्धिनीम् इमां पृषदाज्येन हूयमानाम् आहुतिं प्रतीचीम् प्रतिमुखम् अञ्चन्तीं प्रतिनिवृत्तगतिं कर्तुं युयुत्सति योद्धुम् इच्छति । तम् एवंभूतं भक्षयन्तु इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

जो हमारा शत्रु हमारी पृषदाज्यहुतिको लौटा कर हमसे युद्ध करना चाहता है उसके मर्मस्थान बाणोंसे छिन्नभिन्न होजाँय, मर्मोंमें पीड़ा होनेसे वह रोने लगे, और वह दुःखोंमें पड़ कर पृथ्वी पर गिर पड़े इस दशामें कुत्ते गीदड़ आदि उसको खाने लगें

सप्तमी ॥

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषंधिना ॥ २७ ॥

याम् । देवाः । अनुऽतिष्ठन्ति । यस्याः । न । अस्ति । विऽराधनम् ।
तया । इन्द्रः । हन्तु । वृत्रऽहा । वज्रेण । त्रिऽसंधिना ॥ २७ ॥

यां पृषदाज्याहुतिं देवा अनुतिष्ठन्ति वज्रोत्पादनाय आचरन्ति। यस्या आहुतेर्विराधनम् विराद्धिर्मोघवीर्यता नास्ति। अप्रतिहता शक्तिर्विद्यत इत्यर्थः। तया आहुत्या उत्पादितेन त्रिसंधिना संधित्रयोपेतेन वज्रेण वृत्रहा वृत्रासुरं हतवान् इन्द्रः हन्तु अस्मदीयान् शत्रून् हिनस्तु। "सर्वाँल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया" [१२] इत्यनया ऋचा पृषदाज्याहुतेर्वज्ररूपता प्रागेवोक्ता ॥

पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये एकादशकाण्डः समाप्तः ॥

देवता वज्रको उत्पन्न करनेके लिये जिस पृषदाज्याहुतिको करते हैं जो पृषदाज्याहुति कभी निष्फल नहीं होती है, उस आहुति के द्वारा प्रकट हुए वज्रसे वृत्रासुरके नाशक इन्द्र हमारे शत्रुओंको मारें ॥ २७ ॥ (३०)

पञ्चम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (४९०)
पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका एकादशकाण्ड ऋषिकुमार
पं० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक ऋ० कु० पं० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता
सैव
हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ६

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१-८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAMHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 6

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 0542-2420404
e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Reprint Edition 2007

Also can be had from :
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

Printed at Ratna Offsets Ltd.
Kamachha, Varanasi

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

❀ द्वादश-काण्ड ❀

❋ चतुर्दश काण्ड ❋

❋ पञ्चदश काण्ड ❋

❋ षोडश काण्ड ❋

विषय पृष्ठ

अथर्ववेदसंहिता

श्रीहरिः

अथर्ववेदसंहिता

द्वादशं-काण्डम्

भाष्यानुवाद-सहित

पृथिवीसूक्तम् एतत्। अस्मिन् पृथिव्याः प्रभूतं निसर्गवर्णनम्। कतिचित्पौराणिकीः कथाश्चानुलक्ष्य वर्णनम्। पश्चात् च ऋषिः पृथिवीं वरान् प्रार्थयते ॥

संप्रदायानुसारेण तु सूक्तं बहुविधं विनियुज्यते। तद्यथा "सत्यं बृहत्" इत्यनुवाको वास्तोष्पत्यगणे पठितः। अस्य गणस्य विनियोगः "इहैव ध्रुवाम्" [३. १२] इति सूक्ते द्रष्टव्यः ॥

तथा आग्रहायणीकर्मणि रात्रौ अभ्यातानान्तं कृत्वा त्रयश्चरवः श्रपयितव्याः। ततः अनेनानुवाकेन अग्नेः पश्चाद् गर्ते दर्भान् आस्तीर्य एकं चरुं सकृत् सर्वहुतं जुहोति। द्वितीयं चरुम् अनेनानुवाकेन संपात्याभिमन्त्र्य अश्नाति। तृतीयं चरुं "सत्यं बृहत्" इति आद्याभिः सप्तभिर्ऋग्भिः "भूमे मातः" [६३] इत्यष्टम्या ऋचा च त्रिर्जुहोति। अष्टानाम् ऋचाम् आवृत्त्या होमत्रयं संपादनीयम् इत्यर्थः। अग्नेः पश्चाद् दर्भेषु कशिपु तृणमयं प्रस्तरणम् आस्तीर्य "विमृग्वरीम्" [२९] इत्यनयोपविशति। "यास्ते शिवाः" [६. २. २५] इति संविशति। "यच्छयानः" [३४] इति पर्यावर्तते। "सत्यं बृहत्" इति नवभिः शन्तिवा [५९] इत्यृचा "उदायुषा" [३. ३१. १०, ११] इति द्वाभ्यां च प्रातरुत्तिष्ठते। "उद्वयम्" [७. ५५. ७] इति गच्छति। "उदीराणाः"

[२८] इत्यृचा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामतो गच्छति । "यावत् ते" [३३] इत्यृचा ध्रुवम् ईक्षते ॥ इत्याग्रहायणीकर्म ॥

तथा पुष्टिकामः उन्नतं स्थलम् आरुह्य "यावत् ते" [३३] इत्यृचा ईक्षते ॥

तथा अनेनानुवाकेन उदपात्रं संपात्य पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तं संप्रोक्षति ॥

तथा अनेनानुवाकेन कृषिकर्म भवति ॥ तच्च "सीरा युञ्जन्ति" इति [३. १७] सूक्ते विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा पुत्रधनादिसर्वफलप्राप्त्यर्थं "यस्यां सदोहविर्धाने"[३८-४०] इति तिसृभिराज्यं जुहोति ॥

तथा व्रीहियवाद्यन्नकामः "यस्यामन्नम्" [४२] इत्यृचा पृथिवीम् उपतिष्ठते ॥

तथा मणिहिरण्यादिकामः "निधिं बिभ्रती" [४४, ४५] इति द्वाभ्यां पृथिवीम् उपतिष्ठते ॥

तथा प्राप्यापि मणिं हिरण्यं वा आभ्यामेवोपतिष्ठते ॥

तथा पुष्टिकामो वृष्टिकाले "यस्यां कृष्णम् [५२] इत्यृचा नवोदकम् अभिमन्त्र्य आचमनं स्नानं च करोति ॥

तद् उक्तं कौशिकेन । "सत्यं बृहद् इत्याग्रहायण्याम् । पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु खदायां सर्वहुतम् । द्वितीयं संपातवन्तम् अश्नाति । "तृतीयस्यादितः सप्तभिर्भूमे मातरिति त्रिर्जुहोति । पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु कशिप्वास्तीर्य विमृग्वरीम् इत्युपविशति । यास्ते शिवा इति संविशति । यच्छयान इति पर्यावर्तते। नवभिः शान्तिवेति दशभ्यो-दायुपेत्युपोत्तिष्ठति । उदयम् इत्युत्क्रामति । उदीराणा इति त्रीणि पदानि प्राङ् वोदङ् वा ग्रामेनोपनिष्क्रम्य यावत् त इति वीक्षते । उन्नताच्च । पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तम् उदपात्रेण संपातवताव-सिञ्चति । आयोजनानाम् अप्ययः । यस्यां सदोहविर्धाने इति

जुहोति वरो म आगमिष्यतीति। यस्यामन्नम् इत्युपतिष्ठते। निर्धि बिभ्रतीति मणिं हिरण्यकामः। एवं विद्वान्। यस्यां कृष्णम् इति वापंकृतस्यावामति। शिरस्यानयते" इति [कौ० ३.७]॥ वरो वरणीयोऽर्थो मम भवेद् इत्यर्थः॥

तथा ग्रामपत्तनादिरक्षार्थम् अनेनानुवाकेन चतुरः पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् कृत्वा ग्रामादिकोणेषु निखनति॥

तथा ग्रामपत्तनादिरक्षार्थम् अनेनानुवाकेन एकैकस्य पुरोडाशस्य पाषाणम् उपरि कृत्वा उभयान् संपातवतः कृत्वा ग्रामादिकोणेषु निखनति। सर्वत्र प्रतिद्रव्यं सूक्तावृत्तिः॥

तथा अग्नेरायतनस्य असंतापयुक्ते देशे शयानः एतम् अनुवाकं जपति। सर्वत्र कर्मणां विकल्पः॥

तद् उक्तं कौशिकसूत्रे। "भौमस्य इतिकर्माणि। पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तः स्रक्तिषु निदधाति। उभयान्त्संपातवतः। सभाभागधानेषु च। असंतापे ज्योतिरायतनस्यैकतोन्यं शयानो भौमं जपति" इति [कौ० ५.२]॥

तथा भूमिचलने अस्यानुवाकस्य होमे विनियोगः। "अथ यत्रैतद् भूमिचलो भवति" इत्युपक्रम्योक्तं कौशिकेन। "सत्यं बृहद् इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ०१३.६]

तथा सोमयज्ञे दीक्षितनियमेषु मूत्रपुरीषशुद्ध्यर्थं लोष्टादाने अस्य विनियोगः। तद् उक्तं वैताने। सत्यं बृहद् इति लोष्टम् आदाय" इति [वै० ३.२]॥

तथा 'पार्थिवीं भूमिकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां पार्थिव्यां महाशान्तौ अस्यानुवाकस्य विनियोगः। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे। "सत्यं बृहद् इत्यनुवाकः पार्थिव्याम्" इति [न०क०१८]।

श्रीः॥ यह पृथिवी सूक्त है। इसमें अधिकतर पृथिवीके निसर्ग का वर्णन है। और कुछ पौराणिक कथाओंको लक्षित करके

वर्णन किया गया है। अनेक स्थलोंमें ऋषिने पृथ्वीसे वरोंकी प्रार्थना की है।

सम्प्रदायके अनुसार इस सूक्तका अनेक प्रकारका विनियोग होता है। यथा–“सत्यं बृहत्” अनुवाकका वास्तोष्पत्यगणमें पाठ है। इस गणका विनियोग “इहैव ध्रुवाम्” इस तृतीय काण्डके बारहवें सूक्तमें देखना चाहिये।

तथा आग्रहायणी कर्ममें रात्रिके समय अभ्यातान तक करके तीन चरुओंको रांधे फिर इस अनुवाकसे अग्निके पीछे गड्ढेमें दर्भोंको बिछा कर एक चरुको एक बार कुछ अवशिष्ट न रख कर होम देय। फिर इस अनुवाकसे दूसरे चरुको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे। तीसरे चरुको “सत्यं बृहत्” आदि पहिली सात ऋचाओंसे और “भूमे मातः” (६३) नामक आठवीं ऋचासे तीन बार आहुति देय। तात्पर्य यह है आठ ऋचाओंकी आवृत्ति करके तीनवार होम करे। अग्निके पीछे दर्भों पर तृणमय फैली हुई चटाईको बिछा कर “विमृग्वरीम्” इस उन्तीसवीं ऋचासे उपवेशन करे। “यास्ते शिवाः” (६।२।२५) से संवेशन करे। “यच्छयानः” इस ३४ वीं ऋचासे पर्यावर्तन करे। “सत्यं बृहत्” आदि नौ ऋचाओंसे “शन्तिवा” इस उनसठवीं ऋचासे और “उदायुषा” आदि तीसरे काण्डके इकतीसवें सूक्तकी दशवीं और ग्यारहवीं ऋचासे प्रातःकालके समय उठे। “उदयम्” इस सातवें काण्डके पचपनवें सूक्तकी सातवीं ऋचासे चले। “उदीराणाः” इस अट्ठाईसवीं ऋचासे पूर्व उत्तर वा बाहर से आवे। “यावत् ते” इस तैंतीसवीं ऋचासे भूमिको देखे। यह आग्रहायणी कर्म हुआ।

तथा पुष्टिको चाहने वाला उन्नत स्थान पर चढ़ कर “यावत् ते” इस चौंतीसवीं ऋचासे देखे।

तथा इस अनुवाकसे जलपूर्ण पात्रको सम्पातित करके अग्निके सामने युक्त सीरका मोक्षण करे।

तथा इस अनुवाकसे कृषिकर्म होता है। इसका "सीरा युञ्जन्ति" इस तीसरे काण्डके सत्रहवें सूक्तमें विस्तृत वर्णन है। वहाँ ही देखना चाहिये।

तथा पुत्र धन आदि सब फलोंकी प्राप्तिके लिये "यस्यां सदो हविर्धाने" आदि अड़तीसवीं, उन्तालीसवीं, और चालीसवीं-इन तीन ऋचाओंसे घृतकी आहुति देय।

तथा व्रीहि यव आदि अन्नकी कामना रखने वाला "यस्यामन्नम्" इस बयालीसवीं ऋचासे पृथिवीका उपस्थान करे।

तथा मणि सुवर्ण आदिको चाहने वाला "निधिं बिभ्रती" इन चौवालीसवीं और पैंतालीसवीं ऋचाओंसे पृथिवीका उपस्थान करे।

तथा मणि वा सुवर्णको पाकर भी इन दोनों ऋचाओंसे उपस्थान करे।

तथा पुष्टिको चाहने वाला वृष्टिके समयमें "यस्यां कृष्णम्" इस बावनवीं ऋचासे नवीन जलको अभिमन्त्रित करके आचमन और स्नान करे।

इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"सत्यं बृहत् इत्याग्रहायण्याम्। पश्चाद् अग्नेर्गर्भेषु खदायां सर्वहुतम्। द्वितीयं सम्पातवन्तं अश्नाति तृतीयस्यादितः सप्तभिर्भूमे मातरिति त्रिर्जुहोति। पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु कशिप्वास्तीर्य विमृग्वरीम् इत्युपविशति। यास्ते शिवा इति संविशति। यच्छयान इति पर्यावर्तते। नवभिः शान्तिवेति दशम्योदायुषेत्युपोत्तिष्ठति। उदृषभ् इत्युत्क्रामति। उदीराणा इति त्रीणि पदानि प्राक् सोदक् वा प्राङ्नोपनिष्क्रम्य यावत् त इति वीक्षते। उन्नताच्च। पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तं उदपात्रेण

सम्पातवताऽवसिञ्चति । आयोजनानां अप्ययः । यस्यां सदो हविर्धाने इति जुहोति वरो म आगमिष्यतीति । यस्यामन्नमुपतिष्ठते । निधिं बिभ्रतीति मणिं हिरण्यकामः । एवं विद्वान् यस्यां कृष्णम् इति वार्षकृतस्याचमति । शिरस्यानयते" इति (कौशिकसूत्र ३।७) वरो वरणीयो मम भवेदित्यर्थः ।

तथा ग्राम नगर आदिकी रक्षाके लिये इस अनुवाकसे चार पुरोडाशोंको अश्मोत्तर कर ग्राम आदिके कोनोंमें गाड़ देवे ।

तथा ग्राम नगर आदिकी रक्षा करनेके लिये एक एक पुरोडाशके पाषाणको ऊपर करके दोनोंको संपात वाले करे फिर ग्राम आदिके कानोंमें गाड़देय । सर्वत्र प्रत्येक् द्रव्य पर सूक्तकी आवृत्ति करनी चाहिये ।

तथा अग्निभवनके सन्तापरहित स्थानमें लेट कर इस अनुवाकको जपे । सर्वत्र कर्मोंका विकल्प है ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"भौमस्य इतिकर्माणि । पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तः स्रक्तिषु निदधाति । उभयान्त्सम्पातवतः । सभाभागधानेषु च । असन्तापे ज्योतिरायतनस्यैकतोऽन्यं शयानो भौमं जपति" इति (कौशिकसूत्र ५ । २) ॥

तथा भूकम्प होने पर इस अनुवाकका होममें विनियोग होता है । "अथ यत्रैतद् भूमिचलो भवति ।–जहाँ पर यह भूकम्प होता है" इस बातका आरम्भ करके कौशिकने कहा है, कि–"सत्यं बृहद् इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः ।–सत्यं बृहत् इस अनुवाकसे आहुति देय, यही उसका प्रायश्चित्त है" । (कौशिकसूत्र १३ । ६)॥

तथा सोमयज्ञके दीक्षित नियमोंमें मूत्र वा पुरीषकी शुद्धिके लिये लोष्टदानमें इसका विनियोग होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"सत्यं बृहद् इति लोष्टं आदाय" । इति (वैतान सूत्र ३ । २) ॥

तथा "पार्थिवीं भूमिकामस्य ।–भूमिकी कामना वालेके लिये पार्थिवी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित पार्थिवी महाशान्तिमें इस अनुवाकका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–सत्यं बृहत् इत्यनुवाकः पार्थिव्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १८) ॥

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु

सत्यम् । बृहत् । ऋतम् । उग्रम् । दीक्षा । तपः । ब्रह्म । यज्ञः । पृथिवीम् । धारयन्ति ।

सा । नः । भूतस्य । भव्यस्य । पत्नी । उरुम् । लोकम् । पृथिवी । नः । कृणोतु ॥ १ ॥

सत्य, बृहत् जल, दीक्षा, उग्र तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं अर्थात् इनके आधार पर पृथिवी टिकी रहती है, ऐसी यह उत्पन्न हुए और उत्पन्न होने वाले प्राणियोंका पालन करने वाली पृथ्वी देवी हमको विस्तीर्ण स्थान दें ॥ १ ॥

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

असम्ऽबाधम् । मध्यतः । मानवानाम् । यस्याः । उत्ऽवतः । प्रऽवतः । समम् । बहु ।

नानाऽवीर्याः । ओषधीः । या । बिभर्ति । पृथिवी । नः । प्रथताम् । राध्यताम् । नः ॥ २ ॥

जिस पृथिवीके मनुष्योंके मध्यमें असम्बाधरूपसे बहुतसे नीचेको ढलकाव वाले ऊपरको चढ़ाई वाले और सम इस प्रकारके बहुतसे स्थान हैं और जो पृथिवी अनेक प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न औषधियोंको धारण करती है वह पृथिवी हमारे लिये विस्तीर्ण मात्रामें प्राप्त हो और हमारे कृषि आदि मनोरथोंको सिद्ध करे ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेयं दधातु ॥ ३ ॥

यस्याम् । समुद्रः । उत । सिन्धुः । आपः । यस्याम् । अन्नम् । कृष्टयः । सम्ऽबभूवुः ।

यस्याम् । इदम् । जिन्वति । प्राणत् । एजत् । सा । नः । भूमिः । पूर्वऽपेये । दधातु ॥ ३ ॥

जिस पृथिवीमें समुद्र है, नदियें हैं, जल है, और जिसमें खेती तथा अन्न होता है और जिसमें यह चेष्टाशील प्राण वाला जगत् तृप्त होता है वह पृथ्वी हमको जिस स्थलमें फलरूपी रसका पहिले पान होसकता है उस स्थलमें स्थापित करे ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।

या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

यस्याः । चतस्रः । प्रऽदिशः । पृथिव्याः । यस्याम् । अन्नम् । कृष्टयः । सम्ऽबभूवुः ।

या । बिभर्ति । बहुऽधा । प्राणत् । एजत् । सा । नः । भूमिः । गोषु । अपि । अन्ने । दधातु ॥ ४ ॥

जिस पृथिवीमें पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिणरूप चार श्रेष्ठ दिशायें हैं और जिसमें खेती और अन्न होता है और जो चेष्टाशील प्राणवाले जगत्को अनेक प्रकारसे धारण करती है वह भूमि देवी हमको गौ और अन्नमें स्थापित करे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु

यस्याम् । पूर्वे । पूर्वऽजनाः । विचक्रिरे । यस्याम् । देवाः । असुरान् । अभिऽअवर्तयन् ।

गवाम् । अश्वानाम् । वयसः । च । विऽस्था । भगम् । वर्चः । पृथिवी । नः । दधातु ॥ ५ ॥

जिस पृथ्वीमें परम प्राचीन पूर्वपुरुषोंने अनेक प्रकारके कर्म किये हैं और जिसमें देवताओंने असुरोंके सन्मुख युद्ध किया है जो पृथिवी गौ अश्व और पक्षियोंके अनेक प्रकारसे रहनेका

का स्थान है अर्थात् जिसमें गौ अश्व और पक्षी अनेक रीतिसे रहते हैं, वह पृथिवी हमको धन और तेज देवे ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु

विश्वम्ऽभरा । वसुऽधानी । प्रतिऽस्था । हिरण्यऽवक्षाः । जगतः । निऽवेशनी ।
वैश्वानरम् । बिभ्रती । भूमिः । अग्निम् । इन्द्रऽऋषभा । द्रविणे । नः । दधातु ।

विश्व भरका भरण करने वाली, धनको धारण करने वाली प्राणियोंकी स्थितिकी हेतु है, सुवर्णको (खानरूपमें) वक्षःस्थल में धारण करने वाली है, जगत्को बसाने वाली है, वैश्वानर अग्निको धारण करने वाली है ऐसी वृषभरूप इन्द्रको धारण करने वाली पृथ्वी हमको धन प्रदान करे ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

याम् । रक्षन्ति । अस्वप्नाः । विश्वऽदानीम् । देवाः । भूमिम् । पृथिवीम् । अप्रऽमादम् ।
सा । नः । मधु । प्रियम् । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ७

शयन न करने वाले देवता जिस पृथ्वीकी सावधानीसे सदा

रक्षा करते हैं, वह हमको मधुर और प्रिय (अन्नादि) को देवे फिर वर्चः से सम्पन्न करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

या । अर्णवे । अधि । सलिलम् । अग्रे । आसीत् । याम् । मायाभिः । अनुऽअचरन् । मनीषिणः ।

यस्याः । हृदयम् । परमे । विऽओमन् । सत्येन । आऽवृतम् । अमृतम् । पृथिव्याः ।

सा । नः । भूमिः । त्विषिम् । बलम् । राष्ट्रे । दधातु । उत्ऽतमे ८

जो पहिले समुद्रमें थी और विद्वान् पुरुष शक्तियोंसे जिस पर विचरण करते हैं और जिस पृथिवीका अमृतमय हृदय परमव्योम में प्रतिष्ठित है, वह भूमि हमको उत्तम राष्ट्रमें स्थापित करे तथा दीप्ति और बल प्रदान करे ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ९

यस्याम् । आपः । परिऽचराः । समानीः । अहोरात्रे इति । अप्रमऽमादम् । क्षरन्ति ।

सा । नः । भूमिः । भूरिऽधारा । पयः । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु ।

वर्चसा ॥ ९ ॥

जिसमें चारों ओर विचरण करने वाले जल दिन रातमें एक सी रीतिसे सावधानतापूर्वक बहते रहते हैं, ऐसी भूरिधारा भूमि हमको दुग्धकी समान सारभूत फलको देवे और हमको वर्चसे सम्पन्न करे ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ।१०।

याम् । अश्विनौ । अमिमाताम् । विष्णुः । यस्याम् । विऽचक्रमे ।

इन्द्रः । याम् । चक्रे । आत्मने । अनमित्राम् । शचीऽपतिः ।

सा । नः । भूमिः । वि । सृजताम् । माता । पुत्राय । मे । पयः १०

अश्विनीकुमारोंने जिसका निर्माण किया है और विष्णुने जिस पर विक्रमण किया है और इन्द्रने जिसको शत्रुरहित करके अपने वशमें किया था ऐसी भूमि, माता जैसे पुत्रको दूध पिलाती है इस प्रकार मेरे लिये दुग्धकी समान सारभुत फलको देवे १० (१)

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवी-

मिन्द्रगुप्ताम् ।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

गिरयः । ते । पर्वताः । हिमऽवन्तः । अरण्यम् । ते । पृथिवि । स्योनम् । अस्तु ।

बभ्रुम् । कृष्णाम् । रोहिणीम् । विश्वऽरूपाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । इन्द्रऽगुप्ताम् ।

अजीतः । अहतः । अक्षतः । अधि । अस्थाम् । पृथिवीम् । अहम् ॥ ११ ॥

हे पृथिवी देवि ! तेरे पर्वत, छोटे २ पर्वत, हिमाचलके स्थान, और वन हमारे लिये सुखदायक हों, मैं बभ्रु कृष्ण, लाल (आदि) अनेक रूपों वाली, इन्द्रगुप्ता ध्रुवा भूमि पर, अक्षत अजित और अहत रहता हुआ अधिष्ठित रहूँ ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।

तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

यत् । ते । मध्यम् । पृथिवि । यत् । च । नभ्यम् । याः । ते । ऊर्जः । तन्वः । सम्ऽबभूवुः ।

तासु । नः । धेहि । अभि । नः । पवस्व । माता । भूमिः । पुत्रः । अहम् । पृथिव्याः ।

पर्जन्यः । पिता । सः । ऊं इति । नः । पिपर्तु ॥ १२ ॥

हे पृथिवि ! जो तेरा मध्यभाग है जो तेरा नाभिभाग है और तेरे शरीरसे जो पुष्टिप्रद पदार्थ प्रकट होते हैं, तुम उसमें मुझको स्थापित करो, हमको पवित्र करो, भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूँ और पर्जन्य-मेघ-मेरा पिता है, वह हमारा पालन करे १२

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

यस्याम् । वेदिम् । परिऽगृह्णन्ति । भूम्याम् । यस्याम् । यज्ञम् । तन्वते । विश्वऽकर्माणः ।
यस्याम् । मीयन्ते । स्वरवः । पृथिव्याम् । ऊर्ध्वाः । शुक्राः । आऽहुत्याः । पुरस्तात् ।
सा । नः । भूमिः । वर्धयत् । वर्धमाना ॥ १३ ॥

जिस भूमिमें वेदिको बनाते हैं और संपूर्ण प्रकारके कर्मोंको करने वाले जिसमें यज्ञको करते हैं और आहुति देनेसे पहिले जिस भूमि पर दमकते हुए यज्ञस्तम्भ खड़े किये जाते हैं ऐसी बढ़ती हुई भूमि हमको बढ़ावे ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

यः । नः । द्वेषत् । पृथिवि । यः । पृतन्यात् । यः । अभिऽदासात् । मनसा । यः । वधेन ।
तम् । नः । भूमे । रन्धय । पूर्वऽकृत्वरि ॥ १४ ॥

हे पृथिवी देवि ! जो हमसे द्वेष करे, जो हमारे लिये सेनाको एकत्रित करे, जो मनमें हमारा वध करनेका विचार कर हमको क्षीण करना चाहे, हे पूर्वकृत्वरि भूमे ! उसको आप हमारे लिये मार डालिये ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

त्वत् । जाताः । त्वयि । चरन्ति । मर्त्याः । त्वम् । बिभर्षि । द्विऽपदः । त्वम् । चतुःऽपदः ।
तव । इमे । पृथिवि । पञ्च । मानवाः । येभ्यः । ज्योतिः । अमृतम् । मर्त्येभ्यः । उत्ऽयन् । सूर्यः । रश्मिऽभिः । आऽतनोति ॥१५॥

हे पृथिवी देवि ! आपके ऊपर उत्पन्न हुए मनुष्य आप पर

ही विचरण करते हैं, तुमको दो पैर वाले मनुष्य आदिका और चार पैर वाले घोड़े आदिका भरण करती हो जिनके लिये उदय होते हुए सूर्यदेव अपनी किरणोंसे ज्योति और आभरणसाधन पदार्थसमूहोंको देते हैं वे पाँच जन भी आपके ही हैं ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुंहतां समग्रा वाचो मधुं पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

ताः । नः । प्रऽजाः । सम् । दुह्ताम् । सम्ऽअग्राः । वाचः । मधुं । पृथिवि । धेहि । मह्यम् ॥ १६ ॥

सूर्य की किरणें हमारे लिये प्रजाओंको, सब प्रकारकी वाणियों को दुहें और हे पृथिवी ! आप मुझको मधुमय पदार्थ दीजिये १६

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनुं चरेम विश्वहां ॥ १७ ॥

विश्वऽस्वम् । मातरम् । ओषधीनाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । धर्मणा । धृताम् ।

शिवाम् । स्योनाम् । अनुं । चरेम । विश्वहा ॥ १७ ॥

हम विश्वकी धनरूप, ओषधियोंकी उत्पादिका, धर्मसे धृत, ध्रुवा शिवा सुखदायिनी पृथ्वी पर सर्वत्र गमन करते हुए विचरण करें ॥ १७ ॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे ।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।

सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

महत् । सधऽस्थम् । महती । बभूविथ । महान् । वेगः । एजथुः । वेपथुः । ते ।

महान् । त्वा । इन्द्रः । रक्षति । अप्रऽमादम् ।

सा । नः । भूमे । प्र । रोचय । हिरण्यस्यऽइव । सम्ऽदृशि । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ १८ ॥

हे भूमे ! तू बड़ी भारी आवासभूमि है, तेरा वेग और कम्पन महान् है, और महान् (पूजनीय) इन्द्र सावधानीसे तेरी रक्षा करते हैं ऐसी हे पृथिवि ! तू हमको इस प्रकार सबका रुचिकर बना जिस प्रकार सुवर्ण सब दृष्टिमें रोचक होता है, कोई हमसे द्वेष न करे ॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अग्निः । भूम्याम् । ओषधीषु । अग्निम् । आपः । बिभ्रति । अग्निः । अश्मऽसु ।

अग्निः । अन्तः । पुरुषेषु । गोषु । अश्वेषु । अग्नयः ॥ १९ ॥

(वाष्परूप) अग्नि भूमिमें है, जल (बिजलीकेरूपमें) अग्नि को धारण करता है और पत्थरोंमें अग्नि है, पुरुषोंके भीतर (जठराग्निरूपमें) अग्नि है, तथा गौ और घोड़ोंके भीतर भी अग्नियें हैं ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

अग्निः । दिवः । आ । तपति । अग्नेः । देवस्य । उरु । अन्तरिक्षम्
अग्निम् । मर्तासः । इन्धते । हव्यऽवाहम् । घृतऽप्रियम् ॥ २० ॥

अग्निदेव (सूर्यरूपमें) स्वर्गमें तपते हैं, यह विशाल अन्तरिक्ष भी अग्नि देवता वाला है, मरणधर्मी प्राणी घृतप्रिय हव्यवाह अग्निको ही प्रज्वलित किया करते हैं ॥ २० ॥ (२)

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

अग्निऽवासाः । पृथिवी । असितऽज्ञूः । त्विषिऽमन्तम् । सम्ऽशितम् । मा । कृणोतु ॥ २१ ॥

अग्निका जिसमें वास है ऐसी असित (धूम) को जानने वाली पृथिवी मुझको दीप्ति वाला और तीक्ष्ण करे ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

भूम्याम् । देवेभ्यः । ददति । यज्ञम् । हव्यम् । अरम्ऽकृतम् ।
भूम्याम् । मनुष्याः । जीवन्ति । स्वधया । अन्नेन । मर्त्याः ।

सा । नः । भूमिः । प्राणम् । आयुः । दधातु । जरत्ऽअष्टिम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ २२ ॥

मनुष्य भूमि पर अलंकृत यज्ञमें देवताओंके निमित्त हव्य दिया करते हैं, और भूमिमें ही मरणधर्मी प्राणी अन्न और जलसे जीवित रहा करते हैं, ऐसी यह भूमि हमको प्राण और आयु देय और यह पृथिवी देवी मुझको बुढ़ापे तक रहने वाला करे २२

यस्ते॒ ग॒न्धः पृ॑थिवि संब॒भूव॒ यं बिभ्र॒त्योष॑धयो॒ यमापः॑।
यं ग॑न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रस॑श्च भेजि॒रे तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु॒ मा
नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २३ ॥

यः । ते । गन्धः । पृथिवि । सम्ऽबभूव । यम् । बिभ्रति । ओषधयः । यम् । आपः ।

यम् । गन्धर्वाः । अप्सरसः । च । भेजिरे । तेन । मा । सुरभिम् । कृणु । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ २३ ॥

हे पृथिवि ! जो तेरा गन्ध है, जिस गंधको औषधि और जल धारण करते हैं गंधर्व और अप्सरायें भी तेरे उसी गंधका सेवन करते हैं,उससे तू मुझको सुगन्धित कर,मुझसे कोई द्वेष न करे २३

यस्ते॑ ग॒न्धः पुष्क॑रमावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्याया॑ विवा॒हे।
अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सु॒र॒भिं कृ॑णु॒ मा
नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २४ ॥

यः। ते। गन्धः। पुष्करम्। आऽविवेश। यम्। सम्ऽजभ्रुः।
सूर्यायाः। विऽवाहे।
अमर्त्याः। पृथिवि। गन्धम्। अग्रे। तेन। मा। सुरभिम्। कृणु।
मा। नः। द्विक्षत। कः। चन ॥ २४ ॥

हे पृथिवि! तुम्हारा जो गन्ध कमलमें प्रविष्ट है, और जिस गन्धको पहिले मरणधर्मी प्राणियोंने सूर्याके विवाहमें धारण किया था, उस गन्धसे हे पृथिवि! तुम मुझको सुगन्धित करो, कोई मुझसे द्वेष न करे ॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा
नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

यः। ते। गन्धः। पुरुषेषु। स्त्रीषु। पुम्ऽसु। भगः। रुचिः।
यः। अश्वेषु वीरेषु। यः। मृगेषु। उत। हस्तिषु।
कन्यायाम्। वर्चः। यत्। भूमे। तेन। अस्मान्। अपि। सम्।
सृज। मा। नः। द्विक्षत। कः। चन ॥ २५ ॥

हे पृथिवी देवि! तुम्हारा जो गन्ध, भग और रुचि पुरुष और स्त्रियोंमें है, अश्वोंमें है, वीरोंमें हैं, मृगमें है, हाथियोंमें है और कन्यामें जो वर्च है, हे भूमि! उन सबसे आप मुझको संपृक्त करिये, कोई मुझसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

शिला । भूमिः । अश्मा । पांसुः । सा । भूमिः । सम्ऽधृता । धृता ।
तस्यै । हिरण्यऽवक्षसे । पृथिव्यै । अकरम् । नमः ॥ २६ ॥

शिला भूमि पत्थर और धूल इनके रूपोंको पृथ्वी धारण करती है, इस प्रकार ऐसे रूपोंमें भली प्रकार परिणत हुई सुवर्ण को (खानरूप) वक्षःस्थलमें धारण करने वाली पृथिवीके लिये मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥

यस्याम् । वृक्षाः । वानस्पत्याः । ध्रुवाः । तिष्ठन्ति । विश्वहा ।
पृथिवीम् । विश्वऽधायसम् । धृताम् । अच्छऽआवदामसि ॥२७॥

जिस पर वनस्पतिको उत्पन्न करने वाले वृक्ष ध्रुवतासे खड़े रहते हैं ये वृक्ष औषधि आदिके रूपमें सबके पास जाते हैं । वृक्षों को धारण करने वाली धर्मसे धृता ऐसी सबका पोषण करने वाली पृथिवीकी हम अभिमुख होकर स्तुति करते हैं ॥ २७ ॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् २८

उत्ऽईराणाः । उत । आसीनाः । तिष्ठन्तः । प्रऽक्रामन्तः ।
पत्ऽभ्याम् । दक्षिणऽसव्याभ्याम् । मा । व्यथिष्महि । भूम्याम् २८

हम दायें बायें पैरसे भूमिमें चलते हुए बैठते हुए खड़े होते हुए वा कदम उठाते हुए व्यथा न पावें ॥ २८ ॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।

ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे

विऽमृग्वरीम् । पृथिवीम् । आ । वदामि । क्षमाम् । भूमिम् । ब्रह्मणा । ववृधानाम् ।

ऊर्जम् । पुष्टम् । बिभ्रतीम् । अन्नऽभागम् । घृतम् । त्वा । अभि । नि । सीदेम । भूमे ॥ २९ ॥

मैं परम पवित्र, मन्त्रशक्तिसे वृद्धिको प्राप्त होती हुई क्षमा भूमि की स्तुति करता हूँ, हे भूमे ! पुष्टिप्रद अन्नरस और बलको धारण करने वाली तुझ पर हम घृतकी आहुति देते हैं ॥२९॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥

शुद्धाः । नः । आपः । तन्वे । क्षरन्तु । यः । नः । सेदुः । अप्रिये । तम् । नि । दध्मः ।

पवित्रेण । पृथिवि । मा । उत् । पुनामि ॥ ३० ॥

जो पवित्र जल हैं वे हमारे शरीर पर पड़ें, जो जल हमारे शरीरसे उतर कर चले गए हैं उनको हम शत्रुके लिये देते हैं, हे पृथिवि ! मैं पवित्रसे अपनेको पवित्र करता हूँ ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्
याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रि-
याणः ॥ ३१ ॥

याः । ते । प्राचीः । प्रऽदिशः । याः । उदीचीः । याः । ते । भूमे ।
अधरात् । याः । च । पश्चात् ।
स्योनाः । ताः । मह्यम् । चरते । भवन्तु । मा । नि । पप्तम् ।
भुवने । शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

हे पृथिवि ! आपकी जो पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ये श्रेष्ठ दिशाएँ हैं, वे मुझे विचरण करते समय सुख देवें, भुवनमें रहता हुआ मैं गिरूँ नहीं ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो
यावया वधम् ॥ ३२ ॥

मा । नः । पश्चात् । मा । पुरस्तात् । नुदिष्ठाः । मा । उत्तरात् ।
अधरात् उत ।
स्वस्ति । भूमे । नः । भव । मा । विदन् । परिऽपन्थिनः । वरीयः ।
यवय । वधम् ॥ ३२ ॥

हे भूमि ! तू मेरे पश्चिमकी ओर खड़ी रह, तू मेरे पूर्वकी ओर

खड़ी रह, तू मेरे उत्तरकी ओर खड़ी रह, तू मेरे दक्षिणकी ओर खड़ी रह अर्थात् मुझको चारों ओर दीवार वाला भवन मिले, हे भूमे ! तू मुझे कल्याण देने वाली हो डाँकू मुझको न पा सकें और विकट वधको मुझसे पृथक् रख ॥ ३२ ॥

यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

यावत् । ते । अभि । विऽपश्यामि । भूमे । सूर्येण । मेदिना ।
तावत् । मे । चक्षुः । मा । मेष्ट । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ३३

जब तक मैं स्नेही सूर्यदेवके सामने तुझको देखता रहूँ तबतक अगले अगले वर्षोंमें मेरा नेत्र क्षीण न हो ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

यत् । शयानः । परिऽआवर्ते । दक्षिणम् । सव्यम् । अभि । भूमे । पार्श्वम् ।
उत्तानाः । त्वा । प्रतीचीम् । यत् । पृष्टीभिः । अधिऽशेमहे ।
मा । हिंसीः । तत्र । नः । भूमे । सर्वस्य । प्रतिऽशीवरि ॥३४॥

हे भूमे ! मैं जो शयन करता हुआ जो दाई बाई करवट बदलूँ और उत्तान होकर जो पश्चिमकी ओर पसलियोंसे शयन करूँ हे सबकी प्रतिशीवरि पृथ्वि ! उस समय तू हमारा संहार न कर ३४

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

यत् । ते । भूमे । विऽखनामि । क्षिप्रम् । तत् । अपि । रोहतु ।
मा । ते । मर्म । विऽमृग्वरि । मा । ते । हृदयम् । अर्पिपम् ॥३५॥

हे भूमे ! मैं तेरे जिस भागको खोदूँ वह शीघ्र ही भर जावे हे विमृग्वरि ! मैंने तेरे मर्मस्थानको वा हृदयको पूरण नहीं किया है ३५

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्

ग्रीष्मः । ते । भूमे । वर्षाणि । शरत् । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः ।
ऋतवः । ते । विऽहिताः । हायनीः । अहोरात्रे इति । पृथिवि ।
नः । दुहाताम् ॥ ३६ ॥

हे भूमे ! ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त शिशिर और वसन्त ऋतु तथा दिन रात और वर्ष ये सब तुम्हारे लिये विहित हैं ये हमको (फल) दें ॥ ३६ ॥

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

या । अप । सर्पम् । विजमाना । विऽमृग्वरी । यस्याम् । आसन् ।
अग्नयः । ये । अप्ऽसु । अन्तः ।
परा । दस्यून् । ददती । देवऽपीयून् । इन्द्रम् । वृणाना । पृथिवी ।
न । वृत्रम् ।
शक्राय । दध्रे । वृषभाय । वृष्णे ॥ ३७ ॥

जो पवित्रशीला पृथ्वी सर्पके हिलने पर काँपा करती है, जो अग्नि वैद्युतरूपमें जलमें प्रविष्ट है वही अग्नि जिसमें रहता है जो पृथिवी देवहिंसक डाँकुओंको फल नहीं देती है जिसने इन्द्रका वरण किया था वृत्रासुरका वरण नहीं किया था, जो पृथिवी वर्षक धर्मात्मा समर्थ पुरुषके वशमें रहती है ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

यस्याम् । सदोहविर्धाने इति सदःऽहविर्धाने । यूपः । यस्याम् ।
निऽमीयते ।
ब्रह्माणः । यस्याम् । अर्चन्ति । ऋक्ऽभिः । साम्ना । यजुःऽविदः ।
युज्यन्ते । यस्याम् । ऋत्विजः । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ।३८।

जिस भूमि पर हवि देनेके लिये यज्ञमण्डप बनाया जाता है, जिसमें यूप खड़े किये जाते हैं, जिस भूमि पर ब्राह्मण ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे पूजा करते हैं और जिसमें ऋत्विज इन्द्रको सोम पिलानेके कार्यमें लगते हैं ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

यस्याम् । पूर्वे । भूतऽकृतः । ऋषयः । गाः । उत् । आनृचुः ।
सप्त । सत्रेण । वेधसः । यज्ञेन । तपसा । सह ॥ ३९ ॥

जिस भूमि पर परम प्राचीन भूतोंकी रचना करने वाले ऋषियों ने सप्तसत्र अश्वयज्ञ और तपके साथ स्तुतिकी वाणियोंका उच्चारण करके पूजाकी थी ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

सा । नः । भूमिः । आ । दिशतु । यत् । धनम् । कामयामहे ।
भगः । अनुऽप्रयुङ्क्ताम् । इन्द्रः । एतु । पुरःऽगवः ॥ ४० ॥

वह भूमि हमको उस धनको देवे, कि-जिसकी हम कामना कर रहे हैं । भाग्य हमको प्रेरणा करे इन्द्र आगे २ चलें ॥ ४० ॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

यस्याम् । गायन्ति । नृत्यन्ति । भूम्याम् । मर्त्याः । विऽऐलबाः ।
युध्यन्ते । यस्याम् । आऽक्रन्दः । यस्याम् । वदति । दुन्दुभिः ।
सा । नः । भूमिः । प्र । नुदताम् । सऽपत्नान् । असपत्नम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ ४१ ॥

जिस भूमि पर नेत्ररोगरहित मनुष्य गाते हैं और नाचते हैं और जिस पर युद्ध करते हैं, जिस पर रोवा पिटाई मचती है और जिस पर दुन्दुभि बजती है, वह पृथ्वी मेरे शत्रुओंको खदेड़ देय इस प्रकार यह पृथिवी मुझको शत्रुरहित कर देय ॥ ४१ ॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्यां इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

यस्याम् । अन्नम् । व्रीहिऽयवौ । यस्याः । इमाः । पञ्च । कृष्टयः ।
भूम्यै । पर्जन्यऽपत्न्यै । नमः । अस्तु । वर्षऽमेदसे ॥ ४२ ॥

जिस पृथ्वीमें धान और जौ होते हैं, ये पाँच खेतियें जिसकी हैं, उस वर्षारूपी मेद वाली पर्जन्यके द्वारा पालिता पृथ्वीके लिये प्रणाम है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

यस्याः । पुरः । देवऽकृताः । क्षेत्रे । यस्याः । विऽकुर्वते ।
प्रजाऽपतिः । पृथिवीम् । विश्वऽगर्भाम् । आशाम्ऽआशाम् । रण्याम् । नः । कृणोतु ॥ ४३ ॥

जिस पृथिवीके सामने क्षेत्रमें देवताओंके निर्मित हिंसक पशु अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करते रहते हैं, प्रजापति देवता, उस समस्त विश्वको अपने भीतर धारण करने वाली पृथ्वीकी प्रत्येक दिशा को हमारे लिये रमणीय बनावें ॥ ४३ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥

निऽधिम् । बिभ्रती । बहुऽधा । गुहा । वसु । मणिम् । हिरण्यम् । पृथिवी । ददातु । मे ।

वसूनि । नः । वसुऽदा । रासमाना । देवी । दधातु । सुऽमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

अनेक स्थलोंमें परम गुप्त भावसे निधियोंको धारण करने वाली, पृथिवी देवी मुझको वसु मणि और सुवर्ण देवे । धनदात्री पृथिवी देवी मनमें हम पर प्रसन्न होकर वरदान देती हुई हमको वसु मणि और सुवर्ण देवे ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

जनम् । बिभ्रती । बहुऽधा । विऽवाचसम् । नानाऽधर्माणम् । पृथिवी । यथाऽओकसम् ।

सहस्रम् । धाराः । द्रविणस्य । मे । दुहाम् । ध्रुवाऽइव । धेनुः । अनपऽस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

स्थानके अनुसार अनेक प्रकारके धर्म वाले और अनेक प्रकार की भाषा बोलने वाले मनुष्योंको धारण करने वाली पृथिवी

देवी, न हिलने वाली धेनुकी समान मेरे निमित्त धनकी सहस्रों धाराओंको दुहे ॥ ४५ ॥

यस्ते॑ स॒र्पो वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टद॑ंश्मा हेम॒न्तज॑ब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑ ।
क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒न्मोप॑ सृप॒द् यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४६ ॥

यः । ते॒ । स॒र्पः । वृश्चि॑कः । तृ॒ष्टऽद॑ंश्मा । हे॒म॒न्तऽज॑ब्धः । भृ॒म॒लः । गुहा॑ । शये॑ ।
क्रिमिः॑ । जिन्व॑त् । पृ॒थि॒वि॒ । यत्ऽय॑त् । एज॑ति । प्रा॒वृषि॑ । तत् । नः॒ । सर्प॑त् । मा । उप॑ । सृ॒पत् । यत् । शि॒वम् । तेन॑ । नः॒ । मृ॒ड ४६

हे पृथिवी देवि ! जो तुममें सर्प हैं और जिनका दंशन तृषा लगाने वाला है ऐसे प्राणी हैं, तथा बिच्छू हैं और जो भृमल हेमन्त ऋतुमें डंकको नमा कर गुहामें पड़ा रहता है ये सब वर्षा ऋतुमें प्रसन्नतापूर्वक घूमते हुए प्राणी तथा जो रेंगने वाले (विषैले प्राणी हैं) वे मेरे पास न आवें, जो कल्याण करने वाला प्राणि-समूह है वह मेरे पास आवे उससे आप मुझको सुख दीजिये ४६

ये ते॒ पन्था॑नो ब॒हवो॑ ज॒नाय॑ना॒ रथ॑स्य॒ वर्त्मा॒नस॑श्च॒ यात॑वे ।
यैः सं॒चर॑न्त्युभये॑ भद्रपा॒पास्तं पन्था॑नं जयेमानमि॒त्रम॑तस्क॒रं यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४७ ॥

ये। ते। पन्थानः। बहवः। जनऽअयनाः। रथस्य। वर्त्म।
अनसा। च। यातवे।
यैः। सम्ऽचरन्ति। उभये। भद्रऽपापाः। तम्। पन्थानम्। जयेम।
अनमित्रम्। अतस्करम्। यत्। शिवम्। तेन। नः। मृड ॥४७॥

हे पृथिवी देवि! मनुष्योंके आने जानेके जो तेरे मार्ग हैं, रथ और गाड़ियोंके चलनेका जो तेरा मार्ग है, पुण्यात्मा और पापी ये दोनों जिन मार्गोंसे विचरण करते हैं, जो कल्याणप्रदमार्ग है उस चोररहित और शत्रुरहित मार्गको हम प्राप्त करें, उस मार्गसे आप हमको सुख दीजिये ॥ ४७ ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय

मल्वम्। बिभ्रती। गुरुऽभृत्। भद्रऽपापस्य। निऽधनम्। तितिक्षुः।
वराहेण। पृथिवी। सम्ऽविदाना। सूकराय। वि। जिहीते। मृगाय

शत्रुको भी धारण करने वाली, पुण्य और पाप करने वालेके शवको सहने वाली, बड़े २ पदार्थोंको धारण करने वाली और वराह जिसको ढूँढ रहे थे.वह पृथिवी वराहको ही प्राप्त हुई थी ४८

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः
पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप
बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

ये । ते । आरण्याः । पशवः । मृगाः । वने । हिताः । सिंहाः । व्याघ्राः । पुरुषऽअदः । चरन्ति ।

उलम् । वृकम् । पृथिवि । दुच्छुनाम् । इतः । ऋक्षीकाम् । रक्षः । अप । बाधय । अस्मत् ॥ ४९ ॥

जो जङ्गली पशु पुरुषभक्षक सिंह व्याघ्र आदि वनमें विचरण करते हैं उनको उल नामक पशुको, भेड़ियेको ऋक्षीकाको और राक्षसोंको यहाँ हमारे पाससे दूर करके बाधित करिये ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ५०

ये । गन्धर्वाः । अप्सरसः । ये । च । अरायाः । किमीदिनः । पिशाचान् । सर्वा । रक्षांसि । तान् । अस्मत् । भूमे । यवय ५०

हे भूमे ! जो गंधर्व और अप्सरायें हैं और जो दानमतिबंधक राक्षस हैं, उनको और सकल पिशाच तथा राक्षसोंको हमसे अलग कर ॥ ५० ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

याम् । द्विऽपादः । पक्षिणः । सम्ऽपतन्ति । हंसाः । सुऽपर्णाः । शकुनाः । वयांसि ।

यस्याम् । वातः । मातरिश्वा । ईयते । रजांसि । कृण्वन् । च्यवयन् । च । वृक्षान् ।

वातस्य । प्रऽवाम् । उपऽवाम् । अनु । वाति । अर्चिः ॥ ५१ ॥

जिस पृथ्वी पर दो पैर वाले हंस गीध कौए आदि पक्षी विचरण करते हैं जिस पर मातरिश्वा वायु धूल उड़ाता हुआ और वृक्षोंको गिराता हुआ चलता है और वायुके श्रेष्ठतासे चलने पर वा समीपमें चलने पर अग्निदेव चलते हैं ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

यस्याम् । कृष्णम् । अरुणम् । च । संहिते इति सम्ऽहिते । अहोरात्रे इति । विहिते इति विऽहिते । भूम्याम् । अधि ।

वर्षेण । भूमिः । पृथिवी । वृता । आऽवृता । सा । नः । दधातु । भद्रया । प्रिये । धामनिऽधामनि ॥ ५२ ॥

जिस पृथ्वीके ऊपर काले और प्रातःकालके समय लाल दिन रात्रि मिले हुए स्थित रहते हैं। और जो पृथिवी वर्षासे व्याप्त होती रहती है, वह पृथिवी हमको अपनी कल्याणमयी चित्तवृत्तिसे प्रिय-धाममें स्थापित करे ॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ५३

द्यौः । च । मे । इदम् । पृथिवी । च । अन्तरिक्षम् । च । मे । व्यचः ।
अग्निः । सूर्यः । आपः । मेधाम् । विश्वे । देवाः । च । सम् । ददुः

द्यौने पृथिवीने अन्तरिक्षने अग्निने सूर्यने जलने मेघाने तथा समस्त देवताओंने मुझको अनेक प्रकारसे चलनेकी शक्ति दी है ५३

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ।५४।

अहम् । अस्मि । सहमानः । उत्तरः । नाम । भूम्याम् ।
अभीषाट् । अस्मि । विश्वाषाट् । आशाम्ऽआशाम् । विऽससहिः

मैं शत्रुओंको तिरस्कृत करने वाला पृथ्वीमें उत्तम रूपमें प्रसिद्ध हूँ, मैं अभिमुख जाकर शत्रुओंका तिरस्कार करने वाला होऊँ, सब प्रकारसे तिरस्कार करने वाला होऊँ, मैं प्रत्येक दिशाके शत्रु को भली प्रकार दबा हूँ ॥ ५४ ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

अदः । यत् । देवि । प्रथमाना । पुरस्तात् । देवैः । उक्ता ।
विऽअसर्पः । महिऽत्वम् ।
आ । त्वा । सुऽभूतम् । अविशत् । तदानीम् । अकल्पयथाः ।
प्रऽदिशः । चतस्रः ॥ ५५ ॥

हे देवि ! पहिले विस्तृत होते समय देवताओंने तुमसे कहा था, कि—हे महि ! तुम विस्तृत होओ, उस समय तुममें सुन्दर भूत-समूहने प्रवेश किया था और उसी समय तुमने चार श्रेष्ठ दिशाओं की कल्पनाकी थी ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

ये । ग्रामाः । यत् । अरण्यम् । याः । सभाः । अधि । भूम्याम् ।
ये । सम्ऽग्रामाः । सम्ऽइतयः । तेषु । चारु । वदेम । ते ॥५६॥

जो भूमि पर ग्राम हैं, जो वन हैं, और जो सभाएँ हैं, जो संग्राम होते हैं, जो युद्धमन्त्रणाएँ होती हैं, उन सबमें हे पृथ्वि ! हम सुन्दरतापूर्वक तेरी स्तुति करते हैं ॥ ५६ ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अश्वःऽइव । रजः दुधुवे । वि । तान् । जनान् । ये । आऽअक्षियन् ।
पृथिवीम् । यात् । अजायत ।
मन्द्रा । अग्रऽइत्वरी । भुवनस्य । गोपाः । वनस्पतीनाम् । गृभिः
ओषधीनाम् ॥ ५७ ॥

जो पदार्थ पृथ्वीमें उत्पन्न हुए हैं वे पदार्थ जो पृथ्वी पर निवास करते हैं उन पर घोड़ेकी समान धूल उड़ाते हैं, यह पृथिवी मंद्रा है, इत्वरी है, औषधि और वनस्पतियोंके (रोगनिवारक अभय-प्रद) वचनोंसे भुवनका पालन करती है ॥ ५७ ॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ५८

यत् । वदामि । मधुऽमत् । तत् । वदामि । यत् । ईक्षे । तत् ।
वनन्ति । मा ।
त्विषिऽमान् । अस्मि । जूतिऽमान् । अव । अन्यान् । हन्मि ।
दोधतः ॥ ५८ ॥

मैं जो कुछ उच्चारण करूँ वह मधुरतासे भरा हुआ हो, जिसको मैं देखूँ वह मेरा सेवन करने लगे । मैं दीप्ति वाला रहूँ, वेग वाला रहूँ दूसरोंकी रक्षा करूँ और जो मुझको कँपावें उनको मैं मार डालूँ

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥ ५९ ॥

शन्तिऽवा । सुरभिः । स्योना । कीलालऽऊध्नी । पयस्वती ।

भूमिः । अधि । ब्रवीतु । मे । पृथिवी । पयसा । सह ॥ ५९ ॥

शान्तिमयी सुखदायिनी अन्नके देन वाली पयस्वती पृथिवी अपने दुग्धकी समान सार पदार्थके साथ मेरे विषयमें पक्षपात भरा वचन कहे ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्

भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृ-

मद्भ्यः ॥ ६० ॥

याम् । अनुऽऐच्छत् । हविषा । विश्वऽकर्मा । अन्तः । अर्णवे । रजसि । प्रऽविष्टाम् ।

भुजिष्यम् । पात्रम् । निऽहितम् । गुहा । यत् । आविः । भोगे । अभवत् । मातृमत्ऽभ्यः ॥ ६० ॥

जलके भीतर प्रविष्ट हो रजोगुणी राक्षसोंके चक्करमें पड़ी हुई जिस पृथिवीको सकल कर्म करने वाले विश्वकर्मा—परमात्माने हवि से प्राप्त करनेकी इच्छा की थी जो भुजिष्य पात्र गुप्त रहता है वह माता वालोंके लिये भोगके समय प्रकट होता है ॥ ६० ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।

यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा

ऋतस्य ॥ ६१ ॥

त्वम् । असि । आऽवपनी । जनानाम् । अदितिः । कामऽदुघा । पप्रथाना ।

यत् । ते । ऊनम् । तत् । ते । आ । पूरयाति । प्रजाऽपतिः ।

प्रथमऽजाः । ऋतस्य ॥ ६१ ॥

तू इस संसारकी क्षेत्ररूप है, अदीना है, मनोरथोंको पूर्ण करने वाली है, विस्तृत है, हे पृथिवि ! तेरा जो भाग कम होजाता है उसको ब्रह्मसे प्रथम प्रकट हुए प्रजापति पूर्ण कर देते हैं ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम

उपऽस्थाः । ते । अनमीवाः । अयक्ष्माः । अस्मभ्यम् । सन्तु । पृथिवि । प्रऽसूताः ।

दीर्घम् । नः । आयुः । प्रतिऽबुध्यमानाः । वयम् । तुभ्यम् । बलिऽहृतः । स्याम ॥ ६२ ॥

तेरे क्रोडरूप प्रकट हुए द्वीप हमारे लिये रोगरहित और विशेषतः यक्ष्मारोगसे रहित रहें, हम अपनी दीर्घ आयुको समझते हुए तेरे लिये बलि देने वाले बने रहें ॥ ६२ ॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ६३

भूमे । मातः । नि । धेहि । मा । भद्रया । सुऽप्रतिस्थितम् ।

सम्ऽविदाना । दिवा । कवे । श्रियाम् । मा । धेहि । भूत्याम् ६३

प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

३३१८

हे मातः भूमि ! मुझको कल्याणकारिणी प्रतिष्ठासे सुप्रतिष्ठित करके स्थापित करिये, हे कवे ! मुझे स्वर्ग प्राप्त कराइये तथा मुझको लक्ष्मी और विभूतिमें स्थापित करिये ॥ ६३ ॥ (१)

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त और प्रथम अनुवाक समाप्त (४९१)

क्रव्याद् नाम योग्निस्तद्विषयं सूक्तम् एतत् । त्रयोग्नयो भवन्ति । आमात्क्रव्याद्धव्यवाह इति । आमम् अपक्वम् अत्तीति आमाद् लौकिकोग्निः "येनेदं मनुष्याः पक्त्वाश्नन्ति" इति शतपथे [१. २. १. ४]। क्रव्यं शवदाहे मांसम् अत्तीति क्रव्याद् घोरस्वरूपाग्निः पित्र्यः "येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद्" इति तत्रैव । हव्यं पक्वं देवयजन आहुतम् अन्नम् अत्तीति वा देवान् प्रति तदन्नं वहतीति वा समिद्धो हव्यवाट् यागयोग्योग्निः । आमात्क्रव्यादौ यागयोग्यौ न भवतः। अत्र क्रव्यादं घोरस्वरूपम् अग्निम् अनुलक्ष्य सूक्तं प्रवर्तते । न केवलं क्रव्याच्छवदाहे शवमांसम् अत्ति अपि तु घोरत्वाद् यक्ष्मादीन् बहून् रोगान् मृत्युं च बहुविधम् आवहति । तथैव नानाप्रकारको भवति । तास्ता आपदस्तांस्तान् रोगांस्तं तं च मृत्युं सूक्तकर्ता प्रार्थनया परिहारयति । अपि च क्रव्यादो यद् घोरं रूपं तेन स शत्रून् मारयित्विति प्रार्थयते । सर्वाणि पापानि क्रव्याद् अपहरत्वित्याशास्ते । तथैव क्रव्यादो नाशाय गार्हपत्यस्याग्नेः प्रार्थना। क्रव्यादोग्नेर्ये पर्युपासकास्ते नाशमाप्नुवन्तीत्याह॥

सांप्रदायिकाः क्रव्याच्छमने विनियुञ्जते । क्रव्यादं शमयिष्यन् क्रव्य च्छमनकामः कौशिकेनोक्तप्रकारेण कर्म करोति । तत् सर्वं "पित्र्यमग्निं शमयिष्यन् ज्येष्ठस्य चाविभक्तिनः" इत्यादि नवमेध्याये चतुर्थकण्डिका यावत् प्रपञ्चितं द्रष्टव्यम् ॥

यह सूक्त क्रव्याद् नामक अग्निपरक है । आमाद् क्रव्याद् और हव्यवाट् भेदसे अग्निके तीन भेद हैं । जो अपक्व वस्तुका भक्षण करता है वह लौकिक–अग्नि आमाद् कहलाता है ।शत-

पथब्राह्मण १ । २ । १ । ४ में भी कहा है, कि-"येनेदं मनुष्याः पक्त्वाश्नन्ति ।-जिससे पकाकर पुरुष भक्षण करते हैं (वह आमाद् अग्नि कहलाता है)" ।। शवदाहमें मांस क्रव्यका भक्षण करने वाला वह घोररूप चिताकी अग्नि क्रव्याद् कहलाता है ।। इसी बात को शतपथब्राह्मणमें तहाँ ही कहा है, कि-"येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्याद् ।।" हव्य पक्व देवयजनमें आहुत अन्नका भक्षण करने वाला या देवताओंको उस हव्यको पहुँचाने वाला अग्नि हव्य-वाट् कहलाता है यह हव्यवाट् अग्नि यागके योग्य होता है । आमाद् और क्रव्याद् अग्नि यागके योग्य नहीं होते हैं । यहाँ घोरस्वरूप क्रव्याद् अग्निको लक्ष्यमें रख कर सूक्त मन्त्रित होता है । क्रव्याद् अग्नि शवदाहके समय मांसका ही भक्षण नहीं करता है, किन्तु घोर होनेसे यक्ष्मा आदि बहुतसे रोगोंको और अनेक प्रकारसे मृत्युको भी देता है तथा अनेक प्रकारकी आपत्तियोंको देता है। उन आपत्ति रोग और मृत्युको सूक्तकर्ता प्रार्थनाके द्वारा दूर कराता है । और यह प्रार्थना करता है, कि-"क्रव्याद्का जो घोररूप है वह शत्रुओंका संहार करे" और यह आशीर्वाद माँगता है, कि-क्रव्याद् सब पापोंको दूर करे" तथा क्रव्याद्का नाश करनेके लिये गार्हपत्य अग्निकी प्रार्थना की है । और यह कहा है, कि-जो क्रव्याद् अग्निके उपासक हैं वे नाशको प्राप्त होजाते हैं।

साम्प्रदायिक पुरुष इसका क्रव्याच्छमनमें विनियोग करते हैं। क्रव्याद् अग्निको शमन करना चाहने वाला क्रव्याद् अग्निको शान्त करना चाहने वाला कौशिककी कही हुई रीतिके अनुसार काम करे । इस सबका नवम अध्यायकी चतुर्थकण्डिकामें "पित्र्य-मग्निं शमयिष्यन् ज्येष्ठस्य चाविभक्तिनः" में वर्णन है ।

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥ १ ॥

नडम् । आ । रोह । न । ते । अत्र । लोकः । इदम् । सीसम् । भागऽधेयम् । ते । आ । इहि ।

यः । गोषु । यक्ष्मः । पुरुषेषु । यक्ष्मः । तेन । त्वम् । साकम् । अधराङ् । परा । इहि ॥ १ ॥

हे क्रव्याद् अग्ने ! तू चटाई बनानेकी घास नड पर चढ़, यहाँ तेरा स्थान नहीं है, यह सीसा तेरा भाग है तू यहाँ आ। जो यक्ष्मा रोग गौओंमें है, जो यक्ष्मा रोग पुरुषोंमें है, उसके साथ तू निकल कर दूर चला जा ॥ १ ॥

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥

अघशंसदुःशंसाभ्याम् । करेण । अनुऽकरेण । च ।

यक्ष्मम् । च । सर्वम् । तेन । इतः । मृत्युम् । च । निः । अजामसि २

मैं पापोंको नष्ट करने वाले और दुर्भावोंको नष्ट करने वाले कर और अनुकरसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और उसके द्वारा मृत्युको भी दूर फेंकता हूँ ॥ २ ॥

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥ ३ ॥

निः । इतः । मृत्युम् । निःऽऋतिम् । निः । अरातिम् । अजामसि ।

यः । नः । द्वेष्टि । तम् । अद्धि । अग्ने । अक्रव्यऽअत् । यम् ।

ऊं इति । द्विष्मः । तम् । ऊं इति । ते । प्र । सुवामसि ॥ ३ ॥

हे अक्रव्याद् अग्ने ! हम यहाँसे मृत्युको दूर करते हैं पापदेवता निर्ऋतिको दूर भगाते हैं, शत्रुको दूर भगाते हैं, हे अग्ने ! जो हमसे द्वेष करता है उसका तू भक्षण कर हम जिससे द्वेष करते हैं उसको हम तेरे लिये प्रेरणा करते हैं ॥ ३ ॥

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशा-
न्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदो-
प्यग्नीन् ॥ ४ ॥

यदि । अग्निः । क्रव्यऽअत् । यदि । वा । व्याघ्रः । इमम् । गोऽ-
स्थम् । प्रऽविवेश । अनिऽओकाः ।

तम् । माषऽआज्यम् । कृत्वा । प्र । हिणोमि । दूरम् । सः ।
गच्छतु । अप्सुऽसदः । अपि । अग्नीन् ॥ ४ ॥

यदि क्रव्याद् अग्निने वा कच्चे मांसका भक्षण करने वाले व्याघ्रने कहीं और स्थान न पानेसे यहाँ गोष्ठमें प्रवेश किया है, तो मैं उसको माषाज्य करके दूर फेंकता हूँ, वह जलमें रहने वाली अग्नियोंको प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते ।

सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥ ५ ॥

यत् । त्वा । क्रुद्धाः । प्रऽचक्रुः । मन्युना । पुरुषे । मृते ।

सुऽकल्पम् । अग्ने । तत् । त्वया । पुनः । त्वा । उत् । दीपयामसि ॥

पुरुषके मरने पर क्रोधमें भरे प्राणियोंने दीनतामें भर कर जो तुझको किया था, वह काम भली भाँति पूर्ण होगया सो हम अब फिर तुझको तुझसे ही उद्दीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।

पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय

पुनः । त्वा । आदित्याः । रुद्राः । वसवः । पुनः । ब्रह्मा । वसुऽनीतिः । अग्ने ।

पुनः । त्वा । ब्रह्मणः । पतिः । आ । अधात् । दीर्घायुऽत्वाय । शतऽशारदाय ॥ ६ ॥

हे अग्ने ! आदित्य रुद्र वसु ब्रह्मा, वसुनीति और ब्रह्मणस्पतिने तुझको सौ वर्षकी दीर्घायु पानेके लिये फिर स्थापित किया था ॥ ६ ॥

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।

तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे

यः । अग्निः । क्रव्यऽअत् । प्रऽविवेश । नः । गृहम् । इमम् । पश्यन् । इतरम् । जातऽवेदसम् ।

तम् । हरामि । पितृऽयज्ञाय । दूरम् । सः । घर्मम् । इन्धाम् । परमे । सधऽस्थे ॥ ७ ॥

यदि क्रव्याद अग्निने दूसरे अग्निके देखनेके लिये हमारे इस घरमें प्रवेश किया है तो मैं उसको पितृयज्ञ करनेके लिये दूर निकालता हूँ, वह एक साथ रहनेके स्थान परमव्योममें घर्मको प्रदीप्त करे ॥ ७ ॥

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्

क्रव्यऽअदम् । अग्निम् । प्र । हिणोमि । दूरम् । यमऽराज्ञः । गच्छतु । रिप्रऽवाहः ।

इह । अयम् । इतरः । जातऽवेदाः । देवः । देवेभ्यः । हव्यम् । वहतु । प्रऽजानन् ॥ ८ ॥

मैं क्रव्याद अग्निको दूर भगाता हूँ, वह पापको लेकर यमराजके पास चला जाये, और यहाँ पर यह दूसरे जातवेदा अग्निदेव देवताओंके लिये हविको पहुँचावें ॥ ८ ॥

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥ ९ ॥

क्रव्यऽअदम् । अग्निम् । इषितः । हरामि । जनान् । दृंहन्तम् । वज्रेण । मृत्युम् ।

नि । तम् । शास्मि । गार्हऽपत्येन । विद्वान् । पितृणाम् । लोके ।
अपि । भागः । अस्तु ॥ ९ ॥

मनुष्योंकी मृत्युको दृढ करते हुए क्रव्याद् अग्निको मैं मन्त्र-शक्तिसे प्रेरित होकर मन्त्र–वज्रके द्वारा भगाता हूँ, मैं विद्वान् पुरुष गार्हपत्यके द्वारा इस अग्निका शासन करता हूँ, यह लोक में पितरोंका भाग होवे ॥ ९ ॥

क्रव्यादम॒ग्निं श॑शमा॒नमु॒क्थ्यं१ प्र हि॑णोमि प॒थिभिः॑ पितृ॒याणैः॑ ।
मा दे॑व॒यानैः॒ पुन॒रा गा॒ अत्रै॒वैधि॑ पि॒तृषु॑ जागृहि॒ त्वम् ॥ १० ॥

क्र॒व्यऽअद॑म् । अ॒ग्निम् । श॒श॒मा॒नम् । उ॒क्थ्य॑म् । प्र । हि॒नो॒मि ।
प॒थिऽभिः॑ । पि॒तृ॒ऽयानैः॑ ।
मा । दे॒व॒ऽयानैः॑ । पुनः॑ । आ । गाः॒ । अत्र॑ । ए॒व । ए॒धि ।
पि॒तृषु॑ । जा॒गृ॒हि॒ । त्वम् ॥ १० ॥

उक्थ्यकी प्रशंसा करने वाले क्रव्याद् अग्निको मैं पितरोंके जानेके मार्गमें प्रेरित करता हूँ, तू देवयानोंसे फिर न आना तू यहाँ ही पितरोंमें बढ़ और पितरोंमें ही जागता रह ॥ १० ॥ (७)

समि॑न्धते॒ संक॑सुकं स्व॒स्तये॑ शु॒द्धा भव॑न्तः॒ शुच॑यः पाव॒काः ।

जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥ ११ ॥

सम् । इन्धते । सम्ऽकसुकम् । स्वस्तये । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः ।

जहाति । रिप्रम् । अति । एनः । एति । सम्ऽइद्धः । अग्निः । सुऽपुना । पुनाति ॥ ११ ॥

दमकते हुए पवित्र करने वाले अग्नि शुद्ध होनेके समय स्वस्ति के लिये शवभक्षक अग्निको दीप्त करते हैं तब यह पापको छोड़ देता है, पापका उल्लंघन कर जाता है इस दशामें प्रज्वलित होता हुआ यह पावक अग्नि पवित्र करता है ॥ ११ ॥

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् ।
मुच्यमानो निरेणसोमोगस्माँ अशस्त्याः ॥ १२ ॥

देवः । अग्निः । सम्ऽकसुकः । दिवः । पृष्ठानि । आ । अरुहत् । मुच्यमानः । निः । एनसः । अमोक् । अस्मान् । अशस्त्याः १२

शवभक्षक अग्निदेव स्वयं पापसे छूटते हुए और हमको अकल्याणसे बचाते हुए स्वर्ग पर आरोहण करते हैं ॥ १२ ॥

अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् १३

अस्मिन् । वयम् । सम्ऽकसुके । अग्नौ । रिप्राणि । मृज्महे ।

अभूम । यज्ञियाः । शुद्धाः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् १३

हम इस शवभक्षक अग्निमें अपने पापोंको शुद्ध कर देते हैं हम यज्ञिय पुरुष शुद्ध होगए हैं, यह अग्निदेव हमारी आयुको पूर्ण करें

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः ।
ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥ १४ ॥

सम्ऽकसुकः । विऽकसुकः । निःऽऋथः । यः । च । निऽस्वरः ।
ते । ते । यक्ष्मम् । सऽवेदसः । दूरात् । दूरम् । अनीनशन् १४

जो संकसुक विकसुक निर्ऋथ और निस्वर अग्नि थे वे यक्ष्मा को जानने वाले यक्ष्माके साथ ही दूरसे दूर पर जाकर नष्ट हो गए हैं ॥ १४ ॥

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु ।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

यः । नः । अश्वेषु । वीरेषु । यः । नः । गोषु । अजऽअविषु ।
क्रव्यऽअदम् । निः । नुदामसि । यः । अग्निः । जनऽयोपनः १५

मनुष्योंको मोहमें डालने वाला जो क्रव्याद् अग्नि हमारे घोड़ों में, वीर्यसे उत्पन्न होने वाले पुत्र पौत्र आदि वीरोंमें, गौओंमें और भेड़ बकरियोंमें घुस गया हो उसको हम दूर खदेड़ते हैं ॥ १५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः १६

अन्येभ्यः । त्वा । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । त्वा ।

निः । क्रव्यऽअदम् । नुदामसि । यः । अग्निः । जीवितऽयोपनः १६

जीवनको गड़बड़ीमें डालने वाला जो अग्नि है उसको हम मंत्र-शक्तिसे खदेड़ते हैं। हे क्रव्याद्! हम तुझको अन्य पुरुषोंसे गौओं से और घोड़ोंसे निकालते हैं ॥ १६ ॥

यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत ।
तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥ १७ ॥

यस्मिन् । देवाः । अमृजत । यस्मिन् । मनुष्याः । उत ।
तस्मिन् । घृतऽस्तावः । मृष्ट्वा । आ । त्वम् । अग्ने । दिवम् । रुह १७

जिसमें देवता और मनुष्य शुद्ध होते हैं, उसमें हे घृतस्ताव अग्ने! तू शुद्ध होकर स्वर्ग पर चढ़ ॥ १७ ॥

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः ।
अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥

सम्ऽइद्धः । अग्ने । आऽहुत । सः । नः । मा । अभिऽअपक्रमीः ।
अत्र । एव । दीदिहि । द्यवि । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥१८॥

हे गार्हपत्य अग्ने! तू भली प्रकार दीप्त होरहा है, तुझमें भली भाँति आहुति दी जारही है तू हमको न छोड़, यहाँ दीप्त हो और अन्तरिक्षके सूर्यको चिरकाल तक दिखानेके लिये दीप्त रह ॥१८॥

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत् ।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥ १९ ॥

सीसे । मृड्ढ्वम् । नडे । मृड्ढ्वम् । अग्नौ । सम्ऽकसुके । च । यत् ।

अथो इति । अव्याम् । रामायाम् । शीर्षक्तिम् । उपऽबर्हणे ॥१९॥

हे पुरुषो ! तुम शिरके रोगको सीसेमें शुद्ध करो नड नामक घासमें दूर करो, संकसुक अग्निमें शुद्ध करो भेड़में स्त्रीमें और तकियेमें शुद्ध करो ॥ १९ ॥

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।

अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥२०॥

सीसे । मलम् । सादयित्वा । शीर्षक्तिम् । उपऽबर्हणे ।

अव्याम् । असिक्न्याम् । मृष्ट्वा । शुद्धाः । भवत । यज्ञियाः २०

हे यज्ञियपुरुषो ! तुम मलको सीसेमें और शिरोरोगको तकिये में स्थापित करके और काली भेड़में शुद्ध करके शुद्ध होओ २०

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात् ।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु २१

परम् । मृत्यो इति । अनु । परा । इहि । पन्थाम् । यः । ते । एषः । इतरः । देवऽयानात् ।

चक्षुष्मते । शृण्वते । ते । ब्रवीमि । इह । इमे । वीराः । बहवः । भवन्तु ॥ २१ ॥

हे मृत्यो ! देवयानके अतिरिक्त जो दूरका मार्ग है उस मार्गमें तू जा, तुझ नेत्र और कर्णसम्पन्नसे मैं कहता हूँ, कि–यहाँ पर हमारे यह बहुतसे पुत्र पौत्र आदि रहेंगे ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैरावव्रुत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

इमे । जीवाः । वि । मृतैः । आ । अववृत्रन् । अभूत् । भद्रा । देवऽहूतिः । नः । अद्य ।
प्राञ्चः । अगाम । नृतये । हसाय । सुऽवीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ २२ ॥

देवताओंके निमित्त आहुति देना आज हमारे लिये कल्याणकारी हुआ है यह जीव मृत्युको दूर करने वाली शक्तियोंसे सम्पन्न होगए हैं, हम पूजनीयपुरुष सुन्दर पुत्रपौत्र आदि वीरों से सम्पन्न होकर नाचने और हँसनेके लिये आगए हैं हम यज्ञ की प्रशंसा करते हैं ॥ २१ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् शतं जीवन्त शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥

इमम् । जीवेभ्यः । परिऽधिम् । दधामि । मा । एषाम् । नु । गात् । अपरः । अर्थम् । एतम् ।
शतम् । जीवन्तः । शरदः । पुरूचीः । तिरः । मृत्युम् । दधताम् । पर्वतेन ॥ २३ ॥

हे मनुष्यों ! तुम सौ वर्ष तक जीवित रहते हुए अनेक प्रकार के सत्कारोंको पाओ और पत्थरसे मृत्युको दबादो, मैं तुमको यह मंत्ररूपा परिधि देता हूँ, इन मनुष्योंके अतिरिक्त और कोई दूसरा प्राणी इस अर्थको न पासके ॥ २३ ॥

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु
जीवनाय ॥ २४ ॥

आ। रोहत। आयुः। जरसम्। वृणानाः। अनुऽपूर्वम्। यत-
मानाः। यति। स्थ।
तान्। वः। त्वष्टा। सुऽजनिमा। सऽजोषाः। सर्वम्। आयुः। नयतु।
जीवनाय ॥ २४ ॥

हे मनुष्यों! तुम बुढ़ापे तककी आयुका वरण करते हुए और वैसी चेष्टा रखते हुए बुढ़ापे तककी आयुको पाओ, सुन्दर जन्म वाले, समान प्रीति वाले तुमको त्वष्टा देवता जीवनके लिये पूर्णायु देवें ॥ २४ ॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्

यथा। अहानि। अनुऽपूर्वम्। भवन्ति। यथा। ऋतवः। ऋतुऽ-
भिः। यन्ति। साकम्।
यथा। न। पूर्वम्। अपरः। जहाति। एव। धातः। आयूंषि।
कल्पय। एषाम् ॥ २५ ॥

जैसे दिन एकके पीछे दूसरे चलते हैं, जैसे ऋतुएँ दूसरी ऋतुओंके साथ चली जाती हैं, जैसे पहिलेको नवीन नहीं त्याग देता है ऐसे ही हे धातः! आप इनकी आयुको करिये ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि
वाजान् ॥ २६ ॥

अश्मन्ऽवती । रीयते । सम् । रभध्वम् । वीरयध्वम् । प्र । तरत । सखायः ।
अत्र । जहीत । ये । असन् । दुःऽएवाः । अनमीवान् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ २६ ॥

हे मित्रों ! यह पत्थर वाली नदी सुनाई आरही है, तुम वीरता करो और इसको तर जाओ, तुममें जो पाप हों उनको इसमें त्याग दो, फिर हम आरोग्यताप्रदायक वेगोंको तरें ॥ २६ ॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि
वाजान् ॥ २७ ॥

उत् । तिष्ठत । प्र । तरत । सखायः । अश्मन्ऽवती । नदी । स्यन्दते । इयम् ।
अत्र । जहीत । ये । असन् । अशिवाः । शिवान् । स्योनान् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ २७ ॥

हे मित्रों ! उठो तैरो ! यह पत्थर वाली नदी शब्द कर रही है, तुम्हारे जो पाप हों उनको इसमें बहा दो, आओ ! हम कल्याणकारक सुखप्रद वेगोंको तरें ॥ २७ ॥

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमा सर्ववीरा मदेम ॥ २८ ॥

वैश्वऽदेवीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः ।
अतिऽक्रामन्तः । दुःऽइता । पदानि । शतम् । हिमाः । सर्वऽवीराः । मदेम ॥ २८ ॥

हे पवित्र करने वाले पावकों ! तुम पवित्र होनेके समय सम्पूर्ण देवताओंकी स्तुतिका आरंभ करो, हम पापोंका ऋक्पदोंसे अतिक्रमण करते हुए सौ हेमन्त ऋतुओं तक पुत्र पौत्र आदि सब वीरोंके साथ आनन्द पावें ॥ २८ ॥

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोवरान् परेभिः
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन

उदीचीनैः । पथिऽभिः । वायुमत्ऽभिः । अतिऽक्रामन्तः । अवरान् । परेभिः ।
त्रिः । सप्त । कृत्वः । ऋषयः । पराऽइताः । मृत्युम् । प्रति । औहन् । पदऽयोपनेन ॥ २९ ॥

परलोकमें जाते हुए वायुसे भरे उत्तरायणमार्गमें गमन करते

हुए और निकृष्ट पुरुषोंका श्रेष्ठ तपके कारण उल्लंघन करते हुए ऋषियोंने पदयोपनके द्वारा इकीस वार मृत्युको लाँघा था २९

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेथ जीवासो विदथमा वदेम ॥ ३० ॥

मृत्योः । पदम् । योपयन्तः । आ । इत । द्राघीयः । आयुः । प्रऽतरम् । दधानाः ।

आसीनाः । मृत्युम् । नुदत । सधऽस्थे । अथ । जीवासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ ३० ॥

ये मृत्युके लक्ष्यको मोहमें डालने वाले ऋषि प्रकृष्टतासे पूर्ण होने वाली दीर्घायुको धारण करके बैठे हुए हैं, तुम भी मृत्युको खदेड़ो फिर हम सब एक साथ स्थित होनेके स्थान जीवलोकमें यज्ञकी वा घरकी वा ज्ञानकी प्रशंसा करें ॥ ३० ॥ (६)

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ३१ ॥

इमाः । नारीः । अविधवाः । सुऽपत्नीः । आऽअञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । स्पृशन्ताम् ।

अनश्रवः । अनमीवाः । सुऽरत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ३१ ॥

ये स्त्रियें विधवा न होवें, शोभन पतिसे सम्पन्न रहें, और कान्ति देने वाले घीसे सम्पन्न रहें, आँसुओंसे रहित रहें, रोग-रहित रहें, शोभन आभूषणोंको धारण किये रहें और अपत्यजनन के लिये मनुष्ययोनिमें स्थित रहें ॥ ३१ ॥

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥ ३२ ॥

विऽआकरोमि । हविषा । अहम् । एतौ । तौ । ब्रह्मणा । वि । अहम् । कल्पयामि ।

स्वधाम् । पितृऽभ्यः । अजराम् । कृणोमि । दीर्घेण । आयुषा । सम् । इमान् । सृजामि ॥ ३२ ॥

मैं हविके द्वारा इन दोनों (पति पत्नियों) को मृत्युलोकमें प्रकट रखता हूँ और मंत्रशक्तिसे इनको भली प्रकार समर्थ करता हूँ और पितरोंकी (इनके द्वारा दी जाने वाली) स्वधाको अजर करता हूँ और इनको दीर्घायुसे संपन्न करता हूँ ॥ ३२ ॥

यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु । मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥ ३३ ॥

यः । नः । अग्निः । पितरः । हृत्ऽसु । अन्तः । आऽविवेश । अमृतः । मर्त्येषु ।

मयि । अहम् । तम् । परि । गृह्णामि । देवम् । मा । सः । अस्मान् ।
द्विक्षत । मा । वयम् । तम् ॥ ३३ ॥

हे पितरो ! जो अविनाशी फलको देने वाला अग्नि हमारे हृदयमें प्रविष्ट है उस अग्निको मैं ग्रहण करता हूँ वह हमसे द्वेष न करे और हम भी उससे द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

अपऽआवृत्य । गार्हऽपत्यात् । क्रव्यऽअदा । प्र । इत । दक्षिणा ।
प्रियम् । पितृऽभ्यः । आत्मने । ब्रह्मऽभ्यः । कृणुत । प्रियम् ३४

हे प्राणियों ! तुम मंत्रोंसे गार्हपत्य अग्निसे हट कर क्रव्याद् अग्निके द्वारा दक्षिण दिशामें जाओ तहाँ अपने लिये और अपने पितरोंके लिये प्रिय कार्यको करते रहो ॥ ३४ ॥

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या ।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥३५॥

द्विभागऽधनम् । आऽदाय । प्र । क्षिणाति । अवर्त्या ।
अग्निः । पुत्रस्य । ज्येष्ठस्य । यः । क्रव्यऽअत् । अनिःऽआहितः ३५

जो पुरुष क्रव्याद् अग्निका भली प्रकार त्याग नहीं करता है वह अपने बड़े पुत्रके और अपने इस प्रकार दोनोंके धनको लेकर हवि न पाता हुआ क्षीण होजाता है ॥ ३५ ॥

यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते ।

सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥२६॥

यत् । कृषते । यत् । वनुते । यत् । च । वस्नेन । विन्दते ।

सर्वम् । मर्त्यस्य । तत् । न । अस्ति । क्रव्यऽअत् । च । इत् ।

अनिःऽआहितः ॥ २६ ॥

वह जो खेती करता है, जिस वस्तुका सेवन करता है और मूल्य देकर जिस वस्तुको प्राप्त करता है, यदि मनुष्य क्रव्याद् अग्निका सेवन करना न छोड़े तो पुरुषके ये सब नहींके बराबर होजाते हैं ॥ २६ ॥

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।

छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥२७॥

अयज्ञियः । हतऽवर्चाः । भवति । न । एनेन । हविः । अत्तवे ।

छिनत्ति । कृष्याः । गोः । धनात् । यम् । क्रव्यऽअत् । अनुऽवर्तते

क्रव्याद् अग्निका सेवन करने वाला पुरुष यज्ञ करनेका पात्र नहीं रहता है, उसका तेज जाता रहता है और इसके द्वारा (बुलाये हुए देवता) हविका भाशन करनेके लिये इसके समीप (नहीं आते हैं) जिस पुरुषका क्रव्याद् अनुवर्तन करता है उसको खेती से गौसे और धनसे छिन्न भिन्न कर डालता है ॥ २७ ॥

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य ।

क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति २८

मुहुः । गृध्यैः । प्र । वदति । आर्तिम् । मर्त्यः । निऽइत्य ।

क्रव्यऽअत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अनुऽविद्वान् । विऽतावति

अनुविद्वान् क्रव्याद् अग्नि जिनके समीपमें रह कर तपाता रहता है वह पुरुष परम व्यथाको पाकर बारम्बार स्पृहणीय वस्तुओंके लिये दीनता भरी वाणी बोलता रहता है ॥ ३८ ॥

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः ।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो ३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥३९॥

ग्राह्या । गृहाः । सम् । सृज्यन्ते । स्त्रियाः । यत् । म्रियते । पतिः ।
ब्रह्म । एव । विद्वान् । एष्यः । यः । क्रव्यऽअदम् । निःऽआदधत्

जो क्रव्याद् अग्निको निःशेषरूपसे पूर्णरूपसे–ग्रहण करता है तो उसके निमित्त कैदमें डालने वाले घर बनते हैं और स्त्रीका पति मर जाता है, (उस समय आपत्तिको दूर करनेके लिये) वेदवेत्ता विद्वान्की इच्छा करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम् ।
आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ४०

यत् । रिप्रम् । शमलम् । चकृम । यत् । च । दुःऽकृतम् ।
आपः । मा । तस्मात् । शुम्भन्तु । अग्नेः । सम्ऽकसुकात् । च । यत् ॥ ४० ॥

हम जिस पापको, जिस मलिन पापको और दुःखदायक फल वाले पापको कर चुके हैं उन पापोंसे और शवभक्षक अग्निस्पर्श के दोषसे जल मुझको शुद्ध करें ॥ ४० ॥

ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन् प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः

पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः

ताः । अधरात् । उदीचीः । आ । अवृत्रन् । प्रऽजानतीः । पथिऽभिः । देवऽयानैः ।

पर्वतस्य । वृषभस्य । अधि । पृष्ठे । नवाः । चरन्ति । सरितः । पुराणीः ॥ ४१ ॥

जो प्रकृष्टरूपसे होने वाले जल देवयानमार्गोंके द्वारा दक्षिणसे उत्तरके स्थानोंको घेर लेते हैं, फिर वे ही प्राचीन जल नवीन होकर वर्षक पर्वतके शिखर पर नदीरूपमें विचरण करते हैं ४१

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ४२

अग्ने । अक्रव्यऽअत् । निः । क्रव्यऽअदम् । नुद । आ । देवऽयजनम् । वह ॥ ४२ ॥

हे क्रव्यादभिन्न अक्रव्याद गार्हपत्य अग्ने ! आप क्रव्याद अग्निको दूर करिये और देवताओंकी पूजाकी सामग्रीको देवताओंके पास पहुँचाइये ॥ ४२ ॥

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् ।

व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥४३॥

इमम् । क्रव्यऽअत् । आ । विवेश । अयम् । क्रव्यऽअदम् । अनु । अगात् ।

व्याघ्रौ । कृत्वा । नानानम् । तम् । हरामि । शिवऽअपरम् ४३

इस पुरुषमें क्रव्यादने प्रवेश कर लिया है, यह क्रव्यादका अनु-

वर्तन करने लगा है मैं इन दोनोंको व्याघ्र करता हूँ अर्थात् व्याघ्र की समान दूरसे त्यागने योग्य समझता हूँ और इस शिव (कल्याण) से अपर अमङ्गलरूप अनेकोंको लेजाने वाली क्रव्याद् अग्निको दूर करता हूँ ॥ ४३ ॥

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणा–
मग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

अन्तःऽधिः । देवानाम् । परिऽधिः । मनुष्याणाम् ।
अग्निः । गार्हऽपत्यः । उभयान् । अन्तरा । श्रितः ॥ ४४ ॥

यह देवताओंकी अन्तर्धि और मनुष्योंकी परिधि गार्हपत्य अग्नि दोनोंके मध्यमें स्थित है ॥ ४४ ॥

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ४५

जीवानाम् । आयुः । प्र । तिर । त्वम् । अग्ने । पितॄणाम् । लोकम् । अपि । गच्छन्तु । ये । मृताः ।
सुऽगार्हपत्यः । विऽतपन् । अरातिम् । उषाम्ऽउषाम् । श्रेयसीम् । धेहि । अस्मै ॥ ४५ ॥

हे अग्ने ! आप जीवोंकी आयुको बढ़ाइये और जो मर गए हैं वे पितरोंके लोकको चले जावें, गार्हपत्य अग्नि शत्रुओंको तपाता रहे हे गार्हपत्य अग्ने ! आप हमको कल्याणकारिणी उषाको हममें स्थापित करिये ॥ ४५ ॥

सर्वाँनग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि

सर्वान् । अग्ने । सहमानः । सऽपत्नान् । आ । एषाम् । ऊर्जम् ।
रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ४६ ॥

हे अग्ने ! आप सब शत्रुओंका तिरस्कार करते हुए इनके बल और धनको हममें स्थापित करिये ॥ ४६ ॥

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥

इमम् । इन्द्रम् । वह्निम् । पप्रिम् । अनुऽआरभध्वम् । सः । वः ।
निः । वक्षत् । दुःऽइतात् । अवद्यात् ।
तेन । अप । हत । शरुम् । आऽपतन्तम् । तेन । रुद्रस्य । परि ।
पात । अस्ताम् ॥ ४७ ॥

इन समर्थ ऐश्वर्यसम्पन्न वह्निकी स्तुतिका तुम आरंभ करो यह तुमको अवद्य पापसे दूर करें, उससे आप रुद्रदेवके गिरते हुए बाणको दूर करिये और रुद्रके प्रक्षेपसे अपनी रक्षा करिये॥४७॥

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ४८

अनड्वाहम् । प्लवम् । अनुऽआरभध्वम् । सः । वः । निः । वक्षत् । दुःऽहुतात् । अवद्यात् ।

आ । रोहत । सवितुः । नावम् । एताम् । षट्ऽभिः । उर्वीभिः । अमतिम् । तरेम ॥ ४८ ॥

तुम हविरूप भारवहनकी गाड़ीका वहन करने वाले, नौका-रूप वह्निदेवकी स्तुति करो वह तुमको अनर्थ पापसे बचावे तुम इस सवितादेवताकी नौका पर चढ़ो हम छः उर्वियोंसे अमतिको तर जावें ॥ ४८ ॥

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः । अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥ ४९ ॥

अहोरात्रे इति । अनु । एषि । बिभ्रत् । क्षेम्यः । तिष्ठन् । प्रऽतरणः । सुऽवीरः ।

अनातुरान् । सुऽमनसः । तल्प । बिभ्रत् । ज्योक् । एव । नः । पुरुषऽगन्धिः । एधि ॥ ४९ ॥

हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम दिन रातको धारण करते हुए आते हो, स्थित रहकर कल्याण देते हो, सुन्दर पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न रखते हो, पुरुष सुगमतासे आपकी उपासना कर सकते हैं आप पुरुषगंधि हैं आप हमको नीरोग और प्रसन्न मनसे पर्यंक पर धारण करते हुए चिरकाल तक प्रदीप्त होकर बढ़ते रहिये ॥४९॥

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा ।

क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ५०

ते । देवेभ्यः । आ । वृश्चन्ते । पापम् । जीवन्ति । सर्वदा ।

क्रव्यऽअत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अश्वःऽइव । अनुऽवपते ।

नडम् ॥ ५० ॥

वह देवताओंके निमित्त होने वाले यज्ञ आदिका विनाश करते हैं और सदा पापसे जीविका चलाते हैं, कि-जिनके समीपमें आकर घोड़ेके नड घासको कुचलनेके समान क्रव्याद् अग्नि कुचलता है ॥ ५० ॥ (११)

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते ।

ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥ ५१ ॥

ये । अश्रद्धाः । धनऽकाम्या । क्रव्यऽअदा । सम्ऽआसते ।

ते । वै । अन्येषाम् । कुम्भीम् । परिऽआदधति । सर्वदा ।

जो धनकी कामना वाले अश्रद्धालु पुरुष क्रव्याद् अग्निकी उपासना करते हैं वे सदा दूसरोंके घड़े ही उठाते रहते हैं ॥ ५१ ॥

प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः ।

क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ५२ ॥

प्रऽइव । पिपतिषति । मनसा । मुहुः । आ । वर्तते । पुनः ।

क्रव्यऽअत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अनुऽविद्वान् । विऽतावति

अनुविद्वान् क्रव्याद् अग्नि जिसके पास आकर तपता है, वह

पुरुष बारम्बार जन्म मरणके चक्रमें पड़ता रहता है और अधो-गतिको ही पाना चाहता है ॥ ५२ ॥

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं ते आहुः ।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥

अविः । कृष्णा । भागऽधेयम् । पशूनाम् । सीसम् । क्रव्यऽअत् । अपि । चन्द्रम् । ते । आहुः ।
माषाः । पिष्टाः । भागऽधेयम् । ते । हव्यम् । अरण्यान्याः । गह्वरम् । सचस्व ॥ ५३ ॥

हे क्रव्याद् अग्ने ! विद्वान् पुरुष कहते हैं, कि-पशुओंमें काली भेड़, सीसा और चन्द्रमा तेरा भाग है और पिसे हुए उड़द तेरा हव्य है, इसलिये तू महावनके गह्वरस्थानमें जापड़ ॥ ५३ ॥

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥

इषीकाम् । जरतीम् । इष्ट्वा । तिल्पिञ्जम् । दण्डनम् । नडम् ।
तम् । इन्द्रः । इध्मम् । कृत्वा । यमस्य । अग्निम् । निःऽआदधौ ५४

इन्द्रदेवने पुरानी सींक, तिल्पिञ्ज, दण्डन और नटको ईंधन बनाकर यमाग्निको दूर कर दिया था ॥ ५४ ॥

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्या विवेश ।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । प्रतिऽअर्पयित्वा । प्रऽविद्वान् । पन्थाम् । वि ।
हि । आऽविवेश ।
परा । अमीषाम् । असून् । दिदेश । दीर्घेण । आयुषा । सम् ।
इमान् । सृजामि ॥ ५५ ॥

द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥
इति द्वितीयोनुवाकः ॥

प्रत्येक पुरुषके पूजनीय सूर्यको अर्पण करके विद्वान् गार्हपत्य अग्निने देवयानमार्गमें प्रवेश किया है और इनके प्राणोंको दिया है, मैं इन यजमानोंको दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ ५५॥ (१२)

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४५२) ॥
द्वितीय अनुवाक समाप्त

"पुमान् पुंसोधि तिष्ठ चर्म" इति स्वर्गौदनविषयकं सूक्तम् । ऋषिः क्वचिद् ओदनं क्वचिद् दंपती संबोधयति । पक्वस्य स्वर्गौदनस्य प्रतापं तथा तेन प्रापणीयानि फलानि चिन्तयित्वाह । स्वर्गेऽनेनौदनेन पुत्रादिभिः समागमो भविष्यतीत्यभिप्रायं दर्शयति । स्वर्गौदनात् क्रव्यादं रक्षश्च पिशाचं च परिहरति । आदित्याश्च अङ्गिरसश्च एतं क्रव्यादादिभ्यः पालयन्त्वित्याशास्ते । यः स्वर्गौदनः स षष्टिवर्षानन्तरं फलप्रदो भवतीति तथा पक्तुर्निधिपा इवेति वर्ण्यते । तं च प्राच्यादिसर्वाभ्यो दिग्भ्यः संरक्षणार्थं परिदद्यस्ता एतम् अस्मदर्थे परिरक्षन्तु स चास्मान् जरापूर्वकं मृत्युं यावद् भागधेयम् आनयत्वित्याशास्य सूक्तम् उपसंहरति ॥

सांप्रदायिका यत् सवयज्ञविधौ विनियुञ्जते सूक्तं सम्यक् तत् । तच्च "अग्नीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्" इति प्रक्रम्य "यथासवम् अन्यान् पृथग्वेति प्रकृतिः" इत्यन्ते कौशिकसूत्रे

[कौ० ८. १–४] द्रष्टव्यम् ॥ अयं यः सौत्रिको विनियोगस्तेन कतिपयमन्त्राणां तात्पर्यं समीचीनम् आविर्भवतीत्यसंशयम् ॥

"पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्म" यह स्वर्गौदनविषयकसूक्त है। ऋषि ने कहीं ओदनको और कहीं दम्पतीको सम्बोधित किया है और विचार करके स्वर्गौदनके प्रताप और उससे प्राप्त होने वाले फलों का वर्णन किया है और स्वर्गौदनसे पुत्र आदिके साथ समागम होनेका वर्णन किया है और स्वर्गौदनसे राक्षस पिशाच और क्रव्यादका परिहरण किया है और यह प्रार्थनाकी है, कि–आदित्य यथा अंगिरागोत्री ऋषि क्रव्याद् आदिसे हमारी रक्षा करें। और यह भी वर्णन किया है, कि–यह स्वर्गौदन साठ वर्ष पीछे फल देता है तथा पाचककी निधिका रक्षक रहता है। उसको हम प्राची आदि सब दिशाओंकी रक्षाके लिये देते हैं वह इसकी हमारे लिये रक्षा करें और यह भी हमारे लिये जरापूर्वक मृत्यु आने तक भागको देता रहे-इस बातकी आशा रखकर सूक्तका उपसंहार किया गया है ॥

साम्प्रदायिक सत्रयज्ञविधिमें जिसका विनियोग करते हैं वह यही है। इस विषयमें कौशिकसूत्र ८। १। ४ देखना चाहिये। यथा–"ययासवं अन्यान् पृथग्वेति प्रकृतिः" यह जो सौत्रिक विनियोग है इससे कुछ मंत्रोंका समीचीन तात्पर्य प्रकाशित होता है।

पुमा॑न् पुं॒सोधि॑ तिष्ठ॒ चर्मे॒हि तत्र॑ ह्वयस्व यत॒मा प्रि॒या ते॑ । याव॑न्ता॒वग्रे॑ प्रथ॒मं स॑मे॒यथु॒स्तद् वां॒ वयो॑ यम॒राज्ये॑ समा॒नम् ॥ १ ॥

पु॒मान् । पुं॒सः । अधि॑ । ति॒ष्ठ॒ । चर्म॑ । इ॒हि॒ । तत्र॑ । ह्व॒य॒स्व॒ । य॒त॒मा । प्रि॒या । ते॒ ।

यावन्तौ । अग्रे । प्रथमम् । सम्ऽएयथुः । तत् । वाम् । वयः ।
यमऽराज्ये । समानम् ॥ १ ॥

हे पुंस्त्वगुणविशिष्ट ! तू इस नरपशुके चर्म पर स्थित हो और जो तेरे मित्र हों उनको बुलाले, जितने दम्पती इसको पहिले कर गए हैं उनका और तुम दोनों दम्पतीकी फलरूपमें प्राप्त होने वाला अन्न एकसा हो ॥ १ ॥

तावद् वां चक्षुस्तति वीर्या॑णि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि ।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः

तावत् । वाम् । चक्षुः । तति । वीर्या॑णि । तावत् । तेजः ।
ततिऽधा । वाजिनानि ।

अग्निः । शरीरम् । सचते । यदा । एधः । अध । पक्वात् ।
मिथुना । सम् । भवाथः ॥ २ ॥

जब यह अग्नि स्वर्गमें तुम्हारे शरीरोंको बनावेगा तब तुम दोनों इस ईंधनसे पके हुए ओदनके प्रभावसे स्वर्गमें इसी रूपमें प्रकट होओगे तुममें इस जन्मकीसी दृष्टिशक्ति रहेगी, ऐसा ही तेज रहेगा, और शब्दसे जानने योग्य यज्ञ आदिको भी तुम इसी प्रकार कर सकोगे ॥ २ ॥

सम॑स्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद् रेतो अधि वां संबभूव

सम् । अस्मिन् । लोके । सम् । ऊं इति । देवऽयाने । सम् ।

स्म । सम्ऽएतम् । यमऽराज्येषु ।

पूतौ । पवित्रैः । उप । तत् । ह्वयेथाम् । यत्ऽयत् । रेतः । अधि ।

वाम् । सम्ऽबभूव ॥ ३ ॥

तुम दोनों इस ओदनके प्रतापसे इस लोकमें एकत्रित रहो, देवयानमार्गमें एकत्रित रहो और यमराज्यमें एक साथ मिले रहो, तुम इन पवित्र यज्ञोंसे पवित्र होगए हो अतः जिस २ पुण्यकर्मके लिये तुमने जल गिराया है उस २ पुण्य कर्मके फलका आह्वान करो

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।

तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री

आपः । पुत्रासः । अभि । सम् । विशध्वम् । इमम् । जीवम् ।

जीवऽधन्याः । सम्ऽएत्य ।

तासाम् । भजध्वम् । अमृतम् । यम् । आहुः । यम् । ओदनम् ।

पचति । वाम् । जनित्री ॥ ४ ॥

हे दम्पती समूहो! तुम परिणाममें वीर्यरूपको प्राप्त हुए जलके ही पुत्र हो तुम जीवोंमें धन्य बनते हुए इस जीवलोकमें प्रवेश करो, तुमको उत्पन्न करने वाला जल ओदनको राँधता है ऐसे जलका जो अमृतमयभाग है उसका तुम सेवन करो ॥ ४ ॥

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा

यम्। वाम्। पिता। पचति। यम्। च। माता। रिप्रात्। निःऽमुक्त्यै। शमलात्। च। वाचः।
सः। ओदनः। शतऽधारः। स्वःऽगः। उभे इति। वि। आप। नभसी इति। महिऽत्वा ॥ ५ ॥

पापसे और वाणीके पापसे छूटनेके लिये यदि ओदनको माता या पिता पकाते हैं तो वह ओदन अपनी महिमासे स्वर्गमें और द्यावापृथिवीमें सहस्र प्रकारसे व्याप्त होजाता है—उनको मिलता है ५

उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥ ६ ॥

उभे इति। नभसी इति। उभयान्। च। लोकान्। ये। यज्वनाम्। अभिऽजिताः। स्वःऽगाः।
तेषाम्। ज्योतिष्मान्। मधुऽमान्। यः। अग्रे। तस्मिन्। पुत्रैः। जरसि। सम्। श्रयेथाम् ॥ ६ ॥

हे दम्पती ! दोनों द्यावापृथिवीमें और यजमान जिन लोकोंको जीत लेते हैं उन स्वर्ग लोकोंमें जो प्रकाशमय और मधुरता भरे लोक हैं उस लोकमें इस प्रकार स्वर्गमें और भूलोकरूप दोनों लोकों में तुम बुढ़ापे तक पुत्रोंसे समृद्ध रहो ॥ ६ ॥

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रंभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम्

प्राचीम्ऽप्राचीम् । प्रऽदिशम् । आ । रभेथाम् । एतम् । लोकम् । श्रत्ऽदधानाः । सचन्ते ।
यत् । वाम् । पक्वम् । परिऽविष्टम् । अग्नौ । तस्य । गुप्तये । दंपती इति दम्ऽपती । सम् । श्रयेथाम् ॥ ७ ॥

हे दम्पती ! तुम पूर्व दिशाकी ओर बढ़ना आरंभ करो, इस स्वर्गलोकमें श्रद्धालु पुरुष चढ़ते हैं तुमने जो परिपक्व ओदनको अग्निमें परोसा है उसकी रक्षाके लिये तुम दोनों भली प्रकार इसकी सेवा करो ॥ ७ ॥

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥

दक्षिणाम् । दिशम् । अभि । नक्षमाणौ । परिऽआवर्तेथाम् । अभि । पात्रम् । एतत् ।

तस्मिन् । वाम् । यमः । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । पक्वाय । शर्म । बहुलम् । नि । यच्छात् ॥ ८ ॥

हे दम्पती ! तुम दक्षिण दिशाकी ओर जाकर इस पात्रकी ओर प्रदक्षिणा करते हुए लौटो, उस समय पितरोंसे एकमति रखकर यम उस पात्रमें तुम्हारे पक्व ओदनके लिये अनेक प्रकारके कल्याण देय ॥ ८ ॥

प्रतीचीं दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ ९ ॥

प्रतीची । दिशाम् । इयम् । इत् । वरम् । यस्याम् । सोमः । अधिऽपाः । मृडिता । च ।
तस्याम् । श्रयेथाम् । सुऽकृतः । सचेथाम् । अध । पक्वात् । मिथुना । सम् । भवाथः ॥ ९ ॥

यह पश्चिमकी दिशा श्रेष्ठ है, क्योंकि-इसमें अधिप और सुख-दाता सोम हैं उसमें तुम दोनों पक्वौदनको रक्खो पुण्यकर्मोंका सेवन करो, फिर इस पक्व ओदनके प्रभावसे तुम दोनों भूलोक में और स्वर्गमें प्रकट होना ॥ ९ ॥

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥ १० ॥

उत्तरम् । राष्ट्रम् । प्रऽजया । उत्तरऽवत् । दिशाम् । उदीची । कृणवत् । नः । अग्रम् ।

पाङ्क्तम् । छन्दः । पुरुषः । बभूव । विश्वैः । विश्वऽअङ्गैः । सह । सम् । भवेम ॥ १० ॥

यह उत्तरका राष्ट्र प्रजासे श्रेष्ठतासम्पन्न है, ऐसी यह दिशाओंमें श्रेष्ठ उत्तर दिशा हमको श्रेष्ठ करे । पांक्त छन्द पुरुषार्थसम्पन्न ओदनके रूपमें प्रकट हुआ है हम भी अपने सब अङ्गों सहित भूलोक और स्वर्गमें प्रादुर्भूत हों ॥ १० ॥

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

ध्रुवा । इयम् । विऽराट् । नमः । अस्तु । अस्यै । शिवा । पुत्रेभ्यः । उत । मह्यम् । अस्तु ।

सा । नः । देवि । अदिते । विश्वऽवारे । इर्यःऽइव । गोपाः । अभि । रक्ष । पक्वम् ॥ ११ ॥

हे सबोंसे वरणीय विश्ववारे अदिति—अखण्डनीया—पृथिवी देवि ! यह पृथिवी ध्रुवा है विराट् है यह हमारे पुत्रोंका कल्याण करने वाली हो हमारे लिये सुखदायिनी हो और प्रेरित किये हुए रक्षककी समान इस पक्व ओदनकी रक्षा करे ॥ ११ ॥

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।

यमो॑द॒नं प॒चतो॑ देवते इ॒ह तं न॒स्तप॑ उ॒त स॒त्यं च॒ वेत्तु

पि॒ताऽइ॑व । पु॒त्रान् । अ॒भि । सम् । स्व॒जस्व॒ । नः॒ । शि॒वाः । नः॒ । वाताः॑ । इ॒ह । वा॒न्तु॒ । भूमौ॑ ।

यम् । ओ॒द॒नम् । प॒च॑तः । दे॒व॒ते॒ इति॑ । इ॒ह । तम् । नः॒ । तप॑ः । उ॒त । स॒त्यम् । च॒ । वे॒त्तु॒ ॥ १२ ॥

हे पृथिवीदेवते ! तुम पिताके पुत्रोंको आलिंगन करनेकी समान इस ओदनका आलिंगन करो । इस भूमिमें हमको कल्याण देने वाला वायु चले, हम दोनों जिस ओदनको पका रहे हैं उसको आप तपाइये और आप हमारे सत्यसंकल्पको जानें ॥ १२ ॥

यद्य॑त् कृ॒ष्णः श॑कु॒न एह ग॒त्वा त्सर॒न् विष॑क्तं बिल॒ आ॑स॒साद॑ ।

यद्वा॑ दा॒स्या॒३र्द्रह॑स्ता सम॒ङ्क्त उ॒लूख॒लं मुस॑लं शु॒म्भता॑पः

यत्ऽय॑त् । कृ॒ष्णः । श॒कु॒नः । आ । इ॒ह । ग॒त्वा । त्सर॑न् । विऽस॑क्तम् । बिले॑ । आ॒ऽस॒साद॑ ।

यत् । वा॒ । दा॒सी । आ॒र्द्रऽह॑स्ता । सम्ऽअ॒ङ्क्ते । उ॒लूख॑लम् । मुस॑लम् । शु॒म्भत॑ । आ॒पः॒ ॥ १३ ॥

यदि कौएने कपटगतिसे आकर जो इसमें बिल बना दिया हो वा दासीने गीले हाथसे ओखली मूसलको छू दिया हो तो यह ताप कल्याणकारी हो ॥ १३ ॥

अ॒यं ग्रावा॑ पृ॒थुबु॑ध्नो वयो॒धाः पू॒तः प॒वित्रै॒रप॑ हन्तु॒ रक्षः॑

आ रोह शर्म महि यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम्

अयम् । ग्रावा । पृथुऽबुध्नः । वयःऽधाः । पूतः । पवित्रैः । अप । हन्तु । रक्षः ।

आ । रोह । चर्म । महि । शर्म । यच्छ । मा । दंपती इति दम्ऽपती । पौत्रम् । अघम् । नि । गाताम् ॥ १४ ॥

यह दृढ़ जड़ वाला पत्थर हविरूप अन्नका धारण करने वाला है पवित्रोंसे पूत हुआ यह राक्षसोंका संहार करे, हे ओदन ! तू चर्म पर आ और महाकल्याण प्रदान कर, इन दम्पतीको और इनके पौत्रको पाप स्पर्श न कर सके ॥ १४ ॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।

स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥ १५ ॥

वनस्पतिः । सह । देवैः । नः । आ । अगन् । रक्षः । पिशाचान् । अपऽबाधमानः ।

सः । उत् । श्रयातै । प्र । वदाति । वाचम् । तेन । लोकान् । अभि । सर्वान् । जयेम ॥ १५ ॥

राक्षस और पिशाचोंको बाधा देता हुआ वनस्पति देवताओं सहित हमारे पास आगया वह ऊँचे स्वरसे वाणीका उच्चारण करता है उस शब्द करने वालेसे हम सब लोकोंको जीत लें १५

स॒प्त मेधा॑न् प॒शव॒: पर्य॑गृह्ण॒न् य ए॑षां॒ ज्योति॑ष्माँ उ॒त
य॒श्चक॑र्श॑ ।
त्र॒य॑स्त्रिंश॒द् दे॒वता॒स्तान्त्स॑चन्ते स न॑: स्व॒र्गम॒भि ने॑ष
लो॒कम् ॥ १६ ॥

स॒प्त । मेधा॑न् । प॒शव॑: । परि॑ । अ॒गृ॒ह्ण॒न् । य: । ए॒षा॒म् । ज्योति॑-
ष्मान् । उ॒त । य: । च॒कर्श॑ ।
त्रय॑:ऽत्रिंशत् । दे॒वता॑: । तान् । स॒च॒न्ते । स: । न॒: । स्व॒:ऽगम् ।
अ॒भि । ने॒ष । लो॒कम् ॥ १६ ॥

जो इन धान्योंमें ज्योतिष्मान् और कृश है ऐसे सात चावलों को पवित्ररूपमें पशु (अज्ञानी जीवों) ने ग्रहण किया है इनका तैंतीस देवता सेवन करते हैं ऐसा यह ओदन हमको स्वर्गलोकमें ले जावे ॥ १६ ॥

स्व॒र्गं लो॒कम॒भि नो॑ नयासि॒ सं जा॒यया॑ स॒ह पु॒त्रै:
स्या॑म ।
गृ॒ह्णा॒मि॒ हस्त॒मनु॒ मैत्व॒त्र मा न॑स्तारीन्निर्ऋ॑ति॒र्मो
अरा॑ति: ॥ १७ ॥

स्व॒:ऽगम् । लो॒कम् । अ॒भि । न॒: । न॒या॒सि॒ । सम् । जा॒यया॑ ।
स॒ह । पु॒त्रै: । स्या॒म ।
गृ॒ह्णामि॑ । हस्त॑म् । अनु॑ । आ । इ॒तु॒ । अत्र॑ । मा । न॒: ।
ता॒री॒त् । नि:ऽऋ॑ति: । मो इति॑ । अरा॑ति: ॥ १७ ॥

हे ओदन ! तू हमको स्वर्गलोकमें लेजारहा है, तहाँ हम स्त्री और पुत्रोंसहित प्रादुर्भूत होवें, मैं तेरे हाथको पकड़ता हूँ तू मेरे पीछे २ तहाँ स्वर्गमें आ, पापदेवता निर्ऋति और शत्रु मुझको न दबा सकें ॥ १७ ॥

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्य१स्य प्र वदासि वल्गु ।

वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥ १८ ॥

ग्राहिम् । पाप्मानम् । अति । तान् । अयाम । तमः । वि । अस्य । प्र । वदासि । वल्गु ।

वानस्पत्यः । उत्ऽयतः । मा । जिहिंसीः । मा । तण्डुलम् । वि । शरीः । देवऽयन्तम् ॥ १८ ॥

हम ग्रहण करने वाले पापको लाँघ जायँ, हे वानस्पत्य ! तू पापके कारण होसकने वाले शोकरूप अन्धकारको दूर करता हुआ मीठी वाणी बोलता है, वानस्पत्य उद्यत होकर मेरी हिंसा न करे और मुझको देवमार्गमें पहुँचाने वाले तण्डुलकी भी हिंसा न करे ॥ १८ ॥

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु १६

विश्वऽव्यचाः । घृतऽपृष्ठः । भविष्यन् । सऽयोनिः । लोकम् । उप । याहि । एतम् ।

पर्षऽइदम् । उप । पृञ्चु । शूर्पम् । तुषम् । पलावान् । अप ।
तत् । विनक्तु ॥ १९ ॥

सब जिसका अनेक प्रकारसे सत्कार करते हैं ऐसे हे ओदन ! तू घृतपृष्ठ होता हुआ और परलोकमें हमारे साथ प्रादुर्भूत होनेके लिये इसलोकमें हमारे पास आ फिर वर्षा ऋतुमें जिसके उपकरण बढ़ते हैं उस अनाजको प्राप्त हो वह पलावान् भूसीको तुभसे अलग करे ॥ १९ ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१-
न्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु
शूर्पम् ॥ २० ॥

त्रयः । लोकाः । सम्ऽमिताः । ब्राह्मणेन । द्यौः । एव । असौ ।
पृथिवी । अन्तरिक्षम् ।
अंशून् । गृभीत्वा । अनुऽआरभेथाम् । आ । प्यायन्ताम् । पुनः ।
आ । यन्तु । शूर्पम् ॥ २० ॥

द्यौ अन्तरिक्ष और यह पृथिवी यह तीनों लोक ब्राह्मणके द्वारा प्राप्त होसकते हैं, हे दम्पती ! तुम चावलोंको ग्रहण करके फटकना आरम्भ करो और ये धान भी बढ़ें (उछलें) और छाजमें आवें ॥ २० ॥ (१४)

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या

एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥ २१ ॥

पृथक् । रूपाणि । बहुऽधा । पशूनाम् । एकऽरूपः । भवसि । सम् । सम्ऽऋद्ध्या ।
एताम् । त्वचम् । लोहिनीम् । ताम् । नुदस्व । ग्रावा । शुम्भाति । मलगःऽइव । वस्त्रा ॥ २१ ॥

(जोतते समय) पशुओंके अनेक प्रकारके अलग २ रूप होते हैं और तू समृद्धिके साथ एक ही रूप वाला प्रकट होता है अब तू पत्थरके द्वारा वस्तुसे मलगकी समान लोहिनी त्वचा (भूसी) को त्याग ॥ २१ ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।

यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥ २२ ॥

पृथिवीम् । त्वा । पृथिव्याम् । आ । वेशयामि । तनूः । समानी । विऽकृता । ते । एषा ।
यत्ऽयत् । द्युत्तम् । लिखितम् । अर्पणेन । तेन । मा । सुस्रोः । ब्रह्मणा । अपि । तत् । वपामि ॥ २२ ॥

हे पत्थरके बने मूसल ! तू पृथिवीका बना होनेसे पृथिवी ही है

अतः मैं पृथिवीको पृथिवीमें ही मारता हूँ पृथिवीका और तेरा शरीर एकसा है यह मूसल तो विकृत भूमि ही है। हे ओदन! मूसलके अर्पण करनेसे जो तेरा अंग दाहयुक्त—पीड़ायुक्त होरहा है उससे तू धानसे अलग हो ऐसे तुझको मैं मन्त्रसे अग्निमें आहुत करता हूँ॥ २२॥

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता॥

जनित्रीऽइव। प्रति। हर्यासि। सूनुम्। सम्। त्वा। दधामि। पृथिवीम्। पृथिव्या।
उखा। कुम्भी। वेद्याम्। मा। व्यथिष्ठाः। यज्ञऽआयुधैः। आज्येन। अतिऽसक्ता॥ २३॥

जैसे माता अपने पुत्रके पासको जाती है इसी प्रकार मैं तुझ पत्थररूप पृथिवीको ओखलीरूप पृथ्वीसे संयुक्त करता हूँ वेदीमें ओखली ही कुम्भी है सो तू व्यथाको प्राप्त मत हो, क्योंकि—यज्ञायुधोंके द्वारा तू घृतसे सक्त होगई है॥ २३॥

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै॥ २४॥

अग्निः । पचन् । रक्षतु । त्वा । पुरस्तात् । इन्द्रः । रक्षतु ।
दक्षिणतः । मरुत्वान् ।
वरुणः । त्वा । दृंहात् । धरुणे । प्रतीच्याः । उत्तरात् । त्वा । सोमः ।
सम् । ददातै ॥ २४ ॥

पचाते हुए अग्निदेव तेरी रक्षा करें, इन्द्र पूर्व दिशाकी ओरसे तेरी रक्षा करें और मरुत्वान् दक्षिण दिशाकी ओरसे तेरी रक्षा करें और वरुणदेव धरुणमें पश्चिमकी ओरसे वर्षनशील कर्मसे तेरी रक्षा करें और उत्तरकी ओरसे सोम तुझको खिलावें २४

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् ।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥ २५ ॥

पूताः । पवित्रैः । पवन्ते । अभ्रात् । दिवम् । च । यन्ति ।
पृथिवीम् । च । लोकान् ।
ताः । जीवलाः । जीवऽधन्याः । प्रतिऽस्थाः । पात्रे । आऽसिक्ताः ।
परि । अग्निः । इन्धाम् ॥ २५ ॥

पवित्र कर्मोंसे पवित्र हुए जल पवित्र करते हैं, मेघसे स्वर्गमें जाते हैं और पृथिवीमें मनुष्योंको प्राप्त होते हैं, ये जीवनको देने वाले जीवको धन्य करने वाले पात्रमें प्रतिष्ठित हैं यह आसिक्त होरहे हैं अग्नि इनको चारों ओरसे दीप्त करे ॥ २५ ॥

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्य-
न्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं
नयन्तु ॥ २६ ॥

आ । यन्ति । दिवः । पृथिवीम् । सचन्ते । भूम्याः । सचन्ते ।
अधि । अन्तरिक्षम् ।

शुद्धाः । सतीः । ताः । ऊं इति । शुम्भन्ते । एव । ताः । नः ।
स्वःऽगम् । अभि । लोकम् । नयन्तु ॥ २६ ॥

यह स्वर्गसे आते हैं और पृथिवीका सेवन करते हैं और भूमि परसे अन्तरिक्षका आश्रय लेते हैं ये पवित्र होते हुए जल पवित्र ही करते हैं ये (यज्ञिय चावलोंमें मिले हुए) जल हमें स्वर्ग-लोकमें ले जावें ॥ २६ ॥

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता
सुनाथाः ॥ २७ ॥

उतऽइव । प्रऽभ्वीः । उत । सम्ऽमितासः । उत । शुक्राः । शुचयः ।
च । अमृतासः ।

ताः । ओदनम् । दंपतिऽभ्याम् । प्रऽशिष्टाः । आपः । शिक्षन्तीः ।
पचत । सुऽनाथाः ॥ २७ ॥

ये जल प्रभु हैं और सम्मित हैं, श्वेत वर्ण वाले हैं दमकते

हुए हैं और अमृत हैं ऐसे हे जलों ! आप दम्पतीसे छोड़े जाने पर सुनाथ होकर इस ओदनको शिक्षा देते हुए पकाओ ॥ २७ ॥

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥ २८ ॥

सम्ऽख्याताः । स्तोकाः । पृथिवीम् । सचन्ते । प्राणापानैः । सम्ऽमिताः । ओषधीभिः ।
असम्ऽख्याताः । आऽउप्यमानाः । सुऽवर्णाः । सर्वम् । वि । आपुः । शुचयः । शुचिऽत्वम् ॥ २८ ॥

प्राण अपानकी समान थोड़ेसे जल औषधियोंके साथ पृथिवी का सेवन करते हैं और सुन्दर वर्ण वाले प्राणियोंमें डाले हुए असंख्यात पवित्र जल शुचित्वको प्रदान करते हुए सबमें व्याप्त होगए हैं ॥ २८ ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः २९

उत् । योधन्ति । अभि । वल्गन्ति । तप्ताः । फेनम् । अस्यन्ति । बहुलान् । च । बिन्दून् ।

योषाऽइव। दृष्ट्वा। पतिम्। ऋत्वियाय। एतैः। तण्डुलैः। भवत।
सम्। आपः॥ २९॥

ये जल तपने पर युद्धसा करते हैं, शब्द करते हैं, फेनको उड़ाते हैं और बहुतसी बिन्दुओंको भी उड़ाते हैं, हे जलो! तुम ऋतुमें होने वाले यज्ञके लिये पतिको देखने पर स्त्रीकी समान इन चावलों से मिल जाओ॥ २९॥

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः॥ ३०॥

उत्। स्थापय। सीदतः। बुध्ने। एनान्। अत्ऽभिः। आत्मानम्।
अभि। सम्। स्पृशन्ताम्।
अमासि। पात्रैः। उदकम्। यत्। एतत्। मिताः। तण्डुलाः।
प्रऽदिशः। यदि। इमाः॥ ३०॥

हे ओदनकी अधिष्ठात्री देवते! इन मूसलकी जड़में दुःख पाते हुए इन चावलोंको आप उठाइये ये जलसे अपना स्पर्श करें हे यजमान! जो तू पात्रोंसे जलको नाप रहा है तो ये तण्डुल भी नप गए हैं अतः इनको जलमें डालनेकी आज्ञा दे॥ ३०॥ (१५)

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु॥ ३१॥

प्र । यच्छ । पर्शुम् । त्वरय । आ । हर । ओषम् । अहिंसन्तः ।

ओषधीः । दान्तु । पर्वन् ।

यासाम् । सोमः । परि । राज्यम् । बभूव । अमन्युताः । नः ।

वीरुधः । भवन्तु ॥ ३१ ॥

आप फरसेको चलाइये और इनमें जो पक गए हैं इनको ले लीजिये ये प्रत्येक पर्वमें किसीकी हिंसा न करते हुए अपने औषधिरूप फलको देवें सोम जिनका राज्य है ऐसी लतारूप औषधियें क्रोधरहित रहें ॥ ३१ ॥

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।

तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥

नवम् । बर्हिः । ओदनाय । स्तृणीत । प्रियम् । हृदः । चक्षुषः ।

वल्गु । अस्तु ।

तस्मिन् । देवाः । सह । दैवीः । विशन्तु । इमम् । प्र । अश्नन्तु ।

ऋतुऽभिः । निऽसद्य ॥ ३२ ॥

नवीन कुशाओंको ओदनके निमित्त बिछाओ, वह कुशासन हृदयको और नेत्रोंको प्रिय लगने वाला मञ्जुल हो । उसमें देवता अपनी दैवी शक्तियोंके साथ बैठें और बैठ कर ऋतुके पदार्थोंके साथ २ इस ओदनका भक्षण करें ॥ ३२ ॥

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः

त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम्

वनस्पते। स्तीर्णम्। आ। सीद। बर्हिः। अग्निऽस्तोमैः। सम्ऽमितः।
देवताभिः।
त्वष्ट्राऽइव। रूपम्। सुऽकृतम्। स्वऽधित्या। एना। एहाः। परि।
पात्रे। ददृश्राम्॥ २३॥

हे वनस्पते! कुशा फैला दी गई हैं अतः आप बैठिये देवताओं ने आपको अग्निष्टोमके समान माना है त्वष्टाकी समान स्वधिति ने इसका रूप अच्छा बना दिया है वह अब पात्रमें दीख रहा है २३

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै।
उपैनं जीवान् पितरंश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः

षष्ट्याम्। शरत्ऽसु। निधिऽपाः। अभि। इच्छात्। स्वः। पक्वेन। अभि। अश्नवातै।
उप। एनम्। जीवान्। पितरः। च। पुत्राः। एतम्। स्वःऽगम्।
गमय। अन्तम्। अग्नेः॥ २४॥

इस निधिकी रक्षा करने वाला यजमान इस अग्निसे पक्व ओदन के खानेसे स्वर्गमें साठ वर्षके अनन्तर फल पाना चाहे, हे यज्ञाभिमानी देव! इस यजमानको आप स्वर्गमें भेजिये और इसके पुत्र पिता आदि जीवोंको भी इसके पासमें रखिये॥ २४॥

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु।

तं त्वा दंपती जीवंन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्नि-
धानात् ॥ ३५ ॥

धर्ता । ध्रियस्व । धरुणे । पृथिव्याः । अच्युतम् । त्वा । देवताः ।
च्यवयन्तु ।

तम् । त्वा । दंपती इति दम्ऽपती । जीवन्ती । जीवऽपुत्रौ । उत् ।
वासयातः । परि । अग्निऽधानात् ॥ ३५ ॥

हे ओदन ! तू धर्ता है अतः पृथिवीके धारक स्थानमें स्थित हो तुझ अच्युतको देवता च्यवित करें । और तुझको जीवित पुत्र वाले जीवित दम्पती अग्निधानसे बसावें ॥ ३५ ॥

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः
समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम्

सर्वान् । सम्ऽआगाः । अभिऽजित्य । लोकान् । यावन्तः । कामाः ।
सम् । अतीतृपः । तान् ।

वि । गाहेथाम् । आऽयवनम् । च । दर्विः । एकस्मिन् । पात्रे ।
अधि । उत् । हर । एनम् ॥ ३६ ॥

तू सम्पूर्ण लोकोंको जीतता हुआ प्राप्त हो जितनी इच्छाएँ हों उन सबको भली प्रकार तृप्त कर दम्पती आयवनको और करछलीको घुमावें फिर उनमेंसे एक इस ओदनको पात्रमें निकाल कर रक्खे ॥ ३६ ॥

उपं स्तृणीहि प्रथयं पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घांरयैतत्
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृंणोत

उप । स्तृणीहि । प्रथय । पुरस्तात् । घृतेन । पात्रम् । अभि ।
घारय । एतत् ।

वाश्राऽइव । उस्राः । तरुणम् । स्तनस्युम् । इमम् । देवासः ।
अभिहिङ्कृणोत ॥ ३७ ॥

आप इसको परोसिये फैलाइये फिर इसको घृतसे अभिघारित करिये, और हे देवताओं ! जैसे दूध देने वाली गौएँ दूध पीने वाले बछड़ेकी ओर शब्द करती हैं, इसी प्रकार पूर्णरूपसे तयार हुए ओदनकी ओर आप शब्द करिये ॥ ३७ ॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिं छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र
यच्छान् ॥ ३८ ॥

उप । अस्तरीः । अकरः । लोकम् । एतम् । उरुः । प्रथताम् ।
असमः । स्वऽगः ।

तस्मिन् । श्रयातै । महिषः । सुऽपर्णः । देवाः । एनम् । देवताभ्यः ।
प्र । यच्छान् ॥ ३८ ॥

हे यजमान ! तूने इस लोकमें ओदन परोस कर इस लोकको सफल कर लिया है, इस ओदनके प्रभावसे यह ओदन स्वर्गमें इससे भी अधिक विस्तृतरूपमें मिले । हे दम्पती ! सुन्दर गमन

वाला महिमामय ओदन उस स्वर्गमें आपको टिकावे, देवता इस यजमानको देवताओंके अर्पण करें ॥ ३८ ॥

यद्यंज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः

सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोक-मेकम् ॥ ३९ ॥

यत्ऽयत् । जाया । पचति । त्वत् । परःऽपरः । पतिः । वा । जाये । त्वत् । तिरः ।

सम् । तत् । सृजेथाम् । सह । वाम् । तत् । अस्तु । सम्ऽपादयन्तौ । सह । लोकम् । एकम् ॥ ३९ ॥

जो जाया इसका पाक करती है, ऐसी हे जाये ! तेरा पति तुझसे बादको जावे या तू पतिसे पहिले जावे तो तहाँ स्वर्गमें तुम एकत्रित होजाना तहाँ यह ओदन तुम्हारे साथ रहे और तहाँ तुम एक ही लोकको सम्पादित करो ॥ ३९ ॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।

सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥ ४० ॥

यावन्तः । अस्याः । पृथिवीम् । सचन्ते । अस्मत् । पुत्राः । परि । ये । सम्ऽबभूवुः ।

सर्वान् । तान् । उप । पात्रे । ह्वयेथाम् । नाभिम् । जानानाः । शिशवः । सम्ऽआयान् ॥ ४० ॥

इस स्त्रीके जितने पुत्र पृथिवीका सेवन करते हैं, कि—जो पहिले हमारे पुत्र थे, उन सबको इस पात्रके समीप बुलाओ अपनी नाभि को जानते हुए वे शिशु यहाँ पर आजावें ॥ ४० ॥

वसोर्या धारा मधुना॒ः प्रपी॑ना घृतेन॑ मिश्रा अमृत॑स्य नाभ॑यः ।
सर्वा॒स्ता अव॑ रुन्धे स्व॒र्गः ष॒ष्ट्यां श॒रत्सु॑ निधि॒पा अ॒भी-च्छात् ॥ ४१ ॥

वसोः । याः । धाराः । मधुना । प्रऽपीनाः । घृतेन । मिश्राः । अमृतस्य । नाभयः ।
सर्वाः । ताः । अव । रुन्धे । स्वःऽगः । षष्ट्याम् । शरत्ऽसु । निधिऽपाः । अभि । इच्छात् ॥ ४१ ॥

वासक ओदनकी जो मधुसे मोटी हुई धारें हैं वे घृतसे मिली हुई हैं और अमृतकी बंधिका हैं स्वर्ग उन सबको रोके रखता है, साठ वर्षोंके अनन्तर निधिपा उसकी इच्छा करे ॥ ४१ ॥

नि॒धिं नि॑धि॒पा अ॒भ्ये॑नमिच्छा॒दनी॑श्वरा अ॒भितः॑ सन्तु ये॒३॒॑न्ये ।
अ॒स्माभि॑र्द॒त्तो निहि॑तः स्व॒र्गस्त्रि॒भिः का॒ण्डैस्त्रीन्त्स्व॒र्गा-नरुक्षत् ॥ ४२ ॥

निऽधिम् । निधिऽपाः । अभि । एनम् । इच्छात् । अनीश्वराः । अभितः । सन्तु । ये । अन्ये ।

अस्माभिः । दत्तः । निऽहितः । स्वःऽगः । त्रिऽभिः । काण्डैः । त्रीन् । स्वःऽगान् । अरुक्षत् ॥ ४२ ॥

निधिपा यजमान इस निधिकी इच्छा करे और जो दूसरे हैं वे अनीश्वर ही रहेंगे, हमारा दिया हुआ और थातीके रूपमें स्थित स्वर्गको जाने वाला ओदन अपने तीनों काण्डोंके साथ स्वर्ग पर चढ़े ॥ ४२ ॥

अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥ ४३ ॥

अग्निः । रक्षः । तपतु । यत् । विऽदेवम् । क्रव्यऽअत् । पिशाचः । इह । मा । प्र । पास्त ।

नुदामः । एनम् । अप । रुध्मः । अस्मत् । आदित्याः । एनम् । आङ्गिरसः । सचन्ताम् ॥ ४३ ॥

मैंने जो कुव्यवहार किया हो तो उसके फलसे बाधित करने वाले राक्षसोंको अग्निदेव संताप दें क्रव्यात् और पिशाच यहाँ हमारा शोषण न कर सकें, हम इस राक्षसको खदेड़ते हैं और अपने पास आनेसे रोकते हैं आङ्गिरस और आदित्य इसका सेवन करें ॥ ४३ ॥

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।

शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम्

आदित्येभ्यः । अङ्गिरःऽभ्यः । मधु । इदम् । घृतेन । मिश्रम् । प्रति । वेदयामि ।

शुद्धऽहस्तौ । ब्राह्मणस्य । अनिऽहत्य । एतम् । स्वःऽगम् । सुऽकृतौ । अपि । इतम् ॥ ४४ ॥

मैं आदित्योंके लिये और अंगिराओंके लिये घृत मिले इस मधुको निवेदित करता हूं । ब्राह्मणके पुण्यमय शुद्ध हाथ इस स्वर्ग में फलरूपसे जाने वालेके फलको नष्ट किये बिना इसको स्वर्गमें लेजावें ॥ ४४ ॥

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप ।

आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥ ४५ ॥

इदम् । प्र । आपम् । उत्ऽतमम् । काण्डम् । अस्य । यस्मात् । लोकात् । परमेऽस्थी । सम्ऽआप ।

आ । सिञ्च । सर्पिः । घृतऽवत् । सम् । अङ्ग्धि । एषः । भागः । अङ्गिरसः । नः । अत्र ॥ ४५ ॥

जिस दर्शनीय काण्डसे परमेष्ठीने भली भाँति फल पाया था उसके उत्तम काण्डको मैंने प्राप्त कर लिया है इसको घृतसे सावित करो यह घृतयुत भाग इस यज्ञमें हम अंगिराओंका है ॥ ४५ ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परिं दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥ ४६ ॥

सत्याय । च । तपसे । देवताभ्यः । निऽधिम् । शेवऽधिम् । परि । दद्मः । एतम् ।
मा । नः । द्यूते । अव । गात् । मा । सम्ऽइत्याम् । मा । स्म । अन्यस्मै । उत् । सृजत । पुरा । मत् ॥ ४६ ॥

हम सत्यके लिये देवताओंके लिये और तपके लिये इस ओदन-रूप खजानेको थातीके रूपमें अर्पण करते हैं, यह परस्पर कर्मफल को लेने देनेरूप द्यूतमें हमसे अलग न हो और समितिमें भी यह दूर न हो मुझसे इसको दूसरे पुरुषोंके लिये मत उत्सर्जन करो अर्थात् युद्ध आदिमें पलायन करनेसे मेरे यज्ञका फल नष्ट होकर दूसरोंको प्राप्त न होवे ॥ ४६ ॥

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥ ४७ ॥

अहम् । पचामि । अहम् । ददामि । मम । इत् । ऊं इति । कर्मन् । करुणे । अधि । जाया ।
कौमारः । लोकः । अजनिष्ट । पुत्रः । अनुऽआरभेथाम् । वयः । उत्तरऽवत् ॥ ४७ ॥

मैं ही पाकक्रिया कर रहा हूँ और मैं ही इसको दान आदि कर्मोंमें देरहा हूँ, क्योंकि हे यज्ञात्मक कर्मन्! इस कर्ममें मेरी ही जाया लग रही है, हमारे यहाँ दर्शनीय कुमारावस्थासे सम्पन्न पुत्र प्रकट है अब हम श्रेष्ठतासम्पन्न यज्ञान्नका पाक दान आदि आरंभ करते हैं ॥ ४७ ॥

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥ ४८ ॥

न । किल्बिषम् । अत्र । न । आऽधारः । अस्ति । न । यत् । मित्रैः । सम्ऽअममानः । एति ।
अनूनम् । पात्रम् । निऽहितम् । नः । एतत् । पक्तारम् । पक्वः । पुनः । आ । विशाति ॥ ४८ ॥

इस कर्ममें कोई किल्बिष नहीं है, न इसका कोई अन्य आधार है और न यह अपने मित्रोंके साथ नापता हुआ आता है, यह जो न्यूनतारहित पूर्णपात्र रक्खा जाता है यही पक्ताको फिर प्राप्त होजाता है ॥ ४८ ॥

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु

प्रियम् । प्रियाणाम् । कृणवाम । तमः । ते । यन्तु । यतमे । द्विषन्ति ।

धेनुः । अनड्वान् । वयःऽवय । आऽयत् । एव । पौरुषेयम् ।

अप । मृत्युम् । नुदन्तु ॥ ४६ ॥

हे यजमान ! जो प्रियोंमें भी परम प्रिय होसकता है ऐसे फल को देने वाले कर्मको हम तेरे लिये करते हैं और जितने पुरुष तुझसे द्वेष करते हैं वे नरकरूप अन्धकारको प्राप्त होवें, धेनु, बैल, अन्न, अवस्था और पुरुषार्थ ये आवें ही और अपमृत्युको दूर करें ४६

समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥ ५० ॥

सम् । अग्नयः । विदुः । अन्यः । अन्यम् । यः । ओषधीः । सचते । यः । च । सिन्धून् ।

यावन्तः । देवाः । दिवि । आऽतपन्ति । हिरण्यम् । ज्योतिः । पचतः । बभूव ॥ ५० ॥

जो अग्नि ओषधियोंका सेवन करता है और जो अग्नि जलों का सेवन करता है इस प्रकार दूसरा दूसरेको जानता है यह तथा अन्य अग्नियें भी इस कर्मको भलीभाँति जानती हैं, जितने दिव्य देवता तप करते हैं और जो सुवर्ण तथा ज्योतिर्मयपदार्थ हैं ये सब पाक करने वालेको प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥ (२७)

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये ।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोमोतं वासो मुखमोदनस्य

एषा । त्वचाम् । पुरुषे । सम् । बभूव । अनग्नाः । सर्वे । पशवः । ये । अन्ये ।

क्षत्रेण । आत्मानम् । परि । धापयाथः । अमोऽउतम् । वासः । मुखम् । ओदनस्य ॥ ५१ ॥

ये जो पशु नग्नतासे रहित चर्मसे ढके हुए दीखते हैं इनकी त्वचा पहिले पुरुषमें थी, हे दम्पती ! तुम क्षत्रशक्तिसे अपनेको आच्छादित करो और साथ ही इस ओदनके मुखको वस्त्रसे आच्छादित करो ॥ ५१ ॥

यद॒क्षेषु॑ व॒दा यत्स॒मित्यां॒ यद्वा॑ व॒दा अनृ॑तं वित्तका॒म्या।
स॒मा॒नं तन्तु॑म॒भि सं॒वसा॑नौ॒ तस्मि॒न्त्सर्वं॒ शम॑लं सादयाथः ॥ ५२ ॥

यत् । अक्षेषु । वदाः । यत् । सम्ऽइत्याम् । यत् । वा । वदाः । अनृतम् । वित्तऽकाम्या ।

समानम् । तन्तुम् । अभि । सम्ऽवसानौ । तस्मिन् । सर्वम् । शमलम् । सादयाथः ॥ ५२ ॥

जो तुमने धनकी कामनासे, द्यूतमें वा युद्धमें झूँठ बोला है, तुम समानरूपसे तन्तुओंसे बने हुए वस्त्रको ढककर उसमें अपने कश्मलको स्थापित करो ॥ ५२ ॥

व॒र्षं व॑नु॒ष्वापि॑ गच्छ दे॒वांस्त्वचो॑ धू॒मं पर्युत्पा॑तयासि।
वि॒श्वव्य॑चा घृ॒तपृ॑ष्ठो भवि॒ष्यन्त्सयो॑नि॒र्लो॒कमुप॑ या॒ह्येतम्

वर्पम् । वनुष्व । अपि । गच्छ । देवान् । त्वचः । धूमम् । परि । उत् । पातयासि ।

विश्वऽव्यचः । घृतऽपृष्ठः । भविष्यन् । सऽयोनिः । लोकम् । उप । याहि । एतम् ॥ ५३ ॥

तू फलवर्पत्वका सेवन कर, और देवताओंके पास जा और अपनी त्वचाको धूमरूपसे उछाल और अनेक प्रकारकी पूजाको पाता हुआ और घृतपृष्ठ होता हुआ, स्वर्गलोकमें समान उत्पत्ति-कारण वाला होकर इस पुरुषको प्राप्त हो ॥ ५२ ॥

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥ ५४ ॥

तन्वम् । स्वःऽगः । बहुऽधा । वि । चक्रे । यथा । विदे । आत्मन् । अन्यऽवर्णाम् ।

अप । अजैत् । कृष्णाम् । रुशतीम् । पुनानः । या । लोहिनी । ताम् । ते । अग्नौ । जुहोमि ॥ ५४ ॥

यह स्वर्गमें प्राप्त होनेवाला ओदन अपने शरीरको अनेक आकार का बना लेता है, जैसे ज्ञानीके लिये आत्मा अन्यवर्ण वाली प्रकृति को अनेक आकारका बना लेता है और कृष्णा रुशतीको पवित्र करता हुआ चला जाता है, इसी प्रकार मैं तेरे लालवर्णको अग्नि में होमता हूँ ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥

प्राच्यै । त्वा । दिशे । अग्नये । अधिऽपतये । असिताय । रक्षित्रे । आदित्याय । इषुऽमते ।
एतम् । परि । दद्मः । तम् । नः । गोपायत । आ । अस्माकम् । आऽएतोः ।
दिष्टम् । नः । अत्र । जरसे । नि । नेषत् । जरा । मृत्यवे । परि । नः । ददातु । अथ । पक्वेन । सह । सम् । भवेम ५५

हम तुझे पूर्वदिशाके लिये अधिपति अग्निके लिये रक्षक असित सर्पके लिये और बाणधारी आदित्यके लिये देते हैं सो आप इसकी हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको हमारे प्रारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये और हमारी जरा इस को मृत्यु अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्ग) में आनन्द पावें ॥ ५५ ॥

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ।
एतं० । ० ॥ ५६ ॥

दक्षिणायै । त्वा । दिशे । इन्द्राय । अधिऽपतये । तिरश्चिऽराजये ।

रक्षित्रे । यमाय । इषुऽमते ॥० ॥ ५६ ॥

हम तुझे दक्षिणदिशाके लिये, अधिपति इन्द्रके लिये तिरश्चि-राजि रक्षक सर्पके लिये और बाणधारी यमके लिये देते हैं सो आप इसको हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको भारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये हमारे और हमारी जरा इसको मृत्युके अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्गमें) आनन्द पावें ॥ ५६ ॥

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रे-
न्नायेषुमते ।

एतं०।० ॥ ५७ ॥

प्रतीच्यै । त्वा । दिशे । वरुणाय । अधिऽपतये । पृदाकवे । रक्षित्रे ।

अन्नाः । इषुऽमते ॥० ॥ ५७ ॥

हम तुझे पश्चिम दिशाके लिये, उसके अधिपति वरुणके लिये, उसके नाग पृदाकुके लिये और बाणरूप अन्नके लिये देते हैं सो आप इसकी हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको हमारे भारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये और हमारी जरा इसको मृत्युके अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्गमें) आनन्द पावें ॥ ५७ ॥

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रे-
शन्या इषुमत्यै ।

एतं०।० ॥ ५८ ॥

उदीच्यै । त्वा । दिशे । सोमाय । अधिऽपतये । स्वजाय । रक्षित्रे । अशन्यै । इषुऽमत्यै ॥० ॥ ५८ ॥

हम तुझको उत्तर दिशाके लिये, उस दिशाके अधिपति सोम के लिये, स्वज नामक रक्षक सर्पके लिये और बाणरूपा अशनिके लिये देते हैं सो आप इसको हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको हमारे प्रारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये और हमारी जरा इसको मृत्युके अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्गमें) आनन्द पावें ॥ ५८ ॥

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः । एतं०।० ॥ ५९ ॥

ध्रुवायै । त्वा । दिशे । विष्णवे । अधिऽपतये । कल्माषऽग्रीवाय । रक्षित्रे । ओषधीभ्यः । इषुऽमतीभ्यः ॥० ॥ ५९ ॥

हम तुझको ध्रुव दिशाके लिये, उसके अधिपति विष्णुके लिये और रक्षक कल्माष ग्रीव (सर्प) के लिये और इषुमती ओषधियोंके लिये देते हैं सो आप इसकी हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको हमारे प्रारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये और हमारी जरा इसको मृत्युके अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्गमें) आनन्द पावें ॥ ५९ ॥

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।

एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ।
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो
ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ६० ॥

ऊर्ध्वायै । त्वा । दिशे । बृहस्पतये । अधिऽपतये । श्वित्राय ।
रक्षित्रे । वर्षाय । इषुऽमते ।
एतम् । परि । दद्मः । तम् । नः । गोपायत । आ । अस्माकम् ।
आऽएतोः ।
दिष्टम् । नः । अत्र । जरसे । नि । नेषत् । जरा । मृत्यवे । परि ।
नः । ददातु । अथ । पक्वेन । सह । सम् । भवेम ॥ ६० ॥

तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥
इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

हम तुझको ऊर्ध्व दिशाके लिये, उसके अधिपति बृहस्पतिके लिये, रक्षक श्वित्रके लिये और इषुमान् वर्षके लिये देते हैं सो आप इसकी हमारे यहाँसे पयान करने तक रक्षा करिये, इसको हमारे प्रारब्धके रूपमें बुढ़ापे तक प्राप्त कराइये और हमारी जरा इसको मृत्युके अर्पण करे फिर इस पक्व ओदनके साथ हम (स्वर्गमें) आनन्द पावें ॥ ६० ॥ (१८)

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४९३)
तृतीय अनुवाक समाप्त

वशाविषयकं सूक्तम् एतत् । वशा गौर्या गर्भं न गृह्णातीति दारिलः (कौ० ५. ८) । वशा वन्ध्या गौरिति सायणः (ऋ० २.७,५) । वशा स्वभाववन्ध्या गौरिति स एव (ऋ०१०.६१.१४)

यस्य गृहे वशा जाता तस्य गृहे 'अज्ञातगदा सती' अर्थाद् अज्ञातवशात्वरूपवैकल्या सती आ वर्षत्रयाद् रक्षितव्या। तदनन्तरम् असंप्राप्ता भवति। वशा गौर्देवानां विशेषेण प्रियं हविर्भवति। तस्माद् देवानामर्थं तां याचद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यस्तत्पतिर्दद्यादेव। तथा कृते प्रजादिवृद्धिर्भवति न च कृते बह्वय आपदः संजायन्ते। तदेव आपद्व्यसनं तस्या अदत्तायाः कस्मादज्ञात् कीदृशं भवतीत्याह। अन्यापि कथं विपत्तिर्भवतीति च। याचद्भ्यो ब्राह्मणेभ्योऽदत्ता वशा ब्रह्मोपद्रवादि पापं जनयति। यदा वशां ब्राह्मणा याचन्ते देवा एव तद् याचन्तीति मन्तव्यम् वशा हि देवानां भागो भवति। वशा दत्ता सती सर्वान् दातुः कामान् दुग्धे। यो वशां वेहतं मन्यमानः स्वयमेव हत्वा पचेत्तस्य हानिर्भवति। वशा हि ब्राह्मणेभ्य आत्मानं दीयमानां तैश्च हता सती देवेभ्यो हवीरूपेण अर्प्यमाणाम् इच्छति। तस्माद् यदि हुतां वा अहुतां वा यो वशापतिस्तां स्वगृह एव पचते सोधःपातम् आप्य नरकं गच्छतीत्याह॥

वशाशमनप्रकारः कौशिके [५. ८, ६] प्रपञ्चितः॥

वशादानस्य प्रकारस्तु "ददामीति वशाम् उदपात्रेण संपातवता संप्रोक्ष्याभिमन्त्र्याभिनिगद्य दद्याद् दाता वाचयमानः" इति कौशिके [८. ७] दर्शितः॥

यह सूक्त वशाविषयक है। कौशिकसूत्र ५। ८में दारिलने कहा है, कि—जो गौ गर्भको धारण नहीं करती वह वशा कहलाती है। सायणाचार्यजीने ऋग्वेदसंहिता २।७।५ में कहा है, कि—वन्ध्या गौ वशा कहलाती है। और सायणाचार्यने ही ऋग्वेदसंहिता १०।११।१४ में कहा है, कि—स्वभाववन्ध्या गौ वशा कहलाती है।

जिसके घरमें वशा प्रकट हो तो अज्ञातवशात्वरूप वैकल्य वाली उस वशाकी तीन वर्ष तक रक्षा करनी चाहिये, तदनन्तर वह

असंग्राह्य होजाती है। वशा गौ देवताओंकी विशेषप्रिय हवि होती है। इसलिये उसके पालकको चाहिये, कि-देवताओंके लिये याचना करने वाले ब्राह्मणोंको दे ही देय। ऐसा करने पर प्रजा आदि की वृद्धि होती है और न करने पर बहुतसी आपत्तियें भोगनी पड़ती हैं। उस गौके न देने पर ऐसा आपद्व्यसन उस के किस २ अंगसे कैसा २ होता है इसका वर्णन किया है और होने वाली अन्य विपत्तियोंका भी वर्णन किया है। याचना करने वाले ब्राह्मणोंको न दी हुई वशा ब्रह्मोपद्रव आदि पापोंको करती है। वशा देवताओंका भाग होता है अतः जब ब्राह्मण याचना करें उस समय यह समझना चाहिये, कि-देवता ही याचना कर रहे हैं। दान करने पर वशा दाताके लिये सब कामनाओंको दुहती है।

जो पुरुष वशाको गर्भघातिनी मानता हुआ स्वयमेव उसका हनन करके भक्षण करता है उसको हानि भोगनी पड़ती है। वशा यह चाहती है, कि-मैं ब्राह्मणोंको दी जाऊँ और उनसे हनन होने पर देवताओंको हवीरूपसे अर्पित होऊँ। इस लिये कहा है, कि-जो हुता वा अहुता वशाको अपने आप ही पचन करता है वह गृहपति अधःपातको प्राप्त होकर नरकमें पड़ता है।

कौशिकने वशाशमनका प्रकार (५। ८, ६) में कहा है।

कौशिकने ८। ७ में वशाशमनका प्रकार कहा है, कि-"ददामीति वशां उदपात्रेण सम्पातवता सम्प्रोक्ष्याभिमन्त्र्याभिनिगद्य दद्यात् दाता वाच्यमानः।-सम्पातयुक्त जलपूर्ण पात्रको दाता देता हूँ कह सम्प्रोक्षित और अभिमंत्रित करके स्वस्तिवाचन कराता हुआ देदेय" ॥

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत ।

वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत्प्रजावदपत्यवत् ॥ १ ॥

ददामि । इति । एव । ब्रूयात् । अनु । च । एनाम् । अभुत्सत ।

वशाम् । ब्रह्मऽभ्यः । याचत्ऽभ्यः । तत् । प्रजाऽवत् । अपत्यऽवत् १

याचना करने वाले ब्राह्मणोंसे देता हूँ यही कहे, तदनन्तर वह ब्राह्मण अवबोधन करते हैं, कि यह कर्म यजमानको प्रजा और अपत्यसे सम्पन्न करने वाला होवे ॥ १ ॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति ।

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति २

प्रऽजया । सः । वि । क्रीणीते । पशुऽभिः । च । उप । दस्यति ।

यः । आर्षेयेभ्यः । याचत्ऽभ्यः । देवानाम् । गाम् । न । दित्सति २

जो पुरुष ऋषि (गोत्र) आदि वाले याचना करते हुए ब्राह्मणों को देवताओंकी गौको नहीं देना चाहता है वह अपनी प्रजाको बेचने लगता है और पशुओंसे क्षीण होजाता है ॥ २ ॥

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति ।

बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥ ३ ॥

कूटया । अस्य । सम् । शीर्यन्ते । श्लोणया । काटम् । अर्दति ।

बण्डया । दह्यन्ते । गृहाः । काणया । दीयते । स्वम् ॥ ३ ॥

इस वशाके कूटा नामक अंगसे इस अन्नदाताके पदार्थ शीर्ण होजाते हैं, श्लोणासे अन्नदाता काटको पीड़ित करता है, बण्डा नामक अंगसे इसके घर जल जाते हैं और काणा नामक अंगसे धन देदिया जाता है ॥ ३ ॥

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम् ।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे ॥ ४ ॥

विऽलोहितः । अधिऽस्थानात् । शक्नः । विन्दति । गोऽपतिम् ।
तथा । वशायाः । सम्ऽविद्यम् । दुरदभ्ना । हि । उच्यसे ॥ ४ ॥

वशाके अधिष्ठानसे विलोहित शक्न और सम्विद्य गोपतिको प्राप्त होता है, क्योंकि–हे वशे ! तू दुरदभ्ना कहलाती है ॥ ४॥

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति ।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥ ५ ॥

पदोः । अस्याः । अधिऽस्थानात् । विऽक्लिन्दुः । नाम । विन्दति ।
अनामनात् । सम् । शीर्यन्ते । याः । मुखेन । उपऽजिघ्रति ॥५॥

इसके पैरोंके अधिष्ठानसे विक्लिन्दु नामक आपत्ति गोपतिको प्राप्त होती है, और जो मुखसे सूँघता है तो बिना प्रसिद्धि पाये हुए ही इसके पदार्थ शीर्ण होजाते हैं ॥ ५ ॥

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥ ६ ॥

यः । अस्याः । कर्णौ । आऽस्कुनोति । आ । सः । देवेषु । वृश्चते ।
लक्ष्म । कुर्वे । इति । मन्यते । कनीयः । कृणुते । स्वम् ॥ ६ ॥

जो इसके कानोंका आमनरण करता है वह देवताओंमें काटा जाता है और जो मैं लक्ष्म करता हूँ ऐसा मानता है वह अपनेको कनिष्ठ कर लेता है ॥ ६ ॥

यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥

यत्। अस्याः। कस्मै। चित्। भोगाय। बालान्। कः। चित्। प्रऽकृन्तति।
ततः। किशोराः। म्रियन्ते। वत्सान्। च। घातुकः। वृकः ७

यदि किसी भोगके लिये इसके बालोंको काटता है तो इसके किशोर पुत्र मर जाते हैं और भेड़िया बच्छड़ोंको मार डालता है ७

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥

यत्। अस्याः। गोऽपतौ। सत्याः। लोम। ध्वाङ्क्षः। अजीहिडत्।
ततः। कुमाराः। म्रियन्ते। यक्ष्मः। विन्दति। अनामनात् ८

यदि गोपतिकी उपस्थितिमें ऐसी गौके लोमका कौआ अपमान करता है तो इसके कुमार मर जाते हैं और अनामनसे यक्ष्मा रोग आजाता है ॥ ८ ॥

यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति।
ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः ॥ ९ ॥

यत्। अस्याः। पल्पूलनम्। शकृत्। दासी। सम्ऽअस्यति।
ततः। अपऽरूपम्। जायते। तस्मात्। अवि॑ऽएष्यत्। एनसः ९

यदि इसके पल्पूलन गोबरको दासी फेंकती है तो उस पापसे न छूटता हुआ पुरुष अपरूप होजाता है ॥ ९ ॥

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा ।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् १०

जायमाना । अभि । जायते । देवान् । सऽब्राह्मणान् । वशा ।
तस्मात् । ब्रह्मऽभ्यः । देया । एषा । तत् । आहुः । स्वस्य । गोपनम् १०

उत्पन्न होती हुई वशा देवता और ब्राह्मणोंके लिये ही प्रकट होती है, इस लिये इसको ब्राह्मणोंको देना चाहिये यही अपना रक्षण करना है ऐसा सत्पुरुष कहते हैं ॥ १० ॥ (१९)

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा ।
ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥ ११ ॥

ये । एनाम् । वनिम् । आऽयन्ति । तेषाम् । देवऽकृता । वशा ।
ब्रह्मऽज्येयम् । तत् । अब्रुवन् । यः । एनाम् । निऽप्रियायते ॥११॥

जो इसकी सेवा करते हैं और इसको परम प्रिय समझते हैं उनके लिये यह ब्रह्मज्या होजाती है ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ११

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥ १२ ॥

यः । आर्षेयेभ्यः । याचत्ऽभ्यः । देवानाम् । गाम् । न । दित्सति ।
आ । सः । देवेषु । वृश्चते । ब्राह्मणानाम् । च । मन्यवे ॥ १२ ॥

जो पुरुष ऋषि प्रवरसे अभिज्ञ आर्षेय याचकोंको देवताओं की गौको नहीं देना चाहता है वह देवताओंके द्वारा और ब्राह्मणों के कोपके द्वारा छिन्न भिन्न होजाता है ॥ १२ ॥

यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥१३॥

यः। अस्य। स्यात्। वशाऽभोगः। अन्याम्। इच्छेत। तर्हि। सः।
हिंस्ते। अदत्ता। पुरुषम्। याचिताम्। च। न। दित्सति १३

यदि वशा इसका भोग हो तो यह दूसरीकी इच्छा करे जो पुरुष माँगी हुई वशाको नहीं देना चाहता है तो यह न दी हुई वशा पुरुषका संहार करती है ॥ १३ ॥

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते॥ १४॥

यथा। शेवऽधिः। निऽहितः। ब्राह्मणानाम्। तथा। वशा।
ताम्। एतत्। अच्छऽआयन्ति। यस्मिन्। कस्मिन्। च। जायते

जैसी थाती रक्खी जाती है तैसी ही वशा ब्राह्मणोंकी होती है, यह वशा चाहें किसीके घर प्रकट होजाती है और यह ब्राह्मण उसके अभिमुख होकर याचना करते हैं ॥ १४ ॥

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् १५

स्वम्। एतत्। अच्छऽआयन्ति। यत्। वशाम्। ब्राह्मणाः। अभि।
यथा। एनान्। अन्यस्मिन्। जिनीयात्। एव। अस्याः। निऽरोधनम् ॥ १५ ॥

जो ब्राह्मण वशाके अभिमुख होकर आते हैं वह अपने धनकी ओर ही आते हैं, इसको रोकना दूसरोंके द्वारा अपनेको हानि पहुँचाना है ॥ १५ ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती ।
वशा च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

चरेत् । एव । आ । त्रैहायनात् । अविज्ञातऽगदा । सती ।
वशाम् । च । विद्यात् । नारद । ब्राह्मणाः । तर्हि । एष्याः ॥ १६

हे नारद ! यह गौ अविज्ञातगदारूपमें तीन वर्ष तक भक्षण ही करती रहे तदनन्तर इसको वशा जाने और ब्राह्मणोंको ढूंढ़े १६

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् ।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

यः । एनाम् । अवशाम् । आह । देवानाम् । निऽहितम् । निऽधिम् ।
उभौ । तस्मै । भवाशर्वौ । परिऽक्रम्य । इषुम् । अस्यतः ॥१७॥

जो इस देवताओंकी थातीरूप वशा–निधिको अवशा कहता है तो भव और शर्व ये दोनों देवता उस पर पराक्रम करके बाण फेंकते हैं ॥ १७ ॥

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥ १८ ॥

यः । अस्याः । ऊधः । न । वेद । अथो इति । अस्याः । स्तनान् । उत ।

उभयेन। एव। अस्मै। दुहे। दातुम्। च। इत्। अशकत्। वशाम् १८

जो पुरुष इसके स्तनोंको और ऐनोंको नहीं जानता है और वशाका दान कर देता है तो यह वशा गौ उसको दोनोंसे फल देती है ॥ १८ ॥

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्संति ।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति १९

दुरदभ्ना। एनम्। आ। शये। याचिताम्। च। न। दित्सति।
न। अस्मै। कामाः। सम्। ऋध्यन्ते। याम्। अदत्त्वा। चिकीर्षति ॥ १९ ॥

जो पुरुष इसकी याचना होने पर नहीं देता है तो दुरदभन् दशा इसको घेर लेती है जो इसको न देकर इसको अपने यहाँ ही रखना चाहता है उसके काम (इच्छाएँ) पूर्ण नहीं होते हैं १९

देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥

देवाः। वशाम्। अयाचन्। मुखम्। कृत्वा। ब्राह्मणम्।
तेषाम्। सर्वेषाम्। अददत्। हेडम्। नि। एति। मानुषः ॥२०॥

देवता ब्राह्मणको मुख बनाकर याचना करते हैं, मनुष्य न देनेसे उन सबके क्रोधका पात्र होता है ॥ २० ॥ (२०)

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योददद् वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥ २१ ॥

हेडम् । पशूनाम् । नि । एति । ब्राह्मणेभ्यः । अददत् । वशाम् ।
देवानाम् । निऽहितम् । भागम् । मर्त्यः । च । इत् । निऽप्रियायते

देवताओंके थाती रूपमें रक्खे हुए भागको जो पुरुष परम प्रिय समझता है वह ब्राह्मणोंको वशा न देने पर पशुओंके क्रोध का पात्र होता है ॥ २१ ॥

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् ।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ २२ ॥

यत् । अन्ये । शतम् । याचेयुः । ब्राह्मणाः । गोऽपतिम् । वशाम् ।
अथ । एनाम् । देवाः । अब्रुवन् । एवम् । ह । विदुषः । वशा ॥

चाहे दूसरे सैंकड़ों ब्राह्मण गोपतिसे वशाकी याचना करें, परन्तु देवता यह कहते हैं, कि–वशा विद्वान्की ही होती है २२

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥ २३ ॥

यः । एवम् । विदुषे । अदत्त्वा । अथ । अन्येभ्यः । ददत् । वशाम् ।
दुःऽगाः । तस्मै । अधिऽस्थाने । पृथिवी । सहऽदेवता ॥ २३ ॥

जो पुरुष ऐसे विद्वान्को वशा न देकर दूसरेको वशा देता है, उसके अधिष्ठानमें देवताओं सहित पृथिवी दुर्गम होजाती है २३

देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत ।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥ २४ ॥

देवाः । वशाम् । अयाचन् । यस्मिन् । अग्रे । अजायत ।

ताम् । एताम् । विद्यात् । नारदः । सह । देवैः । उत् । आजत

वशा जिसके सामने प्रकट होती है उससे देवता वशाकी याचना करते हैं, नारद उसको जानकर देवताओं सहित तहाँ पहुँच गए थे २४

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् ।

ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥ २५ ॥

अनपत्यम् । अल्पऽपशुम् । वशा । कृणोति । पुरुषम् ।

ब्राह्मणैः । च । याचिताम् । अथ । एनाम् । निऽप्रियायते ।२५।

जो पुरुष ब्राह्मणोंके द्वारा याचनाकी गई वशाको परम प्रिय समझ कर नहीं देता है तो वशा उस पुरुषको अल्प पशुओं वाला और सन्तानरहित कर डालती है ॥ २५ ॥

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।

तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥ २६॥

अग्नीषोमाभ्याम् । कामाय । मित्राय । वरुणाय । च ।

तेभ्यः । याचन्ति । ब्राह्मणाः । तेषु । आ । वृश्चते । अददत् २६

ब्राह्मण अग्निदेवताके लिये, सोम देवताके लिये काम देवता के लिये, मित्र देवताके लिये और वरुण देवताके लिये याचना करते हैं अतः वशाको न देने पर पुरुष उनका ही काट (अपमान) करता है ॥ २६ ॥

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।

चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ।२७।

यावत् । अस्याः । गोऽपतिः । न । उपऽशृणुयात् । ऋचः । स्वयम् ।

चरेत् । अस्य । तावत् । गोषु । न । अस्य । श्रुत्वा । गृहे । वसेत्

जब तक गोपति इस गौके विषयमें प्रतिज्ञा न कर लेय तब तक इसकी गौओंमें विचरण करे और प्रतिज्ञाके अनन्तर इसके घरमें न रहे ॥ २७ ॥

यो अस्या ऋच उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।

आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः २८

यः । अस्याः । ऋचः । उपऽश्रुत्य । अथ । गोषु । अचीचरत् ।

आयुः । च । तस्य । भूतिम् । च । देवाः । वृश्चन्ति । हीडिताः २८

जो यजमान प्रतिज्ञाकी वाणी कहकर भी गौओंमें विचरण करता रहता है तो देवता अपमानित होकर उसकी आयु और विभूतिको नष्ट कर डालते हैं ॥ २८ ॥

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।

आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति २९

वशा । चरन्ती । बहुऽधा । देवानाम् । निऽहितः । निऽधिः ।

आविः । कृणुष्व । रूपाणि । यदा । स्थाम । जिघांसति ॥२९॥

देवताओंकी निधिरूपमें स्थापित हुई वशा जब अनेक प्रकार से विचरण करती है उस समय जब स्थानका नाश करना चाहती है तो अनेक प्रकारके रूपोंको प्रकट करती है ॥ २९ ॥

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्याय कृणुते मनः ३०

आविः । आत्मानम् । कृणुते । यदा । स्थाम । जिघांसति ।
अथो इति । ह । ब्रह्मऽभ्यः । वशा । याच्याय । कृणुते । मनः ॥

जब वशा अपने स्थान-(पति) का संहार करना चाहती है तो अपने रूपको प्रकट करती है और ब्राह्मणोंकी याचनाके लिये मन करती है ॥ ३० ॥ (२१)

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥२१॥

मनसा । सम् । कल्पयति । तत् । देवान् । अपि । गच्छति ।
ततः । ह । ब्रह्माणः । वशाम् । उपप्रयन्ति । याचितुम् ॥२१॥

वह मनसे संकल्प करती है और वह संकल्प देवताओंको प्राप्त होता है तब ब्राह्मण वशाकी याचना करनेके लिये समीपमें आते हैं

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ।२२।

स्वधाऽकारेण । पितृऽभ्यः । यज्ञेन । देवताभ्यः ।
दानेन । राजन्यः । वशायाः । मातुः । हेडम् । न । गच्छति ॥

क्षत्रिय पितरोंके निमित्त स्वधा करनेसे देवताओंके निमित्त यज्ञ करनेसे और वशाका दान करनेसे माताके क्रोधका पात्र नहीं होता है ॥ ३२ ॥

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः ।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥ ३३ ॥

वशा । माता । राजन्यस्य । तथा । सम्ऽभूतम् । अग्रऽशः ।
तस्याः । आहुः । अनर्पणम् । यत् । ब्रह्मऽभ्यः । प्रऽदीयते ३३

वशा राजन्यकी माता है तथा इनका समूह पहिले प्रकट हुआ है, उसका जो ब्राह्मणोंको प्रदान करना है उसको अनर्पण कहते हैं

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥

यथा । आज्यम् । प्रऽगृहीतम् । आऽलुम्पेत् । स्रुचः । अग्नये ।
एव । ह । ब्रह्मऽभ्यः । वशाम् । अग्नये । आ । वृश्चते । अददत् ॥

जैसे ग्रहण किया हुआ घृत स्रुचासे अग्निके लिये छिन्न हो जाता है, इसी प्रकार ब्राह्मणोंके लिये वशाको न देता हुआ अग्नि के लिये छिन्न होजाता है ॥ ३४ ॥

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥ ३५ ॥

पुरोडाशऽवत्सा । सुऽदुघा । लोके । अस्मै । उप । तिष्ठति ।
सा । अस्मै । सर्वान् । कामान् । वशा । प्रऽददुषे । दुहे ॥ ३५ ॥

इस यजमानके लिये इस लोकमें पुरोडाशरूपी वत्ससे सुन्दरता से (फलको) दुहाने वाली वशा इसके समीप रहती है, ऐसी यह वशा इस दान करने वालेके लिये सम्पूर्ण कामनाओंको देती है ३५

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥२६॥

सर्वान् । कामान् । यमऽराज्ये । वशा । प्रऽददुषे । दुहे ।
अथ । आहुः । नरकम् । लोकम् । निऽरुन्धानस्य । याचिताम् ॥

वशा दान देने वालेके लिये यमराज्यमें सकल कामनाओंको देती है और माँगी हुई वशाको रोकने वालेको नरकलोक मिलने का विद्वान् पुरुष वर्णन करते हैं ॥ २६ ॥

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥२७॥

प्रऽवीयमाना । चरति । क्रुद्धा । गोऽपतये । वशा ।
वेहतम् । मा । मन्यमानः । मृत्योः । पाशेषु । बध्यताम् ॥२७॥

वशा क्रोधमें भरकर गोपतिका गजएसा करती हुई विचरती है, कि—यह मुझ गर्भघातिनीको अपनीमानता हुआ मृत्युके पाशों से बँध जावे ॥ २७ ॥

यो वेहतं मन्यमानोमा च पचते वशाम् ।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥२८॥

यः । वेहतम् । मन्यमानः । अमा । च । पचते । वशाम् ।
अपि । अस्य । पुत्रान् । पौत्रान् च । याचयते । बृहस्पतिः २८

जो वशा गर्भघातिनीको अपने मानता हुआ साथ ही-साथ वशाका पचन करता है तो बृहस्पति इस के पुत्र और पौत्रोंकी याचना करते हैं ॥ २८ ॥

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि ।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे ॥ ३९ ॥

महत् । एषा । अव । तपति । चरन्ती । गोषु । गौः । अपि ।
अथो इति । ह । गोऽपतये । वशा । अददुषे । विषम् । दुहे ३९

यह वशा गौ गौओंमें बड़ा भारी सन्ताप फैलाती हुई विचरण करती है यदि गोपति इसको नहीं देता है तो यह उसके लिये विष दुहती है ॥ ३९ ॥

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ।
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ४०

प्रियम् । पशूनाम् । भवति । यत् । ब्रह्मऽभ्यः । प्रऽदीयते ।
अथो इति । वशायाः । तत् । प्रियम् । यत् । देवऽत्रा । हविः । स्यात्

जो वशा ब्राह्मणोंको देदी जाती है वह पशुओंका प्रिय होता है, फिर वशाका यह प्रिय होता है जो वह देवताओंमें हविरूपसे दीजाती है ॥ ४० ॥ (५२)

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य ।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥

याः । वशाः । उत्ऽअकल्पयन् । देवाः । यज्ञात् । उत्ऽएत्य ।
तासाम् । विऽलिप्त्यम् । भीमाम् । उत्ऽआकुरुत । नारदः ४१

देवताओंने यज्ञसे आकर जो वशाकी कल्पनाकी, उस समय विलिप्ती भीमाको नारदने स्वीकार किया ॥ ४१ ॥

तां देवा अमीमांसन्त वशेया३मवशेति ।
तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥

ताम् । देवाः । अमीमांसन्त । वशा । इया३म् । अवशा३ । इति ।
ताम् । अब्रवीत् । नारदः । एषा । वशानाम् । वशऽतमा । इति ॥

उस समय देवताओंने मीमांसा की, कि–यह वशा अवशा है । तब उसके विषयमें नारदने कहा, कि–यह वशाओंमें भी परमवशा है

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः ।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः

कति । नु । वशाः । नारद । याः । त्वम् । वेत्थ । मनुष्यऽजाः ।
ताः । त्वा । पृच्छामि । विद्वांसम् । कस्याः । न । अश्नीयात् ।
अब्राह्मणः ॥ ४३ ॥

हे नारद ! मनुष्योंमें प्रकट होने वाली ऐसी कितनी वशा हैं, कि–जिनको तुम जानते हो, तुम विद्वान् हो इसलिये मैं उनके विषयमें बूझता हूँ, कि–अब्राह्मण किसका प्राशन न करे ॥ ४३ ॥

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ४४

विऽलिप्त्याः । बृहस्पते । या । च । सूतऽवशा । वशा ।
तस्याः । न । अश्नीयात् । अब्राह्मणः । यः । आऽशंसेत । भूत्याम्

हे बृहस्पते ! जो अब्राह्मण विभूतिकी प्रार्थना करे वह इनका प्राशन न करे, विलिप्ती सूतवशा और वशा ॥ ४४ ॥

नम॑स्ते अस्तु नारदानुष्ठु वि॒दुषे॑ व॒शा ।
क॒त॒मासां भी॒मत॑मा यामद॑त्त्वा परा॒भवे॑त् ॥ ४५ ॥

नमः । ते । अ॒स्तु । ना॒र॒द॒ । अ॒नु॒ष्ठु । वि॒दुषे॑ । व॒शा ।
क॒त॒मः । आ॒सा॒म् । भी॒मऽत॒मा । याम् । अद॑त्त्वा । प॒रा॒ऽभवे॑त् ४५

हे नारद ! आपके लिये नमस्कार है, वशा विद्वान्‌की स्तुतिके अनुकूल ही है, परन्तु इन वशाओंमें परम भयंकर वशा कौनसी होती है, कि–जिसको न देने पर पराभव होता है ॥ ४५ ॥

वि॒लि॒प्ती या बृ॑हस्प॒तेथो॑ सू॒तव॑शा व॒शा ।
तस्या॒ नाश्ञी॑याद॒ब्राह्म॑णो य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म् ४६

वि॒ऽलि॒प्ती । या । बृ॒ह॒स्प॒ते॒ । अथो॒ इति॑ । सू॒तऽव॑शा । व॒शा ।
तस्याः॑ । न । अ॒श्नी॒या॒त् । अब्रा॒ह्म॒णः । यः । आ॒ऽशंसे॑त । भूत्या॑म्

हे बृहस्पते ! जो अब्राह्मण विभूतिकी प्रार्थना करे वह इनका प्राशन न करे, विलिप्ती सूतवशा और वशा ॥ ४६ ॥

त्रीणि॒ वै व॑शाजा॒तानि॑ विलि॒प्ती सू॒तव॑शा व॒शा ।
ताः प्र य॑च्छेद् ब्र॒ह्मभ्यः॒ सो॑ऽनाव्र॒स्कः प्र॒जाप॑तौ ४७

त्रीणि॑ । वै । व॒शा॒ऽजा॒तानि॑ । वि॒ऽलि॒प्ती । सू॒तऽव॑शा । व॒शा ।
ताः । प्र । य॒च्छे॒त् । ब्र॒ह्मऽभ्यः॑ । सः । अ॒ना॒व्र॒स्कः । प्र॒जाऽप॑तौ ।

विलिप्ती सूतवशा और वशा ये वशाओंके तीन भेद हैं, इनको ब्राह्मणोंके अर्पण कर देय तो वह प्रजापतिको क्षोभ देने वाला नहीं होता है ॥ ४७ ॥

एतद् वो ब्राह्मणा ह॒विरि॑ति॑ मन्वीत याचि॒तः ।
व॒शां चेदे॑नं॒ याचे॑युर्या भी॒माद॑दुषो गृहे ॥ ४८ ॥

ए॒तत् । व॒ः । ब्रा॒ह्म॒णाः । ह॒विः । इति । म॒न्वी॒त । या॒चि॒तः ।
व॒शाम् । च॒ । इत् । ए॒न॒म् । याचे॑युः । या । भी॒मा । अद॑दुषः । गृ॒हे

जो अदाताके घरमें भीमा वशा है उस वशाकी यदि इससे याचना करें तो इनके प्रार्थना करने पर यह माने, कि—हे ब्राह्मणों ! यह तो तुम्हारे लिये हविरूप है ॥ ४८ ॥

दे॒वा व॒शां पर्य॑वद॒न् न नो॑दा॒दिति॑ हीडि॒ताः ।
ए॒ताभि॑र्ऋ॒ग्भिर्भे॒दं तस्मा॒द् वै स परा॑भवत् ॥ ४९ ॥

दे॒वाः । व॒शाम् । परि । अ॒व॒द॒न् । न । न॒ः । अ॒दा॒त् । इति । ही॒डि॒ताः
ए॒ताभि॑ः । ऋ॒क्ऽभिः । भे॒दम् । तस्मा॑त् । वै । सः । परा॑ । अ॒भ॒व॒त् ।

क्रोधमें भरे हुए देवताओंने इन वाणियोंसे भेद डालनेके लिये वशासे कहा, कि—इसने हमको नहीं दिया है, अत एव वह अदाता पराजित होजाता है ॥ ४९ ॥

उ॒तैनां॑ भे॒दो नाद॑दाद् व॒शामिन्द्रे॑ण याचि॒तः ।
तस्मा॒त् तं दे॒वा आ॒गसो॑वृ॑श्च॒न्नहमु॒त्त॒रे ॥ ५० ॥

उ॒त । ए॒ना॒म् । भे॒दः । न । अद॑दा॒त् । व॒शाम् । इन्द्रे॑ण । या॒चि॒तः ।
तस्मा॑त् । तम् । दे॒वाः । आ॒गस॑ः । अ॒वृ॒श्च॒न् । अ॒हम्ऽउ॒त्त॒रे ५०

इन्द्रकी प्रार्थना करने पर और भेद पड़ने पर भी यदि वशा

को नहीं देता है, तो इस पापके कारण देवता उसको श्रेष्ठ अहंकार के चक्रमें डाल कर नष्ट कर डालते हैं ॥ ५० ॥

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या ॥५१॥

ये । वशायाः । अदानाय । वदन्ति । परिऽरापिणः ।
इन्द्रस्य । मन्यवे । जाल्माः । आ । वृश्चन्ते । अचित्त्या ॥ ५१ ॥

जो बड़बड़ाने वाले वशाका दान न करनेको कहते हैं, वे जालम मूर्खतावश अपनेको इन्द्रके क्रोधसे नष्ट कर लेंगे ॥ ५१ ॥

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति ।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥

ये । गोऽपतिम् । पराऽनीय । अथ । आहुः । मा । ददाः । इति ।
रुद्रस्य । अस्ताम् । ते । हेतिम् । परि । यन्ति । अचित्त्या ॥५२॥

जो गोपतिके पास जाकर कहते हैं, मत दो वे मूर्खतावश रुद्रके अस्त्रप्रक्षेपको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति ५३

यदि । हुताम् । यदि । अहुताम् । अमा । च । पचते । वशाम् ।
देवान् । सऽब्राह्मणान् । ऋत्वा । जिह्मः । लोकात् । निः । ऋच्छति

चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ।

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यदि हुत या अहुत वशाका पचन करता है तो वह जिस देवता और ब्राह्मणोंको दबाता हुआ इस लोकसे दुर्गतिमें पड़ता है ॥ ५३ ॥ (२३)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४९४)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

ब्रह्मगवीविषयमेतत् सूक्तम्। ब्राह्मणस्य गौर्ब्रह्मगवी। तां क्षत्रियो नादद्यात्। आदद्याच्चेद् वाग् वीर्यं लक्ष्मीस्तं हास्यति। ओजआदि नशिष्यति। तां क्षत्रियो न हन्यात् न पचेत् न भक्षेत्। सा हि हता सती नानाविधा आपदो नानाविधान् मृत्यून् नानाविधानि च दुःखानि ऐहिकान्यामुष्मिकाणि आवहतीत्याह ॥

संप्रदायानुसारेणास्य सूक्तस्य विनियोगस्तु "नैतां ते देवाः" इत्यत्र [५. १८] द्रष्टव्यः ॥

यह सूक्त ब्रह्मगवीविषयक है। ब्राह्मणकी गौ ब्रह्मगवी कहलाती है क्षत्रिय उसको ग्रहण न करे। यदि ग्रहण कर लेता है तो वाणी वीर्य और लक्ष्मी उसको त्याग देती है। उसका ओज आदि नष्ट होजाता है। क्षत्रिय उसका हनन पचन वा भक्षण न करे। वह हरण करने पर अनेक प्रकारकी आपत्तियोंको, अनेक प्रकारके मृत्युकारणोंको और इस लोक तथा परलोकके अनेक प्रकारके दुःखोंको देती है।

सम्प्रदायके अनुसार इस सूक्तका विनियोग "नैतं ते देवाः" इस पञ्चमकाण्डके अठारहवें सूक्तमें देखना चाहिये ॥

श्रमे॑ण तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते श्रि॒ता ॥ १ ॥

श्रमे॑ण। तप॑सा। सृ॒ष्टा। ब्रह्म॑णा। वि॒त्ता। ऋ॒ते। श्रि॒ता ॥ १ ॥

परब्रह्ममें आश्रित तपके द्वारा रची हुई इस गौको ब्राह्मणने श्रमसे पाया है ॥ १ ॥

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

सत्येन । आऽवृता । श्रिया । प्रावृता । यशसा । परिऽवृता ॥२॥

यह सत्यसे आवृत है, सम्पत्तिसे पूर्ण रहती है और यशसे सम्पन्न रहती है ॥ २ ॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥

स्वधया । परिऽहिता । श्रद्धया । परिऽऊढा । दीक्षया । गुप्ता । यज्ञे । प्रतिऽस्थिता । लोकः । निऽधनम् ॥ ३ ॥

यह गौ स्वधासे परिहित श्रद्धासे पर्यूढ़, दीक्षासे रक्षित और यज्ञ में प्रतिष्ठा पाती रहती है क्षत्रियका इसकी ओर देखना मृत्यु है ३

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोधिपतिः ॥ ४ ॥

ब्रह्म । पदऽवायम् । ब्राह्मणः । अधिऽपतिः ॥ ४ ॥

इस गौके द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त होता है, ब्राह्मण ही इसका अधिपति है ॥ ४ ॥

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य

ताम् । आऽददानस्य । ब्रह्मऽगवीम् । जिनतः । ब्राह्मणम् । क्षत्रियस्य ।

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥

अप । क्रामति । सूनृता । वीर्यम् । पुण्या । लक्ष्मीः ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

ऐसी ब्राह्मणकी गौका अपहरण करने वाले और ब्राह्मणको दिक करने वाले क्षत्रियकी पवित्र लक्ष्मी वीर्य और प्रिय मधुर वाणी भाग जाती है ॥ ५ ॥ (२४)

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम पर्यायसूक्त समाप्त (४९५)

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १ ॥

ओजः । च । तेजः । च । सहः । च । बलम् । च । वाक् । च । इन्द्रियम् । च । श्रीः । च । धर्मः । च ॥ १ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ २ ॥

ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । राष्ट्रम् । च । विशः । च । त्विषिः । च । यशः । च । वर्चः । च । द्रविणम् । च ॥ २ ॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ३ ॥

आयुः । च । रूपम् । च । नाम । च । कीर्तिः । च । प्राणः । च । अपानः । च । चक्षुः । च । श्रोत्रम् । च ॥ ३ ॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥ ४ ॥

पयः । च । रसः । च । अन्नम् । च । अन्नऽअद्यम् । च । ऋतम् ।

च । सत्यम् । च । इष्टम् । च । पूर्तम् । च । प्रऽजा । च । पशवः । च ॥ ४ ॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥

तानि । सर्वाणि । अप । क्रामन्ति । ब्रह्मऽगवीम् । आऽददानस्य । जिनतः । ब्राह्मणम् । क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणकी गौको छीनकर उसकी आयुको कम करता है तो उस क्षत्रियको ओज तेज शत्रुओंको दबानेकी शक्ति बल वाणी इन्द्रियें श्री धर्म, वेद क्षात्रशक्ति राष्ट्र प्रजायें दीप्ति यश वर्च और धन, आयु रूप नाम कीर्ति प्राण अपान चक्षु श्रोत्र, पय रस अन्न अन्नको पचानेकी अग्नि ऋत सत्य श्रुतिविहित याग आदि इष्ट और स्मृतिविहित कूप तडाक आदि पूर्त प्रजा और पशु ये सब छोड़ देते हैं ॥ १–५ ॥ (२५)

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय पर्याय सूक्त समाप्त (४९६)

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता ॥ १ ॥

सा । एषा । भीमा । ब्रह्मऽगवी । अघऽविषा । सऽअक्षात् । कृत्या । कूल्बजम् । आऽवृता ॥ १ ॥

यह ब्राह्मणकी गौ भयंकर होती है कूल्बजसे आवृत मारणरूप पापके विषसे सम्पन्न साक्षात् कृत्या बन जाती है ॥ १ ॥

सर्वांण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ २

सर्वाणि । अस्याम् । घोराणि । सर्वे । च । मृत्यवः ॥ २ ॥

इसमें सब भयंकर कर्म और सब प्रकारके मृत्युप्रद कारण समाये रहते हैं ॥ २ ॥

सर्वांण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ ३ ॥

सर्वाणि । अस्याम् । क्रूराणि । सर्वे । पुरुषऽवधाः ॥ ३ ॥

इसमें सकल क्रूर कर्म और सब प्रकारके पुरुषोंके वध होते हैं ३

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ ४

सा । ब्रह्मऽज्यम् । देवऽपीयुम् । ब्रह्मऽगवी । आऽदीयमाना । मृत्योः । पड्वीशे । आ । द्यति ॥ ४ ॥

ऐसी यह ब्राह्मणसे छीनी हुई ब्रह्मगवी वेद वा ब्रह्मत्वको हानि पहुँचाने वाले देवतासंहारक पुरुषको मृत्युके काष्ठमय पाद-बन्धनसे जकड़ देती है ॥ ॥ ४ ॥

मेनिः शतवंधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ।५।

मेनिः । शतऽवधा । हि । सा । ब्रह्मऽज्यस्य । क्षितिः । हि । सा ५

ब्राह्मणकी आयुका ह्रास करने वालेके लिये वह नयंकरी गौ सैंकड़ों प्रकारसे वध करने वाला आयुध होजाती है ॥ ५ ॥

तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥६॥

तस्मात् । वै । ब्राह्मणानाम् । गौः । दुःऽआधर्षा । विऽजानता ६

इस कारण विद्वान् पुरुष ब्राह्मणोंकी गौको दुराधर्ष समझे ६

वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता ॥ ७ ॥

वज्रः । धावन्ती । वैश्वानरः । उत्ऽवीता ॥ ७ ॥

वह वज्रकी समान दौड़ती है–गिरती है–और अग्निकी समान ऊपरको चलती है ॥ ७ ॥

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो३ऽपेक्षमाणा ॥ ८ ॥

हेतिः । शफान् । उत्ऽखिदन्ती । महाऽदेवः । अपऽईक्षमाणा ८

वह संहारक देव महादेवकी अपेक्षा करती हुई खुरोंको पटकाती हुई आयुधरूप होजाती है ॥ ८ ॥

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ ९ ॥

क्षुरऽपविः । ईक्षमाणा । वाश्यमाना । अभि । स्फूर्जति ॥ ९ ॥

यह देखती हुई छुरेकी समान तीक्ष्ण वज्ररूप होती है और रंभाती हुई कड़कती है ॥ ९ ॥

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥१०॥

मृत्युः । हिङ्ऽकृण्वती । उग्रः । देवः । पुच्छम् । परिऽअस्यन्ती ।

हिम् शब्द करती हुई मृत्युरूप होती है और पूँछको चारों ओर घुमाती हुई उग्र देवतारूप होती है ॥ १० ॥

सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ११

सर्वऽज्यानिः । कर्णौ । वरीवर्जयन्ती । राजऽयक्ष्मः । मेहन्ती ११

कानोंको हिलाती हुई सब प्रकारसे आयुका ह्रास करनेवाली होती है और मूत्रोत्सर्ग करती हुई राजयक्ष्मा फैलानेवाली होती है

मे॒निर्दु॒ह्यमा॑ना शीर्ष॒क्तिर्दु॒ग्धा ॥ १२ ॥

मे॒निः । दु॒ह्यमा॑ना । शी॒र्ष॒क्तिः । दु॒ग्धा ॥ १२ ॥

दुही जाती हुई संहारक आयुधरूप होती है और दुहने पर शीर्षक्तिरोगरूप होती है ॥ १२ ॥

से॒दिरु॑प॒तिष्ठ॑न्ती मि॒थो॒यो॒धः परा॑मृष्टा ॥ १३ ॥

से॒दिः । उ॒प॒ऽतिष्ठ॑न्ती । मि॒थः॒ऽयो॒धः । परा॑ऽमृष्टा ॥ १३ ॥

समीपमें खड़ी होने पर विशीर्ण करती है और परामृष्ट होने पर आपसमें युद्ध कराने वाली होती है ॥ १३ ॥

श॒र॒व्या॒३॒॑ मुखे॑ऽपिन॒ह्यमा॑न॒ ऋति॑र्ह॒न्यमा॑ना ॥ १४ ॥

श॒र॒व्या॑ । मुखे॑ । अ॒पि॒ऽन॒ह्यमा॑ने । ऋतिः॑ । ह॒न्यमा॑ना ॥ १४ ॥

और मुखके मुहरे आदिसे ढकने पर निशाना होती हैं और पीटने पर दुर्गति करने वाली होती है ॥ १४ ॥

अ॒घवि॑षा नि॒पत॑न्ती॒ तमो॒ निप॑तिता ॥ १५ ॥

अ॒घऽवि॑षा । नि॒ऽपत॑न्ती । तमः॑ । नि॒ऽप॑तिता ॥ १५ ॥

बैठती हुई अघविषा और बैठ जाने पर मृत्युमद व्याधिरूप अंधकार देती है ॥ १५ ॥

अ॒नु॒गच्छ॑न्ती प्रा॒णानुप॑ दासयति ब्रह्मग॒वी ब्र॑ह्म॒ज्यस्य॑

अ॒नु॒ऽगच्छ॑न्ती । प्रा॒णान् । उप॑ । दा॒स॒य॒ति॒ । ब्र॒ह्म॒ऽग॒वी । ब्र॒ह्म॒ऽज्यस्य॑

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

ऐसी यह ब्रह्मगवी ब्राह्मणकी हानि करने वालेके पीछे चलती चलती उसके प्राणोंको क्षीण कर डालती है ॥ १६ ॥ (२६)

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (४९७)

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ १ ॥

वैरम् । विऽकृत्यमाना । पौत्रऽआद्यम् । विऽभाज्यमाना ॥ १ ॥

यह ब्रह्मगवी छेदन करा देती है और पौत्र आदिका विभाग करा देती है ॥ १ ॥

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २ ॥

देवऽहेतिः । ह्रियमाणा । विऽऋद्धिः । हृता ॥ २ ॥

हरते समय देवताओंका आयुधरूप होती है और हरी जाने पर क्षयंकरी होती है ॥ २ ॥

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३ ॥

पाप्मा । अधिऽधीयमाना । पारुष्यम् । अवऽधीयमाना ॥ ३ ॥

अधिधीयमाना पापमयी होती है और कठोरताको लाती है ३

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ४ ॥

विषम् । प्रऽयस्यन्ती । तक्मा । प्रऽयस्ता ॥ ४ ॥

प्रयस्यन्ती विषरूप होती है और प्रयस्ता (अन्नरूप हुई) जीवनको कठिनतामें डालने वाली तक्मारूप होती है ॥ ४ ॥

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा ॥ ५ ॥

अघम् । पच्यमाना । दुःऽस्वप्न्यम् । पक्वा ॥ ५ ॥

पचन करते समय व्यसन देती है और पक्व होजाने पर दुस्वप्नप्रदा होती है ॥ ५ ॥

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ६ ॥

मूलऽबर्हणी । परिऽआक्रियमाणा । क्षितिः । परिऽआकृता ६

पर्याक्रियमाणा जड़ उखाड़ने वाली होती है और पर्याकृता क्षय करती है ॥ ६ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥७॥

असम्ऽज्ञा । गन्धेन । शुक् । उद्ध्रियमाणा । आशीविषः । उद्ऽधृता ७

गंधके द्वारा ज्ञानको भली प्रकार लुप्त कर देती है, उद्ध्रियमाणा शोकप्रदा होती है और उद्धृता सर्पस्वरूपिणी होती है ७

अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ८ ॥

अभूतिः । उपऽह्रियमाणा । पराऽभूतिः । उपऽहृता ॥ ८ ॥

उपह्रियमाणा अभूति होती है और उपहृता पराभूति होती है ८

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ९ ॥

शर्वः । क्रुद्धः । पिश्यमाना । शिमिदा । पिशिता ॥ ९ ॥

पिश्यमाना क्रोधमें भरे हुए महादेवसी होती है, पिशिता शिमिदा होती है ॥ ९ ॥

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ १० ॥

अवर्तिः । अश्यमाना । निःऽऋतिः । अशिता ॥ १० ॥

प्राशन की जाती हुई वृत्तिहीनतारूप दरिद्रताको देने वाली होती है और प्राशन करने पर दुर्गतिकारिणी पापदेवता होती है

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चा-

मुष्माच्च ॥ ११ ॥

अशिता । लोकात् । छिनत्ति । ब्रह्मऽगवी । ब्रह्मऽज्यम् । अस्मात् ।

च । अमुष्मात् । च ॥ ११ ॥

इति पञ्चमेनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

ब्राह्मणकी गौ अशित होने पर ब्राह्मणको हानि पहुँचाने वालेको इस लोकसे और परलोकसे भी उच्छिन्न कर डालती है ॥ ११ ॥ (८७)

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५९८)

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् १

तस्याः । आऽहननम् । कृत्या । मेनिः । आऽशसनम् । वलगः ।

ऊबध्यम् ॥ १ ॥

इसका आहनन (ले जाना) कृत्या है, इसका आशसन संहारक आयुध है, गोबर मिला अर्धपक्व घारा शपथरूप होता है १

अस्वगता परिह्णुता ॥ २ ॥

अस्वऽगता । परिऽह्णुता ॥ २ ॥

वह छीनी हुई अपने अधीन नहीं रहती ॥ २ ॥

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ३

अग्निः । क्रव्यऽअत् । भूत्वा । ब्रह्मऽगवी । ब्रह्मऽज्यम् । प्रऽविश्य ।

अत्ति ॥ ३ ॥

ब्राह्मणकी गौ क्रव्याद् अग्नि बन ब्रह्मज्यमें प्रवेश कर उस का भक्षण करती है ॥ ३ ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४ ॥

सर्वा । अस्य । अङ्गा । पर्वा । मूलानि । वृश्चति ॥ ४ ॥

इसके सकल अवयव और जोड़ोंका छेदन कर डालती है, ४

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ५ ॥

छिनत्ति । अस्य । पितृऽबन्धु । परा । भावयति । मातृऽबन्धु ५

इसके पिताके संबन्धी बन्धुओंका छेदन कर देती है और मातृपक्षके बन्धुओंका तिरस्कार कराती है ॥ ५ ॥

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ६ ॥

विऽवाहान् । ज्ञातीन् । सर्वान् । अपि । क्षापयति । ब्रह्मऽगवी । ब्रह्मऽज्यस्य । क्षत्रियेण । अपुनःऽदीयमाना ॥ ६ ॥

क्षत्रियके द्वारा न लौटाई हुई ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यके सकल विवाहित बन्धुओंका क्षय कर डालती है ॥ ६ ॥

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ७ ॥

अवास्तुम् । एनम् । अस्वगम् । अप्रजसम् । करोति । अपराऽपरणः । भवति । क्षीयते ॥ ७ ॥

वह इसको गृहरहित, परतन्त्र और संतानहीन कर डालती है और वह अपरापरण होता हुआ क्षीण होजाता है ॥ ७ ॥

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥८॥

यः । एवम् । विदुषः । ब्राह्मणस्य । क्षत्रियः । गाम् । आऽदत्ते ८

इति पञ्चमेनुवाके पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणकी गौका अपहरण करता है (उस की यह दशा होती है) ॥ ८ ॥ (२८)

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम पर्याय सूक्त समाप्त (४६९)

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ १ ॥

क्षिप्रम् । वै । तस्य । आऽहनने । गृध्राः । कुर्वते । ऐलबम् ॥१॥

जो क्षत्रिय उसको लेजाता है गृध्र शीघ्र ही उसकी नेत्रापत्ति ऐलबको करते हैं ॥ १ ॥

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनी-
राघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाःपापमैलबम् ॥२॥

०तस्य । आऽदहनम् । परि । नृत्यन्ति । केशिनीः ।

आऽघ्नानाः । पाणिना । उरसि । कुर्वाणाः । पापम् । ऐलबम् २

केश वाली स्त्रियें शीघ्र ही उसकी भस्म करने वाली चिताके पास घूमती हैं, वह हाथसे छातीको कूटती हैं और दुःखमय नेत्र-विकारको करती हैं ॥ २ ॥

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ३ ॥

०तस्य । वास्तुषु । वृकाः । कुर्वते । ऐलबम् ॥ ३ ॥

शीघ्र ही उसके घरोंमें भेड़िये आँखे मटकाने लगते हैं ॥३॥

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्-तदासी३दिदं नु ता३-
दिति ॥ ४ ॥

क्षिप्रम् । वै । तस्य । पृच्छन्ति । यत् । तत् । आसीऽरेत् । इदम् । नु । ताऽरत् । इति ॥ ४ ॥

उसके घरके विषयमें पुरुष शीघ्र ही कहने लगते हैं, कि—उस का जो घर था वह यह है ॥ ४ ॥

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥५॥

छिन्धि । आ । छिन्धि । प्र । छिन्धि । अपि । क्षापय । क्षापय ५

(हे ब्रह्मगवि !) तू इस अपहारकका छेदन कर छेदन कर इसको नष्ट कर नष्ट कर ॥ ५ ॥

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ६ ॥

आऽददानम् । आङ्गिरसि । ब्रह्मऽज्यम् । उप । दासय ॥ ६ ॥

हे आङ्गिरसि ! इस छीनने वाले ब्रह्मज्यको तू क्षीण कर ६

वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ७ ॥

वैश्वऽदेवी । हि । उच्यसे । कृत्या । कूल्बजम् । आऽवृता ॥७॥

तू कूल्बजसे आवृत वैश्वदेवी कृत्या कहलाती है ॥ ७ ॥

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ८ ॥

ओषन्ती । सम्ऽओषन्ती । ब्रह्मणः । वज्रः ॥ ८ ॥

तू मन्त्ररूपी वज्रसे भस्म करने वाली है भली प्रकार भस्म करने वाली है ॥ ८ ॥

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ९ ॥

क्षुरऽपविः । मृत्युः । भूत्वा । वि । धाव । त्वम् ॥ ९ ॥

तू क्षुरपवि मृत्यु बन कर आक्रमण कर ॥ ९ ॥

आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ १० ॥

आ । दत्से । जिनताम् । वर्चः । इष्टम् । पूर्तम् । च । आऽशिषः

तू छीनने वालोंके तेज इष्ट पूर्त और आशीर्वादोंको हर लेती है

आदाय जीतं जीताय लोके३मुष्मिन् प्र यच्छसि ११

आऽदाय । जीतम् । जीताय । लोके । अमुष्मिन् । प्र । यच्छसि

और उस हानि पहुँचाने वालेको अल्पायु करनेके लिये ग्रहण करके परलोकमें भेज देती है ॥ ११ ॥

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ १२ ॥

अघ्न्ये । पदऽवीः । भव । ब्राह्मणस्य । अभिऽशस्त्या ॥ १२ ॥

हे अघ्न्ये ! तू ब्राह्मणके शापवश पैरोंको प्राप्त होने वाली बेड़ी बन ॥ १२ ॥

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ १३ ॥

मेनिः । शरव्या । भव । अघात् । अघऽविषा । भव ॥ १३ ॥

तू आयुधरूप बाणावलिरूप और पापवश अघविषा बन १३

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ १४ ॥

अघ्न्ये । प्र । शिरः । जहि । ब्रह्मऽज्यस्य । कृतऽआगसः । देवऽपीयोः । अराधसः ॥ १४ ॥

हे अघ्न्ये ! तू अपराधी देवहिंसक कार्यको सिद्ध न होने देने वाले ब्रह्मज्यके शिरका संहार कर ॥ १४ ॥

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ १५ ॥

त्वया । प्रऽमूर्णम् । मृदितम् । अग्निः । दहतु । दुःऽचितम् ॥१५॥

इति पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

तेरे द्वारा प्रमूर्ण और मसले हुए उस दुश्चित्को अग्नि भस्म करे ॥ १५ ॥ (१९)

पञ्चम अनुवाकमें छठा पर्याय सूक्त समाप्त (५००)

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ १ ॥

वृश्च । प्र । वृश्च । सम् । वृश्च । दह । प्र । दह । सम् । दह ॥१॥

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ २ ॥

ब्रह्मऽज्यम् । देवि । अघ्न्ये । आ । मूलात् । अनुऽसंदह ॥ २ ॥

हे देवि अघ्न्ये ! तू ब्रह्मज्यको काट ! काट !! भस्म कर प्रकृष्टतासे भस्म कर भली प्रकार भस्म कर उसको मूलसहित भस्म कर डाल ॥ १ ॥ २ ॥

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ३ ॥

यथा । अयात् । यमऽसदनात् । पापऽलोकान् । पराऽवतः ॥३॥

एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः

एव । त्वम् । देवि । अघ्न्ये । ब्रह्मऽज्यस्य । कृतऽआगसः । देवऽपीयोः । अराधसः ॥ ४ ॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ५ ॥

वज्रेण । शतऽपर्वणा । तीक्ष्णेन । क्षुरऽभृष्टिना ॥ ५ ॥

प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६ ॥

प्र । स्कन्धान् । प्र । शिरः । जहि ॥ ६ ॥

यह यमसदनसे जिस प्रकार परमदूरके पापलोकोंको प्राप्त हो, इस प्रकार हे देवि अघ्न्ये ! तू अपराधी देवहिंसक कार्यसिद्धिमें विघ्न डालने वाले ब्रह्मज्यके कंधोंको और शिरको तीक्ष्ण धार वाले सैंकड़ों गाँठों वाले छुरेकी समान तीक्ष्ण वज्रसे काट डाल३-६

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ७ ॥

लोमानि । अस्य । सम् । छिन्धि । त्वचम् । अस्य । वि । वेष्टय

इसके लोमोंको काट इसकी खालको उधेड़ ॥ ७ ॥

मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ८ ॥

मांसानि । अस्य । शातय । स्नावानि । अस्य । सम् । वृह ॥८॥

इसके मांसोंको काट इस नसोंको फुला ॥ ८ ॥

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ९ ॥

अस्थीनि । अस्य । पीडय । मज्जानम् । अस्य । निः । जहि ९

इसकी हड्डियोंमें दर्दको उत्पन्न कर और इसकी मज्जाको क्षीण कर ॥ ९ ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ १० ॥

सर्वा । अस्य । अङ्गा । पर्वाणि । वि । श्रथय ॥ १० ॥

इसके सब अंगोंको और जोड़ोंको ढीले कर दे ॥ १० ॥

अ॒ग्निरे॑नं क्र॒व्यात् पृ॑थि॒व्या नु॑दता॒मुदो॑षतु वा॒युर॒न्तरि॑क्षान्मह॒तो व॑रि॒म्णः ॥ ११ ॥

अ॒ग्निः । ए॒न॒म् । क्र॒व्य॒ऽअत् । पृ॒थि॒व्याः । नु॒द॒ता॒म् । उत् । ओ॒ष॒तु॒ । वा॒युः । अ॒न्तरि॑क्षात् । म॒ह॒तः । व॒रि॒म्णः ॥ ११ ॥

क्रव्याद् अग्नि इसको भस्म कर डाले और वायुदेव इसको महिमामय महान् अन्तरिक्षसे और पृथिवीसे खदेड़ें ॥ ११ ॥

सूर्य॑ एनं दि॒वः प्र णु॑दतां॒ न्यो॑षतु ॥ १२ ॥

सूर्यः॑ । ए॒न॒म् । दि॒वः । प्र । नु॒द॒ता॒म् । नि । ओ॒ष॒तु॒ ॥ १२ ॥

पञ्चमेनुवाके सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

पञ्चमोनुवाकः ॥

इति द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

सूर्यदेव इसको स्वर्गसे खदेड़ें और भस्म कर डालें।१२। (३०)

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम पर्याय सूक्त समाप्त (५०१)

पञ्चम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका द्वादश काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

संपादक ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्मोकृत

भाषानुवादसहित

समाप्तः

॥ द्वादशकाण्ड समाप्त ॥

—०—

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

त्रयोदशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

"उदेहि वाजिन्" इति सूक्तं रोहितदेवताकम् । रोहितः कश्चिद् देवः । उद्यन् यः सूर्यस्तदात्मक इति ज्ञेयम् । रोहितसाहचर्येण मरुतः इन्द्रः अज एकपादः अग्निः सविता मित्रावरुणौ कण्वाद् अग्निः सूर्य इत्यादयो देवा अप्याहूता वर्णिताश्च । रोहितस्य तथा तत्संबन्धिदेवानामत्र वर्णने प्रयोजनं राज्ञो राष्ट्रस्य भरणम् इति सूक्त इतस्ततो द्रष्टव्यम् ॥

क्वचिन्मन्त्रेषु रोहितपदस्य निर्वचनं रुहो रुरोह प्ररुहो रुरोह द्यावापृथिवीभ्यां रुरोहेति रोहित इति. ध्वनितम् ॥

याज्ञिकास्तु वक्ष्यमाणप्रकारेण विनियुञ्जन्ति । तद्यथा ।

अर्थकामः "उदेहि वाजिन्" इत्यादिविंशत्यृग्भिरुद्यन्तम् आदित्यम् उपतिष्ठते ॥

तथा अर्थोत्थापनकामः उक्तविंशत्यृग्भिः स्नानं कृत्वा उपतिष्ठते ॥

तथा अर्थसिद्धिकामः अहतवस्त्रपरिधानं कृत्वा उक्ताभिर्ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥

तथा अर्थो मम सिध्यताम् एवंकामस्ताभिर्ऋग्भिर्वस्त्रम् अभिमन्त्र्य परिधापयति ॥

तथा विद्रावणादिविषये शमनकामः उक्ताभिर्ऋग्भिर्वस्त्रम् अभिमन्त्र्य ददाति ॥

सूचितं हि। "०उत्तमेन [६. ६२] वाचस्पतिलिङ्गाभिरुप-न्तम् उपतिष्ठते। स्नातोऽहतवसनो निक्त्वाहतम् आच्छादयते ददाति" इति। कौ० ५. ५ ॥ उदेहि वाजिन्निति विंशत्यृचो वाचस्पतिलिङ्गा इति केशवः ॥

"यो रोहितः" इति द्वयोर्ऋचोः [२५, २६] सलिलगणे पाठः। अतः "सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति मन्त्यान्तानि" [कौ० ३. १] "सलिलैः सर्वकामः" [कौ० ३. ७] इत्यादौ चास्य विनियोगः ॥ सलिलगणश्च "आपो हि ष्ठा" इति १. ५ सूक्ते द्रष्टव्यः ॥

"समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धः" इति [२८–३२] पञ्चर्चस्य विनियोगो "य इमे द्यावापृथिवी" [१२. ३] इत्यत्र द्रष्टव्यः ॥

"उदेहि वाजिन्" सूक्तमें रोहित देवताका वर्णन है। उदय होते हुए सूर्यको रोहित देवता समझना चाहिये। रोहितके साह-चर्यसे मरुत् इन्द्र अज एकपाद् अग्नि सविता मित्रावरुण क्रव्याद् अग्नि सूर्य आदि देवताओंका आह्वान किया है और उनका वर्णन भी किया है। सूक्तको चारों ओरसे देखने पर प्रतीत होता है, कि–रोहितका तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले देवताओं के वर्णनका प्रयोजन राजाके राष्ट्रका भरण ही है।

मन्त्रोंमें कहीं, रोहण करने वाला, रोहण (प्रादुर्भाव) कर गया, प्रकृष्टतासे रोहण करने वाला और द्यावापृथिवीमें प्रादुर्भूत होने वाला आदि अर्थोंमें रोहित पदका निर्वचन किया है।

याज्ञिक निम्नलिखितरीतिसे विनियोग करते हैं, कि–

धनको चाहने वाला पुरुष "उदेहि वाजिन्" आदि बीस ऋचाओंसे उदय होते हुए सूर्यका उपस्थान करे।

तथा धनको उठाना चाहने वाला इन बीस ऋचाओंसे स्नान करके उपस्थान करे।

धनमें सिद्धिको चाहने वाला पुरुष विना फटे कोरे वस्त्रको पहिन कर पूर्वोक्त ऋचाओंसे उपस्थान करे।

तथा "मेरा प्रयोजन सिद्ध होजाय" ऐसी कामना वाला इन ऋचाओंसे वस्त्रको अभिमंत्रित करके उढ़वावे।

तथा विद्रावण आदिके विषयमें शमनकी इच्छा वाला पुरुष इन ऋचाओंसे वस्त्रको अभिमंत्रित करके देवे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"छठे काण्डके बासठवें सूक्त उत्तमसूक्तसे और वाचस्पतिलिंगा ऋचाओंसे उदय होते हुए सूर्यका उपस्थान करे। स्नान करके कोरे वस्त्रको पहिन उसको शुद्ध करके आच्छादन करे और देदेय" (कौशिकसूत्र ५। ५)। केशवने कहा है, कि—"उदेहि वाजिन्" यह बीस ऋचाएँ वाचस्पतिलिङ्गा हैं।

"यो रोहितः" आदि पच्चीसवीं छब्बीसवीं दो ऋचाओंका सलिलगणमें पाठ है। अत एव "सलिलैः चीरौदनम् अश्नाति मन्थान्तानि" (कौशिकसूत्र ३। १) सलिलैः सर्वकामः (कौशिकसूत्र ३। ७) इत्यादिमें इनका विनियोग है। सलिलगणको "आपो हि ष्ठा" इस प्रथम काण्डके पाँचवें सूक्तमें देखना चाहिये।

"समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धः" आदि अट्ठाईसवीं ऋचासे बत्तीसवीं ऋचा तक पाँच ऋचाओंका विनियोग "य इमे द्यावापृथिवी" इस तेरहवें काण्डके तीसरे सूक्तमें देखना चाहिये॥

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥ १॥

उत्ऽएहि । वाजिन् । यः । अप्ऽसु । अन्तः । इदम् । राष्ट्रम् ।

प्र । विश । सूनृताऽवत् ।

यः । रोहितः । विश्वम् । इदम् । जजान । सः । त्वा । राष्ट्राय ।

सुऽभृतम् । बिभर्तु ॥ १ ॥

हे वेगवान् सूर्यदेव ! जो आप अन्तरिक्षके भीतर हैं सो उदित हूजिये और इस प्रिय सत्य वाणीसे सम्पन्न राष्ट्रके भीतर प्रवेश करिये, ऐसे जिन रोहित (सूर्य) देवताने इस विश्वको प्रादुर्भूत किया है वह आपको (हे राजन्) राष्ट्रके भली प्रकार भरण करने वालेके रूपमें पुष्ट करें ॥ १ ॥

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।

सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

उत् । वाजः । आ । गन् । यः । अप्ऽसु । अन्तः । विशः । आ । रोह ।

त्वत्ऽयोनयः । याः ।

सोमम् । दधानः । अपः । ओषधीः । गाः । चतुःऽपदः । द्विऽपदः ।

आ । वेशय । इह ॥ २ ॥

आप जिनके कारण हैं ऐसी जो जल (वा अन्तरिक्ष) में रहने वाली प्रजाएँ हैं और बलप्रद अन्न हैं वे आपके पास आवें और आप उन पर आरोहण करें आप सोमको धारण करते

हुए, जल ओषधि चौपाये, गौ और दो पैर वाले मनुष्य आदि को इस राज्यमें प्रवेश कराइये ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः
स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥

यूयम् । उग्राः । मरुतः । पृश्निऽमातरः । इन्द्रेण । युजा । प्र ।
मृणीत । शत्रून् ।
आ । वः । रोहितः । शृणवत् । सुऽदानवः । त्रिऽसप्तासः ।
मरुतः । स्वादुऽसंमुदः ॥ ३ ॥

हे इन्द्रके साथ मित्रता रखने वाले अदितिमातृक प्रचण्ड मरुद्गणों ! तुम शत्रुओंका संहार करो, स्वादु पदार्थोंसे मोदको प्राप्त होने वाले, सुन्दरतापूर्वक वृष्टिका दान करने वाले हे उञ्चास मरुद्गणों ! रोहित देव ! तुम्हारी बातको सुनें ॥ ३ ॥

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषा-
मुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह
राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥

रुहः । रुरोह । रोहितः । आ । रुरोह । गर्भः । जनीनाम् ।
जनुषाम् । उपऽस्थम् ।

ताभिः । सम्ऽरब्धम् । अनु । अविन्दन् । षट् । उर्वीः । गातुम् । प्रऽपश्यन् । इह । राष्ट्रम् । आ । अहाः ॥ ४ ॥

आरोहणशील रोहित सूर्यदेव उदय होकर चढ़ रहे हैं यह उत्पत्ति वालोंके उपस्थमें जायाओंके गर्भरूपसे प्रादुर्भूत होते हैं, उनसे संरब्ध हुए छः उर्वियोंको पानेके लिये प्रति दिन राष्ट्रको देखते हुए उन उर्वियोंको पाते हैं ॥ ४ ॥

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् ।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्करीभिः ॥ ५ ॥

आ । ते । राष्ट्रम् । इह । रोहितः । अहार्षीत् । वि । आस्थत् । मृधः । अभयम् । ते । अभूत् ।
तस्मै । ते । द्यावापृथिवी इति । रेवतीभिः । कामम् । दुहाथाम् । इह । शक्करीभिः ॥ ५ ॥

इस तेरे राज्यको सूर्यदेवने हरण कर लिया है अर्थात् तेरे राज्यमें सूर्यदेव आगए हैं और स्थित होगए हैं अतः तू संग्रामसे निर्भय होगया है, (क्योंकि-उनकी कृपासे तेरी विजय अवश्य होगी) ऐसे तेरे लिये द्यावापृथिवी धनप्रदायिनी ऋचाओंसे इस लोकमें तेरी कामनाओंको दुहें ॥ ५ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान
तत्र शिश्रियेज एकपादोदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ६

रोहितः । द्यावापृथिवी इति । जजान । तत्र । तन्तुम् । परमेऽस्थी । ततान ।

तत्र । शिश्रिये । अजः । एकऽपादः । अदृहत् । द्यावापृथिवी इति । बलेन ॥ ६ ॥

रोहितदेवने द्यावापृथिवीको प्रादुर्भूत किया है उसमें परमेष्ठीने तन्तुको विस्तृत किया है, तहाँ एक पाद-अजने आश्रय लिया और उसने द्यावापृथिवीको बलसे दृढ़ कर दिया है ॥ ६ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ ७ ॥

रोहितः । द्यावापृथिवी इति । अदृंहत् । तेन । स्वः । स्तभितम् । तेन । नाकः ।

तेन । अन्तरिक्षम् । विऽमिता । रजांसि । तेन । देवाः । अमृतम् । अनु । अविन्दन् ॥ ७ ॥

रोहितने द्यावापृथिवीको दृढ़ किया है, उसने स्वर्ग दुःखके लेशरहित स्थान-को स्तंभित किया है, उसने अन्तरिक्षका तथा अन्य लोकोंका निर्माण किया है और उसके द्वारा देवताओंने अमृतत्वको पाया है ॥ ७ ॥

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।

दिवं रुद्वा मंहता मंहिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयंसा घृतेनं ॥ ८ ॥

वि । रोहितः । अमृशत् । विश्वऽरूपम् । सम्ऽआकुर्वाणः । प्रऽरुहः । रुहः । च ।

दिवम् । रुद्वा । महता । महिम्ना । सम् । ते । राष्ट्रम् । अनक्तु । पयसा । घृतेन ॥ ८ ॥

रुह और प्ररुह सबको भली प्रकार प्रकट करते हुए रोहित देवने सब शरीरोंका स्पर्श किया है वह सूर्यदेव अपनी विशाल महिमासे तेरे राष्ट्रको घृत और दुग्धसे पूर्ण करें ॥ ८ ॥

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।

तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥ ९ ॥

याः । ते । रुहः । प्रऽरुहः । याः । ते । आऽरुहः । याभिः । आऽपृणासि । दिवम् । अन्तरिक्षम् ।

तासाम् । ब्रह्मणा । पयसा । ववृधानः । विशि । राष्ट्रे । जागृहि । रोहितस्य ॥ ९ ॥

(हे राजन्) जो आपकी रोहणशील प्ररोहणशील और आरोहणशील प्रजा लता आदि हैं, कि—जिनसे आप स्वर्ग और

अन्तरिक्ष निवासियोंका पालन करते हैं उनके दुग्धकी समान फलप्रद कर्मसे और मन्त्रशक्तिसे बढ़ते हुए आप सूर्यदेवकी व्याप्ति वाले राष्ट्रमें (वा सूर्यदेवके राष्ट्रमें और प्रजामें) जागते रहिये ६

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः। तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः ॥ १० ॥

याः। ते। विशः। तपसः। सम्ऽबभूवुः। वत्सम्। गायत्रीम्। अनु। ताः। इह। आ। अगुः।
ताः। त्वा। आ। विशन्तु। मनसा। शिवेन। सम्ऽमाता। वत्सः। अभि। एतु। रोहितः॥ १०॥

(हे राजन्!) तपके कारण जो आपकी प्रजाएँ प्रकट हुई हैं वे गायत्रीरूप वत्सके द्वारा यहाँ आई हैं, वे अपने कल्याणकारी मनसे आपमें प्रवेश करें अर्थात् मनसे आपका कल्याण चाहें और इनका सम्माता वत्स रोहित आपके पास आवे अर्थात् सूर्यदेव आपके ऊपर अनुग्रह करें ॥ १० ॥ (१)

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः। तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वः। रोहितः। अधि। नाके। अस्थात्। विश्वा। रूपाणि। जनयन्। युवा। कविः।

तिग्मेन । अग्निः । ज्योतिषा । वि । भाति । तृतीये । चक्रे । रजसि । प्रियाणि ॥ ११ ॥

रोहित (सूर्यदेव) ऊँचे होकर स्वर्गमें स्थित होते हैं उस समय तरुण हुए वह चतुर सूर्यदेव सब रूपोंको प्रादुर्भूत करते हैं अग्निदेव (उनकी ही) तिरछी ज्योतिसे दमकते हैं, वह (सूर्य वा अग्नि देव) तीसरे लोक (स्वर्ग) में (फलप्रदान करके मनुष्योंके) प्रिय कार्योंको करते हैं ॥ ११ ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः । मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

सहस्रऽशृङ्गः । वृषभः । जातऽवेदाः । घृतऽआहुतः । सोमऽपृष्ठः । सुऽवीरः ।
मा । मा । हासीत् । नाथितः । न । इत् । त्वा । जहानि । गोऽपोषम् । च । मे । वीरऽपोषम् । च । धेहि ॥ १२ ॥

शिखारूप सहस्रों शृंग वाले, कामनापूर्तिकी वर्षा करने वाले, घृतसे आहुत, सोमको पृष्ठभाग पर धारण करने वाले, सुन्दर वीर्यसे उत्पन्न होने वाले पुत्र आदिको प्रदान करने वाले जातवेदा अग्नि मुझको न त्यागें (अपनी शरणमें रक्खें हे अग्निदेव !) आप मुझको गौओंकी पुष्टिमें और वीर्यसे उत्पन्न हुए वीर पुत्र पौत्र आदिकी पुष्टिमें स्थापित करें ॥ १२ ॥

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥

रोहितः । यज्ञस्य । जनिता । मुखम् । च । रोहिताय । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि ।

रोहितम् । देवाः । यन्ति । सुऽमनस्यमानाः । सः । मा । रोहैः । साम्ऽइत्यै । रोहयतु ॥ १३ ॥

रोहित देव यज्ञका प्रादुर्भाव करने वाले हैं और यज्ञके मुख हैं, मैं वाणी श्रोत्र और मनके द्वारा रोहितके लिये ही आहुति देता हूँ सब देवता मनमें प्रसन्न होते हुए रोहितके पास जाते हैं, वह मुझको अपने प्रादुर्भावोंके साथ युद्धके लिये चढ़ावें ॥ १३ ॥

रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥

रोहितः । यज्ञम् । वि । अदधात् । विश्वऽकर्मणे । तस्मात् । तेजांसि । उप । मा । इमानि । आ । अगुः ।

वोचेयम् । ते । नाभिम् । भुवनस्य । अधि । मज्मनि ॥ १४ ॥

रोहितने विश्वकर्माके लिये यज्ञको पुष्ट किया था, उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास आरहे हैं मैं आपकी नाभिको भुवनकी मज्जा पर ही कहता हूँ अर्थात् आप भुवनकी मज्जाके बंधक हैं ॥ १४ ॥

आ त्वां रुरोह बृहत्यु१त पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः ।
आ त्वां रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वां रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

आ । त्वा । रुरोह । बृहती । उत । पङ्क्तिः । आ । ककुप् । वर्चसा । जातऽवेदः ।
आ । त्वा । रुरोह । उष्णिहा । अक्षरः । वषट्ऽकारः । आ । त्वा । रुरोह । रोहितः । रेतसा । सह ॥ १५ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! बृहतीछन्द पंक्तिछन्द और ककुप् छन्दने अपने प्रतापके साथ आपमें प्रवेश किया है, उष्णिहा और अक्षर ने भी आपमें प्रवेश किया है और वषट्कारने भी आपमें प्रवेश किया है अर्थात् इन सबसे आपको आहुति दी जाती है और हे अग्ने ! सूर्यदेव भी अपने तेजसे आपमें प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेयमन्तरिक्षम् ।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥

अयम् । वस्ते । गर्भम् । पृथिव्याः । दिवम् । वस्ते । अयम् । अन्तरिक्षम् ।
अयम् । ब्रध्नस्य । विष्टपि । स्वः । लोकान् । वि । आनशे ॥ १६ ॥

यह (सूर्यदेव) पृथिवीके गर्भको आच्छादित कर लेते हैं यह द्युलोक और अन्तरिक्षलोकको भी आच्छादित कर लेते हैं, यह (अग्नि वा सूर्य) सब जगत्के बंधक (सूर्य)के स्वर्गमें तथा और सकल स्वर्गोंमें व्याप्त होजाते हैं ॥ १६ ॥

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्नि-रायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥

वाचः । पते । पृथिवी । नः । स्योना । स्योना । योनिः । तल्पा । नः । सुऽशेवा ।
इह । एव । प्राणः । सख्ये । नः । अस्तु । तम् । त्वा । परमेऽस्थिन् । परि । अग्निः । आयुषा । वर्चसा । दधातु ॥ १७ ॥

हे वाचस्पते देव ! पृथिवी हमको सुख देने वाली हो, योनि हमको सुख देवे, शय्या हमको सुख देवे, प्राण हमारे साथ मित्रता करता हुआ इसी लोकमें रहे हे परमेष्ठिन् ! ऐसे आपको अग्निदेव आयु और तेजसे धारण करें ॥ १७ ॥

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥

०पते । ऋतवः । पञ्च । ये । नौ । वैश्वऽकर्मणाः । परि । ये । सम्ऽबभूवुः ।
०परि । रोहितः । आयुषा । वर्चसा । दधातु ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हम दोनोंके कर्मसे जो पाँच ऋतुएँ प्रकट हुई हैं, हमारा प्राण उनमें मित्रता रखता हुआ यहाँ ही रहे, ऐसे आपको हे परमेष्ठिन् ! सूर्यदेव अपनी आयु और तेजसे धारण करें ॥ १८ ॥

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥

वाचः । पते । सौमनसम् । मनः । च । गोऽस्थे । नः । गाः । जनय । योनिषु । प्रऽजाः ।

इह । एव । प्राणः । सख्ये । नः । अस्तु । तम् । त्वा । परमेऽस्थिन् । परि । अहम् । आयुषा । वर्चसा । दधामि ॥ १९ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा मन प्रसन्नता-सम्पन्न रहे आप हमारी गोष्ठमें गौओंको उत्पन्न करिये और योनियोंमें प्रजाओंको उत्पन्न करिये, प्राण हमारे साथ मित्रता करता हुआ इसी लोकमें रहे, ऐसे आपको हे परमेष्ठिन् ! मैं वर्च और आयुसे धारण करता हूँ १९

परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् २०

परि । त्वा । धात् । सविता । देवः । अग्निः । वर्चसा । मित्रावरुणौ । अभि । त्वा ।

सर्वाः । अरातीः । अव॒ऽक्रामन् । आ । इ॒हि॒ । इ॒दम् । रा॒ष्ट्रम् ।

अकरः । सू॒नृता॑ऽवत् ॥ २० ॥

हे राजन् ! सविता देवता आपको चारों ओरसे पुष्ट करें, अग्निदेव और मित्र तथा वरुण देवता आपको पुष्ट करें, आप सब शत्रुओंको दबाते हुए इस राष्ट्रमें आइये और इस राज्यको प्रिय सत्य वाणीसे सम्पन्न करिये ॥ २० ॥ (२)

यं त्वा॒ पृष॑ती॒ रथे॒ प्रष्टि॒र्वह॑ति रोहित ।

शुभा यासि रि॒णन्न॒पः ॥ २१ ॥

यम् । त्वा॒ । पृष॑ती । रथे॑ । प्रष्टिः॑ । वह॑ति । रोहि॒त ।

शुभा । या॒सि॒ । रि॒णन् । अ॒पः ॥ २१ ॥

हे रोहित ! आपको पृषती प्रष्टि रथमें धारण करती है आप जलोंमें चलते हुए शुभ करनेके लिये चलते हैं ॥ २१ ॥

अनु॑व्रता॒ रोहि॑णी॒ रोहि॑तस्य सू॒रिः सु॒वर्णा॑ बृह॒ती सु॒वर्चाः॑ ।

तया॒ वाजा॑न् वि॒श्वरू॑पां जयेम॒ तया॒ विश्वाः॒ पृत॑ना अ॒भि ष्या॑म ॥ २२ ॥

अनु॑ऽव्रता । रोहि॑णी । रोहि॑तस्य । सू॒रिः । सु॒ऽवर्णा॑ । बृह॒ती । सु॒ऽवर्चाः॑ ।

तया॑ । वाजा॑न् । वि॒श्वऽरू॑पान् । ज॒येम॒ । तया॑ । विश्वाः॑ । पृत॑नाः ।

अ॒भि । स्या॒म ॥ २२ ॥

आरोहण करने वाले रोहित (चन्द्र) की रोहिणी अनुव्रता है वह सुरिसुवर्णा बृहती और सुवर्चा है उसके द्वारा हम अनेक रूपों वाले वेगवान् प्राणियोंको जीतते हैं और उसके द्वारा हम सकल सेनाओंको दबावें ॥ २२ ॥

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ २३ ॥

इदम् । सदः । रोहिणी । रोहितस्य । असौ । पन्थाः । पृषती । येन । याति ।
ताम् । गन्धर्वाः । कश्यपाः । उत् । नयन्ति । ताम् । रक्षन्ति । कवयः । अप्रऽमादम् ॥ २३ ॥

यह रोहिणी और रोहितका स्थान है, यह वह मार्ग है जिससे पृषती जाती है, उसको कश्यप गंधर्व ऊपरको लेजाते हैं, चतुर पुरुष सावधानतापूर्वक इसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश

सूर्यस्य । अश्वाः । हरयः । केतुऽमन्तः । सदा । वहन्ति । अमृताः । सुऽखम् । रथम् ।

घृतऽपावा । रोहितः । भ्राजमानः । दिवम् । देवः । पृषतीम् । आ । विवेश ॥ २४ ॥

सूर्यके अश्व वेग वाले हैं, ज्ञानसे सम्पन्न हैं और अमर हैं वे सदा सुखपूर्वक रथको खेंचते हैं, घृतकी समान सारमय फलसे पवित्र करनेवाले दमकते हुए सूर्यदेवने पृषती द्योमें प्रवेश किया है२४

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥

यः । रोहितः । वृषभः । तिग्मऽशृङ्गः । परि । अग्निम् । परि । सूर्यम् । बभूव ।

यः । विऽस्तभ्नाति । पृथिवीम् । दिवम् । च । तस्मात् । देवाः । अधि । सृष्टीः । सृजन्ते ॥ २५ ॥

जो रोहितदेव कामनाओंकी वर्षा करने वाले हैं, तीखी किरणों वाले हैं जो अग्नि और सूर्यकी ओर रहते हैं जो पृथिवी और द्यौ को रोके हुए हैं, उनसे ही देवता सृष्टिकी रचना किया करते हैं २५

रोहितो दिवमारुहन्महत पर्यर्णवात् ।
सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥ २६ ॥

रोहितः । दिवम् । आ । अरुहत् । महतः । परि । अर्णवात् ।

सर्वाः । रुरोह । रोहितः । रुहः ॥ २६ ॥

रोहित देव महान् समुद्रसे द्यौ पर आरोहण करते हैं, वह रोहित रोहणशील वस्तुओं पर आरोहण करते हैं ॥ २६ ॥

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥ २७ ॥

वि । मिमीष्व । पयस्वतीम् । घृताचीम् । देवानाम् । धेनुः । अनपऽस्पृक् । एषा ।

इन्द्रः । सोमम् । पिबतु । क्षेमः । अस्तु । अग्निः । प्र । स्तौतु । वि । मृधः । नुदस्व ॥ २७ ॥

तू घृतसे पूजित पयस्वती देवधेनुका मान कर यह अनपस्पृक् है, इन्द्र सोमका पान करें और अग्निदेव क्षेम करें और तेरी प्रशंसा करें और तू संग्रामोंमें शत्रुओंको खदेड़ ॥ २७ ॥

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम २८

सम्ऽइद्धः । अग्निः । सम्ऽइधानः । घृतऽवृद्धः । घृतऽआहुतः ।
अभीषाट् । विश्वाषाट् । अग्निः । सऽपत्नान् । हन्तु । ये । मम २८

प्रदीप्त हुए अग्निदेव जो घृतसे बढ़े हैं और जिनमें घृतकी आहुति दी गई है वे चारों ओरसे शत्रुओंका पराभव करने वाले, सबका पराभव कर सकने वाले हैं वे जो मेरे शत्रु हैं उनका संहार करें ॥ २८ ॥

हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥

हन्तु । एनान् । प्र । दहतु । अरिः । यः । नः । पृतन्यति ।
क्रव्यऽअदा । अग्निना । वयम् । सऽपत्नान् । प्र । दहामसि २९

अग्निदेव इन सब शत्रुओंको मारें और जो शत्रु सेनाको लेकर हमको मारना चाहता है उसको भस्म कर डालें, हम क्रव्याद अग्निके द्वारा शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥३०॥

अवाचीनान् । अव । जहि । इन्द्र । वज्रेण । बाहुऽमान् ।
अध । सऽपत्नान् । मामकान् । अग्नेः । तेजःऽभिः । आ । अदिषि

हे इन्द्र ! आप भुजबलसम्पन्न हैं अतः आप हमारे नीच शत्रुओंका संहार करिये, फिर हे अग्ने ! आप अपनी लपटोंसे मेरे शत्रुओंको भस्म कर डालिये ॥ ३०) (१)

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते ।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः

अग्ने । सऽपत्नान् । अधरान् । पादय । अस्मत् । व्यथय । सऽजातम् । उत्ऽपिपानम् । बृहस्पते ।

इन्द्राग्नी इति । मित्रावरुणौ । अधरे । पद्यन्ताम् । अप्रतिऽमन्यूयमाना

हे अग्ने ! आप हमारे शत्रुओंको नीचे गिराइये और हे बृहस्पते ! आप ऊपरको बढ़ते हुए समानजन्मा शत्रुको व्यथित करिये, हे इन्द्र अग्नि तथा मित्र और वरुण देवताओं ! जो शत्रु हमारे प्रतिकूल होकर क्रोध कर रहे हैं वे नीचे पड़ जाँय ॥ ३१ ॥

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥

उत्ऽयन् । त्वम् । देव । सूर्य । सऽपत्नान् । अव । मे । जहि ।
अव । एनान् । अश्मना । जहि । ते । यन्तु । अधमम् । तमः ३२

हे सूर्यदेव ! उदय होते हुए आप मेरे शत्रुओंका संहार करिये, इनको पत्थरों (ओलों) से मार डालिये, ये मृत्युरूप घोर अंधकारको प्राप्त होजावें ॥ ३२ ॥

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोन्तरिक्षम्
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति

वत्सः । विऽराजः । वृषभः । मतीनाम् । आ । रुरोह । शुक्रऽपृष्ठः ।
अन्तरिक्षम् ।
घृतेन । अर्कम् । अभि । अर्चन्ति । वत्सम् । ब्रह्म । सन्तम् ।
ब्रह्मणा । वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥

विराट्के वत्स, बुद्धियोंकी वर्षा करने वाले शुक्रपृष्ठ सूर्यदेव अन्तरिक्ष पर आरोहण करते हैं, सूर्यरूप वत्सके ब्रह्म होने पर भी पुरुष उसको ब्रह्मसे अर्थात् मन्त्रसे बढ़ाया करते हैं ॥ ३३ ॥

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व ३४

दिवम् । च । रोह । पृथिवीम् । च । रोह । राष्ट्रम् । च । रोह ।
द्रविणम् । च । रोह ।
प्रऽजाम् । च । रोह । अमृतम् । च । रोह । रोहितेन । तन्वम् ।
सम् । स्पृशस्व ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! आप स्वर्गमें चढ़ें, पृथिवी पर अधिष्ठित रहें, राष्ट्र पर अधिष्ठित रहें और धन पर अधिष्ठित रहें, प्रजाओं पर छत्र-च्छाया करते रहें, अमृत पर अधिष्ठित रहें और सूर्यसे अपने शरीरका स्पर्श करिये ॥ ३४ ॥

ये देवा राष्ट्रभृतोभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ३५

ये । देवाः । राष्ट्रऽभृतः । अभितः । यन्ति । सूर्यम् ।
तैः । ते । रोहितः । सम्ऽविदानः । राष्ट्रम् । दधातु । सुऽमन-
स्यमानः ॥ ३५ ॥

जो राष्ट्रका भरण करने वाले राष्ट्रभृत् देवता सूर्यके चारों ओर विचरण करते हैं रोहितदेव उनसे प्रसन्नतापूर्वक आपके विषय में एकमत होकर आपके राष्ट्रको पुष्ट करें ॥ ३५ ॥

उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेर्णवम् ॥ ३६ ॥

उत् । त्वा । यज्ञाः । ब्रह्मऽपूताः । वहन्ति । अध्वऽगतः । हरयः ।
त्वा । वहन्ति ।

तिरः । समुद्रम् । अति । रोचसे । अर्णवम् ॥ ३६ ॥

हे सूर्यदेव ! मन्त्रपूत यज्ञ आपका वहन करते हैं, और मार्गमें जाने वाले घोड़े आपका वहन करते हैं आप तिरछे होकर समुद्र को परम शोभा प्रदान करते हैं ॥ ३६ ॥

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति ।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥

रोहिते । द्यावापृथिवी इति । अधि । श्रिते इति । वसुऽजिति । गोऽजिति । संधनऽजिति ।

सहस्रम् । यस्य । जनिमानि । सप्त । च । वोचेयम् । ते । नाभिम् । भुवनस्य । अधि । मज्मनि ॥ ३७ ॥

वसुजित गोजित् संधनजित् रोहितमें द्यावापृथिवी अधिश्रित हैं, जिनके सात सहस्र जन्मों (उदयों) का मैं वर्णन करता हूँ भुवनकी मज्जाके बंधक भी उनहीको कहता हूँ ॥ ३७ ॥

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेहं भूयासं सवितेव चारुः

यशाः । यासि । प्रऽदिशः । दिशः । च । यशाः । पशूनाम् ।
उत । चर्षणीनाम् ।
यशाः । पृथिव्याः । अदित्याः । उपऽस्थे । अहम् । भूयासम् ।
सविताऽइव । चारुः ॥ ३८ ॥

आप यशसे दिशा और प्रदिशाओंमें जाते हैं और यशसे पशु और मनुष्योंमें विचरण करते हैं, मैं भी यशसे अखण्डनीया पृथिवीकी गोदमें सविता देवताकी समान कमनीय रहूँ ॥ ३८ ॥

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥३९॥

अमुत्र । सन् । इह । वेत्थ । इतः । सन् । तानि । पश्यसि ।
इतः । पश्यन्ति । रोचनम् । दिवि । सूर्यम् । विपःऽचितम् ३९

आप परलोकमें रहते हुए यहाँके सब वृत्तान्तोंको जानते हैं और यहाँसे तहाँके सबको देखते हैं और प्राणी भी यहाँसे द्यौमें कमनीय विद्वान् सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥

देवः । देवान् । मर्चयसि । अन्तः । चरसि । अर्णवे ।
समानम् । अग्निम् । इन्धते । तम् । विदुः । कवयः । परे ॥४०॥

आप देवता होकर भी देवताओंको व्यापारमें प्रवृत्त करते हैं और अन्तरिक्षके भीतर विचरण करते हैं, जो पुरुष समान अग्निको प्रदीप्त करते हैं वे श्रेष्ठ चतुर पुरुष उनको जानते हैं ४०

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि
यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अवः । परेण । परः । एना । अवरेण । पदा । वत्सम् । बिभ्रती ।
गौः । उत् । अस्थात् ।
सा । कद्रीची । कम् । स्वित् । अर्धम् । परा । अगात् । क्व ।
स्वित् । सूते । नहि । यूथे । अस्मिन् ॥ ४१ ॥

एक पैरसे अन्नको और अपर पैरसे वत्सको धारण करती हुई श्वेतवर्णा गौ (सूर्यकिरण) उठती है वह कद्रीची किसी आधे भागमें जाती है वह कहीं पड़ती है यूथमें नहीं पड़ती है ४१

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि
चरन्ति ॥ ४२ ॥

एकऽपदी । द्विऽपदी । सा । चतुःऽपदी । अष्टाऽपदी । नवऽपदी ।
बभूवुषी ।
सहस्रऽअक्षरा । भुवनस्य । पङ्क्तिः । तस्याः । समुद्राः । अधि ।
वि । चरन्ति ॥ ४२ ॥

(यह माध्यमिका किरण ही सब जगत्का निर्माण करती है उसकी रीति यह है, कि—) वह मध्यमके साथ एकत्व को प्राप्त होकर एकपदी होजाती है, मध्यम आदित्यके साथ द्विपदी

होजाती है और दिशाओंके साथ चतुष्पदी होजाती है और अवान्तर दिशाओंके साथ अष्टापदी होजाती है, दिशा विदिशा और सूर्यमे नवपदी होजाती है और वह बहुतसे जलोंको करने वाली है, भुवनकी पंक्ति है, उससे मेघ क्षरित होते हैं ॥ ४२ ॥

आरोहन् द्यामस्मृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥

आऽरोहन् । द्याम् । अमृतः । प्र । अव । मे । वचः ।
उत् । त्वा । यज्ञाः । ब्रह्मऽपूताः । वहन्ति । अध्वऽगतः । हरयः ।
त्वा । वहन्ति ॥ ४३ ॥

हे सूर्यदेव ! आप अमृत हैं अतः द्यौमें आरोहण करते हुए मेरे वचनकी रक्षा करिये, मंत्रपूत यज्ञ आपका वहन करते हैं और मार्गमें चलने वाले घोड़े आपका वहन करते हैं ॥ ४३ ॥

वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

वेद । तत् । ते । अमर्त्य । यत् । ते । आऽक्रमणम् । दिवि ।
यत् । ते । सधऽस्थम् । परमे । विऽओमन् ॥ ४४ ॥

हे अमर्त्य सूर्यदेव ! आपका जो द्यौमें विचरण करना है और परम व्योममें उपासकोंके साथ रहनेका जो स्थान है उसको मैं जानता हूँ ॥ ४४ ॥

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।

सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥

सूर्यः । द्याम् । सूर्यः । पृथिवीम् । सूर्यः । आपः । अति । पश्यति ।

सूर्यः । भूतस्य । एकम् । चक्षुः । आ । रुरोह । दिवम् । महीम् ॥

सूर्य द्युलोकको देखते हैं, सूर्य पृथ्वीलोकके साक्षी हैं और सूर्य जलके भी साक्षी हैं; सूर्यदेव प्राणिमात्रके असाधारण नेत्र हैं वही द्यौ और मही पर आरोहण करते हैं ॥ ४५ ॥

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत ।

तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

उर्वीः । आसन् । परिऽधयः । वेदिः । भूमिः । अकल्पत ।

तत्र । एतौ । अग्नी इति । आ । अधत्त । हिमम् । घ्रंसम् । च ।
रोहितः ॥ ४६ ॥

उर्वियें परिधियें बनीं और भूमि वेदीरूपमें कल्पित हुई तहाँ रोहितने इन अग्नियोंको और हिम तथा दिनको स्थापित किया है ४६

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।

वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

हिमम् । घ्रंसम् । च । आऽधाय । यूपान् । कृत्वा । पर्वतान् ।

वर्षऽआज्यौ । अग्नी इति । ईजाते इति । रोहितस्य । स्वःऽविदः ४७

सूर्यके स्वर्गको पाने वाले पुरुष हिम और दिनका आधान करके तथा पर्वतोंको यूप बना कर वर्षाज्य अग्निकी पूजा करते थे ४७

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।

तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञो जायत॥४८॥

स्वःऽविदः । रोहितस्य । ब्रह्मणा । अग्निः । सम् । इध्यते ।

तस्मात् । घ्रंसः । तस्मात् । हिमः । तस्मात् । यज्ञः । अजायत ४८

स्वर्गप्रापक रोहितके मंत्रसे अग्निको प्रदीप्त किया जाता है, उसी से दिन हिम और यज्ञ प्रकट हुआ है ॥ ४८ ॥

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मणा । अग्नी इति । वावृधानौ । ब्रह्मऽवृद्धौ । ब्रह्मऽआहुतौ ।

ब्रह्मऽइद्धौ । अग्नी इति । ईजाते इति । रोहितस्य । स्वःऽविदः ४९

सूर्यके स्वर्गको पाना चाहने वाले पुरुष मंत्रसे आहुत और मंत्र से बढ़े हुए अग्नियोंको मन्त्रसे बढ़ाते हुए उन मन्त्रप्रज्वलित अग्नियोंकी पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्व१न्यः समिध्यते ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥

सत्ये । अन्यः । सम्ऽआहितः । अप्ऽसु । अन्यः । सम् । इध्यते ।०

सत्यमें अन्य प्रतिष्ठित है और जलमें दूसरी अग्निको प्रदीप्त किया जाता है सूर्यसम्बंधी स्वर्गको पाना चाहने वालोंने उन मंत्र-समृद्ध अग्नियोंकी पूजाकी थी ॥ ५० ॥ (५)

यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।

ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

यम् । वातः । परिऽशुम्भति । यम् । वा । इन्द्रः । ब्रह्मणः । पतिः ।

ब्रह्मऽइद्धौ । अग्नी इति । ईजाते इति । रोहितस्य । स्वःऽविदः॥५१

वायु जिसको शोभित करना चाहता है इन्द्र और ब्रह्मणस्पति जिसको सुशोभित करना चाहते हैं ऐसे पुरुषोंका समूह ही सूर्य के स्वर्गलोकको पानेके लिये,मंत्रप्रदीप्त अग्नियोंकी पूजा करते हैं॥५१

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।

घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥

वेदिम् । भूमिम् । कल्पयित्वा । दिवम् । कृत्वा । दक्षिणाम् ।

घ्रंसम् । तत् । अग्निम् । कृत्वा । चकार । विश्वम् । आत्मन्ऽवत् ।

वर्षेण । आज्येन । रोहितः ॥ ५२ ॥

रोहितने भूमिको वेदि बनाकर और द्यौको दक्षिणा बना कर तथा दिनको अग्नि बनाकर वर्षारूपी घृतसे विश्वको आत्मन्वद् कर लिया है ॥ ५२ ॥

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।

तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥५३॥

वर्षम् । आज्यम् । घ्रंसः । अग्निः । वेदिः । भूमिः । अकल्पत ।

तत्र । एतान् । पर्वतान् । अग्निः । गीःऽभिः । ऊर्ध्वान् । अकल्पयत्

वर्षाको घृत, दिनको अग्नि और भूमिको वेदि बनाया तहाँ अग्निने स्तुतियोंके द्वारा इन पर्वतोंको ऊँचा बनाया ॥ ५३ ॥

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥५४॥

गीःऽभिः । ऊर्ध्वान् । कल्पयित्वा । रोहितः । भूमिम् । अब्रवीत् ।
त्वयि । इदम् । सर्वम् । जायताम् । यत् । भूतम् । यत् । च ।
भाव्यम् ॥ ५४ ॥

स्तुतियोंसे ऊपरको बनाकर रोहितने भूमिसे कहा, कि–जो भूत है और होने वाला है यह सब तुझमें उत्पन्न होवे ॥ ५४ ॥

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

सः । यज्ञः । प्रथमः । भूतः । भव्यः । अजायत ।
तस्मात् । ह । जज्ञे । इदम् । सर्वम् । यत् । किम् । च । इदम् ।
विऽरोचते । रोहितेन । ऋषिणा । आऽभृतम् ॥ ५५ ॥

वह यज्ञ पहिले भूत भव्यके रूपमें प्रकट हुआ उससे यह जो कुछ रोचमान है यह प्रकट हुआ, इसको द्रष्टा रोहितने ही पुष्ट किया है ॥ ५५ ॥

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥५६॥

यः । च । गाम् । पदा । स्फुरति । प्रत्यङ् । सूर्यम् । च । मेहति ।

तस्य । वृश्चामि । ते । मूलम् । न । छायाम् । करवः । अपरम् ५६

जो पैरसे गौका स्पर्श करता है और सूर्यके प्रति मूत्रोत्सर्ग करता है उसकी मैं जड़को काटता हूं और उसके ऊपर मैं छाया नहीं कर सकता ॥ ५६ ॥

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।

तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोपरम् ॥५७॥

यः । मा । अभिऽछायम् । अतिऽएषि । माम् । च । अग्निम् । च । अन्तरा ।

तस्य । वृश्चामि । ते । मूलम् । न । छायाम् । करवः । अपरम् ।

जो मेरी छायाका अतिक्रमण करता है और मेरे तथा अग्निके बीचमेंको निकलता है, उसकी जड़को मैं काट डालूँगा उसके ऊपर मैं छाया नहीं कर सकूँगा ॥ ५७ ॥

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।

दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

यः । अद्य । देव । सूर्य । त्वाम् । च । माम् । च । अन्तरा । अयति ।

दुःऽस्वप्न्यम् । तस्मिन् । शमलम् । दुःऽइतानि । च । मृज्महे ५८

हे सूर्यदेव ! जो इस समय मेरे आपके बीचमें विघ्न डालना चाहता है हम उसमें दुःस्वप्न पाप और दुष्कर्मोंको डालते हैं ५८

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।

मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥

मा । प्र । गाम । पथः । वयम् । मा । यज्ञात् । इन्द्र । सोमिनः ।

मा । अन्तः । स्थुः । नः । अरातयः ॥ ५९ ॥

हे इन्द्र ! हम सोम जिसमें प्रयुक्त होता है उस यज्ञपद्धतिसे दूर न जावें और शत्रु हमारे देशके भीतर स्थित न रहें ॥ ५९ ॥

योयज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।

तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥

यः । यज्ञस्य । प्रऽसाधनः । तन्तुः । देवेषु । आऽततः ।

तम् । आऽहुतम् । अशीमहि ॥ ६० ॥

प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इति प्रथमोनुवाकः ॥

जो यज्ञका प्रसाधन तन्तु देवताओंमें विस्तृत हैं उस आहुत (यज्ञ) को हम प्राप्त करें ॥ ६० ॥ (६)

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५०२)

प्रथम अनुवाक समाप्त

"उदस्य केतवः" इति सवितृदेवताकम् ॥

याज्ञिका वक्ष्यमाणप्रकारेण विनियुञ्जन्ति ।

"उदस्य केतवः" इत्यनुवाकस्य सखिलगणे पाठः । अतस्तस्य गणप्रयुक्तो विनियोगो द्रष्टव्यः [१. ५] ॥

तथा उपनयने आयुरभिवृद्ध्यर्थम् अनेनानुवाकेन माणवकस्त्रि-कालम् आदित्यं उपतिष्ठेत । सूत्रितं हि । "उदस्य केतवः [१३. २] मूर्धाहम् [१६. ३] विषासहिम् [१७. १] इत्युद्यन्तम् उपतिष्ठते मध्यंदिनेऽस्तं यन्तम्" इति । कौ० ७. ६ ॥*

तथा चातुर्मास्ये साकमेधपर्वणि पित्र्येष्टौ जातायाम् आदित्यो-

पस्थाने इदं विनियुक्तम् । तद् उक्तं वैताने । "प्राञ्चोभ्युत्क्रम्योदस्य केतव इत्यादित्यमुपतिष्ठन्ते" इति । वै० २. ५ ॥

"उदस्य केतवः" यह सविता देवताका सूक्त है । याज्ञिक पुरुष इसका इस प्रकार विनियोग करते हैं, कि—

"उदस्य केतवः" अनुवाकका सलिलगणमें पाठ है अतः इसका गणके अनुसार विनियोग करना चाहिये। इसका अधिक विस्तार प्रथम काण्डके पञ्चम सूक्तमें है ।

तथा बालक उपनयनमें आयुकी वृद्धिके लिये इस अनुवाकसे तीनों कालमें सूर्यका उपस्थान करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–'उदस्य केतवः (१३ । २) मूर्धाहम् (१६ । ३) विषासहिम् (१७ । १) इत्युद्यन्तं आदित्यं उपतिष्ठते मध्यन्दिनेऽस्तं यन्तम् ।' (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

तथा चातुर्मास्यके साकमेधकर्ममें पित्र्येष्टिके होने पर जो आदित्योपस्थान होता है उसमें इसका विनियोग होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"प्राञ्चोऽभ्युत्क्रम्योदस्य केतव इत्यादित्यमुपतिष्ठन्ते" (वैतानसूत्र २ । ५) ॥

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । केतवः । दिवि । शुक्राः । भ्राजन्तः । ईरते ।
आदित्यस्य । नृऽचक्षसः । महिऽव्रतस्य । मीढुषः ॥ १ ॥

महिमामय कर्म वाले, सेचक, मनुष्योंके साक्षी आदित्यदेवकी निर्मल किरणें आकाशमें दमकती रहती हैं और इनको ऊपरको चढ़ाती हैं ॥ १ ॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥

दिशाम् । प्रऽज्ञानाम् । स्वरयन्तम् । अर्चिषा । सुऽपक्षम् । आशुम् । पतयन्तम् । अर्णवे ।
स्तवाम । सूर्यम् । भुवनस्य । गोपाम् । यः । रश्मिऽभिः । दिशः । आऽभाति । सर्वाः ॥ २ ॥

अपनी कान्तिसे (पूर्व पश्चिम आदि) ज्ञान वाली दिशाओंमें (प्राणियोंसे) शब्द कराने वाले, सुन्दर पर वाले (अरुण) को समुद्रमें प्रतिष्ठित करने वाले और जो अपनी किरणोंसे सब दिशाओंको प्रकाशित करते हैं उन भुवनरक्षक सूर्यदेवकी हम स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥

यत् । प्राङ् । प्रत्यङ् । स्वधया । यासि । शीभम् । नानारूपे इति नानाऽरूपे । अहनी इति । कर्षि । मायया ।

तत् । आदित्य । महि । तत् । ते । महि । श्रवः । यत् । एकः ।
विश्वम् । परि । भूम । जायसे ॥ ३ ॥

आप अन्नमय हविके द्वारा पूर्व और पश्चिम दिशामें शीघ्रता से जाते हैं और अपनी मायासे दिन रातको अनेक रूपों वाले करते हैं, हे आदित्य ! आपका यह महान् प्रशंसनीय यश है जो आप अकेले ही विश्वमें सबसे महान् रहते हैं ॥ ३ ॥

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥

विपःऽचितम् । तरणिम् । भ्राजमानम् । वहन्ति । यम् । हरितः ।
सप्त । बह्वीः ।
स्रुतात् । यम् । अत्रिः । दिवम् । उत्ऽनिनाय । तम् । त्वा ।
पश्यन्ति । परिऽयान्तम् । आजिम् ॥ ४ ॥

विद्वान् भवसागरकी नौकारूप दमकते हुए जिन सूर्यदेवको सात घोड़े वहन करते हैं, समुद्रसे जिनको आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक–इन तीनों दुःखोंसे रहित ब्रह्म द्यौमें ऊपरको लाता है ऐसे आपको हम आजिमें जाता हुआ देखते हैं ॥ ४ ॥

मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

मा । त्वा । दभन् । परिऽयान्तम् । आजिम् । स्वस्ति । दुःऽगान् ।
अति । याहि । शीभम् ।
दिवम् । च । सूर्य । पृथिवीम् । च । देवीम् । अहोरात्रे इति ।
विऽमिमानः । यत् । एषि ॥ ५ ॥

हे सूर्य ! आप जो द्यौ और देवी पृथिवीमें दिन रातका मान करते हुए चलते हैं ऐसे आपको आजिमें जाने पर (शत्रु) न दबा सकें आप शीघ्रतासे कल्याणपूर्वक दुर्गम स्थलोंको लाँघ जाइये ५

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥

स्वस्ति । ते । सूर्य । चरसे । रथाय । येन । उभौ । अन्तौ ।
परिऽयासि । सद्यः ।
यम् । ते । वहन्ति । हरितः । वहिष्ठाः । शतम् । अश्वाः । यदि ।
वा । सप्त । बह्वीः ॥ ६ ॥

हे सूर्यदेव ! जिस रथसे आप दोनों (समुद्रोंके) अन्तोंको शीघ्र ही प्राप्त होते हैं उस आपके विचरण करने वाले रथका कल्याण हो और आपके जो भारवहन करनेमें समर्थ सौ, सात वा बहुतसे हरित घोड़े आपका वहन करते हैं उनके लिये भी स्वस्ति हो ॥ ६ ॥

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः

सुऽखम् । सूर्य । रथम् । अंशुऽमन्तम् । स्योनम् । सुऽवह्निम् । अधि ।
तिष्ठ । वाजिनम् ।

यम् । ते । वहन्ति । हरितः । वहिष्ठाः । शतम् । अश्वाः । यदि ।
वा । सप्त । बह्वीः ॥ ७ ॥

हे सूर्यदेव ! आप सुखस्वरूप सुखदायक सुन्दर अग्निकी समान दमक वाले वेगवाले रथ पर सवार हूजिये उस आपके रथको भार वहन करनेमें श्रेष्ठ सात सौ वा बहुतसे घोड़े खेंचते हैं ॥ ७ ॥

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिव-
मारुहत् ॥ ८ ॥

सप्त । सूर्यः । हरितः । यातवे । रथे । हिरण्यऽत्वचसः । बृहतीः ।
अयुक्त ।

अमोचि । शुक्रः । रजसः । परस्तात् । विऽधूय । देवः । तमः ।
दिवम् । आ । अरुहत् ॥ ८ ॥

निर्मल सूर्यदेव गमन करनेके लिये सुवर्णकी समान त्वचा वाले सात बड़े २ अश्वोंको रथमें जोतते हैं और अंधकारको दूर करके लोकसे परे उन घोड़ोंको छोड़ देते हैं और स्वर्गमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ८ ॥

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

उत् । केतुना । बृहता । देवः । आ । अगन् । अप । अवृक् । तमः । अभि । ज्योतिः । अश्रैत् ।
दिव्यः । सुऽपर्णः । सः । वीरः । वि । अख्यत् । अदितेः । पुत्रः । भुवनानि । विश्वा ॥ ९ ॥

अपने ऊपरको जाने वाले महान्केतुके द्वारा सूर्य देव आरहे हैं अन्धकारको दूर कर ज्योतिका आश्रय लेरहे हैं वह अदितिका पुत्र दिव्य सुपर्ण (अरुण) सब लोकोंमें प्रसिद्ध होरहा है ॥ ९ ॥

उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥

उत्ऽयन् । । रश्मीन् । आ । तनुषे । विश्वा । रूपाणि । पुष्यसि ।
उभा । समुद्रौ । क्रतुना । वि । भासि । सर्वान् । लोकान् । परिऽभूः । भ्राजमानः ॥ १० ॥

हे सूर्यदेव ! आप उदय होते समय किरणोंको फैलाते हैं और सब रूपवान् पदार्थोंको पुष्ट करते हैं और दमकते हुए आप अपने गमनसे दोनों समुद्रोंको और सब लोकोंको दमकाते हैं॥१०॥ (७)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्

विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति

पूर्वऽअपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ ।

परि । यातः । अर्णवम् ।

विश्वा । अन्यः । भुवना । विऽचष्टे । हैरण्यैः । अन्यम् । हरितः ।

वहन्ति ॥ ११ ॥

अपनी मायासे शिशुकी समान क्रीड़ा करने वाले ये दोनों आगे पीछे समुद्रकी ओर चले जाते हैं, इनमें एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और दूसरेको घोड़े अपने हिरण्यमय शरीरों से वहन करते हैं ॥ ११ ॥

दिवि त्वात्त्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।

स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥

दिवि । त्वा । अत्रिः । अधारयत् । सूर्य । मासाय । कर्तवे ।

सः । एषि । सुऽधृतः । तपन् । विश्वा । भूता । अवऽचाकशत् १२

हे सूर्य ! आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक–इन तीनों प्रकारके दुःखसे रहित अत्रिने आपको मास-समूहको करने के लिये द्यौमें स्थापित किया है, वही भली प्रकार धारण किये हुए आप तपते हुए आरहे हैं और सकल भूतोंको प्रकाशित करते रहते हैं ॥ १२ ॥

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।

नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥

उभौ । अन्तौ । सम् । अर्षसि । वत्सः । संमातरौऽइव ।

ननु । एतत् । इतः । पुरा । ब्रह्म । देवाः । अमी इति । विदुः १३

जैसे बालक माता पिताके पास जाता है ऐसे ही आप दोनों समुद्रोंके पास जाते हैं, ये देवता यह समझते हैं कि—यही सनातन ब्रह्म हैं ॥ १३ ॥

यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिषासति सूर्यः ।

अध्वास्य विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः ॥ १४ ॥

यत् । समुद्रम् । अनु । श्रितम् । तत् । सिषासति । सूर्यः ।

अध्वा । अस्य । विऽततः । महान् । पूर्वः । च । अपरः । च । यः १४

जो मार्ग समुद्र तक चला गया है सूर्य देव (प्रकाश फैला कर लोकोंके लिये उसीका) दान करते हैं, इनका जो पूर्वापर मार्ग है वह महान् है और विस्तृत है ॥ १४ ॥

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति ।

तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते ॥ १५ ॥

तम् । सम् । आप्नोति । जूतिऽभिः । ततः । न । अप । चिकित्सति ।

तेन । अमृतस्य । भक्षम् । देवानाम् । न । अव । रुन्धते ॥१५॥

उस मार्गको आप शीघ्रतासे गमन करने वाले घोड़ोंके द्वारा प्राप्त होते हैं आप उससे असावधान नहीं रहते हैं उसके द्वारा देवताओं के अमृतके भक्षणको भी नहीं रोकते हैं ॥ १५ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

उत् । ऊं इति । त्यम् । जातऽवेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः ।
दृशे । विश्वाय । सूर्यम् ॥ १६ ॥

किरणें वा अश्व, सब उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले सूर्य-देवको, सबको दिखानेके लिये ऊपरको लाती हैं ॥ १६ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥

अप । त्ये । तायवः । यथा । नक्षत्रा । यन्ति । अक्तुऽभिः ।
सूराय । विश्वऽचक्षसे ॥ १७ ॥

जैसे चोर रातके साथ ही साथ भाग जाते हैं ऐसे ही सबके द्रष्टा सूर्यके कारण नक्षत्र रातके साथ २ भाग जाते हैं ॥ १७ ॥

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥

अदृश्रन् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु ।
भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ १८ ॥

अग्निकी समान दमकती हुई इन सूर्यदेवकी ज्ञानदाता किरणें प्रत्येक पुरुषोंके पीछे दीखती हैं ॥ १८ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।

विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥

तरणिः । विश्वऽदर्शतः । ज्योतिःऽकृत् । असि । सूर्य ।

विश्वम् । आ । भासि । रोचन ॥ १९ ॥

हे कमनीय सूर्यदेव ! आप (संसारसागरकी) नौकारूप हैं सबको देखने वाले और ज्योति देने वाले हैं आप सबको प्रकाशित करते हैं ॥ १९ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥

प्रत्यङ् । देवानाम् । विशः । प्रत्यङ् । उत् । एषि । मानुषीः ।

प्रत्यङ् । विश्वम् । स्वः । दृशे ॥ २० ॥

हे सूर्यदेव ! आप प्रत्येक मानुषी और दैवीप्रजाको सामने रख कर उनके सामने उदित होते हैं प्रत्येक पुरुषको देखनेके लिये उसको सामने लाकर उदित होते हैं ॥ २० ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥

येन । पावक । चक्षसा । भुरण्यन्तम् । जनान् । अनु ।

त्वम् । वरुण । पश्यसि ॥ २१ ॥

हे पवित्र करने वाले पापनिवारक सूर्यदेव ! पूर्वके पुण्यात्मा पुरुषोंसे आचरित मार्गमें शीघ्रतासे जाते हुए पुण्यात्मा पुरुषको आप जिस अनुग्राहिकादृष्टिसे देखते हैं (उस दृष्टिकी हम स्तुति करते हैं) ॥ २१ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

वि । द्याम् । एषि । रजः । पृथु । अहः । मिमानः । अक्तुऽभिः ।
पश्यन् । जन्मानि । सूर्य ॥ २२ ॥

हे सूर्यदेव ! आप उत्पन्न हुए सब प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये उनको देखते हुए तथा रात्रियोंसहित दिनका निर्माण करते हुए द्युलोक भूलोक और विशाल अन्तरिक्षलोकमें अनेक प्रकारसे विचरण करते हैं ॥ २२ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥

सप्त । त्वा । हरितः । रथे । वहन्ति । देव । सूर्य ।
शोचिःऽकेशम् । विऽचक्षणम् ॥ २३ ॥

हे सूर्यदेव ! दमकती हुई किरणों वाले सूक्ष्मद्रष्टा रथमें आपको सात घोड़े सवारी देते हैं ॥ २३ ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥

अयुक्त । सप्त । शुन्ध्युवः । सूरः । रथस्य । नप्त्यः ।
ताभिः । याति । स्वयुक्तिऽभिः ॥ २४ ॥

सूर्यदेवने सात पवित्र करने वाले रक्षक घोड़ोंको अपने रथमें जोड़ लिया है और वह उनसे अपनी युक्तियोंके द्वारा चल रहे हैं २४

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपति-
र्बभूव ॥ २५ ॥

रोहितः । दिवम् । आ । अरुहत् । तपसा । तपस्वी ।
सः । योनिम् । आ । एति । सः । ऊं इति । जायते । पुनः । सः ।
देवानाम् । अधिऽपतिः । बभूव ॥ २५ ॥

तपस्वी रोहित सूर्यदेव अपने तपसे द्यौमें आरोहण करते हैं, वह योनिको प्राप्त होते हैं और वही फिर प्रकट होते हैं और वह (सूर्य वा आत्मा) देवताओंके अधिपति हुए थे ॥ २५ ॥

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणि-
रुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः

यः । विश्वऽचर्षणिः । उत । विश्वतःऽमुखः । यः । विश्वतःऽपाणिः ।
उत । विश्वतःऽपृथः ।
सम् । बाहुऽभ्याम् । भरति । सम् । पतत्रैः । द्यावापृथिवी इति ।
जनयन् । देवः । एकः ॥ २६ ॥

जो सबके द्रष्टा हैं और अनेक मुख वाले हैं तथा जिनके हाथ चारों ओर हैं और जो विश्वतस्पृथ हैं वह असाधारण देव अपनी पतनशील किरणोंसे द्यावापृथिवीको प्रादुर्भूत करते हुए अपनी भुजाओंसे सबका भरण करते हैं ॥ २६ ॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं१ समासते ॥ २७ ॥

एकऽपात् । द्विऽपदः । भूयः । वि । चक्रमे । द्विऽपात् । त्रिऽपादम् । अभि । एति । पश्चात् ।
द्विऽपात् । ह । षट्ऽपदः । भूयः । वि । चक्रमे । ते । एकऽपदः । तन्वम् । सम् । आसते ॥ २७ ॥

एकपाद द्विपदोंमें आक्रमण करता है, फिर द्विपाद त्रिपदोंको प्राप्त होता है, द्विपाद फिर षट्पदोंमें विक्रमण करता है, वे एकपदके तन्व (ब्रह्मपद) की उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥

अतन्द्रः । यास्यन् । हरितः । यत् । आऽअस्थात् । द्वे इति । रूपे इति । कृणुते । रोचमानः ।
केतुऽमान् । उत्ऽयन् । सहमानः । रजांसि । विश्वाः । आदित्य । प्रऽवतः । वि । भासि ॥ २८ ॥

तन्द्रारहित सूर्य देव गमन करते समय जिस समय विश्राम करते हैं उस समय वह रोचमान सूर्य अपने दो रूपोंको करते हैं। हे आदित्य ! उदय होते हुए ध्वजा वाले आप सब प्रकृष्ट लोकों को दबाते हुए दमकते हैं ॥ २८ ॥

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।

महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि २९

बट् । महान् । असि । सूर्य । बट् । आदित्य । महान् । असि ।

महान् । ते । महतः । महिमा । त्वम् । आदित्य । महान् । असि २९

हे सूर्य ! आप महान् हैं, यह सत्य है । हे आदित्य ! आप महान् हैं यह सत्य है । आप महान्‌की महिमा भी महान् है, हे आदित्य ! आप महान् हैं ॥ २९ ॥

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे

रोचसे अप्स्व१न्तः ।

उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित्

रोचसे । दिवि । रोचसे । अन्तरिक्षे । पतङ्ग । पृथिव्याम् । रोचसे ।

रोचसे । अप्ऽसु । अन्तः ।

उभा । समुद्रौ । रुच्या । वि । आपिथ । देवः । देव । असि ।

महिषः । स्वःऽजित् ॥ ३० ॥

हे सूर्य देव ! आप द्यौमें दमकते हैं, अन्तरिक्षमें दमकते हैं आप पृथिवीमें दमकते हैं और जलके भीतर दमकते हैं, आप अपनी

कान्तिसे दोनों समुद्रोंको व्याप्त कर लेते हैं हे देव ! आप स्वर्गके जेता पूजनीय देव हैं ॥ ३० ॥ (१)

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।

विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥

अर्वाङ् । परस्तात् । प्रऽयतः । विऽअध्वे । आशुः । विपःऽचित् । पतयन् । पतङ्गः ।

विष्णुः । विऽचित्तः । शवसा । अधिऽतिष्ठन् । प्र । केतुना । सहते । विश्वम् । एजत् ॥ ३१ ॥

विद्वान् सूर्य देव दक्षिणगामी होते हुए शीघ्रतापूर्वक मार्गको लाँघते हैं, यह सूर्य देव व्यापक हैं, विशेष ज्ञानवान् हैं, बलपूर्वक अधिष्ठित होते हुए यह अपने ज्ञानसे सब चेष्टा-शील जगत्को दबा देते हैं ॥ ३१ ॥

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।

अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि

चित्रः । चिकित्वान् । महिषः । सुऽपर्णः । आऽरोचयन् । रोदसी इति । अन्तरिक्षम् ।

अहोरात्रे इति । परि । सूर्यम् । वसाने इति । प्र । अस्य । विश्वा ।

तिरतः । वीर्याणि ॥ ३२ ॥

पूजनीय ज्ञानवान् महिमामय सुन्दरतासे पतन (गमन) करने वाले सूर्य देव द्यावापृथिवी और अन्तरिक्षको दमकाते हैं, दिन और रात सूर्यका ही आश्रय लेते हैं, इसके वीर्य से ही सब पार जाते हैं ॥ ३२ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं शिशानोरंगमासः प्रवतो

रराणः ।

ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात्

प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥

तिग्मः । विऽभ्राजन् । तन्वम् । शिशानः । अरम्ऽगमासः । प्रऽवतः ।

रराणः ।

ज्योतिष्मान् । पक्षी । महिषः । वयःऽधाः । विश्वाः । आ ।

अस्थात् । प्रऽदिशः । कल्पमानः ॥ ३३ ॥

यह तिग्म (तीखे) सूर्य देव दमकते रहते हैं, शरीरको छीलते रहते हैं अर्थात् स्वच्छ करते रहते हैं, मनुष्योंको शब्द कराते हुए प्राप्त होते हैं, दमक वाले हैं, गमन करने वाले हैं, महिमामय हैं, अन्नको पुष्ट करने वाले हैं यह सब दिशाओंकी कल्पना करते हुए स्थित रहते हैं ॥ ३३ ॥

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य

उद्यन् ।

दिवाकरोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥

चित्रम् । देवानाम् । केतुः । अनीकम् । ज्योतिष्मान् । प्रऽदिशः । सूर्यः । उत्ऽयन् ।

दिवाऽकरः । अति । द्युम्नैः । तमांसि । विश्वा । अतारीत् । दुःऽइतानि । शुक्रः ॥ ३४ ॥

यह सूर्य देव देवताओंमें दर्शनीय हैं, देवताओंकी केतुरूप हैं, उदय होते हुए दिशाओंमें ज्योतिष्मान् रहते हैं अपने प्रकाशोंसे दिन कर देते हैं यह दमकते हुए सूर्य देव सकल अंधकारोंको और पापोंको दूर कर देते हैं ॥ ३४ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्ने ।

आ । अप्रात् । द्यावापृथिवी इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च ॥ ३५ ॥

यह जो किरणोंका पूजनीय समूह उदय हुआ है यह मित्र और वरुणदेवका चक्षु है अर्थात् ये देवता इस नेत्रसे ही देखते

हैं यह सूर्य देव स्थावर और जंगमजगत्की आत्मा हैं, इस प्रकार यह सर्वभूतानुप्रवेशी सूर्य देव द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष सबको ही व्याप्त कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

उच्चा। पतन्तम्। अरुणम्। सुऽपर्णम्। मध्ये। दिवः। तरणिम्। भ्राजमानम्।
पश्याम। त्वा। सवितारम्। यम्। आहुः। अजस्रम्। ज्योतिः। यत्। अविन्दत्। अत्रिः ॥ ३६ ॥

ऊपरको चलते हुए अरुण वर्ण वाले सुन्दर पतन वाले द्यौके मध्यमें गमन करते हुए आप सविता देवताको हम सदा देखें, ज्योतिःस्वरूप आपको आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक दुःखोंसे रहित अत्रि पाते हैं ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥

दिवः। पृष्ठे। धावमानम्। सुऽपर्णम्। अदित्याः। पुत्रम्। नाथऽकामः। उप। यामि। भीतः।
सः। नः। सूर्य। प्र। तिर। दीर्घम्। आयुः। मा। रिषाम। सुऽमतौ। ते। स्याम ॥ ३७ ॥

भयभीत हुआ मैं द्योमें दौड़ने वाले शोभन पतन वाले अदिति के पुत्र सूर्य देवकी प्रार्थना करता हुआ उनकी शरणमें जाता हूँ, ऐसे हे सूर्य देव ! आप हमको दीर्घायु दीजिये हम हिंसित न होवें और आपकी अनुग्रहात्मिका शोभन बुद्धिमें स्थिर रहें ३७

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ ३८ ॥

सहस्रऽअह्न्यम् । विऽयतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वःऽगम् ।

सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उपऽदद्य । सम्ऽपश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ ३८ ॥

इन स्वर्गको जाते हुए गमनशील पापनाशक सूर्यके दोनों (दक्षिणायन उत्तरायणरूप) पक्ष सहस्रों दिन तक भी नियमित ही रहते हैं। यह सब देवताओंको अपनेमें लीन कर सब प्राणियों को देखते हुए गमन किया करते हैं ॥ ३८ ॥

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥ ३९ ॥

रोहितः । कालः । अभवत् । रोहितः । अग्रे । प्रजाऽपतिः ।

रोहितः । यज्ञानाम् । मुखम् । रोहितः । स्वः । आ । अभरत् ३९

पहिले रोहित काल हुए थे और रोहित ही प्रजापति थे, रोहित ही यज्ञोंके मुख हैं और रोहित स्वर्गका भरण करते हैं ॥ ३९ ॥

रोहितो लोको अभवद् रोहितोत्यतपद् दिवम् ।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४० ॥

रोहितः । लोकः । अभवत् । रोहितः । अति । अतपत् । दिवम् ।
रोहितः । रश्मिऽभिः । भूमिम् । समुद्रम् । अनु । सम् । चरत् ४०

रोहितदेव दर्शनीय हैं और रोहित स्वर्गमें तपते हैं और रोहितदेव अपनी किरणोंसे समुद्र और भूमिमें विचरण करते हैं ४० (१०)

सर्वा दिशः समचरद् रोहितोधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥४१॥

सर्वाः । दिशः । सम् । अचरत् । रोहितः । अधिऽपतिः । दिवः ।
दिवम् । समुद्रम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । भूतम् । वि । रक्षति

स्वर्गके अधिपति रोहितदेव सब दिशाओंमें विचरण करते हैं, द्यौसे समुद्रमें विचरण करने हैं, यह सब प्राणियोंकी और भूमिकी रक्षा करते हैं ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥

आऽरोहन् । शुक्रः । बृहती । अतन्द्रः । द्वे इति । रूपे इति । कृणुते । रोचमानः ।

चित्रः । चिकित्वान् । महिषः । वातम्ऽमायाः । यावतः । लोकान् ।
अभि । यत् । विऽभाति ॥ ४२ ॥

ये तन्द्रारहित निर्मल सूर्य देव अपने अश्वों पर अपने दो रूपों को करते हैं, यह रोचमान हैं, पूजनीय हैं, महिमामय हैं, गमनको प्राप्त होते हैं और जितने लोक हैं उन सबको प्रकाशित करते हैं ४२

अभ्य१न्यदेति पर्यन्यदस्यतेहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः

अभि । अन्यत् । एति । परि । अन्यत् अस्यते । अहोरात्राभ्याम् ।
महिषः । कल्पमानः ।
सूर्यम् । वयम् । रजसि । क्षियन्तम् । गातुऽविदम् । हवामहे ।
नाधमानाः ॥ ४३ ॥

दिन और रात्रियोंसे पूजनीयरूपमें कल्पित इन सूर्यदेवका एक रूप सामने आता है और दूसरा चलता रहता है । हम प्रार्थना करके स्वर्गमार्गके लंभक अन्तरिक्षलोकमें निवास करने वाले सूर्यदेवका आह्वान करते हैं ॥ ४३ ॥

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥

पृथिवीऽपः । महिषः । नाधमानस्य । गातुः । अदब्धऽचक्षुः ।

परि । विश्वम् । बभूव ।

विश्वम् । सम्ऽपश्यन् । सुऽविदत्रः । यजत्रः । इदम् । शृणोतु ।

यत् । अहम् । ब्रवीमि ॥ ४४ ॥

पृथिवीका पालन करने वाले, महिमामय, प्रार्थना करने वालेके लंभक, अहीनदृष्टि सूर्यदेव विश्वके चारों ओर व्याप्त रहते हैं, वह विश्वको देखते रहते हैं, कल्याणमयी विद्या वाले और पूजनीय सूर्यदेव, मैं जो कुछ कहता हूँ उसको सुनें ॥ ४४ ॥

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्

परि द्यामन्तरिक्षम् ।

सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि

परि । अस्य । महिमा । पृथिवीम् । समुद्रम् । ज्योतिषा । विऽ-

भ्राजन् । परि । द्याम् । अन्तरिक्षम् ।

सर्वम् । सम्ऽपश्यन् । सुऽविदत्रः । यजत्रः । इदम् । शृणोतु । यत् ।

अहम् । ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

इनकी महिमा सर्वत्र फैली हुई है यह अपनी ज्योतिसे पृथिवी समुद्र द्यौ और अन्तरिक्ष सबमें व्याप्त हैं, सब (के कर्मों) को देखते हैं, शोभन विद्यासे सम्पन्न हैं, यष्टव्य (पूजनीय) हैं ऐसे सूर्यदेव जो कुछ मैं कहता हूँ उसको सुनें ॥ ४५ ॥

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म् ।
य॒ह्वा इ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ ४६ ॥

अबो॑धि । अ॒ग्निः । स॒म्ऽइधा॑ । जना॑नाम् । प्रति॑ । धे॒नुम्ऽइ॑व । आ॒ऽय॒तीम् । उ॒षस॑म् ।
य॒ह्वाःऽइ॑व । प्र । व॒याम् । उ॒त्ऽजिहा॑नाः । प्र । भा॒नवः॑ । सि॒स्र॒ते॒ । नाक॑म् । अच्छ॑ ॥ ४६ ॥

द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इति द्वितीयोनुवाकः ॥

धेनुकी समान आती हुई उषाके समय यह (सूर्यात्मक) अग्नि मनुष्योंकी समिधासे जाने गए हैं अर्थात् उषाके द्वारा सूर्यागमन को जानकर मनुष्य अग्निहोत्र करनेका उद्योग करते हैं तब साधारण प्राणी इनके उदय होनेको जानते हैं इनकी ऊपरको जाती हुई किरणें शीघ्रतासे स्वर्गकी ओर जाती हैं मैं भी उन सूर्य देव की शरणमें जाता हूँ ॥ ४६ ॥ (११)

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५०३) ॥
द्वितीय अनुवाक समाप्त

रोहितदेवताकम् एतत् सूक्तम् । रोहितः कश्चिद् देव उद्यत्सूर्यरूपः सूर्यस्य रोहितनामको यः प्रधानोश्वस्तद्रूपेण वा कल्पितः । तस्य परमैश्वर्यं रूपं त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशैकोनविंशेषु मन्त्रेषु द्रष्टव्यम् ॥

सांप्रदायिकास्तु एवं विनियुञ्जन्ति। तद्यथा।

आभिचारिके कर्मणि "य इमे द्यावापृथिवी" इत्यनुवाकेन पाशान् पदे दृश्यति विधानेन ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेनानुवाकेन रक्तशालिक्षीरौदनं संपात्याभिमन्त्र्य द्वेष्याय ददाति ॥

तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन आमपात्रस्योपरि द्वेष्याय हस्तप्रक्षालनं ददाति ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि अनेनानुवाकेन वृषभं संपातवन्तं कृत्वा शत्रोरभिमुखं विसृजति ॥

तथा उक्त एव कर्मणि अनेनानुवाकेन शत्रुप्रतिकृतिं मृन्मयीं कृत्वा पश्चाद् अग्नेः स्थाणौ बद्ध्वा तस्या मूर्ध्नि संपातान् आनयति ॥ "यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च" [६] इत्यृचा उदवज्रान् प्रहरति उक्तेन विधानेन ॥ "यो अन्नादो अन्नपतिः" [७] इत्यृचा उदकम् अभिमन्त्र्य द्वेष्यं मनसा चाध्यायन्नाचामति ॥

तद् उक्तं कौशिकेन। "समिद्धो अग्निः [१३. १. २८–३२] य इमे द्यावापृथिवी [१३. ३] अजैष्म [१६. ६] इत्यधिपाशान् आदधाति। पदेपदे पाशान् दृश्यति। अधिपाशान् बाधकाञ्छङ्कूस्तान् संलुप्य संनह्य भ्राष्ट्रेभ्यस्यति। अशिशिषोः क्षीरौदनादीनि त्रीणि। गर्तेष्वावन्तरेणावलेखनीं स्थाणौ निबध्य द्वादशरात्रं संपातान् अभ्यतिनयति। षष्ठ्योदवज्रान् प्रहरति सप्तम्याचामति" इति [कौ० ६. ३] ॥

यह सूक्त रोहित देवता वाला है। रोहित एक देव हैं जो उदय होते हुए सूर्यात्मक हैं या सूर्य के प्रधान अश्व भी रोहितदेव होसकते हैं। इनका वास्तविकरूप तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें और उन्नीसवें मन्त्रमें देखना चाहिये।

साम्प्रदायिक पुरुष इसका विनियोग इस प्रकार करते हैं, कि–

आभिचारिक कर्ममें "य इमे द्यावापृथिवी" अनुवाकसे विधानके अनुसार शत्रुके पैरोंको काटे।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस अनुवाकसे लाल मट्टीके चावलोंके दुग्ध-भातको सम्पातित और अभिमंत्रित करके शत्रुओंको देय।

इसी कर्ममें इस अनुवाकसे कच्चे पात्रके ऊपर शत्रुके हाथ धुलवावें।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस अनुवाकसे वृषभको सम्पातित करके शत्रुकी ओर छोड़े।

तथा वहाँ ही कर्ममें इस अनुवाकसे शत्रुकी मट्टीकी मूर्तिको बना कर फिर अग्निके स्थाणुमें बाँध कर उसके मस्तकमें सम्पातों को लावे। "यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च" इस छठी ऋचासे जलवज्रोंका प्रहार करे। और सातवीं ऋचासे जलको अभिमन्त्रित करके मन में शत्रुका ध्यान करता हुआ आचमन करे।

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, कि—"समिद्धो अग्निः [१३. १. २८–३२] य इमे द्यावापृथिवी [१३. ३] अजैष्म [१६. ६] इत्यधिपाशान् आदधाति। पदेपदे पाशान् बध्नाति। अधिपाशान् बाधकांश्छुरस्तान् संछुद्य संनह्य अष्ट्रेभ्यस्यति। प्रशिशिषोः क्षीरौदनादीनि त्रीणि। गर्तेष्वावन्तरेणावलेखनीं स्थाणौ निबध्य द्वादशरात्रं संपातान् अभ्यतिनयति। षष्ठ्योद-वज्राम् प्रहरति। सप्तम्याचामति" इति [कौ० ६. ३]॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते।

यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति

तस्य देवस्य । क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥

यः । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । जजान । यः । द्रापिम् । कृत्वा । भुवनानि । वस्ते ।
यस्मिन् । क्षियन्ति । प्रऽदिशः । षट् । उर्वीः । याः । पतङ्गः । अनु । विऽचाकशीति ।
तस्य । देवस्य ॥ क्रुद्धस्य । एतत् । आगः । यः । एवम् । विद्वांसम् । ब्राह्मणम् । जिनाति ।
उद् । वेपय । रोहित । प्र । क्षिणीहि । ब्रह्मऽज्यस्य । प्रति । मुञ्च । पाशान् ॥ १ ॥

जिन्होंने इस द्यावापृथिवीको प्रादुर्भूत किया है जो द्रापि करके भुवनोंको आच्छादन करते हैं, जिनमें छः उर्वियें और दिशाएँ निवास करती हैं कि जिन दिशाओंको सूर्य प्रकाशित करते हैं ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है । हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध दीजिये ॥ १ ॥

यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति

तस्य देवस्य०।०।० ॥ २ ॥

यस्मात्। वाताः। ऋतुऽथा। पवन्ते। यस्मात्। समुद्राः। अधि। विऽक्षरन्ति।

तस्य।०॥ २ ॥

जिस देवसे ऋतुके अनुसार वायु चलते हैं और जिसके प्रभाव से समुद्र बहते हैं ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ २ ॥

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा

तस्य०।०।० ॥ ३ ॥

यः। मारयति। प्राणयति। यस्मात्। प्राणन्ति। भुवनानि। विश्वा।

तस्य।०॥ ३ ॥

जो प्राणन कराते हैं अर्थात् मनुष्योंको जीवित रखते हैं और मनुष्योंको मारते हैं और जिनके प्रभाववश सब प्राणी श्वास प्रश्वास लेते हैं ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्य को कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ३ ॥

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं

यः पिपर्ति

तस्य०।०।० ॥ ४ ॥

यः। प्राणेन। द्यावापृथिवी इति। तर्पयति। अपानेन। समुद्रस्य।

जठरम्। यः। पिपर्ति।

तस्य।०॥ ४ ॥

जो प्राणके द्वारा द्यावापृथिवीको तृप्त करता है, अपानके द्वारा समुद्रके जठरका पालन करता है। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ४ ॥

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह

पङ्क्त्या श्रितः।

यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे

तस्य०।०।० ॥ ५ ॥

यस्मिन्। विऽराट्। परमेऽस्थी। प्रजाऽपतिः। अग्निः। वैश्वानरः।

सह। पङ्क्त्या। श्रितः।

यः। परस्य। प्राणम्। परमस्य। तेजः। आऽददे।

तस्य।०॥ ५ ॥

जिसमें विराट परमेष्ठी प्रजा अग्नि और वैश्वानर पंक्तिके साथ स्थित हैं जिसने उत्कृष्टके प्राणको और परमके तेजको ग्रहण कर लिया है। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्य को कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ५ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधिं श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।

यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत।

तस्यं ०।०।० ॥ ६ ॥

यस्मिन्। षट्। उर्वीः। पञ्च। दिशः। अधि। श्रिताः। चतस्रः। आपः। यज्ञस्य। त्रयः। अक्षराः।

यः। अन्तरा। रोदसी इति। क्रुद्धः। चक्षुषा। ऐक्षत।

तस्य।०॥ ६ ॥

जिसमें छः उर्वियें, पाँच दिशायें, चार जल, यज्ञके तीन अक्षर अधिश्रित हैं। जो क्रोधमें भर कर द्यावापृथिवीके मध्यमें नेत्रसे देखता है ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्य को कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ६ ॥

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।

भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः

तस्यं ०।०।०॥ ७ ॥

यः। अन्नऽअदः। अन्नऽपतिः। बभूव। ब्रह्मणः। पतिः। उत। यः।

भूतः। भविष्यत्। भुवनस्य। यः। पतिः।

तस्य।०॥ ७ ॥

जो अन्नके पालक और अन्नके भक्षक होते हैं जो ब्रह्मणस्पति हैं जो भूत और भविष्यके भुवनके स्वामी हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ७ ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते

तस्यं ०।०।० ॥ ८ ॥

अहोरात्रैः। विऽमितम्। त्रिंशत्ऽअङ्गम्। त्रयःऽदशम्। मासम्।

यः। निःऽमिमीते।

तस्य।० ॥ ८ ॥

जिन्होंने दिन रातोंसे तीस अंगोंका समूह (मास) बनाया है जो तेरहवें (लौंद-अधिक) मासका निर्माण करते हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ८ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति

त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य

तस्य ०।०।० ॥ ६ ॥

कृष्णम् । निऽयानम् । हरयः । सुऽपर्णाः । अपः । वसानाः ।

दिवम् । उत् । पतन्ति ।

ते । आ । अववृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य ।

तस्य ।० ॥ ६ ॥

सूर्यदेवकी शोभन पतन वाली रसका हरण करने वाली किरणें जलसे अपनेको ढकती हुई अर्थात् जलको सोखती हुई द्यौमें जाती हैं फिर दक्षिणायनमें वे जलके साथ रहनेके स्थानमे लौटती हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ६ ॥

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं

चित्रभानु ।

यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकं

तस्य ०।०।० ॥ १० ॥

यत् । ते । चन्द्रम् । कश्यप । रोचनऽवत् । यत् । सम्ऽहितम् ।

पुष्कलम् । चित्रऽभानु ।

यस्मिन् । सूर्याः । आर्पिताः । सप्त । साकम् ।

तस्य ।० ॥ १० ॥

हे कश्यप ! आपका जो रोचनासम्पन्न आन्हादक संहित पुष्कल चित्रभानु है और जिसमें सात सूर्य साथ अर्पित हैं । ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मण को मारता है । हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये, उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १० ॥ (१२)

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात् ।

ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादं

तस्य ०।०।० ॥ ११ ॥

बृहत् । एनम् । अनु । वस्ते । पुरस्तात् । रथम्ऽतरम् । प्रति ।

गृह्णाति । पश्चात् ।

ज्योतिः । वसाने इति । सदम् । अप्रऽमादम् ।

तस्य ।० ॥ ११ ॥

बृहद् अनुकूल रहकर इसको आच्छादन करता है और रथन्तर इसको पीछेसे ग्रहण करता है ये दोनों प्रमाद रहित होकर सदा ज्योतियोंसे आच्छादित रहते हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहित-देव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ ११ ॥

बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीची ।

यद् रोहितमजनयन्त देवास्-

तस्य ०।०।० ॥ १२ ॥

बृहत् । अन्यतः । पक्षः । आसीत् । रथम्ऽतरम् । अन्यतः । सबले

इति सऽबले । सध्रीची इति ।

यत् । रोहितम् । अजनयन्त । देवाः ।

तस्य ।० ॥ १२ ॥

जब देवताओंने रोहितको प्रादुर्भूत किया तो बृहत् एक ओर से पक्ष हुआ दूसरी ओरसे रथन्तर हुआ ये दोनों बली और सध्रीची हैं । ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है । हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशों को डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १२ ॥

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।

स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा

तपति मध्यतो दिवं

तस्य०।०।० ॥ १३ ॥

सः । वरुणः । सायम् । अग्निः । भवति । सः । मित्रः । भवति ।

प्रातः । उत्ऽयन् ।

सः । सविता । भूत्वा । अन्तरिक्षेण । याति । सः । इन्द्रः ।

भूत्वा । तपति । मध्यतः । दिवम् ।

तस्य ।० ॥ १३ ॥

वह (पापनिवारक) वरुण सायंकालके समय अग्नि होता है और वह प्रातःकालके समय उदय होता हुआ मित्र (सूर्य) होता है, वह सविता बनकर अन्तरिक्षके मध्यमेंको जाता है और वह इन्द्र होकर स्वर्गके मध्यमें तपता है। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १३ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा
तस्य०।०।० ॥ १४ ॥

सहस्रऽअह्न्यम् । विऽयतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वःऽगम् ।
सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उपऽदद्य । सम्ऽपश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ।
तस्य ।० ॥ १४ ॥

इस स्वर्गको जाते हुए गमनशील पापनाशक सूर्यके दोनों (उत्तरायण दक्षिणायनरूप) पक्ष सहस्रों दिन तक भी नियमित ही रहते हैं, यह सब देवताओंको अपनेमें लीन करके सब प्राणियोंको देखते हुए गमन क्रिया करते हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देव

का ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है । हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १४ ॥

अयं स देवो अप्स्व१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।

य इदं विश्वं भुवनं जजान

तस्य०।०।० ॥ १५ ॥

अयम् । सः । देवः । अप्ऽसु । अन्तः । सहस्रऽमूलः । पुरुऽशाकः । अत्त्रिः ।

यः । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । जजान ।

तस्य ।० ॥ १५ ॥

जिन्होंने इस सकल भुवनको प्रकट किया है, वह यह देव जल के भीतर रहते हैं, यह सहस्रोंकी मूल हैं, पुरुशाक हैं और आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों दुःखोंसे से शून्य अत्रि हैं । ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है । हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये इसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १५ ॥

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।

यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति

तस्य०।०।० ॥ १६ ॥

शुक्रम् । वहन्ति । हरयः । रघुऽस्यदः । देवम् । दिवि । वर्चसा ।

भ्राजमानम् ।

यस्य । ऊर्ध्वाः । दिवम् । तन्वः । तपन्ति । अर्वाङ् । सुऽवर्णैः ।

पटरैः । वि । भाति ।

तस्य ।० ॥ १६ ॥

स्वर्गमेंअपने दमकते हुए तेजसे दमकते हुए सूर्यदेवको शीघ्रगामी रसहरणशील किरणें निर्मल रसको पहुँचाती हैं, जिन सूर्यदेवके ऊपरके शरीररूप किरणें स्वर्गको तपाते हैं और जो गमनशील सुन्दर वर्णकी किरणोंसे नीचेको जाकर प्रकाश फैलाते हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १६ ॥

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति

प्रजानन्तः ।

यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति

तस्य०।०।० ॥ १७ ॥

येन । आदित्यान् । हरितः । सम्ऽवहन्ति । येन । यज्ञेन । बहवः ।

यन्ति । प्रऽजानन्तः ।

यत् । एकम् । ज्योतिः । बहुऽधा । विऽभाति ।

तस्य ।० ॥ १७ ॥

जिस देवताके प्रभाववश सूर्यदेवके घोड़े सूर्यदेवको सवारी देते हैं और जिनकी महिमासे विद्वान् पुरुष यशको प्राप्त होते हैं और जो एक ज्योति होने पर भी अनेक प्रकारसे प्रकाशित होता है। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १७ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि
तस्थुस्तस्य०।०।० ॥ १८ ॥

सप्त। युञ्जन्ति। रथम्। एकऽचक्रम्। एकः। अश्वः। वहति। सप्तऽनामा।
त्रिऽनाभि। चक्रम्। अजरम्। अनर्वम्। यत्र। इमा। विश्वा। भुवना। अधि। तस्थुः।
तस्य।०॥ १८॥

सर्पणशील किरणें इन अन्य ज्योतियोंको निस्तेज करके अकेले ही अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले एकचक्र सूर्यरूप रथमें लग जाती हैं और यह मुख्य व्यापक सूर्य सप्त ऋषियोंसे नमन पाते हुए विचरण किया करते हैं और यह सूर्य ग्रीष्म वर्षा हेमन्त नामक तीन ऋतुओंके चक्र वाले अजर अनाश्रित कालको करते रहते हैं, इसी कालमें सब भुवन ठहरे हुए हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको

मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १८ ॥

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा

तस्य०।०।० ॥ १९ ॥

अष्टऽधा । युक्तः । वहति । वह्निः । उग्रः । पिता । देवानाम् । जनिता । मतीनाम् ।

ऋतस्य । तन्तुम् । मनसा । मिमानः । सर्वाः । दिशः । पवते । मातरिश्वा ।

तस्य ।० ॥ १९ ॥

युक्त वन्हि आठ प्रकारसे वहते हैं यह उग्र हैं, देवताओंके पालक और बुद्धियोंके प्रकट करने वाले हैं और पवनदेव जलके तन्तुका मनसे मान करते हुए सब दिशाओंको पवित्र करते हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्य को कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ १९ ॥

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे

तस्य०।०।० ॥ २० ॥

सम्यञ्चम् । तन्तुम् । प्रऽदिशः । अनु । सर्वाः । अन्तः । गायत्र्याम् । अमृतस्य । गर्भे ।

तस्य ।० ॥ २० ॥

गायत्रीके भीतर, अमृतके गर्भमें और सब दिशाओंमें सम्पूजित जलतन्तुको (करते हुए वायुदेव पवित्र करते हैं) ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही यह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ २० ॥ (१३)

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।

विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म

तस्य०।०।० ॥ २१ ॥

निऽम्रुचः । तिस्रः । विऽउषः । ह । तिस्रः । त्रीणि । रजांसि । दिवः । अङ्ग । तिस्रः ।

विद्म । ते । अग्ने । त्रेधा । जनित्रम् । त्रेधा । देवानाम् । जनि-मानि । विद्मः ।

तस्य ।० ॥ २१ ॥

हे अग्ने ! हम तेरे तीन प्रकारके प्रादुर्भावोंको जानते हैं तेरी विशेषरूपसे भस्म करने वाली तीन गतियें हैं (उनको हम जानते हैं) और तीनों लोकोंको तथा स्वर्गके तीनों भेदोंको भी हम जानते हैं, ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशों को डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ २१ ॥

वि य औ॒र्णोत् पृ॒थि॒वीं जाय॑मान॒ आ स॑मु॒द्रमद॑धाद॒न्तरि॑क्षे

तस्य॑०।०।० ॥ २२ ॥

वि । यः । औ॒र्णोत् । पृ॒थि॒वीम् । जाय॑मानः । आ । स॒मु॒द्रम् । अद॑धात् । अ॒न्तरि॑क्षे ।

तस्य॑ ।० ॥ २२ ॥

जो प्रादुर्भूत होकर पृथिवीको आच्छादित कर लेता है और जलको अन्तरिक्ष तकमें स्थापित कर देता है। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशों से बाँध लीजिये ॥ २२ ॥

त्वम॑ग्ने॒ क्रतु॑भिः के॒तुभि॑र्हि॒तो॒३॒ऽर्कः समि॑द्ध॒ उद॑रोचथा दि॒वि ।

किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवास्-
तस्यं ०।०।० ॥ २३ ॥

स्वम् । अग्ने । क्रतुऽभिः । केतुऽभिः । हितः । अर्कः । सम्ऽइद्धः । उत् । अरोचथाः । दिवि ।
किम् । अभि । आर्चन् । मरुतः । पृश्निऽमातरः । यत् । रोहितम् । अजनयन्त । देवाः ।
तस्य ।० ॥ २३ ॥

हे अग्ने ! आप ज्ञानमय यज्ञोंसे स्थापित किये जाते हैं और भली प्रकार दीप्त होकर स्वर्गमें अर्चनसाधनरूपमें दीप्त होते हैं क्या पृश्निमातृक मरुतोंने आपका अर्चन किया था जो देवताओंने रोहित का साक्षात्कार किया है ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही यह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहित-देव ! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये, उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रतिपाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्-
तस्यं ०।०।० ॥ २४ ॥

यः । आत्मऽदाः । बलऽदाः । यस्य । विश्वे । उपऽआसते । प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः ।

यः । अस्य । ईशे । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः ।

तस्य ।० ॥ २४ ॥

जो आत्मबल देने वाले हैं, बलप्रदान करने वाले हैं, सब देवता जिनके प्रशासनकी उपासना करते हैं, और जो इन दो पैर वाले मनुष्य आदिके और चार पैर वाले गौ घोड़े आदिके ईश्वर हैं। ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव ! आप ऐसे ब्रह्मज्य को कँपाइये, उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये ॥ २४ ॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।

चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानम्-

तस्य देवस्य । क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।

उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥

एकऽपात् । द्विऽपदः । भूयः । वि । चक्रमे । द्विऽपात् । त्रिऽपादम् । अभि । एति । पश्चात् ।

चतुःऽपात् । चक्रे । द्विऽपदाम् । अभिऽस्वरे । सम्ऽपश्यन् । पङ्क्तिम् । उपऽतिष्ठमानः ।

तस्य। देवस्य॥ क्रुद्धस्य। एतत्। आगः। यः। एवम्।
विद्वांसम्। ब्राह्मणम्। जिनाति।

उत्। वेपय। रोहित। प्र। क्षिणीहि। ब्रह्मज्यस्य। प्रति। मुञ्च।
पाशान्॥ २५॥

एकपाद् द्विपदोंमें विक्रमण करता है, फिर द्विपाद् त्रिपदोंको प्राप्त होता है, द्विपाद् फिर षट्पदोंमें विक्रमण करता है वे एकपद्के तत्त्व (ब्रह्मपद) की उपासना करते हैं, ऐसे क्रोधमें भरे हुए देवका ही वह अपराध करता है जो विद्वान् ब्राह्मणको मारता है। हे रोहितदेव! आप ऐसे ब्रह्मज्यको कँपाइये, उसको क्षीण करिये और ब्रह्मज्यके प्रति पाशोंको डालिये अर्थात् उसको पाशोंसे बाँध लीजिये॥ २५॥

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः॥ २६॥

कृष्णायाः। पुत्रः। अर्जुनः। रात्र्याः। वत्सः। अजायत।
सः। ह। द्याम्। अधि। रोहति। रुहः। रुरोह। रोहितः २६

तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥
इति तृतीयोऽनुवाकः॥

कृष्णा रात्रिका पुत्र अर्जुन वत्स (सूर्य) हुआ वह द्यौमें आरोहण करता है वह रोहित रोहणशील पदार्थों पर आरोहण करता है॥ २६॥ (१४)

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५०४)
तृतीय अनुवाक समाप्त

एतदपि रोहितदेवताकम् । विनियोगस्तु "स एति" इत्यनुवाकं जपति स्वर्गकाम इति विनियोगमालायाम् ॥

यह रोहित देवताका सूक्त है। विनियोगमालामें कहा है कि- स्वर्गकी इच्छा वाला पुरुष इसका जप करे।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ।

सः । एति । सविता । स्वः । दिवः । पृष्ठे । अवऽचाकशत् ॥१॥

यह सूर्यदेव द्युपृष्ठमें दमकते हुए आरहे हैं ॥ १ ॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥

रश्मिऽभिः । नभः । आऽभृतम् । महाऽइन्द्रः । एति । आऽवृतः

इन्होंने अपनी किरणोंसे आकाशको आच्छादित कर लिया है, यह परमेश्वरसम्पन्न किरणोंसे सम्पन्न हुए आरहे हैं ॥२॥

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् । ॥३॥

सः । धाता । सः । विऽधर्ता । सः । वायुः । नभः । उत्ऽश्रितम् ।

वह धाता हैं विधर्ता हैं वह वायु हैं और वह उच्छ्रित आकाश हैं॥

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः । ॥ ४ ॥

सः । अर्यमा । सः । वरुणः । सः । रुद्रः । सः । महाऽदेवः ।

वह अर्यमा हैं, रुद्र हैं, महादेव हैं और वरुण हैं ॥ ४ ॥

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः । ॥५॥

सः । अग्निः । सः । ऊं इति । सूर्यः । सः । ऊं इति । एव । महाऽयमः ॥ ५ ॥

वही अग्नि सूर्य हैं और वही महायम हैं ॥ ५ ॥

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश ॥ ६॥

तम् । वत्साः । उप । तिष्ठन्ति । एकऽशीर्षाणः । युताः । दश ।६

उनकी ही एक शिर वाले दश युक्त वत्स उपासना करते हैं६

पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति ।७

पश्चात् । प्राञ्चः । आ । तन्वन्ति । यत् । उत्ऽएति । वि । भासति ।

उनको पीछेसे पूजनीय किरणें घेर लेती हैं, वह उदय होते हैं तो दमकते हैं ॥ ७ ॥

तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः ॥ ८ ॥

तस्य । एषः । मारुतः । गणः । सः । एति । शिक्याऽकृतः ॥८॥

उनका ही यह छींकेका आकार मारुतगण आरहा है ॥८॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ ९ ॥

रश्मिऽभिः । नभः । आऽभृतम् । महाऽइन्द्रः । एति । आऽवृतः ९

इन सूर्यदेवने अपनी किरणोंसे आकाशको आच्छादित कर लिया है यह महेन्द्रसे किरणोंसे घिरे हुए आरहे हैं ॥ ९ ॥

तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिताः ॥ १० ॥

तस्य । इमे । नव । कोशाः । विष्टम्भाः । नवऽधा । हिताः १०

उनके यह विष्टंभ नौ कोश नौ प्रकारसे स्थित हैं ॥ १० ॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥११॥

सः । प्रऽजाभ्यः । वि । पश्यति । यत् । च । प्राणति । यत् । च । न ॥ ११ ॥

वह जंगम और स्थावर सब प्रजाओंको देखते हैं—सबके साक्षी हैं ॥ ११ ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

तम् । इदम् । निऽगतम् । सहः । सः । एषः । एकः । एकऽवृत् । एकः । एव ॥ १२ ॥

यह सब उसको ही प्राप्त होता है, वह असाधारण एकवृत् एक ही है ॥ १२ ॥

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥

एते । अस्मिन् । देवाः । एकऽवृतः । भवन्ति ॥ १३ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

ये सब देवता इनमें एकवृत् (इन एकका ही वरण करने वाले) होते हैं ॥ १३ ॥ (१५)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम पर्यायसूक्त समाप्त (५०५)

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । अम्भः । च । नभः । च । ब्राह्मण-ऽवर्चसम् । च अन्नम् । च । अन्नऽअद्यम् । च ॥ १ ॥

(उसको) कीर्ति यश जल आकाश ब्रह्मतेज अन्न और अन्नको पचानेकी शक्ति (प्राप्त होती है) ॥ १ ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २ ॥

यः । एतम् । देवम् । एकऽवृतम् । वेद ॥ २ ॥

जो इन एकवृत् देवको जानता है ॥ २ ॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।० ॥ ३ ॥

न । द्वितीयः । तृतीयः । चतुर्थः । न । अपि । उच्यते ।० ॥ ३ ॥

जो इन एकवृत् देवको जानता है वह दूसरा तीसरा वा चौथा नहीं कहलाता है ॥ ३ ॥

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।० ॥ ४ ॥

न । पञ्चमः । न । षष्ठः । सप्तमः । न ।० ॥ ४ ॥

जो इन एकवृत् देवको जानता है वह पाँचवाँ छठा वा सातवाँ नहीं कहलाता है ॥ ४ ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।० ॥ ५ ॥

न । अष्टमः । न । नवमः । दशमः । न । अपि । उच्यते ।० ५

जो इन एकवृत् देवको जानता है वह आठवाँ नवाँ वा दशम नहीं कहलाता है (किन्तु अप्रतिम रहता है) ॥ ५ ॥

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ।०

सः । सर्वस्मै । वि । पश्यति । यत् । च । प्राणति । यत् । च । न ।०

जो इन एकवृत् देवको जानता है वह जंगम और स्थावर सबको देखता है ॥ ६ ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।० ७

तम् । इदम् । निऽगतम् । सहः । सः । एषः । एकः । एकऽवृत् ।

एकः । एव ।० ॥ ७ ॥

यह सब उसको ही प्राप्त होता है वह असाधारण एकवृत् एक ही है ॥ ७ ॥

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।० ॥ ८ ॥

सर्वे । अस्मिन् । देवाः । एकऽवृतः । भवन्ति ।० ॥ ८ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

इसमें सब देवता एकवृत् होते हैं ॥ ८ ॥ (१६)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय पर्यायसूक्त समाप्त (५०६)

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मण-वर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ।० ॥ १ ॥

ब्रह्म । च । तपः । च । कीर्तिः । च । यशः । च । अम्भः । च । नभः । च । ब्राह्मणऽवर्चसम् । च । अन्नम् । च । अन्नऽअद्यम् । च ।०

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च

भूतम् । च । भव्यम् । च । श्रद्धा । च । रुचिः । च । स्वःऽगः । च । स्वधा । च ॥ २ ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ ३ ॥

यः । एतम् । देवम् । एकऽवृतम् । वेद ॥ ३ ॥

ब्रह्म तप कीर्ति यश जल नभ ब्रह्मतेज अन्न और अन्नको

पचानेकी शक्ति, भूत भव्य श्रद्धा रुचि स्वर्ग स्वधा (ये उसको प्राप्त होते हैं) जो इन एकवृत् देवको जानता है ॥ १-३ ॥

स एव मृत्युः सो॒३मृतं सो॒३भ्वं१ स रक्षः ॥ ४ ॥

स । एव । मृत्युः । सः । अमृतम् । सः । अभ्वम् । सः । रक्षः ४

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोनु संहितः

सः । रुद्रः । वसुऽवनिः । वसुऽदेये । नमःऽवाके । वषट्ऽकारः ।

अनु । सम्ऽहितः ॥ ५ ॥

तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ॥ ६ ॥

तस्य । इमे । सर्वे । यातवः । उप । प्रऽशिषम् । आसते ॥ ६ ॥

वही मृत्यु है, अमृत है, अभ्व है और वही राक्षस है, वही रुद्र है, वसुदेयमें वसुवनि है नमोवाकमें अनुसंहित वषट्कार है, सब पीड़ाकारक उसकी ही आज्ञामें चलते हैं ॥ ४-६ ॥

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ ७ ॥

तस्य । अमू । सर्वा । नक्षत्रा । वशे । चन्द्रमसा । सह ॥ ७ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

चन्द्रमा सहित ये सब नक्षत्र उसके ही वशमें रहते हैं ७ (१७)

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (५०७)

स वा अह्नोजायत तस्मादहरजायत ॥ १ ॥

सः । वै । अह्नः । अजायत । तस्मात् । अहः । अजायत ॥ १ ॥

वह दिनसे प्रादुर्भूत हुए और दिन उनसे प्रादुर्भूत हुआ है १

स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥२॥

०वै । रात्र्याः । अजायत । तस्मात् । रात्रिः । अजायत ॥ २ ॥

वह रात्रिसे प्रादुर्भूत हुए और रात्रि उनसे प्रादुर्भूत हुई है २

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ३

०वै । अन्तरिक्षात् । अजायत । तस्मात् । अन्तरिक्षम् । अजायत

वह अन्तरिक्षसे प्रकट हुए और अन्तरिक्ष उनसे प्रकट हुआ है

स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ४ ॥

०वै । वायोः । अजायत । तस्मात् । वायुः । अजायत ॥ ४ ॥

वह वायुसे प्रकट हुए और वायु उनसे प्रकट हुआ है ॥ ४ ॥

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ५ ॥

०वै । दिवः । अजायत । तस्माद् । द्यौः । अधि । अजायत ५

वह द्यौसे प्रादुर्भूत हुए और द्यौ उनसे प्रादुर्भूत हुआ है ॥५॥

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्मात् दिशोऽजायन्त ॥ ६ ॥

०वै । दिक्ऽभ्यः । अजायत । तस्मात् । दिशः । अजायन्त ॥६॥

वह दिशाओंसे प्रकट हुए और दिशाएँ उनसे प्रादुर्भूत हुई हैं ६

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ७ ॥

०वै । भूमेः । अजायत । तस्मात् । भूमिः । अजायत ॥ ७ ॥

वह भूमिसे प्रकट हुए और भूमि उनसे प्रकट हुई है ॥ ७ ॥

स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ८ ॥

०वै । अग्नेः । अजायत । तस्मात् । अग्निः । अजायत ॥ ८ ॥

वह अग्निसे प्रकट हुए और अग्नि उनसे प्रकट हुई है ॥ ८ ॥

स वा अद्भ्यो॑ऽजायत तस्मादापो॑ऽजायन्त ॥ ९ ॥

०वै । अत्ऽभ्यः । अजायत । तस्मात् । आपः । अजायन्त ९

वह जलोंसे प्रकट हुए हैं और जल उनसे प्रकट हुआ है ॥ ९ ॥

स वा ऋग्भ्यो॑ऽजायत तस्मादृचो॑ऽजायन्त ॥ १० ॥

०वै । ऋक्ऽभ्यः । अजायत । तस्मात् । ऋचः । अजायन्त १०

वह ऋचाओंसे प्रादुर्भूत होते हैं और ऋचाएँ उनसे प्रादुर्भूत होती हैं ॥ १० ॥

स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञो॑ऽजायत ॥ ११ ॥

सः । वै । यज्ञात् । अजायत । तस्मात् । यज्ञः । अजायत ॥११॥

वह यज्ञसे प्रकट हुए हैं और यज्ञ उनसे प्रादुर्भूत होता है ११

स यज्ञस्तस्य॑ यज्ञः स यज्ञस्य शिर॑स्कृतम् ॥ १२ ॥

सः । यज्ञः । तस्य । यज्ञः । सः । यज्ञस्य । शिरः । कृतम् १२

वह यज्ञ हैं, यज्ञ उनका है और वह यज्ञके शिरोरूप हैं ॥१२॥

स स्तनयति स वि द्यो॑तते स उ अश्मा॑नमस्यति

सः । स्तनयति । सः । वि । द्योतते । सः । ऊँ इति । अश्मानम् ।
अस्यति ॥ १३ ॥

वही कड़कते हैं, वही दमकते हैं वही ओलोंको फेंकते हैं १३

पापाय॑ वा भद्राय॑ वा पुरुषायासु॑राय वा ॥ १४ ॥

पापाय । वा । भद्राय । वा । पुरुषाय । असुराय । वा ॥ १४ ॥

यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः

यत् । वा । कृणोषि । ओषधीः । यत् । वा । वर्षसि । भद्रया ।

यत् । वा । जन्यम् । अवीवृधः ॥ १५ ॥

आप पापीके लिये कल्याणकर्ता पुरुषके लिये साधारण पुरुष के लिये वा असुरके लिए जो औषधियोंको करते हैं, कल्याणकारक दृष्टि करके बरसते हैं वा उनकी उत्पत्तिको बढ़ाते हैं ॥१४॥१५॥

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ १६ ॥

तावान् । ते । मघऽवन् । महिमा । उपो इति । ते । तन्वः । शतम्

हे मघवन् ! ऐसी आपकी महिमा है सैंकड़ों शरीर आपके पास ही हैं ॥ १६ ॥

उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ १७ ॥

उपो इति । ते । बध्वे । बद्धानि । यदि । वा । असि । निऽअर्बुदम्

इति चतुर्थेनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

आप अनन्त हैं अतः अपने समीपमें है सैंकड़ों बद्धोंको बाँध लेते हैं ॥ १७ ॥ (१८)

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५०८) ॥

भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ १ ॥

भूयान् । इन्द्रः । नमुरात् । भूयान् । इन्द्र । असि । मृत्युऽभ्यः १

इन्द्र नमुरसे श्रेष्ठ हैं और हे इन्द्र ! आप मृत्युके कारणोंसे भी श्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ २ ॥

भूयान् । अरात्याः । शच्याः । पतिः । त्वम् । इन्द्र । असि । विऽभूः । प्रऽभूः । इति । त्वा । उप । आस्महे । वयम् ॥ २ ॥

शचीपति दानमतिबंधिका शक्तिसे बढ़कर हैं, हे इन्द्र ! आप विभु और प्रभु हैं, इस प्रकार हम आपकी उपासना करते हैं॥२॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ३ ॥

नमः । ते । अस्तु । पश्यत । पश्य । मा । पश्यत ॥ ३ ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४ ॥

अन्नऽअद्येन । यशसा । तेजसा । ब्राह्मणऽवर्चसेन ॥ ४ ॥

आपको प्रणाम है आप मुझको यश तेज और ब्रह्मतेजसे देखिये, देखिये ॥ ३ ॥ ४ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्।०।० ५

अम्भः । अमः । महः । सहः । इतिः ।० ॥ ५ ॥

जल अम मह सह इस रूपमें हम आपकी उपासना करते हैं ०५

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ६ ॥

अम्भः । अरुणम् । रजतम् । रजः । सहः । इति ।० ॥ ६ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

अंभ अरुण रजत रज और सहरूपमें आपकी उपासना करते हैं अतः आप हमको अन्न आदिसे देखिये आपको प्रणाम है ॥ ६ ॥ (१८)

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम पर्याय सूक्त समाप्त (५०९)

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥१॥

उरुः । पृथुः । सुऽभूः । भुवः । इति ।० ॥ १ ॥

उरु पृथु और सुभूर्भुवः-इस प्रकार हम आपकी उपासना करते हैं ० ॥ १ ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।०।०

प्रथः । वरः । व्यचः । लोकः । इति ।० ॥ २ ॥

प्रथ वर व्यच और लोक-इस प्रकार हम आपकी उपासना करते हैं ० ॥ २ ॥

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम्

भवत्ऽवसुः । इदत्ऽवसुः । संयत्ऽवसुः । आयत्ऽवसुः । इति । त्वा । उप । आस्महे । वयम् ॥ ३ ॥

संयद्वसु भवद्वसु इदद्वसु और आयद्वसु-इस प्रकार हम आपकी उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४ ॥

नमः । ते । अस्तु । पश्यत । पश्य । मा । पश्यत ॥ ४ ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५ ॥

अन्न॑ऽअद्येन । यश॑सा । तेज॑सा । ब्राह्मणऽवर्च॒सेन ॥ ५ ॥

चतुर्थेऽनुवाके षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

चतुर्थोऽनुवाकः ॥

इति त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

आपके लिये प्रणाम है मुझको देखिये, अन्नसे यशसे तेजसे और ब्रह्मवर्चस्से (सम्पन्न करनेके लिये) मुझको देखिये।४।५। (२०

चौथे अनुवाकमें छठा पर्याय सूक्त समाप्त (५१०)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका त्रयोदश काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

संपादक ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्माकृत

भाषानुवादसहित

समाप्त

मिलने का पता—

सनातनधर्म-यन्त्रालय,

मुरादाबाद

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

चतुर्दशं-काण्डम्

स्वाध्यायभाष्य तथा अनुवादसहित

विवाहपरमेतत् काण्डम् । तत्र वक्ष्यमाणानि कर्माणि भवन्ति। तेषु तत्तन्मन्त्रविनियोगाः सूत्रकारेण प्रायोऽन्वर्थमेव कृतास्ते कौशिके दशमेऽध्याये विस्तरेण प्रपञ्चितास्तत्रैव द्रष्टव्याः । अत्र तु कर्मक्रमस्य मन्त्रवद् दिग्दर्शनम् ॥

सूक्तारम्भे सूर्या नाम या सूर्यरूपा सवितृपुत्री देवी तस्या विवाहस्य कथा वर्णिता ॥

कर्मक्रमस्तु यथा वक्ष्यते ।

विवाहः । स कुमार्याः पितृगृहे । सत्येनोत्तभितेति षोडश पूर्वापरमिति १. २३, २४ द्वे इत्यष्टादशभिराज्यहोमः । आगमकुशरं कुमारीमाशयति ॥ हस्तगृहीतशरावसंपुटं सानुचरं कंचिद् वरं प्रति प्रेषयति । १. ३१ ॥ ब्राह्मणप्रेषणम् । १. ३१ ॥ कुमारीरक्षार्थं पात्रप्रेषणम् । १. ३४ ॥ उदकग्रहणार्थं व्रजनम् ॥ अप्सु लोष्टं प्रक्षिपति । १. ३७ ॥ अवगाहनम् । १. ३८ ॥ उदकघटपूरणम् । १. ३८ ॥ उदकघटम् उदाहाराय प्रयच्छति । १. ३९ ॥ शाखायां घटनिधानम् ॥ तेनोदकेन सर्वोदकार्यकरणम् ॥ आज्यहोमः । १. १७ ॥ कुमारीकेशविचर्तनम् । १. ५८ ॥ ईशानकोणे तिष्ठन्त्याः कुमार्या उष्णोदकेन आसावनम् । २. ६५ ॥ शीतोदकेन सेचनम् । १. ३५, १. ४३ ॥ वाससाङ्गानि प्रमार्ष्टि ॥ तत्

कुमारी पालाय प्रयच्छति । २. ६६, ६७ ॥ तद्वासस्तुम्बरदण्डेन गृहीत्वा गोपादे प्रक्षिपति ॥ अहतेन वाससा तामाच्छादयति । १. ४५, ५३ ॥ यज्ञोपवीतवद्वाधूयं वस्त्रं बध्नाति ॥ केशप्रलेखनम् । २. ६८ ॥ योक्त्रस्य कटिप्रदेशे बन्धनम् । १. ४२, २. ७० ॥ ज्येष्ठीमधुघ्ने रक्तसूत्रेण बन्धनम् अनामिकायाम् ॥ कन्यादानाद् अनन्तरम् उपाध्यायः कुमारीं हस्ते गृहीत्वा कौतुकगृहान्निर्णयति । शाखायां युगं धारयति । १. २० ॥ दक्षिणतस्तत् पुरुषो धारयति कन्याया ललाटप्रदेशे हिरण्यबन्धनम् । १. ४०, ४१ । तदुपरि युगच्छिद्रादुदकनिनयनम् ॥ कुमार्या अश्मारोहणम् । १. ४७ ॥ तया लाजहोमः । २. ६३ ॥ वरेण पाणिग्रहणम् । १.४८–५२ ॥ वरः कन्याम् अग्निं त्रिः परिणयति । १. ३९॥ सप्तलेखालेखनम्॥ तासु वधूमुत्क्रामयति ॥ तल्प उपवेशयति । २. ३१, १. ६० ॥ उपविष्टायास्तस्याः पादौ सुहृत् प्रक्षालयति ॥ कुमारीकटिवेष्टितं योक्त्रं मोचयति । १. ५७, ५८ ॥ तद्योक्त्रे भृत्याः संरभन्ते । ये जयन्ति ते बलीयांसो मन्यन्ते ॥ वधूः सर्वौषधीर्वरमूर्ध्नि पलाशपत्रेणावपति । २. ५३–५८ ॥ कुमारीं तल्पाद् उत्थापयति । १. ५९, ६०, ६२ ॥ इति विवाहः ॥

अथोद्वाहः । तत्र वरस्य गृहे वधूनयनम् । तद्यथा । वधूवरौ यानमारोहयति । १. ६१, २. ३० ॥ कर्ता अग्रे व्रजति । २.८,१.६४॥ दक्षिणेन पादेन प्रक्रामति अध्वानम् । २. ११, १. ३४ ॥ तेनैवोह्य यद्यन्याप्यूढा तर्हि वधूवस्त्रस्य दशाखण्डं गृहीत्वा चतुष्पथे क्षिप्त्वा दक्षिणेन पादेन तदुपरि तिष्ठति तत् प्रायश्चित्तम् । २.७४ ॥ उभयोरूढयोः शुभकामः सन् जपं कुर्यात् । २.४६ ॥ अन्तरा ग्रामाणाम् अतिक्रमयतः ॥ यानस्य विनिष्करणम् । २. ४७ ॥ अध्वनि तीर्थे आयाते लोष्टं प्रक्षिप्य तत उत्तरति । २.६ ॥ महावृक्षेषु दृष्टेषु जपति । २. ६ ॥ वध्वीक्षणार्थं कुतुकं स्त्रीष्वागतासु ताः प्रति जपति ।

२. २८ ॥ हृदेवेदं (सिन्धुसंगमं) दृष्ट्वा जपति । २. ७ ॥ ओषधी-नदीक्षेत्रवनेषु दृष्टेषु जपति । २.७ ॥ श्मशाने दृष्टे जपति । २.७३ ॥ अध्वनि सुत्चायां वध्वां प्रमोचयति मन्त्रेण । २. ७५ ॥ वरपितृगृह आसन्नागते जपति । २.१२ ॥ गृहमागते याने तद् अग्नि संमोच्य बलीवर्दौ विमोचयति । २. १६ ॥ निर्ऋत्यपनोदाय पत्नीशालां प्रोक्षति । २. १९ ॥ दक्षिणतो गृहपार्श्वे गोमयपिण्डेश्मानं स्थापयति । १. ४७ ॥ तस्योपरि पलाशस्य यत्पर्णत्रितयं तस्माद् मध्यमपर्णं गृहीत्वा स्थापति तस्योपरि घृतं घृतस्योपरि चत्वारि दूर्वाग्राणि तदुपरि वधूं स्थापयति । १. ४७ ॥ तस्माद् वधूं प्रपाथ वरगृहे प्रवेशयति । २. २६, १. २१, १. ६३, १. ६४ । पूर्णपात्रेण कुम्भफलेन अक्षतसहितेन प्रवेशः ॥ अग्निं प्रज्वाल्य ततो हस्तग्रहणं कृत्वा वरो वधूं परिणयति । २. १७, १८ ॥ अग्नि-सरस्वतीपितृसूर्यादेवमित्रवरुणेभ्यो नमस्कुर्वतीम् अनुमन्त्रयते । २. २०, २. ४६ ॥ कश्चिद् रोहितचर्म आहरति । २. २१ । उपस्तृतस्य तस्योपरि बल्बजम् उपस्तृणीते तस्योपरि वधूमारोहयति उपवेशयति च । २. २३ ॥ दक्षिणोत्तरम् उपस्थं कुरुते वधूः ॥ ब्राह्मणायनं कुमारं शुभनामकं तस्या उपस्थ उपवेशयति । २.२४ ॥ कुमाराय फलमोदकादि दत्त्वा तम् उत्थापयति । २. २५ ॥ तेन भूतेनेत्यादिना वरवध्वौ क्रमेण जुहुतः । ७, १-५, २. ४५ ॥ संपातान् आनयति । उदपात्रे उत्तरान् संपातान् आनयति । उद-पात्रं वरवध्वोरञ्जल्योर्निनयति । २. ४५ ॥ तेन भूतेनेति रसान् संपात्य तान् स्थालीपाकं च जायापती उपसर्पयति । तत एक-स्मिन् स्थाने स्वजनैः सह उपविश्य मिष्टान्नस्य सहाशनं कुर्यात् पतिः ॥ तेनैव सूक्तेन पञ्चानाम् आज्यमिश्राणां पूर्णाञ्जलिं जुहोति ॥ इत्युद्वाहः ॥

अथ चतुर्थिकाकर्म । तद्यथा । सप्त मर्यादा इति वरो व्रीहीन्

जुहोति निवाहामौ ॥ अदयौ नाविति परस्परं वरवध्वावचिणी अञ्जाते ॥ मदीमूणिति वरवध्वौ खट्वामालम्भयति आचार्यः । आरोहयति । २. २१ । तत्र च तामुपवेशयति । २. २३ ॥ संवेशयति च । २. ३२ ॥ तौ वस्त्रेणाच्छादयति ॥ तावभिमुखौ करोति । २. ३७ ॥ इहेमाविति । २. ६४ । वरवध्वौ त्रिः संनुदति ॥ मधुघमणिं पिष्ट्वा आँसे मक्षिप्य वधूवरौ परस्परं संगच्छेते । २. ७१, ७२ ॥ अस्त्र जघानमिति अङ्गुष्ठेन वरः प्रजननदेशं स्पृशति ॥ खट्वाया उत्थापयति वरो वधूम् । २. ४३ ॥ अहतवस्त्रं वरवध्वौ परिधापयति आचार्यः । १. ४५ । ५३, ५५ ॥ वधूसीमन्ते शष्पं निदधाति वरः । १. ५५, ५६ । व्रीहियवौ सीमन्ते निदधाति अमन्त्रकम् । दर्भपिञ्जूल्या सीमन्तं विचृतति । शणशकलेन वधूकेशान् परिवेष्टयति ॥ सर्वेण काण्डेन आज्यं जुहोति वरः । प्रायश्चित्तमेतत् ॥ शुल्कद्रव्यं पृथक् करोति इदं तव इदं मामकीयमिति । १. ३२ ॥ वाधूयं वस्त्रं ददतं वरमनुमन्त्रयते । १. २५–३० । आचार्यस्तत् प्रतिगृह्णाति । २. ४१, ४२ ॥ तत् स्थाणावासजति । २. ४८ ॥ तद् गृहीत्वा गच्छति । २. ४९ ॥ तद् वृक्षं प्रतिच्छादयति । २. ५० ॥ सर्वे स्नानं कुर्वन्ति । २. ४५ ॥ तेन वाधूयेनाच्छादयत्यात्मानमाचार्यः । २. ५१ ॥ नवं वसानः । २. ४४ । इति जपित्वा आचार्यो गृहं गच्छति ॥ कुमार्यां नीयमानायां पितृगृहे रोदने सति जीवं रुदन्ति । १. ४६ । इत्यनया यदीमे केशिनः । २, ५९–६२ । इति चतसृभिश्चाज्यं जुहोति । तत् प्रायश्चित्तम् ॥ इति चतुर्थिकाकर्म ॥

यह काण्ड विवाहपरक है । इसमें आगे कहे जाने वाले कर्म होते हैं । इनमें मन्त्रोंका विनियोग सूत्रकारने प्रयोगके अनुकूल ही किया है और कौशिकने इनका दशम अध्यायमें विस्तार-

पूर्वक वर्णन किया है अतः इनको तहाँ ही देखना चाहिये। यहाँ कर्मक्रमका मन्त्रकी समान दिग्दर्शन करा दिया है ॥

सूक्तके आरम्भमें सूर्या नाम वाली सूर्यरूपा जो सविताकी पुत्री देवी है उसके विवाहकी कथा वर्णित है।

कार्यक्रम इस प्रकार है, कि-पहिले विवाह है, वह कुमारीका पिताके घरमें होता है। "सत्येनोत्तभिते" इन सोलह और प्रथम अनुवाककी तेईसवीं चौबीसवीं इन अठारह ऋचाओंसे आज्य-होम होता है। प्रथम अनुवाककी ३१ वीं ऋचासे शास्त्रोक्त खिचड़ीको कुमारीको प्राशन करावे, हाथमें सम्पुट सकोरा लेकर अनुचरसहित किसी पुरुषको वरके पास भेजे, ब्राह्मणको भेजे॥ १। ३४ वीं ऋचासे कुमारीकी रक्षाके लिए पालको प्रेषित करे। १। ३७ वीं ऋचासे जल लेनेके लिये आवे और जलमें ढला फेंके। १। ३८ वीं ऋचासे स्नान करे और घटको जलसे भरे। १। ३९ वीं ऋचासे जल लेजाने वालेको जलपूर्ण घट देय। १। १७ वीं ऋचासे शालामें घट बाँधे, उस जलसे सर्वोदकार्य-करण होता है और घृतका होम करे। १। ५८ वीं ऋचासे कुमारीके केशोंको गूँथे ॥ दूसरे अनुवाककी पैंसठवीं ऋचासे उष्णोदकसे स्नान करावे। प्रथम अनुवाककी पैंतीसवीं और तैंतालीसवीं ऋचासे शीतल जल छिड़के। द्वितीय अनुवाककी छियासठवीं और सरसठवीं ऋचासे वस्त्रसे अंगको स्वच्छ करे और उसको कुमारी पालकके लिये देदेय। प्रथम अनुवाककी पैंतालीसवीं और तरेपनवीं ऋचाओंसे उस वस्त्रको तुंबरदण्डसे ग्रहण करके गोपाटमें डाले, नवीन वस्त्रसे उस (कुमारी) को आच्छादित करे। दूसरे अनुवाककी अड़सठवीं ऋचासे यज्ञोप-वीतकी समान बाध्य वस्त्रको बाँधे, केशप्रलेखन करे। प्रथम अनुवाककी बयालीसवीं और द्वितीय अनुवाककी सत्तरवीं ऋचा

से योक्त्रको कमरमें बाँधे। प्रथम अनुवाककी तीसवीं ऋचासे ज्येष्ठमधुमणिको रक्तसूत्रसे अनामिकामें बाँधे, उपाध्याय कन्यादानके अनन्तर कुमारीको हाथसे पकड़ कर कौतुकघरसे लेजाय, शाखामें युगको स्थापित करे। प्रथम अनुवाककी ४० वीं और ४१ वीं ऋचासे दाहिनी ओरसे पुरुष उसको धारण करे, कन्याके ललाटस्थानमें सुवर्ण बाँधे। प्रथम अनुवाककी सैंतालीसवीं ऋचा से उसके युगच्छिद्रसे जल डाले, कुमारीको पत्थर पर चढ़ावे। दूसरे अनुवाककी तरेसठवीं ऋचासे खीलोंके होमको करे। प्रथम अनुवाककी अड़तालीसवींसे|बावनवीं तककी पाँच ऋचाओंसे वरके द्वारा पाणिग्रहण कराया जाता है। १। ३६ वीं ऋचासे वर कन्याको तीन बार अग्निकी परिक्रमा करावे। द्वितीय अनुवाक की इकतीसवीं और प्रथम अनुवाककी साठवीं ऋचासे सात रेखाएँ खींचे और उनका वधूसे उत्क्रमण करावे और उसको शय्या पर बैठावे। प्रथम अनुवाककी सत्तावनवीं और अट्ठावनवीं ऋचाओंसे बैठी हुई कुमारीके पादोंको कोई मित्र धो देय और कुमारीकी कमरमें कसी हुई डोरीको खोल देय। दूसरे अनुवाक की तरेपनसे अट्ठावनवीं तककी ऋचाओंसे उस रस्सीको भृत्य खेंचें, उस समय जो जीत जाते हैं वे बली माने जाते हैं, वधू सर्वौषधियोंको ढाकके पत्तेसे वरके मस्तक पर रक्खे। प्रथम अनुवाककी ५६, ६० और बासठवीं ऋचाओंसे कुमारीको शय्यापरसे उठावे॥ यह विवाहका कृत्य पूर्ण हुआ।

अब उद्वाहके कृत्योंका वर्णन करते हैं, कि-इसमें वरके घरमें वधूको लाया जाता है। यथा—प्रथम अनुवाककी इकसठवीं और द्वितीय अनुवाककी तीसवीं ऋचासे वधू और वरको सवारी पर चढ़ावे। द्वितीय अनुवाककी आठवीं और प्रथम अनुवाककी चौंसठवीं ऋचासे कर्ता आगे चले। द्वितीय अनुवाककी ग्यारहवीं

और प्रथम अनुवाककी चौंतीसवीं ऋचासे दाहिने पैरसे रास्ते पर चले। उसी दिन यदि किसी दूसरीका विवाह हुआ हो तो वधूवस्त्र के दशाखण्डको लेकर चौराहेमें डाल देय और उस पर दाहिना पैर रख कर खड़ा होजावे यह उसका प्रायश्चित्त है। दोनोंके ऊढ़ होने पर शुभ चाहता हुआ द्वितीय अनुवाककी छियालीसवीं ऋचाका जप करे। दूसरे अनुवाककी सैंतालीसवीं ऋचासे बीचमेंसे ब्रह्माको छोड़ देय, फिर रथका विनिष्करण होता है। मार्गमें तीर्थ आजावे तो द्वितीय अनुवाककी छियालीसवीं ऋचा से ढलेको डाल कर उतर पड़े यही इसका प्रायश्चित्त है। द्वितीय अनुवाककी नवम ऋचाको महावृक्षोंके दीखने पर जपे। यदि वधूको देखनेके लिये कुदृक् (नजरलगाने वाली) स्त्रियें आजावें तो दूसरे अनुवाककी नवम ऋचाका जप करे। सिंधुके संगमको देखकर द्वितीय अनुवाककी सातवीं ऋचाका जप करे। औषधि नदी क्षेत्र और वनके दीखने पर दूसरे अनुवाककी सातवीं ऋचाका जप करे। श्मशानके दीखने पर दूसरे अनुवाककी तिहत्तरवीं ऋचाका जप करे। मार्गमें वधूके सोजाने पर दूसरे अनुवाककी पिचहत्तरवीं ऋचासे जगावे। वरके पिताके घरके समीप आने पर दूसरे अनुवाककी बारहवीं ऋचाका जप करे। घरमें यानके आने पर उसको दूसरे अनुवाककी सोलहवीं ऋचा से जलसे प्रोक्षित करके बैलोंको खोल देय। निर्ऋतिको दूर करनेके लिये दूसरे अनुवाककी उन्नीसवीं ऋचासे पत्नीशाला का प्रोक्षण करे। प्रथम अनुवाककी सैंतालीसवीं ऋचासे दाहिनी ओर घरके कोनेमें गोबरके पिण्डे पर पत्थरको स्थापित करे। फिर प्रथम अनुवाककी सैंतालीसवीं ऋचासे उस पत्थर पर पलाशके तीन पत्तोंमेंसे बीचके पत्तेको पकड़ कर स्थापित करे उसके ऊपर घृत रक्खे और घृतके ऊपर चार दूर्वाग्रोंको रक्खे

फिर उन पर वधूको बैठावे। फिर द्वितीय अनुवाककी छब्बीसवीं, प्रथम अनुवाककी इक्कीसवीं तरेसठवीं और चौंसठवीं ऋचाओं से वधूको चला कर वरके घरमें प्रवेश करावे पूर्णपात्रके साथ फलके साथ जिसमें अक्षत भरे हों ऐसे घटके साथ प्रवेश करे। फिर दूसरे अनुवाककी १७ वीं और १८ वीं ऋचाओंसे अग्नि को प्रज्वालित करके वर हाथ पकड़ कर वधूका परिणयन करे। फिर दूसरे अनुवाककी बीसवीं और छियालीसवीं ऋचाओंसे अग्नि सरस्वती सूर्यदेव मित्र और वरुणके लिये नमस्कार करती हुई पत्नीका अनुमन्त्रण करे। दूसरे अनुवाककी इक्कीसवीं ऋचासे कोई रोहितचर्मको लावे। फिर २। २३ से उस बिछे हुएके ऊपर बगईको बिछा देय उस पर वधूको चढ़ावे और बैठावे। २। २४ से वधू दक्खिन उत्तरकी ओर गोद करके बैठे तब ब्राह्मणके घरके किसी शुभ नाम वाले बालकको उसकी गोदीमें बैठावे। फिर २। २५ से कुमारको मोदक आदि देकर उठावे। फिर वर और वधू दूसरे अनुवाककी पहिलीसे पाँचवीं तककी और पैंतालीसवीं ऋचाओंसे क्रमशः आहुति देवें। फिर २। ४५ से सम्पातोंको लावे, जलपूर्ण पात्रमें उत्तर सम्पातोंको लावे, जलपूर्ण पात्रको वर वधूकी अञ्जलिमें देय। फिर तेन भूतेनसे सम्पातित करके उनको और स्थालीपाकको जायापतीके पास लेजावे। फिर पति एक स्थानमें अपने कुटुम्ब वालोंके साथ बैठ कर मिष्टान्नका भक्षण करे। फिर इसी सूक्तसे घृतमिश्रित जौंकी पूर्णाहुति देवे॥ यह उद्वाह हुआ॥

अब चतुर्थीकर्म चलता है, कि—वर "सप्तमर्यादा" इस पञ्चम काण्डके प्रथम सूक्तकी छठी ऋचासे विवाहाग्निमें धानोंका होम करे। "अदर्शनाविति" इस सप्तमकाण्डके सैंतीसवें सूक्तसे वर वधू परस्परके नेत्रोंमें सुर्मा डालें। "महीमूषु" इस सप्तमकाण्डके

छठे सूक्तकी दूसरी ऋचासे आचार्य वर वधूको खट्वाका स्पर्श करावे। और २। अ० ३१ से खट्वा पर चढ़ावे। फिर द्वितीय अनुवाककी तेईसवीं ऋचासे वधूको उस खट्वा पर बैठावे। २ अ० ३२ से भली प्रकार बैठनेको कहे। फिर ७ का० ३८ से उन दोनोंको वस्त्रसे आच्छादित कर देय २। अ० ३७से उनको अभिमुख करे। फिर इहेमाविति इस २ अ० ६४ से वर वधूको तीन बार प्रेरणा करे। फिर दूसरे अनुवाककी इकहत्तरवीं और बहत्तरवीं ऋचासे (प्रथम काण्डके चौंतीसवें सूक्तमें वर्णित) मधुघमणिको पीसकर ओसमें डाल कर वर वधू परस्पर संगमन करें। चतुर्थकाण्डके प्रथम मन्त्र "ब्रह्मजज्ञानम्" से वर अंगुष्ठके द्वारा प्रजननप्रदेशका स्पर्श करे। २ अ० ४३ से वर वधूको खट्वासे उठाता है। प्रथम अनुवाककी ४५ वीं, ५३ वीं और पचपनवीं ऋचाओं से आचार्य बिना फटे वस्त्र को वर वधूको आच्छादित करे। प्रथम अनुवाककी ५५ वीं और ५६ वीं ऋचाओंसे वर वधूके सीमन्तमें शणको रक्खे फिर वर बिना मंत्र पढ़े हुए ही वधूके सीमन्तमें धान और जौंको रक्खे। कुशाओंकी मुट्ठीसे सीमन्तका स्पर्श करे। सनके टुकड़े से वधूके केशोंको बाँधे वर सब काण्डसे घृतकी आहुति देय। यह प्रायश्चित्त है। प्रथम अनुवाककी पचीसवीं ऋचासे शुल्क-द्रव्यको पृथक् करे, कि—यह तेरा है और यह मेरा है। प्रथम अनु-वाककी २५ वीं से तीसवीं तककी पाँच ऋचाओंसे वधूके वस्त्र को देते हुए वरका अनुमन्त्रण करे। द्वितीय अनुवाककी ४१ वीं और ४२वीं ऋचाओंसे आचार्य उसको ग्रहण करे। २ अ० ४८ से उसको स्थाणु पर रक्खे। द्वितीय अनुवाककी ४६ वीं ऋचासे उसको लेकर जावे। द्वितीय अनुवाककी ५० वीं ऋचासे उससे दृत्तको ढके। फिर २ अ० ४५ से सब स्नान करते हैं। द्वितीय अनु-

वाककी इक्यानवीं ऋचासे उस वाधूय वस्त्रसे आचार्य अपनेको आच्छादित करे। "नवं वसानः" इस द्वितीय अनुवाककी चौवालीसवीं ऋचाको जपता हुआ आचार्य अपने घरको प्रस्थान करे। कुमारीके लेजाते समय पितृगृहमें रोदन होने पर "जीवं रुदन्ति" इस प्रथम अनुवाकी छियालीसवीं ऋचासे और "यदीमे केशिनः" इन द्वितीय अनुवाककी उनसठवींसे बासठवीं तककी चार ऋचाओं से घृतकी आहुति देय। यह प्रायश्चित्त है ॥ इति चतुर्थीकर्म ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः १

सत्येन । उत्तभिता । भूमिः । सूर्येण । उत्तभिता । द्यौः ।
ऋतेन । आदित्याः । तिष्ठन्ति । दिवि । सोमः । अधि । श्रितः १

सत्यसे ही पृथ्वी स्थित है, सूर्यसे द्यौ स्थित है, सत्यसे ही सूर्य स्थित हैं और द्युलोकमें सोम भी सत्यसे ही स्थित है ॥१॥

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

सोमेन । आदित्याः । बलिनः । सोमेन । पृथिवी । मही ।
अथो इति । नक्षत्राणाम् । एषाम् । उपऽस्थे । सोमः । आऽहितः ।

सोमसे आदित्य बलवान् हैं, सोमसे ही यह पृथिवी पूजनीय है, इसी लिये नक्षत्रोंके समीपमें यह सोम स्थित हैं ॥ २ ॥

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥३॥

सोमम् । मन्यते । पपिऽवान् । यत् । सम्ऽपिंषन्ति । ओषधिम् ।

सोमम् । यम् । ब्रह्माणः । विदुः । न । तस्य । अश्नाति । पार्थिवः ३

जो रासायनिक सोमरूप औषधिको पीस कर पान करते हैं वे समझते हैं, कि-मैंने सोमका पान कर लिया यह अधिदैवत सोमयज्ञ सोम नहीं है, परन्तु मन्त्रवेत्ता जिस सोमको जानते हैं उसको यह साधारण पार्थिव पुरुष नहीं जानते ॥ ३ ॥

यत् त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥४॥

यत् । त्वा । सोम । प्रऽपिबन्ति । ततः । आ । प्यायसे । पुनः ।

वायुः । सोमस्य । रक्षिता । समानाम् । मासः । आऽकृतिः ॥४॥

हे सोम ! पुरुष आपका पान करते हैं और आप फिर बढ़ जाते हैं सम्वत्सरोंमें मासरूप आकृति वाला अर्थात् सम्वत्सरके प्रत्येक मासमें चलने वाला वायु सोमका रक्षक है ॥ ४ ॥

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।

ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ५

आच्छत्ऽविधानैः । गुपितः । बार्हतैः । सोम । रक्षितः ।

ग्राव्णाम् । इत् । शृण्वन् । तिष्ठसि । न । ते । अश्नाति । पार्थिवः

हे सोम ! आप आच्छदविधानोंसे और बृहती छन्दोंसे होने वाले कर्मोंसे रक्षित हैं और सोमाभिषवणके पत्थरसे सुनते हुए ठहरते हैं साधारण पार्थिव प्राणी आपका प्राशन नहीं कर सकता ५

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥६॥

चित्तिः । आः । उपऽबर्हणम् । चक्षुः । आः । अभिऽअञ्जनम् ।
द्यौः । भूमिः । कोशः । आसीत् । यत् । अयात् । सूर्या । पतिम्

जिससमय सूर्या पतिके पास गई थी उस समय ज्ञान उपबर्हण हुआ और चक्षु अभ्यञ्जन हुआ था और द्यौ तथा भूमि कोश हुए थे ॥ ६ ॥

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

रैभी । आसीत् । अनुऽदेयी । नाराशंसी । निऽओचनी ।
सूर्यायाः । भद्रम् । इत् । वासः । गाथया । एति । परिष्कृता ७

मनुष्योंकी प्रशंसा करने वाली न्योचिनी रैभ्या उस समय सूर्याके साथ २ दी गई थी वह गाथाके द्वारा परिष्कृत होकर सूर्या के कल्याणमय वस्त्रको लेकर चलती थी ॥ ७ ॥

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरम् छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

स्तोमाः । आसन् । प्रतिऽधयः । कुरीरम् । छन्दः । ओपशः ।
सूर्यायाः । अश्विना । वरा । अग्निः । आसीत् । पुरःऽगवः ॥८॥

उस समय स्तुतियें प्रतिधि थे, छन्द स्त्रीत्वव्यञ्जकचिन्ह केश-जाल थे, अश्विनीकुमार सूर्याके वर थे और अग्नि पुरोगव था ८

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥९॥

सोमः । वधूऽयुः । अभवत् । अश्विना । आस्ताम् । उभा । वरा ।
सूर्याम् । यत् । पत्ये । शंसन्तीम् । मनसा । सविता । अददात् ९

मनसे पतिके लिये प्रार्थना करती हुई सूर्याको जब सूर्यदेव दे रहे थे उस समय सोम वधूयु हुए और अश्विनीकुमार वर थे ९

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥१०॥

मनः । अस्याः । अनः । आसीत् । द्यौः । आसीत् । उत । छदिः ।
शुक्रौ । अनड्वाहौ । आस्ताम् । यत् । अयात् । सूर्या । पतिम्

जिस समय सूर्या पतिको प्राप्त हुई उस समय मन रथ था और द्यौ घर था और बैल श्वेत थे ॥ १० ॥ (१)

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् ।
श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥

ऋक्ऽसामाभ्याम् । अभिऽहितौ । गावौ । ते । सामनौ । ऐताम् ।
श्रोत्रे इति । ते । चक्रे इति । आस्ताम् । दिवि । पन्थाः । चराचरः

ऋक् और साममे अभिहित दो गो-साम आये थे, द्युलोकका जो चराचर मार्ग है उसने उनको तेरे श्रोत्ररूपमें कल्पित किया था ११

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।

अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

शुची इति । ते । चक्रे इति । यात्याः । विऽआनः । अक्षः । आऽहतः ।

अनः । मनस्मयम् । सूर्या । आ । अरोहत् । प्रऽयती । पतिम् १२

हे सूर्ये ! तुझ गमन करने वालीके लिये दमकने वाले सूर्य और चन्द्रमाको चक्र बनाया गया था और व्यानको अक्ष बनाया गया था, तब पतिके घर जाती हुई सूर्या मनस्मय रथमें चढ़ी थी १२

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।

मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

सूर्यायाः । वहतुः । प्र । अगात् । सविता । यम् । अवऽसृजत् ।

मघासु । हन्यन्ते । गावः । फल्गुनीषु । वि । उह्यते ॥ १३ ॥

सविताने जिस पदार्थको दिया था वह सूर्याके दहेजके रूपमें गया था । बैल मघा नक्षत्रमें चलाये जाते हैं और फल्गुनी नक्षत्र उनसे रथ खिचवाया जाता है ॥ १३ ॥

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः

क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १४ ॥

यत् । अश्विना । पृच्छमानौ । अयातम् । त्रिऽचक्रेण । वहतुम् । सूर्यायाः ।

क्व । एकम् । चक्रम् । वाम् । आसीत् । क्व । देष्ट्राय । तस्थथुः

हे अश्विनीकुमारों ! आपके विषयमें बूझा गया था उस समय जब आप त्रिचक्र रथसे सूर्याका वहन करनेके लिये आये थे

तब तुम्हारा एक चक्र कहाँ था और तुम अपने २ व्यापारमें प्रवृत्त कराने वाले व्यक्तिके पास कहाँ ठहरे थे ॥ १४ ॥

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥ १५ ॥

यत् । अयातम् । शुभः । पती इति । वरेऽयम् । सूर्याम् । उप ।
विश्वे । देवाः । अनु । तत् । वाम् । अजानन् । पुत्रः । पितरम् । अवृणीत । पूषा ॥ १५ ॥

हे शुभ कार्योंके पालक अश्विनीकुमारो ! जब तुम सूर्याको श्रेष्ठ समझ कर उसके पास वरण करनेके लिये आये उस समय विश्वेदेवताओंने तुमको जाना था और पुंनामक नरकसे रक्षा करने वाले सूर्यने पालकका वरण किया था ॥ १५ ॥

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद् विदुः ॥ १६ ॥

द्वे इति । ते । चक्रे इति । सूर्ये । ब्रह्माणः । ऋतुऽथा । विदुः ।
अथ । एकम् । चक्रम् । यत् । गुहा । तत् । अद्धातयः । इत् । विदुः

हे सूर्ये ! ब्राह्मण तेरे दोनों चक्रोंको ऋतुके अनुसार जानते हैं, जो तेरा एक चक्र गूढ़ है उसको विद्वान् ही जानते हैं ॥१६॥
(यह सूर्याविवाह साधारण दृष्टिसे देखने पर विचित्र ही मालूम होता है, परन्तु यह गूढार्थक है साधारण विवाहसे इसकी तुलना नहीं की जासकती इसमें कोई आध्यात्मिक तत्त्व छिपा हुआ है) ॥

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥१७॥

अर्यमणम् । यजामहे । सुऽबन्धुम् । पतिऽवेदनम् ।
उर्वारुकम्ऽइव । बन्धनात् । प्र । इतः । मुञ्चामि । न । अमुतः ॥

हम पतिको प्राप्त कराने वाले शोभन बांधवोंसे सम्पन्न रखने वाले अर्यमा देवताकी पूजा करते हैं जैसे ऊर्वारुक (ककड़ी) डण्ठलसे अलग होजाती है, इसी प्रकार मैं इस कन्याको यहाँसे अलग करता हूँ। किंतु पतिकुलसे अलग नहीं करता हूँ ॥ १७॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥

प्र । इतः । मुञ्चामि । न । अमुतः । सुऽबद्धाम् । अमुतः । करम् ।
यथा । इयम् । इन्द्र । मीढ्वः । सुऽपुत्रा । सुऽभगा । असति १८

मैं (पुरोहित) इसको इस पितृकुलसे अलग करता हूँ पतिकुलसे अलग नहीं करता हूँ, किंतु भली प्रकार सम्बद्ध करता हूँ, हे सेचक इन्द्र ! जिस प्रकार यह सौभाग्यवती और सुपुत्रा हो (तैसा अनुग्रह करिये) ॥ १८ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात्
सविता सुशेवाः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सह-
संभलायै ॥ १९ ॥

प्र । त्वा । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । येन । त्वा । अबध्नात् ।

सविता । सुऽशेवाः ।

ऋतस्य । योनौ । सुऽकृतस्य । लोके । स्योनम् । ते । अस्तु ।

सहऽसंभलायै ॥ १९ ॥

सुन्दर सुख देने वाले सूर्यदेवने जिससे तुझको बाँध रक्खा था उस वरुणके पाशसे मैं तुझको मुक्त करता हूँ तुझ मिष्टभाषिणी के लिये सत्यके कारण मिलने वाले सुकृतलोकमें सुख प्राप्त हो १९

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २० ॥

भगः । त्वा । इतः । नयतु । हस्तऽगृह्य । अश्विना । त्वा । प्र । वहताम् । रथेन ।

गृहान् । गच्छ । गृहऽपत्नी । यथा । असः । वशिनी । त्वम् । विदथम् । आ । वदासि ॥ २० ॥

सौभाग्यप्रद भग देवता तुझको हाथ पकड़ कर लेजावें अर्थात् तुझको सौभाग्य देवें अश्विनीकुमार रथमें तुझको ले जावें, तू घरको इस प्रकार जावे, कि-तू घरका पालन करने वाली और घरको वशमें रखने वाली रहे और अपने घरमें भाषण करती रहे ॥ २० ॥ (२)

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥

इह । प्रियम् । प्रऽजायै । ते । सम् । ऋध्यताम् । अस्मिन् । गृहे । गार्हऽपत्याय । जागृहि ।

एना । पत्या । तन्वम् । सम् । स्पृशस्व । अथ । जिर्विः । विद-थम् । आ । वदासि ॥ २१ ॥

यहाँ पर तेरी प्रजाके लिये प्रिय वस्तुओंकी वृद्धि होती रहे तू इस घरमें गार्हपत्य अग्निके लिये सावधान रह, इस पतिसे अपने शरीरका स्पर्श कर और तू घरमें आयुकी समाप्ति तक बोलती रह२१

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

इह । एव । स्तम् । मा । वि । यौष्टम् । विश्वम् । आयुः । वि । अश्नुतम् ।

क्रीडन्तौ । पुत्रैः । नप्तृऽभिः । मोदमानौ । सुऽअस्तकौ ॥ २२ ॥

तुम दोनों यहाँ ही रहो, वियुक्त न होओ, सारी आयु भर अनेक प्रकारके भोजन करो, पुत्र और पोतोंके साथ खेलते रहो, प्रसन्न होते रहो और कल्याणसम्पन्न रहो ॥ २२ ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः

पूर्वऽअपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ ।

परि । यातः । अर्णवम् ।

विश्वा । अन्यः । भुवना । विऽचष्टे । ऋतून् । अन्यः । विऽदधत् ।

जायसे । नवः ॥ २३ ॥

यह सूर्य और चन्द्रमा बालककी समान क्रीड़ा करते हुए पूर्व पश्चिम समुद्रमें जाते हैं, इनमेंसे एक भुवनोंको देखता है और दूसरा ऋतुओंको करता हुआ नवीनरूपमें प्रादुर्भूत होता है २३

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २४ ॥

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् ।

एषि । अग्रम् ।

भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः ।

तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २४ ॥

हे चन्द्रदेव ! आप प्रतिमासमें होकर नवीन ही नवीन होते हैं आप अपनी कलाओंके ह्रास वृद्धिके कारण प्रतिपदा द्वितीया आदि दिनोंके ज्ञापक हैं और आप उषःकालके समय (सूर्यके) आगे आते हैं और आप आते समय देवताओंको भाग देते हैं और हे चन्द्र ! आप दीर्घायु प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।

कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

परा । देहि । शामुल्यम् । ब्रह्मऽभ्यः । वि । भज । वसु ।

कृत्या । एषा । पत्ऽवती । भूत्वा । आ । जाया । विशते । पतिम् ।

यह कृत्या पैरों वाली कृत्यासी पतिमें प्रवेश करती है (अतः हे वर!) आप इस शामुल्यको दीजिये और ब्राह्मणोंको धन दीजिये

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।

एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥

नीलऽलोहितम् । भवति । कृत्या । आसक्तिः । वि । अज्यते ।

एधन्ते । अस्याः । ज्ञातयः । पतिः । बन्धेषु । बध्यते ॥ २६ ॥

यह वस्त्र नीललोहित होता है इसमें कृत्याकी आसक्ति प्रकट होती है (यदि इस वस्त्रको नहीं दिया जाता है तो) इस वधूके समान जाति वाले बांधव तो बढ़ते हैं और पति बंधनमें पड़ता चला जाता है ॥ २६ ॥

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।

पतिर्यद् वध्वो ३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

अश्लीला । तनूः । भवति । रुशती । पापया । अमुया ।

पतिः । यत् । वध्वः । वाससः । स्वम् । अङ्गम् । अभिऽऊर्णुते २७

जो पति इस वधूके वस्त्रसे अपने अंगको ढकता है तो इस पापमय कृतिसे उसका शरीर अश्लील होजाता है ॥ २७ ॥

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति २८

आऽशसनम् । विऽशसनम् । अथो इति । अधिऽविकर्तनम् ।

सूर्यायाः । पश्य । रूपाणि । तानि । ब्रह्मा । उत । शुम्भति २८

आशसन विशसन और विकर्तन-सूर्याके इन रूपोंको देखो इनको ब्रह्मा ही सुशोभित कर सकता है ॥ २८ ॥

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ।

सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥

तृष्टम् । एतत् । कटुकम् । अपाष्ठऽवत् । विषऽवत् । न । एतत् । अत्तवे ।

सूर्याम् । यः । ब्रह्मा । वेद । सः । इत् । वाधूऽयम् । अर्हति २९

यह वस्त्र तृषा लगाने वाला है, कटुक है अपाष्ठवद् है, और खाने के लिये विषकी समान है, जो ब्रह्मा सूर्याको जानता है वह वाधूय वस्त्रके योग्य है ॥ २९ ॥

स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् ।

प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ३०

सः । इत् । तत् । स्योनम् । हरति । ब्रह्मा । वासः । सुऽमङ्गलम् ।

प्रायश्चित्तिम् । यः । अधिऽएति । येन । जाया । न । रिष्यति ।

जिससे प्रायश्चित्त होता है और जिससे जाया नहीं मरती है उस ही मंगलमद सुखप्रद वस्त्रको ब्रह्मा धारण करता है ३० (५)

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ।

ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥

सुरम् । भगम् । सम् । भरतम् । सम्ऽऋद्धम् । ऋतम् । वदन्तौ । ऋतऽउद्येषु ।

ब्रह्मणः । पते । पतिम् । अस्यै । रोचय । चारु । सम्ऽभलः । वदतु । वाचम् । एताम् ॥ ३१ ॥

तुम दोनों सत्य बोलनेके अवसरों पर सत्य बोलते हुए समृद्धि-सम्पन्न भाग्यको सम्पादित करो, हे ब्रह्मणस्पते ! आप इसके लिये पतिको पसन्द करिये और वह इस (स्वीकृतिरूपा) वाणी को अच्छी प्रकार भाषण करता हुआ बोले ॥ ३१ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ । शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥ ३२ ॥

इह । इत् । असाथ । न । परः । गमाथ । इमम् । गावः । प्रऽजया । वर्धयाथ ।

शुभम् । यतीः । उस्रियाः । सोमऽवर्चसः । विश्वे । देवाः । क्रन् । इह । वः । मनांसि ॥ ३२ ॥

तुम यहाँ बैठो, आगे न जाओ, यह वस्तु है, यह गौएँ हैं, तुम दोनों प्रजासे बढ़ो, ये कल्याण करने वाली धेनु हैं, विश्वेदेवता तुम सबके मनोंको सोमकी समान कान्ति वाला करें ॥ ३२ ॥

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥ ३३ ॥

इमम् । गावः । प्रऽजया । सम् । विशाथ । अयम् । देवानाम् । न । मिनाति । भागम् ।
अस्मै । वः । पूषा । मरुतः । च । सर्वे । अस्मै । वः । धाता । सविता । सुवाति ॥ ३३ ॥

ये गौएँ इसको प्राप्त होवें, यह देवताओंका भाग है इसका बाँट नहीं होसकता, इसके लिये तुमको पूषा और सब मरुत् तथा धाता और सविता देवता भी प्रेरित करें ॥ ३३ ॥

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ३४

अनृक्षराः । ऋजवः । सन्तु । पन्थानः । येभिः । सखायः । यन्ति । नः । वरेऽयम् ।
सम् । भगेन । सम् । अर्यम्णा । सम् । धाता । सृजतु । वर्चसा

जिन वरणीय मार्गसमूहोंसे हमारे मित्र जाते हैं, वे मार्ग तुम्हारे लिये सरल और निष्कण्टक होवें, धाता देवता तुमको सौभाग्य, तेज और सूर्यसे भली प्रकार सम्पन्न रक्खें ॥ ३४ ॥

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥

यत् । च । वर्चः । अक्षेषु । सुरायाम् । च । यत् । आऽहितम् ।
यत् । गोषु । अश्विना । वर्चः । तेन । इमाम् । वर्चसा । अवतम्

जो वर्च फाँसोंमें और सुरामें स्थापित किया गया है और जो वर्च गौओंमें है, हे अश्विनीकुमारों ! उस वर्चसे तुम इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा ।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३६ ॥

येन । महाऽनघ्न्याः । जघनम् । अश्विना । येन । वा । सुरा ।
येन । अक्षाः । अभिऽअसिच्यन्त । तेन । इमाम् । वर्चसा ।
अवतम् ॥ ३६ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! जिस वर्चसे जघन महानघ्न्या है जिस वर्चसे सुरा और अक्षोंका अभिषेचन हुआ है उस वर्चसे तुम मेरी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ।

यः । अनिध्मः । दीदयत् । अप्ऽसु । अन्तः । यम् । विप्रासः ।
ईडते । अध्वरेषु ।

अपाम् । नपात् । मधुऽमतीः । अपः । दाः । याभिः । इन्द्रः ।
वावृधे । वीर्य्यऽवान् ॥ ३७ ॥

जो प्रज्वलित न होने पर भी जलोंके भीतर हिंसा करता है और ब्राह्मण यज्ञमें जिसकी स्तुति करते हैं जो जलोंका रक्षक है ऐसे हे लोष्ट ! तू मधुमय जलको दे कि-जिससे वीर्यवान् इन्द्र बढ़ता है ॥ ३७ ॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥

इदम् । अहम् । रुशन्तम् । ग्राभम् । तनूऽदूषिम् । अप । ऊहामि ।
यः । भद्रः । रोचनः । तम् । उत् । अचामि ॥ ३८ ॥

मैं जो ग्राहक हिंसक शरीरको दूषित करने वाला (मल) है उसको दूर करता हूँ और जो कल्याणप्रद कान्ति देने वाला पदार्थ है उसको प्राप्त करता हूँ ॥ ३८ ॥

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च

आ । अस्यै । ब्राह्मणाः । स्नपनीः । हरन्तु । अवीरऽघ्नीः । उत् ।
अजन्तु । आपः ।
अर्यम्णः । अग्निम् । परि । एतु । पूषन् । प्रति । ईक्षन्ते । श्वशुरः ।
देवरः । च ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण इसके लिये स्नान कराने वाले जल लावें और वीरों

का हनन न करने वाले जल इसको प्राप्त होवें, हे पूषन्! यह अर्यमासे अग्निको प्राप्त हो इसके श्वशुर और देवर इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ३९ ॥

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।

शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥ ४० ॥

शम् । ते । हिरण्यम् । शम् । ऊं इति । सन्तु । आपः । शम् । मेथिः । भवतु । शम् । युगस्य । तर्द्म ।

शम् । ते । आपः । शतऽपवित्राः । भवन्तु । शम् । ऊं इति । पत्या । तन्वम् । सम् । स्पृशस्व ॥ ४० ॥

सुवर्ण तेरे लिये सुखकारी हो, जल तेरे लिये सुखदायक हों आक्रोश तेरे लिये सुखप्रद हो, और युगका तर्द्म तेरे लिये सुखप्रद हो, सैंकड़ोंको पवित्र करने वाले जल तेरे लिये सुखप्रद हों और तू कल्याण पाती हुई अपने पतिसे शरीरका स्पर्श कर ॥ ४० ॥ (५)

खे रथस्य खेनसः खे युगस्य शतक्रतो ।

अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

खे । रथस्य । खे । अनसः । खे । युगस्य । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । अपालाम् । इन्द्र । त्रिः । पूत्वा । अकृणोः । सूर्यऽत्वचम् ॥४१॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! रथके आकाशमें, गाड़ीके आकाशमें, मैंने

अपालाको तीन वार पवित्र करके सूर्यकी समान त्वचा वाली कर दिया है ॥ ४१ ॥

आशासांना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

आऽशासाना । सौमनसम् । प्रऽजाम् । सौभाग्यम् । रयिम् ।
पत्युः । अनुऽव्रता । भूत्वा । सम् । नह्यस्व । अमृताय । कम् ४२

तू मनकी प्रसन्नताको,प्रजाको सौभाग्यको और धनको चाहती हुई पतिके अनुकूल रह अमृतत्वके इस सुखको बाँध ॥ ४२ ॥

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥ ४३ ॥

यथा । सिन्धुः । नदीनाम् । साम्ऽराज्यम् । सुषुवे । वृषा ।
एव । त्वम् । सम्ऽराज्ञी । एधि । पत्युः । अस्तम् । पराऽइत्य ४३

जैसे रत्नोंकी वर्षा करने वाला समुद्र नदियोंके साम्राज्यको भोगता है, इसी प्रकार तू भी पतिके घरमें जाकर सम्राज्ञी बन कर रह ॥ ४३ ॥

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥ ४४ ॥

सम्ऽराज्ञी । एधि । श्वशुरेषु । सम्ऽराज्ञी । उत । देवृषु ।
ननान्दुः । सम्ऽराज्ञी । एधि । सम्ऽराज्ञी । उत । श्वश्र्वाः ४४

तू श्वशुरोंमें साम्राज्ञी बन कर रह, तू देवरोंमें साम्राज्ञी बन

कर रह, तू ननदोंमें साम्राज्ञी बनकर रह और तू सासोंमें साम्राज्ञी बन कर रह ॥ ४४ ॥

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः

याः । अकृन्तन् । अवयन् । याः । च । तत्निरे । याः । देवीः । अन्तान् । अभितः । अददन्त ।

याः । त्वा । जरसे । सम् । व्ययन्तु । आयुष्मती । इदम् । परि । धत्स्व । वासः ॥ ४५ ॥

जिन स्त्रियोंने इस वस्त्रको काता है बुना है फैलाया है और इनको पूर्ण किया है, वे देवियें तुझको बुढ़ापे तक पहुँचावें, हे आयुष्मति ! तू इस वस्त्रको पहिर ॥ ४५ ॥

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥ ४६ ॥

जीवम् । रुदन्ति । वि । नयन्ति । अध्वरम् । दीर्घाम् । अनु । प्रऽसितिम् । दीध्युः । नरः ।

धामम् । पितृऽभ्यः । ये । इदम् । सम्ऽईरिरे । मयः । पतिऽभ्यः ।
जनये । परिऽस्वजे ॥ ४६ ॥

जब पुरुष कन्यारूप यज्ञको लेजाते हैं तो पुरुष विशाल सन्तान-तन्तुरूप कन्याका शोक करने लगता है उस समय इसके घरके प्राणी उस जीवके लिये रोते हैं, हे वधू ! जो इसको करते हैं वे पितरोंके लिये धाम करते हैं अत एव तू पालक श्वशुर आदिके लिये और उत्पादक मातृकुलके लिये आलिंगन कर ॥ ४६ ॥

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ ४७ ॥

स्योनम् । ध्रुवम् । प्रऽजायै । धारयामि । ते । अश्मानम् । देव्याः ।
पृथिव्याः । उपऽस्थे ।
तम् । आ । तिष्ठ । अनुऽमाद्या । सुऽवर्चाः । दीर्घम् । ते । आयुः ।
सविता । कृणोतु ॥ ४७ ॥

मैं इस सुखप्रद ध्रुव पत्थरको पृथ्वीदेवीकी गोदमें स्थापित करता हूँ. तू सुन्दर कान्ति वाली और प्रसन्न करती हुई इस पत्थर पर बैठ सविता देवता तेरी आयुको बड़ी करें ॥ ४७ ॥

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥ ४८ ॥

येन । अग्निः । अस्याः । भूम्याः । हस्तम् । जग्राह । दक्षिणम् ।

तेन । गृह्णामि । ते । हस्तम् । मा । व्यथिष्ठाः । मया । सह । प्रऽजया । च । धनेन । च ॥ ४८ ॥

जिस आशयसे अग्निदेवने इस भूमिके दाहिने हाथको पकड़ा है उसी भावसे मैं तेरे हाथको पकड़ता हूं, तू व्यथित न हो मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ॥ ४८ ॥

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु

देवः । ते । सविता । हस्तम् । गृह्णातु । सोमः । राजा । सुऽप्रजसम् । कृणोतु ।

अग्निः । सुऽभगाम् । जातऽवेदाः । पत्ये । पत्नीम् । जरत्ऽअष्टिम् । कृणोतु ॥ ४९ ॥

सविता देवता तेरे हाथको ग्रहण करें अर्थात् सविता देवताकी समान मैं तेरे हाथको पकड़ता हूं, राजा सोम तुझको सुन्दर प्रजा वाली करें, जातवेदा अग्नि तुझको सौभाग्यवती और पतिके साथ बुढ़ापे तक रहने वाली करें ॥ ४९ ॥

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः

गृह्णामि । ते । सौभगऽत्वाय । हस्तम् । मया । पत्या । जरत्ऽअष्टिः । यथा । असः ।

भगः । अर्यमा । सविता । पुरम्ऽधिः । मह्यम् । त्वा । अदुः ।

गार्हऽपत्याय । देवाः ॥ ५० ॥

हे कन्ये ! जिस प्रकार तू मुझ पतिके साथ बुढ़ापे तक रहे इस प्रकार मैं तेरे हाथको सौभाग्यके लिये ग्रहण करता हूँ, । भगदेवता अर्यमा देवता सविता देवता और लक्ष्मीने तुझको गृहस्थाश्रमके लिये मुझको दिया है ॥ ५० ॥ (५)

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ ५१ ॥

भगः । ते । हस्तम् । अग्रहीत् । सविता । हस्तम् । अग्रहीत् ।

पत्नी । त्वम् । असि । धर्मणा । अहम् । गृहऽपतिः । तव ॥ ५१ ॥

भगदेवताने तेरे हाथको पकड़ा है, सविता देवताने तेरे हाथको पकड़ा है अर्थात् मेरे रूपमें इन देवताओंने ही तुझ पर अनुग्रह किया है, तू धर्मपूर्वक मेरी पत्नी है और मैं तेरा गृहपति हूँ ५१

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।

मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥५२॥

मम । इयम् । अस्तु । पोष्या । मह्यम् । त्वा । अदात् । बृहस्पतिः ।

मया । पत्या । प्रजाऽवति । सम् । जीव । शरदः । शतम् ॥५२॥

यह मेरी पोष्या हो, बृहस्पति देवताने तुझको मुझे दिया है, मुझ पतिके साथ तू प्रजासे सम्पन्न रहती हुई सौ वर्ष तक जीवित रह

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्

तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया

त्वष्टा । वासः । विः । अदधात् । शुभे । कम् । बृहस्पतेः । प्रऽशिषा । कवीनाम् ।

तेन । इमाम् । नारीम् । सविता । भगः । च । सूर्याम्ऽइव । परि । धत्ताम् । प्रऽजया ॥ ५२ ॥

हे शुभे ! बृहस्पतिदेवकी और बुद्धिमानोंकी आज्ञानुसार त्वष्टाने इस सुखप्रद वस्त्रको बनाया है सविता देवता और भग देवता सूर्याकी समान इस वस्त्रसे इस नारीको प्रजाके द्वारा पुष्ट करें ॥ ५३ ॥

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।

बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ५४

इन्द्राग्नी इति । द्यावापृथिवी इति । मातरिश्वा । मित्रावरुणा । भगः । अश्विना । उभा ।

बृहस्पतिः । मरुतः । ब्रह्म । सोमः । इमाम् । नारीम् । प्रऽजया । वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

इन्द्र अग्नि द्यावापृथिवी वायु मित्र वरुण भग दोनों—अश्विनी-कुमार बृहस्पति मरुद्गण ब्रह्म और सोम देवता इस नारीको प्रजासे बढ़ावें ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥५५॥

बृहस्पतिः । प्रथमः । सूर्यायाः । शीर्षे । केशान् । अकल्पयत् ।
तेन । इमाम् । अश्विना । नारीम् । पत्ये । सम् । शोभयामसि

हे अश्विनीकुमारों ! देवताओंमें प्रथम बृहस्पतिने सूर्याके शिर में केशोंको ठीक किया था, इस वस्त्रके द्वारा और बृहस्पतिके उस कृत्यके अनुसार उस नारीको पतिके लिये सुशोभित करते हैं

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥ ५६ ॥

इदम् । तत् । रूपम् । यत् । अवस्त । योषा । जायम् । जिज्ञासे ।
मनसा । चरन्तीम् ।
ताम् । अनु । अर्तिष्ये । सखिऽभिः । नवऽग्वैः । कः । इमान् ।
विद्वान् । वि । चचर्त । पाशान् ॥ ५६ ॥

यह वह रूप है जिसको योषा धारण करती है मैं इस मनमें विचार करती हुई योषाको जानता हूँ, मैं इसकी नवीन गति वाली सखियोंके अनुकूल चलूँगा, किस विद्वान्ने इन केशोंको गूँथा है ॥ ५६ ॥

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।

न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अहम् । वि । स्यामि । मयि । रूपम् । अस्याः । वेदत् । इत् । पश्यन् । मनसः । कुलायम् ।

न । स्तेयम् । अद्मि । मनसा । उत् । अमुच्ये । स्वयम् । श्रथ्नानः ।

वरुणस्य । पाशान् ॥ ५७ ॥

मैं इसके मनके घरको जानता हुआ और इसके रूपको देखता हुआ उसको अपनेमें बाँधता हूँ मैं चोरीका उपभोग नहीं करता हूँ मन लगाकर स्वयं गूँथता हुआ वरुणके पाशोंको खोलता हूँ ५७

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः ।

उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु

प्र । त्वा । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । येन । त्वा । अबध्नात् ।

सविता । सुऽशेवाः ।

उरुम् । लोकम् । सुऽगम् । अत्र । पन्थाम् । कृणोमि । तुभ्यम् ।

सहऽपत्न्यै । वधु ॥ ५८ ॥

सविता देवताने जिस वरुणपाशसे तुझको बाँध दिया था उस वरुणके पाशसे सुखको देने वाला मैं तुझको छुड़ाता हूँ । हे वधू ! मैं तुझ पत्नीके साथ विशाल लोकके मार्गको सुगम करता हूँ

उदेन्त्युद्ध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥ ५९ ॥

उत्। उन्धम्। अप। रक्षः। हनाथ। इमाम्। नारीम्। सुऽकृते। दधात।
धाता। विपःऽचित्। पतिम्। अस्यै। विवेद। भगः। राजा। पुरः। एतु। प्रऽजानन् ॥ ५९ ॥

जलप्रदान करिये, राक्षसोंका संहार करिये और इस नारीको पुण्यमें स्थापित करिये, विद्वान् धाताने इसको पति प्राप्त कराया है विद्वान् राजा भग इसके सामने आवें ॥ ५९ ॥

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ ६० ॥

भगः। ततक्ष। चतुरः। पादान्। भगः। ततक्ष। चत्वारि। उष्पलानि।
त्वष्टा। पिपेश। मध्यतः। अनु। वर्ध्रान्। सा। नः। अस्तु। सुऽमङ्गली ॥ ६० ॥

भग देवताने इसके चारों पादोंको और चारों उष्पलोंको तयार किया है और मध्यमें वर्ध्रोंको तयार किया है वह हमें सुमंगल देने वाली हो ॥ ६० ॥

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥ ६१ ॥

सुऽकिंशुकम् । वहतुम् । विश्वऽरूपम् । हिरण्यऽवर्णम् । सुऽवृतम् । सुऽचक्रम् ।

आ । रोह । सूर्ये । अमृतस्य । लोकम् । स्योनम् । पतिऽभ्यः । वहतुम् । कृणु । त्वम् ॥ ६१ ॥

हे सूर्ये-वधू ! मनुष्योंको भली प्रकार दमकाने वाले अनेक प्रकारके वर्णसे सम्पन्न, सुखपूर्वक वरण करने योग्य, सुदीप्ति-सम्पन्न दहेज पर तू आरोहण करे और इस जलस्थानकी समान विशाल दहेजको तू श्वशुर सास पति आदि पालकोंके लिये सुखप्रद कर ॥ ६१ ॥

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते ।
इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥

अभ्रातृऽघ्नीम् । वरुण । अपशुऽघ्नीम् । बृहस्पते ।

इन्द्र । अपतिऽघ्नीम् । पुत्रिणीम् । आ । अस्मभ्यम् । सवितः । वह ॥ ६२ ॥

हे वरुण ! हे बृहस्पते ! हे इन्द्र ! और हे सविता देव ! आप इस वधूको भ्राता पशु और पतिको क्षति न पहुँचाने वाली और पुत्रोंसे सम्पन्न होने वालीके रूपमें प्राप्त हमें कराइये ॥ ६२ ॥

मा हिंसिष्टं कुमार्यं१ स्थूणे देवकृते पथि ।

शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥६३॥

मा । हिंसिष्टम् । कुमार्यम् । स्थूणे इति । देवऽकृते । पथि ।

शालायाः । देव्याः । द्वारम् । स्योनम् । कृण्मः । वधूऽपथम् ६३

हे देव ! देवकृत स्थूण मार्गमें कुमारीका वहन करने वाले रथ को क्षति न पहुँचाइये, हम शालादेवीके द्वार पर वधूके मार्गको सुखदायक बनाते हैं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः

अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥ ६४ ॥

ब्रह्म । अपरम् । युज्यताम् । ब्रह्म । पूर्वम् । ब्रह्म । अन्ततः ।

मध्यतः । ब्रह्म । सर्वतः ।

अनाव्याधाम् । देवऽपुराम् । प्रऽपद्य । शिवा । स्योना । पतिऽलोके । वि । राज ॥ ६४ ॥

प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इति प्रथमोनुवाकः ॥

ब्राह्मण (वा मंत्र) आगे पीछे भीतर मध्यमें और सब ओर रहें, तू व्याधियोंसे रहित और जिसमें पहिले देवता रहते हैं ऐसी शालाको प्राप्त होकर पतिके घरमें कल्याण करती हुई और सुख देती हुई दमकती रह ॥ ६४ ॥ (६)

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५११)

प्रथम अनुवाक समाप्त ।

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

तुभ्यम् । अग्रे । परि । अवहन् । सूर्याम् । वहतुना । सह ।
सः । नः । पतिऽभ्यः । जायाम् । दाः । अग्ने । प्रऽजया । सह १

हे अग्निदेव ! आपके लिये ही पहिले समयमें दहेजके साथ सूर्याको लाये थे, वह आप हम पालकोंको प्रजाके साथ जाया दीजिये ॥ १ ॥

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥

पुनः । पत्नीम् । अग्निः । अदात् । आयुषा । सह । वर्चसा ।
दीर्घऽआयुः । अस्याः । यः । पतिः । जीवाति । शरदः । शतम् २

अग्निने हमको आयु और वर्चके साथ पत्नी दी है अब इसका जो पति है वह दीर्घायु हो और सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ २ ॥

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेपरः पतिः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥

सोमस्य । जाया । प्रथमम् । गन्धर्वः । ते । अपरः । पतिः ।
तृतीयः । अग्निः । ते । पतिः । तुरीयः । ते । मनुष्यऽजाः ॥३॥

तू पहिले सोमकी जाया हुई फिर गंधर्व तेरा दूसरा रक्षक हुआ अग्नि तेरा तीसरा रक्षक हुआ चौथा मनुष्यसे उत्पन्न हुआ मैं तेरा चौथा पति हूं ॥ ३ ॥

सोमो॑ दददग्गन्धर्वाय॑ गन्धर्वो द॑ददग्नये॑ ।
र॒यिं च॑ पु॒त्रांश्चा॑दाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम् ॥ ४ ॥

सोमः । दुदुत् । गन्धर्वाय । गन्धर्वः । ददुत् । अग्नये ।
रयिम् । च । पुत्रान् । च । अदात् । अग्निः । मह्यम् । अथो इति ।
इमाम् ॥ ४ ॥

सोमने गंधर्वको दिया, गंधर्वने तुमको अग्निके अर्पण किया अग्नि-
देवने मुझको इसको तथा धन और पुत्रोंको दिया है ॥ ४ ॥

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑
अरंसत ।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्यां॑
अशीमहि ॥ ५ ॥

आ । वाम् । अगन् । सुऽमतिः । वाजिनीवसू इति वाजिनीऽवसू ।
नि । अश्विना । हृत्ऽसु । कामाः । अरंसत ।
अभूतम् । गोपा । मिथुना । शुभः । पती इति । प्रियाः । अर्यम्णः ।
दुर्यान् । अशीमहि ॥ ५ ॥

हे उषःकालके धनसे सम्पन्न अश्विनीकुमारो ! जो कामनाएँ
तुम्हारे हृदयमें रमण करती रहती हैं वह और तुम्हारी अनुग्रहा-
त्मिका शुभ बुद्धि हमको प्राप्त हो, हे शुभस्पती अश्विनीकुमारो ! तुम
हमारे रक्षक बनो और प्रिय बनो हम सूर्यदेवके प्रतापसे घरोंको भोगें

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥ ६ ॥

सा । मन्दसाना । मनसा । शिवेन । रयिम् । धेहि । सर्वऽवीरम् । वचस्यम् ।
सुऽगम् । तीर्थम् । सुऽप्रपानम् । शुभः । पती इति । स्थाणुम् । पथिऽस्थाम् । अप । दुःऽमतिम् । हतम् ॥ ६ ॥

वह तू कल्याणमय प्रसन्न मनसे सब वीरोंसे सम्पन्न प्रशस्य धनको पुष्ट कर हे शोभन अलंकारको धारण करने वाले अश्विनीकुमारों ! तुम इस सुप्रपान तीर्थको सुगम करो मार्गमें स्थित स्थाणु को और दुर्मतिको नष्ट करो ॥ ६ ॥

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना ।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

याः । ओषधयः । याः । नद्यः । यानि । क्षेत्राणि । या । वना ।
ताः । त्वा । वधु । प्रजाऽवतीम् । पत्ये । रक्षन्तु । रक्षसः ॥७॥

हे वधु ! जो औषधियें नदियें क्षेत्र और वन हैं वे तुझको प्रजा से सम्पन्न करें और पतिके लिये राक्षससे रक्षित रक्खें ॥ ७ ॥

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।
यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥

आ । इमम् । पन्थाम् । अरुक्षाम । सुऽगम् । स्वस्तिवाहनम् ।

यस्मिन् । वीरः । न । रिष्यति । अन्येषाम् । विन्दते । वसु ८

कल्याणमय वाहन वाले हम इस सुगम मार्गमें चढ़ते हैं, इस मार्गमें वीर मारा नहीं जाता और दूसरोंके धनको पाता है॥८॥

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममंश्नुतः।
ये गन्धर्वा अप्सरसंश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येधिं तस्थुः।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भंवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम्

इदम् । सु । मे । नरः । शृणुत । यया । आऽशिषा । दंपती इति

दम्ऽपती । वामम् । अश्नुतः ।

ये । गन्धर्वाः । अप्सरसः । च । देवीः । एषु । वानस्पत्येषु ।

ये । अधि । तस्थुः ।

स्योनाः । ते । अस्यै । वध्वै । भवन्तु । मा । हिंसिषुः । वहतुम् ।

उह्यमानम् ॥ ९ ॥

हे मनुष्यो ! तुम मेरी इस वाणीको सुनो, कि-जिस आशीर्वाद से दम्पति श्रेष्ठ पदार्थोंको भोग सकेंगे कि-जो इन वनस्पतियोंमें गंधर्व अप्सरा देवी हैं वे इस वधूके लिये सुखप्रद हों और इस ले जाये जाते हुए दहेजको नष्ट न करें ॥ ९ ॥

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः १०

ये । वध्वः । चन्द्रम् । वहतुम् । यक्ष्माः । यन्ति । जनान् । अनु ।

पुनः । तान् । यज्ञियाः । देवाः । नयन्तु । यतः । आऽगताः । १०

जो नाशक कारण वधूको चन्द्रमाकी समान आल्हाद देने वाले दहेजके लिये मनुष्योंकी ओर आरहे हैं, यज्ञिय देवता फिर उनको वहाँ लेजावें, कि–जहाँसे वे आरहे हैं ॥ १० ॥ (७)

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।

सुगेन दुर्गमतीतामपं द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥

मा । विदन् । परिऽपन्थिनः । ये । आऽसीदन्ति । दंपती इति दम्ऽपती ।

सुऽगेन । दुःऽगम् । अति । इताम् । अप । द्रान्तु । अरातयः ११

जो डाँकू दम्पतिके पास आना चाहते हैं वे दम्पतीको न पा सकें हम सुगमतासे इस दुर्गम मार्गको लाँघ जावें हमारे शत्रु कुत्सित गतिको प्राप्त होवें ॥ ११ ॥

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥ १२ ॥

सम् । काशयामि । वहतुम् । ब्रह्मणा । गृहैः । अघोरेण । चक्षुषा । मित्रियेण ।

परिऽआनद्धम् । विश्वऽरूपम् । यत् । अस्ति । स्योनम् । पतिऽभ्यः ।
सविता । तत् । कृणोतु ॥ १२ ॥

मैं मंत्रके द्वारा ग्रहोंके द्वारा और घोरतारहित मित्रकी समान स्निग्धता भरे नेत्रके द्वारा दहेजको दीप्त करता हूँ, इसमें जो अनेक वर्णके पदार्थ हैं सविता देवता उनको पालकोंके लिये सुखप्रद करें

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥ १३ ॥

शिवा । नारी । इयम् । अस्तम् । आ । अगन् । इमम् । धाता । लोकम् । अस्यै । दिदेश ।
ताम् । अर्यमा । भगः । अश्विना । उभा । प्रजाऽपतिः । प्रऽजया । वर्धयन्तु ॥ १३ ॥

यह कल्याणकारिणी नारी गृहमें आगई है धाताने इसके लिये यह घररूपलोक निर्दिष्ट किया है ऐसी वधूको अर्यमा अश्विनीकुमार भग और प्रजापति देवता प्रजासे बढ़ावें ॥१३॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥ १४ ॥

आत्मन्ऽवती । उर्वरा । नारी । इयम् । आ । अगन् । तस्याम् । नरः । वपत । बीजम् । अस्याम् ।

सा । वः । प्रऽजाम् । जनयत् । वक्षणाभ्यः । बिभ्रती । दुग्धम् ।
ऋषभस्य । रेतः ॥ १४ ॥

यह आत्मन्वती उर्वरा नारी आगई है, हे नर ! तू इसमें बीज को बो, यह ऋषभकी समान तेरे वीर्य और दुग्धको धारण करती हुई वक्षणाओंसे तुम्हारे लिये प्रजाको उत्पन्न करे ॥ १४ ॥

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ १५ ॥

प्रति । तिष्ठ । विऽराट् । असि । विष्णुःऽइव । इह । सरस्वति ।
सिनीवालि । प्र । जायताम् । भगस्य । सुऽमतौ । असत् ॥ १५ ॥

हे सरस्वति ! तू प्रतिष्ठित हो तू विष्णुकी समान विराट् है, हे सिनीवालि ! तू भग देवताकी सुमतिमें रह और तुझमें सन्तान उत्पन्न होवे ॥ १५ ॥

उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।
मादुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥ १६ ॥

उत् । वः । ऊर्मिः । शम्याः । हन्तु । आपः । योक्त्राणि । मुञ्चत ।
मा । अदुःऽकृतौ । विऽएनसौ । अघ्न्यौ । अशुनम् । आ । अरताम्

हे जलो ! जो तुम्हारी ऊर्मकी लहर है उसको अब शान्त करो, लगामोंको छोड़ दो, ये दुष्कृत रहित और विपाप अतएव न पीटने योग्य वाहन अशुनका आरंभ न करें ॥ १६ ॥

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः

वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना १७

अघोरऽचक्षुः । अपतिऽघ्नी । स्योना । शग्मा । सुऽशेवा । सुऽयमा । गृहेभ्यः ।

वीरऽसूः । देवृऽकामा । सम् । त्वया । एधिषीमहि । सुऽमनस्यमाना

हे वधु ! तू मनमें प्रसन्न होती हुई, वीर पुत्रोंको उत्पन्न करने के लिये, देवृकामा और स्निग्ध दृष्टि रखती हुई, पतिको क्षति न पहुँचाती हुई सबको वशमें रखती हुई सुखदायिनी बन कर गृहको प्राप्त हो हम तुझसे वृद्धिको प्राप्त होवें ॥ १७ ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य

अदेवृऽघ्नी । अपतिऽघ्नी । इह । एधि । शिवा । पशुऽभ्यः । सुऽयमा । सुऽवर्चाः ।

प्रजाऽवती । वीरऽसूः । देवृऽकामा । स्योना । इमम् । अग्निम् । गार्हऽपत्यम् । सपर्य ॥ १८ ॥

तू देवर और पतिको क्षति न पहुँचाती हुई, पशुओंके लिये कल्याणकारिणी रहती हुई, सुन्दर कांतिसे सम्पन्न रहती हुई, नियममें रहती हुई प्रजासे सम्पन्न रहती हुई वीरोंको उत्पन्न करती हुई, सुखदायिनी बनती हुई देवरका हित चाहती हुई इस अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।

शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥ १९ ॥

उत् । तिष्ठ । इतः । किम् । इच्छन्ती । इदम् । आ । अगाः । अहम् । त्वा । ईडे । अभिऽभूः । स्वात् । गृहात् ।

शून्यऽएषी । निःऽऋते । या । आऽजगन्थ । उत् । तिष्ठ । अराते । प्र । पत । मा । इह । रंस्थाः ॥ १९ ॥

हे निर्ऋते ! तू यहाँसे उठ, तू किस वस्तुकी चाहनासे यहाँ आई है, अपने घरसे तिरस्कार करता हुआ मैं तेरा सत्कार करता हूँ, तू शून्यकी इच्छा करती हुई जो आई है, सो हे शत्रुरूपिणी ! तू उठ, यहाँ रमण न कर ॥ १९ ॥

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २० ॥

यदा । गार्हऽपत्यम् । असपर्यैत् । पूर्वम् । अग्निम् । वधूः । इयम् । अध । सरस्वत्यै । नारि । पितृभ्यः । च । नमः । कुरु ॥ २० ॥

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेसे पहिले यह वधू अग्निकी पूजा कर रही है, अब हे नारि ! तू सरस्वती देवीके लिये और पितरोंके लिये प्रणाम कर ॥ २० ॥ (=)

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥

शर्म । वर्म । एतत् । आ । हर । अस्यै । नार्यै । उपऽस्तरे ।

सिनीवालि । प्र । जायताम् । भगस्य । सुऽमतौ । असत् ॥२१॥

इस नारीके लिये आसनरूप मृगचर्ममें कल्याण और रक्षाको ला, यह भग देवताकी प्रसन्नतामें रहे अर्थात् सौभाग्यसे सम्पन्न रहे, हे सिनीवालि! यह सन्तानको उत्पन्न करती रहे ॥ २१ ॥

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन ।

तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् २२

यम् । बल्बजम् । निऽअस्यथ । चर्म । च । उपऽस्तृणीथन ।

तत् । आ । रोहतु । सुऽप्रजाः । या । कन्या । विन्दते । पतिम् २२

तुम जिस तृणको रख रहे हो और मृगचर्मको रख रहे हो, उस पर सुन्दर प्रजासे सम्पन्न होने वाली और पतिको प्राप्त होने वाली कन्या आरोहण करे ॥ २२ ॥

उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते ।

तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥

उप । स्तृणीहि । बल्बजम् । अधि । चर्मणि । रोहिते ।

तत्र । उपऽविश्य । सुऽप्रजाः । इमम् । अग्निम् । सपर्यतु ॥२३॥

रोहितमृगके चर्म पर बल्बजको फैलाओ, उसके ऊपर बैठ कर यह सुप्रजा नारी अग्निकी पूजा करे ॥ २३ ॥

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः

आ । रोह । चर्म । उप । सीद । अग्निम् । एषः । देवः । हन्ति । रक्षांसि । सर्वा ।

इह । प्रऽजाम् । जनय । पत्ये । अस्मै । सुऽज्यैष्ठ्यः । भवत् । पुत्रः । ते । एषः ॥ २४ ॥

तू मृगचर्म पर आरोहण कर और इन अग्निदेवके समीप बैठ। यह देव सब राक्षसोंका संहार करते हैं, तू इस घरमें पतिके लिये सन्तानको उत्पन्न कर, यह तेरा पुत्र ज्येष्ठ होगा ॥ २४ ॥

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् २५

वि । तिष्ठन्ताम् । मातुः । अस्याः । उपऽस्थात् । नानाऽरूपाः । पशवः । जायमानाः ।

सुऽमङ्गली । उप । सीद । इमम् । अग्निम् । सम्ऽपत्नी । प्रति । भूष । इह । देवान् ॥ २५ ॥

इस माताकी गोदीसे अनेक प्रकारके जीव प्रकट होकर इसमें बैठें, हे सुमंगली ! तू इन अग्निदेवके समीप बैठ और इन सब देवताओंको अलंकृत कर ॥ २५ ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥

सुऽमङ्गली । प्रऽतरणी । गृहाणाम् । सुऽशेवा । पत्ये । श्वशुराय । शम्ऽभूः ।

स्योना । श्वश्र्वै । प्र । गृहान् । विश । इमान् ॥ २६ ॥

तू सुमंगली और घरको चलाने वाली, पतिके लिये सुख देने वाली और श्वशुरके लिये कल्याणकारिणी और सासको सुख देने वाली रहती हुई उस घरमें प्रवेश कर ॥ २६ ॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।

स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ।२७'

स्योना । भव । श्वशुरेभ्यः । स्योना । पत्ये । गृहेभ्यः ।

स्योना । अस्यै । सर्वस्यै । विशे । स्योना । पुष्टाय । एषाम् । भव

तू श्वशुरोंके लिये कल्याणकारिणी रह, पतिके लिये और घरके लिये सुखद रह, सब प्रजाको सुख देती रह और इनकी पुष्टिके लिये इनको सुखदायिनी हो ॥ २७ ॥

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।

सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥

सुऽमङ्गलीः । इयम् । वधूः । इमाम् । सम्ऽएत । पश्यत ।

सौभाग्यम् । अस्यै । दत्त्वा । दौःऽभाग्यैः । विऽपरेतन ॥ २८ ॥

यह वधू सुमंगली है, मिल कर आओ, इसको देखो, इसको सौभाग्य देकर दौर्भाग्योंको ले जाओ ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।

वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥

याः । दुःऽहार्दः । युवतयः । याः । च । इह । जरतीः । अपि

वर्चः । नु । अस्यै । सम् । दत्त । अथ । अस्तम् । विऽपरेतन २९

जो दूषित हृदय वाली स्त्रियें हैं और जो बूढ़ी स्त्रियें हैं वे इसके लिये तेज देकर अपने घरको लौट जावें ॥ २९ ॥

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ३०

रुक्मऽप्रस्तरणम् । वह्यम् । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतम् ।
आ । अरोहत् । सूर्या । सावित्री । बृहते । सौभगाय । कम् ३०

मनको रुचने वाले बिछौने वाले अनेक प्रकारके रूपोंको धारण करने वाले इस विशाल (पलंग) पर सूर्यकी पुत्री सूर्याने सुख पानेके लिये आरोहण किया था ॥ ३० ॥ (१)

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥ ३१ ॥

आ । रोह । तल्पम् । सुऽमनस्यमाना । इह । प्रऽजाम् । जनय । पत्ये । अस्मै ।
इन्द्राणीऽइव । सुऽबुधा । बुध्यमाना । ज्योतिःऽअग्राः । उषसः । प्रति । जागरासि ॥ ३१ ॥

तू प्रसन्न मनसे इस शय्या पर आरोहण कर और इस पतिके लिये यहाँ प्रजाको उत्पन्न कर तू इन्द्राणीकी समान बुद्धिसे सम्पन्न रहकर समझती रह और प्रत्येक उषःकालमें जागती रह

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥ ३२ ॥

देवाः । अग्रे । नि । अपद्यन्त । पत्नीः । सम् । अस्पृशन्त । तन्वः । तनूभिः ।
सूर्याऽइव । नारि । विश्वऽरूपा । महिऽत्वा । प्रजाऽवती । पत्या । सम् । भव । इह ॥ ३२ ॥

देवताओंने भी पहिले (इसी प्रकार पर्यंक पर) आरोहण किया था और अपने अंगोंको पत्नीके अंगोंसे स्पर्श कराया था, हे नारी ! तू विश्वरूपा सूर्याकी समान अपनी महिमासे पतिके साथ रह और प्रजासम्पन्न रह ॥ ३२ ॥

उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ ३३ ॥

उत् । तिष्ठ । इतः । विश्वावसो इति विश्वऽवसो । नमसा । ईडामहे । त्वा ।
जामिम् । इच्छ । पितृऽसदम् । निऽअक्ताम् । सः । ते । भागः । जनुषा । तस्य । विद्धि ॥ ३३ ॥

हे विश्वावसो ! यहाँसे उठ, हम प्रणामके द्वारा तेरा सत्कार

करते हैं, जिसके पास जाती हुई जामिनकी इच्छा कर वही तेरा भाग है उसके प्रादुर्भावको तू जान ॥ २३ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥ २४ ॥

अप्सरसः। सधऽमादम्। मदन्ति। हविःऽधानम्। अन्तरा। सूर्यम्। च।
ताः। ते। जनित्रम्। अभि। ताः। परा। इहि। नमः। ते। गन्धर्वऽऋतुना। कृणोमि ॥ २४ ॥

अप्सरायें, जहाँ प्राणी साथ २ प्रसन्न होते हैं उस स्थानमें हविर्धानके समय और सूर्यके समय हर्षमें भर जाती हैं, वह तेरे प्रकट होनेका स्थान है उनको ही तू प्राप्त हो, तेरे लिये प्रणाम है मैं तुझे गंधर्वोंके गमनके साथ भेजता हूं ॥ २४ ॥

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुसे च कृण्मः।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोभि जाया अप्सरसः परेहि

नमः। गन्धर्वस्य। नमसे। नमः। भामाय। चक्षुषे। च। कृण्मः।
विश्वावसो इति विश्वऽवसो। ब्रह्मणा। ते। नमः। अभि।
जायाः। अप्सरसः। परा। इहि ॥ २५ ॥

गंधर्वकी हविके लिये प्रणाम है और हम उनके क्रोधमें भरे हुए नेत्रके लिये भी प्रणाम करते हैं; हे विश्वावसो ! आप मंत्रशक्ति

के कारण और मणाओंके कारण इस स्त्रीको अप्सराओंसे दूर रखिये ॥ २५ ॥

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः

राया । वयम् । सुऽमनसः । स्याम । उत् । इतः । गन्धर्वम् । आ ।
अवीवृताम ।
अगन् । सः । देवः । परमम् । सधऽस्थम् । अगन्म । यत्र ।
प्रऽतिरन्ते । आयुः ॥ २६ ॥

हम प्रसन्नताके देने वाले होवें; यहाँसे हम गंधर्वोंको ऊपरको भेजते हैं, यह देव परम सधस्थको प्राप्त होगया है और हम भी जहाँ आयु विस्तीर्ण होती है उस स्थान पर पहुँच गए हैं ॥२६॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः
मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं
रयिम् ॥ २७ ॥

सम् । पितरौ । ऋत्विये इति । सृजेथाम् । माता । पिता । च ।
रेतसः । भवाथः ।
मर्यःऽइव । योषाम् । अधि । रोहय । एनाम् । प्रऽजाम् । कृण्वा-
थाम् । इह । पुष्यतम् । रयिम् ॥ २७ ॥

तुम दोनों माता पिता बननेके लिये ऋतुकालमें सक्त हुआ करना, तुम वीर्यके द्वारा माता पिता बनो, जैसे मनुष्य स्त्री पर

आरोहण करते हैं इस प्रकार आप इस स्त्री पर आरोहण करिये, तुम दोनों प्रजाको उत्पन्न करो और धनको पुष्ट करो ॥ ३७ ॥

तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति
या नं ऊरू उंशती विश्रयांति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः

ताम् । पूषन् । शिवऽतमाम् । आ । ईरयस्व । यस्याम् । बीजम् ।
मनुष्याः । वपन्ति ।

या । नः । ऊरू इति । उशती । विऽश्रयाति । यस्याम् । उशन्तः । प्रऽहरेम । शेपः ॥ ३८ ॥

हे पूषन् ! जिसमें मनुष्य बीजका वपन करते हैं उस कल्याणकारिणी स्त्रीको प्रेरित करिये, जो कामना करती हुई ऊरुओंका विश्रयण करे और हम भी कामना करते हुए जिसमें शेपका प्रहार करें ॥ ३ ॥

आ रोहोरुमुपं धत्स्व हस्तं परिं ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥ ३६ ॥

आ । रोह । ऊरुम् । उप । धत्स्व । हस्तम् । परि । स्वजस्व ।
जायाम् । सुऽमनस्यमानः ।

प्रऽजाम् । कृण्वाथाम् । इह । मोदमानौ । दीर्घम् । वाम् । आयुः ।
सविता । कृणोतु ॥ ३६ ॥

तू ऊरु पर आरोहण कर, हाथको पकड़ और मनमें प्रसन्न होता हुआ जायाका आलिंगन कर। तुम दोनों मोदमें भर कर प्रजाको करो, सविता देवता तुम दोनोंकी आयुको बड़ी करें ३९

आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा ।

अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४० ॥

आ । वाम् । प्रऽजाम् । जनयतु । प्रजाऽपतिः । अहोरात्राभ्याम् । सम् । अनक्तु । अर्यमा ।

अदुःऽमङ्गली । पतिऽलोकम् । आ । विश । इमम् । शम् । नः । भव । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ ४० ॥

प्रजापति तुम दोनोंके लिये प्रजाको प्रकट करें और अर्यमा देवता तुमको दिन और रात्रिसे मिलाते रहें, हे वधू ! तू दुर्मंगलों से रहित रहती हुई पतिके घरमें प्रवेश कर तु दो पैर वाले भृत्य संबंधी आदिके लिये और चौपाये गौ आदिके लिये सुख देने वाली हो ॥ ४० ॥ (१०)

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।

यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥ ४१ ॥

देवैः । दत्तम् । मनुना । साकम् । एतत् । वाधूऽयम् । वासः । वध्वः । च । वस्त्रम् ।

यः । ब्रह्मणे । चिकितुषे । ददाति । सः । इत् । रक्षांसि ।
  तल्पानि । हन्ति ॥ ४१ ॥

मनुओंसहित देवताओंने इस वाधूय वस्त्रको दिया था, जो विद्वान् ब्राह्मणके लिये इस वधूके वस्त्रको देता है, वह खट्वा-संबंधी राक्षसोंका संहार करता है ॥ ४१ ॥

यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ४२

यम् । मे । दत्तः । ब्रह्मऽभागम् । वधूऽयोः । वाधूऽयम् । वासः ।
  वध्वः । च । वस्त्रम् ।
युवम् । ब्रह्मणे । अनुऽमन्यमानौ । बृहस्पते । साकम् । इन्द्रः ।
  च । दत्तम् ॥ ४२ ॥

जो वरका वाधूय वस्त्र और वधूका वस्त्र ब्रह्मभाग समझ कर मुझको दिया गया है, सो हे बृहस्पते ! तुम और इन्द्र दोनों ही ब्रह्माकी अनुमतिसे मुझे इसको दे चुके हो ॥ ४२ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ४३

स्योनात् । योनेः । अधि । बुध्यमानौ । हसामुदौ । महसा । मोद-
  मानौ ।
सुगू इति सुऽगू । सुऽपुत्रौ । सुऽगृहौ । तराथः । जीवौ । उषसः ।
  विऽभातीः ॥ ४३ ॥

हम दोनों सुखप्रद कारणसे बोधको प्राप्त हों, हास्यसे मोदको प्राप्त होवें, महत्वसे मोदको प्राप्त होवें, सुन्दर चालसे चलते रहें, सुन्दर पुत्रसे सम्पन्न रहें, हम दोनों जीव दमकती हुई उषाओं को तरते रहें ॥ ४३ ॥

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।

आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥४४॥

नवम् । वसानः । सुरभिः । सुऽवासाः । उत्ऽआगाम् । जीवः । उषसः । विऽभातीः ।

आण्डात् । पतत्रीऽइव । अमुक्षि । विश्वस्मात् । एनसः । परि४४

नवीन सुगंधित सुन्दर वस्त्रको धारण करता हुआ मैं दमकते हुए उषःकालोंको जीवित रहता हुआ प्राप्त करूं, जैसे अण्डेसे पक्षी छूट जाता है इसी प्रकार मैं सकल पापसे मुक्त हो जाऊं ४४

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।

आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४५ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्तिऽसुम्ने । महिव्रते इति महिऽव्रते ।

आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ४५

द्यावापृथिवी परमशोभायुक्त हैं, उनके मध्यमें चेतन और अचेतन अन्नानावृत प्राणी रहते हैं, इनका कर्म विशाल है, ये तथा बहने वाले सात प्रकारके जल हमको पापसे मुक्त करें ॥ ४५ ॥

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।

ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥ ४६ ॥

सूर्यायै । देवेभ्यः । मित्राय । वरुणाय । च ।

ये । भूतस्य । प्रऽचेतसः । तेभ्यः । इदम् । अकरम् । नमः ॥४६॥

सूर्याके लिये देवताओंके लिये, मित्रके लिये, वरुणके लिये, जो भूतसंघके जानने वाले हैं, उनके लिये मैं यह प्रणाम करता हूँ

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।

संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः ॥

यः । ऋते । चित् । अभिऽश्रिषः । पुरा । जत्रुऽभ्यः । आऽतृदः ।

सम्ऽधाता । सम्ऽधिम् । मघऽवा । पुरुऽवसुः । निःऽकर्ता ।

विऽहुतम् । पुनः ॥ ४७ ॥

जो अभिश्रिष्के विना पहिले जत्रुओंके निमित्त आतर्दन कर देता है जो मघवा संधिको जोड़ने वाला है, पुरूवसु है विहुतका फिर निष्करण करने वाला है ॥ ४७ ॥

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत्

निर्दहनी या पृषातक्यर्ऽस्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि

अप । अस्मत् । तमः । उच्छतु । नीलम् । पिशङ्गम् । उत । लोहि-

तम् । यत् ।

निःऽदहनी । या । पृषातकी । अस्मिन् । ताम् । स्थाणौ । अधि ।

आ । सजामि ॥ ४८ ॥

जो नील पिशंग और लोहित धूम्र है वह हमारे पाससे दूर होजावे. जो भस्म करने वाली पृषातकी है उसको हम स्थाणुमें संपृक्त करते हैं ॥ ४८ ॥

यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि
सादयामि ॥ ४९ ॥

यावतीः । कृत्याः । उपऽवासने । यावन्तः । राज्ञः । वरुणस्य ।
पाशाः ।
विऽऋद्धयः । याः । असम्ऽऋद्धयः । याः । अस्मिन् । ताः ।
स्थाणौ । अधि । सादयामि ॥ ४९ ॥

उपवासनमें जितनी कृत्याएँ हैं और राजा वरुणके जितने पाश हैं और व्यृद्धि वा असमृद्धि हैं उनको हम स्थाणुमें स्थापित करते हैं

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः ।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम॥

या । मे । प्रियऽतमा । तनूः । सा । मे । बिभाय । वाससः ।
तस्य । अग्रे । त्वम् । वनस्पते । नीविम् कृणुष्व । मा । वयम् ।
रिषाम ॥ ५० ॥

जो मेरा प्रिय शरीर है वह वस्त्रसे दमकता रहे, हे वनस्पते ! तू उसके आगे नीविको कर, हम नष्ट न होवें ॥ ५० ॥ (११)

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।

वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥५१॥

ये । अन्ताः । यावतीः । सिचः । ये । ओतवः । ये । च । तन्तवः ।

वासः । यत् । पत्नीभिः । उतम् । तत् । नः । स्योनम् । उप ।

स्पृशात् ॥ ५१ ॥

जो किनारे हैं, जितने सिच हैं, जितने ओतु और तन्तु हैं और जिस वस्त्रको पत्नियोंने बुना है वह सुखदायक होता हुआ हमारा स्पर्श करे ॥ ५१ ॥

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः ।

अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ ५२ ॥

उशतीः । कन्यलाः । इमाः । पितृऽलोकात् । पतिम् । यतीः ।

अव । दीक्षाम् । असृक्षत । स्वाहा ॥ ५२ ॥

पिताके घरसे पतिके यहाँ जाती हुई ये कामना करती हुई कन्याएँ दीक्षाको छोड़ती हैं, यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥

बृहस्पतिना । अवऽसृष्टाम् । विश्वे । देवाः । अधारयन् ।

वर्चः । गोषु । प्रऽविष्टम् । यत् । तेन । इमाम् । सम् । सृजामसि ॥

बृहस्पतिके द्वारा छोड़ी हुई इस औषधिको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है उसको हम गौओंमें प्रविष्ट वर्चके द्वारा संयुक्त करते हैं

बृहस्पतिना० ।
तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५४ ॥

०॥ तेजः । गोषु । प्रऽविष्टम् । यत् । तेन ।० ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिके द्वारा अवसृष्ट इस औषधिको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है उसको हम गौओंमें प्रविष्ट तेजके द्वारा संयुक्त करते हैं ५४

बृहस्पतिना० ।
भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेन० ॥ ५५ ॥

०॥ भगः । गोषु । प्रऽविष्टः । यः । तेन ।० ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिके द्वारा अवसृष्ट इस औषधिको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है उसको हम गोओंमें प्रविष्ट सौभाग्यके द्वारा पुष्ट करते हैं

बृहस्पतिना० ।
यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५६ ॥

०॥ यशः । गोषु । प्रऽविष्टम् । यत् । तेन ।० ॥ ५६ ॥

बृहस्पतिके द्वारा अवसृष्ट इस औषधिको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है उसको हम गौओंमें प्रविष्ट यशके द्वारा संयुक्त करते हैं ५६

बृहस्पतिना० ।
पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५७ ॥

०॥ पयः । गोषु । प्रऽविष्टम् । यत् । तेन ।० ॥ ५७ ॥

बृहस्पतिके द्वारा अवसृष्ट इसको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है इसको हम गौओंमें प्रविष्ट पयके द्वारा संयुक्त करते हैं ॥ ५७ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।

रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५८ ॥

बृहस्पतिना । अवऽसृष्टाम् । विश्वे । देवाः । अधारयन् ।

रसः । गोषु । प्रऽविष्टः । यः । तेन । इमाम् । सम् । सृजामसि ॥

बृहस्पतिके द्वारा अवसृष्ट इसको विश्वेदेवताओंने पुष्ट किया है इसको गौओंमें हम प्रविष्ट रसके द्वारा संयुक्त करते हैं ॥ ५८ ॥

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तो३ऽघम् ।

अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥

यदि । इमे । केशिनः । जनाः । गृहे । ते । सम्ऽअनर्तिषुः । रोदेन । कृण्वन्तः । अघम् ।

अग्निः । त्वा । तस्मात् । एनसः । सविता । च । प्र । मुञ्चताम् ॥

यह जो केश वाले पुरुष तेरे घरमें (कन्यागमनसे अघ करते हुए अर्थात् दुःख पाते हुए रोकर घूमे हैं, उस पापसे अग्निदेवता तुझको मुक्त करें ॥ ५९ ॥

यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य-१घम् ।

अग्निष्ट्वा० ॥ ६० ॥

यदि । इयम् । दुहिता । तव । विऽकेशी । अरुदत् । गृहे । रोदेन । कृण्वती । अघम् ॥० ॥ ६० ॥

यह जो तेरी पुत्री केशोंको बखेर कर रोदनके द्वारा दुःखको फैलाती हुई रोई है उस पापसे अग्निदेवता और सवितादेवता तुझको मुक्त करें ॥ ६० ॥ (१२)

यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम् ।
अग्निष्ट्वा० ॥ ६१ ॥

यत् । जामयः । यत् । युवतयः । गृहे । ते । सम्ऽअनर्तिषु । रोदेन । कृण्वतीः । अघम् ॥० ॥ ६१ ॥

जो तेरी बहिनें और युवतियें रोदनके द्वारा घरमें दुःख फैलाती हुई घूमी हैं उस पापसे अग्निदेव और सविता-देव तुझको मुक्त करें

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम् ।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ।६२।

यत् । ते । प्रऽजायाम् । पशुषु । यत् । वा । गृहेषु । निऽस्थितम् । अघकृत्ऽभिः । अघम् । कृतम् ।

अग्निः । त्वा । तस्मात् । एनसः । सविता । च । प्र । मुञ्चताम्

दुःख फैलाने वालोंने तेरे घरमें प्रजामें और पशुओंमें जो दुःख भर दिये हैं उस पापसे सवितादेवता और अग्नि देवता तुझको मुक्त करें ॥ ६२ ॥

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।

दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

इयम् । नारी । उप । ब्रूते । पुल्यानि । आऽवपन्तिका ।

दीर्घऽआयुः । अस्तु । मे । पतिः । जीवाति । शरदः । शतम् ॥

यह खीलोंकी आहुति देती हुई नारी कहती है, कि—मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती ।

प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४ ॥

इह । इमौ । इन्द्र । सम् । नुद । चक्रवाकाऽइव । दंपती इति दम्ऽपती ।

प्रऽजया । एनौ । सुऽअस्तकौ । विश्वम् । आयुः । वि । अश्नुताम् ॥

हे इन्द्रदेव ! इन दोनों दम्पतियोंको आप चक्रवाककी समान प्रेरित रखिये, इनको प्रजासे सुन्दर घर वाले रखिये ये सारी आयु भोग भोगते रहें ॥ ६४ ॥

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम् ।

विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ६५

यत् । आऽसन्द्याम् । उपऽधाने । यत् । वा । उपऽवासने । कृतम् ।

विऽवाहे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । आऽस्नाने । ताम् । नि । दध्मसि

आसन्दीमें उपधानमें वा उपवासनमें जो (पाप) बन गया है और विवाहमें जिन पुरुषोंने कृत्याकी है इन सबको स्नान करने के स्थानमें स्थापित करते हैं ॥ ६५ ॥

यत् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत् ।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ ६६ ॥

यत् । दुःऽकृतम् । यत् । शमलम् । विऽवाहे । वहतौ । च । यत् ।
तत् । सम्ऽभलस्य । कम्बले । मृज्महे । दुःऽइतम् । वयम् ॥६६॥

जो विवाह वा दहेजमें पाप और अपराध बन गया है उस पापको हम मिष्टभाषण करने वालेके कम्बलमें निक्षिप्त करते हैं ६६

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ६७

सम्ऽभले । मलम् । सादयित्वा । कम्बले । दुःऽइतम् । वयम् ।
अभूम । यज्ञियाः । शुद्धाः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ६७

हम यज्ञिय पुरुष संभलमें मलको स्थापित करके कम्बलमें दुरितको स्थापित करके शुद्ध होगए हैं वह देव हमारी आयुको पूर्ण करें ॥ ६७ ॥

कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥६८॥

कृत्रिमः । कण्टकः । शतऽदन् । यः । एषः ।
अप । अस्याः । केश्यम् । मलम् । अप । शीर्षण्यम् । लिखात् ॥

यह सैंकड़ों दाँतों वाला कृत्रिम कंटक (कंघा) है, यह इसके शिरके मलको दूर करके शीर्षस्थानका स्पर्श करे ॥ ६८ ॥

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।
तन्मा प्रापत्पृथिवीं मोत देवान्दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् ।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥ ६९ ॥

अङ्गात्ऽअङ्गात् । वयम् । अस्याः । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि ।
तत् । मा । प्र । आपत् । पृथिवीम् । मा । उत । देवान् ।
दिवम् । मा । प्र । आपत् । उरु । अन्तरिक्षम् ।
अपः । मा । प्र । आपत् । मलम् । एतत् । अग्ने । यमम् । मा ।
प्र । आपत् । पितॄन् । च । सर्वान् ॥ ६९ ॥

हम इसके प्रत्येक अंगमेंसे संहारक दोषको दूर करते हैं, वह दोष मुझको प्राप्त न हो, पृथिवीको प्राप्त न हो देवताओंको प्राप्त न हो द्यौको और अन्तरिक्षको भी प्राप्त न हो जलको भी प्राप्त न हो और हे अग्ने ! यह पितरोंको और उनके अधिष्ठात्री देवता यमको भी प्राप्त न होवे ॥ ६९ ॥

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् ।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥ ७० ॥

सम् । त्वा । नह्यामि । पयसा । पृथिव्याः । सम् । त्वा । नह्यामि ।

पयसा । ओषधीनाम् ।

सम् । त्वा । नह्यामि । प्रऽजया । धनेन । सा । सम्ऽनद्धा । सनुहि ।

वाजम् । आ । इमम् ॥ ७० ॥

मैं तुझको पृथिवीके दुग्धकी समान सार तत्त्वसे और ओषधियोंके सारतत्त्वसे प्रजासे और धनसे सम्पन्न रखनेके लिये बाँधता हूँ सो तू सन्नद्ध होती हुई धनको दे ॥ ७० ॥ (१२)

अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।

ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै ॥ ७१ ॥

अमः । अहम् । अस्मि । सा । त्वम् । साम । अहम् । अस्मि ।

ऋक् । त्वम् । द्यौः । अहम् । पृथिवी । त्वम् ।

तौ । इह । सम् । भवाव । प्रऽजाम् । आ । जनयावहै ॥ ७१ ॥

मैं विष्णु हूँ तू लक्ष्मी है, मैं साम हूँ तू ऋक् है, मैं द्यौ हूँ तू पृथिवी है, ये दोनों हम यहाँ एक साथ रहें और प्रजाको उत्पन्न करें

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः ।

अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ ७२ ॥

जनिऽयन्ति । नौ । अग्रवः । पुत्रिऽयन्ति । सुऽदानवः ।

अरिष्टासू इत्यरिष्टऽअसू । सचेवहि । बृहते । वाजऽसातये ॥७२॥

नदियें हम दोनोंको प्रादुर्भूत रक्खें, कल्याणमय दान देने वाले

मुझको प्राप्त होते हैं, हम दोनों अहिंसित प्राण वाले रहते हुए विशाल अन्नकी प्राप्तिके लिये परस्पर संयुक्त रहें ॥ ७२ ॥

ये पितरो वधूदर्शा इमं वंहतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥७३॥

ये । पितरः । वधूऽदर्शाः । इमम् । वहतुम् । आ । अगमन् ।
ते । अस्यै । वध्वै । सम्ऽपत्न्यै । प्रजाऽवत् । शर्म । यच्छन्तु ७३

जो पितर वधूको देखनेकी इच्छासे इस दहेजके पास आये हैं, वे इस सुशीला पत्नी वधूके लिये प्रजासम्पन्न कल्याणको दें ७३

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा ।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥ ७४ ॥

या । इदम् । पूर्वा । अगन् । रशनाऽयमाना । प्रऽजाम् । अस्यै । द्रविणम् । च । इह । दत्त्वा ।
ताम् । वहन्तु । अगतस्य । अनु । पन्थाम् । विऽराट् । इयम् । सुऽप्रजाः । अति । अजैषीत् ॥ ७४ ॥

जो स्त्री रस्सीकी तरह बन्धनमें डालनेके लिये पहिले इस मार्गको प्राप्त हुई थी, (सो उसके सब सम्बन्धी) यहाँ इस वधूके लिये प्रजा और धनके द्वारा उसको पहिले न चले हुए मार्गमें लेजावें और यह विशाल महिमा वाली उससे बढ़ती हुई रहे ७४

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ ७५ ॥

प्र। बुध्यस्व। सुऽबुधा। बुध्यमाना। दीर्घायुऽत्वाय। शतऽशारदाय गृहान्। गच्छ। गृहऽपत्नी। यथा। असः। दीर्घम्। ते। आयुः। सविता। कृणोतु ॥ ७५ ॥

द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इति चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥

हे सुन्दर बुद्धि वाली ! तू जगाई जाती हुई सौ वर्षकी दीर्घायु पानेके लिये जाग तू घरको चल कि–जिस प्रकार तू गृहपत्नी बन सके, सविता देवता तेरी आयुको बड़ी करें ॥ ७५ ॥ (२४)

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५१२)

द्वितीय अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका चतुर्दश काण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

संपादक ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्माकृत

भाषानुवादसहित

समाप्त

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

पञ्चदशं-काण्डम्
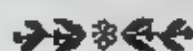
सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

अत्र काण्डे व्रात्यमहिमा प्रपञ्च्यते। व्रात्यो नाम उपनयनादिसंस्कारहीनः पुरुषः। सोऽर्थाद् यज्ञादिवेदविहिताः क्रियाः कर्तुं नाधिकारी। न स व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि जनमतं मनसिकृत्य व्रात्योऽधिकारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलं किंबहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते। यत्र व्रात्यो गच्छति विश्वं जगद् विश्वे च देवास्तमनुगच्छन्ति तस्मिन् स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिंश्चलति ते चलन्ति। यदा स गच्छति राजवत् स गच्छतीत्यादि। न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम् अपि तु कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यम् अनुलक्ष्य वचनम् इति मन्तव्यम्

इस काण्डमें व्रात्यकी महिमाका वर्णन किया गया है। उपनयन आदि संस्कारोंसे हीन पुरुषका नाम व्रात्य है, अर्थात् वह यज्ञ आदि वेदविहित क्रियाओंके करनेका अधिकारी नहीं होता और वह व्यवहारके योग्य भी नहीं होता, इस जनमतको मनमें विचार कर इस काण्डमें इसका वर्णन किया है, कि–"व्रात्य अधिकारी है व्रात्य महानुभाव है व्रात्य देवप्रिय है और व्रात्य ब्राह्मण और क्षत्रियके तेजका मूल होता है अधिक क्या व्रात्य देवाधिदेव होता है। जहाँ व्रात्य जाता है तहाँ सम्पूर्ण जगत् और

सकल देवता उसके पीछे २ जाते हैं, उसके ठहरने पर ठहरते हैं और उसके चलने पर चलते हैं। जब वह चलता है तो राजाकी समान चलता है।" यह बात सब व्रात्योंके लिये नहीं लिखी है किंतु किसी महाधिकारी पुण्यात्मा विश्व महाविद्वान् भरको समदृष्टिसे देखने वाले विश्वमान्य कर्मपरायण ब्राह्मणोंके द्वारा उपेक्षित व्रात्यको लक्ष्य करके वर्णन किया है। यही समझना चाहिये ॥

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् १

व्रात्यः। आसीत्। ईयमानः। एव। सः। प्रजाऽपतिम्। सम्। ऐरयत् ॥ १ ॥

व्रात्यने चलते हुए ही अर्थात् व्रात्य अवस्थाको प्राप्त होते ही प्रजापतिको प्रेरित किया ॥ १ ॥

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् २

सः। प्रजाऽपतिः। सुऽवर्णम्। आत्मन्। अपश्यत्। तत्। प्र। अजनयत् ॥ २ ॥

उन प्रजापतिने अपनेमें सुवर्णको देखा और उसको प्रकट किया२

तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ॥ ३ ॥

तत्। एकम्। अभवत्। तत्। ललामम्। अभवत्। तत्। महत्। अभवत्। तत्। ज्येष्ठम्। अभवत्। तत्। ब्रह्म। अभवत्।

तत् । तपः । अभवत् । तत् । सत्यम् । अभवत् । तेन । प्र । अजायत ॥ ३ ॥

वह एक हुआ ललाम हुआ महत् हुआ ज्येष्ठ हुआ और वही ब्रह्म हुआ वही तप हुआ वही सत्य हुआ और उससे ही यह प्रकट हुआ है ॥ ३ ॥

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

सः । अवर्धत । सः । महान् । अभवत् । सः । महाऽदेवः अभवत्

वह बढ़ा वह महान् हुआ और वह महादेव हुआ ॥ ४ ॥

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥

सः । देवानाम् । ईशाम् । परि । ऐत् । सः । ईशानः । अभवत् ॥

वह देवताओंका ईश हुआ और वह ईशान हुआ ॥ ५ ॥

स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥

सः । एकऽव्रात्यः । अभवत् । सः । धनुः । आ । अदत्त । तत् । एव । इन्द्रऽधनुः ॥ ६ ॥

वह मुख्य व्रात्य हुआ और उसने धनुषको ग्रहण किया, वही इन्द्रधनुष है ॥ ६ ॥

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥

नीलम् । अस्य । उदरम् । लोहितम् । पृष्ठम् ॥ ७ ॥

इसका उदर नील है और पीठ लाल है ॥ ७ ॥

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

नीलेन । एव । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । प्र । ऊर्णोति । लोहितेन ।

द्विषन्तम् । विध्यति । इति । ब्रह्मऽवादिनः । वदन्ति ॥ ८ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

यह नीलसे अप्रिय शत्रुको ढक देता है और लोहितसे द्वेष करने वालेको बींध डालता है इस बातको ब्रह्मवादी कहते हैं ८

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५१३)

स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥

सः । उत् । अतिष्ठत् । सः । प्राचीम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ १ ॥

वह उठा और उसने पूर्वदिशाकी ओर गमन किया ॥ १ ॥

तं बृहच्च रथंतरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन्

तम् । बृहत् । च । रथम्ऽतरम् । च । आदित्याः । च । विश्वे । च । देवाः । अनुऽव्यचलन् ॥ २ ॥

उसके पीछे बृहत् और रथंतर साम और आदित्य तथा सब देवता चले ॥ २ ॥

बृहते च वै स रथंतराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति

बृहते । च । वै । सः । रथम्ऽतराय । च । आदित्येभ्यः । च । विश्वेभ्यः । च । देवेभ्यः । आ । वृश्चते । यः । एवम् । विद्वांसम् । व्रात्यम् । उपऽवदति ॥ ३ ॥

जो पुरुष ऐसे विद्वान् ब्राह्मणकी निन्दा करता है तो वह बृहत् रथन्तर आदित्य और विश्वेदेवताओंके लिये काट करता है अर्थात् उनका ही अपराध करता है ॥ ३ ॥

बृहतश्च वै स रथंतरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ४

बृहतः । च । वै । सः । रथम्ऽतरस्य । च । आदित्यानाम् । च । विश्वेषाम् । च । देवानाम् । प्रियम् । धाम । भवति । तस्य । प्राच्याम् । दिशि ॥ ४ ॥

(जो उसका सत्कार करता है) वह पूर्व दिशामें बृहत्का रथन्तरका आदित्योंका और सकल देवताओंका और उसका प्रिय धाम होता है ॥ ४ ॥

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥

श्रद्धा । पुंश्चली । मित्रः । मागधः । विऽज्ञानम् । वासः । अहः । उष्णीषम् । रात्री । केशाः । हरितौ । प्रऽवर्तौ । कल्मलिः । मणिः

(उसकी) श्रद्धा पुंश्चली, मित्र मागध, विज्ञान वस्त्र, दिन पगड़ी रात्रि केश, और हरित प्रवर्त कल्मणि मणि (होती है) ॥ ५ ॥

भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥

भूतम् । च । भविष्यत् । च । परिऽस्कन्दौ । मनः । विऽपथम् ६

भूत और भविष्यत परिष्कन्द होते हैं मन विपथ होता है ६

मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥

मातरिश्वा । च । पवमानः । च । विपथऽवाहौ । वातः । सारथिः । रेष्मा । प्रऽतोदः ॥ ७ ॥

मातरिश्वा और पवमान विपथवाह होते हैं, वायु सारथी होता है और रेष्मा कोड़ा होता है ॥ ७ ॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । पुरःऽसरौ । आ । एनम् । कीर्तिः । गच्छति । आ । यशः । गच्छति । यः । एवम् । वेद ॥ ८ ॥

कीर्ति और यश पुरःसर आते हैं, इसको कीर्ति प्राप्त होती है और यश प्राप्त होता है (यह सब उसको प्राप्त होता है जो व्रात्यके विषयमें) इस प्रकार जानता है ॥ ८ ॥

स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥

०सः । दक्षिणाम् । दिशम् ।० ॥ ९ ॥

वह उठा और दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥ ९ ॥

तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १० ॥

तम् । यज्ञायज्ञियम् । च । वामऽदेव्यम् । च । यज्ञः । च । यजमानः । च । पशवः । च । अनुऽव्यचलन् ॥ १० ॥

तब उसके पीछे यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम तथा यज्ञ यजमान और पशु चले ॥ १० ॥

यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यज-
मानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुप-
वदति ॥ ११ ॥

यज्ञायज्ञियाय । च । वै । सः । वामऽदेव्याय । च । यज्ञाय । च । यजमानाय । च । पशुऽभ्यः । च । आ । वृश्चते ।० ११

जो पुरुष ऐसे व्रात्य विद्वान्की निन्दा करता है तो वह यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य साम यज्ञ और यजमान तथा पशुओंके लिये ही काटता है अर्थात् इनका अपराध करता है ॥ ११ ॥

यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च
यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य
दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥

यज्ञायज्ञियस्य । च । वै । सः । वामऽदेव्यस्य । च । यज्ञस्य । च । यजमानस्य । च । पशूनाम् । च । प्रियम् । धाम । भवति । तस्य । दक्षिणायाम् । दिशि ॥ १२ ॥

(और जो उसके अनुकूल रहता है) वह यज्ञायज्ञियका वामदेव्य सामका यज्ञका यजमानका और उसका भी दक्षिण दिशा में प्रियधाम होता है ॥ १२ ॥

उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥१३॥

उषाः । पुंश्चली । मन्त्रः । मागधः । विऽज्ञानम् । वासः । अहः ।
उष्णीषम् । रात्री । केशाः । हरितौ । प्रऽवर्तौ । कल्मलिः । मणिः॥

(उसकी) उषः पुंश्चली, मन्त्र मागध, विज्ञान वस्त्र, दिन उष्णीष रात्रि केश और हरित प्रवर्त और कल्मलि मणि होते हैं १३

अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो ०।० ॥
अमाऽवास्या । च । पौर्णऽमासी । च ।० ॥ १४ ॥

अमावास्या और पौर्णमासी उसके परिष्कन्द होते हैं ० १४

स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥१५॥
०स । प्रतीचीम् । दिशम् ।० ॥ १५ ॥

वह उठा और पश्चिमदिशा की ओर चला ॥ १५ ॥

तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन्

तम् । वैरूपम् । च । वैराजम् । च । आपः । च । वरुणः । च ।
राजा । अनुऽव्यचलन् ॥ १६ ॥

तो उसके पीछे वैरूप वैराज जल और राजा वरुण चले १६

वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ
आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति १७

वैरूपाय । च । वै । सः । वैराजाय । च । अत्ऽभ्यः । च ।

वरुणाय । च । राज्ञे । आ । वृश्चते ।० ॥१७॥

जो ऐसे विद्वान् व्रात्यकी निन्दा करता है वह वैरूप वैराज जल और राजा–वरुणका ही अपराध करता है ॥ १७ ॥

वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः

प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥

वैरूपस्य । च । वै । सः । वैराजस्य । च । अपाम् । च । वरुणस्य ।

च । राज्ञः । प्रियम् । धाम । भवति । तस्य । प्रतीच्याम् । दिशि ।

(और जो उसके अनुकूल व्यवहार करता है) वह वैरूप वैराज जल राजा वरुण और उस व्रात्यका पश्चिमदिशामें प्रियधाम होता है

इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री

केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥

इरा । पुंश्चली । हसः । मागधः । विऽज्ञानम् । वासः । अहः ।

उष्णीषम् । रात्री । केशाः । हरितौ । प्रऽवर्तौ । कल्मलिः । मणिः

उसका पृथ्वी पुंश्चली, हस मागध, विज्ञान वस्त्र, दिन उष्णीष, रात्रि केश, हरित प्रवर्त और कल्मलि मणि होती है ॥ १९ ॥

अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो०।० ॥ २० ॥

अहः । च । रात्री । च ।० ॥ २० ॥

दिन और रात्रि उसके परिष्कन्द होते हैं मन० ॥ २० ॥

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥

सः । उत् । अतिष्ठत् । सः । उदीचीम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ २१ ॥

वह उठा और उत्तर दिशाकी ओर चला ॥ २१ ॥

तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥ २२ ॥

तम् । श्यैतम् । च । नौधसम् । च । सप्तऽऋषयः । च । सोमः । च । राजा । अनुऽव्यचलन् ॥ २२ ॥

तब श्यैत नौधस सप्तर्षि और राजा सोम उसके पीछे चले २२

श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति

श्यैताय । च । वै । सः । नौधसाय । च । सप्तर्षिऽभ्यः । च । सोमाय । च । राज्ञे । आ । वृश्चते । यः । एवम् । विद्वांसम् । व्रात्यम् । उपऽवदति ॥ २३ ॥

जो ऐसे विद्वान् व्रात्यकी निन्दा करता है, वह श्यैत नौधस सप्तर्षि राजा सोमका ही अपराध करता है ॥ २३ ॥

श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि २४

श्यैतस्य । च । वै । सः । नौधसस्य । च । सप्तऽऋषीणाम् । च ।

सोमस्य । च । राज्ञः । प्रियम् । धाम । भवति । तस्य । उदी-
च्याम् । दिशि ॥ २४ ॥

(और जो उसके अनुकूल रहता है) वह उत्तर दिशामें श्यैत नौधस सप्तर्षि राजासोम और उसका प्रिय धाम होता है ॥२४॥

विद्युत पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोहरु-
ष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः २५

विऽद्युत् । पुंश्चली । स्तनयित्नुः । मागधः । विऽज्ञानम् । वासः ।
अहः । उष्णीषम् । रात्रीः । केशाः । हरितौ । प्रऽवर्तौ ।
कल्मलिः । मणिः ॥ २५ ॥

(उसकी) विद्युत् पुंश्चली, स्तनयित्नु मागध, विज्ञान-वस्त्र, दिन उष्णीष, रात्रि केश, हरित प्रवर्त और कल्मलि मणि होती है

श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥२६॥

श्रुतम् । च । विऽश्रुतम् । च । परिऽस्कन्दौ । मनः । विऽपथम् ॥

श्रुत और विश्रुत परिष्कन्द होते हैं और मन विपथ होता है२६

मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी
रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥

मातरिश्वा । च । पवमानः । च । विपथऽवाहौ । वातः । सारथिः ।
रेष्मा । प्रऽतोदः ॥ २७ ॥

मातरिश्वा और पवमान विपथवाह होते हैं वात सारथी और रेष्मा कोड़ा होता है ॥ २७ ॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । पुरःऽसरौ । आ । एनम् । कीर्तिः । गच्छति । आ । यशः । गच्छति । यः ।० ॥ २८ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

कीर्ति और यश इसके आगे २ चलते हैं और ऐसे ज्ञाताको कीर्ति और यश प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय पर्याय सूक्त समाप्त (५१७)

स संवत्सरमूर्ध्वोऽतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥

सः । सम्ऽवत्सरम् । ऊर्ध्वः । अतिष्ठत् । तम् । देवाः । अब्रुवन् । व्रात्य । किम् । नु । तिष्ठसि । इति ॥ १ ॥

वह वर्ष भर तक ऊपरको खड़ा रहा, तब देवताओंने उससे कहा, कि–हे व्रात्य तुम किस लिये अनुष्ठानको कर रहे हो ॥१॥

सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥

सः । अब्रवीत् । आऽसन्दीम् । मे । सम् । भरन्तु । इति ॥२॥

उसने कहा, कि–मेरे लिये आसन्दी बनाइये ॥ २ ॥

तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

तस्मै । व्रात्याय । आऽसन्दीम् । सम् । अभरन् ॥ ३ ॥

तब उन्होंने उस व्रात्यके लिये आसन्दीको बनाया ॥ ३ ॥

तस्यां ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥

तस्याः । ग्रीष्मः । च । वसन्तः । च । द्वौ । पादौ । आस्ताम् शरत् । च । वर्षाः । च । द्वौ ॥ ४ ॥

ग्रीष्म और वसन्त नामक उसके दो पाद हुए तथा शरत् और वर्षा नामक दो पाद हुए ॥ ४ ॥

बृहच्च रथंतरं चानूच्ये ३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥ ५ ॥

बृहत् । च । रथम्ऽतरम् । च । अनूच्ये३इति । आस्ताम् । यज्ञायज्ञियम् । च । वामऽदेव्यम् । च । तिरश्च्ये ३ इति ॥ ५ ॥

बृहत् और रथन्तर ये दो अनूच्य हुए, यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये तिरश्च्य हुए ॥ ५ ॥

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥

ऋचः । प्राञ्चः । तन्तवः । यजूंषि । तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥

ऋच् और प्राञ्च् तन्तु हुए और यजुः तिर्यक् हुए ॥ ६ ॥

वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥ ७ ॥

वेदः । आऽस्तरणम् । ब्रह्म । उपऽबर्हणम् ॥ ७ ॥

वेद आस्तरण हुआ और ब्रह्म उपबर्हण हुआ ॥ ७ ॥

सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥

साम । आऽसादः । उत्ऽगीथः । उपऽश्रयः ॥ ८ ॥

साम आसाद हुआ और उद्गीथ उपश्रय हुआ ॥ ८ ॥

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

ताम् । आऽसन्दीम् । व्रात्यः । आ । अरोहत् ॥ ९ ॥

उस आसन्दी पर व्रात्यने आरोहण किया ॥ ९ ॥

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३

विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

तस्य । देवऽजनाः । परिऽस्कन्दाः । आसन् । सम्ऽकल्पाः ।

प्रऽहाय्याः । विश्वानि । भूतानि । उपऽसदः ॥ १० ॥

देवजन उसके परिष्कन्द हुए, सत्यसंकल्प प्रहाय्य हुए और सकल भूत उपसद् हुए ॥ १० ॥

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ११

विश्वानि । एव । अस्य । भूतानि । उपऽसदः । भवन्ति । यः।०

इति प्रथमेऽनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस बातको जानता है उसके सब भूत उपसद् होते हैं ११

प्रथम अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (५१५)

तस्मै प्राच्या दिशः ॥ १ ॥

तस्मै । प्राच्याः । दिशः ॥ १ ॥

वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ

वासन्तौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । बृहत् । च । रथम्ऽतरम् । च । अनुऽस्थातारौ ॥ २ ॥

देवताओंने उसके लिये पूर्व दिशासे वसन्त ऋतुके दो मासों को रक्षक बनाया और बृहत तथा रथन्तरको अनुष्ठाता बनाया

वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥

वासन्तौ । एनम् । मासौ । प्राच्याः । दिशः । गोपायतः । बृहत् । च । रथम्ऽतरम् । च । अनु । तिष्ठतः । यः । ० ॥ ३ ॥

जो ऐसा जानता है तो पूर्व दिशाकी ओरसे वसन्त ऋतुके दो मास उसकी रक्षा करते हैं और बृहत् तथा रथन्तर उसके अनुकूल रहते हैं ॥ ३ ॥

तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥

तस्मै । दक्षिणायाः । दिशः ॥ ४ ॥

ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । यज्ञायज्ञियम् । च । वामऽदेव्यम् । च । ० ॥ ५ ॥

देवताओंने उसके लिये दक्षिण दिशाकी ओरसे ग्रीष्म ऋतुके दो मासोंको रक्षक नियुक्त किया और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य को अनुष्ठाता नियुक्त किया ॥ ४ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञा-
यज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ।६।

ग्रैष्मौ । एनम् । मासौ । दक्षिणायाः । दिशः । गोपायतः ।
यज्ञायज्ञियम् । च । वामऽदेव्यम् । च ।० ॥ ६ ॥

जो ऐसा जानता है तो दक्षिणदिशाकी ओरसे ग्रीष्म ऋतुके मास इसकी रक्षा करते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य साम उसके अनुकूल रहते हैं ॥ ६ ॥

तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥

तस्मै । प्रतीच्याः । दिशः ॥ ७ ॥

वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठा-
तारौ ॥ ८ ॥

वार्षिकौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । वैरूपम् । च । वैराजम् ।
च ।० ॥ ८ ॥

देवताओंने उसके लिये पश्चिम दिशाकी ओरसे वर्षा ऋतुके दो मासोंको रक्षक नियुक्त किया और वैरूप और वैराजको अनुष्ठाता किया ॥ ७ ॥ ८ ॥

वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं
च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ ॥

वार्षिकौ । एनम् । मासौ । प्रतीच्याः । दिशः । गोपायतः । वैरू-
पम् । च । वैराजम् । च ।० ॥ ९ ॥

जो ऐसा जानता है तो पश्चिम दिशाकी ओरसे वर्षा ऋतुके दो मास उसकी रक्षा करते हैं और वैराज तथा वैरूप उसके अनुकूल रहते हैं ॥ ९ ॥

तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥

तस्मै । उदीच्याः । दिशः ॥ १० ॥

शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥ ११ ॥

शारदौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । श्यैतम् । च । नौधसम् । च ।० ॥ ११ ॥

देवताओंने उसके लिये उत्तर दिशाकी ओरसे शरद ऋतुके दो मासोंको रक्षक नियुक्त किया और श्यैत तथा नौधसको अनुष्ठाता नियुक्त किया ॥ १० ॥ ११ ॥

शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ ॥

शारदौ । एनम् । मासौ । उदीच्याः । दिशः । गोपायतः । श्यैतम् । च । नौधसम् । च ।० ॥ १२ ॥

जो ऐसा जानता है तो उत्तरदिशाकी ओरसे शरद ऋतुके दो मास उसकी रक्षा करते हैं और श्यैत तथा नौधस् उसके अनुकूल रहते हैं ॥ १२ ॥

तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥ १३ ॥

तस्मै । ध्रुवायाः । दिशः ॥ १३ ॥

हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ

हैमनौ। मासौ। गोप्तारौ। अकुर्वन्। भूमिम्। च। अग्निम्। च।०

देवताओंने उसके लिये ध्रुवा दिशा (पृथ्वी) से हेमन्त ऋतुके दो मासोंको रक्षक नियुक्त किया और भूमि तथा अग्निको अनुष्ठाता किया॥ १३॥ १४॥

हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चा-ग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १५॥

हैमनौ। एनम्। मासौ। ध्रुवायाः। दिशः। गोपायतः। भूमिः। च। अग्निः। च।०॥ १५॥

जो ऐसा जानता है तो ध्रुवा दिशाकी ओरसे हेमन्त ऋतुके दो मास इसकी रक्षा करते हैं और भूमि तथा अग्नि इसके अनु-कूल रहते हैं॥ १५॥

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः॥ १६॥

तस्मै। ऊर्ध्वायाः। दिशः॥ १६॥

शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठा-तारौ॥ १७॥

शैशिरौ। मासौ। गोप्तारौ। अकुर्वन्। दिवम्। च। आदित्यम्। च। अनुऽस्थातारौ॥ १७॥

देवताओंने उसके लिये ऊर्ध्वा दिशाकी ओरसे शिशिर ऋतु के दो मासोंको रक्षक बनाया और द्यौ तथा आदित्यको अनुष्ठाता बनाया॥ १६॥ १७॥

शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥

शैशिरौ । एनम् । मासौ । ऊर्ध्वायाः । दिशः । गोपायतः । द्यौः । च । आदित्यः । च । अनु । तिष्ठतः । यः ।० ॥१८॥

इति प्रथमेऽनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

जो ऐसा जानता है तो शिशिर ऋतुके दो मास ऊर्ध्वा दिशा की ओरसे इसकी रक्षा करते हैं और द्यौ तथा आदित्य इसके अनुकूल रहते हैं ॥ १८ ॥

प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५१६)

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥

तस्मै । प्राच्याः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । भवम् । इषुऽआसम् । अनुऽस्थातारम् । अकुर्वन् ॥ १ ॥

देवताओंने उसके लिये पूर्वदिशाके कोणसे बाणका प्रक्षेप करने वाले भवको अनुष्ठाता नियुक्त किया ॥ १ ॥

भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥

भवः । एनम् । इषुऽआसः । प्राच्याः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । अनुऽस्थाता । अनु । तिष्ठति । न । एनम् । शर्वः । न । भवः । न । ईशानः ॥ २ ॥

पूर्वदिशाके कोणसे अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपक भव इसके अनुकूल रहते हैं और भव शर्व तथा ईशान (इसका संहार नहीं करते) २

नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ।३।

न । अस्य । पशून् । न । समानान् । हिनस्ति । यः ।० ॥ ३ ॥

जो ऐसा जानता है तो उसके पशुओंका और समान पुरुषों का (रुद्र) संहार नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥

तस्मै । दक्षिणायाः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । शर्वम् । इषुऽआसम् ।०

देवताओंने उसके लिये दक्षिण दिशाके कोणसे बाणप्रक्षेपक शर्वको अनुष्ठाता नियुक्त किया ॥ ४ ॥

शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं० ॥ ५ ॥

शर्वः । एनम् । इषुऽआसः । दक्षिणायाः । दिशः ।० ॥ ५ ॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपकशर्व दक्षिण दिशा के कोणमें इसके अनुकूल रहते हैं और इसका तथा इसके पशुओं का और इसके समान वयस्कोंका संहार नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥

तस्मै । प्रतीच्याः । दिशः । अन्तःऽदेशात् पशुऽपतिम् । इषुऽआसम् ।०

देवताओंने उसके लिये पश्चिम दिशाके कोणकी ओरसे बाणप्रक्षेपक पशुपतिको अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥

पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनु०

पशुऽपतिः । एनम् । इषुऽआसः । प्रतीच्याः । दिशः ।० ॥ ७ ॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता बाणप्रक्षेपक पशुपति दक्षिण दिशाके कोणमें इसके अनुकूल रहते हैं और इसके पशुओंका और इसके समान अवस्था वालोंका संहार नहीं करते हैं ॥७॥

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥

तस्मै । उदीच्याः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । उग्रम् । देवम् । इषुऽआसम्० ॥ ८ ॥

देवताओंने इसके लिये उत्तरदिशाके कोणसे अस्त्रप्रक्षेपक उग्रदेवको अनुष्ठाता नियुक्त किया ॥ ८ ॥

उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनु०

उग्रः । एनम् । देवः । इषुऽआसः । उदीच्याः । दिशः ।० ।९॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपक उग्र उत्तर दिशाके कोणमें इसके अनुकूल रहते हैं तथा इसके पशुओंका और इसकी समान अवस्था वालोंका संहार नहीं करते हैं ॥९॥

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥

तस्मै । ध्रुवायाः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । रुद्रम् । इषुऽआसम् ।०

देवताओंने उसके लिये ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अस्त्रप्रक्षेपक रुद्रको अधिष्ठाता बनाया ॥ १० ॥

रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनु० ११

रुद्रः । एनम् । इषुऽआसः । ध्रुवायाः । दिशः ।० ॥ ११ ॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपक रुद्र उसके अनुकूल रहते हैं और ध्रुव दिशाके कोणमें इसके पशुओंका तथा इसकी समान अवस्था वालोंका संहार नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥

तस्मै । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । महाऽदेवम् । इषुऽआसम् ।० ॥ १२ ॥

देवताओंने ऊर्ध्वादिशाके कोणमेंसे अस्त्रप्रक्षेपक महादेवको इसके लिये अनुष्ठाता किया ॥ १२ ॥

महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनु०

महाऽदेवः । एनम् । इषुऽआसः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अन्तःऽदेशात् । अनुऽस्थाता ।० ॥ १३ ॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपक महादेव ऊर्ध्वदिशाके कोणमें इसके अनुकूल रहते हैं और इसके पशुओंका तथा इसके समानवयस्कोंका संहार नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥

तस्मै । सर्वेभ्यः । अन्तःऽदेशेभ्यः । ईशानम् । इषुऽआसम् । अनुऽस्थातारम् । अकुर्वन् ॥ १४ ॥

देवताओंने सब दिशाओंके अन्तर्देशसे अस्त्रप्रक्षेपक ईशानको इसके लिये अनुष्ठाता किया ॥ १४ ॥

ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥

ईशानः । एनम् । इषुऽआसः । सर्वेभ्यः । अन्तःऽदेशेभ्यः । अनुऽस्थाता । अनु । तिष्ठति । न । एनम् । शर्वः । न । भवः । न । ईशानः ॥ १५ ॥

नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद १६

न । अस्य । पशून् । न । समानान् । हिनस्ति । यः । ० ॥१६॥

इति प्रथमेऽनुवाके पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

जो ऐसा जानता है तो अनुष्ठाता अस्त्रप्रक्षेपक ईशान सब दिशाओंकी अन्तर्दिशाओंसे इसके अनुकूल रहते हैं, भव शर्व और ईशान इसका संहार नहीं करते हैं और इसके पशुओंका तथा इसके समानवयस्कोंका भी संहार नहीं करते हैं ॥१५॥१६॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम पर्याय सूक्त समाप्त (५१७) ॥

स ध्रुवां दिशमनु व्य चलत् ॥ १ ॥

सः । ध्रुवाम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ १ ॥

वह व्रात्य ध्रुव दिशाकी ओर चला ॥ १ ॥

तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य चलन् ॥ २ ॥

तम् । भूमिः । च । अग्निः । च । ओषधयः । च । वनस्पतयः ।

च । वानस्पत्याः । च । वीरुधः । च । अनुऽव्यचलन् ॥ २ ॥

तब भूमि अग्नि औषधि वनस्पति, वनस्पतियोंमें होने वाली औषधियें भी उसके पीछे चलीं ॥ २ ॥

भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भूमेः । च । वै । सः । अग्नेः । च । ओषधीनाम् । च । वनस्पतीनाम् । च । वानस्पत्यानाम् । च । वीरुधाम् । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः ।० ॥ ३ ॥

जो इस बातको इस प्रकारसे जानता है वह भूमिका अग्निका वनस्पतियोंका औषधियोंका और वनस्पतिसे बनने वाले पदार्थों का प्रिय धाम होता है ॥ ३ ॥

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥

सः । ऊर्ध्वाम् । दिशम् ।० ॥ ४ ॥

वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर चला ॥ ४ ॥

तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥

तम् । ऋतम् । च । सत्यम् । च । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । नक्षत्राणि । च ।० ॥ ५ ॥

तब ऋत सत्य सूर्य चन्द्रमा और नक्षत्र उसके पीछे २ चले ५

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥६॥

ऋतस्य । च । वै । सः । सत्यस्य । च । सूर्यस्य । च । चन्द्रस्य । च । नक्षत्राणाम् । च ।० ॥ ६ ॥

जो इस बातको इस प्रकार जानता है वह ऋतु सत्य सूर्य चन्द्रमा और नक्षत्रोंका प्रिय-स्थान होता है ॥ ६ ॥

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥

सः । उत्ऽतमाम् । दिशम् ।० ॥ ७ ॥

वह उत्तम दिशाकी ओर चला ॥ ७ ॥

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ८

तम् । ऋचः । च । सामानि । च । यजूंषि । च । ब्रह्म । च ।० ८

तब ऋचाएँ साम यजु और ब्रह्म उसके पीछे २ चले ॥८॥

ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

ऋचाम् । च । वै । सः । साम्नाम् । च । यजुषाम् । च । ब्रह्मणः । च ।० ॥ ९ ॥

जो ऐसा जानता है वह ऋक् साम यजु और ब्रह्मका प्रियधाम होता है ॥ ९ ॥

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् ॥ १० ॥

सः । बृहतीम् । दिशम् ।० ॥ १० ॥

वह बृहती दिशाकी ओर चला ॥ १० ॥

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥ ११ ॥

तम् । इतिहऽआसः । च । पुराणम् । च । गाथाः । च । नाराशंसीः । च ।० ॥ ११ ॥

तब इतिहास पुराण और नाराशंसी गाथा उसके पीछे२ चलीं ११

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥१२॥

इतिहऽआसस्य । च । वै । सः । पुराणस्य । च । गाथानाम् । च । नाराशंसीनाम् । च ।० ॥ १२ ॥

जो इस बातको जानता है वह इतिहास पुराण और नाराशंसी गाथाओंका प्रियधाम होता है ॥ १२ ॥

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥

सः । परमाम् । दिशम् ।० ॥ १३ ॥

वह परम दिशाकी ओर चला ॥ १३ ॥

तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥

तम् । आऽहवनीयः । च । गार्हऽपत्यः । च । दक्षिणऽअग्निः । च । यज्ञः । च । यजमानः । च । पशवः । च ।० ॥ १४ ॥

तब आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि तथा यज्ञ यजमान और पशु उसके पीछे २ चले ॥ १४ ॥

आह॒वनी॑यस्य च॒ वै स गार्ह॑पत्यस्य च दक्षि॒णा॒ग्नेश्च॑ य॒ज्ञस्य॑ च॒ यज॑मानस्य च प॒शू॒नां च॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १५ ॥

आ॒ऽह॒व॒नी॑यस्य । च॒ । वै । सः । गार्ह॑ऽपत्यस्य । च॒ । द॒क्षि॒ण॒ऽअ॒ग्नेः । च॒ । य॒ज्ञस्य॑ । च॒ । यज॑मानस्य । च॒ । प॒शू॒नाम् । च॒ ।०

जो इस बातको जानता है वह आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्निका तथा यज्ञ यजमान और पशुओंका धाम अर्थात् उनके प्रादुर्भूत होनेका पात्र होता है ॥ १५ ॥

सोना॑दिष्टां दि॒शमनु॒ व्य॑चलत् ॥ १६ ॥

सः । अना॑दिष्टाम् । दि॒शम् ।० ॥ १६ ॥

वह अनादिष्ट दिशाकी ओर चला ॥ १६ ॥

तमृ॒तव॑श्चार्त॒वाश्च॑ लो॒काश्च॑ लौ॒क्याश्च॒ मासा॑श्चार्ध॒मा॒साश्चा॑होरा॒त्रे चा॒नुव्य॑चलन् ॥ १७ ॥

तम् । ऋ॒तवः॑ । च॒ । आ॒र्त॒वाः । च॒ । लो॒काः । च॒ । लौ॒क्याः । च॒ । मासाः॑ । च॒ । अ॒र्ध॒ऽमा॒साः । च॒ । अ॒हो॒रा॒त्रे इति॑ । च॒ ।०

तब वसन्त आदि ऋतुएँ, ऋतुके पदार्थ, लोक और दर्शनीय पदार्थ, मास, अर्धमास दिन और रात्रि उसके पीछे २ चले १७

ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥

ऋतूनाम् । च । वै । सः । आर्तवानाम् । च । लोकानाम् । च । लौक्यानाम् । च । मासानाम् । च । अर्धऽमासानाम् । च । अहोरात्रयोः । च ॥ १८ ॥

जो इस बातको जानता है वह ऋतुओंका ऋतुओंके पदार्थों का, लोकोंका लौक्योंका, मासोंका पक्षोंका तथा दिन और रात्रि का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥

सोनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावत्स्यंन्नमन्यत ॥

सः । अनावृत्ताम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् । ततः । न । आऽवत्स्यन् । अमन्यत ॥ १९ ॥

वह अनावृत्ता दिशाकी ओर चला और तहाँ नहीं रहना चाहिये यह मानने लगा ॥ १९ ॥

तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् २०

तम् । दितिः । च । अदितिः । च । इडा । च । इन्द्राणी । च । अनुऽव्यचलन् ॥ २० ॥

तब उसके पीछे दिति अदिति इडा और इन्द्राणी चलीं २०

दितेश्च वै सोदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २१ ॥

दितेः । च । वै । सः । अदितेः । च । इडायाः । च । इन्द्राण्याः । च । प्रियम् ।० ॥ २१ ॥

जो इस बातको जानता है वह दिति अदिति इडा और इन्द्राणी का प्रियधाम होता है ॥ २१ ॥

स दिशोनु व्यचलत् तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥ २२ ॥

सः । दिशः । अनु । वि । अचलत् । तम् । विऽराट् । अनु । वि । अचलत् । सर्वे । च । देवाः । सर्वाः । च । देवताः २२

वह दिशाओंके अनुकूल चला तब विराट् सकल देव और देवता इसके अनुकूल चले ॥ २२ ॥

विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥

विऽराजः । च । वै । सः । सर्वेषाम् । च । देवानाम् । सर्वासाम् । च । देवतानाम् । प्रियम् ।० ॥ २३ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह विराट्का सकल देवोंका और देवोंके सकल गण देवताओंका प्रियधाम होता है ॥ २३ ॥

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥

सः । सर्वान् । अन्तःऽदेशान् । अनु । वि । अचलत् ॥ २४ ॥

वह सब अन्तर्देशोंके अनुकूल चला ॥ २४ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्य-
चलन् ॥ २५ ॥

तम् । प्रजाऽपतिः । च । परमेऽस्थी । च । पिता । च । पितामहः ।
च । अनुऽव्यचलन् ॥ २५ ॥

उस प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामह उसके अनुकूल चले

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २६ ॥

प्रजाऽपतेः । च । वै । सः । परमेऽस्थिनः । च । पितुः । च ।
पितामहस्य । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः ।० ॥ २६ ॥

इति प्रथमेनुवाके षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापतिका परमेष्ठीका पिता
का और पितामहका प्रियधाम होता है ॥ २६ ॥

प्रथम अनुवाकमें छठा पर्याय सूक्त समाप्त (५१८)

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समु-
द्रोऽभवत् ॥ १ ॥

सः । महिमा । सद्रुः । भूत्वा । अन्तम् । पृथिव्याः । अगच्छत् ।
सः । समुद्रः । अभवत् ॥ १ ॥

वह सद्रु महिमा बनकर पृथ्वीके अन्तमें गया और वह समुद्र
होगया ॥ १ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च
श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥

तम् । प्रजाऽपतिः । च । परमेऽस्थी । च । पिता । च । पितामहः ।

च । आपः । च । श्रद्धा । च । वर्षम् । भूत्वा । अनुऽव्यवर्तयन्त ।

प्रजापति परमेष्ठी पिता पितामह जल और श्रद्धा वर्षा बनकर उसके अनुकूल वर्ताव करने लगे ॥ २ ॥

ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥

आ । एनम् । आपः । गच्छति । आ । एनम् । श्रद्धा । गच्छति ।

आ । एनम् । वर्षम् । गच्छति । यः ।० ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार जानता है उसको जल प्राप्त होता है, श्रद्धा प्राप्त होती है और वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

तम् । श्रद्धा । च । यज्ञः । च । लोकः । च । अन्नम् । च । अन्नऽ-

अद्यम् । च । भूत्वा । अभिऽपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

श्रद्धा यज्ञ लोक अन्न और अन्नाद्य अपनी सत्तामें प्रकट होकर उसको घेर कर खड़े होगए ॥ ४ ॥

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ५

आ । एनम् । श्रद्धा । गच्छति । आ । एनम् । यज्ञः । गच्छति ।

आ । एनम् । लोकः । गच्छति । आ । एनम् । अन्नम् ।

गच्छति । आ । एनम् । अन्नऽअद्यम् । गच्छति । यः ।० ५

प्रथमेऽनुवाके सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

जो इस प्रकार जानता है उसको श्रद्धा प्राप्त होती है यज्ञ प्राप्त होता है लोक प्राप्त होता है अन्न और अन्नको पचानेका बल भी प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें सप्तम पर्याय सूक्त समाप्त (५१९)

प्रथम अनुवाक समाप्त

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥

सः । अरज्यत । ततः । राजन्यः । अजायत ॥ १ ॥

उसने रञ्जन किया तदनन्तर वह राजा हुआ ॥ १ ॥

सः विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥

सः । विशः । सऽबन्धून् । अन्नम् । अन्नऽअद्यम् । अभिऽउदतिष्ठत् २

वह प्रजाओंके बंधुओंके अन्नके और अन्नको पचानेके बलके अनुकूल चला ॥ २ ॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

विशाम् । च । वै । सः । सऽबन्धूनाम् । च । अन्नस्य । च । अन्नऽअद्यस्य । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः ।० ॥ ३ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओंका पशुओंका अन्नका और अन्नाद्यका प्रियधाम होता है ॥ २ ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम पर्याय सूक्त समाप्त (५२०)

स विशोनु व्यचलत् ॥ १ ॥

सः । विशः । अनु । वि । अचलत् ॥ १ ॥

वह प्रजाओंके अनुकूल चला ॥ १ ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् २

तम् । सभा । च । सम्ऽइतिः । च । सेना । च । सुरा । च । अनुऽव्यचलन् ॥ २ ॥

तब सभा समिति सेना और सुरा उसके अनुकूल चले ॥२॥

सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

सभायाः । च । वै । सः । सम्ऽइतेः । च । सेनायाः । च । सुरायाः । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः । एवम् । वेद ३

इति द्वितीयेनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस प्रकार जानता है वह सभा समिति सेना और सुरा का प्रिय होता है ॥ ३ ॥

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय पर्याय सूक्त समाप्त (५२१)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोतिथिर्गृहानागच्छेत् १

तत् । यस्य । एवम् । विद्वान् । व्रात्यः । राज्ञः । अतिथिः । गृहान् । आऽगच्छेत् ॥ १ ॥

ऐसा विद्वान् व्रात्य जिस राजाके घरमें अतिथिरूपमें आवे ॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

श्रेयांसम् । एनम् । आत्मनः । मानयेत् । तथा । क्षत्राय । न । आ । वृश्चते । तथा । राष्ट्राय । न । आ । वृश्चते ॥ २ ॥

तो इस श्रेष्ठ पुरुषका अपने (पुरुषोंसे वा आप) मान करे, ऐसा करनेसे वह राष्ट्र और क्षात्रशक्तिका नाश नहीं करता है अर्थात् उसका क्षात्रबल और राष्ट्र अक्षुण्ण रहता है ॥ २ ॥

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

अतः । वै । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । उत् । अतिष्ठताम् । ते इति । अब्रूताम् । कम् । प्र । विशाव । इति ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर ब्रह्मबल और क्षत्रबल उठते हैं और कहते हैं, कि-हम किसमें प्रवेश करें ॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥

०। बृहस्पतिम् । एव । ब्रह्म । प्र । विशतु । इन्द्रम् । क्षत्रम् । तथा । वै । इति ॥ ४ ॥

तब (किसीने कहा कि-) बृहस्पतिमें ब्रह्मबल प्रवेश करे और क्षात्रशक्ति इन्द्रमें प्रवेश करे ॥ ४ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥५॥

अतः । वै । बृहस्पतिम् । एव । ब्रह्म । प्र । अविशत् । इन्द्रम् । क्षत्रम् ॥ ५ ॥

तब बृहस्पतिमें ब्रह्मबलने प्रवेश किया और क्षात्रशक्तिने इन्द्र में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥

इयम् । वै । ऊं इति । पृथिवी । बृहस्पतिः । द्यौः । एव । इन्द्रः ६

यह पृथिवी ही बृहस्पति है और द्यौ ही इन्द्र है ॥ ६ ॥

अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥

अयम् । वै । ऊं इति । अग्निः । ब्रह्म । असौ । आदित्यः । क्षत्रम् ७

यह अग्नि ही ब्रह्मबल है और यह आदित्य ही क्षत्रबल है ७

ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥

आ । एनम् । ब्रह्म । गच्छति । ब्रह्मऽवर्चसी । भवति ॥ ८ ॥

यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥

यः । पृथिवीम् । बृहस्पतिम् । अग्निम् । ब्रह्म । वेद ॥ ९ ॥

जो पृथिवीको बृहस्पति और अग्निको ब्रह्म जानता है तो उसको ब्रह्मबल प्राप्त होता है और वह वह ब्रह्मवर्चस्वी होता है ॥८॥९॥

ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥

आ । एनम् । इन्द्रियम् । गच्छति । इन्द्रियऽवान् । भवति ॥१०॥

य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

यः । आदित्यम् । क्षत्रम् । दिवम् । इन्द्रम् । वेद ॥ ११ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

जो आदित्यको क्षत्र और द्यौको इन्द्र जानता है तो इन्द्रियें उसके पास आती हैं अर्थात् अपने स्वरूपको प्रकट कर देती हैं और वह इन्द्रियवान् होता है ॥ १० ॥ ११ ॥

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (५२२)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

०व्रात्यः । अतिथिः ।०॥ १ ॥

जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथिके रूपमें आवे ॥१॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

स्वयम् । एनम् । अभिऽउदेत्य । ब्रूयात् । व्रात्य । क्व । अवात्सीः । व्रात्य । उदकम् । व्रात्य । तर्पयन्तु । व्रात्य । यथा । ते । प्रियम् । तथा । अस्तु । व्रात्य । यथा । ते । वशः । तथा । अस्तु । व्रात्य । यथा । ते । निऽकामः । तथा । अस्तु । इति ॥ २ ॥

तब स्वयं इसको अभ्युत्थान देकर कहे, कि—व्रात्य ! तुम कहाँ रहते हो, हे व्रात्य ! यह जल है हे व्रात्य ! हमारे घरके पुरुष

तुमको तृप्त करें, हे व्रात्य ! जो बात तुमको प्रिय हो वह वैसे ही हो, हे व्रात्य ! जैसा तेरा वश है तैसा हो हे व्रात्य ! जैसा तेरा निकाम हो तैसा हो ॥ २ ॥

यदे॑नमा॒ह॒ व्रात्य॒ क्वा॑ऽवात्सी॒रिति॑ प॒थ ए॒व तेन॑ दे॒व॒-
यानानव॑ रुन्द्धे ॥ ३ ॥

यत् । ए॒न॒म् । आह॒ । व्रात्य॑ । क्व॑ । अ॒वा॒त्सीः॒ । इति॑ । प॒थः । ए॒व ।
तेन॑ । दे॒व॒ऽया॒नान् । अव॑ । रु॒न्द्धे॒ ॥ ३ ॥

जो इससे यह कहता है, कि–हे व्रात्य ! आप कहाँ रहोगे तो इससे देवयानके मार्गोंको ही खोल लेता है ॥ ३ ॥

यदे॑नमा॒ह॒ व्रात्यो॑द॒कमित्य॒प ए॒व तेना॑व॑ रुन्द्धे ॥४॥

०। व्रात्य॑ । उ॒द॒कम् । इति॑ । अ॒पः । ए॒व । तेन॑ । अव॑ । रु॒न्द्धे॒ ४

जो इससे कहता है, कि–हे व्रात्य ! यह जल है तो जलको ही खोल लेता है ॥ ४ ॥

यदे॑नमा॒ह॒ व्रात्य॑ त॒र्पय॑न्त्वि॒ति॑ प्रा॒णमे॒व तेन॒ वर्षी॑यांसं॒
कुरुते ॥ ५ ॥

०। व्रात्य॑ । त॒र्पय॑न्तु । इति॑ । प्रा॒णम् । ए॒व । तेन॑ । वर्षी॑यांसम् ।
कु॒रु॒ते ॥ ५ ॥

जो कहता है, कि–हे व्रात्य ! यह हमारे पुरुष आपको तृप्त करें, उससे अपने प्राणको ही वर्षीयान् करता है ॥ ५ ॥

यदे॑नमा॒ह॒ व्रात्य॒ यथा॑ ते प्रि॒यं त॒थास्त्वि॒ति॑ प्रि॒यमे॒व
तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ६ ॥

यत् । एनम् । आह । व्रात्य । यथा । ते । प्रियम् । तथा । अस्तु । इति । प्रियम् । एव । तेन । अव । रुन्द्धे ॥ ६ ॥

जो इससे कहता है, कि-हे व्रात्य ! जैसा आपको प्रिय होगा वैसा ही होगा तो उससे अपने प्रिय कार्योंको ही (प्राप्त करता है) खोलता है ॥ ६ ॥

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद

आ । एनम् । प्रियम् । गच्छति । प्रियः । प्रियस्य । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ७ ॥

जो ऐसा जानता है तो प्रिय पुरुषको प्राप्त होता है और प्रिय का प्रिय होता है । ७ ॥

यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

० ते वशः । । तथा । अस्तु । इति । वशम् । एव ।० ॥ ८ ॥

जो कहता है, कि-हे व्रात्य ! जैसा तेरा वश है वैसा ही हो तो उससे वशको ही खोलता है-पाता है ॥ ८ ॥

ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ९

आ । एनम् । वशः । गच्छति । वशी । वशिनाम् । भवति ।० ९

जो इस प्रकार जानता है तो वश इसको प्राप्त होता है और यह वशियोंको भी वशमें रखने वाला होता है ॥ ९ ॥

यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥

यत् । एनम् । आह । व्रात्य । यथा । ते । निऽकामः । तथा ।

अस्तु । इति । निऽकामम् । एव । तेन । अव । रुन्द्धे ॥१०॥

जो इससे कहता है, कि-हे व्रात्य ! जैसा तुम्हारा निकाम (अभिलाषा) हो तैसा ही हो तो उससे अपने लिये निकामको ही खोल लेता है ॥ १० ॥

ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

आ । एनम् । निऽकामः । गच्छति । निऽकामे । निऽकामस्य । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ११ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस प्रकार जानता है, निकाम उसको प्राप्त होता है ११

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५२३)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्नि-होत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

०। व्रात्यः । उद्धृतेषु । अग्निषु । अधिऽश्रिते । अग्निऽहोत्रे । अतिथिः । गृहान् । आऽगच्छेत् ॥ १ ॥

अग्नियोंके उद्धृत करने पर और अग्निहोत्रके अधिश्रित होने पर यदि ऐसा विद्वान् व्रात्य इस अग्निहोत्रीके घर पर आजावे १

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्याति सृज होष्यामीति

स्वयम् । एनम् । अभिऽउदेत्य । ब्रूयात् । व्रात्य । अति । सृज ।
होष्यामि । इति ॥ २ ॥

तब इसको अपने आप अभ्युत्थान देकर कहे, कि-हे व्रात्य! आज्ञा दीजिये, मैं होम करूंगा ॥ २ ॥

स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात ॥३॥

सः । च । अतिऽसृजेत् । जुहुयात् । न । च । अतिऽसृजेत् । न ।
जुहुयात् ॥ ३ ॥

वह आज्ञा देवे तो आहुति देय, आज्ञा न देय तो आहुति न देवे

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥

सः । यः । एवम् । विदुषा । व्रात्येन । अतिऽसृष्टः । जुहोति ४

जो वह ऐसे विद्वान् व्रात्यके कहने पर आहुति देता है ॥ ४ ॥

प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥

प्र । पितृऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । प्र । देवऽयानम् ॥ ५ ॥

तो पितृयानमार्गको और देवयानमार्गको जान जाता है ॥५॥

न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥

न । देवेषु । आ । वृश्चते । हुतम् । अस्य । भवति ॥ ६ ॥

और इसकी आहुति देवताओंसे छिन्न नहीं होती है देवताओंको ही प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा
व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥

परि । अस्य । अस्मिन् । लोके । आऽयतनम् । शिष्यते । यः ।
एवम् । विदुषा । व्रात्येन । अतिऽसृष्टः । जुहोति ॥ ७ ॥

जो ऐसे विद्वान् व्रात्यके कहने पर आहुति देता है तो इसका आयतन संसारमें चारों ओर अवशिष्ट रहता है ॥ ७ ॥

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ।८।

अथ । यः । एवम् । विदुषा । व्रात्येन । अनतिऽसृष्टः । जुहोति८

और ऐसे विद्वान् व्रात्यके आज्ञा न देने पर भी आहुति देता है

न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥

न । पितृऽयानम् । पन्थाम् । जानाति । न । देवऽयानम् ॥९॥

तो वह न पितृयानमार्गको जान पाता है और न देवयानमार्ग को जान पाता है ॥ ९ ॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥ १० ॥

आ । देवेषु । वृश्चते । अहुतम् । अस्य । भवति ॥ १० ॥

नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ११ ॥

न । अस्य । अस्मिन् । लोके । आऽयतनम् । शिष्यते । यः ।
एवम् । विदुषा । व्रात्येन । अनतिऽसृष्टः । जुहोति ॥ ११ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

जो ऐसे विद्वान् व्रात्यके आज्ञा न देने पर आहुति देता है तो इसका हुत अहुत होजाता है और यह देवताओंमें काटा जाता है

अर्थात् देवताओंके कोपका भाजन होता है और इस लोकमें इसका कोई आयतन (घर) भी बाकी नहीं रहता है ॥१०॥११॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चमपर्याय सूक्त समाप्त (५२४)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

०। व्रात्यः । एकाम् । रात्रिम् । अतिथिः । गृहे । वसति ॥ १ ॥

ऐसा विद्वान् व्रात्य जिसके घरमें एक रात्रि तक अतिथिके रूप में वसता है ॥ १ ॥

ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥२॥

ये । पृथिव्याम् । पुण्याः । लोकाः । तान् । एव । तेन । अव । रुन्द्धे

तो उस फलसे पृथ्वीमें जितने पुण्यलोक हैं उनको जीत लेता है

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥

०। व्रात्यः । द्वितीयाम् । रात्रिम् ।० ॥ ३ ॥

और ऐसा विद्वान् व्रात्य जिसके घरमें अतिथिके रूपमें दूसरी रात्रि रहता है ॥ ३ ॥

येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥४॥

ये । अन्तरिक्षे । पुण्याः ।० ॥ ४ ॥

तो उसके फलसे वह अन्तरिक्षके पुण्यलोकों (के द्वार) को खोल लेता है ॥ ४ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

०। व्रात्यः । तृतीयाम् । रात्रिम् ।० ॥ ५ ॥

और ऐसा विद्वान् व्रात्य जिसके घरमें अतिथिके रूपमें तीसरी रात्रिमें रहता है ॥ ५ ॥

ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

ये । दिवि । पुण्याः ।० ॥ ६ ॥

तो उसके फलसे वह द्यौके पुण्यलोकों (के द्वार) को खोल लेता है ॥ ६ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

०। व्रात्यः । चतुर्थीम् । रात्रिम् । अतिथिः ।० ॥ ७ ॥

और ऐसा विद्वान् व्रात्य जिसके घरमें अतिथिके रूपमें चौथी रात्रिमें रहता है ॥ ७ ॥

ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥

ये । पुण्यानाम् । पुण्याः ।० ॥ ८ ॥

तो उसके फलसे वह पुण्यात्माओंके पुण्यलोकों (के द्वार) को खोल लेता है ॥ ८ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥

तत् । यस्य । एवम् । विद्वान् । व्रात्यः । अपरिऽमिताः । रात्रीः । अतिथिः । गृहे । वसति ॥ ९ ॥

और ऐसा विद्वान् व्रात्य जिसके घरमें अतिथिके रूपमें अपरिमित रात्रियों तक रहता है ॥ ९ ॥

य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे

ये । एव । अपरिऽमिताः । पुण्याः । लोकाः । तान् । एव । तेन । अव । रुन्द्धे ॥ १० ॥

तो उसके फलसे वह अपरिमित पुण्यलोकोंके (द्वारको) खोल लेता है ॥ १० ॥

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहाना-गच्छेत् ॥ ११ ॥

अथ । यस्य । अव्रात्यः । व्रात्यऽब्रुवः । नामऽबिभ्रती । अतिथिः । गृहान् । आऽगच्छेत् ॥ ११ ॥

और जिसके घरमें वास्तवमें अव्रात्य तथा अपनेको व्रात्य कहने वाला अतिथि आवे ॥ ११ ॥

कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥

कर्षेत् । एनम् । न । च । एनम् । कर्षेत् ॥ १२ ॥

तो उसको खदेड़ देय किंतु वास्तविक व्रात्यको न खदेड़े १२

अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमा-मिमां देवता परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् १३

अस्यै । देवतायै । उदकम् । याचामि । इमाम् । देवताम् । वासये । इमाम् । इमाम् । देवताम् । परि । वेवेष्मि । इति एनम् । परि । वेविष्यात् ॥ १३ ॥

मैं इस देवतासे जलकी प्रार्थना करता हूँ, मैं इस देवताको बसाता हूँ और इस देवताको परोसता हूँ यह समझ कर परोसे १३

तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद

तस्याम् । एव । अस्य । तत् । देवतायाम् । हुतम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १४ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके षष्ठं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस बातको जानता है वा जो इस बातको प्राप्त करता है उसका इस देवतामें हुत ही हुत होता है ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें छठा पर्याय सूक्त समाप्त (५२१)

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥

सः । यत् । प्राचीम् । दिशम् । अनु । विऽअचलत् । मारुतम् । शर्धः । भूत्वा । अनुऽव्यचलत् । मनः । अन्नऽअदम् । कृत्वा

वह जब पूर्वदिशाके अनुकूल चला तब बल (वान्) होकर वायुके अनुकूल चला और उसने मनको अन्नाद बनाया १

मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

मनसा । अन्नऽअदेन । अन्नम् । अत्ति । यः । ० ॥ २ ॥

जो इस बातको प्राप्त कर लेता है वह अन्नाद मनके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ २ ॥

स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥

०। यत्। दक्षिणाम्। दिशम्। अनु। विऽअचलत्। इन्द्रः। भूत्वा।

अनुऽव्यचलत्। बलम्। अन्नऽअदम्। कृत्वा॥ ३॥

वह जब दक्षिण दिशाके अनुकूल चला तब बलको अन्नाद बना कर और स्वयं इन्द्र बन कर चला॥ ३॥

बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ ४॥

बलेन। अन्नऽअदेन। अन्नम्। ०॥ ३॥

जो इस प्रकार जानता है या जो इस बातको पा लेता है वह अन्नाद बलके द्वारा अन्नका भक्षण कर लेता है॥ ४॥

स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वा-नुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा॥ ५॥

०। यत्। प्रतीचीम्। दिशम्। अनु। विऽअचलत्। वरुणः। राजा। भूत्वा। अनुऽव्यचलत्। अपः। अन्नऽअदीः। कृत्वा ५

वह जब पश्चिम दिशाके समान चला तब जलको अन्नाद (अन्न भक्षण करने वाला) कर राजा वरुण बन कर पश्चिम दिशाके अनुकूल चला॥ ५॥

अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद॥ ६॥

अत्ऽभिः। अन्नऽअदीभिः। अन्नम्।०॥ ६॥

जो इस बातको जानता है वह अन्नभक्षक जलके द्वारा अन्न का भक्षण करता है॥ ६॥

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वा-नुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा॥७॥

०। यत्। उदीचीम्। दिशम्। अनु। विऽअचलत्। सोमः। राजा। भूत्वा। अनुऽव्यचलत्। सप्तर्षिऽभिः। हुते। आऽहुतिम्। अन्नऽअदीम्। कृत्वा॥ ७॥

वह जब उत्तर दिशाके अनुकूल चला तब सप्तर्षियोंसे होमी हुई आहुतिको अन्नका भक्षण करने वाली बना राजा सोमके अनुकूल चला॥ ७॥

आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद॥ ८॥

आऽहुत्या। अन्नऽअद्या। अन्नम्।०॥ ८॥

जो इस प्रकार जानता है वह अन्नका भक्षण करने वाली आहुतिके द्वारा अन्नका भक्षण करता है॥ ८॥

स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा॥ ९॥

०। यत्। ध्रुवाम्। दिशम्। अनु। विऽअचलत्। विष्णुः। भूत्वा। अनुऽव्यचलत्। विऽराजम्। अन्नऽअदीम्। कृत्वा॥ ९॥

वह जब ध्रुवदिशाके अनुकूल चला तब विराट्को अन्नाद बना विष्णु बन कर चला॥ ९॥

विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद॥ १०॥

विऽराजा। अन्नऽअद्या। अन्नम्।०॥ १०॥

जो इस बातको जानता है वह अन्नभक्षक विराट्के द्वारा अन्न का भक्षण करता है॥ १०॥

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधी-
रन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥

०। यत् । पशून् । अनु । वि॒ऽअचलत् । रुद्रः । भूत्वा । अनुऽव्य॒चलत् । ओषधीः । अन्नऽअदीः । कृत्वा ॥ ११ ॥

वह जब पशुओं (अज्ञानी जीवों) के अनुकूल चला तब ओषधियोंको अन्नका भक्षण करनेवाली बना रुद्र बन कर अनुकूल चला ॥ ११ ॥

ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ओषधीभिः । अन्नऽअदीभिः । अन्नम् ।०॥ १२ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह अन्नका भक्षण करने वाली ओषधियोंके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ १२ ॥

स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्य-
चलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥

० । यत् । पितॄन् । अनु । वि॒ऽअचलत् । यमः । राजा । भूत्वा । अनुऽव्य॒चलत् । स्वधाऽकारम् । अन्नऽअदम् । कृत्वा ॥१३॥

वह जब पितरोंके अनुकूल चला तब स्वधाकारको अन्नाद बना यम राजा बनकर अनुकूल चला ॥ १३ ॥

स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥

स्वधाऽकारेण । अन्नऽअदेन । अन्नम् ।० ॥ १४ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह स्वधाकार अन्नादके द्वारा अन्न का भक्षण करता है ॥ १४ ॥

स यन्मनुष्याँ३ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य॑चलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥

०। यत् । मनुष्या॑न् । अनु । वि॒ऽअचलत् । अग्निः । भूत्वा । अनुऽव्य॑चलत् । स्वाहाऽकारम् । अन्नऽअदम् ।० ॥ १५ ॥

वह जब मनुष्योंके अनुकूल चला तब स्वाहाकारको अन्नाद बना स्वयं अग्नि होकर अनुकूल चला ॥ १५ ॥

स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

स्वाहाऽकारेण । अन्नऽअदेन ।० ॥ १६ ॥

जो इस बातको जानता है वह अन्नाद स्वाहाकारके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ १६ ॥

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य॑चलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥

० । यत् । ऊर्ध्वाम् । दिशम् । अनु । वि॒ऽअचलत् । बृहस्पतिः । भूत्वा । अनुऽव्य॑चलत् । वषट्ऽकारम् । अन्नऽअदम् ।० १७

वह जब ऊर्ध्वा दिशाके अनुकूल चला तब वषट्कारको अन्नाद बनाकर और बृहस्पति बन कर अनुकूल चला ॥ १७ ॥

वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥

वषट्ऽकारेण । अन्नऽअदेन ।० ॥ १८ ॥

जो इस बातको जानता है वह अन्नाद वषट्कारके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ १८ ॥

स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥

०। यत् । देवान् । अनु । विऽअचलत् । ईशानः । भूत्वा । अनुऽव्यचलत् । मन्युम् । अन्नऽअदम् ।० ॥ १९ ॥

जब वह देवताओंके अनुकूल चला तब मन्यु (यज्ञ) को अन्नाद बनाकर और ईशान बनकर देवताओंके अनुकूल चला१९

मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥

मन्युना । अन्नऽअदेन ।० ॥ २० ॥

जो इस प्रकार जानता है वह अन्नाद मन्युके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ २० ॥

स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥

०। यत् । प्रऽजाः । अनु । विऽअचलत् । प्रजाऽपतिः । भूत्वा । अनुऽव्यचलत् । प्राणम् । अन्नऽअदम् ।० ॥ २१ ॥

वह जब प्रजाओंके अनुकूल चला तब प्राणको अन्नाद बना कर प्रजापति बन कर अनुकूल चला ॥ २१ ॥

प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

प्राणेन । अन्नऽअदेन ।० ॥ २२ ॥

जो इस प्रकार जानता है वह अन्नाद प्राणके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ २२ ॥

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानु-व्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥

सः । यत् । सर्वान् । अन्तःऽदेशान् । अनु । विऽअचलत् । परमेऽस्थी । भूत्वा । अनुऽव्यचलत् । ब्रह्म । अन्नऽअदम् । कृत्वा ।

वह जब सब अन्तर्देशोंके अनुकूल चला तब तब ब्रह्मको अन्नाद बनाकर और प्रजापति बन कर अनुकूल चला ॥ २३ ॥

ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा । अन्नऽअदेन । अन्नम् । अत्ति । यः । एवम् । वेद २४

इति द्वितीयेऽनुवाके सप्तमं पर्यायसूक्तम् ॥

जो इस प्रकार जानता है वह अन्नाद ब्रह्मके द्वारा अन्नका भक्षण करता है ॥ २४ ॥

द्वितीय अनुवाकमें सप्तम पर्याय सूक्त समाप्त (५२६)

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥

तस्य । व्रात्यस्य ॥ १ ॥

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

सप्त । प्राणाः । सप्त । अपानाः । सप्त । विऽआनाः ॥ २ ॥

उस व्रात्यके सात प्राण हैं, सात अपान हैं और सात व्यान हैं ॥ २

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥

०। यः। अस्य। प्रथमः। प्राणः। ऊर्ध्वः। नाम। अयम्। सः।
अग्निः॥ ३॥

इस व्रात्यका जो ऊर्ध्व नामक प्रथम प्राण है वह यह अग्नि है

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ
स आदित्यः॥ ४॥

०। अस्य। द्वितीयः। प्राणः। प्रऽऊढः। नाम। असौ। सः।
आदित्यः॥ ४॥

इस व्रात्यका जो प्रौढ़ नामक दूसरा प्राण है वह आदित्य है ४

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ
स चन्द्रमाः॥ ५॥

०। अस्य। तृतीयः। प्राणः। अभिऽऊढः। नाम। असौ। सः।
चन्द्रमाः॥ ५॥

इस व्रात्यका जो अभ्यूढ नामक तृतीय प्राण है वह यह
चन्द्रमा है॥ ५॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं
स पवमानः॥ ६॥

०। अस्य। चतुर्थः। प्राणः। विऽभूः। नाम। अयम्। सः। पव-
मानः॥ ६॥

इस व्रात्यका जो विभू नामक चौथा प्राण है वह यह पवमान है

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥

०। अस्य । पञ्चमः । प्राणः । योनिः । नाम । ताः । इमाः । आपः

इस व्रात्यका जो योनि नामक पञ्चम प्राण है वह यह जल है ७

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥

अस्य । षष्ठः । प्राणः । प्रियः । नाम । ते । इमे । पशवः ॥ ८ ॥

इस व्रात्यका जो प्रिय नामक छठा प्राण है वह ये पशु हैं ८

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

०। अस्य । सप्तमः । प्राणः । अपरिऽमितः । नाम । ताः । इमाः । प्रऽजाः ॥ ९ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके अष्टमं पर्यायसूक्तम् ॥

इस व्रात्यका जो अपरिमित नामक सातवाँ प्राण है वह ये प्रजा हैं

द्वितीय अनुवाकमें अष्टम पर्याय सूक्त समाप्त (५२७)

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी १

०। प्रथमः । अपानः । सा । पौर्णऽमासी ॥ १ ॥

इस व्रात्यका जो प्रथम अपान है वह पौर्णमासी है ॥ १ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥

०। द्वितीयः । अपानः । सा । अष्टका ॥ २ ॥

इस व्रात्यका जो द्वितीय अपान है वह अष्टका है ॥ २ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या ३

० । तृतीयः । अपानः । सा । अमाऽवास्या ३

इस व्रात्यका जो तृतीय अपान है वह अमावास्या है ॥ ३ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा ।४।

०। चतुर्थः । अपानः । सा । श्रद्धा ॥ ४ ॥

इस व्रात्यका जो चौथा अपान है वह श्रद्धा है ॥ ४ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा॥५॥

०। पञ्चमः । अपानः । सा । दीक्षा ॥ ५ ॥

इस व्रात्यका जो पाँचवाँ अपान है वह दीक्षा है ॥ ५ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः ॥ ६ ॥

०। षष्ठः । अपानः । सः । यज्ञः ॥ ६ ॥

इस व्रात्यका जो छठा अपान है वह यज्ञ है । ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः

सप्तमः । अपानः । ताः । इमाः । दक्षिणाः ॥ ७ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके नवमं पर्यायसूक्तम् ॥

इस व्रात्यका जो सप्तम अपान है वह ये दक्षिणा हैं । ७॥

द्वितीय अनुवाकमें नवम पर्याय सूक्त समाप्त (५२८) ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः १

०। अस्य । प्रथमः । विऽआनः । सा । इयम् । भूमिः ॥ १ ॥

इस व्रात्यका जो प्रथम व्यान है वह यह भूमि है ॥ १ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम्

०। अस्य । द्वितीयः । वि॒ऽआ॒नः । तत् । अन्तरिक्षम् ॥ २ ॥

इस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ३

०। अस्य । तृतीयः । वि॒ऽआ॒नः । सा । द्यौः ॥ ३ ॥

इस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौ है ॥ ३ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि

०। अस्य । चतुर्थः । वि॒ऽआ॒नः । तानि । नक्षत्राणि ॥ ४ ॥

इस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है वे नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ५

०। अस्य । पञ्चमः । वि॒ऽआ॒नः । ते । ऋतवः ॥ ५ ॥

इस व्रात्यका जो पञ्चम व्यान है वे ऋतुएँ हैं ॥ ५ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ६

०। अस्य । षष्ठः । वि॒ऽआ॒नः । ते । आर्तवाः ॥ ६ ॥

इस व्रात्यका जो छठा व्यान है वे आर्तव हैं ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ७

०। यः । अस्य । सप्तमः । वि॒ऽआ॒नः । सः । सम्ऽवत्सरः ॥७॥

इस व्रात्यका जो सप्तम व्यान है वह सम्वत्सर है ॥ ७ ॥

तस्य व्रात्यस्य । समानमर्थं परि यन्ति देवा संवत्सरं वा एतदृतवोनुपरियन्ति व्रात्यं च ॥ ८ ॥

समानम् । अर्थम् । परि । यन्ति । देवाः । सम्ऽवत्सरम् । वै । एतत् । ऋतवः । अनुऽपरियन्ति । व्रात्यम् । च ॥ ८ ॥

देवता इस व्रात्यके समान अर्थको प्राप्त होते हैं सम्वत्सर और ऋतु भी इसका परिगमन करते हैं ॥ ८ ॥

तस्य व्रात्यस्य । यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥ ९ ॥

०। यत् । आदित्यम् । अभिऽसंविशन्ति । अमाऽवास्याम् । च । एव । तत् । पौर्णऽमासीम् । च ॥ ९ ॥

जो अमावास्या और पौर्णमासीको आदित्यमें प्रवेश करते हैं (वे इस व्रात्यके प्रशंसक ही प्रवेश करते हैं) ॥ ९ ॥

तस्य व्रात्यस्य । एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव १०

एकम् । तत् । एषाम् । अमृतऽत्वम् । इति । आऽहुतिः । एव १०

इति द्वितीयेनुवाके दशमं पर्यायसूक्तम् ॥

वह यह एक आहुति ही इनका अमृतत्व है ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें दशमपर्याय सूक्त समाप्त (५२९)

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥

तस्य । व्रात्यस्य ॥ १ ॥

यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥

यत् । अस्य । दक्षिणम् । अक्षि । असौ । सः । आदित्यः । यत् । अस्य । सव्यम् । अक्षि । असौ । सः । चन्द्रमाः ॥ २ ॥

इस ब्रात्यका जो दाहिना नेत्र है वह आदित्य है और बायाँ नेत्र है वह चन्द्रमा है ॥ १ ॥ २ ॥

योऽस्य दक्षिणः कर्णोयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोयं स पवमानः ॥ ३ ॥

यः । अस्य । दक्षिणः । कर्णः । अयम् । सः । अग्निः । यः । अस्य । सव्यः । कर्णः । अयम् । सः । पवमानः ॥ ३ ॥

और जो इसका दाहिना कान है वह अग्नि है और जो बाम कर्ण है वह पवमान है ॥ ३ ॥

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥

अहोरात्रे इति । नासिके इति । दितिः । च । अदितिः । च । शीर्षकपाले इति शीर्षऽकपाले । सम्ऽवत्सरः । शिरः ॥ ४ ॥

दिन और रात्रि नासिका हैं दिति और अदिति शीर्षकपाल हैं और सम्वत्सर शिर है ॥ ४ ॥

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ।५।

अह्ना । प्रत्यङ् । व्रात्यः । रात्र्या । प्राङ् । नमः । व्रात्याय ५

द्वितीयेनुवाके एकादशं पर्यायसूक्तम् ॥

द्वितीयोनुवाकः ॥

इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ॥

व्रात्य दिनके द्वारा प्रत्येकका पूजनीय होता है और रात्रिसे प्रकृष्टरूपमें पूजाका पात्र होता है ऐसे व्रात्यके लिये प्रणाम है ५

द्वितीय अनुवाकमें एकादश पर्याय सूक्त समाप्त (५३०)

द्वितीय अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका पञ्चदश काण्ड न्द० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक न्द० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत भाषानुवादसहित
समाप्त.

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

षोडशं-काण्डम्

भाषानुवाद सहित

कतिषुचित् कर्मसु शान्त्युदकं विहितम् । तेन हि आचमनप्रोक्षणावसेचनासेचनाप्लावनानि कर्तव्यानि भवन्ति । तच्छान्त्युदकं कतिभिश्चच्छान्तिनामकैः सूक्तैः कर्तव्यं भवति । तत् कांस्यपात्रे कर्तव्यम् । तथाकरणात्पूर्वम् "अतिसृष्टो अपां वृषभः" इति सूक्तेन अपोतिसृज्य अवकरं विसर्जयति कांस्यपात्रे अपोवसिच्य ताभिस्तन्मध्यगतं मलं निर्गमयतीत्यर्थः । इति सांप्रदायिकाः । सूत्रितं हि । "अतिसृष्टो अपां वृषभ इत्यपोतिसृज्य" इति [कौ० १. ९]॥

कुछ कर्मोंमें शान्त्युदक करनेका विधान है । उससे आचमन प्रोक्षण अवसेचन और आप्लावन आदि किये जाते हैं । यह शान्त्युदक कुछ शान्ति नामक सूक्तोंसे किया जाता है उसको कांस्यपात्रमें करना चाहिये । ऐसा करनेसे पहिले "अतिसृष्टो अपां वृषभः" सूक्तसे जलका अतिसर्जन करके अवकरका विसर्जन करे । कांस्यपात्रमें जलका अवसेचन करके उससे कांस्यपात्रके भीतरके मलको दूर करे, यह साम्प्रदायिकोंका मत है । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"अतिसृष्टो अपां वृषभ इत्यपोऽतिसृज्य" इति (कौशिकसूत्र १ । ९) ॥

अतिसृष्टो अपां वृषभोतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥

अतिऽसृष्टः । अपाम् । वृषभः । अतिऽसृष्टाः । अग्नयः । दिव्याः १

जलोंमें वृषभकी समान जल अतिसृष्ट होगया और दिव्य अग्नियें भी अतिसृष्ट होगईं ॥ १ ॥

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥

रुजन् । परिऽरुजन् । मृणन् । प्रऽमृणन् ॥ २ ॥

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ३

म्रोकः । मनःऽहा । खनः । निःऽदाहः । आत्मऽदूषिः । तनूऽदूषिः

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

इदम् । तम् । अति । सृजामि । तम् । मा । अभिऽअवनिक्षि ४

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः

तेन । तम् । अभिऽअतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि ।

यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

जो भंग करता हुआ विशेषरूपसे भंग करता हुआ नाशक (मल आदिको लेकर) जानेवाला, मनको दबाने वाला, खोदने से मिलने वाला, दाह उत्पन्न करने वाला, आत्मदूषि तनूदूषि जल है उसका अतिसर्जन करता हूँ, उसका मैं स्पर्श नहीं करूँगा उससे मैं उसको संयुक्त करता हूँ जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं ॥ २-५ ॥

अपामग्रमसि समुद्रं वोभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥

अपाम् । अग्रम् । असि । समुद्रम् । वः । अभिऽअवसृजामि ।६।

तू जलोंका श्रेष्ठ भाग है मैं तुमको समुद्रकी ओर छोड़ता हूँ

योऽप्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ७

यः । अप्ऽसु । अग्निः । अति । तम् । सृजामि । म्रोकम् । खनिम् ।
तनूऽदूषिम् ॥ ७ ॥

जो जलोंके भीतर शरीरके बलको अपहरण करके लेजाने वाला और कुरेदने वाला शरीरदूषक अग्नि है उसका मैं अतिसर्जन करता हूँ ॥ ७ ॥

यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ८

यः । वः । आपः । अग्निः । आऽविवेश । सः । एषः । यत् ।
वः । घोरम् । तत् । एतत् ॥ ८ ॥

हे जलो ! तुममें जिस अग्निने प्रवेश किया है वह यह तुम्हारा घोर अंश ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥

इन्द्रस्य । वः । इन्द्रियेण । अभि । सिञ्चेत् ॥ ९ ॥

तुम्हारा जो परमैश्वर्यसम्पन्न भाग है उसका इन्द्रियोंके द्वारा अभिषिञ्चन करे ॥ ९ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥

अरिप्राः । आपः । अप । रिप्रम् । अस्मत् ॥ १० ॥

जल पापको दूर करदें पाप हमसे दूर होजावे ॥ १० ॥

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

प्र । अस्मत् । एनः । वहन्तु । प्र । दुःऽस्वप्न्यम् । वहन्तु ॥११॥

यह हमसे पापको बहाकर लेजावें, दुःस्वप्नको प्रकृष्टरूपसे बहाकर लेजावें ॥ ११ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ १२ ॥

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यत । आपः । शिवया । तन्वा । उप । स्पृशत । त्वचम् । मे ॥ १२ ॥

हे जलो ! आप मुझको कृपादृष्टिसे देखिये और अपने कल्याणकारी शरीर-भाग-से मेरी त्वचाका स्पर्श करिये ॥ १२ ॥

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥ १३ ॥

शिवान् । अग्नीन् । अप्सुऽसदः । हवामहे । मयि । क्षत्रम् । वर्चः । आ । धत्त । देवीः ॥ १३ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

हम जलमें रहने वाले कल्याणकारक अग्नियोंका आह्वान करते हैं, यह दिव्य जल मुझमें क्षात्रशक्ति और बलको स्थापित करें

प्रथम अनुवाकमें प्रथम पर्याय सूक्त समाप्त (५३१)

मरणं व्यसनं चैव बन्धनं च विशेषतः ।

मणिपातोन्मत्तता वा दैवोपहतिरेव च ।

पुत्रादिधननाशश्च गृहे दोषान् बहूनपि ।

एतानि सर्वाणि कानिचिद्वा तेषां मध्ये यथा शत्रोर्भवन्ति तथोद्देशेन यत् कर्म तद् अभिचारकर्म । एतन्नामकः कर्मविशेषः । तादृशस्याभिचारकर्मणः समाप्तौ अवभृथं स्नात्वा "निर्दुरर्मण्यः"

इति सूक्तेन सर्वौषधिभिर्नाम कैश्चिद्दोषधिविशेषैरात्मानम् अभिमृशति। तदुक्तं कौशिकेन। "निर्दुरर्मण्य इति संधाव्याभिमृशति" इति [कौ० ६. २] अभिचारं कृत्वा कर्ता शान्तिमिमां करोतीत्यर्थः॥

तथा उपनयनकर्मणि अनेन सूक्तेन कुङ्कुमचन्दनसर्वौषध्यादिना शरीरं समालभ्य आत्मानम् अभिमन्त्रयेत आयुष्कामः। सूत्रितं हि। "निर्दुरर्मण्य इति संधाव्य" इति [कौ० ७. ६]॥

तथा चक्षुरादीन्द्रियदार्ढ्यकामः अरण्ये गत्वा अनेन सूक्तेन सर्वौषधिम् अभिमन्त्र्य अनुलोमं प्रक्षिप्यति। तथा च सूत्रम्। "निर्दुरर्मण्य इति सर्वसुरभिचूर्णैररण्येऽप्रतीहारं प्रक्षिप्यति" इति [कौ० ७. ६]॥

श्रोत्रं वाग् मनश्चक्षुर्दन्ता नासिका अन्यच्च सर्वं विकलेन्द्रियं इदं भवति। यो विकलेन्द्रियस्तस्येदं कर्म॥

जिस प्रकार शत्रुके यहाँ मरण व्यसन और विशेषतः बंधन, पतन, उन्मत्तता, मारकथकी मार, पुत्र आदिका और धनका नाश इत्यादि घरके बहुतसे दोषोंमेंसे सब दोष वा कुछ दोष होजावें, इस उद्देश्य से किया जाने वाला कर्म अभिचार कर्म कहलाता है। ऐसे अभिचारकर्मकी समाप्तिमें अवभृथस्नानको करके "निर्दुरर्मण्यः" सूक्त से सर्वौषधियोंके द्वारा अर्थात् कुछ औषधिविशेषोंके द्वारा अपना अभिमर्शन करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"निर्दुरर्मण्य इति संधाव्याभिमृशति" (कौशिकसूत्र ६। २) अर्थात् कर्ता अभिचारको करके इस शान्तिको करे॥

तथा आयुको चाहने वाला पुरुष उपनयन कर्ममें इस सूक्तसे कुङ्कुम चन्दन सर्वौषधि आदिसे शरीरका समालभन करके अपना अभिमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"निर्दुरर्मण्य इति संधाव्य" (कौशिकसूत्र ७। ६)॥

तथा नेत्र आदि इन्द्रियोंमें दृढ़ता चाहने वाला वनमें जाकर इस सूक्तसे सर्वौषधिका अभिमन्त्रण करके अनुलोम (ऊपरसे नीचेको) लेप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"निर्दुरर्मण्य इति सर्वसुरभिचूर्णैररण्येऽप्रतीहारं प्रलिम्पति" (कौशिकसूत्र ७। ६) ॥

ऐसा करनेसे कान वाणी मन नेत्र दाँत तथा नासिका और भी सब विकल इन्द्रियें दृढ़ हो जाती हैं। जो विकलेन्द्रिय होता है उसका यह कर्म है ॥

निर्दुरर्मण्य॑ ऊ॒र्जा मधु॑मती॒ वाक् ॥ १ ॥

निः। दुःऽअर्मण्यः। ऊर्जा। मधुऽमती। वाक् ॥ १ ॥

मैं दूषित अस्थिरोग अर्मसे पूर्णरूपसे रहित रहूँ, मेरी वाणी बलसम्पन्न और मधुर रहे ॥ १ ॥

मधु॑मती स्थ॒ मधु॑मतीं॒ वाच॑मुदेयम् ॥ २ ॥

मधुऽमतीः। स्थ। मधुऽमतीम्। वाचम्। उत्ऽवदेयम् ॥ २ ॥

हे औषधियो! तुम मधुमती हो मैं मधुमती वाणीको प्राप्त करूँ २

उप॑हूतो मे गो॒पा उप॑हूतो गो॒पीथः ॥ ३ ॥

उपऽहूतः। मे। गोपाः। उपऽहूतः। गोपीथः ॥ ३ ॥

मैं इन्द्रियोंके रक्षक मनका आह्वान करता हूँ और सोमपान करने वाले (मुख वा कण्ठ) का आह्वान करता हूँ ॥ ३ ॥

सुश्रु॒तौ कर्णौ॑ भद्र॒श्रुतौ॒ कर्णौ॑ भ॒द्रं श्लोकं॑ श्रूयासम् ॥

सुऽश्रुतौ। कर्णौ। भद्रऽश्रुतौ। कर्णौ। भद्रम्। श्लोकम्। श्रूयासम् ४

मेरे कान भली प्रकार सुन सकने वाले और कल्याणकी बातों को सुनने वाले होवें, मैं कल्याणकी और प्रशंसाकी बातोंको सुनूँ ४

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥

सुऽश्रुतिः । च । मा । उपऽश्रुतिः । च । मा । हासिष्टाम् । सौपर्णम् । चक्षुः । अजस्रम् । ज्योतिः ॥ ५ ॥

भली प्रकार सुनना और पाससे सुनना मेरा त्याग न करे, मेरा नेत्र सुपर्ण—गरुड़—के नेत्रकी समान हो, निरन्तर ज्योतिसे सम्पन्न रहे ॥ ५ ॥

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥६॥

ऋषीणाम् । प्रऽस्तरः । असि । नमः । अस्तु । दैवाय । प्रऽस्तराय ६

इति प्रथमेनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

तू ऋषियोंका प्रस्तर है दैव प्रस्तरके लिये प्रणाम प्राप्त हो ६
प्रथम अनुवाकमें द्वितीय पर्याय सूक्त समाप्त (५३२)

उपनयने "मूर्धाहं" "नाभिरहम्" इति सूक्ताभ्याम् आयुरभिवृद्ध्यर्थं माणवक उद्यन्तम् आदित्यम् उपतिष्ठते । तद् उक्तं कौशिकेन । "मूर्धाहम् [१६. ३] विषासहिम् [१७. १] इत्युद्यन्तम् उपतिष्ठते" इत्यादि [कौ० ७. ८] ॥

बालक आयुकी वृद्धिके लिये उपनयनमें "मूर्धाहम्" और "नाभिरहम्" इन दो सूक्तोंसे उदय होते हुए सूर्यका उपस्थान करे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"मूर्धाऽहम् (१६ ३) विषासहिम् (१७ । १) इत्युद्यन्तं उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७ । ८) ॥

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा संमानानां भूयासम् ॥ १ ॥

मूर्धा । अहम् । रयीणाम् । मूर्धा । सऽमानानाम् । भूयासम् ॥१॥

मैं धनोंका मूर्धा रहूँ अर्थात् मूर्धाका वियोग होने पर मूर्धा वालेका नाश अवश्य होजाता है अतः धनोंको मैं मूर्धाकी समान परमप्रयोजनीय रहूँ, समान पुरुषोंमें मैं मस्तक रूप रहूँ ॥ १ ॥

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

रुजः । च । मा । वेनः । च । मा । हासिष्टाम् । मूर्धा । च । मा । विऽधर्मा । च । मा । हासिष्टाम् ॥ २ ॥

रुज और वह्न मेरा त्याग न करें मूर्धा और विधर्मा भी मेरा त्याग न करें ॥ २ ॥

उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥

उर्वः । च । मा । चमसः । च । मा । हासिष्टाम् । धर्ता । च । मा । धरुणः । च ।० ॥ ३ ॥

उर्व और चमस मेरा त्याग न करें, धरुण और धर्ता मेरा त्याग न करें ॥ ३ ॥

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च माहासिष्टाम् ॥ ४ ॥

विऽमोकः । च । मा । आर्द्रऽपविः । च । मा । हासिष्टाम् । आर्द्रऽदानुः । च । मा । मातरिश्वा । च । मा । हासिष्टाम् ४

विमोक और आर्द्रपवि मेरा त्याग न करें आर्द्रदानु और मातरिश्वा मेरा त्याग न करें ॥ ४ ॥

बृहस्पतिर्मे आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥

बृहस्पतिः । मे । आत्मा । नृऽमनाः । नाम । हृद्यः ॥ ५ ॥

हृदयको प्रसन्न करने वाले, भक्त मनुष्योंमें अनुग्रहप्रद मन को लगाने वाले बृहस्पति मेरी आत्मा हैं ॥ ५ ॥

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा

असम्ऽतापम् । मे । हृदयम् । उर्वी । गव्यूतिः । समुद्रः । अस्मि । विऽधर्मणा ॥ ६ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

मेरा हृदय सन्तापरहित रहे, गव्यूति (दो कोस की) पृथिवी मेरी हो मैं, विधर्मा—विशेष धारक शक्तिके कारण समुद्रकी समान गंभीर रहूँ ॥ ६ ॥

प्रथम अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (५३३) ॥

“नाभिरहम्” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तोविनियोगः ॥

इस सूक्तका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

नाभिः । अहम् । रयीणाम् । नाभिः । समानानाम् । भूयासम् १

मैं धनोंकी नाभि रहूँ, समान पुरुषोंकी नाभि रहूँ अर्थात् नाभिसे जैसे सारा शरीर बँधा रहता है इसी प्रकार मैं इनको घेरे बैठा रहूँ १

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥

सुऽआसत् । असि । सुऽउषाः । अमृतः । मर्त्येषु । आ ॥ २ ॥

सुन्दर उषा मरणधर्मा मनुष्योंमें अमृतरूप है भली प्रकार प्रतिष्ठित होने वाली है ॥ २ ॥

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ३

मा । माम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अवऽहाय । परा । गात् ॥ ३ ॥

प्राण मेरा त्याग न करे, अपान मुझको त्याग कर दूर न जावे

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

सूर्यः । मा । अह्नः । पातु । अग्निः । पृथिव्याः । वायुः । अन्तरिक्षात् । यमः । मनुष्येभ्यः । सरस्वती । पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

सूर्य देवता दिनसे मेरी रक्षा करें, अग्निदेव पृथिवीसे मेरी रक्षा करें, वायुदेव अन्तरिक्षसे मेरी रक्षा करें यम मनुष्योंसे मेरी रक्षा करें और सरस्वतीदेवी पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करें ४

प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

प्राणापानौ । मा । मा । हासिष्टम् । मा । जने । प्र । मेषि ॥ ५ ॥

प्राण और अपान मेरा त्याग न करें मैं प्रकट रहूँ नष्ट न होऊँ

स्वस्त्य१द्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय

स्वस्ति । अद्य । उषसः । दोषसः । च । सर्वः । आपः । सर्वऽगणः । अशीय ॥ ६ ॥

आज उषः कालसे और रात्रिसे मेरा कल्याण हो मैं सब प्रकारके जलोंका और सर्वगणका उपभोग करूँ ॥ ६ ॥

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

शक्वरीः । स्थ । पशवः । मा । उप । स्थेषुः । मित्रावरुणौ । मे । प्राणापानौ । अग्निः । मे । दक्षम् । दधातु ॥ ७ ॥

प्रथमेनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

इति प्रथमोनुवाकः ॥

हे पशुओं ! तुम प्रजासम्पन्न हो, मेरे समीप स्थित हो, मित्र और वरुण देवता मेरे प्राणापानोंको पुष्ट करें और अग्निदेव मेरे बलको पुष्ट करें ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५२४)

दुःस्वप्नदर्शने शान्तावेतत् पर्यायसूक्तं विनियुज्यते । तद्यथा । "विद्म ते स्वप्न" इत्येकेन पर्यायेण दुःस्वप्नं दृष्ट्वा मुखं विमार्ष्टि ॥

तथा अतिघोरं दुःस्वप्नं दृष्ट्वा अनेन सूक्तेन मैश्रधान्यं पुरोडाशं जुहोति ॥

तथा "विद्म ते स्वप्न" इति सूक्तेन दुःस्वप्नं दृष्ट्वा पार्श्वेन द्वितीयेन सुप्यते। येन पार्श्वेन दुःस्वप्नो दृष्टस्ततोन्येन पार्श्वेन शेत इत्यर्थः

तथा अनेन सूक्तेन अन्नं स्वप्ने दृष्ट्वा निरीक्षते ॥

तदुक्तं कौशिकेन । "विद्म ते स्वप्नेति सर्वेषाम् अप्ययः" इति [कौ० ५. १०] ॥

दुःस्वप्नदर्शनकी शान्तिमें इस पर्यायसूक्तका विनियोग किया जाता है। यथा "विद्म ते स्वप्न" इस एक पर्यायसे दुःस्वप्नको देखकर मुखको शुद्ध करे।

तथा दुःस्वप्नको देखकर इस सूक्तको पढ़ दूसरी करवटसे सोजावे

तथा अतिघोर दुःस्वप्नको देख कर इस सूक्तसे मैथधान्य पुरोडाशकी आहुति देवे।

तथा स्वप्नमें अन्नको देख कर इस सूक्तसे देखे॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-"विद्म ते स्वप्नेति सर्वेषां अप्ययः" (कौशिकसूत्र ५ । १०)॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः १

विद्म। ते। स्वप्न। जनित्रम्। ग्राह्याः। पुत्रः। असि। यमस्य। करणः॥ १॥

हे स्वप्न! हम तेरी उत्पत्तिको जानते हैं तू ग्राह्या पिशाचीका पुत्र है और यमका करण है॥ १॥

अन्तकोसि मृत्युरसि॥ २॥

अन्तकः। असि। मृत्युः। असि॥ २॥

तू अन्तक है, मृत्यु है॥ २॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ३

तम्। त्वा। स्वप्न। तथा। सम्। विद्म। सः। नः। स्वप्न। दुःऽस्वप्न्यात्। पाहि॥ ३॥

हे स्वप्न! ऐसे आपको हम जानते हैं वह आप दुःस्वप्नसे हमारी रक्षा करिये॥ ३॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोसि यमस्य करणः।०।०॥ ४॥

०। जनित्रम्। निःऽऋत्याः। पुत्रः।०॥ ४॥

हे स्वप्नके अधिष्ठात्री देवता ! हम आपकी उत्पत्तिको जानते हैं आप निर्ऋतिके पुत्र हैं यमके करण हैं ॥ ४ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि ०।०।० ५

०। जनित्रम् । अभूत्याः । पुत्रः ।० ॥ ५ ॥

हे स्वप्नके अधिष्ठात्री देवता ! हम आपकी उत्पत्तिको जानते हैं आप अभूतिके पुत्र हैं यमके करण हैं ॥ ५ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि ०।०।० ६

०।जनित्रम् । निःऽभूत्याः । पुत्रः ।० ॥ ६ ॥

हे स्वप्न ! हम आपकी उत्पत्तिको जानते हैं आप निर्भूतिके पुत्र हैं, यमके करण हैं ० ॥ ६ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि ०।०।० ७

०। जनित्रम् । पराऽभूत्याः । पुत्रः ।० ॥ ७ ॥

हे स्वप्नके अधिष्ठातृ देव ! हम आपकी उत्पत्तिको जानते हैं आप पराभूतिके पुत्र हैं ० ॥ ७ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ८ ॥

विद्म । ते । स्वप्न । जनित्रम् । देवऽजामीनाम् । पुत्रः । असि । यमस्य । करणः ॥ ८ ॥

हे स्वप्न ! हम आपकी उत्पत्तिको जानते हैं आप देवजामियों के पुत्र हैं, यमके करण हैं ॥ ८ ॥

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ ९ ॥

अन्तकः । असि । मृत्युः । असि ॥ ९ ॥

अन्तक हैं, मृत्यु हैं ॥ ९ ॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्

पाहि ॥ १० ॥

तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्म । सः । नः । स्वप्न । दुःऽस्वप्न्यात् । पाहि ॥ १० ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं पर्यायसूक्तम् ॥

हे स्वप्न के अधिष्ठात्री देवता ! ऐसे आपको हम भली प्रकार जानते हैं, आप हमको दुःस्वप्नसे बचाइये ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम पर्याय सूक्त समाप्त (५२५)

अभिचारकर्मणि "अजैष्म" इत्यादिपर्यायसूक्तचतुष्टयेन शत्रुषु पाशान् बद्ध्वाभिमन्त्र्य निखनति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन पर्यायचतुष्टयेन "अगन्म स्वः" इति अवसानद्वयवर्जितेन पदेपदे पाशान् छ्यति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन अवसानद्वयवर्जितेन अधिपाशान् बाधकान् शङ्कून् संक्षुद्य भ्राष्ट्रेभ्यस्यति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि एतैश्चतुर्भिः पर्यायैः "अगन्म स्वः" इत्यवसानद्वयवर्जितै रक्तशालिक्षीरौदनम् अभिमन्त्र्य ददाति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि उक्तैरेव पर्यायैश्चरुमं संपातवन्तं कृत्वा शत्रुगृहान् अभि सृजति ॥

तथा तत्रैव कर्मणि उक्तैः पर्यायैर्गर्तं ध्मायन्तरेणावलेखनीं स्थाणौ निबध्य द्वादशरात्रं संपातान् आनयति ॥

सूत्रितं हि "अजैष्मेत्यधिपाशान् आदधाति । पदेपदे पाशान् छ्यति । अधिपाशान् बाधकाञ् छङ्कूंस्तान् संक्षुद्य संनह्य भ्राष्ट्रेभ्य-

स्यति । अशिशिषोः क्षीरौदनादीनि श्रीणि । गर्तेध्मावन्तरेणाव-लेखनीं स्थाणौ निबध्य द्वादशरात्रं संपातान् अभ्यतिनयति" इति [कौ० ६. २]॥

"अगन्म स्वः" इत्यवसानद्वयेन आदित्यम् ईक्षते सर्वेषु तन्त्रेषु । तदुक्तं कौशिकेन । "अगन्म स्वरित्यादित्यमीक्षते" इति[कौ०१.६]॥

अभिचारकर्ममें "अजैष्म" इत्यादि चार पर्याय सूक्तोंसे शत्रुओं में पाशोंको बाँध अभिमन्त्रित करके निखनन करे ।

तथा तहाँ ही कर्म में "अगन्म स्वः" इस अवसानद्वयवर्जित पर्यायचतुष्टयसे पद २ में पाशोंका छेदन करे ।

तथा तहाँ ही कर्म में अवसानद्वयवर्जितसे अधिपाश बाधक शङ्कुओंको संक्षुदन करके भ्राष्ट्रमें अभ्यसन करे ।

तथा तहाँ ही कर्म में "अगमन् स्वः" इन दो अवसानोंसे वर्जित इन चार पर्यायसूक्तोंसे लाल सटीके चावलोंके दूध भात को अभिमन्त्रित करके देदेय ।

तथा तहाँ ही कर्म में इन ही पर्यायोंसे वृषभको सम्पातित करके शत्रुके घरकी ओर छोड़े ।

तथा तहाँ ही कर्म में उक्त पर्यायोंसे गड्डेके ईंधनमें अन्तरसे अवलेखनीको स्थाणुमें बाँध कर द्वादशरात्र सम्पातोंको लावे ।

सूत्रमें भी कहा है, कि–"अजैष्मेत्यधिपाशान् आदधाति । पदे पदे पाशान् वृश्चति । अधिपाशान् बाधकांशङ्कूंस्तान् संक्षुद्य संनह्य भ्राष्ट्रेऽभ्यस्यति । अशिशिषोः क्षीरौदनादीनि श्रीणि । गर्ते-ध्मावन्तरेणावलेखनीं स्थाणौ निबध्य द्वादशरात्रं सम्पातान् अभ्य-तिनयति" (कौशिकसूत्र ६ । २) ॥

सब तन्त्रोंमें "अगन्म स्वः" इन दो अवसानोंसे आदित्यको देखे । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–"अगन्म स्वरि-त्यादित्यमीक्षते"–(कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥

अजैष्म । अद्य । असनाम । अद्य । अभूम । अनागसः । वयम् १

हम अब जीतें, (भूमिको) प्राप्त करें और निष्पाप हों ॥१॥

उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु ॥ २ ॥

उषः । यस्मात् । दुःऽस्वप्न्यात् । अभैष्म । अप । तत् । उच्छतु

विवासन करने वाले दुःस्वप्न्यसे हम डर गए हैं वह भय दूर होजावे ॥ २ ॥

द्विषते तत् परां वह शपते तत् परां वह ॥ ३ ॥

द्विषते । तत् । परा । वह । शपते । तत् । परा । वह ॥ ३ ॥

जो हमसे द्वेष करता है, हे मन्त्रशक्तिके अधिष्ठाता देव ! उसके पास आप इस भयको लेजाइये, जो हमको कोसा करता है उसके पास इस भयको लेजाइये ॥ ३ ॥

यं द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ४

यम् । द्विष्मः । यत् । च । नः । द्वेष्टि । तस्मै । एनत् । गमयामः ४

जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसके पास हम इस भयको भेजते हैं ॥ ४ ॥

उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्युषसा संविदाना ५

उषाः । देवी । वाचा । सम्ऽविदाना । वाक् । देवी । उषसा । सम्ऽविदाना ॥ ५ ॥

उषादेवी वाणीसे एकमति–सम्मति–रखती हुई और वाणी उषासे सम्मति रखती हुई ॥ ५ ॥

उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥

उषः । पतिः । वाचः । पतिना । सम्ऽविदानः । वाचः । पतिः । उषः । पतिना । सम्ऽविदानः ॥ ६ ॥

उषस्पति वाचस्पतिसे एकमत होते हुए और वाचस्पति उषस्पतिसे एकमत होते हुए ॥ ६ ॥

तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ।७।

ते । अमुष्मै । परा । वहन्तु । अरायान् । दुःऽनाम्नः । सदान्वाः ७

कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥

कुम्भीका । दूषीकाः । पीयकान् ॥ ८ ॥

वे इस शत्रुके लिये दूषित नाम वाली सदा दुःख देने वालीके अदानोंको, कुम्भीकोंको दूषीकोंको और पीयकोंको प्रेरित करें । ७ । ८ ।

जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

जाग्रत्ऽदुस्वप्न्यम् । स्वप्नेऽदुस्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥

अनागमिष्यतः । वरान् । अवित्तेः । सम्ऽकल्पान् । अमुच्याः । द्रुहः । पाशान् ॥ १० ॥

मैं जागते समयके, दुःस्वप्नोंसे मिलने वाले फलोंको, सोने समयके, दुःस्वप्नसे मिलने वाले फलोंको, अविचिके भूतकालके श्रेष्ठ २ संकल्पोंको और शत्रुके पाशोंको खोलता हूँ ॥६॥१०॥

तदुमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

तत् । अमुष्मै । अग्ने । देवाः । परा । वहन्तु । वध्रिः । यथा । असत् । विथुरः । न । साधुः ॥ ११ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं पर्यायसूक्तम् ॥

हे अग्ने ! इन सबको देवता शत्रुके लिये लेजावें जिससे वह षण्ढ होजावे, भयभीत रहे, साधु न रह सके ११

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय पर्याय सूक्त समाप्त (५३६) ॥

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥

तेन । एनम् । विध्यामि । अभूत्या । एनम् । विध्यामि । निःऽभूत्या । एनम् । विध्यामि । पराऽभूत्या । एनम् । विध्यामि । ग्राह्या । एनम् । विध्यामि । तमसा । एनम् । विध्यामि ॥१॥

मैं उस अभिचारकर्मसे इसको बींधता हूँ, अभूतिसे इसको बींधता हूँ निर्भूतिसे इसको बींधता हूँ, पराभूतिसे इसको बींधता हूँ, ग्राह्यासे इसको बींधता हूँ, और मृत्युरूप तमसे इसको बींधता हूँ ॥ १ ॥

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥

देवानाम् । एनम् । घोरैः । क्रूरैः । प्रऽएषैः । अभिऽप्रेष्यामि २

मैं इसको देवताओंकी भयंकर क्रूर घोर आज्ञाओंके अभिमुख प्रेषित करता हूँ ॥ २ ॥

वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरस्य । एनम् । दंष्ट्रयोः । अपि । दधामि ॥ ३ ॥

मैं इसको वैश्वानरकी डाढ़ोंमें रखता हूँ ॥ ३ ॥

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥

एव । अनेव । अव । सा गरत् ॥ ४ ॥

वह इसको अनकी समान निगल जावे ॥ ४ ॥

योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं स द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । तम् । आत्मा । द्वेष्टु । यम् । वयम् । द्विष्मः । सः । आत्मानम् । द्वेष्टु ॥ ५ ॥

जो हमसे द्वेष करता है उससे आत्मा द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करते हैं वह आत्मासे द्वेष करे ॥ ५ ॥

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम

निः । द्विषन्तम् । दिवः । निः । पृथिव्याः । निः । अन्तरिक्षात् । भजाम ॥ ६ ॥

हम द्वेष करने वालेको द्युलोकसे बाहर, पृथिवीलोकसे बाहर और अन्तरिक्षलोकसे बाहर भेजते हैं ॥ ६ ॥

सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥

सुऽयामन् । चाक्षुष ॥ ७ ॥

इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥८॥

इदम् । अहम् । आमुष्यायणे । अमुष्याः । पुत्रे । दुःऽस्वप्न्यम् । मृजे

हे सुयामन् चाक्षुष ! यह मैं अमुक गोत्र वाले अमुकीके पुत्रमें दुःस्वप्न देखनेसे मिलने वाले कुफलको उतारता हूँ ॥७॥८॥

यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ९

यत् । अदःऽअदः । अभिऽअगच्छन् । यत् । दोषा । यत् । पूर्वाम् । रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यत् । जाग्रत् । यत् । सुप्तः । यत् । दिवा । यत् । नक्तम् ॥१०॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

यत् । अहःऽअहः । अभिऽगच्छामि । तस्मात् । एनम् । अव । दये

जो पूर्व रात्रिमें अमुक २ कर्मको मैं प्राप्त हो चुका हूँ, जो जागतेमें सोतेमें दिनमें वा रातमें वा प्रतिदिन (पापको) प्राप्त होता हूँ उससे मैं इसको मारता हूँ ॥ ९ ॥ ११ ॥

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥१२॥

तम् । जहि । तेन । मन्दस्व । तस्य । पृष्टीः । अपि शृणीहि १२

हे देव ! आप उस शत्रुको मारिये, उससे हर्षमें भरिये और इसकी पसलियोंको भी तोड़ डालिये ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ १३ ॥

इति द्वितीयेनुवाके तृतीयं पर्यायसूक्तम् ॥

वह जीवित न रहे प्राण उसको त्याग देय ॥ १३ ॥

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय पर्याय सूक्त समाप्त (५३७)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

जितम् । अस्माकम् । उत्ऽभिन्नम् । अस्माकम् । ऋतम् । अस्माकम् । तेजः । अस्माकम् । ब्रह्म । अस्माकम् । स्वः । अस्माकम् । यज्ञः । अस्माकम् । पशवः । अस्माकम् । प्रऽजा । अस्माकम् । वीराः । अस्माकम् ॥ १ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं ॥ १ ॥

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥

तस्मात् । अमुम् । निः । भजामः । अमुम् । आमुष्यायणम् ।

अमुष्याः । पुत्रम् । असौ । यः ॥ २ ॥

अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोक से दूर करते हैं ॥ २ ॥

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥

सः । ग्राह्याः । पाशात् । मा । मोचि ॥ ३ ॥

वह ग्राह्याके पाशसे न छूट सके ॥ ३ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

तस्य । इदम् । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि । वेष्टयामि ।

इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ४ ॥

मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूं इसको औंधा मुख करके गिराता हूं ॥ ४ ॥

जितम् ०।० । स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ५

०। सः । निःऽऋत्याः । पाशात् ।० ॥ ५ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह निर्ऋतिके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूं इसको औंधा मुख करके गिराता हूं ॥ ५ ॥

जि॒तम् ०।० । सो॑ऽभू॒त्याः पाशा॒न्मा मो॑चि ।० ॥६॥

०। सः । अ॒भूत्याः । पाशा॑त् ।० ॥ ६ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह अभूति पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ ६ ॥

जि॒तम् ०।० । स निर्भू॒त्याः पाशा॒न्मा मो॑चि ।० ७

०। सः । निःऽभू॒त्याः । पाशा॑त् ।० ॥ ७ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह निर्भूति के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ ७ ॥

जि॒तम् ०।० । स परा॑भूत्याः पाशा॒न्मा मो॑चि ।० ८

०। सः । परा॑ऽभूत्या । पाशा॑त् ।० ॥ ८ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका

जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह पराभूति के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूं इसको औंधा मुख करके गिराता हूं ॥ ८ ॥

जितम् ०।० । स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ९

०। सः । देवऽजामीनाम् । पाशात् ।० ॥ ९ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह देव-जामिके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयु को लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ ९

जितम् ०।०।स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥१०॥

०। सः । बृहस्पतेः । पाशात् ।० ॥ १० ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह बृहस्पति के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूं इसको औंधा मुख करके गिराता हूं ॥ १० ॥

जितम् ०।० । स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ११

०। सः । प्रजाऽपतेः । पाशात् ।० ॥ ११ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है, और वीर हमारे हैं. अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह प्रजापतिके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥११॥

जितम् ०।० । स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० १२

०। सः । ऋषीणाम् । पाशात् ।० ॥ १२ ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह ऋषियों के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ १२ ॥

जितम् ०।० । स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।०

०। आर्षेयाणाम् । पाशात् ।० ॥ १३ ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं. और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह आर्षेयोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ १३ ॥

जि॒तम् ०।० । सोऽङ्गि॑रसां॒ पाशा॒न्मा मो॑चि ।० १४

०। सः । अङ्गिरसाम् । पाशात् ।० ॥ १४ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह अंगिराओं के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ १४ ॥

जि॒तम् ०।० । स आ॑ङ्गिर॒सानां॒ पाशा॒न्मा मो॑चि।०

०। सः । आङ्गिरसानाम् । पाशात् ।० ॥ १५ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है, और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकी का जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं, वह आंगिरसोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥१५॥

जि॒तम् ०।० । सोऽथ॒र्वणां॒ पाशा॒न्मा मो॑चि ।० १६

० । सः । अथर्वणाम् । पाशात् ।० ॥ १६ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं.

और प्रजा हमारी है, और वीर हमारे हैं, अमुक गोत्रका अमुकी का जो यह पुत्र है, उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं,वह अथर्वाओंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥१६॥

जितम् ०।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०

०। सः । आथर्वणानाम् । पाशात् ।० ॥ १७ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है. सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है, और वीर हमारे हैं, अमुक गोत्रका अमुकी का जो यह पुत्र है, उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं, यह आथर्वणोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥१७॥

जितम् ०।० । स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०

०। सः । वनस्पतीनाम् । पाशात् ।० ॥ १८ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है, और वीर हमारे हैं, अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है, उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं, वह वनस्पतियोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ १८

जितम् ०।० । स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।०

०। सः। वानस्पत्यानाम्। पाशात्।० ॥ १९ ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह वानस्पत्यों के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ १९ ॥

जितम् ०।० । स ऋतूनां पाशान्मा मोचि।० २०

०। सः। ऋतूनाम्। पाशात् ०॥ २० ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह ऋतुओं के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २० ॥

जितम् ०।० ।स आर्तवानां पाशान्मा मोचि।० २१

०। सः। आर्तवानाम्। पाशात्।० । २१ ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका

जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह ऋतुमें होने वाले पदार्थोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ२१

जितम् ०।०।स मासानां पाशान्मा मोचि।० २२

०। सः। मासानाम्। पाशात्।०॥ २२॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह मासोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ॥ २२॥

जितम् ०।०।सो॑र्धमासानां पाशान्मा मोचि।० २३

०। सः। अर्धऽमासानाम्। पाशात्।०॥ २३॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह अर्धमासोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ॥ २३॥

जितम् ०।०।सो॑होरात्रयोः पाशान्मा मोचि।० २४

०। सः। अहोरात्रयोः। पाशात्।०॥ २४॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह दिन और रातके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजकी वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २४ ॥

जितम् ०।० । सो॒ह्नोः संय॒तोः पा॒शान्मा मो॑चि ।०

०। सः । अह्नोः । सम्ऽय॒तोः । पाशात् ।० ॥ २५ ॥

जीताहुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह रात-दिन के दोनों संयत भागोंके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ

जि॒तम् ०।०। स द्यावा॑पृथि॒व्योः पा॒शान्मा मो॑चि ।०

०। सः । द्यावा॑पृथि॒व्योः । पाशात् ।० ॥ २६ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह द्यावापृथिवी के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २६ ॥

जितम् ०।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० २७

०। सः । इन्द्राग्न्योः । पाशात् ।० ॥ २७ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और और प्रजा हमारी है वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह इन्द्र और अग्निके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयु को, लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २७ ॥

जितम् ०।०।स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।०

०। सः । मित्रावरुणयोः । पाशात् ।० ॥ २८ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं और प्रजा हमारी है वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह मित्र और वरुण के पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २८ ॥

जितम् ०।०।स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।०

०। सः । राज्ञः । वरुणस्य । पाशात् ।० ॥ २९ ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और

प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोकसे दूर करते हैं वह राजा वरुणके पाशसे न छूट सके मैं उसके इस तेजको वर्चको और आयुको लपेटता हूँ इसको औंधा मुख करके गिराता हूँ ॥ २९ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व१रस्माकं यज्ञो३स्माकं पशवोस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ ३० ॥

० । अस्माकम् । ऋतम् । अस्माकम् । तेजः । अस्माकम् । ब्रह्म । अस्माकम् । स्व१: । अस्माकम् । यज्ञः । अस्माकम् । पशवः । अस्माकम् । प्रऽजाः । अस्माकम् । वीराः । अस्माकम् ॥ ३० ॥

जीता हुआ पदार्थ समूह हमारा है, शत्रुओंको विदारण करके लाया हुआ पदार्थ समूह हमारा है, सत्य हमारा है, तेजोमय पदार्थ हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है, पशु हमारे हैं, और प्रजा हमारी है और वीर हमारे हैं ॥ ३० ॥

तस्मादमुं निर्भजामोमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ ३१ ॥

तस्मात् । अमुम् । निः । भजामः । अमुम् । आमुष्यायणम् । अमुष्याः । पुत्रम् । असौ । यः ॥ ३१ ॥

अमुक गोत्रका अमुकीका जो यह पुत्र है उसको हम इस लोक से दूर करते हैं ॥ ३१ ॥

स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥

सः । मृत्योः । पड्वीशात् । पाशात् । मा । मोचि ॥ ३२ ॥

वह मृत्युके पादबन्धक पाशोंसे न छूटे ॥ ३२ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

तस्य । इदम् । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि । वेष्टयामि । इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ३३ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं पर्यायसूक्तम् ॥

उसके इस वर्च तेज और आयुको मैं लपेटता हूं और इसको औंधे मुख गिराता हूं ॥ ३३ ॥

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ पर्याय सूक्त समाप्त (५३८) ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥

जितम् । अस्माकम् । उत्ऽभिन्नम् । अस्माकम् । अभि । अस्थाम् । विश्वाः । पृतनाः । अरातीः ॥ १ ॥

जीता हुआ पदार्थसमूह हमारा है, विदारण करके लाया हुआ पदार्थसमूह हमारा है मैं शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाओं पर प्रतिष्ठित होऊँ ॥ १ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । पूषा । मा । धात् । सुऽकृतस्य । लोके ॥ २ ॥

इसी बातको अग्निदेव कह रहे हैं, इसी बातको सोमदेव कह रहे हैं, पूषा देवता मुझको पुण्यलोकमें स्थापित करें ॥ २ ॥

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ३

अगन्म। स्वः। स्वः। अगन्म। सम्। सूर्यस्य। ज्योतिषा। अगन्म ॥ ३ ॥

हम स्वर्गको प्राप्त हों, हम स्वर्गको प्राप्त हों, हम सूर्यकी ज्योतिसे भली प्रकार स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

वस्यःऽभूयाय। वसुऽमान्। यज्ञः। वसु। वंशिषीय। वसुऽमान्। भूयासम्। वसु। मयि। धेहि ॥ ४ ॥

द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं पर्यायसूक्तम् ॥

द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

सत्कार पानेके योग्य धनवान् मैं परमधनी होनेके लिये धनको वशमें करूँ, धनवान् होऊँ, हे देव! आप मुझमें धनको पुष्ट करिये ॥ ४ ॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम पर्याय सूक्त समाप्त (५३९)

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका षोडश काण्ड ऋषिकुमार
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
संपादक ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्माकृत
भाषानुवादसहित
समाप्त.

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

सप्तदशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥१॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

सप्तदशे काण्डे एकोऽनुवाकः । तत्र त्रीणि सूक्तानि । अयं "विषासहिम्" इत्यनुवाकः सखिलगणमध्ये पठितः । अतः "सखिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति । मन्थान्तानि" इति [कौ० ३.१] "सखिलैः सर्वकामः" [कौ० ३. ७] इत्यादौ चास्य विनियोगः॥

उपनयनकर्मणि आचार्यः ब्रह्मचारिणो नाभिदेशं संस्पृश्य अमुम् अनुवाकं जपेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशं संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु" [१.९] इत्यादि "प्राणाय नमः [११. ६] विषासहिम् [१७. १] इत्य- नुमन्त्रयते" इत्यन्तम् [कौ० ७. ६] ॥

उपनयनकर्मण्येव अपिहस्ते "कर्मणे वाम्" इति हस्तप्रक्षा- लनानन्तरम् आचार्यो माणवकम् अनेनानुवाकेन अभिमन्त्रयते । "अपिहस्तस्य कर्मणे वां वेशाय वाम्" इति प्रकरण सूत्रितम् ।

"आ रभस्व [८. २] प्राणाय नमः [११. ६] विषासहिम् [१७. १] इत्यभिमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ६] ॥

उपनयन एव आयुरभिवृद्ध्यर्थम् अनेनानुवाकेन माणवकस्त्रिकालम् आदित्यम् उपतिष्ठेत । सूत्रितं हि । "उदस्य केतवः [१३. २] सूर्योऽहम् [१६. ३] विषासहिम् [१७. १] इत्युद्यन्तम् उपतिष्ठते मध्यन्दिने अस्तं यन्तम्" इति [कौ० ७. ६] ॥

तथा आदित्यग्रहणरूपाद्भुते तच्छान्त्यर्थम् अनेनानुवाकेन आज्यं जुहुयात् । "अथ यत्रैतद् आदित्यं तमो गृह्णाति तत् जुहुयात्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "विषासहिं सहमानम् इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ७]। सूक्तेन । अर्थसूक्तेनेत्यर्थः । अतः कृत्स्नस्याप्यनुवाकस्य ग्रहणशान्तौ विनियोग इत्यवसीयते ॥

तथा चन्द्रग्रहणरूपाद्भुते तच्छान्त्यर्थम् अनेनानुवाकेन उपस्थानं कुर्यात् । "अथ यदेतच्चन्द्रमसम् उपस इति" इति [कौ० १३. ८] प्रक्रम्य सूत्रितम् । "रोहितैरुपतिष्ठते" इति ॥

अस्यानुवाकस्य आयुष्यगणे पाठाद् उपाकर्मणि अनेनानुवाकेन आज्यं जुहुयात् । "अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य कौशिकेन सूत्रितम् । "त्रिरवकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] ॥

अस्य सूक्तस्य सविलगणे पाठात् "आदित्यां भूततेजोधनायुष्कामस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् आदित्याख्यायां महाशान्तौ अस्यानुवाकस्य विनियोगः । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "सविलगण आदित्यायाम्" इति [न० क० १८] ॥

तथा कोटिहोमे अस्यानुवाकस्य विनियोगः । कोटिहोमं प्रक्रम्य उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे ।

जुहुयुः शान्तवृक्षस्य समिधो घृतसंयुताः ।

स्वयं चापि यजेद् ब्रह्मा सवितारं दिनेदिने ॥
पाकयज्ञविधानेन मन्त्राश्च स्युर्विषासहिः ॥
शान्तिकामो यवैः कुर्यात् तिलैः पापापनुत्तये। इत्यादि
[प० ३१. ६]॥

तथा भास्करप्रीत्यर्थं क्रियमाणे आदित्यमण्डलदाने अस्यानुवाकस्य मण्डलाकारापूपाभिमन्त्रणे विनियोगः । तद् उक्तम् अथर्वपरिशिष्टे । "अथ यः कामयेत सर्वेषां नृणाम् उत्तमः स्याम् इति स भास्करायापूपं दद्यात् । तस्य कल्पः ।" इत्यादि "सुवर्णशकलं चोपरिष्टान्निधायार्चयेद् रक्तकुसुमैर्विषासहिम् इत्यभिमन्त्र्य ब्राह्मणाय निवेदयेत्" इति [प० १२. १]।

अत्र "त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रः" इत्यनेन मन्त्रेण दर्शेष्टौ माहेन्द्रं हविरनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । "सांनाय्यस्यैन्द्रं माहेन्द्रं वा इन्द्रेमम् [६. ५. २] त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रः [१७. १८]" इति [वै० १. ३]॥

सत्रहवें काण्डमें एक अनुवाक है। उसमें तीन सूक्त हैं। "अयं विषासहिम्" इस अनुवाकका सलिलगणमें पाठ है। अतः "सलिलैः क्षीरौदनं अश्नाति। मन्थान्तानि" (कौशिकसूत्र ३ । १) और "सलिलैः सर्वकामः" (कौशिकसूत्र ३ । ७) इत्यादिमें इसका विनियोग होता है।

आचार्य उपनयनकर्ममें ब्रह्मचारीके नाभिदेशका स्पर्श करके इस अनुवाकका जप करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि–'दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशं संस्पृश्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु' (१ । ६) इत्यादि "प्राणाय नमः (११ । ६) विषासहिम् (१७ । १) इत्यनुमन्त्रयते' इत्यन्तम् (कौशिकसूत्र ७ । ६)॥

आचार्य उपनयनकर्ममें ही ऋषिहस्तसे "कर्मणे वाम्" मन्त्रा-

इनके अनन्तर बालकका इस अनुवाकसे अभिमन्त्रण करे। सूत्र में 'अग्निहस्तस्य कर्मणे वां वेशाय वाम्' का आरंभ करके कहा है, कि-"आ रभस्व (८ । २) प्राणाय नमः (११ । ६) विषासहिम् (१७ । १) इत्यभिमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ७ । ९)॥

बालक उपनयनमें ही आयुकी वृद्धिके लिये इस अनुवाकसे त्रिकालमें आदित्यका उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उदस्य केतवः (१३ । २) मूर्धाहम् (१६ । ३) विषासहिम् (१७ । १) इत्युद्यन्तं उपतिष्ठते मध्यन्दिने अस्तं यन्तम्" (कौशिकसूत्र ७ । ९)॥

तथा सूर्यग्रहणरूप अद्भुतमें उसकी शांतिके लिये इस अनुवाकसे घृतकी आहुति देय। "अथ यत्रैतद् आदित्यं तमो गृह्णाति तत्र जुहुयात् ।-जब यह राहु सूर्यको ग्रहण करे उस समय आहुति देय" का आरम्भ करके सूत्रमें कहा है, कि-"विषासहिं सहमानं इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः ।-विषासहिं सहमानं सूक्तसे आहुति देय यही तहाँ प्रायश्चित्त है" (कौशिकसूत्र १३ । ७)॥ अत एव इस पूर्णसूक्तका ग्रहणकी शांतिमें विनियोग होता है। यह निश्चित है।

तथा चन्द्रग्रहणरूप अद्भुतमें उसकी शांतिके लिये इस अनुवाकसे उपस्थान करे। "अथ यत्रैतद् चन्द्रमसं उपसरति" का आरम्भ करके कौशिकसूत्र १३ । ८ में कहा है, कि-"रोहितैरुपतिष्ठते"॥

इस अनुवाकका आयुष्यगणमें पाठ है अत एव उपाकर्ममें इस अनुवाकसे घृतकी आहुति देय "अभिजिति शिष्यानुपनीय" का आरंभ करके कौशिकसूत्र १४ । ३ में कहा है, कि-"विश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्"॥

इस सूक्तका सलिलगणमें पाठ है, अत एव "आदित्या मुत-

तेजोधनायुष्कामस्य ।–भूत तेज धन और आयुको चाहने वालेके लिये आदित्या शान्तिको करे” इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आदित्या नाम वाली महाशान्तिमें इस अनुवाकका विनियोग होता है । इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि–“सविता-गण आदित्यायाम्” ॥

तथा कोटिहोममें भी इस अनुवाकका विनियोग होता है । कोटिहोमका आरंभ करके परिशिष्टमें कहा है, कि–“शान्तवृक्षकी घृतमें भीगी हुई समिधाओंकी आहुति देवें, और ब्रह्मा अपने आप भी प्रतिदिन सवितादेवताका यजन करे । पाकयज्ञविधानके अनुसार विषासहि आदि मन्त्र यहाँ पढ़े जावेंगे । शान्ति चाहने वाला पुरुष पापको दूर करनेके लिये यव और तिलोंसे होम करे” (अथर्वपरिशिष्ट ३१ । ६) ॥

सूर्यदेवकी प्रीतिके लिये किये जाने वाले आदित्यमण्डलदान के मण्डलाकार अपूपके अभिमन्त्रणमें भी इस अनुवाकका विनि-योग होता है । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–“जो यह कामना करे, कि–मैं सब पुरुषोंमें उत्तम होजाऊँ वह सूर्य-देवके लिये अपूपको देवे । उसका कल्प यह है” इत्यादि “सुवर्णके टुकड़ेको ऊपरसे रख कर लाल पुष्पोंसे पूजन करे और विषा-सहिम्से अभिमन्त्रण करके ब्राह्मणको देदेय” ॥ (अथर्वपरिशिष्ट १२ । १) ॥

यहाँ “त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रः” इस मन्त्रसे दर्शेष्टिमें माहेन्द्र हवि का अनुमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्र १ । ३ में कहा है, कि–“सांनाय्यस्यैन्द्रं माहेन्द्रं वा इन्द्रेमं (६ । ५ । २) त्वमिन्द्र-स्त्वं महेन्द्रः (१७. १८)” ॥

तत्र प्रथमा ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।

सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥ १ ॥

विऽससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ।
सहमानम् । सहःऽजितम् । स्वःऽजितम् । गोऽजितम् । संधनऽजितम् ।
ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । आयुष्मान् । भूयासम् ॥ १ ॥

अत्र सूर्यादित्यादिपदलिङ्गानाम् अभावेऽपि कृत्स्नस्याप्यनुवाकस्य उक्तप्रकारेण कृत्स्नेषु सौर्येषु कर्मसु प्रायेण विनियोगात् सूर्यपरतया मन्त्रा व्याख्येयाः। अथ वा परमैश्वर्ययोगात् "इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां दारयतीति वा इरां धारयतीति वा" [नि० १०. ८] इत्यादिनिरुक्तकारोक्तानाम् अवयवार्थानां वृष्टिद्वारा सर्वेषां भूतानाम् आत्मत्वात् सूर्ये संभवाच्च ईड्यं नाम ह्व इन्द्रम् इति इन्द्रशब्द आदित्यम् अभिधत्ते। अथ वा "विवस्वदिन्द्रयुताः" इति "इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते" इति [तै० आ० १. १३. ३] च द्वादशादित्यमध्ये इन्द्रस्यापि श्रुतत्वात् स्मृतत्वाच्च इन्द्रः साक्षाद् आदित्य एव। तथा तैत्तिरीयश्रुतिः। "ऐन्द्रीम् आवृतम् अन्वावर्ते। असौ वा आदित्य इन्द्रः। तस्यैवावृतम् अनु पर्यावर्तते" इति [तै० सं० १. ७. ६. ३]। अतः उक्तरीत्या आदित्येन्द्रयोरेकत्वेन "सपत्नानां विषासहिम्" [ऋ० १०.१६६.१] "अषाढम् उग्रं सहमानम्" [तै० ब्रा० २. ८. ५. ८] इत्यादिषु इन्द्रविशेषणतया प्रसिद्धानि विषासहिम् इत्यादीनि सूर्येऽपि अविरुद्धानि। ईड्यम् स्तुत्यम् आरोग्याद्यर्थिभिः सर्वैः प्राणिभिः सर्वदा स्तोतव्यं नाम सर्वेषां नामकम्। अथ वा नामेति प्रसिद्धौ। ईड्यत्वेन प्रसिद्धम् इन्द्रम् आदित्यं ह्वे हुवे इति संग्रहार्थः। ह्वयतेर्लोट "बहुलं

छन्दसि" इति संप्रसारणम्। छान्दसो णत्वम् ❁। कीदृशम् इन्द्रम् इति तं विशिनष्टि विषासहिम् इत्यादिना। विषासहिम् विशेषेण सोढारम्। यथा शत्रवो न पुनरुद्भवन्ति तथा नाशयितारम् इत्यर्थः। ❁ षह अभिभवे। अस्माद् यङन्तात् "सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ" इति किप्रत्ययः ❁। तदेव उपपादयति सहमानम् इति। सहनशीलम्। "इन्द्रो यातूनाम् अभवत् पराशरः" [८. ४. २१] इत्यादिश्रुतिभ्य इन्द्रस्य सहनशीलं प्रसिद्धम्। यस्य यादृक् स्वभावः स तादृशं करोतीति प्रसिद्धम्। अतः शत्रुहननस्वाभाव्याद् विषासहित्वं तस्य युक्तम् इत्यर्थः। ❁ सहेर्लटः शानच् ❁। न केवलम् इदानीमेव तच्छीलत्वं प्रागपि तथेत्याह। सासहानम् पूर्वमपि अभिभवितारम्। अतः शत्रुहननस्वभावता सिद्धा। ❁ लिटः कानच्। एत्वाभ्यासलोपयोरभावश्छान्दसः ❁। ननु सन्त्यन्ये सोढारः कोऽस्यातिशय इति तत्राह सहीयांसम् इति। सोढॄणां मध्ये अतिशयेन सोढारम्। ❁ सोढृशब्दात् "तुश्छन्दसि" इति ईयसुन्। "तुरिष्ठेमेयःसु" इति तृलोपः ❁। उक्तविशेषणचतुष्टयसिद्धम् अर्थं पुनरनुवदति क्रियासंबन्धाय सहमानम् इति। उक्तोऽस्यार्थः। ❁ सहेः शानच् ❁। एवंमहानुभावम् इन्द्रशब्दाभिधेयम् आदित्यं हुवे। इत्थं शत्रुसहनद्वारेण इन्द्रं प्रशस्य अथ तेषां सह आदिजेतृत्वद्वारेणापि प्रशंसति। सहोजितम् सहः परेषाम् अभिभावुकं तस्य जेतारं शत्रुतेजःबलापहर्तारम्। स्वर्जितम्। स्वर् इति सुखनाम। शत्रूणां यत् सुखं तस्य जेतारं नाशयितारम् स्वर्गस्य वा जेतारम्। तथा गोजितम् गोशब्दो महिष्यजाविकरितुरगोष्ट्रादेरुपलक्षकः। शत्रूणां ये गवाद्याः सन्ति तेषां जेतारम्। यद्वा गावः उदकानि तेषां जेतारम्। तथा संधनजितम् सम्यग्धनस्य सुवर्णरजतमणिमुक्तादिलक्षणस्य जेतारम्। यद्वा सहआदिजयः स्वोपासकार्थो द्रष्टव्यः।

स्वभक्तेभ्यः सहः स्वर्गगोधनानां लम्भकम् इत्यर्थः । "अर्वाञ्चम् इन्द्रम् अमुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिद् अश्वजिद् यः" [५. ३. ११] इत्यादिमन्त्रान्तरेषु इन्द्रस्य गवादिजेतृत्वं प्रसिद्धम् । ॐ संधनाजितम् इति । सांहितिको दीर्घः ॐ । उक्तगुणविशिष्टस्येन्द्रस्य आह्वाने प्रयोजनम् आह । आयुष्मान् भूयासम् इति । आह्वानोपलक्षितैस्त्रैकालिकोपस्थानादिलक्षणैः कर्मभिः परितुष्टस्य इन्द्रशब्दवाच्यस्य भगवतः सूर्यस्य प्रसादाद् अहम् आयुष्मान् शतसंवत्सरलक्षणेन आयुष्येण उपेतो भवेयम् । अत एव आयुष्मत्-प्रार्थनालिङ्गाद् अस्यानुवाकस्य आयुरभिवृद्ध्यर्थं माणवकस्य त्रिकालम् आदित्योपस्थाने विनियोग उक्तः ॥

[यहाँ सूर्य आदित्य आदि पदलिंगोंका श्रवण न होने पर भी, सकल अनुवाकका पूर्वोक्तरीतिसे प्रायः सूर्यसम्बन्धी सकल कर्मों में विनियोग होनेसे मन्त्रोंकी सूर्यपरक ही व्याख्या करनी चाहिये । अथवा परमैश्वर्यके योगसे "इन्द्र इरां दृणाति वा इरां दारयति वा इरां धारयति" इत्यादि निरुक्त १० । ८ में कहे हुए अवयवार्थोंका दृष्टिके द्वारा, और सब भूतोंकी आत्मा होनेके कारण सूर्यमें संभव होनेसे भी 'इदंयं ह नाम इन्द्रम्' आदिमें इन्द्रशब्द सूर्यको ही कहता है ॥ अथवा–"विवस्वदिन्द्रयुताः" और "इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते" (तैत्तिरीय आरण्यक) १ । १३ । ३ में बारह आदित्योंके मध्यमें इन्द्रका भी श्रवण होनेसे और स्मृत होनेसे भी इन्द्र साक्षात् आदित्य ही है । इसी बातको तैत्तिरीयश्रुतिमें कहा है, कि–"ऐन्द्रीं आवृतं अन्वावर्ते । असौ वा आदित्य इन्द्रः । तस्यैवावृतं अनु पर्यावर्तते" तैत्तिरीय संहिता १ । ७ । ६ । ३) अत एव उक्तरीतिसे आदित्य और इन्द्रके एक होनेसे "सपत्नानां विषासहिम्" (ऋग्वेदसंहिता १० । १६६ । १ और "अषाढं उग्रं सहमानम्" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ८ । ५ । ८) आदिमें

इन्द्रके विशेषणरूपसे प्रसिद्ध विषासहिम् आदि पद सूर्यमें भी अविरुद्ध हैं, अत एव] आरोग्य आदिकी प्रार्थना करने वाले सब प्राणियोंसे सदा स्तुति पाने वाले सबको नमाने वाले सूर्यदेवका मैं आह्वान करता हूँ, वह सूर्यदेव विशेषरूपसे सोढा हैं अर्थात् जिस प्रकार शत्रु फिर न उठ सकें तिस प्रकार दबाने वाले हैं। और यह इन्द्र सहनशील हैं "इन्द्रो यातूनाम्" (८। ४। २१) आदि श्रुतियोंमें इनका सहनशील अर्थात् दबानेका स्वभाव प्रसिद्ध है और जिसका जैसा स्वभाव होता है वह तैसा करता है अत एव शत्रुहननका स्वभाव होनेसे उनका विषासहित्व ठीक ही है। उनका स्वभाव अब ही ऐसा नहीं होगया है किन्तु यह पहिले भी शत्रुओंको बारम्बार दबाते रहते थे अतः शत्रुहननस्वभाव सिद्ध ही है। दूसरोंकी समान यह साधारण दबाने वाले नहीं हैं किंतु दबाने वालोंमें परमोत्तम हैं। ऐसे घर्षणशील सूर्यका मैं आह्वान करता हूँ, दूसरोंको दबाने वाले तेजका नाम सह है उस को शत्रुओंमेंसे खेंचने वाले शत्रुओंके सुख या स्वर्गके जीतने वाले शत्रुओंके गौ भैंस बकरी भेड़ घोड़े आदिको जीतने वाले अथवा जलके जेता अथवा इन सबको वशमें करके अपने भक्तों को देने वाले सूर्यको मैं त्रैकालिक उपस्थानादि रूप आह्वानोंके द्वारा आह्वान करता हूँ, उन भगवान् सूर्यदेवके प्रसादसे मैं आयुष्मान् होऊँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥ २ ॥

विऽससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ।

सहमानम् । सहःऽजितम् । स्वःऽजितम् । गोऽजितम् । संधनऽजितम्

ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । देवानाम् । भूयासम् ॥२॥

पूर्ववद् व्याख्येयम् । आयुष्मान् इत्यस्य स्थाने प्रियो देवानाम् इति विशेषः । इन्द्रस्य सर्वदेवाधिपतित्वात् तदात्मकस्य सूर्यस्यापि "एकैव वा महान् आत्मा देवता । स सूर्य इत्याचक्षते सर्वभूतात्मा" इति प्रतिज्ञाय अनुक्रमणिकाकारेण स्वोक्तेर्थे "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति [ऋ० १. ११५. १] उदाहृतत्वात् तथा "तद्विभूतयोन्या देवताः" इति प्रतिज्ञाय "तदप्येतद् ऋषिणोक्तम् । इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः" [ऋ० १. १६४. ४६] इति [स० अ० परि० २] प्रदर्शितत्वाच्च एकस्यैव भगवतः सूर्यस्य सर्वदेवतामयत्वात् तस्मिन् एकस्मिन् प्रीते इतरेषां देवानां प्रियो भवतीत्यभिप्रायः । इतरथा येषां प्रियभावः प्रार्थनीयस्त एव पृथक्पृथग् उपास्याः स्युः । न च वाच्यम् एकेनैव प्रीतेनादित्येनालम् किम् इतरदेवानां प्रियभावप्रार्थनयेति । फलानभिघाताय इतरेषां स्वाधीनीकरणस्यापि अपेक्षितत्वात् । यथा लोके प्रीतेपि राजनि तत्परतन्त्राणामपि अमात्यादीनां प्रीत्यर्थम् उपाधावनदर्शनात् ॥

मैं विषासहि सहमान सासहान सहीयान् सहोजित् स्वर्जित् गोजित् संधनजित् (इन प्रथममन्त्रमें वर्णित अर्थ वाले) पूजनीय सर्वदेवाधिपति इन्द्रात्मक सूर्यका आह्वान करता हूँ, मैं उन भगवान् सूर्यदेवके प्रसादसे देवताओंका प्रिय होऊँ। [अनुक्रमणिकाकारने कहा है, कि—"एकैव वा महान् आत्मा देवता । स सूर्य इत्याचक्षते सर्वभूतात्मा ।—आत्मा ही एक महान् देवता है

उनको सूर्य कहते हैं" इस बातकी प्रतिज्ञा करनेके अनन्तर ऋग्वेदसंहिता १ । ११५ । १ का उदाहरण दिया है, कि–"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।–सूर्यदेव जंगम और स्थावर जगत्की आत्मा हैं"। फिर प्रतिज्ञा की है, कि–"तद्विभूतयोऽन्या देवता । और देवता उनकी विभूतियें हैं ।" इसके अनन्तर ऋग्वेदसंहिता १ । १६४ । ४६ का प्रमाण दिया है, कि–"तदप्येतदृ ऋषिणोक्तम् इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम् यमं मातरिश्वानमाहुः ।–इसी बातको मन्त्रद्रष्टा ऋषिने कहा है, कि–जिनको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं वह दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् आत्मा है। उनके एक होने पर भी ब्राह्मण उनको अग्नि यम वायु कहते हैं" (सर्वानुक्रमणिकापरिभाषा ऋग्वेदसंहिता २) इस प्रकार एक ही भगवान् सूर्यके सर्वदेवमय होनेसे उन एकके ही प्रसन्न होने पर दूसरे देवताओंका प्रिय होजाता है । और जिनके प्रियभाव की प्रार्थना करनी हो उनकी पृथक् २ भी उपासना कर सकते हैं । यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि–एक सूर्यदेवके प्रसन्न होने पर दूसरोंके प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि–फलमें अभिघात न पड़े इस लिये दूसरों को भी अपना बनानेकी आवश्यकता है । जैसे, कि–संसारमें राजाके प्रसन्न होने पर भी उसके आधीन रहने वाले मन्त्री आदिको प्रसन्न करनेके लिये मनुष्य दौड़ते फिरते हुए दीखते हैं] २

तृतीया ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥

त्रिऽससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ।

सहमानम् । सहःऽजितम् । स्वःऽजितम् । गोऽजितम् । संधनऽजितम् ।

ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । प्रऽजानाम् । भूयासम् ३

प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजाः पुत्राद्या भृत्यादयश्च । तासां प्रियो भूयासम् । ता यथा विधेयाः सत्यः स्वात्मानं पूजयन्ति तथाविधो भूयासम् इति आशास्ते ॥

विषासहि सहमान सासहान सहीयान् सहोजित स्वर्जित् गोजित् और संधनजित् पूजनीय सबसे स्तुत्य इन्द्रात्मक सूर्यदेव का मैं प्रकृष्टतासे होने वाले पुत्र भृत्य आदिका प्रिय बननेके लिये आह्वान करता हूँ अर्थात् वह जिस प्रकार मेरा सत्कार करें मैं वैसा होजाऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्रिषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥

त्रिऽससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ।

सहमानम् । सहःऽजितम् । स्वःऽजितम् । गोऽजितम् । संधनऽजितम् ।

ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । पशूनाम् । भूयासम् ।४।

पशवो गोमहिष्यजाविकाद्याः करितुरगोष्ट्रादयश्च । "चतुष्पादः पशवः" इति श्रुतेः [ऐ० ब्रा० ५. १६] । सत्सु तेषु तेषां प्रियभावप्रार्थनौचित्यात् तल्लाभं तदानुकूल्यं चाशास्ते ॥

मैं त्रिषासहि सहमान सासहान सहीयान् सहोजित स्वर्जित गोजित् संधनजित्, पूजनीय और जिनको सब नमन करते हैं सूर्यदेवका आह्वान करता हूं मैं (ऐतरेय ब्राह्मण ५ । १६ की श्रुतिमें वर्णित चतुष्पादः पशवः ।—चार पैर वाले गौ भैंस बकरी भेड़ हाथी घोड़ा ऊँट आदि") पशुओंका प्रिय होजाऊँ । अर्थात् उनके होने पर उनके प्रियभावकी प्रार्थना करना उचित है अत एव उनके लाभ और अनुकूलताकी प्रार्थना की है ॥ ४ ॥

इत्थम् आयुष्याभावे कृत्स्नस्यापि लाभस्य वैयर्थ्यात् प्रथमम् आयुष्यम् आशास्य तत्सिद्धये देवतानुकूल्यमपि आशास्य पुत्राद्यभावे स्वात्मन एव अकात्स्न्र्यात् प्रजासमृद्धिम् आशास्य तदनन्तरं पशुलाभं प्रार्थ्य अथ तैः सर्वैः संपन्नः स्वसमानेषु श्रेष्ठभावम् आशास्ते ॥

इस प्रकार आयुके अभावमें सब वस्तुओंका लाभ निष्फल है पहिले आयुकी प्रार्थना की, फिर उसकी सिद्धिके लिये देवताओंके अनुकूल रहनेकी प्रार्थना की फिर पुत्र आदिके अभावमें पुरुष स्वयं भी अधूरा रहता है अतः प्रजासमृद्धिकी प्रार्थना की तदनन्तर पशुप्राप्तिकी प्रार्थना कर अब उनसे सम्पन्न रहते हुए अपनी समान पुरुषोंमें श्रेष्ठताकी प्रार्थना करते हैं, कि—

पञ्चमी ॥

त्रिषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥

विऽससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ।
सहमानम् । सहःऽजितम् । स्वःऽजितम् । गोऽजितम् संधनऽजितम् ।

ईदृशम् । नाम । हि । इन्द्रम् । प्रियः । समानानाम् । भूयासम् ॥ २

कुलजातिवयोधनविद्याकर्मादिभिः स्वसदृशाः समानाः । तेषां प्रियो भूयासम् । तेषामपि श्रेष्ठत्वेन उपजीव्यो भूयासम् इत्यर्थः । सत्सु स्वसदृशेषु अन्येषु स्वस्य श्रैष्ठ्याभावाद् "अहं भूयासम् उत्तमः समानानाम्" [तै० सं० ३. ५. ५. १]। "समानानाम् उत्तमश्लोको अस्तु" [तै० सं० ५. ७. ४. ३] इत्यादिश्रुतिषु तेषामपि श्रैष्ठ्यप्रार्थनादर्शनात् । इत्थम् आयुष्यादिसर्वकामप्रार्थना-लिङ्गाद् अस्यानुवाकस्य च सलिलगणे पाठात् "सलिलैः सर्व-कामः" इत्यादिको गणप्रयुक्तो विनियोग उक्त इति द्रष्टव्यम् । अत एव प्रियः प्रजानां भूयासम् प्रियः समानानां भूयासम् इति लिङ्गाद् भास्करप्रीतिकरापूपदाने "अथ यः कामयेत सर्वेषां नृणाम् उत्तमः स्याम्" इति प्रक्रम्य "विषासहिम् इति अभिमन्त्र्य ब्राह्म-णाय निवेदयेत्" इति अस्यानुवाकस्य विनियोग उक्त इति ज्ञातव्यम्

मैं विषासहि सहमान सासहान सहीयान् सहमान सहोजित् स्वर्जित् गोजित् संधनजित् पूजनीय प्रणम्य सूर्यका आह्वान करता हूँ, कि–मैं समान पुरुषोंमें प्रिय होऊँ [कुल जाति अवस्था धन विद्या कर्म आदिमें जो पुरुष अपने सदृश होते हैं वे समान कह-लाते हैं, उनका प्रिय होनेका अभिप्राय यह है, कि–उनमें श्रेष्ठ होनेसे मैं उनका उपजीव्य होऊँ । अब यह शंका होती है, कि–अपनी सदृश दूसरोंके होने पर अपनी श्रेष्ठताका अभाव ही होना चाहिये तो कहते हैं, कि–"अहं भूयासम् उत्तमः समानानाम् ।–मैं समान पुरुषोंमें उत्तम होऊँ" (तैत्तिरीयसंहिता ३ । ५ । ५ । १) "समानानां उत्तमश्लोको अस्तु ।–समान पुरुषोंमें उत्तम कीर्ति वाला हो" (तैत्तिरीयसंहिता ५ । ७ । ४ । ३) इत्यादि श्रुतियोंमें भी श्रेष्ठताकी प्रार्थना दीखती है अत एव श्रेष्ठता होसकती है ।

इस प्रकार आयु आदि सब कामनाओंकी प्रार्थनाओंके लिङ्गसे इस अनुवाकका सलिलगणमें पाठ होनेसे "सलिलैः सर्वकामः ।– सलिलगणके सूक्तोंसे सर्वकाम प्रार्थना करे" इत्यादि गणप्रयुक्त विनियोग कहा है, यह समझना चाहिये। अतएव "प्रियः प्रजानां भूयासम् । प्रियः समानानां भूयासम् ।" इस लिंगसे सूर्यदेवको प्रसन्न करने वालोंके अपूपदानमें इस अनुवाकका विनियोग कहा है, कि–"अथ यः कामयेत सर्वेषां नृणामुत्तमः स्यां" इति प्रक्रम्य "विषासहिम् इत्यभिमन्त्र्य ब्राह्मणाय निवेदयेत्" ॥] ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि ।

द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ६॥

उत् । इहि । उत् । इहि । सूर्य । वर्चसा । मा । अभिऽउदिहि ।

द्विषन् । च । मह्यम् । रध्यतु । मा । च । अहम् । द्विषते । रधम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।

त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ ६ ॥

सरति गच्छति संततम् इति वा सुवति प्रेरयति स्वोदयेन सर्वं प्राणिजातं स्वस्वव्यापारे इति वा सूर्यः । ॐ सर्तेः सुवतेर्वा

त्यपि "राजसूयसूर्य॰" इत्यादिना निपातितः । तस्य संबोधनम् ❀ । हे सूर्य त्वम् उदिहि उदिहि । वीप्सया उदयविषया त्वरा द्योत्यते । स्वयमेव उदेष्यतः सूर्यस्य उदयविषयप्रार्थनं मन्देहाख्य असुरकृतोदयप्रतिबन्धम् अन्तरेण उदयाशंसनार्थम् । तथा च तैत्तिरीयश्रुतिः सूर्यस्य राक्षसकृतम् उदयप्रतिबन्धं तत्परिहारं च दर्शयति । "तस्माद् उत्तिष्ठन्तं ह वा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति यावद् अस्तम् अन्वगात् । तानि ह वा एतानि रक्षांसि गायत्रियाभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यन्ति । तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः संध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति । ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति" इति [तै॰ आ॰ २. २. १]। उदिह्येव तव राक्षसकृत उदयप्रतिबन्धो मा भूद् इत्यभिप्रायः । उदयं विशिनष्टि । वर्चसा सर्वस्य आवर्जकेन तेजसा सह मा मां प्रति अभ्युदिहि । अनेन नीहारादितिरोधानाभावः प्रार्थितः । अथ वा वर्चसा हेतुना मम वर्चोलाभाय अभ्युदिहि । सूर्ये उदिते सर्वस्यापि पदार्थस्य वर्चःप्राप्तिः सुप्रसिद्धैव । यद्यपि सर्वं भूतजातं प्रति उदेति तथापि उपासकस्य स्वस्य अभिमतप्राप्तिलक्षणप्रयोजनसद्भावात् माभ्युदिहि इति प्रार्थ्यते । श्रुतिश्च भवति । "तस्मात् सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगाद् इति" इति [तै॰ सं॰ ६. ५. ४. २]। उदयप्रार्थनायाः प्रयोजनम् आह द्विषंश्चेत्यादिना । हे सूर्य अप्रतिबन्धेन उदितस्य तव अनुग्रहात् द्विषन् मयि द्वेषं कुर्वन् शत्रुः । ❀ "द्विषोऽमित्रे" इति शतृप्रत्ययः ❀ । मह्यं रध्यतु मम वशं प्राप्नोतु । मम पादाक्रान्तो भवतु । ❀ रध हिंसासंराद्ध्योः । दिवादित्वात् श्यन् ❀ । यथा मद्द्वेषी स्वाधीनो भविष्यति एवं स्वयमपि तदाधीनः कदाचिदपि स्याम् इत्याशङ्क्य व्यतिरेकाभावम् आशास्ते मा चाहं द्विषते रधम् । अहं त्वदुपासकस्त्वत्प्रसादाद् द्विषते मयि

द्वेषं कुर्वते शत्रवे रधम् वशो मा भूवम्। अयम् अर्थो मन्त्रान्तरेपि स्पष्टम् उक्तः।

उदगाद् अयम् आदित्यो विश्वेन सहसा सह।

द्विषन्तं मम रन्धयन् मो अहं द्विषतो रधम्। [तै० ब्रा० ३. ७. ६. २२] इति। द्विषंश्च मा चाहम् इति चकारौ परस्परसमुच्चयार्थौ। सत्यपि भोग्ये शत्रुसद्भावे भोगासंभवात् तत्स्वाधीनीकरणलक्षणं फलम् आशास्य इदानीम् ऐहिकामुष्मिकलोकसाधनलक्षणं फलम् आशास्ते तवेद् विष्णो बहुधेत्यादिना। आदौ भोगदानसामर्थ्यसद्भावं दर्शयति तवेद् इति। हे विष्णो व्याप्नोति स्वरश्मिभिः सर्वं ब्रह्माण्डान्तरालम् इति विष्णुरादित्यः। यद्वा द्वादशादित्यमध्ये "दिवाकरो मित्रो विष्णुश्च" इति श्रुतौ स्मृतौ च विष्णोरपि परिगणनाद् विष्णुरादित्यः। तादृशविष्णुशब्दाभिधेयादित्य तवेत् तवैव वीर्याणि बहुधा बहुप्रकाराणि नान्यस्य देवतान्तरस्य। यतस्त्वं विष्णुः अतस्तव वीर्याणि अनन्तानीत्यभिप्रायः। विष्णुत्वोपाधौ तु

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि॥

यो अस्कभायद् उत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।

[ऋ० १. १५४. १]इत्यादिमन्त्रश्रुतिषु पुराणेतिहासागमादिषु च प्रसिद्धानि। साक्षात् सूर्यस्य भगवतो वीर्याण्यपि जगदन्धकारनिर्हरणसकलपदार्थप्रकाशननिखिललौकिकवैदिककर्मनिर्वर्तनसमय-वृष्टिप्रदानारोग्यकरणमोक्षप्रदानादीनि लोकप्रसिद्धान्येव। यतस्तव सर्वप्राण्युपकारकाणि बहुविधानि वीर्याणि सन्ति अतस्त्वं नः अस्मान् विश्वरूपैः गोमहिष्यजाविकुरितुरगोष्ट्रादिलक्षणैः पशुभिः पृणीहि पूरय। ❀ क्र्यादित्वात् श्ना। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम् ❀। तथा मा माम् एतद् हाव-

स्थाने परमे निरतिशये व्योमन् व्योमनि विशेषेण अवतीति व्योम तस्मिन् अध्नस्य विष्टपे स्थाने।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते।

इति [ऋ० ६. ११३. ७] मन्त्रोक्तलक्षण इत्यर्थः। तथाविधे लोके स्वधायाम्। अन्ननामैतत्। यत्सेवया क्षुत्तृष्णाशोकमोहजरामरणादयो न भवन्ति तथाविधे अन्ने अमृते मा मां धेहि स्थापय। तद्भोगार्हं कुर्वित्यर्थः। उक्तलक्षणे स्थाने स्वधासद्भावो मन्त्रान्तरे। "स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माम् अमृतं कृधि" इति [ऋ० ६. ११३. १०]। ❀ धेहीति। दधातेर्लोटि "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀।

निरन्तर सरण (गमन) करने वाले वा अपने उदयसे सब प्राणियोंको अपने २ कर्ममें प्रवृत्त करने वाले सूर्यदेव! आप उदय हूजिये उदय हूजिये [बारम्बार कहनेसे उदयविषयक त्वरा प्रकट की है, सूर्यदेव स्वयं ही उदय होरहे थे फिर भी सूर्यके उदयकी प्रार्थना मन्देह आदि असुरोंके किये हुए उदयविघ्नके विना ही उदय होनेके लिये है। तैत्तिरीयश्रुतिने सूर्यके राक्षस कृत उदयप्रतिबन्ध और उसके परिहारको दिखाया है, कि–"तस्माद् उत्तिष्ठन्तं ह वा तानि रक्षांसि आदित्यं योधयन्ति यावद् अस्तम् अन्वगात्। तानि ह वा एतानि रक्षांसि गायत्रियाभिमन्त्रितेनाम्भसा शाम्यन्ति। तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति। ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षांसि मन्देहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति–अर्थात् तैत्तिरीय–आरण्यक २। २। १ में कहा है, कि–उठते हुए-सूर्यदेवसे राक्षस उनके अस्त होने तक लड़ते रहते हैं। ये राक्षस गायत्रीसे अभिमन्त्रित जलसे शान्त होजाते हैं। ये जो ब्रह्मवादी

पूर्वाभिमुख होकर संध्यामें गायत्रीसे अभिमन्त्रित जलको ऊपर को फेंकते हैं तो यह जल वज्ररूप होकर उन राक्षसोंको मन्देहारुणद्वीपमें फेंक देता है।" तात्पर्य यह है, कि—आप उदय हूजिये, राक्षसोंका किया हुआ प्रतिबंध काम न कर सके। अब उदय की विशिष्टता दिखाते हैं, कि—] सबको दबाने वाले अपने तेज के साथ आप मेरे सामने उदय हूजिये (इससे नीहार आदिसे तिरोधानाके अभावकी प्रार्थनाकी है) अथवा मुझको वर्च प्राप्त करानेके लिये उदित हूजिये [सूर्यके उदित होने पर सकल पदार्थों की वर्चःप्राप्ति सुप्रसिद्ध ही है, यद्यपि सूर्यदेव सब प्राणियोंके प्रति उदित होते हैं तथापि उपासकको अपने अभिमतका प्राप्तिका प्रयोजन होनेसे मेरी ओर उदय हूजिये, यह प्रार्थनाकी है। इस विषय में श्रुतिका प्रमाण भी है, कि—"तस्मात् सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगात्।—इस कारण सब यही मानते हैं, कि—यह मेरी ओर उदय होवें" (तैत्तिरीयसंहिता ६। ५। ४। २) अब उदय होने की प्रार्थना करनेके प्रयोजनको कहते हैं, कि—] हे सूर्य! अप्रतिबंधभावसे उदय हुए आपके अनुग्रहके कारण मुझसे द्वेष रखने वाला शत्रु मेरे वशमें होजाय, [जैसे मेरा द्वेषी मेरे आधीन हो जावेगा इसी प्रकार मैं भी कभी उसके आधीन न होजाऊँ इस लिये प्रार्थना करता है, कि-मैं आपका उपासक आपके प्रसादसे अपने शत्रुके आधीन कभी न होऊँ [यही बात दूसरे मन्त्रमें भी स्पष्टरूपसे कही है, कि—"उदगात् अय आदित्यो विश्वेन सहसा सह। द्विषन्तं मम रन्धयन् मो अहं द्विषतो रधम्।–यह सूर्यदेव अपने पूर्णधर्षक बलके साथ मेरे शत्रुको मेरे वशमें करते हुए उदय होरहे हैं, मैं शत्रुके वशमें कभी न पड़ूँ" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३। ७। ६। २२)। भोग्यके होने पर भी शत्रुके होनेसे भोग असंभव होजाता है अत एव उसको वशमें करनेके फलकी प्रार्थना

करके अब इस लोक और परलोकके साधनरूप फलकी प्रार्थना करते हैं, और उसमें पहिले भोगप्रदान करनेकी शक्तिको दिखाते हैं, कि-] हे अपनी किरणोंसे सब ब्रह्माण्डको व्याप्त करने वाले विष्णो आदित्य! [वा बारह आदित्योंमें, "दिवाकरो मित्रो वरुणश्च।-दिवाकर मित्र और वरुण" इस प्रकार विष्णुकी भी गिनती है अत एव हे ऐसे विष्णोः।] आपके ही अनेक प्रकारके पराक्रम हैं दूसरे देवतामें ऐसे प्रभाव नहीं होसकते। तात्पर्य यह है, कि—आप विष्णु हैं अत एव आपके वीर्य अनन्त हैं [विष्णुस्वोपाधिके लिये "विष्णोर्नु कम् वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि वि ममे रजांसि। यो अस्कभायद् उत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।" (ऋग्वेदसंहिता १।१५४।१) इत्यादि मन्त्रश्रुतियों और पुराण इतिहास शास्त्र आदिमें भी विष्णुके अनन्त पराक्रम प्रसिद्ध हैं। साक्षात् सूर्य भगवान्‌के भी, जगत्‌के अन्धकार को दूर करना, सब पदार्थोंको प्रकाशित करना सम्पूर्ण लोकों के वैदिककर्मको पूर्ण करना, सामयिक वृष्टि प्रदान करना, आरोग्य देना और मोक्ष देना, आदि कर्म लोकमें प्रसिद्ध ही हैं] जब आपके सब प्राणियोंका उपकार करने वाले अनेक प्रकारके पराक्रम हैं अतः आप हमको सब प्रकारके रूप वाले गौ भैंस भेड़ बकरी घोड़े और ऊँट आदि पशुओंसे पूरित करिये तथा मुझको इस देहके अन्तमें विशेषरूपसे रक्षा करने वाले ["यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते॥—जहाँ ज्योति निरन्तर रहती है और जिसमें स्वर्ग स्थित है, उस पवमान अमृत अक्षुण्ण लोकमें मुझको स्थापित करिये" ऋग्वेदसंहिता ९।११३।७ इत्यादि मन्त्रोंमें प्रसिद्ध] लोकमें और जिसका सेवन करनेसे क्षुधा तृष्णा शोक मोह जरा मरण आदि नहीं होते हैं ऐसे स्वधारूप अन्नमें हमको स्थापित

करिये अर्थात् हमको उसका उपभोग करने योग्य करिये। ऋग्वेदसंहिता ९। ११३। १० में भी कहा है, कि—"स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मां अमृतं कृधि।—जहाँ स्वधा और तृप्ति है तहाँ मुझको अमृत करिये]॥ ६॥

सप्तमी॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि।

यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ७॥

उत्। इहि। उत्। इहि। सूर्य। वर्चसा। मा। अभिऽउदिहि।

यान्। च। पश्यामि। यान्। च। न। तेषु। मा। सुऽमतिम्। कृधि। तव। इत्। विष्णो इति। बहुऽधा। वीर्याणि।

त्वम्। नः। पृणीहि। पशुऽभिः। विश्वऽरूपैः। सुऽधायाम्। मा। धेहि। परमे। विऽओमन्॥ ७॥

उदिह्युदिहीति मन्त्रभागः पूर्ववद् व्याख्येयः। यान् प्राणिनः पश्यामि चक्षुषा विषयीकरोमि देशादिभिरव्यवहितान् यांश्च प्राणिनः देशादिव्यवधानवतो न पश्यामि तेषु द्विविधेषु प्राणिषु विषयभूतेषु मा मां सुमतिम् शोभनबुद्धियुक्तं कृधि कुरु। तेषु द्रोहरहितचित्तं कुर्वित्यर्थः। ❀ "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक्। "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः ❀। तादृशी बुद्धिः

स्वात्मशत्रुमित्रेषु समदर्शिन एव जायते। तथाविधा दृष्टिः परमेश्वरप्रीतये भवति।

समत्वम् आराधनम् अच्युतस्य ॥
सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किंचिद् उच्चैः ।
[वि० ३. ७. २०] ॥

इति स्मरणात्। किं च अद्रोह एव पुरुषार्थसाधनेषु प्रथमतो निर्दिष्टः "अहिंसा सत्यम् अस्तेयम्" [भा० ११. १७. २०] इति। ईदृशीं बुद्धिं मन्त्रान्तरे महर्षिर्विष्णुं प्रार्थयामास। "त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्याम् अप्रयुताम् एवयावो मतिं दाः" इति [ऋ० ७. १००. २]। हे विष्णो तवेद्ध इत्यादि गतम्। यतस्तव वीर्याणि बहुधा अतो मां सुमतिं कुरु ॥

हे सूर्य देव! आप उदय हूजिये उदय हूजिये, मुझको सब दबाने वाले तेजसे सम्पन्न करते हुए उदय हूजिये, मैं जिन प्राणियों को देश आदि रुकावटसे रहित होनेके कारण चक्षुसे देखता हूँ और देश आदिके व्यवधान (रुकावट) के कारण जिनको नहीं देखता हूँ उन दोनों प्रकारके प्राणियोंमें आप मुझको शोभन बुद्धि वाला करिये अर्थात् उनमें द्रोहरहित चित्त वाला करिये [ऐसी बुद्धि, अपनी आत्मा शत्रु और मित्रोंमें समान दृष्टि रखने वाले समदर्शीकी ही होती है, और वह परमेश्वरको प्रसन्न करने वाली होती है। विष्णुपुराण ३। ७। २० में कहा है, कि— "समत्व ही विष्णुका आराधन है एकसी बुद्धि रखने वाला पुरुष अपने लिये मित्रोंके लिये और शत्रुके लिये न किसी वस्तुका हरण करता है और न किसीको मारता है" और भागवत एकादशस्कंध ११। १७। २० में अद्रोह ही पुरुषार्थसाधनोंमें पहिले निर्दिष्ट किया गया है, कि—"अहिंसा सत्यम् अस्तेयम्—अहिंसा

सत्य और अस्तेय" ऐसी बुद्धिकी ही महर्षिने दूसरे मन्त्रमें विष्णुसे प्रार्थना की है, कि—"त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्याम् अप्रयुतां एवयावो मतिं दाः" (ऋग्वेदसंहिता ७ । १००।२) हे विष्णो ! आपके ही अनेक प्रकारके प्रभाव हैं दूसरे देवताओंमें ऐसे प्रभाव नहीं हैं, आप मुझको अनेक रूपों वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मुझको परम व्योममें स्वधामें स्थापित करिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्वं १न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठ-
न्त्यत्र ।
हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते
स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि
परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

मा । त्वा । दभन् । सलिले । अप्ऽसु । अन्तः । ये । पाशिनः ।
उपऽतिष्ठन्ति । अत्र ।
हित्वा । अशस्तिम् । दिवम् । आ । अरुक्षः । एताम् । सः ।
नः । मृड । सुऽमतौ । ते । स्याम । तव । इत् । विष्णो इति ।
बहुऽधा । वीर्याणि ।
त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् ।
मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ ८ ॥

सलिले सलिलम् अन्तरिक्षम् तस्मिन् अप्स्वन्तः अन्तरिक्षस्थानाम् अपां मध्ये हे सूर्य त्वा त्वां मा दभन् दम्भनं हिंसां मा कार्षुः प्रच्छन्नचारिणो राक्षसाः। ❀ दन्भु दम्भे। माङि लुङि "दम्भेश्चेति वक्तव्यम्" इति च्लेः अङ् ❀। अप्सु सूर्यस्य हिंसकानां कः प्रसङ्ग इति तत्राह ये पाशिन इति। अथ अप्सु ये पाशिनः पाशहस्ता गतिनिरोधसाधनवन्त उपतिष्ठन्ति मायाविनो राक्षसाः। "उत्तिष्ठन्तं ह वा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति यावद् अस्तम् अन्वगात्" [तै० आ० २. २. १] इत्यादिना गतिप्रतिबन्धकसद्भावः प्रदर्शितः प्राक्॥ इत्थं गतिप्रत्यूहाभावम् आशास्य सुखेन द्याम् आरूढं दृष्ट्वा आह हित्वेति। हे सूर्य एताम् अशस्तिम्। अशस्तिर्निन्दा। पराख्यब्रह्मणः सगुणमूर्तिभूतस्य भगवतः सूर्यस्य राक्षसा गतिं प्रत्यबध्नन् किल इत्येवंरूपा निन्दां हित्वा तैरप्रतिबद्धो भूत्वा दिवम् द्याम् अन्तरिक्षम् आरुक्षः आरूढवान् असि। ❀ "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सप्रत्ययः ❀। स तादृशस्त्यक्ताशस्तिस्त्वं नः अस्मान् मृड सुखय। ते सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहबुद्धौ स्याम भवेम। देवताया अनुग्रहबुद्धौ सत्यां यद् अभीष्टं प्रार्थयते तत् सु लभं भवतीत्यभिप्रायेण आदौ सैव प्रार्थ्यते॥ तवेद् इत्यादि पूर्ववत्॥

हे सूर्यदेव! जलोंके भीतर पाशको धारण करके आपकी गतिको रोकने वाले ‡ प्रच्छन्नचारी राक्षस आपको अन्तरिक्षके जलों में हिंसित न कर सकें। [इस प्रकार गतिविघ्नके अभावकी प्रार्थना करके सूर्यदेवको सुखपूर्वक द्युलोकमें चढ़ा हुआ देखकर

‡ "उत्तिष्ठन्तं ह वा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति यावद् अस्तं अन्वगात्।—उठते हुए सूर्यदेवसे अस्त होने तक राक्षस लड़ते रहते हैं" (तैत्तिरीय आरण्यक २। २। १) इत्यादिसे सूर्य की गतिको रोकनेका वर्णन पहिले दिखाया जा चुका है।

कहता है, कि–] हे सूर्य! आप अपनी निन्दाको त्याग कर अन्तरिक्षमें आरूढ़ हुए हैं अर्थात् परब्रह्म जब सगुणमूर्तिमें सूर्यके रूप में आये तब उनकी गतिको राक्षसोंने रोक लिया उस निन्दाको त्याग कर अर्थात् उनसे प्रतिबद्ध न होकर अन्तरिक्षमें चढ़ गए हैं, हे ऐसे त्यक्तनिन्द सूर्यदेव! आप हमको सुख दीजिये हम आपकी अनुग्रहात्मिका शोभना बुद्धिमें रहें [देवताकी अनुग्रह बुद्धि होने पर जो अभीष्टकी प्रार्थना की जाती है वह सुलभ होती है, इस अभिप्रायसे आदिमें उसकी ही प्रार्थनाकी है । हे सूर्य ! आपके ही अनेक प्रकारके प्रभाव हैं आप हमको अनेक रूपों वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मरणके अनन्तर परमव्योममें और स्वधामें हमको स्थापित करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

त्वं न॑ इन्द्र मह॒ते सौभ॑गा॒याद॑ब्धेभिः॒ परि॑ पाह्य॒क्तुभि॒स्तवेद् वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि ।
त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ ९ ॥

त्वम् । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । म॒हते॒ । सौभ॑गाय । अद॑ब्धेभिः । परि॑ । पा॒हि॒ । अ॒क्तुऽभिः॑ । तव॑ । इत् । वि॒ष्णो॒ इति॑ । ब॒हु॒ऽधा । वी॒र्या॑णि । त्वम् । नः॒ । पृ॒णी॒हि॒ । प॒शुऽभिः॑ । वि॒श्वऽरू॑पैः । सु॒ऽधाया॑म् । मा॒ । धे॒हि॒ । प॒रमे॑ । विऽओ॑मन् ॥ ९ ॥

हे इन्द्र परमेश्वर सूर्य त्वं नः अस्माकं महते निरतिशयाय

सौभगाय शोभनो भगो यस्य स सुभगः सुभगस्य भावः सौभगं सौभगाय सौभाग्याय ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।
[वि० ६. ५. ७०] ॥

इत्युक्तलक्षणाख्यप्रभूतस्य ऐश्वर्यादेः सिद्ध्यर्थम् इत्यर्थः । तदर्थम् । अदब्धेभिः अदब्धैः व्याहिस्यैव्याधिसर्पाग्नितस्करादिजनितहिंसारहितैः अक्तुभिः । रात्रिनामैतत् । रात्र्युपलक्षितैर्बहुभिर्दिवसैर्निमित्तभूतैः परि पाहि सर्वतो रक्ष । अथ वा प्रायेण रात्रावेव व्याधितस्करभूतरक्षःपिशाचादिपीडासंभवाद् विशेषेण रात्रिषु रक्षा प्रार्थ्यते ॥ तवेद् इत्यादि गतम् ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न सूर्य देव ! विष्णुपुराण ६ । ५ । ७० में कहे हुए "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥–पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छः का नाम भग है" परम शोभन भग–सौभाग्य-ऐश्वर्य की सिद्धिके लिये आप व्याधि सर्प अग्नि तस्कर आदिकी हिंसासे शून्य रात्रि और दिनोंके द्वारा हमारी रक्षा करिये, हे सूर्य ! आपके ही अनन्तप्रकारके प्रभाव हैं, आप हमको सब आकृतियों वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मुझको रक्षाके परमस्थान परमव्योम स्वर्गमें क्षुधा तृषा आदिको दूर करने वाले अन्न स्वधामें स्थापित करिये ॥ ६ ॥

दशमी ॥

त्वं न॑ इन्द्रो॒तिभिः॑ शि॒वाभिः॒ शंत॑मो भव ।
आ॒रोहं॑स्त्रि॒दिवं॑ दि॒वो गृ॑णा॒नः सोम॑पीतये प्रि॒यधा॑मा
स्व॒स्तये॒ तवेद् वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्या॒णि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥

त्वम् । नः । इन्द्र । ऊतिऽभिः । शिवाभिः । शम्ऽतमः । भव । आऽरोहन् । त्रिऽदिवम् । दिवः । गृणानः । सोमऽपीतये । प्रियऽधामा । स्वस्तये । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि । त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १० ॥

हे इन्द्र त्वं नः अस्माकं शंतमो भव । शम् इति सुखनाम । सुखतमो भव । सुखयितृतमो भवेत्यर्थः । न हि असुखस्य सुखयितृत्वम् अस्ति । कैः साधनैरित्युच्यते । शिवाभिः मङ्गलाभिः ऊतिभी रक्षाभिः । याभी रक्षाभी रक्षितः पुनःपुनर्जननमरणादिक्लेशभाङ् न भवति तादृश्यो रक्षाः शिवा इत्युच्यन्ते । किं कुर्वन् । दिवः अन्तरिक्षस्य संबन्धिनं त्रिदिवम् । तिसृणां द्यावां समाहारस्त्रिदिवः । “तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्” [ऋ० ७. ८७. ५] “तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्” [ऋ० २. २७. ८] “त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः” [ऐ०ब्रा० २. १७] इत्यादिश्रुतिभ्यो द्युलोकस्य त्रैविध्यम् । अथ वा भूलोकापेक्षया तृतीया द्यौर्द्युलोकस्त्रिदिवः । तम् आरोहन् । तथा सोमपीतये सोमपानाय । सोमपानं तु सोमयागम् अन्तरेण न संभवति तं देवेभ्यो हुत्वा शेषभक्षणविधानात् अग्नौ हुतस्य सोमस्य पानाय वा अतो यागादिकर्मसिद्धये गृणानः अस्माभिः स्तूयमानः । ❀ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ । आरोहणं किमर्थम् इति उच्यते । स्वस्तये जगतः क्षेमाय । उदयति सवितरि अन्धकारापगमेन सकलव्यवहारसिद्धेः

सर्वप्राणिनां क्षेमं भवतीति सुप्रसिद्धम् । कीदृशस्त्वम् । प्रियधामा प्रियस्थानः । द्युस्थाने प्रीतिमान् इत्यर्थः । न हि सूर्यस्य इतरदेववद् यदृच्छया स्थानान्तरसंक्रमणम् अस्ति । अथ वा धाम तेजः । प्रियतेजा इत्यर्थः । न हि स्वतेजः स्वस्याप्रियम् अतः सहामेव । अथ वा यस्य धाम लोकस्य प्रियं स प्रियधामा । एवं कुर्वन् स्वस्तये भवेति शेषम् अध्याहृत्य वा योज्यम् । तत्रेत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

इति प्रथमं सूक्तम् ।

हे परमैश्वर्यसम्पन्न सूर्य ! आप हमको बड़ा भारी सुख देने वाले बनिये [जिसके पास सुख नहीं है वह दूसरोंको किस प्रकार सुख देसकता है अतः सुखके साधनोंका वर्णन करते हैं, कि-] आप अपनी मङ्गलकारिणी रक्षाओंसे हमको सुख दीजिये, आप की उन रक्षाओंसे रक्षित पुरुष वारम्वार जन्म मरणके क्लेशको नहीं भोगता है अत एव वे रक्षायें शिवा—मङ्गलकारिणी—कहलाती हैं । आप पृथ्वीकी अपेक्षा तीसरे द्युलोकमें आरोहण करते हुए अग्निमें हुत सोमका पान करते हुए और हमसे याग आदि कर्मकी सिद्धिके लिये स्तुति पाते हुए जगत्का कल्याण करते हुए अपनी कल्याणकारिणी रक्षाओंसे हमारी रक्षा करिये । आपको अपना स्थान द्युस्थान प्रिय है अर्थात् और देवताओंकी समान सूर्यदेव अन्य स्थानों पर संक्रमण नहीं करते हैं अथवा आपको अपना तेज प्रिय है, क्योंकि—किसीको भी अपना तेज अप्रिय नहीं होता है । हे सूर्यदेव ! आपके ही प्रभाव अपरिमित हैं, आप हमको अनेक आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मुझको इस देहके अन्तमें परमव्योममें स्थापित करिये और जिसका सेवन करनेसे क्षुधा तृष्णा शोक मोह जरा मरण आदि नहीं होते हैं उस सुधान्नके भक्षण करनेका पात्र बनाइये १० (१)

प्रथम सूक्त समाप्त

द्वितीये सूक्ते प्रथमा ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र ।
त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते ।
स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ११ ॥

त्वम् । इन्द्र । असि । विश्वऽजित् । सर्वऽवित् । पुरुऽहूतः । त्वम् । इन्द्र । त्वम् । इन्द्र । इमम् । सुऽहवम् । स्तोमम् । आ । ईरयस्व । सः । नः । मृड । सुऽमतौ । ते । स्याम । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।
त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ ११ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्यविशिष्ट सूर्य । इन्द्र एव वा संबोध्यते सूर्यमूर्त्यन्तरभूतः । पुरुहूत इत्यसाधारणविशेषणात् । त्वं विश्वजित् विश्वस्य जेता वशीकर्ता अधिपतिरसीत्यर्थः । तथा सर्ववित् सर्वप्रेरकत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च । तथात्वं च "असावादित्यो ब्रह्म" [तै० आ० २, २, २] "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयम् आदित्यं तृतीयम्" [बृ० आ० १. २. ३] इत्यादिश्रुतेः परमेश्वराद् अभिन्नत्वात् सिद्धम् । तथा हे इन्द्र त्वं पुरुहूतोऽसि पुरुभिर्बहुभिर्यजमानैः स्वस्वयागसिद्धये आहूतोसि । यत एवंरूपमहिमासि अतो हे इन्द्र त्वं इमम् इदानीं क्रियमाणमकारं

सुहवम् शोभनाह्वानसाधनं स्तोमम् स्तवम् आ सर्वतः ईरयस्व प्रेरय। स्तोमेन तुष्टः सन् एवमेव स्तुहीति प्रेरयेत्यर्थः। अथ वा ईरयतिरत्र प्रेरणापूर्वके स्वीकारे वर्तते प्रेर्य स्वीकुर्वित्यर्थः। स नो मृळेति पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

हे परमैश्वर्य सम्पन्न सूर्य देव! या सूर्यकी ही दूसरी मूर्ति इन्द्रदेव! आप सम्पूर्ण विश्वको वशमें करने वाले विश्वजित् हैं, तथा सर्वप्रेरक सर्वात्मक होनेसे सर्ववित् हैं [और आपमें तथात्व भी है, क्योंकि–तैत्तिरीय आरण्यक २। २। २में कहा है, कि- "असावादित्यो ब्रह्म–यह आदित्य ही ब्रह्म है" और बृहदारण्यक १। २। ३ में कहा है, कि-"स त्रेधात्मानं व्यकुरुत। अग्निं तृतीय वायुं तृतीयम् आदित्यम् तृतीयम्।-उन्होंने अपनेको तीन भागों में विभक्त किया तृतीय भागसे अपनेको अग्नि बनाया तिहाईसे वायु और तिहाईसे सूर्य बनाया" इत्यादि श्रुतियोंसे सूर्यदेवका परमेश्वरसे अभिन्नत्व सिद्ध है] तथा हे इन्द्र! आप पुरुहूत हैं अर्थात् बहुतसे यजमान अपने २ यागकी सिद्धिके लिये आपका आह्वान करते हैं, आप ऐसी महिमा वाले हैं अतः हे सूर्य! आप इस समय किये जाते हुए शोभन आह्वानसे सम्पन्न स्तोत्रको प्रेरित करके स्वीकृत करिये, ऐसे आप हमको सुख दीजिये हम आपकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें रहें, हे सूर्य! आपके ही अपरिमित प्रभाव हैं आप हमको अनेक आकार वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और देहपात होने पर परमव्योममें स्वधाका पात्र बना कर स्थापित करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न तं आपुर्महिमानं-

मन्तरिक्षे ।

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंश्चर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १२ ॥

अदब्धः । दिवि । पृथिव्याम् । उत । असि । न । ते । आपुः । महिमानम् । अन्तरिक्षे ।
अदब्धेन । ब्रह्मणा । ववृधानः । सः । त्वम् । नः । इन्द्र । दिवि । सन् । शर्म । यच्छ । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।
त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १२ ॥

हे इन्द्र त्वं दिवि द्युलोके अदब्धः केनापि राक्षसादिना अहिंसितोसि । उत अपि च पृथिव्याम् भुवि भूचरैः कैश्चदपि अदब्धः अहिंसितोसि । तथा अन्तरिक्षेपि ते तव महिमानं नापुः सोढुं शक्ता नाभवन् । अतिकठोरतेजस्त्वात् लोकत्रयेपि तव संतापलक्षणं महिमानम् आप्तुमपि अशक्ताः किल किमु वक्तव्यं तव हिंसां कर्तुम् अशक्ता इति इत्यभिप्रायः । ईदृशो महिम्नः प्राप्तौ कारणम् आह अदब्धेनेति यतस्त्वम् अदब्धेन अहिंस्येन अकुण्ठितसामर्थ्येन ब्रह्मणा मन्त्रेण गायत्रीलक्षणेन वावृधानः भृशं वर्धमानः । हिंसकानां रक्षसां गायत्र्यभिमन्त्रितेनोदकेन निरस्तत्वेन संकोचाभावाद् इति भावः । निरसनप्रकारः "तस्माद्द उत्तिष्ठन्तं हवा तानि रक्षांस्यादित्यं योधयन्ति" [तै० आ० २. २. १]

इत्यादिना प्रदर्शितः। यद्वा ब्रह्मणा "विषासहिं सहमानम्" इत्यादिकेन कृत्स्नेनानुवाकेन स्तुतिरूपेणेत्यर्थः। "भुवस्त्वम् इन्द्र ब्रह्मणा महान्" [ऋ० १०. ५०. ४] "एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व" [ऋ० १. ३१. १८] इत्यादिश्रुतेर्देवताया ब्रह्मणा महत्त्वप्राप्तिरभिवृद्धिश्च प्रसिद्धे। अथवा ब्रह्मणा परिवृढेन कर्मणा उपस्थानादिरूपेण वावृधानः। यतस्त्वं ब्रह्मणा वर्धसे अतस्त्वं सर्वत्र अदब्धः अन्यैरप्राप्तमाहात्म्यश्च भवसीत्यर्थः। स तादृशस्त्वम् हे इन्द्र नः अस्माकं दिवि द्युलोके शर्म सुखं यच्छ देहि। स्वधायां मा धेहि परमे व्योमन्निति सूक्तम्। तवेद् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे सूर्य देव! आप द्युलोकमें किसी राक्षस आदिसे हिंसित नहीं होते हैं और न पृथिवीमें किसी भूचरसे दबते हैं और अंतरिक्षमें भी कोई आपकी महिमाको प्राप्त नहीं होसकता, अर्थात् परम कठोर तेज वाले होनेसे तीन लोकोंमें भी आपकी सन्तापरूप महिमाको कोई नहीं छूसकता फिर आपकी हिंसा करना तो दूरकी बातहै। [ऐसी महिमाका कारण बताते हैं, कि—] क्योंकि-आप अकुण्ठित शक्ति वाले गायत्रीरूप मन्त्रसे बहुत बढ़ते रहते हैं ऐसे हे सूर्य! आप हमको द्युलोकमें कल्याण दीजिये, स्वधामें मुझको स्थापित करिये आपके ही अमित पराक्रम हैं, आप हमको अनेक आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

या त॑ इन्द्र त॒नूर॒प्सु या पृ॑थि॒व्यां यान्तर॒ग्नौ या त॑ इन्द्र॒ पव॑माने स्व॒र्विदि॑ ।

ययेन्द्र त॒न्वा॒३॒॑न्तरि॑क्षं व्या॒पिथ तया॑ न इन्द्र त॒न्वा॒३॒॑ शर्म॑ यच्छ॒ तवेद् विष्णो॑ बहु॒धा वी॒र्या॑णि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १३ ॥

या । ते । इन्द्र । तनूः । अप्ऽसु । या । पृथिव्याम् । या । अन्तः । अग्नौ । या । ते । इन्द्र । पवमाने । स्वःऽविदि ।

यया । इन्द्र । तन्वा । अन्तरिक्षम् । विऽआपिथ । तया । नः । इन्द्र । तन्वा । शर्म । यच्छ । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।

त्वं । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १३ ॥

इत्थं मण्डलाभिमानिनः सूर्यस्य माहात्म्यम् उपवर्ण्य बहुविधं स्वाभीष्टमपि अर्थयित्वा इदानीं पञ्चसु महाभूतेषु सूर्यस्य या मूर्तयः सन्ति तन्मुखादपि स्वाभीष्टम् अर्थयते । हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त सूर्य प्रसिद्धेन्द्र वा या ते तव तनूः मूर्तिः अप्सु उदकेषु अस्ति तया तन्वा मूर्त्या अबधिष्ठितदेवतोपाधिनापि शर्म सुखम् अप्सु विद्यमानं तत्सारभूतामृतभैषज्यादिजन्यं सुखं यच्छ देहि । अप्सु अमृतभैषज्यादिसद्भावो मन्त्रान्तरेषु श्रूयते । "अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्" [ऋ० १. २३. १९] "यो वः शिवतमो रसः" [ऋ० १०. ९. २] "अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा" [ऋ० १०. ९. ६] इत्यादिना । तथा पृथिव्याम् हे इन्द्र या तव तनूः अस्ति पृथिव्यभिमानिदेवतामूर्तिर्विद्यते तयापि तन्वा नः अस्माकं शर्म सुखं पृथिवीविकारभूतान्नादिसंभवं यच्छ । एवम् अन्तरग्नौ तेजसि या तव तनूः । "चत्वारि शृङ्गा

मयो अस्य पादाः" [ऋ० ४. ५८. ३] इत्याद्युक्तलक्षणा तया तन्वा मूर्त्यापि नः शर्म यच्छ। दाहपाकप्रकाशादिजन्यं सुखं प्रयच्छेत्यर्थः। तथा स्वर्विदि स्वर्गस्य सुखस्य वा लम्भके ज्ञातरि वा पवमाने। ॐ पवतिर्गतिकर्मा ॐ। सर्वदा अनुपरतगते वायौ हे इन्द्र या [ते] तव तनूः मूर्तिरस्ति तयापि नः शर्म यच्छ। बहिरनुकूलस्पर्शजन्यम् अन्तःप्राणादिवायूनां चिरकालसंचारजन्यं च सुखं प्रयच्छेत्यर्थः। किं च हे इन्द्र यया तन्वा मूर्त्या अन्तरिक्षं व्यापिथ व्याप्तवान् असि तया अन्तरिक्षव्यापिन्या मूर्त्या शर्म सुखम् अन्तरिक्षजन्यं वृष्ट्यादिसाध्यं यच्छ। अनेन पञ्चभूतव्यतिरेकेण सुखसाधनवस्त्वन्तराभावात् सर्वविषयं सुखं प्रार्थितं भवति। तथा पञ्चमहाभूतव्यतिरेकेण अन्यस्य कस्यचिदपि पदार्थान्तरस्याभावात् तेषु व्याप्त्यभिधानेन इन्द्रशब्दाभिधेयस्य सूर्यस्य भगवतः सर्वात्मकत्वम् उक्तं भवति। अनेनैवाभिप्रायेण "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" [ऋ० १. ११५. १] इत्यादिका श्रुतिः सूर्यस्य सर्वात्मकताम् आह॥ तवेत् इत्यादि पूर्ववत्।

[इस प्रकार मण्डलाभिमानी सूर्य के माहात्म्यका वर्णन करके और अनेक प्रकारके अपने अभीष्टकी प्रार्थना करके अब जो पञ्चमहाभूतोंमें सूर्य देवकी मूर्तियें हैं उनसे भी अपने अभीष्ट की सिद्धिकी प्रार्थना करते हैं, कि–] हे परमैश्वर्य सम्पन्न सूर्य-देव! (वा इन्द्र!) जलोंमें जो आपकी मूर्ति (अंश) है उस अपनी मूर्तिसे अर्थात् जलाधिष्ठित देवतोपाधिसे भी आप हमको सुख दीजिये जलोंमें विद्यमान उनके साररूप अमृत भैषज्य आदि से होने वाले सुखको हमें दीजिये [जलमें अमृत भैषज्य आदि का होना दूसरे मन्त्रोंमें भी प्रसिद्ध है, यथा–"अप्स्वन्तरमृतं अप्सु भेषजम्।–जलोंके भीतर अमृत है जलमें भेषज है" (ऋग्वेद-संहिता १। २३। १९) "यो वः शिवतमो रसः।–जो आपका

परम कल्याणमय रस है" (ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । २) और "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।–सोमदेवताने मुझसे कहा है, कि–जलमें सब औषधियें हैं" (ऋग्वेदसंहिता १० । ६ । ६)] तथा हे परमैश्वर्यविशिष्ट सूर्य ! पृथिवीमें भी जो आपकी पृथिव्यभिमानी देवतामूर्ति रहती है उस शरीरसे आप हमको पृथिवीके विकारसे होने वाले अन्न आदिका सुख दीजिये, और अग्निके भीतर भी आपका जो "चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादाः" ऋग्वेदसंहिता ४ । ५८ । २ में प्रसिद्ध शरीर है उस शरीरसे भी आप हमको दाह पाक प्रकाश आदिसे होने वाला सुख दीजिये तथा सुखदायक सर्वदा अविश्रान्तभावसे चलने वाले वायुमें जो आपकी मूर्ति है उससे भी बाहरी स्पर्शसे मिलने वाले सुख, और भीतरी प्राण आदि वायुओंके चिरकाल तक संचालनसे होने वाले सुखको दीजिये । और हे परमैश्वर्यविशिष्ट सूर्य ! जिस मूर्तिसे आप अन्तरिक्षमें व्याप्त होरहे हैं उस अन्तरिक्षव्यापिनी मूर्तिसे अंतरिक्षसे होने वाले वृष्टि आदिसुखको हमको दीजिये [इन पञ्चभूतोंके अतिरिक्त सुखकी साधन दूसरी वस्तु का होना असंभव है अतः इस प्रकार सब विषयोंके सुखकी प्रार्थना कर ली । तथा पञ्चमहाभूतके अतिरिक्त और किसी पदार्थके न होनेसे उनमें व्याप्ति होनेसे इन्द्रशब्दाभिधेय सूर्य भगवान्का सार्वात्मकत्व कहकर दिखा दिया । इसी अभिप्रायसे "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।–सूर्यदेव स्थावर और जंगम जगत्की आत्मा है" इस ऋग्वेदसंहिता १ । ११५ । १ में श्रुतिने सूर्यकी सर्वात्मकताका वर्णन किया है । हे व्यापक सूर्यदेव ! आपके अनेक प्रकारके प्रभाव हैं, इस लिये आप हमको सब आकारों वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और देहपातके अनन्तर मुझको परमव्योममें स्थापित करिये और मुझको स्वधाका उपभोग करने योग्य बनाइये ॥१२॥

चतुर्थी ॥

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।

त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १४ ॥

त्वाम् । इन्द्र । ब्रह्मणा । वर्धयन्तः । सत्रम् । नि । सेदुः । ऋषयः । नाधमानाः । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।

त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १४ ॥

हे इन्द्र सूर्य त्वाम् ऋषयः पूर्वे अङ्गिरःप्रभृतयो नाधमानाः अभिमतं फलं याचमानाः ब्रह्मणा मन्त्रेण स्तोत्रशस्त्रादिरूपेण अथ वा परिवृढेन सोमपश्वादिरूपेण हविषा वर्धयन्तः अभिवृद्धं कुर्वन्तः सन्तः सत्रं गवामयनादिरूपं [निषेदुः] निषण्णा निष्पादयितुं नियमेन अवस्थिता आसन् । अन्वतिष्ठन्नित्यर्थः ॥ तवेत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न सूर्यदेव ! अंगिरा आदि प्राचीन ऋषि अभीष्ट फलकी याचना करते हुए स्तोत्र शस्त्र आदि-रूप मन्त्र से आपको बढ़ाते हुए गवामयन आदि यज्ञको निष्पन्न करनेके लिये नियमपूर्वक बैठे थे, हे व्यापक सूर्य देव ! अनेक प्रकारके प्रभाव हैं आप हमको नाना रूप वाले पशुओंसे पूर्ण रखिये और देहपातके अनन्तर परमव्योममें स्वधाका पात्र बना कर स्थापित करिये ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १५ ॥

त्वम् । तृतम् । त्वम् । परि । एषि । उत्सम् । सहस्रऽधारम् । विदथम् । स्वःऽविदम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।
त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १५ ॥

हे इन्द्र त्वं तृतम् विस्तीर्णम् अन्तरिक्षं पर्येषि व्याप्नोषि । अथ वा तृतम् आच्छन्नं मेघैरावृतम् उदकं पर्येषि । तत्रापि त्वम् उत्सम् उत्स्यन्दतीति उत्सः उदकनिष्यन्दस्तं पर्येषि । उत्सो विशेष्यते । सहस्रधारम् अपरिमिताभिर्धाराभिरुपेतम् विदथम् । विदथो यज्ञः । ओषधिवनस्पत्यभिवृद्धिद्वारा यज्ञसाधनत्वाद् उत्सो विदथ इत्युच्यते । अथ वा विदथं ज्ञानम् "विदथानि प्रचोदयन्" इत्यादिदर्शनात् [ऋ० ३. २७. ७]। सर्वेषां प्रज्ञापयितारम् इत्यर्थः । सत्यां वृष्टौ सर्वेषां पदार्थानाम् अभिव्यक्तेः । तथा स्वर्विदम् स्वर्गस्य सुखस्य वा लम्भयितारम् ॥ तवेद् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न सूर्यदेव ! आप विस्तीर्ण अन्तरिक्षमें व्याप्त होजाते हैं, तहाँ पर भी आप मेघको प्राप्त होते हैं यह मेघ अपरिमित धाराओं वाला है और औषधि वनस्पति आदिकी वृद्धि करने

के कारण यज्ञका साधन होनेसे यज्ञ ही है और यह सुखका साधन है। और हे व्यापक सूर्यदेव! आपके ही अनेक प्रकारके प्रभाव हैं आप हमको सब प्रकारकी आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मुझको परमव्योममें स्वधा भक्षणका पात्र बना कर स्थापित करिये ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि।
त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि
विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे
व्योमन् ॥ १६ ॥

त्वम्। रक्षसे। प्रऽदिशः। चतस्रः। त्वम्। शोचिषा। नभसी इति।
वि। भासि।
त्वम्। इमा। विश्वा। भुवना। अनु। तिष्ठसे। ऋतस्य। पन्थाम्।
अनु। एषि। विद्वान्। तव। इत्। विष्णो इति। बहुऽधा।
वीर्याणि।
त्वम्। नः। पृणीहि। पशुऽभिः। विश्वऽरूपैः। सुऽधायाम्।
मा। धेहि। परमे। विऽओमन् ॥ १६ ॥

हे सूर्य त्वं प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्रागाद्याश्चतस्रः रक्षसे रक्षसि पालयसि। विभजस इत्यर्थः। यत्रोदेति सा प्राची इत्येवं दिग्विभागकल्पनाहेतुत्वात्। अथ वा दिक्षु अवस्थितानां प्राणिनां रक्षैव

दिशां रक्षेत्यभिप्रायेण एवम् उक्तम् । तथा त्वं शोचिषा रोचिषा प्रकाशेन नभसी अन्तरिक्षं दिवं च अथ वा द्यावापृथिव्यौ वि भासि प्रकाशयसि । अन्यं इदम् उच्यते । त्वम् इमा इमानि विश्वा विश्वानि भुवना भुवनानि अनुलक्ष्य तिष्ठसे प्रकाशसे । समस्तानां लोकानां भूतानां वा एकोऽएव प्रकाशसे । एवम् ऋतस्य यज्ञस्य उदकस्य वा पन्थाम् पन्थानं मार्गम् अन्वेषि अनुक्रमेण व्याप्नोषि । कीदृशः सन् । विद्वान् ऋतस्य अवस्थितिं जानन् । न हि कश्चित् कंचित् पदार्थम् अजानन् अजानन् तम् अन्वेतुम् अर्हति ॥ तवेद् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे सूर्यदेव ! आप पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इन चारों श्रेष्ठ दिशाओंकी रक्षा करते हैं [अर्थात् उनका विभाग करते हैं, क्योंकि–जहाँ सूर्य उदित होते हैं वह पूर्व दिशा होती है इत्यादि–अथवा–दिशाओंमें स्थित प्राणियोंकी रक्षा करना ही दिशाओं की रक्षा करना है] तथा आप अपने प्रकाशसे द्युलोक और पृथिवी लोकको प्रकाशित किया करते हैं अधिक क्या ? इन सकल भुवनोंको ही प्रकाशित करते हैं, इस प्रकार आप यज्ञ वा जलको जानते हुए जल वा यज्ञके मार्गमें अनुक्रमसे व्याप्त होजाते हैं । हे व्यापक सूर्यदेव ! आपके ही अनेक प्रकारके प्रभाव हैं अतः आप हमको सब प्रकारकी आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मुझको परमव्योममें स्वधा प्राशनके योग्य बनाकर स्थापित करिये

सप्तमी ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङ्शस्तिमेषि सुदिने बाध॑-
मानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे
व्योमन् ॥ १७ ॥

पञ्चऽभिः । पराङ् । तपसि । एकया । अर्वाङ् । अशस्तिम् । एषि ।

सुऽदिने । बाधमानः । तत्र । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि

त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् । मा ।

धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ १७ ॥

हे सूर्य त्वं पञ्चभिः दीधितिभिर्मरीचिभिः पराङ् ऊर्ध्वमुखः सन् तपसि प्रकाशसे उपरितनान् लोकान् । तथा एकया दीधित्या अर्वाङ् अधोमुखः सन् तपसि । अन्तरिक्षस्थस्य सूर्यस्य उपरि प्रकाश्यानां स्वर्महर्जनस्तपःसत्याख्यानां लोकानां पञ्चसंख्याकत्वात् पञ्चभिरित्युक्तम् । तथा अन्तरिक्षस्थितस्य सूर्यस्य अधः प्रकाश्यस्य भूलोकस्य एकत्वात् एकयार्वाङ् इत्युक्तम् । एवं कुर्वन् सुदिने शोभनदिवसे नीहारमेघाद्युपद्रवरहिते दिवसे निमित्तभूते सति नाधमानः तदर्थं याच्यमानः सन् अशस्तिम् एकयैवार्वाङ्तपसीत्येवंरूपां निन्दाम् एषि प्राप्नोषि ॥ अथ वा पञ्चभिरंशैः पराङ् तपसि एकेनैवांशेन अर्वाङ् तपसि । चक्षुर्गम्यं तेजः एकदेश एव उपरितनं तेजः निरवधिकम् इत्येवं स्तुतिं प्राप्नोषीत्यर्थः ॥ तवेत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे सूर्यदेव ! आप पाँच किरणोंसे ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरके लोकोंको प्रकाशित करते हैं तथा एक किरणसे नीचेको मुख करके प्रकाश फैलाते हैं [अन्तरिक्षमें स्थित सूर्यदेवके द्वारा ऊपरके प्रकाशित होने वाले स्वर् महर् जन तप और सत्य लोकोंके पाँच होने से पाँच किरणोंका वर्णन किया और अन्तरिक्षमें स्थित सूर्य देव से नीचेके प्रकाशित होने वाले भूलोकके एक होनेसे एक किरण का वर्णन किया] इस प्रकार करते हुए आप कुहरा मेघ आदिके उपद्रवसे रहित सुदिनमें प्रार्थित होकर इस निन्दाको पाते हैं, कि–

एकसे ही नीचेके लोकको प्रकाशित करते हैं, तात्पर्य यह है, कि–चक्षुर्गम्य तेज एक देशमें ही होता है और उपरितन तेज निरवधिक होता है। हे व्यापक सूर्य देव! आपके ही अनेक प्रकार के प्रभाव हैं, आप हमको सब प्रकारकी आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और देहावसानमें परमव्योममें–स्वधामें स्थापित करिये ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।
तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १८ ॥

त्वम्। इन्द्रः। त्वम्। महाऽइन्द्रः। त्वम्। लोकः। त्वम्। प्रजाऽपतिः। तुभ्यम्। यज्ञः। वि। तायते। तुभ्यम्। जुह्वति। जुह्वतः। तव। इत्। विष्णो इति। बहुऽधा। वीर्याणि।
त्वम्। नः। पृणीहि। पशुऽभिः। विश्वऽरूपैः। सुऽधायाम्। मा। धेहि। परमे। विऽओमन् ॥ १८ ॥

हे सूर्य त्वम् इन्द्रः स्वर्गाधिपतिः "सहस्राक्षो गोत्रभिद् वज्रबाहुः" [तै० सं० २. ३. १४. ४] इत्यादिमन्त्रोक्तस्वरूप इन्द्रस्त्वमेव। तथा महेन्द्रस्त्वमेव महत्त्वगुणविशिष्ट इन्द्रोपि त्वमेव। वस्तुतो देवतैक्येपि विशेषणभेदाद् देवताभेदम् इच्छन्ति तान्त्रिकाः।

"यद् अग्नये पवमानाय ❀ ❀ ❀। यद् अग्नये पावकाय ❀ ❀ ❀। यद् अग्नये शुचये ❀ ❀ ❀।" [तै० आ० १. १. ५. १०] इत्यत्र यथा अग्नेरेकत्वेपि पवमानादिगुणभेदेन भेदः एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् । इन्द्रस्य महत्त्वगुणयोगः "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महान् अभवत्" [ऐ० आ० १. १] इत्यादिश्रुतेर्वृत्रवधाद्यसाधारणपराक्रमजन्यः । तथा त्वमेव लोकः सुकृतिभिः प्राप्यो लोकः स्वर्गादिलक्षणस्त्वमेव । अथ वा परब्रह्मस्वरूपत्वात् सर्वलोकात्मकस्त्वमेव । एवं प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा देवस्त्वमेव । यत एवम् अतस्तुभ्यं तव प्रीतये यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः वि तायते विस्तार्यते यजमानैः । तथा जुह्वतः होमं कुर्वन्तः सर्वेपि तुभ्यं त्वदर्थमेव जुह्वति होमं कुर्वन्ति । याज्यापुरोनुवाक्यापुरःसरं हूयमाना यागाः तद्रहिता होमाः इति तयोर्विवेकः ॥ तवेत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे सूर्य ! आप स्वर्गाधिप इन्द्र हैं ["सहस्राक्षो गोत्रभिद् वज्रबाहुः" तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । १४ । ३ आदि मन्त्रमें कहे हुए इन्द्र आप ही हैं] तथा महत्त्वगुणसम्पन्न इन्द्र भी आप ही हैं [तान्त्रिक पुरुष वास्तवमें देवताके एक होने पर भी विशेषणभेदसे भिन्न भिन्न देवता मानते हैं तैत्तिरीय आरण्यक १ । १ । ५ । १० में कहा है, कि–"यद् अग्नये पवमानाय ❀ ❀ ❀। यद् अग्नये पावकाय ❀ ❀ ❀। यद् अग्नये शुचये ❀ ❀ ❀।" यहाँ अग्निके एक होने पर भी पवमान आदि गुणभेदसे भेद है ऐसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये । इन्द्रदेवके महत्त्वगुणका योग "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महान् अभवत् । इन्द्रदेव वृत्रको मार कर महान् हुए" (ऐतरेय आरण्यक १ । १) आदि श्रुतियोंके अनुसार वृत्रवध आदि असाधारण पराक्रमोंके लिये है] और आप ही पुण्यात्माओंको मिलने वाले स्वर्ग आदि

लोक हैं अथवा परब्रह्मस्वरूप होनेसे सर्वलोकात्मक आप ही हैं। इसी प्रकार प्रजाओंके स्रष्टा देव भी आप ही हैं। इसी कारण आपकी प्रीतिके लिये ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंको यजमान किया करते हैं। तथा होम करते हुए भी सब आपके लिये ही होम करते हैं [याज्यापुरोनुवाक्याके साथ जिनमें आहुति दीजाती है वे याग कहलाते हैं और याज्यापुरोनुवाक्यासे रहित होम कहलाते हैं] हे व्यापक सूर्य देव! आपके अनेक प्रकारके प्रभाव हैं, आप हमको सब प्रकारके आकार वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और मरणके अनन्तर परम व्योममें स्वधाका पात्र बनाकर स्थापित करिये १८

नवमी ॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १६ ॥

असति । सत् । प्रतिऽस्थितम् । सति । भूतम् । प्रतिऽस्थितम् ।
भूतम् । ह । भव्ये । आऽहितम् । भव्यम् । भूते । प्रतिऽस्थितम् ।
तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।
त्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् ।
मा । धेहि । परमे विऽओमन् ॥ १६ ॥

असति । अत्र असच्छब्देन नामरूपादिराहित्यात् असत्मायं

निरस्तसमस्तोपाधिकं सन्मात्रं ब्रह्म अभिधीयते। यथा दृश्यपदार्था नामरूपादिघटितत्वेन सद्व्यवहारम् अर्हन्ति एवं नामरूपाद्यभावेन चक्षुराद्यविषयत्वेन द्रष्टुम् अनर्हत्वाद् ब्रह्म असद् इत्युच्यते। सच्छब्देन च असतः प्रपञ्चस्य सत्त्वेनावभासकत्वात् स्वयं च तद्रूपेण सत्त्वेनावभासात् अनृतनीहारमायाद्यपरपर्यायम् अज्ञानम् अभिधीयते। यद्यपि वस्तुतः सच्छब्देन ब्रह्म अभिधातव्यम् "सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्" [छा० उ० ६ २. १] "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" [तै० आ० ८. १] इत्यादिश्रुतेः तथा असच्छब्देन अब्रह्म [अज्ञानम्] अभिधातव्यम् सद्विलक्षणत्वात् भ्रान्तिबाधयोर्विषयत्वाच्च "अतोन्यद् आर्तम्" इति [बृ० आ० ३. ५. १] श्रुतेः तथापि प्रतीत्यनुसारेण एवम् उक्तम्। तस्मिन्नसति ब्रह्मणि सत् अज्ञानं प्रतिष्ठितम् आश्रितम् अध्यस्तम्। यथा इदमंशे शुक्तौ रजतम् रज्ज्वां सर्पधारादि एवं ब्रह्मणि अज्ञानं प्रतिष्ठितम्। सति उक्तलक्षणे अज्ञाने चैतन्यप्रतिबिम्बवति अज्ञाने भूतम् भूतकालावच्छिन्नं पृथिव्यादिभूतपञ्चकं सकलसृष्ट्युपादानभूतं प्रतिष्ठितम् तद् आश्रित्य वर्तते। तत उत्पद्यत इत्यर्थः। यद्यपि "आत्मन आकाशः संभूतः" [तै० आ० ८. १] इत्यादिश्रुतेब्रह्मतो भूतानाम् उत्पत्तिर्न मायातः तथापि अविक्रियस्य केवलस्य सन्मात्रस्य अकार्यत्वात् अकारणत्वात् मायात एव तेषाम् उत्पत्तिः। तदधिष्ठानत्वाद् ब्रह्मत उत्पत्त्यभिधानश्रुतिः।

भ्रमाधिष्ठानतास्माभिः प्रकृतित्वम् उपेयते।

इति हि स्मरन्ति। अथ वा असच्छब्देन सांख्यशास्त्रप्रसिद्धम् अनुद्भूतोद्भवाभिभवं गुणत्रयसाम्यावस्थालक्षणं प्रधानम् उच्यते। तस्य विकृतिरूपताऽभावात् असच्छब्दव्यवहारः। तस्मिन्नसति सत् उद्भूतोद्भवाभिभवम् अन्तरुदितत्रिभेदं महत्तत्त्वं प्रतिष्ठितम्। महत्तत्त्वस्य प्रधानविकारत्वात् सच्छब्देन व्यवहारः। तस्मिन् सति

महत्तत्त्वे भूतम् भूतपञ्चकं प्रतिष्ठितम् । तच्च भूतम् भूतपञ्चकं सर्वस्य कार्यप्रपञ्चस्य उपादानभूतं भव्ये कार्यजाते आहितम् अनुगतम् । तच्च भव्यम् कार्यजातं भूते स्वकारणभूते भूतपञ्चके प्रतिष्ठितम् नियतं वर्तते । कारणव्यतिरेकेण पृथगवस्थानाभावात् । एवमात्मनः प्रपञ्चावस्थानस्य परमेश्वरमहिमायत्तत्वात् तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणीत्युच्यते ॥ गतम् अन्यत् ॥

असत्में अर्थात् ब्रह्ममें सत् अर्थात् दृश्यप्रपञ्च प्रतिष्ठित है [तात्पर्य यह है, कि—नाम रूप आदि रहित होनेके कारण असत् माय समस्त उपाधियोंसे शून्य सन्मात्र ब्रह्मको यहाँ असत् शब्द से कहा है । जैसे दृश्य पदार्थ नामरूप आदिसे वर्णित होनेके कारण सत् कहलाते हैं इसी प्रकार नाम रूप आदिके अभावके कारण चक्षु आदिके विषयत्वसे देखने योग्य न होनेसे ब्रह्मको यहाँ असत् कहा है ॥ और सत्—शब्दसे भी असत् प्रपञ्चके सत्त्वसे अवभासक होनेसे अनृत कहा। माया आदि पर्यायोंसे अभिहित होने वाले अज्ञानका ग्रहण किया है ॥ यद्यपि वास्तव में ब्रह्मको कहना चाहिये । क्योंकि-"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।-हे सौम्य ! पहिले यह सब सत् ही था" (छान्दोग्य उपनिषत् ६ । २ । १) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्तिरीय आरण्यक ८ । १) आदि श्रुतियोंके अनुसार असत्-शब्दसे अब्रह्म (अज्ञान) लेना चाहिये, क्योंकि—यह सत्से विलक्षण और भ्रान्ति तथा बाध का विषय है तथा "अतोऽन्यदार्तम् ।—इससे भिन्न असार है" (बृहदारण्यक ३ । ५ । १) की श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है, तथापि प्रतीतिके अनुसार ऐसा कहा है ॥ ऐसे असद्-ब्रह्ममें सत् अर्थात् अज्ञान प्रतिष्ठित है अर्थात् अध्यस्त है । जैसे इदम्—अंश सीपीमें चाँदी और रस्सीमें सर्प प्रतिष्ठित होता है इसी प्रकार ब्रह्ममें अज्ञान प्रतिष्ठित है । पूर्वोक्त लक्षण वाले]

सत्में अर्थात् चैतन्यप्रतिबिम्ब वाले अज्ञानमें भूत प्रतिष्ठित है अर्थात् भूतकालावच्छिन्न पृथिवी आदि पाँच भूतोंका समूह जो सकल सृष्टिका उपादान कारण है वह प्रतिष्ठित है अर्थात् उससे उत्पन्न होता है। [यद्यपि "आत्मन आकाशः संभूतः।-आत्मा से आकाश प्रकट हुआ" (तैत्तिरीय आरण्यक ८। १) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मसे भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है मायासे भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं मिलता है, तथापि अविक्रिय केवल सन्मात्रके कार्यत्व और कारणत्वसे रहित होनेके कारण मायासे ही इनकी उत्पत्ति कही है और श्रुतिमें उस मायाका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्मसे भूतोंकी उत्पत्ति कही है। कहा भी है, कि-ब्रह्माधिष्ठानतास्माभिः प्रकृतित्वं उपेयते।" अथवा- असत् शब्दसे यहाँ साङ्ख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध अनुद्भूत उद्भव अभि- भव वाला, तीन गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रधानका ग्रहण करना चाहिये, उसमें विकृतिरूपताके अभावसे असत्-शब्दका व्यवहार हो सकता है। ऐसे असत्में सत्-अर्थात् जिसमें उद्भव और अभि- भव उद्भूत होगए हैं और जिसमें भीतर तीन भेद उदित होगए हैं ऐसा-महत्तत्त्व प्रतिष्ठित है। महत्तत्त्वके प्रधान विकार होनेसे सत्-शब्दसे उसका व्यवहार किया है। ऐसे सत्-महत्तत्त्वमें पञ्चभूतोंका समूह प्रतिष्ठित है] वह भूत-समूह सब कार्य प्रपञ्चके उपादानभूत भव्य (आगेको होने वाले) कार्यसमूहमें आहित है और वह भव्य कार्यसमूह अपने कारणभूत भूतसमूहमें नियत- रूपसे रहता है, क्योंकि-कारणके विना कोई भी अलग नहीं रह सकता। इस प्रकार प्रपञ्चावस्थान आत्माके परमेश्वरकी महिमाके आधीन होनेसे हे व्यापक सूर्य देव! आपके ही अनेक प्रकारके प्रभाव हैं, ऐसे आप हमको सब प्रकारकी आकृति वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और देहपातके अनन्तर मुझको परमव्योम में स्वधा भक्षण करने योग्य बना कर प्रतिष्ठित करिये॥ १९॥

दशमी ॥

शुक्रो॑ऽसि भ्राजो॑ऽसि ।

स यथा॒ त्वं भ्राज॑ता भ्राजो॒ऽस्ये॒वाहं भ्राज॑ता भ्राज्यासम् ॥

शुक्रः । असि॒ । भ्राजः॑ । असि॒ ।

सः । यथा॑ । त्वम् । भ्राज॑ता । भ्राजः॑ । असि॒ । एव । अहम् ।

भ्राज॑ता । भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

हे सूर्य त्वं शुक्रोसि शुक्रः अतिविशदः स्वच्छः प्रकाशः तद्रूपस्त्वम् असि । यद्वा शुक्रशब्दोत्र धर्मिपरः । शुक्लगुणयुक्तोसि । अत्यन्तनिर्मलस्वरूपोसीत्यर्थः । अनेन कलुषलेशेनापि असंस्पृष्टस्वरूपता उक्ता । तथा भ्राजोसि भ्राजते दीप्यत इति भ्राजः । ❀ पचाद्यच् ❀ । दीप्तोसि सकललौकिकप्रकाशकेन तेजसा युक्त इत्यर्थः । अस्तु किं तत इत्यत आह स यथा त्वम् इति । हे सूर्य स तादृशस्त्वं [यथा] भ्राजता सकललोकप्रकाशकेन तेजोमयेन रूपेण भ्राजोसि भ्राजनस्वभावो भवसि । "विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृशे" इति [ऋ० १०. १७०. ३] मन्त्रान्तरम् । एव एवम् अहम् उक्तस्वरूपोपासकः भ्राजता दीप्तेन रूपेण शरीरकान्त्या भ्राज्यासम् दीप्तो भूयासम् । तेजोगुणकस्य सूर्यस्य उपासनया उपासकस्यापि तेजोगुणयुक्तत्वं युक्तमेव ॥

इति सप्तदशकाण्डे द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे सूर्यदेव ! आप शुक्र हैं अर्थात् परमविशद स्वच्छ प्रकाशस्वरूप हैं वा ऐसे प्रकाशसे सम्पन्न हैं तथा आप दमकते रहते हैं, तथा आप दीप्त हैं अर्थात् सकल लौकिक प्रकाशक तेजोंसे सम्पन्न हैं, हे सूर्य ! ऐसे आप जैसे सकल लोकप्रकाशक तेजोमय रूपसे दमकते रहते हैं ऐसे ही उक्तस्वरूपका उपासक मैं भी

दमकते हुए रूपसे दीप्ति वाला होजाऊँ [तेजोगुणक सूर्यदेवकी उपासनासे उपासकका भी तेजोगुणयुक्तत्व ठीक ही है] ॥ २० ॥

१७३१ वें काण्डमें द्वितीय सूक्त समाप्त

अथ तृतीयसूक्ते प्रथमा ॥

रुचिरसि रोचोऽसि ।

स यथा त्वं रुच्या रोचोस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥ २१ ॥

रुचिः । असि । रोचः । असि ।

सः । यथा । त्वम् । रुच्या । रोचः । असि । एव । अहम् । पशुऽभिः । च । ब्राह्मणऽवर्चसेन । च । रुचिषीय ॥ २१ ॥

हे सूर्य त्वं रुचिरसि रुचिर्दीप्तिस्तद्रूपस्त्वम् असि । यद्वा रुचिशब्देन रुचिमान् अभिधीयते। प्रकृष्टरुचिरसि । तथा रोचोसि रोचयति दीपयतीति रोचः । तादृशस्त्वम् असि । अत्र रुचिरसीत्यनेन दीप्तिमत्त्वमात्रम् उक्तम् । रोचोसीत्यनेन तु सकललोकदीपकत्वम् इति विवेकः । इत्थं स्वापेक्षितगुणविशिष्टत्वेन स्तुत्वा स्वाभिमतम् आशास्ते स यथा त्वम् इति । स तादृशस्त्वं रुच्या विश्वप्रकाशिकया दीप्त्या रोचोसि भवसि रोचको भवसि । ❀ पचाद्यच् ❀ । एव एवं भवानिव अहमपि पशुभिश्च । चशब्दो वक्ष्यमाणब्रह्मवर्चसेन समुच्चयार्थः । पशवो गोमहिषाश्वादयः तैश्च ब्राह्मणवर्चसेन च । अत्र चशब्दः पशुभिः समुच्चयार्थः । ब्राह्मणानाम् उचितं श्रुताध्ययनतप आदिजन्यं तेजः ब्रह्मवर्चसम् । उभाभ्यां रुचिषीय दीप्तो भवेयम् । यथा ब्रह्मवर्चसलक्षणेन तेजसा दीप्यते लोके एवं बहुभिः पश्वादि धनैरपि आढ्यः सन् दीप्यते इति पशूनां दीप्तिसाधन-

स्याभिधानम्। लोके धनाढ्यः प्रकाशत इति प्रसिद्धमेव। ❀ अत्र "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इति विहितः समासान्तः अच् प्रत्ययो ब्राह्मणशब्दात् परस्यापि वर्चसो भवति ❀ ॥ अथ ब्राह्मणवर्चसेन रुचिषीयेति ब्रह्मवर्चसप्रार्थनालिङ्गात् माणवकस्य ब्रह्मवर्चसापेक्षत्वाद् उपनयनकर्मणि माणवकस्य नाभिदेशं संस्पृश्य जपेत्। तस्मिन्नेव कर्मणि माणवकाभिमन्त्रणे च अस्यानुवाकस्य विनियोग उक्त इति मन्तव्यम् ॥

हे सूर्यदेव! आप रुचि हैं अर्थात् दीप्तिरूप हैं वा दीप्ति वाले हैं, रोच हैं—दमकाने वाले हैं [पहिले पदसे दीप्तिमत्त्व मात्र कहा और दूसरे पदसे सकल लोकोंका दीपकत्व कहा, इस प्रकार अपने अभिलषितगुणसम्पन्नत्वसे स्तुति करके प्रार्थना करता है, कि -] जैसे आप विश्वप्रकाशिका दीप्ति से दमकते रहते हैं इसी प्रकार मैं गौ भैंस घोड़े आदि पशुओंसे, और ब्राह्मणोचित वेदाध्ययन तप आदिसे होने वाले तेजसे दमकता रहूँ [जैसे प्राणी संसारमें ब्रह्मतेजसे दमकता है इसी प्रकार पशु आदि धनसे धनाढ्य होकर भी दमकता है यह बात प्रसिद्ध ही है इस प्रकार दीप्तिसाधन होनेसे यहाँ पशुओंका वर्णन किया है॥ यहाँ "ब्राह्मणवर्चसेन रुचिषीय—ब्रह्मतेजसे दमकूँ" इस ब्रह्मवर्चसप्रार्थनालिङ्गसे, माणवकके लिये ब्रह्मतेजकी आवश्यकताके कारण उपनयनकर्ममें आचार्यको चाहिये, कि—इस अनुवाकका बालककी नाभिका स्पर्श करके जप करे, इसी कर्ममें माणवकके अनुमन्त्रणमें भी इस अनुवाकका विनियोग होता है] ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २२ ॥

उत्ऽयते । नमः । उत्ऽआयते । नमः । उत्ऽइताय । नमः ।

विऽराजे । नमः । स्वऽराजे । नमः । सम्ऽराजे । नमः ॥ २२ ॥

हे सूर्य यते उदयैकदेशं गच्छते तुभ्यं नमः नमस्कारोऽस्तु । तथा उदायते ऊर्ध्वम् ईषद्गच्छते । अर्धोदितायेत्यर्थः । तादृशाय तस्मै नमः । एवम् उदिताय ऊर्ध्वं सम्यक् प्राप्ताय संपूर्णोदयाय नमः । ॐ अत्र उद्यते उदायत इत्युभयत्र उत्पूर्वात् उदाङ्पूर्वाच्च इण् गतौ इत्यस्माल्लटः शत्रादेशे "इणो यण्" इति यण् आदेशः ॐ । अथ यथोक्तावस्थात्रयनिबन्धनास्तिस्रो मूर्तीः पृथक्पृथग् नमस्करोति विराजे नम इत्यादिना । उद्यते विराजे नमः विविधं राजत इति विराट् तस्मै एकदेशोदिताय विराडात्मकाय नमः । स्वराजे नमः स्वयं राजत इति स्वराट् स्वाधीनप्रकाशाय उदायदवस्थाय अर्धोदिताय स्वराण्मूर्तये नमः । सम्राजे नमः सम्यक् अतिशयेन राजमानाय उदितावस्थाय नमः ॥ अथ वा अवस्थानम् अन्तरेणैव विराट्स्वराट्सम्राजः परमेश्वरस्य सोपाधिकास्तिस्रो मूर्तयः । तासु विराट् नाम परमेश्वरस्य यत् सकललोकात्मकं स्थूलशरीरं तदभिमानी पुरुषशब्दवाच्यो देवः । तथा स्मर्यते ।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानम् अवाप नारायण आदिदेवः ॥

विराजम् असृजत् प्रभुः ।

इति च । स्वराट् नाम भूतपञ्चकसारात्मकं परमेश्वरस्य सर्वसमष्टिरूपं यत् सूक्ष्मशरीरं तदभिमानी "स ब्रह्मा । स शिवः । स हरिः । सोऽक्षरः परमः स्वराट्" [तै० आ० १०. ११. २] इत्यादिश्रुत्युक्तो हिरण्यगर्भः । सम्राट् नाम परमेश्वरः कारणशरीराभिमानी सकलभूतभौतिकप्रपञ्चस्रष्टा मायोपाधिक ईश्वरः ॥

"ब्रह्म प्रपद्ये । ब्रह्मकोशं प्रपद्ये" [तै० आ० २. १६. १] "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" [छा० १. ६. ६] "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः" [मु० २. २. ९]इत्यादिश्रुतेः सूर्यमण्डलाभिमानिनो देवस्य परमेश्वरत्वाद् विराडादयः सूर्यात्मकस्य देवस्य मूर्तय एव । अतस्ताभ्यः पृथक्पृथग् नमस्करोति ॥ यद्वा विराट्स्वराट्-सम्राजः अग्निवाय्वादित्याख्याः परमेश्वरस्य तिस्रो मूर्तयः ताभ्यः पृथक्पृथग् नमस्कारं करोति ॥

हे सूर्य ! उदयके एक देशको प्राप्त होते हुए आपके लिये प्रणाम है, कुछ उदय हुए अर्थात् आधे उदय हुए आपके लिये प्रणाम है और सम्पूर्णरूपसे उदित हुए आपके लिये प्रणाम है (अब इन तीनों अवस्थाओंकी मूर्तियोंको पृथक् २ प्रणाम करते हैं, कि -) एकदेशोदित विराट्के लिये प्रणाम है, स्वाधीनप्रकाश अर्धोदित स्वराट्मूर्तिके लिये प्रणाम है, सम्पूर्णोदित स्वराट्मूर्ति के लिये प्रणाम है । अथवा अवस्थानके अतिरिक्त जो परमेश्वर की विराट् स्वराट् और सम्राट् नामकी सोपाधिक तीन मूर्तियें हैं उनके लिये प्रणाम है [इनमें परमेश्वरके सकल लोकात्मक स्थूलशरीरके अभिमानी पुरुष-शब्द-वाच्य देवका नाम विराट् है । भागवतमें कहा है, कि—"भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् । स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानं अवाप नारायण आदिदेवः ॥—जब सबके कारणभूत नारायणने, अपने ही उत्पन्न किये हुए आकाश आदि पञ्चमहाभूतोंसे ब्रह्माण्डरूप देहको उत्पन्न करके उसमें अपने अंशसे प्रवेश किया तब वह पुरुष नामको प्राप्त हुए" (भागवत एकादश स्कन्ध चतुर्थ अध्याय तृतीय श्लोक) अन्यत्र भी सुना जाता है, कि—"विराजमसृजत् प्रभुः ।— प्रभुने विराट्की सृष्टि की" ॥ जो पञ्चभूतसारात्मक परमेश्वरके

सर्वसमष्टिरूप सूक्ष्मशरीरका अभिमानी देवता है उसको स्व-राट् कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक १०। ११। २ में कहा है, कि-"स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सोक्षरः परमः स्वराट्।-वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही हरि है, वही परम अक्षर है, वही स्व-राट् है" इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णित हिरण्यगर्भ ही स्वराट् है सम्राट् नाम परमेश्वरका है वह कारणशरीरका अभिमानी है, सकल भूत भौतिक प्रपञ्चका स्रष्टा है और मायोपाधिक ईश्वर है॥-ब्रह्म प्रपद्ये। ब्रह्मकोशं प्रपद्ये॥-ब्रह्मकी शरण लेता हूँ, ब्रह्मकोश को प्राप्त होता हूँ" (तैत्तिरीय आरण्यक २। १९। १) "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते।-यह जो सूर्यके भीतर हिरण्मय पुरुष दीखता है" (छान्दोग्य १। ६। ६) हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः। हिरण्मय परकोशमें विरज निष्कल ब्रह्म है, वह शुभ्र है और ज्योतियोंकी भी ज्योति है" (मुण्डकोपनिषत् २।२।९) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार मण्डलाभिमानी देवके परमेश्वर होने से विराट् आदि सूर्यात्मक देवकी ही मूर्तियें हैं। अत एव उनको पृथक् २ नमस्कार किया है] अथवा-परमेश्वरकी विराट् स्वराट् और सम्राट् अर्थात् अग्नि वायु तथा आदित्य नामक जो तीन मूर्तियें उनको प्रणाम प्राप्त हो॥ २२॥

तृतीया॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः।

विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥ २३॥

अस्तम्ऽयते। नमः। अस्तम्ऽएष्यते। नमः। अस्तम्ऽइताय। नमः।

विऽराजे। नमः। स्वऽराजे। नमः। सम्ऽराजे। नमः॥ २३॥

अस्तंयते अस्तम् अस्ताचलं गच्छते । ईषदस्तमितायेत्यर्थः । एनम् अस्तमेष्यते गमिष्यते अर्धमस्तमिताय नमः । अस्तमिताय अस्तं संपूर्णं प्राप्ताय नमः । विराजे नम इत्याद्या पूर्ववद् व्याख्येयाः । अस्तं गच्छतोपि सूर्यस्य उक्तलक्षणावस्थात्रयनिबन्धना विराडादिसंज्ञाः सन्ति । अस्तंयदवस्थायां किंचिदूनकरकलप्रकाशसंभवाद् विराड् भवति । अर्धमस्तमितस्यापि अर्धोदितवत् स्वराट्त्वम् अस्त्येव । अस्तमितस्यापि "अग्निं वावादित्यः सायं प्रविशति । तस्माद् अग्निर् दूराक्तं ददृशे । उभे हि तेजसी संपद्येते [तै० ब्रा० २. १. २. ९] इति श्रुतेः अग्न्यात्मनावस्थानात् सम्राट्त्वं न हीयते ॥ अथ वा सर्वदा मेरुं परिभ्रमतः सूर्यस्य स्वत उदयास्तमयाभावाद् अस्मदादिदर्शनतिरोधानतारतम्याद् उदयास्तमयव्यपदेशः । अतः उदयास्तमययोस्त्रैविध्येन विराडादिमूर्तयः उपासनार्थं शास्त्रे निर्दिष्टाः ॥ मध्यन्दिनस्यापि उदितावस्थायाम् अन्तर्भावात् उक्तलिङ्गेन माणवकस्य आयुरभिवृद्ध्यर्थं त्रिकालम् आदित्योपस्थाने अस्यानुवाकस्य विनियोग उक्तः ॥

अस्ताचलको जाते हुए अर्थात् कुछ अस्त हुए सूर्यदेवके लिये प्रणाम है । अस्तको प्राप्त होते हुए अर्थात् आधे अस्त हुए आदित्यदेवके लिये प्रणाम है, और पूर्णरूपसे अस्तको प्राप्त हुए अस्तमित सूर्यदेवके लिये प्रणाम है । कुछ अस्त हुए विराट् सूर्यदेवके लिये नमस्कार है आधे अस्त हुए स्वराट् भानुदेवके लिये प्रणाम है, पूर्णरूपसे अस्त हुए सम्राट् भानुदेवके लिये प्रणाम है [अस्तको प्राप्त होते हुए सूर्यदेवकी भी पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं के कारण विराट् आदि संज्ञायें होती हैं अस्तको प्राप्त होनेकी दशामें कुछ कम पूर्ण प्रकाश होनेसे यह विराट् होते हैं । अर्धस्तमित का भी अर्धोदितकी समान स्वराट्त्व है ही । और पूर्णरूपसे अस्त हुएका भी सम्राट्त्व क्षीण नहीं होता है, क्योंकि–तैत्तिरीय-

रीय ब्राह्मण २ । १ । २ । ९ में कहा है, कि-"अग्निं वावादित्यः सायं प्रविशति । तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे । उभे हि तेजसी संपद्येते ।-सूर्यदेव सायङ्कालके समय अग्निमें प्रवेश कर जाते हैं । इसी कारण रात्रिमें अग्नि दूरसे ही दीखती है, क्योंकि-दोनों तेज मिल जाते हैं" ॥ अथवा सदा मेरुकी परिक्रमा करने वाले सूर्यदेवका स्वतः उदय और अस्त नहीं होता है और हमारे दर्शन वा तिरोधानकी न्यूनाधिकतासे उदय और अस्तका व्यवहार चलता है अत एव उदय और अस्तके तीन प्रकारका होनेसे विराट् आदि मूर्तियोंका शास्त्रमें उपासनाके लिये वर्णन किया है । मध्यन्दिनका भी उदितावस्थामें अन्तर्भाव होनेसे उक्तलिंगसे माणवककी आयुर्वृद्धिके लिये तीनों समयके आदित्योपस्थानमें इस अनुवाकका विनियोग कहा है] ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह ।
सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥

उत् । अगात् । अयम् । आदित्यः । विश्वेन । तपसा । सह ।
सऽपत्नान् । मह्यम् । रन्धयन् । मा । च । अहम् । द्विषते । रधम् ।
तव । इत् । विष्णो इति । बहुऽधा । वीर्याणि ।

स्वम् । नः । पृणीहि । पशुऽभिः । विश्वऽरूपैः । सुऽधायाम् ।
मा । धेहि । परमे । विऽओमन् ॥ २४ ॥

अयं सूर्यः परिदृश्यमान आदित्यः उदगात् उदितवान् । कीदृशः सन् । विश्वेन कृत्स्नेन तपसा सकललोकसंतापकेन रश्मिनिचयेन सह । अप्रतिबद्धम् उदयतः सूर्यस्य रश्मीनां राक्षसादिकृतन्यूनताकरणाभावाद् विश्वेनेति विशेषितम् ॥ उद्यन्तम् आदित्यम् उपतिष्ठमान आह । मह्यं मदर्थं सपत्नान् शत्रून् रन्धयन् वशं प्रापयन् । उदयन्नेव सपत्नान् मम वशं गमयत्वित्यर्थः । अहं च द्विषते अप्रियं कुर्वते द्वेष्ट्रे मा रधम् तस्य वशो मा भूवम् । हे सूर्य उदयतस्तवानुग्रहाद् इति शेषः ॥ तवेद् विष्णो बहुधा इत्यादेर्मन्त्रशेषस्य व्याख्या पूर्ववद् द्रष्टव्या ॥

यह सूर्यदेव सकल लोकोंको भली प्रकार तपाने वाले अपने पूर्ण किरणजालके साथ मेरे शत्रुओंको मेरे वशमें करते हुए उदय होगए हैं अर्थात् यह उदय होते ही शत्रुओंको मेरे वशमें कर देते हैं । हे सूर्यदेव ! उदय होते हुए आपके अनुग्रहसे मैं द्वेष करने वाले शत्रुके वशमें न होऊँ, हे व्यापक सूर्यदेव आपके अनेक प्रकारके प्रभाव हैं, ऐसे आप हमको सब आकारों वाले पशुओंसे पूर्ण करिये और देहपातके अनन्तर मुझको परमव्योम में स्वधान्नके भक्षण करने योग्य बना कर स्थापित करिये २४

पञ्चमी ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये ।
अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥ २५ ॥

आदित्य । नावम् । आ । अरुक्षः । शतऽअरित्राम् । स्वस्तये ।
अहः । मा । अति । अपीपरः । रात्रिम् । सत्रा । अति । पारय २५

हे आदित्य त्वं नावम् रथलक्षणाम् आरुक्षः आरूढोसि आकाशाख्यस्य समुद्रस्य तरणाय । नौर्विशेष्यते । शतारित्राम् उदकाकर्षणसाधनानि काष्ठानि अरित्राणीत्युच्यन्ते । अनेकैर्नौगतिसाधनैरुपेताम् । अत्र ग्रहमण्डलाकर्षका वायव एव अरित्राणि । आरोहणप्रयोजनम् आह । स्वस्तये सर्वेषां प्राणिनां क्षेमाय । अथ स्वाभिमतम् आशास्ते। एवंरूपां नावम् आरूढस्त्वं मा माम् अहरत्यपीपरः अत्यपारयः । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकलक्षणत्रिविधापायपरिहारेण अहः पारं प्रापितवान् असि । एवमेव रात्रिमपि सत्रा सहैव अह्ना सह मध्ये व्यवधानम् अकृत्वा माम् अति पारय रात्रेः पारं गमय । अहोरात्रयोः संधौ मरणादिभयशङ्कया आह सत्रेति । अनेन ज्वरशिरोव्यथादिपरिहारेण आयुरभिवृद्धिः प्रार्थिता भवति ॥ अथ वा एवं व्याख्येयम् । हे आदित्य नावम् त्वामेव नौरूपम् आरुक्षः आरूढम् आरोहम् आरूढश्च त्वया अहःपारं प्रापितवान् अस्मीति व्याख्येयम् । यथा नौः स्वस्मिन्नधिष्ठितं यथाभिमतदेशं गमयति एवं नयसीति [त्वं] नौः । ❀ आरुहेर्लुङि "शल इगुपधाद् अनिटः क्सः" इति क्सः ❀ । तस्मिन् पक्षे शतारित्राम् इति शतशब्दः अपरिमितवचनः । अपरिमितरश्मिरूपारित्रोपेताम् इत्यर्थः किमर्थम् आरोहणम् इति । स्वस्तये क्षेमाय सर्वोपद्रवराहित्येन चिरकालजीवनाय । स्वस्तिशब्दार्थं विशिनष्टि । अहर्मात्यपीपर इत्यादिना । अहनि रात्रौ च सुखेन अवस्थानमेव क्षेमः । ❀ अपीपर इति । पारयतेर्लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

हे सूर्यदेव ! आप आकाशरूपी समुद्रको तरनेके लिये ग्रहमण्डलके आकर्षक वायुरूपी अनेक बल्ली पतवारोंके साथ रथरूपी नौकामें जगत्‌का कल्याण करनेके लिये चढ़ गए हैं। ऐसी नौका पर विराजमान आप मुझको आध्यात्मिक आधिदैविक

और आधिभौतिक इन तीनों प्रकारके विघ्नोंसे बचा कर दिनके पार उतार चुके हैं, इसी प्रकार दिनके साथ कुछ व्यवधान न रख कर साथ ही साथ रात्रिके भी पार पहुँचा दीजिये [दिन और रात्रिकी संधिमें मरण आदिकी आशङ्का होती है अत एव दिनके साथ ही कहा है । इस मन्त्रसे ज्वर शिरोव्यथा आदिको दूर करते हुए आयुर्वृद्धिकी प्रार्थना की है । अथवा इस प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है, कि-हे आदित्य ! मैं नौकारूप आप पर ही आरूढ होगया और आरूढ होने पर आपने मुझको नौकाकी समान दिनके पार उतार दिया है आपमें चप्पूरूप अनन्त किरणें हैं; मैं सब उपद्रवोंसे रहित रह कर चिरकालतक जीवित रहनेके लिये आप पर आरूढ हुआ हूँ आप मुझको दिन के और रातके पार पहुँचा दीजिये] ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

सूर्य॒ नाव॒मारु॑क्षः श॒तारि॑त्रां स्व॒स्तये॑ ।
रात्रि॑ मा॒त्य॑पीप॒रोऽहः॑ स॒त्राति॑ पारय ॥ २६ ॥

सूर्य॑ । नाव॑म् । आ । अ॒रु॒क्षः॒ । श॒तऽअ॑रित्राम् । स्व॒स्तये॑ ।

रात्रि॑म् । मा॒ । अति॑ । अ॒पी॒प॒रः॒ । अहः॑ । स॒त्रा । अति॑ । पा॒र॒य॒ ॥

पूर्ववदेव व्याख्या । अहरित्यस्य स्थाने रात्रिम् इति रात्रिम् इत्यस्य स्थाने अहरिति व्यत्ययमात्रं विशेषः । पूर्वमन्त्रे अहनि सूर्यानुग्रहेण सुखेन जीवनं सिद्धवत्कृत्य रात्रौ तद्विषये संदिहानो रात्रिं सत्राति पारयेति प्रार्थितवान् । अस्मिंस्तु मन्त्रे रात्रौ सूर्यानुग्रहेण रात्रेः पारं प्राप्य प्रबुद्धः सन् आह । हे सूर्य रात्रिं मा अत्यपीपरः रात्रिपारं प्रापितवान् असि । एवमेव अहः अहरपि सत्रा रात्र्या सह तयोर्मध्ये व्यवधानराहित्येन अति पारय । एवं

मन्त्रद्वयेन दिनद्वयेपि सातत्येन सुखेन जीवनं प्रार्थितं भवति ॥ एवं प्रतिदिनं त्रिषु कालेषु अनेनानुवाकेन सूर्योपस्थानं कुर्वतो माणवकादेः शतसंवत्सरलक्षणं दीर्घम् आयुर्भवति । अतः एव-मादिलिङ्गाद् आयुष्कामस्य कालत्रये सूर्योपस्थाने अस्यानुवाकस्य विनियोग उक्तः ॥ आदित्यसूर्ययोः पर्यायत्वं गमयितुम् उत्तरमन्त्रे सूर्य नावम् इति निर्दिष्टम् ॥

हे सूर्यदेव ! आप ब्रह्मणशलाकर्षक अनन्त वायुओंरूप पतवार वाली रथरूपी नौकामें आकाशरूपी समुद्रको तरनेके लिये जगत्का कल्याण करनेकी भावनासे बैठगए हैं। आपने मुझको रात्रिके पार पहुँचा दिया है इसके साथ ही आप मुझको दिनके पार पहुँचाइये [पूर्वमन्त्रमें दिनमें सूर्यके अनुग्रहसे सुखसे जीवनको सिद्धवत् कर के रात्रिमें आशंकासे रातके पार उतारनेकी प्रार्थना की थी और इस मन्त्रमें सूर्यके अनुग्रहसे रात्रिके पार पहुँचकर जागकर प्रार्थना की है, कि—हे सूर्य ! आपने मुझे रात्रिके पार उतार दिया अब दिनके भी पार उतारिये । इस प्रकार दो मन्त्रोंसे दोनों दिनोंमें अनवच्छिन्नरूपसे सुखसे जीवनकी प्रार्थना की। इस प्रकार प्रति-दिन त्रिकालमें आदित्योपस्थान करने वाले माणवक आदिकी सौ वर्ष तककी दीर्घायु होती है। इन ही चिह्नोंसे आयुष्कामके त्रिकालके सूर्योपस्थानमें इस अनुवाकका विनियोग कहा है। आदित्य और सूर्य पर्यायवाची शब्द हैं इस बातको जतानेके लिये पूर्वमन्त्रमें आदित्य और इस मन्त्रमें सूर्य शब्द दिया है]२६

सप्तमी ॥

प्र॒जाप॑तेरावृ॑तो॒ ब्रह्म॑णा॒ वर्म॑णा॒हं क॒श्यप॑स्य॒ ज्योति॑षा॒ वर्च॑सा च ।

ज॒रद॑ष्टिः कृ॒तवी॑र्यो॒ विहा॑याः स॒हस्रा॑युः सुकृ॑तश्चरेयम् २७

प्रजाऽपतेः । आऽवृतः । ब्रह्मणा । वर्मणा । अहम् । कश्यपस्य ।

ज्योतिषा । वर्चसा । च ।

जरत्ऽअष्टिः । कृतऽवीर्यः । विऽहायाः । सहस्रऽआयुः । सुऽकृतः ।

चरेयम् ॥ २७ ॥

प्रकाशवृष्ट्यादिना प्रजानां पालनात् प्रजापतिः आदित्यः । अथ वा संवत्सरकालनिर्वाहकत्वात् तस्य च प्रजापतिरूपत्वात् सूर्यः प्रजापतिः । तस्य ब्रह्मणा परिवृढेन रूपेण । कीदृशेन । वर्मणा । वर्म तनुत्रम् तद्रूपेण सूर्यस्य तेजोमयेन स्वरूपेण आवृतः वेष्टितः । अथ वा प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा हिरण्यगर्भः । "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयम् आदित्यं तृतीयम्" इति [श॰ ब्रा॰ १. २. ३] श्रुत्या प्रजापतेर्मूर्त्यन्तरभूत आदित्यः । स एव ब्रह्म "असावादित्यो ब्रह्म" इति [तै॰ आ॰ २. २. २] श्रुतेः । तदेव ब्रह्म स्तोत्रोपासकस्य वर्मवद् आच्छादकत्वाद् वर्म इत्युच्यते । तेन आवृतो वेष्टितोहम् । अथ वा प्रजापतेः आदित्यस्य ब्रह्मणा मन्त्रमयेन वर्मणा । तत्स्वरूपनिरूपकत्वेन संबन्धाद् ब्रह्मणो मन्त्रस्य तदीयत्वम् । तेन परिवृतः । रक्षित इत्यर्थः । किं च कश्यपस्य । "कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति" इति [तै॰ आ॰ १. ८. ८] श्रुतेः कश्यपः सूर्यस्य मूर्त्यन्तरभूतः । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः । स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति । ते सर्वे कश्यपाज्ज्योतिर्लभन्ते" इति [तै॰ आ॰ १. ७. २] । "कश्यपोऽष्टमः । स महामेरुं न जहाति" इति च [तै॰ आ॰ १. ७. १] । तादृशस्य कश्यपस्य प्रकाशमयस्य ज्योतिषा । द्योतत इति ज्योतिः । तेन प्रकाशेन । ॐ द्युत दीप्तौ इत्यस्माद् द्युतेरिसिन् आदेश्च जः [उ॰ २. १०६] इति इसिन् आदेर्जभा-

चश्च ❀। तथा तस्य वर्चसा च ज्योतिरित्यस्य व्याख्यानम् वर्चसेति। वर्चः तमस आवर्जकं तेजः। ❀वर्च दीप्तौ इति धातुः❀। चकारो ब्रह्मणा सह समुच्चयार्थः। अथ वा ज्योतिः स्वरूपप्रकाशः। वर्चो रश्मिप्रकाशः। चशब्दो ज्योतिषा समुच्चयार्थः। ज्योतिषा आवृतो वर्चसा च आवृतोहम् इत्यर्थः। तथा च तैत्तिरीयकम्। "परीवृतो वरीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं तेजसा कश्यपस्य" [तै० आ० २. १६] इति॥ अथ वा एवं व्याख्येयम् कश्यपाद् उदिताः सूर्याः "कश्यपाज्ज्योतिर्लभन्ते" इत्यादिश्रुतेः। कश्यपः इतरेषां सूर्याणां मुख्यः। स एवात्र प्रजापतिशब्देनोच्यते। तस्य ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः इत्यस्य व्याख्यानं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा चेति। अस्मिन् पक्षेपि चशब्दः अस्य ज्योतिषा सह समुच्चयार्थः॥ बाह्यापायपरिहाराय वर्मणा आवरणम् आशास्य अथ भोगम् आशास्ते जरदष्टिरित्यादिना। जरदष्टिः। ❀ जरत् इति। जीर्यतेर्भूतकालावच्छिन्नेर्थे अतृन् ❀। जीर्णः सन्नपि अष्टिः अशनं भोजनं यस्य स जरदष्टिः। अनेन अरोगदृढगात्रः सन् बहुविधान् भोगांश्चिरकालं भुञ्जानो भवेयम् इति प्रार्थना कृता भवति। तथा कृतवीर्यः अपरिमितैर्वीर्यैः शारीरैर्बलैर्युक्तः अनेकपुमायुरुत्पादनसामर्थ्योपेतो वा। विहायाः विविधगमनः। सर्वत्र अप्रतिबद्धगतिरित्यर्थः। ❀ओहाङ् गतौ। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४. २२०] इति असुन्। तत्र णिदित्यनुवृत्तेर्णिद्वद्भावाद् "आतो युक् चिण्०" इति युगागमः ❀। तथा सहस्रायुः अपरिमितायुष्यः। सुकृतः सुष्ठु संस्कृतः सर्वसंपूर्णः सन्। अथ वा लौकिकं वैदिकं च यत् कर्तव्यजातम् अस्ति तद् येन सुष्ठु कृतं स सुकृतः। कृतकृत्य इत्यर्थः। तादृशः सन्। यद्वा सुकृतः सुकृतवान् सुकृतं धर्मस्तद्वान् चरेयम् सर्वत्र पृथिव्यां गच्छेयम्। एतत् सर्वम् हे सूर्य तवानुग्रहात् संपादयामीति आशास्ते॥

प्रकाश वृष्टि आदिसे प्रजाओंका पालन करने वाले प्रजापति आदित्य हैं, अथवा संवत्सरकालनिर्वाहक होनेसे प्रजापतिरूप सूर्य प्रजापति हैं, उनके दृढ़तेजोरूप कवचसे अर्थात् सूर्यके तेजोमय स्वरूपसे आच्छादित हुआ मैं [अथवा-"स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । अग्निं तृतीयं वायुं तृतीयं आदित्यं तृतीयम् ।-उन प्रजापतिने अपनेको तीन रूपोंमें विभक्त किया, एक तृतीयभागको अग्नि बनाया, दूसरे तृतीयांशको वायु बनाया और तीसरे तृतीयांशको आदित्य बनाया" (बृहदारण्यक १ । २ । ३) इस श्रुतिके अनुसार आदित्य प्रजापतिकी दूसरी मूर्तिरूप है । वही ब्रह्म है, क्योंकि-तैत्तिरीय आरण्यक २ः। २ । २ की श्रुतिमें कहा है, कि-"असावादित्यो ब्रह्म ।-यह आदित्य ब्रह्म है" वही ब्रह्म अपने उपासकके कवचकी समान आच्छादक होनेसे वर्म (कवच) कहलाते हैं उनसे आवृत मैं, अथवा प्रजापति आदित्यके मन्त्रमय वर्मसे आच्छादित मैं] और तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । ८ की श्रुतिमें कहा है, कि-"कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति । कश्यपका अर्थ द्रष्टा है जो सबको भली भाँति देखते हैं" इस श्रुतिके अनुसार कश्यप सूर्यकी एक मूर्ति हैं। दूसरी श्रुतिमें भी कहा है, कि-"आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः । स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः । ते अस्मै सर्वे दिवम् आतपन्ति । ते सर्वे कश्यपाज्ज्योतिर्लभन्ते । -आरोग भ्राज पटर पतङ्ग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास ये सब सूर्य इनके लिये द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और ये सब कश्यपसे ज्योतिको पाते हैं" "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति ।-इनमें कश्यप अष्टम हैं वह महामेरुको नहीं त्यागते हैं" (तैत्तिरीय आरण्यक १ । ७ । १) ऐसे प्रकाशमय कश्यपकी ज्योतिसे और वर्षक तेजसे ढका हुआ मैं वा स्वरूपप्रकाश ज्योतिसे और रश्मिप्रकाश वर्चसे आच्छादित मैं [तैत्ति-

रीय आरण्यक २ । १६ में कहा है, कि "परीवृतो वरीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं तेजसा कश्यपस्य ।—मैं कश्यप नामक सूर्यके मन्त्रात्मक कवचसे आच्छादित हूँ" इस प्रकार बाहरी विघ्नोंको दूर करनेके लिये कवचसे आवरण करनेकी प्रार्थना करके अब भोगकी प्रार्थना करते हैं, कि—] मैं जीर्ण होने पर भी रोगरहित दृढ़ अङ्गोंवाला रहता हुआ चिरकाल तक अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता रहूँ अपरिमित शारीरिक बलोंसे सम्पन्न रहूँ वा बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे सम्पन्न रहूँ, मेरी गति कहीं न रुके, अपरिमित आयुको पाऊँ, लौकिक वैदिक सकल अनुष्ठानोंको भली प्रकार करके कृतकृत्य होऊँ, हे सूर्य ! इन सबको मैं आप के प्रसादसे प्राप्त करूँ यह मेरी प्रार्थना है ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च

मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय

परिऽवृतः । ब्रह्मणा । वर्मणा । अहम् । कश्यपस्य । ज्योतिषा ।

वर्चसा । च ।

मा । मा । प्र । आपन् । इषवः । दैव्याः । याः । मा । मानुषीः ।

अवऽसृष्टाः । वधाय ॥ २८ ॥

परीवृत इत्यादि वर्चसा च इत्यन्तं पूर्ववद् व्याख्येयम् । यतोहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परीवृतः अतो दैव्याः देवप्रेरिताः । ❀ "देवाद् यञञौ" इति प्राग्दीव्यतीयो यञ् प्रत्ययः ❀ । या इषवः बाणाः सन्ति तां मा मां मा प्रापन् । इषवो विशेष्यन्ते । वधाय मम हननाय अवसृष्टाः प्रेरिताः मा

प्रापन् । मा प्राप्नुयुः । एवं मानुषीः मानुष्यः मनुष्यैर्वधाय प्रेषिता अपि इषवो मा मां प्रापन् ॥

मैं "कश्यपज्ज्योतिर्लभन्ते ।–कश्यपसूर्यसे अन्य सूर्य ज्योति को पाते हैं" इस श्रुतिके अनुसार मुख्य सूर्य कश्यपके मन्त्ररूप कवचसे तथा उनके स्वरूपप्रकाश और रश्मिप्रकाशसे रक्षित रहूँ अतएव मेरे वधके लिये छोड़े हुए देवताओंके बाण और मनुष्यों के बाण मुझ तक न पहुँच सकें ॥ २८ ॥

नवमी ॥

ऋतेन॑ गुप्त ऋ॒तुभि॑श्च॒ सर्वै॑र्भू॒तेन॑ गुप्तो भव्ये॑न चा॒हम् ।
मा मा॒ प्राप॑त् पा॒प्मा मोत मृ॒त्युर॒न्तर्द॑धे॒हं स॑लि॒लेन॑ वा॒चः ॥ २९ ॥

ऋतेन॑ । गु॒प्तः । ऋ॒तुऽभिः॑ । च॒ । सर्वैः॑ । भू॒तेन॑ । गु॒प्तः । भव्ये॑न । च॒ । अ॒हम् ।
मा । मा॒ । प्र । आ॒प॒त् । पा॒प्मा । मा । उ॒त । मृ॒त्युः । अ॒न्तः । द॒धे॒ । अ॒हम् । स॒लि॒लेन॑ । वा॒चः ॥ २९ ॥

अहम् ऋतेन । ऋतम् यथार्थम् । सत्यम् इत्यर्थः । तेन गुप्तः रक्षितः । अथ वा ऋतं ब्रह्म आदित्याख्यम् तेन गुप्तः । तथा सर्वैः ऋतुभिः वसन्ताद्यैश्च रक्षितः । तथा भूतेन पूर्वकालम् उत्पन्नेन पदार्थजातेन गुप्तः । एवं भव्येन उत्पत्स्यमानेन च पदार्थजातेन गुप्तो रक्षितः । यत एवम् अतो हेतोः पाप्मा पापं नरकहेतुभूतं मा मां मा प्रापत् मा प्राप्नुयात् । उत अपि च मृत्युः मरणकर्ता देवोपि मा प्रापत् । अहं तु वाचो मन्त्रात्मिकायाः सलिलेन उदकेन रक्षाकामः अन्तर्दधे अन्तर्धानं करोमि । यथा लोके सलि-

लेनान्तर्हितः प्राणी न केनापि दृश्यते एवम् अहं मन्त्रमयेन सलिलेन पापादिबाधराहित्याय आत्मानं गोपयामीत्यर्थः ॥

मैं सत्यसे रक्षित रहूँ—आदित्यात्मक ब्रह्मसे रक्षित रहूँ, वसन्त आदि सब ऋतुओंसे रक्षित रहूँ, पूर्वकालमें उत्पन्न हुए सकल पदार्थोंसे रक्षित रहूँ और उत्पन्न होने वाले संपूर्ण पदार्थोंसे रक्षित रहूँ अत एव नरकका कारण पाप मुझको प्राप्त न होवे, और मरणकर्ता देव मृत्यु भी मुझको प्राप्त न होवें, मैं अपनेको मन्त्ररूपा वाणीके जलसे अन्तर्धान करता हूँ अत एव जैसे लोकमें जलमें छिपे हुए प्राणीको कोई नहीं देख पाता, इसी प्रकार पाप आदि की बाधासे रहित रहनेके लिये मैं मन्त्रमय जलसे अपनेको रक्षित करता हूँ ॥ २९ ॥

दशमी ॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान् ।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ ३० ॥

अग्निः । मा । गोप्ता । परि । पातु । विश्वतः । उत्ऽयन् । सूर्यः । नुदताम् । मृत्युऽपाशान् ।
विऽउच्छन्तीः । उषसः । पर्वताः । ध्रुवाः । सहस्रम् । प्राणाः । मयि । आ । यतन्ताम् ॥ ३० ॥

अग्निः अङ्गनादिविशिष्टो देवो गोप्ता स्वाश्रितरक्षकः अथवा मम भयेभ्यो गोप्ता सन् विश्वतः सर्वतः यतोयतो भयं भवति तेभ्यः सर्वेभ्योपि मा परि पातु परितो रक्षतु । तथा सूर्यो

देवः उद्यन् उदयसमये एवं मृत्युपाशान् मृत्योर्मारकस्य देवस्य ये पाशाः सर्पाग्निव्याघ्रकण्टकादिरूपा विततः सन्ति तान् सर्वान् नुदताम् अपसारयतु। यथा ते मां न स्पृशन्ति तथा करोतु। अत्र उद्यन्सूर्यो नुदताम् इत्यभिधानात् अग्निर्मा गोप्ता परि पात्विति अग्निविषयपरिपालनप्रार्थना उदयात्पूर्वकालीनरात्रिविषया वेदितव्या। तथा व्युच्छन्तीः व्युच्छन्त्यः। ॐ उछी विवासे। विवासो वर्जनम् ॐ। नैशस्य तमसो निवारयित्र्य उषसः उषोदेवता उदयात् पूर्वकालाभिमानिन्यः। ॐ दिवसानां बाहुल्यम् अपेक्ष्य 'उषस इति बहुवचननिर्देशः ॐ। तथा ध्रुवाः निश्चलाः स्थिराः पर्वताः पर्ववन्तः शैला हिमवदादयश्च। मृत्युपाशान् नुदन्ताम् इति यो-जयम्। माम् अनुगृह्णन्त्विति वा शेषोध्याहर्तव्यः। तेषाम् अग्न्यादीनाम् अनुग्रहात् सहस्रं प्राणाः। सहस्रम् इति अपरिमितनाम। प्राणस्य व्यापारभेदेन आनन्त्याद् अपरिमितत्वम्। ते मयि आयुष्काये आ सर्वतो यतन्ताम् चेष्टां कुर्वन्तु। अथ वा प्राणसंवाद-श्रुतिषु इन्द्रियाणामपि प्राणशब्दव्यवहार्यत्वश्रवणात् "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति" [तै० आ० १०.१०.१] "नव वै प्राणा नाभिर्दशमी" [तै० 'ब्रा० १. ३. ७. ४] इत्यादौ च चक्षुरादीन्द्रियाणामपि प्राणशब्दव्यवहारात् तेषामपि स्थैर्यस्य मुख्यप्राणवदेव आशास्यत्वात् तद्व्यापारबाहुल्यमपि अपेक्ष्य सहस्रं प्राणा मया यतन्ताम् इत्युक्तम्॥

श्रीमद्राजाधिराजराज–परमेश्वर–श्रीवीरहरिहरमहाराजसा-
म्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते अथर्ववेदार्थ-
प्रकाशे सप्तदशकाण्डं समाप्तम्॥

अग्निदेव अपने आश्रितकी रक्षा करने वाले हैं, वह जहाँ २ से भय प्राप्त होनेकी आशंका हो तहाँ चारों ओरसे मेरी रक्षा करें, और सूर्यदेव उदय होते समय ही मारक मृत्युदेवके सर्प अग्नि

व्याघ्र कण्टक आदि फैले हुए पाशोंको दूर करदें [यहाँ उदय होते समय विशेषण होनेसे अग्निकी प्रार्थना उदयसे पहिले समय रात्रिकी समझनी चाहिये] रात्रिके अन्धकारको दूर करनेवाली उदयसे पूर्व, समयकी अभिमानिनी देवता उषा देवता, निश्चल हिमवान् आदि पर्वत मृत्युके पाशोंको दूर करें वा मुझ पर अनुग्रह करें, इन अग्नि आदिके अनुग्रहसे प्राण सहस्रों वार व्यापार करता हुआ मुझ आयुष्काममें चेष्टा करता रहे। अथवा-[प्राणसम्वाद श्रुतियोंमें इन्द्रियोंका भी प्राण शब्दसे व्यवहार किया है, यथा-"सप्त प्राणाः प्रभवन्ति।-सात प्राण प्रकट होते हैं" (तैत्तिरीय आरण्यक १०। १०। १) और "नव वै प्राणा नाभिर्दशमी। प्राण नौ हैं नाभि दशमी है" (तैत्तिरीयब्राह्मण १। २। ७।४) इत्यादिमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका प्राण शब्दसे उल्लेख किया है और उनकी स्थिरताकी भी मुख्य प्राणकी समान ही आवश्यकता है अत एव उनके सहस्रों व्यापारोंको लक्ष्यमें रख कर कहा है, कि वे] इन्द्रियें सहस्रों वार मुझमें चेष्टा करती रहें ३०

तृतीय सूक्त समाप्त

प्रथम अनुवाक समाप्त (५७०)

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका सप्तदशकाण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

संपादक ऋ० कु० प० रामचन्द्रशर्माकृत

भाषानुवादसहित

समाप्त

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

अष्टादशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सकल जगत्की सृष्टि की है, मैं उन विद्यातीर्थ महेश्वरको प्रणाम करता हूँ ॥

"ओ चित् सखायम्" इति अष्टादशकाण्डे चत्वारोऽनुवाकाः। तत् काण्डं सकलं पितृमेधे शवदाहे अग्निप्रदानानन्तरं सप्तनवैकादशादिविषमसंख्याका ब्राह्मणा पूर्वाभिमुखोपविष्टा जपेयुः ॥

तत्रैव कर्मणि सारस्वतहोमानन्तरं सर्वे बान्धवा अनेन काण्डेन सकलेन प्रेतम् उपतिष्ठेरन्। तथा च कौशिकेन सूत्रितम्। ["सर्वैरुपतिष्ठन्ति" इति। कौ० ११. २]

तत्र प्रथमेऽनुवाके षट् सूक्तानि। आदितश्चतुर्णां सूक्तानां काण्डप्रयुक्त एव विनियोगः। तेषु प्रथमेन सूक्तेन द्वितीये च सूक्ते "अत्रा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्" इत्यन्तेन च वैवस्वतयोर्यमयम्योः संभोगार्थः संवादः प्रतिपादितः। तत्र यमी मिथुनार्थं स्वभ्रातरं यमं बहुप्रकारं प्रार्थितवती। स च स्वभगिनीगमनस्य अत्यन्तम् अनुचितत्वाद् नानाविधाभिर्युक्तिभिस्तां प्रत्याचख्यौ। तयोर्यम-

यम्योः सरण्यवां विवस्वतः सकाशाद् युगलभावेनोत्पत्तिः उपरिष्टात् "त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति" [५३] इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयिष्यते ॥

"ओ चित् सखायम्" इस अष्टादश काण्डमें चार अनुवाक हैं। इस सारे कांडका पितृमेधके शवदाहमें अग्निप्रदानके अनन्तर सात नौ ग्यारह आदि विषम संख्याके ब्राह्मण पूर्वकी ओर मुख कर बैठ कर जप करें।

वहाँ ही कर्ममें सारस्वत होमके अनन्तर सब बांधव इस पूर्ण काण्डसे प्रेतके समीप बैठें। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि- "सर्वैरुपतिष्ठन्ति" (कौशिकसूत्र ११ । २) ॥

इसके प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त हैं। आरम्भसे चार सूक्तोंका काण्डप्रयुक्त विनियोग होता है। इनमें प्रथम सूक्तसे और दूसरे सूक्तमें "अधा कृणुष्व सन्विदं सुभद्राम्" मन्त्र तक विवस्वान्की सन्तान यम और यमीके संभोगार्थ सम्वादका वर्णन किया गया है। इनमें यमीने मिथुनभावके लिये अपने भ्राता यमसे अनेक प्रकारसे प्रार्थना की है। और उसने स्वभगिनीगमनके अत्यन्त अनुचित होनेसे अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे उससे निषेध किया है उन यम यमीकी सरण्युमें विवस्वान्से युगलभावमें उत्पत्ति "त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति" (५३) से कही जावेगी ।

तत्र प्रथमसूक्ते प्रथमा ॥

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।

पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः १

ओ इति । चित् । सखायम् । सख्या । ववृत्याम् । तिरः । पुरु । चित् । अर्णवम् । जगन्वान् ।

पितुः । नपातम् । आ । दधीत । वेधाः । अधि । क्षमि । प्रऽत॒रम् । दीध्यानः ॥ १ ॥

इदं यम्या वचनम् । अहं सखायम् समानख्यानं यमम् । सैव विवस्वत्पुत्रलक्षणा ख्यातिर्यमस्य सैव यम्या अपीति ख्यातेः समानत्वात् सखित्वं यमस्य । अथ वा गर्भवासप्रभृति युगलत्वेन अवस्थानात् सखित्वम् । तादृशं यमं सख्या सखित्वेन संभोगविषये कृतसंकल्पलक्षणेन निमित्तेन ओ चित् । चिदिति पूरणः । आ उ इति निपातद्वयसमुदायात्मकम् ओ इत्येकं पदम् । आ ववृत्याम् आवर्तयामि । अस्मदनुकूलं करोमीत्यर्थः । अथ वा स्वमनीषितस्य अविदितरूपत्वात् लज्जया स्वयं तम् आवर्तयितुम् अशक्नुवाना ब्रूते सख्या आह्वानोपायभूतया आ ववृत्याम् इति । इदानीं संभोगोचितान्तर्हितप्रदेशप्रदर्शनपूर्वकं तत्संभोगम् आशास्ते तिरः पुरु चिद् इत्यादिना । तिरस्तिरोहितं पुरु विस्तीर्णम् अर्णवम् मेघं समुद्रं वा जगन्वान् गच्छन् । अत्र समुद्रशब्देन तन्मध्यवर्ती द्वीपो वा लक्षयितव्यः । संभोगस्य अन्तर्हितदेशाभावेन यमः प्रतिपेत्स्यतीति बुद्ध्या एवम् आह । एवं लब्धाभिमतप्रदेशो यमः पितुर्विवस्वतो नपातम् नप्तारं पौत्रं यम्याम् उत्पन्नः पुत्रस्तत्पितुर्विवस्वतो नप्ता भवति । अथ वा नपातम् न पातयितारं कुलस्य प्रवर्तकम् इत्यर्थः । तादृशं पुत्रं वेधाः विधाता पुत्रस्य उत्पादको यमो मयि आ दधीत गर्भं किम् आदध्यात् । गर्भम् आधातुं भ्रात्रैव भाव्यम् इति को निर्बन्ध इत्याशङ्क्य तस्यातिशयम् आह अधि क्षमीति । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । क्षमायाम् इत्यर्थः । प्रतरम् प्रकृष्टतरं दीध्यानः दीप्यमानः । न केवलं स्वकीय एव लोके तस्य प्रकाशः किं तु भूमावपि अतिशयितप्रकाश इत्यर्थः । सर्वप्राणिसंहाराधिकारावस्थितत्वाद् भूलोके तस्य ख्यातिः सर्व-

माणिमसिद्धा । यद्वा दीध्यानः मयि गर्भम् आधातुम् उपायं ध्यायन्निति व्याख्येयम् । ॐ वहृत्याम् इति । वृतु वर्तने । अस्मात् लिङ् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । यद्वा अस्माद् यङ्लुगन्तात् लिङि "चर्करीतं पदम् अदादिवच्च द्रष्टव्यम्" इति परस्मैपदम् । जगन्वान् । गमेर्लिटः क्वसुः । "विभाषा गमहनविदविशाम्" इति इटो विकल्पितत्वाद् अत्र इडभावः । "म्वोश्च" इति मकारस्य नत्वम् ॐ ॥

[यह यमीका वाक्य है] मैं समान ख्याति वाले सखा † यम को [संभोगविषयैकमनस्कत्वरूप] सखिभावसे अपने अनुकूल करती हूँ [अथवा-अपने मनोरथके अविहित होनेसे लज्जासे स्वयं उसको न कह सकती हुई आह्वानके उपायरूप मित्र शब्द का उच्चारण करती हूँ, अथ संभोगोचित अन्तर्हित प्रदेशको दिखाती हूँ] कि-तिरोहित विस्तीर्ण समुद्रतटवर्ती द्वीपमें जाते हुए यम पिताका पतन करने वाले पुत्रको मुझमें स्थापित करें आपकी ख्याति अपने ही लोकमें नहीं है, किन्तु सर्वप्राणिसंहारकके अधिकार पर स्थित होनेसे भूमि पर भी है अत एव आप प्रकृष्टरूपसे दमकते रहते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

† विवस्वानके पुत्ररूपमें जो प्रसिद्धि यमकी है वही विवस्वत्पुत्री होनेमें यमीकी है । अथवा गर्भवास आदिमें युगलरूपसे अवस्थान के कारण सखित्व है ।

न । ते । सखा । सख्यम् । वष्टि । एतत् । सऽलक्ष्मा । यत् । विषुऽरूपा । भवाति ।

महः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः । दिवः । धर्तारः । उर्विया । परि । ख्यन् ॥ २ ॥

इदं यमस्य वाक्यम् । ते सखा त्वया सह समानोदरोत्पन्नत्वेन सखिभूतो यमः एतत् वक्तलक्षणं भ्रातृस्वस्रोः संभोगात्मकं सख्यं न वष्टि न कामयते । सख्यं कुतो वा न कामयत इति तत्र कारणम् आह । यत् यस्मात् सलक्ष्मा समानम् एकमेव लक्ष्म एकोदरत्वलक्षणं यस्याः सा तथोक्ता सहजा सती विषुरूपा स्वस्वरूपं परित्यज्य भार्यात्वलक्षणरूपवती भवाति भवेत् अतो न वष्टीति संबन्धः । यद्वा वाक्यद्वयम् । यत् यतः सलक्ष्मा अतो न सख्यं वष्टि । लोके विषुरूपैव भवाति भवति । भार्येति शेषः । यत एवम् अत इति पूर्वेण संबन्धः । न केवलं मम कामनाभावः किं तु देवा अपि निराकरिष्यन्तीत्याह महस्पुत्रास इत्यादिना । महः महतो महत्त्वोपेतस्य असुरस्य प्रकृष्टासोर्बलवतो रुद्रस्य पुत्रासः पुत्रा मरुतः । ते विशेष्यन्ते । वीराः विविधम् ईरयन्ति प्रेरयन्ति शत्रून् इति वीराः विक्रमवन्तः । दिवः द्युलोकस्य धर्तारः धारकाः पालकाः उर्विया उरवो महान्तो व्याप्ताः ते परि ख्यन् परिवदन्ति । निराकरिष्यन्तीत्यर्थः । ❀ ख्याम कथने । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

[यह यमका वाक्य है, कि—] मैं समान उदरसे उत्पन्न होने के कारण तेरा मित्र हूँ परन्तु यह मित्र भाई बहिनके संभोगात्मक मित्रभावकी कामना नहीं करता है, उसका कारण यह है, कि—तू एक उदर रूप समान लक्षण वाली होकर भार्यात्व लक्षणवाली

बनना चाहती है अतः मैं ऐसे मित्रभावकी कामना नहीं करता, [अब यह कहना है, कि-मैं ही केवल कामना नहीं करता हूँ यह बात नहीं है,किन्तु देवता भी इस बातकी निंदा करेंगे] महत्व-गुण युक्त प्रकृष्ट मायावली रुद्रके पुत्र कि-जो अनेक प्रकारसे शत्रुओंको खदेड़ते हैं द्युलोकको धारण करते वे पालक महान् मरुत् भी इस बातकी निन्दा करेंगे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा
विविश्याः ॥ ३ ॥

उशन्ति । घ । ते । अमृतासः । एतत् । एकस्य । चित् । त्यज-
सम् । मर्त्यस्य ।
नि । ते । मनः । मनसि । धायि । अस्मे इति । जन्युः । पतिः ।
तन्वम् । आ । विविश्याः ॥ ३ ॥

इदं यमीवचनम् । हे यम रुद्रपुत्रा निराकरिष्यन्तीति मा वादीः । किं तु ते अमृतासः अमृता देवा मरुतः एतत् मया प्रार्थ्य-मानं कर्म उशन्ति घ । घेति प्रसिद्धौ । कामयन्त एव । एतच्छ-ब्दार्थम् आह । एकस्य असाधारणस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य पुत्रस्य त्यजसम् त्यागं गर्भान्निर्गमनम् उत्पत्तिम् उशन्तीति संबन्धः । यत एवम् अतस्ते मनः अस्मे अस्माकं मनसि नि धायि निधीयताम् । आवयोर्नः एकमेवास्त्वित्यर्थः । अनन्तरं जन्युः अपत्यस्य जन-यिता त्वं पतिः । भूत्वेति शेषः । भ्रातृभावं परित्यज्य पतिः सन् तन्वम् तनूं मामकीनाम् आ विविश्याः आविश प्रविश । यद्वा

तव तनूं मयि आवेशय । संभोगं कुर्वित्यर्थः । ❀ विश प्रवेशने । लिङि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ ॥

[यह यमीका वचन है,कि–हे यम! रुद्रके पुत्र निन्दा करेंगे यह मत करो क्योंकि–] वे अमृत देवता मरुत् मेरे प्रार्थित इस कर्मकी कामना करते हैं अर्थात् वे असाधारण मर्त्यके त्यागकी–गर्भसे उत्पत्तिकी–कामना करते हैं, अत एव आप अपने मनको मुझमें स्थापित करिये। अर्थात् हमारा मन एक होजावे। तदनन्तर आप सन्तानके उत्पादक पति बन कर भ्रातृभावको त्याग कर मेरे शरीरमें प्रवेश करिये अर्थात् संभोग करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥

न । यत् । पुरा । चकृम । कत् । ह । नूनम् । ऋतम् । वदन्तः । अनृतम् । रपेम ।
गन्धर्वः । अप्ऽसु । अप्या । च । योषा । सा । नौ । नाभिः । परमम् । जामि । तत् । नौ ॥ ४ ॥

इदं यमस्य वाक्यम् । यत् यस्मात् कारणात् पुरा इतः पूर्वस्मिन् काले न चकृम एतादृशं कर्म भगिनीसंभोगलक्षणं न चकृम न कृतवन्तः स्मः अतः कद्ध कस्मात् खलु कारणात् नूनं निश्चयम् । किमयं करिष्याम इति शेषः । तदेव प्रकारान्तरेणाह । ऋतम् सत्यं यथार्थं वदन्तः ब्रुवाणा वयम् अनृतम् असत्यम् अयथार्थं कथं रपेम स्पष्टं ब्रूमः । "यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा

वदति तत् कर्मणा करोति” इति [तै० सं० ६. १. ७. ४] अतः असत्याभिधाने अङ्गीकृते पश्चात् तदाचरणमपि भवेदेवेति बुद्ध्या असत्यवदनमपि न कुर्म इति प्रतिज्ञाया अभिप्रायः। अथ वा संभोगो मास्तु तद्विषयं शृङ्गारकवचनं वा कर्तव्यम् इत्याशङ्क्य तदपि निराक्रियते ऋतम् इत्यादिना॥ उक्तनिषेधसिद्धये निषिध्यमानस्यार्थस्य प्रतिकूलताम् आह गन्धर्वे इत्यादिना। गाम् उदकं धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः अप्सु। अन्तरिक्षनामैतत्। अनाश्रये स्थाने अस्य शब्दस्य व्यवहारः। अन्तरिक्षे। साक्षित्वेन वर्तत इति शेषः। तथा अप्या [अन्तरिक्षस्था सा प्रसिद्धा योषा] च आदित्यभार्या च अन्तरिक्षे वर्तते। सा भार्या नौ आवयोः नाभिः उत्पत्तिस्थानम् उभयोरपि तत एवोत्पत्तेः। तत् मिथुनं परमं निरतिशयं नौ आवयोः जामि बन्धुभूतम्। अथ भार्याया नाभित्वेभिहिते तत्पतिर्विवस्वानपि उक्त एव अतस्तस्य पुनरभिधानं न। यद्वा मातुरुदरादेव गर्भनिर्गमात् सा नौ नाभिरिति तस्या एवाभिधानम्। इतरेषां बन्धुत्वस्य मातापितृसंबन्धसव्यपेक्षत्वात् तयोर्बन्धुत्वस्य परमत्वम्। यतः पितरावभिज्ञौ तौ च संनिहितौ अतस्त्वदभीष्टं न कार्यम् इति तात्पर्यम्॥

[यह यमका वाक्य है, कि–] जिस भगिनीसंभोगरूप कर्मको हमने पहिले नहीं किया है तो अब किस कारणसे उसको करें [इसी बातको दूसरी रीतिसे कहते हैं, कि–] हम सत्य बोलने वाले हैं तो फिर अयथार्थ बातको किस प्रकार स्पष्टरूपसे कहें। तात्पर्य यह है, कि–“यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।–जिस बातका मनसे चिन्तन करता है, उसीको वाणीसे कहता है और उसीको कर्मरूपमें करता है” (तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ७। ४) की श्रुतिके अनुसार असत्य बातके अङ्गीकार करने पर उसका आचरण भी हो सकता है अतः

हम वाणीसे भी इस बातको नहीं कर सकते। और एक बात है, कि-जलको धारण करने वाले सूर्यदेव अन्तरिक्षमें साक्षीरूप में विराजमान हैं और आदित्यकी भार्या भी अन्तरिक्षमें है वह हम दोनोंका उत्पत्ति स्थान है और वे हमारे परमबन्धु हैं अत एव अभिन्न माता पिता वाले होनेके कारण और माता पिताके सामने होनेसे तेरा अभीष्ट सिद्ध नहीं होसकता ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥

गर्भे । नु । नौ । जनिता । दंपती इति दम्ऽपती । कः । देवः । त्वष्टा । सविता । विश्वऽरूपः ।
नकिः । अस्य । प्र । मिनन्ति । व्रतानि । वेद । नौ । अस्य । पृथिवी । उत । द्यौः ॥ ५ ॥

यम्या वचनम् इदम् । एवम् एकयोनिजत्वेन दांपत्ये निराकृतेपि तत् पूर्वमेव सिद्धम् इत्याह । नौ आवां गर्भे नु गर्भ एव जनिता जनयिता अपत्यस्य स्रष्टा देवः दंपती दांपत्यवन्तौ कः अकः कृतवान् ।❀ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् ❀ । क इति आकाङ्क्षायाम् आह । त्वष्टा मातुरुदरस्थितस्य रेतसः अवयवसंनिवेशकर्ता विश्वकर्मा देवः सविता प्रसविता सर्वस्य अनुज्ञाता विश्वरूपः विश्वं रूप्यते येन सः विश्वस्रष्टा विश्वात्मको वा । एवंमहानुभावो देवः । दंपती करिति पूर्वत्र

संबन्धः। यस्माद् उक्तमहिमोपेतः अतः अस्य त्वष्टुः सवितुः व्रतानि तत्कृतानि कर्माणि नकिः न मिनन्ति न हिंसन्ति न केपि अतिक्रामन्ति। ❀ मीञ् हिंसायाम्। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वः। "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आकारलोपः।❀ एतत् सर्वं स्वकार्यार्थं कल्पितम् इति आशङ्कायाम् आह वेद नौ इति। नौ आवयोः अस्य। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। इदं कर्म गर्भे एव दंपतित्वलक्षणम्। यद्वा अस्य त्वष्टुर्देवस्य कर्म दंपतिकरणलक्षणं कर्म। पृथिवी देवी उत अपि च द्यौर्देवता वेद उभे अपि जानीतः। तस्माद् एतद् यथार्थम् इत्यर्थः॥

[यह यमीका वचन है, कि—इस प्रकार एकयोनिज होनेके कारण दाम्पत्यके निराकृत होने पर भी वह पहिलेसे ही बना हुआ है यथा—] अपत्यकी सृष्टि करने वाले देवने गर्भमें ही हम दोनोंको दाम्पत्यसम्बन्ध वाला कर दिया है, और माताके उदर में स्थित वीर्यको अवयवरूपमें बनाने वाले विश्वकर्मा सर्वप्रेरक त्वष्टा देवताने भी हमको दाम्पत्यबन्धनमें बाँध दिया है, ऐसे देवके किये हुए कर्मोंको कौन भेद सकता है [इस सबकी तू अपने कार्यकी सिद्धिके लिये कल्पना कर रही है, इस आशंकासे कहती है, कि—] हमारे इस त्वष्टादेवके गर्भमें ही दम्पतिकरणरूप कर्मको पृथिवी देवी और द्यौ देवता ये दोनों जानते हैं अत एव यह यथार्थ है॥ ५॥

षष्ठी॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥ ६॥

कः । अद्य । युङ्क्ते । धुरि । गाः । ऋतस्य । शिमीऽवतः । भामिनः । दुःऽहृणायून् ।

आसन्ऽइषून् । हृत्सुऽअसः । मयःऽभून् । यः । एषाम् । भृत्याम् । ऋणधत् । सः । जीवात् ॥ ६ ॥

इदं यमस्य वाक्यम् । यस्मा असत्यमेवोक्तम् इत्यभिप्रेत्य सत्याभिधानस्य दुर्लभताम् आह । अद्य इदानीम् अस्मिन् काले ऋतस्य सत्यस्य धुरि वहनव्यापारे गाः बलीवर्दस्थानीया वाचः स्वीयाः को युङ्क्ते को योजयति । न कोपीत्यर्थः । गोशब्दस्य लिङ्गद्वयसाधारणत्वाद् उत्तरत्र गोविशेषणानि सर्वाण्यपि पुंलिङ्गतया निर्दिष्टानि । शिमीवतः । शमीति कर्मनाम । छान्दसम् इत्वम् । कर्मवतः कार्यपर्यन्तसाधिनः । केवलायाः सत्योक्तेः सुलभत्वात् । भामिनः तेजस्विनः लोके सत्यवादा एव जयन्ति "सत्यमेव जयति नानृतम्" इत्यादिश्रुतेः [मु० ३. १. ६]। दुर्हृणायून् । ॐ हृणीयतिः क्रोधकर्मा ॐ । क्रोधरहितान् इत्यर्थः । यद्वा लज्जारहितान् न हि सत्यवदनविषये क्रोधलज्जे स्तः । ॐ हृणीङ् । लज्जायाम् कण्ड्वादित्वाद् यक् । अस्माद् उण् प्रत्ययः । अतो लोपे सति वर्णव्यापत्त्या आकारः । मृगय्वादिर्वा द्रष्टव्यः ॐ । आसन्निषून् आसन् आस्ये इष्यमाणान् तस्मात् प्रेर्यमाणान् सर्वदा सत्यविषयसंकल्पवतोपि मुखतः सत्यं वक्तुम् अशक्यम् इत्यभिप्रायेण एवम् उच्यते । ॐ "पद्न्०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः । इष गतौ इत्यस्मात् इषेः किच्च [उ० १. १३] इति उप्रत्ययः । स च कित् ॐ । हृत्स्वसः हृदयेषु हृदयेभ्यः अस्यमानान् श्रोतॄणां हृदयेषु क्षिप्यमाणान् वा कण्ठाद् उपरि निर्गच्छन्तः शब्दाः संमता लोके हृदयपूर्वकास्तु दुर्लभा इत्यभिप्रायेण

हृस्वस इत्युक्तम् । ❀ असेर्व्यत्ययेन कर्मणि क्विप् "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् ❀ । मयोभून् । मय इति सुख-नाम । सुखस्य भावयितॄन् सत्याभिर्वाग्भिः सुखं सर्वेषां भवति असत्याभिस्तु असुखं भवतीति लोके सुप्रसिद्धम् एतत् । यः पुरुषो महान् एषाम् उक्तविशेषणयुक्तानां गवां भृत्याम् भृतिं भरणम् । ❀ "भृञोऽसंज्ञायाम्" इति क्यप् । तुगागमः ❀ । ऋणधत् वर्धयेत् । सत्यवचनम् अभिवृद्धं कुर्यात् । ❀ ऋधु वृद्धौ । अस्मात् लेटि अडागमः ❀ । स जीवात् चिरकालं जीवति सत्याभिधानस्य माहात्म्यात् । ❀ जीवात् । लेटि आडागमः ❀ ॥

[यह यमका वाक्य है, यमीने असत्य ही कहा है, इस बातको लक्ष्यमें रखकर उन्होंने सत्य भाषणकी दुर्लभताका वर्णन किया है, कि-] आज कल सत्यके बोझमें अपनी वाणीरूप बैलोंको कौन लगाता है अर्थात् कोई भी सत्य नहीं बोलता है । [कार्यको पूर्ण करने वाले] कर्मवान्, ["सत्यमेव जयति नानृतम् !-सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी जय नहीं होती" इस मुण्डक ३ । १ । ६ के अनुसार सत्यवादी ही विजय पाते हैं अत एव] तेज देने वाले तेजस्वी, [सत्य कहनेमें क्रोध और लज्जा नहीं आती अत एव] क्रोध और लज्जासे शून्य [सत्य संकल्प करने वाला भी मुखसे सत्य नहीं कह सकता अत एव] मुखसे प्रेरित अपने हृदयसे कहे जानेके कारण श्रोताओंके हृदयको प्राप्त होने वाले और सुख देने वाले [क्योंकि-सत्य वचनोंसे सबको सुख मिलता है और असत्य वचनोंसे दुःख मिलता है, यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है] सत्य वचनोंके भरणको जो पुरुष बढ़ाता है, वह सत्यभाषणके माहात्म्य से चिरकाल तक जीवित रहता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥

कः। अस्य। वेद। प्रथमस्य। अह्नः। कः। ईम्। ददर्श। कः। इह। प्र। वोचत्।

बृहत्। मित्रस्य। वरुणस्य। धाम। कत्। ऊं इति। ब्रवः। आहनः। वीच्या। नॄन् ॥ ७ ॥

इदं यम्या वचनम्। अस्य प्रथमस्य अह्नः। ❀ कर्मणि षष्ठ्यौ ❀। प्रथमम् अहः। आवयोः संगमदिवसम् इत्यर्थः। तत् को वेद जानाति। न कोपीत्यर्थः। किं च ईम् इदं कर्म इदानीं वा को ददर्श पश्येत्। न कश्चित् पश्यतीत्यर्थः। तथा इह एतद्विषये कः पुमान् दृष्टम् अर्थं प्र वोचत् प्रब्रूयात् दृष्टम् अर्थम् अन्यस्मै कथयेत्। सोपि नास्त्येव। ज्ञाता नैव किल। द्रष्टा कथयिता च दूरापास्ताविल्यभिप्रायः। ज्ञानदर्शनप्रवचनानाम् अविषयं कालं संभावयति बृहदित्यादिना। मित्रस्य देवस्य धाम स्थानम्। अहरित्यर्थः। तद्ध बृहत् प्रभूतम्। तथा वरुणस्य तमोवारकस्य देवस्य धाम रात्र्याख्यम् तच्च बृहत्। अहोरात्रयोर्मध्ये कतमश्चन समयः संभोगाय संपत्स्यत इत्यभिप्रायः। तस्मात् हे आहनः। ❀ आङ्पूर्वात् हन्तेः असुन् ❀। आहन्तः अस्मदभिमतस्य अकरणेन क्लेशकारिन् कत् कथं वीच्याः विविधम् अञ्चन्तः गच्छन्तः संचरन्तो नॄन् नराः। ❀ जसः स्थाने शस् ❀। ते सन्तीति कथं ब्रवः ब्रूयाः ब्रवीषि ॥

[यमी कहती है, कि—] प्रथम दिनको अर्थात् हमारे सङ्गमके

दिनको कौन जानरहा है कोई नहीं जान सकता, और इस हमारे कर्मको कौन देख रहा है अर्थात् कोई नहीं देख रहा है। फिर कौन पुरुष इस देखी हुई बातको दूसरेसे कहेगा अर्थात् जब कोई जानने वाला नहीं है तो देखने और कहने वाला कहाँसे आवेगा। और दिन तो मित्र देवताका स्थान है वह भी विशाल और रात्रि तमोनिवारक देवका स्थान है वह भी विशाल है, अभिप्राय यह है, कि–दिन और रात्रिके समयमेंसे कोई समय भोगके लिये हो ही जावेगा। अत एव हे मेरी अभिलाषाको न करनेसे मुझे क्लेश देने वाले यम! तुम अनेक प्रकारसे विनश्वर करने वाले मनुष्योंके विषयमें कैसे कहते हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ८

यमस्य। मा। यम्यम्। कामः। आ। अगन्। समाने। योनौ। सहऽशेय्याय।
जायाऽइव। पत्ये। तन्वम्। रिरिच्याम्। वि। चित्। वृहेव। रथ्याऽइव। चक्रा ॥ ८ ॥

इदमपि यमीवचनम्। मा मां यम्यम् यमीं यमस्य कामः यमविषयोभिलाषः आगन् आगमत्। ॐ यम्यम् इति। "वा छन्दसि" इति पूर्वरूपत्वाभावे यण् आदेशः। "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इति यणः स्वरितत्वम्। आगन्निति। गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "हल्ङ्या०" इत्यादिना

तिलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀। कामं विशिनष्टि। समाने साधारणे योनौ एकस्मिन् शयने सहशोय्याय सहशयनार्हाय। ❀ शेयं शयनम्। "अचो यत्" इति भावे यत्। "तद् अर्हति" इति यत् ❀। यद्वा शय्याम् अर्हतीति शय्यः तस्मै। ❀ "तद् अर्हति" इति यत्। एकारोपजनश्छान्दसः ❀। तदर्थं तन्वम् तनूं मामकीनां रिरिच्याम् पृथक् कुर्याम्। तदधीनां कुर्याम् इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः जायेव पत्ये इति। यथा स्वकीयाय भर्त्रे जाया पत्नी स्वकीयां तनुं पत्यधीनां करोति एवम् इत्यर्थः। तस्मिन् यथा विस्रम्भेण कामोपभोगः एवं करोमीत्यर्थः। अनन्तरं वि वृहेव आवां संश्लेषं करवाव। इतरेतरयोः संश्लेषो विवर्हो। तत्रापि दृष्टान्तोभिधीयते। रथ्येव चक्रा रथ्यया रथयोग्यया पदव्या सह चक्रा चक्राणि यथा वृहन्ति तद्वत्। ❀ रथ्येति। "तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इति यत् ❀। अथ वा रथ्येव रथाधाराणि चक्राणि अक्षेण सह विवर्हं कुर्वन्ति तद्वद् इति व्याख्येयम्॥

[यह भी यमीका वचन है, कि–] मुझ यमीको यमकी अभिलाषा होगई है, मैं साधारण शय्या पर एक साथ शयन करने योग्य यमके लिये जैसे जाया अपने पतिके लिये शरीरको अर्पण कर देती है इसी प्रकार, अपने शरीरको उनके अर्पण करूँ फिर जैसे रथके चलने योग्य मार्गमें पहिये संश्लेष करते हैं इसी प्रकार परस्पर संश्लिष्ट होऊँ॥ ८॥

नवमी॥

न ति॑ष्ठन्ति॒ न नि मि॑षन्त्ये॒ते दे॒वानां॒ स्पश॑ इ॒ह ये चर॑न्ति।
अ॒न्येन॒ मदा॑हनो याहि॒ तूयं॒ तेन॒ वि वृ॑ह र॒थ्ये॑व च॒क्रा ९

न । तिष्ठन्ति । न । नि । मिषन्ति । एते । देवानाम् । स्पशः ।
इह । ये । चरन्ति ।
अन्येन । मत् । आहनः । याहि । तूयम् । तेन । वि । वृह । रथ्याऽ-
इव । चक्रा ॥ ९ ॥

इह अस्मिन् लोके ये देवानां स्पशः चराः चरन्ति भ्रमन्ति तेषां मध्ये एके केनापि न तिष्ठन्ति एकत्र स्थितिं न कुर्वन्ति । तथा न नि मिषन्ति । पक्ष्मसंकोचनं निमेषः । तदपि न कुर्वन्ति । न निद्रान्तीत्यर्थः । सर्वदैव स्पशा जागरूका वर्तन्त इत्यर्थः । ❀ स्पश इति । जसः सुः । विभक्त्या प्रकृत्यः ❀ । यत एवम् अतः हे आहनः मत् मत्तः अन्येन सह । ❀ "एकवचनस्य च" इति पञ्चम्या मत् आदेशः ❀ । तेन सह । रमस्वेति शेषः । तदर्थं तूयम् तूर्णं याहि गच्छ । तेन सह वि वृह संश्लेषं कुरु । रथ्येव चक्रेति दृष्टान्तवचनं व्याख्यातम् ॥

[यम कहते हैं, कि—] इस लोकमें जो देवताओंके दूत घूमते हैं उनमें एक भी एक ही स्थान पर नहीं बैठा रहता अर्थात् वे सर्वत्र विचरण करते हैं। और वे पलक भी नहीं मारते हैं सदा सावधान रहते हैं अतः हे मेरे धर्ममय मनोरथको नष्ट करना चाहने वाली ! तू मुझे छोड़ कर दूसरेके साथ रमण कर उसके पास शीघ्रतासे जा और जैसे पहिये रथमार्गसे लिपटते हैं वा रथके आधार चक्र जैसे अक्षसे लिपटा करते हैं तिस प्रकार उससे संश्लेषण कर ॥ ९ ॥

दशमी ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मि-
मीयात् ।

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहाद-
जामि ।

रात्रीभिः । अस्मै । अहऽभिः । दशस्येत् । सूर्यस्य । चक्षुः । मुहुः ।
उत् । मिमीयात् ।

दिवा । पृथिव्या । मिथुना । सबन्धू इति सऽबन्धू । यमीः । यमस्य ।
विवृहात् । अजामि ॥ १० ॥

इदं यमीवचनम् । अस्मै यमाय रात्रीभिः तथा अहभिः अहोभिः ।
रात्रिषु अहःसु चेत्यर्थः । सर्वदा दशस्येत् । ❀ दशस्यतिर्दान-
कर्मा ❀ । प्रयच्छतु । यजमानो हविरिति शेषः । तथा सूर्यस्य देवस्य
चक्षुः प्रकाशकं तेजः मुहुः अन्वहम् उन्मिमीयात् ऊर्ध्वं गच्छेत् ।
अस्मा अर्थायेति शेषः । सूर्योदयोपि अस्य भोगायास्त्वित्यभि-
प्रायः । ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे । व्यत्ययेन श्लुः दीर्घश्च ❀ । किं च
दिवा पृथिव्या च दिवा सह पृथिवी पृथिव्या सह द्यौश्च मिथुना
मिथुने परस्परं मिथुने अविश्लिष्टे सबन्धू समानबन्धने यथा एक-
भनस्के एवं यमीः यमी । ❀ सोः सुः ❀ । यमस्य अजामिः अ-
बन्धुः स्वसृरूपबन्धुत्वरहिता सती वि हरात् विहरणं कुर्यात् इति
परोक्षत्वेन आत्मनो व्यपदेशः ॥

॥इति अष्टादशकाण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

[यह यमीका वचन है, कि–] यजमान इन यमके लिये दिन
और रात हवि देवें । और सूर्यदेवका प्रकाशक तेज इनके लिये
प्रतिदिन उदय होवे अर्थात् सूर्योदय भी इनके संभोगके लिये हो ।
और द्युलोकके साथ पृथिवीलोक जैसे परस्पर संश्लिष्ट हैं और
सबंधु हैं इसी प्रकार यमी भी यमकी बहिनरूप बंधुत्वसे रहित
होती हुई परस्पर संश्लेषण करे ॥ १० ॥ (१)

अठारहवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

"आ घा ता" इति द्वितीयं सूक्तम् ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

आ । घ । ता । गच्छान् । उत्ऽतरा । युगानि । यत्र । जामयः । कृणवन् । अजामि ।
उप । बर्बृहि । वृषभाय । बाहुम् । अन्यम् । इच्छस्व । सुऽभगे । पतिम् । मत् ॥ ११ ॥

इदं यमवाक्यम् । घ इति पादपूरणः । ता तानि उत्तरा उत्तराणि युगानि अहोरात्रयोर्युगलानि । आगामिनो दिवसाः इत्यर्थः । आ गच्छान् आगच्छेयुः । ननु दिनानि आगच्छन्त्येव किमिति आशास्यत इत्याशङ्क्याह उत्तराणि दिवसानि विशिनष्टि । यत्र येषु आगामिषु दिवसेषु जामयः बन्धवः स्वसृभूताः अजामि अबन्धुत्वं भार्यात्वं कृणवन् कुर्युः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ । यस्माद् एवं तस्मात् हे यमि त्वं वृषभाय सेक्त्रे संभोगं कुर्वते अन्यस्मै बाहुम् स्वीयं भुजम् उप बर्बृहि अतिवृद्धं कुरु । ❀ बृहेर्यङ्लुगन्तात् लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिः । तस्य ङित्वाद् गुणाभावः । धातोरन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । तदर्थम् हे सुभगे कामिनि मत् मत्तः । ❀ "एकवचनस्य च" इति पञ्चम्या मदादेशः ❀ । अन्यं पतिम् इच्छस्व कामयस्व ॥

[यह यमका वाक्य वाक्य है, कि—] वे दिन रात अर्थात् दिन आगे आवेंगे जब कि—बहिनरूप बन्धु अबन्धुत्व-भार्यात्व—को करने लगेंगी, इस कारण हे यमि! तू सेचन कर सकने वाले दूसरे पुरुषके लिये अपने हाथको बढ़ा इस प्रकार हे सुभगे! तू मुझको छोड़कर अन्य किसीको पति बनानेकी इच्छा कर ॥११॥

द्वितीया ॥

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्नि-
ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि

किम् । भ्राता । असत् । यत् । अनाथम् । भवाति । किम् । ऊ
इति । स्वसा । यत् । निःऽऋतिः । निऽगच्छात् ।
कामऽमूता । बहु । एतत् । रपामि । तन्वा । मे । तन्वम् । सम् ।
पिपृग्धि ॥ १२ ॥

इदं यमीवचनम् स किं भ्राता असत् भ्राता भवेत् न भवत्येव। स भ्राता क एवं निन्द्यत इति तम् आह। यत् यदि भ्रातरि विद्यमाने स्वसा अनाथं नाथरहितम् अपेक्षितकामशून्यं भवाति भवेत्। स किं भ्रातासद् इति पूर्वत्रान्वयः। एवं भ्रातरं निन्दित्वा स्वसारं निन्दति। सा किम् स्वसा असत् स्वसा भवेत् न भवत्येव। कैवं निन्द्यत इति तां विशिनष्टि। यत् यदि स्वसभूतायां विद्यमानायां भ्रातरं निर्ऋतिः दुःखं निगच्छात् प्राप्नुयात्। सा किमु स्वसेति संबन्धः। यतोहं सनाथा अतः काममूता कामेन मूर्छिता बहुविधकामोपेता बहु अधिकम् एतत् इदानीम् एतेन कारणेन वा रपामि प्रलापं करोमि। ❀ बह्वेतत् इत्यत्र संहितायां

"स्वरितो वानुदात्ते पदादौ" इति उदात्तयणः परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् ॥ अतो मम मल्लापस्य सार्थकत्वाय मे मम तन्वा शरीरेण सह हे भ्रातः तन्वम् तनं तावकं शरीरं सं पिपृग्धि संपर्चय। ॥ पृची संपर्के। व्यत्ययेन श्नुः। "बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य ह्रस्वम् ॥।

यह यमीका वचन है, कि-वह क्या भाई है, कि-जिस भाई के विद्यमान रहने पर बहिन अपेक्षित कामसे शून्य रह जावे और वह भी कैसी बहिन, कि-जिसके रहते हुए भाईको दुःख मिले, किंतु मैं सनाथ हूँ इस कारण कामसे मूर्छित होकर बहुतसा मुल्लाप कर रही हूँ, अत एव मेरे मल्लापको सार्थक करनेके लिये मेरे शरीरके साथ अपने शरीरको संयुक्त करिये ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम् ।
अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥

न। ते। नाथम्। यमि। अत्र। अहम्। अस्मि। न। ते। तनूम्। तन्वा। सम्। पपृच्याम्।

अन्येन। मत्। प्रऽमुदः। कल्पयस्व। न। ते। भ्राता। सुऽभगे। वष्टि। एतत् ॥ १३ ॥

इदं यमवाक्यम्। हे यमि अत्र अस्मिन् विषये ते तव अहं नाथम् अभिमतार्थसंपादको भ्राता नास्मि न भवामि। किं च ते तव तन्वा शरीरेण सह नूनम् निश्चयं न सं पपृच्याम् संपर्क

न करोमि । तस्मात् मत् मत्तः अन्येन पुरुषान्तरेण सह प्रमुदः प्रमोदान् संभोगजनितान् कल्पयस्व साधय । ते तव भ्राता अयं जनः हे सुभगे संभोगार्थिनि एतत् जायापत्यलक्षणं कर्म न वष्टि न कामयते ॥

[यह यमका वचन है, कि–] हे यमि ! मैं इस विषयमें तेरी कामनाको पूर्ण करने वाला नाथ नहीं बन सकता और तेरे शरीरसे किसी प्रकार सम्पर्क नहीं कर सकता अतएव तू मुझको छोड़ कर और किसी पुरुषके साथ संभोगसे होने वाले आनन्दों को साध । हे सुभगे ! तेरा यह भाई इस जायापत्यरूप कर्मकी अभिलाषा नहीं करता ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

न वा उ॑ ते त॒नूं त॒न्वा॒३॒ सं प॑पृच्यां पा॒पमा॑हु॒र्यः स्वसा॑रं नि॒गच्छा॑त् ।

अस॑ंयदे॒तन्मन॑सो हृ॒दो मे॒ भ्राता॒ स्वसुः॒ शय॑ने॒ यच्छयी॑य ॥ १४ ॥

न । वै । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । त॒नूम् । त॒न्वा॑ । सम् । प॒पृ॒च्या॒म् । पा॒पम् । आ॒हुः । यः । स्वसा॑रम् । नि॒ऽगच्छा॑त् ।

अस॑म्ऽयत् । ए॒तत् । मन॑सः । हृ॒दः । मे॒ । भ्राता॑ । स्वसुः॑ । शय॑ने । यत् । श॒यी॒य ॥ १४ ॥

इदमपि यमवाक्यम् । पूर्वमन्त्रोक्तमेव निषेधम् अत्यन्तपापतया पुनर्द्रढयति । हे यमि ते तव तन्वा सह तनूम् मदीयां न वै सं पपृच्याम् नैव संपर्चयामि । संपर्काभावे हेतुम् आह । स्वसारम् भगिनीं निगच्छात् भ्राता संभोगं कुर्यात् इति यत् एतत् पापं

निषिद्धम् आहुः ब्रुवते धर्मरहस्यविदः । न केवलं पारलौकिकं पापमेव अपि तु दृष्टबाधाप्यस्तीत्याह । एतत् वक्ष्यमाणं कर्म मे मम मनसः हृदः हृदयाच्च अथवा मनसा हृदयेन च सह असुम् प्राणम् । अपहरेत् इति शेषः। एतच्छब्दार्थम् आह । भ्राता सन् स्वसुर्भगिन्याः शयने । शय्यते अत्रेति शयनम् । एकस्यां शय्यायां शयीय शयनं कुर्याम् इति यद् एतद् इति पूर्वत्रान्वयः ॥

[यह भी यमका वचन है, इसमें पूर्वोक्त निषेधको ही परम पाप होनेसे फिर दृढ़ किया है, कि-] हे यमि ! तेरे शरीरसे मैं अपने शरीरका किसी प्रकार स्पर्श नहीं करूँगा [सम्पर्क न करनेका कारण यह है,कि-]धर्मके रहस्यको जानने वाले पुरुष, भाई बहिनसे संभोग करे.इसको पाप कहते हैं [पारलौकिक ही पाप नहीं होगा, किंतु दृष्टबाधा भी है, कि-] जो मैं भाई होकर बहिनकी शय्या करूँ तो यह कर्म मेरे हृदयको मनको और प्राण को भी नष्ट कर डालेगा ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

बुतो बंतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कुक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

बतः । बत । असि । यम । न । एव । ते । मनः । हृदयम् । च । अविदाम ।
अन्या । किल । त्वाम् । कक्ष्याऽइव । युक्तम् । परि । स्वजातै । लिबुजाऽइव । वृक्षम् ॥ १५ ॥

इदं यमीवाक्यम् । हे यम त्वं बतोसि बलाद् अतीतो भवसि

दुर्बलो जातोसि बत। खेदानुकम्पयोर्बतशब्दः अत्र खेदे वर्तते। यमस्य पराधीनतया दौर्बल्यं यम्याः खेदाय संपद्यते। स्वाभिमतकार्यस्य तत्रासंभवात् खेदश्च। नैव ते मनः तव मनो मयि नास्त्येव। मयि उदासीनो भवसीत्यर्थः। किं च तव हृदयम् अविदाम ज्ञातवन्तः स्मः। बहुवचनं पूजार्थम्। हृदयस्य स्वाधीनताया अभावात् खेदेनेदम्। उच्यते। हृदयपरिज्ञानप्रकारं प्रकटयति अन्या किलेति। अन्या मत्तः अपरा कामिनी त्वां परि ष्वजातै परिष्वङ्गं कृतवती तस्मात् माम् अवमन्यसे। अत एव च पराधीनत्वाद् दुर्बलश्च भवसीत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तद्वयम्। कक्ष्येवेति एकः। अश्वस्य कक्षप्रदेशस्था रज्जुः कक्ष्या। सा यथा युक्तम् स्वसंबद्धम् अश्वं परिष्वजति श्लिष्टा भवति तद्वत्। दुर्दान्तोप्यश्वः कक्ष्यया सम्बद्धो यथा स्वाच्छन्द्येन वर्तितुं न शक्नोति तद्वदिति। लिबुजेव वृक्षम् इति द्वितीयो दृष्टान्तः। लिबुजा व्रततिर्भवति [नि० ६. २८] इति निरुक्तम्। सा यथा गाढं वृक्षम् आदित आरभ्य अग्रम् आलिङ्गति तद्वत् त्वाम् अन्या सर्वात्मना स्वाधीनं चकार। एकदेशसंश्लेषस्य सर्वाङ्गसंश्लेषस्य च क्रमेण दृष्टान्त द्वयम्। ❀ अत्र यमो बताद् अतीतो भवति दुर्बलो बतासि [नि० ६. २८] इत्यादि निरुक्तम् अनुसंधेयम् ❀॥

[यह यमीका वचन है, कि–] हे यम! तुम दुर्बल हो इसका मुझको खेद है, तुम्हारा मन मुझमें नहीं है अत एव तुम उदासीन हो और मैं आपके हृदयको नहीं समझ सकी हूँ, किसी दूसरी स्त्रीने तुमको आलिंगन किया है इसी कारण तुम मेरा अपमान कर रहे हो अत एव ही आप पराधीन होनेसे दुर्बल हो रहे हैं। जैसे घोड़ेकी बगलमें पड़ी हुई रस्सी उसको लिपटी रहती है और उससे लिपटा हुआ दुर्दान्त अश्व भी कहीं नहीं जा सकता और जैसे व्रतति वृक्षसे लिपटी हुई होती है इसीप्रकार अन्य स्त्रीके जकड़ने पर तुम दुर्बल होगए हो॥ १५॥

षष्ठी ॥

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मनं इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं
सुभंद्राम् ॥ १६ ॥

अन्यम् । ऊं इति । सु । यमि । अन्यः । ऊं इति । त्वाम् ।
परि । स्वजातै । लिबुजाऽइव । वृक्षम् ।
तस्य । वा । त्वम् । मनः । इच्छ । सः । वा । तव । अध । कृणुष्व ।
सम्ऽविदम् । सुऽभद्राम् ॥ १६ ॥

इदं यमवाक्यम् । हे यमि त्वम् अन्यम् सु । उशब्दः एवार्थे । अन्यमेव सुष्ठु परि ष्वजातै अन्य उ एवं त्वामपि अन्यः परि ष्वजातै । एवं परस्परं कुरुतम् इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । लिबुजेव वृक्षम् । गतम् एतत् । संश्लेषस्य उभयव्यापारजत्वाद् व्यतिहारेणाभिधानम् । परस्परसंश्लेषः समानमनस्कत्वम् अन्तरेण न घटत इत्यभिप्रेत्य आह तस्य वा त्वम् इति । हे यमि तस्य वा मनस्त्वम् इच्छ । वाशब्दश्चार्थे । तस्य मनसे यद् रोचते तदेव त्वम् अनुसरेत्यभिप्रायः । स वा तव । मन इच्छतिवति शेषः । तव मनस आनुकूल्यं भजताम् । अध अथ परस्परानुकूल्यानन्तरं सुभद्राम् अत्यन्तकल्याणां संविदम् संवित्तिं सुखानुभवं तेन सह कृणुष्व कुरु ॥

[यह यमका वचन है, कि–] हे यमि ! जैसे रस्सी घोड़ेका आलिंगन करती है और व्रतति जैसे वृक्षको जकड़ लेती है इसी प्रकार तू दूसरे पुरुषका आलिंगन कर और दूसरा पुरुष तेरा आलिंगन करे, तू उसके मनके अनुकूल चल और वह तेरे

मनके अनुकूल चले, परस्पर अनुकूल होनेके अनन्तर तू उसके साथ परम कल्याण देने वाले सुखका अनुभव कर ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि

त्रीणि । छन्दांसि । कवयः । वि । येतिरे । पुरुऽरूपम् । दर्शतम् । विश्वऽचक्षणम् ।
आपः । वाताः । ओषधयः । तानि । एकस्मिन् । भुवने । आर्पितानि ॥ १७ ॥

कवयः क्रान्तप्रज्ञा ज्ञानिनः पूर्वे महर्षयः देवा वा त्रीणि छन्दांसि। अत्र छादनाच्छन्दांसीति व्युत्पत्त्या छन्दःशब्देन वक्ष्यमाणा अबादयस्त्रयो सृज्यन्ते । तानि वि येतिरे यत्नं कृतवन्तः । जगन्निर्वाहायेति शेषः । तेषु एकैकं विशिनष्टि । तेषु मध्ये आपः अप्तत्त्वं पुरुरूपम् नानारूपम् अविकारत्वात् सर्वेषां रूपाणाम् । दर्शतम् दर्शनीयं स्पृहणीयत्वेन प्रियदर्शनम् विश्वचक्षणम् विश्वस्य द्रष्टृ । एवं वाताः वायुतत्त्वमपि प्राणात्मना पुरुरूपं भवति दर्शनीयं च भवति । सूत्रात्मतया विश्वद्रष्टृपि । एवम् ओषध्यात्मकमपीति द्रष्टव्यम् । यद्वा समुदायाभिप्रायेण एकवचनम् । तद् अबादित्रयं पुरुरूपत्वादिधर्मकम् इत्यर्थः । त्रीणि छन्दांसीति उक्तम् । कानि तानि त्रीणीति तत्राह आपो वाता ओषधय इति । अबादीनां भुवनाच्छादकत्वं प्रसिद्धम् एव । तेषां भुवनैकप्रयोजकताम् । आह तानीति । भवन्ति अत्र प्राणिनः अप्राणिनश्चेति भुवनं भूलोकः । तत्र तन्निर्वाहार्थम् आर्पितानि स्थापितानि सृष्ट्यादौ ॥

पहिले बुद्धिमान् देवताओंने संसारका आच्छादन करनेवाले जल आदि तीनको जगत्का आच्छादन करनेके लिये यज्ञ किया था। इनमें जलतत्व अनेक रूप वाला है, क्योंकि–सब रूप जल के ही विकार हैं और यह जलतत्त्व स्पृहणीय होनेसे प्रियदर्शन है और विश्वका द्रष्टा है। इसी प्रकार वायुतत्त्व भी प्राणात्मा-रूपसे अनेक प्रकारका होता है और दर्शनीय भी होता है और सूत्रात्मारूपसे विश्वद्रष्टा भी होता है। इसी प्रकार औषधि भी अनेक रूप वाली, दर्शनीय और सकल रोगोंकी द्रष्टा होती है। इन जल वायु और औषधिको देवताओंने (जिसमें प्राणी और अ-प्राणी होते हैं उस) भूलोकमें निर्वाहके लिये स्थापित किया है॥

अष्टमी ॥

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेर-
दाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति
यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

वृषा । वृष्णे । दुदुहे । दोहसा । दिवः । पयांसि । यह्वः । अदितेः ।
अदाभ्यः ।
विश्वम् । सः । वेद । वरुणः । यथा । धिया । सः । यज्ञियः ।
यजति । यज्ञियान् । ऋतून् ॥ १८ ॥

वृषा कामानाम् अपां च वर्षिता अग्निः वृष्णे आज्यपयआदे-र्वर्षित्रे प्रयच्छते यजमानाय तद्भोगार्थं दोहसा दोहनसाधनेन यज्ञा-दिना दिवः सकाशात् पयांसि उदकानि दुदुहे वर्षितवान्। की-

दशो वृषा । महः महन्नामैतत् । महान् । अथ द्यौर्विशेष्यते । अदिते । अखण्डनीयायाः । न हि द्यौः केनचित् खण्ड्यते । अदाभ्य इति वृष्णो विशेषणम् । कैरपि रक्षःप्रभृतिभिः अहिंसितः । स तादृशोऽग्निः विश्वम् सर्वं धिया प्रज्ञानेन वेद जानाति साक्षात्करोति । तत्र दृष्टान्तः । वरुणो देवो यथा धिया वेत्ति तद्वत् । स च यज्ञियः यज्ञार्होऽग्निः । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्याम्०" इति घः ❀ । यज्ञियान् यज्ञार्हान् यष्टव्यान् ऋतून् अभिगन्तॄन् यद्वा यज्ञियान् यज्ञियेषु ऋतुषु कालेषु तत्तद्विहितकाले यष्टव्यान् देवान् यजतीति व्याख्येयम् ॥

कामनाओंकी और जलकी वर्षा करने वाले तथा राक्षस आदि से अहिंसित महान् अग्निदेव घृत दुग्ध आदिकी वर्षा करनेवाले यजमानके लिये दोहन साधन यज्ञ आदिके द्वारा अखण्डनीय द्युलोकसे जलोंकी वर्षा करते हैं। ऐसे यह अग्निदेव अपनी बुद्धि से सबको इस प्रकार जान जाते हैं, जिस प्रकार वरुणदेव अपनी बुद्धिसे सबको जानते हैं। और वही यज्ञके योग्य अग्नि यज्ञकी ऋतुमें पूजा करने योग्य देवताओंकी पूजा करते हैं ॥ १८ ॥

नवमी ॥

रपद् गन्धर्वीरप्यां च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।

इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥ १९ ॥

रपत् । गन्धर्वीः । अप्या । च । योषणा । नदस्य । नादे । परि । पातु । नः । मनः ।

इष्टस्य । मध्ये । अदितिः । नि । धातु । नः । भ्राता । नः । ज्येष्ठः । प्रथमः । वि । वोचति ॥ १९ ॥

गन्धर्व्याः गन्धर्वस्य उदकधारकस्य भरतस्य, आदित्यस्य स्वभूता भारती अप्या योषणा च अप्संबन्धिनी अप्स्यायिनी युवतिः सरस्वती च रपत् रपतु स्पष्टं वक्तु मद्द्वारा अग्निं स्तौतु । नदस्य नादे स्तोतुर्मम स्तोत्ररूपे नादे कर्तव्ये ध्वनौ नो मनः मम मनः परि पातु परितो रक्षतु । भारती सरस्वती चेति शेषः । अनन्तरम् इष्टस्य फलस्य यागस्य वा मध्ये नः अस्मान् अदितिः देवमाता देवी नि धातु स्थापयतु इष्टं योजयतु । भ्राता भरणकर्ता भ्रातृवत् हितकारी ज्येष्ठः गुणैः प्रशस्यः प्रथमोग्निः । ❀ प्रथम इति मुख्यनाम । प्रतमो भवति [नि० २. २२] इति निरुक्तम् ❀ । वि वोचति विवक्तु साधु यष्टा अयम् इति मयि ब्रवीत्वित्यर्थः । ❀ वि वोचति । "लिङ्थाशिष्यङ्" इति विहितोऽङ्प्रत्ययो व्यत्ययेनात्र न प्राप्तः । "वच उम्" इति अङ्प्रत्ययनिबन्धन उमागमः ❀ ॥

जल को धारण करने वाले सूर्यकी स्वभूता भारती और अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली युवती सरस्वती मेरे द्वारा अग्निकी स्पष्टरूपसे स्तुति करें और मुझ स्तोताके स्तोत्ररूप नादमें मेरे मन की रक्षा करें, इसके अनन्तर देवमाता अदिति फल वा यागमें मुझको स्थापित करें और भाईकी समान हित करने वाले गुणों में ज्येष्ठ यह मुख्य अग्नि भी मेरे लिये कहें, कि–यह बहुत अच्छा यजमान है ॥ १९ ॥

दशमी ॥

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।

यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥ २० ॥

सो इति । चित् । नु । भद्रा । क्षुऽमती । यशस्वती । उषाः । उवास । मनवे । स्वःऽवती ।

यत् । ईम् । उशन्तम् । उशताम् । अनु । क्रतुम् । अग्निम् । होतारम् । विदथाय । जीजनन् ॥ २० ॥

सो चित् सैव खलु भद्रा भन्दनीया कल्याणी क्षुमती मन्त्ररूपशब्दवती । प्रातरनुवाकादौ बहुभिरुषस्यसूक्तैः शस्यमानत्वात् । अथ वा तस्मिन् काले पक्ष्यादीनां प्रबुद्धानां शब्ददर्शनात् क्षुमती । यशस्वती । यश इति अन्ननाम । अन्नवती मनुष्योपभोगार्थेन अन्नेन हविर्लक्षणेन वा तद्वती । तथा स्वर्वती स्वः आदित्यः । तद्वती । तदविनाभावात् । ❁ "छन्दसीवनिपौ०" इति मतुपो वत्वम् ❁ । एवंरूपा उषाः मनवे मनुष्याय । ❁ जातावेकवचनम् ❁ । मनुष्याणां व्यवहाराय यजमानाय वा तस्याग्निहोत्राद्यर्थाय उवास प्रादुरभूत् । तमो निराचकारेत्यर्थः । यत् यदा ईम् एनम् उशन्तम् कामयमानं होतारम् देवानाम् आह्वातारं होमनिष्पादकं वा अग्निम् उशताम् यज्ञार्थं कामयमानानां यजमानानां तेषां विदथाय यज्ञाय देवानां हविःप्रापणाय अनु क्रतुम् सर्वत्र क्रतौ तत्तत्क्रत्वर्थं जीजनन् अजीजनन् उदपादयन् अध्वर्यवः ॥

[इति] अष्टादशकाण्डे प्रथमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जब अध्वर्युओंने इन इच्छा करते हुए देवताओंका आह्वान करके अग्निदेवको यज्ञके लिये कामना करने वाले यजमानोंके यज्ञोंमें देवताओंको हवि पहुँचानेके लिये क्रतुओंके लिये प्रकट

किया उसी समय यह कल्याणी मन्त्ररूप शब्द वाली हविरूप अन्न वाली और सूर्यसे संपन्न उषा यजमानोंके अग्निहोत्र आदि के व्यवहारको सिद्ध करनेके लिये प्रकट होती है—अन्धकारको दूर करती है ॥ २० ॥ (२)

अठारहवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त।

अथ तृतीयं सूक्तम् ॥

तत्र प्रथमा ॥

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे ।

यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥ २१ ॥

अध । त्यम् । द्रप्सम् । विऽभ्वम् । विऽचक्षणम् । विः । आ । अभरत् । इषिरः । श्येनः । अध्वरे ।

यदि । विशः । वृणते । दस्मम् । आर्याः । अग्निम् । होतारम् । अध । धीः । अजायत ॥ २१ ॥

अध अथ अनन्तरं त्यम् तम् । "तृतीयस्याम् इतो दिवि सोम आसीत्" [तै० ब्रा० ३. २. १. १]इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धम्। द्रप्सम् देवैर्मनुष्यैश्च भक्षणीयं सोमम् । कीदृशम् । विभ्वम् महन्नामैतत् । महान्तं विचक्षणम् विद्रष्टारम् एवंलक्षणं सोमम् इषिरः प्रकृष्टगमनः एषणां प्राप्तः अग्न्यादिदेवैः प्रार्थितो वा श्येनः शंसनीयगतिः सौपर्णो विः पक्षी अध्वरे यज्ञे निमित्तभूते सति आभरत् आहरत् आहृतवान् । गायत्री सुपर्णरूपं धृत्वा द्युलोकात् सोमम्

आहरद् इत्येतद् आख्यानम् "तृतीयस्याम् इतो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णम् अच्छिद्यत" [तै० ब्रा० ३.२.१.१] "कद्रूश्च वै सुपर्णी चास्पर्धेताम्" [तै० सं० ६.१.६.१] इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम् । एवम् आहृते सोमे यदि यदा आर्याः सर्वैरभिगन्तव्या विशः प्रजाः यजमाना दस्मम् दर्शनीयम् अग्निं होतारम् होमनिष्पादकम् । ❀ जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः इति निरुक्तम् [नि० ७.१५] ❀ । होतृत्वेन वृणते वरणं कुर्वन्ति पुरस्कुर्वन्ति अध अथ अनन्तरं सोमस्य अग्नेश्च सिद्धत्वाद् धीः । कर्मनामैतत् । अग्निष्टोमादिलक्षणं कर्म अजायत निष्पन्ना भवति । अग्निम् अन्तरेण कस्यचिदपि कर्मणः असिद्धेः यदी विशो वृणते अथ धीरजायतेति अग्नेर्होतृत्वोपयोगित्वेन स्तुतिः ॥

इसके अनन्तर "तृतीयस्यां इतो दिवि सोम आसीत्–इस भूलोकसे तीसरे लोक द्युलोकमें सोम था" इस तैत्तिरीय आरण्यक ३।२।१।१ की श्रुतिमें प्रसिद्ध देवता और मनुष्योंसे भक्षणीय महान् द्रष्टा सोमको अग्नि आदि देवताओंसे प्रार्थित प्रशंसनीय गति वाले सुपर्ण पक्षी यज्ञके लिये लाये थे [गायत्री सुपर्णका रूप बनाकर द्युलोकसे सोमको लाई थी, यह आख्यान निम्नलिखित श्रुतियोंमें है। "तृतीयस्यां इतो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णं अच्छिद्यत ।" तैत्तिरीयसंहिता ३।२।१।१ और कद्रूश्च वै सुपर्णी अस्पर्धेताम् ।–कद्रू और सुपर्णीने परस्पर स्पर्धा की" तैत्तिरीयसंहिता ६।१।६।१] इस प्रकार सोमके लाने पर जब आर्यप्रजा इन दर्शनीय अग्निका होम निष्पादकरूपमें वरण करती हैं तब सोमके और अग्निके सिद्ध होने पर अग्निष्टोम आदि कर्म सम्पन्न होता है तात्पर्य यह है, कि–अग्निके अभावमें कोई भी कर्म सिद्ध नहीं हो सकता अत एव यजमान आदि इसका वरण करते हैं तो कर्म चलता है अत एव होतृत्वमें उपयोगी होनेसे यह अग्निकी स्तुति हुई ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

सदांसि रण्वो यवंसेव पुष्यते होत्रांभिरग्ने मनुंषः स्वध्वरः विप्रस्य वा यच्छंशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः ॥ २२ ॥

सदा । असि । रण्वः । यवसाऽइव । पुष्यते । होत्राभिः । अग्ने । मनुषः । सुऽअध्वरः ।

विप्रस्य । वा । यत् । शशमानः । उक्थ्यः । वाजम् । ससऽवान् । उपऽयासि । भूरिऽभिः ॥ २२ ॥

हे अग्ने स्वध्वरः शोभनयागः सुष्ठु यागस्य निर्वर्तकस्त्वं मनुषः मनुष्यस्य स्वभूताभिः होत्राभिः होमसाधनाभिः आज्यादिभिः पुष्यते पोषयित्रे यजमानाय तदर्थं सदा सर्वदा रण्वः रमणीयः दर्शनीयोसि । तत्र दृष्टान्तः । यवसेव यवसा हरिततृणादिना गवादिरिव । स यथा पुष्यते स्वामिने रमणीयो भवति तद्वत् । यत् यस्त्वं शशमानः शंसन् यजमानं प्रशंसन् उक्थ्यः स्तोतव्यश्च सन् विप्रस्य मेधाविनो यजमानस्य वाजम् अन्नं हविर्लक्षणं ससवान् संभजमानः भूरिभिः बहुभिः कामैः सहितस्त्वं बहुभिर्देवैः सहितो वा उपयासि उपगच्छसि । यत एवं करिष्यसि अतस्त्वं यजमानस्य सदा रण्वोसीति संबन्धः ॥

हे अग्निदेव ! आप यज्ञको सुन्दरतासे निष्पन्न करने वाले हैं और जैसे हरित तृण आदिसे पुष्ट होने वाला पशु अपना पोषण करने वाले पशुपालकको रमणीय दीखता है, इसी प्रकार आप भी होमके साधन घृत आदिसे अपनेको पुष्ट करने वाले यजमान

के लिये सदा दर्शनीय होते हैं, क्योंकि—आप यजमानकी प्रशंसा करते हुए और स्तुतिके योग्य होते हुए मेधावी यजमानके हवि-रूप अन्नका सेवन करते हुए बहुतसी कामनाओंके साथ उसको लेकर देवताओंके समीप पहुँचते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति ।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती ॥ २३ ॥

उत् । ई॒र॒य॒ । पि॒तरा॑ । जा॒रः । आ । भग॑म् । इय॑क्षति । ह॒र्य॒तः । हृ॒त्तः । इ॒ष्य॒ति॒ ।
विव॑क्ति । वह्निः॑ । सु॒ऽअ॒प॒स्यते॑ । म॒खः । त॒वि॒ष्यते॑ । असु॑रः । वेप॑ते । म॒ती ॥ २३ ॥

हे अग्ने त्वं पितरा पितरौ मातापितरौ । ❀ “पिता मात्रा” इत्येकशेषः ❀ । अत्र द्यावापृथिव्यौ गृह्येते । “द्यौः पितः पृथिवि मातः” [तै० ब्रा० २. ८. ६. ५] “द्यौः पिता पृथिवी माता” [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ४] इत्यादिश्रुतिषु तथा श्रवणात् । तौ उदीरय उद्गमय यज्ञं प्रति प्रेरय । यद्वा तात्कं तेजः पितरौ प्रति उदीरय उद्गमय । अत्यन्तं प्रज्वलितो भवेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः जार आ भगम् । जारः आदित्यः रात्रेर्जरयिता । ❀ जार इव भगम् आदित्योत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयितेति यास्कः [नि० ३. १६] ❀ । आ इति इवार्थे । जार इव आदित्य इव । स यथा भगम् भजनीयं स्वप्रकाशं द्यावापृथिव्यौ प्रति प्रेरयति तद्वत् ।

लौकिको जारो भगम् योनिमिव इत्ययं दृष्टान्तस्तु स्पष्टं प्रतीयत एव। अथ वा जरा स्तुतिः। तत्करत्वेन तत्संबन्धी जारः स्तोता। स च भगम् भजनीयं त्वाम् आ। इयति इत्यध्याहारः। अत उदीरयेति संबन्धः॥ अथ परोक्षम् आह। इयक्षति यष्टुम् इच्छति यान् देवान् यजमानः। ❀ यजतेः सन्। अभ्यासस्य छान्दसं संप्रसारणम् ❀। तान् हर्यतः कमनीयः स्पृहणीयोग्निः हृत्तः हृद-याद् हृदयेनैव इष्यति इच्छति। स्वयं कर्तुम् इति शेषः॥ किं च वह्निः हविषां वोढाग्निः मखः मखसाधनो मंहनीयो वा स्वपस्यते शोभनकर्म कर्तुम् इच्छते। ❀ "सुप् आत्मनः क्यच्"। "नः क्ये" इति नियमात् पदसंज्ञाया अभावाद् रुत्वाभावः ❀। यजमानाय विवक्ति ब्रवीति। अभिलषितं तवेष्टं दास्यामीति भाषत इत्यर्थः। तथा तविष्यते। ❀ तविषिर्वृद्ध्यर्थः ❀। वर्धिष्यते यजमानाय असुरः बलवान् अग्निः मती मत्या कर्मणा यागेन निमित्तेन वेपते कम्पते चलति आगच्छति॥

हे अग्निदेव! आप द्युलोकरूप पिताको और पृथिवीरूप माता को यज्ञके प्रति प्रेरित करिये या अपने तेजको माता पिता की ओर प्रेरित करिये। परम प्रदीप्त हूजिये, जैसे आदित्य अपने भजनीय प्रकाशको द्युलोक और पृथिवी—लोककी ओर प्रेरित करता है इसी प्रकार आप अपने तेजको प्रेरित करिये। और यह यजमान जिन देवताओंका पूजन करना चाहता है उनको यह स्पृहणीय अग्नि हृदयसे स्वयं ही चाहता है। यह हविका वहन करने वाले पूजनीय अग्नि शोभन कर्म करना चाहते हुए यजमानसे कहते हैं, कि—मैं तेरे अभिलषित पदार्थको दूँगा और अपनेको बढ़ाने वाले यजमानके पास भी यह बलवान् अग्नि यागनिमित्तक कर्मसे आरहे हैं॥ २३॥

चतुर्थी ॥

यस्ते॑ अग्ने सु॒म॒तिं मर्तो॒ अख्य॒त् सह॑सः सूनो अति॒ स प्र शृ॑ण्वे ।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान् भूषति॒ द्यून् ॥ २४ ॥

यः । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । सु॒ऽम॒तिम् । मर्तः॑ । अख्य॑त् । सह॑सः । सू॒नो॒ इति॑ । अति॑ । सः । प्र । शृ॒ण्वे॒ ।
इष॑म् । दधा॑नः । वह॑मानः । अश्वैः॑ । आ । सः । द्यु॒ऽमान् । अम॑ऽवान् । भूष॒ति॒ । द्यून् ॥ २४ ॥

हे अग्ने ते तव सुमतिम् शोभनां बुद्धिम् अनुग्रहलक्षणां यो मर्तः मरणधर्मा मनुष्यो यजमानः अख्यत् कथयति परस्मै । स्वयं साक्षी भवतीत्यर्थः । हे सहसः सूनो बलस्य पुत्र बलेन मथ्यमानो जायत इति तादृशाग्ने स त्वयानुगृहीतो यजमानः अति आभिमुख्येन सर्वतः प्र शृण्वे प्रकर्षेण श्रूयते । ❀ शृणोतेर्लिटि "छन्दस्युभयथा" इति लिटः सार्वधातुकत्वात् "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः ❀ । सर्वत्र विश्रुतो भवति । किं च स त्वयानुगृहीतो यजमानः इषम् सर्वैरेषणीयम् अन्नं दधानः धारयन् बहन्नः सन् तथा अश्वैः बहुभिर्वहमानः अश्वैरुह्यमानो रथगामी भूत्वा द्युमान् दीप्तिमान् अमवान् बलवान् सन् द्यून् । अहर्नामैतत् । बहून् दिवसान् आ भूषति आभवति । सर्वम् अधिष्ठाय वर्तते । यद्वा भूषति बुभूषति द्युमान् अमवांश्च भवितुम् इच्छति । ❀ भवतेः सनि "सनि ग्रहगुहोश्च" इति इडभावः "इको झल्" इति कित्वाद् गुणाभावः । सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् द्वित्वाभावः ❀ ॥

हे अग्ने ! जो यजमान पुरुष आपकी अनुग्रहरूपा शोभना बुद्धिका दूसरेसे वर्णन करता है अर्थात् आपके अनुग्रहको पाकर दूसरेसे कहता है, हे बलपूर्वक मथनेसे उत्पन्न होने वाले बलके पुत्र ! वह आपसे अनुगृहीत हुआ यजमान सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है और वह आपसे अनुगृहीत यजमानसबके चाहने योग्य अन्नको धारण करता हुआ तथा बहुतसे घोड़ोंकी सवारी खाता हुआ दीप्तिमान् और बली रहता हुआ चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहता है ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् । आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

श्रुधि । नः । अग्ने । सदने । सधऽस्थे । युक्ष्व । रथम् । अमृतस्य । द्रवित्नुम् ।

आ । नः । वह । रोदसी इति । देवपुत्रे इति देवऽपुत्रे । माकिः । देवानाम् । अप । भूः । इह । स्याः ॥ २५ ॥

हे अग्ने त्वं नः अस्माकम् आह्वानं श्रुधि शृणु । कुत्रेति उच्यते । सदने सीदन्त्यत्रेति सदनं गृहं तत्र । कीदृशे सधस्थे सहस्थाने । ❀ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । देवानां साधारणे यागगृहे । तदर्थम् अमृतस्य उदकस्य द्रवित्नुम् द्रावकं रथं युक्ष्व योजय । किंच त्वं नः अस्माकम् अर्थाय रोदसी द्यावापृथिव्यौ । कीदृश्यौ । देवपुत्रे देवाः पुत्रा ययोस्ते तादृश्यौ तदुपजीव्यत्वात् तत्पुत्रत्वोपचारः । ते देवते आ वह यज्ञार्थम् । किं च त्वं

देवानां संघे माकिरप भूः मा भूः मा गच्छ। किं तु इह अस्मदीये यागगृह एव स्याः भव। सर्वकर्मार्थं सर्वदा संनिहितो भवेत्यर्थः। यद्वा देवानां मध्ये एकोपि देवो माकिरप भूः अप भूत् अपगतो मा भूत्। किं तु सर्वोपीह स्याः स्यात्। ❀"तिङां तिङो भवन्ति" इति प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमः ❀॥

हे अग्निदेव! आप देवताओंके एकत्र बैठनेके स्थान यागगृहमें हमारे आह्वानको सुनिये फि–उन देवताओंके लिये आप जलके द्रावक रथको जोड़िये और देवता जिनमें पालित होनेसे जिनके पुत्र हैं, उन द्यावापृथिवीको लाइये, देवताओंमें ऐसा कोई भी न बचे जो यहाँ न आवे॥ २५॥

षष्ठी॥

यदंग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यंजत्र।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात्॥ २६॥

यत्। अग्ने। एषा। सम्ऽइतिः। भवाति। देवी। देवेषु। यजता। यजत्र।
रत्ना। च। यत्। विऽभजासि। स्वधाऽवः। भागम्। नः। अत्र। वसुऽमन्तम्। वीतात्॥ २६॥

हे यजत्र यष्टव्य अग्ने यत् यदा एषा पुरोभाविनी समितिः समाजः। संहतिरित्यर्थः। भवाति भवति। स्तुतानां हविषां च समितिर्यदा भवति। कीदृशी। देवी दैवी देवसंबन्धिनी दीप्ता वा। कुत्र। देवेषु मध्ये। पुनः कीदृशी सा। यजता यष्टव्या पूजनीया। हे स्वधावः अन्नवः अन्नवन् अग्ने यत् यदा च रत्ना रत्नानि रम-

णीयानि धनानि विभजासि स्तोतृभ्यो विभजसि प्रयच्छसि अत्र विभागसमये नः अस्माकमपि वसुमन्तम् प्रभूतेन वसुना युक्तं भागम् अंशं वीतात् । ❀ वी गत्यादिषु । अत्र गत्यर्थः ❀ । वीहि । प्रयच्छेत्यर्थः ॥

हे पूजनीय अग्निदेव ! जब यह संहति और स्तोत्र तथा हवियों की दैवी पूजनीया संहति देवताओंमें हो, उस समय हे अन्नवान् अग्ने ! जब आप रमणीय रत्नोंको स्तोताओंको देवें तब विभाग के समय हमको बहुतसा धनका भाग दीजिये ॥ २६ ॥

"अन्वग्निः" इति सप्तमी "प्रत्यग्निः" इति अष्टमी च पूर्वत्र व्याख्याते [७. ८७. ४. ५] । तयोः पाठस्तु ।

सप्तमी ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यं उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥

अनु । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत । अनु । अहानि ।
प्रथमः । जातऽवेदाः ।
अनु । सूर्यः । उषसः । अनु । रश्मीन् । अनु । द्यावापृथिवी इति ।
आ । विवेश ॥ ७ ॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव प्रतिदिन उषःकालके प्रादुर्भाव के साथ ही प्रकाशित होते हैं—दीखते हैं, यह अग्नि पहिले उषःकालके आरम्भमें प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव दिनोंके साथ में भी प्रकाशित होते हैं और यह मुख्य जातवेदा अग्नि सूर्य बन कर † उषाको प्रकाशित हैं फिर किरणोंको प्रकाशित करते

† इस मन्त्रसे उत्तरार्धमें सूर्यरूप अग्निकी स्तुति की गई है।

हैं, इस क्रमसे यह सूर्यात्मक अग्नि द्यावापृथिवीमें सर्वत्र व्याप्त होकर प्रकाश फैलाते हैं ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहांनि प्रथमो जातवेदाः । प्रति सूर्यस्य पुरुधा चं रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥

प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि । प्रथमः । जातऽवेदाः ।

प्रति । सूर्यस्य । पुरुऽधा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान ॥ २८ ॥

प्रकृष्टज्ञानादिगुणसम्पन्न अग्निदेव प्रत्येक उषःकालके प्रादुर्भाव में प्रकाशित होते हैं और यह अग्निदेव प्रत्येक दिनोंके साथ ही प्रकाशित होते हैं और मुख्य जातवेदा सूर्यात्मक अग्निदेव अनेक रूप होनेसे अनेक प्रकारसे प्रवृत्त सूर्यकी किरणोंमें भी स्वयं ही प्रकाशित होते हैं (क्योंकि—अग्नि और सूर्यमें अत्यन्त भेद नहीं है) इस प्रकार यह द्यावापृथिवी आदि सबमें अपने प्रकाशका विस्तार करते हैं ॥ २८ ॥

नवमी ॥

द्यावां ह क्षामां प्रथमे ऋतेनांभिश्रावे भंवतः सत्यवाचां

तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । १ । २ । १० में कहा भी है, कि—"उद्यन्तं वावादित्यं अग्निरनुसमारोहति तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे।—उदय होते हुए सूर्यदेव पर अग्निदेव अनुसमारोहण करते हैं । इस कारण दिनमें अग्निदेवका धुआँ ही दीखता है" ।

दे॒वो यन्मर्ता॑न् य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वम॑सुं॒ यन् ॥ २६ ॥

द्यावा॑ । ह॒ । क्षामा॑ । प्र॒थमे॒ इति॑ । ऋ॒तेन॑ । अ॒भि॒ऽश्रा॒वे । भ॒व॒तः॒ । स॒त्य॒ऽवा॒चा ।

दे॒वः । यत् । मर्ता॑न् । य॒जथा॑य । कृ॒ण्वन् । सीद॑त् । होता॑ । प्र॒त्यङ् । स्वम् । असु॑म् । यन् ॥ २६ ॥

अत्र द्यावापृथिव्यौ यष्टुम् इच्छन् तयोर्यागस्य अग्निसव्यपेक्षत्वाद् अग्निं स्तौति । द्यावा । ❀"दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः❀ । द्यौः तथा क्षामा क्षमा पृथिवी द्यावापृथिव्यौ । ❀ व्यवहितप्रयोगश्छान्दसः । यद्वा द्योशब्दस्य द्विवचनं द्यावेति । द्यावौ । क्षामाशब्दस्य द्विवचनं क्षामेति । क्षामे । द्वन्द्वस्य युगपदधिकरणवचनत्वात् परस्परापेक्षया उभयोरपि द्विवचनत्वम् ❀ । द्यावापृथिव्यौ । ह इति प्रसिद्धौ । प्रथमे ह मुख्ये खलु सत्यवाचा सत्यवाचौ सत्यस्तुतिके । सर्वदेवमनुष्याद्याश्रयत्वात् सर्वोपकारकत्वाच्च तद्विषया स्तुतिरूपा वाक् सर्वापि सत्यैव विद्यमानगुणैव। ते ऋतेन यज्ञेन निमित्तेन यज्ञार्थम् अभिश्रावे अभितः श्रूयते इति अभिश्रावे स्तोतृ श्रवणयोग्ये भवतः । कदेति उच्यते । यत् यदा देवः द्योतमानोऽग्निः मर्तान् मनुष्यान् यजथाय यागाय यज्ञार्थं कृण्वन् कुर्वन् होता होमनिष्पादको देवानाम् आह्वाता वा प्रत्यङ् यजमानाभिमुखं स्वम् स्वीयम् असुम् प्रज्ञां यागविषयां बलं वा ज्वालालक्षणं यन् गच्छन् प्राप्नुवन् सीदत् निषीदसि । तदा अभिश्रावे भवत इति संबन्धः ॥

[अब यजमान द्यावापृथिवीका याग करना चाहता है और इनका याग अग्निकी अपेक्षा रखता है इस कारण वह अग्निकी

स्तुति करता है, कि−] द्यावा और पृथिवी मुख्य हैं और सत्यवाक् हैं अर्थात् सब देव और मनुष्योंका आश्रय होनेसे तथा सबका उपकारक होनेसे उनकी जो कुछ भी स्तुति की जाय वह ठीक ही है। जिस समय द्योतमान अग्नि मनुष्योंके पास यज्ञके लिये होमनिष्पादकरूपमें यजमानके अभिमुख अपनी ज्वालारूप जुहूको चलाते हुए बैठें उस समय वे द्यावापृथिवी यज्ञके कारण स्तोता की स्तुतिको सुनने योग्य होवें ॥ २९ ॥

दशमी ॥

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥

देवः । देवान् । परिऽभूः । ऋतेन । वह । नः । हव्यम् । प्रथमः । चिकित्वान् ।
धूमऽकेतुः । सम्ऽइधा । भाःऽऋजीकः । मन्द्रः । होता । नित्यः । वाचा । यजीयान् ॥ ३० ॥

हे अग्ने देवः द्योतमानः प्रकृष्टज्वालस्त्वम् ऋतेन यज्ञेन देवान् यष्टव्यान् परिभूः परिभवन् स्वाधीनान् कुर्वन् प्रथमः मुख्यः सन् चिकित्वान् एतेम यष्टव्या इति जानन् नः अस्माकं हव्यम् हविः वह प्रापय देवान् प्रति गमय । अथ अग्निं बहुधा प्रशंसति । धूमकेतुः धूमेन प्रज्ञायमानः समिधा समिन्धनसाधनेन काष्ठादिना भाऋजीकः भासमानदीप्तिः प्रकृष्टज्वालः मन्द्रः मोदमानः मादयिता वा होता देवानाम् आह्वाता नित्यः अविनाशी वाचा स्तुति-

रूपया यजीयान् अतिशयेन यष्टा यष्टव्यो वा। उक्तमहिमोपेतः सन् हव्यं वहेति संबन्धः ॥

इत्यष्टादशकाण्डे प्रथमोऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे प्रकृष्ट ज्वाला वाले अग्निदेव! आप यज्ञके द्वारा पूजनीय देवताओंको अपने आधीन करते हुए और प्रधान बन कर इन देवताओंका इस अवसर पर पूजन करना चाहिये यह समझते हुए उन देवताओंके पास हमारी हवि पहुँचाइये हे अग्निदेव! आप धूमसे जाननेमें आने वाले धूमकेतु हैं और समिधाओंसे आपकी ज्वाला दीप्त होती है और आप प्रसन्न करने वाले हैं, देवताओंका आह्वान करने वाले हैं, स्तुतिरूपा वाणीसे पूजा करने के पात्र हैं और अविनाशी हैं अतः आप हमारी हविको पहुँचाइये ॥ ३० ॥ (३)

अठारहवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त

चतुर्थसूक्ते प्रथमा ॥

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ २१ ॥

अर्चामि। वाम्। वर्धाय। अपः। घृतस्नू इति घृतऽस्नू। द्यावाभूमी इति। शृणुतम्। रोदसी इति। मे।
अहा। यत्। देवाः। असुऽनीतिम्। आयन्। मध्वा। नः। अत्र। पितरा। शिशीताम् ॥ २१ ॥

हे घृतस्नू उदकस्य सारयित्र्यौ द्यावापृथिव्यौ वाम् युवयोः अपः

कर्म वर्धाय अभिवृद्धये । ❀ वृधेर्घञन्तत्वाद् आद्युदात्तः ❀ । अर्चामि स्तौमि । तदर्थम् हे द्यावाभूमी द्यावापृथिव्यौ रोदसी रोधयित्र्यौ द्यावापृथिव्योर्मध्ये सर्वेषां प्राणिनां निरोधात् । अथवा रोधयित्र्यौ वृष्टिफलयोः प्रतिबन्धेन । एवंरूपे द्यावापृथिव्यौ मे मम शृणुतम् । स्तुतिम् इति शेषः ॥ अथ परोक्षम् आह । यत् येषु अहा अहस्सु देवाः । दीप्यतिरत्र स्तुत्यर्थः । सुवयोः स्तोतारः ऋत्विजः असुनीतिम् असूनां बलानां नयनम् आयन् अगच्छन् स्वकीयं बलं यज्ञार्थम् अकुर्वन् । अत्र एषु दिवसेषु पितरा पितरौ मातापितरौ द्यावापृथिव्यौ नः अस्माकं मध्वा । ❀ द्वितीयार्थे तृतीया ❀ । मधु उदकं शिशीताम् संस्कुरुतां प्रयच्छताम् । यद्वा मध्वा मधुना उदकेन नः अस्मान् शिशीताम् संस्कुरुताम् । उदकप्रदानेन वर्धयताम् इत्यर्थः । अग्निसाहचर्याद् अनयोः स्तुतिः । ❀ शिशीताम् इति । शो तनूकरणे । लोटि छान्दसं रूपम् ❀ ॥

हे जलके सारक द्यावापृथिवीके अधिष्ठात्री देवताओ ! मैं आपके जलकर्मकी वृद्धिके लिये आपकी स्तुति करता हूँ, इस कारण हे वृष्टिरूप फलके रोधक द्यावा पृथिवी ! तुम मेरी स्तुतिको सुनो और जिन दिनोंमें स्तुति करने वाले ऋत्विज अपने बल को यज्ञके लिये लगावें उन दिनोंमें हे माता पिता द्यावापृथिवी ! तुम हमको जल प्रदान करके बढ़ाओ ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

स्वावृंग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥

स्वावृक् । देवस्य । अमृतम् । यदि । गोः । अतः । जातासः । धारयन्ते । उर्वी इति ।

विश्वे । देवाः । अनु । तत् । ते । यजुः । गुः । दुहे । यत् । एनी । दिव्यम् । घृतम् । वाः ॥ ३२ ॥

देवस्य द्योतमानस्य अग्नेः स्वाष्टक् सुष्ठु आवर्जकं सर्वप्राण्यावर्जकं स्वाधीनकर्तृ अमृतम् अमृतवद् उपकारकम् उदकं यदि यदा गोः रश्मेः सकाशाद् उत्पद्यते अतः अस्माद् अमृताद् दृष्टयुदकात् जातासः जाता ओषधयः उर्वी उर्व्यौ महत्यौ द्यावापृथिव्यौ धारयन्ते अधारयन्त । भूमिष्ठानां द्युस्थानां च प्राणिनां तिलव्रीह्याद्यौषध्युपजीवित्वात् तल्लोकनिवासिनां धारणेन तद्धारकत्वोपचारः किं च यत् यदा एनी श्येता तव दीप्तिः । ❀ "वर्णाद् अनुदात्तात्०" इति एत शब्दात् ङीप् तकारस्य नकारश्च ❀ । दिव्यम् दिवि भवं घृतम् क्षरद् वाः सर्वलोकच्छादकम् उदकं दुहे दुग्धे हे अग्ने ते तव तद् यजुः । युज्यत इति यजुः कर्म तत् कर्मजनितम् उदकं विश्वे सर्वे देवा अनु गुः अनुगच्छन्ति । उदकाभिवृद्धानां व्रीह्यादीनाम् अनुगतिरेव उदकानुगतिरित्युच्यते । यद्वा इज्यत इति यजुः । ❀यजिरत्र दानार्थः ❀ । तव तद् दानम् उदकविषयं विश्वे सर्वे देवाः । ❀ दीव्यतिरत्र स्तुत्यर्थः ❀ । स्तोतार ऋत्विजः अन्वगुः अनुयान्तीति व्याख्येयम् ॥

द्योतमान अग्निदेवका सब प्राणियोंको स्वाधीन करने वाला और अमृतकी समान उपकारक जल जब किरणोंसे प्रकट होता है तब इस वृष्टिजलरूप अमृतसे उत्पन्न हुई ओषधियें द्यावापृथिवी को धारण करती हैं [भूमिके तथा द्युलोकके सब प्राणी तिल व्रीहि आदि ओषधियोंसे जीवित रहते हैं अत एव ओषधियें धारण करती हैं–कहा है] और जब आपकी यह श्वेत दीप्ति अन्तरिक्ष में होने वाले क्षरणशील सर्वलोकाच्छादक जलको दुहती है तब हे अग्ने ! आपके कर्मसे प्रकट हुए जलका सब स्तोता अनुगमन करते हैं अर्थात् जलसे बढ़े हुए धान आदिका उपभोग करते हैं

तृतीया ॥

किं स्वि॑न्नो॒ राजा॑ जगृहे॒ कद॒स्याति॑ व्र॒तं च॑कृमा॒ को वि वे॑द ।
मि॒त्रश्चि॒द्धि ष्मा॑ जुहुरा॒णो दे॒वांछ्लोको॒ न या॒ताम॒पि वाजो॒ अस्ति॑ ॥ २२ ॥

किम् । स्वि॒त् । नः॒ । राजा॑ । ज॒गृ॒हे॒ । कत् । अ॒स्य॒ । अति॑ । व्र॒तम् । च॒कृ॒म॒ । कः । वि । वे॒द॒ ।
मि॒त्रः । चि॒त् । हि । स्म॒ । जु॒हु॒रा॒णः । दे॒वान् । श्लोकः॑ । न । या॒ताम् । अपि॑ । वाजः॑ । अस्ति॑ ॥ २२ ॥

राजा देवेषु मध्ये क्षत्रियजातिर्यमो नः अस्माकं संबन्धि किंचिद्विराधकं किं स्वित् जगृहे गृह्णाति । कत् कदा अस्य यमस्य प्रीणनं व्रतम् कर्म यमप्रीतिकरं नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म अति चकृम अतिक्रमं कृतवन्तः स्मः । को वि वेद तत् को जानाति । अविद्यमानं ज्ञातुं कः शक्नोति । यमविषयापराधपरिहारोस्तीत्याह । देवान् दातव्यान् जुहुराणः आह्वयन् । ❀ ह्र कौटिल्ये । कानचिद्रूपम् । धातूनाम् अनेकार्थत्वाद् अत्र ह्वयत्यर्थः ❀ । मित्रः मित्ररूपम् । वद्धितकारी अग्निर्विद्यते । चित् हि स्म इति पादपूरणः । सर्वं स एव परिहरिष्यतीत्यर्थः । यातान् देवानभिगच्छतो नः अस्मान् रक्षितुं श्लोको न । नेति उपमार्थे । श्लोकः स्तुतिः । स्तुतिर्यथास्मिन् रक्षितुं श्लोको न । एवं वाजोपि हविर्लक्षणम् अन्नं च विद्यते । अस्मान् रक्षितुं स्तुत्या हविषा च अग्निं परितोष्य तन्मुखाद् यमस्यापराधं परिहरिष्याम इत्यभिप्रायः ॥

देवताओंमें क्षत्रिय जाति वाला राजा यम हमारी कुछ हविको ग्रहण कर लेवे क्योंकि-कभी हमने यमको प्रसन्न करने वाले नित्य नैमित्तिक कर्मका अतिक्रमण कर लिया हो, परन्तु यह शंका होती है, कि-अविद्यमानको जाननेके लिये कौन समर्थ होसकता है कि-यमका अपराध क्षमा होगया या नहीं तब कहते हैं, कि-देवताओंका आह्वान करने वाले, मित्रकी समान हितकारी अग्निदेव विद्यमान हैं वही सब दूर कर देंगे। देवताओं की शरणमें जाते हुए हमारे पास स्तुतिकी समान हवि भी है अत एव अपनी रक्षा करनेके लिये हम स्तुति और हविसे अग्नि को सन्तुष्ट करके उनके द्वारा यमके अपराधको क्षमा करा लेंगे २३

चतुर्थी ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्

दुःऽमन्तु । अत्र । अमृतस्य । नाम । सऽलक्ष्मा । यत् । विषुऽरूपा । भवाति ।

यमस्य । यः । मनवते । सुऽमन्तु । अग्ने । तम् । ऋष्व । पाहि । अप्रऽयुच्छन् ॥ २४ ॥

पूर्वत्र "सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति" [२] इत्यत्र यमेन स्वसृभूताया यम्याः या संभोगप्रार्थना निराकृता तां स्मारयन्नाह। अत्र अस्मिन्। कृते सतीति शेषः। यद्वा अत्र यम्याः संभोगविषये अमृतस्य अमरणस्य यमस्य नाम नामधेयं दुर्मन्तु दुर्मननं दुर्वचम्। भवतीति शेषः। कथं भवतीत्याशङ्क्य तत्र कारणम् आह स-लक्ष्मेति। यत् यस्मात् कारणात् यमस्य यमीम् इच्छतः। अथ वा यत् यस्मै संभोगम् अङ्गीकुर्वते यमाय इति व्याख्येयम्। स-

लक्षणा समानोदरा स्वसा यमी संभोगानन्तरं विषुरूपा भिन्नरूपा भार्यारूपा भवाति भवेत् । अतः स्वभगिनीपतेति यमस्य दुर्वचं नाम भवेद् इत्यर्थः ॥ तथा सति यश्च पुमान् यमस्य राज्ञो नाम सुमन्तु सुवचं नाम मनवते मनुते स्तौति । ❀ मनु अवबोधने । लेटि तनादित्वाद् उप्रत्ययः । "लेटोऽडाटौ" इति अडागमः । आगमस्य अनुदात्तत्वेन विकरणस्वरः ❀ । तं स्तोतारम् हे ऋष्व दर्शनीय अग्ने त्वम् अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् विस्मरणम् अकुर्वाणः पाहि रक्ष । एवं यमस्य निन्दानुकीर्तनदोषपरिहारप्रार्थनारूपेण अग्नेः स्तुतिः ॥

यहाँ यमका नाम लेना अच्छा नहीं लगता दुर्वच है, क्योंकि–इनकी बहिनने इनको अपना पति बनाना चाहा था ऐसी दशामें भी जो पुरुष इन यमराजके नामको लेरहा है इनकी स्तुति कर रहा है, उस स्तोताकी हे दर्शनीय अग्ने ! आप इन निन्दाका विस्मरण करते हुए उस की रक्षा करिये ॥ ३४ ॥

पञ्चमी ॥

यस्मि॑न् दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते ।
सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य१॒॑क्तून् परि॑ द्योत॒निं च॑रतो॒ अज॑स्रा ॥

यस्मि॑न् । दे॒वाः । वि॒दथे॑ । मा॒दय॑न्ते । वि॒वस्व॑तः । सद॑ने । धा॒रय॑न्ते । सूर्ये॑ । ज्योतिः॑ । अद॑धुः । मा॒सि । अ॒क्तून् । परि॑ । द्यो॒त॒निम् । च॒र॒तः॒ । अज॑स्रा ॥ ३५ ॥

यस्मिन् अग्नौ सति यज्ञनिर्वर्तकत्वेन अग्नौ विद्यमाने सति देवा इन्द्राद्याः विदथे यज्ञे मादयन्ते माद्यन्ति । यस्मिन् सति मनुष्या विवस्वतः सूर्यस्य सदने स्थाने सूर्यलोके धारयन्ते वर्तन्ते । कर्मफलम् उपभुञ्जानाः सुखेन अवतिष्ठन्ते । येन वा अग्निना देवाः

सूर्ये ज्योतिः लोकत्रयप्रकाशकं तेजः अदधुः स्थापितवन्तः । एवं मासि मास्यते परिमीयत इति माश्चन्द्रः । ❀ "पद्दन्नोमास्०" इत्यादिना मासशब्दस्य मास्भावः ❀ । तस्मिन् अक्तून् व्यञ्जकान् तमोनिवर्तकान् रश्मीन् अग्नेः सकाशाद् आहृत्य देवाः स्थापितवन्तः । यद्वा अक्तवो रात्रयः । चन्द्रमसि रात्रीः स्थापितवन्तः । यस्माद् एवं तस्माद् द्योतनिम् द्योतमानम् अग्निं तौ चन्द्रसूर्यौ अजस्रम् सततं परि चरतः ॥

जिन अग्निदेवके यज्ञको सम्पन्न करने वालेके रूपमें विद्यमान होने पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिनके होने पर मनुष्य सूर्यलोकमें रहते हैं अर्थात् सूर्यलोकमें कर्मफलका उपभोग करते हुए सुखपूर्वक रहते हैं और जिस अग्निके द्वारा देवताओंने सूर्यमें तीनों लोकोंके प्रकाशक तेजको स्थापित किया है और देवताओंने जिनके पाससे तमोनिवर्तक किरणोंको लेकर चन्द्रमामें स्थापित किया है ऐसे द्योतमान अग्निकी चन्द्रमा और सूर्य निरन्तर सेवा करते हैं ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये न वयमस्य विद्म मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥ २६ ॥

यस्मिन् । देवाः । मन्मनि । सम्ऽचरन्ति । अपीच्ये । न । वयम् । अस्य । विद्म ।

मित्रः । नः । अत्र । अदितिः । अनागान् । सविता । देवः । वरुणाय । वोचत् ॥ २६ ॥

यस्मिन् मन्मनि मन्तव्ये स्थाने वरुणाख्ये देवाः यष्टव्याः संचरन्ति । कीदृशे स्थाने । अपीच्ये । अन्तर्हितनामैतत् । अस्य वरुणस्य तत् स्थानं न वयं विद्म न जानीमः । अत्र अन्तर्हितस्थाने स्थिताय देवसंचारास्पदाय वरुणाय नः अस्मान् अनागान् अनागसः सविता देवः अदितिः देवमाता द्यौः मित्रश्च हे अग्ने त्वदनुग्रहात् । वोचत् ब्रवीतु । वोचत् इति प्रत्येकं संबध्यते ॥

जिस मननीय वरुणके अन्तर्हित स्थानमें पूजनीय देवता विचरण करते हैं उस स्थानको हम नहीं जानते हैं, इस अन्तर्हित स्थानमें स्थित वरुणदेवसे देवता हमको निरपराध बतावें, सविता देवता, देवमाता अदिति द्युलोक और मित्रदेवता भी हे अग्ने ! आपके अनुग्रहसे हमको निरपराध बतावें ॥ ३६ ॥

सप्तमी ॥

सखा॑य॒ आ शि॑षामहे॒ ब्रह्मेन्द्रा॑य व॒ज्रिणे॑ ।

स्तु॒ष ऊ॒ षु नृत॑माय धृ॒ष्णवे॑ ॥ ३७ ॥

सखा॑यः । आ । शि॒षा॒म॒हे॒ । ब्रह्म॑ । इन्द्रा॑य । व॒ज्रिणे॑ ।

स्तु॒षे । ऊं॒ इति॑ । सु । नृऽत॑माय । धृ॒ष्णवे॑ ॥ ३७ ॥

हे सखायः सखिभूताः परस्परं प्रेमवन्तः वयं वज्रिणे वज्रोपेताय । अनेन अतिशयितवीर्यत्वम् अस्य उक्तं भवति तेन च तस्य अवश्ययष्टव्यतावगम्यते । तादृशाय इन्द्राय देवाय ब्रह्म परिदृढं कर्म आ शिषामहे आशास्महे । कर्तुम् इति शेषः । ❀ आङः शासु इच्छायाम् । लेटि आडागमः । "शास इदङ्हलोः" इति विहितम् इत्वम् अत्र व्यत्ययेन भवति । "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वम् ❀ । अथ वा अयम् अर्थः । सखायो वयम् । यजमाना इति शेषः । अस्मिन् पक्षे सखायः इन्द्रस्य सखिभूता इत्यर्थः ।

तत्सखित्वं च हविःप्रदानाभिमतफलप्रदानाभ्याम् इति मन्तव्यम्। उ अपि च नृतमाय नेतृतमाय । नृणां मध्ये इति शेषः । सर्वेषां देवानां मुख्यायेत्यर्थः । धृष्णवे धर्षकाय शत्रूणां मन्यावकाय एवं रूपाय इन्द्राय तत्प्रीणनाय स्तुषे स्तौमि। अथ वा एकमेव वाक्यम्। उक्तविशेषणोपेताय इन्द्राय स्तुषे स्तोतुम्। ❀ ष्टुञ् स्तुतौ। तुमर्थे क्सेप्रत्ययः ❀। अस्य स्तुतिसाधनं मन्त्रजातम् आ शिषामहे इच्छाम इति योजना ॥

परस्पर प्रेम रखने वाले मित्ररूप हम वज्रधारी इन्द्रदेवके निमित्त इस कर्मको करनेकी आशा रखते हैं, मैं परमनेता और शत्रुओंके धर्षक इन्द्रदेवकी स्तुति करता हूँ ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा ।

मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ २८ ॥

शवसा । हि । असि । श्रुतः । वृत्रऽहत्येन । वृत्रऽहा ।

मघैः । मघोनः । अति । शूर । दाशसि ॥ २८ ॥

पूर्वमन्त्रे वज्रिणे अस्य आ शिषामह इत्युक्तम् । अनेन मन्त्रेण तस्य महत्त्वं वर्णयन् स्वाभिमतम् आशास्ते । हे इन्द्र वृत्रहा वृत्रस्य हन्ता वलवतोऽसुरस्य हन्ता त्वं वृत्रहत्येव वृत्रहननेनेव यथा त्वं श्रुतः एवं शवसा । बलनामैतत् । बलेन गोभभेदनबलनमुच्याद्यसुरविनाशकरणादिरूपसामर्थ्येन श्रुतः विख्यातोसि तेन युक्तो भवसि । यस्माद् एवम् अतो मघैः मंहनीयैर्बहुविधैर्धनैः मघोनः धनवतः बहुविधैर्धनैराढ्योहम् इति मन्यमानस्य आढ्यस्य । धनम् इति शेषः । हे शूर विक्रान्त त्वं तद्धनम् अति दाशसि अतिप्रयच्छसि । मह्यम् इति शेषः । त्वदर्थं यागम् अकुर्वाणस्य

धनं तव यष्टे मह्यं प्रयच्छेत्यर्थः। "अयज्वनो विभजन्नेति वेदः" [ऋ० १. १०३. ६]। "आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदः" [ऋ० ३. ५३. १४] इत्यादिश्रुतेः ॥

[पूर्वमन्त्रमें इन्द्रदेवका स्तुतिरूप दृढकर्म करनेकी आशा दिखाई अब इस मन्त्रसे उनके महत्वका वर्णन करते हुए अपने अभिमतको प्रकाशित करते हैं, कि–] हे इन्द्रदेव ! आप वृत्रासुरके मारने वाले हैं, जैसे आप वृत्रासुरको मारनेके लिये प्रसिद्ध हैं इसी प्रकार अपने बलसे अर्थात् नमुचि बल आदिका नाश करने वाले बलके कारण प्रसिद्ध हैं अत एव अनेक प्रकारके धनोंके कारण अपनेको धनी मानने वालेके धनको आप मुझको दीजिये अर्थात् आपके निमित्त याग न करने वालेके धनको मुझ आपका यज्ञ करने वालेको दीजिये। [ऋग्वेदसंहिता १। १०३। ६ में कहा है, कि–"अयज्वनो विभजन्नेति वेदः।–यज्ञ न करने वालेके धनको बाँटता हुआ आता है" और ऋग्वेदसंहिता ३।५३।१४में कहा है, कि–"आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदः"]॥ ३८ ॥

नवमी ॥

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥

स्तेगः। न। क्षाम्। अति। एषि। पृथिवीम्। मही इति। नः। वाताः। इह। वान्तु। भूमौ।

मित्रः । नः । अत्र । वरुणः । युज्यमानः । अग्निः । वने । न ।

वि । असृष्ट । शोकम् ॥ ३६ ॥

स्त्यायति संघातेन बाहुल्येन शब्दं करोति वर्षास्विति स्तोगो मण्डूकः । स यथा क्षाम् क्षियन्ति निवसन्त्यत्रेति क्षा मही तां यथा अत्येति । वर्षाकाले भुवं परित्यज्य अप्सु भवत इत्यर्थः । एवं त्वं पृथिवीम् अत्येषि अतिगच्छसि ऊर्ध्वं गच्छसि । अथ वा अतीति अभीत्यस्यार्थे । अभिगच्छसि सर्वां पृथिवीम् । महीति पृथिवीविशेषणम् । महतीम् इत्यर्थः । ❀ अमः । स्थाने सुः ❀। अथ वा महीति उत्तरत्र वाता इत्यनेन संबध्यते । किं च मही महान्तो वाता वायवः इह भूमौ नः अस्माकं वान्तु । अग्निसहायत्वेनेति शेषः । यद्वा अस्माकं सुखायेति योज्यम् । किं च मित्रः सर्वप्राणिनां मित्रभूतः एतन्नामको देवः नः अस्माकम् अर्थाय अत्र अस्मिन् कर्मणि युज्यमानः सन् शोकं व्यसृष्टेति उत्तरत्र संबन्धः । तथा वरुणोपि देवो युज्यमानः सन् शोकं व्यसृष्ट । नाशयत्वित्यर्थः । ❀ सृज विसर्गे । अस्माद् दैवादिकात् लुङि रूपम् ❀। तत्र दृष्टान्तः । अग्निर्वने न अग्निर्यथा तृणगुल्मादिकं कार्त्स्न्येन निसृजति दहति एवम् इति ॥

जैसे मण्डूक वर्षाकालमें पृथिवीका अतिक्रमण करता है अर्थात् पृथ्वीको छोड़ कर जलमें कूद जाता है इसी प्रकार आप भी विशाल पृथ्वीका अतिक्रमण कर ऊपरको जाते हैं और अग्निकी सहायतासे यह वायु हमको सुख देनेके लिये बहें । और सब प्राणियोंके मित्ररूप मित्र नामक देवता इस कर्ममें लग कर हमारे शोकको दूर करें और वरुणदेव भी इस कर्ममें लग कर हमारे शोकको इस प्रकार दूर करें, जिस प्रकार अग्नि घासको पूर्णरीतिसे भस्म कर डालता है ॥ ३६ ॥

दशमी ॥

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥

स्तुहि । श्रुतम् । गर्तऽसदम् । जनानाम् । राजानम् । भीमम् । उपऽहत्नुम् । उग्रम् ।

मृड । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः । अन्यम् । अस्मत् । ते । नि । वपन्तु । सेन्यम् ॥ ४० ॥

अत्र अग्निरूपो रुद्रः स्तूयते । "रुद्रो वै क्रूरः" [तै० सं ६. १. ७. ७] "एष रुद्रो यद् अग्निः" [तै० ब्रा० १. १. ५. ८] इति श्रुतेः । अत्र स्तोता स्वात्मानमेव संबोध्य ब्रूते । हे स्तोतस्त्वं श्रुतम् प्रसिद्धं गर्तसदम् । "श्मशानसंचयोपि गर्त उच्यते" [नि० ३. ५] इति निरुक्तोक्तेर्गर्तः शवदाहप्रदेशः । तत्र सीदतीति गर्तसदः । प्रसिद्धो गर्तो वा परिगृह्यते । तस्य अरण्ये संचाराद् गर्तसदनं युज्यते । पुनः कीदृशम् । जनानां किरातपिशाचादिजनानां राजानम् स्वामिनम् । तथा भीमम् बिभेति अस्माद् इति भीमं भयजनकम् । तथा उपहत्नुम् उपेत्य हन्तारम् । उग्रम् उद्गूर्णबलम् । एवंमहानुभावं रुद्रम् हे आत्मन् स्तुहि स्तुतिं कुरु ॥ अथ प्रत्यक्षवादः । हे रुद्र । सर्वप्राणिनो प्राप्य अनिष्टाः नश्यन्तीति स्वयं रौति इति रुद्र । ❀ रुद्रो रौतीति सतः [नि० १०. ५] इति निरुक्तम् ❀ । अथ वा देवैर्भर्त्सितः सन् स्वयम् अरोदीद् इति रुद्रः । "सोऽरोदीत् । यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इति श्रुतेः [तै० सं० १. ५. १. १] । यद्वा रुद् दुःखं दुःखहेतुभूतं पापं

वा । तद् द्रावयतीति रुद्रः । स्वसेवकानां दुःखस्य द्रावकत्वं श्रुत्यागमप्रसिद्धम् । तादृशस्त्वं स्तवानः । ❀ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ । अस्माभिः स्तूयमानः सन् मृड सुखय अस्मान् । अतस्ते सेन्यम् सेनाः अस्मत् अस्मत्तः अन्यम् तव द्वेष्टारं नि वपन्तु । ❀ वपिः प्राप्त्यर्थः ❀ । नितरां प्राप्नुवन्तु । अथ वा सेन्यम् तव सेनार्हम् । ❀ "तद् अर्हति" इति यः ❀ । अन्यम् इति व्याख्येयम् । अस्मिन् पक्षे सेना इति शेषः सामर्थ्याल्लभ्यते ॥

इति अथर्वसंहितायाम् अष्टादशकाण्डे प्रथमेऽनुवाके
चतुर्थं सूक्तम् ॥

[इस मन्त्रमें अग्निरूप रुद्रकी स्तुतिकी गई है । तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । ७ । ७ में लिखा है, कि-"रुद्रो वै क्रूरः ।-रुद्रदेव क्रूर हैं" और तैत्तिरीयब्राह्मण १ । १ । ५ । ८ में कहा है, कि-"एष रुद्रो यद् अग्निः ।-यह रुद्र हैं जो अग्नि हैं" यहाँ स्तुति करने वाला अपनेको ही सम्बोधित करके कहता है, कि-] हे स्तोतः । तू श्मशानमें भवन वाले, किरात पिशाच आदिके राजा, भयजनक, समीपमें आकर मारने वाले, प्रचण्ड बली महानुभाव रुद्रकी स्तुति कर । हे सब प्राणियोंके रुद्र अर्थात् दुःखको भगाने वाले रुद्र ! हमसे स्तुति पाकर आप हमको सुख दीजिये । और आपकी सेना हमको छोड़ कर दूसरे आपसे द्वेष करने वाले पर पड़े ॥ ४० ॥

प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त ॥

पितृमेधकर्मणि "सरस्वतीं देवयन्तः" [४१] इति तिसृभिः अग्निदाता कनिष्ठपुत्रश्चितौ दक्षिणत आज्येन सारस्वतहोमान् कुर्यात् ॥

तत्रैव कर्मणि शवदहनस्थानम् "उदीरताम्" [४४] इत्यृचा काम्पीलशाखया उद्धृत्य अभ्युक्ष्य लक्षणं कुर्यात् [कौ० ११.१]॥

तथा पिण्डपितृयज्ञेपि अनया ऋचा गर्तं खनेत् । तथा च सूत्रितम् । "यज्ञोपवीती दक्षिणपूर्वम् अन्तर्देशम् अभिमुख उदीरताम् इति कर्षूं खनति प्रादेशमात्रीं तिर्यगङ्गुलिमिताम्" इति [कौ० ११. ८] ॥

तत्रैव "उदीरताम्" इति तृचेन त्रीणि उदपात्राणि बर्हिषि निनयेत् । सूत्रितं हि । "उदीरताम् इति तिसृभिरुदपात्राण्यन्वृचं निनयति" इति [कौ० ११. ८] ॥

तत्रैव "इदं पितृभ्यः" [४६] इत्यृचा गर्ते दर्भान् स्तृणीयात् ॥

पितृमेधे परेयिवांसम् इति द्वाभ्यां कनिष्ठपुत्रेण चित्यादीपने सति याम्यौ होमौ कुर्यात् ॥

पितृमेधकर्ममें "सरस्वतीं देवयन्तः" इस इकतालीसवींसे तैंतालीसवीं तककी तीन ऋचाओंसे अग्निदाता कनिष्ठ पुत्र चिताके दक्षिणकी ओर घृतसे सारस्वत होमोंको करे ।

तहाँ ही कर्ममें शवदहनस्थानको "उदीरिताम्" इस ४४ वीं ऋचासे काम्पीलशाखासे उद्धनन करके और अभ्युक्षित करके खनन करे । [कौशिकसूत्र ११ । १] ॥

तथा पिण्डपितृयज्ञमें भी इस ऋचासे गड्ढा खोदे । इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि—"यज्ञोपवीती दक्षिणपूर्वं अन्तर्देशं अभिमुखं उदीरताम् इति कर्षूं खनति प्रादेशमात्रीं तिर्यगंगुलिमिताम् (कौशिकसूत्र ११ । ८) ॥

तहाँ ही "उदीरताम्" इस तृचसे तीन जलपूर्ण पात्रोंको कुशा पर रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उदीरतां इति तिसृभिरुदपात्राण्यन्वृचं निनयति" (कौशिकसूत्र ११ । ८)॥

तहाँ ही "इदं पितृभ्यः" इस ४६ वीं ऋचासे गर्तमें कुशाओंको बिछावे ।

पितृमेधमें "परेयिवांसम्" इन दो ऋचाओंसे कनिष्ठ पुत्रके द्वारा चिताके प्रदीप्त होने पर याम्य होमोंको करे ।

तत्र प्रथमा ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥

सरस्वतीम् । देवऽयन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । तायमाने ।

सरस्वतीम् । सुऽकृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात्

सरस्वतीम् सरणवतीं सकलशब्दसरणिस्वरूपां वाग्देवतां देवयन्तः देवान् यष्टव्यान् आत्मन इच्छन्तः । ❀ "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् ❀ । अत्र विनियोगानुसारेण देवः मृतशरीरस्य संस्कारकोऽग्निः यमो वाभिमतः । तम् इच्छन्तः हवन्ते आह्वानं कुर्वन्ति । तस्य प्रीणनायेति शेषः । तथा सरस्वतीमेव अध्वरे यज्ञे ज्योतिष्टोमे तायमाने सति हवन्ते । ❀ "तनोतेर्यकि" इति आत्वम् ❀ । यज्ञे सारस्वतहोमस्य विद्यमानत्वात् स्तोत्रशस्त्रादीनां वागात्मकत्वात् तत्सिद्ध्ये च हवन्ते । अत्रापि विनियोगानुसारेण अध्वरः पैतृमेधिको द्रष्टव्यः । एवम् उत्तरत्रापि विनियोगानुसारेण योज्यम् । तथा सरस्वतीं सुकृतः सुकर्माणः स्वस्वाभिमतफलाय अह्वयन्त आह्वानम् अकुर्वन् पूर्वे आह्वयन्ति इदानीम् । इति सरस्वती देवी दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वार्यम् वरणीयं दात् प्रयच्छतु ॥

मृत शरीरके संस्कारक अग्निदेवको चाहते हुए पुरुष वाग्देवता सरस्वतीका आह्वान करते हैं और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के चलने पर भी सरस्वतीका आह्वान करते हैं और पुण्यात्मा पुरुषोंने भी सरस्वतीका आह्वान किया है वह सरस्वती हविः प्रदान करने वाले यजमानके लिये वरणीय पदार्थको देवे ॥४१॥

द्वितीया ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।

आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभिऽनक्षमाणाः ।

आऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः ।

आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४२ ॥

सरस्वतीं देवीं पितरोपि हवन्ते आह्वयन्ति । कीदृशाः । दक्षिणा । ❀ "दक्षिणादाच्" इति आच् प्रत्ययः ❀ । वेदेर्दक्षिणभागे यज्ञम् अभिनक्षमाणाः व्याप्नुवानाः । ❀ नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा ❀ । "सर्वकर्माणि तां दिशम्" इत्यादिसूत्रात् [आश्व० २. ६. ३] वेदेर्दक्षिणभागे पैतृकं कृत्स्नं कर्म क्रियते । पितृणामपि स्वधालाभाय सरस्वत्यपेक्षा विद्यत एव । तत्रापि मन्त्रादिरूपायाः सरस्वत्या अपेक्षितत्वम् ॥ हे पितरः यूयम् अस्मिन् क्रियमाणे बर्हिषि यज्ञे आसद्य उपविश्य मादयध्वम् सरस्वतीं तर्पयत । आसद्य यूयं वा मादयध्वम् तृप्ता भवत । अस्माभिर्दत्तया स्वधयेति शेषः । किं च हे सरस्वति पितृभिराहूता त्वम् अनमीवाः हिंसकै रक्षोभिर्वर्जिताः व्याधिरहिता वा इषः इष्यमाणाः एवंलक्षणानि अन्नानि अस्मे अस्मासु आ धेहि स्थापय ॥

वेदीके दक्षिण भागमें बैठे हुए पितर भी सरस्वती देवीका आह्वान करते हैं ["सर्वकर्माणि तां दिशम् ।—सब कर्म दक्षिण दिशाकी ओर किये जावें" इस आश्वलायनसूत्र २ । ६ । ३ के अनुसार वेदीके दक्षिण भागमें सब पित्र्य कर्म किया जाता है । और पितरोंको भी स्वधाप्राप्तिके लिये मंत्ररूपा सरस्वतीकी अपेक्षा होती ही है] हे पितरो ! तुम इस यज्ञमें बैठ कर प्रसन्न होओ, सरस्वतीको तृप्त करो और आकर हमारी दी हुई हविसे तृप्त

होओ। और हे सरस्वति! पितरोंसे बुलाई हुई तुम व्याधिशून्य अभिलषित अन्नको हममें स्थापित करो ॥ ४२ ॥

तृतीया ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि

सरस्वति। या। सऽरथम्। ययाथ। उक्थैः। स्वधाभिः। देवि। पितृऽभिः। मदन्ती।
सहस्रऽअर्घम्। इडः। अत्र। भागम्। रायः। पोषम्। यजमानाय। धेहि ॥ ४३ ॥

हे सरस्वति देवि या प्रसिद्धा त्वं सरथम् समानम् एकमेव रथं ययाथ यासि। सामर्थ्यात् पितृभिरिति गम्यते। ❀ या प्रापणे। लिटि "अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्" इति थलि इडभावः ❀। कीदृशी त्वम्। उक्थैः शस्त्रैः स्वधाभिः। पितृणाम् अन्नं स्वधा। ताभिश्च पितृभिः सह मदन्ती आत्मानं तर्पयन्ती। त्वम् अत्र सहस्रार्घम् अनेकैः पुत्रादिभिः पूजनीयं पुत्रादिसंतर्पकं बहुमूल्यत्वेन अनर्घं वा इडः अन्नस्य भागम् भजनीयम् अंशं रायस्पोषम् धनस्य गवादिलक्षणस्य पुष्टिं च यजमानाय मह्यं धेहि प्रयच्छ। ❀ रायस्पोषम् इति। षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इत्यादिना सांहितिकं सत्वम् ❀ ॥

हे सरस्वती देवि! आप उक्थ शस्त्र तथा स्वधान्नसे पितरों सहित अपनेको तृप्त करती हुई एक ही रथ पर आती हैं आप

यहाँ पुत्र आदि अनेकों व्यक्तियोंको तृप्त करने वाले अन्नके भागको और धनकी पुष्टिको मुझ यजमानको दीजिये ॥ ४३ ॥

चतुर्थी ॥

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ४४

उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः ।

असुम् । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतऽज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ ४४ ॥

अवरे वयसा गुणैर्वा निकृष्टाः पितरः उदीरताम् उत्तिष्ठन्तु । ❀ ईर गतौ । आदादिकोऽनुदात्तेत् ❀ । तथा परासः परे वयआदिना श्रेष्ठाः पितरः उदीरताम् । एवं मध्यमाः उक्तप्रकारेण तादृशाः पितरः उत्तिष्ठन्तु । अथ वा अवरे पुत्रपौत्रप्रपौत्राः परासः परे वृद्धप्रपितामहादयः। मध्यमाः पितृपितामहप्रपितामहाः । सर्वत्र उदीरताम् इति संबन्धः। यद्वा सोम्यास इति सोमसंबन्धाद् "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः" [४८] इत्यादिमन्त्रोक्ता अङ्गिरःप्रभृतयः पूर्वतनाः पितरः अत्र गृह्यन्ते । तेष्वेव तपआदिमहत्त्वतारतम्येन अवरपरमध्यमत्वलक्षणो विभागो द्रष्टव्यः ते विशेष्यन्ते । सोम्यासः । सोमार्हाः सोमसंपादिनः । ❀ "सोमम् अर्हति यः" इति यप्रत्ययः ❀ । ये असुम् प्राणम् ईयुः प्राणोपलक्षितं लिङ्गशरीरं प्राप्ताः प्राणं वा प्रयच्छन्ति स्वपुत्रेभ्यः । अवृकाः अहिंसकाः । ऋतज्ञाः सत्यविदः । ते तादृशाः पितरः हवेषु आह्वानेषु निमित्तभूतेषु नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु ॥

अवस्था वा गुणोंमें निकृष्ट पितर उठें और अवस्था वा गुणों में श्रेष्ठ पितर उठें और इसी प्रकारके मध्यम पितर उठें। अथवा पुत्र पौत्र प्रपौत्र रूप अवर पितर तथा वृद्धप्रपितामह आदि पर पितर तथा पिता पितामह प्रपितामह आदि मध्यम पितर उठें। वा तप आदिके महत्वके कारण अवर पर और मध्यम अंगिरा आदि पितर उठें, यह पितर सोमका भक्षण करने वाले हैं; ये प्राणोपलक्षित लिंगशरीरको प्राप्त होगए हैं अहिंसक हैं, सत्यज्ञ हैं, ऐसे पितर आह्वानोंके समय हमारी रक्षा करें॥ ४४॥

पञ्चमी॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अविवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ४५॥

आ। अहम्। पितॄन्। सुऽविदत्रान्। अवित्सि। नपातम्। च। विऽक्रमणम्। च। विष्णोः।
बर्हिऽसदः। ये। स्वधया। सुतस्य। भजन्त। पित्वः। ते। इह। आऽगमिष्ठाः॥ ४५॥

अहं सुविदत्रान् कल्याणधनान् पितॄन् आवित्सि आभिमुख्येन प्राप्नोमि आजानामि वा। ॐ विदेर्लाभार्थात् लुङि सिचि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः। "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु" इति किरवाद्व गुणाभावः। क्रियाफलस्य कर्तृगामित्वाद् आत्मनेपदम्। विदेर्ज्ञानार्थाद्वा लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। इड-

भावः ॐ। किं च विष्णोः। "यज्ञो वै विष्णुः" इति [तै० ब्रा० ३. १. ६. ७] श्रुतेर्यज्ञाख्यस्य विष्णोः नपातम् न पातयितारम्। ॐ "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना निपातितः ॐ। निर्वाहकम् अग्निं च आवित्सि। तथा विक्रमणं च क्रमेण सवनत्रयाक्रमणं च आवित्सि। अतो ये बर्हिषदः -बर्हिषि निषीदन्तः एतन्नामकाः पितरः सन्ति। "ये वै यज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरो बर्हिषदः" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ६. ९. ६]। एवंलक्षणा ये स्वधया सह सुतस्य अभिषुतस्य। ॐ कर्मणि षष्ठी ॐ। सुतं सोमं भजन्त भजन्ते ते तान् हे अग्ने पित्वः। आसन्ननामैतत्। आसन्नः सन् इह अस्मिन् कर्मणि आगमिष्ठाः आगमय। अथ वा ये भजन्ते ते पितरः पित्वः अन्तिकं देशम् आगमिष्ठाः आगच्छन्तु॥

मैं कल्याणधनी पितरोंको अभिमुख होकर प्राप्त होता हूँ और विष्णु (यज्ञ) के रक्षक अग्निको प्राप्त होता हूँ अत एव जो †बर्हिषद् नामक पितर हैं, कि–जो स्वधाके साथ अभिषुत सोमका सेवन करते हैं उनको हे अग्ने! यहाँ समीपमें बुलाइये॥४५॥

षष्ठी॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु

इदम्। पितृऽभ्यः। नमः। अस्तु। अद्य। ये। पूर्वासः। ये। अपरासः। ईयुः।

† तैत्तिरीयब्राह्मण १। ६। ९। ६ में कहा है, कि–"ये वै यज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरो बर्हिषदः।–जो गृहमेधी यज्ञ करते रहते हैं वे बर्हिषद् पितर होते हैं"॥

ये । पार्थिवे । रजसि । आ । निऽसत्ताः । ये । वा । नूनम् ।

सुऽवृजनासु । दिक्षु ॥ ४६ ॥

पितृभ्यः अद्य इदानीं क्रियमाणम् इदं नमोस्तु । "नमस्कारो हि पितृणाम्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ३. १०. ८] नमउक्तिः क्रियते । पितॄन् विशिनष्टि । ये पूर्वासः पूर्वे परेताः ईयुः पितृलोकं प्राप्ताः । उ अपि च परासः परे ईयुः । ये च पितरः पार्थिवे रजसि भूलोके आ निषत्ताः आनिषण्णाः स्थिताः । ❀ "नसत्तनिषत्त०" इत्यादिना निपातितः ❀ । वा अथ वा ये पितरो नूनम् इदानीं सुवृजनासु सुष्ठु विभक्तासु दिक्षु प्रागादिषु आ निषत्ताः । तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यः इदं नमोस्तु इति पूर्वेणान्वयः ॥

जो पितर पहिले पितृलोकको प्राप्त होगए हैं और जो अभी हाल में पितृलोकको गए हैं और जो भूलोकमें हैं और जो पितर सुवि-भक्त दिशाओंमें हैं उनके लिये यह प्रणाम प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

सप्तमी ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वा-वृधानः ।

यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ४७

मातली । कव्यैः । यमः । अङ्गिरःऽभिः । बृहस्पतिः । ऋक्वऽभिः । ववृधानः ।

यान् । च । देवाः । ववृधुः । ये । च । देवान् । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ ४७ ॥

मातली यमः बृहस्पतिश्च पितृणां नेतारो देवाः । अत्र मातली

नाम देवः कव्यैः एतत्संज्ञकैः पितृभिः सह वावृधानः वर्धमानो भवति यजमानप्रत्तेन हविषा। तथा यमो देवः अङ्गिरोभिः पितृभिः सह। यमस्य देवत्वं पितृत्वं चेति द्वैरूप्यम् अस्ति। अत्र देवत्वं विवक्षितम्। तथा बृहस्पतिर्देवोपि ऋक्वभिः अर्चनीयैः एतन्नामकैः पितृभिः सह वावृधानः। तत्र यांश्च पितॄन् देवाः मातल्यादयः प्रमुखाः सन्तो वावृधुः वर्धयन्ति यज्ञे। ये च पितरः कव्यादयो देवान् निर्दिष्टान् वावृधुः वर्धयन्ति स्वधाप्रदाने ते अत्र निर्दिष्टा पितरः नः अस्मान् हवेषु आह्वानेषु अवन्तु रक्षन्तु ॥

मातली नामक पितृदेवता देव यजमानकी दी हुई हविसे कव्य नामक पितरोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होते हैं, तथा यम नामक पितृनेता देव यजमानोंकी दी हुई हविसे अङ्गिरा नामक पितरोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं तथा बृहस्पति नामक पितृनेता ऋक्व नामक पितरोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं। इनमें जिन पितरोंको मातली आदि देवता यज्ञमें बढ़ाते रहते हैं और जो कव्य आदि पितर देवताओंको स्वधा प्रदान करके बढ़ाते रहते हैं, वे पितर आह्वानोंमें हमारी रक्षा करें ॥ ४७ ॥

अष्टमी ॥

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।

उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥

स्वादुः। किल। अयम्। मधुऽमान्। उत। अयम्। तीव्रः। किल। अयम्। रसऽवान्। उत। अयम्।

उतो इति । नु । अस्य । पपिऽवांसम् । इन्द्रम् । न । कः । चन ।

सहते । आऽहवेषु ॥ ४८ ॥

अत्र सोमः स्तूयते । अयम् अभिषुतः सोमः स्वादुः सुखेन आस्वाद्यः किल । यथा बालकं पयआदिकपानाय स्वाद्वादिगुणकीर्तनेन प्ररोचयति तद्वद् अत्रापि अभिधीयते । उत अयं सोमः मधुमान् माधुर्योपेतः किल । यत एवम् अतः स्वादुरित्यर्थः । तथा अयं सोमः तीव्रः आशु मदयिता किल । उत अपि च अयं रसवान् बहुरसोपेतः किल । उतो अपि च नु किल अस्य अमुं सोमं पपिवांसम् पीतवन्तम् इन्द्रम् आहवेषु परस्पराह्वानवत्सु संग्रामेषु कश्चन असुरादिः न सहते नाभिभवति । तं सोढुं न शक्नोतीत्यर्थः । अनेनास्य अत्यन्तबलकरत्वम् उक्तं भवति । तत्र सर्वेषु स्वाद्वादिगुणेषु अनुपपन्नसिद्धेष्वपि पितृणां देवानां च तत्प्रत्यायनाय किलेति प्रयुक्तम् इति मन्तव्यम् ॥

[इस मंत्रमें सोमकी स्तुति की गई है, कि—] यह अभिषुत सोम सुखपूर्वक आस्वादन करने योग्य है [जैसे बालकको स्वादु आदि गुणोंका कीर्तन करके दुग्ध आदि पीनेमें रुचि उत्पन्न कराते हैं, इसी प्रकार यहाँ किया है] यह सोम मधुरता युक्त है अत एव स्वादु है और यह सोम तीव्र हैं अतः शीघ्र ही मदमें भर देता है, और यह रसवान् है, इसका पान करने वाले इन्द्रको युद्धोंमें असुर आदि कोई सह नहीं सका है ॥ ४८ ॥

नवमी ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा

सपर्यत ॥ ४९ ॥

परेयिऽवांसम् । प्रऽवतः । महीः । इति । बहुऽभ्यः । पन्थाम् । अनुऽपस्पशानम् ।

वैवस्वतम् । सम्ऽगमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ ४९ ॥

परेयिवांसम् परागतम् अत्यन्तविप्रकृष्टदेशं गतवन्तम् । ॐ "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इति क्वस्वन्तो निपातितः । उपसर्गग्रहणम् अतन्त्रम् ॐ । परागतिं विशिनष्टि । प्रवतो महीरनु प्रकर्षवतीर्भूमीः प्रति । सर्वां भूमिम् अतिक्रम्य वर्तमानम् इत्यर्थः । ॐ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः । अर्थग्रहणसामर्थ्यात् लिङ्गसंख्यायोगः ॐ । किं च बहुभ्यः पितृलोकं गतेभ्यः पन्थाम् पन्थानं मार्गम् अनुपस्पशानम् । अनु इत्ययम् अवेत्यस्यार्थे । अवगच्छन्तम् इत्यर्थः । ॐ स्पशतिर्ज्ञानकर्मा ॐ । एवंरूपं वैवस्वतम् विवस्वतः पुत्रं जनानाम् मृतानां संगमनम् प्राप्तिस्थानभूतम् एवं महानुभावं यमं राजानं हविषा सपर्यत पूजयत ॥

विशाल पृथ्वीका अतिक्रमण करके परम दूर देशको जाने वाले, बहुतसे पितरोंके द्वारा चले हुए मार्गमें चलने वाले विवस्वान्के पुत्र, मृत पुरुषोंके प्राप्तिस्थानरूप राजा यमकी पूजा करो ॥४९॥

दशमी ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥ ५० ॥

यमः । नः । गातुम् । प्रथमः । विवेद । न । एषा । गव्यूतिः । अपऽभर्तवै । ऊं इति ।

यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । पराऽइताः । एना । जज्ञानाः । पथ्याः ।
अनु । स्वाः ॥ ५० ॥

यमो देवः नः अस्माकं संबन्धिनां मृतानां गातुम् मार्गं प्रथमः पूर्वगामी सन् विवेद अज्ञानात् । उ अपि च एषा मृतेन गन्तव्या यमेन नेतव्या गव्यूतिः पद्धतिः । मार्ग इत्यर्थः । ❀ "गोर्यूतौ छन्दसि०" इति वान्तादेशः ❀ । अपभर्तवै अपहर्तुं देवैर्मनुष्यैर्वा परिहर्तुं न । शक्येति शेषः । अवश्यं गन्तव्यैवेत्यर्थः । आत्मसाक्षात्काररहितैः पुरुषैः स्वकर्मफलभोगाय पितृलोकप्राप्तेरावश्यकत्वात् । ❀ अपभर्तवै इति । "तवै चान्तश्च युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यत्र यस्मिन् मार्गे नः अस्माकं पूर्वे पूर्वभाविनः पितरः परेताः परागताः येन च मार्गेण पुनरागत्य जज्ञानाः जाताः सर्वे स्वाः स्वीयाः स्वस्वकर्मानुरोधिनीः पथ्याः हितकराः भूमीर्गच्छन्ती । स्वस्वकर्मोपार्जितानि स्थानानि स्वेषां हितानि भवन्ति । तं मार्गं यमो विवेदेति पूर्वेण संबन्धः ॥

इत्यथर्वसंहितायां अष्टादशकाण्डे प्रथमोऽनुवाकः पञ्चमं सूक्तम् ॥

यमदेव हमारे मरे हुए सम्बंधियोंके मार्गको प्रथम अनुभवी होनेके कारण जानते हैं, कि–यह मरे हुए मनुष्योंका मार्ग है देवता और मनुष्य इससे बच नहीं सकते, सबको इस मार्गसे अवश्य जाना पड़ता है, क्योंकि–आत्मसाक्षात्काररहित पुरुषोंको अपना कर्मफल भोगनेके लिये पितृलोक अवश्य मिलता है। जिस मार्गसे हमारे पूर्व पितर गए थे और जिस मार्गसे आकर वह अपने २ कर्मके अनुसार हितकारिणी भूमियोंको प्राप्त होते हैं उन मार्गोंको यम जानते हैं ॥ ५० ॥ (५)

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

पिण्डपितृयज्ञे "बर्हिषदः पितरः" इत्यृचा बर्हिः स्तृणीयात् । सूत्रितं हि । "बर्हिर्मूलतः सकृत्परिच्छिन्नं संनहनं दक्षिणापरम्" इति

प्रक्रम्य "बर्हिरुदकेन संप्रोक्ष्य बर्हिषदः पितरः [१८. १. ५१] उपहूता नः पितरः [१८. ३. ४५] अग्निष्वात्ता पितरः [१८. ३. ४४] ये नः पितुः पितरः [१८. ३. ४६] येऽस्माकम् [१८. ४. ६८] इति प्रस्तृणाति" [इति । कौ० ११. ८] ॥

तत्रैव कर्मणि "आच्या जानु" [५२] इत्यृचा तस्मिन् बर्हिषि तिलान् प्रकिरेत् ॥

पितृमेधे प्रेतास्थीनि अनया त्रिपादे शिक्ये उपवेशयेत् ॥

पितृमेधे "प्रेहि प्रेहि" [५४] इत्यनया तम् उत्थाप्य शकटे निदध्यात् ॥

तत्रैव "अपेत वीत" [५५] इत्यनया प्रेतदहनस्थानं काम्पीलशाखया संप्रोक्षयेत् ॥

पिण्डपितृयज्ञे "उशन्तस्त्वा" [५६] इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां द्वे काष्ठे गृहीत्वा अग्निम् आदीपयेत् । सूत्रितं हि । "द्वे काष्ठे गृहीत्वा उशन्त इत्यादीपयति । आदीप्तयोरेकं प्रति निदधाति" इति [कौ० ११. ८] ॥

तत्रैव "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाः" [५८] इति सप्तभिर्ऋग्भिः प्रेतशरीरे अग्निप्रदः पुत्रः आज्यं जुहुयात् ॥

"इमं यम" [६०] इत्यृचा यमाय चतुर्थीं वपाहुतिं जुहुयात् ॥

"इत एतद् उदारुहन्" [६१] इति चतसृभिः उत्थापनीयाभिर्ऋग्भिः प्रेतम् उत्थाप्य शकटे शयने वा निदध्यात् ॥

पिण्डपितृयज्ञमें "बर्हिषदः पितरः" ऋचासे कुशाओंको फैलावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि "बर्हिर्गृहीत्वा विसृत्य संहननं दक्षिणापरम् ।" इति प्रक्रम्य "बर्हिरुदकेन सम्प्रोक्ष्य बर्हिषदः पितरः (१८ । १ । ५१) उपहूता नः पितरः (१८ । ३ । ४५) अग्निष्वात्ताः पितरः (१८ । ३ । ४४) ये नः पितुः पितरः (१८ । ३ । ४६) येऽस्माकम् (१८ । ४ । ६८) इति प्रस्तृणाति" (कौशिकसूत्र ११ । ८) ॥

तहाँ ही कर्ममें "आच्या जानु" इस बावनवीं ऋचासे कुशाओं में तिलोंको बखेरे।

पितृमेधमें प्रेतकी अस्थियोंको इस ऋचासे तिलड़े छींके पर रख देय।

पितृमेधमें "प्रेहि प्रेहि" इस चौअनवीं ऋचासे उसको उठा कर शकटमें रक्खे।

तहाँ ही "अपेत वीत" इस पचपनवीं ऋचासे प्रेतदहनस्थानको काम्पीलशाखासे सम्प्रोक्षित करे।

पिण्डपितृयज्ञमें "उशन्तस्त्वा" इस ५६ वीं ऋचासे और ५७ वीं ऋचासे दो काष्ठोंको लेकर अग्निको प्रदीप्त करे। इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"द्वे काष्ठे गृहीत्वा उशन्त इत्यादीपयति। आदीप्तपोरेकं प्रतिनिदधाति। (कौशिकसूत्र ११। ८)॥

तहाँ ही अग्निमद पुत्र अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाः इस अट्ठानवीं ऋचासे सात ऋचाओंके द्वारा प्रेतके शरीरमें घृतकी आहुति देय।

"इमं यम" इस साठवीं ऋचासे यमके लिये चौथी वपाहुति देय।

"इत एतद् उदाहरन्" इस ६१ वीं ६२ वीं, ६३ वीं और चौंसठवीं उत्थापनीया ऋचाओंसे प्रेतको उठाकर शकट वा शयनमें रक्खे॥

तत्र प्रथमा॥

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।

त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात ॥५१॥

बर्हिऽसदः। पितरः। ऊती। अर्वाक्। इमा। वः। हव्या। चकृम। जुषध्वम्।

ते । आ । गत । अवसा । शम्ऽतमेन । अथ । नः । शम् । योः ।

अरपः । दधात ॥ ५१ ॥

हे बर्हिषदः । बर्हिषि आस्तीर्णे दर्भे सीदन्तीति बर्हिषदः । ❀ अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । यज्ञम् आगताः हे पितरः यूयम् ऊती ऊत्या अस्मद्रक्षणेन निमित्तेन अर्वाक् अस्मदभिमुखम् । आगच्छतेति शेषः । आगते सति किं लभ्यम् अस्तीत्यत्राह । इमा इमानि पुरत आसन्नानि हव्या हव्यानि हवींषि वः युष्मभ्यं चकृम अकार्ष्म । तानि यूयं जुषध्वम् सेवध्वम् । ते तादृशा यूयम् आ गत आगच्छत । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः ❀ । केन सहिताः । शंतमेन सुखतमेन अवसा रक्षणेन सह । अस्माकं क्लेशलेशेनापि रहितां रक्षां कर्तुम् आगच्छतेत्यर्थः । अथ आगत्य च नः अस्मभ्यं शम् रोगाणां शमनं योः भयानां यावनं च अरपः । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति निरुक्तम् [नि० ४. २१.] ❀ । अपापं यथा भवति तथा दधात । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तबादेशः । तपः पित्त्वाद् ङित्त्वाभावात् गुणः ❀ । प्रयच्छत ॥

यज्ञमें आये हुए हे बर्हिषद् पितरो ! तुम हमारी रक्षाके लिये हमारे सम्मुख आओ, इन हवियोंको हमने आपके लिये किया है, अतः आकर आप इनका सेवन करिये । आप कल्याणप्रद रक्षाओं के साथ पधारिये, और हममें रोगशान्ति और निष्पापत्वको स्थापित करिये ॥ ५१ ॥

द्वितीया ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु

विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद् व आगः पुरुषता कराम ॥ ५२ ॥

आऽअच्य । जानु । दक्षिणतः । निऽसद्य । इदम् । नः । हविः । अभि । गृणन्तु । विश्वे ।

मा । हिंसिष्ट । पितरः । केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ॥ ५२ ॥

हे पितरः विश्वे सर्वे यूयं जानु आच्य जानुप्रदेशम् आकुञ्च्य । अनेन भोजनोचितः संनिवेश उक्तो भवति । दक्षिणतः वेदेर्दक्षिण-भागे उपसद्य उपविश्य इदम् अस्माभिर्दीयमानं पुरोवर्ति हविः हव्यम् अभि गृणीत अभिष्टुत समीचीनम् इति ब्रूत । अनेन हविः-स्वीकारः अर्थाद् उक्तो भवति । न हि अनास्वाद्यमानस्य प्रशंसास्ति । कर्तव्यविषये अतिक्रमे संजातेपि शिक्षा न कार्येति प्रार्थ्यते । हे पितरः यूयं केन चिद् अल्पेन महता वा अपराधेन नः अस्मान् मा हिंसिष्ट हिंसां मा कुरुत । अपराधस्य संभावनाम् आह । पुरुषता पुरुषत्वेन मनुष्यत्वेन हेतुना वः युष्माकं यद् आगः यम् अपराधं कराम कुर्मः । मनुष्याणाम् अनवधानाद् अतिक्रमसंभावनास्त्येवेत्यर्थः ॥

हे सकल पितरो ! तुम जानुको सकोड़ कर वेदिके दक्षिणभाग में बैठकर हमारी दी हुई हविकी प्रशंसा करो [इससे हविका स्वीकार स्वीकृत होता है, क्योंकि—अनास्वाद्य वस्तुकी कोई प्रशंसा नहीं करता, अब यह प्रार्थना करते हैं, कि—कोई भूल चूक होजाय तब भी आप दण्ड न देवें] हे पितरो ! आप किसी छोटे या बड़े अपराधसे हमारी हिंसा न करना, क्योंकि—मनुष्य होने से ही हमसे अपराध होसकना संभव है ॥ ५२ ॥

तृतीया ॥

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णोति॒ तेने॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति ।
य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश ॥

त्वष्टा॑ । दु॒हि॒त्रे । व॒ह॒तुम् । कृ॒णो॒ति॒ । तेन॑ । इ॒दम् । विश्व॑म् । भुव॑नम् । सम् । ए॒ति॒ ।

य॒मस्य॑ । मा॒ता । प॒रि॒ऽउ॒ह्यमा॑ना । म॒हः । जा॒या । विव॑स्वतः । न॒ना॒श॒ ॥ ५३ ॥

अस्य मन्त्रस्य "अपागूहन्" [१८. २. ३३] इति उपरि वक्ष्यमाणस्य च अर्थविवरणरूपा आख्यायिका बृहद्देवतानुक्रमणिकाकारेण स्पष्टं प्रदर्शिता ।

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्युस्त्रिशिराश्च ह ।
स वै सरण्युं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते ॥
ततः सरण्य्वां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः ।
तौ चाप्युभौ यमौ स्यातां ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः ॥
सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्युः सदृशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य तद्युगं तस्याम् अश्वा भूत्वापचक्रमे ॥
अविज्ञाता विवस्वांस्तु तस्याम् अजनयन्मनुम् ।
राजर्षिरभवत् सोपि विवस्वानिव तेजसा ॥
स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्युं त्वश्वरूपिणीम् ।
त्वाष्ट्रीं प्रति जगामाशु अश्वो भूत्वा सलक्षणः ॥
सरण्युश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम् ।
मैथुनायोपचक्राम तां चाश्वामारुरोह सः ॥
ततस्तयोस्तु योगेन शुक्रं तद् अपतद् भुवि ।

उपजिघ्रति सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥
आघ्रातमात्राच्छुक्रात् तु कुमारौ संबभूवतुः ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ तु ताविश्विनाविति ॥

त्वष्टा सिक्तस्य रेतसः पुरुषाद्याकारनिर्माता देव उच्यते । "या-वच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति" [तै० सं० १. ५. ६. २] इत्यादिश्रुतेः । एतन्नामको देवः दुहित्रे स्वदुहितुः पुत्र्याः सरण्व्याः । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । वहतुम् विवाहं कृणोति करोति इति तेन कारणेन इदं विश्वं भुवनम् भूतजातं समेति संगतम् अभूत् । तद्दिदृक्षयेति शेषः । यमस्य देवस्य माता जनयित्री सरण्युः पर्युह्यमाना परिवाहम् उद्वाहं त्वष्ट्रा पित्रा क्रियमाणा । ❀ वहतेर्यकि यजादित्वात् संप्रसारणम् ❀ । महः महतः अतिशयितप्रभावस्य विवस्वतः सूर्यस्य जाया सरण्युः ननाश अदर्शनं तिरोधानं प्राप्ता । "अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः" [१८.२.३३] इति वक्ष्यमाणत्वात् । अत्र निरुक्तम् । त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीतीदं सर्वं भुवनं समेति । यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश । रात्रिरादित्यस्य । आदित्योदयेन्तर्धीयते [नि० १२. ११] इति ॥

[बृहद्देवतानुक्रमणिकाकारने इस मन्त्रकी और आगे कहे जाने वाले 'अपागूहन्' (१८। २। ३३) मंत्रकी भी अर्थको स्पष्ट करने वाली आख्यायिका कही है, कि—त्वष्टा देवताके सरण्यु नामकी कन्या और त्रिशिरा नामक पुत्र हुआ उसने स्वयं ही सरण्युको—विवस्वान्—सूर्यके लिये दिया । तब सूर्यदेवसे सरण्युमें यम और यमी उत्पन्न हुए, वे दोनों जुड़वाँ उत्पन्न हुए थे. यम उन दोनोंमें बड़ा था, भर्ताकी अनुपस्थितिमें सरण्युने अपनीसी आकृति वाली एक स्त्री देखी तब अपनी दोनों सन्तानोंको उसको सौंप अपने आप घोड़ी बन कर चली गई, इस वृत्तान्त

से अनजान सूर्यदेवने उस स्त्रीमें मनुको उत्पन्न किया, वह राजर्षि मनु भी तेजमें सूर्यदेवकी समान हुए। इधर जब सूर्यदेवको पता लगा, कि—सरण्यु घोड़ीका रूप धारण करके चली गई है तब वह घोड़ेका रूप धारण करके शीघ्रता से उसकी खोजमें चले, सरण्युने हयरूपधारीको विवस्वान् जानकर मैथुनकी चेष्टाकी तब उनके योगसे जो वीर्य भूमि पर गिरा उस गर्भकी कामनासे उस घोड़ीने सूँघा, सूँघते ही उस वीर्यसे नासत्य और दस्र नामक दोनों अश्विनीकुमार प्रकट हुए"] सींचे हुए वीर्यको पुरुष आदिके आकारमें परिणत करने वाले त्वष्टा देवने अपनी पुत्री सरण्युका विवाह किया, उसको देखने के लिये सारा भुवन एकत्रित हुआ जब यमकी माता सरण्यु पिताके द्वारा विवाही गई तब परमप्रभावशाली सूर्यदेवकी भार्या उनके पाससे छिप गई थी ॥ ५३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेहि॒ प्रेहि॑ प॒थिभि॑ः पू॒र्याणै॒र्येना॑ ते॒ पूर्वे॑ पि॒तर॑ः॒ परे॑ताः।
उ॒भा राजा॑नौ स्व॒धया॒ मद॑न्तौ य॒मं प॑श्यासि॒ वरु॑णं च दे॒वम् ॥ ५४ ॥

प्र। इ॒हि॒। प्र। इ॒हि॒। प॒थिऽभि॑ः। पूः॒ऽयानैः॑। येन॑। ते॒। पूर्वे॑। पि॒तर॑ः। परा॑ऽइताः।
उ॒भा। राजा॑नौ। स्व॒धया॑। मद॑न्तौ। य॒मम्। प॒श्या॑सि॒। वरु॑णम्। च॒। दे॒वम् ॥ ५४ ॥

अत्र "प्रेहि प्रेहि" इत्यनया प्रेतम् उत्थाप्य शकटे निदध्यात् इति विनियोगात् प्रेतस्य शकटं प्रति गमनम् अभिधीयते। हे प्रेत

त्वं प्रेहि प्रेहि प्रगच्छ प्रगच्छ । शकटं प्रतीति शेषः । अथ वा यम-लोकं प्रति प्रेहि । द्विरभिधानम् आवश्यकगमनद्योतनाय । कैः साधनैरिति तत्राह । पूर्याणैः यात्यनेनेति यानं वर्त्म । पुमांसो येन वर्त्मना पितृलोकं यान्ति स पूर्याणः । पुंभिः उह्यमानो वा शिबि-कादिः पूर्याणः । ❀ पृषोदरादित्वाद् अयं साधुः ❀ । बहुवचनं पूजार्थम् । तैः पथिभिः प्रेहि । स मार्गो विशेष्यते । येन यानेन ते तव पूर्वे पितरः पितृपितामहाद्याः परेता परागताः पितृलोकं प्राप्ताः ॥ तत्र को लाभ इत्यत्राह । उभा उभौ राजाना राजानौ देवेषु मध्ये क्षत्रियजातीयौ । "यमो राजा" [तै० ब्रा० ३.१.२.११] "वरुणो राजा" [तै० ब्रा० ३. ७. ७. ६] इति श्रुतिषु सर्वत्र प्रसिद्धेः । स्वधया अस्माभिर्दत्तया मदन्तौ माद्यन्तौ । विद्येते इति शेषः । तत्र लोके यमं देवं पश्यासि पश्यसि वरुणं च देवं पश्यसि । अतः प्रेहीति पूर्वेणान्वयः ॥

हे प्रेत ! तू जिसको मनुष्य उठाते हैं उस टिकटिकी (आदि) से यममार्गको प्रस्थान कर इस मार्गसे तेरे पिता पितामह आदि पहिले मरे हुए पुरुष गए हैं, तहाँ देवताओंमें क्षत्रियजातीय राजा वरुण और राजा यम ये दोनों राजा वर्तमान हैं और हमारी दी हुई हविसे प्रसन्नता पा रहे हैं, तहाँ यमलोकमें तू यमदेवको और वरुणदेवको देखेगा ॥ ५४ ॥

पञ्चमी ॥

अपे॑त॒ वी॑त॒ वि च॑ सर्पता॒तो॒ऽस्मा ए॒तं पि॒तरो॑ लो॒कम॑क्रन् ।
अहो॑भिर॒द्भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्यव॒सान॑मस्मै ॥ ५५ ॥

अप । इ॒त॒ । वि । इ॒त॒ । वि । च॒ । स॒र्प॒त॒ । अतः॑ । अ॒स्मै॒ । ए॒तम् । पि॒तरः॑ । लो॒कम् । अ॒क्र॒न् ।

अहः॑ऽभिः । अ॒क्तुऽभिः॑ । अ॒क्तुऽभिः॑ । विऽअ॑क्तम् । य॒मः । द॒दा॒ति ।

अ॒व॒ऽसान॑म् । अ॒स्मै ॥ ५५ ॥

अत्र अनया दहनस्थानं संप्रोक्षेत् इति विनियोगात् तत्स्थान-स्थितानां रक्षःपिशाचादीनाम् अपगमनम् अभिधीयते । हे रक्षः-प्रभृतयः यूयम् अपेत अपगच्छत । वीत । ❀ वी गत्यादिषु । अत्र गतिरर्थः ❀ । विगता भवत । अतः अस्माद् दहनस्थानाद् वि सर्पत च विविधं विशेषेण वा गच्छत । दूरं गच्छतेत्यर्थः । अपसारणीयान् विशिनष्टि । ये अत्र स्थले पुराणाः पूर्वतनाः स्थ भवथ । ये च अत्र नूतनाः इदानीन्तनाः स्थ तिष्ठथ । ते सर्वे अपेतेति संबन्धः । अस्मै प्रेताय अहोभिश्च अद्भिः क्षालनसाधनै-रुदकैश्च अक्तुभिः अभिव्यक्तिसाधनाभी रात्रिभिश्च व्यक्तम् सुवि-शदम् अवसानम् अवस्यति अत्रेत्यवसानम् । ❀ षो अन्तकर्मणि । अधिकरणे ल्युट् ❀ । स्थानम् । तद् अस्मै यमो देवः ददाति अदात् । तदर्थम् अपेतेति संबन्धः ॥

[इस ऋचासे दहनस्थानका सम्प्रोक्षण करे इस विनियोगके अनुसार इस स्थानमें स्थित राक्षस पिशाच आदिका अपसारण कहा जाता है, कि–] हे राक्षस आदि ! तुम इस स्थानसे भाग जाओ, चले जाओ, तुम इस दहनस्थानसे अतिदूर चले जाओ. तुम प्राचीन समयसे यहाँ रहते हो वा नवीन ही यहाँ रहते हो तो भी चले जाओ, क्योंकि-यमदेवताने इस प्रेतके लिये इस स्थानको जल और दिन रातके साथ भली प्रकार रहनेके लिये दिया है ५५

षष्ठी ॥

उ॒शन्त॑स्त्वेधीमह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि ।

उ॒शन्नु॑श॒त आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ५६ ॥

उशन्तः । त्वा । इधीमहि । उशन्तः । सम् । इधीमहि ।

उशन् । उशतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥५६॥

हे अग्ने अस्मिन् पितृयज्ञे त्वा त्वाम् उशन्तः यज्ञनिर्वाहार्थं त्वां कामयमाना हवामहे आह्वानं कुर्मः । तथा उशन्तः कामयमानास्त्वां समिधीमहि सम्यग् इद्धं करवाम । ❀ इन्धेर्लिङि विकरणस्य लुक् छान्दसः । "अनिदिताम्०" इति धातुनकारस्य लोपः ❀ । त्वं च उशन् यज्ञं स्वधां वा कामयमानः सन् उशतः स्वधां कामयमानान् पितॄन् आ वह । किमर्थम् । हविषे हविःस्वीकाराय अत्तवे तस्य च भक्षणाय । आ वहेति संबन्धः ॥

हे अग्ने ! हम यज्ञको निष्पन्न करनेके लिये इस पितृयज्ञमें आपकी कामना करते हुए आपका आह्वान करते हैं और आपकी कामना करते हुए आपको भली प्रकार प्रदीप्त करते हैं, आप भी स्वधाकी कामना करते हुए पितरोंको हवि स्वीकार कर उसका भक्षण करनेके लिये लाइये ॥ ५६ ॥

सप्तमी ॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।

द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥५७॥

द्युऽमन्तः । त्वा । इधीमहि । द्युऽमन्तः । सम् । इधीमहि ।

द्युऽमान् । द्युऽमतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥५७॥

हे अग्ने द्युमन्तः दीप्तिमन्तः त्वदनुग्रहाद् अतिशयिततेजसो वयं त्वा त्वां हवामहे । शिष्टं पूर्वमन्त्रवद् योज्यम् ॥

हे अग्ने ! आपके अनुग्रहसे कान्तिमान् हुए हम आपका आह्वान करते हैं. कांतिमान् हम आपको प्रदीप्त करते हैं, कान्तिमान् आप

कांति वाले पितरोंको हविको स्वीकार करनेके लिये और हवि का भक्षण करनेके लिये लाइये ॥ ५७ ॥

अष्टमी ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ५८

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नवऽग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः । सोम्यासः ।

तेषाम् । वयम् । सुऽमतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ५८ ॥

अङ्गिरसः एतन्नामानः अङ्गारात्मकाः । "येङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसोभवन्" इति निरुक्तम् [ऐ० ब्रा० ३. ३४] । पूर्वे महर्षयः नः पितरः अस्माकं पितरः । नवग्वाः नूतनस्तुतिका नवभिर्मासैरुद्गता वा । तथा अथर्वाणश्च नः पितरः भृगवश्च नः पितरः । ❀ भृगुर्भृज्यमानो न देहेङ्गारेष्विति निरुक्तम् [नि० ३. १७]❀ । एते सर्वे सोम्यासः सोमार्हाः सोमसम्पादिनः । एषाम् अङ्गिरःप्रभृतीनाम् ऋषिगणमध्ये प्राधान्याद् इदानीन्तनानामपि प्राचुर्येण तद्गोत्रत्वात् पितृत्वम् । यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां तेषां सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहरूपायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम । तेषां सुमतिरस्मासु भवेद् इत्यर्थः । अपि अपि च तेषां भद्रे कल्याणे सौमनसे सुमनसो भावः सौमनसम् । ❀ युवादिषु पाठो द्रष्टव्यः ❀ । तत्र स्याम भवेम । उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टाभिधानम् एतत् ॥

जो अंगिरा नामक प्राचीन महर्षि हमारे पितर हैं, नूतन स्तुति वाले अथर्वा नामक और भृगु जो हमारे पितर हैं, ये सब सोम-

थायी हैं, [ऋषियोंमें इन अंगिरा आदिकी प्रधानता है और आज कलके भी पितर अधिकतासे इसी गोत्र वाले हैं अत एव उनका पितृत्व है] इन यज्ञिय पितरोंकी अनुग्रहात्मिका बुद्धिमें हम रहें और वह मनमें हम पर प्रसन्न रहें ॥ ५८ ॥

नवमी ॥

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ५९

अङ्गिरःऽभिः । यज्ञियैः । आ । गहि । इह । यम । वैरूपैः । इह । मादयस्व ।

विवस्वन्तम् । हुवे । यः । पिता । ते । अस्मिन् । बर्हिषि । आ । निऽसद्य ॥ ५९ ॥

हे यम इह अस्मिन् कर्मणि अङ्गिरोभिः एतन्नामकैः पितृभिः सह आ गहि आगच्छ । कीदृशैः । यज्ञियैः यज्ञार्हैः । एवं वैरूपैः विरूपाख्यस्य महर्षेर्गोत्रजैः सह आ गहि । आगत्य च इह अस्मिन् यज्ञे मादयस्व तर्पयस्व ॥ न केवलं त्वामेव ह्वयामि । किं तु ते तव यः पिता विवस्वान् आदित्यः तं विवस्वन्तं हुवे आह्वयामि । ❀ ह्वयतेर्लटि "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❀ । अस्मिन् बर्हिषि आस्तीर्णे निषद्य । यथा हविः स्वीकरोति तथा आह्वयामीति शेषः । आभिमुख्येन निषद्य इति वा ॥

हे यमदेव ! आप इस कर्ममें विरूप नामक महर्षिके गोत्रमें उत्पन्न हुए अंगिरा नामक यज्ञिय, पितरोंके साथ आइये और आकर इस यज्ञमें तृप्त हूजिये, मैं केवल आपका ही आह्वान नहीं करता हूँ, किंतु आपके जो पिता विवस्वान् हैं उनका भी आह्वान

करता हूँ, वह जिस प्रकार इस फैले हुए कुशासन पर बैठ कर हविको स्वीकार करें तिस प्रकार आह्वान करता हूँ ॥ ५९ ॥

दशमी ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व ॥ ६० ॥

इमम् । यम । प्रऽस्तरम् । आ । हि । रोह । अङ्गिरःऽभिः । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः ।

आ । त्वा । मन्त्राः । कविऽशस्ताः । वहन्तु । एना । राजन् । हविषः । मादयस्व ॥ ६० ॥

हे यम इमम् पुरत आस्तीर्णं प्रस्तरम् बर्हिषम् । उपस्तीर्णो दर्भः प्रस्तरः । ॐ "प्रे स्त्रोऽयज्ञे" इति निषेधाद् घञभावः । "ऋदोरप्" ॐ । तं प्रस्तरम् आ सीद । हि इति पादपूरणः । किमेक एव । नेत्याह । अङ्गिरोभिः एतन्नामकैः पितृभिः सह संविदानः ऐकमत्यं प्राप्तः । ॐ "समोगम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ॐ । हे राजन् त्वा त्वां कविशस्ताः कविभिः क्रान्तप्रज्ञैर्महर्षिभिः स्तुता मन्त्राः आह्वानसाधना आ वहन्तु आह्वानं कुर्वन्तु आगमयन्तु । आगत्य च एना एनेन अनेन । ॐ "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इति एनादेशः । सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् इनादेशाभावः ॐ । हविषः । ॐ तृतीयार्थे षष्ठी ॐ । हविषा अस्माभिर्दत्तेन मादयस्व ॥

हे यम ! आप अङ्गिरा नामक पितरोंके साथ एकमत होतेहुए इस कुशासन पर बैठिये, बुद्धिमान् महर्षियोंके मन्त्र आपको बुला लेवें और आप आकर हमारी दी हुई हविसे प्रसन्न हूजिये॥६०॥

एकादशी ॥

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥

इतः । एते । उत् । आ । अरुहन् । दिवः । पृष्ठानि । आ । अरुहन् ।
प्र । भूःऽजयः । यथा । पथा । द्याम् । अङ्गिरसः । ययुः ॥ ६१ ॥

शवसंस्कर्तारः पुरुषाः एतत् मृतशरीरम् इतः अस्मात् भूप्रदेशात् उदारुहन् ऊर्ध्वं शकटादिकम् आरोहयन् । इत एतद् इति शकटे शयने वा प्रेतं निदध्यात् इति विनियोगात् ॥ अनन्तरं दिवः द्युलोकस्य पृष्ठानि स्पष्टव्यानि उपरितनस्थलानि भोग्यस्थानानि आरुहन् आरोहयन् । ❀ रुहेस्तु कि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् । क्ङिन्त्वात् गुणाभावः ❀ । द्युलोकं केन पथा आरोहयन्निति तत्राह । भूर्जयः भरणवन्तो भुवं जितवन्तो वा अङ्गिरसः यथा यादृशेन पथा मार्गेण द्याम् द्युलोकं प्र ययुः प्राप्ताः । तेन मार्गेण दिवस्पृष्ठान्यारुहन् इति संबन्धः ॥

इत्यथर्वसंहितायां प्रथमेऽनुवाके अष्टादशकाण्डे षष्ठं सूक्तम् ॥
प्रथमोऽनुवाकः समाप्तः ॥

शवका संस्कार करने वाले इन पुरुषोंने इस मृतशरीरको इस पृथ्वी परसे उठा कर शकट टिकटिकी आदि पर चढ़ा दिया है, फिर इसको द्युलोकके ऊपरके भोग्य स्थानों पर चढ़ा दिया है, जिस मार्गसे पृथ्वीका विजय करने वाले आंगिरस गए हैं उस मार्गसे द्युलोकमें पहुँचा दिया है ॥ ६१ ॥

प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त

प्रथम अनुवाक समाप्त (५८१)

द्वितीयेऽनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र "यमाय सोमः" इति प्रथमं सूक्तम् । अत्र आदितस्तिसृणाम् ऋचां पूर्वर्चा सह प्रेतोत्थापन-कर्मणि उक्तो विनियोगः ॥

पितृमेधे "मैनमग्ने" [४] इत्यादिभिः "सहस्रणीथाः कवयः" [१८] इत्यन्ताभिः "अव सृज" [१०] इत्यृग्वर्जिताभिश्चतुर्दशभि-र्ऋग्भिर्दह्यमानं प्रेतशरीरं सर्वे गोत्रिण उपतिष्ठेरन् ॥

"मैनमग्ने" इति चतसृभिः प्रेतशरीरे कनिष्ठपुत्रेण दत्तम् अग्निं गोत्रिण आदीपयेयुः ॥

तत्रैव कर्मणि "अजो भागः" [८] इति द्वाभ्यां चितेर्दक्षिण-पार्श्वे अजपशुं बध्नीयात् । यथा दह्यते तथा बन्धनं कार्यं मोचनं न कर्तव्यम् । तथा च माहकिराचार्यः "अजो हन्यते दह्यते एका-ग्निप्रेतशरीरदहने" इति ॥

पितृमेध एव चतुर्थेऽहनि "अव सृज" इत्यनया एकाग्निकस्या-हिताग्नेः शरीरम् अनुमन्त्रयेत ॥

दूसरे अनुवाकमें छः सूक्त हैं । इनमें "यमाय सोमः" यह प्रथम सूक्त है । इसकी पहिली तीन ऋचाओंका पूर्व ऋचाके साथ प्रेतोत्थापनकर्ममें विनियोग कह दिया है ।

पितृमेधमें १० वीं ऋचासे रहित "मैनमग्ने" इस चौथी ऋचा से "सहस्रणीथाः कवयः" इस अठारहवीं ऋचा तककी १४ ऋचाओंसे भस्म होते हुए प्रेतशरीरके पास सब गोत्र वाले खड़े रहें ।

"मैनमग्ने" इन चार ऋचाओंसे प्रेतके शरीरमें दी हुई अग्नि को गोत्र वाले प्रदीप्त करें ।

तहाँ ही कर्ममें "अजो भागः" इन ८ वीं और नवम ऋचाओं से चिताके दाहिनी ओर बकरेको बाँधे । जिस प्रकार वह भस्म होजाय तिस प्रकार बाँधे उसको छोड़े नहीं । इसी बातको माह-

कारिकाचार्यने कहा है, कि-"अजो हन्यते दह्यते एकाग्निमेतशरीरदहने" ॥

पितृमेधमें ही चौथे दिन "अवसृज" ऋचासे एकाग्निक आहिताग्निके शरीरका अनुमन्त्रण करे।

तत्र प्रथमा ॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥

यमाय । सोमः । पवते । यमाय । क्रियते । हविः ।
यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ १ ॥

यमाय देवाय सोमः पवते पूयते अभिषूयते सोमयागे यजमानैः । ❁ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । शप् । पूञ्धातोः ❁ । सोमसाधनो ज्योतिष्टोमादिरननुष्ठितश्चेद् यमो नरके पातयिष्यतीति भिया यमप्रीतये सोमोभिषूयत इत्यर्थः । अथ वा पितृणां सोमसंबन्धेन यमस्यापि सोमोस्त्येव । किं च यमायैव हविः आज्यादिलक्षणं क्रियते संस्क्रियते उत्पवनादिसंस्कारेण । किं च यमं ह यममेव यज्ञः कृत्स्नो ज्योतिष्टोमादिः गच्छति । कीदृशो यज्ञः । अग्निदूतः । दूतो यथा स्वामिना दत्तं धनादिकं दातव्याय प्रयच्छति एवम् अग्निरपि यजमानेन दत्तं हविस्तस्मैतस्मै देवाय प्रयच्छतीत्यग्निर्दूत इत्यभिधीयते । अलंकृतः स्तोत्रशस्त्रादिभिर्भूषितः । यद्वा अलम् अत्यर्थं निष्पादितः । साङ्गोपाङ्ग इत्यर्थः । यद्यपि सोमो हविश्च उभे सर्वार्थं क्रियेते तथा यज्ञोपि सर्वदेवार्थः तथापि यमस्य सर्वप्राणिसंहर्तृत्वेन वा सर्वेषां पितृलोकप्रापकत्वेन वा प्राधान्याद् यमायैव सोमादिकं क्रियत इत्युपवर्ण्यते ॥

यजमान सोमयागमें यमदेवताके लिये सोमका अभिषव करते

हैं तात्पर्य यह है, कि–सोमसाधन ज्योतिष्टोम आदि न करा हो तो यम नरकमें गिरा देंगे इस भयसे यमकी प्रीतिके लिये सोम अभिषुत किया जाता है। और घृत आदि हवि उत्पवन आदि संस्कारसे यमदेवके लिये ही दीजाती है। और स्तोत्र शस्त्र आदि से भूषित और जिसमें अग्नि दूतकी समान यजमानकी दी हुई हविको पहुँचाते हैं वह ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी यमको ही प्राप्त होता है। [यद्यपि सोम और हवि सबके लिये की जाती हैं और यज्ञ भी सब देवताओंके लिये किया जाता है तथापि यम सब प्राणियोंके संहारक हैं और सबको पितृलोकमें पहुँचाने वाले हैं अत एव प्रधानतासे उनका वर्णन किया है] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः २

यमाय । मधुमत्ऽतमम् । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत ।
इदम् । नमः । ऋषिऽभ्यः । पूर्वऽजेभ्यः । पूर्वेभ्यः । पथिकृत्ऽभ्यः २

अत्रापि पूर्वमन्त्रवद् यमस्य प्राधान्याभिप्रायेण होमप्रतिष्ठे तस्यैव कर्तव्ये इत्यभिधीयते। हे यजमानाः यमायैव देवाय मधुमत्तमम् अतिशयेन मधुमत् सोमाज्यादिकं हविः जुहोत जुहुत। ❀ "तप्तनप्तन०" इति तस्य तबादेशे गुणः ❀। प्र च तिष्ठत प्रतिष्ठां समाप्तिं यमायैव कुरुत। ननु यमायैव हूयते तत्सहचारिणां पितॄणां किं स्याद् इत्याशङ्क्य तेषां नमस्कारः क्रियत इत्याह इदं नम इति। ऋषिभ्यः मन्त्रादिद्रष्टृभ्यः अङ्गिरःप्रभृतिभ्यः। ❀ ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव इति निरुक्तम्। तद् यद् एनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् ते

ऋषयोऽभवंस्तदृ ऋषीणाम् ऋषित्वम् इति विज्ञायते। इति च निरुक्तम् [नि० २. ११.] ❀ । ऋषयो विशेष्यन्ते । पूर्वजेभ्यः पूर्वम् उत्पन्नेभ्यः इदानींतनयजमानापेक्षया तेषां पूर्वजत्वम् । अत एव पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः । पथिकृतः पितृलोकस्य पथां कर्तारः । ये प्रथमं परेताः स्वर्गमार्गाणां दर्शयितारस्ते पथिकृतः पितृगण- गताः। तेषां मार्गाणाम् इदानीन्तनैरपि अनुस्रियमाणत्वात् । एवं महानुभावेभ्य ऋषिभ्यः अङ्गिरःप्रभृतिभ्यः इदं नमः नमस्कारोस्तु ॥

[इस मंत्रमें भी यमकी प्रधानताके अभिप्रायसे होम और प्रतिष्ठा यमकी ही करनेका वर्णन है, कि–] हे यजमानों! तुम यम देवता के लिये ही परम मधुर सोम घृत आदि हविकी आहुति दो और प्रतिष्ठाको भी यमके लिये ही करो [अब यह विचार होता है यमके लिये ही आहुति दी जावे तो उनके साथ रहने वाले पितरों के लिये क्या होगा, तो कहते हैं, कि–] पूर्वके पूर्वज पितर पितृ- लोकके मार्गको बनाने वाले मन्त्रद्रष्टा अंगिरा आदि ऋषियोंके लिए यह प्रणाम है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

यमाय । घृतऽवत् । पयः । राज्ञे । हविः । जुहोतन ।
सः । नः । जीवेषु । आ । यमेत् । दीर्घम् । आयुः । प्र । जीवसे ३

हे यजमानाः यमाय राज्ञे घृतवत् घृतोपेतं पयः क्षीरं हविः हवीरूपेण संस्कृतं जुहोतन जुहोत जुहुत । ❀ तस्य तनादेशे गुणः ❀ । तेन किं लभ्यत इत्यत आह । स प्राप्तहविः सन् नः अस्मान् जीवेषु जीवत्सु प्राणिषु मध्ये आ यमत् नियमयेत् स्थाप-

येत। यथा मृतिर्न भवेत् तथा करोतु। किं च स यमः दीर्घम् आयुः शतसंवत्सरलक्षणम्। प्रयच्छतु इति शेषः। किमर्थम्। जीवसे जीवनाय॥

हे यजमानों! यमराजके लिये घृतसम्पन्न क्षीरको हविके रूप में अर्पण करो (उससे क्या मिलेगा तो कहते हैं, कि–) वह हवि को पाने पर हम इमको जीवित प्राणियोंमें रक्खेंगे अर्थात् जिस प्रकार हमारी मृत्यु न होगी तैसा करेंगे और वह यमदेव जीवित रहनेके लिये हमको सौ वर्षकी आयु प्रदान करेंगे॥ ३॥

चतुर्थी॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप ४

मा। एनम्। अग्ने। वि। दहः। मा। अभि। शूशुचः। मा। अस्य। त्वचम्। चिक्षिपः। मा। शरीरम्।

शृतम्। यदा। करसि। जातऽवेदः। अथ। ईम्। एनम्। प्र। हिनुतात्। पितॄन्। उप॥ ४॥

हे अग्ने एनं प्रेतं मा वि दहः विदाहम् अतिदाहं मा कार्षीः। तथा माभि शूशुचः। ❀ शुचेर्लुङि चङि रूपम्। "दीर्घो लघोः" इति अभ्यासस्य दीर्घः ❀। अभितः शोकयुक्तं मा कार्षीः। उपर्यधश्च उभयोः पार्श्वयोरपि दाहाद् अभितः शोको भवति तद्भावोत्र प्रार्थ्यते। किं च अस्य त्वचं मा चिक्षिपः अन्यत्र मा गमय। त्वग्भेदं मा कुर्वित्यर्थः। तथा शरीरमपि मा क्षिक्षिपः।

अस्य शवशरीरस्य आहुतिरूपत्वात् पुरोडाशादिवद् विदाहाद्यभावः प्रार्थ्यते । यदा त्वम् एतच्छरीरं शृतम् हविर्योग्यं पक्वं करसि करोषि । ❀ श्रा पाके । "शृतं पाके" इति कर्मणि कर्तरि वा निपातनात् शृभावः । करसीति । करोतेः औत्सर्गिकः शप् । लेटि वा अडागमः ❀ । हे जातवेदः जातप्रज्ञ अग्ने अथ शृतकरणानन्तरम् ईम् एनं पितृभ्यः उप पितृसमीपं प्र हिणुतात् प्रहिणु प्रेरय ॥

हे अग्निदेव ! आप इस प्रेतको अति मत जलाइये और शोक युक्त भी न करिए और इसकी त्वचाको भी अन्यत्र न फेंकिये तथा इसके शरीरको भी अन्यत्र न फेंकिये [शवशरीरके आहुतिरूप होनेसे पुरोडाश आदिकी समान विदाहादिके अभावकी प्रार्थना की है, कि–] जब आप इस हविके योग्य शरीरको पका लें तब इसको हे जातवेदा अग्ने ! पितरोंके समीप भेज दें ॥ ४ ॥

॥ पञ्चमी

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥५॥

यदा । शृतम् । कृणवः । जातऽवेदः । अथ । इमम् । एनम् । परि । दत्तात् । पितृऽभ्यः ।

यदो इति । गच्छाति । असुऽनीतिम् । एताम् । अथ । देवानाम् । वशऽनीः । भवाति ॥ ५ ॥

हे जातवेदः प्राप्तहविर्लक्षणधन अग्ने त्वम् एनं शृतम् पक्वं यदा कृणवः अकरोः अथ अनन्तरम् इदम् इदानीम् एनं दाहेन

संस्कृतं पुरुषं पितृभ्यः परि दत्तात् प्रयच्छ। यद्वा परिदानं रक्षणाय दानम् इति प्रसिद्धेस्तस्य रक्षणाय प्रयच्छ। उ अपि च अयम् एनां प्रसिद्धाम् असुनीतिम् असून् प्राणान् नयति लोकान्तरम् इति असुनीतिः प्राणापहर्त्री देवता तां यदा गच्छाति गच्छति अथ अनन्तरम् अयं देवानाम् द्योतमानानां स्वकीयानाम् इन्द्रियाणां वशानीः वशं नयतीति वशानीः। ❀ "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् ❀। चक्षुरादीन्द्रियाणां सूर्यादिदेवताप्रापको भवाति भवति॥

हे हविरूप धनको पाने वाले अग्निदेव! जब आप इसको पक्व कर लें तब इस दाहसे संस्कृत पुरुषको पितरोंको रक्षाके लिये दीजिये और जब यह असुनीति देवताको प्राप्त होवे तब यह देवताओंको वशमें करने वाला हो अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंको सूर्य आदिको प्राप्त कराने वाला हो॥ ५॥

षष्ठी॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ६

त्रिऽकद्रुकेभिः। पवते। षट्। उर्वीः। एकम्। इत्। बृहत्।
त्रिऽस्तुप्। गायत्री। छन्दांसि। सर्वा। ता। यमे। आर्पिता ६

त्रिकद्रुकेभिः त्रिकद्रुकैः। ज्योतिष्टोमगोष्टोमायुष्टोमास्त्रयः त्रिकद्रुका इत्युच्यन्ते। तैर्निमित्तभूतैस्तेषां निष्पत्तये पवते पूयते यथार्थम् अभिषूयते। सोम इति शेषः। ज्योतिष्टोमादीनाम् अननुष्ठाने यमो हनिष्यतीति भीत्या तेषु सोमोभिषूयत इत्यर्थः। तथा षडुर्वीः षडुर्व्यः। "षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु" [आश्व० १. २. १] इत्यत्राम्नानाद् द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपश्च ओष-

धयश्च एताः षड् उर्व्यः। ता अपि एकमित् एकमेव बृहत् महान्तं यमम्। उद्दिश्यैव प्रवर्तन्त इति शेषः। अथ वा बृहत् इति वक्ष्यम अन्वेति। बृहत् बृहती छन्दः तथा त्रिष्टुप् गायत्रीति च्छन्दांसि। ता तानि इतराणि सर्वा सर्वाणि छन्दांसि यमे आर्पिता आर्पितानि पर्यवसितानि। छन्दोभिरुपलक्षिताः सर्वे मन्त्रा यमैकविषया इत्यर्थः। ॐ ऋ गतौ। "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः। "जुष्टार्पिते च च्छन्दसि" इति आद्युदात्तत्वम् ॐ॥

ज्योतिष्टोम गोष्टोम और आयुष्टोम ये तीन त्रिकद्रुक कहलाते हैं, इनको करते समय यमदेवके सोम लिये अभिषुत किया जाता है अर्थात् ज्योतिष्टोम आदिका अनुष्ठान न करने पर यमदेव प्रहार करेंगे, इस भयसे इनमें सोमका अभिषव किया जाता है। और द्यौ पृथिवी दिन रात्रि जल तथा औषधियें ये छः उर्वियें एक यमदेवके उद्देश्यसे ही प्रवृत्त होती हैं। बृहती त्रिष्टुप् और गायत्री आदि सब छन्द भी यममें ही पर्यवसित होते हैं अर्थात् छन्दों वाले सब मन्त्र एक यमकी ही प्रशंसा करते हैं॥ ६॥

सप्तमी॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ७॥

सूर्यम्। चक्षुषा। गच्छ। वातम्। आत्मना। दिवम्। च। गच्छ। पृथिवीम्। च। धर्मऽभिः।

अपः । वा । गच्छ । यदि । तत्र । ते । हितम् । ओषधीषु ।
 प्रति । तिष्ठ । शरीरैः ॥ ७ ॥

हे मृत पुरुष त्वं सूर्यं देवं चक्षुषा चक्षुर्द्वारेण गच्छ सूर्यप्राप्तौ चक्षुरेव द्वारम् । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" इति [ऐ० आ० २. ४. २] पूर्वम् अक्षिणि आदित्यानुप्रवेशात् । तथा वातम् वायुं सूत्रात्मानम् आत्मना । अत्र आत्मशब्देन मुख्यः प्राणोभिधीयते । तेन तं गच्छ । अत्रापि "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति [ऐ० आ० २. ४. २] श्रुतेः वातप्राप्तौ प्राण एव द्वारम् । एवं धर्मभिः शरीरधारकैः इतरैरिन्द्रियैः दिवं च पृथिवीं च गच्छ । वा अथ वा अपो गच्छ उदकानि अन्तरिक्षं वा प्राप्नुहि । यदि तत्र अप्सु अन्देवतायां ते तव हितं भवेत् । अनेन तत्तत्स्थानप्राप्तेरैच्छिकत्वं सूचितं भवति । ओषधीषु व्रीहियवादिषु शरीरैः स्वावयवैः कर्मेन्द्रियैः । यद्वा पूजार्थं बहुवचनम् । शरीरेण स्थूलेन प्रति तिष्ठ प्रतिष्ठितो भव ॥

हे मृतपुरुष ! तू चक्षुरूपी द्वारके द्वारा सूर्यदेवको प्राप्त हो [सूर्यप्राप्तिमें चक्षु ही द्वार है क्योंकि—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।—आदित्य चक्षु बनकर नेत्रोंमें प्रवेश कर गए ।" इस ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ की श्रुतिमें नेत्रमें पहिले आदित्य का प्रवेश कहा है] और हे मृतपुरुष ! तू वायुको सूत्रात्मारूपसे प्राप्त हो ["वायुप्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।—वायुने प्राण-सूत्रात्मा—बन कर नासिकामें प्रवेश किया" इस ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ की श्रुतिके अनुसार वातप्राप्तिमें प्राण ही द्वार है] इसी प्रकार शरीरधारक अन्य इन्द्रियों (धर्मों) से द्युलोक और पृथ्वीलोकको प्राप्त हो । जल वा अन्तरिक्षको प्राप्त हो, इन सब स्थानोंमें तेरा हित (इच्छा) हो तो प्रवेश कर और व्रीहि यव आदिमें औषधियोंमें अपने स्थूल—शरीरके रूपमें प्रवेश कर ७

अष्टमी ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।

यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतांमु लोकम् ॥ ८ ॥

अजः । भागः । तपसः । तम् । तपस्व । तम् । ते । शोचिः । तपतु । तम् । ते । अर्चिः ।

याः । ते । शिवाः । तन्वः । जातऽवेदः । ताभिः । वह । एनम् । सुऽकृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने अयम् अजस्तव भागः । अनुस्तरणीत्वेन अजस्य हन्यमानत्वाद् एवम् उच्यते । तं तपसः तापकेन तव तेजसा तपस्व संतापय । तम् एव अजं भागं ते तव शोचिः दीप्तिः तपतु सन्तापयतु ॥ एवम् अजस्य तापादिविषयताम् अभिधाय अथ मेतस्य अभिमतलोकप्राप्तिम् आशास्ते । उ अपि च हे जातवेदः मांसपशुलक्षणधन त्वं ते याः शिवाः सुखकरास्तन्वः सन्ति । "ये ते अग्ने शिवे तनुवौ" [तै० ब्रा० १. १. ७. २] इत्यध्वर्युमन्त्रोक्ता विराट्स्वराडाद्याः शिवास्तन्वः सन्ति ताभिस्तनूभिः शरीरसुखकरीभिः एनं मेतं सुकृताम् पुण्यकृतां लोकम् स्थानं वह मापय ॥

हे अग्निदेव ! यह अज आपका भाग है उसको आप अपने तापक तेजसे सन्तप्त करिये और उसी अजभागको आपकी दीप्ति सन्तप्त करे और उसी अजको आपका ज्वालारूप तेज तपावे और हे पशुरूप धनको पाने वाले जातवेदा अग्ने ! आपके जो सुखमद

विराट् स्वराट् आदि शरीर हैं उनसे आप इस प्रेतको पुण्यात्माओं के लोकको प्राप्त कराइये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवं-
मन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः
शृतं कृधि ॥ ९ ॥

याः । ते । शोचयः । रंहयः । जातऽवेदः । याभिः । आऽपृणासि । दिवम् । अन्तरिक्षम् ।
अजम् । यन्तम् । अनु । ताः । सम् । ऋण्वताम् । अथ । इत-राभिः । शिवऽतमाभिः । शृतम् । कृधि ॥ ९ ॥

हे जातवेदः ते याः शोचयः । शोचयन्तीति शोचयः । तादृशा याः सन्ति । तथा या रंहयः वेगवत्यः । ❀ रहि गतौ । औणा-दिक इप्रत्ययः ❀ । तन्वः सन्ति । किं च याभिस्तनूभिर्ज्वाला-रूपाभिः दिवम् अन्तरिक्षं च आ प्रीणासि पूरयसि तर्पयसि वा तास्तव तन्वो यन्तं गच्छन्तम् अजम् अनुस्तरणीलक्षणं समृण्व-ताम् संगच्छन्ताम् । अथ । अथेत्ययं प्रकारान्तरद्योतनार्थः । इत-राभिस्तनूभिः शिवतराभिः अत्यन्तसुखकराभिः अमुं प्रेतं शृतम् पक्वं हविर्योग्यं कृधि कुरु ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आपकी जो शोक देने वाली और वेगवती लपटें हैं कि—जिनसे आप द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें व्याप्त होजाते हैं वे लपटें इस अजको प्राप्त होवें और दूसरी सुखप्रद लपटोंसे आप इस प्रेतको हविकी समान पक्व करिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न् ।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेष॒: सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चा॑: ॥

अव॑ । सृ॒ज॒ । पुन॑: । अ॒ग्ने॒ । पि॒तृऽभ्य॑: । य: । ते॒ । आऽहु॑त: । चर॑ति । स्व॒धाऽवा॑न् ।

आयु॑: । वसा॑न: । उप॑ । या॒तु॒ । शेष॑: । सम् । ग॒च्छ॒ता॒म् । त॒न्वा॑ । सु॒ऽवर्चा॑: ॥ १० ॥

हे अग्ने त्वम् एनं प्रेतं तव हविष्ट्वेन कल्पितं पितृभ्यः पुनरव सृज अत्यन्तं त्यज प्रयच्छ । पितृलोकस्थानायेत्यर्थः । यः प्रेतपुरुषः ते त्वयि आहुतः आहुतित्वेन दत्तः स्वधावान् अस्माभिर्दत्ताभिः स्वधाभिस्तद्वान् सन् चरति गच्छति ॥ किं च शेषः । अपत्यनामैतत् । ❀ शेष इत्यपत्यनाम शिष्यत इति निरुक्तम् । ३. २. ❀ । आयुर्वसानः आयुष्मान् सन् उप यातु स्वगृहं प्रति गच्छतु । स च प्रेतः सुवर्चाः शोभनेन वर्चसा युक्तः सन् तन्वा पितृलोकावस्थानोचितेन शरीरेण सं गच्छताम् युक्तो भवतु ॥ यद्वा चतुर्थपादोपि अपत्यविषयतया योजनीयः । तत्पक्षेपि स च शेषः सुवर्चाः सन् तन्वा स्वीयेन शरीरेण सं गच्छताम् । अनेन पितृमृतिदुःखात् पुत्रस्य शरीरत्यागाभावो वर्चस्वित्वं च प्रार्थितं भवति ॥

इत्यष्टादशकाण्डे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! जो प्रेतपुरुष आपको हविरूपसे दिया गया है और हमारी दी हुई स्वधाओंसे सम्पन्न होकर आपमें विचरण कर रहा है उस हविरूपमें कल्पित प्रेतको आप फिर पितृलोकके लिये

छोड़िये और इसका जो शेष अर्थात् पुत्र है वह आयुष्मान् रहता हुआ घरको चला जावे और यह प्रेत शोभन वर्चसे सम्पन्न होकर पितृलोकमें रहनेके योग्य शरीरसे भी संयुक्त होवे, अथवा-इसका पुत्र ही सुन्दर तेजसे सम्पन्न रहता हुआ अपने शरीरसे सम्पन्न रहे [इससे यह प्रार्थनाकी है, कि-पिताके मरणके दुःखसे पुत्र के शरीरका पात न हो और यह वर्चस्वी भी रहे] ॥ १० ॥ (७)

अष्टादश काण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

पितृमेधे "अति द्रव" इति अष्टानाम् ऋचां दह्यमानप्रेतशरीरोपस्थाने विनियोग उक्तः ॥

तथा एताभिरष्टभिर्दहनदेशं नीयमानं प्रेतशरीरम् अनुमन्त्रयेत ॥

संचयनकर्मणि एताभिरष्टभिः हरिणीसंज्ञिकाभिर्ऋग्भिः अस्थिपूर्णं कलशं निखननप्रदेशं प्रति हरेयुः ॥

तत्र "अति द्रव" इति तिसृभिः प्रेतहस्तयोर्दीयमानं गोपशुवृक्कद्वयम् अनुमन्त्रयेत ॥

"स्योनास्मै भव" इति तिसृभिर्मुमूर्षुं यजमानम् अग्निहोत्रशालायाम् आस्तीर्णेषु दर्भेषु स्थापयेत् ॥

तथा एताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिः अग्नेरुत्तरपार्श्वे प्रेतस्य शरीरं शकटाद् अवतारयेत् । इदं कर्म दहनस्थाने कर्तव्यम् ॥

तथा अस्थिपूर्णकलशस्य भूमौ निखननपक्षे "स्योनास्मै भव" [१६] इत्यृचा कलशम् अभिमन्त्र्य निखनेत् ॥

"अति द्रव" आदि आठ ऋचाओंका भस्म होते हुए प्रेतशरीरके उपस्थानमें विनियोग कहा है।

तथा इन आठ ऋचाओंसे भस्म करनेके स्थानको लिये जाते हुए प्रेतके शरीरका अनुमन्त्रण करे।

संचयनकर्ममें इन हरिणी नामक आठ ऋचाओंसे अस्थिपूर्ण कलशको निखननदेशकी ओर लेजावे।

तहाँ "अतिद्रव" इन तीन ऋचाओंसे प्रेतके हाथमें दिये जाते हुए गोपशुके दोनों वृक्कोंका अनुमन्त्रण करे।

"स्योनास्मै भव" इन तीन ऋचाओंसे मुमूर्षु यजमानको अग्निहोत्रशालामें फैले हुए दर्भों पर स्थापित करे।

तथा इन तीन ऋचाओंसे अग्निके उत्तरकी ओर प्रेतके शरीरको शकटसे उतारे इस कर्मको दहनस्थानमें करे।

तथा अस्थिपूर्ण कलशके निखननके पक्षमें "स्योनास्मै भव" इस उन्नीसवीं ऋचासे कलशको अभिमंत्रित करके गाड़ देवे।

तत्र प्रथमा ॥

अति॑ द्रव॒ श्वानौ॑ सारमे॒यौ च॑तुर॒क्षौ श॒बलौ॑ सा॒धुना॑ प॒था ।
अथा॑ पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॒ अपी॑हि य॒मेन॒ ये स॑ध॒मादं॒ मद॑न्ति ॥

अति॑ । द्र॒व॒ । श्वानौ॑ । सा॒र॒मे॒यौ । च॒तुः॒ऽअ॒क्षौ । श॒बलौ॑ । सा॒धुना॑ । प॒था ।
अथ॑ । पि॒तॄन् । सु॒ऽवि॒दत्रा॑न् । अपि॑ । इ॒हि॒ । य॒मेन॑ । ये । स॒ध॒ऽमाद॑म् । मद॑न्ति ॥ ११ ॥

प्रेतः संबोध्यते। हे पितृलोकं गच्छन् प्रेत सारमेयौ सरमा नाम देवशुनी तस्याः पुत्रौ। ❀ "स्त्रीभ्यो ढक्" ❀। चतुरक्षौ चत्वारि अक्षीणि ययोः। एकैकस्य चतुरक्षत्वम्। ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः ❀। शबलौ शबलवर्णौ। यद्वा नामधेयम् एतत्। श्यामशबलसंज्ञकौ। शबलाविति द्विवचनेन श्यामोपि विवक्ष्यते। स्मर्यते हि।

श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यां बलिं प्रदास्यामि स्यातां मे नावहिंसकौ।

इति । तौ श्वानौ साधुना समीचीनेन ऋजुना पथा मार्गेण अति द्रव अतीत्य गच्छ । अथ अय अनन्तरं सुविदत्रान् । विदत्रशब्दो धनवाची । सुधनान् शोभनहवीरूपान्नान् । यद्वा । ॐ वेत्तेः कत्रन् प्रत्ययः ॐ । ज्ञानवाची विदत्रशब्दः । संज्ञानान् पितॄन् अपेहि । अपशब्दः उपोपसर्गस्यार्थे । उपेहि । उपगच्छेत्यर्थः । यद्वा अपशब्दो वर्जनार्थः । अपवृज्य मार्गासीनौ श्वानौ वर्जयित्वा पितॄन् इहि गच्छ । ॐ एतेर्लोटि रूपम् ॐ । ये पूर्वजाः पितरो यमेन पितृराजेन सधमादम् सह मादनं तृप्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत् सधमादं सह तृप्तिर्हर्षो वा यथा भवति तथा मदन्ति माद्यन्ति तान् इहीति संबन्धः । ॐ "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः । मादयतेरेरजन्तो माद इति माद्यतेर्वा व्यत्ययेन घञ् ॐ ॥

हे पितृलोकको जाने वाले प्रेत ! सरमानामक देवताओंकी कुतियाके श्याम और शबल नामक दो पुत्र हैं उनमेंसे प्रत्येकके चार २ नेत्र हैं उन दोनों श्याम शबलों † को तू सरल मार्गसे अतिक्रमण करके जा । फिर जो पितर यमके साथ रहते हुए प्रसन्न रहते हैं उन हविरूप धनसे सम्पन्न पितरोंके पास जा ११

द्वितीया ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥

यौ । ते । श्वानौ । यम । रक्षितारौ । चतुःऽअक्षौ । पथिसदी इति पथिऽसदी । नृऽचक्षसा ।

† कहा भी है, कि—"द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ । ताभ्यां बलिं प्रदास्यामि स्यातां मे तावहिंसकौ ।"

ताभ्याम् । राजन् । परि । धेहि । एनम् । स्वस्ति । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ॥ १२ ॥

यमरक्षितारौ यमो रक्षिता गोपायिता ययोः । ❀ "आत छन्दसि" इति कबभावः । अन्तोदात्तप्रकरणे "त्रिचक्रादीनाम् उपसंख्यानम्" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । यद्वा यमशब्देन तत्स्वामिकं पुरम् उच्यते । यमपुरस्य पालयितारौ । ❀ कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तत्वम् ❀ । चतुरक्षौ व्याख्यातम् । पथिषदी पितृभिर्गन्तव्ये मार्गे सीदन्तौ । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति विहित इन् प्रत्ययः सदेरपि व्यत्ययेन भवति ❀ । नृचक्षसा नृचक्षसौ नृणां मन्त्राणां द्रष्टारौ हे राजन् पितॄणां स्वामिन् ते त्वदीयौ यौ श्वानौ वर्तेते ताभ्यां श्वभ्याम् एनम् अस्मादिष्टं प्रेतं परि धेहि । परिदेहीत्यर्थः । रक्षणार्थं दानं परिदानम् इत्युच्यते । किं च अस्मै त्वदीयं लोकं गच्छते स्वस्ति । स्वस्तीत्यविनाशिनाम । अविनाशम् अनमीवम् अमीवो रोगः बाधा तद्रहितं स्थानं च धेहि विधेहि ॥

हे पितरोंके स्वामिन् ! यमपुरकी रक्षा करने वाले चार नेत्र वाले, पितरोंके मार्गमें बैठे रहने वाले मनुष्योंके द्रष्टा आपके जो श्वान हैं उनको रक्षाके लिये इस प्रेतको सौंपिये। और इस आप के लोकमें रहने वालेको अविनाशी बाधारहित स्थान दीजिये १२

तृतीया ॥

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् । १३

उरुऽनसौ । असुऽतृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः । जनान् । अनु ।

तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः । दाताम् । असुम् ।
अद्य । इह । भद्रम् ॥ १३ ॥

उरुणसौ विस्तीर्णनासिकौ । ❀ नासिकाशब्दस्य नसभावः । सुप आकारः ❀ । असुतृपौ प्राणिनाम् असुभिः प्राणैस्तृप्यन्तौ प्राणापहारकौ उदुम्बलौ । विस्तीर्णबलावित्यर्थः । ❀ पूर्वपदे वर्णोपजनश्छान्दसः ❀ । यमस्य दूतौ येभ्यो जनान् जननवतः उत्पत्तिमतः प्राणिनः अनु अनुलक्ष्य चरतः तेषां प्राणान् अपहर्तुं सर्वत्र संचरतः । तौ दूतौ सूर्याय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । ❀ दृशये दर्शनाय । ❀ इगुपधात् कित् [उ० ४. ११९] इति औणादिक इप्रत्ययः। कित्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ । सूर्यं द्रष्टुम् अद्य इदानीम् इह अस्मच्छरीरे भद्रम् भन्दनीयम् असुम् पञ्चवृत्तिकं प्राणम् अस्मभ्यं पुनर्दाताम् पुनः प्रयच्छताम् । ❀ ददातेश्छान्दसे लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । बाहुलकाद् अमाङ्योगेपि अडभावः ❀ ।

विस्तीर्ण नासिका वाले, प्राणियोंके प्राणोंसे तृप्त होने वाले, प्राणापहारक प्रचण्ड बली यमके दूत उत्पत्ति वाले प्राणियोंको लक्ष्यमें रख कर उनका प्राण अपहरण करनेके लिये सर्वत्र विचरण करते रहते हैं । वे दोनों दूत हमारे शरीरमें सूर्यदेवको देखने के लिये कल्याणमय पञ्चवृत्ति प्राणको फिर देवें ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥१४॥

सोमः । एकेभ्यः । पवते । घृतम् । एके । उप । आसते ।
येभ्यः । मधु । प्रऽधावति । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात्

इदमादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिः म्रियमाणानां यजमानानां वर्तनम् अत्र प्रतिपाद्यते। एकेभ्यः केभ्यश्चित् पितृभ्यः सोमः पवते उपभोगाय कुल्यारूपेण प्रवहति येषां गोत्रजाः सामानि ब्रह्मयज्ञसमयेऽधीयते। श्रूयते हि। "यत् सामानि सोम एभ्यः पवते" इति [तै० आ० २. १०. १]॥ एके अन्ये पितरः घृतम् आज्यम् उपासते उपगच्छन्ति। उपभुञ्जत इत्यर्थः। येषां पुत्रादयो यजूंषि ब्रह्मयज्ञकालेऽधीयते। श्रुतिश्च भवति। "यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या" इति [तै० आ० २. १०. १]॥ येभ्यः पितृभ्यः। ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। उपभोगाय मधु क्षौद्रं प्रधावति प्रवाहरूपेण शीघ्रं गच्छति। ये आथर्वणान् मन्त्रान् ब्रह्मयज्ञार्थम् अधीयते तेषां पितॄन् प्रति मधु मधुकुल्या प्रवहति। तथा चाम्नायते। "यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्याः" इति [तै० आ० २. १०. १]। तांश्चिदेव पूर्वोक्तान् सर्वान् एव हे म्रियमाण प्रेत वा अपि गच्छतात् अपिगच्छ प्राप्नुहि। ❀ "तुह्योः०" इति हेस्तातङ् आदेशः ❀॥

[इस ऋचासे पाँच ऋचा तक मरने वाले यजमानोंकी वृत्ति का वर्णन किया है, कि–] एक पितरोंके लिये सोम उपभोगके लिये नदीरूपमें बहता है [जिनके गोत्रमें उत्पन्न हुए पुरुष ब्रह्मयज्ञके समय सामको पढ़ते हैं उनके निमित्त सोम नदीरूपमें बहता है। तैत्तिरीय आरण्यक २। २।१ की श्रुतिमें भी कहा है, कि– "यत् सामानि सोम एभ्यः पवते"] और दूसरे पितर घृतका उपभोग करते हैं [जिनके पुत्र आदि ब्रह्मयज्ञके समय यजुर्वेदके मन्त्रोंका पाठ करते हैं उनको घृतकी नदी मिलती हैं इसमें तैत्तिरीय आरण्यक २। १०। १ का प्रमाण है, कि–"यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या"] और जो ब्रह्मयज्ञके समय अथर्ववेदके मन्त्रोंका पाठ करते हैं उनके पितरोंकी ओर मधुकी नदी बहती है [इसका श्रुतिमें प्रमाण भी है, कि–"यद् अथर्वांगिरसो मधोः कुल्याः"

तैत्तिरीय आरण्यक २। १०। १] हे मरते हुए प्रेत! तू उन सब वस्तुओंको प्राप्त हो ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

ये चित् पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् १५

ये । चित् । पूर्वे । ऋतऽसाताः । ऋतऽजाताः । ऋतऽवृधः ।
ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपःऽजान् । अपि । गच्छतात् ॥१५॥

ये चित् ये च पूर्वे पूर्वपुरुषा ऋतसाताः ऋतम् सत्यं यज्ञो वा तेन दत्ताः संभक्ता वा । ❀ सनतेर्निष्ठायां "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ । अत एव ऋतजाताः ऋतेन सत्येन जाता उत्पन्नाः ऋतावृधः ऋतस्य वर्धकाश्च भवन्ति । तपस्वतः तपसा युक्तान् तपोजान् तपसः सकाशादेव उत्पन्नान् ऋषीन् अतीन्द्रियार्थदर्शिनस्तान् हे यम यमवत् नियत यद्वा यमेन पितृराजेन नीयमान हे प्रेत त्वम् अपि गच्छतात् अपिगच्छ प्राप्नुहि ॥

जो पूर्वपुरुष सत्यसे संभक्त थे, सत्यसे उत्पन्न हुए थे और सत्यको बढ़ाते रहते हैं उन तपसे संपन्न हुए और तपसे ही उत्पन्न अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषियोंको हे यमसे नीयमान पुरुष! तू भी प्राप्त हो

षष्ठी ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥१६॥

तपसा । ये । अनाधृष्याः । तपसा । ये । स्वः । ययुः ।
तपः । ये । चक्रिरे । महः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १६

ये जनाः तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना युक्ताः सन्तः अनाधृष्याः पापैरधृष्या भवन्ति । ये च तपसा यागादिरूपेण साधनेन स्वः स्वर्गं ययुः यान्ति प्राप्नुवन्ति । ये च महः महत् तपः अन्यैर्दुष्करं राजसूयाश्वमेधादिकं हिरण्यगर्भाद्युपासनं वा चक्रिरे कुर्वन्ति । एते येषु लोकेषु वर्तन्ते तेषु लोकेषु तांश्चिदेव तानेव तपस्विनः हे प्रेत अपि गच्छतात् अधिगच्छ ॥

कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपसे संयुक्त जो पुरुष पापोंसे अप्रधृष्य होते हैं और जो यागादिसाधनरूप तपसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं, और जो दूसरोंसे दुष्कर राजसूय अश्वमेध वा हिरण्यगर्भकी उपासनारूप महातपको करते हैं वे पुरुष जिन लोकोंको प्राप्त होते हैं हे प्रेत ! तू भी उन तपस्वियोंके लोकोंको प्राप्त हो ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

ये । युध्यन्ते । प्रऽधनेषु । शूरासः । ये । तनूऽत्यजः ।
ये । वा । सहस्रऽदक्षिणाः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् ॥

प्रधनेषु । प्रकीर्णानि अस्मिन् धनानि भवन्तीति प्रधनाः संग्रामाः । तेषु शूरासः शौर्यवन्तो ये युध्यन्ते शत्रून् संप्रहरन्ति । ये च तनूत्यजः शरीराणि तत्र ये त्यक्तारो भवन्ति । ये वा ये च सहस्रदक्षिणाः सहस्रदक्षिणान् क्रतून् अनुष्ठितवन्तः तान् सर्वानेव हे प्रेत त्वम् इतो गच्छ । ते येषु उत्तमेषु लोकेषु निवसन्ति तं लोकं प्राप्नुहीत्यर्थः ॥

जो शूर संग्रामोंमें शत्रुओंके ऊपर प्रहार करते हैं और जो युद्धमें शरीरको त्याग देते हैं और जो अनन्त दक्षिणा वाले यज्ञों

को किया करते हैं, हे प्रेत ! तू उन सबको प्राप्त हो अर्थात् वे जिन उत्तम लोकोंमें रहते हैं उन लोकोंको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

सहस्रंणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

सहस्रऽनीथाः । कवयः । ये । गोपायन्ति । सूर्यम् ।
ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपःऽजान् । अपि । गच्छतात् ॥ १८ ॥

सहस्रणीथाः । सहस्रनयनाः कवयः क्रान्तदर्शिनो ये सूर्यम् आदित्यं गोपायन्ति रक्षन्ति तपस्वतः तपसा युक्तान् तपोजान् तपसः सकाशादेव उत्पन्नान् तान् ऋषीन् हे यम नियत शकटे बद्ध वा यमेन नीयमान वा हे प्रेत त्वम् अपि गच्छतात् अपि गच्छ॥

अनन्त दृष्टि वाले जो क्रान्तदर्शी ऋषि सूर्यकी रक्षा करते हैं उन तपस्वी तपसे उत्पन्न हुए ऋषियोंको हे यमसे नीयमान पुरुष ! तू भी प्राप्त हो ॥ १८ ॥

नवमी ॥

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

स्योना । अस्मै । भव । पृथिवि । अनृक्षरा । निऽवेशनी ।
यच्छ । अस्मै । शर्म । सऽप्रथाः ॥ १९ ॥

हे पृथिवि प्रथिते भूमे वेदिरूपे त्वम् अनृक्षरा अनाधिका निवेशनी निविशन्ति अत्रेति निवेशनी शयनार्हा सती अस्मै मुमूर्षवे जनाय अस्थिरूपमेताय वा स्योना सुखकरी भव । किं च अस्मै

पूर्वोक्ताय समयाः प्रथः प्रख्यानं विस्तीर्णता तत्सहिता त्वं शर्म सुखं यच्छ देहि। ॐदाण् दाने। "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ॐ ॥

हे वेदिरूपे विस्तृतभूमे! तू मुमूर्षु पुरुषके लिये निष्कण्टक अत एव शयनके योग्य बन और विस्तीर्णतासम्पन्न तू इसको सुख दे १६

दशमी ॥

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।

स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥

असम्ऽबाधे । पृथिव्याः । उरौ । लोके । नि । धीयस्व ।

स्वधाः । याः । चकृषे । जीवन् । ताः । ते । सन्तु । मधुऽश्चुतः २०

हे मुमूर्षो प्रेत वा असंबाधे। संबाधः संमर्दः। तद्रहिते उरौ विस्तीर्णेपृथिव्याः अग्निहोत्रवेदिलक्षणाया लोके लोक्यमाने स्थाने नि धीयस्व धापितो भव। ॐ दधातेः कर्मणि यक् ॐ। पूर्वं त्वं जीवन् जीवनवान् याः स्वधाः स्वम् आत्मानं दधाति पुष्णाति धिनोतीति स्वधा अन्नम् दैवानि हवींषि स्वधाकारेण दत्तानि पित्र्याणि हवींषि च चकृषे कृतवान् असि। ॐ करोतेर्लिटि क्रादिनियमाद् इडभावः ॐ। ताः स्वधाः ते तव मधुश्च्युतः मधुप्रवाहक्षारयित्र्यः सन्तु भवन्तु। उपलक्षणम् एतत्। मधुररसघृतसोमादिप्रवाहरूपा भवन्तु ॥

[इति] द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे मुमूर्षो! तू अग्निहोत्रादिके वेदीरूप विशाल दर्शनीय स्थान में स्थापित हो, पहिले तूने पितरों और देवताओंके निमित्त जिन स्वधाओंको और हवियोंको दिया है वे स्वधा तुझको मधु आदिके प्रवाहरूपमें प्राप्त होवें ॥ २० ॥ (८)

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

"इयामि" [२१] इति अनयाः "स्योनास्मै भव" [१६] इत्यनया सह उक्तो विनियोगः ॥

"उत् त्वा वहन्तु" [२२] इत्यनया चितेर्दक्षिणपार्श्वे अजं पशुं बध्नाति। यथा दह्यते तथा बध्नीयात् ॥

आहिताग्नेः संस्कारार्थे विहितेषु त्रिष्वग्निषु "अपेमम्" [२७] इत्यृचा आज्यं जुहुयात् ॥

पिण्डपितृयज्ञे बर्हिषि उदपात्रनिनयनानन्तरं "ये दस्यवः" [२८] इत्यृचा उभयत आ दीप्तम् उल्मुकं निरस्येत्। सूत्रितं हि। "यज्ञोपवीती ये दस्यव इत्युभयत आदीप्तम् उल्मुकं त्रिः प्रसव्यं परिहृत्य निरस्यति" इति [कौ० ११. ८] ॥

पिण्डपितृयज्ञ एव "सं विशन्तु" [२६] इत्यनया आस्तीर्णे बर्हिषि तिलान् प्रकिरेत् ॥

"इयामि" इस (२१) पहिली ऋचाका "स्योनास्मै भव" (१६) ऋचाके साथ विनियोग कह दिया है।

"उत् त्वा वहन्तु" इस (२२ वीं) ऋचासे चिताके दाहिनी ओर अज-पशुको बाँधे, जिस प्रकार वह भस्म होजाय तिस प्रकार बाँधे।

आहिताग्निकी संस्कारार्थक विहित तीन अग्नियोंमें "अपेमम्" (२७) ऋचासे घृतकी आहुति देय।

पिण्डपितृयज्ञमें कुशाओं पर जलपूर्ण पात्र रखनेके अनन्तर "ये दस्यवः" (२८) ऋचासे दोनों ओर जलते हुए उल्मुक को फेंक देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"यज्ञोपवीती ये दस्यव इत्युभयत आदीप्तं उल्मुकं त्रिः प्रसव्यं परिहृत्य निरस्यति" (कौशिकसूत्र ११ । ८) ॥

पिण्डपितृयज्ञमें ही "सं विशन्तु" (२६) ऋचासे बिछाये हुए दर्भों पर तिलोंको डाले।

तत्र प्रथमा ॥

ह्वया॑मि ते॒ मन॑सा॒ मन॑ इ॒हेमान् गृ॒हाँ उप॑ जुजुषा॒ण एहि॑ ।
सं ग॑च्छस्व पि॒तृभि॒ः सं य॒मेन॑ स्यो॒नास्त्वा॒ वाता॒ उप॑ वान्तु श॒ग्माः ॥ २१ ॥

ह्वया॑मि । ते॒ । मन॑सा । मनः॑ । इ॒ह । इ॒मान् । गृ॒हान् । उप॑ । जु॒जु॒षा॒णः । आ । इ॒हि॒ ।

सम् । ग॒च्छ॒स्व॒ । पि॒तृऽभिः॑ । सम् । य॒मेन॑ । स्यो॒नाः । त्वा॒ । वाताः॑ । उप॑ । वा॒न्तु॒ । श॒ग्माः ॥ २१ ॥

हे प्रेत पुरुष ते तव संबन्धिः मनः अन्तःकरणम् अस्मदीयेन मनसा इह अस्मिन् लोके ह्वयामि आह्वयामि । इमान् अस्मदीयान् गृहान् येषु त्वाम् उद्दिश्य और्ध्वदेहिकं कर्म क्रियते तान् जुजुषाणः सेवमानः प्रीयमाणो वा । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः । व्यत्ययेन श्लुः ❀ । उपेहि उपागच्छ । उपेत्य च संस्कारोत्तरकालं पितृभिः पितृपितामहप्रपितामहैः सं गच्छस्व सापिण्ड्यकरणेन संगतो भव । ❀ "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् ❀ । यमेन तद्राजेन च संगतो भव । स्योनाः । ❀ षिवु तन्तुसंताने । अस्माद् औणादिको नप्रत्ययः । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति वकारस्य ऊठादेशः ❀ । पितृलोकगमनसमये तव अध्वजन्यश्रमम् अपनेतुं संततः नैरन्तर्येण वर्तमानाः शग्माः सुखकराः शैत्यमान्द्यसौरभ्ययुक्ता वाताः वायवस्त्वा त्वाम् उप वान्तु उपगच्छन्तु । ❀ वा गतिगन्धनयोः । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

हे प्रेत पुरुष ! तेरे मनको मैं अपने मनसे इस लोकमें बुलाता हूँ, अब जिन घरोंमें तेरे निमित्त और्ध्वदैहिक कर्म किया जाता है उन हमारे घरोंमें तू आ, और संस्कारके अनन्तर पिता, पितामह और प्रपितामहके साथ सपिण्डीकरणके प्रभावसे मिल जा और राजा यमके पास पहुँच जा, पितृलोकमें जानेके समय निरन्तर चलने वाले सुखप्रद वायु तेरे मार्गके श्रमको दूर करनेके लिए तुझको प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।

अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥२२॥

उत् । त्वा । वहन्तु । मरुतः । उदऽवाहाः । उदऽप्रुतः ।

अजेन । कृण्वन्तः । शीतम् । वर्षेण । उक्षन्तु । बाल् । इति २२

हे प्रेत मरुतः मरुत्संज्ञका देवास्त्वा त्वाम् उद्वहन्तु ऊर्ध्वम् आकाशे वहन्तु धारयन्तु । यद्वा उदवाहसमभिव्याहारात् मरुच्छब्देन वायव उच्यन्ते । वायवस्त्वाम् उपरिलोकं प्रापयन्तु इत्यर्थः । अपि च उदवाहाः उदकं वहन्ति धारयन्तीति उदवाहा मेघाः । ❀ "पेषंवासवाह०" इति उदकशब्दस्य उदभावः ❀ । अत एव उदप्रुतः उदकैर्भूमिं प्लावयन्तः आर्द्रीकुर्वन्तः । शीतम् शैत्यगुणं कृण्वन्तः कुर्वन्तः एवंगुणविशिष्टा मेघाः समीपवर्त्तिना अजेन सहितं त्वां वर्षेण वर्षजलेन उक्षन्तु सिञ्चन्तु । इतिशब्दः बाल् इत्यस्य अनुकरणशब्दतां द्योतयति । उक्षणसमये बाल् इत्येवमात्मकः शब्दो यथा जायेत तथा उक्षन्तु इत्यर्थः । ❀ उक्ष सेचने ❀ ॥

हे प्रेत पुरुष ! मरुत्संज्ञक देवता तुझको आकाशमें ऊपर धारण किये रहें अथवा वायु तुझको ऊपरके लोकमें पहुँचावें,

और जलको धारण करने वाले अत एव पृथ्वीको जलसे गीली करने वाले शीतल मेघ घाल शब्द करते हुए समीपमें बंधे हुए अन्नसहित तुझको वर्षाके जलसे सिञ्चित करें॥ २२ ॥

तृतीया ॥

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितृँरुप द्रव ॥ २३ ॥

उत् । अह्वम् । आयुः । आयुषे । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे ।
स्वान् । गच्छतु । ते । मनः । अध । पितॄन् । उप । द्रव ॥२३॥

हे प्रेत ते त्वदीयम् आयुः उदह्वम् उच्चैःस्वरेण आह्वयामि । ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लुङ् । "लिपिसिचिह्वश्च" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । किमर्थम् । आयुषे जीवनाय क्रत्वे क्रतवे यज्ञादिकर्मणे दक्षाय बलाय । यद्वा "प्राणो वै दक्षः । अपानः क्रतुः" इति [तै० सं० २. ५. २. ४] श्रुतेर्दक्षक्रतुशब्दाभ्यां प्राणापानावभिधीयेते । क्रत्वे अपाननव्यापाराय दक्षाय प्राणनव्यापाराय । प्राणवायोर्नासारन्ध्राद् बहिर्निःसरणं प्राणनम् । अन्तराकर्षणम् अपाननम् । जीवसे जीवनाय प्राणधारणाय । ❀ सर्वत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । एतत् सर्वम् आयुषि सत्येव भवतीति तदाह्वानं क्रियते इत्यर्थः । ते त्वदीयं मनः स्वान् स्वकीयां तनुं संस्कारजन्यम् अभिनवशरीरं गच्छतु । अध अथ शरीरप्राप्त्यनन्तरं पितॄन् वस्वादिरूपान् उप द्रव उपलक्ष्य गच्छ । ❀ द्रु गतौ ❀ ॥

हे प्रेत ! मैं तेरी आयुका प्राणन अपानन व्यवहारके लिये और जीवनके लिये आह्वान करता हूँ, तेरा मन संस्कारसे उत्पन्न हुए तेरे नवीन शरीरको प्राप्त हो फिर शरीरकी प्राप्तिके अनन्तर तू वसु आदिक पितरोंको प्राप्त हो ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते।
मा ते हास्त तन्वः१ः किं चनेह ॥ २४ ॥

मा। ते। मनः। मा। असोः। मा। अङ्गानाम्। मा। रसस्य। ते
मा। ते। हास्त। तन्वः। किम्। चन। इह ॥ २४ ॥

हे प्रेत पुरुष ते तव मनः मानसम् इन्द्रियं मा हास्त त्वां मा परित्याक्षीत्। ॐ ओहाक् त्यागे। व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ॐ। यद्वा। ॐ ओहाङ् गतावित्यस्य रूपम् ॐ। मा गच्छतु त्वां विहाय इह मा तिष्ठतु। तथा असोस्त्वदीयस्य प्राणस्य किं चन किमपि रूपं मा हास्त। अङ्गानाम् अवयवानां हस्तपादादीनां किमपि मा हास्त। तथा ते तव देहसंबन्धिनो रसस्य रुधिरादेः किमपि मा हास्त। इह अस्मिन् लोके ते तव तन्वः शरीरस्य किं चन किमप्यङ्गं मा हास्त। लोकान्तरे मनःप्राणादिसर्वाङ्गसहितशरीरयुक्तो भवेत्यर्थः ॥

हे प्रेत पुरुष! तेरी मन इन्द्रिय तेरा परित्याग न करे। तथा तेरे प्राणका कोई अंश क्षीण न हो और तेरे हाथ पैर आदिमें कुछ भी विकार न होवे और तेरे देहका रुधिर आदि रस भी तेरा किसी मात्रामें भी त्याग न करे। इस लोकमें तेरे शरीरका कोई भी अङ्ग तुझको न त्यागे, अर्थात् तू दूसरे लोकमें मन प्राण आदि सब अङ्गोंसे पूर्ण शरीर वाला रह ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

मा । त्वा । वृक्षः । सम् । बाधिष्ट । मा । देवी । पृथिवी । मही ।

लोकम् । पितृषु । वित्त्वा । एधस्व । यमराजऽसु ॥ २५ ॥

हे प्रेत त्वा त्वां वृक्षः त्वदाश्रयभूतो मा सं बाधिष्ट संबाधं हिंसनं मा कार्षीत् । ❀ बाधृ विलोडने । "माङि लुङ्" ❀ । तथा देवी द्योतमाना दानादिगुणयुक्ता या मही महती पृथिवी त्वदाश्रयभूता भूमिस्त्वां मा सं बाधिष्ट । त्वं च यमराजसु यमो राजा ईश्वरो येषां ते यमराजानः तथाविधेषु पितृषु पितृदेवतासु लोकम् स्थानं वित्त्वा लब्ध्वा एधस्व वर्धस्व । ❀ विद्लृ लाभे । "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इति क्त्वाप्रत्ययः । "एकाच उपदेशे०" इति इट्प्रतिषेधः ❀ ॥

हे प्रेत ! जिस वृक्षके नीचे तू विश्राम करे वह वृक्ष तुझको बाधा न दे और जिस दमकती हुई पृथ्वी देवीका तू आश्रय ले वह तुझको पीड़ा न देवें और जिनका राजा यम है उन पितरोंमें स्थान पाकर तू वृद्धि पा ॥ २५ ॥

षष्ठी ॥

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ २६ ॥

यत् । ते । अङ्गम् । अतिऽहितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः । यः । ऊं इति । वा । ते । पराऽइतः ।

तत् । ते । सम्ऽगत्य । पितरः । सऽनीडाः । घासात् । घासम् । पुनः । आ । वेशयन्तु ॥ २६ ॥

हे प्रेत ते तव यद् अङ्गम् शरीरं पराचैः पराङ्मुखम् अतिहितम् अतीत्य स्थितम् । अतिक्रम्य गतम् इत्यर्थः । तस्मिन् शरीरे वर्तमानः अपानः अपानवायुः प्राणः प्राणवायुः उशब्दः अप्यर्थे । अपि वा ये च अन्ये चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः सप्तशीर्षण्याः प्राणास्ते त्वदीयाः परेताः परागताः । अपुनरावृत्तये शरीरान्निर्गता इत्यर्थः । ते त्वदीयं तत् सर्वं सनीळाः समाननिलयाः पितरः पितृदेवताः संगत्य संघीभूत्वा । ❀ संपूर्वाद् गमेः क्त्वो ल्यप् । "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपे "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक् ❀ । घासात् । अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः भोगायतनं शरीरम् । ❀ अद भक्षणे । अधिकरणे घञ् । "घञपोश्च" इति घस्लादेशः ❀ । घासात् भोजनाधिकरणाच्छरीराद् घासम् भोजनाधिकरणम् अन्यच्छरीरं पुनरा वेशयन्तु अभिप्रापयन्तु ॥

हे प्रेत ! तेरे शरीरका जो अङ्ग तेरे शरीरसे पराङ्मुख होकर स्थित होगया था और उस शरीरमेंसे अपान वायु तथा चक्षु श्रोत्र आदि सात प्राण अपुनरावृत्तिके लिये शरीरसे निकल गए थे; उन सबको तेरे साथ एक स्थानमें रहने वाले पितर एकत्रित होकर भोजनाधिकरण शरीरसे दूसरे भोजनाधिकरण शरीरमें प्रवेश करादें

सप्तमी ॥

अपे॒मं जी॒वा अ॑रुधन् गृ॒हेभ्य॒स्तं निर्व॑हत॒ परि॒ ग्रामा॑दि॒तः ।
मृ॒त्युर्य॒मस्या॑सीद् दू॒तः प्रचे॑ता॒ असू॑न् पि॒तृभ्यो॑ गम॒यां च॑कार ॥ २७ ॥

अप॑ । इ॒मम् । जी॒वाः । अ॒रु॒ध॒न् । गृ॒हेभ्यः॑ । तम् । निः । व॒ह॒त॒ । परि॑ । ग्रामा॑त् । इ॒तः ।

मृत्युः । यमस्य । आसीत् । दूतः । प्रऽचेताः । असून् । पितृऽभ्यः । गमयाम् । चकार ॥ २७ ॥

जीवः जीवन्तः प्राणधारिणो बान्धवा इमं प्रेतं गृहेभ्यः सकाशाद् अपारुधन् । प्रेतशरीरम् अपागमयन्तु इत्यर्थः । ❀ रुधिर् आवरणे । "इरितो वा" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । तं प्रेतदेहम् इतः अस्माद् ग्रामात् । परिः पञ्चम्यर्थानुवादी । यद्वा परिहरणार्थः । हे बान्धवाः तं मृतदेहं परिहृत्य निर्वहत ग्रामाद् निर्गमयत । कुत इत्यत आह । मृत्युः मारकः पुरुषो यमस्य राज्ञो दूतः कर्मकर आसीत् अभवत् । प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानः सः म्रियमाणस्य पुरुषस्य असून् प्राणान् पितृभ्यः पितॄन् अनुप्रवेशयितुम् । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इति चतुर्थी ❀ । गमयां चकार प्रापयामास । ❀ गमेर्ण्यन्तात् "कास्प्रत्ययाद्०" इति आम् प्रत्ययः । कृञोऽनुप्रयोगश्च ❀ ॥

हे जीवित बांधवों ! इस प्रेतको घरसे अलग करके लेजाओ, इस मृतशरीरको उठाकर ग्रामसे बाहर लेजाओ, क्योंकि श्रेष्ठ ज्ञानवाले यमके दूत मृत्युने इस मरे हुए पुरुषके प्राणोंको पितरोंमें प्रवेश करानेके लिये प्राप्त कर लिया है ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥

ये । दस्यवः । पितृषु । प्रऽविष्टाः । ज्ञातिऽमुखाः । अहुतऽअदः । चरन्ति ।
पराऽपुरः । निऽपुरः । ये । भरन्ति । अग्निः । तान् । अस्मात् । प्र । धमाति । यज्ञात् ॥ २८ ॥

ये दस्यवः उपक्षयकारिणो राक्षसा ज्ञातिमुखाः ज्ञातीनां मुखमिव मुखं येषां ते तथोक्ताः । ज्ञातिप्रतिरूपा इत्यर्थः । अत एव पितृषु पितृपितामहप्रपितामहेषु मध्ये प्रविष्टाः अहुतादः अहुतं लौकिकम् अन्नम् अदन्ति भक्षयन्तीति अहुतादः । यद्वा अहुतावस्थमेव हविर्मायया अदन्तीति अहुतादः । चरन्ति पितृषु मध्ये वर्तन्ते । पराषुरः परापृणन्ति पिण्डान् ददतीति पराषुरः पिण्डदातारः पुत्राः । निषुरः निपृणन्ति नियमेन पिण्डदानादिकं कुर्वन्तीति निपुरः पौत्राः । ❀ पॄ पालनपूरणयोः । इत्यस्माद् उभयत्र कर्तरि क्विप् । "उदोष्ठ्यपूर्वस्य" इति उत्वम् ❀ । ये च राक्षसाः पिण्डोदकदानादिना पालयितॄन् पुत्रपौत्रादीन् भरन्ति हरन्ति । नाशयन्तीत्यर्थः । तान् मायाविनो राक्षसान् अग्निः अस्माद् यज्ञात् पितॄन् उद्दिश्य क्रियमाणात् प्र धमाति प्रधमतु प्रकर्षेण निर्गमयतु । ❀ ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः । अस्मात् लेटि आडागमः । "पाघ्रा०" इत्यादिना धमादेशः ॥ ❀

जो उपक्षय करने वाले राक्षस ज्ञाति वालों की समान मुख बना पिता पितामह और प्रपितामहरूप पितरोंमें घुस बैठते हैं और अहुत अवस्थामें ही मायासे हविका भक्षण कर लेते हैं और पिण्डोंका दान करने वाले पराषुर अर्थात् पुत्रोंको और नियमपूर्वक पिण्डदान करने वाले पौत्रोंको नष्ट कर डालते हैं, अग्निदेव उन मायावी राक्षसोंको पितरोंके निमित्त किये जाने वाले इस यज्ञसे निकाल कर बाहर करदें ॥ २८ ॥

नवमी ॥

सं विंशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः ।

तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २६ ॥

सम् । विशन्तु । इह । पितरः । स्वाः । नः । स्योनम् । कृण्वन्तः । प्रऽतिरन्तः । आयुः ।

तेभ्यः । शकेम । हविषा । नक्षमाणाः । ज्योक् । जीवन्तः । शरदः । पुरूचीः ॥ २६ ॥

इह अस्मिन् यज्ञे नः अस्माकं स्वाः ज्ञातयो गोत्रजाः । पितरः पितृपितामहप्रपितामहाः सं विशन्तु सम्यग् उपविशन्तु । उपविष्टास्ते स्योनम् सुखम् अस्माकं कृण्वन्तः कुर्वन्तः आयुः जीवनं प्रतिरन्ते । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ❀ । प्रवर्धयन्तु । चिरकालम् अस्मान् जीवयन्तु इत्यर्थः । नक्षमाणाः वर्धमाना वयं तेभ्यः पितृभ्यो हविषा चरुपुरोडाशादिलक्षणेन शकेम परिचरितुं शक्ता भूयास्म । ❀ शक्लृ शक्तौ इत्यस्माद् आशिषि लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ । पुरूचीः पुरु बहुलम् अञ्चन्ति गच्छन्तीति पुरूच्यः । ❀ अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् ❀ । पुरूची बह्वीः शरदः संवत्सरान् । ❀ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ❀ । ज्योक् चिरकालं जीवन्तः पितृप्रसादाज्जीवितारो भवेम ॥

इस यज्ञमें हमारे गोत्रमें उत्पन्न हुए पिता पितामह प्रपितामह आदि पितर भली प्रकार बैठें, और बैठे कर वह हमको सुख दें और हमारी आयुको बढ़ावें और वृद्धि पाते हुए हम भी उन पितरोंकी हविसे पूजा करनेमें समर्थ होवें । और बहुतसे वर्षों तक-चिरकाल तक जीवित रहें ॥ २६ ॥

दशमी ॥

यां ते॑ धे॒नुं नि॑पृ॒णामि॒ यमु॑ ते क्षी॒र ओ॑द॒नम् ।
तेना॒ जन॑स्यासो भ॒र्ता योऽत्रास॒दजी॑वनः ॥ २० ॥

याम् । ते॒ । धे॒नुम् । नि॒ऽपृ॒णामि॑ । यम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । क्षी॒रे । ओ॒द॒नम् ।

तेन॑ । जन॑स्य । अ॒सः॒ । भ॒र्ता । यः । अत्र॑ । अस॑त् । अजी॑वनः

हे प्रेत ते तुभ्यं यां धेनुम् दोग्ध्रीं गां निपृणामि प्रयच्छामि । ❀ निपूर्वः पृणातिः पित्र्ये दाने वर्तते ❀ । त्वाम् उद्दिश्य गां दत्तवान् अस्मीत्यर्थः । तथा क्षीरे पयसि पक्वं यम् उ यं च ओदनं ते तुभ्यं निपृणामि तेन धेनुस हितेन ओदनेन जनस्य जनिमतो लोकस्य भर्ता धारयिता पोषयिता वा असः भवेः । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः ❀ । यो जनः अत्र अस्मिन् लोके अजीवनः जीवनरहितः असत् भवेत् । तस्य जनस्येति संबन्धः । यद्वा अस्मिन् लोके जीवनरहितः असत् । पुरुषव्यत्ययः । स त्वम् इति संबन्धः । ❀ अस इति । अस्तेर्लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे प्रेत ! मैं तेरे निमित्त धेनुको देता हूँ, और तेरे निमित्त जिस दुग्धमें बने हुए भातको दे रहा हूँ उस धेनुदान और क्षीर-पक्व ओदनदानके द्वारा तू यदि इस यमलोकमें जीवन-जीविका रहित हो तो अपनी जीविकाको पुष्ट करने वाला हो २० (९)

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ।

पितृमेधे "अश्मन्वतीम्" [२१] इत्यृचा शवदाहानन्तरं स्नानं कृत्वा नदीं तरतोऽनुमन्त्रयेत । पिण्डपितृयज्ञे "ये निखाताः"

[३४] इति द्वाभ्यां द्वे समिधावादध्यात्। "शं तप" [३६] इत्यृचा प्रेतशरीरे पुत्रेण दत्तम् अग्निं पुत्रो गोत्रिणो वा दीपयेयुः। "ददामि" [३७] इत्यनया काम्पीलशाखया दहनस्थानं संप्रोक्षेत्। "इमां मात्रां मिमीमहे" [३८] इत्यादिभिः सप्तभिः श्मशानदेशं प्रति-दिशं मिमीते। दिष्टिवितस्त्यादिभिः प्रमाणैः सप्त दक्षिणतो मिमीते। सप्त उत्तरतः। पञ्च पुरस्तात्। पञ्च पश्चात् इत्यादिक्रमेणेत्यर्थः॥

पितृमेधमें "अश्मन्वतीम्" (३१) ऋचासे शवदाहके अनन्तर स्नान करके नदीको उतरते हुएका अनुमन्त्रण करे। पिण्डपितृयज्ञमें "ये निखाताः" आदि (३४ । ३५) दो ऋचाओंसे दो समिधाओंको रक्खे। "शं तप" इस छत्तीसवीं ऋचासे प्रेतके शरीरमें पुत्रके द्वारा दी हुई अग्निको पुत्र वा गोत्र वाले प्रदीप्त करें। "ददामि" इस ३७ वीं ऋचासे काम्पीलशाखा के द्वारा दहनस्थानका सम्प्रोक्षण करे। "इमां मात्रां मिमीमहे" इस ३८ वीं से सात ऋचाओंके द्वारा श्मशानदेशकी प्रतिदिशा का नाप करे। वितस्त आदि प्रमाणोंके द्वारा दक्षिणकी ओरसे सात, उत्तरकी ओरसे सात, पूर्वकी ओरसे पाँच और पश्चिमकी ओर पाँच वितस्त नापे।

तत्र प्रथमा ॥

अश्मन्वती प्र तर या सुशेवाऽऽर्क्षं वा प्रतरं नवीयः।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥ ३१ ॥

अश्मन्ऽवतीम्। प्र। तर। या। सुऽशेवा। ऋक्षाकम्। वा। प्रऽतरम्। नवीयः।

यः । त्वा । जघान । वध्यः । सः । अस्तु । मा । सः । अन्यत् ।
विदत । भागऽधेयम् ॥ २१ ॥

हे प्रेत अश्वावतीम् अश्वा अस्यां सन्तीति अश्वावती अश्वानाम् आकरभूता नदी । ❀ "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इति मतौ दीर्घः ❀ । संज्ञाशब्दोयम् । एतत्संज्ञां नदीं प्र तरय प्रकर्षेण तारय उत्तारय । सा च नदी सुशेवा अस्मभ्यं सुसुखा भवतु । तथा ऋक्षाकं वा । वाशब्दश्चार्थे । ऋक्षाकम् ऋक्षैः भल्लूकैरुपेतं दुष्टमृगनिषेवितं नवीयः नवतरम् अदृष्टपूर्वम् अरण्यमपि प्रतरम् प्रकर्षेण तरामि हे प्रेत त्वा त्वां यः पुरुषः जघान स वध्यः वधार्हः अस्तु भवतु । स घातकः पुरुषः अन्यद् भागधेयम् पूर्वम् उपभुक्ताद् अन्यद् उपभोग्यं वस्तु मा विदत मा लभताम् । निर्धनो भवत्वित्यर्थः ❀ । विद्लृ लाभे । अस्मात् माङि लुङि आत्मनेपदैकवचने लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥

हे प्रेत ! तू हमको अश्वावती नदीके पार उतार, यह नदी हमको सुख देने वाली हो और मैं रीछ आदि दुष्ट जन्तुओंसे भरे हुए और पहिले न देखनेके कारण नवीन, वनके भी पार पहुँच जाऊँ, हे प्रेत ! जिस पुरुषने तुझको मार डाला है वह पुरुष वधका पात्र हो और वह घातक पुरुष पहिले भोगे हुए पदार्थसे अतिरिक्त दूसरे उपभोग्य पदार्थको न पा सके अर्थात् निर्धन होजावे ॥ २१ ॥

द्वितीया ।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नान्यं पश्यामि किं चन
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ २२ ॥

यमः । परः । अवरः । विवस्वान् । ततः । परम् । न । अति । पश्यामि । किम् । चन ।

यमे । अध्वरः । अधि । मे । निऽविष्टः । भुवः । विवस्वान् । अनुऽआततान ॥ ३२ ॥

यमः विवस्वतः पुत्रः परः तेजसा अधिकोभवत् । विवस्वान् यमस्य पिता आदित्यः अवरः तेजसा निकृष्टोभवत् । यमस्तेजसा पितुरपि अधिकोभवद् इत्यर्थः । ततः तस्माद् यमात् परम् उत्कृष्टं किं चन किमपि प्राणिजातं नाति पश्यामि अतिक्रान्तं न जानामि । तस्मिन् सर्वोत्कृष्टे यमे मे मदीयः अध्वरो यज्ञः अधि निविष्टः अधिकम् अवस्थितः ।तत्प्रीतिकरो वर्तत इत्यर्थः यज्ञस्य सिद्धये विवस्वान् तत्पिता सूर्यः भुवः भूप्रदेशान् अन्वाततान स्वकिरणै-र्विस्तारितवान् । ❀ तनु विस्तारे ❀ ॥

विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यमदेव तेजमें सूर्यसे भी अधिक हैं और यमके पिता आदित्य निकृष्ट हैं अर्थात् यम तेजमें पितासे भी अधिक हैं । अतः मैं किसी प्राणीको यमसे अधिक नहीं देखता । उन सर्वोत्कृष्ट यममें ही मेरा यज्ञ अधिकतर प्रतिष्ठित है अर्थात् उनको प्रसन्न करानेके लिये होरहा है । यज्ञकी सिद्धिके लिये उनके पिता सूर्यदेवने भी भूप्रदेशोंको विस्तृत कर दिया है अर्थात् अपनी किरणोंसे प्रकाशित कर दिया है ॥ ३२ ॥

तृतीया ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥

अप । अगूहन् । अमृताम् । मर्त्येभ्यः । कृत्वा । सऽवर्णाम् । अदधुः ।
विवस्वते ।
उत । अश्विनौ । अभरत् । यत् । तत् । आसीत् । अजहात् ।
ऊं इति । द्वा । मिथुना । सरण्यूः ॥ ३३ ॥

“त्वष्टा दुहित्रे” [१. ५३] इत्यत्र इतिहासोभिहितः। सोत्र मृगर्थप्रतिपत्तये पुनः स्मार्यते । त्वष्टुर्दुहिता सरण्युर्नाम विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयांचकार । तौ च यमश्च यमी चेत्याहुरैतिहासिकाः । माध्यमिकोग्निर्माध्यमिका वाक् चेति नैरुक्ताः । ततः सरण्युस्तत्तेजः असहमाना स्वसमानरूपाम् अन्यां प्रतिनिधाय आश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव । सोपि विवस्वान् तज्ज्ञात्वा आश्वेन रूपं कृत्वा तां समभवत् । ततः अश्विनौ जज्ञाते । प्रतिनिहितायां सवर्णायां विवस्वत आदित्याद् मनुर्जज्ञ इत्ययम् अर्थोत्र प्रतिपाद्यते ॥ मर्त्येभ्यः मरणधर्मभ्यो मनुष्येभ्यः अमृतान् मरणधर्मरहितान् आत्मनः देवा अपागूहन् तिरोहितान् अकुर्वन् । अमृतत्वप्रापकं स्वकीयं रूपं देवा मनुष्येभ्यः प्राच्छादयन् । ❀ गुहू संवरणे ❀ । तथा सवर्णाम् समानरूपाम् अन्यां स्त्रियं कृत्वा विवस्वते आदित्याय अदधुः अधारयन् । प्रायच्छन्नित्यर्थः । उत अपि च सरण्वा यद् आश्वं रूपं तदानीं स्वीकृतम् आसीत् तत् अश्विनौ अभरत् समभरत् । उदपादयद् इत्यर्थः । यद्वा अश्वभूतयोः सरण्युविवस्वतोर्यद् रेत आसीत् तद् अश्विनावजनयद् इत्यर्थः । सा च सरण्यूस्त्वष्टुर्दुहिता निर्गमनसमये द्वा द्वौ मिथुना मिथुनौ स्त्रीपुंसात्मकौ अजहात् पर्यत्यजत् । ❀ ओहाक् त्यागे ❀। उशब्दः अवधारणे । ❀ द्वा मिथुनेत्यत्र “वा छन्दसि” इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

देवताओंने मरणधर्मी मनुष्योंसे अपने मरणधर्मरहित अमृतत्व-प्रापक रूपोंको छिपा लिया। और समान वर्ण वाली दूसरी स्त्री बनाकर आदित्यको दी। और सरण्युने जो उस समय घोड़ीका रूप धारण कर लिया था उसने अश्विनीकुमारोंका भरण किया था वा अश्वभूत सरण्यु और सूर्यदेवका जो रेत था उसने अश्विनी-कुमारोंको जन्म दिया था और इस त्वष्टाकी पुत्री सरण्युने सूर्य-देवके घरसे निकलते समय स्त्री पुरुष यम-यमीके जोड़ेको तहाँ छोड़ दिया था ॥ ३३ ॥

चतुर्थी ॥

ये निखा॑ता ये परो॑प्ता ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।
सर्वा॒स्ताँन॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ३४ ॥

ये । नि॒ऽखा॑ताः । ये । परा॑ऽउप्ताः । ये । द॒ग्धाः । ये । च॒ । उत्ऽहि॑ताः ।
सर्वा॑न् । तान् । अ॒ग्ने॒ । आ । व॒ह॒ । पि॒तॄन् । ह॒विषे॑ । अत्त॑वे ॥ ३४ ॥

ये पितरः भूमौ निखाताः निखननसंस्कारेण संस्कृताः । ❀ खनु अवदारणे। कर्मणि निष्ठा। "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ । ये च पितरः परोप्ताः परावपनं दूरदेशे काष्ठवत्परि-त्यागः । तेन संस्कृताः । ये च दग्धाः अग्निना संस्कृताः । ये च उद्धिताः संस्कारोत्तरकालम् ऊर्ध्वदेशे पितृलोके स्थिताः । एवं बहुविधावस्थितान् तान् सर्वान् पितॄन् हविषे अत्तवे अस्माभिर्दत्तं हविर्भक्षयितुम् हे अग्ने आ वह आनय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्त-व्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् हविःशब्दाच्चतुर्थी । अद् भक्षणे इत्यस्मात् "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवेन् प्रत्ययः ❀ ॥

जो पितर भूमिमें गाड़नेके संस्कारसे संस्कृत हुए हैं और जो दूरदेशमें काष्ठकी समान त्याग देनेसे संस्कृत हुए हैं और जो

अग्निसे संस्कृत हुए हैं और जो संस्कारके अनन्तर ऊपरके लोक पितृलोकमें स्थित हैं, ऐसे अनेक प्रकारके पितरोंको हे अग्निदेव! आप हविका भक्षण करनेके लिये लाइये ॥ ३४ ॥

पञ्चमी ॥

ये अ॒ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।

त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

ये । अ॒ग्नि॒ऽद॒ग्धाः । ये । अन॑ग्निऽदग्धाः । मध्ये॑ । दि॒वः । स्व॒धया॑ । मा॒दय॑न्ते ।

त्वम् । तान् । वे॒त्थ॒ । यदि॑ । ते । जा॒त॒ऽवे॒दः । स्व॒धया॑ । य॒ज्ञम् । स्व॒ऽधि॑तिम् । जु॒ष॒न्ता॒म् ॥ ३५ ॥

ये पितरः अग्निदग्धाः अग्निना संस्कृताः । ये च अनग्निदग्धाः अग्निदाहरहितेन खननादिसंस्कारेण संस्कृता दिवः द्युलोकस्य मध्ये स्वधया । अन्ननामैतत् । पुत्रादिभिर्दत्तेन पिण्डरूपेण हविषा । यद्वा स्वधाकारोपलक्षितेन पिण्डपितृयज्ञादिकर्मणा मादयन्ते हृष्टास्तृप्ता वर्तन्ते हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने त्वं तान् सर्वान् पितॄन् यदि वेत्थ जानासि । "यदि वेदाः प्रमाणं स्युः" इतिवद् निश्चये यदिशब्दः । त्वमेव तान् निश्चयेन जानासीत्यर्थः । ते सर्वे स्वधायाः संबन्धिनम् अस्मदीयं यज्ञं स्वधितम् । स्वधा संजाता यस्य स तथोक्तः । ❀ तारकादित्वाद् इतच् प्रत्ययः ❀ । यद्वा स्वैर्ज्ञातिभिः पुत्रपौत्रादिभिः हितं विहितं कृतम् ईदृशं यज्ञं जुषन्ताम् सेवन्ताम् ॥

जो पितर अग्निसे दग्ध होगए हैं और अर्थात् अग्निसे संस्कृत हुए हैं जो अनग्निदग्ध हैं अर्थात् अग्निदाहरहित खनन आदि संस्कारसे संस्कृत हुए हैं और पुत्र आदिके किये हुए पिण्ड पितृयज्ञ आदि कर्मरूप स्वधासे द्युलोकके मध्यमें तृप्त होकर रहते हैं, हे अग्निदेव ! आप उनको अवश्य जानते हैं अतः वे पितर अपने पुत्र पौत्र आदिसे विहित यज्ञ (स्वधिति) का सेवन करें ॥ ३५ ॥

षष्ठी ॥

शं तप मातिं तपो अग्ने मा तन्वं१ तपः ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥३६॥

शम् । तप । मा । अति । तपः । अग्ने । मा । तन्वम् । तपः ।
वनेषु । शुष्मः । अस्तु । ते । पृथिव्याम् । अस्तु । यत् । हरः ३६

हे अग्ने शम् सुखं यथा भवति तथा प्रेतशरीरं तप दह । मा अति तपः अतितापं मा कार्षीः । अतिदहने हि अस्थीन्यपि भस्मीभवन्ति तेषां संचयनादिसंस्कारेण प्रतिविधानाद् अतिदाहो निषिध्यते । तथा तन्वः शरीराणि अस्मत्संबन्धीनि मा तपः मा धाक्षीः । तथा ये त्वदीयः शुष्मः । शोषको ज्वालासमूहो वनेषु अरण्येषु अस्तु भवतु । हरः रसहरणशीलं यत् त्वदीयं तेजस्तत् पृथिव्याम् भूम्याम् अस्तु भवतु ॥

हे अग्निदेव ! जिस प्रकार सुख मिले तिस प्रकार प्रेतशरीर को भस्म करिये अधिक भस्म न करिये [अधिक भस्म करनेसे हड्डियें भी जल जावेंगी और अस्थियोंका संचयनसंस्कार करना विहित है अत एव अतिदाहका निषेध किया है] और आप हमारे शरीरोंको भी भस्म न करिये, आपका जो शोषक ज्वालासमूह है वह वनको चला जावे, और आपका जो रसहरणशील तेज है वह पृथ्वीमें रहे ॥ ३६ ॥

सप्तमी ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह

ददामि । अस्मै । अवऽसानम् । एतत् । यः । एषः । आऽअगन् ।
मम । च । इत् । अभूत् । इह ।
यमः । चिकित्वान् । प्रति । एतत् । आह । मम । एषः । राये । उप ।
तिष्ठताम् । इह ॥ २७ ॥

यमो ब्रूते । अस्मै मृताय पुरुषाय अवसानम् । अवस्यन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति अवसानम् आवासस्थानम् । एतत् स्थानं ददामि यत् यस्मात् कारणात् एष पुरुषः आगन् मत्समीपम् अगमत् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । स च आगतः पुरुषः इह अस्मिन् लोके मम संबन्धी अभूच्चेत् । यदि मत्संबन्धी मत्परिचरणशीलो भवेद् इत्यर्थः । तदा अस्मै आगतायेति पूर्वेण संबन्धः । एवं चिकित्वान् जानन् यमो मृतं पुरुषं प्रति एतद् वाक्यम् आह अवोचत् । एषः मत्समीपम् आगतः पुरुषः रायः । ❀ रै शब्दे ❀ । रायति स्तौतीति रायः मम स्तोता भूत्वा इह अस्मिन् मदीये लोके उप तिष्ठताम् सेवताम् ॥

यम कहते हैं, कि—यदि यह आया हुआ पुरुष मेरा होगा अर्थात् मेरी सेवामें तत्पर रहे तो मैं इस मृतपुरुषके लिये निवास-स्थानको देता हूँ, क्योंकि—यह पुरुष मेरे समीपमें आगया है। ऐसा समझने वाले यम मृतपुरुषसे फिर इस बातको कहते हैं, कि—यह पुरुष मेरी स्तुति करता रहे तो मेरे पास रहे ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८

इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ३८ ॥

इमाम् इति इदंशब्देन सूत्रोक्ता मात्रा अभिनयेन प्रदर्श्यते । इमाम् एतावतीं श्मशानदेशस्य मात्राम् परिमाणं मिमीमहे अरत्नि-प्रादेशादिमितेन दण्डेन परिच्छेदयामः । ❀ माङ् माने ❀ । यथा येन प्रकारेण अपरम् अन्यत् श्मशानकर्म मा मां न आसातै नासीत न प्राप्नुयात् । ❀ मास उपवेशने । अस्मात् लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ । तथा मिमीमह इति संबन्धः । श्मशानकर्मप्राप्तेरवधिम् आह शते शरत्स्विति । शतसंख्याकेषु संवत्सरेषु अस्माकं जीवनं ब्रह्मणा परिकल्पितम् ततः पुरा शत-संवत्सरमध्ये नो नैव अस्मान् श्मशानकर्म प्राप्नोतु । अकालमृति-रस्माकं मा भूद् इत्यर्थः ॥ एवम् उत्तरे पञ्चमन्त्रा व्याख्येयाः ॥

हम इस श्मशानके मापको दण्डादिसे करते हैं उसका कारण यह है, कि—ब्रह्माजीने हमारी सौ वर्षकी आयु बनाई है अतः उससे पहिले सौ वर्षके बीचमें दूसरा श्मशानकर्म हमको प्राप्त न होवे अर्थात् हमारी अकालमृत्यु न होवे ॥ ३८ ॥

नवमी ॥

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥

प्र । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ३६ ॥

प्रेत्येतावान् अत्र विशेषः । प्रकर्षेण । मिमीमहे इति श्मशान-देशमानस्य प्रकर्षगुणः प्रतिपाद्यते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हम इस श्मशानभूमिको प्रकृष्टरूपसे नापते हैं कि-जिससे हमको सौ वर्षोंसे पहिले दूसरा श्मशानकर्म प्राप्त न होवे अर्थात् हमारी अकालमृत्यु न होवे ॥ ३६ ॥

दशमी ॥

अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४० ॥

अप । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ४० ॥

अत्र अप इत्युपसर्गेण अपगतदोषता मानस्य प्रतिपाद्यते । तद्दोषाश्च श्मशानलक्षणे निषिध्यन्ते । यथाह भारद्वाजः । "दहन-देशं जोषयते दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणम् अनिरिणम् असुषिरम् अनूष-रम् अभङ्गुरम्" इत्यादिना । अन्यत् पूर्ववत् ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हम इस श्मशानभूमिके नापको दोषोंको दूर करते हुए नापते हैं, जिससे हमको सौ वर्षोंसे पूर्व दूसरा श्मशानकर्म प्राप्त न होवे [श्मशानके दोषोंका यहाँ दूर करना कहा है । भरद्वाजमुनिने श्मशानके दोषोंका वर्णन करते हुए कहा है, कि-"दहनदेशं जोष-यते दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणम् अनिरणम् असुषिरम् अनूषरम् अभङ्-रम् ० ।-दक्षिण और पश्चिमकी ओर ढलकाव वाले, अनि-

रिण, छिद्ररहित, कल्लड़पनसे रहित और अभंगुर स्थानको पसन्द करें"०]

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

"वीमां मात्रां मिमीमहे" इति आदितश्चतसृणाम् ऋचां श्मशानप्रमाणकरणे विनियोग उक्तः ।

"अमासि मात्राम्" [४५] इति तिसृभिः पूर्वोक्तप्रकारेण मितं श्मशानप्रदेशम् अनुमन्त्रयेत ॥

"उदन्वती" [४८] इति द्वाभ्यां प्रेतम् उत्थाप्य शकटे शयने वा निदध्यात् ॥

"ये नः पितुः पितरः" [४९] इति द्वाभ्यां प्रेतशरीरे संदीपितेऽग्नौ याम्यहोमं कुर्यात् ॥

"इदमिद् वा" [५०] इति तिसृभिः श्मशानदेशं विषमसंख्याकाभिः शलाकाभिः इष्टकाभिर्वा प्रसव्यं चिनुयात् ॥

"वीमां मात्रां मिमीमहे" इन पहिली चार ऋचाओंका श्मशान के नापनेमें विनियोग कहा है ।

"अमासि मात्रायाम्" (४५) आदि तीन ऋचाओंसे पूर्वोक्तरीतिसे नापे हुए श्मशानस्थानका अनुमन्त्रण करे ।

"उदन्वती" (४८) आदि दो ऋचाओंसे प्रेतको उठाकर शकट वा शयनमें रक्खे ।

"ये नः पितुः पितरः" (४९) आदि दो ऋचाओंसे प्रेतशरीरकी प्रज्वलित अग्निमें याम्यहोमको करे ।

"इदमिद् वा" (५०) आदि तीन ऋचाओंसे श्मशानदेशको विषमसंख्यक शलाका वा ईंटोंसे प्रसव्य चिने ।

तत्र प्रथमा ॥

वी॒३॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाऽप॑रं॒ न मासा॑तै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४१ ॥

वि । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ४१ ॥

अत्र वीत्युपसर्गेण श्मशानदेशमानस्य विशिष्टगुणयोगः प्रदर्शितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हम इस श्मशानभूमिके नापनेको विशिष्टगुणोंसे युक्त करते हुए नापते हैं। जिससे, कि–हमको सौ वर्षसे पहिले दूसरा श्मशान कर्म न करना पड़े अर्थात् हमारी अकाल मृत्यु न होवे ४१

द्वितीया ॥

निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४२ ॥

निः । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ४२ ॥

अत्र निरत्युपसर्गेण निर्गतदोषता मानस्य प्रतिपाद्यते । अन्यत् समानं पूर्वेण ॥

हम इस श्मशानभूमिको दोषोंसे शून्य करते हुए नापते हैं, जिससे, कि–हमको सौ वर्षोंमें होने वाले श्मशान कर्मोंमें पहिले ही दूसरा श्मशान कर्म न करना पड़े अर्थात् हमारी अकालमृत्यु न होवे ॥ ४२ ॥

तृतीया ॥

उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥

उत् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ४३ ॥

उद् इत्युपसर्गेणात्र मानस्य उत्कर्षगुणोभिधीयते । गतम् अन्यत् ॥

हम इस श्मशानभूमिको उत्कृष्टगुणयुक्त नापसे नापते हैं, जिससे कि-हमें सौ वर्षोंसे पूर्व दूसरा श्मशानकर्म प्राप्त न हो अर्थात् हमारी अकालमृत्यु न हो ॥ ४३ ॥

चतुर्थी ॥

समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।

शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥

सम् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ।

शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ॥ ४४ ॥

इमां श्मशानदेशस्य मात्रां सं मिमीमहे । उदीरितगुणयोगेन सम्यग् मिमीमहे । अत्र मत्यृचं यथापरं न मासातै इत्यादिरावर्त्यते । तस्यायम् अभिप्रायः । पुनः पुनः प्रार्थनया आदरातिशयद्योतिन्या प्रार्थ्यमानोऽर्थः सर्वथा सिध्यतीति । गतम् अन्यत् ॥

हम इस श्मशानभूमिको भले नापसे नापते हैं, जिस प्रकार कि-सौ वर्षोंसे पहिले फिर न नापना पड़े अर्थात् हममेंसे किसी की अकालमृत्यु न हो [परमादरको सूचित करने वाली वारंवार की प्रार्थनासे प्रार्थित अर्थ भली प्रकार सिद्ध होजाता है]॥४४॥

पञ्चमी ॥

अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।

यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥

अमासि । मात्राम् । स्वः । अगाम् । आयुष्मान् । भूयासम् ।

यथा । अपरम् । न । मासातै । शते । शरत्ऽसु । नो इति । पुरा ४५

मात्राम् श्मशानदेशस्य परिमाणम् अमासि परिच्छेदितवान् अस्मि । उदीरितरीत्या समाचीनं मानम् अकार्षीत्यर्थः । ❀ माङ् माने इत्यस्मात् लुङि उत्तमैकवचने रूपम् ❀ । तेन मानेन स्वः अगाम् स्वर्गं लोकं गतोस्मि । भाविस्वर्गलोकप्राप्तिस्तस्य मानस्य फलम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थे एतिर्वर्तते ❀ । अगाम् अगमयम् इत्यर्थः । ❀ "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ । तेन च मानकर्मणा अहम् आयुष्मान् शतसंवत्सरपरिमितेन आयुषा युक्तो भूयासम् । यथापरं न मासातै इत्यादि प्रागुक्तार्थम् ॥

मैंने पूर्वोक्तरीतिसे श्मशानभूमिको नाप लिया है, उस मानके प्रभावसे मैं इस मृतकको स्वर्गमें भेज चुका हूँ और उस कर्मसे ही मैं सौ वर्षकी आयु वाला होऊँ और हमको सौ वर्षों वाले जीवन से पहिले फिर श्मशान कर्म न करना पड़े अर्थात् हममेंसे किसी की अकालमृत्यु न होवे ॥ ४५ ॥

षष्ठी ॥

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।

अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥

प्राणः । अपानः । विऽआनः । आयुः । चक्षुः । दृशये । सूर्याय ।

अपरिऽपरेण । पथा । यमऽराज्ञः । पितॄन् । गच्छ ॥ ४६ ॥

मुख्यप्राणस्य तिस्रो वृत्तयः प्राणाद्याः । मुखनासिकाभ्यां बहिर्निःसरन् वायुः प्राणः । अन्तर्गच्छन् अपानः । मध्यस्थः सन्

अशितपीतादिकं विविधम् आनिति कृत्स्नदेहं व्यापयतीति व्यानः। आयुः जीवनं शतसंवत्सरपरिमितम्। चक्षुः नीलपीतादिदर्शन-साधनम् इन्द्रियम्। एतच्च उपलक्षणम् अन्येषाम् इन्द्रियाणाम्। सर्वम् एतद् अनुक्रान्तं सूर्याय। ॐ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ॐ। सूर्यस्य दृशये दर्शनाय भवतु। प्राणादिभिः सहिताः सूर्यं पश्यन्तश्चिर-कालम् अवतिष्ठेमहीत्यर्थः॥ हे मृतपुरुष त्वं यमराज्ञः यमश्चासौ राजा यमराजा तस्य स्वभूतेन अपरिपरेण। परिपरिणः पर्यवस्था-तारश्चोराः। तद्रहितेन पथा मार्गेण पितॄन् गच्छ प्राप्नुहि॥

पुरुष प्राणकी प्राण आदि तीन वृत्तियें होती हैं। मुख और नासिकासे बाहर निकलने वाला वायु प्राण कहलाता है, भीतर को जाने वाला वायु अपान कहलाता है, और मध्यस्थ होकर खाये पियेको विविधरूपसे सारे शरीरमें व्याप्त कर देने वाला वायु व्यान कहलाता है। और सौ वर्षका जीवन आयु कहलाती है। तथा नील पीत आदि वस्तुओंको देखनेकी साधन इन्द्रिय चक्षु कहलाती है [तथा अन्य सब इन्द्रियें] ये कहे हुए सब सूर्यको देखनेके लिये होवें अर्थात् हम प्राणादिसे सम्पन्न रहते हुए सूर्यको देखते हुए चिरकाल तक स्थित रहें। और हे पुरुष! तू भी यमराजके चोररहित मार्गसे पितरोंको प्राप्त हो॥ ४६॥

सप्तमी॥

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः

ये। अग्रवः। शशमानाः। पराऽईयुः। हित्वा। द्वेषांसि। अनपत्यऽवन्तः।

ते । द्याम् । उत्ऽइत्य । अविदन्त । लोकम् । नाकस्य । पृष्ठे ।
अधि । दीध्यानाः ॥ ४७ ॥

शशमानाः । शशमानः शंसमान इति यास्कः [नि० ६.८]। यद्वा । ❀ शश प्लुतगतौ । ताच्छीलिकश्चानश् ❀। प्लुतगमनशीला अग्रवः अग्रगामिनो ये पितरः अनपत्यवन्तः अपत्यरहिता द्वेषांसि द्वेषणीयानि पापानि हित्वा त्यक्त्वा परेयुः पराजग्मुः । अमृषतेत्यर्थः । ते पितरो द्याम् अन्तरिक्षम् उदित्य उद्गत्य ऊर्ध्वं गत्वा नाकस्य दुःखसंस्पर्शरहितस्य स्थानस्य पृष्ठे उपरिभागे। अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । अधिकं वा दीध्यानाः दीप्यमाना लोकम् सुकृतफलोपभोगस्थानम् अविदन्त अलभन्त । ❀ विद्लृ लाभे । लृदित्वात् आत्मनेपदेपि व्यत्ययेन च्लेः अङ् आदेशः । यद्वा लुङि "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀ ॥

जो ऊर्ध्वगमन करने वाले अग्रगामी पितर अपत्यरहित होने पर भी द्वेष करने योग्य (पापों)को त्यागते हुए परलोकको प्राप्त हुए हैं वे अन्तरिक्षका अतिक्रमण कर ऊपर वा दुःखसंस्पर्शरहित स्वर्गके ऊपरके भागमें दिपते हुए पुण्यफलके भोगके स्थानको पाते हैं ॥ ४७ ॥

अष्टमी ॥

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

उदन्ऽवती । द्यौः । अवमा । पीलुऽमती । इति । मध्यमा ।
तृतीया । ह । प्रऽद्यौः । इति । यस्याम् । पितरः । आसते ॥४८॥

पितृलोकस्य सर्वोत्कृष्टतां वक्तुं दिवस्त्रैविध्यं प्रतिपाद्यते । अवमा

अधःकक्ष्यां गता द्यौः उदन्वती उदकवती यस्याम् अवस्थिता मेघाः प्रवर्षन्ति । तस्या उदन्वतीति संज्ञेत्यर्थः ॥ मध्यमा मध्यकक्ष्यां गता द्यौः पीलुमती इत्युच्यते । पालयन्तीति पीलवः ग्रहनक्षत्रादयः । ते यस्यां सन्तीति पीलुमती । तृतीया ह । ह शब्दः प्रसिद्धौ । प्रद्यौरिति प्रसिद्धा । प्रकृष्टफलोपेता द्यौः प्रद्यौः । यस्यां तृतीयस्यां दिवि नाकपृष्ठाख्ये स्थाने पितरः पितृदेवता आसते निवसन्ति ॥

(पितृलोककी सर्वोत्कृष्टताको कहनेके लिये द्यौकी त्रिविधताका प्रतिपादन करते हैं, कि–) नीचेकी ओर स्थित द्युलोक उदन्वती है [उसमें स्थित मेघ वर्षा करते हैं अत एव उसका नाम उदन्वती है] दूसरा भाग पीलुमती कहलाता है [उसमें पालन करने वाले पीलु ग्रह नक्षत्र आदि रहते हैं अतः वह पीलुमती कहलाता है] तीसरा भाग प्रद्यौ कहलाता है [वह प्रकृष्ट फल देनेके कारण प्रद्यौ कहलाता है] उस तृतीय द्युलोकमें पितर रहते हैं ॥४८॥

नवमी ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१-
न्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा
विधेम ॥ ४९ ॥

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये आऽविविशुः । उरु । अन्तरिक्षम् ।
ये । आऽक्षियन्ति । पृथिवीम् । उत । द्याम् तेभ्यः । पितृऽभ्यः । नमसा । विधेम ॥ ४९ ॥

नः अस्माकं पितुस्तातस्य ये पितरः जनकाः । ये च पितामहास्तज्जनकाः । पूजार्थं बहुवचनम् । ये च अन्ये उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आविविशुः आविष्टवन्तः । ये च पृथिवीम् आक्षियन्ति अभिनिवसन्ति । पृथिव्यां वर्तन्त इत्यर्थः । उतशब्दः अप्यर्थे । ये च द्याम् स्वर्गलोकम् आक्षियन्ति आश्रित्य निवसन्ति । इत्थं लोकत्रयं व्याप्य वर्तन्त इत्यर्थः । तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यः ।❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । नमसा । नम इति अन्ननाम । हविर्लक्षणेन अन्नेन नमस्कारेण वा विधेम परिचरेम । ❀ विधतिः परिचरणकर्मा ❀ ॥

जो हमारे पिताके उत्पादक पितर हैं † और जो हमारे पितामहके उत्पादक पितर हैं इनके अतिरिक्त और भी जिन्होंने विशाल अन्तरिक्षमें प्रवेश किया है । तथा जो पृथिवीमें रहते हैं, और जो स्वर्गलोकका आश्रय करके रहते हैं । इन सब लोकोंमें रहने वाले पितरोंकी हम स्वधान्नसे वा नमस्कारसे पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

दशमी ॥

इ॒दमिद् वा उ॒ नाप॑रं दि॒वि प॑श्यसि॒ सूर्य॑म् ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥

इ॒दम् । इत् । वै । ऊं इति॑ । न । अप॑रम् । दि॒वि । प॒श्य॒सि॒ । सूर्य॑म् ।
मा॒ता । पु॒त्रम् । यथा॑ । सि॒चा । अ॒भि । ए॒न॒म् । भू॒मे॒ । ऊ॒र्णु॒हि॒

हे मृतपुरुष इदम् इद् वा उ इदमेव खलु तव जीवनम् यद् अस्माभिः श्राद्धेषु दीयते । अपरम् अन्यद् न किंचिद् अस्ति । अत्रैव श्मशानदेशे निवसन् सूर्यं दिवि आकाशे पश्यसि ॥ उत्तरोऽर्धर्चः परोक्षकृतः । यथा येन प्रकारेण माता जननी सिचा चेलाञ्च-

† यहाँ आदरमें बहुवचन होरहा है ।

लेन स्वकीयं पुत्रम् अभिवृणोति आच्छादयति हे भूमे पृथिवि एनं श्मशानस्थं मृतम् अभ्यूर्णु हि स्वतेजसा प्रच्छादय । शीतवातोष्णादिकं यथैनं न प्राप्नोति तथा त्वत्स्वरूपे अन्तर्भावयेत्यर्थः । ऊर्णुञ् छादने ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे मृतपुरुष ! यही तेरा जीवन है जिसको हम श्राद्धोंमें देते हैं और कुछ भी तेरे जीवनका साधन नहीं है । तू इस श्मशान-स्थानमें ही रहता हुआ आकाशमें सूर्यदेवको देखता है । और जिस प्रकार माता अपने आँचलसे अपने पुत्रको ढक लेती है, इसी प्रकार हे भूमे ! तुम इस श्मशानमें पड़े हुए मृतपुरुषको अपने तेजसे आच्छादित करो अर्थात् जिस प्रकार इसको शीत वात आदि प्राप्त न हों तिस प्रकार इसको अपने स्वरूपमें अन्तर्भावित करो ॥ ५० ॥ (११)

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"इदमिद्वै" इति ऋचोराद्ययोः श्मशानदेशे शलाकाभिश्रयनकर्मणि विनियोग उक्तः ॥

"अग्नीषोमा पथिकृता" [५३] इति तिसृभिः प्रेतम् उत्थाप्य दहनाय शकटे निदध्यात् ॥

"इमौ युनज्मि" [५६] इत्यनया समेते शकटे वृषभद्वयम् अभिमन्त्र्य युञ्ज्यात् ॥

"एतत् त्वा वासः" [५७] इत्यनया वासोऽभिमन्त्र्य प्रेतं प्रच्छादयेत् ॥

"अग्नेर्वर्म" [५८] इत्यनया सप्तच्छिद्रया गोवपया प्रेतमुखं प्रच्छादयेत् ॥

"दण्डं हस्तात्" [५९] इत्यनया प्रेतब्राह्मणहस्ताद् वेदयष्टिं पुत्रो गृह्णीयात् ॥

"धनुर्हस्तात्" [६०] इत्यनया मेतक्षत्रियहस्ताद्धनुर्गृह्णीयात्

"इदमिद्व वै" इन दो पहिली ऋचाओंका श्मशानदेशके शवा-च्छादनकर्ममें विनियोग है।

"अग्नीषोमा पथिकृता" (५३) आदि तीन ऋचाओंसे प्रेत को उठाकर भस्म करनेके लिये शकट (गाड़ी) में रक्खे।

"इषौ युनज्मि" इस छप्पनवीं ऋचासे प्रेत रखनेके अनन्तर शकटमें दोनों वृषभोंको अभिमन्त्रित करके जोड़े।

"एतत् त्वा वासः" इस सत्तावनवीं ऋचासे वस्त्रको अभि-मन्त्रित करके प्रेतको ढक देय।

"अग्नेर्वर्म" इस अट्ठावनवीं ऋचासे सात छिद्र वाली गोवपा से प्रेतके मुखको आच्छादित करे।

"दण्डं हस्तात्" इस उनसठवीं ऋचासे प्रेत ब्राह्मणके हाथसे वेदयष्टिको पुत्र ग्रहण करे।

"धनुर्हस्ताद्" इस साठवीं ऋचासे प्रेतक्षत्रियके हाथसे धनुष ग्रहण करे।

तत्र प्रथमा ॥

इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोपरम्।
जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि॥ ५१॥

इदम्। इत्। वै। ऊं इति। न। अपरम्। जरसि। अन्यत्। इतः। अपरम्।
जाया। पतिम्ऽइव। वाससा। अभि। एनम्। भूमे। ऊर्णुहि॥५१

जरसि जरायां जीर्णदवस्थायां यद् अन्नादिकम् उपभुक्तम् इदम् इद् वा उ इदमेव खलु परिशिष्टम् नापरम् अन्यद् भोक्त-व्यम् अस्ति। इतः अस्मात् श्मशान देशाद् अन्यत् स्थानमपि

अस्य न विद्यते अपरं कार्यजातमपि अस्य न संभवति । इत्थं श्मशाने परित्यक्तम् एनम् हे भूमे जाता भार्या पतिं वाससेव अभ्यूर्णु हि अभिमच्छादय ॥

जीर्ण होनेकी दशामें इसने जो भोजन किया था वही परिशिष्ट है और कुछ भोक्तव्य नहीं है । और इस श्मशानदेशके अतिरिक्त और कोई स्थान भी इसके लिये नहीं हैं और कोई कार्य भी इसके लिये बाकी नहीं है । इस प्रकार श्मशानमें छोड़े हुए इसको हे भूमे ! भार्या जिस प्रकार वस्त्रसे आच्छादित करती है, तिस प्रकार आच्छादित करो ॥ ५१ ॥

द्वितीया ॥

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥५२॥

अभि । त्वा । ऊर्णोमि । पृथिव्याः । मातुः । वस्त्रेण । भद्रया ।
जीवेषु । भद्रम् । तत् । मयि । स्वधा । पितृषु । सा । त्वयि ५२

मातुः सर्वजनन्याः । भद्रया । ❀ षष्ठ्यर्थे तृतीया ❀ । भद्रायाः कल्याण्याः पृथिव्याः भूम्याः संबन्धिना वस्त्रेण वाससा हे मृतपुरुष त्वा त्वाम् अभि प्रोर्णोमि अभिच्छादयामि । जीवेषु प्राणधारिषु जीवदवस्थावत्सु मनुष्येषु मध्ये यद् दानाय भद्रम् शोभनं वस्त्वस्ति तन्मयि संस्कर्तरि भवतु । पितृषु पितृदेवतासु या स्वधा विद्यते । स्वधेति अन्ननाम स्वधाकारेण हूयमानं हविर्लक्षणम् अन्नं यद् अस्ति सा स्वधा त्वयि मृतपुरुषे भवतु । यद्वा स्वैर्ज्ञातिभिर्धीयते विधीयत इति स्वधा पिण्डोदकदानादिरूपा पितृतृप्तिकरी क्रिया स्वधा । सा त्वयि भवत्वित्यर्थः ॥

हे मृतपुरुष ! मैं तुझको सबकी जननी कल्याणकारिणी भूमिके वस्त्रसे आच्छादित करता हूँ। प्राणधारी मनुष्योंमें जीवित अवस्थामें जो दानके लिये शोभन वस्तु होती है वह मुझ संस्कर्तामें होवे। और पितरोंमें स्वधाकारसे आहुत जो अन्न होता है वह तुझ मृतपुरुषमें हो ॥ ५२ ॥

तृतीया ॥

अ॒ग्नीषो॑मा॒ पथि॑कृता स्यो॒नं दे॒वेभ्यो॒ रत्नं॑ दधथु॒र्वि लो॒कम् ।

उप॒ प्रेष्य॑न्तं पू॒षणं॒ यो वहा॑त्यञ्जो॒यानैः॑ प॒थिभि॒स्तत्र॑ गच्छतम् ॥ ५३ ॥

अग्नीषोमा । पथिऽकृता । स्यो॒नम् । दे॒वेभ्यः । रत्नम् । द॒ध॒थुः । वि । लो॒कम् ।

उप॑ । प्र । ई॑ष्यन्तम् । पू॒षणम् । यः । वहा॑ति । अ॒ञ्जः॒ऽयानैः॑ । प॒थिऽभिः॑ । तत्र॑ । ग॒च्छ॒तम् ॥ ५३ ॥

अग्नीषोमा अग्निश्च सोमश्च अग्नीषोमौ। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णआकारः ❀। पथिकृता पन्थानं पुण्यलोकगमनसाधनं मार्गं कुरुत इति पथिकृतौ। ❀ तेनैव सूत्रेण विभक्तेराकारः ❀। एवंगुणविशिष्टावग्नीषोमौ स्योनम् सुखकरं रत्नम् रमणीयं यद्वा रत्नवद् उत्कृष्टं लोकम् स्वर्गाख्यं देवेभ्यः। ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। देवानाम् अर्थे वि दधतुः चक्रतुः। ❀ "छन्दसि परेपि" इति उपसर्गस्य परत्र प्रयोगः ❀। यद्वा। पुरुषव्यत्ययः। हे पथिकृतावग्नीषोमौ देवेभ्यःदेवार्थं देवान् उद्दिश्य होतुं रत्नम् रमणीयं लोकम् स्थानं वि दधथुः युवां कृतवन्तौ स्थः।

श्रूयते हि । "राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ । अन्तरा देवता इज्येते देवतानां विधृत्यै" इति [तै० सं० २. ६. २. २]। यो लोकः उप समीपे प्रेष्यन्तम् प्रगच्छन्तं पूषणम् पूषाख्यं देवम् यद्वा सर्वप्राणिनां पोषकं सूर्यं वहाति वहति धारयति तत्र तस्मिन् लोके अञ्जयानैः अञ्जसा आर्जवेन यान्ति गच्छन्ति एभिरिति अञ्जयानाः । तैः पथिभिर्गच्छन्तम् इमं प्रेतं गमयतम् । ❀ प्रयोज्यव्यापारवाचिना प्रयोजकव्यापारो लक्ष्यते ❀ ॥

हे अग्नि और सोमदेवताओं ! तुम पुण्यलोकमें पहुँचनेके मार्गको बनाने वाले हो, ऐसे इन देवताओंने सुखदायक और रमणीय स्वर्ग नामक लोककी देवताओंके लिये रचना की है। जो लोक समीपमें चलने वाले सूर्यदेवको धारण करता है उस लोकमें इस प्रेत पुरुषको सरलतासे चलने योग्य मार्गोंके द्वारा पहुँचाओ ॥ ५३ ॥

चतुर्थी ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥

पूषा । त्वा । इतः । च्यवयतु । प्र । विद्वान् । अनष्टऽपशुः । भुवनस्य । गोपाः ।

सः । त्वा । एतेभ्यः । परि । ददत् । पितृऽभ्यः । अग्निः । देवेभ्यः । सुऽविदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥

हे प्रेत त्वा त्वां विद्वान् जानन् पूषा एतत्संज्ञको देवः इतः अस्मात् स्थानात् प्र च्यावयतु निर्गमयतु । कीदृशः पूषा । अनष्टपशुः अनष्टा अहताः पशवो येन स तथोक्तः । स खलु गवादि-

पशूनां पोषयिता। "पूषा पोषयतु" [तै० ब्रा० १. ६. २. २] "पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः" इत्यादिश्रुतेः [ऋ० ६. ५४. ५]। भुवनस्य भूतजातस्य गोपाः गोपायिता। ❀ गुपू रक्षणे। "गुपूधूपविच्छि०" इति आयप्रत्ययः। क्विपि अतो लोपे अल्लोपविधिं प्रति न स्थानिवद् भवतीति तस्य स्थानिवत्त्वनिषेधात् "लोपो व्योर्वलि" इति यकारलोपः ❀। स पूषा त्वा त्वाम् एतेभ्यः पितृभ्यः। एतच्छब्देन संनिहितार्थवाचिना मृतपुरुषसंबन्धिनः पितरः परामृश्यन्ते। त्वदीयेभ्यः पितृपितामहप्रपितामहेभ्यः परि ददात् परिददातु। रक्षणार्थं दानं परिदानम्। ❀ तद्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। "अग्नये त्वा परिददामि" [कौ० ७. ७] इत्यादौ तथा दर्शनात्। परिपूर्वाद् ददातेर्लेटि आडागमः। "इतश्च लोपः०" इति इकारलोपः ❀। तथा अग्निर्देवः दहनसंस्कारेण त्वा सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं शोभनविज्ञानम् यद्वा सुखेन लब्धव्यं धनं सुविदत्रम् सुष्ठु विशेषेण दानं वा। ❀ आह च यास्कः। सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्। इति नि० ७. ६ ❀। तदर्हाः सुविदत्रियाः। तेभ्यो देवेभ्यः परि ददातु ॥

हे प्रेत! विद्वान् पूषा देवता तेरा इस स्थानसे निर्गमन करें। यह पूषा देवता पशुओंको नष्ट नहीं करते हैं, किन्तु पशुओंका पालन करते हैं[क्योंकि–तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ६। २। २ की श्रुतिमें लिखा है, कि–"पूषा पोषयतु।—पूषा देवता पुष्ट करें" और ऋग्वेदसंहिता ६। ५४। ५ में लिखा है, कि–"पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः।–पूषा देवता हमारी गौओंके पीछे चलें०"] यह प्राणियोंके रक्षक हैं। यह पूषा देवता तुझको इन तेरे पितापितामह आदि मृत पुरुषोंको रक्षाके लिये अर्पण करें। तथा अग्निदेव तुझको सुन्दर धन वाले देवताओंके अर्पण करें ५४

पञ्चमी ॥

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।

यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ५५ ॥

आयुः । विश्वऽआयुः । परि । पातु । त्वा । पूषा । त्वा । पातु । प्रऽपथे । पुरस्तात् ।

यत्र । आसते । सुऽकृतः । यत्र । ते । ईयुः । तत्र । त्वा । देवः । सविता । दधातु ॥ ५५ ॥

आयुः एतन्नामको जीवनाभिमानी देवः त्वा त्वां परि पासति परिपातु । कीदृश आयुः । विश्वायुः सर्वजीवनवान् । तथा पूषा जीवपोषको देवः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि प्रपथे पथो गमनमार्गस्य प्रारम्भे त्वा त्वां पातु रक्षतु । यत्र यस्मिन् स्वर्गे लोके सुकृतः पुण्यकृतः आसते उपविशन्ति ते सुकृतो यत्र यस्मिन् स्वर्गसंबन्धिनि देशे नाकपृष्ठाख्ये ईयुः जग्मुः तत्र देशे देवः दानादिगुणयुक्तः सविता सर्वप्रेरक एतत्संज्ञकः हे प्रेत त्वा त्वां दधातु धारयतु स्थापयतु ॥

सर्वजीवनवान् जीवनका अभिमानी देवता आयु तेरी रक्षा करे । जीवपोषक पूषा देवता पूर्वदिशाके गमनमार्गके प्रारम्भमें तेरी रक्षा करे । और हे प्रेत ! जिसमें पुण्यात्मा रहते हैं और जहाँ वह पुण्यात्मा जाते हैं उस स्वर्गके नाकपृष्ठ नामक भागमें सर्वप्रेरक सविता देवता तुझको स्थापित करें ॥ ५५ ॥

षष्ठी ॥

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥५६॥

इमौ । युनज्मि । ते । वह्नी इति । असुऽनीताय । वोढवे ।
ताभ्याम् । यमस्य । सदनम् । सम्ऽइतीः । च । अव । गच्छतात्

हे मृतपुरुष वह्नी वोढारौ इमौ अनड्वाहौ ते तव वहनाय युनज्मि अनसि संयोजयामि । किमर्थम् । असुनीताय असवः प्राणा नीता यस्मात् सः असुनीतो गतप्राणो देहः तस्मै । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । त्यक्तप्राणं शरीरं वोढवे वोढुम् । यद्वा सुष्ठु नेतव्यः सुनीतः न सुनीतः असुनीतः । दुर्वह इत्यर्थः । तादृशं शवं वोढुम् । ❀ वहेः "तुमर्थे सेसेन्०" इति तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः ❀ । ताभ्याम् अनडुद्भ्यां यमस्य संबन्धि सदनम् गृहम् इति अनेन प्रकारेण सम् अव गच्छतात् सम्यग्जानीहि ॥

हे मृतपुरुष ! वहन करने वाले इन बैलोंको मैं तेरे त्यक्तप्राण शरीरको लेजानेके लिये गाड़ीमें जोतता हूँ इन बैलोंसे तू यमके घरको भली भाँति प्राप्त हो ॥ ५६ ॥

सप्तमी ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु

एतत् । त्वा । वासः । प्रथमम् । नु । आ । अगन् । अप । एतत् ।
ऊह । यत् । इह । अबिभः । पुरा ।

इष्टाऽपूर्तम् । अनुऽसंक्राम । विद्वान् । यत्र । ते । दत्तम् । बहुऽधा । विऽबन्धुषु ॥ ५७ ॥

एतत् इदं संनिहितं प्रथमम् मुख्यं वासस्त्वा त्वां नु अद्य आगन् आगमत् प्राप्नोत् । ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ । एतद् वासः अपोह परित्यज । इह अस्मिन् भूलोके पुरा पूर्वस्मिन् जीवनकाले यद् वासः अबिभः अधारयः । एतत् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ बिभर्तेर्लङि सिपि "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀ । विद्वान् जानन् मोहरहितो भूत्वा इष्टापूर्तम् इष्टम् श्रुतिचोदितम् अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादि कर्म पूर्तम् स्मृत्युदितं वापीकूपतटाकादिनिर्माणम् तद् उभयं स्वात्मना कृतम् अनुलक्ष्य संक्राम गच्छ संप्राप्नुहि । यत्र यस्मिन्निष्टापूर्ते क्रियमाणे बन्धुषु बान्धवजनेषु बहुधा बहुप्रकारं ते त्वया विशेषेण धनं दत्तम् दक्षिणात्वेन वितीर्णम् । अभवद् इत्यर्थः । तादृशम् इष्टापूर्तम् इति संबन्धः ॥

जिस मुख्य वस्त्रको तू पहिले पहिर रहा था उस वस्त्रको तू त्याग दे और जिन इष्टापूर्तोंमें तूने बांधवोंको बहुतसा धन दिया था उस श्रुतिविहित अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि इष्ट कर्मके फलको और स्मृतिविहित वापी कूप तटाक आदि पूर्तके फलको प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

अष्टमी ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयाते

अग्नेः । वर्म । परि । गोभिः । व्ययस्व । सम् । प्र । ऊर्णुष्व । मेदसा । पीवसा । च ।

न । इत् । त्वा । धृष्णुः । हरसा । जर्हृषाणः । दधृक् । विऽधक्ष्यन् । परिऽईङ्खयातै ॥ ५८ ॥

हे प्रेत गोभिः । अवयवेषु अवयविशब्दः । अनुस्तरण्या गोः संबन्धिभिरवयवैः अग्नेः दाहकस्य वह्नेः वर्म वारकं कवचं परि व्ययस्व परितः संवृणु । यथाग्नेर्ज्वालाभिर्दग्धो न भवसि तथा गोसंबन्धिभिरवयवैः संवृतो भवेत्यर्थः । ❁ व्येञ् संवरणे । संवरणक्रियाफलस्य आत्मगामित्वात् "स्वरितञितः०" इति व्ययतेरात्मनेपदम् ❁ । उक्त एवार्थो विव्रियते । पीवसा पीवरेण स्थूलेन मेदसा मेदोधातुरूपया वपया सं प्रोर्णुष्व । यद्वा मेदसा वपया पीवसा अन्येन च पीवरेणाङ्गेन सं प्रोर्णुष्व हे प्रेत आत्मानं सम्यक् प्रच्छादय । प्रच्छादनाभावे भीतिं दर्शयति नेद् इति । धृष्णुः धर्षकः अभिभवनशीलो हरसा रसहरणशीलेन तेजसा जर्हृषाणः अत्यर्थं हृष्यन् दधृक् प्रगल्भः एवंगुणविशिष्टोग्निः त्वा त्वां विधक्ष्यन् विशेषेण दग्धुम् इच्छन् परि परितः नेत् ईङ्खयातै ईङ्खनं चलनं दाहासहिष्णुतया इतस्ततः पतनम् तन्नेन्न कुर्यात् महाभीतिकरम् ईङ्खनं तव मा भूद् इत्यर्थः । ❁ नेत् इति निपातः परिभये वर्तते । उक्तं हि यास्केन । अथापि नेत्येष इद् इत्येतेन संप्रयुज्यते परिभये [नि० १. १०] इति । ईङ्खतिर्गत्यर्थः । उख उखि वख वखि इत्यादिषु गत्यर्थेषु इख इखि ईखि इति पठितत्वात् । तस्मात् लेटि आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❁ ॥

हे प्रेत ! गोसम्बन्धी अवयवोंसे दाहक अग्निके वारक कवचसे संयुक्त हो अर्थात् जिस प्रकार अग्निकी ज्वालाओंसे भस्म न हो तिस प्रकार गोसम्बन्धी अवयवोंसे आवृत हो हे प्रेत ! स्थूल मेद से अपनेको आच्छादित कर । जिससे, कि-धर्षक अग्नि अपने रसहरणशील तेजसे तुझको अधिकतासे भस्म करना चाहता हुआ हर्षमें भर कर तुझको इधर उधर न गिरा सके ॥ ५८ ॥

नवमी ॥

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥

दण्डम् । हस्तात् । आऽददानः । गतऽअसोः । सह । श्रोत्रेण । वर्चसा । बलेन ।
अत्र । एव । त्वम् । इह । वयम् । सुऽवीराः । विश्वाः । मृधः । अभिऽमातीः । जयेम ॥ ५९ ॥

समावर्तनप्रभृति समन्त्रकं दण्डधारणं ब्राह्मणस्य विहितम् । स दण्डः अस्मिन् काले पुत्रादिना धारणाय स्वीकार्य इति प्रतिपाद्यते । गतासोः गता असवः प्राणा यस्मात् स तथोक्तः तथाविधस्य ब्राह्मणशवस्य हस्तात् वैणवं दण्डम् आददानः स्वीकुर्वन्नहं श्रोत्रेण शब्दश्रवणसाधनेन्द्रियजनितेन वर्चसा श्रुताध्ययनसंभूतेन तेजसा तत्कृतेन बलेन च सह । भवामीति शेषः ॥ अत्र अस्मिन् दहनदेश एव हे प्रेत त्वम् भव वर्तस्व । वयं तु इह अस्मिन् भूलोके सुवीराः सुपुत्राः सन्तः विश्वाः सर्वा मृधः संग्रामान् अभिमातीः अभिमन्यमानान् हिंसकान् शत्रून् जयेम अभिभवेम ॥

[ब्राह्मणके लिये समावर्तनके आरम्भसे समन्त्रक दण्ड धारण करनेका विधान है अब इस बातका प्रतिपादन किया गया है, कि–इस समय उस दण्डको पुत्र आदि स्वीकार करें] गतप्राण ब्राह्मणशवके हाथसे बाँसके दण्डको स्वीकार करता हुआ मैं श्रोत्रेन्द्रियके वर्चसे अर्थात् श्रुताध्ययनसंभूत तेजसे और उसके

द्वारा प्राप्त होने वाले बलसे सम्पन्न रहें और हे प्रेत ! तू इस दहनदेशमें ही रह और हम तो इस भूलोकमें परम सुखसे सम्पन्न रहते हुए सकल उपद्रवोंको और हिंसक शत्रुओंको दबा देवें ५६

दशमी ॥

धनुर्हस्तांदाददा॑नो मृतस्य॑ सह क्षत्रेण वर्च॑सा बलेन॑ समागृ॑भाय वसु भूरि॑ पुष्टम॒र्वाङ् त्वमेह्युप॑ जीवलोकम्

धनुः । हस्तात् । आऽददानः । मृतस्य । सह । क्षत्रेण । वर्चसा । बलेन ।

सम्ऽआगृभाय । वसु । भूरि । पुष्टम् । अर्वाङ् । त्वम् । आ । इहि । उप । जीवऽलोकम् ॥ ६० ॥

मृतस्य त्यक्तप्राणस्य क्षत्रियस्य हस्तात् धनुश्चापम् आददानः गृह्णन्नहं क्षत्रेण क्षतात् त्रायत इति क्षत्रम् क्षत्रजातेरसाधारणं तेजः तेन तेजसा वर्चसा पराभिभवसमर्थेन वीर्येण तत्कृतबलेन च सह युक्तो भवामि ॥ भूरि बहुलं पुष्टम् पोषकं वसु धनम् अस्मभ्यं दातुं समागृभाय सम्यग् अभिमुखं गृहाण आदत्स्व। ॐ ग्रह उपादाने। "छन्दसि शायजपि" इति श्ना उत्तरस्य श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशः ॐ ॥ एवं धनं गृहीत्वा जीवलोकम् जीवानां लोकं भूलोकम् उपलक्ष्य अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् त्वम् एहि आगच्छ। आगत्य अस्मभ्यम् इष्टधनादिकं प्रयच्छेत्यर्थः ॥

इति द्वितीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

अष्टादशकाण्डस्य द्वितीयोनुवाकः ॥

मैं त्यक्तप्राण क्षत्रियके हाथसे धनुषको ग्रहण करता हुआ क्षत्रजातिके असाधारण तेज और बलसे सम्पन्न होता हूँ

[हे धनुष !] तू बहुतसे पोषक धनको हमें प्रदान करनेके लिये ग्रहण कर और इस प्रकार धनको ग्रहण करके जीवलोकमें हमारे अभिमुख आ । तात्पर्य यह है,कि-हमको प्राप्त होकर हमको इष्ट-धन आदि दे ॥ ६० ॥ (१२)

द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त

द्वितीय अनुवाक समाप्त (५४२)

तृतीयेऽनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र प्रथमसूक्तस्य आद्यया चितौ भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत् । सूक्तपाठस्तु

तृतीय अनुवाकमें सात सूक्त हैं । इनमें प्रथम सूक्तकी पहिली ऋचासे चितामें भार्याको प्रेतसहित प्रवेश करावे ।

प्रथमा ॥

इ॒यं नारी॑ पतिलो॒कं वृ॑णा॒ना नि प॑द्यत॒ उप॑ त्वा मर्त्य॒ प्रेत॑म् ।

धर्मं॑ पुरा॒णम॑नुपा॒लय॑न्ती॒ तस्यै॑ प्र॒जां द्रवि॑णं चे॒ह धे॑हि १

इ॒यम् । नारी॑ । प॒ति॒ऽलो॒कम् । वृ॒णा॒ना । नि । प॒द्य॒ते॒ । उप॑ । त्वा । म॒र्त्य॒ । प्रऽइ॑तम् ।

धर्म॑म् । पु॒रा॒णम् । अ॒नु॒ऽपा॒लय॑न्ती । तस्यै॑ । प्र॒ऽजाम् । द्रवि॑णम् । च॒ । इ॒ह । धे॒हि॒ ॥ १ ॥

इयं पुरोवर्तिनी नारी स्त्री । ※"नृनरयोर्वृद्धिश्च" इति शार्ङ्गरवादिषु पाठात् ङीन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ※ । पतिलोकम् पत्युर्लोकः पतिलोकः पत्या अनुष्ठितानां यागदानहोमादीनां फलभूतं स्वर्गादि स्थानम् तं पतिलोकं वृणाना सहधर्मचारिणीत्वेन संभजमाना । ※ वृङ् संभक्तौ ।

लटः शानच्। क्र्यादित्वात् श्ना प्रत्ययः। "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। एवंभूता स्त्री हे मर्त्य मरणधर्मन् मनुष्य प्रेतम् प्रकर्षेण गतम् अस्माद् भूलोकाद् विनिर्गतं त्वा त्वाम् उप नि पद्यते समीपे नितरां गच्छति। अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः। ❀ पद गतौ। दिवादित्वात् श्यन् प्रत्ययः ❀। कस्माद्धेतोरित्याह। पुराणम् पुरातनम् अनादिशिष्टाचारसिद्धं स्मृतिपुराणादिप्रसिद्धं वा। ❀ "पुराणप्रोक्तेषु०" इत्यत्र पुराणेति निपातनात् तुडभावः ❀। धर्मम् सुकृतम् अनुपालयन्ती। आनुपूर्व्येण संप्रदायाविच्छेदेन परिपालनम् अनुपालनम्। तत् कुर्वती। ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀। स्मृतिपुराणादिप्रसिद्धधर्मस्य अनुमरणजन्यस्य अनुपालनाद्धेतोरित्यर्थः। स्मर्यते हि।

> भर्तारम् उद्धरेन्नारी प्रविष्टा सह पावकम्।
> व्यालग्राही यथा सर्पं बलाद् उद्धरते बिलात्।

इति। तस्यै तथाविधायै अनुमरणं कृतवत्यै स्त्रियै इह अस्मिन् भूलोके जन्मान्तरे लोकान्तरेपि प्रजाम्। प्रजायत इति प्रजा। ❀ "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति जनेर्डप्रत्ययः ❀। तां पुत्रपौत्रादिरूपां द्रविणम् धनं च धेहि प्रयच्छ। अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेपि स एव तस्याः पतिर्भवतीत्यर्थः। ❀ डुधाञ् दानधारणयोः। "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀॥

यह सामने वर्तमान नारी स्मृतिपुराण आदिसे सिद्ध अनादिशिष्टाचारसिद्ध ‡ धर्मका पालन करनेके लिये और पतिके किये

---

‡ स्मृतिमें कहा है, कि—"भर्तारमुद्धरेन्नारी प्रविष्टा सह पावकम्। व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्॥—जो स्त्री पतिके साथ अग्निमें प्रवेश करती है वह स्त्री (नरक आदिमें पड़े हुए भी) अपने पतिका इस प्रकार उद्धार कर लेती है जिस

हुए याग दान आदि के फलको देने वाले लोकको चाहती हुई मनुष्यलोकसे पूर्णरूपसे निकले हुए तेरे परम समीपमें आती है अर्थात् तेरे पीछे मरना चाहती है–सती होना चाहती है। इस प्रकार अनुमरण करने वाली स्त्रीके लिये इस भूलोकमें दूसरे जन्मके समय भी तू पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको और धनको देना। तात्पर्य यह है, कि—सती होनेके प्रभावसे दूसरे जन्ममें भी वही इस स्त्रीका पति होता है ॥ १ ॥

उपनिपद्यमाना सा यदि इह लोके पुनर्जीवितुम् इच्छेत् तदा "उदीर्ष्व" इत्यनया द्वितीयर्चा प्रेतेन सह संविष्टां ताम् अभिमन्त्र्य उत्थापयेत् ॥ पाठस्तु

प्रेतके समीपमें प्राप्त हुई यदि वह फिर इस लोकमें ही जीवित रहना चाहे अर्थात् सती न होना चाहे तो "उदीर्ष्व" इस दूसरी ऋचासे उस प्रेतके पास बैठी हुईको अभिमन्त्रित करके उठावे।

द्वितीया ॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ

उत्। ईर्ष्व। नारि। अभि। जीवऽलोकम्। गतऽअसुम्। एतम्। उप। शेषे। आ। इहि।

हस्तऽग्राभस्य। दधिषोः। तव। इदम्। पत्युः। जनिऽत्वम्। अभि। सम्। बभूथ ॥ २ ॥

प्रकार साँपोंको पकड़ने वाला सपेरा बिलमेंसे सर्पको बलपूर्वक खेंच लेता है" ॥

हे नारि धर्मपत्नि जीवलोकम् जीवानां जीवतां प्राणधारिणां लोकः। लोक्यते अनुभूयते जन्मान्तरकृतधर्माधर्मफलं सुखदुःखात्मकम् अस्मिन्निति लोकः भूलोकः। "उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्" इति श्रुतेः। तथाविधं जीवलोकम् अभिलक्ष्य उदीर्ष्व उत्तिष्ठ। पत्युः सकाशाद् उत्तिष्ठ। ❀ ईर गतौ कम्पने च। "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" इति शपो लुक् ❀। गतासुम् गता असवः प्राणा यस्मात् स तथोक्तः तथाविधम् एतं पतिम् उप शेषे उपेत्य तेन सार्धं शयनं करोषि। ❀ शीङ् स्वप्ने। अदादित्वात् शपो लुक् ❀। अयम् अर्थः। पूर्वम् अदृष्टार्थम् अनुगमनम् उक्तम्। इदानीं शास्त्राविरोधिदृष्टफलानुरोधेन तत उत्थानं प्रतिपाद्यते। दृष्टफलाभावप्रतिपत्त्यर्थं गतासुम् इति विशेषणम्। उपशयने दृष्टप्रयोजनं नास्तीत्यतः एहि पत्युः सकाशाद् आगच्छ॥ जीवनावस्थायामेव पतिसकाशात् सर्वम् ऐहिकं पुत्रादिलक्षणम् अभिप्राप्तम् अतोपि हेतोरागच्छेति प्रतिपाद्यते हस्तग्राभस्येति। हस्तं गृह्णातीति हस्तग्राभः पाणिग्रहणकर्ता तस्य। ❀ ग्रह उपादाने इत्यस्मात् "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः। "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀। दधिषोः धारयितुः तव पत्युः इदं जनित्वम् अपत्यादिरूपेण जन्मत्वम् अभि सं बभूथ अभिसंप्राप्तासि। ❀ "बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे" इति इडभावो निपात्यते ❀॥

हे धर्मपत्नि! तू इस प्राणहीन पतिके पास बैठी है अब तू जीवित प्राणियोंके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म अधर्मका फल जिसमें अनुभवमें आता है ऐसे इस जीवलोककी ओर ध्यान देकर पतिके पाससे उठ (पहिले अदृष्टार्थ अनुगमन कहा अब शास्त्रके अविरुद्ध दृष्ट फलका अनुरोध करके उसके पाससे उठनेकी प्रार्थना करते हैं कि—अब इसके पास बैठनेसे कोई दृष्ट लाभ नहीं है अत एव इस गतासु पुरुषके पाससे उठ अब इस बातको दिखाते हैं,

कि-तूने जीवित अवस्थामें पतिके-पाससे पुत्र आदि सब अभिमत वस्तुएँ पाली हैं अतः उठ आ, यथा-) पोषण करने वाले पतिकी यह पुत्र पौत्रादिरूप उत्पत्ति है इसको तू प्राप्त होगई है अर्थात् ये तेरे समीपमें उपस्थित हैं अतः तू उठ ॥ २ ॥

"अपश्य युवतिम्" इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां चितौ पार्श्वतः परिणीयमानां गाम् अनुमन्त्रयते । तत्र प्रथमा-

'अपश्यं युवतिम्" आदि दो ऋचाओंसे चिताकी करवटसे ले जाती हुई गौका अनुमन्त्रण करे ।

सूक्ते तृतीया ॥

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥

अपश्यम् । युवतिम् । नीयमानाम् । जीवाम् । मृतेभ्यः । परिऽनीयमानाम् ।
अन्धेन । यत् । तमसा । प्रऽवृता । आसीत् । प्राक्तः । अपाचीम् । अनयम् । तत् । एनाम् ॥ ३ ॥

युवतिम् यौवनावस्थोपेतां नीयमानाम् शवसमीपं प्राप्यमाणां जीवाम् जीवन्तीं मृतेभ्यः । ॐ तादर्थ्ये चतुर्थी ॐ । त्यक्तप्राणेभ्यः पुरुषेभ्यः मृतपुरुषार्थं परिणीयमानाम् दारुचित्यग्न्यादिसहितं शवं परितः प्रसव्यं नीयमानां गाम् अनुस्तरण्याख्याम् अपश्यम् पश्यामि अवलोकयामि । ॐ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्त-

माने लङ् ❀ । जीवदवस्थापन्नाया युवतेर्गोः शवपरिणयनम् अयुक्तम् इति जानामीत्यभिप्रायः । अनुस्तरणी सा गौः यत् यस्माद् अन्धेन दृष्ट्युपघातकेन गाढेन तमसा तमिस्रेण अज्ञानलक्षणेन प्रावृता प्रकर्षेण वेष्टिता आसीत् । हिताहितविभागं स्वयं न जानातीत्यर्थः । तत् तस्माद्धेतोः एनां गां प्राक्तः पूर्वदेशात् शवसमीपाद् अपाचीम् अपाङ्मुखीं शवात् पराङ्मुखीम् अस्मदभिमुखीम् अनयम् प्रापयामि । ❀ पूर्ववत् लङ् ❀ ॥

मैं तरुण अवस्था वाली शवके समीप लाई जाती हुई जीवित गौको, कि–जो काष्ठचिता अग्नि आदि वाले शव–मृतपुरुषके प्रसङ्गमें लानेसे अनुस्तरणी कहलाती है उस गौको देखता हूँ [अर्थात् मैं यह जानता हूँ, कि–युवती जीवित गौका शवपरिणयन अनुचित है] क्योंकि–यह अनुस्तरणी गौ दृष्ट्युपघातक घोर अंधकारसे और अज्ञानसे आवृत है अर्थात् अपने हित अहितको स्वयं नहीं समझती है, इस कारण इस गौको मैं शवके समीपसे पराङ्मुख करके अपने अभिमुख लाता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रजानत्य॑घ्न्ये जीवलो॒कं दे॒वानां॒ पन्था॑मनु॒संचर॑न्ती ।
अ॒यं ते॒ गोप॑ति॒स्तं जु॑षस्व स्व॒र्गं लो॒कमधि॑ रोहयैनम् ॥

प्र॒ऽजा॒न॒ती । अ॒घ्न्ये॒ । जी॒व॒ऽलो॒कम् । दे॒वाना॑म् । पन्था॑म् । अ॒नु॒ऽसं॒चर॑न्ती ।
अ॒यम् । ते॒ । गोऽप॑तिः । तम् । जु॒ष॒स्व॒ । स्वः॒ऽगम् । लो॒कम् । अधि॑ । रो॒ह॒य॒ । ए॒न॒म् ॥ ४ ॥

हे अघ्न्ये । गोनामैतत् । अहन्तव्ये हे गौः जीवलोकम् जीवानां लोको जीवलोकः भूलोकः । तं प्रजानती प्रकर्षेण जानाना ।

❀ ज्ञा अवबोधने इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः। "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः। "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आल्लोपः। "उगितश्च" इति ङीप्। "शतुरनुमः०" इति नद्या उदात्तत्वम् ❀। तथा देवानाम् इन्द्रादीनां पन्थाम् पन्थानं मार्गं यज्ञलक्षणम् अनुसंचरन्ती अनुलक्ष्य गच्छन्ती क्षीरदध्यादिहविर्निष्पादयन्ती। त्वम् आगच्छेति शेषः। ते तव अयं गोपतिः गोस्वामी। तं जुषस्व सेवस्व। एनं मृतं पुरुषं स्वर्गं लोकम् अधि रोहय प्रापय॥

हे गौ! तू जीवित पुरुषोंके लोक-भूलोक-को प्रकृष्टरूपसे जानती हुई तथा इन्द्र आदि देवताओंके यज्ञरूपी मार्गको लक्ष्यमें रख उसको क्षीर दधि आदि हविसे निष्पन्न करती हुई आ। यह तेरा गोपति स्वामी है इसका सेवन कर और इस मृतपुरुष को स्वर्गलोकमें चढ़ा॥ ४॥

पितृमेधे चतुर्थेऽहनि संचयनाख्ये कर्मणि "उप द्यामुप वेतसम्" इति पञ्चमीषष्ठीभ्यां मन्त्रोक्ता ओषधीरभिमन्त्र्य ताभिः क्षीरेण ब्राह्मणस्य अस्थीनि अवसिञ्चेत्। ताश्च ओषधयः वेतसाश्च कणीं च नदीफेनं च अवका च शईका च बृहद्दूर्वा च मण्डूकपर्णी चेत्येवमाद्याः॥

पितृमेधके चौथे दिन सञ्चयन नामक कर्ममें "उप द्यामुप वेतसम्" इन पाँचवीं छठी ऋचाओंसे मन्त्रोक्त ओषधियोंको अभिमन्त्रित करे उनसे क्षीरके द्वारा ब्राह्मणकी अस्थियोंका अवसिञ्चन करे। वे औषधिये ये हैं, बेंत, भटकैया, नदीफेन, अवका, शईका, बृहद्दूर्वा और सेनापाढ़ा आदि।

पञ्चमी॥

उप॒ द्यामुप॑ वेत॒सम॑वत्त॒रो न॒दीना॑म्।

अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि॥ ५॥

उप । ग्माम् । उप । वेतसम् । अवत्ऽतरः । नदीनाम् ।

अग्ने । पित्तम् । अपाम् । असि ॥ ५ ॥

नदीनाम् नदनशीलानाम् अपाम् । नदनान्नद्य इति यास्कः [नि० २. २४] । मन्त्रवर्णश्च भवति । "अहावनदता हते । तस्मादा नद्यो नाम स्थ" इति [३. १३. १] । ❀ पचादिषु नदट् इति पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् ❀ । नदनशीलानाम् अपां संबन्धिनीं ग्माम् उप । अत्र ग्मोशब्दः अवकावाची । जलस्योपरि प्ररूढा भूमंस्पर्शरहिता अवका उच्यन्ते । तत्समीपे । तथा वेतसम् उप । वेतसो नदीतीरगतो वृक्षविशेषः । तस्य समीपे । यद्वा सप्तम्यर्थप्रतिपादकावुपशब्दौ । अवकासु वेतसे चेत्यर्थः । अवत्तरः अतिशयेन अवन् रक्षणसमर्थः सारभूतांशो विद्यते । वेतस्य च अवकानां च अप्सारत्वं तैत्तिरीये समाम्नायते । "अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः । अपां शरोऽवका । वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति" इति [तै० सं० ५. ४. ४. २] । हे अग्ने त्वमपि अपां पित्तम् अप्संबन्धी पित्तधातुरसि । "शुचिरप्पित्तम् और्वस्तु" इति अभिधानकारः । यतस्त्वम् अपां संबन्ध्यसि अतस्त्वा अप्संबन्धिनीभिः अवकावेतसशाखानदीफेनबृहद्दूर्वाद्योषधीभिः शमयामीति शेषः । ओषधयः केशवेन पद्धतिकारेण परिगणिताः । वेतसाश्च कर्णौ च नदीफेनं चावका च वईका च बृहद्दूर्वा च मण्डूकपर्णी चेति । ❀ अवत्तर इति । अव रक्षणे इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः । तथा प्रकर्षार्थे तरप् ❀ ॥

नदियोंके जलका सिवारमें और वेतमें रक्षा करनेमें समर्थ सारभूत अंश है † और हे अग्ने ! तू भी जलकी पित्त धातु है ।

---

† वेत और काईका अप्सारत्व तैत्तिरीयमें कहा है. कि–"अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः । अपां शरोऽवका । वेतसशाखया

क्योंकि-तू जलसंबंधी है अत एव मैं तुझको जलसंबंधी अवका अर्थात् पृथ्वीसे अधर जलके ऊपर होने वाली काई वेंतकी शाखा, नदीफेन और बृहद्दूर्वा आदि औषधियोंसे शान्त करता हूँ ॥५॥

षष्ठी ॥

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः ।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा ॥ ६ ॥

यम् । त्वम् । अग्ने । सम्ऽअदहः । तम् । ऊं इति । निः । वापय । पुनः ।
क्याम्बूः । अत्र । रोहतु । शाण्डऽदूर्वा । विऽअल्कशा ॥ ६ ॥

हे अग्ने त्वं यं पुरुषं समदहः सम्यग् दग्धवान् असि तमु तं खलु त्वं पुनर्निर्वापय निर्वृतं सुखितं कुरु । दाहजनितौष्ण्यपरिहारेणेत्यर्थः । एतदर्थमेव हि पूर्वम् अपां पित्तम् असीति अग्नेरप्कार्यत्वम् उक्तम् । ❀ निरुपसृष्टाद् "वा गतिगन्धनयोः" इत्यस्मात् णिचि "०आतां पुङ् णौ" इति पुगागमः ❀ । दाहनिर्वापणस्य परां काष्ठाम् आह क्याम्बूरित्युत्तरार्धेन । अत्र अस्मिन् दहनप्रदेशे क्याम्बूः ओषधिविशेषः रोहतु प्ररोहतु उत्पद्यताम् । तथा शाण्डदूर्वा जलसमीपे उत्पद्यमाना अण्डाकृतिमूलसहिता दीर्घकाण्डा वा दूर्वा शाण्डदूर्वा सा बृहद्दूर्वेत्युच्यते । सा व्यल्कशा अल्काः शाखाः । ❀ शो मत्वर्थीयः ❀ । विविधशाखोपेता । रोहत्विति संबन्धः ॥

पावकाभिश्च विकर्षति ।-जो वेत है यह जलोंका पुष्परूप है, और अवका-काई-जलके बाण हैं । वेतकी डाली और अवकासे खेंचे' (तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ४ । २) ॥

हे अग्निदेव ! आपने जिस पुरुषको भस्म कर दिया है उसको आप फिर भली प्रकार सुखी करिये। [दाहजनित उष्णताका परिहार कर सुखी करिये, इसी लिये पहिले "हे अग्ने ! आप जलोंके पित्त हैं" कह कर अग्निको जलका कार्य कहा था, दाह को दूर करनेकी पराकाष्ठाको कहते हैं, कि-] इस दहनस्थानमें क्याम्बू नामक औषधि उग आवे तथा अनेक शाखाओं वाली जलके समीप होने वाली शाण्डदूर्वा बृहद्दूर्वा भी उग आवे॥३॥

"इदं त एकम्" इत्यनया सप्तम्या आहिताग्नेः प्रेतस्याग्रे अग्नित्रयं धारयित्वा अनुमन्त्रयते ॥ तत्पाठस्तु-

"इदं त एकम्" इस सातवीं ऋचासे आहिताग्नि प्रेतके आगे तीनों अग्नियोंको धर कर अनुमन्त्रण करे।

सप्तमी ॥

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे ७

इदम्। ते। एकम्। परः। ऊं इति। ते। एकम्। तृतीयेन। ज्योतिषा। सम्। विशस्व।
सम्ऽवेशने। तन्वा। चारुः। एधि। प्रियः। देवानाम्। परमे। सधऽस्थे ॥ ७ ॥

हे प्रेत ते तव परलोकगमनाय इदम् एकम् गार्हपत्याख्यं ज्योतिः। तथा परः परस्तात् ते तव। उशब्दः अप्यर्थे। अन्वाहार्यपचनाख्यमपि एकं ज्योतिः। तृतीयेन त्रित्वसंख्यापूरकेण ज्योतिषा आहवनीयाख्येन सं विशस्व संगतो भव। साकल्येन आत्मानम् आहवनीयं गमयेत्यर्थः। इत्थम् अग्निसंवेशने सति तन्वा संस्कार-

जनितेन देवशरीरेण चारुः शोभनः एधि भव । ❀ अस सुवीत्य-स्मात्लोटि "ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति अकारस्य एत्वम् । तस्य "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् "हुझल्भ्यः०" इति हेर्धित्वम् ❀ । ततः परमे उत्कृष्टे सधस्थे सहस्थाने देवलोके देवानाम् इन्द्रादीनां प्रियः प्रीतिविषयो भव । ❀ सह तिष्ठन्ति अस्मिन्निति सधस्थः । "घञर्थे कविधानम्" इति अधिकरणे तिष्ठतेः कप्रत्ययः । "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः ❀ । यद्वा अग्निसंस्कारजनितदेवशरीरेण चारुर्भूत्वा देवलोके देवानां प्रिय एधीत्येकवाक्यता ॥

हे प्रेत ! तेरे परलोकगमनके लिये यह गार्हपत्याग्नि एक ज्योति है । दूसरी अन्वाहार्यपचन नामक एक ज्योति है । और तू आहवनीय नामक तीसरी ज्योतिसे सङ्गत हो अर्थात् पूर्णरूपसे अपनेको आहवनीय अग्निको प्राप्त करा ॥ इस प्रकार अग्निसंवेशन होने पर संस्कारजनित देवशरीरके द्वारा शोभन होता हुआ वृद्धिको प्राप्त हो फिर साथ रहनेके उत्कृष्ट स्थानमें इन्द्र आदि देवताओं को प्रिय लगने वाला हो ॥ ७ ॥

"उत्तिष्ठ प्रेहि" इत्यष्टम्या "प्र च्यवस्व" इति नवम्या च दहनप्रदेशं नेतुं प्रेतम् उत्थापयेत् ॥

"उत्तिष्ठ प्रेहि" इस आठवीं ऋचासे और "प्र च्यवस्व" इस नवम ऋचासे भी दहनस्थानको लेजानेके लिये प्रेतको उठावे ।

तत्र अष्टमी ॥

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे ।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । ओकः । कृणुष्व । सलिले ।
  सधऽस्थे ।

तत्र । त्वम् । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । सम् । सोमेन । मदस्व ।
  सम् । स्वधाभिः ॥ ८ ॥

हे प्रेत त्वम् उत्तिष्ठ अस्मात् स्थानाद् ऊर्ध्वं तिष्ठ । ❀ "उदो-नूर्ध्वकर्मणि" इति पर्युदासात् तिष्ठतेरात्मनेपदाभावः ❀ । उत्था-नानन्तरं प्रेहि प्रगच्छ । ततः प्र द्रव प्रकर्षेण धाव । शीघ्रं गच्छे-त्यर्थः । सलिले । अन्तरिक्षनामैतत् । अन्तरिक्षे सधस्थे सहस्थाने अलौकिके ओकः गृहं कृणुष्व कुरु । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ । तत्र तस्मिन् लोके त्वं पितृभिः बर्हिषदग्निष्वात्ताख्याभिः पितृदेवताभिः संविदानः संजानानः ऐकमत्यं गतः सन् सोमेन सं मदस्व । ❀ मद तृप्ति-योगे ❀ । सोमपानेन तृप्तो भवेत्यर्थः । सोमयागेषु हि नाराशं-साख्यः सोमरसस्य भागः पितॄणाम् अस्ति । तदुपभोगेन आत्मानं हर्षयेति भावः । यद्वा सोमेन राज्ञा पितॄणाम् अधिपतिना सह मदस्वेत्यर्थः । तथा स्वधाभिः स्वधाकारसहितैः श्राद्धैः पुत्रादिभिः कृतैः सं मदस्व । ❀ संविदान इति । विद ज्ञाने । "समो गम्यृ-च्छि०" इत्यादिना आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे प्रेत ! तू इस स्थानसे ऊपर स्थित हो—उठ ! उत्थानके अनं-तर चल, फिर शीघ्रतासे चल, फिर अलौकिक अन्तरिक्षमें घर बना और उस लोकमें बर्हिषद अग्निष्वात्ता आदि पितरोंसे एक-मत होकर सोमपान करके आनन्दको प्राप्त हो, भाव यह है, कि—सोमयागोंमें जो नाराशंस नामक सोमरसका जो भाग पितरोंका है उसका उपभोग करके अपनेको प्रसन्न कर । और पुत्र आदि के किये हुए स्वधाकारसम्पन्न श्राद्धोंसे आनन्दको प्राप्त हो ८

"प्र च्यवस्व" इत्यनया प्रेतस्य गात्राणि इतस्ततश्च व्याकुली-कुर्यात् ॥ तत्पाठस्तु-

"प्रच्यवस्व" ऋचासे प्रेतके अङ्गोंको इधर उधर व्याकुल करे।

नवमी ॥

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ९

प्र । च्यवस्व । तन्वम् । सम् । भरस्व । मा । ते । गात्रा । वि । हायि । मो इति । शरीरम् ।
मनः । निऽविष्टम् । अनुऽसंविशस्व । यत्र । भूमेः । जुषसे । तत्र । गच्छ ॥ ९ ॥

हे प्रेत त्वं प्र च्यवस्व अस्मात् स्थानात् प्रच्युतो भव । तदर्थं तन्वम् शरीरं हस्तपादादिसहितं सं भरस्व संभृतम् एकीभूतं कुरु । ते तव गात्रा गात्राणि हस्तपादादीनि मा वि हायि परित्यक्तानि मा भूवन् । तथा शरीरम् अवयविभूतो मध्यदेहश्च मो मैव त्याक्षीः । यत्र यस्मिन् स्थाने त्वदीयं मनो निविष्टम् अवस्थितं मनसो विषयभूतं तत् स्वर्गादिलक्षणम् अनुसंविशस्व संप्रविष्टो भव । तथा यत्र यस्यां भूमौ भूप्रदेशे जुषसे प्रीयसे । ※ जुषी प्रीति-सेवनयोः ※ । तत्र गच्छ । तं भूप्रदेशं प्राप्नुहीत्यर्थः ॥

हे प्रेत ! तू इस स्थानसे प्रच्युत हो और इस लिये हाथ पैर आदि सहित शरीरको एकीभूत कर । तेरे हाथ पैर आदि अंग छूट न जावें । तथा अवयवीरूप मध्यदेह भी न छूटे । तेरा मन जिस स्थानमें लग रहा है उस स्वर्गादिरूप स्थानमें तू प्रविष्ट हो और जिस भूप्रदेशमें तू प्रीति रखता है उस भूप्रदेशको तू प्राप्त होइ

पिण्डपितृयज्ञे "वर्चसा माम्" इति दशम्या उत्तरसूक्तस्य आद्यया च आचामेत् । "वर्चसा माम् इत्याचामति" इति हि सूत्रितम् [कौ० ११. २] ॥

पिण्डपितृयज्ञमें "वर्चसा माम्" इस दशवीं ऋचासे और अगले सूक्तकी पहिली ऋचासे भी आचमन करे।

दशमी ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।

चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु १०

वर्चसा । माम् । पितरः । सोम्यासः । अञ्जन्तु । देवाः । मधुना । घृतेन ।

चक्षुषे । मा । प्रऽतरम् । तारयन्तः । जरसे । मा । जरत्ऽअष्टिम् । वर्धन्तु ॥ १० ॥

पितरः पितृदेवताः सोम्यासः सोम्याः सोमार्हाः । ❀ "सोमम् अर्हति यः" इति सोमशब्दाद् अर्हार्थे यप्रत्ययः । "आज्जसेर्-असुक्" ❀ । तथाविधाः पितरो मां यजमानं वर्चसा तेजसा अञ्जन्तु अक्तं संश्लिष्टं कुर्वन्तु । तथा देवाः विश्वे देवा मधुना माधुर्योपेतेन घृतेन दीप्तिकरेण आज्येन माम् अञ्जन्तु । अपि च चक्षुषे दर्शनाय मा मां प्रतरम् प्रकृष्टतरं तारयन्तः प्लावयन्तः । दीर्घकालदर्शनार्थं रोगादिभ्यो मां व्यावर्तयन्त इत्यर्थः । तथा जरसे जरायै मा मां जरदष्टिम् जरती जीर्णा अष्टिः अशनं यस्य । ❀ जृष् वयोहानौ । "जीर्यतेरतृन्" इति भूतेर्थे अतृन् प्रत्ययः । "जराया

जरस् अन्यतरस्याम्" इति जराशब्दस्य जरस् आदेशः। तादर्थ्ये चतुर्थी ※। जरार्थम् यावता कालेन जरा भवति तावत्कालपर्यन्तं मां जरदष्टिं कृत्वा वर्धन्तु वर्धयन्तु ॥

इति अष्टादशकाण्डस्य तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सोमके पात्र पितृदेवता मुझ यजमानको तेजसे संयुक्त करें। तथा विश्वेदेवा भी मुझको मधुरतासम्पन्न दीप्तिमद् घृतसे संयुक्त करें और मुझको दीर्घकाल तक देखते रहनेके लिये रोगादिके पार उतारते हुए और बुढ़ापे तकके लिये भोजनको जीर्ण कराते हुए मुझको बढ़ावें ॥ १० ॥ (१३)

अष्टादशकाण्डके तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

"वर्चसा माम्" इति आद्यया ऋचा पूर्वया ऋचा सह उक्तो विनियोगः। तत्पाठस्तु—

"वर्चसा माम्" इस प्रथम ऋचाका पहिली ऋचाके साथ विनियोग कह दिया गया है।

तत्र प्रथमा ॥

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन्। रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥

वर्चसा। माम्। सम्। अनक्तु। अग्निः। मेधाम्। मे। विष्णुः। नि। अनक्तु। आसन्।

रयिम्। मे। विश्वे। नि। यच्छन्तु। देवाः। स्योनाः। मा। आपः। पवनैः। पुनन्तु ॥ ११ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः मा मां वर्चसा तेजसा सम-

नक्तु संयोजयतु। ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणगतिषु। रुधादित्वाद्
श्नम्। "श्नान्नलोपः" इति नलोपः ❀॥ तथा विष्णुः मे मम
आसन् आसनि आस्ये मुखे मेधां नि अनक्तु नितरां संयोजयतु।
❀ "पद्न्०" इत्यादिना आस्यशब्दस्य आसन् आदेशः।
"सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀॥ तथा विश्वे देवाः
स्योनाम् सुखकरीं रयिम् धनं मे मह्यं नि यच्छन्तु नियतां कुर्वन्तु।
❀ यम उपरमे। "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् ❀। यद्वा निय-
मेन ददतु। ❀ दाण् दाने इत्यस्य "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छा-
देशः ❀॥ तथा आपः उदकानि पवनैः शोधनसाधनैः स्वांशैः
मा मां पुनन्तु पूतं शुद्धं कुर्वन्तु॥

अंगनादिगुणसम्पन्न अग्निदेव मुझको तेजसे संयुक्त करें, और
विष्णुदेव मेरे मुखमें मेधाको संयुक्त करें और विश्वेदेवता सुख-
प्रद धनको मुझमें नियत करें। तथा जल शोधनसाधन वायुरूप
अपने अंशोंसे मुझको शुद्ध करें॥ ११॥

"मित्रावरुणा परि माम्" इति द्वितीयया ऋचा पिण्डपितृयज्ञे
पाणी कर्ता प्रक्षालयेत्। तत्पाठस्तु—

"मित्रा वरुणा परि माम्" इस दूसरी ऋचासे कर्ता पिण्डपितृ-
यज्ञमें हाथोंका प्रक्षालन करे।

द्वितीया॥

मित्रावरुणा परि माम॑धातामादि॒त्या मा स्वर॑वो वर्धयन्तु
वर्चो॑ म इन्द्रो॒ न्य॑नक्तु हस्त॑योर्जरद॑ष्टिं मा सवि॒ता
कृणोतु॥ १२॥

मित्रावरुणा। परि। माम्। अधाताम्। आदित्याः। मा। स्वरवः।
वर्धयन्तु।

वर्चः । मे । इन्द्रः । नि । अनक्तु । हस्तयोः । जरत्ऽअष्टिम् ।
मा । सविता । कृणोतु ॥ १२ ॥

मित्रावरुणा मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ । ❁ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । "सुपां सुलुक्०" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❁ । अहरभिमानी देवो मित्रः । वरुणो रात्र्यभिमानी । तावुभौ मां पर्यधाताम् परितो धारयताम् । यद्वा वस्त्रादिना परिहितं कुरुताम् ॥ तथा आदित्याः अदितेः पुत्रा अन्ये देवा स्वरवः । ❁ स्वृ शब्दोपतापयोः । शृस्वृस्निहीत्यादिना [उ० १. १०] उप्रत्ययः ❁ । स्वरवः शोभनशब्दं कुर्वाणाः यद्वा अस्मच्छत्रुविषयम् उपतापं कुर्वन्तो मा मां वर्धयन्तु ॥ अपि च इन्द्रो देवः मे मम हस्तयोर्वर्चः बलं नि अनक्तु नियोजयतु । बाहुजातत्वाद् इन्द्रस्य बाहुबलं तत्प्रसादाल्लभ्यम् इत्यभिप्रायः ॥ सविता सर्वस्य प्रसविता देवो मा मां जरदष्टिम् जीर्यदन्नस्यभोजनं दीर्घायुषं कृणोतु करोतु ॥

दिनके अभिमानी देवता मित्र, और रात्रिके अभिमानी देवता वरुण दोनों मुझको वस्त्र आदिसे परिहित रक्खें । और अदिति के पुत्र अन्य देवता हमारे शत्रुओंको ताप देते हुए हमको बढ़ावें। और इन्द्र देवता मेरे हाथोंमें बलको देवें और सबको प्रेरित करने वाले सविता देवता मुझको जिसमें अन्न जीर्ण होता रहे ऐसी दीर्घायु दें ॥ १२ ॥

तृतीया ॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत

यः । पपार । प्रथमः । मर्त्यानाम् । यः । प्रऽइयाय । प्रथमः । लोकम् । एतम् ।

वैवस्वतम् । सम्ऽगमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ १३ ॥

यो यमो राजा मर्त्यानाम् मरणधर्मणां मनुष्याणां मध्ये स्वयमपि एकः सन् प्रथमः प्रथमभूतो ममार मरणं प्राप्तवान् । ❀ मृङ् प्राणत्यागे । "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च" इति नियमात् लिटः परस्मैपदम् ❀ । एतं लोकं यो यमो राजा प्रथमः प्रथमभूतः प्रेयाय प्रगतवान् । प्रथमं मरणम् पश्चात् लोकान्तरप्राप्तिः इत्युभयं यमोपज्ञम् आसीद् इत्यर्थः । अत एव यमस्य मनुष्यवत् कामयितृत्वादिकं यागाद् राज्यप्राप्तिश्च आम्नायते । "यमो वा अकामयत पितॄणां राज्यम् अभिजयेयम् इति । स एतं यमायापभरणीभ्यश्चरुं निरवपत्" इति [तै० ब्रा० ३. १. ५. ४. १] । इत्थं य यमो राजा मरणपूर्वकं प्रथमं प्रेयाय अस्माल्लोकात् प्रगतो बभूव तं वैवस्वतम् विवस्वान् आदित्यः तस्य पुत्रं जनानाम् जनिमतां प्राणिनां संगमनम् संगच्छन्ते अस्मिन्निति संगमनः । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । जनिमद्भिः सर्वैः प्राणिभिः संप्राप्यम् इत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टं यमं राजानम् ईश्वरम् । प्राणिकृतसुकृतदुष्कृतानुरूपेण शिक्षाकरम् इति यावत् । हविषा आज्यपुरोडाशादिना सपर्यत पूजयत । हे ऋत्विज इति शेषः । ❀ सपर पूजायाम् । "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इति यक् प्रत्ययः ❀ ॥ अथ वा प्रथमः प्रथमभावी कल्पादौ वर्तमानो यो जनः प्राणी ममार यश्च जनः प्रथमः कल्पादौ वर्तमानः एतं लोकं यमस्य स्वभूतं प्रेयाय प्रगतवान् । तदाप्रभृति वर्तमानानां सर्वेषां जनानां संगमनम् संप्राप्यं राजानम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

जो राजा यम मरणधर्मी मनुष्योंमें स्वयं भी पहिले मरे थे और

इस लोकको जो राजा यम प्रथम होकर प्राप्त हुए थे (अर्थात् पहिले जिनका मरण और फिर लोकान्तरकी प्राप्ति हुई थी [अत एव मनुष्यकी समान यमका कामयिता-पन और यागसे राजप्राप्तिका वर्णन मिलता है, यथा-"यमो वा अकामयत पितॄणां राज्यं अभिजयेयम् । स एतं यमायापभरणीभ्यश्चरुं निरवपत् ।" तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ५ । ६ । १४] ऐसे विवस्वान्‌के पुत्र और जिनको उत्पत्ति वाले प्राणी प्राप्त होते हैं उन प्राणियोंको पुण्य पापके अनुसार फल देने वाले राजा यमकी हे ऋत्विजो ! तुम पूजा करो ॥ १३ ॥

पिण्डपितृयज्ञे "परा यात" इति चतुर्थ्या ऋचा पितॄन् विसर्जयेत् । तत्पाठस्तु-

पिण्डपितृयज्ञमें "परा यात" नामक चौथी ऋचासे पितरोंका विसर्जन करे ।

चतुर्थी ॥

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात

परा । यात । पितरः । आ । च । यात । अयम् । वः । यज्ञः । मधुना । सम्ऽअक्तः ।

दत्तो इति । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । दधात ॥ १४ ॥

हे पितरः पितृदेवताः अस्माभिः कृतेन पितृयज्ञरूपेण कर्मणा संतुष्टाः सन्तः परा यात परागच्छत। पराङ्मुखाः स्वस्थानं गच्छतेत्यर्थः । पुनर्यागार्थम् अस्माभिराहूताः सन्तः आ यात च आ-

गच्छत च ॥ इदानीं परागमने कारणम् आह । वः युष्मभ्यं मधुना मधुरेण आज्येन । "एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्" इति हि ऐतरेयकम् [ऐ० ब्रा० २. २] । समक्तः सम्यक् संसिक्तः अयं यज्ञः अस्माभिर्दत्तः ॥ तं स्वीकृत्य अस्मभ्यम् अस्मदर्थं भद्रम् कल्याणं द्रविणा द्रविणं धनम् इह अस्मिन् गृहे दधात धारयत । तथा सर्ववीरम् वीर्याज्जायन्त इति वीराः पुत्रपौत्रादिरूपाः प्रजास्तैः सर्वैरुपेतं रयिम् प्रजापश्वादिरूपं धनं नः अस्माकं दधात धारयत । ❀ "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तबादेशः । पित्त्वेन ङित्त्वाभावाद् आल्लोपाभावः ❀ ॥

हे पितृदेवताओ ! तुम हमारे किये हुए पितृयज्ञरूप कर्मसे सन्तुष्ट हो पराङ्मुख हो अपने स्थानको जाओ और जब हम फिर आपका आह्वान करें तो आ भी जाना । [इस समय लौटानेका कारण यह है, कि-] हमने इस समय आपको मधु अर्थात् मधुर घृतसे संसिक्त यज्ञ प्रदान किया है उसको स्वीकार कर आप हमारे लिये इस घरमें कल्याणकारक धनको स्थापित करिये और पुत्र पौत्र आदि प्रजासे सम्पन्न पशु आदिक धनको भी हममें स्थापित करिये ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः

कण्वः । कक्षीवान् । पुरुऽमीढः । अगस्त्यः । श्यावऽअश्वः । सोभरी । अर्चनानाः ।

विश्वामित्रः । अयम् । जमत्ऽअग्निः । अत्रिः । अवन्तु । नः ।

कश्यपः । वामदेवः ॥ १५ ॥

कण्वादयो द्वादशसंख्याका ऋषयो नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु । कणतिः शब्दार्थः । ❀ अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् [उ० १. १४६] इति क्वन् प्रत्ययः ❀ । नित्वाद् आद्युदात्तः कण्व-शब्दः । कक्ष्या रज्जुरश्वस्य कक्षं सेवते [नि०२.२] इति यास्कः॥ तद्वान् कक्षीवान् । ❀ "आसन्दीवद् अष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवत्०" इति मतुपि निपात्यते ❀ । पुरुमीढः । ❀ मिह सेचने इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा ❀ । पुरूणि मीढानि सिक्तानि अपत्यानि यस्य स तथोक्तः । यद्वा मीढम् इति धननाम । पुरूणि मीढानि धनानि यस्य स तथोक्तः । बहुधन इत्यर्थः । अगस्त्यः प्रसिद्धः । श्यावाश्वः श्यावाः कृष्णवर्णा अश्वा यस्य स तथोक्तः । सोभरी प्रसिद्धः । अर्चनानाः अर्चनम् अर्चनीयम् अनः शकटं यस्य स तथोक्तः । संज्ञाशब्दोयम् । स च अत्रीणां प्रवरमध्ये पठ्यते । "आत्रेयार्चना-नसश्यावाश्वेति । श्यावाश्ववद् अर्चनानसवद् अत्रिवत्" इति । विश्वामित्रः । विश्वं सर्वं जगत् मित्रं यस्य स तथा । ❀ "मित्रे चर्षौ" इति विश्वशब्दस्य दीर्घः ❀ । अयम् इति इदंशब्देन पुरो-वर्तिवस्तुवाचिना सर्वजनसंनिहितत्वेन सर्वमित्रत्वम् उपपाद्यते । जमदग्निः । ❀ जमतिर्ज्वलतिकर्मा ❀ । जमन्तो ज्वलन्तः अग्नयो यस्य स तथोक्तः । अत्रिः । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-भेदभिन्नास्त्रिविधा दुःखानुभवा यस्य न विद्यन्ते स तथा । अत एव यास्को निरवोचत । तस्माद् अत्रिर्न त्रय इति [नि० ३.१७] कश्यपः । आद्यन्तवर्णविपर्ययः । सर्वं जगत् सर्वदा सौक्ष्म्येण पश्यतीति कश्यपः । श्रूयते हि । "कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" इति [तै० आ० १. ८. ८] ।

वामदेवः । वामो वननीयो देवो द्योतकोस्ति तत्त्वविषये बोधो यस्य स तथा । स खलु गर्भावस्थ एव सन् उत्पन्नतत्त्वज्ञानः स्वस्य सार्वात्म्यम् अनुसंदधौ । श्रूयते हि । "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति [ऋ० ४. २६. १] ॥

कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य, श्यावाश्व, सोभरि, अर्चनाना‡, विश्वामित्र, जमदग्नि, × अत्रि + कश्यप ÷ और वामदेव † नामक ऋषि हमारी रक्षा करें ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

विश्वा॑मित्र॒ जम॑दग्ने॒ वसि॑ष्ठ॒ भर॑द्वाज॒ गोत॑म॒ वाम॑देव शर्दि॑र्नो॒ अत्रि॑रग्रभी॒न्नमो॑भिः॒ सुसं॑शासः॒ पित॑रो मृ॒डता॑ नः ॥ १६ ॥

---

‡ यह ऋषि अत्रिगोत्रमें उत्पन्न हुए हैं ।

× जमदग्नि शब्दकी व्युत्पत्ति यह है, कि-जिनकी अग्नियें प्रज्वलित रहती थीं वह जमदग्नि नामक ऋषि हैं ।

+ आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों प्रकारके दुःखोंका अनुभव न होनेसे यह ऋषि अत्रि कहलाते थे । निरुक्त ३ । १७ में भी कहा है, कि–'तस्माद् अत्रिर्न त्रय इति' ।

÷ सब जगत्को सदा सूक्ष्मतासे देखनेके कारण इनका कश्यप नाम है । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । ८ की श्रुतिमें भी कहा है, कि-"कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यति सौक्ष्म्यात्" ।

† जिनका तत्त्वविषयमें वाम अर्थात् सेवनीय देव अर्थात् बोध है वह ऋषि वामदेव कहलाते हैं यह ऋषि गर्भावस्थामें ही तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे अपने सार्वात्म्यस्वरूपका अनुसंधान करने लगे थे, कि–"अहं मनुरभवम् सूर्यश्च" ॥

विश्वामित्र । जमत्ऽअग्ने । वसिष्ठ । भरत्ऽवाज गोतम । वामऽदेव । शर्दिः । नः । अत्रिः । अग्रभीत् । नमःऽभिः । सुऽसंशासः । पितरः । मृडत । नः ॥ १६ ॥

पूर्वार्धेन षट्संख्याका ऋषयः संबोध्यन्ते । तत्र वसिष्ठो वसुमत्तमः एतन्नामा ऋषिः । भरणाद् भरद्वाज इति यास्कः [नि० ३. १७] । अन्ये शब्दा उक्तार्थाः । मृडता नः इत्येतद् वक्ष्यमाणं पदद्वयम् अत्रापि संबध्यते । हे विश्वामित्रादय ऋषयः नः अस्मान् मृडत सुखयत । अत्रिः एतत्संज्ञो महर्षिर्नः अस्माकं शर्दिः छर्दिः । गृहनामैतत् । ❀ उछृदिर् दीप्तिदेवनयोः इत्यस्माद् अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः [उ० २.१०७] इति इसिप्रत्ययः । वर्णव्यत्ययः ❀ । नः अस्मदीयं गृहम् अग्रभीत् अग्रहीत् । रक्षणार्थं गृहीतवान् इत्यर्थः । ❀ ग्रह उपादाने । “हृग्रहोर्भः०” इति भत्वम् ❀ । यद्वा शर्दतिर्बलकर्मा । शर्दयति बलयतीति शर्दिः । एवंगुणविशिष्टः अत्रिर्नः अस्मान् अग्रहीत् आत्मीयत्वेन गृहीतवान् । अथ वा शर्दिर्नाम कश्चिद् ऋषिः । अन्यत् पूर्ववत् । तथा नमोभिः नमस्कारैः । यद्वा अन्ननामैतत् । दीयमानैरन्नैः कव्यरूपैर्हेतुभिः हे पितरः पितृदेवताः यूयं सुशंसासः सुष्ठु शंसितुं स्तोतुं शक्याः । ❀ शंसु स्तुतौ इत्यस्मात् “ईषद्दुःसुषु०” इति कर्मणि खल् प्रत्ययः । “आज्जसेरसुक्”❀ । सुष्टुताः संस्तुताः सन्तः नः मृडत अस्मान् सुखयत । ❀ मृडत । मृड सुखने ❀ ॥

हे विश्वामित्र जमदग्नि वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव नामक ऋषियो ! हमको सुख दो । अत्रि नामक ऋषिने हमारे घरको रक्षाके लिये ग्रहण कर लिया है । और नमस्कार वा स्वधान्नसे स्तुति करने योग्य पितरों तुम भी हमको सुख दो ॥ १६ ॥

शवदहनदिवसे रात्रौ रिक्तकलशभञ्जनकर्ता "कस्ये मृजानाः" इति सप्तमीम् ऋचं जपेत् । ऋक्पाठस्तु–

शवदहनके दिन रात्रिमें खाली घड़ेको फोड़ने वाला "कस्ये मृजाना" इस सप्तम ऋचाका जप करे।

सप्तमी ॥

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।

आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु

कस्ये । मृजानाः । अति । यन्ति । रिप्रम् । आयुः । दधानाः । प्रऽतरम् । नवीयः ।

आऽप्यायमानाः । प्रऽजया । धनेन । अध । स्याम । सुरभयः । गृहेषु ॥ १७ ॥

कसः कीकसः। ❀ कीशब्दलोपश्छान्दसः ❀ । कसम् अर्हतीति कस्यो दहनदेशः तस्मिन् मृजानाः बान्धवमृतिजनितं दुःखम् उपक्षिपन्तः । परित्यजन्त इत्यर्थः । रिप्रम् । पापनामैतत् । शवसंस्पर्शजनितं पापम् । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति हि निरुक्तम् [नि० ४, २१] ❀ । मरणनिमित्तं पापम् अति यन्ति अतीत्य गच्छन्ति । इति प्रथमः पादः परोक्षकृतः । यद्वा पुरुषव्यत्ययः । अतीमः । अतीत्य गच्छाम इत्यर्थः । ❀ इण् गतौ। अदादित्वात् शपो लुक्। "इणो यण्" इति यण् आदेशः❀ । यतो वयम् उक्तरीत्या दुःखम् अतिक्रान्तास्ततो हेतोः नवीयः अतिशयेन नवम् उत्कृष्टम् आयुः जीवितं प्रतरम् प्रकृष्टतरं दधानाः । दीर्घकालजीवनं धारयन्त इत्यर्थः । एवम् अनेन द्वितीयपादेन

चिरकालजीवनं प्रार्थितम् ॥ जीवत एव पुरुषस्य प्रजापश्वाद्यपेक्षेति तृतीयेन पादेन प्रतिपाद्यते। प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया धनेन कनक-रजतादिलक्षणं गवाश्वादिकं च धनम् तेन आप्यायमानाः वर्ध-माना भवेम ॥ अथ अथ अनन्तरं गृहेषु सुरभयः शोभनगन्धोपेताः श्लाघ्यगुणयुक्ताः स्याम भवेम ॥

हम श्मशानस्थानमें बान्धवके मरणसे उत्पन्न हुए दुःखको त्यागते हुए शवस्पर्शजनित पापसे मुक्त होते हुए जाते हैं। इस प्रकार हम दुःखरहित होगए हैं अत एव उत्कृष्ट आयु (दीर्घायु) को पाते हुए पुत्र पौत्र आदिक प्रजासे और सोना चाँदी गौ घोड़े आदि धनसे बढ़ते रहें और घरोंमें शोभन गन्धसे सम्पन्न रहें

पिण्डपितृयज्ञे "अङ्जते व्यङ्जते" इति ऋचा पिण्डेषु घृतेन अभिघारणं कुर्यात्। सैषा सूक्ते

पिण्डपितृयज्ञमें "अञ्जते व्यञ्जते" ऋचासे पिंडोंमें घृतका अभि-घारण करे।

अष्टमी ॥

अञ्जते व्य१ञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्य१ञ्जते सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥ १८ ॥

अङ्जते। वि। अङ्जते। सम्। अङ्जते। क्रतुम्। रिहन्ति। मधुना। अभि। अङ्जते।

सिन्धोः। उत्ऽश्वासे। पतयन्तम्। उक्षणम्। हिरण्यऽपावाः। पशुम्। आसु। गृह्णते ॥ १८ ॥

पितृत्वं प्राप्ताः कर्मिणो जना धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं प्राप्य तत्र यागहोमादिसुकृतजनितं फलं भुञ्जत इति स सोमः अनया स्तु-

यते । सोमयागं प्रवर्तयन्तः प्रथमम् ऋत्विजः अञ्जते यजमानम् अञ्जनेन संस्कुर्वन्ति । तथा च ऐतरेयकम् । "आञ्जन्त्येनम् । तेजो वा एतद् अक्ष्योर्यद् आञ्जनम् । सतेजसमेवैनं तत् कृत्वा दीक्षयन्ति" इति [ऐ० ब्रा० १. ३] । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणगतिषु । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ❀ । तस्याञ्जनस्य लौकिकाद् वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते व्यञ्जत इति । विविधम् अञ्जते । लौकिकाद् अञ्जनाद् अन्येन प्रकारेण यजमानस्याक्ष्णोरञ्जनं कुर्वन्तीत्यर्थः । तत्प्रकारश्च तैत्तिरीये समाम्नायते । "दक्षिणं पूर्वम् आङ्क्ते । सव्यं हि पूर्वं मनुष्या आञ्जते" [तै० सं० ६. १. १. ६] इत्यादिना । तथा समञ्जते सम्यग् अक्तं कुर्वन्ति । उक्तस्याञ्जनस्य सम्यक्त्वविशेषणप्रतिपादनाय पुनरनुवादः । तथा क्रतुं रिहन्ति । क्रतुः सोमयागसंकल्पः । तं लिहन्ति आस्वादयन्ति । ❀ लिह आस्वादने । कपिलकादित्वात् लत्वविकल्पः ❀ । सोमेन यक्ष्य इत्येवंप्रकारकं वचो यजमानम् उच्चारयन्तीत्यर्थः । मधुना माधुर्योपेतेन नवनीतेन अभ्यञ्जते अभ्यक्तशरीरं कुर्वन्ति । तथा च ऐतरेयकम् । "नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति । स्वेनैवैनं तद् भागधेयेन समर्धयन्ति" [ऐ०ब्रा० १. ३] इति ॥ यद्वा अञ्जनादिसंस्कारैः सोम एव स्तूयते । सोमयागे प्रवृत्ता ऋत्विग्यजमानाः सोमम् अञ्जने दीक्षणीयादिषु हूयमानेनाज्येन सोममेव अञ्जन्ति । संस्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ तथा व्यञ्जते दण्डकृष्णाजिनादिदीक्षाव्यञ्जनद्रव्येण यजमानद्वारा तमेव सोमं संस्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ तथा समञ्जते सोमयागोपयुक्तं यूपं सम्यग् आमूलाग्रम् अञ्जते । तेन च समञ्जनेन यूपद्वारा सोम एव संस्कृतो भवतीत्यर्थः ॥ क्रतुं रिहन्ति । यूपवान् यागः क्रतुः । अत्र तत्साधनभूतः सोमो लक्ष्यते । क्रतुम् सोमं लिहन्ति क्रयाभिषवादिसंस्कारपूर्वकं सोमम् अग्नौ हुत्वा हुतशेषं लिहन्ति । आस्वादयन्तीत्यर्थः । मधुना माधुर्योपेतेन क्षीरादिना श्रपणद्रव्येण तं

सोमम् अभ्यञ्जते अभितः अक्तं संयुक्तं संस्कृतं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ दिवि स्थितश्चन्द्र एव लतारूपसोमात्मना पृथिव्याम् अवस्थित इति प्रतिपादयति सिन्धोरुच्छ्वास इति । सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य समुद्रस्य उच्छ्वासे । उच्छ्वास उद्गमः अभिवृद्धिः । तस्मिन् समये पतयन्तम् गच्छन्तम् । उद्यन्तम् इत्यर्थः । ❀ पत गतौ । चुरादिरदन्तः । अतो लोपस्य स्थानिवत्त्वाद् उपधावृद्ध्यभावः ❀ । उक्षणम् सेक्तारम् अमृतमयैः किरणैरभिषिञ्चन्तम् । यद्वा सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य वसतीवरीजलस्य उच्छ्वासे उद्गमे सति अभिषवकाले पतयन्तम् गच्छन्तम् । अभिषवसंस्कारेण द्रवीभवन्तम् इति यावत् । उक्षणम् सेक्तारं सर्वजगदुत्पत्तेः आहुतिद्वारा बीजभूतम् इत्यर्थः । स्मर्यते हि ।

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते ।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

इति [म० ३. ७६] । तथा पशुम् । पश्यति सर्वं जगत् स्वकिरणैः प्रकाशयतीति पशुश्चन्द्रमाः । ❀ पशुः पश्यतेरिति यास्कः [नि० ३. १६] ❀ । एवंगुणविशिष्टं सोमं रसात्मना अवस्थितं हिरण्यपावाः हिरण्येन पावयन्तीति हिरण्यपावाः अभिषोतार ऋत्विजः । अभिषवपवनादिषु तेषां हिरण्यपाणित्वं भगवता आपस्तम्बेनोक्तम् । “हिरण्यपाणिरभिषुणोति गृह्णाति जुहोतीत्यत्यन्तप्रदेशः” इति [आ०प० १२. ७. १२] । आसु स्थालीषु । सोमयागे हि प्रधानभूतानाम् आग्रयणादीनां ग्रहाणां ग्रहणाय चतस्रः स्थाल्यो विहिताः । तासु गृभ्णते गृह्णते । उपलक्षणम् एतत् । स्थाल्युपलक्षितग्रहचमसपात्रेषु सोमरसग्रहणेन संस्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

[पितृत्वको प्राप्त हुए कर्मकाण्डी धूमादिमार्गसे चन्द्रलोकको प्राप्त होकर वहाँ याग होम आदिके पुण्यसे प्राप्त होने वाले फल को भोगते हैं उस सोमकी इस ऋचासे स्तुति की जाती है, कि-]

सोमयागका आरम्भ करते हुए ऋत्विज पहिले यजमानको अञ्जन से संस्कृत करते हैं [इसी बातको ऐतरेयब्राह्मण १ । ३ में कहा है, कि–"आञ्जन्ति एनं । तेजो वा एतद् अक्ष्योर्यद् आञ्जनम् । सतेजसमेवैनं तत् कृत्वा दीक्षयन्ति ।–इस यजमानको अञ्जित करते हैं, जो नेत्रोंका अञ्जन है यह तेज है अत एव इसको तेजः-सम्पन्न करके ही दीक्षित करते हैं" इस अञ्जनकी लौकिक अञ्जन से विशिष्टता प्रतिपादित करते हैं, कि–] लौकिक अञ्जन से अतिरिक्त अन्य प्रकारसे इस यजमानके नेत्रोंका अञ्जन करते हैं [इसकी रीति तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । १ । ६ में लिखी हुई है, कि–"दक्षिणं पूर्वं आङ्क्ते । सव्यं हि पूर्वं मनुष्या आञ्जते ।–पहिले दाहिने नेत्रको आँजे, मनुष्य तो पहिले बायें नेत्रको आँजा करते हैं" ।] वह ऋत्विज् यजमानके नेत्रोंको इस प्रकार भली भाँति आँजा करते हैं तथा सोमयागका आस्वादन करते हैं अर्थात् यजमानसे कहते हैं, कि–मैं सोमयागसे पूजन करूँगा और मधुरतायुक्त नवनीतसे शरीरका अभ्यञ्जन करते हैं [इसी बातको ऐतरेयब्राह्मण १ । ३ में कहा है, कि–"नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति । स्वेनैवैनं तद् भागधेयेन समर्धयन्ति" । अब यह प्रतिपादन करते हैं, कि–द्युलोकमें स्थित चन्द्रमा ही लतासोम आदि रूपमें पृथ्वीमें स्थित है] सिंधुके बढ़ावके समय उदय होते हुए, अमृतमय किरणोंसे सेचन करने वाले, सब जगत्को अपनी किरणोंसे देखने वाले–प्रकाशित करने वाले पशु चन्द्रमाको रसात्मा सोमरूपसे अवस्थित होने पर, सुवर्णसे पवित्र करने वाले सुवर्णपाणि ऋत्विज ‡ सोमयागकी प्रधानभूत आग्रयणादि चार स्थालियोंमें संस्कृत करते हैं ॥ १८ ॥

‡ आपस्तम्बश्रौतसूत्र १२ । ७ । १२ में कहा है, कि–"हिरण्यपाणिरभिषुणोति गृह्णाति जुहोतीत्यत्यन्तप्रदेशः" ॥

एवं पितृदेवताभूतसोमाञ्जनलिङ्गात् पिण्डाभिघारणे विनियोग उपपन्नः ॥

इस प्रकार पितृदेवताभूत सोमाञ्जनके लिंगसे पिण्डाभिघारण में इसका विनियोग ठीक ही है।

नवमी ॥

यद् वो मुदं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ १९ ॥

यत् । वः । मुद्रम् । पितरः । सोम्यम् । च । तेनो इति । सचध्वम् । स्वऽयशसः । हि । भूत ।
ते । अर्वाणः । कवयः । आ । शृणोत । सुऽविदत्राः । विदथे । हूयमानाः ॥ १९ ॥

हे पितरः वः युष्माकं संबन्धि मुद्रम् मोदकं हर्षजनकम्। ❀ मुद हर्षे इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् ❀। यद्वा मुदम् हर्षं राति ददातीति मुद्रम्। ❀ "आतोनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः ❀। मौनिकरं यद्व धनम् सोम्यम् सोमार्हं च विद्यते तेनो तेनैव धनेन सह यूयं सचध्वम् अस्माभिः संगता भवत। ❀ षच समवाये ❀। तादृग् धनम् अस्मभ्यं प्रयच्छतेत्यर्थः ॥ तत्र हेतुरुच्यते। हि यस्माद् यूयं स्वयशसः स्वायत्तयशस्का भूत भवथ। तस्माद् इष्टफलदानं भवतां युक्तम् इत्यर्थः ॥ ते यूयम् अर्वाणो गन्तारः कवयः क्रान्तदर्शनाः सुविदत्राः शोभन-

ह्वानाः शोभनधना वा विदथे यज्ञे हूयमानाः अस्माभिराहूयमाना आ शृणोत अस्मदाह्वानं शृणुत । ❀ श्रु श्रवणे । लोटि तस्य तबादेशः ❀ ॥

हे पितरो ! आपका जो हर्षजनक सोमादि धन है उस धनके साथ आप हमसे संयुक्त हूजिये क्योंकि—आप स्वाधीनयशा हैं अतः आपको इष्टफल प्रदान करना उचित ही है । ऐसे चतुर और शोभन धनसे सम्पन्न आप हमारे यज्ञमें आहूत होने पर हमारे आह्वानको सुनिये ॥ १६ ॥

दशमी ॥

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥

ये । अत्रयः । अङ्गिरसः । नवऽग्वाः । इष्टऽवन्तः । रातिऽसाचः । दधानाः ।
दक्षिणाऽवन्तः । सुऽकृतः । ये । ऊं इति । स्थ । आऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् ॥ २० ॥

ये पितरो यूयम् अत्रयः अत्रिगोत्रोत्पन्नाः । ये वा अङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रजाः । यद्वा अत्रिमहर्षिरूपेण अङ्गिरोरूपेणावस्थिताः । नवग्वाः अभिनवगमनाः । अथ वा अङ्गिरसो हि केचन सत्रयागं कुर्वाणा नवभिर्मासैः स्वर्गं गतास्ते नवग्वा उच्यन्ते । अपरे दशभिर्मासैर्गतास्ते दशग्वाः तथा चाम्नायते । "नवग्वासः सुत-सोमास इन्द्रं दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः" इति [ऋ० ५. २६.

१२]। इष्टावन्तः इष्टाः दर्शपूर्णमासादियागास्तद्वन्तः इष्टावन्तः। रातिषाचः रातिर्दानम् तत् सचन्ते समवयन्तीति दक्षिणादानयुक्तक्रिया रातिषाच इत्युच्यन्ते। ता दधानाः धारयन्तः। ये च अन्ये हे पितरो यूयं दक्षिणावन्तः दक्षिणादानयुक्ताः सुकृतः पुण्यकृतः स्थ भवथ। चशब्दः अप्यर्थे। अस्मिन् बर्हिषि यज्ञे आस्तीर्णे दर्भे वा आसद्य उपविश्य ते सर्वे यूयं मादयध्वम् अस्मदीयेन हविषा तृप्ता भवत॥

इति अष्टादशकाण्डे तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

हे पितरों ! जो तुम अत्रिगोत्रके हो, अंगिरागोत्रके हो, नौ मास तक सत्रयाग करके स्वर्गको प्राप्त हुए नवग्वा हो, दर्श पूर्णमास आदि यागोंसे पूजन कर चुके हो तो तुम सब दक्षिणा प्रदान करने वाले पुण्यात्मा हो अत एव तुम बिछे हुए कुशासन पर बैठ कर हमारी दी हुई हविसे तृप्त होओ॥ २०॥ (१५)

अष्टादश काण्ड के तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त॥

"अधा यथा नः" इति आदितश्चतसृणाम् ऋचां प्रेतोपस्थाने विनियोग उक्तः॥

"अधा यथा नः" आदिकी चार ऋचाओंका प्रेतोपस्थानमें विनियोग है।

तत्र प्रथमा॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः।

शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ २१॥

अध। यथा। नः। पितरः। परासः। प्रत्नासः। अग्ने। ऋतम्। आऽशशानाः।

शुचि । इत् । अयन् । दीध्यतः उक्थऽशासः । क्षाम । भिन्दन्तः ।

अरुणीः । अप । व्रन् ॥ २१ ॥

अध अथ अनन्तरम् । यद्वा अप्यर्थः अधेति निपातः । अपि च यथा येन प्रकारेण नः अस्माकं पितरः पितृपितामहाः । यद्वा अस्माकं पितृभूता अङ्गिरसः परासः । परशब्दः उत्कृष्टवाची । ❁ "आज्जसेरसुक्" ❁ । परा उत्कृष्टाः प्रत्नासः पुराणाः हे अग्ने त्वत्प्रसादात् ऋतम् यज्ञम् आशशानाः व्याप्नुवन्तः । ❁ अशू व्याप्तौ इत्यस्मात् कानचि रूपम् ❁ । एवंभूतास्ते शुचि दीप्तं स्थानं नाकपृष्ठाख्यम् अयन् अगच्छन् । इच्छब्दः अवधारणे । ❁ इण् गतौ । अस्मात् लङि पूर्वम् "इणो यण्" इति यणि कृते तस्य असिद्धवद्भावेन प्राप्तस्य आटश्छान्दसत्वाद् निवृत्तौ अडा-गम एव भवति ❁ । दीध्यतः दीप्यमानाः । ❁ दीधीङ् दीप्ति-देवनयोः इत्यस्मात् लट् । व्यत्ययेन शपादेशः ❁ । उक्थशासः । उक्थानि शस्त्राणि । तेषां शंसितारः एवंगुणविशिष्टास्ते पितरः क्षमा रात्रिः तत्संबन्धि तमः क्षाम शार्वरं तमो भिन्दन्तः स्वतेजसा निवर्तयन्तः अरुणीः अरुणवर्णा उषसः उषःकालान् अप व्रन् अपावृण्वन् प्राकाशयन् ॥ यद्वा पणिनामानोऽसुरा अङ्गिरसां यज्ञसाधनभूता गा अपहृत्य भूम्यां बिले प्रावेशयन् अङ्गिरसस्त-ज्जानन्तः इन्द्रसहाया बिलं विहृत्य ता गा अलभन्तेत्याख्यायिका । तद् एतद् उच्यते । क्षाम क्षमां भूमिं भिन्दन्तः विदारयन्तः अरुणीः अरुणवर्णा गा अप व्रन् अपावृण्वन् बिलद्वारापवरणेन अलभन्तेत्यर्थः ॥

और हे अग्निदेव ! जिस प्रकार हमारे प्राचीन श्रेष्ठ पितर [पितामह या अंगिरस] आपके प्रसादसे यज्ञको करते हुए दमकते हुए स्वर्ग नामक स्थानको प्राप्त हुए हैं और उक्थोंका

गान करने वाले वे पितर रात्रिके अंधकारको अपने तेजसे दूर करते हुए अरुण वर्ण वाली उषाओंको प्रकाशित करते हैं [तिसी प्रकार हम भी इस पितृमेधके प्रभावसे शरीरान्तमें स्वर्गको प्राप्त होवें] ॥ २१ ॥

द्वितीया ॥

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥

सुऽकर्माणः । सुऽरुचः । देवऽयन्तः । अयः । न । देवाः । जनिम । धमन्तः ।
शुचन्तः । अग्निम् । वव‍ृधन्तः । इन्द्रम् । उर्वीम् । गव्याम् । परिऽसदम् । नः । अक्रन् ॥ २२ ॥

सुकर्माणः शोभनकर्माणः सुरुचः सुदीप्तयो देवयन्तः देवान् आत्मन इच्छन्तः अयो न। नेति उपमार्थे। यथा अयस्कारा अयो धमन्ति धमनेन परिशुद्धं कुर्वन्ति एवं स्वकीयं जनिम जन्म धमन्तस्तपसा शोधयन्तो देवाः देवत्वं प्राप्ताः अग्निम् गार्हपत्यादिकं शुचन्तः दीपयन्तः सामिधेनीभिः प्रज्वालयन्तः इन्द्रं वव‍ृधन्तः स्तुतिभिर्वर्धयन्तः उर्वीम् महतीं गव्याम् गवां समूहम् । ❀ "खलगोरथात्" इति समूहार्थे यप्रत्ययः ❀ । नः अस्माकं परिषदम् परितः सीदन्तीम् अक्रन् अकार्षुः । ❀ डुकृञ् करणे । "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् ❀ ॥

शोभन कर्म वाले, सुन्दर दीप्ति वाले, देवताओंकी कामना करते हुए और लुहार जैसे लोहेको धौंक कर शुद्ध कर लेते हैं इसी प्रकार तपके द्वारा अपने जन्मको शुद्ध करने वाले अत एव देवत्वको प्राप्त हुए, सामिधेनी ऋचाओंसे गार्हपत्य अग्निको प्रज्वलित करते हुए, स्तुतियोंसे इन्द्रको बढ़ावा देते हुए ये पितर हमारे यहाँ गौओंके समूहको चारों ओर बैठने वाला करें ॥२२॥

तृतीया ॥

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः २३

आ । यूथाऽइव । क्षुऽमति । पश्वः । अख्यत् देवानाम् । जनिम ।
अन्ति । उग्रः ।
मर्तासः । चित् । उर्वशीः । अकृप्रन् । वृधे । चित् । अर्यः । उपरस्य ।
आयोः ॥ २३ ॥

उग्रः उद्गूर्णबलोयमग्निः देवानाम् यष्टव्यानाम् इन्द्रादीनां जनिम जन्म प्रादुर्भावम् अन्ति अन्तिके समीपे। ❀ "कादिलोपो बहुलम् इति वक्तव्यम्" इति अन्तिकशब्दस्य कादिलोपः ❀। आ अख्यत् अभिपश्यति। आभिमुख्येन ज्ञातुं शक्नोतीत्यर्थः। यूथेव क्षुमति पश्व इति तत्र दृष्टान्तः। यूथा इव । ❀ सप्तम्याः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। यूथे समूहे क्षुमति शब्दवति गवां संघे पश्वः पशून् आत्मीयान् गवादीन् यथा स्वामी पश्यति तद्वत्। अयं देव-संघे यष्टव्यान् जानातीत्यर्थः॥ यद्वा दाहकोग्निः संबोध्यः। हे अग्ने त्वया दह्यमानोऽयं यजमानस्त्वत्प्रसादात् उग्रः उद्गूर्णबलः क्षुमति शब्दवति पशुसंघे पश्वः पशूनां यूथा यूथानीव देवानां

जनिम आख्यत् अभिपश्यतीति । देवलोकं गतस्य तस्य देवा अन्तिके प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥ मर्तासश्चित् मर्त्या अपि मनुष्यजातीया अपि त्वत्प्रसादाद् उर्वशीः उर्वश्याद्या अप्सरसः अकृपन् अकल्पयन् । उपभोक्तुं समर्था भवन्तीत्यर्थः । ❀ कृपू सामर्थ्ये इत्यस्मात् लुङि च्लेः अङ् आदेशः । "बहुलं छन्दसि" इति रुडागमः ❀। ततश्च त्वत्प्रसादाद् देवत्वं प्राप्तः अर्यः स्वामी भूत्वा अपरस्य उप्तस्य गर्भाशये निषिक्तस्य आयाः मनुष्यस्य गर्भावस्थस्य वृधे चित् वर्धनाय च । भवतीति शेषः । पितृप्रसादात् पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धिरिति भावः ॥

हे अग्ने ! आपसे भस्म किया जाता हुआ यह यजमान आप के प्रसादसे प्रचण्डबलसम्पन्न होकर, शब्द करते हुए पशुओंके झुण्डकी समान देवताओंके प्रादुर्भावको देखे अर्थात् आपके प्रसाद से देवलोकको प्राप्त हुए इसके समीपमें देवता प्रादुर्भूत होवें । मनुष्य मरणधर्मी होने पर भी आपके प्रभावसे उर्वशी आदि अप्सराओं को भोगनेमें समर्थ होते हैं । फिर आपके प्रभावसे देवत्वको प्राप्त हुआ यह स्वामी होकर गर्भाशयमें बंधे हुए मनुष्यकी-गर्भावस्थ मनुष्यकी वृद्धिके लिये भी समर्थ होता है अर्थात् पितरोंके प्रसाद से पुत्र पौत्र आदिकी वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

चतुर्थी ॥

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः । विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

अकर्म । ते । सुऽअपसः । अभूम । ऋतम् । अवस्रन् । उषसः । विऽभातीः ।

विश्वम् । तत् । भुद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः । बृहत् । वदेम ।
विदथे । सुऽवीराः ॥ २४ ॥

हे अवस्वन् अवनवन् पालक अग्ने ते तुभ्यम् अकर्म परिचरणम् अकार्ष्म । ❀ "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् ❀ । अतस्त्वत्प्रसादात् स्वपसः शोभनकर्माणः अभूम अस्माभिः कृतानि यागहोमदानादीनि कर्माणि शोभनानि फलयुक्तानि येषां तथोक्ता अभवाम । अस्मत्कर्माणि फलयुक्तानि भवन्त्वित्यर्थः ॥ तथा विभातीः विभात्यः व्युच्छन्त्य उषसश्च ऋतम् । सत्यनामैतत् । सत्यं यागदानादिकर्मफलम् । कुर्वन्तु इति शेषः ॥ यत् शास्त्रविहितं कर्म देवा अवन्ति रक्षन्ति तद्ध विश्वम् सर्वं भद्रम् कल्याणं भवति । वयमपि सुवीराः शोभनपुत्रादियुक्ताः सन्तो विदथे यज्ञे बृहत् महत् स्तोत्रं वदेम ब्रूयाम ॥

हे पालक अग्निदेव ! हमने आपकी सेवा की है अत एव आपके प्रभावसे हम शोभन कर्म वाले होवें अर्थात् हमारे कर्म हमको शुभ फल देवें और उषःकाल भी हमारे याग दान आदि कर्मके फलोंको सत्य करें । देवता जिस शास्त्रविहित कर्मकी रक्षा करते हैं वह सब कर्म कल्याण करने वाला होता है अत एव हम भी शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न रहते हुए यज्ञमें विशाल स्तोत्रको कहें ॥ २४ ॥

"इन्द्रो मा मरुत्वान्" इत्यादिभिः एकादशभिर्ऋग्भिः श्मशानचयनकर्मणि आज्यं जुहुयात् ॥

तथा "इन्द्रो मा मरुत्वान्" इत्यादिपञ्चभिर्ऋग्भिः प्रेतशरीरे अग्निदानानन्तरम् आज्येन सारस्वतहोमान् कुर्यात् ॥

"इन्द्रो मा मरुत्वान्" इत्यादि ग्यारह ऋचाओंसे श्मशानचयनकर्ममें घृतकी आहुति देवे ।

तथा "इन्द्रो मा मरुत्वान्" आदि पाँच ऋचाओंसे प्रेतके शरीरमें अग्नि देनेके अनन्तर घृतसे सारस्वत–होमोंको करे।

पञ्चमी ॥

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्यां दिशः पातु बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥

इन्द्रः। मा। मरुत्वान्। प्राच्याः। दिशः। पातु। बाहुऽच्युता। पृथिवी। द्याम्ऽइव। उपरि।
लोकऽकृतः। पथिऽकृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुतऽभागाः। इह। स्थ ॥ २५ ॥

मरुत्वान् मरुद्भिः एकोनपञ्चाशत्संख्याकैर्देवैः सहितः इन्द्रो मा मां संस्कर्तारं प्राच्या दिशः प्राचीदिक्संबन्धिभयहेतोः पातु रक्षतु। तत्र दृष्टान्तः। बाहुच्युता बाहुभ्यो दातृसंबन्धिभ्यश्च्युता विनिर्गता। यद्वा बाहुषु प्रतिग्रहीतृसंबन्धिषु च्युता प्राप्ता। उदकपूर्वं दत्तेत्यर्थः। तादृशी दानसंस्कृता पृथिवी द्यामिव यथा द्याम् दिवं स्वर्गं भूतलमपेक्ष्य उपरि आगामिनि काले दातृप्रतिग्रहीतृभ्याम् उपभोग्यं लोकं पाति तद्वत्। मां पात्विति संबन्धः।

भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ।

इति ॥ अपि च लोककृतः लोकस्य पुण्यफलभूतस्य स्वर्गादेः कर्तॄन् पथिकृतः तत्प्राप्त्युपायभूतस्य मार्गस्य कर्तॄन् यजामहे

हविषा पूजयामः। हे देवाः ये यूयं देवानाम् इन्द्रादीनां मध्ये हुत-भागाः हुतः स्वाहाकारवषट्काराभ्याम् अग्नौ मक्षिप्तो हविर्भागः अंशो येषां ते हुतभागा इह अस्मिन् पितृमेधकर्मणि स्थ भवथ। तान् देवान् लोककृत इति पूर्वेण संबन्धः॥

उच्छ्वास मरुत्–गणों सहित इन्द्रदेव मुझ संस्कर्ता पुरुषको पूर्वदिशासे प्राप्त होने वाले भयोंसे बचावें। और दाताके हाथ दी हुई पृथ्वी जैसे भूदानसे प्राप्त होने वाले दाता प्रतिगृहीताके उपभोग्य स्वर्गकी रक्षा करती है तिस प्रकार तेरी रक्षा करे †। हम पुण्यके फलफूल स्वर्गप्राप्तिके मार्गोंके प्रवर्तकोंकी हविसे पूजा करते हैं; हे देवताओ! तुम इस पितृमेधकर्ममें हुतभाग होओ २५

षष्ठी ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥

धाता। मा। निःऽऋत्याः। दक्षिणायाः। दिशः। पातु। बाहुऽच्युता। पृथिवी। द्याम्ऽइव। उपरि।

लोकऽकृतः। पथिऽकृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुतऽभागाः। इह। स्थ॥ २६॥

† "भूमिं यः प्रतिगृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति।
उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ॥

अर्थात् जो भूमिका दान लेता है और जो भूमिका दान देता है ये दोनों पुण्यात्मा स्वर्गको अवश्य पाते हैं"

धाता सर्वस्य जगतो विधाता धारयिता वा एतत्संज्ञो देवः निर्ऋत्याः। निर्ऋतिः आर्तिकारी पापदेवता। तद्युक्ताया दक्षिणाया दिशो मा मां पातु दक्षिणदिगवस्थिताद् रक्षःपिशाचादेर्मां संस्कर्तारम् रक्षतु ॥ बाहुच्युतेत्यादेः पूर्ववद् योजना ॥

धाता देवता मुझको पीड़ा देने वाली पापदेवता निर्ऋतिसे सम्पन्न दक्षिण दिशासे प्राप्त होने वाले भयोंसे बचावें। और दाताके हाथमें दी हुई पृथ्वी जैसे भूदानसे प्राप्त होने वाले दाता प्रतिगृहीताके उपभोग्य स्वर्गकी रक्षा करती है तिस प्रकार मेरी रक्षा करे। जिन देवताओंके लिये भाग होमा जा चुका है उन स्वर्गको प्राप्त कराने वाले मार्गके प्रवर्तक और स्वर्ग आदि लोक देने वाले देवताओंकी हम पूजा करते हैं ॥ २६ ॥

सप्तमी ॥

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्यां दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥

अदितिः। मा। आदित्यैः। प्रतीच्याः। दिशः। पातु। बाहुऽच्युता। पृथिवी। द्याम्ऽइव। उपरि।
लोकऽकृतः। पथिऽकृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुतऽभागाः। इह। स्थ ॥ २७ ॥

अदितिः अदीना देवमाता। सा आदित्यैः स्वपुत्रैः सह प्रतीच्या दिशः सकाशात् मा मां पातु प्रत्यग्दिगवस्थितरक्षःपिशाचादेर्मां रक्षत्वित्यर्थः ॥ अन्यद् उक्तार्थम् ॥

अपने पुत्रों सहित देवमाता अदिति मुझको पश्चिममें स्थित

राक्षसादि भयसे बचावे। और दाताके हाथमें दी हुई पृथ्वी जैसे भूदानसे प्राप्त होने वाले दाता प्रतिगृहीताके उपभोग्य स्वर्ग की रक्षा करती है तिस प्रकार तेरी रक्षा करे। जिन देवताओं के लिये भाग होमा जा चुका है उन स्वर्गको प्राप्त कराने वाले मार्गके प्रवर्तक और स्वर्ग आदि लोक देने वाले देवताओंकी हम पूजा करते हैं ॥ २७ ॥

अष्टमी ॥

सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

सोमः। मा। विश्वैः। देवैः। उदीच्याः। दिशः। पातु। बाहुऽच्युता। पृथिवी। द्याम्ऽइव। उपरि।
लोकऽकृतः। पथिऽकृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुतऽभागाः। इह। स्थ ॥ २८ ॥

विश्वैः सर्वैः देवैः सह सोमः एतन्नामको देवः मा माम् उदीच्या दिशः पातु उत्तरदिगवस्थिताद् राक्षसादेः श्मशानवासिनः सकाशाद् रक्षतु ॥

सब देवताओंसहित सोम देवता मुझको उत्तरदिशामें स्थित श्मशान वासी राक्षसोंके भयसे बचावें। और दाताके हाथमें दी हुई पृथ्वी जैसे भूदानसे प्राप्त होने वाले दाता प्रतिगृहीताके उपभोग्य स्वर्गकी रक्षा करती है तिस प्रकार तेरी रक्षा करे। जिन देवताओंके लिये भाग होमा जा चुका है उन स्वर्गको प्राप्त कराने वाले मार्गके प्रवर्तक और स्वर्ग आदि लोक देने वाले देवताओं की हम पूजा करते हैं ॥ २८ ॥

नवमी ॥

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥

धर्ता । ह । त्वा । धरुणः । धारयातै । ऊर्ध्वम् । भानुम् । सविता । द्याम्ऽइव । उपरि ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ २९ ॥

धरुणः सर्वस्य जगतो धारयिता धर्ता एतत्संज्ञक ऊर्ध्वदिगभिमानी देवः हे प्रेत त्वा त्वाम् ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वदिगवस्थितं लोकान्तरं गन्तुम् उद्यतम् ऊर्ध्वमुखं वा धारयातै धारयतु । ❀ "लेटोडाटौ" इति आडागमः । "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । सविता सर्वप्रेरकः सूर्यः भानुम् दीप्तां द्याम् द्युलोकं यथा उपरि धारयति तद्वद् इत्यर्थः ॥ लोककृतः इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

हे प्रेत ! सब जगत्के धारक ऊर्ध्वदिशाके अभिमानी धरुण नामक देव तुझ ऊर्ध्वदिशामें स्थित लोकान्तरमें जानेके लिये उद्यत पुरुषको धारण करें जैसे सर्वप्रेरक सूर्यदेव दमकते हुए द्युलोकको ऊपर धारण किये रहते हैं, इस प्रकार तुझको धारण करें। और दाताके हाथमें दी हुई पृथ्वी जैसे भूदानसे प्राप्त होने वाले दाता प्रतिगृहीताके उपभोग्य स्वर्गकी रक्षा करती है तिस प्रकार तेरी रक्षा करे। जिन देवताओंको लिये भाग होमा जा चुका

है उन स्वर्गको प्राप्त कराने वाले मार्गके प्रवर्तक और स्वर्ग आदि लोक देने वाले देवताओंकी हम पूजा करते हैं ॥ २९ ॥

दशमी ॥

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥

प्राच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ ३० ॥

प्राच्यां दहनदेशात् पूर्वस्यां दिशि पुरा पूर्वं संवृतः संछादितः कम्बलेन आवेष्टितोऽयम् यद्वा पुः शरीरम् तेन संवृतः सशरीर एव सन् हे प्रेत त्वा त्वां स्वधायाम् पितॄणां तृप्तिकरी देवता स्वधा तस्याम् आ दधामि स्थापयामि । संस्कारकर्मणा प्रेतत्वमच्युतिपूर्वकं पितृदेवतात्वं गमयामीत्यर्थः । बाहुच्युता दातृबाहुभिः प्रच्युता ब्राह्मणेभ्यो दत्ता पृथिवी उपरि उपरिष्टाद्देशस्थिता द्याम् दिवं नाकपृष्ठाख्यं स्थानं यथा पालयति । यद्वा उपरि आगामिनि काले भूदानप्राप्यां दिवं यथा दत्ता पृथिवी पालयति तथा त्वां सैव पृथिवी पालयत्वित्यर्थः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

दहनस्थानसे पूर्वदिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित

करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्वको प्राप्त कराता हूँ। जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथ्वी भविष्यमें दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथ्वी तेरी रक्षा करे। हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओंका हम पूजन करते हैं ॥ ३० ॥ (१५)

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त ॥

"दक्षिणायां त्वा दिशि" इत्यादितः पञ्चानाम् आज्यहोमे अभिमन्त्रणे च विनियोग उक्तः ॥

"दक्षिणायां त्वा दिशि" आदि पाँच ऋचाओंका घृतहोममें और अभिमन्त्रणमें विनियोग है।

तत्र प्रथमा ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥

दक्षिणायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि । लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ २१ ॥

हे प्रेत त्वा त्वां दक्षिणायां दिशि दक्षिणदिग्भागे पुरा पूर्वमेव संवृतः आत्मरक्षार्थं कम्बलादिना प्रावृतः स्वधायाम् पितृदेवतायाम् आ दधामि स्थापयामि। स्वधाकारभाजं करोमीत्यर्थः ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

दहनस्थानसे दक्षिण दिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्व को प्राप्त कराता हूँ । जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथ्वी भविष्यमें दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथ्वी तेरी रक्षा करे । हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओं का हम पूजन करते हैं ॥ ३१ ॥

द्वितीया ॥

प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥

प्रतीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि । लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ ३२ ॥

दहनदेशात् पश्चिमायां दिशि पुरा संवृत इत्यादि पूर्ववत् ॥

दहनस्थानसे पश्चिम दिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्वको प्राप्त कराता हूँ । जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथ्वी भविष्य में दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथ्वी

तेरी रक्षा करे। हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओंका हम पूजन करते हैं ॥ ३२ ॥

तृतीया ॥

उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥

उदीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि । लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ ३३ ॥

उदीच्याम् उत्तरस्यां दिशि ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

दहनस्थानसे उत्तर दिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्वको प्राप्त कराता हूँ। जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथ्वी भविष्यमें दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथिवी तेरी रक्षा करे। हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओंका हम पूजन करते हैं ॥ ३३ ॥

चतुर्थी ॥

ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि

बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतों यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥

ध्रुवायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि । लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ ३४ ॥

ध्रुवा स्थिरा अपरा दिक् । तस्यां दिशि ॥ गतम् अन्यत् ॥

दहनस्थानसे ध्रुवा दिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्वको प्राप्त करता हूँ । जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथिवी भविष्य में दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथिवी तेरी रक्षा करे । हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओंका हम पूजन करते हैं ॥ ३४ ॥

पञ्चमी ॥

ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युतां पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतों यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्ऽवृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहुऽच्युता । पृथिवी । द्याम्ऽइव । उपरि । लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वायाम् उपरितन्यां दिशि हे प्रेत त्वा त्वां स्वधायाम् स्वधाकारे आ दधामि स्थापयामि पुरा पूर्वमेव संवृतः आवृतोऽहम् ॥ बाहुच्युता पुण्यकृतां बाहुभिर्दत्ता पृथिवी च त्वां पातु । उपर्यवस्थितां द्यामिव दानफलभूतं स्वर्गं यथा सा पालयति तद्वत् ॥ लोककृतः स्वर्गादिलोकस्य कर्तॄन् यजामहे हविर्भिः पूजयामः । देवानाम् हविर्भुजां मध्ये हे देवाः ये यूयम् इह अस्मिन् लोके हुतभागाः स्थ भवथ ॥

दहनस्थानसे ऊर्ध्वा दिशाकी ओर कम्बल आदिसे ढका हुआ मैं हे प्रेत ! तुझको पितरोंको तृप्त करने वाली स्वधामें स्थापित करता हूँ अर्थात् संस्कारकर्मसे प्रेतत्वको दूर कर पितृदेवत्वको प्राप्त करता हूँ । जैसे संकल्पपूर्वक हाथसे दी हुई पृथिवी भविष्यमें दाता प्रतिगृहीताके स्वर्गका पालन करती है इसी प्रकार पृथिवी तेरी रक्षा करे । हे देवताओं ! जिनके लिये भाग होमा जाचुका है ऐसे जो तुम यहाँ हो उन मार्गकर्ता लोककर्ता देवताओं का हम पूजन करते हैं ॥ ३५ ॥

षट्सप्तमौ द्वौ यजुर्मन्त्रौ ॥

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥

धर्ता । असि । धरुणः । असि । वंसगः । असि ॥ ३६ ॥

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

उदऽपूः । असि । मधुऽपूः । असि । वातऽपूः । असि ॥ ३७ ॥

हे अग्ने त्वं धर्तासि सर्वेषां धारयितासि । धरुणः । धार्यत इति धरुणः । ❀ धारेर्णिलुक् च [उ० ३. ५८] इति उनन् प्रत्ययः ❀ । गार्हपत्यादिरूपेण सर्वैर्धार्यमाणोसि । वंसगः वननीयगतिर्वृषभः असि भवसि । तथा "चत्वारि शृङ्गा" इत्यस्याम् ऋचि [ऋ० ४. ५८. ३] वृषभरूपकल्पनाग्नेः समाम्नाता । अत एव "तिग्मशृङ्गो न वंसगः" इति अन्यत्रापि [ऋ० ६. १६. ३९] आम्नातम् ॥ तथा हे अग्ने त्वम् उदपूः उदकस्य पूरयितासि । तथा मधुपूः मधुनो माक्षिकस्य पूरयिता असि भवसि । तथा वातपूः वातस्य प्राणात्मकस्य वायोः पूरयिता असि भवसि । एवंगुणविशिष्टस्त्वम् इमं यजमानं पालयेत्यर्थः ॥

हे अग्निदेव ! आप धरुण हैं अर्थात् गार्हपत्य आदिरूपमें आपको सब धारण करते हैं और आप सबको धारण करने वाले हैं । तथा वननीयगति हैं । और सुवर्णके पूरक हैं और प्राणात्मक वायुके भी पूरक हैं तात्पर्य यह है, कि–ऐसे आप इस यजमानका पालन करिये ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सोमयागे हविर्धानाख्यशकटे प्रवर्त्यमाने "इतश्च मा" इति द्वाभ्याम् अभिमन्त्रयेत । तथा च वैतानं सूत्रम् । "हविर्धाने प्रवर्त्यमाने इतश्च मेति द्वाभ्याम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० ३. ५] ॥

सोमयागके हविर्धान नामक शकटके प्रवृत्त होने पर "इतश्च मा" इन दो ऋचाओंसे अभिमन्त्रण करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"हविर्धाने प्रवर्त्यमाने इतश्चमेति द्वाभ्याम् अनुमन्त्रयते" (वैतानसूत्र ३ । ५) ॥

अष्टमी ॥

इतश्च॑ मामुत॑श्चावतां य॒मे इ॑व॒ यत॑माने॒ यदै॒तम् ।

प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ ३८ ॥

इतः । च । मा । अमुतः । च । अवताम् । यमे इवेति यमेऽइव । यतमाने इति । यत् । ऐतम् ।

प्र । वाम् । भरन् । मानुषाः । देवऽयन्तः । आ । सीदताम् । स्वम् । ऊं इति । लोकम् । विदाने इति ॥ ३८ ॥

इतश्च इतः अस्माद् भूलोकाद् अमुतश्च अमुष्मात् स्वर्गलोकात् लोकद्वयावस्थिताद् भयहेतोः मा मां यजमानम् अवताम् हविर्धाने रक्षताम् । इति परोक्षकृतो निर्देशः ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे हविर्धाने यमे इव यमले युगपद् उत्पन्ने अपत्ये इव यतमाने समानव्यापारियमाणे जगतः पोषणाय प्रयत्नं कुर्वाणे यत् यस्मात् कारणाद् युवाम् ऐतम् गच्छथः ॥ वाम् युवाभ्यां देवयन्तः देवान् आत्मन इच्छन्तो मानुषाः मनुष्या ऋत्विग्यजमानाः प्र भरन् हवींषि समभरन् । तदानीं युवां स्वम् स्वकीयं लोकम् स्थानं विदाने जानन्ती आ सीदतम् उपविशतम् । उ इति पदपूरणः ॥

जिनमें हविको स्थापित किया जाता है वे हविर्धाना द्यावापृथिवी इस भूलोक और उस स्वर्गलोकमें होने वाले भयसे मेरी रक्षा करें। हे हविर्धाने! तुम यमल उत्पन्न हुए सन्तानोंकी समान एकसा प्रयत्न करके जगत्का पोषण करते हुए चले आरहे हो, अपने पर देवताओंका अनुग्रह चाहने वाले पुरुष जब तुम्हारे लिये हवि अर्पण करें, उस समय तुम अपने स्थानको जान कर उस पर बैठो ॥ ३८ ॥

नवमी ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥ ३९ ॥

स्वासस्थे इति सुऽआसस्थे । भवतम् । इन्दवे । नः । युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमःऽभिः ।

वि । श्लोकः । एति । पथ्याऽइव । सूरिः । शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतासः । एतत् ॥ ३९ ॥

हे हविर्धाने नः अस्माकम् इन्दवे सोमाय स्वासस्थे सुखासनस्थे सुस्थिरे भवतम् । अहं च वाम् युवयोः पूर्व्यम् पूर्वकाले भवं चिरंतनं ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं नमोभिः नमस्कारैः सहितं युजे युनज्मि । यद्वा नमोभिः नमस्कारप्रतिपादकैर्मन्त्रैरित्यर्थः । श्लोकः श्लोकनीयस्तुतिसंघः व्येति विशेषेण युवां गच्छति । तत्र दृष्टान्तः । पथ्या सूरिरिव । पथोनपेतं पथ्यम् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । पथोनपेतेन धर्मेण सूरिः विद्वान् अभिमतं फलं प्राप्नोति तद्वद् इत्यर्थः ॥ एतत् अस्माभिः कृतं स्तोत्रम् अमृतासः अमृता मरणरहिता विश्वे सर्वे देवाः शृण्वन्तु आकर्णयन्तु । ❀ श्रु श्रवणे "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः शृभावश्च ❀ ॥

"त्रीणि पदानि" इत्यनया दह्यमानं प्रेतशरीरं बान्धवा उपतिष्ठेरन् ॥

हे हविर्धाने ! तुम हमारे सोमके लिये सुस्थिर हो जाओ । जैसे धर्ममार्ग पर चलने वाला विद्वान् अभिमत फलको पाता है इसी प्रकार मैं भी तुम दोनोंके प्राचीन स्तोत्रोंका नमस्कारके साथ प्रयोग करता हूँ, स्तुतियें आपको विशेषरूपसे प्राप्त होती हैं। इस हमारे स्तोत्रको अमरणधर्मा सब देवता सुनें ॥ ३९ ॥

दशमी ॥

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति

त्रीणि। पदानि। रुपः। अनु। अरोहत्। चतुःऽपदीम्। अनु।
एतत्। व्रतेन।
अक्षरेण। प्रति। मिमीते। अर्कम्। ऋतस्य। नाभौ।। अभि।
सम्। पुनाति ॥ १० ॥

रुप्यति मुह्यतीति रुपो मृतः पुरुषः। ※ रुप रुप लुप विमोहने। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः ※। त्रीणि त्रिसंख्याकानि पदानि पृस्थानानि अन्वरोहत् क्रमेण आरूढवान्। प्राप्तवान् इत्यर्थः। केन साधनेन इत्याह। एतत् एतेन अनुष्ठीयमानेन व्रतेन कर्मणा पैतृमेधिकसंस्कारेण चतुष्पदीम् चत्वारः पादा यस्याः सा तथोक्ता ताम् अनुस्तरणयाख्यां गाम् अनुलक्ष्य। अन्वरोहद् इति संबन्धः। संस्कारमाहात्म्येन मृतो लोकत्रयं व्याप्नोद् इत्यर्थः। अक्षरेण। अश्नुते व्याप्नोति स्वफलभूत स्थानम् इत्यक्षरं स्वार्जितं सुकृतम्। यद्वा क्षरो विनाशः। तद्रहितम्। तेन स्वार्जितेन सुकृतेन। यद्वा परिच्छेदकशरीरे त्यक्ते अक्षरेण व्यापकेन विनाशरहितेन आत्मस्वरूपेण अर्कम् अर्चनीयं सुकृतफलं स्वर्गादिकं सूर्यमेव वा प्रति मिमीते प्रतिमुखं मिमीते परिच्छिनत्ति। व्याप्नोतीत्यर्थः। यद्वा प्रतिमानं प्रतिबिम्बम्। सूर्यस्य प्रतिबिम्बं भवति। सूर्यसदृशो भवतीत्यर्थः। ऋतस्य योनौ। ऋतम् इति सत्यस्य उदकस्य यज्ञस्य वा नामधेयम्। तस्य योनिः उत्पत्तिस्थानं सूर्यमण्डलम् तत्र अभि अभितः सर्वतः आभिमुख्येन वा सं पुनाति सम्यक् पूतो वर्तते ॥

इति तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

मोहमें पड़ा हुआ मृतपुरुष इस अनुष्ठित पैतृमेधिक संस्कारसे अनुत्तरणी गौको लक्ष्यमें रखता हुआ तीनों द्युलोकोंको प्राप्त होरहा है अर्थात् संस्कारके माहात्म्यसे मरा हुआ यह त्रिलोकीमें व्याप्त होरहा है। यह परिच्छेदक शरीरके त्यक्त होने पर विनाश-रहित आत्मस्वरूपसे पूजनीय स्वर्गादि फलको पारहा है वा सूर्य में ही व्याप्त होरहा है। वा जलके उत्पत्तिस्थान सूर्यमण्डलमें पूर्णरूपसे पविष्ट होकर रहता है ॥ ४० ॥ (१३)

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

"देवेभ्यः कम्" इत्यादिकं पञ्चमं सूक्तम्। तत्र "त्वमग्न ईलितः" इत्यनया पिण्डपितृयज्ञे समिधम् आदध्यात्। "त्वमग्न ईलितः" [१८. ३. ४२] आ त्वाग्ने [१८. ४. ८८] इत्यादधाति" इति हि [कौ० ११. १०] सूत्रम् ॥

"अग्निष्वात्ताः पितरः" [४४] इत्यनया पिण्डपितृयज्ञे बर्हिः स्तृणीयात् ॥

"उपहूता नः पितरः" [४५] इति उत्तराभ्यां द्वाभ्यां च पिण्डपितृयज्ञे बर्हिः स्तृणीयात् ॥

"ये तातृपुः" [४७] इत्यृचा "ये सत्यासः" [४८] इत्यु-त्तरया च पिण्डपितृयज्ञे समिधावादध्यात् ॥

"उप सर्प" [४९] इति तिसृभिर्ऋग्भिः श्मशानदेशं शला-काभिः इष्टकाभिर्वा प्रसव्यं चिनुयात् ॥

"देवेभ्यः कम्" यह पञ्चम सूक्त है। इसमें "त्वमग्न ईलितः" इस ऋचासे पिण्डपितृयज्ञमें समिधाको रक्खे इस विषयमें कौशिक-सूत्र ११। १० का प्रमाण भी है, कि—"त्वमग्न ईलितः (१८। ३। ४२) आ त्वाग्ने (१८। ४। ८८) इत्यादधाति" (कौशिक-सूत्र ११। १०) ॥

"अग्निष्वात्ताः पितरः" इस चौवालीसवीं ऋचासे पिण्ड-पितृयज्ञमें कुशाओंको फैलावे।

"उपहूता नः पितरः" इन अगली पैंतालीसवीं और छियालीसवीं दो ऋचाओंसे पिण्डपितृयज्ञमें कुशाओंको बिछावे॥

"ये तातृषुः" आदि सैंतालीसवीं और अड़तालीसवीं ऋचाओंसे पिण्डपितृयज्ञमें समिधाओंको रक्खे।

"उपसर्प" इन ४९ वीं आदि तीन ऋचाओंसे श्मशानस्थानको शलाकाओंसे वा ईंटोंसे मसब्य चुने।

तत्र प्रथमा॥

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा रिरेच

देवेभ्यः। कम्। अवृणीत। मृत्युम्। प्रऽजायै। किम्। अमृतम्। न। अवृणीत।

बृहस्पतिः। यज्ञम्। अतनुत। ऋषिः। प्रियाम्। यमः। तन्वम्। आ। रिरेच॥ ४१॥

देवेभ्यः दीव्यन्तीति देवाः इन्द्रादयः। तेभ्यः। ॐ तादर्थ्ये चतुर्थी ॐ। तदर्थं कम् कीदृशं मृत्युम् अवृणीत सृष्ट्यादौ विधाता वृतवान्। । देवानाम् अर्थे स्रष्टा कमपि मरणहेतुं न कृतवान् इत्यर्थः काक्वा द्योत्यते। अतो देवानां मृत्युसंबन्धविरहात् तेषाम् अमृतत्वम् उत्पत्तिसिद्धम् इत्यर्थः। प्रजायते उत्पद्यत इति प्रजा मनुष्यादिरूपा। तस्यै वेधाः किम् किंकारणम् अमृतम् अमरणं न अवृणीत न वृतवान्। मनुष्यादीनां देववद् अमृतत्वं न कृतवान्। तत्र कारणं किमपि नास्तीत्यर्थः। प्रजापतिना केचन इन्द्राद्याः अमृताः सृष्टाः मनुष्याद्याः प्राणिनो मरणधर्मोपेताः

कल्पिताः । अतो देवानाम् अमरणं मनुष्याणां मरणं च अनादि-सिद्धम् । अतस्तत्र कारणगवेषणं न कार्यम् इत्यर्थः ॥ बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः स्वामी ऋषिः अतीन्द्रियार्थद्रष्टा यज्ञम् सोमयागम् अतनुत अकरोत् । भूलोके ऋषिरूपेणावस्थितो बृह-स्पतिः स्वस्य ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्तये तत्प्राप्त्युपायभूतं यज्ञं कृत-वान् इत्यर्थः । श्रूयते हि । "बृहस्पतिरकामयत देवानां पुरोधां गच्छे-यम् इति । स एतं बृहस्पतिसवम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेना-यजत" इति [तै० ब्रा० २. ७. १. २] । बृहस्पतेः प्रियां तन्वम् प्रेमास्पदं मानुषं शरीरं यमो वैवस्वतः आ अरिरेच आसमन्ताद् रिक्तं निःसारं मृतं कृतवान् । ऋषिरूपेणावस्थितस्य बृहस्पतेरपि यमः प्राणान् अपाहार्षीत् किल किमु वक्तव्यम् अन्येषां मनुष्या-दीनां यमः प्राणान् अपहरतीति । यद्वा नावृणीत इति पूर्वत्रापि संबध्यते । देवानां कं मृत्युं नावृणीत । सर्वमपि मृत्युं वृतवान् । अतस्तेषाम् अमृतत्वसिद्धये तैः प्रार्थितो बृहस्पतिः ऋषिर्भूत्वा यज्ञम् अतनुत । तस्माद् यज्ञात् ते देवा अमृताः संपन्नाः । तथा प्रजायै मनुष्यादिरूपायै किमपि अमृतं नावृणीत अतः सा मर्त्या भूता । तस्माद् यमो मनुष्यादिशरीरम् आरेचितवान् इति ॥

विधाताने सृष्टिकी आदिमें इन्द्र आदि देवताओंके लिये कैसी मृत्युका वरण किया तात्पर्य यह है, कि—स्रष्टाने देवताओंके निमित्त किसी मरणहेतुको नहीं बनाया, अत एव देवताओंके मृत्युसम्बन्धसे रहित होनेके कारण उनका अमृतत्व उत्पत्तिसिद्ध है । और मनुष्य आदि रूपमें उत्पन्न होने वाली प्रजाके लिये वेधाने किसी अमरणके कारणका वरण नहीं किया अर्थात् मनुष्य आदिके लिये देवताओंकी समान अमरत्व नहीं दिया । परन्तु इसमें कोई कारण नहीं है । अर्थात् प्रजापतिने कुछ इन्द्र आदिको अमृत बनाया और मनुष्य आदि प्राणियोंको मरणधर्मा बना कर

प्रकट किया है अत एव देवताओंका अमरण और मनुष्योंका मरण अनादिसिद्ध है और उसके कारणकी खोज नहीं करनी चाहिये ॥ भूलोकमें ऋषिरूपसे स्थित बृहस्पतिजीने ऐहिक आयुष्मिक फलको पानेके लिये यज्ञ किया [तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ७ । १ । २ की श्रुतिमें भी कहा है, कि-"बृहस्पतिरकामयत देवानां पुरोधां गच्छेयम् इति । स एतं बृहस्पतिसवं अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत ।-अर्थात् बृहस्पतिजीने देवताओंका पुरोहित बननेकी इच्छा की, इसके लिये उन्होंने बृहस्पतिसवको उपयुक्त समझा, उसकी सामग्री एकत्रित की और उसको किया] तदनन्तर विवस्वान्के पुत्र यमदेवने बृहस्पतिजीके प्रेमास्पद मनुष्य शरीरको चारों ओरसे खेंच कर निःसार कर डाला-मार डाला [तात्पर्य यह है, कि-जब ऋषिरूपमें स्थित बृहस्पतिके प्राणोंका भी यमने अपहरण कर लिया तब दूसरे मनुष्योंके प्राणोंको यम लेजावेंगे-इसमें कहना ही क्या ?

अथवा-क्या प्रजापतिने देवताओंके लिये मृत्युको नहीं रचा था ? नहीं, रचा था अर्थात् उन्होंने सबके लिये मृत्युकी रचना की थी, तब उनको अमर बनानेके लिये बृहस्पतिजीने ऋषि बन कर यज्ञ किया, उस यज्ञसे देवता अमर होगए ।, और मनुष्यादि प्रजाके लिये प्रजापतिने अमृतकी रचना नहीं की अत एव वह मर्त्य होगए, इस कारण यम मनुष्य आदिके शरीरोंको प्राण खेंच कर रिक्त कर दिया करते ॥ ४१ ॥

द्वितीया ॥

त्वम॑ग्न ईडि॒तो जा॑तवे॒दोवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वा।
प्रादा॑: पि॒तृभ्य॑: स्व॒धया॑ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व प्रय॒ता ह॒वींषि॑ ॥ ४२ ॥

त्वम् । अग्ने । ईळितः । जातऽवेदः । अवाट् । हव्यानि । सुरभीणि ।
कृत्वा ।
प्र । अदाः । पितृऽभ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि । त्वम् ।
देव । प्रऽयता । हवींषि ॥ ४२ ॥

हे जातवेदः जातानां जनिमतां प्राणिनां वेदितः हे अग्ने ईळितः अस्माभिः स्तुतस्त्वं हव्यानि अस्मदीयानि चरुपुरोडाशादीनि सुरभीणि सुगन्धीनि रसवन्ति कृत्वा अवाट् देवेभ्यो वह । ❁ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ् । वह प्रापणे इत्यस्मात् लुङि सिपि "बहुलं छन्दसि" इति इडभावे "झलो झलि" इति सिज्लोपः । "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति सलोपे रूपम् ❁ ॥ तथा पितृभ्यः पितृदेवताभ्यः स्वधया स्वधाकारेण सह कव्यसंज्ञकानि हवींषि प्रादाः प्रत्तवान् असि । ते च पितरस्त्वया दत्तानि कव्यानि हवींषि अक्षन् अभुञ्जत । ❁ अद भक्षणे । "लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घस्लादेशः । "मन्त्रे घसह्वर०" इत्यादिना च्लेर्लुक् । "गमहनजनखनघसां लोपः०" इति उपधालोपः । चर्त्वषत्वे ❁ ॥ हे देव द्योतमान अग्ने त्वमपि प्रयता प्रयतानि प्रकर्षेण अस्माभिर्दत्तानि हवींषि अद्धि भुङ्क्ष्व ।❁ अद भक्षणे । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः❁॥

हे उत्पत्ति वाले प्राणियोंको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! हमारे स्तुति करने पर आप हमारी चरु पुरोडाश आदि हवियों को सुगंधित करके देवताओंको पहुँचाइये । और आपने पितृदेवताओं के लिये स्वधाके साथ कव्यनामक हवियोंको दे दिया है और उन पितरोंने तुम्हारी दी हुई हवियोंका भक्षण कर लिया है । अब हे अग्निदेव ! आप भी हमारी बहुतसी दी हुई हवियोंका भोग लगाइये ॥ ४२ ॥

तृतीया ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात

आसीनासः । अरुणीनाम् । उपऽस्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे ।

मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् ।

दधात ॥ ४३ ॥

हे पितरः अरुणीनाम् अरुणवर्णानां मातृणाम् उपस्थे उत्सङ्गे आसीनासः आसीना उपविशन्तो दाशुषे हविर्दत्तवते मर्त्याय मरणधर्मणे यजमानाय रयिम् धनं धत्त दत्त प्रयच्छत ॥ पुत्रेभ्यः । पुंनाम्नो नरकात् त्रायन्त इति पुत्राः । तेभ्यः अस्मभ्यं तस्य वस्वः । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । तत् प्रसिद्धं वसु धनं प्रयच्छत दत्त । ❀ दाण् दाने । "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥ हे पितरः ते यूयम् इह अस्मिन् भूलोके ऊर्जम् बलकरम् अन्नम् अस्मभ्यं दधात धत्त ॥

हे अरुण वर्ण वाली माता उषाओंकी गोदमें बैठने वाले पितरों ! तुम हवि देने वाले मरणधर्मी यजमानके लिये धन दो, तुम हम पुंनामक नरकसे बचाने वाले पुत्रोंके लिये धन दो, हे पितरो! आप हमारे लिये इस भूलोकमें बलमद अन्नको दीजिये । ४३॥

चतुर्थी ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।

अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अग्निऽस्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदःऽसदः । सदत । सुऽप्रनीतयः ।

अत्तो इति । हवींषि । प्रऽयतानि । बर्हिषि । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । दधात ॥ ४४ ॥

हे अग्निष्वात्ताः पितरः । पितरो द्विविधाः । बर्हिषदः अग्निष्वात्ताश्चेति । तेषां भेदस्तैत्तिरीयके स्पष्टम् आम्नातः । "पितॄन् बर्हिषदो यजति । ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः तानेव तद् यजति ॥ पितॄन् अग्निष्वात्तान् यजति । ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरोग्निष्वात्ताः" इति [तै० ब्रा० १. ६. ९. ६] । कृतसोमयागाः पितरो बर्हिषत्सञ्ज्ञकाः अकृतसोमयागास्तु अग्निष्वात्तसंज्ञका इत्यर्थः । हे एतत्संज्ञकाः पितरः इह अस्मिन् यज्ञे आ गच्छत ॥ हे सुप्रणीतयः । प्रणीतिः प्रकृष्टं फलप्रापणम् । शोभना प्रणीतिर्येषां ते तथोक्ताः । आगतास्ते यूयं सदःसदः । सीदन्ति अस्मिन्निति सदः उपवेशनस्थानम् पितृपितामहप्रपितामहादीनां यद्यत् स्थानं परिकल्पितं तत् स्थानं सदत प्राप्नुत । स्वे स्वे स्थाने उपविशतेत्यर्थः ॥ बर्हिषि यज्ञे प्रयतानि प्रत्तानि यद्वा शुद्धानि हवींषि चरुपुरोडाशादीनि अत्त भक्षयत ॥ हविरदनेन संतुष्टा यूयं नः अस्मभ्यं सर्ववीरम् सर्वैर्वीरैरुपेतं रयिम् धनं दधात धत्त । प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ डुधाञ् दानधारणयोः । लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः ॥

हे शोभन फलको पाने वाले अग्निष्वात्ता † पितरों ! तुम यहाँ आओ और इस यज्ञमें पिता पितामह आदिके लिये जो स्थान कल्पना किया गया है उन २ स्थानों पर बैठो और यज्ञकी चरु पुरोडाश आदि शुद्ध हवियोंका भक्षण करो और हविका प्राशन करके सन्तुष्ट हुए तुम हमको सब वीरोंसे युक्त धनको दो ॥४४॥

पञ्चमी ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्

उपऽहूताः । नः । पितरः । सोम्यासः । बर्हिष्येषु । निऽधिषु । प्रियेषु ।

ते । आ । गमन्तु । ते । इह । श्रुवन्तु । अधि । ब्रुवन्तु । ते । अवन्तु । अस्मान् ॥ ४५ ॥

---

† पितर दो प्रकारके होते हैं, एक अग्निष्वात्ता और दूसरे बर्हिषद् । इनका भेद तैत्तिरीयकमें स्पष्ट लिखा है, कि—"पितॄन् बर्हिषदो यजति । ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः तानेव तद् यजति । ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरोऽग्निष्वात्ताः ।— अर्थात् बर्हिषद पितरोंका यजन करता है, इसका तात्पर्य यह है, कि—जो यजन करने वाले पितर होते हैं वे ही बर्हिषद् कहलाते हैं उन ही का वह यजन करता है । और अग्निष्वात्ता पितरोंके लिये यज्ञ करता है, इसका तात्पर्य यह है, कि—जो यज्ञ न करने वाले गृहस्थी पितर होजाते हैं वे अग्निष्वात्ता पितर कहलाते हैं" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ६ । ६ । ६) ॥

नः अस्माकं पितरः उपहूताः समीपम् आहूताः ॥ सोम्यासः सोम्याः सोमार्हाः एवंगुणविशिष्टाः पितृपितामहप्रपितामहाः बर्हिष्येषु बर्हिषि यज्ञे भवा बर्हिष्याः तेषु प्रियेषु प्रीतिविषयेषु निधिषु निधीयमानेषु हविःषु सत्सु प्रागुदीरितास्ते पितरः आ गमन्तु आगच्छन्तु ॥ इह अस्मिन् यज्ञे ते पितरः श्रुवन्तु अस्मदीयं स्तोत्रं शृण्वन्तु । ❀ श्रु श्रवणे । "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् ❀ । अधि ब्रुवन्तु अधिवचनं पक्षपातेन वचनम् । अधिवचनेन अस्मान् स्वीकुर्वन्तु । न केवलम् अधिवचनमात्रम् अपि तु ते पितरः अस्मान् अवन्तु ऐहिकामुष्मिकफलप्रदानेन रक्षन्तु ॥

जिन पितरोंको हम अपने समीप बुला रहे हैं, वे हमारे आहूत पिता पितामह आदि पितर सोमके पात्र हैं वे यज्ञकी दी हुई हवियों पर आवें, वे पितर इस यज्ञमें हमारे स्तोत्रको सुनें । और वे हमारे विषयमें पक्षपात भरा वचन कह कर हमको स्वीकार करें और ऐहिक तथा पारलौकिक फल देकर हमारी रक्षा करें ४५

षष्ठी ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । अनुऽजहिरे । सोमऽपीथम् । वसिष्ठाः ।
तेभिः । यमः । सम्ऽरराणः । हवींषि । उशन् । उशत्ऽभिः । प्रतिऽकामम् । अत्तु ॥ ४६ ॥

नः अस्माकं पितुर्जनकस्य ये पितरः सन्ति ये च पितामहा-

स्तज्जनका वसिष्ठाः वसुमत्तमाः एवंगुणविशिष्टा ये पितृपितामहप्रपितामहाः सोमपीथम् सोमपानम् अनुजहिरे अनुक्रमेण हरन्ति आत्मसात् कुर्वन्ति स्म तेभिस्तैः पितृभिः संरराणः सह रममाणो यमः उशन् कामयमानः उशद्भिः कामयमानैस्तैः पितृभिः सह हवींषि अस्मदीयानि चरुपुरोडाशादीनि हवींषि प्रतिकामम् । कामः अभिलाषः । अभिलाषं प्रति । अभिलाषानुसारेणेत्यर्थः । अत्तु भक्षयतु ॥

जो हमारे पिताके उत्पादक पितर हैं और जो पितामह श्रेष्ठ स्थान वाले हैं तथा जिन्होंने सोमका पान किया था, उन पितरोंके साथ रमण करते हुए यमदेव कामना करें और कामना करते हुए पितरोंके साथ हमारी चरु पुरोडाश आदि हवियोंको इच्छाके अनुसार प्राशन करें ॥ ४६ ॥

सप्तमी ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥ ४७ ॥

ये । ततृषुः । देवऽत्रा । जेहमानाः । होत्राऽविदः । स्तोमऽतष्टासः । अर्कैः ।

आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देवऽवन्दैः । सत्यैः । कविऽभिः । ऋषिऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ ४७ ॥

देवत्रा देवेषु जेहमानाः । ❀ जेहृ प्रयत्ने ❀ । प्रयतमानाः व्याप्रियमाणा होत्राविदः होत्राः सप्त वषट्कर्तारः । तत्कृतान् यागान् जानन्तः अर्कः अर्चनीयैः स्तोत्रैः स्तोमतष्टासः स्तोमस्य

स्तुतेः कर्तारः स्तोमकर्तारः । ❀ तच्च तनूकरणे । तस्मात् कर्तरि निष्ठा ❀ । एवंगुणविशिष्टा ये पितरः तातृपुः तृष्यन्ति पिपासन्ति । तैर्देववन्दैः देवान् वन्दन्ते प्रणमन्तीति देववन्दाः तैः सत्यैः सत्यफलैः कविभिः क्रान्तदर्शिभिर्ऋषिभिः अतीन्द्रियद्रष्टृभिः घर्मसद्भिः घर्मः प्रवर्ग्यः तदुपलक्षिते सोमयागे सीदन्तीति घर्मसदः । ❀ सहार्थयोगे तृतीया ❀ । एवंगुणविशिष्टैः पितृभिः सह हे अग्ने त्वम् अस्माकं सहस्रम् अपरिमितं धनं यथा भवति तथा आ याहि आगच्छ । आगत्य च अस्मदीयेन हविषा पितॄणां तृषं निवर्तयेति भावः ॥

देवताओंमें प्रयत्न करते रहने वाले, सात वषट्कर्ता होताओं के किये हुए यागको जानने वाले, पूजनीय स्तोत्रोंसे स्तुतिके करने वाले जो पितर पिपासे होरहे हैं, और तृषाके कारण देवताओंकी वन्दना कर रहे हैं उन सत्यफलको देने वाले, क्रान्तदर्शी, अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले सोमयागमें बैठने वाले पितरोंके साथ हे अग्ने ! आप हमारे पास अपरिमित धन देने के लिये आइये, तात्पर्य यह है, कि—आकर हमारी हविसे पितरों की तृषा को दूर करिये ॥ ४७ ॥

[illegible]ष्टमी ॥

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः

ये । सत्यासः । हविःऽअदः । हविःऽपाः । इन्द्रेण । देवैः । सऽरथम् । तुरेण ।

आ । अग्ने । याहि । सुऽविदत्रेभिः । अर्वाङ् । परैः । पूर्वैः । ऋषिऽभिः । घर्मसत्ऽभिः ॥ ४८ ॥

ये पितरः सत्यासः सत्याः सत्यभवाः सत्यभाषणोपेता वा हविरदः हवींषि चरुपुरोडाशादीनि अदन्ति भक्षयन्तीति हविरदः। हविष्पाः हविः सोमरसं पिबन्तीति हविष्पाः। तुरेण त्वरमाणेन शत्रूणां हिंसकेन वा इन्द्रेण देवैः अन्यैश्च सरथम् समानो रथो यथा भवति तथा। वर्तन्त इति शेषः। इन्द्रेण देवैः सह एकं रथम् उपारूढा वर्तन्त इत्यर्थः। तैः सुविदत्रेभिः सुविदत्रैः शोभनधनैः शोभनप्रज्ञैर्वा परैः उत्कृष्टैः पूर्वैः पूर्वपुरुषैः पितृपितामहप्रपितामहैः ऋषिभिः अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः घर्मसद्भिः यज्ञे सीदद्भिः एवंगुणविशिष्टपितृभिः सह हे अग्ने त्वम् अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् आ याहि आगच्छ ॥

जो पितर सत्य कहते हैं, चरु पुरोडाश आदि हविका भक्षण करते हैं, सोमरसरूप हविका पान करते हैं, हिंसक इन्द्र देवताके साथ तथा अन्य देवताओंके साथ जिनका रथ चलता है, उन शोभन बुद्धि वाले, अतीन्द्रियार्थदर्शी, यज्ञमें बैठने वाले, पिता पितामह आदि, यज्ञमें बैठने वाले पितरोंके साथ हे अग्ने ! आप हमारे अभिमुख आइये ॥ ४८ ॥

नवमी ॥

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म्।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त् ॥ ४९ ॥

उप॑। सर्प॑। मा॒तर॑म्। भूमि॑म्। ए॒ताम्। उ॒रु॒ऽव्यच॑सम्। पृ॒थि॒वीम्। सु॒ऽशेवा॑म्।
ऊर्ण॑ऽम्रदाः। पृ॒थि॒वी। दक्षि॑णाऽवते। ए॒षा। त्वा॒। पा॒तु॒। प्रऽप॑थे। पु॒रस्ता॑त् ॥ ४९ ॥

हे प्रेत मातरम् जननीम् एतां भूमिम् उप सर्प उपगच्छ। कीदृशीम्। उरुव्यचसम्। ❀ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ❀। विस्तीर्णव्यापनां पृथिवीम् प्रथितां प्रख्यातां सुशेवाम् सुसुखाम्॥ एषा त्वया उपसृप्ता पृथिवी दक्षिणावते दक्षिणा अस्य सन्तीति दक्षिणावान् बह्वीभिर्यज्ञसंबन्धिनीभिर्दक्षिणाभिर्युक्ताय तुभ्यम् ऊर्णम्रदाः ऊर्णाभिर्विरचितकम्बलवन्म्रदीयसी मार्दवेन सुखकरी सती पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि पूर्वमेव वा प्रपथे पथो मार्गस्य प्रारम्भः प्रपथः। ❀ "ऋक्पूरब्धूः०" इति अकारः समासान्तः ❀। तत्र वर्तमानं त्वा त्वां पातु रक्षतु॥

हे प्रेत! तू इस विस्तीर्ण प्रसिद्ध माताकी समान सुख देने वाली पृथिवी पर आ, ऐसा होने पर यह तुझ बहुतसी यज्ञदक्षिणा देने वालेको ऊनके कम्बलकी समान मृदु सुख देवे और पूर्वदिशाके प्रारंभिक मार्गमें वर्तमान तेरी रक्षा करे॥ ४९॥

दशमी॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा।

माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि॥ ५०॥

उत्। श्वञ्चस्व। पृथिवि। मा। नि। बाधथाः। सुऽउपायना। अस्मै। भव। सुऽउपसर्पणा।

माता। पुत्रम्। यथा। सिचा। अभि। एनम्। भूमे। ऊर्णुहि।

हे पृथिवि भूदेवते त्वम् उच्छ्वञ्चस्व। ❀ श्वञ्चतिर्गतिकर्मा ❀। उच्छूनावयवा पुलकिता भव। एनम् उपसृप्तं पुरुषं मा नि बाधथाः कार्कश्येन मा बाधस्व। अपि च अस्मै पुरुषाय सूपायना सुखेन उपगन्तुम् अर्हा सूपसर्पणा शोभनोपसर्पणयुक्ता च भव। यथा

येन प्रकारेण माता जननी स्वकीयं पुत्रं सिचा वेलाञ्चलेन अभिच्छादयति तथा एनं त्वाम् उपगतं पुरुषम् हे भूमे त्वमपि अभ्यूर्णु हि अभितः प्रच्छादय। यथा अस्य शीतवातोष्णादिजनितदुःखं न भवति तथा एनं त्रायस्वेत्यर्थः। ❀ ऊर्णुञ् आच्छादने। अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे भूदेवते ! तुम पुलकित होओ, अपनी कर्कशतासे इस समीप में प्राप्त हुए पुरुषको बाधा मत दो, यह पुरुष सुखपूर्वक तुम्हारे पास रहे, और तुम शोभन उपसर्पण करने वाली होओ, और हे भूमे ! माता जिस प्रकार अपने वस्त्रसे पुत्रको आच्छादित करती है, इस प्रकार तू भी इसको चारों ओरसे आच्छादित कर। तात्पर्य यह है, कि–जिस प्रकार शीत वात उष्णता आदि से होने वाला दुःख प्राप्त न हो इस प्रकार इसकी रक्षा कर ५०(१७)

तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"उच्छ्वञ्चमाना" [५१] इत्याद्याया ऋचो विनियोग उक्तः ॥

पात्रचयनकर्मणि यजमानस्य उदरे इडापात्रं निधाय "इमम् अग्ने" [५३] इति द्वाभ्याम् अनुमन्त्रयते ॥

यदि आहिताग्निः एकाग्निर्वा सर्पव्याघ्रादिभिर्म्रियेत तर्हि "यत् ते कृष्णः शकुनः" [५५] इत्यनया सर्पदंशनस्थानं दंष्ट्र्यादिकृतव्रणस्थानं वा अग्निना दहेत् ॥

"पयस्वतीः" [५६] इति ऋचा शवदहनानन्तरं स्नानं कुर्यात् ॥

"शं ते नीहारः" [६०] इत्यनया अभिमन्त्रिताभिर्जलक्षीरमिश्रिताभिरोषधीभिर्ब्राह्मणस्य अस्थीनि सिञ्चेत् ॥

"उच्छ्वञ्चमाना" इस पहिली (५१) ऋचाका विनियोग कह दिया है।

पात्रचयनकर्ममें यजमानके उदरमें इडापात्रको रखकर "इमम् अग्ने" आदि ५३ वीं और ५४ वीं ऋचाओंसे अनुमन्त्रण करे।

यदि आहिताग्नि वा एकाग्नि सर्प वा व्याघ्र आदिसे मर जावे तो "यत् ते कृष्णः शकुनः" इस पचपनवीं ऋचासे साँपके काटनेके स्थानको वा डाढ़ आदिसे हुए घावके स्थानको अग्निसे भस्म करे।

"पयस्वतीः" इस छप्पनवीं ऋचासे शवदहनके अनन्तर स्नान करे।

"शं ते नीहारः" इस सातवीं ऋचासे अभिमन्त्रित जल और क्षीर मिली हुई औषधियोंसे ब्राह्मणकी अस्थियोंका सिञ्चन करे।

तत्र प्रथमा ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

उत्ऽश्वञ्चमाना । पृथिवी । सु । तिष्ठतु । सहस्रम् । मितः । उप । हि । श्रयन्ताम् ।
ते । गृहासः । घृतऽश्चुतः । स्योनाः । विश्वाहा । अस्मै । शरणाः । सन्तु । अत्र ॥ ५१ ॥

उच्छ्वञ्चमाना उच्छ्वयमानावयवा पुलकितशरीरा पृथिवी सु तिष्ठतु सुखेन अवतिष्ठताम् । तत्र श्मशानदेशे सहस्रम् सहस्रसंख्याका अपरिमिता मितः मीयमानाः स्थाप्यमाना ओषधयः उप श्रयन्ताम् उपेत्य आश्रिता भवन्तु । हिशब्दो यस्मादर्थे । यस्माद् ओषधिवनस्पतयस्तत्र उपाश्रितास्तस्मात् ते घृतश्चुतः घृतस्राविणः अत एव स्योनाः सुखकरा अस्मै मृतपुरुषाय गृहासः गृहाः

विश्वाहा सर्वाणि अहानि । ❀ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ❀ । सर्वकालम् अत्र श्मशानदेशे शरणाः रक्षकाः सन्तु भवन्तु ॥

पुलकित शरीर वाली पृथिवी सुखसे स्थित रहे इस श्मशान-स्थानमें स्थापित की हुई अपरिमित औषधियें समीपमें आकर स्थित होवें, और वे औषधियें घृतको प्रवाहित करती हुईं अत एव सुख देती हुईं इस मृतपुरुषके लिये घररूप होकर सब दिन इस श्मशानमें रक्षक रहें ॥ ५१ ॥

द्वितीया ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

उत् । ते । स्तभ्नामि । पृथिवीम् । त्वत् । परि । इमम् । लोगम् । निऽदधत् । मो इति । अहम् । रिषम् ।

एताम् । स्थूणाम् । पितरः । धारयन्ति । ते । तत्र । यमः । सदना । ते । कृणोतु ॥ ५२ ॥

हे मृतपुरुष ते तुभ्यं त्वदर्थम् इमां पृथिवीम् उत् ऊर्ध्वं स्तभ्नामि धारयामि । ❀ स्तुभि स्कम्भि गतिप्रतिबन्धे । क्र्यादित्वात् श्ना-प्रत्ययः ❀ ॥ त्वत् परि तव परितः इमं लोकम् सर्वप्राण्यधि-ष्ठितं भूलोकं निदधत् निक्षिपन् अहं मो रिषम् मैव हिंसितो भूवम् ॥ तत्र तस्याम् उत्तम्भनेन धृतायां भूम्यां ते त्वदर्थं पितरः पितृदेवताः एतां प्रसिद्धां स्थूणां तत्र गृहनिर्माणाय धारयन्ति स्थापयन्ति । यमस्तत्र ते तव सादना सदनानि गृहाणि कृणोतु करोतु । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ ॥

हे मृतपुरुष ! मैं तेरे लिये इस पृथिवीको ऊपरकी धारण करता हूँ, तेरे चारों ओर भूलोकको स्थापित करता हुआ मैं हिंसित न होऊँ, इस उठाई हुई भूमिमें तेरे लिये पितृदेवता गृह-निर्माणके लिये स्थूणाको धारण करें और यमदेवता तेरे लिये घरोंको बनावें ॥ ५२ ॥

तृतीया ॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्या-

नाम् ।

अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता माद-

यन्ताम् ॥ ५३ ॥

इमम् । अग्ने । चमसम् । मा । वि । जिह्वरः । प्रियः । देवानाम् ।

उत । सोम्यानाम् ।

अयम् । यः । चमसः । देवऽपानः । तस्मिन् । देवाः । अमृताः ।

मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥

हे अग्ने इमं चीयमानं चमसम् भक्षणसाधनम् इडापात्रं मा वि जिह्वरः कुटिलं मा कार्षीः । ❀ ह्वृ कौटिल्ये । अस्माण्णयन्तात् लुङि चङि रूपम् । "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀ । यश्चमसो देवानाम् अग्न्यादीनां प्रियः प्रीतिकरः । उत अपि च सोम्यानाम् सोमार्हाणां पितॄणां प्रियः । "उपहूता नः पितरः सोम्यासः" इति हि उक्तम् [४५] । देवपानः देवाः पिबन्ति अनेन अमृतम् इति देवपानः ॥ एवंगुणविशिष्टो योयं चमसस्तस्मिन् अमृताः अमरणधर्माणः सर्वे देवा इन्द्रादयो मादयन्ताम् माद्यन्तु । तत्रत्य-हविरास्वादनेन तृप्ता भवन्तु इत्यर्थः ॥

हे अग्ने ! इस भक्षणके साधन इडापात्र चमसको तिरछा न कर, यह चमस अग्नि आदि देवताओंको और सोमका उपभोग करनेके पात्र पितरोंको प्रिय है । और देवता इसमें पान करते हैं, ऐसे इस चमसमें सब इन्द्र आदि अमर देवता प्रसन्न होवें अर्थात् इस चमसपात्रकी हविका आस्वादन कर तृप्त होवें॥५३॥

चतुर्थी ॥

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥

अथर्वा । पूर्णम् । चमसम् । यम् । इन्द्राय । अबिभः । वाजिनीऽवते ।
तस्मिन् । कृणोति । सुऽकृतस्य । भक्षम् । तस्मिन् । इन्दुः । पवते । विश्वऽदानीम् ॥ ५४ ॥

अथर्वा एतन्नामकः अतीन्द्रियार्थद्रष्टा कश्चिद् ऋषिः वाजनीवते वाजः अन्नम् हविर्लक्षणम् अस्याम् अस्तीति वाजिनी यज्ञक्रिया । तद्वते इन्द्राय पूर्णम् सोमादिहविषा पूरितं यं चमसम् अबिभः भृतवान् । ❀ बिभर्तेर्लङि प्रथमैकवचने रूपम् ❀ । इन्द्रप्रीत्यर्थं हविर्भिः पूर्णं यं चमसं संभृतवान् इत्यर्थः । तस्मिन् चमसे सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य यज्ञस्य संबन्धि भक्षम् भक्षणं हुतशिष्टहविषो भक्षणं कृणोति करोति । ऋत्विजां गण इत्यर्थः । तथा तस्मिन् अथर्वकृते चमसे विश्वदानीम् सर्वदा इन्दुः सोमः पवते अमृतरसात्मकः स्रवति । ❀ पूङ् पवने । भौवादिकः ॥ विश्वदानीम् इति । विश्वशब्दाद् दानीं प्रत्ययः ❀ ॥

अथर्वा नामक अतीन्द्रियार्थदर्शी एक ऋषिने हविरूप अन्न वाली यज्ञ क्रियाके पात्र इन्द्रदेवके लिये सोम आदि हविसे पूरित जिस चमसको धारण किया था, उस चमसमें ऋत्विज् सुन्दरता से किये हुए यज्ञमें होमनेसे बची हुई हविका भक्षण करते हैं और उसी अथर्वाके बनाये हुए चमसमें रसात्मक अमृत सदा स्रवता रहता है ॥ ५४ ॥

पञ्चमी ॥

यत् ते॑ कृ॒ष्णः श॑कु॒न आ॑तु॒तोद॑ पिपी॒लः स॒र्प उ॒त वा॒ श्वाप॑दः ।

अ॒ग्निष्टद् वि॒श्वाद॑ग॒दं कृ॑णोतु॒ सोम॑श्च॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑ ॥ ५५ ॥

यत् । ते॒ । कृ॒ष्णः । श॒कु॒नः । आ॒ऽतु॒तोद॑ । पि॒पी॒लः । स॒र्पः । उ॒त । वा॒ । श्वाप॑दः ।

अ॒ग्निः । तत् । वि॒श्व॒ऽअत् । अ॒ग॒दम् । कृ॒णो॒तु॒ । सोमः॑ । च॒ । यः । ब्रा॒ह्म॒णान् । आ॒ऽवि॒वेश॑ ॥ ५५ ॥

हे पुरुष ते त्वदीयं यत् अङ्गं कृष्णः कृष्णवर्णः शकुनः पक्षी काकादिः आतुतोद व्यथितं दष्टं कृतवान् । ❀ तुद व्यथने ❀ । तथा पिपीलः विषदंष्ट्रः पिपीलिकाविशेषः उत वा अपि वा सर्पः श्वापदः शुनः पदानीव यस्य स श्वापदो व्याघ्रादिः आतुतोदेति सर्वत्र संबध्यते । तद् अङ्गं विश्वात् विश्वं सर्वम् अत्तीति विश्वात् सर्वभक्षकः अग्निः अगदम् गदो रोगः तद्रहितं कृणोतु करोतु । यः सोमः ब्राह्मणान् ऋत्विग्यजमानान् आविवेश रसरूपेण अन्तः प्रविष्टवान् तादृशः सोमोपि । अगदं कृणोत्विति संबन्धः ॥

हे पुरुष ! तेरे जिस अंगको कृष्णवर्णके काकादि पक्षीने काटा है, तथा विषमयी डाढ़ वाली जिस पिपीलिकाने काटा है, सर्पने अथवा कुत्तेकी समान पैर वाले जिस व्याघ्र आदिने काटा है उसको सबका भक्षण करने वाले अग्निदेव रोगरहित करें। और जो सोम ब्राह्मण ऋत्विज यजमानादिमें रसरूपमें प्रविष्ट है वह भी इस अंगको नीरोग करें ॥ ५५ ॥

षष्ठी ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।

अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥५६॥

पयस्वतीः । ओषधयः । पयस्वत् । मामकम् । पयः ।

अपाम् । पयसः । यत् । पयः । तेन । मा । सह । शुम्भतु ५६

ओषधयः व्रीहियवाद्याः प्रसिद्धाः याश्च अन्याः फलपाकान्ताः ताः सर्वाः पयस्वतीः अस्मदर्थं पयस्वत्यः। पयःशब्देन सारभूतोऽश उच्यते। सारवत्यो भवन्तु। ❀ जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। मामकम् मत्संबन्धि मम शरीरस्थितं यत् पयः सारभूतं बलं तदपि पयस्वत् सारवद् भवतु। तथा अपाम् उदकानां संबन्धिनः पयसः सारभूतांशस्य यत् पयः सारभूतः उत्कृष्टोंऽशः स तेन ओषध्यादिगतेन सर्वेण पयसा सह मा मां शुम्भतु शोभनं करोतु। जलाभिमानी वरुणः स्नानेन मां शोधयत्विति भावः। ❀ शुभ शुम्भ दीप्तौ ❀ ॥

व्रीहि जौ आदि औषधियें हमारे लिये सारमयी होवें और मेरे शरीरमें जो सारभूत बल है वह भी सार वाला होवे और जलोंके सारका भी जो सार है उस औषधि आदिके सारसे जलाभिमानी वरुण मुझको स्नानके द्वारा पवित्र करें ॥ ५६ ॥

सप्तमी ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ५७

इमाः । नारीः । अविधवाः । सुऽपत्नीः । आऽअञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवः । अनमीवाः । सुऽरत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ५७ ॥

"इमा नारीः" इत्येषा सप्तमी पूर्वम् आम्नाता [१२.२.३१]। तत्रैव व्याख्याता ॥ अर्थस्तु । इमाः प्रेतकुलोत्पन्ना नार्यः वैधव्यरहिताः सुपतिकाः सत्यः सर्पिर्मिश्रेण आञ्जनेन संस्पृष्टा भवन्तु । अश्रुरहिता रोगरहिताः शोभनाभरणा अपत्यजनन्यः अपत्योत्पादनाय योनिम् आ रोहन्त्विति ॥

इस प्रेतके कुलमें उत्पन्न हुई ये स्त्रियें वैधव्यरहित रहें, सुन्दर पतिसे सम्पन्न रहती हुई घृतमिश्रित अञ्जनको लगाती रहें, अश्रुरहित रहें, रोगरहित रहें, शोभन गहनोंको धारण किये रहें और सन्तानको उत्पन्न करती रहें ॥ ५७ ॥

अष्टमी ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ५८

सम् । गच्छस्व । पितृऽभिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे ।

विऽओमन् ।

हित्वा । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छताम् ।

तन्वा । सुऽवर्चाः ॥ ५८ ॥

हे मृतपुरुष त्वं पितृभिः पितृपितामहप्रपितामहैः सं गच्छस्व पैतृमेधिकेन सापिण्ड्यकरणावधिना संस्कारेण हेतुना संगतो भव। पितृषु मध्ये प्राप्तस्थानो भवेत्यर्थः। यस्तेषां राजा यमः तेनापि सं गच्छस्व। तथा परमे उत्कृष्टे पितृलोकादपि श्रेष्ठे व्योमन् व्योम्नि द्युलोके नाकपृष्ठाख्ये कर्मफलोपभोगस्थाने इष्टापूर्तेन। इष्टम् प्रत्यक्षश्रुतिचोदितं यागहोमदानादि। पूर्तम् स्मृतिपुराणागमचोदितं वापीकूपतटाकदेवागारनिर्माणादि। तेन उभयेन सं गच्छस्व। तत्फलम् उपभुङ्क्ष्वेत्यर्थः। तथा अवद्यम् पापं हित्वा त्यक्त्वा अस्तम्। गृहनामैतत्। उत्तमलोकस्थितं गृहं पुनरेहि प्राप्नुहि॥ सुवर्चाः शोभनदीप्तिकस्तव आत्मा तन्वा स्वर्गलोकभोगयोग्येन शरीरेण सं गच्छताम् संयुज्यताम्। ❀ "समो गम्यृच्छि०" इति संपूर्वाद् गमेरकर्मकाद् आत्मनेपदम् ❀ ॥

हे मृतपुरुष! तू जिसमें सपिण्डी आदि की जाती है उस सपिंडीकरण तकके पैतृमेधिककर्मसे पिता पितामह आदि पितरोंके साथ मिल जा अर्थात् पितरोंके मध्यमें स्थान पा और जो उनका राजा यम है उससे भी मिल। तथा पितृलोकसे भी श्रेष्ठ कर्मफलभोग के स्थान परमव्योम स्वर्गमें श्रुतिसे प्रत्यक्षविहित याग होम दान आदि इष्टसे तथा स्मृति पुराण और शास्त्रोंसे विहित बावड़ी कूप तालाब मन्दिर बनाना आदि पूर्तसे, संयुक्त हो अर्थात् इनके फल को भोग तथा पापको त्याग कर उत्तम लोकमें स्थित घरको पा।

सुन्दर दीप्ति वाला तेरा आत्मा स्वर्गलोकके योग्य शरीरको प्राप्त करे ॥ ५८ ॥

नवमी ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आऽविविशुः । उरु । अन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः । स्वऽराट् । असुऽनीतिः । नः । अद्य । यथाऽवशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ ५९ ॥

नः अस्माकं पितुः जनकस्य ये पितरः जनका ये च पितामहास्तेषामपि उत्पादयितारः । पूजार्थं बहुवचनम् । पितृपितामहप्रपितामहा इत्यर्थः । ये च अन्ये गोत्रजा उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आविविशुः आविष्टाः प्रविष्टाः । तेभ्यः । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । तेषां तन्वः शरीराणि अद्य इदानीं स्वराट् स्वयमेव राजा असुनीतिः असूनां नेता एतत्संज्ञको देवः नः अस्माकं यथावशम् यथाकामं कल्पयाति कल्पयतु । तत्रतत्र फलोपभोगाय शरीराणि संपादयत्वित्यर्थः ॥

जो हमारे पिताके उत्पादक हैं और जो हमारे पिताके पितामह हैं अर्थात् जो पिता पितामह और प्रपितामह हैं इन्होंने तथा और भी हमारे गोत्रमें उत्पन्न हुए जिन पुरुषोंने विस्तीर्ण अन्तरिक्षलोकमें प्रवेश किया है इस समय स्वराट् असुनीति देवता उनके शरीरोंकी इच्छानुसार कल्पना करें अर्थात् फलोपभोगके लिये उचित लोकोंमें उनके शरीरोंको रच देवें ॥ ५९ ॥

दशमी ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते पुष्वाव शीयताम् ।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥

शम् । ते । नीहारः । भवतु । शम् । ते । पुष्वा । अव । शीयताम् ।
शीतिके । शीतिकाऽवति । ह्लादिके । ह्लादिकाऽवति ।
मण्डूकी । अप्ऽसु । शम् । भुवः । इमम् । सु । अग्निम् । शमय ६०

हे प्रेतपुरुष नीहारः अवश्यायः ते तव शं भवतु सुखकरो भवतु । दाहजनितम् औष्ण्यं शमयत्वित्यर्थः । तथा पुष्वा बिन्दुरूपेण स्रवन् उदकः ते तव शम् सुखं यथा भवति तथा अव शीयताम् अवपततु । अधोमुखं स्रवत्वित्यर्थः ॥ हे शीतिके शीतस्य कारिणि । ओषधिविशेषस्येयं संज्ञा । हे शीतिकावति शीतिकाख्यौषधियुक्ते पृथिवि हे ह्लादके ह्लादः सुखम् तत्कारिणि ओषधे हे ह्लादकावति ह्लादकाख्यौषधियुक्ते पृथिवि मण्डूक्या मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी तया । यद्वा मण्डूकपर्ण्याख्यया ओषध्या अस्य दग्धस्य पुरुषस्य शं भव । दाहशमनहेतुर्भवेत्यर्थः । तदर्थम् इमं दाहकम् अग्निं सुष्ठु शमय शान्तं कुरु ॥

इति तृतीयेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे प्रेत ! नीहार तुझको सुख देवे अर्थात् दाहसे हुई तेरी गरमी को शान्त करे, और बूँद २ करके बरसता हुआ मेघ जिस प्रकार तुझको सुख प्राप्त हो तिस प्रकार बरसे । हे शीतिका नामक ओषधि वाली पृथिवी ! हे ह्लादिका नामवाली ओषधिसे संपन्न पृथिवि ! तू इस दग्ध पुरुषको मण्डूकपर्णी नामक ओषधिसे सुख देने वाली हो, इस दाहक अग्निको भली प्रकार शान्त कर ६० (१८)

तृतीय अनुवाक में छठा सूक्त समाप्त

"विवस्वान् नः" [६१] इत्यादिभिः सप्तभिर्ऋग्भिः श्मशानचयनकर्मणि कर्ता सर्वे गोत्रिणश्च श्मशानस्य पश्चाद्भागे स्थित्वा प्रेतम् उपतिष्ठेरन् ॥

पितृमेधे चतुर्थेऽहनि वैवस्वते स्थालीपाके "विवस्वान् नो अभयम्" इति द्वाभ्यां प्रत्यृचं द्वे आहुती जुहुयात् । युक्ताभ्यां तृतीयाम् आहुतिं कुर्यात् ॥

तथा एताभ्यामेव हुतशेषम् अभिमन्त्र्य समानोदका गोत्रिणः कर्तारं प्राशयेयुः ॥

संचयने "विवस्वान् नः" इति त्र्यृचम् "इन्द्र क्रतुम्" [६७] इत्येतां च स्वस्त्ययनार्थं जपेत् ॥

"यास्ते धानाः" [६६] इति द्वाभ्यां तिलमिश्रा धाना अस्थ्नाम् उपरि आदध्यात् । "पुनर्देहि" [७०] इति ऋचा अस्थीनि वृक्षमूलाद् आददीत यदि अस्थीनि वृक्षमूले पूर्वं स्थापितानि स्युः॥

"आ रभस्व" [७१] इति तिसृभिः प्रेतशरीरे दग्धम् अग्निं काष्ठैर्दीपयेयुः ॥

"ये ते पूर्वे परागताः" [७२] इति ऋचा सर्पिर्मधुभ्यां चरुम् अभिमन्त्र्य अस्थिसमीपे निदध्यात् ॥

तथा पिण्डपितृयज्ञे अनया निरुप्तानां पिण्डानाम् उपरि घृतधारां निनयेत् ॥

"विवस्वान् नः" (६१) आदि सात ऋचाओंसे श्मशानचयनकर्ममें कर्ता और सब गोत्र वाले श्मशानके पीछेकी ओर खड़े होकर प्रेतका उपस्थान करें ।

पितृमेधके चौथे दिन वैवस्वत-स्थालीपाकमें "विवस्वान् नो अभयम्" इन दो ऋचाओंसे दो आहुति देवे और दोनों ऋचाओंको मिला कर तीसरी आहुति देवे ।

तथा इन ही दोनों ऋचाओंसे होमनेसे बचे हुए पदार्थको अभिमन्त्रित करके समानोदक गोत्र वाले कर्ताको प्राशन करावें ।

सञ्चयनमें "विवस्वान् नः" ऋचको और "इन्द्र क्रतुम्" (६७) ऋचाको भी स्वस्त्ययनके लिये जपे।

"यास्ते धानाः" (६९) आदि दो ऋचाओंसे तिलमिश्रित धानाओंको अस्थियोंके ऊपर रक्खे। यदि पहिले अस्थियोंको वृक्षकी जड़में रख दिया हो तो "पुनर्देहि" (७०) ऋचासे अस्थियोंको वृक्षमूलसे लेलेवे।

"आ रभस्व" (७१) आदि तीन ऋचाओंसे प्रेतके शरीर में लगाई हुई अग्निको काष्ठोंसे प्रदीप्त करें॥

"ये ते पूर्वे परागताः" (७२) ऋचासे घी और मधुसे चरु को अभिमन्त्रित करके अस्थियोंके समीपमें रक्खे।

तथा पिण्डपितृयज्ञमें इस ऋचासे स्थापित करनेसे पहिले पिण्डोंके ऊपर घृतकी धार डाले।

तत्र प्रथमा॥

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम्

विवस्वान्। नः। अभयम्। कृणोतु। यः। सुऽत्रामा। जीरऽदानुः। सुऽदानुः।

इह। इमे। वीराः। बहवः। भवन्तु। गोऽमत्। अश्वऽवत्। मयि। अस्तु। पुष्टम्॥ ६१॥

विवस्वान् एतत्संज्ञक आदित्यो नः अस्माकम् अभयम् मरणजनितभीतिराहित्यं कृणोतु करोतु। तथा जीरदानुः जीवनस्य कर्ता। ॐ जीव प्राणधारणे। "जीवे रदानुक्" इति ॐ। यद्वा

❀ रक्ति ज्यः संप्रसारणम् इति [उ० २.२३.] ज्या वयोहानौ इत्यस्माद् रक् प्रत्ययः संप्रसारणं च ❀। जीरस्य वयोहानेर्दाता जीरदानुः सुदानुः शोभनदानुः एवंगुणविशिष्टो यः सुत्रामा सुष्ठु त्राता एतत्संज्ञको देवः सोपि अस्माकम् अभयं कृणोत्विति संबन्धः ॥ इह अस्मिन् लोके इमे वीराः पुत्रपौत्रादयः अस्माकं बहवः बहुला भवन्तु। तथा गोमत् बहुभिर्गोभिर्युक्तम् अश्ववत् बह्वश्वोपेतं पुष्टम् पोषकं धनं मयि आत्मनि अस्तु भवतु। मरणजनितभीतिपरिहारेण पुत्रपौत्रादिसमृद्धिर्धनसमृद्धिश्च अस्माकं भवत्वित्यर्थः ॥

विवस्वान् सूर्यदेव, जीवनप्रदाता जीरदानु, सुदानु, और भली प्रकार रक्षा करने वाले सुत्रामा नामक देव हमको अभय देवें। इस लोकमें हमारे वीर्यसे उत्पन्न होने वाले वीर अर्थात् पुत्र पौत्र आदि बहुतसे होवें तथा मुझमें गौओंसे और घोड़ोंसे सम्पन्न पुष्टि रहे। तात्पर्य यह है, कि–मरणसे होने वाला भय दूर होकर हमारे पास पुत्र पौत्र आदिकी समृद्धि और धनकी समृद्धि होवे ॥ ६१ ॥

द्वितीया ॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥

विवस्वान्। नः। अमृतऽत्वे। दधातु। परा। एतु। मृत्युः। अमृतम्। नः। आ। एतु।
इमान्। रक्षतु। पुरुषान्। आ। जरिम्णः। मो इति। सु। एषाम्। असवः। यमम्। गुः ॥ ६२ ॥

विवस्वान् आदित्यो नः अस्मान् अमृतत्वे अमरणत्वे दधातु

स्थापयतु ॥ तत्प्रसादात् मृत्युः मरणकारी देवः परैतु पराङ्मुखो गच्छतु । अमृतम् अमरणं नः अस्मान् एतु प्राप्नोतु ॥ आ जरिम्णः । जराया भावो जरिमा । जरावस्थापर्यन्तम् इमान् अस्मदीयान् पुरुषान् पुत्रपौत्रादीन् रक्षतु पालयतु ॥ एषां पुरुषाणाम् असवः प्राणाः सु सुष्ठु मो मैव यमम् वैवस्वतं गुः गच्छन्तु । विवस्वता यमस्य पित्रा रक्षितत्वाद् इति भावः । ❁ इण् गतौ । माङि लुङि "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❁ ॥

विवस्वान् सूर्यदेव हमको अमरणमें स्थापित करें । उनके प्रसाद से मरणकारी देवता मृत्यु पराङ्मुख होकर चला जावे । अमरण हमको प्राप्त होवें और वह जरावस्था तक इन पुत्र पौत्र आदिकी रक्षा करे, इन पुरुषोंके प्राण विवस्वान्‌के पुत्र यमको प्राप्त न हों ६२

तृतीया ॥

यो द॒ध्रे अ॒न्तरि॑क्षे॒ न म॒ह्ना पि॑तॄ॒णां क॒विः प्रम॑तिर्मती॒नाम् ।
तम॑र्चत वि॒श्वमि॑त्रा ह॒विर्भि॒ः स नो॑ य॒मः प्र॒तरं॑ जी॒वसे॑ धात् ॥ ६३ ॥

यः । द॒ध्रे । अ॒न्तरि॑क्षे । न । म॒ह्ना । पि॒तॄ॒णाम् । क॒विः । प्रऽम॑तिः । म॒ती॒नाम् ।
तम् । अ॒र्च॒त । वि॒श्वऽमि॑त्राः । ह॒विःऽभिः॑ । सः । नः॒ । य॒मः । प्र॒ऽत॒रम् । जी॒वसे॑ । धा॒त् ॥ ६३ ॥

यो यमः कविः क्रान्तदर्शी प्रमतिः प्रकृष्टबुद्धिः मह्ना स्वमहिम्ना मतीनाम् मन्तॄणां स्तोतॄणां पितॄणाम् । ❁ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❁ । पितॄन् अन्तरिक्षेण

अन्तरा चान्तेन लोकेन दध्रे धारयति हे विश्वमित्राः सर्वजनमित्रभूता ब्राह्मणाः तं तादृशं यमं हविर्भिश्चरुपुरोडाशादिभिः अर्चत पूजयत ॥ सोर्चितो यमो नः अस्मान् जीवसे जीवनाय प्रतरम् प्रकृष्टतरं धात् दधातु धारयतु । ❀ प्रशब्दात् तरप् । "अमु च च्छन्दसि" इति अमु प्रत्ययः ❀ ॥

जो यम क्रान्तदर्शी हैं, श्रेष्ठ बुद्धि वाले हैं और जो अपनी महिमासे स्तुति करने वाले पितरोंको अन्तरिक्षलोकमें धारण करते हैं, हे सब प्राणियोंके मित्र ब्राह्मणों! तुम ऐसे यमकी चरु-पुरोडाश आदि हवियोंसे पूजा करो। वह पूजित यम हमको जीवनके लिये श्रेष्ठ रीतिसे धारण करें—पुष्ट करें॥ ६३ ॥

चतुर्थी ॥

आ रो॑हत॒ दिव॑मुत्त॒मामृष॑यो॒ मा बि॑भीतन ।
सोम॑पाः॒ सोम॑पायिन इ॒दं वः॑ क्रियते ह॒विरग॑न्म॒ ज्योति॑-
रुत्त॒मम् ॥ ६४ ॥

आ । रो॒ह॒त॒ । दिव॑म् । उ॒त्ऽत॒माम् । ऋ॒ष॒यः॒ । मा । बि॒भी॒त॒न॒ ।
सोम॑ऽपाः । सोम॑ऽपायिनः । इ॒दम् । वः॒ । क्रि॒य॒ते॒ । ह॒विः । अग॑न्म ।
ज्योतिः । उ॒त्ऽत॒मम् ॥ ६४ ॥

हे ऋषयः मन्त्रदर्शिनो मनुष्याः उत्तमाम् उत्कृष्टां दिवम् स्वर्गम् आ रोहत यज्ञदानादिसत्कर्मभिः प्राप्नुत । मा बिभीतन भयं मा प्राप्नुत । ❀ बिभेतेर्लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनादेशः ❀ । ऋषयो विशेष्यन्ते । सोमं पिबन्तीति सोमपाः । स्वयं कृतसोमयागा इत्यर्थः । सोमपायिनः अन्यानपि यजमानान् सोमं पाययन्तीति सोमपायिनः । सोमयागस्य कारयितार इत्यर्थः । दिवम् आरूढानां वः युष्माकम् इदं हविः क्रियते । तेन हविषा

यूयं सुखेन द्युलोके वर्तध्वम् इत्यर्थः । वयं च युष्मत्प्रसादात् उत्त-मम् उत्कृष्टतमं ज्योतिः प्रकाशं चिरकालजीवनम् अगन्म गच्छेम ॥

हे मन्त्रदर्शी मनुष्य ऋषियों ! तुम यज्ञ दान आदि सत्कर्मोंके कारण उत्कृष्ट स्वर्गलोकमें चढ़ो, डरो मत । हे ऋषियों ! तुम सोमका पान करने वाले हो अर्थात् तुमने अपने आप सोमयाग किया है, और तुम सोमपायी हो अर्थात् दूसरोंको सोमयाग कराने वाले हो । स्वर्गमें आरूढ़ हुए तुम्हारे लिये यह हवि की जाती है अर्थात् इस हविसे तुम सुखपूर्वक द्युलोकमें रहो और हम भी आपके प्रसादसे उत्तमज्योति–चिरकाल जीवनको प्राप्त होवें ६४

पञ्चमी ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ६५

प्र । केतुना । बृहता । भाति । अग्निः । आ । रोदसी इति । वृषभः । रोरवीति ।

दिवः । चित् । अन्तात् । उपऽमाम् । उत् । आनट् । अपाम् । उपऽस्थे । महिषः । ववर्ध ॥ ६५ ॥

अयम् अग्निः केतुना केतयित्रा ध्वजेन बृहता महता धूमेन प्र भाति प्रकर्षेण दीप्यते ॥ तथा रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ अभि-लक्ष्य वृषभः कामानां वर्षकः अयम् अग्नी रोरवीति भृशं शब्दं करोति ॥ माम् उप मत्समीपे दिवश्चिदन्तात् । चिच्छब्दः अप्यर्थे । आकाशस्य पर्यन्तादपि अयम् अग्निः उदानट् ऊर्ध्वं व्याप्नोत् ॥ तदनन्तरम् अपाम् उदकानाम् उपस्थे उपस्थाने अन्तरिक्षप्रदेशे महिषः । महन्नामैतत् । महान् भूत्वा ववर्ध वद्धधे । महद्धोभूद इत्यर्थः । ❀ वृधु वृद्धौ । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥

यह अग्निदेव अपनी बड़ी भारी ध्वजा धूमसे बड़े दमकते रहते हैं और यह कामनाओंकी वर्षा करने वाले अग्निदेव द्युलोक और पृथिवीलोकको लक्ष्यमें रख कर बड़ा शब्द करते हैं और मेरे समीपसे यह अग्निदेव द्युलोकसे भी ऊपर व्याप्त होजाते हैं और जलोंके स्थान अन्तरिक्षमें भी महान् होकर बढ़ने लगते हैं ॥६५॥

षष्ठी ॥

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्

नाके । सुऽपर्णम् । उप । यत् । पतन्तम् । हृदा । वेनन्तः । अभिऽअचक्षत । त्वा ।

हिरण्यऽपक्षम् । वरुणस्य । दूतम् । यमस्य । योनौ । शकुनम् । भुरण्युम् ॥ ६६ ॥

कं सुखम् अकं दुःखम् । नास्मिन् अकम् अस्तीति नाकः । ❀ "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀ । तस्मिन् नाके स्वर्गलोके पतन्तम् गच्छन्तं सुपर्णम् शोभनपतनम् उपलक्ष्य हृदा मनसा वेनन्तः । ❀ वेनतिः कान्तिकर्मा ❀ । कामयमानाः हे प्रेत त्वा त्वां यत् यदा अभ्यचक्षत अभिपश्यन्ति तदानीम् हिरण्य-पक्षम् हिरण्मयपक्षोपेतं वरुणस्य एतत्संज्ञस्य देवस्य दूतम् । वरुणः खलु सत्यानृतविभागेन प्राणिनां शिक्षकः । श्रूयते हि । "यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्" इति [ऋ० ७. ४९. ३] । "अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" इति च [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] । अतो वरुणस्य शिक्षकत्वात् तत्समीपे दूतवद् वर्तमानम् इत्यर्थः । यमस्य योनौ गृहे शकुनम् शकुनिवद् वर्तमानं भुरण्युम् भर्तारम् । हे मृत त्वां पश्यन्तीति शेषः ॥

हे प्रेत ! मन हृदयमें कामना करते हुए हम जब तुमको स्वर्गलोकमें शोभन गतिसे जाते हुए देखते हैं तब तुमको सुवर्णमय पङ्खों वाले वरुणदेवके दूत †, यमके घरमें पक्षीकी समान वर्तमान और भर्तारूपमें देखते हैं ॥ ६६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ।
शिक्ष । नः । अस्मिन् । पुरुऽहूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः । अशीमहि ॥ ६७ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव क्रतुम् कर्म सोमयागादिलक्षणम् यद्वा तद्विषयं ज्ञानं नः अस्मभ्यम् आ भर आहर यथा येन प्रकारेण पिता पुत्रेभ्यः अभिमतं फलं आहरति तद्वत् ॥ हे पुरुहूत पुरुभिर्यजमानैराहूत अस्मिन् यामनि याने संसारगमने नः अस्मान् शिक्ष अनुशाधि । यद्वा शिक्षतिर्दानकर्मा । नः अस्मभ्यम् अभिमतफलं

† वरुणदेव सत्य और असत्यका विवेचन करके शिक्षा देते हैं अत एव उनके समीपमें प्राणी दूतकी समान खड़ा रहता है। ऋग्वेदसंहिता । ७ । ४९ । ३ में लिखा है, कि—"यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।—जलके राजा वरुणदेव मनुष्योंके मध्यमें सत्य और असत्यको देखते रहते हैं" और तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ७ । २ । ६ में लिखा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" ॥

भयच्छेत्यर्थः । वयं च त्वत्प्रसादात् जीवाः चिरकालजीवनोपेता ज्योतिः प्रकाशम् इहलोकसुखानुभवम् अशीमहि प्राप्नुयाम ॥

हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेव ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको अभिमत वस्तु देता है, इस प्रकार आप हमको सोमयाग आदिरूप अभिमत वस्तु दीजिये । हे बहुतसे यजमानोंसे बुलाये जाने वाले पुरुहूत इन्द्रदेव ! आप हमको संसारयात्रामें अभिमत वस्तुएँ दीजिये और हम भी आपके प्रसादसे चिरकालका जीवन पाकर इस लोकके सुखका अनुभव करना—रूप ज्योतिको प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

अष्टमी ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥६८॥

अपूपऽअपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ।
ते । ते । सन्तु । स्वधाऽवन्तः । मधुऽमन्तः । घृतऽश्चुतः ॥ ६८ ॥

हे प्रेत ते तुभ्यं त्वदर्थम् अपूपापिहितान् अपूपैरपिहितान् छादितान् यान् कुम्भान् घृतमध्वादिपूर्णान् देवा अधारयन् त्वदुपभोगाय धारितवन्तः ते कुम्भाः स्वधावन्तः अन्नवन्तः मधुमन्तः मधुनोपेता घृतश्चुतः घृतस्राविणश्च ते तुभ्यं सन्तु भवन्तु ॥

हे प्रेत ! देवताओंने जिन अपूपों (गुलगुलों) से भरे हुए घृत मधु आदिसे पूर्ण कुम्भोंको तेरे उपभोगके लिये रख छोड़ा है, वे कुम्भ तेरे लिये अन्न वाले मधु वाले और घृतस्रावी होवें ६८

नवमी ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥

याः । ते । धानाः । अनुऽकिरामि । तिलऽमिश्राः । स्वधाऽवतीः ।

ताः । ते । सन्तु । विऽभ्वीः । प्रऽभ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा ।

अनु । मन्यताम् ॥ ६९ ॥

हे प्रेत ते तुभ्यं तिलमिश्राः तिलैर्मिश्रिताः स्वधावतीः स्वधाकारवतीः स्वधोदकवतीर्वा या धानाः । भृष्टयवा धाना उच्यन्ते । अनुकिरामि आनुपूर्व्येण विक्षिपामि । समर्पयामीत्यर्थः । ❀ कॄ विक्षेपे । तुदादित्वात् शप्रत्ययः ❀ । ता धानास्ते तुभ्यं विभ्वीः विभ्व्यः विविधा भवन्त्यः विभुत्वगुणोपेता वा प्रभ्वीः प्रभ्व्यः प्रभवन्त्यः तृप्तिजननसमर्थाश्च सन्तु भवन्तु ॥ राजा राजमान ईश्वरो यमः ते तव ता धाना अनु मन्यताम् भोक्तुम् अनुजानातु । ❀ विभुशब्दात् प्रभुशब्दाच्च "वोतो गुणवचनात्" इति ङीष् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

हे प्रेत ! तिल मिले हुए स्वधा वाली जो जौ की खीलें मैं समर्पण कर रहा हूँ वे तुझको विभुत्व गुण वालीं और तृप्ति करने वालीं होकर प्राप्त होवें, राजा यम तुझको खीलों का उपभोग लगानेकी अनुमति देवें ॥ ६९ ॥

दशमी ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥७०॥

पुनः । देहि । वनस्पते । यः । एषः । निऽहितः । त्वयि ।

यथा । यमस्य । सदने । आसातै । विदथा । वदन् ॥ ७० ॥

हे वनस्पते वृक्षविशेष त्वयि य एषः अस्थ्यात्मकः पुरुषो निहितः निक्षिप्तः पूर्वम् तं पुनर्देहि अस्मभ्यं प्रयच्छ । किमर्थम् इति चेत्

उच्यते। यथा येन प्रकारेण यमस्य राज्ञः सदने गृहे विदथा विदथानि विज्ञानानि। यद्वा यज्ञनामैतत्। यज्ञात्मकानि स्वार्जितानि कर्माणि वदन् ब्रुवन् प्रकाशयन् आसातै आसीत उपविशेत्। तदर्थं पुनर्देहीत्यर्थः॥

हे वनस्पते! आपमें जो अस्थिरूप पुरुष पहिले स्थापित किया था, आप उसको मुझे फिर दीजिये जिससे वह यमराजके घरमें यज्ञात्मक कर्मोंको प्रकाशित करता हुआ बैठे॥ ७०॥

एकादशी॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥७१॥

आ। रभस्व। जातऽवेदः। तेजस्वत्। हरः। अस्तु। ते।
शरीरम्। अस्य। सम्। दह। अथ। एनम्। धेहि। सुऽकृताम्। ऊं इति। लोके॥ ७१॥

हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां प्राणिनां वेदितरग्ने आ रभस्व मृतं दग्धुम् उपक्रमस्व॥ ते तव तेजस्वत् तेजोभिर्ज्वालाभिर्युक्तं हरः रसहरणशीलं दहनसामर्थ्यम् अस्तु भवतु॥ अस्य मृतस्य शरीरं सं दह सम्यग् दह। यथा भस्मसाद् भवति तथा कुर्वित्यर्थः॥ अथ शरीरदहनानन्तरम् एनं पुरुषं सुकृताम् पुण्यकृतां लोके स्वर्गे धेहि स्थापय। यत्र पुण्यकृतो निवसन्ति तं लोकं प्रापयेत्यर्थः॥

हे जातवेदा अग्ने! आप जलानेके लिये तयार होवें आपकी रसको हरने वाली दहनशक्ति ज्वालाओंसे सम्पन्न होवे। इस मृतपुरुषके शरीरको आप भली प्रकार भस्म करिये और शरीरको भस्म करनेके अनन्तर इसको पुण्यात्माओंके लोक स्वर्गमें स्थापित करिये॥ ७१॥

द्वादशी ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

ये । ते । पूर्वे । पराऽगताः । अपरे । पितरः । च । ये ।
तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । शतऽधारा । विऽउन्दती ॥७२॥

ते प्रसिद्धा ये पूर्वे पूर्वभाविनः पूर्वम् उत्पन्ना ज्येष्ठाः पितरः परागताः पराङ्मुखं गताः । अपुनरावृत्तये गता इत्यर्थः । ये च अपरे अपरभाविनः पश्चाद् उत्पन्नाः पितरः तेभ्यः सर्वेभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । घृतस्य कुल्या क्षरणशीलस्य सर्पिषः कुल्या एतु गच्छतु । कुल्या कृत्रिमा सरित् इति निघण्टुः । घृतपूर्णा कुल्या प्रवहत्वित्यर्थः । कीदृशी सा । शतधारा शतसंख्यःधाराभिरुपेता । अत एव व्युन्दती विविधम् आर्द्रीकुर्वती ॥

तुझसे पहिले उत्पन्न हुए तेरे जो ज्येष्ठ पितर पराङ्मुख होकर गए हैं अर्थात् अपुनरावृत्तिके लिये गए हैं और तुझसे पीछे उत्पन्न हुए अपर पितर अपुनरावृत्तिके लिये गए हैं उन सब पितरोंके लिये घृतकी कुल्या ‡ बहे, उसकी सहस्रों धारायें हों अत एव वह अनेक प्रकारसे आर्द्र करती रहे ॥ ७२ ॥

त्रयोदशी ॥

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥

---

‡ निघण्टुमें लिखा है, कि–कृत्रिम नदी कुल्या कहलाती है।

एतत् । आ । रोह । वयः । उत्ऽमृजानः । स्वाः । इह । बृहत् ।

उं इति । दीदयन्ते ।

अभि । प्र । इहि । मध्यतः । मा । अप । हास्थाः । पितृणाम् ।

लोकम् । प्रथमः । यः । अत्र ॥ ७२ ॥

हे मृतपुरुष एतत् परिदृश्यमानं संनिहितं वयः । वियन्ति गच्छन्ति अस्मिन्निति वयः अन्तरिक्षम् । एतद् आ रोह आरूढो भव । किं कुर्वन् । उन्मृजानः उन्मार्जनं कुर्वन् । शरीराद् उत्क्रमणेन स्वात्मानं शोधयन्नित्यर्थः ॥ स्वाः ज्ञातयः इह अस्मिन् लोके बृहत् अधिकं दीदयन्ते दीप्यन्ताम् । समृद्धा निवसन्तु । ❀ दीदयतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । उशब्दः पदपूरणः ॥ आरोहणार्थं मध्यतः बन्धुजनमध्याद् अभि प्रेहि लोकान्तरम् अभिलक्ष्य प्रकर्षेण गच्छ ॥ अत्र अस्मिन् द्युलोके यः पितृणां संबन्धी प्रथमः मुख्यो लोकः तं लोकं मा अप हास्थाः मा परित्यजेः । चिरं तत्रैव निवसेत्यर्थः । ❀ ओहाक् त्यागे ❀ ॥

इति तृतीयेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

अष्टादशकाण्डे तृतीयोनुवाकः ॥

हे मृतपुरुष ! तू शरीरसे उत्क्रमण करके अपने आपेको पवित्र करता हुआ इस आकाशमें आरोहण कर और तेरी जाति वाले इस लोकमें ही समृद्ध होकर निवास करें । आरोहण करनेके लिये बांधवोंके मध्यमेंसे दूसरे लोकको लक्ष्यमें रख कर चल । और इस द्युलोकमें जो पितरोंका मुख्य लोक है उसको मत त्याग अर्थात् उसमें चिरकाल तक निवास कर ॥ ७२ ॥ (१९)

तृतीय अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त

तृतीय अनुवाक समाप्त (५४२)

चतुर्थेऽनुवाके नव सूक्तानि । तत्र "आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः" इत्यादिभिः पञ्चदशभिश्च र्ग्भिश्चितिस्थम् आहिताग्निं मेतम् उपतिष्ठेत ॥

"आ रोहत जनित्रीम्" [१] इत्यनया ऋचा देशान्तरमृतस्य आहिताग्नेरेकाग्नेश्च अरणिद्वयम् अग्नौ प्रतापयेत् ॥

"जुहूर्दाधार द्याम्" [५] "ध्रुव आ रोह" [६] इत्याभ्याम् ऋग्भ्यां प्रेताङ्गेषु प्रक्षेप्याणि यज्ञपात्राणि अनुमन्त्रयेत ॥

चतुर्थ अनुवाकमें नौ सूक्त हैं। इसकी "आरोहत जनित्रीं जातवेदसः" आदि पन्द्रह ऋचाओंसे चितामें स्थित आहिताग्नि प्रेतके पास खड़ा होवे ।

"आरोहत जनित्रीम्" इस पहिली ऋचासे विदेशमें मरे हुए आहिताग्नि और एकाग्निकी दोनों अरणियोंको अग्निमें तपावे।

जुहूर्दाधार द्याम्" (५) "ध्रुव आरोह" (६) ऋचाओंसे प्रेतके अंगोंमें फेंके जाते हुए यज्ञपात्रोंका अनुमन्त्रण करे।

तत्र प्रथमा ॥

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ १ ॥

आ । रोहत । जनित्रीम् । जातऽवेदसः । पितृऽयानैः । सम् । वः । आ । रोहयामि ।
अवाट् । हव्या । इषितः । हव्यऽवाहः । ईजानम् । युक्ताः । सुऽकृताम् । धत्त । लोके ॥ १ ॥

हे जातवेदसः। वैतानिकाग्न्यपेक्षया बहुवचनम्। "पश्चा हि स तर्हि भवति" इति श्रुतेः प्रत्यहं होमानन्तरम् आहवनीयशक्तेर्गार्हपत्येऽनुप्रवेशाद् एतयोर्दक्षिणाग्नेश्च तत्रैवानुप्रवेशाद् बहुनुक्तिः। स्मार्ताग्निपक्षे पूजायां बहुवचनम्। जातानि भूतानि विदन्ति जातैः प्राणिभिर्विद्यन्ते ज्ञायन्त इति वा जातवेदसः। ❀ कर्तरि कर्मणि वा असुन् ❀। यद्वा वेद इति धननाम। जातस्य प्राणिमात्रस्य वेदो धनं येभ्योग्निभ्यो भवति। उपलक्षणम् एतत्। सर्वेषां वैदिकानां स्मार्तानां च कर्मणाम् अग्निसाध्यत्वात् तत्कर्मफलस्य प्रापयितारः हे गार्हपत्यादयोग्नयः जनित्रीम् स्वोत्पादिकाम् अरणिम्। ❀ "जनिता मन्त्रे" इति निपातनात् णिलोपः। प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀। आ रोहत शक्त्यात्मना प्रविशत॥ अहमपि अरणी आ रोहतो वः युष्मान् पितृयाणैः। पितरो यान्ति एभिः पथिभिः पित्र्यं लोकम् इति पितृयाणाः पन्थानः। ❀ करणे ल्युट् ❀। द्विविधो हि मार्गः देवयानः पितृयाण इति। देवलोकप्राप्तिसाधनभूतो देवयानः। पितृलोकप्रापक इतरः। तत्र तैः पितृयाणैः सम् आ रोहयामि सम्यक् विधिपूर्वकम् अधिरोहयामि अरण्योः। अग्नीनां तत्रानुप्रवेशो पथा भाव्यम् इति पितृसंबन्धात् पन्थास्तादृश उक्तः। आहिताग्नेर्मृतत्वाद् उत्तरत्र तेन अग्निभिः साध्यानां कर्मणाम् अभावात् समारोपणम्॥ इतः पूर्वं तु हव्यवाहः। द्विविधं हि हविः। दैवं हविर्हव्यम् पित्र्यं हविः कव्यम्। पूर्वं पित्र्यहविःसंबन्धाभावात् हव्यम् इत्युक्तम्। हव्यं दैवं वहतीति हव्यवाहः अग्निः। ❀ "कर्मण्यण्"। हविर्वोढृत्वाकारेण एकत्वाद् एकवचनम् ❀। अग्निरपि द्विविधः। हव्यवाहनः कव्यवाहन इति। इषिता इषितानि इष्टानि। ❀ "तीषुसह०" इति इडागमः ❀। तत्तत्फलसाधनत्वेन अभिमतानि यजमानेन दत्तानि हव्या हव्यानि हवींषि अनात् अवा-

क्षीत् । उद्दिष्टान् देशान् प्रापिपत् । ❁ वहेर्लुङि सिच् । "वद-व्रज०" इति हलन्तलक्षणा वृद्धिः । "बहुलं छन्दसि" इति इडभावः । "झलो झलि" इति सकारलोपः । "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपे ढत्वजश्त्वचर्त्वानि ❁ । अतः हे अग्नयः यूयं युक्ताः परस्परं समवेताः सन्तः ईजानम् येन यूयम् आहिता इष्टाश्च तम् इष्टवन्तं देशान्तरे मृतं यजमानं सुकृताम् सुकृतकर्मणां लोके स्थाने धत्त धारयत स्थापयत । ❁ ईजानम् इति । यजेर्लिटः कानचि "वचिस्वपि०" इति संप्रसारणे "लिट्यभ्यासस्य०" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् ❁ ॥ यद्वा हे जातवेदसः जनित्रीम् अरणीम् आ रोहत आहवनीयादिशक्तिरूपेण । अरणी आरूढवतो वः युष्मान् पितृयाणैर्मार्गैः सम्मा रोहयामि । पुण्यलोकम् इति शेषः । यजमानस्य देशान्तरे मरणात् तत्प्रतिनिधित्वेन तदाहितानाम् अग्नीनां परलोकनयनम् । अत एव अग्नीनामपि पितृयाणाः पन्थाः उक्ताः । गार्हपत्याद्याकारेण परलोकनयने तदर्थं हविषोऽपेक्षितत्वात् हविःसद्भावं तन्नेतारम् अग्निं च दर्शयति । हव्यवाहः । अत्र हविषः अग्निदेवत्यत्वात् हव्यम् इत्युक्तम् । तद्वहतीति हव्यवाहः अग्निः । इषिता इषितानि । ❁ इष गताविति धातुः ❁ । अस्माभिः संस्कर्तृभिः प्रेषितानि भक्षानि हव्या हव्यानि अवाट् अवाक्षीत् वक्ष्यति प्रापयिष्यति युष्मान् । ❁ वहेश्छान्दसो लुङ् ❁ । एवं पुण्यलोकं प्रापिताः हविर्भिः प्रीणयिष्यमाणाश्च हे अग्नयः यूयं युक्ताः समाहिताः सन्तः । ❁ युज समाधौ इति धातुः ❁ । ईजानम् इष्टवन्तं पुण्यलोके स्थापयतेति ॥

हे गार्हपत्य आदि अग्नियो ! तुम जातवेदा हो अर्थात् उत्पन्न हुए प्राणिमात्र तुमसे धन पाते हैं, अत एव तुम जातवेदा हो (अर्थात् क्या वैदिक और क्या स्मार्त सब ही कर्म अग्निसाध्य होनेसे कर्मफलको प्राप्त करानेवाले हैं) ऐसे तुम अपनेको उत्पन्न

करने वाली अरणियोंमें प्रवेश करो, मैं भी अरणीमें आरोहण करते हुए तुमको पितृयानोंके द्वारा अरणियोंमें आरोहण कराता हूँ (जिन मार्गोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं वे पितृयान कहलाते हैं। मार्ग दो प्रकारका होता है देवयान और पितृयान। देवलोक की प्राप्तिका साधनरूप मार्ग देवयान कहलाता है और दूसरा पितृयान कहलाता है। आहिताग्निके मर जाने पर आहिताग्नि अग्नियोंसे वियुक्त होनेके कारण भविष्यमें अग्निसाध्य कर्मोंको न कर सकेगा अत एव अग्नियोंका समारोहण कहा। अब हवि दो प्रकारकी होती है दैव हवि हव्य कहलाती है, पित्र्य हवि कव्य कहलाती है पहिले पित्र्यहविके अभाववश यहाँ हव्यका वर्णन है। दैव हव्यको वहन करनेवाले अग्नि हव्यवाट् कहलाते हैं। और पितरोंकी हविका वहन करने वाले कव्यवाट् कहलाते हैं ऐसे) हव्यवाहन अग्निने यजमानके दिये हुए हव्योंको तत् तत् कर्मोंका फल देने वाले देवताओंको पहुँचाया था, अत एव हे अग्नियों! जिसने तुम्हारा आधान और यजन किया था उस विदेशमें मरे हुए यजमानको तुम पुण्यात्माओंके लोकमें स्थापित करो॥ १॥

द्वितीया॥

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजाना स्वर्गं यन्ति लोकम्॥

देवाः। यज्ञम्। ऋतवः। कल्पयन्ति। हविः। पुरोडाशम्। स्रुचः। यज्ञऽआयुधानि।

संऽभिः । याहि । पथिऽभिः । देवऽयानैः । यैः । ईजानाः । स्वःऽगम् । यन्ति । लोकम् ॥ २ ॥

देवाः इन्द्राद्या यष्टव्या देवताः ऋतवः वसन्ताद्याश्च कालाः यज्ञं कल्पयन्ति कुर्वन्ति । स्वयं हविःस्वीकारार्थं यष्टॄणां च फलसिद्ध्यर्थं यज्ञं निर्मिमते । तत्स्वरूपं दर्शयति । हविः चर्वाज्यसोमलक्षणं हविः । पुरोडाशम् पिष्टमयम् । स्रुचः । उपलक्षणम् एतत् । जुह्वादीनि यज्ञोपयुक्तानि । यज्ञायुधानि पात्राणि आयुधवद् आयुधानि । यथा योद्धारः आयोधनसाधनैः शस्त्रादिभिर्द्विषो निघ्नन्ति एवं यष्टारोपि एतैः स्रुगादिपात्रैर्यज्ञविद्वेषकारिणः स्वोपद्रवकारिणश्च परिहरन्तीति आयुधत्वोपचारः । एवं देवर्तुनिर्मितपुरोडाशयज्ञायुधात्मकयज्ञम् अनुष्ठितवन् हे आहिताग्ने प्रेत त्वं देवयानैः देवा यान्ति एभिरिति देवयानास्तैर्देवलोकप्राप्तिसाधनैस्तेभिस्तैः पथिभिः मार्गैः याहि गच्छ । गन्तव्यं स्थानं दर्शयति । ईजानाः इष्टवन्तः कृतयज्ञाः पुरुषा यैः पथिभिः स्वर्गम् सुखात्मकं लोकम् स्थानं यन्ति गच्छन्ति ॥

इन्द्र आदि पूजनीय देवता, वन्सत आदि ऋतु यज्ञकी कल्पना करते हैं । चरु घृत और सोमरूप हवि, पिष्टमय पुरोडाश, स्रवा आदि यज्ञके पात्र, यज्ञके जुहू आदि पात्ररूप आयुध भी यज्ञकी कल्पना करते हैं । इस प्रकार देवनिर्मित पुरोडाश यज्ञायुधात्मक यज्ञका अनुष्ठान करने वाले हे आहिताग्ने प्रेत ! तु देवयान मार्गों से जा । यज्ञ करने वाले पुरुष जिन मार्गोंसे जाते हैं जिन मार्गोंसे सुखात्मक स्वर्गलोकको जाते हैं उस देवयानमार्गसे तू प्रस्थान कर२

तृतीया ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति ।

तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । पश्य । साधु । अङ्गिरसः । सुऽकृतः ।
येन । यन्ति ।

तेभिः । याहि । पथिऽभिः । स्वःऽगम् । यत्र । आदित्याः । मधु ।
भक्षयन्ति । तृतीये । नाके । अधि । वि । श्रयस्व ॥ ३ ॥

ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य पन्थाम् पन्थानम् । ❀ सुपो डा-देशः ❀ । साधु सम्यक् । पथो वा विशेषणम् । ❀ सुपो लुक् ❀ । साधुं समीचीनम् अर्चिरादिमार्गम् अनु पश्य अनुक्रमेण जानीहि । ❀ पश्यतिर्ज्ञानार्थः ❀ । सुकृतः सुकर्माणः अङ्गिरसः एतत्संज्ञका महर्षयः अङ्गारोत्पन्नाः । "येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्" इति ऐतरेयकश्रुतेः [ऐ० ब्रा० ३. ३४] । येन पथा यन्ति स्वर्गलोकम् । अङ्गिरसां सत्त्रयागानुष्ठानेन स्वर्गलोकप्राप्तिः ऐतरेयके श्रूयते । "अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रम् आसते" इति । "तं स्वर्यन्तोऽब्रुवन्नेतत् ते ब्राह्मण सहस्रम् इति" [इति ऐ० ब्रा० ५. १४] । तेभिः तैः पथिभिः मार्गैः स्वर्गं याहि । प्रेत एव संबोध्यते । यत्र यस्मिन् स्वर्गे आदित्याः अदितेः पुत्रा देवाः मधु मधुवत्प्रीतिकरं मधुरम् अमृतं भक्षयन्ति आस्वादयन्ति । गत्वा च तृतीये त्रित्वसंख्यापूरके उत्तमे नाके । कम् सुखम् । अकम् दुःखम् । न विद्यते अकं यस्मिन् । ❀ "नभ्राण्नपात्०" इति नाकशब्दो नलोपाभावेन निपातितः । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । तस्मिन् सुखात्मके स्वर्गे वि श्रयस्व विश्रितः प्रतिष्ठितो भव । यद्वा स्वर्गस्य लोकस्य उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिरूपत्वात् तृतीये नाक इत्युक्तम् ।

तथा च ऐतरेयकम् । "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इति [ऐ० ब्रा० २. १७] । मन्त्रवर्णोपि "तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्" [ऋ० २. २७. ८] इति । तथा "यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्याम् अवमस्याम् उत स्थः" इति च [ऋ० १. १०८. १०] ॥

हे प्रेत ! तू सत्यभूत यज्ञके समीचीन अर्चिरादिमार्गसे भली प्रकार जान अंगार गोत्रमें ‡ उत्पन्न हुए अङ्गिरस महर्षि जिस मार्गसे ÷ स्वर्गको गए हैं उन मार्गोंसे तू स्वर्गलोकको जा । जिस स्वर्गमें अदितिके पुत्र देवता मधुकी समान प्रसन्न करने वाले मधुर अमृतका आस्वादन लेते हैं उस दुःखके लेशसे भी रहित तृतीय स्वर्गलोकमें हे प्रेत ! तू प्रतिष्ठित हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्र॒यः॑ सु॒प॒र्णा उप॑रस्य मा॒यू नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॑ वि॒ष्टपि॑ श्रि॒ताः ।

स्व॒र्गा लो॒का अ॒मृते॑न वि॒ष्ठा इष॒मूर्जं॒ यज॑मानाय दुह्राम् ॥

त्र॒यः । सु॒ऽप॒र्णाः । उप॑रस्य । मा॒यू इति॑ । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठे । अधि॑ । वि॒ष्टपि॑ । श्रि॒ताः ।

स्वः॒ऽगाः । लो॒काः । अ॒मृते॑न । वि॒ऽस्थाः । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । यज॑मानाय । दु॒ह्राम् ॥ ४ ॥

‡ ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३४ में लिखा है, कि—"येऽङ्गारा आसन् तेऽङ्गिरसोऽभवन् ।—जो अंगार थे वे अंगिरस हुए ।"

÷ अंगिरसोंको सत्रयागानुष्ठानसे स्वर्गप्राप्तिका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण ५ । १४ में लिखा है, कि—अंगिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रं आसते" ॥

त्रयः त्रिसंख्याकाः सुपर्णाः सुपतना अग्निसूर्यसोमाः उपरस्य। "उपर उपलो मेघो भवति" इति यास्कः [नि० २.२१]। तस्य मेघस्य संबन्धिनौ मायू। ॐ मायुशब्दो लुप्तमत्वर्थीयः ॐ। मायुमन्तौ शब्दकारिणौ वायुपर्जन्यौ। तौ हि मेघसंबन्धेन शब्दकारिणौ। एते अग्न्यादयः अधिष्ठातृदेवाः क्रमेण नाकस्य स्वर्गस्य पृष्ठे उपरिभागे तृतीयकक्ष्यायां विष्टपि। विष्टपशब्दः अन्तरिक्षवचनः। ॐ सप्तम्येकवचने अन्त्यलोपश्छान्दसः ॐ। तस्मिन् विष्टपे अधि श्रिताः। अग्न्यादयः स्वर्गलोकम् वायुपर्जन्यावन्तरिक्षलोकम् अधितिष्ठन्तीत्यर्थः। एतैरग्न्यादिभिरधिष्ठिताः स्वर्गाः सुखात्मका लोकाः स्वकर्मभिरार्जिताः। कर्मभेदात् फलवैविध्येन उत्तमादिभेदेन वा स्वर्गा लोका इति बहुवचनम्। अमृतेन अमरणसाधनेन सुधारसेन विष्टाः व्याप्ताः पूर्णाः। ॐ विष्लृ व्याप्तौ। अस्मात् निष्ठाप्रत्ययः ॐ। यजमानाय यज्ञं स्मार्तं वैदिकं वा अनुष्ठितवते प्रेताय इषम् इष्यमाणम् अन्नम् ऊर्जम् बलकरम् अन्नरसं च दुहाम् दुहतां प्रयच्छन्तु। ॐ दुहेर्लोटि झस्य अदादेशः। "आम् एतः"। "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तकारलोपः। "बहुलं छन्दसि" इति झादेशस्य तस्य रुडागमः ॐ॥

सुन्दरतासे गमन करने वाले तीन अग्नि वायु और सूर्य, तथा मेघके सम्बन्धसे शब्द करनेवाले वायु और पर्जन्य, ये सब अधिष्ठात्री देवता क्रमसे नाकके ऊपर विष्टपमें स्थित हैं, तात्पर्य यह है, अग्नि आदिक स्वर्गलोकमें और वायु तथा पर्जन्य अन्तरिक्षलोकमें अधिष्ठित हैं। यह अपने कर्मोंसे अर्जित, अग्नि आदिसे अधिष्ठित स्वर्गलोक अमरणके साधन सुधारससे पूर्ण हैं, ये स्मार्त वा वैदिक कर्मका अनुष्ठान करने वाले प्रेत यजमानके लिये अभिलषित अन्न और अन्नरस प्रदान करें॥४॥

पञ्चमी ॥

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् ।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुहाम् ॥ ५ ॥

जुहूः । दाधार । द्याम् । उपऽभृत् । अन्तरिक्षम् । ध्रुवा । दाधार । पृथिवीम् । प्रतिऽस्थाम् ।
प्रति । इमाम् । लोकाः । घृतऽपृष्ठाः । स्वःऽगाः । कामम्ऽकामम् । यजमानाय । दुहाम् ॥ ५ ॥

जुहूः जुहोति हूयते वा अनया हविरिति जुहूर्होमसाधनभूतः पात्रविशेषः । ❀ जुहोतेर्दीर्घ च इति क्विप् द्विर्वचनं चकाराद् धातोर्दीर्घश्च ❀ । द्याम् द्युलोकं दाधार धृतवती । ❀ धरतेर्भौवादिकस्य लिटि तुजादित्वाद् अभ्यासस्य दीर्घः ❀ । उपभृत् उप समीपे जुह्वाः भ्रियते धार्यत इति उपभृत् एतत्संज्ञकः पात्रविशेषः अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमलोकं धरति । ध्रुवा बर्हिषि आसादनम् आरभ्य यज्ञपरिसमाप्तेरचलभावा ध्रुवा प्रतिष्ठिता एतत्संज्ञका स्रुक् प्रतिष्ठाम् चराचरात्मकस्य जगत आश्रयभूतां पृथिवीम् प्रथितां भूमिं दाधार । एवं जुह्वाद्यास्तिस्रः स्रुचो द्युलोकादिधारकत्वेन प्रशस्ताः ॥ इमाम् ध्रुवया धारितां पृथिवीं प्रति अभिलक्ष्य घृतपृष्ठाः । ❀ घृ क्षरणदीप्त्योः ❀ । दीप्तोपरिभागाः सर्वतो ज्योतिष्मन्तः स्वर्गाः सुखात्मका लोकाः । कक्ष्यात्रयवत्त्वाद् बहुवचनम् । यजमानाय इष्टवते कामंकामम् । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्भावः ❀ । काम्यमानानि सर्वाणि फलानि दुहाम् ॥ पूर्वस्मिन्

मन्त्रे तृतीये नाके अधि वि श्रयस्वेति उत्तमं स्वर्गं लोकम् आरूढ-वतो यजमानस्य स्वकर्मार्जिताः पुण्यलोकाः सुकृतफलं प्रयच्छन्तु इत्युक्तम्। अस्मिंस्तु मन्त्रे पुण्यक्षयानन्तरं मर्त्यलोकं प्राप्तवतः अस्यैवाहिताग्नेः पूर्वजन्मार्जितसुकृतवासनाबलाद् इहलोकेपि पुनः स्वर्गलोकप्रापकाणि यज्ञादीनि समीचीनानि कर्माणि भवन्तु इत्या-शास्यते। तथा च भगवतोक्तम्।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम् अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देव-भोगान्।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
इति [भ० गी० ९. २०, २१] ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
इति च [भ० गी० ६. ४३] ॥

जिससे हवि होमी जाती है वह होमका पात्र जुहू कहलाता है उस जुहूने द्युलोकको पुष्ट किया है, और जुहूके समीप धारण किया जाने वाला उपभृत् नामक पात्र अन्तरिक्षलोकको धारण करता है, तथा यज्ञमें बैठनेसे लेकर यज्ञकी समाप्ति तक अचल रहने वाला ध्रुवा पात्र–चराचरात्मक जगत्की आश्रयभूता प्रतिष्ठा विस्तृत भूमिको धारण करता है [इस प्रकार जुहू आदि तीनों स्रुक्की द्युलोक आदिके आधाररूपसे प्रशंसा की] इस ध्रुवा से धारित पृथ्वीको लक्ष्यमें रख कर दमकते हुए उपरि भागवाले

सुखात्मक स्वर्गलोक, यज्ञ करने वाले यजमानके लिये सकल अभिलषित फलोंको दें ‡ ॥ ५ ॥

‡ पहिले मन्त्रमें "तृतीये नाके अधि विश्रयस्व" । से कहा, कि—उत्तम लोक स्वर्गमें चढ़ते हुए यजमानको अपने कर्मसे संपादित पुण्यलोक पुण्यके फलको देवें ।" अब इस मन्त्रमें यह कहा है, कि- पुण्यक्षयके अनन्तर यदि यह यजमान मृत्युलोकमें आजावे तो इस आहिताग्निको पूर्वजन्ममें एकत्रित किये हुए पुण्योंकी वासनाके बलसे इस लोकमें भी फिर स्वर्गलोकको प्राप्त कराने वाले यज्ञ आदि समीचीन कर्म प्राप्त हों । इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है, कि—"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवलोकान् ॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥—ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जानने वाले पुरुष ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंसे यजन कर अन्तमें सोमका पान करते हैं तब उनके पाप प्रक्षालित होजाते हैं और वे मुझसे स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं । तब वे पुण्यमय सुरेन्द्रलोकको पाकर स्वर्गमें (मनुष्योंको दुर्लभ) दिव्य भोगोंको भोगते हैं, उस विशाल स्वर्गलोकमें भोग भोग चुकने पर वह पुण्य क्षीण होजानेसे मृत्युलोकमें प्रवेश करते हैं" अध्याय ६ श्लोक २० और २१ ॥ तथा भगवद्गीताके छठे अध्यायके तैंतालीसवें श्लोकमें कहा है, कि—"प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥—अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य करने वालोंके लोकको प्राप्त होता है और वहाँ बहुत वर्षों तक रह कर बादको श्रीमान् और पवित्रतासे रहने वालोंके घरमें उत्पन्न होता है, फिर वहाँ

षष्ठी ॥

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

ध्रुवे । आ । रोह । पृथिवीम् । विश्वऽभोजसम् । अन्तरिक्षम् । उपऽभृत् । आ । क्रमस्व ।
जुहु । द्याम् । गच्छ । यजमानेन । साकम् । स्रुवेण । वत्सेन । दिशः । प्रऽपीनाः । सर्वाः । धुक्ष्व । अहृणीयमानः ॥ ६ ॥

हे ध्रुवे एतन्नामधेये स्रुक् । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । विश्वभोजसम् विश्वस्य भोजयित्रीं सस्यादिद्वारेण विश्वभोगाधिकरणभूतां वा पृथिवीम् आ रोह अधितिष्ठ । यजमानेन साकम् इति तृतीयवाक्ये समाम्नातस्य सर्वत्रानुषङ्गः । यजमानोपि पृथिवीम् अधितिष्ठतु । ❀ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति तृतीया ❀ । ध्रुवा नाम स्रुक् बर्हिषि आसादिता यज्ञपरिसमाप्तिपर्यन्तम् आज्येन संपूर्णा अविचलिता वर्तते । पृथिव्यपि स्थिरा । अतस्तस्या सा अधिष्ठात्रीत्युच्यते ॥ हे उपभृत् अन्तरिक्षम् मध्यमलोकम् आ क्रमस्व आक्राम । ❀ ज्योतिरुद्गमनाभावेपि "आङ उद्गमने" इति आङ्पूर्वात् क्रमेर्यंप्रत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । अध्वर्युणा हि हस्ताभ्यां जुहूरुपभृच्च यागकाले धार्येते ।

पूर्वजन्मकी बुद्धिको पाता है और हे कुरुनन्दन ! फिर सिद्धि पानेके लिये उद्योग करने लगता है"

तत्र उपभृतं सव्यहस्तेन गृहीत्वा दक्षिणेन जुह्वा जुहोति । अतोत्र जुह्वा उपभृत् अधस्तनीति मध्यमलोकाधिष्ठातृत्वेन उच्यते ॥ हे जुहु द्याम् दिवं यजमानेन साकम् सह गच्छ । हे ध्रुवादिस्रुचः यूयं क्रमेण पृथिव्यादिलोकान् यजमानेन अधिष्ठापयतेत्यर्थः ॥ अथ मन्त्यत्तनदुक्तिः । एवं स्रग्भिर्लोकत्रयं प्रापितो यजमानस्त्वम् अहृणीयमानः । ❀ "हृणीङ् रोषे लज्जायाम्" इति कण्ड्वादौ पठ्यते ❀ । कथम् अहं व्याप्ता दिशः अभिलषितानि दुहीयेति विचिकित्साम् अकुर्वन् स्रुवेण वत्सेन वत्सवद् वत्सः वत्सो यथा प्रथमं स्तन्यपानेन मातरं पीनोध्नीं करोति तद्वत् स्रुवोपि सर्वाणि जुह्वादीनि पात्राणि आज्यपूरितानि करोतीति वत्सत्वेन रूपितः । वत्सरूपेण स्रुवेण प्रपीनाः प्रकर्षेण प्रवृद्धस्तनीः । प्रस्नुतस्तनीरित्यर्थः । ताः सर्वा दिशः प्राच्याद्या दश दिशः कर्म धुक्ष्व अभिलषितानि फलानि । ❀ दुहिर्द्विकर्मकः । प्रपीना इति । प्यायतेर्निष्ठायां पीभावः । "ओदितश्च" इति निष्ठानत्वम् ❀ ॥

हे ध्रुवा नामक स्रुक् ! तू सस्य आदि विश्वभोगकी अधिकरणभूत पृथ्वी पर आरोहण कर और यजमान भी पृथ्वी पर अधिष्ठित रहे । [ध्रुवा नामक स्रुच यज्ञमें रखी जाने पर यज्ञकी पूर्तिपर्यन्त घृतसे पूर्ण अविचलित रहती है और पृथिवी भी स्थिर होती है अत एव वह उसकी अधिष्ठात्री कहलाती है] हे उपभृत् ! तू मध्यमलोक अन्तरिक्षमें चढ़ [अध्वर्यु यागके समय दोनों हाथोंसे जुहू और उपभृत्को धारण करता है । बायें हाथसे उपभृत्को पकड़ दायें हाथसे जुहूसे होम करता है अत एव जुहू से नीचे रहनेके कारण उपभृत् मध्यमलोककी अधिष्ठात्री कहलाती है] हे जुहु ! तू द्युलोकको यजमानके साथ जा, तात्पर्य यह है, कि–हे ध्रुवा आदि स्रुच् ! तुम इस प्रकार क्रमसे यजमानके द्वारा पृथिवी आदि लोकोंमें स्थापित की जाओ । इस

प्रकार स्रुच् आदिके द्वारा तीनों लोकोंको प्राप्त हुआ तू यजमान "मैं किस प्रकार इन व्याप्त दिशाओंमेंसे अभिलषित वस्तुओंको दुहूँ" इस प्रकार ऊहापोह न करता हुआ स्रुच्रूपी वत्ससे † प्रवृद्धस्तनी सब दिशाओंसे अभिलषित फलोंको दुह ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥

तीर्थैः । तरन्ति । प्रऽवतः । महीः । इति । यज्ञऽकृतः । सुऽकृतः ।
येन । यन्ति ।
अत्र । अदधुः । यजमानाय । लोकम् । दिशः । भूतानि । यत् ।
अकल्पयन्त ॥ ७ ॥

तीर्थैः । ❀ तरन्ति दुष्कृतानि एभिरिति करणे क्थन् प्रत्ययः ❀ । तरणसाधनैर्यज्ञादिभिः प्रवतः । ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिप्रत्ययः । वतेः अव्ययत्वेपि अर्थग्रहणसामर्थ्याल्लिङ्गसंख्यायोगः ❀ । प्रवतः प्रकृष्टा महीः महतीः आपदस्तरन्ति अतिक्रामन्ति इति एवं यज्ञादीनि आपदुत्तरकाणि भवन्तीति बुद्ध्या यज्ञकृतः यज्ञं वैदिकं स्मार्तं च कुर्वाणा अत एव सुकृतः सुकृतकर्माणो येन पथा यन्ति प्राप्नुवन्ति पुण्यलोकम् अत्र अस्मिन् पुण्यलोकप्राप्तिसाधने पथि तं पन्थानम् अनुसृत्य आगच्छते यजमानाय तदर्थं लोकम् पुण्यार्जितम् अदधुः विदधतु यज्ञकृतः सुकृतकर्तारः दिशो

† जैसे बछड़ा पहिले स्तनोंका पान कर माताके ऐनोंको मोटा कर देता है, इसी प्रकार स्रुच् भी जुहू आदि सब पात्रोंको घृतसे पूरित करता है अतः उसको बछड़ा कहा है ।

भूतानि वा । ❀ दधातेश्छान्दसो लुङ् ❀। यत् ❀सुपो लुक् ❀। यं लोकं दिशः "स्नेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्व" इति पूर्वमन्त्रे अभिलषितफलप्रदत्वेन उपवर्णिता दिशः भूतानि भवनवन्ति सर्वदिगवस्थितप्राणिजातानि च अकल्पयन्त यजमानार्थं समपादयन् । तं लोकम् अदधुरिति पूर्वेण संबन्धः ॥

"पापोंसे पार उतारने वाले तीर्थ यज्ञ आदिसे पुरुष बड़ी २ विशाल विपत्तियोंको लाँघ जाते हैं" इस प्रकार यज्ञ आदि आपत्तिसे पार करने वाले होते हैं–यह विचार वैदिक और स्मार्त-कर्मरूप यज्ञको करने वाले पुण्यात्मा पुरुष जिस मार्गसे स्वर्ग-लोकको प्राप्त होते हैं, स्वर्गलोकप्राप्तिके मार्गसमूहमें उस मार्गको ढूँढनेके लिये आते हुए इस यजमानके लिये यज्ञकर्ता पुण्यात्मा दिशा वा भूत उस मार्गको और लोकको बनावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।

महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥

अङ्गिरसाम् । अयनम् । पूर्वः । अग्निः । आदित्यानाम् । अयनम् । गार्हऽपत्यः । दक्षिणानाम् । अयनम् । दक्षिणऽअग्निः । महिमानम् । अग्नेः । विऽहितस्य । ब्रह्मणा । सम्ऽअङ्गः । सर्वः । उप । याहि । शग्मः ॥ ८ ॥

परितश्रिताम् आहिताग्नेर्गार्हपत्यादयोऽग्नयो विहृता यथाप्रदेशं

पर्यन्ते । तेऽग्नयः अभिलषितप्रदा भवन्तु इत्ययम् अर्थः इत उत्तरै-र्मन्त्रैः प्रतिपाद्यते । अङ्गिरसाम् अयनं नाम सत्त्रात्मकः क्रतुविशेषः । स एव पूर्वः पूर्वस्यां दिशि वर्तमानोऽग्निः आहवनीयः । आदित्या-नाम् अयनम् एतत्संज्ञकः सत्त्रयागः गार्हपत्योऽग्निः । ✽ "गृह-पतिना संयुक्ते ञ्यः" इति ञ्यप्रत्ययः ✽ । दक्षिणानाम् दक्षा एव दक्षिणाः दक्षाणाम् अयनं सत्त्रविशेषः स एव दक्षिणाग्निः दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानोऽग्निः ॥ एवं ब्रह्मणा मन्त्रेण मन्त्रसाध्य-सत्त्रयागात्मना वा विहितस्य निर्मितस्य पृथगायतनेषु स्थापितस्य अग्नेर्महिमानम् आहवनीयादिसंज्ञाभिर्व्यवह्रियमाणां विभूतिं समङ्गः संहतावयवः सर्वः संपूर्णावयवः अतः शग्मः । सुखनामैतत् । सुखितः सन् उप याहि । सर्वैरग्निभिर्दह्यमानः प्रेत एवम् उच्यते॥

[अब यहाँसे लेकर अगले मंत्रोंमें यह प्रतिपादन किया जाता है, कि–] आहिताग्निकी चारों ओरसे चिनी हुई चितामें रक्खी हुई गार्हपत्य आदि अग्नियें यथाप्रदेश रहती हैं । वे अग्नियें अभि-लषित फलको देवें । पूर्वदिशामें वर्तमान आहवनीय अग्नि अंगि-राओंका अयन नामक सत्रात्मक एक क्रतु है । गार्हपत्य अग्नि आदित्योंका अयन नामक सत्रयाग है । दक्षिणदिशामें वर्तमान दक्षिणाग्नि दक्षायन नामक सत्र है । इस प्रकार मंत्रसाध्य सत्र-यागरूपसे पृथक् २ स्थानोंमें स्थापित अग्निकी आहवनीय आदि नामोंसे व्यवहृत विभूतिको हे प्रेत ! तू सम्पूर्णावयव होकर अत एव सुख पाता हुआ प्राप्त हो अर्थात् तू सब अग्नियोंसे भस्म हो ८

नवमी ॥

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥९॥

पूर्वः । अग्निः । त्वा । तपतु । शम् । पुरस्तात् । शम् । पश्चात् ।
 तपतु । गार्हऽपत्यः ।
दक्षिणऽअग्निः । ते । तपतु । शर्म । वर्म । उत्तरतः । मध्यतः ।
 अन्तरिक्षात् । दिशःऽदिशः । अग्ने । परि । पाहि । घोरात् ६

हे अग्निभिर्दह्यमान प्रेत पूर्वो अग्निः पूर्वस्यां दिशि दीप्यमान आहवनीयः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि शम् सुखं यथा तथा त्वा त्वां तपतु तापयतु दहतु । तथा गार्हपत्यः गृहपतिना यजमानेन आहितः सर्वाभियोनिभूतोग्निः पश्चात् पश्चिमभागे शम् सुखं तपतु त्वां दहतु । दक्षिणाग्निः दक्षिणस्यां दिशि निहितोग्निस्ते त्वदर्थं शर्म सुखं यथा तथा वर्म कवचं पराभेद्यं यथा तथा तपतु । कवचं यथा सर्ववारकम् यद्वा शर्म गृहम् गृहं यथा सर्वाच्छादकम् एवं सर्वं त्वदीयशरीरम् आवृत्य दहत्वित्यर्थः ॥ अथ अग्नेः प्रत्यक्षस्तुतिः । हे अग्ने । आहवनीयाद्यनुगतत्वाकारेण एकवचनम् । उत्तरतः । ❁ "पञ्चम्यास्तसिल्" ❁ । उत्तरस्या दिशः । ❁"तसिलादिष्वाकृत्वसुचः" इति पुंवद्भावः ❁ । मध्यतः पूर्वादीनां चतसृणां मध्यप्रदेशाद् अन्तरिक्षात् आकाशाद् दिशो दिशः सर्वस्या अवान्तरदिशः परि पाहि परितो रक्ष ॥ न केवलं दिशो घ्नन्ति किं तु तत्रस्थो भयंकरः पुरुषो हिनस्ति । तथा च महारण्यं प्रस्तुत्य मन्त्रवर्णः । "न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति" इति [ऋ० १०. १४६. ५] । अतो भीतिकारणम् आह घोरादिति । घोरात् क्रूरात् हिंसकात् परि पाहि । ❁ "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति सर्वत्र अपादानसंज्ञा । "अपादाने पञ्चमी" इति पञ्चमी ❁ ॥

हे अग्नियोंसे भस्म होते हुए प्रेत ! पूर्वदिशामें दमकते हुए

अग्निदेव, जिस प्रकार पूर्वदिशामें तुझको सुख प्राप्त हो तिस प्रकार तुझको भस्म करें। तथा गृहपति यजमानके द्वारा आहित स्थापित–सब अग्नियोंका कारण गार्हपत्य अग्नि तुझको पश्चिम दिशामें जिस प्रकार सुख प्राप्त हो तिस प्रकार भस्म करे। दक्षिण दिशामें स्थापित दक्षिणाग्नि जिस प्रकार तुझको सुख प्राप्त हो तिस प्रकार तथा कवचकी समान चारों ओरसे न भिदता हुआ तुझको भस्म करे, वा घरकी समान तुझको चारों ओरसे आच्छादित करके भस्म करे। हे अग्ने! आप उत्तरदिशासे और पूर्व आदि चारों दिशाओंके मध्यभागसे आकाशसे और सब दिशाओं की अवान्तर दिशाओंसे अर्थात् उन दिशाओंके क्रूर हिंसक समुदायसे इस प्रेतकी रक्षा करिये [दिशाएँ किसीको नहीं मारती हैं किंतु उनमें स्थित भयंकर पुरुष मारते हैं अत एव यहाँ घोर–क्रूरहिंसक–कहा है। इसी बातको महावनको दिखाते हुए ऋग्वेदसंहिताके १०। १४६। ५ के मन्त्रमें कहा है, कि–“न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।–यदि दूसरा न आवे तो महावन किसीको नहीं मार सकता”] ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम्।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं
मदन्ति ॥ १० ॥

यूयम्। अग्ने। शम्ऽतमाभिः। तनूभिः। ईजानम्। अभि। लोकम्। स्वःऽगम्।
अश्वाः। भूत्वा। पृष्टिऽवाहः। वहाथ। यत्र। देवैः। सधऽमादम्। मदन्ति ॥ १० ॥

हे अग्ने यूयम् । एकस्यैवाग्नेस्त्रेधाभवनाद् यूयम् इति बहुवचनम् । पृथगायतनेषु स्थापिता यूयम् शंतमाभिः अत्यन्तं सुखकरीभिस्तनूभिः शरीरैः । द्विविधाः खलु अग्नेस्तन्वः घोराश्च शिवाश्चेति । उभयथस्तन्वस्तैत्तिरीयके श्रूयन्ते । "ये ते अग्ने शिवे तनुवौ विराट् च स्वराट् च ते मा विशतां ते मा जिन्वताम् । सम्राट् चाभिभूश्च । विभूश्च परिभूश्च । प्रभ्वी च प्रभूतिश्च । यास्ते अग्ने शिवास्तनुवः" इत्यादि [तै० आ० १.१.७.२.] । "यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः । क्षुच्च तृष्णा च । अस्नुक् चानाहुतिश्च । अशनया च पिपासा च । सेदिश्चामतिश्च । एतास्ते अग्ने घोरास्तनुवः" इति [तै० आ० ४. २२] । तत्र शिवाभिस्तनूभिः सह ईजानम् येन यूयम् आहिता इष्टाश्च तम् इष्टवन्तं पुरुषं स्वर्गम् सुखेन गन्तव्यं सुखात्मकं लोकम् अभि वहाथ अभिगमयत । अग्नित्रयस्य गन्तव्यप्रापणे दृष्टान्तम् आह अश्वो भूत्वेति । प्रष्टिवाहः अश्वो भूत्वा । पुरस्ताद् एकः पश्चाद् द्वौ इत्येवं त्रिभिरश्वैर्युक्तो देवो रथः प्रष्टिः । तं वहन् प्रष्टिवाहः अश्वो भूत्वा । समष्टिरूपेण एकवचनम् । एवं त्रिधाभवन्तो यूयम् एनं आहिताग्निं स्वर्गं लोकम् अभिगमयतेति । ❀ वहतेर्लेटि आडागमः ❀ । यत्र यस्मिन् स्वर्गे लोके देवैः अमृतपैः सधमादम् सह मदो यस्मिन् कर्मणि तथा मदेम हृष्यास्म । उपस्तोतॄन् गोत्रिणोऽपेक्ष्य उत्तमपुरुषो बहुवचनं च । ❀ "सधमादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः । मदेमेति । माद्यतेः आशीर्लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(एक ही अग्नि तीन रूपोंमें होगए हैं अत एव) हे अग्ने ! पृथक् २ स्थानोंमें स्थापित किये हुए तुम, जिसने तुम्हारा आधान और पूजन किया था उस यजमानको अपने परम कल्याण करने

वाले शरीरोंसे † आगे एक और पीछे दो घोड़े जोते जाने वाले देव रथ पृष्टिको खेंचने वाले घोड़ोंकी समान घोड़े बनकर स्वर्ग-लोकमें लेजाओ, उस स्वर्गलोकमें उपस्तोता वा गोत्र वालों सहित हुए, देवताओंके साथ प्रसन्न होवें ॥ १० ॥ (२०)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥

"शमग्ने" इति द्वितीयसूक्ते आदितः पञ्चानाम् ऋचां चिति-स्थाहिताग्न्युपस्थाने विनियोग उक्तः। "ईजानश्चितमारुक्षत्" [१४] इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां चितावुत्तानम् आहितं प्रेतं कर्ता अनुमन्त्रयेत। "अपूपवान् क्षीरवान्" [१६] इति नवभिऋग्भि-र्मन्त्रोक्तद्रव्ययुतान् नवसंख्याकांश्चरून् अभिमन्त्र्य प्रेतस्य समीपे पश्चिमदिक्प्रभृत्यष्टसु दिक्षु एकं मध्य इति क्रमेण निदध्यात् ॥

---

† अग्निके दो प्रकारके शरीर (लपटें) होते हैं एक घोर और दूसरे सुखप्रद। तैत्तिरीयकमें दोनों प्रकारके शरीरोंका वर्णन है, कि—"ये ते अग्ने शिवे तनुवौ विराट् च स्वराट् च ते मा विशतां ते मा जिन्वताम्। सम्राट् चाभिभूश्च। विभूश्च परिभूश्च। प्रभ्वी च प्रभूतिश्च। यास्ते अग्ने शिवास्तनुवः० ।—हे अग्ने आपके जो विराट् और स्वराट् नामक कल्याणप्रद शरीर हैं वे, मुझमें प्रवेश करें मुझको प्रसन्न करें। सम्राट् अभिभू, विभू और प्रभु, प्रभ्वी और प्रभूति नामक जो आपके शरीर हैं वे मुझमें प्रवेश करें और मुझको प्रसन्न करें०" (तैत्तिरीयब्राह्मण १। १। ७। २)। "यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः। क्षुच्च तृष्णा च। अस्नुक् चानाहु-तिश्च। अशनया च पिपासा च। सेदिश्चामतिश्च। एतास्ते अग्ने घोरास्तनुवः।—जो आपके घोर शरीर हैं उनका वर्णन करता हूँ। भूख तृष्णा अस्नुक् अनाहुति, अशना पिपासा, सेदि और अमति हे अग्ने! ये आपके घोररूप हैं" (तैत्तिरीय आरण्यक ४। २२) ॥

"शमग्ने" आदि द्वितीय सूक्तमें आरम्भकी पाँच ऋचाओंका चितामें स्थित आहिताग्निके उपस्थानमें विनियोग है। "ईजानश्चितमारुक्षत्" (१४) आदि दो ऋचाओंसे चितामें चित्त रक्खे हुए प्रेतका कर्ता अनुमन्त्रण करे। "अपूपवान् क्षीरवान् (१६) आदि सोलह ऋचाओंसे मन्त्रोक्त द्रव्य पड़े नौ घड़ोंको अभिमन्त्रित करके अस्थियोंके समीपमें पश्चिम आदि आठ दिशाओं में और मध्यमें एकको रक्खे।

तत्र प्रथमा ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम्।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥

शम्। अग्ने। पश्चात्। तप। शम्। पुरस्तात्। शम्। उत्तरात्। शम्। अधरात्। तप। एनम्।
एकः। त्रेधा। विऽहितः। जातऽवेदः। सम्यक्। एनम्। धेहि। सुऽकृताम्। ऊं इति। लोके ॥ ११ ॥

हे अग्ने त्वं पश्चात्। ❀ "पश्चात्" इति निपातितोयं शब्दः ❀। पश्चिमभागे गार्हपत्यः सन् शम् सुखं तप दह। पुरस्तात् पूर्वभागे शम्। तपेत्यनुषङ्गः। उत्तरात् उत्तरदिक्प्रदेशे। अधरात्। अधरशब्देनात्र उत्तरप्रतियोगिनी दक्षिणा दिग् उच्यते। ❀ उभयत्र "उत्तराधरदक्षिणादातिः" इति आतिप्रत्ययः ❀। वाक्यभेदात् शंपदस्य आवृत्तिः। एनम् आहिताग्निं तप॥ हे

जातवेदः जातानां वेदितरग्ने त्वं पूर्वम् एकोपि त्रेधा विहितः गार्हपत्यादिरूपेण त्रिप्रकारं स्थापितः एनम् अन्वादिष्टम् अग्न्याहितम् मेतम् । उशब्दः अवधारणे । सुकृताम् सुकृतकर्मणां लोके स्थाने स्वर्गाख्य एव सम्यक् समीचीनं यथा तथा धेहि स्थापय । सम्यक्त्वं नाम अविकलं चिरकालावस्थायित्वम् ॥

हे अग्ने ! तुम पश्चिमभागमें गार्हपत्य रूपमें सुखपूर्वक भस्म करो, पूर्वभागमें सुख प्राप्त हो तिस प्रकार भस्म करो। उत्तर और दक्षिणा दिशामें भी हे अग्ने ! आप इस आहिताग्निको भस्म करें, हे जातवेदा अग्ने ! यजमानने पहिले एक होनेपर भी गार्हपत्य आदि रूपमें आपको तीन प्रकारसे स्थापित किया था ऐसे इस अग्निहोत्रीको आप पुण्यात्माओंके लोकमें समीचीनरूप से स्थापित करिये ॥ ११ ॥

द्वितीया ॥

शम॒ग्नयः॒ समि॑द्धा॒ आ र॑भन्तां प्राजाप॒त्यं मेध्यं॑ जा॒तवे॑दसः ।
शृ॒तं कृ॒ण्वन्त॑ इ॒ह माव॑ चि॒क्षिप॒न् ॥ १२ ॥

शम् । अ॒ग्नयः॑ । सम्ऽइ॑द्धाः । आ । र॒भ॒न्ता॒म् । प्रा॒जा॒ऽप॒त्यम् । मेध्य॑म् । जा॒तऽवे॑दसः ।
शृ॒तम् । कृ॒ण्वन्तः॑ । इ॒ह । मा । अव॑ । चि॒क्षि॒प॒न् ॥ १२ ॥

आभ्याम् अग्नीन् संभूय प्रार्थयते । जातवेदसः जातानां वेदितारोग्नयः समिद्धाः सम्यक् प्रदीपिताः सन्तः प्राजापत्यम् प्रजापतिदेवत्यं मेध्यम् मेधो यज्ञः पितृमेधाख्यः तदर्हम् इमं प्रेतरूपं पशुं शम् रभन्ताम् संस्पृशन्तु परितो दहन्तु । इह अस्मिन् दहनकर्मणि

शृतम् प्राजापत्यम् इमं यज्ञार्हं पशुं पक्वं कृण्वन्तः कुर्वन्तः अवमा चिक्षिपन् अवक्षिप्तम् अवकीर्णं मा कुर्वन्तु । यथा निरवशेषं दह्यते तथेति । ❀ "सास्य देवता" इत्येतस्मिन्नर्थे "०पत्युत्तरपदाण्ण्यः" इति ण्यः । शृतम् इति । श्रा पाके इत्येतस्मात् कर्मकर्तरि निष्ठायां "शृतं पाके" इति निपातनात् शृभावः ❀ ॥

उत्पन्न हुओंको जानने वाली अग्नियें प्रदीप्त होकर इस प्रजापति देवता वाले पितृमेधके योग्य प्रेतरूप पशुका भली प्रकार स्पर्श करें । अर्थात् इसको चारों ओरसे भस्म करें । इस दहन कर्ममें इस प्राजापत्ययज्ञार्ह पशुको पकाती हुई अग्नियें इसको इधर उधर न फेंके अर्थात् इसको अधकचरा न जलावें जिस प्रकार यह सब भस्म होजावे तिस प्रकार भस्म करडालें ॥१२॥

तृतीया ॥

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

यज्ञः । एति । विऽततः । कल्पमानः । ईजानम् । अभि । लोकम् । स्वःऽगम् ।
तम् । अग्नयः । सर्वऽहुतम् । जुषन्ताम् । प्राजाऽपत्यम् । मेध्यम् । जातऽवेदसः ।
शृतम् । कृण्वन्तः । इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

विततः प्राच्योदीच्याङ्गैर्विस्तृतः कल्पमानः इष्टं प्रदेशं प्रापयितुं समर्थो यज्ञः पितृमेधाख्यः ईजानम् इष्टवन्तम् एनं स्वर्गम् सुखात्मकं

लोकम् अभ्येति । ® अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् एतिः ® । अभिगमयति अभिप्रापयति ॥ अतो जातवेदसः अग्नयः प्राजापत्यं मेध्यं तम् ईजानं प्रेतरूपं पशुं सर्वहुतम् सर्वैः निरवशेषः हुतो दग्धः तं जुषन्ताम् सेवन्ताम् ॥ शृतम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

प्राच्य और उदीच्य अंगोंसे विस्तृत, इष्ट प्रदेशको प्राप्त कराने की शक्ति रखने वाला यह पितृमेध नामक यज्ञ इस पूजन करने वालेको सुखात्मक स्वर्गलोकको प्राप्त करा रहा है । अत एव जातवेदा अग्नियें इस सर्वहुत प्राजापत्य मेध्य पशुका सेवन करें और इसको पक्व करती हुई अग्नियें इसको इधर उधर फेंक कर—छोड़ कर—अधजला न रहने दें ॥ १३ ॥

चतुर्थी ॥

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥

ईजानः । चितम् । आ । अरुक्षत् । अग्निम् । नाकस्य । पृष्ठात् । दिवम् । उत्ऽपतिष्यन् ।
तस्मै । प्र । भाति । नभसः । ज्योतिषीऽमान् । स्वःऽगः । पन्थाः । सुऽकृते । देवऽयानः ॥ १४ ॥

ईजानः इष्टवान् पुरुषः चितम् विषमसंख्याकाभिः शलाकाभिरिष्टकाभिर्वा चयनेन संस्कृतम् अग्निम् प्रदेशम् । इष्टकचितः प्रदेशः अग्निरित्युच्यते । उक्तं हि भगवता आपस्तम्बेन । "अग्निष्टोम उत्तरवेदिरुत्तरेषु क्रतुष्वग्निः" इति [आप० २५. ४] । तम्

आ अरुक्षत् आरूढवान् । ॐ रुहेर्लुङि "शल इगुपधादनिटः०" इति क्सः । क्सित्वाद् गुणाभावः ॐ । किमर्थम् नाकस्य दुःख-रहितस्य स्वर्गस्य पृष्ठे उपरिभागे दिवम् तृतीयकक्ष्यारूपं द्युलोकम् । "त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" इति श्रुतेः [ऐ० ब्रा० २. १७] एकैकस्य लोकस्य त्रिवृत्त्वाद् एकस्यापि स्वर्गलोकस्य उत्तमाधम-मध्यभेदेन त्रैविध्यम् । मध्यमायाः स्वर्गकक्ष्यायाः परमां तृतीय-कक्ष्याम् उत्पतिष्यन् । उत्पतनाद्धेतोरित्यर्थः । तस्मै दिवम् उत्पति-ष्यते सुकृते सुकृतकर्मणे तदर्थं नभसः मध्याकाशस्य ज्योतिषीमान् ज्योतिष्मान् प्रकाशकः देवयानः देवा यान्ति अनेनेति सः स्वर्गः सुखेन गन्तव्यः परमः स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतो वा पन्थाः मार्गः प्रभाति प्रकर्षेण दीप्यतां प्रकाशताम् । ॐ भातेः पञ्चमलकारः ॐ ॥

यह यज्ञ करने वाला पुरुष स्वर्गसे स्वर्गके तीसरे उच्च दर्जे पर चढ़नेके लिये विषमसंख्यक शलाका वा ईंटोंसे चिने हुए इस अग्निप्रदेश पर आरूढ़ होगया है । उस स्वर्गमें उत्क्रमण करते हुए पुण्यात्मा प्रेतके निमित्त मध्याकाशका प्रकाशक देवयान भली प्रकार प्रकाशित हो ॥ १४ ॥

पञ्चमी ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु हुतोयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् १५

अग्निः । होता । अध्वर्युः । ते । बृहस्पतिः । इन्द्रः । ब्रह्मा । दक्षिणतः । ते । अस्तु ।

हुतः । अयम् । सम्ऽस्थितः । यज्ञः । एति । यत्र । पूर्वम् । अय-नम् । हुतानाम् ॥ १५ ॥

हे चितस्थ प्रेत ते तव पितृमेधाख्ये यज्ञे अग्निर्होतारः वषट्कर्ता एतत्संज्ञक ऋत्विग् अस्तु । बृहस्पतिः बृहतां देवानां पतिः पालको देवः अध्वर्युः अध्वरं यज्ञं यजमानस्य कामयमानः एतत्संज्ञक ऋत्विग् अस्तु । ॐ अध्वरशब्दात् "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच् । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति अन्त्यलोपः । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । अध्वर्युष्ट इत्यत्र "युष्मत्तत्ततक्षुःषु०" इति सांहितिको मूर्धन्यादेशः ॐ । इन्द्रो दक्षिणस्यां दिशि आसीनो ब्रह्मा एतत्संज्ञक ऋत्विक् ते तव पितृमेधाख्ये यज्ञे अस्तु भवतु । अस्मिन् प्रेतसंस्काररूपपितृमेधे अग्न्यादीनां होत्रादिमहर्त्विग्भावेन रूपणम् अस्य कर्मणो वैकल्याभावद्योतनायेति मन्तव्यम् । होत्रादिकीर्तनम् अन्येषाम् ऋत्विजाम् उपलक्षणार्थम् । एवं होत्रादिरूपैरग्न्यादिभिरनुष्ठितोयं यज्ञः पितृमेधाख्यः संस्थितः समापितः सन् एति गच्छति । गन्तव्यं स्थानं दर्शयति । यत्र यस्मिन् स्थाने हुतानाम् इष्टानां यज्ञानां पूर्वम् पूर्वकालीनम् अयनम् गमनं प्राप्तिर्विद्यते । यज्ञस्य उत्तमलोकप्राप्त्या तत्संस्कृतस्य पुरुषस्य स्वर्गलोकप्राप्तिरुक्तेत्यनुसंधेयम् ॥

हे चितामें स्थित प्रेत ! तेरे पितृमेध नामक यज्ञमें अग्निदेव होता नामक ऋत्विज होवें, बृहस्पति देव यजमानके यज्ञकी कामना करने वाले अध्वर्यु नामक ऋत्विज बनें इन्द्रदेव दक्षिण दिशामें बैठे हुए ब्रह्मा नामक ऋत्विज होवें । [इस प्रेतसंस्काररूप पितृमेधमें अग्नि आदिका बड़े २ ऋत्विजोंके रूपमें आरोप इस कर्मकी विकलताका अभाव दिखानेके लिये है । तथा होता आदिका कीर्तन अन्य ऋत्विजोंका भी उपलक्षण है] इस प्रकार होता आदि रूप वाले अग्नि आदिसे अनुष्ठित यह पितृमेध नामक यज्ञ समापित होकर उस स्थानमें जाता है, कि–जिस स्थानमें पूर्व समयमें हुत यज्ञोंका स्थान है । तात्पर्य यह है, कि–यज्ञको उत्तम-

लोककी प्राप्तिसे उसमें संस्कृत पुरुषको ही स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ १५ ॥

षष्ठी ॥

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । क्षीरऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ १६ ॥

अपूपवान् गोधूमादिपिष्टविकारा अपूपाः तद्वान् । क्षीरवान् क्षीरं गोपयः तद्वान् । चरुः कुम्भ्यां पक्व ओदनः इह अस्मिन् संचयनकर्मणि अस्थ्नां समीपे पश्चिमदिग्भागे आ सीदतु आसन्नो भवतु ॥ चर्वासादनमेव देवानां प्रीणनकारीति दर्शयति । लोककृतः संस्क्रियमाणस्य प्रेतस्य लोकं स्वर्गं कुर्वन्तीति लोककृतः तान् पथिकृतः गन्तव्यस्थानस्य मार्गकर्तॄन् मार्गप्रदर्शकान् देवान् यजामहे प्रीणयामः । इह अस्मिन् संचयनकर्मणि अपूपक्षीरयुक्तचर्वासादने देवानां यष्टव्यानाम् इन्द्रादीनां मध्ये ये यूयं हुतभागाः हुतं हविः । भागः भजनीयोंऽशः । ॐ कर्मणि घञ् ॐ । हविर्भागवन्तः स्थ भवथ तान् यजामहे ॥ एवम् उत्तरेऽष्टौ पर्याया व्याख्येयाः । विशेषस्तु वक्ष्यते ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न गोदुग्धसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु इस संचयन कर्ममें अस्थियोंके समीप पश्चिम दिशाके भागमें रक्खा रहे । अब यह बताते हैं, कि–चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला

होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके लिये स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्य मार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमें से इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ १६ ॥

सप्तमी ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥

अपूपऽवान् । दधिऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः । इह । स्थ ॥ १७ ॥

अपूपसाहित्यं सर्वेषां चरूणां साधारणम् । दधिवान् दधिमान् । ॐ भूम्नि मतुप् । "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् ॐ । दधियोग्यो द्वितीयचरोर्विशेषः ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, मोदधिसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्म में अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि—चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] एप इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ १७ ॥

अष्टमी ॥

अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । द्रप्सऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ १८ ॥

द्रप्सा दधिकणाः । तद्वत्त्वम् अस्य चरोर्विशेषः ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे संपन्न, दधिकण द्रप्ससे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयन कर्म में अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि-चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओं को प्रसन्न करते हैं ॥ १८ ॥

नवमी ॥

अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । घृतऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ १९ ॥

घृतवान् घृतं भूयोस्यास्तीति घृतवान् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, गोघृतसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्म में अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि-चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ १६ ॥

दशमी ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । मांसऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ २० ॥

मांसवत्त्वम् अस्य विशेषः ॥

इति चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, मांससे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्म में अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भाग रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि-चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देव-

ताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओं को प्रसन्न करते हैं ॥ २० ॥ (२१)

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

"अपूपवानन्नवांश्चरुः" इति आदितश्चतसृणाम् ऋचाम् अस्थि-समीपे मन्त्रोक्तचरुस्थापनकर्मणि उक्तो विनियोगः ॥

"अपूपापिहितान्" [२५] इत्यनया पूर्वस्थापितान् नवचरु-कुम्भान् अभिमन्त्रयेत । मिश्रा धाना आदध्यात् ॥

"द्रप्सश्चस्कन्द" [२८] इत्यनया अग्निष्टोमादिक्रतुषु बहि-ष्पवमानप्रसर्पणकाले वैप्रुषहोमं कुर्यात् ॥

"शतधारम्" [२९] इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्याम् अभिमन्त्रितेन शतच्छिद्रपात्रपतितोदकेन अस्थीनि आसावयेत् ॥

"अपूपवानन्नवांश्चरुः" आदिकी चार ऋचाओंका अस्थियोंके समीपके मन्त्रोक्तचरुस्थापनके कर्ममें विनियोग कह दिया है।

"अपूपापिहितान्" (२५) ऋचासे पहिले स्थापित किये हुए नौ चरुओंका अभिमन्त्रण करे। मिश्र धानाओंको रक्खे।

"द्रप्सश्चस्कन्द" इस अट्ठाईसवीं ऋचासे अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें बहिष्पवमानप्रसर्पणके समय वैप्रुषहोम (बिन्दुहोम) को करे

"शतधारम्" इन २९ वीं और ३० वी ऋचाओंसे अभि-मन्त्रित शतच्छिद्र (चलनी) से गिरते हुए जलसे हड्डियोंको आसावित करें॥

तत्र प्रथमा ॥

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । अन्नऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।

लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ २१ ॥

अन्नम् अदनीयम् ओदनम् स्थालीपक्वे चरौ पात्रान्तरपक्वम् ओदनं प्रक्षेप्तव्यम् इत्यर्थः । ओदनान्तरयुक्तश्चरुरिति यावत् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, अन्नसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्ममें अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि—चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ २१ ॥

द्विसीया ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । मधुऽमान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।
लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ २२ ॥

मधुमान् मधु माक्षिकं तद्वान् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, मधुसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्ममें अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि—चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है]

हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ २२ ॥

तृतीया ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । रसऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।

लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
इह । स्थ ॥ २३ ॥

रसवान् रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायाख्याः षट्संख्याकाः तद्वान् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, स्वादु अम्ल लवण तिक्त ऊषण और कषाय नामक छः रसोंसे संयुक्त, कुम्भी में पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्ममें अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं कि-चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्गलोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंश के अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥२३॥

चतुर्थी ॥

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ

अपूपऽवान् । अपऽवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ।

लोकऽकृतः । पथिऽकृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुतऽभागाः ।
 इह । स्थ ॥ २४ ॥

अपूपवान् । भिन्नप्रकृतिका अपूपा विवक्षिताः । तद्वान् चरुः इह मध्यप्रदेशे आ सीदतु ॥ लोककृतः इत्यादि पूर्ववत् ॥

पिसे हुए गेहूँ आदिसे बने हुए अपूपोंसे सम्पन्न, भिन्न प्रकारके अपूपसे संयुक्त, कुम्भीमें पका हुआ ओदनरूप चरु, इस सञ्चयनकर्ममें अस्थियोंके समीप पश्चिम दिग्भागमें रक्खा जावे [अब यह दिखाते हैं, कि—चरुका रखना ही देवताओंको प्रसन्न करने वाला होता है] हम इस संस्क्रियमाण प्रेतके निमित्त स्वर्ग-लोकका निर्माण करने वाले और गन्तव्यमार्गके प्रदर्शक इन्द्र आदि देवताओंमेंसे इस होमे हुए अंशके अधिकारी यहाँ वर्तमान देवताओंको प्रसन्न करते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चमी ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

अपूपऽअपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ।

ते । ते । सन्तु । स्वधाऽवन्तः । मधुऽमन्तः । घृतऽश्चुतः ॥२५॥

पूर्वानुवाके व्याख्यातैषा [३. ६८] । अपूपापिहितान् अपूपैराच्छादितान् यान् कुम्भान् चरुपूर्णान् नवकलशान् देवाः तत्तद्धविर्भागिनो मन्त्रोक्ता देवताः ते संचितास्थिरूप हे प्रेत त्वदीयान् अधारयन् स्वस्वभागत्वेन धारितवन्तः स्वीकृतवन्तः ते हुत-

भागैर्देवैः स्वीयत्वेन परिगृहीताः कुम्भस्थाश्चरवः ते परलोक-प्राप्तस्य ते तुभ्यं स्वधावन्तः स्वम् आत्मानं दधाति पुष्णाति धिनोतीति वा स्वधा अन्नम् तद्वन्तः सन्तु । मधुमन्तः मधुसहिताः घृतश्चुतः घृताज्यक्षारिणो भवन्तु । भवदीयास्थिसमीपे स्थापिताश्चरवः परलोकं प्राप्तस्य तव प्रीणनाय बह्वन्नराशयो मधुघृतकुल्यायुक्ता भवन्तु इत्यर्थः ॥

हे प्रेत ! हवियोंके भागी मन्त्रोक्त देवताओंने जिन अपूपोंसे आच्छादित चरुपूर्ण नवीन कलशोंको अपने भागरूपमें स्वीकार करके धारण किया है वह देवताओंके द्वारा अपने मान कर ग्रहण किये हुए कुम्भोंके चरु तुझको परलोकमें स्वधावान् [अपनेको पुष्ट करने वाले अन्नसे संयुक्त, मधुसे सम्पन्न और घृत टपकते हुए हों । तात्पर्य यह है, कि-तेरी अस्थियोंके समीपमें स्थापित यह चरु तुझ परलोकको प्राप्त हुएको तृप्त करनेके लिये बहुतसी अन्नराशि वाले और मधु तथा घृतकी नदी वाले होवें ॥ २५ ॥

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः ।
तास्ते॑ सन्तूद्भ्वीः॑ प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम् ॥

याः । ते॒ । धा॒नाः । अ॒नु॒ऽकि॒रामि॑ । ति॒लऽमि॑श्राः । स्व॒धाऽव॑तीः ।
ताः । ते॒ । सन्तु॒ । उ॒त्ऽभ्वीः॑ । प्र॒ऽभ्वीः । ताः । ते॒ । य॒मः । राजा॑ । अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् ॥ २६ ॥

अदि॑तिं॒ भूय॑सीम् ॥ २७ ॥

अदि॑तिम् । भूय॑सीम् ॥ २७ ॥

षष्ठी ॥ हे संचितास्थिरूप प्रेत ते त्वदर्थं तिलमिश्राः कृष्णतिलयुक्ताः स्वधावतीः अन्नवतीर्या धानाः भृष्टयवान् अनुकिरामि

अनुक्रमेण विकिरामि अनूचीनं वा विक्षिपामि ता धानास्ते परलोके प्राप्तवतस्तव प्रीणनाय अभ्वीः । महत्नामैतत् । महत्यो भवन्तु । अभ्वीः प्रभूताश्च सन्तु भवन्तु । ❀ "गुणवच" इति ङीष् । अभ्वीरिति । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ता महतीः प्रभूताश्च धानास्ते तव भोगाय यमः नियन्ता पितॄणां राजा अनुमन्यताम् अनुजानातु । अनुमतेर्निरवधित्वं दर्शयति अक्षितिं भूयसीम् इति । भूयसीम् अत्यन्तं बहुम् अक्षितिम् अक्षयम् । बहुकालपर्यन्तम् इति यावत् । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया ❀ । यथा लोके नगरे तिष्ठन् पुरुषः स्वीयं बहुधनं पुरः स्वामिनोऽनुज्ञया भुङ्क्ते एवं यमराज्यं प्राप्तवतः प्रेतस्य अन्नभोगाय पितृराजस्य यमस्य अनुज्ञा प्रार्थ्यते ॥

हे सविताखरूप प्रेत ! मैं तेरे लिये जिन काले तिलों वाले, स्वधान्नसे सम्पन्न भुनी हुई जौंकी खीलोंको बखेर रहा हूँ, वे खीले तेरे परलोकमें पहुँचने पर तुझको बड़ी २ और विशाल परिमाणमें मिलें । और इन बड़ी २ ढेरकी ढेर खीलों का भोग लगानेके लिये यमराज तुझको अनुमति दें चिरकाल तक भोग लगानेके लिये अनुमति देवें [अर्थात् जैसे नगरमें बसता हुआ पुरुष अपने बहुतसे धनको नगराधीशकी अनुज्ञासे भोगता है इसी प्रकार यमराज्यमें पहुँचे हुए प्रेतके अन्नभोगके लिये पितृराज यमकी अनुज्ञाकी प्रार्थना की गई है] ॥२६॥२७॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥२८

द्रप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः ।

समानम् । योनिम् । अनु । सम्ऽचरन्तम् । द्रप्सम् । जुहोमि ।

अनु । सप्त । होत्राः ॥ २८ ॥

सप्तमी ॥ पितृत्वं प्राप्ता जना धूमादिमार्गेण पितृलोकम् आसाद्य तत्र सोमयागजनितं सुकृतफलम् उपभुञ्जते इति अस्मिन् पित्र्ये प्रकरणे सोमे स्थितस्य उदकस्य कणः सोमो वा अनया स्तूयते । द्रप्सः सोमरसस्थितोदककणः पृथिवीम् भूमिं द्याम् दिवं च अनु-लक्ष्य चस्कन्द स्कन्नो विप्रकीर्णोभवत् । ❀ लक्षणार्थे अनुः कर्म-प्रवचनीयः । "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति द्वितीया ❀ । ग्रावभिरभिषवकाले भूमौ सोमरसः स्कन्दति । दशापवित्राद् द्रोण-कलशं प्रति धारापातसमये अन्तरिक्षे सोमकणो विप्रकीर्णो भव-तीति यावत् । एतदेव उच्यते इमं च योनिम् इति । इमं योनिम् सर्वस्य चराचरात्मकस्य जगतः कारणं पृथिवीम् अनुलक्ष्य तथा पूर्वः पूर्वम् उत्पन्नो यो द्युलोकस्तम् अनु । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । योनिशब्दः पुंलिङ्गोपि विद्यते ❀ । समानम् एकविधं योनिम् द्यावापृथिवीलक्षणं स्थानम् अनुलक्ष्य संचरन्तम् समन्ताद् विप्रकीर्णं द्रप्सम् सोमरसकणं सप्त सप्तसंख्याका होत्राः । वषट्-कर्तॄणां संज्ञा होत्रा इति । सप्त होतृमैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसिपोतृ-नेष्ट्रग्नीध्राच्छावाकसंज्ञकान् वषट्कर्तॄन् अनुलक्षीकृत्य जुहोमि अग्नौ प्रक्षिपामि । उत्तरत्र होत्रादिवषट्कारे सोमरसः अध्वर्युभि-र्हूयते । तदर्थं स्कन्नं सोमरसं द्रप्सदेवतार्थं करोमीत्यर्थः । वाज-सनेयब्राह्मणे खलु एष द्रप्सः आदित्यात्मना स्तुतः । तथा च आम्नायते । "असौ वा आदित्यो द्रप्सः । स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति । इमं च योनुमनु यश्च पूर्व इति । इमं च लोकम् अमुं चेत्येतत् । समानं योनिमनु संचरन्तम् इति । समानं-ह्येष एतं योनिमनु संचरति । द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इति । असौ वा

आदित्यो द्रप्सः । दिशः सप्त होत्राः । अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रति-
ष्ठापयति” इति [श० ब्रा० ७. ४, १. २०] ॥

[पितृत्वको प्राप्त हुए पुरुष धूमादिमार्गसे पितृलोकमें पहुँच कर तहाँ सोमयागके कारण प्राप्त होने वाले पुण्यके फलको भोगते हैं । इस चालू पित्र्य प्रकरणमें सोममें स्थित उदकके कण या सोमकी इस ऋचासे स्तुति की है, कि—]सोमरसमें स्थित जल का कण द्रप्स, पृथिवीको और द्युको लक्ष्यमें रख कर बिखर जाता है विप्रकीर्ण होजाता है।[पत्थरसे कूटते समय सोमरस भूमिमें पड़ता है । और दशापवित्र (अँगोछे) से धारापातके समय द्रोणकलश नामक पात्रमें गिरता हुआ अन्तरिक्षमें छींटोंके रूपमें उड़ने लगता है,इसी बातको कहते हैं, कि-] इस चराचर जगत्की कारण पृथ्वी को लक्ष्यमें रखकर और पूर्व उत्पन्न हुआ जो द्युलोक है उस को लक्ष्य कर और द्यावापृथिवीरूप समानयोनिक स्थानको भी लक्ष्यमें रख कर चारों ओर छिटकते हुए सोमरसकण द्रप्सको होता मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अग्नीध्र और अच्छा-वाक आदि सात वषट्कर्ता होताओंको भी लक्ष्यमें रख कर मैं अग्निमें होमता हूँ । आगे होत्रादिवषट्कारमेंसे सोमरसको अध्वर्यु होमेंगे, इसलिये मैं स्कन्न सोमरसको द्रप्स देवताके लिये करता हूँ । [वाजसनेयिब्राह्मणमें इस द्रप्सकी आदित्यरूपमें स्तुति की है, कि “असौ वा आदित्यो द्रप्सः । स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति । इमं च योनिमनु यश्च पूर्व इति । इमं च लोकं अमुं चेत्येतत् । समानं योनिमनुसञ्चरन्तम् इति। समानं ह्येष एतं योनिमनु सञ्च-रति । द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इति । असौ वा आदित्यो द्रप्सः । दिशः सप्त होत्राः । अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठाप-यति ।” शतपथब्राह्मण ७ । ४ । १ । २०] ॥ २८ ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥

शतऽधारम् । वायुम् । अर्कम् । स्वःऽविदम् । नृऽचक्षसः । ते । अभि । चक्षते । रयिम् ।
ये । पृणन्ति । प्र । च । यच्छन्ति । सर्वदा । दुह्रते । दक्षिणाम् । सप्तऽमातरम् ॥ २९ ॥

अष्टमी ॥ शतधारम् शतसंख्याकच्छिद्रपतितोदकप्रवाहयुक्तम् अत एव वायुम् । ॐ छुप्तमत्वर्थीयः ॐ । वायुमन्तम् । सच्छिद्रे वस्तुनि वायुर्वाति । यद्वा वायुम् यातारं चरन्तं वायुवदेव कुम्भोपि हस्ताद्धस्तमापणेन सर्वदा चरति तम् अर्कम् अर्चनीयं स्वर्विदम् स्वः स्वर्गस्य लम्भकम् एतं कुम्भं नृचक्षसः नृणां द्रष्टारो देवास्ते त्वदर्थम् । ॐ युष्मच्छब्दस्य "तेमयावेकवचनस्य" इति ते इत्यादेशो व्यत्ययेन उदात्तः ॐ । हे प्रेत त्वदर्थं रयिम् धनम् अभि चक्षते पश्यन्ति जानन्ति । एतं कुम्भं तव धनम् इत्येव जानन्ति । ये गोत्रिणः संस्कर्तारः पृणन्ति अस्थिरूपं त्वां कुम्भोदकेन प्रीणयन्ति प्र यच्छन्ति च कुम्भोदकं ते सप्तमातरम् सप्तसंख्याका मातृभूता अग्निष्टोमादिसंस्था यस्यास्ताम् यद्वा सप्तसंख्याका मातारः कर्मणां निर्मातारः कर्तारो होत्रादयः सन्ति यस्याः तादृशीम् । अथ वा मातारः परिच्छेत्तारो यस्याम् एकधा दत्तां सप्तधा मान्ति परिच्छिन्दन्ति ताम् । ॐ "ऋतश्छन्दसि" इति कपः प्रतिषेधः ॐ ।

तथाविधां दक्षिणां सर्वदा दुहते दुहते । उदकेन आसावनं नाम दक्षिणादोहनम् इत्यर्थः । ❀ दुहेर्लटि झस्य "बहुलं छन्दसि" इति रुडागमः ❀ ॥

मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले देवता, सैंकड़ों छिद्रोंसे टपकते हुए जलप्रवाहसे सम्पन्न और वायुकी समान एक हाथसे दूसरे हाथमें चलते हुए, अर्चनीय और स्वर्गको प्राप्त कराने वाले इस कुंभको हे प्रेत ! तेरे लिये धनरूप ही समझते हैं । और जो तेरे गोत्र वाले तुझ अस्थिरूपको कुम्भोदकसे तृप्त कर रहे हैं और कुम्भोदकको दे रहे हैं वे होता आदिके कारण सप्तमातृक उदकधारारूप दक्षिणाको सर्वदा देरहे हैं ॥ २९ ॥

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।

ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥

कोशम् । दुहन्ति । कलशम् । चतुःऽबिलम् । इडाम् । धेनुम् । मधुऽमतीम् । स्वस्तये ।

ऊर्जम् । मदन्तीम् । अदितिम् । जनेषु । अग्ने । मा । हिंसीः । परमे । विऽओमन् ॥ ३० ॥

नवमी ॥ चतुर्बिलम् । शतसंख्याकच्छिद्रस्य कुम्भस्य चतुर्णां छिद्राणाम् अवयुत्य स्तुतिः । चतुश्छिद्रं चतुःस्तनं कोशम् कोशवत् कोशः । कोशो यथा धनकनकादिसंपूर्णस्तद्वत् पयःपूर्णं कलशम् कुम्भं कुम्भोपमम् ऊधः मधुमतीम् मधुररसक्षीरयुक्ताम् इडाम् । भूमिरूपां धेनुनामैतत् । एतत्संज्ञकां धेनुम् । यद्वा इडा भूमिः । भूमिरूपां धेनुं दुहन्ति । ❀ दुहिर्द्विकर्मकः ❀ । किमर्थम् । स्वस्तये । स्व-

स्तीत्यविनाशिनाम। प्रेतस्य सर्वदा परलोकनिवासाय। चतुश्छिद्र-कलशोदकेन आसावनं नाम चतुःस्तनधेनुदोहनमेवेत्यर्थः। मद-न्तीम् मदयन्तीं तोषयन्तीम् अदितिम् अखण्डनीयाम् ऊर्जम् बल-करम् अन्नं जनेषु पितृत्वं प्राप्तेषु मध्ये हे अग्ने मा हिंसीः पितॄणां मध्ये एतस्य प्रेतस्य भोगाय अन्नं मा क्लेसीः। परमे व्योमन्निति पदद्वयं कलशं दुहन्तीत्यनेन संबन्धनीयम्। परमे उत्कृष्टे व्योमन्। ❀ सप्तम्या लुक्। "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपाभावः ❀। व्योमनि आकाशे शतच्छिद्रं कलशं दुहन्तीति॥

इति चतुर्थेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

[सैंकड़ों छिद्र वाले कुम्भके चार छिद्रोंको अलग करके यहाँ स्तुति की है, कि–] धन सुवर्ण आदिसे सम्पन्न कोशकी समान पयःपूर्ण स्तनोंकी समान चार छिद्र वाले कलशको इस प्रकार दुहते हैं जैसे मधुर रस क्षीरसे सम्पन्न धेनुको, दुहते हैं। अर्थात् चार छिद्र वाले कलशसे जल छिड़कना चार स्तन वाली धेनुको दुहना ही है। हे अग्ने! पितरोंमें, पहुँचे हुए इस प्रेतके लिये आप सन्तुष्ट करने वाली अखण्डनीया अदिति देवीको और बलकर अन्नको छिन्न मत करना अर्थात् वहाँ पर इसको सदा तुष्टि और अन्न प्राप्त होता रहे॥ ३०॥ (२२)

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त॥

"एतद् ते देवः" इति सूक्तस्य आद्यया ऋचा वासोऽभिमन्त्र्य प्रेतं प्रच्छादयेत्॥

"धाना धेनुरभवत्" [३२] "एतास्ते असौ धेनवः" [३३] "एनीर्धाना हरिणीः" [३४] इति तिसृभिर्ऋग्भिः अस्थ्नाम् उपरि तिलमिश्रा धाना आदध्यात्॥

पितृमेधे द्वितीयेऽहनि "वैश्वानरे हविः" [३५] इत्यनया दहनस्थान संनिधौ अन्यवत्सायां गोः पयः पयसि शृतं स्थालीपाकं वा जुहुयात्

"सहस्रधारम्" [३६] इत्यनया अभिमन्त्रितेन सहस्रच्छिद्रपात्रपतितोदकेन अस्थीन्याप्लावयेत् ॥

"इदं कसाम्बु" [३७] इत्यनया गर्ते स्थापितानि अस्थीनि गोत्रिणः सर्वे वा ईक्षेरन् । कर्ता मन्त्रं ब्रूयात् ॥

"इहैवैधि" इत्यनया पिण्डपितृयज्ञे दीप्तयोः काष्ठयोरेकं हृत्वा पांसुषु प्रक्षिपेत् । सूत्रितं हि । "द्वे काष्ठे गृहीत्वा उशन्तः [१८.१.५६] इत्यादीपयति । आदीप्तयोरेकं प्रतिनिदधाति । इहैवैधि धनसनिः [१८.४.३८] इत्येकं हृत्वा पांसुष्वाधाय" इति [कौ० ११.८] ॥

"पुत्रं पौत्रम्" [३९] इत्यृचा पिण्डपितृयज्ञे पिण्डदानानन्तरम् आचामेत् ॥ "आपो अग्निम्" [४०] इत्युत्तरया अद्भिरग्निम् अवसिञ्चेत् ॥

सूत्रितं हि । "आपो अग्निम् इत्यद्भिरग्निम् अवसिच्य पुत्रं पौत्रम् अभितर्पयन्तीरित्याचामति" इति [कौ० ११. ६] ॥

"एतत् ते देवः" सूक्तकी पहिली ऋचासे वस्त्रको अभिमन्त्रित करके मेतको ढक देय ।

"धाना धेनुरभवत्" (३२) एतास्ते असौ धेनवः (३३) एताधाना हरिणीः (३४) इन तीन ऋचाओंसे अस्थियोंके ऊपर तिलमिश्रित जौंकी खीलोंको रक्खे ।

पितृमेधके दूसरे दिन "वैश्वानरे हविः" (३५) ऋचासे दहनस्थानके पासमें अन्यवत्सा (जिसका अपना बछड़ा न होकर दूसरी गौका बछड़ा हो उस) गौके दूधको या दूधमें औटे हुए स्थालीपाकको होम देय ।

"सहस्रधारम्" (३६) ऋचासे अभिमन्त्रित सहस्रछिद्रपात्रसे गिरते हुए जलसे अस्थियोंको आप्लावित करे ।

"इदं कसाम्बु" (३७) ऋचासे गड्ढेमें रखी हुई हड्डियोंको गोत्र वाले वा सब पुरुष देखें । कर्ता मन्त्रको कहे ।

"इहैवेधि" ऋचासे पिण्डपितृयज्ञमें प्रज्वलित दो काष्ठोंमेंसे एकको ग्रहण करके धूलमें फेंक देय। सूत्रमें भी कहा है, कि–"द्वे काष्ठे गृहीत्वा उशन्तः (१८।१।५६) इत्यादीपयति। आदीप्तयोरेकं प्रति निदधाति। इहैवैधि धनसनिः (१८।४।३८) इत्येकं हृत्वा पांसुष्वाधाय" (कौशिकसूत्र ११।८) ॥

"पुत्रं पौत्रम्" (३९) ऋचासे पिण्डपितृयज्ञमें पिण्डदानके अनन्तर आचमन करे। "आपो अग्निम्" इस चालीसवीं ऋचा से जलसे अग्निको सिक्त करे।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"आपो अग्निं इत्यद्भिरग्निं अवसिच्य पुत्रं पौत्रं अभितर्पयन्ति इत्याचामयति" (कौशिकसूत्र ११।९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

एतत् । ते । देवः । सविता । वासः । ददाति । भर्तवे ।
तत् । त्वम् । यमस्य । राज्ये । वसानः । तार्प्यम् । चर ॥३१॥

हे प्रेत ते तव सविता सर्वस्य प्रेरको देवः एतत् इदं वासः वस्त्रं भर्तवे भरणाय आच्छादनाय ददाति प्रयच्छति। त्वं च तत् तार्प्यम् तर्पणार्हं प्रीतिकरम्। यद्वा तृपा नाम तृणविशेषः। तन्निर्मितं घृताक्तं वस्त्रं तार्प्यम् इति अन्ये वदन्ति। तद् वस्त्रं वसानः आच्छादयन्। ❀ वस आच्छादने। आदादिकः अनुदात्तेत् ❀। यमस्य प्रेताधिराजस्य राज्ये चर परिभ्राम्य ॥

हे प्रेत! सर्वप्रेरक सविता देवता इस वस्त्रको आच्छादन करने के लिये तुझे देते हैं, तू भी इस तृप्ति देने वाले वस्त्रको ओढ़कर प्रेताधिराज यमके राज्यमें विचरण कर ॥ ३१ ॥

द्वितीया ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

धानाः । धेनुः । अभवत् । वत्सः । अस्याः । तिलः । अभवत् ।
ताम् । वै । यमस्य । राज्ये । अक्षिताम् । उप । जीवति ॥३२॥

धाना भृष्टयवः धेनुः क्षीरयित्री गौरभवत् । अस्या धेनुरूपाया धानायास्तिलः वत्सोऽभवत् । तां वत्सरूपतिलसहितां धेनुरूपां धानां यमस्य राज्ये अक्षिताम् क्षयरहिताम् उप जीवाति उपजीवेद् अयं प्रेतः । ❀ जीवतेर्लेटि आडागमः ❀ । वैशब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । यद्वा । ❀ तिङां तिङो भवन्तीति हेस्तिबादेशः ❀ । उपजीव हे प्रेत त्वम् इति । ❀ अक्षिताम् । क्षि क्षये । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्युदासाद् दीर्घाभावः । ण्यदर्थौ भावकर्मणी । अत एव दीर्घाभावाद् नत्वाभावः ❀ ॥

यह भुने हुए जौंकी खील धेनु बनेगी और तिल इसका बछड़ा बनेगा, हे प्रेत ! तू इस वत्सरूप तिलसहित अक्षीण धेनुरूपा खील से उपजीवन कर ॥ ३२ ॥

तृतीया ॥

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥

एताः । ते । असौ । धेनवः । कामऽदुघाः । भवन्तु ।
एनीः । श्येनीः । सऽरूपाः । विऽरूपाः । तिलऽवत्साः । उप ।
तिष्ठन्तु । त्वा । अत्र ॥ ३३ ॥

असौ इति प्रेतस्य संबोधनम्। हे असौ अमुकनामधेय प्रेत ते तव एता धानाः कामदुघाः कामं काम्यमानं फलं दुहन्तीति कामदुघाः। ॐ "दुहः कब्घश्च" इति कप् प्रत्ययो घश्च अन्तादेशः ॐ। इष्टफलदा धेनवो भवन्ति। ता एव विशिनष्टि। एनीः। एताः संध्यावर्णाः। श्येतः शुभ्रवर्णाः। ॐ उभयत्र "वर्णाद् अनुदात्तात्०" इति ङीप्नकारौ। "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ॐ। एन्यः संध्यावर्णाः शुभ्रारुणवर्णाः श्येन्यो धवलवर्णाः सरूपाः समानरूपाः विरूपाः विविधरूपाः तिलवत्साः तिलात्मकवत्ससहिता धेनुरूपा धानाः अत्र अस्मिन् यमराज्ये हे प्रेत त्वा त्वाम् उप तिष्ठन्तु अभिमतफलदोहनार्थं समीपे सेवन्ताम् परिचरन्तु ॥

हे अमुक नाम-वाले प्रेत ! यह लाल श्वेत बछड़ेकी समान और बछड़ेसे भिन्न रूपवाली तिलात्मक बछड़े वाली धेनुरूपा खीलें तेरे लिये कामधेनु होवें और इस यमलोकमें अभिमत फल देनेके लिये तेरे पास उपस्थित रहें ॥ ३३ ॥

चतुर्थी ॥

एनी॑र्धा॒ना हरि॑णीः॒ श्येनी॑रस्य कृ॒ष्णा धा॒ना रोहि॑णी-
र्धे॒नव॑स्ते ।
ति॒लव॑त्सा ऊर्ज॑मस्मै॒ दुहा॑ना वि॒श्वाहा॑ सन्त्वनप॒-
स्फुर॑न्तीः ॥ ३४ ॥

एनीः। धा॒नाः। हरि॑णीः। श्येनीः। अ॒स्य। कृ॒ष्णाः। धा॒नाः। रोहि॑णीः। धे॒नवः। ते॒।
ति॒लऽव॑त्साः। ऊर्ज॑म्। अ॒स्मै॒। दुहा॑नाः। वि॒श्वाहा॑। स॒न्तु॒। अ॒न॒प॒ऽस्फुर॑न्तीः ॥ ३४ ॥

पूर्वमन्त्रोक्तोर्थः अनया विवियते। एनीश्येनीशब्दौ व्याख्यातौ। हरिणीः हरिण्यः हरितवर्णाः। कृष्णाः अतिभर्जनात् कृष्णवर्णाः। रोहिणीः रोहितवर्णा अरुणवर्णाः। ❀ सर्वत्र पूर्ववद् जीम्नकारदीर्घाः ❀। धेनुरूपा धानाः अस्य ते तव भवन्ति। तास्तिलवत्सा धेनवो विश्वाहा सर्वेषु अहःसु। ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया ❀। अनपस्फुरन्तीः अनपस्फुरन्त्यः। अपस्फुरणं नाम नाशः। अविनश्वर्यः अक्षीणाः सत्यः अस्मै अस्थिरूपाय ते तव ऊर्जम् बलकरम् अन्नं दुहानाः प्रयच्छन्त्यः सन्तु भवन्तु॥

लाल और श्वेत वर्ण वाली, हरित वर्णकी, अधिक भूननेसे काले वर्णकी, अरुण वर्णकी ये खीलें तेरे लिये धेनुरूप होरही हैं ये तिलरूपी बछड़े वाली धेनुएँ प्रतिदिन अटूटरूपसे इसके लिये बलपद अन्नको देती रहें॥ ३४॥

पञ्चमी॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्। स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥ ३५॥

वैश्वानरे। हविः। इदम्। जुहोमि। साहस्रम्। शतऽधारम्। उत्सम्।
सः। बिभर्ति। पितरम्। पितामहान्। प्रऽपितामहान्। बिभर्ति। पिन्वमानः॥ ३५॥

वैश्वानरे विश्वनरहितो विश्वानरः। ❀ "नरे संज्ञायाम्" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀। विश्वानर एव वैश्वानरः। तस्मिन् अग्नौ इदं पयोरूपं स्थालीपाकरूपं वा हविः जुहोमि प्रक्षिपामि।

हविर्विशिनष्टि । साहस्रम् सहस्रविधोदकप्रवाहयुक्तम् । ❀ "तपः सहस्राभ्यां विनीनी"। "अण् च" इति मत्वर्थीयः अण् प्रत्ययः ❀ । शतधारम् शतप्रवाहोपेतम् । अवयुत्य स्तुतिः । उत्सम् प्रस्रवणम् । यथा एवंविध उत्सः स्वोपजीविनः प्राणिनः प्रीणयति एवम् इदं हविः नानाविधं सत् पितॄन् पुष्णातीति उत्सात्मना रूपितम् ॥ पिन्वमानः । ❀ पिविरिदन्तः प्रीणनार्थो भौवादिकः । इदित्वा-न्नुम् ❀ । हविषा प्रीतः स वैश्वानरोऽग्निः पितरम् पितृत्वं प्राप्तं स्वजनकं प्रेतं पितामहान् पितुः पितॄन् बिभर्ति प्रीणयति । तथा प्रपितामहान् प्रकृष्टान् पितामहान् स्वपितुः पितामहान् । बहुवचनेन पितामहादीन् सर्वान् स्ववंश्यान् । बिभर्ति पुष्णा-तीति । ❀ "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इति पितामहशब्दो निपातितः ❀ ॥

मैं इन वैश्वानर अग्निदेवमें इस दुग्धात्मक वा स्थालीपाकरूप हविको होमता हूँ । यह हवि अनेक प्रकारके जलप्रवाहसे सम्पन्न है सैंकड़ों प्रवाहों वाली है, और वर्षा करके मेघकी समान अपने उपजीवी पितरोंको तृप्त करने वाली है । इस हविसे प्रसन्न हुए वैश्वानर अग्नि पितृत्वको प्राप्त हमारे प्रेत पिताको, पिताके पिताओं (चचेरे तएरे सगे दादाओं) को और प्रपितामहोंको अर्थात् मेरे वंशमें उत्पन्न हुए सब पुरुषोंको पुष्ट करे ॥ ३५ ॥

षष्ठी ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलि-
लस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ३६

सहस्रऽधारम् । शतऽधारम् । उत्सम् । अक्षितम् । विऽअच्यमा-

नस् । सलिलस्य । पृष्ठे ।

ऊर्जम् । दुहानम् । अनपऽस्फुरन्तम् । उप । आसते । पितरः ।

स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

सहस्रधारम् सहस्रसंख्याकच्छिद्रपतितोदकप्रवाहयुक्तं शतधारम् । अवयुत्यैव स्तुतिः । वत्सम् । उत्सवद् वत्सः । उत्सोपमं कलशम् अक्षितम् क्षयरहितम् उदकपूर्णं सलिलस्य अन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपरिभागे व्यच्यमानम् । ❀ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ❀ । व्याप्नुवन्तम् । आकाशे धार्यमाणम् इति यावत् । ऊर्जम् बलकरम् अन्नम् । अन्नसाधनोदकम् इति यावत् । दुहानम् क्षारयन्तम् अनपस्फुरन्तम् बहुच्छिद्रसाहित्येपि अविदीर्यमाणं सम्यक् शोभमानं वा सहस्रच्छिद्रं कुम्भं पितरः प्रेतभूताः । ❀ पूजायां बहुवचनम् ❀ । स्वधाभिः । ❀ हेतौ तृतीया ❀ । स्वधीणनसाधनैरन्नैर्हेतुभिः उपासते सेवन्ते उपगच्छन्ति ॥

प्रेतभूत पितर, सहस्र छिद्रोंसे गिरते हुए जलप्रवाहसे सम्पन्न प्रस एव मेघकी समान क्षयरहित उदकपूर्ण अन्तरिक्षके ऊपरके भागमें व्याप्त–आकाशमें धरे हुए–अन्नके साधन जलको टपकाते हुए बहुतसे छिद्र होने पर भी न टूटते हुए कुंभकी उपासना करते हैं ॥ ३६ ॥

सप्तमी ॥

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् संजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥

इदम् । कसाम्बु । चयनेन । चितम् । तत् । सऽजाताः । अव । पश्यत । आ । इत ।

मर्त्यः । अयम् । अमृतऽत्वम् । एति । तस्मै । गृहान् । कृणुत ।

यावत्ऽसबन्धु ॥ ३७ ॥

हे सजाताः सहजन्मानः समानकुले जाता गोत्रिणः यूयं चयनेन संचयनकर्मणा चितम् संचितम् एकत्र समूहीकृतं तद् इदं कसाम्बु कसाः कीकसाः अस्थीनि । ❀ आदिवर्णलोपश्छान्दसः ❀। कसाश्च अम्बूनि च कसाम्बु । ❀ द्वन्द्वैकवद्भावः ❀ । पूर्वमन्त्रेण अस्थनाम् उदकेन आप्लावनम् उक्तम् । उदकाप्लावितान्यस्थीनि अत्र पश्यत अवधानेन ईक्षध्वम् । एत आगच्छत ॥ अयं मर्त्यः मरणधर्मा प्रेतः अमृतत्वम् एति अमरणधर्मं प्राप्नोति । तस्मै तदर्थं गृहान् स्थानानि कृणुत कुरुत । यावत्सबन्धु यावन्तः सबन्धवः समानगोत्रा भवथ ते सर्वे यूयं तस्मै प्रेताय गृहान् कुरुतेति । तस्यास्थिनिरीक्षणमेव परलोके स्थानकरणम् इत्यर्थः ॥

हे समान कुलमें उत्पन्न हुए गोत्र वालो ! तुम सञ्चयन कर्म से एकत्रित किये हुए इस जलप्लावित अस्थिसमूहको सावधानी से देखो । आओ । यह मरणधर्मीप्रेत अमरणधर्मको प्राप्त हो रहा है उसके लिये घर बनाओ, जितने तुम एक गोत्र वाले हो उतने तुम सब प्रेतके लिये घरोंको बनाओ तात्पर्य यह है, कि-इसकी अस्थियोंका देखना ही इसके लिये घर बनाना है ॥ ३७ ॥

अष्टमी ॥

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

इह । एव । एधि । धनऽसनिः । इहऽचित्तः । इहऽक्रतुः ।

इह । एधि । वीर्यवत्ऽतरः । वयःऽधाः । अपराऽहतः ॥ ३८ ॥

हे दीप्तपांसुष्वादित उन्मुक त्वम् इहैव पांसुलक्षणे प्रदेश एव एधि भव। धनसनिः अस्माकं धनस्य दाता भव। ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति सनोतेः इन् प्रत्ययः ❀। इह अस्मिन् प्रदेशे चित्तः प्रज्ञातो भव। ❀ चिती संज्ञाने। कर्मणि निष्ठा। "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इडभावः ❀। इह क्रतुः कर्म अस्मदीयकर्म संपादको भव। तथा इहैव प्रदेशे वीर्यवत्तरः अत्यन्तं बलवान् वयोधाः। वय इति अन्ननाम। तस्य धाता विधाता अपराहतः शत्रुभिरपराजितश्च सन् एधि भव। ❀ अस्तेर्लोटि हौ रूपम् ❀॥

हे उन्मुक! तू यहाँ ही धूलिमय देशमें रह हमको धनदान करने वाला हो, इस देशमें ही प्रज्ञात हो, यहाँ हमारे कर्मका सम्पादक हो, तथा इसी प्रदेशमें परम बली, अन्नको पुष्ट करने वाला और शत्रुओंसे अपराजेय रहता हुआ वह॥ ३८॥

नवमी॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु॥ ३९॥

पुत्रम्। पौत्रम्। अभिऽतर्पयन्तीः। आपः। मधुऽमतीः। इमाः। स्वधाम्। पितृऽभ्यः। अमृतम्। दुहानाः। आपः। देवीः। उभयान्। तर्पयन्तु॥ ३९॥

मधुमतीः मधुररसोपेता इमा आचमनार्हा आपः पुत्रम् अव्यवहितं पुमपत्यं पौत्रम् पुत्रस्य पुमपत्यम्। ❀ उभयत्र एकवचनम् अतन्त्रम्। लिङ्गं तु विवक्षितम् ❀। पुत्रान् पौत्रांश्च अभितर्प-

यन्तीः अभितः सर्वतस्तर्पयन्त्यः प्रीणयन्त्यो भवन्ति यतः अतः पितृभ्यः स्वीयेभ्यः पिण्डोपजीविभ्यः अमृतम् अमरणसाधनं स्वधाम् आत्मप्रीणनकरम् अन्नं दुहानाः प्रयच्छन्त्यो देवीः देव्यो द्योतमाना आपः आचमनीया उभयान् पुत्रान् पौत्रांश्च उभयविधान् तर्पयन्तु वर्धयन्तु । अथ वा उभयशब्देन स्वीया मातृपितामह्यादयः पितृवंश्याश्च विवक्ष्यन्ते । तान् उभयविधांस्तर्पयन्तु । पिण्डदानान्तरं क्रियमाणेन अनेन आचमनकर्मणा तृप्तान् कुर्वन्तु ।❀ अस्मिन् पक्षे पितृभ्य इत्यत्र "पिता मात्रा" इति एकशेषो द्रष्टव्यः❀॥

यह मधुर रस वाला आचमनके योग्य जल पुत्र और पौत्रोंको तृप्त करता रहता है और पिण्डोपजीवी पितरोंके लिये अमरणसाधन अपनेको प्रसन्न करने वाली स्वधाको देता रहता है। ऐसा यह जल आचमन करने पर मातृकुलके और पितृकुलके इस प्रकार दोनों ओरके पितरोंको तृप्त करे ॥ ३९ ॥

दशमी ॥

आपो॑ अ॒ग्निं प्र हि॑णुत पि॒तॄँरुपे॒मं य॒ज्ञं पि॒तरो॑ मे जुषन्ताम्

आसी॑ना॒मूर्ज॒मुप॒ ये सच॑न्ते॒ ते नो॑ र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छान् ॥ ४० ॥

आपः । अ॒ग्निम् । प्र । हि॒णु॒त॒ । पि॒तॄन् । उप॑ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । पि॒तरः॑ । मे॒ । जु॒ष॒न्ता॒म् ।

आसी॑नाम् । ऊर्ज॑म् । उप॑ । ये । सच॑न्ते । ते । नः॒ । र॒यिम् । सर्व॑ऽवीरम् । नि । य॒च्छा॒न् ॥ ४० ॥

हे आपः अवसेचनसाधनभूता यूयम् अग्निम् युष्माभिरवसिच्यमानं दक्षिणाग्निं पितॄन् पितृपितामहादीन् उप । उपशब्दः समी-

पवचनः। पितॄणां समीपं प्र हिणुत प्रेषयत। बर्हिर्दत्तान् पिण्डान् दातुम् इति शेषः॥ मे मदीयम् इमम् इदानीम् अनुष्ठीयमानं यज्ञम् पिण्डपितृयज्ञाख्यं पितरः मदीया जुषन्ताम् सेवन्ताम्। पिण्डान् आस्वादयन्तु। ये पितरः आसीनाम् उपविष्टाम्। ❀ आस उपवेशने। "ईदासः" इति ईकारः ❀। बर्हिषि आसादिताम् ऊर्जम् बलकरपिण्डलक्षणम् अन्नम् उप सचन्ते स्वीकर्तुं समीपे समवयन्ति ते पितरो नः अस्मभ्यं सर्ववीरम्। वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्रपौत्रादयः। बहुपुत्रादिसहितं रयिम् धनं नि यच्छान् नियच्छन्तु प्रयच्छन्तु। नियमनं नाम स्थैर्येण अवस्थापनम्। ❀ यमेर्लेटि "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀॥

इति चतुर्थेनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

हे जलों! अवसेचनके साधनरूप तुम अपने द्वारा अवसिक्त दक्षिणाग्निको यज्ञमें दिये हुए पिण्डोंको पहुँचानेके लिये पिता पितामह आदि पितरोंके समीप पहुँचाओ। मेरे पितर इस पिंडपितृयज्ञ नामक यज्ञका सेवन करें—पिण्डोंका आस्वादन करें। और जो पितर यज्ञमें रखे हुए बलप्रद पिण्डरूप अन्नका सेवन करनेके लिये समीपमें आते हैं, वे पितर हमको सब कर्मोंमें कुशल पुत्र पौत्र आदि सहित बहुतसे धनको देवें॥ ४० ॥ (२१)

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त।

"समिन्धते" इति आद्यया ऋचा पिण्डपितृयज्ञे समिधम् आदध्यात्। सूत्रितं हि। "उपसमादधाति ये निखाताः [१८. २. ३४] समिन्धते [१८. ४. ४१] ये तातृपुः [१८. ३. ४७] ये सत्यासः [१८. ३. ४८] इति [कौ० ११. ८]

"धाना धेनुः" [४३] इत्यस्या अस्थिषु तिलमिश्रधानाविकिरणे विनियोग उक्तः॥

"इदं पूर्वम्" [४४] इत्यनया दहनार्थं प्रेतम् उत्थाप्य शकटे निदध्यात्॥

"सरस्वतीं देवयन्तः" [४५] इति तिसृणां प्रेतशरीरे अग्निदानानन्तरं सारस्वतहोमे विनियोग उक्तः ॥

"पृथिवीं त्वा" [४८] इत्यनया सर्वयज्ञेषु मृद्गोमयादिना चरुस्थालीम् आलिम्पेत् । "पृथिवीं त्वा पृथिव्याम् इति कुम्भीम् आलिम्पति" इति [कौ० ८, २] सूत्रं प्रागेव प्रदर्शितम् ॥

"आ प्र च्यवेथाम्" [४६] इति ऋचा प्रेतवाहनवृषभौ अभिमन्त्र्य कर्ता गृह्णीयात् ॥

पितृमेध एव चतुर्थेऽहनि "एयमगन्" [५०] इति ऋचा दक्षिणारूपां गाम् अभिमन्त्र्य प्रतिगृह्णीयात् ॥

"समिन्धते" इस पहिली ऋचासे पिण्डपितृयज्ञमें समिधाको रक्खे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि--"उपसमादधाति ये निखाताः (१८ । २ । ३४) समिंधते (१८ । ४ । ४१) ये तातृपुः (१८ । ३ । ४७) ये सत्यासः (१८ । ३ । ४८)" (कौशिकसूत्र ११ । ८) ॥

"यास्ते धानाः" इस (४३ वीं) ऋचाका अस्थियों पर तिलमिश्रित भुने हुए जौंकी खीलोंके प्रक्षेपमें विनियोग कह दिया । "इदं पूर्वम्" इस चौवालीसवीं ऋचासे भस्म करनेके लिये प्रेत को उठा कर शकटमें रक्खे ।

"सरस्वतीं देवयन्तः" आदि (४५ । ४६ । ४७) तीन ऋचाओं का प्रेतशरीरमें अग्निदानके अनन्तर सारस्वतहोममें विनियोग कहा है

"पृथिवीं त्वा" इस अड़तालीसवीं ऋचासे सब यज्ञोंमें मट्टी गोबर आदिसे चरुस्थालीको लीप देय। इस विषयका कौशिकसूत्र ८। २ "पृथिवीं त्वा पृथिव्याम् इति कुम्भीं आलिम्पन्ति" पहिले ही कह दिया है ।

"आ प्रत्यवेथां" इस ४९ वीं ऋचासे प्रेतको सवारी देनेवाले बैलोंको अभिमन्त्रित करके कर्ता ग्रहण करे।

पितृमेधमें ही चौथे दिन "एयमगन्" इस ५० वीं ऋचासे दक्षिणाकी गौको अभिमन्त्रित करके ग्रहण करे॥

तत्र प्रथमा ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।

स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

सम्। इन्धते। अमर्त्यम्। हव्यऽवाहम्। घृतऽप्रियम्।

सः। वेद। निऽहितान्। निऽधीन्। पितॄन्। पराऽवतः। गतान्॥

अमर्त्यम् अमरणधर्माणं घृतप्रियम् प्रियं प्रीतिकरं घृतम् आज्यं यस्य। ❁ "वा प्रियस्य" इति प्रियशब्दस्य पूर्वनिपातविकल्पनाद् अत्र परनिपातः ❁। आज्येन अग्निः प्रवृद्धज्वालो भवतीति घृतप्रियत्वम्। हव्यवाहम् हव्यस्य हविषो वोढारम् अग्निं समिन्धते समिन्धनसाधनैः काष्ठैः सम्यग् दीपयन्ति कर्तारः। ❁ इन्धेर्लटि बहुवचने रूपम् ❁। यद्वा ❁ तस्मादेव धातोर्लेटि अडागमः ❁। समिद्धिः-समिन्धीत। यतः सोग्निः निहितान् भूमौ स्थापितान् निधीन् निक्षेपान्। लुप्तोपमम् एतत्। यथा भूम्यां निगूढा निधयः प्रदर्शकेन विना न प्रकाशन्ते एवं पितरोपि पुरःस्फूर्तिका न भवन्ति। निधीनिव स्थितान् परावतः। परावच्छब्दो दूरवाची। ❁ पराशब्दाद् "उपसर्गाच्छन्दसि०" इति वतिप्रत्ययः ❁। अतिदूरान् देशान् गतान् प्राप्तान् पितॄन् वेद जानाति। अस्य पितरः अत्र देशे वर्तन्त इति सम्यग् जानाति। ❁ वेत्तेः "विदो लटो वा" इति तिपो णल् आदेशः ❁। अतः समिन्धत इति संबन्धः॥

कर्ता पुरुष मरणधर्म रहित, घृतसे बढ़ने वाले अत एव घृतप्रिय, हवियोंका वहन करने वाले अग्निको काष्ठोंसे प्रदीप्त करते हैं। क्योंकि-जैसे भूमिमें छिपे हुए खजानेको किसी दिखाने वालेके विना कोई नहीं जान सकता, इसी प्रकार पितर भी अपने आप ही प्रकाशित होने वाले नहीं होते। और यह अग्निदेव निधिको समान परम दूर देशमें स्थित पितरोंको जानते हैं, कि-इसके पितर यहाँ इस देशमें रहते हैं, अत एव कर्ता इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं ॥ ४१ ॥

द्वितीया ॥

यं ते॑ म॒न्थं यमो॑द॒नं यन्मां॒सं नि॑पृ॒णामि॑ ते ।

ते ते॑ सन्तु स्व॒धाव॑न्तो मधु॑मन्तो घृत॒श्चुत॑: ॥ ४२ ॥

यम्। ते। मन्थम्। यम्। ओदनम्। यत्। मांसम्। निऽपृणामि। ते।

ते। ते। सन्तु। स्वधाऽवन्तः। मधुऽमन्तः। घृतऽश्चुतः ॥४२॥

प्रेतस्य हि प्रीणनाय सक्तुमन्थादयः प्रदीयन्ते। "ये अग्नयः [३. २१.१] इति दशर्चेन पलाशपर्णैः सक्तुमन्थं विकिरेत्" इति हि सूत्रम् [कौ० ११.३]। "अपूपवान् मांसवान्" इति[२०]"०अन्नवान्" [२१] इति च मन्त्रयोर्मांसान्नदानं विहितम्। उपलक्षणम् एतत् क्षीरौदनदध्योदनतिलमिश्रधानादेः। यन्मन्थादिकम् हे प्रेत ते तुभ्यं निपृणामि ददामि। निपरणं नाम पित्र्योपवीतिना प्राचीन पाणिना पित्रर्थं चोदितद्रव्यस्य प्रक्षेपः। ते मन्थादयः ते तव स्वधा वन्तः।बहवा मधुमन्तः मधुयुक्ता घृतश्चुतः घृतसहिताश्च सन्तु भवन्तु॥

[प्रेतको तृप्त करनेके लिये सक्तुमन्थ आदि दिये जाते हैं इस विषयमें कौशिकसूत्र ११ । ३ का प्रमाण है, कि-"ये अग्नयः ३ । २१ । १ इति दशर्चेन पलाशपर्णेन सक्तुमंथं विकिरेत् ।-ये

अग्नयः (३ । २१ । १) आदि दश ऋचाओंसे पलाशपत्रोंके द्वारा मन्थको देवे" अत एव इन मन्त्रोंसे] जो मन्थ आदि हे प्रेत ! तुझको देरहा हूँ । वे मन्थ आदि तेरे लिये स्वधा वाले और घृत वाले हों ॥ ४२ ॥

तृतीया ॥

यास्ते॑ धाना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्वधाव॑तीः ।
तास्ते॑ सन्तूद्भ्वीः प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम्

याः । ते॒ । धा॒नाः । अ॒नु॒ऽकि॒रामि॑ । ति॒लऽमि॑श्राः । स्व॒धाऽव॑तीः । ताः । ते॒ । स॒न्तु॒ । उ॒त्ऽभ्वीः । प्र॒ऽभ्वीः । ताः । ते॒ । य॒मः । राजा॑ । अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् ॥ ४३ ॥

"यास्ते धानाः" इति तृतीया ऋग् अस्मिन्नेनुवाकके तृतीयसूक्ते व्याख्याता [२६] ॥

हे प्रेत ! मैं तेरे लिये जिन काले तिलों वाली स्वधान्नसे संपन्न भुनी हुई जौंकी खीलोंको देरहा हूँ, वे खीलें तेरे परलोकमें पहुँचने पर तुझको बड़ी २ और विशाल परिमाणमें मिलें । और इन खीलोंका भोग लगानेके लिये यमराज तुझको अनुमति दें ४३

चतुर्थी ॥

इ॒दं पूर्व॒मप॑रं नि॒यानं॒ येना॑ ते॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॒ परे॑ताः ।
पु॒रो॒ग॒वा ये अ॑भि॒शाचो॑ अ॒स्य ते त्वा॑ वहन्ति सुकृ॒ताम् लो॒कम् ॥ ४४ ॥

इ॒दम् । पूर्व॑म् । अप॑रम् । नि॒ऽयान॑म् । येन॑ । ते॒ । पूर्वे॑ । पि॒तरः॑ । परा॑ऽइताः ।

पुरःऽगवाः । ये । अभिऽशाचः । अस्य । ते । त्वा । वहन्ति ।

सुऽकृताम् । ऊं । इति । लोकम् ॥ ४४ ॥

इदं नियानम् । नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम् । इदं पुरोवर्ति प्रेतवहनाय संनद्धं नियानं शकटं पूर्वम् पुरातनम् अपरम् अद्यतनं च । पूर्वेषां प्रेतानां वहनाय एतदेव शकटम् अपरेषाम् इदानींतनानामपि इदमेव शकटम् इति पूर्वम् अपरं चेत्युच्यते । पूर्वत्वमेव उपपादयति । येन शकटेन ते तव पूर्वे पुरातनाः पितरः परेताः इतः पराङ्मुखं गताः ॥ अस्य अपरस्य इदानीं संनह्यमानस्य शकटस्य अभिषाचः अभितः पार्श्वद्वये सचमानाः संगच्छमानाः पुरोगवाः शकटस्य पुरस्ताद्भागे धुरि युज्यमानाः अनड्वाहो ये सन्ति । ❀ "गोरतद्धितलुकि" इति टच् समासान्तः ❀ । ते पुरोगवास्त्वा त्वां सुकृताम् सुकृतकर्मणाम् । उशब्दः अवधारणे । लोकमेव वहन्तु प्रापयन्तु । ❀ वहि-र्द्विकर्मकः ❀ ॥

जिसके द्वारा प्राणी इस लोकसे पराङ्मुख होकर जाते हैं वह यह प्रेतको ढोनेके लिये तयार नियान (शकट) प्राचीन भी है और नवीन भी है । [अर्थात् पहिलेके प्रेतोंको ढोनेके लिये भी ऐसा ही शकट था और अब भी ऐसा ही शकट है अत एव यह प्राचीन भी है और नवीन भी है] इसके द्वारा तेरे पूर्व प्रेत गए थे । इस समय जोड़े जाते हुए इस शकटके दोनों ओर जो दो बैल हैं वह तुझको पुण्यात्माओंके लोकमें लेजावें ॥ ४४ ॥

पञ्चमी ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।

सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्

सरस्वतीम् । देवऽयन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । तायमाने ।

सरस्वतीम् । सुऽकृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात् ।

"सरस्वतीं देवयन्तः" [१८. १. ४१] इति पञ्चम्याद्यास्तिस्र ऋचः अस्मिन्नेव काण्डे प्रथमेऽनुवाके पञ्चमे सूक्ते व्याख्याताः ॥

मृतशरीरके संस्कारक अग्निदेवको चाहते हुए पुरुष वाग्देवता सरस्वतीका आह्वान करते हैं और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञके समय भी सरस्वतीका आह्वान करते हैं और पुण्यात्मा पुरुषोंने भी सरस्वतीका आह्वान किया है । वह सरस्वती हविः प्रदान करने वाले यजमानके लिये वरणीय पदार्थको देवे ॥ ४५ ॥

षष्ठी ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभिऽनक्षमाणाः ।

आऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः ।

आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४६ ॥

वेदीके दक्षिणभागमें बैठे हुए पितर भी सरस्वतीदेवीका आह्वान करते हैं [सर्वकर्माणि तां दिशम्—सब कर्म दक्षिण दिशाकी ओर किये जावें" इस आश्वलायनसूत्र २ । ६ । ३ के अनुसार वेदीके दक्षिणभागमें सब पित्र्य कर्म किये जाते हैं और पितरोंको भी स्वधाप्राप्तिके लिये मन्त्ररूपा सरस्वतीकी अपेक्षा होती ही है] हे पितरो ! तुम इस यज्ञमें बैठ कर प्रसन्न होओ । सरस्वती को तृप्त करो और आकर हमारी दी हुई हविसे तृप्त होओ ।

और हे सरस्वति ! पितरोंसे बुलाई हुई तुम व्याधिशून्य अभि-लषित अन्नको हममें स्थापित करो ॥ ४६ ॥

सप्तमी ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभि-मर्दन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि

सरस्वति । या । सऽरथम् । ययाथ । उक्थैः । स्वधाभिः । देवि । पितृऽभिः । मदन्ती ।
सहस्रऽअर्घम् । इडः । अत्र । भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ।

हे सरस्वती देवि ! आप उक्थ शास्त्र तथा स्वधान्नसे पितरों-सहित अपनेको तृप्त करती हुई एक ही रथ पर आती हैं आप यहाँ पुत्र आदि अनेकों व्यक्तियोंको तृप्त करने वाले अन्नके भाग को और धनकी पुष्टिको मुझ यजमानके लिये दीजिये ॥ ४७ ॥

अष्टमी ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु

पृथिवीम् । त्वा । पृथिव्याम् । आ । वेशयामि । देवः । नः । धाता । प्र । तिराति । आयुः ।

परा॒ऽपरै॑ता । व॒सु॒ऽवित् । वः॒ । अ॒स्तु॒ । अध॑ । मृ॒ताः । पि॒तृषु॑ ।
सम् । भ॒व॒न्तु॒ ॥ ४८ ॥

पृथिव्याम् पृथिवीविकारभूतायां कुम्भ्यां पृथिवीम् हे मृत्तिके त्वा त्वां मृदम् आ वेशयामि आलिम्पामि । मृद्गोमयादिलेपनेन चरुस्थालीं त्वा ईषद् दृढां करोमि । धाता विधाता सर्वस्य देवो नः अस्माकं सत्रयज्ञानुष्ठातॄणाम् आयुः जीवनं प्र तिराति । ❀ प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः ❀ । प्रतिरतु प्रवर्धयतु । ❀ प्रपूर्वात् तिरतेर्लेटि आडागमः ❀ । हे परापरेताः परावतं दूरदेशं पराङ्मुखम् इतो गता हे पितरः वः युष्माकं वसुवित् वसु अन्नलक्षणं धनम् तस्य लम्भयित्री प्रापयित्री अस्तु भवतु । एषा मृदालिप्ता चरुकुम्भीति लभ्यते ॥ अथ परोक्षस्तुतिः । अध अथ चरुस्वाहाकारानन्तरं पितृषु पितृत्वं प्राप्तेषु पुरातनेषु स्वपूर्वजेषु मृताः अमरणधर्माणः सन्तः सं भवन्तु संप्राप्ताः संयुक्ता भवन्तु । इदानींतनाः पितरः स्वपूर्वजान् पितॄन् संयुञ्जन्तु । ❀ भवतिरत्र प्राप्त्यर्थः ❀ ॥

पृथिवीकी विकार कुंभीमें हे पृथिवि (मृत्तिके) ! मैं तुझको प्रवेश कराता हूँ अर्थात् मट्टी गोबर आदिके लेपसे तुझ चरुस्थाली को कुछ दृढ़ करता हूँ । धाता देवता हम सब सत्रयज्ञका अनुष्ठान करने वालोंकी आयुको बढ़ावें । हे दूर देशमें गए हुए पितरों ! यह मट्टीगोबरसे लिपी हुई चरुकुंभी तुमको अन्नरूपी धनकी प्राप्ति कराने वाली होवे । चरुस्वाहाकारके अनन्तर यह मृत पुरुष अपने पूर्वज पितरोंसे संयुक्त होजावें ॥ ४८ ॥

नवमी ॥

आ प्र च्य॑वेथा॒मप॒ तन्मृ॑जेथां॒ यद् वा॑मभि॒भा अत्रो॒चुः ।

अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४६ ॥

आ । प्र । च्यवेथाम् । अप । तत् । मृजेथाम् । यत् । वाम् । अभिऽभाः । अत्र । ऊचुः ।

अस्मात् । आ । इतम् । अघ्न्यौ । तत् । वशीयः । दातुः । पितृषु । इहऽभोजनौ । मम ॥ ४६ ॥

हे प्रेतवाहनवृषभौ युवाम् आ अस्मदभिमुखं प्र च्यवेथाम् शकटात् प्रच्युतौ वियुक्तौ भवेतम् । ❀ च्युङ् प्लुङ् गतौ । भौवादिक आत्मनेपदी ❀ । तत् वक्ष्यमाणं निन्दारूपं वाक्यम् अप मृजेथाम् अपमार्जयतं शोधयतम् । ❀ मृजेर्लोटि व्यत्ययेन शः । "आतो ङितः" इति इयादेशः ❀ । किं तद् अपमार्जनीयं तद् आह । अभिभाः अभिभावका दूषकाः पुरुषाः । ❀ अभिपूर्वाद् भवतेः "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डः ❀ । अत्र अस्मिन् प्रेतवहनकर्मणि वाम् युवां यद् ऊचुः पुंगवौ किल अस्पृश्यम् अनिरीक्ष्यं प्रेतम् ऊढवन्तौ इत्यादिनिन्दारूपं यद् वाक्यम् उदितवन्तस्तच्छोधयतम् इति । अतो हेतोः हे अघ्न्यौ अहन्तव्यौ हे वृषभौ युवाम् अस्मात् निन्दानिमित्ताच्छकटाद् एतम् आगच्छतम् । तत् आगमनं वशीयः श्रेष्ठं भवति युवयोः । ततः इह अस्मिन् पितृमेधे पितृषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । पितृविषये पितॄन् उद्दिश्य दातुः अपि प्रदातुः हविः प्रदातुर्वा मम भोजनौ भोजयितारौ पालयितारौ भवतम् इति ॥

हे प्रेतको सवारी देने वाले वृषभो ! तुम दोनों हमारे सामने इस शकटसे अलग होओ, और जो तुम्हारे निन्दक यह कह रहे

हैं, कि इन्होंने अस्पृश्य प्रेतको सवारी दी है उस निन्दावाक्यसे मुक्त हाओ। अतएव हे अवध्य वृषभों! तुम इस निन्दानिमित्तक शकटसे आओ। तुम्हारा यह आगमन श्रेष्ठ हो और इस पितृमेध में पितरोंके निमित्त हवि देने वाले मेरे पालक बनो ॥ ४९ ॥

दशमी ॥

एयमंगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान् ॥ ५० ॥

आ । इयम् । अगन् । दक्षिणा । भद्रतः । नः । अनेन । दत्ता । सुऽदुघा । वयःऽधाः ।
यौवने । जीवान् । उपऽपृञ्चती । जरा । पितृभ्यः । उपऽसंपराणयात् । इमान् ॥ ५० ॥

इयं दक्षिणा गोरूपा नः अस्मान् संस्कर्तॄन् भद्रतः कल्याणात् प्रदेशाद् आ अगन् आगच्छति। ❀ गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀। अनेन प्रेतेन दत्ता वितीर्णा सुदुघा सुष्ठु दोग्ध्री वयोधाः। वय इति अन्ननाम। अन्नस्य क्षीरलक्षणस्य विधात्री प्रदात्री गोरूपा दक्षिणा यौवने। युवस्या भावो यौवनम्। ❀"हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इति अण् प्रत्ययः ❀। यौवनं नाम शरीरस्य मध्यावस्था तस्याम्। लुप्तोपमम् एतत्। यौवन इव वार्धके जरा उपपृञ्चती आत्मानं जरया संपर्चयन्ती संयोजयन्ती। अपि-

शब्दः अध्याहार्यः । संयोजयन्त्यपि यौवने वर्तमानेव जीवा ... ितु । किं च गोरूपा दक्षिणा पितृभ्यः पूर्वजेभ्यः । ॐ तादर्थ्ये चतुर्थी ॐ । इमान् अधुना संस्क्रियमाणान् पितॄन् उप समीपं संपराणयात् सम्यक् पराङ्मुखं नयतु पूर्वजान् मापयतु । ॐ उभयत्र लेटि आडागमः ॐ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

यह गोरूपा दक्षिणा हम संस्कर्ताओंके पास कल्याणमय स्थानसे आरही है । यह इस प्रेतके द्वारा दी हुई सुन्दर फलोंको देती हुई और क्षीरलक्षण अन्नको देती हुई गोरूपा दक्षिणा यौवनकी समान ही बुढ़ापेमें युवती रहे और यह गोरूपा दक्षिणा पूर्वज पितरोंके पास इस संस्क्रियमाण पितरको पहुँचावे ५० (२५)

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त ॥

"इदं पितृभ्यः" इति [५१] प्रथमायाः प्रथमार्धेन चितिकाष्ठानाम् उपरि दर्भान् स्तृणाति । उत्तरार्धेन आस्तीर्णदर्भायां चितौ प्रेतम् उत्तानशयं कुर्यात् ॥

तथा श्मशानचयनकर्मणि "इदं पितृभ्यः" इत्यर्धर्चेन गर्ते दर्भान् स्तृणीयात् । "तदा रोह" इत्युत्तरार्धेन अस्थीनि तस्मिन् गर्ते निदध्यात् ॥

"एदं बर्हिः" इति [५२] ऋचा कुले ज्येष्ठः अस्थीनि यथापरु संचिनुयात् ॥

"पर्णो राजा" इति [५३] ऋचा "अपूपवान् क्षीरवान्" इति मन्त्रोक्तान् प्रतिदिशं मध्ये च स्थापितान् नव चरून् शतच्छिद्रसहस्रच्छिद्रादिपात्राणि च मध्यपलाशपत्रैराच्छादयेत् ॥

"ऊर्जो भागः" इति [५४] ऋचा चरून् पात्राणि च पाषाणैरिष्टकाभिर्वा पिदध्यात् ॥

"यथा यमाय" इति [५५] ऋचा शलाकाभिरिष्टकाभिर्वा

प्रसव्यं चितं श्मशानप्रदेशं कुट्टयेयुः। सर्वत्र कर्तुरेव मन्त्रवचनम्। तत्र पितृगृहम् उन्नतं कुर्यात् "उन्नतं स्वर्गकामस्य" इति श्रुतेः ॥

"इदं हिरण्यम्" इति [५६] प्रथमार्धेन प्रेतहस्ते विद्यमानं हिरण्यम् आज्येन अभिघार्य ज्येष्ठपुत्रेण अप्रावादीपयेत्। "स्वर्गं यतः" इत्युत्तरार्धेन पुत्रः प्रेतहस्तं मार्जयेत् ॥

"ये च जीवाः" इति [५७] ऋचा सर्पिर्मधुसहितं चरुद्वयम् अभिमन्त्र्य अस्थिसमीपे निदध्यात् ॥

पिण्डपितृयज्ञे अनया बर्हिषि पित्रर्थं दत्तान् पिण्डान् घृतेन अभिघारयेत् ॥

"वृषा मतीनाम्" [५८] इत्यादीनां तिसृणां पितृमेध एव काण्डोक्तो विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

"इदं पितृभ्यः" (५१) इस प्रथम ऋचाके प्रथमार्धसे चिता के काष्ठोंके ऊपर दर्भोंको फैलावे। उत्तरार्धसे कुशा बिछी हुई चिता पर प्रेतको चित्त करके लिटावे।

तथा श्मशानचयन—कर्ममें "इदं पितृभ्यः" इस आधी ऋचा से गड्ढेमें कुशाओंको बिछावे। "तदारोह" इस उत्तरार्धसे उन अस्थियोंको गड्ढेमें रक्खे।

"एदं बर्हिः" इस बावनवीं ऋचासे कुलमें ज्येष्ठ पुरुष अस्थियों को गाँठोंके अनुक्रमसे एकत्रित करे।

"पर्णो राजा" इस तरेपनवीं ऋचासे "अपूपवान् क्षीरवान्" आदि मन्त्रमें कहे हुए प्रत्येक दिशामें स्थापित नौ चरुओंको और सौ तथा सहस्र छिद्र वाले पात्रोंको भी मध्यपलाशपर्णोंसे आच्छादित कर देय।

"ऊर्जो भागः" इस चौअनवीं ऋचासे चरुओंको और पात्र को भी पाषाणों वा ईंटोंसे ढक देय।

"यथा यमाय" इस पचपनवीं ऋचासे शलाका या ईंटोंसे प्रसव्य चुने हुए श्मशान प्रदेशको कूटें। वहाँ पिताके घरको उन्नत बनावे। श्रुतिमें भी कहा है, कि–"उन्नतं स्वर्गकामस्य।– स्वर्गकी अभिलाषा वालेका उत्तम घर होना चाहिये"।

"इदं हिरण्यम्" इस छप्पनवीं ऋचाके प्रथमार्धसे प्रेतके हाथ में रखे हुए सुवर्णको घृतसे अभिघारित करके ज्येष्ठपुत्रके द्वारा अग्निमें भस्म करा देय। "स्वर्गं यतः" इस उत्तरार्धसे पुत्र प्रेत के हाथका मार्जन करे।

"ये च जीवाः" इस सत्तावनवीं ऋचासे घी शहद पड़े हुए दो चरुओंको अभिमन्त्रित करके अस्थियोंके समीपमें धर देय।

पिण्डपितृयज्ञमें इस ऋचासे कुशाओं पर पिताके लिये दिये हुए पिण्डोंको घृतसे अभिघारित करे।

"वृषा मतीनाम्" (५८ । ५९ । ६०) इन तीन ऋचाओंका पितृमेधमें ही काण्डोक्त विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ॥ ५१ ॥

इदम् । पितृऽभ्यः । प्र । भरामि । बर्हिः । जीवम् । देवेभ्यः । उत्ऽतरम् । स्तृणामि ।
तत् । आ । रोह । पुरुष । मेध्यः । भवन् । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । पराऽइतम् ॥ ५१ ॥

पितृभ्यः पित्रर्थम् इदं बर्हिः प्र भरामि प्रहरामि आस्तृणामि। तस्मिन्नास्तीर्णे बर्हिषि देवेभ्यः देवार्थं जीवन् जीवनवान् अहं संस्कर्ता उत्तरम् उपरितनं बर्हिः स्तृणामि। ❀ स्तृञ् आच्छादने ❀। हे पुरुष त्वं मेध्यः। मेधो यज्ञः पितृमेधाख्यः। तदर्हो भवन् तत् बर्हिः आ रोह आतिष्ठ। ❀ भवतेः शत्रन्तं पदं भवन्निति ❀। पितरः पूर्वजाः परेतम् इतः पराङ्मुखं गतं त्वा त्वां प्रति जानन्तु अनुजानन्तु। बर्हिरारोहणाय अस्मदीयोयं पितृलोकं प्राप्नोत्विति स्मरन्तु इत्यर्थः। ❀ "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति आध्यानपर्युदासात् आत्मनेपदाभावः ❀॥

मैं इन कुशाओंको पितरोंके लिये बिछाता हूँ और इन बिछे हुए कुशाओंके ऊपर मैं संस्कर्तापुरुष देवताओंके लिये जीवित रहना चाहता हुआ कुशाओंको बिछाता हूँ। हे पुरुष! तू पितृमेधके योग्य होता हुआ इन कुशाओं पर आरोहण कर, पूर्वज पितर तुझको प्रेत हुआ जानें॥ ५१॥

द्वितीया॥

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्। यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि

आ। इदम्। बर्हिः। असदः। मेध्यः। अभूः। प्रति। त्वा। जानन्तु। पितरः। पराऽइतम्।
यथाऽपरु। तन्वम्। सम्। भरस्व। गात्राणि। ते। ब्रह्मणा। कल्पयामि॥ ५२॥

हे प्रेत त्वम् इदं चितावास्तीर्णं बर्हिः असदः आरूढः। ❀ सदेर्लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् ❀॥ अतो मेध्यः पितृमेधयज्ञार्हः

अभूः । दहनेन संस्कृतोभूरिति यावत् ॥ प्रति त्वेति पादो व्याख्यातः । जानन्त्विति लोडन्तं पदं भूतकालपरतया व्याख्येयम् । अथ वा क्रियमाणास्थिसंचयनार्थम् अनुजानन्त्विति यथास्थितम् अस्तु ॥ तन्वम् तनूम् अस्थिरूपां यथापरु । परुशब्दः पर्ववाची । यथापर्व जीवदवस्थायां येन संनिवेशेन अस्थीनि संहितानि तं निवेशम् अनतिक्रम्य । ❀ पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावः ❀ । सं भरस्व संहरस्व । ❀ "हृग्रहोर्भः०" ❀ । संधेहि ॥ अहमपि कुले ज्येष्ठः ते तव गात्राणि अङ्गानि अस्थिरूपाणि ब्रह्मणा मन्त्रेण कल्पयामि पूर्वस्थितपर्वानतिक्रमेण समर्थानि संहितानि करोमि ॥

हे प्रेत ! तू इस चिता पर बिछी हुई कुशा पर चढ़ गया है अतः पितृमेधके योग्य पवित्र होगया है, पितर तुझको प्रेत हुआ जानें अर्थात् यह हमारा पुरुष कुशाओं पर चढ़नेसे पितृलोकको प्राप्त हो यह जानें । जीवित अवस्थामें जिस प्रकार तेरी अस्थियें थीं वैसी ही रहें । कुलमें ज्येष्ठ मैं भी तेरे अस्थिरूप अंगोंको मन्त्रसे संहित करता हूँ ॥ ५२ ॥

तृतीया ॥

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ५३

पर्णः । राजा । अपिऽधानम् । चरूणाम् । ऊर्जः । बलम् । सहः । ओजः । नः । आ । अगन् ।
आयुः । जीवेभ्यः । विऽदधत् । दीर्घायुऽत्वाय । शतऽशारदाय ५३

चरूणाम् "अपूपवान् क्षीरवान्" [१६] इति मन्त्रोक्तद्रव्ययुतानां नवानां चरूणां पिधानम् आच्छादनभूतः । ❀ "वष्टि

भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयोः” इति अपिशब्दस्य आदिवर्णलोपः ❀। पर्णः पलाशवृक्षः पलाशो राजा यज्ञियत्वात् सर्ववृक्षाणाम् अधिपतिः नः अस्माकम् ऊर्जः ऊर्जयति बलवन्तं करोतीति ऊर्जः अन्नरसः। ❀ ऊर्ज बलप्राणने। अस्मात् णयन्तात् पचाद्यच् ❀। बलम् शारीरं बाह्यं च मनुष्यसंपत्त्यादिलक्षणं द्विविधं बलं सहः शत्रुधर्षणसामर्थ्यम्। ❀ सहतेरभिभवार्थाद् असुन् ❀। ओजः तेजः शरीरकान्तिः सर्वधात्वान्तरभूतः शरीरधारकोष्टमधातुर्वा आ अगन्। सकलचरुपिधायकः पलाशपर्णः अस्माकम् ऊर्जबलाद्यात्मक एव आगच्छतु। यद्वा ऊर्जो बलम् इत्यादीनि द्वितीयान्तानि पदानि। अन्नादीनि दातुम् आगच्छतु इति क्रियाध्याहारेण योज्यम्। ❀ गमेर्लुङि च्लेर्लुक् ❀॥ न केवलम् अन्नादिदानं किं तु जीवेभ्यः जीवनवद्भ्यः अस्मभ्यम् आयुः जीवनं विदधत् विदध्यात् प्रयच्छतु। ❀ दधातेर्लेटि श्लुः। “घोर्लोपो लेटि वा” इति धातोः आकारलोपः। “लेटोऽडाटौ” इति अडागमः ❀। शतशारदाय। शरच्छब्दः संवत्सरवाची। शतसंवत्सरपरिमिताय। ❀ उत्तरपदवृद्धिश्छान्दसी ❀। दीर्घायुत्वाय दीर्घायुष्ट्वाय। ❀ पृषोदरादित्वाद् अन्त्यलोपः ❀। चिरकालजीवनाय॥

चरुओंका ढकनरूप, सब वृक्षोंके अधिपति पलाशका पत्र हम को अन्नरस, भीतरी बाहरी शारीरिक बल, शत्रुको दबानेकी शक्ति, तेजको देनेके लिये आवे, हम जीवित पुरुषोंको सौ वर्षकी दीर्घायु देता हुआ हमको प्राप्त हो॥ ५३॥

चतुर्थी॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम।

तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥

ऊर्जः । भागः । यः । इमम् । जजान । अश्मा । अन्नानाम् । आधिऽपत्यम् । जगाम ।

तम् । अर्चत । विश्वऽमित्राः । हविःऽभिः । सः । नः । यमः । प्रऽतरम् । जीवसे । धात् ॥ ५४ ॥

ऊर्जः अन्नस्य अस्थिसमीपस्थापितचरुलक्षणस्य भागः संभक्ता। ❀ कर्तरि व्यत्ययेन घञ् ❀ । यो यमः इमं प्रेतं जजान जनयामास । येन च यमेन अश्मा यमदेवत्यचरुपिधायकः पाषाणः अन्नानां चरूणाम् आधिपत्यम् अधिपतित्वम् उपर्यवस्थायित्वं जगाम प्राप्तवान् । हे विश्वमित्राः विश्वं मित्रं येषां ते सकलोपकारिजनवन्तो हे बान्धवाः तं यमं हविर्भिरर्चत प्रीणयत । ❀ अर्चतिर्भौवादिकः ❀ । स यमः नः अस्मान् प्रतरम् प्रकृष्टं जीवसे जीवनाय धात् विदधातु । अयम् अर्धर्चः पूर्वानुवाके व्याख्यातः [१८. ३. ६३] ॥

अस्थियोंके समीपमें स्थित किये हुए चरुरूप अन्नके पात्र जिन यमदेवने इसको प्रेतरूपमें प्रकट किया है और जो यम इन चरुओंको ढकने वाले पाषाणोंके अधिपतित्वको प्राप्त हैं । हे सब का उपकार करने वाले बांधवों ! उन यमदेवको तुम हवियोंसे तृप्त करो वह यमदेव हमको चिरजीवनके लिये पुष्ट करें ॥५४॥

पञ्चमी ॥

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः ।

एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥

यथा । यमाय । हर्म्यम् । अवपन् । पञ्च । मानवाः ।

एव । वपामि । हर्म्यम् । यथा । मे । भूरयः । असत ॥ ५५ ॥

पञ्च पञ्चसंख्याका मानवाः मनोरपत्यादिजनाः । निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्च जना इति हि यास्कः [नि० ३. ८] । अथ वा देवमनुष्यादयः पञ्च जनाः । तथा च ऐतरेयकब्राह्मणे समाम्नायते । "सर्वेषां वा एतत् पञ्चजनानाम् उक्थं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां च । एतेषां वा एतत् पञ्चजनानाम् उक्थम्" इति [ऐ० ब्रा० ३. ३१] । एते पञ्च जना यथा येन प्रकारेण यमाय प्रेताधिपतये हर्म्यम् निवासस्थानं सौधम् अवपन् निर्मितवन्तः एव एवं हर्म्यम् स्थानम् उन्नतं पितृगृहम् आवपामि मृत्तिकया संपादयामि प्रेतनिवासार्थं विदधामि । यथा येन प्रकारेण मे मदीया बान्धवा यूयं भूरयः बहवः असत स्यात । प्रेतोन्नतस्थानाकरणे बान्धवानां प्रत्यवायो भवतीति उन्नतपितृगृहकरणम् । ❁ अस्तेर्लेटि अडागमः ❁ ॥

पञ्चजनोंने जिस प्रकार यमदेवके लिये निवासस्थानको (उन्नत) बनाया है, इसी प्रकार मैं प्रेतनिवासके लिये इस पितृगृह को ऊँचा बनाता हूँ । क्योंकि–ऐसा करनेसे हे मेरे बान्धवो ! तुम बहुतसे रहोगे । (प्रेतका स्थान उन्नत न बनानेसे बांधवों को प्रत्यवाय लगता है अतएव पितृगृहको उन्नत किया गया है) ५५

षष्ठी ॥

इदं हिरण्यं बिभृहि यत् ते पिताबिभः पुरा ।

स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

इदम् । हिरण्यम् । बिभृहि । यत् । ते । पिता । अबिभः । पुरा ।

स्वःऽगम् । यतः । पितुः । हस्तम् । निः । मृड्ढि । दक्षिणम् ५६

हे प्रेत इदं हिरण्यम् सुवर्णनिर्मितम् अंगुलीयं पिपृहि पूरय। आज्येन अभिघारयेत्यर्थः। ❀ पृ पालनपूरणयोः। जौहोत्यादिकः। "अर्तिपिपर्त्योश्च इति अभ्यासस्य इत्वम् ❀। यत् हिरण्यं ते तव पिता पुरा पूर्वम् अबिभः भृतवान् हस्ते धारितवान्। ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः। शपः श्लुः। "भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्वम्। तिपि धातोर्गुणे "हल्ङ्या०" इत्यादिना तिपो लोपे विसर्जनीयः ❀। स्वर्गम् सुखेन गन्तव्यं कर्माजितं लोकं यतः गच्छतः पितुः जनकस्य दक्षिणं हस्तं निमृड्ढि निर्मार्जय शोधय। हिरण्यस्य दक्षिणहस्ते धारणात् तस्य समार्जनम्। ❀ मृजेः आदादिकात् लोटि हित्वधित्वादिकार्याणि ❀॥

हे प्रेत! तू इस सुवर्णकी बनी हुई अंगूठीको घृतसे अभिघारित कर। तेरे पिताने जिस सुवर्णको पहिले धारण कर रखा था तेरे पिताका जो स्वर्गमापक हाथ है पिताके उस दक्षिण हाथ का तू मार्जन कर (सुवर्णका दक्षिण हाथमें धारण करना ही मार्जन है) ॥ ५६ ॥

सप्तमी ॥

ये च॑ जी॒वा ये च॑ मृ॒ता ये जा॒ता ये च॑ य॒ज्ञियाः॑।
तेभ्यो॑ घृ॒तस्य॑ कु॒ल्यै॑तु॒ मधु॑धारा॒ व्यु॒न्द॒ती ॥ ५७ ॥

ये। च। जीवाः। ये। च। मृताः। ये। जाताः। ये। च। यज्ञियाः।
तेभ्यः। घृतस्य। कुल्या। एतु। मधुऽधारा। विऽउन्दती ॥५७॥

ये जीवाः जीववन्तः ये मृताः परासवः। समुच्चयार्थाश्चकाराः। ये जाताः जनिमन्तः उत्पन्नाः ये जज्ञियाः जनिष्यमाणाः जज्ञिम् उत्पत्तिं यान्ति गच्छन्तीति जज्ञियाः। ❀ जनी प्रादुर्भावे। "आदृगमहनजनः०" इति किप्रत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनादि कार्यम्। जज्ञिशब्दोपपदाद् यातेर्विच् प्रत्ययः❀। तेभ्यः जीवादिभ्यः सर्वेभ्यस्त-

दर्थं मधुधाराः मधुप्रवाहान् स्युन्दती विशेषेण सिञ्चती अभिवर्षन्ती घृतस्य आज्यस्य कुल्या कृत्रिमा सरित् एतु तत्प्रीणनाय गच्छतु ॥

जो जीवित हैं, जो मर गए हैं, जो उत्पन्न होगए हैं, जो उत्पन्न होने वाले हैं, उन जीवित आदि सबके लिये, मधुके प्रवाहका अभिवर्षण करती हुई घृतकी नदी प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

अष्टमी ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।

प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

वृषा । मतीनाम् । पवते । विऽचक्षणः । सूरः । अह्नाम् । प्रऽतरीता । उषसाम् । दिवः ।

प्राणः । सिन्धूनाम् । कलशान् । अचिक्रदत् । इन्द्रस्य । हार्दिम् । आऽविशन् । मनीषया ॥ ५८ ॥

पितृत्वं प्राप्ताः पुरुषा धूमादिमार्गेण पितृलोकं प्राप्य सोमयागादिजनितसुकृतफलम् उपभुञ्जते । अतः अनया पितृप्रकरणे सोमः स्तूयते । मतीनाम् मन्तॄणां स्तोतॄणां वृषा वर्षिता अभिमतफलवर्षकः मतीनाम् स्तुतीनां वा वर्षकः स्तुतिविषये विचक्षणः विशेषेण द्रष्टा सर्वस्य सर्वैर्वा द्रष्टव्यः सोमः पवते । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । गच्छति दशापवित्रात् स्यन्दते । यद्वा । ❀ पूङ् पवने । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः शप् ❀ । पूयते शोध्यते अध्वर्युभिः । अह्नाम् । अहोरात्राणाम् इत्यर्थः । सूरः प्रेरयिता निष्पादयिता ।

❀ षू प्रेरणे । औणादिको रक् प्रत्ययः ❀। उषसाम् उषःकालानां दिवः द्युलोकस्य च प्रतरीता प्रवर्धयिता । ❀ तरतेस्तृचि "वृतो वा" इति इडागमस्य दीर्घः ❀ । सिन्धूनाम् स्यन्दमानानां वसतीवरीणाम् अपां प्राणः प्राणभूतः स्वात्मरूपत्वेन कर्ता सोमः कलशान् द्रोणकलशपूतभृदाधवनीयान् ऐन्द्रवायवादिग्रहान् वा । अभिलक्ष्य इत्यध्याहारः । अचिक्रदत् अत्यन्तं शब्दायते । अथ वा कलशान् अचिक्रदत् धारापातध्वनिना तद्वतः करोति । यद्वा कलशान् अचिक्रदत् कामयते ॥ ततः इन्द्रस्य सवनत्रये पातव्यस्य हार्दिम । हृदयम् इत्यर्थः । हृदयमेव हार्दिम । ❀ पृथ्वादिषु पाठो द्रष्टव्यः । स्वार्थिकश्चेमनिच अवगन्तव्यः ❀। हृदययुक्तं जठरं वा मनीषया मनस ईषया यथामनोभिलाषम् अविशत् प्रविशति । यद्वा मनीषया मननीयया इष्यमाणया धारया अविशत् ॥

[पितृत्वको प्राप्त हुए पुरुष धूमादिमार्गसे पितृलोकको प्राप्त होकर सोमयाग आदिसे मिलने वाले पुण्यके फलको भोगते हैं। अत एव पित्र्यप्रकरणमें इस ऋचासे सोमकी स्तुति की गई है, कि–] स्तोताओंको अभिमत फल देने वाला, सबके देखने योग्य सोम दशापवित्रसे गमन करता है यह सोम दिन और रात्रिको निष्पन्न करने वाला है । उषःकाल और द्युलोकका बढ़ाने वाला है, स्यन्दित होने वाले वसतीवरी जलोंका प्राणरूप है ऐसा सोम द्रोणकलश पूतभृत् आधवनीय आदि कलशोंको लक्ष्य कर बड़ा शब्द कर रहा है । और फिर अपनी अभिलाषाके अनुसार, सवनत्रयमें पातव्य इन्द्रके जठरमें प्रवेश कर रहा है ॥ ५८ ॥

नवमी ॥

त्वेषस्ते॑ धूम ऊ॑र्णोतु दि॒वि षञ्छु॒क्र आत॑तः ।
सूरो॒ न हि द्यु॒ता त्वं कृ॒पा पा॑वक॒ रोच॑से ॥ ५९ ॥

त्वेषः । ते । धूमः । ऊर्णोतु । दिवि । सन् । शुक्रः । आऽततः ।
सूरः । न । हि । द्युता । त्वम् । कृपा । पावक । रोचसे ॥५९॥

अत्र प्रेताग्निः स्तूयते । हे प्रेताग्ने ते तव त्वेषः दीप्तो धूमः ऊर्णोतु आच्छादयतु अन्तरिक्षं कर्म सर्वत्र मेघात्मना परिणतः । अथ वा त्वेषः । * त्विष दीप्तौ । "अन्येभ्योपि दृश्यते" इति क्विप् प्रत्ययः । लघूपधगुणः । द्वितीयाबहुवचनम् शस् । व्यत्ययेन अन्तोदात्तत्वम् * । दीप्तीः सूर्यस्य स्वदीप्तो धूम ऊर्णोतु । दिवि अन्तरिक्षे सन् भवन् शुक्रः शोचिष्मान् आततः विस्तीर्णः ॥ किं च हे पावक शोधक दाहक प्रेताग्ने त्वं सूरो न सूर्य इव हि । इति पूरणः । द्युता दीप्त्या रोचसे दीप्यसे कृपा । * तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः * । कृपया स्तुत्या सहितः । स्तूयमान इत्यर्थः ॥

[इस ऋचामें प्रेताग्निकी स्तुति की गई है, कि-] हे प्रेताग्ने! तेरा दमकता हुआ धूम मेघरूपसे अन्तरिक्षको आच्छादित कर देय । अथवा-तेरा धुआँ सूर्यकी कान्तिको ढक देय । आकाशमें जा अपने वाला होकर फैल जावे । हे शोधक दाहक प्रेताग्ने ! आप स्तुतिके कारण अपनी कान्तिसे सूर्यकी समान दमकते हैं ॥ ५९ ॥

दशमी ॥

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशं शतयामना पथा ॥

प्र । वै । एति । इन्दुः । इन्द्रस्य । निःऽकृतिम् । सखा । सख्युः । न । प्र । मिनाति । सम्ऽगिरः ।

मर्यःऽइव । योषाः । सम् । अर्षसे । सोमः । कलशे । शतऽयाम्ना ।
पथा ॥ ६० ॥

पितृलोकाधिपतिः सोमः स्तूयते । इन्दुः स्यन्दमानः सोमः इन्द्रस्य निष्कृतिम् । जठरलक्षणं स्थानम् इत्यर्थः । वै मैति गच्छति । वैशब्दः प्रसिद्धौ । "अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुम् इन्द्र" इति हि मन्त्रवर्णः [ऋ० ३. ३४. ६] ॥ सखा सखेव हितकारी सोमः सख्युः अभिषवस्तोत्रादिना सखिभूतस्य यष्टुः संगिरः संगीर्यमाणानि इदमेव फलं सोमादेव लभेय इत्येवं प्रतिज्ञायमानानि काम्यमानानि वस्तूनि न प्र मिनाति न हिनस्ति मोघानि न करोति किं तु प्रयच्छति । यद्वा सखा सोमः सख्युः इन्द्रस्य संगिरः । ❀ एकवचनस्य बहुवचनम् आदेशः ❀ । संगिरम् । उदरम् इत्यर्थः । संगिरति निगिरति अत्र ओदनादि कम् इति व्युत्पत्तेः । न प्र हिनस्ति शून्यं न करोति । सर्वदा स्वेन पूर्णं करोतीत्यर्थः । ❀ मीञ् हिंसायाम् । "मीनातेर्निगमे" इति ह्रस्वत्वम् ❀ ॥ मर्य इव मर्त्यो मरणधर्मा मनुष्यः यथा योषा । ❀ तृतीयाया आकारः ❀ । योषया युवत्या संगच्छते एवं सोमः कलशे सोमाधारे द्रोणकलशे शतयाम्ना शतयानेन पथा मार्गेण समर्षसे । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । समर्षते संगच्छते । ❀ ऋषी गतौ । भौवादिकः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । उदकमिश्रितस्य सोमरसस्य दशापवित्रात् स्यन्दनसमये बहुधारासद्भावात् शतयाम्नेत्युक्तम् ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

[इस ऋचामें पितृलोकके अधिपति सोमकी स्तुति की गई है, कि–] यह निचड़ता हुआ सोम इन्द्रदेवके उदरमें ही जाता है † । यह मित्रकी समान हितकारी सखा सोम, निचोड़ने और

† ऋग्वेदसंहिता ३ । ३५ । ६ में भी इसी बातका प्रति-

स्तोत्र आदिके कारण मित्र बने हुए यष्टाकी विचारी हुई "मैं सोम से इस फलको अवश्य पाऊँगा" आदि कामनाओंको निष्फल नहीं करता है, किन्तु प्रदान ही करता है। अथवा—यह स्तुति आदिके कारण यजमानका मित्र बना हुआ सोम अपने मित्र इन्द्र के उदरको शून्य नहीं रखता है किन्तु अपने द्वारा सर्वदा पूर्ण रखता है। और मनुष्य जैसे स्त्रीसे मिलता है इसी प्रकार यह सोम द्रोणकलशमें सहस्रों मार्गोंसे मिलता है। अर्थात् जल डाल कर अँगोछेसे निचोड़ते समय बहुतसी धारोंसे मिलता है ६०(३५)

चतुर्थ अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त।

पिण्डपितृयज्ञे "अन्नमीमदन्त" इति प्रथमया ऋचा पिण्डोपस्थानानन्तरम् उत्तरपरिषेकं कुर्यात् ॥

"आ यात पितरः" इति [६२] ऋचा पिण्डदानार्थं स्तीर्णे बर्हिषि तिलान् प्रकिरेत् ॥

"परा यात" [६३] ऋचा पितॄन् विसर्जयेत् ॥

पिण्डपितृयज्ञ एव अनया सांवत्सरांस्तण्डुलान् जुहुयात् ॥

पिण्डपितृयज्ञे "अभूद् दूतः" इति [६५] ऋचा समिदाधानानन्तरं सर्वप्रणीतम् अग्निं प्रस्थानयेत्। सूत्रितं हि। "अभूद् दूत इत्यग्निं त्रिः प्रस्थानयति यदि सर्वः प्रणीतः स्यात्। दक्षिणाग्नौ त्वेतद् आहिताग्नेः। गृह्येष्वनाहिताग्नेः" इति [कौ० ११.१०]

"असौ हा इह ते" इति [६६] द्वाभ्यां श्मशानदेशं विषमसंख्याकाभिः शलाकाभिरिष्टकाभिर्वा प्रसव्यं चिनुयात् ॥

पादन किया गया है. कि—"अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुम् इन्द्र।—हे इन्द्र! इस यज्ञमें इन कुशाओं पर बैठकर इस सोमको अपने उदरमें स्थापित करिये"।

"येऽस्माकं पितरः" इति [६८] अर्धर्चेन पिण्डप्रदानार्थं बर्हिः स्तृणीयात् ॥

"उदुत्तमम्" इति [६९] ऋचा शवदाहानन्तरं सर्वे ब्राह्मणाः स्नानं कुर्युः ॥

"प्रास्मत् पाशान्" इति [७०] ऋचं पितृमेधे दशरात्रपर्यन्तं सायंप्रातः स्वस्त्ययनार्थं पठेयुः ॥

पिण्डपितृयज्ञमें "अक्षन्नमीमदन्त" इस पहिली ऋचासे पिण्डोपस्थानके अनन्तर उत्तरपरिषेकको करे ।

"आयात पितरः" इस बासठवीं ऋचासे पिण्डदानके लिये बिछाई हुई कुशाओं पर तिल डाले ।

"परा यात" इस तरेसठवीं ऋचासे पितरोंका विसर्जन कर देय।

और पिण्डपितृयज्ञमें इस ऋचासे सांयवम तण्डुलोंकी आहुति देय ।

पिण्डपितृयज्ञमें "अभूद् दूतः" इस पैंसठवीं ऋचासे समिदाधानके अनन्तर सर्वप्रणीत अग्निका प्रत्यानयन करे । इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अभूद् दूत इत्यग्निं त्रिः प्रत्यानयति यदि सर्वः प्रणीतः स्यात् । दक्षिणाग्नौ त्वेतद् आहिताग्नेः । गृहेष्वनाहिताग्नेः" । (कौशिकसूत्र ११ । १०) ॥

"असौ हा इह ते" इन छियासठवीं और सरसठवीं दो ऋचाओं से श्मशानदेशको विषमसङ्ख्यक शलाका वा ईंटोंसे प्रसव्य चुने ।

"येऽस्माकं पितरं" इस अड़सठवीं ऋचाके पूर्वार्धसे पिण्डप्रदानके लिये कुशाओंको बिछावे ।

उदुत्तमम्" इस उनहत्तरवीं ऋचासे शवदाहके अनन्तर सब ब्राह्मण स्नान करें ।

और "प्रास्मत् पाशान्" इस सत्तरवीं ऋचाका स्वस्त्ययनके लिये पितृमेधमें दश रात तक सायंकाल और प्रातःकालके समय सबको पाठ करना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

अक्षन् । अमीमदन्त । हि । अव । प्रियान् । अधूषत ।
अस्तोषत । स्वऽभानवः । विप्राः । यविष्ठाः । ईमहे ॥ ६१ ॥

अत्र पितरः स्तूयन्ते । अक्षन् अघसन् बर्हिषि दत्तान् पिण्डान् । ❀ अद भक्षणे । "लुङ्सनोर्घस्लृ" इति घस्लादेशः । "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "गमहन०" इति उपधालोपः । "शासिवसिघसीनां च" इति षत्वम् । "खरि च" इति चर्त्वेन घकारस्य ककारः । कषयोगे क्षः । "लुङ्लङ्०" इति अडागम उदात्तः । पादादित्वाद् अनिघातः ❀ । अमीमदन्त । हिशब्दश्चार्थे । ❀तिङ उत्तरत्वाद् निघाताभावः ❀ । पिण्डभक्षणेन तृप्ताश्च अभूवन् । ❀ मद तृप्तियोगे । चुरादेरात्मनेपदिनश्चङि रूपम् ❀ । यद्वा हिशब्दो हेत्वर्थे । यतस्तृप्ता अतः प्रियान् स्वकीयान् देहान् अवाधूषत अकम्पयन् । अतिशयितरसास्वादनेन गन्तुम् अशक्नुवन्तः शरीराण्येव अकम्पयन् । ❀ धूविधूनने । कुटादिः । लुङि सिच् । "गाङ्कुटादिभ्यः०" इति सिचो ङित्वाद् गुणाभावः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । अनन्तरं स्वभानवः स्वायत्तदीप्तयः पितरः अस्तोषत अस्ताविषुरस्माद् साधु कृतम् इति । ❀ ष्टुञ् स्तुतौ । लुङि सिच् । "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणः ❀ । एवं पिण्डभक्षणेन तृप्तान् पितॄन् विप्राः मेधाविनो यविष्ठाः युवतमा वयम् ईमहे । ❀ याच्ञाकर्मा ❀ । याचामहे स्वेष्टानि फलानि । ❀ईङ् गतौ । दैवादिक आत्मनेपदी । श्यनोलुक् बाहुलकात्❀ ॥

पितरोंने पिण्डोंका भक्षण कर लिया और वे पिण्डभक्षण करके तृप्त होगए, तृप्त होनेके कारण वे अपने शरीरोंको कँपा रहे हैं अर्थात् परम स्वादु रसका आस्वादन कर जानेकी शक्ति न रहनेसे अपने शरीरको ही कँपा रहे हैं। फिर ये पितर स्वायत्त-दीप्तिक होकर हमारी स्तुति करते हैं, कि-इन्होंने अच्छा किया। इस प्रकार पिण्डभक्षणसे तृप्त हुए पितरोंसे हम विद्वान् और तरुण पुरुष अपने अभिलषित फलोंकी याचना करते हैं॥ ६१॥

द्वितीया ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥

आ। यात। पितरः। सोम्यासः। गम्भीरैः। पथिऽभिः। पितृऽयानैः।
आयुः। अस्मभ्यम्। दधतः। प्रऽजाम्। च। रायः। च। पोषैः। अभि। नः। सचध्वम् ॥ ६२ ॥

हे पितरः सोम्यासः सोमार्हा यूयम् आ यात आगच्छत गम्भीरैः दुर्गमैः पितृयाणैः पितरो यान्ति एभिरिति तैः पथिभिः मार्गैः। आगत्य च अस्मभ्यं पिण्डदानार्थं स्तीर्णे बर्हिषि तिलान् विकिरद्भ्यः आयुः बहुकालजीवनं प्रजाम् प्रकर्षेण जायमानां पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिं च दधत धत्त प्रयच्छत। ❀ दधातेर्लेटि "घोर्लोपो लेटि०" इति धातोराकारलोपः। अडागमः। यद्वा दध धारणे। भौवादिक आत्मनेपदी। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्। अथ वा श्लुश्च शश्चेति विकरणद्वयम्। शस्य ङित्त्वात् "श्नाभ्य-

स्तयोरातः" इति आकारलोपः ❀ । किं च नः अस्मान् रायः धनस्य पोषैः समृद्धिभिः अभि सचध्वम् अभितः समवेत । रयिपोषेण अस्मान् संयोजयतेति ॥

हे सोमके योग्य पितरो ! तुम गंभीर पितृयानोंसे आओ और आकर पिण्डदान करनेके लिये कुशा बिछा कर तिल देने वाले हमको आयु और प्रजा दो और धनकी पुष्टियोंसे हमको संयुक्त करो ॥ ६२ ॥

तृतीया ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

परा । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पथिऽभिः ।
पूःऽयानैः ।
अध । मासि । पुनः । आ । यात । नः । गृहान् । हविः । अत्तुम् ।
सुऽप्रजसः । सुऽवीराः ॥ ६३ ॥

हे पितरः सोम्यासो यूयं पूर्याणैः पूः पुरं स्वीयः पितृलोकस्तं यान्ति एभिरितिपूर्याणास्तैः स्वपुरप्राप्तिसाधनैः गम्भीरैः पथिभिः परा यात इतः पराङ्मुखा यात स्वस्थानं गच्छत ॥ अध अथ अनन्तरं मासि मासे पूर्णे । अमावास्यायाम् इत्यर्थः । हविरत्तून् हविरदन्ति एषु गृहेष्विति ते हविरत्नवः तान् हविर्भक्षस्थानभूतान् नः अस्मदीयान् गृहान् पुनरा यात आगच्छत । किंविशिष्टान् । सुप्रजसः । प्रजा संततिः पुत्रलक्षणा । शोभनपुत्रयुक्तान् । ❀ "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् समासान्तः ❀ ।

सुवीराः । वीरः कर्मणि कुशलः पौत्रादिशोभनपौत्रादिसमेतान् । ❀ शसो जसादेशः ❀ । एवंविधान् गृहान् आ यात । पितॄणां वा विशेषणम् । शोभनप्रजसः सुवीराः सन्तः अस्मभ्यं पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिं दातुं पुनरायातेति संबन्धः ॥

हे सोमके पात्र पितरों ! तुम अपने लोकको जाने वाले पितृलोकके गंभीर मार्ग पितृयानोंके द्वारा अपने लोकको जाओ और मासके पूर्ण होने पर अमावास्याके दिन हविका भक्षण करनेके स्थानरूप हमारे घरोंमें फिर आजाना। हे पितरों ! तुम सुन्दर प्रजा और पौत्र आदि देनेमें समर्थ हो ॥ ६३ ॥

"यद् वो अग्निः" इत्यनया चितिस्थानाद् विप्रकीर्णं प्रेतावयवं पुनरग्नौ प्रक्षिपेत् । सैषा सूक्ते

"यद् वो अग्निः" इस ऋचाके द्वारा चितास्थलसे गिरे हुए प्रेतके अवयवको फिर अग्निमें डाले ।

चतुर्थी ॥

यद् वो॑ अ॒ग्निरज॑हा॒देक॒मङ्गं॑ पितृलो॒कं ग॒मयं॑ जा॒तवे॑दाः ।
तद् व॑ ए॒तत् पुन॒रा प्या॑ययामि सा॒ङ्गाः स्व॒र्गे पि॒तरो॑ मादयध्वम् ॥ ६४ ॥

यत् । व॒ः । अ॒ग्निः । अजहात् । एक॑म् । अङ्ग॑म् । पि॒तृ॒ऽलो॒कम् । ग॒मय॑न् । जा॒त॒ऽवे॑दाः ।

तत् । व॒ः । ए॒तत् । पुन॒ः । आ । प्या॒य॒या॒मि । स॒ऽअङ्गाः । स्व॒ःऽगे । पि॒तर॒ः । मा॒द॒य॒ध्व॒म् ॥ ६४ ॥

हे प्रेताः वः युष्मान् पितृलोकम् पितृभिरधिष्ठितं स्थानं गमयन् प्रापयन् जातवेदाः जातानां वेदिता पुण्यापुण्यकर्मणः यद्वा

जातानां कर्मफलस्य लम्भयिता प्रापयिता अग्निः प्रेतदाहकः यद् युष्मदीयम् एकम् अङ्गम् अजहात् त्यक्तवान्। चितेर्विप्रकीर्णम् अवयवं नादहद् इत्यर्थः। ॐ ओहाक् त्यागे। जौहोत्यादिकः ॐ। वः युष्माकं तद् एतत् पुरोवर्ति अङ्गम् अवयवं पुनरा प्याययामि अग्नौ प्रक्षेपेण प्रवर्धयामि। यूयं साङ्गाः संपूर्णावयवाः पितरो भूत्वा स्वर्गे मादयध्वम् मोदध्वम् ॥

हे प्रेत ! तुमको पितृलोकमें पहुँचाते हुए जातवेदा अग्निने जो तुम्हारे एक अंगको त्याग दिया है अर्थात् चितासे छिटका कर भस्म नहीं किया है उस अंगको मैं अग्निमें डाल कर फिर तुमको बढ़ाता हूँ। तुम पूरे अवयवों वाले पितर बन कर स्वर्गलोकमें प्रसन्न होओ ॥ ६४ ॥

पञ्चमी ॥

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥

अभूत्। दूतः। प्रऽहितः। जातऽवेदाः। सायम्। निऽअह्ने। उपऽवन्द्यः। नृऽभिः।
प्र। अदाः। पितृऽभ्यः। स्वधया। ते। अक्षन्। अद्धि। त्वम्। देव। प्रऽयता। हवींषि ॥ ६५ ॥

सायं न्यह्ने सायं प्रातः नृभिरुपवन्द्यः मनुष्यैरुपासनीयो जातवेदाः जातानां वेदिताग्निः दूतः प्रहितोभूत् दूतत्वे नियुक्तः सन्

प्रेषितोभूत् अस्माभिः पितॄन् प्रति ॥ अथ प्रत्यक्षनिर्देशः । हे अग्ने एतादृशस्त्वं पितृभ्यः प्रादाः अस्माभिः प्रयतानि हवींषि प्रयच्छ। ते पितरः स्वधया अक्षन् स्वधाकारेण दत्तानि हवींषि भक्षयन्तु । अनन्तरम् हे देव अग्ने त्वमपि प्रयता प्रयतानि तुभ्यमेव दत्तानि हवींषि अद्धि भक्षय । अद भक्षणे । प्राप्तकाले लोट् * । पित्रर्थं त्वदर्थं च अस्माभिस्त्वयि हुतानां हविषां पितृभ्यः प्रदानानन्तरं पावकीनहविर्भक्षणस्य कालः प्राप्त इति यावत् ॥

सायङ्काल और प्रातःकालके समय मनुष्योंसे वन्दनीय अग्निदेवको हमने दूत बना कर पितरोंके पास भेजा है। हे अग्ने! आप हमारी दी हुई हवियोंको पितरोंके अर्पण करिये । और वे पितर स्वधाकारसे दी हुई हवियोंका भक्षण करें। हे अग्निदेव! इसके अनन्तर आप भी अपने लिये ही दी हुई हवियोंका भक्षण करिये ॥ ६५ ॥

षष्ठी ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

असौ । हा । इह । ते । मनः । ककुत्सलम्ऽइव । जामयः ।
अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णु हि ॥ ६६ ॥

असौ इति प्रेतस्य संबोधनम् । हे अमुकनामधेय प्रेत ते तव मनः इह अस्मिन् प्रसव्यम् इष्टकचिते प्रदेशे वर्तते । हा संतोषे ॥ हे भूमे चितश्मशानदेश एनम् अन्वादिष्टम् अत्रैव अवतिष्ठमानं प्रेतम् अभ्यूर्णु हि अभितः सर्वत आवृणु आच्छादय । तत्र दृष्टान्तः । जामयः भगिन्यः । उपलक्षणम् एतत् । आप्ता बान्धवाः ककुत्स्थलमिव । ककुच्छब्दः प्रधानवाची । प्रधानावयवप्रदेशमिव । यथा

मात्रादय आप्ता बान्धवाः पुत्रादीनां शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि शीतातपवातनिवारणाय वाससाच्छादयन्ति एवम् । यद्वा जामिशब्दः स्त्रीमात्रपरः । यथा स्त्रियः ककुत्स्थलम् । ग्रीवापरभागः ककुत् । स्वकन्धरप्रदेशं वाससा प्रोर्णुवन्ति तद्वत् ॥

हे अमुक नाम वाले प्रेत ! तेरा मन इस ईंटोंसे चिने हुए स्थान में है यह सन्तोषकी बात है । हे चिनी हुई श्मशानदेशरूप भूमे ! तू यहाँ पर स्थित प्रेतको इस प्रकार आच्छादित कर जिस प्रकार स्त्रियें अपने कंधेको वस्त्रसे ढक लेती हैं ॥ ६६ ॥

सप्तमी । द्विपदा ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥

शुम्भन्ताम् । लोकाः । पितृऽसदनाः । पितृऽसदने । त्वा । लोके । आ । सादयामि ॥ ६७ ॥

हे प्रेत तव पितृसदनाः पितरः सीदन्ति अत्र इति पितृसदना लोकाः शुम्भन्ताम् प्रकाशन्ताम् । ❀ शुभ शुम्भ शोभायाम् । तौदादिकः ❀ । अहं संस्कर्ता पितृसदने पितृभिरधिष्ठिते लोके त्वा त्वाम् आ सादयामि स्थापयामि ॥

हे प्रेत ! जिनमें पितर बैठते हैं वे लोक तेरे लिये प्रकाशित हों, मैं संस्कर्ता पुरुष पितरोंसे अधिष्ठित लोकमें तुझको स्थापित करता हूँ ॥ ६७ ॥

एकपदाष्टमी ऋक् एवम् आम्नायते ।

अष्टमी ॥

येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

ये । अस्माकम् । पितरः । तेषाम् । बर्हिः । असि ॥ ६८ ॥

ये अस्माकं पितरः पितृत्वं प्राप्ताः पूर्वजास्तेषां बर्हिः आसदनस्थानम् असि भवसि। इति पिण्डदानार्थं स्तीर्यमाणं बर्हिः संबोध्यते

(इस ऋचामें पिण्डदानके लिये बिछाई हुई कुशको सम्बोधित करके कहा है, कि–) हे बर्हिः! जो हमारे पितृत्वको प्राप्त हुए पूर्वज पितर हैं तू उनके बैठनेका स्थान बनती है ॥ ६८ ॥

नवमी ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ६९

उत्। उत्ऽतमम्। वरुण। पाशम्। अस्मत्। अव। अधमम्।
वि। मध्यमम्। श्रथय।

अध। वयम्। आदित्य। व्रते। तव। अनागसः। अदितये। स्याम

एषा पुरस्ताद् व्याख्याता [७, ८८, ३]। वरुणपाशास्त्रिविधा उत्तमाधममध्यमभेदेन। तत्र हे वरुण त्वदीयम् उत्तमं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः उत् श्रथाय ऊर्ध्वम् उन्मोचय। अधमम् निकृष्टं पाशम् अव श्रथाय अवस्ताद् मोचय। मध्यमं तु पाशं वि श्रथाय विश्लेषय। ❀ श्रन्थ प्रतिहर्षविमोचनयोः। क्रैयादिकः। "छन्दसि शायजपि" इति हौ शायजादेशः ❀ ॥ अथ अनन्तरं विमुक्तपाशा वयम् हे आदित्य अदितेः पुत्र वरुण तव व्रते कर्मणि परिचरणरूपे अनागसः निर्दोषाः प्रत्यवायरहिताः सन्तः अदितये अखण्डनाय अहिंसायै स्याम इति संग्रहार्थः। ❀ दो अवखण्डने। क्तिनि "द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति" इति इत्वम् ❀ ॥

हे वरुण! आप अपने उत्तम पाशको हमसे उन्मुक्त करिये, अपने निकृष्ट पाशको उन्मुक्त करिये, अपने मध्यम पाशको अलग करिये। पाशोंसे छूटनेके अनन्तर हम हे अदितिके पुत्र

वरुण ! आपकी सेवामें लगने पर निष्पाप होनेके कारण अहिंसित रहें ॥ ६९ ॥

दशमी ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।

अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । यैः । सम्ऽआमे । बध्यते । यैः । विऽआमे ।

अध । जीवेम । शरदम् । शतानि । त्वया । राजन् । गुपिताः । रक्षमाणाः ॥ ७० ॥

हे वरुण वारक देव पाशान् वक्ष्यमाणान् बन्धनसाधनभूतान् सर्वान् अस्मत् अस्मत्तः प्र मुञ्च प्रमोचय । यैः पाशैः समामे बध्यते पुरुषः व्यामे च यैर्बध्यते । व्यामो नाम "व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्" इत्येवंविहितप्रमाणकः प्रदेशः । पञ्चारत्निर्व्याम इति याज्ञिकाः। समामो नाम व्यामसंज्ञितप्रदेशात् संकुचितप्रमाणको देशः । संनिहिते प्रदेशे दूरे प्रदेशे च इति यावत् ॥ अध अथ पाशमोचनानन्तरम् हे राजन् वरुण त्वया गुपिताः रक्षिताः पूर्वं पालिता रक्षमाणाः । ❀ यगभावश्छान्दसः ❀ । रक्ष्यमाणा इतः परमपि पाल्यमाना वयं शतानि शरदम् शरदः । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया ❀ । बहुवर्षपर्यन्तं जीवेम जीवनवन्तः स्याम ॥

इति चतुर्थेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे वारक वरुणदेव ! जिन पाशोंसे पुरुष कोठरियामें जकड़ा हुआसा होजाता है और जिससे उससे भी संकुचित स्थानमें जकड़ा हुआसा होजाता है उन सब पाशोंको हमसे दूर करिये। फिर हे राजन् वरुण ! इस प्रकार आपसे रक्षित और भविष्यमें भी रक्षा पाते हुए हम सौ वर्ष तक जीवित रहें ॥ ७० ॥ (२६)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

पिण्डपितृयज्ञे "अग्नये कव्यवाहनाय" इति त्रिभिर्मन्त्रैः "स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः" इति अष्टमनवमदशमैश्च त्रिभिः स्थालीपाकं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "ये रूपाणि" इति प्रक्रम्य "कुम्भीपाकम् अभिघारयति । अग्नये कव्यवाहनायेति । जुहोति । यथा निरुप्तं द्वितीयां यमाय पितृमते स्वधा पितृभ्य इति तृतीयाम्" इति [कौ० ११. ६]॥ निर्वापप्रकारस्तु एवं कौशिकेन उक्तः । "यज्ञोपवीती दक्षिणपूर्वम् अन्तर्देशम् अभिमुखः शूर्पे एकपवित्रान्तर्हितान् हविष्यान् निर्वपति इदम् अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः इति। इदं सोमाय पितृमते स्वधा पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । पितृभ्यो वान्तरिक्षसद्भ्यः इति । इदं यमाय पितृमते स्वधा पितृभ्यश्च दिविषद्भ्यः" इति [कौ० ११. ८.] ॥

पिण्डपितृयज्ञ एव "एतत् ते प्रततामह स्वधा" इति पञ्चमषष्ठसप्तमैर्मन्त्रैर्बर्हिषि त्रीन् पिंडान् संहितान् निदध्यात् । सूत्रितं हि । "उद्धृत्याज्येन संनीय त्रीन् पिण्डान् संहितान् निदधाति एतत् ते प्रततामहेति" [इति कौ० ११. ६.] ॥

एतत् सूक्तं सर्वं यजुर्मन्त्रात्मकम् ॥

पिण्डपितृयज्ञमें "अग्नये कव्यवाहनाय" आदि तीन मन्त्रोंसे और "स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः" इन आठवें नवें और दशम मन्त्रोंसे भी स्थालीपाककी आहुति देय। सूत्रमें भी "ये रूपाणि" का आरम्भ करके कहा है, कि–"कुम्भीपाकं अभिघारयति ।

अग्नये कव्यवाहनायेति जुहोति । यथा निरुप्तं द्वितीयां यमाय पितृमते स्वधा पितृभ्य इति तृतीयाम् ।–कुम्भीपाकका अभिधारण करता है। अग्नये कव्यवाहनाय–से आहुति देवे, और आहुति देनेसे पहिले यमाय पितृमते कह कर दूसरी आहुति देय और स्वधा पितृभ्यः–से तीसरी आहुति देय।" (कौशिकसूत्र ११।६)

निर्वापकी रीति कौशिकने इस प्रकार कही है; कि–"यज्ञोपवीती दक्षिणपूर्वं अन्तर्देशं अभिमुखः शूर्पे एकपवित्रान्तर्हितान् हविष्यान् निर्वपति इदं अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः इति । इदं सोमाय पितृमते स्वधा पितृभ्यः सोमवद्भ्यः पितृभ्यो वान्तरिक्षसद्भ्यः इति । इदं यमाय पितृमते स्वधा पितृभ्यश्च दिविषद्भ्यः ।–यज्ञोपवीती पुरुष दक्षिण और पश्चिमके कोणकी ओर मुख कर छाजमें एक पवित्री पड़े हुए इन मन्त्रोंसे हविष्योंको डाले। इदं०"। (कौशिकसूत्र ११।८)॥

पिण्डपितृयज्ञमें ही "एतत् ते प्रततामह स्वधा" आदि पाँचवें छठे और सातवें मन्त्रोंसे कुशाओं पर तीन पिण्डोंको मिलाकर रक्खे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–उद्धृत्याज्येन संनीय त्रीन् पिण्डान् संहितान् निदधाति एतत् ते प्रततामहेति" (कौशिकसूत्र ११।६)।

तत्र प्रथमादितो मन्त्रचतुष्टयपाठस्तु

अग्नये॑ क॒व्य॒वाह॑नाय स्व॒धा नमः॑ ॥ ७१ ॥

अ॒ग्नये॑ । क॒व्य॒ऽवाह॑नाय । स्व॒धा । नमः॑ ॥ ७१ ॥

सोमा॑य पि॒तृम॑ते स्व॒धा नमः॑ ॥ ७२ ॥

सोमा॑य । पि॒तृऽम॑ते । स्व॒धा । नमः॑ ॥ ७२ ॥

पि॒तृभ्यः॑ सोम॑वद्भ्यः स्व॒धा नमः॑ ॥ ७३ ॥

पितृऽभ्यः सोमवत्ऽभ्यः । स्वधा नमः ॥ ७३ ॥

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥

यमाय । पितृऽमते । स्वधा । नमः ॥ ७४ ॥

दैवहविःप्रापकोग्निः हव्यवाहनः । पित्र्यहविःप्रापकोग्निः कव्यवाहनः । तस्मै कव्यवाहनाय कव्यं पित्र्यं हविः । तद्वहते पितॄन् प्रापयते । ❀ कव्योपपदाद् वहेर्ण्युट् प्रत्ययः । णित्त्वाद् उपधावृद्धिः ❀ । तस्मै अग्नये स्वधा स्वधाकारेण इदं हविः हुतम् अस्तु नमः नमस्कारोस्तु । स्वहाकारवषट्कारप्रदाना हि देवाः । स्वधाकारनमस्कारप्रदानाः खलु पितरः । स्वाहाकारवषट्कारौ विकल्पितौ । स्वधानमःशब्दौ समुच्चितौ । "स्वधा नम इति वषट् करोति । स्वधाकारो हि पितृणाम्" इति तैत्तिरीयकश्रुतेः [तै० ब्रा० १. ६. ६. ५.] । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहा०" इति अग्नये इति चतुर्थी ❀ ॥ एवम् उत्तरे मन्त्रा योज्याः । सोमस्य पितरो विशेषणभूताः सोमो वा पितॄणां विशेषणम् ॥

यह पूर्ण सूक्त यजुर्वेदके मन्त्रोंमें भी आता है। [देवताओंको हवि पहुँचाते समय अग्नि हव्यवाहन कहलाते हैं और पितरोंको हवि पहुँचाते समय अग्नि कव्यवाहन कहलाते हैं उन] कव्यवाहन अग्निके लिये स्वधा-शब्दसे यह हवि आहुत हो और यह नमस्कार उनको प्राप्त हो । पितृमान् सोमके लिये स्वधा शब्दसे यह आहुति आहुत हो और यह नमस्कार उनको प्राप्त हो । सोम वाले पितरोंको यह स्वधा शब्दसे आहुत आहुति प्राप्त हो और यह प्रणाम उनको प्राप्त हो । पितरोंके अधिपति यमदेव के लिये स्वधा शब्दसे यह आहुति आहुत होकर प्राप्त हो और यह प्रणाम उनको प्राप्त हो ।[स्वाहा या वषट् कह कर देवताओं को हवि दी जाती है और स्वधा सहित नमः शब्द कह कर पितरों

को हवि दी जाती है। तैत्तिरीयब्राह्मण १।६।६।५ में कहा है, कि—"स्वधा नम इति वषट्करोति। स्वधाकारो हि पितॄणाम्"] ॥ ७१—७४ ॥

पिण्डप्रदानमन्त्रा एवम् आम्नायन्ते।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

एतत्। ते। प्रऽततामह। स्वधा। ये। च। त्वाम्। अनु ॥७५॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥

एतत्। ते। ततामह। स्वधा। ये। च। त्वाम्। अनु ॥ ७६ ॥

एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥

एतत्। ते। तत। स्वधा ॥ ७७ ॥

हे प्रततामह प्रपितामह। ततशब्दः पितृवचनः। सृष्ट्यादौ हि प्रजापतिना स्वजनकाह्वानार्थं ततेति तातेति व्याहृतम्। तथा च ऐतरेयकम् "एतां वाच प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैव तत् ततवत्या वाचा प्रतिपद्यते" इति [ऐ० ब्रा० १. ३. ३]। अतः प्रशस्तत्वात् ततेति आम्नातम्। आश्वलायनेन तु स्वपित्रादीनां नामधेयान्यजानानः पुत्रस्ततशब्दं प्रयुञ्जीतेति सूत्रितम्। "नामान्यविद्वांस्ततपितामहप्रपितामहेति" [इति। आश्व० २. ६]। ततामहप्रततामहेत्यर्थः। यद्वा देवानां परोक्षनामप्रियत्वात् ततेत्यादिना परोक्षनाम्ना व्यवहारः। अथ वा पितृलोकं प्राप्ताः सर्वेऽपि पितरः। तत्र भूतग्राहिकया स्वजनकादीनाम् आह्वानाय ततेतिशब्दप्रयोगः। हे प्रततामह प्रपितामह ते तुभ्यम् एतत् पिण्डलक्षणं हविः स्वधाकारेण दत्तम् अस्तु। ये च पितरः भार्यापुत्रादयः पितरस्त्वाम् अनुसृत्य वर्तन्ते तेभ्योपि

स्वधास्तु । ते च मन्त्र अंशभागिनो भवेयुरिति ॥ एवम् उत्तरौ मन्त्रौ व्याख्येयौ । हे ततामह पितामह । हे तत पितः । अथ तृतीये मन्त्रे पिण्डप्रदातरि पुत्रे जीवति सति अनुगामिनाम् अन्येषाम् अभावाद् ये च त्वाम् अनु इति मन्त्रशेषो नाम्नातः ॥

पिंडप्रदानके मन्त्र इस प्रकार हैं—

[तत शब्द पितृका वाचक है। सृष्टिकी आदिमें प्रजापतिने अपने जनकका आह्वान करनेके लिये तत तात कहा था। इसी बात को ऐतरेयकमें लिखा है, कि—"एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षरद्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैव तत् ततवत्या वाचा प्रतिपद्यते ॥—प्रजापतिने पहिले एक ही अक्षरके दो अक्षर वाली तत तात इस वाणीको कहा। उस ततवती वाणीसे ही पिता आदि को बुलाया जाता है" [ऐतरय आरण्यक १ । ३ । ३]। अतः प्रशस्त होनेसे यहाँ मन्त्रमें पिताके शब्दके स्थानमें तत शब्दका प्रयोग किया है। आश्वलायनमुनिने अपने सूत्रोंमें यह कहा है, कि—अपने पिता आदिके नामसे अपरिचित पुरुष तत शब्दका प्रयोग करे। यथा—"नामान्यविद्वान् तत पितामह प्रपितामहेति।—नामसे अपरिचित पुरुष तत पितामह प्रपितामह आदि कहे" आश्वलायनसूत्र २ । ६ ॥ अथवा—देवता छिपे हुए (परोक्ष) नामसे प्रसन्न होते हैं अत एव तत इस नामसे व्यवहार किया है। अथवा—पितृलोकमें गए हुए सब पितरोंको तत शब्दसे कह सकते हैं। अत एव शृंगग्राहिकारीतिसे अर्थात् सींग पकड़ लिये तो सारे ढोरको पकड़ लिया रीतिसे अपने जनक आदिका आह्वान करनेके लिये तत शब्दका प्रयोग किया है] हे प्रततामह अर्थात् प्रपितामह ! आपके लिये यह पिण्डलक्षणहवि स्वधाकार से दी हुई हो और जो भार्या पुत्र आदि पितर आपके अनुकूल होकर रहते हों उनको भी यह स्वधा प्राप्त हो। हे ततामह अर्थात्

पितामह ! आपके लिये यह पिण्डरूप हवि स्वधाकारसे प्राप्त हो और जो भार्यापुत्र आदि पितर आपके कारण भाग पासकते हैं उनको भी स्वधासे हविकी प्राप्ति हो । हे तत अर्थात् पितः ! आपके लिये स्वधाकारसे यह हवि प्राप्त हो [तृतीयमन्त्रमें पिण्ड-दान करने वाले पुत्रके जीवित रहनेके कारण "ये च त्वामनु" भाग नहीं कहा है] ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

अष्टमादिमन्त्रास्त्रय एवम् आम्नायन्ते ।

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा । पितृऽभ्यः । पृथिविसत्ऽभ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा । पितृऽभ्यः । अन्तरिक्षसत्ऽभ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥

स्वधा । पितृऽभ्यः । दिविसत्ऽभ्यः ॥ ८० ॥

पृथिविषद्भ्यः पृथिव्यां सीदद्भ्यः । ❀ पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम् । "पूर्वपदात्" इति षत्वम् ❀ । पितृभ्यः स्वधा । इदं हविः स्वधाकारेण हुतम् अस्तु ॥ एवम् उत्तरौ व्याख्येयौ । दिविषद्भ्यः दिवि द्युलोके सीदद्भ्यः । ❀ "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । पूर्ववद् उत्तरपदस्य मूर्धन्यादेशः ❀ ॥

इति चतुर्थे ऽनुवाके ऽष्टमं सूक्तम् ॥

पृथिवीमें रहने वाले पितरोंके लिये यह हवि स्वधासे प्राप्त हो । अन्तरिक्षमें रहने वाले पितरोंके लिये यह हवि स्वधासे प्राप्त हो । द्युलोकमें रहने वाले पितरोंके लिये यह हवि स्वधाशब्दसे प्राप्त हो ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ (२७)

चतुर्थ अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त

"नमो वः पितरः" इति अष्टभिर्यजुर्मन्त्रैर्बर्हिषि पिण्डेषु आवाहितान् पितॄन् उपतिष्ठेत। सूत्रितं हि। "नमो वः पितरः [८१] इत्युपतिष्ठते। अक्षन् [६१] इत्युत्तरसिचम् अवधूय परा यात [६३] इति "परायापयति" इति [कौ० ११. ६]॥

तत्रैव कर्मणि "आ त्वाग्ने" इत्यनया समिधम् आदध्यात्। "समिधोऽभ्यादधाति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "त्वमग्न ईळितः [१८. ३. ४२] आ त्वाग्न इधीमहि [१८. ४. ८८]" इति [कौ० ११. १०]॥

"वारुणीं जलभये जलसंक्षये च" इति [न० क० १७.] विहितायां वरुणदेवत्यायां महाशान्तौ "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा" इत्येताम् ऋचम् आवपेत्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "यद् देवा देवहेलनम् [६. ११४. १] इति याम्यायां चन्द्रमा अप्स्वन्तरा [१८. ४. ८९] इति वारुण्याम्" इति [न० क० १८]॥

"नमो वः पितरः" इन आठ यजुर्मंत्रोंसे कुशाओं पर रखे हुए पिण्डों पर आवाहित पितरोंका उपस्थान करे। इस विषयमें सूत्र का प्रमाण है, कि–"नमो वः पितरः (८१) इत्युपतिष्ठते। अक्षन् (६१) इत्युत्तरसिचम् अवधूय परायात (६३) इति परायापयति" (कौशिकसूत्र ११। ६)॥

तहाँ ही कर्ममें "आ त्वाग्ने" ऋचासे समिधाको रक्खे। "समिधोऽभ्यादधाति" को कह कर सूत्रमें कहा है, कि–"त्वमग्न ईळितः (१८। ३। ४२) आ त्वाग्न इधीमहि (१८।४ ८८)" (कौशिकसूत्र ११। १०)

वारुणीं जलभये जलसंक्षये च।–जलका भय वा जलका क्षय होने पर वारुणीशांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित वरुणदेवकी महाशान्तिमें "चन्द्रमा अप्स्वन्तरा" ऋचाको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"यद् देवा देवहेलनम्

(६ । ११४ । १) इति याम्यायाः चन्द्रमा अप्स्वन्तरा (१८ । ४ । ८६) इति वारुण्याम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

मन्त्रपाठस्तु

नमो॑ वः पितर ऊ॒र्जे नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य ॥८१॥

नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । ऊ॒र्जे । नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । रसा॑य ८१

नमो॑ वः पितरो॒ भामा॑य॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॑ ८२

नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । भामा॑य ।नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । म॒न्यवे॑८२

नमो॑ वः पितरो॒ यद् घो॒रं तस्मै॒ नमो॑ वः पितरो॒ यत् क्रू॒रं तस्मै॑ ॥ ८३ ॥

नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । यत् । घो॒रम् । तस्मै॑ । नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । यत् । क्रू॒रम् । तस्मै॑ ॥ ८३ ॥

नमो॑ वः पितरो॒ यच्छि॒वं तस्मै॒ नमो॑ वः पितरो॒ यत् स्यो॒नं तस्मै॑ ॥ ८४ ॥

नमः॑ । वः॒ । पि॒त॒रः॒ । यत् । शि॒वम् ।तस्मै॑ । नमः॑ ।वः॒। पि॒त॒रः॒। यत् । स्यो॒नम् । तस्मै॑ ॥ ८४ ॥

नमो॑ वः पितरः स्व॒धा वः॑ पितरः ॥ ८५ ॥

नमः॑ ।वः॒। पि॒त॒रः॒ । स्व॒धा । वः॒ । पि॒त॒रः॒ ॥ ८५ ॥

एते मन्त्रा निगदव्याख्याताः । एतैर्मन्त्रैः पितॄणां नमस्कारः

प्रतिपाद्यते । "नमस्करोति । नमस्कारो हि पितृणाम्" इति श्रुतेः [तै०ब्रा० १. ३. १०. ८] । नमस्कारस्य फलप्रतिपादकानि ऊर्जे इत्यादीनि । यद्वा पितृभिर्युष्माभिर्दीयमानाय ऊर्जे नम इति । एवम् उत्तरत्र । ऊर्जे अन्नाय रसाय अन्नरसाय ॥ भामाय । ❀ भाम क्रोधे । अस्माद् घञ् ❀ ॥ क्रोधाय । अत्र पितृसंबन्धी क्रोध एव नमस्कार्यः । तथा अन्यत्र समाम्नायते । "नमस्ते रुद्र मन्यवे" इति [तै० सं० ४. ५. १. १] । मन्युः मानसः क्रोधविशेषः ॥ घोरम् अहितकारिणां भयंकरं रूपं तस्मै नमः । क्रूरम् हिंस्रं रूपं तस्मै नमः ॥ शिवम् मङ्गलं रूपं स्योनम् सुखप्रदं तस्मै च नमः नमस्कारोस्तु ॥ हे पितरः वः युष्मभ्यं नमः । हे पितरः वः युष्मभ्यं स्वधा स्वधाकारेण इदं हविर्हुतम् अस्तु ॥

[इन मन्त्रोंसे पितरोंको नमस्कार किया गया है तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ३ । १० । ८ की श्रुतिमें भी कहा है, कि—"नमस्करोति । नमस्कारो हि पितृणाम् ।—नमस्कार करे ! नमस्कार पितरोंके लिये आवश्यक है ।"] हे पितरो! मैं अन्न और रस पानेके लिये आपको प्रणाम करता हूँ वा आपके अन्न और रसके लिये प्रणाम है । हे पितरो ! आपके क्रोधके लिये प्रणाम है । [यहाँ पितरोंके क्रोधको ही प्रणाम करना चाहिये । तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । १ । १ में भी कहा है, कि—"नमस्ते रुद्र मन्यवे" ।] हे पितरो ! आपके मानसक्रोध मन्युके लिये प्रणाम है । हे पितरो ! अहितकारियोंके लिये भयंकर आपके भयंकर रूपके लिये नमस्कार हो। हे पितरो ! आपके हिंसक रूपके लिये प्रणाम हो हे पितरो ! आपके मङ्गलकारी रूपके लिये भी नमस्कार है । हे पितरो ! आपके सुखप्रद रूपके लिये भी नमस्कार है । हे पितरो ! तुम्हारे लिये प्रणाम है । हे पितरो ! आपके लिये यह हवि हुत हो ॥ ८१—८५ ॥

षष्ठ्यादिमन्त्रपाठस्तु

ये॑त्र॑ पि॒तर॑ः पि॒तरो॒ ये॑त्र॑ यू॒यं स्थ यु॒ष्मांस्ते॑नु यू॒यं ते॒षां श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

ये । अत्र॑ । पि॒तर॑ः । पि॒तर॑ः । ये । अत्र॑ । यू॒यम् । स्थ । यु॒ष्मान् । ते । अनु॑ । यू॒यम् । ते॒षाम् । श्रेष्ठा॑ः । भू॒या॒स्थ ॥ ८६ ॥

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः । अ॒स्मांस्ते॑नु व॒यं ते॒षां श्रेष्ठा॑ भूयास्म ॥ ८७ ॥

ये । इ॒ह । पि॒तर॑ः । जी॒वाः । इ॒ह । व॒यम् । स्मः ॥ अ॒स्मान् । ते । अनु॑ । व॒यम् । ते॒षाम् । श्रेष्ठा॑ः । भू॒या॒स्म ॥ ८७ ॥

अत्र अस्मिन् पिंडपितृयज्ञे ये पितरो यूयं स्थ देवतात्वं प्राप्ताः स्थ । आदरार्थं व्यतिहारेण पुनर्वचनम् । युष्मान् अनुसृत्य ते अधिकत्वेन प्रसिद्धाः पितरो वर्तन्ते । तेषां यूयं श्रेष्ठाः प्रशस्यतमा उपजीव्या भूयास्थ भवत । युष्मत्प्रसादात् तेषां पिंडांशभागित्वात् ॥ इह अस्मिन् यज्ञे ये पितरः पितृत्वेन संभावितास्तेषां श्रेष्ठा भूयास्थेति संबन्धः । इह अस्मिन् लोके वयं पिण्डदातारो जीवाः जीवनवन्तः आयुष्मन्तः स्मः । अस्मान् अनुसृत्य ते प्रसिद्धाः समानवयोवंशविद्याधना वर्तन्ते । तेषां श्रेष्ठा भूयास्म । इति पिण्डेष्वावाहितान् पितॄन् उपतिष्ठेत ॥

[इस ऋचामें आदरके लिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है] हे पितरो ! इस पिण्डपितृयज्ञमें जो तुम देवतारूपमें बैठे हुए हो । तुम्हारे आश्रयसे जो और पितर रहते हैं उनमें तुम श्रेष्ठ होओ वे तुमसे आजीविका चलावें तुम उनमें श्रेष्ठ उपजीव्य

होओ। क्योंकि-वे आपके प्रसादसे पिण्डके अंशके भागी हो सकते हैं। इस यज्ञमें जो पितर पितृत्वसे संभावित हैं उनमें तुम श्रेष्ठ बनो। और इस लोकमें पिण्ड देने वाले हम भी जीवन-सम्पन्न आयु वाले होवें। और हमारे पास जो हमारी ही समान अवस्था वंश विद्या और धन वाले हैं उनमें हम श्रेष्ठ होवें [इस प्रकार पिण्डोंमें आवाहित पितरोंका उपस्थान करे] ॥८६॥८७॥

आ त्वा॑ग्न इधीमहि द्युमन्तं॑ देवाजर॑म् ।

यद् घ सा ते पनी॑यसी स॒मिद् दी॒दय॑ति॒ द्यवि॑ ।

इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ८८ ॥

आ । त्वा । अ॒ग्ने । इ॒धी॒म॒हि॒ । द्यु॒ऽमन्त॑म् । दे॒व॒ । अ॒जर॑म् ।

यत् । घ॒ । सा । ते॒ । पनी॑यसी । स॒म्ऽइत् । दी॒दय॑ति । द्यवि॑ ।

इष॑म् । स्तो॒तृ॒ऽभ्यः॑ । आ । भ॒र ॥ ८८ ॥

नवमी ॥ हे देव द्योतमान हे अग्ने द्युमन्तम् दीप्तिमन्तम् अजरम् जरारहितं त्वा त्वाम् आ इधीमहि समिधा अभिमुखं समिधीमहि दीपयामः । ❀ इन्धेर्लिङि बाहुलकात् श्नमो लुक् । "अनिदिताम्०" इति धातुनकारलोपः ❀ । यत् । ❀ सुपो लुक् ❀ । यस्य ते तव । घेति पूरणः । सा प्रसिद्धा पनीयसी । ❀ पनतिः स्तुतिकर्मा ❀ । स्तुत्यतरा समित् सम्यक् प्रकाशिका दीप्तिः द्यवि । ❀ द्योशब्दाद् ओकारान्तात् सप्तम्येकवचनम् ❀ । दिवि अन्तरिक्षे दीदयति दीप्यते । ❀ दीदेतिर्दीप्तिकर्मा ❀ । हे अग्ने समिधा समिध्यमानस्त्वं स्तोतृभ्यः स्तुतिकारिभ्यः अस्मभ्यम् इषम् इष्यमाणम् अन्नम् इष्टं फलं वा आ भर आहर देहि । ❀ "हृग्रहोर्भः०" ❀ ॥

हे दमकते हुए अग्निदेव ! दीप्तिमान् जरारहित आपको हम अपने सम्मुख समिधाओंसे प्रदीप्त करते हैं। आपकी जो स्तुत्य कान्ति है वह आकाशमें भली प्रकार दमकती है। हे समिधाओं से दमकते हुये अग्निदेव ! आप हम स्तुति करने वालोंको अभिलषित अन्न या फल दें ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

चन्द्रमा । अप्ऽसु । अन्तः । आ । सुऽपर्णः । धावते । दिवि ।
न । वः । हिरण्यऽनेमयः । पदम् । विन्दन्ति । विऽद्युतः । वित्तम् । मे । अस्य । रोदसी इति ॥ ८९ ॥

दशमी ॥ अत्र शाट्यायनिन इतिहासम् आचक्षते । एकतो द्वितस्त्रित इति पुरा त्रय ऋषयो बभूवुः । एते कदाचिद् मरुभूमौ अरण्ये वर्तमानाः पिपासया संतप्तगात्राः सन्तः एकं कूपम् अविन्दन् । तत्र त्रिताख्य एको जलपानाय कूपं प्राविशत् । प्रविश्य स्वयम् अपः पीत्वा इतरयोश्च कूपाद् उदकम् उद्धृत्य प्रादात् । तावुभौ तद् उदकं पीत्वा तं त्रितं कूपे पातयित्वा तदीयं धनं सर्वम् अपहृत्य कूपं च रथचक्रेण पिधाय प्रास्थिषाताम् । ततः कूपे पतितः स त्रितः कूपाद् उत्तरीतुम् अशक्नुवन् सर्वे देवा माम् उद्धरन्तु इति मनसा सस्मार । अथ स त्रितो रात्रौ कूपस्य अन्तश्चन्द्रमसो रश्मीन् अपश्यन् अनया ऋचा परिदेवयत इति ॥ अस्या ऋचः अयम् अर्थः । अप्सु आन्तरिक्षासु उदकमये मण्डले अन्तः मध्ये । यद्वा आप इति अन्तरिक्षनाम । तत्र मध्ये वर्तमानः सुपर्णः शोभनपतनः । यद्वा सुपर्ण इति रश्मिनाम । सुषुम्नाख्येन सूर्यरश्मिना

युक्तश्चन्द्रमाः चन्दम् आह्लादं सर्वस्य जगतो निर्मिमीत इति चन्द्रमाः। ❀ "चन्द्रे माडो डित् [उ० ४. २२७] इति असुन्। दासी-भारादिषु पाठात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। आह्लादकारी सोमो दिवि द्युलोके आ धावते शीघ्रं गच्छति। ❀सृ गतौ। "पाघ्रा०" इत्यादिना वेगितायां गतौ धाव् आदेशः। व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀। तादृशस्य चन्द्रमसः संबन्धिनो हे हिरण्यनेमयः सुवर्णसदृशपर्यन्ता हितरमणीयप्रान्ता वा हे विद्युतः विद्योतमाना रश्मयः वः युष्माकं पदं पादस्थानीयम् अग्रं न विन्दन्ति मदीयानि इन्द्रियाणि कूपेन आवृतत्वाद् न लभन्ते। न पश्यन्तीत्यर्थः। अतः इदम् अनुचितम्। तस्मात् कूपाद् माम् उत्तारयतेत्यर्थः॥ अपि च हे रोदसी द्यावापृथिव्यौ मे मदीयम् अस्य इदं स्तोत्रं वित्तम् जानीतम्। ❀ विद ज्ञाने। लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। पादादित्वात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀। यद्वा मे मदीयं कूपपतनरूपं यद् इदं दुःखं तद् अवगच्छतम्। मदीयं स्तोत्रं श्रुत्वा मदीयं दुःखं ज्ञात्वा अस्मात् कूपाद् माम् उत्तारयतम् इत्यर्थः। ❀ अस्येति। "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। "ऊडिदम्०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

चतुर्थेऽनुवाके नवमं सूक्तम्॥

अनुवाकश्च समाप्तः॥

श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरहरि-
हरमहाराजकारिते सायणाचार्यविरचिते अथर्व-
वेदार्थप्रकाशे अष्टादशकाण्डं समाप्तम्॥

[शाट्यायनियोंने यहां एक इतिहास लिखा है, कि—पूर्वसमयमें एकत द्वित और त्रित नामक तीन ऋषि थे। वे एक समय रेगिस्तानके जंगलमें घूम रहे थे। विचरते २ उनको पियास लगी और उनका मुख सूखने लगा, इतनेमें उन्होंने एक कूप

देखा। तब त्रित नामक ऋषि कूपमें घुसे तहाँ जाकर उन्होंने अपने आप जल पिया और कुएँसे उतार कर उन दोनोंको भी पिलाया। उन दोनोंने जल पी कर त्रितको कुएँमें ढकेल दिया और कुएँ पर रथका पहिया धर दिया और उसके सारे धनको लेकर चल दिये। तब कूपमें पड़े हुए और कूपसे न निकल सकते हुए त्रितने मनसे यह प्रार्थना की, कि-सब देवता इस कूपसे मेरा उद्धार करें। इसके अनन्तर रात्रिमें कूपके भीतर चन्द्रमाकी किरणोंको देख कर ऋषिने इस ऋचामें विलाप किया है; कि-] उदकमय मण्डलमें वर्तमान, सुषुम्ना नामक सूर्यरश्मिसे संयुक्त चन्द्रमा द्युलोकमें शीघ्रतासे चल रहे हैं। ऐसे चन्द्रमाकी हे सुवर्णकी समान दमकते हुए प्रान्त वाली किरणो! मेरी इन्द्रियें कुएमें बन्द होनेसे तुम्हारे रूपको नहीं देख पातीं [अत एव मुझे इस कूपसे निकालो] और हे द्यावापृथिवी! तुम मेरे इस स्तोत्रको जानो अर्थात् मेरे स्तोत्रको सुन मेरे दुःखको जान कर इस कूपसे मुझको निकालिये॥ ८६॥ (२८)

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त (५४४)

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका अष्टादशकाण्ड ऋषिकुमार

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताकाका

सम्पादक कु० ऋ० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ अष्टादशः काण्डः समाप्तः ॥

5'5

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग ७

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१–८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

❖

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

❖

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 7

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers :

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. # 0542-2420404
e-mail : cvbhawan@yahoo.co.in

Reprint Edition 2007

Also can be had from :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

Printed at Rama Offsets Ltd.
Kamachha, Varanasi

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

एकोनविंशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥
यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

भा० ॥ सकल कार्योंका आरम्भ करते समय सरस्वती आदि देवता जिनको प्रणाम करके अपने आरब्ध कर्ममें सफल होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सकल जगत्की रचना की है उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

एकोनविंशे काण्डे सप्तानुवाकाः । तत्र प्रथमेनुवाके दश सूक्तानि । तत्र "सं सं स्रवन्तु" इति प्रथमं सूक्तं सर्वपुष्टिकर्मणि संपाताभिमन्त्रितमैश्रधान्यचरुप्राशने दधिमधुमिश्रसक्तुमन्थप्राशने च विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "सं सं स्रवन्त्विति नाभ्याभ्याम् उदकम् आहरतः सर्वत उपासेचं तस्मिन् मैश्रधान्यं शृतम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २] । व्रीहियवादीनि मिश्रधान्यानि । "व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियङ्गुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि" इति [कौ० १. ८] परिभाषासूत्रात् ॥

लक्ष्मीकरणेऽपि एतत् सूक्तम्। सूत्रितं हि। "यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्यं क्षीरौदनम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

तथा अमृतादिमहाशान्तिसाधारणभूतायां शान्तौ शान्त्युदकार्थं नदीह्रदादिभ्यः समाहृतं जलम् अनेन सूक्तेन अभिमन्त्रयेत। तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे।

> मन्त्रभूतां महाशान्तिं प्रवक्ष्यामो यथाविधि।
> अन्यासां सर्वशान्तीनाम् अमृतां विश्वभेषजीम्॥
> नदीभ्यो वा ह्रदेभ्यो वा जलं पुण्यं समाहरेत्।
> सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान् अभिमन्त्रयते ततः॥

इति [न० क० २०]॥

प्रथमकाण्डे "सं सं स्रवन्तु सिन्धवः" इति समाम्नातं चतुर्दशं सूक्तम् [१. १५] "इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः" इति "तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि" इति च धनरयिलिङ्गात् सर्वपुष्टिकर्मणि लक्ष्मीकरणे च विनियुक्तम्। अत्रापि "यज्ञम् इमं वर्धयता गिरः" "रूपंरूपं वयोवयः" इति लिङ्गात् सर्वपुष्टिकर्मणि लक्ष्मीकरणे च विनियुज्यते। अत एव उभयसाधारणं सूक्तप्रतीकं कौशिकः सूत्रितवान् "सं सं स्रवन्त्विति नाभ्याम् उदकम् आहरतः" इति [कौ० ३. २] "सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान्" इति च [न० क० २०]। अतः सूक्तयोः समुच्चयेन विकल्पेन वानुष्ठानम्॥

उन्नीसवें काण्डमें सात अनुवाक हैं। इसके प्रथम अनुवाकमें दश सूक्त हैं। इसका "सं सं स्रवन्तु" नामक प्रथम सूक्त सर्वपुष्टिकर्ममें, सम्पातित और अभिमन्त्रित धान जौ गेहूँ उपवाक तिल और प्रियंगु (कँगनी) नामक मिश्रधान्यके चरुप्राशनमें तथा दही शहद मिले हुए सत्तुओंके मन्थके प्राशनमें विनियोग होता

है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"सं सं स्रवन्तु इति नाभ्यामभ्यां उदकं आहरतः सर्वत उपासेचनं तस्मिन् मैथधान्यं श्रृतं अश्नाति।" (कौशिकसूत्र ३ । २)।

यह सूक्त लक्ष्मीकरणमें भी आता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्यं क्षीरौदनं अश्नाति।–जिसके लिये लक्ष्मीकी चाहे उससे धान घृत दूधको लाकर क्षीर और भातका प्राशन करे।०" (कौशिक सूत्र ३ । २)॥

तथा अमृता आदि महाशांतिकी साधारणभूत शांतिमें शान्ति जलके लानेके लिये नदी आदिसे लाये हुए जलको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"इस अन्य सब शान्तियोंकी प्रधानभूत सबकी चिकित्सारूपा अमृता महाशान्तिको शास्त्रोक्तविधिसे कहता हूँ, कि–विद्वान् पुरुष नदियों से या सरोवरोंसे बहुतसे पवित्र जल लावे फिर उसको सं सं स्रवन्तु–सूक्तसे अभिमन्त्रित करे।" (नक्षत्रकल्प २०)॥

प्रथम काण्डमें "सं सं स्रवन्तु सिन्धवः" यह चार ऋचा वाला सूक्त कहा है (१ । १५)। और "इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः" तथा "तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि" आदि मन्त्रोंमें पशु और रयिशब्दोंके लिंगसे सर्वपुष्टिकर्ममें और लक्ष्मीकरणमें भी इसका विनियोग कहा था। यहाँ पर भी "यज्ञं इमं वर्धयता गिरः" "रूपं रूपं वयः वयः" लिंगसे सर्वपुष्टि-कर्ममें और लक्ष्मीकरणमें इसका विनियोग होता है। अत एव दोनोंके लिये सूक्तप्रतीक कौशिकने कहा है, कि–"सं सं स्रव-न्त्विति नाभ्यामभ्यां उदकं आहरतः" (कौशिकसूत्र ३ । २) "सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान्" (नक्षत्रकल्प २०)॥ अत एव इन सूक्तोंका अलग २ या एक साथ अनुष्ठान होसकता है।

तत्र प्रथमा ॥

सं सं स्रवन्तु नद्यः१ः सं वाताः सं पतत्रिणः ।

यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि १

सम् । सम् । स्रवन्तु । नद्यः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ।

यज्ञम् । इमम् । वर्धयत । गिरः । सम्ऽस्राव्येण । हविषा । जुहोमि

नद्यः नदनशीला निम्नगाः सं सं स्रवन्तु सम्यक् प्रवहन्तु । वाताश्च सं स्रवन्तु आनुकूल्येन वान्तु । तथा पतत्रिणः पतत्राणि पक्षा येषां सन्ति ते तदुपलक्षिताः सर्वे प्राणिनः सं स्रवन्तु । सम्यग् अनुकूलस्वभावाश्चरन्तु । यद्वा एते नदीप्रभृतयः सं स्रवन्तु । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । सं स्रावयन्तु । अस्मदभिलषितं फलं प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥ हे गिरः गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । ❀ कर्मणि क्विप् ❀ । हे देवाः स्तूयमाना' यूयम् इमम् हविःप्रदं यज्ञम् यजमानम् । ❀ व्यत्ययेन कर्तरि नङ् प्रत्ययः ❀ । यस्य कृते पुण्यादिकर्मशान्तिरनुष्ठीयते तं फलस्वामिनं यजमानं वर्धयत पशुपुत्रादिभिः समृद्धं कुरुत । अपि वा गृणन्तीति गिरः । ❀ कर्तरि क्विप् ❀ । कर्मप्रयोक्तारः संबोध्यन्ते । अत्र हविषः संस्रावं दर्शयति संस्राव्येणेति । सम्यक् स्रवणं संस्रावः । ❀ स्रु गतौ । भावे घञ् ❀ । संस्रावम् अर्हतीति संस्राव्यम् आज्यपयःप्रभृति । ❀ "तद् अर्हति" इति यत् प्रत्ययः ❀ । यद्वा संस्रावणीयेन । ❀ सं पूर्वात् स्रवतेर्ण्यन्ताद् "अचो यत्" इति यत् प्रत्ययः ❀ । तादृशेन हविषा आज्यादिना जुहोमि आज्यादिकं हविः देवान् उद्दिश्य अग्नौ प्रक्षिपामीत्यर्थः । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति हविषेति कर्मणि तृतीया ❀ ॥

नदन (गर्जना) करने वाली नदियें भली प्रकार प्रवाहित

होवें। वायु भी भली प्रकार प्रवाहित हो–हमारे अनुकूल प्रवाहित हो। पक्षी आदि भी हमारे अनुकूल चलें अथवा ये नदी आदि सब हमको अभिलषित फल देवें। हे स्तुति पानेवाले देवताओं! तुम जिसके लिये पुण्य कर्म शान्ति आदिकी जा रही है उस फलस्वामी यजमानको पशु पुत्र आदिसे बढ़ाओ, मैं बहने वाले घृत आदि पदार्थोंसे सम्पन्न हविसे देवताओंके निमित्त आहुति देता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि २

इमम्। होमाः। यज्ञम्। अवत। इमम्। सम्ऽस्रावणाः। उत।
यज्ञम्। इमम्। वर्धयत। गिरः। सम्ऽस्राव्येण। हविषा। जुहोमि २

हे होमाः आहुतयः यूयम् इमं प्रवर्त्यमानं यज्ञम् आहुतिसमुदायात्मकं कर्म अवत तर्पयत। कतिपयाहुतीनां परित्यागे विपर्यासे वा तत्समष्टिरूपस्य कर्मणो वैगुण्यं भवतीति व्यस्ता एव आहुतयः पृथक् प्रार्थ्यन्ते। यथा वनसभादिषु समूहिद्रव्याद्यभावात् समूहाभावः एवम् अत्रापि। उत अपि च हे संस्रावणाः। ❀ कर्मणि ल्युट् प्रत्ययः ❀। संस्रावणीयाः आज्यपयःप्रभृतयः यूयम् इमं यज्ञम् अवत। साधनाभावे साध्यस्य अनिष्पादनात् ॥ अथ वा हे होमाः होतव्या देवताः इमं यज्ञम् यष्टारं फलकामं यजमानम्। अवत। पशुपुत्रादिभिः सर्वैः फलैः समर्धयत। जुहतीति होमाइति प्रयोक्तारो वा संबोध्यन्ते ॥ यज्ञम् इमम् इत्यादिरुत्तरार्धर्चो व्याख्यातः ॥

हे आहुतियों! तुम इस चालू आहुतिसमुदायरूप यज्ञकर्मको

दृढ करो [कुछ आहुतियोंका त्याग होने पर वा लौट फेर होने पर उनका समष्टिरूप कर्म गुणहीन होजाता है अत एव व्यस्त आहुतियोंकी यहाँ प्रार्थना की गई है। जैसे वन सभा आदिमें समूही वृक्ष पुरुषोंके अभाववश समूहका अभाव होता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।] हे संस्रावणीय घी दूध आदि तुम इस यज्ञकी रक्षा करो [क्योंकि—साधनके अभावमें साध्य निष्पन्न नहीं होसकता] हे स्तुति पाने वाले देवताओं ! तुम इस यजमानको पुत्र पौत्र पशु आदि फल देकर समृद्ध करो मैं घृतस्रव हविसे आहुति देता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे ।

यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

रूपम्ऽरूपम् । वयःऽवयः । सम्ऽरभ्य । एनम् । परि । स्वजे ।

यज्ञम् । इमम् । चतस्रः । प्रऽदिशः । वर्धयन्तु । सम्ऽस्राव्येण ।

हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

रूपंरूपं वयोवयः । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "नित्यं वा वयः" "सप्तदश वयांसि" इति च श्रुतेः ❀ । समस्तं पशुपुत्रादिकम् अभिलषितं फलं संरभ्य गृहीत्वा एनं कर्म प्रयोजयितारं फलकामं यजमानं परि ष्वजे पशुपुत्रादिफलैः सर्वतः संबद्धं करोमि इति प्रयोक्ता ब्रूते । ❀ "इदमोन्वादेशे०" एनादेशः । ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । लटि उत्तमैकवचने "दंशसञ्जस्वञ्जां शपि" इति उपधानकारलोपः ❀ । कथम् एकेन प्रयोक्त्रा सर्व-

रूपवयसां स्वीकारः । तत्राह । चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा प्राच्यादयो महादिशः तत्रस्था जनाः इमं यज्ञम् यजमानं वर्धयन्तु । अभिलषितैः सर्वैः समृद्धं कुर्वन्तु । संस्राव्येणेति पादः पूर्ववत् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मैं यथोक्त पुरुष, पशु पुत्र आदि समस्त और "सप्तदश वयांसि ।–सत्रह अवस्थायें होती हैं" इस श्रुतिमें प्रतिपादित सब अवस्थाओंको ग्रहण कर–हृदयमें रख कर–इस यजमानसे आलिंगन करता हूँ अर्थात् इन सबोंसे यजमानको संयुक्त करता हूँ। पूर्व आदि चारों श्रेष्ठ दिशायें यजमानको सब अभिलषित फलों से संयुक्त करें। मैं बहने वाले घृत दुग्ध आदि पदार्थों वाली हवि से आहुति देता हूँ ॥ ३ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५७५)

"शं त आपः" इति सूक्तेन तन्त्रभूतमहाशान्तौ नद्यादिसमाहृतं जलम् अभिमन्त्रयेत । सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे ।

नदीभ्यो वा ह्रदेभ्यो वा जलं पुण्यं समाहरेत् ।
सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान् अभिमन्त्रयते ततः ॥
शं त आपो हैमवतीः ॥

[इति न० क० २०] ॥

शं त आपः" सूक्तसे तन्त्रभूतमहाशांतिमें नदी आदिसे लाये हुए जलका अभिमन्त्रण करे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"नदीभ्यो वा इत्यादि" (नक्षत्रकल्प २०) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शं त॒ आपो॑ हैमव॒ती शमु॑ ते सन्तू॒त्स्याः॑ ।
शं ते॑ सनिष्य॒दा आपः॒ शमुः॑ ते सन्तु व॒र्ष्याः॑ ॥१॥

शम् । ते । आपः । हैमऽवतीः । शम् । ऊं इति । ते । सन्तु ।

उत्स्याः ।

शम् । ते । सनिस्यदाः । आपः । शम् । ऊं इति । ते । सन्तु ।

वर्ष्याः ॥ १ ॥

शान्तिकर्मकर्ता ऋत्विक् प्रयोजयितारं फलकामं यजमानं संबोध्य आह । हे यजमान ते तव हैमवतीः हिमवतः पर्वताद् आगताः । ❀ "तत आगतः" इति अण् ❀ । हिमवति भवा वा । ❀ "तत्र भवः" इति अण् "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। ता आपः शम् सुखकारिण्यो भवन्तु । तथा उत्स्याः उत्सः प्रस्रवणम् तत्र भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । ता आपः ते तव शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु । तथा सनिष्यदाः सर्वदा स्यन्दमानाः । ❀ स्यन्दतेर्यङ्लुकि अभ्यासस्य छान्दसो निगागमः ❀ । सततं स्रवन्त्य आपः ते तव शं भवन्तु । उ अपि च वर्ष्याः वर्षासु भवा आपः ते तव शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु ॥

[शान्तिकर्मको करने वाला ऋत्विज यजमानको सम्बोधित करके कहता है, कि-हिमवान् पर्वतसे आये हुए जल तेरा कल्याण करने वाले हों, झरनेके जल तेरा कल्याण करें, सदा बहते रहने वाले जल तेरा कल्याण करें। और वर्षाके जल भी तेरे लिये सुखप्रद होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं त आपो धन्वन्या३ः शं ते सन्त्वनूप्याः ।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः २

शम् । ते । आपः । धन्वन्याः । शम् । ते । सन्तु । अनूप्याः ।
शम् । ते । खनित्रिमाः । आपः । शम् । याः । कुम्भेभिः । आऽभृताः ॥ २ ॥

धन्वन्याः धन्वनि मरुदेशे भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति विहितष्टिलोपो न भवति ❀ । ता आपः ते तव शं भवन्तु । अनूप्याः अनुगता आपो यस्मिन् देशे । ❀ "ऋक्पूरब्धूःपथाम् आनक्षे" इति अच् समासान्तः । "ऊदनोर्देशे" इति अप्शब्दाकारस्य ऊकारादेशः ❀ । अनूपे जलसमृद्धे देशे भवा आपः । ❀ पूर्ववद् यत् ❀ । ते शं सन्तु । तथा खनित्रिमाः खननेन निर्वर्त्याः कूपतटाकादिस्था आपः ते तव शं भवन्तु । ❀ खनतेर्बाहुलकात् क्त्रिप्रत्ययः । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमः । "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप् प्रत्ययस्तद्धितः ❀ । तथा कुम्भेभिः कुम्भैः आभृताः आहृता आनीता या आपः सन्ति ता अपि शं भवन्तु । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भः ❀ ॥

मरुस्थलके जल तेरे लिये कल्याणकारी होवें, जलसमृद्ध देशमें होने वाले जल तेरे लिये कल्याणप्रद होवें, खोदनेसे बने हुए कूए बावड़ी आदिके जल तेरे लिये कल्याणप्रद होवें, कुम्भोंमें लाये हुए जल तेरे लिये कल्याणकारक होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः ।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥

अनभ्रयः । खनमानाः । विप्राः । गम्भीरे । अपसः ।
भिषक्ऽभ्यः । भिषक्ऽतराः । आपः । अच्छ । वदामसि ॥ ३ ॥

अनभ्रयः अभ्रिः खननसाधनं कुद्दालादि । तद्रहिताः सन्तः खनमानाः काष्ठहस्तपादादिना खननशीला गम्भीरे अपसः गम्भीरे असाध्येपि विषये अपः कर्म येषां ते दुःसाध्यमपि प्रयोजनं मन्त्र-बलात् साधयन्तो विप्राः मेधाविनः । इति सर्वम् ऋत्विग्विशेष-णम् । एते वयं भिषग्भ्यः वैद्येभ्योपि भिषक्तराः । भिषजो हि औषधानि अन्यतः समानीय चिकित्सन्ति । अपां तु मध्ये भेष-जानि विद्यन्त इति लौकिकेभ्यश्चिकित्सकेभ्योपि शिष्टा वैद्याः । तथा च निगमः । "अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा" [ऋ० १०. ९. ६] "आपश्च विश्वभेषजीः" इति च [ऋ० १. २३. २०] । तथाविधा आपः । ❀ "अप्तृन्०" इति असर्व-नामस्थानेपि छान्दसो दीर्घः ❀ । अच्छा वदामसि अभिवदामः अभिष्टुमः । ❀ "इदन्तो मसिः" "अच्छ गत्यर्थवदेषु" इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ❀ ॥ अथ वा पूर्वार्धे सर्वम् अब्विशेष-णम् । अनभ्रयः अभ्र्यादिसाधनराहित्येन खनमानाः तटद्वयम् अवदारयन्त्यः विप्राः स्वोपजीविनां मेधाजननहेतवः विशेषेण पूर्णा वा गम्भीरे अगाधे स्थाने अपो व्याप्तियांसां ता महाह्रदादिषु व्यापनशीलाः । ❀ आप्नोतेर्ह्रस्वश्च [उ० ४. २०७] इति असुन् । धातोर्ह्रस्वश्च नुडागमस्तु विकल्पितः ❀ । एवंरूपा या आपः सन्ति ता वैद्येभ्योपि अत्यन्तहितकारिणीरपः अभिष्टुम इति॥

जो फावड़ा आदि साधनके विना भी दोनों ओरके किनारों को दाते रहते हैं, अपनेसे उपजीवन करने वालोंकी बुद्धिको बढ़ाते हैं और महाह्रद आदि अगाध स्थानोंमें रहते हैं ऐसे वैद्योंसे भी अधिक हित करने वाले जलोंकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपामहं दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम् ।

अपामह प्रणेजनेश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥

अपाम् । अह । दिव्याऽनाम् । अपाम् । स्रोतस्याऽनाम् ।

अपाम् । अह । प्रऽनेजने । अश्वाः । भवथ । वाजिनः ॥ ४ ॥

अहेति विनिग्रहार्थीयः । दिव्यानाम् दिवि भवानाम् अपाम् स्रोतस्यानाम् स्रोतः प्रवाहः । तद्भवानाम् अपाम् अपाम् तदुभय-व्यतिरिक्तानाम् अन्यासाम् अपां प्रणेजने शोधनविषये अश्वाः । लुप्तोपमैषा । अश्वाः तुरगा इव वाजिनः वाजो वेगः तद्वन्तो भवथ इति ऋत्विजः परस्परं ब्रुवते यजमानो वा ऋत्विजो ब्रूते मदर्थं व्याप्रियमाणा यूयं शान्त्युदककर्मणि त्वरमाणा भवतेति ॥

[ऋत्विज आपसमें कहते हैं और यजमान ऋत्विजोंसे कहता है, कि-तुम द्युलोकके जलोंके प्रवाहकी समान वा प्रेरित घोड़ों की समान शान्त्युदककर्ममें त्वरा करने वाले होओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ता अपः शिवा अपोयक्ष्मंकरणीरपः ।

यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥ ५ ॥

ताः । अपः । शिवाः । अपः । अयक्ष्मम्ऽकरणीः । अपः ।

यथा । एव । तृप्यते । मयः । ताः । ते । आ । दत्त । भेषजीः ५

इदमपि प्रयोजकस्य वाक्यम् । ताः प्रसिद्धा या आपः शिवाः शिवकारिण्य आपः अयक्ष्मंकरणीः अरोगकारिण्यो या अपः आपः । ❀ प्रथमार्थे द्वितीया ॥ "आढ्यसुभग०" इति विहितः ख्युन् प्रत्ययः अयक्ष्मशब्दोपपदादपि व्यत्ययेन उत्पन्नः । "खि-त्यनव्ययस्य" इति मुम् आगमः ❀ । ता भेषजीः भिषग्वद् आ-

भयनिर्हारिकाः हितकारिणीश्च अपः । ❀ "केवलमामक०" इति ङीप् प्रत्ययः ❀ । ते यूयम् मयोक्तारः । ❀ युष्मच्छब्दादेशशब्दो न भवति । तच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचने रूपम् । निघातस्तु छान्दसः ❀ । आ दत्त आनयत । ❀ डुदाञ् दाने । लोटि मध्यमबहुवचनम् । "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदं सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् न भवति ❀ । उदकानयने फलं दर्शयति यथैवेति तृतीयपादेन । मय इति सुखनाम । सुखं यथैव एवकारो भिन्नक्रमः । सुखमेव येन प्रकारेण तृप्यते तृप्तम् अधिकं भवति । अधिकसुखलाभाय शान्त्युदकम् आनयतेत्यर्थः । यद्वा ते त्वदर्थम् आदत्त आनीतवान् इति मयोक्ता स्वात्मानं परोक्षेणाह । ❀ "आङो दः०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

इति प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

प्रयोजक कहता है, कि—हे मयोक्ताओं ! जो जल कल्याण करने वाले हैं जो जल यक्ष्माको निवृत्त करने वाले हैं उन औषध स्वरूप जलोंको तुम लाओ जिससे सुख बढ़े ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५४६)

"दिवस्पृथिव्याः" इति सूक्तद्वयं मेधाजननकर्मणि विनियुज्यते । एतेन सूक्तद्वयेन मेधाकामः सुप्त्वोत्थाय मुखं हस्तेन प्रक्षालयति । सूत्रितं हि । दिवस्पृथिव्याः इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" इति । [कौ० २. १] ॥

वर्चस्कामोपि अनेन सूक्तद्वयेन दधिमधुनी संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा वर्चस्कामः क्षत्रियश्चेद् अनेन सूक्तद्वयेन भक्तमिश्रिते दधिमधुनी संपात्य अभिमन्त्र्य क्षत्रियं प्राशयेत् ॥

वर्चस्कामो वैश्यशूद्रादिश्चेद् अनेन सूक्तद्वयेन केवलम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य प्राशयेत् ॥

सूत्रितं हि । "प्रातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६६] दिवस्पृथिव्याः [६. १] इति दधिमथ्वाशयति कीलाल-मिश्रं सत्रियं कीलालम् इतरान्" इति [कौ० २. ३] ॥

यथा नवमकाण्डे समाम्नातयोः "दिवस्पृथिव्याः" इति [६. १. १-१०] "यथा सोमः प्रातःसवने" इति [६. १. ११–२४] सूक्तयोः प्रथमसूक्ते "मधुकशा हि जज्ञे" इति मन्त्रेषु कशेति वाङ्नाम-लिङ्गाद् द्वितीयसूक्ते "वर्चस्वतीं वाचम् आवदानि जनाँ अनु" इति वाग्लिङ्गाच्च मेधाजननकर्मणि विनियोगः तथा "यथा सोमः प्रातः-सवने" [६. १. ११–२४] इति द्वितीयसूक्ते "एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्" इति वर्चोलिङ्गाद् वर्चस्यकर्मणि च विनि-योग उक्तः एवम् अत्रापि प्रथमसूक्ते वर्चःसमानार्थमहिमपुष्ट्या-दिलिङ्गाद् द्वितीयसूक्ते "अथो भगस्य नो धेहि" इति लिङ्गाच्च वर्चस्यकर्मणि "बृहस्पतिर्म आकूतिम् आङ्गिरसः प्रति जानातु वाचम् एताम्" इति वाग्लिङ्गाच्च मेधाजननकर्मणि विनियोग उच्यते । एवम् अनयोरेव विनियोगान्तरेषु यथायथं लिङ्गम् अव-गन्तव्यम् । अत एव कौशिको भिन्नप्रदेशस्थस्य सूक्तद्वयस्य सर्वत्र विनियोगं सूचयितुं "दिवस्पृथिव्याः" इति उभयसाधारणं सूक्तप्रतीकं सूत्रयामास । यत्र सूक्तविशेषस्य विनियोगोपेक्षितस्तत्र सूक्तं विशिष्य सूत्रितवान् । यथा वैताने । "दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति" इति [वै० ३. ६] ॥

"दिवस्पृथिव्याः" आदि दोनों सूक्त मेधाजननकर्ममें विनि-युक्त होते हैं । बुद्धिको चाहने वाला सोकर उठनेके अनन्तर इन दोनों सूक्तोंको पढ़ हाथसे मुखको धोवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"दिवस्पृथिव्याः इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" (कौशिकसूत्र २ । १) ॥

वर्चस्काम भी इन दोनों सूक्तोंसे दही और मधुको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे।

तथा वर्चस्काम क्षत्रिय हो तो इन दोनों सूक्तोंसे दही और मधु को सम्पातित तथा अभिमन्त्रित करके अन्नमें मिले हुए दधि मधु को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके क्षत्रियको प्राशित करावें।

वर्चस्काम वैश्य शूद्र आदि हो तो इन दोनों सूक्तोंसे ओदन मात्रको ही सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करावे।

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि–"प्रातरग्निम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६ । ६९) दिवस्पृथिव्याः (९ । १) इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालं इतरान्" (कौशिक-सूत्र २ । ३)।

जैसे नवमकाण्डमें कहे हुए "दिवस्पृथिव्याः (९।१।१–१०) और "यथा सोमः प्रातःसवने" (९ । १ । ११–२४) सूक्तोंमें से प्रथम सूक्तके "मधुकशा हि जज्ञे" आदि मन्त्रोंमें कशा यह वाङ्नामका लिंग होनेसे और द्वितीय सूक्तमें "वर्चस्वतीं वाचं आवदानि जनाँ अनु" इस वाग्लिंगसे मेधाजनन कर्ममें विनियोग कहा है। "यथा सोमः प्रातःसवने" (९ । १ । ११–२४) इस द्वितीयसूक्तमें "एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्" इस वर्चोलिंगसे वर्चस्यकर्म में भी विनियोग कहा था। इसी प्रकार यहाँ पर भी प्रथमसूक्तमें वर्चके समान अर्थको कहने वाले महिमा पुष्टि आदि चिन्होंसे और द्वितीयसूक्तमें "अथो भगस्य नो धेहि" आदि लिंगसे भी वर्चस्यकर्म में "बृहस्पतिर्म आकूतिम् आङ्गिरसः प्रति जानातु वाचं एताम्" इस वाग्लिङ्गसे भी मेधाजनन-कर्म में विनियोग कहा जाता है। इसी प्रकार इन दोनों सूक्तोंके दूसरे विनियोगोंमें भी यथायोग्य लिंग समझना चाहिये। इसी लिये कौशिकने भिन्न प्रदेशोंमें स्थित दोनों सूक्तोंके विनियोग

को सूचित करनेके लिये दोनोंके लिये साधारण प्रतीक "दिव-स्पृथिव्याः" ही कहा है। जहाँ इन दोनोंमेंसे किसी खास सूक्त के विनियोगकी आवश्यकता है जहाँ विशेषणके साथ सूत्र कहा है। जैसे, कि–वैतानसूत्र ३। ६ में कहा है, कि–"दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति"॥

तत्र प्रथमा॥

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद् वनस्पतिभ्यो अध्योष-धीभ्यः।
यत्रंयत्र विभृतो जातवेदास्ततं स्तुतो जुषमाणो न एहि

दिवः। पृथिव्याः। परि। अन्तरिक्षात्। वनस्पतिऽभ्यः। अधि। ओषधीभ्यः।
यत्रऽयत्र। विऽभृतः। जातऽवेदाः। ततः। स्तुतः। जुषमाणः। नः। आ। इहि॥ १॥

द्युलोकादीनि अग्नेरुत्पत्तिस्थानानि। ❀ अत एव "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति अपादानसंज्ञायाम् "अपादाने पञ्चमी" इति द्युशब्दा-दिभ्यः पञ्चमी ❀। दिवः द्युलोकात् पृथिव्याः भूमेः। ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। अन्तरिक्षात् अन्तरा क्षान्ताद् मध्यमलोकाद् वनस्पतिभ्यः पुष्पैर्विना फलद्भ्यो वृक्षेभ्यः ओषधीभ्यः ओषः पाको धीयत आस्विति ओषध्यः फलपाकान्ता ताभ्यश्च। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। द्युलोकादिभ्य उत्पन्नो जातवेदाः जातानि वेत्ति जातैर्विद्यते ज्ञायत इति वा जातवेदाः यत्रयत्र यस्मिन् यस्मिन् स्थाने विभृतः विशेषेण पूर्णो वर्तते। यद्वा विभृतो विहृतो विभक्तो वर्तते ततस्ततः तेभ्यः सर्वेभ्यः स्थानेभ्यः नः अस्मान् जुषमाणः।

❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । जोपयमाणः प्रीणयन् । ❀ "लक्षण-हेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । अस्मत्प्रीण-नाद्धेतोः एहि आगच्छ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप जहाँ विशेषरूपसे पूर्ण हैं हमारे स्तुति करने पर हमको प्रसन्न करनेके लिये तहाँ २ से आइये, द्युलोकसे, पृथिवीलोकसे अन्तरिक्षलोकसे, विना फूलके फलने वाली वनस्पतियोंसे, फलपाकके अन्त वाली औषधियोंसे आइये १

द्वितीया ॥

यस्ते॑ अ॒प्सु म॑हि॒मा यो वने॑षु य ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑-
न्तः ।
अग्ने॒ सर्वा॑स्त॒न्व॑ः सं र॑भस्व॒ ताभि॑र्न॒ एहि॑ द्रविणो॒दाः
अज॑स्रः ॥ २ ॥

यः । ते । अप्ऽसु । म॒हि॒मा । यः । वने॑षु । यः । ओष॑धीषु
प॒शुषु॑ । अप्ऽसु । अ॒न्तः ।
अग्ने॑ । सर्वा॑ः । त॒न्व॑ः । सम् । र॒भ॒स्व॒ । ताभि॑ः । नः॒ । आ ।
इ॒हि॒ । द्र॒वि॒णः॒ऽदाः । अजस्रः ॥ २ ॥

हे अग्ने ते तव यो महिमा अप्सु उदकेषु वर्तते । अग्नेरुदकप्रवेशः श्रूयते "सोपः प्राविशत्" [तै० सं० २. ६. ६. १] इति । दाश-तय्यामपि मन्त्रवर्णः । "ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टम् अग्ने अप्स्वोषधीषु" इति [ऋ० १०.५१. ३]। यश्च वनेषु वर्तते दावाग्निरूपेण । यश्च ओषधीषु महिमा फलपाकनिमित्तभूतः । यश्च पशुषु पशूपलक्षितेषु सर्वप्राणिषु वैश्वानरात्मना वर्तते । अप्सु

अन्तरिक्षस्थेषु उदकेषु । मेघेष्वित्यर्थः । तेषु अन्तः मध्ये वैद्युतात्मना यो महिमा वर्तते हे अग्ने सर्वाः अबादिस्थानविशेषनिष्ठमहिमरूपाः तन्वः शरीराणि सं रभस्व संकलय । तत्रतत्र विभक्तास्तनूरेकत्र संमेलयेत्यर्थः । किमर्थं संकलनं तद्ध आह ताभिरिति । ताभिः सर्वाभिस्तनूभिः सह नः अस्मान् अजस्रः । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । अजस्रम् अनवरतं द्रविणोदाः धनस्य दाता सन् एहि आगच्छ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी जो महिमा जलमें है [अग्निके जलप्रवेशका वर्णन श्रुतियोंमें है । यथा–तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में कहा है, कि–"सोऽपः प्राविशत् ।–उस अग्निने जलमें प्रवेश किया" और ऋग्वेदसंहिता ११ । ५१ । २ में कहा है, कि–"ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टं अग्ने अप्स्वोषधीषु ।–हे जातवेदा अग्ने ! जल और ओषधियोंमें अनेक प्रकारसे प्रविष्ट आपकी हम इच्छा करते हैं"] और जो वनमें दावाग्निरूपसे है और जो ओषधियोंमें फलपाकरूपसे है और पशु आदि सब प्राणियोंमें वैश्वानररूपसे है और अन्तरिक्षमें स्थित जल अर्थात् मेघोंमें जो बिजलीके रूपसे स्थित है । हे अग्निदेव ! इन जल आदि स्थानों में स्थित अपने महिमारूप शरीरोंको सङ्कलित करिये और उन सब शरीरोंसे हमें निरन्तर धन प्रदान करते हुए आइये ॥ २॥

तृतीया ॥

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश ।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ३

यः । ते । देवेषु । महिमा । स्वःऽगः । या । ते । तनूः । पितृषु ।
आऽविवेश ।

पुष्टिः । या । ते । मनुष्येषु । पप्रथे । अग्ने । तया । रयिम् ।

अस्मासु । धेहि ॥ ३ ॥

हे अग्ने ते तव स्वर्गच्छतीति स्वर्गः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डमत्ययः ❀ । दिवः मापणार्थं स्वर्लोकं गन्ता यो महिमा देवेषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । देवविषये वर्तते । यजमानैर्दत्तं हविः देवान् मापयितुम् इहलोकसंचारी यो माहात्म्यगुणो वर्तते । या च ते त्वदीया तनूः पितृषु आविवेश पितृषु आविश्य स्वधाकारेण मत्तं कव्यसंज्ञकं हविः पितॄन् मापयितुं पितृलोकसंचारिणी वर्तते । या च ते त्वदीया पुष्टिः मनुष्येषु मनुष्योपलक्षितेषु सर्वेषु चराचरात्मकप्राणिषु पप्रथे प्रथिता अशितपीतादिपाककरणात् मनुष्यादिषु या त्वत्कर्तृका पुष्टिर्वर्तते तया । ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ । ताभिस्तनूभिः सह अस्मासु रयिम् धनं धेहि मयच्छ ॥

हे अग्ने ! आपकी जो देवताओंमें स्वर्गरूप महिमा है अर्थात् यजमानकी दी हुई हविको देवताओंको पहुँचानेके लिये स्वर्गको जानारूप जो आपकी महिमा देवताओंमें प्रसिद्ध है और जिस आपके शरीरने पितरोंमें प्रवेश किया है और स्वधाकारसे आहुत कव्यको पहुँचानेके लिये जो आपका शरीर पितृलोकमें विचरता है । और मनुष्योंमें जो आपकी पुष्टि है अर्थात् खाये पियेको पकानेसे मनुष्य आदिमें आपकी की हुई जो पुष्टि रहती है । उन सब शरीरोंके साथ आप हमको धन दीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुपयामि रातिम् ।
यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने

श्रुत्ऽकर्णाय । कवये । वेद्याय । वचःऽभिः । वाकैः । उप । यामि । रातिम् ।

यतः । भयम् । अभयम् । तत् । नः । अस्तु । अव । देवानाम् । यज । हेडः । अग्ने ॥ ४ ॥

हे अग्ने श्रुत्कर्णाय अस्मदीयस्तुतिश्रवणसमर्थकर्णयुक्ताय । ❀ शृणोतेः क्विप् । श्रुतौ कर्णौ यस्येति विग्रहः ❀ । कवये । कविः क्रान्तदर्शी । अतीन्द्रियार्थदर्शिने वेद्याय सर्वैर्ज्ञातव्याय वेदार्हाय वा । ❀ "तदर्हति" इति यत् । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । एवंगुणविशिष्टं त्वां रातिम् अभिलषितफलदानम् उप यामि । याच्ञाकर्मैतत् । उपयाचामीत्यर्थः । ❀ याचतेर्लेटि अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । कैः साधनैर्याचनं तद् आह । वचोभिः मन्त्ररूपैर्वाक्यैः । वाकैः । एकदेशेन व्यपदेशः । अनुवाकैर्मन्त्रसंघात्मकैः । वाकैर्नेक्तव्यैः सूक्तैर्वा । कीदृशी रातिः । तत्स्वरूपं दर्शयति । यतः यस्माद् भयं भीतिर्भवति तत् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति पञ्चम्या लुक् ❀ । तस्माद् अभयम् भयराहित्यं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । अथ वा तद् यतो भयं तत् सर्वं भयकारणम् अभयम् भयनिमित्तं न भवत्वित्यर्थः । भयहेतौ विद्यमाने कस्माद् अभयप्रार्थनं तत्राह अवेति । हे अग्ने देवानाम् दीव्यतां हेडः । क्रोधनामैतत् । क्रोधम् । ❀ हेडृ अनादरे इत्यस्माद् असुन् ❀ । अव यज तिरस्कुरु । ये ये अस्मभ्यं क्रुध्यन्ति तेषां क्रोधं निवारयेत्यर्थः ॥

इति प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अग्निदेव ! हमारी स्तुतिको सुननेमें समर्थ कान वाले, अतीन्द्रियार्थदर्शी, सबसे ज्ञातव्य और अभिलषितफलप्रदाता आपकी

मैं मन्त्ररूप वचनोंसे और मन्त्रसंघात्मक अनुवाकोंसे प्रार्थना करता हूँ, कि–जिससे हमको भय प्राप्त होनेकी आशंका हो उससे अभयकी प्राप्ति हो, हे अग्निदेव ! आप देवन करने वाले देवताओंके क्रोधको तिरस्कृत करिये अर्थात् जो हम पर क्रोध करे उनके क्रोधको हटाइये ॥ ४ ॥

प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५७७)

"यामाहुतिम्" इति सूक्तस्य मेधाजननकर्मणि वर्चस्यकर्मणि च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह युक्तः ॥

"यामाहुतिम्" इस सूक्तका मेधाजनन और वर्चस्यकर्ममें पूर्वसूक्तके साथ ही विनियोग कर दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः ।
तां त एतां प्रथमो जोहवीमि ताभिष्टुप्तो वहतु हव्यमग्निरग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

याम् । आऽहुतिम् । प्रथमाम् । अथर्वा । या । जाता । या । हव्यम् । अकृणोत् । जातऽवेदाः ।
ताम् । ते । एताम् । प्रथमः । जोहवीमि । ताभिः । स्तुप्तः । वहतु । हव्यम् । अग्निः । अग्नये । स्वाहा ॥ १ ॥

तिस्रः खलुः अग्नेस्तन्वः । देवतारूपा हविःप्रापकदूतरूपा हविःप्रक्षेपाधाराङ्गाररूपा चेति । "तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्" इति [ऋ० ३, २०, २] मन्त्रवर्णात् ।

"तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञोयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः" [ऋ० १०. ५१. ९] इत्यत्र अग्नेर्देवतारूपत्वम् आम्नायते। हविःप्रापकदूतरूपत्वम् अग्नेर्देवानां च उक्तिप्रत्युक्तिरूपाभ्यां मन्त्राभ्याम् अवगम्यते। "विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य। प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि" इति [ऋ० १०. ५२. १]। "कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः। अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात" इति [ऋ० १०. ५१. ७]। हविर्भक्षकाधाररूपत्वं तु सर्वलोकसंप्रतिपन्नम्। "त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्" इति [ऋ० २. १. १३] श्रुतेः। तद् इदम् अत्रोच्यते। अथर्वा। "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति। तद् यद् अब्रवीद् अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तद् अथर्वाभवत्" इति [गो० ब्रा० १. ४] ब्राह्मणे परब्रह्मसृष्टास्वेवाप्सु परमात्मानम् अन्विष्येति अशरीरया वाचा भृगुं प्रति उक्तम्। तस्माद् अथर्वशब्दवाच्यत्वं परमात्मनोथर्ववेदस्रष्टुराम्नायते ॥ अथर्वा अथर्वशब्दवाच्यः परमात्मा प्रथमाम् सर्वसृष्टेः प्राक्कालीनां याम् आहुतिम् अकृणोत् स्वसृष्टदेवप्रीणनाम् अकरोत्। जातवेदाः जातानि वेत्ति जातैर्विद्यते ज्ञायत इति वा जातवेदा अग्निः या। ❀ द्वितीयाया लुक् ❀। याम् अथर्वणा दत्ताम् आहुतिं जाताय प्रादुर्भूताय देवगणाय हव्याम् होतुं दातुम् अर्हां यथाभागं कल्पनीयाम् अकृणोत् अकरोत्। ❀ जुहोतेः अर्हार्थे यत् प्रत्ययः। "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः ❀। ताम् एताम् आहुतिं प्रथमः सर्वेभ्यो यजमानेभ्यः पूर्वभावी सन् ते। अग्निः संबोध्यते। ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀। त्वयि अथ वा ते तव। आस्ये इत्यध्याहारः। जोहवीमि प्रत्यर्थं जुहोमि। यजमानेन सर्वयष्टृभ्यः पूर्व

देवताः परिग्रहणीया इत्यत्र मन्त्रवर्णः। "वसून् रुद्रान् आदित्यान् इन्द्रेण सह देवतास्ताः पूर्वः परिगृह्णामि स्व आयतने मनीषया" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. ३] इति। ताभिः तिसृभिस्तनूभिः सह स्तुतः स्तोतृभिरभिष्टुतोग्निः हव्यम् देवयोग्यं हविः वहतु प्रापयतु देवान् इति। सामान्यप्रतीतावाह अग्नये स्वाहेति। अग्नये अग्निशब्दप्रतिपाद्यायै देवतायै स्वाहा इदं हविः सुहुतम् अस्तु। एवं शरीरत्रययुक्तोग्निः अनेन मन्त्रेण प्रतिपाद्यते॥

[अग्निके तीन मुख्य शरीर हैं। १–देवतारूप, २ हविः प्रापक दूतरूप और ३ हविःप्रक्षेपका आधार अंगाररूप। इस विषयमें ऋग्वेदसंहिता ३। २०। २ का प्रमाण भी है, कि—"तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्।–हे अग्ने! आपके तीन शरीर हैं उनसे हमारी रक्षा करिये०।" ऋग्वेदसंहिता १०। ५१। ९ में अग्निके देवतारूपका वर्णन है, कि–"तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञोयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः–हे अग्ने! प्रयाज और अनुयाज केवल आपके ही हैं, बलप्रद हविभाग आप को प्राप्त हों, यह यज्ञ आपको प्राप्त हों, चारों श्रेष्ठ दिशायें आप को नमन करें।" अग्नि और देवताओंके सम्वादसे अग्निका हविःप्रापकदूतरूपत्व सिद्ध होता है। यथा–ऋग्वेदसंहिता १०। ५२। १ में कहा है, कि–"विश्वे देवा शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य (प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि।–हे सकल देवताओ! जैसे आपने मुझको होतारूप में वरण किया है उसका मैं मान कर सकूँ तैसी आज्ञा दीजिये, मेरे भागको बताइये और जिस मार्गसे मैं तुम्हारे लिये हव्यको लाऊँ तिसको बताइये" और ऋग्वेदसंहिता १०। ५१। ७ में कहा है, कि–"कुर्म स्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो

न रिष्याः । अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ।—हे अग्निदेव ! हम आपकी आयुको अजर करते हैं, इससे संयुक्त होनेके कारण हे जातवेदा ! आप नष्ट नहीं होंगे, हे सुजात ! अब आप मनमें प्रसन्न होकर देवताओंके लिये हवि के भागको खाइये ।" तथा अग्निका हविःप्रक्षेपाधाररूपत्व लो सर्वलोकप्रतिपन्न है । श्रुतिमें कहा है, कि—त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ।—तुझमें आहुत हविको देवता भक्षण करते हैं (ऋग्वेदसंहिता २ । १ । १३ अब यहाँ कहते हैं, कि—] अथर्वा शब्दवाच्य परमात्माने सर्वसृष्टिसे पहिले समयकी जिस अपने रचे हुए देवताओंको प्रसन्न करने वाली आहुतिकी की थी । और जातवेदा अग्निने अथर्वाकी दी हुई जिस आहुतिको प्रादुर्भूत हुए देवताओंको देनेके लिये यथाभागमें कल्पना की थी, उसी इस आहुतिको सब यजमानोंसे पहिले रहता हुआ मैं हे अग्ने ! आपके मुखमें आहुत करता हूँ † हम स्तोताओंसे तीनों शरीरों में स्तुत अग्निदेव देवताओंको हवि प्राप्त करावें । अग्निशब्दप्रतिपाद्य देवताके लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।

† यजमान सब यष्टाओंसे पहिले देवताओंका परिग्रहण करे अत एव यहाँ अग्निका परिग्रहण किया है । देवतापरिग्रहणमें तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ४ ३ का प्रमाण भी है, कि—"वसून् रुद्रान् आदित्यान् इन्द्रेण सह देवतास्ताः पूर्वः परिगृह्णामि स्व आयतने मनीषया ।—मैं पहिले अपने घरमें अपनी बुद्धिसे इन्द्रसहित वसु रुद्र आदित्य देवताओंका परिग्रहण करता हूँ" ॥ इस प्रकार इस मन्त्रमें अग्निके तीनों शरीरोंका प्रतिपादन किया है ॥

यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ २ ॥

आऽकूतिम् । देवीम् । सुऽभगाम् । पुरः । दधे । चित्तस्य । माता । सुऽहवा । नः । अस्तु ।

याम् । आऽशाम् । एमि । केवली । सा । मे । अस्तु । विदेयम् । एनाम् । मनसि । प्रऽविष्टाम् ॥ २ ॥

इदमादिभिस्तिसृभिऋग्भिर्वाग्देवता प्रार्थ्यते । आकूतिम् तात्पर्यरूपाम् । लौकिकवैदिकसर्ववाक्यप्रतिपाद्याम् इत्यर्थः । देवीम् द्योतमानां सुभगाम् भगो भाग्यं शोभनभाग्ययुक्ताम् एवंरूपां वाग्देवतां पुरो दधे पुरस्कुर्वे परिचरामि । सर्वेष्वभीष्टकार्येषु वाग्देवतामेव पुरस्ताद् भावयामीत्यर्थः । अनर्थान्निवारकं हिते प्रवर्तकम् आप्तं जनं पुरोहितं कुर्वन्ति एवम् अस्माभिः पुरतो निहिता चित्तस्य मनसः माता जननी यथा पुत्रो मातृवशे वर्तते एवं चित्तं स्वप्रभवं नियमयन्ती वाक् नः अस्माकं सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या अस्तु भवतु । आह्वानेन अस्मदनुकूला भवत्वित्यर्थः । किं च याम् आशां फलविषयां कामनाम् एमि प्राप्नोमि सा कामना मे मम केवली अस्तु असाधारणी भवतु । मदन्यं न कामयताम् इत्यर्थः । ❀ "केवलमामक०" इति केवलशब्दाच्छन्दसि ङीप् ❀ । न केवलं कामना किं तु मनसि प्रविष्टाम् निहितां सर्वदा मनसि प्रवर्तमानाम् एनां फलविषयां कामनां विदेयम् फलपर्यवसायिनीं लभ्यासम् । ❀ विदेर्लाभार्थाद् आशीर्लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः । ङित्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥

[अब तीन ऋचाओंसे वाग्देवताकी प्रार्थना की गई है,

कि—] मैं सौभाग्य वाली देवी वाग्देवताकी सेवा करता हूँ अर्थात् सकल अभीष्ट कार्योंमें वाग्देवताकी पहिले ही भावना करता हूँ, अनर्थसे बचाने वाले हितमें लगाने वाले आप्त मनुष्यको जैसे आगे रखते हैं इसी प्रकार हमारे द्वारा आगे रखी हुई और माताकी समान चित्तको वशमें रखने वाली सरस्वती देवी हमारे लिये सुहवा होवे अर्थात् आह्वानसे हमारे अनुकूल होजावे। और मैं जिस कामनाको कर रहा हूँ वह कामना मेरे लिये असाधारण हो, दूसरेको न प्राप्त हो और मैं इस सदा मनमें रहने वाली कामनाको फलरूपमें प्राप्त करूँ॥ २॥

तृतीया॥

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।

अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव॥ ३॥

आऽकूत्या। नः। बृहस्पते। आऽकूत्या। नः। उप। आ। गहि।

अथो इति। भगस्य। नः। धेहि। अथो इति। नः। सुऽहवः। भव ३

हे बृहस्पते बृहतां देवानां हितोपदेष्टृत्वेन पालक एतन्नामक देव आकूत्या सर्ववाक्यतात्पर्यार्थरूपया वाचा सह नः अस्मान् उपागहि वाग्देवताम् अस्माकम् अनुकूलयितुम् उपागच्छ। ❀ गमेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक्। हेर्ङित्त्वात् "अनुदात्तोपदेश॰" इति अनुनासिकलोपः। "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति अनुनासिकलोपस्य असिद्धत्वात् "अतो हेः" इति हेर्लुक् न भवति ❀। एतदेव आदरार्थं पुनरुच्यते आकूत्या न उपा गहीति॥ अथो अपि च भगस्य भाग्यम्। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी ❀। नः अस्मभ्यं देहि यच्छ। एतत् सर्वं बृहस्पतेरा-

भिमुख्येन विना न घटत इति तदेव प्रार्थ्यते अथो न इति चरमपादेन । अथो अपि च नः अस्माकं सुहवः सुष्ठु ह्वातव्यः आह्वानमात्रेणानुकूलो भव ॥

हे बड़े २ देवताओंको हितोपदेश देकर पालन करने वाले बृहस्पति नामक देव ! सब वाक्योंकी तात्पर्यार्थरूपवाणीके साथ हमारे पास आइये । वाग्देवताको हमारे अनुकूल करनेके लिये हमारे पास आइये । और हमको भाग्य प्रदान करिये । [यह सब बृहस्पतिके अनुकूल हुये बिना नहीं होसकता अतएव कहते हैं, कि-] आप हमारे आह्वानसे ही हमारे लिये अच्छे होजाइये ३

चतुर्थी ॥

बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम् यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान् ॥ ४ ॥

बृहस्पतिः । मे । आऽकूतिम् । आङ्गिरसः । प्रति । जानातु । वाचम् । एताम् ।

यस्य । देवाः । देवताः । सम्ऽबभूवुः । सः । सुऽप्रनीताः । कामः । अनु । एतु । अस्मान् ॥ ४ ॥

आङ्गिरसः अङ्गिरसां पुत्रः । बृहस्पतेरङ्गिरसः पुत्रत्वम् ऐतरेयब्राह्मणे समाम्नायते । "येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् । यद् अङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्" इति [ऐ० ब्रा० ३, ३४] । तादृशो देवः आकूतिम् सर्वाभिप्रायरूपाम् एतां सकलश्रुतिपुराणादिप्रसिद्धां वाचम् वाग्देवतां मे । ❀ "क्रियार्थोप-

पदस्य०" इति चतुर्थी ❀। मह्यं दातुं प्रति जानातु स्मरतु। ❀"संमतिभ्याम् अनाध्याने" इति अनाध्यान इति निषेधात् प्रति-पूर्वात् जानातेरात्मनेपदं न भवति ❀। अर्थिनं प्रति दातव्यस्मरणं प्रदानान्तं भवतीति तदेव प्रार्थ्यते। यस्य बृहस्पतेः। वशे इति अध्याहारः। देवाः देवताश्च स्त्रीपुरुषात्मना प्रसिद्धाः सकला देवताः सुप्रणीताः येन बृहस्पतिनैव कार्येषु सुष्ठु प्रणीयमाना देवताः संबभूवुः संभूताः संगता ऐकमत्यं प्राप्ताः सकला देवता यस्य वशे वर्तन्ते। स कामः काम्यमानफलप्रदाता बृहस्पतिः अस्मान् कामयमानान् अभ्येतु फलप्रदानाय अभिमुखम् आगच्छतु

इति प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

अंगिरागोत्री बृहस्पति मुझे प्रदान करनेके लिये श्रुति पुराण आदिमें प्रसिद्ध वाग्देवता सरस्वतीका स्मरण करें। [अर्थीके प्रति दातव्य वस्तुका स्मरण प्रदान करनेके लिये होता है उसीकी प्रार्थना करते हैं, कि–] देवता जिन बृहस्पतिके वशमें रहते हैं और जो इन सबोंको एकमत कर लेते हैं, वह अभिलषित फलोंके देनेवाले बृहस्पति हमको फल देनेके लिये हमारे अभिमुख आवें ॥ ४ ॥

प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५४८)

"इन्द्रो राजा" इति एकर्चेन सूक्तेन धनकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

धनको चाहने वाला पुरुष "इन्द्रो राजा" इस एक ऋचा वाले सूक्तसे इन्द्रका पूजन वा उपस्थान करे।

ऋक्पाठस्तु

इन्द्रो॒ राजा॒ जग॑तश्चर्षणी॒नामधि॒ क्षमि॒ विषु॑रूपं॒ यदस्ति॑। ततो॑ ददाति दा॒शुषे॒ वसू॑नि॒ चोद॒द् राध॒ उप॑स्तुताश्चि॒दर्वाक् ॥ १ ॥

इन्द्रः । राजा । जगतः । चर्षणीनाम् । अधि । क्षमि । विषुऽरूपम् ।

यत् । अस्ति ।

ततः । ददाति । दाशुषे । वसूनि । चोदत् । राधः । उपऽस्तुतः ।

चित् । अर्वाक् ॥ १ ॥

जगतः त्रैलोक्यस्य चर्षणीनाम् । मनुष्यनामैतत् । मनुष्योपलक्षितानां दैवीनां मानुषीणां च प्रजानां राजा स्वामी इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नो देवः दाशुषे हविर्दत्तवते जनाय वसूनि धनानि ततः तस्मात् । आनीयेति अध्याहारः । ❀ ल्यब्लोपे पञ्चमी ❀ । ददाति ददातु । तत इत्युक्तं किं तद् इति तद् आह । क्षमि क्षमायां पृथिव्याम् । ❀ क्षमाशब्दात् सप्तम्येकवचने "आतः" इति योगविभागाद् आकारलोपः । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । विषुरूपम् नानारूपं यद् अस्ति तस्माद् ददातु इत्यन्वयः । एतदेवाह चोददिति । उपस्तुतः अस्माभिरभिष्टुतः सन् । चिच्छब्द एवार्थे । अर्वाक् अस्मदभिमुखं राधः धनं चोदत् चोदयेत् प्रेरयेत् । प्रयच्छतु इति यावत् । ❀ चुद प्रेरणे । अस्माण्ण्यन्ताल्लेटि 'छन्दस्युभयथा' इति लेटि आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि इति णिलोपः । 'लेटोऽडाटौ' इति अडागमः ❀ ॥

इति प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

त्रिलोकीके मनुष्य देवता आदिके स्वामी परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव, पृथिवीमें जो अनेक प्रकारका धन है उसको मुझ हवि देने वाले यजमानको देवें, हमसे स्तुति पाकर इन्द्रदेव हमारे अभिमुख धनोंको प्रेरित करें ॥ १ ॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५४९)

"सहस्रबाहुः पुरुषः" इति सूक्तद्वयं पुरुषमेधे क्रतौ पुरुषपश्वनुमन्त्रणे विनियुक्तम् । "पुरुषमेधोश्वमेधवच्चैत्र्याः पुरस्तात्"

इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "स्नातम् अलंकृतम् उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः [१६.६] केन पार्ष्णी [१०.२] इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ७. २]॥

तथा एतस्य सूक्तद्वयस्य शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे समिदाधानोपस्थानयोश्च विनियोगः । 'अथाज्यभागान्ते विषासहिम् [१७ . १] इत्यादित्याय हविषो हुत्वाज्यं जुहुयात् समिध आधायोपतिष्ठते' इति प्रक्रम्य शान्तिकल्पे सूत्रितम् । 'सहस्रबाहुः पुरुषः [१६. ६] केन पार्ष्णी [१०. २] प्राणाय नमः [११. ४] इति शनैश्चराय' इति [शा० क० १५.]॥

सौवर्णभूमिदानेपि एतत् सूक्तद्वयम् आज्यहोमे विनियुक्तम् । अथ रोहिण्याम् उपोषितो ब्रह्मा' इति प्रक्रम्य परिशिष्टेभिहितम् । "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम् इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम् इत्यादि [प० १०. १] ॥

सर्वातिशायित्वसर्वभूतात्मकत्वकामेन नारायणाख्येन पुरुषेण अनुष्ठितस्य पुरुषमेधक्रतोः प्रतिपादकत्वात् जगत्कारणस्य आदिनारायणपुरुषस्य प्रतिपादकत्वाद् वा एतत् पुरुषसूक्तम् इति उच्यते । अतः अस्य सूक्तस्य द्विविधोर्थः आधियज्ञिक एकः आध्यात्मिकोपरः । पुरुषमेधविधायकं वाजसनेयकब्राह्मणे एवम् आम्नायते । 'पुरुषो ह वै नारायणोकामयत 'अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि । इदं सर्वम् अभवत्" इति [श०प०१३.६.१.१]

"सहस्रबाहुः पुरुषः" आदि दोनों सूक्त पुरुषमेध यज्ञके पुरुषपशुके अनुमंत्रणमें विनियुक्त होते हैं । "पुरुषमेधोऽश्वमेधवच्चैत्यात् पुरस्तात्" का आरंभ करके वैतानसूत्र ७ । २ में कहा है, कि—"स्नातं अलंकृतं उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः (१६ । ६) केन पार्ष्णी (१० । २) इत्यनुमन्त्रयते" ।

तथा इन दोनों सूक्तोंका शनैश्चर ग्रहके देवता वाली हविके घृतहोममें तथा समिदाधान और उपस्थानमें भी विनियोग होता है। "अथाज्यभागान्ते विषासहिम् (१७ । १) इत्यादित्याय हविषो हुत्वाज्यं जुहुयात् समिध आधायोपतिष्ठते" का आरंभ करके शान्तिकल्प १५में कहा है, कि—"सहस्रबाहुः पुरुषः (१९ । ६) केन पार्ष्णी (१०।२) प्राणाय नमः (११।४) इति शनैश्चराय"।

सुवर्णमयी भूमिके दानमें भी इन दोनों सूक्तोंका घृतहोमके समय विनियोग होता है "अथ रोहिण्यां उपोषितो ब्रह्मा" का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है; कि—"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तं इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम् इत्यादि" (परिशिष्ट १० । १)

सबसे श्रेष्ठ सर्वभूतात्मकत्वकी कामना करने वाले नारायण नामक पुरुषके द्वारा अनुष्ठित पुरुषमेध क्रतुका प्रतिपादक होनेसे वा जगत्के कारण आदिनारायण पुरुषका प्रतिपादक होनेसे यह सूक्त पुरुषसूक्त कहलाता है। इस सूक्तका दो प्रकारका अर्थ है। एक आधियज्ञिक और दूसरा आध्यात्मिक। पुरुषमेधका विधान करने वाले वाजसनेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि—"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत्। तम् आहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वम् अभवत्॥—नारायण पुरुषने कामना की कि—मैं सब भूतों पर अधिष्ठित होऊँ, मैं ही यह सब हो जाऊँ। उन्होंने इस पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञक्रतुको देखा। और उसकी सामग्री एकत्रित की और उससे यज्ञ किया। उससे यजन करनेके अनन्तर वह सब प्राणियों पर अधिष्ठित होगए। यह सब होगए" (शतपथब्राह्मण १३ । ६ । १ । १)॥

तत्र सूक्ते प्रथमा ॥

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

सहस्रऽबाहुः । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ।
सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् १

पुरुषसंज्ञापेक्षितावरणस्थानीयो देहविशेषो यज्ञानुष्ठातुर्नारायणपुरुषस्य रूप्यते । यथा परोक्षस्याग्नेः प्रत्यक्षैरग्निभिः स्तवः तद्वत् परोक्षस्यादिपुरुषस्य लौकिकैः सहस्रबाहुत्वं बह्वक्षिपादत्वं च उच्यते सहस्रबाहुः सहस्रशब्दस्य उपलक्षणत्वाद् अनन्तैर्बाहुभिर्युक्तः सहस्राक्षः बहुभिरक्षिभिरुपेतः । ❁ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः । सति शिष्टः समासान्तः स्वरः प्रवर्तते ❁। सहस्रपात् अनेकचरणः । ❁ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः ❁ । एवंरूपो यः पुरुषः यज्ञानुष्ठाता नारायणाख्यः पुरुषो वर्तते स पुरुषः भूमिम् सप्तसमुद्रद्वीपां विश्वतः सर्वतो वृत्वा महिम्ना व्याप्य दशाङ्गुलम् दशाङ्गुलि प्रमाणं यस्येति । ❁ मार्हीयस्यः ठकः "अध्यर्धपूर्वद्विगोः०" इति लुक् । "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः" इति अच् समासान्तः ❁ । अत्र दशाङ्गुलशब्देन हृदयाकाशम् उच्यते । तद् अत्यतिष्ठत् । पूर्वं हृदयाकाशे परिच्छिन्नस्वरूपः सन् स्वानुष्ठितक्रतुसामर्थ्यात् परिच्छिन्नाकारतां परित्यज्य सर्वातिशायिस्वरूपोभवद् इत्यर्थः ॥ अध्यात्मपक्षे सर्वप्राणिसमष्टिरूपः सूत्रात्मा प्रतिपाद्यते । सहस्रबाहुः ये व्यष्टिभूतसर्वप्राणिनां बाहवस्ते सर्वे सूत्रात्मदेहान्तःपातित्वात् तदीया एवेति सहस्रबाहुत्वम् । एवम् अक्षिषु पादेष्वपि योजनीयम् । यद्वा सर्वत्र बाह्वादिसाध्यबहुकार्यसंभवात् तेषां सहस्रत्वव्यपदेशः । अत एव

इमम् अर्थम् अभिप्रेत्य अन्यत्राम्नायते। "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो-मुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्" इति [ऋ० १०. ८१. ३]। पुरुषः पुरि देहे शेत इति पुरुषः। ॐ पृषोदरादिः ॐ। सर्व-प्राणिदेहावस्थितः पूर्णो वा सहस्राक्षः सहस्रपात्। एवंरूपो यो वर्तते स पुरुषः भूमिम्। उपलक्षणम् एतद् अबादीनां भूतानाम्। सकलभूतकार्यब्रह्माण्डं तदन्तर्गतान् भूम्यादीन विकारान् वा विश्वतः सर्वतो वृत्वा मृदिव घटादीन् व्याप्य दशाङ्गुलम् दशाङ्गुलिमप्रमाणं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य अवस्थितः। दशाङ्गुलम् इति उपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्य अवस्थितः। एकेनांशेन ब्रह्माण्डं व्याप्य दशभिरंशैः कार्यप्रपञ्चासंस्पृष्टः स्व-प्रतिष्ठो वर्तत इत्यर्थः ॥

[यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायणपुरुषका पुरुषसंज्ञापेक्षित आवरणस्थानीय देहविशेष निरूपित किया जाता है। जैसे प्रत्यक्ष अग्नियोंसे परोक्ष अग्निका स्तोत्र कहा जाता है। इसीप्रकार परोक्ष आदिपुरुषका लौकिक वस्तुओंसे सहस्रबाहुत्व और बहुनेत्र पादत्व भी कहाजाता है कि-]अनन्त भुजाओंसे संपन्न अनन्त नेत्रोंसे संपन्न अनन्त चरणों वाला जो यज्ञका अनुष्ठाता नारायण नामक पुरुष है वह सप्त समुद्र और द्वीप वाली पृथिवीको अपनी महिमासे व्याप्त करके दश अंगुलके परिमाण वाले हृदयाकाशमें बैठ गया। तात्पर्य यह है, कि–पहिले हृदयाकाशमें परिच्छिन्न स्वरूप वाला था अपने अनुष्ठित यज्ञकी शक्तिसे सर्वातिशायी स्वरूप वाला होगया। [अध्यात्मपक्षमें सब प्राणियोंके समष्टिरूप सूत्रात्माका प्रतिपादन किया गया है। यथा–] व्यष्टिभूत सब प्राणियोंकी भुजायें सूत्रात्माके देहके भीतर आनेसे उसकी ही हैं अत एव वह पुरुष सहस्रबाहु सहस्राक्ष और सहस्रपात् है अथवा वह सर्वत्र बाहु आदिसे साध्य अनेक कार्योंको करता है अत एव सहस्रबाहु

सहस्राक्ष और सहस्रपात् है। [इसी लिये ऋग्वेदसंहिता १०। ८१। ३ में भी कहा है,कि–"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्] और सब प्राणियोंके शरीरमें शयन करता है,ऐसा पुरुष भूमि जल आदिके सब विकारोंमें,घड़े आदि में मट्टीके व्याप्त होनेकी समान व्याप्त हो दशांगुलि प्रमाण देशमें रहता है अर्थात् ब्रह्माण्डसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। तात्पर्य यह है, कि–एक अंशसे ब्रह्माण्डको व्याप्त करके दश अंशोंसे कार्यप्रपञ्चसे अस्पृष्ट रहता हुआ स्वप्रतिष्ठ रहता है ॥१॥

द्वितीया ॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः।
तथा व्य॑क्रामद् विष्व॑ङशनानशने अनु ॥ २ ॥

त्रिऽभिः। पत्ऽभिः। द्याम्। अरोहत्। पात्। अस्य। इह। अभवत्। पुनः।

तथा। वि। अक्रामत्। विष्वङ्। अशनानशने इत्यशनऽअनशने। अनु ॥ २ ॥

सोयं यज्ञानुष्ठाता नारायणपुरुषः त्रिभिः पद्भिः पादैः। ❀"पद्न्नोमास्०" इत्यादिना पादशब्दस्य पद्भावः ❀। द्याम् दिवं स्वर्गलोकम् आरोहत् आरूढवान् आक्रान्तवान्। अस्य पुरुषस्य पादः चतुर्थः इह भूलोके पुनरभवत्। पुनःपुनराविर्भवति प्रकाशते। पादचतुष्टयेन सर्वलोकव्याप्तिमेव दर्शयति। तथा तेन उक्तेन प्रकारेण अशनानशने अश्नातीति अशनम्। ❀"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀। अनशनम् अनश्नत् अशनानशने वस्तुनी अनु। ❀ लक्षणार्थे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀। अशना मनुष्यतिर्यगादयः। अनशना देवदत्तादयः। तान् अभिलक्ष्य

विष्वङ् सर्वतोञ्चनः विश्वव्यापनः व्यक्रामत् विक्रान्तवान् ॥ अध्यात्मपक्षे सोयम् उदीरितस्वरूप आदिपुरुषः त्रिभिः पद्भिः पादैः अंशैः संसारस्पर्शरहितैः धाम् दिवं द्योतनात्मकं स्वप्रकाशस्वरूपम् आरोहत् आरूढवान् आस्थितवान् । यद्यपि "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" [तै० आ० ८, १] इत्याम्नातस्य परब्रह्मणः इयत्ताया अभावाद् अंशचतुष्टयं न निरूपयितुं शक्यं तथापि जगद् इदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षया अल्पम् इति विवक्षितुं पादत्वोपन्यासः । स पुरुषः संसारस्पर्शरहितः ज्ञानबहलस्वरूपो धाम् आरोहत् अज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतः सन् अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्टः स्वस्वरूपे वर्तत इत्यर्थः । अस्य पुरुषस्य योयं पादः लेशश्चतुर्थः सोयम् इह जगति पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनःपुनराविर्भवति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम् ॥

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥

इति [भ० गी० १०, ४२] । तथा तेन प्रकारेण तुरीयेण पादेन स पुरुषो विष्वङ् विष्वगञ्चनः अशनानशने अनु स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् अभिलक्ष्य व्यक्रामत् । अथ वा चेतनाचेतनात्मकम् उभयविधं जगद् यथा स्यात् तथा पुरुषः स्वयमेव द्विविधो भूत्वा व्याप्तवान् इति । यद्येकस्मिन् कल्पे एकस्य पादस्य जननमरणयुक्तसर्वभूतात्मकत्वं तर्हि कल्पान्तरेषु पादत्रयमध्ये एकैकस्य सर्वभूतात्मकत्वं संभवति । तथा च सति अंशचतुष्टयात्मकस्य परब्रह्मणः सर्वजगदात्मकत्वसंभवेन सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वसंस्पर्शो भविष्यति इत्येषा शङ्का अंशत्रयेण धाम् आरोहत् इह पुनरभवत् इत्यनेन अपाक्रियते । तथा हि अंशत्रयात्मकं ब्रह्म सर्वदा स्वप्रतिष्ठं संसारस्पर्शरहितं सच्चित्सुखलक्षणं वर्तते । एकोंशस्तु पुनःपुनर्जगदात्मना विवर्तत इति । यः पूर्वकल्पे जगदात्मा विवृत्तः स एव कल्पान्तरेपि सर्वभूतात्मना विवर्तते नान्योंश इति ॥

इस यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायण पुरुषने तीन पादों से स्वर्गलोकमें आरोहण किया, इस नारायण पुरुषका चौथा पाद (अंश) इस लोकमें वारम्वार प्रकाशित होता है [अब पादचतुष्टयसे सर्वलोकव्याप्तिको दिखाते हैं, कि–] अशन–भोजन करने वाले मनुष्य पक्षी आदिमें और अनशन–देववृक्ष आदिमें यह सब ओरसे व्याप्त है ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि–जिसका स्वरूप पहिली श्रुतिमें कह दिया है वह आदिपुरुष संसार के स्पर्शसे रहित तीन अंशोंसे द्योतनात्मक स्वप्रकाशरूपमें आरूढ़ होगया है [यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म–ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" इस तैत्तिरीय आरण्यक ८ । १ की श्रुतिके अनुसार परब्रह्मकी इयत्ता नापना होसकनेसे अंश चतुष्टयकी कल्पनाका निरूपण अशक्य है । तथापि यह जगत् ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा परम अल्प में इस बातको जतानेके लिये अंशों–पादों–की कल्पना की गई है ।] वह संसारके स्पर्शसे रहित ज्ञानबहुलस्वरूप पुरुष द्युलोकमें चढ़ गया–का तात्पर्य यह है, कि–वह अज्ञानकार्य संसार से बाहर जाकर संसारके दोषोंसे अछूता रहता हुआ अपने स्वरूपमें वर्तमान रहता है । इस पुरुषका जो यह चौथा पाद (लेश) है वह इस जगत्में सृष्टि और संहारके द्वारा वारम्वार आविर्भूत होता है । [यह सब जगत् परमात्माका ही लेश है इस बातको भगवान्ने भी कहा है, कि–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।—मैं इस सम्पूर्ण जगत्में अपने एक अंशसे व्याप्त होकर स्थित हूं ।" भगवद्गीता १० । ४२] इस प्रकार यह पुरुष चौथे पादसे स्थावर और जंगम सबमें व्याप्त है अथवा चेतनाचेतनात्मक दोनों प्रकारके जगत्में दो प्रकारका होकर व्याप्त होगया है । [यदि एक कल्पमें एक पादका जननमरणयुक्त सर्वभूतात्मकत्व है तो दूसरे कल्पोंमें तीन पादोंमेंसे एक एकका सर्व-

भूतात्मकत्व होना संभव होसकता है। और ऐसा होने पर चारों अंश वाले परब्रह्मका, सर्वजगदात्मकत्व होसकनेसे, संसारके सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे स्पर्श होजावेगा ? यह शंका होसकती थी। इस शंकाको तीन अंशोंसे स्वर्गमें चढ़ गया और एक अंशसे यहाँ वारंवार प्रादुर्भूत होता है" कहकर दूर कर दिया है। अतएव अंशत्रयात्मक ब्रह्म सर्वदा अपनेमें प्रतिष्ठित, संसारके स्पर्शसे रहित और सत्-चित्-सुख लक्षण रहता है और एक अंश वारंवार जगदात्मारूपसे विवर्तित होता रहता है। जो पूर्वकल्पमें जगदात्म-रूपसे विवर्तित हुआ था वही दूसरे कल्पमें भी सर्वभूतरूपसे विवर्तित होता है। दूसरा अंश विवर्तित नहीं होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

तावन्तः । अस्य । महिमानः । ततः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ३

यद् इदं देवतिर्यङ्मनुष्यात्मकं जगद् यावद् अस्ति तावान् सर्वोपि अस्य यज्ञानुष्ठातुः पुरुषस्य महिमा महत् कर्म स्वकीयसामर्थ्य-विशेषः। तावन्तो महिमान इति पूजायां बहुवचनम् सृष्टिभेदापेक्षया वा ततो महिम्नोपि महिमाधारः पुरुषः ज्यायान् प्रवृद्धः अतिश-यितः। अस्य पादश्चतुर्थः विश्वा विश्वानि भूतानि भवनवन्ति स्थावरजङ्गमात्मकानि। व्यावर्तत इति शेषः॥ अस्य त्रिपात् पाद-त्रयम् अमृतम् अमरणधर्मकं सत् दिवि द्युलोके स्वर्गलोके वर्तते ॥ अध्यात्मपक्षे यद् इदं देवतिर्यङ्मनुष्यात्मकम् अतीतानाग-तवर्तमानम् अस्तिरूपं जगद् यावद् अस्ति तावान् सर्वोपि अस्य

पुरुषस्य महिमा । इदं तु तस्य न वास्तवं स्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुषः । अतो महिम्नो यथोक्तात् मर्त्यामर्त्यलक्षणात् कार्यवर्गात् ज्यायान् वृद्धतरः । ❀ वृद्धशब्दस्य ईयसुनि ज्यादेशः ❀ । नैतावान् इति मन्तव्यं कथम् इत्यत आह । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि भवनवन्ति कालत्रयवर्तीनि मायमाणिजातानि अस्य पुरुषस्य पादः चतुर्थोंशः । अस्य अवशिष्टं त्रिपात् अंशत्रयात्मकं स्वरूपम् अमृतम् अमरणधर्मकं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपे अवतिष्ठते । तुरीय एव पादो जननमरणयुक्तः । तथा च तैत्तिरीया उत्तरनारायणे समामनन्ति । "अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति [तै० आ० ३. १३. १] । यद्यपि परब्रह्मणः परिच्छेदाभावाद् अंशचतुष्टयं न निर्देष्टुं शक्यं तथापि विश्वम् इदं ब्रह्मरूपापेक्षया अत्यल्पम् इति विवक्षित्वा पादत्वोपन्यासः । ❀ त्रिपादिति । त्रयः पादाः अस्य "संख्यासुपूर्वस्य" इति लोपे "द्वित्रिभ्यां पाद्न्०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

यह जो देव तिर्यक् मनुष्यात्मक जितना जगत् है सब इस यज्ञका अनुष्ठान करने वाले पुरुषकी महिमा है—पुरुषका महान् कर्म है—पुरुषकी अपनी शक्ति है । [मूलका बहुवचन सृष्टि वा कल्पके भेदको लक्ष्यमें रख कर कहा है] यह महिमाका आधार पुरुष ऐसी महिमासे भी श्रेष्ठ है । इसका जो चौथा पाद है वह स्थावर जंगमात्मक सब भूतोंमें व्यावर्तित होरहा है । और इसके तीन पाद अमरणधर्मी रहते हुए स्वर्गलोकमें रहते हैं ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—जो यह देव तिर्यक् मनुष्यमय, भूत भविष्यत् वर्तमानका अस्तिरूप जितना जगत् है वह सब इस पुरुषकी महिमा है, किन्तु यह उसका वास्तविकस्वरूप नहीं है, वास्तव तो पुरुष है । अत एव मर्त्यामर्त्य कार्यसमूहरूप महिमासे

भी श्रेष्ठ है। इतनी ही बात नहीं है किंतु उत्पत्ति वाले त्रिकाल के जो प्राणी अप्राणी भूत हैं वे सब इस पुरुषके चौथे अंशमात्र हैं, इसका बाकी अंशत्रयात्मकरूप विनाशरहित रहता हुआ स्वप्रकाशस्वरूपमें रहता है। चौथा ही अंश जननमरणयुक्त रहता है। [इसी बातको तैत्तिरीयोंने उत्तरनारायणमें कहा है, कि-"अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिपश्यन्ति योनिम्।-वह उत्पन्न न होने वाला अनेक प्रकारसे प्रादुर्भूत होजाता है धीर पुरुष इसके कारणको जानते हैं" तैत्तिरीय आरण्यक ३। १३। १ यद्यपि परब्रह्मका परिच्छेद न होनेसे चार अंश कहना नहीं बन सकता तथापि यह विश्व ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा अत्यल्प है, यह कहनेके लिये ही यहाँ चार भागोंकी कल्पनाकी गई है] ३

चतुर्थी ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥ ४ ॥

पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भाव्यम्।

उत। अमृतऽत्वस्य। ईश्वरः। यत्। अन्येन। अभवत्। सह ४

यद् भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यम् भविष्यद् यदपि इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं व्यक्तं स्थावरजङ्गमात्मकं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव। यथा अस्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेपि पुरुषस्यावयवाः तथैव अतीतागामिनोः कल्पयोरिति द्रष्टव्यम्। अथ वा एतत् सर्वं पुरुष एव पुरुषस्यैवायं विवर्तः॥ उत अपि च अयं पुरुषः अमृतत्वस्य देवत्वस्यापि ईश्वरः स्वामी। देवानामपि ईश्वर इति यावत्। यत् किंचिद् भूतम् अन्नेन अदनीयेन भोग्येन सहाभवत् भवति तस्यापीश्वरः। अयोनिजानां देवानाम् अन्नरस-

परिणामानां मर्त्यादीनां च ईश्वर इति यावत् । यज्ञानुष्ठातुर्नारायणस्य यज्ञनिर्वर्त्यं सार्वात्म्यम् । जगत्कारणस्य सूत्रात्मनस्तु स्वाभाविकम् इतीयान् विशेषः । शिष्टं समानम् ॥

जो बीता हुआ जगत् है और जो होने वाला जगत् है और जो स्थावरजङ्गमात्मक वर्तमान जगत् है वह सब पुरुष ही है। जैसे इस कल्पमें वर्तमान सब ही प्राणियोंके देह पुरुषके अवयव हैं, इसी प्रकार बीते हुए और आगामी कल्पोंके प्राणियोंके देहों को समझना चाहिये। और यह पुरुष अमृतत्वका अर्थात् देवत्वका स्वामी है-देवताओंका भी ईश्वर है। और जो भूतसमूह अदनीय भोग्यके साथ हुआ है उसका भी ईश्वर है। तात्पर्य यह है, कि—वह अयोनिज देवताओंका और अन्नरसके परिणाम मनुष्य आदिका भी ईश्वर है। यह सब यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायणकी यज्ञसे प्राप्त हुई विभूति है। और जगत्कारण सूत्रात्माकी यह स्वाभाविकी विभूति है० ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरूपादा उच्येते ॥ ५ ॥

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कतिऽधा । वि । अकल्पयन् ।
मुखम् । किम् । अस्य । किम् । बाहू इति । किम् । ऊरू इति ।
पादौ । उच्येते इति ॥ ५ ॥

"विराड् अग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः" [६]इति पुरुषसृष्टिराम्नास्यते । "यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत" [१०] इति पुरुषेण साधनेन यज्ञसृष्टिश्च आम्नास्यते । तं पुरुषं निमित्ती-

कृत्य प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुम् अत्र ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते । यत् यदा पुरुषम् यज्ञं व्यदधुः विशेषेण अकुर्वन् साध्या नाम देवाः वसवश्च तदा तं पुरुषं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः । एष सामान्यरूपः प्रश्नः । ॐ "डति च" इति संख्यासंज्ञकात् कतिशब्दात् "संख्याया विधार्थे धा" इति धा प्रत्ययः ॐ । मुखं किम् इत्यादयो विशेषप्रश्नाः । अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य किं वस्तु मुखम् आसीत् । किं वस्तु बाहू । किं वस्तु ऊरू । किं वस्तु पादा उच्येते । बाहूरुपादद्वयात्मना किं वस्तु कथ्यते । ॐ "लोपः शाकल्यस्य" इति यकारलोपः ॐ । किम् इति सामान्यरूपत्वाद् नपुंसकलिङ्गता एकवचनता च ॥ अध्यात्मपक्षे यत् यदा पुरुषम् वैराजं व्यदधुः मनःसंज्ञकप्रजापतेर्विराजः प्राण-रूपा देवाः संकल्पेन उत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा व्यकल्पयन् इत्यादि पूर्वेण समानम् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

["विराड् अग्रे समभवद् विराजो अधिपूरुषः" इस नवम ऋचामें पुरुषसृष्टिका वर्णन किया जायगा । और "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत" इस १० म ऋचामें पुरुषरूपी साधनके द्वारा यज्ञसृष्टि भी कही जावेगी । उस पुरुषको लक्ष्यमें रखकर प्रश्नोत्तरके रूपसे ब्राह्मण आदिकी सृष्टिको कहनेके लिये अब ब्रह्मवादियोंके प्रश्न कहे जाते हैं] जब साध्यनामक और वसु नामक देवताओंने पुरुषयज्ञका विधान किया तब इसको कितने प्रकारसे कल्पित किया । इस यज्ञात्माका पुरुषका मुख क्या था और कौनसी वस्तु इसकी भुजा और ऊरु कहलाती हैं और क्या वस्तु पाद कहलाती हैं ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—जब प्राणरूप देवताओंने मनःसंज्ञक प्रजापतिमे संकल्प के द्वारा इस वैराज पुरुषको उत्पन्न किया उस समय इसको

कितने भागोंमें कल्पित किया था, इसका मुख क्या था, भुजा ऊरु और पाद क्या थे ॥ ५ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५५०)

"ब्राह्मणोस्य मुखम् आसीद्" इति सूक्तस्य पुरुषमेधे उत्सृज्यमानपुरुषपशवनुमन्त्रणे शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे च पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" सूक्तका पुरुषमेधके उत्सृज्यमान पुरुषपशुके अनुमन्त्रणमें और शनैश्चरग्रहदेवत्य हविर्घृतहोममें भी पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥६॥

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । अभवत् ।
मध्यम् । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पत्ऽभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ ६ ॥

कतिधा "व्यकल्पयन्" इति सामान्यप्रश्नस्य "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यादिना उत्तरं भविष्यति । मुखादिविशेषप्रश्नानाम् उत्तरम् अनया उच्यते । अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य ब्राह्मणो मुखम् आसीत् । ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः । योयं राजन्यः क्षत्रियजातिविशिष्टः पुरुषः स तस्य यज्ञपुरुषस्य बाहू बाहुद्वयम् अभवत् । यद् वैश्यः वैश्यजातम् इति यद् अस्ति तद् अस्य यज्ञपुरुषस्य मध्यम् मध्याङ्गम् अभवत् ।

मध्यभागाद् वैश्य उत्पन्न इत्यर्थः। पद्भ्याम् पादाभ्याम् शूद्रः अजायत उत्पन्नः॥ इत्थं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनाम् उत्पत्तिं तैत्तिरीयाः समामनन्ति। "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। ब्राह्मणो मनुष्याणाम्" इति। "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत। राजन्यो मनुष्याणाम्" इति। "मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत। वैश्यो मनुष्याणाम्" इति। तत्र "अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त" [तै० सं० ७. १. १. ५] इति वाक्यशेषेण शरीरस्य मध्यभाग एव विवक्षितः। मध्यभागः ऊर्वोरुपलक्षकः। अत एव प्रश्नः किम् ऊरू इति युज्यते। तत्रैव प्रश्ने "एकविंशं निरमिमीत। शूद्रो मनुष्याणाम्" इति च। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेन योजनीये॥ अध्यात्मपक्षेपि एषोर्थः समानः॥

["कतिधा व्यकल्पयन्" इस सामान्यप्रश्नका "चन्द्रमा मनसो जातः" से उत्तर दिया जावेगा। मुख आदि विशेष-प्रश्नोंका इस ऋचामें उत्तर दिया जाता है, कि-] इस यज्ञात्मा पुरुषका ब्राह्मण मुख हुआ तात्पर्य यह है, कि-ब्राह्मण जातिवाला पुरुष इसके मुखसे उत्पन्न हुआ। जो यह राजन्य अर्थात् क्षत्रिय जाति वाला पुरुष है वह इसकी दोनों भुजाएँ हैं। जो यह वैश्य-जाति है वह इस यज्ञपुरुषका मध्याङ्ग है अर्थात् मध्याङ्गसे वैश्य उत्पन्न हुए हैं, पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं †। अध्यात्मपक्षमें भी अर्थ एकसमान है॥ ६॥

† तैत्तिरीयसंहिता ७। १। १। ५ में भी यही लिखा है, कि—"स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत। ब्राह्मणो मनुष्याणाम्" इति। "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत। राजन्यो मनुष्याणाम्" इति। "मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत। वैश्यो मनुष्याणाम्" इति। "एकविंशं निरमिमीत शूद्रो मनुष्याणाम्"। इति च॥

द्वितीया ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ ७ ॥

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत ।
मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ।

अस्मिन् उत्तरस्मिन्नपि मन्त्रे उत्तरकथनेन तदनुसारिणः प्रश्ना ऊहनीयाः । अत एव कतिधा व्यकल्पयन्निति सामान्यप्रश्नो ब्रह्मवादिभिः कृतः । यज्ञात्मनः पुरुषस्य मनसः सकाशात् चन्द्रमाः चन्द्रम् आह्लादं माति निर्मिमीत इति चन्द्रमाः सोमो जातः । "चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऐ० आ० २. ४. २] । चक्षोः चक्षुषः । अन्त्यलोपश्छान्दसः । सूर्यः अजायत । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" इति हि श्रुतिः [ऐ० आ० २. ४, २] । इन्द्रश्च अग्निश्च । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तौ देवौ मुखात् जातौ । अत्र मुखशब्देन वागिन्द्रियम् उच्यते । "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इत्यत्र सर्वं मुखमण्डलं विवक्षितम् । "अग्निर्वाग् भूत्वा मुख प्राविशत्" इति ऐतरेयकश्रुतिः [ऐ० आ० २. ४. २] । वाचः इन्द्रसम्बन्धं तैत्तिरीयाः समामनन्ति । 'वाग् वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन् । "इमां नो वाचं व्याकुर्विति । ताम् इन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३] । अस्य पुरुषस्य प्राणात् । अत्र प्राणशब्देन घ्राणेन्द्रियं विवक्ष्यते । तस्माद् वायुरजायत । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऐ० आ० २. ४. २] । अत्र सर्वत्र स्वस्वकारणप्रवेशेन तस्माद् उत्पत्तिर्विवक्षितेति मन्तव्यम् ॥ अध्यात्मपक्षेपि अयम् अर्थः समानः ॥

यज्ञात्मा पुरुषके मनसे चन्द्र अर्थात् आह्लादको देने वाला चन्द्रमा अर्थात् सोम उत्पन्न हुआ [अन्य श्रुतिमें भी कहा है, कि— "चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" ऐतरेय आरण्यक २ । ४ २] चक्षुसे सूर्य प्रकट हुआ [ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि–"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।–आदित्य चक्षु बन कर नेत्रगोलकोंमें प्रवेश कर गया"] मुखसे इन्द्र और अग्नि प्रकट हुए [यहाँ मुख शब्दसे वाक् इन्द्रियका ग्रहण किया है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" आदि सर्वत्र मुखमण्डलसे तात्पर्य है । ऐतरेयक वाणीके साथ इन्द्रका सम्बन्ध कहते हैं, कि— "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ।–अग्निदेवने वाणी बन कर मुख में प्रवेश किया" ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २] इस पुरुषके प्राणसे अर्थात् इसकी घ्राणेन्द्रियसे वायु प्रकट हुआ [ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में भी कहा है, कि—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।" यहाँ सर्वत्र अपने २ कारणमें प्रवेशके द्वारा उससे उत्पत्ति कहना अभिलषित है। अध्यात्मपक्षमें अर्थ समान है]७

तृतीया ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ।

नाभ्या । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ।
पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन्

अत्रापि उत्तरानुसारिणः प्रश्ना ऊह्याः । अस्य यज्ञपुरुषस्य नाभिशिरःपादेभ्यः अन्तरिक्षद्युभूमस्त्रयो लोकाः समभवन् । शीर्ष्णः । ॐ "शीर्षश्छन्दसि" इति शिरसः शीर्षन् आदेशः । "अल्लोपोनः" इति अकारलोपः। पद्भ्याम् इति । "पद्दन्नोमास्०"

इति पञ्चावः ❀ श्रोत्रात् अस्य पुरुषस्य श्रोत्रेन्द्रियाद् दिशः प्राच्यादय आसन्। "दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऐ० आ० २. ४. २]। उक्तार्थोपसंहारश्चतुर्थचरणः। तथा उक्तेन प्रकारेण उक्तरीत्या लोकान् अन्तरिक्षादीन्। उपलक्षणम् एतत्। ब्राह्मणक्षत्रियादीन् अकल्पयन् अस्माद् यज्ञपुरुषात् कल्पितवन्तः उत्पादितवन्तः साध्या नाम देवाः ॥ अध्यात्मपक्षे प्रजापतेः प्राणरूपा देवा इतीयान् विशेषः ॥

इस यज्ञपुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक प्रकट हुआ, शिरसे द्युलोक प्रकट हुआ, पैरोंसे भूलोक प्रकट हुआ है। इस पुरुषकी श्रोत्रेन्द्रियसे पूर्व आदि दिशाएँ प्रकट हुईं [ऐतरेय आरण्यक २। ४। २ में कहा है, कि—"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्"] इस प्रकार साध्य नामक देवताओंने अन्तरिक्ष आदि लोकोंको और ब्राह्मण आदि वर्णोंको कल्पित किया है—उत्पन्न किया है। अध्यात्म पक्षमें "प्रजापतिके प्राणरूप देवताओंने कल्पित किया है" अर्थ होगा ॥ ८ ॥

चतुर्थी ॥

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥९॥

विऽराट्। अग्रे। सम्। अभवत्। विऽराजः। अधि। पुरुषः।
सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति।
पुरः ॥ ९ ॥

पूर्वं यस्मात् पुरुषाद् ब्राह्मणादिसृष्टिरुक्ता तस्य सृष्टिरत्रोच्यते। अग्रे सृष्ट्यादौ विराट् विविधं राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराड्

नाम पुरुषः समभवत्। "सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादिना उपवर्णिताद् आदिपुरुषाद् विराट्संज्ञकः पुरुषोजायत। "तस्माद् विराड् अजायत" इति [तै० आ० ३, १२. २] शाखान्तरे विराजः आदिपुरुषाद् उत्पत्तिः समाम्नायते। तथा मानवे शास्त्रे स्मर्यते।

द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजम् असृजत् प्रभुः॥

इति [म० स्मृ० १. ३२]। विराजः अधि। अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी। तस्माद् विराजः पुरुष अन्यः पुरुषोजायत। अत्र वाजसनेयकम्। "विराजो अधि पूरुषः इत्येषा वै सा विराट्। एतस्या एवैतद् विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति" इति [श० ब्रा० १३. ६. १. २]। स च तृतीयः पुरुषः यज्ञात्मा जातः उत्पन्नमात्र एव अत्यरिच्यत अतिरिक्त आसीत्। भूमिम् भूम्यादीन् सर्वान् लोकान् पश्चात् पश्चाद्भागे अथो अपि च पुरः पुरस्तात्। ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति असि प्रत्ययः। तत्संनियोगेन पूर्वशब्दस्य पुर् आदेशः ❀। स पुरुषो जातमात्र एव भूम्यादीन् लोकान् पश्चात् पुरस्ताच्च व्याप्य अतिक्रान्तवान्॥ अध्यात्मपक्षे। अग्रे सृष्ट्यादौ विराट् विविधं राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट् मनःसंज्ञकः प्रजापतिः सहस्रबाहुः पुरुष इति प्रकृताद् महापुरुषाद् अजायत। ततो विराजः अधि विराजमेव अधिकरणीकृत्य पुरुषः अन्यः प्रजापतिः सर्वभूतेन्द्रियपुरुषसमष्ट्यात्माभवत् निष्पन्नः। श्रूयते हि। "स मानसीन आत्मा जनानाम्" इति [तै० आ० ३. ११. १]। मानसीनः मनसा निष्पन्न इत्यर्थः। स वैराजः पुरुषो जातः प्रादुर्भूतमात्रः अत्यरिच्यत स्वयमेव आत्मानम् अत्यरेचयत्। ❀ कर्मकर्तरि रूपम् ❀। अनेकधा भावलक्षणं स्वरूपातिरेकम् अभजत। भूतेन्द्रियादीनि असृजद् इत्यर्थः। श्रूयते हि। "असतोधि मनोसृज्यत। मनः प्रजा-

पतिम् असृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत" इति [तै० ब्रा० २. २. ६. १०] । पश्चात् भूतग्रामसृष्टेरन्ते भूमिम् अत्यरेचयत् । ❀ सामर्थ्यात् कर्मकर्तृभावोत्र निवर्तते ❀ । एवम् आकाशादिपृथिव्यन्तानां तत्त्वानां सृष्टिरुक्ता भवति । अथो भूमेरनन्तरं पुरः पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि सुरनरतिर्यगादीनां स्थावराणां च अत्यरेचयत् अतिरिक्तान्यकरोत् । ❀ पुर इति । द्वितीयाबहुवचनं शस् । छान्दसं विभक्त्युदात्तत्वम् ❀ ॥ अध्यात्मपक्ष एव मन्त्रोर्थः । अग्रे विराट् ब्रह्माण्डरूपो देहः तस्माद् आदिपुरुषाद् उत्पन्नः । विराजः अधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहम् अधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । योयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स एव स्वकीयमायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानीदेवतात्मा जीवोभवत् । एतच्च आथर्वणिका उत्तरतापनीये स्पष्टम् आमनन्ति । "स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते मायया" इति [नृ० उ० ता० १.६] । स जातः विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोभूत् । देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावाद् ऊर्ध्वं भूमिं ससर्जेति क्रियाध्याहारः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः शरीराणि ससर्ज । एवं भूतसृष्टिः पिण्डसृष्टिश्च प्रतिपादिता ॥

[पहिले जिस पुरुषसे ब्राह्मण आदिकी सृष्टि कही है अब उसकी उत्पत्ति कही जाती है, कि–] सृष्टिकी आदिमें जिसमें अनेक प्रकारसे वस्तुएँ दमकती हैं वह विराट् नामक पुरुष प्रकट हुआ । तात्पर्य यह है, कि–"सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादि श्रुतिमें उपवर्णित आदिपुरुषसे विराट् नामक पुरुष प्रकट हुआ [तैत्तिरीय आरण्यक ३।१२।२ में "तस्माद् विराड् अजायत ।–उससे

विराट् प्रकट हुआ" कह कर आदिपुरुषसे विराट्की उत्पत्ति कही है। मनुस्मृतिमें भी यही कहा है, कि-"द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां च विराजं असृजत् प्रभुः ॥-उसने अपने शरीरके दो भाग किये आधेसे वह पुरुष हुआ और आधेसे नारी बना, उस स्त्रीमें उन्होंने विराट्की सृष्टि की] उस विराट्से अन्य (यज्ञ) पुरुष प्रकट हुआ [शतपथ-ब्राह्मण १३। ६। १। २ में कहा है, कि-"विराजो अधि-पूरुष इत्येषा वै सा विराट्। एतस्या एवैतद् विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति"] वह तृतीय पुरुष यज्ञात्मा उत्पन्न होते ही बढ़ने लगा, वह पुरुष भूमि आदि लोकोंके आगे पीछे व्याप्त होगया ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—सृष्टिके आरंभमें विविध प्रकारसे जिसमें वस्तुएँ दमकती हैं वह विराट् मनः-संज्ञक प्रजापति, सहस्रबाहु पुरुषरूप महापुरुषसे प्रकट हुआ और उस विराट्को ही अधिकरण करके, सर्वभूतेन्द्रियपुरुषसमष्टियोंकी आत्मा अन्य पुरुष प्रजापति निष्पन्न होगए। [श्रुतिमें भी कहा है, कि—स मानसीन आत्मा जनानाम्-वह मनुष्योंकी मनसे निष्पन्नहोने वाली आत्मा है (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११।१)] वह विराट्से प्रकट हुआ प्रादुर्भूत होते ही अपनेको बढ़ाने लगा—अनेकधा भावलक्षण स्वरूपातिरेकका सेवन करने लगा अर्थात् उसने भूतेन्द्रियोंकी सृष्टि की [श्रुतिमें भी कहा है, कि-"असतोऽधि मनोऽसृज्यतमनः प्रजापतिं असृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत।-असत्से मनकी सृष्टि हुई, मनने प्रजापतिकी रचना की। प्रजा-पतिने प्रजाओंकी रचना की।" तैत्तिरीयब्राह्मण २। २। ९। १०] भूतसमूहोंकी सृष्टिके अनन्तर उसने भूमिको व्याप्त किया। [इसीसे आकाशसे भूमि तक की सारी सृष्टि समझ लेनी चाहिये] इस प्रकार भूमिकी रचनाके अनन्तर उसने सात धातुओंसे पूर्ण

होनेवाले सुर नर तिर्यक् और स्थावरोंके शरीरोंको व्याप्त कर लिया अध्यात्मपक्षमें ही दूसरा अर्थ यह होता है, कि—विराट् अर्थात् ब्रह्माण्डरूप देह उस आदिपुरुषसे प्रकट हुआ, उस विराट् देहको ही अधिकरण बना कर उस देहका अभिमानी कोई एक पुरुष प्रकट हुआ। जो यह सर्ववेदांतवेद्य परमात्मा है वही अपनी मायासे ब्रह्माण्डरूप विराट् देहको रच कर तहाँ जीवरूपसे प्रवेश करके ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव होगया है। [इस बात का अथर्ववेदी पुरुष उत्तरतापनीय उपनिषद्में स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं, कि—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यचामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव।- वह इन भूतोंको इन्द्रियोंको विराट्को देवताओंको और कोशोंको रचकर इनमें प्रवेश कर गया है और अमूढ होने पर भी मायासे मूढकी समान व्यवहार करता रहता है।" नृसिंह उत्तर तापनी उपनिषत् १। ९] वह प्रकट हुआ अतिरिक्त होगया अर्थात् देवता तिर्यक् मनुष्य आदि रूप वाला होगया फिर उसने देवादिजीव भावसे ऊपरकी भूमिकी रचना की। भूमिसृष्टिके अनन्तर उसने उन जीवोंके शरीरकी रचना की। इस प्रकार यहाँ भूतसृष्टि और पिण्डसृष्टिका प्रतिपादन किया है॥ ९॥

पञ्चमी॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः १०

यत्। पुरुषेण। हविषा। देवाः। यज्ञम्। अतन्वत।

वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्। ग्रीष्मः। इध्मः। शरत्। हविः॥ १०॥

"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" [बृ० आ० १. १. १] इत्यादिना पुरुषस्य अश्वत्वेन उपासना आम्नायते । अतोत्र पुरुषस्य अश्वत्वात् हविष्ट्वम् । अश्वमेधे हि अश्वः पशुः । अथ वा मुख्यः पुरुष एव पुरुषमेधे पशुः । तस्माद् अयम् अर्थः । यत् यदा पुरुषेण अश्वरूपेण पुरुषरूपेण वा हविषा देवाः साध्यनामका यज्ञम् अतन्वत अकुर्वत तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तः रसानाम् उत्पादक ऋतुः स्वमहिम्ना आज्यम् होम्यम् आसीत् । ग्रीष्मः शोषक ऋतुः इध्मः अग्निसमिन्धनसाधनभूतैकविंशतिदारुमयात्मकः पदार्थ आसीत् । शरत् शीर्यन्ते पच्यन्ते अस्याम् ओषधय इति शरद् ऋतुः हविः यज्ञियचरुपुरोडाशादिहवीरूपोभवत् ॥ अध्यात्मपक्षे । यत् यदा पुरुषेण प्रजापतिना हविषा हविष्ट्वेन संकल्पितेन हविरन्तरस्याभावाद् देवाः प्राणाः प्राजापत्या इन्द्रियाणि च यज्ञम् संकल्पात्मकम् अतन्वत अकुर्वत । यद्वा यज्ञमेव अन्वतिष्ठन् । स्रष्टुकामः प्रजापतिर्देवः देवशब्दवाच्यप्राणादिभेदेनोच्यते । अथ वा पूर्वोक्तक्रमेण देवशरीरेषु उत्पन्नेषु ते देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं तत्साधनत्वेन यज्ञम् अतन्वत। कंचिद्द यज्ञम् अन्वतिष्ठन् । द्रव्यस्य अद्यापि अनुत्पन्नत्वेन हविरन्तराभावात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य तेन पुरुषाख्येन हविषा यत् यदा मानसं यज्ञम् अकुर्वत तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तर्तुरेव आज्यम् अभूत् । तमेव आज्यत्वेन संकल्पितवन्तः । एवं ग्रीष्मः इध्मत्वेन संकल्पितः । शरत्पुरोडाशादि हविष्ट्वेन संकल्पितः । पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः वसन्तादीनां तु आज्यादिषु विशेषरूपत्वेनेति द्रष्टव्यम् ॥

["उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य ।—उषा इस पवित्र अश्वका शिर है" (बृहदारण्यक १ । १ । १) इत्यादि में पुरुष की अश्वरूपमें उपासना कही है, अत एव यहाँ पुरुषका अश्वरूप होनेसे हविष्ट्व है । अश्वमेधमें अश्व पशु होता है । अथवा मुख्य पुरुष

ही पुरुषमेधमें पशु होता है। इस लिये यह अर्थ है, कि-] जब पुरुषरूप वा अश्वरूप हविसे साध्य नामक देवताओंने यज्ञको किया। उस समय रसोंकी उत्पादक वसन्त ऋतु अपनी महिमा से उस यज्ञका घृत बन गई। और शोषक ऋतु ग्रीष्म (इक्कीस) समिधायें होगई, और जिसमें औषधियें पकती हैं वह शरत् यज्ञिय पुरोडाशरूप हवि होगई थी। अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि-जब प्राजापत्य प्राण और इन्द्रियरूप देवताओंने हविरूपमें कल्पित प्रजापतिपुरुषसे संकल्पात्मक यज्ञको किया उस समय वसन्त ऋतु ही घृत हुआ, ग्रीष्म ईंधन हुआ और शरत् पुरोडाश हुई ॥१०॥

षष्ठी ॥

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥

तम् । यज्ञम् । प्रावृषा । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रऽशः ।
तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । वसवः । च । ये ॥ ११ ॥

तं यज्ञम् यष्टव्यं पुरुषम् अग्रशः अग्रे सृष्ट्यादौ जातम् अश्वभूतं वा प्रावृषा वर्षकेण प्रावृडाख्येन ऋतुना प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। ❀ उक्ष सेचने ❀। प्रावृट्कालं प्रोक्षणसाधनोदकरूपत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। तेन पुरुषेण देवा अयजन्त इष्टवन्तः। के देवाः तान् आह। ये साध्याः वसवश्च एतत्संज्ञका देवाः॥ अध्यात्मपक्षे। यज्ञम् यज्ञसाधनभूतम्। ❀ करणे नङ् प्रत्ययः ❀। तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धम् अग्रशः अग्रतः अग्रे सर्वविकारसृष्टेः पूर्वं जातम् पुरुषत्वेन उत्पन्नं संकल्पात्मके यज्ञे प्रावृषा प्रौक्षन् प्रावृट्कालेन प्रोक्षितमिव मनसा कृतवन्त इत्यर्थः। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवाः अयजन्त मानसं यागं निष्पादितवन्तः। के ते देवा इति त

उच्यन्ते । साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः साधयन्तीति साध्याः । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि "अचो यत्" इति यत्-प्रत्ययः ❀ । वसवः वासकाः प्राणाः इन्द्रियाणि च । द्युयेपि देवन-शीलत्वाद् देवा इत्युच्यन्ते ॥

सृष्टिकी आदिमें उस पूजनीय पुरुष या पशुको प्रावृट् नामक ऋतुसे प्रोक्षित किया अर्थात् प्रावृट्कालको प्रोक्षणसाधनोदकरूप में कल्पित किया । उस पुरुषसे साध्य और वसु नामक देवताओं ने यजन किया था ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—उस यज्ञके साधनभूत पशुत्वकी भावनासे यूपमें बाँधेसे हुए सर्वविकार-सृष्टिसे पूर्व पुरुषरूपसे प्रकट हुएको संकल्पात्मकयज्ञमें साध्य (सृष्टिके साधनके योग्य) और वसु (वासक प्राण और इन्द्रियों) नामक देवताओंने मनके द्वारा प्रावृट्कालसे प्रोक्षितसा किया । उस पुरुषरूप पशुसे देवताओंने मानस यागको निष्पन्न किया ११ सप्तमी ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः १२

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । च । के । च । उभयादतः ।
गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । तस्मात् । जाताः । अजऽअवयः १२

पशुसृष्टिरुच्यते । तस्मात् यज्ञात्मनः पुरुषाद् अश्वा अजायन्त । ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च ये के च उभया-दतः ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति ते अजायन्त । ❀ "छन्दसि च" इति दन्तस्य दत्भावः । "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀ । तस्मादेव पुरुषाद् गावश्च जज्ञिरे । ❀ जनी प्रादुर्भावे ❀ । इ-

शब्दश्चार्थे । तस्मादेव यज्ञपुरुषाद् अजावयः अजाश्च अवयश्च जाताः ॥ अध्यात्मपक्षेपि अयम् अर्थः समानः ॥

[अब पशुसृष्टिका वर्णन करते हैं, कि—] उस यज्ञात्मक पुरुषसे अश्व उत्पन्न हुए और घोड़ेके अतिरिक्त जो गधे और खिचर हैं वे भी उत्पन्न हुए। और जिनके ऊपर और नीचे दाँत होते हैं वे भी प्रकट हुए और उसी पुरुषसे गौएँ प्रकट हुईं और उसी यज्ञपुरुषसे बकरी और भेड़ें प्रकट हुई हैं ॥ अध्यात्मपक्षमें यही अर्थ है ॥ १२ ॥

अष्टमी ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥१३॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।
छन्दः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत १३

सर्वहुतः । ❀"सुपां सुलुक्०" इति पञ्चम्येकवचनस्य सुः❀। सर्वहुतात् । आश्वमेधिकोश्वः सर्वहुतः । पुरुषस्य अश्वमेधत्वम् उक्तम् । यद्वा सर्वः सर्वाङ्गः सन् पशुर्हूयते स सर्वहुत् । ❀ कर्मणि व्यत्ययेन क्विप् प्रत्ययः ❀। सर्वहुतः अश्वभूतात् तस्माद् यज्ञात् पुरुषाद् ऋचः पादबद्धा मन्त्राः सामानि गीत्यात्मकानि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् पुरुषात् छन्दः । ❀ जसो लुक् ❀। छन्दांसि । हशब्दश्चार्थे । छन्दांसि च गायत्र्यधिष्ठानानि जज्ञिरे । तस्मादेव पुरुषाद् यजुः प्रश्लिष्टपाठात्मको मन्त्रः अजायत । ऋगादीनां लक्षणं जैमिनिना सूत्रितम् । "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" [जै० २. १. ३२] । "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २. १. ३५] । "गीतिषु सामाख्या" [जै० २. १. ३६] । "शेषे

यजुःशब्द." [जै० २. १. ३७] इति ॥ अध्यात्मपक्षे। सर्वहुतः सर्वात्मा पुरुषः पशुत्वेन हूयतेस्मिन्निति सोयं सर्वहुत् तस्मात् पूर्वोक्ताद्द् मानसाद् यज्ञात् । शिष्टं समानम् ॥

उस पूर्णरूपसे हुत होने वाले अश्वभूत यज्ञपुरुषसे पादबद्ध मन्त्र-ऋचाएँ, और गीत्यात्मक मन्त्र—साम प्रकट हुए, उसी यज्ञपुरुषसे ऋक् आदिके अधिष्ठान छन्द प्रकट हुए हैं उसी पुरुषसे प्रश्लिष्टपाठात्मक मन्त्र यजु प्रकट हुआ। [ऋक् आदिका लक्षण करते हुए जैमिनिमुनिने सूत्रमें कहा है, कि—"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (३ । १ । ३ जैमिनि ।) "तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" (जैमिनि २ । १ । ३५) "गीतिषु सामाख्या" (२ । १ । ३६ जै०) शेषे यजुः शब्दः (२ । १ । ३७ जै०)] अध्यात्मपक्षमें—सर्वहुत् पूर्वोक्त मानस यज्ञसे ऋक् साम छन्द और यजु प्रकट हुए ॥ १३ ॥

॥ नवमी

तस्मा॑द् य॒ज्ञात् स॑र्व॒हुत॒ः संभृ॑तं पृषदा॒ज्यम् ।
प॒शूँस्तांश्च॑क्रे वाय॒व्या॑नार॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥ १४ ॥

तस्मा॑त् । य॒ज्ञात् । स॒र्व॒ऽहु॒तः । सम्ऽभृ॑तम् । पृ॒ष॒त्ऽआ॒ज्यम् । प॒शून् । तान् । च॒क्रे । वा॒य॒व्या॑न् । आ॒र॒ण्याः । ग्रा॒म्याः । च॒ । ये

सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञात् यज्ञात् अश्वभूताद् यज्ञपुरुषात् संभृतम् संपादितं यत् किंचिद् द्रव्यजातं तत् पृषदाज्यम् । दधिमिश्रम् आज्यं पृषदाज्यम् इत्युच्यते । तद् आसीत् । अथ तत् पृषदाज्यम् कर्म ते देवाः साध्यनामकाः वायव्यान् वायुदेवत्यान् आरण्यान् अरण्योद्भवान् द्विखुरश्वापदपक्षिसरीसृपहस्तिमर्कटनादेयाख्यान् सप्तसंख्याकान् एवमादिकान् अन्यान् आरण्यान् पशूंश्चक्रे चक्रिरे । ❀ "तिङां तिङो भवन्ति" इति झस्य तादेशः ❀ ।

ये च ग्राम्याः ग्रामोद्भवा गोश्वाजाविपरुषगर्दभोष्ट्रा एवमादिका अन्ये ग्राम्याश्च ये सन्ति तान् पशूंश्चक्रिरे। ❀ अरण्ये भवा आरण्याः। "तत्र भवः" इति अण् प्रत्ययः। "ग्रामाद् यख-ञौ" इति ग्रामशब्दात् शैषिको यञ् प्रत्ययः ❀। आरण्यपशु-विशेषणे तच्छब्दस्य प्रसिद्धिवाचकत्वम्। ग्राम्यविशेषणे यच्छब्द-योगात् तच्छब्दस्य प्रतिनिर्देशः। पशूनाम् अन्तरिक्षद्वारा वायु-देवत्यत्वं मन्त्रान्तरव्याख्याने तैत्तिरीयाः समामनन्ति। "वायवः स्थेत्याह। वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति" इति [तै० ब्रा० ३. २. १.४]। आरण्यानामेव वायुरधिपतिरिति केचित्॥ अध्यात्मपक्षे। सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञात् पूर्वोक्ताद् मानसाद् यज्ञात् संभृतम् समुत्पन्नं पृषदाज्यं पृषत् विचित्रं विन्दुमद् आज्यम्। अथ तत् पृषदाज्यम् कर्म आरण्यान् ग्राम्यांश्च द्विविधान् पशूंश्चक्रे प्राणेन्द्रियसमष्टिरूपः प्रजापतिः। तत्रैव अर्थान्तरम्। पृषदाज्यम् दधिमिश्रम् आज्यं संभृतम् संपादितम्। दधि च आज्यं च इत्येवमादि भोग्यजातं सर्वं संपादितम् इत्यर्थः। तथा द्विविधान् पशूंश्चक्रे प्राणेन्द्रिय-समष्टिरूपः प्रजापतिरेवेति॥

उस सर्वहुत यज्ञपुरुषसे सम्पादित द्रव्य दधिमिश्रित घृत है। साध्य नामक देवताओंने उस दधिमिश्रित घृतकर्मको और वायु देवता वाले अरण्यमें प्रादुर्भूत होने वाले दो खुर वाले, श्वापद, पक्षी, सरीसृप, हाथी, बन्दर और नादेयोंको रचा और ग्राममें होने वाले गौ घोड़े भेड़ पुरुष बकरे गधे और ऊँटोंको भी रचा। [तैत्तिरीयकोंने भी अन्तरिक्षके द्वारा पशुओंके वायुदेवत्यत्वको कहा है, कि—वायवः स्थेत्याह। वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्त-रिक्षदेवत्या खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३।२।१।४]॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—उस सर्व-

हुत पूर्वोक्त मानस यज्ञसे विचित्र बिन्दुओं वाला घृत प्रकट हुआ प्राणेन्द्रियसमष्टिरूप प्रजापतिने उस पृषदाज्य ग्राम्य तथा वन्य जीवोंको रचा ॥ १४ ॥

दशमी ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽधयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽइधः । कृताः ।
देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् । पशुम् १५

यत् यदा यज्ञम् अश्वमेधं पुरुषमेधं वा तन्वानाः कुर्वाणाः साध्या देवाः स्वस्मिन् यज्ञे पुरुषं पशुम् अश्वभूतं मुख्यं पुरुषं वा अबध्नन् यूपे बद्धवन्तः तदानीम् अस्य यज्ञस्य सप्त सप्तसंख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि त्रिः सप्त एकविंशतिसंख्यायुक्ताः परिधयः समिधश्च कृताः संपादिता आसन् । ऐष्टिक्यः पञ्चदशभिः सामिधेनीभिरभिराधीयमानाः पञ्चदश समिधः एका अनुयाजसमित् द्वे आघारसमिधौ त्रयः परिधयः इति एकविंशतेर्दारूणां सम्पादनेन इध्मरूपं कृतं अथवा अस्य यज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधयः । औत्तरवेदिकास्त्रयः । आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते । "न पुरस्तात् परिदधाति । आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" इति [तै० सं० २. ६. ६. ३] । त एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयः अत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणितसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृताः । द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" इति [ऐ० ब्रा० १. ३०] श्रुताः पदार्था

एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। एवम् इध्मानाम् एकविंशते-दारुणां संपादनेन इध्मरूपं कृतम् पूर्वं तु पृथक्त्वेन परिधानकाले परिधिरूपत्वं कृतम् इति द्रष्टव्यम्। यत् यदा देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं कुर्वाणाः पुरुषं वैराजं पशुम् अबध्नन् तं पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र पुरुषेण हविषा इत्युक्तम्॥

जिस समय साध्य नामक देवताओंने (अश्वमेध वा) पुरुषमेधको किया उस समय अपने यज्ञमें (अश्व वा) पुरुष पशुको यूपमें बाँधा उस समय गायत्री आदि सात छन्दोंको परिधि बनाया और इक्कीस समिधायें बनाईं। अध्यात्म—प्रजापतिके प्राण और इन्द्रियरूप देवताओंने मानसयज्ञको करते समय वैराजको पशुरूप में माना और उसको बाँधा उस समय इस यज्ञकी सात परिधियें और इक्कीस समिधायें थीं॥ १५॥

एकादशी॥

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः।

राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि॥ १६॥

मूर्ध्नः। देवस्य। बृहतः। अंशवः। सप्त। सप्ततीः।

राज्ञः। सोमस्य। अजायन्त। जातस्य। पुरुषात्। अधि १६

सर्वस्य यज्ञस्य सोमसाधयत्वाद् अत्रापि यज्ञे परंपरया सोमसंबन्धं दर्शयितुं सोमः अनया प्रस्तूयते। पुरुषात् यज्ञात्मनः वैराजाद् वा। अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी। जातस्य निष्पन्नस्य सोमस्य राज्ञः सप्त सप्तगुणिताः सप्ततीः सप्ततयः सप्तगुणितसप्ततिसंख्याका अंशवः किरणाः बृहतः महतो देवस्य द्योतनात्मकस्य "सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादिना निरूपितस्य आदिपुरुषस्य मूर्ध्नः

सकाशाद् अजायन्त उद्भूताः ॥ अयम् अर्थः। द्विविधो हि सोमः वल्लीरूपो देवतारूपश्चेति। तत्र लतारूपस्य सोमस्य स्वसाध्याः प्रकृतिविकृत्यादिभेदेन नानासंख्याकाः प्रकृतिरूपाः अग्निष्टोमादिसप्तसंस्थाः नानासंख्याका विकृतिभेदेन च क्रतवः पुरुषमेधक्रतुनिर्वर्तकनारायणपुरुषस्य शिरसः सकाशाद् उद्भूता इति। कलारूपस्य तु सोमस्य चन्द्रलोके सप्तगुणितसंख्याकाः किरणा निष्पन्नाः। सूर्यस्य तु सहस्रकिरणाः सोमस्य तु दशोनपञ्चशतसंख्याकाः किरणा देवस्य मूर्ध्नोजायन्त इति ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

[सब यज्ञ सोमसाध्य होते हैं अत एव यहाँ भी यज्ञमें परम्पराके कारण सोमका संबंध दिखानेके लिये इस ऋचामें सोमका वर्णन करते हैं, कि–] यज्ञात्मक वा वैराज पुरुषसे निष्पन्न हुए राजा सोमकी चार सौ नब्बे किरणें महान द्योतनात्मक "सहस्रबाहुः पुरुषः" आदिसे निरूपित आदिपुरुषके मस्तकसे प्रकट हुई। तात्पर्य यह है, कि–दो प्रकारका सोम होता है एक वल्लीरूप और एक देवतारूप इनमें सोमके प्रकृतिविकृति भेदसे साध्य अनेक यज्ञ होते हैं। ये प्रकृतिरूप अग्निष्टोम आदि सप्तसंस्थ अनेक, और विकृतिभेदसे भी अनेक यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञके निवर्तक नारायण पुरुषके शिरसे प्रकट हुए हैं ॥ और कलारूप सोमकी चार सौ नब्बे किरणें भी इन ही देवके मस्तकसे प्रकट हुई हैं ॥ १६ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५५०)

"चित्राणि साकम्" इति "यानि नक्षत्राणि" इति सूक्तयोर्नक्षत्रदेवताज्यहोमे तद्वद्विहोमे च विनियोगः। "अथ नक्षत्राणाम् उपचारं वक्ष्यामः" [न० क० १] इति प्रक्रम्य नक्षत्रकल्पे सूत्रितम्। "एतेषां चैव नक्षत्राणां धनस्थानोपसादिनाम्। यथावर्णानि

पुष्पाणि वासांस्येषानुलेपनम् । इमा आप इत्येतैः षड्भिः प्रतिगृह्णन्तु भगवन्ति नक्षत्राणि इत्येतैर्यथोक्तं कृत्वा अथाज्यभागन्ते चित्राणि साकं दिवि रोचनानि यानि नक्षत्राणीत्याज्यं हुत्वा" इति [न० क० ६] । "अथ नक्षत्रहवींषि । घृतं कृत्तिकाभ्यः । सर्वबीजानि रोहिण्यै" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "क्षीरिवृक्षाङ्कुरा अश्विनीभ्याम् । कृष्णतिलाः सर्पिर्मधुमिश्रा भरणीभ्यः । चित्राणि साकं दिवि रोचनानि [१६. ७] यानि नक्षत्राणि [१६. ८] इति हुत्वाभयेन [६. ४०] उपस्थाप तन्त्रं परिसमापयेत्" इति च [न० क० १२] ॥

"चित्राणि साकम्" और "यानि नक्षत्राणि" इन दोनों सूक्तों का नक्षत्रदेवता वाले घृतके होममें और इनकी ही हविके होममें विनियोग होता है । "अथ नक्षत्राणां उपचारं वक्ष्यामः ।–अब नक्षत्रोंके उपचारको कहते हैं" (न०क० १) । कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"एतेषां चैव नक्षत्राणां प्रत्रस्थानोपसादिनाम् । यथावर्णानि पुष्पाणि वासांस्येवानुलेपनम् ॥ इमा आप इत्येतैः षड्भिः प्रतिगृह्णन्तु भगवन्ति नक्षत्राणि । इत्येतैर्यथोक्तं कृत्वा अथाज्यभागान्ते चित्राणि साकं दिवि रोचनानि । यानि नक्षत्राणि इत्याज्यं हुत्वा ।" (नक्षत्रकल्प ६) । "अथ नक्षत्रहवींषि । घृतं कृत्तिकाभ्यः । सर्वबीजानि रोहिण्यै ।– अब नक्षत्रों हवियोंका वर्णन करते हैं, कि-कृत्तिकाओंके लिये घृत रोहिणीके लिये सब प्रकारके बीज हवि हैं" का आरंभ करके फिर कहा है, कि—"क्षीरिवृक्षांकुरा अश्विनीभ्याम् । कृष्णतिलाः सर्पिर्मधुमिश्रा भरणीभ्यः । चित्राणि साकं दिवि रोचनानि (१६।७) यानिनक्षत्राणि (१६ । ८) इति हुत्वाभयेन (६ । ४०) उपस्थाय तन्त्रं परिसमापयेत् ।-अश्विनियोंके लिये दूध वाले वृक्षोंके अंकुर, भरणी नक्षत्रके लिये घी और शहद मिले हुये काले तिल

और १६ वें काण्डके सातवें और आठवें सूक्त तथा छठे काण्डके ४० वें सूक्तसे उपस्थान करके तन्त्रको समाप्त कर देव" (नक्षत्र-कल्प १२)॥

तत्र प्रथमा ॥

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥ १ ॥

चित्राणि । साकम् । दिवि । रोचनानि । सरीसृपाणि । भुवने । जवानि ।
तुर्मिशम् । सुऽमतिम् । इच्छमानः । अहानि । गीःऽभिः । सपर्यामि । नाकम् ॥ १ ॥

चित्राणि चायनीयानि नानावर्णानि वा दिवि द्योतमाने स्वर्गे साकम् सह रोचनानि रोचमानानि दीप्यमानानि। ॐ "अनुदात्ते-तश्च हलादेः" इति युच् प्रत्ययः ॐ। भुवने भुवर्लोके अन्तरिक्षे सरीसृपाणि पुनःपुनः सर्पन्ति। ॐ सृपेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच्। "न धातुलोप आर्धधातुके" इति लघूपधगुणाभावः ॐ। सरीसृपाणि इत्यनेन विलम्बगमनप्रतीत्ताबाह। जवानि शीघ्रगामीनि अनुक्षणम् आवर्तमानानि अहानि प्रत्यहम् एकैकनक्षत्रसद्भावाद् अहःशब्देन नक्षत्राण्युच्यन्ते। नाकम्। कम् सुखम् अकं दुःखम् न विद्यते अकं दुःखं यस्मिन् स नाकः स्वर्गः। ॐ "नभ्राण्नपात्०" इति नञो नलोपाभावेन निपातितः ॐ। नाकं स्वर्गलोकम् । आसितानि

इत्यध्याहारः । द्युलोकावस्थितानि नक्षत्राणि गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः मन्त्रकरणकैर्हविर्भिर्वा सपर्यामि । ❀ सपर्यतिः परिचरणकर्मा ❀ । परिचरामि । किमर्थं तद् आह तुमिंशाम् इति । तुर्वयो हिंसकाः हिंसाकारिणः तान् श्यति तनूकरोतीति तुमिंशा । ❀ तुर्वतेर्हिंसार्थाद् औणादिको मिप्रत्ययः । "लोपो व्योः०" इति वलोपः । शो तनूकरणे इत्यस्माद् "आतोऽनुपसर्गे कः" ❀ । यद्वा तुरो हिंसकान् मिषति स्पर्धते हन्तीति तुमिंशा । ❀ मिष स्पर्धायाम् इत्यस्माद् मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः । मूर्धन्यस्य तालव्योपजनश्छान्दसः । एवं विभज्युत्पत्तिदर्शनाद् अनवग्रहः ❀ । बाधकनिवारयित्रीं सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् इच्छमानः इच्छन् कामयमानः । ❀ "लक्षणहेत्वोः०" इति हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । दुःखनिवारकनक्षत्रानुग्रहबुद्ध्येषणाद्धेतोरित्यर्थः । एवम् अस्मिन् मन्त्रे सर्वाणि नक्षत्राणि संघशः प्रार्थितानि ॥

जो अनेक वर्ण वाले नक्षत्र दमकते हुए स्वर्गमें साथ २ दमकते रहते हैं, वे भुवर्लोकमें—अन्तरिक्षमें सरकते रहते हैं, प्रतिक्षण शीघ्रतासे चलते रहते हैं, मैं उन दुःखरहित स्थान स्वर्गमें स्थित नक्षत्रोंकी स्तुतिरूप वाणियोंसे वा मन्त्रोंके द्वारा प्रदान की जाने वाली हवियोंसे सेवा करता हूँ। इसका कारण यह है, कि मैं बाधाको दूर करने वाली उनकी अनुग्रहरूपा बुद्धिको चाहता हूँ [इस प्रकार इन मंत्रोंमें समूहरूपसे सब नक्षत्रोंकी प्रार्थना की है]१

अथ उत्तराभिश्चतसृभिः कृत्तिकादीनि नक्षत्राणि प्रत्येकं प्रार्थ्यन्ते ॥

अब अगली चार ऋचाओंसे कृत्तिका आदि प्रत्येक नक्षत्रकी प्रार्थना की जाती है, कि—

द्वितीया ॥

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे २

सुऽहवम् । अग्ने । कृत्तिकाः । रोहिणी । च । अस्तु । भद्रम् ।
मृगऽशिरः । शम् । आर्द्रा ।

पुनर्वसू इति पुनःऽवसू । सूनृता । चारु । पुष्यः । भानुः । आऽश्लेषाः । अयनम् । मघाः । मे ॥ २ ॥

हे अग्ने कृत्तिकाः। कृत्तिकानक्षत्रस्य आग्नेयत्वाद् अग्निः संबोध्यते । एवम् उत्तरेषां रोहिण्यादीनां नक्षत्राणां तत्तद्देवता भावनीया इति ज्ञापयितुं प्रथमम् अग्नेर्निर्देशः. तेजःप्रदेशोपाधिबहुत्वापेक्षया कृत्तिका इति बहुवचनम् । बहुप्रदेशाभिमानिनो नक्षत्रस्य ऐक्यात् सुहवम् अस्त्विति एकवचनम् । एवम् उत्तरेषु नक्षत्रेषु द्विवचनं बहुवचनं च प्रदेशोपाधिभेदाद् इत्यवगन्तव्यम् । कृत्तिकानक्षत्रं सुहवम् सुष्ठु आह्वातुम् अर्हम् अस्तु भवतु। स्वदोषांशं परित्यज्य अस्मदनुकूलं भवत्वित्यर्थः। रोहिणी रोहिणीनक्षत्रं च हे प्रजापतिदेवते सुहवम् अस्तु । मृगशिरः मृगस्य शिर इव प्रतीयमानम् एतत्संज्ञकं नक्षत्रम् हे सोम भद्रम् भन्दनीयं मङ्गलप्रदं भवतु । आर्द्रा नक्षत्रं रुद्रदेवत्यं शम् सुखकारि भवतु । पुनर्वसू एतत्संज्ञकम् अदितिदेवताकं सूनृता । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृतेत्युच्यते । सा भवतु । वाक्प्रदं भवत्वित्यर्थः । पुष्यस्तिष्यः बार्हस्पत्यः चारु श्रेयःप्रदम् । सर्वत्र अस्तु इति योज्यम् । आश्लेषाः सर्पदेवत्यं नक्षत्रं भानुर्दीप्तिः । ❀दाभाभ्यां नुः [उ० ३. ३२] इति नुः❀। दीप्तिप्रदम्। मघाः पितृदेवत्यम् एतत्संज्ञकं नक्षत्रं मे मम अयनम् गन्तव्य स्थानम् । भवत्वित्यर्थः ॥

हे अग्ने ! ‡ कृत्तिका नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो अर्थात् अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल हो । हे प्रजापति देव ! रोहिणी नक्षत्र भी सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो अर्थात् अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल हो । हे सोम ! मृगशिरा नक्षत्र भी सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो—अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल होवे और मंगलप्रद होवे । रुद्र देवता वाला आर्द्रा नक्षत्र भी सुख देने वाला हो । अदिति देवता वाला पुनर्वसु नक्षत्र प्रिय सत्यवाणीको प्रदान करने वाला हो । बृहस्पति देवता वाला पुष्य नक्षत्र कल्याणप्रद हो, सर्प देवता वाला अश्लेषा नक्षत्र दीप्तिप्रद हो, पितृदेवता वाला मघा नक्षत्र मेरा गन्तव्य हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु ।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्

पुण्यम् । पूर्वा । फल्गुन्यौ । च । अत्र । हस्तः । चित्रा । शिवा । स्वाति । सुऽखः । मे । अस्तु ।

राधे । विऽशाखे । सुऽहवा । अनुऽराधा । ज्येष्ठा । सुऽनक्षत्रम् । अरिष्ट । मूलम् ॥ ३ ॥

पूर्वा पूर्वे फल्गुन्यौ अर्यमदेवत्यम् एतत्संज्ञकं पुण्यम् अस्तु । अत्र

‡ कृत्तिका नक्षत्रके अग्निदैवत होनेसे यहाँ अग्निको सम्बोधित किया है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

अस्मिन् नक्षत्रगणे फल्गुन्यौ उत्तरे च भगदेवत्यम् एतन्नक्षत्रं च। पुण्यम् इति अनुषङ्गः। हस्तः सावित्रः पुण्यप्रदोऽस्तु। चित्रा ऐन्द्री शिवा मङ्गलकारिणी। स्वाती वायव्या मे मम सुखास्तु। राधे विशाखे इति पदद्वयं विशाखानक्षत्रवाचि। राधासंज्ञकं विशाखासंज्ञकं च एकं नक्षत्रम् ऐन्द्राग्नं सुहवेति सुहवं भवत्विति लिङ्गवचनविपरिणामेन योज्यम्। अनुराधा राधे अनु राधयोः पश्चाद्भावि एतन्नामकं मैत्रं नक्षत्रं सुहवा सुष्ठु आह्वातुम् अर्हा। ज्येष्ठा ऐन्द्री च सुहवा। विचृन्नक्षत्रस्य मूलसंज्ञां निर्वक्ति अरिष्टमूलम् इति। मूलम् इति नक्षत्रस्य रूढं नाम न भवति किं तु यौगिकम् सर्वेषाम् अरिष्टानां पादभेदेन पितृमातृस्वधननाशानां निदानम्। अरिष्टमूलम् इति वक्तव्ये मूलम् इति एकदेशेन व्यपदिशन्ति सत्यभामा भामेतिवत्। तादृशम् अरिष्टनिदानं मूलसंज्ञकं पितृदेवत्यं सुनक्षत्रम् शोभननक्षत्रं मम श्रेयःप्रदं भवतु ॥

अर्यमा देवता वाला पूर्वाफल्गुनीनक्षत्र पुण्यप्रद हो, भगदेवत्य उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र पुण्यप्रद हो, सविता देवता वाला हस्तनक्षत्र पुण्यप्रद हो, इन्द्र देवता वाला चित्रानक्षत्र मंगलप्रद हो, वायु देवता वाला स्वाती नक्षत्र मेरे लिये सुख देने वाला हो, इन्द्रदेवता वाला राधा और विशाखा नाम वाला एक नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो, मित्रदेवता वाला अनुराधा नामक नक्षत्र सुखपूर्वक आह्वान करने योग्य होवे। इन्द्रदेवता वाला ज्येष्ठा नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो, सब अरिष्टोंका कारण, पितृदेवता वाला मूल † नक्षत्र मुझे कल्याण देने वाला होवे ॥ ३ ॥

† 'मूल' यह नक्षत्रका रूढ नाम नहीं है किंतु यौगिक नाम है। सब ही अरिष्ट पादभेदसे पिता माता वा अपने धनके नाशके कारण होते हैं।

चतुर्थी ॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥ ४ ॥

अन्नम् । पूर्वा । रासताम् । मे । अषाढाः । ऊर्जम् । देवी । उत्ऽतराः । आ । वहन्तु ।
अभिऽजित् । मे । रासताम् । पुण्यम् । एव । श्रवणः । श्रविष्ठाः । कुर्वताम् । सुऽपुष्टिम् ॥ ४ ॥

पूर्वा अषाढाः । तेजःप्रदेशबहुत्वापेक्षया बहुवचनम् । पूर्वाषाढाः अब्देवत्याः मे मह्यम् अन्नम् अदनीयं भोग्यं रासताम् ददतु । ❀ रातेर्लोटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । बहुलग्रहणाद् अलेट्यपि "सिब्बहुलम्०"इति सिप् । "आत्मनेपदेष्वनतः"इति झस्य अदादेशः । यद्वा रासृ शब्दे । आत्मनेपदी । अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् अत्र रासतिर्दानार्थे । नक्षत्रविवक्षया एकवचनम् ❀ । देवी देव्यः । ❀ बहुवचनस्य एकवचनम् आदेशः ❀ । उत्तरा अषाढाः वैश्वदेव्यः ऊर्जम् बलकरम् अन्नम् अन्नरसम् आ वहन्तु अस्मदभिमुखं प्रापयन्तु । अभिजित् अभिजयसाधनं ब्रह्मदेवत्यं नक्षत्रं मे मम पुण्यमेव रासताम् प्रयच्छतु । ❀ पूर्ववद् रातेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । पूर्ववत् सिपात्मनेपदे । रासतेर्वा रूपम् ❀ । श्रवणः विष्णुदेवत्यः श्रविष्ठाः धनिष्ठा वासव्यश्च सुपुष्टिम् शोभनां पुष्टिं पशुपुत्रादिपोषं कुर्वताम् ॥

जल देवता वाला पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र मुझको भक्षण करने योग्य अन्न प्रदान करे। विश्वेदेवा देवता वाला उत्तराषाढ़ा नक्षत्र हमारे सामने बलप्रद अन्नरसको देवे। ब्रह्मदेवता वाला अभिजित् नक्षत्र मेरे लिये पुण्य देवे। विष्णुदेवता वाले श्रवण नक्षत्र और वसु देवता वाले धनिष्ठा नक्षत्र मुझे शोभन पुष्टि देवें—अर्थात् मेरे पशु पुत्र आदिको पुष्ट करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ मे॑ म॒हच्छ॒तभि॑ष॒ग् वरी॑य॒ आ मे॑ द्व॒या प्रोष्ठ॑पदा

सु॒शर्म॑ ।

आ रे॒वती॑ चाश्व॒युजौ॒ भगं॑ म॒ आ मे॑ र॒यिं भर॑ण्य॒ आ

व॑हन्तु ॥ ५ ॥

आ। मे। म॒हत्। श॒तऽभि॑षक्। वरी॑यः। आ। मे॒। द्व॒या। प्रोष्ठ॑ऽपदा। सु॒ऽशर्म॑।

आ। रे॒वती॑। च॒। अ॒श्व॒ऽयुजौ॑। भग॑म्। मे॒। आ। मे॒। र॒यिम्। भर॑ण्यः। आ। व॒ह॒न्तु ॥ ५ ॥

शतभिषक् शतविशाखा ऐन्द्री वरीयः उरुतरम्। ❀ "प्रियस्थिर०" इत्यादिना उरुशब्दस्य ईयसुनि वर् आदेशः ❀। उरुतरं फलं मे मम आ वहत् आवहतु। ❀ वहेर्लेटि अडागमः ❀। द्वया द्विप्रकारा। ❀ ङीपः स्थाने व्यत्ययेन टाप् प्रत्ययः ❀। प्रोष्ठपदा अजैकपाद्देवत्या पूर्वाभाद्रपदा अहिर्बुध्न्यदेवत्या उत्तराभाद्रपदा च सुशर्म शोभनं सुखं गृहं वा आ वहत् इति क्रियानुषङ्गः ॥ रेवती पौष्णी मे मम भगम् भाग्यम् आ वहतु। अश्व-

शुनौ अश्विदेवत्यौ आ वहताम् इति । भरण्यः याम्यो मे मम रयिम् धनम् आ वहन्तु प्रापयन्तु । द्वितीय आकारः पूरणः ॥

इति प्रथमेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

इन्द्र देवता वाला शतभिषक नक्षत्र मुझे महान् फल देवे। दो प्रकारकी प्रोष्ठपदा अर्थात् अजैकपाद् देवता वाला पूर्वा भाद्रपद और अहिर्बुध्न्य देवता वाला उत्तरा भाद्रपद हमें शोभन घर प्रदान करे, पूषा देवता वाला रेवती नक्षत्र मुझको सौभाग्य प्रदान करे, अश्विनीकुमार देवता वाला अश्वयुक् नक्षत्र मुझको भाग्य प्रदान करे। यम देवता वाला भरणी नक्षत्र मुझको धन प्रदान करे ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५८१)

"यानि नक्षत्राणि" इति सूक्तस्य नक्षत्रहोमे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

पूर्व-सूक्तके साथ "यानि नक्षत्राणि" सूक्तका विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥ १ ॥

यानि । नक्षत्राणि । दिवि । अन्तरिक्षे । अप्ऽसु । भूमौ । यानि । नगेषु । दिक्षु ।

प्रऽकल्पयन् । चन्द्रमाः । यानि । एति । सर्वाणि । मम । एतानि । शिवानि । सन्तु ॥ ४ ॥

दिवि द्युलोके अन्तरिक्षे मध्यमलोके अप्सु उदकेषु भूमौ पृथिव्यां नगेषु पर्वतेषु दिक्षु च यानि नक्षत्राणि दृश्यन्ते द्युलोके देवतात्मना अन्तरिक्षे तेजोमण्डलाकारेण अप्सु प्रतिबिम्बनेन । उदये च अस्तमयकाले च भूमिसमानदेशे पर्वतसमानप्रदेशे च प्रतीतेर्भूमिः पर्वताश्च अधिकरणत्वेन उच्यन्ते । दिक्षु प्रतीतिस्तु स्फुटा । चन्द्रमाः यानि नक्षत्राणि प्रकल्पयन् प्रकर्षेण कल्पयन् संभोगसमर्थानि कुर्वन् प्रोत्साहयन् एति प्राप्नोति एतानि सर्वाणि नक्षत्राणि मम शिवानि सुखकराणि सन्तु भवन्तु ॥

द्युलोकमें, मध्यम लोक अन्तरिक्षमें, जलमें, पृथिवीमें पर्वतोंमें और दिशाओंमें जो नक्षत्र दीखते हैं [अर्थात् द्युलोकमें देवतारूपसे, अन्तरिक्षमें तेजोमण्डलरूपसे और जलमें प्रतिबिम्बरूपसे, उदय और अस्तके समय भूमिके और पर्वतके समान देशमें और दिशाओंमें स्फुटरूपसे दीखते हैं] और चन्द्रमा जिन नक्षत्रोंको उत्साहित करता हुआ आता है वे नक्षत्र मुझको सुख देनेवाले होवें ।१।

द्वितीया ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ २ ॥

अष्टाऽविंशानि । शिवानि । शग्मानि । सह । योगम् । भजन्तु । मे ।
योगम् । प्र । पद्ये । क्षेमम् । च । क्षेमम् । प्र । पद्ये । योगम् । च । नमः । अहोरात्राभ्याम् । अस्तु ॥ २ ॥

अष्टाविंशानि प्रत्येकम् अष्टाविंशतेः संख्यायाः पूरणानीति

सर्वाणि अष्टाविंशानीत्युक्तम् । ॐ पूरणार्थे डट्प्रत्यये कृते "ति विंशतेर्डिति" इति तिशब्दस्य लोपः । "अष्टनः संख्यायाम्०" इति अष्टशब्दस्य आत्त्वम् ॐ । कृत्तिकेत्यादीनि भरणीत्यन्तानि शिवानि सुखदर्शनानि शग्मानि । सुखनामैतत् । सुखप्रदानि तानि सर्वाणि नक्षत्राणि मे मदर्थं मम फलं दातुम् । ॐ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ॐ । सहयोगम् सहभावम् ऐकमत्यं भजन्तु प्राप्नुवन्तु । नक्षत्राणां मदर्थं सहयोगादहं अहं योगम् । अलभ्यवस्तुप्राप्तिर्योगः । तं प्र पद्ये पूर्वम् अलब्धानि वस्तूनि नक्षत्रप्रसादाल्लभेय । क्षेमम् । लब्धवस्तुपरिपालनं क्षेमः । तं च प्र पद्ये । क्षेमस्य अन्वाचयशिष्टत्वेन अप्राधान्यशङ्कां वारयितुं तत्प्राधान्येन पुनराह क्षेमं प्र पद्ये योगं चेति । अनेन योगक्षेमयोः प्राधान्यम् । अहनि रात्रौ च नक्षत्राणां संचरणात् तयोरानुकूल्यकरणं नमोहोरात्राभ्याम् अस्त्विति । ॐ अहश्च रात्रिश्च । "अहःसर्वैकदेश०" इति अच् समासान्तः ॐ । ताभ्यां नमः नमस्कारोस्तु ॥

कृत्तिकासे लेकर भरणी तकके सुखप्रद सुखदर्शन जो अट्ठाईस नक्षत्र हैं वे मुझको फल देनेके लिये एकमत होजावें, नक्षत्रों का मेरे लिये सहयोग होनेसे मैं अलभ्य वस्तुकी प्राप्तिके योगको प्राप्त करूँ और प्राप्त हुई वस्तुके पालनरूप क्षेमको प्राप्त करूँ, मैं योग क्षेमको प्राप्त करूँ, दिन और रात्रिके लिये प्रणाम प्राप्त हो

तृतीया ॥

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।

सुहवमग्ने स्वस्त्य१मर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ३

स्वस्तितम् । मे । सुऽप्रातः । सुऽसायम् । सुऽदिवम् । सुऽमृगम् । सुऽशकुनम् । मे । अस्तु ।

सुऽहवम् । अग्ने । स्वस्ति । अमर्त्यम् । गत्वा । पुनः । आय । अभिऽनन्दन् ॥ ३ ॥

पूर्वमन्त्रे योगक्षेमप्रपदनं प्रार्थितं तद्द विशिनष्टि । मे मम तत् वक्ष्यमाणं स्वस्ति इत्यविनाशिनाम । अविनश्वरं सत् फलं भवतु । सुप्रातः प्रातःकालः शोभनः सुखो भवतु । ❀ प्रातरादिशब्दैः सह सुशब्दः समृद्ध्यर्थे समस्यते । स समासः अव्ययीभावः ❀। प्रातःकालाः सुकारित्वेन समृद्धा भवन्तु । सुसायम् सायंकाला अपि सुखाः समृद्धाः । सुदिनम् दिनशब्दः अहोरात्रपरः सुखानि अहानि सुखा रात्रयश्च । सुमृगम् मृगा हरिणादयः अर्थार्थम् अनुकूले नक्षत्रे गच्छतो मम भाविफलसूचकत्वेन अनुकूलगतिचेष्टायुक्ता भवन्तु । एवं सुशकुनम् शकुनाः काकादयः स्वरगतिचेष्टादिभिः अनुकूला मे सन्तु । एवं नक्षत्राणि संप्रार्थ्य नक्षत्राधिदेवताः प्रार्थयते । हे अग्ने । कृत्तिकानक्षत्रदेवताऽग्निः तदुपलक्षिताः सर्वनक्षत्रदेवता यूयं सुहवम् सुष्ठु आह्वातुमर्हम् अमर्त्यम् अमरणधर्माणम् अविनश्वरं द्युलोकं स्वस्ति क्षेमेण गत्वा अभिनन्दन् हविःप्रदातॄन् अभिलक्ष्य हृष्यन् आय आगच्छ । ❀प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ ॥ केवलोऽग्निरेव वा संबोध्यते । हे अग्ने सुहवम् सुष्ठु हविः तत्तद्देवतार्हं हविः अमर्त्यम् अमरणधर्मकं तत्तन्नक्षत्रदेवतासंघं स्वस्ति क्षेमेण गत्वा । ❀ अन्तर्णीतण्यर्थः ❀ । गमयित्वा पुनः अस्मान् अभिनन्दन् आय आगच्छ । ❀ इ गतौ । भौवादिकः । आङ्पूर्वस्य लोटि हौ रूपम् ❀ ।

सुन्दर प्रातःकाल मुझको सुख देने वाला हो, सुन्दर सायंकाल मुझको क्षेम देने वाला हो, दिन और रात्रि मुझको सुखप्रद होवें, प्रयोजनके अनुकूल नक्षत्रमें जाते हुए मुझे भाविफलकी सूचना देनेके लिये हरिण आदि मेरे अनुकूल गति और

चेष्टा करने वाले हों। हे अग्ने! आप सुन्दर हविको हविके पात्र नक्षत्रदेवताओंको प्राप्त करा कर हमको अभिनन्दन देते हुए फिर आइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव ॥ ४ ॥

अनुऽहवम् । परिऽहवम् । परिऽवादम् । परिऽक्षवम् ।
सर्वैः । मे । रिक्तऽकुम्भान् । परा । तान् । सवितः । सुव ॥४॥

अनुकूले नक्षत्रे धनार्थं गच्छतः पुरुषस्य भाविकार्यप्रतिबन्धकानि पश्चादाह्वानादीनि दुर्निमित्तानि। तेषां निवारणम् आशास्ते। अनुहवम् पुरो गच्छतः पुरुषस्य नाम गृहीत्वा पश्चाद्भागावस्थायिना पुरुषेण आह्वानम् अनुहवः। परितः पार्श्वद्वये आह्वानं परिहवः। परुषभाषणं परिवादः। परितः सर्वतः क्षवः क्षुतं परिक्षवः। अथ वा वर्जनार्थे परिशब्दः। वर्जिते वर्जिते प्रदेशे पुरोभागलक्षणे क्षुतं क्षवः परिक्षवः। रिक्तकुम्भाः शून्यकलशाः। तान् उक्तान् अनुहवादीन् दुर्निमित्तदोषान् मे मम कार्यार्थं गच्छतो मम हे सवितः सर्वस्य प्रसवितः अनुज्ञातर्देव सर्वैः नक्षत्रदेवैः सहितः सन् परासुवः पराकुरु। ❀ षू प्रेरणे। तौदादिकः ❀ ॥

[अनुकूल नक्षत्रमें धनके लिये जानेवाले पुरुषके भावी कार्य को रोकने वाले पीछेसे बुलाना आदि दुर्निमित्त होते हैं, अब उनके निवारणकी प्रार्थना करते हैं, कि—] हे सविता देव! आप सकल नक्षत्रोंको साथमें लेकर अनुहव (आगेको चलते हुए पुरुष का पीछेके पुरुषके द्वारा नाम कर लेकर बुलाया जाना), को परिहव (दोनों पार्श्वोंसे आह्वान) को, कठोर भाषणको, वर्जित

स्थलकी वा चारों ओरकी छींकको और खाली घड़े आदि दुर्निमित्तोंको हमसे दूर करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ५

अपऽपापम् । परिऽक्षवम् । पुण्यम् । भक्षीमहि । क्षवम् ।

शिवा । ते । पाप । नासिकाम् । पुण्यऽगः । च । अभि । मेहताम्

अत्रापि दुर्निमित्तदोषपरिहार आशास्यते । पापं पापावहम् अहितनिमित्तं परिक्षवम् कष्टप्रदेशे क्षुतम् अप । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अपगमयेम । न केवलम् अहितनिवारणं किं तु क्षवम् दुर्निमित्तरूपं क्षुतं पुण्यम् श्रेयस्करं भक्षीमहि लप्सीमहि । ❀भज सेवायाम् । आशीर्लिङि कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ ॥ उत्तरार्धम् ऋत्विग्वचनम् । धनार्थं प्रयास्यतः पुरुषस्य पथि शिवागमनं शिवादर्शनं तद्ध्वनिश्रवणं नपुंसकदर्शनं च निषिद्धम् । तत्परिहारायाह । हे पुरुष शिवा । क्रोष्टुनामैतत् । नियतं स्त्रीलिङ्गम् । विरुद्धं शब्दायमानापि शिवा ते तव गच्छतः पापनाशिका दुर्निमित्तदोषनिवारिका भवतु । तथा पण्डकः नपुंसकः पुरुषश्च अभिमेहताम् प्रोत्साहयतु । स्वदर्शनास्पर्शनादिदोषं परिहार्य स्वत्कार्यसिद्ध्यनुकूलो भवतु । ❀ मेहृ संगमे । भौवादिकः ❀ । अभिमेथनं नाम प्रोत्साहनम् इति आपस्तम्बेनोक्तम् । "पत्नयोभिमेथन्ते" इति [आप० २३. १८] ॥

[इस ऋचामें भी दुर्निमित्तके दोषोंके परिहारकी प्रार्थना की है, कि—] पापप्रद अहितकारी दुःस्थानकी छींकको हम दूर करें, और छींकको पुण्यरूपमें प्राप्त करें [ऋत्विज कहता है, कि—]

घनके लिये जाने वाले पुरुषको मार्गमें गीदड़ीका आना दीखना वा शब्द सुनाई देना अथवा नपुंसकका दर्शन निषिद्ध है उसका परिहार करते हुए कहते हैं, कि-विरुद्ध शब्द करती हुई गीदड़ी भी पापनाशिका अर्थात् दुर्निमित्त दोषकी निवारिका होवे तथा षण्ढ पुरुष भी तुझको उत्साहित करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।

सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

इमाः । याः । ब्रह्मणः । पते । विषूचीः । वातः । ईरते ।

सध्रीचीः । इन्द्र । ताः । कृत्वा । मह्यम् । शिवऽतमाः कृधि ॥६॥

हे ब्रह्मणस्पते । उत्तरार्धे इन्द्रेति निर्देशात् तस्य विशेषणम् एतत् । ब्रह्मणः मन्त्रसंघस्य पते स्वामिन् सर्वमन्त्रप्रतिपाद्य इन्द्र इमाः परिदृश्यमाना याः प्राच्यादिदिशः । कर्म । वातः वात्यारूपो वायुः विषूचीः विष्वगञ्चना ईरते ईर्ते । यथा प्राच्यादिदिग्विभागो न भवति तथा परिभ्रमयतीत्यर्थः । प्राची वा प्रतीचीवत् प्रतीयते प्रतीची वा प्राचीवत् प्रतीयते अन्यदिगात्मना वा प्रतीयते तथा व्यामोहयतीति यावत् । महावाते वाति एवं भवतीति प्रसिद्धिः । ❀ विषूचीरिति । विषुशब्दोपपदाद् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घः । ईर गतौ । अदादिकोनुदात्तेत् । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः ❀ । हे इन्द्र ता विषूचीर्दिशः सध्रीचीः सहाञ्चना यथास्थितप्रदेशावस्थायिनीः कृत्वा मह्यं मदर्थं शिवतमाः अत्यर्थं सुखकारिणीः कृधि कुरु । ❀ सहपूर्वाद् अञ्चतेः क्विनि "सहस्य सध्रिः" इति सध्र्यादेशः ❀ ॥

हे बड़े २ मन्त्रोंसे प्रतिपाद्य इन्द्र ! जिन पूर्व आदि दिशाओं को अंधड़ वायु चल कर चारों ओर घूमती हुईसी कर देता है अर्थात् अधिक वायुके चलने पर दिशाओंका ज्ञान नहीं रहता है। ऐसी दिशाओंको आप यथायोग्य प्रदेश पर स्थित होने वाली बनाकर मेरे लिये परम कल्याणकारिणी बनाइये ॥ ६ ॥

सप्तमो मन्त्रो यजूरूपः पठ्यते ॥

स्वस्ति नो॑ अस्त्वभ॑यं नो अस्तु नमो॑होरात्राभ्या॑मस्तु

स्वस्ति । नः । अस्तु । अभयम् । नः । अस्तु । नमः । अहोरा- त्राभ्याम् । अस्तु ॥ ७ ॥

नः अस्माकम् । स्वस्ति इत्यविनाशिनाम । तद् अस्तु । अभयम् भयराहित्यं च नः अस्माकम् अस्तु । भयादिकं तु अहनि रात्रौ वा संभवतीति तत्परिहारायाह । नमोहोरात्राभ्याम् अह्ने रात्रये च नमः नमस्कारोस्तु ॥

इति प्रथमेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हमारे लिये स्वस्ति हो, अभय हमारा हो (भय आदिक रात्रि वा दिनमें होता है अत एव) दिन और रात्रिके लिये प्रणाम प्राप्त हो ७

प्रथम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५५२)

प्रत्यहं कर्तव्ये राज्ञो वासगृहप्रापणकर्मणि शर्कराप्रक्षेपानन्तरं "शान्ता द्यौः" इति शान्तिसूक्तं जपेत् । "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "अयायुषम् [५. २८. ७] इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् [१९.१६] इति शर्करा अभिमन्त्र्य अङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत् । शान्ता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्" इति [प० ४. ५] ॥

पितृरात्रिकल्पेपीदं शान्तिसूक्तं विनियुक्तम् [प० ६. ५] ॥

अस्य सूक्तस्य शान्तिप्रतिपादकत्वेन शान्तिगणे पाठाद् "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८] ऐरावत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

राजाको घर पहुँचानेके प्रतिदिन करने योग्य कर्ममें शर्कराप्रक्षेपके अनन्तर "शान्ता द्यौः" इस शान्तिसूक्तको जपे। "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिं अनुक्रमिष्यामः।–अब रात्रिसूक्तोंकी विधिको कहते हैं" कह कर परिशिष्टमें कहा है, कि–"त्र्यायुषं (५।२८।७) इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नं (१९ । १६) इति शर्करा अभिमन्त्र्य अङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्। शांता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्। त्र्यायुषम् जमदग्ने (इस पञ्चमकाण्डके अट्ठाईसवें सूक्तके सप्तम मन्त्रसे राजाके लिये रक्षा करके असपत्नम् (इस उन्नीसवें काण्डके सोलहवें सूक्त) से शर्कराओंको अभिमन्त्रित करके अँगूठेसे प्रदक्षिण प्रतिदिशाकी ओर फेंके। और शान्ता द्यौःका जप करके राजाको निवासस्थानमें लेजावे" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) ॥

अथर्वपरिशिष्ट ६ । ५ में कहा है, कि–पिष्ट रात्रिकल्पमें भी इस शान्तिसूक्तका विनियोग होता है।

शान्तिका प्रतिपादक होनेसे इस सूक्तका शान्तिगणमें पाठ है, अतएव "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्।-आयुष्यगण शांतिगण और स्वस्तिगणका ऐरावती शान्तिमें प्रयोग होता है" इस नक्षत्रकल्प १८ से विहित ऐरावती शान्तिमें तथा अन्य शान्तियोंमें इसका विनियोग होसकता है।

तत्र प्रथमा ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

शान्ता । द्यौः । शान्ता । पृथिवी । शान्तम् । इदम् । उरु । अन्तरिक्षम् ।

शान्ताः । उदन्वतीः । आपः । शान्ताः । नः । सन्तु । ओषधीः १

अस्मिन् सूक्ते सर्वतः शान्तिः प्रतिपाद्यते "या तेनोच्यते सा देवता" इति न्यायात् शान्तिरेव देवता । शान्तिर्नाम अनिष्टपरिहारेण सुखकारिरूपता । अतोऽत्र शान्तिकारिणः पदार्थविशेषान् आह शान्ता द्यौः इत्यादिना । द्यौः द्युलोकः शान्तास्तु । ❁ शमु उपशमे । कर्तरि क्तप्रत्ययः ❁ । दोषाणां शमयित्री स्वनिबन्धनोपद्रवशमनेन अस्य सुखकारिण्यस्त्वित्यर्थः । एवम् उत्तरत्रापि । पृथिवी प्रथिता भूमिः शान्तास्तु । इदं परिदृश्यमानम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमलोकः । उदन्वतीः उदन्वान् उदकवान् उदधिः । ❁ "उदन्वान् उदधौ च" इति उदकशब्दाद् मतुपि उदन्भावो निपात्यते । "तत्र भवः" इति भवार्थे अण् । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति आदिवृद्धेरभावः । कार्ये वा कारणशब्दः । "वा छन्दसि" इति यणादेशाभावे पूर्वसवर्णदीर्घः ❁ । ता आपः शान्ताः सन्तु ओषधीः ओषः पाको धीयते आस्विति ओषध्यः । ता नः शान्ताः सन्तु ॥

[इस सूक्तमें चारों ओरसे शान्ति पानेका वर्णन किया गया है । "या तेनोच्यते सा देवता।—जो उस मन्त्र—सूक्त आदिसे कहा जाय वह उसका देवता होता है" इस न्यायसे इस सूक्तका शान्ति ही देवता है । अनिष्टको दूर करके सुखकारिरूपता ही शान्ति है, अत एव यहाँ शान्तिप्रद पदार्थोंका वर्णन करते हैं, कि-] द्युलोक अपने कारणसे होने वाले दोषोंको शांत करता हुआ हमारे लिये सुख देने वाला हो पृथिवीलोक शान्तिप्रद हो, यह विशाल अन्तरिक्ष लोक हमारे लिये शान्तिप्रद हो, यह समुद्रमें होने वाले जल हमको शान्ति देवें और यह औषधियें हमारे लिये शान्तिप्रद होवें १

द्वितीया ॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

शान्तानि । पूर्वऽरूपाणि । शान्तम् । नः । अस्तु । कृतऽअकृतम् ।
शान्तम् । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु ।
नः ॥ २ ॥

पूर्वरूपाणि कार्यापेक्षया पूर्वरूपाणि कारणावस्थापन्नानि वस्तूनि कृताकृतम् कृतं कार्यजातम् अकृतम् अनिष्पन्नं नित्यं मे मदर्थं शान्तानि यद्वा मदीयानि पूर्वरूपाणि पूर्वाणि रूपाणि दुष्कृतफलभूतानि प्राक्तनानि जन्मानि शान्तानि सन्तु । पूर्वेषु जन्मसु तत्तत्कर्मणो भोगादेव तत्कृतानिष्टाभावः अतः किमिति एषां शान्तित्वशासनम् इति । नैष दोषः । प्राक्तनजन्मापादकस्य कर्मणोऽभावेपि तत्तज्जन्मकृतदुष्कृतकर्मण उत्तरत्र तिर्यगादिजन्मप्रापकत्वे तत्परिहाराय तच्छान्तिराशास्या । तथा मे मदीयं कृताकृतम् । इह कृतशब्देन सम्यग् अनुष्ठितं कर्म न विवक्ष्यते किं तु विरुद्धम् आचरितम् अकृतम् अननुष्ठितं स्वाश्रमविहितं कर्म नित्यनैमित्तिकरूपम् । तद् उभयं शान्तम् अस्तु । ❀ "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" इति कृतशब्दः अकृतेन समस्यते ❀ । विरुद्धाचरणविहितानाचरणयोः पतनहेतुत्वं स्मर्यते

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनम् ऋच्छति ॥

इति ॥ भूतम् उत्पन्नं भव्यम् भविष्यत् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तद् उभयं शान्तम् । किं बहुना । सर्वम् कालत्रयाव-

च्छिन्नम् उक्तम् अनुक्तं च सर्वं नः अस्माकं शम् दोषशमयितृ सुखमेव भवतु ॥

कार्यकी अपेक्षा कारण दशामें स्थित पदार्थरूप पूर्वरूप मुझे शान्ति देने वाले होवें, कार्यसमूह और न बन सका कार्य मेरे लिये शान्तिप्रद होवे, वा मेरे पापके फलरूप मेरे पूर्वजन्मके पूर्वरूप अर्थात् कर्म शान्त होजावें [यहाँ शंका होसकती है, कि—पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके भोगनेके बाद ही उनसे होने वाले अनिष्टोंका अभाव होसकता है अत एव शान्तिकी प्रार्थना करने से क्या लाभ है, तो कहते हैं, कि–यह दोष नहीं है। पूर्व जन्मके किसी कर्मके इस समय फलोन्मुख न होने पर भी उन जन्मोंमें किये हुए पापकर्मोंसे भविष्यमें तिर्यक् आदि योनिकी प्राप्ति न हो अत एव शान्तिकी प्रार्थना की आवश्यकता है] तथा मेरा किया हुआ दुष्कर्म और आश्रमके लिये न किया हुआ नित्य नैमित्तिक आदि कर्म शान्त हो। [क्योंकि–विरुद्धाचरण और विहित कर्मके अनाचरणको पतनका हेतु माना है, यथा—"विहितस्याननुष्ठानाद्ध निन्दितस्य च सेवनात् । अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ शास्त्रमें विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे और निंदित कर्मका सेवन करनेसे और इन्द्रियोंका दमन न करनेसे"] मनुष्य पतनको प्राप्त होजाता है भूत और भविष्यत् का कर्म दोषको शान्त करता हुआ हमको शान्ति देने वाला हो अधिक क्या ? तीनों समयका उक्त अनुक्त सब कर्म दोषको शान्त रखता हुआ हमको सुख देने वाला ही होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इ॒यं या प॑रमे॒ष्ठिनी॒ वाग् दे॒वी ब्रह्म॑संशिता ।
यये॒व स॑सृ॒जे घो॒रं तयै॒व शान्ति॑रस्तु नः ॥ ३ ॥

इयम् । या । परमेऽस्थिनी । वाक् । देवी । ब्रह्मऽसंशिता ।

यया । एव । ससृजे । घोरम् । तया । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ३

परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठिनी परमेष्ठिनो ब्रह्मणः पत्नी वा । ❀ "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् ❀ । ब्रह्मसंशिता ब्रह्मभिर्मन्त्रैः सम्यग् उत्तेजिता सकलवैदिकवाक्यप्रतिपादितस्वरूपा इयं विद्वद्भिः स्वात्मभूतेन सम्यग् अनुभूयमाना या वाग्देवी वर्तते ययैव वाग्देव्या घोरम् परेषाम् अरुन्तुदं वचः शापादिरूपं ससृजे सृष्टम् उच्चरितं तयैव वाचा नः अस्मदर्थं शान्तिरस्तु वाचा सृष्टस्य घोरकर्मणः शान्तिर्भवतु । यद् वाचा अनर्थजातम् उत्पन्नं तदेव स्वकृतम् अनर्थं परिहरत्वित्यर्थः । एवम् उत्तरयोर्मन्त्रयोरपि योज्यम् ॥

परमस्थानमें रहने वाले परमेष्ठी वा ब्रह्मकी पत्नी, मन्त्रोंसे भली प्रकार उत्तेजित, और जिसके स्वरूपका सकल वैदिक वाक्योंने प्रतिपादन किया है ऐसी यह विद्वानोंके द्वारा भली प्रकार अनुभूत जो वाग्देवी है, कि-जिसके द्वारा दूसरोंको, मर्मको कष्ट पहुँचाने वाला शाप आदिरूप वचन उच्चरित हुआ है, उसी वाणीके द्वारा हमारे लिये शान्ति प्राप्त हो अर्थात् वाणीके द्वारा रचे हुए घोर कर्मकी शांति हो तात्पर्य यह है, कि-जिस वाणीसे अनर्थ प्रकट हुआ है वही अपने अनर्थको दूर करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

इदम् । यत् । परमेऽस्थिनम् । मनः । वाम् । ब्रह्मऽसंशितम् ।

येन । एव । ससृजे । घोरम् । तेन । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ॥४

परमेष्ठिनम् परमे उत्कृष्टे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । तेन सृष्टम् "तदसदेव सन्मनोकुरुत स्याम् इति" [तै० ब्रा० २. २. ६. १] इति सृष्ट्यादौ मनःसृष्टिरुक्ता । ॐआदिवृद्ध्यभावश्छान्दसःॐ । ब्रह्मसंशितम् ब्रह्मणा मन्त्रविषये तीक्ष्णीकृतम् इदं सर्वजगन्मूलकारणं यत् मनः विद्यते येनैव मनसा घोरं कर्म ससृजे तेनैव मनसा नः अस्मदर्थं मनःसृष्टस्य घोरकर्मणः शान्तिरस्तु ॥

जो परमेष्ठीका रचा हुआ, मन्त्रोंके लिये तीक्ष्ण किया हुआ इस सब जगत्का मूल-कारण मन है, कि-जिससे घोर कर्मकी सृष्टि हुई है उस ही मनके द्वारा हमारे लिये रचे हुए घोरकर्मकी शान्ति हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

इमानि । यानि । पञ्च । इन्द्रियाणि । मनःऽषष्ठानि । मे । हृदि । ब्रह्मणा । सम्ऽशितानि ।
यैः । एव । ससृजे । घोरम् । तैः । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ५

मनः षष्ठं येषां तानि । पूर्वमन्त्रे मनसः पृथगुक्तावपि चक्षुरादिसर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयज्ञाने मनःसाहाय्यस्य अवश्यम् अपेक्षणीयत्वाद् अत्रापि मनस उपादानम् । मनःसहितानि इमानि यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मे हृदि हृदयप्रदेशे वर्तन्ते । हृदयं हि आत्मनिवासस्थानम् । सुषुप्तिकाले स्वस्वकारणरहितानि सर्वेन्द्रि-

याणि आत्मनि लीयन्त इति हृदीत्युक्तम् । इन्द्रियाणि विशिनष्टि । ब्रह्मणा चेतनेन आत्मना नियन्त्रा संशितानि स्वस्वविषयेषु व्यापारितानि । विषयप्रवणत्वमेव संशितत्वम् । यैरेव इन्द्रियैः घोरं पापावहं कर्म ससृजे सृष्टं तैरेव इंद्रियैः सृष्टस्य घोरकर्मणो नः अस्मदर्थं शान्तिः शमनम् अस्तु ॥

[यद्यपि पहिले मन्त्र मेंमनकावर्णन कर दिया है,तथापि चक्षु आदि सब इन्द्रियोंको अपने२ विषयके ज्ञानमें मनकी सहायताकी अवश्य ही आवश्यकता होती है, अत एव इस मन्त्रमें भी मनका उल्लेख किया है, कि—] चेतन आत्माके द्वारा अपने २ व्यापारमें प्रवृत्त रहने वाली मन सहित जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियें मेरे हृदयमें † रहती हैं ऐसी जिन इंद्रियोंसे मैंने घोर कर्म किया था उन ही इंद्रियोंके द्वारा रचे हुए घोर कर्मकी हमारे लिये शान्ति हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा ॥ ६ ॥

शम् । नः । मित्रः । शम् । वरुणः । शम् । विष्णुः । शम् । प्रजाऽपतिः ।

शम् । नः । इन्द्रः । बृहस्पतिः । शम् । नः । भवतु । अर्यमा ६

मित्रः सूर्यः अहरभिमानी । वरुणः रात्र्यभिमानी । विष्णुः व्यापको देवः । प्रजापतिः प्रकर्षेण जायमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादयः प्रजाः तासां पतिः पालकः । इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नः । बृहस्पतिः

† हृदय ही आत्माके निवासका स्थान है । सुषुप्तिके समय अपने २ कारणसे रहित सब इंद्रियें आत्मामें लीन होजाती हैं अत एव यहाँ हृदयमें रहनेका वर्णन है ।

बृहतां देवानां पति हितकारित्वेन पालकः । अर्यमा । ❀ अर्तेः धातोः अर्यमन्शब्दो निपातितः ❀ । मित्रादयः अर्यमान्ता सर्वे देवा नः अस्माकं शम् शान्त्यै भवन्तु । वाक्यभेदात् शम् इति पदस्य प्रतिवाक्यं प्रयोगः ॥

दिनके अभिमानी मित्र अर्थात् सूर्यदेवता, रात्रिके अभिमानी-वरुण, व्यापक विष्णुदेव, प्रकृष्टतासे होने वाली देव तिर्यक् और मनुष्यरूप प्रजाके पालक प्रजापति, परमैश्वर्यसम्पन्न इंद्रदेव, बृहस्पति तथा अर्यमा ये सब देवता हमें शान्ति प्रदान करें ६

सप्तमी ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शं वि॒वस्वां॒छमन्त॑कः ।

उ॒त्पा॒ताः पार्थि॑वान्तरि॒क्षाः शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्रहाः॑ ७

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । वि॒वस्वा॑न् । शम् । अन्त॑कः ।

उ॒त्ऽपा॒ताः । पार्थि॑वाः । अ॒न्तरि॑क्षाः । शम् । नः॒ । दि॒वि॒ऽच॑राः । ग्रहाः॑ ॥ ७ ॥

मित्रवरुणौ व्याख्यातौ । विवस्वान् विवासयति अपगमयति तम इति विवस्वान् । ❀ विपूर्वाद् वसेर्वसुः । यद्वा धनस्य नाम विव इति । तद् अस्यास्तीति मतुप् । "मादुपधायाः०" इति वत्वम् ❀ । अन्तकः सर्वेषां प्राणिनाम् अन्तम् अवसानं करोतीति अन्तकः । ❀ अन्तोपपदात् करोतेः "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डः ❀ । पार्थिवाः पृथिव्यां भवाः आंतरिक्षाः अंतरिक्षे मध्यमलोके भवा उत्पाताः । शं भवन्तु इति शेषः दिविचराः दिवि द्युलोके चराः संचरंतो ग्रहाः कालचक्रवशात् परिभ्राम्यन्तः

अङ्गारकाद्याः । मित्रादयः सर्वेऽपि नः अस्माकं शम् दोष शमकाः सुखकरा भवंतु ॥

मित्र देवता हमारा कल्याण करें, वरुण देवता हमारा कल्याण करें, अंधकारको दूर करने वाले विवस्वान् देवता हमारा कल्याण करें, सब प्राणियोंका अवसान करने वाले अन्तकदेव हमें सुख दें। पृथिवीमें होने वाले और मध्यमलोक अन्तरिक्षमें होने वाले उत्पात अपने दोषको दूर करना रूप शान्तिको प्रदान करें। द्युलोकमें विचरण करने वाले अंगारक—मंगल आदि ग्रह हमारे दोषको शान्त कर हमें सुखप्रद होवें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत् ।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥ ८ ॥

शम् । नः । भूमिः । वेप्यमाना । शम् । उल्का । निःऽहतम् । च । यत् ।

शम् । गावः । लोहितऽक्षीराः । शम् । भूमिः । अव । तीर्यतीः ॥ ८

पार्थिवान् आन्तरिक्षांश्च उत्पातान् आह । वेप्यमाना कम्पमाना । ❀ व्यत्ययेन कर्तरि श्यन् प्रत्ययः ❀ । यद्वा प्राणिसंहारककालेन वेप्यमाना कम्प्यमाना । ❀ कर्मणि "सार्वधातुके यक्" इति यक् प्रत्ययः ❀ । सा भूमिः नः अस्माकं शम् शान्त्यै कम्पदोषपरिहाराय भवतु । तथा उल्कानिहतम् उल्काभिः आयतज्वालारूपेण पतन्तीभिर्बाधितं दग्धं यद् विद्यते तच्च शम् अस्तु । लोहितक्षीराः लोहितमेव क्षीरं यासां ताः लोहितदोग्ध्र्यो गावश्च शम् दोषनिर्हारिका भवन्तु । अवतीर्यती अवदीर्यमाणा । ❀ द

निदारणे। "अन इद्धासोः" इति ह्रस्वम्। "हलि च" इति दीर्घः। व्यत्ययेन लटः शत्रादेशः। अवदीर्यमाणा द्विधा भवन्ती भूमिश्च शं भवतु। भूमिः कम्पनविदरणादोषजनितम् अनर्थं शमयतु। अन्तरिक्षम् उल्काभिहननजनितं दुरितं गावो लोहितदोहनजं शमयन्तु इति॥

[अब पार्थिव और आन्तरिक्ष उत्पातोंका वर्णन करते हैं, कि—] भूमिकम्पके समय काँपती हुई या प्राणिसंहारके समय कँपाई जाती हुई भूमि हमारे लिये शान्तिप्रद हो अर्थात् कम्पके दोषको दूर करने वाली हो, और लम्बे ज्वालारूपसे गिरती हुई उल्काओंसे बाधित जो स्थान है वह भी सुखप्रद हो और क्षीरके स्थानमें रक्त देने वाली गौएँ भी हमारे लिये सुखप्रद हों, दो टूक होती हुई पृथिवी भी कल्याणमयी हो अर्थात् कम्पन और विदरणके दोषसे होने वाले अनर्थको शान्त करे॥ ८॥

नवमी॥

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।

शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु॥ ९॥

नक्षत्रम्। उल्का। अभिऽहतम्। शम्। अस्तु। नः। शम्। नः। अभिऽचाराः। शम्। ऊं इति। सन्तु। कृत्याः।

शम्। नः। निऽखाताः। वल्गाः। शम्। उल्काः। देशोपऽसर्गाः। शम्। ऊं इति। नः। भवन्तु॥ ९॥

उल्काभिहतम् समन्ताद् आकाशात् पतन्तीभिरायतज्वालाभिरुपसृतं नक्षत्रम् । अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि । ❀ अभिपूर्वाच्चरतेः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ् प्रत्ययः ❀ । उशब्दः अप्यर्थे । कृत्याः अभिचारकर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः । अभिचारकर्माणि जडत्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपम् आगत्य न निघ्नन्ति किं तु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति । तेभिचारास्ताः पिशाच्यश्च शम् उपद्रवशमनाय भवन्तु । ❀ "कृञः श च" इति स्त्रियां करोतेः क्यप् प्रत्ययः । "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक् ❀ । तथा निखाताः भूमावप्रकाशं निगूहिता वलगाः । वलगाः पीडार्थं भूमेरधो बाहुप्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते । तथा च तैत्तिरीयके "रक्षोहणो वलगहनः" इत्यत्र समाम्नायते । "असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन् । तान् बाहुमात्रेन्वविन्दन् । तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते" इति [तै० सं० ६. २. ११. १] । तेपि वलगा नः अस्माकं शम् भवन्तु । उल्काः आकाशान्निष्पतन्त्य आयतज्वालाः । उल्कादर्शनम् अनर्थकारि । उल्काः स्वदर्शनजनितं दुरितं शमयन्तु । देशोपसर्गाः देशे जनपदे उपसर्गा ईतिबाधाः । उशब्दश्चार्थे । तेपि शम् शान्ता भवन्तु ॥

आकाशसे गिरती हुई उल्काओंसे ताड़ित नक्षत्र हमारे लिये शान्तिप्रद हों, शत्रुओंके द्वारा किये हुए अभिचार अर्थात् मारण कर्म हमें सुख देने वाले हों, कृत्या अर्थात् अभिचार कर्मोंसे उत्पादित पिशाचनियें भी हमारे उपद्रवको शान्त करनेवाली होवें। भूमिको हाथ भर खोद कर, अस्थि केश आदि लपेट कर विषवृक्ष आदिकी बनाई हुई पुतलियें (वलग) हमारे लिये शान्ति-

मद हों † और उल्का अपने दर्शनसे प्राप्त होने वाले दुरितको शान्त करें। देशकी बाधायें भी शान्त होजावें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।

शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥

शम् । नः । ग्रहाः । चान्द्रमसाः । शम् । आदित्यः । च । राहुणा ।

शम् । नः । मृत्युः । धूमऽकेतुः । शम् । रुद्राः । तिग्मऽतेजसः ॥१०

चान्द्रमसाः चन्द्रमसः संबन्धिनश्चन्द्रमण्डलस्य भेदकाः संघर्षका ये अङ्गारकाद्या ग्रहाः सन्ति ते नः शं भवन्तु । राहुणा ग्रहेण ग्रस्त आदित्यश्च शम् शान्त्यै भवतु । आदित्यस्य अतितेजस्वित्वेन इतरग्रहैरुपसर्गाभावाद् राहुणेति विशेषितम् । तथा मृत्युः मारको धूमकेतुः उत्पातः । धूमकेतोरनिष्टकारित्वं कौशिकेन सूत्रितम् । "अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम् इत्युक्तम्" [इति कौ० १३. ३५.] । स धूमकेतुः शम् दोषनिर्घाताय भवतु । तिग्मतेजसः तीक्ष्णतेजसो रुद्राः रोदका एतत्संज्ञका देवाश्च स्वतेजःसंतापकम् उपद्रवं परिहरन्तु ॥

चन्द्रमण्डलके संघर्षक जो मङ्गल आदि ग्रह हैं, वे हमें शांति देने वाले होवें, राहुसे ग्रस्त आदित्य भी अपने दोषको हटाता

---

† तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । ११ । १ में कहा है, कि—"असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन् । तान् बाहुमात्रेऽन्ववविन्दन् । तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते ।—असुरोंने निकलते समय देवताओंके प्राणों पर वलगोंको गाड़ा, देवताओंने उनको हाथ भर पर पाया, इस लिये ये हाथ भर नीचे गाड़े जाते हैं" [तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । ११ । १] ॥

हुआ अत एव हमको शांति प्रदान करने वाला हो। मारक धूम-केतुका उत्पात भी हमारे लिये शांतिप्रद हो [धूमकेतुका अनिष्ट-कारकत्व कौशिकने १३ । ३५ में कहा है, कि—"अथ यत्रैतद्‌ धूमकेतुः सप्त ऋषीन् उपधूपयति तद्ब अयोगक्षेमशंकम् ।—जहाँ यह धूमकेतु सप्त ऋषियोंको उपधूपित करता है वह अयोग क्षेम करने वाला है"] तीक्ष्णतेज वाले रोदक रुद्र देव भी अपने सन्तापक उपद्रवको शांत करें॥ १० ॥

एकादशी ॥

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

शम् । रुद्राः । शम् । वसवः । शम् । आदित्याः । शम् । अग्नयः ।
शम् । नः । महऽऋषयः । देवाः । शम् । देवाः । शम् । बृहस्पतिः ११

रुद्राः एकादश । वसवः अष्टौ । आदित्याः द्वादश । अग्नयः वैतानिकास्त्रयः सभ्यावसथ्याभ्यां सह पञ्च वा । एकः स्मार्तो वाग्निः । महर्षयः सप्त । देवाः द्योतमानास्तेजोरूपाः महर्षिविशेषणम् एतत् । देवाः इन्द्रादयः । बृहस्पतिः तेषां पुरोधाः । एते रुद्रादयः नः शम् शान्त्यै भवन्तु ॥

ग्यारह रुद्र हमारे लिये कल्याण देने वाले हों, आठ आदित्य हमें शांति प्रदान करें, बारह आदित्य हमें सुख देवें। वैतानिक तीन वा सभ्य और आवसथ्य सहित पाँच और एक स्मार्त इस प्रकार सब अग्नियें हमको सुख देवें, सात महर्षि, इंद्र आदि देवता और उनके पुरोहित हमें शांति प्रदान करें ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोग्नयः ।

तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु

ब्रह्म । प्रजाऽपतिः । धाता । लोकाः । वेदाः । सप्तऽऋषयः । अग्नयः ।
तैः । मे । कृतम् । स्वस्त्ययनम् । इन्द्रः । मे । शर्म । यच्छतु ।
ब्रह्मा । मे । शर्म । यच्छतु ।
विश्वे । मे । देवाः । शर्म । यच्छन्तु । सर्वे । मे । देवाः । शर्म । यच्छन्तु ॥ १२ ॥

ब्रह्म । ❀बृहतेर्मनिन् प्रत्ययः❀। देशकालानवच्छिन्नं सच्चिदानन्दलक्षणं परं ब्रह्म । प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी। धाता सर्वस्य धाता चतुर्मुखो ब्रह्मा। वेदाः साङ्गाश्चत्वारः । लोकाः सप्तसंख्याकाः । सप्तर्षयः प्रसिद्धाः । अग्नयः व्याख्याताः । तैः सर्वैः मे मम स्वस्त्ययनम् । स्वस्तीति अविनाशिनाम । तस्य अयनं प्राप्तिः कृतम् स्वस्त्ययनं क्षेमप्रापणं कृतम् । ❀ "आशंसायां भूतवच्च" इति भूतवत्प्रत्ययः ❀। इन्द्रो मे शर्म सुखं यच्छतु प्रयच्छतु । ❀ दाण् दाने । "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः❀॥ एवं ब्रह्मा मे इत्याद्यास्त्रयः पर्याया व्याख्येयाः

देशकालसे अनवच्छिन्न सच्चिदानंदलक्षण परब्रह्म,प्रजाओं के पालक सर्वनियंता सर्वांतर्यामी प्रजापति, सबके धाता चतुर्मुख ब्रह्मा, अंगों सहित चारों वेद, सात लोक, सप्त ऋषि, अग्नियें, इन सबसे मुझको क्षेमकी प्राप्ति हो, इंद्रदेवता मुझको सुख देवें । ब्रह्मा मुझको कल्याण देवें, विश्वेदेवता मुझको कल्याण प्रदान करें, सकल देवता मुझको सुख प्रदान करें १२

त्रयोदशी ॥

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु १३

यानि । कानि । चित् । शान्तानि । लोके । सप्तऽऋषयः । विदुः ।
सर्वाणि । शम् । भवन्तु । मे । शम् । मे । अस्तु । अभयम् । मे ।
अस्तु ॥ १३ ॥

उक्तानुक्तानि शान्तिकारणानि संगृह्य आह । सप्तर्षयः अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो लोके सर्वेषु लोकेषु यानि कानि चित् वस्तूनि शांतानि शान्तिकारणानि विदुः जानन्ति तानि सर्वाणि मे शं भवन्तु ॥ एतत्सूक्तप्रतिपाद्यस्यार्थस्य संग्रहेण वचनम् शं मे अस्त्वभयं मे अस्त्विति । "शान्ता द्यौः" इत्यादिना द्युलोकादयः शान्ता भवन्तु इति यद् उक्तं तस्यायम् अर्थः । मे शम् अस्तु सर्वतः सुखम् । अभयम् भयराहित्यं चास्त्विति ॥

[उक्त और अनुक्त शांतिके सकल कारणोंका संग्रह करके कहते हैं, कि—] अतींद्रियार्थदर्शी ऋषि लोकमें शांतिकी जितनी वस्तुओंको जानते हैं, वे सब मेरे लिये सुखप्रद हों, मुझे सर्वत्र सब ओरसे सुख प्राप्त हो, अभय प्राप्त हो ॥ १३ ॥

चतुर्दशी ॥

अनृगात्मकश्चतुर्दशो मन्त्र एवम् आम्नायते ॥

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।

ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४ ॥

पृथिवी । शान्तिः । अन्तरिक्षम् । शान्तिः । द्यौः । शान्तिः । आपः । शान्तिः । ओषधयः । शान्तिः । वनस्पतयः । शान्तिः । विश्वे । मे । देवाः । शान्तिः । सर्वे । मे । देवाः । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिऽभिः ।

ताभिः । शान्तिऽभिः । सर्व । शान्तिऽभिः । शम् । अयामः । अहम् । यत् । इह । घोरम् । यत् । इह । क्रूरम् । यत् । इह । पापम् । तत् । शान्तम् । तत् । शिवम् । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु । नः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादयः शान्तिरूपा भवन्तु । शान्तिभिः उक्ताभिः पृथिव्यादिशान्तिभिः शान्तिः निरुपपदा सर्वसाधारणभूता शान्तिरपि शान्तिर्भवतु इत्याशास्यते। शान्तेरपि शान्तिस्त्वं तैत्तिरीयके समाम्नायते । "शान्तिरेव शान्तिर्मे अस्तु शान्तिरिति" [तै० आ० ४, ४२, ५]। ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः । अहम् । ❀ "सुपां सुलुक्" इति जसः सुः ❀ । वयं शमयामः अपगमयामः । किं तद् इति तद् आह । इह अस्मिन् कर्मणि यद् घोरम् भयंकरं विपरीतानुष्ठानेन विपरीतफलप्रापकं यद् अस्ति । एतस्यैव विवरणम् यद् इह क्रूरं यद् इह पापम् इति । अथ वा त्रिर्वचनेन दोषशमयितृत्वं निश्चितं भवतीति यद् इह घोरम् इत्यादि

निर्वचनम्। एवं तच्छान्तं तच्छिवम् इति शान्तिशिवशंशब्दैर्निर्वचनम्। यथा कर्मान्तरेषु "अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणः" [तै० सं० ६. १. ४. ३] इत्यादिषु आवेदनरूपेषु त्रिरुपांशुवचनम् त्रिरुच्चैर्वचनम् एवम् अत्रापि। सर्वथा घोरं कर्म शमयामः। तच्च सर्वथा शान्तं भवत्वित्यर्थः॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके दशमं सूक्तम्॥
प्रथमोनुवाकः समाप्तः॥

पृथिवी हमको शांति देवे, अंतरिक्ष हमको शांति देवे, द्यौ हमको शांति देवें, जल हमको शांति देवें, औषधियें हमको शांति देवें, वनस्पतियें हमको शांति देवें, विश्वेदेवता हमारे लिये शांतिरूप हों, सब देवता मुझको शांति देवें, इन सब शांतियोंसे अतिरिक्त शांति भी मुझको प्राप्त हो। इन सब शांतियोंके द्वारा हम, जो इस कर्ममें विपरीत अनुष्ठानसे भयङ्कर फल प्राप्त होने वाला है उस भयंकर फलको, क्रूर फलको और पापमय फलको दूर करते हैं। वह शांत हो वह कल्याणप्रद हो, वह सब हमारे लिये मङ्गल करने वाला हो॥ १४॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५५३)

प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके एकादश सूक्तानि। तत्र 'शं न इन्द्राग्नी" इति प्रथमसूक्तत्रयस्य अहरहः पुरोहितेन कर्तव्ये राज्ञः शय्यागृहप्रवेशनकर्मणि शान्त्यर्थजपे विनियोगः। "अथातो रात्रीसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। "शान्ता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्" इति [प० ४. ५]॥ अत्र शान्ता द्यौरित्येकेन शान्त्यर्थप्रतिपादकं समनन्तरम् इदं सूक्तद्वयं गृह्यते। यत्रैकेन प्रतीकेन समानार्थं समानदेवत्यं समानार्षं वा समनन्तरं सूक्तं गृह्यते तद् अर्थसूक्तम् इति अथर्वणां परिभाषणात्॥

तथा अनेन सूक्तत्रयेण "शान्ता द्यौः" इति पूर्वेण च तुलापुरुषमहादाने आज्यहोमं कुर्यात् । "अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "प्राक्तन्त्रम् आज्यभागान्तं कृत्वा महाव्याहृतिसावित्रीशान्तिप्रजज्ञानम् इति हुत्वा" इति [प० ११. १] । अत्र शान्तिपदेन शान्त्यर्थप्रतिपादकम् इदं सूक्तत्रयं पूर्वं च गृह्यते ॥

अस्य सूक्तत्रयस्य शान्तिप्रतिपादकत्वेन शान्तिगणे पाठाद् "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" [न० क० १८] इत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

द्वितीय अनुवाकमें ग्यारह सूक्त हैं। इनमेंसे "शं न इंद्राग्नी" आदि तीन सूक्तोंका प्रतिदिन पुरोहितके द्वारा किये जाने योग्य राजाके शय्यागृहप्रवेशन कर्मके शांत्यर्थजपमें विनियोग है । "अथातो रात्रीसूक्तानां विधिं अनुक्रमिष्यामः ।—अब रात्रिसूक्तों की विधिको कहते हैं" कह कर अथर्व परिशिष्टमें कहा है, कि- "शांता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत् ।—शांता द्यौको जप कर राजाको वासगृहमें लेजावे" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) यहाँ शांता द्यौः इस एकसे शांतिके अर्थके प्रतिपादक पासके ही ये दोनों सूक्त भी लिये जाते हैं । क्योंकि—अथर्ववेदियोंकी यह परिभाषा है, कि-"जहाँ एक प्रतीकसे समान अर्थवाला, समान देवता वाला या समान ऋषिवाला पासका सूक्त ग्रहण किया जाता है वह अर्थसूक्त कहलाता है" ।

तथा इन तीनों सूक्तोंसे तथा "शांताः द्यौ" इस पहिले सूक्तसे भी तुलापुरुषमहादानमें घृतहोम करे । अथर्वपरिशिष्टमें "अथातः तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" का आरम्भ करके कहा है, कि—"प्राक् तंत्रं आज्यभागान्तं कृत्वा महाव्याहृतिसावित्रीशांतिप्रजज्ञानं इति हुत्वा" (अथर्वपरिशिष्ट ११ । १) यहाँ शांति-

पदसे शांत्यर्थप्रतिपादक ये तीनों सूक्त और पहिला सूक्त भी ग्रहण किया जाता है।

ये तीनों सूक्त शांतिके प्रतिपादक हैं अत एव इनका शांतिगणमें पाठ है और शांतिगणमें पाठ होनेसे "आयुष्यः शांतिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम् ।-आयुष्यगण, शांतिगण और स्वस्तिगण ऐरावती महाशांतिमें आता है" (नक्षत्रकल्प १८) इत्यादि में इसका विनियोग करना चाहिये।

तत्र प्रथमा ॥

शं न॑ इन्द्राग्नी भ॑वतामवो॑भिः शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः शं न॒ इन्द्रा॑पू॒षणा॒ वाज॑सातौ ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । भ॒व॒ताम् । अवः॑ऽभिः । शम् । नः॒ । इन्द्रा॒वरु॑णा । रा॒तऽह॑व्या । शम् । इन्द्रा॒सोमा॑ । सु॒वि॒ताय॑ । शम् । योः । शम् । नः॒ । इन्द्रा॑पू॒षणा॑ । वाज॑ऽसातौ ॥ १ ॥

हे इन्द्राग्नी युवाम् अवोभिः रक्षाभिः नः अस्माकम् अस्मभ्यं वा शम् शान्त्यै सकलदुःखनिवारणाय भवताम् । ❀ इन्द्राग्नी इत्यत्र "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । रातहव्यारातहव्यौ यजमानैर्दत्तहविष्कौ इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् उभयपदप्रकृतिस्वरत्वं च ❀। शं नः भवताम् इत्यनुषङ्गः । इन्द्रसोमा इन्द्रासोमौ सुविताय। सुखनामैतत्। सुष्ठु प्राप्तव्याय। ❀ सुपूर्वाद् एतेः कर्मणि क्तः। तन्वादित्वाद् उवङ् आदेशः❀। सुखाय शं भवताम्।

*शं योः इति पदयोरर्थो यास्केनोक्तः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् इति [नि०४.२१.]। शमु उपशमे। यु मिश्रणामिश्रणयोः। उभयत्र "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति विच् प्रत्ययः *। शमनाय यावनाय च। केचिद्व एवं व्याचक्षिरे।"शम् आत्महेतुकं सुखम् योः विषययोगनिमित्तं सुखम्"इति। इन्द्रापूषणा इन्द्रापूषणौ। *"वा षपूर्वस्य निगमे" इति पूषन्शब्दस्य दीर्घाभावः *। वाजसातौ। युद्धनामैतत्। वाजो वेगः वेगेन सातिः अवसानं विनाशो योद्धॄणां भवति यत्रेति वाजसातिः युद्धं तत्र। अथ वा वाजः अन्नं तल्लाभार्थम्। * विषयसप्तमी *। शं नो भवताम्। * षो अन्तकर्मणि। "स्त्रियां क्तिन्"। "ऊतियूति०" इत्यादिना निपातनाद्व आत्वं द्रष्टव्यम्। अथ वा षण संभक्तौ। अस्मात् क्तिनि "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् *॥

हे इंद्र और अग्नि देवताओं! तुम अपने रक्षाकारक विचारों के साथ हमारे सकल दुःखोंको हटाओ, यजमानके द्वारा हवि पाने पर इंद्र और वरुण देवता भी हमारा कल्याण करें, इंद्र और सोम देवता सरलतासे मिलने वाले सुखको देनेके लिये उद्यत हों, इंद्र और पूषा देवता जिसमें शीघ्रतासे वीरोंका अवसान होता है उस वाजसाति युद्धमें हमारे रोगोंका दमन करने वाले और भयोंको दूर करने वाले होवें॥ १॥

द्वितीया॥

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः।

शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २॥

शम् । नः । भगः । शम् । ऊं इति । नः । शंसः । अस्तु । शम् ।
नः । पुरम्ऽधिः । शम् । ऊं इति । सन्तु । रायः ।
शम् । नः । सत्यस्य । सुऽयमस्य । शंसः । शम् । नः । अर्यमा ।
पुरुऽजातः । अस्तु ॥ २ ॥

भगः भजनीयो देवः । ❀ "पुंसि संज्ञायाम्०" इति भजतेर्घ-प्रत्ययः ❀ । नः अस्माकं शम् अस्तु । शंसः सर्वैः स्तूयमानः । एकदेशेन व्यपदेशः । नराशंसो नाम देवः । उशब्दः अवधारणे । शम् एव नः अस्तु । पुरंधिः पूर्णा धीयते निधीयते संचार्यत इति पुरंधिर्बुद्धिः शं नः अस्तु । रायः धनानि सुखायैव सन्तु । सुय-मस्य सुष्ठु यन्तव्यस्य शोभनयमयुक्तस्य वा । "अहिंसासत्या-स्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" इति [पा० सू० २. ३०] यमस्व-रूपं पातञ्जले विहितम् । तादृशस्य सत्यस्य शंसः वचनं नः अस्माकं सुखाय भवतु । पुरुजातः बहुप्रादुर्भावः अर्यमा देवः शं नोस्तु ॥

भग देवता हमारे लिये कल्याणकारक होवें, सबसे स्तुति पानेके पात्र नराशंस नामक देवता हमारे लिये कल्याणप्रद ही होवें । बुद्धि हमारा मङ्गल करे, धन हमारे मङ्गलके लिये ही होवें 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और दान न लेना ये यम कहलाते हैं" इस पातञ्जलसूत्र २ । ३ के अनुसार शोभन यमसम्पन्न सत्यवचन हमको सुख देने वाला होवे, अनेक बार प्रकट होने वाले अर्यमा देवता हमारे लिये मङ्गलप्रद होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु
स्वधाभिः ।

शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुह-
वानि सन्तु ॥ ३ ॥

शम् । नः । धाता । शम् । ऊं इति । धर्ता । नः । अस्तु । शम् ।
नः । उरूची । भवतु । स्वधाभिः ।

शम् । रोदसी इति । बृहती इति । शम् । नः । अद्रिः । शम् ।
नः । देवानाम् । सुऽहवानि । सन्तु ॥ ३ ॥

धाता विधाता सर्वस्य देवः नः अस्माकं शम् अस्तु । धर्ता विधारयिता पुण्यपापानाम् वरुणः शम् एव नः अस्तु । उरूची विस्तीर्णगमना विवर्तगमना वा पृथिवी कथ्यते । स्वधाभिः अन्नैः सह नः अस्माकं शं भवतु । बृहती बृहत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ शं भवताम् । अद्रिः पर्वतः शं नो भवतु । नः अस्मदीयानि देवानां सुहवानि सुष्टुतयः शं सन्तु ॥

विधाता देवता हमारा मङ्गल करें, पुण्य और पापका फल देने वाले वरुण देवता हमारा मङ्गल करें, विस्तीर्ण गमन वाली पृथिवी अन्नों सहित हमारे लिये मङ्गलप्रद हो, विशाल द्यावा-पृथिवी हमारा कल्याण करें, पर्वत हमारे लिये कल्याणप्रद हो, हमारे देवताओंके स्तोत्र हमारा कल्याण करने वाले होवें ॥३॥

चतुर्थी ॥

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणा-
वश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु
वातः ॥ ४ ॥

शम् । नः । अग्निः । ज्योतिःऽअनीकः । अस्तु । शम् । नः ।

मित्रावरुणौ । अश्विना । शम् ।

शम् । नः । सुऽकृताम् । सुऽकृतानि । सन्तु । शम् । नः । इषिरः ।

अभि । वातु । वातः ॥ ४ ॥

ज्योतिरनीकः ज्योतींषि अनीके मुखे यस्य स तादृशोग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः नः अस्माकं शम् अस्तु । मित्रावरुणौ नः शं भवताम् । अश्विना अश्विनौ शं स्ताम् । सुकृतां पुण्यकर्मणाम् ॐ "सुकर्मपाप०" इति क्विप् प्रत्ययः ॐ । सुकृतानि सुष्ठु कृतानि पुण्यानि नः शं सन्तु । इषिरः गमनशीलो वातः वायुः शम् शान्त्यर्थं नः अभि वातु अस्मान् अभिलक्ष्य प्रवातु ॥

जिनके मुखमें ज्योति होती है ऐसे ज्योतिरनीक अग्निदेव हमारा मङ्गल करें । मित्र वरुण और अश्विनीकुमार हमारा कल्याण करें । पुण्यात्माओंके पुण्यकर्म भी हमारे लिये मङ्गलमद होवें, और गमनशील वायु भी हमको शांति देनेके लिये प्रवाहित होवे ४

पञ्चमी ॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥

शम् । नः । द्यावापृथिवी इति । पूर्वऽहूतौ । शम् । अन्तरिक्षम् ।

दृशये । नः । अस्तु ।

शम् । नः । ओषधीः । वनिनः । भवन्तु । शम् । नः । रजसः ।

पतिः । अस्तु । जिष्णुः ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ पूर्वहूतौ देवानां प्रथमस्तोत्रार्थम् । यद्वा पूर्वे पूर्वं जाता देवा हूयन्ते इज्यन्ते आहूयन्ते वेति पूर्वहूति-र्यज्ञः तत्र शं नः स्ताम् । अन्तरिक्षम् मध्यमलोकः दृशये दर्शनाय शं नो अस्तु । ओषधीः ओषध्यः वनिनः वनरूपसमुदायिनो वृक्षाश्च शं नो भवन्तु । रजसः लोकस्य पतिः पालकः जिष्णुः जयशील इन्द्रः शं नोस्तु ॥

जिसमें प्रथम प्रकट हुए देवता बुलाये जाते हैं ऐसे पूर्वहूति यज्ञमें द्यावापृथिवी हमारा कल्याण करें, मध्यम लोक अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिको सुखप्रद हो, औषधि और वृक्ष हमारा कल्याण करें, लोकपालक जयशील जिष्णु इन्द्र हमारा कल्याण करें॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

शम् । नः । इन्द्रः । वसुऽभिः । देवः । अस्तु । शम् । आदित्येभिः । वरुणः । सुऽशंसः ।

शम् । नः । रुद्रः । रुद्रेभिः । जलाषः । शम् । नः । त्वष्टा । ग्नाभिः । इह । शृणोतु ॥ ६ ॥

इन्द्रो देवः वसुभिः एतत्संज्ञकैर्देवैः सार्धं नः अस्माकं शम् अस्तु । सुशंसः शोभनस्तुतिर्वरुणः आदित्येभिः आदित्यैः सार्धं

शं नोस्तु । जलाषः । सुखनामैतत् । जलाषः सुखं तद् अस्या-स्तीति । ※ अर्श आदिभ्योऽच् प्रत्ययः ※ । सुखकरो रुद्रो रुद्रेभिः रुद्रैः सार्धं शं नोस्तु । त्वष्टा सर्वमाखिनां रूपाणि वि-कुर्वन् देवः ग्नाभिः देवपत्नीभिः सार्धं शं नोस्तु । इह अस्मिन् कर्मणि शृणोतु च । नः स्तोमम् इति शेषः ॥

वसुओंसहित इन्द्रदेवता हमारा कल्याण करने वाले बनें, सुन्दर स्तुति वाले वरुण आदित्योंसहित हमारे कल्याणके कार्यमें प्रवृत्त होवें, सुखप्रद रुद्र रुद्रोंके साथ हमारा कल्याण करें, देवपत्नियों सहित त्वष्टा देवता हमारा कल्याण करें और इस कर्ममें हमारे स्तोत्रको सुनें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।

शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः १ शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

शम् । नः । सोमः । भवतु । ब्रह्म । शम् । नः । शम् । नः । ग्रावाणः । शम् । ऊं इति । सन्तु । यज्ञाः ।

शम् । नः । स्वरूणाम् । मितयः । भवन्तु । शम् । नः । प्रऽस्वः । शम् । ऊं इति । अस्तु । वेदिः ॥ ७ ॥

सोमः लतारूपः अभिषूयमाणः शं नोस्तु । ब्रह्म स्तोत्रशस्त्र-रूपकं शं नोस्तु । ग्रावाणः अभिषवसाधनभूताः शं नः सन्तु । यज्ञाः सोमनिर्वर्त्याः क्रतवः शम् एव सन्तु । स्वरूणाम् । ※ सुप-

मत्वर्थीयः ॐ। स्वरुमतां यूपानां मितयः उन्मानानि शं नो भवन्तु। प्रस्वः। प्रकर्षेण सूयमाना जायमाना ओषधयः चरुपुरोडाशसंपादिकाः शं नः सन्तु। ॐ प्रस्व इति। प्रपूर्वात् सूयतेः क्विप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तः। ततः परस्य जसः "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति स्वरितत्वम् ॐ। उशब्दः अवधारणे। वेदिः शमेवास्तु। ॐ "मय उञो वो वा" इति उशब्दस्य वकारः ॐ ॥

लतारूप निचोड़ा जाता हुआ सोम हमारे लिये कल्याणप्रद हो, स्तोत्रशंसात्मक मन्त्र हमारे लिये मंगलप्रद हो, कूटनेके साधन पत्थर हमारा मंगल करें, सोमसे होने वाले यज्ञ हमारा कल्याण करें, यूपोंके उठाव हमारा कल्याण करें, अधिकतासे प्रादुर्भूत होने वाली ओषधियें हमारे लिये मंगलप्रद हों, वेदी हमारे कल्याणके लिये ही हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

शम्। नः। सूर्यः। उरुऽचक्षाः। उत्। एतु। शम्। नः। भवन्तु। प्रऽदिशः। चतस्रः।

शम्। नः। पर्वताः। ध्रुवयः। भवन्तु। शम्। नः। सिन्धवः। शम्। ऊं इति। सन्तु। आपः ॥ ८ ॥

उरुचक्षाः विस्तीर्णतेजाः उरुभिर्बहुभिर्दृश्यमानो वा।

❀ "असनयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति स्यादादेशाभावः ❀ । सूर्यो नः अस्माकं शम् शान्त्यर्थम् उदेतु ॥ चतस्रः प्रदिशः महादिशः शं नो भवन्तु ॥ ध्रुवयः ध्रुवाः । ❀ ध्रु स्थैर्ये । औणादिकः किमत्ययः । उवङ् आदेशः ❀ । स्थिराः पर्वताः शं नो भवन्तु ॥ सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः नः शं सन्तु । शम् एव सन्तु आपः ॥

विस्तीर्ण तेज वाले सूर्यदेव हमारी शान्तिके लिये उदित हों, चारों महादिशाएँ हमारे कल्याणके लिये उद्यत रहें, स्थिर पर्वत हमको कल्याण प्रदान करें, नदियें और जल हमारा कल्याण करने वाले ही होवें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

शम् । नः । अदितिः । भवतु । व्रतेभिः । शम् । नः । भवन्तु । मरुतः । सुऽअर्काः ।
शम् । नः । विष्णुः । शम् । ऊं इति । पूषा । नः । अस्तु । शम् । नः । भवित्रम् । शम् । ऊं इति । अस्तु । वायुः ॥ ९ ॥

अदितिः अखण्डनीया देवमाता व्रतेभिः व्रतैः कर्मभिः सार्धं नः अस्माकं शं भवतु । स्वर्काः । ❀ अर्कोऽर्चतेः स्तुतिकर्मणः इति यास्कः ❀ । सुष्टुतयो मरुतः नः शं भवन्तु । शंनोस्तु विष्णुः । शम् एव पूषा नो अस्तु । भवित्रम् भुवनम् उदकम् अन्तरिक्षं वा

शं नोस्तु । ❀ "अर्तिलूधूसूखनसह०" इति विहित इत्रप्रत्ययो भवतेरपि व्यत्ययेन उत्पन्नः ❀। उशब्दः अवधारणे । वायुः शम् शान्त्यर्थमेवास्तु। ❀ "मय उञो वो वा" इति उञो वकारादेशः ❀॥

अखण्डनीया देवमाता अदिति अपने कर्मोंसे हमारा कल्याण करें, सुन्दर स्तुति पाने वाले मरुत्–देवता हमारा कल्याण करें, विष्णुदेव हमारे लिये मंगलप्रद हों, पूषा देवता हमारा कल्याण करें, जल और वायु हमें शान्ति ही प्रदान करें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

शं नो॑ दे॒व स॑वि॒ता त्राय॑माण॒ः शं नो॑ भव॒न्तूषसो॑ वि॒भा॒तीः ।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्य॒ः शं न॒ः क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु शं॒भुः ॥ १० ॥

शम् । न॒ः । दे॒वः । स॒वि॒ता । त्राय॑माणः । शम् । न॒ः । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒षस॑ः । वि॒ऽभा॒तीः ।
शम् । न॒ः । प॒र्जन्य॑ः । भ॒व॒तु॒ । प्र॒ऽजाभ्य॑ः । शम् । न॒ः । क्षेत्र॑स्य । पति॑ः । अ॒स्तु॒ । श॒म्ऽभुः ॥ १० ॥

त्रायमाणः रक्षन् भयेभ्यः सविता सर्वस्य प्रेरको देवः नः शं भवतु । विभातीः विभान्त्यो व्युच्छन्त्यः । ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। उषसः उषोभिमानिन्यो देवताः नः शं भवन्तु। पर्जन्यः वृष्टिप्रदो नः अस्माकं प्रजाभ्यः शं भवतु। शम्भुः सुखस्य भावयिता क्षेत्रस्य पतिः ।

रुद्रं क्षेत्रपतिं माहुः केचित् अग्निम् अथापरे ।
स्वतन्त्र एव वा कश्चिद् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते ॥

एतत्संज्ञको देवः नः अस्माकं शम् शान्त्यै अस्तु भवतु । ❀ "विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्" इति विप्रसम्पुपपदाद् भवतेर्विहितो डुमत्ययः शम्पूर्वादपि व्यत्ययेन भवति ❀ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

भयोंसे बचाने वाले सविता देवता हमारा मंगल करें, उषाकी अभिमानी देवता विभाती हमारा कल्याण करें, वृष्टिप्रद पर्जन्य देवता हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणप्रद हों, सुखको देने वाले क्षेत्रपति † शम्भु हमारा कल्याण ही करें ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५५४)

"शं नः सत्यस्य" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पादिषु शान्त्यर्थजपे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"शं नः सत्यस्य" सूक्तका रात्रिकल्पके शान्त्यर्थजपमें विनियोग होता है यह बात पहिले सूक्तमें ही कह दी है ।

तत्र प्रथमा ॥

शं नः॑ सत्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑ ।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ १ ॥

† "रुद्रं क्षेत्रपतिं माहुः केचिद् अग्निं अथापरे ।
स्वतन्त्र एव वा कश्चित् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते ॥
कोई रुद्रको क्षेत्रपति कहते हैं, कोई अग्निको क्षेत्रपति कहते हैं कोई कहते हैं क्षेत्रपति कोई स्वतन्त्र ही है ।"

शम् । नः । सत्यस्य । पतयः । भवन्तु । शम् । नः । अर्वन्तः । शम् । ऊं इति । सन्तु । गावः ।

शम् । नः । ऋभवः । सुऽकृतः । सुऽहस्ताः । शम् । नः । भवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ १ ॥

सत्यस्य पतयः पालयितारः सत्यशीला देवाः नः अस्माकम् शम् शान्त्यै भवन्तु । अर्वन्तः अश्वाः शं नो भवन्तु । शम् एव सन्तु गावः धेनवः । सुकृतः सुकृतकर्माणः कर्मणैव देवत्वं प्राप्ताः सुहस्ताः शोभनहस्ताश्चमसतक्षणादिषु कुशलहस्ता ऋभवः एतत्संज्ञकाः कर्मदेवाः । तथा च दाशतय्याम् आर्भवसूक्ते समाम्नायते । "एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गाम् अरिणीत धीतिभिः" इति [ऋ० ४. ३६. ४] । "विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वम् आनशुः" इति [ऋ० १. ११०. ४] ॥ "ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथम् अभ्यजयन्" इत्यादिना ऐतरेयब्राह्मणे [३. ३०] ऋभूणां मनुष्याणामेव देवैः सह सोमपानं विद्यत इति प्रपञ्चितम् । अत एव अत्र सुकृत इत्युक्तम् । एवंविधमहिमान ऋभवो देवा नः अस्माकं शम् शान्त्यै दुरितनिवृत्त्यै भवन्तु । पितरो हवेषु स्तोत्रेषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । यज्ञेषु वाः नः अस्माकं शं भवन्तु ॥

सत्यके पालक देवता हमारे लिये शान्ति करें, घोड़े और गौ हमारे यहाँ शान्ति ही फैलावें, पुण्यात्मा हस्तकुशल ऋभु हमारा कल्याण करें स्तोत्रोंके समय पितर हमारा कल्याण करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।

शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः
शं नो अप्याः ॥ २ ॥

शम् । नः । देवाः । विश्वऽदेवा । भवन्तु । शम् । सरस्वती ।
सह । धीभिः । अस्तु ।
शम् । अभिऽसाचः । शम् । ऊं इति । रातिऽसाचः । शम् । नः ।
दिव्याः । पार्थिवाः । शम् । नः । अप्याः ॥ २ ॥

विश्वदेवाः । अत्र दीव्यतिः स्तुत्यर्थः । बहुस्तोत्रका देवा इन्द्रादयाः । यद्वा देवा इति विश्वदेवानां विशेषणम् । दीव्यन्तो विश्वे सर्वे देवाः ❀ पूर्वस्मिन् पक्षे "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । द्वितीयस्मिन् पक्षे तत्पुरुषपक्षे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वाद् आद्युदात्तत्वेन भवितव्यम् । अत्र "परादिश्छन्दसि बहुलम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । देवाः नः अस्माकं शं भवन्तु । सरस्वती वर्णपदवाक्यात्मना सरणवती वाग्देवता धीभिः स्तुतिभिः कर्मभिर्वा सह शम् अस्तु । अभिषाचः । ❀ षच समवाये ❀ । अभिषचमानाः यज्ञम् अभितः समवयन्तो देवाः शं भवन्तु । रातिषाचः रातये दानार्थं संगच्छमाना देवाः शम् एव भवन्तु । रातिषाचः अभिषाचः इति पदद्वयेन विश्वे देवा उच्यन्ते । तथा च दाशतय्यां वैश्वदेवसूक्ते समाम्नायते । "विश्वे देवाः सह धीभिः पुरंध्या मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्वर्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत" इति [ऋ० १०, ६५, १४] । दिव्याः दिवि भवा देवाः पार्थिवाः पृथिव्यां भवाः । ❀ उत्सादित्वाद् अञ् प्रत्ययः ❀ । पार्थिवा देवाश्च नः अस्माकं शं भवन्तु । अप्याः अप्सु अन्तरिक्षे भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । "यतोऽनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । ते शं भवन्तु ॥

जिनके अनेक स्तोत्र हैं ऐसे इन्द्र आदि देवता हमारा कल्याण करें, वाग्देवता सरस्वती अपने कर्मोंसे हमारा कल्याण करें, यज्ञ में सम्मिलित होने वाले और दानके लिये जाने वाले विश्वेदेवता हमारा मङ्गल करें, द्युलोक पृथिवीलोक और जलमें होने वाले देवता हमारा मङ्गल करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद् दे॒वो अ॑स्तु॒ शमहि॑र्बु॒ध्न्य॑१ः शं

स॑मु॒द्रः ।

शं नो॑ अ॒पां नपा॑त् पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒व-

गो॑पा ॥ ३ ॥

शम् । नः॒ । अ॒जः । एक॑ऽपात् । दे॒वः । अ॒स्तु॒ । शम् । अहि॑ः । बु॒ध्न्यः॑ । शम् । स॒मु॒द्रः ।

शम् । नः॒ । अ॒पाम् । नपा॑त् । पे॒रुः । अ॒स्तु॒ । शम् । नः॒ । पृश्नि॑ः । भ॒व॒तु॒ । दे॒वऽगो॑पा ॥ ३ ॥

अजः अजायमानः एकपात् एकः पादः स्थावरजङ्गमात्मको यस्य । "पादोस्य विश्वा भूतानि" इति श्रुतेः [१९. ६. ३] । ❀ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । अज-एकपाच्छब्दाभ्याम् एक एव देवोभिधीयते । अजैकपान्नामको देवः नः शम् अस्तु अहिर्बुध्न्यः अहिः अहन्तव्यः बुध्न्यः बुध्नं मूलं तदर्हः । अत्रापि पूर्ववद् अहिर्बुध्न्य इति पदद्वयम् एकदेवताप्रति-पादकम् । अहिर्बुध्न्यनामको देवः नः शम् अस्तु । समुद्रः समुद्द्र-वन्ति आपः अस्माद् इति समुद्रः शम् अस्तु । अपां नपात् अपाम्

उदकानां न पातयिता । ❀ पातयतेः क्विप् । "नभ्राण्नपात्०" इति नलोपाभावो निपातितः ❀ । अपांनपात्संज्ञको देवो नः शम् शान्त्यै पेरुः पारयिता दुःखेभ्यो भवतु । पृश्निः मरुतां माता देवगोपा देवा गोपयितारो यस्याः सा पृश्निः नः शं भवतु । ❀ गुपू रक्षणे । क्विप् । गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः" इति आयप्रत्ययः । अतोलोपयलोपौ । देवा गोपा यस्या इति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ ॥

जिसका स्थावर जंगमात्मक एकपाद अजायमान है वह अजैकपाद नामक देव हमारा कल्याण करे, अहिर्बुध्न्य नामक देवता हमारा कल्याण करे, समुद्र हमारे लिये कल्याणरूप हो, जलोंके न गिरने देने वाले अपांनपात् नामक देवता हमें दुःखोंसे पार लगावें, देवता जिसकी रक्षा करते हैं वह मरुतोंकी माता पृश्नि हमारा कल्याण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥ ४ ॥

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । जुषन्ताम् । इदम् । ब्रह्म । क्रियमाणम् । नवीयः ।
शृण्वन्तु । नः । दिव्याः । पार्थिवासः । गोऽजाताः । उत । ये । यज्ञियासः ॥ ४ ॥

आदित्याः अदितेः पुत्रा द्युस्थाना देवाः । ❀ "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्०" इति ण्यः ❀ । रुद्राः रोदयितारः अन्तरिक्षस्थाना देवाः वसवः पार्थिवाः जुषन्ताम् सेवन्ताम् । किं तत् । नवीयः नवतरम् इदम् इदानीं क्रियमाणं ब्रह्म स्तोत्रं जुषन्ताम् इत्यन्वयः ॥ अन्ये च नः अस्मदीयं ब्रह्म स्तोत्रं शृण्वन्तु । के ते । दिव्याः दिवि भवाः पार्थिवासः पार्थिवाः । ❀ "आज्जसेरसुक्"❀ । पृथिवीस्थानाः गोजाताः गोः पृश्नेर्जाता मरुतो देवाः । उत अपि च यज्ञियासः यज्ञार्हा ये देवास्तेपि नः स्तोत्रं शृण्वन्तु ॥

अदितिके पुत्र द्युस्थानीय देवता, रुद्र और वसु इस किये जाते हुए नवीन स्तोत्रका सेवन करें, और दिव्य पार्थिव तथा पृश्निसे उत्पन्न हुए यज्ञार्ह देवता भी हमारे इस स्तोत्रको सुनें ४

पञ्चमी ॥

ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।

ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

ये । देवानाम् । ऋत्विजः । यज्ञियासः । मनोः । यजत्राः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः ।

ते । नः । रासन्ताम् । उरुऽगायम् । अद्य । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ५ ॥

देवानाम् "शं न इन्द्राग्नी" इत्यादिसूक्तद्वयप्रतिपादितानाम् ऋत्विजः ऋतौ काले यष्टारः । ❀ "ऋत्विग्दधृक्०" इत्यादिना ऋत्विक्शब्दो निपातितः ❀ । यज्ञियासः यज्ञार्हा मनोः प्रजा-

पतेः यजत्राः यजनीया यजनार्हाः अमृताः अमरणधर्माणः ऋतज्ञाः ऋतं सत्यभूतं यज्ञं जानन्तो ये देवाः सन्ति ते देवाः अद्य इदानीं नः अस्माकम् उरुगायम् प्रभूतां कीर्तिं रासन्ताम् प्रयच्छन्तु। ❀ रासतिर्दानकर्मा। कै गै रै शब्दे। अस्मात् कर्मणि घञ्। आतो युगागमः ❀॥ हे देवाः यूयं नः अस्मान् सदा सर्वदा स्वस्तिभिः। स्वस्तीति अविनाशिनाम। क्षेमकरखैरुपायैः पात रक्षत। ❀ सुपूर्वाद् असेः क्तिनि भूभावाभावश्छान्दसः ❀॥

"शं न इन्द्राग्नी" आदि दोनों सूक्तोंमें प्रतिपादित देवताओंके ऋत्विज, यज्ञार्ह, मनु प्रजापतिके पुत्र, अमरणधर्मी जो सत्यज्ञ देवता हैं वे इस समय हमको विशाल कीर्ति प्रदान करें, हे देवताओं! तुम हमारी क्षेमंकर उपायोंसे सदा रक्षा करो॥ ५॥

षष्ठी॥

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।

अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ६

तत्। अस्तु। मित्रावरुणा। तत्। अग्ने। शम्। योः। अस्मभ्यम्। इदम्। अस्तु। शस्तम्।

अशीमहि। गाधम्। उत। प्रतिऽस्थाम्। नमः। दिवे। बृहते। सदनाय॥ ६॥

हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ अहोरात्राभिमानिनौ तत् यस्यमाणं फलम् अस्तु। हे अग्ने प्रातःसायंकालाभिमानिन् तत् यस्यमाणं फलम् अस्तु। किं तत्। शम् रोगाणां शमनम् योः भयानां यावनं पृथक्करणं च इदम् उक्तं फलं शस्तम् प्रशस्तं समीचीनम्

अस्मभ्यम् अस्तु। उत अपि च गाधं प्रतिष्ठाम्। ❀ गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च। अस्माद् घञ् ❀। प्रतिष्ठां स्थितेरविच्छेदम्। यद्वा गाधं धनलाभं प्रतिष्ठां च क्षेत्रादिरूपं फलम् अशीमहि अश्नुवीमहि। ❀ अशू व्याप्तौ। अस्माद् विधिलिङि विकरणस्य लुक् छान्दसः। आशीर्लिङि वा ऊदित्वाद् इडभावः। "छन्दस्युभयथा" इति लिङः सार्वधातुकत्वात् "लिङः सलोपोनन्त्यस्य" इति सकारलोपः ❀। दिवे द्युलोकाय बृहते महते सदनाय सर्वेषां निवासस्थानाय। ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀। पृथिव्यै च नमः नमस्कारोस्तु॥

इति द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

हे दिन और रात्रिके अभिमानी मित्र और वरुण नामक देवताओं! वह आगे कही हुई वस्तु हमको प्राप्त हो, हे प्रातः सायंकालके अभिमानी अग्निदेव! वह आगे कहा हुआ फल हमको प्राप्त हो (वह फल यह है, कि–) रोगोंकी शान्ति और भयोंका पृथक्करणरूप प्रशंसनीय फल हमारे लिये हो और हम धनलाभको तथा क्षेत्रादिरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त करें। द्युलोकके लिये और सबकी निवास्थानरूप पृथिवीके लिये प्रणाम है॥ ६॥

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५५५)

"उषा अप स्वसुः" इति एकर्चस्य सूक्तस्य रात्रिकल्पे शान्त्यर्थजपे "शान्ता द्यौः" इत्यादिसूक्तत्रयेण सह उक्तो विनियोगः॥

"उषा अप स्वसुः" इस एक ऋचा वाले सूक्तका रात्रिकल्पके शान्त्यर्थजपमें "शान्ता द्यौः" आदि तीन सूक्तोंके साथ विनियोग कह दिया है।

सा खल्वेषा ऋग् एवम् आम्नायते।

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजाततां।

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १

उषाः । अप स्वसुः । तमः । सम् । वर्तयति । वर्तनिम् । सुऽजातता । अया । वाजम् । देवऽहितम् । सनेम । मदेम । शतऽहिमाः । सुऽवीराः ॥ १ ॥

उषाः उषःकालाभिमानिनी देवता स्वसुः । यदा उषा अभवत् तदा अनन्तरमेव रात्रिर्भवतीति परस्पराविनाभावेन रात्रिरुषसः स्वसेत्युच्यते । स्वसुः स्वयमेव सारियया आगच्छन्त्याः स्वसृभूताया रात्रेः तमः अन्धकारम् अप । गमयतीति योग्यक्रियाध्याहारः । ततः सुजातता सुष्ठु जाता सुजाता तस्या भावः सुजातता । ❀ "स्वतलोर्गुणवचनस्य" इति पुंवद्भावः । तृतीयाया आकारः ❀ । सुजाततया सुष्ठु प्रादुर्भावेन सम्यक् प्रकाशकरणेन वर्तनिम् मार्गं लौकिकं वैदिकं च सं वर्तयति सम्यग् निर्वर्तयति । उषःकाले जाते सर्वेपि प्राणिनः स्वस्वव्यापारकरणाय मार्गं पश्यन्ति वैदिका अपि अग्निहोत्रादिकर्ममार्गं पश्यन्तीत्यर्थः ॥ अया अनया उषसा । ❀ सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् अनादेशाभावः । इदमः इद्रूपस्य लोपः । "आङि चापः" इति एत्वे अयादेशः । अनादेशे वा नकारलोपश्छान्दसः । "ऊडिदम्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । देवहितम् देवैः सम्यगिष्टैर्हितं निहितं दत्तं देवेभ्यो वा हितं वाजम् अन्नं सनेम संभजेमहि लभेमहि । ❀ वन षण संभक्तौ ❀ । अनन्तरं सुवीराः । वीरः कर्मणि कुशलः पुत्रपौत्रादिः । शोभनपुत्रादिसमेताः सन्तः शतहिमाः । हिमशब्दो हेमन्तर्तुवाची । शतं हिमाः शतसंख्याकान् हेमन्तर्तून् शतं वर्षाणि मदेम हृष्यास्म । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया । मादतेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ।

इति द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

उषा आते ही अपनी बहिन रात्रिके अंधकारको दूर कर देती है। फिर फली प्रकार प्रकाश करके लौकिक और वैदिकमार्गको भली प्रकार प्रवृत्त करती है। इस उषाके द्वारा हम देवताओंके हितकारी अन्नको प्राप्त करें और शोभन पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न रहते हुए सौ हेमन्त ऋतुओं-सौ वर्षों-तक आनंद पावें १

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५५६)

"इन्द्रस्य बाहू" इति चतुर्थं सूक्तम् अप्रतिरथसंज्ञकम्। तस्य "गणावायुष्यवर्चस्यौ तथाप्रतिरथं स्मृतम्" इति शान्तिकल्पे [न० क० २३] "अप्रतिरथं जपित्वा" इति वैतानपरिशिष्टादिषु च [वै० ३. ३, प० ६. ४] यत्रयत्र अप्रतिरथसंज्ञया विनियोगश्चोद्यते तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

"इन्द्रस्य बाहू" यह चतुर्थसूक्त अप्रतिरथसंज्ञक है। वैतानसूत्र वा नक्षत्रकल्प आदिमें जहाँ २ अप्रतिरथशब्दसे वर्णन आवे तहाँ सर्वत्र इसी सूक्तको समझना चाहिये। यथा–"गणावायुष्यवर्चस्यौ तथाप्रतिरथं स्मृतम्" (नक्षत्रकल्प २३) "अप्रतिरथं जपित्वा" (वैतानपरिशिष्ट ३। ३)

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।

तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्व१र्यत् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य। बाहू इति। स्थविरौ। वृषाणौ। चित्रा। इमा। वृषभौ। पारयिष्णू इति।

तौ । योक्षे । प्रथमः । योगे । आऽगते । याभ्याम् जितम् । असु-

राणाम् । स्वः । यत् ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते शत्रुधर्षणसमर्थ इन्द्रः स्तूयते । स हि स्वबाहुभ्यामेव परान् हिनस्तीति तावेव प्रथमं स्तूयेते । स्थविरौ नाम स्थूलौ पुष्टौ महान्तौ वृषाणौ अभिमतफलवर्षकौ । "आभयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्" इति हि मन्त्रान्तरम् [७. २७. ८] । शस्त्रास्त्रवर्षकौ वा चित्रौ चायनीयौ सर्वैः श्लाघनीयौ । ❀चायृ पूजानिशामनयोः इत्यस्माद् उत्पन्नश्चित्रशब्द इति यास्को मन्यते [नि० १२. ६]❀ । कटकाङ्गदादिभिराभरणैर्नानावर्णौ वा इमा इमौ परिदृश्यमानौ वृषभौ । लुप्तोपमम् एतत् । वृषभौ पुंगवाविव दुर्लङ्घितौ पारयिष्णू प्रक्रान्तशत्रुहननकर्म समाप्तिं गमयन्तौ निःशेषं शत्रून् मर्दयन्तौ याविन्द्रस्य परमैश्वर्यसंपन्नस्य देवस्य बाहू विद्येते तौ बाहू प्रथमः सर्वेभ्य उपासकेभ्यः पूर्वभावी सन् यक्षे पूजयामि प्रोत्साहयामि । ❀ यजतेर्लेटि "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । "टित आत्मनेपदानाम्०" इति टेरेत्वम् ❀ । किमर्थं योजनम् । योगे आगते च । अप्राप्यप्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः । अत्र आगतशब्देन क्षेम उच्यते । योगक्षेमार्थं यक्षे इति संबन्धः । याभ्यां बाहुभ्याम् असुराणाम् देवविद्वेषिणां स्वर्यत् स्वः स्वर्गं तत्र निवासिनो देवान् वा यत् गच्छत् बाधकत्वेन प्राप्नुवत् बलं शारीरं सेनालक्षणं च वीर्यं जितम् पराजितम् । निरस्तम् इत्यर्थः ॥

[इस ऋचामें शत्रुओंको दबानेमें समर्थ इन्द्रकी स्तुति की गई है, यह इन्द्रदेव अपनी भुजाओंसे ही शत्रुओंका संहार करते हैं अत एव उन भुजाओंकी ही पहिले स्तुति करते हैं, कि—] जिन भुजाओंने देवद्वेषी असुरोंके स्वर्गको जीत लिया है उन इन्द्रकी

मोटी और शस्त्रकी वर्षा करने वाली या अभिमत फलकी वर्षा करने वाली † कटक अङ्गद आदिसे विभूषित, वृषभकी समान शत्रुहनन कर्मको पार लगाने वाली भुजाओंकी मैं योगक्षेमके लिये प्रार्थना करता हूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभ-णश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साक-मिन्द्रः ॥ २ ॥

आशुः । शिशानः । वृषभः । न । भीमः । घनाघनः । क्षोभणः । चर्षणीनाम् ।
सम्ऽक्रन्दनः । अनिऽमिषः । एकऽवीरः । शतम् । सेनाः । अजयत् । साकम् । इन्द्रः ॥ २ ॥

आशुः शीघ्रकारी व्यापको वा । ❀ कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य० [उ० १. १] इति उण् प्रत्ययः ❀ । शिशानः तीक्ष्णीभवन्मतिः स्वाभिमतसंपादने व्यग्रः । ❀ शो तनूकरणे । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । अभ्यासस्य च इत्वम् । श्यैङ् गतौ इत्यस्य वा । छान्दसो यलोपः ❀ । वृषभो न वृषभ इव भीमः भयंकरः घनाघनः हन्ता शत्रूणाम् ।

† सातवें काण्डके सत्ताईसवें सूक्तके अष्टम मन्त्रमें भी कहा है, कि—"आमयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ।—दाईं और बाईं भुजा से धन दीजिये" ॥

❀ हन्तेः पचाद्यचि "हन्तेर्घत्वं च" इति द्विर्वचनम् । अभ्यासस्य आगागमः । घत्वं च धात्वभ्यासयोः ❀ । चर्षणीनाम् मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभयिता । ❀ "कृत्यल्युटः०" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । मारुपि वर्षादिना कर्षकादीन् युद्धे परसेना वा विक्षोभयन् संक्रन्दनः युद्धे रिपूणाम् आह्वाता क्रन्दयिता वा स्तनयित्नूनां वा शब्दयिता अनिमिषः अनिमेषचक्षुः । ❀ मिषतेः "घञर्थे कविधानम्" इति कः । ततो बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति अन्तोदात्तत्वम् एकवीरः एकविक्रान्तः असहाय एव कार्यसमर्थः ईदृश इन्द्रः शतम् बह्वीः सेनाः परकीयाः साकम् सहैव एकप्रकारेण अजयत् जयति । तस्मात् तमेवाश्रयत इष्टसिद्ध्यर्थम् इति शेषः ॥

शीघ्रता करने वाले, अपने प्रयोजनको साधनेके लिये बुद्धिको तीक्ष्ण बनाने वाले, वृषभकी समान भयंकर, शत्रुओंके संहारक, मनुष्योंको क्षुब्ध करने वाले अर्थात् वर्षामें किसानोंको और युद्धमें शत्रुकी सेनाको क्षुब्ध करने वाले, बिजलियोंको कड़काने वाले, पलक न मारने वाले, बिना किसीकी सहायताके ही अकेले ही कार्य करनेमें समर्थ इन्द्रदेव शत्रुओंकी अनेकों सेनाओं को एक साथ ही जीत लेते हैं, अत एव इष्टसिद्धिके लिये उनका ही आश्रय लो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनायोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।

तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥

सम्ऽक्रन्दनेन । अनिऽमिषेण । जिष्णुना । अयोध्येन । दुःऽच्यवनेन । धृष्णुना ।

तत् । इन्द्रेण । जयत । तत् । सहध्वम् । युधः । नरः । इषुऽहस्तेन । वृष्णा ॥ ३ ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण व्याख्यातौ । संक्रन्दयित्रा अनिमिषचक्षुषा जिष्णुना जयशीलेन योध्येन युद्धसंसक्तेन । ❀ युध संप्रहारे । "ऋहलोर्ण्यत्" । "शकि लिङ् च" इति शक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः ❀ । दुश्च्यवनेन दुःखेन च्यावयितुं शक्येन अविचाल्येन । ❀ "छन्दसि गत्यर्थेभ्यः" इति युच् ❀ । धृष्णुना प्रसहनशीलेन इषुहस्तेन । ❀ इषवो बाणा हस्ते यस्येति बहुव्रीहौ "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इति परनिपातः ❀ । वृष्णा वर्षित्रा कामानाम् इन्द्रेण यथोक्तगुणसंपन्नेन सहायेन हे युधः योद्धारः हे नरः मनुष्याः । ❀ "विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्" इति पूर्वस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधाद् द्वितीयं निहन्यते ❀ । योद्धारः शूराः यूयं तज्जयत । जेतव्यम् इति सामर्थ्याल्लभ्यते । किं च तेनैव इन्द्रेण सहायेन तत् सहध्वम् अभि भवनीयम् इति अभिभवत।

शत्रुओंको रुलाने वाले, पलक न मारने वाले, विजयशील, युद्धमें आसक्त, कठिनतासे च्युत करने योग्य, दबाने वाले, बाणधारी, कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्रदेवकी सहायतासे हे शूरो ! तुम विजय पाओ, और इन ही इन्द्रदेवकी सहायतासे तुम दबाने योग्यको दबाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ।

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्यूर्ध्वधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥

सः । इषुऽहस्तैः । सः । निषङ्गिऽभिः । वशी । सम्ऽस्रष्टा । सः । युधः । इन्द्रः । गणेन ।

संसृष्टऽजित् । सोमऽपाः । बाहुऽशर्धी । उग्रऽधन्वा । प्रतिऽहिताभिः । अस्ता ॥ ४ ॥

इषुहस्तैः इषवो हस्तेषु येषां तैरुपलक्षितः स इन्द्रः निषङ्गिभिः इषुधियुक्तैर्धन्विभिः । निषङ्गशब्देन सर्वदा हस्ते संबध्यमानो गृह्यमाणः खड्गादिरुच्यते । तद्वद्भिः सहितः स इन्द्रः वशी वशैः वश्यैर्वशवर्तिभिरनुचरैस्तद्वान् स च इन्द्रः संस्रष्टा । संयोजनशीलः । केन संस्रष्टा । गणेन । सामर्थ्यात् परकीयो गणो विवक्ष्यते । परकीयेन सैन्येन एकीभवनशीलः । किं कुर्वन् । युधः युध्यमानः । ❀ इगुपधलक्षणः कः ❀ । यद्वा युधः युद्धाद्धेतोः । ❀ "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । न केवलं संस्रष्टा अपि तु संसृष्टजित् संसृष्टानां संघीभूतानाम् अभिमुखम् आगतानां वा जेता सोमपाः सोमस्य पाता बाहुशर्धी । शर्धो बलम् । बाहुबलवान् । ❀ मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ शृधु प्रसहने ❀ । बाहुभ्यां शर्धयति अभिभवतीति बाहुशर्धी । ❀ "सुप्यजातौ०" इति णिनिः ❀ । उग्रधन्वा भयंकरधनुष्कः । ❀ "धनुषश्च" इति अनङ् समासान्तः ❀ । प्रतिहिताभिः परशरीरे प्रेरिताभिरिषुभिः अस्ता परेषां क्षेप्ता मारयिता । ❀ असु क्षेपणे । तृचि "रधादिभ्यश्च" इति इड्विकल्पः ❀ । एतादृशगुणोपेत इन्द्रो वर्तते । तादृशेन इन्द्रेण जयत तत् सहध्वम् इति ॥

अपने हाथमें बाणको धारण करने वाले, और खड्गधारी भटोंसे संयुक्त यह इन्द्रदेव अपने वशवर्ती अनुचरोंको रखते हैं और उनको युद्ध करते समय शत्रुदलसे भिड़ा देते हैं और

यह युद्ध करनेको आने वालोंको जीत लेते हैं, सोमका पान करने वाले हैं, भुजबली हैं, इनका धनुष प्रचण्ड है और बाणोंको फेंक कर शत्रुओंका संहार कर डालते हैं, ऐसे इन्द्रदेवकी कृपासे हे शूरों! तुम विजय पाओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥ ५ ॥

बलऽविज्ञायः । स्थविरः । प्रऽवीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ।
अभिऽवीरः । अभिऽसत्वा । सहःऽजित् । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । आ । तिष्ठ । गोऽविदन् ॥ ५ ॥

बलविज्ञायः परस्य बलं विजानातीति । ॐ "कर्मण्यण्" ॐ । यद्वा अयं मम बलम् इति सर्वैर्बलत्वेन विज्ञायत इति बलविज्ञायः । सर्वस्य बलभूत इत्यर्थः । ॐ "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ् ॐ । स्थविरः महान् पुरातनो वा प्रवीरः प्रकर्षेण वीरः शूरः । यद्वा भगतान् परागतबलानपि वीरयतीति प्रवीरः सहस्वान् अभिभवनशक्तिमान् वाजी बलवान् वेगवान् वा सहमानः अभिभवन् शत्रून् उग्रः उद्गूर्णबलः अभिवीरः अभितो वीरा बलवन्तः अनुचरा यस्य सः अभिषत्वा अभिषदनशीलः शत्रुसेनाभिगमनशीलः । ॐ सदेः क्वनिप् । दकारस्य तकारः । "सदिरप्रतेः"

इति यत्वम् । यद्वा सत्वनो वीरान् अभिभवतीति अभिसत्वा । सांहितिको मूर्धन्यादेशः ❀ । सहोजित् शात्रवीयबलस्य जेता गोविदन् गाः परकीया धेनूः स्वकीयत्वेन जानन् परगवीः स्वाधीनाः कुर्वन् । ❀ वेत्तेः शतृप्रत्ययः । "पूरणगुणसुहित०" इति षष्ठीसमासप्रतिषेधो न भवति । छन्दसि सर्वविधीनां विकल्पितत्वात् ❀ । हे इन्द्र एवं गुणविशिष्ट स त्वं जैत्रम् जयशीलं रथम् आ तिष्ठ अस्मदर्थं रथम् आरोढुम् अर्हसि ॥

इन इन्द्रदेवको सब अपना बल मानते हैं, यह महान् हैं, प्रचण्ड बली हैं, दबानेकी शक्ति रखते हैं, अन्नवान् हैं, शत्रुओंको दबाने वाले और प्रचण्ड बली हैं, इनके अनुचर बलवान् हैं शत्रुसेना की ओर बढ़ना इनका स्वभाव है, यह शत्रुओंके बलको जीत लेते हैं, शत्रुओंकी गौओंको अपने आधीन कर लेते हैं हे इन्द्र ! आप ऐसे गुणोंसे सम्पन्न हैं, इस कारण आप हमारे लिये विजयशील रथ पर आरूढ़ हूजिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ६ ॥

इमम् । वीरम् । अनु । हर्षध्वम् । उग्रम् । इन्द्रम् । सखायः । अनु । सम् । रभध्वम् ।

ग्रामऽजितम् । गोऽजितम् । वज्रऽबाहुम् । जयन्तम् । अज्म । प्रऽमृणन्तम् । ओजसा ॥ ६ ॥

हे सखायः समानख्यानाः समानबुद्धिकर्माणो योद्धारो यूयम् इमं शत्रुधर्षणसमर्थं वीरम् विक्रान्तम् अत एव उग्रम् उद्गूर्णबलम् इन्द्रम् अनु हर्षध्वम्। एनं वीरम् अग्रतः कृत्वा यूयं पश्चाद् उत्साहिनो भवत। ❀ हृष तुष्टौ। "कर्तरि शप्" इति शपेव जातः शपेवोत्पन्नः। तस्यापवादत्वेन श्यनोऽनुत्पत्तिश्छान्दसी आत्मनेपदं च ❀। तथा इन्द्रम् अनु सं रभध्वम् शत्रुहननाय संरब्धम् उद्योगवन्तम् इन्द्रम् अनु स्वयमपि उद्योगिनो भवत। ❀ रभ राभस्ये ❀। इन्द्रं विशिनष्टि। ग्रामजितम् शत्रुसंघस्य जेतारम्। अथ वा ग्रामस्य शत्रुपुरस्य जेतारम् गोजितम् शत्रुगवीनां जेतारं वज्रबाहुम् वज्रं बाहौ यस्येति। ❀ "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इति परनिपातः ❀। जयन्तं शत्रून् अज्म अजनशीलम्। ❀ सुपो लुक् ❀। यद्वा अज्म अजन्ति अत्र योद्धार इति युद्धस्थानम्। ❀ अधिकरणे मनिन् प्रत्ययः ❀। युद्धस्थानं जयन्तम् इति। ओजसा वीर्येण प्रमृणन्तम् प्रकर्षेण हिंसन्तं परसैन्यानि। ❀ मृण हिंसायाम्। तौदादिकः ❀॥

हे समान बुद्धि और कर्म वाले योधाओं! तुम इन शत्रुओंको दबानेकी शक्ति रखने वाले प्रचण्ड वीर इन्द्रको आगे करके उत्साहित होओ, और शत्रुहननके लिये उद्योग करते हुए इन्द्रके साथ २ तुम भी शत्रु हननका उद्योग करो, यह इन्द्रदेव शत्रुओंके ग्रामोंको जीतने वाले हैं, शत्रुओंकी गौओंको जीतने वाले हैं, इनकी भुजाएँ वज्रकी समान कड़ी हैं, युद्धस्थलका विजय करने वाले हैं और अपने वीर्यसे शत्रुओंकी सेनाको मसलने वाले हैं ६

सप्तमी ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।

दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३स्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ७ ॥

अभि । गोत्राणि । सहसा । गाहमानः । अदायः । उग्रः । शतऽमन्युः । इन्द्रः ।

दुःऽच्यवनः । पृतनाषाट् । अयोध्यः । अस्माकम् । सेनाः । अवतु । प्र । युत्ऽसु ॥ ७ ॥

गोत्राणि गोः उदकस्य त्राणि त्रायकाणि युद्धक्षेत्राणि वा सहसा बलेन अभि गाहमानः आभिमुख्येन प्रविशन् अदायः निर्दयो निप्राणेष्वविद्यमानकरुणः । ❀ दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । अस्मात् घञि बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्०" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । उग्रः उद्गूर्णबलो वीरः शतमन्युः बहुविधक्रोधः दुश्च्यवनः च्यावयितुं युद्धाङ्गणाद् अपसारयितुम् अशक्यः । ❀ "छन्दसि गत्यर्थेभ्यः" इति युच् ❀ । पृतनाषाट् परसेनानाम् अभिभविता । ❀ "छन्दसि सहः" इति ण्विः । "सहेः साडः सः" इति मूर्धन्यादेशः ❀ । अयोध्यः योद्धुं संप्रहर्तुम् अशक्यः ईदृश इन्द्रः युत्सु युद्धेषु । ❀ संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । अस्माकं सेनाः प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु ॥

युद्धक्षेत्रोंमें सहसा प्रवृत्त होकर उनमें सामनेको घुसे चले जाने वाले दण्ड्य प्राणियों पर निष्करुण, प्रचण्डबली, अनेक प्रकार के क्रोध वाले, युद्धाङ्गणसे हटानेको अशक्य, शत्रुसेनाओंको दबाने वाले और जिनसे कोई युद्धमें डट नहीं सकता, ऐसे इन्द्रदेव युद्धोंमें हमारी सेनाकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।

प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्

बृहस्पते । परि । दीय । रथेन । रक्षःऽहा । अमित्रान् । अपऽबाधमानः ।

प्रऽभञ्जन् । शत्रून् प्रऽमृणन् । अमित्रान् । अस्माकम् । एधि । अविता । तनूनाम् ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते बृहतां देवानां पते पालक त्वं रथेन परि दीय । ❀ दीयतिर्गतिकर्मसु पठ्यते । छान्दसो धातुः । अथ वा दीङ् क्षये । अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् अत्र गत्यर्थः ❀ । युद्धभूमिं परितो गच्छ व्याप्नुहि । रक्षोहा रक्षसां हन्ता अमित्रान् शत्रून् । ❀ अम गत्यादिषु । अस्माद् इत्रप्रत्ययः ❀ । अपबाधमानः सर्वतो नाशयन् । ❀ "लक्षणहेत्वोः०" इति हेत्वर्थे शानच् ❀ । बाधनेन हेतुना सर्वतो गच्छ ॥ शत्रून् प्रभञ्जन् प्रकर्षेण मर्दयन् । ❀ भञ्जो आमर्दने रौधादिकः ❀ । अमित्रान् शत्रून् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् ईदृशस्त्वम् अस्माकं तनूनाम् शरीराणाम् अविता रक्षिता एधि भव । ❀ अस्तेर्लोटि "ध्वसोरेद्धौ०" इति हेध्यादेशः एत्वं च ❀ ॥

हे बड़े २ देवताओंके पालक ! आप राक्षसोंका संहार करने वाले हैं आप हमारे शत्रुओंका संहार करते हुए रथके द्वारा युद्ध में व्याप्त होजाइये । आप हमारे शत्रुओंको मारिये और अमित्रों को मसलिये और हमारे शरीरकी रक्षा करते हुए वृद्धिको प्राप्त हूजिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

इन्द्र एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये

इन्द्रः । एषाम् । नेता । बृहस्पतिः । दक्षिणा । यज्ञः । पुरः । एतु ।
सोमः ।
देवऽसेनानाम् । अभिऽभञ्जतीनाम् । जयन्तीनाम् । मरुतः । यन्तु ।
मध्ये ॥ ६ ॥

अभिभञ्जतीनाम् अस्मदमित्रान् आभिमुख्येन भङ्क्तुं मर्दयितुम् । ॐ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः । "छन्दस्युभयथा" इति नाम उदात्तत्वम् ॐ । भञ्जनेन हेतुना जयन्तीनाम् जयनशीलानाम् । ॐ जयन्तीनाम् इत्यत्र बहुलवचनाद् नाम उदात्तत्वं न भवति ॐ। एषाम् अस्मदर्थं प्रवर्तमानानाम् एषाम् । ॐ लिङ्गव्यत्ययः ॐ । आसाम् देवसेनानाम् इन्द्रो नेता अस्तु । बृहस्पतिः पुरः पुरस्ताद् एतु दक्षिणा च यज्ञश्च सोमश्च पुर एतु । इति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् । दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि बृहस्पतिरेतु यज्ञः सोमश्च पुरस्ताद् एतु इति केचिद् व्याचक्षते । तदा दक्षिणशब्दाद् "दक्षिणाद् आच्" इति आचि कृते "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । यथा "सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञम् अभिनक्षमाणाः" [१८. १. ४२, ऋ० १०. १७. ६]इत्यत्र दक्षिणाशब्दः अन्तोदात्तः पठ्यते एवम् अत्रापि स्यात् । अतः यज्ञे दीयमाना गोरूपा दक्षिणा अत्र विवक्षिता । ॐ दक्ष वृद्धौ । द्रुदक्षिभ्याम् इनन् [उ० २. ५०] इति इनन्प्रत्यये कृते "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वं सिध्यति । दिगाख्याने वा व्यत्ययेन आद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ॐ। तथा मरुतो देवताश्च देवसेनानां मध्ये यन्तु गच्छन्तु ॥

हमारे शत्रुओंका मर्दन करनेके लिये विजय करती हुई देवसेनाओंके इन्द्र नेता बनें, बृहस्पति इसके पूर्वभागमें चलें, और दक्षिणकी ओरसे सोम और यज्ञ चलें, और मरुत् देवता इन देवसेनाओंके मध्यमें चलें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ १० ॥

इन्द्रस्य । वृष्णः । वरुणस्य । राज्ञः । आदित्यानाम् । मरुताम् । शर्धः । उग्रम् ।
महाऽमनसाम् । भुवनऽच्यवानाम् । घोषः । देवानाम् । जयताम् । उत् । अस्थात् ॥ १० ॥

वृष्णः कामानां वर्षितुः शस्त्रास्त्राणां वा सातत्येन प्रक्षेप्तुः इन्द्रस्य राज्ञः राजनशीलस्य वरुणस्य शत्रुनिवारकस्य एतत्संज्ञकस्य देवस्यापि आदित्यानाम् अदितिपुत्राणां देवानां मरुतां च उग्रम् उद्गूर्णं शर्धः शत्रुप्रसहनसमर्थं बलम् उद् अस्थात् उत्तिष्ठतु शत्रून् हन्तुम् आविर्भवतु । ❀ शृधु प्रसहने । अस्माद् असुन् प्रत्ययः ❀ । ततः महामनसाम् अदीनमनसां भुवनच्यवानाम् च्यावयितुं समर्थानां भुवनेभ्यो लोकेभ्यो वा शत्रूंश्च्यावयितुं शक्तानाम् । ❀ च्यवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् पचाद्यच् ❀ । जयताम् शत्रून् विनाशयतां देवानां सर्वेषामपि घोषः जयध्वनिः उद् अस्थात् उत्तिष्ठतु ॥

शस्त्र और अस्त्रोंकी वर्षा करने वाले इन्द्रदेवका, शत्रुओंको हटाने वाले वरुणदेवका, अदितिपुत्रोंका, और मरुत्-देवताओं का शत्रुओंको दबानेमें समर्थ प्रचण्ड बल शत्रुओंका हनन करनेके लिये प्रकट हो और महायशस्वी, शत्रुओंको लोकसे भी च्युत करनेमें समर्थ, जीतने वाले सब देवताओंकी जयध्वनि यहाँ प्रकट होवे

एकादशी ॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोवता हवेषु

अस्माकम् । इन्द्रः । सम्ऽऋतेषु । ध्वजेषु । अस्माकम् । याः ।
इषवः । ताः । जयन्तु ।
अस्माकम् । वीराः । उत्ऽतरे । भवन्तु । अस्मान् । देवासः ।
अवत । हवेषु ॥ ११ ॥

ध्वजेषु ध्वजवत्सु ।❀ अर्श आदित्वाद् मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः❀। संग्रामेषु समृतेषु । ❀ ऋतेः "गत्यर्थाकर्मक०" इति कर्तरि क्तप्रत्ययः ❀ । संमासेषु सत्सु अस्माकम् इन्द्र एव । रक्षिता भवत्विति शेषः । अस्माकं या इषवः इष्यमाणाः प्रेर्यमाणाः शरास्ता जयन्तु शत्रून् । यद्वा इषुशब्देन इषुमन्तो योधा लक्ष्यन्ते । ❀ लुप्त-मत्वर्थीयो निर्देशः ❀ । इषुमन्तो योधा जयन्तु ॥ अस्माकं संबन्धिनो वीराः विक्रान्तकर्माणः पुरुषा उत्तरे भवन्तु जयेन उत्कृष्टा भवन्तु ॥ हे देवासः देवाः यूयमपि हवेषु । हूयन्ते आहूयन्ते परस्परं योद्धारो योद्धृभिरत्रेति हवाः संग्रामाः । तेषुः अस्मान् अवत रक्षत । यथा जयिनो भवेम तथा अनुपालयत । ❀ "अन्येषामपि दृश्यते" इति तिङन्तस्य दीर्घः ❀ ॥

इति द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

ध्वजा वाले संग्रामोंका अवसर आने पर इन्द्रदेव ही हमारे रक्षक होवें, हमारे छोड़े हुए बाण शत्रुओंको जीत लेवें, हमारे

वीर पुरुष विजय पाकर श्रेष्ठ बनें, हे देवताओं ! तुम भी युद्धमें हमारी रक्षा करो ॥ ११ ॥

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५५७)

"इदमुच्छ्रेयोऽवसानम्" इति एकर्चेन सूक्तेन साग्निपत्नीक आहिताग्निः प्रयाणे पर्यवसिते आज्यं जुहुयात् ॥

"इदमुच्छ्रेयोऽवसानम्" इस एक ऋचा वाले सूक्तसे साग्नि-पत्नीक आहिताग्नि प्रयाणके पर्यवसित होने पर घृतकी आहुति देय।

सैषा ऋग् एवम् आम्नायते ॥

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १ ॥

इदम् । उत्ऽश्रेयः । अवऽसानम् । आ । अगाम् । शिवे इति । मे । द्यावापृथिवी इति । अभूताम् ।

असपत्नाः । प्रऽदिशः । मे । भवन्तु । न । वै । त्वा । द्विष्मः । अभयम् । नः । अस्तु ॥ १ ॥

अवसानम् । अवस्यति परिसमाप्तं भवति प्रयाणम् अत्र स्थान इति अवसानम् । तद्रूपम् इदम् इदानीं गम्यमानं श्रेयः श्रेष्ठं फलम् उत् । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । उद्दिश्य आगाम् प्राप्तवान् अस्मि । ❀ इणो लुङि गादेशः ❀ । द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मम शिवे श्रेयःप्रदे अभूताम् भवताम् । ❀ भवतेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥ तथा मे मम प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्यादिमहादिशः असपत्नाः । सपत्नीव सपत्नः । ❀ अकार उपमार्थीयः । "यस्येति च" इति ईकारलोपः । एतत् सर्वं "व्यन्त्सपत्ने" इति निपातनात्

सिद्धम् ॐ । सपत्नरहिता बाधकहेतुकोपद्रवरहिता भवन्तु । ॐ "नञ्सुभ्याम्" इति अन्तोदात्तत्वम् ॐ ॥ भयहेतौ विद्यमाने कथं तत्कृतोपद्रवराहित्यम् इत्यत आह न वै त्वा द्विष्म इति । हे सपत्न त्वा त्वां न द्विष्मः द्विष्टं मा कुर्मः । वैशब्दः प्रसिद्धौ । त्वद्विषये मया द्वेषो न क्रियत इति सर्वे जानन्तीत्यर्थः । अतो नः अस्माकम् अभयं भयराहित्यम् अस्तु । ॐ "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति नञः प्रकृतिस्वरत्वम् ॐ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

जहाँ पर चलना पूर्ण होता है उस श्रेष्ठ फलात्मक स्थानमें मैं आगया हूँ, द्युलोक और पृथिवीलोक मुझे कल्याण प्रदान करें, और पूर्व आदि चारों दिशाएँ बाधक उपद्रवसे शून्य होवें—वा शत्रुरहित होवें, हे सपत्न ! हम तुझसे द्वेष नहीं रखते अत एव हमको अभय प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५५८)

"यत इन्द्र भयामहे" इत्यस्य सूक्तस्य अभयगणे पाठाद् "अभयगणोऽभयायाम्" इति [न० क० १८]

"आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः" इति [प० ५. ३.]

"अभयेनोपतिष्ठते" [शा० क० १६]

इति नक्षत्रकल्पशान्तिकल्पपरिशिष्टादिषु गणप्रयुक्तो विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

"यत इन्द्र भयामहे" सूक्तका अभयगणमें पाठ है, अत एव नक्षत्रकल्प शान्तिकल्प परिशिष्ट आदिमें गणप्रयुक्त विनियोग समझना चाहिये । यथा—"अभयगणोऽभयायाम् ।—अभया शान्तिमें अभयगण आता है" (नक्षत्रकल्प १८) । "आयुष्याभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः" (अथर्वपरिशिष्ट ५ । ३) । "अभयेनोपतिष्ठते" (शान्तिकल्प १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यत॑ इन्द्र भयामहे ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि ।
मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्विषो॒ वि मृधो॑ जहि ॥

यतः॑ । इन्द्र॑ । भयामहे । ततः॑ । नः॒ । अभ॑यम् । कृ॒धि॒ ।
मघ॑ऽवन् । श॒ग्धि । तव॑ । त्वम् । नः॒ । ऊ॒तिऽभिः॑ । वि । द्विषः॑ ।
वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

हे इन्द्र अभयंकर यतः यस्माद्धेतोः भयामहे बिभीमः भीतिं प्राप्नुमः । ❀ बिभेतेः सामान्यविहितः कर्तरि शबेवोत्पन्नः । यद्वा लेटयाडागमः । उभयत्र व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति यत इत्यत्र अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ । ततः तस्माद्द भयहेतोः नः अस्माकम् अभयम् भयराहित्यम् उपद्रवपरिहारं कृधि कुरु । ❀ करोतेर्लोटि विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणुपृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ । किं च हे मघवन् धनवन् इन्द्र त्वं तव तत्संबन्धिनीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः नः अस्मान् रक्षितुम् इति शेषः । शग्धि शक्तः समर्थो भव । ❀ शकेः प्राप्तकाले लोट् ❀ । भयहेतोः सपत्नात् सकाशाद्द बिभ्यतोऽस्मांस्त्वदीयैः पालनैः पालयितुम् अयं प्राप्तः काल इत्यर्थः । ❀ शकेर्लोटि विकरणस्य लुक् छान्दसः । झलन्तत्वात् हेर्धिरादेशः ❀ । अनन्तरं द्विषः द्वेष्टॄन् अस्मदीयान् शत्रून् वि जहि विशेषेण छिन्द्धि । मृधः शत्रुसंबन्धिनः संग्रामांश्च वि जहि विशेषेण नाशय । यद्वा द्विषो मृध इति बाह्याभ्यन्तररूपा द्विविधाः शत्रवो विवक्षिताः । संनिहिता असंनिहिताश्चेति वा ॥

हे अभयप्रद इन्द्रदेव ! हम जिस कारणसे डर रहे हैं उपद्रवको दूर कर उस भयहेतुसे हमको बचाइये। और हे धनवान् इन्द्र ! आप अपनी रक्षक शक्तियोंसे हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हूजिये। तात्पर्य यह है, कि-शत्रुके भयसे हम डर रहे हैं अत एव अपनी रक्षकशक्तियोंके अब दिखानेका समय है। तथा आप हमारे शत्रुओं को काटिये और संग्रामोंको नष्ट करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय

इन्द्रम् । वयम् । अनुऽराधम् । हवामहे । अनु । राध्यास्म । द्विऽपदा । चतुःऽपदा ।
मा । नः । सेनाः । अररुषीः । उप । गुः । विषूचीः । इन्द्र । द्रुहः । वि । नाशय ॥ २ ॥

अनुराधम् अनुक्रमेण राधनीयं पूजनीयम् । सर्वेपि स्वस्वकार्यार्थम् इन्द्रम् एव प्रार्थयन्ते । तथा च दाशतय्याम् आम्नायते । "इन्द्रं परेवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोवसितास इन्द्रम् । इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते" [इति ऋ० ४. २५. ८] । ❀ अनुपूर्वाद् राधतेः कर्मणि घञ् "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये०" इति अनोः सांहितिको दीर्घः ❀ । ईदृशम् इन्द्रं वयं हवामहे स्वेष्टसिद्ध्यर्थम् आह्वयामः । इन्द्रप्रार्थनया वयं द्विपदा पादद्वयोपेतेन पुत्रभृत्यादिना चतुष्पदा पादचतुष्टयोपेतेन गवाश्वादिना च अनु राध्यास्म अनुक्रमेण संपन्ना भूयास्म । पुत्रभृत्यगवादिरूपाभिमतफलसमृद्धा भवेम । ❀ राध साध संसिद्धौ । आशीर्लिङि

रूपम् ❀ ॥ किं च अरुषीः अदाव्यः अभिमतफलप्रतिबन्धिकाः सेनाः शात्रवीया नः अस्मान् मोप गुः मोपगच्छन्तु समीपं मा प्राप्नुवन्तु । ❀ अरुषीरिति । नञ्पूर्वाद् रातेः क्वसौ "उगितश्च" इति ङीपि "वसोः संप्रसारणम्" । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः ❀ । न केवलं समीपप्राप्त्यभावः किंतु हे इन्द्र विषूचीः विष्वगञ्चना सर्वतो व्याप्ता द्रुहः द्रुह्यन्तीस्ताः शत्रुसेना वि नाशय विशेषेण जहि ॥

हम सबसे ही पूजनीय † इन्द्रदेवका अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये आह्वान करते हैं । इन्द्रकी प्रार्थना करनेसे हम दो पैर वाले पुत्र आदिसे और चार पैर वाले गौ घोड़े आदिसे क्रमशः सम्पन्न होवें; हमारे अभिमत फलमें बाधा डालने वाली शत्रुसेना हमारे पास न फटक सके । और हे इन्द्र ! आप चारों ओर व्याप्त शत्रुदलको पूर्णरीतिसे समाप्त कर दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः ।

स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥

† सब ही अपने कार्यकी सिद्धिके लिये इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं । ऋग्वेदसंहिता ४ । २५ । ८ में भी लिखा है, कि—"इन्द्रं परेऽवरे । मध्यमास इन्द्रं यान्तो वसितास इन्द्रम् । इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमानाः इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ।—उत्कृष्ट और निकृष्ट तथा मध्यम श्रेणीके पुरुष भी रक्षकको पानेके लिये इन्द्रका आह्वान करते हैं । क्षीण होते हुए युद्ध करते हुए वा अन्न चाहते हुए पुरुष भी इन्द्रका आह्वान करते हैं" ॥

इन्द्रः । त्राता । उत । वृत्रहा । परस्फानः । वरेण्यः ।

सः । रक्षिता । चरमतः । सः । मध्यतः । सः । पश्चात् । सः ।

पुरस्तात् । नः । अस्तु ॥ ३ ॥

उत अपि च वृत्रहा वृत्रम् आवरकम् असुरं मेघं वा हतवान् इन्द्रः त्राता रक्षिता भवतु । सामान्येन उक्त्वा विशेषत आह । वरेण्यः वरणीय इन्द्रः नः अस्माकं परस्पाः परेभ्यः पाता रक्षिता । ❁ सकारोपजनश्छान्दसः ❁ । परः परस्ताद्वा पाता । उत्तरत्र प्राच्यादिदिग्भ्यो रक्षितेति वदति तद्व्यतिरिक्ताभ्यो दिग्भ्यो रक्षितेत्यर्थः । ❁ पातेर्विच् ❁ । स एव इन्द्रः चरमतः अन्ते । ❁ सार्वविभक्तिकस्तसिः ❁ । तत्र रक्षिता मध्यतः मध्यदेशे । सर्वत्र स इत्युक्तिः अवश्यरक्षणीयत्वद्योतनार्थम् । पश्चात् पृष्ठभागे पुरस्तात् पुरोभागे नः अस्माकं रक्षिता अस्तु भवतु ॥

वृत्रासुर वा आवारक मेघको ताड़ित करने वाले इन्द्रदेव हमारे रक्षक बनें । वरणीय इन्द्र शत्रुओंसे हमारी रक्षा करें । यह इन्द्रदेव अन्तमें मध्यमें पीछे और सामने सर्वत्र हमारे रक्षक होवें ३

चतुर्थी ॥

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥

उरुम् । नः । लोकम् । अनु । नेषि । विद्वान् । स्वः । यत् ।

ज्योतिः । अभयम् । स्वस्ति ।

उग्रा । ते । इन्द्र । स्थविरस्य । बाहू इति । उप । क्षयेम । शरणा । बृहन्ता ॥ ४ ॥

हे इन्द्र विद्वान् सर्वं जानानस्त्वं नः अस्मान् उरुम् विस्तीर्णं लोकम् इमम् अमुं च अनु नेषि अनुप्रापय । ❀ नयतिर्द्विकर्मकः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् ❀ । स्वर्यत् स्वः स्वर्गं सर्वं वा यत् गच्छद् व्याप्नुवद् वा ज्योतिः आदित्याख्यं स्वस्ति । अविनाशिनाम । अभयम् भयरहितं क्षेमप्रदं च अस्तु । भयहेतुनिबन्धनोपद्रवपरिहारकं क्षेमादिसकलाभीष्टप्रदं च भवतु ॥ हे इन्द्र स्थविरस्य महतः पुरातनस्य वा ते तव संबन्धिनौ उग्रा उद्गूर्णबलौ शरणा शरणौ शत्रुविशरणसमर्थौ । अथ वा शरणशब्दो रक्षितृवाची । सर्वस्य रक्षकौ बृहन्ता बृहन्तौ महान्तौ बाहू उप क्षियेम उपप्राप्नुयाम । शरणेति विधेयविशेषणम् । रक्षकत्वेन उपगच्छेम । ❀ क्षि निवासगत्योः । तौदादिकः । विधिर्लिङि रूपम् ❀ ॥

हे इन्द्र ! सबको जानते हुए आप हमें इस विशाल लोकको और परलोकको प्राप्त कराइये । जो स्वर्गमें व्याप्त होने वाली आदित्य नामक ज्योति है वह भयरहित क्षेमको देने वाली हो, हे इन्द्र ! आप प्राचीन देवकी प्रचण्ड बड़ी शत्रुओंको विदीर्ण करने में समर्थ सबकी रक्षक भुजाओंको हम रक्षकरूपमें प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु

अभयम् । नः । करति । अन्तरिक्षम् । अभयम् । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति ।

अभयम् । पश्चात् । अभयम् । पुरस्तात् । उत्ऽतरात् । अधरात् ।

अभयम् । नः । अस्तु ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमलोकः नः अस्माकम् अभयम् भयराहित्यं करति कुर्यात् । ❀ करोतेः पञ्चमलकारे अडागमः ❀ । इमे सर्वप्राणिनिवासस्थानभूते परिदृश्यमाने उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अभयम् । करतीति अनुषज्यमानं क्रियापदम् अत्र द्विवचनान्तत्वेन विपरिणमयितव्यम् । कुर्याताम् । तथा पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उत्तरात् उदीच्यां दिशि अधरात् उत्तरप्रतियोगिकः अधरशब्दो दक्षिणदिग्वाची । दक्षिणस्यां दिशि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । ❀ "उत्तराधरदक्षिणादातिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ ॥

मध्यमलोक अंतरिक्ष हमको निर्भयता प्रदान करे, और ये सब प्राणियोंके निवासस्थानभूत द्यावापृथिवी हमको निर्भयता प्रदान करें और पश्चिमदिशामें पूर्वदिशामें उत्तर दिशामें और दक्षिण दिशामें हमको अभय प्राप्त हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ ६ ॥

अभयम् । मित्रात् । अभयम् । अमित्रात् । अभयम् । ज्ञातात् ।

अभयम् । पुरः । यः ।

अभयम् । नक्तम् । अभयम् । दिवा । नः । सर्वाः । आशाः । मम । मित्रम् । भवन्तु ॥ ६ ॥

मित्रात् सुहृदः अभयम् भयराहित्यम् अस्तु । सर्वदा हितकारी खलु पुरुषो मित्रम् तस्माद् भयप्रसङ्ग एव नास्ति किमर्थं भयराहित्यम् आशास्यते । सत्यम् । अत्र भयराहित्यं न प्रार्थ्यते किं तु भयव्यतिरिक्तं हितं फलं सर्वदा भवत्विति । ❀ अत्र नञ्स्तदन्यत्वम् अर्थः ❀ । तथा अमित्रात् । ❀ अमेर्द्विषत्यरः ❀ । शत्रोः सकाशाद् अभयम् अस्तु । अत्र भयपरिहारः प्रार्थ्यते । अमित्रं विशिनष्टि । ज्ञातात् द्वेष्टृत्वेन परिज्ञाताद् अमित्रात् । यः परः ज्ञाताद् अन्यः अपरिज्ञातः प्रकाशशत्रुर्न भवति किं तु गूढशत्रुः तस्माच्च अभयम् अस्तु । नक्तम् रात्रौ दिवा अहनि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । अहोरात्रयोरभयप्रार्थनेन कालनिबन्धनभयपरिहारः । सर्वा आशाः सर्वा दिशः मम अभयकामस्य मित्रम् मित्रवन्मित्रं सर्वदा हितकारिण्यो भवन्तु । अनेन सर्वतो भीतिनिवारणम् आशास्यते ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हमें मित्रसे अभय अर्थात् भयसे भिन्न हितकारक फल सदा प्राप्त हो, शत्रुसे हम निर्भय रहें, हम अन्यज्ञ शत्रुसे निर्भय रहें और अप्रत्यक्ष शत्रुसे भी हमको किसी प्रकारका भय प्राप्त न होवे, हमें दिन और रात्रिमें अभयता मिले सब दिशाएँ मुझ अभय चाहने वालेके साथ मित्रकी समान हितकारी होवें ॥६॥

द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५५९)

"असपत्नं पुरस्तात्" इति सूक्तचतुष्कस्य रात्रौ पुरोहितकर्तव्ये राज्ञः शय्यागृहप्रवेशकर्मणि अभिमन्त्रितशर्करायाः प्रतिदिशं प्रदक्षिणं प्रक्षेपे विनियोगः । "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "आयुष्यम् [५.

२८, ७] इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् [१९. १६] "इति शर्कराम् अभिमन्त्र्याङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्" इति [प० ४. ५] । असपत्नम् इत्येकेन प्रतीकेन समनन्तरं सूक्तत्रयं समानार्थत्वाद् गृह्यते । अत एव असपत्नम् इति अर्थसूक्तम् आथर्वणा व्यवहरन्ति ॥

"असपत्नं पुरस्तात्" इन चार सूक्तोंका रात्रिके पुरोहितके कर्तव्य, राजाके गृहप्रवेशकर्मके अभिमंत्रित रेतेको प्रत्येक दिशा में फेंकनेमें विनियोग होता है । इस विषयमें अथर्वपरिशिष्ट ४।५ का प्रमाण है, कि–"अथातो रात्रिसूक्तविधिं अनुक्रमिष्यामः ।० त्र्यायुषम् जमदग्ने (५ । २८ । ७) इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् (१९ । १६) इति शर्करां अभिमंत्र्यांगुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्" ।।–असपत्नम्–इस एक प्रतीकसे समीपके तीनों सूक्त भी समानार्थक होनेसे ग्रहण किये जाते हैं । अत एव अथर्ववेदी असपत्नम्को अर्थसूक्त कहते हैं ।

तत्र प्रथमा ॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम् ।

सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १ ॥

असपत्नम् । पुरस्तात् । पश्चात् । नः । अभयम् । कृतम् ।

सविता । मा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मा । शचीऽपतिः ॥ १ ॥

पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि असपत्नम् सपत्नराहित्यं शत्रुबाधापरिहारं नः अस्माकं कृतम् कुरुतम् । सामर्थ्याद् उत्तरार्धे निर्दिष्टौ सवितृशचीपती संबोध्येते । पश्चाच्च अभयं कुरुतम् । ॐ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । अमाङ्योगेपि छन्दसि अडभावः । करोतेर्लोटि वा शपो लुक् ॐ ॥ अथ परोक्षवचनः।

मा मां दक्षिणतः सविता सर्वस्य प्रेरको देवः । रक्षतु इति क्रिया-ध्याहारः । उत्तरात् उत्तरतः शचीपतिः शची इन्द्राणी तस्याः पतिरिन्द्रः मा मां रक्षतु ॥

हे सविता और शचीपति देवताओं ! तुम पूर्वदिशाको हमारे लिये शत्रुकी बाधासे शून्य करो और पश्चिम दिशाको भी हमारी लिये शत्रुरहित करो । दक्षिणकी ओरसे सविता देवता हमारी रक्षा करें और उत्तरकी ओरसे इन्द्रदेवता हमारी रक्षा करें ॥१॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम् ।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ २ ॥

दिवः । मा । आदित्याः । रक्षन्तु । भूम्याः । रक्षन्तु । अग्नयः ।
इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । मा । पुरस्तात् । अश्विनौ । अभितः । शर्म । यच्छताम् ।
तिरश्चीन् । अघ्न्या । रक्षतु । जातऽवेदाः । भूतऽकृतः । मे । सर्वतः । सन्तु । वर्म ॥ २ ॥

द्वितीया ॥ आदित्याः अदितेः पुत्राः सर्वे देवा दिवः द्युलोकात् मा मां रक्षन्तु । द्युलोकनिबन्धनेभ्योऽशन्यादिभ्यो दैवीभ्य आपद्भ्यो रक्षन्तु ॥ अग्नयः अङ्गनशीला गार्हपत्यादयस्त्रयोऽग्नयो भूम्याः सकाशात् रक्षन्तु भूमिहेतुकान् उपद्रवान् परिहरन्तु ।

❀ दिवो भूम्या इत्युभयत्र "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥ तथा पुरस्तात् पूर्वस्या दिशो मा माम् इन्द्राग्नी रक्षताम् पालयताम् । इन्द्रः पूर्वदिगभिमानी । आहवनीयाग्निरपि पूर्वदिगभिमुख एव प्रणीयते । अतस्तौ ततो रक्षितारौ भवताम् ॥ तथा अश्विना अश्विनौ सूर्यपुत्रौ देवानां भिषजौ नासत्यौ अभितः सर्वतः शर्म सुखं यच्छताम् प्रयच्छताम् । ❀ "पाघ्रा०" इत्यादिना दाणो यच्छादेशः ❀ ॥

तृतीया ॥ तिरश्चीनित्यादि । सैषा द्विपदा ऋक् । जातवेदाः जातानां वेदिता जातैर्विद्यमानो वा अग्निः तिरश्चीन् तिर्यगञ्चनान् अस्मान् रक्षतु । यद्वा तिरश्चीशब्देन विदिश उच्यन्ते । ❀ नकारोपजनश्छान्दसः ❀ । तिरश्चीः । ❀ पञ्चम्याः शसादेशः ❀ । तिरश्चीभ्यो दिग्भ्यो रक्षतु । ❀ तिरःपूर्वाद् "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे श्चुत्वेन शकारः । तिरश्चीनान् अस्मान् इति पक्षे तिर्यक्शब्दाद् "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति खः । तस्य ईनादेशे तिरश्चीन इति भवति । अत्र अन्त्यलोपश्छान्दसः । अमी रक्षतु इत्यत्र । "ढ्लोपे०" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । भूतकृतः भवनवताम् उत्पत्तिमतां प्राणिनां कर्तारो निर्मातारो देवाः । यद्वा भूता ग्रहपिशाचादयः । तेषां निकर्तितारो हिंसितारो देवाः । ❀ कृती छेदने । क्विप् ❀ । तादृशा देवा मे मम सर्वतः सर्वत्र वर्म परैरभेद्यं सुरक्षकं कवचं सन्तु भवन्तु ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

अदितिके पुत्र सब देवता द्युलोकसे मेरी रक्षा करें अर्थात् द्युलोकसे आने वाली अशनि आदि दैवी आपत्तियोंसे मेरी रक्षा करें, गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियें भूमिके उपद्रवोंसे मुझको बचावें, इन्द्र और अग्नि देवता पूर्वदिशामें मेरा पालन करें, तात्पर्य यह है, कि–इंद्र पूर्वदिशाके अभिमानी देवता हैं, और

आहवनीयाग्नि भी पूर्वदिगभिमुख ही प्रणीत होती है अतः वे दोनों पूर्वदिशामें मेरी रक्षा करें। देवताओंके वैद्य सूर्यके पुत्र अश्विनीकुमार चारों ओरसे मुझको सुख देवें। जातवेदा अग्निदेव दिशाओंसे हमारी रक्षा करें। भूत पिशाच आदिका दमन करने वाले देवता चारों ओरसे मेरे लिये अभेद्य कवचरूप होवें २

द्वितीय अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५६०)

"अग्निर्मा पातु" इति सूक्तद्वयस्य रात्रौ राज्ञः शय्यागृहप्रवेशानार्थं पुरोहितेन कर्तव्ये पिष्टमयरात्रिप्रतिमादिसमर्चनकर्मणि प्रतिदिशं शर्कराचतुष्टयप्रक्षेपानन्तरं राजानम् अधिष्ठापितायाः पञ्चम्याः शर्करायाः प्रतिदिशं प्रक्षेपे विनियोगः।

अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह।
अर्चितां गन्धमाल्येन स्थापयेत् तस्य चाग्रतः॥

इति प्रक्रम्य [प० ४. ३] उक्तं परिशिष्टे। "अभयम् [१९. १५. ५] इत्यृचा चतस्रः शर्कराः प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्। एह्यश्मानम् आ तिष्ठ [२. १३. ४] इति पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत्। न तं यक्ष्माः [१९. ३८] ऐतु देवः [१९. ३९] इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्। यस्ते गन्धः [१२. १. २३–२५] ज्यायुषम् [५. २८. ७] इति सुमि प्रयच्छेत्। दूष्या दूषिरसि [२. ११. १] इति प्रतिसरम् आबध्य तां शर्कराम् अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् [१९. १७] इति प्रतिदिशं क्षिपेत्" [प० ४. ४] इति॥

तत्र "अग्निर्मा पातु" इति सूक्ते एकैकस्याः प्राच्यादिमहादिशो द्वौ द्वौ पर्यायौ ध्रुवाया ऊर्ध्वाया दिशश्च एकैक इति दश पर्यायाः॥

"अग्निर्मा पातु" इन दोनों सूक्तोंका, रात्रिमें राजाके शय्यागृहप्रवेशनार्थ पुरोहितके कर्तव्य पिट्ठीकी रात्रिप्रतिमा आदिके पूजनकर्ममें प्रत्येक दिशामें चार धूलिकण फेंकनेके अनंतर राजा पर स्थापित पाँचवें धूलिकणके प्रतिदिश प्रक्षेपमें विनियोग है"

"अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह। अर्चितां गंधमाल्येन स्थापयेत् तस्य चाग्रतः ॥–राजाके सामने पिट्ठीकी रात्रिमूर्त्ति बनावे, उसके चारों ओर चार दीपक बनावे और गंध और माल्यसे उसको अलंकृत करे ॥" (अथर्वपरिशिष्ट ४।३) कहकर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–"अभयं (१९ । १५ । ५) इत्यृचा चतस्रः शर्कराः प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्। एहश्मान-मातिष्ठ (२ । १३ । ४) इति पञ्चमीं अधिष्ठापयेत्। न तं यक्ष्मा (१९ । ३८) ऐतु देवः (१९ । ३९) इति गुग्गुलुकुष्ठ-धूपं दद्यात्। यस्ते गंधः (१२ । १ । २३–२५) आयुषं (५ । २८ । ७) इति भूमिं प्रयच्छेत्। दूष्या दूषिरसि (२ । ११ । १) इति प्रतिसरं आबध्य तां शर्करां अग्निर्मा पातु वसुभिः पुर-स्तात् (१९ । १७) इति प्रतिदिशं क्षिपेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ४) ॥

"अग्निर्मा पातु" सूक्तमें पूर्व आदि महादिशाके दो दो पर्याय हैं ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाके एक २ पर्याय हैं। इस प्रकार दश पर्याय हैं।

तत्र प्रथमपर्याये एष मन्त्र आम्नायते ॥

प्रथम पर्यायमें यह मंत्र है, कि—

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् तस्मिन् क्रमे तस्मि-ञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।

स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मा आत्मानं परिं ददे स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निः। मा। पातु। वसुऽभिः। पुरस्तात्। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।

सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् ।

परि । ददे । स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निः पृथिवीस्थानो देवः वसुभिः एतत्संज्ञकैर्देवैः सह पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि मा मां पातु रक्षतु । अग्नेर्वसुसाहित्यम् अन्यत्राम्नायते । "अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्" इति [आश्व० २. ११] । कुत्रस्थं पुरुषं रक्षतु इत्याकाङ्क्षायाम् आह । तस्मिन् क्रमे । क्रमणं क्रमः पादप्रक्षेपः । ❀ भावे घञ् । "नोदात्तोपदेशस्य०" इति वृद्ध्यभावः ❀ । तस्मिन् पादप्रक्षेपे । तस्मिन् श्रये । श्रयणं श्रयः आश्रयः । ❀ "श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे" इति विहितो घञ् व्यत्ययेन न प्रवर्तते । "एरच्" इति अच् प्रत्ययः ❀ । तस्मिन् आश्रये अवस्थाने । पादप्रक्षेपप्रदेशे अवस्थानप्रदेशे चेत्यर्थः । यद्वा क्रमे श्रये इति तिङन्तं पदम् । तस्मिन् यस्मिन्नुद्दिष्टे स्थाने क्रमे पादं प्रक्षिपामि । ❀ क्रमतेर्विपूर्वत्वाभावेपि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । यद्वा । वृत्त्याद्यर्थेषु अनुपसर्गाद् आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा गन्तव्यं स्थानम् उद्दिश्य उत्सहे तत्र । तथा यत् स्थानं श्रये आश्रयामि तत्र । ❀ श्रीञ् सेवायाम् । लटि ञित्त्वात् कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ❀ ॥ तां पुरम् या उद्दिष्टा पूः शय्यागृहलक्षणा तां पुरं प्रैमि प्रगच्छामि । तत्र सर्वत्र अग्निर्मां पात्विति संबन्धः । यद्वा "आपो मौषधीमतीः" इति षष्ठमन्त्रे तासु क्रमे तासु श्रये इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन आम्नानाद् अत्रापि तस्मिन् क्रमे इत्यत्र एवं व्याख्येयम् । तस्मिन् । सति सप्तमीयम् । तस्मिन् वसुमत्यग्नौ रक्षके सति क्रमे क्रमणं करोमि । तस्मिन् रक्षके सति श्रये आश्रयामि । तां पुरं प्रैमीत्यादि पूर्ववत् । किं च स वसुमान् अग्निः मा मां रक्षतु । सोऽग्निश्च मा मां गोपायतु । अत्र रक्षणगोपनयोः अहितनिवारणहितकरणहितकरणरूपपालनभेदेन भेदो द्रष्टव्यः ।

❀ गुपेः "गुपूधूप०" इति आयप्रत्ययः ❀। तस्मै सर्वतोरक्षकाय वसुमते अग्नये आत्मानं परि ददे। रक्षणार्थं दानं परिदानम् इत्युच्यते। रक्षार्थं प्रयच्छामि। स्वाहा। तदधीनत्वद्योतनार्थं स्वाहाशब्दप्रयोगः। यथा सुहुतं हविस्तत्तद्देवताधीनं भवति एवम् आत्मापि रक्षणार्थम् अग्न्यधीनो भवत्वित्यर्थः॥

एवम् उत्तरे नव पर्याया व्याख्येयाः। विशेषस्तु तत्रतत्र वक्ष्यते॥

पृथिवीस्थान अग्निदेव वसुनामक देवताओंके साथ पूर्वदिशामें मेरी रक्षा करें, [अग्निका वसुसाहित्य आश्वलायन २। ११ में भी है, कि–"अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्"] वह अग्निदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। जिस पुर में मैं जाऊँ वहाँ सर्वत्र अग्निदेव मेरी रक्षा करें। वह वसुमान अग्नि मेरी रक्षा करें, वह मेरा पालन करें। मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वसुमान् अग्निके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा॥ १॥

द्वितीयपर्यायमन्त्रः॥

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्यां दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंछ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ २॥

वायुः। मा। अन्तरिक्षेण। एतस्याः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा॥ २॥

वायुः अन्तरिक्षस्थानो देवः अन्तरिक्षेण स्वाधिष्ठितेन मध्यमलोकेन सह मा माम् एतस्याः पूर्वमन्त्रे पुरस्ताद् इति निर्दिष्टायाः प्राच्या दिशः पातु । ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥ तस्मिन् क्रम इत्यादि पूर्ववत् ॥

अंतरिक्षस्थान वायुदेव स्वाधिष्ठित मध्यमलोकके साथ पूर्वदिशा में मेरी रक्षा करें । यह अग्निदेव प्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थान में मेरी रक्षा करें । जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जाऊँ वहाँ सर्वत्र वायुदेव मेरी रक्षा करें, वह वायु मेरी रक्षा करें, वह वायु मेरा पालन करें, मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वायुके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूं । स्वाहा २

तृतीयपर्यायः ॥

सोमो॑ मा रु॒द्रैर्द॑क्षि॒णाया॑ दि॒शः पा॑तु त॒स्मि॒न् क्रमे॒
तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑ ।
स मा॑ रक्षतु स मा॑ गोपयतु तस्मा॑ आ॒त्मान॒ं परि॑ ददे॒
स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सोमः॑ । मा॒ । रु॒द्रैः । दक्षिणायाः । दि॒शः । पा॒तु । तस्मि॑न् । क्र॒मे॒ ।
तस्मि॑न् । श्र॒ये॒ । ताम् । पुर॑म् । प्र । ए॒मि॒ ।

सः । मा॒ । र॒क्ष॒तु॒ । सः । मा॒ । गो॒पा॒य॒तु॒ । तस्मै॑ । आ॒त्मान॑म् ।
परि॑ । द॒दे॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सोमो देवः रुद्रैः रोदयितृभिः । एतत्संज्ञकैर्देवैः मा मां दक्षिणस्या दिशः पातु । सोमस्य रुद्रसाहित्यम् अन्यत्राम्नायते । "सोमो रुद्रैरभिरक्षतु त्मना" इति [आश्व० २. ११] शिष्टं पूर्ववत् ज्ञेयम् ॥

सोम देवता रौद्रक रुद्रदेवताओंके साथ दक्षिण दिशामें मेरी रक्षा करें [सोमका रुद्रसाहित्य आश्वलायन २। ११ में भी कहा है, कि-"सोमो रुद्रैरभिरक्षतु त्मना ।-सोमदेव रुद्र देवताओंके साथ मेरी रक्षा करें"] वह सोमदेव पादप्रक्षेपमें और शादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। वह सोम मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूं तहाँ सर्वत्र सोमदेव मेरी रक्षा करें, वह मेरा पालन करें मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले सोमके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ-रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ३ ॥

चतुर्थपर्यायः ॥

वरुणो मादित्यैरेतस्यां दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिं-
छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं
ददे स्वाहा ॥ ४ ॥

वरुणः। मा। आदित्यैः। एतस्याः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा ॥ ४ ॥

वरुणः वारको देवः आदित्यैः अदितिपुत्रैः एतत्संज्ञैर्देवैः सह। वरुणस्य आदित्यसाहित्यम् अन्यत्र श्रूयते। "आदित्यैर्नो वरुणः शर्म यंसत्" इति [आश्व० २. ११]। एतस्या दक्षिणाया दिशः पातु ॥ शिष्टं व्याख्यातम् ॥

वारकदेव वरुण अदितिके पुत्र आदित्यनामक देवताओंके साथ इस दक्षिणदिशामें मेरी रक्षा करें [वरुणका आदित्य-साहित्य आश्वलायन २।११ में लिखा है, कि—"आदित्यैर्नो वरुणः शर्मयंसत्"] यह वरुणदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। यह वरुण मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ सर्वत्र वरुणदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें। मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वरुणके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ४ ॥

पञ्चमपर्यायः ॥

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ५ ॥

सूर्यः । मा । द्यावापृथिवीभ्याम् । प्रतीच्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि । सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ५ ॥

सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः । ❀ "राजसूयसूर्य०" इति सुवतेः सूयतेर्वा सूर्यशब्दः क्यबन्तत्वेन निपातितः ❀ । द्यावापृथिवीभ्यां सह । तत्प्रकाश्यत्वेन तत्साहित्यम् । प्रतीच्याः पश्चिमाया दिशः । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सर्वप्रेरक सूर्यदेव द्यावापृथिवीके साथ पश्चिम दिशामें मेरी रक्षा करें। यह सूर्यदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूँ तहाँ सर्वत्र वरुणदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें। मैं रक्षा करने वाले सूर्यदेवके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ-रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ५ ॥

षष्ठपर्यायः ॥

आपो मौषधीमतीरेतस्यां दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि।
ता मां रक्षन्तु ता मां गोपायन्तु ताभ्यं आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥

आपः। मा। ओषधीऽमतीः। एतस्याः। दिशः। पान्तु। तासु। क्रमे। तासु। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
ताः। मा। रक्षन्तु। ताः। मा। गोपायन्तु। ताभ्यः। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा ॥ ६ ॥

ओषधीमतीः ओषधीमत्यः। ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। आपः। अपाम् ओषधीसाहित्यं संपोष्यत्वेन हेतुना। एतस्या दिशः मा मां पान्तु। तासु ओषधीमतीष्वप्सु रक्षिकासु सतीषु क्रमे गन्तव्यं स्थानं प्रति पादं प्रक्षिपामि। तासु रक्षित्रीषु श्रये संश्रये अवतिष्ठे। तां पुरम् शय्यागृहलक्षणां प्रैमि प्रगच्छामि। तत्र सर्वत्र आपः पान्तु इति संबन्धः। किं च ता आपो मा मां रक्षन्तु। ताश्च मा गोपायन्तु। ताभ्यः अद्भ्यः आत्मानं परि ददे रक्षणार्थं प्रयच्छामि। स्वाहाशब्दो व्याख्यातः ॥

ओषधि वाले जल इस दिशासे मेरी रक्षा करें, [पुष्टिमद होनेसे जल और ओषधियोंका साहित्य कहा है] यह जल पादमक्षेर और पादमक्षेरके स्थानमें मेरी रक्षा करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ सर्वत्र जल मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक जलके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ६ ॥

सप्तमपर्यायः ॥

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।

स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ७ ॥

विश्वऽकर्मा। मा। सप्तऋषिऽभिः उदीच्याः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि। सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा ॥ ७ ॥

विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म कार्यं सृज्यं यस्माद् भवति स विश्वकर्मा विश्वजगत्कारणभूतः परमात्मा सप्तर्षिभिः स्वमनःसृष्टैः सप्तसंख्याकैरृषिभिः सह मा माम् उदीच्या उत्तरस्या दिशः पातु। विश्वकर्मणः सप्तर्षिसाहित्यं स्वकार्यत्वेन। उक्तं च भगवता गीतासु।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

इति [भ० गी० १०. ६]॥ तस्मिन् सप्तर्षिसहिते विश्वकर्मणि रक्षितरि क्रमे इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सम्पूर्ण सृज्य (कार्य) जिनसे होता है वह जगत्के कारण-भूत परमात्मा—विश्वकर्मा अपने मनसे रचे हुए सप्त ऋषियोंके साथ मुझे उत्तर दिशामें बचावें.[भगवान्ने गीतामें 'विश्वकर्मा का सप्तर्षिसाहित्य स्वकार्यरूप से कहा है, कि—"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः" (भगवद्गीता १० । ६)] मैं उन सप्तर्षिसहित विश्वकर्माके रक्षक होनेके कारण पादप्रक्षेप करता हूँ. पादप्रक्षेप के स्थानका आश्रय लेता हूँ । जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं आ रहा हूँ, वहाँ विश्वकर्मा—परमात्मा—सहित सप्त ऋषि मेरी रक्षा करें,मेरा पालन करें,मैं रक्षक सप्तर्षिसहित परमात्माके लिये अपने को अर्पित करता हूँ, रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ ॥७॥

अष्टमपर्यायः ॥

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे

तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।

स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मा आत्मानं परि

ददे स्वाहा ॥ ८ ॥

इन्द्रः । मा । मरुत्ऽवान् । एतस्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ।

सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ८ ॥

मरुत्वान् मरुद्भिस्तद्वान्। ॐ "झयः" इति मतुपो वत्वम् ॐ। स इन्द्रः एतस्याः पूर्वमन्त्रोक्ताया उदीच्या दिशः पातु। इन्द्रस्य मरुत्साहित्यम् अन्यत्राम्नायते। "वृत्रस्य त्वा श्वसथाद् ईषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः। मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि" इति [ऋ० ८. ९६. ७]। अस्य मन्त्रस्य ऐतरेयकब्राह्मणम् एवम् आम्नायते। "इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्त्सर्वा देवता अब्रवीद् अनु मोपतिष्ठध्वम् उप माह्वयध्वम् इति। तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन्। सोवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान् भीषया इति। तान् अभि प्राश्वसीत्। तस्य श्वसथाद् ईषमाणा विश्वेदेवा अद्रवन्। मरुतो हैनं नाजहुः। प्रहर भगवो जहि वीरयस्वे-त्येवैनम् एतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त" इति [ऐ० ब्रा० ३. २०]। तस्मिन् मरुत्वति इन्द्रे रक्षितरि॥ शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम्॥

मरुतों सहित इन्द्र पूर्वमन्त्रमें कही हुई उत्तर दिशामें मेरी रक्षा करें [इन्द्रका मरुत्साहित्य अन्यत्र वर्णित है। ऋग्वेद-संहिता ८। ९६। ७ में कहा है, कि-वृत्रस्य त्वा श्वसथाद् ईष-माणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः। मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्व-थेमा विश्वाः पृतना जयासि।-हे इन्द्र! वृत्रासुरके श्वाससे मित्र होते हुए भी सब देवताओंने तुमको त्याग दिया था, इस समय मरुतों से ही आपकी मित्रता रही अत एव आप इन सकल सेनाओंको जीतिये।" इस मंत्रका ऐतरेय ब्राह्मण इस प्रकार है, कि-"इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्त्सर्वा देवता अब्रवीत् अनु मोपतिष्ठध्वम् उप माह्व-यध्वम् इति। तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन्। सोवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान् भीषया इति। तान् अभि प्राश्वसीत्। तस्य श्वसथाद् ईषमाणा विश्वे देवा अद्रवन्। मरुतो हैनं नाजहुः। प्रहर भगवो जहि वीरयस्वेत्येवैनं एतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त।-वृत्रासुरके संहारके समय इन्द्रने सब देवताओंसे कहा, कि-तुम

मेरे खड़े होनेके अनुसार मेरे पास खड़े रहो और मेरे पास खड़े होकर शत्रुका आह्वान करो। तब देवताओंने तथास्तु कहकर वृत्रको मारनेके लिये उस पर धावा बोला। जब उसने यह जाना, कि—यह मुझे मारनेके लिये आते हैं तब उसने मनमें विचारा, कि—मैं इनको डराऊँ। तब उसने फुङ्कार भरी उसकी फुङ्कार से डर कर सब देवता भागने लगे, परन्तु मरुद्-देवताओंने इन्द्र का साथ नहीं छोड़ा। और "हे भगवन्! प्रहार करिये, इसको मारिये" यह कहते हुए उसके समीप ही खड़े रहे" (ऐतरेय ब्राह्मण ३। २०)॥ यह मरुतों सहित इन्द्र पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेप के स्थानमें मेरी रक्षा करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूँ, वहाँ यह मरुतों सहित इन्द्र मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक मरुत्वान् इन्द्रके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ। रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा॥ ८॥

नवमपर्यायः॥

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ९॥

प्रजाऽपतिः। मा। प्रजननऽवान्। सह। प्रतिऽस्थायाः। ध्रुवायाः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा॥ ९॥

प्रजननवान् प्रजननं नाम सर्वजगदुत्पादनसाधनम् तद्वान् । यद्वा प्रजननं पुंव्यञ्जकम् स्त्रीपुंससृष्टेस्तद्धेतुत्वात् । प्रजापतिः प्रकर्षेण जायमाना मनुष्यादिकाश्चराचरात्मिकाः प्रजाः तासां पतिः स्रष्टा देवः । सहसामर्थ्यात् प्रजननेन साकम् इत्यर्थः । यद्वा प्रतिष्ठायाः । ※ तृतीयार्थे षष्ठी ※ । प्रतिष्ठया सहेति । प्रतिष्ठायाः सर्वजगदाधारभूताया ध्रुवायाः स्थिराया भूमेर्दिशः । भूमिरपि अधरदिक्त्वेनोच्यते । तस्याः पातु ॥ तस्मिन् क्रमे इत्यादि शिष्टम् अविशिष्टम् ॥

सकल जगत्की उत्पत्तिके साधन प्रजननसे सम्पन्न मनुष्य आदि चराचरात्मक प्रजाओंके पति प्रजननके साथ सब जगत्की आधारभूत स्थिरभूमिदिशा (अधरदिशा) से मेरी रक्षा करें । प्रजनन सम्पन्न प्रजापतिके रक्षक होनेके कारण मैं पैर उठाता हूँ और स्थानका आश्रय लेता हूँ, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ वहाँ प्रजापति मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें । मैं रक्षक प्रजापतिके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ-रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ । स्वाहा ॥ ९ ॥

दशमपर्यायः ॥

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वायां दिशः पांतु तस्मिन्
क्रमे तस्मिंछ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं
ददे स्वाहां ॥ १० ॥

बृहस्पतिः । मा । विश्वैः । देवैः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ।

सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् ।

परि । ददे । स्वाहा ॥ १० ॥

बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिर्देवो विश्वैः सर्वैर्देवैः सह ऊर्ध्वाया उपरिस्थितायाः दिवो दिशः। द्यौरपि ऊर्ध्वदिक्त्वेन तत्रतत्रोच्यते। तस्याः पातु। तस्मिन् विश्वदेवसहिते बृहस्पतौ रक्षितरि क्रमे पादप्रक्षेपं करोमि ॥ शिष्टं पूर्ववन्नेयम् ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

बड़े २ देवताओंके हितकारक होनेसे उनके पति बृहस्पति नामक देव सकल देवताओंको साथमें लेकर ऊपरकी दिशा द्युलोकके उपद्रवोंसे मेरी रक्षा करें। सकल देवताओंके रक्षक बृहस्पतिदेवके रक्षक होनेके कारण मैं विक्रमण करता हूँ, स्थान का आश्रय लेता हूँ जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ देवताओं सहित बृहस्पतिदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक प्रजापतिके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षा करनेके लिये देता हूँ, स्वाहा ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५६१)

"अग्निं ते वसुमन्तम्" इति सूक्तस्य पिष्टरात्रीसमर्चने कर्मणि शर्कराप्रक्षेपे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

अत्र पूर्वसूक्ते प्राच्यादिदिग्भ्यो रक्षिका वसुमदग्न्यादिदेवताः तत्तद्दिगवस्थिताः सत्यः शत्रुसकाशाद् रक्षन्तु इति प्रतिपाद्यते। अत्र तु तासु देवतासु तत्तद्दिश आगच्छन्तः स्वद्वेषिणः अनिष्टकारिणो नाशार्थं प्रविशन्तु इति प्रतिपाद्यते इत्येतावान् विशेषः ॥ अत्रापि दश पर्यायाः। सर्वेऽपि अर्धर्चाः ॥

"अग्निं ते वसुमन्तम्" सूक्तका पिष्टरात्रिसमर्चनकर्मके शर्कराप्रक्षेपमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

पूर्व सूक्तमें यह प्रतिपादन किया है, कि-पूर्व आदि दिशाओं से बचाने वाले वसुमत् अग्नि आदि देवता उन २ दिशाओंमें स्थित रह कर शत्रुओंसे हमारी रक्षा करें। और इस सूक्तमें यह प्रतिपादन किया जावेगा, कि-उन देवताओंमें अमुक अमुक दिशासे आते हुए द्वेषी अनिष्टकारी प्रविष्ट होजावें। इस सूक्तमें भी दश पर्याय हैं। सब ही अर्धर्चे हैं।

प्रथमपर्यायद्वयम् एवम् आम्नायते ॥

अ॒ग्निं ते वसु॑वन्तमृच्छन्तु ।

ये मा॑घा॒यवः॒ प्राच्या॑ दि॒शो॒ऽभि॒दासा॑त् ॥ १ ॥

अ॒ग्निम् । ते । वसु॑ऽवन्तम् । ऋ॒च्छ॒न्तु ।

ये । मा॒ । अ॒घ॒ऽयवः॑ । प्राच्याः॑ । दि॒शः । अ॒भि॒ऽदासा॑त् ॥ १ ॥

वा॒युं ते॒ऽन्तरि॑क्षवन्तमृच्छन्तु ।

ये मा॑घा॒यव॑ ए॒तस्या॑ दि॒शो॒ऽभि॒दासा॑त् ॥ २ ॥

वा॒युम् । ते । अ॒न्तरि॑क्षऽवन्तम् । ऋ॒च्छ॒न्तु ।

ये । मा॒ । अ॒घ॒ऽयवः॑ । ए॒तस्याः॑ । दि॒शः । अ॒भि॒ऽदासा॑त् ॥२॥

अघायवः अघं हिंसालक्षणं पापं परस्येच्छन्तः । ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच्। "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । जिघांसवो ये शत्रवः प्राच्याः पूर्वस्या दिश आगत्य मा मां रात्रीसमर्चनकारिणं माम् अभिदासात् अभितः सर्वतो दासयेयुः उपक्षपयेयुः हिंस्युः। ❀ दसु उपक्षये। अस्माण्ण्यन्ताद् अभिपूर्वात् पञ्चमलकारे "तिङां तिङो भवन्ति" इति झेस्तिबादेशः। "इतश्च लोपः०" इति इकार-

लोपः । "लेटोऽडाटौ" इति आडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वेन "णेरनिटि" इति णिलोपः । प्रत्ययलक्षणपरिभाषया "अत उपधायाः" इति वृद्धिः ❀ । ते अभिदासकाः शत्रवो वसुमन्तम् वसुभिर्देवैस्तद्वन्तम् अग्निम् ऋच्छन्तु मरणार्थं प्राप्नुवन्तु । ❀ ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । अस्मात् लोट् ❀ ॥ एवम् उत्तरे नव पर्यायमन्त्रा व्याख्येयाः ॥ अन्तरिक्षवन्तम् अन्तरिक्षम् अधिष्ठेयत्वेन यस्यास्ति तं वायुं ते अघायवः शत्रवः ऋच्छन्तु प्रलयार्थं प्राप्नुवन्तु ये अघायवः शत्रवः एतस्याः प्राच्या दिशः सकाशाद् आगत्य मा माम् अभिदासात् अभिदासयेयुः हिंस्युः ॥

हिंसालक्षणरूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्व दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं, वे शत्रु वसुमान् अग्निमें पड़ कर मृत्युको प्राप्त होवें ॥ १ ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्व दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं वे शत्रु अन्तरिक्षमें रहने वाले वायुको प्राप्त होकर मृत्युको प्राप्त होजावें ॥ २ ॥

तृतीयचतुर्थपर्यायमन्त्रौ ॥

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥ ३ ॥

सोमम् । ते । रुद्रऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । दक्षिणायाः । दिशः । अभिऽदासात् ३

वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु ।

ये मांघायवं एतस्यां दिशो॑भिदासा॑त् ॥ ४ ॥

वरुणम् । ते । आदित्यऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥४॥

ते हिंसकाः शत्रवो रुद्रवन्तम् रुद्रैर्देवैस्तद्वन्तं सोमं देवम् ऋच्छन्तु नाशार्थं गच्छन्तु ॥ आदित्यवन्तम् आदित्यैरदितिपुत्रैः आदित्यसंज्ञकैर्वा देवैस्तद्वन्तं वरुणम् अरिष्टनिवारकं देवं ते शातयितारो रिपवः ऋच्छन्तु । एतस्या दक्षिणाया दिशः॥ शिष्टं पूर्ववत् ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु दक्षिण दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं । वे शत्रु रुद्रदेवोंसहित सोमको नाशके लिये प्राप्त होवें ॥ ३ ॥

हिंसारूप पापको दूसरोंके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्वसंप्रोक्त दक्षिण दिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका हिंसन करना चाहते हैं वे शत्रु अदितिके पुत्रोंकी सहायता वाले वरुणदेवके बन्धनमें पड़ कर नष्ट होजावें ॥ ४ ॥

पञ्चमषष्ठमन्त्रपाठस्तु ॥

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु ।

ये मांघायवः प्रतीच्यां दिशो॑भिदासा॑त् ॥ ५ ॥

सूर्यम् । ते । द्यावापृथिवीऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । प्रतीच्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥५॥

अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु ।

ये मांघायवं एतस्यां दिशो॑भिदासा॑त् ॥ ६ ॥

अपः । ते । ओषधीऽमतीः । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ६ ॥

द्यावापृथिवीवन्तम् द्यावापृथिव्यौ यस्य प्रकाश्यत्वेन स्तः । ❀ इति मतुप् । "छन्दसीरः" इति तस्य वत्वम् ❀ ॥ ओषधीमतीरपः उदकानि । कर्म । एतस्याः प्रतीच्या दिशः ॥ शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके निमित्त करना चाहने वाले जो शत्रु पश्चिम दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका वध करना चाहते हैं वे शत्रु द्यावापृथिवीको अपने प्रकाशसे व्याप्त करने वाले सूर्यको प्राप्त होकर नष्ट होजावें ॥ ५ ॥

हिंसारूप पापको चाहते हुए जो शत्रु पूर्वमन्त्रोक्त पश्चिम दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका संहार करना चाहते हैं वे शत्रु औषधिवाले जलको पाकर नष्ट होजावें ॥ ६ ॥

सप्तमाष्टमपर्यायमन्त्रपाठस्तु ॥

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥

विश्वऽकर्माणम् । ते । सप्तऋषिऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । उदीच्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥७॥

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥

इन्द्रम् । ते । मरुत्ऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ८ ॥

सप्तऋषिवन्तम् सप्तसंख्याका ऋषयः सख्यत्वेन यस्य सन्ति । ❀ इति मतुप् । "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः । "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् ❀ ॥ मरुत्वन्तम् मरुद्भिस्तद्वन्तम् इन्द्रम् । एतस्या उदीच्या दिशः ॥ शिष्टं व्याख्यातम् ॥

हिंसारूप पापको चाहने वाले जो शत्रु उत्तरदिशासे आकर मुझ रात्रिप्रतिमापूजकका संहार करना चाहें वे शत्रु सप्तर्षियोंसे सम्पन्न विश्वकर्मा परमात्माको प्राप्त होकर नष्ट होजावें ॥ ७ ॥

हिंसारूप पापकी इच्छासे जो शत्रु पूर्वोक्त उत्तरदिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका संहार करना चाहें वे शत्रु मरुत्वान् इन्द्रको पाकर नष्ट होजावें ॥ ८ ॥

नवमदशमपर्यायौ एवम् आम्नायेते ॥

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥

प्रजाऽपतिम् । ते । प्रजननऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । ध्रुवायाः । दिशः । अभिऽदासात् ॥९॥

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव ऊर्ध्वायाः दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥

बृहस्पतिम् । ते । विश्वदेवऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभिऽदासात् ॥१०॥

प्रजननं नाम सर्वजगदुत्पादनसाधनं वस्तु । यद्वा प्रजननम् इति पुंव्यञ्जनम् उच्यते । स्त्रीपुंससृष्टेस्तन्निमित्तकत्वात् ॥ विश्व-

देववन्तम् विश्वैर्देवैस्तद्वन्तम् । ॐ "मादुपधायाः०" इति मतुपो वत्वम् ॐ । बृहस्पतिम् बृहतां महतां देवानां पतिं देवम् ॥ शिष्टम् स्पष्टम् ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

वे प्रजननसम्पन्न प्रजापतिको पाकर नष्ट होजावें जो अघायु मुझको ध्रुवदिशासे उठ कर संहार करना चाहें ॥ ९ ॥

जो ऊर्ध्वा दिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका संहार करना चाहते हैं वे अघायु सकल देवोंसे सम्पन्न बृहस्पतिको पा कर नष्ट होजावें ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५६२)

"मित्रः पृथिव्योदक्रामत्" इति सूक्तेन पुरोहितो रात्रौ राजानं शय्यागृहं प्रवेशयेत् । परिशिष्टं तु पूर्वमेवोदाहृतम् । राज्ञो नूतन-नगरप्रवेशनकर्मणि च विनियोगः ॥

"मित्रः पृथिव्योदक्रामत्" सूक्तसे पुरोहित रात्रिमें राजाको शय्यागृहमें प्रवेश करावे । परिशिष्ट पहले ही कह दिया है राजा के नूतननगरप्रवेशकर्ममें भी इसका विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥

मित्रः । पृथिव्या । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः । ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १ ॥

मित्रः। मित्रशब्देन अग्निरुच्यते। पृथिव्याः साहचर्यात् पृथिवी-स्थानत्वाद् अग्नेः "सूर्यो दिवोदक्रामत्" इति सूर्यस्य पृथगभिधीय-मानत्वाच्च। मित्रः अग्निः मीयमानत्वात् आहवनीयादिस्वरूपेण प्रणीयमानत्वात्। ॐ डुमिञ् प्रक्षेपणे। अस्माद् औणादिकः क्त्रन् प्रत्ययः। कित्त्वाद् गुणाभावः ॐ। पृथिव्या स्वनिवासस्थानभूतेन पृथिवीलोकेन सह उदक्रामत् उत्क्रान्तवान्। यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः। तां पृथिवीलोकाभिमानिना अग्निना रक्षितां पुरम् शय्या-गृहलक्षणां प्रसिद्धां नगरीं वा वः युष्मान् राज्ञः। पूजायां बहु-वचनम् पुत्रमित्रामात्यावरोधस्त्रीविवक्षया वा बहुवचनम्। पुत्रयो-षित्सहितान् युष्मान् प्र णयामि प्रकर्षेण नयामि प्रापयामि। ततः तां पुरम् आ विशत अभिमुखं प्रविशत प्रवेशोन्मुखा भवत। अन-न्तरं तां पुरं प्र विशत अन्तःप्रविष्टा भवत। शय्यास्थाने स्वीय-सौधे वा निविष्टा भवतेति वा। सा पूः शय्यागृहलक्षणा पुरी च वः युष्मभ्यं प्रविष्टेभ्यः शर्म सुखं वर्म कवचं पराभेद्यत्वलक्षणम् आवरणं वा यच्छतु प्रयच्छतु। ॐ दाणो यच्छादेशः ॐ परस्पर-समुच्चयार्थौ चकारौ। एवम् उत्तरे दश पर्यायमन्त्रा व्याख्येयाः। विशेषस्तु तत्रतत्र वक्ष्यते। यथा अग्निः स्वाधिष्ठिते पृथिवीलोके सर्वोत्तरो वर्तते एवं त्वमपि इदं नगरम् अधिष्ठाय सर्वातिशायी वर्तस्वेति विवक्षितम्। यथा पृथिव्या सह अग्निरुत्क्रान्तवान् इत्युक्तः एवम् उत्तरयोर्वायुसूर्यमन्त्रयोस्तात्पर्यार्थ उन्नेयः॥

आहवनीय आदिरूपसे प्रणीयमान होनेके कारण अग्निदेव अपने निवासस्थानभूत पृथिवीलोकसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उठते हैं। उस पृथिवीलोकाभिमानी अग्निसे रक्षित शय्या गृहरूपा वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्री सहित राजाओंको मैं प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्यास्थान महलमें प्रवेश करो, वह घर वा

पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्य कवच-रूप सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि—जैसे अग्नि स्वाधिष्ठित पृथिवीलोकमें सर्वश्रेष्ठ होकर रहता है इस प्रकार आप भी इस नगर पर अधिष्ठित हो सर्वश्रेष्ठ बन कर रहिये ॥ १ ॥

अथ द्वितीया ॥

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः। तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ २ ॥

वायुः। अन्तरिक्षेण। उत्। अक्रामत्। ताम्। पुरम्। प्र। नयामि। वः। ताम्। आ। विशत। ताम्। प्र। विशत। सा। वः। शर्म। च। वर्म। च। यच्छतु ॥ २ ॥

वायुः वातो मातरिश्वा अन्तरिक्षेण अन्तरा क्षान्तेन स्वीयेन मध्यमलोकेन सह उदक्रामत्। यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः। ताम् पुरम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

वायुदेव अपने निवासस्थान मध्यमलोक अंतरिक्षसे जिस पुर की रक्षा करनेके लिये चलते हैं उस अंतरिक्षलोकाभिमानी वायु से रक्षित शय्यागृहरूपा वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्रीसहित राजाको मैं प्रवेश कराता हूँ तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करना-रूप अभेद्य कवच और सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि—जैसे वायु स्वाधिष्ठित अन्तरिक्ष लोकमें सर्वश्रेष्ठ होकर रहता है, इस प्रकार आप भी इस नगर पर अधिष्ठित हों सर्वश्रेष्ठ बन कर रहिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ३ ॥

सूर्यः । दिवा । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च ।
वर्म । च । यच्छतु ॥ ३ ॥

सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः दिवा स्वनिवासस्थानेन द्युलोकेन सह । उदक्रामत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

सर्वप्रेरक आदित्य अपने निवासस्थान सूत द्युलोकसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उदित होते हैं, उस द्युलोकाभिमानी सूर्यसे रक्षित शय्यागृहरूपा पुरीमें वा प्रसिद्धपुरीमें मैं तुमको मन्त्री पुत्र और स्त्रीसहित प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरीमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्या भवनमें प्रवेश करो, वह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् नगरमें तुम सूर्यकी समान दमको ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ४ ॥

चन्द्रमाः । नक्षत्रैः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।

ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म ।

च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ४ ॥

चन्द्रमाः चन्द्रम् आह्लादं माति निर्मिमीते इति चन्द्रमाः सर्वस्य लोकस्य आह्लादको हिमांशुः नक्षत्रैः । न क्षीयन्ते इति नक्षत्राणि तारकाः । ❀ "नभ्राणनपात्" इत्यादिना नक्षत्रशब्दो निपातितः ❀ । स्वोपभोग्यैरश्विन्यादिनक्षत्रैः सह नक्षत्राधिपतिश्चन्द्रमाः स्वपरिवारभूतैस्तैरेव सहितो यां पुरं रक्षितुम् उत्क्रान्तवान् तां पुरम् । युष्मान् प्रापयामीत्यादिगतम् ॥

चन्द्र अर्थात् आल्हादको प्रदान करने वाले सर्वलोकाल्हादक चन्द्रमा, स्वपरिवारभूत स्वपभोग्य अश्विनी आदि नक्षत्रोंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उदित होरहे हैं उस चन्द्रदेवसे रक्षित शय्यागृहरूप पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्रीसहित राजाको मैं प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, यह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्यकवच और सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि-जैसे स्वाधिष्ठित आकाशमें चन्द्रमा सर्वश्रेष्ठ होकर दमकता है इसी प्रकार इस नगरमें आप सर्वश्रेष्ठ बन कर प्रकाशित हूजिये ॥४॥

पञ्चमी ॥

सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।

तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च

यच्छतु ॥ ५ ॥

सोमः । ओषधीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प ।
नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म ।
च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ५ ॥

सोमः ओषधीनां रसप्रदानेन पोषको देवः ओषधीभिः ओषः पाको धीयत आस्विति ओषध्यः फलपाकान्ताः । उपलक्षणम् एतत् तरुगुल्मादीनाम् । तैः स्वपोष्यैः सहितः । उदक्रामत् इत्यादि गतम् । युष्माभिः प्रविश्यमाने पुरे ओषध्यादिसमृद्धिर्भवत्वित्यर्थः ॥

सोम औषधियों सहित जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत होरहा है उस सोमसे रक्षित शय्यागृहरूपा पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम राजाको मैं पुत्र स्त्री तथा मंत्री आदि सहित प्रवेश कराता हूं, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह घर वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्यकवच और सुखको प्रदान करे । अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें औषधि रस आदिकी समृद्धि होवे ॥५॥

षष्ठी ॥

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ६ ॥

यज्ञः । दक्षिणाभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र ।
नयामि । वः ।

ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ६ ॥

यज्ञः ज्योतिष्टोमादिः प्रकृतिविकृत्यात्मकः सर्वः क्रतुः दक्षिणाभिः विहिताभिर्यथोक्ताभिर्दक्षिणाभिः सह उत्क्रान्तवान्। यां पुरं रक्षितुम् इति । अत्र बहुदक्षिणाका यज्ञाः समृद्धा भवन्त्वित्यर्थः ॥

प्रकृतिविकृत्यात्मक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ यथोक्त दक्षिणाओं के साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत होचुका है, उस दक्षिणाओं सहित यज्ञसे रक्षित शय्यागृहरूप पुरमें वा नगर में तुम राजाको मैं पुत्र स्त्री तथा मन्त्री आदि सहित प्रवेश करता हूँ तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्या वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें दक्षिणा वाले यज्ञ होवें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ७ ॥

समुद्रः । नदीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ७ ॥

नदीभिः नदनशीलाभिरापगाभिः समुद्रः समुद्द्रवन्ति अस्मादाप इति अम्बुराशिः उदक्रामत् । तां पुरम् इत्यादि गतम् । रक्षोहननार्थं नदीसहितसमुद्रोत्क्रान्त्या दाम्पत्यधर्मविशिष्टाः प्रजा मम संपद्यन्ताम् इति विवक्ष्यते ॥

नदियों सहित समुद्र जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये मंडुर्मून हुआ है उस जलराशिसे रक्षित शय्यागृहरूप पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुमको मैं प्रवेश कराता हूं, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुंचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें दाम्पत्यसृष्टि बढ़े ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ८ ॥

ब्रह्म । ब्रह्मचारिऽभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।

ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ८ ॥

ब्रह्म साङ्गो वेदः ब्रह्मचारिभिः ब्रह्मणि वेदे वेदविहिते यज्ञादिकर्मणि चरितुं वर्तितुं शीलं येषां ते तैः सह उदक्रामत् । अनेन श्रौतस्मार्तकर्मनिष्णाताः साङ्गवेदाध्यायिनः अनूचाना ब्राह्मणा मह्यः समृध्यन्ताम् इति विवक्ष्यते । तां पुरम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

सांग वेद ब्रह्म, ब्रह्ममें अर्थात् वेदविहित यज्ञादि कर्ममें व्यवहार करनेका जिनको शौख होता है उन ब्रह्मचारियोंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत हुआ है इस पुरमें वा शय्यागृहमें मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुमको प्रवेश करता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्यकवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें श्रौतस्मार्तकर्ममें चतुर, सांग वेदका अध्ययन करने वाले बहुतसे ब्राह्मण बढ़ें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

इन्द्रो वीर्ये॑३णोद॑क्रामत् तां पुरं प्र ण॑यामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ९ ॥

इन्द्रः । वीर्ये॑ण । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च ।
वर्म । च । यच्छतु ॥ ९ ॥

इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नः समस्तदेवाधिपतिः वीर्येण वीरकर्मणा स्वीयेन बाहुशौर्येण सेनालक्षणेन बलेन वा सह उद् अक्रामत् । इन्द्रो यथा स्ववीर्येण सर्वान् शत्रून् जितवान् एवम् अस्मिन् पुरे वर्तमानस्त्वमपि सर्वातिशायी सर्ववैरिजयी भूया इत्यर्थः ॥

परमैश्वर्यसम्पन्न समस्तदेवाधिपति इन्द्र अपने भुजबल वा सेनाबलरूप वीरकर्मसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिए उत्क्रान्त

हुए हैं मैं तुमको तिस शय्यागृहरूप पुरमें वा नगरमें प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, यह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे ॥ ९ ॥

दशमी ॥

देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १० ॥

देवाः । अमृतेन । उत् । अक्रामन् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १० ॥

देवाः द्योतनशीला अमरा अमृतेन अमरणसाधनेन सुधारसेन सह उदक्रामन् । यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः । तां पुरम् इत्यादि गतम् । अत्रत्याः प्रजा निर्भीका दीर्घायुषश्च भवन्तु इत्यर्थं विवक्षितुं रक्षणार्थम् अमृतेन सह देवा उत्क्रान्तवन्त इत्युक्तम् ॥

द्योतनशील देवता अमरणसाधन सुधारसके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उत्क्रान्त हुए हैं, मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुम राजाको उस शय्यागृहरूप पुरमें वा प्रसिद्ध पुरमें प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दुःखनिवारण शक्तिरूप कवच और सुखको प्रदान करे । 'यहाँ की प्रजा निर्भीक और दीर्घायु होवे'

यह कहनेके लिये "अमृतके साथ देवताओंने उत्क्रमण किया" कहा है ॥ १० ॥

एकादशी ॥

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ११ ॥

प्रजाऽपतिः । प्रऽजाभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ११ ॥

प्रजापतिः प्रजानां पतिर्देवः प्रजाभिः प्रकर्षेण बहुत्वेन जायमानाभिर्मनुष्यादिकाभिः उदक्रामत् । तां पुरम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । उत्तरोत्तरं प्रभविष्णुप्रजाभूयिष्ठत्वम् अत्र नगरे भूयाद् इत्याशासितुम् इदं वचनम् ॥

इति द्वितीयेनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

प्रजापति देवने मनुष्य आदि प्रजाओंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उत्क्रमण किया है मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुम राजाको उस शय्यागृहरूप पुरमें वा प्रसिद्ध नगरीमें प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वा शय्याभवन वा पुर तुमको दुःखप्रतिरोधरूप कवच और सुख प्रदान करे ११

द्वितीय अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५६२)

"अप न्यधुः पौरुषेयम्" इति सूक्तेन युद्धोद्यतं राजानं कवचेन पुरोहितः संनह्येत ॥

"अप न्यधुः पौरुषेयम्" सूक्तसे पुरोहित युद्धोद्यत राजाको कवच पहिरावे ।

तत्र प्रथमा ॥

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः ।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परि पातु मृत्योः ॥ १ ॥

अप । न्यधुः । पौरुषेयम् । वधम् । यम् । इन्द्राग्नी इति । धाता । सविता । बृहस्पतिः ।
सोमः । राजा । वरुणः । अश्विना । यमः । पूषा । अस्मान् । परि । पातु । मृत्योः ॥ १ ॥

पौरुषेयम् पुरुषैः शातयितृभिरिरिभिः कृतम् । ❀ "पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्" इति ढञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । तं यं वधम् वधसाधनम् । "हनश्च वधः" इति हन्तेरप् प्रत्ययः । वधश्चादेश आद्युदात्तः ❀ । अप न्यधुः अपाश्रम् अपगूढं न्यधुः निहितवन्तः । बलगलत्वणं शस्त्रास्त्रादिरूपं वा हननसाधनं मायया परेषाम् अप्रकाशं हननसाधनम् अस्मान् हिंसितुम् अस्मदभिमुखं प्रेरितवन्त इत्यर्थः । ❀ यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद् उत्तरवाक्ये तच्छब्दाऽध्याहारः ❀ । तस्माद् अप्रकाशात् शत्रुभिः प्रहिताद् मृत्योः मृत्युसाधनाद् मृत्युरूपाद्

वा वधाद् अस्मान् कवचधारिणः अस्मदीयान् राज्ञो वा इन्द्राग्न्यादयो देवताः परि पातु । प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् । परितः सर्वतः पान्तु रक्षन्तु । ❀ “भीत्रार्थानाम्०” इति मृत्योरित्यत्र अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥

शत्रु पुरुषोंके द्वारा बनायेहुए जिस पुतली वा शस्त्रास्त्रादिरूप मरणसाधनको सर्वसाधारणसे गुप्त रखकर किया है, उस शत्रुप्रेरित मृत्युसाधनसे कवचधारी हमारे राजाकी वा हमारी इन्द्र अग्नि धाता सविता बृहस्पति सोम राजा वरुण दोनों अश्विनीकुमार यम और पूषा देवता रक्षा करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यानि॑ च॒कार॒ भुव॑नस्य॒ यस्पतिः॑ प्र॒जाप॑तिर्मा॒त॒रिश्वा॑ प्र॒जाभ्यः॑ ।
प्र॒दिशो॒ यानि॑ व॒स॒ते दिश॑श्च॒ तानि॑ मे॒ वर्मा॑णि ब॒हु॒लानि॑ सन्तु ॥ २ ॥

यानि॑ । च॒कार॑ । भुव॑नस्य । यः । पतिः॑ । प्र॒जाऽप॑तिः । मा॒त॒रिश्वा॑ । प्र॒ऽजाभ्यः॑ ।
प्र॒ऽदिशः॑ । यानि॑ । व॒स॒ते । दिशः॑ । च॒ । तानि॑ । मे॒ । वर्मा॑णि । ब॒हु॒लानि॑ । स॒न्तु॒ ॥ २ ॥

भुवनस्य भूतजातस्य पतिः पालको यः प्रजापतिरस्ति स यानि वर्माणि कवचानि चकार । किमर्थम् । प्रजाभ्यः प्रकर्षेण जायमानाभ्यो मनुष्यपश्वादिभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । तद्रक्षणार्थं मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वसितीति मातरिश्वा वायुः सूत्र-

रमा । प्रजापतेर्विशेषणम् एतत् । तथा प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्यादि-महादिशः दिशः अवान्तरदिशश्च यानि वर्माणि वसते आच्छाद-यन्ति स्वरक्षणार्थम् । ❀ वस आच्छादने । आदादिकोऽनुदा-त्तेत् ❀ । तानि प्रजापतिना प्रजारक्षणार्थं निर्मितानि दिग्भिश्च स्वरक्षणार्थं वसितानि वर्माणि कवचानि मे मम युयुत्सोः बहुलानि प्रभूतानि सन्तु भवन्तु ॥ यदायदापेक्षते तदा लाभाय बहुलानी-त्युक्तम् । अथ वा स्वस्य परिवाराणां च अपेक्षया बहुलानीति । यस्य यद् अपेक्षितं तस्य तद् भवत्वित्यर्थः ❀ ॥

भूतसमूहोंके पालक प्रजापतिने प्रजाओंकी रक्षाके लिये जिस कवचका निर्माण किया है, और आकाशमें श्वसन करने वाले मातरिश्वा प्रजापति तथा पूर्व आदि महादिशा और अवान्तर दिशायें अपनी रक्षाके निमित्त जिन कवचोंको पहिरती हैं, वे कवच (अपेक्षाके अनुसार वा पुत्र आदिके लिये) बहुतसे हों २

तृतीया ॥

यत् ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः ।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान् पातु विश्वतः ॥ ३ ॥

यत् । ते । तनूषु । अनह्यन्त । देवाः । द्युऽराजयः । देहिनः ।
इन्द्रः । यत् । चक्रे । वर्म । तत् । अस्मान् । पातु । विश्वतः ३

द्युराजयः दिवि द्युलोके राजमाना देहिनः शरीरिणः । कवच-धारणं देहस्यैवेति देहिनो देवा इत्युक्तम् । ते प्रसिद्धा देवाः तनूषु स्वशरीरेषु यद् वर्म अनह्यन्त घ्नन्तवन्तः । ❀ णह बन्धने । दैवा-दिकः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ❀ । असुरयुद्धे स्व-देहरक्षणार्थं प्रतिमुक्तवन्तः । इन्द्रश्च यद् वर्म कवचं चक्रे शत्रु-विजयार्थम् । ❀ करोतेः पूर्ववद् आत्मनेपदम् ❀ । तत् कवचं

देवैरिन्द्रेण च स्वशरीरे धारितम् इदं कवचम् अस्मान् युद्धोद्यतान् विश्वतः सर्वतः परकृतप्रहारेभ्यः पातु रक्षतु ॥

द्युलोकमें दमकने वाले देही देवताओंने जिस कवचको अपने शरीरों पर असुरसंग्रामके समय धारण किया था और इन्द्रने जिस कवचको धारण किया था, वह कवच चारों ओरसे हमारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ॥ ४

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ।
वर्म । मे । विश्वे । देवाः । क्रन् । मा । मा । प्र । आपत् । प्रतीचिका

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मम वर्म कवचं कुरुताम् । अग्निश्च वर्म करोतु । सूर्यश्च विश्वे सर्वे देवाः इन्द्रादयश्च मे मम युयुत्सोर्मदीयस्य वा राज्ञः वर्म कवचं क्रन् कुर्वन्तु । ❀ करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस॰" इति च्लेर्लुक् । झेः सार्वधातुकस्य ङित्त्वाद् गुणप्रतिषेधे यण् आदेशः । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि" इति अडभावः ❀ । किं च प्रतीचिका प्रत्यगञ्चना प्रतीची । ❀ अज्ञातार्थे कप्रत्ययः । "केऽणः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । शत्रुसेना अज्ञातप्रतिकूलाञ्चना सती मा मां कवचधारिणं युद्धोद्यतं मो मैव प्रापत् प्राप्नोतु । ❀ आप्नोतेर्माङि लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀ । कवचधारिणो ममाग्रतः शत्रुसेना प्रकाशैव आयातु । देवानुगृहीतकवचधारणेन इतामपि तां परसेनां हन्तुं शक्नोमीत्यर्थः ॥

एकादशं सूक्तम् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

द्यावापृथिवी मेरे लिये कवचको देवें-बनावें। अग्निदेव मुझको कवच प्रदान करें, सूर्य और अग्नि आदि सब देवता भी मुझ युद्धा-भिलाषी वा हमारे राजाको कवच देवें, शत्रुसेना छिपकर हमारे युद्धोद्यत राजाके पास न आने पावे किंतु हम कवचधारियोंके सामने प्रकाशरूपमें आवे, तात्पर्य यह है, कि-देवताओंसे अनुगृहीत कवचको धारण करनेसे हम उस घमण्डमें भरी सेनाका भी घमण्ड चूर्ण कर सकते हैं ॥ ४ ॥

एकादश सूक्त समाप्त (५६४)

उन्नीसवें काण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त

तृतीयेऽनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र "गायत्र्युष्णिक्" इति प्रथम-सूक्तस्य "गायत्रीं छन्दोब्रह्मवर्चसकामस्य प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७] विहितायां गायत्र्याख्यायां महाशान्तौ विनियोगः । उक्तं हि नक्षत्रकल्पे । "छन्दोगणः [२२] गायत्र्याम् समासः [२२, २३] आङ्गिरस्याम्" इति [न० क० १८.] ॥

तृतीय अनुवाकमें छः सूक्त हैं । इनमें "गायत्र्युष्णिक्" इस प्रथमसूक्तका "गायत्रीं छन्दो ब्रह्मवर्चसकामस्य-छन्दोब्रह्मवर्चस-कामके लिये गायत्री महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित गायत्रीमहाशांतिमें विनियोग होता है । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"छन्दोगणः (२२) गायत्र्यां समासः (२२, २३) आङ्गिरस्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्सूक्तपाठस्तु ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै [१]

गायत्री । उष्णिक् । अनुऽस्तुप् । बृहती । पङ्क्तिः । त्रिऽस्तुप् । जगत्यै

"सप्त छन्दांस्यृचः कल्पयित्वा गायत्र्यादि गायत्र्यै स्वाहा इत्येवं यथाछन्दः" इति तत्रैव नक्षत्रकल्पे मन्त्राणाम् ऊहनप्रकारस्य

दर्शितत्वाद् गायत्र्यै स्वाहा उष्णिहे स्वाहा अनुष्टुभे स्वाहा बृहत्यै स्वाहा पङ्क्त्यै स्वाहा त्रिष्टुभे स्वाहा जगत्यै स्वाहा इत्येवम् अस्मिन् सूक्ते सप्त मन्त्रा भवन्ति। सर्वे मन्त्राः स्पष्टार्थाः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

[सात छन्दोंमें ऋचाओंकी कल्पना करके "गायत्र्यै स्वाहा" आदि छन्दके अनुसार नक्षत्रकल्पोंमें मन्त्रोंका ऊहनप्रकार दिखाया है अत एव इस सूक्तमें सात मन्त्र होते हैं यथा—] गायत्र्यै स्वाहा—गायत्रीकेलिये यह आहुति स्वाहुत हो, उष्णिहे स्वाहा—उष्णिक्छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, अनुष्टुभे स्वाहा—अनुष्टुप् छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, बृहत्यै स्वाहा—बृहती छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, पङ्क्त्यै स्वाहा—पङ्क्ति छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, त्रिष्टुभे स्वाहा—त्रिष्टुप् छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, और जगत्यै स्वाहा—जगती छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५६५)

"आङ्गिरसानामाद्यैः" इत्यादिसूक्तद्वयस्य "आङ्गिरसीं संपत्कामस्य अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च" [न० क० १७] इति विहितायाम् आङ्गिरस्याख्यायां महाशान्तौ विनियोगः। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "समासः [१६, २२, २३] आङ्गिरस्याम् इन्द्र जुषस्व [२. ५] इत्यैन्द्र्याम्" इति [न० क० १८] ॥ अत्र समासशब्देन एतत् सूक्तद्वयम् उच्यते ॥

तत्र "आङ्गिरसानामाद्यैः" इति सूक्तम् एवमाम्नायते ॥

"आंगिरसानामाद्यैः" आदि दो सूक्तोंका "आङ्गिरसीं सम्पत्कामस्य अभिचरतोऽचर्यमाणस्य च।—सम्पत्तिके अभिलाषीके लिये अभिचार करने वालेके लिये वा जिसके ऊपर अभिचार

किया गया हो, उसके लिये आङ्गिरसी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आंगिरसी महाशान्तिमें इसका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"समासः १६।२२–२३) आंगिरस्यां इन्द्र जुषस्व (२ । ५) इत्यैन्द्र्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १८) ॥ यहाँ समास—शब्दसे ये दोनों सूक्त लिये जाते हैं।

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥

आङ्गिरसानाम् । आद्यैः । पञ्च । अनुऽवाकैः । स्वाहा ॥ १ ॥

षष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥ सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ३ नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ हरितेभ्यः स्वाहा ॥५॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥७॥ प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा १२ उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा १९ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

षष्ठाय । स्वाहा ॥ २ ॥ सप्तमऽअष्टमाभ्याम् । स्वाहा ॥ ३ ॥ नीलऽनखेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥ हरितेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथमेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ १० ॥ उपऽउत्तमेभ्यः । स्वाहा उत्ऽतमेभ्यः । स्वाहा ॥ १२ ॥ उत्ऽतरेभ्यः । स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिऽभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिऽभ्यः । स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः । स्वाहा ॥ १६ ॥ महाऽगणेभ्यः । स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्यः । अङ्गिरःऽभ्यः । विदऽगणेभ्यः । स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक्ऽसहस्राभ्याम् स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २० ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान। भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः

ब्रह्मऽज्येष्ठा । सम्ऽभृता । वीर्याणि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् ।
दिवम् । आ । ततान ।
भूतानाम् । ब्रह्मा । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा ।
स्पर्धितुम् । कः ॥ २१ ॥

अत्र त्रिंशतिकाण्डात्मिकायाम् अस्यां शाखायां विद्यमानानुवाकसूक्तगणविशेषादिसंज्ञारूपैः शब्दैः अनुवाकादिद्रष्टार एत-

न्नामान ऋषयः प्रतिपाद्यन्ते । नीलनखादिसूक्तविशेषाणां प्रसिद्धत्वात् तानि विशेषतो न प्रदर्शितानि । "ब्रह्मणे स्वाहा" इति ब्रह्मशब्देन विंशतिकाण्डात्मकवेदवाचकेन तस्य द्रष्टा ब्रह्माख्य ऋषिः प्रतिपाद्यते । अन्यत् सर्वं निगदव्याख्यातम् ॥ अन्त्यया पूर्वमन्त्रप्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सर्वाभिभावकत्वं प्रतिपाद्यते । वीर्याणि वीरकर्माणि ब्रह्मज्येष्ठा ब्रह्मज्येष्ठानि ब्रह्मा पूर्वोक्तो ज्येष्ठः प्रशस्यतमो येषां तानि । ❀ शेर्लुक् ❀ । यद्वा ज्येष्ठेन ब्रह्मणा । ❀ एकत्र विभक्तेर्लुक् । अपरत्र तृतीयायाः इनादेशाभावः ❀ । संभृता संभृतानि । सर्वस्माद् अयमेव वीर्यवान् इत्यर्थः । अग्रे सृष्ट्यादौ ज्येष्ठं ब्रह्म दिवम् द्युलोकम् आ ततान विस्तारितवान् । तथा ब्रह्मा भूतानां सृज्यमानानां प्रथमः पूर्वभावी जज्ञे उत्पन्नः । तेन कारणेन ब्रह्मणा स्पर्धितुम् स्पर्धां कर्तुं कः अन्यो देवो मनुष्यो वा अर्हति समर्थो भवति । अधिकतरवीर्यवत्त्वात् सर्वोत्कृष्टस्थाननिवासित्वात् सर्वेषाम् आदिभूतत्वाच्च ब्रह्मणः समानो नास्तीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

[इस बीस काण्ड वाली शाखामें विद्यमान अनुवाक सूक्तगण विशेष आदि संज्ञाशब्दोंसे अनुवाक आदिके द्रष्टा ऋषियोंका प्रतिपादन किया है । नीलनख आदि सूक्त प्रसिद्ध हैं अत एव उनका विशेषरूपसे वर्णन नहीं किया है बीसवेंका अधिक विवरण किया है यथा] आंगिरसोंके आदिम पाँच अनुवाकोंके द्वारा यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १ ॥ षष्ठके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥ सप्तम अष्टमके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ३ ॥ नीलनखों के लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ४ ॥ हरितोंके लिये स्वाहा ५ क्षुद्रोंके लिये स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकोंके लिये स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथम शंखोंके लिये स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयशंखोंके लिये स्वाहा ९ तृतीय-शंखोंके लिये स्वाहा ॥ १० ॥ उपोत्तमोंके लिये स्वाहा ११

उपगोंके लिये स्वाहा ॥ १२ ॥ वपरोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १३ ॥ ऋषियोंके लिये आहुति स्वाहुत हो ॥ १४ ॥ शिखियोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १५ ॥ गणोंके लिये स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणोंके लिये स्वाहा ॥ १७ ॥ पितृगणके सब अंगिराओंके लिये स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक् सहस्रोंके लिये स्वाहा ॥ १९ ॥ विंशति काण्डात्मक वेदवाचक ब्रह्मा नामक ऋषिके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २० ॥ [अब पूर्वमन्त्रमें प्रतिपादित ब्रह्मके सर्वाभिभावकत्वका प्रतिपादन करते हैं, कि–] सकल वीर कर्म ब्रह्मज्येष्ठ होते हैं अर्थात् इनमें ब्रह्मा श्रेष्ठ होता है ये सब कर्म ब्रह्म (वेद) से पूर्ण होते हैं। पहिले सृष्टिकी आदिमें ज्येष्ठ ब्रह्मने इस द्युलोकको विस्तृत किया था। और ब्रह्मा सब भूतोंमें प्रथम प्रकट हुए हैं। इस कारण और कोई देवता वा मनुष्य ब्रह्माकी स्पर्धा कैसे कर सकता है। तात्पर्य यह है, कि–अधिक वीर्यवान् होनेसे सब लोकों से उत्कृष्ट लोकमें रहनेसे और सबके आदिभूत होनेके कारण ब्रह्माकी समान कोई नहीं है ॥ २१ ॥

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५६६)

"आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः" इति सूक्तस्य समाससंज्ञकस्य आङ्गिरस्यां महाशान्तौ विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः। सूक्तं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

"आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः" समास संज्ञक सूक्तका आंगिरस महाशान्तिमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है। सूक्त भी वहाँ ही लिख दिया है। वह सूक्त इस प्रकार है, कि-

तत् सूक्तम् एवम् आम्नायते ॥

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥

आथर्वणानाम् । चतुःऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ १ ॥

पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥ षळृचेभ्यः स्वाहा ॥३॥
सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥
नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥
एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ९
त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१०॥ चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ११
पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥१२॥ षोडशर्चेभ्यः स्वाहा १३
सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा १४ अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा १५
एकोनविंशतिः स्वाहा १६ विंशतिः स्वाहा ॥ १७ ॥
महत्काण्डाय स्वाहा ॥१८॥ तृचेभ्यः स्वाहा ॥१९॥
एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ २१ ॥
एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥ रोहितेभ्यः स्वाहा २३
सूर्याभ्यां स्वाहा ॥२४॥ व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥२५॥
प्राजापत्याभ्यां स्वाहा २६ विषासह्यै स्वाहा ॥२७॥
मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा २८ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २९ ॥

पञ्चऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ २ ॥ षट्ऽऋचेभ्यः । स्वाहा ३
सप्तऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥ अष्टऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥

नवऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥ दशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

एकादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ८ द्वादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ९ ॥

त्रयोदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥१०॥ चतुर्दशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ११

पञ्चदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १२ षोडशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १३

सप्तदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १४ अष्टादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १५

एकोनविंशतिः । स्वाहा ॥ १६ ॥ विंशतिः । स्वाहा ॥ १७ ॥

महत्ऽकाण्डाय । स्वाहा ॥ १८ ॥ तृचेभ्यः । स्वाहा ॥ १९ ॥

एकऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ २१ ॥

एकऽअनृचेभ्यः । स्वाहा ॥२२॥ रोहितेभ्यः । स्वाहा ॥ २३ ॥

सूर्याभ्याम् । स्वाहा ॥ २४ ॥ व्रात्याभ्याम् । स्वाहा ॥ २५ ॥

प्राजाऽपत्याभ्याम् । स्वाहा ॥२६॥ विऽससहै । स्वाहा ॥२७॥

मङ्गलिकेभ्यः । स्वाहा ॥ २८ ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २९ ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्या॑णि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः

ब्रह्मऽज्येष्ठा । सम्ऽभृता । वीर्याणि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् ।

दिवम् । आ । ततान ।

भूतानाम् । अग्रः । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा ।
स्पर्धितुम् । कः ॥ ३० ॥

अत्र चतुर्ऋचादिदशर्चान्तैः शब्दैस्तृचाद्येकर्चान्तैः शब्दैश्च तत्तत्संज्ञका अथर्वास्तथा ऋषयः प्रतिपाद्यन्ते । एकादशादिविंशत्यन्तैः शब्दैरथर्वणा आर्षेयाः प्रतिपाद्यन्ते तथा च गोपथब्राह्मणे समाम्नायते । "तम् अथर्वाणम् ऋषिम् अभ्यश्राम्यत् । अभ्यतपत् । समतपत् तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् संतप्ताद् दशतयान् अथर्वण ऋषीन् निरमिमीत । एकर्चान् द्व्यृचांस्तृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षडृचान् सप्तर्चान् अष्टर्चान् नवर्चान् दशर्चान् इति । दशतयान् आथर्वणान् आर्षेयान् निरमिमीत । एकादशान् द्वादशांस्त्रयोदशांश्चतुर्दशान् पञ्चदशान् षोडशान् सप्तदशान् अष्टादशान् नवदशान् विंशान् इति" इति [गो० १. ५] । "महाकाण्डाय" इति शब्देन विंशतिकाण्डात्मककृत्स्नवेदवाचिना तद्द्रष्टैवैतन्नामा ऋषिरभिधीयते । "क्षुद्रेभ्यः" इति यजुर्मन्त्रवाचिना "पर्यायिकेभ्यः" इति पर्यायसूक्तवाचिना "एकानृचेभ्यः" इति अर्धर्चवाचकेन रोहितादिकाण्डवाचकैः शब्दैश्च तत्तत्संज्ञका ऋषयोभिधीयन्ते । अत्र रोहितादिप्रतिपादकाः काण्डाः सुप्रसिद्धाः । "विषासह्यै स्वाहा" इति विषासहिशब्देन सप्तदशकाण्डोभिधीयते । ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि व्याख्यातम् ॥

इति तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[यहाँ चतुर्ऋचसे दशर्च तकके शब्दोंसे और तृचसे एकर्च तकके शब्दोंसे भी तत्तत्संज्ञक अथर्वा नामक ऋषियोंका प्रतिपादन किया है एकादशसे विंशति तकके शब्दोंसे आथर्वण आर्षेयोंका प्रतिपादन किया है इसी बातको गोपथब्राह्मणमें कहा है, कि–"तं अथर्वाणं ऋषिं अभ्यश्राम्यत् । अभ्यतपत् । सम-

तपत् । तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् संतप्ताद् दशतयान् अथर्वण ऋषीन् निरमिमीत । एकर्चान् द्व्यृचांस्त्र्यृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षड्चान् सप्तर्चान् अष्टर्चान् नवर्चान् दशर्चान् इति । दशतयान् आथर्वणान् आर्षेयान् निरमिमीत । एकादशान् द्वादशांस्त्रयोदशान् पञ्चदशान् षोडशान् सप्तदशान् अष्टादशान् नवदशान् विंशान् इति" गोपथ ब्राह्मण १ । १ "महाकाण्डाय शब्दसे बीस काण्डके पूर्ण वेदके द्रष्टा महाकाण्ड नामक ऋषिका वर्णन किया है । यजुर्मन्त्रवाची "क्षुद्रेभ्यः"शब्दसे पर्यायसूक्तवाची "पर्यायिकेभ्यः" शब्दसे अर्थ-र्ववाचक "एकानृचेभ्यः" शब्दसे और रोहितादि काण्डवाचक शब्दोंसे भी तत्तत्संज्ञक ऋषि कहे जाते हैं । यहाँ रोहितादि प्रतिपादक काण्ड प्रसिद्ध ही हैं । "विषासहै स्वाहा" में विषासहि शब्दसे सत्रहवाँ काण्ड लिया गया है] आथर्वणोंके चतुर्ऋचोंके लिये स्वाहा ॥ १ ॥ पञ्चर्चोंके लिये स्वाहा ॥ २ ॥ षड्ऋचोंके लिये स्वाहा ॥ ३ ॥ सप्तऋचोंके लिये स्वाहा ॥४॥ अष्टर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ५ ॥ नवर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ६ ॥ दशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ७ ॥ एकादशर्चोंके लिये स्वाहा ॥८॥ द्वादशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ९ ॥ त्रयोदशर्चोंके लिये स्वाहा १० चतुर्दशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ११ ॥ पञ्चदशर्चोंके द्रष्टा ऋषिके लिये स्वाहा ॥ १२ ॥ षोडशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ १३ ॥ सप्तदशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ १४ ॥ अष्टादशर्चोंके द्रष्टा ऋषियोंके लिये स्वाहा ॥ १५ ॥ एकोनविंशतिके लिये स्वाहा ॥ १६ ॥ विंशतिके लिये स्वाहा ॥ १७ ॥ महत्काण्डके लिये स्वाहा १८ तृचोंके लिये स्वाहा ॥ १९ ॥ एकर्चोंके लिये स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रोंके लिये स्वाहा ॥ २१ ॥ एकानृचोंके लिये स्वाहा ॥ २२ ॥ रोहितोंके लिये स्वाहा ॥ २३ ॥ सूर्योंके लिये स्वाहा ॥ २४ ॥ व्रात्योंके लिये स्वाहा ॥ २५ ॥ प्राजापत्योंके लिये स्वाहा २६

पिपासहिके लिये स्वाहा ॥ २७ ॥ मंगलिकोंके लिये स्वाहा २८ ब्रह्मा नामक ऋषिके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २९ ॥ सकल वीरकर्म ब्रह्मज्येष्ठ होते हैं अर्थात् इनमें ब्रह्मा श्रेष्ठ होता है, ये सब कर्म ब्रह्म (वेद) से पूर्ण होते हैं। पहिले सृष्टिकी आदि में ज्येष्ठ ब्रह्मने इस द्युलोकको विस्तृत किया था और ब्रह्मा सब भूतोंमें प्रथम प्रकट हुए हैं। इस कारण और कोई देवता या मनुष्य ब्रह्माकी स्पर्धा कैसे कर सकता है ॥ ३० ॥

तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५९७)

"येन देवं सवितारम्" इति सूक्तम् "त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये प्रयुञ्जीत" [न० क० १७] इति विहितायां महाशान्तावावपेत् । "अथावापिकाः शान्तय इत्यमुनायाम्" इति प्रक्रम्य सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे । "प्राणाय नमः [११. ६] इति संतत्यास् येन देवं सवितारम् [१६. २४] इति त्वाष्ट्र्याम्" इति [न० क० १८] ॥

"येन देवं सवितारम्" सूक्तको "त्वाष्ट्रीं वस्त्रक्षये प्रयुञ्जीत ।- त्वाष्ट्री महाशान्तिका वस्त्रक्षयमें प्रयोग करे" इन नक्षत्रकल्प १७ से विहित महाशान्तिमें बोले । "अथावापिकाः शान्तय इत्यमुनायाम्" का आरम्भ करके नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"प्राणाय नमः (११ । ६) इति सन्तत्यां येन देवं सवितारं (१६ । २४) इति त्वाष्ट्र्याम्" नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

येनं देवं संवितारं परिं देवा अधारयन् ।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परिं राष्ट्राय धत्तन ॥ १ ॥

येन । देवम् । सवितारम् । परि । देवाः । अधारयन् ।
तेन । इमम् । ब्रह्मणः । पते । परि । राष्ट्राय । धत्तन ॥ १ ॥

देवाः द्योतमाना इन्द्रादयः देवम् द्योतमानं सवितारम् सर्वस्य प्रेरकम् आदित्यं येन हेतुना रक्षोहननरूपेण पर्यधारयन् परितः सर्वत आच्छादन्। दर्शपूर्णमासादिषु रक्षोनिबन्धनयज्ञभ्रंशपरिहाराय आदित्यमेव परिधित्वेन कल्पितवन्त इत्यर्थः। अत एव तैत्तिरीयके समाम्नायते। "न पुरस्तात् परिदधाति। आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" इति [तै०सं० २.६.६.३]। तेन कारणेन शत्रुनिर्हरणात्मना हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो वेदरूपस्य मन्त्रस्य पते पालक एतत्संज्ञक देव इमम् महाशान्तिमयोक्तारं यजमानं राष्ट्राय राज्याय। ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀। राज्यं रक्षितुं परि धत्त परिधापय। रक्षकत्वेन धापय। अस्य राज्यस्य परकृतबाधापरिहारार्थम् इमं साधकं राजानं रक्षकत्वेन। कुर्वित्यर्थः। ❀ दधातेर्लोटि मध्यमबहुवचनस्य तस्य तनादेशः। "तिङां तिङो भवन्ति" इति एकवचनस्य बहुवचनम् आदेशः ❀॥ यद्वा परि धत्तनेति लिङ्गाद् वस्त्ररक्षणार्थं विहितायां त्वाष्ट्र्यां शान्तौ विनियोगाद् अयम् अर्थः। येन निमित्तेन देवाः सवितारम् आच्छादकम् अकुर्वन् तेन हे ब्रह्मणस्पते। वाससः सर्वदेवत्यत्वात् तदभिमानिदेवाः संबोध्यन्ते। वाससः सर्वदेवत्यत्वं तैत्तिरीयकाः समामनन्ति। "तद् वा एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः" इति [तै० सं० ६.१.१.४]। परि धत्त हे वासोभिमानिनो देवाः यूयमपि एनं राष्ट्राय परि धत्त। यथा देहस्य वास आच्छादकम् एवम् इमं साधकं राज्यस्य वस्त्रवत् परिधापयत आच्छादकं कुरुत इति बहुवचनोपपत्तिः॥

इन्द्र आदि देवताओंने सर्वप्रेरक कान्तिमान् आदित्यदेवको जिस रक्षोहननरूप कार्यसे अपने चारों ओर धारण किया अर्थात् दर्श पूर्णमास आदिमें राक्षसनिमित्तरूपयज्ञभ्रंशको दूर करनेके लिये आदित्यको ही परिधिरूपमें माना [इसी लिये तैत्तिरीय-

संहिता २ । ६ । २ । ३ में कहा है, कि—"न पुरस्तात् परि दधाति । आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति"] उस शत्रुनाशनरूप कारणसे हे वेदरूप मंत्रके पालक ब्रह्मणस्पते देव ! इस महाशान्तिका अनुष्ठान कराने वाले यजमानको राज्यकी रक्षा करनेके लिये स्थापित करिये । अर्थात् इस राज्यकी शत्रु की बाधाको दूर करनेके लिये इस साधक राजाको रक्षकरूपमें दृढ़ करिये । [अथवा 'परिधत्त' लिंगसे वस्त्ररक्षार्थ की जाने वाली त्वाष्ट्री शान्तिमें विनियोग करने पर यह अर्थ होगा, कि-जिस कारणसे देवताओंने सविताको आच्छादक दिया है, इस कारण हे ब्रह्मणस्पते ! और सकल देवताओं तुम भी इस राजा को राष्ट्रके लिये धारण करो अर्थात् जैसे वस्त्र देहका आच्छादक है, तिसी प्रकार तुम इस साधक राजाको राज्यके वस्त्रकी समान आच्छादक करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ २ ॥

परि । इमम् । इन्द्रम् । आयुषे । महे । क्षत्राय । धत्तन ।

यथा । एनम् । जरसे । नयाम् । ज्योक् । क्षत्रे । अधि । जागरत्

हे इन्द्र परमैश्वर्यसम्पन्न त्वम् इमं साधकं मा माम् आयुषे आयुर्लाभाय महे महते क्षत्राय क्षतात् त्रायत इति क्षत्रम् परकृत-बाधापरिहारकं बलम् । तस्मै तल्लाभाय च परि धत्तन परिधाप-यत । अत्रापि पूर्ववत् पूजायां बहुवचनं वस्त्राभिमानिसर्वदेवा-पेक्षया वा । उक्तम् अर्थं स्पष्टीकरोति । ज्योक् चिरकालं क्षत्रे बाधापरिहारके बले । निमित्ते सप्तमी । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ।

अधिकं वा जागरत् जागृयात् असौ शान्तिकर्ता यजमानः। ❀ जागर्तेर्लेटि अडागमः ❀। यथाशब्दो भिन्नक्रमः। यथा अयं साधकश्चिरकालं बलवान् शत्रुधर्षणसमर्थो जागृयात् अवहितो भवेत्। तथेत्यध्याहारः। एनं शान्तिकर्तारं जरसे जरायै जरापर्यन्तं नय प्रापय। आयुष्मन्तं कुर्विति इन्द्रः संबोध्यः। विश्वदेवसंबोधनपक्षे प्रत्येकविवक्षया एकवचनम्। ❀ इदमोन्वादेशे एनादेशोनुदात्तः। "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति अजादौ जराया जरस् आदेशः ❀॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र! आप इस (मुझ) साधकको आयु की प्राप्तिके लिये और दूसरेकी बाधाको दूर करने वाले क्षात्र बलकी प्राप्तिके लिये स्थापित करिये। जिससे यह शान्तिकर्ता यजमान चिरकाल तक बाधापरिहारक क्षात्रबलमें अधिकतासे जागता रहे। जिस प्रकार यह साधक यजमान चिरकाल तक शत्रुओंको दबानेमें समर्थ रहता हुआ सावधान रहे तिस प्रकार इसको हे इन्द्र! बुढ़ापे तक पहुँचाइये। इसको आयुष्मान् करियेर

तृतीया॥

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेधि जागरत्॥ ३॥

परि। इमम्। सोमम्। आयुषे। महे। श्रोत्राय। धत्तन।
यथा। एनम्। जरसे। नयाम्। ज्योक्। श्रोत्रे। अधि। जागरत् ३

हे सोम वासोभिमानिदेव इमं शान्तिकर्तारं मा माम् आयुषे चिरकालजीवनाय महे महते श्रोत्राय। श्रोत्रशब्दः सर्वेषां चक्षुरादीनाम् उपलक्षणम्। इन्द्रियसाध्यरूपाद्युपलब्धये आदानादिंकर्देश्य च परि धत्तन परितः सर्वतो धत्त। पुष्टं कुरुत। पूर्ववद्

बहुवचनम् । यद्वा श्रोत्रशब्देन श्रूयते श्लाघ्यते सर्वैः पुमान् अनेनेति यश उच्यते । ❀ श्रु श्रवणे । करणे औणादिकस्त्रन् प्रत्ययः ❀ । महते यशसे च परिधत्त । यथैनम् इत्यादि पूर्ववत् । तत्रस्थाने श्रोत्रशब्दो विशेषः । यथा चिरकालं श्रोत्रादीन्द्रियःशक्तिमान् यशस्वी वा जागृयात् तथा एनं जरसे जरापर्यन्तं नयेति ॥

हे वस्त्रके अभिमानी सोमदेव ! शुभ शांतिकर्ता यजमानको आप चिरायुके लिये, श्रोत्रोपलक्षित सकल इन्द्रियोंके लिये या यशके लिये स्थापित करिये-पुष्ट करिये । जिससे यह शांतिकर्ता यजमान बुढ़ापे तक श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी शक्तिवाला वा यशस्वी हो, तिस प्रकार इसको बुढ़ापे तक पहुँचाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ ४ ॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जराऽमृत्युम् । कृणुत । दीर्घम् । आयुः ।
बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परिऽधातवै । ऊं इति ॥ ४ ॥

एषा ऋक् द्वितीयकाण्डे तृतीयेनुवाके "आयुर्दाः" इति सूक्ते [२, १३, २] व्याख्याता । संग्रहार्थस्तु । वाससः सर्वदेवत्यत्वात् तदभिमानिदेवानामेव संबोध्यत्वम् । तथात्वं च वाससः

तैत्तिरीयके समाम्नायते । "अग्नेस्तूषाधानम्" इति प्रक्रम्य "सर्व्वं वा एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः" इति [तै० सं० ६. १. १. ४]। हे देवाः परि धत्त । ॐ अन्तर्भावितण्यर्थः ॐ । इमं माणवकं वासः परिधापयत । नः अस्मदीयम् इमं वर्चसा तेजसा धत्त पोषयत । तेजस्विनं कुरुतेत्यर्थः । किं च इममेव माणवकं जरामृत्युम् जरयैव मृत्युर्यस्य स तथोक्तः तथाविधं कुरुत । अकालमृतिर्मा भूद् इत्यर्थः । एतदेवाह दीर्घम् इति । अस्य माणवकस्य दीर्घम् शतपरिमितम् आयुरस्तु ॥ तदेव वासः प्रशंसति । बृहस्पतिः बृहताम् इन्द्रादीनां पतिः एतन्नामा देवः । ॐ "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ । एतन्नामा देवः एतत् प्रकृतं वासः सोमाय राज्ञे ब्राह्मणानां स्वामिने । "सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इति श्रुतेः [तै० सं० १. ८. १०. २] । परिधातवै परिधातुम् । ॐ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवै प्रत्ययः । "तवै चान्तश्च युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॐ । प्रायच्छत् प्रददात् । ॐ दाण् दाने । इत्यस्मात् लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ॐ । उ इति पदपूरणः । अनेन वस्त्राणां सोमदेवताकत्वं सूचितम् । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "सौम्यं वै वासः । स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति" इति [तै० ब्रा० २. २. ५. २] ॥

हे देवताओं ! इस बालकको तुम वस्त्र पहिराओ, हमारे इस बालकको तुम तेजसे पुष्ट करो अर्थात् इसको तेजस्वी करो तथा इस बालकको बुढ़ापेमें ही मरने वाला करो अर्थात् इसकी अकाल मृत्यु न हो । इस बालककी सौ वर्षकी दीर्घायु करो, बड़े २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवने राजा सोमको धारण करनेके लिये इस वस्त्रको दिया था

[इस मन्त्रसे वस्त्रका सोमदेवताकत्व सिद्ध होता है, तैत्तिरीय-ब्राह्मण २।२।५।२ की श्रुतिमें भी कहा है, कि-"सौम्यं वै वासः स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति"] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उं ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीः रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व

जराम् । सु । गच्छ । परि । धत्स्व । वासः । भव । गृष्टीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।
शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । रायः । च । पोषम् । उपऽसंव्ययस्व ॥ ५ ॥

इयमपि ऋक् तत्रैव काण्डे [२. १३. ३] व्याख्याता । अत्र प्रथमपादो भिन्नः । हे शान्तिप्रयोक्तः त्वं जराम् वार्धकं सु गच्छ सम्यक् प्राप्नुहि । ❀ "सुः पूजायाम्" इति कर्मप्रवचनीयः ❀ । जरापर्यन्तम् आयुष्मान् भवेत्यर्थः । वासः एतत् परि धत्स्व आच्छादय । अनेन वासःपरिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा तन्निमित्ताद् भयात् पाता पालको भव । तत्र अभूरिति पाठः अत्र भवेति विशेषः । गवाम् अभिशस्तिपात्वं तत्रैव शतपथब्राह्मणानुसारेण प्रपञ्चितं तत् ततोऽवगन्तव्यम् । किं च पुरूचीः बहुकालम् अञ्चन्तीः बहुविधान् पुत्रपौत्रादीन् वा व्याप्नुवतीः शतम् शतसंख्याकाः शरदः संवत्सरान् जीव । अपि च रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् उपसंव्ययस्व परिधत्स्व । एतद्वासःपरिधानेन धनादिसमृद्धिर्भवतीति भावः

हे शान्तिप्रयोक्ता यजमान ! तू बुढ़ापेको भली प्रकार प्राप्त हो अर्थात् बुढ़ापे तक आयुष्मान् हो, इस वस्त्रको धारण कर और गौओंकी अभिशस्तिसे रक्षा पाने वाला हो, और पुत्र पौत्रोंसे सम्पन्न रहता हुआ सौ वर्षों तक जीवित रह, धनकी पुष्टिको धारण कर । तात्पर्य यह है, कि—इस वस्त्रको धारण करनेसे धन आदिकी समृद्धि होती है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥ ६ ॥

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । वापीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।

शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । वसूनि । चारुः । वि । भजासि । जीवन् ॥ ६ ॥

एषापि तत्रैव द्वितीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके [२. १३. ३] व्याख्याता । अत्र चरमपादो विभिन्नः । हे शान्तिकर्तः इदम् वस्त्रं वासो वस्त्रं स्वस्तये क्षेमाय पर्यधिथाः परिहितवान् असि । ❀ परिपूर्वाद् धाधातोर्लुङि "स्थाघ्वोरिच" इति इत्वकित्त्वे । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ । तेन वासःपरिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः । त्वगादानभीतिरत्र अभिशस्तिशब्देन विवक्षिता । तस्या अभिशस्तेः पाता अभूः भव । उशब्दः पूरणः । शतं च जीवेति तृतीयः पादः पूर्ववत् । जीवन् शतसंवत्सरजीवनवान्

चारुः वाससा दीप्यमानस्त्वं वसूनि धनानि वि भजासि पुत्रमित्र-दायादादिभ्यो विभक्तं कुरु । अर्थिभ्यो वा प्रयच्छ । ❀ भजते-र्लेटि आडागमः ❀ ॥

हे शान्तिकर्तः ! तू इस वस्त्रको सेमके लिये धारण कर रहा है, इस वस्त्रधारणसे तू गौओंकी स्वगादानभीतिरूप अभिशस्ति से रक्षक हो, और बहुतसे पुत्र पौत्र आदिमें व्याप्त होने वाले सौ वर्ष तक जीवित रह और जीता रहता हुआ तू वस्त्रसे दम-कता हुआ पुत्र मित्र स्त्री आदिको धन बाँटता रह ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।

सखाय इन्द्रमूतये ॥ ७ ॥

योगेऽयोगे । तवःऽतरम् । वाजेऽवाजे । हवामहे ।

सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ ७ ॥

अप्राप्यप्रापणं योगः । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वच-नम् ❀ । योगेयोगे सर्वस्य अप्राप्यस्य फलस्य प्रापणविषये वाजे-वाजे । वाजशब्दः अन्नवाची । उपलक्षणम् एतत् । अन्नादि-लक्षणे फले लब्धे च । ❀ पूर्ववद् द्विर्वचनम् । लुप्तमत्वर्थीयस्तवस् शब्दः ❀ । अतिशयेन तवस्विनं समृद्धं तम् इन्द्रम् परमैश्वर्य-संपन्नं देवं सखायः समानख्यानाः स्तोतारो वयम् ऊतये रक्ष-णार्थं च हवामहे आह्वयामः । अभिमतफललाभार्थं लब्धस्य परिपालनार्थं स्वरक्षणार्थं च इन्द्रमेव आह्वयाम इत्यर्थः ॥

मित्ररूप हम स्तोता [अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है ऐसे] सब अप्राप्य फलोंकी प्राप्तिरूप प्रत्येक योगमें और अन्नादि फलकी लब्धिमें भी परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेवका, रक्षाके लिये

आह्वान करते हैं। तात्पर्य यह है, कि—अभिमत फलकी प्राप्ति के लिये और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षाके लिये हम इन्द्रका ही आह्वान करते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व ।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ८

हिरण्यऽवर्णः । अजरः । सुऽवीरः । जराऽमृत्युः । प्रऽजया । सम् । विशस्व ।
तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ८ ॥

हिरण्यवर्णः हितरमणीयशरीरकान्तिः हिरण्यसमानवर्णो वा अजरः जरारहितः सुवीरः । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्राः । शोभनपुत्रादियुक्तो जरामृत्युः जरयैव मृत्युर्यस्य अकालमरणरहितश्च सन् प्रजया प्रकर्षेण जायमानया पुत्रादिकया भृत्यादिरूपया वा सह सं विशस्व । संवेशशब्देन अत्र निर्वेशो विवक्ष्यते । निर्विश । एवं हिरण्यवर्णादिविहितफलोपपन्नः सन् चिरकालं सुखयेत्यर्थः । यद्वा सं विशस्व सम्यग्विश प्रविश । उक्तगुणोपेतः सन् स्वगृहम् अधितिष्ठेत्यर्थः । ❀ विशतेर्व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । उक्तेऽर्थे विप्रतिपत्त्यभावं प्रासोभिमानिसर्वदेवतावचनेन समर्थयते उत्तरार्धेन । अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः तत् अस्मिन् सूक्ते प्रतिपादितम् अर्थजातम् आह ब्रवीति । उशब्दः अवधारणे । तदेव सोमो देव आह । तदेव अर्थजातम् इन्द्रबृहस्प-

पतिसवितार आहुः । एतदादयः सर्वेपि देवा इमम् उक्तम् अर्थम् आहुः । अस्मिन्नर्थे विमतिपत्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेनुवाके चतुर्थम् सूक्तम् ॥

हे यजमान ! तू शरीरकी हितरमणीय कांतिसे सम्पन्न रहता हुआ, जरारहित-तगड़ा-, और शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न रहता हुआ और अकाल मरणसे रहित रहता हुआ पुत्र भृत्य आदि प्रजाके साथ इस घरमें प्रवेश कर ॥ इस सूक्तमें कही हुई बातको अग्निदेव कहते हैं, सोमदेव प्रतिपादन करते हैं, बृहस्पति सविता और इन्द्र भी इस सूक्तमें कही हुई बातका प्रतिपादन करते हैं। अत एव इस सूक्तकी बातोंमें कोई सन्देह नहीं है ॥८॥

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६८)

"अश्रान्तस्य त्वा" इति एकर्चे सूक्ते "गान्धर्वीम् अश्वक्षये प्रयुञ्जीत" [न० क० १७.] इति विहितायां गान्धर्व्याख्यायां महाशान्तावावपेत् । उक्तं हि नक्षत्रकल्पे । "अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मीति गान्धर्व्याम् आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८.] ॥

"अश्रान्तस्त्वा" यह एक ऋचा वाला सूक्त है। "गान्धर्वी अश्वक्षये प्रयुञ्जीत ।-गांधर्वी शान्तिका अश्वक्षयमें प्रयोग करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित गांधर्वी नाम वाली महाशान्तिमें इस सूक्तको पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मीति गांधर्व्यां आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

सैषा ऋग् एवम् आम्नायते ॥

अश्रा॑न्तस्य त्वा॒ मन॑सा यु॒नज्मि॑ प्र॒थम॑स्य च ।

उत्कू॑लमुद्व॒हो भ॑वोदु॒ह्य प्रति॑ धावतात् ॥ १ ॥

अश्रान्तस्य । त्वा । मनसा । युनज्मि । प्रथमस्य । च ।

उत्ऽकूलम् । उत्ऽवहः । भव । उत्ऽउह्य । प्रति । धावतात् ॥१॥

अथ अश्वः संबोध्यः । हे गान्धर्वाश्व त्वा त्वाम् अश्रान्तस्य श्रमरहितस्य परसेनाभिगमनेपि शरीरायासरहितस्य तुरंगमस्य मनसा शत्रुधर्षणोत्सुकेन स्वाधिरोहसादिप्रोत्साहकेन वा मनसा मानसेन प्रथमस्य सृष्ट्यादौ उत्पन्नस्य अश्वजातेः पूर्वस्य अश्वस्य च मनसा युनज्मि योजयामि । जितश्रमस्य उच्चैःश्रवसः अश्वश्रेष्ठस्य च मन उपलक्षितौ सर्वेन्द्रियशक्तिं शरीरदार्ढ्यम् आशुत्वं परसेनाधिधावनसामर्थ्यं च अस्मिन् शान्तिफलत्वेन काम्यमाने तुरंगमे योजयामीत्यर्थः । एवंसामर्थ्योपेतस्त्वम् उत्कूलमुद्वहो भवः । अतिदक्षो भवेति तात्पर्यार्थः ॥ पदार्थस्तु । नदी पराची तीरे प्रभूतेन जलप्रवाहेण उत्क्रम्य ऊर्ध्वं प्रवहति एवं त्वमपि युद्धाय संनद्धं परसैन्यं स्वसामर्थ्येन अतिक्रम्य विक्षोभयेति अश्वः प्रोत्साह्यते । ❁ वह प्रापणे । "उदि कूले रुजिवहोः" इति खच् प्रत्ययः । "खित्यनव्ययस्य" "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति कूलशब्दस्य मुम् आगमः । भवतेर्लेटि अडागमः । "भूसुवोस्तिङि" इति गुणनिषेधाभावश्छान्दसः । यद्वा छान्दसे लुङि अमाङ्योगेपि अडभावः ❁ । दुहीय एतादृशसामर्थ्योपेतेन अश्वेन भवता प्रापणीयानि शत्रुजयलक्षणानि फलानि लभेय । ❁ दुह प्रपूरणे । अस्माद् विधिलिङि कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । उत्तमैकवचनम् इट् ❁ । अतः अश्व त्वं प्रतिधावतात् जेतव्यं स्थानं प्रति शीघ्रं गच्छ । ❁ प्रतिपूर्वात् सर्तेर्वेगितायां गतौ धाव् आदेशः । "तुह्योस्तातङ्०" इति मध्यमपुरुषस्य हेस्तातङ् आदेशः ❁ ।

इति तृतीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे गांधर्वास्व ! मैं तुझको शत्रुसेना पर यात्रा करनेमें भी भयरहित रहने वाले अश्वके शत्रुधर्षणोत्सुक वा अपने सवारको उत्साहित करने वाले मनसे और सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए अश्वजातिके मनसे युक्त करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि–क्रमजित् उच्चैःश्रवा अश्वकी मन आदि सकल इन्द्रियोंकी शक्तिको शरीरकी दृढ़ताको और शत्रुसेनाको दबानेकी शक्तिको भी इस शान्तिफलरूपसे अभिलषित तुरंगममें मैं संयुक्त करता हूँ। ऐसी शक्तिसे सम्पन्न हुआ तू जैसे नदी प्रवाहरूप जलसे दोनों किनारों के ऊपर चढ़कर बहने लगती है, तिस प्रकार तू भी शत्रुसेना पर चढ़ कर उसको क्षुब्ध कर। मैं ऐसी सामर्थ्य वाले आप अश्वसे शत्रुजय आदि अभिलाषा करने योग्य फलोंको प्राप्त करूँ इसलिये हे अश्व ! तू जेतव्य स्थानकी ओर शीघ्रतासे दौड़ १

तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५६६)

"अग्नेः प्रजातम्" इति सूक्तेन "आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च" [न० क० १७] इति विहितायाम् आग्नेय्याख्यायां महाशान्तौ हिरण्यनिर्मितं कुण्डलादिकम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यम् इति हिरण्यम् आग्नेय्याम्" इति [न०क० १९]। कर्णमध्ये छिद्रवद्धिरण्यकुण्डलम् इत्यर्थः ॥

तथा अनेन सूक्तेन तुलापुरुषे शान्तिकलशे हुत्वा संपातान् आनयेत्। "अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। " 'अग्ने गोभिः' 'अग्नेऽभ्यावर्तिन्' [कौ० ६. ४] 'अग्नेः प्रजातम्' [१९. २६] इति संपातान् उदपात्र आनीयाभिषेककलशेषु निनयेत्" इति [प० ११. १] ॥

"अग्नेः प्रजातम्" सूक्तसे "आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च। सर्वकामकी शान्तिके लिये और अग्निभयमें आग्नेयी शान्तिको

करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आग्नेयी नामक महाशान्ति में सुवर्णके बने कुण्डल आदिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-अग्नेः प्रजातम् परि यद्द हिरण्यं इति हिरण्यं आग्नेय्याम्" (नक्षत्रकल्प १६) तात्पर्य यह है, कि-कानके मध्यमें छिद्र वाले सुवर्णकुण्डलको बाँधे" ।

तथा इस सूक्तसे तुलापुरुषके समय शान्तिकलशमें आहुति देकर सम्पातोंका आनयन करे। "अथातः तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः ।-अब तुलापुरुषविधिकी व्याख्या करते हैं" का आरंभ करके परिशिष्टमें कहा है,कि "'अग्ने गोभिः' 'अग्ने अभ्यावर्तिन्' (कौशिकसूत्र ६ । ४) 'अग्नेः प्रजातम्' (१६ । २६) इति सम्पातान् उदपात्र आनीयाभिषेककलशेषु निनयेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ११ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु ।
य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥ १ ॥

अग्नेः । प्रऽजातम् । परि । यत् । हिरण्यम् । अमृतम् । दध्रे । अधि । मर्त्येषु ।
यः । एनत् । वेद । सः । इत् । एनम् । अर्हति । जराऽमृत्युः । भवति । यः । बिभर्ति ॥ १ ॥

अग्नेः परि अग्नेः सकाशात् । ॐ परिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी ॐ । प्रजातम् प्रकर्षेण उत्पन्नं यत् हिरण्यम् सुवर्णं विद्यते । आग्नेयाद्ध रेतसः सुवर्णम् उत्पन्नम् इति तैत्तिरीयाः समामनन्ति ।

"अग्ने रेतश्चन्द्रं हिरण्यम् । अद्भ्यः संभूतम् अमृतं प्रजासु" इति [तै० ब्रा० १. २. १. ४]। यच्च हिरण्यं मर्त्येषु मरणधर्मसु मनुष्येषु अधि । ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी अधिकृत्येति वा ❀। अमृतम् अमरणसाधनं सत् दध्रे अवतिष्ठते। ❀ धृङ् अवस्थाने । तौदादिकः। अकर्मकः। आत्मनेपदी ❀। मरणधर्मणां मनुष्याणां मरणनिर्हरणसाधनत्वेन यत् हिरण्यं तिष्ठति । यद्वा । ❀ धृ धारणे। सकर्मकः। छान्दसो लिट् ❀। मर्त्येषु अमरणसाधनत्वेन देवैर्दध्रे । चक्रे इति यावत् । एनत्। ❀ "इदमो नपुंसकैकवचने एनदादेशो वक्तव्यः" इति इदम एनदादेशः ❀ । एनत् उक्तं हिरण्यं यः पुमान् वेद उक्तस्वरूपं हिरण्यं जानाति स इत्। इत् अवधारणे। स एव पुमान् एनम् अन्वादिष्टं हिरण्यरूपं पदार्थम् अर्हति। धारयितुम् इति शेषः । यः पुमान् बिभर्ति धारयति स्वशरीरे मणिकुण्डलाङ्गुलीयादिरूपं स पुरुषो हिरण्यधारी जरामृत्युः जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य अकालमृतिरहितो भवति ॥

अग्निसे श्रेष्ठतापूर्वक उत्पन्न होनेवाला जो सुवर्ण है [तैत्तिरीयक पुरुष अग्निके वीर्यसे सुवर्णकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं, कि-"अग्ने रेतश्चन्द्रं हिरण्यम् । अद्भ्यः सम्भूतं अमृतं प्रजासु ।- अग्निका वीर्य आल्हादक सुवर्ण है । प्रजाओंमें अमृत जलसे प्रकट हुआ है" तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । १ । ४] और जो सुवर्ण मरणधर्मी मनुष्योंमें अमरणसाधनरूप–अमृतरूप–में स्थित रहता है, अर्थात् मरणधर्मी मनुष्योंमें मरणको दूर करनेके साधनके रूपमें स्थित रहता है । अथवा–देवताओंने सुवर्णको मनुष्योंमें अमरणसाधनरूपमें स्थापित किया है। जो पुरुष सुवर्णके इस पूर्वोक्तरूपको जानता है वह पुरुष इस सुवर्णको धारण करनेका पात्र है। जो पुरुष अपने शरीरमें मणिकुण्डल अँगूठी आदिके

रूपमें सुवर्णको धारण करता है वह सुवर्णधारी पुरुष बुढ़ापेमें ही मरने वाला होता है अर्थात् उसकी अकालमृत्यु नहीं होती है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्वं ईषिरे।
तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥ २ ॥

यत् । हिरण्यम् । सूर्येण । सुऽवर्णम् । प्रजाऽवन्तः । मनवः । पूर्वे । ईषिरे ।

तत् । त्वा । चन्द्रम् । वर्चसा । सम् । सृजति । आयुष्मान् । भवति । यः । बिभर्ति ॥ २ ॥

प्रजावन्तः प्रकर्षेण जायमानाभिः पुत्रभृत्यादिभिस्तद्वन्तो मनवः । कार्ये कारणशब्दः । मनोः सुता मनुष्याः पूर्वे हिरण्यधारिणां प्रथमभाविनः सन्तः । पूर्वे सृष्ट्यादावुत्पन्ना मनवो वा ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

इति हि भगवद्वचनम् [भ० गी० १०. ६] । सुवर्णम् शोभनवर्णं यद्धिरण्यम् हितरमणीयं हेम सूर्येण सर्वस्य प्रसवित्रा स्वकारणेन आदित्येन सह ईषिरे प्राप्तवन्तः । लब्धवन्त इत्यर्थः । सूर्येण प्रेरिता वा मनवो हिरण्यम् ईषिरे । ⊛ ईष गत्यादिषु । भौवादिकः । आत्मनेपदी । "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इति विहित आम् प्रत्ययोऽत्र मन्त्रत्वाद् न प्रवर्तते "०अमन्त्रे०" इति निषेधात् । इषु इच्छायाम् इत्यस्माद् वा व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ⊛ । तत्

मनुभिर्धारितं चन्द्रम् आह्लादकं हिरण्यं कर्तृ त्वा त्वां हिरण्यधारकं वर्चसा तेजसा शरीरकान्त्या सं सृजतु संयोजयतु । यः पुरुषो बिभर्ति धारयति हिरण्यं स पुमान् आयुष्मान् चिरकालजीवनवान् भवति । ॐ भूमार्थे मतुप् प्रत्ययः ॐ ॥

सूर्यसे प्रेरित (सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए) प्रजासम्पन्न † मनुओंने जिस हितरमणीय सुवर्णको धारण किया था, वह मनुओंसे धारण किया हुआ आन्हादक सुवर्ण तुझको शरीरकी कान्तिसे संयुक्त करे, जो पुरुष ऐसे सुवर्णको धारण करता है वह आयुष्मान् अर्थात् चिरजीवी होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च ।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ ३ ॥

आयुषे । त्वा । वर्चसे । त्वा । ओजसे । च । बलाय । च ।
यथा । हिरण्यऽतेजसा । विऽभासासि । जनान् । अनु ॥ ३ ॥

हे हिरण्यधारक पुरुष त्वा त्वाम् आयुषे चिरकालजीवनाय । तचन्द्रं सं सृजतु इत्यनुषङ्गः । तथा त्वा त्वां तद्धिरण्यं वर्चसे वर्चोलाभाय सं सृजतु । ओजसे शारीरबलाय शरीरधारकोऽष्टमो धातुर्वा ओजः । तदर्थं बलाय भृत्यादिसंपत्तिरूपाय बाह्याय बलाय तदर्थं च हिरण्यं त्वां सं सृजतु । समुच्चयार्थौ चकारौ । यथा

† श्रीमद्भगवद्गीता १० । ६ में भगवान्ने कहा है, कि "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥" पहिले सात महर्षि चार मनु-ये मेरे मानस भावसे उत्पन्न हुए थे, लोकमें जो प्रजा है यह सब उनकी ही प्रजा है" ॥

हिरण्यं सुवर्णं तेजसा शुक्रभास्वररूपेण विशेषेण भासते । यच्छ-
दोर्नित्यसंबन्धात् तथेत्यध्याहारः । तथा त्वमपि च जनान् अनु
लक्षीकृत्य । ❀ लक्षणादिष्वर्थेषु अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ ।
तेजसा वर्चसा उज्ज्वलरूपेण विभासासि विशेषेण भासेथाः ।
❀ तृतीयार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । जनैः सह विशेषेण
भासस्व । ❀ भासृ दीप्तौ । लेटि आडागमः । व्यत्ययेन परस्मै-
पदम् ❀ ॥

हे हिरण्यधारक पुरुष ! यह आह्लादक सुवर्ण तुझको चिर-
जीवनसे संयुक्त करे, यह सुवर्ण वर्चः-प्राप्तिके लिये तुझको संयुक्त
करे, भृत्यादि बाह्यबलके लिये संयुक्त करे, जैसे सुवर्ण अपने
तेजसे चमकता है, इसी प्रकार तू भी मनुष्योंमें दमक ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः ।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं भुवत् तत् ते
वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥

यत् । वेद । राजा । वरुणः । वेद । देवः । बृहस्पतिः ।
इन्द्रः । यत् । वृत्रऽहा । वेद । तत् । ते । आयुष्यम् । भुवत् । तत् ।
ते । वर्चस्यम् । भुवत् ॥ ४ ॥

यत् हिरण्यं राजा राजमानो वरुणो देवः वेद अग्नेरुत्पन्नम्
इति मनुष्याणां मरणनिर्हरणोपाय इति जानाति । तथा बृह-
स्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः पालकः एतत्संज्ञको देवः यत्
हिरण्यम् उक्तस्वरूपं वेद । वृत्रहा वृत्रं हतवान् इन्द्रोपि यत् हिर-
ण्यम् उक्तलक्षणं वेद । तत् वरुणादिभिर्देवैर्ज्ञातप्रभावं धारितं वा

हिरण्यं ते तव हिरण्यधारक पुरुष आयुष्यम् चिरकालजीवनाय हितम् आयुष्कारि भुवत् भवतु। तथा तद्धिरण्यं ते तव वर्चस्यम् वर्चसे हितं तेजस्कारि भुवत् भवतु। ❀ "तस्मै हितम्" इति उभयत्र यत् प्रत्ययः। भुवदिति। भवतेर्लेटि "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधः। अडागमः। "इतश्च लोपः०" इति तिप इकारलोपः ❀ ॥

एकोनविंशे काण्डे षष्ठं सूक्तम् ॥

तृतीयोऽनुवाकः समाप्तः ॥

जिस सुवर्णको राजा वरुणदेव जानते हैं अर्थात् यह जानते हैं, कि-यह अग्निसे उत्पन्न हुआ सुवर्ण मनुष्योंके मरणको दूर करने वाला है। बृहस्पतिदेव भी जिस सुवर्णके ऐसे स्वरूपको जानते हैं, वृत्रासुरके संहारक इन्द्र भी जिस सुवर्णके ऐसे रूपको जानते हैं। वह वरुण आदिसे परिचित वा धारित सुवर्ण, हे सुवर्णधारक पुरुष! तेरे लिये आयुः प्रदान करने वाला हो, तेरे लिये वर्चः प्रदान करने वाला हो ॥ ४ ॥

छठा सूक्त समाप्त (५७०)

उन्नीसवें काण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेऽनुवाके सप्त सूक्तानि। तत्र "गोभिष्ट्वा पातु" इति प्रथमं सूक्तम्। अनेन "प्राजापत्या प्रजापशुकामस्य प्रजात्यये च" [न० क० १७.] इति विहितायां प्राजापत्याख्यायां महाशान्तौ सुवर्णरजतलोहमयमणिबन्धनं कुर्यात्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "गोभिष्ट्वा पात्वृषभः [१९. २७] इति त्रिवृतं प्राजापत्यायाम् अन्वितास्ते [६.१४२.३] इति यवमणिं सावित्र्याम्" इति [न०क० १९.] ॥

चौथे अनुवाकमें सात सूक्त हैं। इनमें "गोभिष्ट्वा पातु" यह प्रथम सूक्त है। इस सूक्तसे, "प्राजापत्या प्रजापशुकामस्य प्रजात्यये च।-प्रजात्ययमें प्रजा और पशुकामकी प्राजापत्या शान्तिको

करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित, प्राजापत्या महाशान्तिमें सुवर्ण चाँदी और लोहेसे भरीहुई मणिको बाँधे"। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"गोभिष्ट्वा पात्वृषभः (१९ । २७) इति त्रिवृतं प्राजापत्यां अक्षितास्ते (६ । १४२ । ३) इति यवमणिं सावित्र्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः।

वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥ १ ॥

गोभिः । त्वा । पातु । ऋषभः । वृषा । त्वा । पातु । वाजिऽभिः ।

वायुः । त्वा । ब्रह्मणा । पातु । इन्द्रः । त्वा । पातु । इन्द्रियैः १

हे त्रिवृन्मणिधारक पुरुष त्वा त्वां वृषभः सेक्ता प्रबलः पुंगौर्यूथपतिः गोभिः स्वयूथ्याभिः सह पातु रक्षतु । गोषु बहून्यपत्यानि उत्पाद्य तत्समृद्धिकरणद्वारा त्वां समृद्धं करोत्वित्यर्थः । अथ वा वृषभो वृषभदेवता स्वीयाभिर्गोभिर्देवताभिः सह स्वयम् अरिष्टेभ्यः पातु । ॐ गोभिष्ट्वेत्यत्र "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति मूर्धन्यादेशः ॐ । तथा वृषा प्रजननसमर्थोऽश्वः वाजिभिः वेजनवद्भिः शीघ्रगतिभिरश्वैः सह त्वां पातु । पूर्ववद् अश्वपुष्टिद्वारेणेति मन्तव्यम् । एवं वायुः अन्तरिक्षचरो देवः ब्रह्मणा परिवृढेन कर्मणा यज्ञलक्षणेन सह त्वा त्वां पातु । "वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. ९] इति श्रुतेः वायोर्यज्ञरूपब्रह्मणा संबन्धः । यद्वा वायुः ब्रह्मणा परिवृढेन व्यासेन सूत्रात्मलक्षणेन सह पातु । अथ वा ब्रह्मशब्देन परिवृढम् अन्तरिक्षं स्वाश्रयम् उच्यते तेन सह पातु । एवम् इन्द्रो देवः इन्द्रियैः । ॐ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम्०" इत्यादिना इन्द्रि-

यशब्दो निपातितः ❀। अतः इन्द्रियाख्यम इन्द्रसृष्टानि इन्द्रजुष्टानि वा परिगृह्यन्ते तैः सह पातु। यद्वा "तद् यद् एनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वम्" इत्यादिश्रुतेः [नि० १०. ८] इन्द्र आत्मा। स च इन्द्रियैः इतरैर्वागादिभिः सह पातु ॥

हे त्रिवृत् मणिको धारण करने वाले पुरुष! प्रबल सेचक यूथपति वृषभ, अपने झुण्डकी गौओंके साथ तेरी रक्षा करें, तात्पर्य यह है, कि—गौओंमें बहुतसी सन्तानोंको उत्पन्न करके उस समृद्धिके द्वारा तेरी रक्षा करे। तथा प्रजननसमर्थ प्रबल वेग वाले घोड़ोंके साथ तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्षचारी वायुदेव यज्ञात्मक ब्रह्मसे आपकी रक्षा करें [तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।४।१ में कहा है, कि—"वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" यहाँ वायुका यज्ञात्मक ब्रह्मसे सम्बंध है] अथवा—वायु सूत्रात्मारूप श्वास ब्रह्मसे तेरी रक्षा करें। इन्द्रदेव इन्द्रकी रची हुई इन्द्रियोंके द्वारा तेरी रक्षा करें, अथवा—["तद् यद् एनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वम्।—जो इसको प्राणोंसे प्रदीप्त किया यही इन्द्रका इन्द्रत्व है" नि० १०। ८ इत्यादि श्रुतिके अनुसार] आत्मारूपी इन्द्र वाणी आदि इन्द्रियोंके साथ तेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः ।
माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु ॥२॥

सोमः । त्वा । पातु । ओषधीभिः । नक्षत्रैः । पातु । सूर्यः ।
मात्ऽभ्यः । त्वा । चन्द्रः । वृत्रऽहा । वातः । प्राणेन । रक्षतु ॥२॥

सोमो वल्ल्यात्मक ओषधीनां राजा देवः ओषधीभिः इतराभिर्व्रीह्यादिभिः सह त्वा-त्वां पातु रक्षतु। एवं सूर्यो देवो नक्षत्रैः।

नक्षत्राणां नाशात् पतनात् त्रायन्त इति नक्षत्राणीति अत्र नक्षत्रशब्देन ग्रहाः परिगृह्यन्ते। तैः सह त्वां पातु। एवं चन्द्रः सर्वपदार्थ प्राणयाह्लादकारी देवःमाद्भिःमासैः सह पातु। ❀"पद्दन्०" इत्यादिना मासशब्दस्य मासभावः। "भत्वां जशोन्ते" इति जश्त्वेन दकारः। मस्यन्ते परिमीयन्ते सकला वृद्धिह्रासैरिति मासा इति तन्मःपत्तिः ❀। स विशेष्यते वृत्रहेति। वृत्रः आवरकोन्धकारः तस्य हन्तेति वृत्रहा। एवं वातो वायुः प्राणेन स्वकीयेन शरीरगतेन पञ्चवृत्त्यात्मकेन वायुना सहितः सन् त्वां रक्षति रक्षतु॥

लतारूप ओषधियोंका राजा सोम ब्रीहि आदि अन्य औषधियोंके साथ तेरी रक्षा करे, सूर्यदेव नक्षत्रों (ग्रहों) के साथ तेरी रक्षा करें, सब पदार्थ और प्राणियोंको प्रसन्न करने वाले चन्द्रदेव मासोंके साथ तेरी रक्षा करें, यह चन्द्रदेव आवरक अंधकाररूप वृत्रका संहार करने वाले हैं। वायुदेव शरीरगत पञ्चवृत्त्यात्मक वायुके साथ रह कर आपकी रक्षा करें॥ २॥

तृतीया॥

तिस्रो दिव॑स्तिस्रः पृ॑थि॒वीस्त्रीण्य॒न्तरि॑क्षाणि च॒तुरः॑ समु॒द्रान्।
त्रि॒वृतं॒ स्तोमं॑ त्रि॒वृत॒ आप॑ आहुस्तास्त्वा॑ रक्षन्तु त्रि॒वृता॑ त्रि॒वृद्भिः॑॥ ३॥

ति॒स्रः। दिवः॑। ति॒स्रः। पृ॒थि॒वीः। त्रीणि॑। अ॒न्तरि॑क्षाणि। च॒तुरः॑। स॒मु॒द्रान्।

त्रिऽवृतम् । स्तोमम् । त्रिऽवृतः । आपः । आहुः । ताः । त्वा ।

रक्षन्तु । त्रिऽवृता । त्रिऽवृत्ऽभिः ॥ ३ ॥

दिवः द्युलोकान् तिस्रः त्रीन् त्रिगुणान् । आहुरिति सर्वत्र संबन्धः । अभिज्ञाः कथयन्ति । दिवस्त्रित्वं चन्द्रार्कनक्षत्राणाम् आश्रयस्थानभेदाद् अवगन्तव्यम् । यद्वा तज्जिगमिषूणाम् उत्तममध्यमाधमभेदेन गन्तव्यस्यापि द्युलोकस्य त्रैविध्यम् अवगन्तव्यम् । एवं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य च गन्तृभेदेन त्रैविध्यं द्रष्टव्यम् । तथा तिस्रः पृथिवीः पृथिवीरपि तिस्र आहुः । निकृष्टप्राणिभोगाश्रया पृथिव्येका । मध्यमप्राणिभोगाश्रया पृथिव्यपरा । उत्तमप्राणिभोगाश्रया पृथिव्यन्या । इति तिस्र पृथिवीरित्युच्यते । तृणौषधिवनस्पतिभिर्वा त्रिवृत्त्वं पृथिव्याः । अन्तरिक्षाण्यपि त्रीणि आहुः । अत्रापि सुकृतिनां त्रैविध्याद् गन्तव्यस्यापि अन्तरिक्षस्य त्रैविध्यम् । अथ वा "यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम्" [नृ० पू० ता० १] इति वचनात् तेषाम् आवासभेदेन त्रैविध्यम् । चतुरः समुद्रान् आहुः । यद्यप्यत्र त्रिवृन्मणिस्तुतिसाधनत्वेन त्रित्वं अपेक्षितं तथापि चतुर्णु त्रयाणां संभवात् चत्वारः समुद्रा इति प्रसिद्ध्यनतिलङ्घनाय चतुरः समुद्रान् इत्युक्तम् । एवं स्तोमं त्रिवृतम् आहुः । त्रिवृदाख्ये स्तोमे त्रयाणां तृचानां संभवाद् ऋचां गानस्य च त्रिरावृत्तेश्च स्तोमम् स्तोत्रं त्रिवृतम् आहुः । तथा आपः अपः त्रिवृत आहुः दिव्यान्तरिक्षभौमभेदेन । तास्त्रिवृतः । द्युपृथिव्यादिकाः त्रिवृत्त्वधर्मवत्यः त्रिवृन्मणिना सह अभेदम् आपन्नाः सत्यः त्रिवृद्भिः प्रकारैः मणिगतहिरण्यरजतलोहलक्षणेन त्रिवृता सह अभेदम् आपन्नैः त्वा त्वां रक्षन्तु ॥

अभिज्ञ पुरुष तीन द्युलोकों (स्वर्गों) का वर्णन करते हैं (स्वर्गका त्रिवृत्त्व चन्द्र सूर्य और नक्षत्रोंके आश्रयस्थानके भेदसे

है अथवा उसमें जाने वालोंके उत्तम मध्यम और अधमके भेदसे मातव्य स्थानका भी त्रैविध्य है। इसी प्रकार पृथिवी और अन्तरिक्षका भी गन्तृभेदसे त्रैविध्य है) तथा ज्ञानवान् पुरुष पृथिवी को भी तीन प्रकारकी कहते हैं [निकृष्ट प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी एक होती है, मध्यम प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी दूसरी होती है, उत्तम प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी और ही होती है । अथवा—तृण औषधि और वनस्पतियोंसे पृथिवीका त्रित्व है] विद्वान् पुरुष अन्तरिक्षके भी त्रित्वका वर्णन करते हैं [यहाँ पर भी पुण्यात्माओंके तीन प्रकारके होने से गन्तव्य अन्तरिक्षका भी त्रैविध्य है, अथवा–"यक्षगंधर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम् ।–अन्तरिक्ष यक्ष गंधर्व और अप्सराओंसे सेवित है" इस नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषत् १ के वचनसे उनके आवासभेदसे अंतरिक्षका भी त्रैविध्य है] और विद्वान् पुरुष चार समुद्रोंका वर्णन करते हैं [यद्यपि यहाँ त्रिवृन्मणिस्तुतिसाधनत्वसे त्रित्व अपेक्षित है तथापि चारमें तीन संभव हो सकते हैं, अतः "चार समुद्र हैं" इस प्रसिद्धिका उल्लंघन न करनेके लिये चार समुद्रोंका वर्णन किया है] विद्वान् पुरुष इसी प्रकार स्तोमको भी त्रिवृत् कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि–त्रिवृत् नामक स्तोममें तीन ऋचाएँ होती हैं वा ऋचाओंके गानकी तीन बार आवृत्ति होती है अत एव स्तोम (स्तोम) को त्रिवृत् कहते हैं। तथा जलोंको भी दिव्य आन्तरिक्ष और भौम भेदसे तीन प्रकारका कहते हैं। ये त्रिवृत् यौ पृथिवी आदि त्रिवृत्–मणिके साथ अभेदको प्राप्त हो अपने तीन भेदों सहित मणिगत्त हिरण्यरजत लोहरूप त्रिवृत्के द्वारा तेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्रीन्नाकांस्त्रीन् सं॑मु॒द्रांस्त्रीन् ब्र॒ध्नांस्त्रीन् वै॑ष्ट॒पान् ।

त्रीन् मा॑तरिश्व॒नस्त्रीन्त्सूर्या॑न् गो॒प्तॄन् क॑ल्पयामि ते४

त्रीन् । नाकान् । त्रीन् । स॒मु॒द्रान् । त्रीन् । ब्रध्नान् । त्रीन् । वै॒ष्टपान् ।

त्रीन् । मा॒त॒रिश्वनः । त्रीन् । सू॒र्यान् । गो॒प्तॄन् । कल्पयामि । ते४

हे हिरण्यरजतलोहात्मकत्रिवृन्मणिधारक पुरुष त्रीन् नाकान्। उत्कृष्टकारेण गन्तृत्रैविध्याद् गन्तव्यस्य नाकस्य स्वर्गस्यापि त्रैविध्यम् । नास्मिन् अकं दुःखम् अस्तीति तद्व्युत्पत्तिः । "पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति" इति वचनात् । तान् ते गोप्तृन् कल्पयामि त्रिवृन्मणिद्वारा रक्षकान् करोमि । एवम् उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । त्रीन् समुद्रान् समुद्रवन्ति अस्माद् आप इति समुद्राः अन्तरिक्षविशेषाः । तान् त्रीन् । अथ वा प्रसिद्धा एव समुद्राः परिगृह्यन्ते । उत्तरसमुद्रस्य दुरन्तत्वात् त्रीन् इत्यभिहितम् । तान् ते गोप्तॄन् कल्पयामि । त्रीन् बध्नान् बध्नः सर्वस्य बन्धः आधारभूत आदित्यः । तस्य त्रैविध्यं प्रकाशयस्थानत्रैविध्याद् द्रष्टव्यम् । त्रीन् वैष्टपान् । विष्टपान् इत्यर्थः । बध्नस्य त्रित्वाभिधानात् तदाश्रयविष्टपानामपि त्रैविध्यम् । यद्वा विष्टपशब्दो भुवनसामान्यवचनः "विष्टपं भुवनं जगत्" इत्यभिधानात् । विष्टपानां त्रैविध्यात् तत्रस्थाः प्राणिनोपि देवमनुष्यपित्रात्मकत्वेन त्रिविधास्तान् । त्रीन् मातरिश्वनः ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिभेदेन वा संचाराश्रयभूतलोकानां त्रित्वेन वा मातरिश्वापि त्रिविधः तान् । मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा इति तच्छब्दव्युत्पत्तिः । त्रीन् सूर्यान् प्रकाश्यानां लोकानां त्रित्वात् सूर्या अपि त्रय इत्युच्यन्ते । यद्वा रश्मिमण्डलतदधिष्ठातृदेवताभेदेन सूर्यस्य त्रित्वम् । त्रिवृन्मणिं योजयन् आह ये ये त्रैविध्योपपन्ना नाकाद्याः सन्ति तान् सर्वान् ते तव गोप्तॄन् कल्पयामि ॥

हे हिरण्यरजतलोहात्मकत्रिवृत् मणिको धारण करने वाले पुरुष ! मैं तीन प्रकारके स्वर्गोंको त्रिवृन्मणिके द्वारा तेरे रक्षक बनाता हूँ, तीन समुद्रों (अन्तरिक्षोंको या लवणसमुद्रके दुस्तर होनेसे तीन प्रसिद्ध समुद्रों) को तेरा रक्षक बनाता हूँ, सबके आधारभूत तीन ब्रध्न अर्थात् आदित्योंको तेरा रक्षक बनाता हूँ (प्रकाश्य द्युस्थान आदिके तीन होनेसे यहाँ सूर्यका त्रित्व कहा है) देव मनुष्य पितर इन तीनोंके भुवनोंको तेरा रक्षक नियुक्त करता हूँ, ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् भेदसे तीन प्रकारके वायुको भी तेरा रक्षक बनाता हूँ, रश्मिमण्डल, तदधिष्ठातृदेवता भेदसे तीन सूर्योंको मैं तेरा रक्षक बनाता हूँ । त्रिवृन्मणिको बाँधता हुआ मैं त्रैविध्यको प्राप्त हुए स्वर्ग आदिको तेरा रक्षक बनाता हूँ ॥४॥

हे अग्ने ! होमके साधन घृतसे आपको बढ़ाना चाहता हुआ

पञ्चमी ॥

घृतेन॑ त्वा॒ सम॑ुक्षाम्यग्न॒ आज्ये॑न व॒र्धय॑न् ।

अ॒ग्नेश्च॒न्द्रस्य॒ सूर्य॑स्य॒ मा प्रा॒णं मा॒यिनो॑ दभन् ॥५॥

घृ॒तेन॑ । त्वा॒ । सम् । उ॒क्षा॒मि॒ । अग्ने॑ । आज्ये॑न । व॒र्धय॑न् ।

अ॒ग्नेः । च॒न्द्रस्य॑ । सूर्य॑स्य । मा । प्रा॒णम् । मा॒यिनः॑ । द॒भ॒न् ॥ ५ ॥

हे अग्ने त्वा त्वाम् आज्येन होमसाधनेन वर्धयन् अभिवृद्धं कुर्वन् कर्तुम् इच्छन् अहम् घृतेन सम् उक्षामि सम्यक् सिञ्चामि । बह्वीभिर्घृतधाराभिरक्तं करोमि । अग्नेष्टु तेन समुक्षितस्य चन्द्रस्य ओषधिवनस्पत्याद्याह्लादकारणस्य सूर्यस्य देवस्य च अनुग्रहात् हे मणि बिभ्रत् पुरुष तव प्राणं मायिनः मायावन्तोऽसुरा मा दभन्

दम्भनं मा कुर्वन्तु । मापहरन्तु इत्यर्थः । ❀ दन्भु दम्भे । अस्य लुङि अङि रूपम् ❀ ॥
मैं आपको घृतसे भली प्रकार सींचता हूँ, घृतसे समुक्षित अग्निके, औषधि वनस्पति आदिको आल्हादिक करने वाले चन्द्रमाके और सूर्यदेवके भी अनुग्रहसे भी हे मणिधारक पुरुष ! तेरे प्राण को मायावी असुर नष्ट न कर सकें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन् ।

भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥ ६ ॥

मा । वः । प्राणम् । मा । वः । अपानम् । मा । हरः । मायिनः ।
दभन् ।

भ्राजन्तः । विश्वऽवेदसः । देवाः । दैव्येन । धावत ॥ ६ ॥

अत्र राज्ञो मणिबन्धने विनियोगाद् राजनि पूजार्थं बहुवचनस्य युक्तत्वाद् अत्र व इति बहुवचननिर्देशः । यद्वा राज्ञः पुत्रभृत्यादिकं अपेक्ष्य बहुवचनम् । हे राजादयः वः युष्माकं प्राणं मायिनो मायावन्तोऽसुरा मा दभन् हिंसां मा कुर्वन्तु । तथा वः अपानमपि मा दभन् । एवं हरः शत्रुबलापहारकं तेजो मा दभन् । तदर्थम् हे देवाः अग्निचन्द्रसूर्याः भ्राजन्तः दीप्यमाना विश्ववेदसः विश्वस्य सर्वस्य वेत्तारो विश्वधना वा । वेद इति धननाम । यूयं दैव्येन देवसम्बन्धिना रथादिना साधनेन वेगेन वा धावत । प्राणरक्षार्थम् इति शेषः । ❀ दैव्येनेति । "देवाद् यञञौ" इति [illegible]ञ् ❀ ।

हे राजाके पुत्र आदि ! मायावी असुर तुम्हारे प्राणकी हिंसा न कर सकें, तथा तुम्हारे अपानकी भी हिंसा न कर सकें, तथा तुम्हारे तेजको भी क्षीण न कर सकें । हे अग्नि चन्द्र सूर्य आदि देवताओं ! इस कारण दमकते हुए सर्वज्ञ तुम भी दिव्यरथमें बैठ कर वेगसे दौड़ो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥

प्राणेन । अग्निम् । सम् । सृजति । वातः । प्राणेन । सम्ऽहितः ।
प्राणेन । विश्वतःऽमुखम् । सूर्यम् । देवाः । अजनयन् ॥ ७ ॥

प्राणरक्षाम् आशास्य इदानीं तस्य माहात्म्यं वर्णयति । प्राणेन मुखस्थेन वायुना अग्निं सं सृजति संयोजयति समिन्धनकर्ता पुरुषः । यत एवम् अतः प्राणो रक्षितव्यः । किं च वातः बाह्यो वायुः प्राणेन मुखस्थेन सह संहितो भवति । अनेन तयोरेकत्वम् उक्तं भवति । अपि च प्राणेन सूत्रात्मरूपेण ब्रह्मणा विश्वतोमुखम् । सर्वत्र प्रकाशकत्वात् सूर्यो विश्वतोमुख इत्युच्यते । यद्वा मां प्रत्युदगात् इति प्रतिपुरुषम् अभिमुख्यबुद्धिसंभवाद्वा विश्वतोमुखत्वव्यवहारः । तादृशं सूर्यं देवा इन्द्राद्या अजनयन् पुरा उदपादयन् । स्वस्वप्रयोजनाय लब्धवन्त इत्यर्थः । एवं महानुभावः प्राण इति प्राणस्य अवश्यरक्षणं युक्तम् इत्यभिप्रायः ॥

[प्राणरक्षाकी प्रार्थना करके अब प्राणके माहात्म्यका वर्णन करते हैं, कि—] समिन्धनकर्ता पुरुष मुखकी वायु—प्राण से अग्नि को संयुक्त करता है (अत एव प्राणकी रक्षा करनी चाहिये) और बाहरी वायु मुखमें स्थित प्राणके साथ संयुक्त होता है

(इससे इन दोनोंका एकत्व है) और प्राणसे अर्थात् सूत्रात्मा-रूप ब्रह्मसे इन्द्र आदि देवताओंने सर्वत्र प्रकाशक होनेसे विश्वतो-मुख सूर्यको प्रकट किया था अर्थात् अपने २ प्रयोजनके लिये प्राप्त किया था। तात्पर्य यह है, कि-प्राण ऐसा महानुभाव है। अत एव उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आयुषायुष्कृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥८॥

आयुषा। आयुःकृताम्। जीव। आयुष्मान्। जीव। मा। मृथाः। प्राणेन। आत्मन्ऽवताम्। जीव। मा। मृत्योः। उत्। अगाः। वशम् ॥ ८ ॥

हे राजन् मणिधारक त्वम् आयुष्कृताम्। परेषाम् आयुरभि-वृद्धिकर्तार आयुष्कृतः यद्वा तपआदिना दीर्घम् आयुः कुर्वन्ति संपा-दयन्तीति आयुष्कृतः चिरकालजीविनः पूर्वे महर्षयः आयुष्कृतः। तेषाम् आयुषा। तेषां यादृग् आयुस्तादृशेनायुषेत्यर्थः। अथ वा तैर्दत्तेन आयुषा त्वं जीव। तस्माद्‌ आयुष्मान्। ❀ भूमार्थे मतुप् ❀। दीर्घायुष्यः। भवेति शेषः। उक्तवैपरीत्यं निराकरोति। जीव मा मृथाः मृतिं मा प्राप्नुहि। ❀ मृङ् प्राणत्यागे। "म्लाङ्कि लुङ्"। "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिचो लोपः ❀। आत्मन्वताम् स्थिरेण आत्मना तद्वन्तः तेषाम् आत्मन्वताम्। ❀ "अनो नुट्" इति मतुपो नुडागमः ❀। तेषां प्राणेन त्वं जीव। किं च मृत्योः मारकस्य देवस्य वशं मा उद् अगाः मोद्गच्छ मा प्राप्नुहि ॥

हे मणिको धारण करने वाले राजन्! तू दूसरोंकी आयु बढ़ा सकने वाले और तप आदिसे अपनी आयुको लंबी करने

वाले प्राचीन महर्षियोंकी दी हुई उनकी आयुसे तू जीवित रह, तू आयुष्मान् होकर जीवित रह मर मत । तू उन स्थिर आयु वालोंके प्राणसे जीवित रह और मारक देव मृत्युके वशमें न पड़ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ९ ॥

देवानाम् । निऽहितम् । निऽधिम् । यम् । इन्द्रः । अनुऽअविन्दत् ।
पथिऽभिः । देवऽयानैः ।
आपः । हिरण्यम् । जुगुपुः । त्रिवृत्ऽभिः । ताः । त्वा । रक्षन्तु ।
त्रिऽवृता । त्रिवृत्ऽभिः ॥ ९ ॥

यं प्रसिद्धं निहितम् निक्षेपत्वेन संगोप्य स्थापितं हिरण्याख्यं देवानां निधिम् इन्द्रो देवः देवयानैः देवमार्गैः देवा यैर्मार्गैर्गत्वा निधिं निहितवन्तस्तैः पथिभिर्मार्गैः स्वयमपि गत्वा अन्वविन्दत् अन्विष्य लब्धवान् । यद्वा देवनिधिरूपं हिरण्यं त्रिवृतः उक्तप्रकारेण त्रिविधा आपः त्रिवृद्भिः साधनैर्जुगुपुः अरक्षन् तास्त्रिवृत आपः त्रिवृद्भिः हिरण्यरजतलोहरूपेण त्रिविधैः स्वरूपैस्त्वा त्वां रक्षन्तु पालयन्तु ॥

जिस देवताओंकी थातीरूप होनेसे छिपा कर रखी हुई हिरण्य नामक निधिको इन्द्रने देवमार्गोंसे जा खोज कर पा लिया था और जिस देवनिधिरूप हिरण्यकी पूर्वोक्त रीतिसे त्रिवृत् जलोंने

रक्षा की है, वे त्रिवृत् जल हिरण्य रजत लोहरूप तीन प्रकारके शरीरोंसे आपकी रक्षा करें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

त्र॒यस्त्रिं॑शद् दे॒वता॒स्त्रीणि॑ च वी॒र्या॑णि प्रिया॒यमा॑णा जुगुपुर॒प्स्व॑१न्तः ।
अ॒स्मिंश्च॒न्द्रे अधि॒ यद्धिर॑ण्यं॒ तेना॒यं कृ॑णवद् वी॒र्या॑णि ॥

त्र॒यः॒ऽत्रिं॑शत् । दे॒वताः॑ । त्रीणि॑ । च॒ । वी॒र्या॑णि । प्रि॒य॒ऽयमा॑णा । जु॒गु॒पुः॒ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः ।
अ॒स्मिन् । च॒न्द्रे । अधि॑ । यत् । हिर॑ण्यम् । तेन॑ । अ॒यम् । कृ॒ण॒व॒त् । वी॒र्या॑णि ॥ १० ॥

त्रयस्त्रिंशद् देवताः "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" इति ऐतरेयब्राह्मणे [ऐ० ब्रा० १.१०] समाम्नाताः । बृहदारण्यके तु "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः" इत्यभिधाय "इन्द्रश्च प्रजापतिश्च" [बृ० आ० ३. ६. २] इति वषट्कारस्थाने इन्द्र आम्नातः। ता अत्र त्रयस्त्रिंशद् देवता इत्यनेन परिगृह्यन्ते । ता देवताः त्रीणि च वीर्याणि । अत्र चशब्दः पूर्वमन्त्रोक्तम् "आपो हिरण्यं जुगुपुः" इत्युक्तं हिरण्यं समुच्चिनोति । त्रीणि वीर्याणि च कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिविधानि च सामर्थ्यानि प्रियायमाणाः प्रियमिव आचरन्त्यः । तेषु अत्यर्थं प्रियं कुर्वाणा इत्यर्थः । अप्स्वन्तर्जुगुपुः उदकेषु मध्ये यथा अन्ये नापहरेयुस्तथा उदकेषु मध्ये गोपनम् अकुर्वन् । अस्मिन् परिदृश्यमाने चन्द्रे अधि आल्हादके उदके यत् हिरण्यम् अस्ति । अप्सु हिरण्यावस्थानं पूर्वमन्त्रे "आपो हिरण्यं जुगुपुः"

इत्याम्नानात् सिद्धम्। तेन अवस्थितेन हिरण्येन स्वमुख्यांश-भूतेन अयं मणिः वीर्याणि स्वेन सह अवस्थितानि वीर्याणि त्रयस्त्रिंशद्देवतानां त्रिविधानि सामर्थ्यानि कृणवत् मणिधारके पुरुषे करोतु ॥ यद्वा हिरण्यरजतलोहानां त्रयाणां यानि आयुर्धनैश्वर्यकरत्वशत्रुमारकत्वानि अनन्यसाधारणानि त्रीणि वीर्याणि सन्ति तानि अन्येषां मा भूवन्निति बुद्ध्या प्रियायमाणाः अप्सु अन्तः गोपनम् अकुर्वन्। तानि अस्मिंश्चन्द्रे प्रसिद्धे चन्द्रमसि चन्द्रस्य अम्मयत्वात् तत्र यद्धिरण्यं निहितं तेन हिरण्येन अयं मणिः उक्तविधानि त्रीणि वीर्याणि कृणवत् इति । ❀ प्रियायमाणा इति । "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ्। "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः ❀ ॥

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार (वा इन्द्र) इन तैंतीस देवताओंने कायिक वाचिक और मानसिक इन तीन प्रकारकी शक्तियोंको और सुवर्णको प्रिय समझ कर जलके भीतर स्थापित कर दिया है (जिससे, कि– दूसरे इनका अपहरण न कर सकें। इस दीखते हुए आह्लादक चन्द्रमामें–जलमें-जो सुवर्ण है, उस मुख्य अंश सुवर्णके द्वारा यह मणि अपने साथ स्थित तैंतीस देवताओंकी अनेक प्रकारकी शक्तियों को इस मणिधारक पुरुषमें करे ॥ १० ॥

ये दे॑वा दि॒व्येका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ११

ये । दे॒वाः॒ । दि॒वि । एका॑दश । स्थ । ते । दे॒वा॒सः॒ । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒ष॒ध्व॒म् ॥ ११ ॥

ये दे॑वा अ॒न्तरि॑क्ष॒ एका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥ १२ ॥

ये । देवाः । अन्तरिक्षे । एकादश । स्थ । ते । देवासः । हविः । इदम् । जुषध्वम् ॥ १२ ॥

ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्

ये । देवाः । पृथिव्याम् । एकादश । स्थ । ते । देवासः । हविः । इदम् । जुषध्वम् ॥ १३ ॥

एकादशी ॥ ये देवा दिव्याः दिवि भवाः । ❁ "भवे छन्दसि" इति यः ❁ । दिवि द्युलोके आदित्याख्या गणा एकादश स्थ भवथ । यद्यपि ते द्वादश तथापि एकादशत्वाभिधानं न विरुध्यते । अधिकसंख्याया न्यूनसंख्यायाः संभवात् । ते देवासः देवाः इदं हविः हूयमानम् आज्यं जुषध्वम् सेवध्वम् । एवं ये देवा अंतरिक्षे एकादश स्थ रुद्राभिधानाः ते देवा इदं हविर्जुषध्वम् ॥ तथा ये देवाः पृथिव्याम् एकादश स्थ भवथ । अत्रापि त्रयाणां न्यूनताम् अनादृत्य एवं उक्तम् । गतम् अन्यत् ॥

जो द्युलोकमें तुम एकादश आदित्य नामक देवता हो (यद्यपि आदित्य बारह हैं तथापि अधिक संख्याका न्यूनसंख्यामें अन्तर्भाव होजाता है अत एव एकादश कहनेमें कोई विरोध नहीं है) वे देवता इस होमी हुई घृतात्मक हविका सेवन करो । अन्तरिक्षमें जो तुम ग्यारह रुद्र नामक देवता हो, वे देवता इस हूयमान हविका सेवन करो, पृथिवीमें जो तुम ग्यारह देवता हो वे इस हविका सेवन करो ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

द्वादशी ॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयंकृतम् ।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १४ ॥

असपत्नम् । पुरस्तात् । पश्चात् । नः । अभयम् । कृतम् ।

सविता । मा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मा । शचीऽपतिः ॥ १४ ॥

अथ यद्यपि पुरस्तात् पश्चाच्च रक्षाविषये देवते न निर्दिष्टे तथापि कृतम् इति द्विवचनसामर्थ्याद् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणौ सवितृशचीपती परिगृह्येते। हे उक्ते देवते युवां मे मम पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि पश्चात् प्रतीच्यां च अभयम् भयराहित्यम् असपत्नं यथा भवति तथा कृतम् कुरुतम् । अथ वा पुरस्ताद् असपत्नम् सपत्नाभावं कृतं पश्चाद् अभयं च कृतम् । जिगीषोः पुरतः शत्रूणां अभाव आशास्यः पश्चाच्च पार्ष्णिग्राहाद् भयाभावाय अभयम् आशास्यम् । अतः पुरस्ताद् असपत्नं कुरुतं पश्चाद् अभयं कुरुतम् इति विभागः । तथा सविता मा मां दक्षिणतः दक्षिणदिक्प्रकाशाद् दक्षिणदिग्गताद् भयात् सविता रक्षतु इत्यध्याहर्तव्यम् । उत्तरमन्त्रे भूम्या रक्षत्वग्नय इति रक्षणक्रियासम्बन्धात् । एवम् उत्तरात् उत्तरदिग्गताद् भयात् । ※ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ※ । मा मां शचीपती रक्षतु ॥

हे सविता और शचीपति देवताओं ! पहिले पूर्वदिशामें फिर पश्चिम दिशामें जिस प्रकार मुझको भयरहित असपत्नता प्राप्त हो तैसा करो, अथवा-सामनेसे शत्रुके अभावको और पीछेसे अभयको करो । विजयकी इच्छा रखने वालेके सामनेसे शत्रुओं के अभावकी आशा करनी चाहिये और पीछेसे पार्ष्णिग्राहसे भयके अभावकी प्रार्थना करनी चाहिये अत एव पहिले शत्रुके अभावको करिये और पीछेसे अभयको करिये यह विभाग किया है । तथा सविता देवता दक्षिण दिशाके ओरके भयसे मेरी रक्षा करें, उत्तरदिशाके भयसे शचीपति इन्द्र मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।

इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः
सन्तु वर्म ॥ १५ ॥

दिवः । मा । आदित्याः । रक्षन्तु । भूम्याः । रक्षन्तु । अग्नयः ।
इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । मा । पुरस्तात् । अश्विनौ । अभितः ।
शर्म । यच्छताम् ।
तिरश्चीन् । अघ्न्या । रक्षतु । जातऽवेदाः । भूतऽकृतः । मे । सर्वतः ।
सन्तु । वर्म ॥ १५ ॥

त्रयोदशी ॥ आदित्यानां द्युस्थानत्वाद् दिवः सकाशाद् रक्षणम् उचितम् । अग्नीनां च पृथिव्यायतनत्वात् तस्याः सकाशाद् रक्षणप्रार्थना । अथ वा "असपत्नम्" इत्यारभ्य "रक्षन्त्वग्नयः" इत्यन्त एको मन्त्रः । तथा सति रक्षन्त्विति पदम् अर्थानुसारेण रक्षत्विति विपरिणमयितुं सुशकम् । उत्तरत्र छन्दोन्तरत्वाद् नायम् अर्धर्चस्तत्र संबध्यते ॥

चतुर्दशी ॥ इन्द्राग्नी मा मां पुरस्ताद् रक्षताम् पालयताम् । तथा अश्विनौ देवौ अभितः सर्वतः सर्वासु दिक्षु शर्म सुखं यच्छताम् । एवं तिरश्चीन् तिर्यगञ्चनान् अस्मान् । ॐ तिरःपूर्वाद् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपः ॐ । यद्वा तिरश्चीः तिर्यग्दिशो जातवेदाः जातप्रज्ञो रक्षाविषयप्रज्ञावान् अग्निः रक्षतु । तिर्यक्प्रदेशेभ्यो रक्षत्वित्यर्थः । ॐ ऽघ्नी रक्षतु इत्यत्र "ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति सांहितिको दीर्घः ॐ । एवं भूतकृतः भूतानां पृथिव्यादीनां

कर्तारः पञ्चभूताभिमानिदेवा अग्न्यादयो मे सर्वतः शर्म वारकं कवचं सन्तु भवन्तु ॥

इत्येकोनविंशे काण्डे चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्युस्थान आदित्यदेवता द्युलोकके भयसे मेरी रक्षा करें, पृथिवी-स्थान अग्नि भूमिके उपद्रवोंसे मेरी रक्षा करें। इन्द्र और अग्नि-देवता सामनेसे मेरी रक्षा करें, तथा अश्विनीकुमार सब दिशाओंमें मुझे सुख प्रदान करें, तिरछे स्थानोंसे जातवेदा अग्नि मेरी रक्षा करें। इस प्रकार पञ्चभूतोंके अभिमानी अग्नि आदि देवता मुझको चारों ओरसे रक्षक कवच प्रदान करें ॥ १५ ॥

उन्नीसवें काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५७१)

"इमं बध्नामि ते मणिम्" इति सूक्तत्रयम् "ऐन्द्रीं जयबलवृष्टि-पशुकामस्य परचक्रागमे च" इति [न० क० १७] विहितायाम् ऐन्द्र्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियुक्तम्। सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे। "इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे [१६. २८] इति दर्भमणिम् ऐन्द्र्याम् अभीवर्तेन [१. २६] इति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" इति [न० क० १६] ॥

"इमं बध्नामि ते मणिम्" आदि तीनों सूक्तोंका "ऐन्द्रीं जयबलवृष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च।—जय बल वृष्टि और पशुकामकी ऐन्द्री शान्तिको शत्रुचक्रके आगममें भी करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ऐन्द्री नामक महाशान्तिके दर्भमणि-बन्धनमें विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे (१६।२८) इति दर्भमणिं ऐन्द्र्यां अभीवर्त्तेन (१।२६) इति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" (नक्षत्रकल्प १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।

दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥ १ ॥

इमम् । बध्नामि । ते । मणिम् । दीर्घायुऽत्वाय । तेजसे ।

दर्भम् । सपत्नऽदम्भनम् । द्विषतः । तपनम् । हृदः ॥ १ ॥

हे विजयबलादिकाम ते तव इमं मणिं दर्भमयं बध्नामि । किमर्थम् । दीर्घायुष्ट्वाय यथा त्वं दीर्घायुर्भवसि तथाभावाय तेजसे अतिशयिततेजोलाभाय । मणिं विशिनष्टि । दर्भम् । विकारे प्रकृतिशब्दः । दर्भनिर्मितं मणिं सपत्नदम्भनम् शत्रूणां हिंसकं सपत्नीवत् सपत्नः । ❀ "व्यन्सपत्ने" इति निपातनात् साधुः । दम्भनम् इति । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोः हृदः हृदयस्य तपनं तापकम् ॥

हे विजय और बल आदिको चाहने वाले पुरुष ! मैं शत्रुओं को क्षीण करने वाली और शत्रु के हृदयको सन्तप्त करने वाली दर्भमय मणिको दीर्घायुकी प्राप्ति और तेजके लिये बाँधता हूँ १

द्वितीया ॥

द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्संतापयन् ॥ २ ॥

द्विषतः । तापयन् । हृदः । शत्रूणाम् । तापयन् । मनः ।

दुःऽहार्दः । सर्वान् । त्वम् । दर्भ । घर्मःऽइव । अभीन् । सम्ऽतापयन् ॥ २ ॥

हे दर्भमणे त्वं द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोः हृदः हृदयं तापयन् संतप्तं कुर्वन् तथा शत्रूणां मनश्च तापयन् एवं दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य । ❀ हृद इदं हार्दम् । "तस्येदम्" इति अण् । हार्दं

करोति । "तत् करोति०" इति णिच् । हार्दयतेः क्विपि "णेर-निटि" इति णिलोपः ॥ । तस्य सर्वम् गृहक्षेत्रपश्वादिकं घर्म इव आदित्य इव । यद्वा "यद् ग्रा३ इत्यपतत् तद् घर्मस्य घर्म-त्वम्" इति [तै० आ० ५. १. ५] श्रुतेः घर्मः प्रवर्ग्यः । स इव अभीन् अभयान् संतापयन् भिन्धीति संबन्धः ॥

हे दर्भमणे ! तू द्वेष करने वाले शत्रुके हृदयको तप्त करता हुआ और शत्रुओंके मनको तप्त करता हुआ दुष्ट हृदय वाले शत्रुके गृह क्षेत्र पशु आदि सबको सूर्यकी समान तप्त करके नष्ट कर २

तृतीया ॥

घर्म इवाभितपंन् दर्भ द्विषतो नितपंन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥ ३ ॥

घर्मःऽइव । अभिऽतपन् । दर्भ । द्विषतः । निऽतपन् । मणे ।
हृदः । सऽपत्नानाम् । भिन्धि । इन्द्रःऽइव । विऽरुजन् । बलम् ३

हे दर्भ । दर्भविकारे दर्भशब्दः । हे दर्भनिर्मित मणे त्वं घर्म इव । उक्तो घर्मशब्दार्थः निदाघकालो वा । स इव द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोर्हृदयम् । यद्वा । ॥ कर्मणि षष्ठी ॥ । द्विषन्तम् शत्रुम् अभितपन् अभितः संतापं कुर्वन् तथा नितपन् नितरां संतापयन् भिन्धि भेदं कुरु । दार्ढ्याय उक्तमेवार्थम् पुनराह । सपत्नानाम् राष्ट्रादिविषये समानः पतिर्येषां ते सपत्नाः । राष्ट्र-विषये स्वेषामपि पतित्वं कामयमाना इत्यर्थः । ॥ सपत्नीव सपत्नः । "व्यन्तसपत्ने" इति निपातनात् साधुः ॥ । तेषां बलम् शारीरं बाह्यं च इन्द्र इव विरुजन् स यथा शत्रूणां बलं विरुजति एवं विरुजन् नाशयन् तेषां हृदः हृदयानि भिन्धि विदा-रय । भिदिर् विदारणे ॥ ।

हे दर्भमणे ! तू सूर्य वा ग्रीष्म ऋतुकी समान द्वेष करनेवाले शत्रुओंको सन्तप्त करता हुआ भेद डाल, तू शत्रुओंके हृदयको और उनके भीतरी और बाहरी बलको इन्द्रकी समान नष्ट कर डाल ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

भिन्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे ।
उद्यन् त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥४॥

भिन्धि । दर्भ । सऽपत्नानाम् । हृदयम् । द्विषताम् । मणे ।
उत्ऽयन् । त्वचम्ऽइव । भूम्याः । शिरः । एषाम् । वि । पातय ४

हे दर्भ मणे द्विषताम् द्वेषं कुर्वतां सपत्नानां हृदयं भिन्धि । हृदयभेदनमात्रेण अपरितुष्यन्नाह । उद्यन् ऊर्ध्वं गच्छन् भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठन् त्वं भूम्यास्त्वचम् इव तृणगुल्मौषध्याद्यधिष्ठानभूतां यथा तत्क्षणेन निपातयति गृहादिनिर्माणार्थं लोके एवम् एषां सपत्नानां शिरः । जात्येकवचनम् । शिरांसि वि पातय अधःपतितानि कुरु ॥

हे दर्भमय मणे ! तू द्वेष करने वाले शत्रुओंके हृदयको वेध डाल, (हृदयभेदनसे ही सन्तुष्ट न होते हुए कहते हैं, कि—) इसके भुजा आदिके ऊपर खड़ा होता हुआ तू, जैसे भूमिकी त्वचा तृण आदिको घर आदि बनानेके लिये मनुष्य काट कर गिरा देते हैं, इसी प्रकार तू शत्रुओंके शिरोंको काटकर गिरादे४

पञ्चमी ॥

भिन्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्धि मे पृतनायतः ।
भिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्धि मे द्विषतो मणे ५

भिन्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । भिन्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
भिन्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । भिन्धि । मे । द्विषतः । मणे ॥

पृतनायतः पृतना सेना । ताम् आत्मन इच्छन्तः । पृतनायतः तान् भिन्धि । ❀ "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् आकारलोपाभावः ❀ । तान् भिन्धि । ❀ भिदिर् विदारणे ❀ । दुर्हार्दः दुष्टहृदयान् । ❀ हृद् हृदं हार्दम् । "तस्येदम्" इति अण् । हार्दं करोति । "तत् करोति०" इति णिच् । हार्दयतेः क्विपि "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । स्पष्टम् अन्यत् ।

हे दर्भमय मणे ! तू, मेरे लिये सेनाको एकत्रित करना चाहने वाले मेरे शत्रुओंको भेद डाल ! भेद डाल !! मुझसे द्वेष करने वालोंको भेद ! मेरे दुर्हार्दोंको भेद ! ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

छिन्धि दर्भ सपत्नान् मे छिन्धि मे पृतनायतः ।
छिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्धि मे द्विषतो मणे ६

छिन्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । छिन्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
छिन्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । छिन्धि । मे । द्विषतः । मणे

छिन्धि । ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे ❀ । शिष्टं समानम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको छेद, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको छेद ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको छेद ! मुझसे द्वेष रखने वालोंके दो टुकड़े कर ६

सप्तमी ॥

वृश्च दर्भ सपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः ।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥ ७ ॥

वृश्च । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । वृश्च । मे । पृतनाऽयतः ।
वृश्च । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । वृश्च । मे । द्विषतः । मणे ।७।

वृश्च । ❀ ओव्रश्चू छेदने इति धातुः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको काट, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको काट ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको काट ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको काट ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृन्त दर्भ सपत्नान् मे कृन्त मे पृतनायतः ।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

कृन्त । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । कृन्त । मे । पृतनाऽयतः ।
कृन्त । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । कृन्त । मे । द्विषतः । मणे ८

कृन्त । ❀ कृती छेदने । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् आगमः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको छिन्न कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको छिन्न कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको छिन्न कर मुझसे द्वेष रखने वालोंको छिन्न कर ॥ ८ ॥

नवमी ॥

पिंश दर्भ सपत्नान् मे पिंश मे पृतनायतः ।

पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥

पिंश । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । पिंश । मे । पृतनाऽयतः ।

पिंश । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । पिंश । मे । द्विषतः । मणे ९

पिंश । ❀ पिश अवयवे । तुदादित्वाद् नुम् ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको पीस, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको पीस ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको पीस ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको पीस ॥ ९ ॥

दशमी ॥

विध्यं दर्भ सपत्नान् मे विध्यं मे पृतनायतः ।

विध्यं मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्यं मे द्विषतो मणे १०

विध्य । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । विध्य । मे । पृतनाऽयतः ।

विध्य । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । विध्य । मे । द्विषतः । मणे १०

विध्य । ❀ व्यध ताडने । दैवादिकः । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥

इत्येकोनविंशे काण्डे चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको ताड़ित कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको ताड़ित कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको ताड़ित कर ! मुझसे द्वेष रखने वालों को ताड़ित कर ॥ १० ॥

उन्नीसवें काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५७६)

"निरु दर्भ" इत्यादिकं तृतीयं सूक्तम् । अस्य ऐन्द्र्यां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"निक्ष दर्भ" आदि तीसरा सूक्त है। इसका ऐन्द्री महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें विनियोग किया जाता है। इस बातको पूर्वसूक्तमें कह चुके हैं।

तत्र प्रथमा ॥

निक्ष दर्भ सपत्नान् मे निक्ष मे पृतनायतः ।
निक्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे ॥१॥

निक्ष । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । निक्ष । मे । पृतनाऽयतः ।
निक्ष । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । निक्ष । मे । द्विषतः । मणे १

निक्ष चुम्ब । ❀ निक्ष चुम्बने इति धातुः ❀ । शिष्टं पूर्ववत् ॥

हे दर्भमणे ! मेरे शत्रुओंको चूम, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको चूम ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको चूम मुझसे द्वेष रखने वालोंको चूम ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः ।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥२॥

तृन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । तृन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
तृन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । तृन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे २

तृन्द्धि नाशय । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयोः । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारल्लोपः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको नष्ट कर मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको नष्ट कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको नष्ट कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको नष्टकर २

तृतीया ॥

रुन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः ।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे ३

रुन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । रुन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
रुन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । रुन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे ३

रुन्द्धि आवृणु निरोधं कुरु । ❀ रुधिर् आवरणे ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंका निरोध कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंका निरोध कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंका निरोध कर मुझसे द्वेष रखने वालोंका निरोध कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शृण दर्भ सपत्नान् मे शृण मे पृतनायतः ।
शृण मे सर्वान् दुर्हार्दो शृण मे द्विषतो मणे ॥ ४ ॥

शृण । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । शृण । मे । पृतनाऽयतः ।
शृण । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । शृण । मे । द्विषतः । मणे ।४।

❀ शृण हिंसायाम् ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको हनन कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको हनन कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको हनन कर ! मुझसे द्वेष रखने वालों का हनन कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मन्थ दर्भ सपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः ।

मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे ॥५॥

मन्थ । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । मन्थ । मे । पृतनाऽयतः ।

मन्थ । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । मन्थ । मे । द्विषतः । मणे ५

❀ मन्थ लोडने ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको मथ, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको मथ ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको मथ ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको मथ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

पिपिड्ढ दर्भ सपत्नान् मे पिपिड्ढ मे पृतनायतः ।
पिपिड्ढ मे सर्वान् दुर्हार्दः पिपिड्ढ मे द्विषतो मणे ६

पिपिड्ढ । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । पिपिड्ढ । मे । पृतनाऽयतः ।

पिपिड्ढ । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । पिपिड्ढ । मे । द्विषतः । मणे ६

पिपिड्ढ । ❀ पिष चूर्णने । रौधादिकः । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति धिः । ष्टुत्वं जश्त्वं च ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको चूर्ण कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको चूर्ण कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको चूर्ण कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको चूर्ण कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ओषं दर्भ सपत्नान् मे ओषं मे पृतनायतः ।
ओषं मे सर्वान् दुर्हार्द ओषं मे द्विषतो मणे ॥७॥

ओष । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । ओष । मे । पृतनाऽयतः ।

ओष । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । ओष । मे । द्विषतः । मणे ७

ओष । ❀ उष रुष दाहे । भौवादिकः । लघूपधगुणः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको भस्म कर मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको भस्म कर ! दूषित हृदयवाले मेरे सब शत्रुओंको भस्म कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको भस्म कर ७

अष्टमी ॥

दह दर्भ सपत्नान् मे दह मे पृतनायतः ।

दह मे सर्वान् दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

दह । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । दह । मे । पृतनाऽयतः ।

दह । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । दह । मे । द्विषतः । मणे ॥८॥

स्पष्टम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको दग्ध कर,मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको दग्धकर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको दग्ध कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको दग्धकर॥८॥

नवमी ॥

जहि दर्भ सपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।

जहि मे सर्वान् दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥ ९ ॥

जहि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । जहि । मे । पृतनाऽयतः ।

जहि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । जहि । मे । द्विषतः । मणे ९

जहि । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि "हन्तेर्जः" इति जादेशः ।

आभाणकाशीयस्य असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति हेर्लुक् न भवति ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको मार, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको मार ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको मार मुझसे द्वेष रखने वालोंको मार ॥ ६ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५७३)

"यत् ते दर्भ" इति चतुर्थं सूक्तम् । तस्य ऐन्द्र्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"यत् ते दर्भ" यह चतुर्थ सूक्त है । इसका ऐन्द्री नाम वाली महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

यत् ते॑ दर्भ ज॒राम॑त्युः श॒तं वर्म॑सु॒ वर्म॑ ते ।
तेने॒मं व॒र्मिणं॑ कृ॒त्वा स॒पत्ना॑ञ् जहि वी॒र्यैः॑ ॥ १ ॥

यत् । ते॒ । द॒र्भ॒ । ज॒रा॒ऽमृ॒त्युः । श॒तम् । वर्म॑ऽसु । वर्म॑ । ते॒ ।
तेन॑ । इ॒मम् । व॒र्मिण॑म् । कृ॒त्वा । स॒ऽपत्ना॑न् । ज॒हि॒ । वी॒र्यैः॑ ।

हे दर्भ ते तव मर्मसु ग्रन्थिषु यत् जरामृत्युशतम् जरसां मृत्यूनां च शतम् । वर्तत इति शेषः । शतशब्दः अपरिमितवचनः । परुषाम् अपरिमितत्वात् । प्रतिपर्वच्छेदस्य दुष्करत्वात् जरामृत्युशतास्पदत्वं दर्भस्य । यच्च ते तव वर्म जरामृत्युपरिहारकं कवचम् अस्ति तेन मम गतजरामृत्युशतपरिहारकेण वर्मणा इमं तव धारकं रक्षाजयादिकामं पुरुषं वर्मिणम् आमुक्तवर्माणं कृत्वा वीर्यैः परकृतोपद्रवपरिहारशत्रुविजयकरणादिलक्षणैः सामर्थ्यैः सपत्नान् अमुष्य राज्ञः शत्रून् जहि परामृश नाशय ॥

हे दर्भ ! तेरी ग्रन्थियोंमें जो सैंकड़ों जरा और मृत्यु रहती हैं (प्रत्येक गाँठके विच्छेदके दुष्कर होनेसे दर्भका जरामृत्युशतास्पदत्व है, सैंकड़ा-शब्द यहाँ अपरिमितका वाचक है) और हे दर्भ ! तेरा जो जरा और मृत्युको हटाने वाला कवच है उस वर्मगत जरा और मृत्युके अनन्त भेदोंको हटाने वाले कवचसे इस रक्षा और विजय आदिकी अभिलाषाको सन्नद्ध करके दूसरेके किये हुए उपद्रवको दूर करना आदि बलोंसे इस राजाके शत्रुओंका संहार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।

तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥ २ ॥

शतम् । ते । दर्भ । वर्माणि । सहस्रम् । वीर्याणि । ते ।

तम् । अस्मै । विश्वे । त्वाम् । देवाः । जरसे । भर्तवै । अदुः २

हे दर्भ मणिरूप ते तव वर्माणि पर्वाणि परकृतपीडाविषय-शतं सन्ति । तत्परिहाराय ते तव वीर्याणि सामर्थ्यान्यपि सहस्रम् सहस्रसंख्याकानि सन्ति । तं तादृशं मर्मशताच्छादन-साधनवीर्योपेतं त्वाम् अस्मै रक्षादिकामाय राज्ञे विश्वे सर्वे देवाः जरसे जरानिमित्तम् अस्य जरापरिहाराय भर्तवै भरणाय पोष-णाय प्रयोजनाय अदुः दत्तवन्तः । अतः अमुष्य जरां परिहृत्य भरणं कुर्वित्यर्थः । ❀ भर्तवै । तवैप्रत्ययः ❀ ॥

हे मणिरूप दर्भ ! तुझमें दूसरेको पीड़ा पहुँचा सकने वाले सैंकड़ों पर्व हैं और उनका परिहार करनेके लिये भी तुझमें सहस्रों पराक्रम हैं । सब देवताओंने ऐसे तुझ सैंकड़ों मर्मोंके कवचरूपको इस रक्षाके इच्छुक राजाके लिये बुढ़ापेको दूर करने

के लिये धारण करनेको दिया है। अतः तू इसके बुढ़ापेको हटा कर इसका भरण कर ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वामा॑हुर्दे॒ववर्म॒ त्वां द॑र्भ॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑म् ।

त्वामिन्द्र॑स्याहु॒र्वर्म॒ त्वं रा॒ष्ट्राणि॑ रक्षसि ॥ ३ ॥

त्वाम् । आ॒हुः । दे॒व॒ऽवर्म॑ । त्वाम् । द॒र्भ॒ । ब्रह्म॑णः । पति॑म् ।

त्वाम् । इन्द्र॑स्य । आ॒हुः । वर्म॑ । त्वम् । रा॒ष्ट्राणि॑ । र॒क्ष॒सि ॥३॥

हे दर्भ मणे त्वां देववर्म आहुः देवानां रक्षणार्थं कवचम् आहुः। तथा त्वां ब्रह्मणस्पतिम् वेदस्य पालयितारम् एतन्नामानं देवम् आहुः वेदविदितस्यापि रक्षाकारित्वात्। किं च त्वाम् इन्द्रस्य देवाधिपतेरपि वर्म कवचम् आहुः। देवा बृहस्पतिरिन्द्रश्च त्वां स्वस्वरक्षार्थं धारयन्ति इत्यभिप्रायः। यत एवम् अतस्त्वं त्वां धारयतो राज्ञो राज्यानि रक्षसि पालयसि पालय ॥

हे दर्भमणे! तुझको देवताओंकी रक्षा करने वाला कवच कहते हैं, तथा तुझको वेदका पालक ब्रह्मणस्पति नामक देवता कहते हैं, क्योंकि-वेदविदितका भी रक्षा करने वाली है। अधिक क्या तुझको देवाधिपति इन्द्रका भी कवच कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि-बृहस्पति और इन्द्रदेव भी अपनी २ रक्षाके लिये तुझको धारण करते हैं, ऐसी बात है अत एव तू राष्ट्रोंको धारण करने वाले राजाके राज्योंका पालन कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स॒प॒त्न॒क्षय॑णं दर्भ द्विष॒तस्तप॑नं हृ॒दः ।

म॒णिं क्ष॒त्रस्य॒ वर्ध॑नं तनू॒पानं॑ कृणोमि ते ॥ ४ ॥

सपत्नऽक्षयणम् । दर्भ । द्विषतः । तपनम् । हृदः ।

मणिम् । क्षत्रस्य । वर्धनम् । तनूऽपानम् । कृणोमि । ते ॥ ४ ॥

हे दर्भ ते त्वा त्वां सपत्नक्षयणम् शत्रूणां नाशकम् । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । तथा द्विषतः द्वेष्टुः हृदः हृदयस्य तपनम् संतापकं क्षत्रस्य बलस्य वर्धनम् वर्धकम् । तथा तनूपानम् तन्वाः शरीरस्य पातारं रक्षितारम् एवंमहानुभावं मणिं कृणोमि करोमि ॥ अथ वा रक्षाकामः पुरुषः संबोध्यते । हे राजन् दर्भमणिं सपत्नक्षयणादिसामर्थ्योपेतं ते तुभ्यं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं च कृणोमीति संबन्धनीयम् ॥

हे दर्भ ! मैं तुझको शत्रुओंका नाशक, द्वेष करने वालेके हृदयको तप्त करने वाला और बलका बढ़ाने वाला तथा शरीर का रक्षक मणि बनाता हूं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत् संमुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह ।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ ५ ॥

यत् । समुद्रः । अभिऽअक्रन्दत् । पर्जन्यः । विऽद्युता । सह ।

ततः । हिरण्ययः । बिन्दुः । ततः । दर्भः । अजायत ॥ ५ ॥

यत् यस्मिन् स्थाने समुद्रः समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति समुद्रः । तादृशः पर्जन्यः मेघो विद्युता सह अभ्यक्रन्दत् अभिक्रन्दनं स्तननम् अकार्षीद् वृष्ट्युत्पादनाय ततः अभिक्रन्दतो मेघात् हिरण्ययो हिरण्मयो बिन्दुः उद्भूत् । ततः तस्माद् उत्पन्नात् हिरण्यबिन्दोः सकाशाद् दर्भो अजायत प्रादुर्बभूव । अनेन दर्भोत्पत्तिवर्णनेन दर्भमयस्य मणेरतिशयितवीर्यत्वम् उक्तं भवति ।

❀ हिरण्य इति। "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व०" इत्यादिना हिरण्मय-शब्दस्य मयटो मकारलोपो निपातितः ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जिस स्थानमें जिससे जल उद्गवित होता है वह समुद्र अर्थात् मेघ वृष्टिको उत्पन्न करने के लिये बिजली के साथ गड़गड़ाया गड़गड़ानेसे हिरण्मय बिन्दु प्रकट हुआ और उस हिरण्यबिन्दुसे दर्भ प्रकट हुआ है। (इस दर्भोत्पत्तिका प्रकरण कहनेका अभिप्राय यह है, कि-दर्भकी बनी हुई मणि परम वीर्यवती होगी)५

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५७८)

"औदुम्बरेण" इत्यादिकं पञ्चमं सूक्तम्। अस्य "कौबेरी धनकामस्य धनक्षये च" [न० क० १७] इति विहितायां कौबेर्याख्यायां महाशान्तौ औदुम्बरमणिबन्धने विनियोगः। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा इत्यौदुम्बरं कौबेर्याम्" इति [न० क० १८]॥

"औदुम्बरेण" आदि पञ्चम सूक्त है। इसका, "कौबेरी धनकामस्य धनक्षये च।-धनकी अभिलाषा वालेकी कौबेरी शान्ति को धनक्षयमें भी करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित, कौबेरी महाशान्तिके औदुम्बरमणिबन्धनमें विनियोग है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि-"औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा इत्यौदुम्बरं कौबेर्याम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥ १ ॥

औदुम्बरेण । मणिना । पुष्टिऽकामाय । वेधसा ।

पशूनाम् । सर्वेषाम् । स्फातिम् । गोऽस्थे । मे । सविता । करत् १

औदुम्बरेण उदुम्बरनिर्मितेन मणिना । ❀ "तस्य विकारः" इति अण् प्रत्ययः ❀ । पुष्टिकामाय पशुपुत्रधनशरीरादिविषयं पोषं कामयमानाय पुरुषाय तदर्थं वेधसा विधात्रा पुरा प्रयोगः कृतः । यद्वा वेधसा पुण्यादिविधात्रा कर्त्रा मणिना पुष्टिकामाय तव रक्षां करोमीति व्याख्येयम् । अतः सर्वेषां गोमहिषाश्वाजगजादिरूपाणां पशूनाम् । चतुष्पादाः पशवः । तेषाम् । अथ वा द्विपादश्चतुष्पादश्च पशवः । उभयविधानां परिग्रहाय सर्वेषाम् इत्युक्तम् । तेषां स्फातिम् । ❀ स्फायी वृद्धौ । क्तिनि यलोपः ❀ । अभिवृद्धिं मे मम गोष्ठे गवां निवासस्थाने । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति अधिकरणे कप्रत्ययः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना मूर्धन्यादेशः ❀ । सविता प्रसविता सर्वस्य अनुज्ञाता प्रेरकः एतन्नामको देवः करत् कुर्यात् । ❀ करोतेः पञ्चमलकारः ❀ । "सविता वै प्रसवानाम् ईशे" इत्यादि श्रुतेः [ऐ० ब्रा० १.१६] सवितुः सर्वस्य प्रेरकत्वात् "देवो वः सविता प्रार्पयतु" इति [तै० सं० १. १. १. १] गवां व्याघ्रतस्करादिकृतनाशपरिहाराय प्रार्पणप्रार्थनश्रुतेश्च सवितुः सर्वपशुस्फातिप्रार्थना युक्ता ॥

पहिले समयमें ब्रह्माजीने उदुम्बर (गूलड़) की मणिके द्वारा पशु पुत्र धन शरीर आदिकी पुष्टिके अभिलाषीके लिये प्रयोग किया था । अथवा मैं पुष्टि आदि करने वाली मणिसे तुझ पुष्टि चाहने वालेकी रक्षा करता हूँ । अत एव सविता देवता मेरी गोठमें दो पैर वा चार पैर वाले सब पशुओंकी वृद्धि करें ॥१॥

द्वितीया ॥

यो नो॑ अ॒ग्निर्गार्ह॑पत्यः पशू॒नाम॑धि॒पा अस॑त् ।

औदु॑म्बरो॒ वृषा॑ म॒णिः स मा॑ सृजतु पु॒ष्ट्या ॥ २ ॥

यः । नः॒ । अ॒ग्निः । गार्ह॑ऽपत्यः । प॒शू॒नाम् । अ॒धि॒ऽपाः । अस॑त् ।

औदु॑म्बरः । वृषा॑ । म॒णिः । सः । मा॒ । सृ॒जतु॒ । पु॒ष्ट्या ॥ २ ॥

यो गार्हपत्योग्निः । गृहपतिना यजमानेन सह संयुक्तोग्निर्गार्हपत्यः । यस्तत्संज्ञकोग्निरस्ति । ❀ "गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः" इति ञ्यः ❀ । स नः अस्माकं पशूनाम् गवाश्वादीनाम् अधिपाः अधिष्ठाय पाता असत् भवेत् । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । "इह पशवो विश्वरूपा रमन्ताम् अग्निं गृहपतिम् अभिसंवसानाः" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. ५] इति मन्त्रवर्णाद् अग्निहोत्रे "पशून् मे यच्छ" इति [आश्व० २. ३] गार्हपत्यप्रार्थनाविधानाच्च पशूनाम् आधिपत्यं तस्य सिद्धम् । अतः गार्हपत्योग्निः पशून् पालयतु चोरादिभयेभ्यः । औदुम्बरः उदुम्बरविकारो वृषा अभिमतफलवर्षको मणिः पुष्ट्या पोषेण शरीराभिवृद्ध्या मा सर्वतः सं सृजतु । पशूनां पुष्टिं करोत्वित्यर्थः । "ऊर्ग् वा उदुम्बरः" इति श्रुतेः [तै० सं० २. १. १. ६] अन्नरूपत्वात् पोषकत्वं तस्य युक्तम् ॥

जो गृहपति यजमानसे संयुक्त गार्हपत्य नामक अग्नि है वह हमारे गौ अश्व आदि पशुओंका अधिष्ठाता बनकर रक्षक होवे । ["इह पशवो विश्वरूपा रमन्ताम् अग्निं गृहपतिं अभिसंवसानाः।-गृहपति अग्निके पास वसते हुये यहाँ सब प्रकारके पशु रमण करें" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ४ । ५) इस मन्त्रवर्णसे और अग्निहोत्रमें "पशून् मे यच्छ ।—हे अग्ने ! मुझे पशु प्रदान करिये" (आश्वलायन २ । ३) गार्हपत्यकी प्रार्थनाका विधान होनेसे पशुओंका आधिपत्य सिद्ध है । अत एव कहा है, कि-गार्हपत्य अग्नि चोर भय आदिसे पशुओंका पालन करें] अभीष्ट

फलकी वर्षा करने वाली गूलड़की मणि शरीरकी अभिवृद्धिसे पशुओंको पुष्ट करे ["ऊर्ग् वा उदुम्बरः" तैत्तिरीयसंहिता २। १। १। ६ की श्रुतिसे उदुम्बरके अन्नरूप होनेसे पोषकत्व ठीक ही है।] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

करी॒षिणीं॑ फल॑वतीं स्व॒धामिरां॑ च नो गृ॒हे ।
औदु॑म्बरस्य॒ तेज॑सा धा॒ता पुष्टिं॑ दधातु मे ॥ ३ ॥

क॒री॒षिणी॑म् । फल॑ऽवतीम् । स्व॒धाम् । इरा॑म् । च॒ । नः॒ । गृ॒हे ।
औदु॑म्बरस्य । तेज॑सा । धा॒ता । पु॒ष्टिम् । द॒धा॒तु॒ । मे॒ । ॥ ३ ॥

करीषिणीम् करीषो गवां शकृत्। प्रभूतेन करीषेण तद्वतीम्। अनेन गवां समृद्धिरुक्ता भवति तदभावे करीषाभावात्। तादृशीं स्वधाम्। अन्ननामैतत्। स्वस्मिन् धीयत इति व्युत्पत्तेः। व्रीहि-यवादिलक्षणम् अन्नं फलवतीम् प्रकृष्टेन फलेन उपेताम् इरां च भूमिमपि। अथ वा इरा इला गौः। जात्येकवचनम्। गावः। अत्र करीषिणीं फलवतीम् इति विशेषणद्वयं स्वधाम् इरां च उभयमपि विशिनष्टि। उभयत्रापि संबन्धयोग्यतासंभवात्। नः अस्माकं गृहे। करतु इति संबन्धः। औदुम्बरस्य उदुम्बरविकारस्य मणेस्तेजसा सामर्थ्येन धाता सर्वस्य विधाता एवंनामको देवः पुष्टिम् शरीरादिपोषं मे मम दधातु स्थापयतु। करोत्वित्यर्थः॥

धाता देवता औदुम्बरमणिके तेजसे मुझमें शरीरपुष्टिको स्थापित करें। और हमारे घरमें अन्नको तथा बहुतसे गोवर वाली भूमिको देवें (बहुतसा गोवर कहनेसे गोसमृद्धिको सूचित किया है, क्योंकि—बहुतसी गौओंके बिना बहुतसा गोवर नहीं होसकता)

चतुर्थी ॥

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
गृह्णे३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥

यत् । द्विऽपात् । च । चतुःऽपात् । च । यानि । अन्नानि । ये । रसाः ।
गृह्णे । अहम् । तु । एषाम् । भूमानम् । बिभ्रत् । औदुम्बरम् ।
मणिम् ॥ ४ ॥

द्विपात् पादद्वयोपेतं पुरुषादिकं यत् पशुजातम् अस्ति । यच्च चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतं गवादिकम् अस्ति । ❀ उभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ" इति द्विपाच्छब्दस्य अन्तोदात्तत्वम् । चतुष्पाद् इति । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यानि च अन्नानि तिलमाषव्रीहियवप्रियङ्ग्वादीनि ग्राम्याणि अन्नानि । यानि च अरण्यजानि अन्नानि ये च रसाः दधिक्षीरमधुगुडादिरूपाः सन्ति एषाम् उक्तानां सर्वेषां भूमानम् बहुभावम् । ❀ बहुशब्दाद् इमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति इमनिच आदिलोपो बहोर्भूभावश्च ❀ । औदुम्बरं मणिं बिभ्रद् अहं गृह्णे स्वीकरोमि भजामि ॥

जो दो पैर वाले पुरुष आदि हैं, और जो चार पैर वाले गौ आदि ढोर हैं, जो तिल उड़द औ कँगनी आदि ग्राम्य अन्न हैं, जो जंगली अन्न हैं, और जो दधि क्षीर मधु गुड़ आदि रस हैं इन सबके बहुभावको, औदुम्बरमणिको धारण करने वाला मैं सेवन करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च

धान्यम् ।

पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥

पुष्टिम् । पशूनाम् । परि । जग्रभ । अहम् । चतुःऽपदाम् । द्विऽपदाम् । यत् । च । धान्यम् ।

पयः । पशूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । बृहस्पतिः । सविता । मे । नि । यच्छात् ॥ ५ ॥

अहं पशूनां द्विपदां चतुष्पदां च यच्च धान्यम् व्रीहियवादिरूपं तस्यापि पुष्टिम् पोषं परि जग्रभ परिग्रहं करोमि । ❀ ग्रहेश्छान्दसे लिटि उत्तमैकवचने णलि "णलुत्तमो वा" इति णित्वस्य विकल्पितत्वाद् वृद्ध्यभावः ❀। किं च सविता सर्वस्य अनुज्ञाता बृहस्पतिर्देवः पशूनाम् गोमहिष्यादीनां पयः तथा ओषधीनाम् व्रीह्यादीनां रसम् सारभूतम् अंशं मे मह्यं नि यच्छात् । औदुम्बरस्य तेजसा इति शेषः । प्रयच्छतु । ❀ यम उपरमे । लेटि "इषुगमियमां छः" इति छादेशः । आडागमः ❀ ॥

मैं दो पैर और चार पैर वालोंकी तथा व्रीहि यव आदि धान्यकी भी पुष्टिको ग्रहण करता हूँ, सविता देवता और बृहस्पति देवता औदुम्बर मणिके तेजसे गौ भैंस आदि पशुओंके दूधको और व्रीहि आदिके सारभूत रसको मुझे प्रदान करें ।५।

षष्ठी ॥

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।

मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥ ६ ॥

अहम् । पशूनाम् । अधिऽपाः । असानि । मयि । पुष्टम् । पुष्टऽपतिः । दधातु ।

मह्यम् । औदुम्बरः । मणिः । द्रविणानि । नि । यच्छतु ॥ ६ ॥

"मह्यमौदुम्बरः" इति अर्धर्चः उत्तरमन्त्रे वा द्रष्टव्यः । अहं पुष्टिकामः पशूनाम् द्विपदां चतुष्पदां च अधिपाः अधिष्ठाय पालकः स्वामी असानि भवानि । ❀ अधिपूर्वाद् पातेर्विच् । असानीति । अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀ । तदर्थं मयि पुष्टिकामे पुष्टम् पोषं पश्वादेः समृद्धिम् । ❀ "नपुंसके भावे क्तः" इति क्तः ❀ । तत् पुष्टपतिः पश्वादिपोषस्वामी औदुम्बरो मणिः दधातु प्रयच्छतु । एवं मह्यम् औदुम्बरो मणिः द्रविणानि हिरण्यानि नि यच्छतु नियमयतु प्रयच्छतु ॥

पुष्टिको चाहने वाला मैं दो पैर और चार पैर वाले पशुओंका स्वामी होऊँ, मुझ पुष्टिको चाहने वालेमें, पशु आदिकी पुष्टिका स्वामी औदुम्बर मणि, पशु आदिकी समृद्धिको करे । इसी प्रकार औदुम्बरमणि मुझको सुवर्ण प्रदान करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥ ७ ॥

उप । मा । औदुम्बरः । मणिः । प्रऽजया । च । धनेन । च ।

इन्द्रेण । जिन्वितः । मणिः । आ । मा । अगन् । सह । वर्चसा ७

मा माम् औदुम्बरो मणिः प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया च धनेन हिरण्यादिलक्षणेन गवादिरूपेण च सह उप । ❀ उपसर्गश्रुतेः

सामर्थ्याद् आगन्निति आकृष्यते ❀। आगमत्। एवं स मणिः इन्द्रेण जिन्वितः प्रीणितः प्रेरितः वर्चसा अस्मदभिमतेन तेजोविशेषेण सह मा माम् आगन् आगमत्। ❀ जिन्वित इति। इवि जिवि धिवि प्रीणनार्थाः। धातूपदेशावस्थायामेव नुमागमः। कर्मणि निष्ठायाम् इडागमः। इदित्वाद् नकारलोपाभावः। आगन्निति। गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀॥

औदुम्बर मणि पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाके साथ और सुवर्ण गौ आदिरूप धनके साथ मुझको प्राप्त होगया है। यह मणि इन्द्रके प्रेरणा करने पर मेरे अभिलषित तेजके साथ मुझको प्राप्त हुआ है॥ ७॥

अष्टमी॥

देवो मणिः संपत्नहा धनसा धनसातये।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु॥८॥

देवः। मणिः। सपत्नऽहा। धनऽसाः। धनऽसातये।
पशोः। अन्नस्य। भूमानम्। गवाम्। स्फातिम्। नि। यच्छतु ८

देवः द्योतमानो मणिः औदुम्बरः पुष्ट्यर्थं देवैर्निर्मितत्वाद् देव इत्युच्यते। तादृशो मणिः सपत्नहा सपत्नानां हन्ता तथा धनसाः धनानाम् अस्मदभिलषितानां साता दाता। ❀ वन षण संभक्तौ। "जनसनखनक्रमगमो विट्"। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀। एवंरूपो मणिः धनसातये धनानां लाभाय भवतु। ❀ "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀। किं च पशोः अन्नस्य च भूमानम् बहुभावं समृद्धिं नि यच्छतु। तथा गवां स्फातिम् अभिवृद्धिं च नि यच्छतु। यद्यपि पशुभूम्नैव गोस्फा-

तिरप्युक्ता तथापि गवाम् अतिशयेनोपयोगात् प्राधान्याय पुनरभिधानम् । "देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त । तत उदुम्बर उदतिष्ठत्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. १. ३, १०] ऊर्क्संबन्धाद् अन्नसमृद्धिकारकत्वम् ॥

यह द्योतमान औदुम्बरमणि पुष्ट्यर्थ बना होनेके कारण देव कहलाती है । यह मणि शत्रुओंका संहार करने वाली है तथा हमारे अभिलषित धनोंको देनेवाली है, ऐसी यह मणि धनलाभ के लिये उपयुक्त हो । और यह मणि पशुओंकी अधिकताको भी प्रदान करे और गौओंकी वृद्धिको भी प्रदान करे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥

यथा । अग्रे । त्वम् । वनस्पते । पुष्ट्या । सह । जज्ञिषे ।
एव । धनस्य । मे । स्फातिम् । आ । दधातु । सरस्वती ॥ ९ ॥

हे वनस्पते वनस्य पालक औदुम्बरमणे । विकारे प्रकृतिशब्दः । त्वं यथा अग्रे ओषधिवनस्पतिसृष्टिसमये पुष्ट्या पोषेण सह उत्पत्तिसमय एव जज्ञिषे उत्पन्नोसि एव एवं मे धनस्य स्फातिम् अभिवृद्धिं त्वया साधनभूतेन सह सरस्वती सरणवती वाग्देवी आ दधातु करोतु । ❀ आङ्पूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । एव एवमित्यर्थः "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे वनकी पालक औदुम्बरमणे ! तू जैसे ओषधि वनस्पतियों की सृष्टिके समय उत्पत्तिके समय ही पुष्टिके साथ प्रकट हुई है, इसी प्रकार मेरे धनकी वृद्धिको भी तुझ साधनसे सरस्वतीदेवी पुष्ट करें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

आ । मे । धनम् । सरस्वती । पयःऽस्फातिम् । च । धान्यम् ।
सिनीवाली । उप । वहात् । अयम् । च । औदुम्बरः । मणिः ॥ १० ॥

सरस्वती देवी मे मम धनम् हिरण्यादिलक्षणं पयस्फातिम् पयसोऽभिवृद्धिं च । अनेन पयसोऽभिवृद्धिप्रार्थनेन गोसमृद्धिः प्रार्थिता भवति । तथा धान्यं च । व्रीहियवादीनाम् ओषधीनां फलानि धान्यानि । अत्र जातावेकवचनम् । ॐ आ इति उपसर्गश्रुतेः वहत्विति योग्यक्रियाध्याहारः ॐ । एवं सिनीवाली देवता च । "दृष्टचन्द्रा सिनीवाली नष्टचन्द्रा कुहूर्मता" इति श्रुतेः दृष्टचन्द्रामावास्याभिमानिदेवता सिनीवाली । सा च धनादिकम् उपा वहात् । अयं धार्यमाणः औदुम्बरो मणिश्च उप वहात् उपावहतु प्रापयतु । ॐ वह प्रापणे । लेटि आडागमः ॐ ॥ अथ वा सरस्वती मे धनम् हिरण्यरजतमणिमुक्तादिलक्षणं हस्तेन धारणयोग्यम् आ गमयतु । पयस्फातिं धान्यं च सिनीवाली औदुम्बरो मणिश्च उपा वहात् समीपदेशं प्रापयतु इति व्यवस्था ॥

सरस्वती देवी सुवर्ण आदिरूप धनको और दुग्धकी पुष्टिको, व्रीहि यव आदि औषधियोंके फलको प्राप्त करावें, सिनीवाली तथा यह औदुम्बरमणि भी इन सब वस्तुओंको मुझको प्राप्त करावें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।

त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्
सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥

त्वम् । मणीनाम् । अधिऽपाः । वृषा । असि । त्वयि । पुष्टम् ।
पुष्टऽपतिः । जजान ।

त्वयि । इमे इति । वाजाः । द्रविणानि । सर्वा । औदुम्बरः । सः ।
त्वम् । अस्मत् । सहस्व । आरात् । अरातिम् । अमतिम् ।
क्षुधम् । च ॥ ११ ॥

हे औदुम्बर मणे त्वं मणीनाम् इतरेषां रक्षासमृद्धिजयादिसाधनानां दर्भादिनिर्मितानाम् अधिपः स्वामी वृषा अभिमतफलवर्षिता च असि । अधिपत्वे कारणम् आह । यतः त्वयि पुष्टम् गवाश्वादीनां सर्वेषां पोषं पुष्टपतिः सर्वपदार्थपोषकर्ता प्रजापतिः जजान उदपादयत् अकरोत् । अतः मणीनाम् अधिपो वृषा चासि । अस्तु किं तत इत्यत आह । त्वया सर्वसमृद्ध्यास्पदभूतेन मे मम वाजाः "अन्नं वै वाजः" इति [तै॰ सं॰ ५, ४. ६. ६] अतेः बहुविधानि अन्नानि सर्वा सर्वाणि द्रविणानि द्रावयितव्यानि हिरण्यरजतादीनि । सर्वशब्देन मणिमुक्ताप्रवालादिलक्षणानि परिगृह्यन्ते । संभवन्तु इति शेषः । हे औदुम्बर स तादृशः वाजद्रविणादिसाधकस्त्वम् अस्मत् अस्मत्तः सहस्व अभिभव अपगमय । अभिभाव्यानि कानीत्याकाङ्क्षायाम् उच्यते आराद् अरातिम् इति । आरात् अत्यन्तं दूर एव अरातिम् अदानम् अलाभम् अमतिम् दारिद्र्यं मत्यभावं बुद्धिभ्रंशं वा क्षुधम् अशनाभावम् एतत् सर्वम् अस्मत् आरादेव सहस्व ॥

हे औदुम्बर मणे ! तू रक्षा समृद्धि जय आदिकी साधन दर्भ आदिकी बनी हुई अन्य मणियोंकी अधिप है और अभीष्ट फल की वर्षा करने वाली है। इसका कारण यह है, कि—"सब पदार्थोंको पुष्ट करने वाले पुष्टिपति प्रजापतिने तुझमें गौ आदि सब पदार्थोंकी पुष्टिको भर दिया है।" इससे क्या हुआ तो कहते हैं, कि-तुझ सब समृद्धियोंकी प्रतिष्ठासे मुझमें अनेक प्रकारके अन्न और सुवर्ण चाँदी आदि धन होवें। हे औदुम्बर मणे ! ऐसी तू अपने प्रभावसे शत्रु कुमति और भोजनके अभाव को हमसे दूर ही रख ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मां सिञ्च वर्चसा ।
तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि १२

ग्रामऽनीः । असि । ग्रामऽनीः । उत्थाय । अभिऽसिक्तः । अभि । मा । सिञ्च । वर्चसा ।
तेजः । असि । तेजः । मयि । धारय । अधि । रयिः । असि । रयिम् । मे । धेहि ॥ १२ ॥

हे औदुम्बर त्वं ग्रामणीरसि । ग्रामं नयतीति ग्रामणीः ग्रामस्वामी । स यथा प्रधानभूतः एवं त्वं सर्वेषां मणीनां प्रधानभूतोसि । अतः अस्माकमपि ग्रामणीर्भव । अभिमतफलप्रापको भवेत्यर्थः । अथ वा मामपि श्रेष्ठं कुरु। त्वं वर्चसा अभिषिक्तोसि अभित आच्छन्नोसि । मा मामपि वर्चसा अभि सिञ्च अभिषिक्तं

कुरु। हे मणे त्वं तेजोसि साक्षात् तेजोरूपोसि अतः मयि तेजो धारय। किं च त्वम् अधिरयिः अधिगतरयिः प्राप्तधनः असि। रयिं मे धेहि स्थापय मपच्छ। रयिर्धनम्। ❁ रातेर्दानकर्मणः [नि० ४. १७] ❁॥

हे औदुम्बर मणे! तू ग्रामणी है अर्थात् ग्रामका नेता जैसे ग्राममें प्रधान होता है, इसी प्रकार तू सब मणियोंमें प्रधान है। अत एव हमारी भी ग्रामणी बन अभीष्ट फलको प्राप्त कराने वाली हो। तू वर्चसे अभिषिक्त है अतः-मुझको वर्चसे अभिषिक्त कर, हे मणे! तू साक्षात् तेजोरूप है अतः मुझमें तेजको पुष्ट कर और तू प्राप्तधन है अतः मुझको धन दे॥ १२॥

[त्रयोदशीचतुर्दश्यौ]

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् १३

पुष्टिः। असि। पुष्ट्या। मा। सम्। अङ्ग्धि। गृहऽमेधी। गृहऽपतिम्। मा। कृणु।
औदुम्बरः। सः। त्वम्। अस्मासु। धेहि। रयिम्। च। नः। सर्वऽवीरम्। नि। यच्छ। रायः। पोषाय। प्रति। मुञ्चे। अहम्। त्वाम्॥ १३॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।

स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥

अयम् । औदुम्बरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ।

सः । नः । सनिम् । मधुऽमतीम् । कृणोतु । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छात् ॥ १४ ॥

त्रयोदशी ॥ हे मणे त्वं साक्षात् पुष्टिः पुष्टिरूपोसि । अतः पुष्टया पोषेण मा मां समङ्ग्धि सम्यग् अक्तं कुरु । समृद्धं कुरु । तथा गृहमेधी त्वम् असि । मा मां गृहपतिम् धनकनकादिसमृद्धस्य गृहस्य स्वामिनं सोमयागादिकर्मानुष्ठातारं वा कृणु कुरु । हे औदुम्बर मणे स तादृशः उक्तविधनानाधर्मोपेतस्त्वम् त्वयि विद्यमाना ये ग्रामणीत्ववर्चस्वित्वतेजोरूपस्वाधिरधित्वादयो धर्माः सन्ति तान् सर्वान् अस्मासु धेहि स्थापय । किं च नः अस्माकं सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयो यस्यां रय्यां तुष्यन्ति तादृशं रयिम् धनं च नि यच्छ प्रयच्छ । यद्वा सर्ववीरं यथा भवति तथा रयिं प्रयच्छेरित्यर्थः ॥

चतुर्दशी ॥ हे मणे अहं धनादिपुष्टिकामस्त्वां रायस्पोषाय धनानां पुष्ट्यै । ❀ "षष्ठयाः पतिपुत्र०" इत्यादिना सत्वम् ❀। प्रति मुञ्चे बध्नामि । प्रतिमोको बन्धनम् । "रुक्मम् अन्तरं प्रति मुञ्चते" इत्यादिश्रुतेः [तै० सं० ५. १. १०. ३]। एतदेव परोक्षेण पुनरभिधीयते फलान्तरसंबन्धाय । अयं वीरः विविधम् ईरयति अमित्रान् इति वीरः । तादृश औदुम्बरो मणिः वीराय वीरत्वाय यथा स्वयं वीरो भवति तथाभावाय बध्यते । स तादृशो मणिः नः अस्माकं मधुमतीम् । मधुवद् उपभुज्यमानत्वं मधुशब्देन

उच्यते । सहूतीं सनिम् धनादिलब्धिं कृणोतु करोतु । तथा नः अस्माकं रयिं च सर्ववीरं यथा भवति तथा । अतिमभूतम् इत्यर्थः । यद्वा पुत्रादयो वीराः । तैः सहितं यथा भवति तथा रयिं नि यच्छात् पुत्रादीन् रयिं च नियच्छतिरित्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! तू साक्षात् पुष्टिरूप है । अतः पुष्टिसे मुझको समृद्ध कर । तू गृहमेधी है, अतः तू मुझको धन कनक आदिसे समृद्ध घरका स्वामी बना, वा सोमयाग आदि कर्मोंका अनुष्ठाता बना । हे औदुम्बर—मणे ! तुझमें जो ग्रामणीत्व, वर्चस्वित्व तेजोरूपत्व आदि धर्म हैं उन सबको हममें स्थापित कर । और जिस धनसे पुत्र भृत्य आदि सब प्रसन्न होसकें उस धनको हममें स्थापित कर ॥ हे मणे ! धन आदिकी पुष्टिको चाहने वाला मैं तुझको धन आदिकी पुष्टिके लिये बाँधता हूँ । यह शत्रुओंको अनेक प्रकारसे खदेड़ने वाला औदुम्बरमणि जिस प्रकार अपने आप वीर होजाय तिस लिये बाँधा जाता है । यह ऐसी मणि हमारे लिये मधुमती धनादिप्राप्तिको करे । और पुत्रादि सहित धनको भी हमें प्रदान करे ॥ १३ ॥ १४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५७१)

"शतकाण्डो दुश्च्यवनः" इत्यादिकं षष्ठं सूक्तम् । तस्य "याम्यां यमभये" [न० क० १७] इति विहितायां याम्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धनं कुर्यात् । सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे । "नेच्छत्रुरिति [२. २७] पाठामूलम् अपराजितायाम् शतकाण्डो दुश्च्यवनः [१६. ३२] इति दर्भमणिं याम्याम्" इति [न० क० १६]॥

"शतकाण्डो दुश्च्यवनः" यह छठा सूक्त है । इससे "याम्यां यमभये ।–याम्या शान्तिका यमभयमें प्रयोग करें" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित याम्या महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनको करे ।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"नेच्छत्रुरिति (२।२७) पाठमूलं अपराजितायां शतकाण्डो दुश्च्यवनः (१६ । ३२) इति दर्भमणिं बाध्यम्" (नक्षत्रकल्प १६)

तत्र प्रथमा ॥

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ १ ॥

शतऽकाण्डः । दुःऽच्यवनः । सहस्रऽपर्णः । उत्ऽतिरः ।
दर्भः । यः । उग्रः । ओषधिः । तम् । ते । बध्नामि । आयुषे १

अनेन दर्भस्य मणिसाधनभूतस्य स्वरूपाधानपूर्वकं मृत्युभयपरिहाराय मणिरूपेण बन्धनम् अभिधीयते । शतकाण्डः । शतशब्दः अपरिमितवचनः । अनेकैः काण्डैः पर्वभिर्युक्तः । ❀ दश दशतः परिमाणम् अस्येति दशानां शभावः तथ प्रत्ययो निपातितः ❀ । दुश्च्यवनः । ❀ च्युङ् प्रुङ् गतौ । "छन्दसि गत्यर्थेभ्यः" इति युच् ❀ । दुःखेन च्यावनीयः न केनापि च्याव्यः सहस्रपर्णः अनेकैः पत्रैर्युक्तः । उत्तरमन्त्रे अच्छिन्नपर्णेन दर्भेणेति पर्णानाम् आवश्यकत्वाभिधानाद् अत्र सहस्रपर्ण इति विशेषितः । उत्तरः । उत्कृष्टतरः सर्वेषामप्योषधीनां मध्ये अतिशयितवीर्यः । ❀ उदः सुबन्तत्वात् तरप् ❀ । अस्य तथात्वम् उत्तरत्र दर्शयिष्यते । एवंलक्षण उग्रः उद्गूर्णबलः ओषधिः ओषधिविशेष इति विशेषितरूपो यो दर्भः तेन दर्भेण हे मृत्युभयार्दित पुरुष त्वां बध्नामि बन्धनं करोमि । किमर्थम् । आयुषे शतसंवत्सरलक्षणायुरर्थम् ॥

(इस मन्त्रमें मणिके साधन दर्भका स्वरूप बता कर मृत्युभयको दूर करनेके लिये उसका मणिरूपमें बाँधना बताया है)

हे मृत्युके भयसे डरे हुए पुरुष ! जो अपरिमित पर्वों वाली, कठिनतासे गिराने योग्य, अनेक पत्रोंसे सम्पन्न सब औषधियों से उत्कृष्ट प्रचंडवीर्य दर्भरूप औषधि है उसको मैं तेरी आयुके लिये बाँधता हूं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।

यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥ २ ॥

न । अस्य । केशान् । प्र । वपन्ति । न । उरसि । ताडम् । आ । घ्नते ।

यस्मै । अच्छिन्नऽपर्णेन । दर्भेण । शर्म । यच्छति ॥ २ ॥

अस्य केशान् शिरोरुहान् न प्रवपन्ति न आकर्षन्ति मृत्युदूताः रक्षःपिशाचाद्या वा । तथा अमुम् उरसिताडम् उरस्ताडयित्वा न आ घ्नते न हिंसन्ति मृत्युदूताद्याः । ❀ हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम्" इति तृतीयान्त उपपदे विहितो णमुल् सप्तम्युपपदेति व्यत्ययेन निष्पन्नः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति अलुक् । आ घ्नते इति । "आङो यमहनः" इति अस्वाङ्गकर्मकेऽपि आत्मनेपदम् ❀ । अस्येति उक्तं कस्य इत्यत आह । यस्मै मृत्युभयार्दिताय पुरुषाय अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण दर्भमणिबन्धनं कृत्वा शर्म सुखं यच्छति प्रयोक्ता । अस्येति पूर्वत्र संबन्धः ॥

प्रयोक्ता पुरुष मृत्युके भयसे पीड़ित जिस पुरुषके लिये अच्छिन्नपर्ण दर्भमणिबन्धन करके सुख देता है उसके केशोंको यमके दूत नहीं उखाड़ते हैं और उसकी छातीमें ताड़ना देकर उसको मारते भी नहीं हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥ ३ ॥

दिवि । ते । तूलम् । ओषधे । पृथिव्याम् । असि । निऽस्थितः ।
त्वया । सहस्रऽकाण्डेन । आयुः । प्र । वर्धयामहे ॥ ३ ॥

हे ओषधे शतकाण्डाख्य ते तव तूलम् अग्रं दिवि द्युलोके । तावत्पर्यन्तं तवोर्ध्वाभिवृद्धिरित्यर्थः । पृथिव्याम् भूम्यां कृत्स्नेनात्मना निष्ठितः विविधम् अवस्थितः असि । सर्वां पृथिवीम् आक्रम्य अवस्थित इत्यर्थः । एवं द्यावापृथिवीव्यापिना त्वया सहस्रकाण्डेन अनेककाण्डोपेतेन अस्य मृत्युभीतस्य आयुः प्रवर्धयामहे प्रकर्षेण अभिवृद्धिं कुर्मः ॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे ! तेरा अग्रभाग द्युलोकमें है अर्थात् तू वहाँ तक बढ़ जाता है और पृथिवीमें तू पूर्णरूपसे व्याप्त है, ऐसे द्यावापृथिवीव्यापक तुझ सहस्रकाण्डसे हम इस मृत्युभीत की आयुको बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥ ४ ॥

तिस्रः । दिवः । अति । अतृणत् । तिस्रः । इमाः । पृथिवीः । उत ।
त्वया । अहम् । दुःऽहार्दः । जिह्वाम् । नि । तृणद्मि । वचांसि ४

हे शतकाण्डाख्यौषधे त्वं तिस्रो दिवः त्रिविधान् द्युलोकान् ।

भोक्तॄणाम् उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रैविध्यात् तद्भोगस्थानस्य द्युलोकस्यापि त्रित्वम्। एवं वक्ष्यमाणायाः पृथिव्या अपि द्रष्टव्यम्। अत्यतृणः अतिक्रम्य गतवान् असि। वेष्टितवान् असीत्यर्थः। उत अपि च इमाः परिदृश्यमानास्तिस्रः पृथिवीरपि अत्यतृणः। एवं महानुभावेन त्वया दुर्हार्दः दुर्हृदयस्य शत्रोर्जिह्वां नि तृणद्मि वेष्टयामि। तस्य वचांसि च वेष्टयामि बन्धयामि। यस्त्वं कृत्स्नां द्यावापृथिवीम् आक्रान्तोसि तादृशेन अतिदीर्घेण त्वया शत्रोर्जिह्वां वाचश्च बध्नामि। ❀ उतृदिर् हिंसानादरयोः। रौधादिकः। "हल्ङ्या०" इत्यादिना सिपो लोपः ❀॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे! तू द्युलोककी तीन भूमिकाओं को और पृथिवीलोककी तीन भूमिकाओंको व्याप्त कर रहा है। ऐसे प्रभाव वाले तुझसे मैं दुर्हृदय वाले शत्रुकी जिह्वाको बाँधता हूँ और तुझ पूर्णद्यावापृथिवीमें व्याप्त होने वालेसे शत्रुकी वाणियों को भी बाँधता हूँ॥ ४॥

पञ्चमी॥

त्वम॑सि॒ सह॑मानो॒ऽहम॑स्मि॒ सह॑स्वान्।
उ॒भौ सह॑स्वन्तौ भू॒त्वा स॒पत्ना॑न् सहिषीमहि॥ ५॥

त्वम्। अ॒सि॒। सह॑मानः। अ॒हम्। अ॒स्मि॒। सह॑स्वान्।
उ॒भौ। सह॑स्वन्तौ। भू॒त्वा। स॒ऽपत्ना॑न्। स॒हि॒षी॒म॒हि॒॥ ५॥

हे शतकाण्डाख्यौषधे त्वं सहमानासि शत्रूणां सहनशीला भवसि। अहं च सहस्वान् शत्रुहिंसाधनबलोपेतः अस्मि। सह इति बलनामसु पाठात्। अतिशयेन शत्रूणां सोढास्मीत्यर्थः। उभौ सहस्वन्तौ सहनधर्मकौ भूत्वा सपत्नान् अस्मदीयान् शत्रून् सहिषीमहि अभिभवेम। ❀ षह मर्षणे। आशीर्लिङि रूपम् ❀॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे ! तू शत्रुओंको दबा देती है, और मैं शत्रुकी हिंसा करनेके बलको रखता हूँ, हम दोनों शत्रुको दबाने के स्वभावको रख कर अपने शत्रुओंका तिरस्कार करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून् कृधि ॥६॥

सहस्व । नः । अभिऽमातिम् । सहस्व । पृतनाऽयतः ।
सहस्व । सर्वान् । दुःहार्दः । सुऽहार्दः । मे । बहून् । कृधि ।

हे शतकाण्डौषधे नः अस्माकम् अभिमातिम् अभिहिंसकं शत्रुं पापं वा । "पाप्मा वा अभिमातिः" इति श्रुतेः [तै० सं० २. १. ३. ५] । सहस्व अभिभव । तथा पृतनायतः पृतन्यतः पृतना सेना ताम् आत्मन इच्छतः । मया सह योद्धुम् इति शेषः । तांश्च सहस्व अभिभव । किं बहुना सर्वान् दुर्हार्दः दुर्हृदयान् सहस्व । एवं कृत्वा मे सुहार्दः सुहृदयान् बहून् कृधि कुरु । सर्वान् मयि अनुकूलान् कुर्वीत्यर्थः ॥

हे शतकाण्ड नामक औषधे ! हमारे शत्रु वा पापको क्षीण कर, तथा सेना लेकर मुझसे युद्ध करना चाहने वाले मेरे सब शत्रुओंको दबा और मेरे मित्रोंको बहुतसे कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ ७ ॥

दर्भेण । देवऽजातेन । दिवि । स्तम्भेन । शश्वत् । इत् ।

तेन । अहम् । शश्वतः । जनान् । असनम् । सनवानि । च ७

देवजातेन देवेभ्यः सकाशाद् उत्पन्नेन दिविष्टम्भेन द्युलोकस्य अधःपाताभावाय स्तम्भकेन द्युलोकस्य स्तम्भभूतेन वा एवं-विधेन तेन दर्भेण शश्वदित् सर्वदा अहं शश्वतः नित्यान् दीर्घ-जीविनो जनान् असनम् अलभे अपि च सनवानि लभे। ॐ षणु दाने। तनादिकः। लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः॥

देवताओंके समीप उत्पन्न हुए द्युलोकके स्तम्भरूप दर्भके द्वारा मैं दीर्घजीवी मनुष्योंको प्राप्त करूं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ ८ ॥

प्रियम् । मा । दर्भ । कृणु । ब्रह्मऽराजन्याभ्याम् । शूद्राय । च ।
आर्याय । च ।
यस्मै । च । कामयामहे । सर्वस्मै । च । विऽपश्यते ॥ ८ ॥

हे दर्भ मा मां त्वां धारयमाणं ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वर्णाभ्यां प्रियं कृणु कुरु। ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां च यथाहं प्रियो भवामि तथा मां कुर्वित्यर्थः। अनेन तेषां वशीकरणं प्रार्थितं भवति। तथा शूद्राय च आर्याय च। जात्यभिप्रायम् इदम्। शूद्राणाम् आर्याणां च मां प्रियभूतं कुरु। किं च अहं यस्मैयस्मै अनुलोमेषु प्रतिलोमेषु च जातीयेषु मध्ये यस्मैयस्मै प्रियभावं कामयामहे तस्मै सर्वस्मै विपश्यते पापम् अन्विष्यते पुरुषाय मां प्रियं कुरु

हे दर्भ ! मुझ धारण करने वालेको ब्राह्मण क्षत्रिय वर्णोंके लिये प्रिय करिये अर्थात् मैं जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों

का प्रिय होऊं तैसा करिये । तथा शूद्र और आर्यपुरुषोंके लिये भी मुझको प्रिय बनाइये । और हम अनुलोम वा प्रतिलोम जिस किसीके प्रियभावको चाहें उन सबके लिये आप मुझको प्रिय करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च ।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥ ९ ॥

यः । जायमानः । पृथिवीम् । अदृंहत् । यः । अस्तभ्नात् । अन्तरिक्षम् । दिवम् । च ।
यम् । बिभ्रतम् । ननु । पाप्मा । विवेद । सः । नः । अयम् । दर्भः । वरुणः । दिवा । कः ॥ ९ ॥

यो दर्भः शतकाण्डाख्यो जायमानः प्रादुर्भवन्नेव पृथिवीं सर्वाम् अदृंहत् दृढां कृतवान् । ❀ दृह दृहि वृद्धौ ❀ । यथा अप्सु विलीना न भवति तथा स्वमूलेन भुवं दृढां चकारेत्यर्थः । यश्च जातमात्रः सन् स्वकाण्डैः अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं भवतीति अन्तरिक्षम् । तच्च दिवम् द्योतमानं द्युलोकं च अस्तभ्नात् स्तम्भितवान् । यथा ते न निपतेतां तथा तस्तम्भ । यम् उक्तलक्षणं शतकाण्डदर्भमणिं बिभ्रतम् धारयन्तं पाप्मा ननु विवेद न जानाति । न स्पृशतीत्यर्थः । स तादृशोयं वरुणः अन्धकारनिवारको दर्भो

नः अस्माकं दिवा प्रकाशम् अकः करोतु । ❀ लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ।

जिस शतकाण्ड नामक दर्भने प्रादुर्भूत होते ही सब पृथिवीको दृढ़ कर दिया है । अर्थात् जिस प्रकार जलमें विलीन न हो तिस प्रकार अपनी जड़से दृढ़ कर दिया है । और जिसने प्रकट होते ही अन्तरिक्षको और द्युलोकको स्तम्भित कर दिया है अर्थात् वह जिस प्रकार पतित न हो तिस प्रकार स्तम्भित कर दिया है, और जिस शतकाण्डदर्भमणि धारण करने वालेको पाप नहीं जानता है, ऐसा यह अंधकारनिवारक-वरुण हमारा प्रकाशक होवे ॥ ६ ॥

दशमी ॥

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव स नोयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥ १० ॥

सपत्नऽहा । शतऽकाण्डः । सहस्वान् । ओषधीनाम् । प्रथमः । सम् । बभूव ।

सः । नः । अयम् । दर्भः । परि । पातु । विश्वतः । तेन । साक्षीय । पृतनाः । पृतन्यतः ॥ १० ॥

सपत्नहा सपत्नानाम् । सपत्नीवत् । सपत्नः । एकस्मिन् विषये समानपतित्वम् इच्छतां शत्रूणां हन्ता शतकाण्डः शतसंख्याकैरनेकैः काण्डैरुपेतः सहस्वान् सहो बलं तद्वान् एवंमहानुभावः ओषधीनाम् इतरासां प्रथमः मुख्यः प्रथमभावी वा । अतिशयितवीर्य-

स्यात् । ❀ प्रथम इति मुख्यनाम प्रथमो भवतीति निरुक्तम् [नि० २. २२] ❀ । एवंभूतः सन् सं बभूव । स तादृशः संभूतः अयं दर्भो नः अस्मान् विश्वतः सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यस्तज्जन्येभ्यो भयेभ्यः परि पातु परिरक्षतु । तेन दर्भमणिना पृतन्यतः पृतनां सेनाम् इच्छतः शत्रोः पृतनाः सेनाः साक्षीय अभिभवानि । ❀ पृतन्यत इति । पृतनाशब्दात् क्यचि "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति आकारलोपः । साक्षीयेति । षह अभिभवे । अस्मात् लिङि "सिब्बहुलं छन्दसि णित्" इति सिप् । णित्त्वाद् उपधावृद्धिः ❀ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

एक ही विषयमें एकसा स्वामित्व चाहने वाले सपत्नोंका अर्थात् शत्रुओंका संहारक शतकाण्ड वल्ली है और दूसरी ओषधियोंमें मुख्य बनता हुआ प्रकट हुआ है, ऐसा यह दर्भ हम को चारों दिशाओंसे प्राप्त होने वाले भयसे बचावे । इस दर्भमणिके प्रभावसे मैं सेना चाहने वाले शत्रुओंका तिरस्कार करूँ ?०

चतुर्थ अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (३१६)

"सहस्रार्घः शतकाण्डः" इति सप्तमं सूक्तम् । अस्य याम्यां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"सहस्रार्घः शतकाण्डः" यह सप्तम सूक्त है । इसका याम्या महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें विनियोग है, यह बात पहिले सूक्त के साथ कह दी है ।

तत्र प्रथमा ॥

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

सहस्रऽअर्घः । शतऽकाण्डः । पयस्वान् । अपाम् । अग्निः । वीरुधाम् । राजऽसूयम् ।

सः । नः । अयम् । दर्भः । परि । पातु । विश्वतः । देवः । मणिः । आयुषा । सम् । सृजाति । नः ॥ १ ॥

सहस्रार्घः बहुमूल्यः शतकाण्डः अनेककाण्डोपेतः । ❀ शतम् इति । दश दशतः परिमाणम् अस्येति दशानां शभावः तथ प्रत्ययो निपातितः ❀ । सहस्वान् बलवान् अपाम् उदकानाम् अग्निः अग्निस्थानीयः । "अग्नेरापः" इति श्रुतेः [तै० आ० ८, १] । अपां स्रष्टेत्यर्थः । यद्वा अपां शोषको वा । वीरुधाम् लतादीनां राजसूयम् । राजसूयकर्मवत्प्रशस्त इत्यर्थः । यथा राजसूययागः सर्वेषां राज्ञां स्वामिनः सार्वभौमस्य विषयः । यद्वा इतरेषां यागानां मध्ये श्रेष्ठत्वात् प्रशस्तः तथायं वीरुधां मध्ये प्रशस्तभूत इति राजसूयस्थानीयत्वम् । ❀"राजसूयसूर्य०" इत्यादिना क्यबन्तो राजसूयशब्दो निपातितः ❀ । स तादृशः अयं दर्भः नः अस्मान् विश्वतः परि पातु परितो रक्षतु । स देवः देवसृष्टो मणिः नः अस्मान् आयुषा सं सृजाति संसृजेत् ॥

बहुमूल्य, अनेककाण्डोंसे सम्पन्न, बलवान्, जलोंका अग्नि अर्थात् जलोंका स्रष्टा–वा जलोंका शोषक, लताओंमें राजसूय आदि कर्मोंकी समान प्रशस्त, यह दर्भमणि हमको चारों ओरसे रक्षित रखे । यह देवताओंसे आविष्कृत मणि हमको आयुसे सम्पन्न करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः ।

नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥ २ ॥

घृतात् । उत्ऽलुप्तः । मधुऽमान् । पयस्वान् । भूमिऽदृंहः । अच्युतः । च्यावयिष्णुः ।

नुदन् । सऽपत्नान् । अधरान् । च । कृण्वन् । दर्भ । आ । रोह । महताम् । इन्द्रियेण ॥ २ ॥

घृतात् आज्यात् हुतशिष्टाद् उल्लुप्तः उल्लिप्तः संपातावनयनेन सर्वतोऽक्तः । "आरयबन्ध्यासवनयानभयाणि संपातवन्ति" इति [कौ० १. ७] परिभाषितत्वाद् घृताक्तत्वम् । मधुमान् माधुर्योपेतः पयस्वान् प्रभूतक्षीरो भूमिदृंहः भूम्या स्वमूलैर्दृंहीकर्ता अच्युतः च्युतिर्नाशस्तद्रहितः बहुधा छिन्नस्यापि पुनःप्ररोहदर्शनात् । च्यावयिष्णुः दृढस्यापि शत्र्वादेश्च्यावनशीलः एवंगुणोपेत हे दर्भमणे त्वं सपत्नान् शत्रून् नुदन् सुदूरं प्रेरयन् तानेव अधरान् निकृष्टान् बलहीनांश्च कृण्वन् कुर्वन् महताम् महत्त्वोपेतानाम् अतिशयितवीर्याणाम् अन्येषाम् ओषधीनाम् इन्द्रियेण इन्द्रसृष्टेन सामर्थ्येन सहितः सन् आ रोह भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठ ॥

होमनेसे बचे हुए घृतसे प्लुत अर्थात् सम्पातावनयनके कारण सर्वतः प्लुत ['आरयबन्ध्याप्लवनयानभयाणि सम्पातवन्ति' इस कौशिकसूत्रके अनुसार घृताक्तत्व है] मधुरतासम्पन्न प्रभूत क्षीर वाला, अपनी जड़ोंसे भूमिको दृढ़ करने वाला, च्युति अर्थात् नाशसे रहित, क्योंकि—कटा हुआ भी फिर उगा हुआ दीखता है, और दृढ़ शत्रु आदिको भी च्युत करने वाला है, ऐसे हे दर्भमणे ! तू शत्रुओंको दूर खदेड़ता हुआ और उनको निकृष्ट तथा

बलहीन करता हुआ परम वीर्यवती अन्य ओषधियोंकी इन्द्रकी रची हुई शक्तिसे सम्पन्न होकर भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हो

तृतीया ॥

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पवित्रमृषयोभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ३

त्वम् । भूमिम् । अति । एषि । ओजसा । त्वम् । वेद्याम् । सीदसि । चारुः । अध्वरे ।
त्वाम् । पवित्रम् । ऋषयः । अभरन्त । त्वम् । पुनीहि । दुःऽइतानि । अस्मत् ॥ ३ ॥

हे मणिभूत दर्भ त्वम् ओजसा बलेन भूमिम् अत्येषि अतिगच्छसि । तथा चारुस्त्वम् अध्वरे ध्वरो हिंसा तद्रहितः अध्वरो यागः । न हि यागं कुर्वन् विनश्यति स्वर्गादिफलसाधनत्वात् । तस्मिन् वेद्यां सीदसि निषण्णो भवसि हविरासादनार्थम् । किं च पवित्रम् शोधकं त्वाम् । "पवित्रं वै दर्भाः । पुनात्येवैनम्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ३. ७. १] । ऋषयः अतीन्द्रियद्रष्टारः स्वपावनार्थम् अभरन्त आहृतवन्तः । यस्माद् एवं तस्मात् त्वं दुरितानि दुष्कृतानि अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् पुनीहि पावय व्यावय॥

हे मणिरूपको प्राप्त हुए दर्भ ! तू बलसे भूमिमें जाता है, तू रमणीय है और हिंसारहित अध्वर (याग) की वेदीमें हविका आसादन करनेके लिये बैठता है [यागको करता हुआ नष्ट नहीं होता है, क्योंकि-वह स्वर्ग आदि फलोंका साधन है अत एव यागको अध्वर कहा है] और तू शोधक है, [तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ३ । ७ । १ की श्रुतिमें भी कहा है, कि-"पवित्रं वै दर्भाः ।

पुनात्येवैनम्”] अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि अपनेको पवित्र करनेके लिये इसको धारण करते रहे हैं, ऐसी बात है इस कारण तू पापोंको हमसे पवित्र कर अर्थात् च्युत कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत् तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥

तीक्ष्णः । राजा । विऽससहिः । रक्षःऽहा । विश्वऽचर्षणिः ।
ओजः । देवानाम् । बलम् । उग्रम् । एतत् । तम् । ते । बध्नामि ।
जरसे । स्वस्तये ॥ ४ ॥

तीक्ष्णः अतिनिशितशक्तिः । यस्मै प्रयोजनाय प्रयुज्यते तस्य आशुकारीत्यर्थः । राजा सर्वासाम् ओषधीनां सर्वेषां मणीनां वा राजवच्छ्रेष्ठः विषासहिः विशेषेण सोढा शत्रुमर्षकः रक्षोहा राक्षसानां हन्ता विश्वचर्षणिः विश्वद्रष्टा तथा देवानाम् इन्द्रादीनाम् ओजः ओजःस्थानीयः । तेषाम् असुरसंग्रामे जयप्रदत्वात् । उग्रम् परैरसह्यं बलम् बलस्वरूपम् एतत् रक्षासाधनं दर्भाख्यं वस्तु । अथ वा एतत् इदानीम् । अत्र बलसाधने मणौ बलत्वव्यवहारः । तं तादृशं मणिं ते हे रक्षाकाम पुरुष तव बध्नामि । किमर्थम् । जरसे जरापरिहारार्थं स्वस्तये क्षेमाय च बध्नामि ॥

परम तीक्ष्ण शक्ति वाला अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये प्रयोग किया जाय उसको शीघ्रतासे करने वाला, अन्य औषधि वा मणियोंमें राजाकी समान श्रेष्ठ शत्रुओंको विशेषरूपसे दबाने वाला राक्षसोंका संहारक, सबका द्रष्टा, इन्द्र आदि देवताओंका

बलरूप क्योंकि असुरसंग्राममें उनको विजय प्रदान करता है, और यह दर्भ नामक वस्तु शत्रुओंके लिये असह्य वज्ररूप और भयोक्ताकी रक्षा करनेवाला है। हे रक्षाकाम पुरुष! ऐसी मणि को जरापरिहार और क्षेमके लिये बाँधता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः ।
अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः

दर्भेण । त्वम् । कृणवत् । वीर्याणि । दर्भम् । बिभ्रत् आत्मना । मा । व्यथिष्ठाः ।
अतिऽस्थाय । वर्चसा । अध । अन्यान् । सूर्यःऽइव । आ । भाहि । प्रऽदिशः । चतस्रः ॥ ५ ॥

हे पुरुष त्वं दर्भेण मणिना साधनेन वीर्याणि वीरस्य कर्माणि वीर्याणि शत्रुजयादीनि कृणवत् कुर्याः । अतः दर्भं वीर्यसाधनं बिभ्रत् धारयंस्त्वम् आत्मना निश्चलेन युक्तः सन् । अथ वा आत्मना आत्मनि बिभ्रत् मा व्यथिष्ठाः व्यथां मा कुरु । शत्रवः पराभविष्यन्तीत्येवं मनसि व्यथां मा कार्षीरित्यर्थः । अध अपि च वर्चसा शरीरबलेन अन्यान् अभिष्ठाय सूर्य इव स यथा लोकान् स्वतेजसा आलोकेन प्रकाशयति तद्वत् प्रदिशः प्रकृष्टाः प्रागादि-चतस्रो दिशः आ भाहि प्रकाशय ॥

चतुर्थेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥
चतुर्थोऽनुवाकः समाप्तः ॥

हे पुरुष ! तू दर्भमणिरूप साधनसे वीरके कर्म शत्रुजय आदि कार्योंको कर, इस दर्भमणिको धारण करता हुआ तू अपने मन में यह व्यथा न मान कि—शत्रु मुझको पराजित कर डालेंगे। और अपने शारीरिक बलसे दूसरों पर अधिष्ठित होकर, सूर्य जैसे अपने प्रकाशसे लोकोंको प्रकाशित करता है तिस प्रकार पूर्व आदि चारों दिशाओंको प्रकाशित कर ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५७७)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ।

पञ्चमेनुवाके द्वादश सूक्तानि । तत्र "जङ्गिडोसि" इति प्रथम-द्वितीयाभ्यां सूक्ताभ्यां "वायव्यां वातवात्यायाम्" इति [न० क० १७.] विहितायां वायव्याख्यायां महाशान्तौ जङ्गिडवृक्षनिर्मितं मणिं बध्नीयात् । तथा नक्षत्रकल्पे सूत्रितम् । "वाताज्जातः [४. १०] इति शङ्खं वारुण्याम् । जङ्गिडोसि जङ्गिडो रक्षितासि [१६. ३४] इति जङ्गिडं वायव्यायाम्" इति [न०क०१६.]॥

पञ्चम अनुवाकमें बारह सूक्त हैं। इनमेंसे "जङ्गिडोसीति" आदि प्रथम द्वितीय सूक्तोंसे "वायव्यां वातवात्यायाम्" इस नक्षत्र कल्प १७ से विहित वायव्या महाशान्तिमें जङ्गिड वृक्षकी बनी हुई मणिको बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि "वाताज्जातः (४ । १०) इति शङ्खं वारुण्याम्। जङ्गिडोसि जंगिडो रक्षितासि (१६ । ३४) इति जंगिडं वायव्यायाम्"

तत्र प्रथमा ॥

जङ्गिडो॑ऽसि जङ्गिडो रक्षि॑तासि जङ्गि॒डः ।
द्वि॒पाच्च॒तु॑ष्पाद॒स्माकं॒ सर्वं॑ रक्षतु जङ्गि॒डः ॥ १ ॥

जङ्गिडः । असि । जङ्गिडः । रक्षिता । असि । जङ्गिडः ।
द्विऽपात् । चतुःऽपात् । अस्माकम् । सर्वम् । रक्षतु । जङ्गिडः १

जङ्गिडो नाम कश्चिद् ओषधिविशेषः। स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः। हे जङ्गिड मणे जङ्गिडोसि यतो जातानां कृत्यानां कृत्याकृतां च निगरणकर्तासि अतो जङ्गिड इत्युच्यते। तस्मात् जङ्गिडस्त्वं रक्षितासि सर्वेभ्यो भयेभ्यः पालयिता भवसि। ❀ पिच्छादित्वाद् इलच्। यद्वा जङ्गम्यते शत्रून् बाधितुम् इति जङ्गिडः। गमेर्यङ्लुगन्ताद् रूपसिद्धिः। अथ वा जनेर्जयतेर्वा डमत्यये ज इति भवति। जं गिरतीति जङ्गिरः। कपिलकादित्वाद् लत्वम्। पूर्वपदस्यस्य सुपो लुगभावश्छान्दसः। खच् प्रत्ययो वा द्रष्टव्यः ❀॥ अथ परोक्षम् अभिधीयते। अस्माकं यद् द्विपात् पत् पादद्वयोपेतं मनुष्यादिलक्षणम् अस्ति तथा चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतं गोमहिषादिलक्षणम् अस्ति। ❀ उभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति लोपः समासान्तः ❀। तत् सर्वं जङ्गिडः जङ्गिडाख्यो मणी रक्षतु पालयतु॥

जंगिड नामक एक औषधि होती है, वह उत्तरदेशमें प्रसिद्ध है, ऐसी हे जंगिड मणे! तू प्रकट हुई कृत्याओंकी और कृत्याओंके किये हुए कर्मोंकी भी निगलने वाली है, अत एव जंगिड कहलाती है। इस कारण हे जंगिड! तू सब भयोंसे पालन करने वाला है। हमारा जो दो पैर वाला मनुष्य आदिक समूह है और चार पैर वाला जो गौ भैंस आदिक समूह है, उस सबकी जंगिड मणि रक्षा करे॥ १॥

द्वितीया॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान् विनक्तु तेजसोरसां जङ्गिडस्करत्॥ २॥

याः। गृत्स्यः। त्रिऽपञ्चाशीः। शतम्। कृत्याऽकृतः। च। ये।

सर्वान् । विनक्तु । तेजसः । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥ २ ॥

या कृत्यः गर्धनशीला याश्चिपञ्चाशीः त्र्यधिकपञ्चाशत्सं- ख्याकाः कृत्याः सन्ति । ❁ पूरणार्थे डट् । डित्वात् टिलोपः । "टिड्ढाणञ्" इति ङीप् ❁ । तथा ये शतम् शतसंख्याकाः कृत्या- कृतः । कृत्या नाममृद्दार्वादिना निर्मितपुत्तल्यादि । तासां कृत्यानां कर्तारः सन्ति तान् सर्वान् जङ्गिडः जङ्गिडाख्यौषधिनिर्मितो मणिः विनष्टतेजसः हतवीर्यान् स्वव्यापारे कुण्ठितशक्तीन् । तदेवोच्यते अरसान् इति । अरसान् रसरहितान् अजीवमायान् करत् कुर्यात् । ❁ करोतेर्लेटि अडागमः ❁ ॥

जो तरेपन ग्राहिका कृत्याएँ हैं, और जो मट्टी दारु आदिकी पुतलियोंके सौ निर्माता हैं उन सबको जंगिड नामक औषधिसे निर्मित मणि हतवीर्य अर्थात् अपने २ व्यापारमें कुण्ठित शक्ति वाले और रसरहित करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।

अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

अरसम् । कृत्रिमम् । नादम् । अरसाः । सप्त । विऽस्रसः ।

अप । इतः । जङ्गिड । अमतिम् । इषुम् । अस्ताऽइव । शातय ३

कृत्रिमम् क्रियया निर्वृत्तम् । ❁ "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप् प्रत्ययः ❁ । अभिचरता उत्पादितं नादम् ध्वनिं शिरःकर्णाद्य- ङ्गेषु स्थितम् अयं जङ्गिडो मणिः अरसम् गतसारम् । करत् इति अनुवर्तते । करोतु । एवं सप्त विस्रसः सप्तसंख्याका विस्रंसनाः । ❁ स्रंसेः क्विप् ❁ । मूर्धनिष्ठेषु नासारन्ध्रद्वयचक्षुर्गोलकद्वयश्रो-

त्रच्छिद्रद्वयमुखकुहररूपेषु सप्तसु छिद्रेषु अभिचरता उत्पादिताः सप्त निष्यन्दा अपि अरसाः सन्तु । जङ्गिडमणिमाहात्म्याद् इति शेषः ॥ अथ मत्यसेणाह । हे जङ्गिड त्वम् अमतिम् दारिद्र्यं दुर्बुद्धिं वा इतः अस्माद् मणिधारकसकाशाद् अपसार्य इषुम् अस्तेव । अस्ता इषुक्षेप्ता । ❀ असु क्षेपणे । "रथादिभ्यश्च" इति इड्विकल्पः ❀ । शत्रून् मयोक्ता यथा शातयति तनूकरोति एवं शातय तनूकुरु । ❀ "शदेरगतौ तः" इति णिचि शदेस्तकारादेशः ❀ ॥

अभिचारके द्वारा उत्पादित शिर कर्ण आदि अंगोंमें स्थित कृत्रिम ध्वनिको यह जंगिड मणि निःसार करे और जंगिड मणि के माहात्म्यसे नासारंध्रद्वय, चक्षुओंके दो गोलक, कानोंके दो छिद्र और मुखच्छिद्र ये सातों छिद्र भी अरस होवें । हे जंगिड! तू दरिद्रताको और दुर्बुद्धिको इस मणिधारक पुरुषके पाससे हटा कर, जैसे बाण फेंकने वाला शत्रुओंको काटता है तैसे दुर्मति और दारिद्र्यका नाश कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।

अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

कृत्याऽदूषणः । एव । अयम् । अथो इति । अरातिऽदूषणः ।

अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ४

अयं जङ्गिडो मणिः कृत्यादूषणः कृत्यायाः परोत्पादितायाः दूषणः निराकर्तैव । ❀ दुष वैकृत्ये । अस्मात् णिचि कर्तरि करणे वा ल्युट् । "दोषो णौ" इति ऊकारादेशः ❀ । अवधारणार्थ एवशब्दः । अथो अपि च अरातिदूषणः शत्रुच्यावनसाधनः अथो

अपि च अयं जङ्गिडः सहस्वान् उक्तव्यापारोचितबलोपेतः । स तादृशो मणिः कृत्यादूषणादिकं कृत्वा न आयूंषि प्र तारिषत् । ※ प्रपूर्वस्तरतिर्वर्धनार्थः ※ । वर्धयतु ॥

यह जंगिडमणि दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याओंको दूर करने वाली है, और शत्रुओंको च्युत करनेका साधन है और यह जंगिडमणि पूर्वोक्तव्यापारके योग्य बलसे सम्पन्न है । ऐसी यह मणि कृत्यादूषण आदिको करके हमारी आयुको बढ़ावे ४

पञ्चमी ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

सः । जङ्गिडस्य । महिमा । परि । नः । पातु । विश्वतः ।
विऽस्कन्धम् । येन । ससह । सम्ऽस्कन्धम् । ओजः । ओजसा ५

स तादृशः उत्तरार्धेऽभिधीयमानलक्षणो जङ्गिडस्य महिमा तन्महत्त्वं नः अस्मान् विश्वतः सर्वस्माद् भयजातात् परि पातु परितो रक्षतु । कोसौ महिमेति तमाह । यो महिमा विष्कन्धम् विश्लिष्टस्कन्धम् एवंनामानं वातविशेषं महारोगम् ओजसा सह तस्य यद् विष्कन्धीकरणसामर्थ्यम् अस्ति तेन सह अपुनरुद्भवं नाशयति । यश्च महिमा संस्कन्धम् । येन रोगेण स्कन्धः संततः संलग्नो भवति स रोगः संस्कन्धः । तं महारोगं वातलक्षणम् ओजः महिमा ओजसा सह रोगस्य सामर्थ्येन सह नाशयति । स महिमेति पूर्वत्र संबन्धः ॥

इस मणिका आगे कहा जाने वाला महत्त्व चारों ओरके भयों से हमारी रक्षा करे । इस मणिकी महिमा विश्लिष्टस्कंध नामवाले वातमहारोगको उसकी शक्तिके साथ अपुनरुद्भव रूपमें नष्ट कर

डालती है और इसकी महिमा जिस रोगसे स्कंध सन्नत होजाता है उस सस्कंध रोगको उसकी शक्तिके साथ नष्ट कर डालती है जिससे वह फिर प्रादुर्भूत नहीं होता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्रिष्ट्वा देवा अंजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥

त्रिः । त्वा । देवाः । अजनयन् । निऽस्थितम् । भूम्याम् । अधि ।
तम् । ऊं इति । त्वा । अङ्गिराः । इति । ब्राह्मणाः । पूर्व्याः ।
विदुः ॥ ६ ॥

इदानीं भूम्याम् अधि । ॐ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ॐ । भूम्यां तिष्ठन्तं त्वा त्वां देवाः इन्द्राद्याः त्रिः त्रिवारम् अजनयन् उदपादयन् । त्रिषु लोकेषु अवस्थानायेति भावः । अथ वा एकद्विवारप्रयत्नेन अनुत्पद्यमानं त्वां त्रिवारम् अजनयन् । अनेन अत्यन्तप्रयोजकत्वेन अवश्यम् उत्पादनीयत्वम् उक्तं भवति । त तादृशं प्रयत्नेन उत्पादितं त्वा त्वाम् अङ्गिरा इति । ब्रह्मणोऽङ्गसंभूतो रसः अङ्गिर आख्यो महर्षिः । यद्वा अङ्गिरा अङ्गाराः । "येङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसोभवन्" इति ब्राह्मणम् [ऐ० ब्रा० ३. ३४] । एवंनामा महर्षिरिति पूर्व्याः पूर्वे भवा ब्राह्मणा महर्षयो विदुः जानते ॥

भूमि पर स्थित हुए तुझको इन्द्र आदि देवताओंने तीन वार के प्रयत्नसे प्रकट किया है । इस बातको ब्रह्माके अंगरससे प्रकट हुए अंगिरा नामक महर्षि और प्राचीन कालके ब्राह्मण महर्षि जानते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।

विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

न । त्वा । पूर्वाः । ओषधयः । न । त्वा । तरन्ति । याः । नवाः ।

विऽबाधः । उग्रः । जङ्गिडः । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः ॥ ७ ॥

हे जङ्गिड त्वा त्वां पूर्वाः पूर्वं सृष्ट्यादावुत्पन्ना ओषधयो न तरन्ति नातिक्रामन्ति । सर्वेष्वपि प्रयोगेषु अतिशयितवीर्यत्वाद् इति भावः । एवं या ओषधयो नवाः नूतनाः सन्ति ता अपि त्वा त्वां न तरन्ति अतिशयितुं न प्रभवन्ति । कुत एतद् इति तत्राह । हे जङ्गिड यतस्त्वं विबाधः बाधयतीति बाधः विशेषेण शत्रुरोगादेर्बाधकः उग्रः उद्गूर्णबलः परिपाणः परितः पाता सुमङ्गलः सुष्ठु मङ्गलकारी । अनेन शत्र्वादिजयभयरक्षणलक्ष्मीकरत्वलक्षणगुणा अस्योक्ता भवन्ति ॥

हे जंगिड ! सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुई औषधियें तेरे प्रभाव को नहीं पहुँचतीं, क्योंकि-तू सब प्रयोगोंमें परम वीर्यशाली है । और जो नवीन औषधियें हैं वे भी वीर्यमें तुझसे नहीं बढ़ सकतीं, क्योंकि-हे जंगिड ! तू शत्रुभूत रोग आदिका विशेषरूपसे बाधक है, प्रचण्ड बली है, चारों ओरसे रक्षा करने वाला है और सुन्दर मंगल करने वाला है । [इस प्रकार इसके शत्रु आदिका विजय भयरक्षण और लक्ष्मीकरणत्व आदि गुणोंको सूचित किया है]

अष्टमी ॥

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य ।

पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥

अथ । उपऽदान । भगऽवः । जङ्गिड । अमितऽवीर्य ।

पुरा । ते । उग्राः । ग्रसते । उप । इन्द्रः । वीर्यम् । ददौ ॥ ८ ॥

अथशब्दः अभिमुखीकरणार्थः । हे उपदान उपादीयते स्वीक्रियते कृत्यानिर्हरणादिव्यापारेष्विति उपदानः । तस्य संबोधनम् । हे उपदान हे भगवः भगवन् अतिशयितमाहात्म्य हे अमितवीर्य अपरिच्छिन्नसामर्थ्य हे जङ्गिड ते त्वाम् उग्राः उद्गूर्णबलाः प्राणिनः पुरा ग्रसते भक्षयिष्यन्तीति निश्चित्य इन्द्रः यथा त्वाम् उग्रा न भक्षयन्ति तथा वीर्यम् परैरनभिभाव्यं सामर्थ्यम् उप ददौ प्रादात् । तस्माद् इन्द्रेण दत्तवीर्यत्वाद् अतिशयितवीर्यस्त्वमसीति स्तुतिः ॥

हे कृत्यानिर्हरण आदि व्यापारोंमें स्वीकृत किये जाने वाले उपदान ! हे अतिशयित माहात्म्य वाले भगवन् ! हे अपरिमित सामर्थ्य जङ्गिड ! इन्द्रने यह जानकर, कि-प्रचण्ड बली प्राणी तुझको खाजा सकते हैं पहिलेसे ही तुझको प्रचण्ड बल देदिया है [इस प्रकार इन्द्रप्रदत्त वीर्यके कारण तू परमवीर्यवान् है, यह स्तुति है] ॥ ८ ॥

नवमी ॥

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥

उग्रः । इत् । ते । वनस्पते । इन्द्रः । ओज्मानम् । आ । दधौ ।
अमीवाः । सर्वाः । चातयन् । जहि । रक्षांसि । ओषधे ॥ ९ ॥

हे वनस्पते जङ्गिड त्वम् उग्र इत् उग्र एव अतिशयितवीर्य एव नात्र विचारणा । यतः ते त्वयि इन्द्रो देवः ओज्मानम् ओजो बलम् आ दधौ स्थापितवान् । अतस्त्वम् हे ओषधे वनस्पते सर्वा अमीवाः साध्यासाध्यविभागम् अकृत्वा सर्वानपि रोगांश्चातयन्

नाशयन् रक्षांसि । रक्षितव्यम् अस्माद् इति रक्षः । भयोपादान-भूतान् राक्षसान् जहि घातय ॥

हे जङ्गिड ! तू परमवीर्यवान् है, इसमें कुछ विचारकी बात नहीं है, क्योंकि—इन्द्रने तुझमें बलको स्थापित किया है। अतः हे औषधे ! तू साध्य असाध्य विभागोंको छोड़ कर सब रोगोंको नष्ट करता हुआ भयके उपादानभूत राक्षसोंका भी संहार कर ह

दशमी ॥

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥

आऽशरीकम् । विऽशरीकम् । बलासम् । पृष्टिऽआमयम् ।
तक्मानम् । विश्वऽशारदम् । अरसान् । जङ्गिडः । करत् १०

आशरीकम् सर्वतो हिंसकम् एतन्नामानं रोगं तथा विशरीकम् विशेषेण हिंसकम् एतन्नामानं च बलासम् बलस्य असन-कर्तारं बलक्षपकारकम् एतन्नामानं पृष्ट्यामयम् सर्वाङ्गव्यापि-नम् एतन्नामानं च रोगं तक्मानम् कृच्छ्रजीवनकर्तारं यस्मिन् सति कृच्छ्रेण जीवनं भवति तादृशं विश्वशारदम् सर्वस्य सर्वदा वा विशरणकर्तारम् एवम् अन्यानपि रोगान् जङ्गिडो मणिः अरसान् पीडनासमर्थान् करत् करोतु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सर्वतोहिंसक आशरीक नामक रोगको, विशेषरूपसे हिंसक विशरीक नामक रोगको बलका क्षय करने वाले बलास नामक रोगको, सर्वांगव्यापी पृष्ट्य नामक रोगको, जीवनको कष्टमय करने वाले तक्मा नामक रोगको, सबका विशरण करने वाले

विश्वशारद रोगको तथा अन्य रोगोंको भी यह जंगिड मणि अरस करे अर्थात् पीड़ा देनेमें असमर्थ करे ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५७८)

'इन्द्रस्य नाम" इति द्वितीयं सूक्तम् । तस्य जङ्गिडमणिब न्धने पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"इन्द्रस्य नाम" यह दूसरा सूक्त है । इसका जंगिडमणिबन्धन में विनियोग होता है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कहदी है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः ।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । नाम । गृह्णन्तः । ऋषयः । जङ्गिडम् । ददुः ।
देवाः । यम् । चक्रुः । भेषजम् । अग्रे । विष्कन्धऽदूषणम् ॥१॥

पूर्वं ऋषयः अतीन्द्रियद्रष्टारोऽङ्गिराद्या इन्द्रस्य देवस्य नाम गृह्णन्तः उच्चारयन्तो जङ्गिडम् जङ्गिडाख्यं मणिम् अतिशयितवीर्यत्वाय रक्षाकामेभ्यः पुरुषेभ्यो ददुः दत्तवन्तः । तस्माद् इदानींतनैरपि रक्षाबन्धनसमये इन्द्रस्य नाम ब्रुवाणैरेव जङ्गिडमणिर्धार्य इत्यभिप्रायः । किं च अग्रे सृष्ट्यादौ देवाः इन्द्राद्या यं जङ्गिडं जङ्गिडाख्यौषधिं विष्कन्धभेषजम् विष्कन्धाख्यस्य महारोगस्य औषधं चक्रुः कृतवन्तः । अतस्तं विष्कन्धभेषजार्थं प्रयुञ्ज्याद् इत्यर्थः । स नो रक्षत्विति उत्तरत्र संबन्धः ॥

अतीन्द्रियद्रष्टा अंगिरा आदि पूर्वकालके ऋषियोंने इन्द्रदेवका नाम उच्चारण करके जंगिड नामक मणिको परमवीर्यकी कामना वाले ऋषियोंके लिये दिया था । [इस लिये आज कलके मनुष्यों को भी रक्षाबन्धनके समय इन्द्रका नाम लेकर ही जंगिडमणिको

धारण करना चाहिये । यह अभिप्राय है] और सृष्टिकी आदि में इन्द्र आदि देवताओंने जिस जंगिड नामक रोगकी महौषधि को विष्कन्ध नामक रोगकी महौषधि बनाया है [अतः विष्कंध की चिकित्साके लिये इसका प्रयोग करना चाहिये] ऐसी यह औषधि हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव ।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥२ ॥

सः । नः । रक्षतु । जङ्गिडः । धनऽपालः । धनाऽइव ।
देवाः । यम् । चक्रुः । ब्राह्मणाः । परिऽपानम् । अरातिऽहम् ।२।

स उक्तविशेषणविशिष्टो जङ्गिडो मणिः नः अस्मान् रक्षतु । तत्र दृष्टान्तः । धनपालः लोके कस्यचिद् राज्ञो धनाध्यक्षो धनेव धनानि यथा महता प्रयत्नेन रक्षति तद्वत् । यं जङ्गिडं देवा ब्राह्मणाश्च । ब्राह्मणा महर्षयः । यद्वा देवाः श्रुताध्ययनादिना द्योतमाना ब्राह्मणा भृग्वङ्गिरःप्रभृतयः परिपाणम् परितो रक्षकम् अरातिहम् अरातेः शत्रोर्हन्तारं चक्रुः । स नो रक्षत्विति सम्बन्धः ॥

जैसे किसी राजाका धनाध्यक्ष महान् प्रयत्नसे धनकी रक्षा करता है, इस प्रकार जंगिड मणि हमारी रक्षा करे । देवता और ब्राह्मणोंने जिसको सर्वतोरक्षक और शत्रुहन्ता बना दिया है वह जंगिड मणि हमारी रक्षा करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।

तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतिबोधेन नाशय परिपाणोसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥

दुःऽहार्दः । समऽघोरम् । चक्षुः । पापऽकृत्वानम् । आ । अगमम् । तान् । त्वम् । सहस्रचक्षो इति सहस्रऽचक्षो । प्रतिऽबोधेन । नाशय । परिऽपानः । असि । जङ्गिडः ॥ ३ ॥

हे जङ्गिमणे त्वं दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य शत्रोः संघोरम् अत्यन्तक्रूरं चक्षुः । नाशयेति उत्तरत्र सम्बन्धः । एवं पापकृत्वानम् हिंसादिलक्षणस्य पापस्य कर्तारम् । ❀ "राजनि युधिकृञः" इति राजोपपदात् करोतेर्विहितः क्वनिप् पापोपपदादपि अत्र व्यत्ययेन निष्पन्नः ❀ । एवंलक्षणम् आगतम् हन्तुं प्राप्तं च नाशय । तान् उक्तलक्षणान् सर्वान् हे सहस्रचक्षो बहुधा द्रष्टः । ❀ चक्षेरौणादिक उसप्रत्ययः ❀ । अनेन बाधकहननविषयपरिज्ञानम् अस्योक्तं भवति । तादृशस्त्वं प्रतिबोधेन प्रतिकूलया तव बुद्ध्या । यद्वा तत्कृतापराधोद्घाटनेन नाशय ॥ एवंविधप्रार्थनाया विषयभावस्तस्य कुत इति तत्राह । जङ्गिडस्त्वं परिपाणोसि परितो रक्षकोसि यतः अतो नाशयेत्यर्थः ॥

हे जंगिडमणे ! तू दूषित हृदय वाले शत्रुके भयङ्कर नेत्रको, हिंसा आदिक पाप करने वालेको और विनाश करनेके लिये समीप में आए हुएको भी हे सहस्र प्रकारसे देखने वाली मणे ! अपनी ज्ञानशक्तिसे नष्ट कर, क्योंकि–तू सर्वतोरक्षक है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः ।

परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥

परि । मा । दिवः । परि । मा । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् ।
परि । मा । वीरुत्ऽभ्यः ।
परि । मा । भूतात् । परि । मा । उत । भव्यात् । दिशःऽदिशः ।
जङ्गिडः । पातु । अस्मान् ॥ ४ ॥

अयं जङ्गिडो मणिः मा मां दिवः द्युलोकात् । ततः संभूताद् भयाद् इत्यर्थः । एवं पृथिव्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । परि पात्विति उत्तरत्र संबन्धः । तथा पृथिव्याः सकाशात् पृथिव्यां संभूतेभ्यो बाधकेभ्यः पातु । एवम् अन्तरिक्षात् तत्रत्याद् रक्षःप्रभृतेः पातु । वीरुद्भ्यः विविधं रोहन्तीति वीरुधः । तेभ्यः पातु । उपलक्षणम् एतत् । तरुगुल्मादिभ्य इत्यर्थः । तेष्वपि विषादिदोषसंभवात् तद्रक्षाप्रार्थना युक्ता । एवं भूतात् अतीतात् कालात् । भूतसंबन्धिनः प्राणिजाताद् इत्यर्थः । एवं भव्यात् भविष्यतोपि परि पातु । एवं दिशोदिशः प्रागादेः । वीप्सया सर्वा अपि दिशः परिगृह्यन्ते । सर्वाभ्यो दिग्भ्यो तत्रत्येभ्यो भयेभ्यः अस्मान् जङ्गिडो मणिः पातु ॥

यह जंगिड मणि द्युलोकसे होसकने वाले भयोंसे मेरी रक्षा करे, पृथिवीके बाधकोंसे मुझे भली प्रकार बचावे, अन्तरिक्षके बाधक राक्षस आदिकसे मेरी रक्षा करे, तरु गुल्म आदिके विषसे मेरी रक्षा करे, भूतकालके प्राणियोंसे प्राप्त होसकने वाले भयोंसे और दिशा प्रदिशासे होसकने वाले भयोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

य ऋष्णवों देवकृता य उतो ववृतेन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥

ये । ऋष्णवः । देवऽकृताः । यः । उतो इति । ववृते । अन्यः ।
सर्वान् । तान् । विश्वऽभेषजः । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥५॥

देवकृताः देवैर्निष्पादिता ये ऋष्णवः गन्तारो हिंसकाः पुरुषाः सन्ति । उतो अपि च ये अन्ये मनुष्यादिभिरेरिता बाधका ववृते वव्रतिरे तान् सर्वान् विश्वभेषजः विश्वानि भेषजानि यस्य तथोक्तः। विश्वेष्वपि भेषजेषु यत् साध्यं तद् अनेन भवतीति विश्वभेषजः। सर्वरोगादिपरिहारकत्वस्यास्य वर्णितत्वात् । तादृशो जङ्गिडः अरसान् गतसामर्थ्यान् करत् करोतु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो देवताओंसे निर्मित गमनशील हिंसक पुरुष हैं, और जो मनुष्योंसे प्रेरित बाधक हैं उन सबको यह सबका चिकित्सक जंगिड मणि नीरस करे ॥ ५ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५७९)

"शतवारो अनीनशत्" इति तृतीयं सूक्तम् । तेन "संततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७.] विहितायां संतत्याख्यायां महाशान्तौ शतवारं मणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संतत्याम्" इति [न० क० १९.] ॥

"शतवारो अनीनशत्" यह तीसरा सूक्त है। इससे "सन्ततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत ।–सन्ततिशान्तिको कुलक्षयके समय करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित सन्तति नामक महाशान्तिमें शतवार

मणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"शतवारो अनीनशद् इति शतवारं सन्तत्याम्" (नक्षत्रकल्प १६)॥

तत्र प्रथमा॥

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः॥ १॥

शतऽवारः। अनीनशत्। यक्ष्मान्। रक्षांसि। तेजसा।
आऽरोहन्। वर्चसा। सह। मणिः। दुर्नामऽचातनः॥ १॥

शतवारः शतं वारा मूलानि शूका वा यस्य स शतवारः। यद्वा शतसंख्याकान् रोगान् निवारयतीति शतवारः "शतवारेण वारये" इति उत्तरत्र शतसंख्याकरोगवारणश्रवणाद् ओषधिविशेषः। तदात्मको मणिः यक्ष्मान् रोगान् तेजसा स्वमहिम्ना अनीनशत् भृशं नाशयतु। ❀ नशेश्छान्दसे लुङि चङि रूपम् ❀। तथा तेजसा रक्षांस्यपि अनीनशत्। कदेत्युच्यते आरोहन्निति। दुर्णामचातनः दुर्णामा त्वग्दोषः त्वग्दोषाणां चातयिता नाशयिता मणिः वर्चसा दीप्त्या सह सहितः सन् आरोहन् पुरुषस्य भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठन्। अनीनशद् इति संबन्धः॥

सैंकड़ों रोगोंको निवारण करने वाली औषधिसे बनी हुई शतवार नामक मणि रोगोंको अपनी महिमासे नष्ट कर देय। तथा तेजसे राक्षसोंको भी भस्म कर देय। दुर्णाम नामक त्वग्दोषों की नाशक मणि अपनी कान्तिसहित पुरुषके भुजा आदि प्रदेश पर अधिष्ठित होती हुई ऐसा करे॥ १॥

द्वितीया॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।

मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्मातिं तत्रति ॥ २ ॥

शृङ्गाभ्याम् । रक्षः । नुदते । मूलेन । यातुऽधान्यः ।

मध्येन । यक्ष्मम् । बाधते । न । एनम् । पाप्मा । अति । तत्रति २

अयं शतवारः शृङ्गाभ्याम् शृङ्गवत् अवस्थिताभ्याम् अग्रभागाभ्यां रक्षः राक्षसजातिं राक्षसान् अन्तरिक्षस्थान् नुदते अपसारयति । मूलेन अध प्रदेशेन यातुधान्यः यातुधानीर्नुदते । मध्येन काण्डेन यक्ष्मम् सकलं रोगं बाधते । एनं सर्वस्य बाधकं शतवारमणिं पाप्मा पापी पापं वा न अति तत्रति नातिक्रामति । यद्वा एनं प्रकृतम् उक्तविधमणिशिष्टं पाप्मा पापं बाधकं नाति तत्रति । ॐ तॄ प्लवनतरणयोः । श्लुः शश्चेति विकरणद्वयम् ॐ ॥

यह शतवार सींगोंकी समान अवस्थित अपने अग्रभागोंसे अन्तरिक्षमें स्थित राक्षसोंको भगाता है, अधःप्रदेश मूलसे यातुधानियोंको भगाता है, मध्यभाग काण्डसे सकल रोगोंको नष्ट कर डालता है । इस सर्वबाधक शतवार मणिको पापी अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः ।
सर्वां दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

ये । यक्ष्मासः । अर्भकाः । महान्तः । ये । च । शब्दिनः ।

सर्वान् । दुर्नामऽहा । मणिः । शतऽवारः । अनीनशत् ॥ ३ ॥

ये प्रसिद्धा अर्भकाः अप्ररूढा उत्पन्नमात्रा यक्ष्मासः यक्ष्मा रोगाः सन्ति ये च महान्तः अभिवृद्धा यक्ष्माः ये च शब्दिनः

शब्दवन्तः एते दुश्चिकित्सा इति शब्द्यमानाः शब्दवन्तो वा तान् सर्वान् उक्तलक्षणान् रोगान् दुर्णामहा दुर्णामाख्यस्य रोगस्य हन्ता शतवारो मणिः अनीनशत् भृशं नाशयतु ॥

जो असरूढ़ उत्पन्नमात्र यक्ष्मा रोग हैं, जो बढ़े हुए रोग हैं और जो दुश्चिकित्स्य शब्दसे शब्दित रोग हैं, उन सबको यह दुर्नाम नामक रोगकी संहारक मणि पूर्णरूपसे नष्ट कर डाले ३ चतुर्थी ॥

शतं वीरानंजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

शतम् । वीरान् । अजनयत् । शतम् । यक्ष्मान् । अप । अवपत् ।
दुःऽनाम्नः । सर्वान् । हत्वा । अव । रक्षांसि । धूनुते ॥ ४ ॥

अयं धार्यमाणो मणिः शतम् शतसंख्याकान् वीरान् विविधम् ईरयन्ति अपनुदन्तीति वीराः पुत्राः । तान् अजनयत् जनयतु उत्पादयतु प्रयच्छतु । "शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संस्थाम्" इति सूत्राद् वीरजनकत्वम् । तथायं शतम् शतसंख्याकान् यक्ष्मान् व्याधीन् अपावपत् । ❀ अपपूर्वो वपिर्नाशार्थः ❀ । अपवपतु नाशयतु । सर्वान् त्वग्दोषभेदा ये ये सन्ति श्विभदद्रुपामादिकास्तान् सर्वान् दुर्णाम्नो हत्वा नाशयित्वा रक्षांसि अव धूनुते अव निकृष्टम् अपुनरुद्भवं नाशयति ॥

यह धारण की हुई मणि, अनेक प्रकारसे प्रेरणा करनेवाले सैंकड़ों पुत्रोंको प्रकट करे । और यह सैंकड़ों व्याधियोंको दूर करे । यह जो दाद कोढ़ खुजली आदि दुर्नाम सम्पूर्ण त्वग्दोष हैं उन सबको दूर कर राक्षसोंको फिर उत्पन्न न होसकें इस प्रकार नष्ट कर डालती है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

हिरण्यऽशृङ्गः । ऋषभः । शातऽवारः । अयम् । मणिः ।
दुःऽनाम्नः । सर्वान् । तृड्ढ्वा । अव । रक्षांसि । अक्रमीत् ॥ ५ ॥

हिरण्यशृङ्गः यस्याग्रं हिरण्यवद् अवभासते स हिरण्यशृङ्गः। शतवारस्याग्रम् एवं भवति। ऋषभः ओषधीनां श्रेष्ठः शातवारः एतन्नामा अयं मणिविशेषः सर्वान् दुर्नाम्नः त्वग्रोगभेदान् सर्वान् तृड्ढ्वा हिंसित्वा रक्षांसि राक्षसान् अवाक्रमीत् न्यकार्षीत् आक्रमतु

सुवर्णकी समान दमकते हुए अग्रभाग वाली, सब औषधियों में श्रेष्ठ शतवार नामक औषधिकी बनी हुई यह शातवारमणि सकल त्वग्रोगभेद दुर्नामोंको नष्ट करके राक्षसोंको धकेल देवे ५

षष्ठी ॥

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥

शतम् । अहम् । दुःऽनाम्नीनाम् । गन्धर्वऽअप्सरसाम् । शतम् ।
शतम् । शश्वन्ऽवतीनाम् । शतऽवारेण । वारये ॥ ६ ॥

अहं दुर्नाम्नीनाम् दुर्नाम्नीरोगभेदानां श्वित्रदद्रूपामादीनां व्याधीनां शतम् । व्याध्यपेक्षया दुर्नाम्नीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । ❀ "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" इति ङीप् ❀ । शतवारेण वारय इति संबन्धः । एवं गन्धर्वाप्सरसाम् गन्धर्वा अप्सरसश्च अन्तरिक्षसंचारिणो देवयोनयो मनुष्यान् बन्यर्थं गृह्णन्ति ।

अप्सरस इति नियतं बहवः स्त्रीलिङ्गाभिधेयाश्च । तेषां शतं वारये निवारयामि । तथा शश्वन्वतीनाम् । मुहुर्मुहुः पीडार्थम् आगन्त्यो ग्रहापस्माराद्या व्याधयः शश्वन्वत्यः । दकारस्य नकारोपजनः । तासां शतं शतवारेण वारये । यतोयं शतवाराद्यः अतः शतस्य वारकत्वं युक्तम् इति भावः ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

मैं कोढ़ दाद खुजली आदि दुर्नाम रोगोंके सैंकड़ों आक्रमणों को इस शतवारसे दूर करता हूं । और जो अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले गंधर्व अप्सरा आदि देवयोनिके प्राणी, बलिके लिये मनुष्योंको ग्रहण कर लेते हैं उन सैंकड़ोंको मैं शतवारसे दूर भगाता हूं । यहवारम्बार पीड़ा देनेके लिये आने वाले ग्रह अपस्मार आदि सैंकड़ों शश्वन्वती व्याधियोंको निवारण करता है६

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५८०)

"इदं वर्चः" इति चतुर्थं सूक्तम् ॥

"इदं वर्चः" यह चतुर्थ सूक्त है ।

तत्र प्रथमा ॥

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।

त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे १

इदम् । वर्चः । अग्निना । दत्तम् । आ । अगन् । भर्गः । यशः । सहः । ओजः । वयः । बलम् ।

त्रयःऽत्रिंशत् । यानि । च । वीर्याणि । तानि । अग्निः । प्र । ददातु । मे ॥ १ ॥

अग्निना देवेन दत्तम् इदं वर्चः दीप्तिः आगन् आगच्छतु। इदम् इदानीम् इति वा व्याख्येयम्। एवं भर्गः भर्जकं तेजः यशः कीर्तिः सहः पराभिभावुकं तेजः ओजः ओजो नामाष्टमो धातुः शुक्ररानमनादिसामर्थ्यम् वयः। नित्ययौवनम् अत्राभिमतम्। बलम् परैरनभिभाव्यं सामर्थ्यम्। आगन्निति प्रत्येकम् अभिसंबध्यते। किं च यानि त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानि प्रतिनियतानि वीर्याणि सन्ति तानि मे मह्यम् अग्निः प्र ददातु प्रयच्छतु॥

अग्निदेवका दिया हुआ यह वर्च मुझको प्राप्त होवे, अग्निदेव की दी हुई कीर्ति तेज ओज नित्ययौवन और बल मुझको प्राप्त होवे। और जो तैंतीस वीर्य हैं अग्निदेव उनको मुझे प्रदान करें १

द्वितीया॥

वर्च आ धेहि मे तन्वां३ सह ओजो वयो बलम्।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय॥ २॥

वर्चः। आ। धेहि। मे। तन्वाम्। सहः। ओजः। वयः। बलम्। इन्द्रियाय। त्वा। कर्मणे। वीर्याय। प्रति। गृह्णामि। शतऽशारदाय २

हे अग्ने मे मम तन्वाम् शरीरे वर्चः त्वदीयं शत्रूणाम् आवर्जकं तेजः आ धेहि विधेहि। सहओजोवयोबलानि व्याख्यातानि। अत्रापि आ धेहीति प्रत्येकम् अभिसंबध्यते। वर्चःप्रभृतानि असाधारणानि। तानि स्वशरीरे स्थापयेति आशास्ते। इन्द्रियाय। ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च इन्द्रियशब्देन विवक्ष्यन्ते। इन्द्रियाणां दार्ढ्याय हे प्रतिगृह्यमाण पदार्थ त्वा त्वां प्रति गृह्णामि स्वीकरोमि। न केवलम् इन्द्रियसामर्थ्याय किंतु कर्मणे अग्निहोत्रादिलक्षणाय कर्मसिद्ध्यर्थम्। तथा वीर्याय वीरस्य कर्म वीर्य

शत्रुनपादि तत्सिद्ध्यर्थम् । एवं शतशारदाय शतसंवत्सरजीवनाय । हिरण्यादिके प्रतिगृहीते सति तेन शरीरपोषणादिद्वारा इन्द्रियाणां दार्ढ्यसंभवाद् एवम् आह ॥

हे अग्निदेव ! आप मेरे शरीरमें अपने शत्रुमर्षक तेजको स्थापित करिये, तथा ओज अवस्था और बलको भी स्थापित करिये । हे ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ ! मैं तुझको इन्द्रियोंकी दृढ़ताके लिये धारण करता हूँ, केवल इन्द्रियोंकी दृढ़ताके ही लिये नहीं, किन्तु अग्निहोत्र आदिरूप कर्मकी सिद्धिके लिये भी धारण करता हूँ । शत्रुजय आदि वीरकर्मकी सिद्धिके लिये भी धारण करता हूँ, इसी प्रकार सौ वर्ष तक जीवित रहनेके लिये भी धारण करता हूँ । [सुवर्ण आदिके ग्रहण करने पर उससे शरीरपोषण आदिके द्वारा इन्द्रियोंकी दृढ़ता होना संभव है अतः यह बात कही है] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।

अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय

ऊर्जे । त्वा । बलाय । त्वा । ओजसे सहसे । त्वा ।

अभिऽभूयाय । त्वा । राष्ट्रऽभृत्याय । परि । ऊहामि । शतऽशारदाय

हे प्रतिग्रहविषयभूत पदार्थ त्वा त्वाम् ऊर्जे । ऊर्ग् इति अन्ननाम । अन्नलाभाय त्वा पर्यूहामि परिवहामि । प्रतिगृह्णामीत्यर्थः । तथा बलाय शरीरसामर्थ्याय त्वा पर्यूहामि । एवम् ओजसे सहसे च त्वा पर्यूहामि । अभिभूयाय अभिभूयः अभिभवनं तस्मै शत्रुजयाय प्रयोजनाय त्वा पर्यूहामि । एवं राष्ट्रभृत्याय राज्यभरणप्रयोजनाय तथा शतशारदाय शतशरत्पर्यन्तजीवनाय पर्यूहामि ॥

हे प्रतिग्रहके विषयभूत पदार्थ ! मैं तुझको अन्नप्राप्तिके लिये धारण करता हूँ–प्रतिग्रहण करता हूँ। तथा शरीरकी शक्तिके लिये धारण करता हूँ, ओजके लिये तुझको धारण करता हूँ, शत्रुको दबानेके प्रयोजनके लिये तुझको धारण करता हूँ, इसी प्रकार राज्यभरणके प्रयोजनके लिये तथा शतसम्वत्सर पर्यन्त जीवनके प्रयोजनके लिये धारण करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ ४ ॥

ऋतुऽभ्यः । त्वा । आर्तवेभ्यः । माद्ऽभ्यः । सम्ऽवत्सरेभ्यः ।
धात्रे । विऽधात्रे । सम्ऽऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥ ४ ॥

हे पदार्थ त्वा त्वाम् ऋतुभ्यः ग्रीष्मादिभ्यः तेषां प्रीणनाय यजे संगतं करोमि ददामि वा । एवम् आर्तवेभ्यः ऋतुसंबन्धिनीभ्यो देवताभ्यः तथा माद्भ्यः मासेभ्यश्चैत्रादिरूपेभ्यो द्वादशसंख्याकेभ्यः तथा संवत्सरेभ्यः संवसन्ति एषु मासादिकालावयवा इति संवत्सराः तेभ्यः एवं धात्रे स्रष्ट्रे एवंनामकाय देवाय तथा विधात्रे विविधस्य भूतजातस्य कर्त्रे एवं समृधे समर्धयति सृष्टानि प्राणिजातानीति समृत् तस्मै यजे । तथा भूतस्य उत्पन्नस्य कृत्स्नस्य पदार्थस्य पतये स्वामिने यजे ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे पदार्थ ! मैं तुझको ग्रीष्म आदि ऋतुओंको प्रसन्न करनेके लिये संगत करता हूँ–वा देता हूँ। ऋतुसंबंधी देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये संगत करता हूँ–वा देता हूँ। चैत्र आदि रूप बारह मासोंको प्रसन्न करनेके लिये देता हूँ वा संगत करता हूँ और

जिनमें मास आदि कालके अवयव होते हैं ऐसे सम्वत्सरोंके लिये तुझको संगत करता हूँ और धाता नामक देवताको प्रसन्न करने के लिये तथा विधाता नामक देवताको प्रसन्न करनेके लिये और समृध् देवताके लिये संगत करता हूँ तथा उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वामीके लिये संगत करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५८२)

"न तं यक्ष्मः" इति पञ्चमं सूक्तम् । तस्य "ऐतु देवः" इति उत्तरसूक्तस्य च पुरोहितकर्तव्ये रात्रौ राज्ञः शय्यागृहप्रवेशनकर्मणि गुग्गुलुधूपं कुष्ठौषधिधूपं च दद्यात् ॥

"अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह"

इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "एह्यश्मानम् आ तिष्ठ [२. १३. ४] इति "पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत् । न तं यक्ष्मा [१६. ३८] ऐतु देवः [१६. ३६] "इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्" इति [प० ४. ४] ॥

"न तं यक्ष्मा:" यह पञ्चम सूक्त है । इससे और "ऐतु देवः" इस अगले सूक्तसे भी पुरोहितके कर्तव्य, रात्रिमें होने वाले राजा के शय्यागृहप्रवेशनकर्ममें गूगलकी धूप और कूट औषधिकी धूप को देवे । "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह ।" का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–"एह्यश्मानं आतिष्ठ (२।१३।४) इति पञ्चमीं अधिष्ठापयेत् । न तं यक्ष्मा (१६ । ३८) ऐतु देवः (१६ । ३६) इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्" (अथर्वपरिशिष्ट४।४,॥

तत्र प्रथमा ॥

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ १ ॥

न । तम् । यक्ष्माः । अरुन्धते । न । एनम् । शपथः । अश्नुते ।

यम् । भेषजस्य । गुल्गुलोः । सुरभिः । गन्धः । अश्नुते ॥१॥

तं राजानं यक्ष्माः व्याधयो नाश्नुवते रोधं न कुर्वन्ति न पीडयन्ति । ॐ रुधिर् आवरणे । रौधादिकः ॐ । तथा एनं राजानं शपथः परकृतोऽभिशापो नाश्नुते न व्याप्नोति न स्पृशति । तम् इत्युक्तं कम् इत्यत आह । यं राजानं भेषजस्य औषधरूपस्य गुग्गुलोः एतन्नामकस्य सुरभिः घ्राणसंतर्पको गन्धो अश्नुते व्याप्नोति । तम् इति पूर्वत्रान्वयः ॥

उस राजाको व्याधियें पीड़ा नहीं देती हैं और उस राजाको दूसरेका दिया हुआ शाप भी नहीं लगता है, कि—जिस राजाको औषधिरूप गूगलका नासिकाको तृप्त करने वाला गंध व्याप्त कर लेता है ॥ १ ॥

विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते ।
यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥२॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

विष्वञ्चः । तस्मात् । यक्ष्माः । मृगाः । अश्वाःऽइव । ईरते ।
यत् । गुल्गुलु । सैन्धवम् । यत् । वा । अपि । असि । समुद्रियम् ।
उभयोः । अग्रभम् । नाम । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ २ ॥

द्वितीया ॥ तस्मात् यं भेषजस्येति उक्ताद् गुग्गुलुगन्धम् आघ्रातवतः सकाशाद् यक्ष्माः व्याधयो विष्वञ्चः विष्वगञ्चना नानादिगभिमुखाः सन्तः ईरते वेगेन धावन्ति । ॐ ईरगतौ । आदादिकः ॐ । ईरणे दृष्टान्तः । मृगा अश्वा इव । अश्वाः आशुगामिनो मृगा इव हरिणादय इव । अथवा मृगा इव अश्वा इव ।

उभयेषामपि आशुगमनसंभवात् । यद्वा प्रथम अर्धर्चः पूर्वमन्त्रेण सह व्याख्येयः यं भेषजस्येत्यनेन एकवाक्यतासंभवात् ॥

तृतीया ॥ गुल्गुलुः औषधं यत् यदि सैन्धवम् सिन्धुदेशजम् । ❀ "तत्र भवः" इति अण् ❀ । यद्वापि समुद्रियम् समुद्रभवम् असि । ❀ "समुद्राभ्राद् घः" इति भवार्थे घः ❀ । हे गुल्गुलो उभयोः उभयविषयोस्तव स्वरूपयोः नाम अग्रभम् गृह्णामि कीर्तयामि । ❀ गृह्णातेर्लुङि च्लेर्लुक् छान्दसः । "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ । किमर्थम् । अस्मै प्रसक्ताय प्रवर्तमानाय अरिष्टतातये अरिष्टकर्मे अमङ्गलकर्मे रोगाय द्वेष्याय वा । तत्परिहारायेत्यर्थः । यद्वा अस्मै व्याधिशान्तिकामाय तदर्थम् । तस्य अरिष्टनाशनायेति व्याख्येयम् । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति तातिल् प्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ अत्र स्वार्थिकस्तातिः ❀ । अरिष्टपरिहारायेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इस गुगलकी गंधको सूँघने वालेके पाससे व्याधियें सब दिशाओंकी ओर मुख करती हुई इस प्रकार भाग जाती हैं, जिस प्रकार शीघ्रतासे चलने वाले घोड़े और हिरन भाग जाते हैं ॥ २ ॥ गुग्गुलु नामक औषधि यदि सिंधु देशमें उत्पन्न हुई है, वा समुद्रसे उत्पन्न हुई है । हे गुग्गुलो ! ऐसी तुम दोनोंके नामको मैं ग्रहण करता हूँ—कीर्तन करता हूँ—इस उपस्थित रोग और द्वेष्यको दूर करनेके लिये आपके नामका कीर्तन करता हूँ ३

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५८२)

"ऐतु देवः" इति षष्ठं सूक्तम् । अस्य रात्रीकल्पे कुष्ठधूपप्रदाने विनियोगः पूर्वसूक्तसमय उक्तः ॥

"ऐतु देवः" यह छठा सूक्त है । इसका रात्रिकल्पमें कुष्ठधूपप्रदानके लिये पूर्वसूक्तके साथ ही विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ १ ॥

आ । एतु । देवः । त्रायमाणः । कुष्ठः । हिमऽवतः । परि ।

तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥१॥

देवः दिवि भवः । द्युलोके उत्पत्तिर्वेच्यते । वीर्यातिशयैर्द्योतमानो वा । कुष्ठः कुष्ठाख्यौषधिविशेषो हिमवतस्परि एतन्नामकात् पर्वतात् सकाशात् त्रायमाणः अस्मान् पालयमानः आ एतु आगच्छतु ॥ एवं परोक्षाभिधानेन आगमनम् आशास्य अभ्यागतम् अभिमुखीकृत्य आह । हे कुष्ठाख्यौषधिविशेष त्वं तक्मानम् क्लेशकारिणं रोगं सर्वम् योयो रोगविशेषस्तं सर्वं नाशय । किंचिद्ध औषधं कस्यचिद्ध रोगस्य नाशकम् अथ वा कतिपयानां नाशकं भवति । इदं तु सर्वरोगनाशकम् इति सर्वम् इत्युच्यते । किं च सर्वाश्च यातुधान्यः यातवो यातना धीयन्ते यासु ता यातुधान्यः ताः सर्वा नाशय । यावन्ति रक्षांसि सन्ति तानि सर्वाण्यपि नाशय ॥

परम वीर्यशाली होनेसे दमकता हुआ कूठ हिमवान् नामक पर्वतसे हमारा पालन करता हुआ आगमन करे । हे कूठ नामक औषधे ! तू जो २ क्लेशप्रद रोग हैं उन सबको नष्ट कर [तात्पर्य यह है, कि–एक औषधि किसी एक रोगकी नाशक होती है और यह तो सब रोगोंकी नाशक है, अतः "सबको नष्ट कर" कहा है] जितनी यातुधानियें तथा जितने राक्षस हैं उन सबको भी नष्ट कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः नद्यायं

पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ २ ॥

त्रीणि । ते । कुष्ठ । नामानि । नद्यऽमारः । नद्यऽरिषः ॥ नद्य ।
अयम् । पुरुषः । रिषत् ।

यस्मै । परिऽब्रवीमि । त्वा । सायम्ऽप्रातः । अथो इति । दिवा २

हे कुष्ठ ते त्रीणि नामानि अत्यन्तरहस्यानि । कानि तानीति तान्याह । नद्यमारः इति एकं नाम । नद्यां भवा नद्याः । नदीशब्देन नदीस्थानि उदकानि लक्ष्यन्ते । उदकदोषोद्भवा रोगा इत्यर्थः । यद्वा नद्या नदनीयाः शब्दनीयाः अत्यन्तदुष्परिहरत्वेन शब्दमाना इत्यर्थः । तान् मारयतीति नद्यमारः । तथा नद्यरिषः । उक्तो नद्यशब्दार्थः । तान् रिष्यतीति नद्यरिषः । इदं द्वितीयं नाम । केवलो नद्य इति तृतीयं नाम । नद्यानां मारकः स्वयमपि नद्य इत्युच्यते । तं संबोध्य ब्रूते । हे नद्य कुष्ठाख्यौषधे तव नामग्रहणाभावे अयं व्याधितः पुरुषो रिषत् हिंसितो भवेत् । अतः व्याधितरक्षक इति समुदितं नामेति मन्तव्यम् । एवं नामत्रयेण अभिधीयमान कुष्ठाख्यौषधे त्वा त्वां यस्मै रोगार्ताय पुरुषाय परिब्रवीमि मन्त्रत्वेन तव नामानि उच्चारयामि । कस्मिन् काल इत्युच्यते । सायंप्रातश्च उभयसंध्ययोः । अथो अपि च दिवा द्योतमाने । मध्याह्ने इत्यर्थः । औषधप्रयोगे उक्तकालत्रयस्य प्राशस्त्यात् । यद्वा दिवा कृत्स्नेप्यहनि उभयोः संध्ययोश्च ॥ उक्तमेवार्थं नामव्यपदेशेन आदरार्थं पुनराह नद्यायं पुरुषो रिषत् इति । यद्वा हे नद्य हे औषध यस्मै द्वेष्याय त्वां परि ब्रवीमि अयं द्वेष्यः पुरुषो रिषत् नश्यतु इति व्याख्येयम् ॥

हे कूट ! तेरे तीन नाम अत्यन्त रहस्य हैं । पहिला नद्यमार

[अर्थात् नदीके जलसे होने वाले दोषोंको मारने वाला, अथवा दुश्चिकित्स्य शब्दसे कहे जाने वाले रोगोंका मारक] दूसरा नद्य-रिष तीसरा नद्य। हे नद्य नामक कूट औषध! तेरा नाम न लेने पर यह व्याधित पुरुष मर जाता। इस प्रकार तीन नामोंसे कही जाने वाली हे कुट औषधे! मैं सायङ्काल और प्रातःकाल तथा दिनके समय जिस रोगार्त पुरुषके लिये मन्त्ररूपसे तेरे नामोंका उच्चारण करता हूँ वह पुरुष तेरा नाम उच्चारण न करनेसे मर जाता। अथवा–हे नद्य औषध! मैं जिस द्वेष्यके लिये तेरा नाम ग्रहण करता हूँ वह पुरुष नष्ट होजावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता।
नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ३ ॥

जीवला। नाम। ते। माता। जीवन्तः। नाम। ते। पिता ॥
नद्य। अयम्। पुरुषः। रिषत्।
यस्मै। परिऽब्रवीमि। त्वा। सायम्ऽप्रातः। अथो इति। दिवा ३

हे कुष्ठाख्यौषधे। ते तव माता जीवला नाम जीवयतीति जीवला। ॐ मत्वर्थीयो लः ॐ। जीवयित्रीत्यर्थः। एतन्नामिका। एवं ते तव पिता जनकोपि जीवन्तः जीवयतीति जीवन्तः। ॐ वसन्त इतिवत् ॐ। एतत्संज्ञकः। यतस्तव पितरौ रोगादिपरिहारेण जीवप्रदौ अतस्त्वमपि तादृग्माहिमोपेत इति भावः॥ नद्यायं पुरुष इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे कुष्ट नामक औषधे! तेरी माता जीवला (जीवित रखने वाली) नाम वाली है। और तेरा पिता जीवन्त नाम वाला है क्योंकि-तेरे माता पिता रोग आदिका परिहार करके जीवन प्रदान करने वाले हैं अतः तू भी वैसी ही महिमा वाला है। हे नद्य! मैं जिस रोगोके लिये सायं प्रातः और दिनके समय मन्त्र-रूपसे तेरे नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ, वह पुरुष तेरा नाम न लेनेसे मर जाता ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ४ ॥

उत्ऽतमः। असि। ओषधीनाम्। अनड्वान्। जगताम्ऽइव। व्याघ्रः। श्वपदाम्ऽइव॥ नद्य। अयम्। पुरुषः। रिषत्।
यस्मै। परिऽब्रवीमि। त्वा। सायम्ऽप्रातः। अथो इति। दिवा

हे कुष्ठ त्वम् ओषधीनाम् इतरासां व्याधिनिर्हन्त्रीणां मध्ये उत्तमः उत्कृष्टतमोसि। जन्मादिना उत्तमत्वम् उत्तरत्र वर्ण्यते। तत्र दृष्टान्तः। अनड्वान् अनोवहनसमर्थः अनड्वान्। स यथा जगताम् गच्छतां प्राणिनां मध्ये उत्तमः। सर्वप्राण्युपभोगसाधनत्वात्। स यथा अत्यन्तं लोकस्य उपकारकः एवं त्वमपीत्यर्थः। एवं शरीरपीडनेनापि उपकारकत्वेन उत्तमत्वम् अनडुद्दृष्टान्तेन अभिधाय अतिक्रूरवीर्यवत्त्वेनापि उत्तमत्वं व्याघ्रदृष्टान्तेन उपपादयति व्याघ्रः श्वपदामिवेति। व्यादाय हन्तीति व्याघ्रः श्वापदविशेषः। स च श्वपदाम् इतरेषां वृकादीनां मध्ये यथा क्रौर्येण उत्तमः एवं

त्वमपि वीर्येण उत्तम इत्यर्थः। नद्यायम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

हे कुष्ठ! तू व्याधिको दूर करने वाली अन्य औषधियोंमें इस प्रकार उत्तम है। जैसे चलने वाले प्राणियोंमें बोझेको ढोने वाला बैल उत्तम होता है (क्योंकि—वह सब प्राणियोंके उपभोगका साधन होनेसे जैसे संसारका परमोपकारक है, इसी प्रकार तू भी परमोपकारक है, इस प्रकार शरीरपीड़नसे भी बैलके दृष्टान्तसे उपकारकत्वको दिखा कर अतिक्रूर वीर्य वाला होनेको भी व्याघ्रके दृष्टान्तसे दिखाते हैं) और जैसे श्वपदोंमें व्याघ्र उत्तम होता है। हे नद्य! यदि मैं मन्त्ररूपमें तेरे नामका उच्चारण नहीं करता तो जिसके लिये सायं प्रातः और दिनके समय तेरे नामका उच्चारण कर रहा हूँ वह पुरुष नहीं बचता ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि ।
त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः । साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

त्रिः । शाम्बुऽभ्यः । अङ्गिरेभ्यः । त्रिः । आदित्येभ्यः । परि ।
त्रिः । जातः । विश्वऽदेवेभ्यः ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः ॥ साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ५ ॥

यः कुष्ठाख्यौषधिः अङ्गिरेभ्यः अङ्गिरसाम् अपत्यभूतेभ्यः शाम्बुभ्यः एतन्नामकेभ्यो महर्षिभ्यः त्रिर्जातः उत्पन्नः त्रयाणां

लोकानाम् उपकाराय त्रिरुत्पादितः। अथवा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य-जातित्रयात्मना त्रिर्जातः। अङ्गिरसां भूमिस्थानत्वात् तेभ्यः सकाशात् पृथिव्यां त्रिर्जात इत्युच्यते। तथा आदित्येभ्यस्परि परीति पञ्चम्यर्थानुवादी। दिवि आदित्येभ्यस्त्रिर्जातः। त्रिर्जननप्रयोजनं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। एवं विश्वदेवेभ्यः मध्यस्थानेभ्यो देवगणेभ्यस्त्रिर्जातः। स तादृशः कुष्ठाख्यौषधिविशेषो विश्वभेषजः विश्वेषां सर्वेषां रोगाणां भैषज्यरूपः सर्वरोगशमनवीर्योपेतत्वात्। स पुरा कुत्र तिष्ठतीत्यत्राह साकं सोमेन तिष्ठतीति। सोमेन सह अवस्थानाभिधानं तत्समानवीर्यत्वद्योतनार्थम्॥ अथ प्रत्यक्षीकृत्य उच्यते तक्मानम् इति। सर्वम् नानाभेदभिन्नं तक्मानम् रोगं नाशय तथा सर्वाश्च यातुधान्यः यातुधानीर्नाशय॥

जो कूट नामक औषधि अंगिरागोत्री शम्भु नामक महर्षियों के द्वारा तीनों लोकोंके उपकारके लिये, तीनवार लोकोपकारके लिये आविष्कृत की गई है स्वर्गमें आदित्योंसे तीन बार आविष्कृत हुई है। मध्यस्थानी विश्वेदेवाओंसे तीन बार आविष्कृत हुई है। ऐसी कुष्ठ (कूट) नामक औषधि सब रोगोंकी औषध रूप है, क्योंकि—इसमें सब रोगोंको शमन करनेकी शक्ति है। यह पहिले सोमके साथ रहती थी (अर्थात् उसके समान वीर्यशाली है) हे कूट ! तू जीवनको कष्टमय करने वाले सब रोगों का संहार कर और सब यातुधानियोंका संहार कर ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि ।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं॒ ततः॒ कुष्ठो॑ अजायत ।
स कुष्ठो॑ वि॒श्वभे॑षजः सा॒कं सोमे॑न तिष्ठति ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वांश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

अश्वत्थः । देवऽसदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ।

तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।

सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।

तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ६ ॥

इतः अस्माद् भूलोकात् तृतीयस्यां दिवि तृतीये द्युलोके देवसदनः । देवाः सीदन्ति निवसन्ति अत्रेति देवसदनः । देवानाम् आवासस्थानभूतः अश्वत्थः यतोऽग्निरश्वात्मना तत्रावस्थितः अतोऽश्वत्थ इति नाम संपन्नम् अस्येत्यश्वत्थस्तिष्ठति । तत्र अश्वत्थे अमृतस्य अमरणधर्मकस्य सोमस्य चक्षणम् प्रकाशनं स्फुटीभावो विद्यते । अथ वा अश्वत्थशब्देन आदित्य उच्यते अमृतावस्थानभवणात् । "असौ वा आदित्यो देवमधु" इति श्रुतेः [छा० उ० ३. ६. २]। ततोऽश्वत्थात् कुष्ठाख्यौषधिरजायत उत्पन्नोऽभूत् ॥ स कुष्ठ इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

इस भूलोकसे तीसरे द्युलोकमें देवताओंका निवास है । वह अश्वत्थ है अर्थात् जहाँ अग्नि अश्वरूपमें स्थित है जहाँ अश्वत्थमें अमरणधर्मा सोमका प्रकाश (स्फुटत्व) है [अथवा अमृतावस्थानभवणके कारण अश्वत्थ शब्दसे आदित्यका ग्रहण किया जासकता है । छान्दोग्य उपनिषत् ३ । ६ । २ में भी कहा है, कि–"असौ वा आदित्यो देवमधु" उस अश्वत्थसे कुष्ठ औषधि प्रादुर्भूत हुई है ।] वह कुष्ठ पहिले सोमके साथ रहता था । हे कुष्ठ ! तू जीवनको कष्टमय करने वाले सब रोगोंको और यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ७ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्यऽबन्धना । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ७ ॥

दिवि द्युलोके हिरण्ययी हिरण्यनिर्मिता तथा हिरण्यबन्धना हिरण्मयैः शङ्कुपाशादिभिर्बद्धा नौः अचरत् सर्वदा चरति । अस्तु । ततः कुष्ठाख्यस्यौषधस्य किम् आयातम् इति तत्राह तत्रामृतस्येति । अनेन अस्यापि अमृतत्वसाधनधर्मः सदैव उक्तो भवति ॥

द्युलोकमें हिरण्यनिर्मित और हिरण्यमय खूँटे पाश आदिसे बँधी हुई नौका सदा विचरण करती है । [तो इससे कूटको क्या मिला तो कहते हैं, कि-] जहाँ अमृतका प्रकाश है वहाँ ही कूट हुआ है । वह कुष्ठ सब रोगोंकी औषध है । यह कूठ पहिले सोमके साथ रहता था हे कूट ! तू जीवनको कष्टप्रद सब रोगोंको और यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः ।

तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ८ ॥

यत्र । न । अवऽभ्रंशनम् । यत्र । हिमऽवतः । शिरः ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥८॥

यत्र द्युलोके नावभ्रंशनम् तत्रस्थानां सुकृतिनाम् अधःकृमुख-भ्रंशो नास्ति। यत्र च हिमवतः एतन्नाम्नः पर्वतस्य शिरः। हिमवच्छिरःप्रदेश एव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धिः । तत्रामृतस्येत्यादि पूर्ववत् ॥

जिस द्युलोकमें तहाँ पर स्थित पुण्यात्माओंका औंधे मुख हो कर गिरना (अवभ्रंशन) नहीं है और जहाँ हिमवान् पर्वतका शिर है। तहाँ अमृतका प्रकाश है तहाँसे कूट प्रकट हुआ है। यह कूट सब रोगोंकी औषधि है, क्योंकि-इसमें सब रोगोंको नष्ट करनेकी शक्ति है। यह पहिले सोमके साथ रहता था। हे कूट! तू जीवनको कष्टमय बना देने वाले सब रोगोंका संहार कर और सकल यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः ।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥ ९ ॥

यम् । त्वा । वेद । पूर्वः । इक्ष्वाकुः । यम् । वा । त्वा । कुष्ठ । काम्यः ।

यम् । वा । वसः । यम् । आस्त्यः । तेन । असि । विश्वऽभेषजः

हे कुष्ठाख्यौषधे यस्माद् यं प्रसिद्धं त्वा त्वां पूर्वः पुरातन इक्ष्वाकु राजा वेद सर्वव्याधिहन्तारम् इति ज्ञातवान् । यस्माद् यं वा यं च त्वा त्वाम् हे कुष्ठ काम्यः कामपुत्रो वेद सर्वौषधिरूप इति ज्ञातवान् । यस्माद् यं यमास्यः यमस्य अस्यमिव आस्यं यस्य स तादृशो वसः एतन्नामा देवो वेद । तेन कारणेन त्वं विश्वभेषजोसि विश्वव्याधिनिर्मोचको भवसि सकलभेषजात्मको वासि ॥

हे कूट नामक औषधे ! जिस तुझको पुरातन राजा इक्ष्वाकुने यह सब व्याधियोंको नष्ट करने वाली औषधि है यह जाना था और कामके पुत्रने भी जिस तुझको सर्वव्याधिनिवारक औषध रूपमें जाना था और यमकी समान मुखवाले वस देवताने जिस तुझको सर्वौषधि जाना था । इन कारणोंसे तू सकल व्याधियों को छुड़ाने वाली औषधि है ॥ ९ ॥

दशमी ॥

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः ।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परां सुव ॥ १० ॥

शीर्षऽलोकम् । तृतीयकम् । सदम्ऽदिः । यः । च । हायनः ।

तक्मानम् । विश्वधाऽवीर्य । अधराञ्चम् । परां । सुव ॥ १० ॥

हे कुष्ठ तृतीयकम् भूलोकापेक्षया तृतीयं लोकं द्युसंज्ञकं तव शीर्षं शिर आहुः । द्युलोके प्रथमम् उत्पन्नत्वाद् भूमिष्ठस्यापि

तृतीयलोकपर्यन्तव्याप्तेश्च । यश्च हायनः कालस्तवादस्थानात्तलम्भनः । स कीदृशः सदन्दिः । सदम् इत्यव्ययं सदेत्यस्यार्थे । सदा रोगाणां खण्डयिता ताहृग्महिमोपेतस्त्वं विश्वधावीर्यम् विश्वतो व्याप्तसामर्थ्यं तकमानम् रोगम् अधराञ्चम् अवागञ्चनं यथा भवति तथा परा सुव निकृष्टं प्रेरय । नाशयेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे कुष्ट ! भूलोककी अपेक्षा तीसरा द्युलोक तेरा शिर है । (इसका कारण यह है, कि—य लोकमें पहिले उत्पन्न होनेसे और भूमि पर स्थिर होने पर भी तृतीयलोक पर्यन्त तेरी व्याप्ति है) और जो तेरी उत्पत्तिका काल है वह सदा रोगोंका खंडन करने वाला है । ऐसा तू चारों ओर छाई हुई शक्ति वाले जीवन को कष्टमद करने वाले रोगको भगादे ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५८३)

"यन्मे छिद्रम्" इति सप्तमं सूक्तम् । तस्य पवित्रनाशनिमित्तप्रायश्चित्ते आज्यहोमे विनियोगः । तद् उक्तं परिशिष्टे समुच्चयप्रायश्चित्तप्रकरणे ।

"अथ पवित्रे प्रणश्यति कर्मण्यात् प्रमादतः ।
"अन्यं छित्वानुमन्त्रयेत कर्मशेषम् उपक्रमेत् ।

❀ ❀ ❀ यन्मे छिद्रम् १६. ४०. १ पुनर्मैत्विन्द्रियम् ७. ६६ मा न आपो मेधाम् १६.४०.२ मा नो मेधाम् १६.४०.३ मा नः पीपरिदश्विना १६. ४०. ४ इति संततिभिराज्यं जुहुयाद् व्याहृतिभिश्च गां च कर्त्रे दद्यात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति । प० ३७.४ ॥

तथा उपयामस्य हस्तात् पतने आज्यहोमे अस्य विनियोगः । तद् उक्तम् "अथ यस्योपयामो वा पतेद्धस्ताद् स यन्मे उपयाम इत्यारभेत" इत्युपक्रम्य परिशिष्टे । "यन्मे छिद्रम् १६. ४० यद्स्मृति ७. १११ इति जुहुयात्" इति । प० ३७. १४] ॥

"यन्मे छिद्रम्" यह सप्तम सूक्त है। इसका पवित्रेके नाशके कारण किये जाने वाले घृतहोममें विनियोग होता है। इसी बातको अथर्व-परिशिष्टके समुच्चयप्रायश्चित्तप्रकरणमें कहा है, कि-"अथ पवित्रे प्रणश्यति कर्ममध्यात् प्रमादतः। अन्यं छित्त्वानुमन्त्रयेत कर्मशेष-मुपक्रमेत् ॥-प्रमादवश मध्यमें पवित्रा नष्ट होजाय तो दूसरेको काट कर अनुमन्त्रण करे और शेष कर्मका आरम्भ करे।"'यन्मे छिद्रम् (१९ । ४० । १) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) मा न आपो मेधाम् (१९ । ४० । २) मा नो मेधाम् (१९ । ४० । ३) मा नः पीपरदश्विना (१९ । ४० । ४) इति संततिभिराज्यं जुहुयात् व्याहृतिभिश्च गां च कर्त्रे दद्यात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः"॥ (अथर्वपरिशिष्ट ३७ । ४)॥

तथा उपयामके हाथसे पतन होने पर इसका आज्यहोममें विनियोग होता है। अथर्वपरिशिष्टमें "अथ यस्योपयामो वा पतेद् हस्ताद् स यन्मे उपयाम इत्यादधीत।" का आरम्भ करके कहा है, कि-"यन्मे छिद्रम् (१९ । ४०) यदस्मृति (७ । ११) इति जुहुयात्" (अथर्वपरिशिष्ट ३७ । १४)॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।

विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः १

यत् । मे । छिद्रम् । मनसः । यत् । च । वाचः । सरस्वती । मन्युऽमन्तम् । जगाम ।

विश्वैः । तत् । देवैः । सह । सम्ऽविदानः । सम् । दधातु । बृहस्पतिः ॥ १ ॥

मे मम मनसः यज्ञदानध्यानादिलक्षणस्य मनोव्यापारस्य यच्छिद्रम् यश्छेदोऽस्ति तथा वाचः मन्त्रादिविषयाया यच्छिद्रम् अस्ति। तत् सं दधात्विति उत्तरत्र संबन्धः। या च मम सरस्वती सरणवती वाग् मन्युमन्तम् अस्मद्विषयक्रोधोपेतं द्वेष्यं जगाम अग-च्छद् इति यत्। यद्वा मन्युमन्तम् मन्युः क्रोधो मानसिको धर्मः तद्वन्तम्। मां विहायेति शेषः। अन्यत्र जगाम गतेति। तस्माद् मनसो वाचश्च छिद्रम् अवश्यं संधातव्यम् इत्यर्थः। तत् उक्तल-क्षणं सर्वं छिद्रं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रसमूहस्य वेदस्य पतिः पाल-यिता अभिमानी एतन्नामको देवः विश्वैः इतरैरिन्द्राद्यैर्देवैः सह संविदानः ऐकमत्यं प्राप्तः सन् सं दधातु संधानं करोतु॥ केवलं बृहस्पतिना छिद्रसंधाने क्रियमाणे इतरेषां देवानाम् अनानुकूल्ये सति संधानस्य अघटनात् तैः सहितस्य ऐकमत्यम् आशास्यते॥

यज्ञ ध्यान दान आदिमें जो मेरे मनोव्यापारमें त्रुटि रह गई है और जो मेरी मन्त्रविषया वाणीमें त्रुटि रह गई है। उसको, जो मेरी सरणवती वाग्देवता सरस्वती क्रोध भरे शत्रु पर गिर रही है वह, पूर्ण करें। और बृहस्पतिदेव भी सब देवताओंसे एकमत होकर उसको पूर्ण करें-पुष्ट करें॥ १॥

द्वितीया॥

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन।
सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोहं सुमेधा वर्चस्वी॥२॥

मा। नः। आपः। मेधाम्। मा। ब्रह्म। प्र। मथिष्टन।
सुऽस्यदाः। यूयम्। स्यन्दध्वम्। उपऽहूतः। अहम्। सुऽमेधाः। वर्चस्वी॥ २॥

हे आपो देवताः यूयं नः अस्माकं मेधाम् । अधीतस्य वेदादेर्धारयित्री बुद्धिर्मेधा । तां मा प्र मथिष्ट प्रमथनं भ्रंशं मा कुरुत । तथा नः ब्रह्म । ब्रह्म वेदः । अधीतं वेदं मा प्र मथिष्ट । किं च मम संबन्धि यद्यत् कर्म शुष्यत् शोषं प्राप्नोति तत्तद् अभिलक्ष्य यूयम् आ स्यन्दध्वम् सर्वतः प्रवहत । आर्द्रं कुरुतेत्यर्थः । उपहूतः युष्माभिरनुज्ञातः अनुगृहीतः अहं सुमेधा भूयासम् इति शेषः । मेधां मा प्र मथिष्टेति प्रार्थितत्वात् सुमेधाः । भूयासम् इति आशास्यते । ब्रह्मणो वेदस्य प्रमथनाभावस्यापि प्रार्थनाद् वर्चस्वी ब्राह्मेण वर्चसा युक्तो भूयासम् इति प्रार्थ्यते ॥

हे जलदेवताओ ! तुम पढ़े हुए वेद आदिको धारण करनेकी बुद्धि हमारी मेधाको भ्रष्ट न करो, तथा पढ़ा हुआ वेद भी हमसे भ्रष्ट न होवे । मेरा जो कुछ कर्म शोषको (क्षीणताको) प्राप्त होता है उस सबकी ओर लक्ष्य देकर तुम उसको आर्द्र करो । तुमसे अनुज्ञा पाया हुआ मैं सुन्दर मेधा वाला होऊँ, "मैं बुद्धि से भ्रष्ट न होऊँ" इससे सुमेधा होनेकी प्रार्थना की है और वेद के अमथनभावकी प्रार्थनासे यह प्रार्थना की, कि-मैं ब्राह्मवर्चसे युक्त होऊँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत् तपः ।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः ॥३॥

मा । नः । मेधाम् । मा । नः । दीक्षाम् । मा । नः । हिंसिष्टम् । यत् । तपः ।

शिवाः । नः । शम् । सन्तु । आयुषे । शिवाः । भवन्तु । मातरः ३

अत्र हिंसिष्टम् इति द्विवचनाद् द्यावापृथिव्यौ संबोध्ये । उक्त

रमन्त्रेपि अश्विनोः संबुद्धिः तयोश्च द्यावापृथिव्यात्मकता मता । हे द्यावापृथिव्यौ नो मेधाम् अधीतधारणबुद्धिं मा हिंसिष्टम् मा नाशयतम् । तथा नो दीक्षाम् नवनीताभ्यङ्गमुण्डीकरणवाग्यमन-दण्डमेखलादिधारणसाध्यां च मा हिंसिष्टम् । एवं नः अस्माकं यत् तपः पयोव्रतादिरूपं क्लेशसहनात्मकं तपोऽस्ति तद् मा हिंसिष्टम् । तथा आपो देव्यः शिवाः मङ्गलाः सुखकारिण्यः सत्यः नः अस्माकम् आयुषे आयुरभिवृद्धये शंसन्तु साधीयान् अयम् इति स्तुवन्तु । तथा मातरः मातृवद्धितकारिण्यो जगन्निर्मात्र्यो वा आपः शिवा भवन्तु ॥

हे द्यावापृथिवी ! तुम हमारी पढ़े हुएको धारण करनेकी बुद्धि मेधाको नष्ट न करो, । तथा नवनीताभ्यङ्ग, मुण्डिकरण, वाग्यमन दण्डमेखलादि धारणात्मक-दीक्षाको नष्ट न करो, इसी प्रकार हमारा पयोव्रत आदि जो क्लेश सहना रूप तप है उसको नष्ट न करो । तथा जलदेवता सुखकारिणी होती हुई हमारी आयुर्वृद्धि के लिये "यह अच्छा है" इस प्रकार प्रशंसा करें और माताकी समान जगत्का निर्माण करने वाले जल कल्याणप्रद होवें ॥३॥

चतुर्थी ॥

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः ।
तामस्मे रासतामिषम् ॥ ४ ॥

या । नः । पीपरत् । अश्विना । ज्योतिष्मती । तमः । तिरः ।
ताम् । अस्मे । रासताम् । इषम् ॥ ४ ॥

हे अश्विना अश्विनौ नः अस्मान् तमः सर्वस्यावरकं सर्वव्य-वहारप्रतिबन्धकोऽन्धकारः मा पीपरत् पारं मा गमयतु । किं तु ज्योतिष्मती सकलव्यवहारानुकूलप्रकाशोपेता रात्रिः तमः तिरस्क-

रोतु । ताम् तादृशीम् इषम् सर्वैरिष्यमाणां ताम् उक्तलक्षणां रात्रिम् अस्मै अस्माकं रासाथाम् प्रयच्छतम् । यद्वा इट्शब्देन सर्वैरिष्यमाणम् अन्नम् अभिधीयते । सैव ज्योतिष्मती प्रकाशवती अन्नवतो लोके प्रकाशदर्शनात् । यद्वा तमो नाम दारिद्र्यम् । तिरः सर्वस्य तिरोधायकम् । तदः मा पीपरत् ज्योतिष्मत्येव इट् पीपरत् । तां तादृशीम् इषं रासाथाम् इति व्याख्येयम् । शाखान्तरे तु "मा नः पीपरत्" इति आम्नायते [ऋ० १. ४६. ६] ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे अश्विनीकुमारो ! सब व्यवहारोंमें रुकावटें डालने वाला अन्धकार हमको प्राप्त न हो । तथा सब व्यवहारोंके अनुकूल प्रकाशसे सम्पन्न रात्रि अन्धकारका तिरस्कार करे ऐसी सबकी चाही हुई रात्रिको हमें प्रदान करिये ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५८४)

"भद्रमिच्छन्तः" इत्येतद् अष्टमं सूक्तम् एकर्चम् । तत्पाठस्तु

"भद्रमिच्छन्तः" यह आठवाँ सूक्त ऋचा वाला है । इसका पाठ इस प्रकार है, कि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु १

भद्रम् । इच्छन्तः । ऋषयः । स्वःऽविदः । तपः । दीक्षाम् । उपऽनिसेदुः । अग्रे ।

ततः । राष्ट्रम् । बलम् । ओजः । च । जातम् । तत् । अस्मै । देवाः । उपऽसंनमन्तु ॥ १ ॥

अग्रे सृष्ट्यादौ पूर्वम् ऋषयः अतीन्द्रियार्थद्रष्टारः । ❀ ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव इति निरुक्तम् [नि० २, ११] ❀ । ते भद्रम् कल्याणं क्षेमम् इच्छन्तः स्वर्विदः स्वर्गं लभमानाः तत्साधनत्वेन तपः पयोव्रतादिलक्षणं दीक्षाम् नवनीताभ्यङ्गमुष्टीकरणवाग्यमनदण्डमेखलादिधारणसाध्यां च उपनिषेदुः प्राप्ताः । ततः तत्सामर्थ्याद्धि राष्ट्रम् राज्यं बलम् सामर्थ्यम् ओजश्च जातम् निष्पन्नम् । तत् राष्ट्रादिकं देवा अस्मै पुरुषाय उपसंनमन्तु संयोजयन्तु ॥

इति पञ्चमेनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

सृष्टिकी आरम्भमें पहिले अतीन्द्रियार्थद्रष्टा ऋषियोंने कल्याण कामनासे स्वर्गको प्राप्त किया था और उसके साधनके रूपमें पयोव्रतादिरूप दीक्षाको, नवनीताभ्यङ्ग मुष्टीकरण वाग्यमन दण्डमेखलाधारण आदिसे साध्य दीक्षाको भी किया था । उसी शक्तिसे राज्य शक्ति और ओज निष्पन्न हुआ है । उस राष्ट्र आदिको देवता इस पुरुषमें संयुक्त करें ॥ १ ॥

पञ्चम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५८५)

"ब्रह्म होता" इति नवमं सूक्तम् ॥

"ब्रह्म होता" यह नवम सूक्त है ।

तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोन्तर्हितं हविः ॥ १ ॥

ब्रह्म । होता । ब्रह्म । यज्ञाः । ब्रह्मणा । स्वरवः । मिताः ।
अध्वर्युः । ब्रह्मणः । जातः । ब्रह्मणः । अन्तःऽहितम् । हविः १

ब्रह्म जगदुपादानकारणं सत्त्वम् । तदेव यज्ञाङ्गभूतहौत्रकर्तृत्वो-

पाधिना होता इत्युच्यते। कृत्स्नस्य कार्यकारणप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात् "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" [मु० २. २. ११] "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति [तै० आ० ८. ६] स्वसृष्टसकलपदार्थानुप्रवेशश्रुतेश्च। "त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमार उत वा कुमारी" इति [श्वे० ४. ३] श्रुतेर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदभावाद् ब्रह्मणो होत्रादिरूपत्वम्। तथा यज्ञाः ज्योतिष्टोमादयोपि ब्रह्मैव। "तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च" इति मुण्डकश्रुतेः [मु० २. १. ६] ब्रह्मैव यज्ञा इत्युच्यन्ते। एवं ब्रह्मणैव स्वरगामिना स्वराणां कृष्टादीनां सप्तानाम् उदात्तादीनां च चतुर्णां गामिता यज्ञानुप्रवेष्टृता। उद्गातृत्वादिभाव इत्यर्थः। यद्वा स्वर्गं गन्तृता ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठातृभ्य इति शेषः। अध्वर्युरपि ब्रह्मण एव जातः उत्पन्नः। प्रागुक्तरीत्या ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्तिरवगन्तव्या। तथा हविः यज्ञसाधनभूतं चरुपुरोडाशाज्यसोमादिलक्षणं ब्रह्मणि अन्तर्हितम् इन्द्राद्युद्देशेन दत्तमपि ब्रह्मण्येवावतिष्ठते। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादिस्मृतेः [भ० गी० ४. २४]। "ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः। ब्रह्म यज्ञानां हविषाम् आज्यस्य [तै०ब्रा० ७.३.११.१] मन्त्रवर्णाद् ब्रह्मणि हविषाम् अवस्थानम्॥ अथ वा अत्र ब्रह्मशब्देन "अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं वृणीत" इति [गो० ब्रा० २. २४] श्रुतेः ब्रह्माख्य ऋत्विग् वाभिमतः। तस्य सर्वानुज्ञातृत्वात् होत्रादिरूपत्वेन स्तुतिः॥

[तत्त्व यह है, कि—ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है। वही यज्ञकी अंगभूत हौत्रकर्तृत्व उपाधिसे 'होता' शब्दसे कहा जाता है। क्योंकि—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्—यह सब ब्रह्मस्वरूप है" इस मुण्डकोपनिषत्की श्रुतिसे सारे कार्यकारणप्रपञ्चका ब्रह्मात्मकत्व है। और "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। वह इस जगत्प्रपञ्चको

रच कर उसमें ही प्रवेश कर गया" इस तैत्तिरीयारण्यक ८ । ६ की श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्मका अपने रचे हुए सकल पदार्थोंमें अनुप्रवेश सिद्ध है ॥ तथा "त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमार उत वा कुमारी" इस श्वेताश्वतरोपनिषत्की ४ । ३ की श्रुतिके अनुसार ब्रह्मसे भिन्न किसी पदार्थके न होनेसे ब्रह्मका होता आदि रूपत्व है, अत एव] ब्रह्म ही होता है और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म ही है [क्योंकि–मुण्डकोपनिषत् २ । १ । ६ की श्रुति "तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च" के अनुसार ब्रह्म ही यज्ञ है कहा है] इसी प्रकार. ब्रह्मके द्वारा ही क्रुष्ट आदि सातों स्वरोंकी और उदात्त आदि चारोंकी यज्ञानुप्रवेष्टता अर्थात् उद्गातृत्व आदि है । अध्वर्यु भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ब्रह्मसे ही प्रकट हुआ है । और यज्ञकी साधनभूत चरु पुरोडाश आज्य सोम आदिक हवि ब्रह्ममें ही अन्तर्हित है [अर्थात् इन्द्र आदिके उद्देश्यसे दी हुई हवि ब्रह्ममें ही अवस्थित होती है । इस विषयमें भगवद्गीता ४ । २४ प्रमाण है, कि-"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः०" तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ११ । १ की श्रुति "ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः । ब्रह्म यज्ञानां हविषां आज्यस्य" से भी ब्रह्ममें हवियोंकी स्थिति सिद्ध है ॥ अथवा–"अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं वृणीत" इस गोपथब्राह्मण २ । २४ की श्रुति के अनुसार ब्रह्मा नामक ऋत्विज् ग्रहण किया जा सकता है । उसकी सर्वानुज्ञातृत्वसे होता आदिके रूपमें स्तुति है] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

ब्रह्म । स्रुचः । घृतऽवतीः । ब्रह्मणा । वेदिः । उद्धिता ।

ब्रह्म । यज्ञस्य । तत्त्वम् । च । ऋत्विजः । ये । हविःऽकृतः ॥

शमिताय । स्वाहा ॥ २ ॥

स्रुचः होमसाधनभूता जुहूपभृदाद्योपि ब्रह्म । ताश्च घृतवतीः घृतवत्यो होमार्थेन घृतेन पूर्णाः । ब्रह्मणैव वेदिः हविरासादनसाधना ब्रह्मणैव उद्धृता उद्धननखननिर्माणैः संपादिता । यज्ञस्य ज्योतिष्टोमाद्यात्मकस्य यागस्य तत्त्वम् पारमार्थिकं रूपं च ब्रह्मैव । अत्र तत्त्वं चेति विशेषितत्वाद् अत्रोक्तानां होत्रादीनां परमार्थिकं रूपं ब्रह्मैव तत्रैव परिकल्पितत्वात् कृत्स्नप्रपञ्चस्य । यथा मृदुपादानभूताः शरावाद्यो मृदेव एवं ब्रह्मोपादानभूतास्तत्त्वतो ब्रह्मैवेत्यभिप्रायः । ये च हविष्कृतः हविष्कर्तार ऋत्विजः उक्तव्यतिरिक्ताः प्रतिप्रस्थात्राद्याः तेपि ब्रह्मैव ॥

संमिताय उक्तप्रकारेण होत्राद्यात्मना संमिताय । अभेदम् आपन्नाय ब्रह्मण इत्यर्थः । तस्मै स्वाहा स्वाहुतम् अस्तु । अथ वा अयम् उक्तब्रह्महोतेत्यादिमन्त्रद्वयशेषो द्रष्टव्यः ॥

होमके घृतसे पूर्ण होमकी साधन जुहू उपभृत् आदि स्रुच् भी ब्रह्म ही हैं । और हविकी स्थितिकी स्थल वेदि भी उद्धनन खनन निर्माणके द्वारा ब्रह्मकी ही बनाई हुई है । ज्योतिष्टोम आदि रूप यज्ञका पारमार्थिक रूप भी ब्रह्म ही है । और सकल प्रपञ्चके ब्रह्ममें ही कल्पित होनेसे यहाँ पर कहे हुए होता आदिका पारमार्थिक रूप ब्रह्म ही है । तात्पर्य यह है, कि—जैसे मृदुपादानभूत सकोरे आदि मट्टी ही हैं, इसी प्रकार ब्रह्मोपादानभूत भी परमार्थतः ब्रह्म ही हैं । इनके अतिरिक्त जो प्रतिप्रस्था'ता आदि हविष्कर्ता ऋत्विज हैं वे भी ब्रह्म ही हैं ।

इस प्रकार होता आदि रूपसे अभेदको प्राप्त हुए उसके लिये यह आहुति स्वाहुत हो—स्वाहा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः ।
इममिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य
कामाः ॥ ३ ॥

अंहःऽमुचे । प्र । भरे । मनीषाम् । आ । सुऽत्राव्णे । सुऽमतिम् ।
आऽवृणानः ।

इमम् । इन्द्र । प्रति । हव्यम् । गृभाय । सत्याः । सन्तु । यज-
मानस्य । कामाः ॥ ३ ॥

अहम् अंहोमुचे अंहसां पापानां मोचयित्रे सुत्राव्णे सुतरां त्रात्रे इन्द्राय । प्र भर इति संबन्धः । सुमतिम् शोभनां स्तुतिं मतिं शोभनमतिं वा इन्द्रस्य गृणानः उच्चारयन् कुर्वन् अहं मनीषाम् मनस ईशित्रीं स्तुतिं प्र भरे संपादयामि । हे इन्द्र त्वम् इमम् इदम् इदानीं हव्या हव्यानि प्रति गृभाय स्वीकुरु । यजमानस्य कामाः आयुरादिविषया सत्याः अवितथाः सन्तु भवन्तु ॥

मैं पापोंसे मुक्त करने वाले, परमरक्षक इन्द्रके लिए (स्तुति का) सम्पादन करता हूँ । मैं इन्द्रके शोभन स्तोत्रका उच्चारण करता हुआ मैं बुद्धि भरी स्तुतिका उच्चारण करता हूँ हे इन्द्र ! आप इस हविको स्वीकृत करिये । यजमानकी आयु आदिकी अभिलाषाएँ सत्य हों ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्

अपां नपा॑तम॒श्विना॑ हु॒वे धिय॑ इन्द्रि॒येण॑ त इन्द्रि॒यं द॒त्तमोज॑: ॥ ४ ॥

अं॒हः॒ऽमुच॑म् । वृ॒ष॒भम् । य॒ज्ञिया॑नाम् । वि॒ऽराज॑न्तम् । प्र॒थ॒मम् । अ॒ध्व॒राणा॑म् ।

अ॒पाम् । नपा॑तम् । अ॒श्विना॑ । हु॒वे । धिय॑: । इ॒न्द्रि॒येण॑ । ते॒ । इ॒न्द्रि॒यम् । द॒त्तम् । ओज॑: ॥ ४ ॥

यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानां मध्ये वृषभम् श्रेष्ठम् । सर्वेषां देवानां स्वामित्वाद् यज्ञेषु इन्द्रेण विना सोमादिहविःसंबन्धाभावाच्च यज्ञियेषु वृषभत्वम् । "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे" [तै० सं० ४. ७. ६. १] इत्यादिषु सर्वत्र इन्द्रस्य प्रतिदेवतम् अनुप्रवेशाद् "यत् सर्वेषाम् अर्धम् इन्द्रः प्रति तस्माद् इन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः" इति श्रुतेः [तै० सं० ४. ४. ८. ३] "माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते" [ऋ० ४. ३५. ७] इति मन्त्रवर्णाच्च इन्द्रस्य यज्ञियेषु सर्वत्रानुगतेर्वृषभत्वम् । अत एव अध्वराणाम् यज्ञानां मध्ये विराजन्तम् विशेषेण दीप्यमानं प्रथमम् मुख्यम् । अथ वा अध्वराणां प्रथमम् आदिभूतम् । तेषाम् इन्द्रार्थत्वात् । एवं महानुभावम् इन्द्रं हुवे इति संबन्धः । अपि च अपां नपातम् उदकानां न पातयितारं स्रष्टारम् । अग्नौ हुतया आहुत्या वृष्ट्युत्पत्तेः "अग्नेरापः" इति श्रुतेश्च [तै०आ० ८.१]। अथ वा अपां नप्तारम् अग्निम् अद्भ्य ओषधयः [ओषधीभ्योऽग्निर्जायत इति प्रसिद्धम् । अग्निं तथा अश्विना अश्विनौ हुवे आह्वयामि । तावश्विनौ इन्द्रियेण इन्द्रसामर्थ्येन ते तव] धियम् प्रकृष्टां बुद्धिम्

इन्द्रियम् दर्शनश्रवणादिसामर्थ्यम् ओजः बलं च धत्ताम् धारयतां प्रयच्छताम् ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

यज्ञ भाग पाने वाले देवताओंमें वृषभ अर्थात् श्रेष्ठ सब देवताओंके स्वामी होनेसे इन्द्रके विना यज्ञोंमें सोम आदि हविके सम्बन्धका अभाव होता है अत एव यज्ञिय देवताओंमें इन्द्रको वृषभ कहा है "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे। तैत्तिरीयसंहिता ४। ७। ६। १। इत्यादिमें सर्वत्र इन्द्रका प्रतिदेवतामें अनुप्रवेश होनेसे इन्द्रका वृषभत्व सिद्ध है। "यत् सर्वेषां अर्धं इन्द्रः प्रति तस्माद् इन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः।— क्योंकि-सबका अर्धभाग इन्द्रका होता है अतः देवताओंमें इन्द्र अधिक भाग पाने वाले हैं। तैत्तिरीयसंहिता ५। ४। ८। ३॥ और "मध्यंदिनं सवनं केवलं ते" ऋग्वेदसंहिता ४। ३५। ७ इत्यादि मन्त्रोंके वर्णसे इन्द्रकी यज्ञियोंमें सर्वत्र अनुगति होनेसे वृषभत्व है।] अत एव यज्ञोंमें विशेषरूपसे दिपते हुए, यज्ञोंकी आदिभूत इन्द्रका मैं आह्वान करता हूँ। और (अग्निमें दी हुई आहुतिसे वृष्टिकी उत्पत्ति होती है श्रुतिमें भी कहा है,कि-"अग्नेरापः-अग्निसे जल प्रकट होते हैं" तैत्तिरीय आरण्यक ८। १॥ अत एव जलोंका पतन न होने देने वाले अर्थात् जलोंके स्रष्टा) अग्निका वा जलोंसे औषधियें प्रकट होती हैं और औषधियोंसे अग्नि प्रकट होते हैं इस प्रसिद्धिके अनुसार जलोंके पोते अग्निका) तथा दोनों अश्विनीकुमारोंका मैं आह्वान करता हूँ। वे दोनों अश्विनीकुमार इन्द्रकी शक्तिसे तुझको दर्शन-श्रवणशक्तिरूप इन्द्रियोंको और बलको भी प्रदान करें॥ ४॥

पञ्चम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५८९)

"षष ब्रह्मविदः" इति दशमं सूक्तम् ॥

"यत्र ब्रह्मविदः" यह दशम सूक्त है।

तत्र प्रथमा ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे। अग्नये स्वाहा

यत्र। ब्रह्मऽविदः। यान्ति। दीक्षया। तपसा। सह।
अग्निः। मा। तत्र। नयतु। अग्निः। मेधाः। दधातु। मे॥
अग्नये। स्वाहा॥ १॥

यत्र यस्मिन् स्थाने सुकृतफलभोगाश्रये ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मस्वरूपं जानन्तः। अथ वा ब्रह्म परिवृढं कर्म तद्विदः तद्विषयज्ञानवन्तो महान्तो दीक्षया दण्डकृष्णाजिनमेखलादिधारणात्मिकया। "दण्डेन दीक्षयति"। "मेखलया दीक्षयति" [तै० सं० ६. १. ३. ५] "कृष्णाजिनेन दीक्षयति" [तै० सं० ६. १. ३. २] इत्यादिश्रुतेः। तपसा सह पयोव्रतादिनियमजन्येन सह यान्ति गच्छन्ति। उपलक्षणम् एतत्। दीक्षातपआदिधर्मोपेतेन अग्निष्टोमादिकर्मणेत्यर्थः। तत्र तत् स्थानम् अग्निर्देवः मा नयतु प्रापयतु गमयतु। तदर्थम् अग्निर्देव एव मे मह्यं मेधाः तद्विषयप्रज्ञा दधातु प्रयच्छतु॥ अग्नये स्वाहा य एवं स्वर्गं गमयति यश्च मेधाम् प्रयच्छति तस्मा अग्नये स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु॥

पुण्यफलभोगके आश्रयरूप जिस स्थानमें सगुण ब्रह्मके स्वरूप को जानने वाले (अथवा) दृढ़ कर्मके ज्ञान वाले पुरुष ("दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ३५॥ कृष्णाजिनेन दीक्षयति, तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ३। २ इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार) दीक्षाके द्वारा और पयोव्रत आदि नियमों से जन्य और अग्निष्टोमसे जन्य तपके द्वारा जाते हैं, उस स्थानमें

अग्निदेव मुझको लेजावें । इस लिये अग्निदेव मुझको वैसी बुद्धि प्रदान करें । जो इस प्रकार स्वर्गको प्राप्त कराते हैं और बुद्धि प्रदान करते हैं, उन अग्निके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥१॥

द्वितीया ॥

यत्र॑ ब्रह्मविदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
वा॒युर्मा॑ तत्र॑ नयतु वा॒युः प्रा॒णान् दधा॑तु मे । वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

यत्र॑ । ब्र॒ह्मऽवि॑दः । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ।
वा॒युः । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒तु॒ । वा॒युः । प्रा॒णान् । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥
वा॒यवे॑ । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

पूर्वार्धर्चः पूर्ववद् व्याख्येयः । तृतीयपादे अग्निरित्यस्य स्थाने वायुरिति विशेषः । तादृशो वायुः मे मम प्राणान् दधातु मयि स्थापयतु । अत्र प्राणान् इति बहुवचनेन प्राणापानादयः पञ्च प्राणा उक्ताः । वायोः प्राणानां च बाह्याभ्यन्तरभेदमात्रेण भेदात् "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति श्रुतेः वायोः प्राणस्थापनप्रार्थना युक्ता ॥ वायवे स्वाहेति स्पष्टम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष, वा कर्मका ज्ञान रखने वाले पुरुष दीक्षा और पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानमें प्राप्त होते हैं, वायुदेव उस स्थानमें मुझको लेजावें । ऐसे वायुदेव मेरे प्राण अपान आदि पाँचों प्राणोंको मुझमें स्थापित करें [वायु और प्राणोंकी बाह्य और आभ्यन्तरिक भेद मात्रसे विभिन्नता है और "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् |—वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश कर गया, इस श्रुति

के अनुसार भी वायुसे प्राणस्थापनकी प्रार्थना की है] ऐसे स्वर्ग-प्रापक और प्राणस्थापक वायुके लिये यह आहुति स्वाहुत होर

तृतीया ॥

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।
सूर्यों मा तत्रं नयतु चक्षुः सूर्यों दधातु मे । सूर्याय स्वाहां ॥ ३ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।
सूर्यः । मा । तत्र । नयतु । चक्षुः । सूर्यः । दधातु । मे ॥ सूर्याय । स्वाहा ॥ ३ ॥

"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० आ० २, ४. २] इति श्रुतेः सूर्यस्य चक्षुरानुकूल्यं युक्तम् ॥ गतम् अन्यत् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष, वा कर्मका ज्ञान रखने वाले पुरुष दीक्षा और पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानको पाते हैं, सूर्यदेव उस स्थानको मुझे प्राप्त करावें और सूर्यदेव मुझको चक्षुः प्रदान करें । ऐसे स्वर्गप्रापक और चक्षुः-प्रद सूर्यदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ["आदित्यश्चक्षुर्भू-त्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।—आदित्यने चक्षु बन कर नेत्रोंमें प्रवेश किया,' इस श्रुतिके अनुसार आदित्यका चक्षुरानुकूल्य ठीक ही है]

चतुर्थी ॥

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।
चन्द्रो मा तत्रं नयतु मनंश्चन्द्रो दंधातु मे । चन्द्राय स्वाहां ॥ ४ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

चन्द्रः । मा । तत्र । नयतु । मनः । चन्द्रः । दधातु । मे ॥ चन्द्राय ।

स्वाहा ॥ ४ ॥

चन्द्रः प्रसिद्धः । तस्य मनआह्लादकत्वाद् मनस आनुकूल्यं युक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले महात्मा वा कर्मकाण्डका ज्ञान रखनेवाले पुरुष दीक्षा पयोव्रत और अग्निष्टोम आदिसे जिस स्थानको प्राप्त करते हैं, चन्द्रदेव उस स्थानमें मुझको लेजावें और चन्द्रमा मुझको मन प्रदान करें अर्थात् मेरे मनको प्रसन्न रक्खें। ऐसे स्वर्गके प्रापक मनःप्रद चन्द्रदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ४

पञ्चमी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय

स्वाहा ॥ ५ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

सोमः । मा । तत्र । नयतु । पयः । सोमः । दधातु । मे ॥ सोमाय ।

स्वाहा ॥ ५ ॥

सोमोऽत्र अभिषूयमाणो वल्लीरूपः परिगृह्यते तस्य च "सोमो वा ओषधीनां राजा" इति [तै० ब्रा० ३. ६. १७. १] श्रुतेः ओषधीनां सोमस्य च रसात्मकत्वात् पयःस्थापकत्वं युक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जाननेवाले पुरुष और कर्मकाण्डका ज्ञान रखनेवाले पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस

स्थानको प्राप्त करते हैं। सोम मुझको उस स्थानको प्राप्त करावें और मुझे पयः-प्रदान करें। यह आहुति ऐसे सोमके लिये स्वाहुत हो [यहाँ निचोड़े जानेवाले लतारूप सोमका ग्रहण किया है। "सोमो वा ओषधीनां राजा" इस तैत्तिरीयब्राह्मण ३।६।१७।१ की श्रुतिसे उसका और औषधियोंका पयःस्थापकत्व युक्त ही है] ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
इन्द्रो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ बल॒मिन्द्रो॑ दधातु मे ॥ इन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

यत्र॑ । ब्रह्म॒ऽविदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ।
इन्द्रः॑ । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒तु॒ । बल॑म् । इन्द्रः॑ । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ इन्द्रा॑य ।
स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

इन्द्रस्य बलरूपत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके ज्ञाता पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपके द्वारा जिस स्थानको प्राप्त करते हैं इन्द्रदेव मुझको वहाँ लेजावें। और मुझको बल प्रदान करें यह आहुति ऐसे स्वर्गप्रापक और बलप्रद इन्द्रदेवके लिये स्वाहुत हो [इन्द्रका बलप्रद होना श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध ही है] ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
आपो॑ मा॒ तत्र॑ नयत्व॒मृतं॒ मोप॑ तिष्ठतु । अ॒द्भ्यः स्वाहा॑

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

आपः । मा । तत्र । नयतु । अमृतम् । मा । उप । तिष्ठतु ।

अप्ऽभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

"अमृतं वा आपः" इति [तै० आ० १. २६. ७] अतः गतप्राणस्यापि उदकसंबन्धेन आप्यायनसंभवाद् अपाम् अमृतप्रदानप्रार्थना युज्यते । मा माम् अमृतम् उप तिष्ठतु प्राप्नोतु ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके ज्ञाता पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानको प्राप्त करते हैं जलके अभिमानी देवता मुझको वहाँ ले जावें। अमृत मुझे प्राप्त होवे ऐसे प्रभाव वाले जलोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ["अमृतं वा आपः।–अमृत जल हैं" इस तैत्तिरीय आरण्यक १।२६।७ की श्रुतिके अनुसार गतप्राणकी भी जलसे तृप्ति हो सकती है अत एव जलोंसे अमृत प्रदान करनेकी प्रार्थना ठीक ही प्रतीत होती है] ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यत्रं ब्रह्मविदो यान्तिं दीक्षया तपंसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्रं नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहां ॥ ८ ॥

यत्रं । ब्रह्मऽविदः । यान्तिं । दीक्षया । तपंसा । सह ।

ब्रह्मा । मा । तत्रं । नयतु । ब्रह्मा । ब्रह्मं । दधातु । मे ॥ ब्रह्मणे ।

स्वाहा ॥ ८ ॥

ब्रह्मा जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भः ब्रह्म स्वस्वरूपभूतं श्रुताध्ययनजन्यं तेजो वा दधातु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके विद्वान् पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदिसे जिस स्थानको पाते हैं, जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उस स्थानमें मुझे लेजावें और मुझमें स्वरूपज्ञान वा वेदाध्ययनसे प्रकट होने वाले तेजको स्थापित करें। ऐसे ब्रह्मके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

पञ्चम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५८७)

"आयुषोसि" इति एकादशं सूक्तम्। अनेन सूक्तेन उत्तरेण च "नैर्ऋतीं निर्ऋतिगृहीतस्य" इति [न० क० १७.] विहितायां नैर्ऋत्याख्यायां महाशान्तौ आञ्जनमणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "हरिणस्येति [३. ७] विषाणाग्रं कौमार्याम्। आयुषोसि प्रतरणम् [१९. ४४] इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्" इति [न० क० १९] ॥

"आयुषोऽसि" यह ग्यारहवां सूक्त है। इस सूक्तसे तथा अगले सूक्तसे भी "नैर्ऋतीं निर्ऋतिगृहीतस्य।—निर्ऋतिगृहीतकी नैर्ऋती शान्तिको करे इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित नैर्ऋती नामक महाशान्तिमें अञ्जनमणिको अभिमंत्रित करके बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"हरिणस्येति (३। ७) विषाणाग्रं कौमार्याम्। आयुषोसि प्रतरणम् (१९ ४४) इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्" (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आयुषोसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।

तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम् ॥ १ ॥

आयुषः । असि । प्रऽतरणम् । विप्रम् । भेषजम् । उच्यसे ।

तत् । आऽअञ्जन । त्वम् । शम्ऽताते । शम् । आपः । अभयम् ।

कृतम् ॥ १ ॥

हे आञ्जन त्वम् आयुषः प्रतरणम् शतसंवत्सरपर्यन्तनयनप्र-वर्धकं विप्रम् प्रीणयितृ विप्रवच्छुद्धं वा भेषजम् औषधम् उच्यसे सर्वैर्निदानज्ञैः । तत् तस्मात् कारणात् हे आञ्जन हे शन्ताते शंरूप । ❀ स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः ❀ । हे उदकलक्षण आञ्जन त्वम् आपश्च अब्देवता च शम् सुखम् अभयम् भयराहित्यं च कृतम् कुरुतम् ॥

हे आञ्जन ! तू सौ वर्ष तककी आयुको बढ़ाने वाला है, ब्राह्मणकी समान शुद्ध है, ऐसा निदानको जानने वाले पुरुष कहते हैं । इस कारण हे आञ्जन ! तू कल्याणरूप है । हे उदक-लक्षण आञ्जन ! तू और जलदेवता भी सुख और अभय प्रदान करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः ।

सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥ २ ॥

यः । हरिमा । जायान्यः । अङ्गऽभेदः । विऽसल्पकः ।

सर्वम् । ते । यक्ष्मम् । अङ्गेभ्यः । बहिः । निः । हन्तु । आऽअञ्जनम्

यो हरिमा शरीरे हरिद्वर्णकारकः पाण्ड्वाख्यो रोगविशेषः । स च ज्यायान् अतिप्रवृद्धः दुश्चिकित्सः । तथा यः अङ्गभेदः वाता-दिजन्यः अवयवविश्लेषरूपो रोगः । यो विसर्पकः विविधं सरण-शीलो व्रणविशेषः । स च प्रायेण जान्वोरधःप्रदेशे जायते । हे

आञ्जनमणिधर्तः तं सर्वं यक्ष्मम् व्याधिं ते तव अङ्गेभ्यः अवयवेभ्यः बहिः पृथक्कृत्य आञ्जनं निर्हन्तु नितरां नाशयतु ॥

जो शरीरमें हरितवर्णको करने वाला पाण्डु नामक रोग है, यह बढ़ा हुआ दुश्चिकित्स्य होता है। तथा जो वातादिजन्य अंगभेद है, जो विसर्पक व्रणविशेष है, हे आञ्जनमणिको धारण करने वाले पुरुष! उस सब यक्ष्मरोगसमूहको तेरे अंगोंसे पृथक् करके यह मणि नष्ट कर डाले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम् ।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥ ३ ॥

आऽअञ्जनम् । पृथिव्याम् । जातम् । भद्रम् । पुरुषऽजीवनम् ।
कृणोतु । अप्रऽमायुकम् । रथऽजूतिम् । अनागसम् ॥ ३ ॥

पृथिव्याम् भूमौ जातम् उत्पन्नं भद्रम् कल्याणं मङ्गलप्रदं पुरुषजीवनम् पुरुषाणां स्वधारकाणां जीवयितृ एवंमहानुभावम् आञ्जनं माम् अप्रमायुकम् अमरणशीलं कृणोतु। तथा रथजूतिम् रथजवं रथवद्वेगगामिनम् अथ वा रथजवोपेतं रथवन्तं कृणोतु। अनागसम् अपापम् सर्वत्र कृणोत्विति संबन्धः ॥

पृथिवीमें प्रकट हुआ, कल्याणप्रद, अपने धारक पुरुषोंको जीवन प्रदान करने वाला आञ्जनमणि मुझको अमरणशील करे। तथा रथकी समान वेगसे चलने वाला करे और मुझको निष्पाप करे ॥ ३ ॥

प्राणं प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

प्राण । प्राणम् । त्रायस्व । असो इति । असवे । मृड ।

निःऽऋते । निःऽऋत्याः । नः । पाशेभ्यः । मुञ्च ॥ ४ ॥

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् ।

वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥ ५ ॥

सिन्धोः । गर्भः । असि । विऽद्युताम् । पुष्पम् ।

वातः । प्राणः । सूर्यः । चक्षुः । दिवः । पयः ॥ ५ ॥

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः ।

न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥ ६ ॥

देवऽआञ्जन । त्रैककुदम् । परि । मा । पाहि । विश्वतः ।

न । त्वा । तरन्ति । ओषधयः । बाह्याः । पर्वतीयाः । उत ॥६॥

वी३दं मध्यमवासृपद् रक्षोहामीवचातनः ।

अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥ ७ ॥

वि । इदम् । मध्यम् । अव । असृपत् । रक्षःऽहा । अमीवऽचातनः ।

अमीवाः । सर्वाः । चातयत् । नाशयत् । अभिऽभाः । इतः ७

चतुर्थी ॥ हे प्राण प्राणरूप आञ्जन त्वं मम प्राणं त्रायस्व रक्ष यथा अकाले नापगच्छति तथा कुरु । हे असो असुरूप आञ्जन त्वम् असवे असोरर्थाय मृड सुखय । हे निर्ऋते निर्ऋत्यात्मक आञ्जन त्वं निर्ऋत्याः पापदेवतायाः पाशेभ्यः बन्धकेभ्यो मां

मुञ्च मोचय । त्वं च सिन्धोः समुद्रस्य गर्भः गर्भस्थानीयः असि एवं विद्युतां पुष्पम् वृष्ट्युदकम् असि ॥

पञ्चमी ॥ हे आञ्जन त्वं वातः वायुदेवतात्मकः प्राणोसि । अतः प्राणान् रक्षेत्यभिप्रायः । “वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्” इति [ऐ० आ० २. ४. २] श्रुतेः । तथा सूर्यः सूर्यात्मकः चक्षुः चक्षुरिन्द्रियम् असि । अतश्चक्षुः पाहीत्यभिप्रायः । “आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्” इति श्रुतेः [ऐ० आ० २. ४. २] । वायोरंशीभूतः प्राणोसि सूर्यस्य च अंशीभूतं चक्षुरसीति तात्पर्यार्थः । तथा दिवः द्युलोकस्य पयः सारभूतम् उदकम् असि । हे त्रैककुदम् । त्रिककुन्नाम ककुत्त्रयोपेतः पर्वतविशेषः तत्संबन्धि आञ्जनं त्रैककुदम् । तादृश देवाञ्जन देवैः स्वरक्षार्थं धार्यमाण आञ्जन यद्वा देवैः प्राण्युपकाराय सृष्ट आञ्जन मां विश्वतः सर्वतः परि पाहि रक्ष ॥

षष्ठी ॥ हे आञ्जन त्वा त्वां याताः पर्वतजाताः पर्वतव्यतिरिक्तस्थलेषूत्पन्ना ओषधयो न तरन्ति न लङ्घयन्ति नातिशेरते किं तु त्वत्तो न्यूनवीर्या एवेत्यर्थः । उत अपि च पर्वतीयाः पर्वते भवाः स्वयं त्रिककुदाख्यपर्वतोत्पन्नत्वाद् इतरहिमविन्ध्यादिपर्वतजा अपि ओषधयस्त्वा त्वां न तरन्ति । ❀ “पर्वताच्च” इति छः ❀ । किं च रक्षोहा रक्षोविघाती अमीवचातनः रोगाणां नाशकोयम् इदं परिदृश्यमानं यद् अस्ति तस्य मध्यं व्यवासृपत् प्रतिपदार्थम् अपारूसृत्वं पर्वताद् अधोऽगच्छत् । सर्वव्याप्यभूद् इत्यर्थः । ❀ सृपेर्लृदित्वाद् अङ् ❀ । किं कुर्वत् । सर्वा अमीवाः येये रोगा आभ्यन्तरा नानाभेदभिन्नाः सन्ति तान् सर्वान् चातयत् नाशयत् । पुनः किं कुर्वत् । अभिभाः अभिभवतीति अभिभा सर्वं रोगादिकम् इतो नाशयत् तिरस्कुर्वद् आञ्जनम् ॥

हे प्राणरूप आञ्जन ! तू मेरे प्राणकी रक्षा कर तू मेरे प्राण

की रक्षा कर, जिस प्रकार अकालमें मृत्युग्रसित न हो तैसा कर, हे असुरूप आञ्जन ! तू असुके अर्थ सुख दे ।-हे निर्ऋत्यात्मक आञ्जन ! तू पापदेवता निर्ऋतिके पाशोंसे मुझको मुक्त कर। तू समुद्रका गर्भ है, इसी प्रकार बिजलियोंका पुष्प-वृष्टिजल है ॥ हे आञ्जन ! तू वात अर्थात् बाह्यवायुरूप प्राण है [अतः प्राणों की रक्षा कर। इस विषयमें ऐतरेय आरण्यक २।४।२ की श्रुतिका भी प्रमाण है, कि-"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। वायुने प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश किया"] तथा तू सूर्य-चक्षुरिन्द्रिय है, [अतः चक्षुकी रक्षा कर] इस विषयमें भी ऐत-रेयारण्यक २।४।२ की श्रुतिका प्रमाण है, कि-"आदित्य-श्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" तात्पर्य यह है; कि-तू वायुका अंशी-भूत प्राण है और सूर्यकी भी अंशीभूत चक्षु है] तथा द्युलोकका सारभूत जल है। हे त्रिककुद् पर्वतमें प्रकट हुए त्रैककुद आञ्जन मणे ! हे देवाञ्जन ! तू मेरी चारों ओरसे रक्षा कर हे आञ्जन ! पर्वतोंके अतिरिक्त अन्यस्थलोंमें उत्पन्न हुई औषधियें तेरा उल्लंघन नहीं कर सकतीं, किन्तु तुझसे न्यून वीर्य वाली ही रहती हैं। और त्रिककुद् पर्वतके अतिरिक्त हिम विंध्य आदि अन्य पर्वतोंमें प्रकट हुई औषधियें भी तुझको नहीं पहुँच पातीं। यह जो रक्षोविघातक रोगनाशक आंजन है यह पर्वतसे नीचेको जा प्रत्येक पदार्थमें व्याप्त हो सकता है और सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट कर डालता है। और सब रोगोंका तिरस्कार कर डालता है ॥४-७॥

सप्तमी ॥

यद्वी॒दं रा॑जन् वरुणानृ॒तमा॒ह पूरु॑षः ।
तस्मा॑त् सहस्रवीर्य मुञ्च नः॒ पर्यंह॑सः ॥ ८ ॥

यत् । इ॒दम् । रा॒ज॒न् । व॒रु॒ण॒ । अनृ॑तम् । आ॒ह॒ । पुरु॑षः ।

तस्मात् । सहस्रऽवीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ८ ॥

हे राजन् वरुण प्राणिनां शिक्षाकर्तर्देव पूरुषः पुरुषः इदम् इदानीं बहु अनृतम् प्रातःप्रभृति शयनकालपर्यन्तम् अपरिमितम् असत्यम् आह ब्रूते । तद् अनृतं त्वं क्षमस्व तत्प्रयुक्तां शिक्षां मा कुरु । किं च हे सहस्रवीर्य आञ्जनौषधे त्वं तस्मात् वरुणशिक्षानिमित्तभूताद् अनृतवदनप्रयुक्ताद् अंहसः पापाद् नः अस्मान् परि मुञ्च परितः सर्वतो मुक्तान् कुरु ॥

हे प्राणियोंको शिक्षा देने वाले राजन् वरुणदेव ! यह पुरुष प्रातःकालसे लेकर शयन करने पर्यन्त बहुतसा असत्य बोल चुका है, उसको आप क्षमा करिये अर्थात् असत्यभाषणका दण्ड मत दीजिये । और हे सहस्रवीर्य आञ्जन औषधे ! तू वरुणके दण्डके विषय असत्यभाषणके पापसे हमको मुक्त कर ॥ ८ ॥

अष्टमी ॥

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ।

तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ९ ॥

यत् । आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम ।

तस्मात् । सहस्रऽवीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ९ ॥

आपो यूयं जानीध्वे साक्षितया यद् ऊचिम उक्तवन्तः स्मः । तथा अघ्न्या इति । अघ्न्या अहन्तव्या गाव उच्यन्ते । हे अघ्न्याः यूयं मम चित्तं जानीध्व इति यद् ऊचिम । तथा हे वरुण त्वं जानासीति यद् ऊचिम । हे सहस्रवीर्य अपरिमितसामर्थ्य त्रैककुदाञ्जन तस्मात् सर्वस्माद् अंहसः नः अस्मान् परि मुञ्च ॥

हे जलो ! जो हम कह रहे हैं उसको तुम साक्षीरूपसे जानो ! हे अहन्तव्य गौओं । जो हम कहते हैं, उसको तुम साक्षीरूपमें

जानो । हे वरुण ! जो हम कहते हैं, उसको तुम जानते हो, हे अपरिमित शक्ति वाले त्रैककुदाञ्जन ! इन सब पापोंसे आप हमको मुक्त करिये ॥ ६ ॥

नवमी ॥

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन ।
तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥ १० ॥

मित्रः । च । त्वा । वरुणः । च । अनुऽप्रेयतुः । आऽअञ्जन ।
तौ । त्वा । अनुऽगत्य । दूरम् । भोगाय । पुनः । आ । ऊहतुः १०

हे आञ्जन औषधे त्वा त्वां मित्रश्च वरुणश्च उभौ अहोरात्राभिमानिनौ देवौ द्युलोकाद् भूमिम् आगत्य पुनः केनचिन्निमित्तेन पराङ्मुखं गच्छन्तं त्वा त्वाम् अनुप्रेयतुः अनुसृत्य जग्मतुः । तौ मित्रावरुणौ त्वा त्वां दूरम् अनुगत्य भोगाय प्राणिनाम् उपभोगाय पुनरोहतुः पुनरागन्तव्यम् इति ऊचतुः । प्रतिनिवर्तितवन्तावित्यर्थः । एवंमहानुभावस्त्वम् असीति त्रैककुदाञ्जनस्तुतिः ॥
इति पञ्चमेनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

हे आञ्जन औषधे ! दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुण, द्युलोकसे भूमि पर आये हुए तथा फिर किसी कारण पराङ्मुख जाते हुए तेरे पीछे, गए थे, वे दोनों मित्रावरुण तेरे पीछे जाकर कहने लगे, कि—प्राणियोंके उपभोगके लिये तू फिर आना, तू ऐसा महानुभाव है ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (५८८)

"ऋणादृणमिव" इति द्वादशसूक्तस्य आञ्जनमणिबन्धने पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"ऋणाद् ऋणमिव" इस बारहवें सूक्तका आंजन मणिबंधन में पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कर दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

ऋणादृणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥

ऋणात् । ऋणम्ऽइव । सम्ऽनयन् । कृत्याम् । कृत्याऽकृतः । गृहम् ।
चक्षुःऽमन्त्रस्य । दुःऽहार्दः । पृष्टीः । अपि । शृण । आऽअञ्जन १

यथा लोके कस्यचिद् धनिनो हस्ताद् गृहीताद् ऋणात् सकाशाद् भीतः सन् यद्वा ऋणात् ऋणदातुरुत्तमर्णाद् आनीतम् ऋणं तदीयं यथा तस्यैव प्रत्यर्पयति एवं कृत्याम् पीडार्थं प्रेषितां पिशाचिकां देवतां कृत्याकृतः कृत्याम् उत्पादितवतः पुरुषस्य गृहं प्रति संनयन् सम्यगगमयन् मित्रस्य आदित्यस्य चक्षुः चक्षुस्थानीयः। यद्वा मित्रभूतस्य मम चक्षुस्थानीयस्त्वम् हे आञ्जनौषधे दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य वैरिणः पृष्टीः पार्श्वास्थीनि अपि शृण घातय ॥

जैसे ऋण देने वालेसे ऋण लेकर उस ऋणसे घबड़ाता हुआ पुरुष, उसी ऋणदाताको अर्पण कर देता है, इसी प्रकार पीड़ाके लिये प्रेषित की हुई पिशाची देवता कृत्याको उत्पन्न करने वाले पुरुष पुरुष पर ही लौटाते हुए आदित्य (वा मुझ मित्रभूत) का चक्षुःस्थानीय तू है आंजन ! दुष्ट हृदय वाले वैरी की पसलियोंको तोड़ डाल ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥२॥

यत् । अस्मासु । दुःऽस्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ।

अनामगः । तम् । च । दुःऽहार्दः । प्रियः । प्रति । मुञ्चताम् २

अस्मासु ! भ्रातृपुत्रभृत्याद्यपेक्षया अस्मास्विति बहुवचनम् । यद् दुःष्वप्न्यम् । दुष्टं च तत् स्वप्नं च दुष्वप्नम् तज्जन्यं दुःखं दुःष्वप्न्यम् । यद्वा दुष्वप्नमेव दुःष्वप्न्यम् तद् यद् अस्ति । यच्च गोषु दुष्वप्न्यम् अस्ति । यच्च नो गृहे दासादीनां दुःष्वप्न्यम् अस्ति तद् दुःष्वप्न्यम् अनामकः ईदृङ्नामा तादृङ्नामा इत्येवं नामरहितो दुर्हार्दः दुष्टचित्तः अप्रियः मयि द्वेषं कुर्वाणः शत्रुः प्रति मुञ्चताम् कण्ठाद्याभरणवद् धारयतु ॥

भ्राता पुत्र भृत्य आदि सहित हममें जो दुष्टस्वप्नको देखनेसे उत्पन्न होने वाला दुःख है, जो गौओंमें दुःस्वप्न है, जो हमारे घरमें दास आदिका दुःस्वप्न है उसको ऐसे वैसे नामसे रहित अनामक द्वेषी पुरुष सुवर्ण आदिके आभरणकी समान धारण करे

तृतीया ॥

अपाम् ऊर्जे ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः

चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छि-

वास्ते ॥ ३ ॥

अपाम् । ऊर्जः । ओजसः । वावृधानम् । अग्नेः । जातम् । अधि । जातऽवेदसः ।

चतुःऽवीरम् । पर्वतीयम् । यत् आऽअञ्जनम् । दिशः । प्रऽदिशः । करत् । इत् । शिवाः । ते ॥ ३ ॥

अपाम् उदकानाम् ऊर्जम् रसभूतं सारभूतम् अत एव ओजसः

बलस्य चाधानम् । वर्धकम् इत्यर्थः । अथ वा ओजसः अर्थाय वर्धमानम् । तथा जातवेदसः जातधनस्य प्राप्ततेजोलक्षणधनस्य अग्नेरधि अग्नेः सकाशात् जातम् । ❀अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी❀। तथा चतुर्वीरम् चतसृषु दिक्षु विक्रान्तं सर्वतोऽकुण्ठितशक्ति । यद्वा चत्वारो वीराः पुत्रा यस्य तत् पुत्रचतुष्टयाख्यफलस्य दातृ पर्वतीयम् पर्वते त्रिककुदाख्ये उत्पन्नम् । ❀ "पर्वताच्च" इति छप्रत्ययः ❀ । एवंमहानुभावं यद् आञ्जनम् अस्ति तत् ते दिशः अवान्तरदिश इत् प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्रागाद्याश्च शिवाः मङ्गलाः सुखप्रदाः करत् कुर्यात् । यद्वा इच्छन्दः करत् इत्यनेन संबध्यते । करोत्वेव ॥

जन्मोंका रसभूत, ओजका वर्धक, तथा जातवेदा अग्निके समीप से प्रकट हुआ, चारों दिशाओंमें अकुण्ठित शक्ति वाला चार पुत्रोंको देसकने वाला और त्रिककुद् पर्वतमें उत्पन्न हुआ जो आञ्जन है, वह पूर्व आदि दिशाओंको और दिक्कोणोंको सुखप्रद कर डाले ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु
ते बलिम् ॥ ४ ॥

चतुःऽवीरम् । बध्यते । आऽअञ्जनम् । ते । सर्वाः । दिशः ।
अभयाः । ते । भवन्तु ।
ध्रुवः । तिष्ठासि । सविताऽइव । च । आर्यः । इमाः । विशः ।
अभि । हरन्तु । ते । बलिम् ॥ ४ ॥

हे रक्षाफलकाम ते तव चतुर्वीरम् दातव्यैश्चतुर्भिर्वीरैरुपेतं चतसृषु दिक्षु वीर्योपेतं वा आञ्जनम् अञ्जनमणिरूपम् औषधं बध्यते । तेन किं फलमित्यत्राह मणिं । भृतवतस्ते सर्वा दिशः प्रदिशो दिशश्च अभयाः भयरहिता निर्भयाः भवन्तु । सर्वत्र अभयं फलम् इत्युक्तं भवति । किं च हे अर्य स्वामिन् निर्भयस्त्वं सवितेव सूर्य इव चिरं प्रकाशयन् अवस्थितोऽसि तिष्ठ । सूर्य इव अतितेजस्वी चिरकालं तिष्ठतस्ते इमाः सर्वा विशः प्रजा बलिम् हिरण्यरजत-मणिमुक्ताकरितुरगाद्युत्कृष्टपदार्थमयीम् अपचितिम् अभि हरन्तु सर्वतः समर्पयन्तु । करं प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥

हे रक्षारूपी फलको चाहने वाले पुरुष ! चारों दिशाओंमें वीर्य-मय रहने वाली अञ्जनमणिरूप औषधि तेरे बाँधी जाती है । मणिको धारण करने वाले तेरे लिये सब दिशायें भयशून्य हो-जावें । और हे स्वामिन् ! आप सूर्यकी समान सबको प्रकाशित करते हुए स्थिर रहिये । सूर्यकी समान अतितेजस्वी होकर चिर-काल तक स्थित रहते हुए आपके लिये ये सब प्रजायें सोना चाँदी मणि मुक्ता हाथी घोड़े आदि उत्कृष्ट पदार्थोंकी भेंट प्रदान करें४

पञ्चमी ॥

आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् । चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

आ । अङ्क्ष्व । एकम् । मणिम् । एकम् । कृणुष्व । स्नाहि । एकेन । आ । पिब । एकम् । एषाम् ।

चतुःऽवीरम् । नैःऽऋतेभ्यः । चतुःऽभ्यः । ग्राह्याः । बन्धेभ्यः । परि ।
पातु । अस्मान् ॥ ५ ॥

हे पुरुष एकम् आञ्जनम् आङ्क्ष्व चक्षुषि धारय । तथा एकं मणिं कृणुष्व कुरु । एकेन आञ्जनेन स्नाहि स्नानं कुरु । त्रिषु पर्वतककुत्सु उत्पन्नानि त्रीण्याञ्जनानि । तेषु कस्य कुत्रोपयोग इत्याशङ्कायां व्यवस्थाऽसत्त्वादाह अविवेकम् एषाम् इति । एषां त्रयाणाम् अस्येदम् अस्येदम् इत्येवं विवेकम् अकृत्वा इच्छया एकम् आङ्क्ष्व एकं मणिं कुरु एकेन स्नाहीत्यर्थः । चतुर्वीरम् एतद् आञ्जनम् । ग्राह्याः ग्रहीतव्या आञ्जनमया ओषधयश्चतुर्भ्यो नैर्ऋतेभ्यः निर्ऋतिदेवतासंबन्धिभ्यो बन्धेभ्यः सकाशाद् अस्मान् परि पान्तु सर्वतो रक्षन्तु ॥

हे पुरुष ! तू एक अंजनको नेत्रोंमें आंज, तथा दूसरेको मणि बना और एक आंजन पदार्थसे स्नान कर । तीन शिखरों पर तीन अंजन प्रकट होते हैं, इनमें किसका उपयोग कहाँ किया जाय तो कहते हैं, इसमें कोई व्यवस्था नहीं है एकसे आँज ले, एकको मणि बना ले और एकसे स्नान कर यह आंजन चतुर्वीर है, ये सब ग्रहण करने योग्य आंजनकी औषधियें निर्ऋति देवताके बन्धनोंसे हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ६ ॥

अग्निः । मा । अग्निना । अवतु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे । वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सुऽभूतये । स्वाहा ॥ ६ ॥

अग्निः अग्रणीत्वादिगुणविशिष्टो देवो मा माम् अग्निना अग्नित्वधर्मेण। "अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः" [नि० ७. १४] इत्यादिनिरुक्तोक्तेन धर्मेण अवतु रक्षतु। अथवा पावकादिगुणकेन स्वमूर्त्यन्तरेण अग्निना सहितो माम् अवतु। अवनस्य विषयान् दर्शयति प्राणायेत्यादिना। प्राणाय प्राणस्थैर्याय अपानाय तत्स्थैर्याय। एतद् व्यानादीनामपि उपलक्षणम्। पञ्चानां प्राणानां लाभायेत्यर्थः। प्राणादिलाभे सति फलितम् अर्थं दर्शयति। आयुषे आयुर्वृद्धये प्राणादीनां स्थैर्ये सिद्धे आयुरभिवृद्धिः सिद्धैव। वर्चः श्रुताध्ययनजं तेजः ओजः बलम् तेजः शरीरकान्तिः तेषां लाभाय स्वस्तये क्षेमाय सुभूतये शोभनायै संपदे। स्वाहा स्वाहुतम् अस्तु। तस्मा अग्नय इति शेषः। अथ वा प्राणादिलाभाय प्राणादिदेवताभ्यो नमस्कारः क्रियते ॥

अग्रणीत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न अग्निदेव, मुझको निरुक्तमें कहे हुए अग्निके धर्मोंसे रक्षा करें। अथवा पावक (शोधक) गुण वाले अपनी दूसरी मूर्तिसे मेरी रक्षा करें। प्राण आदि पाँचोंकी प्राप्तिके लिये आयुके लिये वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिके लिये मेरी रक्षा करें। ऐसे अग्निदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ७ ॥

इन्द्रः। मा। इन्द्रियेण। अवतु। प्राणाय। अपानाय। आयुषे। वर्चसे। ओजसे। तेजसे। स्वस्तये। सुऽभूतये। स्वाहा ॥७॥

इन्द्रो देवः मा माम् इन्द्रियेण इन्द्रत्वसंपादकेन असाधारणेन धर्मेण । "इन्द्र इरां दृणातीति वा । इरां दारयतीति वा । इन्धे भूतानीति वा" [नि० १०, ८] इत्यादिनिरुक्तोक्तेन धर्मेण । अथ वा इन्द्रियेण । जात्येकवचनम् । ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च दार्ढ्येन निमित्तेनेत्यर्थः । ❀ इन्द्रियशब्दः पाणिनिना "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा" इति बहुधा व्युत्पादितः ❀ । गतम् अन्यत् ॥

इन्द्रदेव मुझको ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी दृढ़ता प्रदान करके रक्षा करें । इन्द्रदेव प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें । ऐसे इन्द्र-देवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

सोमो॑ मा सौ॒म्येना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

सोमः॑ । मा॒ । सौ॒म्येन॑ । अ॒वतु । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आ॒युषे॑ । वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒ऽभू॒तये॑ । स्वाहा॑ ॥८॥

सोमो देवः मा मां सौम्येन सोमत्वसंपादकेन धर्मेण जगदाप्यायनकारित्वादिधर्मेण अवतु । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सोमदेव सोमत्वसम्पादक जगत्को तृप्त करने वाले अपने सौम्यधर्मसे मेरी रक्षा करें । तथा प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें । ऐसे सोमदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

भगो॑ मा॒ भगे॑नावतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स

ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सु॒भूतये॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

भगः॑ । मा॒ । भगे॑न । अ॒व॒तु॒ । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आयु॑षे ।

वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒ऽभूतये॑ । स्वाहा॑ ॥९॥

भगो देवः मा मां भगेन भगत्वसंपादकत्वेन धर्मेण ऐश्वर्यादिकारित्वधर्मेण अवतु । शिष्टं गतम् ॥

भगदेवता ऐश्वर्यसम्पादक धर्मसे मेरी रक्षा करें, तथा प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके निमित्त मेरी रक्षा करें। ऐसे भगदेवताके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ९ ॥

दशमी ॥

म॒रुतो॑ मा ग॒णैर॑वन्तु प्रा॒णाया॑पा॒नायायु॑षे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सु॒भूतये॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥

म॒रुतः॑ । मा॒ । ग॒णैः । अ॒व॒न्तु॒ । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आयु॑षे ।

वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒ऽभूतये॑ । स्वाहा॑ १०

मरुतः अदित्या उत्पन्ना रुद्रेण पुत्रत्वेन परिगृहीता एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः सप्तगणा देवाः । ते मां गणैः स्वगणैः संघलक्षणैः अवन्तु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

पञ्चमोऽनुवाकः समाप्तः ॥

अदितिसे उत्पन्न हुए, रुद्रके द्वारा पुत्ररूपमें ग्रहण किये हुए उञ्चास पवन अपने गणोंसे, प्राण अपान, आयु, वर्च, ओज,

तेज, स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें। ऐसे मरुतोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (५८९)

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

षष्ठेनुवाके नव सूक्तानि। तत्र "प्रजापतिष्ट्वा" इति प्रथमसूक्तेन "मारुद्गणीं बलकामस्य प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७] विहितायां मारुद्गणाख्यायां महाशान्तौ अस्तृताख्यमणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूचितं हि नक्षत्रकल्पे। "आयुषोसि प्रतरणम्[१९. ४४] इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्। प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् [१९. ४६] इति त्रिवृतं मारुद्गण्याम्" इति [न० क० १९]॥

छठे अनुवाकमें नौ सूक्त हैं। इनमेंसे "प्रजापतिष्ट्वा" इस प्रथम सूक्तसे "मारुद्गणीं बलकामस्य प्रयुञ्जीत।-बलकामकी मारुद्गणी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित मारुद्गणी नामक महाशान्तिमें अस्तृता नामक मणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें नक्षत्रकल्पका प्रमाण भी है, कि-"आयुषोऽसि प्रतरणम् (१९। ४४) इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्। प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् (१९। ४६) इति त्रिवृतं मारुद्गण्याम्" (नक्षत्रकल्प १९)

इस सूक्तमें अस्तृता नामक मणिकी स्तुति कीगई है।

तत्र प्रथमा ॥

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम्।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ १ ॥

प्रजाऽपतिः। त्वा। बध्नात्। प्रथमम्। अस्तृतम्। वीर्याय। कम्।

तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । ओजसे । च । बलाय ।

च । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १ ॥

अत्र सूक्ते अस्तृताख्यो मणिः स्तूयते । अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति चरमपादे सर्वत्र युष्मच्छब्देन अस्तृतमणिधारकः पुरुषोभिधीयते । प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्वजगद्विधाता देवः प्रथमम् सृष्ट्यादौ मणिधारकेभ्यः पूर्वं वा अस्तृतम् परैरबाधितम् एतत्संज्ञकं त्वा त्वां बध्नात् धारयामास । त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वाद् अस्तृतसंज्ञया उच्यते । किमर्थम् । वीर्याय वीरकर्मणे पराभिभवनसामर्थ्याय तल्लब्धुम् । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । कम् इति इति पदपूरणः । ❀ प्रजापतिष्ट्वेत्यत्र "युष्मत्तत्ततक्षुःषु०" इति सांहितिको मूर्धन्यादेशः ❀ ॥ उत्तरार्धेन मणिधारक उच्यते । तत् । ❀ सुपो लुक् लिङ्गव्यत्ययो वा ❀ । तम् अस्तृताख्यं मणिम् हे मणिधारक ते तव । अङ्ग इति शेषः । बध्नामि धारयामि पुरोहितोहं कर्ता । किमर्थम् । आयुषे आयुरादिलाभाय । ❀ सर्वत्र पूर्ववच्चतुर्थी । समुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । आयुषे चिरकालजीवनाय । वर्चसे दीप्त्यै । ओजसे शरीरबलम् ओजः शरीरधारकोष्टमो धातुर्वा ओजः तस्मै । बलाय भृत्यादिसमृद्धिरूपाय बाह्यबलाय ॥ अस्तृतः । ❀ स्तृञ् हिंसायाम् । कर्मणि क्तप्रत्ययः ❀ । पूर्वं प्रजापतिना धारितः इदानीं त्वया धार्यमाणः शत्रुभिरबाधितः परोपद्रवनिवारकः अस्तृताख्योयं मणिः त्वा त्वां धारकम् अभि रक्षतु अभितः सर्वतः पालयतु ॥

हे मणे ! प्रजाके पालक सर्वजगद्विधातादेवने सृष्टिके आरम्भ में ही तुझ दूसरोंसे अबाधित मणिको दूसरोंको दबानेकी शक्ति पानेके लिये धारण किया था । हे मणिधारक पुरुष ! ऐसी मणि को मैं पुरोहित, आयु वर्च ओज और बल प्राप्त करानेके लिये तेरे बाँधता हूँ, यह अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः ।
इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वांछत्रून् वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ २ ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठतु । रक्षन् । अप्रऽमादम् । अस्तृतः । इमम् । मा । त्वा । दभन् । पणयः । यातुऽधानाः ।
इन्द्रःऽइव । दस्यून् । अव । धूनुष्व । पृतन्यतः । सर्वान् । शत्रून् । वि । सहस्व । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ २ ॥

हे अस्तृत एतत्संज्ञक मणे भवान् अप्रमादम् प्रमादः अनवधानता । ❀ हर्षार्थान्माद्यतेर्घञ् ❀ । न विद्यते अनवधानं यस्मिन् रक्षणकर्मणि सावधानं यथा तथा इमं त्वद्धारकं रक्षन् पालयन् । अप्रमादम् इति इमम् इत्यस्य विशेषणं वा । अवहितम् । त्वद्धारणे इति शेषः । तं रक्षन् । ❀ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ❀ । रक्षणाद्धेतोः ऊर्ध्वः उन्नतः उन्मुखः सर्वदा जागरूकः तिष्ठतु । भवद्योगे प्रथमपुरुषः । मणेरपि शत्रुकृतबाधापरिहारम् आशास्ते । हे अस्तृत मणे त्वा त्वां यातुधानाः यातवो यातनाः पीड़ा धीयन्ते विधीयन्ते क्रियन्ते एभिरिति यातुधानाः । ❀ करणे ल्युट् ❀ । तादृशाः पणयः पणिनामका असुरा मा दभन् मा हिंसन्तु । ❀ दभिर्हिंसाकर्मा । अस्माद् माङि लुङि दम्भेश्चेति वक्तव्यम् इति च्लेरङ् ❀ । किं च त्वम् इन्द्र इव इन्द्रो यथा शत्रून् हिनस्ति

एवं दस्यून् उपक्षपयितॄन् परान् अव धूनुष्व अवाङ्मुखान् कम्पय। पादप्रहारादिना अधस्तात् पातयेत्यर्थः। ❀ धूञ् कम्पने। स्वादिः ❀। न केवलम् अवधूननं किं तु पृतन्यतः पृतनां संग्रामम् इच्छतः। ❀ पृतनाशब्दात् क्यचि "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि०" इति अन्त्यलोपः। क्यजन्तात् शत्रादि कार्यम् ❀। शुशुत्सून् सर्वान् शत्रून् शातयितॄन् रिपून् वि षहस्व विशेषेण अभिभव॥ अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति चरमपादः पूर्ववत्। उक्तवीर्योपेतः पराभिभवनसामर्थ्योऽस्तृताख्यो मणिः धारकं त्वा त्वाम् अभि रक्षतु इति॥

हे अस्तृत नामक मणे! तू अपने इस रक्षक पुरुषकी रक्षा करता हुआ सर्वोत्कृष्ट रह। हे मणे! यातुधान पणि नामक असुर तेरी शक्तिको नष्ट न कर सकें। या हे मणिधारक पुरुष! तुझको नष्ट न कर सकें और तू, इन्द्र जैसे शत्रुओंको मारता है, तिस प्रकार शत्रुओंको पादप्रहार आदिसे औंधे मुख करके गिरा। और सेना लेकर तुझसे जो लड़ना चाहें उनको विशेषरूपसे दबा। हे मणिधारक पुरुष अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे॥२॥

तृतीया॥

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥३॥

शतम्। च। न। प्रऽहरन्तः। निऽघ्नन्तः। न। तस्तिरे। तस्मिन्। इन्द्रः। परि। अदत्त। चक्षुः। प्राणम्। अथो इति। बलम्। अस्तृतः। त्वा। अभि। रक्षतु॥३॥

शतम् शतसंख्याकाः अपरिमिताः शत्रवः प्रहरन्तः। प्रहरणं

नाम शस्त्रादिकृतबाधा । निहननं नाम प्राणवियोजनम् इति विवेकः । प्रहरन्तः प्रकर्षेण शस्त्रादिभिर्बाधमानाः निघ्नन्तः नितरां हिंसन्तो मारयन्तः । ❁ उभयत्र हेत्वर्थः शतृप्रत्ययः ❁ । प्रहरणान्निहननाच्च हेतोः न तस्तिरे न तस्तरिरे नाच्छादितवन्तः । यद्वा प्रहरन्तो निघ्नन्तोपि शत्रवः न तस्तरिरे न जिहिंसुः । मणिरेव कर्थ । अस्तृतमणेः अस्तृतनामनिर्वचनम् अनेन क्रियते । यतः शत्रवः उक्तलक्षणा इमं मणिं न तस्तरिरे बाधितुं नाशक्नुवन् न जिहिंसुर्वा अतः अस्य अस्तृतनाम संपन्नम् । ❁ स्तृञ् छादने स्तृञ् हिंसायाम् इति वा । उभयविधाद् धातोश्छान्दसे लिटि "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इति इरेजादेशः । वर्णलोपश्छान्दसः ❁ । इन्द्रः तस्मिन् एवं शत्रुभिरनाहृते अहिंसिते अस्तृताख्ये मणौ अन्तः मध्ये चक्षुः शत्रुदर्शनसामर्थ्यं प्राणम् बलहेतुम् अथो अपि च बलम् प्राणसामर्थ्यं वीर्यं परि यत् पर्यगमयत् परिपूरितवान् । स्थापितवान् इत्यर्थः ॥ अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति पूर्ववत् । एवम् उक्तविधः अस्तृताख्यमणिस्त्वां धारकं रक्षतु इति सत्यार्थः ॥

अपरिमित शत्रु प्रहार करते हुए और मारतेहुए भी इस मणि को तर न सके थे, इसी लिये इस मणिका नाम अस्तृत पड़ा है। इन्द्रने ऐसी शत्रुओंसे अहिंसित अस्तृत मणिके भीतर शत्रुदर्शन-शक्ति–चक्षुको, प्राणशक्तिको और बलशक्तिको भर दिया है, ऐसी अस्तृत मणि तुझ धारक पुरुषकी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधि-
राजो बभूव ।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ४

इन्द्रस्य । त्वा । वर्मणा । परि । धापयामः । यः । देवानाम् । अधिऽराजः । बभूव ।

पुनः । त्वा । देवाः । प्र । नयन्तु । सर्वे । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ४ ॥

हे मणे त्वा त्वाम् इन्द्रस्य वर्मणा कवचेन परि धापयामः परित आवृणुमः । इन्द्रवर्माच्छादितं कुर्मः । इन्द्रस्य प्रभावातिशयं द्योतयितुं विशिनष्टि । यो देवानाम् द्योतमानानां द्युस्थानानां सर्वेषाम् अमराणाम् अधिराजः अधिपतिर्बभूव । ॐ "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति राजशब्दात् तत्पुरुषे टच् समासान्तः ॐ । किं च हे मणे त्वा त्वाम् इन्द्रवर्माच्छादितम् देवाः इन्द्रस्वामिकाः सर्वे पुनः प्र णयन्तु स्वस्वकार्यसिद्ध्यर्थं स्वस्वकवचैः परिधापनार्थं प्रकर्षेण स्वसमीपं प्रापयन्तु । एवम् इन्द्रवर्मणा परिहितः सर्वैर्देवैश्च अनुगृहीतः अस्तृताख्यो मणिः त्वा त्वां मणिधारकम् अभि रक्षतु ॥

हे मणे ! हम तुझको इन्द्रके कवचसे आच्छादित करते हैं, यह इन्द्रदेव द्युलोकमें रहने वाले सब देवताओंके अधिपति हैं, फिर तुझ इन्द्रवर्मसे आच्छादितको इन्द्रके आधीन रहने वाले सब देवता अपनी २ कार्यसिद्धिके लिये अपने २ कवचोंके पास लेजावें। इस प्रकार इन्द्रवर्मसे आच्छादित और सब देवताओंसे अनुगृहीत अस्तृत नामक मणि तुझ मणिधारककी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते ।

व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ५ ॥

अस्मिन् । मणौ । एकऽशतम् । वीर्याणि । सहस्रम् । प्राणाः । अस्मिन् । अस्तृते ।

व्याघ्रः । शत्रून् । अभि । तिष्ठ । सर्वान् । यः । त्वा । पृतन्यात् । अधरः । सः । अस्तु । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ५ ॥

अस्मिन् अस्तृताख्ये मणौ एकशतम् एकोत्तरं शतम् । शतक्रतोरिन्द्रस्य वर्मणावरणात् शतक्रतुसंबन्धीनि वीर्याणि शतसंख्याकानि । मणेः स्वीयं वीर्यम् एकम् । एवम् एकोत्तरं शतम् । एतत्संख्याकानि वीर्याणि वीरकर्माणि सामर्थ्यानि विद्यन्ते । तथा अस्मिन् अस्तृते अहिंसिते परैः एतत्संज्ञके मणौ सहस्रम् । अपरिमितवाची सहस्रशब्दः । सर्वैर्देवैरनुगृहीतत्वात् तत्संबन्धिनः अपरिमिता बलहेतवः प्राणाः संपद्यन्ते । एवंवीर्यप्राणोपेतो मणिस्त्वं व्याघ्रः । लुप्तोपमम् एतत् । व्याघ्र इव अथ वा व्याघ्रः व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः । ❀ "आतश्चोपसर्गे" इति कर्तरि कप्रत्ययः ❀ । शत्रुगन्धं विशेषेण आजिघ्रन् सर्वान् शत्रून् अभि तिष्ठ अभिलक्ष्य तिष्ठ । आक्रमितुं समर्थो भव । अभिभवेति यावत् । यः शत्रुः त्वा त्वां मणिं प्रति पृतन्यात् योद्धुम् इच्छेत् स शत्रुः अधरो निकृष्टः पराजितोस्तु । यद्वा व्याघ्र इत्यादिना मणिधारकः पुमान् प्रोत्साह्यते ॥ अस्तृत इति पूर्ववत् ॥

इस अस्तृत नामक मणिमें एकसौ एक प्रकारके वीर्य हैं [शतक्रतु इन्द्रके वर्मसे आवृत होनेके कारण शतक्रतुके सौ वीर्य हैं और मणिका एक वीर्य है, इस प्रकार एक सौ एक वीर्य हैं

अर्थात् इस मणिमें एक सौ एक प्रकारकी शक्तियें हैं] तथा इस दूसरोंसे अहिंसित मणिमें सब देवताओंसे अनुगृहीत होनेके कारण उनके अपरिमित प्राणबल हैं, हे ऐसी मणिको धारण करने वाले पुरुष ! तू शत्रुओं पर व्याघ्रकी समान अधिष्ठित हो, जो शत्रु सेना लेकर तुझसे लड़ना चाहे वह निकृष्ट होजावे, यह अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनि-
र्वयोधाः ।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु

घृतात् । उत्ऽलुप्तः । मधुऽमान् । पयस्वान् । सहस्रऽप्राणः । शतऽयोनिः । वयःऽधाः ।

शम्ऽभूः । च । मयःऽभूः । च । ऊर्जस्वान् । च । पयस्वान् । च । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ६ ॥

घृतात् । घृतेनेत्यर्थः । आज्येन उल्लुप्तः ऊर्ध्वम् उपरिभागे लिप्तः । ❀ इकारस्य उकारोपजनश्छान्दसः ❀ । मधुमान् मधु माक्षिकं तद्वान् पयस्वान् पयः क्षीरं तद्वान् । ❀ "तसौ मत्वर्थे" इति भ-संज्ञकत्वात् पदसंज्ञानिबन्धनकुत्वाभावः ❀ । आज्यमधुक्षीरैर्लिप्त-सर्वाङ्ग इत्यर्थः । सहस्रप्राणः सर्वदेवानुगृहीतत्वात् तदीयापरिमित-बलहेतुरूपबल इत्यर्थः । शतयोनिः ऐन्द्रवर्म परिहितत्वेन तदीयशत-संख्याकवीर्योपेत इत्यर्थः । योनिशब्देन शत्रुसंगमननिमित्तं शत्रु-वियोजनसाधनं वा बलं विवक्ष्यते । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

अस्माद् औणादिको निप्रत्ययः ❀। यद्वा शतसंवत्सरजीवन-वीर्येन्द्रियरूपफलहेतुत्वेन शतयोनिरिति उक्तम्। श्रूयते हि "शतायुः पुरुषः शतवीर्यः शतेन्द्रियः" इति [ऐ० ब्रा० ४. १६] वयोधाः मणिधारकस्य पुरुषस्य अन्नं धारयिता शंभूः सुखस्य भावयिता मयोभूः मय इति सुखनाम तस्य भावयिता। शंमयःशब्दाभ्यां शारीरं पुत्रादिगतं च सुखं विवक्ष्यते। यद्वा शं शान्तिः सर्वोपद्रव-निवारणं तस्य भावयिता इत्यनेन अनिष्टनिवृत्तिः मयोभूरित्यनेन इष्टप्राप्तिर्विवक्ष्यते। ऊर्जस्वान् ऊर्जः अन्नं तद्वान्। ❀ ऊर्जपसेः असुन् प्रत्ययः ❀। अन्नस्य दाता। यद्वा ऊर्जस्विनः पुत्रादयः ते पोष्यत्वेन यस्य सन्तीति। पयस्वान् पयः क्षीरादिकं तद्वान् तत्प्रदाता। ❀ परस्परसमुच्चयार्थाश्चकाराः ❀। एतादृशगुणवि-शिष्टः अस्तृतः एतन्नामा मणिः त्वा त्वां धारकम् अभि रक्षतु अभितः सर्वतः पालयतु ॥

ऊपरके भागमें घृत मधु और दुग्धसे लिप्त, सब देवताओंसे अनुगृहीत होनेके कारण उनके अपरिमित बलका प्रदान करने वाला, इन्द्रकवचसे आच्छादित होनेके कारण शत्रुसे हटनेके और शत्रुको हटानेके सहस्रों पराक्रमोंसे सम्पन्न, मणिको धारण करने वाले पुरुषको अन्न प्रदान करने वाला, शारीरक सुख दाता, पुत्रादि सुखका देने वाला, अन्न-सम्पन्न, और पयः सम्पन्न पदार्थोंका प्रदान करने वाला अस्तृत मणि तुझ धारक का सर्वतः पालन करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यथा त्वमुत्तरोसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता करदस्तृत-
स्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

यथा । त्वम् । उत्ऽतरः । असः । असपत्नः । सपत्नऽहा ।

सऽजातानाम् । असत् । वशी । तथा । त्वा । सविता । करत् ।

अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ७ ॥

अनेन मणिधारकस्य पुरुषस्य मणिप्रभावात् सर्वोत्तरत्वं शत्रुधर्षणसामर्थ्यं च सर्वस्य प्रेरकः सविता करोत्विति आशास्यते । हे साधक त्वम् उत्तरः उत्कृष्टः सर्वोत्तरो यथाऽसः भवेः । ❀ अस्तेः पञ्चमलकारे अडागमः ❀ । असपत्नः अशत्रुः । शत्रूणाम् अत्यन्ताभावो विवक्षितः । सपत्नहा तथापि ये केचन सपत्ना उद्गच्छेयुस्तेषामपि हन्ता यथा भवेः । किं च सजातानाम् समानजातानां पुरुषाणां मध्ये वशी वशैः सजातैस्तद्वान् असत् भवेत् । ❀ मन्त्रच्छन्दयोगे प्रथमपुरुषः पुरुषव्यत्ययो वा ❀ । समानविद्यावयोवित्तकर्माणः पुरुषा यथा त्वां सेवेरन् तथा भवेरित्यर्थः॥ सविता सर्वस्य प्रेरको देवः तथा तेनोक्तप्रकारेण त्वा त्वां मणिबन्धकं करत् कुर्यात् । ❀ करोतेः पूर्ववद् अडागमः। यद्वा करोतेश्छान्दसे लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ्। "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः । "०अमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ । अस्तृतः एतन्नामा मणिस्त्वाम् अभि रक्षतु इति पूर्ववत् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

[इस मन्त्रमें यह प्रार्थना की है, कि–सविता देवता इस मणिके प्रभावसे इस मणिधारक पुरुषको सबमें श्रेष्ठत्व और शत्रुओंको दबानेकी शक्ति प्रदान करें] हे साधक पुरुष ! तू जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ हो जावे, तू जिस प्रकार शत्रुरहित होजावे और जो शत्रु भाग जावें उनका भी मारने वाला होजावे, और तू जिस प्रकार समान अवस्था विद्या वित्त और कर्म वालोंमें उनको वशमें रखने

शाखा होवे जिस प्रकार सविता देवता तुझ पर अनुग्रह करें। यह अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

उन्नीसवें काण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५९०)

"आ रात्रि पार्थिवम्" इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम्। "इषिरा योषा" इति सूक्तद्वयमपि अर्थसूक्तम्। अस्य सूक्तद्वययुगलस्य रात्रीकल्पे रात्र्युपस्थाने जपे च विनियोगः। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" इति [प० ४. २] प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। "आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्ताभ्याम् अन्वारभ्य जपेत्" इति [प० ४. ४]। "पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति [प० ४. ५] च। अर्थसूक्तद्वयेनेत्यर्थः ॥

"आ रात्रि पार्थिवम्" ये दो अर्थसूक्त हैं। और "इषिरा योषा" ये दोनों सूक्त भी अर्थसूक्त हैं। इनका रात्रिकल्पके रात्र्युपस्थान में और जपमें विनियोग होता है। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" (परिशिष्ट ४। २) का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–"०आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्तद्वयेन रात्रिं उपस्थाय" (परिशिष्ट ४। ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ रा॑त्रि॒ पार्थि॑वं॒ रजः॑ पि॒तुर॑प्रायि॒ धाम॑भिः।
दि॒वः सदां॑सि बृह॒ती वि ति॑ष्ठस॒ आ त्वे॒षं व॑र्तते॒ तमः॑ ॥ १ ॥

आ। रा॒त्रि॒। पार्थि॑वम्। रजः॑। पि॒तुः। अ॒प्रा॒यि॒। धाम॑ऽभिः।
दि॒वः। सदां॑सि। बृ॒ह॒ती। वि। ति॒ष्ठ॒से॒। आ। त्वे॒षम्। व॒र्त॒ते॒। तमः॑ ॥ १ ॥

हे रात्रि। ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप्। संबुद्धौ ह्रस्वः ❀। त्वया पार्थिवम् पृथिवीरूपम्। ❀ प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् पृथिवी-

शब्दात् स्वार्थे अण् प्रत्ययः । व्यत्ययेन आद्युदात्तः ❀ । रजः लोकः । "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति यास्कः [नि० ४. १९] । यद्वा पार्थिवम् पृथिव्यां भवम् । ❀ उत्सादित्वाद् अञ् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तः ❀ । रजः स्थानं पृथिवीसंबन्धिस्थलगिरिनदीसमुद्रादिकम् । पितुः । पितृशब्देन द्युलोकोऽभिधीयते । "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति हि मन्त्रवर्णः [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ४] । अत्र तृतीयस्य स्वर्गलोकस्य पृथगभिधानाद् मध्यमभूतान्तरिक्षलोको विवक्षितः । तस्य धामभिः स्थानैः सह । ❀ "वृद्धो यूना०" इति निपातनात् सहशब्दाभावेपि तृतीया ❀ । अन्तरिक्षलोकेन सह आमायि आपूरि तल्लोकद्वयं तमसा आपूरि । ❀ प्रा पूरणे । कर्मणि लुङि चिण् । आतो युगागमः ❀ । तथा बृहती महती सर्वत्र व्यापिनी सती दिवः द्युलोकस्य तृतीयस्य सदांसि । ❀ सीदन्त्यत्रेति अधिकरणे सदेरसुन् ❀ । स्थानानि वितिष्ठसे विशेषेण व्याप्नोषि । ❀ "समवप्रविभ्यः स्थः" इति तिष्ठतेरात्मनेपदम् ❀ । एवं लोकत्रयव्यापित्वेन त्वदीयेन त्वेषम् दीप्यमानं नीलवर्णं तमः अन्धकारः प्र वर्तते सर्वम् आवृत्य तिष्ठति । अथ वा पृथिवीलोकाद् उत्थाय द्युलोकम् आवृणोति तस्माच्च पृथिवीम् इति तमःकेवल्यमेव वर्तते ॥

हे रात्रि ! तूने पृथिवीलोकके गिरि नदी पर्वत स्थल आदिमें, द्युलोकके स्थानोंमें और मध्यम लोक अन्तरिक्षमें अपने अंधकार को व्याप्त कर दिया है । इस प्रकार लोकत्रयव्यापी तेरा नीलवर्णका अंधकार सबको व्याप्त करके स्थित है । इस लिये पृथिवी पर अंधकार ही अंधकार है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न यस्याः॑ पा॒रं द॒दृशे॒ न योयु॑वद् विश्व॑म॒स्यां नि विशते॒ यदेज॑ति ।

अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ २ ॥

न । यस्याः । पारम् । ददृशे । न । योयुवत् । विश्वम् । अस्याम् । नि । विशते । यत् । एजति ।

अरिष्टासः । ते । उर्वि । तमस्वति । रात्रि । पारम् । अशीमहि । भद्रे । पारम् । अशीमहि ॥ २ ॥

यस्या रात्रेः पारम् परतीरम् अन्तो न ददृशे न दृश्यते अस्याम् अनवच्छिन्नायां लोकत्रयव्यापिन्यां रात्र्यां विश्वम् चराचरात्मकं जगद् योयुवत् न विभजमानं विभक्तं नासीत् किं तु विश्वम् एकाकारमेवाभूत् । ❀ यौतेर्यङ्लुगन्तात् शतरि ङित्त्वाद् गुणाभावे उवङ् आदेशः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यज्जगत् एजति कम्पते । ❀ एजृ कम्पने । लटि व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । प्राणिजातं तद् अस्यां नि विशते इतस्ततो गन्तुम् असमर्थं सत् तत्रतत्रैव निविष्टं निद्राणं भवति । यद्वा । ❀ एजतेः शतृप्रत्ययः ❀ । एजमाने कम्पमाने इतस्ततः संचलति यत् । ❀ सप्तम्या लुक् ❀ । यस्मिन् तमसि नि विशते विभक्तत्वेन अपरिदृश्यमानं विश्वं तत्रतत्रैव संविशति । ❀ विश प्रवेशने । "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् ❀ । हे उर्वि प्रभूते । ❀ "वोतो गुणवचनात्" इति उरुशब्दाद् ङीष् ❀ । प्रभूते सर्वलोकव्यापिनि हे तमस्वति बहुलान्धकारवति । ❀ भूमार्थे मतुप् प्रत्ययः । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञत्वात् पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ । हे रात्रि ते तव पारम् परतीरम् अन्तम् अरिष्टासः अरिष्टाः । ❀ रिशतेर्हिंसार्थात् कर्मणि क्तप्रत्ययः ❀ । सर्वव्याघ्र-

चोरप्रभृतिभिरबाधिताः सन्तः वयम् अशीमहि प्राप्नुयाम । हे भद्रे भन्दनीये कल्याणरूपे श्रेयस्करि वा रात्रि पारम् अशीमहि पारम् अवधिम् अशीमहि आदरार्था पुनरुक्तिः । ❀ अश्नोतेर्लुङि विकरणस्य लुक् ❀ ॥

जिस रात्रिका दूसरा पार नहीं दीखता, उस अनवच्छिन्न त्रिलोकव्यापिनी रात्रिमें चराचरात्मक जगत् विभक्त नहीं होता है, किंतु एकाकार ही होता है । जो जगत् चेष्टा करता है वह जगत् इस रात्रिमें इधर उधर चलनेको असमर्थ रहता हुआ तहाँ ही बैठ कर निद्रित होजाता है । हे सर्वलोकव्यापिनी प्रभूत अंधकार वाली रात्रि, हम सर्प व्याघ्र चोर आदिसे अहिंसित रहते हुए तेरे पारको प्राप्त होवें, हे कल्याणरूपे रात्रि ! तेरे पारको हम प्राप्त होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥ ३ ॥

ये । ते । रात्रि । नृऽचक्षसः । द्रष्टारः । नवतिः । नव ।
अशीतिः । सन्ति । अष्टौ । उतो इति । ते । सप्त । सप्ततिः ॥३॥

अत्र सार्धमन्त्रद्वयेन सर्वलोकव्यापिन्या रात्रेः प्रभावस्य द्रष्टारो गणदेवा उच्यन्ते । हे रात्रि ते तव संबन्धिनां महिम्नाम् इति शेषः । नृचक्षसः नृणां कर्मफलस्य द्रष्टारो नवोत्तरनवतिसंख्याका ये गणदेवा द्रष्टारो रात्रीप्रभावस्य आलोकयितारो ये सन्ति ये च अष्टोत्तराशीतिसंख्याका गणदेवा रात्र्या द्रष्टारः सन्ति । उतो अपि च सप्त सप्ततिः सप्तोत्तरसप्ततिसंख्याका ये गणदेवास्ते तव द्रष्टारः सन्ति । तेभिर्नः पाहि इत्युत्तरेण संबन्धः । ❀ अत्र नव-

स्यशीतिसप्तत्यादयः शब्दा नव दशतः परिमाणम् अस्येत्यर्थे नव-शब्दात् तिप्रत्ययः अष्टशब्दात् तिप्रत्ययः अशीभावश्च सप्तानां दशतां सप्तभावः तिप्रत्ययः इति व्युत्पादनीयाः । ते च "०त्रिंश-तिचत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्" इति सू-त्रेण परिमाणार्थे निपातिताः ❀ ॥

[अब ढाई मन्त्रमें सर्वलोकव्यापिनी रात्रिके प्रभावके द्रष्टा गणदेवताओंका वर्णन किया है, कि–] हे रात्रि ! तुझसे संब-न्धित मनुष्योंके कर्मफलके द्रष्टा जो निन्यानवें गणदेव हैं । और जो रात्रिके प्रभावके देखने वाले अट्ठासी गणदेवता हैं तथा हे रात्रि ! तेरे प्रभावको देखने वाले जो सत्तर देवगण हैं, उनके द्वारा तुम हमारी रक्षा करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥

षष्टिः । च । षट् । च । रेवति । पञ्चाशत् । पञ्च । सुम्नयि ।
चत्वारः । चत्वारिंशत् । च । त्रयः । त्रिंशत् । च । वाजिनि ४

हे रेवति रयिमति । ❀ रयिशब्दाद् मतुपि "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् । "रयेर्मतौ बहुलम्" इति संप्रसारणम् । पूर्वरूपत्वे गुणः ❀ । हे धनवति धनप्रदे हे रात्रि षष्टिश्च षट् च षडुत्तरषष्टि-संख्याका ये गणदेवाः सन्ति । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चका-रौ ❀ । हे सुम्नयि सुम्नं सुखं तद्वति तत्स्थापिके पञ्चाशत् पञ्च पञ्चोत्तरपञ्चाशत्संख्याका ये गणदेवा द्रष्टारः सन्ति । तथा चत्वा-रश्चत्वारिंशत् चतुरुत्तराश्चत्वारिंशत्संख्याकाश्च ये सन्ति । हे वाजिनि वाजः अन्नं तद्वति वेगो वा वाजः तद्युक्ते त्रयस्त्रिंशत् त्रयु-

षट्त्रिंशत्संख्याका ये तव द्रष्टारो गणदेवा सन्ति। तेभिर्नः पाहि इत्युत्तरेण संबन्धः। ❀ षण्णां दशानां षड्भावः तिश्च प्रत्ययः। अपदत्वं च षड् दशानः परिमाणम् अस्य षष्टिः। पञ्चानां दशतां पञ्चभावः आशच्च प्रत्ययः। चत्वारः। "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इति आम् आगमः। चतुर्णां दशतां चत्वारिंभावः शच्च प्रत्ययः। त्रयाणां दशानां त्रिंभावः शच्च प्रत्ययः। त्रयोः दशतः परिमाणम् अस्य त्रिंशत्। एवं परिमाणार्थे पूर्वसूत्रेण षष्ट्यादिशब्दा निपातिताः ❀ ॥

हे धन प्रदान करने वाली रात्रि ! जो आपके छियासठ देवगण हैं। हे सुख प्रदान करने वाली रात्रि ! आपके जो पचपन देवगण हैं, हे अन्न प्रदान करने वाली रात्रि ! आपके जो चौवालीस देवगण हैं उनके द्वारा आप हमारी रक्षा करिये ४

पञ्चमी ॥

द्वौ च॑ ते विंश॒तिश्च॑ ते॒ रात्र्येका॑दशाव॒माः।
तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॒युभि॒र्नु पा॑हि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥

द्वौ। च॒। ते॒। विं॒श॒तिः। च॒। ते॒। रात्रि॑। एका॑दश। अ॒व॒माः।
तेभिः॑। नः॒। अ॒द्य। पा॒युऽभिः॑। नु। पा॒हि॒। दु॒हि॒तः॒। दि॒वः॒॥५

हे रात्रि विभावरि ते तव द्वौ विंशतिः अधिकविंशतिसंख्याका ये गणदेवा द्रष्टारः सन्ति। परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ। ❀ द्वयोर्दशतोर्विंभावः शतिश्च प्रत्ययः। द्वौ दशतौ परिमाणम् अस्य विंशतिः। अत्र नवत्यादयो विंशतिपर्यन्ताः शब्दाः संख्येयवचनाः ❀। तथा अवमाः संख्यातो निकृष्टा न्यूना एकादश एकश्च दश च एकोत्तरदशसंख्याका ये गणदेवास्त्वदीयत्याभिद्रष्टारः सन्ति। ❀ एकश्च दश चेति द्वन्द्वे "संख्या" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर-

त्वम् ❀। हे दिवो दुहितः द्युलोकस्य पुत्रि। आलोकाभावे रात्रिः आकाशाद् आपतन्तीव दृश्यते अतो रात्र्या लोकस्य पुत्रीत्यभिधीयते। ❀ "परमपि च्छन्दसि" इति षष्ठ्यन्तस्य आमन्त्रिताङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य सर्वानुदात्तत्वम् ❀। एवंविधे हे रात्रि त्वम् अद्य इदानीं नु चिमं तेभिः पूर्वमन्त्रोक्तैर्नवनवत्यादिभिः एकादशान्तैस्त्वदीयव्याप्तिदर्शकैः पायुभिः रक्षकैः। ❀ कृवापाजिमि० [उ० १. १] इति पातेः उण् प्रत्ययः ❀। गणदेवैर्नः अस्मान् पाहि रक्ष ॥

और हे रात्रि! तेरे जो बाईस देवगण हैं और और हे रात्रि! तेरी व्याप्तिको देखने वाले तेरे जो न्यूनसे न्यून ग्यारह देवगण हैं हे द्युलोककी पुत्री! (आलोकके अभाववश रात्रि आकाश से पतित होती हुई सी दीखती है अत एव रात्रिको द्युलोककी पुत्री कहा है।) हे रात्रि! तू इस समय निन्यानवेसे लेकर ग्यारह तकके अपनी व्याप्तिके दर्शक रक्षकोंके द्वारा हमारी रक्षा कर ॥ ५ ॥

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥६॥
माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः।
परमेभिः पथिभिः स्तेनो धावतु तस्करः।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ ७ ॥

रक्ष। माकिः। नः। अघऽशंसः। ईशत। मा। नः। दुःऽशंसः। ईशत
मा। नः। अद्य। गवाम्। स्तेनः। मा। अवीनाम्। वृकः। ईशत ६

मा । अश्वानाम् । भद्रे । तस्करः । मा । नृणाम् । यातुऽधान्यः ।

परमेभिः । पथिऽभिः । स्तेनः । धावतु । तस्करः ।

परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघऽयुः । अर्षतु ॥ ७ ॥

षष्ठी ॥ द्विपदेयम् ऋक् । हे रात्रि रक्ष पालय नः अस्मान् । रक्षणं नाम परकृतबाधापरिहारः । तद् आह । अघशंसः अघं पापं हिंसालक्षणं तत् शंसति कथयतीति अघशंसः त्वाम् अहं हन्मि इत्येवंवादी । अघेन पापेन क्रूरेण शस्त्रादिना शंसति हिनस्तीति वा अघशंसः । ❀ शस हिंसायाम् इति धातुः ❀ । एतादृशो माकिः न कश्चनापि नः अस्माकम् ईशत मा ईष्टाम् । ❀ माकि-रि तः निपातसमुदायः । तत्र मा इति निपातः क्रियापदेन संबध्यते । किशब्दः कश्चनेत्यर्थं कथयन् अघशंसेन संबध्यते ❀ । हिंसकः कश्चनापि अस्मान् बाधितुम् ईश्वरः समर्थो मा भवत्वि-त्यर्थः । ❀ ईश ऐश्वर्ये । अस्मात् "स्मोत्तरे लङ् च" इति स्मो-त्तरत्वाभावेपि माकि उपपदे लङ् । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः ❀ । तथा दुःशंसः दुष्टं दुर्वचनस्य कथयिता दुष्टं वा हिंसिता शत्रुः नः अस्माकं मा ईशतेति पूर्ववद् योज्यम् ॥

सप्तमी ॥ हे रात्रे स्तेनः चोरः अद्य इदानीं नः अस्मदीयानां गवाम् । मा ईशतेति क्रियानुषङ्गः । गवापहर्ता मा भवतु । वृकः वृकति आदत्त इति वृकः आरण्यश्वा । ❀ इगुपधलक्षणः क-प्रत्ययः ❀ । अवीनाम् अविजातीयानां पशूनां मा ईशत बलाद् अपहर्तुं शक्तो मा भवतु । हे भद्रे भन्दनीये रात्रि तस्करः तत् प्रसिद्धम् अनर्थजातं करोतीति तस्करश्चोरः । ❀ "तद्बृहतोः कर-पत्योः०" इति चोरेभिधेये तच्छब्दस्य सुडागमः तशब्दलोपश्च ❀ । अश्वानाम् अस्मदीयानां तुरंगमाणाम् । मा ईशतेत्यनुषङ्गः । तथा

नृणां नेतॄणां कर्मसु व्याप्रियमाणानां पुत्रभृत्यादीनाम् । ❀ "नृ च" इति दीर्घस्य विकल्पितत्वाद् अत्र दीर्घाभावः ❀ । यातुधानाः यातवो यातनाः पीडा धीयन्ते विधीयन्ते जनानाम् एभिः । ❀ इति करणे ल्युट् ❀ । यातूनां धातारो वा । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । ईदृशाः पिशाचादयो मां ईशत नृणां बाधका मा भवन्तु ॥

अष्टमी ॥ स्तेनतस्करयोरेको यौगिकः । तद् धनापहरणादिकं करोतीति तस्करः तादृशस्तेनश्चोरः परमेभिः अतिदूरैः पथिभिर्मार्गैः साधनैर्धावतु शीघ्रं गच्छतु पलायताम् । स्वदीपोपस्थानबलाद् अस्मदभिमुखश्चोरो व्याकुलः सन् अतिदूरं देशं गच्छतु । ❀ सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशः ❀ । तथा दत्वती दन्तवती । ❀ "छन्दसि च" इति दन्तशब्दस्य दद्भावः । "झयः" इति मतुपो वत्वम् ❀ । रज्जुः रज्जुवद् आयतः सर्पादिः परेण अतिदूरेण मार्गेण धावतु । तथा अघायुः अघं पापं हिंसालक्षणं परस्य इच्छतीति अघायुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । एवंविधो बाधकः परेण दूरेण अर्षतु गच्छतु । ❀ ऋषी गतौ । भौवादिकः ❀ ॥

हे रात्रि ! हमारी रक्षा कर ! [दूसरोंकी दी हुई बाधासे हमको बचा] मैं तुझको मार डालूँगा—इस प्रकार जो पाप भरे वचनको बोले ऐसा कोई भी मेरे ऊपर आरूढ़ न होसके अर्थात् कोई भी हिंसक मुझे पीड़ा देनेमें समर्थ न होवे । तथा दुर्वचनको कहने वाला कोई भी शत्रु मुझ पर अपनी प्रभुता न जमा सके । हे रात्रे ! चोर हमारी गौओंका हरण करनेमें समर्थ न होवे । और भेड़िया हमारी भेड़ोंको बलपूर्वक ले जानेमें समर्थ न होवे । हे कल्याणि रात्रि ! चोर हमारे घोड़ोंको ले जानेमें समर्थ न

होवे। और हमारे पुत्र भृत्य आदि मनुष्यों पर यातुधानी और पिशाच आदि बाधक न होसकें॥ वह धनापहरण आदिको करने वाला तस्कर चोर परम दूरके मार्गोंसे होता हुआ भाग जावे। आपके तपस्थानके बलसे हमारे अभिमुख आता हुआ चोर व्याकुल होकर दूरको भाग जावें। तथा दांत वाली रज्जु सर्प आदि दूरके मार्गको भाग जावे और हिंसारूपी पापको चाहने वाला अघायु दूर भाग जावे॥ ६॥ ७॥

नवमी॥

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ ८॥

अध। रात्रि। तृष्टऽधूमम्। अशीर्षाणम्। अहिम्। कृणु।
हनू इति। वृकस्य। जम्भयाः। तेन। तम्। द्रुऽपदे। जहि॥८॥

अध अथ। अपि चेत्यर्थः। हे रात्रि तृष्टधूमम्। ❀ ञितृष पिपासायाम्। अस्माद् "गत्यर्थाकर्मक०" इति कर्तरि क्तः। अत्र पिपासार्थेन तृषिणा तज्जन्या आर्तिर्विवक्ष्यते ❀। आर्तिकारी धूमः विषज्वालाधूमः निश्वासधूमो वा यस्य तं परोपद्रवकारिविषज्वालापरिवृतम् अहिम् सर्पम् अशीर्षाणम् अशिरस्कं कृणु कुरु। विपरीतम् अहेः शिरश्छिन्द्धीत्यर्थः। ~ "शीर्षश्छन्दसि" इति शिरसः शीर्षभावः ❀॥ किं च वृकस्य अजादिप्रभृतीनाम् अपहर्तुः आरण्यपशुनो हनू मुखस्य अन्तः स्थूलदन्तयुक्तौ पार्श्वौ परवादानसाधनभूतौ जम्भयाः जम्भयेः। ❀ जभि हिंसाकर्मा। जभिजृम्भी गात्रविनामे। अस्माल्लेटि आडागमः ❀। तेन यतो हनू निर्मर्दितौ तेन कारणेन तं निष्पिष्टहनुकं वृकं द्रुपदे द्रुमः तस्य पदे स्थाने जहि घातय। द्रुपदे इति रात्रेर्विशेषणं।

वा । द्रुः सर्वतोभिद्रवणम् अभिद्रवणसाधनपादयुक्ते सर्वतो व्यापिनि रात्रि तं जहीति । ❀ हन्तेर्लोटि "हन्तेर्जः" इति आदेशे "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति जादेशस्य असिद्धत्वात् हेर्लुक् न भवति ❀ ॥

हे रात्रि ! जिसका श्वासरूपी धुआँ पीड़ा देने वाला है उस सर्पको तुम शिररहित करो और भेड़ बकरी आदिका अपहरण करने वाले भेड़ियेके जो पशुओंको पकड़नेके स्थूल दाँतों वाले पार्श्व (हनू) हैं उनको भी नष्ट कर डालो । उसके हनूको नष्ट करनेके अनन्तर उस भेड़ियेको पेड़के नीचे समाप्त करदो ॥८॥

दशमी ॥

त्वयि॑ रात्रि वसामसि स्वपि॒ष्याम॑सि जागृ॒हि ।
गोभ्यो॑ नः॒ शर्म॑ यच्छा॒श्वे॑भ्य॒ः पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

त्वयि॑ । रा॒त्रि॒ । व॒सा॒म॒सि॒ । स्व॒पि॒ष्याम॑सि । जा॒गृ॒हि ।
गोभ्यः॑ । नः॒ । शर्म॑ । य॒च्छ॒ । अश्वे॑भ्यः । पुरु॑षेभ्यः ॥ ९ ॥

हे रात्रि त्वयि । देवताभिप्रायेण अधिकरणत्वं त्वत्कृतरक्षणनिमित्ते वा । वसामसि वसामः । एकत्र निवसामः । न केवलं निवासमात्रं किं तु स्वपिष्यामसि स्वप्स्यामः । निद्रां करिष्यामः । ❀ उभयत्र "इदन्तो मसिः" । स्वपेर्ल्यत्येन इडागमः ❀ । पुत्राद्यभिप्रायेण बहुवचनम् । यद्वा त्वयि अस्मदीयं सर्वं भारं निधायेति शेषः । वसामः स्वप्स्यामश्च । त्वं तु जागृहि । अस्मान् रक्षितुम् अवहिता भव । ❀ जागृ निद्राक्षये । आदादिकः ❀ ॥ न केवलम् अस्मद्रक्षणे जागरिता किं तु नः अस्माकं गोभ्यः गोष्ठे निवसद्भ्यः अश्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्च गृहे निवसद्भ्यः शर्म सुखं यच्छ । यथा निद्राणास्ते तव पारं क्षेमेण प्राप्नुयुस्तथा कुर्वित्यर्थः ॥

इति षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे रात्रि ! आपकी कीहुई रक्षाके प्रभाववश हम रहते हैं और सो भी सकेंगे । वा-आपके ऊपर सब भार रख कर हम रहते हैं और सोवेंगे, आप जागती रहें । हमारी रक्षा करनेके लिये सावधान होजावें । केवल हमारी रक्षा करनेके लिये जागती ही न रहें, किन्तु हमारी गोठमें रहने वाली गौओंको, घोड़ोंको, तथा घरमें रहने वाले पुरुषोंको सुख प्रदान करिये ॥ तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार निद्रा लेते हुए वे आपके पारको सुखपूर्वक प्राप्त करें, वैसा करिये ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५२१)

"अथो यानि च" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पे राज्युपस्थाने जपे च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सहोक्तः ॥

"अथो यानि च" इस सूक्तका रात्रिकल्पके राज्युपस्थानमें और जपमें विनियोग होता है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कहदी है

तत्र प्रथमा ॥

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि ।
तानि ते परि दद्मसि ॥ १ ॥
रात्रि मातरुषसे नः परि देहि ।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

अथो इति । यानि । च । यस्मै । ह । यानि । च । अन्तः । परिऽनहि ।
तानि । ते । परि । दद्मसि ॥ १ ॥
रात्रि । मातः । उषसे । नः । परि । देहि ।
उषाः । नः । अह्ने । परि । ददातु । अहः । तुभ्यम् । विभावरि २

प्रथमा ॥ पूर्वमन्त्रे गवादयो विशेषेण उक्ताः । अत्र तु उक्तान्यनुक्तानि वा बहिष्ठानि गृहवर्तीनि च संग्रहेणाह । अथो अपि च यस्मै यस्य मम संबन्धीनि बहिष्ठानि गोचरप्रदेशे अनावृतदेशे वर्तमानानि यानि वस्तूनि वर्तन्ते । यानि च परीणहि परितो नद्धे परिश्रिते गृहादौ अन्तः मध्ये यानि वर्तन्ते । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । परिपूर्वाद् नहेः क्विपि "नहिवृतिवृषि०" इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः ❀ । परीणच्छब्दो गृहवाची तैत्तिरीयके समाम्नायते । "प्रमसीव वा पर्योन्तश्चरति यः परीणहि" इति [तै० ब्रा० ३. २. ४. ७]। तानि प्रकाशानि अप्रकाशानि द्विविधानि वस्तूनि ते तुभ्यं परि दद्मसि । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामः । ❀ पूर्ववद् "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ हे मातः मातृवत्परिपालयित्रि हे रात्रि नः अस्मान् उषसे त्वत्समनन्तरभाविने प्रभातकालाय परि देहि रक्षणार्थं प्रयच्छ । हशब्दः पूरणः । तव पारम् उषःकालपर्यन्तं सुखेन अस्मान् प्रापयेत्यर्थः ॥

द्वितीया ॥ द्विपदा । उषाः उषःकालः सूर्योदयसमीपवर्ती समयः अह्ने सूर्यप्रकाशवते उषःकालानन्तरभाविने प्रातःसंगवमध्याह्नापराह्णसायाह्नरूपाय दिवसाय नः अस्मान् परि ददतु । उषःकालो दिवससमाप्तिपर्यन्तम् अस्मान् रक्षत्वित्यर्थः । हे विभावरि रात्रि । ❀ भा दीप्तौ । विपूर्वाद् "आतो मनिन्०" इति क्वनिप् । "वनो र च" इति ङीप् । नकारस्य च रेफः ❀ । अहः उक्तलक्षणोपेतः अहःकालश्च तुभ्यं नः परि ददातु । एवं पुन पुनरावर्तमानौ अहोरात्रौ अस्मान् रक्षताम् इत्यर्थः ॥

[पूर्वमन्त्रमें गौ आदिका विशेषरूपसे वर्णन किया यहाँ वर्णित और अवर्णित बाहरकी वा भीतर स्थित सब वस्तुओंका संग्रह करके कहा है, कि] अब जो बाहर उघड़े हुए गोचर प्रदेशमें

मेरी वस्तुएं हैं, और जो चारों ओरसे छायेहुए परीणह (घर)‡के भीतर जो मेरी वस्तुएँ हैं–उन प्रकट और अप्रकट दोनों प्रकारकी वस्तुओंका हम रक्षाके निमित्त आपको सौंपते हैं। हे माताकी समान पालन करने वाली रात्रि मातः! आप हमको, अपने अनन्तर होने वाले उषःकालके लिये रक्षार्थ, प्रदान करिये। अर्थात् उषःकाल तक अपने पार हमको सुखपूर्वक पहुँचाइये॥ और सूर्योदयके पासका जो समय है, वह उषःकालके अनन्तर ही होने वाले सूर्यके प्रकाशसे संयुक्त दिन नामक समयको हमें प्रदान करे, अर्थात् उषःकाल दिनकी समाप्ति तक हमारी रक्षा करता रहे। हे विभावरि! दिन, हमको फिर आपको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि–इस प्रकार वारम्बार आवर्तन करते हुए दिन और रात्रि हमारी रक्षा करें॥ १॥ २॥

तृतीया॥

यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम्।
यत् किं च पर्वतायासत्वं तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ३

यत्। किम्। च। इदम्। पतयति। यत्। किम्। च। इदम्। सरीसृपम्।
यत्। किम्। च। पर्वताय। असत्वम्। तस्मात्। त्वम्। रात्रि। पाहि। नः॥ ३॥

‡ परीणह शब्द गृहका वाचक है, इसी बातको तैत्तिरीयब्राह्मण ३। २। ४। ७ में कहा है, कि–"तमसीव वा एषोऽन्धमरति यः परीणहि।–जो घरके भीतर रहता है वह मानो अंधकारमें ही विचरण करता रहता है"॥

यत्किंच यत्किंचिद् इदं परिदृश्यमानं श्येनपक्ष्यादिकं पतयति आकाशे संचरति। ❀ पत गतौ । चुरादिः । अदन्तः ❀ । यत्किंचेदं सरीसृपम् भूमौ सरणशीलं सर्पादिकं यद् अस्ति। ❀ सृप्लृ गतौ। अस्माद् यङि "रीगृदुपधस्य च" इति अभ्यासस्य रीगागमः। पचाद्यचि "यङोचि च" इति यङो लुकि "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधः ❀ । यत्किंच पर्वताय पर्वतस्य संबन्धि असत्वम्। सत्वशब्दः प्राणिवाची। दुष्टं सत्वम् असत्वम् व्याघ्रसिंहादिकम् अस्ति तस्माद् उक्ताद् सर्वस्मात् पक्षिसर्पदुष्टमृगादिरूपाद् बाधकात् हे रात्रि त्वं नः अस्मान् पाहि रक्ष। ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् तस्माद् इति पञ्चमी ❀ ॥

आकाशमें उड़ने वाला जो श्येन आदि पक्षिसमूह है, और जो भूमिमें सरकने वाले सर्प आदि हैं और जो पर्वतमें विचरण करने वाले व्याघ्र सिंह आदि दुष्ट सत्त्व हैं, उन सब बाधकोंसे हे रात्रि! आप हमारी रक्षा करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

सा । पश्चात् । पाहि । सा । पुरः । सा । उत्तरात् । अधरात् । उत ।
गोपाय । नः । विभावरि । स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ४ ॥

हे रात्रि सा पूर्वोक्तलक्षणा त्वं पश्चात् पश्चिमभागे यत्र वयं वसामः स्वप्स्यामश्च तस्य पश्चिमभागे पाहि रक्ष अस्मान्। तथा सा त्वं पुरः पूर्वस्यां दिशि पाहि। ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति पूर्वशब्दाद् असि प्रत्ययः पुरादेशश्च ❀ ।

उत अपि च सा त्वम् उत्तरात् उत्तरतः अधरात् दक्षिणतः पाहि। उत्तरप्रतियोगिकः अधरशब्दो दक्षिणदिग्वाची । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति उभयत्र आतिप्रत्ययः ❀ ॥ किं च हे विभावरि रात्रि नः अस्मान् गोपाय । पूर्वं दिग्विशेषनिबन्धनं रक्षणम् उक्तम् । अत्र सामान्येन रक्षणं विवक्ष्यते । ❀ "गुपूधूप०" इति आयप्रत्ययः ❀ । रक्षणे आवश्यकत्वम् आह चतुर्थपादेन । इह अस्मिन् काले ते तव स्तोतारः स्मसि स्तुतिकर्तारो भवामः । ❀ "इदन्तो मसिः ❀ " ॥

हे पूर्वोक्त लक्षणों वाली रात्रि ! जहाँ हम बसते हैं और सोवेंगे उसके पश्चिमभागमें आप हमारी रक्षा करिये ! और उसके पूर्वभागमें भी आप हमारी रक्षा करिये। तथा उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओर भी आप हमारी रक्षा करिये हे विभावरि ! आप हमारी रक्षा करिये, इस समय हम आपकी स्तुति कर रहे हैं ४

पञ्चमी ॥

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

ये । रात्रिम् । अनुऽतिष्ठन्ति । ये । च । भूतेषु । जाग्रति ।
पशून् । ये । सर्वान् । रक्षन्ति । ते । नः । आत्मऽसु । जाग्रति ।
ते । नः । पशुषु । जाग्रति ॥ ५ ॥

ये जना रात्रिम् । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इत्यत्र "अजसादिषु" इति वचनात् जसादिषु दासेन अत्र ङीबभावः ❀ । अनुतिष्ठन्ति रात्रिविषयं कर्म अर्चनजपोपासनरूपं कुर्वन्ति । ये च जना भूतेषु

भवनवस्तु प्राणिषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये जाग्रति रक्षणार्थम् अवहिता भवन्ति । ये च सर्वान् गवाश्वादीन् पशून् रक्षन्ति रात्रौ भयहेतुभ्यः पालयन्ति । ते सर्वे नः अस्माकम् आत्मसु स्वशरीरे । तत्संबन्धिविवक्षया बहुवचनम् । अस्मदीयपुत्रमित्रादिषु विषये जाग्रति जाग्रयुः । रक्षणार्थम् अवहिता भवेयुः । ते च नः अस्माकं पशुषु विषये जाग्रति जागृयुः । ❀ अत्र लिङर्थे लट् द्रष्टव्यः । जागृ निद्राक्षये । अदादिकः ❀ ॥

जो पुरुष रात्रिविषयक पूजन जप और उपासनाको करते हैं, और जो पुरुष प्राणियोंमें रक्षा करनेके लिये जागते रहते हैं और जो गौ आदि सब पशुओंको रात्रिमें भयके कारणोंसे बचाते रहते हैं । वे सब हमारे शरीरकी और हमारे पुत्र मित्र आदिके शरीर की रक्षाके लिये जागृत रहें । और हमारे पशुओंकी रक्षाके लिये सावधान रहें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वेद॒ वै रा॑त्रि ते॒ नाम॑ घृ॒ताची॒ नाम॒ वा अ॑सि ।
तां त्वां भ॒रद्वा॑जो वेद॒ सा नो॑ वि॒त्तेऽधि॑ जाग्रति ६

वेद॑ । वै । रा॒त्रि॒ । ते॒ । नाम॑ । घृ॒ताची॑ । नाम॑ । वै । अ॒सि ।
ताम् । त्वाम् । भ॒रत्ऽवा॑जः । वे॒द॒ । सा । नः॒ । वि॒त्ते॑ । अधि॑ ।
जा॒ग्र॒ति॒ ॥ ६ ॥

हे रात्रि ते तव नाम नामधेयं वेद वेद्मि । ❀ "विदो लटो वा" इति मिपो णल् आदेशः ❀ । वैशब्दः प्रसिद्धौ । स्वेन ज्ञातं नामधेयं निर्दिशति घृताची नामेति । घृताची । ❀ घृ क्षरणदीप्त्योः । अस्माद् भावे क्तः ❀ । घृतं दीप्तिम् अञ्चतीति घृताची दीप्ति-

मती। ❀ घृतपूर्वाद् अञ्चतेः क्विन्। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इति अकारलोपः। "चौ" इति दीर्घः ❀। इति नाम असि। नामशब्दः प्रसिद्धौ। घृताचीति नाम्ना व्यवह्रियस इत्यर्थः। वैशब्दः प्रसिद्धौ। ताम् उक्तनामिकां त्वां भरद्वाजः भरत् पोषकं वाजः अन्नं यस्य। ❀ भृञ् भरणे। भौवादिकात् शतृप्रत्ययः ❀। एतन्नामा महर्षिः वेद जानाति। अत एव रात्रेर्भरद्वाजसंबन्धित्वं कात्यायन आह। "रात्रिर्वा भारद्वाजी रात्रिस्तवम्" इति [स० अ० ६३]। सा उक्तलक्षणोपेता भरद्वाजेन विदितप्रभावा रात्रिः नः अस्माकं वित्ते पशुपुत्रादिरूपे धने। अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी। वित्तविषये अधिकं वा जाग्रति जागर्तु। रक्षणार्थम् अवहिता भवतु। ❀ जागर्तेर्लेटि अडागमः। गुणाभावश्छान्दसः ❀॥

इति षष्ठेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

हे रात्रि! मैं तेरे नामको जानता हूँ, तेरा नाम घृताची है अर्थात् दीप्तिमती है। ऐसी तुझको भरद्वाज नामक ऋषि जानते हैं‡ हे भरद्वाजको विदित है प्रभाव जिसका रात्रि! हमारे पशु पुत्र आदि रूप धनमें आप जाग्रत रहें-रक्षाके लिये सावधान रहें ६

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५९९)॥

"इषिरा योषा" इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम्। रात्रीकल्पे पुरोहितकर्तव्ये रात्रीसमर्चनकर्मणि राज्युपस्थाने च अस्य सूक्तस्य विनियोगः। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" इति [प०

‡ भरद्वाज शब्दकी व्युत्पत्ति यह है, कि-जिनके पास भरत् अर्थात् पोषक, वाज अर्थात् अन्न रहता है वह भरद्वाज ऋषि हैं। कात्यायनमुनिने रात्रिका और भरद्वाज ऋषिका सम्बन्ध दिखाया है, कि "रात्रिर्वा भारद्वाजी रात्रिस्तवम्" (सर्वानुक्रम-ऋक्संहिता)॥

४. ३] मक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "आ रात्रि पार्थिवम् [१९. ४७] इषिरा योषा [१९. ४९] इति सूक्ताभ्याम् अन्वारभ्य जपेत्" इति [प० ४. ४] "पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषा इति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति च [प० ४. ५] ॥

"इषिरा योषा" ये दोनों सूक्त अर्थसूक्त हैं। रात्रिकल्पमें पुरोहितके कर्तव्य रात्रिपूजनकर्ममें और रात्रिके उपस्थानमें भी इसका विनियोग है। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ३) का आरम्भ करके परिशिष्टमें कहा है, कि—"आ रात्रि पार्थिवम् (१९ । ४७) इषिरा योषा (१९ । ४९) इति सूक्ताभ्यां अन्वारभ्य जपेत् ।" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ४) और पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषा इति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति च (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य ।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा ॥

इषिरा । योषा । युवतिः । दमूना । रात्री । देवस्य । सवितुः ।
भगस्य ।
अश्वऽक्षभा । सुऽहवा । सम्ऽभृतश्रीः । आ । पप्रौ । द्यावापृथिवी
इति । महिऽत्वा ॥ १ ॥

इषिरा एषणया सर्वैः प्रार्थनीया । इषिरशिशिर० [उ० १. ५३] इत्यादिवद् इषे किरच्प्रत्ययान्तत्वेन [उ० १. ५१]

निपातनं द्रष्टव्यम् ❀ । यद्वा । ❀ इष गतौ । औणादिक इक्-प्रत्ययः । रो मत्वर्थीयः ❀ । गतिमती सर्वत्र व्यापनशीला युवतिः यौवनवती न कदाचिद् अवस्थान्तरम् आप्तवती अपचयरहिता दमूना दान्तमनाः सवितुः सर्वस्य प्रेरकस्य भगस्य भजनीयस्य । ❀ भजतेः "पुंसि संज्ञायाम्०" इति घः ❀ । एतन्नामधेयस्य देवस्य योषा योषिद् अश्वक्षभा अशूनि आशूनि स्वविषये शीघ्रप्रवृत्तीनि अक्षाणि चक्षुरादीन्द्रियाणि अभिभवति तिरस्करोतीति अश्वक्षभा । चक्षुरादिनिरोधिकेति यावत् । ❀ अश्नोतेः कृवापाजिमि० [उ० १. १] इति उण् प्रत्ययः । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति वृद्ध्यभावः । भवतेः "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डः । अत्र केवलो भवतिरभिभवनार्थे वर्तते ❀ । यद्वा "अश्वस्य शुष्मं पुरुषस्य मायुम् आ ददे" [४] इति उत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वाद् अयम् अर्थः । अश्वान् क्षायति क्षपयतीति अश्वक्षा । अश्वक्षा भा दीप्तिर्यस्याः सा । अन्धतमसेपि अश्वा दूरं पश्यन्तीति प्रसिद्धिः । तद्दर्शनशक्तिप्रतिबन्धकदीप्तियुक्तेत्यर्थः । ❀ अश्नोतेः कशूलुषि० [उ० १.१४६] इत्यादिना क्वन् प्रत्ययः क्षै जै षै क्षये । अस्माद् अश्वोपपदाद् "आतोनुपसर्गे कः" ❀ । सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या संभृतश्रीः संपूर्णकान्तिः सर्वजगद्व्यापनात् स्वयमेव एका प्रतीयते यतः अतः संभृतश्रीः एवंविधलक्षणोपेता रात्री महित्वा महत्त्वेन महिम्ना द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ आ पप्रौ आपूरितवती । ❀ प्रा पूरणे । "आत औ णलः" ❀ ॥

सबके द्वारा प्रार्थना करने योग्य, सर्वत्र व्यापनशील, युवती अर्थात् कभी दूसरी अवस्थाको प्राप्त न होने वाली, दान्त मन वाली, सेवनीय देवता सूर्यदेवकी योषित्, अपने विषयोंमें शीघ्रता से प्रवृत्त होने वाली चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका तिरस्कार करने वाली अश्वक्षभा, भली प्रकार आह्वान करने योग्य, पूर्ण

कान्ति वाली रात्रि सर्वजगद्व्यापी होनेसे एक प्रतीत होती है, ऐसी रात्रिने अपनी महिमासे द्यावा पृथिवीको पूर्ण कर रक्खा है १

द्वितीया ॥

अति विश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः २

अति । विश्वानि । अरुहत् । गम्भीरः । वर्षिष्ठम् । अरुहन्त । श्रविष्ठाः ।
उशती । रात्री । अनु । सा । भद्रा । अभि । तिष्ठते । मित्रःऽइव । स्वधाभिः ॥ २ ॥

गम्भीरा दुष्प्रवेशा रात्रिः विश्वानि सर्वाणि चराचरात्मकानि वस्तूनि अत्यरुहति अतिक्रम्य व्याप्य वर्तते । तत्रापि श्रविष्ठा । श्रव इति अन्ननाम । ❀ श्रूयत इति सत इति हि यास्कः [नि० १०. ३] । अतिशयेन श्रवस्विनी अन्नवती । ❀ श्रवस्विश-ब्दाद् इष्ठनि "विन्मतोर्लुक्" । "टेः" इति टिलोपः ❀ । यद्वा श्रूयमाणा सर्वैरतिशयेन स्तूयमाना रात्रिः वर्षिष्ठम् उरुतरं वन-स्पतिपर्वतसमुद्रादिकम् अरुहन्त । ❀ अतीत्युपसर्गोऽनुषज्यते ❀ । अतिक्रम्य व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । सर्वाभिभावित्वेन वर्तनमेव अरोह-णम् । ❀ वृद्धशब्दाद् इष्ठनि वर्षादेशः ❀ । उशती अनन्तरं स्वगतजनम् आकाङ्क्षन्ती सर्वं वा कमितुं कामयमाना रात्री अनुक्षणं वि तिष्ठते विशेषेण जगद् व्याप्नोति मित्र इव सूर्यो यथा स्वधाभिः यजमानादिभिर्दत्तैर्हवीरूपैरन्नैः साधनैः क्षणेक्षणे स्वतेजसा विश्वम् आक्रामति एवम् इयं रात्रिरिति ॥

यह दुष्प्रवेश रात्रि सब चराचरात्मक वस्तुओंको दबा व्याप्त होकर स्थित रहती है, सब इसकी स्तुति करते हैं, यह विशाल

वनस्पति पर्वत समुद्र आदिको व्याप्त करके स्थित है, और यह अपनेमें वर्तमान जनताको चाहती हुई व्याप्त रहती है। जैसे सूर्य यजमान आदिके दिये हुए अन्नरूपी साधनोंसे क्षण क्षणमें विश्व पर आरूढ़ होते हैं तिसी प्रकार यह आरूढ़ होती है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन् रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ ३ ॥

वर्ये । वन्दे । सुऽभगे । सुऽजाते । आ । अजगन् । रात्रि । सुऽमनाः । इह । स्याम् ।

अस्मान् । त्रायस्व । नर्याणि । जाता । अथो इति । यानि । गव्यानि । पुष्ट्या ॥ ३ ॥

हे वर्ये अनिरुद्धप्रभावे । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति वृणोतेः अनिरोधेर्थे यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातनम् ❀। हे वदे सर्वैरभिष्टूयमाने । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति कर्मणि वदेः कप्रत्ययः । यजादित्वात् संप्रसारणे "संप्रसारणाच्च" इति परपूर्वत्वस्य छन्दसि विकल्पितत्वाद् अत्र परपूर्वत्वाभावः ❀ । हे सुभगे भगो भाग्यं सौभाग्यवति सर्वैः सुष्ठु संभजनीये वा । ❀ "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति भजतेर्घप्रत्ययः ❀ । हे सुजाते सुष्ठु प्रादुर्भूते हे रात्रि आ अजगन् आगतासि। ❀ गमेर्लुङि मध्यमपुरुषे सिपि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । "मो नो धातोः" इति नत्वम् । "हल्ङ्याp०" इत्यादिना सिपो

लोपः ❀। इह अस्यां त्वय्यागतायाम् अहं सुमनाः सुमनस्कः स्याम् भवेयम्। अनन्तरम् अस्मान् त्वदागमनेन सुमनस्कान्। पुत्रपश्वाद्यपेक्षया बहुवचनम्। त्रायस्व पालय। ❀ त्रैङ् पालने। भौवादिकः। "अनुदात्तङित:०" इति आत्मनेपदम् ❀। तथा जाता जातानि उत्पन्नानि नर्याणि नरहितानि वस्तूनि। ❀ "तस्मै हितम्" इति नरशब्दाद् यत् ❀। अथो अपि च पुष्टा पुष्टानि पोषकाणि गव्यानि गोभ्यो हितानि। उपलक्षणम् एतत्। गवाश्वादिहितानि यानि वस्तूनि तान्यपि त्रायस्व। मनुष्यगवादिहितरक्षणेन तेषां रक्षणं कैमुतिकसिद्धम्॥

हे वे रोकटोक प्रभाव वाली! हे सबसे स्तुति पाने वाली! हे सौभाग्यवति! हे सुन्दरतासे प्रादुर्भूत होने वाली रात्रि! आप आगई हैं। यहाँ आपके आने पर मैं सुन्दर मन वाला होऊँ। तदनन्तर आपके आनेसे प्रसन्न हुए पुत्र पशु आदि सहित हमारा आप पालन करें। और मनुष्योंका हित करनेके लिये तथा गौ आदि पशुओंका हित करनेके लिये प्रकट हुए पदार्थोंकी आप रक्षा करिये [और कैमुतिकन्यायसे मनुष्य गौ आदिकी भी रक्षा करिये]॥ ३॥

चतुर्थी॥

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती॥ ४॥

सिंहस्य। रात्री। उशती। पींषस्य। व्याघ्रस्य। द्वीपिनः। वर्चः। आ। ददे।

अश्वस्य । बुध्नम् । पुरुषस्य । मायुम् । पुरु । रूपाणि । कृणुषे ।

विऽभाती ॥ ४ ॥

उशती कामयमाना रात्री देवता पिषस्य संचूर्णकस्य सामर्थ्याद् गजयूथस्य । ❀ पिष्लृ संचूर्णने । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" ❀ । सिंहस्य । द्वीपिनः द्विधा गता आपो यस्मिन् । ❀ "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इति अप्शब्दाकारस्य ईकारादेशः ❀ । द्वीपम् अस्य निवासस्थानत्वेन अस्तीति । ❀ मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀ । स्वाच्छन्द्येन द्वीपे उदकावेष्टिते दुर्गादौ संचरतो व्याघ्रस्य व्याजिघ्रतः शार्दूलस्य वर्चः तेजः पराभिधर्षणसामर्थ्यरूपम् आ ददे अपहृतवती । सिंहादेः परोपद्रवकारकं सामर्थ्यम् अपजहार । तथा अश्वस्य शीघ्रगामिनस्तुरंगस्य बुध्नम् मूलम् । अश्ववीर्यस्य वेगो हि मूलम् । तथा । पुरुषस्य प्राणिनः मायुम् शब्दम् आह्वानादिलक्षणं च आ ददे । अश्वगतिनिरोधिका कुत्रापि पदार्थस्य अदर्शनात् तद्विषयवाग्व्यवहारनिरोधिका च बभूवेत्यर्थः ॥ अथ विभाती स्वयमेव विशेषेण भासमाना रात्री त्वं पुरु । ❀ सुपो लुक् ❀ । पुरूणि नानाविधानि रूपाणि कृणुषे करोषि । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

यह कामना करने योग्य रात्रि चूरा करने वाले गजसमूहके, सिंहके, द्वीपमें स्वच्छन्दतापूर्व रहने वाले गेंडेके, दूसरेको दबाना रूप, तेजको खेंच लेती है । और अश्वके मूल (वेग) को और प्राणीके आह्वान आदि रूप शब्दको भी खेंच लेती है, इस प्रकार स्वयं ही विशेषरूपसे दमकती हुई हे रात्रि ! आप अनेक प्रकार के रूपोंको करती हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥ ५ ॥

शिवाम् । रात्रिम् । अनुऽसूर्यम् । च । हिमस्य । माता । सुऽहवा । नः । अस्तु ।
अस्य । स्तोमस्य । सुऽभगे । नि । बोध । येन । त्वा । वन्दे । विश्वासु । दिक्षु ॥ ५ ॥

हे रात्रि त्वां शिवाम् शिवकारिणीम् । वन्दे इति उत्तरक्रियापदेन संबन्धः । तथा मयि महान्तं सूर्यं रात्रेर्भर्तारं भगं च । वन्द इति संबन्धः । रात्री सवितुर्भगस्य योषा [१] इति पूर्वम् उक्तम् ॥ अथवुत्य रात्रीं परोक्षेण स्तौति द्वितीयपादेन । हिमस्य शुहिमस्य माता जननी हिमोत्पादिका रात्री । रात्रौ हिमं वर्षत इति सर्वलोकसंप्रतिपन्नम् । तादृशी रात्रिः नः अस्माकं सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या अस्तु भवतु ॥ अथ प्रत्यक्षवद् उक्तिः । हे सुभगे सौभाग्यवति यद्वा भगः सूर्यः शोभनभगसंज्ञकपतियुक्ते त्वम् अस्य इदानीं क्रियमाणस्य अस्मदीयस्य स्तोमस्य स्तोत्रस्य स्तोत्रं नि बोध नितरां जानीहि । अनुग्रहानुकूलबुद्ध्या अनुमन्यस्व । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । "चतुर्थ्यर्थे बहुलम्" इति षष्ठी । बुधिर् अवगमने । भौवादिकः । अस्माल्लोटि मध्यमे हेतु क् ❀ । येन स्तोमेन विश्वासु सर्वासु दिक्षु व्याप्तां त्वा त्वां वन्दे अभिष्टौमि । ❀ वदि अभिवादनस्तुत्योः ❀ ॥

हे रात्रि ! मैं तुझ कल्याणकारिणीकी वन्दना करता हूँ, तथा रात्रिके भर्ता महान् सूर्यदेवकी मैं वन्दना करता हूँ। हिमकी उत्पादिका रात्रि सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य होवे, हे सूर्यरूप पति से युक्त सुभगे रात्रि ! आप हमारे इस किये हुए स्तोत्रको भली प्रकार जानें, अर्थात् अनुकूल बुद्धिसे अनुमति प्रदान करें। जिस से मैं सकल दिशाओंमें व्याप्त आपकी स्तुति करूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स्तोम॑स्य नो विभावरि॒ रात्रि॒ राजे॑व जोषसे ।
अ॒सा॑म॒ सर्व॑वीरा॒ भवा॑म॒ सर्व॑वेदसो॒ व्युच्छन्ती॒रनू॒षसः॑

स्तोम॑स्य । नः॒ । वि॒भा॒व॒रि॒ । रात्रि॑ । राजा॑ऽइव । जो॒ष॒से॒ ।
अ॒सा॑म । सर्व॑ऽवीराः । भवा॑म । सर्व॑ऽवेदसः । वि॒ऽउ॒च्छन्तीः॑ ।
अनु॑ । उ॒षसः॑ ॥ ६ ॥

हे विभावरि विशेषेण भासमाने हे रात्रि नः अस्मदीयस्य स्तोमस्य स्तोत्रस्य स्तोत्रं जोषसे जुषस्व सेवस्व । तत्र दृष्टान्तः । राजेव यथा राजा स्तोतृभिः क्रियमाणां स्तुतिं प्रीत्या सेवते अवहितः शृणोति एवम् अवहिता अस्मदीयं स्तोत्रम् अवधारयेति । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः। अस्माल्लेटि अडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिङ आर्धधातुकत्वात् लघूपधगुणः ❀ । यदि स्तोत्रं शृणुयास्तर्हि व्युच्छन्तीः । ❀ उछी विवासे ❀ । तमो विवासयन्तीः अपसारयन्तीः प्रकाशमाना उषसः उषःकालान् अनु । ❀ लक्षणार्थे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । उषःकालबहुत्वात् सार्वकालं विवक्षितम् । सर्वदा सर्ववीरा असाम । वीरः कर्मणि कुशलः पुत्रादिः। सकलपुत्रमित्रादिसमेता असाम भवाम । ❀ अस्तेर्लोटि

"आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀ । तथा सर्ववेदसः । वेद इति धननाम । संपूर्णधनयुक्ता भवाम । ❀ वेस्तेर्वा असुन् ❀ । सर्वविषयज्ञाना रात्रौ निद्रावशेन सर्वेन्द्रियव्यापाराणां विरामाद्द मूढाः सन्तः उषःकाले तमोविगतेः सर्वेन्द्रियविषयज्ञानवन्तो भवामेति । ❀ भवतेः पूर्ववद् आडागमः ❀ ॥

हे विशेषरूपसे ढकने वाली विभावरि रात्रि ! जैसे राजा स्तोताओंकी की हुई स्तुतिको प्रीतिपूर्वक सुनता है इसी प्रकार आप हमारी स्तुतिसे प्रसन्न हूजिये । यदि आप हमारे स्तोत्रको सुनती हों तो हम प्रति दिन अंधकारको दूर करने वाले उषःकालोंमें पुत्र पौत्र आदि सब वीरोंसे संयुक्त रहें और सकल धनोंसे सम्पन्न रहें । वा—सब विषयोंके ज्ञानसे सम्पन्न रहें अर्थात् रात्रिमें निद्राके कारण सब इन्द्रियोंके व्यापारके विरामके कारण मूढ़ होनेसे उषः कालमें अंधकार दूर होने पर सकल इन्द्रियोंके ज्ञानसे सम्पन्न होजावें ॥ ६

सप्तमी ॥

शम्या॑ ह॒ नाम॑ दधि॒षे मम॒ दिप्स॑न्ति॒ ये धना॑ ।
रात्री॑हि॒ तान॑सुत॒पा य स्ते॒नो न वि॒द्यते॒ यत् पुन॒र्न वि॒द्यते॑ ॥ ७ ॥

शम्या॑ । ह॒ । नाम॑ । द॒धि॒षे॒ । मम॑ । दिप्स॑न्ति । ये । धना॑ ।
रात्रि॑ । इ॒हि । तान् । अ॒सु॒ऽत॒पा । यः । स्ते॒नः । न । वि॒द्यते॑ ।
यत् । पुनः॑ । न । वि॒द्यते॑ ॥ ७ ॥

हे रात्रि त्वं शम्या नाम शम्येति नामधेयं दधिषे । शत्रुशमनसमर्था शम्या । ❀ शमशब्दाद् अर्हार्थे यत् । शमयतेर्वा व्यत्ययेन

कर्तरि यत् ❀। इत्थं शत्रुधर्षणसमर्थं शम्येति नामधेयं दधिषे धारयसि। दधातेः शब्दः प्रसिद्धौ। शम्येति नामधारणस्य प्रयोजनम् आह ममेत्यादिना। ये शत्रवः मम धना धनानि। ❀ शेर्लोपः ❀। दिप्सन्ति दम्भितुं हिंसितुम् अपहर्तुम् इच्छन्ति। ❀ दन्भु दम्भे। अस्मात् इच्छार्थे सनि "सनीवन्तर्ध०" इति इडभावे "दम्भ इच्च" इति इकारः। "अत्र लोपोभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः ❀। हे रात्रि त्वं तान् दिप्सून् शत्रून् अस्तुतपा असून् प्राणान् शात्रवीयान् तपन्ती तापयन्ती सती इहि गच्छ प्राप्नुहि। ❀ असूपपदात् तपेर्मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः। एतेर्लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। हेरपित्वात् गुणाभावः ❀। यद्वा सुष्ठु तपतीति सुतपा। ❀ सुपूर्वात् तपेः कर्तरि कप्रत्ययः। न सुतपा असुतपेति नञ्समासः ❀। दुःष्ठु तापयन्ती पाणिपादशिरोग्रीवादीनां व्यत्यासे हननेन विपरीतं क्लेशयन्ती सती तान् शत्रून् प्राप्नुहीति संबन्धः। तदेवाह। यः स्तेनः चोरः न विद्यते सत्तां न लभते नाविर्भवति न दृश्यते तथा इहि। यथ पुनर्न विद्यते पुनर्नोत्पद्यते। सपुत्रपशुबान्धवं शत्रुं मारयेत्यर्थः॥

हे रात्रि! आपने शम्या नामको धारण किया है। जो शत्रुओं को शान्त करनेमें समर्थ होती हैं वह शम्या कहलाती हैं। अत एव जो शत्रु मेरे धनका अपहरण करना चाहते हैं, हे रात्रि! आप उनके प्राणोंको तपाती हुई आइये। अथवा–उनके हाथ पैर शिर गरदन आदिको विशेषरूपसे देती हुई उनको प्राप्त हूजिये। चोर जिस प्रकार प्रकट न हो सके तिस प्रकार आइये। और फिर भी प्रकट न होसके तिस प्रकार आइये। और फिर भी प्रकट न हो तिस प्रकार आइये अर्थात् उसको पुत्र पशु बांधव सहित नष्ट कर डालिये॥ ७॥

अष्टमी ॥

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षामंमुक्थाः ॥ ८ ॥

भद्रा । असि । रात्रि । चमसः । न । विष्टः । विष्वङ् । गोऽरूपम् । युवतिः । बिभर्षि ।
चक्षुष्मती । मे । उशती । वपूंषि । प्रति । त्वम् । दिव्या । न । क्षाम् । अमुक्थाः ॥ ८ ॥

हे रात्रि त्वं भद्रा भन्दनीया कल्याणरूपा असि चमसो न । न उपमार्थीयः । चमन्ति अदन्ति अत्रेति चमसः पात्रं विष्टः भोजनार्थं परिविष्टश्चमसः पात्रमिव । विष्वक् विषूची । ❀ स्त्रीप्रत्ययस्य लुक् ❀ । विषूची सर्वत्र व्याप्ता युवतिः यौवनवती उत्तरोत्तरवर्धमानतमःपुञ्जयुता गोरूपम् धेन्वाकृतिं बिभर्षि धारयसि । रात्रेर्गोरूपत्वम् अन्यत्राम्नायते । “या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभवद् यमे” [तै० सं० ४. ३. ११. ५] इति । प्रथमा रात्रिः व्यौच्छत् विवासितवती उषोरूपेण संपन्नेति तस्यार्थः । तथा “यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्” [आप० सू० २०] इति धेनोरुपमानत्वात् तत्समानधर्मसद्भावो रात्रेः प्रतिपादितो भवति । अत्र रूपशब्दो धर्मवाची । यतो गोरूपं बिभर्षि अतः उशती अस्मान् पोषयितुं कामयमाना चक्षुष्मती चक्षुर्दर्शनशक्तिः तद्वती अस्मद्विषयदर्शनशक्तिमती अस्मान् रक्षितुम् अनुग्रहबुद्ध्या सर्वदा लोकमाना । एवंविधा त्वं मे मम वपूंषि शरीराणि । बहु-

चचनेन पुत्रादिशरीराणि विवक्ष्यन्ते। तानि प्रति अभिलक्ष्य क्षाम्। पृथिवीनामैतत्। क्षियन्ति निवसन्ति भूतान्यत्रेति क्षा भूमिः। तां नामुक्थाः न मुञ्च। तत्र दृष्टान्तः दिव्या नेति। दिव्या दिव्यानि दिवि भवानि शरीराणीव यथा दिव्यशरीराणि न मुञ्चसि एवम् अस्माकानीति। ❁ मुञ्चतेश्छान्दसे लुङि स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम्। "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❁ ॥

हे रात्री! तू भोजनके पात्र चमसकी समान कल्याणमयी है। तू सर्वत्र व्याप्ति वाली है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक तमःपुञ्जसे सम्पन्न रहती है अत एव युवती है, ऐसी तू धेनुके रूप अर्थात् धर्मको धारण कर लेती है। तू गोरूपको धारण करती है, इस कारण हमें पुष्ट करना चाहती हुई, हमें चक्षुः प्रदान करती हुई अर्थात् हमको अनुग्रह बुद्धिसे देखती हुई मेरे अपने तथा पुत्र पौत्र आदिके शरीरको पृथ्वी पर इस प्रकार न छोड़ जिस प्रकार दिव्य शरीरोंको नहीं छोड़ती है ॥ ८ ॥

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥

यः। अद्य। स्तेनः। आऽअयति। अघऽयुः। मर्त्यः। रिपुः।
रात्री। तस्य। प्रतिऽइत्य। प्र। ग्रीवाः। प्र। शिरः। हनत् ९

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत्।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥ १० ॥

प्र। पादौ। न। यथा। अयति। प्र। हस्तौ। न। यथा। अशिषत्।

यः। मलिम्लुः। उपऽआयति। सः। सम्ऽपिष्टः। अप। अयति।

अप। अयति। सुऽअपायति। शुष्के। स्थाणौ। अप। अयति।

नवमी॥ अथ इदानीं यः स्तेनः आयति आगच्छति। अस्मद्धनम् अपहर्तुम् इति शेषः। तथा अघायुः अघं हिंसालक्षणं पापं तद् परस्येच्छन्। ❀ अघशब्दात् क्यचि "अश्वाघस्यात्" इति आकारः ❀। मर्त्यः मरणधर्मा रिपुः शत्रुश्च आयति। ❀ इ गतौ। औणादिकः। अय पय गतौ इत्यस्माद् वा व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀। हे सुरूपे शोभनरूपे रात्रि मम। समीपम् इति शेषः। यश्च शत्रुः आयति स सर्वः स्तेनादिः संपिष्टः त्वत्तेजसा सम्यक् चूर्णितः अर्दितः सन् अपायाति अपसृत्य अपक्रम्य अयतु गच्छतु। त्वया बाधितः शत्रुः अस्मत्तो दूरदेशं गच्छत्वित्यर्थः। ❀ अयतेर्लेटि आडागमः ❀॥

दशमी॥ स संपिष्टो अपायतीत्युक्तम्। परोक्षवादेन संपेषप्रकारं विशिनष्टि। एवंमहिमोपेता रात्री देवता तस्य शत्रोः परोपद्रवकारित्वलक्षणम् अभिप्रायं प्रतीत्य सम्यग् ज्ञात्वा ग्रीवाः कन्धराः। अवयवापेक्षया बहुत्वम्। यद्वा तस्य पूर्वोक्तस्य स्तेनादेर्ग्रीवाः प्र हरत् प्रहरतु छिनत्तु। शिरश्च प्र हरत् प्रच्छिनत्तु। ❀ हरतेर्लेटि अडागमः ❀। पादौ च। प्र हरत् इति क्रियानुषङ्गः। यथा नायति पुनर्नागच्छति तथा पादौ गमनसाधनभूतौ प्रच्छिनत्तु। हस्तौ बाहू च प्र हरत् यथा नाश्लिषत् न संश्लेषयेत् मिथो न संयोजयत्। परं प्रहर्तुम् इति शेषः। तथा हस्तौ प्रच्छिनत्तु। ❀ श्लिष आलिङ्गने इति धातुः। "श्लिष आलिङ्गने" इति आलिङ्गनेर्थे क्सस्य विधानाद् अत्र तदर्थाभावात् च्लेः अङ् आदेश एव। क्ङित्वात् लघूपधगुणाभावः ❀॥

एकादशी॥ यो मलिम्लुः मलिम्लुचस्तस्करः उपायति अस्म-

दीयधनम् अपहर्तुं बाधितुं वा समीपम् आगच्छति स शत्रुः संपिष्टः त्वया सम्यक् चूर्णितः सन् अपायति अस्मत्तः अपगच्छतु । आदरस्य कृत्स्नद्योतनार्थम् अपायतीति पुनर्वचनम् । स्वपायति सुष्ठु सम्यग् निःशेषम् अपगच्छतु । गन्तव्यस्थानेपि सुखलेशस्याप्यभावम् आह । शुष्के नीरसे स्थाणौ शाखोपशाखारहितवृक्षमूले आश्रये अपायति अपायतु अपगच्छतु । अस्मत्तोऽपगतः शत्रुश्छायारहितं नीरसवृक्षमूलम् आश्रयत्वित्यर्थः । ❀ अत्र सर्वेष्वेतेषु ह अड़ागमः ❀ ॥

इति षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इस समय जो चोर हमारा धन छीननेके लिये आ रहा हो और जो वधरूपी पापको चाहने वाला मरणधर्मी शत्रु आ रहा हो, हे सुरूपे रात्रि ! जो चोर मेरे पास आरहा हो वह आपके तेमसे भली प्रकार पीड़ा पाकर हमको छोड़ कर दूर चला जावे ऐसी महिमासे सम्पन्न रात्रिदेवता शत्रुके दूसरेको दबानेके अभिप्रायको समझ कर उसकी गरदनको काटडाले और उसके शिरको भी काट डाले, और जिस प्रकार यह फिर न आसके तिस प्रकार इसके चरणोंको भी काट डाले । और जिस प्रकार यह दूसरों पर प्रहार करनेके लिये अपनी दोनों भुजाओंको न मिला सके, तिस प्रकार इसके दोनों हाथोंको काट डाले ॥ जो चार हमारे धनका अपहरण करनेके लिये वा बाधा देनेके लिये समीपमें आरहा है वह आपसे भली प्रकार पीड़ा पाकर हमारे पाससे भाग जावे-भाग जावे । भली प्रकार सोऽजय-नाशको प्राप्त होजावे । सूखे शाखा और उपशाखारहित वृक्षकी जड़में चला जावे अर्थात् शत्रु हमसे दूर होकर छायारहित नीरस वृक्ष के नीचे आश्रय लेय ॥ ६ ॥ १० ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६३)

"अध रात्रि तृष्टधूमम्" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पे राज्युपस्थाने जपे च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"अध रात्रि तृष्टधूमम्" इस सूक्तका रात्रिकल्पके राज्युपस्थानमें और जपमें विनियोग है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कह दी है।

तत्र प्रथमा ॥

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।

अक्षौ वृकंस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जंहि ॥ १ ॥

अध । रात्रि । तृष्टऽधूमम् । अशीर्षाणम् । अहिम् । कृणु ।

अक्षौ । वृकस्य । निः । जह्याः । तेन । तम् । द्रुऽपदे । जहि १

एषा ऋक् "आ रात्रि पार्थिवम्" इति सूक्ते व्याख्याता [४७.८]। अक्षौ निर्जह्या इत्येतावान् विशेषः। अक्षौ अक्षिणी चक्षुषी निर्जह्याः। ❀ जहातिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ❀। निर्हापयेः निर्मोचयेः। उत्पाटयेरिति यावत्। ❀ ओहाक् त्यागे। जौहोत्यादिकः। "लोपो यि" इति यकारादौ प्रत्यये धातोराकारस्य लोपः ❀ ॥

हे रात्रि ! जिसका श्वासरूपी धूम ही तृषा (पीड़ा) देने वाला है, उस सर्पको आप शिररहित करिये। और भेड़ियेके दोनों नेत्रोंको नष्ट करिये और ऐसा करके उसको वृक्षके स्थानमें समाप्त कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते रात्र्यनड्वाहस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः ।

तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥ २ ॥

ये । ते । रात्रि । अनड्वाहः । तीक्ष्णऽशृङ्गाः । सुऽआशवः ।

तेभिः । नः । अद्य । पारय । अति । दुःऽगानि । विश्वहा ॥२॥

हे रात्रि ते तव संबन्धिनो वाहनभूतास्तीक्ष्णशृङ्गाः । निशितविषाणाः स्वाशवः अतिशयेन शीघ्रगामिनो ये अनड्वाहः पुंगवा अनोवहनशक्ताः पुंगवाः सन्ति । ❀ "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इति आम् आगमः ❀ । तेभिः तैः उक्तलक्षणोपेतैरनडुद्भिः नः अस्मान् अद्य इदानीं विश्वहा विश्वेषु सर्वेषु अहःसु रात्रिषु च दुर्गाणि दुर्गमाणि कृच्छ्राणि दुर्जयानि अनर्थजातानि अति पारय अतिक्रामय । यथा दुस्तरं नद्यादिकम् अनड्वाहः पुरुषांस्तारयन्ति एवम् एभिः अस्मान् शत्रुकृतारिष्टेभ्यस्तारयेति ॥

हे रात्रि ! तेरे जो परम शीघ्रतासे चलने वाले तीक्ष्ण सींग वाले भारको उठानेमें समर्थ बैल हैं, उनके द्वारा तू हमें सब दिन दुर्जेय अनर्थोंके पार लगा । तात्पर्य यह है, कि–जैसे बैल दुस्तर नदी आदिके पार पुरुषको पहुँचा देते हैं । इसी प्रकार तू शत्रुके किये हुए विघ्नोंसे इनके द्वारा पार उतार ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम् ।

गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥ ३ ॥

रात्रिम्ऽरात्रिम् । अरिष्यन्तः । तरेम । तन्वा । वयम् ।

गम्भीरम् । अप्लवाःऽइव । न । तरेयुः । अरातयः ॥ ३ ॥

अत्र परोक्तवादः । रात्रिंरात्रिम् । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् ❀ । सर्वां रात्रिम् अरिष्यन्तः गमिष्यन्तः । ❀ आगामिराज्यपेक्षया भविष्यत्प्रयोगः । अर्तेः स्यप्रत्यये "ऋद्धनोः स्ये"

इति इडागमः ॐ । वयं तन्वा स्वशरीरेण । तनोति विस्तारयति कुलम् इति वा तनुशब्दः पुत्रवाची । पुत्रादिभिः सह तरेम । रात्रिरेव कर्म । सर्वस्या रात्रेः पारम् अश्नुवीमहीत्यर्थः ॥ अरातयः अस्मदीयाः शत्रवस्तु न तरेयुः रात्रिं नातिक्रामेयुः । रात्रावेव विनष्टा भवन्तु । अत्र दृष्टान्तः गम्भीरम् अप्लवा इवेति । प्लवः तरणसाधनम् उडुपम् तद्रहिता जना यथा गम्भीरम् अगाधं नद्यादिकं तरन्तो मध्येनदि निमज्जन्ति एवं स्वरक्षणरूपप्लवराहित्यात् तेषाम् रात्रिमध्य एव विनश्यन्तु इत्यर्थः ॥

हम सारी रात्रि भर चलते हुए पुत्र आदिके साथ रात्रिके पार पहुँचें । और हमारे शत्रु रात्रिके पार न पहुँच सकें रात्रिमें ही इस प्रकार विनष्ट होजावें जिस प्रकार डोंगे नौका आदि पार उतारनेके साधनोंसे रहित पुरुष अगाध नदी आदिको तरते समय नदीके बीचमें जाकर डूब जाते हैं, क्योंकि उनके पास आपकी रक्षाशक्तिरूप डोंगा नहीं होता है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते ।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥४॥

यथा । शाम्याकः । प्रऽपतन् । अपऽवान् । न । अनुऽविद्यते ।
एव । रात्रि । प्र । पातय । यः । अस्मान् । अभिऽअघायति ४

शाम्याकः श्यामाकाख्यो धान्यविशेषः । स यथा प्रपतन् पक्वः सन् निपतन् अपवान् अपकर्षवान् दुर्बलो निःसारो नानुविद्यते अवस्थितिं न लभते । नोपलभ्यते । विनश्यतीति यावत् । एव एवम् हे रात्रि त्वं प्र पातय प्रकर्षेण अवाङ्मुखं निपातय । तम् आह । यः शत्रुः अस्मान् अभिलक्ष्य अघायति अघं हिंसालक्षणं पापं कर्तुम् इच्छति हिनस्ति । तं प्रपातयेति संबन्धः ॥

जो शत्रु हमारे ऊपर पापको करनेकी इच्छासे आरहा है, हे रात्रि ! उसको आप इस प्रकार गिरा दीजिये, जिस प्रकार पका हुआ श्यामाक धान्य दुर्बल होकर स्थितिको नहीं पाता गिर ही पड़ता है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अपं स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम् ।
अथो यो अर्वतः शिरोभिधाय निनीषति ॥ ५ ॥

अप । स्तेनम् । वासः । गोऽअजम् । उत । तस्करम् ।
अथो इति । यः । अर्वतः । शिरः । अभिऽधाय । निनीषति ५

यः स्तेन वासः वस्त्रं गोअजम् । ❁ द्वन्द्वैकवद्भावः । स्फोटायनव्यतिरिक्ताचार्यमते अवङादेशाभावः । "सर्वत्र विभाषा गोः" इति विकल्पितत्वात् पूर्वरूपत्वाभावः ❁ । गा अजांश्च निनीषति तं स्तेनम् अप । ❁ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❁ । अपगमय । उत अपि च तस्करम् चोरम् अपसारय । अथो अपि च यस्तस्करः अर्वतः अश्वान् शिरः शिरांसि अभिधाय । ❁ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते । "अश्वाभिधानीम् आ दत्ते" [तै० सं० ५. १. २. १] इतिवत् ❁ । रज्ज्वादिना बद्ध्वा निनीषति अपजिहीर्षति तं तस्करम् अपजहीति ॥ स्तेनतस्करयोः पर्यायत्वेपि अपहार्यद्रव्यगौरवेण पृथगपहननम् उक्तम् इति वेदितव्यम् ॥

जो चोर वस्त्रको लेजाना चाहता है, उसको दूर करो, जो गौ और बकरीको लेजाना चाहता है, उसको दूर करो और जो घोड़ोंके शिरमें रस्सी बाँध कर उनको लेजाना चाहता है । उस को आप नष्ट कर डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यद्द्या रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसु ।
यदेतदस्मान् भोजय यथेदन्यानुपायसि ॥ ६ ॥

यत् । अद्य । रात्रि । सुऽभगे । विऽभजन्ति । अयः । वसु ।
यत् । एतत् । अस्मान् । भोजय । यथा । इत् । अन्यान् । उपऽअयसि

सुभगे सौभाग्यवति भगस्य वा पत्नि हे रात्रि अद्य अस्मिन् काले यद् अयः अयोमयं वस्तु वसु कनकादिकं च विभजन्ति विश्लेषयन्ति पृथक्कुर्वन्ति अपहरन्ति । शत्रव इत्यर्थः । तद् एतत् वसु । यच्छब्दो वाक्यालंकारे । अस्मान् धनस्वामिनः भोजय तद्धनस्य भोक्तृत्वं संपादय । ॐ भुजेर्हेतुमण्णिच् ॐ । तद् धनम् अस्मभ्यम् आहरेति यावत् । यथा येन प्रकारेण । इच्छब्दः अवधारणे । अन्यान् पदार्थान् दासीगोजादीन् शत्रुभिरपहृतान् उपायसि । ॐ अयसिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ॐ । उपगमयसि । ॐ इ गतौ । भौवादिकः । अयतेर्वा व्यत्ययेन परस्मैपदम् । लेटि वा अडागमः ॐ

हे सौभाग्यवती रात्रि ! इस समय जो शत्रु लोहेकी बनी वस्तुओंको और सुवर्ण आदि धनको हमसे अलग करना चाहते हैं । उस धनका हमको भोक्ता बनाइये । जिस प्रकार शत्रुओंके लिये हुए पदार्थोंको आप हमारे पास पहुँचाते हैं, तिस प्रकार इनको भी हमारे पास पहुँचाइये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उषसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।
उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥ ७ ॥

उषसे । नः । परि । देहि । सर्वान् । रात्रि । अनागसः ।

उषः । नः । अहे । आ । भजात् । अहः । तुभ्यम् । विभावरि

हे रात्रि अनागसः अनपराधान् त्वद्विषये अनादरम् अनाचरतः स्तुतिकर्तॄन् सर्वान् नः पशुपुत्रमित्रादिसकलान् अस्मान् उषसे प्रभातकालाय परि देहि रक्षणार्थं प्रयच्छ । उषःकालपर्यन्तं पालयेति यावत् । उषाश्च नः अस्मान् अह्ने प्रातरादिसायाह्नकालपर्यन्ताय दिवसाय प्रकाशवते आ भजत् आभजतु । परिपालयत्विति यावत् । अहरपि उक्तलक्षणम् हे विभावरि विशेषेण भासमाने रात्रि तुभ्यं परि ददातु । एवम् अनवरतं परस्परानुपदित्वेन आवर्तमानौ अहोरात्रौ अस्मान् शत्रुबाधापरिहारेण पशुधनादिसमेतान् कुरुताम् इति तात्पर्यार्थः ॥

इति षष्ठेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे रात्रि ! आपका अनादर न करके स्तुति करने वाले पशु पुत्र आदि सहित हमको आप प्रभातकालके लिये रक्षार्थ प्रदान करिये अर्थात् उषःकाल तक हमारी रक्षा करिये और उषा भी प्रकाश वाले दिन तक हमारा पालन करे । और दिन भी हे विभावरि ! हमको आपको प्रदान करे । इस प्रकार परस्पर अनवरत आवर्तमान दिन रात हमको शत्रुओंकी बाधाओंसे बचाते हुए हमको पशु धन आदिसे सम्पन्न रक्खे ॥ ७ ॥

छठे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५९४) ॥

"अयुतोहम्" इति यजुर्मन्त्रात्मकं सूक्तम् । अस्य विनियोगो लिङ्गाद् अवगन्तव्यः ॥

"अयुतोऽहम्" यह यजुर्मन्त्रात्मक सूक्त है । इसका विनियोग लिङ्गसे समझना चाहिये ।

तत्पाठस्तु ॥

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्र-

मयुंतो मे प्राणोयुंतो मेपानोयुंतो मे व्यानोयुंतोहं सर्वः ॥ १ ॥

अयुतः । अहम् । अयुतः । मे । आत्मा । अयुतम् । मे । चक्षुः । अयुतम् । मे । श्रोत्रम् । अयुतः । मे । प्राणः । अयुतः । मे । अपानः । अयुतः । मे । विऽआनः । अयुतः । अहम् । सर्वः १

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । प्रऽसूतः । आ । रभे ॥ २ ॥

अहं साङ्गशरीराभिमानी कर्मानुतिष्ठासुरहम् अयुतः संपूर्णः । मे मम आत्मा जीवः अयुतः संपूर्णः । अथ वा आत्मशब्देन शरीरम् उच्यते

आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि

इति अभिधातृभिः शरीरवाचकत्वेन प्रयुक्तत्वात् । तथा चक्षुः सर्वपदार्थविषयज्ञानसाधनं चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रम् वैदिकमन्त्रश्रवणसाधनं श्रवणेन्द्रियम् । प्राणः हृदयाद् आरभ्य नासिकारन्ध्रान्निर्गच्छद्वायुः प्राण इत्युच्यते । अपानः पायुद्वारान्निर्गच्छद्वायुः । अपानिति अनाङ्मुखं चेष्टत इति व्युत्पत्तेः । व्यानः प्राणापानसंधिरूपो वायुः । केचिच्छरीरवायोः प्राणादिपञ्चवृत्तित्वं समामनन्ति । अन्ये तु वृत्तित्रयवत्त्वम् । अयुतोहं सर्व इति उक्तानुक्तापयवेन्द्रियसाकल्याय उक्तम् ॥ सवितुः सर्वस्य प्रसवितुर्देवस्य प्रसवे अनुज्ञायाम् अश्विनोर्देवयोः अध्वर्य्वोः बाहुभ्यां पूष्णो देव-

स्य हस्ताभ्याम् । अंसप्रभृतिप्रकोष्ठपर्यन्तं बाहू । तदाद्यङ्गुल्यग्रपर्यन्तौ हस्तौ इति विभागः । प्रसूतः प्रेरितः अनुज्ञातो वा त्वा त्वाम् । क्रियमाणं कर्म संबोध्यते । आ रभे उपक्रमे प्रयोक्ता अहम् । सर्वेन्द्रियसंपूर्णः सवित्रा अनुज्ञातः अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णश्च हस्ताभ्यां कर्मसु व्याप्रिय इत्यर्थः । ❀ रभ राभस्ये । भौवादिकः । आत्मनेपदी । राभस्यम् उपक्रमः ❀ ॥

इति षष्ठेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

कर्मका अनुष्ठान करना चाहने वाला सांगशरीराभिमानी मैं पूर्ण हूँ मेरा शरीर भी पूर्ण है, मेरी सर्वपदार्थविषयज्ञान साधन चक्षुइन्द्रिय भी पूर्ण है, और मेरी वैदिक विषयोंको सुनने की साधन श्रवणेन्द्रिय भी पूर्ण है, मेरा हृदयसे उठ कर नासिका से निकलनेवाला प्राणवायु भी पूर्ण है और मेरा पायुके द्वारा निकलने वाला अपान भी अशुन अर्थात् पूर्ण है और मेरा प्राण अपानकी सन्धिरूप व्यान भी पूर्ण है । मैं इन कही हुई और न कही हुई सब इन्द्रियोंसे पूर्ण हूँ ॥ मैं प्रयोक्ता पुरुष हे कर्म ! तुझको सर्वप्रेरक सवितादेवकी प्रेरणासे, अध्वर्यु अश्विनीकुमारोंकी बाहुओंसे और पूषाके हाथोंसे आरम्भ करता हूँ ॥ १ ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५६१) ॥

"कामस्तदग्रे" इति सूक्तेन प्रतिगृह्यमाणं द्रव्यम् अभिमन्त्र्य प्रतिगृहीता स्वीकुर्यात् । सूत्रितं हि संहिताविधौ । "क इदं कस्मा अदात् [३. २९. ७] कामस्तदग्रे [१९.५२] यदन्नं [६.७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७.६९] इति प्रतिगृह्णाति" [कौ०५.९] इति ॥

सत्वयज्ञप्रतिग्रहेपि इदं सूक्तं विनियुक्तम् । सूत्रितं हि कौशिकेन । ददामीति नामग्राहम् उपस्पृशेत् सदक्षिणं कामस्तदग्र इत्युक्तम्" [कौ० ८. ६] इति ॥

तथा दर्शस्य पूर्णमासस्य वा व्यतिक्रमे जाते आज्यहोमे शान्त-

समिदाधाने वा विनियुक्तम्। सूत्रितं हि। "एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति। तयोर्व्यतिक्रमे 'त्वमग्ने व्रतपा असि' [१६.५२] 'कामस्तदग्रे' [१६.५२] इति शान्ताः" इति [कौ० १. ६]॥

सौवर्णभूमिप्रतिकृतिदाने अनेन कामसूक्तेन आज्यं जुहुयात्। "अथ रोहिण्याम्" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। "अन्वारभ्याय जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम् इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम्" इत्यादि [प० १०. १]॥

"कामस्तदग्रे" सूक्तसे प्रतिग्रहके द्रव्यका अभिमन्त्रण करके प्रतिगृहीता स्वीकार कर लेय इस विषयका कौशिकसूत्र ४। ६ में प्रमाण है, कि—"क इदं कस्मा अदात् (३। २६। ७) कामस्तदग्रे (१६। ५२) यदन्नं (६। ७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७। ६६) इति प्रतिगृह्णाति"॥

सवयज्ञप्रतिग्रहमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्र ८। ६ में कहा है, कि—"ददामीति नामग्राहं उपस्पृशेत् सदक्षिणं कामस्तदग्र इत्युक्तम्"॥

तथा दर्श वा पूर्ण मासमें व्यतिक्रम होजाने पर घृतहोमके शान्तसमिदाधानमें भी इसका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्र १। ६ में कहा है, कि—"एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति। तयोर्व्यतिक्रमे 'त्वमग्ने व्रतपा असि' (१६। ५६) 'कामस्तदग्रे' (१६। ५२) इति शान्ताः"॥

भूमिकी सुवर्णकी मूर्तिके दानमें इस कामसूक्तसे घृतकी आहुति देवे। इसी बातको "अथ रोहिण्याम्" का आरम्भ करके अथर्वपरिशिष्ट १०। १ में कहा है, कि—"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तं इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम्"॥

तत्र प्रथमा ॥

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ १ ॥

कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।
सः । काम । कामेन । बृहता । सऽयोनिः । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ १ ॥

एतत् सूक्तं कामप्रतिपादकत्वात् कामसूक्तम् इति अभिधीयते । प्रलयकाले सर्वेषु जगत्सु वासनाशेषेण मायायां विलीनेषु पुनरीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव किंनिबन्धनम् इति तद्‌ आह कामस्तदग्र इति । अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यग् अजायत । सिसृक्षा जातेत्यर्थः । अत्र मनोव्यतिरेकेण कामनाया उत्पत्त्यसंभवात् मनस्तत्त्वमपि प्रथमं मायातो जातम् इत्यर्थः । श्रूयते । "तद्‌ असदेव सन्मनोऽकुरुत स्याम् इति" इति [तै० ब्रा० २. २. ६. १] । ईदृशस्य मनस उत्पत्तेरनन्तरं कामः समवर्ततेत्यर्थः । ईश्वरस्य सिसृक्षा किंहेतुकेत्यत आह मनस इति । मनसः अन्तःकरणस्य संबन्धि वासनाशेषेण मायायां विलीने अन्तःकरणे समवेतम् । ❀ सामान्यापेक्षम् एकवचनम् ❀ । सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतम् इत्यर्थः । एतेन आत्मनो गुणाधारत्वं प्रत्याख्यातम् । तादृशमनःसंबन्धि रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथमम् अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म यत् यतः कार-

णात् सृष्टिसमये आसीत् अभवत् भूष्णु वर्धिष्णु समजायत। परिपक्वं सत् फलोन्मुखम् आसीत् इत्यर्थः। तत् ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षाजायते-त्यर्थः। तस्यां च जातायां द्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा च आम्नायते। "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यत् इदं किं च" इति [तै० आ० ८, ६]। हे काम सः सर्वजगत्सर्जनार्थं परमेश्वरेण उत्पादितस्त्वं बृहता महता देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितेन कामेन कामयित्रा परमेश्वरेण। ❀ कामयतेः पचाद्यच् ❀। सयोनिः समानकारणः। परमेश्वरव्यतिरिक्तकारणान्तररहित इत्यर्थः। यजमानाय धनप्रदात्रे हविःप्रदात्रे वा पुरुषाय रायो धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिं धेहि स्थापय प्रयच्छ। अत्र कामो जगद्विषयकामरूपत्वेन स्वफलसिद्ध्यर्थं स्तूयते॥

[यह सूक्त कामप्रतिपादक होनेसे कामसूक्त कहलाता है। प्रलयके समय सब जगत्के वासनामात्र शेष अवस्थामें मायामें लीन होजाने पर, फिर ईश्वरका पर्यालोचन होकर जगत्की पुनरुत्पत्तिमें कारण होता है वह कारण किस कारणसे होता है तो कहते हैं, कि-] विकारजात सृष्टिकी पूर्वावस्थामें परमेश्वरके मनमें काम भली प्रकार प्रकट हुआ अर्थात् रचने की इच्छा हुई [मनके विना कामनाकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है अतः मनस्तत्त्व भी पहिले मायासे प्रकट हुआ है। श्रुतिमें भी कहा है, कि—" तद् असद् एव सन् मनोऽकुरुत स्याम् इति" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २। २। ६। १) तात्पर्य यह है; कि—ऐसे मनकी उत्पत्तिके अनन्तर काम प्रवृत्त हुआ। ईश्वरकी रचनेकी इच्छामें क्या कारण है वह मायामें विलीन सब प्राणियोंका अन्तःकरणसम्बन्धीवासनाशेष है। इससे आत्माका गुणाधारत्व

होना कट गया] ऐसे मनका जो भावी प्रपञ्चका बीजभूत बीते हुए कल्पमें प्राणियोंका किया हुआ पुण्य पापरूप जो कारण परिपक्व होकर फलोन्मुख हुआ इस कारण फलप्रद सर्वसाक्षी कर्माध्यक्ष परमेश्वरके मनमें रचनेकी इच्छा प्रकट हुई। उस इच्छा के होने पर वह द्रष्टव्यको देख कर उस सबकी रचना करते हैं। इसी बातको तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६ में कहा है, कि–"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्त्वा इदं सर्वं असृजत यत् इदं किं च।–उसने कामना की कि—मैं बहुत होकर प्रकट होऊँ, तब उसने तप किया और उसने तप करके इस सबको रचा, कि–जो यह सब कुछ है] हे काम! वह सब जगत्की रचना करनेके लिये परमेश्वरसे उत्पन्न किया हुआ तू महान् देशकालवस्तुके परिच्छेदसे रहित कामना करने वाले परमेश्वरका सयोनि है, परमेश्वरके व्यतिरिक्त अन्तःकरणसे रहित है। ऐसा तू धनप्रदाता वा हविःप्रदाता यजमानके लिये धनकी पुष्टिको प्रदान कर। [यहाँ जगद्–विषयकामरूपत्वसे अपने फलकी सिद्धिके लिये कामकी स्तुति की गई है] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्वं का॑म॒ सह॑सासि॒ प्रति॑ष्ठितो वि॒भुर्वि॒भावा॑ सख॒ आ स॑खीयते ।

त्वमु॒ग्रः पृत॑नासु सास॒हिः सह॒ ओजो॒ यज॑मानाय धेहि

त्वम् । का॒म॒ । सह॑सा । अ॒सि॒ । प्रति॑ऽस्थितः । वि॒ऽभुः । वि॒भाऽवा॑ । स॒खे॒ । आ । स॒खी॒य॒ते ।

त्वम् । उ॒ग्रः । पृत॑नासु । स॒स॒हिः । सहः॑ । ओजः॑ । यज॑मानाय । धे॒हि॒ ॥ २ ॥

हे काम त्वं सहसा परधर्षणसामर्थ्येन प्रतिष्ठितोसि । विभुः सर्वविषयत्वाद् व्याप्तः विभावा विशेषेण दीप्यमानः । अस्पष्टविषयत्वाभावात् । ❀ भातेः क्वनिप् ❀ । हे सखे सखित्वद्धितकारिन् काम मा सखीयते अस्मान् अभिलक्ष्य सखिवद् आचरति। भवच्छब्दाध्याहारेण प्रथमपुरुषः । ❀ सखिशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । "अकृत्सार्वधातुकयोः॰" इति दीर्घः । ङिन्त्वाद् आत्मनेपदम् ❀ । किं च हे काम त्वम् उग्रः उद्गूर्णः पृतनासु शत्रुसंग्रामेषु सासहिः सोढा । ❀ सहेर्यङन्तात् किम्प्रत्ययः ❀ । सहः शत्रुधर्षणसमर्थम् ओजः बलं यजमानाय यष्ट्रे जनाय धेहि विधेहि प्रयच्छ ॥

हे काम ! तू परधर्षणशक्तिसे प्रतिष्ठित है । सर्वविषय होनेसे विभु है, विशेषरूपसे दीप्त होनेके कारण विभावा है । हे सखे ! तुम हमको लक्ष्यमें रख कर मित्रकी समान वर्ताव करते हो । हे काम ! तुम प्रचण्ड बली हो, शत्रुओंको दबाने वाले हो, ऐसे तुम यजमानके लिये शत्रुधर्षण समर्थ ओज और बलको प्रदान करो॥१॥

तृतीया ॥

दूराच्चकमानायं प्रतिपाणायाक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥ २ ॥

दूरात् । चकमानाय । प्रतिऽपानाय । अक्षये ।
आ । अस्मै । अशृण्वन् । आशाः । कामेन । अजनयन् । स्वः ॥२

दूरात् दूरविषयम् अत्यन्तदुर्लभं फलं चकमानाय कामयमानाय । ❀ कमतेर्लिटः कानच् । "आयादय आर्धधातुके वा" इति णिङभावः ❀ । अस्मै जनाय प्रतिपाणाय सर्वतोरक्षणाय अभिमतफलप्रापणाय अक्षये क्षयराहित्ये निमित्ते अनिष्टनिवृत्तये च आशाः

दिशःसर्वा प्राच्यादयः आभूपवन् आभवर्णं फलं प्रदातुम् प्रतीकरणं कृतवत्यः। ❀ "प्रत्याङ्भ्यां श्रवः०" इति अस्मा इत्यत्र संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀। न केवलं प्रतिश्रवणं किं तु कामेन अभिमतफलविषयेण स्वः सुखनामैतत्। सुखम् अजनयन् उदपादयन् ॥

अत्यन्त दुर्लभ फलकी कामना करने वाले इस यजमानके लिये पूर्व आदि सब दिशाओंने अभिमत फल प्राप्त करानेकी, स्वपरहितताकी अर्थात् अनिष्टनिवृत्तिकी प्रतिज्ञा की है प्रतिज्ञा ही नहीं की किंतु अभिमतफलसे सुखको भी प्रकट किया है ॥३॥

चतुर्थी ॥

कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि ।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥ ४ ॥

कामेन । मा । कामः । आ । अगन् । हृदयात् । हृदयम् । परि ।
यत् । अमीषाम् । अदः । मनः । तत् । आ । एतु । उप । माम् ।
इह ॥ ४ ॥

कामेन फलविषयया इच्छया कामः काम्यमानं फलं मा माम् आ अगन् आगच्छतु। ❀गमेर्लुङि च्लेर्लुकि मकारस्य नकारः❀। कामनाया मनोमूलत्वात् तन्मनः संपादयति। पूर्वं जगत्सृष्ट्यर्थं ब्रह्मणा उत्पादिता जगत्सृष्टिविषये कामयितारो नव ब्रह्माणः अमीषाम् इत्यदःशब्देन विवक्ष्यन्ते। तेषां विप्रकृष्टानां ब्रह्मणां यद् अदो मनः अस्तित्वभावनानिमित्तं तत् हृदयात्। प्रत्येकविवक्षया एकवचनम्। हृदयेभ्यः हृदयम् मदीयं हृदयप्रदेशं परि अभिलक्ष्य। ❀ लक्षणादिष्वर्थेषु परिः कर्मप्रवचनीयः ❀। तत् तदीयं सर्वविषयं मनः इह अस्मिन् फलकामे मां कामयितारम् उपैतु उपगच्छतु ॥

फलविषयक इच्छासे काम्यमान फल मुझको प्राप्त हो [कामना मनोमूलक है, अत एव उस मनका सम्पादन करते हैं, पहिले जगत्की सृष्टिके लिये ब्रह्माजीने जगत्की सृष्टिको चाहने वाले नौ ब्राह्मणोंको प्रकट किया था] उन ब्राह्मणोंका जो मन है उनका वह मन मुझ फल चाहने वालेको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्कांम कामयंमाना इदं कृण्वसिं ते हविः ।

तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्यं हविषो वीहि स्वाहां ५

यत् । काम । कामयंमानाः । इदम् । कृण्मसि । ते । हविः ।

तत् । नः । सर्वम् । सम् । ऋध्यताम् । अथं । एतस्यं । हविषः ।

वीहि । स्वाहां ॥ ५ ॥

हे काम वयं यत् फलं कामयमानाः सन्तः ते त्वदर्थम् इदम् इदानीं दीयमानं हविः चरुपुरोडाशादिकं कृण्मसि कुर्मः प्रयच्छामः । ❀ "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उप्रत्ययस्य लोपः ❀ । अथ अनन्तरम् एतस्य प्रत्तस्य हविषः । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । हविषो भागं वा वीहि भक्षय स्वाहा इदं हविः सुहुतम् अस्तु । ❀ वीगतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । आदादिकः ❀ । तत् काम्यमानं नः अस्मदीयं सर्वं फलं समृध्यताम् समृद्धं संपूर्णं भवतु ॥

इति षष्ठेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे काम ! हम जिस फलको चाहते हुए आपके लिये इस समय जिस चरुपुरोडाश आदि हविको देरहे हैं, उस दी हुई हविके

आपको आप स्वीकृत करिये, यह हवि भली प्रकार आहुत हो। यह हमारा अभिलषित सब फल समृद्ध होवे, पूर्ण होवे ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५८९)

"कालो अश्वो वहति" इति सूक्तद्वयस्य सौवर्णभूमिदाने आज्यहोमे विनियोगः। उक्तं हि परिशिष्टे। "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम्" इति [प० १०, १]। कालप्रतिपादकत्वात् कालसूक्तम् इत्युच्यते ॥

"कालो अश्वो वहति" इन दोनों सूक्तोंका सौवर्णभूमिदानके घृतहोममें विनियोग होता है। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि–"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम्" (अथर्वपरिशिष्ट १० । १)। यह सूक्त कालका प्रतिपादक होने से कालसूक्त कहलाता है ॥

तत्र प्रथमा ॥

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥

कालः। अश्वः। वहति। सप्तऽरश्मिः। सहस्रऽअक्षः। अजरः। भूरिऽरेताः।
तम्। आ। रोहन्ति। कवयः। विपःऽचितः। तस्य। चक्रा। भुवनानि। विश्वा ॥ १ ॥

अनेन सूक्तद्वयेन सर्वजगत्कारणभूतः कालरूपः परमात्मा स्तूयते। तत्र प्रथमया कालोऽश्वात्मना रूप्यते। सप्तरश्मिः सप्त

संख्याका रश्मयो रज्जवो मुखग्रीवापादाबन्धका यस्य सः सह-स्राक्षः सहस्रलोचनः अजरः जरारहितः नित्ययुवा भूरिरेताः । रेतः शुक्ररूपः सप्तमो धातुः । प्रभूतवीर्यः रेतःसेचनसमर्थः अप-त्योत्पादनशक्तः कालः कलयिता अश्वो वहति स्वारोहकान् अभि-मतं प्रदेशं प्रापयति । तम् अश्वं विपश्चितः अश्वारोहणावरोहणा-दिषु कुशला अश्वशास्त्रनिष्णाताः कवयो धीमन्तः आ रोहन्ति । तस्य अश्वस्य चक्रा चक्राणि । ❀ चक्रं चङ्क्रमणात् इति यास्कः [नि० ४. २७] ❀ । गन्तव्यानि स्थानानि विश्वा विश्वानि भुवनानि । इति अश्वपक्षेऽर्थः ॥ विवक्षितस्तु । अश्वः अश्नुते व्या-प्नोति भूतभविष्यद्वर्तमानकालवर्तीनि वस्तूनीति अश्वः । कालः कलयिता सर्वस्य जगतः अनवच्छिन्नकालरूपः परमेश्वरः । सप्त-रश्मिः । रश्मिशब्देन ऋतव उच्यन्ते । सप्तर्तुः एकैक ऋतुर्मास-द्वयात्मकः सप्तमस्तु त्रयोदशो मासः । तथा च दाशतय्याम् आ-म्नायते । “साकंजानां सप्तथम् आहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति” इति [ऋ० १. १६४. १५] । अत्रापि समाम्नातं प्राक् [६. १४. १६] । सहस्राक्षः । अत्र अक्षिशब्देन दिनानि रात्र-यश्च उच्यन्ते । सहस्रसंख्याकाहोरात्रयुक्तः । अजरः जरारहितः सर्वदा एकरूपः । भूरिरेताः प्रभूतजगत्सर्जनसमर्थशक्तिसंपन्नः । एवंरूपः कालो वहति प्राणिजातं स्वस्वकर्मसु प्रापयति । तं कालं कवयः क्रान्तदर्शिनो विपश्चितः विद्वांसः आ रोहन्ति स्वाधीनं कुर्वन्ति । स्वाधीनकाला भवन्तीत्यर्थः । तस्य कालात्मकस्य रथस्य चक्रा चक्राणि विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतजातानि । लोकान् अभिगच्छन्तीति शेषः ॥ अथ वा अश्वशब्देन आदित्य उच्यते । तथा च यास्कः । “एको अश्वो वहति सप्तनामा । आदित्यः । सप्तास्मै रश्मयो रसान् अभिसंनामयन्ति सप्तैनम् ऋषय स्तुव-न्तीति वा” इति [नि० ४. २७] । कालात्मकोऽश्वः सूर्यः सप्त

रश्मयः प्रधानभूता यस्य । ते चैव सप्त सूर्या इत्युच्यन्ते । "देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः" इति निगमः [ऋ० ९. ११४. ३] । तेषां च नामानि तैत्तिरीया अधीयते । "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः" इति [तै० आ० १. ७. १] । असौ तु प्रधानभूतः कश्यपाख्य आदित्यः । "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति" इति श्रुतेः [तै० आ० १. ७. १] । यद्वा रश्मिशब्देन छन्दांस्यभिधीयन्ते गायत्र्यादीनि छन्दांसि यस्य । तथा च निगमः । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति [तै० ब्रा० ३. १२. ९. १] । यद्वा रश्मिमन्तोऽश्वा रश्मिशब्देन उच्यन्ते । ❀ मत्वर्थीयस्य लोपः ❀ । सप्ताश्वः । "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" इति निगमः [१.१४.२] । सहस्राक्षः अक्षिवद् अक्षीणि किरणाः सहस्रकिरणोपेतः अजरः अविनश्वरो नित्यः भूरिरेताः । उदकवाची रेतःशब्दः । "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति" इति श्रुतिः [तै० सं० २.४. १०. २] । एवंरूप आदित्यो वहति कालचक्रं धारयति । तं कालात्मकं सूर्यं विद्वांसः अधिगतपरमार्थाः आ रोहन्ति सूर्यमण्डलं भित्त्वा उपगच्छन्ति

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

इति स्मृतेः । यद्वा स्वात्मभावेन अधितिष्ठन्ति । अत एव आदित्यं पुरुषं प्रकृत्य श्रूयते । "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं तद् उक्तम् ऋषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति [ऐ० आ० २.२.४] । तस्य सूर्यस्य चक्रा चक्राणि चङ्क्रमणानि व्याप्तिस्थानानि सर्वाणि जगन्तीति ॥

[इन दो सूक्तोंसे सब जगत्के कारणभूत कालरूप परमात्मा

की स्तुति की गई है। पहिली ऋचासे कालका अश्वरूपसे निरूपण करते हैं, कि-] मुख ग्रीवा पाद आदियें बँधी हुई सात रस्सियोंवाला, सहस्र लोचन वाला, अजर अर्थात् नित्य तरुण रहने वाला, भूरि वीर्य वाला अर्थात् सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ कल्पयिता अश्व अपने सवारोंको अभिलषित स्थानों पर पहुँचा देता है। उस अश्व पर घोड़े पर चढ़ने उतरनेमें चतुर बुद्धिमान् पुरुष चढ़ते हैं। उस अश्वके चक्र अर्थात् गन्तव्य स्थान सकल भुवन हैं। [यह अश्वपक्षका अर्थ पूर्ण होगया। अब अभीष्ट अर्थको कहते हैं, कि-] जो भूत भविष्यत् और वर्तमान कालकी सब वस्तुओंको व्याप्त कर लेते हैं वह अश्व, अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर सब जगत्के कल्पयिता हैं। सात रश्मि अर्थात् ऋतु वाले हैं [दो दो मासकी एक एक ऋतु तो प्रसिद्ध ही है और सातवीं ऋतु अधिमास तेरहवाँ महीना है इसी बात को ऋग्वेदसंहिता १। १६४। १५ में कहा है, कि-"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति".] वह दिनरातरूप सहस्र नेत्रों वाले हैं, सदा एकरूप रहने वाले अजर हैं, प्रभुत जगत्को रचनेकी शक्तिसे सम्पन्न भूरिरेता हैं। ऐसे काल सब प्राणियोंको अपने २ कार्यमें लगाते हैं। उन कालको क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष स्वाधीन कर लेते हैं अर्थात् वे स्वाधीनकाल होते हैं। उस कालात्मक रथके चक्र सब भुवनोंमें जाते हैं [अथवा-यहाँ अश्वशब्दसे आदित्यका ग्रहण किया जाता है। इसी बातको यास्कमुनिने कहा है, कि—"एको अश्वो वहति सप्तनामा। आदित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसान् अभिसंनामयन्ति सप्तैनं ऋषयः स्तुवन्तीति वा।—सबमें व्यापन शील एक सूर्य ही चराचरका पालन करते हैं, सात किरणें उनमें रस नमाती हैं-पहुँचाती हैं। वा सात ऋषि इनकी स्तुति करते

हैं। इस लिए ये सप्तनामा कहलाते हैं" निरुक्त ४। २७ इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि-] इस कालात्मक अश्व सूर्यकी सात किरणें प्रधान हैं। [वे सात सूर्य कहलाते हैं। ऋग्वेदसंहिता ९।११४।३ में कहा है, कि-"देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः।-हे सोम! जो सात आदित्य देव हैं, उनके द्वारा आप हमारी रक्षा करिये।" इन सात सूर्योंके नामका तैत्तिरीय आरण्यक १। ७। १ में इस प्रकार वर्णन है, कि-"आरोगो भ्राजः पटरः पतंगः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः।" और यह तो प्रधान कश्यप नामक सूर्य हैं। इसी बातका तैत्तिरीय आरण्यक १। ७। १ में वर्णन किया है, कि-"कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति। कश्यप आठवें हैं, वह महामेरुका त्याग नहीं करते हैं"] वा—इस सूर्यात्मक कालके गायत्री आदि सात छन्द हैं, [तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। १२। ९। १ में कहा है, कि-"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।-यह सूर्यदेव पूर्वाह्णमें द्युलोक पर ऋग्वेदके मन्त्रोंसे चलते हैं। दिनके मध्यभागमें यजुर्वेदमें स्थित रहते हैं। अस्तके समय सामवेदके द्वारा प्रशंसा पाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंसे भरे पुरे रहने वाले सूर्यदेव आरहे हैं"॥ अथवा रश्मिशब्दसे रश्मिवाले अश्वोंका ग्रहण होता है। इसी बातका ९।१४।२ में वर्णन है, कि-"सप्त युञ्जन्ति रथं एकचक्रम्"] यह सहस्र नेत्रकी समान सहस्र किरणों से सम्पन्न हैं। यह अविनाशी हैं। सदा बहुतसे रेत अर्थात् जल से सम्पन्न रहते हैं। [इसी बातका तैत्तिरीयसंहिता २।४।१०।२में वर्णन किया है, कि-"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति।-जब यह सूर्य तिरछे लौटते हैं, तब वर्षा करते हैं"] ऐसे आदित्य इस कालरूपी चक्रको धारण कर रहे

हैं। ऐसे कालात्मक सूर्यमें आत्मतत्त्वको जानने वाले विद्वान् भेद कर आरूढ़ होजाते हैं [कहा भी है, कि–"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥–अर्थात् इस लोकमें दो पुरुष सूर्यमण्डलको भेदते हैं। पहिला योगी संन्यासी और दूसरा रणमें डट कर मरा हुआ"] अथवा वे स्वात्मभावसे अधिष्ठित होजाते हैं [अत एव आदित्य पुरुषका आरम्भ करके ऐतरेय आरण्यक २।२।४ में कहा है, कि–"तद्व योऽहं सोऽसौ सोऽहं तद्व उक्तम् ऋषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।–जो मैं हूं, वह यह सूर्य है वह सूर्य स्थावर और जंगम चराचर जगत्की आत्मा हैं] ऐसे सूर्यके व्याप्तिस्थान सब भुवन हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ २ ॥

सप्त । चक्रान् । वहति । कालः । एषः । सप्त । अस्य । नाभीः । अमृतम् । नु । अक्षः ।
सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । अञ्जत् । कालः । सः । ईयते । प्रथमः । नु । देवः ॥ २ ॥

अनया संवत्सररूपकालचक्रं वर्ण्यते। तस्य संवत्सरकालस्य चक्राणि एकं त्रीणि पञ्च षट् सप्त सप्त द्वादशेति तत्रतत्र आम्नायते। "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" [९.१४.२] "त्रिनाभि चक्रम्" [९. १४. २] "सप्तचक्रे षडरे" [९. १४. १२] "द्वादशा-

रम्" [६. १४. १३] इत्यादिषु । तथा च शौनकोप्याह ।

त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा ।
संवत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्यृषिः ॥

इति [बृ० ४. ३२] ॥ एष सर्वजगत्कारणत्वेन अनुभूयमानः कालः परमात्मा सप्त चक्रा चक्राणि सप्त ऋतून् अनु अनुक्रमेण वहति धारयति । अस्य संवत्सरस्य सप्त नाभीः नाभयः । नह्यते नाभिः । अक्षबन्धकानि मध्यच्छिद्राणि सप्त ऋतुसंधिकालाः । अस्य अक्षः तनु संततं सूक्ष्मम् अमृतम् अमरणधर्मकम् अविनश्वरं तत्त्वम् । सप्तचक्रच्छिद्रेषु प्रोतः अनुस्यूतोऽक्षः सत्यम् अबाध्यं तत्त्वम् । सः पूर्वोक्तसंवत्सररूपः प्रथमः सर्वस्य आदिभूतो देवः द्योतमानः नित्यज्ञानरूपः कालः परमात्मा इमा इमानि नामरूपात्मना व्याकृतानि विश्वा विश्वानि भुवनानि भवनवन्ति चराचरात्मकानि जगन्ति अञ्जत् अञ्जन् । ❀ अनक्तेः शतरि "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀ । व्यक्तीकुर्वन् स्वेन कालेन अवच्छिन्नानि कुर्वन् उत्पादयन् सः स्यति संहरतीति सः । ❀ षो अन्तकर्मणि । कर्तरि कप्रत्ययः । आतो लोपः ❀। संहरंश्च ईयते गच्छति व्याप्नोति सर्वम् आवृत्य वर्तते । ❀ ईङ् गतौ । दैवादिकः ❀ । नुशब्दः प्रसिद्धौ ॥ यद्वा अध्यात्मपरत्वेन योज्यः । कालः कलयिता सर्वेन्द्रियव्यापारकर्ता शरीराभिमानी देवः । बन्धकाः विषया रूपादयः । तनु सूक्ष्मं दुर्दर्शम् । अमृतम् चैतन्यम् । अक्षः सर्वेन्द्रियेषु तद्विषयेषु च अनुगतः । एवं सर्वाणि प्राणिजातानि अञ्जत् प्रेरयन् ईयते । सः उपसंहरंश्च स कालः ईयते तत्त्वज्ञैर्ज्ञायते। ❀इण् गतौ । कर्मणि यक् प्रत्ययः❀॥

[इस ऋचामें सम्वत्सररूप कालचक्रका वर्णन किया है । इस सम्वत्सरकालके तीन पाँच छः सात और बारह चक्रोंका वर्णन जहाँ तहाँ मिलता है । यथा-सप्त युञ्जन्ति रथं एकचक्रम्

(६ । १४ । २) त्रिनाभिचक्रम् (६ । १४ । २) सप्तचक्रे षडरे (६ । १४ । १२) द्वादशारम् (६ । १४ । १३)। इसी बातको शौनकने कहा है, कि—

त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा ।
सम्वत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्युषिः ॥

बृहद्देवतानुक्रमणिका (४ । ३२)]

यह सर्वजगत्कारणत्वसे अनुभवमें आने वाले कालरूपी परमात्मा सात (ऋतुरूपी) चक्रोंको क्रमशः धारण करते हैं। इस संवत्सरकी (ऋतुसंधिकालरूप अनुबंधक सात नाभियें हैं। इसका (संतत सूक्ष्म अविनश्वर तत्त्व) अमृत अक्ष है। यह पूर्वोक्तसंवत्सररूप, सबका आदिभूत देव नित्यज्ञानरूपकाल—परमात्मा, इन अनेक नाम और रूपोंसे व्याकृत चराचरात्मक जगत्को प्रकट करता हुआ संहार कर डालता है और संहार करता हुआ भी सबमें व्याप्त होकर स्थिर रहता है ॥ [अध्यात्मपक्षमें इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी] सकल इन्द्रियोंके व्यापारोंके कर्ता शरीराभिमानी देव सब भुवनोंमें व्याप्त हैं। रूप आदि इनके बंधक हैं। यह सूक्ष्म दुर्दर्श हैं, अमृत अर्थात् चैतन्य हैं, सब इन्द्रियोंमें और उनके विषयोंमें अनुगत हैं। यह सब प्राणियोंको प्रेरणा करते हैं और उपसंहार करते हैं। इस प्रकार इनको तत्त्वज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ ३ ॥

पूर्णः । कुम्भः । अधि । काले । आऽहितः । तम् । वै । पश्यामः ।

बहुऽधा । नु सन्तः ।

सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । प्रत्यङ् । कालम् । तम् । आहुः ।

परमे । विऽओमन् ॥ ३ ॥

काले सर्वजगत्कारणभूते नित्ये अनवच्छिन्ने परमात्मनि स्व-स्वरूपे । ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । पूर्णः सर्वत्र व्याप्तः कुम्भः कुम्भवत् कुम्भः अहोरात्रमासर्तुसंवत्सरादिरूपः अवच्छिन्नो जन्यः कालः आ हितः निहितो वर्तते । सर्वस्य कार्यस्य स्वकारणेऽवस्थानात् । अत्र विद्वदनुभवश्रुतिं प्रमाणयति । तं जन्यं कालं सन्तः सत्पुरुषा बहुधा नानाप्रकारम् अहोरात्रादिभेदेन पश्यामो नु अनुभवामः खलु । अथवा तं जन्यकालाधारं परमात्मानं बहुधा बहुभिः श्रवणमनननिदिध्यासनैः पश्यामः साक्षात्कुर्मः। सन्तः सद्रूपब्रह्मोपासका वयम् । "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः" इति हि श्रुतिः [तै०आ० ८.६] । वैनुशब्दौ प्रसिद्ध्यर्थौ । स कालः इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि व्याप्तानि भुवनानि भूतजातानि प्रत्यङ् प्रत्यञ्चनः अभिमुखाञ्चनः आव्याप्नुवन् भवति । तं कालं परमे उत्कृष्टे सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वदोषरहिते व्योमन् व्योमनि आकाशवन्निर्लेपे सर्वगते विविधं रक्षके परमानन्दप्रदायिके स्वस्वरूपे वर्तमानम् आहुः विद्वांसः । ❀ व्योमन्निति । "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् । "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपप्रतिषेधः ❀ ॥

सब जगत्‌के कारणभूत नित्य अनवच्छिन्न परमात्मा स्वस्वरूपमें, दिन रात मास ऋतु सम्वत्सर आदिरूप अनवच्छिन्न जन्य कालसे पूर्ण कुंभकी समान सर्वत्र व्याप्त है । उस जन्यकाल

को हम सत्पुरुष दिन रात्रि आदिके भेदसे अनेक प्रकारका अनुभव करते हैं। अथवा-सद्रूप ब्रह्मके उपासक हम सन्त उस अन्यकालाधार परमात्माका वहुतसे श्रवण मनन आदिसे साक्षात्कार करते हैं [इसी बातका तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६ में वर्णन किया है, कि-"अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः"] वह काल इन दीखते हुए प्राणियोंको अभिमुख होकर व्याप्त कर लेते हैं। विद्वान् पुरुष उस कालको उत्कृष्ट, सांसारिक सुख दुःख आदि दोषोंसे शून्य आकाशकी समान निर्लेप, अनेक प्रकारसे रक्षक परमानन्ददायक स्वस्वरूपमें वर्तमान बताते हैं २

चतुर्थी ॥

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥

सः। एव। सम्। भुवनानि। आ। अभरत्। सः। एव। सम्। भुवनानि। परि। ऐत्।
पिता। सन्। अभवत्। पुत्रः। एषाम्। तस्मात्। वै। न। अन्यत्। परम्। अस्ति। तेजः॥ ४॥

स एव कालः भुवनानि भूतजातानि सम् आ अभरत् आहरत् आहरति उत्पादयति। "हृग्रहोर्भः०"। यद्वा। भृञ् भरणे। भौवादिकः। स्वेनोत्पादितानि भुवनानि समन्तात् पुष्णाति। स एव कालः भुवनानि सं पर्यैत् सम्यक् परिगच्छति व्याप्नोति। इण् गतौ। छान्दसे लङि "आडजादीनाम्" इति

आडागमः । "आटश्च" इति वृद्धिः ❀ । स एव पिता एषां भुवनानां जनकः सन् एषां पुत्रोभवत् भवति । काल एव पितृत्वेन पुत्रत्वेन च व्यवह्रियते । यः पूर्वजन्मनि पितृत्वेन जातः स एव अस्मिन् जन्मनि पुत्रत्वेन व्यवह्रियते अवच्छेदककालाधीनत्वात् सर्वस्य । अथ वा एकस्मिन् जन्मन्येव पितुः पुत्रत्वम् आम्नायते । "अङ्गाद् अङ्गाद् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" इति [कौ० उ० २. ११]। तस्मात् सर्वोत्पादकात् सर्वगतात् पुत्रादिरूपेण भविष्यतश्च तस्मात् कालाद् अन्यत् परम् उत्कृष्टं तेजो नास्ति । वैशब्दः प्रसिद्धौ । तेजो नास्तीति निषेधात् स्वस्यापि तेजोरूपत्वम् अर्थसिद्धम् । "तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति" इति श्रुतेः । [क० व० ५. १५]

वही काल प्राणियोंको प्रकट करते हैं, वा-उनका पोषण करते हैं । और वही काल भुवनोंमें (प्राणियोंमें) भली प्रकार व्याप्त हैं । वही इन प्राणियोंके जनक होकर इनके पुत्र होजाते हैं अर्थात् काल ही पितृरूपसे और पुत्ररूपसे माना जाता है जैसे जो पूर्वजन्ममें पितारूपसे व्यवहृत होता है, वही इस जन्ममें पुत्ररूपसे व्यवहृत होता है, क्योंकि-सब अवच्छेदक कालके अधीन है । [अथवा-एक जन्ममें ही पिताके पुत्र होनेका शास्त्रमें वर्णन मिलता है, कि-"अंगाद्‌ अंगाद् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ।-तू अंगसे प्रकट होता है, हृदयसे उत्पन्न होता है हे पुत्र ! तू आत्मा ही है तू सौ वर्ष तक जीवित रह" [कौषीतकि उपनषत् २ । ११ ।] इस सर्वोत्पादक सर्वगत पुत्रादिरूपसे भविष्यत् कालसे श्रेष्ठ और कोई तेज नहीं है । [तेज नहीं है, कहनेसे अपने आप भी उसका तेजोरूपत्व सिद्ध है । "तस्माद्‌ वै सर्वमिदं विभाति" (कठवल्ली ५ । १५)] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

कालोमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥

कालः । अमूम् । दिवम् । अजनयत् । कालः । इमाः । पृथिवीः । उत
काले । ह । भूतम् । भव्यम् । च । इषितम् । ह । वि । तिष्ठते ५

कालः परमात्मा अमूं विप्रकृष्टां दिवम् द्युलोकम् अजनयत् उत्पादितवान् । उत अपि च इमाः परिदृश्यमानाः सर्वप्राण्याधारभूताः पृथिवीः । व्यत्ययेन बहुवचनं कल्पाभेदेन वा । तथा च मन्त्रवर्णः । "यद् इन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्थः" इति [ऋ० १. १०८. ६] । तथा । हशब्दः एवार्थे । काल एव भूतम् भूतकाले आधारे अवच्छिन्नं भव्यम् भविष्यच्च इषितम् इष्टम् इष्यमाणं वर्तमानकालावच्छिन्नं च जगद् वि तिष्ठते विशेषेण आश्रितं वर्तते । ❀ 'समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् ❀ ॥

कालरूपी परमात्माने इस द्युलोकको प्रकट किया है और सब प्राणियोंकी आधारभूता पृथिवीको भी कालने ही प्रकट किया है । और इस कालमें ही भूतकाल भविष्यत्काल और अभिलषित वर्तमान कालावच्छिन्न विशेषरूपसे आश्रित रहता है ५

षष्ठी ॥

कालो भूतिमसृजत कालें तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥६॥

कालः । भूतिम् । असृजत । काले । तपति । सूर्यः ।

काले । ह । विश्वा । भूतानि । काले । चक्षुः । वि । पश्यति ॥ ६ ॥

कालः कालरूपः परमात्मा भूतिम् भवनवज्जगद् असृजत । ॐ सृज विसर्गे तौदादिकः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । दैवादिकाद् वा आत्मनेपदिनो व्यत्ययेन शः ॐ । काले प्रेरके सति सूर्यः आदित्यः तपति जगत् प्रकाशयति । काल एव आश्रये विश्वा विश्वानि भूतानि वर्तन्ते काले चक्षुः । उपलक्षणम् एतत् । चक्षुरादीन्द्रियाणि वि पश्यति । इदमपि उपलक्षणम् । दर्शनादि कर्माणि कुर्वन्ति । यद्वा चक्षुः । चक्षुःशब्दो लुप्तमत्वर्थीयः । चक्षुष्मान् सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता वि पश्यति स्वस्वेन्द्रियव्यापारं करोति ॥

कालरूपी परमात्माने इस उत्पत्तिशील जगत्की रचना की है । और कालके प्रेरक होनेसे ही आदित्य इस जगत्को प्रकाशित करते हैं । कालके ही आश्रयमें सब प्राणी रहते हैं । कालमें ही चक्षुष्मान् इन्द्रियादिका अधिष्ठाता अपनी अपनी इन्द्रियोंके व्यापारको करता ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

काले । मनः । काले । प्राणः । काले । नाम । सम्ऽआहितम् ।
कालेन । सर्वाः । नन्दन्ति । आऽगतेन । प्रऽजाः । इमाः ॥ ७ ॥

काले परमात्मनि मनः जगत्सिसृक्षानिमित्तभूतं मनो वर्तते । तस्मिन्नेव प्राणः सूत्रात्मा सर्वजगदन्तर्यामी वर्तते । अन्तर्यमनोपाधिकत्वेन काले वर्तत इति आधारव्यपदेशः । यद्वा मनः । जात्येकवचनम् । सर्वेषां प्राणिनां मनांसि । प्राणः पञ्चवृत्तिकः प्राणा अपि परमात्मन्येव वर्तन्ते । तथा नाम नामधेयं सर्वेषां वस्तूनां संज्ञा अपि तत्रैव

समाहितम्। स्त्रीपुरुषादिसंज्ञाभिः काल एव उच्यत इत्यर्थः। यद्वा सर्वेषां रूपाणि कृत्वा तेषां नामान्यपि स्वयमेव व्यवहरतीत्येतदभिप्रायेण काले नाम समाहितम् इत्युक्तम्। "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" इति हि श्रुतिः [तै० आ० ३. १२. ७]। कालेन वसन्तादिरूपेण आगतेन सर्वा इमाः प्रजाः नन्दन्ति संतुष्यन्ति स्वस्वकार्यसिद्धेः॥

कालरूपी परमात्मामें जगत्को रचनेकी इच्छाका निमित्त मन रहता है। उसमें ही सब जगत्का अन्तर्यामी सूत्रात्मा प्राण रहता है। वा–उसी काल परमात्मामें सब जगत्के मन और पञ्चवृत्तिक प्राण रहते हैं। और सब वस्तुओंके नाम भी उसीमें रहते हैं अर्थात् स्त्री पुरुष आदिकी संज्ञासे काल ही कहा जाता है। अथवा सबके रूपोंको करके उनके नामोंका भी अपने आप ही व्यवहार करता है। इस अभिप्रायसे यह बात कही है। [इसी लिये तैत्तिरीय आरण्यक ३।१२।७ में कहा है, कि–"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते"] और वसन्त आदिरूपसे आये हुए कालसे ही यह सब प्रजायें अपने २ कार्यकी सिद्धि होनेके कारण सन्तुष्ट होती हैं॥ ७॥

अष्टमी॥

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥८॥

काले। तपः। काले। ज्येष्ठम्। काले। ब्रह्म। सम्ऽआहितम्। कालः। ह। सर्वस्य। ईश्वरः। यः। पिता। आसीत्। प्रजाऽपतेः॥ ८॥

काले परमात्मनि तपः जगत्सर्जनविषयं पर्यालोचनम् । ❀ तप पर्यालोचने । अस्माद् असुन् ❀ । "तपसा चीयते ब्रह्म" [मु० १. १. ८] । इत्यादौ तपःशब्दः पर्यालोचनार्थत्वेन व्याख्यातः । तथा ज्येष्ठम् सर्वस्य आदिभूतं हिरण्यगर्भाख्यं तत्त्वं वर्तते । तथा ब्रह्म साङ्गो वेदस्तत्प्रतिपादकः समाहितम् सम्यगाहितः । यद्वा तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् । तत्फलप्रदातृत्वात् तत्रैव वर्तनम् । एकः कालशब्दो यौगिकः कलयितरि काले ज्येष्ठं ब्रह्म हिरण्यगर्भरूपम् । "ज्येष्ठं ब्रह्म श्रेष्ठं ब्रह्म" इति हि श्रुत्यन्तरम् । हशब्दः अवधारणे । कालः सर्वस्य जगत ईश्वरः स्वामी । यः कालः प्रजापतेः प्रजानां स्रष्टुश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः पिता जनक आसीत् ॥

कालरूपी परमात्मामें, जगत्‌को रचनेका पर्यालोचनरूपी तप प्रतिष्ठित है । तथा उसीमें सबका आदिभूत हिरण्यगर्भरूपी तत्त्व ज्येष्ठ समाहित है । सांग वेद भी उसीमें प्रतिष्ठित है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ ९ ॥

तेन । इषितम् । तेन । जातम् । तत् । ऊँ इति । तस्मिन् । प्रति-ऽस्थितम् ।
कालः । ह । ब्रह्म । भूत्वा । बिभर्ति । परमेऽस्थिनम् ॥ ९ ॥

तेन कालेन इषितम् इष्टं सर्वं सृष्ट्यं जगत् । कामितम् इत्यर्थः । ❀ "तीषसह०" इति इडागमः ❀ । तेनैव जातम् उत्पादितं जगत् । तत्तज्जगत् । उशब्दः अवधारणे । तस्मिन्नेव काले प्रतिष्ठितम् । कालो ह काल एव ब्रह्म देशकालाद्यनवच्छिन्नं सच्चित्सुखपरिरसम् अबाध्यं परमार्थतत्त्वं भूत्वा परमेष्ठिनम् परमे स्थाने सत्यलोके तिष्ठन्तं चतुर्मुखब्रह्माणं बिभर्ति ॥

यह सब स्थावरजङ्गम जगत् उसी कालसे कम्पित है, यह जगत् कालका उत्पन्न किया हुआ है और उसी कालमें प्रतिष्ठित है। काल ही सत् चित् सुखचिद्रस अबाध्य परमार्थतत्त्व ब्रह्म होकर परमस्थान–सत्यलोकमें स्थित चतुर्मुख ब्रह्माको धारण करता है ॥९

दशमी ॥

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।

स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥ १० ॥

कालः । प्रऽजाः । असृजत । कालः । अग्रे । प्रजाऽपतिम् ।

स्वयम्ऽभूः । कश्यपः । कालात् । तपः । कालात् । अजायत ॥ १० ॥

कालः अग्रे सृष्ट्यादौ प्रजापतिम् ब्रह्माणम् असृजत उदपादयत् । कालः प्रजाश्च असृजत । स्वयंभूः स्वयम् आत्मना भवतीति स्वयंभूः । कालव्यतिरिक्तकालान्तरनिषेधकः स्वयंशब्दः । कश्यपः आरोगभ्राजादिसप्तसूर्यापेक्षया अष्टमः सूर्यः । "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति" इति श्रुत्यन्तरम् [तै० आ० १. ७. १] । उदाहृतम् [१] । ❀ कश्यपशब्दनिर्वचनं यास्केन एवं कृतम् । कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" इति [तै० आ० १. ८. ८] ❀ । तादृशः सर्वस्य द्रष्टा सूर्यः तपः संतापकं तेजश्च कालाद् अजायत ॥

इति षष्ठेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

सृष्टिके आरम्भमें कालने प्रजापतिको उत्पन्न किया है। और प्रजाओंको भी कालने ही रचा है। यह काल स्वयंभू है अर्थात् कालके अतिरिक्त और कोई दूसरा काल नहीं है। सबके द्रष्टा कश्यप (पश्यक) सूर्य भी इसी कालसे प्रकट हुए हैं [कश्यप नामक सूर्य आरोग भ्राज आदि सूर्योंकी अपेक्षा आठवें सूर्य हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में कहा है, कि—"कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति।—कश्यप आठवें सूर्य हैं, वह महामेरुको नहीं त्यागते हैं" और कश्यप शब्दका निर्वचन यास्क मुनिने इस प्रकार किया है, कि—"कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्।—कश्यप पश्यक होते हैं, क्योंकि—वे सूक्ष्मतापूर्वक सबको देखते हैं" (तैत्तिरीय आरण्यक १।८।८)] १०

छठे अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५९७)॥

"कालादापः" इति सूक्तं कालप्रतिपादकत्वात् कालसूक्तम् इत्युच्यते। तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः॥

"कालादापः" यह सूक्त कालप्रतिपादक होनेसे कालसूक्त कहलाता है इसका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है।

तत्र प्रथमा॥

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥ १॥

कालात्। आपः। सम्। अभवन्। कालात्। ब्रह्म। तपः। दिशः।
कालेन। उत्। एति। सूर्यः। काले। नि। विशते। पुनः॥१॥

कालात् सर्वजगत्कारणात् परमात्मनः सकाशाद् आपः ब्रह्माण्डाधारभूताः समभवन्। स्मर्यते हि।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत्।
तद् अण्डम् अभवद्धैमम्

इति [म० स्मृ० १. ९]। ब्रह्मतपः ब्रह्म। कर्मनामैतत्। यज्ञादि कर्म। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम्। ❀ द्वन्द्वैकवद्भावः ❀। यद्वा ब्रह्मतप इति पञ्चमी। जगत्सर्जनकर्मणे तप्यमानात् कालाद् दिशः प्राच्याद्याः समभवन्। कालेन प्रेरकेण सूर्य उदेति उदयं गच्छति।

"भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः" इति हि निगमः [तै० आ० ८. ८]। पुनः सूर्यः काले नि विशते विलीयते। अस्तम् एतीत्यर्थः। ❀ "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

कालसे अर्थात् सब जगत्के कारण परमात्मासे ब्रह्माण्डके आधारभूत जल प्रकट हुए [मनुस्मृतिमें कहा भी है, कि—"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत्। तदण्डं अभवत् हैमम्'—उन्होंने पहिले जलकी सृष्टि की और उनमें अपने वीर्यको स्थापित किया, वह सुवर्णका अण्ड हुआ"] उस कालसे ही यज्ञकर्म, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप और पूर्व आदि दिशाएँ प्रकट हुईं। प्रेरक कालके द्वारा ही सूर्य उदयको प्राप्त होता है [तैत्तिरीय आरण्यक ८। ८ में भी कहा है, कि—"भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।—इसके डरसे ही वायु बहता है और इसके भयसे ही सूर्य उदित होता है और कालमें ही सूर्य फिर अस्त होजाता है ॥ १ ॥

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥ २ ॥

कालेन। वातः। पवते। कालेन। पृथिवी। मही।
द्यौः। मही। काले। आऽहिता ॥ २ ॥

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥

कालः। ह। भूतम्। भव्यम्। च। पुत्रः। अजनयत्। पुरा।
कालात्। ऋचः। सम्। अभवन्। यजुः। कालात्। अजायत ३

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥४॥

कालः । यज्ञम् । सम् । ऐरयत् । देवेभ्यः । भागम् । अक्षितम् ।
काले । गन्धर्वऽअप्सरसः । काले । लोकाः । प्रतिऽस्थिताः ॥४॥

कालेयमङ्गिरा देवोथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥

काले । अयम् । अङ्गिराः । देवः । अथर्वा । च । अधि । तिष्ठतः ।
इमम् । च । लोकम् । परमम् । च । लोकम् । पुण्यान् । च । लोकान् । विऽधृतीः । च । पुण्याः ।
सर्वान् । लोकान् । अभिऽजित्य । ब्रह्मणा । कालः । सः । ईयते । परमः । नु । देवः ॥ ५ ॥

द्वितीया ॥ कालेन प्रेरयित्रा परमात्मना वातो वायुः पवते । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । सर्वदा वाति । "भीषास्माद् वातः पवते" इति श्रुतिरुदाहृता [१] । तेनैव मही महती पृथिवी आहिता दृढं स्थापिता वर्तते । मही महती द्यौश्च काले आधारे आहिता निहिता स्थापिता । कालेनैव पित्रा प्रेरकेण पुत्रः प्रजापतिः भूतम्

भूतकालावच्छिन्नं भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन्नम् । चशब्दः अनुक्तसमुच्चयार्थः । वर्तमानं पुरस्तात् पूर्वम् अजनयत् उत्पादितवान् ॥

तृतीया ॥ कालात् परमात्मनः ऋचः पादबद्धा मन्त्राः समभवन् । यजुः प्रश्लिष्टपाठरूपो मन्त्रः अजायत । उपलक्षणम् एतत् सामवेदादीनाम् । तथा च पुरुषसूक्ते समाम्नातम् "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत" इति [१९. ६. १३] । तथा कालः काल एव देवेभ्य इन्द्रादिभ्यः अक्षितम् क्षयरहितं भागम् भागत्वेन परिकल्पितं यज्ञम् प्रकृतिविकृत्यात्मकं सोमयागं समैरयत् उदपादयत् । इन्द्रादिदेवभागत्वेन यज्ञं जनयामास । ❀ अक्षितम् इति । क्षि क्षये । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति ण्यदर्थपर्युदासेन अत्र दीर्घाभावः । अत एव "क्षियो दीर्घात्" इति नत्वाभावः । ण्यदर्थो भावकर्मणी इति व्याख्यातम् ❀ ॥

चतुर्थी ॥ गां वाचं धारयन्तीति गन्धर्वाः । ❀ "गवि गंधृञो वः" इति वप्रत्ययः । गोशब्दस्य गम् इति आदेशः । धातोर्गुणः ❀ । गन्धर्वा गायकाः अप्सु उदकेषु अन्तरिक्षे वा सरन्ति गच्छन्तीति अप्सरसः मध्यमलोकस्थानाः काल एव आधारे वर्तन्ते । किं बहुना लोकः सर्वेऽपि काले प्रतिष्ठिताः । लोकशब्दो जनवाची भुवनवाची च । अयम् अथर्ववेदस्य स्रष्टा देवः दीप्यमानः अङ्गिराः परमात्माङ्गरसोद्भूतः अङ्गिरा नाम देवः । अथर्वा । "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छ" इति [गो० ब्रा० १. ४] ब्राह्मणे अशरीरया वाचा स्वस्रष्टास्वेव अप्सु अर्वाग् अभिमुखम् एनं परमात्मानम् अन्विच्छेति अभिहितः परमात्मा अथर्वशब्दवाच्य इति बहुधा प्रपञ्चितम् । सोऽयम् अथर्वा अथर्ववेदस्रष्टा देवश्च काले स्वजनके अधि तिष्ठति । ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ ॥

पञ्चमी ॥ इमं च सर्वकर्मार्जनस्थानं लोकम् भूमिं परमम् फलभोगस्थानं स्वर्गलोकं पुण्यान् पुण्यकर्मभिरार्जितान् लोकान् पुण्याः दुःखलेशासंस्पृष्टा विधृतीः लोकधारकान् सर्वान् उक्तान् अनुक्तांश्च लोकान् ब्रह्मणा स्वकारणेन देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितेन सत्यज्ञानानन्तादिलक्षणेन परमात्मना अभिजित्य अभिव्याप्य सः एतत्सूक्तद्वयप्रतिपाद्यः परमः सर्वोत्तमः कालो देवः ईयते सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् व्याप्य वर्तते । नुशब्दः विद्वदविद्वदनुभवप्रमाणद्योतनार्थः ॥

एकोनविंशे काण्डे षष्ठेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

षष्ठोऽनुवाकः समाप्तः ॥

कालसे अर्थात् प्रेरक-परमात्मासे वायु बहता है, कालने ही विशाल पृथिवीको दृढ़तासे स्थापित कर रक्खा है । और विशाल द्युलोक भी कालरूप आधारमें स्थापित है । कालरूपी प्रेरक पितासे ही पुत्र प्रजापतिने भूत भविष्यत् और वर्तमानको प्रकट किया है ॥ कालसे अर्थात् परमात्मासे पादबद्ध मन्त्र (ऋचाएँ) प्रकट हुए हैं और उससे ही प्रश्लिष्ट पाठरूप मन्त्र यजुः प्रकट हुए हैं। (यह सामवेद आदिका उपलक्षण है । इसी अभिप्रायसे पुरुषसूक्तमें कहा है, कि-"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत ।" १९। ६ । १३] तथा कालने ही इन्द्र आदि देवताओंके भागरूपमें कल्पित प्रकृतिविकृत्यात्मक सोमयज्ञको उत्पन्न किया है ॥ वाणी की विशेषताको धारण करने वाले गायक गन्धर्व, तथा जल वा अन्तरिक्षमें विचरण करने वाली मध्यस्थानीय अप्सराएँ भी कालरूपी आधारमें ही रहती हैं । अधिक क्या सब ही लोक काल में प्रतिष्ठित हैं। यह अथर्ववेदके स्रष्टा दीप्यमान, परमात्माके अंगरससे प्रकट हुए अङ्गिरा अथर्वा भी अपने जनक इस कालमें

ही प्रतिष्ठित हैं ॥ सब कर्मोंको अर्जित करनेके स्थान इस भूलोक को, फलभोगके स्थान परमलोक अर्थात् स्वर्गलोकको पुण्यकर्मों से अर्जित पुण्यलोकोंको और दुःखके लेशसे अछूते लोकधारक सब उक्त और अनुक्त लोकोंको, अपने कारण देश काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सत्य ज्ञान अनन्त आदि लक्षणोंवाले परमात्मा–ब्रह्मके द्वारा व्याप्त करके यह सूक्तद्वयप्रतिपाद्य सर्वोत्तम कालदेव स्थावर जंगमात्मक सब जगत्को व्याप्त करके स्थित रहता है। इस बातको विद्वान् और अविद्वान् सब ही अनुभवसे जान सकते हैं ॥ २—५ ॥

उन्नीसवें काण्डके छठे अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५९८) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

सप्तमेऽनुवाके चतुर्दश सूक्तानि। तत्र "रात्रिंरात्रिम्" इति प्रथमसूक्तस्य प्रातरग्न्युपस्थाने लिङ्गतो विनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

सातवें अनुवाकमें चौदह सूक्त हैं। इनमें "रात्रिं रात्रिम्" इस प्रथमसूक्तका लिंगानुसार प्रातःकालके समय अग्निके उपस्थानमें विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥

रात्रिम्ऽरात्रिम्। अप्रऽयातम्। भरन्तः। अश्वायऽइव। तिष्ठते। घासम्। अस्मै।

रायः। पोषेण। सम्। इषा। मदन्तः। मा। ते। अग्ने। प्रतिऽवेशाः। रिषाम ॥ १ ॥

हे अग्ने तिष्ठते सर्वदा यजनीयत्वेन संनिहिताय। ॐ तिष्ठते। चतुर्थ्येकवचने रूपम् ॐ। अस्मै गार्हपत्याद्यायतनेषु वर्तमानाय तुभ्यं घासवत् घासम् अदनीयं हविः। यथा अश्वाय घासं तृणादिकम्। रात्रिरात्रिम्। वीप्सया सर्वेषु कालेष्वित्यर्थः। ॐ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ॐ। अप्रयावम् अप्रच्छिद्य। सातत्येनेत्यर्थः। ॐ यौतेर्ण्यन्तः प्रयावशब्दः। णमुलन्तो वा ॐ। भरन्तः हरन्तः प्रयच्छन्तो वयं रायः धनस्य पोषेण पुष्ट्या इषा इष्यमाणेन अन्नेन च सं मदन्तः सम्यक् माद्यन्तः ते तव प्रतिवेशाः। संनिहितगृहं प्रतिवेश इत्युच्यते। तत्र वर्तमानास्त्वत्समीपवर्तिनो मा रिषाम मा हिंसिता भूम। यतो रक्षकस्य संनिधौ वर्तामहे अतो लब्धकाङ्क्षितफला निरुपद्रवाश्च भूयास्मेति आशास्यते॥

हे अग्ने! सदा पूजनीय अवस्थामें पासमें स्थितगार्हपत्य आदि स्थानोंमें वर्तमान आपके लिये भक्षणीय हविको सदा अनवच्छिन्नरूपमें प्रदान करते हुए हम धनकी पुष्टिसे और अभिलषित अन्नसे आनन्द पाते हुए आपके पास रहते हुये विनष्ट न हों [तात्पर्य यह है, कि-हम रक्षकके पास रहते हैं अतः अभिलषित फल हमको प्राप्त हो और हम निरुपद्रव रहें]॥ १॥

द्वितीया॥

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ २॥

या। ते। वसोः। वातः। इषुः। सा। ते। एषा। तया। नः। मृड।

रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रतिऽवेशाः ।

रिषाम ॥ २ ॥

हे अग्ने वासकस्य तव या अनुग्रहबुद्धिः अन्नमदस्य या च अनुग्रहबुद्धिः तया अस्मान् सुखय इति तात्पर्यार्थः ॥ रायस्पोषेणेत्यर्धं व्याख्यातम् ॥

हे अग्ने ! आप वासककी जो अनुग्रहबुद्धि है और आप अन्नमदकी जो अनुग्रहबुद्धि है उससे आप हमको सुख दीजिये । हे अग्ने ! आपके समीप रहने वाले हम धनपुष्टिसे और अन्नसे प्रसन्न रहें, नष्ट न हों ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ३

सायम्ऽसायम् । गृहऽपतिः । नः । अग्निः । प्रातःऽप्रातः । सौमनसस्य । दाता ।

वसोःऽवसोः । वसुऽदानः । एधि । वयम् । त्वा । इन्धानाः । तन्वम् । पुषेम ॥ ३ ॥

गृहपतिः गृहस्य स्वामी यजमानरूपः । गृहपतिना आहितो वा गृहपतिः । ❀ तद्धितमत्ययस्य लुक् ❀ । गार्हपत्योग्निः नः अस्माकं सर्वेषु सायंकालेषु प्रातःकालेषु च सौमनसस्य सुखस्य दाता भवति ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे अग्ने वसोर्वसोः सर्वस्य प्रभूतस्य धनस्य वसुदानः धनदाता एधि भव । इन्धानाः समिद्भिः

स्तापित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते। त्वा त्वाम् इन्धानाः हविर्भिर्दीपयन्तो वयं तन्वम्। ❀ एकवचनम् अतन्त्रम् ❀। सर्वाणि पुत्रमित्रादिशरीराणि पुषेम पोषयेम। ❀ पुषेः 'लिदुपादिभ्यङ्' इति अङ् प्रत्ययः ❀॥

घरका स्वामी गार्हपत्य अग्नि हमें सब प्रातःकालोंमें और सब सायङ्कालोंमें सुखके देने वाले होते हैं। हे अग्ने! आप सबके धनको हमें प्रदान करते हुए हमारे पास बढ़िये। हवि आदिसे आपको दिपाते हुए हम पुत्र मित्र आदि सबके शरीरोंको पुष्ट रख सकें॥ ३॥

चतुर्थी॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।

वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ४

प्रातःऽप्रातः। गृहऽपतिः। नः। अग्निः। सायम्ऽसायम्। सौमनसस्य। दाता।

वसोःऽवसोः। वसुऽदानः। एधि। इन्धानाः। त्वा। शतम्ऽहिमाः। ऋधेम॥ ४॥

पूर्वमन्त्रे शरीरपुष्टिः प्रार्थिता। अस्मिन् मन्त्रे जीवनं प्रार्थ्यत इत्येतावान् विशेषः। शतम् शतसंख्याका हिमाः हेमन्तर्तून् ऋधेम ऋध्यास्म। अग्निपरिचर्यया शतसंवत्सरजीवनवन्तो भूयास्म। ❀ ऋधु वृद्धौ। पूर्ववद् आशीर्लिङि अङ् प्रत्ययः। ङित्वाद् गुणाभावः ❀॥

घरके स्वामी गार्हपत्य अग्निदेव हमें सदा प्रातःकालके समय

और सायंकालके समय सुख देते हैं। ऐसे हे अग्ने! आप सबके धनको हमें प्रदान करते हुए बढ़िये आपको हवि आदिसे प्रदीप्त करतेहुए हम सौ हेमन्त ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक जीवित रहें

पञ्चमी ॥

अपश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम् ।

अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये ।

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥५॥

अपश्चा । दग्धऽअन्नस्य । भूयासम् ।

अन्नऽअदाय । अन्नऽपतये । रुद्राय । नमः । अग्नये ।

सभ्यः । सभाम् । मे । पाहि । ये । च । सभ्याः । सभाऽसदः॥५

अन्नस्य अपश्चा दग्धा पश्चाद्भागे अदग्धा स्थालीपृष्ठभागे दग्धान्नरहितो भूयासम् । अल्पान्नस्य स्थालीपृष्ठभागे दुःशृतान्नसद्भावः प्रभूतान्नस्य तु तादृग्दोषसंभवो नास्तीति बह्वन्नलाभ आशास्यते । ❀ "पश्च पश्चा च छन्दसि" इति पश्चाशब्दो निपातितः । दहतेस्तृचि प्रत्यये रूपं दग्धेति । नञ्समासः ❀ । बह्वन्नलाभे कारणम् आह । अन्नादाय अन्नस्य भोक्त्रे भोजयित्रे वा अन्नपतये अन्नस्य स्वामिने रुद्राय रोदयित्रे रुद्रात्मकाय वा अग्नये नमः । "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० ब्रा० १. १. ८. ४]। अग्निपरिचर्यया अन्नलाभो भवतीत्यर्थः। सभ्यः सभार्हस्त्वम्। ❀ "सभाया यः" इति यप्रत्ययः ❀। मे मदीयां सभाम् पुत्रमित्रपश्वादिसंघं पाहि रक्ष । अग्निरेव संबोध्यः। ये च सभासदः सभायां समाजे सीदन्तस्ते सभ्याः सभार्हाः सन्ति ते च अस्मदीयं प्रजासंघं रक्षन्तु इति ॥

मैं स्थालीके नीचे जले हुए अन्नरससे रहित होऊँ। [अल्प अन्नसे बटलोईके नीचे अन्न जल सकता है और बहुतसे अन्न में यह दोष नहीं होसकता है अतः बहुतसे अन्नकी प्राप्तिकी यहाँ प्रार्थना की है। अब बहुतसे अन्नकी प्राप्तिका कारण कहते हैं, कि-] अन्नके भक्षक वा अन्नपति रुद्रात्मक ‡ अग्निके लिये प्रणाम है। सभामें बैठने योग्य आप पशु पुत्र मित्र आदिरूप मेरी सभाकी रक्षा करिये। और जो सभामें बैठने वाले सभ्य हैं वे हमारे प्रजासङ्घकी रक्षा करें॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत्।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।६।

त्वम्। इन्द्र। पुरुऽहूत। विश्वम्। आयुः। वि। अश्नवत्। अहःऽअहः। बलिम्। इत्। ते। हरन्तः। अश्वायऽइव। तिष्ठते। घासम्। अग्ने ॥ ६ ॥

हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र ऐश्वर्यसंपन्न अग्ने त्वं विश्वम् संपूर्णम् आयुः अन्नं जीवनं वा व्यश्नवत् प्रापय। ❀ पुरुषव्यत्ययः। अश्नोतेर्लेटि अडागमः ❀। कस्यायुःप्रापणम् इति तत्र आह। तिष्ठते अश्वाय घासं तृणादिकमिव इत्ये प्राप्तव्ये गृहे वर्तमानाय अग्नये तुभ्यं प्रतिदिवसं बलिं हरन्तो भवन्ति तेषाम् आयुः प्रापयेति संबन्धः। ❀ इत्य इति। इण् गतौ। "एतिस्तुशास्वृ०" इति क्यप् प्रत्ययः। पित्त्वात् धातोस्तुगागमः ❀ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

‡ रुद्रात्मक अग्निका प्रमाण तैत्तिरीय ब्राह्मण१।१।८।४ में है "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" तात्पर्य यह है, कि-अग्निका पूजन करनेसे अन्नका लाभ होता है।

हे बहुतोंसे आहूत ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुहूत इन्द्र अग्ने ! आप सम्पूर्ण आयु भर हमको अन्न वा जीवन प्रदान करिये । जो पुरुष घोड़ेको घास देनेकी समान घरमें वर्तमान आपके लिये प्रतिदिन बलि देते हैं उनको आप जन्मभर अन्न प्रदान करिये ६

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५९९)

"यमस्य लोकात्" इति सूक्तस्य दुःस्वप्ननाशनकर्मणि लैङ्गिकविनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

"यमस्य लोकात्" सूक्तका लिंगानुसार दुःस्वप्ननाशनकर्ममें विनियोग समझना चाहिये ।

तत्र प्रथमा ॥

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥ १ ॥

यमस्य । लोकात् । अधि । आ । बभूविथ । प्रऽमदा । मर्त्यान् । प्र । युनक्षि । धीरः ।
एकाकिना । सऽरथम् । यासि । विद्वान् । स्वप्नम् । मिमानः । असुरस्य । योनौ ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते दुःस्वप्नप्रभावो वर्ण्यते । हे दुःस्वप्नाभिमानिन् क्रूर पिशाच त्वं यमस्य लोकात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । आ बभूविथ आगतोसि । भूत्सेकं कर्म । ❀ भू प्राप्तौ इति धातुः । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । आगत्य च धीरः धृष्टः कस्मादपि न

भीतस्त्वं भयदाः स्त्रियः मर्त्यान् मरणधर्मणः पुरुषांश्च प्र युनक्षि स्वात्मना संयोजयसि । भूलोकनिष्ठान् स्त्रीपुंसान् प्रति मृत्युसूचक-दुःस्वप्नं करोषीत्यर्थः । ❀ प्रपूर्वाद् युनक्तेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀। अथ विद्वान् देहिनाम् आयुर्वृद्ध्यवृद्धी जानन् त्वम् असुरस्य असुः प्राणः । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । प्राणवत आत्मनो योनौ उपलब्धि-स्थाने हृदये स्वप्नम् कष्टम् अनिष्टफलं मिमानः निर्मिमाणः कुर्वन् एकाकिना त्यक्तपुत्रकलत्रबन्धनादिकेन दृष्टदुःस्वप्नेन म्रियमाणेन पुरुषेण एकाकिना असहायेन सरथम् समानो रथो रंहणसाधनं यस्मिन् कर्मणि तथा यासि गच्छसि । दुःस्वप्नदर्शिनम् एकं पुरुषं यमलोकं प्रापयसीति यावत् । ❀ "एकाद् आकिनिच् चासहाये" इति एकशब्दाद् आकिनिच् प्रत्ययः ❀ ॥

[इस सूक्तमें दुःस्वप्नके प्रभावका वर्णन किया जाता है, कि-] हे दुःस्वप्नके अभिमानी क्रूर पिशाच ! तू यमके लोकसे भूलोक पर आया है और आकर ढीट तू कदापि न डरता हुआ स्त्रियों के और मरणधर्मी मनुष्योंके पास पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है, कि-भूलोकमें रहने वाले स्त्री पुरुषोंको मृत्युसूचक दुःस्वप्न प्रदान करता है। प्राणियोंकी आयुकी वृद्धि और अवृद्धिको जानने वाला प्राण वाले आत्माके प्राप्तिस्थान हृदयमें अनिष्टफल प्रद स्वप्नको देता हुआ तू स्त्री पुत्र आदिसे त्यागे हुए एकाकी और दुःस्वप्नको देखनेसे एकाकी पुरुषके रथ पर साथ ही बैठ कर जाता है अर्थात् दुःस्वप्नको देखने वाले एक ही पुरुषको यम-लोकमें प्राप्त करा देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनि॑-तोरेके अह्नि॑ ।

ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः॥२

बन्धः । त्वा । अग्रे । विश्वऽचयाः । अपश्यत् । पुरा । रात्र्याः । जनितोः । एके । अह्नि ।

ततः । स्वप्न । इदम् । अधि । आ । बभूविथ । भिषक्ऽभ्यः । रूपम् । अपऽगूहमानः ॥ २ ॥

दुःस्वप्नस्य अहोरात्रसृष्टेः पूर्वभावित्वम् उच्यते । हे दुःस्वप्नाभिमानिन् त्वा त्वाम् अग्रे सृष्टेः प्राक्काले विश्वचयाः सर्वस्य चेता संचेता स्रष्टा बन्धुः प्राणिनः स्वस्वकर्मभिर्बध्नन् विधाता अपश्यत् दृष्टवान् । एके मानसप्रजापत्यादयः रात्र्या अह्नि । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । अह्नः अहोरात्रयोः जनितो जननाद् अहोरात्रकालसृष्टे पुरा पूर्वम् । अपश्यन्नित्यर्थः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । "भावलक्षणे स्थेण्०" इति तोसुन् प्रत्ययः ❀ । ततः । आरभ्येति शेषः । हे स्वप्न इदं सर्वं जगद् अध्या बभूविथ । ❀ अधिरनर्थकः कर्मप्रवचनीयः ❀ । व्याप्तवान् असि । आगते दुःस्वप्ने चिकित्सकैः प्रतीकारः कर्तुं शक्यत इत्यत आह भिषग्भ्यः इति । भिषग्भ्यः चिकित्सकेभ्यो रूपम् स्वकीयाम् आकृतिम् अपगूहमानः संवृण्वन् आच्छादयन् । चिकित्सका हि रोगस्वरूपं तस्य निदानं च ज्ञात्वा औषधादिभिः प्रतीकारं कुर्वन्ति न तथा दुःस्वप्नस्य स्वरूपं निदानं च ज्ञात्वा प्रतिकुर्युरिति स्वरूपाच्छादनाभिप्रायः ॥

[अब यह दिखाते हैं, कि–दुःस्वप्नकी सृष्टि दिन और रात्रि की सृष्टिसे भी प्राचीन है] हे दुःस्वप्नके अभिमानी देवता ! सबकी सृष्टि करने वाले, प्राणियोंको अपने २ कर्मोंसे बाँधने वाले विधाताने सृष्टिके आरंभमें तुझको देखा था । और मानस

प्रजापति आदि मुख्य २ व्यक्तियोंने दिन और रात्रिकी सृष्टिसे भी पहिले तुझको देखा था हे स्वम ! उस समयसे ही तू इस सब जगत् पर आरूढ है । [अब यह दिखाते हैं, कि–दुःस्वप्नके होने पर चिकित्सक उसका प्रतीकार कर सकते हैं अतः] तू चिकित्सकोंसे अपने रूपको छिपा लेता है । [तात्पर्य यह है, कि चिकित्सक पुरुष रोगके स्वरूप और निदानको जान कर उसका प्रतीकार करते हैं इसी प्रकार दुःस्वप्नके रूप और निदान को जान कर प्रतीकार न कर सकें । इस लिये स्वरूपका आच्छादन है] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बृहद्गावासुरेभ्योधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः

बृहत्ऽगावा । असुरेभ्यः । अधि । देवान् । उप । अवर्तत । महिमानम् । इच्छन् ।
तस्मै । स्वप्नाय । दधुः । आधिऽपत्यम् । त्रयःऽत्रिंशासः । स्वः । आनशानाः ॥ ३ ॥

बृहद्गावा बृहतो महतो दुष्प्रधर्षानपि पुरुषान् गाते गच्छतीति बृहद्गावा । ❀ गाङ् गतौ । "आतो मनिन्क्वनिप्०" इति क्वनिप् प्रत्ययः ❀ । बृहत् अधिकं गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति वा तथाविधः स्वप्नः पूर्वम् असुरेभ्योधि असुरेभ्यः सकाशात् स्वयम् असुरपक्षीयः सन् तेभ्यः सकाशाद् देवान् उपावर्तत समीपं प्राप्तवान् । किमर्थम् । महिमानम् महत्त्वं प्रभावम् इच्छन् कामयमानः । महत्त्वैषणाद्धेतोरित्यर्थः । पूर्वम् असुरेषु साधारणपुरुषत्वेन वर्त-

मानः ततोऽप्यधिकं श्रेयः कामयमानो देवान् प्राप्नोत्। यथा लोके परराष्ट्रराजसमीपवर्ती बलवान् पुरुषः स्वस्माद् राज्ञो बहुमानम् अलभमानः स्वराजशत्रुभूतराजसमीपं बहुमानार्थं गच्छति एवं दुःस्वप्नोऽपि आगत इति तस्मै स्वसमीपम् आगताय स्वप्नाय कष्टफलकारिणे दुःस्वप्नाय स्वः स्वर्गम् आनशानाः व्याप्तवन्तः। ❀ अश्नोतेर्लिटः कानचि "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः ❀। त्रयस्त्रिंशासः त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाः "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" इति [ऐ० ब्रा० १.१०] समाम्नाता देवाः। ❀ सर्वेषां त्रयस्त्रिंशत्संख्यापूरणत्वात् डट् प्रत्ययः कृतः। "आज्जसेरसुक्" ❀। आधिपत्यम् सर्वलोकानिष्टकारित्वलक्षणं स्वामित्वं दधुः विदधुः कृतवन्तः। दत्तवन्त इत्यर्थः॥

दुष्प्रधर्ष पुरुषोंके पास जाने वाला स्वप्न स्वयं असुरपत्नीय होनेसे पहिले असुरोंके पाससे देवताओंके पास महत्त्व पानेकी इच्छासे आया [पहिले असुरोंमें साधारणपुरुषरूपसे रहता हुआ, उससे भी अधिक श्रेयको चाहता हुआ देवताओंके पास पहुँचा। जैसे, कि—संसारमें परराष्ट्रसमीपवर्ती बली पुरुष अपने राजासे अधिक सत्कारको न पाता हुआ अपने राजाके शत्रुभूत, राजाके समीप, अधिक सत्कारको चाहता हुआ जाता है इसी प्रकार असुर दुःस्वप्न भी देवताओंके पास आगया] उस अपने समीप आये हुए कष्टप्रद फल देने वाले दुःस्वप्नके लिये स्वर्गमें रहने वाले, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार इन ऐतरेयब्राह्मण १। १० में वर्णित तैंतीस देवताओंने सब लोकोंका अनिष्ट करना रूप स्वामित्व प्रदान किया॥ ३॥

चतुर्थी॥

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्।

त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥ ४ ॥

न । एताम् । विदुः । पितरः । न । उत । देवाः । येषाम् । जल्पिः । चरति । अन्तरा । इदम् ।

त्रिते । स्वप्नम् । अदधुः । आप्त्ये । नरः । आदित्यासः । वरुणेन । अनुऽशिष्टाः ॥ ४ ॥

एषां त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां देवानां या जल्पिः दुःस्वप्नगाथ प्राणिनां तत्तत्कर्मानुसारेण दुःस्वप्नदर्शननिबन्धनानिष्टफलकारित्वलक्षणाधिपत्यप्रदानरूपं यद् वाक्यम् इदं जगत् अन्तरा मध्ये चरति गच्छति । आधिपत्यप्रदानरूपं वाक्यं जगत् संहरति । ❀ चरतिर्भक्षणार्थः ❀ । एतां जल्पिं पितरो न विदुः न जानन्ति । उत अपि च देवाः त्रयस्त्रिंशद्व्यतिरिक्ता अन्ये देवा न विदुः । केवलं स्वप्नस्य आधिपत्यप्रदातारो देवा दुःस्वप्नश्च एतम् अर्थं जानन्तीत्यर्थः ॥ एवं देवेभ्यो लब्धाधिपत्यो दुःस्वप्नः प्रबलः सन् स्वस्य आधिपत्यप्रदातृषु देवेषु मध्ये आदित्यान् नाम देवान् अनिष्टफलदु स्वप्नदर्शनेन जग्राह । तदा आदित्याः परस्परं विचार्य स्वेभ्य एव लब्धप्रभावो दुःस्वप्नः अस्मानेव गृहीतवान् अस्य क उपाय इति वरुणं पृष्टवन्तः । स पृष्टो वरुणः स्वप्नप्रतीकारमपि इमम् उपदिदेश । तद् अत्र उत्तरार्धेन उच्यते । नरः नेतारः आदित्यासः एतत्संज्ञका देवा वरुणेन पापनिवारकेण एतत्संज्ञकेन देवेन अनुशिष्टाः सम्यग् उपदिष्टाः सन्तः आप्त्ये अपां पुत्रे त्रिते एतत्संज्ञके महर्षौ स्वप्नम् अनिष्टफलसूचकं दुःस्वप्नम् अदधुः स्थापितवन्तः । निमार्जयन्निति यावत् । तथा च शाकला दाश-

तथ्यां समामनन्ति। "त्रिते दुःस्वप्न्यं सर्वम् आप्त्ये परि दद्मस्य-नेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः" इति [ऋ०८.४७.१५]॥

इन तैंतीस देवताओंका दुःस्वप्नको अपने अपने कर्मानुसार दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले अनिष्टफलको देनेका अधिपत्यप्रदान रूप जो वाक्य इस जगत्के मध्यमें भक्षण करता है—जगत्का संहार करता है, उस वाक्यको पितर नहीं जानते हैं और तैंतीस देवताओंके अतिरिक्त अन्य देवता भी नहीं जानते हैं [तात्पर्य यह है, कि—केवल स्वप्नके अधिपतित्वको प्रदान करने वाले देवता और दुःस्वप्न इस अर्थको जानते हैं इस प्रकार देवताओंसे अधिपतित्वको पाकर दुःस्वप्न प्रबल होकर अपनेको अधिकार प्रदान करने वाले देवताओंमेंसे आदित्य नामक देवताओंको ही अनिष्टफलजनक दुःस्वप्नदर्शन से पकड़ने लगा। तब "यह हमसे ही प्रभाव पाकर हमको ही ग्रहण करना चाहता है" यह विचार कर आदित्योंने वरुणसे उपाय पूछा, तब वरुणने स्वप्नप्रतीकारका जो उपदेश दिया उसका उत्तरार्धमें वर्णन करते हैं, कि—] नेता आदित्योंने पापनिवारक वरुणसे उपदेश पाकर अप्पुत्र त्रित नामक महर्षिमें अनिष्टफलसूचक स्वप्नको स्थापित कर दिया—उतार दिया। [इसी बातका शाकलोंने ऋग्वेदसंहितामें वर्णन किया है, कि—"त्रिते दुःस्वप्न्यं सर्वं आप्त्ये परिदद्मस्यनेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः" ऋग्वेदसंहिता ८। ४७। १५]॥ ४॥

पञ्चमी॥

यस्य॑ क्रू॒रमभ॑जन्त दु॒ष्कृ॒तो॑ऽस्वप्ने॑न सु॒कृतः॒ पुण्य॒मायुः॑।
स्व॒र्मद॑सि पर॒मेण॑ ब॒न्धुना॑ त॒प्यमा॑नस्य॒ मन॒सोऽधि॑ जज्ञिषे

यस्य । क्रूरम् । अभजन्त । दुःऽकृतः । अस्वप्नेन । सुऽकृतः । पुण्यम् । आयुः ।

स्वः । मदसि । परमेण । बन्धुना । तप्यमानस्य । मनसः । अधि । जज्ञिषे ॥ ५ ॥

दुष्कृतः दुष्कर्माणः पापिनः पुरुषा यस्य दुःस्वप्नस्य क्रूरम् भयंकरम् अनिष्टं फलम् अभजन्त प्राप्नुवन्ति । सुकृतः सुकर्माणः अस्वप्नेन दुःस्वप्नदर्शनाभावेन पुण्यम् पुण्यकर्मनिमित्तम् आयुः जीवनम् । अभजन्तेति ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे दुःस्वप्न स्वः स्वर्गे लोके परमेण सर्वोत्तरेण बन्धुना सृष्टेः प्राक्काले स्वां इष्टवता विधात्रा सह मदसि माद्यसि । ❀ माद्यतेर्व्यत्ययेन शप् प्रत्ययः ❀ । तप्यमानस्य मृत्युपाशेन संतप्यमानस्य पुंसो दुष्कर्मणः पुरुषस्य मनसोऽधि मनसः सकाशात् जज्ञिषे मृत्युसूचनार्थं प्रादुर्भूतो भवसि । ❀ जनी प्रादुर्भावे इति धातुः ❀ ॥

दुष्कर्मी पापी पुरुष जिस दुःस्वप्नके भयङ्कर फलको पाते हैं, और पुण्यात्मा दुःस्वप्न न दीखनेसे पुण्यकर्मनिमित्तक आयुको पाते हैं । ऐसे हे दुःस्वप्न ! तू स्वर्गमें परमोत्कृष्ट सृष्टिसे पूर्वकाल के बन्धु विधाताके साथ आनन्द पाता है और मृत्युपाशसे तपते हुए दुष्कर्मी पुरुषके मनसे मृत्युकी सूचनाके लिये प्रादुर्भूत हुआ करता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते ।

यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥ ६ ॥

विद्म । ते सर्वाः । परिऽजाः । पुरस्तात् । विद्म । स्वप्न । यः ।
अधिऽपाः । इह । ते ।

यशस्विनः । नः । यशसा । इह । पाहि । आरात् । द्विषेभिः । अप ।
याहि । दूरम् ॥ ६ ॥

हे स्वप्न ते तव पुरस्तात् सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्गामिनः सर्वान् परिजनान् विद्म । ❀ परिपूर्वात् जायतेः "जनसनखनक्रमगमः०" इति विट् । "विड्वनोः०" इति अनुनासिकस्य आकारः ❀ । तथा इह इदानीं ते तव यः अधिपाः स्वामी तं च विद्म जानीमः । एवं तव स्वरूपं स्वामिनं परिजनांश्च जानतो यशस्विनः नः अस्मान् इह दुःस्वप्नमसङ्गे यशसा अन्नेन कीर्त्या वा निमित्तेन आरात् समीपे पाहि रक्ष द्वेष्टुः द्विषेभिः द्वेष्टभिर्बाधकैः सह अस्मत्तो दूरं देशम् अप याहि अपसृत्य गच्छ ॥

इति सप्तमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे स्वप्न ! पहिले हम तेरे सब परिजनोंको जानते हैं । फिर तेरा जो स्वामी है उसको भी जानते हैं । इस प्रकार तेरे स्वरूप स्वामी और परिजनोंको जानते हुए हमको इस कीर्तिके कारण इस दुःस्वप्न देखनेके अवसर पर रक्षा कर । हमारे द्वेष्टाओं सहित तू दूर भाग जा ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६०७) ॥

"यथा कलां यथा शफम्" इति सूक्तेन पुरोहितो दुःस्वप्नदर्शिनं राजानम् अभिमन्त्रयेत । उक्तं परिशिष्टे । "कुञ्जरं वा मम सम् अश्वं श्वेतं गोवृषं वा यानं युक्तं वाजिभिर्यथारोहयेत् स्वप्नकालेपुण्यविधान्मानसो यमभीष्टो तस्मात् तां रात्रिं प्रयतः स्वपेत् । स्वप्नं दृष्ट्वा ऋत्विग्भ्यो निवेदयेत् । परोपेहि [६. ४५]

यो न जीवोसि [६. ४६] विद्म ते स्वप्न जनित्रं [६. ४६.२] यथा कलां यथा शफम् [१६. ५७] इति राजानम् अभिमन्त्र्य यथागतं गच्छेत्" इति ॥

"यथा कलां यथा शफम्" इस सूक्तसे पुरोहित दुःस्वप्नदर्शी राजाका अभिमन्त्रण करे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि-"कुञ्जरं वा मत्तं अश्वं श्वेतं गोवृषं वा यानं युक्तं वाजिभिर्यदारोहयेत् स्वप्नकालेऽमुष्य विद्यान्मानसो याममीष्टां तस्मात्तां रात्रिं प्रयतः स्वपेत्। स्वप्नं दृष्ट्वा ऋत्विग्भ्यो निवेदयेत्। परोपेहि (६ । ४५) यो न जीवोऽसि (६ । ४६) विद्म ते स्वप्न जनित्रम् (६ । ४६ । २) यथा कलां यथा शफम् (१६ । ५७) इति राजानं अभिमन्त्र्य यथागतं गच्छेत् ॥"

तत्र प्रथमा ॥

यथा॑ क॒लां यथा॑ श॒फं यथ॒र्णं सं॒नय॑न्ति ।

ए॒वा दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्व॑मप्रि॒ये सं न॑यामसि ॥ १ ॥

यथा॑ । क॒लाम् । यथा॑ । श॒फम् । यथा॑ । ऋ॒णम् । स॒म्ऽनय॑न्ति ।

ए॒व । दुः॒ऽस्वप्न्य॑म् । सर्व॑म् । अप्रि॑ये । सम् । न॒या॒म॒सि ॥ १ ॥

यथा अवदानार्थं संस्कुर्वन्त ऋत्विजः हतस्य पशोः कलां शफम् इति अनवदानीयान्यङ्गानि सहादाय अन्यत्र संनयन्ति। यथा वा प्रवृद्धम् ऋणं संनयन्ति अपगमयन्ति उत्तमर्णाय प्रत्यर्पयन्ति एवं दुष्वप्न्यम् कुस्वप्ननिमित्तकं सर्वम् अनर्थजातम् आप्त्ये अपां पुत्रे त्रिताख्ये महर्षौ सं नयामसि संनयामः स्थापयामः समार्जयामः

जैसे अवदानके लिये संस्कार करते हुए ऋत्विज इन पशुके शफको अन्य अनवदानीय अङ्गोंके साथ लेकर अन्यत्र लेजाते हैं। वा बढे हुए ऋणको कर्जदार ृ़ो देकर उतार देते हैं। इसी

प्रकार हम दुःस्वप्नसे होने वाले सब अनर्थोंको जलके पुत्र त्रित नामक महर्षि पर मार्जन करते हैं—उतारते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं राजा॑नो अगुः सम्॒णान्य॑गुः सं कु॒ष्ठा अ॑गुः सं क॒ला अ॑गुः ।

सम॒स्मासु॒ यद्दु॒ष्वप्न्यं॒ निर्द्वि॑ष॒ते दु॒ष्वप्न्यं॑ सुवाम २

सम् । राजानः । अगुः । सम् । ऋणानि । अगुः । सम् । कुष्ठाः । अगुः । सम् । कलाः । अगुः ।

सम् । अस्मासु । यत् । दुःऽस्वप्न्यम् । निः । द्विषते । दुःऽस्वप्न्यम् । सुवाम ॥ २ ॥

यथा राजानः परराष्ट्रं विनाशयितुं समगुः संयन्ति संहता भवन्ति । ऋणानि बहूनि संयन्ति । एकस्मिन्नृणे अनपसारिते उपर्युपरि ऋणानि बहूनि भवन्तीति प्रसिद्धिः । कुष्ठाः । कुष्ठो नाम त्वग्दोषः । तदुपलक्षिता बहवो रोगाः । एकस्मिन् कुष्ठरोगे अचिकित्सिते तस्योपरि पिटकव्रणादीनि भवन्तीति प्रसिद्धिः । कलाः अनुपादेयावयवोपलक्षणम् । यथा वर्जनीयाः पश्वाद्यवयवा जीर्णकूपादिषु संहता भवन्ति । एवम् अस्मासु यद् दुःष्वप्न्यम् दुःस्वप्ननिमित्तकम् अनर्थजातं सम् । अगात् इति एकवचनेन-लुप्तः समितं संहतं वर्तते तद् दुःष्वप्न्यम् अरिष्टजातं द्विषते अस्मद्-द्वेष्ट्रे निः सुवाम अस्मत्तो निःसार्य प्रेरयाम । ❀ षू प्रेरणे । तौदा-दिकः ❀ ॥

जैसे राजा शत्रुके राज्यको नष्ट करनेके लिए संगत होते हैं, और जैसे बहुतसे ऋण एकत्रित होते जाते हैं। और जैसे कुष्ठ

आदि बहुतसे रोग होजाते हैं अर्थात् एक कुष्ठकी चिकित्सा न करने पर उसके ऊपर फुंसी घाव बहुतसे रोग होजाते हैं। जैसे त्यागने योग्य खुर आदि पुराने कूप आदिमें एकत्रित होजाते हैं इसी प्रकार हममें जो दुःस्वप्नको देखनेसे अनर्थोंका समूह भर गया है, उसको हम अपने शत्रुओं पर उतारते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्‌द्विषते प्र हिण्मः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ ३ ॥

देवानाम् । पत्नीनाम् । गर्भ । यमस्य । कर । यः । भद्रः । स्वप्न ।
सः । मम । यः । पापः । तत् । द्विषते । प्र । हिण्मः ।
मा । तृष्टानाम् । असि । कृष्णऽशकुनेः । मुखम् ॥ ३ ॥

हे देवानां पत्नीनां गर्भ। दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवा गन्धर्वाः। पत्नीशब्देन अप्सरसः। गन्धर्वाप्सरसां गर्भ पुत्र। ता हि महाजलह्रदादिस्थानेषु स्थित्वा पुरुषान् उन्मादयन्तीति तैत्तिरीयश्रुतिप्रसिद्धिः [तै० सं० ३. ४. ८. ४]। अत्रापि उन्मादनयोगात् तत्पुत्रत्वेन स्वप्नस्य व्यपदेशः। ❀ "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य पाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। हे यमस्य कर। यथा प्रेताधिपतिः स्वीयेन हस्तेन यंकंचन वध्यं गृहीत्वा घातयति एवं दुःस्वप्नेनापि तथा करोतीति स्वप्नस्य तत्करत्वव्यपदेशः। एवं प्रभाव हे स्वप्न त्वदीयो भद्रः मङ्गलकारी यः अंशोऽस्ति सोंऽशो ममास्तु। यः पापः क्रूरः अनिष्टकारी अंशः तं द्विषते शत्रवे प्र हिण्मः प्रेरयामः। ❀ हि गतौ वृद्धौ

च। स्वादिः। "दिवु मीना" इति णत्वम्। "लोपश्चास्य०" इति भूप्रत्ययस्य अन्त्यलोपः ॐ। कृष्णशकुनेः। कृष्णः पक्षी वायसः। तस्य मुखम् मुखनम्मुखं वायसमुखभूनः स्वप्नस्त्वं बाधको मा भवेत्यर्थः॥

हे क्रीड़ा करने वाले देव अर्थात् गन्धर्वोंके, और पत्नी अप्सराओंके गर्भ! अर्थात् हे गन्धर्व और अप्सराओंके पुत्र! [ये ही महाजल और वृक्ष आदिक स्थानोंमें स्थित होकर पुरुषों को उन्मादित करती हैं। यह बात तैत्तिरीयसंहिता ३।४।८।४ में कही है यहाँ भी उन्मादनके योगसे स्वप्नको उनका पुत्र बताया है] हे यमके हाथ! [जैसे प्रेतराज अपने हाथसे चाहे जिस वध्यको पकड़ कर मार डालता है, इसी प्रकार दुःस्वप्न भी वैसा ही करता है अत एव उसको यमका हाथ कहा है] हे ऐसे प्रभाव वाले स्वप्न! तेरा जो मङ्गल करने वाला अंश है वह मेरा हो, और तेरा जो अनिष्टकारी क्रूर अंश हो उसको हम शत्रुके लिये प्रेरित करते हैं। कृष्ण-शकुनि (कौए) का जो मुखकी समान बाधक स्वप्नरूपी मुख है वह मुझे बाधा न देवे ३

तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्वं इव कायमश्वं इव नीनाहम्।
अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्चं नो गृहे॥ ४॥

तम्। त्वा। स्वप्न। तथा। सम्। विद्म। सः। त्वम्। स्वप्न। अश्वःऽइव। कायम्। अश्वःऽइव। नीनाहम्।

अनास्माकम् । देवऽपीयुम् । पियारुम् । वप । यत् । अस्मासु ।

दुःऽस्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ॥ ४ ॥

अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम् ।

नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि ।

दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि ॥ ५ ॥

अनास्माकः । तत् । देवऽपीयुः । पियारुः । निष्कम्ऽइव । प्रति । मुञ्चताम् ।

नव । अरत्नीन् । अपऽमयाः । अस्माकम् । ततः । परि ।

दुःऽस्वप्न्यम् । सर्वम् । द्विषते । निः । दयामसि ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥ हे स्वप्न तं तादृशं त्वा त्वां तथा तेन प्रकारेण तदर्थम् उत्पन्न आगत इति सर्वं सं विद्म जानीमः । हे स्वप्न स त्वम् अश्वो यथा स्वकीयं रजोधूसरं काय धुनोति यथा च अश्वः नीनाहम् पल्याणकवचादिकम् अवकिरति एवम् अस्माकं पियारुम् । ❀ पीयतिर्हिंसाकर्मा ❀ । बाधकम् न केवलम् अस्माकमेव बाधकं किं तु देवपीयुम् देवानां बाधकं यज्ञविघातिनम् अव वप । तिरस्कुर्वित्यर्थः । दुःस्वप्नफलं तस्यास्त्विति यावत् ॥

पञ्चमी ॥ अस्मासु अस्माकं वपुषि यद् दुष्वप्न्यं वर्तते यच्च गोषु गवाम् अनर्थसूचकं दुष्वप्न्यं यच्च नः अस्मदीये गृहे वर्तते तद् अस्माकम् अरिष्टम् अत्र । गमयेति शेषः । तद् अरिष्टजातं देवपीयुः पियारुः शत्रुः निष्कमिव सौवर्णम् आभरणमिव प्रति मुञ्चतात् । स्वशरीरे धारयत्वित्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ अस्माकं संबन्धि दुष्वप्न्यं नवारत्निपर्यन्तम् अपसारय। यथा तत्संस्पर्शो न भवति तथा कुर्विति वक्तुं नवारत्निप्रमाणम् उक्तं वेदितव्यम्। ततः अनन्तरं सर्वम् उत्पन्नं दुष्वप्न्यम् अप्रिये द्वेष्ये गेरयामः ॥

इति सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे स्वप्न ! इस प्रकार उत्पन्न हुए और आने वाले तुझको हम भली प्रकार जानते हैं। घोड़ा जिस प्रकार धूलिधूसरित शरीरको झाड़ता है और काठी कवच आदिको गिरा देता है। इसी प्रकार तू हमारे बाधकको और देवता तथा यज्ञोंके बाधक को तिरस्कृत कर। अर्थात् दुःस्वप्नका फल उसको प्राप्त हो हमारे शरीरमें जो दुःस्वप्न है और गौओंके अनर्थको सूचित करने वाला जो दुःस्वप्न्य हमारे घरमें है उस हमारे अरिष्टको आप दूर करिये। उस अरिष्टको देवविरोधी हमारा शत्रु आभूषणकी समान अपने शरीरमें धारण करे॥ हमारा जो दुःस्वप्न-सम्बन्धी कुफल है उसको आप नौ (कनअँगुलीरहित मुट्ठीमात्र स्थान) अरत्नि तक दूर हटाइये। इसके अतिरिक्त हम सब उत्पन्न हुए दुःस्वप्न्यको हम अप्रिय द्वेष्टा पर उतारते हैं।४।५।

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६०१)

"घृतस्य जूतिः" इति सूक्तस्य विनियोगो लिङ्गाद् अवगन्तव्यः। तत्र दर्शपूर्णमासयोराज्यभागहोमात् पूर्वं "यज्ञस्य चक्षुः" इत्यनया आज्यं जुहुयात्। सूत्रितं हि दर्शपूर्णमासौ प्रक्रम्य "अग्नावग्निः [४. ३६. ६] हृदा पूतम् [४. ३६ १०] पुरस्ताद्युक्तः [५. २६ १] यज्ञस्य चक्षुः [१६. ५८. ५] इति जुहोति" इति [कौ० १. २]॥

"घृतस्य जूतिः" सूक्तका विनियोग लिङ्गानुसार समझना चाहिये। तहाँ दर्शपूर्णमास होमोंके आज्यभागहोमसे पहिले" यज्ञ-

स्य चक्षुः" ऋचासे घृतकी आहुति देय । दर्शपूर्णमासोंका आरंभ करके कौशिकसूत्र १ । ३ में कहा है, कि–"अग्नावग्निः (४ । ३६ । ६) इदा पूतम् (४ । ३६ । १०) पुरस्ताद् युक्तः (५ । २६ । १) यज्ञस्य चक्षुः (१६ । ५८ । ५) इति जुहोति" (कौशिकसूत्र १ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ १ ॥

घृतस्य । जूतिः । समना । सऽदेवा । सम्ऽवत्सरम् । हविषा । वर्धयन्ती ।
श्रोत्रम् । चक्षुः । प्राणः । अच्छिन्नः । नः । अस्तु । अच्छिन्नाः । वयम् । आयुषः । वर्चसः ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते मनसा निर्वर्त्यो यज्ञः स्तूयते । घृतस्य । ❀ घृ क्षरणदीप्त्योः ❀ । दीप्तस्य परतेजसो जूतिः । ❀ जु इति सौत्रो धातुः । "ऊतियूतिजूति०" इति क्तिन्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀। सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् जूतिशब्देन सर्वत्र प्रसृतं ज्ञानम् उच्यते । अत एव ऐतरेयकाः "मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" इति [ऐ० आ० २, ६, १] समामनन्ति । घृतस्य जूतिरिति परमात्मनः स्वरूपविषयं ज्ञानम् । कीदृशी । समनाः समानमनस्का सर्वेषां प्राणिनां मनांसि यस्मिन् प्रज्ञाने समाश्रि-

तानि। सदेवा देवाः इन्द्रियाणि सर्वप्राणिसंबन्धीनि तत्सहिता परमात्मविषया बुद्धिः संवत्सरम् संवसन्त्यत्र भूतानीति संवत्सरः परमात्मा तं हविषा शब्दस्पर्शादिरूपप्रपञ्चेन हूयमानेन वर्धयन्ती पुष्णन्ती भवति। वस्तुकृतपरिच्छेदपरिहार एव परमात्मनः पोष इत्यर्थः। शब्दादिविषयाणां ज्ञानाग्नौ होमो भगवताप्युक्तः।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयान् अन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।

इति [भ० गी० ४. २७]॥ एवं ज्ञानयज्ञप्रवर्तकानां नः अस्माकं श्रोत्रं चक्षुः प्राणः। एतद् उपलक्षणं ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च। प्राणः शरीरधारको वायुः अच्छिन्नः अविनश्वरः अस्तु। वयं च आयुषो जीवनस्य वर्चसस्तेजसः अच्छिन्नाः छिन्नं छेदः विनाशः तद्रहिता भूयास्म इन्द्रियादीनां बाह्यविषयप्रवर्तनपरिहारेण आत्मविषयत्वकरणेन तेषां विच्छेदाभाव आशास्यते॥

[इस सूक्तमें मनसे सम्पन्न होने वाले यज्ञकी स्तुति की गई है, कि—] परमदीप्तिमान् परमात्मस्वरूपका ज्ञान, और सब प्राणियोंके मन तथा सब इन्द्रियें जिसमें समाश्रित हैं। ऐसी परमात्मविषया बुद्धि, जिसमें भूत भली प्रकार वसते हैं उस सम्वत्सर–परमात्माको हूयमान शब्दस्पर्शप्रपञ्चादिरूप हविसे पुष्ट करती रहती है अर्थात् वस्तु कृतपरिच्छेदका अभाव ही परमात्मा का पोष है [भगवान्ने भी शब्दविषयोंके ज्ञानाग्निमें होमका वर्णन किया है, कि—"श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥–कोई साधक पुरुष यम नियम आसन और प्राणा-

याम इन चार योगके अंगोंको सिद्ध करके प्रत्याहार आदिको सिद्ध करनेके लिये श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको अपने २ शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त करके संयम (एक वस्तुको विषय करने वाले धारणा ध्यान और समाधि) रूप अग्निमें होमते हैं। संयमसे पीछे होने वाले जो सम्प्रज्ञात योग हैं धर्ममेघसमाधि और असम्प्रज्ञात योग उनका समास भी संयम में समझनेके लिये मूलमें संयमाग्निषु यह बहुवचन किया है। दूसरे समाधिसे उठे हुए कोई २ योगी पुरुष शास्त्रविहित विषयोंका रागद्वेषरहित इन्द्रियोंमें होम करते हैं॥ और वेदान्तमें निष्ठा रखने वाले कोई २ पुरुष तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको पाँचों कर्मेन्द्रियोंको तथा मन और बुद्धि इन दो को, इन सबके कर्मोंको तथा पाँच प्राणोंके कर्मोंको वेदान्तके तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे प्रकाशमान हुए आत्मसंयमरूप योगाग्निमें होम देते हैं" भगवद्गीता ४ २६–२७] इस प्रकार ज्ञानयज्ञ प्रवर्तकोंका हमारा श्रोत्र, चक्षु, प्राण अच्छिन्न रहे, और हम भी आयुके छेद अर्थात् विनाशसे रहित रहें। [इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी प्रवृत्तिसे हटा कर आत्माभिमुखी करके उनके अविच्छेदकी प्रार्थना की है] १

द्वितीया॥

उपास्मान् प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे।
वर्चो जग्राह पृथिव्य१न्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधत्ता॥ २॥

उप। अस्मान्। प्राणः। ह्वयताम्। उप। वयम्। प्राणम्। हवामहे। वर्चः। जग्राह। पृथिवी। अन्तरिक्षम्। वर्चः। सोमः। बृहस्पतिः। विऽधत्ता॥ २॥

अस्मान् मानसयज्ञप्रवर्तकान् प्राणः शरीरधारकः पञ्चवृत्तिको वायुः उप ह्वयताम् चिरकालजीवनाय अनुजानातु । वयं च प्राणम् उप ह्वयामहे अस्मदीयेषु शरीरेषु चिरकालावस्थानाय प्रार्थयामहे । पृथिवी अन्तरिक्षं च वर्चस्तेजः जग्राह स्वीकृतवती । अस्मभ्यं दातुम् इति शेषः । अत्र वर्चःशब्देन शरीरधारक ओजो नाम अष्टमो धातुर्विवक्षितः । तथा सोमः बृहस्पतिः विधत्ता विशेषेण धर्ता अग्निः सूर्यो वा वर्चो जग्राह अस्मभ्यं दातुम् इति शेषः ॥

हम मानसयज्ञके प्रवर्तकोंको शरीरधारक पञ्चवृत्तिक वायु प्राण चिरकालके जीवनकी अनुज्ञा प्रदान करे, और हम भी चिरकाल तक अपने शरीरोंमें विराजमान रहनेके लिये प्राणसे प्रार्थना करते हैं । पृथिवी और अन्तरिक्षने हमको प्रदान करने के लिये तेजको स्वीकार कर लिया है । [यहाँ वर्चशब्दसे या तेजशब्दसे शरीरधारक अष्टमधातु ओजका ग्रहण किया है] तथा सोम बृहस्पति और विशेषरूपसे पुष्ट करने वाले सूर्यने भी हमको देनेके लिये वर्चको स्वीकार कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा
पृथिवीमनु सं चरेम ।
यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा
पृथिवीमनु सं चरेम ॥ ३ ॥

वर्चसः । द्यावापृथिवी इति । संग्रहणी इति सम्ऽग्रहणी । बभूवथुः । वर्चः । गृहीत्वा । पृथिवीम् । अनु । सम् । चरेम ।

यशसम् । गावः । गोऽपतिम् । उप । तिष्ठन्ति । आऽयतीः ।

यशः । गृहीत्वा । पृथिवीम् । अनु । सम् । चरेम ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ युवां वर्चसः संग्रहणी संग्रहण्यौ दात्र्यौ बभूवथुः भवतम् । वर्चः युवाभ्यां दत्तं तेजो गृहीत्वा अवलम्ब्य पृथिवीम् । द्युलोकस्य उपलक्षणम् । भूलोकं द्युलोकं च अनु उद्दिश्य । ❀ लक्षणे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । सं चरेम संचारं कुर्याम । ततः गावो धेनवः गोपतिम् गवां स्वामिनं मां यशसा अन्नेन कीर्त्या वा सह उप तिष्ठन्ति समीपं प्राप्नुवन्तु । ततो वयम् आयतीः आगच्छतीर्धेनूः यशश्च गृहीत्वा पृथिवीम् अनु सं चरेम उभयोर्लोकयोः संचारिणो भवेम । यद्वा पृथिवीम् भूलोकमेव अनु सं चरेम इत्युभयत्रार्थः ॥

हे द्यावापृथिवी ! तुम वर्चके देने वाले होओ तुम्हारे दिये हुए तेजको ग्रहण करके हम भूलोक और द्युलोकमें विचरण करें । और गौएँ मुझ गोपतिको अन्न वा कीर्तिके साथ प्राप्त होवें । तब हम आती हुई धेनुओंको और यशको पाकर दोनों लोकों में विचरने वाले बनें । वा-पृथिवी पर ही विचरण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।

पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ।

व्रजम् । कृणुध्वम् । सः । हि । वः । नृऽपानः । वर्म । सीव्यध्वम् । बहुला । पृथूनि ।

पुरः । कृणुध्वम् । आयसीः । अधृष्टाः । मा । वः । सुस्रोत् ।
चमसः । दृंहत । तम् ॥ ४ ॥

अस्या ऋचस्त्रेधार्थो नीयते इन्द्रियपरत्वेन ऋत्विक्परत्वेन योद्धृपरत्वेनेति । हे इन्द्रियाणि यूयं व्रजं कृणुध्वम् अस्मिन् मानसयत्नप्रवर्तनाधिष्ठानभूते शरीरे व्रजम् संघातं कृणुध्वम् संघीभूय तिष्ठत । स हि हि यस्मात् कारणात् स देहः वः युष्माकं नृपाणः नृणां नेतॄणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां रक्षकः । शरीरसद्भावे हि तेषाम् अवस्थानम् । यद्वा नृणां युष्माकं पानस्थानम् । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवर्तनमेव पानम् इत्युच्यते । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि अधिकरणे वा ल्युट् ❀ । वर्म वर्माणि वारकाणि विषयाख्यानि वस्तूनि सीव्यध्वम् संबध्नीत । स्वस्वव्यापारविषयान् शब्दादीन् कुरुत । कीदृशानि । बहुला बहुलानि अधिकानि पृथूनि विस्तीर्णानि । तथा आयसीः अयोवत् सारभूता अधृष्टाः परैर्धृष्यमाणाः पुरः पूरयित्रीः स्वस्वविषयग्रहणशक्ताः कृणुध्वम् कुरुत । एतत् सर्वं शरीरसद्भावे भवतीति तस्य विनाशाभावो दार्ढ्यं च प्रार्थ्यते । वः युष्माकं संबन्धी चमसः चमसवच्चमसः भोगसाधनभूतो देहः मा सुस्रोत् मा स्रवतु मा विनश्यतु । ❀ स्रवतेर्लुङि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ । तं देहं दृंहत दृढीकुरुत स्वावस्थानेनेति इन्द्रियाणि स्तूयन्ते । ❀ दृह दृहि वृद्धाविति धातुः ❀ ॥ यद्वा हे ऋत्विजः व्रजं कृणुध्वम् गोष्ठं कुरुत । घर्माशिरादिविनियोगार्थं गोस्थानं कुरुत । स हि स खलु नृपाणः नेतॄणां देवानां पातव्यः देवपानसाधनभूत इति सांनाय्यरूपेण वा आशिररूपेण वा गोपयःप्रभृतिकं देवाः पिबन्ति । वर्म वर्माणि सीव्यध्वम् वर्मवत् प्रधानस्य उभयत आच्छादकत्वात् प्रयाजादीनि प्राच्यानि प्रतीच्यानि च अङ्गानि वर्माणि । तानि सीव्यध्वम् संतानयत । बहुलानि पृथूनीति वर्मविशेषणम् । तथा पुरः पुराणि होतृधि-

ध्यायादीनि यष्टव्यानां देवानां वा पुरः शरीराणि अयोवत् सारभूतानि अधृष्टानि च । पुर इति पुरडाशीया ग्रहा वा विवक्ष्यन्ते । तान् कुरुत । वः युष्मदीयश्चमसो यज्ञाख्यः मदनसाधनभूतश्चमस एव वा । चमसपक्षे सामान्येन एकवचनम् । मा सुस्रोत् मा स्रवेत् । तं दृंहत दृढीकुरुत । यथा विकलो न भवति तथा कुरुत ॥ यद्वा हे योद्धारः व्रजम् संघातात्मकं ग्रामं कुरुत । स खलु युष्मदीयः संग्रामो नृपाणः । नरो योद्धारः पिबन्ति मत्यर्थिनां प्राणान् इति नृपाणः । वर्म कवचानि देहावरणानि सीव्यध्वम् । यथा परकीयशस्त्रैः शरीरभेदो न भवति तथा संनह्यध्वम् । आयसीः अयोनिर्मिताः पुरः नगराणि कृणुध्वं शत्रुबाधापरिहारार्थं स्वरक्षार्थं च एतादृशो वः युष्माकं चमसः मदनसाधनभूतः संग्रामो मा सुस्रोत् माऽपगच्छतु । तं दृंहतेति मन्त्रद्रष्टा ऋषिर्ब्रूते ॥

[इन्द्रियपरत्व, ऋत्विक्परत्व और भटपरत्व भेदसे इस ऋचा का अर्थ तीन प्रकारका है ।] हे इन्द्रियों ! तुम व्रजको बनाओ अर्थात् इस पानसयज्ञप्रवर्तनके अधिष्ठानभूत शरीरमें मिल कर स्थित रहो । क्योंकि--अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होने वाली तुम नृ-नेताओंका यह देह रक्षक है अथवा तुम नृ--इन्द्रियोंका (अपने अपने विषयमें प्रवर्तनरूप) पानस्थान है । वर्मोंको अर्थात् वारक विषय वाचक वस्तुओंको भली प्रकार बाँधो अर्थात् अपने २ व्यापार विषय शब्द आदिको करो ये अधिक हैं और विस्तीर्ण हैं तुम इनको लोहेकी समान सारभूत दूसरोंसे अधृष्य अपने २ विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ करो । [यह सब शरीरके होने पर ही होसकता है अतः उसके विनाशके अभावकी और दृढताकी प्रार्थना करते हैं, कि] तुम्हारा यह चमसकी समान भागसाधनभूत देह छिन्न न होवे । उस देहको तुम अपनी स्थितिसे दृढ़ रक्खो [इस प्रकार इन्द्रियोंकी स्तुति की, अब] हे ऋत्विजों !

तुम व्रजको बनाओ अर्थात् धर्माशिरादि विनियोगके लिये गो-स्थानको करो, यही नृपाण है अर्थात् नेता देवताओंका पान साधन है। अर्थात् सांनाय्यरूपसे वा आशिररूपसे देवता गोपय आदिका पान करते हैं। प्रधानके दोनों ओरसे वर्मकी समान आच्छादक होनेसे प्रयाजादि प्राच्य और प्रतीच्य अंगोंको तुम विस्तृत करो, ये बहुल और पृथु हैं। और ये होतृधिष्ण्यादि बहुरूप देवताओंके शरीर हैं इनको तुम लोहेकी समान सार और अधृष्ट करो। तुम्हारा यह भक्षण करनेका पात्र चमस नष्ट न हो इसको दृढ़ करो वा—चमसकी समान जीविकाका साधन चमस अर्थात् यज्ञ विकल न रहे तैसा करो॥ हे योधाओ! तुम संघा-तात्मक ग्रामको बनाओ यही तुम्हारी मनुष्योंके द्वारा शत्रुओंके प्राणोंको पीनेका स्थान नृपाण है, तुम अपने कवचोंको पहिरो शत्रुके शस्त्रोंसे तुम्हारा शरीर छिन्न भिन्न न हो अतः कवचोंको पहिरो। शत्रुकी बाधाको रोकनेके लिये और अपनी रक्षा करने के लिये लोहेके नगरोंको बनाओ। यह तुम्हारे भक्षण करने का साधन चमस—युद्ध विकल न जावे। उसको दृढ़ करो॥४॥

पञ्चमी॥

यज्ञस्य॒ चक्षुः॒ प्रभृ॑तिर्मुखं॑ च वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि।
इ॒मं य॒ज्ञं वित॑तं वि॒श्वक॑र्मणा दे॒वा य॑न्तु सुमन॒स्य॑मानाः॥५॥

यज्ञस्य। चक्षुः। प्रऽभृतिः। मुखम्। च। वाचा। श्रोत्रेण। मनसा। जुहोमि।

इमम् । यज्ञम् । विऽततम् । विश्वऽकर्मणा । आ । देवाः । यन्तु । सुऽमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

एषा ऋक् पूर्वमेव व्याख्याता [२. ३५.५] चक्षुरादीन्द्रियाणि मनोयज्ञस्य संबन्धित्वेन जुहोमि तत्प्रवणानि करोमि । इमं यज्ञं विश्वस्रष्ट्रा देवेन विततं विस्तीर्णम् इमं मानसं यज्ञं देवाः सुमनस्यमानाः सुमनस इव आचरन्तो यन्तु प्राप्नुवन्तु इति संग्रहार्थः ॥

यह अग्नि यज्ञको नेत्रकी समान दिखाने वाले हैं । यज्ञके अधिष्ठात्री देवताके नेत्रेन्द्रिय हैं । सब यज्ञ अग्निको स्थापित करके ही किये जाते हैं अत एव अग्नि यज्ञकी आदि हैं । और अग्निदेव यज्ञके मुख हैं और प्रयाज आदियें सब देवताओंसे पहिले इनका पूजन होता है अतः यह मुखकी समान मुख्य हैं ऐसे अग्निदेवके उद्देश्यसे मैं अनन्य व्यापार वाले श्रोत्र आदि युक्त मनसे पूजनीय देवताका ध्यान करता हुआ घृतकी आहुति देता हूँ । अब विश्वकर्माके द्वारा उत्पन्न किये हुए इस अनुष्ठीयमान यज्ञमें पूजनीय इन्द्र आदि देवता अनुग्रहबुद्धि रख कर आवें ॥ [इस मन्त्रका प्रसंगपरक अर्थ यह है, कि–चक्षु आदि इन्द्रियोंका मैं मनोयज्ञके सम्बन्धसे होम करता हूँ अर्थात् उन इन्द्रियोंको मनःप्रवण करता हूँ । विश्वस्रष्टा देवसे विस्तृत इस मानस यज्ञमें देवता सुन्दर मन रख कर प्राप्त होवें] ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।
इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥ ६ ॥

ये । देवानाम् । ऋत्विजः । ये । च । यज्ञियाः । येभ्यः । हव्यम् ।
क्रियते । भागऽधेयम् ।
इमम् । यज्ञम् । सह । पत्नीभिः । आऽइत्य । यावन्तः । देवाः ।
तविषाः । मादयन्ताम् ॥ ६ ॥

देवानां मध्ये ये ऋत्विजः ऋतौ काले यष्टारः ऋत्विग्भूता वर्तन्ते । ये च यज्ञिया यज्ञार्हा यष्टव्या वर्तन्ते । येभ्य उभयेभ्यो देवेभ्यः भागधेयम् भागरूपं हव्यं हविः क्रियते दीयते । यावन्तो यत्परिमाणा देवाः सन्ति तावन्तस्तविषा महान्तो देवाः पत्नीभिः स्वस्वनारीभिः इन्द्राण्यादिभिः सह इमं यज्ञम् एत्य आगत्य मादयन्ताम् हविःस्वीकारेण तृप्ता भवन्तु ॥

इति सप्तमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

देवताओंमें जो ऋत्विज हैं अर्थात् ऋतुकालमें यष्टा ऋत्विक्-रूप हैं, और जो यज्ञार्ह पूजनीय हैं, जिन दोनोंके निमित्त भाग-रूप हवि दीजाती है । जितने परिमाण वाले विशाल २ देवता हैं वे सब अपनी २ पत्नी इन्द्राणी आदिके साथ इस यज्ञमें आ हविको स्वीकार करके प्रसन्न हों ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक में चतुर्थ सूक्त समाप्त (१०२) ॥

"त्वमग्ने व्रतपाः" इति सूक्तस्य दर्शस्य पूर्णमासस्य वा व्यतिक्रमे आज्यहोमे शान्तसमिदाधाने वा विनियुक्तम् । सूत्रितं हि कौशिकेन संहिताविधौ । "एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः । ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति । तयोर्व्यतिक्रमे त्वमग्ने व्रतपा असि [१६. ५६] कामस्तदग्रे [१६. ५२] इति शान्ताः" इति [कौ० १.६] ॥

"त्वमग्ने व्रतपाः" इस सूक्तका दर्श वा पूर्णमासके व्यतिक्रम के घृतहोममें वा शान्तसमिदाधानमें विनियोग किया जाता है ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति। तयोर्व्यतिक्रमे त्वमग्ने व्रतपा असि (१६।५६) कामस्तदग्रे (१६।५२) इति शान्ताः।" (कौशिकसूत्र १।६)॥

तत्र प्रथमा॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।

त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥ १॥

त्वम्। अग्ने। व्रतऽपाः। असि। देवः। आ। मर्त्येषु। आ।

त्वम्। यज्ञेषु। ईड्यः॥ १॥

हे अग्ने त्वं व्रतपाः व्रतस्य कर्मणः पालयिता असि भवसि। मर्त्येषु मरणधर्मसु मनुष्येषु देवः द्योतमानः जाठराग्निरूपः आ अभि भवसि समन्ताद् व्याप्नोषि। द्वितीय आकारः आभिमुख्यार्थो वा। किं च यज्ञेषु दर्शपूर्णमासादिषु त्वमेव ईड्यः स्तोतव्यो भवसि॥

हे अग्ने! आप व्रत अर्थात् कर्मके पालक हैं। मरणधर्मी मनुष्यों में जठराग्निरूपसे व्याप्त हैं। और दर्श पूर्णमास आदि यज्ञोंमें आप स्तुति पाते हैं॥ १॥

द्वितीया॥

यद् वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः।

अग्निष्टद् विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥ २॥

यत् । वः । वयम् । प्रऽमिनाम । व्रतानि । विदुषाम् । देवाः । अवि-
दुःऽतरासः ।
अग्निः । तत् । विश्वऽम् । आ । पृणाति । विद्वान् । सोमस्य ।
यः । ब्राह्मणान् । आऽविवेश ॥ २ ॥

हे देवाः विदुषाम् जानतां वः युष्माकं व्रतानि कर्माणि अवि-
दुष्टरासः अत्यर्थं कर्ममार्गम् अविद्वांसो वयं यत् प्रमिनाम प्रकर्षेण
हिंसाम विनाशितवन्तः । ❀ "मीनातेर्निगमे" इति ह्रस्वः ❀ ।
तद् विश्वम् लुप्तकर्म विद्वान् जानानः अग्निः आ पृणाति आपूर-
यति अविकलं करोति । योऽग्निः सोमस्य यष्टृत्वेन संबन्धिनो
ब्राह्मणान् आविवेश आविष्टः अभिमुखं गतवान् भवति ॥

हे देवताओं ! आप ज्ञानवालोंके जिन कर्मोंको हम अनजानोंने
नष्ट कर दिया है उस लुप्तकर्मको जानने वाले अग्निदेव अविकल
(पूर्ण) कर देते हैं । यह अग्निदेव सोमके पूजक सम्बन्धी ब्राह्मणों
के अभिमुख होरहे हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्
अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता सोऽध्वरान्त्स ऋतून्
कल्पयाति ॥ ३ ॥

आ । देवानाम् । अपि । पन्थाम् । अगन्म । यत् । शक्नवाम ।
तत् । अनुऽप्रवोढुम् ।
अग्निः । विद्वान् । सः । यजात् । सः । इत् । होता । सः । अध्व-
रान् । सः । ऋतून् । कल्पयाति ॥ ३ ॥

देवानाम् यष्टव्यानां पन्थाम् पन्थानं येन देवान् प्राप्नोति तं पन्थानमपि आ अगन्म । तत्र प्रविष्टा इत्यर्थः । किमर्थम् । यद् वयम् अनुष्ठानं शक्नवाम शक्नुयाम तद् अनुष्ठानम् अनुक्रमेण प्रवोढुम् प्रापयितुं कर्तुम् देवानां पन्थानम् अनुगताः स्म इति । ❀गमेर्लुङि च्लेर्लुङि "मो नो धातोः" इति मकारस्य नकारः। वहतेस्तुमुनि "सहिवहोरोदवर्णस्य" इति अवर्णस्य ओकारः ❀। अथ सोग्निः विद्वान् तं पन्थानम् यजात् यजतु देवान् । सेत् स एव होता मनुष्याणाम् देवानाम् आह्वाता वा स एव अध्वरान् हिंसारहितान् यज्ञान् स ऋतून् यज्ञकालांश्च कल्पयाति कल्पयतु ॥

इति सप्तमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हम जिस अनुष्ठानको करना चाहते हैं उसको अनुक्रमसे यथा-स्थान पर पहुँचानेके लिये हम (जिस मार्गसे देवताओंको प्राप्त होसकते हैं उस) देवयानमार्गको प्राप्त होगए हैं । उस मार्गको जानने वाले अग्निदेव देवताओंका यजन करें । वही देवताओंके होता वा आह्वाता हैं । वही हिंसारहित यज्ञोंको और यज्ञकालों को कल्पित करें ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६०१)

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् १

वाक् । मे । आसन् । नसोः । प्राणः । चक्षुः । अक्ष्णोः । श्रोत्रम् । कर्णयोः ।

अपलिताः । केशाः । अशोणाः । दन्ताः । बहु । बाह्वोः । बलम् १

मेरी वाणी मुखमें रहे, प्राण नासिकाके नथुनोंमें रहे, नेत्रोंमें

चक्षुः रहे, मेरे केश श्वेततारहित रहें, दाँत अशोण (बिना गिरे वा पीडारहित) रहें, और मेरी भुजाओंमें बहुतसा बल रहे ॥ १ ॥

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥

ऊर्वोः । ओजः । जङ्घयोः । जवः । पादयोः ।
प्रतिऽस्था । अरिष्टानि । मे । सर्वा । आत्मा । अनिऽभृष्टः ॥२॥

मेरी ऊरुओंमें ओज रहे, जंघाओंमें वेग रहे और पैरोंमें प्रतिष्ठा—खड़े रहनेकी शक्ति—रहे, मेरा आत्मा सबसे अधृष्य रहे मेरे सब अंग पापरहित रहें ॥ २ ॥

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ १ ॥

तनूः । तन्वा । मे । सहे । दतः । सर्वम् । आयुः । अशीय ।
स्योनम् । मे । सीद । पुरुः । पृणस्व । पवमानः । स्वःऽगे ॥१॥

मैं अपने शरीरसे शत्रुओंके शरीरोंको दबा सकूँ और आयु भर दाँतोंसे खाता रहूँ, हे पवमानाग्ने ! आप सुखपूर्वक मेरे यहाँ बैठिये और स्वर्गमें मुझको सुखसे पूरित रखिये ॥ १ ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

प्रियम् । मा । कृणु । देवेषु । प्रियम् । राजऽसु । मा । कृणु ।
प्रियम् । सर्वस्य । पश्यतः । उत । शूद्रे । उत । आर्ये ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! आप मुझको देवताओंमें प्रिय करिये और राजाओंमें मुझको प्रिय बनाइये । सब देखने वालोंका मैं प्रिय रहूँ शूद्र और आर्योंमें भी मैं प्रिय रहूँ ॥ १ ॥

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।

आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥

उत् । तिष्ठ । ब्रह्मणः । पते । देवान् । यज्ञेन । बोधय ।

आयुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । पशून् । कीर्तिम् । यजमानम् । च । वर्धय ॥ १ ॥

हे ब्रह्मणस्पते ! आप उठिये और यज्ञसे देवताओंको बोधित करिये तथा यजमानकी आयु प्राण प्रजा पशु और कीर्तिको तथा यजमानको भी बढ़ाइये ॥ १ ॥

"अग्ने समिधम्" इति सूक्तेन ब्रह्मचारिकर्तव्ये अग्निकार्ये प्रत्यृचं चतस्रः समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि संहिताविधौ । "इदम् आपः प्रवहत [७. ६४. ३] इति पाणी प्रक्षालयते । सं मा सिञ्चन्तु [७. ३४] इति त्रिः पर्युक्षति । अग्ने समिधम् आहार्षम् [१६.६४] इत्यादधाति चतस्र." [कौ० ७.८] इति ॥

"अग्ने समिधम्" सूक्तसे ब्रह्मचारीके कर्तव्य अग्निकार्यमें प्रत्येक ऋचासे चार समिधाओंको रक्खे। इसी बातको संहिता-विधिमें भी कहा है, कि "इदं आपः प्रवहत (७ । ६४ । ३) इति पाणी प्रक्षालयति । सं मा सिञ्चतु (७ । ३४) इति त्रिः पर्युक्षति । अग्ने समिधं आहार्षम् (१६ । ६४) इत्यादधाति चतस्र." (कौशिकसूत्र ७ । ८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥१॥

अग्ने। सम्ऽइधम्। आ। अहार्षम्। बृहते। जातऽवेदसे।

सः। मे। श्रद्धाम्। च। मेधाम्। च। जातऽवेदाः। प्र। यच्छतु१

बृहते महते जातवेदसे जातानां वेदित्रे जातैः प्राणिभिर्ज्ञाय-मानाय जातधनाय वा अग्नये समिधम् समिन्धनसाधनं काष्ठम् आहार्षम् आहृतवान् अस्मि। सः समिधा समिद्धो जातवेदाः अग्निः मे मह्यं श्रद्धां मेधां च अधीतवेदधारणां च प्र यच्छतु ददातु॥

मैं महान् जातवेदा (जिनको प्राणी जानते हैं) अग्निके लिये समिधाओंको ले आया हूँ, यह समिधासे समिद्ध हुए जातवेदा अग्नि मुझको श्रद्धा और पढ़े हुए वेदकी धारणा-मेधाको प्रदान करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि।

तथा त्वमस्मान् वर्धय प्रजया च धनेन च ॥ २ ॥

इध्मेन। त्वा। जातऽवेदः। सम्ऽइधा। वर्धयामसि।

तथा। त्वम्। अस्मान्। वर्धय। प्रऽजया। च। धनेन। च २

हे जातवेदस्त्वा त्वाम् इध्मेन इन्धनसाधनेन समिधा काष्ठेन वर्धयामसि प्रवृद्धं कुर्मः। तथा तेन प्रकारेण त्वम् अस्मान् समि-दाधातॄन् प्रजया धनेन च वर्धय॥ दीर्घम् आयुश्च मे कृणोतु करोतु। इति चरमः पादः परोक्तपादः प्रयच्छत्वध्याहारो वा॥

हे जातवेदा अग्ने! हम आपको प्रदीप्त करनेके साधन समिधा से बढ़ाते हैं, इस प्रकार आप हम समिधा धरने वालोंको प्रजा और धनसे बढ़ाइये। [और मेरी आयुको लम्बी करिये] २

तृतीया ॥

यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

यत् । अग्ने । यानि । कानि । चित् । आ । ते । दारूणि । दध्मसि ।
सर्वम् । तत् । अस्तु । मे । शिवम् । तत् । जुषस्व । यविष्ठ्य ३

हे अग्ने ते तुभ्यं यानि कानि चिद् दारूणि यज्ञियानि अयज्ञियानि वा काष्ठानि यद् आ दध्मसि आदध्मः तत् सर्वं मे मम शिवम् श्रेयःप्रदम् अस्तु भवतु । हे यविष्ठ युवतम । ❀ "स्थूलदूरयुव०" इति युवशब्दस्य यणादिलोपः ❀ । तादृश अग्ने तद् आहितं काष्ठजातं जुषस्व सेवस्व ॥

हे अग्ने ! हमने आपके लिये जो यज्ञिय वा अयज्ञिय काष्ठ रखे हैं, वे सब मेरे लिये कल्याणप्रद होवें । हे तरुणतम अग्ने ! आप उन काष्ठोंका सेवन करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव ।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥ ४ ॥

एताः । ते । अग्ने । सम्ऽइधः । त्वम् । इद्धः । सम्ऽइत् । भव ।
आयुः । अस्मासु । धेहि । अमृतऽत्वम् । आऽचार्याय ॥ ४ ॥

हे अग्ने ते तुभ्यम् एताः समिध आहृताः । ताभिः समिद्भिस्त्वम् इद्धः प्रज्वलितो भव । ततः अस्मासु समिध आहितवत्सु आयुः जीवनं धेहि । आचार्याय अस्मदुपाध्यायाय उपनयनकर्मे गायत्रीप्रदात्रे वेदाध्यापकाय अमृतत्वम् अविनाशं च धेहि प्रयच्छ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके लिए ये समिधायें लाई गई हैं, उनसे आप प्रज्वलित हूजिये । तदनन्तर हम समिधा लगाने वालोंको आयु प्रदान करिये, तथा हमारे उपनयनकर्ता गायत्रीप्रदाता वेदाध्यापक आचार्यके लिये अविनाशको प्रदान करिये ॥ ४ ॥

इति प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (६०८) ॥

"हरिः सुपर्णः" "अयोजालाः" "पश्येम शरदः" इति एकर्चानां त्रयाणां सूक्तानां सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"हरिः सुपर्णः" "अयोजालाः" "पश्येम शरदः" इन एक२ ऋचा वाले तीन सूक्तोंका सूर्योपस्थानमें लैङ्गिक विनियोग समझना चाहिये ।

तत्र प्रथमा ॥

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोर्चिषा ये त्वा दिप्संन्ति दिवमु-
　त्पतन्तम् ।
अव तां जहि हरसा जातवेदोबिभ्यदुग्रोर्चिषा दिवमा
　रोह सूर्य ॥ १ ॥

हरिः । सुऽपर्णः । दिवम् । आ । अरुहः । अर्चिषा । ये । त्वा ।
　दिप्सन्ति । दिवम् । उत्ऽपतन्तम् ।
अव । तान् । जहि । हरसा । जातऽवेदः । अबिभ्यत् । उग्रः ।
　अर्चिषा । दिवम् । आ । रोह । सूर्य ॥ १ ॥

हे सूर्य हरिः । तमो हरतीति हरिः । सुपर्णः सुपतनस्त्वम् अर्चिषा तेजसा दिवम् द्युलोकम् आरुहः । ❀ रोहतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेरङ् । ऋदृशोङि गुणः इति गुणाभावः ❀ ।

दिवम् द्युलोकम् उत्पतन्तम् उद्गच्छन्तं त्वा त्वां ये शत्रवः मन्देहादयो दिप्सन्ति दम्भितुं तिरस्कर्तुं प्रतिरोद्धुम् इच्छन्ति तान् प्रतिबन्धकान् शत्रून् [हे जातवेदः जातैः प्राणिभिर्ज्ञायमान यद्वा जातानां प्राणिनां कर्माणि तत्कर्मफलं च जानन्। सायंकाले सूर्यस्याग्नावनुप्रवेशात् जातवेदःशब्देन सूर्यस्य व्यवहारः। तथाविध त्वं हरसा शत्रुनिहारकेण तेजसा अव जहि यथा अवस्तात् ते भवन्ति तथा घातयेत्यर्थः। ततः अबिभ्यत् शत्रुभ्यो भीतिम् अकुर्वन् उग्रः उद्गूर्णबलः सन् हे सूर्य अर्चिषा तेजसा दिवम् द्युलोकम् आ रोह आतिष्ठ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे अंधकारका हरण करने वाले हरि अर्थात् सूर्य ! सुन्दरता से पतन करने वाले आप अपने तेजसे द्युलोक पर आरूढ़ होते हैं। द्युलोक पर आरूढ़ होते हुए आपको जो मन्देह आदि शत्रु संहार करना चाहते हैं, उन प्रतिबन्धक शत्रुओंको, हे उत्पन्न हुए प्राणियोंके कर्मफलको जानने वाले जातवेदा सूर्यदेव ! आप अपने शत्रुनिहारक तेजसे नष्ट करिये और तब शत्रुओंसे न डरने हुए प्रचण्ड बली बनते हुए आप अपने तेजसे द्युलोक पर अधिष्ठित हों ॥ १ ॥

सप्तम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (६०९)

"अयोजालाः" इत्येकर्चस्य सूक्तस्य सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"अयोजालाः" इस एक ऋचा वाले सूक्तका सूर्योपस्थानमें लिङ्गानुसार विनियोग समझना चाहिये।

तत्र प्रथमा ॥

अयोजाला असुरा मायिनोयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।

तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान्

प्रमृणन् पाहि वज्रः ॥ १ ॥

अयःऽजालाः । असुराः । मायिनः । अयस्मयैः । पाशैः । अङ्किनः ।

ये । चरन्ति ।

तान् । ते । रन्धयामि । हरसा । जातऽवेदः । सहस्रऽऋष्टिः ।

सऽपत्नान् । प्रऽमृणन् । पाहि । वज्रः ॥ १ ॥

अयोजालाः । जालम् आनायः । अयोमयवागुरावन्तो मायिनः कुटिला ये असुराः सुरविद्वेषिणः अयस्मयैः पाशैः । ❀ "अयस्मयादीनि छन्दसि" इति भसंज्ञत्वेन निपातनात् पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ । एतादृशैः पाशैः अङ्किनः लक्षणवन्तः पाशहस्ताश्चरन्ति । सत्कर्मकारिणो हिंसितुम् इति शेषः । तांस्तथाविधान् असुरान् हे जातवेदः ते तव हरसा तेजसा रन्धयामि । ❀ रध्यतिर्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] ❀ । वशयामि । पुरुषव्यत्ययो वा । रन्धय वशयेति । स्वाधीनान् कृत्वा च सहस्रऋष्टिः । ऋष्टिरायुधविशेषः । सहस्रसंख्याकायुधविशेषयुक्तो वज्रः । ❀ अर्शआदित्वाद् मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः ❀ । वज्रवान् त्वं सपत्नान् शत्रून् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् पाहि पालय अस्मान् उपस्थातॄन् ॥

इति सप्तमेनुवाकेऽष्टमं सूक्तम् ॥

लोहेके पाशों वाले जो सुरविद्वेषी कुटिल असुर लोहेके पाशों से पहिचानमें आते हुए सत्कर्म करने वालोंका संहार करनेके लिये विचरण करते हैं, ऐसे असुरोंको हे जातवेदा सूर्य ! मैं आप

के तेजसे वशमें करता हूं ॥ सहस्र ऋष्टियोंसे सम्पन्न वज्र वाले आप शत्रुओंको मसल कर इन उपस्थाताओंकी रक्षा करिये १

सप्तम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (६१०) ॥

"पश्येम शरदः शतम्" इति सूक्तस्य सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"पश्येम शरदः शतम्" इस सूक्तका सूर्योपस्थानमें लैंगिक विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्पाठस्तु ॥

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ जीवेम शरदः शतम् २ बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम शरदः शतम् ४ पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ भवेम शरदः शतम् ६ भूषेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥ भूयसीः शरदः शतात्

पश्येम । शरदः । शतम् ॥ १ ॥ जीवेम । शरदः । शतम् ॥२॥ बुध्येम । शरदः । शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम । शरदः । शतम् ॥४॥ पूषेम । शरदः । शतम् ॥ ५ ॥ भवेम । शरदः । शतम् ॥ ६ ॥ भूषेम । शरदः । शतम् ॥ ७ ॥ भूयसी । शरदः । शतात् ॥ ८ ॥

हे सूर्य त्वां शरदः शतम् शतसंख्याकान् संवत्सरान् पश्येम । अत एव शतं शरदो जीवेम । बुध्येम । ❀ व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । बुध्येमहि कार्यजातम् । रोहेम उत्तरोत्तरं प्ररूढाः प्रवृद्धा भवेम । पूषेम शतसंवत्सरपरिमितकालपर्यन्तं पुष्टिं लभेमहि । ❀ पूष पुष्टौ । भौवादिकः ❀ । भवेम । भवनं संभवनम् । पुत्रादि-भरहेण संभूताः स्याम । भूषेम भूयास्म । इति भवनम् आशा-

स्यते। ❀ आशीर्लिङि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀। भूयसीः न केवलं शतसंख्याकाः शरदः भूयसीः अधिकाः शरदः अनेककालपर्यन्तम्। ❀ "कालाध्वनोः०" इति सर्वत्र द्वितीया ❀ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हे सूर्य! हम आपको सौ वर्ष तक देखते रहें अत एव सौ वर्ष तक जीवित रहें, कार्योंको समझते रहें, सौ वर्ष तक वृद्धिको प्राप्त होते रहें, सौ वर्ष तक पुष्टिको प्राप्त करते रहें, सौ वर्ष तक पुत्र आदिके प्रवाहसे सम्पन्न रहें, सौ ही वर्ष तक नहीं, किन्तु बहुत समय तक जीवित रहें ॥ १-८ ॥

सप्तम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (६११)॥

"अव्यसश्च" इति एकर्चं सूक्तं श्रौतस्मार्तसकलकर्मादौ जपेत् उपाकर्मणि च। सूत्रितं हि। "अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य "अव्यसश्च [१९. ६८] इति जपित्वा सावित्रीम् ब्रह्म जज्ञानम् [४. १. १] इत्येकाम् त्रिषप्तीयं [१.१] च पच्छो वाचयेत्" इति [कौ० १४, ३]॥

"अव्यसश्च" इस एक ऋचा वाले सूक्तका श्रौत स्मार्त आदि सब कर्मोंके आरम्भमें और उपाकर्ममें भी जप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अभिजिति शिष्यान् उपनीय" का आरम्भ करके कौशिकसूत्र १४।३ में कहा है, कि—"अव्यसश्च (१९।६८) इति जपित्वा सावित्रीं ब्रह्मजज्ञानम् (४।१।१) इत्येकां त्रिषप्तीयं (१।१) च पच्छो वाचयेत्" ॥

तत्पाठस्तु ॥

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ १ ॥

अव्यसः। च। व्यचसः। च। बिलम्। वि। स्यामि। मायया।

ताभ्याम् । उत्ऽहृत्य । वेदम् । अथ । कर्माणि । कृण्महे ॥ १ ॥

व्यचसः । ॐ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ॐ । व्याप्तस्य सर्वशरीरव्यापकस्य व्यानवायोः समष्टिरूपस्य अव्यसः अव्यचसः । ॐ वर्णलोपश्छान्दसः ॐ । अव्याप्तस्य व्यष्टिरूपस्य प्राणात्मकस्य वायोः । ॐ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । "व्यचेः कुटादित्वम् अनसीति वक्तव्यम्" इति पर्युदासाद् ङित्त्वाभावेन संप्रसारणाभावः ॐ । तयोर्बिलम्-बिलवच्छिद्रं मूलाधारं मायया । कर्म नामैतत् । कर्मणा अभिमतव्यापारेण वि ष्यामि विवृतं करोमि । ॐ स्यतिरुपसृष्टो विमोचने इति नैरुक्ताः [नि० १. १७] ॐ । शब्दं विवक्षोः पुरुषस्य प्रयत्नजनितवायुवशाद् मूलाधारे स्पन्दो भवतीति आगमिका आहुः "मूलाधारात् प्रथमम् उदितो यस्तु भावः पराख्यः" इति । ताभ्यां व्यानप्राणाभ्याम् । ॐ करणे तृतीया ॐ । वेदम् मन्त्रात्मकमन्त्रसंघम् उद्धृत्य बिलरूपाद् मूलाधारात् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीक्रमेण उद्गमय्य अथ अनन्तरं कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च कृण्महे कुर्महे ॥ यद्वा अव्यचसः अव्याप्तस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः व्यचसः व्याप्तस्य परमात्मनश्च बिलम् उपलब्धिस्थानं हृदयं मायया अज्ञानेन वि ष्यामि विमुक्तं विरहितं करोमि । हृदये अज्ञानावृते सति कर्तव्याकर्तव्यविभागो न भवति । अतः कार्याकार्यविभागे ज्ञानपरिपन्थिनं मूढभावम् अपसारयामीत्यर्थः । ताभ्यां जीवपरमात्मभ्यां वेदम् चिकीर्षितकर्मविषयं ज्ञानम् उद्धृत्य संपाद्य अथ अनन्तरं कर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यानि कृण्महे कुर्महे । चिकीर्षितस्य कर्मणः स्वरूपम् तत्साधनकलापम् तदङ्गकलापम् तत्फलम् तत्कर्मप्रतिपादकमन्त्रब्राह्मणयोरर्थं च विदित्वा कर्मानुष्ठानम् इत्युक्तं भवति ॥

इति सप्तमेऽनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

मैं सब शरीरमें व्याप्त रहने वाले समष्टिरूप व्यान वायु

(व्यष्) और प्रव्यष् अर्थात् व्याप्तिरूप प्राणात्मक अभ्यास प्राणवायु इन दोनोंके मूलाधारको अभिभवनव्यापारसे चिह्नित करता हूँ [शास्त्र जानने वाले कहते हैं, कि-शब्दको कहना चाहने वाले पुरुषके प्रयत्नसे उठी हुई वायुके वशसे मूलाधारमें स्पन्द होता है, यथा "मूलाधारात् प्रथमं उदितो यस्तु भावः पराख्यः ।-मूलाधारसे प्रथम प्रकट हुआ जो परा नामक भाव है"] इन व्यान और प्राणोंसे अक्षरात्मक ग्रन्थसमूहरूप वेदको मूलाधारमेंसे परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरीके क्रमसे निकाल कर हम श्रौत और स्मार्त कर्मोंको करते हैं। [अथवा-] अभ्यास परिच्छिन्न जीवात्मा (प्रव्यष्) के और व्याप्त परमात्मा (व्यष्) के चित्त अर्थात् प्राप्तिके स्थान हृदयको अज्ञानसे रहित करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि-हृदयमें अज्ञान होने पर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं होता है। अतः कार्य और अकार्यके जाननेके निश्चित भावके विरोधी मूढभावको दूर करता हूँ। उन जीव और परमात्मा से वेदको-चिकीर्षित कर्मविषयक ज्ञान को-सम्पादित करके हम नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करते हैं। तात्पर्य यह है, कि-जिस कर्मको करनेकी इच्छा हो उस कर्मके स्वरूपको उसके साधनकी सामग्रीको, उसके अंगोंको, उसके फलको और उस कर्मका प्रतिपादन करने वाले मन्त्र और ब्राह्मणके अर्थको समझ कर कर्मका आरम्भ करना चाहिये १

सप्तम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (११२) ॥

"जीवा स्थ" इति पञ्चमन्त्रात्मकेन सूक्तेन आयुष्कामः अङ्गिरावत्स्य आत्मानम् अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "शुद्धा न आपः [१२. १. ३०] इति निष्ठीव्य जीवाभिः [१९. ६९, ७०] आचम्य एहि जीवम् [४. ६] इत्याञ्जनमणिं बध्नाति" इति [कौ० ७. ६] ॥

"जीवा स्थ" इस पाँच मन्त्र वाले सूक्तसे आयुको चाहने वाला जलोंसे आचमन करके आत्माका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"शुद्धा न आपः (१२ । १ । ३०) इति निष्ठीव्य जीवाभिः (१९ । ६९, ७०) आचम्य एहि जीवम् (४ । ९) इत्याञ्जनमणिं बध्नाति" (कौशिकसूत्र ७।९) ॥

तत्पाठस्तु ॥

जीवा स्थं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

जीवाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ १ ॥

उपजीवा स्थोपं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ २ ॥

उपऽजीवाः । स्थ । उप । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् २

संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ३ ॥

सम्ऽजीवाः । स्थ । सम् । जीव्यासम् । सर्वम् आयुः । जीव्यासम् ३

जीवला स्थं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ४ ॥

जीवलाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ४

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम् ।
सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

इन्द्र । जीव । सूर्य । जीव । देवाः । जीवाः । जीव्यासम् अहम् ।
सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ १ ॥

निगदव्याख्यातम् इदम् । इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा इति

मन्त्रे समाम्नाता इन्द्रसूर्यदेवाः संबोध्यन्ते । हे इन्द्रादयो यूयं जीवाः जीवनवन्तः आयुष्मन्तः स्थ भवथ । भवदनुग्रहाद् अहमपि जीव्यासम् जीवनवान् आयुष्मान् भूयासम् । अनेनाचमनकर्मणा इति विनियोगाद् अवगम्यते । कतिपयकालावस्थानमपि जीवनं भवेद् इति तत्राह सर्वम् इति । सर्वं संपूर्णं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीव्यासम् प्राणाय धारयेयम् । एवम् उत्तरे मन्त्रा व्याख्येयाः ॥ उपजीव्याः । उपशब्दः अधिकार्थः । अधिकं जीवनवन्तः । उपजीवयन्ति संनिहितान् भजकान् आयुष्मतः कुर्वन्तीति वा उपजीव्याः ॥ संजीव्याः समीचीनजीवनवन्तः जीवनकाले एकः क्षणोपि वैयर्थ्येन न नीयते किं तु परोपकारित्वेनेति आयुषः सम्यक्त्वम् ॥ जीवलाः जीवः प्राणधारणम् । ❀ भावे घञ् । "सिध्मादिभ्यश्च" इति मत्वर्थीयो लच् ❀ ॥ हे इन्द्र परमैश्वर्यसंपन्न सर्वेन्द्रियप्रकाशक त्वं जीव आयुष्मान् भव । हे सूर्य सर्वस्य प्रसवितस्त्वं जीव । हे देवाः इन्द्रसूर्यव्यतिरिक्ता अग्न्यादयो यूयं जीवाः । भवतेति अनुषक्तक्रियापदस्य बहुवचनान्तत्वेन परिणमनम् । युष्मत्प्रसादाद् अहम् आचमनकर्मकर्ता चिरकालपर्यन्तं प्राणान् धारयेयम् इति आयुराशास्यते ॥

इति सप्तमेनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

(हे पञ्चममन्त्रमें कहे हुए इन्द्र सूर्य और देवताओ) तुम आयुष्मान् हो, (इस आचमन कर्मसे) आपके अनुग्रहसे मैं भी आयुष्मान् होऊँ (कब तक जीवित रहूँ इसको स्पष्ट करते हैं, कि—) सम्पूर्ण आयु भर अर्थात् सौ वर्ष तक प्राणोंको धारण किये रहूँ उपजीव्य रहूँ, सम् उपजीव्य रहूँ अर्थात् मेरी आयु परोपकारमें ही बीते, एक क्षण भी व्यर्थ न जावे । हे इन्द्र आदि देवताओ ! तुम जीवन वाले हो, मैं भी जीवनसम्पन्न रहूँ । हे परमैश्वर्यसम्पन्न सर्वेन्द्रियप्रकाशक इन्द्र ! आप जीवित रहें, हे सब

के प्रसविता सूर्य ! आप जीवित रहें, हे इन्द्र और सूर्यसे भिन्न अग्नि आदि देवताओं ! तुम जीवित रहो और आपके प्रसादसे आचमन करने वाला मैं भी चिरकाल तक प्राणोंको धारण किये रहूँ [इस प्रकार इस सूक्तमें आयुकी प्रार्थना की है] १—१

सप्तम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (११७)

"स्तुता मया वरदा" इति एकर्चस्य सूक्तस्य अधीतस्य वेदस्य गायत्र्या वा उपस्थाने लैङ्गिको विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

"स्तुता मया वरदा" इस एक ऋचावाले सूक्तका पढ़ेहुए वेदके वा गायत्रीके उपस्थानमें लिंगानुसार विनियोग समझना चाहिये

ऋक्पाठस्तु ॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।

मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १ ॥

स्तुता । मया । वरदा । वेदऽमाता । प्र । चोदयन्ताम् । पावमानी । द्विजानाम् ।

आयुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । पशुम् । कीर्तिम् । द्रविणम् । ब्रह्मऽवर्चसम् ।

मह्यम् । दत्त्वा । व्रजत । ब्रह्मऽलोकम् ॥ १ ॥

स्वानुष्ठितकर्मणो निरभिसंधिना सर्वार्थ फलाशासनं स्वस्याधिकृतं भवतीत्यभिप्रायेण मन्त्रद्रष्टा ऋषिः स्वानुष्ठितवेदाध्ययनेन

गायत्रीजपेन वा द्विजानाम् आयुरादिफलम् आशास्य तन्मध्यवर्तिनः स्वस्यापि फलं सिद्धवद् अनुवदति । मया वेदाध्यायकेन सावित्रीं जपता वा स्तुता अभिष्टुता स्वभ्यस्ता वरदा इष्टकामप्रदात्री पावमानी । पवमानः पापात् परिशोधकः सूत्रात्मा । "वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्टः" इति ऐतरेयकश्रुतेः [ऐ० ब्रा० २. १. १] । तत्प्रतिपादिका पावमानी वेदमाता वेदस्य ऋगादिरूपस्य माता सर्ववेदसारत्वेन मातृवत्प्रधानभूता सावित्री वेद एव वा माता मातृवद्धितकारित्वात् ।

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।

इति स्मृतेः । द्विजानाम् द्विजन्मनां ब्राह्मणानां त्रैवर्णिकानां वा आयुरादिफलानि प्र चोदयन्ताम् । ❀ पूजायां बहुवचनम् ❀ । प्रेरयतु प्रयच्छतु । ब्रह्मवर्चसम् ब्रह्मणो वर्चः ब्राह्मं तेजः । ❀ "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इति अच् समासान्तः ❀ । अथ मह्यं स्तोत्रे सर्वेषां फलप्रार्थकाय दत्त्वा आयुरादिकं फलं वितीर्य ब्रह्मलोकम् ब्रह्मणो लोकः सत्यलोकः ब्रह्मैव वा लोकः लोक्यमानं विद्वद्भिरनुभूयमानं परतत्त्वं व्रजत । इति प्रत्यक्षवादः । ❀ अत्रापि पूर्ववद् बहुवचनम् ❀ । शब्दावगम्यब्रह्माकारं परित्यज्य वाङ्मनसातीतार्थब्रह्मरूपा भवेति मन्त्रदर्शिना ऋषिणा साक्षात्कृतपरत्वेन उच्यते ॥

इति सप्तमेऽनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

अपने अनुष्ठित कर्मोंका निरभिसंधि होकर सबके लिये फल की प्रार्थना करना अपने लिये अविफल होता है इस अभिप्राय से मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने अनुष्ठित वेदाध्ययनसे वा गायत्रीमन्त्रके जपसे द्विजोंके आयु आदि फलकी प्रार्थना करके उनके मध्यमें वर्तमान अपने फलको भी सिद्धवत् कहता है, कि—मुझ वेदाध्यायक वा गायत्रीका जप करने वालेसे स्तुत और भली प्रकार

अभ्यस्त इष्ट प्रयोजनको देने वाली, पापसे शुद्ध करने वाले परि-शोधक– सूत्रात्मा) का प्रतिपादन करने वाली पावमानी † ऋक् आदि रूप वेदकी माता अर्थात् सब वेदोंका सार होनेसे माता की समान प्रधानभूत सावित्री वा वेदस्वरूप माता वेदमाता, त्रैवर्णिकोंको आयु आदि फल प्रदान करे फिर मुझ सबके लिये फलकी प्रार्थना करने वाले स्तोताको ब्रह्मतेज प्रदान करके विद्वानोंसे अनुभूयमान परतर ब्रह्मलोकको चली जावे अर्थात् शब्दावगम्य ब्रह्माकारको त्याग कर वाणी और मनसे अतीत अर्थ वाली ब्रह्मरूपा होजावे ॥ १ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (६९५)

"यस्मात् कोशात्" इति एकर्चं सूक्तं सर्वेषु श्रौतस्मार्तकर्मसु ब्रह्मोत्थापनानन्तरं जपेत् । स्वाध्यायोत्सर्जनकर्मणि च अन्ते जपेत् । सूत्रितं हि कौशिकेन संहिताविधौ । "पौषस्यापरपक्षे त्रि-रात्रं नाधीयीत तृतीयस्याः प्रातः समासं संदिश्य यस्मात् कोशा-दित्यन्तः" इति [कौ० १४, ३] ॥

"यस्मात् कोशात्" इस एक ऋचा वाले सूक्तको सब श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें ब्रह्मोत्थापनके अनन्तर जपे । और स्वाध्या-योत्सर्जनकर्ममें भी अन्तमें जपे । कौशिकमुनिने संहिताविधिमें सूत्रित भी किया है, कि–"पौषस्यापरपक्षे त्रिरात्रं नाधीयीत तृतीयस्याः प्रातः समासं संदिश्य यस्मात् कोशादित्यन्तः" (कौशिकसूत्र १४ । ३) ॥

ऋक्पाठस्तु ॥

यस्मा॒त् कोशा॑दु॒दभ॑राम॒ वेदं॒ तस्मि॑न्न॒न्तरव॑ दध्म एनम्

† ऐतरेय आरण्यक २ । १ । १ में कहा है, कि–"वायुरेव पवमानो दिशो हरित आदिष्ट." ॥

कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह १

यस्मात् । कोशात् । उत्ऽअभराम । वेदम् । तस्मिन् । अन्तः ।
अव । दध्म । एनम् ।

कृतम् । इष्टम् । ब्रह्मणः । वीर्येण । तेन । मा । देवाः । तपसा ।
अवत । इह ॥ १ ॥

यस्मात् "अव्यसश्च व्यचसश्च" इति मन्त्रे प्रतिपादिताद् मूलाधाररूपाद् वा कोशात् कोशवत्कोशः यथा कोशाद् धनवस्त्ररत्नादिपूर्णाद् अपेक्षितं वस्तु आनीयते एवम् अस्य सर्ववर्णमन्त्रायतनत्वाद् तत एवोद्धार इति तत्त्वेन व्यपदेशः । वेदम् विदन्त्यनेन प्रत्यक्षाद्यविषयम् उपायम् इति वेदः । उक्तं हि ।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

इति । श्रौतस्मार्तसकलकर्मप्रतिपादकमन्त्रब्राह्मणरूपं वेदम् उदभराम उद्धृतवन्तः । कर्मानुष्ठानार्थम् उच्चारितवन्तः स्मः । ❀ "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ । तस्मिन् पूर्वोक्ते स्थाने एनं येन कर्माण्यनुष्ठितानि तम् एनम् मन्त्रादिष्टं वेदम् अन्तः मध्ये अव दध्मः पुनः स्थापयामः । कर्मप्रयोगार्थं स्वमुख इव उच्चारिता वर्णरूपा मन्त्रास्तथैव यदि निःसरेयुस्तर्हि उत्तरकाले मन्त्राभावेन कर्मानुष्ठानं न भवेद् इति पुनः पूर्वोक्त एव वेदोद्धरणापादानस्थाने वेदनिधानम् उक्तम् इत्यभिप्रायः । ब्रह्मणः देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यस्य परमात्मनो वीर्येण वीर्यरूपेण कर्मप्रतिपादकेन वा वेदेन कृतम् यत् कर्म ब्रह्मयज्ञादिकं निष्पादितम् इष्टम् यत् स्वाहाकारवषट्कारादिशब्दैर्देवतार्थं हविः प्रत्तं तेन कृतेन इष्टेन च कर्मणा हे देवाः यूयम् इह कर्मलोके तपसा । तपःशब्देन फलं विवक्ष्यते । कम

फलेन मा माम् अनुष्ठातारम् अवत रक्षत तर्पयत । कर्म अविफलं कृत्वा तत्फलेन मां संयोजयतेति यावत् । यद्वा तपसा कृच्छ्रानुष्ठितेन कर्मणा माम् अवत । अथ वा तपसा । तपः पर्यालोचनम् । तद्रूपेण तेन ब्रह्मणो वीर्येण मां संतर्पयतेति ॥

एकोनविंशे काण्डे सप्तमेनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

सप्तमोनुवाकः समाप्तः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराज-
साम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्यविरचिते माधवीये
अथर्ववेदसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे
एकोनविंशं काण्डं

समाप्तम् ॥

श्रीविद्याशङ्करार्पणम् अस्तु ॥

जिस "अव्यसश्च और व्यचसश्च" मन्त्रमें प्रतिपादित मूलाधारसे वा कोशकी समान कोशसे (जैसे धन रत्न वस्त्र आदि से पूर्ण कोशसे अपेक्षित वस्तु निकाल ली जाती है इसी प्रकार इस सर्व वर्णोंके स्थानरूप कोशसे) हम वेदको निकालते हैं । [प्रत्यक्ष आदिके अविषय उपायको जिससे जानते हैं वह वेद कहलाता है । कहा भी है, कि–"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते । एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।–अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष वा अनुमानसे न जाना जावे उसको वेदसे जाना जाता है, यही वेदकी वेदता है" अर्थात् श्रौत स्मार्त-सकल कर्मोंके प्रतिपादक मन्त्रब्राह्मणरूप वेदको हम कर्मानुष्ठान के लिये उच्चारण करते हैं] और उस पूर्वोक्त स्थानमें जिसमे

कर्म किये हैं उस वेदको फिर स्थापित करते हैं [कर्मप्रयोगके लिये अपने मुखसे उच्चारण किये हुए वर्णरूप मन्त्र यदि वैसे ही निकल जावें तो भविष्यमें मन्त्रके अभावसे कर्मका अनुष्ठान ही न होवे इसी लिये पूर्वोक्त वेद निकालनेके स्थान पर फिर वेदका स्थापन करना कहा है] देशकाल और परिच्छेदसे शून्य परमात्मा (ब्रह्म) के कर्मप्रतिपादक वीर्य वा वेदसे जो ब्रह्मयज्ञ आदि कर्म किया है और जो स्वाहा वौषट् आदि शब्दोंसे हवि दा है, उस कृत और इष्टकर्मसे हे देवताओं ! तुम इस कर्मलोक में फलके द्वारा मेरी रक्षा करो अर्थात् कर्मको अविकल करके उसके फलसे मुझे संयुक्त करो-मुझे तृप्त करो ॥ १ ॥

तेरहवाँ सूक्त समाप्त (६१६)

सप्तम अनुवाक समाप्त

विद्यातीर्थ परेश्वर वेदके अर्थको प्रकाशित करके मेरे हृदयके अंधकारको दूर करें और मुझे चारों पदार्थ प्रदान करें ॥

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका एकोनविंशकाण्ड मु० कु०

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक मु० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ एकोनविंशः काण्डः समाप्तः ॥

8'5

पदपाठसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सायणाचार्यकृत-भाष्यसंवलिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसमन्विता

व्याख्याकारः - सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरूपशर्मा गौडः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

८

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2420404
ई-मेल : cvbhawan@yahoo.co.in

पुनर्मुद्रित संस्करण २००७
१-८ भाग (सम्पूर्ण)
मूल्य : रू. ३०००.००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

◆

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

◆

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 8

Edited with Hindi Translation

By
Pt. Rameswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेद की विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

❀ बीसवाँ—काण्ड ❀

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

नवम अनुवाक—

अथर्ववेदसंहिताकी विषयसूची समाप्त॰

———※———

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेदसंहिता

विंशं-काण्डम्

सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥
शान्तिकं पौष्टिकं कर्म प्रायशः प्राक् प्रपञ्चितम् ।
विंशेऽथ ब्रह्मवर्गाणां शस्त्रयाज्यादि वर्ण्यते ॥

भोः । वेद जिनके निश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूं । शान्तिक और पौष्टिक कर्मका वर्णन प्रायः पहिले कर दिया है । अब बीसवें काण्डमें ब्रह्मवर्गोंके शस्त्रयाज्या आदिका वर्णन किया जाता है ॥

तत्र विंशे काण्डे नवानुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके त्रयोदश सूक्तानि । तत्र प्रथमं सूक्तं तृचात्मकम् । तास्तिस्र ऋचः अग्निष्टोमादियज्ञेषु ब्राह्मणाच्छंसिपोत्राग्नीध्राणां क्रमेण प्रातःसवनिकाः प्रस्थितयाज्याः । सूत्रितं हि वैताने । "प्रस्थितैश्चरिष्यन्नध्वर्युः संप्रेष्यति । होतर्यज प्रशास्तर्ब्राह्मणाच्छंसिन् पोतर्नेष्टराग्नीध्र इति । इन्द्र त्वा वृषभं वयम् इति ब्राह्मणाच्छंसी यजति । उत्तराभ्यां पोत्राग्नीध्रौ" इति [वै० ३. ६] ॥

इस बीसवें काण्डमें नौ अनुवाक हैं। और पहिले अनुवाक में तेरह सूक्त हैं। इनमें पहिला सूक्त तीन ऋचाओंका है। ये तीनों ऋचाएँ अग्निष्टोम आदि यज्ञोंमें ब्राह्मणाच्छंसी पोता और आग्नीध्र आदिके क्रमसे प्रातःसवनकी प्रस्थितयाज्या हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"प्रस्थितैश्चरिष्यन्नध्वर्युः सम्प्रेष्यति। होतर्यज प्रशास्तर्ब्राह्मणाच्छंसिन् पोतर्नेष्टरग्नीद् इति। इन्द्र त्वा वृषभं वयम् इति ब्राह्मणाच्छंसी यजति। उत्तराभ्यां पोत्राग्नीध्रौ।" (वैतानसूत्र ३। ६)

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्र॑ त्वा वृष॒भं व॒यं सु॒ते सोमे॑ हवामहे।
स पा॑हि॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः ॥ १ ॥

इन्द्र॑। त्वा॒। वृ॒ष॒भम्। व॒यम्। सु॒ते। सोमे॑। ह॒वा॒म॒हे॒।
सः। पा॒हि॒। मध्वः॑। अन्ध॑सः ॥ १ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्यगुणविशिष्ट। ❀ इदि परमैश्वर्ये। ऋजेन्द्र० [उ० २.२८] इत्यादिना रन् प्रत्ययः। निपातनाद् आद्युदात्तः ❀। अथ वा इन्दौ सोमे निमित्तभूते सति द्रवति त्वरया गच्छतीति इन्द्रः। यद्वा इन्दवे सोमाय तत्पानार्थं द्रवतीति वा इन्द्रः। सत्स्व अन्येषु दधिपयःप्रभृतिषु द्रव्येषु सोमस्यातिशयेन प्रियत्वाद् उक्तव्युत्पत्तिरिन्द्रशब्दस्यात्र द्रष्टव्या। तादृश इन्द्र त्वा त्वाम्। ❀ "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति पूर्वस्य अविद्यमानवत्त्वेन पदात् परत्वाभावेपि अनुदात्तस्त्वादेशश्छान्दसः ❀। कीदृशं त्वाम्। वृषभम् कामानां वर्षितारं वयं यजमानाः सोमे सुते अभिषुते सति तत्पानार्थं हवामहे आह्वयामः। ❀ ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च। अपि "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणम् ❀। स तादृशः अस्माभि-

राहूतस्त्वं मध्वः मधुररसस्य अन्धसः अन्नस्य सोमलक्षणस्य । एकदेशम् इति शेषः । अथ वा मध्वः मधु अन्धसः अन्धः अन्नं सोमलक्षणम् । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी ❀ । पाहि पिब ॥

हे परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न इन्द्रदेव ! (वा इन्दु (सोम) के लिये त्वरासे दौड़ने वाले इन्द्र !) आप कामनाओंकी वर्षा करने वालेको हम सोमके अभिषुत होने पर बुलाते हैं । हमारे बुलाये हुए आप मधुर सोमरसरूपी अन्नका पान करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

मरुतः । यस्य । हि । क्षये । पाथ । दिवः । विऽमहसः ।
सः । सुऽगोपातमः । जनः ॥ २ ॥

हे विमहसः विशिष्टेन अतिशयितेन महसा तेजसा युक्ताः । देवेषु मध्ये एषाम् अतिशयितवीर्यत्वात् । हे मरुतः । म्रियन्ते प्राणिन एभिरिति मरुतः । प्राणात्मकस्य वायोर्निर्गमे सति प्राणिनां मृतिः प्रसिद्धैव । अथ वा म्रियन्त इति मरुतः । इन्द्रेण अदित्या उदरं प्रविश्य एकोनपञ्चाशद्धा खण्डितत्वात् तादृशा एतत्संज्ञया प्रसिद्धा देवा यूयं यस्य हि यस्य खलु यजमानस्य क्षये देवानां निवासस्थाने यागगृहे । ❀ "क्षयो निवासे" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । दिवः द्योतमानाद् द्युलोकाद् अन्तरिक्षाद् आगत्य । ❀ "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । पाथ पिबथ । सोमम् इति शेषः । स खलु जनः यजमानः सुगोपातमः अतिशयेन गोपायितृतमः लोके ये गोपायितारः रक्षयि-

तरसका सन्ति तेषां मध्ये स एव श्रेष्ठतम इत्यर्थः । ⊛ गोपायतेः किपि भलोलोपयलोपौ ⊛ । यस्माद् एवं तस्माद् ममापि यज्ञगृहे सोमं पिबतेत्यभिप्रायः ॥

हे देवताओंमें विशिष्ट तेजस्वी मरुतो ! (मरुत् शब्दकी व्युत्पत्ति यह है, कि-"म्रियन्ते प्राणिनः एभिः-इनसे प्राणी मर जाते हैं" इस लिये ये मरुत् कहलाते हैं प्राणरूपी वायुके निकलने पर मरण होना प्रसिद्ध ही है । अथवा यह व्युत्पत्ति भी होती है, कि "अमृयन्त इति मरुतः !-जो मरे हैं वे मरुत् हैं" इन्द्रने इनकी माताके उदरमें प्रवेश करके इनके उड़श्वास टुकड़े कर डाले थे, इस कारण से मरुत् कहलाते हैं, ऐसे हे मरुतो ! तुम जिस यजमानके यागगृहमें द्युलोकसे आकर सोमका पान करते हो वह पुरुष, लोकमें जो पुरुष अपने आश्रितोंकी रक्षा करते हैं उन में परमश्रेष्ठ (गोपायितृतम) होजाता है । यह बात है इस लिये आप मेरे यज्ञगृहमें भी सोमका पान करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥

उक्षऽअन्नाय । वशाऽअन्नाय । सोमऽपृष्ठाय । वेधसे ।
स्तोमैः । विधेम । अग्नये ॥ ३ ॥

उक्षः सेचनसमर्थो गौः अन्नं यस्य स तथोक्तः । तादृशाय तथा वशान्नाय । वशा वन्ध्या अजादिका सा अन्नं हविर्यस्य स वशान्नः । तस्मै । उक्षवशयोरग्नेरन्नत्वम् "अगोरुधाय" इत्येतं मन्त्रं व्याचक्षाणेन आश्वलायनेन उक्तम् । "एत एव म उक्षाणश्च ऋषभाश्च वशाश्च भवन्ति" इति [आश्व० गृ० १,१] । तथा सोम-

पृष्ठाय सोमः सोमरसः पृष्ठे उपरिदेशे मुखे यस्य स तादृशाय वेधसे विधात्रे सर्वस्य स्रष्ट्रे एवम् उक्तगुणविशिष्टाय अग्नये अझ्मादि-गुणविशिष्टाय देवाय अग्नये अभ्यर्थम् । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति चतुर्थी ❀ । स्तोमैः स्तोत्रैः स्तुतिसाधनभूतैः शस्त्रा-दिभिः विधेम परिचरेम । ❀ विध विधाने । तौदादिकः ❀ ॥

इति प्रथमं सूक्तम् ॥

वृषभ और वंध्या बकरी आदि जिनका अन्न है, और जिन के ऊपर सोम रहता है ऐसे सबके स्रष्टा अझ्मादि गुणोंसे संपन्न अग्निदेवके लिये हम स्तुतिके भेद शस्त्र आदिसे स्तुति करते हैं ३

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६१७)

"मरुतः पोत्रात्" इत्याद्याश्चत्वार ऋतुप्रैषाः । तत्र आद्योत्तमाभ्यां पोता यजति । द्वितीयतृतीयाभ्याम् आग्नीध्रब्राह्मणाच्छंसिनौ । सूत्रितं हि । "सदस्युपविष्टा यथाप्रैषम् ऋतून् यजन्ति । मरुतः पोत्राद् इति प्रथमोत्तमाभ्यां पोता । द्वितीययाग्नीध्रः । तृतीयया ब्राह्मणाच्छंसी" इति [वै० ३. ६] ॥

"मरुतः पोत्राद्" आदि चार ऋतुप्रैष हैं । इनमेंसे पहिली और उत्तमा (अन्तिम) ऋचाओंसे पोता यजन करता है । और दूसरी तथा तीसरी ऋचाओंसे आग्नीध्र और ब्राह्मणाच्छंसी यजन किया करते हैं । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है कि—"सदस्युपविष्टा यथाप्रैषं ऋतून् यजन्ति । मरुतः पोत्राद् इति प्रथमोत्तमाभ्यां पोता । द्वितीययाग्नीध्रः । तृतीयया ब्राह्मणाच्छंसी" । (वैतानसूत्र ३ । ६) ॥

तत्र प्रथमः प्रैषः ॥

मरुतः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु १

मरुतः । पोत्रात् । सुऽस्तुभः । सुऽअर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ १ ॥

मरुतः एतन्नाम्ना प्रसिद्धा देवाः पोत्रात् पोतुः कर्म पोत्रम् तस्मात् । तत्कृताद् यागाद् इत्यर्थः । कीदृशात् । सुष्टुभः । ❀ स्तोभतिः स्तुतिकर्मा ❀ । शोभनस्तोमोपेतात् तथा स्वर्कात् सुष्ठु अर्च्यते देवः अनेनेति स्वर्कम् तस्मात् स्वर्चनात् । यद्वा सुष्टुभः । अत्र स्तोभशब्देन स्तोभोपेतं स्तोत्रम् उच्यते । शोभन-स्तोत्रोपेतात् । स्वर्कात् । अर्च्यन्ते एभिरिति अर्का मन्त्राः । शोभ-नमन्त्रोपेतात् । शोभनशस्त्रोपेताद् इत्यर्थः । एवंभूतात् पोतृयागाद् ऋतुना सह सोमम् अभिषवादिसंस्कारोपेतं सोमरसं पिबतु पिबन्तु । वचनव्यत्ययः ॥

मरुत् नामक प्रसिद्ध देवता पोताके किये हुए सुन्दर स्तुति वाले और शोभन मन्त्रों वाले यागरूपी कर्म पोत्रसे ऋतुके साथ अभिषव आदि संस्कारोंसे सम्पन्न सोमको पियें ॥ १ ॥

द्वितीयः ॥

अग्निराग्नीध्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु २

अग्निः । आग्नीध्रात् । सुऽस्तुभः । सुऽअर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ २ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणविशिष्टो देवः आग्नीध्रात् । अग्निम् इन्ध इति अग्नीत् । स एव आग्नीध्रः एतन्नामा ऋत्विक् । तत्कर्मापि आग्नीध्रम् । यद्वा अग्नीधः कर्म आग्नीध्रम् । तस्माद् आग्नी-ध्रात् । शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

अंगनादि गुणविशिष्ट अग्निदेव, अग्निका समिंधन करने वाले आग्नीध्र नामक ऋत्विजके कर्म आग्नीध्रसे प्रसन्न होकर ऋतुके

साथ सोमरसका पान करें। इस आग्नीध्रमें सुन्दर स्तुतियें है और सुन्दर मन्त्र हैं ॥ २ ॥

तृतीयः ॥

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु

इन्द्रः । ब्रह्मा । ब्राह्मणात् । सुऽस्तुभः । सुऽअर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ ३ ॥

इन्द्रः परमैश्वर्यादिगुणयुक्तो देवः स एव ब्रह्मा । बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च । इन्द्रस्य ब्रह्मात्मना स्तुतिः "इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिः" [ऋ० ८. १६. ७] इत्यादिमन्त्रवर्णाद् अवगन्तव्या । ब्राह्मणात् । अत्र ब्राह्मणशब्देन ब्राह्मणाच्छंस्याख्य ऋत्विग् अभिधीयते । तत्कृतं कर्मापि ब्राह्मणम् इत्युच्यते । यद्वा अत्र ब्रह्मशब्देन ब्राह्मणाच्छंसी निर्दिश्यते । तत्कर्म शस्त्रयागलक्षणं ब्राह्मणम् तस्मात् । शिष्टं पूर्ववत् ॥

परम ऐश्वर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न इन्द्र ही ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे बृहत् हैं। [इन्द्रकी ब्रह्मारूपमें स्तुति 'इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिः' ऋग्वेदसंहिता ८ । १६ । ७ आदिक मन्त्रोंसे समझनी चाहिये।] ऐसे ब्रह्मा इन्द्र ! ब्राह्मणाच्छंसी नामक ऋत्विजके किये हुए सुन्दर स्तुति और सुन्दर मन्त्रोंसे सम्पन्न यागरूपी कर्मसे, अभिषव आदि संस्काररूप ऋतुसे (शुद्ध हुए) सोमरसका पान करें ३

अथ चतुर्थः ॥

देवो द्रविणोदाः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु

देवः । द्रविणःऽदाः । पोत्रात् । सुऽस्तुभः । सुऽअर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ ४ ॥

द्रविणोदाः । द्रविणं हिरण्यादिलक्षणं धनं बलं वा । तद् ददातीति द्रविणोदाः एतन्नामको देवः । अस्य धनदातृत्वम् "द्रविणोदा ददातु नो वसूनि" [ऋ० १. १५. ८] इत्यादिमन्त्रान्तरेषु धनप्रार्थनाविषयतया प्रसिद्धम् । ❀ द्रुदक्षिभ्याम् इनन् [उ० २. ५०] इति इनन्प्रत्ययान्तो द्रविणशब्दः ❀ ॥

इति द्वितीयं सूक्तम् ॥

धनका प्रदान करने वाले द्रविणोदा नामक देवता, कि जिन का धन देना धर्म "द्रविणोदा ददातु नो वसूनि ।—द्रविणोदा देवता हमको धन प्रदान करें" ऋग्वेदसंहिता (१ । १५ ८) आदिक मन्त्रोंमें प्रसिद्ध है वह पोता नामक ऋत्विजके किये हुए सुन्दर स्तुति और सुन्दर मन्त्रोंसे सम्पन्न यागरूपी कर्मसे अभिषव आदि संस्काररूप ऋतुसे शुद्ध हुए सोमरसका पान करें ४.

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६१८) ॥

ज्योतिष्टोमादिषु प्रातःसवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे "आ याहि" इति पञ्च सूक्तानि विनियुक्तानि । तत्र "आ याहि सुषुमा हि ते" इत्याद्यौ तृचौ स्तोत्रियानुरूपौ । "अयमु त्वा विचर्षणे" इति सप्तर्चः "इन्द्र त्वा वृषभं वयम्" इति नवर्चश्च शंसनीयाः उक्थमुखम् इति व्यवह्रियन्ते । "उदु घेदभि" इति तिस्रः ऋचः पर्यास इत्युच्यते । अथोत्तमा परिधानीया । सूत्रितं हि । "आ याहि सुषुमा हि ते [२०. ३] आ नो याहि सुतावतः [२०. ४] इति स्तोत्रियानुरूपौ । अयमु त्वा विचर्षणे [२०. ५] इत्युक्थमुखम् । उदु घेदभि श्रुतामघम् [२०. ७] इति पर्यासः । उत्तमा परिधानीया । त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमाम् अन्वाह । अर्धर्चशस्य ऋगन्तं प्रणवेनोपसंतनोति" इति [वै० ३. ११] ॥

ज्योतिष्टोम आदिमें प्रातःसवनके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें "आ याहि" आदि पाँच सूक्तोंका विनियोग होता है । इनमें "आ याहि

सुषुमा हि ते" ये आदिम दो तृच स्तोत्रियानुरूप हैं। "अयमु त्वा विचर्षणे" यह सात ऋचाएँ और "इन्द्र त्वा वृषभं वयम्" यह तीन ऋचाएँ शंसनीय और उक्थमुख कहलाते हैं। "उद्घेदभि" आदि तीन ऋचाएँ पर्यास कहलाती हैं। इनमें उत्तमा परिधानीया है। सूत्रमें भी कहा है, कि—"आ याहि सुषुमा हि ते (२०।३) आ नो याहि सुतावतः (२०।४) इति स्तोत्रियानुरूपौ। अयमु त्वा विचर्षणे (२०।५) इत्युक्थमुखम्। उद्घेदभि श्रुतमघम् (२०।७) इति पर्यासः। उत्तमा परिधानीया। त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमां अन्वाह। अर्धर्चस्य ऋगन्तम् प्रणवेनोपसंतनोति" (वैतानसूत्र ३।११)॥

तत्र प्रथमा॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्।
एदं बर्हिः सदो मम॥ १॥

आ। याहि। सुसुम। हि। ते। इन्द्र। सोमम्। पिब। इमम्।
आ। इदम्। बर्हिः। सदः। मम॥ १॥

हे इन्द्र परमैश्वर्यादिगुणविशिष्ट त्वम् आ याहि आगच्छ। किमर्थम् आगमनम् इति तत्राह। ते त्वदर्थं सोमं सुषुमा हि अभिषुतवन्तः खलु। ॐ षुञ् अभिषवे। "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः। "हि च" इति निघातप्रतिषेधः। सुषुमा हि त इत्यत्र छान्दसः सांहितिको दीर्घः ॐ। इमम् अभिषुतं सोमं पिब पानं कुरु। इदम् आस्तीर्णं बर्हिः आ सदः आसीद। ॐ लेटि अडागमे इतश्च लोपे च कृते रूपम्॥

हे इन्द्र! आप यहाँ आइये, हमने सोमका अभिषव कर लिया

है। इस अभिषुत सोमका आप पान करिये। इन बिछी हुई कुशाओं पर आप बैठिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ। त्वा। ब्रह्मऽयुजा। हरी इति। वहताम्। इन्द्र। केशिना। उप। ब्रह्माणि। नः। शृणु ॥ २ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वां ब्रह्मयुजा ब्रह्मयुजौ ब्रह्मणा मन्त्रेण रथे युज्यमानौ हरी अभिमतप्रदेशं प्रति आहरणशीलौ एतन्नामानावश्वौ। एताविन्द्रस्य प्रतिनियतौ। ❀ हरी इन्द्रस्य लोहितोऽग्नेर्हरित आदित्यस्येत्यादि निरुक्तात् [निघ० १. १५] ❀। तावेव विशिनष्टि केशिनेति। केशिना केशिनौ प्रकृष्टैः केशैः स्कन्धवाल इत्यादिप्रदेशस्थैर्युक्तौ। अनेन तयोः प्रभूतशक्तिमत्त्वम् उक्तं भवति। तौ आ वहताम् आगमयताम्। तदर्थं नः अस्माकं ब्रह्माणि आह्वानसाधनान् मन्त्रान् उप शृणु। अथ वा आगत्य नः ब्रह्माणि स्तोत्राणि उप शृणु। ❀ बृह बृहि वृद्धौ इत्यस्य बृंहेरम् नलोपश्च [उ० ४. १४५] इति मनिन्प्रत्यये नलोपे च कृते तत्संनियोगेन अमागमे च कृते ब्रह्मेति रूपम् ❀ ॥

हे इन्द्र! मन्त्रोंके द्वारा रथमें संयुक्त होने वाले; अभीष्ट स्थान स्थानको लेजाने वाले, बड़े २ अयालों वाले हरी † नामक घोड़े आपको (हमारे यज्ञमें) लावें, आप आकर हमारे आह्वानके मन्त्रोंको सुनिये ॥ २ ॥

† "हरीन्द्रस्य लोहितोऽग्नेर्हरित आदित्यस्येत्यादि।—इन्द्रके घोड़ोंका नाम हरी है। अग्निदेवके घोड़ेका नाम लोहित है और आदित्यके घोड़ोंका नाम हरित है। (निघंटु १। १५)

तृतीया ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोमऽपाम् । इन्द्र । सोमिनः ।
सुतऽवन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र वयं यजमाना ब्रह्माणः ब्राह्मणाः । यद्वा ब्रह्माणः ब्राह्मणाच्छंसिनो वयम् । ॐ ब्रह्मशब्दः पुंलिङ्गोन्तोदात्तः ॐ । त्वा त्वां युजा । युज्यत इति युक् । स्तोतव्यदेवताहृदयस्पृशा स्तोत्रेण हवामहे आह्वयामः । कीदृशं त्वाम् । सोमपाम् सोमस्य पातारम् । इन्द्रस्य सोमपाने अतिशयितप्रियत्वाद् एवं विशेष्यते । कीदृशा वयम् । सोमिनः सोमवन्तः कृतसोमयागाः । अस्तु प्रस्तुते क्रियायातम् इति तत्राह । सुतावन्तः सोमानभिषुतवन्तः सुतेन सोमेन युक्ता वा । अभिषवग्रहणादिसंस्कारैः संपादितसोमा इत्यर्थः । ॐ छान्दसो दीर्घः ॐ ॥

इति तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! हम पूजा करने वाले ब्राह्मण सोमयाग कर चुके हैं और अभिषव किया हुआ सोम हमारे पास है । ऐसे हम सोमपान करने वाले आपको हृदयस्पर्शी स्तोत्रसे बुलाते हैं ॥ ३ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (६९९)

"आ नो याहि" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"आ नो याहि" सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

आ नो याहि सुतावतोस्माकं सुष्टुतीरुप ।

पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥

आ । नः । याहि । सुतऽवतः । अस्माकम् । सुऽस्तुतीः । उप ।

पिब । सु । शिप्रिन् । अन्धसः ॥ १ ॥

हे इन्द्र सुतावतः सूयते अभिषूयत इति सुतः सोमः । तद्वतः अभिषुतसोमान् नः अस्मान् प्रति । ❀ "शरादीनां च" इति मतुपि पूर्वपदस्य सांहितिको दीर्घः ❀ । आ याहि आगच्छ । तदेव विशिनष्टि । अस्माकं सुष्टुतीः शोभनाः स्तुतिः उपा याहि उपागच्छ । सोमे सुसंस्कृते कृते च शस्त्रे अवश्यम् आगच्छेत्यर्थः । आगत्य च हे सुशिप्रिन् शोभनहनूयुक्त । अनेन सोमपानोचितवक्त्रोपेतत्वम् उक्तं भवति । अथ वा शोभननासिकोपेत । अनेन सोमरसाघ्राणोचितनासायुक्तत्वम् उक्तं भवति । ❀शिप्रे हनू नासिके वेति निरुक्तम् [नि० ६. १७] । ❀ तादृशस्त्वम् अन्धसः अन्धः अन्नं सोमरसलक्षणम् अन्धस एकदेशं वा ग्रहेण धृतम् अंशं पिब पानं कुरु ॥

हे इन्द्र ! हम सोम वालोंके पास आप आइये, हमारी सुन्दर स्तुतियोंकी ओर ध्यान देकर आप आइये और सुन्दर नासिका वा ठोड़ी वाले आप इस सोमरूप अन्नके कुछ भागका प्राशन करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु ।

गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥

आ । ते । सिञ्चामि । कुक्ष्योः । अनु । गात्रा । वि । धावतु ।

गृभाय । जिह्वया । मधु ॥ २ ॥

हे इन्द्र ते तव कुक्ष्योः। भागद्वयापेक्षया द्विवचनम्। कुक्षेरुभयोः पार्श्वयोः आ सिञ्चामि पूरयामि। सोमरसम् इति शेषः। अनेन दीयमानस्य सोमरसस्य कुक्ष्यवयवपूर्तिपर्यन्तम् अभिवृद्धिरुक्ता भवति। स च उदरस्थो गात्रा गात्राणि। अनेन गात्रशब्देन गात्रावयवा लक्ष्यन्ते। सर्वाण्यङ्गानि हस्तपादादीनि वि धावतु तत्सन्नाडीषु सर्वत्र प्रवहतु। अतस्त्वं मधु मधुवत् स्वादुतरं सोमरसं जिह्वया रसनया गृभाय गृहाण। ❀ ग्रहेः "छन्दसि शायजपि" इति श्नः शायजादेशः। संप्रसारणं च। "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी दोनों कोखोंको मैं सोमरससे पूर्ण करना चाहता हूँ, वह सोम आपके हाथ पैर आदि सब अङ्गोंमें अर्थात् उनकी नाड़ियोंमें दौड़े अतः आप मधुकी समान स्वादु सोमरस को जिह्वासे ग्रहण करिये॥ २॥

तृतीया॥

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव।
सोमः शमस्तु ते हृदे॥ ३॥

स्वादुः। ते। अस्तु। सम्ऽसुदे। मधुऽमान्। तन्वे। तव।
सोमः। सम्। अस्तु। ते। हृदे॥ ३॥

हे इन्द्र संसुदे सम्यक् सुष्ठु दात्रे। अत्र सम् इत्यनेन दानस्य सुकरत्वम् अभिधीयते। सु इत्यनेन च दानविषयस्य धनादेः प्राशस्त्यं बहुत्वं च विवक्ष्यते। तादृशाय ते तुभ्यं मधुमान् माधुर्योपेतः सोमः अस्माभिर्दीयमानः स्वादुरस्तु स्वदनीयोस्तु। अनन्तरं च स सोमः तव तन्वे शरीराय। बलकार्यस्त्विति शेषः। अथ वा शम् अस्तु इत्येतद् अत्राप्यन्वेतव्यम्। तव शरीराय

सुखकरं भवत्वित्यर्थः । तथा ते हृदे हृदयाय च शम् अस्तु मनसे सुखकरं भवतु । ❀ स्वादुष्ट इति । "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति सकारस्य षत्वम् । ततः ष्टुत्वम् ❀ ॥

इति चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! धन आदिका भली प्रकार दान करने वाले आपके लिये हमारा दिया हुआ मधुररसयुक्त सोम भली प्रकार स्वाद लेने योग्य होवे और आपके शरीरके लिये बलप्रद हो, और यह सोम आपके हृदयको सुख देने वाला होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (६२०) ॥

"अयमु त्वा विचर्षणे" इति सप्तर्चस्य विनियोग उक्तः ॥

"अयमु त्वा विचर्षणे" इस सात ऋचा वाले सूक्तका विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥

अयम् । ऊं इति । त्वा । विऽचर्षणे । जनीःऽइव । अभि । सम्ऽवृतः । प्र । सोमः । इन्द्र । सर्पतु ॥ १ ॥

हे इन्द्र विचर्षणे । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा । हे विद्रष्टः इन्द्र जनीरिव जनय इव । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । जनयन्त्यपत्यान्यास्विति जनिशब्दव्युत्पत्तिः । ता यथा पुत्रादिभिः अभितः संवृता वर्तन्ते एवं श्रयणद्रव्यैः अध्वर्युप्रभृतिभिर्वा अभि संवृतः अभित आच्छन्नोयं सोमः । उ इति पूरणः । त्वा त्वां प्र सर्पतु प्रगच्छतु । ❀ विचर्षण इति । विपूर्वात् कृष विलेखने इत्यस्मात् कृषेरादेश्च चः इति [उ० २. १०३] अनिप्रत्ययः आदेः ककारस्य चकारश्च ❀ ॥

हे द्रष्टा इन्द्रदेव ! जैसे सन्तानोंको उत्पन्न करने वाली स्त्रियें पुत्र आदिसे चारों ओरसे घिरी रहती हैं। इसी प्रकार अध्वर्यु आदिसे भली प्रकार घिरा हुआ यह सोम आपको प्राप्त होवे १

द्वितीया ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥

तुविऽग्रीवः । वपाऽउदरः । सुऽबाहुः । अन्धसः । मदे ।
इन्द्रः । वृत्राणि । जिघ्नते ॥ २ ॥

अनया सोमस्य अतिशयितवीर्यसाधनत्वम् अभिधीयते । अन्धसः सोमलक्षणस्य अन्नस्य भक्षणेन मदे सति इन्द्रो देवः तुविग्रीवः । तुवीति बहुनाम । प्रभूतकन्धरः । भवतीति शेषः । ग्रीवाशब्दः स्कन्धस्योपलक्षकः । वृषवत् समृद्धस्कन्ध इत्यर्थः । तथा वपोदरः वपा यथा विस्तीर्णा भवति एवं विस्तृतोदरश्च भवति । तथा सुबाहुः शोभनबाहुः पृथुभुजश्च भवति एव सोमपानेन अभिवृद्धगात्रः सन् पश्चाद् वृत्राणि वृत्रवद् आवरकान् शत्रून् जिघ्नते हिनस्ति इत्येवं सोमस्य महिमा ॥ यद्वा तुविग्रीवत्वादयः इन्द्रस्य स्वाभाविका धर्माः । उक्तलक्षण इन्द्रः सत्स्वपि तेषु अन्धसो मदे सत्येव वृत्राणि जिघ्नते इति सोमप्रशंसा ॥

[इस ऋचामें सोमका परमवीर्यप्रद होना वर्णन किया गया है, कि-] सोमरूपी अन्नके भक्षणसे मद होने पर इन्द्रदेवके कंधे बैलके कन्धोंकी समान मोटे होजाते हैं, पेट वपा (चरबी) सा विशाल होजाता है और भुजाएँ मोटी होजाती हैं। इस प्रकार सोमपान शरीर बढ़ जाने पर इन्द्रदेव वृत्रकी समान घेरने वाले शत्रुओंको मार डालते हैं। [यह सोमकी महिमा है] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । इहि । पुरः । त्वम् । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ।
वृत्राणि । वृत्रऽहन् । जहि ॥ ३ ॥

हे इन्द्र विश्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य ईशानः । अनेन इन्द्रस्य सर्वत्र प्रतिभटराहित्यम् उक्तं भवति । तादृशस्त्वं पुरः प्रेहि अस्माकं सेनायाः पुरतो गच्छ । गत्वा च हे वृत्रहन् वृत्रस्य एतन्नामकस्य असुरस्य हन्तः वृत्राणि अस्मदावरकान् शत्रून् जहि घातय । ❀ "हन्तेर्जः" इति जभावः ❀ ॥

हे स्थावर जङ्गम सब जगत्के ईश इन्द्र ! आप हमारी सेनाके आगे २ चलिये और हे वृत्र नामक शत्रुओंको मारने वाले ! आप वृत्रासुरकी समान घेरने वाले हमारे शत्रुओंका संहार करिये ३

चतुर्थी ॥

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥

दीर्घः । ते । अस्तु । अङ्कुशः । येन । वसु । प्रऽयच्छसि ।
यजमानाय । सुन्वते ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ते अङ्कुशः । अङ्कुशवत्प्राकुञ्चितो हस्तः अङ्कुश इत्युच्यते । स दीर्घोस्तु । प्रदानविषये संकोचरहितोस्त्वित्यर्थः । तमेव विशिनष्टि । येनाङ्कुशेन सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते सोम-

सवनस्य हविषो दात्रे यजमानाय वसु धनं प्रयच्छसि। स तादृशो दीर्घोऽस्तु॥

हे इन्द्र! आपका अङ्कुशकी समान नमी हुई अँगुलियों वाला अङ्कुशरूपी हाथ, देनेके लिये लम्बा होवे, जिस हाथसे आप सोमाभिषव करने वाले सोमरूपी हविके दाता यजमानको धन देते हैं, वह हाथ लम्बा होवे॥ ४॥

पञ्चमी॥

अयं त॑ इन्द्र॒ सोमो॒ निपू॑तो॒ अधि॑ ब॒र्हिषि॑।
एही॑म॒स्य द्रवा॒ पिब॑॥ ५॥

अयम्। ते॒। इ॒न्द्र॒। सोमः॑। निऽपू॑तः। अधि॑। ब॒र्हिषि॑।
आ। इ॒हि॒। ई॒म्। अ॒स्य। द्र॒व। पिब॑॥ ५॥

हे इन्द्र अधि बर्हिषि। अधिः सप्तम्यर्थानुवादी। आस्तीर्णे दर्भे निपूतः दशापवित्रेण नितरां शोधितः। उपलक्षणम् एतत्। ग्रहणश्रयणादिसंस्कारैः संस्कृतोयं सोमः ते त्वदर्थः। यस्मादेवं तस्माद् एहि आगच्छ। अस्मद्यज्ञं प्रतीति शेषः। आगमनविलम्बम् असहमान आह द्रवेति। त्वरया आगच्छेरित्यर्थः। आगत्य च ईम् इदानीम् अस्य अमुं त्वदर्थं निपूतं सोमं पिब पानं कुरु॥

हे इन्द्रदेव! दर्भों पर दशापवित्रके द्वाराके (अंगोछेके द्वारा) परम पवित्र किया हुआ (ग्रहण श्रयण आदि संस्कारोंसे संस्कृत) ये सोम आपके लिये है अत एव आप हमारे यज्ञकी ओर आइये (आगमनमें विलम्बको न सहता हुआ कहता है, कि—) शीघ्रतासे आइये और आकर इस समय आपके लिये पवित्र किये हुए सोमका पान करिये॥ ५॥

षष्ठी ॥

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥

शाचिगो इति शाचिऽगो । शाचिऽपूजन । अयम् । रणाय । ते । सुतः ।
आखण्डल । प्र । हूयसे ॥ ६ ॥

हे शाचिगो । शाचयः प्रत्यानेतुं शक्ता गावो यस्य स शाचिगुः । पणिभिरपहृतानां गवां प्रत्यानेतृत्वप्रसिद्धेः । तथा शाचिपूजन । पूज्यते एभिरिति पूजनानि स्तोत्राणि । शाचीनि शक्तानि स्तुत्यविषयगुणप्रकाशकानि स्तोत्राणि यस्य स शाचिपूजनः । तस्य संबोधनम् । ❀ "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति पूर्वस्य अविद्यमानवत्त्वेन पादादित्वान्निघाताभावः ❀ । हे उक्तगुणविशिष्ट इन्द्र रणाय । ❀ मकारलोपश्छान्दसः ❀ । रमणाय रमणीयाय ते तुभ्यम् । यद्वा ते तव रणाय रमणाय क्रीडनाय अयं सोमः सुतः अभिषवादिना संस्कृतः । तस्मात् कारणात् हे आखण्डल आ समन्तात् खण्डयति शत्रून् इति आखण्डलः । शत्रुहिंसक इन्द्र त्वं प्र हूयसे प्रकर्षेण आह्वानविषयः करिष्यसे सोमपानार्थम् अस्माभिराहूयसे । ❀ आखण्डलेति । आङ्पूर्वात् खडि खडि भेदने इत्यस्माच्चौरादिकाद्धातोः मङ्गेरलच् [उ० ५. ७०] इत्यत्र बाहुलकाद् अलच् प्रत्ययः । आमन्त्रिताद्युदात्तः ❀ ॥

हे पणि नामक असुरोंके द्वारा हरी हुई गौओंको लौटानेमें समर्थ शाचिगो ! हे स्तुतिके योग्य गुणोंको प्रकाशित करने वाले स्तोत्रोंसे सम्पन्न शाचिपूजन इन्द्र ! यह सोम आपको आनन्द देनेके लिये अभिषुत होगया है । हे शत्रुओंको चारों ओरसे खण्डित करने वाले आखण्डल इन्द्र ! इस लिये हम आपको बुला रहे हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यस्ते॑ शृङ्गवृषो नपात् प्रण॑पात् कुण्ड॒पाय्यः॑ ।
न्य॑स्मिन् दध्र॒ आ मनः॑ ॥ ७ ॥

यः । ते॒ । शृ॒ङ्ग॒ऽवृ॒षः॒ । न॒पा॒त् । प्रन॑पा॒दिति॒ प्रऽन॑पात् । कु॒ण्ड॒ऽपाय्यः॑ ।
नि । अ॒स्मि॒न् । द॒ध्रे॒ । आ । मनः॑ ॥ ७ ॥

हे शृङ्गवृषो नपात् शृङ्गवृण्नामा कश्चिद् ऋषिः तस्य न पातयति कुलम् इति नपात् पुत्रः । तस्य संबोधनम् । यद्वा शृङ्गवद् उन्नता रश्मयः शृङ्गशब्देन उच्यन्ते । तैर्वर्षतीति शृङ्गवृद् आदित्यः । तस्य न पातयिता दिवि स्थापयिता इन्द्रः शृङ्गवृषो नपाद् इत्युच्यते । तादृश इन्द्र ते तव यः प्रसिद्धः प्रणपात् कुण्डपाय्यः कुण्डैः पातव्यः सोमो यस्मिन् क्रतौ स कुण्डपाय्यः क्रतुरस्ति । ❀ "क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ" इति पिबतेः ण्यप्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀ । अस्मिन् बहुसोमवति क्रतौ त्वं मनो नि दध्रे धारयसि सर्वतः स्थापयसि । ❀ दधातेर्लिटि "इरयो रे" इति रेभावः ❀॥

इति पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे शृंगकी समान उन्नत किरणों वाले सूर्यदेवका पतन न होने देने वाले शृङ्गवृषो नपात् इंद्र ! आपका जो पतन न होने देने वाला (जिसमें कुण्डोंसे सोम पिया जाता है ऐसा) कुण्डपाय्य नामक क्रतु है, उस बहुतसे सोम वाले यज्ञमें आप मनको लगाइये ॥७॥

पञ्चम सूक्त समाप्त (१२१)

"इन्द्र त्वा वृषभं वयम्" इति नवर्चस्य सूक्तस्य प्रातःसवनशस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"इंद्र त्वा वृषभं वयम्" इस नौ ऋचा वाले सूक्तका प्रातः-सवनशस्त्रमें विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्र॑ त्वा वृष॒भं व॒यं सु॒ते सोमे॑ हवामहे ।

स पा॑हि॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः ॥ १ ॥

इन्द्र॑ । त्वा॒ । वृ॒ष॒भम् । व॒यम् । सु॒ते । सोमे॑ । ह॒वा॒म॒हे॒ ।

सः । पा॒हि॒ । मध्वः॑ । अन्ध॑सः ॥ १ ॥

व्याख्यातेयम् अनुवाकादौ ॥

हे इंद्रदेव ! फलोंकी वर्षा करने वाले आपका हम सोमके अभिषुत होने पर आह्वान करते हैं, आप मधुररससम्पन्न सोमरूपी अन्नके एक भागका पान करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्र॑ क्रतु॒विदं॑ सु॒तं सोमं॑ हर्य पुरुष्टुत ।

पिबा वृ॑षस्व॒ ता॒तृ॑पिम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । क्र॒तु॒ऽविद॑म् । सु॒तम् । सोम॑म् । ह॒र्य॒ । पु॒रु॒ऽस्तु॒त॒ ।

पिब॑ । आ । वृ॒ष॒स्व॒ । त॒तृ॑पिम् ॥ २ ॥

हे पुरुष्टुत पुरुभिर्बहुभिर्यजमानैः स्तुत बहुप्रकारं स्तुत वा हे इन्द्र क्रतुविदम् क्रतोर्यागस्य लम्भकं निष्पादकं सुतम् अभिषवादिना संस्कृतम् इमं सोमं हर्य कामय । ❀ हर्य गतिकान्त्योः इत्यस्य लोटि रूपम् । निघातः ❀ । कामयित्वा च ततृपिम् तर्पकं प्रीणयितारम् इमं सोमं पिब पानं कुरु । तदेव विशिनष्टि । आ वृषस्व जठरे सिञ्च । यथा जठरकुहरस्य अत्यन्तं सर्वतः पूर्तिर्भवति तथा कुर्वित्यर्थः । ❀ ततृपिम् । तृप प्रीणने इत्यस्मात् "छन्दसि सदा-दिभ्यो दर्शनात्" इति किन् । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनादि ।

संहितायाम् "अन्येषामपि दृश्यते" इत्यभ्यासस्य दीर्घः । निघाद्द्युदात्तः ❀ ॥

हे बहुतसे यजमानोंसे स्तुति पाने वाले इंद्र ! आप यज्ञको साधने वाले, अभिषव आदिसे संस्कृत इस सोमकी कामना करिये ।

और कामना करके इस तृप्त करने वाले सोमका पान करिये इससे अपने उदरको सींचिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः ।

तिर स्तवान विश्पते ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । नः । धितऽवानम् । यज्ञम् । विश्वेभिः । देवेभिः ।

तिर । स्तवान । विश्पते ॥ ३ ॥

हे स्तवान । ❀ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ । स्तूयमान हे विश्पते विशो देवविशो मरुतः तेषां स्वामिन् । यद्वा विशां प्रजानां सर्वासां पते हे इन्द्र नः अस्माकं धितावानम् धितं धानं तद्वन्तं सोमस्य निधानवन्तम् । ग्रहादिभिर्गृहीतसोमम् इत्यर्थः । ❀ "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीयो वनिप् ❀ । उक्तलक्षणं यज्ञं विश्वेभिः सर्वैर्यष्टव्यैः देवेभिः देवैः सह प्र तिर वर्धय । हविःस्वीकारेणेति शेषः । ❀ तरतेर्व्यत्ययेन शः । प्रत्ययस्वरः । प्र ण इति । "उपसर्गाद् बहुलम्" इति संहितायां णत्वम् ❀ ॥

हे स्तुति पाने वाले ! हे देवप्रजा मरुतोंके स्वामिन् इन्द्र ! आप हमारे सोम वाले यज्ञको सब पूजनीय देवताओं सहित हवि स्वीकार करके बढ़ाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते ।

क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तव । प्र । यन्ति । सत्ऽपते ।

क्षयम् । चन्द्रासः । इन्दवः ॥ ४ ॥

हे सत्पते सतां यजमानानां पालक इन्द्र सुताः अभिषुताः चन्द्रासः चन्द्रा आह्लादकारिण इन्दवः क्लिन्ना रसात्मका इमे हूयमानाः सोमाः तव क्षयम् । क्षियन्ति निवसन्ति अत्रेति क्षयो निवासस्थानम् । तव जठरम् इत्यर्थः । ❀ "क्षयो निवासे" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । प्र यन्ति गच्छन्ति । ❀ इन्दव इति । उन्देरिच्चादेः [उ०१.१२] इति उप्रत्ययः । निदित्यनुवृत्तेराद्युदात्तः❀।

हे सज्जन यजमानोंका पालन करने वाले इन्द्रदेव ! ये अभिषुत आन्हाद देने वाले सोम आपके जठरको प्राप्त होरहे हैं ॥४॥

पञ्चमी ॥

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।

तव द्युक्षास इन्दवः ॥ ५ ॥

दधिष्व । जठरे । सुतम् । सोमम् । इन्द्र । वरेण्यम् ।

तव । द्युक्षासः । इन्दवः ॥ ५ ॥

हे इन्द्र वरेण्यम् वरणीयं स्पृहणीयं सुतम् अभिषुतम् इमं सोमम् अस्माभिर्हूयमानं जठरे दधिष्व धारय । ❀ दधातेर्लोटि रूपम् । "आगमा अनुदात्ताः" इति इटोनुदात्तत्वात् प्रत्ययस्वरः ❀ । सोमानाम् इन्द्रस्य असाधारणं स्वत्वम् आह । द्युक्षासः दीप्तिमन्तो दीप्तिनिवासस्थानभूता इन्दवः सोमाः तव । असाधारणस्वभूता इति शेषः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप इस स्पृहणीय अभिषुत सोमको अपने हृदय में धारण करिये दीप्तिके निवासरूप ये सोम आपके असाधारण भाग हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥ ६ ॥

गिर्वणः । पाहि । नः । सुतम् । मधोः । धाराभिः । अज्यसे ।
इन्द्र । त्वाऽदातम् । इत् । यशः ॥ ६ ॥

हे गिर्वणः गीर्भिर्वननीय संभजनीय इन्द्र । ❀ वन षण संभक्तौ इत्यस्माद् असुन् । गिर उपधाया दीर्घाभावश्छान्दसः । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । नः अस्माकं संबन्धिनं सुतम् अभिषुतं सोमं पाहि पिब । अहूयमानस्य कथं पानमसक्तिरित्यत्राह । मधोर्धाराभिरिति । यस्माद् मधोः मधुरस्य सोमस्य धाराभिः अज्यसे आर्द्रीक्रियसे । हूयस इत्यर्थः । अपेक्षितस्य फलस्य अभावे होमस्य का असक्तिरित्यत्राह । हे इन्द्र त्वादातमित् त्वया दातव्यमेव यशः अन्नम् । अस्तीति शेषः । "अस्ति त्वादातम् अद्रिवः" इत्यमुं मन्त्रभागं व्याचक्षाणेन यास्केन त्वया नस्तद् दातव्यम् [नि० ४, ४] इति हि त्वादातशब्दो व्याख्यातः । यद्वा त्वादातम् त्वया शोधितं यशोऽस्ति । ❀ दैप् शोधने । सत्यपि पकारे "नानुबन्धकृतम् अनेजन्तत्वम्" इत्येजन्त एवायम् । ततः "आदेचः०" इति आत्वम् । अस्मात् कर्मणि क्तः । "दाधा घ्वदाप्" इत्यत्र अदाप् इति प्रतिषेधेन घुसंज्ञाया अभावाद् "दो दद् घोः" इति दद् आदेशो न भवति । त्वेति युष्मच्छब्दस्य तृतीया । "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" इति समासः । "तृतीया कर्मणि" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ ॥

हे स्तुतियोंसे सेवा करने योग्य इन्द्र ! हमारे अभिषुत सोम का पान करिये । आप मधुर रस वाले सोमकी धाराओंसे आर्द्र किये जारहे हैं अर्थात् आपको सोमकी आहुति दी जा रही है। हे इन्द्र ! यह आपका शोभित यश ही है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता ।

पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥ ७ ॥

अभि । द्युम्नानि । वनिनः । इन्द्रम् । सचन्ते । अक्षिता ।

पीत्वी । सोमस्य । ववृधे ॥ ७ ॥

वनिनः-देवान् संभजमानस्य यजमानस्य द्युम्नानि द्योतमाना-न्यन्नानि सोमलक्षणानि । ❀ द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वेति यास्कः [नि० ५. ५] ❀ । द्युम्नानि विशेष्यन्ते । अक्षिता अक्षितानि अक्षीणानि अतिप्रभूतानि इन्द्रं देवम् अभि सचन्ते अभितः सं-गच्छन्ते । स च इन्द्रः सोमस्य प्रभूतस्य । अंशम् इति शेषः । अथ वा सोमस्य सोमं पीत्वी पीत्वा । ❀ पा पाने इत्यस्मात् क्त्वा-प्रत्ययस्य "स्नात्व्यादयश्च" इति निपातनात् त्वीभावः । "घुमा-स्थागापा०" इत्यादिना ईत्वम् । प्रत्ययस्वरः ❀। वावृधे प्रवृद्धो भवति

देवताओंकी भक्ति करने वाले यजमानके दमकते हुए सोम अतिप्रवृद्धभावमें इन्द्रदेवको चारों ओरसे प्राप्त होरहे हैं। और इन्द्र भी सोमके अंशको पीकर बढ़ रहे हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् ।

इमा जुषस्व नो गिरः ॥ ८ ॥

अर्वाऽवतः । नः । आ । गहि । पराऽवतः । च । वृत्रऽहन् ।

इमाः । जुषस्व । नः । गिरः ॥ ८ ॥

हे वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तरिन्द्र नः अस्मान् यजमानान् अर्वावतः अर्वाचीनाद् अन्तिकाद् देशाद् आ गहि आगच्छ । तथा परावतः दूरदेशाच्च नः आ गहि आगच्छ । ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ❀ । आगत्य च नः अस्माकम् इमा गिरः स्तुतिरूपा वाचो जुषस्व सेवस्व ॥

हे वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्र ! आप हम यजमानोंके पास समीपके स्थानमें हों तो समीपके स्थानसे आजाइये और दूर हों तो दूरसे आजाइये । और आकर हमारी स्तुतिरूपा वाणियों का सेवन करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।

इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ९ ॥

यत् । अन्तरा । पराऽवतम् । अर्वाऽवतम् । च । हूयसे ।

इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ९ ॥

हे इन्द्र परावतम् परावद् दूरस्थानं तथा अर्वावतं च संनिहित स्थानं च यत् यस्मिन् अन्तरा तयोरन्तरालदेशे । ❀ उभयत्र "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया ❀। तत्र हूयसे सम्यग् इज्यसे ततः तस्माद् देशात् परावतः अर्वावतश्च सकाशाद् इह अस्मद्यागदेशं प्रति आ गहि आगच्छ ॥

इति षष्ठं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप दूर वा पासके जिस अन्तराल स्थानसे बुलाये जारहे हैं उस स्थानसे हमारे यागस्थलमें शीघ्रतासे आइये ॥६॥

छठा सूक्त समाप्त (६२२)

"उद्घेदभि" इति तृचस्य ब्राह्मणाच्छंसिनः प्रातःसवने विनियोग उक्तः ॥

"उद्घेदभि" तृचका ब्राह्मणाच्छंसीके प्रातःसवनमें विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।

अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥

उत् । घ । इत् । अभि । श्रुतऽमघम् । वृषभम् । नर्यऽअपसम् ।

अस्तारम् । एषि । सूर्य ॥ १ ॥

हे सूर्य त्वं श्रुतामघम् । मघम् इति धननाम । श्रुतं विख्यातं स्तोतृभ्यो यष्टृभ्यश्च दातव्यं धनं यस्यासौ श्रुतमघः तम् । सत्यपि श्रुतधनत्वे दानाभावे प्रयोजनाभावाद् उच्यते वृषभम् इति । अभिमतस्य धनस्य वर्षकम् इत्यर्थः । तथा नर्यापसम् नरेभ्यो हितं नर्यम् अपः कर्म यस्यासौ नर्यापाः तम् । ❀ "तस्मै हितम्" इति यत् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ । स्वसेवकानाम् इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारविषयकर्मनन्तम् इत्यर्थः । तथा अस्तारम् शत्रूणां निरसितारम् । ❀ असु क्षेपणे । तृनि "रधादिभ्यश्च" इति इड्विकल्पः ❀ । एवंमहानुभावम् इन्द्रम् अभिलक्ष्य उद्घेदेषि। घेति प्रसिद्धौ । उदेषि ऊर्ध्वं गच्छसि उदयसि । सूर्योदयाभावे इन्द्रस्य सोमलक्षणहविःप्रदानासंभवाद् उक्तलक्षणम् इन्द्रं प्रति उदयोऽन्युच्यते ॥

हे सूर्यदेव ! इन्द्र ऋत्मघ हैं अर्थात् स्तोता और यष्टाओंका इन्द्रका धनप्रदान करना प्रसिद्ध है, और इन्द्र अभिमत फलोंकी वर्षा करने वाले हैं, तथा इन्द्र नपर्यास हैं अर्थात् इन्द्रके कर्म अपने सेवक मनुष्योंके इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार करने वाले हैं, तथा इन्द्र शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले हैं। ऐसे महानुभाव इन्द्रको लक्ष्यमें रख कर आप उदय होते हैं। [सूर्योदयके अभावमें इन्द्रका सोमात्मकहविःप्रदान असम्भव है अतः यह कहा, कि-हे सूर्यदेव ! आप इन्द्रको लक्ष्यमें रख कर उदय होते हैं] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।

अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥

नव । यः । नवतिम् । पुरः । बिभेद । बाहुऽओजसा ।

अहिम् । च । वृत्रऽहा । अवधीत् ॥ २ ॥

य इन्द्रः शम्बरस्यासुरस्य नव नवतिं च पुरः नवोत्तरनवतिसंख्याका मायानिर्मिताः पुरीः । ❀ "पङ्क्तिविंशति०" इत्यादिना तिप्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । बाह्वोजसा बाहुबलेन अन्यनैरपेक्ष्येणैव बिभेद भिन्नवान् नाशितवान् । तथा च मन्त्रान्तरम् । "दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य" इति [ऋ० २. १९. ६] । किं च वृत्रहा । वृत्रशब्दः शत्रुसामान्यवचनः "वृत्राणि वृत्रहं जहि" [२०. ५. ३] "इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते" [२०. ५. २] इत्यादौ तथा दर्शनात् । वृत्राणां शत्रूणां हन्ता इन्द्रः अहिं च । अयति गच्छतीत्यहिर्मेघः । ❀ अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे इति निरुक्तम् [नि० २. १७] ❀ ।

अथ वा आगत्य हन्तीत्याहिर्वृत्रः । ❀ हन हिंसागत्योः । आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च [उ० ४. १३७] इति आङ्पूर्वाद् इञ् प्रत्ययः । वातेर्डित् [उ० ४. १३३] इत्यनुवर्तनात् डिद्वद्भावः आको ह्रस्वश्च । व्निषाड् आद्युदात्तः ❀ । तम् अवधीत् हतवान् । स न इत्युत्तरत्र संबन्धः ॥

जो इन्द्रदेव शम्बरासुरके मायानिर्मित निन्यानवें पुरोंको अपने भुजबलसे नष्ट कर चुके हैं । उन शत्रुनाशक इन्द्रने वृत्रासुरका संहार कर डाला है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद् गोमद् यवमत् ।

उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥

सः । नः । इन्द्रः । शिवः । सखा । अश्वऽवत् । गोऽमत् । यवऽमत् ।

उरुधाराऽइव । दोहते ॥ ३ ॥

स पूर्वोक्तगुणविशिष्ट इन्द्रः नः अस्माकं शिवः सुखकारी सखा मित्रभूतः । तादृश इन्द्रः अश्वावत् अश्वैर्बहुभिरुपेतं गोमत् बह्वी-भिर्गोभिरुपेतं यवमत् । यवो धान्यविशेषः । बहुभिर्यवैर्युक्तं धनम् उरुधारेव प्रभूतधारायुक्ता बहुक्षीरा गौरिव दोहते सा यथा सर्वेषां तर्पणसमर्थं बहुक्षीरं दुग्धे एवं सर्वजनतृप्तिसाधनम् अश्वा-द्युपेतं धनं दुग्धाम् प्रयच्छतु । ❀ बाहुलकात् शपो लुगभावः । लेटि वा अडागमः ❀ ॥

इति सप्तमं सूक्तम् ॥

ऐसे इन्द्रदेव हमारे लिये सुखकारी बनें और हमारे मित्र बनें ऐसे इन्द्रदेव हमको बहुतसे घोड़ोंसे सम्पन्न तथा बहुतसी गौओं

से सम्पन्न और यव आदि बहुतसे धान्योंसे सम्पन्न उरुधारा की समान हमको प्रदान करें अर्थात् विशाल धारा वाली बहु-क्षीरा गौ जैसे सबको तृप्ति करने योग्य दुग्धको देती है इसी प्रकार सबकी तृप्तिके साधन अश्व आदिसे सम्पन्न धनको प्रदान करें ॥ ३ ॥

सप्तम सूक्त समाप्त

"इन्द्र क्रतुविदम्" इत्येषा आद्या ऋक् ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रयाज्या । उक्तं हि । "उक्थसंपदः परिधानीयोत्तरा याज्या" इति [वै० ३, ११] ॥

"एवा पाहि" इत्याद्यास्तिस्र ऋचस्तेषामेव ब्राह्मणाच्छंस्यादीनां त्रयाणाम् ऋत्विजां क्रमेण माध्यंदिनसवनिकयः प्रस्थितयाज्याः । तथा च वैतानं सूत्रम् । "एवा पाहीति प्रस्थितयाज्या" इति [वै० ३, ११] ॥

"इन्द्र क्रतुविदम्" यह पहिली ऋचा ब्राह्मणाच्छंसीकी शस्त्रयाज्या है । वैतानसूत्र ३ । ११ में कहा भी है, कि—"उक्थसम्पदः परिधानीयोत्तरा याज्या" ।

"एवा पाहि" आदि तीन ऋचाएँ इन ही ब्राह्मणाच्छंसी आदि तीनों ऋत्विजोंकी क्रमशः माध्यन्दिनसवनिकी प्रस्थितयाज्या हैं। इसी बातको वैतानसूत्र ३ । ११ में कहा है, कि—"एवा पाहीति प्रस्थितयाज्या" ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ ४ ॥

इन्द्र । क्रतुऽविदम् । सुतम् । सोमम् । हर्य । पुरुऽस्तुत ।

पिब । आ । तृपस्व । ततृपिम् ॥ ४ ॥

हे पुरुष्टुत बहुभिर्बहुप्रकारं वा स्तुत इन्द्र क्रतुः मखा भवति तस्य लम्भकम् । अथवा क्रतोरेव ज्योतिष्टोमादेर्लम्भकं साधकं सुतम् अभिषुतं ततृपिम् तर्पकं सोमं इये कामय । ❀ ततृपिम् इत्यत्र "आदृगमहन०" इति विहितः "छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्" इति किन् ❀ । पिब । अपि च आ तृपस्व जठरे सिञ्च । पिबे-त्यनेन उक्त एवार्थः पुनरनेन अभिहितः पानस्याधिक्याभिधा-नाय । व्याख्यातेयम् अस्मिन्नेवानुवाके [६. २] ॥

हे अनेक प्रकारसे स्तुत इन्द्रदेव ! आप ज्योतिष्टोम आदिको सम्पन्न करने वाले, अभिषुत तृप्तिजनक सोमकी कामना करिये । और इसका पान करिये तथा जठरमें सींचिये ॥ ४ ॥

अथ द्वितीया ॥

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ १ ॥

एव । पाहि । प्रत्नऽथा । मन्दतु । त्वा । श्रुधि । ब्रह्म । ववृधस्व । उत । गीःऽभिः ।
आविः । सूर्यम् । कृणुहि । पीपिहि । इषः । जहि । शत्रून् । अभि । गाः । इन्द्र । तृन्धि ॥ १ ॥

हे इन्द्र प्रत्नथा । प्रत्नम् इति पुराणनाम । पूर्वं यथा अङ्गिरः-प्रभृतीनां सोमयागे सोमम् अपाः । ❀ "प्रत्नपूर्वविश्वेमात् थाल्

छन्दसि" इति इवार्थे थाल् प्रत्ययः ❀ । एव एवम् अस्मदीयमपि सोमं पाहि पिब । स च पीतः सोमः त्वा त्वां मन्दतु मदयतु । तदर्थम् अस्मदीयं ब्रह्म मन्त्रात्मकं स्तोत्रं श्रुधि शृणु । ❀ "श्रृशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिभावः ❀ । न केवलं श्रवणमेव उत अपि च गीर्भिः अस्मदीयाभिः स्तुतिवाग्भिः वावृधस्व वर्धस्व अभिवृद्धो भव । अतस्त्वं यागार्थं सूर्यम् सर्वकर्मणां प्रेरकं देवम् आविष्कृणुहि प्रकाशितं कुरु । यद्वा अस्माकं व्यवहाराय बहुकालं सूर्यम् आविष्कुरु । तत इषः अन्नानि अस्मदुपभोगसाधनानि पीपिहि प्यायय समर्धय । किं च शत्रून् शातयितॄन् अस्मद्विरोधिनो द्विष्यान् जहि घातय । हे इन्द्र गाः पणिभिरपहृता अभि तृन्धि प्रयच्छ । ❀ वावृधस्वेति । वृधेर्बहुलग्रहणाच्छपः श्लुः । "व्यत्ययो बहुलम्" इत्यत्र "क्वचिद् विकरणं च" इति वचनात् शप्–प्रत्ययः । विकरणस्वरेण मध्योदात्तः । तृन्धि । उतृदिर् हिंसानादरयोः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव! जैसे पहिले अंगिरा आदिके सोमयागमें आपने सोमका पान किया था, इसी प्रकार आप हमारे सोमका भी पान करिये। वह पिया हुआ सोम आपको प्रसन्न करे। इस लिये आप हमारे मन्त्रात्मक स्तोत्रको सुनिये। केवल सुनिये ही नहीं किन्तु हमारी स्तुतिकी वाणियोंसे बढ़िये और अपने याग के लिये सब कर्मोंके प्रेरक सूर्यदेवको प्रकाशित करिये। फिर हमारे उप भोगोंके साधन अन्नोंको बढ़ाइये और हमसे विरोध करने वाले शत्रुओंको नष्ट करिये। और हे इन्द्रदेव! पणियोंसे हरी हुई गौओंको हमैं प्रदान करिये ॥ १ ॥

तृतीया ॥

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय

उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः

अर्वाङ् । आ । इहि । सोमऽकामम् । त्वा । आहुः । अयम् ।
सुतः । तस्य । पिब । मदाय ।
उरुऽव्यचाः । जठरे । आ । वृषस्व । पिताऽइव । नः । शृणुहि ।
हूयमानः ॥ २ ॥

हे इन्द्र अर्वाङ् अस्मदभिमुखः सन् एहि आगच्छ । किमर्थम् आगमनम् इति चेद् उच्यते सोमकामं त्वाहुरिति । यतस्त्वा त्वां सोमकामम् सोमं कामयमानं सोमविषये अत्यन्ताभिलषितवन्तम् आहुः अभिज्ञाः कथयन्ति । "सोमकामं हि ते मनः" इति हि मन्त्रान्तरम् [ऋ० ८. ६१. २] । "इमं जम्भसुतं पिब" इति [ऋ० ८. ६१. २] मन्त्रे जम्भनिष्पीडितस्यापि सोमस्य पानाभिधानाद् इन्द्रस्य सोमे अतिशयप्रीतिसद्भाव उक्तो भवति । यस्मादेवं तस्माद् अयं सोमः सुतः अभिषुतः । तस्य । तं सोमम् इत्यर्थः । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । पिब पानं कुरु । कस्मै प्रयोजनायेति उच्यते । मदाय । तस्य पिबेति सोमपानमात्रम् अभिहितम् । इदानीं कुक्षिपरिपूर्तिपर्यन्तं पानम् अभिधीयते उरुव्यचा इत्यादिना । उरु प्रभूतं व्यचनं कुक्षिबाहुल्यं यस्य स उरुव्यचाः । ❀ व्यचेरौणादिकः असिप्रत्ययः । "व्यचेः कुटादित्वम् अनसीति वक्तव्यम्" इति वचनात् ङित्त्वाभावेन संप्रसारणाभावः । "परादिश्छन्दसि बहुलम्" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । तादृशस्त्वं जठरे उदरे अतिविस्तीर्णे आ वृषस्व आसिञ्च सर्वतः पूरय । तदर्थम् आहूयमानस्त्वं पितेव यथा पिता पुत्रस्य वचनं शृणोति एवं नः अस्माकम्

आह्वानं शृणुहि शृणु। ❀ "उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्" इति हेर्लुगभावः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमारे अभिमुख होकर आइये। क्योंकि— विद्वान् पुरुष आपको सोमकी कामना वाला कहते हैं। यह सोम अभिषुत होगया है, इसका आप मदके लिये पान करिये। आप सोमको प्रभूतमात्रामें अपनी दोनों कोखोंमें भरिये। इसके लिये बुलाये हुए आप पिता जैसे पुत्रके वचनको सुनता है, तिसप्रकार हमारे आह्वानको सुनिये ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥ ३ ॥

आऽपूर्णः । अस्य । कलशः । स्वाहा । सेक्ताऽइव । कोशम् । सिसिचे । पिबध्यै ।
सम् । ऊं इति । प्रियाः । आ । अववृत्रन् । मदाय । प्रऽदक्षिणित् । अभि । सोमासः । इन्द्रम् ॥ ३ ॥

अस्य अस्मै इन्द्राय । ❀ चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । तदर्थं कलशः द्रोणकलश आपूर्णः सोमरसेन सर्वतः पूर्ण आसीत्। तस्य पूरणं किमर्थम् इति चेद् उच्यते। स्वाहा स्वाहुतत्वाय । होमार्थम् इत्यर्थः । ततः सेक्तेव कोशम् सेक्ता पूरकः पुमान् कोशम् इति यथा सिञ्चति पूरयति उदकादिना एवं पिबध्यै इन्द्रस्य पानाय। ❀ पा पाने इत्यस्य तुमर्थे शध्यैन् प्रत्ययः। शित्त्वात् पिबादेशः।

निष्वाद्‌ आयु्‌दात्तः ❀। सिसिचे सिञ्चति अध्वर्युः सोमरसम्‌। सामर्थ्याद्‌ ग्रहादिष्विति लभ्यते। ते च सिक्ताः प्रियाः हृद्याः स्वादवः सोमासः सोमाः मदाय इन्द्रस्य हर्षाय मदच्चिणित प्राद्-क्षिण्येन इन्द्रं सम्‌ अभ्यावहृत्रन्‌ सम्यग्‌ अभिमुखाः वर्तन्ते सम-भिव्याप्नुवन्ति। ❀ वृतु वर्तने। लङि "बहुलं छन्दसि" इति श्लुः। व्यत्ययेन परस्मैपदम्‌। "बहुलं छन्दसि" इति भेरुडागमः ❀॥

इति अष्टमं सूक्तम्‌ ॥

इन इन्द्रदेवके लिये द्रोणकलश सोमरससे चारों ओरसे भरा हुआ रक्खा था-होम करनेके लिये भरा हुआ रक्खा था जैसे सेचक पुरक पुरुष भाजकको जल आदिसे पूर्ण करता है, इसी प्रकार अध्वर्यु इन्द्रके पीनेके लिये सोमरसको ग्रहादिकोंमें सिक्त करता है, वे भरे हुए (सिक्त) स्वादु सोम इन्द्रदेवके हर्षके लिये चतुरतासे इन्द्रदेवकी ओरको अभिमुख होकर व्याप्त होजाते हैं ३

अष्टम सूक्त समाप्त (६२४)

"तं वो दस्ममृतीषहम्‌" इत्यादिचत्वारि सूक्तानि माध्यंदिन-सवने ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्तानि। चतुर्थसूक्तस्यान्तिमा "ऋजीषी वज्री" [२०. १२. ७] इत्येषा ऋक्‌ शस्त्रयाज्या। "तं वो दस्ममृतीषहम्‌" [१] "तत्‌ त्वा यामि सुवीर्यम्‌" [२] इति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ। "उदु त्ये मधुमत्तमाः" [२०. १०. १] इति सामप्रगाथः। "इन्द्रः पूर्भित्‌" [२०. ११] इति सूक्तम्‌ उक्थमुखम्‌। "उदु ब्रह्माणि" [२०. १२] इति सूक्तं पर्यास-संज्ञम्‌। "एवेदिन्द्रम्‌" [२०. १२. ६] इति परिधानीया। एतत्‌ सर्वं वैताने सूत्रितम्‌। "तं वो दस्ममृतीषहं तत्‌ त्वा यामि सुवी-र्यम्‌" इति [वै० ३. १२]॥

"तं वो दस्ममृतीषहम्‌" आदि चार सूक्त माध्यन्दिनसवनमें ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनियुक्त होते हैं। चतुर्थ सूक्तकी अंतिम

"ऋजीषी वज्री" (२० । १२ । ७) ऋचा शस्याख्या है। "तं वो दस्ममृतीषहम्" (१) "तत् त्वा यामि सुवीर्यम्" (३) ये प्रगाथ स्तोत्रियानुरूप हैं। "उदु त्ये मधुमत्तमाः" (२०।१०।१) यह सामप्रगाथ है। "इन्द्रः पूर्भिद्" (२० । ११) यह सूक्त उक्थमुख है। "उदु ब्रह्माणि" (२० । १२) सूक्त पर्यास कहलाता है। "एवेदिन्द्रम्" (२० । १२ । ६) यह परिधानीया है। इस सबको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तं वो दस्ममृतीषहम् तत् त्वा यामि सुवीर्यम्" (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

तत्र प्रथमा ॥

तं वो॑ द॒स्मम्ृ॑ती॒षहं॒ वसो॑र्म॒न्दा॒नमन्ध॑सः ।

अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ १

तम् । वः । द॒स्मम् । ऋ॒ति॒ऽसह॑म् । वसोः॑ । म॒न्दा॒नम् । अन्ध॑सः ।
अ॒भि । व॒त्सम् । न । स्वस॑रेषु । धे॒नवः॑ । इन्द्र॑म् । गीः॒ऽभिः॑ ।
न॒वा॒म॒हे॒ ॥ १ ॥

हे यजमानाः वः युष्मदर्थं युष्मद्यागनिष्पत्त्यर्थं युष्मदभिमतफलार्थं वा तं प्रसिद्धम् इन्द्रम् अभिलक्ष्य गीर्भिः स्तुतिप्रकाशिकाभिर्ऋग्भिः नवामहे स्तुम इति संबन्धः। कीदृशम् इन्द्रम्। दस्मम् दर्शनीयम्। तत्तत्फलार्थिभिरवश्यं सेवनीयम् इत्यर्थः। ऋतीषहम्। अर्तेर्ऋतिशब्दः। आर्तेरभिभवितारम् नाशकम्। ※"सहेः पृतनर्ताभ्यां च" इत्यत्र सहेरिति योगविभागात् षत्वम्※। तथा वसोः वासकस्य अन्धसः अन्नस्य सोमलक्षणस्य। पानेनेति शेषः। मन्दानम् मन्दमानम्। स्तुतौ दृष्टान्तम् आह। वत्सं न स्वसरेषु धेनवः। स्वसरेषु स्वयं सरन्तीति वा स्वः आदित्यः स एनानि सारयतीति वा स्वसराण्यहानि। तेषु आगच्छत्सु निर्ग-

वत्सेषु वा । सायंप्रातःकालेष्वित्यर्थः । तेषु धेनवः प्रभूतेन पयसा प्रीणयित्र्यो गावः अभिनवप्रसवाः या ता वत्सं न । यथा वत्सं स्तनप्रदानाय हम्भाशब्दम् उच्चैर्बहुशः कुर्वन्ति तद्वत् ॥

हे यजमानों ! हम तुम्हारे यागकी पूर्णताके लिये या तुम्हारे अभिमत फलके लिये इन्द्रदेवकी स्तुतिप्रकाशिका वाणियोंसे स्तुति करते हैं । यह इन्द्रदेव दर्शनीय हैं अर्थात् फलाभिलाषियोंको इनका दर्शन अवश्य करना चाहिये और यह आर्तिका नाश करने वाले हैं । और यह वासक सोमरूपी अन्नके पानसे आनन्दमें भरे रहते हैं । जैसे सूर्य जिनको करता है उन दिनोंके आने जाने के समय धेनुएं हंभा २ करती हुई बछड़ोंकी ओरको दूध पिलानेके लिये दौड़ती हैं, इसी प्रकार हम भी (सोम पिलानेके लिये) इन्द्रकी ओर स्तुतिवाणियोंसे दौड़ते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे

द्युक्षम् । सुऽदानुम् । तविषीभिः । आऽवृतम् । गिरिम् । न । पुरुऽभोजसम् ।

क्षुऽमन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गोऽमन्तम् । ईमहे ॥ २ ॥

द्युक्षम् दीप्तं सुदानुम् शोभनदानं विशिष्टदानार्हं तविषीभिः बलैः आवृतम् आच्छन्नम् । बलप्रदम् इत्यर्थः । गिरिं न पुरुभोजसम् । पुरु इति बहुनाम । बहूनां प्रजानां भोगयोग्यं गिरिं न पर्वतमिव । यथा दुर्भिक्षे प्रजा जीवनाय बहुभिः कन्दमूलाद्यन्नैः

पेतं गिरिम् अर्थयन्ते तद्वत् । ॐ उदभिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः इति हि मन्त्रवर्णः [नि० ६. ५] ॐ । अयम् आयम् ईमहे इत्यत्र दृष्टान्तः । तथा द्युमन्तम् । ॐ द्यु शब्दे ॐ । शब्दोपेतम् । स्तुतिमन्तम् इत्यर्थः । यो लोके यशस्वी भवति स शब्द्यत इति प्रसिद्धम् । शतिनम् शतयुक्तं शतसंख्यानां प्रजानां पोषकः त्वेन तद्वन्तम् । एवं सहस्रिणम् इत्येतदपि योज्यम् । अपरिमित-प्राणिपोषकम् इत्यर्थः । तथा गोमन्तम् बह्वीभिर्गोभिर्युक्तम् । एवम् उक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टं वाजम् अन्नं मक्षु शीघ्रम् ईमहे याचामहे ॥

दीप्तिमय, सुन्दरतासे दान करने योग्य, बलप्रद, स्तुतिके पात्र, सैंकड़ों और सहस्रों प्रजाओंका पोषण करने वाले और बहुतसी गौओंसे युक्त धनकी हम इस प्रकार प्रार्थना करते हैं जिस प्रकार दुर्भिक्षमें प्रजाएँ जीवनके लिये बहुतसे कन्द मूल आदि अन्नोंसे सम्पन्न पर्वतकी प्रार्थना करते हैं। [निरुक्त ६ । ५ में कहा भी है, कि–"उदभिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ।"] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तत् त्वां यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ३

तत् । त्वा । यामि । सुऽवीर्यम् । तत् । ब्रह्म । पूर्वऽचित्तये ।

येन । यतिऽभ्यः । भृगवे । धने । हिते । येन । प्रस्कण्वम् । आविथ ३

हे इन्द्र तत् वक्ष्यमाणलक्षणं सुवीर्यम् शोभनवीर्योपेतं ब्रह्म परिवृढम् अन्नं त्वा त्वां यामि याचे । ॐ वर्णलोपश्छान्दसः । "तत् त्वा यामीति द्विवर्णलोप इति हि यास्कः [नि० २. १] ॐ । उक्तमेवार्थं पुनराह इतरेभ्यः पूर्वलाभाय । तत् उक्तलक्षणं ब्रह्म अन्नं पूर्वचित्तये पूर्वप्रज्ञानाय । यामीति संबन्धः । तद्व इत्युक्तम् ।

कीदृक् तद् इत्याह । येन प्रमाणा अन्नेन यतिभ्यः कर्मभ्यो निवृत्तेभ्यः सकाशाद् आहृत्य भृगवे एतन्नामकाय महर्षये धने हिते अभिमते सति तं भृगुं प्रीणितवान् असि । यद्वा येन सुवीर्येण अन्नेन यतिभ्यः नियतिमद्भ्यः कर्मसु नियतेभ्यः अन्येभ्यो महर्षिभ्यः तदर्थं धने हिते सति परितोषितवान् असि । तथा भृगवे एतन्नामकाय महर्षये च । येन च धनेन प्रस्कण्वम् कण्वस्य पुत्रम् एतन्नामानम् ऋषिम् आविथ ररक्षिथ ॥

हे इंद्रदेव ! मैं आपसे सुन्दर वीर्यसम्पन्न दृढ़ अन्नकी याचना करता हूँ । उस अन्नको पूर्वप्रज्ञानके लिये याचना करता हूँ । जिस धनके देने पर नियम वालोंको और भृगु ऋषिको शांति प्राप्त हुई थी और जिस धनसे आपने कण्व नामक ऋषिके पुत्र प्रस्कण्व ऋषिकी रक्षा की थी उस धनकी हम आपसे याचना करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः ।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे

येन । समुद्रम् । असृजः । महीः । अपः । तत् । इन्द्र । वृष्णि । ते । शवः ।
सद्यः । सः । अस्य । महिमा । न । सम्ऽनशे । यम् । क्षोणीः ।
अनुऽचक्रदे ॥ ४ ॥

हे इन्द्र येन शवसा बलेन समुद्रम् । समभिद्रवन्त्येनम् आप इति समुद्रः उदधिः । तं प्रति महीः महतीः अतिप्रभूता अपः समुद्रपूर्तिपर्यन्तानि उदकानि असृजः सृष्ट्यादौ सृष्टवान् असि । तत् तादृक् ते शवः बलं वृष्णि वर्षकं सर्वेषाम् अभिमतप्रदातृ ।

भवतीति शेषः ॥ अथ परोक्षम् आह । अस्य इन्द्रस्य स महिमा बहुभिरुदकैः समुद्रपूर्त्यादिलक्षणः सद्यः तदानीमेव न संनशे परैर्न सम्यग् व्याप्तुम् अर्हः । महिम्न आनन्त्याद् अनन्यसाधारणत्वाच्चेति भावः । ❀ नशतिर्व्याप्तिकर्मा । कृत्यार्थे केन् प्रत्ययः ❀ । यं महिमानं चोणीः । चोणी पृथिवी । तेन तन्निष्ठः प्राणिनिकरो लक्ष्यते । अनुचक्रदे अनुक्रन्दति । उद्घोषयतीत्यर्थः ॥

इति नवमं सूक्तम् ॥

हे इंद्रदेव ! जिस बलसे आपने समुद्रके निमित्त सृष्टिकी आदि में समुद्रका पूर्णरूपसे भरने वाले जलोंकी सृष्टि की है । वह बल सबको अभिलषित फल प्रदान करता है । बहुतसे जलोंमे समुद्र-पूर्ति आदिकी इनकी महिमाको शत्रु नहीं पासकते इनकी महिमा का पृथिवीवासी वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

नवम सूक्त समाप्त (६२५)

"उदु त्ये" इति सूक्तस्य विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"उदु त्ये" सूक्तका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।

सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव १

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्ऽतमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते । सत्राऽजितः । धनऽसाः । अक्षितऽऊतयः । वाजऽयन्तः । रथाःऽइव ।

त्ये । तच्छब्दसमानार्थस्त्यच्छब्दः । ते वक्ष्यमाणाः स्तोमासः स्तोमाः त्रिवृदादयः प्रगीतमन्त्रसाध्यानि स्तोत्राणीत्यर्थः । ते विशेष्यन्ते । मधुमत्तमाः अतिशयेन मधुराः वस्तुतः वाच्यपि माधुर्यम् अस्त्येव । ते उदीरते प्रादुर्भवन्ति । तथा गिरः अन्यापि

मधुपत्तमा इत्येतत् संबध्यते । अतिशयेन मधुरा गिरः शस्त्राश्रयभूता वाचः अप्रगीतमन्त्रसाध्यान्यपि शस्त्राणि उदीरते। ते विशेष्यन्ते । सत्राजितः सदैव एकवारमेव जयन्ति शत्रून् इति सत्राजितः । तथा धनसाः धनानां संभक्तारो धनप्रदाः । ❀ "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति विट् । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ । एवम् अक्षितोतयः । क्षितं क्षयः । न विद्यते क्षितं यासां ता अक्षिताः । अक्षिता ऊतयो येषां ते तथोक्ताः । सर्वदा रक्षका इत्यर्थः । ❀ "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति यशुदासाद् दीर्घाभावः । अत एव "क्षियो दीर्घात्" इति निष्ठानत्वाभावः ❀ । वाजयन्तः वाजम् अन्नम् इच्छन्तः । ❀ क्यचि "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति ह्रस्वदीर्घयोः प्रतिषेधः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । रथा इव। अत्र सत्राजितइत्यादिविशेषणानि दृष्टान्तेपि योजयितव्यानि । यथोक्तलक्षणा रथा यथा रथस्वामिनः प्रयोजनाय उदीरते एवम् इन्द्रस्य परितोषाय स्तोमा उदीरत इत्यर्थः ॥

ये आगे कहे जाने वाले प्रगीतमंत्रसाध्य त्रिवृत् आदि स्तोम और अप्रगीतमन्त्रसाध्य शस्त्र आदिकी मधुर वाणियें प्रादुर्भूत होरही हैं, ये धन प्रदान करने वाली हैं और एकवार ही शत्रुओं को जीत लेती हैं, ये सदा रक्षक हैं और यह अन्न प्रदान करने वाली हैं और रथ जैसे रथमें बैठने वालेके प्रयोजनके लिये दौड़ता है तैसे ही यह इन्द्रके संतोषके लिये प्रकट होती हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

कण्वाःऽइव । भृगवः । सूर्याःऽइव । विश्वम् । इत् । धीतम् । आनशुः ।

इन्द्रम् । स्तोमेभिः । महयन्तः । आयवः । प्रियऽमेधासः । अस्वरन्

कण्वा इव कण्वगोत्रोत्पन्ना महर्षयोपि कण्वाः । ते यथा विश्वम् व्याप्तं लोकत्रयस्वामिनम् । इत् शब्दः अव्यवहितेन इन्द्रम् इत्यनेन संबध्यते । धीतम् ध्यातं तत्तत्फलार्थिभिः सर्वैर्ध्यानोपलक्षितेन स्तोत्रेण विषयीकृतम् इन्द्रमित् इन्द्रमेव आनशुः स्तोत्रशस्त्रादिभिः प्राप्ताः । भृगवः । केवलोपि भृगुशब्दः इवेन विशिष्टार्थः परिगृह्यते । भृगव इव ते यथा उक्तलक्षणम् इन्द्रम् आनशुः । सूर्या इव सूर्या धात्रर्यमादयः । ते यथा स्वनियन्तारम् इन्द्रम् आनशुः । एवम् उक्तगुणकम् इन्द्रं प्रियमेधासः । येषां मेधाः प्रियभूतास्ते प्रियमेधाः । एतन्नामानः आयवः मनुष्या महर्षयः महयन्तः पूजयन्तः स्तोमेभिः स्तोत्रैः अस्वरन् शब्दम् अकुर्वन् । अस्तुवन्नित्यर्थः ॥

इति दशमं सूक्तम् ॥

कण्व गोत्रमें उत्पन्न हुए महर्षि जिस प्रकार, तीनों लोकोंके स्वामी, फलाभिलाषियोंके द्वारा ध्याये हुए इन्द्रको ही स्तोत्र शस्त्र आदि स्तुतियोंसे प्राप्त होते हैं, जैसे धाता अर्यमा आदि सूर्य अपने नियन्ता इन्द्रको प्राप्त होते हैं अर्थात् इन्द्रकी स्तुति करते हैं । और भृगुवंशी महर्षि जिस प्रकार इन्द्रकी शरणमें जाते हैं इसी प्रकार प्रियमेधा नामक मनुष्य पूजा करते समय स्तोत्रोंसे इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

दशम सूक्त समाप्त (६२१)

"इन्द्रः पूर्भित्" इति सूक्तस्य उक्तो विनियोगः ॥

"इन्द्रः पूर्भित्" सूक्तका विनियोग पहिले कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद् रोदसी
उभे ॥ १ ॥

इन्द्रः । पूःऽभित् । आ । अतिरत् । दासम् । अर्कैः । विदत्ऽवसुः ।
दयमानः । वि । शत्रून् ।
ब्रह्मऽजूतः । तन्वा । ववृधानः । भूरिऽदात्रः । आ । अपृणत् ।
रोदसी इति । उभे इति ।

इन्द्रो देवः पूर्भित् शत्रुपुरां भेत्ता दासम् उपक्षपयितारं शत्रुम् अर्कैः अर्चनीयैः स्ववीर्यैः आतिरत् सर्वतो हिंसितवान् । सूर्यात्मना वा अर्कैः अर्चनीयै रश्मिभिः दासम् तमसः क्षपयितारं वासरम् आतिरत् सर्वतो वर्धितवान् । प्रकाशितवान् इत्यर्थः । किं कुर्वन् । विदद्वसुः लब्धधनः । शत्रुधनापहर्तेत्यर्थः । शत्रून् वृत्रादीन् वि दयमानः विशेषेण हिंसन् । ❀ तथा च यास्कः । विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् इति हिंसाकर्मा इति [नि०४.१७]❀। ब्रह्मजूतः ब्रह्मणा प्रभूतेन स्तोत्रेण अभिवृद्धः तन्वा शरीरेण ववृधानः वर्धमानः । ❀ वृधु वर्धने । कानचि रूपम् । संहितायाम् अभ्यासस्य "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः ❀ । भूरिदात्रः । दात्यनेन खण्डयति शत्रून् इति दात्रम् आयुधम् । प्रभूतायुध इत्यर्थः । यद्वा दीयत इति दात्रं धनम् । बहुधनः । उक्तगुणविशिष्ट इन्द्रः उभे रोदसी उभे द्यावापृथिव्यौ आपृणत् । व्याप्नोद् इत्यर्थः ॥

इन्द्रदेव शत्रुओंके नगरोंका नाश करनेवाले हैं। इन्होंने गड़-

पड़ी डालने वाले शत्रुओंको अपने प्रशंसनीय वीर्योंसे नष्ट कर डाला है। यह शत्रुओंके धनको पाने वाले हैं। और वृत्र आदि शत्रुओंको इन्होंने विशेषरूपसे नष्ट कर डाला है, इनका शरीर मन्त्रसे बढ़ जाता है, इनके पास शत्रुओंको नष्ट करने वाले बहुत से आयुध हैं। ऐसे इन्द्रदेवने द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंको व्याप्त कर लिया है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा ॥ २ ॥

मखस्य । ते । तविषस्य । प्र । जूतिम् । इयर्मि । वाचम् । अमृताय । भूषन् ।
इन्द्र । क्षितीनाम् । असि । मानुषीणाम् । विशाम् । दैवीनाम् । उत । पूर्वऽयावा ॥ २ ॥

हे इन्द्र मखस्य मंहनीयस्य मखात्मकस्य वा तविषस्य । तवः बलम् । अतिशयितबलस्य ते तव जूतिम् प्रेरयित्रीं वर्धयित्रीं वा वाचम् स्तुतिलक्षणां प्रेयर्मि प्रेरयामि । ॐ इयर्तिर्जुहोत्यादिः । "अर्तिपिपर्त्योश्च" इति अभ्यासस्य इत्वम् । "अभ्यासस्यासवर्णे" इति इयङ् आदेशः । पादादित्वाद् अनिघातः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः ॐ । किमर्थम् । अमृताय अमृतत्वाय अन्नाय वा । किं कुर्वन् । भूषन् त्वाम् अलङ्कुर्वन् । ॐ भूष अलंकारे । शतृप्रत्ययः ॐ । हे इन्द्र यस्माद् मानुषीणाम् मनुषः संबन्धिनीनां क्षितीनाम् प्रजानाम् उत अपि च दैवीनाम् देवसंबन्धि

नीनां विशाम् प्रजानां पूर्वयावा पुरोगन्तासि । सर्वेषां प्राणिनां श्रेष्ठो भवसीत्यर्थः । तस्माद् वाचम् इयर्मीति संबन्धः ॥

हे इन्द्रदेव ! मैं यज्ञस्वरूप परम-बली आपको बढ़ाने वाली वाणीको अन्नके लिये विभूषित करता हुआ उच्चारण करता हूँ । हे इन्द्र ! आप मनुष्योंकी और देवताओंकी प्रजाके आगे जाने वाले हैं । अर्थात् सबमें श्रेष्ठ हैं इस लिये मैं वाणीको प्रेरित करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑ममिना॒द् वर्प॑णीतिः ।
अह॒न् व्यं॑समु॒शध॒ग् वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ अकृणोद् रा॒म्याणा॑म् ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । वृ॒त्रम् । अ॒वृ॒णो॒त् । शर्ध॑ऽनीतिः । प्र । मा॒यिना॑म् । अ॒मि॒ना॒त् । वर्प॑ऽनीतिः ।
अह॑न् । वि॒ऽअं॑सम् । उ॒शध॑क् । वने॑षु । आ॒विः । धेनाः॑ । अ॒कृ॒णो॒त् । रा॒म्याणा॑म् ॥ ३ ॥

इन्द्रो देवः शर्धनीतिः । शर्धः हिंसकं बलम् । ❀ अत्र अकारान्तत्वं छान्दसम् ❀ । तस्य नीतिर्नयनं प्रापणं यस्य स तथोक्तः । शत्रुं प्रति स्वबलप्रापक इत्यर्थः । तादृशः सन् वृत्रम् अपावरकं मेघं सर्वतो व्याप्नुवानम् असुरम् । ❀ वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका इति निरुक्तम् [नि० २. १६] ❀ । तम् अवृणोत् अरुधत् । तथा स एव इन्द्रः वर्पनीतिः । वर्प इति

रूपनाम । अत्र अकारान्तः । तस्य नेता । युद्धे शत्रुं प्रति स्वशरीर-प्रापक इत्यर्थः । अनेन तस्य गतम् अयनम् उक्तं भवति । तादृशः सन् मायिनाम् मायावताम् असुराणाम् अत्र सामर्थ्याद् बलानीति गम्यते । षष्ठी । ❀ द्वितीयार्थे षष्ठी ❀ । मायिन इत्यर्थः । प्रामिनात् प्रावधीत् । ❀ मीञ् हिंसायाम् । "मीनातेर्निगमे" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । इन्द्रो वृत्रम् अवृणोत् इत्युक्तमेवार्थं विस्पष्टम् आह । उशधक् कामयित्वा शत्रुदाहकः । यद्वा वशातां युद्धं कामयमानानां शत्रूणां दाहक इन्द्रः वनेषु उदकेषु निमित्तभूतेषु वृत्रम् आवरकं मेघं व्यंसम् विगतांसं यथा भवति तथा विदार्य अहन् अवधीत् । ततो राम्याणाम् रमणीयानाम् अपाम् अर्थाय धेनाः । वाङ्नामैतत् । वाचः स्तनितानि आविरकृणोत् प्रकाशम् अकार्षीत् ॥ वृत्रासुरपक्षे वनेषु आच्छन्नं वृत्रम् उशधक् सन् व्यंसम् विगतांसं कृत्वा अंसाद्यङ्गानि विच्छिद्य अहन् अवधीत् । राम्याणाम् रमणार्हाणां क्रीडासाधनानां तद्गोपिताम् । ❀ रामम् अर्हन्तीत्यर्थे "छन्दसि च" इति यत् प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ❀ । धेनाः आविरकृणोद् इत्यर्थः । अथ वा राम्याणाम् क्रीडार्हाणां रात्रीणां संबन्धिनीर्धेना गाः । रात्रौ तमसा हृताः असुरापहृता गा इत्यर्थः । ताः आविरकृणोत् असुरान् अपहत्य ताः स्पष्टाश्चकार । असुरैर्देवानां गवादिलक्षणधनम् अपहृत्य रात्रिप्रवेशस्तैत्तिरीयके । "अहर्देवानाम् आसीद् । रात्रिरसुराणाम् । तेसुरा यद्‌ देवानां वित्तं वेद्यम् आसीत् तेन सह रात्रिं प्राविशन्" इति [तै० सं० १. ५. ६. २] ॥

इन्द्रदेव शत्रु पर अपने हिंसक बलको डाल देते हैं. ऐसे इंद्रने वृत्र (असुर वा आवरक मेघ) को रोक लिया था और युद्धमें अपने शरीरको शत्रुकी ओर लेजाने वाले इन्द्रने मायावी असुरों को नष्ट कर डाला था, कामना करके शत्रुओंको नष्ट कर डालने

वाले इन्द्रने धनसे घिरे हुए वृत्रासुरको कंधों रहित करके नष्ट कर डाला था और क्रीड़ा करनेके योग्य रात्रियोंमें पणियोंकी हरी हुई गौओंको (शत्रु संहार करके) प्रकट कर दिया था ३

चतुर्थी ॥

इन्द्रः॑ स्व॒र्षा ज॒नय॒न्नहा॑नि जि॒गायो॒शिग्भि॒ः पृत॑ना अ॒भिष्टिः॑ ।

प्रारो॑चय॒न्मन॑वे के॒तुमह्ना॒मवि॑न्द॒ज्ज्योति॑र्बृह॒ते रणा॑य

इन्द्रः॑ । स्वः॒ऽसाः । ज॒नय॑न् । अहा॑नि । जि॒गाय॑ । उ॒शिक्ऽभिः॑ । पृत॑नाः । अ॒भिष्टिः॑ ।

प्र । अ॒रो॒च॒य॒त् । मन॑वे । के॒तुम् । अह्ना॑म् । अवि॑न्दत् । ज्योतिः॑ । बृ॒ह॒ते । रणा॑य ॥ ४ ॥

स्वर्षाः स्वर्गस्य लम्भकः । ❀ षणु दाने । क्विप् । "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् । "सनोतेरनः" इति षत्वम् । "अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानम्" इति रत्वम् ❀ । अभिष्टिः अभिगन्ता शत्रूणाम् अभिभविता । ❀ इषु गतौ । "मन्त्रे वृष०" इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम् । स हि भावपरोपि भवितारं लक्षयति । "तितुत्रतथसि०" इत्यादिना इट्प्रतिषेधः । शकन्ध्वादित्वात् पररूपत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ❀ । तादृश इन्द्रः अहानि जनयन् प्रादुर्भावयन् तमोनिवर्तनेन युद्धानुकूलानि कुर्वन् उशिग्भिः युद्धं कामयमानैरसुरैः सह युद्धं कृत्वा पृतनाः तेषां सेना जिगाय अजैषीत् । किं च । मनवे मनुष्याय । जातावेकवचनम् । मनुष्येभ्यो यजमानेभ्यः बृहते महते रणाय रमणाय क्रीडनाय । प्रभूत-

वैदिकलौकिकव्यवहारायेत्यर्थः । तदर्थम् अह्नां केतुम् प्रज्ञापकम् आदित्यं प्रारोचयत् दिवि प्रदीपयत् । ततो ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं तेजः अविन्दत् लब्धवान् ॥

स्वर्गको प्राप्त कराने वाले, शत्रुओंका अभिभव करने वाले इन्द्रदेवने दिनोंको प्रकट करके (तमको दूर कर उनको युद्धके अनुकूल करके) युद्धाभिलाषी असुरोंसे युद्ध कर उनकी सेनाको जीत लिया था और उन्होंने यजमान मनुष्योंके लौकिक वैदिक व्यवहारोंके लिये दिनके प्रज्ञापक आदित्यको द्युलोकमें चमका रक्खा है । इस प्रकार सर्वपदार्थप्रकाशक तेजको प्राप्त कर रक्खा है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि
अचेतयद् धियं इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥ ५ ॥

इन्द्रः । तुजः । बर्हणाः । आ । विवेश । नृऽवत् । दधानः । नर्या । पुरूणि ।
अचेतयत् । धियः । इमाः । जरित्रे । प्र । इमम् । वर्णम् । अतिरत् । शुक्रम् । आसाम् ॥ ५ ॥

इन्द्रो देवः बर्हणाः अभिवृद्धाः तुजः हिंसिकाः शत्रुसेनाः । ॐ तुज हिंसायाम् । क्विप् । धातुस्वरः ॐ । आ विवेश प्राविशत् । तत्र दृष्टान्तः । नृवत् मनुष्य इव स यथा शत्रुसेना युद्धार्थं प्रविशति तद्वत् । किं कुर्वन् । नर्या नर्याणि नरेभ्यः ऋत्विगादिरूपेभ्यो मनुष्येभ्यो हितानि पुरूणि बहूनि । सामर्थ्याद्धनानि धना-

नीति गम्यते । दधानः धारयन् । ❀ दधातेः शानचि रूपम् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । किं च इमाः परिदृश्यमानाः प्रसिद्धा धियः । धीजनकत्वात् सर्वैर्ध्यायमानत्वाच्च धिय उषसः । धीशब्दस्य उषःपरत्वं मन्त्रान्तरे । "शुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्" इति [ऋ० १४२. ७] । जरित्रे स्तोत्रे स्तोतॄणाम् अर्थाय अचेतयत् प्राज्ञापयत् । उषसि हि प्रबुद्धायां स्तोत्रशस्त्रादीनि प्रवर्तन्ते । उक्त एवार्थः प्रकारान्तरेण उच्यते । आसां धियाम् उषसाम् इमं प्रसिद्धं शुक्रवर्णं भास्वरत्वं प्रावर्धयत् । ❀ आसाम् । "इदमोन्वादेशेशनुदात्तस्तृतीयादौ" इति इदमः अश् आदेशः । सोप्यनुदात्तः । प्रत्ययश्च सुप्त्वाद् अनुदात्तः । अतः सर्वानुदात्तम् आसाम् इति पदम् ❀ ॥

मनुष्य युद्ध करनेके लिये जिस प्रकार शत्रुसेनामें प्रवेश करता है, तिसी प्रकार इन्द्रदेव भी ऋत्विज आदिरूप मनुष्योंके बहुत से हितोंको और शत्रुधनोंको ग्रहण करनेके लिये बढ़ी हुई शत्रुसेनाओंमें घुस जाते हैं, और (सबसे ध्यान करने योग्य इन धी अर्थात्) उषाओंको स्तोताओंके लिये प्रकट करते हैं [उषःकाल के होने पर ही स्तोत्र शस्त्र आदि स्तुतियें होती हैं, इसी बातको बढ़ाते हैं कि–] इन उषाओंके शुक्रवर्णको इन्द्रदेव बढ़ाते हैं ॥५॥

षष्ठी ॥

म॒हो म॒हानि॑ पनयन्त्य॒स्येन्द्र॑स्य॒ कर्म॒ सुकृ॑ता पु॒रूणि॑ ।
वृ॒जने॑न वृजि॒नान्त्सं पि॑पेष मा॒याभि॒र्दस्यूँ॑र॒भिभू॑त्योजाः ६

म॒हः । म॒हानि॑ । प॒न॒य॒न्ति॒ । अ॒स्य॒ । इन्द्र॑स्य । कर्म॑ । सु॒ऽकृ॑ता ।
पु॒रूणि॑ ।

हनमेन । वृजिनान् । सम् । पिपेष । मायाभिः । दस्यून् । अभि-

भूतिऽओजाः ॥ ६ ॥

महः मंहनीयस्य महतो गुणैः महद्भस्य वा । * मह पूजायाम् । क्विप् । "सावेकाचः०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । महच्छब्दस्य वा । छान्दसः शतृप्रत्ययलोपः * । अस्य प्रसिद्धस्य इन्द्रस्य महानि मंहनीयानि सुकृता सुकृतानि सुष्ठु संपादितानि पुरूणि बहूनि कर्म कर्माणि पनयन्ति स्तुवन्ति स्तोतारः । तेषु एकं कर्म अत्रोपवर्ण्यते । अभिभूत्योजाः अभिभूतिरभिभवः । अभिभवितृ ओजो बलं यस्य । अथ वा शत्र्वभिभवे समर्थम् ओजो यस्य स तथोक्तः । * अभिभूतिरभिभवनम् । भावे क्तिन् । "तादौ च निति०" इत्यभेः प्रकृतिस्वरत्वम् । अभिभूतौ ओजः अस्येति "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिः" इति समासः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः * । तादृश इन्द्रो हनमेन आवर्जकेन बलेन आयुधेन वा वृजिनान् पापरूपान् असुरान् सं पिपेष सम्यक् चूर्णीकृतवान् । तथा मायाभिः स्वशक्तिभिः दस्यून् उपक्षपयितॄन् शत्रून् सं पिपेष ॥

इन पूजनीय इन्द्रदेवके प्रशंसनीय पूर्णरूपसे पूर्ण किये हुए बहुतसे कर्मोंकी स्तोता पुरुष स्तुति करते हैं । (उनमेंका एक कर्म यहाँ वर्णन किया जाता है, कि–) जिनमें शत्रुओंको दबाने की शक्ति है ऐसे इन्द्रने अपने आवर्जक आयुधसे पापरूप असुरों को भली प्रकार चूर्ण कर डाला है । तथा अपनी शक्तियोंसे क्षीण करने वालोंको पीस डाला है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।

विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो
गृणन्ति ॥ ७ ॥

युधा । इन्द्रः । मह्ना । वरिवः । चकार । देवेभ्यः । सत्ऽपतिः ।
चर्षणिऽप्राः ।

विवस्वतः । सदने । अस्य । तानि । विप्राः । उक्थेभिः । कवयः ।
गृणन्ति ॥ ७ ॥

इन्द्रो देवः युधा युद्धेन । ❀ युध संप्रहारे । भावे संपदादिलक्षणः क्विप् । "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तता ❀ । मह्ना स्वमहत्त्वेन । अन्यनैरपेक्ष्येणेत्यर्थः । देवेभ्यः । दीव्यतिरत्र स्तुत्यर्थः । स्तोतृभ्यः तेषामर्थाय वरिवः । धननामैतत् । वरणीयं धनं चकार कृतवान् । ❀ डुकृञ् करणे इत्यस्य यङ्लुकि रूपम् । "ऋतश्च" इति अभ्यासस्य रिगागमः । तदन्ताद् अंसुन् । बाहुलकाट्टिलोपः । निस्स्वरः ❀ । इन्द्रो विशेष्यते । सत्पतिः सतां कर्मानुष्ठायिनां यजमानानां पालकः चर्षणिप्राः चर्षणयो मनुष्याः तेषाम् अभिमतफलपूरकः । कुत्र वरिवश्चकारेति उच्यते । विवस्वतः । विवस्वान् आदित्यः । तस्य सदने स्थाने वृष्टिप्रतिबन्धकान् असुरान् पराजित्य वृष्टिलक्षणं धनं चकारेत्यर्थः । अथ वा एतद् उत्तरत्र संबध्यते । विवस्वतः विशेषेण अग्निहोत्रादिकर्मार्थं वसतो यजमानस्य सदने गृहे । ❀ विपूर्वाद् वस निवासे इत्यस्मात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । तद् अस्यास्तीति मतुप् । "मादुपधायाः०" इत्यादिना तस्य वत्वम् । प्रत्ययस्य पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वर एव । अवग्रहाभावश्छान्दसः ❀ । अस्य उक्तमहिमोपेतस्य इन्द्रस्य तानि प्रसिद्धानि वृत्रवधादिलक्षणानि कर्माणि विप्रा मेधाविन ऋत्विजः । कीदृशाः । कवयः क्रान्त-

मज्ञाः अनूचाना वा । "ये वा अनूचानास्ते कवयः" इति [ऐ० ब्रा० २. २] श्रुतेः । उक्थेभिः । उक्थैः आज्यप्रउगादिशस्त्रैः गृणन्ति स्तुवन्ति ॥

इन्द्रदेवने किसी दूसरेकी अपेक्षा न रख अपनी ही महिमासे युद्ध करके स्तोताओंके लिये धनको किया है । यह इन्द्रदेव कर्मानुष्ठानी सज्जन यजमानोंके पालक हैं । मनुष्योंके अभिलषित फलको देने वाले हैं । (कहाँ ?) विशेषरूपसे अग्निहोत्र आदि कर्मके लिये ही बसने वाले यजमानके घरमें (यह उक्त कथा करते हैं) इन महिमावान् इन्द्रके वृत्रवध आदिक प्रसिद्ध कर्मोंका विद्वान् पुरुष उक्थोंसे गान करते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥८॥

सत्राऽसहम् । वरेण्यम् । सहःऽदाम् । ससऽवांसम् । स्वः । अपः । च । देवीः ।

ससान । यः । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । इन्द्रम् । मदन्ति । अनु । धीऽरणासः ॥ ८ ॥

सत्रासाहम् । सह त्रायते स्वामिनम् इति सत्रा सेना । शत्रुसेनाया अभिभवितारम् अथ वा सत्रासहम् एकप्रयत्नेनैव शत्रुसेनाया अभिभवितारम् । ❀ षह मर्षणे । छान्दस उपधादीर्घत्वभावः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तः ❀ । वरेण्यम् सर्वैः स्वस्वफलार्थिभिर्वरणीयं सेवनीयं सहोदाम् । सह इति बलनाम । बलस्य दातारम् तथा स्वः स्वर्गस्य देवीः देवनशीला अपश्च ससवांसम् । ❀ वन षण संभक्तौ । अस्य क्वसौ छन्दसि नका-

रलोपे रूपम् ❀। एवंमहानुभावम् इन्द्रं धीरणासः धीरणाः धीषु स्तुतिषु कर्मसु वा रणं रमणं येषां ते तथोक्ताः तादृशस्तोतारो यजमानाश्च इन्द्रम् अनु मदन्ति अनुक्रमेण हर्षयन्ति स्तुत्या हविरादिना च। इन्द्रमेव विशिनष्टि। य इन्द्रः पृथिवीम् विस्तीर्णां द्याम् दिवम् इमां पृथिवीं च द्यावापृथिव्यौ ससान देवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च प्रादात्। तम् इन्द्रं मदन्तीति संबन्धः॥

जो शत्रुसेनाको एक बार ही दबा देते हैं, सब फल चाहने वाले अपने २ लिये जिनका वरण करते हैं, जो बलदाता हैं, जो स्वर्गका और जलोंका सेवन करने वाले हैं, जिन इन्द्रदेवने इस विस्तीर्ण पृथिवीको और द्युलोकको देवता और मनुष्योंके लिये प्रदान किया है, ऐसे महानुभाव इन्द्रको स्तुतियोंमें रमण करने वाले स्तोता और यजमान स्तुति और हवि आदिसे प्रसन्न करते हैं॥ ८॥

नवमी॥

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्॥ ९॥

ससान। अत्यान्। उत। सूर्यम्। ससान। इन्द्रः। ससान। पुरुऽभोजसम्। गाम्।
हिरण्ययम्। उत। भोगम्। ससान। हत्वी। दस्यून्। प्र। आर्यम्। वर्णम्। आवत्॥ ९॥

अत्यान् अतनार्हान् अश्वान्। उपलक्षणम् एतत्। तुरगग-

गोष्ट्रादिकानि वाहनानि प्राणिनां व्यवहाराय इन्द्रो देवः ससान प्रादात् । ❀ षणु दाने । लिटि रूपम् ❀ । उत अपि च सूर्यम् सर्वस्य प्रकाशकं देवं प्राणिनां व्यवहारार्थं ससान । एवं पुरुभोजसम् पयोदध्यादिलक्षणबहुप्रकारभोगसाधनां बहुविधप्राणिभोगसाधनां वा गाम् । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । गाः ससान । एतन्महिष्यादेरपि उपलक्षणम् । उत अपि च हिरण्ययम् हिरण्मयं हिरण्यविकारात्मकं भोगम् भोगसाधनं कटकमुकुटादिकं ससान । ❀ हिरण्यशब्दाद् विकारार्थे "मयड्वैतयोः०" इति विहितस्य छन्दसि विषये "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि" इति निपातनाद् मयटो मकारलोपः । प्रत्ययस्वरः ❀ । किंच दस्यून् उपक्षपयितॄन् प्राणिविघातकान् असुरादीन् हत्वी हत्वा । ❀हन्तेः क्त्वार्थे "स्नात्व्यादयश्च" इति निपातितः ❀ । आर्यम् उत्तमं वर्णं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यात्मकं यजनादिकर्माधिकारवन्तं प्रावत् प्रकर्षेण रक्षितवान् ॥

इन्द्रदेवने सदा गमन करने वाले घोड़े गज ऊँट आदिको प्राणियोंके व्यवहारके लिये प्रदान किया है । और सर्वप्रकाशक सूर्यदेवको भी प्राणियोंके व्यवहारके लिये प्रदान किया है । और घृत दुग्ध आदि बहुतसे रूपोंमें प्राणियोंके उपभोगकी साधन गौ भैंस आदिको भी प्रदान किया है और सुवर्णके बने हुए भोगसाधन मुकुट कंकण आदिको भी प्रदान किया है । और प्राणियोंका संहार करने वाले असुरोंको मार कर इन्द्रदेवने यज्ञ करनेके अधिकार वाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य (आर्य) की बड़ी भारी रक्षा की है ॥ ९ ॥

दशमी ॥

इन्द्र॒ ओष॑धीरसनो॒दहा॑नि॒ वन॒स्पतीँ॑रसनो॒द॒न्तरि॑क्षम् ।
बि॒भेद॑ ब॒लं नु॑नु॒दे वि॒वा॒चोऽथा॑भवद् दमि॒ताभि॒क्र॑तूनाम् ॥

इन्द्रः । ओषधीः । असनोत् । अहानि । वनस्पतीन् । असनोत् । अन्तरिक्षम् ।

बिभेद । वलम् । नुनुदे । विऽवाचः । अथ । अभवत् । दमिता । अभिऽक्रतूनाम् ॥ १० ॥

उक्तमहिमोपेतः स एव इन्द्रः ओषधीः व्रीहियवादिका असनोत् प्राण्युपभोगार्थं सृष्ट्वा प्रादात् । तथा अहानि असनोत् दिवसान्यपि प्राण्युपभोगार्थं कल्पयित्वा प्रायच्छत् । एवं वनस्पतीन् तरूंश्चूतपनसाद्यान् असनोत् सृष्ट्वा प्रायच्छत् । एवम् अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं भवति सर्वम् इत्यन्तरिक्षम् आकाशः । तदपि सर्वोपकारार्थम् असनोत् । किंच वलम् एतन्नामानम् असुरं बिभेद अदारयत् । विवाचः विरुद्धा प्रतिकूला वाग् येषां ते विवाचः । तानपि नुनुदे दूरं निराचकार । अथ अनन्तरम् अभिक्रतूनाम् । क्रतवः कर्माणि । अभिगतकर्मणाम् अनुष्ठितविरुद्धकर्मणां दुष्टानां दमिता शमयिता अभवत् अभूत् । अनेन प्राणिनाम् इष्टप्राप्तिम् अनिष्टपरिहारं च कृतवान् इत्युक्तं भवति ॥

पूर्वोक्त महिमा वाले इन्द्रदेवने ही व्रीहि यव आदि औषधियों को प्राणियोंके भोगके लिये रच कर प्राणियोंको प्रदान किया है । दिनोंको भी प्राणियोंके उपभोगके लिये रच कर प्रदान किया है आम्र आदि वनस्पतियोंको भी रच कर प्रदान किया है । और अन्तरिक्षको भी सबके उपकारके लिये दिया है । और शक्रने वलासुरको विदीर्ण कर डाला था और विरुद्ध बोलने वालोंको भी तिरस्कृत कर दिया था और विरुद्ध कर्मोंका अनुष्ठान करने वालोंको भी शमन कर दिया था । [इससे यह कहा है, कि-शक्रने प्राणियोंकी इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार किया है] ॥

एकादशी ॥

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ११ ॥

शुनम् । हुवेम । मघऽवानम् । इन्द्रम् । अस्मिन् । भरे । नृऽतमम् । वाजऽसातौ ।
शृण्वन्तम् । उग्रम् । ऊतये । समत्ऽसु । घ्नन्तम् । वृत्राणि । सम्ऽजितम् । धनानाम् ॥ ११ ॥

शुनम् शूनम् अभिवृद्धं सर्वगुणैरुत्कृष्टम् । अथ वा शुनम् इति सुखनाम । सुखकरं वा । ❁ टुओश्वि गतिवृद्ध्योः । निष्ठायां "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । यजादित्वात् संप्रसारणम् । दीर्घाभावश्छान्दसः । "ओदितश्च" इति निष्ठानत्वम् । प्रत्ययस्वरः ❁ । मघवानम् । मघम् इति धननाम । धनवन्तम् अस्मिन् एतस्मिन् भरे । भर इति संग्रामनाम भरणात् हरणाच्च । संग्रामे । यद्वा ये ये संग्रामनामानस्ते सर्वे यज्ञनामान इति व्यपदेशाद् अस्मिन् भरे अस्मिन् यज्ञे वाजसातौ । वाजः अन्नम् । तस्य सातिर्लाभः अन्नलाभे निमित्तभूते । अथ वा एतद् भरविशेषणम् । वाजस्य सातिर्यस्मिन् तस्मिन् भरे नृतमम् नेतृतमं संग्रामे पुरतो गन्तारं यज्ञस्य नेतारं वा शृण्वन्तम् आह्वानस्य श्रोतारम् उग्रम् उद्गूर्णबलं समत्सु संग्रामेषु वृत्राणि आवरकान् शत्रून् घ्नन्तम् हिंसन्तं धनानाम् शत्रुसंबन्धिनां संजितम् सम्यग्जेतारम् एवंमहानुभावम् इन्द्रम् ऊतये रक्षणाय हुवेम आह्वयेम ॥

इति एकादशं सूक्तम् ॥

सुखदायक धनवान् इन्द्रको हम इस संग्राममें बुलाते हैं (वा इस यज्ञमें बुलाते हैं) हम जिसमें अन्नकी प्राप्ति होती है उस संग्राम (वा यज्ञ) में आह्वानको सुनने वाले प्रचण्ड बली इन्द्र को रक्षाके लिये बुलाते हैं। संग्रामोंमें शत्रुओंका नाश करने वाले और धनोंको भली प्रकार जीतने वाले इन्द्रदेवको बुलाते हैं ११

प्रथम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (६२७)॥

"उदु ब्रह्माणि" इति सूक्तस्य विनियोग उक्तः॥

"उदु ब्रह्माणि" इस सूक्तका विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा॥

उदु ब्रह्मांण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्यें महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोंपश्रोता म ईवंतो वचांसि॥ १॥

उत्। ऊं इति। ब्रह्माणि। ऐरत। श्रवस्या। इन्द्रम्। सऽमर्यें। महय। वसिष्ठ।
आ। यः। विश्वानि। शवसा। ततान। उपऽश्रोता। मे। ईवतः। वचांसि॥ १॥

हे ऋत्विजः यूयं श्रवस्या श्रवस्यया। श्रूयत इति श्रवः श्रन्नम्। तस्येच्छया ब्रह्माणि स्तोत्राणि उदैरत प्रेरयत। हे वसिष्ठ यजमान समर्ये मर्यैर्मर्त्यैर्ऋत्विग्भिः सहिते। यद्वा मर्या मर्यादा। तत्सहिते यज्ञे इन्द्रं देवं महय पूजय। हविरादिभिः साधनैरिति शेषः। एवम् आत्मानमेव परोक्षीकृत्य निर्दिदेश। य इन्द्रः शवसा बलेन विश्वानि भूतजातानि आ ततान वितस्तार। स इन्द्रः ईवतः गच्छतः परिचरतः। ॐ ईङ् गतौ। क्विप्। ईर्गमनम्। "तदस्यास्त्य-

स्मिन्०" इति मतुप्। "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम्। मतुपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀। तादृशस्य मे वचांसि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि उपश्रोता उपेत्य श्रोता। भवत्विति शेषः॥

हे ऋत्विजो! तुम अन्नकी इच्छासे मन्त्रोंका (स्तोत्रोंका) उच्चारण करो। हे इन्द्रियोंको वशमें रखने वाले यजमान! आप मर्त्यधर्मी ऋत्विजोंसे सम्पन्न यज्ञमें इन्द्रदेवकी हवि आदिसे पूजा करिये। जिन इन्द्रदेवने अपने बलसे सब प्राणियोंको विस्तृत किया है वह इंद्र हम सेवा करने वालोंके स्तुतिरूप वाक्योंको सुनें॥१॥

द्वितीया॥

अयामि घोषं इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान्॥

अयामि। घोषः। इन्द्र। देवऽजामिः। इरज्यन्त। यत्। शुरुधः। विऽवाचि।
नहि। स्वम्। आयुः। चिकिते। जनेषु। तानि। इत्। अंहांसि। अति। पर्षि। अस्मान्॥ २॥

हे इन्द्र देवजामिः देवा जामयो बन्धवो यस्य स तादृशो घोषः शब्दः उक्तलक्षणं स्तोत्रम् अयामि। अकारीत्यर्थः। ❀ यम उपरमे। कर्मणि चिण् ❀। यत् यस्मात् कारणाद् विवाचि विगतवचसि नियमस्थे। अथवा विविधा मन्त्ररूपा वाचो यस्य तादृशे यजमाने तस्मिन्निमित्तभूते सति शुरुधः शुचं रुन्धन्तीति शुरुधः। ❀ ककारलोपश्छान्दसः ❀। जनिमृतलक्षणशोकनिवर्तकाः स्वर्गफलकाः सोमा इरज्यन्त अवर्धन्त। ❀ इरज् ईर्ष्यायाम् इति

धातुरत्र वृद्ध्यर्थः । अस्मात् कण्ड्वादेर्यक् । सनाद्यन्ताद् धातु-संज्ञायाम् अस्माल्लङ् । "बहुलं छन्दसि" इति अडभावः । एका-देशस्वरेण मध्योदात्तः ॐ । एवं स्तोत्रेण हविषा च इन्द्रं परि-तोष्य अथ स्वाभिमतं याचते नहीत्यादिना । जनेषु मनुष्येषु । मनुष्याणाम् इत्यर्थः । यद्वा जनाः जननात् जन्मानि निमित्तभू-तानि । तेषु सत्सु अयं जनो यजमानः स्वम् स्वकीयम् आयुः आयुष्यं न चिकिते न ज्ञातवान् । एतावद् आयुष्यं ममास्तीति न जानातीत्यर्थः । अतस्त्वदीययागाद्यनुष्ठानोपयोगार्थं दीर्घम् आयुः प्रयच्छेति शेषः । क्लृप्तस्य शतसंवत्सरलक्षणस्यायुषोऽल्पीभावे अंहसां कारणत्वात् तदसंस्पर्शं प्रार्थयते । तानीत् तान्यपि आयुः क्षपणहेतुत्वेन प्रसिद्धान्यपि अंहांसि पापानि अस्मान् त्वां संभ-जमानान् अति अतिक्रम्य पर्षि पालय ॥

हे इन्द्रदेव ! मैं देवता जिसके बंधु हैं ऐसे घोष (स्तोम) का उच्चारण करता हूँ, क्योंकि—इससे अनेक प्रकारकी मंत्ररूपा वाणियों से सम्पन्न यजमानके निमित्त जन्ममरणकी निवृत्तिरूप स्वर्गफल-प्रद सोम (याग) बढ़ते हैं [इस प्रकार स्तोत्र और हविसे इन्द्र को संतुष्ट करके अपने अभिमत फलकी याचना करते हैं, कि—] मनुष्योंमें रहता हुआ यह यजमान मेरी इतनी आयु है, इस बात को नहीं जानता है । अतः आप इसको अपने यागके अनुष्ठानकी उपयोगी आयुः प्रदान करिये । [पापोंके ही कारण सौ वर्षकी पूर्ण आयुसे कम आयु होती है अतः पापोंसे शून्य रहनेकी प्रार्थना करते हैं, कि—] आयुका नाश करनेमें प्रसिद्ध जो पाप हैं आप अपना सेवन करने वालोंको उन पापोंसे दूर रखतेहुए पालन करिये

तृतीया ॥

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।

वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥ २ ॥

युजे । रथम् । गोऽएषणम् । हरिऽभ्याम् । उप । ब्रह्माणि । जुजुषाणम् । अस्थुः ।

वि । बाधिष्ट । स्यः । रोदसी इति । महिऽत्वा । इन्द्रः । वृत्राणि । अप्रति । जघन्वान् ॥ २ ॥

य इन्द्रो गवेषणम् गवां प्रापयितारं रथम् । ❀ "अवङ् स्फोटायनस्य" इति अवङ् आदेशः ❀ । हरिभ्याम् । हरी इन्द्रस्यासाधारणावश्वौ । ताभ्यां युजे युयुजे युनक्ति । यागसदनं प्राप्तुम् इति शेषः । ब्रह्माणि अस्मदीयानि मन्त्राणि स्तोत्राण्यपि जुजुषाणम् सेवमानं सर्वैः सेव्यमानं वा इन्द्रम् उपास्थुः उपतिष्ठन्ते सेवन्ते । स्यः स इन्द्रः महित्वा स्वमहत्त्वेन रोदसी द्यावापृथिव्यौ वि बाधिष्ट व्यबाधिष्ट । आचक्रामेत्यर्थः । किं च वृत्राणि स्वावरकान् शत्रून् अप्रति न विद्यते प्रतिगतिः पुनःप्राप्तिर्यस्मिन् कर्मणि तद् अप्रति । तद् यथा भवति तथा जघन्वान् नाशितवान् । ❀ हन्तेर्लिटः क्वसुः । अभ्यासस्य कुत्वम् । "विभाषा गमहन०" इति इडभावः ❀ ॥

इन्द्रदेव गौओंको प्राप्त कराने वाले अपने रथमें अपने असाधारण अश्व हरी नामक घोड़ोंको यागगृहमें आनेके लिये जोतते हैं । और हमारे स्तोत्र भी सबोंसे सेवनीय इन्द्रकी ही सेवा करते हैं । इन इन्द्रदेवने अपनी महिमासे द्यावापृथिवीको दबा रक्खा है । और इन इन्द्रदेवने अपने शत्रुओंको जिस प्रकार उन पर फिर न जाना पड़े, इस प्रकार नष्ट कर डाला है ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

आपश्चित् पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ ४ ॥

आपः । चित् । पिप्युः । स्तर्यः । न । गावः । नक्षन् । ऋतम् । जरितारः । ते । इन्द्र ।
याहि । वायुः । न । निऽयुतः । नः । अच्छ । त्वम् । हि । धीभिः । दयसे । वि । वाजान् ॥ ४ ॥

हे इन्द्र आपश्चित् आपोपि सोमाभिषवार्थाः स्तर्यो न गावः स्तर्यो वशा गाव इव पिप्युः अभिवृद्धा आसन् । ❀ प्यायी वृद्धौ । "प्यायः पी" इति पीभावः ❀ । हे इन्द्र ते तव जरितारः स्तोतार ऋत्विजः ऋतम् सत्यफलं यज्ञं नक्षन् प्राप्नुवन् । ❀ नक्ष गतौ ❀ । यत एवम् अतो नः अस्माकं नियुतः नियोजनानि स्तोत्राणि अच्छ लक्षीकृत्य याहि आगच्छ । तत्र दृष्टान्तः । वायुर्न नियुतः । नियुतो वायोरश्वाः । वायुर्देवो यथा स्वीयान् अश्वान् प्रति याति यज्ञदेशप्राप्त्यर्थम् तद्वत् । त्वं हि त्वं खलु धीभिः कर्मभिस्तुष्टः सन् वाजान् । वाजः अन्नम् । अन्नानि वि दयसे । ❀ दयतिरत्र दानार्थः ❀ । प्रयच्छसि ॥

हे इन्द्र ! ये सोमके अभिषवके जल वशा गौ आदिकी समान बढ़ गए हैं और हे इन्द्र ! आपकी स्तुति करने वाले ऋत्विज सत्यफल वाले यज्ञमें आगए हैं, इस कारण आप हमारे स्तोत्रों

को ध्यानमें रख कर यज्ञभूमिमें इस प्रकार आइये जिस प्रकार वायुदेव यागमें जानेके लिये अपने नियुत् नामक घोड़ोंकी ओर जाते हैं। आप कर्मोंसे सन्तुष्ट होकर अन्न प्रदान करते हैं॥४॥

पञ्चमी ॥

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व

ते। त्वा। मदाः। इन्द्र। मादयन्तु। शुष्मिणम्। तुविऽराधसम्। जरित्रे।

एकः। देवऽत्रा। दयसे। हि। मर्तान्। अस्मिन्। शूर। सवने। मादयस्व॥ ५ ॥

हे इन्द्र ते अभिषवादिना संस्कृताः प्रसिद्धा मदा मदकराः सोमास्त्वा त्वाम् मादयन्तु मदयुक्तं कुर्वन्तु। कीदृशं त्वाम्। शुष्मिणम् बलवन्तं जरित्रे स्तोत्रे स्तोतुरर्थाय तुविराधसम् प्रभूतधनम्। किं च त्वं देवत्रा देवेषु मध्ये। ❀ "देवमनुष्य०" इत्यादिना सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः ❀। त्वम् एक एव मर्तान् मनुष्यान् दयसे हि दयां करोषि रक्षसि खलु। ❀ हिशब्दयोगाद् अनिघातः ❀। मनुष्यरक्षणे त्वम् एक एव नान्यो देव इत्यर्थः। यस्माद् एवं तस्मात् हे शूर शौर्योपेत इन्द्र अस्मिन् सवने यागे माध्यंदिनसवने वा मादयस्व अभिमतप्रदानेन अस्मान् हर्षय स्वात्मानं वा सोमपानेन हर्षय ॥

हे इन्द्रदेव! अभिषव आदिसे संस्कृत मद करने वाले सोम आपको हर्षित करें, आप बलवान् हैं, और स्तुति करने वालोंके लिये आपके पास बहुतसा धन है, और देवताओंमें आप एक

ही मनुष्यों पर दया करते हैं-उनकी रक्षा करते हैं। इस कारण हे शूरतासम्पन्न शक्र! आप इस माध्यन्दिनसवनमें अभिलषित फल देकर हमको हर्षित करिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव। इत्। इन्द्रम्। वृषणम्। वज्रऽबाहुम्। वसिष्ठासः। अभि। अर्चन्ति। अर्कैः।
सः। नः। स्तुतः। वीरऽवत्। धातु। गोऽमत्। यूयम्। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥ ६ ॥

वक्तां स्तुतिम् उपसंहरति। एव एवम् उक्तप्रकारेण वृषणम् वर्षकं कामानां वज्रबाहुम् वज्रं बाहौ यस्य स तादृशम् इन्द्रं वसिष्ठासः वसिष्ठा अर्कैः अर्चनीयैः स्तोत्रैः अभ्यर्चन्ति अभिपूजयन्ति। स इन्द्रः स्तुतः स्तोत्रैः पूजितः सन् नः अस्मभ्यं वीरवत् बहुभिर्वीरैः पुत्रादिभिरुपेतं गोमत् बह्वीभिर्गोभिरुपेतं धनं धातु दधातु प्रयच्छतु। ॐ "बहुलं छन्दसि" इति श्लोरभावः ॐ। हे देवा यूयं च इन्द्रम् अनुसृत्य नः अस्मान् स्वस्तिभिः क्षेमैः सदा पात रक्षत ॥

[अब इस स्तुतिका उपसंहार करते हैं, कि-] इस प्रकार कामनाओंकी वर्षा करने वाले, हाथमें वज्रको धारण करने वाले शक्रकी इन्द्रियोंको दमन करने वाले पुरुष स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं। स्तोत्रोंसे पूजित होते हुए इन्द्रदेव हमको बहुतसे पुत्र आदि

वीरों वाला, बहुतसी गौओं वाला धन प्रदान करें। और हे देवताओं! तुम भी इन्द्रकी ओर ध्यान देकर हमारी रक्षा करो ६

पञ्चमी ॥

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ७ ॥

ऋजीषी। वज्री। वृषभः। तुराषाट्। शुष्मी। राजा। वृत्रऽहा। सोमऽपावा।
युक्त्वा। हरिऽभ्याम्। उप। यासत्। अर्वाङ्। माध्यंदिने। सवने। मत्सत्। इन्द्रः ॥ ७ ॥

ऋजीषी प्रातर्माध्यंदिनसवनाभ्याम् अभिषवेण गतसारस्तृतीयसवन उपयोच्यमानः सोम ऋजीषः। "तस्मात् तृतीयसवन ऋजीषम् अभिषुण्वन्ति" इति [तै० सं० १. ६. ४] श्रुतेः। तद्वान् ऋजीषी। अनेन सवनत्रयेपि इन्द्रस्य सोमसम्बन्ध उक्तो भवति। वज्री वज्रवान् वृषभः कामानां वर्षिता तुराषाट्। तुरास्त्वरमाणाः शत्रवः। तेषाम् अभिभविता शुष्मी। शुष्मं शत्रुशोषकं बलम्। तद्वान् राजा देवेषु मध्ये क्षत्रियजातीयः सर्वस्य स्वामी वा वृत्रहा वृत्रस्य हन्ता सोमपावा यत्रयत्र सोमाभिषवोस्ति तत्रतत्र नियमेन सोमस्य पाता एवंमहानुभाव इन्द्रः हरिभ्याम् अश्वाभ्यां युक्त्वा रथं योजयित्वा अर्वाङ् अस्मदभिमुखाञ्चनः सन् उप

यासत् उपागच्छतु गत्वा च अस्मिन् माध्यंदिने सवने मत्सत् अस्माभिर्दत्तेन सोमेन माद्यतु ॥

इति द्वादशं सूक्तम् ॥

[प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवनोंके द्वारा अभिषवसे गतसार तृतीय सवनमें उपयोगमें लाया जाने वाला सोम ऋजीष कहलाता है। तैत्तिरीयसंहिता ६।१।६।४ की श्रुतिमें कहा है, कि–"तस्मात् तृतीयसवन ऋजीषम् अभिषुण्वन्ति ।—इस लिये तृतीयसवनमें ऋजीषका अभिषव करते हैं" ऐसे ऋजीष भाग वाले] ऋजीषी [इससे तीनों सवनोंमें इन्द्रका सोमसंबंध बता दिया] वज्रधारी, कामनाओंकी वर्षा करने वाले, त्वरा करने वाले शत्रुओंको दबाने वाले, शत्रुशोषक बलसे सम्पन्न, देवताओंमें राजा, वृत्रासुरका संहार करने वाले, और जहाँ कहीं सोमका अभिषव हो तहाँ नियमपूर्वक सोमका पान करने वाले इन्द्रदेव अपने हरि नामक अश्वोंसे रथको जोत कर हमारे अभिमुख आवें और माध्यंदिनसवनमें हमारे दिये हुए सोमसे प्रसन्न होवें ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (३२८) ॥

ज्योतिष्टोमादिषु क्रतुषु "इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते" इत्याद्यास्तिस्र ऋचस्तेषामेवर्त्विजां त्रयाणां क्रमेण तार्तीयसवनिक्यः प्रस्थितयाज्याः । सूत्रितं हि । "इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पत इति प्रस्थितयाज्याः" इति [वै० ३. १२] ॥

"ऐभिरग्ने" [४] इत्यनया आग्नीध्रः पात्नीवतग्रहं यजेत । सूत्रितं हि । "ऐभिरग्न इत्युपांशु पात्नीवतस्य आग्नीध्रो यजति" इति [वै० ३. १३] ॥

ज्योतिष्टोम आदि क्रतुओंमें "इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते" इत्यादि तीन ऋचाएँ इन ही तीन ऋत्विजोंकी क्रमशः तार्तीय-

सवनिकी प्रस्थितयाज्या हैं। सूत्रमें भी कहा है, कि—"इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पत इति प्रस्थितयाज्याः" (वैतानसूत्र ३। १२)॥

"ऐभिरग्ने" इस चौथी ऋचासे आग्नीध्र पात्नीवतग्रहका यजन करे। इस विषयमें वैतानसूत्र ३।१३ का प्रमाण है, कि—"ऐभिरग्न इत्युपांशु पात्नीवतस्य आग्नीध्रो यजति"।

तत्र प्रथमा॥

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्॥ १॥

इन्द्रः। च। सोमम्। पिबतम्। बृहस्पते। अस्मिन्। यज्ञे। मन्दसाना। वृषण्वसू इति वृषण्ऽवसू।
आ। वाम्। विशन्तु। इन्दवः। सुऽआभुवः। अस्मे इति। रयिम्। सर्वऽवीरम्। नि। यच्छतम्॥ १॥

हे बृहस्पते बृहतो वेदराशेः स्वामिन् एतन्नामक देव त्वम् इन्द्रश्च युवां सोमं पिबतम्। कीदृशौ युवाम्। अस्मिन् यज्ञे मन्दसाना हृष्यन्तौ वृषण्वसू वर्षितृधनौ। यजमानाय दीयमानधनावित्यर्थः। वाम् युवां स्वाभुवः सुष्ठु सर्वतो भवन्तः। कृत्स्नशरीरव्यापनसमर्था इत्यर्थः। तादृशा इन्दवः सोमाः आ विशन्तु युवयोः शरीरं प्रविशन्तु। अस्मे अस्मभ्यं रयिम् धनं सर्ववीरम् सर्वपुत्राद्युपेतं नि यच्छतम् दत्तम्॥

हे बृहत् वेदराशिके स्वामी बृहस्पति नामक देव! आप और

इन्द्रदेव दोनों सोमका पान करिये। आप इस यज्ञमें हर्षमें भरे हुए हैं। और यजमानके लिये धन प्रदान करने वाले हैं, ऐसे आप दोनोंके शरीरोंमें सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होसकने वाले सोम प्रवेश करें। और हमारे लिये आप पुत्र आदि सब वीर्यसे उत्पन्न होने वालों सहित धन दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥ २ ॥

आ। वः। वहन्तु। सप्तयः। रघुऽस्यदः। रघुऽपत्वानः। प्र। जिगात्। बाहुऽभिः।
सीदत। आ। बर्हिः। उरु। वः। सदः। कृतम्। मादयध्वम्। मरुतः। मध्वः। अन्धसः ॥ २ ॥

हे मरुतः रघुष्यदः लघुस्यन्दना लघुगतयः सप्तयः सर्पणशीला अश्वाः वः युष्मान् आ वहन्तु यज्ञगृहं प्रति प्रापयन्तु। यूयं च बाहुभिः शीघ्रगमनसाधनैः रघुपत्वानः लघुपतनाः। ❀ पत्लृ गतौ। "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति वनिप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण प्रत्ययस्य पित्त्वाद् धातुस्वर एव ❀। तादृशः सन्तः प्र जिगात प्रकर्षेण गच्छत। ❀ जिगातीत्ययं गतिकर्मसु पठितः। गा स्तुतौ। जौहोत्यादिकः। लोण्मध्यमबहुवचनस्य "तप्तन०" इत्यादिना तबादेशः। तस्य पित्त्वेन ङित्वाभावाद् "ई हल्यघोः" इति ईत्वा-

मात्रः ❀। वः युष्माकम् उरु विस्तीर्णं सदः सीदन्त्यत्रेति सदः सदनं स्थानं वेदिलक्षणं कृतम् निष्पादितम्। तत्र बर्हिः आस्तीर्णं बर्हिः सीदत बर्हिषि निषण्णा भवत। बर्हिरित्येतत् सद इत्यस्य विशेषणं वा। बर्हिरूपेतं सदनम् इत्यर्थः। अथ वा सदः सदनार्हं कृतं बर्हिः सीदतेति योज्यम्। निषद्य च मध्वः मधुरस्य अन्धसः सोमलक्षणस्य अन्नस्य अंशम्। यद्वा मध्वः मधु अन्धसः अन्नं सोमम्। पीत्वेति शेषः। मादयध्वम् तृप्ता भवत। ❀ मद तृप्तियोगे। चुरादिः। आत्मनेपदी ❀॥

हे मरुत् देवताओं! शीघ्रतासे चलने वाले, सर्पणशील घोड़े तुमको यज्ञगृहमें लावें, तुम भी शीघ्रगमनकी साधन भुजाओंसे शीघ्रतासे चलते हुए आओ। आपके लिये विशाल वेदीरूप स्थान बना दिया गया है। वहाँ कुशा बिछा दी गई है उस कुशासन पर तुम बैठो और बैठकर मधुर रस वाले सोमके अंशका पान करके तृप्त होओ॥ २॥

तृतीया॥

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ३॥

इमम्। स्तोमम्। अर्हते। जातऽवेदसे। रथम्ऽइव। सम्। महेम। मनीषया।
भद्रा। हि। नः। प्रऽमतिः। अस्य। सम्ऽसदि। अग्ने। सख्ये। मा। रिषाम। वयम्। तव॥ ३॥

अर्हते पूज्याय। ❀ अर्ह प्रशंसायाम् इति धातोः लटः शत्रा-

देशः ॥ जातवेदसे जातप्रज्ञाय जातधनाय वा जातानाम् उत्पन्नानां वेदित्रे वा इमम् इदानीं क्रियमाणं स्तोमम् एतत् स्तोत्रं मनीषया निशितया बुद्ध्या सं महेम सम्यक् पूजयेम निष्पादयेम। तत्र दृष्टान्तः। रथमिव यथा रथं रथकारः अक्षफलकाद्यवयवसंयोजनेन संस्करोति तद्वत्। महानुभावस्याग्नेः स्तोमनिष्पादने अतिशयितया बुद्ध्या भवितव्यम् इति प्राप्ते तत्सद्भावं दर्शयति। अस्य पूज्यस्याग्नेः संसदि संसदने उपसत्तौ तद्विषये नः अस्माकं प्रमतिः प्रकृष्टा मतिः भद्रा हि कल्याणी खलु। अतः हे अग्ने तव सख्ये बन्धुभावे सति वयं स्तोतारो मा रिषाम हिंसिता न भवेम ॥

पूजनीय, उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्निके लिये हम इस स्तोमको अपनी तीक्ष्ण बुद्धिसे इस प्रकार निष्पन्न करते हैं, जिस प्रकार रथको रथकार अक्षफलक आदि अवयवों से संस्कृत करता है [महानुभाव अग्निकी पूजाके लिये बड़ी बुद्धि होनी चाहिये ऐसी प्राप्ति होने पर दिखाते हैं, कि–] इन पूजनीय अग्निदेवके संसदनमें हमारी श्रेष्ठ बुद्धि कल्याणमयी है, अत एव हे अग्ने! हम स्तोता बंधुभावके होने पर हिंसित न होवें ३

चतुर्थी ॥

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ४

आ। एभिः। अग्ने। सऽरथम्। याहि। अर्वाङ्। नानाऽरथम्।
वा। विऽभवः। हि। अश्वाः।
पत्नीऽवतः। त्रिंशतम्। त्रीन्। च। देवान्। अनुऽस्वधम्। आ।
वह। मादयस्व ॥ ४ ॥

हे अग्ने एभिः वक्ष्यमाणैस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकैर्देवैः सह सरथम् समानः एक एव रथो यस्मिन्नागमनकर्मणि तत् सरथं तद् यथा भवति तथा अर्वाक् अस्मदभिमुखम् आ याहि आगच्छ। सरथम् इति न नियम इत्याह। नानारथं वा नाना पृथग्भूता रथा यस्मिन् कर्मणि तद् नानारथम्। तत्प्रतिनियतं रथम् आरुह्येत्यर्थः। सरथपक्षे बहूनां देवानाम् एकेनैव रथेन आनयनम् अतिभारत्वात् कथं घटत इति तत्राह विभवो ह्यश्वा इति। अश्वास्तव रथे नियुक्ता विभवो हि शक्ताः खलु। अतः पत्नीवतः स्वकीयाभिः पत्नीभिर्युक्तान् त्रिंशतम् त्रीँश्च त्र्युत्तरत्रिंशत्संख्याकान् देवान् "ये देवा दिव्येकादश स्थ" इति [तै० सं० १. ४. १०. १] मन्त्रोक्तान् अनुष्वधम्। स्वधेत्यन्नाम। तां तां स्वधाम् अनुलक्ष्य यदा-यदा सोमो हूयते तदातदेत्यर्थः। आ वह तान् देवान् मापय। आवाह्य च मादयस्व सोमप्रदानेन हर्षय॥

इति त्रयोदशं सूक्तम्॥

विंशे काण्डे प्रथमोऽनुवाकः॥

हे अग्निदेव! आगे कहे जाने वाले तेंतीस देवताओंके साथ एक रथमें बैठ कर आइये। वा अनेक रथोंमें बैठ कर आइये (सब देवता एक रथमें बैठ कर आवेंगे तो घोड़े उस रथको कैसे खेंचेंगे तो कहते हैं, कि—) आपके रथमें जुते हुए घोड़े समर्थ हैं। अतः अपनी २ पत्नियोंसे युक्त उन तेंतीस देवताओंको जब २ उनको स्वधा (अन्न) दी जावे तब २ मस्त कराइये और आवाहन करके उनको सोमप्रदानसे हर्षित करिये॥ ४॥

त्रयोदश सूक्त समाप्त (१२९)

बीसवें काण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त॥

द्वितीयेऽनुवाके चत्वारि सूक्तानि। तानि च उक्थ्ये क्रतौ ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्तानि। चतुर्थसूक्तस्यान्तिमा शस्त्रयाज्या।

"उक्थ्ये मैत्रावरुणादिभ्यः" इति प्रक्रम्य सूत्रितं वैताने । "वयमु त्वामपूर्व्य [२०. १४. १] यो न इदमिदं पुरा [२०. १४. ३] इति स्तोत्रियानुरूपौ । स्तोत्रियस्य प्रथमां शस्त्वा तस्या उत्तमं पादं द्वितीयस्याः पूर्वेण संधायावसाय द्वितीयेन द्वितीयां शंसति । तस्याश्चोत्तमम् उत्तरेण संधायावसायोत्तमेन तृतीयाम् । एवं काकुभानां स्तोत्रियानुरूपाणां प्रग्रथनम् । इतः पच्छः शंसति । प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये [२०. १५] इत्युक्थमुखम् । उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः [२०. १६] इति बार्हस्पत्यं सांशंसिकम् । अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः [२०. १७] इति पर्यासः । इत्यैकाहिकानाम् उत्तमया परिदधाति परया यजति" इति [वै०४.१]॥

दूसरे अनुवाकमें चार सूक्त हैं । वे उक्थ्य क्रतुमें ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनियुक्त होते हैं । चतुर्थसूक्तकी अन्तिम ऋचा शस्त्रयाज्या है । "उक्थ्ये मैत्रावरुणादिभ्यः" को कह कर वैतानसूत्र ४ । १ में कहा है, कि–"वयमु त्वामपूर्व्य (२० । १४ । १) यो न इदमिदं पुरा (२० । १४ । ३) इति स्तोत्रियानुरूपौ । स्तोत्रियस्य प्रथमां शस्त्वा तस्या उत्तमं पादं द्वितीयस्याः पूर्वेण संधायावसाय द्वितीयेन द्वितीयां शंसति । तस्याश्चोत्तमं उत्तरेण संधायावसायोत्तमेन तृतीयाम् । एवं काकुभानां स्तोत्रियानुरूपाणां प्रग्रथनम् । इतः पच्छः शंसति । प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये (२०।१५) इत्युक्थमुखम् उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः (२० । १६) इति बार्हस्पत्यं सांशंसिकम् । अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः (२०।१७) इति पर्यासः । इत्यैकाहिकानां उत्तमया परिदधाति परया यजति" (वैतानसूत्र ४ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वाम् । अपूर्व्य । स्थूरम् । न । कत् । चित् ।

भरन्तः । अवस्यवः ।

वाजे । चित्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

हे अपूर्व्य । पूर्वम् अर्हतीति पूर्व्यः । न पूर्व्यः अपूर्व्यः । सत्यपि सर्वदा गमने नूतन इत्यर्थः । अनेन तस्य सर्वदा अनादरविषयत्वाभाव उक्तो भवति । तादृश इन्द्र चित्रम् चायनीयं पूजनीयं त्वां भरन्तः हविरादिना पोषयन्तः अवस्यवः रक्षाकामाः । ❀ अवतेरसुनि "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । वाजे । वाजः अन्नम् । अन्ने निमित्तभूते सति । अथ वा वाजः संग्रामः । तस्मिन् तज्जयार्थं वयम् वयमेव हवामहे आह्वयामः । अस्मान् प्रत्येव त्वम् आगच्छ नास्मत्प्रतिपक्षान् इत्यमुम् अर्थं द्योतयितुम् उशब्दः । तत्र दृष्टान्तः स्थूरं न कच्चित् । यथा लोके कच्चित् कदाचित् स्थूरम् स्थूलं गुणाढ्यं राजादिकं भरन्तः तदभिमतप्रदानेन पोषयन्तो जनाः स्वजयार्थम् आह्वयन्ति तद्वत् ॥

हे वारम्वार गमन करने पर भी नवीन ही रहने वले अपूर्व्य (अर्थात् आपका अनादर कभी नहीं होता) इन्द्र! आप पूजनीयका अन्नप्राप्ति वा संग्राममें हवि आदिसे पोषण करने वाले हम रक्षाकाम ही, आवाहन करते हैं आप हमारी ओर ही विजय दिलाने के लिये आइये हमारे प्रतिपक्षियोंकी ओर न जाइये, क्योंकि—हम ही आपका आवाहन कर रहे हैं । जैसे मनुष्य किसी परमगुणी राजाको अभिमत फल देकर पुष्ट करते हैं उसको ही अपनी विजयके लिये बुलाते हैं, इसी प्रकार हम आपका आवाहन करते हैं १

द्वितीया ॥

उप॑ त्वा कर्म॑न्नूतये स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।

त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥

उप । त्वा । कर्मन् । ऊतये । सः । नः । युवा । उग्रः । चक्राम । यः । धृषत् ।

त्वाम् । इत् । हि । अवितारम् । ववृमहे । सखायः । इन्द्र । सानसिम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वां कर्मन् कर्मणि युद्धादिलक्षणे प्रस्तुते सति ऊतये रक्षायै उप । गच्छाम इति शेषः । य इन्द्रो धृषत् शत्रूणां घर्षको भवति । युवा नित्यतरुणः उग्रः उद्गूर्णबलः । स इन्द्रो नः अस्मान् चक्राम क्रामति । सहायत्वेन गच्छत्वित्यर्थः । हे इन्द्र सानसिम् संभक्तारम् अवितारम् रक्षितारं त्वामिद्धि त्वामेव हि सखायः तव मित्रभूता वयं ववृमहे वृणीमहे संभजामहे ॥

हे इन्द्रदेव ! युद्ध आदिक कर्मके आने पर रक्षाके लिये हम आपकी ही शरणमें जाते हैं । जो इन्द्रदेव शत्रुओंको दबा देते हैं नित्य तरुण रहते हैं, प्रचण्ड बली हैं वह इन्द्रदेव हमको सहायक रूपसे प्राप्त होवें । हे इन्द्रदेव ! मित्ररूप हम, प्रीति करने वाले और रक्षा करने वाले आपका ही वरण करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ ३ ॥

यः । नः । इदम्ऽइदम् । पुरा । प्र । वस्यः । आऽनिनाय । तम् । ऊं इति । वः । स्तुषे ।

सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ ३ ॥

हे सखायः समानख्याना मित्रभूता यजमानाः वः युष्माकम् ऊतये रक्षार्थं तम् इन्द्रं स्तुषे स्तौमि । य इन्द्रः पुरा पूर्वं नः अस्माकं वस्यः वसीयः । ❀ ईकारलोपश्छान्दसः ❀ । अतिप्रशस्तं वसु हिरण्यादिकम् इदमिदम् इदं गवादिकम् इति निर्दिश्य निर्दिश्य मानिनाय आनैषीत् । तम्मु तमेव अभिमतप्रदातारम् इन्द्रम् । स्तुषे इति संबन्धः ॥

हे समान ख्याति वाले मित्र हुए यजमानो ! मैं तुम्हारी रक्षा के लिये उन इन्द्रदेवकी स्तुति करता हूँ, कि—जो इन्द्रदेव पहिले हमारे लिये यह गौ है आदिक रीतिसे धन दे चुके हैं । उन ही अभिमत फल देने वाले इन्द्रदेवकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत । आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥

हरिऽअश्वम् । सत्ऽपतिम् । चर्षणिऽसहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ।
आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृऽभ्यः । मघऽवा । शतम् ॥ ४ ॥

हर्यश्वम् । हरिनामकावश्वौ यस्य स हर्यश्वः । तं सत्पतिम् सतां कर्मश्रेष्ठानां पालकं चर्षणीसहम् चर्षणयोः मनुष्याः तेषाम् अभिभवितारम् । नियन्तारम् इत्यर्थः । तम् इन्द्रं स्तुषे इति संबन्धः । य इन्द्रः अमन्दत स्तुत्या तृप्तो भवति स हि स्म स हि

खलु । स्तुम इति शेषः । अतः उक्तगुणविशिष्टत्वात् तमेवेन्द्रं स्तुषे इत्यर्थः । यद्वा यः अमन्दत यो नरः इन्द्रदत्तेन धनेन तृप्त आसीत् स हि स्म स एव नरः उक्तलक्षणम् इन्द्रं तु'ष्टूषति । स मघवा धनवान् इन्द्रः । तुशब्दो वाक्यच्छेदे । स्तोतृभ्यो नः अस्मभ्यं शतम् शतसंख्याकं गव्यम् गोसमूहम् अश्व्यम् शतसंख्याकम् अश्वसमूहं च आ वयति प्रापयतु । ❀ वीगत्यादिषु । अस्माल्लेटि अडागमः ❀ ॥

इति द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

जिन इन्द्रदेवके हरि नामक घोड़े हैं, जो श्रेष्ठ कर्म करने वाले मनुष्योंके पालक हैं और मनुष्योंको नियममें रखने वाले हैं, उन इन्द्रदेवकी मैं स्तुति करता हूँ । जो इन्द्रदेव स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ । वह धनवान् इन्द्र हम स्तुति करने वालोंको सौ गौओंका और सौ घोड़ोंका झुण्ड प्रदान करें ॥४॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६३०)

"प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये" इति सूक्तस्य उक्थ्ये क्रतौ ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये" सूक्तका उक्थ्य क्रतुके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियोग कहा है, कि—

तत्र प्रथमा ॥

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे । अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥ १ ॥

प्र । मंहिष्ठाय । बृहते । बृहद्ऽरये । सत्यऽशुष्माय । तवसे । मतिम् । भरे ।

अपाम्ऽइव । प्रवणे । यस्य । दुःऽधरम् । राधः । विश्वऽआयु

शवसे । अपऽवृतम् ॥ १ ॥

मंहिष्ठाय अतिशयेन मंहनीयाय दातृतमाय वा बृहते महते गुणैः प्रवृद्धाय बृहद्रये । रयिरिति धननाम । प्रभूतधनाय सत्यशुष्माय सत्यबलाय अवितथसामर्थ्याय तवसे । तवो बलम् । अतिशयितबलाय इन्द्राय । अथ वा तवसे बललाभाय उक्तगुणकाय इन्द्राय मतिं प्र भरे स्तोत्रं संपादयामि । यस्य उक्तगुणविशिष्टेन्द्रस्य विश्वायु । आयवो मनुष्याः । विश्वेषां मनुष्याणां पोषणसमर्थं राधः धनम् अपामिव प्रवणे । प्रवणः अवनतो देशः । तस्मिन् अपां पूर इव स यथा दुर्धरो भवति एवं दुर्धरं धनं शवसे बलाय प्रयोजनाय अपावृतम् अपगतावरणं कृतम् । तस्मा इन्द्राय मतिं भर इति संबन्धः ॥

परम दाता गुणोंमें वृद्ध, महाधनी, अमोघ सामर्थ्य वाले इन्द्र के स्तोत्रका मैं उच्चारण करता हूँ। जिन इन्द्रदेवका धनबल सम्पूर्ण मनुष्योंका पोषण करनेमें समर्थ है। और ढलवान वाले स्थानमें जलका प्रवाह जैसे दुराधर्ष होता है ऐसे ही प्रयोजन के समय जिनका धनबल दुराधर्ष होता है, उन इन्द्रदेवके लिये मैं स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः ।

यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः ॥ २ ॥

अध । ते । विश्वम् । अनु । ह । असत् । इष्टये । आपः । निम्नाऽइव । सवना । हविष्मतः ।

यत् । पर्वते । न । सम्ऽअशीत । हर्यतः । इन्द्रस्य । वज्रः । श्नथिता । हिरण्ययः ॥ २ ॥

अध अथ हे इन्द्र ते तव इष्टये एषणाय यागाय वा विश्वम् सर्वं जगत् अनु ह असत् । हेति प्रसिद्धौ । अनुकूलं भवेत् । तत्र दृष्टान्तः । आपो निम्नेव निम्नानि स्थलानि आप इव । ता यथा अनुक्रमेण प्रवहन्ति तद्वद् विश्वम् अनु हासद् इति संबन्धः । अथ वा उत्तरत्र दृष्टान्तः । आपो निम्नानीव हविष्मतः यजमानस्य सवना सवनानि त्रीण्यपि त्वाम् अनुगच्छन्ति । यत् यस्मात् हर्यतः कान्तः कमनीयः श्नथिता शत्रूणां हिंसको हिरण्ययः हिरण्मयो हिरण्येन भूषित इन्द्रस्य वज्रः पर्वते न । नशब्दः अप्यर्थे । पर्वतेपि न समशीत न सक्तोभूत् किं तु व्यदारयदेव । अतो विश्वम् अनु हासद् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी इष्टिके लिये सब जगत् इस प्रकार अनुकूल होवे, जिस प्रकार जल निम्नस्थलके अनुकूल होता है । इसी प्रकार हवि वाले यजमानके तीनों सवन आपके अनुकूल होते हैं । क्योंकि कमनीय, शत्रुओंको मसलने वाले, सुवर्णविभूषित इन्द्रका वज्र पर्वतमें भी नहीं हिलगा, किंतु उसको विदीर्ण न कर सका अत एव जगत् उनके अनुकूल होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे ।

यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे

अस्मै । भीमाय । नमसा । सम् । अध्वरे । उषः । न । शुभ्रे ।

आ । भर । पनीयसे ।

यस्य । धाम । श्रवसे । नाम । इन्द्रियम् । ज्योतिः । अकारि ।

हरितः । न । अयसे ॥ ३ ॥

हे शुभ्रे दीप्ते हे उषः उषोदेवते भीमाय । बिभेत्यस्माद् इति भीमः । शत्रूणां भयंकराय पनीयसे अतिशयेन स्तोतव्याय अस्मै इन्द्राय । यागः क्रियत इति शेषः । अतो नमसा न । नमः अन्नं च । नशब्दः चार्थे । चकाराद् उक्तलक्षणम् इन्द्रं च सम् आ भर सम्यग् आहर अस्मदर्थं प्रापय । अस्मदभिमतम् अन्नं यष्टव्यम् इन्द्रं च आनयेत्यर्थः । उषस्युदितायां सत्यामेव इन्द्रस्यागमनाद् उषस इन्द्राहरणव्यपदेशः । अथ वा नशब्दः अनर्थकः । उक्तलक्षणाय इन्द्राय नमसा । नमः अन्नम् । आ भर । अन्ने समृद्धे सत्येव इन्द्रम् उद्दिश्य यागप्रवृत्तेरेवम् उक्तम् । यस्य इन्द्रस्य धाम सर्वेषां धारकं पोषकम् इन्द्रियम् इन्द्रहितम् इन्द्रदत्तं वा । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्ट०" इत्यादिना इन्द्रियशब्दो निपातितः ❀ । उक्तलक्षणं नाम सर्वेषां नामकम् उदकं श्रवसे अन्नाय तत्समृद्धये भवति । येन च इन्द्रेण हरितो न हरितामिव दिशामिव अयसे प्राणिनां गमनाय गमनादिव्यवहाराय । ❀ अय पय गतौ इत्यस्माद् असुन् ❀ । ज्योतिः अकारि क्रियते । तं सम् आ भरेति पूर्वेण संबन्धः ॥

हे दीप्त उषा देवते ! जिनसे शत्रु डरते हैं उन भीम स्तुतिके परम पात्र इन इन्द्रदेवके लिये याग किया जारहा है अतः अन्नको

और इन्द्रको भी हमारे यज्ञमें ला। [उषाके उदित होने पर ही इन्द्रका आगमन होनेसे उषाका इन्द्रानयनका वर्णन किया है। अथवा मूलका न शब्द अनर्थक माना जाय तो पूर्वोक्त लक्षणों वाले इन्द्रके लिये अन्नको ला, क्योंकि-समृद्ध अन्नके होने पर ही इन्द्रके उद्देश्यसे यागकी प्रवृत्ति होसकती है] जिन इन्द्रका सबका पोषक धाम (जल) अन्नसमृद्धिके लिये होता है, जिन इन्द्रने प्राणियोंके गमन आदिके व्यवहारके लिये दिशाओंमें ज्योति की है उनको यज्ञमें ला ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति
नो हर्य तद् वचः ॥ ४ ॥

इमे। ते। इन्द्र। ते। वयम्। पुरुऽस्तुत। ये। त्वा। आऽरभ्य।
चरामसि। प्रभुवसो इति प्रभुऽवसो।
नहि। त्वत्। अन्यः। गिर्वणः। गिरः। सघत्। क्षोणीःऽइव।
प्रति। नः। हर्य। तत्। वचः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र त इमे। प्रसिद्धिवाचकस्तच्छब्दः। इदम् शब्दः अपरोक्षवाची। त्वदर्थकत्वेन प्रसिद्धा वयं ते तव स्वभूताः। हे पुरुष्टुत बहुभिर्बहुप्रकारं वा स्तुत। एतद् इन्द्रेत्यस्य विशेषणम्। त इत्युक्तम् कीदृशास्त इत्यत्राह। ये वयम् हे प्रभूवसो प्रभूतधन इन्द्र त्वा त्वाम् आरभ्य आश्रित्य त्वामेव शरणं प्राप्य चरामसि चरामः। ते वयम् इति पूर्वत्र संबन्धः। हे गिर्वणः गीर्भिर्वननीय

इन्द्र त्वदन्यः त्वत्तो व्यतिरिक्तो देवः गिरः अस्मदीयानि वचांसि नहि मघत् न खलु सहते । स्तुत्यस्य तव महिम्नो निरवधित्वाद् अस्मदीयानां स्तुतिवचसाम् अत्यल्पत्वाच्च तादृग्वचस्त्वयैव सोढव्यम् इत्यर्थः । ❀ सहेर्लेटि अडागमः । वर्णविपर्ययेण हकारस्य घकारः ❀ । तत्र दृष्टान्तः क्षोणीरिव क्षोण्य इव । क्षोणीशब्देनात्र प्रजा विवक्ष्यन्ते । प्रजा राज्ञो यद्यद् विज्ञापयन्ति तत् सर्वं स राजा यथा सहते तद्वद् इत्यर्थः । यस्माद् एवं तस्माद् नः अस्माकं तद् वचः तादृग्वचनं प्रति हर्य प्रतिकामय ॥

हे वाणियोंसे स्तुति करने योग्य ! हे बहुतसे धन वाले ! जो हम आपका ही आश्रय लेकर रहते हैं, वे हम आपके ही हैं आपके अतिरिक्त और कोई देव हमारी वाणियोंको नहीं सह सकता, क्योंकि—आप स्तुति करने वालेकी महिमा अवधिरहित है और हमारे स्तुतिवचन थोड़े ही हैं अत एव ऐसे वचन आपको सहने ही चाहियें । जैसे प्रजाएँ राजासे जो कुछ कहती हैं, राजा उनको सहन करता है, इसी प्रकार आप हमारे वचनोंकी कामना करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तवं स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् कामुमा पृण ।

अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ॥ ५ ॥

भूरि । ते । इन्द्र । वीर्यम् । तव । स्मसि । अस्य । स्तोतुः । मघऽवन् । कामम् । आ । पृण ।

अनु । ते । द्यौः । बृहती । वीर्यम् । ममे । इयम् । च । ते ।

पृथिवी । नेमे । ओजसे ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ते तव वीर्यम् वीरकर्म वृत्रवधादिलक्षणं भूरि अतिबहु यतः अतो वयं तव स्मसि स्मः तव विधेया भवामः । ❀ "असो-रल्लोपः" इति अकारलोपः । "इदन्तो मसिः" ❀ । अस्य स्तोतुः स्तवं कुर्वतोस्य यजमानस्य कामम् अभिलषितम् । हे मघवन् धनवन् इन्द्र आ पृण आपूरय । ❀ पृण प्रीणने । तौदादिकः । अत्र पूरणार्थः । "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀ । भूरि त इन्द्र वीर्यम् इत्युक्तं वीर्यबहुत्वमेव स्पष्टयति । ते तव वीर्यं बृहती महती द्यौः महान् द्युलोकः अनु ममे अनुक्रमेण माति परिच्छिनत्ति । इन्द्रसृष्टस्य वृष्ट्युदकादेरास्पदत्वेन द्यौरेव ममे । अन्यः कश्चित् परिच्छेत्ता नास्तीत्यर्थः । ❀ माङ् माने । लिडादि सर्वम् ❀ । न केवलं द्यौरेव इयं पृथिवी च ते ओजसे तव ओजसा बलेन निमित्तेन नेमे ननाम नम्रा भवति । त्वदोजासंभृतेन गिरितरुगुल्मप्राण्यादिधारणेनेत्यभिप्रायः । अतः पृथिवी च वीर्यं ममे इति भावः ।

हे इन्द्रदेव ! आपका वृत्रवध आदि वीरकर्म बहुत बड़ा है, अत एव हम आपके सेवक बनते हैं । इस स्तुति करने वाले यजमानकी अभिलाषाको हे धनी इन्द्र ! आप पूर्ण करिये आपके वीर्यको विशाल द्युलोक ही, वृष्टिजल आदिका स्थान होनेसे मान करता है । और कोई परिच्छेत्ता नहीं है । वा-यह पृथिवी भी आपके बलसे नम्र होजाती है । अत एव यह भी मान करती है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ ।

अवांसृजो निवृंताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः ॥ ६ ॥

त्वम् । तम् । इन्द्र । पर्वतम् । महाम् । उरुम् । वज्रेण । वज्रिन् । पर्वऽशः । चकर्तिथ ।

अव । असृजः । निऽवृताः । सर्तवै । अपः । सत्रा । विश्वम् । दधिषे । केवलम् । सहः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र वज्रिन् वज्रवन् त्वं तं प्रसिद्धं महाम् महान्तं महत्त्वोपेतम् । ❀ नकारतकारयोर्लोपश्छान्दसः ❀ । उरुम् अतिप्रभूतं पर्वतम् पर्ववन्तं गिरिम् । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । गिरीन् वज्रेण आयुधेन पर्वशः अवयवशः पक्षादिक्रमेण चकर्तिथ शकलीकृतवान् असि । ❀ कृती छेदने । थलि क्रादिनियमात् इट् । गुणः ❀ । यद्वा अत्र पर्वतशब्दः उत्तरत्र वृत्तपधिपानाद् मेघवाची । उक्तलक्षणं मेघं वज्रेण पर्वशो विदारितवान् असीत्यर्थः । अनन्तरं निवृताः नितरां मेघेन वृता अपः सर्तवै नद्यात्मना सरणाय अवासृजः अवाङ्मुखं विसृष्टवान् असि । एवमाधात्मकं केवलम् असाधारणं विश्वम् सर्वं बलं त्वं दधिषे धारयसि । एतत् सत्रा सत्यं न मृषा । सत्रेति सत्यनाम ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वज्रधारी इन्द्र ! आपने महत्त्वमय परमविशाल पर्व वाले पर्वत (वा मेघ) को (पर आदिके क्रमसे) टुकड़े २ कर डाला था । तथा आपने मेघसे घिरे हुए जलको सरकनेके लिये नदीरूपसे छोड़ दिया था। ऐसे असाधारण सब बलोंको आप धारण करते हैं । यह बात सत्य है, मिथ्या नहीं है ॥ ६ ॥

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (११९)

"उदप्रुतः" इति सूक्तस्य उक्थ्ये क्रतौ ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"उदप्रुतः" सूक्तका उक्थ्य क्रतुके ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनियोग कह दिया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥

उदऽप्रुतः । न । वयः । रक्षमाणाः । वावदतः । अभ्रियस्यऽइव । घोषाः ।
गिरिऽभ्रजः । न । ऊर्मयः । मदन्तः । बृहस्पतिम् । अभि । अर्काः । अनावन् ॥ १ ॥

उदप्रुतः उदकेषु गच्छन्तः । ❀ छान्दसत्वाद् असंज्ञायामपि उदकशब्दस्य उदादेशः ❀ । रक्षमाणाः आत्मानं व्याधादिभ्यः पालयन्तो वयो न पक्षिण इव ते यथा [illegible] वावदतः भृशं शब्दं कुर्वतः । ❀ वदेर्यङ्लुकि शतरि रूपम् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः ❀ । अभ्रियस्य मेघसमूहस्य घोषाः शब्दा इव । तथा गिरिभ्रजः । गिरिरिति मेघनाम । मेघेभ्यः सकाशाद् गच्छन्तः अधः पतन्तः मदन्तः सस्यादीन् तर्पयन्तः । अनेन धाराध्वनिरुपलक्ष्यते । ऊर्मयो न ऊर्मयः उदकवीचयः ते यथा अधःपतनसमये शब्दं कुर्वन्ति एवम् अर्काः अर्चनसाधना मन्त्राः । ❀ अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्तीति निरुक्तम् [नि० ५, ४] ❀ । अथ वा अर्काः अर्चकाः स्तोतारो बृहस्पतिम् बृहतो मन्त्रराशेः स्वामिनम् एतन्नामकं देवम् अभ्यनावन् अभिष्टुवन्ति । ❀ णौतेश्छान्दसे लङि व्यत्ययेन शप् ❀ ।

जलमें विचरण करने वाले, व्याधि आदिसे बचाने वाले, पक्षियोंकी समान उच्च ध्वनि वाले, मेघोंके गड़गड़ानेकी समान शब्द करने वाले, मेघोंसे धारापातरूपसे चलने वाली शब्दायमान ऊर्मियें नीचेको गिरनेके समय शब्दको करती हैं, इसी प्रकार पूजा के मन्त्र मन्त्रराशिके स्वामी बृहस्पतिदेवकी स्तुति करते हैं ॥१॥

द्वितीया ॥

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥

सम् । गोभिः । आङ्गिरसः । नक्षमाणः । भगःऽइव । इत् । अर्यमणम् । निनाय ।

जने । मित्रः । न । दम्पती इति दम्ऽपती । अनक्ति । बृहस्पते । वाजय । आशून्ऽइव । आजौ ॥ २ ॥

आङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रोत्पन्नः एतन्नामा महर्षिः गोभिः । विकारे प्रकृतिशब्दः । गोविकारैराज्यैः । यद्वा गोभिः स्तुतिवाग्भिः नक्षमाणः व्याप्नुवन् भग इवेत् एतन्नामको देव इव स यथा वधूवरौ अर्यमणं देवं नयति विवाहसमये एवम् अर्यमणम् विवाहहोमाभिमानिनम् एतन्नामानं देवं दम्पती सं निनाय प्रापत् । किं च जने प्राणिसमूहे मित्रो न मित्राख्यो देव इव स यथा स्वरश्मीन् अनक्ति प्रकाशाय एवं स एव महर्षिः दम्पती वधूवरौ अनक्ति योजयति ॥ हे बृहस्पते देव त्वं च आशून् आजाविव यथा संग्रामे योद्धारः आशून् व्यापकान् अश्वान् योजयन्ति एवं वधूवरौ वाजय संयोजय ॥

अंगिरागोत्रमें उत्पन्न हुए आंगिरस नामक महर्षि भगदेवता की समान गोघृत आदिसे विवाहके समय दम्पतीको जिस प्रकार अर्यमा देवकी शरणमें लेजाते हैं। इसी प्रकार विवाहहोमाभिमानी अर्यमा नामक देवको दम्पतीको प्राप्त करावें और शाखियों में सूर्य जैसे अपनी किरणोंको प्रकाशके लिये संयुक्त करते हैं, इसी प्रकार महर्षि वधूवरोंको संयुक्त करें। और हे बृहस्पति देव! आप भी संग्राममें योधा जैसे व्यापक अश्वोंको युक्त करते हैं, इसी प्रकार वधू और वरको संयुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

साधुऽअर्याः । अतिथिनीः । इषिराः । स्पार्हाः । सुऽवर्णाः । अनवद्यऽरूपाः ।
बृहस्पतिः । पर्वतेभ्यः । विऽतूर्य । निः । गाः । ऊपे । यवम्ऽइव । स्थिविऽभ्यः ॥ ३ ॥

साध्वर्याः साध्वभिगन्तव्या अतिथिनीः अतिथितर्पका अतनशीला वा इषिराः एषणीयाः स्पार्हाः सर्वैः स्पृहणीयाः सुवर्णाः शोभनशुक्लादिवर्णोपेता अनवद्यरूपाः अनिन्दितरूपाः प्रशस्तरूपाः । ❀ "अवद्यपण्य०" इत्यादिना गर्ह्यार्थे अवद्यशब्दो निपातितः । पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ । एवंलक्षणा गाः बृहस्पतिर्देवः पर्व-

तेभ्यः बलसंबन्धिभिरसुरैः पिहितेभ्यः पर्वतेभ्यः सकाशात् निरूर्य निर्गमय्य निरूपे निर्वपति निष्कृष्य प्रयच्छति स्तोतृभ्यः । तत्र दृष्टान्तः । यवमिव स्थिविभ्यः । स्थिवयः स्थिरा यवकाण्डाः । तेभ्यः सकाशात् यथा यवं निष्कृष्य वपति तद्वत् । यद्वा स्थिवयः कुसूलाः । तेभ्यः सकाशात् यवमिव ॥

जैसे कोठियोंमेंसे यवोंको निकालते हैं इसी प्रकार बृहस्पतिदेव स्तुति करने वालोंके लिये, साधुओंके योग्य, अतिथियोंको तृप्त करने वाली, अभिलाषा करने योग्य, सबसे स्पृहणीय, शुक्ल आदि शोभन वर्णसे सम्पन्न अनिन्दित रूप वाली बल नामक असुरोंके द्वारा छिपाई हुई गौओंको पर्वतोंसे निकाल कर प्रदान करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

आऽप्रुषायन् । मधुना । ऋतस्य । योनिम् । अवऽक्षिपन् । अर्कः । उल्काम्ऽइव । द्योः ।
बृहस्पतिः । उत्ऽहरन् । अश्मनः । गाः । भूम्याः । उद्नाऽइव । वि । त्वचम् । बिभेद ॥ ४ ॥

बृहस्पतिर्देवः मधुना । मधु इति उदकनाम । उदकेन आप्रुषायन् भूमिं सर्वतः सिञ्चन् । ❀ प्रुष प्लुष स्नेहनसेचनपूरणेषु ।

व्यत्ययेन विकरणस्य शायजादेशः। चित्स्वरः ❀ । ऋतस्य योनिम् उदकस्य कारणभूतं मेघम्। यद्वा ऋतस्य योनिरित्यु-दकनाम। मेघम् उदकं वा। ❀ मधुन ऋतस्येत्यत्र संहितायाम् "ऋत्यकः" इत्यत्र ह्रस्व इत्यनुवर्तनात् ह्रस्वत्वम् ❀ । द्यो द्यु-लोकसकाशाद् अवक्षिपन् अधोमुखं प्रेरयन्। तत्र दृष्टान्तः। अर्कः आदित्यः द्योः सकाशाद् उल्कामिव तां यथा अवक्षिपति तद्वत्। किं च स बृहस्पतिः अश्मनः मेघसकाशाद् गा उदकानि उद्धरन् स्थापयन्। अथ वा अश्मनः पणिभिः पिहितात् पर्वतात् तद्द्वारेण गाः तैरपहृत्य स्थापिता उद्धरन् अपगमयन् उद्नेव उद-केनेव तेन यथा भूम्यास्त्वचं विभिनत्ति उच्छूनां करोति एवं भूम्याः स्त्वचं गोखुराग्रैः वि बिभेद विदारितवान्। सर्वत्र गाः समचार-यद् इत्यर्थः॥

जिस प्रकार सूर्यदेव द्युलोकसे उल्काको अधोमुखी करके गिराते हैं, इसी प्रकार बृहस्पतिदेव जलसे भूमिको सींचते हुए मेघको नीचेकी ओर मुख वाला करके प्रेरित करते हैं, और वह बृहस्पति देव पणि नामक असुरोंके द्वारा पर्वतमें छिपाई हुई गौओंको निकाल कर भूमिकी त्वचाको गोखुरोंसे इस प्रकार विभिन्न कर डालते हैं, जिस प्रकार जलसे भूमिको फुला देते हैं अर्थात् सर्वत्र गौओंका सञ्चार कर देते हैं॥ ४॥

पञ्चमी॥

अप॒ ज्योति॑षा॒ तमो॑ अ॒न्तरि॑क्षादु॒द्नः शीपा॑लमिव॒ वात॑ आजत्।

बृह॒स्पति॑रनु॒मृश्या॑ व॒लस्या॒भ्रमि॑व॒ वात॒ आ च॑क्र॒ आ गाः॥ ५॥

अप । ज्योतिषा । तमः । अन्तरिक्षात् । उद्नः । शीपालम्ऽइव ।
वातः । आजत् ।

बृहस्पतिः । अनुऽमृश्य । वलस्य । अभ्रम्ऽइव । वातः । आ । चक्रे ।
आ । गाः ॥ ५ ॥

बृहस्पतिर्देवः ज्योतिषा दीप्त्या प्रकाशेन अन्तरिक्षात् आकाशाद् गिरिकुहरात् तमः अन्धकारं गवाम् आवरकम् उदाजत् उदगमयत् । तत्र दृष्टान्तः । वातः वायुः उद्नः उदकात् । *"पद्दन्०" इत्यादिना उदकशब्दस्य उदन्नादेशः । "अल्लोपोऽनः" इति अकारलोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरः * । तत्सकाशात् शीपालमिव शीपालं शैवालम् । * वर्णव्यत्ययेन ऐकारवकारयोरीकारपकारौ * । तद् यथा उदजति अपगमयति तद्वत् । किं च बृहस्पतिर्देवो वलस्य एतन्नामकस्यासुरस्य गवाम् अवस्थानप्रदेशम् अनुमृश्य परामृश्य वातः वायुः अभ्रमिव स यथा मेघम् आकरोति सर्वतः प्रसारयति अन्तरिक्षे एवं गाः बलेन अपहृत्य आच्छन्नाः आ चक्रे सर्वतो व्याप्ता अकरोत् ॥

जिस प्रकार वायु जलसे सिवारको दूर कर देता है, तिसी प्रकार बृहस्पतिदेव गिरिकन्दरासे प्रकाशके द्वारा गौओंको रोकने वाले अन्धकारको हटा देते हैं। और बृहस्पतिदेव वल नामक असुरके गोस्थानको विचार कर, वायुके मेघको छितरा देनेकी समान बलके द्वारा रोकी हुई गौओंको चारों ओर फैला देते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।

दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

यदा । वलस्य । पीयतः । जसुम् । भेत् । बृहस्पतिः । अग्नितपःऽभिः । अर्कैः ।

दत्ऽभिः । न । जिह्वा । परिऽविष्टम् । आदत् । आविः । निऽधीन् । अकृणोत् । उस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

बृहस्पतिर्देवो यदा यस्मिन् काले वलस्य एतन्नामकस्यासुरस्य पीयतः । हिंसाकर्मैतत् । हिंसकस्य तस्य जसुम् हिंसासाधनम् आयुधं भेत् अभेद् अभिनत् । ❀ भिदिर् विदारणे । लङ् । लघूपधगुणः । "हल्ङ्या लोपः०" संयोगान्तलोपश्च । छान्दसत्वाद् अडभावः ❀ । कैः साधनैरित्युच्यते । अग्नितपोभिः अग्निवत्तापकैः अर्कैः दीप्तैः स्वरश्मिभिः मन्त्रैर्वा । तदा दद्भिः दन्तैः परिविष्टम् परितः खादितं मण्डकादिलक्षणम् अन्नं जिह्वा यथा अत्ति तद्वद् वलनामानम् असुरम् आदत् अभक्षयत् । ततश्च उस्रियाणाम् गवां निधीन् आविरकृणोत् स्पष्टान् अकरोत् ॥

बृहस्पति देवने जिस समय वल नामक असुरके हिंसक आयुध को अग्निकी समान संतप्त करने वाले मन्त्रोंसे तोड़ डाला, उस समय दाँतोंसे तोड़े हुए अन्नको जिस प्रकार जिह्वा खाती है तिस प्रकार वह वल नामक असुरको खागए, फिर उन्होंने दूध देने वाली उसरिया गौओंकी निधियोंको प्रकट किया ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् ।

आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥ ७ ॥

बृहस्पतिः । अमत । हि । त्यत् । आसाम् । नाम । स्वरीणाम् । सदने । गुहा । यत् ।

आण्डाऽइव । भित्त्वा । शकुनस्य । गर्भम् । उत् । उस्रियाः । पर्वतस्य । त्मना । आजत् ॥ ७ ॥

बृहस्पतिर्देवः गुहा गुहायां सदने । सीदन्त्यत्रेति सदनं स्थानम् । तस्मिन् स्वरीणाम् शब्दायमानानाम् आसां गवां त्यत् तत् प्रसिद्धं नामधेयं यत् यदा अमत हि ज्ञातवान् । ❀ मनु अवबोधने । लुङि "तनादिभ्यस्तथासोः" । इति सिचो लुक् । "हि च" इति निघातप्रतिषेधः । अडागमस्वरः ❀ । तदानीं पर्वतस्य गिरेरन्तः स्थिता उस्रियाः । उस्रम् उत्स्रावणं क्षीरस्यन्दनम् अर्हन्तीत्युस्रिया गावः । ताः त्मना आत्मनैव सहायनैरपेक्ष्येणैव । ❀ "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" इति आदेराकारस्य लोपः ❀ । उदाजत् पर्वतनिभेदनेन उदगमयत् । तत्र दृष्टान्तः । आण्डेव भित्त्वेति । शकुनस्य पक्षिणो मयूरादेः आण्डानि भित्त्वा तदन्तःस्थितं गर्भम् उद्गमयति तद्वत् ॥

बृहस्पतिदेवने गुहास्थानमें शब्द करती हुई इन गौओंके नाम को जब जाना, तब इन पर्वतके भीतर स्थित गौओंको अपने आप पर्वत भेद करके इस प्रकार निकाल लिया जिस प्रकार मयूर आदि पक्षियोंके अण्डोंको भेद कर उसके भीतर स्थित गर्भ को प्रकट किया जाता है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् ।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥

अश्ना । अपिऽनद्धम् । मधु । परि । अपश्यत् । मत्स्यम् । न । दीने । उदनि । क्षियन्तम् ।
निः । तत् । जभार । चमसम् । न । वृक्षात् । बृहस्पतिः । विऽरवेण । विऽकृत्य ॥ ८ ॥

बृहस्पतिर्देवः अश्ना अश्मना पर्वतेन अपिनद्धं मधु मधुवद्भोगयोग्यं गोसमूहं पर्यपश्यत् अद्राक्षीत् । आवरणभूतपर्वतापसारणेनेति शेषः । तत्र दृष्टान्तः । दीने परिक्षीणे अल्पे उदनि उदके । ❀ उदकशब्दस्य उदन्नादेशे "विभाषा ङिश्योः" इत्यल्लोपाभावपक्षे रूपम् ❀ । तस्मिन् क्षियन्तम् निवसन्तं मत्स्यं न मत्स्यमिव । तं यथा जनः पश्यति तद्वत् । तत् गोलक्षणं मधु चमसं न वृक्षात् । चम्यते भक्ष्यते अनेनेति चमसः सोमपात्रम् । चमसं यथा तदुपादानभूतान्निष्कृष्य हरति तद्वत् । विरवेण विविधशब्देन हम्भालक्षणेन लिङ्गेन ज्ञात्वा विकृत्य वलाख्यम् असुरं गोरूपधारिणं छित्वा निर्जभार विलान्निजहार ॥

जिस प्रकार जलके सूखने पर अल्प जलमें मनुष्य मछलीको देख लेता है, इसी प्रकार बृहस्पतिदेवने, आवरणभूत पर्वतको हटा कर पत्थरोंसे ढके हुए मधुकी समान भोगनेयोग्य गोसमूह को देखा और जैसे चमस नामक भोजनपात्रको उपादानभूत

इससे निकालते हैं तिस प्रकार हंसा आदि विविध क्रियोंसे गौओं को जान कर गोरूपधारी बल नामक असुरको मार कर गौओं को बिलसे निकाल डाला ॥ ८ ॥

नवमी ॥

सोषामविन्दत् स स्व१ः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि ।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ९

सः । उषाम् । अविन्दत् । सः । स्व१रिति स्वः । सः । अग्निम् । सः । अर्केण । वि । बबाधे । तमांसि ।
बृहस्पतिः । गोऽवपुषः । वलस्य । निः । मज्जानम् । न । पर्वणः । जभार ॥ ९ ॥

स पूर्वोक्तो बृहस्पतिः पर्वतकुहरे अन्धकारावस्थितानां गवां दर्शनाय उषाम् उषासम् उषसम् । ❀ छान्दसः सकारलोपः ❀। अविन्दत् अलभत । स एव बृहस्पतिः स्वः । स्वरादित्यः । आदित्यं च प्रकाशाय अविन्दत् । एवम् असौ अग्निं च अविन्दत् । लब्ध्वा च अर्केण तेजसा तमांसि वि बबाधे विशेषेण बाधितवान् । तदनन्तरं गोवपुषः वृषभरूपधारिणो वलस्य असुरस्य हननेन मज्जानं न पर्वणः अस्थ्नः संबन्धिनं मज्जानम् षष्ठं धातुं पर्वणः अस्थिपर्वसकाशात् यथा बलात् निर्हरन्ति तद्वत् गा निर्जभार निष्कृष्य आहृतवान् ॥

इन बृहस्पतिदेवने पर्वतकी गुफामें अन्धकारमें पड़ी हुई गौओं को देखनेके लिये उषाको पाया, और इन ही बृहस्पतिदेवने सूर्य को भी प्रकाशके लिये प्राप्त किया, और अग्निको भी प्राप्त किया।

और प्राप्त करके तेजसे अन्धकारोंको विशेषरूपसे नष्ट कर डाला, तदनन्तर वृषभका रूप धारण करने वाले असुरको नष्ट करके अस्थियोंके जोड़से मज्जा नष्ट करनेकी समान यत्नपूर्वक गौओंको निकाल लिया ॥ ९ ॥

दशमी ॥

हिमेव पर्णा मुंषिता वनांनि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः ।
अनानुकृत्यमंपुनश्चकार यात् सूर्यामासां मिथ उच्चरांतः

हिमाऽइव । पर्णा । मुषिता । वनांनि । बृहस्पतिना । अकृपयत् । वलः । गाः ।

अनुनुऽकृत्यम् । अपुनरिति । चकार । यात् । सूर्यामासा । मिथः । उत्ऽचरांतः ॥ १० ॥

बृहस्पतिना देवेन हिमेव पर्णा हिमानि पर्णानीव । यथा हिमानि पर्णानि निःसाराणि कृत्वा मुष्णन्ति एवं वनानि वननी यानि धनानि गोलक्षणानि मुषिता मुषितानि आसन् । स च वलोपि गाः मुषिता अकृपयत् । मायच्छत् इत्यर्थः । किं च स बृहस्पतिः तादृक् कर्म अनानुकृत्यम् अन्यैरननुकरणीयम् अन्येन कर्तुम् अशक्यं तथा अपुनः न विद्यते पुनस्तत् कर्म यस्मिन् तद् अपुनः पुनःकरणरहितं च चकार कृतवान् । अन्यकर्तव्यरहितं स्वेनापि पुनः कर्तव्यरहितं चाकरोद् इत्यर्थः । किं तत् कर्मेति उच्यते । यात् । यद् इत्यर्थः । ❀ छान्दसो दीर्घः ❀ । सूर्यामासा । मस्यते परिमीयते स्वकलावृद्धिहानिभ्याम् इति माश्चन्द्रमाः । मातीति वा माश्चन्द्रः । सूर्याचन्द्रमसौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे

च" इति मानम् । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना विभक्तेराकारः ॐ । तौ मिथः परस्परम् अहोरात्रयोः उच्चरातः उच्चरतः ऊर्ध्वं गच्छत इति यत् तच्चकार ॥

बृहस्पति नामक देवने, हिम जैसे पत्तोंको निःसार करके ग्रहण कर लेता है तिस प्रकार, सेवनीय गोरूप धनको ग्रहण कर लिया था । और बलने भी चुराई हुई गौएँ बृहस्पतिजीको देदीं थीं । तथा बृहस्पति देवने एक और भी ऐसा कर्म किया है, कि-दूसरे उसको नहीं कर सकते और उन्हें भी उसको दूसरी बार नहीं करना पड़ा । वह कर्म यह है, कि-सूर्य और चन्द्रमा दिन और रातको करते हुए ऊपर विचरण करते रहते हैं ॥ १० ॥

एकादशी ॥

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः ॥ ११ ॥

अभि । श्यावम् । न । कृशनेभिः । अश्वम् । नक्षत्रेभिः । पितरः । द्याम् । अपिंशन् ।
रात्र्याम् । तमः । अदधुः । ज्योतिः । अहन् । बृहस्पतिः । भिनत् । अद्रिम् । विदत् । गाः ॥ ११ ॥

बृहस्पतिर्देवः यदा अद्रिम् गवाम् आच्छादकं गिरिं भिनत् अभिनद् विदारितवान् विदार्य च यदा गाश्च विदत् । ॐ विद्लृ लाभे । लुङि लृदित्वाद् अङ् ॐ । तदा पितरः पालका देवा

इन्द्राद्याः श्यावं न अश्वम् कपिशवर्णम् अश्वमिव तं यथा लोके कृशनेभिः । कृशनम् इति सुवर्णनाम । कृशनैः सुवर्णमयैराभरणैः पिंशन्ति अलंकुर्वन्ति एवं नक्षत्रेभिः । नक्षात् नाशात् त्रायन्तीति नक्षत्राणि न विद्यते क्षत्रं बलम् एषाम् इति वा नक्षत्राणि प्रह-तारकादीनि । तैः द्याम् द्युलोकम् अपिंशन् अलंचक्रुः । ⊛ पिश अवयवे । तुदादिः ⊛ । एवं रात्र्याम् । निशि तमः अन्धकारम् अदधुः स्थापितवन्तः । एवम् अहन् अहनि ज्योतिः सर्वस्य दीपकं तेजः आदित्याख्यम् अदधुः ॥

जब बृहस्पतिदेवने गौओंके आच्छादक गिरिको विदीर्ण किया और विदीर्ण करके गौओंको प्राप्त किया, उस समय पालक देवता (पितर) इन्द्र आदिने, कपिश वर्ण वाले घोड़ेको जिस प्रकार सुवर्णके आभूषणोंसे अलंकृत करते हैं, तिस प्रकार द्युलोकको नक्षत्रोंसे अलंकृत किया था । और उन्होंने रात्रिमें अंधकारको स्थापित किया तथा दिनमें सबको दिपाने वाले तेज सूर्यको स्थापित किया ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥ १२ ॥

इदम् । अकर्म । नमः । अभ्रियाय । यः । पूर्वीः । अनु । आऽनोनवीति ।
बृहस्पतिः । सः । हि । गोभिः । सः । अश्वैः । सः । वीरेभिः । सः । नृऽभिः । नः । वयः । धात् ॥ १२ ॥

अभ्रियाय अभ्रम् अर्हतीति अभ्रियः । ❀ "०अभ्राद् घः" इति घप्रत्ययः ❀ । मेघविदारणेन जलं प्रयच्छते बृहस्पतये इदं नमः नमस्कारोपलक्षितम् अन्नम् अन्नसाधनं वा स्तोत्रम् अकर्म वयम् अकार्ष्म । ❀ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुकि कृते "छन्दस्युभयथा" इति तिङ आर्धधातुकत्वाद् क्ङित्त्वाभावे गुणः ❀ । यो बृहस्पतिः पूर्वीः बह्वीः ऋचः अनुक्रमेण आनोनवीति अत्यर्थम् आभिमुख्येन ब्रवीति साधु स्तुतवान् इति ब्रूते । स हि स खलु बृहस्पतिः नः गोभिः बह्वीभिः सहितं वयः अन्नम् अधात् प्रयच्छत्विति संबन्धः । एवम् उत्तरत्रापि योज्यम् । स एव बृहस्पतिः अश्वैर्बहुभिः सहितं वयोधात् । स बृहस्पतिः वीरेभिः वीरैः पुत्रैरुपेतं वयोधात् । स च बृहस्पतिः नृभिः नेतृभिर्भृत्यादिभिः सहितं वयोधात् ॥

इति द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

मेघको विदीर्ण करके जलको प्रदान करनेवाले बृहस्पति देवके लिये हम इस हवि वा स्तोमको अर्पण करते हैं, कि—जो बृहस्पतिदेव बहुतसी ऋचाओंके विषयमें अनुक्रमसे कहते हैं कि—बड़ी अच्छी स्तुति हुई । वह बृहस्पति देव हमको गौओं सहित अन्न प्रदान करें, वह घोड़ों सहित, पुत्रोंसहित और भृत्य आदिसे सम्पन्न अन्न प्रदान करें ॥ १२ ॥

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६३२) ।

"अच्छा म इन्द्रम्" इति सूक्तमपि तत्रैव उक्थ्ये ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियुक्तम् । तत्र "बृहस्पतिर्नः परि पातु" [११] इत्येषा परिधानीया । "बृहस्पते युवमिन्द्रश्च" [१२] इत्येषा शस्त्रयाज्या ॥

"अच्छा म इन्द्रम्" यह सूक्त भी तहाँ ही उक्थ्यमें ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र में विनियुक्त होता है । तहाँ "बृहस्पतिर्नः परि पातु" (११) यह परिधानीया है । "बृहस्पते युवमिन्द्रश्च" (१२) यह शस्त्रयाज्या है

तत्र प्रथमा ॥

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ १ ॥

अच्छ । मे । इन्द्रम् । मतयः । स्वःऽविदः । सध्रीचीः । विश्वाः उशतीः । अनूषत ।
परि । स्वजन्ते । जनयः । यथा । पतिम् । मर्यम् । न । शुन्ध्युम् । मघऽवानम् । ऊतये ॥ १ ॥

इन्द्रं देवम् अच्छ अभिमुखीकृत्य मे मम सुहस्त्यस्य घौषेयस्य मतयः स्तुतयः अनूषत स्तुवन्ति । ❀ णु स्तुतौ । च्लेः सिच् । "लिङ्सिचावात्मनेपदेषु" इति किद्वद्भावाद् गुणाभावः ❀ । मतयो विशेष्यन्ते । स्वर्विदः स्वर्गस्य सुखस्य वा लम्भयित्र्यः सध्रीचीः सहाञ्चनाः परस्परं संगताः । ❀ अञ्चु गतिपूजनयोः । "ऋत्विग्दधृक्स्रग्०" इत्यादिना नकारलोपः । सहस्य सध्र्यादेशः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपः ❀ । विश्वाः व्याप्ता उशतीः इन्द्रं कामयमानाः । आदरातिशयद्योतनाय उक्तमेवार्थं सदृष्टान्तं पुनराह परि ष्वजन्त इति । जनयः जनयन्ति उत्पादयन्ति अपत्यम् इति जनयो योषितः । ता यथा पतिं परि ष्वजन्ते दृढम् आलिङ्गन्ति । किं च शुन्ध्युम् शोधकं मर्यं न मर्त्यमिव यथा पित्रादिकं दूराद् आगतं पुत्रादयो बन्धुजना ऊतये स्वरक्षणाय परिष्वजन्ते तद्वद्

मघवानम् मघवन्तं धनवन्तम् इन्द्रम् ऊतये रक्षणाय मे मतयः परि ष्वजन्ते । निर्धनस्य रक्षाकरणायोगाद् मघवन्तम् इत्युक्तम् ॥

इन्द्रदेवको लक्ष्यमें रख कर शुभ्र सुन्दर हाथ और घोष वाले की स्तुतियें स्तुति करती हैं । यह स्तुतियें स्वर्गकी प्राप्ति कराने वाली हैं, परस्पर मिली हुई हैं, व्याप्त हैं और इन्द्रकी कामना करती रहती हैं । जिस प्रकार सन्तानको उत्पन्न करने वाली स्त्रियें पतिका दृढ़तासे आलिंगन करती हैं और जिस प्रकार शोषक पिता आदिको दूरसे आते देख कर पुत्र आदि बांधव अपनी रक्षाके लिये उससे लिपट जाते हैं । इसी प्रकार धनवान् इन्द्रको रक्षाके लिये मेरी स्तुतियें आलिंगन करती हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न घा त्वद्रिगपं वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेवपानं-मस्तु ते ॥ २ ॥

न । घ । त्वद्रिक् । अप । वेति । मे । मनः । त्वे इति । इत् । कामम् । पुरुऽहूत । शिश्रय ।
राजाऽइव । दस्म । नि । सदः । अधि । बर्हिषि । अस्मिन् । सु । सोमे । अवऽपानम् । अस्तु । ते ॥ २ ॥

हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र त्वद्रिक् त्वां गच्छत् मे मम मनः न घ न खलु अप वेति अपगच्छति कदाचिदपि त्वत्तो नापसरति किं तु त्वे इत् त्वय्येव कामम् अभिलाषं शिश्रय श्रयनि आश्र-

यति । ❀ श्रिञ् सेवायाम् । छान्दसे लिटि "एलुत्तमो वा" इति इद्व्यभावे रूपम् ❀ । यस्मात् एवं तस्मात् हे दस्म शत्रूणाम् उपक्षपयितः दर्शनीय वा इन्द्र त्वं राजेव यथा राजा सिंहासने निषीदति ।एवम् अधि बर्हिषि । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀। आस्तीर्णे दर्भे नि षदः निषीद । निषीदतेऽत्र को लाभ इति उच्यते । अस्मिन् सोमे सोमयागे संस्कृते वा सोमे ते तव अवपानम् अवनतं पानम् अस्तु भवतु ॥

हे पुरुहूत इन्द्र ! आपको प्राप्त होता हुआ मेरा मन, कभी भी आपसे अलग नहीं होता है, किंतु आपमें ही अभिलाषा रखता है। इस कारण हे शत्रुओंका संहार करने वाले इन्द्र ! जिस प्रकार राजा सिंहासन पर बैठता है, तिस प्रकार कुशासन पर बैठिये । इस संस्कृतसोमयागमें आपका अवपान होवे ॥२॥

तृतीया ॥

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते ।

तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

विषुऽवृत् । इन्द्रः । अमतेः । उत । क्षुधः । सः । इत् । रायः । मघऽवा । वस्वः । ईशते ।

तस्य । इत् । इमे । प्रवणे । सप्त । सिन्धवः । वयः । वर्धन्ति । वृषभस्य । शुष्मिणः ॥ ३ ॥

इन्द्रो देवः अस्माकम् अमतेः दारिद्र्यस्य शून्यायाः मतेर्वा

वर्ततेः विषूवृत् विष्वग् वर्तयिता प्रत्यावयिता भवतु। ❀ विषु-शब्दोपपदाद् वर्ततेः क्विप् ❀। उत अपि च इन्द्रः क्षुधः क्षुधाया विषूवृद् भवतु। सत्स्वन्येषु देवेषु इन्द्र एव कथं प्राथ्र्यत इति तत्राह। स इत् स एव मघवा धनवान् इन्द्रः रायः दानार्हस्य वस्वः वसुनो वासकस्य धनस्य ईशते ईष्टे स्वामी भवति। ❀ "तिङां तिङो भवन्ति" इत्येकवचनस्थाने बहुवचनम् ❀। किं च वृषभस्य वर्षकस्य शुष्मिणः बलवतः तस्येत् तस्यैवेन्द्रस्य संबन्धिनः इमे प्रसिद्धाः सप्त सिन्धवः स्यन्दनशीलाः "इमं मे गङ्गे" [ऋ० १०. ७५. ५] इतिमन्त्रोक्ता गङ्गाद्याः सप्त सिन्धवः प्रवणे अवनते देशे वयो वर्धन्ति अन्नं समर्धयन्ति। ❀ वृधु वृद्धौ। णिच्। "छन्दस्युभयथा" इत्यार्धधातुकसंज्ञायां णिलोपः ❀॥

इन्द्रदेव हमारी दरिद्रताको भली भाँति नष्ट करने वाले बनें, और इन्द्रदेव हमारी भूखको दूर करें (और देवताओंके होने पर भी इन्द्रदेवकी ही प्रार्थना क्यों की जाती है तो कहते हैं, कि—)यह धनी इन्द्र ही वासक धनके स्वामी हैं। और इन वर्षक बली इन्द्रदेवकी ही गंगा आदि सात नदियें अवनत स्थानमें अन्नको बढ़ाती हैं॥ ३॥

चतुर्थी॥

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्॥ ४॥

वयः। न। वृक्षम्। सुऽपलाशम्। आ। असदन्। सोमासः। इन्द्रम्। मन्दिनः। चमूऽसदः।

प्र । एषाम् । अनीकम् । शवसा । दविद्युतत् । विदत् । स्वः ।
मनवे । ज्योतिः । आर्यम् ॥ ४ ॥

वयो न वृक्षम् यथा वयः पक्षिणः सुपलाशम् शोभनपर्णोपेतं पल्लवितं वृक्षम् आसीदन्ति तद्वद् मन्दिनः मदकराः चमूषदः चम्वोरधिषवणफलकयोरवस्थिताः सोमासः सोमा इन्द्रम् आसदन् । एषां सोमानाम् अनीकम् समूहो मुखं वा शवसा दविद्युतत् द्योतते । ॐ "दाधर्ति दर्धर्ति" इत्यादिना यङ्लुगन्ताद् द्युतेः शतरि अभ्यासस्य संप्रसारणाभावः अभ्यासस्य अत्वं विगागमश्च निपात्यते । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः ॐ । किं च तद् अनीकं स्वः आदित्याख्यम् आर्यम् अर्यम् अरणीयम् अभिगमनीयं ज्योतिः मनवे मनुष्याय मनुष्याणां प्रकाशाय विदत् अविदत् प्रायच्छद् इत्यर्थः ॥

जैसे पक्षी सुन्दर पत्तों वाले पल्लवित वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार मद करने वाले अधिषवणके फलकों पर स्थित सोम इन्द्र का आश्रय लेते हैं । इन सोमोंका मुख दमकता रहता है । उस मुखने आदित्य नाम वाली सेवनीय ज्योतिको मनुष्योंके प्रकाश के लिये दिया है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ।
न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः ॥ ५ ॥

कृतम् । न । श्वऽघ्नी । वि । चिनोति । देवने । सम्ऽवर्गम् ।
यत् । मघऽवा । सूर्यम् । जयत् ।

न । तत् । ते । अन्यः । अनु । वीर्यम् । शकत् । न । पुराणः ।
मघऽवन् । न । उत । नूतनः ॥ ५ ॥

कृतं न श्वघ्नी । वर्णव्यत्ययेन सकारस्य शकारः । स्वम् आत्मानं हन्त्यनेनेति स्वघ्नं द्यूतम् । तद् अस्यास्तीति श्वघ्नी । यद्वा स्वम् आत्मानं हतवान् श्वघ्नी कितवः । स यथा देवने द्यूते कृतम् कृतशब्दवाच्यं लाभहेतुम् अयं विचिनोति विचयं करोति एवम् इन्द्रम् अस्मदीया स्तुतिः देवने क्रीडने प्रमोदे वा निमित्त-भूते सति वि चिनोति । ॐ श्वघ्नीति । स्वशब्दोपपदात् हन्तेः "अमनुष्यकर्तृके च" इति टक्प्रत्ययः । "अत इनिठनौ" इति इनिप्रत्ययः । यद्वा "बहुलं छन्दसि" इति वचनाद् ब्रह्मादिव्य-तिरिक्तेष्वुपपदे हन्तेः क्विप् । "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् । "अल्लो-पोनः" इत्यकारलोपः । "हो हन्तेः०" इति घत्वम् । व्यत्ययेन स्त्रीलिङ्गता ॐ । यत् यस्मात् कारणाद् मघवा धनवान् इन्द्रः संवर्गं रसस्य तमसो वा संवर्जकं सूर्यं देवं जयत् अजयत् । सकल-जगत्प्रकाशनाय दिवि स्थापितवान् इत्यर्थः ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे मघवन् इन्द्र ते तव तत् वक्ष्यमाणलक्षणं वीर्यम् अन्यस्त्वत्तोऽपरो नानु शकत् अनुकर्तुं न शक्नोति । अन्यमेव विशिनष्टि । त्वत्तो-ऽन्यः पुराणः पूर्वकालीनः नानु शकत् । उत अपि च नूतनः आधुनिकोपि नानु शकत् ॥

जैसे जुआरी जुएमें लाभ देने वाले कृत नामक फाँसेका वरण करता है, इसी प्रकार हमारी स्तुति प्रमोदके लिये इन्द्रका वरण करती है, क्योंकि– इन्द्रदेवने अंधकारको दूर करने वाले संवर्जक सूर्यको सकल जगत्को प्रकाशित करनेके लिये द्युलोकमें स्थापित कर दिया है । हे इन्द्रदेव ! आपके ऐसे वीर्यकी और कोई अनु-कृति (नकल) नहीं कर सकेगा, और आपसे प्राचीन भी कोई

ऐसा काम नहीं कर सका था और आज कलका भी कोई नहीं कर सका है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

विशम्ऽविशम् । मघऽवा । परि । अशायत । जनानाम् । धेनाः । अवऽचाकशत् । वृषा ।
यस्य । अह । शक्रः । सवनेषु । रण्यति । सः । तीव्रैः । सोमैः । सहते । पृतन्यतः ॥ ६ ॥

वृषा कामानां वर्षिता मघवा धनवान् । अभिमतप्रदानं धनवत एव युज्यत इत्यस्य प्रकृष्टधनवत्त्वाभिधानाय अत्र मघवेत्युक्तम् । उक्तगुणक इन्द्रो विशंविशम् तं तं यजमानं पर्यशायत् परिशेते । ये ये यष्टारः सन्ति तांस्तान् सर्वानपि स्वविभूत्या समकाल एव प्राप्तवान् इत्यर्थः । किं च जनानाम् स्तोतॄणां धेनाः प्रीणयित्रीः स्तुतीरेककाल एव अवचाकशत् । ❀पश्यतिकर्मैतत् ❀ । अभिपश्यति । स्तोत्रं शृणोतीत्यर्थः । एवं शक्रः शक्त इन्द्रो यस्य यजमानस्य सवनेषु त्रिष्वपि रण्यति रमते । ❀ रणतिः क्रीडाकर्मा । श्यन्प्रत्ययेन श्यन् । यच्छब्दयोगाद् अनिघातः ❀ । स यजमानः तीव्रैः अत्यन्तमदकरैः सोमैः सोमरसैः । ❀ सवनत्रयापेक्षया बहुवचनम् ❀ । सोमपानेन पृतन्यतः संग्रामम् इच्छतः शत्रून् सहते अभिभवति ॥

कामनाओंकी वर्षा करने वाले धनवान् इन्द्रदेव जो २ पूजा करने वाले हैं उन सबके पास अपनी विभूतिसे एक समयमें ही प्राप्त होजाते हैं। और स्तोता मनुष्योंकी प्रसन्न करनेवाली स्तुतियों को एक समयमें ही सुनते हैं ऐसे समर्थ इन्द्रदेव जिस यजमानके तीनों सवनोंमें रमण करते हैं वह यजमान बड़ा मद करने वाले सोमपानके प्रभाववश सेना लेकर संग्राम करना चाहने वाले शत्रुओंको दबा देता है ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् ।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

आपः । न । सिन्धुम् । अभि । यत् । सम्ऽअक्षरन् । सोमासः । इन्द्रम् । कुल्याःऽइव । ह्रदम् ।
वर्धन्ति । विप्राः । महः । अस्य । सदने । यवम् । न । वृष्टिः । दिव्येन । दानुना ॥ ७ ॥

यत् यदा सोमासः सोमाः आपो न सिन्धुम् आपः सिन्धुम् समुद्रमिव कुल्याः अल्पाः सरितश्च ह्रदमिव इन्द्रं देवं प्रति अभि समक्षरन् अभिक्षरन्ति तदा विप्राः मेधाविनः स्तोतारः सदने यज्ञगृहे अस्य इन्द्रस्य महः माहात्म्यं वर्धन्ति वर्धयन्ति । स्तुतिभि-रिति शेषः । अभिवर्धने दृष्टान्तः,यवं न वृष्टिरिति । वृष्टिः । वर्षतीति-वृष्टिर्मेघः । स यथा दिव्येन दिवि भवेन दानुना उदकदानेन वृष्टि-रेन वा दिव्येन स्वकीयेन दानेन यवं न यवमिव तं यथा वर्धयति तद्वत्

जब सोम, जलके सिंधुमें प्रवेश करनेकी समान, छोटी २ नदियोंके सरोवरमें प्रवेश करनेकी समान, इंद्रदेवकी ओर अभिसरण करते हैं, तब स्तुति करने वाले विद्वान् पुरुष यज्ञगृहमें इन इंद्रदेवके माहात्म्यको स्तुतियोंसे बढ़ाते हैं। जैसे मेघ दिव्य जलदान से यवको बढ़ाते हैं इसी प्रकार स्तोता स्तुतियोंसे इंद्रको बढ़ाते हैं ७

अष्टमी ॥

वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः ।

स सुन्वते मघवा जीरदानवेविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

वृषा । न । क्रुद्धः । पतयत् । रजःऽसु । आ । यः । अर्यऽपत्नीः । अकृणोत् । इमाः । अपः ।

सः । सुन्वते । मघऽवा । जीरऽदानवे । अविन्दत् । ज्योतिः । मनवे । हविष्मते ॥ ८ ॥

य इन्द्रः अर्यपत्नीः अर्येण अभिगन्त्रा आदित्येन पालिता इमाः प्रसिद्धाः अपः उदकानि अकृणोत् करोति भूमिष्ठानि करोति स इन्द्रो वृषा न क्रुद्धः यथा क्रुद्धः क्रोधेन अन्धीभूतो वृषा वृषभः सर्वतः पतति गच्छति स्वप्रतिमल्लं वृषभं पराभवितुम् एवं स इन्द्रो रजःसु लोकेषु आ सर्वतः पतयत् पतति गच्छति । मेघं दारयितुम् इति शेषः । अनन्तरं मघवा धनवान् इन्द्रः सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते जीरदानवे क्षिप्रदानाय शीघ्रं हविः प्रयच्छते हविष्मते हविर्भिः सोमादिभिस्तद्वते मनवे मननवते यजमानाय ज्योतिः प्रकाशकं तेजः अविन्दत् अलभत प्रायच्छत् प्रयच्छति ॥

जो इन्द्रदेव सूर्यसे पालित इन जलोंको भूमिष्ठ करते हैं, वह इन्द्रदेव क्रोधमें भरा हुआ बैल जैसे अपने प्रतिभट मल्ल का पराभव करनेके लिये सर्वतो भावसे जाता है, इसी प्रकार लोकों पर मेघको विदीर्ण करनेके लिये पूर्णरीतिसे गमन करते हैं, इसके अतिरिक्त वह धनी इंद्र, सोमाभिषव करने वाले, शीघ्रतासे हवि प्रदान करने वाले हविष्मान् यजमानके लिये तेज प्रदान करते हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् ।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

उत् । जायताम् । परशुः । ज्योतिषा । सह । भूयाः । ऋतस्य । सुऽदुघा । पुराणऽवत् ।
वि । रोचताम् । अरुषः । भानुना । शुचिः । स्वः । न । शुक्रम् । शुशुचीत । सत्ऽपतिः ॥ ९ ॥

परशुः इन्द्रस्य वज्रः ज्योतिषा स्वतेजसा सह उज्जायताम् ऊर्ध्वं प्रादुर्भवतु मेघविदारणार्थम् । किं च ऋतस्य उदकस्य संबन्धिनी सुदुघा सुष्ठु दोहयित्री माध्यमिका वाक् । ❀ "दुहः कब्घश्च" इति कप् । हकारस्य घकारः ❀ । पुराणवत् पूर्वं यथा इदानीमपि एवं भूयाः भूयात् । ❀ पुरुषव्यत्ययः ❀ । किं च अरुषः आरोचमानो भानुना स्वतेजसा शुचिः प्रज्वलन् वि रोच-

ताम् प्रकाशताम् । उक्तमेवार्थं सदृष्टान्तं पुनराह । स्वर्णः शुक्रम् स्वः आदित्यः स यथा शुक्रम् दीप्तं तेजः प्रकाशयति । तेजसा स्वयं दीप्यत इत्यर्थः । एवं सत्पतिः सतां पालक इन्द्रः शुशुचीत अत्यन्तं दीप्यताम् । ❀ शुच शोके । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । लिङि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । सीयुडादिः ❀ ॥

इंद्रदेवका वज्र मेघका विदारण करनेके लिये अपने तेजके साथ ऊपरको प्रकट होवे । और जलको दुहने वाली माध्यमिका वाणी पहिलेकी समान इस समय भी प्रकट होवे । और अपने तेजसे दमकती हुई प्रकाशित होवे और जैसे दमकता हुआ सूर्य अपने तेजसे अपने आप ही दमकता है, इसी प्रकार सज्जनोंके पालक इंद्रदेव परम प्रदीप्त होवें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वाम् ।

वयम् । राजऽभिः । प्रथमाः । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम ॥ १० ॥

हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र वयं यौवेयाः स्तुवन्तो यजमाना-स्त्वयानुगृहीताः सन्तो गोभिः त्वया दत्ताभिः दुरेवाम् दुष्टगम-नाम् अमतिम् दारिद्र्यं तरेम निस्तरेम । किं च यवेन । उपलक्ष-णम् एतत् । त्वया दत्तैर्यवव्रीह्यादिभिः विश्वाम् सर्वां शुष्कृत्या-दिविषयां क्षुधम् अशनेच्छाम् । तरेमेति शेषः । किं च वयम्

तवानुग्रहेण समानानां मध्ये मुख्यभूता वयं राजभिः क्षत्रियैर्भूपालैर्धनानि बहूनि । लभेमहीति शेषः एषु संपन्नेषु सत्सु अस्माकेन अस्मत्संबन्धिना । ॐ संबन्धार्थे खञि विहिते "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" इति अस्माकादेशः । वृद्ध्यभावश्छान्दसः ॐ । इजनेन बलेन जयेम । शत्रून् इति शेषः ॥

हे पुरुहूत इंद्र ! हम यजमान आपका अनुग्रह पाते हुए आप की दी हुई गौओंसे दुर्दशामें डालने वाले दरिद्रके पार जावें । और आपके दिये हुए जौ धानं आदिसे पुत्र भृत्य आदिकी भूख को दूर कर सकें । और आपके अनुग्रहसे समान पुरुषोंमें मुख्य हुए हम राजाओंसे बहुतसे धनको प्राप्त करें, इन सबके होनेपर हम अपने बलसे शत्रुओंको जीतें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् । अधरात् । अघऽयोः ।
इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिर्देवः पश्चात् पश्चिमदेशाद् आगच्छतः अघायोः अघं पापं परेषाम् इच्छतो हिंसकात् । ॐ "छन्दसि परेच्छायाम्" इति क्यच् प्रत्ययः । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् । मन्त्रस्वरः ॐ । तस्माद् नः अस्मान् परि पातु

सर्वतो रक्षतु । उत अपि च उत्तरस्माद् अधराच्च देशाद् आगच्छतः अघायोः नः अस्मान् परि पातु । एवम् इन्द्रोपि देवः पुरस्ताद् आगच्छतः अघायोः परि पातु । मध्यतः मध्यमाद् देशादप्यागच्छतः परि पातु । एवं सर्वतो रक्षां कृत्वा सखा मित्रभूत इन्द्रः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः अस्मभ्यं वरिवः । धननामैतत् । धनं कृणोतु करोतु प्रयच्छतु । हविःप्रदानवरप्रदानाभ्यां परस्परं सखिभावो द्रष्टव्यः ॥

बृहस्पतिदेव हमको, दूसरेके लिये हिंसारूपी पापको चाहने वाले हिंसक-अघायुसे सर्वत्र बचावें। और उत्तर तथा अधर दिशा से आते हुए अघायुसे हमको बचावें। इंद्रदेव सामनेसे आतेहुए मध्यदेशसे आते हुए हिंसकसे भी हमारी रक्षा करें। इस प्रकार चारों ओरसे रक्षा करके मित्रभूत इन्द्र हम मित्र बने हुओंको धन प्रदान करें। [यहाँ हविः प्रदान और वरदानसे मित्रभाव समझना चाहिये] ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः

बृहस्पते । युवम् । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति । उत । पार्थिवस्य ।

धत्तम् । रयिम् । स्तुवते । कीरये । चित् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ १२ ॥

हे बृहस्पते त्वं च इन्द्रश्च युवम् युवाम् । ॐ "प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्" इति विहितम् आत्वं छन्दसि न भवति ॐ ।

दिव्यस्य दिवि भवस्य वस्वः वसुनः ईशाथे स्वामिनौ भवथः। उत अपि च पार्थिवस्य पृथिवीसंबन्धिनो वस्व ईशाथे। यस्माद् एवं तस्मात् स्तुवते स्तोत्रं कुर्वते कीरये स्तोत्रे मह्यम्। चिद् इति पूरणः। रयिम् धनं धत्तम् प्रयच्छतम्। गतम् अन्यत् ॥

द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इति विंशे काण्डे द्वितीयोऽनुवाकः ॥

हे बृहस्पते! आप और इन्द्रदेव! दोनों द्युलोकके धनके स्वामी हो और पृथिवीलोकके धनके भी स्वामी हो, इस कारण मुझ स्तुति करने वालेको धन प्रदान करो और आप अपनी रक्षक सत्क्रियोंसे सदा हमारी रक्षा करो ॥ १२ ॥

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६३२)

बीसवें काण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त

तृतीयेऽनुवाके त्रयोदश सूक्तानि। तत्र आद्यानि चत्वारि सूक्तानि अतिरात्रे क्रतौ प्रथमपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्तानि। चतुर्थसूक्तस्य अन्तिमा "प्र ऊहचीन्द्र" इत्येषा परिधानीया। "अतिरात्रेऽहोरात्रादिभ्यः" इति प्रक्रम्य सूत्रितं वैताने। "वयमु त्वा तदिदर्थाः [१] वयमिन्द्र त्वायवः [४] इति स्तोत्रियानुरूपौ। ऊर्ध्वं सर्वत्र त्रीणि सूक्तानि। अन्त्यं पच्छः पर्यासः। प्र ऊहचि [२०, २१, ११] इति परिधानीया। अप्सु धूतस्य [२०, ३३, १] इति याज्या"। इति [वै० ४, २] ॥

स्तोत्रियानुरूपाणां शंसनप्रकारस्तत्रैव उक्तः। "स्तोत्रियानुरूपयोः प्रथमे पर्याये प्रथमानि पदानि पुनरादायम् अर्धर्चशस्यमच्छंसति। मध्यमे पर्याये मध्यमानि। उत्तम उत्तमानि" इति [वै० ४, २] ॥

तीसरे अनुवाकमें तेरह सूक्त हैं। इनमें पहिले चार सूक्त अतिरात्र क्रतुके प्रथम पर्यायमें ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनि-

युक्त होते हैं। चौथे सूक्तकी अंतिम "य उद्दृचीन्द्र" ऋचा परिधानीया है। "अतिरात्रेऽहोरात्रादिभ्यः" का आरम्भ करके वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"वयमु त्वा तदिदर्थाः (१) वयमिन्द्र त्वायवः (४) इति स्तोत्रियानुरूपौ। ऊर्ध्वं सर्वत्र त्रीणि सूक्तानि। अन्त्यं पच्छः पर्यासः। य उदृचि (२०।२१।११) इति परिधानीया। अप्सु धूतस्य (२०।३३।१) इति याज्या" (वैतानसूत्र ४।२)॥

स्तोत्रियानुरूपोंका शंसनप्रकारभी वहाँ ही कहा है, कि—"स्तोत्रियानुरूपयोः प्रथमे पर्याये प्रथमानि पदानि पुनरादायं अर्धर्चशस्यवच्छंसति। मध्यमो पर्याये मध्यमानि। उत्तम उत्तमानि। वैतानसूत्र २।४

तत्र प्रथमा॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ १॥

वयम्। ऊँ इति। त्वा। तदित्ऽअर्थाः। इन्द्र। त्वाऽयन्तः। सखायः।
कण्वाः। उक्थेभिः। जरन्ते॥ १॥

हे इन्द्र तदिदर्थाः तदेव स्तोत्रम् अर्थः प्रयोजनं येषां ते तदिदर्थाः त्वायन्तः त्वाम् आत्मन इच्छन्तो वयं सखायः तव सखिभूताः। अथवा त्वां यन्तः सखायो वयं कण्वाः तदिदर्थाः तदेकप्रयोजनाः। जरन्त इत्यभिधानात् स्तुत्येकप्रयोजनत्वं गम्यते॥ अथ परोक्षवद् आह। कण्वाः कण्वगोत्रोत्पन्ना महर्षयः कणतिः शब्दार्थः। ❀ अशूप्रुषिलटिकणि इत्यादिना [उ० १, १५१] क्वन् प्रत्ययः। नित्वादू आद्युदात्तः। "कण्वादिभ्यो गोत्रे" इति अण्। तस्य बहुषु लुक्। स एव स्वरः ❀। उक्थेभिः उक्थैः। उच्यन्त इत्यु-

क्थानि स्तोत्राणि । तैर्जरन्ते स्तुवन्ति । ❀ जरतिर्निरुक्तो धातुः स्तुत्यर्थे वर्तते ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! वह स्तोत्र ही है प्रयोजन जिनका ऐसे, आपको चाहते हुए, आपके मित्रभूत हम कण्वगोत्री उक्थों (स्तोत्रों)से आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥ २ ॥

न । घ । ईम् । अन्यत् । आ । पपन । वज्रिन् । अपसः । नविष्टौ ।
तव । इत् । ऊं इति । स्तोमम् । चिकेत ॥ २ ॥

हे वज्रिन् वज्रवन्निन्द्र अपसः कर्मणो यागात्मनो नविष्टौ नवनस्य स्तुतेरेषणायां सत्यां नवायाम् इष्टौ वा नूतने यागे कर्तव्ये सति । ❀ शकन्ध्वादित्वात् पररूपत्वम् ❀। ईम् इदानीम् अन्यत् त्वद्विषयाद् अपरम् अन्यदेवताविषयं स्तोत्रं न घ नैव आ पपन अभिष्टौमि । ❀ पनतेः स्तुतिकर्मणः उत्तमे णलि रूपम् ❀ । किं तु तवेदु तवैव स्तोमम् स्तोत्रं चिकेत जानामि ॥

हे वज्रधारी इन्द्रदेव ! अपूर्व नवीन यज्ञके समय में आपके अतिरिक्त दूसरे देवताकी स्तुति नहीं करता हूँ किंतु आपके ही स्तोत्रको जानता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥

इच्छन्ति । देवाः । सुन्वन्तम् । न । स्वप्नाय । स्पृहयन्ति ।

यन्ति । प्रऽमादम् । अतन्द्राः ॥ ३ ॥

देवाः इन्द्राद्याः सुन्वन्तम् सोमाभिषवं कुर्वन्तम् यजमानम् इच्छन्ति रक्षितुम् इच्छां कुर्वन्ति । स्वप्नाय । स्वप्नशब्देन अनादरो लक्ष्यते । तद्विषयानादराय न स्पृहयन्ति नेच्छन्ति । औदासीन्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः । ❀ "स्पृहेरीप्सितः" इति कर्मणि चतुर्थी ❀ । किं तु प्रमादम् प्रकर्षेण मादयितारं तं तस्य मदकरं सोमं वा उद्दिश्य अतन्द्राः अनलसाः सन्तो यन्ति गच्छन्त्येव । ❀ स्पृहयन्तीति । स्पृह ईप्सायाम् । चुरादिरदन्तः ❀ ॥

इन्द्र आदि देवता सोमका अभिषव करने वाले यजमान की इच्छा करते हैं-अर्थात् उसकी रक्षा करना चाहते हैं उसके विषय में उदासीनता नहीं करते हैं, किंतु प्रकृष्टतासे मदमें भरने वाले सोमको लक्ष्यमें रख आलस्यशून्य हो जाते ही हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वयमिन्द्र त्वायवोभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वस्य नो वसो ॥ ४ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वाऽयवः । अभि । प्र । नोनुमः । वृषन् ।

विद्धि । तु । अस्य । नः । वसो इति ॥ ४ ॥

हे वृषन् कामानां वर्षक इन्द्र त्वायवः त्वाम् इच्छन्तो वयम् । ❀ "सुप आत्मनः क्यच्" । "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इति त्वादेशः । कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सुपो लुक् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ❀ । अभि प्र णोनुमः आभिमुख्येन प्रकर्षेण स्तुमः । तु अपि च हे वसो वासक इन्द्र त्वमपि नः अस्मदीयम् अस्य एतत् स्तोत्रं विद्धि कामय ॥

हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्रदेव ! आपको चाहते हुए हम अभिमुख होकर आपकी स्तुति करते हैं, और हे वासक इन्द्र ! आप भी हमारी स्तुतिकी कामना करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मा नो॑ नि॒दे च॒ वक्त॑वे॒ऽर्यो र॑न्धी॒रारा॑व्णे ।

त्वे अपि॒ क्रतु॒र्मम॑ ॥ ५ ॥

मा । नः॒ । नि॒दे । च॒ । वक्त॑वे । अ॒र्यः । र॒न्धीः॒ । अरा॑व्णे ।

त्वे इति॑ । अपि॑ । क्रतुः॑ । मम॑ ॥ ५ ॥

अर्यः स्वामी त्वम् हे इन्द्र नः अस्मान् निदे च निन्दकाय च मा रन्धीः वशं मा नैषीः । ❀ रधेर्लुङि सिपि "इट ईटि" इति सिज्लोपे "रधिजभोरचि" इति नुमि कृते "न माङ्योगे" इत्यडभावे रूपम् ❀ । वक्तवे च परुषभाषिणे च मा रन्धीः । अराव्णे अदात्रे शत्रवे मा रन्धीः । अपि अपि च मम क्रतुः मदीयः संकल्पः स्तुतिलक्षणं कर्म वा त्वे त्वयि । यत एवम् अतो निन्दकादिभ्योऽस्मान् मा रन्धीरिति संबन्धः ॥

हे स्वामी इन्द्र ! आप हमें निन्दकके वशमें न डालिये, कठोर भाषण करने वालेके वशमें न डालिये, दान न देने वाले शत्रुके वशमें न डालिये, मेरा संकल्प वा स्तुतिरूप कर्म आपके लिये ही है अतः मुझको निंदक आदिके वशमें न डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्वं वर्मा॑सि स॒प्रथः॑ पुरोयो॒धश्च॑ वृत्रहन् ।

त्वया॒ प्रति॑ ब्रुवे यु॒जा ॥ ६ ॥

त्वम् । वर्म॑ । अ॒सि॒ । स॒ऽप्रथः॑ । पु॒रः॒ऽयो॒धः । च॒ । वृ॒त्र॒ऽह॒न् ।

त्वया । प्रति । ब्रुवे । युजा ॥ ६ ॥

हे वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तरिन्द्र समर्थः सर्वतः पृथुः सर्वत्र महान् पुरोयोधश्च संग्रामे अग्रतो योद्धा त्वं मम वर्मासि कवचं भवसि । शत्रुभिर्मुक्तानाम् इष्वादीनां पुरत एव निवारणात् वर्मत्वव्यपदेशः । तादृशेन युजा सहायभूतेन त्वया प्रति ब्रुवे शत्रून् प्रति ब्रवीमि भर्त्सयामि । प्रतिहन्मीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्र ! सर्वत्र महान् और आगे बढ़कर युद्ध करनेवाले आप मेरे कवचरूप होजाते हैं अर्थात् शत्रुओंके छोड़े हुए बाण आदिको पहिलेसे ही निवारण कर देनेके कारण आप मुझे कवचका काम देते हैं । ऐसे सहायक आपके कारण मैं शत्रुओंको धमकाता हूं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६२४) ।

"वार्त्रहत्याय शवसे" इति सूक्तस्य अतिरात्रे प्रथमपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोगः उक्तः ॥

"वार्त्रहत्याय शवसे" सूक्तका अतिरात्रके प्रथम पर्यायके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥

वार्त्रऽहत्याय । शवसे । पृतनाऽसह्याय । च ।
इन्द्र । त्वा । आ । वर्तयामसि ॥ १ ॥

वार्त्रहत्याय वृत्रहननिमित्ताय । "तस्येदम्" इति अण्

हृद्यनः । वृत्रघ्नः कर्म इत्यर्थे वा ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । ञित्त्वादि आद्युदात्तः ❀ । शत्रुसे बलाय अपि च पृतनाषाह्याय परकीय सेनाभिभवाय । ❀ षह अभिभवे इत्यस्माद् भावे "शकिसहोश्च" इति यत् । संहितायां "सहेः पृतनर्ताभ्यां च" इति षत्वम् । छान्दसो दीर्घः ❀ । तदर्थं त्वा त्वाम् आवर्तयामसि आवर्तयामः । अस्मदभिमुखं कुर्मः ॥

हम वृत्रहननरूप कर्मके लिये, बल दिखानेके लिये, शत्रुओं की सेनाओंका तिरस्कार करनेके लिये आपको अपने अभिमुख करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अर्वाचीनं सु ते मनं उत चक्षुः शतक्रतो ।

इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

अर्वाचीनम् । सु । ते । मनः । उत । चक्षुः । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।

इन्द्र । कृण्वन्तु । वाघतः ॥ २ ॥

हे शतक्रतो बहुकर्मेन्द्र ते तव मनः वाघतः यज्ञनिर्वाहका ऋत्विजः सु सुष्ठु अर्वाचीनम् अस्मदभिमुखं कृण्वन्तु । ❀ "विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति खप्रत्ययः । खस्य ईनादेशः । प्रत्ययस्वरः ❀ । उत अपि च ते चक्षुः तव दृष्टिमपि अस्मदभिमुखाम् अस्मासु कृपावतीं कुर्वन्तु ॥

हे अनेक कर्मोंसे सम्पन्न शतक्रतो इन्द्र ! यज्ञके निर्वाहक ऋत्विज आपको भली प्रकार हमारे अभिमुख करें आपकी दृष्टि को भी हमारी ओर कृपा भरी करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।

इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥

नामानि । ते । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । विश्वाभिः । गीःऽभिः ।

इन्द्र । अभिमातिऽसह्ये ॥ ३ ॥

हे शतक्रतो बहुकर्मेन्द्र अभिमातिषाह्ये । अभिमातयः शत्रवः तेषां सहनयोग्ये संग्रामे । अथ वा अभिमातिः पाप्मा । "पाप्मा वा अभिमातिः" इति श्रुतेः [तै०सं० २.१.३.५]। तस्य सहनयोग्ये पापक्षयनिमित्तभूते कर्मणि ते तव नामानि सहस्राक्षः पुरंदरादिरूपाणि । अथ वा नमनीयानि वृत्रवधादिकर्माणि विश्वाभिः सर्वाभिः गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः ईमहे याचामहे संकीर्तयामः । ❀ ई गतौ । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! शत्रुओंको दबानेके स्थलसंग्राममें वा पापक्षयके निमित्तभूत यज्ञमें हम आपके सहस्राक्ष पुरन्दर आदि नामोंका सकल स्तुतिरूप वाणियोंसे संकीर्तन करते हैं ॥ ३ ॥

॥ चतुर्थी ॥

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि ।

इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥

पुरुऽस्तुतस्य । धामऽभिः । शतेन । महयामसि ।

इन्द्रस्य । चर्षणिऽधृतः ॥ ४ ॥

पुरुष्टुतस्य पुरुभिर्बहुभिः स्तोतृभिः स्तुतस्य । ❀ "स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि" इति षत्वम् ❀ । शतेन शतसंख्याकैः धामभिः तेजोभिः । युक्तस्येति शेषः । यद्वा । ❀ षष्ठ्यर्थे तृतीया ❀ ।

धाम्नां स्थानानां शतेन युक्तस्य । असंख्यातस्थानयत इत्यर्थः । चर्षणीधृतः । चर्षणयो मनुष्याः । तान् धारयति रक्षतीति चर्षणीधृत् । तस्य उक्तलक्षणस्येन्द्रस्य । उक्तलक्षणम् इन्द्रम् इत्यर्थः । महयामसि महयामः पूजयामः स्तुमः । यद्वा शतेन शतसंख्याकेन स्तोत्रेण उक्तलक्षणम् इन्द्रं महयामसीति योज्यम् ॥

बहुतसे स्तोताओंसे स्तुत, सैंकड़ों तेजोंसे सम्पन्न और मनुष्यों की रक्षा करने वाले इन्द्रदेवकी हम पूजा करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे ।

भरेषु वाजसातये ॥ ५ ॥

इन्द्रम् । वृत्राय । हन्तवे । पुरुऽहूतम् । उप । ब्रुवे ।

भरेषु । वाजऽसातये ॥ ५ ॥

पुरुहूतम् बहुभिर्यजमानैराहूतं संग्रामे वा स्वस्वजयाय बहुभिराहूतम् इन्द्रं वृत्राय । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वम् ❀ । वृत्रनामानम् असुरं पापं वेत्यर्थः । हन्तवे हन्तुम् । ❀ "तुमर्थे०" तवेन् प्रत्ययः । निस्वरः ❀ । किं च भरेषु । संग्रामनामैतत् । संग्रामेषु वाजसातये । वाजः अन्नम् । "अन्नं वै वाजः" इति श्रुतेः [तै० सं० ५. ४. ६. ६] । अन्नलाभाय । शत्रुजयम् अन्तरेण तदीयस्यान्नस्य लाभाभावात् तज्जयायेत्युक्तम् भवति । उक्तलक्षणोभयविधप्रयोजनाय इन्द्रम् उप ब्रुवे उपेत्य स्तौमि ॥

यज्ञमें बहुतसे यजमानोंसे और संग्राममें अपनी २ विजयके लिये बहुतसे योधाओंसे आह्वान किये हुए इन्द्रदेवको मैं पापको

नष्ट करनेके लिये और संग्राममें वाज अर्थात् अन्न ‡ पानेके लिये इंद्रकी स्तुति करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।

इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥ ६ ॥

वाजेषु । ससहिः । भव । त्वाम् । ईमहे । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।

इन्द्र । वृत्राय । हन्तवे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र त्वं वाजेषु संग्रामेषु सासहिः शत्रूणाम् अभिभविता भव । ❀ सहेर्यङन्तात् किमत्ययः ❀ । तदर्थम् हे शतक्रतो बहुकर्मेन्द्र त्वाम् ईमहे याचामहे ॥ अथ परोक्षवादः । किं च इन्द्रं देवं वृत्राय हन्तवे वृत्रम् असुरं पापं वा हन्तुम् । स्तौमीति शेषः । अथ वा इन्द्रशब्दो यौगिकोत्र द्रष्टव्यः । इन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तं त्वा वृत्राय हन्तवे ईमहे इति संबन्धः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप संग्राममें शत्रुओंके तिरस्कारक बनें, इसके लिये हे शतक्रतो ! हम आपकी प्रार्थना करते हैं । हे इंद्रदेव ! मैं पापका संहार करनेके लिये आपकी स्तुति करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।

इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥ ७ ॥

द्युम्नेषु । पृतनाज्ये । पृत्सुतूर्षु । श्रवःऽसु । च ।

‡ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ६ । ६ में अन्नको वाज कहा है, यथा "अन्नं वै वाजः" ॥

इन्द्र । साच॑स्व । अ॒भिऽमा॑तिषु ॥ ७ ॥

हे इन्द्र पृतनाज्ये । संग्रामनामैतत् । पृतनानाम् अजनं जयो वाऽत्रेतितद्य् र्यापिः संग्रामे । ❀ पृतनाशब्दोपपदाद् अजतेर्जयतेर्वा "अघ्न्यादयश्च" [उ० ४. ११२] इति यक् प्रत्ययः । अजतिपक्षे "वा यति" इति वीभावविकल्पः । जयतेस्तु टिलोपो निपातनात् ❀ । धन्नेषु द्योतमानेषु धनेषु प्राप्तव्येषु पृत्सुतूर्षु पृतनासु सर्तव्यासु च । ❀ पृतनाशब्दस्य सौ परतो "मांस्पृत्स्नूनाम् उपसंख्यानम्" इति पृदादेशः । त्वरा संभ्रमे इति संपदादित्वात् क्विप् । "ज्वरत्वर०" इत्यादिना ऊठ् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ❀ । तथा श्रवःसु च । अन्ननामैतत् । ❀ श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति सत निरुक्तम् [नि० १०. ३] ❀ । अन्नेषु च लब्धव्येषु एवम् अभिमातिषु शत्रुषु पापेषु वा । हन्तव्येष्विति शेषः । एतेषु फलेषु निमित्तभूतेषु साचस्व अस्मान् सचस्व अनुसर । ❀ षच समवाये । लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् कुत्वषत्वे । दीर्घश्छान्दसः ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे इंद्रदेव ! संग्रामके समय, दमकते हुए धनोंको प्राप्त करते समय सेनाओंको तरनेके समय, अन्नप्राप्तिके अवसर पर और शत्रु वा पापोंको नष्ट करनेके अवसरों पर आप हमारा अनुसरण करिये ॥ ७ ॥

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६३५)

"शुष्मिन्तमं न ऊतये" इति सूक्तस्य अतिरात्रे ब्राह्मणाच्छंसिनः प्रथमपर्यायशस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"शुष्मिन्तमं न ऊतये" सूक्तका अतिरात्रमें ब्राह्मणाच्छंसी के प्रथमपर्यायशस्त्रमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।

इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ १ ॥

शुष्मिन्ऽतमम् । न । ऊतये । द्युम्निनम् । पाहि । जागृविम् ।

इन्द्र । सोमम् । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ १ ॥

हे शतक्रतो बहुकर्मेन्द्र नः अस्माकं संबन्धिनं शुष्मिन्तमम् अतिशयेन बलवन्तम् । ❀ "नाद्घस्य" इति नुडागमः ❀ । द्युम्निनम् द्योतनवन्तं जागृविम् जागरणशीलं स्वप्ननिवारकम् । न हि सोमं पीतवतः स्वप्नमसक्तोऽस्ति अस्वप्नत्वसाधनत्वात् तस्य । उक्तमहिमोपेतं सोमम् ऊतये अस्माकं रक्षणाय पाहि पिब ॥

हे शतक्रतु इन्द्रदेव ! आप हमारे परमबलप्रद, दमकते हुए, स्वप्ननिवारक सोमका हमारी रक्षाके लिये पान करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।

इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्चऽसु ।

इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ २ ॥

हे शतक्रतो हे इन्द्र ये तव संबन्धीनि यानि प्रसिद्धानि इन्द्रियाणि इन्द्रसृष्टानि इन्द्रदत्तानि वा वीर्याणि दर्शनश्रवणादिसाधनानि पञ्चसु जनेषु देवमनुष्यपितृअसुररक्षःसु निषादपञ्चमेषु चतुर्षु वर्णेषु वा विद्यन्ते ते तव स्वभूतानि तानि आ वृणे संभजेय । ❀ वृङ् संभक्तौ इत्यस्य लटि रूपम् ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! हे शतक्रतो ! आपके जो दर्शन श्रवण आदि रूप वीर्य, देव मनुष्य पितर असुर और राक्षसोंमें हैं उन सबको मैं प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्

उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ३ ॥

अगन् । इन्द्र । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तरम् ।

उत् । ते । शुष्मम् । तिरामसि ॥ ३ ॥

हे इन्द्र तव संबन्धि बृहत् महत् प्रभूतं श्रवः अन्नम् अगन् अस्मान् गच्छतु । यद्वा उक्तरूपं सोमलक्षणम् अन्नं त्वाम् अगन् प्राप्नोतु । ❀ गमेर्लङि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । "हल्ङ्याब्भ्यो०" इत्यादिना तिलोपः । "मो नो धातोः" इति मकारस्य नकारः । अडागमः । स्वरः ❀ । त्वं च दुस्तरम् शत्रुभिस्तरीतुम् अयोग्यं द्युम्नम् द्योतमानं यशो द्रविणं वा दधिष्व अस्मासु स्थापय । वयं तु ते शुष्मम् बलम् उत् तिरामसि सोमेन स्तोत्रेण च वर्धयामः । ❀ तॄ प्लवनतरणयोः । लटि व्यत्ययेन शः । "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम् । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

हे इंद्रदेव ! आपका विशाल अन्न हमको प्राप्त होवे और आप शत्रुओंसे तरनेके अयोग्य दमकते हुए धनको हममें स्थापित करिये, और हम तो आपके बलको सोम और स्तोत्रसे बढ़ाते हैं

चतुर्थी ॥

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।

उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ४ ॥

अर्वाऽवतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । पराऽवतः ।

ऊं इति । लोकः । ते । अद्रिऽवः । इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि

हे शक्र बलवन्निन्द्र अर्वावतः अर्वाचीनात् समीपाद् देशाद् अथो अपि च परावतः अतिदूराद् देशात् । ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः । प्रत्ययस्वरः ❀ । नः अस्मान् अभिलक्ष्य आ गहि आगच्छ । उ इति वाक्यालंकारे । अद्रिवः । अत्ति भक्षयति शत्रून् इति अद्रिर्वज्रः । आदृणातीति वा । तद्वन् ते तव यो लोकः उत्तमो लोकोस्ति हे इन्द्र ततस्तस्मादपि लोकाद् इह अस्मिन् देवयजने देशे सोमपानार्थम् आ गहि आगच्छ । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । सेर्हिरादेशः । हेरपित्वाद् ङिद्वद्भावेन "अनुदात्तोपदेश०" इत्यादिना अनुनासिकलोपः ❀ ॥

हे बलवान् इंद्र ! आप समीपके स्थलमें हों तो समीपके स्थल से और दूरके स्थलमें हों तो दूरसे हमारे पास आइये, हे वज्रधारिन् इंद्र ! आपका जो उत्तम लोक है उस स्थानसे भी आप सोमपान करनेके लिये इस पूजाके स्थानमें आइये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्रो॑ अ॒ङ्ग म॒हद्भ॒यम॒भी षदप॑ चुच्यवत् ।

स हि स्थि॒रो विच॑र्षणिः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । अ॒ङ्ग । म॒हत् । भ॒यम् । अ॒भि । सत् । अप । चु॒च्य॒व॒त् ।

सः । हि । स्थि॒रः । विऽच॑र्षणिः ॥ ५ ॥

अङ्गेति आत्मानम् ऋत्विजं वा अभिमुखीकृत्य ब्रूते । इन्द्रो देवः अस्माकम् उत्पन्नं महत् प्रभूतम् अन्यैः परिहर्तुम् अशक्यं

भयम् अभी षत् अभिभवति परिहरति । ❀ अभिपूर्वात् सदेर्लङ् । बहुलवचनाद् अडभावः । "इतश्च" लोपः । संयोगान्तलोपः । "सदिरप्रतेः" इति षत्वम् । निपातस्य च" इति दीर्घः ❀ । किं भयस्य अभिभवमात्रम् नेत्याह अप चुच्यवद् इति । भयम् अपच्यावयति अस्मत्तः पृथक्कृत्य दूरतोपसारयति । ईदृशः सामर्थ्यस्य संभावनाम् आह । स हि स खल्विन्द्रः स्थिरः स्वयम् अन्येन न च्याव्यः विचर्षणिः विश्वस्य द्रष्टा । भयकृतः प्रच्छन्नान् प्रकाशांश्च रक्षणीयान् अस्मांश्च जानातीत्यर्थः । ❀ अप चुच्यवद् इति । च्युङ् प्लुङ् गतौ इत्यस्मात् लुङि णिलोपे उपधाह्रस्वत्वे "स्रवतिशृणोति०" इत्यादिना अभ्यासस्य विकल्पेन इत्वम् । "बहुलं छन्दसि०" इति अडभावः ❀ ॥

हे आत्मा वा ऋत्विज ! इन्द्रदेव हमारे ऊपर पड़े हुए, दूसरों से न हटाने योग्य बड़े भारी भयका तिरस्कार कर डालते हैं। और भयको हमसे अलग करके दूर भगा देते हैं, वह इंद्रदेव स्थिर रहने वाले हैं अर्थात् कोई उनको च्युत नहीं कर सकता और वह सबको देखने वाले हैं अर्थात् छिपे हुए भय देने वालों को और प्रकाशित हम रक्षणीयोंको भी जानते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।

भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥

इन्द्रः । च । मृळयाति । नः । न । नः । पश्चात् । अघम् । नशत् । भद्रम् । भवाति । नः । पुरः ॥ ६ ॥

इन्द्रश्च । च शब्दश्चेदर्थे । अस्माभिः शरणं गन्तव्यो इन्द्रः इन्द्रश्चेत् परमैश्वर्यगुणविशिष्टः सर्वभूतस्य रक्षकश्चेद् नः अस्मान्

मृडयाति सुखयतु । ❀ मृड सुखने लेटि आडागमः कृते रूपम् ❀ । स तादृशश्चेत् पश्चात् पृष्ठतो नः अस्मान् अघम् दुःखं न नशत् न प्राप्नोतु । ❀ नशेर्लेट् ❀ । किं च नः अस्माकं पुरः पुरस्ताद् भद्रम् मङ्गलं च भवाति भवतु । ❀ भवतेर्लेट् ❀ ॥

यदि इन्द्रदेव हमारे रक्षक हों तो वह हमको सुख देवें, यदि इन्द्रदेव हमारे रक्षक हों तो पीछे हमारा दुःख नष्ट होजावे, और हमारे सामने मङ्गल होवे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ ७ ॥

इन्द्रः । आशाभ्यः । परि । सर्वाभ्यः । अभयम् । करत् ।
जेता । शत्रून् । विऽचर्षणिः ॥ ७ ॥

स इन्द्रः सर्वाभ्य आशाभ्यस्परि । ❀ परीति पञ्चमीद्योतकः ❀। दिग्भ्यो विदिग्भ्यः उपर्यधोदिग्भ्यो च अस्माकम् अभयम् भयराहित्यं क्षेमं करत् करोतु । सकलदिग्गतभयपरिहारसामर्थ्यं तस्य संभावयति । स इन्द्रः शत्रून् जेता सर्वास्वपि दिक्षु अस्माकं ये भयकारिणः शत्रवः सन्ति तेषां सर्वेषाम् अभिभविता विचर्षणिः तेषां विद्रष्टा च ॥

इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

इन्द्रदेव सब दिशा विदिशाओंसे हम पर पड़ सकने वाले भयोंको दूर करें । यह इन्द्रदेव सब दिशाओंमें जो हमारे शत्रु होंगे उनको सूक्ष्मतासे देखने वाले हैं ॥ ७ ॥

तृतीय अनुवाकमें तृतीयसूक्त समाप्त (६३६)

"न्यूषु वाचम्" इति सूक्तस्य ब्राह्मणाच्छंसिनः प्रथमपर्यायशस्त्रे विनियोग उक्तः। अत्र "प्र ववचि" इत्येषा अन्तिमा परिधानीया॥

"न्यूषु वाचम्" सूक्तका ब्राह्मणाच्छंसीके प्रथम शस्त्रपर्यायमें विनियोग कहा है। यहाँ "प्र ववचि" यह अंतिम ऋचा परिधानीया है।

तत्र प्रथमा ॥

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते ॥ १ ॥

नि। ऊं इति। सु। वाचम्। प्र। महे। भरामहे। गिरः।
इन्द्राय। सदने। विवस्वतः।
नु। चित्। हि। रत्नम्। ससताम्ऽइव। अविदत्। न। दुःऽस्तुतिः।
द्रविणःऽदेषु। शस्यते ॥ १ ॥

महे महते। ❀ महच्छब्दस्य अच्छब्दलोपश्छान्दसः ❀। इन्द्राय देवाय सु वाचम् शोभनां स्तुतिं नि प्र भरामहे नितरां प्रयुञ्ज्महे। उ इति पदपूरणः। ❀ न्यूष्विति। "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति स्वरितत्वम्। तच्च उदात्तपरत्वात् संहितायां कम्पते। "इकः सुञि" इति दीर्घत्वम्। "सुञः" इति षत्वम् ❀। यतो विवस्वतः परिचरतो यजमानस्य सदने यज्ञगृहे इन्द्राय गिरः स्तुतयः क्रियन्ते। हि यस्मात् स इन्द्रः नू चित् क्षिप्रमेव रत्नम् रमणीयम् असुराणां धनम् अविदत् विन्दति। तत्र दृष्टान्तः। ससतामिव यथा ससताम् स्वपतां पुरुषाणां धनं

चोरः क्षिप्रं लभते तद्वत् । अतोऽस्मभ्यं धनं दातुं शक्त इति भावः । द्रविणोदेषु धनस्य दातृषु पुरुषेषु दुष्टुतिः असमीचीना स्तुतिः न शस्यते नाभिधीयते न युज्यते वा । अतः सुवाचं प्रभरामहे इति पूर्वेण संबन्धः ॥

महान् इंद्रदेवके लिये हम सुन्दर वाणी वाली स्तुतिका पूर्ण-रीतिसे प्रयोग करते हैं, क्योंकि-सेवा करने वाले यजमानके यज्ञ-गृहमें इन्द्रके लिये स्तुतियें उच्चारण की जारही हैं, क्योंकि-वह इन्द्रदेव, चोर जैसे सोने वालोंके धनको शीघ्रतासे लेलेता है इसी प्रकार असुरोंके धनका शीघ्रतासे प्राप्त कर लेते हैं [तात्पर्य यह है, कि-वह हमको धन देसकते हैं] और धनको प्रदान करने वाले पुरुषोंके लिये ओछी स्तुति उपयुक्त नहीं होती अत एव मैं सुन्दर वाणी वाली स्तुतिका पूर्णरीतिसे प्रयोग करता हूं ॥१॥

द्वितीया ॥

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः ।

शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥ २ ॥

दुरः । अश्वस्य । दुरः । इन्द्र । गोः । असि । दुरः । यवस्य । वसुनः । इनः । पतिः ।

शिक्षाऽनरः । प्रऽदिवः । अकामऽकर्शनः । सखा । सखिऽभ्यः । तम् । इदम् । गृणीमसि ॥ २ ॥

हे इन्द्र त्वम् अश्वस्य । ❀ जातावेकवचनम् ❀ । अश्वानाम्

एतद् गजादीनामपि उपलक्षणम्। अश्वगजादिवाहनानां दुरः दाता असि। ❀ डुदाञ् दाने। मन्दिवाशीत्यादिना [उ० १. ३८] विधीयमान उरच् प्रत्ययो बहुलवचनाद् अस्मादपि भवति। अत एव आकारलोपः ❀। तथा गोः। एतद् उपलक्षणं महिष्यादेः। गोमहिष्यादीनां दुरोसि। तथा यवस्य। एतद् व्रीह्यादिधान्यजातस्य उपलक्षणम्। तस्य दुरोसि। एवं वसुनः धनस्य हिरण्यमणिमुक्तादिरूपस्य इनः स्वामी पतिः पालकश्चासि। शिक्षानरः। ❀ शिक्षतिर्दानकर्मा ❀। शिक्षाया दानस्य नेतासि। यद्वा शिक्षाविषयभूता नरो मनुष्या यस्य स शिक्षानरः प्रदिवः प्रगता दिवो दिवसा यस्य स तथोक्तः। पुराण इत्यर्थः। अकामकर्शनः कामानां कर्शकः कामकर्शनः स न भवतीत्यकामकर्शनः। स्वसेविनां कामवर्धक इत्यर्थः। एवं सखिभ्यः समानख्यानेभ्यः सखिभूतेभ्य ऋत्विग्भ्यः सखा मित्रभूतः एवंमहिमा य इन्द्रोस्ति तं तादृशम् इन्द्रम् इदं स्तोत्रं गृणीमसि गृणीमः उच्चारयामः कुर्मः। ❀ गॄ शब्दे। क्र्यादिकः। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम्। "इदन्तो मसिः" इति मस इकारः ❀॥

हे इन्द्रदेव! आप अश्व गज आदि वाहनोंको प्रदान करने वाले हैं, गौ भैंस आदिके प्रदान करने वाले हैं, जौ धान आदि के दाता हैं तथा हिरण्य मुक्ता आदि धनके स्वामी और रक्षक हैं, मनुष्योंको शिक्षा देने वाले हैं, आपको बहुत दिन बीत गए हैं अर्थात् आप प्राचीन हैं, आप अपने सेवकोंके कार्योंको बढ़ाने वाले हैं और आप समान ख्याति वाले ऋत्विजोंके मित्ररूप हैं, ऐसे इन्द्रदेवके लिये हम इस स्तोत्रका उच्चारण करते हैं॥ २॥

तृतीया॥

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।

अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः कामम्‌नयीः ॥ ३ ॥

शचीऽवः । इन्द्र । पुरुऽकृत् । द्युमत्ऽतम । तव । इत् । इदम् । अभितः । चेकिते । वसु ।
अतः । सम्ऽगृभ्य । अभिऽभूते । आ । भर । मा । त्वाऽयतः । जरितुः । कामम् । ऊनयीः ॥ ३ ॥

हे शचीवः । प्रज्ञानामैतत् । प्रज्ञानवन्निन्द्र । ❀ "मतुवसो रुः संबुद्धौ छन्दसि" इति रुत्वम् । पाष्ठिकम् आमन्त्रिताद्य दात्तत्वम् ❀। हे इन्द्र परमैश्वर्यगुणविशिष्ट पुरुकृत् बहूनां कर्तः द्युमत्तम दीप्तिमत्तमः । ❀ एषाम् इन्द्रादीनाम् आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । न च "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इत्यविद्यमानवत्त्वम् । "नामन्त्रिते समानाधिकरणे०" इति निषेधात् ❀। एवंमहानुभाव इन्द्र अभितः सर्वत्र यद् वसु धनं विद्यते तद् इदं सर्वं तवेत् तवैव स्वम् । धनजातस्य सर्वस्यापि त्वमेव स्वामीत्यर्थः । इत्थं चेकिते भृशम् अस्माभिर्ज्ञायते । ❀ कित ज्ञाने । अस्माद् यङन्ताद् वर्तमाने लिटि "०अमन्त्रे०" इति निषेधाद् आम्प्रत्ययाभावे सति लिट आर्धधातुकत्वाद् अतोलोपयलोपौ ❀। हे अभिभूते शत्रूणाम् अभिभवितरिन्द्र अतः अस्मात् कारणात् संगृभ्य सर्वं धनं संगृह्य आ भर आहर अस्मभ्यं प्रयच्छ । त्वायतः त्वाम् आत्मन इच्छतो जरितुः स्तोतुर्मम कामं मोनयीः ऊनं मा कार्षीः । पूरयेत्यर्थः । ❀ ऊन परिहाणे । लुङि "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०" इति च्लेश्चङादेशस्य "नोनयतिध्वनयति०" इत्यादिना प्रतिषेधे "ह्म्यन्तक्षण०" इति सिचिवृद्धिप्रतिषेधः ❀ ॥

हे महाज्ञानवान्, परमैश्वर्यविशिष्ट, बहुतसे कर्मोंको करने वाले, परम प्रदीप्त इन्द्रदेव ! चारों ओर जो धन है वह सब आपका ही है अर्थात् उस सब धनके आप ही स्वामी हैं, इस बातको हम अच्छी तरह जानते हैं । हे शत्रुओंको दबाने वाले इन्द्र ! इस कारण आप सब धनको संग्रह करके हमें प्रदान करिये, अपने लिये आपकी इच्छा करने वाले मुझ स्तोताको आप कम मत करिये, पूर्ण करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना ।

इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि

एभिः । द्युऽभिः । सुऽमनाः । एभिः । इन्दुऽभिः । निऽरुन्धानः । अमतिम् । गोभिः । अश्विना ।

इन्द्रेण । दस्युम् । दरयन्तः । इन्दुऽभिः । युतऽद्वेषसः । सम् । इषा । रभेमहि ॥ ४ ॥

हे इन्द्र एभिः अस्माभिर्दत्तैः द्युभिः दीप्तैश्चरुपुरोडाशादिभिः एवम् एभिःअस्माभिर्दत्तैः इन्दुभिः सोमैश्च प्रीतस्त्वम् अस्माकम् अमतिम् दारिद्र्यम् गोभिर्बह्वीभिः अश्विना अश्ववता धनेन च निरुन्धानः निवर्तयन् सुमनाः शोभनमनाः । भवेति शेषः । वयम् इन्दुभिः अस्माभिर्दत्तैः सोमैः प्रीतेन इन्द्रेण दस्युम् उपक्षपयितारं शत्रुं दरयन्तः दारयन्तो हिंसन्तः अत एव युतद्वेषसः । ❀ यम यौतिरमिश्रणार्थः ❀ । पृथग्भूतद्वेषाः अपगतशात्रवः सन्तः इषा अन्नेन इन्द्रदत्तेन सं रभेमहि संरब्धा भवेम । संगता भवेमेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! हमारे दिये हुए इन दमकते हुए पुरोडाश आदिसे और हमारे दिये हुए इन सोमोंसे प्रसन्न हुए आप हमारी दरिद्रताको बहुतसा गौ घोड़े वाले धनसे दूर करते हुए शोभन मन वाले हूजिये । हम अपने दिये हुए सोमोंसे प्रसन्न हुए इन्द्रदेवके द्वारा अपना क्षय करने वाले शत्रुओंको विदीर्ण करते हुए शत्रुरहित होकर इन्द्रप्रदत्त अन्नसे संगत होवें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।

सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥ ५ ॥

सम् । इन्द्र । राया । सम् । इषा । रभेमहि । सम् । वाजेभिः । पुरुऽचन्द्रैः । अभिद्युऽभिः ।

सम् । देव्या । प्रऽमत्या । वीरऽशुष्मया । गोऽअग्रया । अश्वऽवत्या । रभेमहि ॥ ५ ॥

हे इन्द्र राया धनेन त्वदीयेन सं रभेमहि संगच्छेमहि । तथा इषा सर्वैरिष्यमाणेन अन्नेन सं रभेमहि तथा वाजेभिः वाजैर्बलैः सं रभेमहि । कीदृशैः । पुरुश्चन्द्रैः पुरूणां बहूनां प्रजानाम् आह्लादकैः अभिद्युभिः अभितो दीप्यमानैः । किं च देव्या देवस्य इन्द्रस्य संबन्धिन्या प्रमत्या प्रकृष्टया बुद्ध्या अनुग्रहरूपया सं रभेमहि । प्रमतिं विशिनष्टि । वीरशुष्मया विविधम् ईरकं निवारकं शुष्मं बलं यस्याः सा तादृश्या । गोअग्रया गावो दातव्या अग्रे यस्यां प्रमत्यां सा तथोक्ता तादृश्या । ❀ "सर्वत्र विभाषा

गोः" इति प्रकृतिभावः ❀ । अश्वावत्या अश्वैरसमभ्यं दातव्यै-स्तद्वत्या । ❀ "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इति मतुपि दीर्घत्वम्❀। एवंमहानुभावया प्रमत्या सं रभेमहीति संबन्धः ॥

हे इन्द्रदेव ! हम आपके धनसे संगत होवें तथा सबोंसे अभिलषित धनोंसें सम्पन्न होवें, तथा बहुतसी प्रजाओंको प्रसन्न करने वाले दमकते हुए बलोंसे सम्पन्न होवें, आपकी अनुग्रहमयी श्रेष्ठ बुद्धिसे संगत होवें, अनेक प्रकारसे निवारण करने वाले घलोंको देने वाली, गौओंको पहिले प्रदान करने वाली आपकी अनुग्रहमयी बुद्धिसे सम्पन्न होवें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ते त्वा मदा अमदन् तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते ।
यत् कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः ॥ ६ ॥

ते । त्वा । मदाः । अमदन् । तानि । वृष्ण्या । ते । सोमासः । वृत्रऽहत्येषु । सत्ऽपते ।
यत् । कारवे । दश । वृत्राणि । अप्रति । बर्हिष्मते । नि । सहस्राणि । बर्हयः ॥ ६ ॥

हे सत्पते सतां पालक इन्द्र वृत्रहत्येषु वृत्राणां शत्रूणां हत्येषु हननेषु निमित्तभूतेषु सत्सु ते प्रसिद्धा मदाः मदकरा आज्यपुरोडाशादयो मरुतो वा त्वा त्वाम् अमदन् हर्षं प्रापयन् । तथा तानि प्रसिद्धानि वृष्ण्या वर्षकस्य तव हर्षसाधनत्वेन संबन्धीनि स्तोत्रा-

एव अपि त्वाम् अमदन्। ते प्रसिद्धाः सोमासः सोमा अपि त्वाम् अमदन्। यत् यदा कारवे। स्तोतृनामैतत्। स्तोत्रे बर्हिष्मते याग-वते यजमानाय दश सहस्राणि वृत्राणि आवरकाणि पापानि अमित्रान् वा अप्रति प्रतिरहितं यथा भवति तथा नि बर्हयः न्य-वधीः। तदानीम् इति पूर्वेण संबन्धः। ॐ बर्हयतिर्हिंसाकर्मा। लङि "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यडभावः। शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वे णिचः स्वरः शिष्यते। यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः॥

हे सज्जनोंके पालक इन्द्रदेव! शत्रुओंके नाश करनेके अव-सरों पर मदकारी घृत पुरोडाश आदि आपको हर्ष देवें और फलोंकी वर्षा करने वाले आपके स्तोत्र भी आपको हर्ष दें, और वह प्रसिद्ध सोम भी आपको हर्षमें भरें। जिस समय आप स्तुति करने वाले कुशा वाले यजमानके लिये दश हजार घेरने वालों को अपुनर्भवरूपमें मारें तब ये सोम आदि आपको आनंद देवें ६

सप्तमी॥

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥ ७ ॥

युधा। युधम्। उप। घ। इत्। एषि। धृष्णुऽया। पुरा। पुरम्। सम्। इदम्। हंसि। ओजसा।

नम्या। यत्। इन्द्र। सख्या। पराऽवति। निऽबर्हयः। नमुचिम्। नाम। मायिनम् ॥ ७ ॥

हे इन्द्र त्वं युधा प्रहरणसाधनेन वज्रेण आयुधेन। अथवा

योधनं युध् तेन । प्रहरणेनेत्यर्थः । ॐ संपदादिलक्षणः क्विप् ॐ । कीदृशेन । धृष्णुया धर्षकेण युधम् शत्रोरायुधं प्रहरणं वा उप घेदेषि । घेति पूरणः । उपैष्येव उपगच्छस्येव । अनेनास्य द्वन्द्वयुद्धकुशलत्वम् उक्तं भवति । एवं पुरा नगरेण । अत्र पुर्शब्देन तत्रस्था भटा लक्ष्यन्ते । पुरस्थैः स्वकीयैर्योद्धृभिर्मरुत्प्रभृतिभिः इदम् इदानीं पुरम् शत्रुनगरं पुरस्थान् योद्धॄन् वा ओजसा बलेन सं हंसि सम्यग् नाशयसि । यत् यस्मात् कारणात् नम्या नम्यया सर्वैः महीभवितुम् अर्हया सख्या सखिभूतया शक्तया आयुधेन परावति दूरदेशे नमुचिं नाम नमुचिनामधेयम् असुरं मायिनम् मायावन्तं निबर्हयः निरासम् अहिंसीः । अतस्त्वम् एवं स्तूयस इत्यर्थः ॥

हे इंद्रदेव ! आप धर्षक प्रहारके साधन आयुधसे शत्रुके आयुध पर टूट ही पड़ते हैं, इससे इंद्रदेवका 'द्वन्द्वयुद्धमें कुशल होना कहा और अपने पुरमें स्थित मरुत् आदि भटोंसे शत्रुनगरनिवासी योधाओंको बलपूर्वक मरवा देते हैं। क्योंकि—आपने सबसे नमनीय मित्ररूपा शक्ति आयुधसे दूरदेशमें मायावी नमुचिको मार डाला है अत एव आपकी स्तुति की जाती है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता
ऋजिश्वना ॥ ८ ॥

त्वम् । करञ्जम् । उत । पर्णयम् । वधीः । तेजिष्ठया । अतिथिऽग्वस्य । वर्तनी ।

स्वम् । शता । वङ्गृदस्य । अभिनत् । पुरः । अनानुऽदः । परिऽसूताः । ऋजिश्वना ॥ ८ ॥

हे इन्द्र त्वं करञ्जम् एतन्नामानम् असुरं वधीः अवधी हतवान् असि । ❀ हन्तेर्लुङि सिपि "लुङि च" इति वधादेशः । तस्य अदन्तत्वाद् वृद्ध्यभावः । अत एव अनेकाच्त्वाद् इट्प्रतिषेधाभावः । "इट ईटि" इति सिचो लोपः ❀ । उत अपि च पर्णयम् एतत्संज्ञकम् असुरं वधीः । किमर्थम् अवधीरिति तत्राह । अतिथिग्वस्य अतिथ्यर्था गावो यस्यासौ अतिथिग्वः । तस्य राज्ञः प्रयोजनाय । केन साधनेनेति उच्यते । तेजिष्ठया अतिशयेन तेजोवत्या । ❀ तेजःशब्दाद् "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति मत्वर्थीयो विनिः । तस्माद् आतिशायनिकष्ठन् । "विन्मतोर्लुक्" इति विनो लुक् । "टेः" इति टिलोपः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । तादृश्या वर्तनी वर्तन्या शक्त्या एतन्नामकेन आयुधेन ॥ किं च त्वम् ऋजिश्वना एतन्नामकेन राज्ञा निमित्तेन परिसूताः परितोऽवष्टब्धाः शता शतानि शतसंख्याका वङ्गृदस्य एतत्संज्ञकस्य असुरस्य पुरः पुराणि नगराणि अभिनत् नाशितवान् । कीदृशस्त्वम् । अनानुदः नुदति शत्रून् अपसारयतीति नुदः न तादृशोऽनुदः अप्रेरकः । तादृशो न भवतीत्यनानुदः । सर्वदा शत्रूच्चाटक इत्यर्थः । अथ वा अनु पश्चाद् द्यति खण्डयतीत्यनुदः अनुचरः । स यस्य नास्ति सोऽनानुदः । असहायभूत इत्यर्थः । ❀ दो अवखण्डने । "आदेचः०" इत्यात्त्वम् । "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्ययः । नास्ति अनुदोऽस्य इति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

हे इंद्रदेव ! आपने अतिथिग्व नाम वाले राजाके कारण परम तेजोमयी वर्तनी नामक शक्तिसे करञ्ज नाम वाले असुरको मार

डाला था, और पर्णय नामक असुरको भी आपने मार डाला था और आपने किसीकी सहायता न लेकर ऋजिश्वन् नामक राजाके लिये वङ्गृद नामक असुरके सौ रचित पुरोंको नष्ट कर डाला था ॥ ८ ॥

नवमी ॥

त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥ ९ ॥

त्वम् । एतान् । जनऽराज्ञः । द्विः । दश । अबन्धुना । सुऽश्रवसा । उपऽजग्मुषः ।
षष्टिम् । सहस्रा । नवतिम् । नव । श्रुतः । नि । चक्रेण । रथ्या । दुःऽपदा । अवृणक् ॥ ९ ॥

हे इन्द्र श्रुतः विख्यातस्त्वम् अबन्धुना बन्धुरहितेन सहायवर्जितेन सुश्रवसा एतन्नामकेन राज्ञा निमित्तेन एतान् प्रसिद्धान् उपजग्मुषः उपगतान् निरोधं कृतवतः द्विर्दश द्विगुणितान् दशसंख्याकान् । विंशतिसंख्याकान् इत्यर्थः । तथा षष्टिं सहस्रा सहस्राणां षष्टिम् षष्टिसहस्रसंख्याकान् तथा नवतिं नव नवोत्तरनवतिसंख्याकान् जनराज्ञः जनानां भटानां स्वामिनः उक्तसंख्याकान् सेनानायकान् दुष्पदा दुष्पदनेन शत्रुभिर्गन्तुम् अशक्येन रथ्या रथार्हेण । ❀ "रथाद्यत्" इति यत् ❀ चक्रेण न्यवृणक् न्यवर्जयः अनाशयः । ❀ वृजी वर्जने । रौधादिकः । लङि मध्यमैकवचने "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति सिपो लोपः । "चोः कुः" इति कुत्वम् ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप प्रसिद्ध हैं आपने सहायकरहित सुश्रवा राजाके कारण उसको घेरने वाले बीस, साठ हजार और निन्यानवें सेनानायकोंको चक्रसे मार डाला था शत्रु उस चक्रको पहुँच नहीं सकते थे ॥ ९ ॥

दशमी ॥

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम् ।

त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे राज्ञे॒ यूने॑ अरन्धनायः

त्वम् । आ॒वि॒थ॒ । सु॒ऽश्रव॑सम् । तव॑ । ऊ॒तिऽभिः॑ । तव॑ । त्राम॑ऽभिः । इ॒न्द्र॒ । तूर्व॑याणम् ।

त्वम् । अ॒स्मै॒ । कुत्स॑म् । अ॒ति॒थि॒ऽग्वम् । आ॒युम् । म॒हे । राज्ञे॑ । यूने॑ । अरन्धनायः ॥ १० ॥

हे इन्द्र त्वम् सुश्रवसम् पूर्वमन्त्रे अबन्धुना सुश्रवसेत्युक्तम् असहायं दुर्बलम् एतन्नामानं राजानं तव ऊतिभी रक्षाभिः आविथ ररक्षिथ । तथा तस्यैव राज्ञोर्थाय तूर्वयाणम् एतत्संज्ञकं राजानं तव त्रामभिः पालनैः । आविथेति संबन्धः । ॐ त्रैङ् पालने । "आदेचः०" इति आत्वम् । "आतो मनिन्०" इति मनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तत्वम् ॐ । एवं त्वम् अस्मै सुश्रवसे राज्ञे । कीदृशाय । महे महते यूने वयःस्थाय युवराजभूताय सुश्रवसे कुत्सम् अतिथिग्वम् आयुं च अरन्धनायः वशम् अनैषीः । ॐ रन्धनं वशीकरणं करोति । "तत् करोति०" इति णिच् । "इष्ठवण्णौ प्रातिपदिकस्य" इति इष्ठवद्भावाट्टिलोपः । लङि सिपि दीर्घश्छान्दसः ॐ ॥

हे इन्द्रदेव आपने सुश्रवा नामक राजाकी अपनी रक्षक शक्तियोंसे रक्षा की है और उसी राजाके लिये तूर्वयाण नामक राजाका पालकशक्तियोंसे पालन किया है। इस युवराज सुश्रवा राजाको कुत्स अतिथिग्व और आयुको सौंप दिया था ॥ १० ॥

एकादशी ॥

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ ११ ॥

ये। उत्ऽऋचि। इन्द्र। देवऽगोपाः। सखायः। ते। शिवऽतमाः। असाम।
त्वाम्। स्तोषाम। त्वया। सुऽवीराः। द्राघीयः। आयुः। प्रऽतरम्। दधानाः ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ये वयम् उदृचि उदर्के यज्ञसमाप्तौ वर्तमाना देवगोपाः देवेन त्वया पालिताः ते तव सखायः सखिवत् अत्यन्तप्रियाः स्म एव शिवतमा असाम अतिशयेन कल्याणा अभूम। ॐअस भुवि। लुडर्थे लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति पिद्भावात् "पिच्च ङिन्न" इति ङित्वाभावे "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपाभावः। पित्वादेव निघातोऽनुदात्तत्वम्। धातुस्वरः शिष्यते ॐ। ते वयं यज्ञसमाप्त्युत्तरकालमपि त्वां स्तोषाम स्तवाम। ॐ स्तौतेर्लोटि "सिब्बहुलं लेटि" इति बहुलग्रहणात् लोटयपि सिप्। तस्य पित्वाद् गुणः ॐ। अस्माभिः स्तुतेन त्वया सुवीराः शोभनपुत्रवन्तः सन्तः द्राघीयः अतिशयेन दीर्घम् आयुः। जीवनं प्रतरम् प्रकृष्टतरं यथा भवति तथा दधानाः धारयन्तो भूयास्म ॥

इति तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! जो हम हैं वह इस यज्ञकी समाप्तिके समय आपसे देवतासे रक्षित रहें हम आपके मित्रकी समान परम मित्र हैं अत एव हम परम कल्याणको प्राप्त होवें। हम यज्ञसमाप्तिके अनंतर भी आपकी स्तुति करते रहें, आपकी स्तुति करनेसे आपकी दया पानेके कारण हम शोभन पुत्रोंसे सम्पन्न रहें, दीर्घायु पावें और श्रेष्ठतासे तरने योग्य आयुको पावें ॥ ११ ॥

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५२७)।

अतिरात्रे क्रतौ मध्यमपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे "अभि त्वा वृषभा सुते" इत्यादीनि चत्वारि सूक्तानि विनियुक्तानि। चतुर्थसूक्तस्य अन्तिमा "बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय" इत्येषा परिधानीया। सूत्रितं हि। "मध्यमे त्रिवृदसि" इति प्रक्रम्य "अभि त्वा वृषभा सुते [१.] अभि प्र गोपतिं गिरा [४] इति स्तोत्रियानुरूपौ। बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय [२०. २५. ६] इति परिधानीया। गोभिर्यो पीतिम् [२०. २५. ७] इति "याज्या" इति [वै० ४. २]।

"ऊर्ध्वं सर्वत्र त्रीणि सूक्तानि। अन्त्यं पच्छः पर्यासः" इति [वै० ४. २] सूत्रितत्वात् सर्वत्र त्रिषु पर्यायेषु स्तोत्रियानुरूपाभ्याम् ऊर्ध्वं सूक्तत्रयं शंसनीयम्। अतः "आ तू न इन्द्र मद्र्यक्" [२०. २३] इत्यादिसूक्तत्रयस्य मध्यमपर्यायशस्त्रे विनियोग उपपन्नः। अत एव "अश्वावति" [२०. २५] इत्यस्य तृतीयसूक्तस्य अन्तिमा परिधानीयात्वेन सूत्रकृता सूत्रिता ॥ ५

अतिरात्र क्रतुके मध्यम पर्यायमें ब्राह्मणाच्छंसिके शस्त्रमें "अभि त्वा वृषभा सुते" आदि चार सूक्तोंका विनियोग है। चतुर्थसूक्तकी अन्तिम ऋचा "बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय" ऋचा परिधानीया है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"मध्यमें त्रिवृदसि" इति प्रक्रम्य "अभि त्वा वृषभा सुते (१) अभि प्र

गोपतिं गिरा (४) इति स्तोत्रियानुरूपौ । बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय (२० । २५ । ६) इति परिधानीया ओग्रां पीतिम् (२०।२५।७) इति याज्या' (वैतानसूत्र ४ । २) ॥

"ऊर्ध्वं सर्वत्र त्रीणि सूक्तानि । अन्त्यं पच्छः पर्यासः । पहिले सर्वत्र तीन सूक्तोंको कहे, फिर अन्त्य पच्छः पर्यासको कहे" इस प्रकार वैतानसूत्र ४ । २ में सूचित होनेके कारण सर्वत्र तीनों पर्यायोंमें स्तोत्रियानुरूपोंसे पहिले तीनों सूक्तोंको कहना चाहिये। अतः "आ तू न इन्द्र मद्र्यक्" (२० । २३) आदि तीन सूक्तों का मध्यमपर्यायशस्त्रमें विनियोग उपपन्न है । अत एव ' अश्वावति" (२० । २५) इस तृतीयसूक्तकी अन्तिम ऋचाको सूत्रकारने परिधानीया बताया है ।

तत्र प्रथमा ॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।

तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । वृषभ । सुते । सुतम् । सृजामि । पीतये ।

तृम्प । वि । अश्नुहि । मदम् ॥ १ ॥

हे वृषभ वर्षक इन्द्र सुते सोमे अभिषुते सति सुतम् अभिषवादिना संस्कृतं सोमं पीतये पानाय त्वा त्वाम् अभि सृजामि संयोजयामि तेन सृष्टेन सोमेन तृम्प प्रीतो भव । ❀ तृम्प तृप्तौ । तुदादित्वात् शः । हेर्लोपः । विकरणस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । त्वं च मदम् मदकरं सोमं व्यश्नुहि विशेषेण व्याप्नुहि । ❀ अशू व्याप्तौ । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥

हे वर्षक इन्द्रदेव ! हम सोमके अभिषुत होने पर अभिषव आदिसे संस्कृत सोमका पान करनेके लिये आपको संयुक्त करते

हैं। आप उस सोमसे तृप्त हूजिये और आप उस मदकर सोमको प्राप्त कर लीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।

माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥

मा। त्वा। मूराः। अविष्यवः। मा। उपऽहस्वानः। आ। दभन्।

माकीम् ब्रह्मऽद्विषः। वनः ॥ २ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वाम् अविष्यवः अविं कर्तुम् इच्छन्तः अथ वा आत्मानं पालयितुं कामयमानाः त्वदनुग्रहम् अन्तरेण आत्मानं रक्षन्तः। ❀ अविशब्दात् क्यच् "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀। अत एव मूराः मूढा आत्महितोपायम् अजानन्तः। ❀ मूरशब्दस्य मूढशब्दपर्यायतां यास्क आह 'मूरा अमूर न वयं चिकित्वः'। मूढा वयं स्मः अमूढस्त्वम् असीति नि० ६. ८ ❀। मा दभन् मा हिंसन्तु। तथा उपहस्वानः उपहसनकर्तारोपि त्वा मा दभन्। ❀ उपपूर्वात् हसतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति वनिप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तः ❀ त्वं च ब्रह्मद्विषः ब्राह्मणद्वेष्टॄन् माकीम्। माशब्दपर्यायो माकींशब्दः। मा वनः मा भजेथाः। ❀ वन षण संभक्तौ लङ्। मध्यमैकवचनम्। "न माङ्योगे" इति अडभावः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव! आपके बिना अपनी रक्षा करना चाहने वाले मूढ़ पुरुष आपका हनन न कर सकें, तथा हँसी उड़ाने वाले भी आपको न दबा सकें, आप ब्रह्मद्वेषियोंका सेवन न करिये ।२।

तृतीया ॥

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे ।

सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

इह । त्वा । गोऽपरीणसा । महे । मन्दन्तु । राधसे ।

सरः । गौरः । यथा । पिब ॥ ३ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वाम् इह यागे गोपरीणसा । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । गोविकारेण पयसा मिश्रितेन सोमेन । ❀ परिपूर्वाद् व्याप्तिकर्मणो नसतेः क्विप् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः ❀ । महे महते राधसे धनाय मन्दन्तु ऋत्विजो मादयन्तु । त्वं च सरः सरणशीलम् उदकं सरःस्थं वा गौरः गौरमृगो यथा अत्यन्ततृषितः सन् निकामं पिबति तथा पिब ॥

हे इन्द्र ! इस यागमें ऋत्विज आपको गोदुग्ध मिले हुए सोम से महाधनकी प्राप्तिके लिये हर्षित करें और आप भी प्यासा गौरमृग सरोवरके जलको जैसे पीता है तिस प्रकार सोमको पीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥

अभि । प्र । गोऽपतिम् । गिरा । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ।

सूनुम् । सत्यस्य । सत्ऽपतिम् ॥ ४ ॥

हे स्तोतः गोपतिम् स्वर्गस्य गवां वा स्वामिनम् इन्द्रम् यथा येन प्रकारेण विदे अस्मान् स्तोतृतया जानाति । ❀ विदेर्व्यत्ययेन लिडात्मनेपदम् । द्विर्वचनप्रकरणे "छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति द्विर्वचनाभावः । "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ।

प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀। तथा गिरः अभि प्रार्च प्रकर्षेण अभ्यर्च पूजय। कीदृशम् इन्द्रम्। सत्यस्य सत्यफलस्य यज्ञस्य सत्यस्यैव वा सूनुम् पुत्रस्थानीयम्। यत्र यज्ञस्तत्रेन्द्र इति पितृपुत्रवद् अव्यवहितसंबन्धात् सूनुत्वोपचारः। सत्पतिम् सतां स्वसेवकानां पालयितारम् ॥

हे स्तोतः! स्वर्गके स्वामी इन्द्रदेव जिस प्रकार हमको अपना समझें वैसी वाणीसे आप उनकी पूजा करिये। यह इन्द्रदेव सत्यःफल वाले यज्ञके पुत्रस्थानीय हैं [जहाँ यज्ञ होता है वहाँ इन्द्र होते हैं, इस प्रकार पिता पुत्रकी समान अव्यवहित सम्बंध होने से पुत्रत्वका उपचार है] और यह इन्द्रदेव सज्जन सेवकोंका पालन करने वाले हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि।
यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥

आ। हरयः। ससृज्रिरे। अरुषीः। अधि। बर्हिषि।
यत्र। अभि। सम्ऽनवामहे ॥ ५ ॥

अरुषीः अरुण्यः। अरुषम् इति रूपनाम। आरोचमानाः। ❀ आङ् पूर्वाद् रुचेर्बाहुलकाद् उषच्। टिलोपः। आङो ह्रस्वश्च। "अन्यतो ङीष्"। वृषादित्वाद् आद्युदात्तः ❀। उक्तरूपा हरयः अधि बर्हिषि। ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀। बर्हिषि आस्तृते आ ससृज्रिरे आससृजिरे आसृजन्तु। इन्द्ररथम् इति शेषः। यत्र यस्मिन् बर्हिषि इन्द्रम् अभि संनवामहे अभिसंस्तुमः। ❀ णु स्तुतौ। "आद्युत्तमस्य पिच्च" इति पित्त्वाद् धातुस्वरेण आद्युदात्तः ❀ ॥

रूपवान् घोड़े कुशाओंके बिछाने पर इन्द्रके रथको उन कुशाओं पर लावें जहाँ कि—हम स्तुति कर रहे हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।

यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥

इन्द्राय । गावः । आऽशिरम् । दुदुह्रे । वज्रिणे । मधु ।

यत् । सीम् । उपऽह्वरे । विदत् ॥ ६ ॥

वज्रिणे वज्रयुक्ताय इन्द्राय गावो मधु मधुरम् आशिरम् आश्रयणसाधनं पयः दुदुह्रे दुहते । ❀ दुह प्रपूरणे । "बहुलं छन्दसि" इति लिटि रुट् । इचलप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः । यद्वा इरेच इकारलोपश्छान्दसः । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः ❀ । यत् यदा उपह्वरे समीपे वर्तमानं मधु मधुवत् स्वादुभूतं सोमं सीम् सर्वतः विदत् स इन्द्रो लभते । ❀ विद्लृ लाभे । लृदित्वाद् अङ् । "बहुलं छन्दसि०" इति अडभावः । "निपातैर्यद्यदि०" इत्यादिना निघातप्रतिषेधः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

जब इन्द्रदेव समीपमें वर्तमान मधुकी समान स्वादु सोमको सब ओरसे पाते हैं तब वज्रधारी इंद्रके लिये गौएँ मधुर दुग्धको दुहती हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६३८)

"आ तू न इन्द्र मद्र्यक्" इति सूक्तस्य अतिरात्रे मध्यमे रात्रिपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"आ तू न इन्द्र मद्र्यक्" सूक्तका अतिरात्रके मध्यम रात्रिपर्यायमें ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

आ तू न इन्द्र मद्र्यग्घुवानः सोमपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

आ । तु । नः । इन्द्र । मद्र्यक् । हुवानः । सोमऽपीतये ।
हरिऽभ्याम् । याहि । अद्रिऽवः ॥ १ ॥

हे अद्रिवः । अद्रिरिति वज्रनाम इन्द्र हुवानः हूयमानस्त्वं मद्र्यक् मदभिमुखः सन् नः अस्मदीये यज्ञ सोमपीतये सोमपानार्थम् हरिभ्याम् आ याहि आगच्छ । ॐ मद्र्यग इति । माम् अञ्चतीति "ऋत्विग्दधृक्०" इत्यादिना क्विन् प्रत्ययः। "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इति अस्मच्छब्दस्यैकवचने मपर्यन्तस्य मादेशः । "विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये" इति टेः अद्रि इत्यादेशः । अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्" इति वचनात् अद्र्यादेशोऽन्तोदात्तः । यणादेशे कृते "उदात्तस्वरितयोर्यणः०" इति यणः स्वरितत्वम् । "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" इति कुत्वम् ॐ ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! आह्वान किये जाते हुए आप हमारे अभिमुख होकर हमारे यज्ञमें सोमपान करनेके लिये हरि नामक घोड़ोंके द्वारा आइये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सत्ता होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुज्रन् प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

सत्ता । होता । नः । ऋत्वियः । तिस्तिरे । बर्हिः । आनुषक् ।
अयुज्रन् । प्रातः । अद्रयः ॥ २ ॥

हे इन्द्र नः अस्मदीये यज्ञे होता एतन्नामक ऋत्विक् ऋत्वियः प्राप्तकालः सन्। ❀ "छन्दसि घस्" इति घस्। यणादेशः। प्रत्ययस्वरः ❀। सत्तः निषण्णोऽभूत्। ❀ कर्तरि क्तः। सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् निष्ठानत्वाभावः ❀। तथा बर्हिः वेद्याम् आनुषक् अनुषक्तं परस्परसंबद्धं यथा भवति तथा तिस्तिरे स्तीर्णम् अभूत्। ❀ स्तृञः कर्मणि लिटि रूपम्। "ऋत इद्धातोः" इति इत्वम्। द्विर्वचनम्। "शर्पूर्वाः खयः" इति शकारस्य शेषः। "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इति एश् इत्यादेशः ❀। एवं प्रातः प्रातःसवने अद्रयः ग्रावाणः सोमाभिषवार्थम् अयुज्रन् संगता अभूवन्॥

हे इन्द्रदेव! हमारे यज्ञमें होतानामक ऋत्विज समय आने पर उपस्थित है तथा वेदीमें कुशा भी परस्पर मिले हुए बिछे हुए हैं। इसी प्रकार प्रातःसवनमें सोमाभिषवके पत्थर भी सोमका अभिषव करनेके लिये संगत होगए हैं॥ २॥

तृतीया॥

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद।

वीहि शूर पुरोळाशम्॥ ३॥

इमा। ब्रह्म। ब्रह्मऽवाहः। क्रियन्ते। आ। बर्हिः। सीद।

वीहि। शूर। पुरोळाशम्॥ ३॥

हे ब्रह्मवाहः। ब्रह्मणा मन्त्रेण स्तोत्ररूपेण प्राप्यत इति ब्रह्मवाहाः। तस्य संबोधनम्। तादृश इन्द्र तुभ्यम् इमा इमानि ब्रह्म ब्रह्माणि स्तोत्राणि अस्माभिः क्रियन्ते। अतस्तदर्थं बर्हिः आ सीद उपविश। हे शूर शौर्योपेत इन्द्र आसन्नस्त्वं पुरोळाशम् अस्माभिर्दीयमानं वीहि भक्षय॥

हे मन्त्रोंसे प्राप्त होने योग्य ब्रह्मवाह इन्द्र ! हम आपके लिये इन स्तोमोंको कर रहे हैं, अत एव आप कुशाओं पर विराजिये। हे शूरतासम्पन्न इन्द्र ! विराजमान हुए आप हमारे लिये हुए पुरोडाशका भक्षण करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन् ।

उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

ररन्धि । सवनेषु । नः । एषु । स्तोमेषु । वृत्रऽहन् ।

उक्थेषु । इन्द्र । गिर्वणः ॥ ४ ॥

हे गिर्वणः गीर्भिः स्तुतिभिर्वननीय इन्द्र वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तः हे इन्द्र नः अस्माकं सवनेषु त्रिष्वपि एषु क्रियमाणेषु स्तोमेषु स्तोत्रेषु उक्थेषु शस्त्रेषु च ररन्धि रमस्व । ॐ रमतेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । "वा छन्दसि" इति हेः पित्त्वेन ङित्त्वाभावाद् "अङितश्च" इति हेर्धिः ॐ ॥

हे स्तुतियोंसे सेवनीय इन्द्र ! हे वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्र ! आप तीनों सवनोंमें किये जाने-वाले स्तोमोंमें और शस्त्रों में भी रमण करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् ।

इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥ ५ ॥

मतयः । सोमऽपाम् । उरुम् । रिहन्ति । शवसः । पतिम् ।

इन्द्रम् । वत्सम् । न । मातरः ॥ ५ ॥

मतयः अस्माभिः क्रियमाणाः स्तुतयः । ❀ मन ज्ञाने इत्यस्मात् कर्मणि "मन्त्रे वृष॰" इत्यादिना क्तिन्नुदात्तः ❀ । महत् महान्तं सोमपाम् सोमस्य पातारं शवसः बलस्य पतिम् स्वामिनम् इन्द्रं रिहन्ति लिहन्ति प्राप्नुवन्ति । तत्र दृष्टान्तः । वत्सं न मातरः यथा वत्सं मातरो गावो लिहन्ति तद्वत् ॥

हमारी की हुई स्तुतियें सोमका पान करनेवाले बलके स्वामी महान् इन्द्रदेवको इस प्रकार प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार बछड़ेको गौएँ चाटती हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे ।
न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

सः । मन्दस्व । हि । अन्धसः । राधसे । तन्वा । महे ।
न । स्तोतारम् । निदे । करः ॥ ६ ॥

हे इन्द्र स तथाविधस्त्वं तन्वा तव शरीरेण निमित्तेन शरीरबलाय अन्धसः अन्नस्य सोमलक्षणस्य पानेन मन्दस्व हृष्टो भव । ❀ मदेर्मोदार्थस्य लोटि रूपम् । नाम हिशब्दयोगाद् निघातप्रतिषेधः । हेरत्र समुच्चयार्थत्वात् ❀ । महे राधसे धनाय प्रभूतधनार्थं च । हर्षणस्य प्रयोजनद्वयम् । हृष्टस्येन्द्रस्य शरीरवृद्धिः हविःप्रदातुर्यजमानस्य धनलाभश्च हि । किंच ते स्तोतारं मां निदे परकृतनिन्दायै । ❀ संपदादिलक्षणः क्विप् । आगमानुशासनस्य अनित्यत्वान्नुमभावः ❀ । न करः नाकार्षीः । ❀ करोतेर्लुङि च्लेरङ् ❀ ॥

हे इंद्रदेव ! ऐसे आप शारीरक बलके लिये सोमरूपी अन्न के पानसे हर्षमें भरिये, बहुतसे धनके लिये भी हर्षमें भरिये ।

[हर्षमें करनेके दो प्रयोजन हैं, १ हर्षमें भरे हुए इन्द्रके शरीरकी अभिवृद्धि और २ हविःप्रदाता यजमानको धनकी प्राप्ति] और हमको स्तोताको दूसरेकी निन्दामें न लगाइये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।

उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वाऽयवः । हविष्मन्तः । जरामहे ।

उत । त्वम् । अस्मऽयुः । वसो इति ॥ ७ ॥

हे इन्द्र त्वायवः त्वां कामयमाना वयं हविष्मन्तः दित्सितेन सोमलक्षणेन हविषा तद्वन्तः सन्तो जरामहे त्वां स्तुमः । ❀ त्वायव इति । इच्छार्थे क्यचि मपर्यन्तस्य त्वादेशे "क्याच्छन्दसि" इति उमत्यये त्वयव इति प्राप्ते "युष्मदस्मदोरनादेशे" इति अविभक्तावपि हलादौ व्यत्ययेन आत्वम् । अव्ययस्वरः ❀ । उत अपि च हे वसो सर्वस्य वासक इन्द्र त्वम् अस्मयुः अभिमतप्रदानाय अस्मान् कामयिता भव ॥

हे इन्द्रदेव ! आपकी कामना करते हुए हम, दी जाने वाली सोमरूपी हविसे सम्पन्न होकर आपकी स्तुति करते हैं । और हे वासक इंद्रदेव ! आपको हमें अभिमत फल देना चाहिये ७

अष्टमी ॥

मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।

इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

मा । आरे । अस्मत् । वि । मुमुचः । हरिऽप्रिय । अर्वाङ् । याहि ।

इन्द्र । स्वधाऽवः । मत्स्व । इह ॥ ८ ॥

हे हरिप्रिय । हरी एतन्नामानावश्वौ प्रियौ यस्य स तथोक्तः । तस्य संबोधनम् । अस्मत् अस्मत्तः आरे दूरे मा वि मुमुचः । हरिप्रियेत्युक्तत्वात् रथयुक्तावश्वौ मा विमोचय किं तु रथारूढ एव अर्वाङ् अस्मदभिमुखं याहि आगच्छ । आगत्य च हे स्वधावः हविर्लक्षणेनान्नेन तद्वन्निन्द्र इह अस्मिन् देवयजने मत्स्व सोमपानेन हृष्टो भव । ❀ मदि स्तुतीत्यादि । अस्य लोटि "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् । आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वात् अनिघातः ❀ ॥

हे हरि नामक अश्वोंको प्रिय समझने वाले इन्द्र ! आप अपने रथमें जुड़े हुए घोड़ोंको दूर पर मत छोड़िये, किंतु रथ पर आरूढ़ ही हमारे अभिमुख आइये । और आकर हे हविरूप अन्नके धन इन्द्र ! इस देवयागमें सोमपानसे प्रसन्न हूजिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

अर्वाञ्चम् । त्वा । सुऽखे । रथे । वहताम् । इन्द्र । केशिना ।
घृतस्नू इति घृतऽस्नू । बर्हिः । आऽसदे ॥ ९ ॥

हे इन्द्र त्वा त्वां सुखे शरीरापीडनेन सुखकरे रथे केशिना केशवन्तौ स्कन्धप्रदेशे लम्बमानकेशयुक्तौ घृतस्नू अप्रगलितस्वेदोदकस्राविणावश्वौ आसदे आसदनीयं बर्हिः अर्वाञ्चम् अभिमुखं वहताम् प्रापयताम् । ❀ घृतस्नू इति । घृतशब्दात् ष्णु प्रस्रवणे इत्यस्मात् संपदादिलक्षणः क्विप् । घृतस्य स्नू स्रवणं

ययोस्ताविति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तः । आसदे । कृत्यार्थे केन् प्रत्ययः । निस्स्वरः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! शरीरको सुख देने वाले रथमें विराजमान आपको लम्बे अयाल वाले, श्रमकी बूँदोंको बहाने वाले घोड़े, बैठने योग्य कुशासन पर हमारे अभिमुख लावें ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (६३९)

"उप नः सुतमा गहि" इति सूक्तस्य अतिरात्र एव प्रथमे रात्रिपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"उप नः सुतमागहि" इस सूक्तका अतिरात्रमें ही प्रथम रात्रिपर्यायके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् ।
हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

उप । नः । सुतम् । आ । गहि । सोमम् । इन्द्र । गोऽआशिरम् ।
हरिऽभ्याम् । यः । ते । अस्मऽयुः ॥ १ ॥

हे इन्द्र नः अस्मदीयं सुतम् अभिषुतं गवाशिरम् गव्यं पयः आश्रयणसाधनं यस्य तम् । ❀ आङ्पूर्वात् श्रीणातेः क्विपि "अपस्पृधेथाम् आनृचुः०" इत्यादिना शिर् इत्यादेशः । बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वरः ❀ । तं सोमं प्रति उप। गहि समीपे आगच्छ । यतः हरिभ्याम् अश्वाभ्यां युक्तः ते तव रथः अस्मयुः अस्मान् कामयमानो वर्तते ॥

हे इन्द्रदेव ! हमारे अभिषुत गवाशिर (गौके दूधमें औटे हुए) सोमके समीप आइये, क्योंकि–हरि नामक अश्वोंसे जुता हुआ आपका रथ हमारी कामना कर रहा है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम्।

कुविन्न्वस्य तृप्णवः ॥ २ ॥

तम्। इन्द्र। मदम्। आ। गहि। बर्हिःऽस्थाम्। ग्रावऽभिः। सुतम्।

कुवित्। नु। अस्य। तृप्णवः ॥ २ ॥

हे इन्द्र तं प्रसिद्धं मदम् मदकरं बर्हिष्ठाम् बर्हिषि स्थितं ग्रावभिः पाषाणैः सुतम् अभिषुतं सोमम् अभिलक्ष्य आ गहि आगच्छ। नु क्षिप्रम् अस्य सोमस्य पानेन कुवित्। बहुनामैतत्। बहुलं यथा भवति तथा तृप्णवः तृप्तो भव। ❀ तृप प्रीणने इत्यस्य लेटि अडागमः। व्यत्ययेन श्नुविकरणः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव! आप कुशाओं पर स्थित, मदकारी, पाषाणोंसे अभिषुत सोमको लक्ष्यमें रख कर आइये और शीघ्र ही इस सोमके पानसे अतितृप्त हूजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः।

आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रम्। इत्था। गिरः। मम। अच्छ। अगुः। इषिताः। इतः।

आऽवृते। सोमऽपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् अच्छ इन्द्रम् अभिलक्ष्य मम गिरः स्तुतिरूपा वाचः इषिताः अस्माभिः प्रेरिताः सत्यः इतः अस्माद् देवयजनदेशा-त्स्थाद् इत्था इत्थम् वक्ष्यमाणप्रकारेण अगुः गताः। ❀ इदम्-शब्दात् “था हेतौ च छन्दसि” इति थाप्रत्ययेन थाप्रत्ययः। इत्थ

"एतेतौ रथोः" इति इत् इत्यादेशः । प्रत्ययस्वरः ❀ । किमर्थम् । आवृत्ते आवर्तनाय अस्मद्यज्ञं प्रति आगमनाय । ❀ वृतु वर्तने । अस्य संपदादिलक्षणः क्विप् । प्रादिसमासः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ❀ । आवृत्तिरपि किमर्थेति तत्राह । सोमपीतये सोमपानाय ॥

इन्द्रको लक्ष्यमें रख कर हमसे प्रेरित हुई इस देवयज्ञस्थलसे उच्चारण की हुई स्तुतिरूपा वाणियें हमारे यज्ञमें लानेके लिये और सोमपानके लिये इन्द्रको प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये । स्तोमैः । इह । हवामहे ॥ ४ ॥
उक्थेभिः । कुवित् । आऽगमत् ॥ ४ ॥

इन्द्रं देवं सोमस्य पीतये पानाय इह अस्मिन् यज्ञे स्तोमैः त्रिवृत्पञ्चदशादिस्तोत्रसाध्यैः स्तोत्रैः उक्थेभिः उक्थैः आज्यप्रउगादिशस्त्रसाध्याभिः स्तुतिभिश्च हवामहे आह्वयामः । स च आहूत इन्द्रः कुवित् बहुवारम् आगमत् अस्मद्यज्ञं प्रति आगच्छतु । ❀ गमेर्लेटि अडागमः । कुवियोगाद् अनिघातः । "आगमा अनुदात्ताः" इति अटोनुदात्तत्वाद् धातुस्वरः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀ ॥

हम इन्द्रदेवको सोमपानके लिये इस यज्ञमें त्रिवृत् पञ्चदश आदि स्तोमसाध्य स्तोत्रोंसे और आज्य प्रउगादि शस्त्रसाध्य स्तुतियोंसे भी आह्वान करते हैं । वह बुलाये हुए इन्द्रदेव हमारे यज्ञमें बहुत बार आवें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तान् । दधिष्व । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ।
जठरे । वाजिनीवसो इति वाजिनीऽवसो ॥ ५ ॥

हे इन्द्र इमे ग्रहचमसस्थिताः सोमाः सुताः त्वदर्थम् अभिषवादिना संस्कृताः हे शतक्रतो बहुकर्मन् हे वाजिनीवसो अन्नधन । यद्वा वाजः अन्नं फलरूपम् आसामस्तीति वाजिन्यः क्रियास्तासां वासक इन्द्र । ❀ वाजशब्दान्मत्वर्थीय इनिः । "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् ❀ । तासां वसो । ❀ "संबुद्धौ च" इति गुणः ❀ । तान् त्वदर्थम् अभिषुतान् सोमान् जठरे दधिष्व धारय ॥

हे इन्द्र ! ये ग्रह चमस आदिमें स्थित सोम अभिषव आदि से आपके लिये संस्कृत किये गए हैं, हे अन्नधन इन्द्र ! इनको आप अपने उदरमें धारण करिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

विद्म । हि । त्वा । धनम्ऽजयम् । वाजेषु । दधृषम् । कवे ।
अध । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ ६ ॥

हे कवे क्रान्तप्रज्ञ इन्द्र त्वा त्वां वाजेषु संग्रामेषु दधृषम् अतिशयेन शत्रुधर्षकं धनंजयम् शत्रुधनस्य जेतारं विद्म जानीमः । अध अतः कारणात् ते तव सुम्नम् सुखं सुखकरं धनं वा ईमहे याचामहे ।

❀ धनंजयम् इति । जि जये इत्यस्माद् धन उपपदे "संज्ञायां भृतृवृजि०" इति खच् । "अरुर्द्विषदजन्तस्य०" इति मुम् आगमः । दधृषम् इति । धृषेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच् "यङोऽचि च" इति यङो लुक् । लघूपधगुणे प्राप्ते "न धातुलोप०" इति तस्य प्रतिषेधः ❀ ॥

हे द्युतिमान् इंद्र ! आपको इस संग्रामोंमें शत्रुओंको दबाने वाला और शत्रुओंके धनको जीतने वाला जानते हैं । इस कारण हम आपके सुखकर धनकी याचना करते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब ॥

आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

इमम् । इन्द्र । गोऽआशिरम् । यवऽआशिरम् । च । नः । पिब । आऽगत्य । वृषऽभिः । सुतम् ॥ ७ ॥

हे इन्द्र गवाशिरम् । ❀ विकारे प्रकृतिशब्दः ❀ । गव्याख्याशीर्द्रव्योपेतं तथा यवाशिरं च यवलक्षणाशिरणद्रव्योपेतं वृषभिः वर्षकैर्ग्रावभिः सुतं नः अस्मदीयम् इमं सोमम् आगत्य अस्मदभिमुखं प्राप्य पिब पानं कुरु । ❀ गवाशिरं यवाशिरम् इत्युभयत्र आङ्पूर्वस्य श्रीणातेः क्विपि "अपस्पृधेथाम् आनृचुः०" इत्यादिना शिर् इत्यादेशः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ ॥

हे इंद्र ! आप गव्य और जौ मिले हुए, वर्षक पत्थरोंसे निचोड़े हुए इस सोमको आकर पीजिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये ।

एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

तुभ्य॑ । इत् । इ॒न्द्र॒ । स्वे । ओ॒क्ये॑ । सोम॑म् । चो॒दा॒मि॒ । पी॒तये॑ ।
ए॒षः । र॒र॒न्तु॒ । ते॒ । हृ॒दि ॥ ८ ॥

हे इन्द्र तुभ्य इत् तुभ्यमेव । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सुपो लुक् ❀ । पीतये पानार्थं स्वे स्वीये ओक्ये ओकसि स्थाने जठरे । ❀ वयसादित्वात् स्वार्थिको यत् ❀ । सोमं पीतये पानाय चोदामि प्रेरयामि । स एष पीतः सोमः ते तव हृदि हृदये ररन्तु अत्यर्थं रमताम् । ❀ रमु क्रीडायाम् इत्यस्य यङ्लुकि लोटि मर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् अभ्यासस्य नुगभावः । संहितायाम् "अन्येषामपि दृश्यते" इति अभ्यासस्य दीर्घः ❀ ॥

हे इंद्रदेव ! मैं आपको ही पान करनेके लिये अपने जठररूप स्थानमें सोमको धारण करनेके लिये प्रेरणा करता हूँ, वह पिया हुआ सोम आपके हृदयमें वारम्वार रमण करता रहे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

त्वां सु॒तस्य॑ पी॒तये॑ प्र॒त्नमि॑न्द्र हवामहे ।
कु॒शि॒कासो॑ अव॒स्यवः॑ ॥ ९ ॥

त्वाम् । सु॒तस्य॑ । पी॒तये॑ । प्र॒त्नम् । इ॒न्द्र॒ । ह॒वा॒म॒हे॒ ।
कु॒शि॒कासः॑ । अ॒व॒स्यवः॑ ॥ ९ ॥

हे इन्द्र प्रत्नम् पुरातनं त्वां सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य पीतये पानाय कुशिकासः कुशिकगोत्रोत्पन्ना वयम् अवस्यवः रक्षाकामाः सन्तो हवामहे आह्वयामः । ❀ कुशिकासो अवस्यव इत्यत्र संहितायाम् "अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च" इति एङः प्रकृतिभावः ❀ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे इंद्रदेव ! कुशिकगोत्रमें उत्पन्न हुए रक्षा चाहते हुए हम आप प्राचीन देवताको अभिषुत सोमका पान करनेके लिये आह्वान करते हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (१५०)

"अश्वावति प्रथमः" इति सूक्तस्य अतिरात्रे क्रतौ मध्यमे रात्रिपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोग उक्तः। अस्यान्तिमा "बर्हिर्वा यत्" [६] इत्येषा परिधानीया ॥

"अश्वावति प्रथमः" इस सूक्तका अतिरात्र क्रतुके मध्यम रात्रि-पर्यायके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियोग कहा है। इसकी अंतिम "बर्हिर्वा यत् [६] ऋचा परिधानीया है ।

तत्र प्रथमा ॥

अश्वा॑वति प्रथ॒मो गोषु॑ गच्छति सुप्रा॒वीरि॑न्द्र॒ मर्त्य॒-
स्तवो॒तिभिः॑ ।
तमित् पृ॑ण॒क्षि वसु॑ना॒ भवी॑यसा॒ सिन्धु॒मापो॒ यथा॒भितो॒
विचे॑तसः ॥ १ ॥

अश्वऽवति । प्रथ॒मः । गोषु॑ । गच्छ॒ति । सु॒प्रऽअ॒वीः । इन्द्र॒ ।
मर्त्यः॑ । तव॑ । ऊ॒तिऽभिः॑ ।
तम् । इत् । पृ॒ण॒क्षि॒ । वसु॑ना । भवी॑यसा । सिन्धु॑म् । आपः॑ ।
यथा॑ । अ॒भितः॑ । विऽचे॑तसः ॥ १ ॥

हे इन्द्र यो मर्त्यस्तवोतिभिः रक्षाभिः सुप्रावीः सुष्ठु रक्षितो भवति स मर्त्यः अश्वावति बहुभिरश्वैस्तद्वति युद्धे यद्वा बहश्वो-पेते जने। बह्वश्ववत्सु इत्यर्थः। तेषु प्रथमः मुख्यः सन् गच्छति

मुख्यो भवति । तथा गोषु गोमत्सु प्रथमो गच्छति । बहुपशुको भवतीत्यर्थः । त्वमपि भवीयसा बहुतरेण भवितृतमेन वा । बहुभावं प्राप्नुवता । ❀ भवितृशब्दात् "तुरछन्दसि" इति ईयसुन् । "तुरिष्ठेमेयःसु" इति तृलोपः ❀ । वसुना धनेन अभितः तमित् तमेव पुरुषं पृणक्षि संपृक्तं करोषि । ❀ पृची संपर्के । रौधादिकः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । यथा विचेतसः विशिष्टज्ञानसाधना आपः यथा अभितः सिन्धुम् समुद्रं पूरयन्ति तद्वत् ॥

हे इंद्र ! जो पुरुष आपकी रक्षाओंसे भली प्रकार रक्षित होता है, वह पुरुष बहुतसे अश्वों वाले युद्धमें वा बहुतसे घुड़सवारोंमें मुख्य होजाता है । तथा गौओं वालोंमें भी मुख्य होता है अर्थात् बहुतसे पशुओं वाला होता है, और विशिष्ट ज्ञानके साधन जल चारों ओरसे समुद्रको भरते हैं, इसी प्रकार आप भी बहुतसे रूपोंको प्राप्त होनेवाले धनसे उसी पुरुषको सम्पन्न बनाते हैं

द्वितीया ॥

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।

प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव ॥ २ ॥

आपः । न । देवीः । उप । यन्ति । होत्रियम् । अवः । पश्यन्ति । विऽततम् । यथा । रजः ।

प्राचैः । देवासः । प्र । नयन्ति । देवऽयुम् । ब्रह्मऽप्रियम् । जोषयन्ते । वराःऽइव ॥ २ ॥

हे इन्द्र होत्रियम् होत्राहं त्वाम् आपो न देवीः द्योतमाना आपो यथा उपयन्ति उपगच्छन्ति निम्नं प्रदेशं समुद्रादिकं वा एवम् उप यन्ति त्वाम् उपगच्छन्ति । सामर्थ्यात् स्तुतयः स्तोतारो वेति लभ्यते । तथा अवः पश्यन्ति अवः अवस्तात् पश्यन्ति । तव स्वरूपं द्रष्टुम् अशक्ता इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । यथा विततम् विस्तृतं रजः । ❀ ज्योती रज उच्यत इति निरुक्तम् [४. १९] ❀ । सर्वतो व्याप्तं सावित्रं तेजो यथा द्रष्टुम् अशक्ता अवस्तात् पश्यन्ति तद्वत् । किं च देवासः स्तोतार ऋत्विजः त्वां प्राचैः प्राचीनं प्र णयन्ति वेद्यभिमुखं गमयन्ति । यद्वा त्वदर्थं सोमम् अग्निं च प्राञ्चं प्र णयन्ति ब्रह्मप्रियम् । ब्रह्म परिवृढ स्तोत्रं कर्म वा । तत् प्रियं यस्य स तादृशं त्वां वरा इव यथा वराः कन्या जोषयन्ते एवम् ऋत्विजो जोषयन्ते सेवन्ते ॥

हे इन्द्रदेव ! दमकते हुए जल जैसे निम्नस्थलमेंको वा समुद्र मेंको जाते हैं, इसी प्रकार स्तुतियें, होत्राई आपको ही प्राप्त होती हैं । जैसे विस्तृत सूर्यके प्रकाशको देखनेमें असमर्थ हुए, पुरुष नीचेको देखने लगते हैं, इसी प्रकार आपके स्वरूपसे चौंधाये हुए पुरुष भी नीचेको देखने लगते हैं । और स्तुति करने वाले ऋत्विज आप प्राचीनको वेदीके अभिमुख भेजते हैं, जैसे वर कन्याओंका सेवन करते हैं इसी प्रकार ऋत्विज आपका सेवन करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ।

असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमाना सुन्वते ॥ ३ ॥

अधि । द्वयोः । अदधाः । उक्थ्यम् । वचः । यतऽस्रुचा । मिथुना । या । सपर्यतः ।

असम्ऽयत्तः । व्रते । ते । क्षेति । पुष्यति । भद्रा । शक्तिः । यजमानाय । सुन्वते ॥ ३ ॥

हे ब्राह्मणाच्छंसिन् द्वयोर्हविर्धानयोश्छदिष्मतोरधि उपरि उक्थ्यम् उक्थं स्तोत्रं तदर्हं वचः "युजे वां ब्रह्म" [१८. ३. ३९] इत्यादिरूपम् उपशमनार्थम् अर्पितं तृतीयच्छदिःस्थानीयं वचः वचनम् अदधाः निहितवान् असि । उभे हविर्धाने विशेष्येते । यतस्रुचा यताः संबद्धाः स्रुचः ग्रहचमसादिलक्षणानि यज्ञसाधनानि पात्राणि ययोस्ते तादृशे मिथुना युगलरूपेण वर्तमाने या ये हविर्धाने । ॐ सर्वत्र "सुपां सुलुक्" इति विभक्तेराकारः ॐ । तादृशे हविर्धाने सपर्यतः इन्द्रं पूजयतः । सोमधानाधिकरणद्वारेणेति भावः । तयोरधीति पूर्वेणान्वयः ॥ किं च हे इन्द्र ते व्रते तव कर्मणि त्वदुद्देश्ये यागे यजमानः असंयत्तः व्यापारान्तरैरसंबद्धः सन् क्षेति निवसति पुष्यति आत्मानं प्रजापश्वादिना । सुन्वते त्वदर्थम् अभिषवं कुर्वते यजमानाय । ॐ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ॐ । तस्य भद्रा कल्याणी शक्तिः यज्ञम् अस्तु । त्वदनुग्रहात् इति शेषः ॥ अयं मन्त्र ऐतरेयब्राह्मणे व्याख्यातः । "अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वच इति । द्वयोर्ह्येतत् तृतीयं छदिरधिनिधीयते ॥ उक्थ्यं वच इति यदाह यज्ञियं वै कर्मोक्थ्यं वचो यज्ञमेवैनत् समर्धयति ॥ यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः ॥ असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यतीति । यदेवादः पूर्वं यच्च-वत् पदम् आह तदेवैतेन शान्त्या शमयति ॥ भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वत इत्याशिषम् आशास्ते" इति [ऐ० ब्रा० १. २९]॥

हे ब्राह्मणाच्छंसिन् ! जिनमें ग्रह चमस आदि आदिक यज्ञके

साधन पात्र रखे हुए और जो युगलरूपसे वर्तमान दोनों हवि-र्धान सोमपानके योग्य पात्रधारणके द्वारा इन्द्रकी पूजा करते हैं उनके ऊपर स्तोत्रके योग्य आपने ("युजे वां ब्रह्म" १८ । ३ । ३९ आदिक) तृतीयच्छदिःस्थानीय उक्थ्य वचन स्थापित किया है । और हे इन्द्रदेव ! आपके उद्देशसे किये जाने वाले यागमें अनन्यभावसे लगा हुआ यह यजमान अपनेको प्रजा पशु आदिसे पुष्ट करे और आपके अनुग्रहसे इसको कल्याणी शक्ति प्राप्त हो ३

चतुर्थी ॥

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया ।

सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः ॥ ४ ॥

आत् । अङ्गिराः । प्रथमम् । दधिरे । वयः । इद्धऽअग्नयः । शम्या । ये । सुऽकृत्यया ।

सर्वम् । पणेः । सम् । अविन्दन्त । भोजनम् । अश्वऽवन्तम् । गोऽमन्तम् । आ । पशुम् । नरः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र अङ्गिराः अङ्गिरसः । ❀ "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना जसः सुः ❀ । प्रथमम् अग्रतो वयः हविर्लक्षणम् अन्नम् आत् अनन्तरमेव यदा पणिभिर्गावोऽपहृतास्तदानीमेव दधिरे अधारयन् त्वदर्थं संपादितवन्तः । कीदृशा अङ्गिरसः । ये सुकृत्यया कृतिः करणं व्यापारः शोभनव्यापारोपेतेन शम्या । कर्मनामैतत् । कर्मणा अग्निष्टोमादिलक्षणेन निमित्तेन इद्धाग्नयः प्रज्वलिताग्न-

नीयामग्निमन्तस्ते नरः नेतारः अङ्गिरसः पणेः एतन्नामकस्यासुरस्य सर्वम् यद्वद् अपहृतम् आसीत् तत् सर्वं भोजनम् धनं सम विन्दन्त समलभन्त । भोजनं विशिनष्टि । अश्वावन्तम् बहुभिरश्वैर्युक्तं गोमन्तम् बह्वीभिर्गोभिर्युक्तम् । आ इति चार्थे । पशुम् आ उक्ताश्वगोव्यतिरिक्तम् अजाव्यादि अन्यत् पशुजातं च समविन्दन्त

हे इन्द्र ! अंगिरा गोत्र वालोंने जब पणियोंने गौएँ छीनी थी उस समय पहिले ही आपके लिये हवीरूप अन्नको सम्पादन किया था । ये अंगिरावंशी अग्निष्टोम आदि शोभन कर्मोंसे आहवनीय अग्निको प्रज्वलित रखते हैं और इन नेता आंगिरसोंने पणि नामक असुरका छीना हुआ बहुतसे अश्वोंवाला और गौओं वाला तथा भेड़ बकरी आदि वाला धन पाया था ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ५ ॥

यज्ञैः । अथर्वा । प्रथमः । पथः । तते । ततः । सूर्यः । व्रतऽपाः । वेनः । आ । अजनि ।

आ । गाः । आजत् । उशना । काव्यः । सचा । यमस्य । जातम् । अमृतम् । यजामहे ॥ ५ ॥

अथर्वा एतन्नामा महर्षिः यज्ञैः इन्द्रम् उद्दिश्य क्रियमाणैर्यागैः साधनैः प्रथमः सूर्यादिभ्यः पूर्वभूतः सन् पथः अपहृतानां गवां मार्गान् तते विस्तारितवान् । ज्ञातवान् इत्यर्थः । ततः अनन्तरं वेनः कान्तः सूर्यो व्रतपाः कर्मणां पालयिता आजनि

प्रादुरभूत् । अन्धकाराविष्टानां गवां प्रकाशकोऽभूद् इत्यर्थः । अनन्तरं काव्यः कवेः पुत्र उशना भृगुः पुत्रा इन्द्रसहायभूतः सन् गाः आजत् आभिमुख्येन प्राप्नोत् । यमस्य सर्वनियन्तुः सूर्यस्य प्रयोभवाय जातम् प्रादुर्भूतम् अथ वा यमस्य यमात् नियन्तुरीश्वरात् जातम् अमृतम् अमरणधर्माणम् इन्द्रं यजामहे पूजयामः ॥

अथर्वा नामक महर्षिने इन्द्रके निमित्त किये हुए यागोंसे सूर्य आदिकसे पहिले होकर चुराई हुई गौओंके मार्गको जान लिया था । तदनन्तर व्रतवान कर्मके पालयिता कमनीय सूर्यदेव प्रादुर्भूत हुए थे अर्थात् उन्होंने अंधकारसे आवृत गौओंको प्रकाशित किया था । तदनन्तर कविके पुत्र उशनाने इन्द्रकी सहायता पाकर गौओंको अभिमुख होकर पाया था, नियन्ता ईश्वरसे प्रकट हुए अमरणधर्मी इन्द्रदेवकी हम पूजा करते हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ॥ ६ ॥

बर्हिः । वा । यत् । सुऽअपत्याय । वृज्यते । अर्कः । वा । श्लोकम् । आऽघोषते । दिवि ।
ग्रावा । यत्र । वदति । कारुः । उक्थ्यः । तस्य । इत् । इन्द्रः । अभिऽपित्वेषु । रण्यति ॥ ६ ॥

यत् यस्य यज्ञस्य संबन्धि बर्हिः स्वपत्याय शोभनापत्याय फलाय यज्ञपात्राणां शोभनायतनाय वा वृज्यते छिद्यते । आस्तीर्यत इत्यर्थः । ॐ [illegible] ॐ । अर्को वा अर्क-

नसाधनमन्त्रोपेतो होता च श्लोकम्। वाङ्नामैतत्। वागात्मकं शस्त्रादिकं यत् यत्र दिवि द्योतमाने यज्ञे आघोषते उच्चारयति। ❀ अत्रापि यच्छब्दोऽनुवर्तते। यद्योगाद् अनिघातः ❀। यत्र च यज्ञे ग्रावा अभिषवसाधनः पाषाणः कारुरुक्थ्यः। लुप्तोपमम् एतत्। उक्थाईः स्तोतेव वदति शब्दं करोति। तस्येत् तादृशस्यैव यज्ञस्य अभिपित्वेषु समीपदेशेषु इन्द्रो देवः रण्यति रमते। उक्त-लक्षणो यागः अस्मदर्थं भविष्यतीति हर्षशब्दं करोति वा ❀रणु क्रीडायाम्। व्यत्ययेन श्यन् परस्मैपदं च। अन्त्यविकारश्छा-न्दसः। यद्वा रण शब्दार्थः। व्यत्ययेन श्यन् ❀॥

जो यज्ञकी कुशा शोभन सन्तानरूप फलको पानेके लिये बिछाई जाती है, पूजाके साधनसे सम्पन्न होता भी जिस वागात्मक शस्त्र आदिका द्योतमान यज्ञमें उच्चारण करता है और जिस यज्ञमें अभिषवका साधन पाषाण उक्थाई स्तोताकी समान शब्द करता है, उस यज्ञके समीपके स्थानोंमें इन्द्र रमण करते हैं ६

सप्तमी ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।

इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ७ ॥

प्र। उग्राम्। पीतिम्। वृष्णे। इयर्मि। सत्याम्। प्रऽयै। सुतस्य। हरिऽअश्व। तुभ्यम्।

इन्द्र। धेनाभिः। इह। मादयस्व। धीभिः। विश्वाभिः। शच्या। गृणानः ॥ ७ ॥

हे हर्यश्व हरिनामकाश्वोपेत इन्द्र तुभ्यं अभिमतफलवर्षित्रे मदे मत्कृष्टगमनाय तुभ्यं सुतस्य अभिषुतस्य सोमरसस्य उग्राम् उद्गूर्णबलां सत्याम् अवितथसामर्थ्यां पीतिम् पानं प्रेयर्मि प्रेरयामि। हे इन्द्र त्वं च इह अस्मिन् यज्ञे धेनाभिः प्रीणयित्रीभिः विश्वाभिः सर्वाभिः धीभिः स्तुतिभिस्तदात्मकैः कर्मभिः। यद्वा धेनेति वाङ्नाम। धीपूर्विकाभिः स्तुतिभिः शच्या। कर्मनामैतत्। कर्मणा यागेन निमित्तेन बलेन वा गृणानः स्तूयमानो मादयस्व हृष्टो भव॥

इति तृतीयेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम्॥

हे हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्र! अभिलषित फलकी वर्षा करने वाले और श्रेष्ठ गमन वाले आपके लिये मैं अभिषुत सोमरसकी उद्गूर्ण बलशालिनी प्रीति (पान) को प्रेरित करता हूँ। और हे इन्द्रदेव! आप भी इस यज्ञमें प्रसन्न करने वाली सकल स्तुतियोंसे और कर्मसे स्तुति पाते हुए प्रसन्न हूजिये ७

तृतीय अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (२४१)

"योगेयोगे तवस्तरम्" इति चत्वारि सूक्तानि अतिरात्रे क्रतौ तृतीये पर्याये ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियुक्तानि। तत्र आद्यौ तृचौ स्तोत्रियानुरूपौ। "उपम आरोहोसि" इत्यारभ्य सूत्रितं वैताने। "योगेयोगे तवस्तरम् [२०. २६. १] युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम् [२०. २६. ४.] "इति स्तोत्रियानुरूपौ। अपाः पूर्वेषाम् [२०. ३२. ३] इति परिधानीया। ऊती शचीवः [२०,३३,३] इति याज्या" इति [वै० ४. २]॥

अत्रापि "ऊर्ध्वं सवनं त्रीणि सूक्तानि। अमन्त्यं पञ्चकः पर्यासः" इति [वै० ४. २] सूत्रितत्वाद् "यदिन्द्राहम्" इत्युत्तरेषां त्रयाणां सूक्तानाम् अत्रैव तृतीयपर्याये ब्रह्मशस्त्रे विनियोग उपपन्नः। अत एव "प्र ते महे" इति सूक्तस्य अन्तिमा "अपाः पूर्वेषाम् [२०, ३२ ३] इत्येषा ऋक् परिधानीया" इति सूत्रितम् [वै०४.२]॥

"योगे योगे तवस्तरम्" ये चार सूक्त अतिरात्र क्रतुके तृतीय रात्रिपर्यायमें ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियुक्त होते हैं। इनमें पहिले दो तृच स्तोत्रियानुरूप हैं। "उत्तम आरोहोऽसि" का आरम्भ करके वैतानसूत्रमें सूचित किया है, कि—"योगे योगे तवस्तरम् (२०।२६।१) युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम् (२०।२६।४) इति स्तोत्रियानुरूपौ। अपाः पूर्वेषां (२०।३२।३) इति परिधानीया। कुत्री शचीवः (२०।३२।२) इति याज्या" (वैतानसूत्र ४।२)॥

यहाँ भी "ऊर्ध्वं सर्वत्र त्रीणि सूक्तानि। अन्त्यं पच्छः पर्यासः" इस प्रकार वैतानसूत्र ४।२ में सूचित होनेसे "यदिन्द्राहम्" आदि अगले तीन सूक्तोंका यहाँ ही तृतीयपर्यायके ब्रह्मशस्त्रमें विनियोग उपपन्न है। अत एव "प्र ते महे" सूक्तकी अन्तिम ऋचा परिधानीया है "अपाः पूर्वेषां (२०।३२।३) इत्येषा ऋक् परिधानीया' वैतानसूत्र ४।२

तत्र प्रथमा॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।

सखाय इन्द्रमूतये॥ १॥

योगेऽयोगे। तवःऽतरम्। वाजेऽवाजे। हवामहे।

सखायः। इन्द्रम्। ऊतये॥ १॥

योगेयोगे शत्रुसेनादेः संगमेसंगमे सति तत्तद्यागकर्मणः संप्राप्तौ सत्यां वा। ॐ युजिर् योगे। 'हलश्च' इति घञ्। "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम्। आद्युदात्तत्वम्। "नित्यवीप्सयोः" इति वीप्सायां द्विर्भावे सति आम्रेडितानुदात्तत्वम् ॐ। तवस्तरम् अतिशयेन बलवत्तमम् इन्द्रम्। ॐ तवस्शब्दाद् "अस्मायामेधा०'

इति परवर्यायो विनिः। तस्य छान्दसो लोपः ❀। सखायः सखिभूता वयम् ऊतये रक्षणाय हवामहे आह्वयामः। तथा वाजेवाजे अन्नेऽन्ने यदायदा अन्नं लब्धव्यं भवति तदातदा उक्तमहिमोपेतम् इन्द्रं हवामहे ॥

शत्रुसेना आदिका योग होने पर वा प्रत्येक यागकर्मकी प्राप्ति होने पर मित्रभूत हम बली इन्द्रका आह्वान करते हैं तथा जब २ अन्नप्राप्तिका अवसर आता है तब हम २ इन्द्रदेवका आह्वान किया करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ घा गमद् यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः ।
वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥

आ । घ । गमत् । यदि । श्रवत् । सहस्रिणीभिः । ऊतिऽभिः ।
वाजेभिः । उप । नः । हवम् ॥ २ ॥

स इन्द्रः यदि नो हवम् आह्वानं श्रवत् शृणुयात्। ❀ शृणोतेर्लेट्यडागमः ❀। तर्हि सहस्रिणीभिः सहस्रसंख्यायुक्ताभिः ऊतिभिः वाजेभी रक्षाभिः वाजैरन्नैश्च सह। घेति प्रसिद्धौ। उपा गमत् उपागच्छेदेव। ❀ गमेर्लेट्यडागमः। "इतश्च लोपः" इति इकारलोपः। यद्वा छान्दसे लुङि "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" इति च्लेः अङ् आदेशः। "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ ॥

वह इन्द्रदेव यदि आह्वानको सुनें तो सहस्रों रक्षाओं और अन्नोंके साथ समीपमें अवश्य आवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।

यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३ ॥

अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । हुवे । तुविऽप्रतिम् । नरम् ।

यम् । ते । पूर्वम् । पिता । हुवे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र प्रत्नस्य पुरातनस्य ओकसः स्वर्गाख्यस्य स्थानस्य अधिपतिं तुविप्रतिम् बहूनां योद्धॄणां प्रतिनिधिभूतं नरम् नेतारं त्वाम् अनु आनुलोम्येन हुवे आह्वयामि । यं ते त्वां पूर्वम् पूर्वकाले पिता मदीयस्तातः स्वाभिमतसिद्धये हुवे आहूतवान् । तम् इन्द्रं हुवे इति पूर्वेण संबन्धः । ॐ ह्वेञो लिटि "बहुलं छन्दसि" इति संप्रसारणपरपूर्वत्वे । द्विर्वचनप्रकरणे "छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति द्विर्वचनाभावः । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । प्रत्ययस्वरः । पूर्वस्य तु पादादित्वाद् अनिघातः ॐ ॥

हे इन्द्रदेव ! पुरातन स्वर्ग नामक स्थानके अधिपति और बहुतसे योधाओंके प्रतिनिधिरूप आपका मैं आह्वान करता हूं । पूर्वकालमें मेरे पिताने अभिमतसिद्धिके लिये आपका आह्वान किया था, ऐसे आपको ही मैं बुलाता हूं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ।

रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ४ ॥

ब्रध्नम् महान्तम् । महन्नामैतत् । अरुषम् आरोचमानं तस्थुषः स्थावरान् परि । एतज्जङ्गमानाम् अपि उपलक्षणम् । स्थावरजङ्ग-

मानाम् उपरि चरन्तम् स्वर्गावस्थान् सूर्यात्मना वा परिचरन्तम् एवंमहानुभावम् इन्द्रं युञ्जन्ति रथे योजयन्ति । अत्र सामर्थ्यात् हरिनामकान् अश्वान् इति गम्यते । रोचना रोचनानि रथयुक्तानाम् अश्वानां रथस्य च रश्मयो दिवि रोचन्ते दीप्यन्ते ॥ अयं मन्त्रः उत्तरमन्त्रे "युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी" इति हर्योः रथयोजनाभिधानात् तदनुसारेण केवलेन्द्रपरतया व्याख्यातः । तदनन्तरमन्त्रे "केतुं कृण्वन्नकेतवे" इति केतूपाधिकस्य इन्द्रस्याभिधानात् तदनुसारेणायं सूर्यात्मकेन्द्रपरतयापि व्याख्येयः । ब्रध्नशब्दः सूर्यपर्यायः । बध्नाति नियमयति सर्वं जगद् इति ब्रध्नः सूर्यः । तं रथे युञ्जन्ति हरितोऽश्वाः । अरुषं चरन्तं परितस्थुष इत्येतद् समानम् । तस्य रोचना रोचनानि रश्मिजालानि दिवि रोचन्त इति ॥ अयं मन्त्रो ब्राह्मणे आदित्याग्निवायुलोकात्मना व्याख्यातः । "युञ्जन्ति ब्रध्नम् इत्याह । असौ वा आदित्यो ब्रध्नः । आदित्यमेवास्मै युनक्ति । अरुषम् इत्याह । अग्निर्वा अरुषः । अग्निमेवास्मै युनक्ति । चरन्तम् इत्याह । वायुर्वै चरन् । वायुमेवास्मै युनक्ति । परि तस्थुष इत्याह । इमे वै लोकाः परि तस्थुषः । इमान् एवास्मै लोकान् युनक्ति । रोचन्ते रोचना दिवीत्याह । नक्षत्राणि वै रोचना दिवि । नक्षत्राण्येवास्मै रोचयति" इति [तै० ब्रा० ३. ६. ४. २] ॥

महान, दमकते हुए और स्थावर तथा जंगमोंके ऊपर विचरण करते हुए इन्द्रके रथमें हरिनामक अश्व जुतते हैं और वह दमकते हुए अश्व द्युलोकमें दमकते हैं । [तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ६ । ४ । २ में इस मंत्रकी आदित्य अग्नि वायु और लोकपरक व्याख्या भी की है] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।

शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । विऽपक्षसा । रथे ।

शोणा । धृष्णू इति । नृऽवाहसा ॥ ५ ॥

अस्य उक्तलक्षणेन्द्रस्य रथे हरी एतन्नामानावश्वौ युञ्जन्ति रथे योजयन्ति सारथयः । कीदृशौ । काम्या काम्यौ कामयितव्यौ विपक्षसा विविधे पक्षसी इवीये रथसंबन्धिनी वा ययोस्तौ तादृशौ । रथोभयपार्श्वस्थिताविरत्यर्थः । शोणा-रक्तवर्णौ धृष्णू धर्षकौ नृवाहसा नृणां सारथिप्रभृतीनां वोढारौ ॥

इन इंद्रदेवके रथमें सारथी हरी नाम वाले अश्वोंको जोतते हैं । ये अश्व कामना करने योग्य हैं, रथकी दोनों करवटोंमें रहते हैं, रक्त वर्ण वाले हैं, दबाने वाले हैं, सारथी आदि मनुष्योंको सवारी देने वाले हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।

समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ।

सम् । उषत्ऽभिः । अजायथाः ॥ ६ ॥

हे मर्याः मरणधर्माणो मनुष्याः । अमुं सूर्यात्मकम् इन्द्रं पश्य-तेति शेषः । अकेतवे प्रज्ञानरहिताय जनाय केतुम् प्रज्ञानं कृण्वन् कुर्वन् तथा अपेशसे अन्धकारावृतत्वेन रूपरहिताय पदार्थाय पेशः रूपं कृण्वन् उषद्भिः ओपकै रश्मिभिः उषोभिर्वा सह सम् अजाः

यथाः । ❀ व्यत्ययेन मध्यमः ❀ । समजायत संभूतः । एवं सूर्यात्मना संभूतम् हे मर्ताः पश्यतेत्यर्थः ॥

इति तृतीयेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हे मरणधर्मी मनुष्यो ! अज्ञानरहित पुरुषको ज्ञान देने वाले और अंधकारसे आवृत होनेके कारण रूपरहित पदार्थको रूप प्रदान करने वाले इन सूर्यात्मक इन्द्रदेवको तुम देखो, यह अपनी किरणोंके साथ प्रकट हुए हैं ॥ ६ ॥

तृतीय अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (६४२)

"यदिन्द्राहम्" इति सूक्तस्य अतिरात्रे तृतीये पर्याये ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियोग उक्तः ॥

"यदिन्द्राहम्" सूक्तका अतिरात्रके तृतीयपर्यायमें ब्राह्मणाच्छंसिके शस्त्रमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । अहम् । यथा । त्वम् । ईशीय । वस्वः । एकः । इत् ।
स्तोता । मे । गोऽसखा । स्यात् ॥ १ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त यथा त्वम् एक इत् देवानां मध्ये एक एव वस्वः वासकस्य धनस्य ईशिषे तथा यत् यदि अहमपि एक एव वस्वः वसुनो धनस्य ईशीय ईश्वरः स्याम् तर्हि यथा तव स्तोता गोषखा स्यात् एवं मे मम स्तोतापि गोषखा स्यात् । बह्वीनां गवां स्वामी भवेत् । उपलक्षणम् एतत् । सर्वैश्वर्ययुक्तो भवतीत्यर्थः । तस्मात् तव स्तोतारं मां त्वत्सदृशं कुर्वित्यभिप्रायः । ❀ गोषखेत्यत्र सुषामादित्वात् षत्वम् । दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण आद्युदात्तः ❀ ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ! जैसे आप देवताओंमें धनके अनुपम स्वामी हैं, इसी प्रकार मैं भी धनका एक ही ईश्वर रहूँ। जैसे आपका स्तोता गौओंका सखा होता है। इसी प्रकार मेरा स्तोता गौ आदि सब वस्तुओंका स्वामी होवे। तात्पर्य यह है, कि-मुझ स्तोताको भी आप अपनी समान कर लीजिये ॥१॥

द्वितीया ॥

शिक्षे॑यमस्मै॒ दित्से॑यं॒ शची॑पते मनी॒षिणे॑ ।

यद॒हं गोप॑तिः॒ स्याम् ॥ २ ॥

शिक्षे॑यम् । अ॒स्मै॒ । दित्से॑यम् । शची॑ऽपते । म॒नी॒षिणे॑ ।

यत् । अ॒हम् । गोऽप॑तिः । स्याम् ॥ २ ॥

हे शचीपते इन्द्र अस्मै मनीषिणे मनस ईशित्रे स्तोत्रे दित्सेयम् दानानि दातुम् इच्छेयम्। ❀ दा दाने। सन्। "सनि मीमा०" इत्यादिना इस्भावः। "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः। वाक्यभेदाद् अनिघातः "सस्यार्धधातुके" इति सकारस्य तत्वम्। "खरि च" इति चर्त्वम् ❀। तथा शिक्षेयमपि प्रार्थितं धनं दद्यां च। ❀ शिक्षतिर्दानकर्मा ❀। कदैवं स्याम् इति तत्राह। यत् यदा अहं तव स्तोता त्वदनुग्रहाद् गोपतिः स्यां तदा दित्सेयं शिक्षेयं च। तस्मान्मां नाटकसामर्थ्यं कुर्विति भावः ॥

हे शचीपते इन्द्र ! मैं स्तोता जब आपके अनुग्रहसे गोपति हो जाऊँ तब इस विद्वान् स्तोताको धन देना चाहूँ और प्रार्थित धन दे भी सकूँ। तात्पर्य यह है, कि-इस लिये आप मुझमें ऐसी शक्ति दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

धे॒नुष्ट॑ इन्द्र सू॒नृता॒ यज॑मानाय सुन्व॒ते ।

गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥

धेनुः । ते । इन्द्र । सूनृता । यजमानाय । सुन्वते ।

गाम् । अश्वम् । पिप्युषी । दुहे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र सूनृता । वाङ्नामैतत् । अस्मदीया प्रियसत्यात्मिका वाक् ते तव धेनुः दोग्ध्री गौर्भूत्वा गोवत् प्रीणयित्री भूत्वा सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय पिप्युषी तमेव यजमानं वर्धयन्ती सती गाम् अश्वं च । उपलक्षणम् एतत् । गवाश्वादिकं सर्वम् अभिलषितं दुग्धे दुग्धे । ❀ छान्दसे लिटि द्विर्वचनप्रकरणे "छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति वचनाद् द्विर्वचनाभावः । पिप्युषी । स्फायी ओप्यायी वृद्धौ । अस्माल्लिट् । "प्यायः पी" । "लिड्यङोश्च" इति परत्वेन द्विर्वचनात् पूर्वमेव पीभावः । पुनःप्रसङ्गविज्ञानाद् द्विर्वचनम् अभ्यासस्य ह्रस्वः । "क्वसुश्च" इति लिटः क्वसुरादेशः । "उगितश्च" इति ङीपि कृते "वसोः संप्रसारणम्" इति संप्रसारणम् । "आदेशप्रत्यययोः" इति षत्वम् । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव ! हमारी सत्य और प्रिय वाणी आपको गौकी समान तृप्त करती हुई सोमाभिषव करने वाले यजमानके लिये बढ़ौतरी करती हुई सब गौ और घोड़े आदि अभिलषित पदार्थों को दुहती है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।

यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

न । ते । वर्ता । अस्ति । राधसः । इन्द्र । देवः । न । मर्त्यः ।

यत् । दित्ससि । स्तुतः । मघम् ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ते तव राधसः धनस्य वर्ता निवारको न । नास्त्येव । निवारणनिषेधस्य उपयोगसिद्ध्ये निषेध्यान् संभावितान् निर्दिशति देवो न मर्त्य इति । वर्ता देवो नास्ति । वर्ता मर्त्यो मनुष्योपि नास्ति । यत् यदि स्तुतः अस्माभिः स्तुतिं प्राप्तः मत्प्रार्पितगुणः सन् मघम् मंहनीयं धनं दित्ससि दातुम् इच्छसि । तर्हि वर्ता न कोप्यस्ति ॥

हे इंद्र ! आपके धनका निवारक कोई नहीं है । देवता आपके धनको नहीं हटा सकते, मनुष्य भी आपके धनको नष्ट नहीं कर सकते, यदि आप हमसे स्तुति पाकर प्रशंसनीय धनको देना चाहें तो उस धनको हटाने वाला कोई नहीं होसकेगा ॥ ४ ॥

प्रश्नपर्ण ॥

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ५ ॥

यज्ञः । इन्द्रम् । अवर्धयत् । यत् । भूमिम् । वि । अवर्तयत् ।
चक्राणः । ओपशम् । दिवि ॥ ५ ॥

यज्ञः अस्माभिरनुष्ठीयमानः इन्द्रं देवम् अवर्धयत् । हविषा स्तुत्या वा अभिवृद्धम् अकरोत् । कदेत्युच्यते । यत् यदा दिवि अन्तरिक्षे मेघम् ओपशम् सर्वत उपशयानं चक्राणः कुर्वन् भूमिं व्यवर्तयत् विवृत्तां वृष्ट्युदकेन उच्छूनाम् अकरोत् । वृष्टिद्वारा सस्यादिसमृद्ध्या भूमिं पुष्टाम् अकरोत् तदेति संबन्धः । ❀ ओपशम् इति । आकुपपूर्वात् शीङः "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डः ❀ ॥

जब अन्तरिक्षमें इन्द्र मेघको चारों ओर लेटने वाला और पृथ्वीको वृष्टिजलसे फूलने वाली करते हैं अर्थात् वृष्टिके द्वारा

धान्यसमृद्धिसे भूमिको पुष्ट करते हैं, उस समय हमारा अनुष्ठित यज्ञ हवि वा स्तुतिसे इंद्रको बढ़ाता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वावृधानस्यं ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।

ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥

ववृधानस्य । ते । वयम् । विश्वा । धनानि । जिग्युषः ।

ऊतिम् । इन्द्र । आ । वृणीमहे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ववृधानस्य वर्धमानस्य स्तुत्या वर्धमानस्य विश्वा विश्वानि धनानि शत्रुसंबन्धीनि जिग्युषः जितवतः । ॐ जि जये । लिड्द्विर्वचने । "सन्लिटोर्जेः" इति कुत्वम् । लिटः क्वसुरादेशः । भसंज्ञायां "वसोः संप्रसारणम्" इति संप्रसारणम् । "एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य" इति न्यायात् । क्वसोः संप्रसारणम् इति चेत् उकारोच्चारणसामर्थ्याद् यथा वसुग्रहणं सिद्धं तथैव क्वसोरपि ग्रहणम् इष्यते । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॐ । तादृशस्य ते तव ऊतिम् रक्षाम् आ वृणीमहे आभिमुख्येन संभजामहे ॥

हे इंद्रदेव ! स्तुतिसे बढ़ते हुए, शत्रुसम्बंधी सकल धनोंको जीते हुए आपकी रक्षाका हम अभिमुख होकर वरण करते हैं ६

सप्तमी ॥

व्यं१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ ७ ॥

वि । अन्तरिक्षम् । अतिरत् । मदे । सोमस्य । रोचना ।

इन्द्रः । यत् । अभिनत् । वलम् ॥ १ ॥

इन्द्रो देवः रोचना रोचमानं दीप्यमानम् अन्तरिक्षं व्यतिरत् व्यवर्धयत् । वृष्ट्युदकेन अभिवृद्धम् अकरोत् । कस्मिन् सहाये सतीति उच्यते । सोमस्य सोमरसस्य पानेन मदे संजाते सति । कदेत्युच्यते । यत् यदा इन्द्रो वलम् सर्वम् आवृत्य वर्तमानम् एतन्नामकम् असुरम् वक्तलक्षणं मेघं वा अभिनत् सोमपानजनितेन मदेन व्यदारयत् । तदेत्यन्वयः ॥

सोमरसके पानसे मद होने पर जब वल नामक असुरको या मेघको विदीर्ण किया तब इन्द्रदेवने दमकते हुए अन्तरिक्षको वृष्टिके जलसे बढ़ा दिया था ॥ १ ॥

अष्टमी ॥

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ २ ॥

उत् । गाः । आजत् । अङ्गिरःऽभ्यः । आविः । कृण्वन् । गुहा । सतीः ॥
अर्वाञ्चम् । नुनुदे । वलम् ॥ २ ॥

इन्द्रो देवः अङ्गिरोभ्यः तेषाम् अर्थाय गुहा गुहायां सतीः अप्रकाशं विद्यमानाः । ❀ "गुहेः कन्" इति कन् प्रत्ययः । "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना ङेराकारः । सतीरिति । अस्तेर्लटः शत्रादेशः । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः । "उगितश्च" इति ङीप् । "वा छन्दसि" इति प्रतिषेधाभावपक्षे रूपम् । "शतुरनुमो नद्यजादी" इति ङीप्प्रत्यय उदात्तत्वम् । पूर्वसवर्णदीर्घे एकादेशस्वरः ❀ । गाः आविष्कृण्वन् प्रकाशयुक्ताः कुर्वन् उदाजत् उदगमयत् बहिर्देशं प्रापयत् । तदर्थं गवाम् अपहर्तारं वलम् असुरम् अर्वाञ्चम् अवाङ्मुखं नुनुदे अपासयत् ॥

इन्द्रदेवने अंगिरा गोत्र वाले महर्षियोंके लिये, गुहामें पड़ी हुई अत एव अप्रकाशित गौओंको प्रकाशित किया था और फिर उनको बाहर ले आए थे और उन्होंने गौओंका अपहरण करने वाले असुरको भी औंधे मुख करके गिरा दिया था ॥ २ ॥

नवमी ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृह्लानि दृंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ॥ ३ ॥

इन्द्रेण । रोचना । दिवः । दृह्लानि । दृंहितानि । च ।
स्थिराणि । न । पराऽनुदे ॥ ३ ॥

इन्द्रेण देवेन दिवः संबन्धीनि रोचना रोचमानानि ग्रहनक्षत्रादीनि दृढानि दृढावयवानि बलवन्ति कृतानि तथा दृंहितानि च दृढीकृतानि । पूर्वतः स्थौल्यम् अपरत्र बलवत्त्वम् इति विवेकः । अत एव स्थिराणि तानि न पराणुदे परानोदनीयानि भवन्ति । न केनापि प्रच्यावयितुं शक्यानीत्यर्थः । ॐ परेत्युपसर्गपूर्वात् णुद प्रेरणे इत्यस्मात् कृत्यार्थे केन प्रत्ययः । "उपसर्गादसमासेपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् । अस्य णोपदेशत्वं कथम् इति चेत्-"सर्वे णाद्यो णोपदेशाः नृतिनन्दिनर्दिनक्किनाटिनाथृनाधृनृवर्जम्" इति वचनात् णोपदेशत्वं सिद्धम् । प्रत्ययस्य नित्त्वात् कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॐ ॥

इन्द्रदेवने आकाशके दमकते हुए ग्रह नक्षत्र आदिको स्थूल किया है और दृढ़ किया है, अत एव स्थिर होनेके कारण उनको कोई च्युत नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

दशमी ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते

वि ते मदा॑ अराजिषुः ॥ ४ ॥

अपाम् । ऊर्मिः । मदन्ऽइव । स्तोमः । इन्द्र । अजिरऽयते ।

वि । ते । मदाः । अराजिषुः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ते स्तोमः त्वद्विषयं स्तोत्रम् अपाम् । अप्शब्देन तदाश्रयभूताः समुद्रादयो लक्ष्यन्ते । तासां मदन्निव हृष्यदुदकेन हृष्यन्निव । ऊर्मी रसः । स इव अजिरायते । अजिरः क्षिप्रगामी । स इवाचरति । त्वरया त्वां प्रति मुखान्निर्गच्छतीत्यर्थः । यद्वा अपामूर्मिरित्येतावदेव दृष्टान्तवचनं लुप्तेवशब्दकम् मदन्निव स्तोमोजिरायते इति दार्ष्टान्तिकाभिधानम् । ❀ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । अजिरशिशिरेत्यादिना [उ० १, ५३] किरच्प्रत्ययान्तो निपातितः । स इवाचरतीत्यर्थे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । सनादित्वाद् धातुसंज्ञायां लडादि कार्यम् । "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" इति अकारस्य दीर्घः ❀ । ते तव मदाः सोमपानजनिता व्यराजिषुः विशेषेण राजन्ते दीप्यन्ते ॥

इति एकादशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपका स्तोत्र समुद्र आदिको वृष्टिजलसे हर्षसा देता हुआ और रसकी समान क्षिप्रतासे आपके लिये मुखसे निकलता है । आपके सोमपानजनित मद विशेषरूपसे दमकते हैं

एकादश सूक्त समाप्त (६४४)

"त्वं हि स्तोमवर्धनः" इति सूक्तस्य अतिरात्रे ब्राह्मणाच्छंसिनस्तृतीयपर्याये विनियोगोभिहितः ॥

"त्वं हि स्तोमवर्धनः" सूक्तका अतिरात्रमें ब्राह्मणाच्छंसीके तृतीयपर्यायमें विनियोग कहा है ।

तत्र प्रथमा ॥

त्वं हि स्तो॑मव॒र्धन॒ इन्द्रास्यु॑क्थव॒र्धनः॑ ॥ १ ॥

स्तो॒तॄ॒णामु॒त भ॑द्र॒कृत् ॥ १ ॥

त्वम् । हि । स्तो॒म॒ऽव॒र्धनः॑ । इन्द्र॑ । असि॑ । उ॒क्थ॒ऽव॒र्धनः॑ ।

स्तो॒तॄ॒णाम् । उ॒त । भ॒द्र॒ऽकृत् ॥ १ ॥

हे इन्द्र त्वं खलु स्तोमवर्धनः स्तोमैस्त्रिवृदादिभिर्वर्धनीयोसि तथा उक्थ्यवर्धनः उक्थैर्वर्धनीयश्चासि । ❀ स्तोमशब्दोपपदाद् उक्थशब्दोपपदाच्च वर्धतेः "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति अर्हार्थे ल्युट् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण लित्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । उत अपि च त्वं स्तोतॄणां भद्रकृत् भद्रस्य कल्याणस्य कर्तासि ॥

हे इन्द्रदेव ! आप त्रिवृत् आदि स्तोत्रोंसे और उक्थ आदि स्तोत्रोंसे वर्धनीय हैं । और आप स्तोताओंका भी कल्याण करने वाले हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्र॒मित् के॒शिना॒ हरी॒ सो॑म॒पेया॑य वक्षतः ।

उप॑ य॒ज्ञं सु॒राध॑सम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑म् । इत् । के॒शिना॑ । ह॒री इति॑ । सो॒म॒ऽपेया॑य । व॒क्ष॒तः॒ ।

उप॑ । य॒ज्ञम् । सु॒ऽराध॑सम् ॥ २ ॥

केशिना स्कन्धप्रदेशस्थितकेशौ हरी एतन्नामानावश्वौ सुराधसम् शोभनधनफलोपेतम् अस्मद्यज्ञं प्रति सोमपेयाय सोमपानाय इन्द्रमित् इन्द्रमेव उप वक्षतः उपवहतः । यद्वा यज्ञं सुराधसम् इत्येतद् द्वयम् इन्द्रविशेषणतया योज्यम् । यज्ञम् यष्टव्यं सुराधसम्

शोभनेन धनेन दातव्येन तद्वन्तम् इति तयोरर्थः। तादृशम् इन्द्रं वक्षतः वहताम्। ❀ वह धारणे। लेट्। "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप्। "हो ढः" इति ढत्वम्। "षढोः कः सि" इति कत्वम्। "आदेशप्रत्यययोः" इति षत्वम्। निघातः ❀॥

अथात्म वाले हरी नामक अश्व शोभन धनरूपी फलसे सम्पन्न हमारे यज्ञके प्रति सोमपानके लिये इन्द्रको अवश्य लावें॥ २॥

तृतीया॥

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः॥ ३॥

अपाम्। फेनेन। नमुचेः। शिरः। इन्द्र। उत्। अवर्तयः।
विश्वाः। यत्। अजयः। स्पृधः॥ ३॥

पुरा किलेन्द्रः असुरान् जित्वा नमुचिम् असुरं ग्रहीतुं न शशाक। स चेन्द्रो युद्धे तेनासुरेण गृहीतोभूत्। स चासुरः इन्द्रम् एवम् उवाच। त्वां विसृजामि। त्वं मां रात्रावहनि च काले शुष्केण आर्द्रेण च साधनेन मा हिंसीरिति। एवं समयं कृत्वा इन्द्रं विससर्ज। स च विसृष्टः सन् अहोरात्रयोः संधौ शुष्कार्द्रविलक्षणेन अपां फेनेन नमुचेः शिरश्चिच्छेद। अयम् अर्थः अध्वर्युब्राह्मणे मपश्चितः। "इन्द्रो वृत्रं हत्वा असुरान् पराभाव्य नमुचिम् आसुरम् नालभत" [तै० ब्रा० १. ७. १. ६] इत्यादिना। सोर्थः अनेन मन्त्रेणाभिधीयते। हे इन्द्र त्वम् अपां फेनेन वज्रीभूतेन नमुचेः एतन्नामकस्यासुरस्य। ❀ न मुञ्चतीति नमुचिः। "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः ❀। शिरः उदवर्तयः शरीराद् उद्गमनम् अकार्षीः। अच्छैत्सीरित्यर्थः। कदेत्यम् इत्युच्यते। यत् यदा विश्वाः सर्वाः स्पृधः स्पर्धमाना असुरसेना अजयः

जितवान् असि । ❀ स्पर्धन्त इति स्पृधः । "अन्येभ्योपि दृश्यते इति क्विप्" । दृशिग्रहणात् संप्रसारणम् । पृषोदरादित्वाद् रेफस्य ऋकारः अकारलोपश्च । धातुस्वरेण आद्युदात्तः ❀ ॥

[पहिले इन्द्रने असुरोंको जीत लिया, परन्तु नमुचि नामक असुरको न पकड़ सके, परन्तु उस असुरने ही युद्धमें इन्द्रको पकड़ लिया । वह असुर फिर इन्द्रसे इस प्रकार कहने लगा, कि-मैं आपको इस प्रतिज्ञा पर छोड़ता हूँ, कि-आप मुझको दिनमें, रातमें, सूखे या गीले साधनसे भी न मारें । इस प्रकार प्रतिज्ञा कराके उसने इन्द्रको छोड़ दिया । तब इन्द्रदेवने छूटकर दिन और रात्रिकी संधिमें सूखे और गीलेसे विलक्षण जलके फेनसे नमुचिके शिरको काट डाला । इस बातको अध्वर्यु ब्राह्मणमें कहा है, कि-"इन्द्रो वृत्रं हत्वा. असुरान् पराभाव्य नमुचिमासुरम् नालभत" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ७ । १ । ६) वही कथा इस मन्त्रमें है, कि-] हे इंद्रदेव ! बढ़ हुए जलके फेनसे नमुचि नामक असुरके शिरको आपने शरीरसे उतार लिया था (तब) अब सकल स्पर्धा करती हुई सेनाओंको आपने जीत लिया था ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।

अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ ४ ॥

मायाभिः । उत्ऽसिसृप्सतः । इन्द्र । द्याम् । आऽरुरुक्षतः ।

अव । दस्यून् । अधूनुथाः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र त्वं मायाभिः आत्मीयाभिर्वञ्चनाभिः उत्सिसृप्सतः उत्सर्पणेच्छून् उद्गमनेच्छून् असुरान् । ❀ सृप्लृ ग... । ...र्थे

सन् । "सन्यङोः" इति द्विर्वचनम् । उरदत्त्वम् । "सन्यतः" इति इत्त्वम् । सन्नन्ताल्लट् । तस्य शत्रादेशः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ॥ तान् उत्सिसृप्सून् द्याम् आरुरुक्षतः आरुरुक्षूंश्च दस्यून् हे इन्द्र त्वम् अवाधून्वथाः अवाङ्मुखम् अपातयः ॥

हे इन्द्रदेव ! आप अपनी मायाओंसे उद्गमन करना चाहने वाले और द्युलोक पर चढ़ना चाहने वाले असुरोंको औंधा मुख करके नीचेको गिरादेते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।
सोमपा उत्तरो भवन् ॥ ५ ॥

असुन्वाम् । इन्द्र । सम्ऽसदम् । विषूचीम् । वि । अनाशयः ।
सोमऽपाः । उत्ऽतरः । भवन् ॥ ५ ॥

हे इन्द्र सोमपाः सोमस्य पाता त्वम् उत्तरो भवन् सोमपानजनितबलेन उत्तरः उत्कृष्टतरो भवन् असुन्वाम् सोमाभिषवहीनां संसदम् अयष्टसभां विषूचीम् विष्वगञ्चनां कृत्वा व्यनाशयः विशेषेण नष्टाम् अकरोः । ॐ असुन्वाम् इति । षुञ् अभिषवे । लटः शानच् । स्वादिभ्यः श्नुः । ततष्टाप् । अमि कृते नकारलोपश्छान्दसः । नञ्समासे बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अथ वा अस्मादेव धातोः सुवः कित् [उ० ३. ३५] इति नुप्रत्ययः किद्भावश्च । न विद्यते सुनुः अभिषवो यस्याः सेति असुनुः । "सुपां सुपो भवन्ति" इति अमो ङिरादेशः । "ङिति ह्रस्वश्च" इति विकल्पेन नदीसंज्ञायां ङेराम।देशः । आडागमादि । पूर्वोक्त एव स्वरः ॐ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव! आप सोमपानसे बली होकर सोमाभिषवसे हीन अयष्टा सभाको चारों ओर बखेर कर विशेषरूपसे नष्ट कर डालते हैं

तृतीय अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (६४५)

"प्र ते महे विदथे" इति सूक्तस्य अतिरात्रे ब्राह्मणाच्छंसिनस्तृतीयपर्यायशस्त्रे विनियोगोभिहितः। अस्यान्तिमा "अपाः पूर्वेषाम्" [१३] इत्येषा ऋक् परिधानीया॥

"प्र ते महे विदथे" सूक्तका अतिरात्रमें ब्राह्मणाच्छंसीके तृतीयपर्यायशस्त्रमें विनियोग कहा है। इसकी अन्तकी "अपाः पूर्वेषाम्" यह तेरहवीं ऋचा परिधानीया है॥

तत्र प्रथमा॥

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म्।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिर॑ः॥ १॥

प्र। ते॒। म॒हे। वि॒दथे॑। शं॒सि॒ष॒म्। हरी॒ इति॑। प्र। ते॒। व॒न्वे॒। व॒नुषः॑। ह॒र्य॒तम्। मद॑म्।

घृ॒तम्। न। यः। हरि॑ऽभिः। चारु॑। सेच॑ते। आ। त्वा॒। वि॒श॒न्तु॒। हरि॑ऽवर्पसम्। गिरः॑॥ १॥

हे इन्द्र महे महति विदथे। विद्यते कर्तव्यतया ज्ञायत इति विदथो यज्ञः। तस्मिन् ते तव हरी एतन्नामानावश्वौ तव शीघ्रागमनाय प्र शंसिषम् प्रास्ताविषम्। ❀ शंसु स्तुतौ। लुङि "स्तोः सिच्"। अडभावश्छान्दसः ❀। तथा वनुषः शत्रुहिंसकस्य याच्य-

मानस्य वा ते तव हर्यतम् कमनीयं मदम् सोमपानजनितं प्र वन्वे प्रयाचे । अस्मदभिमतम् इति शेषः । ※ वनु याचने । तनादित्वाद् उप्रत्ययः ※ । य इन्द्रो घृतं न घृतं यथा अग्नौ होमार्थं सिञ्चन्ति एवं हरिभिः हरितवर्णैरश्वैः सहागत्य चारु रमणीयं धनं सेचते वर्षयति । तं तादृशं हरिवर्पसम् । वर्प इति रूपनाम । हरिसरूपं त्वा त्वां गिरः अस्मदीयाः स्तुतिवाचः आ विशन्तु प्रविशन्तु तव बुद्धौ संगता भवन्तु ॥

हे इन्द्र ! विशाल यज्ञमें आपके हरि नामक अश्वोंकी मैं शीघ्र आगमनके लिये प्रशंसा करता हूँ । तथा शत्रुहिंसक आपके कमनीय सोमपानमदजनित मदसे अपने अभिलषित फलकी याचना करता हूँ, जो इन्द्रदेव, जैसे घृतको अग्निमें होमके लिये सींचते हैं तिस प्रकार, हरित वर्ण वाले अश्वोंके साथ आकर रमणीय धन की वर्षा करते हैं उन हरितवर्ण वाले आपको हमारी स्तुति प्राप्त होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन् हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः ।

आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत ॥ २ ॥

हरिम् । हि । योनिम् । अभि । ये । सम्ऽअस्वरन् । हिन्वन्तः । हरी इति । दिव्यम् । यथा । सदः ।

आ । यम् । पृणन्ति । हरिऽभिः । न । धेनवः । इन्द्राय । शूषम् । हरिऽवन्तम् । अर्चत ॥ २ ॥

ये पूर्वमहर्षयो हरिम् हरणशीलं हरिवर्पसम् इत्युक्तत्वात् हरितवर्णं वा योनिम् सर्वेषां मूलकारणम् इन्द्रं समस्वरन् हि समस्तुवन् खलु। ❁ स्वृ शब्दोपतापयोः। "हि च" इति निघातप्रतिषेधः ❁। किं कुर्वन्तः। दिव्यम् देवसंबन्धि सदः सीदन्त्यत्र देवा इति सदो यागगृहम्। तद् यथा येन प्रकारेण इन्द्रो गच्छति तथा हरी एतन्नामानावश्वौ हिन्वन्तः प्रेरयन्तः रथे योजयन्तः। यं च इन्द्रं न धेनवः। अत्र पुरस्तादुपाचारोपि नशब्द उपमार्थीयः। धेनवो नवप्रसूतिका गावो यथा स्वस्वामिनं क्षीरादिभिः पृणन्ति पूरयन्ति एवं हरिभिः हरितवर्णैः सोमरसैः आ पृणन्ति पूरयन्ति यजमानास्तस्मै इन्द्राय। ❁ द्वितीयार्थे चतुर्थी ❁। तम् इन्द्रं शूषम् शत्रुशोषणसाधनबलोपेतं हरिवन्तम् हरिभिस्तद्वन्तम् अर्चत पूजयत। हे ऋत्विज इति शेषः। यद्वा इन्द्राय इन्द्रस्य हरिवन्तं शूषम् प्रीणनसाधनं बलम् अर्चतेति व्याख्येयम्। ❁ शुषिः प्रीणनार्थ इति माधवः ❁॥

दिव्य यज्ञगृहमें बैठे हुए प्राचीन महर्षियोंने इन्द्र जिस प्रकार शीघ्रतासे यागगृहमें आवें, इस लिये हरि नामक अश्वोंको रथ में जुतनेके लिये प्रेरित किया और हरितवर्ण वाले सबके मूलकारण इन्द्रकी स्तुति की थी। जिस प्रकार नवीन ब्याई हुई गौएँ क्षीर आदिसे अपने स्वामीको पूर्ण करती हैं इसी प्रकार हरितवर्णके सोमोंसे यजमान इन्द्रदेवको पूर्ण करते हैं ऐसे शत्रुओं को सुखाने वाले बलसे संपन्न हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्रदेवकी हे ऋत्विजो! तुम पूजा करो॥ २॥

तृतीया॥

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।

द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

सः । अस्य । वज्रः । हरितः । यः । आयसः । हरिः । निऽकामः । हरिः । आ । गभस्त्योः ।
द्युम्नी । सुऽशिप्रः । हरिमन्युऽसायकः । इन्द्रे । नि । रूपा । हरिता । मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

य आयसः अयोविकारो लोहमयो यो वज्रोस्ति अस्य इन्द्रस्य स वज्रः हरितः हरितवर्णः । लोहमयत्वादेव । स निकामः नितरां कमनीयः । इन्द्रोपि हरिः हरितवर्णः । स हरिः उक्तरूप इन्द्रः गभस्त्योः । गभस्तिर्हस्तः । हस्तयोस्तं हरितं वज्रम् । आ दत्त इति शेषः । धारयतीत्यर्थः । किं च इन्द्रः द्युम्नी द्युम्नवान् अन्नवान् धनवान् वा । सुशिप्रः । ❀ शिप्रे हनू नासिके वेति निरुक्तम् [नि० ६. १७] ❀ । शोभनहनुः शोभननासिको वा । स इन्द्रः हरिमन्युसायकः हरणशीलमन्युलक्षणसायकोपेतः हरितवर्णमननीयबाणोपेतो वा । हरयो मन्यवः सायकाश्च यस्येति वा व्याख्येयम् । किं बहुना । यानियानि रूपा रूपाणि निरूपणीयानि आभरणादीनि सन्ति तानि सर्वाण्यपि हरिता हरितानि हरितवर्णान्येव नि मिमिक्षिरे नियोजयितुम् इष्टानि बभूवुः । ❀ मिहेः सन्नन्तात् कर्मणि लिटि रूपम् ❀ ॥

जो इन इन्द्रदेवका लोहेका वज्र है वह भी हरितवर्णका है और यह परम कमनीय इन्द्रदेव भी हरितवर्ण हैं । ऐसे हरि इन्द्र अपने हाथोंमें हरित वज्रको धारण करते हैं । और यह धनवान् इन्द्र सुन्दर ठोड़ी वाले हैं और इनके पास हरित वर्णका मान-

नीय त्राण रहता है अधिक क्या इनके जो कुछ भी आभरण आदिक हैं वे सब ही हरित वर्णके ही इष्ट हुए हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या ।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः ॥ ४ ॥

दिवि । न । केतुः । अधि । धायि । हर्यतः । विव्यचत् । वज्रः । हरितः । न । रंह्या ।
तुदत् । अहिम् । हरिऽशिप्रः । यः । आयसः । सहस्रऽशोकाः । अभवत् । हरिम्ऽभरः ॥ ४ ॥

वज्रः इन्द्रसंबन्धी दिवि अन्तरिक्षे केतुर्न केतुरिव प्रज्ञापक आदित्य इव वा हर्यतः कान्तः सन् अधि धायि अध्यधायि निहित आसीत् । ❀ दधातेः कर्मणि लुङ् । चिणि युगागमः । अडभावश्छान्दसः ❀ । किं च स वज्रः हरितो न हरितवर्णा आदित्याश्वा इव ते यथा रंह्या रंहणीयानि प्रति । अथ वा रंह्या वेगेन व्याप्नुवन्ति तद्वद् विव्यचत् विशेषेण व्याप्नोति सर्वम् । यद्वा नेति चार्थे । रंह्याणि स्थानानि प्रति हरितः हरितवर्णो वज्रः विव्यचत् व्याप्नोति च । अपि च य आयसो हरितवर्णो वज्रोऽस्ति तेन वज्रेण हरिशिप्रः सोमपानेन हरितवर्णशिप्र इन्द्रः अहिम् वृत्रं तुदत् अतुदत् व्यथितम् अकरोत् । किं च हरिंभरः हर्योरश्वयोर्भर्ता । ❀ हरिशब्दोपपदाद् भृञः "संज्ञायां भृतॄवृजि०" इत्यादिना खच् । मुम् आगमः ❀ । इन्द्रः तेन वज्रेण साधनेन सहस्रशोकाः सहस्र-

स्तोकः सहस्रसंख्याकानां शत्रूणां शोचयिता अभवत् । यद्वा अप-रिमितदीप्तिरभवत् ॥

इन्द्रदेवका वज्र अन्तरिक्षमें प्रकाशक आदित्यकी समान स्थित है, और वज्र जैसे सूर्यके घोड़े वेगसे गन्तव्योंको प्राप्त होते हैं, तिस प्रकार व्याप्त होजाते हैं । और जो हरितवर्णका वज्र है उस वज्रके द्वारा सोमपानसे हरितवर्ण वाले हुए इन्द्रने वृत्रासुरको कम्पित किया था । और हरि नामक अश्वोंका भरण करनेवाले इन्द्र उस वज्ररूपी साधनसे सहस्रों शत्रुओंको शोक पहुँचाने वाले हुए हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः । त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥ ५ ॥

त्वम्ऽत्वम् । अहर्यथाः । उपऽस्तुतः । पूर्वेभिः । इन्द्र । हरिऽकेश । यज्वऽभिः ।

त्वम् । हर्यसि । तव । विश्वम् । उक्थ्यम् । असामि । राधः । हरिऽजात । हर्यतम् ॥ ५ ॥

हे हरिकेश हरिद्वर्णकेशोपेत उक्तवर्णकेशस्थानीयरश्मिकोपेत वा हे इन्द्र त्वंत्वम् त्वमेव यत्रयत्र सोमादि हविरस्ति तत्र तत्र त्वमेव । ⊛ "नित्यवीप्सयोः" इति कृदन्तत्वाद् वीप्सायां द्विवचनम् । आम्रेडितस्य अनुदात्तत्वाद् आद्युदात्तः ⊛ । पूर्वेभिः पूर्वैः यज्वभिः यजमानैः उपस्तुतः सन् अहर्यथाः अकामयथाः । काम-

ऽर्थात् सोमादिकम् इति गम्यते । तथा इदानीमपि त्वम् त्वमेव हर्यसि कामयसे हवींषि । अतः हे हरिजात हरिभ्याम् अश्वाभ्यां सह यज्ञे प्रादुर्भूत हरितवर्णत्वेन प्रादुर्भूत वा विश्वम् सर्वं सोमादिकम् उक्थम् प्रशस्यम् असामि अनल्पं हर्यतम् कमनीयं राधः अन्नम् सोमादिरूपं तव तवैव ॥

हे हरे वर्ण वाले केशोंसे सम्पन्न इन्द्र ! जहाँ २ सोम आदि हवि होती है वहाँ सर्वत्र आप ही हैं । आप प्राचीन यजमानोंसे स्तुति पाकर सोम आदि हविकी कामना किया करते हैं । तथा इस समय भी आप ही हवि आदिकी कामना कर रहे हैं । अत एव हे हरि नामक अश्वोंके साथ यज्ञस्थलमें प्रादुर्भूत होने वाले इन्द्र ! सब सोम आदि, प्रशंसनीय उक्थ्य और कमनीय अन्न आपका ही है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी ।

पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥ १ ॥

ता । वज्रिणम् । मन्दिनम् । स्तोम्यम् । मदे । इन्द्रम् । रथे । वहतः । हर्यता । हरी इति ।

पुरूणि । अस्मै । सवनानि । हर्यते । इन्द्राय । सोमाः । हरयः । दधन्विरे ॥ १ ॥

हर्यता हर्यतौ गन्तारौ कमनीयौ वा ता तौ प्रसिद्धौ हरी एतन्नामकावश्वौ वज्रिणम् वज्रोपेतं मन्दिनम् मोदमानं हृष्यमाणं

स्तोम्यम् स्तोमार्हं स्तुत्यम् एवं महानुभावम् इन्द्रं मदे सोमपान-जनिताय मदाय रथे वहतः धारयतः अस्मदीयं यज्ञं प्रापयतः। हर्यते कान्ताय अस्मै इन्द्राय पुरूणि बहूनि त्रीण्यपि सवनानि प्रातरादीनि हरयः हरितवर्णाः सोमा दधन्विरे अधारयन् धारयन्ति

कमनीय हरी नामक घोड़े, प्रसन्न होते हुए स्तुतिके पात्र वज्रधारी इन्द्रको सोमपानसे होने वाले मदके लिये हमारे यज्ञमें लारहे हैं। इन कमनीय इन्द्रदेवके लिये प्रातःसवन आदि तीनों सवनोंको हरित वर्ण वाले सोम धारण करते हैं ॥ १ ॥

सप्तमी ॥

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन् हरयो हरी तुरा ।

अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरि-वन्तमानशे ॥ २ ॥

अरम् । कामाय । हरयः । दधन्विरे । स्थिराय । हिन्वन् । हरयः । हरी इति । तुरा ।

अर्वत्ऽभिः । यः । हरिऽभिः । जोषम् । ईयते । सः । अस्य । कामम् । हरिऽवन्तम् । आनशे ॥ २ ॥

कामाय कमनीयाय स्थिराय संग्रामे अविचलिताय इन्द्राय अरम् अलम् अत्यर्थं हरयः हरितवर्णाः सोमा दधन्विरे सवनानि धारयन्ति। त एव हरयः हरितवर्णाः सोमाः तुरा तुरौ त्वरमाणौ हरी अश्वौ हिन्वन् अहिन्वन् प्रेरयन्ति यज्ञं प्रति प्रेरयन्ति। यः य इन्द्रः अर्वद्भिः अरणवद्भिर्वेगवद्भिः हरिभिः अश्वैः याजम् यज्ञम्

ईयते गच्छति स इन्द्रः अस्य यज्ञस्य कामम् कमयितव्यं हरिवन्तम् सोमवन्तं यजमानम् आनशे व्याप्नोति । यद्वा यो रथः अर्वद्भिः हरिभिः वाजम् ईयते स रथः अस्येन्द्रस्य स्वभूतं कामं हरिवन्तम् आनशे इन्द्रं धारयित्वा प्राप्नोति ॥

इन संग्राममें अविचल रहने वाले कमनीय इन्द्रदेवके लिये हरितवर्ण सोम सवनोंको धारण करते हैं। और वे ही हरित वर्ण वाले सोम त्वरा करने वाले हरि नामक अश्वोंको यज्ञकी ओर प्रेरणा करते हैं। जो इन्द्रदेव वेगवान घोड़ोंके द्वारा यज्ञमें आते हैं। वह इन्द्र इस यज्ञके कमनीय सोमवान् यजमानको प्राप्त होते हैं २

अष्टमी ॥

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥ ३ ॥

हरिऽश्मशारुः । हरिऽकेशः । आयसः । तुरःऽपेये । यः । हरिऽपाः । अवर्धत ।

अर्वत्ऽभिः । यः । हरिऽभिः । वाजिनीऽवसुः । अति । विश्वा । दुःऽइता । पारिषत् । हरी इति ॥ ३ ॥

हरिश्मशारुः हरितवर्णश्मश्रुयुक्तः हरिकेशः हरितवर्णकेशोपेतः आयसः अयोविकारभूतः । अयःसारवत्कठिनहृदय इत्यर्थः । क एवमात्मक इति तम् आह । यः यः प्रसिद्ध इन्द्रः तुरस्पेये तूर्णं पातव्ये सोमे निष्पन्ने सति हरिपाः हरिद्वर्णस्य सोमस्य पाता सन् अवर्धत वर्धते । यश्च वाजिनीवसुः वाजः अन्नं हविर्लक्षणं सोऽस्यां क्रियायां विद्यते सा वाजिनी । सैव वसु धनं यस्य

तथोक्तः । अथ वा वाजिनमेव वाजिनी सैव वसु धनं यस्य स तादृश इन्द्रः अर्वद्भिः अरणकुशलैः शीघ्रगामिभिः हरिभिः अश्वैः सोमपानाय आगच्छति तैर्वाजिनीवसुर्भवतीति वा योज्यम् । स तादृश इन्द्रः हरी अश्वौ रथे योजयित्वा आगत्य अस्माकं विश्वा विश्वानि सर्वाणि दुरिता दुरितानि पारिषत् पारयतु । नाशय-त्वित्यर्थः । अस्मान् दुरितानि विश्वानि पारिषत् पारयतु तारय-त्विति वा योज्यम् । ❀ पॄ पूरणे । चुरादिः । अत्र हिंसा-कर्मा । एयन्तात् पञ्चमलकारः । "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । निघातः ❀ ।

हरित वर्णकी डाढ़ी मूँछ वाले, हरितवर्णके केशों वाले, लोहेकी समान कड़े हृदय वाले जो इन्द्रदेव हैं वह शीघ्रतासे पीने योग्य सोमके निष्पन्न (तयार) होने पर सोमको पीते हुए बढ़ते हैं । हवि-रूपा क्रिया ही जिनका धन है वह इन्द्र शीघ्रगामी अश्वोंके द्वारा सोमपान करनेके लिये आते हैं । वह इन्द्र हरि नामक अश्वोंको रथमें जोत आकर हमारे सब पापोंको नष्ट कर डालें ॥ ३ ॥

नवमी ॥

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः ।

प्र यत् कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यत-स्यान्धसः ॥ ४ ॥

स्रुवाऽइव । यस्य । हरिणी इति । विऽपेततुः । शिप्रे इति । वाजाय । हरिणी इति । दविध्वतः ।

प्र । यत् । कृते । चमसे । मर्मृजत् । हरी इति । पीत्वा । मदस्य ।

हर्यतस्य । अन्धसः ॥ ४ ॥

यस्य इन्द्रस्य हरिणी हरितवर्णे शिप्रे हनू स्रुवेव स्रुवाविव ते यथा यज्ञे संचरतः एवं सोमपानाय विवेततुः विपततः । चलत इत्यर्थः । यस्य च वाजाय अन्नाय सोमलक्षणाय तत्पानाय हरिणी हरितवर्णे शिप्रे दविध्वतः कम्पयतः पुरतः स्थितस्य पानाय चलतः । ❀ "दाधर्ति०" इत्यादिना निपातितोयम् । यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः ❀ । तथा यत् यदा चमसे पात्रे कृते संस्कृते सोमेन पूर्णे सति मदस्य मदकरस्य हर्यतस्य कमनीयस्य अन्धसः सोमलक्षणस्यान्नस्य अंशं पीत्वा हरी प्र मर्मृजत् हरितवर्णावश्वौ प्रमार्ष्टि । स इन्द्रस्तदानीं स्तुतः इत्यर्थः । अथ वा । ❀ कर्मणि षष्ठ्यन्ता एते ❀ । मदं हर्यतम् अन्धः पीत्वा शिप्रे दविध्वत इति योज्यम् ॥

जिन इन्द्रदेवकी हरितवर्णकी ठोड़ी, स्रुवे जैसे यज्ञमें चलते हैं, तिस प्रकार सोमपानके लिये चलती है । तथा जब चमसपात्रके सोमसे पूर्ण होने पर, कमनीय मदकर सोमरूपी अन्नके अंशको पीकर इन्द्र हरित वर्ण वाले अश्वोंका प्रमार्जन करते हैं तब उन की ठोड़ी फड़कती है ॥ ४ ॥

दशमी ॥

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्यो३रत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत् ।

मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥

उत । स्म । सद्म । हर्यतस्य । पस्त्योः । अत्यः । न । वाजम् ।

हरिऽवान् । अचिक्रदत् ।

मही । चित् । हि । धिषणा । अहर्यत् । ओजसा । बृहत् । वयः ।

दधिषे । हर्यतः । चित् । आ ॥ ५ ॥

उत स्म । स्मेति पूरणः । अपि च हर्यतस्य गन्तव्यस्य कमनीयस्य वा इन्द्रस्य सद्म सदनं पस्त्योः द्यावापृथिव्योः संबन्धि भवति । स इन्द्रः अत्यो न वाजम् । अत्य इति अश्वनाम । अश्वः संग्राममिव हरिवान् हरिभियुक्तः सन् अचिक्रदत् यज्ञगृहं प्रति गच्छति । ॐ कदि क्रदि वैक्लव्ये । अत्र गत्यर्थः । छान्दसो लुङ् । च्लेश्चङि णिलोपः । सन्वद्भावादिभ्यासाभावे इत्वम् । निघातः ॐ । किं च मही चित् महती धिषणा अस्मदीया स्तुतिरपि ओजसा बलेन युक्तम् इन्द्रम् अहर्यत् कामयते । अतः हे इन्द्र हर्यतश्चित् कामयमानस्य यजमानस्यापि तदर्थम् आ आगत्य बृहत् महत् प्रभूतं वयः अन्नं दधिषे धारयसि प्रयच्छसि ॥

इन कमनीय इन्द्रका भवन द्यावापृथिवीमें रहता है, जैसे घोड़ा संग्राममें जाता है, वैसे यह इन्द्र हरि नामक घोड़ोंसे सम्पन्न होकर यज्ञगृहकी ओर जाते हैं । और हमारी स्तुति भी बलसे सम्पन्न इन्द्रदेवकी कामना करती है । और हे इन्द्र ! आप भी कामना करते हुए यजमानके लिये आकर उसको विशाल परिमाणमें अन्न प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

एकादशी ॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।

प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय १

आ। रोदसी इति। हर्यमाणः। महिऽत्वा। नव्यम्ऽनव्यम्।

हर्यसि। मन्म। नु। प्रियम्।

प्र। पस्त्यम्। असुर। हर्यतम्। गोः। आविः। कृधि।

हरये। सूर्याय॥ १॥

हे इन्द्र हर्यमाणः कामयमानस्त्वं महित्वा महत्त्वेन रोदसी। ❀ सकारान्तपक्षे द्विवचनान्तम् एतत्। ईकारान्तपक्षे रोदसी रोदस्याविति अर्थः। "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। द्यावापृथिव्यौ आ। ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀। पूरयसि। तथा हे इन्द्र नव्यंनव्यम् नवतरंनवतरम् असकृच्छ्रुतेपि सर्वदा नूतनम् अत एव प्रियम् हृदयंगमं मन्म मननीयं स्तोत्रं नु क्षिप्रं हर्यसि कामयसे। हे असुर असवः प्राणास्तद्वन् प्रकृष्टबलवन्निन्द्र हर्यतम् स्पृहणीयं गोः। ❀ जातावेकवचनम् ❀। गवाम् आवासभूतं पस्त्यम्। गृहनामैतत्। गृहं पणिभिरपहृतानां गवां निवासस्थानं हरये हरणशीलाय हरिद्वर्णाय वा सूर्याय तदर्थं स यथा गाः प्रत्यर्पयति स्तोतृभ्यः तथा आविष्कृधि प्रकटीकुरु। अथ वा गोशब्दः उदकवाची। गवाम् उदकानां पस्त्यम् स्थानं हरये सूर्याय आविष्कृधि स यथा वृष्टिं प्रयच्छति तथा कुरु। आदित्याज्जायते वृष्टिरिति स्मृतेः [म० स्मृ० ३. ७६]॥

हे कामना करने योग्य इन्द्र! आप अपने महत्त्वसे द्यावापृथिवीको व्याप्त कर लेते हैं और हे इन्द्र! वारम्बार सुनने पर भी सदा नवीन ही प्रतीत होने वाले अत एव प्रिय हृदयंगम स्तोत्रकी आप सदा कामना करते हैं। हे उत्कृष्ट प्राणबलसे सम्पन्न इन्द्र! पणियोंसे हरी हुई गौओंके स्पृहणीय, स्थानको

आप सूर्यदेवको प्रदान करते हैं, और वह जैसे स्तोताओंके लिये उनको प्रदान करें, तिस प्रकार करिये ॥ १ ॥

द्वादशी ॥

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् यज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥ २ ॥

आ । त्वा । हर्यन्तम् । प्रऽयुजः । जनानाम् । रथे । वहन्तु । हरिऽशिप्रम् । इन्द्र ।
पिब । यथा । प्रतिऽभृतस्य । मध्वः । हर्यन् । यज्ञम् । सधऽमादे । दशऽओणिम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र हरिशिप्रम् सोमपानेन हरितवर्णाभ्यां हनुभ्यां युक्तं त्वा त्वाम् । भाविगत्यैवमुक्तः । आगतस्य सोमपाने सति शिप्रयोर्हरिद्वर्णत्वसंभवात् । तादृशं हर्यन्तम् सोमपानं कामयमानं त्वा त्वां जनानाम् यजमानानाम् अर्थाय प्रयुजः प्रकर्षेण परस्परं संयुक्ता अश्वाः रथे आ वहन्तु प्रापयन्तु । हे इन्द्र प्रतिभृतस्य संभृतस्य ग्रहचमसेषु धृतस्य मध्वः मधुवत्प्रियभूतस्य सोमस्य । ❀ कर्मणि षष्ठ्यौ ❀ । प्रतिभृतं मधु हर्यन् कामयमानो यज्ञम् यज्ञसाधनभूतं दशोणिम् । ओणयः अङ्गुलयः । दशभिरङ्गुलिभिर्निष्पीडितं सोमं सधमादे । सह माद्यन्त्यत्रेति सधमादो यज्ञः । तस्मिन् यथा पिब यथा पिबसि । तथा त्वां रथे वहन्तु इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! सोमपानसे हरितवर्णकी हनुओंसे सम्पन्न होने वाले, सोमपानकी कामना करने वाले आपको यजमानके लिये परस्पर

संयुक्त हुए अश्व लावें । हे इन्द्र ! ग्रह चमस आदिमें भरे हुए मधुकी समान प्रियभूत सोमके मधुकी कामना करते हुए यज्ञके साधन दश अंगुलियोंसे निचोड़े हुए सोमके घर यज्ञमें तुम जिस प्रकार पान कर सको तिस प्रकार घोड़े आपको लावें ॥ २ ॥

त्रयोदशी ॥

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते ।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥ ३ ॥

अपाः । पूर्वेषाम् । हरिऽवः । सुतानाम् । अथो इति । इदम् । सवनम् । केवलम् । ते ।

ममद्धि । सोमम् । मधुऽमन्तम् । इन्द्र । सत्रा । वृषन् । जठरे । आ । वृषस्व ॥ ३ ॥

हे हरिवः हरिवन् हरिभ्यां तद्वन् इन्द्र त्वं सुतानाम् अभिषुतानां पूर्वेषाम् प्रातःसवनसंपादितानां सोमानाम् । माध्यंदिनसवनापेक्षया पूर्वत्वम् एषाम् । ॐ कर्मणि षष्ठ्यावेते ॐ । अभिषुतान् प्रातःसवनिकान् सोमान् अपाः पीतवान् असि । अथो अपि च इदं माध्यंदिनं सवनं केवलम् असाधारणं ते तवैव । "माध्यंदिनं सवनं केवलं ते" इति हि [ऋ० ४. ३५. ७] मन्त्रान्तरम् । अतो माध्यंदिने सवने मधुमन्तम् माधुर्योपेतं सोमं ममद्धि । मदधातिना मदिधातुना पानम् अन्तरेण मदाभावात् पानम् आक्षिप्यते । अतः पिबेरर्थः । ॐ मदि स्तुत्यादौ । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । पादादित्वाद् अनिघातः । हेरपित्वात् प्रत्यय-

स्वरः ❀। हे वृषन् वर्षक इन्द्र सत्रा साकम् एकधैव जठरे उदरे आ वृषस्व आसिञ्च। यथा कुक्षेः पूर्तिर्भवति तथा पिबेत्यर्थः॥

हे हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्र! आप अभिषुत, प्रातःसवन में सम्पादित सोमोंका पान कर चुके हैं और यह माध्यन्दिनका सवन भी आपका ही है। अतः आप माध्यन्दिन सवनमें इस सोमका पान करके मदमें भरिये। हे वर्षक इन्द्र! आप इसको एक साथ जठरमें भर लीजिये॥ २॥

चतुर्दशी॥

अप्सु धूतस्यं हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्यं जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रंय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदंमुक्थवाहः १

अप्ऽसु। धूतस्य। हरिऽवः। पिब। इह। नृऽभिः। सुतस्य।
जठरम्। पृणस्व।
मिमिक्षुः। यम्। अद्रयः। इन्द्र। तुभ्यम्। तेभिः। वर्धस्व।
मदम्। उक्थऽवाहः॥ १॥

हे हरिवः हरिवन् इन्द्र अप्सु उदकेषु सोमाभिषवार्थेषु धूतस्य कम्पितस्य मिश्रितस्य। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। अप्सु धूतं नृभिः नेतृभिः अध्वर्युप्रभृतिभिः सुतस्य सुतम् अभिषुतं सोमम् इह अस्मिन् यज्ञे पिब पानं कुरु पीत्वा जठरं पृणस्व च पूरय। जठरपूर्तिपर्यन्तं पिबेत्यर्थः। ❀ "चादिलोपे विभाषा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते। पृणस्वेत्येषा द्वितीया तु निहन्यत एव ❀। हे इन्द्र तुभ्यं त्वदर्थं यं सोमम् अद्रयः अभिषवसाधना ग्रावाणो मिमिक्षुः सेक्तुम् अभिषवं कर्तुम् ऐच्छन्। तेभिरतैरभिषुतैः सोम-

रसैः हे उक्थवाहः उक्थैः शस्त्रैरुह्यमान इन्द्र तव मदं वर्धस्व अभि-वृद्धं कुरु । मत्तो भवेत्यर्थः ॥

हे हरि नामक घोड़ोंसे सम्पन्न इन्द्र ! सोमाभिषवके जलोंमें मिलाये हुए, अध्वर्यु आदिसे अभिषुत सोमका इस यज्ञमें आप पान करिये। और पेट भर कर पीजिये। हे इन्द्र ! आपके लिये जिस सोमको अभिषवके साधन पत्थर अभिषव कर चुके हैं उन अभिषुत सोमरसोंसे हे शस्त्रोंसे उह्यमान इन्द्र ! अपने मदको बढ़ाइये—मत्त हूजिये ॥ १ ॥

पञ्चदशी ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ २ ॥

प्र । उग्राम् । पीतिम् । वृष्णे । इयर्मि । सत्याम् । प्रऽयै । सुतस्य । हरिऽअश्व । तुभ्यम् ।
इन्द्र । धेनाभिः । इह । मादयस्व । धीभिः । विश्वाभिः । शच्या । गृणानः ॥ २ ॥

हे हर्यश्व हरिनामकाश्वोपेत इन्द्र वृष्णे अभिमतफलवर्षकाय तुभ्यं प्रयै प्रकर्षेण गन्तुम् । ❀ प्रपूर्वाद् या प्रापणे इत्यस्मात् "प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै" इति छन्दसि तुमर्थे कैप्रत्ययान्तो निपातितः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । तदर्थं सुतस्य अभि-षुतस्य सोमस्य उग्राम् उद्गूर्णबलां सत्याम् अवितथमदलक्षण-

फलोपेतां पीतिम् पानं मेयर्मि प्रेरयामि । किं च हे इन्द्र शच्या । कर्मनामैतत् । यागेन निमित्तेन विश्वाभिः सर्वाभिः धीभिः स्तुतिभिः गृणानः स्तूयमानः सन् धेनाभिः प्रीणयित्रीभिः स्तुतिभिर्वाग्भिः इह अस्मिन् यज्ञे मादयस्व तृप्तो भव । ❀ मद तृप्तियोगे । चुरादिः । आत्मनेपदी ❀ ॥

हे हरि नामक अश्वों वाले इन्द्र ! अभीष्ट फलकी वर्षा करने वाले आपको प्राप्त होनेके लिये अभिषुत सोमके प्रचण्ड बलमद वास्तवमें मदरूपी फल वाले पानको प्रेरित करता हूँ। हे इन्द्रदेव ! यागरूपी कर्म से और सकल स्तुतियोंसे प्रशंसा पाते हुए आप प्रशंसिका स्तुतियोंसे इस यज्ञमें तृप्त हूजिये ॥ २ ॥

षोडशी ॥

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ३

ऊती । शचीऽवः । तव । वीर्येण । वयः । दधानाः । उशिजः । ऋतऽज्ञाः ।

प्रजाऽवत् । इन्द्र । मनुषः । दुरोणे । तस्थुः । गृणन्तः । सधऽमाद्यासः ॥ ३ ॥

हे शचीवः शक्तिमन् इन्द्र ऊती ऊत्या रक्षणेन तव वीर्येण सामर्थ्येन च प्रजावत् पुत्रादिरूपाभिः प्रजाभिरुपेतं वयः अन्नं दधानाः धारयन्त उशिजः त्वां कामयमाना ऋतज्ञाः सत्यभूतफलसाधनं यज्ञं जानन्तः । बहुस्याहः प्रयोगस्य अतिगहनत्वाद् ऋतज्ञा इत्युक्तम् । सत्रे ये यजमानास्ते ऋत्विज इति शास्त्रेण सर्वेषां यजमानभूतानाम् ऋत्विजां फलसाधारण्यात् प्रजावद् वयो दधाना

इति फलसंबन्धवचनं युक्तम् । एवंभूता ऋत्विजो मनुषः मनुष्यस्य यजमानस्य दुरोणे यागगृहे । ❀ दुरोण इति गृहनाम । दुरवा भवन्ति दुस्तर्पा इति यास्कः [नि० ४. ५] ❀ । सत्रस्य बहुकर्तृकत्वेपि केन चिद् यजमानेन अवश्यंभावाद् मनुषो दुरोण इत्युक्तम् । सधमाद्यासः सह मदनीयाः सन्तो गृणन्तः त्वां स्तुवन्तः तस्थुः तिष्ठन्ति ॥

तृतीयेनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च तृतीयोनुवाकः ॥

हे शक्तिसम्पन्न इन्द्र ! आपकी रक्षक शक्तिसे पुत्रादिरूप प्रजाओं वाले अन्नको धारण करते हुए और आपकी कामना करते हुए सत्यफलसाधन यज्ञको जानते हुए ऋत्विज, मनुष्य यजमानके यागगृहमें आपकी स्तुति करते हुए विद्यमान हैं ॥२॥

तृतीय अनुवाकमें त्रयोदश सूक्त समाप्त (१४६)

तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेनुवाके चत्वारि सूक्तानि । तत्र "यो जात एव" इति प्रथमं सूक्तं सामसूक्तम् इति व्यवह्रियते । "अस्मा इदु प्र तवसे" इति द्वितीयं सूक्तम् अहीनसूक्तम् इति व्यवह्रियते । द्वादशाहादौ वैराजपृष्ठे विश्वजिति "यो जातः" इति सूक्तं ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्र विनियुक्तम् । सूत्रितं हि वैताने । "नवरात्रेभिजिद्विषुवान् विश्वजिच्चतुर्विंशवत्" इत्युपक्रम्य "विश्वजिति वैराजपृष्ठे 'यद् द्याव इन्द्र ते शतम्' [२०. ८१. १] 'यद् इन्द्र यावतस्त्वम्' [२०. ८२. १] इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ उक्थे योनी । 'इन्द्र क्रतुं न आ भर' [२०. ७९. १] इति तृतीयाम् । 'इन्द्र त्रिधातु शरणम्' [२०. ८३. १] इति सामप्रगाथः । सुकीर्तिवृषाकपी 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' [२०. ३४] इति सामसूक्तम् "अहीनसूक्तम् आवपते" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा अप्तोर्यामे क्रतावपि माध्यंदिनसवने अस्य सूक्तस्य ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियोगः। "अप्तोर्यामे गर्भकारं शंसति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "सुकीर्तिं वृषाकपिं सामसूक्तम् अहीनसूक्तम् आवपते" इति [वै० ४. २] ॥

एतत्सूक्तविषय इतिहासो बृहद्देवतानुक्रमण्याम् उक्तः ॥

संपूज्य तपसात्मानम् ऐन्द्रं बिभ्रद् वपुः ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तम् इन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततुः ॥
विदित्वा स तयोर्भावम् ऋषिः पापं चिकीर्षतोः ।
यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥

अपरे त्वन्यथा वर्णयन्ति ॥

पुरा किल महेन्द्राद्या वैन्ययज्ञं समागताः ।
ऋषिर्गृत्समदस्तत्र वैन्यस्य सदसि स्थितः ॥
असुराश्च समाजग्मुः शीघ्रम् इन्द्रजिघांसया ।
तान् दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृतिः ॥
निरगात् सोऽपि तद्यज्ञाद् ऋषिर्वैन्येन पूजितः ।
तं दृष्ट्वा चेन्द्र एवायम् इति ते जगृहुः किल ॥
नाहम् इन्द्रोऽस्मि किं त्वेवंगुणोपेतः स इत्यृषिः ।
यो जात इति सूक्तेन निराचक्रे वधोद्यतान् ॥ इति ॥

केचित् तु अत्र सूक्ते "यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्" इति [५] इन्द्रस्य नास्तित्ववचनाद् अन्यत्रापि "नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श" इति [ऋ० ८, १००, ३] इन्द्रस्याभावश्रवणाच्च तत्सद्भावे निराकुर्वाणान् प्रति अस्मिन् सूक्ते इन्द्रस्य असाधारणमाहात्म्यकथनेनतदस्तित्वम् अवागमयद् इति कश्चिद् आहुः ॥

चौथे अनुवाकमें चार सूक्त हैं। इनमें "यो जात एव" यह प्रथम सूक्त सामसूक्त कहलाता है। "अस्मा इदु प्र तवसे" यह द्वितीय सूक्त अहीनसूक्त कहलाता है। द्वादशाह आदिमें वैराज-पृष्ठके विश्वजित्में "यो जातः" सूक्त ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्रमें विनियुक्त होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, "नव-रात्रेऽभिजिद् विषुवान् विश्वजिच्चतुर्विंशवत्" का आरंभ करके "विश्वजिति वैराजपृष्ठे 'यद् याव इन्द्र ते शतम्' (२०। ८१। १) 'यदिंद्र यावतस्त्वम्' (२०। ८२। १) इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ उक्ते योनौ। 'इन्द्रं क्रतु न आ भर' (२०। ७९। १) इति तृतीयाम्। 'इन्द्र त्रिधातु शरणम्' (२०। ८३। १) इति सामप्रगाथः। सुकीर्तिवृषाकपी 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (२०। ३४) इति सामसूक्तम् अहीनसूक्तम् आवपते" (वैतान-सूत्र ६। ३)॥

तथा अप्तोर्यामके क्रतुमें भी माध्यन्दिनसवनमें इस सूक्तका ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियोग है। "अप्तोर्याम्णि गर्भकारं शंसति" का प्रक्रम करके वैतानसूत्र ४। २ में कहा है, कि– "सुकीर्तिं वृषाकपिं सामसूक्तं अहीनसूक्तं आवपते"॥

इस सूक्तसे संबन्ध रखने वाला इतिहास बृहद्देवतानुक्रमणिका में कहा है। उसका अर्थ यह है, कि–"गृत्समद ऋषिने तप करके इन्द्रके प्रशंसनीय रूपको धारण कर लिया और वह मुहूर्त भरमें द्युलोकमें भूलोकमें और अन्तरिक्षमें दीखने लगे। धुनि और चुमुरि नामक दो भयङ्कर पराक्रमी दैत्य थे वे गृत्समद ऋषिको इन्द्र समझ उन पर आयुध लेकर टूट पड़े। उन पाप करना चाहने वालोंके भावको जान कर ऋषि 'यो जात एव' सूक्तसे इन्द्रके कर्मोंका कीर्तन करने लगे।" दूसरे इसका भिन्नरूपमें वर्णन करते हैं, कि–पहिले "महेन्द्र आदि वैन्यके यज्ञमें आए थे

तहाँ वेनपुत्रकी सभामें गृत्समद ऋषि भी बैठे हुए थे। इधर असुर भी इन्द्रको मारनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक आगए। उनको देख इन्द्र गृत्समद ऋषिका रूप धारण करके यज्ञसे बाहर निकलगए। और वैन्यसे सत्कार पाकर ऋषि भी उस यज्ञसे चलने लगे। उनको इन्द्र मान कर ऋषिको उन असुरोंने पकड़ लिया। तब ऋषिने कहा, 'कि-मैं इन्द्र नहीं हूँ किन्तु इन्द्र सा हूँ, और "यो जातः" सूक्तसे वध करनेके लिये उद्यत असुरोंको दूर कर दिया" ॥ कोई कहते हैं कि-"यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरं उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्" इस पाँचवीं ऋचामें इन्द्रके नास्तित्व वचनसे, अन्यत्र भी "नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईम् ददर्श" ऋग्वेदसंहिता ८। १००। ३ में इन्द्रके अभावके श्रवण होनेसे उनके सद्भावका निराकरण करने वालोंके प्रति इस सूक्तमें इन्द्रका असाधारण माहात्म्य कह कर इन्द्रका अस्तित्व प्रतिपादन किया है।

तत्र प्रथमा ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परिऽअभूषत्।
यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। मह्ना। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १ ॥

य इन्द्रो देवः जात एव प्रादुर्भूतमात्रः सन् प्रथमः प्रकृष्टतमो मुख्यः सन्। ❀ प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवतीति निरुक्तम् [नि० २, २२] ❀। मनस्वान् प्रकृष्टेन अनुग्राहकेण मनसा युक्तो देवान् इतरान् क्रतुना कर्मणा असाधारणेन व्यापारेण पर्यभूषत् परिभावयांचकार। स्वाधीनान् अकरोत्। रक्ष्यत्वेन पर्यगृह्णाद् वा। यस्य इन्द्रस्य शुष्मात् शोषकाद् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्यौ अभ्यसेताम् भीते अभूताम्। शुष्माद् इत्यनेन शारीरं बलम् अभिधाय सेनालक्षणं बलं भयसाधनतया अभिधत्ते नृम्णस्य मह्ना इति। नृन् शत्रुजनान् प्रति अभिभावुकं मनो यस्य स तादृशः उक्तलक्षणान् नृन् नमयतीति वा नृम्णं सेनादिलक्षणं बलम्। तस्य मह्ना महत्त्वेन च अभ्यसेताम् इति पूर्वभान्वयः। हे जनासः असुरजनाः स इन्द्रो नाहम् इति ऋषिः आत्मन इन्द्रत्वं पर्यहरत्॥ अस्य सूक्तस्य इन्द्रसद्भावप्रतिपादनपरत्वपक्षे हे जनासः इन्द्रो नास्तीति मन्यमाना जनाः उक्तगुणोपेतः स इन्द्रोऽस्त्येवेति व्याख्येयम्। ❀ अत्र निरुक्तम्। यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभूषत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षद् अत्यक्रामद् इति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन। जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्तेति [नि० १०, १०]। पर्यभूषत् इति। भवतेर्लुङि व्यत्ययेन च्लेः क्सः। "श्र्युकः किति" इति इट्प्रतिषेधः। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः। अटः स्वरः। "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀॥

जिन इन्द्रदेवने प्रकट होते ही मुख्य बन कर अपने अनुग्रह करने वाले मनसे अन्य देवताओंको अपने असाधारण व्यापार से रक्षा रूपमें ग्रहण कर लिया है। जिन इन्द्रके शोषक शारीरक बलसे द्यावा पृथिवी भयभीत होते हैं और जिनके सैनिक-

बलसे और महत्त्वसे द्यावापृथिवी भयभीत रहते हैं हे कस्तुर जनों ! [मैं वह इन्द्र नहीं हूँ, इस प्रकार ऋषिने अपना इन्द्रत्व हटाया और इन्द्रके सद्भावके प्रतिपादन करनेके पक्षमें "पूर्वोक्त गुणों वाले इन्द्रदेव हैं" यह व्याख्या करनी चाहिये] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रऽकुपितान् । अरम्णात् ।
यः । अन्तरिक्षम् । विऽममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ २ ॥

हे जनासः जनाः य इन्द्रः व्यथमानाम् चलन्तीं पृथिवीम् अदृंहत् शर्करादिभिर्दृढाम् अकरोत् । यश्च प्रकुपितान् प्रकोपं प्राप्तान् परस्परं युद्धाय इतस्ततश्चलतः पर्वतान् गिरीन् पक्षयुक्तान् अरम्णात् पक्षच्छेदेन नियमितवान् । यथा उत्प्लुत्योत्प्लुत्य प्राणिपीडां न कुर्वन्ति तथा स्वस्थाने स्थापितवान् इत्यर्थः । ❀ रमु क्रीडायाम् । अस्य अन्तर्भावितण्यर्थस्य । श्नाप्रत्ययः । अस्य अदृंहत् इत्यस्य च यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः । अडागमस्वरः ❀ । यश्च इन्द्रः अन्तरिक्षम् । अन्तरा क्षान्तं भवति सर्वम् इत्यन्तरिक्षम् । कीदृशम् । वरीयः उरुतरम् इयत्ताशून्यं विममे विमानम्

अकरोत् । ❀ माङ् माने इत्यस्य ❀ । यश्च द्याम् दिवम् अस्तभ्नात् निरुद्धाम् अकरोत् स इन्द्रः इतीन्द्रस्य सद्भावं मुनिरुपादिशत्

हे असुरों ! जिन्होंने इस विचलित होती हुई पृथिवीको शर्करा आदिसे दृढ़ कर दिया है । और जिन्होंने क्रोधमें भर कर इधर उधर युद्धके लिये विचरण करने वाले पक्ष वाले पर्वतोंको पर काट कर नियमित कर दिया है और जिन्होंने विशाल अन्तरिक्ष को परिमाण शून्य कर दिया है और जिन्होंने द्युलोकको स्तंभित कर दिया है वह इन्द्रदेव हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

यः । हत्वा । अहिम् । अरिणात् । सप्त । सिन्धून् । यः । गाः । उत्ऽआजत् । अपऽधा । वलस्य ।
यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् । जजान । सम्ऽवृक् । समत्ऽसु । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ३ ॥

यः इन्द्रः अहिम् अन्तरिक्षे गन्तारं मेघं हत्वा विदार्य सप्त सर्पणशीलान् सिन्धून् । नदीरित्यर्थः । सप्तसंख्याका गङ्गायमुनादिनदीर्वा अरिणात् मैरयत् । ❀ री गतिरेषणयोः । क्र्यादिः ❀ । यश्च वलस्य एतन्नामकस्यासुरस्य गाः असुरेणापहृता बिले स्थापिता गाः अपधा । अप कुत्सितं धीयत इत्यपधा पिधानम् ।

तस्माद् उदाजत् उदगमयत् । ❀ अपपूर्वाद् दधातेः "आतश्चोपसर्गे" इति अङ् । "सुपां सुलुक्०" इति पञ्चम्या आकारः ❀ । यश्च अश्मनोः व्याप्तयोर्मेघयोरन्तः अग्निं जजान उदपादयत् । मेघयोः संघर्षेण वैद्युतोग्निर्जायत इति प्रसिद्धम् एतत् । अब्धारकत्वेन अतिशीतत्वात् तत्र अग्न्युत्पादनम् इन्द्रस्य असाधारणं सामर्थ्यम् । यश्च समत्सु संग्रामेषु संवृक् शत्रुसंवर्जको भवति । स इन्द्र इत्यसाधारणैः कर्मभिः परम् इन्द्रं ज्ञापयामास ॥

जिन इन्द्रदेवने अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले मेघको विदीर्ण करके सरकनेके स्वभाव वाली गंगा यमुना आदि नदियोंको प्रेरित किया है और जिन्होंने बल नामक असुरकी हरी हुई गौओंको बिलसे प्रकट किया है । और जो दो मेघोंमें भरे हुए पत्थरोंसे वैद्युताग्निको प्रकट करते हैं [जलधारक होनेसे अतिशीतत्वमें भी अग्निका उत्पन्न करना इन्द्रकी असाधारण शक्ति है] जो संग्रामोंमें शत्रुओंको नष्ट कर डालते हैं वह इन्द्र हैं मैं तो भाई ऋषि हूँ ॥ २ ॥

चतुर्थी ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

येन । इमा । विश्वा । च्यवना । कृतानि । यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा । अकरित्यकः ।

श्वघ्नीऽइव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् । अर्यः । पुष्टानि ।

सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ४ ॥

येन इन्द्रेण इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि च्यवना च्यवनानि स्वेन च्यावयितव्यानि कृतानि । यद्वा च्यवनानि कृतानि । दृढीकृतानीत्यर्थः । ❀ च्युङ् प्लुङ् गतौ । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति ल्युट् । "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लुक् ❀ । यश्च इन्द्रः दासम् उपक्षपयितारम् असुरं वर्णम् नीच-वर्णम् अधरम् निकृष्टं कृत्वा गुहा गुहायाम् अकः अकार्षीत् । किं च लक्षम् लक्ष्यं योयः प्रकाशभूतः शत्रुरस्ति तंतं जिगीवान् जित-वान् । ❀ जि जये क्वसौ "सन्लिटोर्जेः" इत्यभ्यासाद् उत्त-रस्य कुत्वम् । छान्दसो दीर्घः ❀ । तादृशो यः अर्यः अरेः पुष्टानि समृद्धानि धनानि आदत् स्वीकरोति । तत्र दृष्टान्तः । श्वघ्नीव श्वभिः साधनैः मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः स यथा जिगी-वान् सन् लक्ष्यमाणं मृगं स्वीकरोति तद्वत् । हे जनाः स इन्द्र इत्यृषिर्ब्रूते ॥

हे असुरो ! जिन्होंने इन दीखते हुए सब भुवनोंको दृढ़ किया है, और जो हानि पहुँचाने वाले नीच वर्णके असुरको निकृष्ट करके गुहामें डाल चुके हैं और जिन्होंने प्रकट शत्रुओंको जीत लिया है और जो शिकारीकी समान शत्रुके धनको हर लेते हैं, वह इन्द्र हैं, मैं इन्द्र नहीं हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्ती-त्येनम् ।

सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥

यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । सः । इति । घोरम् । उत । ईम् । आहुः । न । एषः । अस्ति । इति । एनम् ।

सः । अर्यः । पुष्टीः । विजःऽइव । आ । मिनाति । श्रत् । अस्मै । धत्त । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ५ ॥

घोरम् शत्रूणां हन्तारं भयङ्करं यम् इन्द्रं जनाः पृच्छन्ति स्म प्रश्नं कुर्वन्ति । ❀ "निपातस्य च" इति स्मेत्यस्य संहितायां दीर्घः ❀ । किमिति । इन्द्र इन्द्र इति सर्वे जना ब्रुवते स कुह कुत्र वर्तत इति । उत अपि च ईम् एनम् इन्द्रम् आहुः । के चन ब्रुवते । किमिति । एष इन्द्रो नास्तीति अस्ति चेत् दृष्टिपथं प्राप्नुयात् । न तथास्ति अत एव नास्तीति ब्रुवते । तथाच मन्त्रान्तरम् । "नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श" [ऋ० ८, १००, ३] इति । एवं संशयो न कार्यः । स हि इन्द्रः अर्यः अरेः पुष्टीः पोषिकाः सेनाः विज इव । इवशब्दः एवार्थे । उद्वेजक एव सन् । अथ वा विजो भयहेतुः व्याघ्रादिदुष्टमृगः । स इव आ सर्वतो मिनाति हिनस्ति । ❀ सेति इत्यत्र "सोचि लोपे चेत् पादपूरणम्" इति सोर्लोपे गुणः ❀ । अस्मा इन्द्राय इन्द्रविषये हे नराः श्रद्धत्त । श्रत् इति सत्यनाम । विश्वासं कुरुत । इन्द्रोऽस्ति चेत् कुत्र तिष्ठतीति स नास्त्येवेति वा अविश्वासं मा कुरुत । स नास्ति चेत् वृत्रादिशत्रुसेनास्तदन्यः को जयेत् । अतो यः शत्रुसेनानां जेतास्ति हे जनासः जनाः स इन्द्र इति ॥

शत्रुओंका हनन करने वाले जिस इन्द्रदेवके विषयमें मनुष्य

प्रश्न करते हैं,-इन्द्र कहाँ हैं, इन्द्र कहाँ हैं ? वह इन्द्र कहाँ हैं ? कोई कहते हैं, कि-यह इन्द्र हैं ही नहीं, यदि होते तो दीखते, वह नहीं दीखते, अत एव नहीं हैं। (ऐसा संशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि-) वह इन्द्र शत्रुओंको पुष्ट करने वाली सेनाओं को उद्वेजक व्याघ्र आदिकी समान पूर्णरीतिसे नष्ट कर डालते हैं, ऐसे इन्द्रदेवके विषयमें हे नरों ! श्रद्धा करो, विश्वास करो, इन्द्र हैं तो वह कहाँ रहते हैं ? वह नहीं हैं इतना अविश्वास न करो, यदि वह नहीं होते तो वृत्र आदि शत्रुसेनाओंको उनके अतिरिक्त और कौन जीत लेता, अतः हे जनों ! जो शत्रु-सेनाओंके जेता हैं, वही इन्द्र हैं ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।

युक्तग्रावणो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥

यः । रध्रस्य । चोदिता । यः । कृशस्य । यः । ब्रह्मणः । नाधमानस्य । कीरेः ।

युक्तऽग्रावणः । यः । अविता । सुऽशिप्रः । सुतऽसोमस्य । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ६ ॥

य इन्द्रो रध्रस्य संराद्धस्य समृद्धस्यापि। ॐ रधेरौणादिको रक् प्रत्ययः ॐ । चोदिता अभिमतफलप्रेरयिता समृद्धस्य राजादेर्वा शत्रुः तस्य चोदिता अपगमयिता वा । यश्च कृशस्य धनादिराहि-

त्येन क्षीणस्यापि चोदिता तदभीष्टधनस्य प्रेरयिता । यश्च कीरेः। स्तोतृनामैतत् । स्तोत्रकर्तुः नाधमानस्य अभिमतं फलं याचमानस्य ब्रह्मणः ब्राह्मणस्यापि चोदिता । यश्च सुशिप्रः शोभनहनुरिन्द्रः युक्तग्राव्णः अभिषवाय प्रयुक्ताश्मनः सुतसोमस्य अभिषवादिना संस्कृतसोमस्य यजमानस्य अविता रक्षिता एवंमहानुभावो योस्ति हे जनासः जनाः स इन्द्र इति ॥

जो इन्द्र समृद्ध राजा आदिके शत्रुओंको भी दूर करने वाले हैं जो धनशून्य होनेसे क्षीण हुए पुरुष पर भी अभीष्ट धनको प्रेरित करने वाले हैं, जो स्तुति और प्रार्थना करते हुए ब्राह्मण को अभीष्ट फल देने वाले हैं। जिनकी ठोड़ी सुन्दर है जो अभिषवके लिये पत्थरोंको उपयोगमें लाने वाले सोमको संस्कृत करने वाले यजमानकी रक्षा करने वाले हैं, हे जनो ! वह इन्द्र हैं ६

सप्तमी ॥

यस्याश्वा॑सः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथा॑सः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः

यस्य । अश्वासः । प्रऽदिशि । यस्य । गावः । यस्य । ग्रामाः । यस्य । विश्वे । रथासः ।
यः । सूर्यम् । यः । उषसम् । जजान । यः । अपाम् । नेता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ७ ॥

पूर्वमन्त्रे धनिनो निर्धनस्य स्तोतुर्यज्वश्च अभिमतप्रदाने यः समर्थः स इन्द्र इत्युक्तम् । अत्र प्राणिनाम् अपेक्षिता अश्वगोरथ-

प्रकाशवृष्टिलक्षणा ये अर्थाः सन्ति तेषां सर्वेषां प्रदाने यः समर्थः स इन्द्र इत्यभिधीयते । यस्य इन्द्रस्य प्रदिशि प्रदेशने अनुशासने संविधौ वा । ❀ प्रपूर्वाद् दिश अतिसर्जने इत्यस्मात् क्विप् ❀ । अर्थिभ्यो दातव्या अश्वासः अश्वाः । सन्तीति शेषः । यस्य च गावः तदर्थिभ्यो दातव्या बह्वयो गावः । यस्य च ग्रामलाभकामेभ्यो दित्सिता ग्रामाः । यस्य च विश्वे सर्वे रथासः रथाः । गजोष्ट्रयानादीनां परिग्रहाय विश्व इति विशेषितम् । यश्च इन्द्रो गमनादिसर्वव्यवहारोपयोगिप्रकाशाय सूर्यं जजान । तथा च उषसं च जजान उत्पादितवान् । यश्च अपाम् वृष्ट्युदकानां नेताः प्रापयिता देवोस्ति हे जनाः स इन्द्र इति ॥

[पूर्वमन्त्रमें "धनी निर्धन स्तोता और यज्ञाको अभिमत फल देनेमें जो समर्थ हैं वह इन्द्र हैं" यह बात कही थी । अब यह बात कही है, कि-] "प्राणियोंके अपेक्षित, अश्व गौ रथ प्रकाश वृष्टि आदि जो अर्थ हैं, उन सबका प्रदान करनेमें जो समर्थ हैं वह इन्द्र हैं ।" जिन इन्द्रदेवके अनुशासन और प्रशासनमें याचकोंको देनेके घोड़े हैं और याचकोंके लिये बहुतसी गौएं हैं और जिन की आज्ञामें ग्रामप्राप्तिकी अभिलाषा वालोंको लिये ग्राम हैं, जिनके पास रथ गज उष्ट्रयान आदि सब हैं और जिन इन्द्रदेवने गमन आदि सब व्यवहारोपयोगी प्रकाशके लिये सूर्यदेवको प्रकट किया है और जिन्होंने उषाको उत्पन्न किया है और जो वृष्टिके जलको लाने वाले देवता हैं हे जनों ! वह इन्द्र हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यं क्रन्दंसी संयती विह्वयेते परेवर उभया अमित्राः

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास

इन्द्रः ॥ ८ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति सम्ऽयती । विह्वयेते इति विऽह्वयेते । परे । अवरे । उभयाः । अमित्राः ।

समानम् । चित् । रथम् । आतस्थिऽवांसा । नाना । हवेते इति । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ८ ॥

संयती परस्परं संगच्छमाने क्रन्दसी शब्दं कुर्वाणे । द्यावापृथिव्यावित्यर्थः । स्वाश्रितानां प्राणिनां वृष्ट्यर्थं पृथिवी द्यौश्च हविरर्थम् इत्युभयोः क्रन्दनम् । अथ वा संयती परस्परं संगते क्रन्दसी प्रतिभटान् प्रतियुद्धाय आह्वयन्त्यौ उभे शत्रुसेने विह्वयेते इन्द्रं विविधम् आह्वयतः । स्वस्वसहायायेति शेषः । ❀ क्रदि आह्वाने रोदने च । असुन् । "उगितश्च" इति ङीप् ❀ । उक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण स्पष्टम् आह । परे उत्कृष्टा अवरे निकृष्टाश्च । परस्परं जयपराजयापेक्षया परत्वम् अवरत्वं च द्रष्टव्यम् । एवम् उभया अमित्राः प्रतिद्वन्द्विसेनयोर्वर्तमानाः शत्रवः स्वस्वजयार्थं साहाय्यकाय विह्वयन्ते । इत्थं सेनाद्वयान्तःस्थितानाम् इन्द्राह्वानम् अभिधाय अथ सेनास्वामिनोः परस्परप्रतिद्वन्द्विनोरिन्द्राह्वानम् अभिधत्ते । समानं चित् अश्वसारथ्यादिभिः समानम् परस्परसदृशं रथम् आतस्थिवांसा अधिष्ठितवन्तौ । ❀ तिष्ठतेर्लिटः क्वसुः । "शर्पूर्वाः खयः" इति खयः शेषः । अभ्यासस्य ह्रस्वत्वे "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति इडागमः । प्रत्ययस्वरः ❀ । तौ यं नाना पृथक्पृथक् हवेते आह्वयतः । गतम् अन्यत् ॥

परस्पर मिले हुए शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवीलोक इन्द्रका विविध प्रकारसे आह्वान करते हैं । अपने आश्रित प्राणियों के कारण वृष्टिके लिये पृथिवी और हविके लिये द्युलोक जिन इन्द्रका विविध प्रकारसे आह्वान करते हैं । अथवा–परस्पर डटी

हुई, सामनेके योधाओंको लड़नेके लिये बुलाती हुई दोनों सेनाएँ अनेक प्रकारसे इन्द्रदेवका आह्वान करती हैं [इसी बात को दूसरी रीतिसे कहते हैं, कि-] उत्कृष्ट और निकृष्ट प्रतिद्वंद्वी सेनाओंमें वर्तमान दोनों शत्रु अपनी २ विजयके लिये इन्द्रका आह्वान करते हैं [इस प्रकार दोनों ओरके सैनिकोंके इन्द्राह्वानको कह कर अब परस्परके प्रतिद्वन्द्वी सेनास्वामियोंके आह्वान का वर्णन करते हैं, कि-] अश्व सारथी आदिसे समान रथमें विराजमान सेनापति जिनको अलग २ बुलाते हैं हे जनो ! वह इन्द्र हैं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यस्मा॒न्न ऋ॒ते वि॒जय॑न्ते॒ जना॑सो॒ यं युध्य॑माना॒ अव॑से॒ हव॑न्ते ।
यो विश्व॑स्य प्रति॒मानं॑ ब॒भूव॒ यो अ॑च्युत॒च्युत् स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ ९ ॥

यस्मा॑त् । न । ऋ॒ते । वि॒ऽजय॑न्ते । जना॑सः । यम् । युध्य॑मानाः । अव॑से । हव॑न्ते ।
यः । विश्व॑स्य । प्र॒ति॒ऽमान॑म् । ब॒भूव॑ । यः । अ॒च्यु॒त॒ऽच्यु॒त् । सः । जना॑सः । इन्द्रः॑ ॥ ९ ॥

यस्माद् इन्द्रात् बलप्रदात् ऋते इन्द्रसहायम् अनपेक्ष्य जनासः जनाः प्रबला दुर्बलाश्च सर्वे जयार्थिनो न विजयन्ते शत्रून् न पराभावयन्ति । अतश्च यम् इन्द्रं युध्यमानाः युद्धं कुर्वाणा अवसे स्वस्वरक्षणाय हवन्ते आह्वयन्ति । किं च यश्च इन्द्रो विश्वस्य

सर्वस्यापि वृत्रादिशत्रुजातस्य प्रतिमानम् । प्रतिमीयत इति प्रतिमानं प्रतिनिधिर्बभूव । अथ वा "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति [ऋ० ६. ४७. १८] मन्त्रवर्णात् सर्वस्यापि प्राणिजातस्य तत्तत्पुण्यपापप्रत्यवेक्षणाय प्रतिबिम्बं बभूव । यश्च अच्युतच्युत् अच्युतस्य केनापि अच्यावयितव्यस्य दृढादेः च्युतिरहितस्य स्थावरस्य पर्वतादेर्वा च्यावयिता स जनास इन्द्र इति ॥

जिन बलप्रदाता इन्द्रकी सहायताके बिना दुर्बल वा प्रबल सब विजयाभिलाषी प्राणी शत्रुओंका पराभव नहीं कर सकते अत एव युद्ध करते समय वे अपनी २ रक्षाके लिये इन्द्रका आह्वान करते हैं । जो इन्द्रदेव सब प्राणियोंके पुण्य पापका दर्शन करनेके लिये प्रतिबिंब † होजाते हैं और जो किसीसे भी न हटाये जासकने वाले पर्वत आदिको च्युत करने वाले हैं, हे जनों ! वह इन्द्र हैं ॥ ९ ॥

दशमी ॥

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानांछर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

यः । शश्वतः । महि । एनः । दधानान् । अमन्यमानान् । शर्वा । जघान ।

---

† ऋग्वेदसंहिता ६ । ४७ । १८ में कहा है, कि-"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।-इन्द्र प्रत्येक आकृतिके अनुसार प्रत्येक रूपको धारण करते हैं उनका यह रूप देखनेके लिये होता है, इन्द्र अपनी मायाओंसे बहुतसे रूपोंको प्राप्त होजाते हैं" ॥

यः। शर्धते। न। अनुऽददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः।

हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः॥ १०॥

य इन्द्रो महि महत् अत्यधिकम् एनः पापं ब्रह्महत्यादिरूपं दधानान् धारयतः शश्वतः। बहुनामैतत्। बहून् जनान्। जघानेति संबन्धः। के ते महापातकिन इति तान् आह। अमन्यमानान् इन्द्रम् उक्तमहिमोपेतं परदेवतेति मतिम् अकुर्वाणान्। स्तुत्या हविषा च इन्द्रम् अपूजयत इत्यर्थः। तादृशान् शर्वा हिंसक इन्द्रः। अथ वा शरुर्वज्रः। तेन वज्रेण जघान हिनस्ति। अथ वा अमन्यमानान् स्वात्मानं ब्रह्मतया अबुध्यमानान्। आत्मघातकान् इत्यर्थः। "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः" इति [तै० आ० ८.६] श्रुतेः। अनात्मविदः पापिष्ठत्वं स्मर्यते।

किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा।

इति। तादृशानाम् इन्द्रकृतशिक्षा च श्रूयते। "अरुर्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इति [कौ० उ० ३.१]। "इन्द्रो यतीन्त्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्" इति च [तै० सं० ६.२.७.५]। यश्च शर्धते इन्द्रनैरपेक्ष्येण शत्रुषु बलम् उत्साहं वा कुर्वते पुरुषाय शृध्याम् बलसाधनं कर्म नानुददाति आनुकूल्येन न प्रयच्छति। ❀ डुदाञ् दाने। जौहोत्यादिकः। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः। "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः ❀। यश्च दस्योः वृत्रादेर्हन्ता घातकः स जनास इन्द्र इति॥

जो इन्द्रदेव ब्रह्महत्या आदि महापापोंको धारण करने वाले, इन्द्रको परदेवता न मानने वालोंको हिंसक होकर मार डालते हैं [अथवा—अपनेको ब्रह्मस्वरूप समझने वाले आत्मघातियों को भी मार डालते हैं, तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६ में कहा भी

है, कि–"असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तं एनं ततो विदुः ।–जो ब्रह्मको असत् समझता है वह असत् ही होता है जो ब्रह्मको सत् समझता है उसको सत् कहते हैं" अनात्मवेत्ताका पापिष्ठत्व भी कहा है, कि–"किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।–जो आत्मस्वरूपको नहीं समझता उस आत्मापहारी चोरने क्या २ पाप नहीं किया" और ऐसे पुरुषोंको इन्द्रका दण्ड देना भी सुना जाता है, कि-"अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्" (कौषीतकि उपनिषत् ३ । १) "इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्" (तैत्तिरीयसंहिता ६ । २ । ७ । ५) ॥] और जो इन्द्रकी अपेक्षा न रख कर बल दिखानेका उत्साह करने वालोंको बलसाधन कर्ममें अनुकूलता प्रदान नहीं करते हैं। जो वृत्र आदि दस्युओंके घातक हैं हे जनो ! वह इन्द्र हैं ॥ १० ॥

एकादशी ॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनुऽअविन्दत् ।
ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

य इन्द्रः पर्वतेषु गिरिषु इन्द्रभीत्या क्षियन्तम् निवसन्तम् ।

पर्वतेष्विति बहुवचनेन इन्द्राद् भीतस्य शम्बरस्य एकस्थानवस्थानं सूचितं भवति । एवं गिरिगह्वरेष्वाच्छन्नं शम्बरम् एतन्नामकम् असुरं चत्वारिंश्याम् । चत्वारिंशत्संख्यापूरणी चत्वारिंशी । तस्यां शरदि तस्मिन् संवत्सरे अन्वविन्दत् अन्विष्य लब्धवान् । लब्ध्वा न्यनाशयद् इत्यर्थः । किं च य इन्द्रः ओजायमानम् ओजो बलम् । तद्वद् आचरन्तम् । अतिशयितबलम् इत्यर्थः । ❀ "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" । "ओजसोऽप्सरसो नित्यम्॰" इति सकारलोपः ❀ । तादृशम् अहिम् । आगत्य हन्तीत्यहिर्वृत्रः । पुनः कीदृशम् । दानुम् दानवं शयानम् शयनं कुर्वाणं जघान घातयामास । उक्तम् अन्यत् ॥

जिन इन्द्रदेवने पर्वतोंमें डर कर घूमते हुए शम्बरको चालीस वर्ष तक ढूंढ कर मार डाला था और जिन इन्द्रदेवने बल दिखाने वाले शयन करते हुए दानव वृत्रासुरको मार डाला था, हे जनों! वह इन्द्र हैं ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य ।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

य इन्द्रः कशीभिः दीप्तैर्वज्राद्यायुधैः स्वतेजोभिर्वा शम्बरम् असुरं पर्यतरत् पर्यतारयत् । गिरिनदीसमुद्रादिकान् सर्वानपि अत्यक्रामयद् इत्यर्थः । स्वयं वा तम् असुरं पर्यतरत् । पर्यभवद् इत्यर्थः । यश्च अचारुकास्ना अरमणीयेन आस्येन सुतम् अभिषुतं सोमम् अपुस्तामुखादिस्थितम् अपिबत् पानम् अकार्षीत् । "इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणम्" इति हि मन्त्रवर्णः [ऋ० ८.९१.२] । यस्मिन्निन्द्रे हन्तव्ये सति अन्तर्गिरौ पर्वतस्य मध्ये शुद्धे देवयजनप्रदेशे यजमानम् सोमयागं कुर्वाणं गृत्समदं बहुं जनम्

अध्वर्युप्रभृतिं सदःस्थितं जनसंघातं चामृजत् आवृणोत् । चुमुरिधुनिप्रभृतिकोऽसुरसंघात इति शेषः । स जनास इन्द्र इति पूर्ववत् ॥

जो प्रदीप्त वज्र आयुध आदिसे शम्बरासुरका तिरस्कार कर चुके हैं और जो पाले रहित पात्रमें निचोड़े हुए सोमका पान कर चुके हैं, जिन इन्द्रदेवके मारनेके लिये, सोमयाग करते हुए अध्वर्यु आदि जनसमूहको, चुमुरि धुनि आदि असुरोंने घेर लिया था, हे जनो ! वह इन्द्र हैं ॥ १२ ॥

त्रयोदशी ॥

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥

यः । सप्तऽरश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे ।
सप्त । सिन्धून् ।
यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रऽबाहुः । द्याम् । आऽरोहन्तम् ।
सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १३ ॥

य इन्द्रः सप्तरश्मिः सप्तसंख्याकाः पर्जन्या एव रश्मयो यस्य स तादृशः । अथ वा सप्तरश्मिरादित्यः । तदात्मक इत्यर्थः । वृषभः वर्षिता कामानाम् अपां वा । तुविष्मान् बलवान् सर्तवे सरणाय प्रवहणाय सप्त सर्पणशीलान् सिन्धून् स्यन्दमानान्युदकानि अवासृजत् । अवाग् यथा भवति तथा निर्मितवान् । यद्वा सप्त सिन्धून् सप्तसंख्याका गङ्गाद्या नदीरवासृजत् । यश्च वज्रबाहुः वज्रहस्तः सन् द्याम् दिवम् आरोहन्तं रौहिणम् एतन्नामकम् असुरम् अस्फुरत् जघान ❀ स्फुर स्फुल संचलने । तौदादिकः ❀ । अन्यद्गतम्

जो इन्द्र सप्तरश्मि सूर्यरूप हैं, कामनाओंकी और जलोंकी वर्षा करने वाले हैं और जिन बली इन्द्रदेवने बहनेके लिये गंगा आदि सात नदियोंको प्रकट किया है, जिन इन्द्रने हाथमें वज्र धारण कर स्वर्लोकमें चढ़ते हुए रौहिण नामक असुरको मार डाला था, वह इन्द्र हैं ॥ १३ ॥

चतुर्दशी ॥

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेते इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते ।
यः । सोमऽपाः । निऽचितः । वज्रऽबाहुः । यः । वज्रऽहस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १४ ॥

अस्मै इन्द्राय द्यावा द्यौः पृथिवी पृथिव्यौ । परस्परसापेक्षया द्विवचनम् । चित् अप्यर्थे । नमेते इन्द्रस्य महिम्ना स्वयमेव प्रह्वीभवतः । अस्य इन्द्रस्य शुष्मात् बलात् पर्वताश्चित् पर्वता अपि भयन्ते । पक्षच्छेदाद् बिभ्यति । ✻ ञिभी भये । "बहुलं छन्दसि" इति शप् ✻ । यश्च इन्द्रः सोमपाः सोमस्य पाता सन् निचितः प्रख्यातः । यद्वा नितरां चितो निचितः । दृढाङ्ग इत्यर्थः । वज्रबाहुः वज्रवत् सारभूताभ्यां बाहुभ्याम् उपेतः यश्च वज्रहस्तः वज्रं हस्ते धारयन् भवति स जनास इन्द्र इति ॥

इन इन्द्रके लिये द्यावापृथिवी नमती हैं अर्थात् इन्द्रकी महिमा से स्वयं ही महित होजाती हैं, जिन इन्द्रदेवके बलसे पर्वत भी डरते हैं, सोमपान कर जो इन्द्र दृढ़ अंगों वाले हो गए हैं, जिन की भुजाएँ वज्रकी समान दृढ़ हैं, और जो हाथमें वज्रको धारण किये रहते हैं वह इन्द्र हैं ॥ १४ ॥

पञ्चदशी ॥

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १५ ॥

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः । शशमानम् । ऊती ।

यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १५ ॥

यः सुन्वन्तम् सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानम् अवति रक्षति । यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यश्च ऊती ऊत्या रक्षणेन निमित्तेन शंसन्तं स्तुवन्तं यश्च शशमानम् सामभिः स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति । ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनम् वृद्धिकरं भवति । तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य च इदम् अस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणम् अन्नं वृद्धिकरं भवति । स इन्द्र इत्यादि गतम् ॥

जो सोमाभिषव करने वाले यजमानकी रक्षा करते हैं, जो पुरोडाश आदि हवियोंका पाक करने वालेकी रक्षा करते हैं जो

रक्षाके कारण स्तुति करते हुए और सामसे स्तोमपाठ करते हुए की रक्षा करते हैं, दृढ़ स्तोत्र जिनकी वृद्धि करने वाला है और सोम जिसकी वृद्धिका हेतु है और हमारा पुरोडाश आदिरूप अन्न जिसकी वृद्धि करने वाला है, हे जनों! वह इन्द्र है १५

षोडशी ॥

जा॒तो व्य॑ख्यत् पि॒त्रोरु॒पस्थे॒ भुवो॒ न वे॑द जनि॒तुः पर॑स्य स्त॒वि॒ष्यमा॑णो॒ नो यो अ॒स्मद् व्र॒ता दे॒वानां॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ १६ ॥

यः इन्द्रो जातः प्रादुर्भूतमात्र एव सन् पित्रोः द्यावापृथिव्योः उपस्थे उत्सङ्गे तयोर्मध्ये व्यख्यत् विख्यातवान् प्रकाशितोभूत्। यश्च इन्द्रः भुवः भुवं मातृभूतां न वेद न जानाति। तथा परस्य उत्कृष्टस्य जनितुः उत्पादयितुं परम् उत्पादकं पितृस्थानीयं द्युलोकमपि न वेद न जानाति। तयोर्वस्तुतः स्वजननं प्रति अकारणत्वाद् इत्यभिप्रायः। यद्वा भुवो जनितुः भूम्या उत्पादकस्य परस्य अन्यस्य स्वरूपं भुवो जनितारं परम् अन्यम् इति वा व्याख्येयम्। न वेद जानाति। स्वातिरेकेणेति शेषः। स्वस्यैव सर्वकारणत्वाद् इत्यभिप्रायः। किं च अस्मत् अस्मत्तः अस्माभिः स्तविष्यमाणः स्तविष्यमाणः स्तूयमानश्च सन्। नशब्दः चार्थे। देवानां व्रता व्रतानि कर्माणि देवार्थान् आ। * उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः *। आ पूरयति। स इन्द्र इति ॥

जो इन्द्रदेव प्रादुर्भूत होते ही द्यावापृथिवीके मध्यमें प्रकाशित होगए थे, जो इन्द्र मातृभूता पृथिवीको नहीं जानते हैं तथा उत्कृष्ट वस्तुके उत्पादक पितृस्थानीय द्युलोकको भी नहीं जानते हैं [क्योंकि-वे वास्तवमें अपने जननके प्रति अकारण हैं। अथवा वह भूमिके उत्पादक अन्यके स्वरूपको—भूमिका उत्पन्न करने

वाला कोई और है इस बातको नहीं जानते हैं, क्योंकि—वह अपने आप ही सबके कारण हैं।] और हमसे स्तुति पाते हुए यह इन्द्र देवताओंको पूरित करते हैं। हे जनो! वह इन्द्र है १६

सप्तदशी ॥

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद् रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥ १७ ॥

य इन्द्रः सोमकामः सोमं कामयमानः सन् हर्यश्वसूरिः हर्याख्यानाम् अश्वानां सुष्ठु ईरयिता प्रेरयिता भवति। यागप्रदेशस्यागमनायेति शेषः। अथ वा यः सोमकामः यश्च हर्यश्वः सूरिर्विद्वांश्च। किं च यस्माद् इन्द्राद् विश्वा विश्वानि भुवना भुवनानि भूतजातानि रेजन्ते बिभ्यति। य इन्द्रः शम्बरम् असुरं जघान यश्च शुष्णम् असुरं जघान घातयामास। यश्च एवं विधेषु असाधारणेषु व्यापारेषु एकवीरः असाधारणः शूरो भवति स जनास इन्द्र इति उक्तार्थः ॥

सोमको चाहते हुए जो, हरि नामक अश्वोंको भली प्रकार चलाते हैं। और जिनसे सब भूत डरते हैं, जिन्होंने शम्बरासुर का संहार किया है, जिन्होंने शुष्ण असुरको मार डाला है, जो ऐसे असाधारण व्यापारोंमें असाधारण शूर होते हैं, हे जनो! वह इन्द्र हैं ॥ १७ ॥

अष्टादशी ॥

य सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।

वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम

यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि।

सः। किल। असि। सत्यः।

वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्।

आ। वदेम॥ १८॥

अत्र ऋषिः इन्द्रस्य अविद्यमानतां शङ्कमानानाम् अज्ञानिनां विश्वासं जनयन् इन्द्रं प्रत्यक्षीकृत्य ब्रूते। हे इन्द्र यस्त्वं दुध्रश्चित् वस्तुनो दुर्धर्षोपि सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय तथा पचते पशुपुरोडाशादिहविःपाकं कुर्वते च यजमानाय वाजम् तदभिमतम् अन्नम् आ दर्दर्षि सर्वतो भृशं प्रयच्छसि। ❀ दृ गतौ। अस्मात् क्रियासमभिहारे यङ्। अभ्यासस्य लोपः। अभ्यासस्य "रुग्रिकौ च लुकि" इति रुगागमः। यद्योगाद् अनिघातः। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तः ❀। स तादृशस्त्वं सत्यः किलासि। मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेः प्रत्यक्षत्वेपि इदानींतनानां कथं प्रत्यक्षतेति शङ्कायां यष्टृणाम् अभिमतान्नलक्षणफलस्य सत्यदृष्टत्वाद् इन्द्रोपि सत्य एवेत्यभिप्रायेण स किलासि सत्य इति ब्रूते। वयं विश्वह विश्वेष्वपि अहःसु सर्वदा। ❀ "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना सप्तमीबहुवचनस्य लुक्। शकन्ध्वादित्वात् पररूपत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण मध्योदात्तः ❀। हे इन्द्र ते तव प्रियासः प्रियाः सन्तः सुवीरासः शोभनपुत्रादियुक्ताश्च सन्तः विदथम् वेदसाधनं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम॥

इति चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम्॥

[इस ऋचामें ऋषि इन्द्रकी अविद्यमानताकी शङ्का करतेहुए अज्ञानियोंको, विश्वास कराते हुए इन्द्रको प्रत्यक्ष करके कहते

हैं, कि–] हे इन्द्र ! आप वास्तवमें दुधर्ष होते हुए भी सोमाभिषव करने वाले यजमानके लिये और पुरोडाश आदिका पाक करते हुए यजमानके लिये अभिमत अन्नको सब ओरसे प्रदान करते हैं, ऐसे आप अवश्य सत्य हैं।[मन्त्रद्रष्टा महर्षिका प्रत्यक्ष होने पर भी आधुनिक प्राणियोंके लिये उनका प्रत्यक्षत्व कैसे हैं, ऐसी शंका होने पर कहते हैं, कि–यष्टाओंको अभिमत अन्नफलके सत्य दीखनेसे इन्द्र भी सत्य हैं] हम सब दिनोंमें आपके प्रिय रहते हुए और शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न रहते हुए आपके स्तोत्रका उच्चारण करते रहें ॥ १८ ॥

चतुर्थे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६५०)

चतुर्विंशेऽभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते च ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे "अस्मा इदु प्र तवसे तुराय" इति अहीनसूक्तसंज्ञकं विनियुक्तम् । "चतुर्विंश 'इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद्' [२०, ३८, ४] इत्याज्यस्तोत्रियाः" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "अभि प्र वः सुराधसम् [२०, ५१, १] प्र सु श्रुतं सुराधसम् [२०, ५१, २]इति शुक्रस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ । मा चिदन्यद् वि शंसत [२०, ८५, १] यच्चिद्धि त्वा जना इमे [२०, ८५, २] इति वा । अस्मा इदु प्र तवसे तुराय [२०, ३५] इत्यहीनसूक्तम् आवपते" इति [वै० ६, १]॥

तथा अप्तोर्याम्णि माध्यंदिनसवने तच्छस्त्र एव विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "अप्तोर्याम्णि गर्भकारं शंसति" इति प्रक्रम्य सूकीर्तिवृषाकपी सामसूक्तम् अहीनसूक्तम् आवपते"इति [वै० ४, ३]॥

चतुर्विंश अभिजित्में, विषुवत्में, विश्वजित्में, महाव्रतमें और ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें "अस्मा इदु प्र तवसे तुराय" यह अहीननामक सूक्त विनियुक्त होता है ।"चतुर्विंश 'इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद्' (२० । ३८ । ४) इत्याज्यस्तोत्रियाः" का प्रक्रम करके सूत्रमें

कहा है, कि-"अभि प्र वः सुराधसम् (२० । ५१ । १) प्र सु श्रुतं सुराधसम् (२० । ५१ । २) इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ । या चिद्न्यद्व वि शंसत (२० । ८५ । १) यच्चिद्धि त्वा जना इमे (२० । ८५ । २) इति वा । अस्मा इदु प्र तवसे तुराय (२० । ३५ इति अहीनसूक्तं आवपते" (वैतानसूत्र ६।१)

तथा अप्तोर्यामके मध्यन्दिनसवनमें और इस शस्त्रमें भी विनियुक्त होता है । इस विषयमें वैतानसूत्र ४ । ३ का प्रमाण है, कि-"अप्तोर्याम्णि गर्भकारं शंसति" इति प्रक्रम्य सुकीर्तिं वृषाकपिं सामसूक्तं अहीनसूक्तं आवपते" ॥

तत्र प्रथमा ॥

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा १

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्र । तवसे । तुराय । प्रयः । न । हर्मि । स्तोमम् । माहिनाय ।

ऋचीषमाय । अध्रिऽगवे । ओहम् । इन्द्राय । ब्रह्माणि । रातऽतमा

अस्मा इदु । इद् उ इति निपातद्वयं पादपूरणम् । ❀ अथापि पदपूरणाः कर्मोपसंग्रहार्थीयाः ... [नि० १. ६] ❀ । अवधारणार्थं वा निपातद्वयम् । अस्मा एव इन्द्राय ओहम् वहनीयं प्रापणीयं स्तोमम् स्तोत्रं प्र हर्मि प्रकर्षेण हरामि । प्रकरोमीत्यर्थः । कीदृशायेन्द्राय । तवसे प्रवृद्धाय बलवते वा तुराय सोमपानार्थं त्वरमाणाय शत्रुहिंसकाय वा माहिनाय । महन्नामैतत् । गुणैर्महते ऋचीषमाय ऋचा स्तुतिसाधनया समाय । ऋग् यादृग्रूपं प्रतिपादयति तादृग्रूप एव तत्र संमितो भवतीत्यृचीषम इत्यर्थः । अथ वा

ऋक् स्तुतिः तथा समाय।,वस्तुनः,अपरिमेयगुणत्वेपि ऋचा परिमीयते परिच्छिद्यते इत्यृचीषमत्वाभिधानम्। अध्रिगवे अधृतगमनकर्मणे अप्रतिहतगमनाय इन्द्राय। स्तोत्रप्रेरणे दृष्टान्तम् आह। प्रयो नेति। प्रय इत्यन्ननाम। यथा क्षुधितस्य अन्नं प्रेरयति तद्वत् स्तुतिकामाय स्तोमं भरामीत्यर्थः। न केवलं स्तोत्रम् अपि तु राततमा राततमानि पूर्वैर्यजमानैरत्यर्थं दत्तानि ब्रह्माणि महद्धानि सोमादिहवींष्यपि भ इरामीति। ❀ अध्रिगव इत्यत्र अधृतः अन्येनानिवारितः गौर्गमनम् अस्येति तस्यावयवार्थः। "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति ह्रस्वत्वम्। पृषोदरादित्वाद् अधृतशब्दस्य अध्रिभावः। ब्रह्म इति। बहतेः कर्मणि घञि छान्दसं संप्रसारणम्❀॥

मैं इन इन्द्रदेवके लिये ही प्रापणीय स्तोत्रको उत्कृष्टरूपसे उच्चारण करता हूँ। यह इन्द्रदेव बलवान् हैं, सोमपानके लिये त्वरा करते रहते हैं, गुणोंमें महान् हैं, ऋचा इनके जैसे रूपका प्रतिपादन करती है यह तैसे ही रूपपर सम्पन्न होजाते हैं,तात्पर्य यह है, कि–वास्तवमें अपरिमेय गुणों वाले होने पर भी ऋचा से इनका परिच्छेद होता है अत एव यह ऋचीषम हैं। और इनका गमन अप्रतिहत है। ऐसे इन्द्रदेवके लिये, जिस प्रकार भूखेके पास अन्नको प्रेरित करते हैं, तिस प्रकार स्तुतिको प्रेरित करता हूँ। केवल स्तोत्रको ही प्रेरित नहीं करता हूँ, किन्तु पूर्व यजमानोंके द्वारा विशाल परिमाणमें दी हुई हवि आदिको भी प्रेरित करता हूँ॥ १॥

द्वितीया॥

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्रयःऽइव । प्र । यंसि । भरामि । आङ्गूषम् । बाधे । सुऽवृक्ति ।

इन्द्राय । हृदा । मनसा । मनीषा । प्रत्नाय । पत्ये । धियः । मर्जयन्त

अस्मा इदु अस्मा एव इन्द्राय प्रय इव अन्नमिव प्र यंसि प्रयच्छामि । ॐ यम उपरमे । अस्माल्लटि पुरुषव्यत्ययः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् ॐ । सामान्येनोक्तं विशिनष्टि भरामीत्यादिना । बाधे शत्रूणां बाधनाय सुवृक्ति सुष्ठु आवर्जकम् आङ्गूषम् स्तोमरूपम् आघोषम् । ॐ आङ्गूषः स्तोम आघोष इति यास्कः [नि० ५. ११] ॐ भरामि संपादयामि । किं च प्रत्नाय पुराणाय पत्ये सर्वस्य स्वामिने इन्द्राय अन्येपि ऋत्विजो हृदा हृदयेन मनसा हृदयान्तर्वर्तिना अन्तःकरणेन मनीषा मनीषया बुद्ध्या धियः स्तुतीः मर्जयन्त मार्जयन्ति संस्कुर्वन्ति ॥

इन इन्द्रदेवके लिये अन्नकी समान मैं स्तोत्रको भेजता हूं । शत्रुओंको बाधा देनेके लिये आवर्जक स्तोमरूप घोषका सम्पादन करता हूं, और प्राचीन सर्वस्वामी इन्द्रके लिये अन्य ऋत्विज भी हृदयसे मनसे और बुद्धिसे स्तुतियोंको संस्कृत करते हैं २

तृतीया ॥

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन ।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यम् । उपमम् । स्वःसाम् । भरामि । आङ्गूषम् । आस्येन ।

मंहिष्ठम् । अच्छोक्तिऽभिः । मतीनाम् । सुवृक्तिऽभिः । सूरिम् । ववृधध्यै ॥ ३ ॥

अस्मा इदु अस्मा एव इन्द्राय त्यं तं प्रसिद्धम् उपमम्। उपमीयते अनेनेत्युपमः। उपमास्थानभूतम्। ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति करणे कप्रत्ययः। "आतो लोप इटि च" इत्याकारलोपः ❀। स्वर्षाम् सुष्ठु अरणीयस्य धनस्य दातारं स्वर्गस्य प्रापकं वा एवंलक्षणम् आङ्गूषम् स्तोत्रलक्षणम् आघोषम् आस्येन मुखेन भरामि संपादयामि। किंभूतम् मंहिष्ठम् अतिशयेन मंहनीयम् अतिशयेन महान्तं वा सूरिम् सुष्ठु धनस्य ईरयितारं विपश्चितं वा एवंलक्षणम् इन्द्रं वावृधध्यै वर्धयितुं मतीनाम् स्तुतीनां संबन्धिभिः। कैः साधनैः। सुवृक्तिभिः सुष्ठु आवर्जकैः अच्छोक्तिभिः स्वच्छवचनैः। आङ्गूषं भरामीति संबन्धः॥

मैं इन ही इन्द्रदेवके लिये, उपमाके योग्य, सुन्दरतापूर्वक धन प्रदान करने वाले स्तोत्ररूपी घोषका मुखसे सम्पादन करता हूँ। परमधनी धनको भली प्रकार प्रेरित करने वाले इन्द्रको स्तुतियों से बढ़ानेके लिये स्वच्छ वचनोंसे मैं इन्द्रके स्तोत्रका सम्पादन करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ४

अस्मै। इत्। ऊँ इति। स्तोमम्। सम्। हिनोमि। रथम्। न।
तष्टाऽइव। तत्ऽसिनाय।
गिरः। च। गिर्वाहसे। सुऽवृक्ति। इन्द्राय। विश्वम्ऽइन्वम्।
मेधिराय ॥ ४ ॥

अस्मा इदु अस्मा एव इन्द्राय तत्सिनाय तदेव सिनं सोमादि-

लक्षणम् अन्नं यस्य तादृशाय इन्द्राय अथ वा तद्विसनाय रयसाध्यान्नवते स्वामिने तष्टा शिल्पी रथं न यथा रथं संहिनोति तद्वत् स्तोमं सं हिनोमीति । किं च गिर्वाहसे गीर्भिः प्रापणीयाय मेधिराय । मेधो यज्ञः । यज्ञार्हाय मेधाविने वा इन्द्राय सुवृक्ति सुष्ठु आवर्जकं विश्वमिन्वम् विश्वैः सर्वैः प्राप्तव्यं विश्वैः सर्वैर्यजमानैः प्रापणीयं वा सोमादिलक्षणं हविः गिरश्च स्तुत्यर्थानि वचांसि च । सं हिनोमीत्यनुषङ्गः । यद्वा सुवृक्ति विश्वमिन्वम् इति पदद्वयं फलपरतया व्याख्येयम् । सुष्ठु आवर्जनीयं विश्वैर्बन्धवादिभिः प्राप्तव्यम् उपभोक्तव्यम् अन्नम् । लब्धुम् इत्यध्याहारः ॥

मैं इन ही सोमादिरूप अन्न वाले इन्द्रदेवके लिये शिल्पीके रथको बनानेकी समान अन्नको बनाता हूँ–प्रेरित करता हूँ। यह इन्द्रदेव स्तुतियोंसे प्रापणीय हैं, यज्ञार्ह हैं, सब यजमानोंसे प्राप्तव्य हैं, ऐसे इंद्रदेवके लिये मैं हवि और स्तुतिके वचनोंको प्रेरित करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥५॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । सप्तिम्ऽइव । श्रवस्या । इन्द्राय । अर्कम् । जुह्वा । सम् । अञ्जे ।

वीरम् । दानऽओकसम् । वन्दध्यै । पुराम् । गूर्तऽश्रवसम् । दर्माणम् ॥ ५ ॥

अस्मा इदु अस्मा एव इन्द्राय श्रवस्या श्रवस्यया । श्रव इत्यन्ननाम । अन्नेच्छया । अन्नलाभायेत्यर्थः । ❀ श्रवःशब्दात्

"सुप आत्मनः क्यच्"। तदन्ताद्धातोर्भावे "अ प्रत्ययात्" इत्यकारप्रत्ययः। ततष्टाप्। सुपां सुलुक्०" इति तृतीयाया डादेशः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्योदात्तत्वम् ॐ। अर्कम् अर्चनीयम् अन्नं हविर्लक्षणम् अन्नं जुहा आज्यपूर्णया समञ्जे समक्तं करोमि। ॐ व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॐ। यद्वा अर्कं स्तुतिसाधनं मन्त्रम्। ॐ अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्तीति यास्कः [नि० ५. ४] ॐ जुहा जुहूवद् अञ्जनसाधनया जिह्वया समञ्जे संयोजयामि। तत्र दृष्टान्तः। सप्तिमिव अश्वमिव। ॐ जातावेकवचनम् ॐ। अश्वान् यथा श्रवस्यया रथे समक्तान् संगतान् करोति तद्वत्। किं च वीरम् शत्रूणां विविधम् ईरयितारं दानौकसम् दानानाम् ओकः स्थानीयं पुराम् असुरनगराणां दर्माणम् दारकं गूर्तश्रवसम्। श्रव इत्यन्ननाम। प्रशस्यान्नं प्रशस्यकीर्तिं वा उक्तलक्षणम् इन्द्रं वन्दध्यै वन्दितुम्। आह्वयामीति शेषः॥

मैं इन इंद्रदेवके लिये अन्नकी इच्छासे पूजनीय हविरूप अन्नको घृतपूर्ण स्रुवेसे संयुक्त करता हूँ। अथवा जुहूकी समान अञ्जनसाधन मन्त्रसे संयुक्त करता हूँ। जैसे घोड़ोंको रथमें संयुक्त करते हैं तिस प्रकार संयुक्त करता हूँ। और शत्रुओंको अनेक प्रकार से खदेड़ने वाले, दानोंके भवनरूप, असुरोंके नगरोंको विदीर्ण करने वाले और उत्कृष्ट कीर्ति वाले इन्द्रदेवकी वन्दना करनेके लिये मैं उनका आह्वान करता हूँ॥ ५॥

षष्ठी॥

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः॥ ६॥

अस्मै। इत्। ऊं इति। त्वष्टा। तक्षत्। वज्रम्। स्वपःऽतमम्। स्वर्यम्। रणाय।

वृत्रस्य। चित्। विदत्। येन। मर्म। तुजन्। ईशानः। तुजता। कियेधाः॥ ६॥

अस्मा इदु अस्मा एवेन्द्राय त्वष्टा सकलजगन्निर्माता विश्वकर्मा वज्रम् एतन्नामकम् आयुधं तक्षत् अतक्षत् निर्मितवान्। कीदृशम्। स्वपस्तमम् अतिशयेन शोभनकर्माणं स्वर्यम् स्वायत्तवीर्यं स्तुत्यं वा। किमर्थम्। रणाय युद्धाय। तुजता हिंसता येन वज्रेण कियेधाः। किं परिमाणं यस्य शत्रुबलस्य तादृग् बलं धारयतीति कियेधाः। यद्वा क्रममाणान् शत्रून् धारयतीति निगृह्णातीति कियेधाः। परैरपरिच्छेद्यबल इत्यर्थः। ❀ कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वेति यास्कः [नि० ६. २०]। पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्य कियेभावः। दधातेर्विच् प्रत्ययः ❀। ईशानः सर्वस्य स्वामी भवन् इन्द्रः वृत्रस्य चित् सर्वावरकस्य प्रबलस्य वृत्रनाम्नोऽसुरस्य मर्म। यस्मिन् स्थाने विद्धः सद्यो म्रियते तद् मर्म। तत् तुजन् हिंसन् व्यथयन् विदत् ❀ विदत् लब्धवान्। लब्ध्वा प्राहार्षीद् इत्यर्थः। ❀ विदॢ लाभे। लुङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः। "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि" इत्यडभावः। यद्वृत्तयोगाद् अनिघातः ❀॥

इन इन्द्रदेवके लिये ही सकल जगत्‌का निर्माण करने वाले विश्वकर्माने त्वष्टा नामक आयुधको बनाया है। वह आयुध शोभन कर्म करने वाला है, स्तुत्य है, वह रणके लिये बनाया गया है और वह क्रममाण शत्रुओंका निग्रह करने वाला है। सबके स्वामी इन्द्रदेवने सर्वावरक प्रबल वृत्रासुरके मर्मको भी खोज कर उस पर प्रहार किया था॥ ६॥

सप्तमी ॥

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ ७ ॥

अस्य । इत् । ऊँ इति । मातुः । सवनेषु । सद्यः । महः । पितुम् । पपिऽवान् । चारु । अन्ना ।

मुषायत् । विष्णुः । पचतम् । सहीयान् । विध्यत् । वराहम् । तिरः । अद्रिम् । अस्ता ॥ ७ ॥

अस्येदु अस्यैवेन्द्रस्य मातुः सर्वस्य निर्मातुः महः महतः माहात्म्यवतः एवंभूतस्य इन्द्रस्य । असाधारणं कर्म उच्यत इति शेषः । यद्वा उक्तलक्षणस्य यज्ञस्येति व्याख्येयम् । किं तत् कर्मेति उच्यते । अयम् इन्द्रः सवनेषु सोमयागसंबन्धिषु प्रातरादिषु त्रिषु सवनेषु सद्यः तदानीमेव होमसमय एव पितुम् । अन्ननामैतत् । पातव्यं सोमं पपिवान् पीतवान् । किं च चारु चारूणि । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति विभक्तेर्लुक् ❀ । अन्ना अन्नानि सवनीयपुरोडाशधानाकरम्भादीनि । भक्षितवान् इति शेषः । किं च विष्णुः सवनत्रयव्यापी इन्द्रः सहीयान् अतिशयेन शत्रूणाम् अभिभविता । सोमपानादिजनितेन बलेनेति भावः । पचतम् परिपक्वम् अपहारयोग्यभूतं शत्रूणां धनं मुषायत् अपाहरत् । ❀ क्यजन्ताल्लङि "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यडभावः ❀ । तथा अद्रिम् अस्ता अद्रेर्वज्रस्य क्षेपकः यथोक्तः स इन्द्रः वराहम् । ❀ वराहो मेघो भवति वराहार इति निरुक्तम् [५. ४] ❀ । वराहारम्

तस्कृष्टस्योदकस्य आहर्तारं धारकं मेघं तिरःप्राप्तः सन्। ❀ तिरः सत इति प्राप्तस्येति यास्कः [नि० ३. २०] ❀। विध्यत् अविध्यत् हृष्टिलाभार्थं व्यदारयत् ॥

इन सबका निर्माण करने वाले, माहात्म्यसम्पन्न इन्द्रका असाधारण कर्म कहा जाता है, कि–यह इन्द्रदेव सोमयागसंबंधी प्रातरादि तीनों सवनोंमें होमके समय ही सोमरूपी अन्नको पीगए और सवनीय पुरोडाश धाना करंभ आदि चारु अन्नों को खागए, और यह सवनत्रयव्यापी इन्द्र सोमपानजनित बल के कारण शत्रुओंको बड़े दबाने वाले हैं और यह अपहारके योग्य शत्रुओंके धनको छीन लेते हैं और वज्रका प्रयोग करने वाले इन इन्द्रने, श्रेष्ठ जलका आहरण करने वाले मेघको दृष्टिके लिये विदीर्ण कर डाला था ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः॥

अस्मै। इत्। ऊं इति। ग्नाः। चित्। देवऽपत्नीः। इन्द्राय।
अर्कम्। अहिऽहत्ये। ऊवुरित्यूवुः।
परि। द्यावापृथिवी इति। जभ्रे। उर्वी इति। न। अस्य। ते इति।
महिमानम्। परि। स्त इति स्तः ॥ ८ ॥

अस्मा इदु अस्मा एव इन्द्राय अहिहत्ये। अहिर्मेघः। तस्य हनने निमित्तभूते सति देवपत्नीः देवानां पालयित्र्यो गायत्र्याद्याः ग्नाश्चित् गमनस्वभावा अपि अर्कम् अर्चनसाधनं स्तोत्रम् ऊवुः अतन्वत। यद्वा अस्मा इन्द्राय ग्नाश्चित्। ❀ मेना ग्ना इति स्त्री-

ग्नाम् इति निरुक्तम् [२. २१] । ग्ना गच्छन्त्येना इति तत्रत्यं निर्वचनम् ❀ । स्वस्वपतिभिरभिगन्तव्याः स्त्रियः । ता विशिनष्टि । देवपत्नीरिति । देवा इन्द्राद्याः पतयो यासां ता देवपत्न्यः । याश्च "उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीः" इति [ऋ० ५. ४६. ८] मन्त्रोक्ता इन्द्राण्यग्नाय्यश्विन्याद्याः । ता देवपत्न्यः अर्कम् अर्चनसाधनं हविः ऊवुः स्वात्मनि असन्वत । ❀ वेञ् तन्तुसंताने । लिटि "वेञो वयिः" । लिटः कित्त्वाद् यजादित्वेन संप्रसारणे वकारस्य "लिटि वयो यः" इति प्रतिषेधाद् यकारस्य संप्रसारणम् । परपूर्वत्वे द्विर्वचनादि । "वश्चास्यान्यतरस्यां किति" इति यकारस्य वकारादेशः ❀ । स चेन्द्रः उर्वी विस्तृते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ परि जभ्रे स्वतेजसा परिजहार । अतिचक्रामेत्यर्थः । अस्य इन्द्रस्य महिमानम् महत्त्वं ते द्यावापृथिव्यौ न परि ष्टः न पराभवतः । महत्त्वसंकोचं कर्तुं शक्ते नाभूताम् इत्यर्थः ॥

इन इन्द्रदेवके लिये ही वृत्रहननका अवसर आने पर देवताओंका पालन करने वाली (देवपत्नियें) गायत्री आदिमें गमन स्वभाव वाली होने पर भी अर्चनसाधन स्तोत्रको विस्तृत किया था । अथवा—देवताओंकी पत्नी इन्द्राणी आदिमे अर्चनसाधन हविको अपनेमें विस्तृत किया था । और इन इन्द्रदेवने विस्तृत द्यावापृथिवीको अपने तेजसे अतिक्रमण किया था । इन इन्द्रके महत्त्वका द्यावापृथिवी पराभव नहीं कर सकी थीं अर्थात् इनके महत्त्वका संकोच नहीं कर सकी थीं ॥ ८ ॥

नवमी ॥

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥ ९ ॥

अस्य । इत् । एव । प्र । रिरिचे । महिऽत्वम् । दिवः । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् ।
स्वऽराट् । इन्द्रः । दमे । आ । विश्वऽगूर्तः । सुऽअरिः । अमत्रः । ववक्षे । रणाय ॥ ६ ॥

अस्येदेव अस्यैवेन्द्रस्य महित्वम् महत्त्वं माहात्म्यं दिवः द्युलोकात् परि उपरि प्र रिरिचे । ❀ अत्र प्रेत्युपसर्गो धात्वर्थं बाधते। प्रस्मरणं प्रस्थानम् इति वत् ❀ । अधिकं भवतीत्यर्थः । तथा पृथिव्याः परि भूलोकादप्युपरि प्र रिरिचे । एवम् अन्तरिक्षात् द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनो यक्षगन्धर्वाप्सरःप्रभृतीनाम् आश्रयभूताद् अन्तरिक्षलोकादपि प्र रिरिचे । ❀ रिचिर् विरेचने । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट् ❀ । किं च अयम् इन्द्रो दमे दमयितव्ये शत्रुजने स्वराट् स्वेनैव तेजसा राजमानः । विश्वगूर्तः विश्वस्मिन् सर्वस्मिन्नपि कार्ये उद्गूर्णबलः । स्वरिः सुष्ठु अभिगन्ता । यद्वा स्वरिः शोभनः इन्द्रव्यतिरिक्तेनान्येन पराभवितुम् अशक्यः शत्रुः सुशब्देन उच्यते । तादृशेन अरिणा उपेतः । अमत्रः युद्धार्थं गमनकुशलः । ❀ अम गत्यादिषु । अमिनक्षियजिवधि० [उ० ३.१०५] इत्यादिना अत्रन् प्रत्ययः❀। एवंमहानुभाव इन्द्रो रणाय रमणीयाय संग्रामाय आ ववक्षे आवहति वृष्ट्यर्थं मेघान् प्रापयति । ❀ वहेर्लेटि "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः। ढत्वकत्वषत्वानि । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः ❀ ॥

इन ही इन्द्रदेवका माहात्म्य द्युलोकके भी ऊपर फैला हुआ है अर्थात् द्युलोकसे भी अधिक है। पृथ्वीलोकके ऊपर भी फैला हुआ है और द्यावापृथिवीके मध्यके लोक-गन्धर्व अप्सरा आदि

के आश्रय—अन्तरिक्षके ऊपर भी फैला हुआ है । और यह इन्द्रदेव दमन करने योग्य शत्रुओं पर अपने ही तेजसे दमकते रहते हैं । सब कार्योंमें इनका बल प्रचण्ड रहता है । यह भली प्रकार अभिगमन करने वाले हैं, युद्धके लिये गमन करनेमें कुशल हैं ऐसे महानुभाव इन्द्र रक्षाके लिये वृष्ट्यर्थ मेघोंको लाते हैं ९

दशमी ॥

अस्येदे॒व शव॑सा शु॒षन्तं॒ वि वृ॑श्च॒द् वज्रे॑ण वृ॒त्रमिन्द्रः॑
गा न व्रा॒णा अ॒वनी॑रमुञ्च॒द॒भि श्रवो॑ दा॒वने॒ सचे॑ताः

अ॒स्य । इत् । ए॒व । शव॑सा । शु॒षन्त॑म् । वि । वृ॒श्च॒त् । वज्रे॑ण । वृ॒त्रम् । इन्द्रः॑ ।

गाः । न । व्रा॒णाः । अ॒वनीः॑ । अ॒मु॒ञ्च॒त् । अ॒भि । श्रवः॑ । दा॒वने॑ । स॒ऽचे॑ताः ॥ १० ॥

अस्येदेव अस्यैव इन्द्रस्य शवसा बलेन तेजसा शुषन्तम् शुष्यन्तम् । ❀ शुष शोषणे । श्यनि प्राप्ते व्यत्ययेन शः । तुदादे-शाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वर एव शिष्यते ❀ । उक्त-रूपं वृत्रम् इन्द्रो देवः वज्रेण आयुधेन वि वृश्चत् व्यच्छिनत् । तथा गा न पणिभिरपहृता गा यथा अमुञ्चत् मोचितवान् एवं व्राणाः वृत्रेण आवृता अपः । ❀ वृञ् वरणे । कर्मणि लिट् । शानचि "बहुलं छन्दसि" इति यको लुक् । शानचो ङित्त्वाद् गुणाभावे यण् आदेशः ❀ । कीदृशीरपः । अवनीः अविनीः सकलप्राणि-रक्षणहेतुभूता अमुञ्चत् मेघं भित्त्वा अवर्षीत् । तथा कृत्वा दावने हविर्दात्रे यजमानाय श्रवः सर्वैः श्रूयमाणं विख्यातम् अन्नं सचेताः यजमानेन समानचित्तः सन् अभि । ❀ उपसर्गश्रुतेर्यो-

न्यक्रियाध्याहारः ॐ । अभ्यगमयत् । अथ वा आभिमुख्येन । गायच्छत् इति शेषः ॥

इन ही इन्द्रदेवके तेजसे शुष्क होते हुए वृत्रासुरको इन्द्रदेवने अपने आयुधसे काट डाला था, और पणियोंकी हरी हुई गौओं को जिस प्रकार छुड़ाया था इसी प्रकार वृत्रासुरसे घेरे हुए, सकल प्राणियोंको रक्षाके हेतु जलोंको मेघोंको विदीर्ण करके बरसा दिया । इस प्रकार करके हविर्दाता यजमानके लिये सबमें प्रसिद्ध अन्नको समान चित्त होकर दिया ॥ १० ॥

एकादशी ॥

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।

ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । त्वेषसा । रन्त । सिन्धवः । परि । यत् । वज्रेण । सीम् । अयच्छत् ।

ईशानऽकृत् । दाशुषे । दशस्यन् । तुर्वीतये । गाधम् । तुर्वणिः । कः ॥ ११ ॥

अस्येदु अस्यैवेन्द्रस्य त्वेषसा दीप्तेन बलेन सिन्धवः स्यन्दनशीला नद्यो रन्त अरन्त स्वेस्वे स्थाने रमन्ते । यत् यस्मात् कारणाद् अयम् इन्द्रो वज्रेण सीम् सर्वतः एनाम् सिन्धून् वज्रेण पर्ययच्छत् परितो नियमितवान् । तस्माद् रमन्त इति पूर्वेण संबन्धः । किं च ईशानकृत् शत्रून् हत्वा आत्मानं स्वामिनं कुर्वन् अथ वा दरिद्रस्य ईशानकर्ता दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय दशस्यन् धनं

भिमतं प्रयच्छन् इन्द्रः तुर्वीतये एतत्संज्ञकाय अगाधे जले निमग्नाय तुर्वणिः तूर्णवनिः शीघ्रं संभक्ता सन् गाधम् प्रतिष्ठां कः अकः अकार्षीत् । ❀ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्लेर्लुक् । गुणः । "हल्ङ्या०" इत्यादिना तल्लोपः ❀ ॥

इन ही इन्द्रके दीप्त बलसे स्पन्दनशील नदियें अपने २ स्थानमें रमण करती हैं, क्योंकि–इन इन्द्रदेवने वज्रके द्वारा इन नदियोंको चारों ओरसे नियमित कर दिया है, अत एव यह नदियें रमण करती हैं। और यह इन्द्रदेव यजमानको ईश बनाने वाले हैं और हविर्दाता यजमानको अभिलषित फल देने वाले हैं और अगाध जलमें निमग्न तुर्वीतिके लिये शीघ्र ही प्रतिष्ठाको देने वाले हैं ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै १२

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्र । भर । तूतुजानः । वृत्राय । वज्रम् । ईशानः । कियेधाः ।
गोः । न । पर्व । वि । रद । तिरश्चा । इष्यन् । अर्णांसि । अपाम् । चरध्यै ॥ १२ ॥

अस्मा इदु अस्मा एव वृत्राय अस्य वृत्रस्य वधार्थं तूतुजानः त्वरमाणः अत्यर्थं चलायमानो वा ईशानः सर्वस्य स्वामी कियेधाः कियद् इदं शत्रुबलम् इति तुच्छीकृत्य तस्य बलस्य धारकः ।

अथ वा क्रममाणः सन् शत्रु धारकः वज्रं प्र भर प्रहर प्रयोजय । न केवलं प्रहरमात्रं किं तु शकलीकुर्वित्याह । गोर्न पर्व यथा मांसार्थिनो गोर्वृषभादेः पशोः पर्व पर्वाणि प्रतिपर्व छिन्दन्ति तद्वत् । अर्णांसि उदकानि इष्यन् इच्छन् अपां चरध्यै चरणाय भूमौ प्रवाहाय तिरश्चा तिर्यगञ्चनेन वज्रेण वि रद विशेषेण वृत्रं विलेखय । द्विविधं छिन्द्धीत्यर्थः। ॐ अत्र निरुक्तम् । अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रम् ईशानः । कियेधाः । कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा । गोरिव पर्वाणि वि रद मेघस्येष्यन्नर्णांस्यपां चरणायेति [नि० ६. २०] ॐ ॥

हे इन्द्रदेव ! इस वृत्रके वधके लिये अत्यन्त त्वरा करते हुए सबके स्वामी आप आगे बढ़ शत्रु को दाबते हुए वज्रका प्रहार करिये । (केवल प्रहार ही न करिये, किंतु खण्ड २ कर डालिये) जैसे मांसार्थी पुरुष पशुके खण्ड २ करते हैं, इसी प्रकार आप जल चाह कर जलको भूमि पर बहानेके लिये तिरछे वज्रसे वृत्र (मेघ) को विदीर्ण करिये ॥ १२ ॥

त्रयोदशी ॥

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः ।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥ १३ ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । प्र । ब्रूहि । पूर्व्याणि । तुरस्य । कर्माणि । नव्यः । उक्थैः ।
युधे । यत् । इष्णानः । आयुधानि । ऋघायमाणः । निऽरिणाति । शत्रून् ॥ १३ ॥

उक्थैः। उक्थं स्तुतिम् अर्हन्तीति उक्थ्यानि शस्त्राणि। तैः नव्यः स्तुत्यो य इन्द्रः अस्येदु अस्यैव तुरस्य युद्धार्थं त्वरमाणस्येन्द्रस्य पूर्व्याणि पुराणानि कर्माणि एतत्कृतानि बलकर्माणि हे स्तोतः प्र ब्रूहि प्रशंस। यत् यदा युधे योधनाय आयुधानि वज्रादीनि इष्णानः आभीक्ष्ण्येन प्रेरयन्। ❀ इष आभीक्ष्ण्ये। क्रैयादिकः। व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। शानचश्चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् ❀। शत्रून् ऋघायमाणः हिंसंश्च इन्द्रः निरिणाति अभिमुखं गच्छति। तदानीं प्र ब्रूहीति पूर्वेण संबन्धः। ❀ निरिणाति। री गतिरेषणयोः। "क्र्यादिभ्यः श्ना"। "प्वादीनां ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वम्। तिपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे विकरणस्वरः शिष्यते "तिङि चोदात्तवति" इति गतेर्निघातः। यद्वृत्तयोगात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀॥

शस्त्रोंके द्वारा स्तुति करने योग्य जो इन्द्र हैं उन ही युद्धके लिये त्वरा करने वाले इन्द्रके प्राचीन बलमय कर्मोंको हे स्तोतः! आप गाइये, जब युद्ध करनेके लिये वज्र आदिको बारंबार प्रेरित करते हुए और शत्रुओंका संहार करते हुए इन्द्र अभिमुख होकर चढ़ाई करें, उस समय गाइये॥ १३॥

चतुर्दशी॥

अस्येदु भिया गिरयश्च दृह्ला द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः॥ १४॥

अस्य। इत्। ऊं इति। भिया। गिरयः। च। दृह्लाः। द्यावा। भूमा। जनुषः। तुजेते इति।

तपो इति । वेनस्य । नोधुवानः । ओणिम् । सद्यः । अभवत् ।
वीर्याय । नोधाः ॥ १४ ॥

अस्यैव इन्द्रस्य जनुषः जन्मतः प्रादुर्भावत एव । यद्वा जनुषः उत्कृष्टजन्मवतोस्येति व्याख्येयम् । भिया पक्षच्छेदनभयेन गिरयश्च पर्वता अपि दृढ्हा दृढानि अभ्यवसितानि अभूवन् । पर्वतद्रव्यसामान्यापेक्षया नपुंसकलिङ्गता । किं च अस्य भिया द्यावा च भूमा च द्यावापृथिव्यावपि तुजेते । ॐ तुजिर्हिंसार्थोपि अत्र कम्पने वर्तते ॐ । कम्पेते इत्यर्थः । ॐ अन मध्ये चशब्दस्य पाठश्छान्दसः । "दिवो द्यावा" इति दिवशब्दस्य द्यावादेशः । "सुपां सुलुक्॰" इति डादेशः । "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । पदद्वयप्रसिद्धिरपि सांप्रदायिकी ॐ । किं च वेनस्य कान्तस्य ओणिम् दुःखस्यापनोदकं रक्षणम् । ॐ ओणृ अपनयने इत्यस्माद् औणादिक इप्रत्ययः ॐ । नोधुवानः अनेकैः सूक्तैः शब्दयन् नोधाः नवनस्य स्तवस्य धारयिता एतन्नामा महर्षिः वीर्याय सामर्थ्याय सद्यः तदानीमेव तपो उपैव समीप एव अभवत् भवेत् अभवत् । वीर्यवान् अभवद् इत्यर्थः ॥

इन इन्द्रके प्रादुर्भूत होते ही पंख काटे जानेके डरसे पर्वत दृढ बन गए थे और इनके भयसे द्यावापृथिवी भी काँपते हैं। और इन कमनीय दुःख दूर करने वालेकी अनेक सूक्तोंसे प्रशंसा करते हुए नोधा महर्षि शीघ्र ही वीर्यवान् होगए थे ॥ १४ ॥

पञ्चदशी ॥

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यत् । अनु । दायि । एषाम् । एकः ।
  यत् । वव्ने । भूरेः । ईशानः ।
प्र । एतशम् । सूर्ये । पस्पृधानम् । सौवश्व्ये । सुष्विम् । आवत् ।
  इन्द्रः ॥ १५ ॥

अस्मा इत् अस्मा एवेन्द्राय त्यत् तत् प्रसिद्धं स्तोत्रं सोमलक्षणम् अन्नं वा अनु आनुलोम्येन दायि अदायि दीयते । अस्मा एवेत्युक्तं तत्र कारणम् आह । यत् यस्मात् कारणाद् भूरेः प्रभूतस्य धनस्य हविषः स्तोत्रस्य वा ईशानः स्वामी इन्द्रः एकः स्तोत्रादिविषये केवलः असाधारणः सन् वव्ने । असाधारण्यं याचितवान इत्यर्थः । किं च अयम् इन्द्रः सौवश्व्ये स्वश्वस्यापत्ये एतन्नामके राजनि रक्षणीयत्वेन निमित्तभूते सति सूर्ये देवे पस्पृधानम् सौवश्व्यसहायत्वेन पुनःपुनः स्पर्धमानम् । ❀ स्पर्ध संघर्षे । अस्माल्लिटः कानच् । द्विर्वचने "शर्पूर्वाः खयः" इति पकारः शिष्यते । धात्वकारस्य लोपो रेफस्य संप्रसारणं च पृषोदरादित्वात् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् ❀ । एतशम् एतन्नामानं महर्षिं सुष्विम् सुष्ठु इन्द्रार्थं सोमाभिषवं कुर्वाणं प्रावत् प्रकर्षेण रक्षितवान् । यद्वा सौवश्व्ये स्वश्वस्यापत्ये सूर्ये इति व्याख्येयम् । सूर्यः स्वश्वस्य तपसा तुष्टः सन् तस्य पुत्रोऽभूद् इत्ययम् अर्थः आख्यायिकामुखेनावगन्तव्यः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

इन इन्द्रदेवके लिये ही स्तोत्र वा सोमरूपी अन्न अनुलोमरीतिसे दिया जाता है, क्योंकि—प्रभूत धन हवि वा स्तोत्रके स्वामी इन्द्रने स्तोत्र आदिके विषयमें असाधारण्यकी याचना की थी । और इन इन्द्रदेवने सौवश्व्य नामक राजाकी रक्षाके अवसर पर सूर्यदेवसे वारम्वार स्पर्धा करते हुए एतश नामक महर्षिकी सोमाभिषवके कारण रक्षा की थी ॥ १५ ॥

षोडशी ॥

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥ १६ ॥

एव । ते । हारिऽयोजन । सुऽवृक्ति । इन्द्र । ब्रह्माणि । गोतमासः । अक्रन् ।
आ । एषु । विश्वऽपेशसम् । धियम् । धाः । प्रातः । मक्षु । धियाऽवसुः । जगम्यात् ॥ १६ ॥

हर्योरश्वयोर्योजनम् अस्मिन् रथे स तथोक्तः । तस्य स्वामित्वेन संबन्धी हारियोजनः । हे हारियोजन इन्द्र गोतमासः गोतमगोत्रोत्पन्ना महर्षयः सुवृक्ति सुष्ठु आवर्जकानि अभिमुखीकरणकुशलानि ब्रह्माणि स्तुतिरूपाणि मन्त्रजातानि ते तवैव एव एवंप्रकारेण अक्रन् अकुर्वत । ❀ करोतेर्लुङि “मन्त्रे घस०” इत्यादिना च्लेर्लुक् । अन्तादेशः । तस्य ङित्वाद् गुणाभावे यणादेशः । “इतश्च” इति इकारलोपे संयोगान्तलोपे च अडागमः ❀ । एषु स्तोतृषु विश्वपेशसम् बहुविधरूपयुक्तं धियम् । धियः कर्मसाध्यत्वाद् धीर्धनम् उच्यते । यद्वा धीशब्दः कर्मवचनः । पश्वादिबहुविधरूपं धनं अग्निष्टोमादि बहुविधरूपं कर्म वा आ धाः आधेहि स्थापय । प्रातः इदानीमिव परेद्युरपि प्रातःकाले धियावसुः बुद्ध्या कर्मणा वा प्राप्तधन इन्द्रो मक्षु शीघ्रं जगम्यात् अस्मद्यज्ञार्थम् आगच्छतु ॥

इति चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे हरि नामक घोड़ोंको अपने रथमें जोतने वाले इन्द्र ! गौतम गोत्रमें उत्पन्न हुए महर्षि अभिमुख करनेमें कुशल मन्त्रात्मक स्तोत्रोंको आपके लिये ही करते हैं, इन स्तोताओंमें आप अनेक प्रकारके रूपोंसे युक्त पशु आदि धन या अग्निष्टोम आदि अनेक प्रकारके कर्म स्थापित करिये। इस समयकी समान दूसरे दिन भी प्रातःकाल बुद्धिसे धनको प्राप्त करने वाले इन्द्रदेव हमारे रक्षाके लिये शीघ्र आवें ॥ १६ ॥

चतुर्थं अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (२५१)

आभिप्लविके युग्माहनि माध्यंदिनसवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे "य एक इद्धव्यः" इति सूक्तं संपातसंज्ञया विनियुक्तम्। सूत्रितं हि। "युग्मेष्विन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः [२०. ११] य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम् [२०. ३६] यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः [२०. ३७] इति संपातानाम् एकैकम् अहरहरावपते पृष्ठ्ये छन्दोमेषु दशमे च" इति [वै० ६. १]॥

आभिप्लविक युग्माहन् माध्यंदिनसवनके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें "य एक इद्धव्यः" सूक्त सम्पात नामसे विनियुक्त हुआ है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"युग्मेष्विन्द्रः पूर्भिदातिरद्द दासमर्कैः (२० । ११) य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम् (२० । ३६) यस्तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः (२० । ३७) इति संपातानां एकैकं अहरहरावपते पृष्ठ्ये छन्दोमेषु दशमे च" (वैतानसूत्र ६ । १)॥

तत्र प्रथमा ॥

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥ १ ॥

यः । एकः । इत् । हव्यः । चर्षणीनाम् । इन्द्रम् । तम् ।

गीःऽभिः । अभि । अर्चे । आभिः ।

यः । पत्यते । वृषभः । वृष्ण्यऽवान् । सत्यः । सत्वा । पुरुऽमायः ।

सहस्वान् ॥ १ ॥

चर्षणीनाम् । मनुष्यनामैतत् । मनुष्याणां यजमानानां यः इन्द्रः एक इत् एक एव हव्यः प्राधान्येन यज्ञे ह्वातव्यः । यद्वा जयकामानां राजादीनां स्वसहायत्वेन एक एव हव्यः । तं ह्वातव्यम् इन्द्रम् आभिः क्रियमाणप्रकाराभिर्गीर्भिः स्तुतिवाग्भिः अभि अर्चे । अर्चतिः स्तुतिकर्मा । अभिष्टौमि । किं च यो वक्ष्यमाणगुणविशिष्ट इन्द्रः पत्यते सर्वस्येश्वरो भवति । इन्द्रं विशिनष्टि । वृषभः कामानां वर्षिता वृष्ण्यावान् वृष्ण्यं वर्षणयोग्यं बलम् तद् अस्यास्तीति वृष्ण्यवान् । ❀ "मादुपधायाः" इति मतुपो वत्वम् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः । मतुपः पित्वाद् अनुदात्तत्वे "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । सत्यः सत्यफलः सत्वा बलस्य सादयिता पुरुमायः बहुकर्मा सहस्वान् बलवान् एवम् उक्तगुणोपेतो य इन्द्रः पत्यते । तं गीर्भिरभ्यर्चे इति संबन्धः ॥

जो इन्द्रदेव यजमान मनुष्योंके एक ही आह्वान करने योग्य हैं उन आह्वान करने योग्य इन्द्रका मैं इन स्तुतिवाणियोंसे पूजन करता हूँ । वह इन्द्रदेव सबके ईश्वर होते हैं, कामनाओंकी वर्षा करने वाले हैं, वर्षण योग्य बलसे सम्पन्न हैं, सत्यफल हैं, बल को प्राप्त कराने वाले हैं, बहुतसे कर्मोंको करने वाले हैं, ऐसे इन्द्रकी मैं स्तुतियोंसे पूजा करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तमु नः पूर्वे पितरो नवंग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः ।

नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥

तम् । ऊं इति । नः । पूर्वे । पितरः । नवऽग्वाः । सप्त । विप्रासः । अभि । वाजयन्तः ।

नक्षत्ऽदाभम् । ततुरिम् । पर्वतेऽस्थाम् । अद्रोघऽवाचम् । मतिऽभिः । शविष्ठम् ॥ २ ॥

तमु तमेवेन्द्रं नः अस्माकं संबन्धिनः पूर्वे पुरातनाः पितरः कर्मणा पितृलोकं प्राप्ताः पालयितारो नवग्वाः नवभिर्मासैर्लब्धफलाः सन्त्रः सत्त्राद् ये उत्थितास्ते नवग्वाः नवभिर्मासैराप्तगोफला वा । सप्त सप्तसंख्याका विप्रासः मेधाविनः वाजयन्तः वाजम् अन्नं हविर्लक्षणम् इन्द्राय इच्छन्तः वाजिनं बलिनं कुर्वन्तो वा मतिभिः स्तुतिभिः इन्द्रम् अभि । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अभितुष्टुवुरित्यर्थः । कीदृशम् इन्द्रम् । नक्षद्दाभम् । नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । अभिगच्छतां शत्रूणां हिंसितारं ततुरिम् दुर्गमात् तारकं पर्वतेष्ठाम् पर्वते मेघे अवस्थितम् अद्रोघवाचम् अद्रोग्धव्या अनतिक्रमणीया वाचो यस्य सः अद्रोघवाक् तम् अद्रोघवाचं शविष्ठम् अतिशयेन बलवन्तम् ॥

नव मासमें सिद्धि पाने वाले, हविरूप अन्नको इन्द्रके लिये चाहते हुए, विद्वान् कर्मसे पितृलोकको प्राप्त हुए हमारे सात पूर्व पुरुषोंने इन्द्रकी स्तुति की थी । यह इन्द्रदेव शत्रुओंकी

हिंसा करने वाले हैं, दुर्गमसे तारने वाले हैं, पर्वतमें स्थित रहते हैं, इनकी आज्ञियोंका अतिक्रम नहीं होता है और परमबली हैं २

तृतीया ॥

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः ।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥ ३ ॥

तम् । ईमहे । इन्द्रम् । अस्य । रायः । पुरुऽवीरस्य । नृऽवतः ।
पुरुऽक्षोः ।
यः । अस्कृधोयुः । अजरः । स्वःऽवान् । तम् । आ । भर ।
हरिऽवः । मादयध्यै ॥ ३ ॥

तं प्रसिद्धम् इन्द्रम् ईमहे याचामहे । याच्ञाविषयं दर्शयति । अस्य रायः । रयिरिति धननाम । एतद् धनम् । कीदृशं तत् । पुरुवीरस्य वीराः पुत्रादयः बहुभिर्वीरैरुपभोक्तव्यम् । नृवतः नरो मर्त्याः सेवकाः तैः सहितम् । पुरुक्षोः क्षुरित्यन्ननाम । बह्वन्नम् । उक्तविशेषणविशिष्टं धनम् ईमहे इति संबन्धः । किं च यो रयिः अस्कृधोयुः अच्छिन्नः अजरः जरारहितः स्वर्वान् स्वः स्वर्गः सुखं वा तद्वान् तम् उक्तगुणविशिष्टं रयिम् हे हरिवः हर्याख्याश्ववन्निन्द्र मादयध्यै अस्मान् मादयितुम् आ भर आहर । ❀ मदि स्तुत्यादौ । "हेतुमति च" इति णिच् । तुमर्थे अध्यैप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण तृतीयस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥

हम इन इन्द्रसे पुत्र आदि बहुतसे वीरोंसे युक्त, सेवकोंसे सम्पन्न विशाल अन्नपरिमाण वाले धनकी याचना करते हैं।

जो धन अच्छिन्न है, अजररहित है, सुखप्रद है, हे हरि नामक घोड़ोंसे सम्पन्न इन्द्र ! ऐसे धनको आप हमें प्रदान करिये ३

चतुर्थी ॥

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र ।
कस्ते भाग: किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥ ४ ॥

तत् । नः । वि । वोचः । यदि । ते । पुरा । चित् । जरितारः । आनशुः । सुम्नम् । इन्द्र ।
कः । ते । भागः । किम् । वयः । दुध्र । खिद्वः । पुरुऽहूत । पुरूवसो इति पुरुऽवसो । असुरऽघ्नः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र पुरा चित् पूर्वमपि ते तव जरितारः स्तोतारः सुम्नम् सुखं यदि आनशुः त्वत्तः सकाशात् प्राप्ताः तर्हि तत् सुम्नम् सुखं नः स्तोतृणाम् अस्माकमपि वि वोचः प्रब्रूहि । प्रयच्छेति भावः । तस्य सुम्नस्य उत्कोचभूतः असुरघ्नः शत्रूणां हन्तुस्ते तव भागो यज्ञे निर्दिष्टः कः । किं वयः किं हविर्लक्षणम् अन्नं तव दातव्यम् । तं स्तोत्रादिरूपं भागं सोमादिहविर्लक्षणम् अन्नं च हे दुध्र दुर्धर हे खिद्वः शत्रूणां खेदयितः हे पुरुहूत बहुभिराहूत हे पुरूवसो बहुधन एवमुक्तैर्गुणैरुपेत इन्द्र नः अस्माकं ब्रूहि प्रब्रूहि । ❀ खिद्व इति । खिद दैन्ये इत्यस्मात् ण्यन्तात् लिटः क्वसुरादेशः । "वस्वेकाजाद्घसाम्" इति नियमाद् इडभावः । द्विर्वचनप्रकरणे "छन्दसि वा" इति विकल्पाद् अनभ्यासः । "मतुवसो रुः संबुद्धौ छन्दसि" इति रुत्वम् । आमन्त्रितनिघातः ❀ ॥

हे इन्द्र ! आपके प्राचीन स्तोता यदि आपसे सुखको पाचुके हैं, तो उस सुखको हम स्तोताओंको भी प्रदान करिये । उस सुखकी रिश्वतरूप असुरोंको संहार करने वाला आपका जो भाग यज्ञमें निर्दिष्ट है वह कौनसा है और आपको हविरूप कौनसा अन्न देना चाहिये । उस स्तोत्र आदि रूप भागको और सोम आदि हविरूप अन्नको भी हे दुर्धर ! हे शत्रुओंको खेदमें डालने वाले ! हे पुरुहूत ! हे बहुधन ! आप हमसे कहिये ४

पञ्चमी ॥

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः ।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥

तम् । पृच्छन्ती । वज्रऽहस्तम् । रथेऽस्थाम् । इन्द्रम् । वेपी । वक्वरी । यस्य । नु । गीः ।
तुविऽग्राभम् । तुविऽकूर्मिम् । रभःऽदाम् । गातुम् । इषे । नक्षते । तुम्रम् । अच्छ ॥ ५ ॥

यस्य स्तोतुर्यजमानस्य वेपी । वेप इति कर्मनाम । यागादिलक्षणकर्मवती वक्वरी गुणानां प्रवचनशीला गीः वाग् वज्रहस्तम् वज्रं हस्ते धारयन्तं रथेष्ठाम् रथे अवस्थितं तं प्रसिद्धम् इन्द्रं पृच्छन्ती प्रश्नं कुर्वती । अभिगच्छति स्तौति वेति शेषः । तुविग्राभम् बहूनां ग्राहकं तुविकूर्मिम् बहुकर्माणं रभोदाम् रभसो बलस्य दातारम् उक्तलक्षणम् इन्द्रं स यजमानो गातुम् सुखम् इषे इच्छति । नु इति पूरणः । किं च तुम्रम् अभिगन्तारं त्वरयितारं वा शत्रुम् अच्छ आभिमुख्येन नक्षते गच्छति ॥

जिस स्तोता यजमानकी याग आदि रूप कर्म वाली, गुणों का प्रवचन करने वाली वाणी वज्रधारी रथमें स्थित इन्द्रसे प्रश्न करती हुई इन्द्रको प्राप्त होती है। बहुतोंका ग्रहण करने वाले, बहुतसे कर्मों वाले, यशंप्रद इन्द्रसे यजमान सुखकी इच्छा करता है। और त्वरा करने वाले शत्रुको अभिमुख होकर प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन ।
अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ळा धृषता विरप्शिन् ॥ ६ ॥

अया । ह । त्यम् । मायया । ववृधानम् । मनःऽजुवा । स्वऽतवः । पर्वतेन ।
अच्युता । चित् । वीलिता । सुऽओजः । रुजः । वि । दृह्ळा । धृषता । विऽरप्शिन् ॥ ६ ॥

हे स्वतवः स्वायत्तबल इन्द्र त्वं मनोजुवा मनोवत् शीघ्रं गच्छता पर्वतेन पर्ववता वज्रेण अया अनया प्रसिद्धया मायया शक्त्या ववृधानम् भृशं वर्धमानं त्यम् तं प्रसिद्धं वृत्रं वि रुजः व्यरुजः विशेषेण अभाङ्क्षीः। तथा हे स्वोजः शोभनबल हे विरप्शिन्। विरप्शीति महन्नाम। हे महन् इन्द्र त्वम् अच्युता चित् अच्युतानि अन्यैरच्यावयितव्यान्यपि वीलिता वीलितानि दृढानि अशिथिलीकृतानि दृह्ळा दृढानि शत्रुनगराणि धृषता धर्षकेण वज्रेण वि रुजः विदारितवान् असि ॥

हे स्वायत्तबल इन्द्र ! आप मनकी समान शीघ्र चलने वाले पर्व वाले वज्रसे मायाके द्वारा बढ़ते हुए प्रसिद्ध वृत्रासुरको विशेषरूपसे नष्ट कर चुके हैं। तथा हे शोभन वज्रसे सम्पन्न महत्त्वमय इन्द्र ! आपने दूसरोंसे च्युत करनेके अयोग्य दृढ शत्रु-नगरोंको भी घर्षक वज्रसे विदारण कर डाला था ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तं वो॑ धि॒या नव्य॑स्या॒ शवि॑ष्ठं प्र॒त्नं प्र॑त्न॒वत् प॑रितंस॒यध्यै॑ ।
स नो॑ वक्षदनिमा॒नः सु॒वह्मेन्द्रो॒ विश्वा॒न्यति॑ दु॒र्गहा॑णि ॥

तम् । वः॒ । धि॒या । नव्य॑स्या । शवि॑ष्ठम् । प्र॒त्नम् । प्र॒त्न॒ऽवत् । प॒रि॒ऽतं॒स॒यध्यै॑ ।
सः । नः॒ । व॒क्ष॒त् । अ॒नि॒ऽमा॒नः । सु॒ऽवह्मा॑ । इन्द्रः॑ । विश्वा॑नि । अति॑ । दुः॒ऽगहा॑नि ॥ ७ ॥

हे यजमानाः वः युष्मदर्थं शविष्ठम् । शव इति बलनाम । अतिशयितबलं प्रत्नम् पुरातनं तं प्रसिद्धम् इन्द्रं नव्यस्या नवतरया धिया स्तुत्या प्रत्नवत् पुराणा महर्षयो यथा एवं परितंसयध्यै अलंकर्तुम् । प्रवृत्तोस्मीति शेषः । ❀ तसि अलंकारे । इदित्त्वान्नुम् । तुमर्थे अध्यैप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण उपान्त्योदात्तः ❀ । अनिमानः निमानरहितः इयत्ताशून्यः । महान् इत्यर्थः । सुवह्मा शोभनं वह्म वहनं यस्य स सुवह्मा शोभनवहनः स उक्तलक्षण इन्द्रः नः अस्मान् विश्वानि सर्वाणि दुर्गहाणि दुर्गमनानि यानियानि दुस्तराणि सर्वाण्यपि अति वक्षत् अतिवहतु ॥

हे यजमानो ! आपके लिये परमबली प्राचीन इन्द्रको नवीन स्तुतिसे प्राचीन महर्षियोंकी समान मैं अलंकृत करनेके लिये

मस्त हो गया हूँ। परिमाणशून्य और शोभन वाहनों वाले इंद्र हमें सब दुस्तर विषयोंके पार पहुँचावें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोन्तरिक्षा तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥ ८ ॥

आ । जनाय । द्रुह्वणे । पार्थिवानि । दिव्यानि । दीपयः । अन्तरिक्षा । तप । वृषन् । विश्वतः । शोचिषा । तान् । ब्रह्मऽद्विषे । शोचय । क्षाम् । अपः । च ॥ ८ ॥

हे इन्द्र त्वं द्रुह्वणे साधुजनानां द्रोग्धुः जनाय जनस्य राक्षसादेः पार्थिवानि पृथिव्यां भवानि दिव्यानि दिवि भवानि अन्तरिक्षा अन्तरिक्षाणि अन्तरिक्षे भवानि च स्थानानि आ दीपयः आ समन्तात् तापय। हे वृषन् कामानां वर्षितः इन्द्र त्वं विश्वतः सर्वतो विद्यमानान् तान् राक्षसादीन् शोचिषा त्वदीयया दीप्त्या तप दह। किं च ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे राक्षसादये। ब्रह्मद्विषं दुग्धम् इत्यर्थः। क्षाम् पृथिवीम् अपश्च अन्तरिक्षं शोचय दीपय। ❀ क्षाम् इति। क्षि निवासगत्योः। तौदादिकः। "अन्येष्वपि दृश्यते" इति सोपसर्जनो विधीयमानो डमत्ययः "अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः" इत्युक्तेर्निरुपपदेभ्योपि भवति। क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिन इति क्षा वसुंधरा। प्रत्ययस्वरः ❀ ॥

हे इन्द्रदेव! आप सज्जनोंसे द्वेष करने वाले राक्षस आदिके पृथिवीलोकके द्युलोकके और अन्तरिक्ष लोकके स्थानोंको चारों ओरसे सन्तप्त करिये। हे कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्र!

आप चारों ओर विद्यमान राक्षस आदिको अपनी दीप्तिसे भस्म कर डालिये। और ब्राह्मणोंसे द्वेष करने वाले राक्षस आदिको भस्म करनेके लिये पृथिवीको और द्युलोकको भी दीप्त करिये॥८॥

नवमी ॥

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक्। धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

भुवः। जनस्य। दिव्यस्य। राजा। पार्थिवस्य। जगतः। त्वेषऽसंदृक्।

धिष्व। वज्रम्। दक्षिणे। इन्द्र। हस्ते। विश्वाः। अजुर्य। दयसे। वि। मायाः ॥ ९ ॥

हे त्वेषसंदृक् दीप्तसंदर्शन इन्द्र दिव्यस्य दिवि भवस्य जनस्य राजा ईश्वरः भुवः भवसि। जगतः जङ्गमस्य पार्थिवस्य च राजा भवसि। दक्षिणे हस्ते वज्रं धिष्व निधेहि। तेन निहितेन वज्रेण विश्वाः सर्वा माया आसुरीः वि दयसे विबाधसे। ❀ दय दान-रक्षणगतिहिंसादानेष्विति धातुः ❀। हे अजुर्य जरयितुम् अशक्य इन्द्र त्वम् इति ॥

हे दीप्तसंदर्शन इन्द्र! आप द्युलोकमें रहने वाले जनोंके राजा हैं, दक्षिण हाथमें वज्रको धारण करिये और उस वज्रसे सब आसुरी मायाओंको बाधित करिये। हे जीर्ण करनेके अयोग्य इन्द्र! आप आसुरी मायाओंको बाधित करिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।

यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥ १० ॥

आ । सम्ऽयतम् । इन्द्र । नः । स्वस्तिम् । शत्रुऽतूर्याय । बृहतीम् । अमृधाम् ।

यया । दासानि । आर्याणि । वृत्रा । करः । वज्रिन् । सुऽतुका । नाहुषाणि ॥ १० ॥

शत्रुतूर्याय शत्रूणां तारणाय बृहतीम् महतीम् अमृधाम् अहिंसितां संयतम् संयतीं संगच्छमानां स्वस्तिम् क्षेमलक्षणां संपदम् हे इन्द्र त्वं नः अस्मभ्यम् आ हर । हे इन्द्र वज्रिन् वज्रवन् यया स्वस्त्या दासानि कर्मणा आत्मानम् उपक्षपयितॄणि हीनानि वृत्रा वृत्राणि शत्रुभूतानि नाहुषाणि नहुषा मनुष्याः तत्संबन्धीनि मनुष्यजातानि आर्याणि अरणीयानि श्रेष्ठानि तथा सुतुका सुतुकानि शोभनापत्यभूतानि पुत्रस्थानीयानि करः अकरोः ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! जिस क्षेम करने वाली सम्पत्तिसे आप दासोंको और शत्रुभूत मनुष्योंको श्रेष्ठ और पुत्रस्थानीय बना देते हैं, शत्रुओंको तरनेके लिये उस महती अहिंसिता, प्राप्त होती हुई सम्पत्तिको आप हमारे लिये लाइये ॥ १० ॥

एकादशी ॥

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो ।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक् ॥ ११ ॥

सः । नः । नियुत्ऽभिः । पुरुऽहूत । वेधः । विश्वऽवाराभिः । आ ।

गहि । प्रयज्यो इति प्रऽयज्यो ।

न । याः । अदेवः । वरते । न । देवः । आ । आभिः । याहि ।

तूयम् । आ । मद्र्यद्रिक् ॥ ११ ॥

हे पुरुहूत बहुभिर्यजमानैराहूत हे वेधः सर्वस्य विधातः हे प्रयज्यो प्रकर्षेण ईड्य प्रकृष्टगमन वा स तादृशस्त्वं विश्ववाराभिः व्याप्तबालाभिर्विश्वेषां वारयित्रीभिर्वरणीयाभिर्वा नियुद्भिः अश्वैः नः अस्मान् आ गहि आगच्छ । या नियुतस्तवागमनसाधनाः अदेवः देवविलक्षणः असुरो न वरते न वारयति तथा देवोपि न वरते । आभिः कैरपि अनिवार्याभिर्नियुद्भिः मद्र्यद्रिक् मदभिमुखदृष्टिः अस्मदभिमुखः सन् तूयम् तूर्णम् आ याहि आगच्छ ॥

इति तृतीयं सूक्तम् ॥

हे बहुतसे यजमानोंसे आहूत ! हे सबके विधातः ! हे अधिकता से पूज्य आप अयालों वाले अश्वोंके द्वारा हमारे पास आइये । आपके आगमनके साधन जिन अश्वोंको असुर नहीं रोकते और न देवता रोक सकते हैं, उन अश्वोंके द्वारा आप शीघ्रतापूर्वक मेरे अभिमुख होते हुए आइये ॥ ११ ॥

तृतीय सूक्त समाप्त (६५२)

आभिप्लविके तृतीयेहनि षष्ठे च "यस्तिग्मशृङ्गः" इति संपातसंज्ञकं सूक्तं माध्यंदिनसवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रे विनियुक्तम् । सूत्रं तु पूर्वसूक्तेन सह उदाहृतम् ॥

आभिप्लविक तीसरे दिनमें और छठे दिनमें भी "यस्तिग्मशृंगः" यह सम्पातसंज्ञक सूक्त माध्यन्दिन सवनके ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्रमें विनियुक्त होता है ॥ इसका सूत्र पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥ १ ॥

यः। तिग्मऽशृङ्गः। वृषभः। न। भीमः। एकः। कृष्टीः। च्यवयति। प्र। विश्वाः।
यः। शश्वतः। अदाशुषः। गयस्य। प्रऽयन्ता। असि। सुष्विऽतराय। वेदः ॥ १ ॥

हे इन्द्र यस्त्वं तिग्मशृङ्गः तीक्ष्णाभ्यां शृङ्गाभ्याम् उपेतो वृषभो न भीमः वृषभ इव भयजनकः। तथा त्वम् एकः असहायस्त्वं विश्वाः सर्वाः कृष्टीः। मनुष्यनामैतत्। सर्वान् अस्माकं शत्रुजनान् प्र च्यावयसि प्रकर्षेण अपगमयसि। यश्च त्वं शश्वतः। बहुनामैतत्। बहोः अदाशुषः हविरदत्तवतः अयजमानस्य गयस्य। गयम् इति गृहनाम। गृहसदृशस्य यथा कोशगृहं धनपूर्णं वर्तते एवम् अप्रदानेन धनपूर्णगृहसदृशस्य लुब्धकस्य वेदः धनं सुष्वितराय। सुष्ठु सोमाभिषववान् सुष्वी। अतिशयेन सुष्वी सुष्वितरः। तादृशाय यजमानाय प्रयन्तासि प्रकर्षेण नियमयिता प्रदाता भवसि ॥

हे इन्द्र ! जो आप तीखे सींगों वाले वृषभकी समान भयजनक हैं, तथा वह आप एक ही हमारे सब शत्रुओंको दूर भगा देते हैं और आप अपनेको प्रायः हवि न देने वाले अयजमानके धन-

पूर्ण घरके धनको, सोमका अधिकतासे अभिषव करने वाले यजमानको अधिकतासे देते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥ २ ॥

त्वम् । ह । त्यत् । इन्द्र । कुत्सम् । आवः । शुश्रूषमाणः । तन्वा । सऽमर्ये ।
दासम् । यत् । शुष्णम् । कुयवम् । नि । अस्मै । अरन्धयः । आर्जुनेयाय । शिक्षन् ॥ २ ॥

हे इन्द्र त्वं ह त्वं खलु त्यत् तत् तदा कुत्सम् एतन्नामानं समर्ये मर्यैर्मर्त्यैर्योद्धृभिः सहितः संग्रामः समर्यः तस्मिन् । अथ वा मर्यैश्च ऋत्विग्भिः सहिते यज्ञे तन्वा शरीरेण शुश्रूषमाणः उपचरन् आवः अरक्षः । यत् यदा अस्मै आर्जुनेयाय अर्जुन्याः पुत्राय कुत्साय दासम् एतत्संज्ञकम् असुरं शुष्णम् असुरं कुयवं च असुरं शिक्षन् तेषां धनं कुत्साय प्रयच्छन् नि अरन्धयः नितरां वशम् अनैषीः ॥

हे इन्द्रदेव ! जब आपने अर्जुनीके पुत्र कुत्सके लिये शुष्ण नामक असुरको और कुयव नामक असुरको दण्ड देकर उनका धन देकर उनको बड़े वशमें कर लिया था, उस समय यज्ञमें कुत्सकी शरीरसे उपचार करके रक्षा की थी ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।

प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्

त्वम् । धृष्णो इति । धृषता । वीतऽहव्यम् । प्र । आवः । विश्वाभिः । ऊतिऽभिः । सुऽदासम् ।

प्र । पौरुऽकुत्सिम् । त्रसदस्युम् । आवः । क्षेत्रऽसाता । वृत्रऽहत्येषु । पूरुम् ॥ ३ ॥

हे धृष्णो शत्रूणां धर्षक इन्द्र त्वं धृषता शत्रुधर्षकेण वज्रेण वीतहव्यम् दत्तहविष्कं सुदासम् शोभनदानम् एतन्नामकं राजानम् अथ वा वीतहव्यं सुदासं च विश्वाभिः सर्वाभिः ऊतिभिः रक्षणाभिः प्रावः प्रारक्षः । किं च वृत्रहत्येषु संग्रामेषु क्षेत्रसाता क्षेत्रसातौ भूमिदाने निमित्तभूते सति पौरुकुत्सिम् पुरुकुत्सपुत्रं त्रसदस्युं राजानं पूरुं च आवः ॥

हे शत्रुओंको दबाने वाले इन्द्र ! आपने शत्रुओंको दबाने वाले वज्रके द्वारा, वीतहव्य और सुदास नामक राजाकी सकल रक्षक शक्तियोंके द्वारा बड़ी रक्षा की थी । और आप संग्रामोंके अवसर पर और भूमिदानके अवसर पर पुरुकुत्सके पुत्र राजा त्रसदस्युकी और पुरुकी रक्षा कर चुके हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि

त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु

त्वम् । नृऽभिः । नृऽमनः । देवऽवीतौ । भूरीणि । वृत्रा । हरिऽअश्व ।
हंसि ।
त्वम् । नि । दस्युम् । चुमुरिम् । धुनिम् । च । अस्वापयः ।
दभीतये । सुऽहन्तु ॥ ४ ॥

हे नृमणः नृभिर्नेतृभिः स्तोतृभिर्मननीय नृषु यजमानेषु अनुग्रहमनोयुक्त वा हे हर्यश्व हरिनामकाश्वोपेत इन्द्र त्वं देववीतौ । देवा वियन्ति आगच्छन्ति भक्षयन्त्यत्रेति वा देववीतिर्यज्ञः । अथ वा देवा युद्धार्थं गच्छन्त्यत्रेति देववीतिर्देवसंग्रामः । तस्मिन्निमित्तभूते सति नृभिः नेतृभिर्योद्धृभिर्मरुद्भिः सहितः सन् भूरीणि बहूनि वृत्रा वृत्राणि आवरकाणि रक्षांसि पापानि च हंसि हननं करोषि । किं च हे इन्द्र त्वं दभीतये दभीतिनामकाय राजर्षये तदर्थं सुहन्तु । अविभक्तिकोयं निर्देशः । सुहन्तुः शोभनहननसाधनवज्रोपेतः सन् दस्युं चुमुरिं धुनिं च नि अस्वापयः व्यनाशयः ॥

हे मनुष्य यजमानों पर मनमें अनुग्रह करने वाले नृमणः ! और हे हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप यज्ञ वा संग्रामके अवसर पर योधा मरुतोंके साथ बहुतसे आवरक राक्षस और पापोंका संहार कर डालते हैं । और हे इन्द्र ! आपने दभीति नामक राजर्षिके लिये, हननके शोभन साधन वज्रको लेकर दस्यु चुमुरि और धुनिको भी नष्ट कर डाला था ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं
च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ५

इव । च्यौत्नानि । वज्रऽहस्त । तानि । नव । यत् । पुरः । नव-
तिम् । च । सद्यः ।

निऽवेशने । शतऽतमा । अविवेषीः । अहन् । च । वृत्रम् । नमु-
चिम् । उत । अहन् ॥ ५ ॥

हे वज्रहस्त इन्द्र तव तानि प्रसिद्धानि बलानि च्यौत्नानि अतिदृढानि परैरनभिभाव्यानि यत् यस्मात् कारणात् च्यौत्नैस्तैर्बलैः सहितः सन् नव नवतिं च पुरः एकोनशतसंख्याकानि पुराणि असुरसंबन्धीनि सद्यस्तदानीमेव घाटीमुखेनैव । व्यनाशय इति शेषः । निवेशने निवेशनाय शततमा शततमीं पुरीं च अविवेषीः व्याप्नोः । ❁ विष्लृ व्याप्तौ । यङ्लुगन्ताद् अस्मात् लुङ् । अभ्यासगुणाभावश्छान्दसः ❁ । वृत्रं च अहन् नमुचिं नामासुरं च अहन् हतवान् असि ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! आपके प्रसिद्ध बल अतिदृढ़ हैं, क्योंकि-उन बलोंसे सम्पन्न रह कर आपने असुरोंके निन्यानवें पुरोंको नष्ट कर डाला था और निवेशनके लिये सौवीं पुरीमें व्याप्त होगए थे और आपने वृत्र तथा नमुचि नामक असुरको भी मार डाला था ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक
वाजम् ॥ ६ ॥

सना । ता । ते । इन्द्र । भोजनानि । रातऽहव्याय । दाशुषे ।
सुऽदासे ।

वृष्णे । ते । हरी इति । वृषणा । युनज्मि । व्यन्तु । ब्रह्माणि ।

पुरुऽशाक । वाजम् ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ते तव रातहव्याय दत्तहव्याय दाशुषे यजमानाय सुदासे ता तानि त्वया दत्तानि भोजनानि भोग्यानि धनानि सना सनानि सनातनानि । बभूवुरिति शेषः । हे पुरुशाक बहु-कर्मन् इन्द्र वृष्णे कामानां वर्षित्रे ते तुभ्यम् । त्वाम् आनेतुम् इत्यर्थः । वृषणा वृषणौ हरी अश्वौ युनज्मि रथे योजयामि । ब्रह्माणि अस्मदीयानि स्तोत्राणि वाजम् बलिनं त्वां व्यन्तु गच्छन्तु ॥

हे इन्द्र ! आपको हवि देने वाले यजमान सुदासके लिये आप के दिये हुए भोग्य धन सनातन होगए थे । हे बहुकर्मन् इन्द्र ! कामनाओंकी वर्षा करने वाले आपको लानेके लिये वृषण हरि नामक अश्वोंको मैं रथमें नियुक्त करता हूँ । हमारे स्तोत्र बली बने हुए आपको प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै

त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ७

मा । ते । अस्याम् । सहसाऽवन् । परिष्टौ । अघाय । भूम ।

हरिऽवः । पराऽदै ।

त्रायस्व । नः । अवृकेभिः । वरूथैः । तव । प्रियासः । सूरिषु ।

स्याम ॥ ७ ॥

हे सहसावन् बलवन् इन्द्र । ❀ मध्ये तृतीयाविभक्तिश्छा-न्दसी ❀ । अथ वा सह एव सहसं तद्वन् । ❀ मतुपि "अन्ये-

षामपि दृश्यते" इति दीर्घः ❀ । हे हरिवः हरितवर्णोपेताश्व इन्द्र ते तव अस्यां क्रियमाणायां परिष्टौ पर्येषणायां परादै परादानाय परित्यागाय एवंलक्षणाय अघाय पापाय वयं मा भूम । किं च हे इन्द्र नः अस्मान् अवृकेभिः अवृकैरहिंसितव्यैः वरूथैः । वारयन्त्युपद्रवान् इति वरूथानि रक्षणानि । तैर्नः अस्मान् त्रायस्व पाहि । वयं च सूरिषु स्तोतृषु विद्वत्सु मध्ये तव प्रियासः प्रियाः स्याम भवेम ॥

हे बलवान् इन्द्र ! हे हरित वर्ण वाले अश्वोंसे सम्पन्न इन्द्र ! इस आपकी की जाती हुई परिष्टिमें हम त्यागने योग्य पापके लिये न होवें । और हे इन्द्रदेव ! हमको आप अहिंसितव्य रक्षासाधनोंसे पालिये और हम भी स्तोता तथा विद्वानोंमें आपके प्रिय होवें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥ ८ ॥

प्रियासः । इत् । ते । मघऽवन् । अभिष्टौ । नरः । मदेम । शरणे । सखायः ।
नि । तुर्वशम् । नि । याद्वम् । शिशीहि । अतिथिऽग्वाय । शंस्यम् । करिष्यन् ॥ ८ ॥

हे मघवन् धनवन्निन्द्र ते तव अभिष्टौ अभ्येषणायाम् अभिगमनेच्छायां नरः हविषां नेतारो यजमाना वयं सखायस्तव सखि-

भूताः समानख्यानाः अत एव प्रियास इव प्रिया एव सन्तः शरणे । गृहनामैतत् । मदीय एव गृहे मदेम हृष्टा भवेम । किं च अतिथिग्वाय अतिथ्यर्था गावो यस्य सः । अतिथिग्वः । अथ वा सत्कारार्थम् अतिथीन् गच्छतीत्यतिथिग्वः । तस्मै राज्ञे शंस्यम् शंसनीयं प्रख्यापनीयं सुखं करिष्यन् कुर्वंस्त्वं तुर्वशम् एतन्नामकं राजानं नि शिशीहि निशितं कुरु । तथा याद्वम् यदुकुलोत्पन्नं राजानं च नि शिशीहि ॥

हे धनवान् इन्द्र ! आपकी अभिगमनकी इच्छामें हविके नेता मित्ररूप हुए हम यजमान प्रिय होते हुए ही अपने घरमें प्रसन्न रहें । आप अतिथिग्व राजाके लिये प्रशंसनीय सुख देते हुए तुर्वश नामक राजाको भी तीक्ष्ण करिये । और यदुकुलोत्पन्न राजाको भी तीक्ष्ण करिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था ।
ये ते हवेभिर्वि पणीरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै ॥ ९ ॥

सद्यः । चित् । नु । ते । मघऽवन् । अभिष्टौ । नरः । शंसन्ति । उक्थऽशासः । उक्था ।
ये । ते । हवेभिः । वि । पणीन् । अदाशन् । अस्मान् । वृणीष्व । युज्याय । तस्मै ॥ ९ ॥

हे मघवन्निन्द्र ते तव अभिष्टौ अभ्येषणायाम् अभिगत्यां सत्यां

तव अभिगमने सति नरः स्तुतिनेतार ऋत्विजः उक्थशासः उक्थानां शस्त्राणां शंसितारः सद्यश्चिन्नु तवाभिगमनसमय एव उक्था उक्थानि शस्त्राणि शंसन्ति कुर्वन्ति । ते इत्युक्तं के त इति तान् विशिनष्टि । ये नरः नेतार ऋत्विजः ते तव हवेभिः हवैः आह्वानैः पणीन् वणिग्भूतान् लुब्धकान् अयजतो नरान् व्यदाशन् । दाशतिर्वधकर्मा । विशेषेण हिंसितवन्तः । ते शंसन्तीति पूर्वेण संबन्धः । यस्माद् एवं तस्माद् उक्थानां शंसितॄन् अस्मान् तस्मै प्रसिद्धाय पुण्याय योजयितव्याय फलाय यागाय वा वृणीष्व वरणं कुरु स्वीकुरु ॥

हे मघवन् इन्द्र ! आपका अभिगमन होने पर स्तुति करने वाले और शस्त्रोंको कहने वाले ऋत्विज आपके अभिगमनके समय ही शस्त्रोंका उच्चारण करते हैं । जो नेता ऋत्विज आपके आह्वानों से वणिग्भूत लोभी यजन न करने वाले मनुष्योंको मारते हैं वे ऋत्विज आपके अभिगमनके समय शस्त्रोंका उच्चारण करते हैं । इस कारण हम उक्थोंका शंसन करने वालोंको योजयितव्य फल यागके लिये वरण कीजिये ॥ ९ ॥

दशमी ॥

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि । तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥ १० ॥

एते । स्तोमाः । नराम् । नृऽतम । तुभ्यम् । अस्मद्र्यञ्चः । ददतः । मघानि ।

तेषाम् । इन्द्र । वृत्रऽहत्ये । शिवः । भूः । सखा । च । शूरः ।

अविता । च । नृणाम् ॥ १० ॥

नराम् नेतृणां मध्ये हे नृतम अतिशयेन नेतः इन्द्र अस्मद्यञ्चः अस्मान् अञ्चन्तः अस्मदभिमुखाः मघानि मंहनीयानि धनानि हविर्लक्षणानि ददतः प्रयच्छन्तः सन्तः एते इदानीं कृतप्रकारा स्तोमाः स्तवाः तुभ्यं त्वदर्थम् । कृता इति शेषः । यद्वा मघानि ददतः प्रयच्छन्तः । ॐ चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ॐ । प्रयच्छते तुभ्यम् इति व्याख्येयम् । हे इन्द्र तेषाम् एतेषाम् अस्माभिः कृतानां स्तोमानाम् । यद्वा तेषां स्तोमसंपादकानाम् अस्माकम् इति व्याख्येयम् । वृत्रहत्ये वृत्रस्य आवरकस्य पापस्य वा हत्ये हनने निमित्तभूते सति शिवः सुखयिता भूः भव । किं च नृणाम् हविषां स्तुतीनां वा नेतृणाम् अस्माकं शूरस्त्वं सखा च भूः सखिवन्मित्रभूतो भव । अविता च रक्षिता च भूः भव ॥

हे नेताओंमें भी परम नेता इन्द्र ! हमारे अभिमुख होकर श्रेष्ठ धनोंको प्रदान करने वाले आपके लिये ये स्तोत्र हैं । हे इन्द्र ! इन हम स्तोत्र करने वालोंके पापनिवारणके अवसर पर आप सुख देने वाले हों और हवि पहुँचाने वाले हमारे लिये आप मित्रकी समान होजावें और हमारे रक्षक भी बनें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व
उप नो वाजान् मिमीह्युप स्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः
सदा नः ॥ ११ ॥

नु । इन्द्र । शूर । स्तवमानः । ऊती । ब्रह्मऽजूतः । तन्वा । ववृधस्व ।

उप । नः । वाजान् । मिमीहि । उप । स्तीन् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ११ ॥

हे शूर शौर्योपेत इन्द्र ऊती ऊत्या रक्षणया निमित्तभूतया स्तवमानः । ❀ कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ❀ । अस्माभिः स्तूयमानः तथा ब्रह्मजूतः ब्रह्मणा हविषा जूतः प्रापितश्च सन् तन्वा स्वकीयेन शरीरेण वावृधस्व अत्यर्थं प्रवृद्धो भव । ततो नः अस्मभ्यं वाजान् अन्नानि उप मिमीहि । उप प्रयच्छेत्यर्थः । तथा स्तीन् स्त्यायन्ति समर्धयन्ति कुलम् इति स्तयः पुत्राद्याः । तानपि उप मिमीहि । हे अन्ये अग्न्यादयो देवाः यूयमपि स्वस्तिभिः । सु अस्तीति स्वस्ति क्षेमः । तैः सदा नः अस्मान् पात रक्षत ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

हे शूरतासम्पन्न इन्द्र ! रक्षाके कारण हमसे स्तुति पाते हुए तथा मन्त्रके द्वारा हवि पाते हुए आप अपने शरीरसे बढ़िये । फिर हमारे लिये धन प्रदान करिये और पुत्र आदिको प्रदान करिये । और हे अन्य अग्नि आदि देवताओं ! आप भी क्षेम करके हमारी रक्षा करते रहिये ॥ ११ ॥

बीसवें काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६५३)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

अभिसवे षडहे "आ याहि सुषुमा हि ते" इत्यादयो यथाक्रमं षड् आज्यस्तोत्रिया भवन्ति । तद् उक्तं वैताने । "अभिसव आ याहि सुषुमा हि त इति षड् आज्यस्तोत्रिया आरम्भणीयापर्यासवर्जम्" इति [वै० ६. १] ॥ पाठक्रमात् "इन्द्रं वो विश्वतस्परि [२०. ३९. १] "व्यन्तरिक्षमतिरत्" [२०. ३९. २] इत्येतयोः प्रयोगे प्राप्ते प्रतिषेधार्थम् आरम्भणीयापर्यासवर्जमित्युक्तम् । तेन "आ याहि सुषुमा हि ते" [२०. ३८. १-३]

"इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्" [२०. ३८. ४-६] "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" [२०. ४०. १-३] "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" [२०. ४१. १-३] "वाचमष्टापदीमहम्" [२०. ४२, १-३] "भिन्धि विश्वा अप द्विषः" [२०. ४३. १-३] इति षट् स्तोत्रियाः ॥

तथा गवामयनस्य चतुर्विंशे "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्" [२०. ३८. ४-६] इत्याज्यस्तोत्रियो भवति । "चतुर्विंश इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् इत्याज्यस्तोत्रियः" [वै० ६. १] इति सूत्रितत्वात् ॥

तथा स्वरसामाख्येषु त्रिष्वहःसु यथाक्रमम् "आ याहि" इत्यादय आज्यस्तोत्रिया भवन्ति । तदु उक्तं वैताने । "स्वरसामस्वा याहि सुषुमा हि त इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् इन्द्रेण सं हि दृक्षस इति" इति [वै० ६. ३] ॥

अभिप्लव षडहमें "आ याहि सुषुमा हि ते" आदिक यथाक्रम छः आज्यस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अभिप्लव आ याहि सुषुमा हि त इति षड् आज्यस्तोत्रिया आरंभणीयापर्यासवर्जम्" (वैतानसूत्र ६ । १) । पाठक्रम के अनुसार "इन्द्रं वो विश्वतस्परि" (२० । ३९ । १) "व्यन्तरिक्षमतिरत्" (२० । ३९ । २) इनके प्रयोगकी प्राप्ति होने पर इनके प्रतिषेधके लिये आरम्भणीयापर्यासवर्जम् कहा है ॥ इस कारण "आ याहि सुषुमा हि ते" (२० । ३८ । १-३) "इन्द्रमिद् गाथिने बृहद्" (२० । ३८ । ४-६) "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" (२० । ४० । १-३) "इन्द्रो दधीचो अस्थिभिः" (२० । ४१ । १-३) "वाचमष्टापदीमहम्" (२० । ४२ । १-३) "भिंधि विश्वा अप द्विषः" (२० । ४३ । १-३) ये छः स्तोत्रिय हैं ।

तथा गवामयनके चतुर्विंशमें "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद्" (२० । ३८ । ४-६) यह आज्यस्तोत्रिय होता है । इसी बात

को वैतानसूत्र ६ । १ में कहा है, कि–"चतुर्विंश इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् इत्याज्यस्तोत्रियः" ॥

तथा स्वरसाम नामक तीन दिनोंमें यथाक्रम "आ याहि" इत्यादिक आज्यस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्र ६ । ३ में कहा है, कि–"स्वरसामस्वा याहि सुषुमा हि त इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद् इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥
आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ १ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप यहाँ आइये, हमने सोमका अभिषव कर लिया है । इस अभिषुत सोमका आप पान करिये । इन बिछी हुई कुशाओं पर आप बैठिये ॥ १ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ । त्वा । ब्रह्मऽयुजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥
उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! मन्त्रोंके द्वारा रथमें संयुक्त होने वाले, अभीष्ट स्थान को ले जाने वाले, बड़े बड़े अयालों वाले हरी नामक घोड़े आप को (हमारे यज्ञमें) लावें, आप आकर हमारे आह्वान सुनिये २

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोमऽपाम् । इन्द्र । सोमिनः ॥
सुतऽवन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! हम पूजा करने वाले सोमयाग कर चुके हैं और अभिषव किया हुआ सोम हमारे पास है, ऐसे हम सोमपान करने वाले आपको हृदयस्पर्शी स्तोत्रोंसे बुलाते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणी-
रनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥
इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ४ ॥

गाथागान करने वाले पुरुष इन्द्रकी ही प्रशंसा करते हैं, पूजा करने वाले मन्त्रोंके द्वारा इन्द्रका ही विशाल पूजन करते हैं, और वाणी भी इन्द्रकी ही स्तुति करती है ॥ ४ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो
वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्ऽमिश्लः । आ । वचःऽयुजा ॥
इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रदेव ही हरि नामक घोड़ोंके साथ रहते हैं, वह मन्त्रसे रथमें संयुक्त होने वाले घोड़ोंसे भली प्रकार प्राप्त होते हैं, इन्द्र-देव ही हित रमणीय हैं और वज्रधारी हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि
गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इन्द्रने दीर्घ दर्शनके लिये सूर्यको आकाशमें चढाया है और और सूर्यात्मक इन्द्रने किरणोंसे मेघोंको विदीर्ण किया है ॥६॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६१४)

गवामयनादौ संवत्सरे प्रातःसवने अनुरूपाद् अनन्तरम् "इन्द्रं वो विश्वतस्परि" [२०, ३९, १] इति ऋग् आरम्भणीया । तत्रैव "व्यन्तरिक्षम् अतिरत्" [२०, ३९, २] इति पर्यासो भवति । तद् उक्तं वैताने । "इन्द्रं वो विश्वतस्परीत्यारम्भणीया । व्यन्तरिक्षमतिरदिति पर्यासः" इति [वै० ६, ५] ॥ आरभ्यते उक्थमुखम् इत्यारम्भणीया । पर्यस्यते परिसमाप्यते अनेन शस्त्रमिति पर्यासः ॥

तथा गोसवविवधवैश्यस्तोमेषु त्रिषु एकाहेषु "इन्द्रं वो विश्वतस्परि" [२०, ३९] "आ नो विश्वासु हव्यः" [२०,१०४,३] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "गोसवविवधवैश्यस्तोमेष्विन्द्रं वो विश्वतस्पर्याणो विश्वासु हव्य इति" इति [वै० ८, १] ॥

गवामयन आदिमें सम्वत्सरके प्रातःसवनमें अनुरूपके अनन्तर "इन्द्रं वो विश्वतस्परि" (२० । ३९ । १) की ऋचा आरंभणीया है, तहाँ ही "व्यन्तरिक्षम् अतिरद्" (२० । ३९ । २) यह पर्यास होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि— "इन्द्रं वो विश्वतस्परीत्यारंभणीया । व्यन्तरिक्षमतिरदिति पर्यासः" ॥

तथा गोसव विवध वैश्यस्तोमोंके तीन एकाहोंमें "इन्द्रं वो

विश्वतस्परि" (२० । ३६) "आ नो विश्वासु हव्यः" (२०। १०४ । ३) यह आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"गोसवविवधवैश्यस्तोमेष्विन्द्रं वो विश्वतस्पर्यागो विश्वासु हव्य इति" (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ॥ अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १ ॥

हम चारों ओरके प्राणियोंकी ओरसे (हटा कर) इन्द्रका आह्वान करते हैं, वह केवल हमारे ही हों ॥ १ ॥

व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ २ ॥

वि । अन्तरिक्षम् । अतिरत् । मदे । सोमस्य । रोचना ॥ इन्द्रः । यत् । अभिनत् । वलम् ॥ २ ॥

इन्द्रदेवने दमकते हुए अन्तरिक्षको वृष्टिके जलसे बढाया था (किसकी सहायतासे बढाया था इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-) सोमरसके पानसे मद होजाने पर बढाया था (कब) जब इन्द्रने बलासुर वा मेघको विदीर्ण किया था ॥ २ ॥

उद् गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ३ ॥

उत् । गाः । आजत् । अङ्गिरःऽभ्यः । आविः । कृण्वन् । गुहा । सतीः ॥ अर्वाञ्चम् । नुनुदे । वलम् ॥ ३ ॥

इन्द्रदेवने अंगिरा गोत्र वालोंके लिये, गुहामें पड़ी हुई अत एव अप्रकाशित गौओंको प्रकाशित कर दिया था और फिर उन को बाहर ले आए थे और उन्होंने गौओंका अपहरण करनेवाले वल नामक असुरको भी औंधे मुख करके गिरा दिया था ॥३॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ४ ॥

इन्द्रेण । रोचना । दिवः । दृळ्हानि । दृंहितानि । च ॥ स्थिराणि । न । पराऽनुदे ॥ ४ ॥

इन्द्रदेवने आकाशमें दमकते हुए ग्रह नक्षत्र आदिको स्थूल किया है और दृढ़ किया है अत एव स्थिर होनेके कारण उनको कोई च्युत नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ ५ ॥

अपाम् । ऊर्मिः । मदन्ऽइव । स्तोमः । इन्द्र । अजिरऽयते ॥ वि । ते । मदाः । अराजिषुः ॥ ५ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आपका स्तोत्र समुद्र आदिकी दृष्टिजलसे हर्षता देता हुआ रसकी समान शीघ्रतासे आपके मुखसे निकलता है आपके सोमपानजनित मद विशेषरूपसे दमकते हैं ॥ ५ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६५५)

"इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" इत्यस्य "आ याहि सुषुमा हि ते" [२०. ३८] इत्यत्र विनियोग उक्तः ॥

तथा पृष्ठ्यस्य तृतीयेऽहनि "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" [२०. ४०] "वयं घ त्वा सुतावन्तः" [२०. ५२] "त्वं न इन्द्रा भर" [२०. १०८] इत्येते आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति । तद् उक्तं वैताने । "तृतीय इन्द्रेण सं हि दृक्षसे वयं घ त्वा सुतावन्तस्त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. ४] ॥

"इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" इसका "आ याहि सुषुमा हि ते" (२० । ३८) के साथ विनियोग कह दिया है।

तथा पृष्ठ्यके तृतीय दिनमें "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" (२०।४०) "वयं घ त्वा सुतावन्तः" (२० । ५२) "त्वं न इन्द्रा भर" (२० । १०८) ये आज्यपृष्ठके उक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बात को वैतानसूत्र ८ । ४ में कहा है, कि-"तृतीय इन्द्रेण सं हि दृक्षसे वयं घ त्वा सुतावन्तस्त्वं न इन्द्रा भरेति" ॥

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संज॒ग्मा॒नो अबि॑भ्युषा । म॒न्दू स॒मा॒नव॑र्चसा ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । सम्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ॥ म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥ १ ॥

हे भगवन् इन्द्र ! आप अभयवान् मरुद्गणासे मिलते हुए नित्य ही देखे जाते हैं मरुद्गण और आप दोनों एकत्र मिल कर नित्य प्रमुदित रहते हैं और आप दोनोंकी दीप्ति समान है १

अ॒न॒व॒द्यैर॒भिद्यु॑भिर्म॒खः सह॑स्वदर्चति । ग॒णैरिन्द्र॑स्य॒ काम्यैः॑ ॥ २ ॥

अनवद्यैः । अभिद्युऽभिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः ।
इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ २ ॥

निष्पाप और दमकते हुए इन्द्रके काम्यगणोंसे यज्ञ बलपूर्वक शोभा पाता है ॥ २ ॥

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ३ ॥

आत् । अह । स्वधाम् । अनु । पुनः । गर्भऽत्वम् । आऽईरिरे ॥
दधानाः । नाम । यज्ञियम् ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

इसके अनन्तर यह स्वधा देने पर गर्भत्वको प्राप्त होजाते हैं और यज्ञिय नामको धारण करते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६५६)

"इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" इत्यस्य "आ याहि सुषुमा हि ते" [२०, ३८] इत्यत्र विनियोग उक्तः ॥

तथा पृष्ठ्यषडहस्य एकविंशस्तोमके चतुर्थेहनि एकाहैकीभूते "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" इत्यादयः आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति । तद्‌ उक्तं वैताने । "पृष्ठ्यस्यैकविंश इन्द्रो दधीचो अस्थभिः [२०, ४१] विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम् [२०, ५४] एवा ह्यसि वीरयुः [२०, ६०] इति" इति [वै० ८, २]॥

"इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" सूक्तका "आ याहि सुषुमा हि ते" (२० । ३८) में विनियोग कह दिया है ।

तथा पृष्ठ्यषडहके एकविंश स्तोमक चतुर्थ दिनके एकाहैकीभूतमें "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" इत्यादिक आज्यपृष्ठोक्थस्तो-

त्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"पृष्ठ्यस्यै-कविंश इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (२० । ४१) विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम् (२० । ५४) एवा ह्यसि वीरयुः (२० । ६०)" (वैतानसूत्र ८ । २)॥

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥ १ ॥

इन्द्रः। दधीचः। अस्थऽभिः। वृत्राणि। अप्रतिऽस्कुतः॥ जघान। नवतीः। नव॥ १॥

संग्रामोंमें मुख न मोड़ने वाले इन्द्रदेवने वृत्रासुरके निन्यानवें पुरोंको नष्ट कर दिया है॥ १॥

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद् विद-च्छर्यणावति ॥ २ ॥

इच्छन्। अश्वस्य। यत्। शिरः। पर्वतेषु। अपऽश्रितम्॥ तत्। विदत्। शर्यणाऽवति॥ २॥

पर्वतोंमें अपश्रित अश्वके शिरकी इच्छा करते २ इन्द्रोंने उसको शर्यणावत्में पाया था॥ २॥

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्र-मसो गृहे ॥ ३ ॥

अत्र। अह। गोः। अमन्वत। नाम। त्वष्टुः। अपीच्यम्॥ इत्था। चन्द्रमसः। गृहे॥ ३॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

इस चन्द्रमण्डलरूपी घरमें सूर्यात्मक इन्द्रदेवकी ही एक किरण गई हुई है, इस बातको दूसरी सूर्य किरणें जानती हैं ॥३॥

पञ्चम अनुवाकम चतुर्थ सूक्त समाप्त (६५७)

"वाचमष्टापदीमहम्" इत्यस्य विनियोगः "आ याहि सुषुमा हि ते" [२०, ३८] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा अश्वमेधस्य त्र्यहस्य द्वितीयेऽहनि "वाचमष्टापदीमहम्" [२०, ४२] "स्वादोरित्था विषूवतः" [२०, १०६] इत्येतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तदु उक्तं वैताने। "अश्वमेधस्य वाचमष्टापदीमहं स्वादोरित्था विषूवत इति" इति [वै० ८, ३] ॥

"वाचमष्टापदीमहम्" का विनियोग "आ याहि सुषुमा हि ते" (२० । ३८) के साथ कह दिया है।

तथा अश्वमेध त्र्यहके दूसरे दिन "वाचमष्टापदीमहम्" (२० । ४२) "स्वादोरित्था विषूवतः (२० । १०६) ये दोनों आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि— "अश्वमेधस्य वाचमष्टापदीमहम् स्वादोरित्था विषूवतः" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात् परि तन्वं ममे ॥ १ ॥

वाचम् । अष्टाऽपदीम् । अहम् । नवऽस्रक्तिम् । ऋतऽस्पृशम् ॥ इन्द्रात् । परि । तन्वम् । ममे ॥ १ ॥

मैं इन्द्रदेवसे अष्टापदी, नवस्रक्ति, सत्यका स्पर्श करने वाली वाणीको अपने शरीरमें स्थापित कर चुका हूँ ॥ १ ॥

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम्। इन्द्र यद् दस्युहाभवः ॥ २ ॥

अनु । त्वा । रोदसी इति । उभे इति । क्रक्षमाणम् । अकृपेताम् ॥

इन्द्र । यत् । दस्युऽहा । अभवः ॥ २ ॥

हे इन्द्रदेव ! जब आप दस्युओंका संहार कर रहे थे, तब दुर्बल पड़ते हुए आप पर द्यावापृथिवीने कृपा की थी-शक्ति प्रदान की थी २

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः । सोम-
मिन्द्र चमू सुतम् ॥ ३ ॥

उत्ऽतिष्ठन् । ओजसा । सह । पीत्वी । शिप्रे इति । अवेपयः ॥

सोमम् । इन्द्र । चमू इति । सुतम् ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप उठ कर अभिषवणके फलकोंसे निचोड़े हुए सोमका पान करके बलपूर्वक उठ कर अपनी ठोड़ियोंको संचालित करिये ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (१५८)

"भिन्धि विश्वा अप द्विषः" इत्यस्य विनियोगः "आ याहि" [२० ३८] इत्यत्र उक्तः ॥

तथा अप्तोर्यामिण क्रतौ उपरिष्टान्माध्यंदिनवचनात् प्रातःसवने "भिन्धि विश्वा अप द्विषः" [२०. ४३] इत्यनुरूपस् अभितः "आ नो याहि" [२०. ४] इत्यनुरूपो भवति । तद् उक्तं वैताने । "भिन्धि. विश्वा अप द्विष इत्यनुरूपमभित आ नो याहीति" इति [वै० ४. ३] ॥

"भिन्धि विश्वा अप द्विषः" इसका विनियोग (२० । ३८) में कह दिया है ।

तथा अप्तोर्यामके क्रतुमें माध्यन्दिनके अनन्तर प्रातःसवनमें

"भिन्धि विश्वा अप द्विषः" (२०।४३) इस अनुरूपके अनन्तर चारों ओर "आ नो याहि" (२०।४) यह अनुरूप होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"भिन्धि विश्वा अप द्विष इत्यनुरूपमभित आ नो याहीति" (वैतानसूत्र ४।३)

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

भिन्धि। विश्वाः। अप। द्विषः। परि। बाधः। जहि। मृधः॥
वसु। स्पार्हम्। तत्। आ। भर॥ १॥

हे इन्द्र! हमारे शत्रुओंको आप भेदिये, युद्धकी सब बाधाओंको नष्ट कर दीजिये, तदनन्तर स्पृहणीय धनको हममें पुष्ट करिये

यद् वीलाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २ ॥

यत्। वीलौ। इन्द्र। यत्। स्थिरे। यत्। पर्शाने। पराऽभृतम्।०

जो धन दृढ पुरुषमें रहता है, जो स्थिर पुरुषमें रहता है और जो धन पार्श्वोंमें भरा जाता है, उस स्पृहणीय धनको हे इन्द्र! हमें प्रदान करिये ॥ २ ॥

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥

यस्य। ते। विश्वऽमानुषः। भूरेः। दत्तस्य। वेदति॥ वसु।
स्पार्हम्। तत्। आ। भर॥ ३॥

इति पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

जिस आपके दिये हुए विशाल धनको सब मनुष्य पाते हैं, उस स्पृहणीय धनको हमें प्रदान करिये ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (६५६)

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

प्र । सम्ऽराजम् । चर्षणीनाम् । इन्द्रम् । स्तोता । नव्यम् । गीःऽभिः ॥ नरम् । नृऽसहम् । मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

मैं पूजनीय, सदा नवीन ही रहने वाले, नेता, नृसाह और मनुष्योंके राजा इन्द्रकी स्तुतियोंसे स्तुति करूँगा ॥ १ ॥

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या । अपामवो न समुद्रे ॥ २ ॥

यस्मिन् । उक्थानि । रण्यन्ति । विश्वानि । च । श्रवस्या ॥ अपाम् । अवः । न । समुद्रे ॥ २ ॥

जैसे निम्नस्थलमेंको जाने वाला जलोंका समूह समुद्रमेंको जाता है, इसी प्रकार जिसमें समस्त उक्थ (स्तोत्र) और अन्न की इच्छासे किये जाने वाले यज्ञ रमण करते हैं ॥ २ ॥

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् । महो वाजिनं सनिभ्यः ॥ ३ ॥

तम् । सु । स्तुत्या । आ । विवासे । ज्येष्ठऽराजम् । भरे । कृत्नुम् ॥ महः । वाजिनम् । सनिऽभ्यः ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

उनको मैं सुन्दर स्तुतिके द्वारा प्रकाशित करता हूँ, उन शत्रुओं का कर्तन करनेके स्वभाव वाले, बड़े दमकने वाले और स्तोताओंको यश तथा अन्न प्रदान करने वालेको मैं (हविसे) पुष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम सूक्तसमाप्त (९६०)

तीव्रसुदुपशदोपहव्याख्येषु त्रिषु एकाहेषु "अयमु ते समतसि" [२०.४५] "इमा उ त्वा पुरूवसो" [२०.१०४] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः ॥

तथा व्युष्टिद्व्यहे एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः ॥

तद् उक्तं वैताने। "तीव्रसुदुशोपहव्येष्वयमु ते समतसीमा उ त्वा पुरूवसो इति। व्युष्टिद्व्यहे च" इति [वै० ८. १] ॥

तथा संसर्पचतुर्वीरयोश्चतुरहयोः सर्वेष्वहःसु एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तद् उक्तं वैताने। "संसर्पचतुर्वीरयोरयमु ते समतसीमा उ त्वा पुरूवसो इति" इति [वै० ८. २] ॥

तीव्र सुदुप शदोपहव्य नामक तीन एकाहोंमें "अयमु ते समतसि" (२० । ४५) "इमा उ त्वा पुरूवसो" (२० । १०४) ये क्रमशः आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तीव्रसुदुपशदोपहव्येष्वयमु ते समतसीमा उ त्वा पुरूवसो इति। व्युष्टिद्व्यहे च" (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

तथा चार दिनमें होने वाले संसर्प और चतुर्वीरके सब दिनों में ये आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"संसर्पचतुर्वीरयोरयमु ते समतसीमा उ त्वा पुरूवसो इति" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ १ ॥

अयस् । ऊं इति । ते । सम् । अतसि । कपोतःऽइव । गर्भऽधिम् ॥

वचः । तत् । चित् । नः । ओहसे ॥ १ ॥

जिस हमारे वचनकी आप तर्कना करते हैं, उस हमारे वचन को कपोत जसे गर्भधारण करने वाली गर्भधि (कपोती) को प्राप्त होता है तिस प्रकार आप प्राप्त होवें अर्थात् हमारे वचनका सेवन करें ॥ १ ॥

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २ ॥

स्तोत्रम् । राधानाम् । पते । गिर्वाहः । वीर । यस्य । ते ॥ विऽभूतिः । अस्तु । सूनृता ॥ २ ॥

हे धनोंके स्वामी ! स्तुतियें आपको प्राप्तकराने वाली हैं, हे वीर ! ऐसे आपकी विभूति सूनृता हो ॥ २ ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठ । नः । ऊतये । अस्मिन् । वाजे । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ सम् । अन्येषु । ब्रवावहै ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! इस युद्धमें वा यज्ञमें आप हमारी रक्षाके लिये ऊँचे खड़े हूजिये । हम अन्य पुरुषोंकी स्पर्धा करते हुए अपने लिये भली प्रकार प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें अष्टम सूक्तसमाप्त (६६१)

स्वरसामाख्येषु त्रिष्वहःसु अभिप्लवे च "सं चोदय चित्रमर्वाक्" [२०. ७१. ११] "प्रणेतारं वस्यो अच्छा" [२०.४६] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ पर्यायेण भवतः। तदुक्तं वैताने। "स्वरसामसु संचोदय चित्रमर्वाक् प्रणेतारं वस्यो अच्छेति पर्यायेण। अभिप्लवे च" इति [वै० ८. ४] ॥

स्वरसाम नामक तीन दिनोंमें और अभिप्लवमें भी "सं चोदय चित्रमर्वाक्" (२० । ७१ । ११) "प्रणेतारं वस्यो अच्छा" (२० । ४६) ये पर्यायसे आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"स्वरसामसु संचोदय चित्रमर्वाक् प्रणेतारं वस्यो अच्छेति पर्यायेण। अभिप्लवे च" (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु ।
सासह्वांसं युधामित्रान् ॥ १ ॥

प्रऽनेतारम् । वस्यः । अच्छ । कर्तारम् । ज्योतिः । समत्ऽसु ॥
ससऽह्वांसम् । युधा । अमित्रान् ॥ १ ॥

भली प्रकार प्रसन्न करने वाले यागोंमें उत्कृष्ट ज्योतिको करने वाले, नेता, और युद्ध करके शत्रुओंको दबाने वाले (इंद्र का मैं आह्वान करता हूं) ॥ १ ॥

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो
विश्वा अति द्विषः ॥ २ ॥

सः । नः । पप्रिः । पारयाति । स्वस्ति । नावा । पुरुऽहूतः ॥
इन्द्रः । विश्वाः । अति । द्विषः ॥ २ ॥

वह पुरुहूत पालक इन्द्रदेव हमको स्वस्तिमयी नौकासे पार लगावें, वह इन्द्रदेव सब शत्रुओंसे हमें अधिक रक्खें ॥ २ ॥

स त्वं न॑ इन्द्र वाजे॑भिर्दश॒स्या च॑ गातु॒या च॑ । अ॒च्छा च॑ नः सु॒म्नं ने॑षि॥ ३ ॥

सः । त्वम् । नः । इन्द्र । वाजेभिः । द॒श॒स्य । च॒ । गा॒तु॒ऽया । च॒ ॥ अच्छ । च॒ । न॒ः । सु॒म्नम् । नेषि ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! वह आप हमको अन्नसे, और गमन करने वाली दश अंगुलियोंसे हमारे अभिमुख सुखको लाते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (१६२)

अतिरात्रे अतिरिक्तोक्थेषु "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२. ४७] "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [२०. १३८] इत्येतौ स्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तदु उक्तं वैताने । "तमिन्द्रं वाजयामसि महाँ इन्द्रो य ओजसेति स्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ४. ३] ॥

तथा छन्दोमाख्येषु त्रिष्वहःसु प्रातःसवने "इन्द्रा याहि चित्रभानो" [२०. ८४] "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०. ४७] "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [२०. १३८] इत्येते यथाक्रमम् आज्यस्तोत्रिया भवन्ति । तदु उक्तं वैताने । "छन्दोमेष्विन्द्रा याहि चित्रभानो तमिन्द्रं वाजयामसि महाँ इन्द्रो य ओजसेत्याज्यस्तोत्रियाः" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा वैश्वदेवादीनां त्र्यहाणां द्वितीयेष्वहःसु यथासंभवम् "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०. ४७] "अस्तावि मन्म पूर्व्यम्" [२०. ११६] "तं ते मदं गृणीमसि" [२०. ६१] एते आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति । तदु उक्तं वैताने । "द्वितीयेषु तमिन्द्रं

वाजयामस्यस्तावि मन्म पूर्व्यं तं ते मदं गृणीमसीति" इति [वै० ८. ३]॥

तथा साकमेधत्र्यहस्य तृतीयेऽहनि "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०. ४७] "आयन्त इव सूर्यम्" [२०. ५८] इत्येतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तद् उक्तं वैताने। "साकमेधस्य तमिन्द्रं वाजयामसि आयन्त इव सूर्यमिति" इति [वै० ८. ३]॥

अतिरात्रके अतिरिक्तोक्थोंमें "तमिन्द्रं वाजयामसि महाँ इन्द्रो य ओजसेति स्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ४ । ३)॥

तथा छन्दोम नामक तीन दिनोंके प्रातः सवनमें "इन्द्रा याहि चित्रभानो" (२० । ८४) "तमिन्द्रं वाजयामसि" (२० । ४७) "महाँ इन्द्रो य ओजसा" (२० । १३८) ये यथाक्रम आज्यस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"छन्दोमेष्विन्द्रा याहि चित्रभानो तमिन्द्रं वाजयामसि महाँ इन्द्रो य ओजसेत्याज्यस्तोत्रियाः" (वैतानसूत्र ६ । ३)

तथा वैश्वदेव आदि त्र्यहोंके द्वितीय दिनोंमें यथासंभव "तमिन्द्रं वाजयामसि" (२० । ४७) "अस्तावि मन्म पूर्व्यम्" (२० । ११६) "तं ते मदं गृणीमसि" (२० । ६१) ये आज्यपृष्ठ उक्थस्तोत्रिय होते हैं। "द्वितीयेषु तमिन्द्रं वाजयामस्यस्तावि मन्म पूर्व्यं तं ते मदं गृणीमसि" (वैतानसूत्र ८ । ३)॥

तथा साकमेध त्र्यहके तृतीय दिनमें "तमिन्द्रं वाजयामसि" (२० । ४७) "आयन्त इव सूर्यम्" (२० । ५८) ये दोनों आज्य पृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"साकमेधस्य तमिन्द्रं वाजयामसि आयन्त इव सूर्यम्" (वैतानसूत्र ८ । ३)॥

तमिंद्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषां वृषभो भुवत् ॥ १ ॥

सम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । महे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा ।
वृषभः । भुवत् ॥ १ ॥

हम विशाल वृत्रासुर (वा मेघ) का संहार करनेके लिये उन इन्द्रको पुष्ट करते हैं, कामनाओंकी वर्षा करने वाले वह इन्द्र सबमें श्रेष्ठ होवें ॥ १ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥

इन्द्रः । सः । दामने । कृतः । ओजिष्ठः । सः । मदे । हितः ।
द्युम्नी । श्लोकी । सः । सोम्यः ॥ २ ॥

वह बली इन्द्र (पापियोंका निग्रह करनेके लिये) रज्जुके रूपमें किये गए हैं, वह प्रसन्नता करने वाले यज्ञमें आहित होते हैं। वह इन्द्रदेव दमकने वाले हैं, प्रशंसनीय हैं और सौम्य हैं ॥ २ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥

गिरा । वज्रः । न । सम्ऽभृतः । सऽबलः । अनपऽच्युतः ॥
ववक्षे । ऋष्वः । अस्तृतः ॥ ३ ॥

अच्युत बलवान् इन्द्र पर्वतसे मिलने वाले वज्रकी समान बलसे भरे हुए हैं। यह अहिंसित श्रेष्ठ पुरुष (शत्रुओंके धनोंको यजमानों पर) पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥
 इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ४ ॥

गाथागान करने वाले पुरुष इन्द्रकी ही प्रशंसा करते हैं, पूजा करने वाले मन्त्रोंके द्वारा इन्द्रका ही विशाल पूजन करते हैं और वाणी भी इन्द्रकी ही स्तुति करती है ॥ ४ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो
 वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्ऽमिश्लः । आ । वचःऽयुजा ॥
 इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रदेव ही हरि नामक घोड़ोंके साथ रहते हैं, वह मन्त्रसे रथमें संयुक्त होने वाले घोड़ोंसे भली प्रकार प्राप्त होते हैं, इन्द्रदेव ही हित रमणीय हैं और वज्रधारी हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि
 गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि ।
 गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रने दीर्घदर्शनके लिये सूर्यको आकाशमें चढ़ा दिया है और सूर्यात्मक इन्द्र किरणोंसे मेघोंको विदीर्ण करते हैं ॥ ६ ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं
 बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥
आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ ७ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप यहाँ आइये, हमने सोमका अभिषव कर लिया है । इस अभिषुत सोमका आप पान करिये । इन बिछी हुई कुशाओं पर आप बैठिये ॥ ७ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥

आ । त्वा । ब्रह्मऽयुजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥
उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! मन्त्रोंके द्वारा रथमें संयुक्त होने वाले अभीष्ट स्थान को लेजाने वाले, बड़े २ अयालों वाले हरी नामक घोड़े आपको (हमारे यज्ञमें) लावे, आप आकर हमारे आह्वानको सुनिये ८

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोमऽपाम् । इन्द्र । सोमिनः ॥
सुतऽवन्तः । हवामहे । ॥ ९ ॥

हे इन्द्र ! हम पूजा करने वाले सोमयाग कर चुके हैं और अभिषव किया हुआ सोम हमारे पास है, ऐसे हम सोमपान करने वाले आपको हृदयस्पर्शी स्तोत्रोंसे बुलाते हैं ॥ ९ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ १० ॥

महान् दमकते हुए और स्थावर तथा जंगमोंके ऊपर विचरण करते हुए, इन्द्रके रथमें हरिनामक अश्व जुतते हैं और वह दमकते हुए अश्व द्युलोकमें दमकते हैं ॥ १० ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । विऽपक्षसा । रथे ॥ शोणा । धृष्णू इति । नृऽवाहसा ॥ ११ ॥

इन इन्द्रदेवके रथमें सारथी हरिनामक अश्वोंको जोतते हैं। ये अश्व कामना करने योग्य हैं, रथकी दोनों करवटोंमें रहते हैं रक्त वर्ण वाले हैं, दबाने वाले हैं, सारथी आदि मनुष्योंको सवारी देने वाले हैं ॥ ११ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ १२ ॥

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥ सम् । उषत्ऽभिः । अजायथाः ॥ १२ ॥

हे मरणधर्मी मनुष्यों ! अज्ञानरहित पुरुषको ज्ञान देने वाले और अंधकारसे आवृत होनेके कारण रूपरहित पदार्थको रूप प्रदान करने वाले इन सूर्यात्मक इन्द्रदेवको तुम देखो, यह अपनी किरणोंके साथ प्रकट हुए हैं ॥ १२ ॥

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑ । दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म् ॥ १३ ॥

उत् । ऊं॒ इति॑ । त्यम् । जा॒तऽवे॑दसम् । दे॒वम् । व॒ह॒न्ति॒ । के॒तवः॑ ॥
दृ॒शे । विश्वा॑य । सूर्य॑म् ॥ १३ ॥

किरणें वा अश्व, सब उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले सूर्यात्मक इन्द्रदेवको सबको दिखानेके लिये ऊपरको लाती हैं १३

अप॒ त्ये ता॒यवो॑ यथा॒ नक्ष॑त्रा यन्त्य॒क्तुभिः॑ । सूरा॑य वि॒श्वच॑क्षसे ॥ १४ ॥

अप॑ । त्ये । ता॒यवः॑ । य॒था॒ । नक्ष॑त्रा । य॒न्ति॒ । अ॒क्तुऽभिः॑ ।
सूरा॑य । वि॒श्वऽच॑क्षसे ॥ १४ ॥

जैसे चोर रातके साथ ही साथ भाग जाते हैं ऐसे ही सबके द्रष्टा सूर्यके कारण नक्षत्र रातके साथ भाग जाते हैं ॥ १४ ॥

अदृ॑श्रन्नस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒ अनु॑ । भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा ॥ १५ ॥

अदृ॑श्रन् । अ॒स्य॒ । के॒तवः॑ । वि । र॒श्मयः॑ । जना॑न् । अनु॑ ॥
भ्राज॑न्तः । अ॒ग्नयः॑ । य॒था ॥ १५ ॥

अग्निकी समान दमकती हुई इस सूर्यात्मक इन्द्रदेवकी ज्ञानदाता किरणें प्रत्येक पुरुषोंके पीछे दीखती हैं ॥ १५ ॥

त॒रणि॑र्वि॒श्वद॑र्शतो ज्योति॒ष्कृद॑सि सूर्य । विश्व॒मा भा॑सि रोचन ॥ १६ ॥

तरणिः। विश्वऽदर्शतः। ज्योतिःऽकृत्। असि। सूर्य। विश्वम्।
आ। भासि। रोचन ॥ १६ ॥

हे सूर्यात्मक कमनीय इन्द्रदेव! आप (संसारसागरकी) नौकारूप हैं आप सबको देखने वाले और ज्योति देने वाले हैं आप सबको प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १७ ॥

प्रत्यङ्। देवानाम्। विशः। प्रत्यङ्। उत्। एषि। मानुषीः।
प्रत्यङ्। विश्वम्। स्वः। दृशे ॥ १७ ॥

हे सूर्यात्मक इन्द्र! आप प्रत्येक मानुषी और दैवी प्रजाको सामने रख कर उनके सामने उदित होते हैं, प्रत्येक पुरुषको देखनेके लिये उसको सामने लाकर उदित होते हैं ॥ १७ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि ॥ १८ ॥

येन। पावक। चक्षसा। भुरण्यन्तम्। जनान्। अनु। त्वम्।
वरुण। पश्यसि ॥ १८ ॥

हे पवित्र करने वाले पापनिवारक इन्द्र! पूर्वके पुण्यात्मा पुरुषोंसे आचरित मार्गमें शीघ्रतासे जाते हुए पुण्यात्मा पुरुषको आप जिस अनुग्रहदृष्टिसे देखते हैं (उस दृष्टिकी हम स्तुति करते हैं)

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ् जन्मानि सूर्य ॥ १९ ॥

वि । याम् । एषि । रजः । पृथु । अहः । मिमानः । अक्तुऽभिः ॥

पश्यन् । जन्मानि । सूर्य ॥ १६ ॥

हे सूर्यात्मक इन्द्रदेव ! आप उत्पन्न हुए सब प्राणियों पर अनुग्रह करनेके लिये उनको देखते हुए, तथा रात्रियों सहित दिनका निर्माण करते हुए द्युलोक भूलोक और विशाल अन्तरिक्षलोकमें अनेक प्रकारसे विचरण करते हैं ॥ १६ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २० ॥

सप्त । त्वा । हरितः । रथे । वहन्ति । देव । सूर्य । शोचिःऽकेशम् । विऽचक्षणम् ॥ २० ॥

हे देव ! दमकती हुई किरणों वाले सूक्ष्मद्रष्टा आपको रथमें सात घोड़े सवारी देते हैं ॥ २० ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः । ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २१ ॥

अयुक्त । सप्त । शुन्ध्युवः । सूरः । रथस्य । नप्त्यः ॥ ताभिः । याति । स्वयुक्तिऽभिः ॥ २१ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

सूर्यात्मक इन्द्रदेवने सात पवित्र रक्षक घोड़ोंको अपने रथमें जोड़ लिया है और वह उनसे अपनी युक्तियोंके द्वारा चल रहे हैं २१

पञ्चम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (६३३)

विषुवति सौर्यपृष्ठे "अभि त्वा वर्चसा गिरः" इति चतुर्थः दसोत्रियः ॥

विषुवत् सौर्यपृष्ठमें "अभि त्वा वर्चसा गिरः" यह चतुर्थ स्तोत्रिय है ॥

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः । अभि वत्सं न धेनवः ॥ १ ॥

ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः । जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥ २ ॥

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन् । मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः ॥ पितरम् । च । प्रऽयन् । स्वः ॥ ४ ॥

जैसे विचरण करने वाली गौएँ बछड़ेके अभिमुख जाती हैं, इसी प्रकार वाणियें वर्चसे आपका सिञ्चन करती हुईं आपके अभिमुख जाती हैं ॥ १ ॥

जैसे उत्पन्न हुएकी रक्षा करने वाली उत्पन्न हुए शिशुको हृदयसे लगाती है, इसी प्रकार शुभ्र स्तुतियें वर्चसे इन्द्रको संयुक्त करती हैं ॥ २ ॥

यह वज्रापवसाधी हैं, यह मुझ म्रियमाणको कीर्ति आयु घृत और पयः प्राप्त करावें ॥ ३ ॥

यह तेजसे व्याप्त गमनशील सूर्यात्मक इन्द्र उदयाचल पर आगए हैं और इन्होंने उदयाचल पर चढ़ पूर्वदिशामें दीखकर सब प्राणियोंकी जननी भूमिको अपनी किरणोंसे ढक दिया है, तदनन्तर इन्होंने चल कर वृष्टिरूप वीर्यको सींचनेसे सब जगत्के उत्पादक पिता स्वर्लोक और अन्तरिक्षलोकको व्याप्त कर लिया है। यही वृष्टिजलरूप अमृतका दोहन करनेसे गौ कहलाते हैं ॥ ४ ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ ५॥

अन्तः। चरति। रोचना। अस्य। प्राणात्। अपानतः॥ वि। अख्यत्। महिषः। स्वः॥ ५॥

प्राणन व्यापारके अनन्तर अपानन व्यापारको करने वाले इन प्राणियोंके शरीरके मध्यमें मुख्य प्राणरूपसे दमकती हुई सूर्यकी प्रभा विचरती रहती है। अधिभूतरूपसे वर्तमान महान् सूर्यदेव स्वर्ग आदि ऊपरके समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हैं ५

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ६॥

त्रिंशत्। धाम। वि। राजति। वाक्। पतङ्गः। अशिश्रियत्॥ प्रति। वस्तोः। अहः। द्युऽभिः॥ ६॥

इति पञ्चमेऽनुवाके एकादशं सूक्तम्॥

दिन और रात्रिके अवयवभूत तीस मुहूर्तरूप अंश इन सूर्यदेवकी किरणोंसे ही प्रतिक्षण विशेषरूपसे दमकते रहते हैं तथा

वेदत्रयीरूप वाणी पक्षीकी समान शीघ्रगामी सूर्यका आश्रय लेकर रहती है ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (६६१)

विषुवति सौर्यपृष्ठे "यच्छक्रा वाचमारुहन्" इति षष्ठः स्तोत्रियः ॥

विषुवद् सौर्यपृष्ठमें "यच्छक्रा वाचमारुहन्" यह छठा स्तोत्रिय है।

यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः । सं देवा अमदन् वृषा ॥ १ ॥

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदर्दिवि ॥ २ ॥

शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् वि राजति । विमदन् बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ४

तम् । वः । दस्मम् । ऋतिऽसहम् । वसोः । मन्दानम् । अन्धसः । अभि । वत्सम् । न । स्वसरेषु । धेनवः । इन्द्रम् । गीःऽभिः । नवामहे ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! जब अन्तरिक्षको देना चाहते हुए स्तोता वाणी पर आरूढ होते हैं, तब देवता हर्षको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

शक्र अधृष्ट पुरुष पर अपनी वाणीकी और विशाल वाणीकी प्रर्षणा न करें,—उससे कठोर वचन न कहें अनुग्रह भरे वचन कहें। हे मंहिष्ठ ! आप द्युलोकमें मदमें भरिये ॥ २ ॥

हे शक्र ! आप वाणीका कठोरभावसे उच्चारण न करें, विशेष-रूपसे मदमें भरते हुए और कुशाओं पर आते हुए धामधमन् विराज रहे हैं ॥ ३ ॥

हे यजमानों ! हम तुम्हारे यागकी पूर्णताके लिये वा तुम्हारे अभिमत फलके लिये इन्द्रदेवकी स्तुतिप्रकाशिका वाणियोंसे स्तुति करते हैं। यह इन्द्रदेव दर्शनीय हैं अर्थात् फलाभिलाषियोंको इन का दर्शन अवश्य करना चाहिये। यह आर्तिका नाश करने वाले हैं और यह वासक सोमरूपी अन्नके पानसे आनन्दमें भरे रहते हैं। जैसे सूर्य जिन दिनोंको करता है, उन दिनोंके आने जाने के समय धेनुएँ हंभा २ करती हुई बछड़ोंकी ओरको दूध पिलाने लिये दौड़ती हैं, इसी प्रकार हम भी (सोम पिलानेके लिये) इन्द्रकी ओर स्तुतिवाणियोंसे दौड़ते हैं ॥ ४ ॥

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ५

द्युक्षम् । सुऽदानुम् । तविषीभिः । आऽवृतम् । गिरिम् । न ।
पुरुऽभोजसम् ।
क्षुऽमन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गोऽमन्तम् ।
ईमहे ॥ ५ ॥

दीप्तिमय, सुन्दरतासे दान करने योग्य बलमय, स्तुतिके पात्र, सैकड़ों और सहस्रों प्रजाओंका पोषण करने वाले और बहुतसी गौओंसे युक्त धनकी हम इस प्रकार प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार दुर्भिक्षमें प्रजाएँ जीवनके लिये बहुतसे कन्द मूल आदि अन्नों से सम्पन्न पर्वतकी प्रार्थना करते हैं ॥ ५ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ

तत्। त्वा। यामि। सुऽवीर्यम्। तत्। ब्रह्म। पूर्वऽचित्तये।
येन। यतिऽभ्यः। भृगवे। धने। हिते। येन। प्रस्कण्वम्।
आविथ ॥ ६ ॥

हे इन्द्रदेव! मैं आपसे सुन्दर वीर्य सम्पन्न दृढ़ अन्नकी याचना करता हूँ, उस अन्नकी पूर्वप्रज्ञानके लिये याचना करता हूँ। जिस धनके देने पर नियम वालोंको और भृगु ऋषिको शांति प्राप्त हुई थी और जिस धनसे आपने कण्व नामक ऋषिके पुत्र प्रस्कण्व ऋषिकी रक्षा की थी। उस धनकी हम याचना करते हैं ६

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे

येन। समुद्रम्। असृजः। महीः। अपः। तत्। इन्द्र। वृष्णि। ते। शवः।
सद्यः। सः। अस्य। महिमा। न। सम्ऽनशे। यम्। क्षोणीः। अनुऽचक्रदे ॥ ७ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव! जिस बलसे आपने समुद्रके निमित्त सृष्टिकी आदि में समुद्रको पूर्णरूपसे भरने वाले जलोंकी सृष्टि की है। वह बल सबको अभिलषित फल प्रदान करता है। जलोंसे समुद्रपूर्ति आदि

इनकी महिमाको बहुतसे शत्रु नहीं पा सकते। इनकी महिमाका पृथ्वीवासी वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (६६५)

वाजपेये क्रतौ "कन्नव्यो अतसीनाम्" इति सामप्रगाथो भवति। तद् उक्तं वैताने। "कन्नव्यो अतसीनामिति सामप्रगाथः" इति [वै० ४. ३] ॥

तथा गवामयनादौ संवत्सरे माध्यंदिने सवने "कन्नव्यो अतसीनाम्" इति कद्वान् सामप्रगाथो भवति। तद् उक्तं वैताने। माध्यंदिने कन्नव्यो अतसीनामिति कद्वान् सामप्रगाथः" इति [वै० ६. ५] ॥

वाजपेय क्रतुमें "कन्नव्यो अतसीनाम्" यह सामप्रगाथ होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–कन्नव्यो अतसीनामिति सामप्रगाथः" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

तथा गवामयनादि संवत्सरमें और माध्यन्दिन सवनमें "कन्नव्यो अतसीनाम्" यह कद्वान् सामप्रगाथ होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"माध्यन्दिने कन्नव्यो अतसीनामिति कद्वान् सामप्रगाथः" (वैतानसूत्र ६ । ५) ॥

कन्नव्यो॑ अत॒सीनां॑ तु॒रो गृ॑णीत॒ मर्त्यः॑ ।
न॒ही न्व॑स्य महि॒मान॑मिन्द्रि॒यं स्व॑र्गृ॒णन्त॑ आन॒शुः ॥ १ ॥

कत् । नव्यः । अ॒त॒सीनाम् । तु॒रः । गृ॒णी॒त॒ । मर्त्यः॑ ।
न॒हि । नु । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मान॑म् । इ॒न्द्रि॒यम् । स्वः॑ । गृ॒णन्तः॑ । आ॒न॒शुः ॥

जो क्षीण न होने वाले दिन रातोंमें नवीन ही रहते हैं, बलवान् हैं किसी कारणसे मर्त्यके आकारको धारण कर लेते हैं, उनकी हे स्तोताओं ! तुम स्तुति करो, इनकी ऐश्वर्यसम्पन्न महिमा

का पूर्णरूपसे गान न कर सकने पर भी थोड़ासा भी गान करते हुए पुरुष स्वर्गको प्राप्त होजाते हैं ॥ १ ॥

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवता ऋषिः को विप्र ओहते ।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः

कत् । ऊं इति । स्तुवन्तः । ऋतऽयन्त । देवता । ऋषि । कः । विप्रः । ओहते ।

कदा । हवम् । मघऽवन् । इन्द्र । सुन्वतः । कत् । ऊं इति । स्तुवतः । आ । गमः ॥ २ ॥

इति पञ्चमेनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

हे धनवान् इन्द्र ! किस कारणसे सत्यकी इच्छा करते हुए देवता आपकी स्तुति करते हैं, कौनसा विप्र ऋषि आपके विषय में तर्कना करता है । और किस कारणसे कब आप अभिषव करने वाले स्तोताके आह्वान पर आते हैं ॥ २ ॥

पञ्चम अनुवाकमें त्रयोदश सूक्त समाप्त (६६३)

चतुर्विंशे माध्यंदिने सवने "अभि प्र वः सुराधसम्" [२०, ५१] "प्र सु श्रुतं सुराधसम्" [२०, ५१, ३] इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "अभि प्र वः सुराधसं प्र सु श्रुतं सुराधसमिति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ" इति [वै० ६. १] ॥

तथा अभिप्लवे युग्मेष्वहःसु द्विती । चतुर्थषष्ठेषु "अभि प्र वः सुराधसम्" "प्र सु श्रुतं सुराधसम्" इति बार्हतौ प्रगाथौ पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "अभि प्र वः सुराधसमिति युग्मेषु" इति [वै० ६. १] ॥

तथा विषुवति अनुरूपादनन्तरम् "तं वो दस्ममृतीषहम्" [२०. ४९. ४] "अभि प्र वः सुराधसम्" [२०. ५१] इति नौधसश्यैतयोनी इच्छया शंसति। तद् उक्तं वैताने। "अनुरूपात् तं वो दस्ममृतीषहम् अभि प्र वः सुराधसम् इति नौधसश्यैतयोनी कामम्" इति [वै० ६. ३]॥

तथा छन्दोमानां तृतीयेऽहःसु यथासंभवम् "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [२०. १३८] "अभि प्र वः सुराधसम्" [२०. ५१] "एवा ह्यसि वीरयुः" [२०. ६०] इति आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति। तद् उक्तं वैताने। तृतीयेषु महाँ इन्द्रो य ओजसाभि प्र वः सुराधसम् एवा ह्यसि वीरयुरिति" इति [वै० ८. ३]

चतुर्विंशके माध्यन्दिन सवनमें "अभि प्र वः सुराधसम्" (२० । ५१) "प्र सु श्रुतं सुराधसम्" (२० । ५१ । ३) ये पृष्ठस्तोत्रियानुरूप आहित प्रगाथ होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अभि प्र वः सुराधसमिति युग्मेषु" (वैतानसूत्र ६ । १)॥

तथा विषुवत्में अनुरूपके अनन्तर "तं वो दस्ममृतीषहम्" २० । ४९ । ४) अभि प्र वः सुराधसम् (२० । ५१) इनको नौधस-श्यैतयोनी इच्छासे कहता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अनुरूपात् तं वो दस्ममृतीषहम् अभि प्र वः सुराधसम् इति नैधसश्यैतयोनीकामम्" (वैतानसूत्र ६ । ३)॥

तथा छन्दोमोंके तृतीय दिनोंमें यथासंभव 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' (२० । १३८) "अभि प्र वः सुराधसम्" (२० । ५१) "एवा ह्यसि वीरयुः" (२० । ६०) ये आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"तृतीयेषु महाँ इन्द्रो य ओजसाभि प्र वः सुराधसम् एवा ह्यसि वीरयुरिति" (वैतानसूत्र ८ । ३)॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥

अभि । प्र । वः । सुऽराधसम् । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ।
यः । जरितृऽभ्यः । मघऽवा । पुरुऽवसु । सहस्रेणऽइव । शिक्षति

हे स्तोताओ ! जो विशाल धन वाले मघवा इन्द्र स्तुति करने वालोंको सहस्र संख्यासे दान देते हैं, उन सुन्दरतासे अन्न प्रदान करने वाले इन्द्रको मैं जिस प्रकार प्राप्त कर सकूँ, तिस प्रकार तुम उसका पूजन करो ॥ १ ॥

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥

शतानीकाऽइव । प्र । जिगाति । धृष्णुऽया । हन्ति । वृत्राणि । दाशुषे
गिरेःऽइव । प्र । रसाः । अस्य । पिन्विरे । दत्राणि । पुरुऽभोजसः

जो इन्द्रदेव हवि देने वाले यजमानके लिये सैंकड़ों सेनाओंकी समान अपने धर्षक बलसे आवरक शत्रुओंको जीत लेते हैं और मार डालते हैं; इन बहुत उपभोग्यके योग्य इन्द्रदेवके सुवर्ण पर्वतसे जलोंके निकलनेकी समान हविर्दान करने वाले यजमानके लिये सिञ्चित होते हैं ॥ २ ॥

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥३॥

प्र । सु । श्रुतम् । सुऽराधसम् । अर्च । शक्रम् । अभिष्टये ।

यः । सुन्वते । स्तुवते । काम्यम् । वसु । सहस्रेणऽइव । मंहते ३

जो इन्द्रदेव सोमाभिषव करने वाले और स्तुति करने वाले यजमानको अभिलषित धन सहस्रों करके देते हैं, उन सुन्दर हविरूप अन्नके पात्र, याचकोंकी प्रार्थनाको भली प्रकार सुनने वाले इन्द्रदेवकी तुम पूजा करो ॥ ३ ॥

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः

शतऽअनीकाः । हेतयः । अस्य । दुस्तराः । इन्द्रस्य । सम्ऽइषः । महीः ।

गिरिः । न । भुज्मा । मघवत्ऽसु । पिन्वते । यत् । ईम् । सुताः । अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्दशं सूक्तम् ॥

इन इन्द्रदेवके आयुध सैंकड़ों सेनाओंकी समान बल रखते हैं, असत् पुरुष उनको तर नहीं सकते, यदि अभिषव किये हुए सोम इनको हर्षमें भर देते हैं तो भोगमद पर्वत जैसे धनवानोंको अपने पदार्थोंसे सींचता है, तिस प्रकार, इन इन्द्रके विशाल अन्न यजमानका सेचन करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्दश सूक्त समाप्त (६३७)

"वयं घ त्वा सुतावन्तः" इत्यस्य विनियोगः "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" [२०. ४०] इत्यत्रोक्तः ॥

तथा पृष्ठ्यस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठानां चतुर्णामह्नाम् "वयं घ त्वा सुतावन्तः" इत्यादीनामष्टानां तृचानां द्वौ द्वौ यथाक्रमं स्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तत्र "वयं घ त्वा" [२०. ५२] "क ईं

वेद" [२०. ५३] इति तृतीयेऽहि स्तोत्रियानुरूपौ भवतः। "विश्वाः पृतनाः" [२०. ५४] "तमिन्द्रम्" [२०. ५५] इति चतुर्थे। "इन्द्रो मदाय" [२०. ५६] "मदेमदे हि" [२०. ५६. ४] इति पञ्चमे। "सुरूपकृत्नुम्" [२०. ५७] "शुष्मिन्तमं नः" [२०. ५७. ४] इति षष्ठे। तद् उक्तं वैताने। "तृतीयादीनां वयं घ त्वा सुतावन्त इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपाः" इति [वै० ६. २]

तथा छन्दोमाख्येषु त्र्यहःसु "वयं घ त्वा सुतावन्तः" "क ईं वेद सुते सचा" इमि प्रथमेऽहनि माध्यंदिने स्तोत्रियानुरूपौ भवतः। "क ईं वेद सुते सचा" "वयं घ त्वा सुतावन्तः" इति द्वितीये। "आयन्त इव सूर्यम्" [२०. ५८] "बण्महाँ असि सूर्य" [२०. ५८. ३] इति तृतीये। तद् उक्तं वैताने। "वयं घ त्वा सुतावन्तः इत्यादि बण्महाँ असि सूर्येत्यन्ताः पृष्ठस्तोत्रियानुरूपाः" इति [वै० ६. ३]॥

"वयं घ त्वा सुतावन्तः" इसका विनियोग "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" (२० । ४०) में कह दिया है।

तथा पृष्ठ्यके तृतीय चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ इन चार दिनोंमें "वयं घ त्वा सुतावंतः" इन आठ तृचोंसे दो दो यथाक्रम स्तोत्रियानुरूप होते हैं। इनमेंसे "वयं घ त्वा" (२० । ५२) "क ईं वेद" (२० । ५३) ये तृतीय दिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। "विश्वाः पृतनाः" (२० । ५४) "तमिन्द्रम्" (२० । ५५) ये चतुर्थदिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। "इन्द्रो मदाय" (२०।५६) "मदे मदे हि" (२० । ५६ । ४) ये पञ्चम दिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। "सुरूपकृत्नुम्" (२० । ५७) "शुष्मिन्तमं नः" (२० । ५७ । ४) ये छठे दिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"तृतीयादीनां वयं घ त्वा सुतावन्त इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपाः" (वैतानसूत्र ६ । २)

तथा छन्दोम नामक तीन दिनोंमें "वयं घ त्वा सुतावन्तः" "क ईं वेद सुते सचा" ये प्रथम दिनके माध्यन्दिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। "क ईं वेद सुते सचा" "वयं घ त्वा सुतावंतः" ये द्वितीय दिनमें, "आयन्त इव सूर्यम्" (२० । ५८) "बण्महाँ असि सूर्य" (२० । ५८ । ३) यह तृतीय दिनमें स्तोत्रियानुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"वयं घ त्वा सुतावन्त इत्यादि बण्महाँ असि सूर्येत्यन्ताः पृष्ठस्तोत्रियानुरूपाः" (वैतानसूत्र ६ । ३) ॥

वयं घं त्वा सुतावंन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रंस्य प्रस्रवंणेषु वृत्रहन् परिं स्तोतारं आसते १

वयम् । घ । त्वा । सुतऽवन्तः । आपः । न । वृक्तऽबर्हिषः ।
पवित्रस्य । प्रऽस्रवणेषु । वृत्रऽहन् । परिं । स्तोतारः । आसते १

हे इन्द्र ! जलकी समान अभिषव करके पतले किये हुए अभिषुत सोमसे सम्पन्न हम ऋत्विज, पवित्रसे प्रस्रवणके समय आपकी स्तुति करते हुए बैठे हैं ॥ १ ॥

स्वरंन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनंः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्रं स्वब्दीव वंसंगः २

स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ।
कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दीऽइव । वंसगः ॥ २ ॥

हे वासयितः इन्द्र ! सोमका अभिषव होजाने पर बहुत उक्थ-

गान करने वाले मनुष्य ऋत्विज आपका स्वरोंसे आह्वान कर रहे हैं, कि—कब आप वननीयगति स्वच्छी वृषभकी समान तृषामें भर कर यागगृहमें अभिषुत सोमका पान करनेके लिये आवेंगे २

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ३

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजम् । दर्षि । सहस्रिणम् ।

पिशङ्गऽरूपम् । मघऽवन् । विऽचर्षणे । मक्षु । गोऽमन्तम् । ईमहे ३

इति पञ्चमेनुवाके पंचदशं सूक्तम् ॥

हे धर्षक इन्द्रदेव ! आप धनको दबा लेते हैं, सहस्रों शक्तियों से सम्पन्न व्यक्तिको भी विदीर्ण कर डालते हैं। हे विद्वान् इन्द्र ! हम गौओंसे सम्पन्न पिशंग रूप वाले धनकी आपसे शीघ्रतापूर्वक याचना करते हैं ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चदश सूक्त समाप्त (६६८)

त्रिकद्रुकशाहस्याहीनस्य नवस्वहःसु "शग्ध्यू षु शचीपते" [२०. ११८] "अभि प्र गोपतिं गिरा" [२०. ९२] "तं वो दस्ममृतीषहम्" [२०. ४९. ४] "वयमेनमिदा ह्यः" [२०. ९७] "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्" [२०. ३८. ४] "आयन्त इव सूर्यम्" [२०. ५८] "क ईं वेद सुते सचा" [२०. ५३] "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" [२०. ५४] "यदिन्द्र प्रागपागुदक्" [२०. १२०] इत्येते नव पृष्ठस्तोत्रिया यथाक्रमं भवन्ति । तद् उक्तं वैताने । "त्रिकद्रुकशाहस्य नवसु शग्ध्यू षु शचीपतेऽभि प्रगोपतिं गिरा तं वो दस्ममृतीषहं वयमेनमिदा ह्य

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहच्छ्रायन्त इव सूर्यं क ईं वेदसुते सचा विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं यदिन्द्र प्रागपागुदगिति" इति [वै०८.४]

त्रिककुद्दशाह अहीनके नौ दिनोंमें "शग्ध्यू षु शचीपते" (२०।११८) "अभि प्र गोपतिं गिरा" (२०।६२) "तं वो दस्ममृतीषहम्" (२०।४६।४) "वयमेनमिदा ह्यः" (२०। ६७) "इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद्" (२०।३८।४) "आयन्त इव सूर्यम्" (२०।५८) "क ईं वेद सुते सचा" (२०।५३) "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" (२०।५४) "यदिद्र प्रागपागुदक्" (२०।१२०) ये नौ यथाक्रम पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"त्रिककुद्दशाहस्य नवसु शग्ध्यू षु शचीपतेऽभि प्रगोपतिं गिरा तं वो दस्ममृतीषहं वयमेनमिदा ह्य इन्द्रमिद्गाथिनो बृहद् आयन्त इव सूर्यम् क ईं वेद सुते सचा विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम् यदिन्द्र प्रागपागुदगिति" (वैतानसूत्र ८।४)॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे। अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः १

कः। ईम्। वेद। सुते। सचा। पिबन्तम्। कत्। वयः। दधे। अयम्। यः। पुरः। विऽभिनत्ति। ओजसा। मन्दानः। शिप्री। अन्धसः॥ १॥

इस बातको कौन जानता है, कि—सोमका अभिषव होने पर साथ २ कौनसे अन्नको ये धारण करते हैं। यह सुन्दर ठोड़ी वाले हविरूप अन्नसे हर्षमें भरे हुए इन्द्र अपने सामनेके शत्रुपुरोंको बलपूर्वक नष्ट कर डालते हैं॥ १॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा २

दाना । मृगः । न । वारणः । पुरुऽत्रा । चरथम् । दधे ।
नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् । चरसि ।
ओजसा ॥ २ ॥

मदमत्त मृगकी समान वारण करने वाले आप रथमें बैठ कर अनेक स्थानोंमें गमन करते हैं, सोमका अभिषव होने पर ऐसा कोई नहीं है जो आपको रोक सके । आप बलसे महान् बनते हुए विचरण करते हैं, अतः सोमका अभिषव होने पर आइये २

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ३

यः । उग्रः । सन् । अनिःऽस्तृतः । स्थिरः । रणाय । संस्कृतः ।
यदि । स्तोतुः । मघऽवा । शृणवत् । हवम् । न । इन्द्रः ।
योषति । आ । गमत् ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके षोडशं सूक्तम् ॥

जो उग्र पड़ने पर शत्रुओंसे अहिंसित रहते हैं, जो रणके लिये तयार होने पर स्थिर रहते हैं यदि वह मघवा इन्द्र स्तुति करने वालेके आह्वानको सुने तो स्त्रीके पास जानेकी समान आवेंगे ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें षोडश सूक्त समाप्त (२६९)

पृष्ठ्यषडहस्य एकविंशस्तोमके चतुर्थेऽहनि एकाहैकीभूते

"इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" [२०. ४१] "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" [२०. ५४] "एवा ह्यसि वीरयुः" [२०. ६०] इति आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति । तद्व उक्तं वैताने । "पृष्ठस्यैकविंश इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम् एवा ह्यसि वीरयुरिति" इति [वै० ८. २] ॥

तथा क्युष्टयाङ्गिरसकापिवनचैत्ररथद्व्यहानां द्वितीयेष्वहःसु "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" इति स्तोत्रियो भवति । तद्व उक्तं वैताने । "द्वितीयेषु विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरमिति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा त्रिककुद्दशाहस्याहीनस्य अष्टमेऽहनि एष पृष्ठस्तोत्रियो भवति । सूत्रं पूर्वसूक्ते उक्तम् ॥

पृष्ठ्यषडहके एकविंशस्तोमक चतुर्थदिनके एकाहैकीभूतमें "इन्द्रो दधीचो अस्थभिः" (२०।४१) "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" (२०।५४) "एवाह्यसि वीरयुः" (२०।६०) ये आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पृष्ठस्यैकविंश इन्द्रो दधीचो अस्थभिः विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम् एवा ह्यसि वीरयुरिति" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

तथा क्युष्टय आंगिरस कापिवन चैत्ररथ द्व्यहोंके द्वितीय दिनोंमें "विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" यह स्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"द्वितीयेषु विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरम्" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

तथा त्रिककुद् दशाह अहीनके अष्टम दिनमें यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है । सूत्र पहिले सूक्तमें कह दिया है ॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।

कृत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥ १ ॥

विश्वाः । पृतनाः । अभिऽभूतरम् । नरम् । सऽजूः । ततक्षुः ।
इन्द्रम् । जजनुः । च । राजसे ।
क्रत्वा । वरिष्ठम् । वरे । आऽमुरिम् । उत । उग्रम् । ओजिष्ठम् ।
तवसम् । तरस्विनम् ॥ १ ॥

सकल सेनाओंने अभिभव करने वाले नेता शत्रुओंको पूर्णरूपसे मूर्छित करने वाले, उग्र बलवान् तरस्वी इन्द्रको वरणीय संग्राममें प्रेमपूर्वक वरण किया और प्रकट किया है ॥ १ ॥

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः २

सम् । ईम् । रेभासः । अस्वरन् । इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये ।
स्वः॒ऽपतिम् । यत् । ईम् । वृधे । धृतऽव्रतः । हि । ओजसा । सम् ।
ऊतिऽभिः ॥ २ ॥

ये स्तोता सोमपान करनेके लिये इन इन्द्रकी भली प्रकार स्तुति कर रहे हैं, और धृतव्रत सोम भी इन स्वर्गपतिकी ओर अपनी रक्षक शक्तियों सहित बढ़ता है ॥ २ ॥

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ३

नेमिम् । नमन्ति । चक्षसा । मेषम् । विप्राः । अभिऽस्वरा ।

सुऽदीतयः । वः । अद्रुहः । अपि । कर्णे । तरस्विनः । सम् ।

ऋक्वऽभिः ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके सप्तदशं सूक्तम् ॥

स्तुति करते हुए विप्र इनके मेषकी समान भक्तक वज्रको दृष्टि पड़ने पर प्रणाम करते हैं । हे स्तोताओं ! ऋक्व नामक पितरों के साथ इस वज्रकी सुन्दर दमकें भी तुम्हारे कानमें द्रोह न पहुँ-चावें अर्थात् तुम्हारे कानोंको कष्ट न दें॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तदश सूक्त समाप्त (६७०)

"तमिन्द्रं जोहवीमि" इत्यस्य विनियोगः "वयं घ त्वा सुता-वन्तः" [२०, ५२] इति सूक्ते उक्तः ॥

"तमिन्द्रं जोहवीमि" सूक्तका सूत्र "वयं घ त्वा सुतावन्तः" इस (२० । ५२) सूक्तके साथ कह दिया है ॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥ १ ॥

तम् । इन्द्रम् । जोहवीमि । मघऽवानम् । उग्रम् । सत्रा । दधा-नम् । अप्रतिऽस्कुतम् । शवांसि ।

मंहिष्ठः । गीःऽभिः । आ । च । यज्ञियः । ववर्तत् । राये । नः । विश्वा । सुऽपथा कृणोतु । वज्री ॥ १ ॥

मैं उन इन्द्रका आह्वान करता हूँ, कि–जो धनवान् हैं उग्र हैं, संग्राममें मुख नहीं मोड़ते हैं और वज्रोंको धारण करने वाले हैं, स्तुतियोंसे पूजनीय स्तोत्र चल रहा है, वज्रधारी इन्द्र धनके लिये हमारे समस्त मार्गोंको सुन्दर करें ॥ १ ॥

या इ॑न्द्र भुज॒ आभ॑रः॒ स्व॑र्वाँ॒ असु॑रेभ्यः ।

स्तो॒तार॒मिन्म॑घवन्नस्य वर्धय॒ ये च॒ त्वे वृ॒क्तब॑र्हिषः २

याः । इ॒न्द्र॒ । भु॒जः । आ । अभ॑रः । स्व॑ऽवान् । असु॑रेभ्यः ।

स्तो॒तार॑म् । इत् । म॒घ॒ऽव॒न् । अ॒स्य॒ । व॒र्ध॒य॒ । ये । च॒ । त्वे इति॑ ।

वृ॒क्तऽब॑र्हिषः ॥ २ ॥

हे स्वर्गके स्वामी इन्द्र ! आप असुरोंके लिये जिन भुजाओं को धारण करते हैं, उन भुजाओंसे इस यजमानके स्तुति करने वालेको बढ़ाइये और जो ऋत्विज आपमें परायण रहते हैं, उनको भी बढ़ाइये ॥ २ ॥

यमि॑न्द्र दधि॒षे त्वमश्वं॒ गां भा॒गमव्य॑यम् ।

यज॑माने सुन्व॒ति दक्षि॑णावति॒ तस्मि॒न् तं धे॑हि॒ मा प॒णौ ॥ ३ ॥

यम् । इ॒न्द्र॒ । द॒धि॒षे । त्वम् । अश्व॑म् । गाम् । भा॒गम् । अव्य॑यम् ।

यज॑माने । सु॒न्व॒ति । दक्षि॑णाऽवति । तस्मि॑न् । तम् । धे॒हि॒ । मा ।

प॒णौ ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके अष्टादशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप जिस घोड़े गौ और अव्यय रहने वाले भाग को पुष्ट करते हैं, उसको अभिषव करने वाले और दक्षिणा देने वाले यजमानमें स्थापित करिये, पणि नामक असुरमें स्थापित न करिये ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकमें अष्टादश सूक्त समाप्त (६७१)

पृष्ठ्यषडहस्य पञ्चमेऽहनि "उत्तिष्ठन्नोजसा सह" [२०. ४२. ३] "इन्द्रो मदाय वावृधे" [२०. ५६] "इन्द्राय साम गायत" [२०. ६२. ५-७] इत्येते आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिया भवन्ति तदु उक्तं वैताने । "पञ्चम उत्तिष्ठन्नोजसा सहेन्द्रो मदाय वावृध इन्द्राय साम गायतेति" इति [वै० ८. ३] ॥

पष्ठ्यषडाहके पञ्चम दिनमें "उत्तिष्ठन्नोजसा सह" (२० । ४२ । ३) "इन्द्रो मदाय वावृधे" (२० । ५६) "इन्द्राय साम गायत" (२० । ६२ । ५-७) ये आज्यपृष्ठोक्थस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पञ्चम उत्तिष्ठन्नो जसा सहेन्द्रो मदाय वावृध इन्द्राय साम गायतेति" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्

इन्द्रः । मदाय । वदृधे । शवसे । वृत्रऽहा । नृऽभिः ।
तम् । इत् । महत्ऽसु । आजिषु । उत । ईम् । अर्भे । हवामहे ।
सः । वाजेषु । प्र । नः । अविषत् ॥ १ ॥

वृत्रासुरका संहार करने वाले इन्द्रदेवको मनुष्य मद और बलके लिये बढ़ाते हैं । हम उनको विशाल संग्रामोंमें और इस छोटेसे यज्ञमें आह्वान करते हैं, वह युद्धोंमें हममें व्याप्त होजावें १

असि हि वीर सेन्योसि भूरि पराददिः ।
असि दभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते
भूरि ते वसु ॥ २ ॥

असि । हि । वीर । सेन्यः । असि । भूरि । पराऽददिः ।
असि । दभ्रस्य । चित् । वृधः । यजमानाय । शिक्षसि । सुन्वते ।
भूरि । ते । वसु ॥ २ ॥

हे वीर ! आप सेनाके योग्य हैं, शत्रुओंका भयंकर खण्डन करते हैं, बढ़ते हुए तुच्छ पुरुषको आप यजमानके कारण दण्ड देते हैं और जो आपके लिये अभिषव करता है, आपका बहुतसा धन उसके लिये ही है ॥ २ ॥

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना ।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोस्माँ इन्द्र
वसौ दधः ॥ ३ ॥

यत् । उत्ऽईरते । आजयः । धृष्णवे । धीयते । धना ।
युक्ष्व । मदऽच्युता । हरी इति । कम् । हनः । कम् । वसौ । दधः ।
अस्मान् । इन्द्रः । वसौ । दधः ॥ ३ ॥

जब युद्ध चलने लगता है और धर्षक पुरुषमें धन स्थापित होते हैं उस समय आप मदमत्त हरी नामक घोड़ोंको जोड़ कर किसको मारेंगे और किसमें धन स्थापित करेंगे ? हे इन्द्र ! उस समय आप हममें धन स्थापित करिये ॥ ३ ॥

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः।
सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर॥ ४॥

मदेऽमदे। हि। नः। ददिः। यूथा। गवाम्। ऋजुऽक्रतुः।
सम्। गृभाय। पुरु। शता। उभयाहस्त्या। वसु। शिशीहि। रायः। आ। भर॥ ४॥

हे इन्द्र! आपका यज्ञ सरल है, आप प्रत्येक बार हर्षमें भरने पर हमें गौओंके झुण्ड देते हैं। आप सैंकड़ों बार दोनों हाथोंसे बहुतसे धनको ग्रहण करके तीक्ष्ण करिये और हमें प्रदान करिये ४

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव॥ ५॥

मादयस्व। सुते। सचा। शवसे। शूर। राधसे।
विद्म। हि। त्वा। पुरुऽवसुम्। उप। कामान्। ससृज्महे। अथ। नः। अविता। भव॥ ५॥

हे शूर इन्द्र! आप सहायक बन कर सोमका अभिषव होने पर मदमें भरिये और बलको साधिये, हम आपको विशाल धन वाला जानते हैं, हम आपसे अपनी कामनाओंसे संयुक्त रहें आप हमारे रक्षक हूजिये॥ ५॥

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् ।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥ ६ ॥

एते । ते । इन्द्र । जन्तवः । विश्वम् । पुष्यन्ति । वार्यम् ।
अन्तः । हि । ख्यः । जनानाम् । अर्यः । वेदः । अदाशुषाम् ।
तेषाम् । नः । वेदः । आ । भर ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके एकोनविंशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! ये जन्तु आपके समग्र वीर्यको पुष्ट करते हैं, आप स्वामी हैं आपकी निन्दा करने वालोंके भीतर जो धन स्थित है उन हवि प्रदान न करने वालोंके धनको आप हमें प्रदान करिये ६

पञ्चम अनुवाकमें उन्नीसवाँ सूक्त समाप्त (६७२)

अप्तोर्याम्णि क्रतौ तृतीयसवने "सुरूपकृत्नुमूतये" [२०, ५७] "शुष्मिन्तमं न ऊतये" [२०, ५७, ४] इति स्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तत्र "सुरूपकृत्नुमूतये" इति स्तोत्रियप्रभितः प्राकृतः स्तोत्रियो भवति । "शुष्मिन्तमं न ऊतये" इत्यनुरूपप्रभितः प्राकृतोऽनुरूपो भवति । तद् उक्तं वैताने । "तृतीयसवने सुरूपकृत्नुमूतये शुष्मिन्तमं न ऊतय इति स्तोत्रियानुरूपावभितः स्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ४, २] ॥

तथा महाव्रते प्रातःसवने "सुरूपकृत्नुमूतये" इत्याज्यस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "महाव्रते सुरूपकृत्नुमूतय इत्याज्यस्तोत्रियः" इति [वै० ६, ४] ॥

तथा श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु एकाहेषु "सुरूपकृत्नुमूतये" [२०, ५७] "उरवा मन्दन्तु स्तोमाः" [२०, ६३] एतौ आज्यस्तो-

त्रियौ विकल्पितौ भवतः । त्वामिद्धि हवामहे" इति [२०. ९८] पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु सुरूपकृत्नुमूतय उरवा मन्दन्तु स्तोमास्त्वामिद्धि हवामह इति" इति [वै० ८. १] ॥

अप्तोर्याम क्रतुके तृतीयसवनमें "सुरूपकृत्नुमूतये" (२०।५७) "शुष्मिन्तमं न ऊतये" (२० । ५७ । ४) ये स्तोत्रियानुरूप होते हैं । यहाँ "सुरूपकृत्नुमूतये" यह स्तोत्रियके अभितः प्राकृत स्तोत्रिय होता है । "शुष्मिन्तमं न ऊतये" यह अनुरूपके अभितः प्राकृत अनुरूप होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"तृतीयसवने सुरूपकृत्नुमूतये शुष्मिन्तमं न ऊतय इति स्तोत्रियानुरूपावभितः स्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

तथा महाव्रतके प्रातः सवनमें "सुरूपकृत्नुमूतये" (२० । ५७) ये आज्यस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"महाव्रते सुरूपकृत्नुमूतये इत्याज्यस्तोत्रियः" (वैतानसूत्र ६ । ४) ॥

तथा श्येनसंदंशाजिरवज्रोंके एकाहोंमें "सुरूपकृत्नुमूतये" (२० । ५७) "उरवा मन्दन्तु स्तोमाः" (२० । ६३) ये विकल्पसे आज्यस्तोत्रिय होते हैं । "त्वामिद्धि हवामहे" (२० । ९८) ये पृष्ठस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु सुरूपकृत्नुमूतय उरवा मन्दन्तु स्तोमास्त्वामिद्धि हवामह इति" (वैतानसूत्र ८ । ४) ।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविं-द्यवि ॥ १ ॥

सुरूपऽकृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्ऽइव । गोऽदुहे ॥ जुहूमसि । द्यविऽद्यवि ॥ १ ॥

जैसे दूध दुहने वालेके लिये सरलतासे दुहाने वाली गौको बुलाया जाता है, इसी प्रकार हम रक्षाके लिये प्रत्येक अवसर पर इन्द्रदेवका आह्वान करते हैं ॥ १ ॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद् रेवतो मदः ॥ २ ॥

उप । नः । सवना । आ । गहि । सोमस्य । सोमऽपाः । पिब ॥ गोऽदाः । इत् । रेवतः । मदः ॥ २ ॥

इन्द्रदेव गौएँ देने वाले हैं, हर्षमें भरे रहते हैं, धनसम्पन्न हैं, ऐसे इन्द्रदेव हमारे सोमसवनोंके समीप आइये और सोमका पान करिये ॥ २ ॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥

अथ । ते । अन्तमानाम् । विद्याम । सुऽमतीनाम् ॥ मा । नः । अति । ख्यः । आ । गहि ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! हम आपके समीप रहने वाली सुन्दर बुद्धियोंको जानते हैं आप हमारी अधिक निन्दा न कराइये और हमारे पास आइये ॥ ३ ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥

शुष्मिन्ऽतमम् । नः । ऊतये । द्युम्निनम् । पाहि । जागृविम् ॥ इन्द्र । सोमम् । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ ४ ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! आप हमारी रक्षा करनेके लिये इस बल-मद ज्योतिःसम्पन्न-जागरूक रखनेवाले सोमका पान करिये ४

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्चऽसु ॥
इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ ५ ॥

हे बहुकर्मन् इन्द्र ! आपकी जो इन्द्रियें देवता पितर आदि पञ्च जनोंमें हैं। हे इन्द्र ! मैं उन इन्द्रियोंका वरण करता हूं ॥ ५ ॥

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥

अगन् । इन्द्र । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तरम् ॥
उत् । ते । शुष्मम् । तिरामसि ॥ ६ ॥

हे इन्द्रदेव ! आपका विशाल अन्न हमको प्राप्त होवे, और आप शत्रुओंसे तरनेके अयोग्य दमकते हुए धनोंको हममें स्थापित करिये और हम आपके बलको सोम और स्तोत्रसे बढ़ाते हैं ६

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ७ ॥

अर्वाऽवतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । पराऽवतः ।
ऊं इति । लोकः । यः । ते । अद्रिऽवः । इन्द्र । इह । ततः ।
आ । गहि ॥ ७ ॥

हे बलवान् इन्द्र! आप समीपके स्थलमें हों तो समीपके स्थलसे और दूरके स्थलमें हों तो दूरके स्थानसे हमारे पास आइये, हे वज्रधारिन् इन्द्र! आपका जो उत्तम लोक है, उस स्थानसे भी आप सोमपान करनेके लिये इस पूजाके स्थानमें आइये ॥ ७ ॥

इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥

इन्द्रः। अङ्ग। महत्। भयम्। अभि। सत्। अप। चुच्यवत् ॥ सः। हि। स्थिरः। विऽचर्षणिः ॥ ८ ॥

हे आत्मा वा ऋत्विज! इन्द्रदेव हमारे ऊपर पड़े हुए, दूसरों से न हटाने योग्य बड़े भारी भयका तिरस्कार कर डालते हैं, और भयको हमसे अलग करके दूर भगा देते हैं, वह इन्द्रदेव स्थिर रहने वाले हैं अर्थात् कोई उनको च्युत नहीं कर सकता। और वह सबको देखने वाले हैं अर्थात् छिपे हुए भय देने वालों को और प्रकाशित हम रक्षणीयोंको भी जानते हैं ॥ ८ ॥

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥

इन्द्रः। च। मृळयाति। नः। न। नः। पश्चात्। अघम्। नशत्। भद्रम्। भवाति। नः। पुरः ॥ ९ ॥

यदि इन्द्रदेव हमारे रक्षक हों तो वह हमको सुख दें, यदि इन्द्रदेव हमारे रक्षक हों तो पीछे हमारा दुःख नष्ट होजावें और सामने हमारा मङ्गल होवे ॥ ९ ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता

शत्रून् विचर्षणिः ॥ १० ॥

इन्द्रः । आशाभ्यः । परि । सर्वाभ्यः । अभयम् । करत् ॥ जेता ।

शत्रून् । विऽचर्षणिः ॥ १० ॥

इन्द्रदेव सब दिशा विदिशाओंसे हम पर पड़ सकने वाले भयोंको दूर करें । यह इन्द्रदेव सब दिशाओंमें जो हमारे शत्रु हैं उनको देखने वाले हैं ॥ १० ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्रयन्धसः

कः । ईम् । वेद । सुते । सचा । पिबन्तम् । कत् । वयः । दधे ।

अयम् । यः । पुरः । विऽभिनत्ति । ओजसा । मन्दानः । शिप्री ।

अन्धसः ॥ ११ ॥

इस बातको कौन जानता है, कि–सोमका अभिषव होने पर साथ २ यह कौनसे अन्नको धारण करते हैं, यह सुन्दर ठोड़ी वाले हवीरूप अन्नसे हर्षमें भरे हुए इन्द्र अपने सामनेके शत्रु-पुरोंको बलपूर्वक नष्ट कर डालते हैं ॥ ११ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा १२

दाना । मृगः । न । वारणः । पुरुऽत्रा । चरथम् । दधे ।

नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् । चरसि ।

ओजसा ॥ १२ ॥

मदमत्त मृगकी समान वारण करने वाले आप रथमें बैठ कर अनेक स्थानोंमें गमन करते हैं, सोमका अभिषव होने पर ऐसा कोई नहीं है जो आपको रोक सके, आप बलसे महान् बनते हुए विचरण करते हैं, अतः सोमका अभिषव होने पर आइये १२

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्

यः । उग्रः । सन् । अनिऽस्तृतः । स्थिरः । रणाय । संस्कृतः ।
यदि । स्तोतुः । मघऽवा । शृणवत् । हवम् । न । इन्द्रः ।
योषति । आ । गमत् ॥ १३ ॥

जो उग्र पड़ने पर शत्रुओंसे अहिंसित रहते हैं, जो रणके लिये तयार होने पर अहिंसित रहते हैं, यदि यह मघवा इन्द्र स्तुति करने वालेके आह्वानको सुनें तो स्त्रीके पास जानेकी समान आवेंगे ॥ १३ ॥

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते १४

वयम् । घ । त्वा । सुतऽवन्तः । आपः । न । वृक्तऽबर्हिषः ।
पवित्रस्य । प्रऽस्रवणेषु । वृत्रऽहन् । परि । स्तोतारः । आसते १४

हे इन्द्र ! अभिषव करके जलकी समान पवित्र किये गए अभिषुत सोमसे सम्पन्न हम ऋत्विज, पवित्रसे प्रस्रवणके समय आपकी स्तुति करते हुए बैठे हैं ॥ १४ ॥

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।

कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः

स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ।

कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दीऽइव । वंसगः ॥ १५ ॥

हे वासयितः इन्द्र ! सोमका अभिषव होजाने पर अधिकतासे स्तवगान करने वाले पुरुष ऋत्विज आपका स्वरोंसे आह्वान कर रहे हैं, कि-कब आप वननीय गति स्वब्दी वृषभकी समान तृषार्त्त भर कर यागगृहमें अभिषुत सोमका पान करनेके लिये आवेंगे ॥ १५ ॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।

पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ १६

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजम् । दर्षि । सहस्रिणम् ।

पिशङ्गऽरूपम् । मघऽवन् । विऽचर्षणे । मक्षु । गोऽमन्तम् । ईमहे ।

इति पञ्चमेऽनुवाके विंशं सूक्तम् ॥

हे धर्षक इन्द्रदेव ! आप धनको दबा लेते हैं, सहस्रों शक्तियों से भी सम्पन्न व्यक्तिको विदीर्ण कर डालते हैं, हे विद्वन् इन्द्र ! हम गौओंसे सम्पन्न पिशंग रूप वाले धनकी आपसे याचना करते हैं ॥ १६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें बीसवाँ सूक्त समाप्त (६७२)

विषुवति सौर्यपृष्ठे "बण्महाँ असि सूर्य" [२०, ५८, ३] "आयन्त इव सूर्यम्" [२०, ५८, १] इति विकल्पितौ पृष्ठस्तो-

स्त्रियानुरूपौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "वण्महाँ असि सूर्य आयन्त इव सूर्यमिति वा" इति [वै० ६. २] ॥

तथा तीव्रसुच्चतुःपर्यायपयोः साहस्रान्त्योर्दशपेये विश्वंशयज्ञे "आयन्त इव सूर्यम्" इत्येष पृष्ठस्तोत्रियो भवति ॥

तथा साद्यःक्राभिधानेषु एकाहेषु श्येनयागवर्जितेषु "अहमिद्धि पितुष्परि" [२०. ११५] इत्याज्यस्तोत्रियो भवति । चकारात् "आयन्त इव सूर्यम्" इत्याज्यस्तोत्रियो भवति ॥

तद् उक्तं वैताने । "तीव्रसुच्चतुःपर्यायपयोः सहस्रान्त्ययोर्दशपेये विश्वंशयज्ञे आयन्त इव सूर्यमिति । साद्यःक्रेषु श्येनवर्जम् अहमिद्धि पितुष्परीति च" इति [वै० ८. २] ॥

तथा साकमेधस्य तृतीयेऽहनि अस्य सूक्तस्य विनियोग उक्तः । स च "तमिन्द्रं वाजयामसि" इति सूक्ते [२०. ४७] द्रष्टव्यः ॥

तथा चतुरहाणां तृतीयेष्वहःसु "आयन्त इव सूर्यम्" [२०. ५८] "त्वं न इन्द्रा भर" [२०. १०८] एतौ पृष्ठोक्थस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "चतुरहाणां आयन्त इव सूर्यं त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा त्रिककुद्दशाहे अस्य विनियोगः "क ईं वेद सुते सचा" इति सूक्ते [२०. ५३] उक्तः ॥

विषुवत् सौर्यपृष्ठमें "वण्महाँ असि सूर्य" (२० । ५८ । ३) "आयन्त इव सूर्यम्" (२० । ५८ । १) ये विकल्पसे पृष्ठस्तोत्रिय अनुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"वण्महाँ असि सूर्य आयन्त इव सूर्यमिति वा" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

तथा सहस्रास्य तीव्र सुच्चतुः पर्यायोंके दशपेय विश्वंश-यज्ञमें "आयन्त इव सूर्यम्" यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है ।

तथा श्येनयागवर्जित साद्यःक्र नामक एकाहोंमें "अहमिद्धि

पितुष्परि" २०।११५ ये आज्यस्तोत्रिय होता है। चकार से "आयन्त इव सूर्यम्" यह आज्यस्तोत्रिय होता है।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"तीव्रसुच्चतुः पर्यायोः सहस्रान्त्ययोर्दशपेये विभ्रंशयत्ने आयन्त इव सूर्यमिति। साद्यःक्रेषु श्येनवर्जम् अहमिद्धि पितुष्परीति च" (वैतानसूत्र ८।२)

तथा साकमेधके तृतीय दिनमें इस सूक्तका विनियोग कहा है। उसको "तमिन्द्रं वाजयामसि" २०।४७ सूक्तमें देखना चाहिये।

तथा चतुरहोंके तीसरे दिनोंमें "आयन्त इव सूर्यम्" २०।५८ "त्वं न इन्द्राभर" २०।१०८ ये पृष्ठोक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"चतुरहाणां आयन्त इव सूर्यम् त्वं न इन्द्रा भरेति" (वैतानसूत्र ८।३)॥

तथा त्रिककुद्दशाहमें इसका विनियोग "क ईं वेद सुते सचा" २०।२३ सूक्तमें देखना चाहिये।

आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम १

आयन्तःऽइव। सूर्यम्। विश्वा। इत्। इन्द्रस्य। भक्षत।
वसूनि। जाते। जनमाने। ओजसा। प्रति। भागम्। न।
दीधिम ॥ १ ॥

जिस प्रकार किरणें प्रतिदिन सूर्यका उपस्थान करती हैं— सूर्यके समीप रहती हैं, इसी प्रकार सम्पूर्णस्वामिक उदकेश्वर इन्द्र के समीप रहती हैं, उन इन्द्रके अक्षरूप सब धनोंको अपने लिये या सब जनोंके लिये हम बाँटना चाहते हैं। और जैसे इन्द्र धन

भविष्यत् वर्तमानके धनोंको अपने ऐश्वर्यबलसे बाँटना चाहते हैं और उस भागसे प्राणी उपजीवन करते हैं। इसी प्रकार हम भी उस भागका ध्यान करते हैं॥ १ ॥

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥ २ ॥

अनर्शऽरातिम्। वसुऽदाम्। उप। स्तुहि। भद्राः। इन्द्रस्य। रातयः। सः। अस्य। कामम्। विधतः। न। रोषति। मनः। दानाय। चोदयन् ॥ २ ॥

हे स्तोतः! अश्लीलता रहित दान वाले धनदाता इन्द्रकी मन से शरण लेकर तुम स्तुति करो। इन इन्द्रके दान कल्याणमय हैं। वह इन्द्रदेव इस अपने भक्तके धारण किये हुए मनोरथोंको नष्ट नहीं करते हैं और जो इस प्रकार स्तुति करके याचना करता है वह इन्द्रके मनको दानके लिये प्रेरित करता है॥ २ ॥

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेद्धा देव महाँ असि ३

बट्। महान्। असि। सूर्य। बट्। आदित्य। महान्। असि। महः। ते। सतः। महिमा। पनस्यते। अद्धा। देव। महान्। असि॥ ३ ॥

हे सूर्यात्मक इन्द्रदेव! आप महान् हैं, यह सत्य है, हे अदिति पुत्र! आप महान् हैं यह सत्य है। आप सत्स्वरूप पूज्यकी महिमा भी प्रशंसा पाती है, हे देव! आप महान् हैं, यह सत्य है।३।

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ४

बट् । सूर्य । श्रवसा । महान् । असि । सत्रा । देव । महान् । असि ।
मह्ना । देवानाम् । असुर्यः । पुरःऽहितः । विऽभु । ज्योतिः ।
अदाभ्यम् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके एकत्रिंशं सूक्तम् ॥

हे सूर्य ! आप हविरूप अन्नसे महान् हैं, यह सत्य है और हे देव ! साथ ही आप स्वयं भी महान् हैं । आप अपनी महिमा से असुरोंसे भिड़ने वाले देवश्रेष्ठ हैं, आगे २ हित करते हैं और आप अहिंस्य व्यापक ज्योति हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें इकतीसवाँ सूक्त समाप्त (६७४)

दशरात्रस्य दशमेऽहनि माध्यंदिने सवने "उदु त्ये मधुमत्तमाः" [२०. ५९. १] "उदिन्न्वस्य रिच्यते" [२०. ५९. ३] इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तदु उक्तं वैताने । "उदु त्ये मधुमत्तमा उदिन्न्वस्य रिच्यत इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ६.२] ॥

दशरात्रके दशम दिनमें माध्यन्दिन सवनके अवसर पर "उदु त्ये मधुमत्तमाः" (२० । ५९ । ३) ये पृष्ठस्तोत्रिय अनुरूप होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"उदु त्ये मधुमत्तमा उदिन्न्वस्य रिच्यत इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ६।२) ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव १

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्ऽतमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते ।

सत्राऽजितः । धनऽसाः । अक्षितऽऊतयः । वाजऽयन्तः ।
रथाःऽइव ॥ १ ॥

ये आगे कहे जाने वाले प्रगीतमन्त्रसाध्य त्रिवृत् आदि स्तोत्र और अप्रगीत मन्त्रसाध्य शस्त्र आदिकी मधुर वाणियें प्रादुर्भूत हो रही हैं ये धन प्रदान करनेवाली हैं और एक बार ही शत्रुओंको जीत लेती हैं, ये सदा रक्षक हैं और यह अन्न प्रदान करने वाली हैं और रथ जैसे रथमें बैठने वालेके प्रयोजनके लिये दौड़ता है, तैसे ही यह इन्द्रके सन्तोषके लिये प्रकट होती हैं ।१।

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् २

कण्वाःऽइव । भृगवः । सूर्याःऽइव । विश्वम् । इत् । धीतम् ।
आनशुः ।
इन्द्रम् । स्तोमेभिः । महऽयन्तः । आयवः । प्रियऽमेधासः ।
अस्वरन् ॥ २ ॥

कण्वगोत्रमें उत्पन्न हुए महर्षि जिस प्रकार, तीनों लोकोंके स्वामी, फलाभिलाषियोंके द्वारा ध्याये हुए इन्द्रको ही स्तोत्र शस्त्र आदि स्तुतियोंसे प्राप्त होते हैं, जैसे धाता अर्यमा आदि सूर्य अपने नियन्ता इन्द्रको प्राप्त होते हैं, अर्थात् इन्द्रकी स्तुति करते हैं और भृगुवंशी महर्षि जिस प्रकार इन्द्रकी शरणमें जाते हैं, इसी प्रकार प्रियमेधा नामक मनुष्य पूजा करते समय स्तोत्रों से इन्द्रकी स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

उदिन्न्वस्य रिच्यतेंशो धनं न जिग्युषः ।

य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि ॥ ३ ॥

यत् । इत् । नु । अस्य । रिच्यते । अंशः । धनम् । न । जिग्युषः ।

यः । इन्द्रः । हरिऽवान् । न । दभन्ति । तम् । रिपः । दक्षम् ।

दधाति । सोमिनि ॥ ३ ॥

विजेताके धनकी समान इन इन्द्रदेवका यज्ञभाग होता है, जो इन्द्रदेव हरि नामक घोड़ोंसे सम्पन्न हैं, उनको पाप बाँध नहीं सकते और यह इन्द्रदेव सोमप्रदाता यजमानमें बलको स्थापित करते हैं ॥ ३ ॥

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ४

मन्त्रम् । अखर्वम् । सुऽधितम् । सुऽपेशसम् । दधात । यज्ञियेषु । आ ।

पूर्वीः । चन । प्रऽसितयः । तरन्ति । तम् । यः । इन्द्रे । कर्मणा ।

भुवत् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके द्वाविंशं सूक्तम् ॥

हे स्तोताओ ! यज्ञिय स्तोत्रोंमें महाप्रभावसम्पन्न सुन्दर दीप्ति और रूप देने वाले मन्त्रोंका प्रयोग करो, जो कर्मसे इन्द्रकी सेवामें परायण रहता है वह पूर्व बन्धनों पापों) से छूट जाता है ४

पञ्चम अनुवाकमें बाईसवाँ सूक्त समाप्त ६७५

अभिप्लवमध्यमेष्वहःसु द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमेषु । "एवा ह्यसि वीरयुः" इत्यादयोऽष्टौ तृचास्तृतीयसवने उक्थस्तोत्रियानु-

रूपः यथाक्रमं भवन्ति । एवं च "एवा ह्यसि वीरयुः" [२०. ६०] "एवा ह्यस्य सूनृता" [२०. ६०. ४–६] इति स्तोत्रियानुरूपौ द्वितीये । "तं ते मदं गृणीमसि" [२०. ६१] "तम्वभि प्र गायत" [२०, ६१. ४–६] इति तृतीये । "वयमु त्वामपूर्व्य" [२०. ६२, १] "यो न इदमिदं पुरा" [२०. ६२, ३] इति चतुर्थे। "इन्द्राय साम गायत" [२०. ६२. ५–७] "तम्वभि प्र गायत" [२०. ६१. ४–६] इति पञ्चमे । तद् उक्तं वैताने । "मध्यमेष्वेवा ह्यसि वीरयुरित्युक्थस्तोत्रियानुरूपा" इति [वै० ६.१]॥

तथा वैकृतस्य पृष्ठ्यषडहस्य द्वितीयेऽहनि "एवा ह्यसि वीरयुः" इति उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "पृष्ठ्यषडहस्य एवा ह्यसि वीरयुरित्युक्थे" इति [वै० ८. २]॥

तथा तस्यैव तृतीयेऽहनि अस्य विनियोगः "अभि प्र वः सुराधसम्" इति सूक्ते [२०. ५१.] उक्तः ॥

तथा पृष्ठ्यपञ्चाहस्य द्वितीयेऽहनि "एवा ह्यसि वीरयुः" इति पृष्ठोक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "पृष्ठ्यपञ्चाहस्यैवा ह्यसि वीरयुरिति" इति [वै० ८. ३]॥

तथा पृष्ठ्यषडहस्य द्वितीयेऽहनि एष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "पृष्ठ्यस्य द्वितीय एवा ह्यसि वीरयुरिति" इति [वै० ८. ४]॥

अभिप्लवके मध्यमदिनमें दूसरे तीसरे चौथे पाँचवेंमें "एवा ह्यसि वीरयुः" इत्यादि आठ तृच तृतीयसवनमें यथाक्रम स्तोत्रिय और अनुरूप होती हैं । इसी प्रकार "एवा ह्यसि वीरयुः" (२०। ६०) "एवा ह्यस्य सूनृता (२० । ६० । ४-६) ये स्तोत्रिय और अनुरूप दूसरे दिनमें होते हैं। "तं ते मदं गृणीमसि" (२०।६१) "तम्वभि प्र गायत" (२० । ६१ । ४–६) ये तृतीय दिनमें होते हैं । "वयमु त्वामपूर्व्य" (२० । ६२, १) "यो न इदमिदं

पुरा" (२० । ६२, ३) ये चौथे दिनमें होते हैं । "इन्द्राय साम गायत" (२० । ६२ । ५-७) "तम्वभि प्रगायत" (२०।६१। ४-६) ये पञ्चम दिनमें होते हैं ॥ इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"मध्यमेष्वेवा ह्यसि वीरयुरित्युक्थस्तोत्रियानुरूपाः" इति (वैतानसूत्र ६ । १) ॥

तथा वैकृत पृष्ठ्यषड्हके द्वितीय दिनमें "एवा ह्यसि वीरयुः" यह उक्थस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पृष्ठ्यत्र्यहस्य एवा ह्यसि वीरयुरित्युक्थे" (वैतानसूत्र ८.२)

तथा इसीके तृतीयदिनमें इसका जो विनियोग "अभि प्र वः सुराधसम्" (२० । ५१) सूक्तमें कहा है, उसको देखना चाहिये ।

तथा पृष्ठ्यपञ्चाहके द्वितीय दिनमें "एवा ह्यसि वीरयुः" यह पृष्ठोक्थस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पृष्ठ्यपञ्चाहस्यैवा ह्यसि वीरयुरिति" (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः । एवा ते राध्यं मनः ॥ १ ॥

एव । हि । असि । वीरऽयुः । एव । शूरः । उत । स्थिरः ॥ एव । ते । राध्यम् । मनः ॥ १ ॥

आप वीरोंको हटाने वाले हैं, शूर हैं और स्थिर हैं, आपका मन राध्य ॥ १ ॥

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥

एव । रातिः । तुविऽमघ । विश्वेभिः । धायि । धातृऽभिः । अध । चित् । इन्द्र । मे । सचा ॥ २ ॥

हे बहुतसे धनसे सम्पन्न इन्द्रदेव ! अपनी पुष्ट करने वाली समस्त शक्तियोंके साथ हममें दानशक्तिको स्थापित करिये, हे इन्द्र ! फिर आप मेरे सहायक बनिये ॥ २ ॥

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते । मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥

मो इति । सु । ब्रह्माऽइव । तन्द्रयुः । भुवः । वाजानाम् । पते ॥
मत्स्व । सुतस्य । गोऽमतः ॥ ३ ॥

हे अन्नोंके स्वामी आप ब्रह्माजीकी समान तन्द्रयु न बनिये और बुद्धि प्रदान करने वाले अभिषुत सोमसे आनन्दमें भरिये ३

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । विऽरप्शी । गोऽमती । मही ॥
पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

इनकी मधुर, गोप्रदात्री विशाल भूमि हवि प्रदान करनेवाले यजमानको पक्व शाखाकी समान (फल प्रदान करने वाली है)

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । विऽभूतयः । ऊतयः । इन्द्र । माऽवते ॥ सद्यः ।
चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीपति इन्द्र ! आपकी रक्षक विभूतियें, हवि देने वाले यजमानके लिये शीघ्र ही उपस्थित होजाती हैं ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम॑ उक्थं च॒ शंस्या॑ । इन्द्रा॑य

सोम॑पीतये ॥ ६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्या॑ । स्तोम॑ः । उक्थम् । च । शंस्या॑ ॥

इन्द्राय । सोम॑ऽपीतये ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके त्रयोविंशं सूक्तम् ॥

इन्द्रको सोम पिलाते समय स्तोम उक्थ और शंस्या (नामक स्तुतियें) इन्द्रदेवकी कमनीय हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें तेईसवाँ सूक्त समाप्त (६७१)

अभिप्लवे "तं ते मदं गृणीमसि" इत्यस्य विनियोगः पूर्वेण [२०. ६०] सह उक्तः ॥

तथा व्युष्टयाङ्गिरसकापिवनचैत्ररथ्यहानां प्रथमेऽहनि "तं ते मदं गृणीमसि" इति उक्थस्तोत्रियो भवति । तदु उक्तं वैताने । "व्युष्टयाङ्गिरसकापिवनचैत्ररथ्यहानां तं ते मदं गृणीमसीति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा वैश्वदेवादीनां त्र्यहाणां द्वितीयेष्वहःसु अस्य विनियोगः "तमिन्द्रं वाजयामसि" इति सूक्ते [२०. ४७] उक्तः ॥

अभिप्लवमें "तं ते मदं गृणीमसि" इसका विनियोग पूर्वसूक्त (२० । ६०) के साथ कह दिया है ।

तथा व्युष्टय आंगिरस कापिवन चैत्ररथ त्र्यहोंके प्रथम दिनमें "तं ते मदं गृणीमसि" यह उक्थस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"व्युष्टयांगिरसकापिवनचैत्ररथत्र्यहानां तं ते मदं गृणीमसीति" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

तथा वैश्वदेव आदि ऽयहोंके द्वितीय दिनोंमें इसका विनियोग "तमिन्द्रं वाजयामसि" २० । ४७ सूक्तमें कहा है ॥

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् । उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥

तम् । ते । मदम् । गृणीमसि । वृषणम् । पृत्ऽसु । ससहिम् । ऊँ इति । लोकऽकृत्नुम् । अद्रिऽवः । हरिऽश्रियम् ॥ १ ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! हम फलोंकी वर्षा करने वाले, सेनाओं में शत्रुओंका अभिभव करने वाले और हरी नामक घोड़ोंकी श्रीसे सम्पन्न आपके लोककृत्नु मदकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥ २ ॥

येन । ज्योतींषि । आयवे । मनवे । च । विवेदिथ ।
मन्दानः । अस्य । बर्हिषः । वि । राजसि ॥ २ ॥

आपने जिस सोमके प्रभावसे आयु और मनुके लिये ज्योतिर्मय उपायोंको प्राप्त कराया था, उस सोमसे हर्षमें भरे हुए आप इस यजमानके कुशासन पर विराज रहे हैं ॥ २ ॥

तदद्या चित्त उक्थिनोनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ३ ॥

तत् । अद्य । चित् । ते । उक्थिनः । अनु । स्तुवन्ति । पूर्वऽथा ।
वृषऽपत्नीः । अपः । जय । दिवेऽदिवे ॥ ३ ॥

ये उक्थगान करनेवाले आपके पूर्व कर्मोंकी स्तुति कर रहे हैं, आप प्रत्येक विजिगीषाके अवसर पर धर्मकृत्य करके विजय पाइये

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ४ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरुऽहूतम् । पुरुऽस्तुतम् ।
इन्द्रम् । गीःऽभिः । तविषम् । आ । विवासत ॥ ४ ॥

बहुतोंसे आहूत और बहुतोंसे स्तुत उन इन्द्रदेवका ही तुम यशोगान करो, महान् इन्द्रदेवको ही तुम स्तुतिरूपा वाणियोंसे आवासित करो ॥ ४ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी ।
गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ५ ॥

यस्य । द्विऽबर्हसः । बृहत् । सहः । दाधार । रोदसी इति ।
गिरीन् । अज्रान् । अपः । स्वः । वृषऽत्वना ॥ ५ ॥

जिस द्विबर्हस् इन्द्रके धर्मभावके कारण द्यावा पृथिवी उनके महान् बल पर्वत वज्र जल और स्वर्गको धारण करते हैं (हे स्तोताओं ! तुम उन इन्द्रदेवकी स्तुति करो ॥ ५ ॥

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे ।
इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ६ ॥

सः । राजसि । पुरुऽस्तुतः । एकः । वृत्राणि । जिघ्नसे ।
इन्द्र । जैत्रा । श्रवस्या । च । यन्तवे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके चतुर्विंशं सूक्तम् ॥

हे पुरुष्टुत इन्द्र ! आप विजयशील यशको पानेके लिये दमकते हैं और अकेले ही आवरक शत्रुओंको मार डालते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चौबीसवाँ सूक्त समाप्त (६७८)

"वयमु त्वामपूर्व्य" इत्याद्यतृचस्य विनियोगः [२०. १४] इत्यत्र उक्तः ॥

तथा "इन्द्राय साम गायत" [२०. ६२. ५] इत्यस्य विनियोगः "इन्द्रो मदाय वावृधे" [२०. ५६] इत्यनेन सह उक्तः ॥

"वयमुः त्वामपूर्व्य" सूक्तका विनियोग (२० । १४) में कह दिया है ।

तथा "इन्द्राय साम गायत" (२० । ६५ । ५) इसका विनियोग "इन्द्रो मदाय वावृधे" (२० । ५६) के साथ कह दिया है ।

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वाम् । अपूर्व्य । स्थूरम् । न । कत् । चित् । भरन्तः । अवस्यवः । वाजे । चित्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

हे वारम्वार गमन करने पर भी नवीन ही रहनेवाले अपूर्व्य ! (अर्थात् आपका अनादर कभी नहीं होता) इन्द्र ! आप पूजनीयका अन्नप्राप्ति वा संग्राममें हवि आदिसे पोषण करने वाले हम रक्षाकाम ही, आवाहन करते हैं, आप हमारी ओर ही विजय दिलानेके लिये आइये हमारे प्रतिपक्षियोंकी ओर न जाइये, क्योंकि—हम ही आपका आवाहन कर रहे हैं । जैसे मनुष्य किसी परमगुणी राजाको अभिमत फल देकर पुष्ट करते हैं, उसको ही अपनी विजयके लिये बुलाते हैं, इसी प्रकार हम आपका आवाहन करते हैं ॥ १ ॥

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥२॥

उप॑ । त्वा॒ । कर्म॑न् । ऊ॒तये॑ । सः । नः॒ । युवा॑ । उ॒ग्रः । च॒क्राम॑ । यः । धृ॒षत् ।
त्वाम् । इत् । हि । अ॒वि॒तार॑म् । व॒वृ॒महे॑ । सखा॑यः । इ॒न्द्र॒ । सा॒न॒सिम् ॥ २ ॥

हे इन्द्रदेव ! युद्ध आदि कर्मके आने पर रक्षाके लिये हम आप की शरणमें जाते हैं । जो इन्द्रदेव शत्रुओंको दबा देते हैं, नित्य तरुण रहते हैं, प्रचण्ड बली हैं, वह इन्द्रदेव हमको सहायकरूप से प्राप्त होवें । हे इन्द्रदेव ! मित्ररूप हम प्रीति करने वाले और रक्षा करने वाले आपका ही वरण करते हैं ॥ २ ॥

यो न॑ इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ व स्तुषे ।
सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥ ३ ॥

यः । नः॒ । इ॒दम्ऽइ॑दम् । पु॒रा । प्र । वस्यः॑ । आ॒ऽनि॒नाय॑ । तम् । ऊँ॒ इति॑ । वः॒ । स्तु॒षे॒ । सखा॑यः । इन्द्र॑म् । ऊ॒तये॑ ॥ ३ ॥

हे समान ख्याति वाले मित्र हुए यजमानों ! मैं तुम्हारी रक्षा के लिये उन इन्द्रदेवकी स्तुति करता हूँ, कि-जो इन्द्रदेव पहिले हमारे लिये यह गौ है आदिक रीतिसे धन देचुके हैं । उन ही अभिमत फल देने वाले इन्द्रदेवकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥

हर्य॑श्वं॒ सत्प॑तिं चर्षणी॒सहं॒ स हि ष्मा॒ यो अम॑न्दत ।

आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥

हरिऽअश्वम् । सत्ऽपतिम् । चर्षणिऽसहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ।

आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृऽभ्यः । मघऽवा । शतम् ॥ ४ ॥

जिन इन्द्रदेवके हरिनामक घोड़े हैं, जो श्रेष्ठ कर्म करने वाले मनुष्योंके पालक हैं, और मनुष्योंको नियममें रखने वाले हैं, उन इन्द्रदेवकी मैं स्तुति करता हूँ । जो इन्द्रदेव स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ । वह धनवान् इन्द्र हम स्तुति करने वालोंको सौ गौओंका और सौ घोड़ोंका झुण्ड प्रदान करें ४

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् । धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ५ ॥

इन्द्राय । साम । गायत । विप्राय । बृहते । बृहत् ॥ धर्मऽकृते । विपःऽचिते । पनस्यवे ॥ ५ ॥

हे स्तोताओं ! तुम धर्मकर्ता विद्वान्, स्तुत्य विशाल इन्द्रदेवके लिये बृहत्सामका गायन करो ॥ ५ ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥ ६ ॥

त्वम् । इन्द्र । अभिऽभूः । असि । त्वम् । सूर्यम् । अरोचयः ॥
विश्वऽकर्मा । विश्वऽदेवः । महान् । असि ॥ ६ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले हैं, आपने सूर्यको आकाशमें दीप्त किया है, आप विश्वकर्मा विश्वदेव और महान् हैं ॥ ६ ॥

विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ७ ॥

विऽभ्राजन् । ज्योतिषा । स्वः । अगच्छः । रोचनम् । दिवः ।
देवाः । ते । इन्द्र । सख्याय । येमिरे ॥ ७ ॥

आप अपनी ज्योतिसे-स्वर्गको दमकाने वाले सूर्यको दमकाते हुए, स्वर्गमें प्राप्त हुए हैं, हे इन्द्र ! देवता आपके सखित्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ८ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरुऽहूतम् । पुरुऽस्तुतम् ॥
इन्द्रम् । गीःऽभिः । तविषम् । आ । विवासत ॥ ८ ॥

हे स्तोताओं ! तुम अनेक यजमानोंसे बुलाये हुए और अनेक स्तोताओंसे स्तुत इन इन्द्रकी ही स्तुति करो, उन बलवान् इन्द्र को ही स्तुतिवाणियोंसे आच्छादित करो ॥ ८ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥

यस्य । द्विऽबर्हसः । बृहत् । सहः । दाधार । रोदसी इति ॥

गिरीन् । अज्रान् । अपः । स्वः । वृषऽत्वना ॥ ९ ॥

जिस द्विबर्हस् इन्द्रके धर्मभावके कारण द्यावापृथिवी उनके महान् बल पर्वत वज्र जल और स्वर्गको धारण करते हैं। हे स्तोताओ! तुम इन्द्रदेवकी स्तुति करो ॥ ९ ॥

स रांजसि पुरुष्टुतुँ एको वृत्राणिं जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ १० ॥

सः । राजसि । पुरुऽस्तुत । एकः । वृत्राणि । जिघ्नसे ॥ इन्द्र । जैत्रा । श्रवस्या । च । यन्तवे ॥ १० ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चविंशं सूक्तम् ॥

हे पुरुष्टुत इन्द्र! आप विजयशील यशको पानेके लिये दमकते हैं और अकेले ही आवरक शत्रुओंको मार डालते हैं ॥१०॥

पञ्चम अनुवाकमें पच्चीसवाँ सूक्त समाप्त (६७८)

पृष्ठयस्य षष्ठेहनि "इमा नु कं भुवना सीषधाम" [२०.६३.१] "हत्वाय देवा असुरान् यदायन्" [२०. ६३. २] इति द्वैपदौ पच्छः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "षष्ठ इमा नु कं भुवना सीषधाम हत्वाय देवा असुरान् यदायन्निति द्वैपदौ पच्छः" इति [वै० ६. २]॥

वाजपेये तृतीयसवने प्राकृतयोः स्तोत्रियानुरूपयोः प्रत्याम्नायकौ "य एक इद् विदयते" [२०. ६३. ४] "य इन्द्र सोमपातमः" [२०. ६३. ७] एतौ उक्थस्तोत्रियानुरूपौ भवतः। तद् उक्तं वैताने । "तृतीयसवने य एक इद् विदयते य इन्द्र सोमपातम इत्युक्थस्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ४. ३] ॥

तथा अभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते च तृतीयसवने एतौ उक्थस्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "अभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते च य एक इद् विदयते य इन्द्रसोमपातम इत्युक्थस्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ६. १] ॥

तथा विश्वजिति एकाहीभूते "य एक यद् विदयते" इत्येष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "विश्वजिति य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ८. २] ॥

तथा चतुरहाणां चतुर्थेष्वहःसु "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [२०.१३८] "य एक इद् विदयते" [२०.६३.४] एतौ आज्योक्थस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "चतुर्थेषु महाँ इन्द्रो य ओजसा य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा अभिप्लवषडहस्य "य एक इद् विदयते" इति उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "अभिप्लवषडहस्य य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा अभिप्लवस्य षष्ठमहः उक्थ्यसंस्थं भवति तदा "य एक इद् विदयते" [२०. ६३. ४] "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" [२०. १११] एतौ उक्थस्तत्रियौ विकल्पितौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "षष्ठमुक्थ्यं चेद् य एक इद् विदयते यत् सोममिन्द्र विष्णवीति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा द्वादशाहस्य छन्दोमत्र्यहस्य मध्यमान्त्ययोरह्नोः 'त्वं न इन्द्रा भर" [२०. १०८] "य एक इद् विदयते" एतौ उक्थस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः । तद् उक्तं वैताने । "द्वादशाहस्य छन्दोममध्यमान्त्ययोस्त्वं न इन्द्रा भर य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ८. ४] ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन "इमा नु कम् भुवना सीषधाम" (२०।६३।१) "इन्द्राय देवा असुरा सदायन्" (२० । ६३ । २) इन द्विपदों

को पद २ करके कहे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"इमा नु कं भुवना सीषधाम इत्याय देवा असुरान् पदायभिति द्विपदो पच्छः" (वैतानसूत्र ६। २)॥

वाजपेयके तृतीय सवनमें प्राकृत स्तोत्रियानुरूपोंके मध्याम्नायक "य एक इद् विदयते" (२०। ६३। ४) "य इन्द्र सोमपातमः" (२०। ६३। ७) ये उक्थ स्तोत्रियानुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तृतीयसवने य एक इद् विदयते य इंद्र सोमपातम इत्युक्थस्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र४।३)

तथा अभिजित् विषुवत् विश्वजित् महाव्रतके भी तृतीयसवन में ये उक्थस्तोत्रिय अनुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अभिजिति विषुवति विश्वजिति महाव्रते च य एक इद् विदयते य इन्द्र सोमपातम इत्युक्थस्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ६। १)॥

तथा एकाहीभूत विश्वजित्में "य एक इद् विदयते" यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"विश्वजिति य एक इद् विदयते" (वैतानसूत्र ८। २)॥

तथा चतुरहोंके चौथे दिनोंमें "महाँ इन्द्रो य ओजसा य एक इद् विदयत" इति ये आज्योक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"चतुर्थेषु महाँ इन्द्रो य ओजसा य एक इद् विदयते" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

तथा अभिसवपञ्चाहका "य एक इद् विदयते" यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानमें कहा है, कि—"अभिसवपञ्चाहस्य य एक इद् विदयते" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

तथा अभिसवका छठा दिन उक्थ्यसंस्थ होता है तब "य एक इद् विदयते" (२०। ६३। ४) "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" (२०। १११) ये विकल्पित उक्थ्य स्तोत्रिय होते हैं। इसी बात

को वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"षष्ठमुक्थ्यं चेद्य य एक इद्ध विद्यते यत् सोममिन्द्रविष्णवीति" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

तथा द्वादशाह छन्दोमत्र्यहके पहिले तीसरे दिनोंमें "त्वं न इन्द्रा भर" (२० । १०८) "य एक इद्ध विदयते" ये यथाक्रम उक्थ और स्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"द्वादशाहस्य छन्दोमप्रथमान्त्ययोस्त्वं न इन्द्राभर य एक विदयते" (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ १ ॥

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः । यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्रऽजाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः । सह । चीक्लृपाति ॥ १ ॥

ये सम्पूर्ण विश्वेदेवता, इन्द्र तथा भुवन सुखको पानेकी चेष्टा करते हैं, आदित्यों सहित इन्द्रदेव हमारे यज्ञको शरीरको और प्रजाको समर्थ करें ॥ १ ॥

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्ववि॒ता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ २ ॥

आदित्यैः । इन्द्रः । सऽगणः । मरुत्ऽभिः । अस्माकम् । भूतु । अविता । तनूनाम् ।

हत्वाय । देवाः । असुरान् । यत् । आयन् । देवाः । देवऽत्वम् ।

अभिऽरक्षमाणाः ॥ २ ॥

जो देवता देवत्वकी रक्षा करनेके लिये असुरोंको मार कर देवत्वको अक्षुण्ण रख सके थे, उन आदित्य और मरुद्गणोंसे सम्पन्न इन्द्र हमारे शरीरके रक्षक बनें ॥ २ ॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ३

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् । स्वधाम् ।

इषिराम् । परि । अपश्यन् ।

अया । वाजम् । देवऽहितम् । सनेम । मदेम । शतऽहिमाः । सुऽवीराः ३

देवता शक्तियोंके द्वारा सूर्यको प्रत्येकके सन्मुख लाये हैं और फिर उन्होंने पृथ्वीको हविरूप अन्नसे सम्पन्न देखा है । इसी मायाके द्वारा हम देवताओंका हित करने वाले अन्नको पावें और सुन्दर वीरोंसे सम्पन्न रह कर सौ वर्ष तक जीवित रहें ३

य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो

अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥

यः । एकः । इत् । विऽदयते । वसु । मर्ताय । दाशुषे ॥ ईशानः ।

अप्रतिऽस्कुतः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ४ ॥

जो अप्रतिभट स्वामी इन्द्र हवि देने वाले यजमानको धन देनेमें अद्वितीय हैं ॥ ४ ॥

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः

शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥

कदा । मर्तम् । अराधसम् । पदा । क्षुम्पम्ऽइव स्फुरत् ॥ कदा ।

नः । शुश्रवत् । गिरः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ५ ॥

हवि या स्तुतिसे अपनी आराधना न करने वाले मनुष्यको इन्द्रदेव कब पैरसे ताड़ित करेंगे और कब हम स्तोताओंकी वाणियोंको सुनेंगे ॥ ५ ॥

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।

उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥

यः । चित् । हि । त्वा । बहुऽभ्यः । आ । सुतऽवान् । आऽवि-

वासति ॥ उग्रम् । तत् । पत्यते । शवः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो अभिषुत सोम वाला पुरुष आपकी बहुतसी स्तुतियोंसे प्रार्थना करता है, वह प्रचण्ड बलसे ऐश्वर्यमें भर जाता है ॥ ६ ॥

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति । येना हंसि ।

न्यऽत्त्रिणं तमीमहे ॥ ७ ॥

यः । इन्द्र । सोमऽपातमः । मदः । शविष्ठ । चेतति ॥ येन । हंसि ।

नि । अत्त्रिणम् । तम् । ईमहे ॥ ७ ॥

जो इन्द्रदेव सोमके बड़े पियक्कड़ हैं और बलमय मद जिनमें उदित होता है, और हे इन्द्र ! जिसके द्वारा भक्षणशील राक्षसों

को आप धारते हैं, उस बलकी हम याचना करते हैं ॥ ७ ॥

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥

येन। दशऽग्वम्। अध्रिऽगुम्। वेपयन्तम्। स्वःऽनरम् ॥ येन। समुद्रम्। आविथ। तम्। ईमहे ॥ ८ ॥

जिस प्रभावके द्वारा आपने दशगु अध्रिगु काँपते हुए स्वर्नर की रक्षा की थी और समुद्रकी रक्षा की थी उस प्रभावकी हम याचना करते हैं ॥ ८ ॥

येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥

येन। सिन्धुम्। महीः। अपः। रथान्ऽइव। प्रऽचोदयः ॥ पन्थाम्। ऋतस्य। यातवे। तम्। ईमहे ॥ ९ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके षड्विंशं सूक्तम् ॥

जिस प्रभावसे आपने विशाल जलोंको सिंधुकी ओर रथकी समान चला रक्खा है, अमृतके मार्गमें आनेके लिये हम उस प्रभावकी याचना करते हैं ॥ ९ ॥

पञ्चम अनुवाकमें छब्बीसवाँ सूक्त समाप्त (६७९)

अभिप्लवस्य पञ्चमेऽहनि "एन्द्र नो गधि प्रियः" इति उक्थ्यस्तोत्रियो भवति। तदुक्तं वैताने। "पञ्चम एन्द्र नो गधि प्रिय इति" इति [वै० ८. ३] ॥

अभिप्लवके पञ्चम दिनमें "एन्द्र नो गधि प्रियः" ये उक्थ-

स्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"पञ्चम एन्द्र नो गधि प्रियः" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः॥ १॥

आ। इन्द्र। नः। गधि। प्रियः। सत्राऽजित्। अगोह्यः॥ गिरिः। न। विश्वतः। पृथुः। पतिः। दिवः॥ १॥

हे इन्द्र! आप हमारे प्रिय हैं, हमको प्रियरूपमें ग्रहण करिये, आप सत्यसे विजय पाने वाले हैं, कोई आपको छिपा नहीं सकता, आप पर्वतकी समान विशाल हैं और स्वर्गके स्वामी हैं॥ १॥

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः॥ २॥

अभि। हि। सत्य। सोमऽपाः। उभे इति। बभूथ। रोदसी इति॥ इन्द्र। असि। सुन्वतः। वृधः। पतिः। दिवः॥ २॥

हे सत्य इन्द्र! आप अभिमुख होकर सोमका पान करनेवाले हैं द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंमें आप प्रकट होजाते हैं, हे इन्द्र! आप अभिषव करने वालेको बढ़ाने वाले और स्वर्गके स्वामी हैं॥ २॥

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः॥ ३॥

त्वम्। हि। शश्वतीनाम्। इन्द्र। दर्ता। पुराम्। असि॥ हन्ता। दस्योः। मनोः। वृधः। पतिः। दिवः॥ ३॥

हे इन्द्रदेव ! आप शाश्वत पुरोंको तोड़ने वाले हैं, दस्युओंका संहार करने वाले हैं, मनुको बढ़ाने वाले हैं और स्वर्गके स्वामी हैं ३

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः । एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ४ ॥

आ । इत् । ऊं इति । मध्वः । मदिन्ऽतरम् । सिञ्च । वा । अध्वर्यो इति । अन्धसः । एव । हि । वीरः । स्तवते । सदाऽवृधः ४

हे अध्वर्यो ! मधुसे भी अधिक मद करने वाले अन्नके भागसे इन इन्द्रदेवको तृप्त करो, यजमानकी सदा बढ़ोतरी करने वाले यह इन्द्र स्तुति पाते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥

इन्द्र । स्थातः । हरीणाम् । नकिः । ते । पूर्व्यऽस्तुतिम् ॥ उत् । आनंश । शवसा । न । भन्दना ॥ ५ ॥

हे हरि नामक घोड़ों पर स्थित होने वाले इन्द्र ! आपके पूर्व कर्मोंके कारण की जाने वाली स्तुतिको और कल्याणोंको कोई बलसे नहीं पासका है ॥ ५ ॥

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः । अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ६ ॥

तम् । वः । वाजानाम् । पतिम् । अहूमहि । श्रवस्यवः । अप्राऽयुऽभिः । यज्ञेभिः । ववृधेन्यम् ॥ ६ ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके सप्तविंशं सूक्तम् ॥

अन्नको चाहने वाले हम, हविरूप अन्नके स्वामी इन्द्रका आह्वान करते हैं। यह इन्द्रदेव सावधानतापूर्वक किये हुए यज्ञों से बारम्बार बढ़ते हैं ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें सत्ताईसवाँ सूक्त समाप्त (१८०)

दशाहस्य नवमेऽहनि "एतो न्विन्द्रं स्तवाम" इति उक्थस्तोत्रियो भवति। तदु उक्तं वैताने। "नवम एतो न्विन्द्रं स्तवामेति" इति [वै० ८. ४] ॥

दशाहके नवम दिनमें "एतो न्विन्द्रं स्तवाम" यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"नवम एतो न्विन्द्रं स्तवामेति" (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥ १ ॥

एतो इति। नु। इन्द्रम्। स्तवाम। सखायः। स्तोम्यम्। नरम् ॥ कृष्टीः। यः। विश्वाः। अभि। अस्ति। एकः। इत् ॥१॥

मित्ररूप हम इस ओर आनेके लिये इन्द्रकी स्तुति करते हैं, यह इन्द्र स्तुतिके पात्र हैं, नेता हैं, यह इन्द्र सकल कर्मफलोंको असाधारणरूपसे प्रेरित करते हैं ॥ १ ॥

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः। घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥ २ ॥

अगोऽरुधाय। गोऽइषे। द्युक्षाय। दस्म्यम्। वचः ॥ घृतात्। स्वादीयः। मधुनः। च। वोचत ॥ २ ॥

गौओंको न रोकने वाले, वाणीरूप अन्न वाले, दमकने वाले,

दर्शनीय इन्द्रके लिये हे स्तोताओं ! तुम घृत और शहदसे भी मधुर वचनका उच्चारण करो ॥ २ ॥

यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे । ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥

यस्य । अमितानि । वीर्या । न । राधः । परिऽएतवे ॥ ज्योतिः । न । विश्वम् । अभि । अस्ति । दक्षिणा ॥ ३ ॥

इति पञ्चमेनुवाके अष्टाविंशं सूक्तम् ॥

इन इन्द्रदेवमें कार्यको साधनेके लिये अमित वीर्य हैं और दमकती हुई दक्षिणा हैं ॥ ३ ॥

पञ्चम अनुवाकम अट्ठाईसवाँ सूक्त समाप्त (६८१)

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् । अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ १ ॥

स्तुहि । इन्द्रम् । व्यश्वऽवत् । अनूर्मिम् । वाजिनम् । यमम् ॥ अर्यः । गयम् । मंहमानम् । वि । दाशुषे ॥ १ ॥

हे ऋत्विज ! घोड़ोंको छोड़कर यज्ञमें निश्चल भावसे विराजमान धनी और प्रशंसाके पात्र इन्द्रकी आप हविर्दाता यजमानके कल्याणके लिये स्तुति करिये ॥ १ ॥

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् । सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २ ॥

एव । नूनम् । उप । स्तुहि । वैयश्व । दशमम् । नवम् ॥ सुऽविद्वांसम् । चर्कृत्यम् । चरणीनाम् ॥ २ ॥

हे वैयश्व ! आप सदा नवीन, दशम, परम विद्वान्, चरणियों का वारम्बार कर्तन करने वाले इन्द्रदेवकी स्तुति करिये ॥ २॥

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् । अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ३ ॥

वेत्थ । हि । निःऽऋतीनाम् । वज्रऽहस्त । परिऽवृजम् । अहःऽअहः । शुन्ध्युः । परिपदाम्ऽइव ॥ ३ ॥

पञ्चमेऽनुवाके एकोनत्रिंशं सूक्तम् ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! जैसे शोधक आदित्य प्रतिदिन परिपदों को (चारों ओर पतन करने वाली किरणों आदिको) जानते हैं, इसी प्रकार आप पीड़ा देनेवाली शक्तियोंके समूहको जानते हैं ३

पञ्चम अनुवाकमें उन्तीसवाँ सूक्त समाप्त (६८२)

पञ्चम अनुवाक समाप्त

पृष्ठ्यषडहस्य षष्ठेहनि प्रातःसवनमाध्यंदिनयोर्द्वयोः सवनयोः प्राकृतीनां प्रस्थितयाज्यानां पुरस्तात् "वनोति हि" इत्याद्याः पारुच्छेप्याख्या ऋचः संबध्नाति । तदुक्तं वैताने । "पृष्ठ्यषष्ठे वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः [२०. ६७] विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते [२०. ७२] इति पारुच्छेपीरुपदधाति द्वयोः सवनयोः पुरस्तात् प्रस्थितयाज्यानाम्" इति [वै० ६. १] ॥

पृष्ठ्य षडहके छठे दिन प्रातः सवन और माध्यन्दिन दोनों सवनोंमें प्राकृती प्रस्थितयाज्याओंसे पहिले "वनोति हि" आदिक पारुच्छेप्या नामक ऋचाएँ पढ़ी जाती हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"पृष्ठ्यषष्ठे वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः (२० । ६७) विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते (२० । ७२)

इति पादच्छेपीरुपदधाति द्वयोः सवनयोः पुरस्तात् प्रस्थितयाज्यानाम्" (वैतानसूत्र ९ । १)

वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा
यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः ।
सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः ।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥

वनोति । हि । सुन्वन् । क्षयम् । परीणसः । सुन्वानः । हि । स्म ।
यजति । अव । द्विषः । देवानाम् । अव । द्विषः ।
सुन्वानः । इत् । सिसासति । सहस्रा । वाजी । अवृतः ।
सुन्वानाय । इन्द्रः । ददाति । आऽभुवम् । रयिम् । ददाति । आऽभुवम् ॥ १ ॥

सोमका अभिषव करने वाला पुरुष बहुतसे घरोंको प्राप्त करता है, सोमका अभिषव करता हुआ अपने शत्रुओंका अवयजन करता है, और देवशत्रुओंका अवयजन करता है। सोमका अभिषव करने वाला सहस्रों वस्तुओंका दान करना चाहता है, अन्नसे सम्पन्न रहता है, और शत्रुओंसे घिरा हुआ नहीं रहता है। अभिषव करने वालेके लिये इन्द्रदेव पृथ्वीभरका धन देते हैं १

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः ।
यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् ।

अस्मासु तन्मरुतो यच्चं दुष्टरं दिधृता यच्चं दुष्टरम्

मो इति । सु । वः । अस्मत् । अभि । तानि । पौंस्या । सना ।

भूवन् । द्युम्नानि । मा । उत । जारिषुः । अस्मत् । पुरा । उत । जारिषुः ।

यत् । वः । चित्रम् । युगेऽयुगे । नव्यम् । घोषात् । अमर्त्यम् ।

अस्मासु । तत् । मरुतः । यत् । च । दुस्तरम् । दिधृत । यत् ।

च । दुस्तरम् ॥ २ ॥

(हे मरुद्गणों !) आपके जो दमकते हुए पुरुषार्थमय तापक तेज हैं, वे हमारे अभिमुख न होवें, वे हमें जीर्ण न करें, वे हमें जीर्ण न करें आपका जो घोषके कारण अमर्त्य नव्य चायनीय बल है, उसको हममें स्थापित करो, उस शत्रुओंसे दुस्तर बल को हममें स्थापित करो ॥ २ ॥

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जात-

वेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।

घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः

अग्निम् । होतारम् । मन्ये । दास्वन्तम् । वसुम् । सूनुम् । सहसः ।

जातऽवेदसम् । विप्रम् । न । जातऽवेदसम् ।

यः । ऊर्ध्वया । सुऽअध्वरः । देवः । देवाच्या । कृपा ।

घृतस्य। विऽभ्राष्टिम्। अनु। वष्टि। शोचिषा। आऽजुह्वानस्य। सर्पिषः ॥ ३ ॥

अग्निदेवको मैं देवताओंका होता, धनका प्रदान करनेवाला, बलका अनुज, उत्पन्न होने वालोंको जाननेवाले विप्रकी समान जातवेदा मानता हूँ। यह अग्निदेव अपनी देवताओंको पहुँचने वाली समर्थ ऊँची लपटसे यज्ञको सुन्दर बनाते हैं और होमेहुए घृतकी दमकको और घृतकी बिन्दुओंकी कामना करते हैं ॥३॥

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।

आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥

यज्ञैः। सम्ऽमिश्लाः। पृषतीभिः। ऋष्टिऽभिः। यामन्। शुभ्रासः। अञ्जिषु। प्रियाः। उत।

आऽसद्य। बर्हिः। भरतस्य। सूनवः। पोत्रात्। आ। सोमम्। पिबत। दिवः। नरः ॥ ४ ॥

हे भरण करने वाले इन्द्रके छोटे भाई मरुद्गणों! तुम स्वर्गके नेता हो, तुम फलप्रदानके अवसर पर अपनी हाँसती हुई पृषती नामक घोड़ियोंके द्वारा यज्ञोंमें आते हो, तुम प्रिय हो और शुभ्र हो, ऐसे आप कुशाओं पर बैठ कर पोत्रसे सोमका पान करो ४

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।

प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥

आ । वक्षि । देवान् । इह । विप्र । यक्षि । च । उशन् । होतः । नि । सद । योनिषु । त्रिषु ।

प्रति । वीहि । प्रऽस्थितम् । सोम्यम् । मधु । पिब । आग्नीध्रात् । तव । भागस्य । तृप्णुहि ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! आप इस यज्ञमें देवताओंको लाइये, और उनका पूजन करिये, हे कामयमान होतः ! आप तीनों स्थानोंमें विराजमान हूजिये, प्रस्थित भागको पहुँचानेके अनन्तर स्वयं भी भक्षण करिये, और आग्नीध्रसे सोम्य मधुका पान करिये, इस प्रकार अपने भागसे तृप्त हूजिये ॥ ५ ॥

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः ।
तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ॥ ६ ॥

एषः । स्यः । ते । तन्वः । नृम्णऽवर्धनः । सहः । ओजः । प्रऽदिवि । बाह्वोः । हितः ।

तुभ्यम् । सुतः । मघऽवन् । तुभ्यम् । आऽभृतः । त्वम् । अस्य । ब्राह्मणात् । आ । तृपत् । पिब ॥ ६ ॥

हे मघवन् ! यह सोम आपके शरीरके बलको बढ़ाने वाला है, विजिगीषाके लिये आपकी भुजाओंमें दूसरोंको दबानेकी शक्ति और ओज भरा हुआ है, हे इन्द्र ! यह सोम आपके लिये अभिषुत हुआ है, आपके लिये ही पात्रमें भरा गया है आप ब्राह्मणके द्वारा तृप्ति पर्यन्त इसका पान करिये ॥ ६ ॥

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते ।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ७ ॥

यम् । ऊं इति । पूर्वम् । अहुवे । तम् । इदम् । हुवे । सः । इत् । ऊं इति । हव्यः । ददिः । यः । नाम । पत्यते ।
अध्वर्युऽभिः । प्रऽस्थितम् । सोम्यम् । मधु । पोत्रात् । सोमम् । द्रविणःऽदः । पिब । ऋतुऽभिः ॥ ७ ॥

इति षष्ठेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मैं जिन इन्द्रदेवका पहिले आह्वान किया करता था, अब भी उनका ही आह्वान करता हूँ, यह वही हव्य दिया जारहा है, जो ऐश्वर्यसम्पन्न करता है, हे धनप्रद इन्द्र ! अध्वर्युओंके दिये हुए इस सोम्य मधुका समयानुसार पान करिये ॥ ७ ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (९८३)

छन्दोमानां प्रथमेहनि प्रातःसवने "सुरूपकृत्नुमूतये" इति द्वादश ऋच आवापस्थाने आवपते । तदुक्तं वैताने । "सुरूपकृत्नुमूतय इति द्वादशर्चः" इति [वै० ६. ३] ॥

छन्दोमके प्रथम दिन प्रातः सवनमें "सुरूपकृत्नुमूतये इन बारह ऋचाओंको आवापके स्थानमें पढ़े। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"सुरूपकृत्नुमूतये इति द्वादशर्चः" (वैतानसूत्र ६।३)॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥

सुरूपऽकृत्नुम्। ऊतये। सुदुघाम्ऽइव। गोऽदुहे॥ जुहूमसि। द्यविऽद्यवि॥ १॥

जैसे दूध दुहने वालेके लिये सरलतासे दुहाने वाली गौको बुलाया जाता है, इसी प्रकार हम रक्षाके लिये प्रत्येक अवसर पर इन्द्रदेवका आह्वान करते हैं॥ १॥

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद् रेवतो मदः॥ २॥

उप। नः। सवना। आ। गहि। सोमस्य। सोमऽपाः। पिब॥ गोऽदाः। इत्। रेवतः। मदः॥ २॥

इन्द्रदेव गौएँ देने वाले हैं, हर्षमें भरे रहते हैं, धनसम्पन्न हैं, ऐसे इन्द्रदेव हमारे सोमसवनोंके समीप आइये और सोमका पान करिये॥ २॥

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि॥ ३॥

अथ। ते। अन्तमानाम्। विद्याम। सुऽमतीनाम्॥ मा। नः। अति। ख्यः। आ। गहि॥ ३॥

हे इन्द्र ! हम आपके समीप रहने वाली सुन्दर बुद्धियोंको जानते हैं, आप हमारी अधिक निन्दा न होने दीजिये और हमारे पास आइये ॥ ३ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥

परा । इहि । विग्रम् । अस्तृतम् । इन्द्रम् । पृच्छ । विपःऽचितम् ॥

यः । ते । सखिऽभ्यः । आ । वरम् ॥ ४ ॥

हे स्तोतः ! आप किसीसे हिंसित न होने वाले, विप्र विद्वान् इन्द्रकी शरणमें जाओ और उनसे (कुशल) बूझो, वह इन्द्र आपके मित्रोंके लिये वर देते हैं ॥ ४ ॥

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

उत । ब्रुवन्तु । नः । निदः । निः । अन्यतः । चित् । आरत ॥

दधानाः । इन्द्रे । इत् । दुवः ॥ ५ ॥

निन्दक पुरुष हमारी निन्दा न करें, हे स्तोताओं ! तुम इन्द्र में ही मनको लगाते हुए इन्द्रकी शरणमें जाओ ॥ ५ ॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

उत । नः । सुऽभगान् । अरिः । वोचेयुः । दस्म । कृष्टयः ॥

स्याम । इत् । इन्द्रस्य । शर्मणि ॥ ६ ॥

हमारे शत्रु भी हमारे सौभाग्यका बखान करें, हम इन्द्रके सुख प्रदान करने पर दर्शनीय खेतियों वाले होवें ॥ ६ ॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥

आ । ईम् । आशुम् । आशवे । भर । यज्ञऽश्रियम् । नृऽमादनम् ॥ पतयत् । मन्दयत्ऽसखम् ॥ ७ ॥

हे स्तोतः ! इन यज्ञकी शोभारूप, मनुष्योंको हर्षित करने वाले, मित्रोंको प्रसन्न करने वाले आशुकारी इन्द्रको अश्वके ऊपर भरण कर ॥ ७ ॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

अस्य । पीत्वा । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । घनः । वृत्राणाम् । अभवः ॥ प्र । आवः । वाजेषु । वाजिनम् ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! आप इसको (सोमको) पीकर आवरक शत्रुओंके लिये घन हूजिये । और युद्धोंमें हमारे घोड़ेकी रक्षा करिये ।८।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

तम् । त्वा । वाजेषु । वाजिनम् । वाजयामः । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ धनानाम् । इन्द्र । सातये ॥ ९ ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! हम आप यज्ञान्नसे सम्पन्नको यज्ञ वा संग्राममें आह्वान करते हैं । हे इन्द्र ! हम धनप्राप्तिके लिये संग्राम में वा यज्ञमें आपका आवाहन करते हैं ॥ ९ ॥

यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

यः । रायः । अवनिः । महान् । सुऽपारः । सुन्वतः । सखा ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ १० ॥

जो इन्द्र धनके बड़े भारी रक्षक हैं, सुन्दरतासे पालन करने वाले हैं और सोमका अभिषव करने वालेके मित्र हैं, उन इन्द्र के लिये हे स्तोताओं ! तुम स्तुतिका गान करो ॥ १० ॥

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत । सखाय स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥

आ । तु । आ । इत । नि । सीदत । इन्द्रम् । अभि । प्र । गायत ॥ सखायः । स्तोमऽवाहसः ॥ ११ ॥

हे स्तोमका वहन करने वाले मित्ररूप स्तोताओं ! तुम आओ और इधर बैठो तथा इन्द्रका गान करो ॥ ११ ॥

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥

पुरुऽतमम् । पुरूणाम् । ईशानम् । वार्याणाम् । इन्द्रम् । सोमे । सचा । सुते ॥ १२ ॥

इति षष्ठेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

परमविशाल, और बड़े २ वरणीयोंके स्वामी इन्द्रदेवको सोम का अभिषव होनेके साथ ही (आह्वान करो) ॥ १२ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६८४)

छन्दोमानां द्वितीयेऽहनि "स घा नो योग आ भुवत्" इति द्वात्रिंशतम् ऋच आवपते। तदुक्तं वैताने। "स घा नो योग आ भुवदिति द्वात्रिंशतम्" इति [वै० ६. २] ॥

छन्दोमोंके द्वितीय दिनमें "स घा नो योग आभुवत्" इस द्वात्रिंशत्की ऋचाएँ पढ़ी जाती हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"स घा नो योग आभुवदिति द्वात्रिंशतम्" (वैतान-सूत्र ६ । २) ॥

स घा॑ नो॒ योग॒ आ भु॑व॒त् स रा॒ये स पुर॑ंध्याम् ।
गम॒द् वाजे॑भि॒रा स नः॑ ॥ १ ॥

सः । घ॒ । नः॒ । योगे॑ । आ । भु॒व॒त् । सः । रा॒ये । सः । पुर॑म्ऽध्याम् ॥ गम॑त् । वाजे॑भिः । आ । सः । नः॒ ॥ १ ॥

पुरोंकी चिन्ताके अवसर पर वह इन्द्रदेव हमारे सामने प्रकट होते हैं, वह अन्नोंके साथ हमारे पास आवें ॥ १ ॥

यस्य॑ सं॒स्थे न वृ॒ण्वते॒ हरी॑ स॒मत्सु॒ शत्र॑वः । तस्मा॒
इन्द्रा॑य गायत ॥ २ ॥

यस्य॑ । स॒म्ऽस्थे । न । वृ॒ण्वते॑ । हरी॒ इति॑ । स॒मत्ऽसु॑ । शत्र॑वः ॥ तस्मै॑ । इन्द्रा॑य । गा॒य॒त॒ ॥ २ ॥

जिन इन्द्रदेवके स्थित होने पर संग्रामोंमें शत्रु इन्द्रके हरी

नामक घोड़ोंको नहीं घेरते हैं, उन इन्द्रदेवके लिये हे स्तोताओं! तुम स्तुतिका गान करो ॥ २ ॥

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः ॥ ३ ॥

सुतऽपाव्ने। सुताः। इमे। शुचयः। यन्ति। वीतये। सोमासः। दधिऽआशिरः ॥ ३ ॥

यह दधि पड़े, अभिषुत पवित्र सोम, अभिषुत सोमका पान करने वाले इन्द्रदेवके भक्षणके लिये जारहे हैं ॥ ३ ॥

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ४ ॥

त्वम्। सुतस्य। पीतये। सद्यः। वृद्धः। अजायथाः ॥ इन्द्र। ज्यैष्ठ्याय। सुक्रतो इति सुऽक्रतो ॥ ४ ॥

हे सुक्रतो इन्द्र! आप अभिषुत सोमका बड़ा पान करनेके लिये शीघ्र ही बड़े होजाते हैं ॥ ४ ॥

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शं ते सन्तु प्रचेतसे ॥ ५ ॥

आ। त्वा। विशन्तु। आशवः। सोमासः। इन्द्र। गिर्वणः ॥ शम्। ते। सन्तु। प्रऽचेतसे ॥ ५ ॥

हे स्तुतियोंसे संभजनीय इन्द्र! फुर्ती देने वाले सोम आपमें अभिमुख होकर प्रवेश करें। और आपके चित्तको शांति देने वाले होवें ॥ ५ ॥

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ६ ॥

त्वाम् । स्तोमाः । अवीवृधन् । त्वाम् । उक्था । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । त्वाम् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ६ ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! स्तोम आपको बढ़ाते हैं, उक्थ्य आपको बढ़ाते हैं और हमारी वाणियें आपको बढ़ावें ॥ ६ ॥

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् । यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥

अक्षितऽऊतिः । सनेत् । इमम् । वाजम् । इन्द्रः । सहस्रिणम् ॥ यस्मिन् । विश्वानि । पौंस्या ॥ ७ ॥

जिसमें सैंकड़ों प्रकारके सहस्रों पुरुषार्थ भरे हुए हैं उस यज्ञ का अक्षुण्ण रक्षा वाले इन्द्रदेव सेवन करें ॥ ७ ॥

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥

मा । नः । मर्ताः । अभि । द्रुहन् । तनूनाम् । इन्द्र । गिर्वणः ॥ ईशानः । यवय । वधम् ॥ ८ ॥

हे स्तुतियोंसे संभजनीय इन्द्र ! मनुष्य हमारे शरीरोंसे द्रोह न करें आप हमारे ईश्वर हैं, अतः हमारे वधनिमित्तको दूर करिये ॥ ८ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ९ ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ९ ॥

महान्, दमकते हुए और स्थावर तथा जंगमोंके ऊपर विचरण करते हुए इन्द्रके रथमें हरि नामक अश्व जुतते हैं और वह दमकते हुए अश्व द्युलोकमें दमकते हैं ॥ ९ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । विऽपक्षसा । रथे ॥ शोणा । धृष्णू इति । नृऽवाहसा ॥ १० ॥

इन इन्द्रदेवके रथमें सारथी हरी नाम वाले अश्वोंको जोतते हैं । ये अश्व कामना करने योग्य हैं, रथकी दोनों करवटोंमें रहते हैं, रक्त वर्ण वाले हैं, दबाने वाले हैं, सारथी आदि मनुष्यों को सवारी देने वाले हैं ॥ १० ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथा ॥ ११ ॥

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥ सम् । उषत्ऽभिः । अजायथाः ॥ ११ ॥

हे मरणधर्मसहित मनुष्यों ! अज्ञानरहित पुरुषको ज्ञान देने

वाले और अंधकारसे आवृत होनेके कारण रूपरहित पदार्थको रूप प्रदान करने वाले इन सूर्यात्मक इन्द्रदेवको तुम देखो, यह अपनी किरणोंके साथ प्रकट हुए हैं ॥ ११ ॥

आदहं स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १२ ॥

आत् । अहं । स्वधाम् । अनु । पुनः । गर्भऽत्वम् । आऽईरिरे ॥ दधानाः । नाम । यज्ञियम् ॥ १२ ॥

इति षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

इसके अनन्तर ये मरुद्गण स्वधा देने वाले गर्भत्वको प्राप्त होजाते हैं और यज्ञिय नामको धारण करते हैं ॥ १२ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६८५)

छन्दोमानां तृतीयेहनि "वीलु चिदारुजत्नुभिः" इति षट्त्रिंशतम् ऋचः आवापस्थाने आवपते। तदुक्तं वैताने। "वीलु चिदारुजत्नुभिरिति षट्त्रिंशतम् आवपते" इति [वै० ६. ३] ॥

छन्दोमके तृतीय दिनमें "वीलु चिदारुजत्नुभिः" इस षट्त्रिंशत्को ऋचाओंके आवापस्थानमें पढ़े । इसी बातको वैतान-सूत्रमें कहा है, कि–

वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥

वीलु । चित् । आरुजत्नुऽभिः । गुहा । चित् । इन्द्र । वह्निऽभिः ॥ अविन्दः । उस्रियाः । अनु ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! आपने अपनी प्रकाशक भेदन करने वाली शक्तियों से, उत्सर्पणशील वर्षाके अनन्तर ही गुफामें स्थित धनको प्राप्त किया है ॥ १ ॥

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः । महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥

देवऽयन्तः । यथा । मतिम् । अच्छ । विदत्ऽवसुम् । गिरः । महाम् । अनूषत । श्रुतम् ॥ २ ॥

हे स्तुतिकारियो ! जिस प्रकार हम देवताओंकी कामना करने वाले अपनी मतिको उनके अभिमुख कर सकें, उन प्रसिद्ध और महान् इन्द्रकी तुम स्तुति करो ॥ २ ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥ ३ ॥

इन्द्रेण । सम् । हि । दृक्षसे । सम्ऽजग्मानः । अबिभ्युषा ॥ मन्दू इति । समानऽवर्चसा ॥ ३ ॥

हे भगवन् इन्द्र ! आप अभयवान् मरुद्गणसे मिलते हुए सदा ही देखे जाते हैं, मरुद्गण और आप दोनों एकत्र मिल कर नित्य प्रमुदित होते हैं और आप दोनोंकी दीप्ति समान है ॥३॥

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥

अनवद्यैः । अभिद्युऽभिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ ४ ॥

निष्पाप और दमकते हुए इन्द्रके काम्यगणोंसे यज्ञ बलपूर्वक शोभा पाता है ॥ ४ ॥

अतः परिज्मन्ना गंहि दिवो वा रोचनादधि ।
समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥

अतः । परिऽज्मन् । आ । गहि । दिवः । वा । रोचनात् । अधि ॥
सम् । अस्मिन् । ऋञ्जते । गिरः ॥ ५ ॥

हे व्यापनशील इन्द्र ! आप इस भूलोकसे वा रोचनशील द्युलोकसे आइये, इन इन्द्रदेवमें वाणियें संयुक्त होती हैं ॥ ५ ॥

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि । इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥

इतः । वा । सातिम् । ईमहे । दिवः । वा । पार्थिवात् । अधि ।
इन्द्रम् । महः । वा । रजसः ॥ ६ ॥

हम इन्द्रदेवकी प्राप्तिको वह इस पार्थिव लोकमें हों तो इस लोकसे, स्वर्गमें हों तो स्वर्गसे, महर्लोकमें हों तो महर्लोकसे चाहते हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥
इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ७ ॥

गाथागान करने वाले पुरुष इन्द्रकी ही प्रशंसा करते हैं, पूजा करने वाले मन्त्रोंके द्वारा विशाल इन्द्रका ही पूजन करते हैं और वाणियें भी इन्द्रकी ही स्तुति करती हैं ॥ ७ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्ऽमिश्लः । आ । वचःऽयुजा ॥ इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ८ ॥

इन्द्रदेव ही हरि नामक घोड़ोंके साथ रहते हैं, वह मन्त्रसे रथ में संयुक्त होने वाले घोड़ोंसे भली प्रकार प्राप्त होते हैं इन्द्रदेव ही हित रमणीय हैं और वज्रधारी हैं ॥ ८ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ९ ॥

इन्द्रदेवने दीर्घदर्शनके लिये सूर्यको आकाशमें चढ़ाया है और सूर्यात्मक इन्द्रने किरणोंसे मेघोंको विदीर्ण किया है ॥ ९ ॥

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १० ॥

इन्द्र । वाजेषु । नः । अव । सहस्रऽप्रधनेषु । च ॥ उग्रः । उग्राभिः । ऊतिऽभिः ॥ १० ॥

हे इन्द्रदेव ! सहस्रों उत्कृष्ट धन वाले संग्राममें आप हमारी रक्षा करिये, आप उग्र हैं अतः अपनी प्रचण्ड रक्षक शक्तियोंसे हमारी रक्षा करिये ॥ १० ॥

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे । युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥

इन्द्रम् । वयम् । महाऽधने । इन्द्रम् । अर्भे । हवामहे । युजम् । वृत्रेषु । वज्रिणम् ॥ ११ ॥

हम महाधनप्राप्तिके अवसर पर वा स्वल्पप्राप्तिके समय इन्द्र का आह्वान करते हैं, वह आवरक शत्रुओं पर वज्रको संयुक्त करने वाले हैं ॥ ११ ॥

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ १२ ॥

सः । नः । वृषन् । अमुम् । चरुम् । सत्राऽदावन् । अप । वृधि ॥ अस्मभ्यम् । अप्रतिऽस्कुतः ॥ १२ ॥

हे फलोंकी वर्षा करने वाले, और सत्य दान देने वाले इन्द्र ! आप इस चरुका सेवन करिये और किसीसे न हटने वाले आप हमको बढ़ाइये ॥ १२ ॥

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥

तुञ्जेऽतुञ्जे । ये । उत्ऽतरे । स्तोमाः । इन्द्रस्य । वज्रिणः ॥ न । विन्धे । अस्य । सुऽस्तुतिम् ॥ १३ ॥

प्रत्येक दानके अवसर पर, उत्तरोत्तर दानसे परितुष्ट हुआ मैं वज्रधारी इन्द्रके भिन्न २ स्तोत्रोंका विचार करता हूँ, उनकी समाप्तिको ही मैं नहीं पाता ॥ १३ ॥

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ १४ ॥

वृषा । यूथाऽइव । वंसगः । कृष्टीः । इयर्ति । ओजसा ॥ ईशानः । अप्रतिऽस्कुतः ॥ १४ ॥

आप यूथपति बलीवर्दगति वृषभके धेनियोंको प्रेरित करने की समान बलसे कृष्टोंको प्रेरित करते हैं, आप ईशान हैं, और अप्रतिष्कृत हैं ॥ १४ ॥

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

यः । एकः । चर्षणीनाम् । वसूनाम् । इरज्यति ॥ इन्द्रः । पञ्च । क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

जो इन्द्रदेव अद्वितीय रूपमें मनुष्यों और धनोंके स्वामी हैं और वह इन्द्रदेव पञ्च क्षितियोंके स्वामी हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥

इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ॥ अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १६ ॥

हम चारों ओरके शाखियोंकी ओरसे (हटा कर) इन्द्रका आह्वान करते हैं, वह केवल हमारे ही हों ॥ १६ ॥

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् । वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥

आ । इन्द्र । सानसिम् । रयिम् । सऽजित्वानम् । सदाऽसहम् । वर्षिष्ठम् । ऊतये । भर ॥ १७ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप प्रीति देने वाले, धनरूप, सजित्वा, सदासह और फलोंकी वर्षा करने वाले अपने धनको हमारी रक्षा करनेके लिये धारण करिये ॥ १७ ॥

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै । त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥

नि । येन । मुष्टिऽहत्यया । नि । वृत्रा । रुणधामहै । त्वाऽऊतासः । नि । अर्वता ॥ १८ ॥

आपकी रक्षा वाले हम घोड़े वाले होकर आवरक एक शत्रुओं को घूंसोंकी मारसे मार डालें ॥ १८ ॥

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि । जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥

इन्द्र । त्वाऽऊतासः । आ । वयम् । वज्रम् । घना । ददीमहि । जयेम । सम् । युधि । स्पृधः ॥ १९ ॥

हे इन्द्र ! आपकी रक्षा वाले हम वज्रको मथनरूपसे ग्रहण

करें और स्पर्धा करने वालोंको युद्धमें जीत लें ॥ १९ ॥

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासह्याम

पृतन्यतः ॥ २० ॥

वयम् । शूरेभिः । अस्तृऽभिः । इन्द्र । त्वया । युजा । वयम् ॥

ससह्याम । पृतन्यतः ॥ २० ॥

इति षष्ठेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! हम आपसे और अहिंसित शूरोंसे सम्पन्न होकर, सेना लेकर अपने ऊपर चढ़ने वाले शत्रुओंको दबावें २०

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६८)

"सं चोदय चित्रमर्वाक्" [२०. ७१. ११] इत्यस्य विनियोगः "प्रणेतारं वस्यो अच्छा" [२०. ४६] इत्यनेन सह उक्तः ॥

"सं चोदय चित्रमर्वाक्" (२० । ७१ । ११ इसका विनियोग "प्रणेतारं वस्यो अच्छा" (२० । ४६) के साथ कर दिया है

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे । द्यौर्न

प्रथिना शवः ॥ १ ॥

महान् । इन्द्रः । परः । च । नु । महिऽत्वम् । अस्तु । वज्रिणे ॥

द्यौः । न । प्रथिना । शवः ॥ १ ॥

इन्द्रदेव महान् हैं और उत्कृष्ट हैं उन इन्द्रदेवके लिये महत्त्व हो उनका बल द्युलोककी समान विस्तृत होवे ॥ १ ॥

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ । विप्रासो

वा धियायवः ॥ २ ॥

सम्ऽओहे । वा । ये । आशत । नरः । तोकस्य । सनितौ ।

विप्रासः । वा । धियाऽयवः ॥ २ ॥

जो बुद्धि चाहने वाले मेधावी पुरुष हैं, वे नेता प्रेमपात्र युद्ध में पुत्रके साथ भी युद्धमें व्याप्त होजाते हैं ॥ २ ॥

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते । उर्वीरापो न काकुदः ॥ ३ ॥

यः । कुक्षिः । सोमऽपातमः । समुद्रःऽइव । पिन्वते ॥ उर्वीः । आपः । न । काकुदः ॥ ३ ॥

जो सोमका पान करने वाले इन्द्रदेवकी कुक्षि है वह ककुद वाले वृषभकी समान और विशाल जल वाले समुद्रकी समान बढ़ती है ॥ ३ ॥

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । विऽरप्शी । गोऽमती । मही ॥ पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

इनकी मधुर गोमदात्री विशाल भूमि हवि प्रदान करने वाले यजमानको पक्व शाखाकी समान (फलप्रदान करने वाली है)४

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । विऽभूतयः । ऊतयः । इन्द्र । माऽवते ॥ सद्यः ।

चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

हे पृथ्वीपति इन्द्र ! आपकी रक्षक विभूतियें, हवि देने वाले यजमानके लिये शीघ्र ही उपस्थित होजाती हैं ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या । इन्द्राय

सोमपीतये ॥ ६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्या । स्तोमः । उक्थम् । च । शंस्या ॥

इन्द्राय । सोमऽपीतये ॥ ६ ॥

इन्द्रको सोमका पान कराते समय स्तोम उक्थ और शंस्या (नामक स्तुतियें) इन्द्रदेवको कमनीय होती हैं ॥ ६ ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ

अभिष्टिरोजसा ॥ ७ ॥

इन्द्र । आ । इहि । मत्सि । अन्धसः । विश्वेभिः । सोमपर्वऽभिः ॥

महान् । अभिष्टिः । ओजसा ॥ ७ ॥

हे इन्द्रदेव ! आइये और सकल सोमपर्वोंसे तथा सोमरूपी अन्नसे आनन्दमें भरिये, आपकी अभिष्टि ओजसे बढ़ी है । ७॥

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने । चक्रिं

विश्वानि चक्रये ॥ ८ ॥

आ । ईम् । एनम् । सृजत । सुते । मन्दिम् । इन्द्राय । मन्दिने ॥

चक्रिम् । विश्वानि । चक्रये ॥ ८ ॥

हे अध्वर्युओं ! दिये हुए हव्यपात्रोंसे और चमसोंसे आप सोमकी रचना करो, यह सोम अभिषुत होने पर प्रसन्नता-प्रद इन्द्रको प्रसन्न करने वाला है संस्कृत कर्मोंसे सम्पन्न कर्म करते हुए इन्द्रको प्रसन्न करने वाला है ॥ ८ ॥

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे । सचैषु सवनेष्वा ॥ ९ ॥

मत्स्व । सुऽशिप्र । मन्दिऽभिः । स्तोमेभिः । विश्वऽचर्षणे ॥ सचा । एषु । सवनेषु । आ ॥ ९ ॥

हे सबके साक्षी सुन्दर ठोड़ी वाले इन्द्र ! आप सवनोंमें साथ ही साथ इन आनन्दप्रद स्तोत्रोंसे भी हर्षमें भरिये ॥ ९ ॥

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत । अजोषा वृषभं पतिम् ॥ १० ॥

असृग्रम् । इन्द्र । ते । गिरः । प्रति । त्वाम् । उत् । अहासत ॥ अजोषाः । वृषभम् । पतिम् ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! प्रीति न करने वालीं स्त्रियें जैसे वृषभ पतिको त्याग देती हैं, क्या इसी प्रकार स्तुतियें आपको त्यागती हैं ? नहीं ॥ १० ॥

सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम् । असदित् ते विभु प्रभु ॥ ११ ॥

सम् । चोदय । चित्रम् । अर्वाक् । राधः । इन्द्र । वरेण्यम् ॥ असत् । इत् । ते । विऽभु । प्रऽभु ॥ ११ ॥

हे इन्द्रदेव ! कमनीय धनको हमारी ओर प्रेरित करिये, जो आपका प्रभु या विभु धन हो उसको प्रेरित करिये ॥ ११ ॥

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ १२ ॥

अस्मान् । सु । तत्र । चोदय । इन्द्र । राये । रभस्वतः ॥ तुविऽद्युम्न । यशस्वतः ॥ १२ ॥

हे परम दमकने वाले इन्द्र ! आप हमको यशस्वी महान् पुरुषके धनके लिये प्रेरित करिये ॥ १२ ॥

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत् । विश्वायुर्धेह्यक्षितम् ॥ १३ ॥

सम् । गोऽमत् । इन्द्र । वाजऽवत् । अस्मे इति । पृथु । श्रवः । बृहत् ॥ विश्वऽआयुः । धेहि । अक्षितम् ॥ १३ ॥

हे इन्द्रदेव ! हमको गौओंसे, यज्ञान्नसे सम्पन्न विशाल यश प्रदान करिये और हमको क्षीणतारहित विशाल आयु प्रदान करिये ॥ १३ ॥

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम् । इन्द्र ता रथिनीरिषः ॥ १४ ॥

अस्मे इति । धेहि । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । सहस्रऽसातमम् ॥

इन्द्र । ताः । रथिनीः । इषः ॥ १४ ॥

हे इन्द्रदेव ! हमको सहस्रोंसे सेवनीय विशाल दमकते हुए अन्न को प्रदान करिये और रथिनी इषाओंको प्रदान करिये ॥१४॥

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् । होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

वसोः । इन्द्रम् । वसुऽपतिम् । गीःऽभिः । गृणन्तः । ऋग्मियम् ॥

होम । गन्तारम् । ऊतये ॥ १५ ॥

स्तुतिमयी वाणियोंसे स्तुति करते हुए हम धनके स्वामी, वसुपति, ऋग्मिय और होमको प्राप्त होने वाले इन्द्रकी रक्षाकी रक्षाकी पूजा करते हैं ॥ १५ ॥

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः । इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १६ ॥

सुतेऽसुते । निऽओकसे । बृहत् । बृहते । आ । इत् । अरिः ॥

इन्द्राय । शूषम् । अर्चति ॥ १६ ॥

षष्ठेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

न्योकसमें बृहत इन्द्रके लिये प्रत्येक बार सोमका अभिषव होने पर अरि इन्द्रके बलकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

छठे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (९८७)

छठा अनुवाक समाप्त

पृष्ठ्यषडहस्य षष्ठेऽहनि "विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते" इत्यस्य विनियोगः "वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः" [२०, ६७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

पृष्ठ्यषडहके छठे दिन "विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते" इस का विनियोग "वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः" (२० । ६७) के साथ कह दिया है।

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः
पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् ।
तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि ।
इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः १

विश्वेषु । हि । त्वा । सवनेषु । तुञ्जते । समानम् । एकम् । वृषऽमन्यवः । पृथक् । स्वरिति स्वः । सनिष्यवः । पृथक् ।
तम् । त्वा । नावम् । न । पर्षणिम् । शूषस्य । धुरि । धीमहि ।
इन्द्रम् । न । यज्ञैः । चितयन्त । आयवः । स्तोमेभिः । इन्द्रम् । आयवः ॥ १ ॥

हे इन्द्रदेव ! पृथक् २ स्वर्गको चाहने वाले फलवर्षाके लिये हीनता करने वाले, सब सवनोंमें केवल एक आपसे ही दान माँगते हैं। हम नौकारूप, अन्नके पूर्ने वाले आपको बलके बोझ में नियुक्त करते हैं। यज्ञोंसे इन्द्रको सबोधित करते हुए हम लोकवासी स्तोत्रोंसे (इन्द्रकी स्तुति करते हैं) ॥ १ ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः ।
यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि ।
आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता । गव्यस्य । निःऽसृजः । सक्षन्तः । इन्द्र । निःऽसृजः ।
यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । समऽऊहसि ।
आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचाऽभुवम् । वज्रम् । इन्द्र । सचाऽभुवम्

अन्न चाहने वाले मिथुन, गव्य व्रजके दानके अवसर पर आपमें ध्यान लगाते हुए आपको फलप्रदानके लिये प्रेरित करते हैं आप स्वर्गको जाने वाले गव्यन्त दो जनोंको भली प्रकार पहिचानते हैं, हे इन्द्र ! उस समय आप अपने वर्षक सहायक रूप वज्रको प्रकाशित करते हैं ॥ २ ॥

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्यर्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः ।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिं चिकेतसि ।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ३

उतो इति । नः । अस्याः । उषसः । जुषेत । हि । अर्कस्य । बोधि । हविषः । हवीमऽभिः । स्वःऽसाता । हवीमऽभिः ।

यत् । इन्द्र । हन्तवे । मृधः । वृषा । वज्रिन् । चिकेतसि ।

आ । मे । अस्य । वेधसः । नवीयसः । मन्म । श्रुधि । नवीयसः

इति सप्तमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सूर्यकी आधिका इस उषाकी हविको हम स्वर्गका उपभोग करनेके लिये हवन करते हैं, हे वर्षक इन्द्र ! आप संग्राम करने वालोंको नष्ट करनेके लिये अपने वज्रको उठाते हैं, आप इस नवीन स्रष्टा (मेरे) मननीय स्तोत्रको सुनिये ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६८८)

पृष्ठयस्य चतुर्थेहनि "तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा" इति पुरस्तात्संपातसूक्तात् षडृच आवपते। तासां प्रथमास्तिस्र ऋचः अर्धर्चशः शंसति । तद्ध उक्तं वैताने । "चतुर्थे तुभ्यदिमा सवना शूर विश्वेति षट् पुरस्तात्संपाताः ।.तिस्रोर्धर्चशः" इति [वै० ६. २]

पृष्ठ्यके चौथे दिन "तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा" इसकी छः ऋचाओंको सम्पातसूक्तसे पहिले पढ़े । इनमें पहिली तीन ऋचाओंको अर्धर्चशः पढे । इसी बातको वैतानसूत्र ६ । २ में कहा है, कि—"चतुर्थे तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वेति षट् पुरस्तात् सम्पाताः" ॥

तुभ्येदि॒मा सव॑ना शूर॒ विश्वा॒ तुभ्यं॒ ब्रह्मा॑णि॒ वर्ध॑ना कृणोमि । त्वं नृ॒भि॒र्हव्यो॑ वि॒श्वधा॑सि ॥ १ ॥

तुभ्य॑ । इत् । इ॒मा । सव॑ना । शूर॒ । विश्वा॑ । तुभ्य॑म् । ब्रह्मा॑णि ।

वर्ध॑ना । कृ॒णो॒मि॒ । त्वम् । नृऽभिः॑ । हव्यः॑ । वि॒श्वधा॑ । अ॒सि॒ ॥

हे शूर ! यह सब सवन आपके ही लिये हैं । मैं आपके लिये

ही इन मन्त्रोंको वर्धक करता है। आप मनुष्योंसे आहुति पाने के पात्र हैं और आप सबको पुष्ट करने वाले हैं ॥ १ ॥

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र।
न वीर्य॑मिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥

नु । चित् । नु । ते । मन्यमानस्य । दस्म । उत् । अश्नुवन्ति । महिमानम् । उग्र । न । वीर्य॑म् । इन्द्र । ते । न । राधः ॥२॥

हे अभिमान रखने वाले उग्र इन्द्र! आपकी महिमा दुष्टसत्वं वीर्य और धनको अन्य नहीं पासकते ॥ २ ॥

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ ३ ॥

प्र । वः । महे । महिऽवृधे । भरध्वम् । प्रऽचेतसे । प्र । सुऽमतिम् । कृणुध्वम् । विशः । पूर्वीः । प्र । चर । चर्षणिऽप्राः ॥ ३ ॥

हे याजकों! तुम महत्व पानेके लिये महिवृध् प्रचेतस इन्द्रका हविसे भरण करो, सुमति करो, हे मनुष्योंको अभिमत फलसे पूर्ण करने वाले! आप प्रकृष्टरूपसे हविका भक्षण करिये ॥३॥

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥ ४ ॥

यदा । वज्रम् । हिरण्यम् । इत् । अथ । रथम् । हरी इति । यम् ।

अस्य । वहतः । वि । । सूरिऽभिः ।

अति । तिष्ठति । मघऽवा । सनऽश्रुतः । इन्द्रः । वाजस्य । दीर्घ-

ऽश्रवसः । पतिः ॥ ४ ॥

जब सबको वशमें रखने वाले इन्द्रके हरी नामक अश्व सुवर्णमय वज्रको और रथको लगामोंसे खेंचने लगते हैं, तब तपसे प्रसिद्ध यज्ञान्न और विशाल कीर्तिके स्वामी मघवा इन्द्र रथ पर अधिष्ठित होते हैं ॥ ४ ॥

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि

हरिताभिः प्रुष्णुते ।

अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा

वनम् ॥ ५ ॥

सो इति । चित् । नु । वृष्टिः । यूथ्या । स्वा । सचा । इन्द्रः ।

श्मश्रूणि । हरिता । अभि । प्रुष्णुते ।

अव । वेति । सुऽक्षयम् । सुते । मधु । उत् । इत् । धूनोति ।

वातः । यथा । वनम् ॥ ५ ॥

बड़ी भारी वृष्टि इन्द्रकी अपनी ही है, और वह सहायक इन्द्र सोमलताओंसे अपनी मूँछोंको स्नान करा देते हैं, जैसे वायु वनको कँपाता है, इसी प्रकार वह सोमका अभिषव होने पर घर पर आते हैं और मधुको कंपित करते हैं ॥ ५ ॥

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान ।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ६ ॥

यः । वाचा । विऽवाचः । मृध्रऽवाचः । पुरु । सहस्रा । अशिवा । जघान ।
तत्ऽतत् । इत् । अस्य । पौंस्यम् । गृणीमसि । पिताऽइव । यः । तविषीम् । ववृधे । शवः ॥ ६ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो इन्द्रदेव विकृत बोलने वालोंको अपनी वाणियोंसे कोमल वाणी वाले कर देते हैं, सहस्रों अशुभकारियोंको मार डालते हैं, इन्द्रदेवके उन २ पुरुषार्थोंकी हम स्तुति करते हैं, जो पिताकी समान महान् बलको बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६८९)

पृष्ठ्यस्य पञ्चमेऽहनि पुरस्तात् संपातात् पङ्क्तिच्छन्दस्कम् "यच्चिद्धि सत्य सोमपाः" इति सूक्तम् आवपते । तस्य शंसनधर्ममपि सूत्रकार आह । तद् उक्तं वैताने । "पञ्चमे यच्चिद्धि सत्य सोमपा इति पाङ्क्तं सप्तर्चम् । द्वौ द्वाववसाय पञ्चमं सन्तनोति । त्रयं वाऽवसाय द्वयम्" इति [वै० ६. २] ॥ अस्य अर्थः पाङ्क्तस्य एकैकस्य द्वौ द्वौ पादौ संहतौ अवसाय अर्धर्चशस्यवत् पञ्चमं पादं प्रणवेनोपसंतनोति संबध्नाति । पादत्रयं संहतं वा अवसाय अन्त्यपादद्वयं संहतं प्रणवेनोपसंतनोति इति ॥

पृष्ठ्यके पञ्चम दिनमें सम्पातसे पहिले पंक्ति छन्द वाले

"यच्चिद्धि सत्य सोमपाः" इस सूक्तको पढे। इसके शंसनधर्म को भी सूत्रकारने कहा है, कि—"पञ्चमे यच्चिद्धि सत्य सोमपा इति पांक्तं समर्चम्। द्वौ द्वाववसाय पञ्चमं सन्तनोति। त्र्यं वाव-साय द्वयम्" (वैतानसूत्र ६। २) इसका अर्थ यह है, कि—पांक्तपके एक २ मन्त्रके दो दो मिले हुए पादोंका अवसान करके अर्धर्चशस्यकी समान प्रणवसे उपसन्तान करता हुआ संशंसन करे। वा तीनों संहत पादोंका अवसान करके अन्तिम मिले हुए दो पादोंको प्रणवसे उपसन्तान करे।

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥

यत्। चित्। हि। सत्य। सोमऽपाः। अनाशस्ताःऽइव। स्मसि। आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुविऽमघ ॥ १ ॥

हे सोमका पान करने वाले सत्य इन्द्र! आप अनाशस्ता ही हैं, हे बहुधन इन्द्र! आप हमारी सहस्रों गौओंमें घोड़ोंमें और शुभ्रियोंमें अनाशस्तत्वको कहिये ॥ १ ॥

शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना। आ तू० २

शिप्रिन्। वाजानाम्। पते। शचीऽवः। तव। दंसना। ० २

हे सुन्दर ठोड़ी वाले धनोंके स्वामी शक्तिपति इन्द्र! शत्रुओं को हँसनेकी शक्ति आपकी है, हे बहुधन इन्द्र उसको आप हमारे सहस्रों गौ घोड़ोंमें और शुभ्रियोंमें कहिये ॥ २ ॥

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने। आ तू० ।

नि । स्वापय । मिथुऽदृशा । सस्ताम् । अबुध्यमाने । इति ।० ३

दोनों नेत्रोंसे आप सुलाइये, अबुध्यमान होकर दोनों नेत्र सोवें, हे बहुधन इन्द्र ! हमारी गौओंमें घोड़ोंमें और पवित्र सहस्रों प्राणियोंमें निद्राको प्रदान करिये ॥ ३ ॥

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः। आ तू० ४

ससन्तु । त्याः । अरातयः । बोधन्तु । शूर । रातयः । ॥ ४ ॥

वे शत्रु निद्राके आधीन होजावें, हे शूर ! धन जाग्रत होजावें, हे बहुधन इन्द्र ! आप हमारे सहस्रों घोड़े गौ और पवित्र प्राणियोंमें धनको कहिये ॥ ४ ॥

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया। आ तू० ५

सम् । इन्द्र । गर्दभम् । मृण । नुवन्तम् । पापया । अमुया ।० ५

हे इन्द्र ! इस पापवृत्तिसे खदेड़ते हुए गधेका आप संहार करिये और हे बहुधन इन्द्र ! आप हमारे घोड़े आदिमें संहारक शक्ति दीजिये ॥ ५ ॥

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि आ तू० ६

पताति । कुण्डृणाच्या । दूरम् । वातः । वनात् । अधि ।० ।६।

कुण्डृणाचीके द्वारा वायु वनसे दूर जाता है हे बहुधन इंद्र ! आप हमारी गौ घोड़े और सहस्रों पवित्र प्राणियोंमें कुण्डृणाची कहिये ॥ ६ ॥

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम् ।

आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥

सर्वम् । परिऽक्रोशम् । जहि । जम्भय । कृकदाश्वम् ।

आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुविऽमघ ॥ ७ ॥

इति सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप सब परिक्रोशको दूर करिये, और कृकदाश्व का नाश करिये, और हे बहुधन इन्द्र ! हमारी गो घोड़े और पवित्र प्राणियोंमेंसे परिक्रोशको हटाइये ॥ ७ ॥

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६९०)

पृष्ठ्यस्य षष्ठेहनि पुरस्तात् संपातात् "वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवः" इति तिस्रः सप्तपदा आवपते सूत्रोक्तप्रकारेण प्रणवेनोपसंतनोति च । तद् उक्तं वैताने । "षष्ठे वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यव इति । सप्तपदानामेकैकमवसाय द्वयं संतनोति । द्वयमवसाय द्वयम्" इति [वै० ६. २] ॥ अस्य अर्थः । सप्तपदानां तिसृणामृचाम् एकैकस्यामृचि एकैकं पदम् अवसाय पदत्रयं प्रणवेनोपसंतनोति । ततः परं पादद्वयमवसाय अपरं पादद्वयं प्रणवेनोपसंतनोति ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन सम्पातसे पहिले "वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवः" इन तीन सप्तपदोंका आवपन करे और सूत्रोक्तरीति से प्रणवसे उपसन्तान भी करे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है । "षष्ठे वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यव इति । सप्तपदानामेकैकमवसाय द्वयं सन्तनोति। द्वयमवसाय द्वयम् ।" (वैतानसूत्र ६ । २)

इसका अर्थ यह है, कि-सप्तपदोंकी तीन ऋचाओंमेंसे एक एक ऋचामें एक २ पदका अवसान करके तीन पादोंका प्रणवसे उपसंतान करे ।

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता

गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः ।

यद् गव्यन्ता द्वा जना स्व१र्यन्ता समूहसि ।

आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता ।

गव्यस्य । निःसृजः । सक्षन्तः । इन्द्र । निःसृजः ।

यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । सम्ऽऊहसि ।

आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचाऽभुवम् । वज्रम् । इन्द्र ।

सचाऽभुवम् ॥ १ ॥

अन्न चाहने वाले मिथुन, गव्य व्रजके दानके अवसर पर आपमें ध्यान लगाते हुए आपको फलप्रदानके लिये प्रेरित करते हैं आप स्वर्गको जाने वाले गव्यन्त दो जनोंको भली प्रकार पहिचानते हैं, हे इन्द्र ! उस समय आप अपने वर्षक सहायक-रूप वज्रको प्रकाशित करते हैं ॥ १ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीर-

वातिरः सासहानो अवातिरः ।

शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते ।

महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः

विदुः । ते । अस्य । वीर्यस्य । पूरवः । पुरः । यत् । इन्द्र ।
  शारदीः । अवऽअतिरः । ससहानः । अवऽअतिरः ।

शासः । तम् । इन्द्र । मर्त्यम् । अयज्युम् । शवसः । पते ।

महीम् । अमुष्णाः । पृथिवीम् । इमाः । अपः । मन्दसानः ।
  इमाः । अपः ॥ २ ॥

मनुष्य इन इन्द्रके वीर्योंको जानते हैं, कि—जो यह शरद् ऋतु का वस्तुओंमें अवतीर्ण होते हैं यह शत्रुओंको बारम्बार दबाते हुए अवतीर्ण होते हैं, हे बलके अधिष्ठात्री देवता इन्द्र ! जो मरण-धर्मी पुरुष आपका यजन नहीं करता है, उसका आप शासन करिये, और इस विशालपृथिवीको और अमुष्ण जलोंको हर्षित करिये ॥ २ ॥

आदित् ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो
  यदाविथ सखीयतो यदाविथ ।

चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ।

ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत

आत् । इत् । ते । अस्य । वीर्यस्य । चर्किरन् । मदेषु । वृषन् ।
  उशिजः । यत् । आविथ । सखिऽयतः । यत् । आविथ ।

चकर्थ । कारम् । एभ्यः । पृतनासु । प्रऽवन्तवे ।

ते । अन्याम्ऽअन्याम् । नद्यम् । सनिष्णत । अवस्यन्तः ।

सनिष्णत ॥ २ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे वृषन् ! अब हम आपके वीर्यको (कहते हैं, कि–) हे कामिमय जलों ! तुम इन्द्रदेवको मद होने पर रक्षा करते हो, सखिभाव रखने वालोंकी रक्षा करते हो, और पुतनाओंमें सेवन करनेके लिये कर्मोंको करते हो, तुम दूसरी २ नदियोंका आश्रय लो, अन्न देते हुए स्नान कराओ ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६९१)

पृष्ठ्यस्य षष्ठेऽहन्येव पूर्वोक्तसप्तपदाभ्योनन्तरं पुरस्तात् संपातात् "वने न वा यो न्यधायि चाकन्" इत्यष्टर्चम् आवपते । तद् उक्तं वैताने । "वने न वा यो न्यधायि चाकन्निरयष्टर्चं च" इति [वै० ६. २] ॥

तथा छन्दोमानां द्वितीयतृतीययोरह्नोः माध्यंदिने सवने उपरिष्टात् संपाताद् अष्टर्चम् [२०. ७६] "आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी" [२०. ७७] इति सूक्तं चावपते । तद् उक्तं वैताने । "उत्तरयोरष्टर्चम् आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषीति चावपते" इति [वै० ६. ३] ॥ "वने न वा यो न्यधायि चाकन्" इत्यस्य अष्टर्चम् इति संज्ञा ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन ही पूर्वोक्त सप्तपदाओंके अनन्तर सम्पातसे पहिले "वने न वा यो न्यधायि चाकन्" इस आठ ऋचा वाले सूक्तको पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि– "वने न वा यो न्यधायि चाकन्निरयष्टर्चं च" (वैतानसूत्र ६।२)

तथा छन्दोमोंके द्वितीय तृतीय दिनोंमें माध्यंदिन सवनमें संपातसे पहिले आठ ऋचा वाले (२० । ७६) को और "आ

सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी" इस (२० । ७७) सूक्तको भी पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"उपरयोरच्छावाकम् आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषीति यावयते" (वैतानसूत्र ६।२) "वने न वा यो न्यधायि चाकन्" इसकी मध्य संज्ञा है ।

वने॒ न वा॒ यो न्य॑धायि चा॒कं छुचि॑र्वां॒ स्तोमो॑ भुर॒णावजीगः ।
यस्येदिन्द्रः॑ पुरु॒दिने॑षु होता॑ नृ॒णां नर्यो॒ नृत॑मः क्ष॒पावा॑न् ॥ १ ॥

वने॑ । न । वा॒ । यः । नि । अ॒धा॒यि॒ । चा॒कन् । शुचिः॑ । वा॒म् । स्तोमः॑ । भु॒र॒णौ॒ । अ॒जी॒ग॒रिति॑ ।

यस्य॑ । इत् । इन्द्रः॑ । पु॒रु॒ऽदिने॑षु । होता॑ । नृ॒णाम् । नर्यः॑ । नृऽत॑मः । क्ष॒पाऽवा॑न् ॥ १ ॥

हे देवताओंका भरण करने वाले सुरयय अश्विनीकुमारो ! जो यह स्तोम हममें निहित है, यह दोषरहित है और पक्षिपुत्रके वृक्ष मेंसे देखनेकी समान इन्द्रकी कामना करता है (यह वह स्तोम है, कि—) जिसके इन्द्र बहुत दिनोंसे आह्वाता थे, कि—इससे कोई मेरी स्तुति करे । वह इन्द्रदेव मनुष्योंमें भी मनुष्यतम हैं अर्थात् शूरोंमें भी शूर हैं, और सोमका भाग पाने वाले हैं, यह स्तोम उन ही की ओर जाता है ॥ १ ॥

प्र ते॑ अ॒स्या उ॒षसः॒ प्राप॑रस्या नृ॒तौ स्या॑म॒ नृत॑मस्य नृ॒णाम् ।

अनु त्रिशोकः शतमावहन्नृन् कुत्सेन रथो यो असत्
ससवान् ॥ २ ॥

प्र । ते । अस्याः । उषसः । प्र । अपरस्याः । नृतौ । स्याम ।
नृऽतमस्य । नृणाम् ।

अनु । त्रिऽशोकः । शतम् । आ । अवहत् । नॄन् । कुत्सेन ।
रथः । यः । असत् । ससऽवान् ॥ २ ॥

हम इस दूसरी उषाके पारको प्राप्त होवें, और शूरोंमें शूर इन्द्रकी नृतिमें रहें, त्रिशोक नामक ऋषि मनुष्योंको सैंकड़ों उषाओं को प्राप्त करा चुके हैं, जो संसाररूपी रथ है वह कुत्स ऋषि के द्वारा अन्न वाला हुआ है ॥ २ ॥

कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद् दुरो गिरो अभ्युग्रो वि
धाव ।
कद् वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्या-
मुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

कः । ते । मदः । इन्द्र । रन्त्यः । भूत् । दुरः । गिरः । अभि ।
उग्रः । वि । धाव ।

कत् । वाहः । अर्वाक् । उप । मा । मनीषाः । आ । त्वा ।
शक्याम् । उपऽमम् । राधः । अन्नैः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! कौनसा हर्षप्रद स्तोम आपको प्रसन्न करता हुआ हमारे लिये दाता होसकता है, हे उग्र ! आप स्तोत्ररूप वाणियों की ओर दौड़िये, कौनसा अश्व बुद्धिसे आपको मेरे पास लावेगा आप उपमाके योग्यको मैं अन्नोंसे (हवियोंसे) साध सकूँगा ३

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् ।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

कत् । ऊं इति । द्युम्नम् । इन्द्र । त्वाऽवतः । नॄन् । कया । धिया । करसे । कत् । नः । आ । अगन् ।
मित्रः । न । सत्यः । उरुऽगाय । भृत्यै । अन्ने । समस्य । यत् । असन् । मनीषाः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! आप अपनी शरणमें रहने वाले मनुष्योंको किस बुद्धिसे दमकते हुए करते हैं, हे विशालकीर्ते ! आप सच्चे मित्रकी समान भृतिके लिये अन्नमें जो इसकी बुद्धिमें हों (उनको करिये)

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ५

प्र । ईरय । सूरः । अर्थम् । न । पारम् । ये । अस्य । कामम् । जनिधाःऽइव । ग्मन् ।

गिरः । च । ये । ते । तुविऽजात । पूर्वीः । नरः । इन्द्र । प्रतिऽशिक्षन्ति । अन्नैः ॥ ५ ॥

हे सूर्यात्मक इन्द्रदेव ! आप हमको अर्थकी समान पार पहुँचाइये, जो हमकी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये माताकी समान प्राप्त होती हैं, और हे तुविजात ! जो आपकी प्राचीन स्तुतियें हैं (उनको आप इस यजमानके हितके लिये प्रेरित करिये) हे इंद्र ! नेता पवन हमको अन्न प्रदान करें ॥ ५ ॥

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥

मात्रे इति । नु । ते । सुमिते इति सुऽमिते । इन्द्र । पूर्वी इति । द्यौः । मज्मना । पृथिवी । काव्येन ।

वराय । ते । घृतऽवन्तः । सुतासः । स्वाद्मन् । भवन्तु । पीतये । मधूनि ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! निर्माता सुमित् आपके लिये पूर्वी पृथिवी और द्यौ अपने मंत्रक काव्यके साथ (हितकारी हों) ये घृत वाले निचोड़े हुए सोम आपके पीनेके लिये स्वाद वाले होवें ॥ ६ ॥

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।

स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

आ । मत्वः । अस्मै । असिचन् । अमत्रम् । इन्द्राय । पूर्णम् । सः । हि । सत्यऽराधाः ।

सः । ववृधे । वरिमन् । आ । पृथिव्याः । अभि । क्रत्वा । नर्यः । पौंस्यैः । च ॥ ७ ॥

इस पात्रको इन्द्रदेवके लिये पूर्णरूपसे मधुसे भर दिया गया है, वह इन्द्रदेव ही सत्यसे साधे जाते हैं, वह मनुष्योंके हितकारी अपने पुरुषार्थों करके पृथ्वीसे बढ़ते हैं ॥ ७ ॥

व्यानळिन्द्रः पृतना स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे

वि । आनट् । इन्द्रः । पृतनाः । सुऽओजाः । आ । अस्मै । यतन्ते । सख्याय । पूर्वीः ।

आ । स्म । रथम् । न । पृतनासु । तिष्ठ । यम् । भद्रया । सुऽमत्या । चोदयासे ॥ ८ ॥

॥ इति सप्तमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

सुन्दर बल वाले इन्द्र इन सेनाओंमें व्याप्त होगए हैं, इनकी मित्रता करनेके लिये बहुतसी सेनाएँ चेष्टाएँ करती हैं, आप

जिसे अपनी सुमतिसे प्रेरणा करते हैं, उस सुमतिसे आप रथ की समान हमारी सेनामें स्थित हूजिये ॥ ८ ॥

सप्तम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६९२)

छन्दोमानां द्वितीयतृतीययोरह्नोः "आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी" इत्यस्य विनियोगः पूर्वसूक्ते उक्तः ॥

छन्दोमके द्वितीय तृतीय दिनोंमें "आसत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी" इसका विनियोग पूर्वसूक्तमें कहा है ।

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः

तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः

आ । सत्यः । यातु । मघऽवान् । ऋजीषी । द्रवन्तु । अस्य । हरयः । उप । नः ।

तस्मै । इत् । अन्धः । सुसुम । सुऽदक्षम् । इह । अभिऽपित्वम् । करते । गृणानः ॥ १ ॥

सत्य, धनवान्, सोमका पान करने वाले इन्द्रदेव आवें, इनके घोड़े हमारे पासको दौड़ें, हम उनके लिये ही सोमरूपी अन्नका अभिषव कर रहे हैं, इसी कारण जो स्तुति करने वाला है, वह यहाँ ही स्नान आदि कर रहा है ॥ १ ॥

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै

शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म

अव । स्य । शूर । अध्वनः । न । अन्ते । अस्मिन् । नः । अद्य । सवने । मन्दध्यै ।

शंसाति । उक्थम् । उशनाऽइव । वेधाः । चिकितुषे । असुर्याय । मन्म

हे शूर ! हमारे पासमें आप मार्गको बाँधसा दीजिये और आज इस हमारे यज्ञमें मदमें भरिये, यह वेधा ज्ञानवान् इन्द्रके लिये शुक्राचार्यकी समान मननीय उक्थका उच्चारण कर रहे हैं २

कविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात् ।
दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः ॥ ३ ॥

कविः । न । निण्यम् । विदथानि । साधन् । वृषा । यत् । सेकम् । विऽपिपानः । अर्चात् ।
दिवः । इत्था । जीजनत् । सप्त । कारून् । अह्ना । चित् । चक्रुः । वयुना । गृणन्तः ॥ ३ ॥

फलोंकी वर्षा करने वाले इन्द्र वर्षा करके पृथ्वीको पूर्ण करते हुए आवें इस लिये चतुर ऋत्विज निश्चितसा यज्ञोंको साध रहा है, विजिगीषासे इस प्रकार सात स्तोताओंको प्रकट किया है और वह सुन्दर स्तोत्रोंका उच्चारण कर रहे हैं ॥३॥

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

स्वः । यत् । वेदि । सुऽदृशीकम् । अर्कैः । महि । ज्योतिः । रुरुचुः ।

यत् । ह । वस्तोः ।

अन्धा । तमांसि । दुधिता । विऽचक्षे । नृऽभ्यः । चकार । नृऽतमः ।

अभिष्टौ ॥ ४ ॥

जिन मन्त्रोंके द्वारा भली प्रकार देखने योग्य स्वर्ग जाना जाता है और जो मन्त्र दिनकी परम ज्योति-सूर्य-को दमकाते हैं और जो सूर्यात्मक इन्द्र दूर होने पर भी घोर अन्धकारको दूर करके प्रकाश करते हैं और जो परम शूर अभिष्टि स्थापित कर देते हैं, (उनके लिये प्रणाम है) ॥ ४ ॥

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्यु१भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ५ ॥

ववक्षे । इन्द्रः । अमितम् । ऋजीषी । उभे इति । आ । पप्रौ ।

रोदसी इति । महिऽत्वा ।

अतः । चित् । अस्य । महिमा । वि । रेचि । अभि । यः । विश्वा ।

भुवना । बभूव ॥ ५ ॥

यह सोमका पान करने वाले इन्द्रदेव अमित धनको (यजमानोंके पास) पहुँचाते हैं और अपनी महिमा द्युलोक और भूलोक दोनोंको भर देते हैं, जो यह सब भुवनोंमें व्याप्त होगए हैं, इस लिये इनकी महिमा अधिक है ॥ ५ ॥

विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभि-
र्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो
वि वव्रुः ॥ ६ ॥

विश्वानि । शक्रः । नर्याणि । विद्वान् । अपः । रिरेच । सखिऽ-
भिः । निऽकामैः ।
अश्मानम् । चित् । ये । बिभिदुः । वचःऽभिः । व्रजम् । गोऽ-
मन्तम् । उशिजः । वि । वव्रुरिति वव्रुः ॥ ६ ॥

विद्वान् इन्द्रदेवने मनुष्योंका हित करने वाले जलोंको, इच्छा-नुसार चलने वाले मित्र (—रूप मेघों) से बढ़ाया है, वे जल अपनी वाणीसे (गड़गड़ाहटसे) पत्थरोंको भी विदीर्ण कर डालते हैं—अलग अलग कर देते हैं और कामना करते हैं तो गौओं वाले व्रजको घेर लेते हैं ॥ ६ ॥

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी
सचेताः ।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवं छवसा शूर धृष्णो

अपः । वृत्रम् । वव्रिऽवांसम् । परा । अहन् । प्र । आवत् । ते ।
वज्रम् । पृथिवी । सऽचेताः ।

प्र । अर्णांसि । सुमुद्रियाणि । एनोः । पतिः । भवन् । शवसा । शूर । धृष्णो इति ॥ ७ ॥

जलोंने आवरण करते हुए मेघको विदीर्ण कर डाला है और पृथिवी सावधान होकर (हे इन्द्र) आपके वज्रकी रक्षा करती है और समुद्रके जलोंकी रक्षा करती है, हे वर्षक शूर इन्द्र ! आप बलपूर्वक इसके स्वामी बनते हैं ॥ ७ ॥

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते ।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥

अपः । यत् । अद्रिम् । पुरुऽहूत । दर्दः । आविः । भुवत् । सरमा । पूर्व्यम् । ते ।
सः । नः । नेता । वाजम् । आ । दर्षि । भूरिम् । गोत्रा । रुजन् । अङ्गिरःऽभिः । गृणानः ॥ ८ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे बहुतसे यजमानोंसे आहूत इन्द्र ! आप जो पर्वतको वा मेघको जल प्रदान करते हैं, वह आपसे पहिले ही प्रकट होकर चलते हैं, ऐसे नेता आप अंगिरागोत्री ऋत्विजोंसे स्तुति पाते हुए मेघोंको विदीर्ण करते हुए हमें बहुतसा अन्न प्रदान करते हैं ८

सप्तम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (६६७)

वाजपेये "तद्वो गाय" इति स्तोत्रियो भवति । तदुक्तं वैताने । "तद्वो गायेति स्तोत्रियः" इति [वै० ४, ३] ॥

तथा बृहस्पतिसवे "तद्व वो गाय सुते सचा" [२०, ७८] "वयमेनमिदाह्यः" [२०, ६७] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः। तद्व उक्तं वैताने। "बृहस्पतिसवे तद्व वो गाय सुतं सचा वयमेनमिदाह्य इति" इति [वै० ८, १] ॥

तथा तत्रैव प्रातःसवनमाध्यंदिनसवनयोः एतावेव उक्थमुखीयं तृचपर्यासश्च भवतः माध्यन्दिने पर्यासाद्यतृचवर्जम्। तद्व उक्तं वैताने। "सवनयोरुक्थमुखीयतृचपर्यासौ। माध्यन्दिने पर्यासाद्यतृचवर्जम्" इति [वै० ८, १] ॥

तथा सर्वजित्यृषभे मरुत्स्तोमे सहस्रान्त्ये च चतुर्ष्वेकाहेषु "तद्व वो गाय सुते सचा" "वयमेनमिदाह्यः" एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तद्व उक्तं वैताने। "सर्वजित्यृषभे मरुत्स्तोमे सहस्रान्त्ये तद्व वो गाय सुते सचा वयमेनमिदाह्य इति" इति [वै० ८, १]॥

वाजपेयमें "तद्व वो गाय" यह स्तोत्रिय होता है। इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तद्व वो गायेति स्तोत्रियः" (वैतानसूत्र ४। ३) ॥

तथा बृहस्पतिसवमें "तद्व वो गाय सुते सचा" (२०।७८) "वयमेनमिदा ह्यः" (२०। ६७) ये यथाक्रम आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"बृहस्पतिसवे तद्व वो गाय सुते सचा वयमेनमिदाह्यः" (वैतानसूत्र ८। १) ॥

तथा वहाँ ही प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवनमें ये ही उक्थमुखीय और तृचपर्यास होते हैं और माध्यन्दिनमें पर्यासाद्यतृच नहीं होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"सवनयोरुक्थमुखीयतृचपर्यासौ। माध्यन्दिने पर्यासाद्यतृचवर्जम्" (वैतानसूत्र ८। १) ॥

तथा सर्वजित् ऋषभ मरुत्स्तोम और सहस्रान्त्य इन चारोंके एकाहोंमें "तद्व वो गाय सुते सचा वयमेनमिदाह्य इति" (वैतानसूत्र ८। १) ॥

तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं यद् गवे न शाकिने ॥ १ ॥

तत् । वः । गाय । सुते । सचा । पुरुऽहूताय । सत्वने ॥ शम् । यत् । गवे । न । शाकिने ॥ १ ॥

अपने सोमका अभिषव होने पर जल वाले पुरुहूत इन्द्रके लिये स्तोत्रका गान करो, जिससे, कि-वह गौकी समान हम शाक (सोम) वालोंके लिये कल्याणकारी होवें ॥ १ ॥

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥ २ ॥

न । घ । वसुः । नि । यमते । दानम् । वाजस्य । गोऽमतः ॥ यत् । सीम् । उप । श्रवत् । गिरः ॥ २ ॥

यह इन्द्रदेव यदि स्तुतिरूपा वाणीको सुन लेते हैं, तो वह उस यजमानके लिये वसुके और गोसम्पन्न अन्नके दानको नहीं रोकते हैं ॥ २ ॥

कुवित्संस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥

कुवित्ऽसस्य । प्र । हि । व्रजम् । गोऽमन्तम् । दस्युऽहा ॥ गमत् । शचीभिः । अप । नः । वरत् ॥ ३ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे बहुतसे धान्यसे सम्पन्न ! वृत्ररूपी दस्युका संहार करने वाले इन्द्र ! आप गौ (वाणी) वाले व्रज (यज्ञ) की ओर आवें और शक्तियोंसे हमको भरें ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (६९३)

वाजपेये माध्यन्दिने सवने "इन्द्र क्रतुं न आ भर" [२०. ७६] "इन्द्र ज्येष्ठम्" [२०. ८०] "उदु त्ये मधुमत्तमाः" [२०. ५९] इत्येतेषामन्यतमो विकल्पेन स्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "माध्यन्दिन इन्द्र क्रतुं न आ भरेति स्तोत्रियः । इन्द्र ज्येष्ठम् उदुत्ये मधुमत्तमा इति वा" इति [वै० ५. ३] ॥

तथा विषुवति सौर्यपृष्ठे "इन्द्र क्रतुं न आ भर" "इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर" इति विकल्पेन स्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "इन्द्र क्रतुं न आ भर इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरेति वा" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा विश्वजिति वैराजपृष्ठे "इन्द्र क्रतुं न आ भर" इति इमां पूर्वाभ्यां तृतीयाम् अर्धर्चशः प्रग्रथनां शंसति । तद् उक्तं वैताने । "इन्द्र क्रतुं न आ भरेति तृतीयाम्" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा इन्द्रस्तोमाख्ये एकाहे "इन्द्र क्रतुं न आ भर" [२०. ७६] "तव त्यदिन्द्रियं बृहत्" [२०. १०६] इत्येतौ पृष्ठोक्थस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "इन्द्रस्तोम इन्द्र क्रतुं न आ भर तव त्यदिन्द्रियम् बृहदिति" इति [वै० ८. १] ॥

तथा विषुवति एकाहीभूते "इन्द्र क्रतुं न आ भर" इति पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "विषुवतीन्द्र क्रतुं न आ भरेति" इति [वै० ८. २] ॥

वाजपेयके माध्यन्दिन सवनमें "इन्द्र क्रतुं न आ भर" (२०। ७६) "इन्द्र ज्येष्ठम्" (२० । ८०) "उदु त्ये मधुमत्तमाः" (२० । ५९) इनमेंसे कोई एक विकल्पसे स्तोत्रिय होता है।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"माध्यन्दिन इन्द्र क्रतुं न आ भरेति स्तोत्रियः। इन्द्र ज्येष्ठम् उदु त्ये मधुमत्तमा इति वा" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

तथा विषुवत् सौर्यपृष्ठमें "इन्द्र क्रतुं न आ भर" "इंन्द्र ज्येष्ठं न आ भर" ये विकल्पसे स्तोत्रिय अनुरूप होते हैं। इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"इन्द्र क्रतुं न आ भर इन्द्र ज्येष्ठं न आभरेति वा" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

तथा विश्वजित् वैराजपृष्ठमें "इन्द्र क्रतुं न आ भर" इसको दो पूर्वाओंसे, तृतीयाको अर्धर्चशः मग्रथनारूप कहे। इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"इन्द्र क्रतुं न आ भरेति तृतीयाम्" (वैतानसूत्र ६ । ३) ॥

तथा इन्द्रस्तोम नामक एकाहमें "इन्द्र क्रतुं न आ भर" (२० । ७९) "तव त्यदिन्द्रियं बृहत्" (२० । १०६) ये पृष्ठोक्थ स्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"इन्द्रस्तोम इन्द्र क्रतुं न आ भर तव त्यदिन्द्रियं बृहदिति" (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

तथा एकाहीभूत विषुवत्में "इन्द्र क्रतुं न आ भर" यह पृष्ठ-स्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"विषु-वतीन्द्र क्रतुं न आभरेति" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योति-
रशीमहि ॥ १ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ।

पिता । नः । अस्मिन् । पुरुऽहूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः ।
अशीमहि ॥ १ ॥

हे इन्द्रदेव ! जैसे पिता पुत्रोंको अभिमत वस्तु देता है, इसी प्रकार आप हमको सोमयाग आदिरूप अभिमत वस्तु दीजिये, हे बहुतसे यजमानोंसे बुलाये जाने वाले पुरुहूत इन्द्रदेव ! आप हमको संसारयात्रामें अभिमत वस्तुएँ दीजिये और हम भी आपके प्रसादसे चिरकालका जीवन पाकर इस लोकके सुखका अनुभव करना रूप ज्योतिको पावें ॥ १ ॥

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोति शूर तरामसि ॥२॥

मा । नः । अज्ञाताः । वृजनाः । दुःऽआध्यः । मा । अशिवासः ।
अव । क्रमुः ।
त्वया । वयम् । प्रऽवतः । शश्वतीः । अपः । अति । शूर । तरामसि

इति सप्तमेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

हे शूर ! अज्ञात पाप हम पर आक्रमण न करें, दुष्ट आधियें हम पर आक्रमण न करें, अकल्याण करने वाली वार्तायें हम पर आक्रमण न करें, आपकी कृपासे हम मनुष्योंसे सम्पन्न रहते हुए सदा कर्मोंके पार पहुँचते रहें ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (६९५)

वाजपेये माध्यन्दिने सवने "इन्द्र ज्येष्ठम्" इत्यस्य पूर्व सूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा त्रिवृत्ति सौर्यपृष्ठे अस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

वाजपेयके माध्यन्दिनसवनमें "इन्द्र ज्येष्ठम्" इसका विनियोग पूर्वसूक्तके साथ कह दिया है।

तथा त्रिवृत् सौर्यपृष्ठमें इसका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कहा है।

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥

इन्द्र । ज्येष्ठम् । नः । आ । भर । ओजिष्ठम् । पपुरि । श्रवः ।
येन । इमे इति । चित्र । वज्रऽहस्त । रोदसी इति । आ ।
उभे इति । सुऽशिप्र । प्राः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! आप अपने ज्येष्ठ ओजिष्ठ और पूर्ण करने वाले धनको हमें दीजिये, हे चायनीय वज्रहस्त सुन्दर ठोड़ी वाले इन्द्र ! आपने जिस धनसे दोनों द्युलोक और पृथिवीलोकको व्याप्त कर रखा है, उसे हमें दीजिये ॥ १ ॥

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे ।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान् सुषहान् कृधि ॥ २ ॥

त्वाम् । उग्रम् । अवसे । चर्षणिऽसहम् । राजन् । देवेषु । हूमहे ।
विश्वा । सु । नः । विथुरा । पिब्दना । वसो इति । अमित्रान् ।
सुऽसहान् । कृधि ॥ २ ॥

इति त्रयस्त्रिंशे नवमं सूक्तम् ॥

हे राजन् ! हम देवताओंमेंसे आप चर्षणीसह उग्रका ही रक्षा के लिये आह्वान करते हैं। हे वासक इन्द्र ! हमारे मयके सब कारणोंको आप नष्ट करिये और शत्रुओंको भली प्रकार दवाने योग्य कर दीजिये ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६९९)

अप्तोर्याम्णि क्रतौ माध्यंदिने सवने "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०, ८१] इति स्तोत्रियम् अभितः शाकृतः स्तोत्रियो भवति। "यदिन्द्र यावतस्त्वम्" [२०, ८२] इत्यनुरूपम् अभितः शाकृतोनुरूपः । तद् उक्तं वैताने। "माध्यंदिने यद् द्याव इन्द्र ते शतं यदिन्द्र यावतस्त्वम् इति स्तोत्रियानुरूपावभितस्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ५. २]॥

तथा विश्वजिति वैराजपृष्ठे "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" "यदिन्द्र यावतस्त्वम्" इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ भवतः। तद् उक्तं वैताने। "विश्वजिति वैराजपृष्ठे यद् द्याव इन्द्र ते शतं यदिन्द्र यावतस्त्वम् इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ" इति [वै० ६. ३]॥

तथा तनूपृष्ठे षडहे "अभि त्वा शूर नोनुमः" [२०. १२१] "त्वामिद्धि हवामहे" [२०. ९८] "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०, ८१] "पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा" [२०, ११७] "कया नश्चित्र आ भुवत्" [२०, १२४] "रेवतीर्नः सधमादे" [२०. १२२] इति पृष्ठस्तोत्रिया यथाक्रमं भवन्ति। तद् उक्तं वैताने। "तनूपृष्ठेभि त्वा शूर नोनुमस्त्वामिद्धि हवामहे यद् द्याव इन्द्र ते शतं पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा कया नश्चित्र आ भुवद् रेवतीर्नः सधमाद इति" इति [वै० ८. ४] ॥

अप्तोर्याम क्रतुके माध्यन्दिन सवनमें "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) यह स्तोत्रिय चारों ओरसे शाकृत स्तोत्रिय होता

है। "यदिन्द्र यावतस्त्वम्" (२० । ८२) यह अनुरूप अभितः शाकृत अनुरूप है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"माध्यन्दिने यद् द्याव इन्द्र ते शतम् यदिन्द्र यावतस्त्वम् इति स्तोत्रियानुरूपावभितःस्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

तथा विश्वजित् वैराजपृष्ठमें "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" "यदिन्द्र यावतस्त्वम्" ये पृष्ठस्तोत्रियानुरूप बार्हत प्रगाथ होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"विश्वजिति वैराजपृष्ठे यद् द्याव इन्द्र ते शतम् यदिंद्र यावतस्त्वम् इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ (वैतानसूत्र ६ । ३) ॥

तथा तनूपृष्ठ षडहमें "अभि त्वा शूर नोनुमः" (२० । १२१) "त्वामिद्धि हवामहे" (२० । ६८) "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) "पिबा सोमिन्द्र मदन्तु त्वा" (२० । ११७) "कया नश्चित्र आभुवत् (२० । १२४) "रेवतीर्नः सधमादे" (२० । १२२) ये यथाक्रम पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तनूपृष्ठेऽभि त्वा शूर नोनुमस्त्वामिद्धि हवामहे यद् द्याव इन्द्र ते शतं पिबा सोममिन्द्र मदन्तु त्वा कया नश्चित्र आभुवद् रेवतीर्नः सधमाद इति" (वैतानसूत्र ८ । ४)

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।

न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥१॥

यत् । द्याव॑: । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । श॒तम् । श॒तम् । भूमी॑: । उ॒त । स्युरिति॑ । स्युः ।

न । त्वा॒ । व॒ज्रि॒न् । स॒हस्र॑म् । सूर्या॑: । अनु॑ । न । जा॒तम् । अ॒ष्ट॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥ १ ॥

हे भगवन् इन्द्र ! यदि सैंकड़ों द्युलोक सैंकड़ों भूमि और सहस्रों सूर्य आपके उपमानमें होजावें, तब भी हे वज्रधारिन् इंद्र! आपसे नहीं बढ़ सकते ॥ १ ॥

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥ २ ॥

आ । पप्राथ । महिना । वृष्ण्या । वृषन् । विश्वा । शविष्ठ । शवसा ।
अस्मान् । अव । मघऽवन् । गोऽमति । व्रजे । वज्रिन् । चित्राभिः । ऊतिऽभिः ॥ २ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

हे वज्रिन् शविष्ठ मघवन् फलप्रद इन्द्र ! हमारे गौओं वाले व्रजमें अपनी विचित्र रक्षक शक्तियोंसे हमारी रक्षा करिये और अपनी महिमासे बलपूर्वक हमको बढ़ाइये ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (६६७)

अप्तोर्यामिणि क्रतौ "यदिन्द्र यावतस्त्वम्" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा विश्वजिति वैराजपृष्ठे अस्य सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

अप्तोर्याम क्रतुमें "यदिन्द्र यावतस्त्वम् इस सूक्तका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तथा विश्वजित् वैराज्यपृष्ठमें इस सूक्तका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । यावतः । त्वम् । एतावत् । अहम् । ईशीय ।
स्तोतारम् । इत् । दिधिषेय । रदवसो इति रदऽवसो । न ।
पापऽत्वाय । रासीय ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! आप जितने हैं, इतना मैं ईश्वर होजाऊँ, स्तोताओं को धन प्रदान करूँ, मैं पापत्वके लिये विखिखित न होऊँ अर्थात् पाप करके पक्षियोंके द्वारा नोचा न जाऊँ ॥ १ ॥

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ २ ॥

शिक्षेयम् । इत् । महऽयते । दिवेऽदिवे । रायः । आ । कुहचित्ऽविदे ।
नहि । त्वत् । अन्यत् । मघऽवन् । नः । आप्यम् । वस्यः ।
अस्ति । पिता । चन ॥ २ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

जो मुझसे बढ़ना चाहे (उसे संग्राममें मार कर) स्वर्गमें जानेका दण्ड दूँ, चाहे कहींसे धनको प्राप्त करूँ, हे मघवन् ! आपसे अतिरिक्त और कौन हमको पूर्ण करने वाला वासक और पालक है ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (६९८)

अप्तोर्याम्णि मारुतसाममगाथादनन्तरम् "इन्द्र त्रिधातु शरणम्" इति साममगाथो भवति । तदु उक्तं वैताने । "साममगाथाद् इन्द्र त्रिधातु शरणम् इति साममगाथः" इति [वै० ४. ३]॥

तथा विश्वजिति वैराजपृष्ठे "इन्द्र त्रिधातु शरणम्" इति साममगाथो भवति । तदु उक्तं वैताने । "इन्द्र त्रिधातु शरणम् इति साममगाथः" इति [वै० ६. ३]॥

अप्तोर्याममें मरुत साममगाथके अनन्तर "इन्द्र त्रिधातु शरणम्" यह साम मगाथ होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"साममगाथाद् इन्द्र त्रिधातु शरणम्" (वैतानसूत्र ४ । ३)॥

तथा विश्वजित् वैराजपृष्ठमें "इन्द्र त्रिधातु शरणम्" यह साममगाथ होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"इन्द्र त्रिधातु शरणम् इति साममगाथः" (वैतानसूत्र ६ । ३)॥

इन्द्रं त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् ।

छर्दिर्यच्छ मघवंद्भ्यश्च मह्यं च यावयां दिद्युमेभ्यः १

इन्द्र । त्रिऽधातु । शरणम् । त्रिऽवरूथम् । स्वस्तिऽमत् ।

छर्दिः । यच्छ । मघवत्ऽभ्यः । च । मह्यम् । च । यवय ।

दिद्युम् । एभ्यः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! त्रिधातु त्रिवरूथ और स्वस्तिसम्पन्न गृहको धनवानोंके लिये और मेरे लिये प्रदान करिये और इनसे दिद्युको अलग करिये-खण्डन करने वाले वज्रको अलग करिये ॥१॥

ये गंव्यता मनंसा शत्रुमादभुरंभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।

अधं स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तंमो भव ॥ २ ॥

ये । गच्छता । मनसा । शत्रुम् । आऽदधुः । अभिऽप्रघ्नन्ति । धृष्णुऽया ।

अध । स्म । नः । मघऽवन् । इन्द्र । गिर्वणः । तनूऽपाः । अन्तमः । भव ॥ २ ॥

इति सप्तमेनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

जो गमनशील मनसे शत्रुओंकी हिंसा करते हैं और अपनी धर्षक शक्तियोंसे शत्रुको विकटरूपसे पीटते हैं (वे आपके बल शत्रुओंको पीटें) इसके अनन्तर हे स्तुतिवाणियोंसे सेवनीय मघवन् इन्द्र ! आप हमारे पास रह कर हमारे शरीरकी रक्षा करिये ॥ २ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (६९९)

चतुर्विंशे द्वितीयेहनि प्रातःसवने "इन्द्रा याहि चित्रभानो" इति विकल्पेन आज्यस्तोत्रियो भवति। तदु उक्तं वैताने। "इन्द्रा याहि चित्रभानो इति वा" इति [वै० ६, १] ॥

तथा छन्दोमाख्येषु त्र्यहःसु प्रातःसवने अस्य "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०, ४७] इत्यनेन सह विनियोग उक्तः ॥

तथा चतुर्विंशे सांवत्सरिके एकाहीभूते "इन्द्रा याहि चित्रभानो" [२०, ८४] "मा चिदन्यद् वि शंसत" [२०, ८५] इत्याज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तदु उक्तं वैताने। "चतुर्विंश इन्द्रा याहि चित्रभानो मा चिदन्यद् वि शंसतेति" इति [वै० ८, २] ॥

चतुर्विंशके द्वितीय दिनके प्रातःसवनमें "इन्द्रा याहि चित्रभानो" यह विकल्पसे आज्यस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"इन्द्रा याहि चित्रभानो इति वा" (वैतानसूत्र ६ । १)

तथा छन्दोमोंके तीनों दिनोंके प्रातःसवनमें इसका "तमिन्द्रं वाजयामसि" के साथ विनियोग कह दिया है।

तथा चतुर्विंश साम्वत्सरिक एकाहीसूतमें "इन्द्रा याहि चित्रभानो" (२० । ८४) "मा चिदन्यद् विशंसत" (२० । ८५) ये आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"चतुर्विंश इन्द्रा याहि चित्रभानो मा चिदन्यद्व विशंसतेति" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥

इन्द्र । आ । याहि । चित्रभानो इति चित्रऽभानो । सुताः । इमे । त्वाऽयवः । अण्वीभिः । तना । पूतासः ॥ १ ॥

हे चित्रभानो इन्द्र ! आइये, यह सूक्ष्म (वस्त्रों) से निचोड़े हुए धनरूप सोम आपके ही हैं ॥ १ ॥

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥

०धिया । इषितः । विप्रऽजूतः । सुतऽवतः ॥ उप । ब्रह्माणि । वाघतः ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! ब्राह्मण आपको अपनेसे उत्कृष्ट समझते हैं। इस लिये बुद्धिसे प्रेरित होकर, इन अभिषुत सोम वाले और मन्त्रों (का उच्चारण करते हुए) ऋत्विजोंके पास आइये ॥ २ ॥

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

इन्द्र । आ । याहि । तुतुजानः । उप । ब्रह्माणि । हरिऽवः ।

सुते । दधिष्व । नः । चनः ।

इति सप्तमेऽनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

हे हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्र ! आप शीघ्रता करके स्तोत्रों की ओर आइये और हमारे अभिषुत सोमके पास अपने घोड़ों को कुछ ठहराइये ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें त्रयोदश सूक्त समाप्त (७००)

चतुर्विंशे माध्यंदिने सवने "मा चिदन्यद् वि शंसत" [२०. ८५. १. २] "यच्चिद्धि त्वा जना इमे" [२०. ८५. ३. ४] इति विकल्पेन पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ बार्हतौ प्रगाथौ भवतः । तदुक्तं वैताने । "मा चिदन्यद् वि शंसत यच्चिद्धि त्वा जना इम इति वा" इति [वै० ६. १] ॥

तथा चतुर्विंशे सांवत्सरिके एकाहीभूते "मा चिदन्यद् वि शंसत" इत्यस्य विनियोगः पूर्वसूक्ते उक्तः ॥

चतुर्विंश माध्यन्दिन सवनमें "मा चिदन्यद् विशंसत" (२० । ८५ । १, २) "यच्चिद्धि त्वा जना इमे" (२० । ८५ । ३, ४) ये विकल्पसे पृष्ठस्तोत्रियानुरूप बार्हत प्रगाथ होते हैं । इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"मा चिदन्यद् विशंसत यच्चिद्धि त्वा जना इम इति वा" (वैतानसूत्र ६ । १) ॥

तथा चतुर्विंश साम्वत्सरि एकाहीभूतमें "मा चिदन्यद् वि शंसत" इसका विनियोग पूर्वसूक्तके साथ कह दिया है ।

मा चिंदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।

इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत १

मा । चित् । अन्यत् । वि । शंसत । सखायः । मा । रिषण्यत । इन्द्रम् । इत् । स्तोत । वृषणम् । सचा । सुते । मुहुः । उक्था । च । शंसत ॥ १ ॥

हे मित्ररूप स्तोताओं ! तुम विविध प्रकारकी स्तुतियोंसे और किसीकी स्तुति न करो तथा चित्तसे भी और किसी देवताके पास न जाओ, फलोंकी वर्षा करने वाले इन्द्रकी ही स्तुति करो हे इस अभिषुत सोमके पास रहने वाले होताओ ! तुम बारम्बार उक्थका गान करो ॥ १ ॥

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥

अवऽक्रक्षिणम् । वृषभम् । यथा । अजुरम् । गाम् । न । चर्षणिऽसहम् ।
विऽद्वेषणम् । सम्ऽवनना । उभयम्ऽकरम् । मंहिष्ठम् । उभयाविनम् ॥ २ ॥

अवक्रक्षी, वृषभ, अजुर, बैलकी समान चर्षणीसह, शत्रुओं से द्वेष करने वाले, संवननीय, मंहिष्ठ और दोनों लोकोंमें रक्षा करने वाले (इन्द्रदेवका मैं आह्वान करता हूँ) ॥ २ ॥

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेहा विश्वा च वर्धनम् ३

यत् । चित् । हि । त्वा । जनाः । इमे । नाना । हवन्ते । ऊतये ।

अस्माकम् । ब्रह्म । इदम् । इन्द्र । भूतु । ते । अहा । विश्वा । च ।

वर्धनम् ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! ये बहुतसे पुरुष रक्षाके लिये अनेक प्रकारकी स्तुतियोंसे आपका आह्वान करते हैं, हे इन्द्र ! हमारा यह मन्त्रमय स्तोत्र सब दिन आपको बढ़ाने वाला होवे ॥ ३ ॥

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥४॥

वि । तर्तूर्यन्ते । मघऽवन् । विपःऽचितः । अर्यः । विपः । जनानाम् ।

उप । क्रमस्व । पुरुऽरूपम् । आ । भर । वाजम् । नेदिष्ठम् ।

ऊतये ॥ ४ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके चतुर्दशं सूक्तम् ॥

हे मघवन् ! विद्वान् पुरुष, यज्ञस्वामी और मनुष्योंकी अंगुलियें त्वरा कर रही हैं आप आइये और विशाल रूपको धारण करिये और रक्षा करनेके लिये अन्नको निकटतम करके प्रदान करिये ४

सप्तम अनुवाकमें चतुर्दश सूक्त समाप्त (७०१)

संवत्सरे माध्यंदिने सवने साममगाथाद् अनन्तरम् "ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि" इति आरम्भणीया भवति । तद् उक्तं वैताने । "ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मीत्यारम्भणीया" इति [वै० ६. ५] ॥

सम्वत्सरके माध्यन्दिन सवनमें साममगाथके अनन्तर "ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि" यह आरम्भणीया होती है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मीत्यारंभणीया भवति" (वैतानसूत्र ६ । ५) ॥

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणा । ते । ब्रह्मऽयुजा । युनज्मि । हरी इति । सखाया । सधऽमादे । आशू इति ।
स्थिरम् । रथम् । सुऽखम् । इन्द्र । अधिऽतिष्ठन् । प्रऽजानन् । विद्वान् । उप । याहि । सोमम् ॥ १ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके पञ्चदशं सूक्तम् ॥

कर्ममें लगे हुए मन्त्रके द्वारा मैं आपके हरिनामक शीघ्रगामी घोड़ोंको यज्ञमें आनेके लिये रथमें जोड़ता हूँ, हे इन्द्रदेव ! आप विद्वान् हैं अतः रथको स्थिर और सुखप्रद समझ उस पर चढ़ कर सोमके समीप आइये ॥ १ ॥

सप्तम अनुवाकमें पञ्चदश सूक्त समाप्त (७०२)

द्वितीये छन्दोमेऽहनि "अध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुम्" [२०. ८७] "यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्" [२०. ८८] "अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्" [२०. ८९] इत्यैकाहिकानि भवन्ति । तदु उक्तं वैताने । "द्वितीयेऽध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुं यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् इत्यैकाहिकानि" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा तृतीये छन्दोमेऽहनि "अध्वर्यवोरुणम्" [२०. ८७] "यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा" [२०. ९०] "आ यात्विन्द्रः स्व-

पतिर्मदाय" [२०. ६४] इत्येतानि ऐकाहिकानि भवन्ति । तदु उक्तं वैताने । "तृतीयेऽध्वर्यवोरुणं यो अद्रिभित् । प्रथमजा ऋतावा यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदायेति" इति [वै० ६. ३] ॥

द्वितीय छन्दोम दिनमें "अध्वर्यवोऽरुणम् दुग्धमंशुम्" (२० । ८७) "यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्" अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् (२० । ८६) ये ऐकाहिक होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"द्वितीयेऽध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुं यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् इत्यैकाहिकानि" (वैतानसूत्र ६ । ३) ॥

तथा तृतीय छन्दोम दिनमें "अध्वर्यवोरुणम् (२० । ८७) "यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा" (२० । ९०) "आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय" (२० । ६४) ये ऐकाहिक होते हैं, इसी बात को वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"तृतीयेऽध्वर्यवोरुणं यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदायेति" (वैतानसूत्र ६।३) ॥

अध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥ १ ॥

अध्वर्यवः । अरुणम् । दुग्धम् । अंशुम् । जुहोतन । वृषभाय । क्षितीनाम् ।
गौरात् । वेदीयान् । अवऽपानम् । इन्द्रः । विश्वाहा । इत् । याति ।
सुतऽसोमम् । इच्छन् ॥ १ ॥

हे अध्वर्युओं ! तुम पृथ्वीके वर्षक इन्द्रके लिये सोमके अंश

अरुण दुग्धकी आहुति दो, विश्वाहा विद्वान् इन्द्र सुतसोमको चाहता हुआ गौरसे अवपान पर आता है ॥ १ ॥

यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।

उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥ २ ॥

यत् । दधिषे । प्रऽदिवि । चारु । अन्नम् । दिवेऽदिवे । पीतिम् । इत् । अस्य । वक्षि ।

उत । हृदा । उत । मनसा । जुषाणः । उशन् । इन्द्र । प्रऽस्थितान् । पाहि । सोमान् ॥ २ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप जो द्युलोकमें चारु अन्नको धारण करते हैं, और प्रत्येक क्रीड़ाके अवसर पर जो इस सोमकी पीतिको धारण करते हैं, हे इन्द्र ! हृदय और मनसे इस सोमको चाहते हुए आप प्रस्थित सोमोंकी रक्षा करिये ॥ २ ॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।

एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ३

जज्ञानः । सोमम् । सहसे । पपाथ । प्र । ते । माता । महिमानम् । उवाच ।

आ । इन्द्र । पप्राथ । उरु । अन्तरिक्षम् । युधा । देवेभ्यः ।
वरिवः । चकर्थ ॥ ३ ॥

आप आविर्भूत होते ही मदके लिये सोम पर जाते हैं, अन्तरिक्ष आपकी महिमाको प्रकृष्टरूपसे कहता है । हे इन्द्रदेव ! आप विशाल अन्तरिक्षमें जाते हैं और आपने युद्ध करके देवताओंको धन प्रदान किया है ॥ ३ ॥

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः
शाशदानान् ।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम

यत् । योधयाः । महतः । मन्यमानान् । साक्षाम । तान् । बाहुऽ-
भिः । शाशदानान् ।
यत् । वा । नृऽभिः । वृतः । इन्द्र । अभिऽयुध्याः । तम् । त्वया ।
आजिम् । सौश्रवसम् । जयेम ॥ ४ ॥

आप अपनेको बड़ा मानते हुओंसे युद्ध करते हैं, उन भुजाओं से विशरण करते हुओंसे हम संगत होवें, अथवा हे इन्द्र ! आप मनुष्योंसे घिर कर युद्ध करिये आपके प्रभाववश हम सुन्दर यश के साथ युद्धको जीतें ॥ ४ ॥

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य

प्र । इन्द्रस्य । वोचम् । प्रथमा । कृतानि । प्र । नूतना । मघऽवा ।
या । चकार ।

यदा। इत्। अदेवीः। असहिष्ट॥ मायाः। अथ। अभवत्।

केवलः। सोमः। अस्य॥ ५॥

मैं इन्द्रके पहिले किये हुए कृत्योंका वर्णन कर रहा हूँ और धनी इन्द्रदेवने जो नवीन कर्म किये हैं उनका वर्णन करता हूँ, जो इन्होंने आसुरी मायाओंको सहा है, इससे सोम केवल इन के लिये होगया है॥ ५॥

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।

गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः

तव। इदम्। विश्वम्। अभितः। पशव्यम्। यत्। पश्यसि।

चक्षसा। सूर्यस्य।

गवाम्। असि। गोऽपतिः। एकः। इन्द्र। भक्षीमहि। ते। प्रऽयत-

तस्य। वस्वः॥ ६॥

हे इन्द्रदेव! आप सूर्यरूपी नेत्रसे जिसको देखते हैं वह सब पशुधन आपका ही है, हे इन्द्रदेव! आप गौओंके असाधारण गोपालक हैं हम, आप प्रयत्न अपने भक्तफलरूपमें प्रकृष्टरूपसे लगे रहने वालेके धनका उपभोग करें॥ ६॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य

धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

बृहस्पते । युवम् । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति ।

उत । पार्थिवस्य ।

धत्तम् । रयिम् । स्तुवते । कीरये । चित् । युयम् । पात । स्व-

स्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ७ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके षोडशं सूक्तम् ॥

हे बृहस्पते ! आप और इन्द्रदेव तुम दोनों ही द्युलोकके और भूलोकके धनके स्वामी हैं आप स्तुति करनेवाले स्तोताके लिये धनको दीजिये और अपनी रक्षक शक्तियोंसे सदा हमारी रक्षा करिये ॥ ७ ॥

सप्तम अनुवाकमें सोलहवाँ सूक्त समाप्त (७०२)

द्वितीये छन्दोमेऽहनि "यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्" इत्यस्य विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

द्वितीय छन्दोम दिनमें "यस्तस्तम्भ सहसा विज्मो अन्तान्" इसका विनियोग पूर्व सूक्तके साथ कह दिया है ।

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषध-

स्थो रवेण ।

तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्र-

जिह्वम् ॥ १ ॥

यः । तस्तम्भ । सहसा । वि । ज्मः । अन्तान् । बृहस्पतिः ।

त्रिऽसधस्थः । रवेण ।

तम् । प्रत्नासः । ऋषयः । दीध्यानाः । पुरः । विप्राः । दधिरे ।

मन्द्रऽजिह्वम् ॥ १ ॥

जिन त्रिसधस्थ बृहस्पतिने अपने घोषसे पृथ्वीके छोर तक को स्तम्भित कर दिया था, प्राचीन ऋषि, उनका बारम्बार ध्यान करते हैं और ब्राह्मण उन हर्षमद जिह्वा वालेको पहिले रखते हैं ॥ १ ॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् २

धुनऽइतयः । सुप्रकेतम् । मदन्तः । बृहस्पते । अभि । ये । नः ।
ततस्रे ।

पृषन्तम् । सृप्रम् । अदब्धम् । ऊर्वम् । बृहस्पते । रक्षतात् । अस्य ।
योनिम् ॥ २ ॥

हे बृहस्पते ! ध्वनिको प्रेरित करते हुए आनन्दमें भरे हुए जो ऋत्विज आपको हमारी ओर प्रेरित करते हैं । हे बृहस्पते ! उस ऋत्विक्संघके कारण, गमनशील, सबसे अहिंसित बलवान् घृतविन्दु वाले की आप रक्षा करिये ॥ २ ॥

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि
षेदुः ।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो
विरप्शम् ॥ ३ ॥

बृहस्पते । या । परमा । पराऽवत् । अतः । आ । ते । ऋतऽस्पृशः ।
नि । सेदुः ।

दुग्धम् । खाताः । अवताः । अद्रिऽदुग्धाः । मध्वः । श्चोतन्ति ।

अभितः । विऽरप्शम् ॥ ३ ॥

हे बृहस्पते ! आपकी परम रक्षक शक्ति रक्षा करती है, इसी कारण ऋतस्पृश् ऋत्विज् आपके पास बैठे हैं, आपके लिये तोडे हुए, रक्षित और पहाड़ परसे लाये हुए मधुके अधिकरण चारों ओरसे विशाल परिमाणमें मधुको बरसाते हैं ॥ ३ ॥

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।

सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत् तमांसि ४

बृहस्पतिः । प्रथमम् । जायमानः । महः । ज्योतिषः । परमे ।

विऽओमन् ।

सप्तऽआस्यः । तुविऽजातः । रवेण । वि । सप्तऽरश्मिः । अधमत् ।

तमांसि ॥ ४ ॥

बृहस्पति देव ज्योतिषके महिमामय चक्रसे परम व्योममें प्रकट होते हैं, तब वह तुविजात सप्तास्य सप्तरश्मि बन अपने शब्दसे अन्धकारोंको नष्ट कर डालते हैं ॥ ४ ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।

बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत्

सः । सुऽस्तुभा । सः । ऋक्वता । गणेन । वलम् । रुरोज ।

फलिऽगम् । रवेण ।

बृहस्पतिः । उस्रियाः । हव्यऽसूदः । कनिक्रदत् । वावशतीः ।

उत । आजत् ॥ ५ ॥

बृहस्पति देव सुन्दरतासे स्तुति करने वाले ऋचामयगणसे और रवसे मेघको विदीर्ण कर डालते हैं—वर्षा करते हैं । हव्यसे प्रेरित हुए बृहस्पति देव कामना करती हुई गौओंके लिये बार-म्बार शब्द करते हैं और प्राप्त होजाते हैं ॥ ५ ॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।

बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ६

एव । पित्रे । विश्वऽदेवाय । वृष्णे । यज्ञैः । विधेम । नमसा ।

हविःऽभिः ।

बृहस्पते । सुऽप्रजाः । वीरऽवन्तः । वयम् । स्याम । पतयः ।

रयीणाम् ॥ ६ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके सप्तदशं सूक्तम् ॥

ऐसे पालक विश्वदेव वर्षक बृहस्पतिके लिये हम यज्ञोंके द्वारा नमस्कारके द्वारा और हविके द्वारा सेवा करते हैं, हे बृहस्पति-देव ! हम सुन्दर प्रजा वाले, वीरोंसे सम्पन्न होवें और धनके स्वामी होवें ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें सप्तदश सूक्त समाप्त (७०४)

द्वितीये छन्दोमेहनि "अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्" इत्यस्य विनियोगः "अध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुम्" [२०, ८७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

द्वितीय छन्दोम दिनमें "अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्" इसका

विनियोग "अध्वर्यवोरुणं दुग्धमंशुम्" (२० । ८७) के साथ कह दिया है ।

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥ १ ॥

अस्ताऽइव । सु । प्रऽतरम् । लायम् । अस्यन् । भूषन्ऽइव । प्र । भर । स्तोमम् । अस्मै ।
वाचा । विप्राः । तरत । वाचम् । अर्यः । नि । रमय । जरितरिति । सोमे । इन्द्रम् ॥ १ ॥

जैसे फेंकने वाला पुरुष, ग्रहण करने वाली वस्तुको विभूषित होता हुआसा फेंकता है, इसी प्रकार आप इन इन्द्रदेवके लिये स्तोमका भरण करिये । हे विप्रो ! तुम मन्त्ररूपा वाणीके वाणीसे पार जाओ हे स्तोतः ! आप स्वामी हैं अतः सोममें इन्द्रको रमण कराइये ॥ १ ॥

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम् ।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम् ॥ २ ॥

दोहेन । गाम् । उप । शिक्ष । सखायम् । प्र । बोधय । जरितः । जारम् । इन्द्रम् ।

कोशम् । न । पूर्णम् । वसुना । निःऽऋष्टम् । आ । च्यवय । मघऽदेयाय । शूरम् ॥ २ ॥

आप मित्ररूप वाणीको दोहनसे शिक्षित करिये और हे स्तुति करने वाले ! शत्रुओंको जीर्ण करने वाले इन्द्रको प्रबोधित करिये । और धनसे पूर्ण कोशकी समान शूरतामद शुद्ध सोम को धनप्रद इन्द्रके लिये च्यावित करिये ॥ २ ॥

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि ।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

किम् । अङ्ग । त्वा । मघऽवन् । भोजम् । आहुः । शिशीहि । मा । शिशयम् । त्वा । शृणोमि ।
अप्नस्वती । मम । धीः । अस्तु । शक्र । वसुऽविदम् । भगम् । इन्द्र । आ । भर । नः ॥ ३ ॥

हे मघवन् इन्द्रदेव ! आपको भोगने वाला कहते हैं, आप मुझे क्षीण न करिये, मैं आपको शत्रक्षीणकर्ता सुनता हूँ । हे शक्र ! मेरी बुद्धि कर्म वाली हो और हे इन्द्रदेव ! आप हमको धन प्राप्त कराने वाला भाग्य दीजिये ॥ ३ ॥

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।

अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि

शूरः ॥ ४ ॥

त्वाम् । जनाः । ममऽसत्येषु । इन्द्र । सम्ऽतस्थानाः । वि ।

ह्वयन्ते । सम्ऽईके ।

अत्र । युजम् । कृणुते । यः । हविष्मान् । न । असुन्वता । सख्यम् ।

वष्टि । शूरः ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! मेरे यज्ञोंमें खड़े हुए और युद्धमें खड़े हुए पुरुष आपका ही विशेषरूपसे आह्वान करते हैं, जो हवि वाला आप के लिये योग करता है वह शूर आपकी मित्रता चाहता है अतः सोमका अभिषव करता है ॥ ४ ॥

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसु-

नोति प्रयस्वान् ।

तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति

हन्ति वृत्रम् ॥ ५ ॥

धनम् । न । स्पन्द्रम् । बहुलम् । यः । अस्मै । तीव्रान् । सोमान् ।

आऽसुनोति । प्रयस्वान् ।

तस्मै । शत्रून् । सुऽतुकान् । प्रातः । अह्नः । नि । सुऽअष्ट्रान् ।

युवति । हन्ति । वृत्रम् ॥ ५ ॥

जो हविरूप अन्नसे सम्पन्न पुरुष अपने धनको धीरे धीरे

सरकने वाला रख कर इन इन्द्रदेवके लिये तीव्र सोमोंका अभि-षव नहीं करता है उसके लिये इन्द्रदेव दिनके प्रातःकालमें शीघ्र गमन करने वाले भली प्रकार व्याप्त कर लेने वाले शत्रुओंको मिलाते हैं और वज्रका प्रहार करते हैं ॥ ५ ॥

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा कामम॒स्मे ।
आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥ ६ ॥

यस्मिन् । वयम् । दधिम । शंसम् । इन्द्रे । यः । शिश्राय । मघऽवा । कामम् । अस्मे इति ।
आरात् । चित् । सन् । भयताम् । अस्य । शत्रुः । नि । अस्मै । द्युम्ना । जन्या । नमन्ताम् ॥ ६ ॥

जिस इन्द्रमें हम प्रशंसाको स्थापित कर रहे हैं अर्थात् जिस इन्द्रकी प्रशंसा कर रहे हैं और जो धनवान् इन्द्र हममें इच्छाको आश्रित करते हैं—अर्थात् हमारी इच्छाको पूर्ण करते हैं। इन इन्द्रदेवका शत्रु इनके पासमें आते ही डरने लगे और दमकता हुआ जनसमूह इनको प्रणाम करे ॥ ६ ॥

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ।
अस्मे धेहि यवमद् गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥

आरात् । शत्रुम् । अप । बाधस्व । दूरम् । उग्रः । यः । शम्बः ।

पुरुऽहूत । तेन ।

अस्मे इति । धेहि । यवऽमत् । गोऽमत् । इन्द्र । कृधि । धियम् ।

जरित्रे । वाजऽरत्नाम् ॥ ७ ॥

हे पुरुहूत इन्द्र ! आपका जो उग्र वज्र है, उसके द्वारा आप दूर पर स्थित वा समीपमें स्थित शत्रुको बाधा दीजिये । और हे इन्द्र ! हममें जौ आदि अन्न और गौ आदि पशुओं वाले धन को स्थापित करिये और स्तोताके लिये अन्नरूपी धन वाली बुद्धिको करिये ॥ ७ ॥

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् ।

नाह दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

प्र । यम् । अन्तः । वृषऽसवासः । अग्मन् । तीव्राः । सोमाः ।

बहुलऽअन्तासः । इन्द्रम् ।

न । अह । दामानम् । मघऽवा । नि । यंसत् । नि । सुन्वते ।

वहति । भूरि । वामम् ॥ ८ ॥

जिन इन्द्रके पास बहुलान्तास वृषसवास तीव्र सोम जाते हैं, उसके लिये मघवा धनको रोकनेवाली रस्सीको रोक लेते हैं और सोमाभिषव करने वालेके लिये बहुतसा सेवनीय धन देते हैं ८

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले ।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजाति स्वधाभिः ॥ ९ ॥

उत । प्रऽहाम् । अतिऽदीवा । जयति । कृतम्ऽइव । श्वऽघ्नी । वि । चिनोति । काले ।
यः । देवऽकामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥ ९ ॥

बड़ा भारी खिलाड़ी पुरुष अक्षोंसे प्रहार करने वाली प्रतिपत्ती जुआरीको जीत लेता है, क्योंकि—वह जुआरी द्यूतके समय लाभके हेतु कृत नामक अयको ही ढूँढ़ता है, वह इन्द्रदेवकी इच्छा करता हुआ जुआरी पुरुष उस धनको रोकता नहीं है अर्थात् व्यर्थ ही स्थापित नहीं करता है, किन्तु इन्द्रदेवताके निमित्त विनियुक्त करता है और उनको स्वधासे संयुक्त करता है ॥९॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःएवाम् । यवेन । वा । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वे ।
वयम् । राजऽसु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम ॥ १० ॥

हे इन्द्रदेव ! हम दुष्ट गति वाली दरिद्रतासे आई हुई दुर्बुद्धि को पशुओंके द्वारा तरें, यव आदि धान्यके द्वारा क्षुधाका निवारण करें, राजाओंमें स्थित श्रेष्ठ धनको हम प्रतिपक्षी जुआरियों से पराजित न होकर बलकारिणी अक्षशलाकाओंसे जीत लें॥१०

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् । अधरात् । अघऽयोः ।

इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः । वरीयः । कृणोतु ॥ ११ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके अष्टादशं सूक्तम् ॥

जो हमारी हिंसारूप पापको करना चाहता है उस शत्रुसे बृहस्पतिदेव पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओरसे हमको बचावें, इन्द्रदेव पूर्वदिशाकी ओरसे हमको बचावें, हमारे मित्ररूप बृहस्पति अन्य मित्रोंसे हमको श्रेष्ठ करें ॥ ११ ॥

सप्तम अनुवाकमें अठारहवाँ सूक्त समाप्त (७०५)

तृतीये छन्दोमेऽहनि "यो अद्रिभित्" इत्यस्य विनियोगः "अध्वर्यवोरुणम्" [२०. ८७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा उभयोर्द्वितीयतृतीययोरह्नोरैकाहिकानां सूक्तानां मध्यमस्य आदावन्ते वा "यो अद्रिभित्" [२०. ९०] "इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता नः" [२०. ९१] इत्येतयोर्यथाक्रमम् एकैकं

शंसति । तदु उक्तं वैताने । "यो अद्रिभिद् इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न इत्युभयोरेकैकं मध्यमस्यादावन्त्ये वा" इति [वै०६.२]॥

तृतीय छन्दोम दिनमें "यो अद्रिभित्" का विनियोग "अच्छ-र्षवोऽवृण्" (२० । ८७) के साथ कह दिया है ।

तथा दोनों द्वितीय तृतीय दिनोंके ऐकाहिक सूक्तोंके मध्यम का आदि या अन्तमें "यो अद्रिभित्" (२० । ९०) "इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता नः" (२० । ९१) को यथाक्रम एक एक करके कहे । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"यो अद्रि-भिद् इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न इत्युभयोरेकैकं मध्यमस्या-दावन्त्ये वा" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

यो अ॑द्रि॒भित् प्र॑थम॒जा ऋ॒तावा॒ बृह॒स्पति॑राङ्गि॒र॒सो ह॒वि-ष्मा॑न् ।

द्वि॒बर्ह॑ज्मा प्रा॑घर्म॒सत् पि॒ता न॒ आ रोद॑सी वृष॒भो रो॑रवीति ॥ १ ॥

यः । अ॒द्रि॒ऽभित् । प्र॒थ॒म॒ऽजाः । ऋ॒तऽवा॑ । बृह॒स्पतिः॑ । आ॒ङ्गि॒र॒सः । ह॒विष्मा॑न् ।

द्वि॒बर्ह॑ऽज्मा । प्रा॒घ॒र्म॒ऽसत् । पि॒ता । नः॒ । आ । रोद॑सी॒ इति॑ । वृ॒ष॒भः । रो॒र॒वी॒ति॒ ॥ १ ॥

जो मेघोंको विदीर्ण करने वाले हैं, प्रथम प्रादुर्भूत होने वाले हैं, सत्यसम्पन्न हैं, वह अङ्गिरागोत्री बृहस्पति हविके पात्र हैं, द्विबर्हज्मा हैं, प्राघर्मसत् हैं, पालक हैं, वर्षक हैं और द्युलोक तथा पृथ्वीलोकमें वारम्बार शब्द करते हैं ॥ १ ॥

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार ।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥ २ ॥

जनाय । चित् । यः । ईवते । ऊं इति । लोकम् । बृहस्पतिः । देवऽहूतौ । चकार ।
घ्नन् । वृत्राणि । वि । पुरः । दर्दरीति । जयन् । शत्रून् । अमित्रान् । पृत्ऽसु । सहन् ॥ २ ॥

जो बृहस्पतिदेव मनुष्योंके लिये चलते हैं और देवहूतिमें जिन्होंने लोकको किया है, वह आवरक मेघोंको विदीर्ण करते हुए पुरोंका दारण करते हैं, शत्रुओंको जीतते हैं और सेनाओंमें शत्रुओंको सहते हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः ।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः

बृहस्पतिः । सम् । अजयत् । वसूनि । महः । व्रजान् । गोऽमतः । देवः । एषः ।
अपः । सिसासन् । स्वः । अप्रतिऽइतः । बृहस्पतिः । हन्ति । अमित्रम् । अर्कैः ॥ ३ ॥

सप्तमेऽनुवाके एकोनविंशं सूक्तम् ॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

इन बृहस्पति देवने बड़े २ गौओं वाले गोठोंको और धनोंको जीत लिया है, जलोंका दान करनेके लिये वह अमतीतरूपमें स्वर्गमें जाते हैं और मन्त्रोंके द्वारा शत्रुका नाश करते हैं ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें उन्नीसवाँ सूक्त समाप्त (७०६)

सप्तम अनुवाक समाप्त

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता नः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता नः" इस सूक्तका पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहती-
मविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय
शंसन् ॥ १ ॥

इमाम् । धियम् । सप्तऽशीर्ष्णीम् । पिता । नः । ऋतऽप्रजाताम् । बृहतीम् । अविन्दत् ।
तुरीयम् । स्वित् । जनयत् । विश्वऽजन्यः । अयास्यः । उक्थम् । इन्द्राय । शंसन् ॥ १ ॥

हमारे पालक बृहस्पतिदेवने सत्यसे उत्पन्न हुई इस सात शिर वाली विशाल बुद्धिको पाया है, और उन विश्वजन्य अयास्यने इन्द्रसे कह कर तुरीयको प्रकट किया है ॥ १ ॥

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य
वीराः ।

विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त

ऋतम् । शंसन्तः । ऋजु । दीध्यानाः । दिवः । पुत्रासः । असु-रस्य । वीराः ।

विप्रम् । पदम् । अङ्गिरसः । दधानाः । यज्ञस्य । धाम । प्रथमम् । मनन्त ॥ २ ॥

सत्य बोलते हुए, सरलताका ध्यान रखते हुए प्राणवन्तीके वीर्यसे प्रकट हुए दिवस्पुत्र अङ्गिरागोत्री विप्रत्वको धारण करते हैं और यज्ञके धाममें प्रथम माने जाते हैं ॥ २ ॥

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥ ३ ॥

हंसैःऽइव । सखिऽभिः । वावदत्ऽभिः । अश्मन्ऽमयानि । नहना । विऽअस्यन् ।

बृहस्पतिः । अभिऽकनिक्रदत् । गाः । उत । प्र । अस्तौत् । उत् । च । विद्वान् । अगायत् ॥ ३ ॥

हंसकी समान भाषण करने वाले अपने मित्रोंसे बोले भरे हुए बंधक (मेघों) को खोलते हुए बृहस्पति वाणियोंका उच्चारण करते समय स्तुतिसी करते हैं और गाते हुए विद्वान्से प्रतीत होते हैं ॥ ३ ॥

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ ।

बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र
आवः ॥ ४ ॥

अपः । द्वाभ्याम् । परः । एकया । गाः । गुहा । तिष्ठन्तीः ।
अनृतस्य । सेतौ ।
बृहस्पतिः । तमसि । ज्योतिः । इच्छन् । उत् । उस्राः । आ ।
अकः । वि । हि । तिस्रः । आवरित्यावः ॥ ४ ॥

अन्नको दो से फिर एकसे हृदयदेशमें स्थित प्राणियोंको प्रकट करते हैं, और बृहस्पतिदेव अन्धकारमें प्रकाशको चाहते हुए तीन प्रकारके प्रकाशोंको करते हैं ॥ ४ ॥

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेर-
कृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः

विऽभिद्य । पुरम् । शयथा । ईम् । अपाचीम् । निः । त्रीणि ।
साकम् । उदऽधेः । अकृन्तत् ।
बृहस्पतिः । उषसम् । सूर्यम् । गाम् । अर्कम् । विवेद । स्तनयन्ऽ-
इव । द्यौः ॥ ५ ॥

आप पुरको विदीर्ण करके पश्चिममें शयन करते हैं और समुद्र के चारों भागोंको नहीं काटते हैं–अर्थात् उनमें वर्षा करते हैं। बृहस्पति द्युलोकको कड़काते हुएसे उषा सूर्य गौ और अन्नको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।

स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । वलम् । रक्षितारम् । दुघानाम् । करेणऽइव । वि । चकर्त । रवेण ।

स्वेदाञ्जिऽभिः । आऽशिरम् । इच्छमानः । अरोदयत् । पणिम् । आ । गाः । अमुष्णात् ॥ ६ ॥

इन्द्रदेव कामदुघा धेनुओंके रक्षक मेघको बलपूर्वक विदीर्ण कर डालते हैं, इन्होंने स्वेदाञ्जियोंसे दधिकी इच्छा करके पणि नामके असुरको रुलाया, कि-जिसने गौएँ चुरा ली थीं ॥६॥

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ७

सः । ईम् । सत्येभिः । सखिऽभिः । शुचत्ऽभिः । गोऽधायसम् । वि । धनऽसैः । अदर्दरित्यदर्दः ।

ब्रह्मणः । पतिः । वृषऽभिः । वराहैः । घर्मऽस्वेदेभिः । द्रविणम् । वि । आनट् ॥ ७ ॥

वह इन्द्रदेव मित्ररूप प्रकाशात्मक धनप्रद मेघों को तापदायक पवनोंसे पृथ्वीको पुष्ट करने वाले मेघको विदीर्ण करते हैं, और ब्रह्मणस्पति वर्षक घर्मस्वेद मेघोंके द्वारा धनमें व्याप्त होजाते हैं ७

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः

बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः

ते । सत्येन । मनसा । गोऽपतिम् । गाः । इयानासः । इषणयन्त । धीभिः ।

बृहस्पतिः । मिथःऽअवद्यपेभिः । उत् । उस्रियाः । असृजत । स्वयुक्ऽभिः ॥ ८ ॥

वह मेघ सत्य मनसे गोपति–वृषभ और गौओं पर जानेकी इच्छा करते हुए अपनी बुद्धियोंसे उनको प्राप्त होते हैं और बृहस्पति देव उन स्वयुक् अनवद्यप–प्रशस्त शब्दकी रक्षा करनेवाले मेघोंके द्वारा गौओंमें मिलते हैं ॥ ८ ॥

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।

बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ९

तम् । वर्धयन्तः । मतिऽभिः । शिवाभिः । सिंहम्ऽइव । नानदतम् । सधऽस्थे ।

बृहस्पतिम् । वृषणम् । शूरऽसातौ । भरेऽभरे । अनु । मदेम । जिष्णुम् ॥ ९ ॥

उन यज्ञमें (वा संग्राममें) सिंहकी समान वारम्बार गरजने वाले वर्षक जयशील बृहस्पतिदेवको हम अपनी कल्याणमयी बुद्धियोंसे बढ़ाते हुए प्रत्येक संग्रामके अवसर पर हर्षित करते हैं ९

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म

बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥ १० ॥

यदा । वाजम् । असनत् । विश्वऽरूपम् । आ । द्याम् । अरुक्षत् । उत्ऽतराणि । सद्म ।
बृहस्पतिम् । वृषणम् । वर्धयन्तः । नाना । सन्तः । बिभ्रतः । ज्योतिः । आसा ॥ १० ॥

जब यह विश्वरूप-सब प्रकारके रूपों वाले गेहूं जौं चावल आदि-अन्नको देना चाहते हैं तब द्युलोकरूपी भवन पर आरूढ होते हैं, उस समय अनेक होते हुए और ज्योतिको धारण करते हुए बुद्धिसे वर्षक बृहस्पतिको बढ़ाते हैं ॥ १० ॥

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधैः कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद् रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥ ११ ॥

सत्याम् । आऽशिषम् । कृणुत । वयःऽधैः । कीरिम् । चित् । हि । अवथ । स्वेभिः । एवैः ।
पश्चा । मृधः । अप । भवन्तु । विश्वाः । तत् । रोदसी इति । शृणुतम् । विश्वमिन्वे इति विश्वम्ऽइन्वे ॥ ११ ॥

अन्नको पुष्ट करने वाले कारणोंसे आशीर्वादको सत्य करिये, और अपने गमनोंसे इस स्तोताकी रक्षा करिये, जितने युद्ध हैं सब पीछे होजावें, इस बातको हे द्यावापृथिवी ! आप अग्न्यर्चिके अवण्ड होने पर सुनिये ॥ ११ ॥

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य।
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून् देवैर्द्यावापृथिवी प्रा-
वतं नः ॥ १२ ॥

इन्द्रः। मह्ना। महतः। अर्णवस्य। वि। मूर्धानम्। अभिनत्।
अर्बुदस्य।

अहन्। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। देवैः। द्यावापृथिवी इति।
प्र। अवतम्। नः॥ १२ ॥

इति अष्टमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इन्द्रदेव अपनी महती महिमासे जल वाले मेघके मस्तकको विदीर्ण कर डालते हैं, वह मेघ पर प्रहार करके दमकती हुई जलबिन्दुओंसे सात नदियोंको प्रवाह कर देते हैं। हे द्यावापृथिवी! आप हमारी रक्षा करिये ॥ १२ ॥

अष्टम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७०७)

अतिरात्रे पञ्चमे पर्याये "अभि त्वा वृषभा सुते" [२०. २२] "अभि प्र गोपतिं गिरा" [२०. ९२] एतौ स्तोत्रियानुरूपौ ब्रह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्तौ भवतः। तद् उक्तं वैताने। "अभि त्वा वृषभा सुतेभि प्र गोपतिं गिरेति स्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ४. २]॥

तथा पृष्ठ्यषडहस्य षष्ठेऽहनि प्रातःसवने "अभि प्र गोपतिं गिरा" इत्येकविंशतिर्ऋच आवपते। तद् उक्तं वैताने। "षष्ठेऽभि प्र गोपतिं गिरेत्येकविंशतिः" इति [वै० ६. २] ॥

तथा अभिजिति "अभि प्र गोपतिं गिरा" इत्याज्यस्तोत्रियो भवति। तद् उक्तं वैताने। अभिजित्यभि प्र गोपतिं गिरेति च" इति [वै० ८. २] ॥

तथा त्रिककुद्याहे अस्य विनियोगः "क ईं वेद सुते सचा" [२०. ५३] इत्यनेन सह उक्तः ॥

अतिरात्रके मध्यमपर्यायमें "अभि त्वा वृषभा सुते" (२०।२२) "अभि प्र गोपतिं गिरा" (२० । ९२) ये उक्थशंसनमन्त्रके स्तोत्रिय और अनुरूप होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अभि त्वा वृषभा सुतेऽभि प्र गोपतिं गिरेति स्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ४ । २) ॥

तथा पृष्ठ्यषडहके छठे दिन प्रातःसवनमें "अभि प्र गोपतिं गिरा" इन इक्कीस ऋचाओंको पढ़े। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि "षष्ठेऽभि प्र गोपतिं गिरेत्येकविंशतिः" इति (वैतानसूत्र ६ । २)

तथा अभिजित्में "अभि प्र गोपतिं गिरा" यह आज्यस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है कि–अभिजित्यभि प्र गोपतिं गिरेति च" इति (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे । सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥

अभि । प्र । गोऽपतिम् । गिरा । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ॥ सूनुम् । सत्यस्य । सत्ऽपतिम् ॥ १ ॥

हे स्तोतः ! गौओंके स्वामी इन्द्रको मैं जिस प्रकार प्राप्त कर सकूँ अर्थात् वह जिस प्रकार वह हमको अपना समझने लगें तिस प्रकार तू इन्द्रकी श्रेष्ठतासे पूजा कर। यह इन्द्रदेव सत्य फल वाले यज्ञके पुत्रस्थानीय हैं, और सत्कर्म करने वाले अपने सेवकोंका पालन करने वाले हैं ॥ १ ॥

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि । यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥

आ । हरयः । ससृज्रिरे । अरुषीः । अधि । बर्हिषि ॥ यत्र ।
अभि । सम्ऽनवामहे ॥ २ ॥

रूपवान् हरि नामक घोड़े फैली हुई उन कुशाओं पर इन्द्रके रथको संयुक्त करें, जिन कुशाओं पर हम इन्द्रकी स्तुति कर रहे हैं २

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥

इन्द्राय । गावः । आऽशिरम् । दुदुह्रे । वज्रिणे । मधु ॥ यत् ।
सीम् । उपऽह्वरे । विदत् ॥ ३ ॥

वज्रयुक्त इन्द्रके लिये गौएँ मधुर दुग्धको दुहती हैं, उस समय समीपमें वर्तमान मधुकी समान स्वादिष्ट सोमको इन्द्र सब ओर से पाते हैं ॥ ३ ॥

उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ४ ॥

उत् । यत् । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । गृहम् । इन्द्रः । च । गन्वहि ।
मध्वः । पीत्वा । सचेवहि । त्रिः । सप्त । सख्युः । पदे ॥ ४ ॥

जो ब्रध्नका घर स्वर्ग है उसमें हम और इन्द्र जावें, हम इकीस बार मधु पीकर इन्द्रके मित्र बनें ॥ ४ ॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥

अर्चत । प्र । अर्चत । प्रियऽमेधासः । अर्चत ।
अर्चन्तु । पुत्रकाः । उत । पुरम् । न । धृष्णु । अर्चत ॥ ५ ॥

हे प्रिय बुद्धि वालो ! आप इन्द्रका पूजन करिये, पूजन करिये श्रेष्ठ रीतिसे पूजन करिये, हे पुत्रो ! तुम इन्द्रका पूजन करो सामने खड़े हुएकी समान उनका अपने शत्रुओंको दबाने वाला पूजन करो ॥ ५ ॥

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ६ ॥

अव । स्वराति । गर्गरः । गोधा । परि । सनिस्वनत् ।
पिङ्गा । परि । चनिस्कदत् । इन्द्राय । ब्रह्म । उत्ऽयतम् ॥ ६ ॥

जब इन्द्रके लिये मन्त्र उद्यत होता है तब गर्गर-कलश-शब्द करता है, धनुषकी प्रत्यञ्चाकी समान शब्द करता है और पिशंग वर्ण वाला पदार्थ चलता है ॥ ६ ॥

आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥

आ । यत् । पतन्ति । एन्यः । सुऽदुघाः । अनपऽस्फुरः ।
अपऽस्फुरम् । गृभायत । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ॥ ७ ॥

ये जो श्वेत वर्णकी गौएँ आरही हैं (इनमें) अनपस्फुर-अविनाशी (नष्ट न होने देने वाला) पदार्थ है उस अविनाशी पदार्थ को ग्रहण करो सोमको इन्द्रके पानके लिये ग्रहण करो ॥ ७ ॥

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत ।
वरुण इदिह क्षयत् तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ ८ ॥

अपात् । इन्द्रः । अपात् । अग्निः । विश्वे । देवाः । अमत्सत ।

वरुणः । इत् । इह । क्षयत् । तम् । आपः । अभि । अनूषत ।

वत्सम् । संशिश्वरीःऽइव ॥ ८ ॥

इसको इन्द्रदेवने पीलिया है, अग्निदेवने इसका पान कर लिया है, विश्वेदेवता इस सोमका पान करके मदमें भर गए हैं, हे जलों ! यदि वरुण यहाँ निवास करते हैं तो संशिश्वरीके वत्सकी समान उनकी स्तुति करो ॥ ८ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।

अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ९ ॥

सुऽदेवः । असि । वरुण । यस्य । ते । सप्त । सिन्धवः ।

अनुऽक्षरन्ति । काकुदम् । सूर्म्यम् । सुषिराम्ऽइव ॥ ९ ॥

हे वरुणदेव ! आप शोभन देवता हैं, क्योंकि—आपके पास भरना, तितुवा, अभ्रयन्ती, मेघपत्ना, वर्षयन्ती और चुरस्तात् अरुन्धा नाम वाली सात अन्तरिक्ष नदियें (वा सात समुद्र) हैं। जैसे ऊँचे स्थानका जल नगरके जल निकलनेकी भूमिकी ओर दौड़ता है, इसी प्रकार वे नदियें जल बहाती हैं ॥ ९ ॥

यो व्यतीँरफाणयत् सुयुक्ताँ उप दाशुषे ।

तक्वो नेता तदिद् वपुरुपमा यो अमुच्यत ॥१०॥

यः । व्यतीन् । अफाणयत् । सुऽयुक्तान् । उप । दाशुषे ।

तक्वः । नेता । तत् । इत् । वपुः । उपऽमा । यः । अमुच्यत १०

जो हविर्दाता यजमानके लिये सुयुक्त ज्योतियोंको प्रकाशित करते हैं, तस्कर हैं, नेता हैं, जो छूट गए हैं उनकी शरीर उपमा है

अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ।

भिनत् कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा ॥११॥

अति । इत् । ऊं इति । शक्रः । ओहते । इन्द्रः । विश्वाः । अति । द्विषः ।

भिनत् । कनीनः । ओदनम् । पच्यमानम् । परः । गिरा ।११।

इन्द्रदेव इस बड़े भारी भारको सम्हालते हैं, इन्द्रदेव समस्त शत्रुओंको दबा देते हैं, इन्होंने कनीन होने पर भी मन्त्रसे पकते हुए ओदनको भेद डाला था ॥ ११ ॥

अर्भको न कुमारकोधि तिष्ठन्नवं रथम् ।

स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥१२॥

अर्भकः । न । कुमारकः । अधि । तिष्ठत् । नवम् । रथम् ।

सः । पक्षत् । महिषम् । मृगम् । पित्रे । मात्रे । विभुऽक्रतुम् १२

श्रेष्ठ बालककी समान वह नवीन रथ पर सवार होते हैं और माता पिता (द्यावापृथिवी) के लिये विभुक्रतु महिष और मृग का पचन करते हैं ॥ १२ ॥

आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम् ।

अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम्

आ । तु । सुऽशिप्र । दम्ऽपते । रथम् । तिष्ठ । हिरण्ययम् ।

अथ । शुप्रम् । सचेवहि । सहस्रऽपादम् । अरुषम् । स्वस्तिऽगाम् । अनेहसम् ॥१३॥

हे सुन्दर ठोड़ी वाले दम्पते इन्द्र ! आप सुवर्णके रथ पर अधिष्ठित हूजिये और हम भी फिर सहस्रों मार्ग वाले, रूपवान् स्वस्तिमय वाणियोंसे सम्पन्न निष्पाप स्वर्ग पर आरूढ़ होवें १३

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते ।
अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने १४

तम् । घ । ईम् । इत्था । नमस्विनः । उप । स्वऽराजम् । आसते । अर्थम् । चित् । अस्य । सुऽधितम् । यत् । एतवे । आऽवर्तयन्ति । दावने ॥ १४ ॥

उनको इस प्रकार जान कर प्रणाम करने वाले पुरुष स्वराज पर बैठते हैं, और इनके पास जो धन भली प्रकार स्थित है उस को ऋत्विज हविर्दाता यजमानके लिये लाते हैं ॥ १४ ॥

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम् ।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत १५

अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । प्रियऽमेधासः । एषाम् । पूर्वाम् । अनु । प्रऽयतिम् । वृक्तऽबर्हिषः । हितऽप्रयसः । आशत

इनके प्राचीन भवनके प्रियबुद्धि ऋत्विज हितकारक अन्न वाले होकर पूर्वा प्रयतिका उपभोग लगाते हैं ॥ १५ ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे १६

यः । राजा । चर्षणीनाम् । याता । रथेभिः । अध्रिऽगुः ।
विश्वासाम् । तरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्रऽहा । गृणे

जो मनुष्योंके राजा इन्द्रदेव रथसे चलते हैं । सम्पूर्ण सेनाओं को तरने वाले हैं और ज्येष्ठ हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ १६

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरुऽहन्मन् । अवसे । यस्य । द्विता । विऽधर्तरि ।
हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दर्शतः । महः । दिवे । न । सूर्यः

हे पुरुहन्मन् ! इस विशेषरूपसे धारक यज्ञमें आप अन्नके लिये इन्द्रको अलंकृत करिये, उनकी सत्ता मध्यमलोक अन्तरिक्ष और स्थान (स्वर्ग) में भी है । उन दर्शनीयका क्रीड़ाके लिये हाथमें उठाया हुआ वज्र पूजनीय सूर्यसा दीखता है ॥ १७ ॥

नकिष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम् ।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् १८

नकिः । तम् । कर्मणा । नशत् । यः । चकार । सदाऽवृधम् ।
इन्द्रम् । न । यज्ञैः । विश्वऽगूर्तम् । ऋभ्वसम् । अधृष्टम् । धृष्णुऽओजसम् ॥ १८ ॥

जो पुरुष यज्ञोंके द्वारा, सब कार्योंमें प्रचण्ड बली, सदा वृद्धि करने वाले, महान्, अकृष्ट और धर्षक तेज वाले इन्द्रकी सेवा करता है, कोई पुरुष उसको अपने कर्मसे नष्ट नहीं कर सकता १८

अषाळ्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः

अषाळ्हम् । उग्रम् । पृतनासु । ससहिम् । यस्मिन् । महीः । उरुऽज्रयः
सम् । धेनवः । जायमाने । अनोनवुः । द्यावः । क्षामः । अनोनवुः

जो इन्द्रदेव सेनाओंमें असह्य हैं, और प्रचण्ड हैं, जिनमें विशाल शरण मार्ग हैं, जिनके प्रकट होने पर वाणियें भली प्रकार स्तुति करती हैं, द्युलोक और पृथिवीलोक स्तुति करते हैं (उन इन्द्रकी तुम स्तुति करो) ॥ १९ ॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी

यत् । द्यावः । इन्द्र । ते । शतम् । शतम् । भूमीः । उत । स्युरिति स्युः ।
न । त्वा । वज्रिन् । सहस्रम् । सूर्याः । अनु । न । जातम् । अष्ट । रोदसी इति ॥ २० ॥

हे भगवन् ! इन्द्र ! यदि सैंकड़ों द्युलोक और सैंकड़ों भूलोक हों या सहस्रों सूर्य और द्यावापृथिवी होजावें तथापि आप प्रादुर्भूत हुए आपको भी वह नहीं पहुँच सकते ॥ २० ॥

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा

अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥ २१ ॥

आ । पप्राथ । महिना । वृष्ण्या । वृषन् । विश्वा । शविष्ठ । शवसा ।

अस्मान् । अव । मघऽवन् । गोऽमति । व्रजे । वज्रिन् । चित्राभिः । ऊतिऽभिः ॥ २१ ॥

इति अष्टमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे वज्रिन् शविष्ठ मघवन् वर्षक इन्द्र ! हमारे गौओं वाले व्रज में अपना विचित्र रक्षक शक्तियोंसे हमारी रक्षा करिये और अपनी महिमासे हमको बलपूर्वक बढ़ाइये ॥ २१ ॥

अष्टम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (७०८)

दशरात्रे दशमेहनि "उत् त्वा मन्दन्तु" इति आज्यस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "उत् त्वा मन्दन्त्वित्याज्यस्तोत्रियः" इति [वै० ६. ३] ॥

तथा श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु एकाहेषु "सुरूपकृत्नुमूतये" [२०. ५७] "उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः" [२०, ६३] "त्वामिद्धि हवामहे" [२०, ९८] इत्याद्यायाज्यस्तोत्रियौ विकल्पितौ भवतः । तृतीयः पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु सुरूपकृत्नुमूतय उत् त्वा मन्दन्तुस्तोमास्त्वामिद्धि हवामह इति" इति [वै० ८. १] ॥

महाव्रते प्रातःसवने "ईङ्खयन्तीरपस्युवः" [२०. ९३. ४] इति पञ्चर्चं सूक्तम् आवापस्थाने आवपते । तद् उक्तं वैताने । "ईङ्खयन्तीरपस्युव इत्यावपते" इति [वै० ६. ४] ॥

दशरात्रके दशम दिनमें "उत् त्वा मदन्तु" यह आज्यस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"उत् त्वा मदन्त्वित्याज्यस्तोत्रियः" (वैतानसूत्र ६।३)॥

तथा श्येनसंदंशाजिरवज्र एकाहोंमें "सुरूपकृत्नुमूतये" (२०।५७) "उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः" (२०।६३।१) "त्वामिद्धि हवामहे" (२०।६८) ये विकल्पित आज्यस्तोत्रिय होते हैं। तृतीय पृष्ठस्तोत्रिय होता है, इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु सुरूपकृत्नुमूतय उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमास्त्वमिद्धि हवामहे" (वैतानसूत्र ८।१)॥

महाव्रतके प्रातःसवनमें "ईङ्खयन्तीरपस्युवः" (२०।६३।४) इस पञ्चर्च सूक्तको आवापस्थानमें पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"ईङ्खयन्तीरपस्युव इत्यावपते" (वैतानसूत्र ६।४)॥

उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥

उत्। त्वा। मन्दन्तु। स्तोमाः। कृणुष्व। राधः। अद्रिऽवः॥ अव। ब्रह्मऽद्विषः। जहि॥ १॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र! यह स्तोम आपको आनन्द देवें, आप हमें धन प्रदान करिये और ब्रह्मद्वेषियोंका संहार करिये॥१॥

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि। नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥

पदा। पणीन्। अराधसः। नि। बाधस्व। महान्। असि॥ नहि। त्वा। कः। चन। प्रति॥ २॥

आप पणि नामक असुरोंको निर्धन करके उनका संहार करिये, क्योंकि-आप महान् हैं, आपसे टक्कर लेने वाला कोई नहीं है २

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ॥ ३ ॥

त्वम् । ईशिषे । सुतानाम् । इन्द्र । त्वम् । असुतानाम् ॥ त्वम् । राजा । जनानाम् ॥ ३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप अभिषुत और अनभिषुत (निचोड़े और न निचोड़े हुए) सोमोंके ईश्वर हैं और जनोंके ईश्वर हैं ॥३॥

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते । भेजानासः सुवीर्यम् ॥ ४ ॥

ईङ्खयन्तीः । अपस्युवः । इन्द्रम् । जातम् । उप । आसते ॥ भेजानासः । सुऽवीर्यम् ॥ ४ ॥

सुन्दर शक्तिका सेवन करती हुई जल चाहती हुई सोमात्मक औषधियें प्रकट होते ही इन्द्रकी उपासना करने लगती हैं ॥४॥

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः । त्वं वृषन् वृषेदसि ॥ ५ ॥

त्वम् । इन्द्र । बलात् । अधि । सहसः । जातः । ओजसः ॥ त्वम् । वृषन् । वृषा । इत् । असि ५ ॥

हे इन्द्रदेव ! धर्षक ओजके बलसे प्रकट हुए हैं हे वृषन् ! आप फलोंकी वर्षा करने वाले ही हैं ॥ ५ ॥

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः। उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥

त्वम्। इन्द्र। असि। वृत्रऽहा। वि। अन्तरिक्षम्। अतिरः ॥ उत्। द्याम्। अस्तभ्नाः। ओजसा ॥ ६ ॥

हे इन्द्रदेव! आप वृत्र (असुर वा मेघ) का संहार करने वाले हैं और आप अन्तरिक्षको विशिष्टतासे पार कर जाते हैं और आप अपने ओजसे द्युलोकको स्तम्भित कर डालते हैं ॥ ६ ॥

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः। वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥

त्वम्। इन्द्र। सऽजोषसम्। अर्कम्। बिभर्षि। बाह्वोः ॥ वज्रम्। शिशानः। ओजसा ॥ ७ ॥

हे इन्द्रदेव! आप प्रीति उत्पन्न करने वाले मन्त्रको धारण करके अपनी भुजाओंके बलसे वज्रको तीक्ष्ण करके धारण करते हैं ॥ ७ ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा। स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥

त्वम्। इन्द्र। अभिऽभूः। असि। विश्वा। जातानि। ओजसा ॥ सः। विश्वाः। भुवः। आभवः ॥ ८ ॥

इति अष्टमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! जितने प्रकट होने वाले पदार्थ हैं उनको आप अपने बलसे दबा सकते हैं, वह आप (हमारे विरुद्ध) प्रकट होने वाली सब शक्तियोंका पराभव करिये ॥ ८ ॥

अष्टम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (७०६)

तृतीये छन्दोमेऽहनि "आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय" इत्यस्य "अध्वर्यवोऽरुणम्" [२०. ८७] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

तृतीय छन्दोम दिनमें "आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय" इसका "अध्वर्यवोऽरुणम्" (२०।८७) के साथ विनियोग कर दिया है

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन

आ । यातु । इन्द्रः । स्वऽपतिः । मदाय । यः । धर्मणा । तूतुजानः । तुविष्मान् ।
प्रऽत्वक्षाणः । अति । विश्वा । सहांसि । अपारेण । महता । वृष्ण्येन ॥ १ ॥

बलवान् इन्द्र कि—जो धर्म से शीघ्रता करते हैं, वह धनपति इन्द्र मदके लिये आवें, और अपने अपार महान् वर्षक बलसे सब दबाने वालोंको क्षीण करें ॥ १ ॥

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ शीभं राजन् सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

सुऽस्थामा । रथः । सुऽयमा । हरी इति । ते । मिम्यक्ष । वज्रः ।

नृऽपते । गभस्तौ ।

शीभम् । राजन् । सुऽपथा । आ । याहि । अर्वाङ् । वर्धाम । ते । पपुषः । वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

आपके रथमें बैठनेका स्थान अच्छा है, आपके घोड़े भली प्रकार वशमें रहने वाले हैं । हे नृपते ! आपके हाथमें वज्र प्राप्त होता है हे राजन् ! आप स्वर्गसे नीचेको सुन्दर मार्गसे आइये हम आप पान करनेकी इच्छा वालेके अभिवर्षक बलोंको बढ़ाते हैं २

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ३

आ । इन्द्रऽवाहः । नृऽपतिम् । वज्रऽबाहुम् । उग्रम् । उग्रासः ।

तविषासः । एनम् ।

प्रऽत्वक्षसम् । वृषभम् । सत्यऽशुष्मम् । आ । ईम् । अस्मऽत्रा ।

सधऽमादः । वहन्तु ॥ ३ ॥

इन्द्रको सवारी देनेवाले उग्र बलवान् घोड़े इन नृपति, भुजाओं में वज्रको धारण करने वाले, उग्र शत्रुओंको क्षीण करने वाले, फलवर्षक, सत्यबली इन्द्रको इस यज्ञमें लावें ॥ ३ ॥

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।

ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपाना-
मिनो वृधे ॥ ४ ॥

एव । पतिम् । द्रोणऽसाचम् । सऽचेतसम् । ऊर्जः । स्कम्भम् ।
धरुणे । आ । वृषऽयसे ।

ओजः । कृष्व । सम् । गृभाय । त्वे इति । अपि । असः । यथा ।
केऽनिपानाम् । इनः । वृधे ॥ ४ ॥

(हे ऋत्विज !) द्रोण नामक पात्रसे संयुक्त होने वाले, ज्ञान-वान, बली, स्कंभ इन्द्रको आप जलमें बरसाइये, आप बल प्रदान करिये, मुझको भली प्रकार ग्रहण करिये, मैं केनिपानोंकी वृद्धि के लिये आपमें होऊँ ॥ ४ ॥

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः ।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥

गमन् । अस्मे इति । वसूनि । आ । हि । शंसिषम् । सुऽआशि-षम् । भरम् । आ । याहि । सोमिनः ।

त्वम् । ईशिषे । सः । अस्मिन् । आ । सत्सि । बर्हिषि । अनाधृष्या ।
तव । पात्राणि । धर्मणा ॥ ५ ॥

हे इन्द्रदेव ! इस यजमानमें धनको प्राप्त कराइये, इस स्तुति-पाठ करने वालेको सुन्दर आशीर्वाद सम्पन्न करिये और इस सोम वाले यजमानके घरमें आइये, आप ईश्वर हैं अतः इस कुशासन पर बैठिये, धारण शक्तिके कारण आपके पास अपूज्य हैं ५

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः

पृथक् । प्र । आयन् । प्रथमाः । देवऽहूतयः । अकृण्वत । श्रवस्यानि । दुस्तरा ।

न । ये । शेकुः । यज्ञियाम् । नावम् । आऽरुहम् । ईर्मा । एव । ते । नि । अविशन्त । केपयः ॥ ६ ॥

जो विद्या और कर्मके अनुरूप पृथक् २ देवयान या पितृयानसे प्रयाण करना चाहते हैं और जो सर्व साधारणसे कठिनतासे करने योग्य देवहूति यज्ञोंको करते हैं किन्तु आपकी कृपादृष्टि न होने पर वे यज्ञरूपी नौका पर नहीं चढ़ सकते और यज्ञरूपी नौका पर न चढ़नेके कारण वे कुपूय कर्म को ही करते हैं अतः कर्मानुसार इसी लोककी किसी योनिमें पड़े रहते हैं ६

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योश्वा येषां दुर्युजं आयुयुज्रे ।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

एव । एव । अपाक् । अपरे । सन्तु । दुःऽध्यः । अश्वाः । येषाम् । दुःऽयुजः । आऽयुयुज्रे ।

इत्या । ये । प्राक् । उपरे । सन्ति । दावने । पुरूणि । यत्र ।

वयुनानि । भोजना ॥ ७ ॥

दूसरे दुःध्य अश्व अपाक् रहें, कि-जिनको दुयु न संयुक्त करते हैं, और जो दाताके लिये जिनमें बहुतसे श्रेष्ठ भोजन भरे हुए हैं वे मेघ होवें ॥ ७ ॥

गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत् ।
समीचीने धिषणे वि ष्कंभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥

गिरीन् । अज्रान् । रेजमानान् । अधारयत् । द्यौः । क्रन्दत् । अन्तरिक्षाणि । कोपयत् ।
समीचीने इति सम्ऽईचीने । धिषणे इति । वि । स्कभायति । वृष्णः । पीत्वा । मदे । उक्थानि । शंसति ॥ ८ ॥

इन्द्रदेव इस वर्षक सोमके रसको पीकर मद होने पर श्रेष्ठ २ पर्वतोंको धारण करते हैं, द्युलोकको क्रन्दित करते हैं, अन्तरिक्ष के पदार्थोंको कुपित करते हैं, समीचीन द्यावापृथिवीको विष्कभित करते हैं, और उक्थोंकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः ।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ॥ ९ ॥

इमम् । बिभर्मि । सुऽकृतम् । ते अङ्कुशम् । येन । आऽरुजासि ।

मघऽवन् । शफऽआरुजः ।

अस्मिन् । सु । ते । सवने । अस्तु । ओक्यम् । सुते । इष्टौ ।

मघऽवन् । बोधि । आऽभगः ॥ ९ ॥

हे मघवन् ! मैं आपके इस सुकृत अंकुशको धारण कर रहा हूँ, जिससे आप नाखूनोंसे (वा खुरोंसे) पीड़ा देनेवाले प्राणियों का नाश करते हैं, इस सवनमें आपका ओक्य होवे, और सोम का अभिषव होने पर आप धनको समझें ॥ ९ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वाम् ।

वयम् । राजऽभिः । प्रथमाः । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम

हे अनेक यजमानोंसे आह्वान किये हुए इन्द्र ! हम आपसे अनुग्रह पाते हुए यजमान, आपकी दी हुई गौओंसे दुर्गति—दरिद्रताके पार पहुँच जावें और आपके दिये हुए यव व्रीहि आदिसे पुत्र भृत्य आदि सबकी क्षुधाको दूर करें, और आपके अनुग्रहसे अपने समान पुरुषोंमें मुख्य बने हुए हम उनसे धन प्राप्त करें और अपने बलसे शत्रुओंको जीतें ॥ १० ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्ऽतरस्मात् । अध-
 रात् । अघऽयोः ।

इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखिऽभ्यः ।
 वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

इति अष्टमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

बृहस्पति देवता पश्चिम दिशाकी ओरसे आते हुए हिंसक पुरुष से हमारी भली भाँति रक्षा करें, उत्तर दिशासे तथा दक्षिण दिशासे आते हुए हिंसक पुरुषसे भी हमारी रक्षा करें, इन्द्र-देवता पूर्वदिशासे और मध्य दिशासे हमको भली भाँति बचावें, इस प्रकार रक्षा करके मित्र बने हुए इन्द्र मित्र बने हुए हमको धन प्रदान करें ॥ ११ ॥

अष्टम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७१०)

महाव्रते "त्रिकद्रुकेषु महिषः" [२०. ९५. १] "प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्" [२०. ९५. २] इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । त्रिकद्रुकेषु महिषः प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिति स्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ६. ४] ॥

महाव्रतमें "त्रिकद्रुकेषु महिषः" (२० । ९५ । १) "प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्" (२० । ९५ । २) ये पृष्ठस्तोत्रिय अनुरूप होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"त्रिकद्रुकेषु महिष प्रो ष्वस्मै पुरो रथमिति स्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ६ । ४)

त्रिक॑द्रुकेषु महि॒षो यवा॑शिरं तुवि॒शुष्म॑स्तृपत् सोम॑म-
 पिबद् विष्णु॑ना सु॒तं यथाव॑शत् ।

स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

त्रिऽकद्रुकेषु । महिषः । यवऽआशिरम् । तुविऽशुष्मः । तृपत् । सोमम् । अपिबत् । विष्णुना । सुतम् । यथा । अवशत् । सः । ईम् । ममाद । महि । कर्म । कर्तवे । महाम् । उरुम् । सः । एनम् । सश्चत् । देवः । देवम् । सत्यम् । इन्द्रम् । सत्यः । इन्दुः १

परमबली राजा इन्द्र त्रिकद्रुक सोमयागोंमें जौ मिले हुए पदार्थ से तृप्त होते हैं, सोमका पान करते हैं, विष्णुके निचोड़े हुए सोमको वशमें करते हैं, वह सोम विशाल कर्म करनेके लिये इन इन्द्रको मदमें भर देता है, यह सत्य सोम देव इन विशाल सत्य-देव इन्द्रसे संयुक्त होता है ॥ १ ॥

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत ।

अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु २

प्रो इति । सु । अस्मै । पुरःऽरथम् । इन्द्राय । शूषम् । अर्चत । अभीके । चित् । ऊं इति । लोकऽकृत् । सम्ऽगे । समत्ऽसु । वृत्रऽहा । अस्माकम् । बोधि । चोदिता । नभन्ताम् । अन्यके-षाम् । ज्याकाः । अधि । धन्वऽसु ॥ २ ॥

इन इन्द्रके लिये तुम पूजा करो, रथके आगे रहने वाले इन के बलकी पूजा करो, यह संग्राममें लोककर्ता हैं, संग्राममें आव-

रक शत्रुओंका नाश करने वाले हैं, यह प्रेरक देव हमारे स्तोत्रों को जान गए हैं, दूसरे पुरुषोंकी प्रत्यञ्चाएँ धनुष पर न चढ़सकें २

त्वं सिन्धूँरवासृजोधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभं० ॥ ३ ॥

त्वम् । सिन्धून् । अव । असृजः । अधराचः । । अहन् । अहिम् । अशत्रुः । इन्द्र । जज्ञिषे । विश्वम् । पुष्यसि । वार्यम् । तम् । त्वा । परि । स्वजामहे ।० ॥ ३ ॥

हे इन्द्रदेव ! आपने नदियोंको दक्षिणकी ओर जाने वाली करके रचा है, और आपने मेघ वा वृत्रासुरका संहार किया है, हे इन्द्रदेव ! आप शत्रुरहित होते हुए प्रकट होते हैं, सब वरण करने योग्य पदार्थोंको पुष्ट करते हैं ऐसे आपका हम आलिंगन करते हैं दूसरोंकी प्रत्यञ्चाएँ धनुषों पर न चढ़ सकें ॥ ३ ॥

वि षु विश्वा अरातयोर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु

वि । सु । विश्वाः । अरातयः । अर्यः । नशन्तः । नः । धियः । अस्ता । असि । शत्रवे । वधम् । यः । नः । इन्द्र । जिघांसति । या । ते । रातिः । ददिः । वसु । नभन्ताम् । अन्यकेषाम् । ज्याकाः । अधि । धन्वऽसु ॥ ४ ॥

इति अष्टमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्रदेव ! आप हमारे स्वामी हैं, अतः हमारे जो सम्पूर्ण शत्रु हैं, उनकी बुद्धियें नष्ट होजावें, हे इन्द्र ! जो शत्रु हमको मारना चाहता है आप उस शत्रु पर मृत्युके साधन वज्रको फैंकिये आपका जो धन है उस धनको हमें प्रदान करिये, आपके अनुग्रहसे शत्रुओंकी प्रत्यञ्चाएँ धनुष पर न चढ़ सकें ॥ ४ ॥

अष्टम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७११)

महाव्रते माध्यन्दिने सवने "तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि" इत्येनाश्चतुर्विंशतिम् ऋचः आवापस्थाने आवपते । तद् उक्तं वैताने । "तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहीति चतुर्विंशतिम् आवपते" इति [वै० ६. ४] ॥

महाव्रतके माध्यन्दिनसवनमें "तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि" इन चौबीस ऋचाओंको आवापस्थानमें पढ़े। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहीति चतुर्विंशतिम् आवपते" (वैतानसूत्र ६ । ४) ॥

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः ॥ १ ॥

तीव्रस्य । अभिऽवयसः । अस्य । पाहि । सर्वऽरथा । वि । हरी इति । इह । मुञ्च । इन्द्र । मा । त्वा । यजमानासः । अन्ये । नि । रीरमन् । तुभ्यम् । इमे । सुतासः ॥ १ ॥

हे इन्द्रदेव ! आप इस तीव्र हविरूप अन्नके अभिमुख रहने वाले यजमानके सब रथियोंकी रक्षा करिये और इस यज्ञमें

अपने घोड़ोंको छोड़िये, हे इन्द्र ! दूसरे यजमान आपको अधिक रमण न करा सकें, क्योंकि—आपके लिये इन सोमोंका अभिषव होचुका है ॥ १ ॥

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥

तुभ्यम् । सुताः । तुभ्यम् । ऊं इति । सोत्वासः । त्वाम् । गिरः । श्वात्र्याः । आ । ह्वयन्ति ।
इन्द्र । इदम् । अद्य । सवनम् । जुषाणः । विश्वस्य । विद्वान् । इह । पाहि । सोमम् ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! ये सोम आपके लिये निचोड़े गए हैं, आपके लिये ही सोत्वास् (निचोड़े गए) हैं, ये वाणियें शीघ्रता करती हुई आपका ही आह्वान कर रही हैं, हे इन्द्र ! आप सबको जानने वाले हैं अतः आज इस सवनका सेवन करके इस सोमका पान करिये ॥ २ ॥

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति ।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥ ३ ॥

यः । उशता । मनसा । सोमम् । अस्मै । सर्वऽहृदा । देवऽकामः । सुनोति ।

न । गाः । इन्द्रः । तस्य । परा । ददाति । प्रऽशस्तम् । इत् ।
चारुम् । अस्मै । कृणोति ॥ ३ ॥

देवताओंकी कामना वाला जो पुरुष कामना करते हुए पूर्ण मनसे इन इन्द्रदेवके लिये सोमका अभिषव करता है, इन्द्रदेव उसकी स्तुतियोंको नहीं लौटाते—ग्रहण कर लेते हैं—और इसके लिये सुन्दर और श्रेष्ठ बातको करते हैं ॥ ३ ॥

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम् ।
निरत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः

अनुऽस्पष्टः । भवति । एषः । अस्य । यः । अस्मै । रेवान् । न ।
सुनोति । । सोमम् ।

निः । अरत्नौ । मघऽवा । तम् । दधाति । ब्रह्मऽद्विषः । हन्ति ।
अनानुऽदिष्टः ॥ ४ ॥

जो धनवान् पुरुष इन इन्द्रदेवके लिये सोमका अभिषव नहीं करता है वह इन इन्द्रदेवसे अनुस्पष्ट होता है,इन्द्रदेव उसको अपने मुक्केमें धरते हैं और इन्द्रके निमित्त हवि न देनेसे वह उन ब्रह्म-द्वेषियोंको मार डालते हैं ॥ ४ ॥

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उं ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम

अश्वऽयन्तः । गव्यन्तः । वाजयन्तः । हवामहे । त्वा । उपऽगन्तवै

ऊं इति ।

आऽभूषन्तः । ते । सुऽमतौ । नवायाम् । वयम् । इन्द्र । त्वा ।

शुनम् । हुवेम ॥ ५ ॥

घोड़े गौ और अन्नको चाहते हुए हम आपकी शरण लेनेके लिये आपका आह्वान करते हैं, हम आपकी नवीन सुमतिमें विभूषित होते हुए आप सुखरूपका आह्वान करते हैं ॥ ५ ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञातऽयक्ष्मात् ।

उत । राजऽयक्ष्मात् ।

ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति ।

प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥ ६ ॥

हे रोगिन् ! मैं तुझको जीवित रहनेके लिये हविके द्वारा अज्ञातयक्ष्मा और राजयक्ष्मा रोगसे छुड़ाता हूँ, यदि ग्राहिका पिशाचीने इसको पकड़ लिया हो तो हे इन्द्र और अग्निदेवताओं ! तुम इस रोगीको उसके पाससे मुक्त करो ॥ ६ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ७

यदि । क्षितऽआयुः । यदि । वा । पराऽइतः । यदि । मृत्योः ।
अन्तिकम् । निऽइतः । एव ।
तम् । आ । हरामि । निःऽऋतेः । उपऽस्थात् । अस्पार्शम् ।
एनम् । शतऽशारदाय ॥ ७ ॥

यदि इसकी आयु क्षीण होगई है, यह बड़ा ही गया बीता हुआ होगया है, वा मृत्युके पास ही पहुँच चुका है, तब भी मैं इसको निर्ऋति राक्षसीकी गोदमेंसे खेंचता हूँ, मैंने सौ वर्षकी आयु तक जीवित रहनेके लिये इसका स्पर्श कर लिया है ॥७॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य
पारम् ॥ ८ ॥

सहस्रऽअक्षेण । शतऽवीर्येण । शतऽआयुषा । हविषा । आ ।
अहार्षम् । एनम् ।
इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य ।
दुःऽइतस्य । पारम् ॥ ८ ॥

सैंकड़ों प्रकारके वीर्य और सहस्रों प्रकारकी सूक्ष्मदृष्टि और सौ वर्षकी आयु (प्रदान करने) वाली हविसे मैं इस रोगीको मृत्युसे हर लाया हूँ, इन्द्रदेव इसको वर्षों तक सब पापोंके पार पहुँचावें ॥ ८ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ९ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊं इति । वसन्तान् ।
शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः । सविता । बृहस्पतिः । शतऽआयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ९ ॥

हे रोगिन् ! तू सौ वर्ष तक जीवित रह, सौ वर्ष तक बढ़ता रह, सौ हेमन्त और वसन्त ऋतुओं तक रह, इन्द्र अग्नि सविता और बृहस्पति देवता तुझको सौ वर्षकी आयु प्रदान करें, मैं सौ वर्षकी आयु देने वाली हविसे इसको ले आया हूँ ॥ ९ ॥

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेविदम् ॥ १० ॥

आ । अहार्षम् । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनःऽनवः ।
सर्वऽअङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम् ॥ १० ॥

मैं तुझको लौटाया हुआ समझता हूँ, तू फिर आ, फिर नवीन हो, हे सर्वाङ्ग ! मैंने तेरी चक्षु और पूर्ण आयुको इस कर्मके प्रभावसे पा लिया है ॥ १० ॥

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥

ब्रह्मणा । अग्निः । सम्ऽविदानः । रक्षःऽहा । बाधताम् । इतः ।
अमीवा । यः । ते । गर्भम् । दुःऽनामा । योनिम् । आऽशये ११

राक्षसोंका संहार करने वाले अग्निदेव मन्त्रसे संयुक्त होते हुए उसको यहाँसे बाधा दे जो दूषित नाम वाला रोग तेरे गर्भ योनिमें शयन कर रहा है ॥ ११ ॥

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥१२॥

यः । ते । गर्भम् । अमीवा । दुःऽनामा । योनिम् । आऽशये ।
अग्निः । तम् । ब्रह्मणा । सह । निः । क्रव्यऽअदम् । अनीनशत् १२

जो दूषित नाम वाला रोग तेरे गर्भ और योनिमें शयन कर रहा है उन स्थानोंको अग्निदेव मन्त्रकी सहायतासे कच्चे मांस का भक्षण करने वाले रोगसे रहित करके उस रोगको ही नष्ट कर डालें ॥ १२ ॥

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥१३॥

यः । ते । हन्ति । पतयन्तम् । निऽसत्स्नुम् । यः । सरीसृपम् ।
जातम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि १३

जो तेरे गिरते हुए, सरकते हुए निषस्नु वा निकलते हुए गर्भको मारना चाहता है उसको हम यहाँसे नष्ट करते हैं ।१३।

यस्त॑ ऊरू वि॒हर॑त्यन्त॒रा दम्प॑ती॒ शये॑ ।

योनिं॒ यो अ॒न्तरा॒रेल्हि॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥१४॥

यः । ते॒ । ऊरू इति॑ । वि॒ऽहर॑ति । अ॒न्तरा । दम्प॑ती॒ इति॒ दम्ऽ-

प॑ती । शये॑ ।

योनि॑म् । यः । अ॒न्तः । आ॒ऽरेल्हि॑ । तम् । इ॒तः । ना॒श॒या॒म॒सि॒ १४

जो रोग वा भूत राक्षस, तेरी ऊरुओंमें विहार करता है तुम दोनों दम्पतियोंमें शयन करता है जो योनिके भीतर आलेहन करता है उसको हम यहाँसे नष्ट करते हैं ॥ १४ ॥

यस्त्वा॒ भ्राता॒ पति॑र्भू॒त्वा जा॒रो भू॒त्वा नि॒पद्य॑ते ।

प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो॒ ना॑शयामसि ॥१५॥

यः । त्वा॒ । भ्राता॑ । पतिः॑ । भू॒त्वा । जा॒रः । भू॒त्वा । नि॒ऽपद्य॑ते ।

प्र॒ऽजाम् । यः । ते॒ । जिघां॑सति । तम् । इ॒तः । ना॒श॒या॒म॒सि॒ १५

जो भूत वा राक्षस तुझको भाई, पति, वा जार बनकर प्राप्त होता है और जो तेरी सन्तानको नष्ट करना चाहता है, उसको हम यहाँसे नष्ट करते हैं ॥ १५ ॥

यस्त्वा॒ स्वप्ने॑न॒ तम॑सा मोहयि॒त्वा नि॒पद्य॑ते ।

प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो॒ ना॑शयामसि ॥१६॥

यः । त्वा॒ । स्वप्ने॑न । तम॑सा । मो॒ह॒यि॒त्वा । नि॒ऽपद्य॑ते ।

मज्जाम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि १६

जो पुरुष तुझको स्वप्नके अँधेरेसे मोहमें डाल कर मास हो-जाता है और जो तेरी मज्जाको नष्ट करना चाहता है उसको हम यहाँसे नष्ट करते हैं ॥ १६ ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते १७

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि ।
यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते १७

मैं तेरे नेत्रोंसे, तेरी नाकके दोनों नथुनोंसे, दोनों कानोंसे, तेरी ठोड़ीसे यक्ष्मा रोगको, और मस्तिष्कमें होने वाले शीर्षण्य रोगको मस्तिष्कसे और जिह्वासे निकालता हूं ॥ १७ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते १८

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् ।
यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहुऽभ्याम् । वि । वृहामि । ते १८

हे व्याधिग्रस्त ! तेरी ग्रीवा (गरदन) की चौदह सूक्ष्म नाड़ियों से मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूं और रक्तप्रवाहके कारण ऊपर को स्नान कराने वाली स्निग्ध उष्णिह नामकी नाड़ियोंसे, हँसली और वक्षःस्थलकी नाड़ियोंसे, तथा जिसमें क्रमशः अस्थियें मिलती हैं उस अनूक्यसे मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूं, तथा तेरे कंधे और भुजाओंसे मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूं १८

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि १६

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि १६

हे रोगिन् ! मैं तेरे हृदयकमलसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और हृदयके समीप स्थित क्लोम (मूत्राधार-मसाने) से तथा हलीक्ष्ण नामक मांसपिण्डसे दोनों पसलियोंसे, दोनों पित्ताधार पात्रोंसे और उदर तथा पसलियोंमें स्थित श्येन पक्षीकी समान आकार वाले प्लीहा (तिल्ली) से और हृदयके समीपमें स्थित यकृत् (जिगर) से भी मैं राजयक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ १६

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥२०॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।
यक्ष्मम् । कुक्षिऽभ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते २०

हे यक्ष्मारोगसे ग्रसे हुए ! मैं तेरी अँतड़ियोंसे, मल और मूत्रके सरकनेके स्थानोंसे, मोटी आँतसे और इन सबके आधार उदरसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ, तथा तेरी दाईं बाईं कोखों से और अनेक छिद्र वाले मलपात्र प्लाशिसे तथा नाभिमण्डल से तेरे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ ॥ २० ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते

ऊरुऽभ्याम् । ते । अष्ठीवत्ऽभ्याम् । पार्ष्णिऽभ्याम् । प्रऽपदाभ्याम् ।

यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणिऽभ्याम् । भासदम् । भंससः । वि ।

वृहामि । ते ॥ २१ ॥

मैं तेरी ऊरुओंसे, जानुओंसे, पैरोंके अपरभागसे और पैरोंके अग्रभागसे यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ और तेरी कमरमें होने वाले यक्ष्माको कटिके नीचेके भागसे अलग करता हूँ और गुह्यदेशमें होनेवाले रोगको भासमान गुह्यस्थानसे पृथक् करता हूँ २१

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते २२

अस्थिऽभ्यः । ते । मज्जऽभ्यः । स्नावऽभ्यः । धमनिऽभ्यः ।

यक्ष्मम् । पाणिऽभ्याम् । अङ्गुलिऽभ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि ।

ते । ॥ २२ ॥

मैं तेरी हड्डी मज्जा आदि सब धातुओंसे, सूक्ष्म नाड़ियोंसे, स्थूल नाड़ियोंसे, हाथ अँगुलि और नखोंसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ ॥ २२ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।

यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि

वृहामसि ॥ २३ ॥

अङ्गेऽअङ्गे । लोम्निऽलोम्नि । यः । ते । पर्वणिऽपर्वणि ।

यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । विऽबर्हेण । विष्वञ्चम् । वि । वृहामसि ॥ २३ ॥

हे रोगिन् ! तेरे ऊपर न कहे गए प्रत्येक अँगोंमें, सम्पूर्ण रोमकूपोंमें और प्रत्येक जोड़ोंमें जो यक्ष्मारोग होगया है उस रोग को हम दूर करते हैं। और तेरी त्वचामें जो यक्ष्मारोग पहुँच गया है, उसको हम दूर करते हैं, और तेरे नेत्र आदि सम्पूर्ण अँगोंमें व्याप्त रोगको हम महर्षि कश्यपके इस विबर्ह मन्त्रसे दूर करते हैं ॥ २३ ॥

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।

परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः २४

अप । इहि । मनसः । पते । अप । क्राम । परः । चर ।

परः । निःऽऋत्यै । आ । चक्ष्व । बहुधा । जीवतः । मनः २४

अष्टमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

हे मन पर अधिकार जमाने वाले रोग ! दूर जा, भाग, दूर विचर, निर्ऋतिसे इस जीवित पुरुषके मनसे दूर रहनेको कह २४

अष्टम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (७१२)

अष्टम अनुवाक समाप्त

बृहस्पतिसवे "वयमेनमिदा ह्यः इत्यस्य "तद्वो गाय सुते सचा" [२०, ७८] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥ तथा सर्वजित्प्रभृतिषु अस्य तेनैव सह उक्तो विनियोगः ॥

तथा त्रिहदादिषु सूत्रोक्तेषु ससदु त्रिरात्रैकाहेषु "उभयं शृणवच्च नः" [२०, ११३] "वयमेनमिदा ह्यः" [२०, ९७]

"पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा" [२०, ११७], एते आज्यस्तोत्रिया भवन्ति चकारात् पृष्ठस्तोत्रिया विकल्पिता भवन्ति तदुक्तं वैताने। "त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशत्रिणवत्रयस्त्रिंशनवसप्तदशेषूभयं शृणवच्च नो वयमेनमिदा ह्यः पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति" इति [वै०. ८, २]॥

तथा त्रिककुद्दशाहे अस्य विनियोगः "क ईं वेद सुते सचा" [२०. ५३] इत्यनेन सह उक्तः॥

बृहस्पतिसवमें "वयमेनमिदा ह्यः" इसका "तद् वो गाय सुते सचा" (२० । ७८) के साथ विनियोग कह दिया है।

तथा सर्वजित् ऋषभ आदिमें भी इसका उसके साथ ही विनियोग कह दिया है।

तथा त्रिवृत् आदि सूत्रोक्त सात त्रिरात्रैकाहोंमें "उभयं शृणवच्च नः" (२० । ११३) "वयमेनमिदा ह्यः" (२० । ९७) "पिबा सोममिन्द्र मदन्तु त्वा" (२० । ११७) ये आज्यस्तोत्रिय होते हैं, चकारसे विकल्पित पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशत्रिणवत्रयस्त्रिंशनवसप्तदशेषूभयं शृणवच्च नो वयमेनमिदा ह्यः पिबा सोममिन्द्र मदन्तु त्वेति" (वैतानसूत्र ८ । २)॥

तथा त्रिककुद् दशाहमें इसका विनियोग "क ईं वेद सुते सचा" (२० । ५३) के साथ कह दिया है।

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते १

वयम्। एनम्। इदा। ह्यः। अपीपेम। इह। वज्रिणम्।

तस्मै । ऊं इति । अद्य । सऽमनाः । सुतम् । भर । आ । नूनम् । भूषत । श्रुते ॥ १ ॥

हम कल इस सोमसे वज्रधारी इन्द्रको पुष्ट कर चुके हैं उनके लिये ही आज आप मनको प्रसन्न करके अभिषुत सोम दीजिये, हे स्तोताओ ! इस बातको सुन कर तुम भी उन इन्द्रको स्तुतियों से अवश्य भूषित करो ॥ १ ॥

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥

वृकः । चित् । अस्य । वारणः । उराऽमथिः । आ । वयुनेषु । भूषति ।

सः । इमम् । नः । स्तोमम् । जुजुषाणः । आ । गहि । इन्द्र । प्र । चित्रया । धिया ॥ २ ॥

इन इन्द्रके पास वृक अर्थात् कुत्ता भी है, वह शत्रुओंको हटाने वाला है, वह भेड़ोंका मथन करने वाला है, वह मज्ञानोंमें आभूषित करता है, ऐसे हे इन्द्र ! आप हमारे इस स्तोत्रको सुन कर अपनी कमनीय बुद्धिसे इस यज्ञमें आइये [सरमा देवकुत्ती प्रसिद्ध है अतः उसके पोते धेवते भी देवताओंके ही हैं इस लिये यहाँ कुत्ते को वृक कहा है, क्योंकि-और श्वापदोंका अवणाभाव है] २

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ३

कत् । ऊं इति । नु । अस्य । अकृतम् । इन्द्रस्य । अस्ति । पौंस्यम् ।

केनो इति । नु । कम् । श्रोमतेन । न । शुश्रुवे । जनुषः । परि । वृत्रऽहा ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

ऐसा कौनसा पुरुषार्थका काम है जो इन इन्द्रदेवका किया हुआ नहीं है। किस श्रवणशक्ति सम्पन्नने यह सुखमय बात नहीं सुनी है, कि-यह वृत्रासुरका संहार करनेवाले हैं ॥ २ ॥

प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (७१२)

श्येनसंदंशाजिरवज्रेषु एकाहेषु "त्वामिद्धि हवामहे" इत्यस्य विनियोगः "सुरूपकृत्नुमूतये" [२०.५७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा तनूपृष्ठे षडहे अस्य विनियोगः "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०. ८१] इत्यनेन सह उक्तः ॥

श्येनसंदंशाजिरवज्र एकाहोंमें "त्वामिद्धि हवामहे" का विनियोग "सुरूपकृत्नुमूतये" (२० । ५७) के साथ कह दिया है।

तथा तनूपृष्ठ षडहमें इसका विनियोग "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) के साथ कह दिया है।

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥१॥

त्वाम् । इत् । हि । हवामहे । साता । वाजस्य । कारवः ।

त्वाम् । वृत्रेषु । इन्द्र । सत्ऽपतिम् । नरः । त्वाम् । काष्ठासु । अर्वतः ॥ १ ॥

हम स्तोता अन्नप्राप्ति कराने वाले यज्ञमें आपका ही आवाहन करते हैं, हे इन्द्र ! कोई घेर लेता है ऐसे अवसरों पर सज्जनोंके पालक दिशाओंमें उदकको प्रेरित करनेवाले आपका ही नेता लोग आवाहन करते हैं ॥ १ ॥

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे

सः । त्वम् । नः । चित्र । । वज्रऽहस्त । धृष्णुऽया । महः ।
स्तवानः । अद्रिऽवः ।
गाम् । अश्वम् । रथ्यम् । इन्द्र । सम् । किर । सत्रा । वाजम् ।
न । जिग्युषे ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे चायनीय ! वज्रहस्त वज्र वाले इन्द्र ! ऐसे आप हमारी धर्षकत्व प्रदान करने वाली स्तुतिसे स्तुत होकर इस विजय चाहने वाले राजाके लिये गौ अश्व और रथकी वस्तुएँ अन्नकी समान प्रदान करिये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (७१७)

अपूर्वाख्ये एकाहे "अभि त्वा पूर्वपीतये" इत्येष पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तदु उक्तं वैताने । "अपूर्वेभि त्वा पूर्वपीतय इति" इति [वै० ८. १] ॥

अपूर्व नामक एकाहमें "अभि त्वा पूर्वपीतये" यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अपूर्वेभि त्वा पूर्वपीतय इति" (वैतानसूत्र (८ । १) ॥

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्

अभि । त्वा । पूर्वऽपीतये । इन्द्र । स्तोमेभिः । आयवः ।
सम्ऽईचीनासः । ऋभवः । सम् । अस्वरन् । रुद्राः । गृणन्त ।
पूर्व्यम् ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! ये मनुष्य समीचीन ऋभु देवता और रुद्रदेवता आप पूर्व्यकी पहिले पान करनेके लिये स्तुतियोंसे स्तुति कर रहे हैं ॥ १ ॥

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।

अद्या तमस्य महिमानमायवोनु ष्टुवन्ति पूर्वथा २

अस्य । इत् । इन्द्रः । ववृधे । वृष्ण्यम् । शवः । मदे । सुतस्य ।

विष्णवि ।

अद्य । तम् । अस्य । महिमानम् । आयवः । अनु । स्तुवन्ति ।

पूर्वऽथा ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

यज्ञमें अभिषुत सोमका मद होने पर इस यजमानके ही बल को और धनवर्षकत्वको इन्द्रदेव बढ़ाते हैं । ये स्तोता मनुष्य इन्द्रदेवकी उस महिमाका ही पहिलेकी समान गान कररहे हैं २

नवम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (७१५)

व्रात्यस्तोमाख्येषु एकाहेषु "आ त्वेता नि षीदत" [२०. ६८. ११] "अधा हीन्द्र गिर्वणः" [२०. १००] इति आज्य-पृष्ठस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः । तदुक्तं वैताने । व्रात्यस्तोमेष्वा त्वेता नि षीदताधा हीन्द्र गिर्वण इति" [वै० ८. १] ॥

तथा पवित्रादिषु राजसूयैकाहेषु "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" [२०. १११] "अधा हीन्द्र गिर्वणः" [२०. १००] "अभ्रा-तृव्यो अना त्वम्" [२०. ११४] "त्वम् न इन्द्रा भर" [२०. १०८] एते यथासंभवम् उक्थस्तोत्रिया भवन्ति । चकाराद् "यदद्य कच्च वृत्रहन्" [२०. ११२] "उभयं शृणवच्च नः" [२०.११३] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः ॥

तथा चतुरहपञ्चाहाहीनदशाहच्छन्दोमदशाहेषु "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" एते चत्वारो यथासंभवम् उक्थस्तोत्रिया भवन्ति ॥

तद् उक्तं वैताने । "राजसूयेषु यत्सोममिन्द्र विष्णव्यधा हीन्द्र गिर्वणोऽभ्रातृव्यो अना त्वं त्वं न इन्द्रा भरेति च । चतुरहपञ्चाहाहीनदशाहच्छन्दोमदशाहेषु इति" इति [वै० ८, २] ॥

व्रात्यस्तोम नामक एकाहोंमें 'आ त्वेता नि षीदत' (२० । ६८ । ११) 'अधा हीन्द्र गिर्वणः' (२० । १००) ये यथाक्रम आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'व्रात्यस्तोमेष्वा त्वेता नि षीदताधा हीन्द्र गिर्वण इति' (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

तथा पवित्र आदि राजसूय एकाहोंमें 'यत् सोममिन्द्र विष्णवि' (२० । १११) 'अधा हीन्द्र गिर्वणः' (२० । १००) 'अभ्रातृव्यो अना त्वम्' (२० । ११४) 'त्वं न इन्द्रा भर' (२०।१०८) ये यथासंभव उक्थस्तोत्रिय होते हैं । चकारसे 'यदद्य कच्च वृत्रहन्" (२० । ११२) उभयं शृणवच्च नः' (२० । ११३) ये आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होते हैं ॥

तथा चतुरह पञ्चाह अहीनदशाह और छन्दोमदशाहोंमें 'यत् सोममिन्द्र विष्णवि' ये चार यथासंभव उक्थस्तोत्रिय होते हैं ।

इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'राजसूयेषु यत्सोममिन्द्र विष्णव्यधा हीन्द्र गिर्वणोऽभ्रातृव्यो अना त्वं त्वं न इन्द्रा भरेति च । चतुरहपञ्चाहाहीनदशाहच्छन्दोमदशाहेषु च' (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

अधा हीन्द्र गिर्वणः उप त्वा कामान् महः संसृज्महे ।
उदेव यन्त उदभिः ॥ १ ॥

अध । हि । इन्द्र । गिर्वणः । उप । त्वा । कामान् । महः । ससृ-
ज्महे । उदाऽइव । यन्तः । उदऽभिः ॥ १ ॥

जैसे जलसे काम लेने वाले पुरुष जलसे जलको संयुक्त करते हैं, इसी प्रकार हे स्तुतियोंसे सेवनीय इन्द्र ! आपसे कामनाओं को चाहते हुए हम सोमात्मक जलोंसे आपको संयुक्त करते हैं१

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि । वावृध्वांसं
चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

वाः । न । त्वा । यव्याभिः । वर्धन्ति । शूर । ब्रह्माणि ॥ववृध्वा-
सम् । चित् । अद्रिऽवः । दिवेऽदिवे ॥ २ ॥

हे वज्रधारिन् शूर इन्द्र ! प्रत्येक स्तुतिके अवसर पर बारंबार बढ़ना चाहते हुए आपको ये मन्त्र यव्याओंसे जलकी समान बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे । इन्द्र-
वाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥

युञ्जन्ति । हरी इति । इषिरस्य । गाथया । उरौ । रथे । उरुऽ-
युगे ॥ इन्द्रऽवाहा । वचःऽयुजा ॥ ३ ॥

इति नवमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

युद्धगमनशील इन्द्रकी गाथासे, मन्त्रसे संयुक्त होने वाले इंद्र के हरि नामक घोड़े विशाल युग वाले इन्द्रके रथमें जुतते हैं ३

नवम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७२६)

अग्निष्टुत्स्य एकाहेषु "ईळेन्यो नमस्यः" [२०. १०२] "अग्निं दूतं वृणीमहे" [२०. १०१] "अग्निमीळिष्वावसे" [२०. १०३] "अग्न आ याह्यग्निभिः" [२०. १०३. २] एषु आद्यौ आज्यस्तोत्रियौ विकल्पितौ भवतः। उत्तरौ पृष्ठस्तोत्रियौ विकल्पितौ भवतः। तदुक्तं वैताने। "अग्निष्टुत्स्वीळेन्यो नमस्योऽग्निं दूतं वृणीमहेऽग्निमीळिष्वावसेऽग्न आ याह्यग्निभिरिति" इति [वै० ८. १]॥

तथा विराजेऽग्नेः स्तोमेऽग्नेः कुलाये "अग्निं दूतं वृणीमहे" अग्निमीळिष्वावसे" एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः। तदुक्तं वैताने। "विराजेऽग्नेःस्तोमेऽग्नेःकुलायेऽग्निं दूतं वृणीमहेऽग्निमीळिष्वावस इति" [वै० ८. २]॥

अग्निष्टुत् एकाहोंमें "ईळेन्यो नमस्यः" (२०।१०२) "अग्निं दूतं वृणीमहे" (२०।१०१) "अग्निमीळिष्वावसे" (२०।१०३) "अग्न आयाह्यग्निभिः" (२०।१०३।२) इनमें पहिले दो विकल्पित आज्यस्तोत्रिय होते हैं। अगले विकल्पित पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अग्निष्टुत्स्वीळेन्यो नमस्योऽग्निं दूतं वृणीमहेऽग्निमीळिष्वावसेऽग्न आ याह्यग्निभिरिति" (वैतानसूत्र ८।१)

तथा विराजमें अग्निके और स्तोममें अग्निके कुलायमें "अग्निं दूतं वृणीमहे" "अग्निमीळिष्वावसे" ये आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"विराजेऽग्नेः स्तोमेऽग्नेः कुलायेऽग्निं दूतं वृणीमहेऽग्निमीळिष्वावस इति" (वैतानसूत्र ८।२)

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम्। अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म् ॥ १ ॥

अग्निम् । हूतम् । वृणीमहे । होतारम् । विश्वऽवेदसम् ॥ अस्य । यज्ञस्य । सुऽक्रतुम् ॥ १ ॥

हम अग्निदेवताका वरण करते हैं यह होता हैं और सबको जानने वाले हैं और इस यज्ञके कर्मोंको श्रेष्ठ बनाने वाले हैं ॥१॥

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥

अग्निम्ऽअग्निम् । हवीमऽभिः । सदा । हवन्त । विश्पतिम् ॥ हव्यऽवाहम् । पुरुऽप्रियम् ॥ २ ॥

पुरुष हव्यका वहन करने वाले, बहुतसे पुरुषोंके प्रिय प्रजापति अग्निको सदा हवि देते हैं अतः हम भी अग्निको हवि प्रदान करते हैं ॥ २ ॥

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥

अग्ने । देवान् । इह । आ । वह । जज्ञानः । वृक्तऽबर्हिषे ॥ असि । होता । नः । ईड्यः ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप ऋत्विज्के लिये प्रकट होते हुए यहाँ पर देवताओंको लाइये आप हमारे पूज्य होता हैं ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७१७)

अग्निष्टुत्सु एकाहेषु "ईळेन्यो नमस्यः" इत्यस्य पूर्वेण सह सूक्तो विनियोगः ॥

अग्निष्टुत् एकाहोंमें "ईळेन्यो नमस्यः" का पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कर दिया है।

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा ॥ १ ॥

ईळेन्यः। नमस्यः। तिरः। तमांसि। दर्शतः॥ सम्। अग्निः। इध्यते। वृषा ॥ १ ॥

स्तुति और प्रणाम करने योग्य दर्शनीय फलवर्षक इन्द्रदेव धुएँको तिरस्कार करते हुए भली प्रकार दीप्त होते हैं ॥ १ ॥

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते ॥ २ ॥

वृषो इति। अग्निः। सम्। इध्यते। अश्वः। न। देवऽवाहनः॥ तम्। हविष्मन्तः। ईळते ॥ २ ॥

देववाहन अश्वकी समान फलवर्षक अग्निदेव दीप्त होते हैं, हवि वाले पुरुष उनका पूजन करते हैं ॥ २ ॥

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥

वृषणम्। त्वा। वयम्। वृषन्। वृषणः। सम्। इधीमहि॥ अग्ने। दीद्यतम्। बृहत् ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हविकी वर्षा करने वाले इम हे हुतन् ! आप फलवर्षकको भली प्रकार प्रदीप्त करते हैं, हे अग्निदेव ! आप भली प्रकार दीप्त हूजिये ॥ २ ॥

प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (७१८)

"अग्निमीळिष्वावसे" इत्यस्य "अग्निं दूतं वृणीमहे" [२०. १०१] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"अग्निमीळिष्वावसे" का "अग्निं दूतं वृणीमहे"(२०।१०१) के साथ विनियोग कह दिया है"।

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः १

अग्निम् । ईळिष्व । अवसे । गाथाभिः । शीरऽशोचिषम् ।
अग्निम् । राये । पुरुऽमीळ्ह । श्रुतम् । नरः । अग्निम् । सुऽदीतये ।
छर्दिः ॥ १ ॥

हे नर ! व्यापक साधक अग्निकी तू गाथाओंसे अन्नके लिये पूजा कर । हे पुरुमीढ ! सुन्दर दीप्ति और धनके लिये श्रुति-प्रसिद्ध शरणरूप अग्निदेवकी तू पूजा कर ॥ १ ॥

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे २

अग्ने । आ । याहि । अग्निऽभिः । होतारम् । त्वा । वृणीमहे ।
आ । त्वाम् । अनक्तु । प्रऽयता । हविष्मती । यजिष्ठम् । बर्हिः ।
आऽसदे ॥ २ ॥

हे अग्निदेव ! आप अपनी विभूतिरूप अन्य अग्नियोंके साथ आइये आप होताका हम आह्वान करते हैं, आप यजनीयसे बैठने के स्थानमें प्रयता हविष्यती बर्हि संयुक्त होवे ॥ १ ॥

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥२॥

अच्छ । हि । त्वा । सहसः । सूनो इति । अङ्गिरः । स्रुचः । चरन्ति । अध्वरे ।
ऊर्जः । नपातम् । घृतऽकेशम् । ईमहे । अग्निम् । यज्ञेषु । पूर्व्यम् ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे बलके पुत्र अंगिरगोत्री अग्निदेव ! यज्ञमें स्रुवे आपके अभिमुख विचरण करते हैं। हम भी बलको बने रखने वाले, केशोंकी समान घृतको ऊपर धारण करने वाले सदा नवीन ही रहने वाले अग्निदेवकी यज्ञोंमें प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (७१९)

"इमा उ त्वा पुरूवसो" इत्यस्य विनियोगः "अयमु ते समतसि" [२०, ४५] इत्यनेन सह उक्तः ॥

"इमा उ त्वा पुरूवसो" का विनियोग "अयमु ते समतसि" (२० । ४५) के साथ कह दिया है।

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥

इमाः । ऊं इति । त्वा । पुरुवसो इति पुरुऽवसो । गिरः । वर्धन्तु । याः । मम ।

पावकऽवर्णाः । शुचयः । विपःऽचितः । अभि । स्तोमैः । अनूषत ॥ १ ॥

हे विशाल धनसे सम्पन्न इन्द्र ! जो हमारी अग्निकी समान शुद्ध वर्ण वाली पवित्र वाणियें हैं वह आपको बढ़ावें, हे विद्वानो ! तुम स्तोत्रोंसे इन्द्रकी स्तुति करो ॥ १ ॥

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये २

अयम् । सहस्रम् । ऋषिऽभिः । सहःऽकृतः । समुद्रःऽइव । पप्रथे । सत्यः । सः । अस्य । महिमा । गृणे । शवः । यज्ञेषु । विप्रऽराज्ये ॥ २ ॥

यह अग्निदेव ऋषियोंके द्वारा जलसे बने हुए समुद्रकी समान सहस्रगुणे बढ़ जाते हैं, मैं इनकी इस सत्य महिमाका वर्णन कर रहा हूं, इनका बल विप्रराज्य यज्ञोंमें दीखता है २

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः ३

आ । नः । विश्वासु । हव्यः । इन्द्रः । समत्ऽसु । भूषतु । उप । ब्रह्माणि । सवनानि । वृत्रऽहा । परमऽज्याः । ऋचीषमः ३

हवि देने योग्य इन्द्रदेव ! सब यज्ञोंमें आप हमको भूषित करिये, यह इन्द्रदेव वास्तवमें अपरिमेय होने पर भी ऋचाओंकी समान अपने रूपको बना लेते हैं, ऐसे यह वृत्रासुरके संहारक इन्द्रदेव मन्त्रोंको सवनोंको और श्रेष्ठ २ धनुषोंको विभूषित करें ॥ ३ ॥

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ४

त्वम् । दाता । प्रथमः । राधसाम् । असि । असि । सत्यः । ईशान-
कृत् ।
तुविऽद्युम्नस्य । युज्या । आ । वृणीमहे । पुत्रस्य । शवसः । महः ४

इति नवमेनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

हे ईश्वर बनाने वाले सत्य अग्निदेव ! तुम धनोंके मुख्य-दाता हो, अतिदमकते हुए जलके पुत्रकी युक्तिका हम वरण करते हैं ॥ ४ ॥

नवम अनुवाकमें अष्टमसूक्त समाप्त (७२०)

प्रतीचीनस्तोमे एकाहे "त्वमिन्द्र प्रतूर्तिषु" इत्येष आज्यपृष्ठ-स्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "प्रतीचीनस्तोमे त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्विति" इति [वै० ८. १]॥

राजि एकाहे "यो राजा चर्षणीनाम्" [२०. १०५. ४] इति पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "राजि यो राजा चर्षणीनाम् इति" [वै ८. १]॥

एक दिनमें होनें वाले प्रतीचीनस्तोममें "त्वमिन्द्र प्रतूर्तिषु" यह आज्यपृष्ठस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"प्रतीचीनस्तोमे त्वमिन्द्र प्रतूर्तिषु"(वैतानसूत्र ८।१)॥

राज् एकाहमें "यो राजा चर्षणीनाम्" (२० । १०५ । ४) यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है, इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि- "राजि यो राजा चर्षणीनाम्" (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः १

त्वम् । इन्द्र । मऽतूर्तिषु । अभि । विश्वाः । असि । स्पृधः ।
अशस्तिऽहा । जनिता । विश्वऽतूः । असि । त्वम् । तूर्य । तरुष्यतः

हे इन्द्र आप हिंसा वाले युद्धोंमें सबसे स्पर्धा करने वाले हैं, और आप अशस्तिका नाश करने वाले, कल्याणको प्रकट करने वाले, सबसे त्वरा करने वाले हैं आप त्वरा करने वालोंको मारिये१

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि

अनु । ते शुष्मम् । तुरयन्तम् । ईयतुः । क्षोणी इति । शिशुम् । न । मातरा ।

विश्वाः । ते । स्पृधः । श्नथयन्त । मन्यवे । वृत्रम् । यत् । इन्द्र । तूर्वसि ॥ २ ॥

त्वरा करते हुए आपके बलके पीछे, बच्चेके पीछे माता पिता की समान द्युलोक और पृथ्वीलोक प्राप्त होते हैं । हे इन्द्रदेव ! जब आप क्रोधमें भर कर वृत्रका संहार कर रहे थे उस समय उसकी सब स्पर्धक वृत्तियें आपको मारना चाह रहीं थीं ॥ २ ॥

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥३॥

इतः । ऊती । वः । अजरम् । प्रऽहेतारम् । अप्रऽहितम् ।

आशुम् । जेतारम् । हेतारम् । रथिऽतमम् । अतूर्तम् । तुग्र्यऽवृधम् ३

यहाँसे मन्त्रशक्तिसे जो स्तुतिक हविर्षे प्रेरित होती हैं वह उस समय आपको अजर, सहेता, अप्रहित, शीघ्रता करने वाला, हेता, रथितम, अतूर्त और तुग्रयवृध बना रहीं थीं ॥ ३ ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।

विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ४

यः । राजा । चर्षणीनाम् । याता । रथेभिः । अध्रिऽगुः ।

विश्वासाम् । तरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्रऽहा । गृणे ४

जो मनुष्योंके राजा हैं, जो रथोंके द्वारा मन्त्रोंके अभिमुख जाते हैं, सकल सेनाओंको तरने वाले हैं, जो ज्येष्ठ हैं और वृत्रासुरका संहार करने वाले हैं उनकी मैं स्तुति करता हूँ ॥४॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।

हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरुहन्मन् । अवसे । यस्य । द्विता । विऽधर्तरि ।

हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दर्शतः । महः । दिवे । न । सूर्यः

इति नवमेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हे पुरुहन्मन् ! इस विशेषरूपसे धारक यज्ञमें आप अन्नके लिये इन्द्रको अलंकृत करिये, उनकी सत्ता मध्यमलोक अन्तरिक्ष और स्थान (स्वर्ग) में भी है । उन दर्शनीयका क्रीडाके लिये हाथमें उठाया हुआ वज्र पूजनीय सूर्यसा दीखता है ॥ ५ ॥

नवम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (७२१)

इन्द्रस्तोमाख्ये एकाहे "तव त्यदिन्द्रियं बृहत्" इत्यस्य "इन्द्र क्रतुं न आ भर" [२०. ७६] इत्यनेन सह उक्तो विनियोगः ॥

इन्द्रस्तोम नामक एकाहमें "तव त्यदिन्द्रियं बृहत्" इसका "इन्द्र क्रतुं न आभर" (२० । ७६) के साथ विनियोग कह दिया है ।

तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्ममुत क्रतुम् । वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥

तव । त्यत् । इन्द्रियम् । बृहत् । तव । शुष्मम् । उत । क्रतुम् ॥ वज्रम् । शिशाति । धिषणा । वरेण्यम् ॥ १ ॥

आपका इन्द्रसम्बन्धी बृहद् बल है, वह बुद्धिसे वरने योग्य बल कर्म और वज्रको तीक्ष्ण करता है ॥ १ ॥

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः । त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥

तव । द्यौः । इन्द्र । पौंस्यम् । पृथिवी । वर्धति । श्रवः ॥ त्वाम् । आपः । पर्वतासः । च । हिन्विरे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! द्युलोक आपका पुंस्त्व है, पृथिवी यशको बढ़ाती है, जल और पर्वत आपको प्रेरित करते हैं ॥ २ ॥

त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३ ॥

त्वाम् । विष्णुः । बृहन् । क्षयः । मित्रः । गृणाति । वरुणः ॥

त्वाम् । शर्धः । मदति । अनु । मारुतम् ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

विशाल विष्णुदेव, सूर्य, वरुण और यम आपकी प्रशंसा करते हैं, वायुके पीछे बल आपको मद प्रदान करता है ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (७२१)

विघने एकाहे "समस्य मन्यवे विशः" [२०. १०७] "तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्" [२०. १०७. ४] इत्येतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "विघने समस्य मन्यवे विशस्तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठमिति" इति [वै० ८. १] ॥

विघन एकाहमें "समस्य मन्यवे विशः" (२० । १०७) "तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्" (२० । १०७ । ४) ये आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"विघने समस्य मन्यवे विशस्तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठमिति" (वैतानसूत्र ८।१)

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥

सम् । अस्य । मन्यवे । विशः । विश्वाः । नमन्त । कृष्टयः ॥

समुद्रायऽइव । सिन्धवः ॥ १ ॥

जैसे समुद्रके लिये नदियें नमती हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रजाएँ कर्म करते हुए इन इन्द्रके लिये नमती हैं-इनकी शरणमें जाती हैं १

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥

ओजः । तत् । अस्य । तित्विषे । उभे इति । सम्ऽअवर्तयत् ॥
इन्द्रः । चर्मऽइव । रोदसी इति ॥ २ ॥

इन इन्द्रने दोनों द्यावापृथिवीको चमड़ेकी समान लपेट लिया था, इनका यह वीर्य दमकता है ॥ २ ॥

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ३ ॥

वि । चित् । वृत्रस्य । दोधतः । वज्रेण । शतऽपर्वणा ॥ शिरः । बिभेद । वृष्णिना ॥ ३ ॥

इन्द्रदेवने क्रोधमें भरे हुए वृत्रासुरके शिरको सैंकड़ों पर्ववाले और रुधिरकी वर्षा करनेवाले वज्रसे काट डाला था ॥ ३ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ ४ ॥

तत् । इत् । आस । भुवनेषु । ज्येष्ठम् । यतः । जज्ञे । उग्रः । त्वेषऽनृम्णः ।
सद्यः । जज्ञानः । नि । रिणाति । शत्रून् । अनु । यत् । एनम् । मदन्ति । विश्वे । ऊमाः ।

क्योंकि-यह इन्द्रदेव धनवान् और बली हैं, इस कारण भुवनों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, यह प्रकट होते ही शत्रुओंको मारने लगते हैं

इसी लिये इनकी ऊमा (रक्षक शक्तियें) इनके प्रकट होते ही आनन्दमें भर जाती हैं ॥ ४ ॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु

वावृधानः । शवसा । भूरिऽओजाः । शत्रुः । दासाय । भियसम् ।
दधाति ।
अविऽअनत् । च । विऽअनत् । च । सस्नि । सम् । ते । नवन्त ।
प्रऽभृता । मदेषु ॥ ५ ॥

महाबलवान् बलसे बढ़ता हुआ शत्रु दासोंको भय देता है, स्थावर और जंगम सारा जगत् (परब्रह्ममें) शयन करता है अर्थात् लीन होजाता है, अतः भली प्रकार वेतन आदि देकर रक्खे हुए (सैनिक) हर्षके अवसर युद्धोंमें उन परब्रह्म वा इन्द्रकी स्तुति कर (युद्धमें प्रवृत्त होजा) ते हैं ॥ ५ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधु-
नाभि योधीः ॥ ६ ॥

त्वे इति । क्रतुम् । अपि । पृञ्चन्ति । भूरि । द्विः । यत् । एते ।
त्रिः । भवन्ति । ऊमाः ।
स्वादोः । स्वादीयः । स्वादुना । सृज । सम् । अदः । सु । मधु ।
मधुना । अभि । योधीः ॥ ६ ॥

जो यह जन्म और संस्कारसे दो बार उत्पन्न होते हैं, और गुरु या यज्ञकी दीक्षा ले तीन बार उत्पन्न होते हैं, ये बड़े भारी यज्ञको आपमें संयुक्त करते हैं, ऐसे हे स्वादिष्ट पदार्थोंको स्वादु बनाने वाले आप स्वादु पदार्थोंसे इन योधाओंको संयुक्त करिये। और हे सुन्दर जल वाले इन्द्रदेव ! आप योधाओंमें प्रवेश करके मधुर रीतिसे युद्ध करिये ॥ ६ ॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ओजीयः शुष्मिन्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः ॥ ७ ॥

यदि । चित् । नु । त्वा । धना । जयन्तम् । रणेऽरणे । अनुऽमदन्ति । विप्राः ।
ओजीयः । शुष्मिन् । स्थिरम् । आ । तनुष्व । मा । त्वा । दभन् । दुःऽएवासः । कशोकाः ॥ ७ ॥

प्रत्येक रणमें धनोंको जीतने वाले आपकी ब्राह्मण यदि स्तुति करते हैं तो हे बलवान् ! आप उनमें स्थिर (धन रूप) बल फैलाइये, सुखमें दुःख करने वाले अत एव दुर्गति पाने वाले पुरुष आपको प्राप्त न हों ॥ ७ ॥

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ८ ॥

त्वया । वयम् । शाशद्महे । रणेषु । प्रऽपश्यन्तः । युधेन्यानि । भूरि ।

चोदयामि । ते । आयुधा । वचःऽभिः । सम् । ते । शिशामि ।

ब्रह्मणा । वयांसि ॥ ८ ॥

हम देखते २ आपके द्वारा युद्धोंमें बहुतसे दूसरे पक्ष वालोंका संहार करा डालते हैं, मैं अपने तपः सिद्धवचनोंसे आपके आयुधों को प्रेरित करता हूँ और मन्त्रके द्वारा आपके पक्षीकीसी गति वाले बाणोंको तीक्ष्ण करता हूँ ॥ ८ ॥

नि तद् दधिषेवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।

आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥

नि । तत् । दधिषे । अवरे । परे । च । यस्मिन् । आविथ । अवसा । दुरोणे ।

आ । स्थापयत । मातरम् । जिगत्नुम् । अतः । इन्वत । कर्वराणि । भूरि ॥ ९ ॥

जिसको श्रेष्ठ और साधारण प्राणियोंने धारण किया है और जिस घरमें अन्नसे रक्षा पाई है उसमें चलती फिरती कालिका माता शक्तिको स्थापित करिये, तदनन्तर अनेक विचित्र पदार्थों को इसमें लाइये ॥ ९ ॥

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।

आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ १० ॥

स्तुष्व । वर्ष्मन् । पुरुऽवर्त्मानम् । सम् । ऋभ्वाणम् । इनऽतमम् । आप्तम् । आप्त्यानाम् ।

आ । दर्शति । शवसा । भूरिऽओजाः । प्र । सक्षति । प्रतिऽमानम् पृथिव्याः ॥ १० ॥

हे स्तोतः ! अनेक मार्गोंमें विचरण करने वाले परम तेजस्वी, श्रेष्ठ स्वामी, आप पुरुषोंके गुणोंको प्राप्त हुए इन्द्रकी स्तुति कर यह पृथिवीकी प्रतिमारूप महाबली इन्द्र यज्ञको देखते हुए यज्ञमें संलग्न होरहे हैं ॥ १० ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः । महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥ ११ ॥

इमा । ब्रह्म । बृहत्ऽदिवः । कृणवत् । इन्द्राय । शूषम् । अग्रियः । स्वःऽसाः ।

महः । गोत्रस्य । क्षयति । स्वऽराजा । तुरः । चित् । विश्वम् । अर्णवत् । तपस्वान् ॥ ११ ॥

स्वर्गका सेवन करनेकी इच्छा वाला यह श्रेष्ठ राजा महास्वर्ग के अधिपति इन्द्रके लिये इन बड़े २ स्तोत्रोंको करता हुआ इन्द्र को सुख देता है, और स्वर्गका राजा शीघ्रता करने वाला तपस्वी इन्द्र मेघके जलका क्षय करता हुआ अर्थात् उसको बरसाता हुआ जगत्को जलपूर्ण करता है ॥ ११ ॥

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१मिन्द्रमेव

स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा
वर्धयन्ति च ॥ १२ ॥

एव । महान् । बृहत्ऽदिवः । अथर्वा । अवोचत् । स्वाम् । तन्वम् ।
इन्द्रम् । एव ।

स्वसारौ । मातरिभ्वरी इति । अरिप्रे इति । हिन्वन्ति । च ।
एने इति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥ १२ ॥

अपनेको इन्द्र मानते हुए परमप्रकाशवान् महर्षि अथर्वाने इस प्रकार कहा था, कि—निष्पाप मातरिभ्वरी बहिनें इसको प्रसन्न करती हैं और बलको बढ़ाती हैं ॥ १२ ॥

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य
उद्यन् ।
दिवाकरोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि
शुक्रः ॥ १३ ॥

चित्रम् । देवानाम् । केतुः । अनीकम् । ज्योतिष्मान् । प्रऽदिशः ।
सूर्यः । उत्ऽयन् ।

दिवाऽकरः । अति । द्युम्नैः । तमांसि । विश्वा । अतारीत् ।
दुःऽइतानि । शुक्रः ॥ १३ ॥

यह पूजनीय, किरणोंके समूह वाले ज्ञापक ज्योतिः भरे हुए

दिशाओंकी ओरको उठते हुए अपने प्रकाशोंसे दिन कर देते हैं, सब अंधकारोंको तर जाते हैं और यह वीर्य सम्पन्न इन्द्र सब पापोंके पार जाते हैं अर्थात् उनको नष्ट कर डालते हैं ॥१३॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १४ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ।
आ । अप्रात् । द्यावापृथिवी इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च ॥ १४ ॥

यह पूजनीय, किरणोंका जो समूह उदय होरहा है, यह मित्र वरुण और अग्निका चक्षु है। यह जो सूर्य हैं यह जंगम और स्थावरके आत्मा हैं अर्थात् सर्वभूतानुप्रवेशी हैं, यह सूर्यदेव अपनी महिमासे द्यावापृथिवी और अन्तरिक्षको भर देते हैं ॥ १४ ॥

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥ १५ ॥

सूर्यः । देवीम् । उषसम् । रोचमानाम् । मर्यः । न । योषाम् । अभि । एति । पश्चात् ।

यत्र । नरः । देवऽयन्तः । युगानि । विऽतन्वते । प्रति । भद्राय ।

भद्रम् ॥ १५ ॥

इति नवमेऽनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

जैसे मरणधर्मा पुरुष स्त्रीके पीछे जाता है, इसी प्रकार यह सूर्यदेव दमकती हुई देवी उषाको प्राप्त होते हैं, उस समय पुरुष दिनोंको देवताओंके उपयोगमें लाते हुए भद्र सूर्यके लिये (अर्घ आदि) भद्र कार्योंको करते हैं ॥ १५ ॥

नवम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (७२६)

पञ्चपुनःस्तोमाख्ययोरेकाहयोः "त्वं न इन्द्रा भर" इत्येष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "वज्रे पुनःस्तोमे त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. १] ॥

तथा पवित्रादिषु राजसूयैकाहेषु एतस्य विनियोगः "अधा हीन्द्र गिर्वणः" [२०. १००] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा वैदस्वरसाम्नोरुक्थ्ययोः प्रथमयोरह्नोः एष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "वैदस्वरसाम्नोस्त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा चतुरहाणां तृतीयेष्वहःसु अस्य विनियोगः "आयन्त इव सूर्यम्" [२०. ५८] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा अभ्यासङ्ग्यपञ्चशारदीययोः पञ्चाहयोर्द्वितीयेहनि एष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "अभ्यासङ्ग्यपञ्चशारदीययोर्द्वितीये त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. ३]

तथा अभिप्लवस्यायुराख्येहनि एष उक्थस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । "आयुषि त्वं न इन्द्रा भरेति" इति [वै० ८. ३]॥

तथा पृष्ठ्यषडहस्य तृतीयेहनि अस्य विनियोगः "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" [२०. ४०] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा द्वादशाहस्य च्छन्दोमत्र्यहस्य प्रथमान्त्ययोरह्नोः "त्वं न इन्द्रा भर" [२०. १०८] "य एक इद् विदयते" [२०. ६३. ४] एतौ उक्थस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः। तद् उक्तं वैताने। "द्वादशाहस्य च्छन्दोमप्रथमान्त्ययोस्त्वं न इन्द्रा भर य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ८. ४]॥

वज्र और पुनःस्तोम नामक एकाहोंमें "त्वं न इन्द्रा भर" यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"वज्रे पुनःस्तोमे त्वं न इन्द्रा भरेति" (वैतानसूत्र ८। १)॥

तथा पवित्र आदि राजसूय एकाहोंमें इसका विनियोग "अधा हीन्द्र गिर्वणः" (२०। १००) के साथ कह दिया है।

तथा तीन दिनमें होने वाले वैदस्वरसाम्रोंमें प्रथम दिन यह उक्थस्तोत्रिय होता है, इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"वैदस्वरसाम्नोस्त्वं न इन्द्रा भरेति" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

तथा चतुरहोंके तीसरे दिनोंमें इसका विनियोग "आयन्त इव सूर्यम्" (२०। ५८) के साथ कह दिया है।

तथा अभ्यासङ्ग्य पञ्चशारदीय पञ्चाहोंके द्वितीय दिनोंमें यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अभ्यासङ्ग्यपञ्चशारदीययोर्द्वितीये त्वं न इन्द्रा भरेति" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

तथा अभिसत्रके आयु नामक दिनमें यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"आयुषि त्वं न इन्द्रा भरेति" (वैतानसूत्र ८। ३)॥

तथा पृष्ठ्यषडहके तीसरे दिनमें इसका विनियोग "इन्द्रेण सं हि दृक्षसे" (२०। ४०) के साथ कह दिया है।

तथा द्वादशाह और छन्दोमत्र्यहके प्रथम और अन्तिम दिनों में "त्वं न इन्द्रा भर" (२०। १०८) "य एक इद् विदयते"

(२० । ६३ । ४) ये यथाक्रम उक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"द्वादशाहस्य च्छन्दोमप्रथमान्त्ययोस्त्वं न इन्द्रा भर य एक इद् विदयत इति (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑र॒ ओजो॑ नृ॒म्णं श॑तक्रतो विचर्षणे ।

आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म् ॥ १ ॥

त्वम् । नः॒ । इन्द्र॒ । आ । भर॒ । ओजः॑ । नृ॒म्णम् । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । विऽचर्षणे ॥ आ । वीरम् । पृतनाऽसहम् ॥ १ ॥

हे विशेषरूपसे द्रष्टा शतक्रतु इन्द्र ! हममें धन और बलको स्थापित करिये और शत्रुओंकी सेनाओंका पराभव करने वाले वीर-पुत्र-को दीजिये ॥ १ ॥

त्वं हि नः॑ पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ ।

अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥ २ ॥

त्वम् । हि । नः॒ । पिता । वसो इति॑ । त्वम् । मा॒ता । शतक्रतो इति॑ शतऽक्रतो । ब॒भूवि॑थ ॥ अध॑ । ते । सु॒म्नम् । ई॒महे ॥२॥

हे शतक्रतो ! आप हमारे पिता हैं और हे वसो इन्द्र ! आप हमारी माता हैं, इस लिये हम आपसे सुखकी याचना करते हैं २

त्वां शु॑ष्मिन् पुरुहूत वा॒जय॑न्त॒मुप॑ ब्रुवे शतक्रतो ।

स नो॑ रास्व सु॒वीर्य॑म् ॥ ३ ॥

त्वाम् । शु॒ष्मि॒न् । पु॒रु॒ऽहू॒त । वा॒ज॒ऽयन्त॑म् । उप॑ । ब्रु॒वे । शत॑क्रतो॒ इति॑ शतऽक्रतो । सः । नः॒ । रा॒स्व । सु॒ऽवीर्य॑म् ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

विशुवत् यज्ञके स्वादु मधुका स्तोत्र की वाणियें इस प्रकार पान करती हैं, कि–वह इन्द्रसे संयुक्त होकर रात्रियों तक इन्द्र को हर्षमें भरे रखती हैं, उसके अनन्तर हे यजमान ! तू भी स्वराज्य पर शोभा पावेगा ॥ १ ॥

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।

प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ २ ॥

ताः । अस्य । पृशनऽयुवः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः ।

प्रियाः । इन्द्रस्य । धेनवः । वज्रम् । हिन्वन्ति । सायकम् ।० २

यह पृशनयुव पृश्नियें इसके सोमको पका रही हैं, यह इन्द्रकी धेनुएँ इन्द्रके सायक और वज्रको प्रेरित करती हैं। इन रात्रियों के अनन्तर आप स्वराज्य पर आरूढ़ हूजिये ॥ २ ॥

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।

व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥

ताः । अस्य । नमसा । सहः । सपर्यन्ति । प्रऽचेतसः ।

व्रतानि । अस्य । सश्चिरे । पुरूणि । पूर्वऽचित्तये । वस्वीः । अनु । स्वऽराज्यम् ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

वे प्रकृष्ट ज्ञान वाली वाणियें इस (इन्द्र) की हविके साथ

हे भगवन् शतक्रतो ! मैं आप हविरूप अन्न चाहने वालेकी स्तुति करता हूँ, इस लिये आप सुन्दर क्षीररससे सम्पन्न धन दीजिये ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें द्वादश सूक्तसमाप्त (७२४)

साहस्राख्यामत्वारं एकाहा ब्राह्मणपठिताः । तेषां प्रथमद्वितीययोः "स्वादोरित्था विषूवतः" इति पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तदुक्तं वैताने । "साहस्राद्ययोः स्वादोरित्था विषूवत इति" इति [वै० ८. १] ॥

तथा अश्वमेधत्र्यहस्य द्वितीयेहनि अस्य विनियोगः "वाचमष्टापदीमहम्" [२०. ४२] इत्यनेन सह उक्तः ॥

साहस्र नामक चार एकाह ब्राह्मणमें पठित हैं। उनमेंसे पहिले दूसरेमेंसे "स्वादोरित्था विषूवतः" यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"साहस्राद्ययोः स्वादोरित्था विषूवतः" (वैतानसूत्र ८ । १) ॥

तथा अश्वमेध त्र्यहके द्वितीय दिनमें इसका विनियोग "वाचमष्टापदीमहम्" (२० । ४२) के साथ कर दिया है।

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु
स्वराज्यम् ॥ १ ॥

स्वादोः । इत्था । विषुऽवतः । मध्वः । पिबन्ति । गौर्यः ।
याः । इन्द्रेण । सऽयावरीः । वृष्णा । मदन्ति । शोभसे । वस्वीः ।
अनु । स्वऽराज्यम् ॥ १ ॥

पूजा करती हैं, इस यजमानके बड़े २ व्रत इस पूर्वोषित्त इन्द्रमें संयुक्त होते हैं और यज्ञकी रात्रियोंके अनन्तर आप स्वराज्य पर आरूढ़ होंगे ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें त्रयोदश सूक्त समाप्त (७२।१)

विराडादिषु सप्तस्वेकाहेषु "इन्द्राय मद्वने सुतम्" [२०.११०] "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" [२०. १११] एतौ आज्योक्थस्तोत्रियौ भवतः । तदुक्तं वैताने । "विराजि भूमिस्तोमे वनस्पतिसवे श्विष्यपचित्योरिन्द्राग्न्योः स्तोम इन्द्राग्न्योःकुलाय इन्द्राय मद्वने सुतं यत् सोममिन्द्र विष्णवीति" इति [वै० ८. २] ॥

विराट् आदि सात एकाहोंमें "इन्द्राय मद्वने सुतम्" (२०।१००) "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" (२० । १११) यह आज्योक्थस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"विराजि भूमिस्तोमे वनस्पतिसवे श्विष्यपचित्योरिन्द्राग्न्योः स्तोम इन्द्राग्न्यो कुलाय इन्द्राय मद्वने सुतं यत् सोममिन्द्र विष्णवि" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः । अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥

इन्द्राय । मद्वने । सुतम् । परि । स्तोभन्तु । नः । गिरः ॥ अर्कम् । अर्चन्तु । कारवः ॥ १ ॥

हमारे इस सेवनीय यज्ञमें अभिषुत सोमकी हमारी वाणियें स्तुति करें और स्तोता पूजनीय इन्द्रका पूजन करें ॥ १ ॥

यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः । इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥

यस्मिन् । विश्वाः । अधि । श्रियः । रणन्ति । सप्त । सम्ऽसदः ॥

इन्द्रम् । सुते । हवामहे ॥ २ ॥

सात संपत्तिरूपा सब सभाएँ जिनको प्राप्त होती हैं, उन इन्द्र-देवका हम सोमका अभिषव होने पर आह्वान करते हैं ॥ २ ॥

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद् वर्धन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

त्रिऽकद्रुकेषु । चेतनम् । देवासः । यज्ञम् । अत्नत । तम् । इत् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके चतुर्दशं सूक्तम् ॥

त्रिकद्रुकोंने इस ज्ञानरूप यज्ञको आरंभ किया था, उसको हमारी वाणियें बढ़ावें ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें चतुर्दश सूक्त समाप्त (७२६)

"यत् सोममिन्द्र विष्णवि" इत्यस्य विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

तथा पविश्रादिषु राजसूयैकाहेषु चतुरहादिषु च अस्य विनियोगः "अधा हीन्द्र गिर्वणः" [२०. १००] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तथा अभिप्लवस्य षष्ठमहः उक्थ्यसंस्थं चेद् भवति तदा "य एक इद् विदयते" [२०. ६३. ४] "यत् सोममिन्द्र विष्णवि" [२०. १११] एतौ उक्थस्तोत्रियौ विकल्पितौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "षष्ठमुक्थ्यं चेद् य एक इद् विदयते यत् सोममिन्द्र विष्णवीति" इति [वै० ८. ३] ॥

"यत् सोममिन्द्र विष्णवि" का विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ।

तथा पवित्र आदि राजसूप एकाहोंमें तथा चतुरह आदिमें भी इसका विनियोग "अधा हीन्द्र गिर्वणः" (२० । १००) के साथ कह दिया है ।

तथा अभिसवका छठा दिन यदि उक्थ्य-संस्थ होता है तो "य एक इद् विदयते" (२० । ६३ । ४) यत् सोममिन्द्र विष्णवि" (२० । १११) ये विकल्पित उक्थस्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है,कि—"षष्ठमुक्थ्यं चेत् य एक इद् विदयते यत् सो ममिन्द्र विष्णवीति" (वैतानसूत्र ८ । ३) ॥

यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये । यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ १ ॥

यत् । सोमम् । इन्द्र । विष्णवि । यत् । वा । घ । त्रिते । आप्त्ये । यत् । वा । मरुत्ऽसु । मन्दसे । सम् । इन्दुऽभिः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! जो आप त्रितमें यज्ञमें वा आप्त्य तथा मरुत्में हर्षमें भरते हैं वह जलके साथके सोमसे ही हर्षमें भरते हैं ॥ १ ॥

यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे । अस्माकमित् सुते रणा समिन्दुभिः ॥ २॥

यत् । वा । शक्र । पराऽवति । समुद्रे । अधि । मन्दसे ॥ अस्माकम् । इत् । सुते । रण । सम् । इन्दुऽभिः ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! जो आप बहुत दूरके समुद्रमें वा हमारे यज्ञमें हर्षित होते हैं वह जल मिले सोमसे ही होते हैं ॥ २ ॥

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते । उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥ २ ॥

यत् । वा । असि । सुन्वतः । वृधः । यजमानस्य । सत्ऽपते ॥ उक्थे । वा । यस्य । रण्यसि । सम् । इन्दुऽभिः ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके पंचदशं सूक्तम् ॥

हे सत्पते ! जो आप सोमाभिषव करने वाले यजमानके बढ़ाने वाले हैं, वा जिसके उक्थमें रमणीय होते हैं वह सोमसे ही होते हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें पन्द्रहवाँ सूक्त समाप्त (७२७)

विनुत्यभिभूत्यादिषु अष्टसु द्वन्द्वैकाहेषु "यदद्य कच्च वृत्रहन्" [२०. ११२] "उभयं शृणवच्च नः" [२०. ११३] एतौ आज्यपृष्ठस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "विनुत्यभिभूत्यो राशिमराशयोः शदोपशदयोः सम्राट्स्वराजोर्यदद्य कच्च वृत्रहन्नुभयं शृणवच्च न इति" इति [वै० ८. २] ॥

विनुति अभिभूति आदि आठ द्वन्द्वैकाहोंमें "यदद्य कच्च वृत्रहन्" (२० । ११२) "उभयं शृणवच्च नः" (२० । ११३) ये आज्यपृष्ठ स्तोत्रिय होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"विनुत्यभिभूत्यो राशिमराशयोः शदोपशदयोः सम्राट्स्वराजोर्यदद्य कच्च वृत्रहन्नुभयं शृणवच्च न इति" (वैतानसूत्र ८।२)

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ १ ॥

यत् । अद्य । कत् । च । वृत्रऽहन् । उत्ऽअगाः । अभि । सूर्य ॥ सर्वम् । तत् । इन्द्र । ते । वशे ॥ १ ॥

हे मेघोंका संहार करने वाले वृत्रहन् सूर्यात्मक इन्द्र ! आप जब कभी उदय होते हैं, वह सब हे इन्द्रात्मक इन्द्र ! आपके वशमें है ॥ १ ॥

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे । उतो तत् सत्यमित् तव ॥ २ ॥

यत् । वा । प्रऽवृद्ध । सत्ऽपते । न । मरै । इति । मन्यसे ॥ उतो इति । तत् । सत्यम् । इत् । तव ॥ २ ॥

अथवा हे सत्पते इन्द्र ! जब आप यह विचारते हैं, कि-यह न मरे वह आपका विचार सत्य ही होता है ॥ २ ॥

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे । सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि ॥ ३ ॥

ये । सोमासः । पराऽवति । ये । अर्वाऽवति । सुन्विरे ॥ सर्वान् । तान् । इन्द्र । गच्छसि ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके षोडशं सूक्तम् ॥

जो सोम दूर या पास पर निचोड़े जाते हैं, हे इन्द्र ! उन सबके पास आप प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें षोडश सूक्त समाप्त (७२८)

विषुवत्यभिप्लुत्यादिषु "उभयं शृणवच्च नः" इत्यस्य विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

तथा त्रिहदादिषु अस्य विनियोगः "वयमेनमिदा ह्यः" [२०. ९७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

विद्युति अभिभूति आदिमें इसका विनियोग पूर्वसूक्तके साथ कह दिया है।

तथा त्रिवृत् आदिमें इसका विनियोग "वयमेनमिदा ह्यः" (२०। ६७) के साथ कह दिया है।

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्

उभयम्। शृणवत्। च। नः। इन्द्रः। अर्वाक्। इदम्। वचः।
सत्राच्या। मघऽवा। सोमऽपीतये। धिया। शविष्ठः। आ। गमत्

दोनों लोकोंमें हित करने वाले हमारे इस वचनको इन्द्रदेव अभिमुख होकर सुनें, कि–सत्यात्मिका बुद्धिसे बलवान् इन्द्रदेव सोमपान करनेके लिये आरहे हैं॥ १॥

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः

तम्। हि। स्वऽराजम्। वृषभम्। तम्। ओजसे। धिषणे इति।
निःऽततक्षतुः।
उत। उपऽमानाम्। प्रथमः। नि। सीदसि। सोमऽकामम्। हि। ते।
मनः॥ २॥

इति नवमेनुवाके सप्तदशं सूक्तम्॥

धन अपनी प्रभासे दमकने वाले, कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्रको बल पानेके लिये द्युलोक और पृथ्वीलोक तनू करते

हैं। तुम इनमेंसे उपमानाको प्रथम प्राप्त होते हो, तुम्हारा मन सोमकी इच्छा वाला है ॥ २ ॥

प्रथम अनुवाकमें सत्ताइसवाँ सूक्त समाप्त (७२९)

पवित्रादिषु राजसूयैकाहेषु "अभ्रातृव्यो अना त्वम्" इत्यस्य विनियोगः "अधा हीन्द्र गिर्वणः" [२०.१००] इत्यनेन सह उक्तः

तथा अभिप्लवषडहस्य गवाख्येऽहनि "अभ्रातृव्यो अना त्वम्" इत्येष उक्थस्तोत्रियो भवति। तद् उक्तं वैताने। "षडहस्य गव्य-भ्रातृव्यो अना त्वमिति" इति [वै० ८. २]॥

पवित्र आदि राजसूय एकाहोंमें "अभ्रातृव्यो अना त्वम्" इसका विनियोग "अधा हीन्द्र गिर्वणः" (२०।१००) के साथ कह दिया है।

तथा अभिप्लव षडहके गवाख्य दिनमें अभ्रातृव्यो अना त्वम्" यह उक्थस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"षडहस्य गव्यभ्रातृव्यो अना त्वमिति" (वैतान-सूत्र ८।२)॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

अभ्रातृव्यः। अना। त्वम्। अनापिः। इन्द्र। जनुषा। सनात्। असि ॥ युधा। इत्। आपिऽत्वम्। इच्छसे ॥ १ ॥

हे इन्द्र! आप शत्रुरहित हैं, अना और अनापि हैं, आप प्रकट होते ही संभक्ति करते हैं और युद्धमें आप आपित्वको चाहते हैं ॥ १ ॥

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।

यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे २

नकिः । रेवन्तम् । सख्याय । विन्दसे । पीयन्ति । ते । सुराऽश्वः ।

यदा । कृणोषि । नदनुम् । सम् । ऊहसि । आत् । इत् । पिताऽ-

इव । हूयसे ॥ २ ॥

इति नवमेनुवाके अष्टादशं सूक्तम् ॥

आप धनवान्को मित्रताके लिये प्राप्त करते हैं । सुराश्व आप को पुष्ट करते हैं, जब आप अपने समूहकी गर्जनाको करते हैं तब आप पिताकी समान बुलाये जाते हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें अठारहवाँ सूक्त समाप्त (७३०)

साद्यःक्राभिधानेषु एकाहेषु श्येनयागर्जितेषु "अहमिद्धि पितुष्परि" इत्याज्यस्तोत्रियो भवति । तदु उक्तं वैताने । "साद्यःक्रेषु श्येनवर्जम् अहमिद्धि पितुष्परीति च" इति [वै० ८, २]

श्येनयागरहित साद्यःक्राभिधान एकाहोंमें "अहमिद्धि पितुष्परि" यह आज्यस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"साद्यःक्रेषु श्येनवर्जम् अहमिद्धि पितुष्परीति च" (वैतानसूत्र (८ । २) ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥

अहम् । इत् । हि । पितुः । परि । मेधाम् । ऋतस्य । जग्रभ ॥

अहम् । सूर्यःऽइव । अजनि ॥ १ ॥

मैंने पिता ब्रह्माकी मेधाको भली,प्रकार ग्रहण कर लिया है । और मैं सूर्यकी समान प्रकट हुआ हूँ ॥ १ ॥

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद् दधे ॥ २ ॥

अहम्। प्रत्नेन। मन्मना। गिरः। शुम्भामि। कण्वऽवत् ॥ येन। इन्द्रः। शुष्मम्। इत्। दधे ॥ २ ॥

मैं प्राचीन मननीय स्तोत्रसे कण्व ऋषिकी समान वाणियों को अलंकृत करता हूँ। इससे इन्द्रमें बलको स्थापित करता हूँ २

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः। ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥

ये। त्वाम्। इन्द्र। नः। तुस्तुवुः। ऋषयः। ये। च। तुस्तुवुः ॥ मम। इत्। वर्धस्व। सुऽस्तुतः ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके एकोनविंशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र! जिन ऋषियोंने आपकी स्तुति की है वा जिन ऋषियों ने आपकी स्तुति न की हो, (उनकी ओर कुछ ध्यान न देकर) आप मुझसे ही भली प्रकार स्तुत होकर बढ़िये ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें उन्नीसवाँ सूक्त समाप्त (७२१)

अतिरात्राणां सर्वस्तोमाख्ययोः "मा भूम निष्ट्या इव" [२०. ११६] "विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे" [६. १५. ६] एतौ पृष्ठस्तोत्रियौ यथाक्रमं भवतः। तदु उक्तं वैताने। "अतिरात्राणां सर्वस्तोमयोर्मा भूम निष्ट्या इव विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठ इति" [वै० ८. २] ॥

तथा चतुरहाणां सर्वेष्वहःसु एतौ पृष्ठस्तोत्रियौ विकल्पितौ

भवन्ति। तदुक्तं वैताने। "सर्वेषु मा भूम निष्ट्या इव विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठ इति" इति [वै० ८. २]॥

अतिरात्रोंको सर्वस्तोमाख्योंमें "मा भूम निष्ट्या इव" (२०। ११६) "विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे" (९। १५। ९) ये यथाक्रम पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अतिरात्राणां सर्वस्तोमयोर्मा भूम निष्ट्या इव विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठ इति" (वैतानसूत्र ८। २)॥

तथा चतुरहोंके सब दिनोंमें ये विकल्पित पृष्ठस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"सर्वेषु मा भूम निष्ट्या इव विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठ इति" (वैतानसूत्र ८। २)॥

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव।
वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि १

मा। भूम। निष्ट्याःऽइव। इन्द्र। त्वत्। अरणाःऽइव।
वनानि। न। प्रऽजहितानि। अद्रिऽवः। दुरोषासः। अमन्महि १

हम आपसे उन्मुख न होनेके कारण दुष्ट शत्रुसे न होवें, हम आपकी त्यागने योग्य वस्तुओंको दुष्ट पाक (दावानल) से संपन्न वनोंकी समान मानें॥ १॥

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन्।
सकृत् सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि २

अमन्महि। इत्। अनाशवः। अनुग्रासः। च। वृत्रऽहन्।
सकृत्। सु। ते। महता। शूर। राधसा। अनु। स्तोमम्। मुदीमहि॥ २॥

इति नवमेऽनुवाके विंशं सूक्तम्॥

हे वृत्रहन् ! हम अपनेको आपसे नाशरहित † और अनुग्र समझें हे शूर ! हम आपकी एक बारकी ही वृद्धिसे स्तोम करने पर आनन्द पावें ॥ २ ॥

प्रथम अनुवाकमें बीसवाँ सूक्त समाप्त (७३२)

त्रिवृदादिषु "पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा" इत्यस्य विनियोगः "वयमेनमिदा ह्यः" [२०. ६७] इत्यनेन सह उक्तः ॥ तथा तनूपृष्ठे षडहे अस्य विनियोगः "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०. ८१] इत्यनेन सह उक्तः ॥

त्रिवृत् आदिमें "पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा" का विनियोग "वयमेनमिदा ह्यः" (२० । ६७) के साथ कह दिया है।

तथा तनूपृष्ठ षडहमें इसका विनियोग "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) के साथ कह दिया है।

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥

पिब । सोमम् । इन्द्र । मन्दतु । त्वा । यम् । ते । सुसाव । हरिऽअश्व । अद्रिः ।

सोतुः । बाहुऽभ्याम् । सुऽयतः । न । अर्वा ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! आप सोमका पान करिये, हे हर्यश्व ! जिसको पत्थरने निचोड़ा है वह सोम आपको हर्ष प्रदान करे। सधे हुए घोड़ेकी समान यह पत्थर अभिषव करने वालेके हाथमें रहा था

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

यः । ते । मदः । युज्यः । चारुः । अस्ति । येन । वृत्राणि ।

हरिऽअश्व । हंसि ।

सः । त्वाम् । इन्द्र । प्रभुवसो इति प्रभुऽवसो । ममत्तु ॥ २ ॥

हे हरि नामक घोड़ों वाले इन्द्र ! जो आपका मद युज्य और चारु है और जिससे आप आवरक मेघोंको विदीर्ण करते हैं। हे प्रभूवसो इन्द्र ! वह आपको हर्ष देय ॥ २ ॥

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।

इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥

बोध । सु । मे । मघऽवन् । वाचम् । आ । इमाम् । याम् । ते ।

वसिष्ठः । अर्चति । प्रऽशस्तिम् ।

इमा । ब्रह्म । सधऽमादे । जुषस्व ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके एकविंशं सूक्तम् ॥

हे धनवान् इन्द्र ! आप मेरी इस वाणीको भली प्रकार जानिये कि–जिस प्रशस्तिकी वशिष्ठ पूजा करते हैं और इन मन्त्रसमूह का आप यज्ञमें सेवन करिये ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें इक्कीसवाँ सूक्त समाप्त (७३३)

चातुर्मास्यवैश्वदेवादीनां सप्तानां त्र्यहाणां प्रथमेष्वहःसु "शग्ध्यू षु शचीपते" इत्येष पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तदु उक्तं वैताने । "चातुर्मास्यवैश्वदेवगर्गवैदच्छन्दोमत्वराकान्तर्वैस्वरश्वमेघत्र्यहाणां शग्ध्यू षु शचीपत इति" इति [वै० ८. ३] ॥

तथा त्रिककुद्दशाहाहीने अस्य विनियोगः "क ईं वेद सुते सचा" [२०, ५३] इत्यनेन सह उक्तः ॥

साकमेधत्र्यहस्य प्रथमेहनि "इन्द्रमिद् देवतातये" [२०.११८.३] इत्येष पृष्ठस्तोत्रियो भवति । तद् उक्तं वैताने । 'साकमेधस्येन्द्रमिद् देवतातय इति" इति [वै० ८. २] ॥

चातुर्मास्य वैश्वदेव आदि सात त्र्यहोंके प्रथम दिनोंमें "शग्ध्यू षु शचीपते" यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्र में कहा है, कि–"चातुर्मास्यवैश्वदेवगर्गवैदच्छन्दोमवत्पराकान्तर्वेश्वमेधत्र्यहाणां शग्ध्यू षु शचीपते" (वैतानसूत्र ८ । २) ॥

तथा त्रिककुद्दशाहाहीनमें इसका विनियोग "क ईं वेद सुते सचा" (२० । ५३) के साथ कह दिया है।

साकमेध त्र्यहके प्रथमदिन "इन्द्रमिद्तातये" (२० । ११८ । ३) यह पृष्ठस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, है, कि–"साकमेधस्येन्द्रमिद् देवतातये"(वैतानसूत्र ८ । २)॥

शग्ध्यू ३ षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि १

शग्धि । ऊं इति । सु । शचीऽपते । इन्द्र । विश्वाभिः । ऊतिऽभिः भगम् । न । हि । त्वा । यशसम् । वसुऽविदम् । अनु । शूर । चरामसि ॥ १ ॥

हे इन्द्रदेव ! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, कि–आपकी सकल रक्षक शक्तियोंके द्वारा आपसे भाग्य और यश पानेके लिये हम आप धनलंभकके अनुकूल चलें ॥ १ ॥

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।

नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर २

पौरः । अश्वस्य । पुरुऽकृत् । गवाम् । असि । उत्सः । देव । हिरण्ययः ।

नकिः । हि । दानम् । परिऽमर्धिषत् । त्वे इति । यत्ऽयत् । यामि । तत् । आ । भर ॥ २ ॥

आप धन आदिको प्रचुर करने वाले हैं, पुरवासियोंके लिये अश्वरूप हैं अर्थात् उनको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने वाले हैं, आप गौओंको बहुत करने वाले हैं, उत्सदेव और हिरण्मय हैं, आपकी दानकी कोई हिंसा नहीं कर सकता । मैं जिस २ वस्तु की इच्छासे आपकी शरणमें प्राप्त हुआ हूं उस २ वस्तुको आप मुझमें भरिये ॥ २ ॥

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।

इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ३

इन्द्रम् । इत् । देवऽतातये । इन्द्रम् । प्रऽयति । अध्वरे ।

इन्द्रम् । सम्ऽईके । वनिनः । हवामहे । इन्द्रम् । धनस्य । सातये ३

हम यज्ञके लिये प्रयत् यज्ञमें इन्द्रका आह्वान करते हैं, इन्द्र की सेवा करने वाले हम युद्धके अवसर पर धनकी प्राप्तिके लिये इंद्रका आह्वान करते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।

इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ४

इन्द्रे । मह्ना । रोदसी इति । पप्रथत् । शवः । इन्द्रः । सूर्यम् । अरोचयत् ।

इन्द्रे । ह । विश्वा । भुवनानि । येमिरे । इन्द्रे । सुवानासः । इन्दवः

इति नवमेऽनुवाके द्वाविंशं सूक्तम् ॥

इन्द्रदेवने अपनी महिमासे द्यावापृथिवीका विस्तार किया है, इन्द्रात्मक बलसे सूर्यको दमका रक्खा है। सकल भुवन इन्द्रमें ही आश्रित होते हैं, और इन्द्रके लिये सोम अभिषुत होते हैं ॥४॥

नवम अनुवाकमें बाईसवाँ सूक्त समाप्त (७३४)

वैश्वदेवादिष्व्यहेषु "अस्तावि मन्म पूर्व्यम्" इत्यस्य विनियोगः "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०. ४७] इत्यनेन सह उक्तः ॥

वैश्वदेव आदि व्यहोंमें "अस्तावि मन्म पूर्व्यम्" का विनियोग "तमिन्द्रं वाजयामसि" (२०।४७) के साथ कह दिया है।

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥१॥

अस्तावि । मन्म । पूर्व्यम् । ब्रह्म । इन्द्राय । वोचत ।

पूर्वीः । ऋतस्य । बृहतीः । अनूषत । स्तोतुः । मेधाः । असृक्षत १

मैं मननीय प्राचीन स्तोत्रसे इन्द्रकी स्तुति कर चुका हूँ अब हे ऋत्विजो ! तुम इन्द्रके लिये मन्त्रका उच्चारण करो, तुम इन्द्रकी यज्ञकी प्राचीन कालोंकी बड़ी २ ऋचाओंसे स्तुति करो, स्तुति करने वालों की बुद्धि ऋचाओंसे संयुक्त होगई ॥ १ ॥

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः २

सुरणयवः । मधुऽमन्तम् । घृतऽश्चुतम् । विप्रासः । अर्कम् । आनृचुः ।

अस्मे इति । रयिः । पप्रथे । वृष्ण्यम् । शवः । अस्मे इति ।

सुवानासः । इन्दवः ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके त्रयोविंशं सूक्तम् ॥

शीघ्रता करने वाले विप्र मधुमय घृतस्रावि पूजक (मन्त्र) की प्रशंसा करते हैं, इस यजमानके लिये धन विस्तृत होता है और वर्षक बल इसको प्राप्त होता है, और इन इन्द्रदेवके लिये सोम अभिषुत होते हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें तेईसवाँ सूक्त समाप्त (७३५)

दशाहस्य गवामयनिकस्य अष्टमेऽहनि "यदिन्द्र प्रागपागुदक्" इत्येष उक्थस्तोत्रियो भवति । उक्तं वैताने । "दशाहस्याष्टमे यदिन्द्र प्रागपागुदगिति" इति [वै० ८. ४] ॥

तथा त्रिककुद्दशाहादीने अस्य विनियोगः "क ईं वेद सुते सचा" [२०. ५३] इत्यनेन सह उक्तः ॥

दशाह गवामयनिकाको अष्टम दिनमें "यदिन्द्र प्रागपागुदक्" यह उक्थस्तोत्रिय होता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"दशाहस्याष्टमे यदिन्द्र प्रागपागुदमिति" (वैतानसूत्र ८।४)॥

तथा त्रिककुद्दशाहादीनमें इसका विनियोग "क ईं वेद सुते सचा" (२०।५३) के साथ कह दिया है ।

यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।

सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । प्राक् । अपाक् । उदक् । न्यक् । वा । हूयसे । नृऽभिः ।

सिम । पुरु । नृऽसूतः । असि । आनवे । असि । प्रऽशर्ध । तुर्वशे

हे इन्द्रदेव ! आप पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण जिस ओरसे भी मनुष्योंसे बुलाये जाते हैं हे सर्व ! हे प्रकृष्टरूपसे शत्रुओंका संहार करने वाले ! आप इस मनुष्यमें आनुके लिये हैं॥ १॥

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि

यत् । वा । रुमे । रुशमे । श्यावके । कृपे । इन्द्र । मादयसे । सचा ।
कण्वासः । त्वा । ब्रह्मऽभिः । स्तोमऽवाहसः । इन्द्र । आ । यच्छन्ति ।
आ । गहि ॥ २ ॥

इति नवमेनुवाके चतुर्विंशं सूक्तम् ॥

हे समर्थ इन्द्र ! आप रुम रुशम और श्यावकमें साथ ही साथ आनन्द उत्पन्न करते हैं। कण्वगोत्री स्तोमधारी ऋषि आपको (हवि) देते हैं आप आइये ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें चौबीसवाँ सूक्त समाप्त (७२६)

तनूपृष्ठे षडहे "अभि त्वा शूर नोनुमः" इत्यस्य विनियोगः "यद्द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०. ८१] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तनूपृष्ठ षडहमें "अभि त्वा शूर नोनुमः" का विनियोग "यद्द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) के साथ कह दिया है।

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः १

अभि । त्वा । शूर । नोनुमः । अदुग्धाःऽइव । धेनवः ।
ईशानम् । अस्य । जगतः । स्वःऽदृशम् । ईशानम् । इन्द्र । तस्थुषः

हे शूर ! विना दुही हुई धेनुओंकी समान हम आपको प्रेरित करते हैं । आप इस चर जगत्के ईश्वर हैं । स्वर्गके द्रष्टा हैं और हे इन्द्र ! आप स्थावर जगत्के ईश्वर हैं ॥ १ ॥

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

न । त्वाऽवान् । अन्यः । दिव्यः । न । पार्थिवः । न । जातः । न । जनिष्यते ।
अश्वऽयन्तः । मघऽवन् । इन्द्र । वाजिनः । गव्यन्तः । त्वा । हवामहे ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके पञ्चविंशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आपकी समान और कोई दिव्य पदार्थ नहीं है, और कोई पार्थिव प्राणी आप की समान नहीं है, न कोई हुआ है और न कोई होगा । हे मघवन् ! इन्द्र ! हम गौ अश्व और अन्नकी प्रार्थना करते हुए आपका आह्वान करते हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें पच्चीसवाँ सूक्त समाप्त (७३७)

तनूपृष्ठे षडहे "रेवतीर्नः सधमादे" इत्यस्य विनियोगः "यद्द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०. ८१] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तनूपृष्ठ षडहमें "रेवतीर्नः सधमादे" का विनियोग "यद्द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) के साथ कह दिया है ।

रे॒वती॑र्नः सध॒माद॒ इन्द्रे॑ सन्तु तु॒विवा॑जाः । क्षु॒मन्तो॒ याभि॒र्मदे॑म ॥ १ ॥

रे॒वतीः॑ । नः॒ । स॒ध॒ऽमादे॑ । इन्द्रे॑ । स॒न्तु॒ । तु॒वि॒ऽवा॑जाः ॥ क्षु॒ऽमन्तः॑ । याभिः॑ । मदे॑म ॥ १ ॥

हमारे यज्ञमें इन्द्रके आने पर हम यज्ञान्न और साधारण अन्न की धनमयी वस्तुओंसे सम्पन्न होवें और उनसे हम आनन्द पावें १

आ घ॒ त्वावा॒न् त्मना॒प्त स्तो॒तृभ्यो॑ धृष्णविया॒नः । ऋ॒णोरक्षं॒ न च॒क्र्योः॑ ॥ २ ॥

आ । घ॒ । त्वाऽवा॑न् । त्मना॑ । आ॒प्तः । स्तो॒तृऽभ्यः॑ । धृ॒ष्णो॒ इति॑ । इ॒या॒नः ॥ ऋ॒णोः । अक्ष॑म् । न । च॒क्र्योः॑ ॥ २ ॥

हे धृष्णो ! स्तोताओंकी कृपासे आपकी दयाको पाने वाला पुरुष गमनशील रथके दोनों चक्रोंमें रहने वाले अक्षकी समान आप्त होजाता है ॥ २ ॥

आ यद् दुवः॑ शतक्रत॒वा कामं॑ जरितॄ॒णाम् । ऋ॒णोरक्षं॒ न शची॑भिः ॥ ३ ॥

आ । यत् । दुवः॑ । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शतऽक्रतो । आ । काम॑म् । ज॒रि॒तॄ॒णाम् । ऋ॒णोः । अक्ष॑म् । न । शची॑भिः ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके षड्विंशं सूक्तम् ॥

हे शतक्रतो इन्द्र ! आपकी सेवा करने वाला पुरुष आपकी

शक्तियोंको पाकर स्तोताओंकी कामनाओंको गमनशील रथके अश्वकी समान (पूर्ण करनेमें तुल्य) होता है ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें छब्बीसवाँ सूक्त समाप्त (७३८)

विषुवति सौर्यपृष्ठे माध्यन्दिने "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" [२०. १०७. १४] "तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम्" [२०. १२३] इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ भवतः । तदुक्तं वैताने । "चित्रं देवानामुदगादनीकं तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम् इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ" इति [वै० ६. ३] ॥

विषुवत् सौर्यपृष्ठ माध्यन्दिनमें "चित्रं देवानामुदगादनीकं" (२० । १०७ । १४) "तत् सूर्यस्य देवत्वम् तन्महित्वम्" (२० । १२३) यह पृष्ठस्तोत्रिय और अनुरूप होते हैं । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-चित्रं देवानामुदगादनीकं तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं इति पृष्ठस्तोत्रियानुरूपौ" (वैतानसूत्र ६ । ३)

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै

तत् । सूर्यस्य । देवऽत्वम् । तत् । महिऽत्वम् । मध्या । कर्तोः । विऽततम् । सम् । जभार ।

यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सधऽस्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥ १ ॥

यह सूर्यदेवका देवत्व और माहात्म्य है, कि-जब यह किरणों को अपनेमें अनुप्रवेश कराते हैं तो फैले हुए कामोंको बीचमें ही समेट लेते हैं, और तब इस भूलोकके लिये पृथ्वी अन्धकारको

चारों ओरसे समेट कर वस्त्ररूपमें अर्पण करती है (वह अन्धकार सूर्यसे नष्ट होता है अतः सूर्य महिमामय हैं) ॥ १ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ २ ॥

तत् । मित्रस्य । वरुणस्य । अभिऽचक्षे । सूर्यः । रूपम् । कृणुते । द्योः । उपऽस्थे ।

अनन्तम् । अन्यत् । रुशत् । अस्य । पाजः । कृष्णम् । अन्यत् । हरितः । सम् । भरन्ति ॥ २ ॥

इति नवमेऽनुवाके सप्तविंशं सूक्तम् ॥

मैं मित्र और वरुण देवताके माहात्म्यका वर्णन करता हूँ, कि—सूर्यदेव द्युलोकमें अपना रूप करते हैं, इनका दमकता हुआ तेज अनन्त है, दूसरा वारुण तेज कृष्ण है उसको सूर्यकी किरणें भली प्रकार भरण करती हैं—खेंच कर लेजाती हैं ॥ २ ॥

नवम अनुवाकमें सत्ताईसवाँ सूक्त समाप्त (७३९)

तनूपृष्ठे षडहे "कया नश्चित्र आ भुवत्" इत्यस्य विनियोगः "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" [२०. ८१] इत्यनेन सह उक्तः ॥

तनूपृष्ठ षडहमें "कया नश्चित्र आभुवत्" का विनियोग "यद् द्याव इन्द्र ते शतम्" (२० । ८१) के साथ कह दिया है ।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

कया । नः । चित्रः । आ । भुवत् । ऊती । सदाऽवृधः । सखा ॥

कया शचिष्ठया । वृता ॥ १ ॥

सदा वृद्धि करने वाले, चाहनीय, सखा किस रक्षक शक्ति के द्वारा हमारी रक्षा करने वाले होंगे वह रक्षकत्ववृत्ति किस शक्तिमती धारणासे सम्पन्न होगी (सुखमदा धारणासे) ॥१॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृल्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

कः । त्वा । सत्यः । मदानाम् । मंहिष्ठः । मत्सत् । अन्धसः ॥

दृल्हा । चित् । आऽरुजे । वसु ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! सोमरूप अन्नका कौन अंश जो कि–मदजनक हवियों में श्रेष्ठ है तुम्हें प्रसन्न करता है, कि–आप जिससे प्रसन्न होकर दृढ़तासे रहने वाले धनको भक्तोंको विभाग करके देते हो ॥२॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ॥ शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

अभि । सु । नः । सखीनाम् । अविता । जरितॄणाम् ॥ शतम् । भवासि । ऊतिऽभिः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! मित्ररूप हम स्तोताओंके रक्षक आप रक्षा करनेके लिये भली प्रकार हमारे अभिमुख होकर सैंकड़ों वार (राम कृष्ण आदिके रूपमें) प्रकट होते हैं ॥ ३ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।

यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः ।
यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्रऽजाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः ।
सह । चीक्लृपाति ॥ ४ ॥

इस रमणीय यज्ञको (सब प्रकट होने वाले ऋत्विज इन्द्र और सकल देवता (तथा हम) सिद्ध करें, आदित्यों सहित इन्द्रदेव हमारे यज्ञ शरीर और प्रजाको समर्थ रक्खें ॥ ४ ॥

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ ५ ॥

आदित्यैः । इन्द्रः । सऽगणः । मरुत्ऽभिः । अस्माकम् । भूतु ।
अविता । तनूनाम् ।
हत्वाय । देवाः । असुरान् । यत् । आयन् । देवाः । देवऽत्वम् ।
अभिऽरक्षमाणाः ॥ ५ ॥

जो देवता देवत्वकी रक्षा करनेके लिये असुरोंको मार कर देवत्वको अक्षुण्ण रख सके थे, उन आदित्य और मरुद्गणोंसे सम्पन्न इन्द्र हमारे शरीरके रक्षक बनें ॥ ५ ॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ।

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् । स्वधाम् ।

इषिराम् । परि । अपश्यन् ।

अया । वाजम् । देवऽहितम् । सनेम । मदेम । शतऽहिमाः ।

सुऽवीराः ॥ ६ ॥

इति नवमेऽनुवाके अष्टाविंशं सूक्तम् ॥

देवता शक्तियोंके द्वारा सूर्यको प्रत्येकके सन्मुख लाये हैं और फिर उन्होंने पृथ्वीको हविरूप अन्नसे सम्पन्न देखा है, इसी मायाके द्वारा हम देवताओंका हित करने वाले अन्नको पावें और सुन्दर वीरोंसे सम्पन्न रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहें ६

नवम अनुवाकमें अट्ठाईसवाँ सूक्त समाप्त (७४०)

पृष्ठ्यस्य षष्ठेहनि "अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान्" इति सुकीर्त्याख्यस्य सकलसूक्तस्य पच्छः शंसने प्राप्ते चतुर्थीम् अर्धर्चशः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान् इति सुकीर्तिम् । चतुर्थीमर्धर्चशः" इति [वै० ६. २] ॥

सौत्रामण्यां गृहीतेष्वाज्येषु "कुविदङ्ग यवमन्तः" [२०.१२५.२] इति ऋचा पयोग्रहान् गृह्णन्तमध्वर्युम् अभिमन्त्रयते । तद् उक्तं वैताने । "गृहीतेष्वाज्येषु कुविदङ्ग यवमन्त इति पयोग्रहान् गृह्णन्तम्" इति [वै० ५. ३] ॥

तत्रैव वपामार्जनादनन्तरम् "युवं सुराममश्विना" [२. १२५. ४–७] इति चतसृभिर्ऋग्भिः पयःसुराग्रहाणां होमान् अनुमन्त्रयते । तद् उक्तं वैताने । "वपामार्जनाद् युवं सुराममश्विनेति चतसृभिः पयःसुराग्रहाणाम्" इति [वै० ५. ३] ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन "अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान्" इस सुकीर्ति नाम वाले सकल सूक्तके पद पद करके शंसनकी प्राप्ति होने पर

चतुर्थीको अर्धर्चरूपमें करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि– "अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रान् इति सुकीर्तिम्। चतुर्थी-मर्धर्चशः" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

सौत्रामणिमें सुराके ग्रहण करने पर "कुविदंग यवमन्तः" (२० । १२५) ऋचासे पयोग्रहोंको पकड़ते हुए अध्वर्युको अभिमन्त्रित करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि— "गृहीतेष्वाध्वर्युं कुविदंग यवमन्त इति पयोग्रहान् गृह्णन्तम्" (वैतानसूत्र ५ । ३) ॥

वहाँ ही वपामार्जनके अनन्तर "युवं सुराममश्विना" (२० । १२५ । ४–७) इन चार ऋचाओंसे पयःसुराग्रहके होमोंका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"वपा-मार्जनाद् युवं सुराममश्विनेति चतसृभिः पयःसुराग्रहाणाम्" (वैतानसूत्र ५ । ३) ॥

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व

अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम

अप । इन्द्र । प्राचः । मघऽवन् । अमित्रान् । अप । अपाचः ।
अभिऽभूते । नुदस्व ।

अप । उदीचः । अप । शूर । अधराचः । उरौ । यथा । तव ।
शर्मन् । मदेम ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! पूर्वकी ओरसे आप हमारे शत्रुओंको दूर करिये, हे अभिभूते ! पश्चिमकी ओरसे आप हमारे शत्रुओंको पीड़ित करिये, हे शूर इन्द्र ! उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओरसे आप हमारे शत्रुओंको बाधा दीजिये। जिससे आपके दिये विशाल सुखमें हम आनन्द पा सकें ॥ १ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥

कुवित् । अङ्ग । यवऽमन्तः । यवम् । चित् । यथा । दान्ति । अनुऽपूर्वम् । विऽयूय ।
इहऽइह । एषाम् । कृणुहि । भोजनानि । ये । बर्हिषः । नमःऽवृक्तिम् । न । जग्मुः ॥ २ ॥

हे अग्ने ! बहुतसे यव वाले पुरुष जैसे जौंको मिला कर आनुपूर्वक काटते हैं, इसी प्रकार जो कुशाएँ हविसे संपृक्त नहीं हुई हैं उनका आप भक्षण करिये ॥ २ ॥

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥

नहि । स्थूरि । ऋतुऽथा । यातम् । अस्ति । न । उत । श्रवः । विविदे । सम्ऽगमेषु ।
गव्यन्तः । इन्द्रम् । सख्याय । विप्राः । अश्वऽयन्तः । वृषणम् । वाजयन्तः ॥ ३ ॥

ऋतुके अनुसार बहुतसा अन्न हमको नहीं मिला है, और युद्धोंमें भी हमको अन्न नहीं मिला है, इस लिये इन्द्रको मित्रके

लिये चाहते हुए विप्र, गौ अश्व और अन्नको चाहते हुए उन फलवर्षक इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

युवम् । सुरामम् । अश्विना । नमुचौ । आसुरे । सचा ।
विऽपिपाना । शुभः । पती इति । इन्द्रम् । कर्मऽसु । आवतम् ४

हे अश्विनीकुमारो ! अलंकारोंके देवता तुम दोनों नमुचिके साथ आसुर युद्ध होते समय सुन्दर रमणीय सोमका विशेषरूप से पान करके कर्मोंमें इन्द्रकी रक्षा करो ॥ ४ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्न-
भिष्णक् ॥ ५ ॥

पुत्रम्ऽइव । पितरौ । अश्विना । उभा । इन्द्र । आवथुः । काव्यैः ।
दंसनाभिः ।
यत् । सुऽरामम् । वि । अपिबः । शचीभिः । सरस्वती । त्वा ।
मघऽवन् । अभिष्णक् ॥ ५ ॥

दोनों अश्विनीकुमारोंने, माता पिताके पुत्रकी रक्षा करनेकी समान, अपनी चतुरता और शत्रुओंको काटनेकी युक्तियोंसे इंद्र की रक्षा की है, हे मघवन् ! जो आपने सुन्दर रमणीय सोमका पान किया है तो सरस्वती देवी अपनी शक्तियोंसे आपको स्नान करावे ॥ ५ ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्व-
वेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम

इन्द्रः । सुऽत्रामा । स्वऽवान् । अवःऽभिः । सुऽमृडीकः । भवतु ।
विश्वऽवेदाः ।
बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सुवीर्यस्य । पतयः ।
स्याम ॥ ६ ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले धनी इन्द्र रक्षाओंके द्वारा हम को सुन्दर सुख प्रदान किया करें और वह बड़े भारी धनसे सम्पन्न इन्द्र हमारे शत्रुओंका संहार करें और हमको अभय भी देवें, और हम शोभन प्रभाव वाले धनके स्वामी होवें ॥ ६ ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुत-
र्युयोतु ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम

सः । सुऽत्रामा । स्वऽवान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः ।
सनुतः । युयोतु ।
तस्य । वयम् । सुऽमतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ७

इति नवमेऽनुवाके एकोनत्रिंशं सूक्तम् ॥

भली प्रकार रक्षा करने वाले इन्द्र हमसे दूर ही हमारे शत्रुओं को तिरोहित कर डालें अलग २ कर डालें, हम यज्ञके पात्र उन

इन्द्रदेवकी अनुग्रहरूपा बुद्धिमें रहते हुए उनके कल्याणमय भाव को पाते रहें ॥ ७ ॥

नवम अनुवाकमें उन्नीसवाँ सूक्त समाप्त (५४१)

पृष्ठ्यस्य षष्ठेऽहनि "वि हि सोतोरसृक्षत" इति वृषाकप्याख्यं सूक्तं सूत्रोक्तधर्मकं शंसति । तदु उक्तं वैताने । "वि हि सोतोरसृक्षतेति वृषाकपिम्" इत्यादि [वै० ६. २] ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन "वि हि सोतोरसृक्षत" यह वृषाकपि नामक सूक्त सूत्रमें कहे हुए धर्म वालेका गान करता है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"वि हि सोतोरसृक्षतेति वृषाकपिम्" इत्यादि (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥

वि । हि । सोतोः । असृक्षत । न । इन्द्रम् । देवम् । अमंसत । यत्र । अमदत् । वृषाकपिः । अर्यः । पुष्टेषु । मत्ऽसखा । विश्वस्मात् । इन्द्रः । उत्ऽतरः ॥ १ ॥

अभिषव करने वालेसे अलग हुए (वृषाकपिने) इन्द्रको देवकी समान माना, ऐसे वृषाकपि देवता जो पुष्टोंमें स्वामी हैं, वह मेरे सखा हैं, इस कारण मैं इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हूँ ॥ १ ॥

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

परा । हि । इन्द्र । धावसि । वृषाकपेः । अति । व्यथिः ।

नो इति । अह । प्र । विन्दसि । अन्यत्र । सोमऽपीतये ।० ॥२॥

हे इन्द्र ! आप शत्रुओंको व्यथा देने वाले हैं, आप वृषाकपि से भी अधिक दौड़ते हैं, सोमपानके अतिरिक्त अन्यस्थलमें आप किसीसे नहीं मिलते हैं, अत एव इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

किम् । अयम् । त्वाम् । वृषाकपिः । चकार । हरितः । मृगः ।

यस्मै । इरस्यसि । इत् । ऊं इति । नु । अर्यः । वा । पुष्टिऽमत् ।

वसु ।० ॥ ३ ॥

क्या इन वृषाकपि (किरणोंसे कँपाने वाले देव) ने आपको हरित मृग बना दिया है, कि–जो आप स्वामी होने पर भी इन को पुष्टि–प्रद धन देते हैं, इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ४ ॥

यम् । इमम् । त्वम् । वृषाकपिम् । प्रियम् । इन्द्र । अभिऽरक्षसि ।

श्वा । नु । अस्य । जम्भिषत् । अपि । कर्णे । वराहऽयुः ।० ४

हे इन्द्र ! जिन प्रिय वृषाकपिकी आप रक्षा करते हैं, क्या कुत्ता इनके सामने जँभाई लेता है और क्या कान पर वराहको चाहने वाला जँभाई लेता है ? इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ ५ ॥

प्रिया । तष्टानि । मे । कपिः । विऽअक्ता । वि । अदूदुषत् ।
शिरः । नु । अस्य । राविषम् । न । सुऽगम् । दुःऽकृते । भुवम् ।०

कपिने मेरे प्रियोंको तनू किया है, व्यक्ताने दूषित किया है, मैं इसके शिरको शब्दित करता हूँ, दुष्कृतमें प्रादुर्भाव सुगम नहीं होता है, इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

न । मत् । स्त्री । सुभसत्ऽतरा । न । सुयाशुऽतरा । भुवत् ।
न । मत् । प्रतिऽच्यवीयसी । न । सक्थि । उत्ऽयमीयसी ।० ६

मेरी स्त्री सुभसत्तरा नहीं है, और सुयाशुतरा भी नहीं है, और प्रतिच्यवीयसी भी नहीं है । और सक्थियोंको उठाने वाली भी नहीं हैं, इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।

भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

उवे । अम्ब । सुलाभिके । यथाऽइव । अङ्ग । भविष्यति ।

भसत् । मे । अम्ब । सक्थि । मे । शिरः । मे । विऽइव । हृष्यति ।०

हे उवे अम्ब सुलाभिके अंग ! जैसा होगा वैसा हो, हे अम्ब ! मेरी कटि मेरी सक्थि और मेरा शिर पक्षीकी समान प्रसन्न होरहा है, इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ७ ॥

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।

किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

किम् । सुबाहो इति सुऽबाहो । सुऽअङ्गुरे । पृथुस्तो इति पृथुऽस्तो । पृथुऽजघने ।

किम् । शूरऽपत्नि । नः । त्वम् । अभि । अमीषि । वृषाकपिम् ।०

हे सुन्दर भुजा वाली, हे सुन्दर अंगुलियों वाली, हे पृथु स्तु वाली, हे पृथु जघन वाली, हे शूरपत्नि ! क्या तू हमको वृषाकपिके अभिमुख मारती है, इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९ ॥

अवीराम्ऽइव । माम् । अयम् । शरारुः । अभि । मन्यते ।

उत । अहम् । अस्मि । वीरिणी । इन्द्रऽपत्नी । मरुत्ऽसखा ।०

यह अपने शरीरको नष्ट करना चाहने वाला नहुष मुझे वीर (पति) से रहित मानता है, परन्तु मैं वीर पतिसे सम्पन्न हूँ, मेरे पति मरुत्सखा इन्द्र हैं, वह सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ ९ ॥

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

सम्ऽहोत्रम् । स्म । पुरा । नारी । समनम् । वा । अव । गच्छति ।

वेधाः । ऋतस्य । वीरिणी । इन्द्रऽपत्नी । महीयते ।० ॥ १० ॥

पहिले स्त्री होमरूप होती है और वह यागमें पुरुषके साथ बैठती है, इस प्रकार वह यज्ञकी रचना करने वाली है, ऐसी वीरिणी इन्द्रपत्नी प्रशंसा पाती है, क्योंकि—इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं१०

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् ।

नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥

इन्द्राणीम् । आसु । नारिषु । सुऽभगाम् । अहम् । अश्रवम् ।

नहि । अस्याः । अपरम् । चन । जरसा । मरते । पतिः ।०

सब नारियोंमें मैं इन्द्राणीको ही सौभाग्यवती समझता हूँ, क्योंकि—इसका पति अन्य वर्षको प्राप्त होकर भी नहीं मरता है,

जैसे, कि-और प्राकृत नारियोंके पति मर जाते हैं और न इस का पति इन्द्र होता है। वह कौनसा पति है? उत्तर-जो सर्व-श्रेष्ठ इन्द्र हैं, वही इसके पति हैं ॥ ११ ॥

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते ।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥

न । अहम् । इन्द्राणि । ररण । सख्युः । वृषाकपेः । ऋते ।
यस्य । इदम् । अप्यम् । हविः । प्रियम् । देवेषु । गच्छति ।०

इन्द्र कहते हैं, कि-हे इन्द्राणि ! मैं अपने मित्र वृषाकपिको छोड़ कर अन्यत्र कहीं रमण नहीं करता हूँ, क्योंकि-इनकी हवि जलसे संस्कृत होती है, यह मुझे सब देवताओंमें प्रिय हैं, ऐसा मैं सब देवताओंमें श्रेष्ठ इन्द्र कहता हूँ ॥ १२ ॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः । १३ ॥

वृषाकपायि । रेवति । सुऽपुत्रे । आत् । ऊं इति । सुऽस्नुषे ।
घसत् । ते । इन्द्रः । उक्षणः । प्रियम् । काचित्ऽकरम् । हविः ।०

हे वृषाकपि सूर्यकी-पत्नी-विभूति वृषकपायि ! हे धनवति ! हे सुपुत्रे ! हे माध्यमिका वाणीसे सुस्नुषे ! तेरे इन माध्यमिक जल अवश्यायसंस्त्यानोंको यह इन्द्र (सूर्य) पियें और तुम्हारी इष्ट सुखस्थान जलरूप हविको यह इन्द्र भक्षण करें, क्योंकि-इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १३ ॥

उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥

उक्षणः । हि । मे । पञ्चऽदश । साकम् । पचन्ति । विंशतिम् ।
उत । अहम् । अद्मि । पीवः । इत् । उभा । कुक्षी इति । पृणन्ति । मे ।०

मुझ महान्के पन्द्रह साथमें बीसको पकाते हैं, मैं उनका भक्षण करता हूँ अतः मैं स्थूल हूँ, मेरी दोनों कोखें भरी हुईं, इन्द्रदेव सबसे उत्तम हैं ॥ १४ ॥

वृषभो न तिग्मशृङ्गोन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

वृषभः । न । तिग्मऽशृङ्गः । अन्तः । यूथेषु । रोरुवत् ।
मन्थः । ते । इन्द्र । शम् । हृदे । यम् । ते । सुनोति । भावयुः ।०

तीखे सींग वाले वृषभके यूथमें बारम्बार शब्द करनेकी समान हे इन्द्र ! आपका मन्थ जिसके हृदयमें सुख प्रदान करता है, वह सुख पाने वाला होता है, क्योंकि—इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १५ ॥

न सेशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्या ३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सक्थ्या । कपृत् ।

सः । इत् । ईशे । यस्य । रोमशम् । निऽसेदुषः । विऽजृम्भते ।०

जिसकी सक्थियोंके बीचमें कपृत् लटकता रहता है, वह ऐश्वर्य नहीं पाता है, और जिस बैठनेकी इच्छा वालेका रोमश जँभाई लेता है वह (उपभोग करनेमें) समर्थ होता है । इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १६ ॥

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेन्तरा सक्थ्या३ कपृद् विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रोमशम् । निऽसेदुषः । विऽजृम्भते ।

सः । इत् । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सक्थ्या । कपृत् ।०

जिस (आसन लगा कर) बैठने वाले (योगी) का रोमश विजृंभण करता है वह (योगसाधनमें) समर्थ नहीं होता और जिसका कपृत् सक्थियोंमें लटकता रहता है (वह योगसिद्धि में) समर्थ होता है इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १७ ॥

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मा-
दिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

अयम् । इन्द्र । वृषाकपिः । परस्वन्तम् । हतम् । विदत् ।

असिम् । सूनाम् । नवम् । चरुम् । आत् । एधस्य । अनः ।

आऽचितम् ।० ॥ १८ ॥

हे इन्द्र ! इन वृषाकपिने अपने नष्ट हुए अतः शत्रुधनको पाया था और एधकी तलवार, सूना, और आचित नवीन चरुको ग्रहण किया है। इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १८ ॥

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् ।

पिबामि पाकसुत्वनोभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र

उत्तरः ॥ १९ ॥

अयम् । एमि । विऽचाकशत् । विऽचिन्वन् । दासम् । आर्यम् ।

पिबामि । पाकऽसुत्वनः । अभि । धीरम् । अचाकशम् ।० १९

यह मैं कर्म करने वाले आर्यको ढूँढ़ता हुआ और दमकता हुआ आरहा हूँ, मैं प्रशस्यरूपसे निचोड़े हुए, धीरतामद सोमांश का पान कर रहा हूँ, इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ १९ ॥

धन्व च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना

नेदीयसो वृषाकपेस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र

उत्तरः ॥ २० ॥

धन्व । च । यत् । कृन्तत्रम् । च । कति । स्वित् । ता । वि ।

योजना ।

नेदीयसः । वृषाकपे । अस्तम् । आ । इहि । गृहान् । उप ।०

जो मरुस्थल और अन्तरिक्ष है, उनका वियोजन कितना है,

हे वृषाकपे ! उस निकटतम स्थलसे आप घरको आइये, घरों के पास आइये, इन्द्रदेव सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥

पुनः । आ । इहि । वृषाकपे । सुविता । कल्पयावहै ।
यः । एषः । स्वप्नऽनंशनः । अस्तम् । एषि । पथा । पुनः ।०

हे भगवन् वृषाकपे ! जो आप अपने उदयसे स्वप्नको नष्ट करने वाले हैं, वह आप मार्गसे फिर अस्तको प्राप्त होजाते हैं, जो आप सब जगत्से श्रेष्ठ हैं, वह आप फिर उदयको प्राप्त हूजिये, फिर हम शोभन अर्घके उद्देश्यसे जगत्के हितमें प्रवृत्त हुए शोभन कर्मोंकी कल्पना करें अर्थात् उनको सम्पूर्ण करें ॥ २१ ॥

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व १ स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

यत् । उदञ्चः । वृषाकपे । गृहम् । इन्द्र । अजगन्तन ।
क्व । स्यः । पुल्वघः । मृगः । कम् । अगन् । जनऽयोपनः ।०

हे वृषाकपे इन्द्र (सूर्य) ! जब आप उत्तरमें रहते हुए भुवनों को प्रदक्षिण करते हुए गृहानुप्रवेशमें अन्तर्हित होते हैं, उस समय आपके घर आने पर—अस्त होने पर—लोक प्रकाशरहित होकर विस्मित होकर कहता है, कि—वह सब प्राणियोंमें रह कर बहुत

सा भक्षण करने वाले सूर्य कहाँ गए, वह जनमोहन सूर्य सबसे श्रेष्ठ है ॥ २२ ॥

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्व-स्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥

पर्शुः । ह । नाम । मानवी । साकम् । ससूव । विंशतिम् ।
भद्रम् । भल । त्यस्यै । अभूत् । यस्याः । उदरम् । आमयत् ।
विश्वस्मात् । इन्द्रः । उत्तरः ॥ २३ ॥

मानवी पर्शु प्रसिद्ध है उसने साथ ही साथ बीसको प्रकट किया है, उसके लिये भद्र हुआ, जिसका उदर रोगसहित था, इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है ॥ २३ ॥

नवम अनुवाकमें तीसवाँ सूक्त समाप्त (७४२)

❀ अथ कुन्तापसूक्तानि ❀

पृष्ठ्यस्य षष्ठेऽहनि "इदं जना उपश्रुत" इति कुन्तापम् अर्धर्चशः शंसति । तत्र प्रथमाश्चतुर्दश ऋचः पदावग्राहं शंसति । तद् उक्तं वैताने । "इदं जना उपश्रुतेति कुन्तापम् अर्धर्चशः । चतुर्दश पदावग्राहम्" इति [वै० ६. २] ॥

पृष्ठ्यके छठे दिन "इदं जना उपश्रुत" इस कुन्तापको आधी २ ऋचा करके पढ़े, इसकी पहिली चौदह ऋचाओंको (पद पद करके-) पदावग्राह पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा, है, कि- "इदं जना उपश्रुतेति कुन्तापं अर्धर्चशः । चतुर्दश पदावग्राहम्" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे १

हे मनुष्यों ! और हे कौरम नराशंस तुम स्तुति करने वालों के विषयमें यह बात सुनो, कि-हम साठ हजार रुशमोंको देते हैं १

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश ।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः २

जिसके शरीररूपी रथके वधूमान् बीस ऊँट बोझेको ढोने वाले हैं वह द्युलोक स्पर्श करते हुए हीडन करते हैं ॥ २ ॥

एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः ।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३ ॥

हम अन्नके लिये सौ निष्क, दश माला, तीनसौ घोड़े और दश हजार गौओंका दान करते हैं ॥ ३ ॥

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः ।
नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥ ४ ॥

हे स्तोतः ! जैसे पके हुए फल वाले वृक्ष पर बैठा हुआ पक्षी चहचहाता है, इसी प्रकार आप शब्द करिये, हाथोंमें वर्तमान क्षुरा जैसे चलता है इसी प्रकार कर्मके बन्द होने पर भी आपकी जिह्वा चलती रहे ॥ ४ ॥

प्र रेभासो मनीषा वृषा गाव इवेरते ।
अमोतपुत्रका एषाममोत गा इवासते ॥ ५ ॥

बुद्धिसम्पन्न स्तोता वर्षक साँडोंकी समान चल रहे हैं इनके घरमें पुत्र और गौ बैठे हुए से हैं ॥ ५ ॥

प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम् ।

देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम् ॥ ६ ॥

हे स्तोतः ! गौ प्राप्त कराने वाली और धन प्राप्त करानेवाली बुद्धिको धारण कर, देवताओंमें इस वाणीका श्रीणन कर, जैसे बाण फैंकने वाले मनुष्यकी रक्षा करता है, इसी प्रकार वाणी तेरी रक्षा करे ॥ ६ ॥

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्याँ अति ।

वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ ७ ॥

यदि देवता विश्वजनीन राजाके मनुष्योंका अतिक्रमण करता हो तो वह परिक्षित वैश्वानरके सुन्दर स्तोत्रको करे ॥ ७ ॥

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन् ।

कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥८॥

परिच्छिन्न (देवता) कल्याणको करता है, आसन (स्थिति) को विस्तृत करता है, इस प्रकार विस्तृत करता हुआ कौरव्य-पति जायासे कहता है ॥ ८ ॥

कतरत् त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम् ।

जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥६॥

राजा परिक्षित्के राज्यमें जाया पतिसे बूझता है, कि—मंथा में परिश्रुत दधिको तेरे लिये कितना लाऊँ ॥ ६ ॥

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् ।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥

पका हुआ यवरूप अन्न मार्गसे उदररूप बिलको प्राप्त होता है, इस प्रकार राजा परिक्षित्के राज्यमें प्राणी कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥ ११ ॥

इन्द्रने स्तोतासे कहा, कि-खड़ा हो, जनसमाजमें विचरण कर, मुझ उग्रके प्रतापसे तू कर्म कर तेरा शत्रु तुझको सब कुछ दे जाय ॥ ११ ॥

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोपि पूषा नि षीदति ॥ १२ ॥

यहाँ गौएँ ब्यावें, यहाँ अश्व और पुरुष प्रकट होवें, और सहस्रों प्रकारकी दक्षिणा देने वाले पूषा यहाँ विराजें ॥ १२ ॥

नेमा इन्द्र गावो रिषन् मो आसां गोप रीरिषत् ।
मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥ १३ ॥

हे इन्द्र ! यह गौएँ हिंसित न हों, और इनका पालन करने वाला गोप भी नष्ट न होवे, इन पर अभिमता करने वाला या चोर भी अपना प्रभाव न दिखा सके ॥ १३ ॥

उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन ॥ १४ ॥

तं प्रतिगिरेति प्रतिक्कुरत । ओथामोदैवेति पञ्चपदा चतुर्दशी एकेन द्वाभ्यां वा प्रणौति ॥

इति नवमेऽनुवाके एकत्रिंशं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप हमें सूक्तसे प्रसन्न सा करते हैं और हम भी आपको कल्याणमय वचनसे आनन्दित करते हैं, अन्तरिक्षसे आप हमारी वाणियोंको सुनिये, हम कभी भी नष्ट न होवें ॥ १४ ॥

नवम अनुवाकमें इकतीसवाँ सूक्त समाप्त (७७२)

"यः सभेयो विदथ्यः" इति षोडशर्चः ॥

"यः सभेयो विदथ्यः" एतस्य शंसनप्रकारः पूर्वसूक्ते उक्तः ॥

"यः सभेयो विदथ्यः" यह सोलह ऋचा वाला सूक्त है ।

"यः सभेयो विदथ्यः" इसका शंसनप्रकार पूर्वसूक्तमें कह दिया है ।

यः सुभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः ।
सूर्यं चामू रिशादसस्तद् देवाः प्रागकल्पयन् ॥ १ ॥

जो सभाके योग्य, यज्ञगृहके योग्य, अभिषव करने वाला और यजन करने वाला पुरुष होता है, वह सूर्य (मण्डल) को भेद डालता है और ऊपरके लोकोंमें पहुँच जाता है, इस बातको देवताओंने पहिले ही बना रक्खा है ॥ १ ॥

यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति ।
ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥ २ ॥

जो जामिसे विस्तृत करता है और जो मित्रका दुधूर्षण करता है, जो अप्रचेता ज्येष्ठ है उसको अधराक् कहते हैं ॥ २ ॥

यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः ।
तद् विप्रो अब्रवीदु तद् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥ ३ ॥

जिस मंगलमय पुरुषका पुत्र धर्षणशील होता है, वह विप्र कामना करने योग्य वचनको कह सकता है, वह गन्धर्व होता है ३

यश्च पणि रघुजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।
धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥ ४ ॥

जो वणिक् रघुजिष्ठ्य और जो देवताओंको हवि आदि न देनेके स्वभाव वाला होता है, हम सुनते हैं, कि-वह शाश्वत धीरोंका अपाक्-मुख फेरने योग्य-होता है ॥ ४ ॥

ये च देवा अयजन्ताथो ये च पराददिः ।
सूर्यो दिवमिव गत्वाय मघवा नो वि रप्शते ॥ ५ ॥

जो स्तुति करने वाले स्तोता यज्ञ करते हैं और जो परादान करते हैं वह स्वर्गमें सूर्यकी समान जाते हैं, हमारे इन्द्र महान् हैं ५

योनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः ।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ६ ॥

जो अनाक्ताक्ष है, अनभ्यक्त है, अमणिव अहिरण्यव और अब्रह्मा है, वह ब्रह्माका पुत्र तोता कल्पोंमें संमिता है ॥ ६ ॥

य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः ।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ७ ॥

जो आक्ताक्ष, सुभ्यक्त, सुमणि, सुहिरण्यव, सुब्रह्मा ब्रह्माके पुत्र तोता हैं वह कल्पोंमें संमिता हैं ॥ ७ ॥

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः ।
अयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ८ ॥

अप्रपाणा वेशन्ता रेवा अप्रतिदिश्य अयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पोंमें सम्मित है ॥ ८ ॥

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः ।
सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ९ ॥

सुप्रपाणा वेशन्ता रेवान् सुप्रतिदिश्यय सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पोंमें सम्मित है ॥ ९ ॥

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः ।
अनाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ १० ॥

परिवृक्ता, महिषी, स्वस्त्या और युधिंगम अनाशुर आयामी तोता कल्पोंमें संमित है ॥ १० ॥

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः ।
श्वाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ११ ॥

वावाता महिषी स्वस्त्या और युधिंगम श्वाशुर अयामी और तोता कल्पोंमें सम्मित हैं ॥ ११ ॥

यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः ।
विरूपः सर्वस्मा आसीत् सह यक्षाय कल्पते ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! जो आपने दाशराजके मनुष्यको विगाहित किया है, आप सबके लिये विरूप हुए थे और आप यक्षके साथ समर्थ होते हैं ॥ १२ ॥

त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः ।

त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥ १३ ॥

हे वर्षक मघवन् ! आप मर्याकर रविरूपमें अक्षुको नम्र करते हैं, और रौहिणको फैले हुए मुख वाला करते हैं और आपने वृत्रासुरके शिरको काट डाला है ॥ १३ ॥

यः पर्वतान् व्यदधाद् यो अपो व्यगाहथाः ।

इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोस्तु ते ॥ १४ ॥

जिन्होंने पर्वतोंको विशेषरूपसे स्थापित किया है, और जिन्होंने जलका अवगाहन किया है और जो इन्द्र वृत्रासुरका संहार करने वाले हैं, ऐसे हे इन्द्र ! आपके लिये प्रणाम है ॥ १४ ॥

पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन् ।

स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥ १५ ॥

हरिनामक घोड़ोंकी पीठ पर दौड़ते हुए (इन्द्रको देख कर -प्राणियोंने) उच्चैःश्रवासे कहा, कि-हे अश्व ! तेरा कल्याण हो तू विजयशील कर्मके लिये सुन्दरमाला वाले इन्द्रको सवारी दे १५

ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

पूर्वा नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते ॥ १६ ॥

इति नवमेनुवाके द्वात्रिंशं सूक्तम् ॥

जो श्वेत अजैश्रवस हारी आपकी दक्षिण ओर जुतते हैं, हे देवताओंके नमस्य ! हे उन पूर्वाओंको धारण करने वाले आप महत्त्व पाते हैं ॥ १६ ॥

नवम अनुवाकमें बत्तीसवाँ सूक्त समाप्त (७४१)

"एता अश्वा आ प्लवन्ते" इति षट्सप्तत्यष्टादशपदान्त्यः मध्यचरपङ्क्ति शस्त्रा ॥

"एता अश्वा आ प्लवन्ते" [२०. १२९] इत्यादि "नीलशिखण्डवाहनः" [२०. १३२] इत्यन्तम् ऐतशप्रलापाख्यं षट्सप्ततिपादसमुदायं पदावग्राहं सूक्तोक्तप्रकारेण शंसति । तदुक्तं वैताने । "एता अश्वा आप्लवन्त इत्यैतशप्रलापं पदावग्राहम् । तासामुत्तमेन पदेन प्रणौति" इति [वै० ६. २] ॥

"एता अश्वा आप्लवन्ते" (२० । १२९) इत्यादि "नीलशिखण्डवाहनः" (२० । १३२) तक ऐतशप्रलाप नामक छिहत्तर पादसमुदायको पद २ ग्रहण करके सूक्तोक्त रीतिसे पढ़े । वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"एताः अश्वा आप्लवन्त इत्यैतशप्रलापं पदावग्राहम् । तासामुत्तमेन पदेन प्रणौति" (वैतानसूत्र ६।२)॥

एता अश्वा आ प्लवन्ते १ प्रतीपं प्राति सुत्वनम् २

तासामेका हरिक्निका ॥३॥ हरिक्निके किमिच्छसि ४

साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ॥५॥ क्वाहतं परास्यः ॥ ६ ॥

यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः ॥ ७ ॥ परि त्रयः ॥ ८ ॥

पृदाकवः ॥ ९ ॥　शृङ्गं धमन्त आसते ॥ १० ॥

अयन्महा ते अर्वाहः ॥११ स इच्छकं सघाघते १२

सघाघते गोमीद्या गोगतीरिति ॥ १३ ॥

पुमां कुस्ते निमिच्छसि ॥ १४ ॥

पल्प बद्ध वयो इति ॥१५॥ बद्धं वो अघा इति १६

अजागार केविका १७ अश्वस्य वारो गोशपद्यके १८ श्येनीपती सा ॥१९॥ अनामयोपजिह्विका ॥२०॥

इति नवमेऽनुवाके त्रयस्त्रिंशं सूक्तम् ॥

ये अश्वा दौड़ती हैं ॥ १ ॥ सुत्वा प्रतीपको पूर्ण करता है २ उनमेंसे एक हरिक्निका है ॥ ३ ॥ हे हरिक्निके ! तू क्या चाहती है ॥ ४ ॥ हित रमणीय साधु पुत्रको ॥ ५ ॥ परास्य कहाँ अहिंसित रहता है ॥ ६ ॥ जहाँ यह तीन शिंशपा हैं ॥ ७ ॥ चारों ओर तीन ॥ ८ ॥ सर्प ॥ ९ ॥ सींगको फूँकते हुए बैठे हैं ॥ १० ॥ यह दिन आपका बड़ा घोड़ा है ॥११॥ यह इन्द्रक का सघाघ करता है ॥ १२ ॥ गोघीघा गोगतियोंको सघाघन करता है ॥ १३ ॥ पुरुष और पृथिवी तेरा निमिच्छन करते हैं १४ हे बद्ध पल्प अन्न है इस प्रकार ॥ १५ ॥ हे बद्ध तुम्हारी अघा है ॥ १६ ॥ केविका न जामी ॥ १७ ॥ अश्वका वार गोशपद्यकमें है ॥ १८ ॥ यह श्येनपती है ॥ १९ ॥ यह अनामया उपजीविका है ॥ २० ॥

नवम अनुवाकमें तैंतीसवाँ सूक्त समाप्त (७४५)

को अर्य बहुलिमा इषूनि ॥१॥ को असिद्याः पयः २ को अर्जुन्याः पयः ॥३॥ कः कार्ष्ण्याः पयः ॥४॥ एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥५॥ कुहाकं पक्वकं पृच्छ ॥६॥ यवानो यतिस्वभिः कुभिः ७ अकुप्यन्तः कुपायकुः ८ आमणको मणत्सकः ॥९॥ देव त्वमतिसूर्य ॥१०॥ एनश्चिपङ्क्तिका हविः ॥११॥ प्रदुद्रुदो मघाप्रति १२

भृङ्ग उत्पन्न ॥१३॥ मा त्वाभि सखा नो विदन् १४ वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५। इरावेदुमयं दत ।१६। अथो इयन्नियन्निति ।।१७।। अथो इयन्निति १८ अथो श्वा अस्थिरो भवन् १९ उयं यकांशलोकका

इति नवमेऽनुवाके चतुस्त्रिंशं सूक्तम् ॥

इस बहुतसे बाणोंको कौन स्वामित्वमें रखता है ॥ १ ॥ असिक्नीका पय कौन है ? ॥ २ ॥ अर्जुनीका पय कौन है ? ॥ ३ ॥ काष्ठींका पय कौन है ? ॥ ४ ॥ इससे बूझ, कुहसे बूझ ॥५॥ कुहाक पक्वकसे बूझ ॥ ६ ॥ यतिरूप धन वाली पृथिवियोंसे मिलता हुआ ॥ ७ ॥ कुपायकु क्रोधमें भर गया ॥ ८ ॥ आमणक मणत्सक ॥ ९ ॥ किंतु हे अप्रतिसूर्य देव ॥१०॥ एनश्चिपङ्क्तिका हवि ॥ ११ ॥ प्रदुदुद मघामति ॥ १२ ॥ हे भृंग ! हे उत्पन्न ! ॥ १३ ॥ मेरा सखा तुझको और मुझको अभिमुख होकर प्राप्त हो ॥ १४ ॥ वशाके पुत्रको प्राप्त होते हैं १५ हे दत इरावेदुमय ॥ १६ ॥ इसके उपरान्त यह यह, इसप्रकार १७ इसके उपरान्त यह इस प्रकार है ॥ १८ ॥ इसके उपरान्त श्वा अस्थिर होता है ॥ १९ ॥ उय यंकाशलोकका ॥ २० ॥

नवम अनुवाकमें चौंतीसवां सूक्त समाप्त (७४६)

आमिनोनिति भद्यते ॥१॥ तस्य अनु निभंजनम् २ वरुणो याति वस्वभिः ।३। शतं वा भारती शवः ४ शतमाश्वा हिरण्ययाः । शतं रथ्या हिरण्ययाः । शतं कुथा हिरण्ययाः । शतं निष्का हिरण्ययाः ५

अहल कुश वर्तक ॥ ६ ॥ शफेन इव ओहते ७
आय वनेनती जनी ॥ ८ ॥ वनिष्ठा नाव गृह्यन्ति ९
इदं मह्यं मदूरिति ॥ ११ ॥ ते वृक्षाः सह तिष्ठति १२
पाक बलिः ॥ १२ ॥ शक बलिः ॥ १३ ॥
अश्वत्थ खदिरो धवः ॥ १४ ॥ अरदुपरम ॥ १५ ॥
शयो हत इव ॥ १६ ॥ व्याप पुरुषः ॥ १७ ॥
अदूहमित्यां पूषकम् ॥ १८ ॥ अत्यर्धर्च परस्वतः १९
दौव हस्तिनो दृती ॥ २० ॥

इति नवमेऽनुवाके पञ्चत्रिंशं सूक्तम् ॥

आमिनोनिति कहा जाता है ॥१॥ उसके पीछे निभञ्जन है२
वरुणदेव रात्रियोंके साथ जाते हैं ॥ ३ ॥ सौ भारती वत्स ॥४॥
सौ हित रमणीय घोड़े सौ हिरण्य रथ्या, सौ हिरण्यय कुथ्या
और सौ हिरण्यय निष्क ॥ ५ ॥ अहल कुश वर्तक ॥ ६ ॥
शफसे वहनसा करता है ॥ ७ ॥ आय वनेनती जनी ॥ ८ ॥
वनिष्ठा नौका पकड़ी जाती हैं ॥ ९ ॥ यह मुझको प्रसन्न करने
वाला है ॥१०॥ वह वृक्षोंके साथ स्थित होती है ॥ ११ ॥ पाक-
बलि ॥ १२ ॥ शकबलि ॥ १३ ॥ अश्वत्था खदिर धव ॥१४॥
चला, विरामको प्राप्त हो ॥ १५ ॥ सोने वाला मरा हुआसा
होता है ॥ १६ ॥ पुरुष व्याप्त होजाता है ॥ १७ ॥ मैं अन्तमें
पूषाको दुहता हूँ ॥ १८ ॥ परस्वान् नामक मृगका अतिक्रमण
करके अर्धर्च प्रवृत्त होवे ॥१९॥ हाथीकी दृतियोंका दुवन कर २०

नवम अनुवाकमें पैंतीसवाँ सूक्त समाप्त (७४७)

आदलाबुकमेकंकम् ॥ १॥ अलाबुकं निखातकम् २ कर्करिको निखातकः॥ ३ ॥ तद् वात उन्मथायति ४ कुलायं कृणवादिति ॥ ५ ॥ उग्रं वनिषदाततम् ६ न वनिषदनाततम् ॥ ७ ॥ क एषां कर्करी लिखत् ८ क एषां दुन्दुभिं हनत् ९ यदीयं हनत् कथं हनत्१० देवी हनत् कुहनत् ॥११॥ पर्यागारं पुनःपुनः १२ त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि १३ हिरण्य इत्येके अब्रवीत् १४ द्वौ वा ये शिशवः ॥१५॥ नीलशिखण्डवाहनः १६

इति नवमेनुवाके षट्त्रिंशं सूक्तम् ॥

इसके अनन्तर अलाबुक (रामतुरई—लौकी) एक ॥ १ ॥ खोदने वाला अलाबुक ॥ २ ॥ निखातक कर्करिक ॥ ३ ॥ यह वायुको उखेड़ता है ॥ ४ ॥ कुलायको करता है ॥ ५ ॥ विस्तृत उग्रकी संभक्ति करता है ॥ ६ ॥ अविस्तृतका सेवन नहीं करता है ॥ ७ ॥ इनमेंसे कौन कर्करी लिखता है ॥ ८ ॥ इनमेंसे कौन दुन्दुभिको मारती है ॥ ९ ॥ यदि यह मारती है तो कैसे मारती है ॥ १० ॥ देवीने मारा, कुहनन किया ॥ ११ ॥ भवनके चारों ओर वारम्बार ॥ १२ ॥ उष्ट्रके तीन नाम हैं १३ एक हिरण्य यह बोला ॥ १४ ॥ जो शिशु हैं वे दो हैं ॥ १५ ॥ नीलशिखण्डवाहन ॥ १६ ॥

नवम अनुवाकमें छत्तीसवाँ सूक्त समाप्त (७४८)

"विततौ किरणौ द्वौ" इति मवह्लिकाख्या ऋचः अथर्वशाः

शंसति । तद् उक्तं वैताने । "विततौ किरणौ द्वाविति मतल्हिकाः" इति [वै० ६. २]॥

"विततौ किरणौ द्वौ" इस मतल्हिका नामक ऋचाको अर्धर्च-रूपमें पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"विततौ किरणौ द्वाविति मतल्हिकाः" इति (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः ।

न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ १ ॥

दो किरणें फैली हुई हैं पुरुष उनका पिशन करता है, हे कुमारि ! तू उसको जैसा मानती है वह तैसा नहीं है ॥ १ ॥

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते । न वै० २

हे पुरुष ! अनृतसे निवृत्त हुआ जो तू है, उस तेरी माताकी दो किरणें हैं । हे कुमारि ! उसको तू जैसा मानती है वह तैसा नहीं है ॥ २ ॥

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । न वै० ३

हे मध्यमे ! तू दोनों कानोंको पकड़ कर नहीं देती है, हे कुमारि !उसको तू जैसा मानती है वह तैसा नहीं है ॥ ३ ॥

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि । न वै० ४

उत्ताना वा शयानाके लिये खड़ी होकर आलिङ्गन करती है, हे कुमारि ! उसको तू जैसा मानती है वह तैसा नहीं है ॥ ४ ॥

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि । न वै०

तू श्लक्ष्णा वा श्लक्ष्णिकामें श्लक्ष्ण ही अवगूहन करती है, हे कुमारि ! उसको तू जैसा मानती है वह तैसा नहीं है ॥ ५ ॥

अवंश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे ।

न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥६॥

इति नवमेऽनुवाके सप्तत्रिंशं सूक्तम् ॥

टूटे दाँत और लोमयुक्त सरोवरमें अवश्लक्ष्णकी समान है । हे कुमारि ! उसको तू जैसा मानती है, वह वैसा नहीं है ॥ ६ ॥

नवम अनुवाकमें सैंतीसवाँ सूक्त समाप्त (७४१)

"इहेत्थ प्रागपागुदगधराक्" इति प्रतिराधाख्या ऋचः अर्धर्चशः शंसति । न संतनोति । तदुक्तं वैताने । "इहेत्थ प्रागपागुदधराग् इति प्रतिराधान् । न संतनोति" इति [वै० ६. २]॥

"इहेत्थ प्रागपागुदगधराक्" इन प्रतिराधा नामक ऋचाओं को अर्धचरूपमें पढ़े । विस्तार न करे । इसी बातको वैतानसूत्र में कहा है, कि—"इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् इति प्रति राधान् । न संतनोति" (वैतानसूत्र ६ । २)॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अरालागुदभर्त्सथ ॥ १ ॥

यहाँ इस प्रकार पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण अरालसे उदभर्त्सन करो ॥ १ ॥

०वत्सा पुरुषन्त आसते ॥ २ ॥

० वत्स पुरुष बनना चाहते हुए बैठे हैं ॥ २ ॥

०स्थालीपाको वि लीयते ॥ ३ ॥

० स्थालीपाक विलीन होता है ॥ ३ ॥

०स वै पृथु लीयते ॥ ४ ॥

० वह बहुत ही लीन होजाता है ॥ ४ ॥

०आष्टे लाहणि लीशाथी ॥ ५ ॥

० लाहन्‌में लीशाथी उपभोग करती है ॥ ५ ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्-अदिलली पुच्छिलीयते ६

इति नवमेऽनुवाके अष्टत्रिंशं सूक्तम् ॥

यहाँ इस प्रकार पूर्व पश्चिम उत्तरमें अदिलली पुच्छित होती है ६

नवम अनुवाकमें अड़तीसवाँ सूक्त समाप्त (७५०)

"भुगित्यभिगतः" इत्याजिज्ञासेन्याख्यास्तिस्र ऋचः शंसति। तद् उक्तं वैताने। "भुगित्यभिगत इत्याजिज्ञासेन्यास्तिस्रः" इति [वै० ६. २] ॥

"वीमे देवा अक्रंसत" इत्यतीवादाख्या ऋचः अर्धर्चशः शंसति। तद् उक्तं वैताने। "वीमे देवा अक्रंसतेत्यतीवादम्" इति [वै० ६. २] ॥

"भुगित्यभिगतः" इन आजिज्ञासेनी नामक तीन ऋचाओं को पढ़ता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"भुगित्यभिगत इत्याजिज्ञासेन्यास्तिस्रः" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

"वीमे देवा अक्रंसत" इन अतीवाद नामक ऋचाओंको आधी २ ऋचा करके पढ़े। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"वीमे देवा अक्रंसतेत्यतीवादम्" (वैतानसूत्र ६ । २)॥

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः ।

दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव ॥ १ ॥

भुक् यह अभिगत है, शल् यह अपक्रान्त है, फल यह अभिष्ठित है, हे स्तोतः ! इसके उपरान्त आप दुन्दुभिको ताड़ित करने वाले दो दण्डोंसे क्रीड़ा करिये ॥ १ ॥

कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम् ।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन् वर्त्मन्यात् २

कोशबिल रजनमें ग्रन्थिके धानको जूतेमें पैरको और उत्तमा जनिमा, जन्य और उत्तमा जनियोंको मार्गमें (स्थापित करे) २

अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम् ।
पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोथामो दैव ॥ ३ ॥

लौकी, पृषातक, अश्वत्थ, ढाक, पिपीलिक, अवटश्वस, विद्युत्, स्वापर्णशफ, गोशफ, हे स्तोतः ! इसके उपरान्त तू बल से क्रीड़ा कर ॥ ३ ॥

वीमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।
सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥ ४ ॥

ये देवता दमक रहे हैं, हे अध्वर्यो ! आप शीघ्रतासे मन्त्रों-का उच्चारण करिये, आप गौओंके लिये सत्य और प्रखुद् हैं ४

इह इत्येतामर्धर्चशः प्रणवत्यनुते ॥

पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव ।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव ॥ ५ ॥

जो पत्नी है वह पूजन करती हुई ही पत्नी दीखती है, हे जरितः ! इसके उपरान्त आप भयोंकी जीतनेकी इच्छा करिये५

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ६

हे स्तोतः ! आदित्य अंगिराओंसे दक्षिणाको लाये थे, हे जरितः ! उसको वे लाये थे, हे स्तोतः ! उसको वे लाये थे ६

तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः

अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः

हे हमारे स्तोतः ! उसको उन्होंने ग्रहण किया था, हे हमारे स्तोतः ! उसको आपने ग्रहण किया था, अहानेतरसको नहीं विशेष चेतनोंको और यज्ञानेतरसको नहीं, किंतु विशेष चेतनों को हम सन्मुख होकर प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः ।

उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥

श्वेत और आशुपत्वा आप पदमयी ऋचाओंसे युवा होते हैं और इनको शीघ्र मान पूर्ण करता है ॥ ८ ॥

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः

इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

हे अंगिरः ! आदित्य वसु और रुद्र तेरे अनुकूल हैं, तू इस धनको ग्रहण कर, यह धन विभु और प्रभु है, और यह धन विशाल और बृहत् है ॥ ९ ॥

देवा ददत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।

युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥ १० ॥

देवता तुझे प्राणबल देवें, वह आपको चेतनता देने वाला होवें, तुम्हें प्रत्येक अवसर पर प्राप्त होवें, प्रत्येक अवसर पर आपको प्राप्त होवें ॥ १० ॥

सप्तदश पदान्यष्टादशभिर्व्याख्याता प्रतिगरे विकारः । ॐ ह जरितस्तथा ह जरितरिति विपर्यासं जरितुं प्रतिष्वेवं प्रतिगरात्मके सर्वांशिनतिपाखिनास्त्वमिन्द्र शर्म रिणेति तिस्रो भूतेऽर्द्धो अर्धर्चशः॥

सत्रह पद अठारहसे व्याख्यात होगए, प्रतिगरमें विकार है । ओं ह जरितस्तथा ह जरितः इस विपर्यायसे स्तुति करनेके लिये तथा प्रतिगरात्मकमें सर्वांशु हायसे "त्वमिन्द्र शर्मरिणा" इन ऋचाओंके होने पर इनका अर्धर्चरूपमें पढ़े ।

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः ।

विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह ॥ ११ ॥

हे इन्द्र ! आप इस लोक और परलोक दोनों लोकोंके पार तक पहुँचने वाले (देवताओं) के लिये शर्मरी (कल्याणप्रद अवयव) से हव्यका वहन करिये । और जिसको अन्न मिलना दुस्तर होरहा है उस स्तुति करने वाले विप्रके लिये धनका संभक्तन करने वाली शक्तिको दीजिये ॥ ११ ॥

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते ।

श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥१२॥

हे इन्द्रदेव ! आप परकटे अत एव खिचड़ते हुए कपोतके लिये काकुनी, और अखरोटको तथा बहुतसे जलको करिये ॥१२॥

अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया ।

इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥ १३ ॥

इति नवमेऽनुवाके एकोनचत्वारिंशं सूक्तम् ॥

चमड़ेकी रस्सीसे तीन स्थानोंमें बँधा हुआ अरंगर बारम्बार

शब्द करता है । यह पृथ्वी की प्रशंसा करता है और पृथ्वी-रहित स्थानका अपसेवन करता है ॥ १३ ॥

नवम अनुवाकमें उन्तालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५१)

"यदस्या" इति षोडश आहनस्या वृषाकपिवत् वैशिषमुत्तमेन पादेन प्रणौति ॥

"यदस्या अंहुभेद्याः" इत्याहनस्याख्याः षोडशर्चः वृषाकपिशस्त्रवच्छंसति । तद् उक्तं वैताने । "यदस्या अंहुभेद्या इत्याहनस्या वृषाकपिवत्" इति [वै० ६. २] ॥

"यदस्या अंहुभेद्याः" इन आहनस्य नामक सोलह ऋचाओं को वृषाकपिशस्त्रकी समान पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि– 'यदस्या अंहुभेद्या इत्याहनस्या वृषाकपिवत्" (वैतान-सूत्र ६ । २) ॥

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥

जो इस पापभेदिनीका स्थूल कृधु क्षीण होगया है, शकुल (सौरा मछली) की समान इसके मुष्क गोशफमें हिलते हैं १

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।
विष्वञ्चा वस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ ॥ २ ॥

जब स्थूल पसः (शिश्न) से अणुमें मुष्कोंका प्रहार किया तब जैसे रेतमें गधे बढ़ते हैं तैसे ही इस चारों ओर गमन करती हुई आच्छादिकामें मुष्क बढ़ते हैं ॥ २ ॥

यदल्पिकास्वल्पिका कर्कन्धूकेवपद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥ ३ ॥

जो अल्पिकामें अल्पिका है, और जो कर्कधूकाकी समान अन्न पदन करती है, वासन्तिक तेजनकी समान अवातके लिये विस्पत् में जाते हैं ॥ ३ ॥

यद् देवासो ललामगुं प्रविंष्टीमिनमाविषुः ।

सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥४॥

जब देवता प्रविष्ट सुन्दर गौमें प्रसन्न होते हैं, तब सत्य अक्षि-भूकी समान सकुला नारी बार बार भला दीजाती है ॥ ४ ॥

महानग्न्यतृपद्वि मोक्रदुदस्थानासरन् ।

शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम ॥ ५ ॥

ऊपर खड़े हुओं पर न दौड़ता हुआ, चरक्रमण न करताहुआ महाअग्नि तृप्त होता है, शक्तिकानन हम स्वचमशक दमकते हुओं को प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

महानग्न्युलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत् ।

यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवति ॥ ६ ॥

महान् अग्नि उलूखलका अतिक्रमण करती हुई कहने लगी कि-हे वनस्पते ! जैसे तुझे कूटते हैं, तैसे ही ॥ ६ ॥

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।

यथैव ते वनस्पते पिप्पति तथैवति ॥ ७ ॥

महान् अग्नि कहती है, कि-तू भ्रष्ट होकर भी बारम्बार प्रकट होजाता है, हे वनस्पते ! जिस प्रकार तू पूरण होता है तिसी प्रकार ॥ ७ ॥

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदुह्यते ॥ ८ ॥

महान् अग्नि कहता है, कि–तू भ्रष्ट होकर भी बारम्बार प्रकट होजाता है, जैसे अवस्था जीर्ण होकर स्वर्गमें हविकी समान धारण की जाती है ॥ ८ ॥

महानग्न्युप ब्रूते स्वसावेशितं पसः ।
इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥

महान् अग्नि कहता है कि–यह शिश्न भली प्रकार आवेशित कर दिया है, इस प्रकार हम फलसम्पन्न वृक्ष के छाजमें छाज का भजन करते हैं ॥ ९ ॥

महानग्नी कृकवाकं शम्यया परि धावति ।
अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् १०

महान् अग्नि कृक शब्द करने वालेपर कर्मसे दौड़ता है। हम जानते हैं कि–वह मृगकी समान शिरसे धाणिकाका हरण करता है

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ ११ ॥

महान् अग्नि दौड़ते हुए महानग्नके पीछे दौड़ता है। इसकी इन इन्द्रियोंकी रक्षा कर, मेरे साथ मैथुन कर और भात भक्षण कर ११

सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुसं पीवरो नवत् ॥ १२ ॥

शोभन दमकने वाला महान् अग्नि भली प्रकार विशेषरूपसे पीड़ा देता है, यह बड़े बड़ोंको कुरेदने वाला है, स्थूल कुशको नष्ट करता है ॥ १२ ॥

वशा दग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोग्रतं परे ।

महान् वै भद्रो यभ मामध्यौदनम् ॥ १३ ॥

वशाने इस जली हुई अंगुलिको रचा है, दूसरे उग्रतकी रचना करते हैं महान् कल्याणकारी होता है, मेरे साथ मैथुन कर और भातका भक्षण कर ॥ १३ ॥

विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम् ।

कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति १४

यह विशिष्ट देवता महान् अग्नि विशेषरूपसे पीड़ा देता है, यह बड़ेको साधु खोद डालता है, कुमारिका पिंगलिका कार्यको करके दौड़ जाती है ॥ १४ ॥

महान् वै भद्रो बिल्वो महान् भद्र उदुम्बरः ।

महाँ अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम् ॥ १५ ॥

महान् बिल्व भद्र है, महान् उदुम्बर भद्र है, जो महान् चारों ओरसे पीड़ा देता है, वह बड़ों २ को भली प्रकार खोदन करने वाला है ॥ १५ ॥

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत् ।

तैलकुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत् ॥ १६ ॥

इति नवमेऽनुवाके चत्वारिंशं सूक्तम् ॥

इति कुन्तापसूक्तानि ॥

जो पिंगलिका पीवरी कुमारी वसन्तको पाजावे तो बैलके कुण्डपेंसे अँगूठेकी समान इस कुरेदते हुए शूद्रका उद्धार करती है

नवम अनुवाकमें चालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५२)

सोमयागे "दधिक्राव्णः" [२०. १३७. ३] इत्यस्या ऋच आग्नीध्रीये दधिभक्षणे विनियोगः । तद् उक्तं वैताने । "आग्नीध्रीये दधि भक्षयन्ति दधिक्राव्ण इति" इति [वै० ३. १२] ॥

तथा पृष्ठ्यषडहे "दधिक्राव्णः" इत्येतामृचम् अर्धर्चशः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "दधिक्राव्णो अकारिषमित्यर्धर्चशः" इति [वै० ६. २] ॥

तत्रैव "सुतासो मधुमत्तमाः" [२०.१३७. ४-६] इति पावमान्याख्यास्तिस्र ऋचः अर्धर्चशः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "सुतासो मधुमत्तमा इति पावमानीः" इति [वै. ६. २] ॥

तत्रैव "अव द्रप्सो अंशुमतीम्" [२०. १३७. ७-९] इति तिस्र ऋचः पच्छः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदिति पच्छः" इति [वै० ६. २] ॥

सोमयागमें "दधिक्राव्णः" (२० । १३७ । ३) ऋचाका आग्नीध्रीय दधिके भक्षणमें विनियोग है । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"आग्नीध्रीये दधि भक्षयन्ति दधि क्राव्णः" (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

तथा पृष्ठ्यषडहमें "दधिक्राव्णः" ऋचाको अर्धर्चरूपमें पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"दधि क्राव्णो अकारिषमित्यर्धर्चशः" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

वहाँ ही "सुतासो मधुमत्तमाः" (२० । १३७ । ४-६) इन पावमानी नामक तीन ऋचाओंको अर्धर्चरूपमें पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-सुतासो मधुमत्तमा इति पावमानीः" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

तहाँ ही "अव द्रप्सो मधुमतीम्" (२० । १३७ । ७-९) इन तीन ऋचाओंको पद पद करके पढ़े । इसी बातको वैतान-सूत्रमें कहा है, कि—"अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदिति पच्छः" (वैतानसूत्र ६ । २) ॥

यद्ध प्राचीरजंगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हुता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्धुदयाशवः ॥ १ ॥

यत् । ह । प्राचीः । अजगन्त । उरः । मण्डूरऽधाणिकीः ।
हताः । इन्द्रस्य । शत्रवः । सर्वे । बुद्बुदऽयाशवः ॥ १ ॥

जब प्राचीन मण्डूरधाणिकी वक्षःस्थलको प्राप्त हुई, तब इन्द्र के सब बुद्बुदयाशु शत्रु मारे गए ॥ १ ॥

कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाज-सातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोम-पीतये ॥ २ ॥

कपृत् । नरः । कपृथम् । उत् । दधातन । चोदयत । खुदत । वाजऽसातये ।
निष्टिग्र्यः । पुत्रम् । आ । च्यवय । ऊतये । इन्द्रम् । सऽबाधः । इह । सोमऽपीतये ॥ २ ॥

मनुष्य कपृत् है, तुम कपृथ्को धारण करो, अन्नकी प्राप्तिके लिये प्रेरणा करो, रक्षा पानेके लिये पुत्रको उत्पन्न करो और

बाधः देने वाला तुम निष्ठिप्रय सोमपान करनेके लिये यहाँ इन्द्र का आह्वान करो ॥ २ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥३॥

दधिऽक्राव्णः । अकारिषम् । जिष्णोः । अश्वस्य । वाजिनः ।
सुरभि । नः । मुखा । करत् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ३

मैं विजयशील इन्द्रके सवारीको धारण करते समय हिनहिनाहट करने वाले वेगवान् अश्व (उच्चैःश्रवा) की (पूजा) करचा चुका हूँ, वह इन्द्रदेव हमें सुगन्धिसम्पन्न और सुख्य बनावें और हमारी अवस्थाको उत्कृष्टतासे बितावें ॥ ३ ॥

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ।

सुतासः । मधुमत्ऽतमाः । सोमाः । इन्द्राय । मन्दिनः ।
पवित्रऽवन्तः । अक्षरन् । देवान् । गच्छन्तु । वः । मदाः ॥ ४ ॥

हर्ष देने वाले परम मधुर सोम इन्द्रके लिये अभिषुत होगए हैं, पवित्रे (अँगोछे) वाले सोम टपक रहे हैं, हे सोमो ! तुम्हारे वे हर्षमद प्रभाव देवताओंको प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ५॥

इन्दुः । इन्द्राय । पवते । इति । देवासः । अब्रुवन् ।

वाचः । पतिः । मखस्यते । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥५॥

सोम इन्द्रदेवके लिये पवित्र किया जाता है, इस प्रकार देवता कहते हैं, विश्वके ईश्वर वाचस्पति बलपूर्वक प्रशंसा पाते हैं ॥५॥

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥

सहस्रऽधारः । पवते । समुद्रः । वाचम्ऽईङ्खयः ।
सोमः । पतिः । रयीणाम् । सखा । इन्द्रस्य । दिवेऽदिवे ॥ ६ ॥

यह गमन करने वाला जलसे भरा हुआ सहस्रों धारों वाला सोम पवित्र किया जारहा है, यह सोम धनोंका स्वामी है और प्रत्येक स्तोत्रके लिये इन्द्रका मित्र बन जाता है ॥ ६ ॥

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥ ७ ॥

अव । द्रप्सः । अंशुऽमतीम् । अतिष्ठत् । इयानः । कृष्णः । दशऽभिः । सहस्रैः ।
आवत् । तम् । इन्द्रः । शच्या । धमन्तम् । अप । स्नेहितीः । नृऽमनाः । अधत्त ॥ ७ ॥

दश सहस्र किरणोंसे (रसको) खेंचने वाले सूर्य पृथ्वीको

प्राप्त होकर बलपूर्वक उस पर खड़े होगए, अपनी शक्तिसे पृथ्वी को मारते हुए उनको दूर करके इन्द्रने अपनी शक्तिसे उसकी रक्षा की और अपने बलसे स्नेहमयी (जलधारण करने वाली शक्तियों) को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित किया-पृथ्वीको पुष्ट किया ७

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः। नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ८ ॥

द्रप्सम् । अपश्यम् । विषुणे । चरन्तम् । उपऽह्वरे । नद्यः । अंशुऽमत्याः ।
नभः । न । कृष्णम् । अवतस्थिऽवांसम् । इष्यामि । वः । वृषणः । युध्यत । आजौ ॥ ८ ॥

मैं विषममें विचरण करने वाले शुक्रको अंशुमती नदीके पास विचरण करते हुए देखता हूँ, वह सूर्यकी समान आकाशमें रहते हैं, उनकी मैं शरण लेता हूँ, वह फलवर्षक संग्राममें तुम्हारा युद्ध करें ॥ ८ ॥

अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत् तन्वं तित्विषाणः विशो अदेवीरभ्याऽचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे

अध । द्रप्सः । अंशुऽमत्याः । उपऽस्थे । अधारयत् । तन्वम् । तित्विषाणः ।

विशः । अदेवीः । अभि । आऽचरन्तीः । बृहस्पतिना । युजा ।

इन्द्रः । ससहे ॥ ९ ॥

इसके उपरान्त शुक्रने अपने शरीरको सूक्ष्म करके अंशुमती क्रोड़में स्थापित कर दिया, जो देवताओंको न मानने वाली प्रजाएँ हैं, उनको इन्द्रने बृहस्पतिकी सहायता लेकर नष्ट कर दिया ९

त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोशत्रुभ्या अभवः शत्रु-

रिन्द्र ।

गूल्हे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो

रणं धाः ॥ १० ॥

त्वम् । ह । त्यत् । सप्तऽभ्यः । जायमानः । अशत्रुऽभ्यः । अभवः

शत्रुः । इन्द्र ।

गूल्हे इति । द्यावापृथिवी इति । अनु । अविन्दः । विभुमत्ऽभ्यः ।

भुवनेभ्यः । रणम् । धाः ॥ १० ॥

हे इन्द्रदेव ! आप सातों अशत्रुओंसे प्रकट होकर उनके शत्रु बन जाते हैं, आपने द्यावापृथिवीका आलिंगन किया है और इसके अनन्तर आपने उनको प्राप्त किया है, और विभुत्व वाले भुवनोंसे रणको ठान दिया था ॥ १० ॥

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघन्थ

त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः

त्वम् । ह । त्यत् । अप्रतिऽमानम् । ओजः । वज्रेण । वज्रिन् । धृषितः । जघन्थ ।

त्वम् । शुष्णस्य । अव । अतिरः । वधत्रैः । त्वम् । गाः । इन्द्र । शच्या । इत् । अविन्दः ॥ ११ ॥

हे वज्रधारिन् इन्द्र ! आपने धृषित होकर उस अप्रतिम ओज (वलासुर) को वज्रसे नष्ट किया था, हे इन्द्रदेव ! आप बल नामक असुरको वध साधन आयुधोंसे दूर कर चुके हैं और आप शक्तिसे गौओंको प्राप्त कर चुके हैं ॥ ११ ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १२ ॥

तम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । महे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा । वृषभः । भुवत् ॥ १२ ॥

हम विशाल वृत्रासुर वा मेघ वा आवरक शत्रुका संहार करनेके लिये उन इन्द्रकी प्रशंसा करते हैं, कामनाओंकी वर्षा करने वाले वह इन्द्र सबमें श्रेष्ठ होवें ॥ १२ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ १३ ॥

इन्द्रः । सः । दामने । कृतः । ओजिष्ठः । सः । मदे । हितः ॥ द्युम्नी । श्लोकी । सः । सोम्यः ॥ १३ ॥

वह बली इन्द्र पापियोंका निग्रह करनेके लिये रज्जुके रूपमें किये गए हैं, वह प्रसन्नता देने वाले यज्ञमें स्थित होते हैं । वह इन्द्रदेव दमकने वाले हैं, प्रसिद्ध हैं और सौम्य हैं ॥ १३ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ १४ ॥

गिरा । वज्रः । न । सम्ऽभृतः । सऽबलः । अनपऽच्युतः ॥ ववक्षे । ऋष्वः । अस्तृतः ॥ १४ ॥

इति नवमेनुवाके एकचत्वारिंशं सूक्तम् ॥

अच्युत बलवान् इन्द्र पर्वतसे मिलने वाले वज्रकी समान बलसे भरे हुए हैं । यह अहिंसित श्रेष्ठ पुरुष (शत्रुओंके धनोंको) यजमानों पर पहुँचाते हैं ॥ १४ ॥

नवम अनुवाकमें इकतालीसवाँ सूक्त समाप्त (९५३)

अतिरात्रे अतिरिक्तोक्थेषु "महाँ इन्द्रो य ओजसा" इत्यस्य विनियोगः "तमिन्द्रं वाजयामसि" [२०. ४७] इत्यनेन सह उक्तः तथा छन्दोमाख्येषु त्रिष्वहःसु अस्य विनियोगस्तत्रैवोक्तः ॥

तथा त्र्यहाणां तृतीयेष्वहःसु "महाँ इन्द्रो य ओजसा" इत्यस्य विनियोगः "अभि प्र वः सुराधसम्" [२०. ५१] इत्यत्र उक्तः तथा चतुरहाणां चतुर्थेष्वहःसु "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [२०. १३८] "य एक इद् विदयते" [२०. ६३. ४] इत्येतौ आज्यो-क्थस्तोत्रियौ भवतः । तद् उक्तं वैताने । "चतुर्थेषु महाँ इन्द्रो य ओजसा य एक इद् विदयत इति" इति [वै० ७. ३] ॥

तथा त्रिककुद्दशाहस्य अष्टमेहनि एष आज्यस्तोत्रियो भवति। तद् उक्तं वैताने। "अष्टमे महाँ इन्द्रो य ओजसेति" इति [वै० ८. ४]

अतिरात्रके अतिरिक्तोक्थोंमें "महाँ इन्द्रो य ओजसा" इसका विनियोग "तमिन्द्रं वाजयामसि" (२० । ४७) के साथ कह दिया है ।

तथा छन्दोम नामक तीन दिनोंमें इसका विनियोग वहाँ ही कहा है।

तथा त्र्यहोंके तृतीय दिनोंमें "महाँ इन्द्रो य ओजसा" इसका विनियोग "अभि प्र वः सुराधसम्" (२० । ५१) में कह दिया है।

तथा चतुरहोंके चौथे दिनोंमें "महाँ इन्द्रो य ओजसा" (२० । १३८) "य एक इद् विदयते" (२० । ६३, ४) ये आज्योक्थस्तोत्रिय होते हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"चतुर्थेषु महाँ इन्द्रो य ओजसा य एक इद् विदयत इति" (वैतानसूत्र ८ । ३)।

तथा त्रिककुद् दशाहके अष्टम दिनमें यह आज्यस्तोत्रिय होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"अष्टमे महाँ इन्द्रो य ओजसेति" (वैतानसूत्र ८ । ४) ॥

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

महान् । इन्द्रः । यः । ओजसा । पर्जन्यः । वृष्टिमान्ऽइव ॥ स्तोमैः । वत्सस्य । ववृधे ॥ १ ॥

जो महान् इन्द्रदेव वृष्टि भरे हुए मेघकी समान, वत्सके स्तोमसे बढ़ते हैं ॥ १ ॥

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः। विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥

प्रऽजाम् । ऋतस्य । पिप्रतः । प्र । यत् । भरन्त । वह्नयः ॥ विप्राः । ऋतस्य । वाहसा ॥ २ ॥

हे अश्विनीकुमारों! तुम सत्यकी प्रजाको पुष्ट करो, कि— जिसका अग्निएँ भरण कर रही हैं और ब्राह्मण यज्ञका वहन करने वाले अग्निसे जिसकी रक्षा कर रहे हैं ॥ २ ॥

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥

कण्वाः । इन्द्रम् । यत् । अक्रत । स्तोमैः । यज्ञस्य । साधनम् ॥

जामि । ब्रुवते । आयुधम् ॥ ३ ॥

इति नवमेऽनुवाके द्विचत्वारिंशं सूक्तम् ॥

कण्वने जिस इन्द्रको स्तोमोंसे यज्ञका साधन बनाया है उसी को जामि आयुध बताती हैं ॥ ३ ॥

नवम अनुवाकमें बयालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५७)

अतिरात्रे अतिरिक्तोक्थेषु स्तोत्रियानुरूपयोरनन्तरम् "आ नूनमश्विना युवम्" [२०. १३६] "तं वां रथम्" [२०. १४३] इति सूक्ते शंसति । तत्र पूर्वसूक्तस्य दशमीं द्वादशीमृचम् उत्तरसूक्तं च पच्छः शंसति । तद् उक्तं वैताने । "आ नूनमश्विना युवं तं वां रथमिति सूक्ते । पूर्वस्य दशमीं द्वादशीमुत्तरं च पच्छः" इति [वै० ४. ३] ॥

अतिरात्रके अतिरिक्तोक्थोंमें स्तोत्रिय और अनुरूपके अनंतर "आ नूनमश्विना युवम् "(२० । १३६) "तं वां रथम्" (२० । १४३) इन सूक्तोंको पढ़े । इनमें प्रथमसूक्तकी दशमी और बारहवीं ऋचाको और अगले सूक्तको भी पद पद करके पढ़े । इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"आ नूनमश्विना युवं तं वां रथमिति सूक्ते । पूर्वस्य दशमीं द्वादशीमुत्तरं च पच्छः" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।

प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः १

आ । नूनम् । अश्विना । युवम् । वत्सस्य । गन्तम् । अवसे ।

प्र । अस्मै । यच्छतम् । अवृकम् । पृथु । छर्दिः । युयुतम् । याः ।

अरातयः ॥ १ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! तुम दोनों वत्सके चलने फिरनेके लिये और इसकी रक्षा करनेके लिये भेड़ियेसे रहित विशाल घर दीजिये और जो इसके शत्रु हों उनको अलग करिये ॥ १ ॥

यदन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु । नृम्णं

तद् धत्तमश्विना ॥ २ ॥

यत् । अन्तरिक्षे । यत् । दिवि । यत् । पञ्च । मानुषान् । अनु ॥

नृम्णम् । तत् । धत्तम् । अश्विना ॥ २ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! जो धन अन्तरिक्षमें है,जो धन स्वर्गमें है और जो निषाद पञ्चम मनुष्योंमें हैं उस धनको (वा बलको) आप हममें स्थापित करिये ॥ २ ॥

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत्

काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

ये । वाम् । दंसांसि । अश्विना । विप्रासः । परिऽममृशुः ॥ एव ।

इत् । काण्वस्य । बोधतम् ॥ ३ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! जो ब्राह्मण आपके कर्मोंका परिमर्शन करते हैं, इस सबको कारवका कृत्य समझो ॥ ३ ॥

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते ।

अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः

अयम् । वाम् । घर्मः । अश्विना । स्तोमेन । परि । सिच्यते ।

अयम् । सोमः । मधुऽमान् । वाजिनीवसू इति वाजिनीऽवसू ।

येन । वृत्रम् । चिकेतथः ॥ ४ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! आपका यह स्तोम घर्मसे परिषिञ्चित होता है, यह सोम मधुसम्पन्न है, हे हविरूप क्रियात्मक धनसे संपन्न अश्विनीकुमारों ! इस सोमसे आप आवरक शत्रुको जानते हैं ४

यदप्सु यद् वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम् ।

तेन माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

यत् । अप्ऽसु । यत् । वनस्पतौ । यत् । ओषधीषु । पुरुऽदंससा ।

कृतम् ।

तेन । मा । अविष्टम् । अश्विना ॥ ५ ॥

इति नवमेऽनुवाके त्रिचत्वारिंशं सूक्तम् ॥

हे अश्विनीकुमारों जलमें वनस्पतिमें और औषधियोंमें जो कृत है, उससे आप मुझको पूर्ण करिये ॥ ५ ॥

नवम अनुवाकमें तैंतालीसवाँ सूक्त समाप्त (७४५)

यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः ।

अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ १ ॥

यत् । नासत्या । भुरण्यथः । यत् । वा । देवा । भिषज्यथः ।

अयम् । वाम् । वत्सः । मतिऽभिः । न । विन्धते । हविष्मन्तम् । हि । गच्छथः ॥ १ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! तुम जो शीघ्रतासे चलने वाले हो, और तुम दोनों देवता चिकित्सा करने वाले हो, यह तुम्हारा वत्स मतियोंसे विंधित नहीं होता है, तुम हविष्मान्के पास जाते हो ॥१

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया ।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥

आ । नूनम् । अश्विनोः । ऋषिः । स्तोमम् । चिकेत । वामया ।

आ । सोमम् । मधुमत्ऽतमम् । घर्मम् । सिञ्चात् । अथर्वणि ।२।

ऋषि अपनी संभक्तन करने योग्य बुद्धिसे अश्विनीकुमारों के स्तोत्रको जान गए थे, परम मधुर सोम घर्म को अथर्व (चरणशील कर्म) में सींचो ॥ २ ॥

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥३॥

आ । नूनम् । रघुऽवर्तनिम् । रथम् । तिष्ठाथः । अश्विना ।

आ । वाम् । स्तोमाः । इमे । मम । नभः । न । चुच्यवीरत ३

हे अश्विनीकुमारों ! तुम शीघ्रतासे चलने वाले रथमें बैठते हो, यह आपके लिये किये हुए मेरे स्तोत्र आकाशकी समान अच्युत रहें ॥ ३ ॥

यद॒द्य वां नासत्यो॒क्थैरा॑चुच्यु॒वीम॑हि ।

यद् वा॒ वाणी॑भिरश्विने॒वेत् का॑ण्वस्य॑ बोधतम् ॥४॥

यत् । अ॒द्य । वा॒म् । नास॑त्या । उ॒क्थैः । आ॒ऽचु॒च्यु॒वीम॑हि ।

यत् । वा॒ । वाणी॑भिः । अ॒श्वि॒ना॒ । ए॒व । इत् । का॒ण्वस्य॑ । बो॒ध॒त॒म् ॥ ४ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! हम आज उक्थोंसे आपकी शरणमें आ रहे हैं, हे अश्विनीकुमारों ! जो हम वाणीसे आपकी (स्तुति कर रहे हैं यह) काण्वकी ही कृपा समझिये ॥ ४ ॥

यद् वां॑ क॒क्षीवाँ॑ उ॒त यद् व्य॑श्व॒ ऋषि॒र्यद् वां॑ दी॒र्घत॑मा जु॒हाव॑ ।

पृथी॒ यद् वां॑ वै॒न्यः साद॑नेष्वे॒वेदतो॑ अश्विना चेत॑येथाम् ॥ ५ ॥

यत् । वा॒म् । क॒क्षीवा॑न् । उ॒त । यत् । विऽअ॑श्वः । ऋषिः । यत् । वा॒म् । दी॒र्घऽत॑माः । जु॒हाव॑ ।

पृथी॑ । यत् । वा॒म् । वै॒न्यः । सद॑नेषु । ए॒व । इत् । अतः॑ । अ॒श्वि॒ना॒ । चे॒त॒येथा॒म् ॥ ५ ॥

इति नवमेऽनुवाके चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम् ॥

हे अश्विनीकुमारों ! कक्षीवान् व्यश्व और दीर्घतमा नामक ऋषियोंने जो आपके निमित्त आहुति दी है, और जो वेनका पुत्र पृथी है, वह आपके सदनोंमें ही है, हे अश्विनीकुमारों ! इस लिये प्रबुद्ध होइये ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें चौवालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५६)

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥

यातम् । छर्दिःऽपौ । उत । नः । परःऽपा । भूतम् । जगत्ऽपौ । उत । नः । तनूऽपा ।
वर्तिः । तोकाय । तनयाय । यातम् ॥ १ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! आप हमारे भवनकी रक्षा करते हुए प्राप्त हूजिये, श्रेष्ठ रक्षक होते हुए आप प्राप्त हूजिये, जगत्के रक्षक होते हुए प्राप्त हूजिये और हमारे शरीरके रक्षक बनते हुए प्राप्त हूजिये, पुत्र और पौत्रके लिये वर्तन करते हुए प्राप्त हूजिये ॥१॥

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा ।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ २ ॥

यत् । इन्द्रेण सऽरथम् । याथः । अश्विना । यत् । वा । वायुना । भवथः । सम्ऽओकसा ।

यत् । आदित्येभिः । ऋभुऽभिः । सऽजोषसा । यत् । वा ।

विष्णोः । विऽक्रमणेषु । तिष्ठथः ॥ २ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! आप इन्द्रके साथ एक रथमें बैठ कर जाते हैं, और आप वायुके साथ एक स्थानमें रहने वाले हैं, और आप आदित्य तथा ऋभुओंके साथ समान प्रीति रखने वाले हैं और आप विष्णुके विक्रमणोंमें रहते हैं ॥ २ ॥

यद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।

यत् पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ ३ ॥

यत् । अद्य । अश्विनौ । अहम् । हुवेय । वाजऽसातये ।

यत् । पृत्ऽसु । तुर्वणे । सहः । तत् । श्रेष्ठम् । अश्विनोः । अवः

हे अश्विनीकुमारों ! मैं जो आपको अन्नप्राप्तिके लिये आह्वान कर रहा हूँ, हे यजमानोंको शीघ्रतासे सेवन करने वाले ! जो आप संग्रामोंमें शत्रुओंको दबाने वाले हैं, यही आपकी श्रेष्ठ रक्षा है ३

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।

इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ४

आ । नूनम् । यातम् । अश्विना । इमा । हव्यानि । वाम् । हिता ।

इमे । सोमासः । अधि । तुर्वशे । यदौ । इमे । कण्वेषु । वाम् ।

अथ ॥ ४ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! आप अवश्य आइये, ये हव्य आपका हित करने वाले हैं, यह सोम मनुष्य यदुमें और कण्वमें हैं अब आप दोनों आइये ॥ ४ ॥

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ५

यत् । नासत्या । पराके । अर्वाके । अस्ति । भेषजम् ।
तेन । नूनम् । विऽमदाय । प्रऽचेतसा । छर्दिः । वत्साय । यच्छतम् ।

इति नवमेनुवाके पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम् ॥

हे अश्विनीकुमारो ! जो औषधि दूर वा पास है, आप अपने ज्ञानयुक्त मनसे विशेषमद करनेके लियेउ सको दीजिये और वत्सके लिये घर दीजिये ॥ ५ ॥

नवम अनुवाकमें पैंतालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५७)

अबुध्म्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

अबुध्मि । ऊं इति । प्र । देव्या । साकम् । वाचा । अहम् । अश्विनोः ।
वि । आवः । देवि । आ । मतिम् । वि । रातिम् मर्त्येभ्यः १

मैं ज्ञानमय बुद्धिसे अश्विनीकुमारोंको साथ रहने वाला जानता हूँ, हे बुद्धिदेवि ! आप हमारी मतिको प्रकाशित करिये और मनुष्योंको धन प्रदान करिये ॥ १ ॥

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

प्र । बोधय । उषः । अश्विना । प्र । देवि । सूनृते । महि ।
प्र । यज्ञऽहोतः । आनुषक् । प्र । मदाय । श्रवः । बृहत् ॥ २॥

(हे स्तोतः !) आप प्रातःकालके समय अश्विनीकुमारोंको (अपने स्तोत्रको) जनाइये, हे सूनृते देवि ! आप उसको प्रशंसनीय करिये और हे यज्ञहोतः ! आप विशाल कीर्तिको चारों ओर फैलाइये ॥ २ ॥

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥

यत् । उषः । यासि । भानुना । सम् । सूर्येण । रोचसे ।
आ । ह । अयम् । अश्विनोः । रथः । वर्तिः । याति । नृऽपाय्यम्

हे अश्विनीकुमारोंके रथ ! तू अपनी कान्तिसे उषाको प्राप्त होता है और सूर्यके साथ दमकता है, और अश्विनीकुमारोंका रथ घोड़ोंके नृपाय्य मार्गमें आता है ॥ ३ ॥

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

यत् । आऽपीतासः । अंशवः । गावः । न । दुह्रे । ऊधऽभिः ।
यत् । वा । वाणीः । अनूषत । प्र । देवऽयन्तः । अश्विना ॥४॥

जब किरणें पी हुईसी होती हैं, तब गौएँ ऐनोंसे दुही जाती हैं, हे अश्विनीकुमारो ! उस समय ऋत्विज स्तुति करते हैं, और वाणी आपकी स्तुति करती है ॥ ४ ॥

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

प्र । द्युम्नाय । प्र । शवसे । प्र । नृऽसह्याय । शर्मणे ।

प्र । दक्षाय । प्रऽचेतसा ॥ ५ ॥

मैं प्रकृष्टरूपसे धन पानेके लिये, और मनुष्योंको दबाने वाला श्रेष्ठ बल पानेके लिये तथा कल्याण और दक्ष पानेके लिए प्रकृष्ट ज्ञान वाले मनसे (आपकी स्तुति करता हूँ) ॥ ५ ॥

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

यत् । नूनम् । धीभिः । अश्विना । पितुः । योना । निऽसीदथः ।

यत् । वा । सुम्नेभिः । उक्थ्या ॥ ६ ॥

इति नवमेनुवाके षट्चत्वारिंशं सूक्तम् ॥

जो आप बुद्धियोंसे अपने पालकके कारणमें बैठते हैं और जो सुखप्रद कारणोंसे प्रशंसनीय होते हैं (इस कारण मैं आप की स्तुति करता हूँ) ॥ ६ ॥

नवम अनुवाकमें छियालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५८)

"तं वां रथम्" इत्यस्य विनियोगः "आ नूनमश्विना युवम्" [२०. १३९] इत्यत्र उक्तः ॥

अतिरात्रे अतिरिक्तोक्थे "मधुमतीरोषधीः" [२०. १४३. ८. ९] इति द्वे ऋचौ परिधानीयाशस्त्रयाज्ये क्रमेण भवतः । तदुक्तं वैताने । मधुमतीरोषधीरिति परिधानीया । उत्तरा याज्या" इति [वै० ४. ३] ॥

"तं वां रथम्" इसका विनियोग "आ नूनमश्विना युवम्" (२० । १३९) में कह दिया है।

अतिरात्रके अतिरिक्तोक्थमें "मधुमतीरोषधीः" (२०।१४३।

८ ९) ये दो ऋचाएँ क्रमशःपरिधानीया और शस्याण्या होती हैं। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"मधुमतीरोषधीरिति परिधानीया उत्तरा याज्या" (वैतानसूत्र ४ । ३) ॥

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।

यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् १

तम् । वाम् । रथम् । वयम् । अद्य । हुवेम । पृथुऽज्रयम् । अश्विना ।

सम्ऽगतिम् । गोः ।

यः । सूर्याम् । वहति । वन्धुरऽयुः । गिर्वाहसम् । पुरुऽतमम् ।

वसुऽयुम् ॥ १ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! हम आज आपके उस रथका आह्वान करते हैं, जो आपका रथ विशाल वेग वाला है,गौओंकी संगति करने वाला है जो ऊँचेनीचे स्थानमें जाने वाला आपका रथ सूर्याका वहन करता है, उस वाणीका वहन करने वाले पुरुतम वसुको प्राप्त कराने वाले रथ का मैं आह्वान करता हूँ ॥ १ ॥

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः

शचीभिः ।

युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत् ककुहासो

रथे वाम् ॥ २ ॥

युवम् । श्रियम् । अश्विना । देवता । ताम् । दिवः । नपाता

वनथः । शचीभिः ।

युवोः । वपुः । अभि । पृक्षः । सचन्ते । वहन्ति । यत् । ककुहासः । रथे । वाम् ॥ २ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप लक्ष्मीके अधिष्ठात्री देवता हैं और उसको द्युलोकसे नहीं गिरने देते हैं और आप शक्तियोंसे उसका सेवन करते हैं, अन्न आपके शरीरसे संयुक्त होते हैं और जो विशाल (घोड़े) रथमें आपका वहन करते हैं, वह आपके शरीरसे संयुक्त होते हैं ॥ २ ॥

को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः ।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत् ॥ ३ ॥

कः । वाम् । अद्य । करते । रातऽहव्यः । ऊतये । वा । सुतऽपेयाय । वा । अर्कैः ।
ऋतस्य । वा । वनुषे । पूर्व्याय । नमः । येमानः । अश्विना । आ । ववर्तत् ॥ ३ ॥

आज कौन हवि देने वाला आपकी सेवा कर रहा है, और कौन रक्षा पानेके लिये और अभिषुत सोमका पान करनेके लिये मन्त्रोंसे आपका आह्वान कर रहा है, यज्ञका सेवन करने वाले (इन्द्रके लिये) प्रणाम है, और जो उपरम करता हुआ इन अश्विनीकुमारोंको लाता है उसके लिये प्रणाम करता है ॥ ३ ॥

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम् ।

पिबा॑थ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ४

हि॒र॒ण्यये॑न । पु॒रु॒भू इति॑ पु॒रु॒ऽभू । रथे॑न । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । ना॒-
सत्या । उप । या॒तम् ।

पिबा॑थः । इत् । मधु॑नः । सो॒म्यस्य॑ । दध॑थः । रत्न॑म् । वि॒ध॒ते ।
जना॑य ॥ ४ ॥

हे महान्‌रूपमें प्रकट होने वाले अश्विनीकुमारों ! आप हित रमणीय रथसे इस यज्ञमें आइये । मधुर सोमके अंशको पीजिये और सेवा करने वाले मनुष्यके लिये रत्न दीजिये ॥ ४ ॥

आ नो॑ यातं दि॒वो अच्छा॑ पृथि॒व्या हि॑र॒ण्यये॑न
सु॒वृता॒ रथे॑न ।

मा वा॑म॒न्ये नि य॑मन् देव॒यन्त॒ः सं यद् द॒दे नाभिः॑
पू॒र्व्या वा॑म् ॥ ५ ॥

आ । नः । या॒तम् । दि॒वः । अच्छ॑ । पृ॒थि॒व्याः । हि॒र॒ण्यये॑न ।
सु॒ऽवृता॑ । रथे॑न ।

मा । वा॒म् । अ॒न्ये । नि । य॒म॒न् । दे॒व॒ऽयन्तः॑ । सम् । यत् । द॒दे ।
नाभिः॑ । पू॒र्व्या । वा॒म् ॥ ५ ॥

हे अश्विनीकुमारों ! तुम हित रमणीय सुवृत् रथके द्वारा द्युलोकसे पृथिवीलोकके अभिमुख होकर आओ दूसरे पूजन करने वाले आपको वशमें न कर सकें मैं तुम दोनोंको पूर्व्व (नवीन) बंधनकारिणी (स्तुति) प्रदान करता हूँ ॥ ५ ॥

नू नो॑ र॒यिं पु॑रु॒वीरं॑ बृ॒हन्तं॒ दस्रा॒ मिमा॑थामु॒भये॑ष्व॒स्मे ।
नरो॒ यद् वा॑मश्विना॒ स्तोम॒माव॑न्त्स॒धस्तु॑तिमाजमी॒-
ळ्हासो॑ अग्मन् ॥ ६ ॥

नु । नः॒ । र॒यिम् । पु॒रु॒ऽवीर॑म् । बृ॒हन्त॑म् । दस्रा॑ । मिमा॑थाम् ।
उ॒भये॑षु । अ॒स्मे इति॑ ।
नरः॑ । यत् । वा॒म् । अ॒श्वि॒ना॒ । स्तोम॑म् । आव॑न् । स॒धऽस्तु॑तिम् ।
आ॒ज॒ऽमी॒ळ्हासः॑ । अ॒ग्म॒न् ॥ ६ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप इस यजमानके लिये दोनों लोकोंमें बहुतसे-वीर्यसे उत्पन्न होने वाले उन पुत्र पौत्र आदि-वीरोंसे सम्पन्न धनको दोनों लोकोंमें प्रदान करिये, हे अश्विनीकुमारो ! जो मनुष्य आपकी स्तुति करते हैं, वह स्तुतिके साथ ही आजमीढ़ होकर प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

इ॒हेह॒ यद् वां॑ सम॒ना प॑पृ॒क्षे सेयम॒स्मे सु॑म॒तिर्वा॑जरत्ना ।
उ॒रु॒ष्यतं॑ जरि॒तारं॑ यु॒वं ह॑ श्रि॒तः कामो॑ नासत्या युव॒-
द्रिक् ॥ ७ ॥

इ॒ह॒ऽइ॑ह । यत् । वा॒म् । स॒म॒ना । प॒पृ॒क्षे । सा । इ॒यम् । अ॒स्मे इति॑ ।
सु॒ऽम॒तिः । वा॒ज॒ऽर॒त्ना॒ ।
उ॒रु॒ष्यत॑म् । ज॒रि॒तार॑म् । यु॒वम् । ह॒ । श्रि॒तः । कामः॑ । ना॒स॒त्या॒ ।
यु॒व॒द्रिक् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार आप एकसे मन वाले हों तिस प्रकार आप इस

को बाजरत्ना द्युमतिसे संयुक्त करिये, हे अश्विनीकुमारों ! आप इस स्तोताकी रक्षा करिये इसकी कामना आप पर ही निर्भर है७

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।

क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ८

मधुऽमतीः । ओषधीः । द्यावः । आपः । मधुऽमत् । नः । भवतु । अन्तरिक्षम् ।

क्षेत्रस्य । पतिः । मधुऽमान् । नः । अस्तु । अरिष्यन्तः । अनु । एनम् । चरेम ॥ ८ ॥

औषधियें हमारे लिये मधुमती होवें, द्युलोक हमारे लिये मधुमय हो, अन्तरिक्ष हमारे लिये मधुमय हो, क्षेत्रका पति हमारे लिये मधुमय हो और इसके पीछे हम नष्ट न होते हुए विचरण करें

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।

सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ॥ ९ ॥

पनाय्यम् । तत् । अश्विना । कृतम् । वाम् । वृषभः । दिवः । रजसः । पृथिव्याः ।

सहस्रम् । शंसाः । उत । ये । गोऽइष्टौ । सर्वान् । इत् । तान् । उप । यात । पिबध्यै ॥ ९ ॥

नवमेऽनुवाके सप्तचत्वारिंशं सूक्तम् ॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

आपकी स्तुतिरूप किया हुआ कर्म द्युलोक और पृथ्वीलोक पर (फलकी) वर्षा करने वाला है, गोपूजामें जो सैंकड़ों स्तोत्र हैं सोमपान करके उन सबको आप प्राप्त होते हैं अर्थात् सोम-पान करानेसे इन सब स्तोत्रोंके पाठका फल मिलता है ॥ ९ ॥

नवम अनुवाकमें सैंतालीसवाँ सूक्त समाप्त (७५९)

नवम अनुवाक समाप्त

इति श्रीअथर्ववेदसंहिताका विंशंकाण्ड ऋषिकुमार

पं० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ऋ० कु० पं० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ विंशः काण्डः समाप्तः ॥

॥ अथर्ववेदसंहिता पूर्णा ॥

वैदिक-संहिता

- ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- ऋग्वेद संहिता। मूलमात्र।
- ऋग्वेद संहिता। भाषामात्र। रामगोविन्द त्रिवेदी
- ऋग्वेद संहिता। सायणाचार्य कृत भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित। 1-8 भाग सम्पूर्ण
- ऋग्वेद संहिता। (प्रथम अध्याय, सूक्त 1-19) हिन्दी व्याख्या तथा हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद। सम्पादक-प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। सम्पा. श्री [illegible] गौड़
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। मूलमात्र। ([illegible]सागर संस्करण)
- शुक्लयजुर्वेद संहिता। पदपाठ [illegible]धरभाष्य संवलित तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. रामकृष्ण शास्त्री
- सामवेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- सामवेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित।
- अथर्ववेद संहिता। मूलमात्र (गुटका)
- अथर्ववेद संहिता। सायणभाष्य तथा पं. रामस्वरूप 'गौड़' कृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। 1-4 भाग

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी